मुनि श्रीहजारीमल स्मृति-ग्रन्थ-प्रकाशनसमि

प्रकाशक :
मुनि श्रीहजारीमल स्मृति ग्रंथ
प्रकाशन समिति, ब्यावर [ राज० ]

मूल्य : चालीस रुपये.

वी० सं० २४९१, सन् १९६५
प्रथम संस्करण १००० प्रति

मुद्रक :
उद्योगशाला प्रेस
किंग्सवे, दिल्ली-९

प्रेरक : मधुकर मुनि

प्रधान-सम्पादक
शोभाचन्द्र भारिल्ल

शिल्प-संपादक
कुमार सत्यदर्शी

## सम्पादक-परिवार

| | |
|---|---|
| मधुकर मुनि | सुशील मुनि |
| मुनि कान्तिसागर | जैनेन्द्रकुमार |
| हरिभाऊ उपाध्याय | डॉ० नथमल टाटिया |
| डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री | पं० दलसुख मालवणिया |
| शान्तिलाल व० शेठ | डॉ० बूलचन्द |

व्यवस्थापक
चिम्मनसिंह लोढ़ा

## प्रकाशन-समिति

श्री चिम्मनसिंह लोढ़ा, व्यावर
सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
सेठ खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
श्री गुलाबचन्द्रजी जैन, दिल्ली
,, पुखराजजी शिशोदिया, व्यावर
,, निहालचन्दजी मोदी, व्यावर
,, खूबचन्द जी गादिया, व्यावर
,, केसरीमलजी वैताला, कलकत्ता
,, भैरोंदानजी सुराणा, दोवड़ी आसाम
,, गुलाबचन्दजी सुराणा, सिकन्दराबाद
,, मेघराजजी घोगड़, जोधपुर
,, हस्तीमलजी वालिया, व्यावर
श्री मोहनलालजी बोथरा, तिंवरी
,, लूणकरणजी लोढ़ा, कुचेरा
,, जुगराजजी चोरड़िया, नागौर
,, प्रेमराजजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
,, जसराजजी संचेती, दुर्ग
,, कुमानमलजी चोरड़िया, नोखा
,, सागरमलजी पीचा, कुचेरा
,, हमीरमलजी कटारिया, आगरा
,, जौहरीमलजी ओस्तवाल, मेड़ता
,, जतनराजजी मेहता, मेड़ता
,, आनन्दराजजी सुराणा, दिल्ली
,, जौहरीमलजी, पारख, जोधपुर

# निवेदन

सन्तों के संकीर्त्तन, स्तवन, गुणगान, उनकी आराधना एवं उपासना से जीवन का मैल गलता-धुलता है. जीवन में उदात्त एवं दिव्यभाव का आविर्भाव होता है. राजस और तामस भाव सन्तों के सान्निध्य में हो नहीं रह पाता. इस तथ्य की अनुभूति उन्हें अवश्य हुई होगी जिन्होंने दिवंगत स्वामी श्रीहजारीमलजी म० के सत्संग में अपने जीवन के कतिपय क्षण विताये होंगे. मैंने तो उनके सान्निध्य में एक अपूर्व चेतना का साक्षात्कार किया है. ऐसे महान् सन्त की स्मृति को चिरस्थायी बनाना जगत् के कल्याण में एक प्रकार से योग देना है.

ग्रन्थप्रकाशन समिति ने व्यवस्थापक का जो उत्तरदायित्व मुझे सौंपा, उसका निर्वाह तो मैं पूरी तरह नहीं कर सका, मगर उसकी पूर्त्ति मेरे सहयोगियों द्वारा हो गई है. मैं उनका आभारी हूँ.

प्रस्तुत ग्रंथ को इस रूप में उपस्थित करने में जिन-जिन महानुभावों ने प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग दिया है, वे सब साधुवाद के पात्र हैं.

ग्रंथ के मुद्रणसौंदर्य का श्रेय उद्योगशाला प्रेस देहली के व्यवस्थापक श्रीशान्तिलाल व० शेठ को है जिन्होंने ग्रंथमुद्रण में आत्मीयभाव से गहरी दिलचस्पी ली है. प्रेस के अन्य कर्मचारी वर्ग का सौजन्य भी सराहनीय रहा है.

विशेषतः अर्थसहायकों, समिति के सदस्यों और कोषाध्यक्ष श्रीखूबचंदजी गादिया आदि को अनेकानेक धन्यवाद हैं जिनके सप्रेम सहयोग से यह सफलता प्राप्त हो सकी है. ग्रंथ के प्रधान सम्पादक पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल और शिल्पसम्पादक कुमार सत्यदर्शी ने ग्रंथ के लिए जो श्रम किया है, वह भुलाया नहीं जा सकता. इनके अतिरिक्त कुन्दन जैन सिद्धान्तशाला व्यावर के अध्यक्ष सेठ नौरतनमलजी कोठारी ने समय-समय पर पं० शोभाचन्द्रजी को दिल्ली जाने के लिए अवकाश देकर प्रशंसनीय सहयोग दिया है, सेठ श्री पुखराजजी शीशोदिया तथा श्रीअमरचंदजी मोदी, श्रीरतनचन्दजी मोदी आदि ने भी गहरी दिलचस्पी ली है, उसके लिए भी हम आभारी हैं.

सेठ पन्नालालजी पूनमचंदजी कांकरिया (व्यावर) ने कांकरिया ट्रस्ट की ओर से उत्कृष्ट निबंध पर ५००) रु० का पुरस्कार देने की उदारता प्रदर्शित की है. यह पुरस्कार धर्म और दर्शन विषयक विद्वानों द्वारा निर्णीत निबंध पर दिया जाना है. इस उदारता के लिए कांकरियाजी साधुवाद के पात्र हैं,

अन्तिम भाग बड़ी शीघ्रता में मुद्रित हुआ है, अतः कतिपय त्रुटियां रह जाना असंभव नहीं. इस विवशता के लिए क्षमाप्रार्थना !

चिम्मनसिंह लोढ़ा,
व्यवस्थापक.

# समर्पण

ज्येष्ठ गुरुभ्राता
श्रद्धेय स्वामी श्रीब्रजलालजी महाराज के
कर-कमलों में,
जिनके प्रोत्साहन का ही
यह सुफल है.

—मधुकर मुनि

# ग्रन्थ का कलापक्ष

- अदृश्यसत्ता सत्य है. तो कला प्रेरक व स्फूर्ती है ! भारत का शिल्पविधान व्यापक स्थायी और प्राणवान् है. ललित कला से लेकर सम्पादन-कला तक सर्वत्र ही मनुष्य, कला की प्रतिष्ठा चाहता है !
- तो सम्पादन और मुद्रण दोनों ही कला है—प्रत्यक्षकला. नहीं कहा जा सकता कि इसका कहां तक सम्यक् निर्वाह हो पाया है. वैसे भारत की लगभग सभी ललित कलाओं के प्रति हमारी श्रद्धा है. कला की प्रतिष्ठा और संवर्धन-भावुकों के हृदय का आनन्द है.
- प्रस्तुत स्मृति-ग्रंथ के कलापक्ष के सम्बन्ध में कुछ कहा जाय इसकी अपेक्षा यह अधिक उत्तम है कि पारखी आंखें स्वयं उसे परखें. मात्र दिशा संकेत कर देना ही पर्याप्त है.
- भारत की कलाकृति की प्रतिष्ठा की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ में स्थान-स्थान पर चित्र-अंकित किये हैं. पाठक देखेंगे कि प्रत्येक पृष्ठ पर नीचे की ओर एक पट्टी ब्लॉक-चित्र है. इनमें से अधिकांश पट्टिकायें जैसलमेर के शास्त्र भण्डार, चित्तौड़ के शास्त्र-भण्डार एवं मुनि कान्तिसागरजी के व्यक्तिगत शास्त्र संग्रह में से ली गई हैं !
- इन पट्टिकाओं में ९वीं शती से लेकर १६वीं शती तक की पट्टिकायें हैं ! मुद्रणकला के जन्म से पूर्व जैन मुनियों का लेखनकला और चित्रकला से अत्यन्त अनुराग रहा है. ये पट्टिकायें इसका प्रमाण हैं. जैन-मुनियों और यतियों के लिए कोई विषय अनछुआ नहीं रहा. उन्होंने सभी विषयों पर लिखा है. उस लेखन को उन्होंने कला का अविभाज्य अंग भी माना है. अपने लेखन को कलापूर्ण करना ललितकला के प्रति सम्मान का सूचक है.
- प्रत्येक पट्टिका के सम्बन्ध में अलग से लिखना और परिचय देना व्यापक विषय है.
- प्रत्येक निबन्ध के प्रारम्भ में तत्तत्-विषयक प्रतीक चित्र देने का संकल्प प्रारम्भ से था किन्तु वह अत्यन्त श्रम और कालापेक्षित था साथ ही व्ययप्रधान भी. अत: कुछ प्रारम्भिक निबन्धों के पश्चात् ही उस संकल्प का परित्याग करना पड़ा.
- निबंधों के अन्त में भी कुछ चित्र हैं. इन में भी भारतीय और विशेषतः जैन-पुरातत्त्व से सम्बन्धित हैं. इस श्रेणी के चित्रों में ७ वीं शताब्दी तक के भी चित्र हैं ! जिन चित्रों का पुरातत्त्व से सम्बन्ध न हो वैसे चित्र स्वल्प हैं.
- उक्त चित्रों में अधिकांश प्रो० श्री परमानन्दजी चोयल ने रेखांकित किये हैं ! मुनिश्री का तैल चित्र मेरे मित्रवर्य श्री किशनजी वर्मा ने अत्यन्त स्नेहपूर्वक चित्रित किया है. आवरण श्री सुखदेवजी दुग्गल की कलम का शिल्प है. अपने स्नेहियों की कलाकृतियों का स्वागत है !
- उदयपुर स्थित मुनि श्रीकान्तिसागरजी ने उक्त चित्रों को जुटाने में पूर्ण सहयोग दिया है एवं समय-समय पर अपने सुझाव भेजे हैं एतदर्थ मुनि श्री के प्रति कृतज्ञ हूँ.
- मनुष्य सवर्था अप्रमत्त किसी विशिष्ट अवस्था में भले होता हो पर वह अवस्था सहज नहीं है. श्वासोच्छ्वास जीवन धारण प्रणाली की सूचक हो सकती है परन्तु इसे मैं क्रमशः प्रमाद और अप्रमाद के क्षण मानता हूं. पाठकों से निवेदन है कि वे अप्रमाद के क्षणों में जो उपलब्धि की है उस ओर दृष्टिपात करें. त्रुटियों का होना तो प्रमत्त व्यक्ति से सहज संभाव्य है.
- पूज्य स्वामीजी के जीवन से मैंने जो पाया वह यह कि 'जो उत्तरदायित्व ओटा है उसे जी-जान लगाकर जीवन की सांझ तक करते रहो !' यही मेरे संस्मरण की रेखा है इसी पर श्रद्धा है !

—कुमार सत्यदर्शी

१४ अप्रेल १९६५
ऋषभ जयन्ती
१२ लेडी हार्डिंग रोड, नई दिल्ली.

# मदीयम्

प्रस्तुत स्मृति-ग्रंथ अध्येताओं के कर-कमलों में है. ग्रंथ कैसा है, इसका निर्णय तो स्वयं अध्येता ही करेंगे, परन्तु मुझे जो कहना है वह यह है—

वि० सं० २०१८ की चैत्र-कृष्णा दशमी की रात्रि में पूज्य गुरुदेव श्रीहजारीमलजी महाराज का स्वर्गवास नौखा (मारवाड़) में हुआ था. उस समय मेरे स्वान्त में एक संकल्प आया कि स्वर्गीय गुरुदेव की स्मृति में एक महत्त्वपूर्ण स्मृति-ग्रंथ के निर्माण की योजना बनाई जाय.

मैंने अपना संकल्प परम श्रद्धेय पूज्यवर श्रीब्रजलालजी महाराज की सेवा में रक्खा. उनकी ओर से इसके लिए पूरा प्रोत्साहन मिला. मेरा यह विचार गुरुदेव के परम श्रद्धालु धर्मप्रेमी सेठ खींवराजजी चोरड़िया को भी रुचिकर लगा. स्वयं सेठजी स्वर्गीय गुरुदेव की स्मृति में एक ट्रस्ट की स्थापना करना चाहते थे. इस सम्बन्ध में मंत्रणा करने और योजना बनाने के लिए उन्होंने अपने ग्राम नौखा में एक सभा का आयोजन किया, उक्त सभा में ट्रस्ट सम्बन्धी विचारणा के साथ-साथ स्मृति-ग्रंथ के निर्माण के विषय में भी विचार-विनिमय किया गया. श्रीयुत चोरड़ियाजी की ओर से तथा सभा में सम्मिलित सभी सज्जनों की ओर से स्मृति-ग्रन्थ के निर्माण के लिए पर्याप्त बल दिया गया.

उक्त सभा में श्रीयुत पंडित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल भी आये हुए थे. उनसे यह सादर अनुरोध किया गया कि आपके नेतृत्व में स्मृति-ग्रंथ का सम्पादन होना चाहिए और आप एक सम्पादक-परिवार का गठन कर इस कार्य में जुट जांय. पूज्य गुरुदेव का प्रथम स्मृति-दिवस व्यावर में मनाया गया उस अवसर पर स्मृति-ग्रंथ की योजना को कार्यान्वित करने के लिए एक स्मृति-ग्रंथ प्रकाशन समिति का गठन किया गया. व्यावर नगरपालिका के अध्यक्ष श्रीयुत् चिम्मनसिंह जी लोढ़ा समिति के व्यवस्थापक चुने गए. समिति का कार्यालय व्यावर में रखा गया और कार्य प्रारम्भ किया.

समिति के निर्णय के अनुसार श्रीयुत भारिल्लजी प्रधान सम्पादक बने उन्होंने एक सम्पादक परिवार भी बनाया. अपने परिवार के सहयोग से पण्डित जी का यह सम्पादन पूर्ण सफलता के साथ सम्पन्न हुआ.

श्रीभारिल्लजी जैन समाज के एक मान्य मनीषी विद्वान् हैं. प्रस्तुत ग्रन्थ में पण्डित जी की मनीषिता का अच्छा परिचय यत्र-तत्र सर्वत्र मिल रहा है.

कुमार सत्यदर्शीजी एक उत्साही नवयुवक लेखक हैं लेखन में उनकी नव्या भव्या प्रगति है. इस ग्रंथ में जो उत्तम कला-कौशल व साज-सज्जा दृग्गत हो रही है, इसका श्रेय आपको ही है. स्मृति-ग्रंथ का कार्य श्रम-साध्य था, अतः इसके पीछे पूरा श्रम किया. 'श्रेय सफलता' इस बात का यह ग्रंथ एक उज्ज्वल उदाहरण है.

भारत के तथा अन्य देशों के अधिकारी लेखकों का सहयोग इस ग्रंथ को खूब मिला है. उसी सहयोग का यह सुफल है है कि इस ग्रंथ ने स्मृति-ग्रंथों में अपना एक विशिष्ट रूप प्राप्त किया है.

मैं तो अकिंचन हूं. फिर भी अगर मेरा किंचिदपि सहयोग इस ग्रंथराज को मिला है तो मैं स्वयं को सौभाग्यशाली समझता हूं. प्रायः जैनधर्म और जैनदर्शन एवं संस्कृति से सम्मत निबन्धों का चयन ही अधिकृत रूप से इस ग्रंथ में किया गया है. जैनदर्शन के प्रायः सभी विषयों के निबन्धों के संकलन का प्रयास रहा है. फिर भी व्यापक दृष्टि का परित्याग नहीं किया गया है.

स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव एक अजात-शत्रु मुनिपुंगव थे. जन-जन के हृदय में उनके प्रति अगाध श्रद्धा थी. इसी श्रद्धा के बल पर उनकी स्मृति में निकलवाले इस ग्रंथ के प्रति जन-जन के हृदय में सत्कारसन्मान की भावना की उदारता ने प्रस्तुत ग्रंथ के मुद्रण को आर्थिक असहयोग से पूर्णतः बचा लिया है. किन्तु समाज में ईर्ष्या तथा असहयोग की भावना की न्यूनता नहीं है. अतएव मुझे काफी आलोचना का शिकार होना पड़ा है. सम्भव है ऐसी थपकियां मुझे आगे भी मिलती रहेंगी, परन्तु इस आलोचना को मैंने अमृत समझा और उसका पान कर अपने को अमर बनाने का ही प्रयास किया है और आगे भी मेरा यही प्रयास बना रहेगा.

वर्तमान में विराजित मेरे ज्येष्ठ गुरुभ्राताजी श्रीब्रजलाल महाराज की बलवती प्रेरणा पर ही यह विराट् आयोजन सम्पन्न हो सका है. अत: मैं स्वामीजी महाराज का पूर्ण आभारी हूं.

प्रधान सम्पादकजी, सम्पादक-परिवार, तथा कला सम्पादकजी के सतत, अविश्राम श्रम ने ही इस ग्रंथ को अधिक-से-अधिक उपादेय बनाया है अत: उनकी ओर तो मेरी कृतज्ञता सदा बनी ही रहेगी.

उन मुनिराजों और सतियों का भी आभारी हूँ जिन्होंने कुछ भी इधर सहयोग दिया है. सती श्री उमरावकुंवरजी, स्व० गुरुदेव की सुशिष्या हैं. वे सुसंस्कृता हैं, विदुषी हैं, समय-समय पर इस आयोजन में उनकी सुविचारणा से पर्याप्त सहयोग मिला है. जैन-संस्कृति की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखा गया है, फिर भी स्खलना होना असम्भव नहीं है. इसके लिए क्षमापना है.

—मधुकर मुनि

सरलात्मा महामना मुनि श्री हजारीमलजी महाराज

# प्रधान सम्पादक का निवेदन

प्रथम बार आदरणीय श्रीमधुकर मुनि ने जब स्मृतिग्रंथ को प्रकाशित करने और उसका दायित्व मुझे सौंपने का विचार व्यक्त किया, तब उसे मैंने कुछ शर्तों के साथ स्वीकार कर लिया. उस समय भी मैं अपने परिमित सामर्थ्य को जानता था, फिर भी मेरी स्वीकृति के पीछे अनेक हेतु थे. मुनिजी के कथन से यह स्पष्ट था कि मेरी अस्वीकृति का अर्थ होगा—ग्रंथ-प्रकाशन के विचार को सदा के लिए त्याग देना. मेरे प्रति उनके इस विश्वास ने मुझे नतमस्तक कर दिया. इसके अतिरिक्त स्मृतिग्रंथ के माध्यम से अगर मेरी साहित्यसाधना किंचित् अग्रसर होती है तो फिर और चाहिए ही क्या !

किन्तु सब से बड़ा आकर्षण था स्वर्गीय स्वामीजी के प्रति मेरे अन्तस्तल में विद्यमान श्रद्धा और भक्ति. दीर्घकाल पर्यन्त मैं उनके पावन सम्पर्क में रहा हूँ. वे अपने युग के आदर्श सन्त थे. सन्त-जीवन की समग्र विभूतियाँ जैसे उनमें केन्द्रित हो गई थीं. शिशु का सारल्य, माता का कारुण्य, योगी की असम्पृक्तता उनमें ओतप्रोत थी. हृदय नवनीत-सा मृदु, वाणी में सुधा की मधुरता और व्यवहार में अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेने वाला जादू ! आत्मनिष्ठा के साथ अशेष-निष्ठा का निर्वाह करनेवाला वह योगी सचमुच अनेकान्त का मूर्तिमान् उदाहरण था. उस महान् आत्मा के प्रति श्रद्धा-निवेदन के इस अवसर को चूक जाना मैं नहीं चाहता था.

प्रारंभ में यह कल्पना नहीं थी कि ग्रंथ इतना विराट् रूप धारण कर लेगा. पाँच-छह सौ पृष्ठों तक का ही प्रकाशन उस समय सोचा गया था. किन्तु जब कार्य प्रारंभ हुआ और सुविज्ञ साहित्यकारों से सामग्री की माँग की गई तो उन्होंने बड़ी उदारता के साथ सहयोग दिया. फलस्वरूप ग्रंथ का जो विस्तार हो गया है, वह आपके सामने है.

प्रारंभ से ही हमारी नीति मौलिक—अन्यत्र अप्रकाशित रचनाओं को ही इस ग्रंथ में स्थान देने की रही है. तदनुसार जो रचनाएँ हमें प्राप्त हुई और फिर अन्य पत्रों में मुद्रित देखी गई या जानकारी में आई, उन्हें कम कर दिया है. अगर अनजान में कोई ऐसी रचना छपी हो तो उसका उत्तरदायित्व उसके लेखक पर है. जिनका प्रतिपाद्य अन्य रचनाओं में गर्भित हो गया है, ऐसी भी कतिपय रचनाएँ कम कर देनी पड़ी हैं. प्राप्त सब रचनाओं को स्थान दिया जाता तो ग्रंथ के चार-पाँच सौ पृष्ठ और बढ़ जाते. किन्तु अर्थराशि की परिमितता और ग्रंथ के विस्तार को देखते हुए कमी करना अनिवार्य हो गया. इन दोनों कारणों के अतिरिक्त तीसरा कारण समयाभाव भी था. ग्रंथ के मुद्रण में समय बहुत लग गया और इससे अधिक समय लगाना समिति को सह्य नहीं था. इस बीच लेखकों और पाठकों के अनेक तकाज़े हमें सहन करने पड़े हैं. आशा है ग्रंथ के प्रकाशित होते ही प्रेमी पाठक और लेखक सन्तोष अनुभव करेंगे. जिन विद्वान् लेखकों की रचनाएँ हम नहीं प्रकाशित कर पाये, उनके प्रति विनम्रभाव से क्षमाप्रार्थी हैं. कुछ रचनाओं का संक्षिप्तीकरण भी करना पड़ा है. यह भी हमारी विवशता ही समझिए.

ग्रंथ पाँच अध्यायों में विभक्त है. प्रथम अध्याय में स्वामीजी का संक्षिप्त जीवन-परिचय, उनसे सम्बन्ध रखने वाले संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ हैं. अन्त में स्थानकवासी जैन परम्परा एवं लौंकागच्छ के साहित्य और साहित्यकारों का परिचय आदि है. दूसरे अध्याय में धर्म और दर्शन संबंधी रचनाएँ हैं. तीसरे में इतिहास, पुरातत्त्व, समाज और संस्कृति आदि विषयों संबंधी और चौथे अध्याय में साहित्य संबंधी सामग्री निबद्ध की गई है. पाँचवाँ अध्याय अंगरेजी भाषा में लिखित प्राय: जैनधर्म संबंधी रचनाओं के लिए है.

जैन मुनि की पावन स्मृति में प्रस्तुत ग्रंथ प्रकाशित किया जारहा है, अतः स्वाभाविक ही है कि इसमें जैनदर्शन, जैनधर्म, जैन इतिहास-पुरातत्त्व की प्रधानता हो, किन्तु राजस्थान से प्रकाशित होने के कारण राजस्थानी साहित्य एवं साहित्यकारों को विशेष रूप से स्थान दिया गया है. राजस्थान में भी अजमेर-संभाग के प्रमुख नगर व्यावर से यह ग्रंथ प्रकाश में आरहा है, अतएव अजमेर के समीपवर्त्ती साहित्यकारों का परिचय देना भी उचित समझा गया है. जैन साहित्यकारों ने भारतीय और विशेषतः राजस्थानी साहित्य की जो महत्त्वपूर्ण सेवा की और उसकी समृद्धि में असाधारण योग दिया है, उसका संकलित विवरण आप इस ग्रंथ में पाएँगे. जैनेतर विद्वानों को तो जैनदर्शन, धर्म, साहित्य आदि का विशिष्ट परिचय ग्रंथ से मिलेगा ही, जैन विद्वानों को भी बहुत-सी नवीन बातें जानने को मिलेंगी. शोधक विद्वानों के लिए अगर कुछ अंशों में भी यह ग्रंथ सहायक बन सका, जैसी कि आशा है, तो किया हुआ परिश्रम सफल समझा जाएगा.

प्रत्येक विषय में विद्वानों में मतभेद रहे हैं और रहेंगे, किन्तु जिसने अपने जीवन में अनेकान्त को अपनाया है, वह मत-भेदों के प्रति असहिष्णु नहीं होता. वह धैर्य के साथ विरोधी विचार को सुनता-समझता है और उचित रीति से उसका प्रतिविधान करता है. प्रकृत विशाल ग्रंथ में ऐसी अनेक बातें हो सकती हैं जिनसे हम सहमत न हों, फिर भी विचारणा एवं गवेषणा की परिधि आगे बढ़े, इस दृष्टिकोण से उन्हें यहाँ स्थान दिया गया है. विचारशील विद्वान् भी उन्हें इसी रूप में ग्रहण करेंगे, ऐसी आशा है.

हमारी सीमा ग्रंथगत सामग्री-संचयन तक ही रही है. ग्रंथ को सुष्ठु और कलात्मक सौन्दर्य प्रदान करने का कार्य शिल्प-सम्पादक के जिम्मे था. उन्होंने अपनी विशिष्ट कलारुचि एवं लगन के साथ ग्रंथ को सज्जित करने का प्रयत्न किया है. सफलता का मापदण्ड पाठकों के हाथ में है.

विद्वत्तिलक मुनि श्रीकान्तिसागरजी—[उदयपुर] से हमें जो सहयोग और परामर्श मिला, उसी की बदौलत ग्रंथ इस रूप में पाठकों के समक्ष आ सका है. उनका मूल्यवान् सहयोग सदैव स्मरणीय रहेगा.

अन्त में विद्वान् लेखकों एवं सहयोगी सम्पादकों का आभार मानना उचित है जिनके समन्वित सहकार से यह भगीरथ कार्य सम्पन्न हो सका है.

ग्रंथ की मुद्रण प्रगति में प्रेस के व्यवस्थापक एवं कर्मचारियो ने भरसक प्रयत्न किया है. विशेषतः प्रदान मशीनमैन श्री भवानसिंह जी और श्रीबलदेव कृष्ण सूरी के कठिन परिश्रम को विस्मरण नहीं किया जा सकता.

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

# विषय-क्रमांकन

## प्रथम अध्याय १—२५४

### जीवन, संस्मरण, श्रद्धांजलि और परम्परा दर्शन



## द्वितीय अध्याय २५५—५२८

### दर्शन और धर्म

# परिशिष्ट

## पंचम अध्याय १-९४

### अंग्रेजी विभाग

# कतिपय संदेश

PRESIDENT'S SECRETARIAT
PRESIDENT'S CAMP,
INDIA

September 30, 1963.

The President is happy to know that the Muni Shri Hazarimal Ji Commemoration Volume Samiti is bringing out a souvenir in memory of Muni Shri Hazarimal Ji.

The Muni's life and teachings serve to inspire many people and the president hopes that these teachings will not only be remembered but practised by the wide circle of his followers and admirers.

**S. Dutt.**
Secretary to the President

VICE-PRESIDENT
INDIA
NEW DELHI

September 24, 1963.

I am glad to know that you will bring out the Muni Shri Hazari Malji Commemoration Volume soon. I wish the publication success.

**Zakir Husain**

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई है कि मुनि श्री हजारीमलजी को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने हेतु एक स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। मुनिजी का जीवन त्याग और तपस्या का प्रतीक था। मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन से श्रद्धालु जनों को प्रेरणा मिलेगी।

**मोहनलाल सुखाड़िया**
मुख्य मंत्री, राजस्थान

CHIEF MINISTFR
FORT ST. GEORGE
MADRAS

June 5, 1964.

I am glad to know that a commemoration volume in memory of Muni Hazarimalji Maharaj is to be published. This will enable people to know the simple and saintly life of Muniji. I am confident that his life will be a source of inspiration to others.

**M. Bhaktavatsalam**

MEMBER OE THE
LOK SABHA
7-Raisina Road,
NEW DELHI

I am glad to know that a Commemoration Volume is being brought out in the memory of Muni Shri Hazarimalji, the great Jain saint of Rajasthan. The Muni's message of love, sympathy and compassion can be of great value at the present juncture when the whole world is strife-torn. I hope the Volume will be a comprehensive one and contain information about all aspects of the Muni's life and his teaching.

**Jagjivan Ram**

MINISTER OF SUPPLY
INDIA
NEW DELHI
Sept. 23, 1963.

I am glad to know that you are publishing the Muni Shri Hazarimalji Commemoration Volume in memory of Muni Shri Hazarimal Ji. India has produced great saints, sages, philosophers and yogis and they have kept the torch of Indian Culture and Spiritual knowledge burning through ages. Muni Shri was one of such illustrious sons of India who studied the Jain canon and preached the truths of Jainism. Those who came in contact with Muni Shri and heard him were inspired by his message of love, sympathy and compassion. It is but proper that the Samiti has decided to publish a volume in his memory. This is the best form of tribute the generation could pay to such a saint. I hope the volume will be a source of inspiration to the people.

**J.L. Hathi**

MEMBER OF PARLIAMENT
(LOK SABHA)
38-South Avenue, NEW DELHI
September 30, 1963

I am happy to learn that "Muni Shri Hazarimalji Commemoration Volume" is progressing satisfactorily towards publication. I deem it a great privilege to associate myself in paying an humble homage to that great Saint and Savant of revered memory, whose undying spiritual message and profound personal impact now forms a part of the magnificent heritage of the great teachers and preceptors of mankind. To remember and to recollect him is refreshing. To ponder over his teachings is truly uplifting and ennobling. I hope this volume dedicated to that great Saint would assuredly serve as a beacon light to kindle the sublime spark within each of us and to enrich our outlook.

The organizational efforts and the editorial labours of the Commemoration Volume Samiti are worthy of the highest approbation and I have great pleasure in sending my sincerest good wishes for the unbounded success of this venture.

**L.M. Singhvi**

CHIEF MINISTER
MAHARASTRA

Sachivalaya, Bombay-32

September 27, 1963

I am glad to know that Muni Shri Hazarimalji Commemoration Volume Samiti is bringing out a Commemoration Volume to commemorate the memory of late Muni Shri Hazarimalji, a great savant of Rajasthan whose memories are cherished by many. I wish the Commemoration Volume all success.

**M. S. Kannamwar**

CHIEF MINISTER
WEST BENGAL
CALCUTTA

October 4, 1963.

We are living in a world of strange contradictions. While we are discovering new ways of waging war, we are forgetting the Ideals of peaceful living; while we have mastered the means of destruction, we have yet to learn how to build goodwill among mankind. We know quitely a lot about atomic explosions and know so little about the philosophy of truth and non-violence.

In a world tormented by lust and distrust, the advent of noble souls like Muni Shri Hazarimal Ji was like the sudden appearance of a streak of spiritual light in the midst of material gloom.

I should, therefore, congratulate the Committee on this publication of the Commemoration volume, and I am sure this will carry far and wide the message that the late Muni ji conveyed during his life time.

**Profulla Chandra Sen**

मुनि श्री हजारीमल जी उन साधु-सन्तों की परम्परा में थे कि जिन्होंने भारतवर्ष को हमेशा सही रास्ता दिखाया है। भारतवर्ष की विशेष देन आध्यात्मिक सेवा से ही हो सकती है और इस बात को हमारे साधु-सन्त समय समय पर बताते रहते हैं।

मुझे प्रसन्नता है कि मुनि श्रीहजारीमल जी की स्मृति में एक विशेष ग्रंथ निकाला जा रहा है। मैं इसकी पूर्ण सफलता चाहता हूँ।

**कालूलाल श्रीमाली**
भूतपूर्व शिक्षामंत्री

DEPUTY MINISTER
INFORMATION & BROADCASTING
INDIA
NEW DELHI

September 27, 1963.

I am glad that you are bringing out a commemorative volume in honour of Muni Shri Hazari-Malji.

India has always honoured saint-scholars and it is heartening that the tradition continues.

I wish the venture every success.

Sham Nath

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि एक विद्वान जैन सन्त श्री हजारीमल जी म० की स्मृति में एक विशाल स्मृति-ग्रंथ का प्रकाशन किया जा रहा है. इस माध्यम से हम सन्त-जीवन के नजदीक पहुँचते हैं. पवित्र जीवन-व्यवहार को हृदयंगम करते हैं. एक महान् जीवन का स्मरण-चिन्तन करते हैं. इस कार्य से अवश्य ही हमारी आत्मा में उच्च और पवित्र भावनाओं की जागृति होगी. मैं **मुनि हजारीमल स्मृतिग्रंथ** के प्रकाशन का स्वागत करता हूँ और पूर्ण सफलता की कामना करता हूँ.

**पी०एन० सेठ**
डिप्टी सेक्रेटरी इंडस्ट्रीज़, राजस्थान

राजस्थान, वीरप्रसविनी भूमि है। वीरता के इतिहास में राजस्थान का स्थान समग्र विश्व में अनुपम है। इस तथ्य को बहुत लोग जानते हैं। परन्तु संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में राजस्थान का जो गौरवपूर्ण स्थान है उसकी पूर्णता से कम लोग ही परिचित हैं।

प्रसन्नता का विषय है कि कुछ समय से इस क्षेत्र के सांस्कृतिक और साहित्यिक गौरव को प्रकाश में लाने वाली अनेक योजनाएं सामने आ रही हैं। मुनि श्रीहजारीमल जी म० का स्मृतिग्रंथ भी उन में से एक है। यह योजना भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

मुनिश्री राजस्थान के एक धर्मोपदेष्टा महापुरुष थे, । उनकी वाणी से सहस्रों मानवों ने अपने जीवन को उच्च और सात्विक बनाया है। उनकी स्मृति में किया जाने वाला यह आयोजन प्रशंसनीय है।

मैं इसकी हृदय से सफलता चाहता हूँ।

**गोविन्द नारायण**
**अध्यक्ष स्वायत्त शासन संस्था**

भारतीय संस्कृति सन्तों की साधना से ही अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई है. सच पूछिये तो सन्त जनों की दिव्य चर्या और वाणी का इतिहास ही भारत की आध्यात्मिक संस्कृति का इतिहास है.

सौभाग्य की बात है कि भारतवर्ष में अज्ञात अतीत काल से लेकर आधुनिक युग तक सन्तों की अनवच्छिन्न परम्परा चालू है. इन सन्तों ने जन जीवन के विविध अंगों को परिमार्जन करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है.

श्री हजारीमलजी म० उसी परम्परा की एक कडी थे. राजस्थान के सौम्य साधक थे. उन्होंने अपना समग्र जीवन स्वपर कल्याण के अर्थ ही उत्सर्ग कर दिया था. आशा है उनकी स्मृति में प्रकाशित होनेवाला ग्रंथ भी जन-जीवन को उन्नत बनाने में सहायक होगा. ग्रंथ प्रकाशन का प्रयास प्रशंसनीय है. मैं ग्रंथ की हृदय से सफलता चाहता हूँ.

**हरगोविंद मेवाड़ा**
चीफ टाउन प्लानर, राजस्थान

मानव जीवन में सर्वोत्तम है और जिसकी बदौलत संसार में आज भी प्रशस्त भावनाएँ प्रभाव हीन नहीं हुई हैं, वह उच्च तत्त्व प्राणी मात्र को अपने समान मान कर व्यवहार करने वाले महान् सन्तों की ही देन है. सन्त का जीवन व्यवहार और उपदेश मानव जाति को अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला होता है. संसार ऐसे सन्तों का सदा ऋषि रहा है.

राजस्थान की एक निर्मल विभूति मुनि हजारीमलजी म० ऐसे ही सन्तों में से एक थे.

मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ. और उनकी स्मृति में प्रकाशित होनेवाले विराट् ग्रंथ के आयोजन की सफलता चाहता हूँ.

**भँवरलाल मेहता**
डायरेक्टर स्वायत्त शासन विभाग

पवित्रिता, सादगी और उच्चता भारतीय संस्कृति का मूल हैं. हमारे सन्तों ने हमारी संस्कृति के उन मूल्यवान् तत्त्वों को को सदैव ही सुरक्षित रखा है. और समय समय पर विकसित भी किया है. उनके जीवन से प्रेरित हो कर हम लोग भी अपनी इस महान् संस्कृति की धारा के साथ चलते हैं और बढ़ते रहे हैं.

मुनिश्री हजारीमलजी म० का जीवन एक तपोनिष्ठ सन्त जीवन था. स्मृति में प्रकाशित किये जा रहे स्मृतिग्रंथ का महत्त्व तथा मूल्य इसलिए निर्विवाद है.

मैं इस ग्रंथ की पूणतः सफलता चाहता हूँ.

**गुलाबसिंह लोढ़ा**
डायरेक्टर समाज कल्याण राजस्थान

स्वामीजी महाराज के दर्शन पाने का सौभाग्य तो मुझे नहीं मिला, परन्तु उनके विषय में जो कुछ सुना और पढ़ा है, उससे मेरा हृदय उनके प्रति श्रद्धा से पूर्ण है. ऐसे महानुभाव किसी भी सम्प्रदाय के क्यों न हों वे सब के आदरणीय होते हैं. उनकी साधुता के प्रति मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित है.

मेरी तुच्छ बुद्धि में यही आता है—

पथ वहुत हैं, एक ही गन्तव्य, दिव्य की ही ओर उन्मुख भव्य ।

**—मैथलीशरण**

MINCHOSTER, MASS,
U.S.A.
October 11, 1963

However much I would like to contribute to the Commemoration Volume, I have not time to write a paper for this Volume. At my advanced age of 74, I am over burdened by the work I am carrying now. I am sorry for this situation but it cannot be helped.

Wishing the fullest measure of success to the Volume.

**P.A. Sorokin**

J. K. ORGANISATION
KAMLA TOWN, KANPUR
October 8, 1963

*Mahamuni Shri Hazari Malji Maharaj* was a great savant who had practised what he has preached. Born in a business community of Rajasthan, he showed great asceticism and detachment from early boyhood and followed strict rules of jain order. He engaged himself in preaching the truth, enshrined in the order. Very few saints of our age have attained such high standard of personal merit and sadhna as was done by him.

On the occasion of publication of a Commemoration Volume for the savant of humanity, I pay my reverential homage to him.

Padampat Singhania

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री हजारीमल जी म० की स्मृति में विशाल ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है। मुनि का जीवन जितना पावन होता है—स्मरण भी उससे कम पावन नहीं होता। अतीत के अगणित सन्त महात्माओं की जीवनी आज भी प्रेरणा का प्रवहमान प्रबल स्रोत है।
मैं आपके प्रयास की सफलता की कामना करता हूँ और चाहता हूँ कि स्मृतिग्रंथ राजस्थान के साहित्य, संस्कृति, धर्म, नीति के क्षेत्र में किये गये अतीतकालीन महान् प्रयासों का एक उज्ज्वल प्रतिबिम्ब बन सके।

—बरकतुल्ला खां
**स्वायत्तशासन मंत्री, राजस्थान**

पूज्यपाद लोकोत्तर सन्त स्वामी श्री हजारीमल जी म० की स्मृति में प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ की मैं पूर्ण सफलता चाहता हूँ। स्वामी जी म० का पवित्र जीवन जगत् के लिए पथप्रदर्शक है। इससे अनेक जिज्ञासुओं को प्रसन्नता होगी।

**—अमरचंद मोदी**

मुनि श्रीहजारीमल स्मृति-ग्रंथ

# जीवनवृत्त, संस्मरण, श्रद्धांजलि और परम्परा-दर्शन

*प्रथम अध्याय*

मुनि श्रीमिश्रीमलजी म०
'मधुकर'

# मुनि श्रीहजारीमलजी : जीवनवृत्त

## गृहीजीवन :

एक दिन अवनि पर आंखें खुलीं,—यह जीवन का प्रारम्भ हुआ ! एक दिन आँखों ने देखना बन्द कर दिया—यह जीवन का अन्त हुआ ! जीवन किस तरह जीया गया—यह जीवन का मध्य है ! कौन किस तरह जीवन जी गया—यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है. इसी प्रश्न की चर्चाओं में से जीवन चरितों का गठन, लेखन और परिगुंफन होता है.

मनुष्य-देह में, जीवन धारण करने पर जिसका जीवन असाधारण गुणों की ओर अभिमुख होता है, उसके असाधारण व्यक्तित्व से मनुष्य प्रेरणा ग्रहण कर अपने जीवन को सुवास से परिव्याप्त करना चाहता है. मनुष्य का विकल देवत्व सतत् काल से ऐसे ही जीवन की टोह में रहा है.

मानव दुर्वलताओं से अभिभूत रहता आया है. मानवीय दुर्वलताओं में जीते-जीते वह दुर्गुणों में अत्यधिक आसक्त हो गया. अतः आसक्तियों पर विजय प्राप्त करने वाले जीवनों का अनुगमन करने में ही आत्मा की समुपलब्धि संभाव्य है. मेघ से सहस्रों बूंदें, माँ धरती के प्रेमांक में परित्राण प्राप्त करने के लिये–निःसृत होती हैं. एक स्थान से अवतरण करने वाली सभी बूंदें मुक्ता नहीं बनतीं ! सीपी के सम्पुट में प्रविष्ट होनेवाली बूंद ही अखंड सौभाग्यवती है. कालांतर में मनुष्य उसे मुक्ता की संज्ञा प्रदान करता है.

मरुधरा के जनवंद्य, महामना मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज का जीवन, राजस्थान की सूखी मिट्टी में प्रकट हुआ था. एक दिन इसी धरती के कणों में उनकी काया समाहित हो गई. भारतवर्ष की विमल सन्त-संस्कृति के प्रति, अर्पणभाव रखने वालों ने उनका पुण्यस्मरण कर-कर समर्पणभाव का तर्पण इन शब्दों में किया. **"उनकी पवित्र काया माटी में नहीं समाई, वह सोना बन गई."** वे देह धारे रहे--तब तक जनमानस उन्हें सन्त-रत्न कहता रहा.

महामुनि श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज के जीवन को हम अपनी लेखनी से कितना अंकित कर पायेंगे–नहीं कह सकते. हम जो लिखेंगे जनता उसे नहीं सह सकती. क्योंकि हमारे कहने से भी अधिक उनका गरिमा-महिमा-युक्त जीवन और जीवन की घटनाओं का स्मरण चित्रालय–उनके पास है. महापुरुषों का जीवन लेखनी से लिखे जाने का विषय नहीं होता. सन्त का जीवन वैशिष्ट्यों का क्षीरसागर होता है. मनुष्य किन-किन विन्दुओं का कलम की नोकसे संदर्शन करा-येगा ? लिखते-लिखते अनेक जीवन भी एक जीवन का सम्पूर्ण अंकन नहीं कर सकते. उक्त अंकित अंश में सैद्धान्तिक दृष्टि से बहुत बड़ा सत्य सन्निहित है. एक व्यक्ति सन्त के जीवन का वयान करने का दावा भी नहीं कर सकता. क्योंकि वाणी से सन्त-जीवन को परिज्ञापित कराते-कराते वाणी वेचारी क्लांत हो जाती है. अंकनकार थक कर शीतल छाँह की प्रत्याशा करने लगता है.

## जीवन का प्रारंभ :

पूज्य श्रीहजारीमलजी महाराज ने अपने जीवन को कैसे जीया ? उन्होंने अपने जीवन में किन-किन विशेषताओं को किस-किस प्रकार से समाहित किया–यह उतना महत्त्वपूरित नहीं है. वह महा व्यक्तित्व जनमानस में किस प्रकार जीवित

है, जनता उसको किस रूप-प्रारूप में याद करती है—यह महत्त्वमंडित है. इस निकष के आधार पर किसी भी व्यक्तित्व का अंकन ही खरा अंकन है. इस महाकसौटी पर उत्तीर्ण होने वाले कनक की शुद्धि असंदिग्ध है. लिखने को तो किसी के वारे में कुछ भी लिखकर प्रचारित किया जा सकता है, परन्तु ऐसा लेखन जिज्ञासुओं के जीवन में परिवर्तन नहीं ला सकता.

## वड़ा कौन ? :

वड़ा व्यक्ति कौन है ? जिस का नाम वड़ा हो वह वड़ा नहीं, जिसका काम वड़ा होता है वह महान् है. जीवनकाल में मनुष्य के वड़प्पन को नापने का तरीका—उसने काम क्या किया और कैसे किया—यह है. उसके स्वर्गवासी हो जाने पर उसके गुरुपन की पहचान का तरीका—उसकी स्मृति में पीछे से क्या होगा, उसकी अपूर्ण भावना की परिपूर्ति किस प्रकार होगी—यह है !

## उनका जन्म :

पूज्य मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज की माता नन्दूवाई धन्य-धन्य हो गई थी, जिस दिन पुत्र 'हजारी' ने जन्म लिया था. पिता का पारिवारिक परिस्थितिवश अतृप्त पितृत्व भी पुत्रजन्म से पुलक उठा था, जव छोटे-छोटे हाथ हिलाते, पैर पटकते,—मोतीलालजी मुणोत ने—वीरपुत्र हजारी को प्रथम वार देखा था.

वसन्त का मन-भावना मौसम ! शीत की विदाई और नैसर्गिक सुषमा का आगमन ! कल्पना करते ही मन अलौकिक उल्लास से भर उठता है. ऐसी ही उस उल्लासमयी वसंत पंचमी[1] को नन्दूवाई, वात्सल्य में भीग गई थीं. अपनी कूंख को सराहने लगी. दो-दो पुत्रोंकी जुदाई भूल गई—मस्तिष्क में नाना कल्पनाओं के वाचारहित शव्दचित्र, वने, विगड़े, उभरे और मिटे !

## माता-पिता : अन्य जन :

पूज्य महामुनि के पिता दो भाई थे. गाँव के शव्दोच्चारण के अनुसार मोतीजी और पिथाजी. इनका सुसंस्कृत रूप मोतीलाल मुणोत और पृथ्वीचन्द्र मुणोत—होता है. पृथ्वीचन्द्रजी वड़े थे. मोतीलालजी, हजारीमलजी सहित तीन पुत्र और एक पुत्री के पिता थे. हजारी के वड़े भाई, मध्यप्रदेश के प्रवेशद्वार 'जावद' में एक निकट के परिवार में दत्तक पुत्र के रूप में रहने लगे थे. मँझले को भी क्या जँची कि वे भी वड़े के पास ही रहने लगे थे. पिता का स्नेह किस पुत्र-पात्र में स्थान पाए ? उन्होंने अपनी ममता को पुत्री किशनी वाई में केन्द्रित कर समत्व-साधना प्रारम्भ की. समत्व-साधना के प्रतिफल में से एक दिन, जनक-जननी के ममत्वकेन्द्र चरित्राधार 'हजारी' अवतरित हुए. पिता और माता ने उन्हें मात्र अपना ही हजारी मानने का स्वर्णिम स्वप्न देखा था. पर दोनों को ही पता नहीं था कि हजारी मात्र उन्हीं की ममता का केन्द्र रहेगा या जन-जन का पूज्य और श्रद्धा का आधार वनेगा.

## पिता की स्नेहधारा :

संसार में स्थायित्व के नाम पर क्या स्थिर है ? कुछ भी नहीं ! स्नेह और ममत्व भी वहकाए और वँटाए वँट जाते हैं. स्नेह का स्रोत एक दिशा में वहते-वहते दूसरी दिशा में वहने लगता है. पिता का सम्पूर्ण स्नेह, किशनी में केन्द्रित था. पुत्र के आते ही पिता का स्नेह पुत्र पर आधारित हो गया. पिता घर से वाहर प्रतिपल श्रम करने लगे. मस्तिष्क से पुत्र हजारी के सुखी व शिक्षित करने के स्वप्नचित्रों में रंग भरने लगे. घर में नन्दू और किशनी हजारी की किल्लोल और

---

१. सं० १९४३. डांसरिया ग्राम (मेवाड़)

किलकारियों से हृदय में उल्लसित होने लगीं. हँसते-खेलते, भागते-गिरते, रोते और मीठी नींद में सोते हजारी को देख-देख कर वे उल्लास से भर-भर जातीं.

## स्नेहाधार :

माता ने माना था—यह मेरी ममता का मेरु है. भगिनी ने भाई को बल का आधार माना था. पिता ने निश्चय किया था—'मेरा सारा कर्म और धर्म हजारी के लिए है. यह मेरी कीर्ति का युगांतरकारी ध्वज है!'

स्नेह बँट जाता है. धन लुट जाता है. समय सरक जाता है. समय की करवट से, सब उलट-पुलट हो जाता है ! पिता न्यायनीति से धनोपार्जन के पक्षकार थे. कृषि, गोपालन, वस्तु का आदान-प्रदान, विक्रय और विभाजन—ये उनके अर्थोपार्जन के स्रोत थे! वे इन पर आधारित थे. स्वभाव के पूर्ण साधु. समय ने अँगड़ाई ली—सब कुछ बिखर गया. चल-सम्पत्ति विभाजित हो गई. अचल के हिस्से में भी सबलों की आँखें गड़ गईं. अदृष्ट अभाव, देह धारण कर सामने आ गया. मोतीलालजी ने स्थिर मस्तिष्क और शान्त मन हो स्थिति पर विजय प्राप्त करनी चाही. रोग का भयंकर आक्रमण हुआ. उन्होंने धैर्यपूर्वक रोगाक्रमण से संघर्ष किया. शारीरिक अस्वस्थता में भी मानसिक स्वस्थता का अनुभव किया[1]. तीन वर्ष तक रोग से जीर्ण काया के द्वारा घरका काम सँभाला. गाँव के बड़े-बूढ़े स्त्री-पुरुषों की आँखों का सुख हजारी पढ़ने लगा. पुत्र पाँच वर्ष का हुआ. पिता काल की आँखों आ गए. माता निराधार हो गई. परिजनों के मुखमंगल वचन, नन्दू की आवश्यकता और दुःखी मन की मरहम न बन सके. जैसे-तैसे माता ने दो वर्ष व्यतीत कर दिये. माताने सोचा: 'मेरा हजारी सात वर्ष का हो गया है. किशनी साल दो साल में अपने घर की हो जायगी तब तक यह भी समझने लगेगा. जैसे-तैसे घर का काम चल जायगा. 'उनकी' अंतिम निशानी को देख-देखकर ही जीवन बिता दूंगी. वृद्धावस्था का अब मेरा यही तो एक आधार है? घर-गृहस्थी की बातें समझने लगेगा तो क्या मेरे 'लाल' को गरीब घर की कन्या न मिलेगी ? जरूर मिलेगी.

## जननी पर विपत्ति :

माता जानती थी, स्वजन—वैसे तो सभी स्वार्थ में डूबे हुए हैं. सारा संसार ही स्वार्थ की आग में जल रहा है. निरर्थक परार्थचिन्तन किस को सूझता है ? वे दिन, वह समय अब नहीं है कि स्व और पर हित चिन्तन मनुष्य साथ-साथ किया करता था. इसके पिता बार-बार कहा करते थे—"किशनी की माँ ! मेरी आँखें बन्द हो जाएंगी तो हजारी का क्या होगा ?" मैं उन्हें कहा करती थी—"आप ऐसी अशुभ कल्पना क्यों करते हैं ?" मेरा यह कहना, आज सोचती हूँ झूठी सांत्वना थी. झूठी हो या सच्ची, वे तो अनन्त पथ के पथिक हो गए. अपनी राह चले गए. न जाने कौन-सी अज्ञात शक्ति है जो अनजाने में ही हमारे 'अपने' को अपने पास बुला लिया करती है. शायद उनको न्याय-नीतिमय जीवन जीते हुए यह दीखने लगा था कि मैं चला जाऊँगा और हजारी बेसहारा हो जाएगा. मैं उनकी बात को टाल जाया करती थी. जब-तब यह भी कहती—'वीरभूमि मेवाड़ का जाया जन्मा अपनी आन और शान पर मरता मिटता आया है. विपन्नावस्था में भी वह पराजय नहीं स्वीकार करता है. श्रम के कण ही मेवाड़ के मोती हैं. पिछला इतिहास बताता है, श्रुतिपरम्परा से, बड़े-बूढ़ोंके मुँह सुनती आई हूँ—मेवाड़ की मिट्टी के रजःकणों में लोट-लोटकर बड़ा होने वाला मेवाड़ी हृदय का भोला, बड़ों का आदर करने वाला एवं अपनी आन-शानको प्राण-प्रण से निभाने वाला होता है. वह किसी के सामने अपेक्षा और आकांक्षा के लिए हाथ पसार कर अपनी दीनता नहीं दिखाता. आज इस सत्य की कसौटी का दिन आ गया है.

---

१. सम्यग्दृष्टि आत्मा, असातावेदनीय का तीव्रतम उदय होने पर भी शारीरिक चिन्ताओं में निमग्न न रहने के कारण निर्जरा का अधिकारी बनता है, जब कि ठीक वैसी स्थिति में वही कर्मोदय मिथ्यादृष्टि आत्माओं के लिए बन्ध का कारण है ! एक वस्तु हो कर भी दृष्टिभेद से भिन्न स्थिति की सृष्टि होती है. जैसा कि आध्यात्मिक सन्त महात्मा गांधी के आध्यात्मिक मार्गदर्शक श्रीमद् रायचन्द्रजी ने निम्न पंक्तियों में अभिव्यक्त किया है—'ज्ञानी के अज्ञानी जन सुख दुःख थी रहित न कोय, ज्ञानी वेदे धैर्य थी अज्ञानी वेदे रोय ।'

हजारी के लिए मैं उनके जीते जी सोचा करती थी, इसके हजार हाथ हैं पर आज सोचती हूँ—हजारी के हजार हाथ नहीं, ये दो ही हाथ हैं. इन दो आँखों की वाट हृदय में वसा हजारी अव किसका आधार गहे ? 'अच्छा व्यवहार वुरे अवसर पर काम आता है' इसके पिता यह कहा करते थे. उनका अच्छा व्यवहार वेटी के हाथ पीले करने में सहयोगी न होगा ? आज इस वात की भी परीक्षा कर देखूं. अगर किसी ने सहयोग किया तो ठीक, अन्यथा जगन्नियन्ता जैसे चाहेगा वैसे ही रहना है. होनी सामने आएगी. होनी के हजार हाथ होते हैं. होनी के खेल अव तक जीवन में क्या-क्या नहीं देखे हैं. जो-जो देखा वह सव आज उभर-उभर कर याद आ रहा है. दुःख की घड़ी तो मनुष्य की विसात नापने आती है. दो-दो पुत्र हैं. आज वे कमा खाने योग्य हैं. गोद तो एक ही गया है. वे चाहें तो कौन ऐसा है जो अपने भाई की हमदर्दी करने से रोक-टोक सकता है ? पर नहीं, मेरा यह सोचना ही गलत है. मेवाड़ का इतिहास वतलाता है–यहाँ खून के रिश्ते भी अतीत में टूटते रहे हैं. मेवाड़ की यह शान है कि यहाँ का वासिंदा जिसके यहाँ भी रहे उसका पूर्ण वफ़ादार वनकर रहे.

आन और शान पर मरना मिटना तो यहाँ की पवित्र और पावनी परम्परा रही है. शान और आन के लिए तो पन्ना धाय ने जिसे अपना मान लिया था उस अमरसिंह की रक्षा के लिये, अधिकार के लोभी उदयसिंह को खड्ग हाथ लिए देख अपने पुत्र की ओर निस्संकोच भाव से संकेत कर दिया था. प्रसन्नता है मेरा पुत्र दत्तक पुत्र के रूप में जिस माँ की सूनी गोद भरने गया है उसकी गोद अमर रहे. मेरा क्या है ढलते सूरज की-सी जिन्दगी रही है—विता ही लूंगी और वह कहने लगी : 'मेरी कूंख से जाये जन्मे वेटे ! तू जहाँ गया है वहीं का होकर रहना. अपने देश की यह निर्मल परम्परा है. भाई और माँ के मोह में आकर अपने कर्त्तव्य से जरा भी उपरत मत होना. तेरे पिता का और मेरा, मेरा और तेरे भाई हजारी का इसी में गौरव है.'

## नन्दू का स्वाभिमान : श्रमनिष्ठा :

माता नन्दू ने कुछ समय वाद पुत्री किशनीवाई के हाथ पीले कर निश्चिंतता अनुभव कर ली थी.

मनुष्य की जव किसी भी कार्य या नियमपालन पर से निष्ठा समाप्त हो जाती है तव वह दूसरों की ओर देखता है ! अन्य की साधन-सुविधाओं पर निर्भर हो जाता है ! उसका सम्पूर्ण प्रयत्न इस पर आधारित हो जाता है कि सुविधाएँ किस प्रकार प्राप्त हों, फिर वह यह नहीं देखता कि अमुक कार्य मेरी आत्मा और संस्कृति के अनुकूल रहेगा या प्रतिकूल !

वह परम निष्ठावान थी. उस के हिए का हार हजारी नौ वर्ष का हो गया. उसे स्मरण आया :

'हजारी के लिए मोती की सम्पत्ति में से कुछ वचा-खुचा था वह भी धीरे-धीरे लालची लोगों के कब्जे में हो गया.' भारत की असहाय नारी क्या करती ? मेरे तेरे से अपेक्षा ? पर यह कार्य मेवाड़ की स्वाभिमानिनी नन्दू को स्वीकार्य नहीं था, तात्कालिक ओसवाल-जाति के विधि-निषेधों के अनुसार घर से वाहर जाकर श्रम के नाम पर कुछ करना सम्भव न था. हाथ पसारने का विचार उसके रक्ताणुओं में भी प्रविष्ट न हुआ था.

एक दिन माता नन्दूवाई हजारी के जन्मस्थान (डांसरिया, टाडगढ़ के समीप, मेवाड़) से ४२ मील दूर, रसभूमि राजस्थान के व्यावर नगर में काम की तलाश में चली आई. डांसरिया में मोतीलालजी की खून पसीने की मेहनत का एक मकान और कुछ जमीन शेष थी. व्यावर में रहते-रहते काम किया. आत्मा के अणु-अणु में विश्वास, पुरुषार्थ में पूर्ण निष्ठा और स्वाभिमान की ज्योति, ज्योतिमान हो गई कि 'मैं किसी पर आधारित नहीं. सव ओर से आत्मीय सम्वन्ध की डोर का सिरा टूट गया तो क्या हुआ ? मैंने कभी किसी के आगे हाथ तो नहीं पसारा !'

नन्दू को अपने मकान और जमीन, हजारी की किल्लोलस्थली—जन्मभूमि—का ममत्व विकल करने लगा. कुछ दिन के लिए डांसरिया गई. परन्तु अधिक दिन वहां रहना उनके मन को कचोटने लगा. पुनः शीघ्र ही सव देखभाल कर, पुत्र सहित लौट आई. काम करने लगी. किसी से प्रीत, न डाह. अतीत के सलोने अलोने सव स्वप्न विसार, श्रम कर सुखपूर्वक

रहने लगी. अपने छोटे-छोटे हाथों से पुत्र हजारी भी, माँ के काम में हाथ बँटाने लगा. इस तरह माँ सुखी थी. बेटा सुखी था. दोनों का एक छोटा-सा संसार था. माँ अपने बेटे को बता देना चाहती थी कि 'स्वार्थ से सराबोर इस संसार का बरताव देख ले. बड़ा होकर किसी से भी आस मत करना. अपना किया ही अपने काम आता हैं.'

## नारी का सुख :

एक वस्तु भी विभिन्न अनुभूतियों या उसके पृथक् माध्यम के कारण, अनेक रूपों में परिवर्तित हो जाती है. सत्य एक होकर भी वैयक्तिक भेद से अनेक है. दुःख और सुख भी वैयक्तिक भेद से अनेक रूपात्मक है, शब्दातीत है.

नारी का सुख पुरुष से भिन्न है. वात्सल्य उसके सुख को बढ़ाता है. वात्सल्य के अभाव में नारी नारायणी नहीं कहलाती है. सुसंस्कार और स्वाभिमान उसके वात्सल्य में स्थायित्व लाते हैं. उस समय वह वात्सल्य को जन-जन में अर्पित कर देती है. वही उसका सुख, सुख है. वह अपने जीवन की प्रत्येक घड़ी में दूसरों को सुखी देखकर, दूसरों को सुखी बनाकर—अपने आपको सुखी व प्रसन्न अनुभव करती है. त्याग और सेवा उसकी आत्मा का सरगम है. उसे इसमें अखण्ड आनन्द की उपलब्धि होती है. इस आनन्द में डूब कर वह अपना दुःख, अपना सुख—सब कुछ भुला देती है. तब वह अपने में सीमित न रह कर विराट् बन जाती है. पूज्य स्वामीजी महाराज की माँ भी एक ऐसी ही माँ थी, उस माँ ने अपने वात्सल्य को विराट् बनाया था. वात्सल्य के उस विराट् आलोक में खड़ी होकर एक दिन अपनी ममता के केन्द्र हजारी को स्व-पर कल्याण में जुटे रहनेवाले परमादरणीय स्वामीजी श्रीजोरावरमलजी के चरणों में सौंप कर अपने आपको धन्य-धन्य समझा था. इस अर्पण की पूर्व कथा निम्न प्रकार है--

## वर्तमान वर्ते सदा सो ज्ञानी जग मांय :

माँ को एक दिन विचार आया—'हजारी को नौ महीने तक अपने पेट में रखा, और कूंख से जाया—जन्म दिया. आज दुःख की सुख की अच्छी बुरी घड़ियों को पार कर के यह नौ वर्ष का, इस धरती पर लोटते-पोटते, भागते-दौड़ते—हो गया है. इस अवसर पर मैं महासतीजी श्रीचौथांजी के दर्शनों का शुभ लाभ पुत्र सहित क्यों न लूँ ?'
माँ नन्दूबाई ने जैनाचार्य श्रीजयमलजी महाराज की सम्प्रदाय की साध्वी श्रीचौथांजी के ब्यावर में दर्शन किए. साध्वीजी ने बालक हजारी में अलौकिक व्यक्तित्व की झलक देखी. माता नन्दू का शोकपूर्ण अतीत सुना. नन्दू को सान्त्वना दी :
"बहिन, अतीत को याद कर-करके हृदय-घट को दुःख व शोक से क्यों भरती हो ? बीती को भुला दो. विधि के अदृश्य हाथों ने जो लिखा था--वह हुआ. दुःख के घट को अब बूंद-बूंद ही सही—रीता कर दो. दुःखी जीवन से मन और तन दोनों प्रकारकी शान्ति भंग होती है. इस तरह तो तुम अपनी आत्मा को शोक-सागर में बोर-बोर जैनसिद्धान्तानुसार गुरु बना रही हो."
साध्वी चौथांजी की बात नन्दूबाई के सरल हृदय में बैठ गई. अतीत पर सोचना छोड़कर वह वर्तमान में सोचने और चलने लगी और इस सत्य को साकार कर दिया—"वर्तमान वर्ते सदा सो ज्ञानी जग मांय."

## स्वामी जी के मन का झुकाव :

हजारी ने अपना नौ वर्ष तक का जीवन दो सुकोमल हाथों और हृदय के मधुर उपालम्भों व प्रभूत स्नेह तथा वात्सल्य में बिताया था. साध्वी चौथांजी का विचारपूर्ण जीवन-दिशा संकेत सूत्र एवं सात्विक वात्सल्य पाकर बालक हजारी का मन, साधु-जीवन की ओर झुक गया. एक दिन पुत्र हजारी ने माँ से कहा :
"मुझे गुरुणी माता के दर्शन तो कराए, किसी दिन श्रद्धेय गुरुजी के दर्शन भी करा दो न माँ."
माता को वर्तमान पर सोचने की दिशा साध्वीजी से मिली थी. अतः उसने अनुभव किया : 'बीते अतीत को बिसारना ही

श्रेष्ठ है. भविष्य के कल्पित सुख मेरे हाथ के नहीं हैं. वे विधि के अधीन हैं. उनके बारे में कुछ भी सोचना मरुमरीचिका का अनुसरण करना ही तो है !'

वर्तमान पर सोचना दर्शनजगत् का ठोस व स्थायी सत्य है. वर्तमान में सोचने वाला अतीत के अन्धेरे में ठोकर खाते दिमाग को बचा सकता है. भविष्य के अदृश्य गर्त में गिरने से बच जाता है. माता नन्दू दोनों किनारों से पल्ला बचाकर जीवन-पथ पर अग्रपद होना सीख चुकी थी. माँ ने हजारी के कहे पर कान दिया. तत्कालीन सादा जीवन और उच्च विचारों के संपोषक, प्रचारक व प्रसारक स्वामीजी मुनि श्रीजोरावरमलजी महाराजके दर्शनार्थ माँ नन्दू और पुत्र हजारी गए ।[1] गुरुजी का उपदेश चल रहा था. ग्रहणशील हजारी ने सुना. उनकी संस्कारी आत्मा में गुरु का व्यापक दृष्टिकोण समाविष्ट हो गया. गुरु कह रहे थे : "मानव जीवन की उच्च भूमिका 'भूमा' बनने से आती है. समस्त विश्व मेरा है. सब मेरे हैं. मैं सब का हूँ इस प्रकार व्यापक चिन्तन, मनुष्यको मोह, द्रोह, राग, द्वेष, क्रोध और अशान्ति से मुक्त कर शाश्वत सुख-शान्ति का अनुभव कराता है." गुरु के हृदय से निःसृत प्रभावोत्पादक धर्मदेशना सुनी. हजारी का मन स्वामीजी महाराज की निर्वेद व वैराग्य-मूलक वाणी में भीग गया. हजारी ने कहा : "माँ, मैं अब सबका बनना चाहता हूँ. मैं सबका हूँ. सब मेरे हैं. इस तरह मुझे विश्व-प्रेम का अधिकारी बनने दो." माँ मौन हो गई.

"माँ मौन क्यों हो ! तुम तो वर्त्तमान पर सोचने में सत्य के दर्शन करती हो न, गुरुमाता (चौथांजी) ने कहा था : 'अतीत और भविष्य के बारे में सोचना छोड़ो, वर्तमान पर सोचना सत्य है. अतीत और भविष्य के काल्पनिक जाल में मन को फंसाने से आत्मा गुरु (कर्मबद्ध) होती है." पुत्र की पकड़, प्रबल और तर्क-संगत थी. माता ने कहा : "गुरुणीजी का कहना ठीक था. तेरा कहना भी ठीक है."

"मेरा कहना ठीक है, तो पूज्य गुरुजी के पास दीक्षा लेने की इजाजत दो.' यों हजारी ने अपने मन की बात कही.

माँ और बेटा गुरुजी के दर्शन करके घर लौट गए. गुरु-दर्शन कर लेने पर प्रस्तुत जीवनी के आधार स्वामी श्रीहजारी-मलजी महाराज ने भागवती दीक्षा का हृदय-भूमि में बीज वपन कर लिया था. वह उनकी निरंतर रट से अंकुरित हुआ. पुत्र की विजय हुई. माता प्रसन्न हुई.

एक दिन स्नेहमयी माँ ने अपने प्यारे बेटे को मन की एक अनुभूति के क्षणों में कहा था: 'मेरे हिये के हार ! तू मेरी ममता का केन्द्रबिन्दु है ! पर तेरा निश्चय भी पाषाण-सा अचल है, यह जानकर ही मैं तुझे जैन-भिक्षु जीवन स्वीकार करने की अनुमति दे रही हूँ. तेरा हिया मेरा हिया है. तुझे साधना में सुख है, तो मैं बाधा नहीं बनूंगी! मुझे तेरे सुख से अलग कहीं सुख नहीं दीखता. वन्दनीय गुरुदेव की सेवा, तन-मन की एकता साधकर करना! सेवा बहुत कठिन कार्य है. यह सुयोग, नगर की कोलाहल भरी दुनिया से दूर रहकर एकांत में योग साधना करने वाले योगी के लिये भी दुष्कर है. सेवा से बचे समय में आत्म-मन्दिर में भक्ति का स्नेह उंडेलकर ज्ञान की ज्योति जगाना ।'........और माँ नन्दूबाई की भोली-भाली आँखों में ममता के दो श्वेत मोती छलक आये.

"माँ ! तुमने गुरुदेव के समक्ष कहा था—मेरी छाती का धन (हजारी) आपके चरणों में सहर्ष अर्पित है, फिर आज ये विषाद के आँसू क्यों ढुलक आये हैं—तुम्हारी करुणामयी आँखों में ?"

माँ से बेटा अपने मन की कितनी बड़ी बात सहज बनती देख सहज भाव से कह गया.

'बेटा, ये आंसू नहीं हैं, यह तो मातृत्व का लक्षण है, इनमें खारापन नहीं है, यह तो माँपन है. आंसू माता होने का प्रमाण है. "तो माँ ! मेरे संयम (मुनि-दीक्षा) स्वीकार करने से तेरा हिरदा कष्ट पाता है ?" बेटे का विमल प्रश्न था. 'जब हिरदा दूर होता है, तो कष्ट तो होता ही है. हृदय-से-हृदय दूर होने पर पीड़ा जन्म ही जाती है. पर तुझे साधना में सुख है, तो मैं अपनी पीड़ा भुला दूंगी. हजारी बेटा, मेरा सुख तुझे सुखी देखने से अलग नहीं है."

---

१. नागौर (मरुभूमि)

तात्त्विक दृष्टि से चिन्तन करने पर प्रतिफलित होता है कि यथार्थतः मुक्ति का आधार वियोग है. संयोग नहीं. श्रमण-परंपरा बहुत प्राचीनकाल से वियोग के प्रति ही निष्ठावान रही है. आत्मा और कर्म का वियोग अपरिहार्य तथ्य है. वही शाश्वत सुख का आधार है, संयोग बंध का कारण है. जीवन में आगत विषमताओं का संतुलन चारित्रिक शक्ति द्वारा ही संभव है. स्पष्ट कहा जाय तो संयम ही कर्म और आत्माके वियोग का आधार है .

"माँ, मैं भी तुझे सुखी देखना चाहता हूँ. तू मेरे सुख में सुख देखती है, यही मातृ-हृदय का माहात्म्य है. मैं दीक्षा लेकर सुख का अनुभव करूँगा तो निश्चय ही इससे तुझे भी सुख मिलेगा. मैं गुरुदेव के सुख में सुख खोजूंगा और गुरु को सुख निर्मल साधना से मिलता है यह भी सत्य है न ?"

"हां बेटा, गुरुको सुख तो निर्मल साधना से ही मिलता है." माँ ने बेटे की ममता को गुरुभक्ति में समोकर कहा.

"तो माँ, मुझे भी स्वसुख, तेरे सुख और गुरु-सुख हित-साधना करनी है. आज तू मुझे त्रिविध सुख के लिये अन्तःकरण से आशीर्वाद दे—जिससे मैं कभी साधना से विरत न हो सकूं. मैं जीवन की अन्तिम घड़ी तक साधना से विरत न होऊंगा. यह प्रतिज्ञा आज मैं तेरा चरण-स्पर्श कर, करता हूँ ."

## गृहजीवन में अध्ययन :

स्वामीजी महाराज ने गुरुचरणों में पहुँचने से पहले महाजनी और हिन्दी भाषा का अध्ययन कर लिया था. ग्राम्य जीवन और शिक्षण की पद्धति के मानदण्ड के अनुसार एवं उस युग में जो अध्ययन करने-कराने की सुविधा थी,—स्वामीजी की पढ़ाई पूर्ण हो चुकी थी. माता ने भी समझ लिया था कि पुत्र लिख पढ़ चुका है. अब इसके लिये परी-सी बहू लाऊंगी. मैं चांद-सी अपनी बहूरानी को एक निमिष भी अलग नहीं करूंगी. परन्तु विधि ने अपने अदृश्य हाथों से स्वामीजी म० के लिए तो पूर्व पुण्य के प्रतिफल स्वरूप योग-साधना का विधान कर दिया था. माता और पिता दोनों ही इस सत्य से अपरिचित थे.

चरितनायक हजारीमलजी दीक्षा के उम्मीदवार होकर पूज्य गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी महाराज की चरणसेवा में रह रहे थे. ज्ञान ध्यान में मन निमज्जित था. एक दिन माँ नन्दू के मस्तिष्क में पुत्र की संस्मृति गहरी उभर आई. भावना की उथल-पुथल में पुत्र को पत्र लिखा:

**"प्रिय हजारी,**

'आज बैठे-बैठे मन भर आया. नहीं रहा जा रहा है. मन की दुखन आँखों की बाट फूट कर बाहर आती है तब अपना कोई होता है या जिसे अपना मान लिया जाता है— उसे मन की दो बात कह कर दुःख से उफनती छाती में सबर आता है. आज तुझे भी कुछ कहने को मन कर आया है.

'बात भी ऐसी कुछ नहीं है. पर बेसबर मन है. इसमें सहनशक्ति नहीं रहती है तो यह अपने रास्ते चलता है. मनुष्य सोचता है बस, अब कुछ हलकापन हो गया—मेरे मन की स्थिति भी ऐसी हो रही है.

'तेरा बड़ा भाई गोद चला ही गया था. मंझला था, वह भी उसके गोद जाते ही उसी के पास चला गया था. बेटी थी, वह अपने घर की हो गई. एक तू था, तू भी मुझसे अब दूर जा रहा है. खैर बेटा......छाती भर आई तो यह लिख दिया है......!

बेटा, पत्र जल्दी-जल्दी दे दिया कर,

—नन्दूबाई"

पुत्र का पत्र माँ के उत्तर में :

**"पूज्य माँ,**

'तुम्हारी माँ का पत्र आया है.' गुरुदेव ने कहा तो माँ, सुनते ही बड़ा हर्ष हुआ. उतावले हाथों गुरुजी से पत्र लिया. तुम्हारा पत्र पढ़ने को मन अधीर हो उठा था. अपलक, पत्र पढ़ गया. आज उत्तर दे रहा हूँ !

'तुम कहती हो, 'मैं दूर जा रहा हूँ.' पर माँ, सच पूछो, तो मैं तुम्हारे निरन्तर निकट रहने का प्रयत्न कर रहा हूँ.

'मैं दूर नहीं जा रहा हूँ, निकट आ रहा हूँ—तुमने कहा था—'इन आँसुओं में खारापन नहीं है--ये तो माँपन की पहचान है—और आज लिख रही हो--'दूर जा रहा है'

'तुम्हारी आंखों के उन दो आंसुओं के माँपन को मैं सदैव याद रखूँगा, उन दो आँसुओं को मैं कभी नहीं विसारूंगा, हर नारीमें माँपन मानकर उसमें विश्व-माँ के दर्शन किया करूंगा, और फिर तुमने कहा था--गुरु को सुख पवित्र साधना में मिलता है, और 'आज दूर जा रहा है!'—यह कहकर गुरु के सुख में वाधा डालने का प्रयत्न नहीं कर रही हो ?

स्पष्टवादिता के लिए क्षमा करना'

विनयावनत,

**—हजारी."**

माँ का प्रतिपत्र :

**"चि० हजारी,**

'वेटा, तेरा पत्र पढ़ते-पढ़ते आंखें वरस पड़ी थीं. एक वात कहूँ ? गुरुजी के पास रहकर वातें तो खूब आ गई हैं तुझे. 'स्पष्टवादिता के लिए क्षमा करना' कैसे लिख दिया. क्या वचपन के वे दिन याद नहीं हैं ? कहने पर भी सच तो क्या झूठ-मूठ भी क्षमा याचना नहीं करता था. कोई वात हो जाती तो ? यह वात तो मैं यों ही कह गई. अव तू अपनी माँ के मन की वात भी सुन ले.

'वेटा, भूल जाती हूँ, पुत्र में अटकी-भटकी माँ की ममता अनचाहे ही भूल करा देती है, परन्तु गुरु को सुख तो, तू साधना में आगे वढ़ेगा, उसी से मिलेगा--यह सत्य है ! साधना करने पर तुझे जो आनन्दानुभव होगा, गुरु को उससे द्विगुणित आनन्द प्राप्त होगा—इसमें दो वात नहीं हो सकती.'

माँ के आशीर्वाद,

**—नन्दूवाई"**

पुत्र का प्रत्युत्तर :

**"पूज्य माँ,**

'पत्र मिल गया था. 'वेटा, भूल जाती हूँ. पुत्र में अटकी-भटकी माँ की ममता अनचाहे ही भूल करा देती है.' क्यों ! ऐसी भूल कैसे हो जाती है ? कौन-सी शक्ति है जिसके वश-वर्ती होने पर वह तुमसे भूल कराती रहती है ! जव तक तुम मुझ में ही पुत्र की कल्पना

करती रहोगी तब तक तुमसे यह भूल संभव है. तुम क्यों नहीं सोचती हो :

**मैं ही नहीं और भी तो हैं, बेटे तेरे धूल लपेटे।**
**फिर क्यों घूम-घूम कर तेरी, ममता मुझसे ही आ भेंटे !**

'माँ, जब तक तुम मुझको मेरी देह में देखती रहोगी, तब तक बटमारों की तरह, तुम्हारी आत्मा का धन लुटता रहेगा ममता के हाथों—इसलिए परभाव से विरत रहने में ही मेरा सुख, तुम्हारा हित और गुरुभक्ति की रक्षा-सुरक्षा है.

'इस पत्र से मुझे एक अलौकिक स्फूर्ति मिली है, विशेषतः तुम्हारे इस वाक्य से 'साधना करने पर तुझे जो आनन्दानुभव होगा उससे गुरुको द्विगुणित आनन्द प्राप्त होगा.'

'माँ, तुम्हारे कहे पर मैं अमर विश्वास लाता हूँ ! अब मैं साधना करूँगा ! गुरु-सेवा करूँगा. तुम्हारे कहे पर चित्त धरूँगा.

गुरुसेवक
**—हजारी"**

**"सबकी ममता के आधार प्रिय हजारी,**

'बहुत दिनों बाद पत्र मिला. पत्र पढ़कर मन रंजा. हजारी के हाथ का पत्र है जान, पत्र पढ़ा. पढ़ते-पढ़ते बेटा मेरा विश्वास आगे बढ़ा ! और हृदय में उच्चस्तरीय भावना ने जन्म लिया. किस प्रकार की भावना ने, यह बता रही हूँ. पहले तू अपने पत्रका जवाब पढ़ ले !

'तुझे अब क्या बताऊँ कि कौन-सी शक्ति के वशवर्ती हो जाती हूँ. और तेरी छविदर्शन को विकल हो उठती हूँ ? तू तो अब सब का बनने जा रहा है. पर मेरी ममता बेटे से अब तक मिटी नहीं थी. मिटती भी कैसे ? पट्टी (स्लेट) के आंक थोड़े ही थे जो बचपन में पढ़ते हुए तू कक्का (क) मांडता और हाथ फेर कर मिटा देता था ऐसे सहसा ही मिट जाती ?

'आज के तेरे पत्रसे मेरा माँपन दिशा बदल चुका है. तेरी कवि-कड़ी मैंने हिरदे की पाटी पर लिख ली है. आखिर पुत्र बुढ़ापे की लाठी होता है. यह पुरानी कहावत तूने सच्चे अर्थों में आज चरितार्थ कर दी है. वह कवि कड़ी जिसने मेरा मन मोड़ा, विचार मोड़ा, और वाणी भी मोड़ी लिख रही हूँ. मुझे ठीक से याद हुई है या नहीं, जाँच करना.

**मैं ही नहीं और भी तो हैं, बेटे तेरे धूल लपेटे,**
**फिर क्यों घूम-घूमकर तेरी, ममता मुझ से ही आ भेंटे !**

'तूने ठीक ही तो अपना पुत्र धर्म निभाया है और मेरे असहाय मन का संबल बना है ! तू विश्वास कर मैं अपने आतम-धन को बटमारों के हाथों लुटने से बचाऊंगी ! अब मैं धूल लिपटे हर बेटे में तेरा ही प्रतिबिम्ब देखूंगी. तू भी विश्वमाता के पथ पर बढ़ रहा है न ?

'अपने निश्चय को बेटा, उस समय तक स्थिर रखना जबतक तेरे मनमें एक भी साँस, रक्तमें एक भी रक्ताणु शेष रहे. मैं भी विश्वपुत्र के दर्शन संसार के सभी पुत्रों में करूँगी !'

'मैं इधर बहुत दिनों से यह सोच भी रही थी 'जिस घरमें तीन-तीन पुत्र जन्मे वह घर-आंगन एक की किलकारी से भी नहीं गूँज रहा है. ऐसे घरमें रहकर मैं भी अब क्या करूँगी? क्यों न मैं भी जिन गुरुणीजी ने जीवन को जीना सिखाया, मेरा अतीतकालीन शोक मेटा—उनके चरणों में ही दीक्षा धारण कर अपने बेटे के पथ पर चलूं ?

'मेरे ऐसे सोचने में क्यों न.........? का द्वन्द्व था. आज उस विकल्प को तेरे द्वारा लिखी कवि-कड़ी ने मेट दिया है. बेटा, तू खुश है न ? आज से तेरी माँ भी सबकी माँ बनने और सब में अपने हजारी के दर्शन करने की प्रतिज्ञा कर रही है.
और क्या, बस ! शेष सुख !

सबकी माँ बनने को उत्सुक,
**नन्दू के आशीर्वाद"**

**'मेरी पूज्य माँ,**

'आज का तुम्हारा पत्र पढ़ कर मेरी आत्मा का कण-कण पुलकित हो गया ! माँ मुझे तुम्हारा निश्चय पढ़कर असीम प्रसन्नता हुई है. तुम्हारा निश्चय अत्यन्त शुभ है. अब इससे तुम कभी भी पीछे की ओर मत मुड़ना! अवश्य ही गुरुणीजी के पास भागवती दीक्षा धारण कर आत्मा का अनन्त आह्लाद खोजना !

'मैं आज अन्तिम बार **तुम्हें मेरी पूज्य माँ** का सम्बोधन कर रहा हूँ. अब तुम सब की माता बनना चाहती हो तो मैं भी, 'मेरी माँ' इस घेरे से बाहर निकलता हूँ ।
'माँ, मैं तुम्हारे पवित्र निश्चय से, प्रसन्न हूँ. परम प्रसन्न हूँ.'

विश्वमाता के निश्चयाधीन,
**—हजारी,"**

# मुनि-जीवन

## हजारी का दीक्षा-ग्रहण :
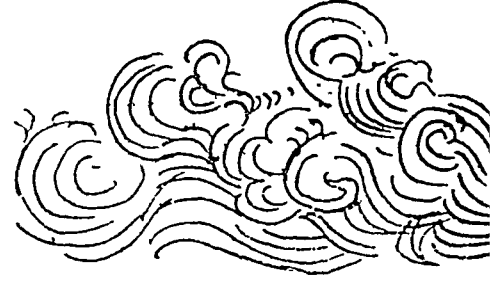
स्वामीजी महाराज ने एक दिन नागौर (मरुभूमि) में अपने पूज्य प्रतापी गुरुवर श्रीजोरावरमलजी महाराज के दर्शन किए और वि० सं० १९५४ ज्येष्ठ कृष्णा दशमी को उसी नागौर नगर में नैतिकाचार के निष्ठावान् गुरु स्वामी श्रीजोरावरमलजी महाराज के कर-कमलों द्वारा भागवती दीक्षा ग्रहण की.

दीक्षा धारण करने से पूर्व माता के चरण छुए. पुत्र ने माता से कहा : "माता, मैंने 'मेरी माता' सम्बोधन उस पत्र में अन्तिम बार किया था. आज तुम्हारे अन्तिम बार चरण-संस्पर्श कर रहा हूँ. आज के बाद मैं तुम्हारे चरण का स्पर्श भी नहीं करूँगा. गुरुदेव का कहना है—'संसार के समस्त नारीवर्ग का दीक्षा के बाद पल्ला भी नहीं भेटना है. जिनत्वभाव की पूर्णता का यह प्रथम सोपान है. नियम की इस दृढ़ता के बल पर ही जिनत्व का अंकुर प्रस्फुटित हो सकता है. अतः अब नेत्रों से चरण स्पर्श अनुभव किया करूँगा. गुरु की आज्ञा में जो विधि-निषेध होते हैं वे एक व्यक्ति को संलक्ष्य करके नहीं कहे जाते. नेत्रों से नारी के चरण-स्पर्शन में नारी का पल्ला भेटने की आवश्यकता नहीं पड़ती. नेत्रों से नारी के चरण स्पर्श करने पर नारी में पवित्रता और शुचिता का भाव अवतरण होता है."

माता ने पुत्र की ज्ञान-पूर्ण बात सुनी और कहा : "बेटा, तूने गुरु के ज्ञान को ठीक ढंग से हृदयांकित किया है. तू स्वयं ही गुरु चरणों में रहते-सहते सुज्ञानवान हो गया है, तथापि एक माता पुत्र के लिए मंगल और उन्नति की कामना रखती है तदनुसार आज मैं तुझे यही अन्तिम बार कहना चाहती हूँ कि मैं तो जब मेरी भव-भ्रमण की स्थिति का काल परिपाक होगा तब दीक्षा धारण करूँगी ही, परन्तु बेटा, तू साधना की वह स्थायी उपलब्धि करना जिससे दोबारा तुझे किसी माता के उदर में जन्म धारण न करना पड़े. और न फिर तुझे किसी माता की कूंख दुखाने का अवसर प्राप्त करना पड़े. फिर कभी किसी माता के आँसू तेरे ममत्व में न ढुलके !! बस मेरा यही आशीर्वाद तेरी वीतराग-पथ की विमल साधना के प्रति है !"

माता से पुत्र कुछ दूर हटा. माता की आँखों से मातृ-स्नेहवश आँसू छलक पड़े. विश्वपुत्रों में हजारी के दर्शन का संकल्प करने वाली माता की चोली गीली हो गई. माँ ने कहा "देख बेटा, महावीर के मार्ग पर चलते हुए कहीं साधना की श्वेत चादर में कलंक का काला धब्बा न लगने पाए. इस संयम-ग्रहण को महावीर की विमल चादर मानना. मेरी ओर से बस इतना ध्यान रख लेना कि माता के श्वेत दूध में कायरता का काला दाग न लगने पाए."

## बालमुनि की भीष्म प्रतिज्ञा और भाषण :

गुरु से दीक्षा-मंत्र लेने से पूर्व चरितनायक दीक्षा-स्थल पर मुनिवेश धारण करके आए. गुरु को विधिवत् वन्दन किया. कर-बद्ध खड़े होकर गुरुदेव से नम्र निवेदन प्रस्तुत किया :

"हे परमपूज्य गुरुदेव ! रागद्वेष का नाश करने के लिए, धन-जन का मोह बिसारने के लिए, पाप-वृत्ति से निवृत्ति पाने के लिए—मैं आपका शिष्यत्व स्वीकार करना चाहता हूँ. मुझे अपनी शरण में लेकर कृतार्थ कीजिये. आपकी कृपा का आश्रय लेकर मैं इस संसार-सागर से, जिसमें जन्म-मरण के भंवर हैं, संकटों की अथाह सलिलराशि है—ऐसे आधि-व्याधि रूप

वृहत् सागर से पार उतर जाऊँगा। आपके चरण ग्रहण कर लेने पर मुझे जन्म-मरण रूप संसार की लम्बाई को देखकर भी भय नहीं रहा. अन्त तक मुनिधर्म का पालन करूँगा. अतः जन्म-मरण से मुक्ति दिलाने वाले वीतराग जीवन की दीक्षा प्रदान करने का अनुग्रह करें."

गुरु ने सज्ञान विनयी, शिष्य की विनती सुनी. शिष्यत्व प्रदान करने की स्वीकृति दी.

मुनिश्री ने जनता का सम्बोधित करते हुए कहा :

"उपस्थित आत्मीयजनों !

'मैं अब तक गुरुदेव की सेवा में रहते-सहते ज्ञानार्जन करता रहा. इस अवधि में नाना प्रकार के प्रलोभन देकर बाधा की बाढ़ खड़ी करने वाले मुझे मिले. परन्तु मेरी आस्था में उससे किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया. गुरु-चरणों में मेरा अचल अनुराग रहा. फलस्वरूप बाट की बाधा मेरी निज की बाट में बाधक न बन सकी. और कुछ ऐसे भी मुझे मिले जिन्होंने कहा : 'हजारी, तुम इतनी छोटी उम्र में यह क्या साहस करने जा रहे हो ? ऐसी कोमल अवस्था में तुम से कठोर साधु-धर्म का पालन नहीं हो सकेगा. अपनी चंचलता के कारण कोई गलती कर बैठो इस से अच्छा है फिर से विचार कर लो. समय आने पर फिर कभी साधु जीवन में प्रवेश करना. पहले जीवन के उपलब्ध सुख-साधनों का उपयोग कर लो, संसार का सुख देख लो.'

'मैंने उन्हें, गुरु से जो ज्ञान सीखा है उसके बल पर उत्तर दिया : "भोग-उपभोग क्षणिक हैं. वे पहले मधुर और बाद में कटु साबित होते हैं. निर्वाण जैसा परम सुख वीतराग के मार्ग में ही है. इसलिए जैसे भी हो मनुष्य को निर्वाण के मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर इस ओर मुड़ जाना चाहिए. क्योंकि जीवन का असली उद्देश्य वीतरागता ही है. मृत्यु सिर पर आए उससे पहले ही कल्याण का मार्ग अपना लेना चाहिए.

'मुझे माता-पिता और भाई-बहिन व अन्य सम्बन्धी जन निर्वाण मार्ग में शृंखला की बेड़ियों की तरह लगते हैं. इन सब का साथ मुझे ऐसा लगता है जैसे प्रवास में साथ चलते व्यक्ति के साथ ये चलते तो अवश्य हैं, पथ के कष्ट भी साथ-साथ उठा लेते हैं परन्तु वन में किसी प्रकार के भय का कारण उपस्थित हो जाता है तो सब अपनी-अपनी जान बचाकर भाग छूटते हैं—ऐसे ये भाग जाते हैं. इसी प्रकार ये सगे संसार-यात्रा में, स्नेहवश सुख-दुख भोगने, एक दूसरे की सहायता करने आ जाते हैं किन्तु मृत्यु आने पर अलग हो जाते हैं. इसलिए मेरी यह धारणा बन चुकी है कि संसार अनित्य है. संसार का सुख वस्तुजन्य है. वस्तु स्वयं अनित्य है. इस कारण वस्तुजन्य सुख भी अनित्य है. जो स्वयं अनित्य है वह मनुष्य की अनन्तकालीन भूखी आत्मा को भोजन देने में भी असमर्थ ही है. अतः मैंने गुरु की शरण ग्रहण करना योग्य माना है.

"इसी तरह मैंने उनको समाधान किया और मेरा अभिलषित दिवस आज आ गया. माता सहित आप सबसे अन्तिम बार इस चोले के द्वारा, मेरे से असुविधा पहुँची हो तो, मैं उसके लिये क्षमायाचना करता हूँ.

आज गुरुदेव मुझे वीतराग-पथपर चलने का गुरुमंत्र प्रदान करेंगे."

गुरुप्रवर ने संघ-साक्षी से श्रीहजारीमलजी को विधिवत् भागवती दीक्षा प्रदान की. और इस प्रकार हजारीमलजी, मुनि हजारीमलजी हो गए.

उपस्थित श्रद्धालुओं में से कतिपय प्रमुखों ने नवदीक्षित मुनि को विनीत आशीर्वचन कहे, जिनका भाव इस प्रकार है :

"नवदीक्षित मुनि प्रवर,

'आपने यह मुनिपद अंगीकार कर लिया है तो हमारी आपके लिये अन्तःकरण से कामना है कि आत्मसंयम और तप के बलसे इस भवभ्रमण रूप संसारसे पार उतरिये. इस क्षण-भंगुर संसार-समुद्र में से जन्म-मरणकी लहरों से, एक कूंख से दूसरी कूंख में जाने के कष्ट से, वियोग-विपद् से—अवश्य मुक्त हों."

"आदरणीय बाल मुनि,

"धन्य तो आप हैं. आपने कठिन व्रत अंगीकार किया है. क्लेशरूपी गृहजीवन छोड़कर, स्नेह-बन्धन की बेड़ियों को तोड़कर, मुक्त होने जा रहे हैं. सुख-दुख में समता और मोह-विमुक्त जो धर्म का स्वरूप है, उसे आपने धारण किया है. आपकी भावना के अनुरूप ही हमारी आकांक्षा आपके साथ है."

"पूज्य गुरुदेव व बालमुनि,

'संसार-सुख से विरक्त होने वाली आत्मा ही इस संसार में महान् है. दीक्षित होने वाला मित्र हो, पुत्र हो, पति हो, पत्नी हो, परिचित हो या अपरिचित हो—उसे संसार की ओर अभिमुख करना वस्तुतः उसका अहित ही सोचना कहलाता है. हम सब की शुभकामना और भावना लघुमुनि के साथ है. आपकी संयम-यात्रा निर्बाध हो यही हमारी विनयपूर्वक कामना है."

## मुनि-मंच से लघुमुनि का भाषण :

मुनिश्री, साधु-समूह के मध्य में काष्ठ पट्ट पर आसीन हुए. आशीर्वादात्मक भाषणों के अनंतर मुनिश्री ने कहा : "आप सब लोगों की शुभकामना मेरा पथ आलोकित करे. यह दृढ़ विश्वास लाता हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ—"जीवन की अन्तिम घड़ियों तक मैं आत्म-साक्षीपूर्वक गृहीत वीतराग पथ पर प्रामाणिकतापूर्वक चलता रहूँगा. एकदिन जीवन की सांझ आ जाएगी पर साधना का अवसान नहीं आने दूंगा."

दीक्षा समारोह का सानन्द उल्लासमय वातावरण में समापन हुआ. गुरु, साधु-जीवनके परम काम्य की साधना में निरत थे. शिष्य को उस रस की अनुभूति कराई. साथ लिया और ग्रामानुग्राम विचरण करने लगे.

## शिष्य की ज्ञान-त्वरा :

जैनागमों में सुयोग्य शिष्य का लक्षण बताते हुए कहा है—गुरु का प्रिय शिष्य वह है जो विनयी, आराधक, जिज्ञासु और गुरु के संकेत-सूत्रों का चिन्तन कर अपने जीवन को उनकी व्याख्यामय बना लेता है. मुनिश्री ने विनय को जीवन का मूल मंत्र, गुरु-आज्ञा को धर्म की आधारशिला, जिज्ञासा को संयम की बाती और गुरु के संकेत सूत्रों में अपना सारा चिन्तन केन्द्रित किया.

उन्होंने ज्यों-ज्यों गुरु की सेवा की त्यों-त्यों उनमें ज्ञान की ज्योति का प्रकाश विस्तार पाने लगा.

## अध्ययन-क्रम :

गुरुदेव के निर्देशन व पथ-प्रदर्शन में मुनिश्री ने जैनागमों का अध्ययन प्रारंभ किया. प्राचीन शिक्षा पद्धति के अनुसार उस युग में थोकड़े सीखना मुनि के लिये अति आवश्यक माना जाता था. थोकड़े एक प्रकार से गणित के गुरु के सदृश होते हैं. गुरों का ज्ञान हो जाने पर जो गणितांकन, आज के गणितपाठी घंटों पेंसिल कागज लेकर भी नहीं कर पाते, वह कुछ ही पलों में कर लिया जाता है. लक्षण-ग्रंथों को जिह्वाग्र करने वाले भी जिस ज्ञान की अतलता प्राप्त करने में चक्कर खाने लगते हैं, उस अतल गहराई में थोकड़ों की ज्ञान-प्राप्त पद्धति सरलता से पहुँचा देती है.

तो उन्होंने बहुसंख्यक थोकड़े सीखे. प्राकृतभाषा के जैनशास्त्र कंठाग्र किए. शुकपाठवत् रटे ही नहीं अपितु उन पर गंभीर चिन्तन के साथ मंथन भी किया। गुरु से शंकाओं, समस्याओं और प्रश्नों का समाधान मांगा। गुरु ने भी उनके प्राणवान प्रश्नों का खुशी-खुशी तर्क संगत समाधान दिया. गुरु को योग्य शिष्य मिला. शिष्य को ज्ञानी गुरु मिले. शिष्य के तार्किक प्रश्न समाधिस्थ हुए. गुरु को मोद मिला. इस तरह वे निरंतर ज्ञान-प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ते रहे.

सिद्धान्त चन्द्रिका व्याकरण का विधिवत् अध्ययन कर शब्दों के उद्गम का पता लगाया. एक दिन उन्होंने गुरुदेव से निवेदन

किया. 'मेरी आकांक्षा है कि प्राकृत व्याकरण का भी अध्ययन करूँ. हमारा समस्त जैन-आगम तथा विपुल व्याख्याग्रंथ चूर्णियाँ आदि प्राकृत भाषा में अंकित हैं. अतः मुझे प्राकृत व्याकरण के अध्ययन की अनुमति का अनुग्रह प्रदान करें. गुरुदेव ने सरस्वतीपुत्र आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अध्ययन की व्यवस्था की. प्राकृत व्याकरण के अध्ययन की जिज्ञासा शिष्य की स्वयं उत्पन्न जिज्ञासा थी अतः गुरु की सुव्यवस्था प्राप्त होते ही शिष्यने स्वल्प समय में प्राकृत व्याकरण पर सांगोपांग अधिकार प्राप्त कर लिया. संस्कृत और प्राकृत का अध्ययन कर चुकने पर उनका मन प्रांतीय भाषाओं की ओर स्वाभावतः ही ढला. प्रांतीय भाषाओं—गुजराती, व्रज और राजस्थानी का ज्ञान घूमते व पद-विहार करते हुए जन-साधारण से नैतिकता एवं सदाचार सम्बन्धी वार्तालाप करते-करते किया था. इन भाषाओं का व्याकरण उन्होंने नहीं पढ़ा था अतः प्रांतीय भाषाओं के उनके ज्ञान को हम प्रांतीय बोलियों का ज्ञान कह सकते हैं.

राजस्थानी भाषा तो उनकी अपनी मातृभाषा ही थी परन्तु राजस्थान की राजस्थानी भाषा भी मेवाड़ी, जयपुरी, अलवरी, मेवाती, ढूंढारी, बीकानेरी, बाड़मेरी व सांचोर-जालोरी आदि के सीमागत टुकड़ों में बँटी हुई है अतः उन्होंने राजस्थान की भिन्न टुकड़ियों की भाषा के शब्दोच्चारण एवं लहजों (ट्यून) पर ध्यान देकर राजस्थानी भाषा का ज्ञान पुष्ट किया.

'प्रांतों, देशों और अन्य राष्ट्रों की भाषा का ज्ञान प्राप्त करना भी सरस्वती के ज्ञान-भंडार का अंश है, इस सत्य पर विश्वास लाकर आंग्ल और बंगाली भाषा का भी ज्ञान प्राप्त किया किन्तु बहुभाषाविज्ञ होने का दावा उन्होंने नहीं किया—अपने जीवन में, कभी[1].

## गौरवशाली नागौर-नगर :

नगीना, नागपुर, नागसर, अहीपुर आदि विभिन्न नामों से नागौर को अतीत में अभिहित किया जाता रहा है. नागौर अनेक दृष्टिसे अपनी विशिष्टता रखता है. जैनयतियों ने विपुल मात्रा में नागौर के सम्बन्धमें पद्य रचनाएँ की हैं. नागौर नारी-सौन्दर्यके कारण तो प्रसिद्ध रहा ही है परन्तु उसका राजस्थान की राजनीति और सांस्कृतिक दृष्टि से अपना विशिष्ट मूल्य-महत्व है. इसी नागौर नगर के लिये यह कितना गौरव का विषय है कि स्वामीजी महाराज को प्रथम गुरु-दर्शन का लाभ, भागवती दीक्षा और दीक्षानन्तर प्रथम वर्षावास का सुसंयोग भी नागौर में ही हुआ.

इस प्रकार नागौर नगर-निवासियों को तीन-तीन सुयोगों का सुमेल प्राप्त हुआ. एक ही नगर में तीन संयोग बने. परन्तु इससे भी चमत्कारपूर्ण एक तथ्य और जुड़नेवाला था. सं० २०१८ का वर्षावास कुचेरा (राजस्थान) में बिता कर मुनिश्री नेपुनः पदयात्रा प्रारम्भ की तो नागौर (राजस्थान) का स्थानकवासी जैनश्रावक संघ बहुत अधिक उत्साह लेकर मुनिश्री की सेवा में आया, इस भावना से कि स्वामीजी का इस बार का वर्षावास हमारे नगर में ही हो.

तपोधन मुनिराज श्रीहजारीमलजी महाराज ने कहा : "काया ने साथ दिया तो (सुखे समाधे सं० २०१९ का चौमासा नागौर करने के भाव हैं) इस बार का वर्षावास आपके नगर में करूँगा. काया ने अगर साथ दिया तो, उनके इस अनिश्चयात्मक वाक्य में शायद उनकी माटी की काया का अंत होना गर्भित था. वे नागौर न जा सके. (चांदावतों का नौखा : राजस्थान) नामक लघुग्राम में अपने दोनों गुरुभाइयों[2] के समक्ष ही चैत्रकृष्णा दशमी सं० २०१८ की काली रात्रि में

---

१. जैनमुनि का जीवन; प्रबल संयम-साधना के साथ-साथ उसका अपना उपदेष्टा का भी रूप होता है. अपने जीवन के अनुभव, शास्त्रीयज्ञान के प्रकाश में उसे ऐसी जनता के समक्ष रखने पड़ते हैं जो संस्कृत और प्राकृत जैसी विद्वद्-भोग्य भाषा से अभिज्ञ रहने के कारण देश्य, भाषाओं की बोधगम्य शैली में उपस्थित करने पड़ते हैं. जैन मुनियों की औपदेशिक पद्धति केवल पांडित्य-प्रदर्शन तक ही सीमित नहीं रहती, जनोपकार की दृष्टि से उनका काम्य होता है—दर्शन की महानतम गुत्थी सरलतम शब्दों में, तत्वज्ञान के सिद्धान्त सीधी-सादी भाषा में, जनता जाने समझे और सदाचार की ओर अधिक से अधिक प्रगतिवान हों.

२. स्वामी श्री व्रजलालजी म० व मधुकर मुनि ।

पंच महाव्रतों (पंचयाम) में ज्ञाताज्ञात भाव से लगे दोषों का शुद्धीकरण किया. नवीन व्रतों का मूलारोहण कर ठीक १०-१० पर बूढ़ी देह में मुनि हजारीमलजी के नाम से विद्यमान आत्मा अदृश्य हो गई !

वे चले गए और अपने गुरुभाई युगल को संयम का, समता का, धर्मदृढ़ता का और विश्ववात्सल्य का कभी नहीं छीना जानेवाला अमूर्त आत्मधन सौंप गए.

## नागौर-नगर की गौरवशाली परम्परा :

चरित्र नायक के तीन महत्वपूर्ण योग नागौर में बने. इसे नागौर का गौरव कहना चाहिए. इस गौरव-गरिमा-महिमा से पूर्व के सुसंयोगों को देखकर कहना चाहिए नागौर में इस प्रकार के संयोगों की परम्परा-सी चलती आई है. यथा—

१. प्रत्येक धर्म व सम्प्रदाय में आचार्य, सदाचार का गौरीशंकर और प्रेरणा का स्रोत माना जाता है, उसका किसी भी नगर में पहुंचना परम सौभाग्य का सूचक होता है। पूज्य मुनिश्री के दीक्षा-प्रसंग पर आचार्य श्रीजयमल्लजी महाराज की परम्परा के ज्येष्ठ आचार्य श्रीकस्तूरचंदजी महाराज भी उस समय वहाँ पधारे थे.

२ पूज्य प्रवर श्रीजोरावरमलजी महाराज के गुरुदेव श्री फकीरचन्दजी महाराज ने स्वामी श्रीबुद्धमलजी महाराज के कर-कमलों द्वारा इसी नागौर नगरमें दीक्षा ग्रहण की थी.

३. कैसे विधिसंयोग बनते जा रहे हैं. श्री फकीरचन्दजी महाराज ने अपने शिष्य जोरावरमलजी को सं० १६४४ की अक्षय तृतीया के ऐतिहासिक दिवस पर नागौर में ही दीक्षा प्रदान की तो बात कितनी स्वाभाविक रीति से बन रही है. स्वामीजी बुधमलजी ने श्रीफकीरचन्दजी महाराज को, और स्वामी फकीरचंदजी ने जोरावरमलजी को, श्रीजोरावरमलजी ने मुनि श्रीहजारीमलजी को नागौर में दीक्षा प्रदान की.

४. इससे भी अधिक महत्वमंडित सत्य यह है कि आचार्य श्रीजयमल्लजी महाराज ने स्थिरवास के रूपमें रहना भी नागौर में स्वीकार किया और वे १३ वर्ष तक महास्थविर के सम्बोधनपूर्वक स्थिर रहे. सं० १८५३ की वैशाख शुक्ला चतुर्दशी की दूध-सी चाँदनी में उनकी तपोनिष्ठ काया भी नागौर नगर की भूरी मिट्टी में विलुप्त हुई !

स्वामीजी महाराज ने स्थानकवासी सम्प्रदाय की जिस शाखा में संयमशील जीवन व्यतीत किया, उस सम्प्रदाय का नाम 'आचार्य श्रीजयमल्लजी म० का सम्प्रदाय' है. जिसके नाम से सम्प्रदाय का नामकरण है उसका आदि पुरुष नागौर में स्वर्गस्थ हुआ. इस तरह नागौर 'जय गच्छ' में प्रारम्भ से ही जुड़ा हुआ है. कहना चाहिए नागौर जयगच्छ के शुभ योगों की परम्पराका जयस्तम्भ या यशःस्तम्भ है ! नागौर नगर कितना गौरवशाली रहा है. आज भी नागौर के स्थानकवासी जैनबन्धु आचार्य श्रीजयमल्लजी महाराजके गौरव-गरिमायुक्त जीवनका पावन स्मरण करते हैं और अपने को धन्य-धन्य अनुभव करते हैं.
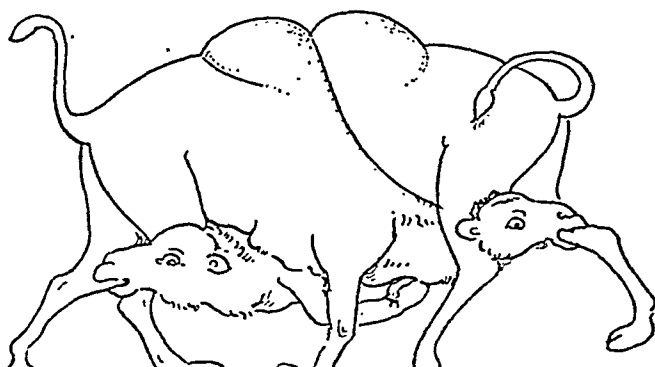
# जीवन-प्रसंग और अन्य पक्ष

## जीवन की कला

कला, कला के लिए या कला जीवन के लिए ? इस पचड़े में वे कभी नहीं पड़े. आदर्शोन्मुख कला उनके जीवन का बीज-मंत्र थी. जीवन किस प्रकार जीया जाय या जीवन को सुन्दर रीति से किस प्रकार व्यतीत किया जाय—इसकी कला क्या है ? इस गुत्थी पर अपना सरल, विमल व निश्चित विश्वास प्रकट करते हुए कभी-कभी वे कहते थे :

"विचार पूर्वक जीने वाला प्रत्येक व्यक्ति, जीवन का एक आदर्श, जीवन की एक कला को लेकर जीता है. उसकी दृष्टि में कलारहित और आदर्शविहीन जीवन, जीवन नहीं होता, आदर्श रहित व्यक्ति भूलता है, पथ से भटक जाता है. उसके जीवन में कभी-कभी आदर्श के अभाव में ऐसी घड़ी भी आ सकती है जबकि वह अपने अस्तित्व को भी विसार देता है. 'मैं कौन हूँ ? किस लिये यहाँ आया हूँ ? मेरा गन्तव्य क्या है ? मेरा कर्तव्य क्या है ?–आत्मा के इस अंतर्नाद को भी वह नहीं सुन पाता है. कलारहित मनुष्य कर्म करते हुए उसमें एकाग्र नहीं हो पाता. इसके अभावमें उसे कर्म से आनन्दानुभव भी नहीं होता !"

स्वामीजी महाराज ने ११ वर्ष की फूल-सी सुकोमल अवस्था में ही जीवन का आदर्श स्थापित कर लिया था. उसी आदर्श पर जीवन की अंतिम साँसें खर्च करते समय तक वे अविराम चलते-बढ़ते रहे.

उनका ज्ञान शुष्क ज्ञान न था. उनका आदर्श पंखविहीन न था। वे जीवन की आवश्यक मांग और भूख से भागने में भी विश्वास नहीं करते थे. विश्वास एक ही बात पर करते थे, "घूमे मन, पर गुमराह न हो." और "पाप न मन में आ पाए." वे मानते थे कि समाज में रहकर पलकें बन्द करके योग-साधना का नाटक नहीं खेला जा सकता है. हमें समाज को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं करना होगा. एक जैन भक्त कवि की जीवन-व्यवस्था और जीवन-कला के अनुसार "अंतर घट न्यारा रहे, जूँ धाय खिलावे बाल." के वे जीवन्त उदाहरण ही थे. उनकी जीवन-साधना का आदर्श और कला का सार—'आत्मभाव के अतिरिक्त संसार के समस्त परभाव से विमुक्त हो जाना ही परम काम्य और संलक्ष्य है.

उनके इस प्रकार के निःस्पृह जीवन के प्रति जनता में आकर्षण का कारण यह था कि जो भी एक बारगी उनके परिचय में आ गया, उनके मन में उनके प्रति श्रद्धा सदा-सदा के लिए स्थिर हो गई. और उनमें जिनकी भी एक बार श्रद्धा उत्पन्न हुई वह सदा-सदा को मूर्तिमान हो गई.

## नाम की क्षुधा से परिमुक्त :

गोस्वामी तुलसीदास ने, मानवमन की दुर्वलता का कितना सुन्दर सजीव व्यक्ती करण किया था :

'कंचन तजिवो सहज है, सहज त्रिया को नेह, मान बड़ाई ईर्षा, तुलसी दुर्लभ एह !'

मनुष्य घर से, परिजनों के दर से, अपने तन से, राग की केन्द्र-विन्दु नारी से, धन से और सौन्दर्याधार कञ्चन से—सम्वन्ध विच्छेद कर सकता है, इनसे ममत्व मेट सकता है, परन्तु यश, सम्मान और प्रतिष्ठा से ममत्व नहीं तोड़ सकता. इसे जैन परिभाषा में 'एषणा' कहा जाता है. इसका घनत्व प्राय: मुनिसूचक परिधान पहनने पर और भी घनीभूत हो जाता है परन्तु स्वामीजी महाराज इसके स्पष्टत: अपवाद थे. इसकी अभिव्यक्ति यह लेखनी ही नहीं कर रही है, पूरा जैन समाज ही, उन्हें इसी रूपमें पहचानता था, जानता है. उनका मन, मंगल आचरण, साधना, भावना सभी कुछ तो सुन्दर था. फिर भी विश्वास किया जाता है कि उनका सर्वोपरि एक गुण था. उसमें उनके सम्पूर्ण सन्तोचित गुण गर्भित हो जाते हैं. वह यह कि महामना मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज ने अपने आपको सदैव सीमित रखा था. कर्म करने में उनका विश्वास था. उसका प्रकटीकरण उन्हें इष्ट न था.

जप करना, तप करना, प्रवंचन करना, लोकोपकार के अन्य अनेकविध कर्म करना—ये सव उनकी आत्मा के सरगम थे. पर इन सब का हृदय था—'इनका प्रकट न होना.' उनके योगनिष्ठ मन को आत्म-प्रकाशन कतई पसन्द न था. वे अपने अंतर्मन के अमर विश्वास को सक्षम कलाकार के इन शब्दों में प्रकट करते थे—

केवल यश से कर्म नहीं नापा जाता है.<br>
मेरा मन तो एक मांप का ही ज्ञाता है,<br>
कौन कोष संस्कृति का कितना भर पाता है,<br>
सागर-तल के सदृश कर्म के प्रति आस्था है !<br>
फल की इच्छा तट पर रोती हुई लहर है,<br>
हार-जीत तो नश्वर केवल कर्म अमर हैं !

सच यह कि उन्हें नाम की कभी भूख पैदा ही नहीं हुई थी. यह केवल बात ही बात नहीं है. जब भी उन्हें यह पता लगता—'मेरा नाम प्रचारित हो रहा है, लोग मुझे जान रहे हैं, तो वे तत्काल उस नगर या ग्राम को छोड़कर अगले ग्राम या नगर में चल दिया करते थे.

उनकी इस वृत्ति से लगता है कि वे मन के भी पूर्ण साधु थे. वे जो कुछ करते या करना चाहते थे, वह सब कुछ 'स्वांत:सुखाय' ही करते थे.

इस प्रकार वे परिचय, प्रदर्शन और प्रचार के सभी अवसरों से दूर रहा करते थे. उनके हृदयकमल की किसी भी पुष्प-पंखुरी पर यह कामना प्रवेश नहीं कर पाई थी कि 'लोग मुझे जानें ! मेरा नाम हो !! मेरी ख्याति हो !!!'

तोड़ चलो चट्टान, कगारों को भी ढहने दो यहीं मत रहने दो !!<br>
श्वासों पर विश्वास चला है, कर्मों पर इतिहास चला है,<br>
छाया पर आभास चला है, संयम पर संन्यास चला है,<br>
सुनो पुकार लक्ष्य की, जग जो कहता कहने दो यहीं मत रहने दो !!

कवि अपनी कम, जग की अधिक कहता है. इसलिए वह समाज का प्रतिनिधि है.

'संन्यास की सफलता गोपन में है. इसके अभाव में संयम सधता नहीं. संयम के अभाव में संन्यास मर जाता है. आत्मा विलुप्त हो जाती है. शरीर रह जाता है. स्वामीजी महाराज के इन्हीं विचारों में से दो प्रकाशदीप प्रज्वलित हुए थे. एक दिन उन्होंने कहा था—

१. "यश और ख्याति की कामना संन्यास-साधना की राख है।"
२. "कीर्ति-कामना साधना को कलुषित कर देती है."

इन्हीं दो दीपाधारों से उनका अंतर्-बाह्य आलोकित था. ख्याति या प्रसिद्धि की भावना आध्यात्मिक जीवन के दिवालियेपन का प्रमाण है. वह बहिरात्मवृत्ति की सूचक है.

जिसके हृदय में कीर्ति-कामना जाग्रत रहती है, उसका जप-तप, ध्यान-मौन सभी कुछ अनात्मस्पर्शी, प्राणविहीन और निस्तेज होता है. अध्यात्म-जगत् में उसका कुछ भी मूल्य नहीं है. इसीलिए श्रमण भगवान् महावीर ने कहा :

नो इह लोगट्टयाए तवमहिट्ठिज्जा,
नो परलोगट्टयाए तवमहिट्ठिज्जा,
नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्टयाए तवमहिट्ठिज्जा,
नन्नत्थ निज्जरट्टयाए तवमहिट्ठिज्जा !

दशवैकालिक आगम का यह वाक्य स्वामीजी की जीवन-नीति का स्पष्ट मुद्रांकन था. अतएव नाम, प्रचार, परिचय, ख्याति से जीवन पर्यंत उन्होंने अपने आपको बचाए रखा. यह तथ्य उनके उत्कृष्ट सन्त होने का एक प्रबल प्रमाण है.

## साधुता का सत्य :

स्वामीजी म० हृदय के सन्त थे. फक्कड़ साधुओं-से कठोर शब्दों का प्रयोग करके वाणी से साधुता उन्होंने कभी नहीं जताई. फक्कड़ साधुओं के समान पाषाण स्फोटक शब्द बोलकर अपने आपको निस्पृह प्रमाणित करने का भी उन्होंने कभी प्रयास नहीं किया और जड़ क्रिया-कांड के प्रदर्शन द्वारा उन्होंने अपनी साधुता को नीलामी के दाव पर भी कभी नहीं लगने दिया था. सम्प्रदायवाद की किलेबन्दी में रहनेवालों के सामने यह समस्या विकट ही रहती है कि अन्य सम्प्रदाय के साधुओं के साथ क्या, कितना और कैसे सम्बंध रखे ? स्वामीजी म० का फूल-सा कोमल मन, सब सम्प्रदायों के साधुओं के प्रति विनम्र था. यही कारण है कि जैनों के लगभग सभी सम्प्रदायों के साधु—जिन्होंने उनके किसलयवत् मन का मधुर प्यार पाया था—हृदय से उनके साधु स्वभाव के प्रति पूर्णरूप से समर्पित थे.

जैनेतर सम्प्रदायों के भी बहुत-से भिक्षु, जो उनके सम्पर्क में आये, उन्हें आज भी स्मरण करते हैं—वे उनके सुमधुर और उत्प्रेरक संस्मरण सुनाते हैं, तो भावातिरेक से उनकी पलकें भींग जाती हैं. पूज्य स्वामीजी के सहजाचार से आकर्षित होकर जैनाजैन सम्प्रदायों के बहुत से साधु उनकी सेवा में रहने के लिये आए....उनके पास, तब भी उनका सन्त-मन चेलों की संख्या-वृद्धि के मोह में नहीं ललचाया था.

आगत भिक्षु को वे अपने पास रखते थे. नेह से समझाते-बुझाते. गुरु-भक्ति का महत्त्व बताकर पुनः उसके गुरु के पास भेज देते थे. मूर्तिपूजक श्वेताम्बर और स्थानकवासी सम्प्रदाय के अन्यान्य उपसंप्रदायों के साधु उनके पास गुरुओं से विचारभेद होने के कारण शिष्यत्व ग्रहण करने आये थे. इस प्रकार आनेवाले साधुओं की काफी बड़ी संख्या है.
यह था उनका निस्पृहभाव ! साधुता का सत्यांकन !!

## चमत्कार हो तो श्रद्धा क्यों न हो ?

व्यक्ति के पास श्रद्धा है किन्तु बहुधा विचित्र प्रकार की साधुता देख वह कुण्ठाग्रस्त हो जाता है. उसके पास विचार करने के लिए मस्तिष्क है. वह सोचा करता है—मैं अपनी श्रद्धा और आस्था को कहाँ केन्द्रित करूँ ?

संसार के समस्त सम्बंध लेन और देन की आधारतुला पर तुलकर स्थापित होते हैं । संत ही एक ऐसा आधार है जिसे वह अपनी आराधना, साधना व भक्ति का मेरुदण्ड मान सकता है क्यों कि उसका आदर्श लेन और देन की तुला से अभिमुक्त है. सन्त ही मात्र पारलौकिक दिशा का निःस्वार्थ बोध प्रदान करता है. वह निःस्वार्थ होने के कारण कलह, काम और द्वेष

से परिपूरित मानव को मुक्ति का विमल संदेश दे सकता है. वह अपनी अध्यात्मविद्या के वल से उसके दिल की गाँठें खोल सकता है. इसलिए जनमानस उस ओर अतीत काल से आज तक झुका है, झुकता आया है. चाहिए उसके श्रद्धाशील मानस को झुकानेवाला. मनुष्य का मन-मस्तिष्क वहीं झुकता है जहाँ उसे अलौकिकता दीखती है. 'चमत्कार को नमस्कार' जैसी लोकमानस में तैरती-उभरती भावना इसीलिए चलती आ रही है.

स्वामीजी श्रीहजारीमलजी महाराज में कुछ इसी प्रकार का चमत्कार विद्यमान था. यही कारण है कि वे जहाँ भी वर्षा-वास बिताया करते थे, वहाँ का वातावरण अत्यंत शान्त और प्रेमयुक्त रहता था. वहाँ एक विचित्र प्रकार की दिव्यता, भव्यता और पावनता-सी परिव्याप्त हो जाती थी. उनके वर्षावास काल में जनता का धर्मभाव मूर्तिमान् और स्फूर्त हो उठता था.

वर्षाऋतु में प्रकृति बरस कर तप्त भूमि को शीतलता प्रदान करती है। स्वामीजी म० के भद्रभाव, निष्पक्ष व्यवहार, प्रशान्त मुखमुद्रा, और विमल मन को देखकर—द्वेष, क्लेश व द्वन्द्व से घुटती उफनती उमड़ती सुलगती लोगों की हृदय-भूमि स्वतः शान्त हो जाया करती थी. वर्षों से चली आ रही द्वेष की लम्बी परंपरा की लौहश्रृंखला, उनके समभावों से कहे वचनों की चोट से टूट जाया करती थी.

मुनिश्री ने जहाँ-जहाँ भी वर्षावास किया, वहाँ-वहाँ सर्वत्र अखण्ड शान्ति रही ! सभी सम्प्रदायों और वर्गों के लोगों का, उनके प्रवचनों के पीयूष से साम्प्रदायिकता का गरल विनष्ट हो जाया करता था. उन का उदार व्यवहार, धार्मिक उन्माद को पनपने ही नहीं देता था. भगवान् महावीर की धर्मसभा में जन्मजात प्राणी भी अपना वैर-भाव भूलकर निर्वैर हो जाते थे, इसी प्रकार स्वामीजी के सांनिध्य में भी लोग अपने वैमनस्य एवं वैर-विरोध को विस्मृत कर देते थे.

उनका मन व हृदय, शान्त सरोवर के समान ही परिशान्त और विशाल था. उनके हृदय-सरोवर में प्रथम तो किसी व्यक्ति को कंकरी डालने का असत् विचार ही उत्पन्न नहीं होता था, अगर कोई कंकरी निक्षेप कर भी देता था, तो वहाँ चंचलता की ऊर्मियाँ उठती उभरती फैलती और आगे बढ़ती हुई दृष्टिगत नहीं होती थीं.

जहाँ-जहाँ भी उन्होंने वर्षावास किया, वहाँ-वहाँ उन्हें सबने अपना कहकर ही पुकारा था. एक सन्त की सब से बड़ी विशेषता यही होती है कि उसे जनता साम्प्रदायिक भेद-भाव भुलाकर कितनी श्रद्धा अर्पित करती है ! कितना चाहती है !!

उनके हृदय का प्रेम, बाल, युवा, वृद्ध, वाला, वृद्धा आदि सबके प्रति समान था. हृदय-द्वार सबके लिए अनावृत था. वहाँ जाति, सम्प्रदाय, प्रांत और प्रदेश के व्यक्ति को लेकर किसी भी प्रकार की भेद-भावमूलक समस्या उनके मन में नहीं थी. लगता है उनके रेशे-रेशे-में, पुष्प में सुगन्ध, दुग्ध में धवलता और अग्नि में ऊष्मा समाई रहती है–ऐसे ही समा गया था उनमें संतत्व ! समत्व !! और निर्ममत्व सबके प्रति !!! इस तरह वे सबको चाहते थे, सब उनको चाहते थे. वे सबके बन जाते थे और सब उनके अपने बन जाया करते थे.

सन्त में सन्तानुकूल आचरण हो तो जनता का नमन भाव और श्रद्धा क्यों न प्राप्त हो. उच्चतम सात्विक जीवन-व्यवहार ही वह चमत्कार है जो जनमानस को स्वतः नतमस्तक कर देता है. इस प्रकार जीवन में सात्विकता आने पर जन-समाज हृदय की समस्त श्रद्धा अर्पित करने को प्रतिपल उत्सुक और प्रस्तुत रहता है !

### जीवन यों बनते हैं :

जीवन कैसे बने ? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है. अध्ययनकाल समाप्त होते-होते ही उनके मस्तिष्क में यह प्रश्न उभर आया था. पुरानी पीढ़ी का जीवन व्यक्तिशः प्रयत्न करने पर बनाया जा सकता है. परन्तु प्रश्न का यह बुनियादी और व्यापक हल नहीं है. नई पीढ़ी का जीवन बने यह अधिक स्पृहणीय है. यह उन्होंने मन में तय कर लिया था । वे व्यक्तिशः आत्म-साधना में जुटे रहे, क्षणिक उत्साह में आकर वे कोई कार्य नहीं करते थे. बहुतों के पीछे यह लेबिल चिपका रहता है: 'इन्होंने इतनी संस्थाओं को जन्म दिया है, इनके कार्यों का लेखा लम्बा है. आदि.'

स्वामीजी सोचा करते थे: 'हर साल जैसे वच्चा पैदा करने वाली स्त्री संतान की फौज तो खड़ी कर देती है, परन्तु किस में शक्ति का संचार हो रहा है, कौन योग्य वन रहा है—इस ओर वह बहुत कम जाती है, अत: संतान की फौज खड़ी करने से कोई लाभ नहीं, जब तक संतान की समुचित युगानुकूल शिक्षा-दीक्षा की एवं संपोषण की सुव्यवस्था न की जाए. ऐसी अवस्था में वह फौज ही उसे नोचना शुरू कर देगी. फलस्वरूप तन और मन दोनों ही की शान्ति भंग हो जायगी. वहुत-सी संस्थाओं का जन्म भी ऐसा ही अल्प-स्थायी होता है.

स्वामीजी म० जो कहते, वही समय आने पर करते थे. पर जो करते उसकी नींव अत्यन्त गहरी रखते थे. किसी की देखा-देखी एक कदम भी यहाँ से वहाँ रखना उन्हें इष्ट न था.

स्वामीजी म० नूतन पीढ़ी को सुशिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कार देने के प्रबल समर्थक थे शिक्षा के साथ यदि संस्कार न आया तो शिक्षा को वे त्रुटिपूर्ण मानते थे. सामूहिक रूप में सुसंस्कार प्रदान करने की योजना तभी सफल हो सकती है जब वालकों को धर्ममय वातावरण में रहने का अवसर दिया जाय. इस हेतु स्वामीजी ने मेड़ता में प्रभावशाली प्रवचन किए. वात लोगों के गले उतरी. मेड़ता संघ ने समय आने पर भक्ति-साधिका मीरावाई की जन्मभूमि मेड़ता में अपने आदि गुरु (जिनके नाम से सम्प्रदाय का नामकरण हुआ) की संस्मृति को स्थायित्व प्रदान करने की दृष्टि से 'आचार्य जयमल जैन छात्रावास' की स्थापना का निश्चय किया. जागरण आया. छात्रावास स्थापित हुआ.

आज भी उस छात्रावास में विद्यार्थी अपने भावी जीवन का निर्माण जैन संस्कारों में जीकर करते हैं. जिनके नामपर छात्रावास का नामकरण हुआ है, वे पूज्य पुरुष एक जैन में जिन-जिन विशेषताओं के दर्शन किया करते थे. वे सव वातें छात्रावासीय वच्चों के जीवन-व्यवहार, रहन-सहन, वोलचाल आदि से प्रतिविम्बित हों—ऐसा प्रयत्न जारी है. संस्था अपने आदर्श की ओर अभिमुख होती हुई आज भी सुन्दर पद्धति से चल रही है.

## हृदय-परिवर्तन :

द्यूत-कर्म भारत में प्राचीनकाल से प्रचलित रहा है. द्यूत-कर्म की अवहेलना भी तभी से सन्तों, महात्माओं और ऋषियों, मुनियों व धर्म ग्रंथों के द्वारा होती आ रही है. द्यूत कर्म मनुष्य की विना श्रम के धनोपार्जन करने की आलस्यपूर्ण मनोवृत्ति का सूचक है. अतीत की ओर उद्ग्रीव होकर देखिए. सती द्रौपदी का दुर्योधन द्वारा पुरुष-समूह में चीर-हरण का घृणित कार्य जुवे का ही कुफल था. राजा नल के लिए एक समय ऐसा था कि वह अपनी संगिनी को एक पल भी आँखों से ओझल नहीं कर सकता था. इस कर्मका चस्का ऐसा पड़ा कि वह चारों ओर से निराश हो गया और उस स्थिति तक पहुँच गया जहाँ उसे अपनी जीवन-संगिनी को निस्सहाय और निराधार अवस्था में सुनसान जंगल में छोड़ देना पड़ा. एक कवि ने द्यूत कर्म में फँसे मनुष्य की मनोवृत्ति का कितना सुन्दर चित्रण किया है !

> ना मुरीद इस खेल को जीत भली न हार,
> जीते तो चस्का पड़े हारे लेत उधार।

इसीलिये जैनाचार की प्राथमिक भूमिका प्राप्त करने के लिए जैनाचार्यो ने सात कुव्यसनों का परित्याग करना अनिवार्य माना है. सात दुर्व्यसनों का स्वरूप प्रतिप्रादित करते हुए सर्वप्रथम द्यूत-कर्म परित्याग का उपदेश दिया.

स्वामी श्रीहजारीमलजी महाराज के जीवन में एक जुवारी से वार्तालाप का प्रसंग किस प्रकार एक जुवारी के जीवन में एक नया मोड़ लाता है और उसके जीवन की किस प्रकार दशा वदल जाती है, इसका उदाहरण उनसे हुए एक कथोपकथन से जाना जा सकता है. वह कथोपकथन निम्न प्रकार है :

एक जुवा खेलने का अभ्यासी उनके पास आया। कहने लगा: "महाराज, मैं जिन्दगी से निराश हो चुका हूँ."

"क्यों, निराश कैसे हो गए ?"

"महाराज, जो पूंजी पास में थी, वह मैं आस-आस में जुवे के दाव पर लगाता रहा. इस तरह सब कुछ खो दिया. अब स्थिति यह है कि कभी-कभी अन्न के दाने भी पेट के लिए नसीब नहीं होते हैं.

ज्ञान-बोझिल और शुष्क ज्ञानी ऐसे प्रसंगों के लिए कह दिया करते हैं कि किसका काम कैसे चलता है, किसको दो जून रोटी मिलती है और किसको एक जून, इससे हमें क्या ? ये तो अपनी-अपनी जन्म-पत्रीके भोग हैं. इन्हें रोकर भोगो तो और हँसकर भोगो तो-भोगने तो होंगे ही' ! परन्तु ऐसे प्रसंगों पर भी मुनिश्री का व्यक्ति के प्रति एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार व अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि-कोण होता था. जो उनकी दयार्द्रता का परिचायक था. वे कहा करते थे:

"मनुष्य जब सन्मार्ग से उन्मार्ग की ओर अभिमुख हो और अभिमुख हो चुकने पर भी, जब वह पश्चात्ताप की घड़ी में बरत रहा हो—उस समय उसे जीवन का सत्य दिखा देने का स्वर्णावसर होता है।"

उस धनहारे जुवारी को उन्होंने आत्मीयतापूर्ण भाव से कहा: "धन हार गये तो क्या हुआ, अब उस पथ को तज दो. दूसरा विचारपूर्ण पथ अंगीकार करो. हार और जीत तो जीवन में लगी ही रहती है. सम्पूर्ण जीवन ही एक व्यापार है. व्यापार में हानि और लाभ, दिन-रात के समान अवश्यंभावी हैं. बिना महनत किये कमाई करने की सोचने पर ऐसा हो ही जाया करता है. अब ही सही संकल्प कर लो—"श्रम करके ही कमाई करूंगा और वही मेरी सच्ची कमाई होगी—ऐसी ध्रुवधारणा बना लो. इस संकल्प से चलनेवाला कभी पराजित नहीं होता.' स्वामीजी महाराज की वाणी उसके हृदय में प्रवेश पा गई. उसने कुमार्ग तज दिया.

पूज्य मुनिश्री के सम्पर्क व परिचय में आनेसे पूर्व वह जुवारी, अनेक सन्तों के पास अपनी पराजय व निराश स्थिति की कहानी कहने गया था. सर्वत्र उसे शुष्क ज्ञानोपदेश मिला था. इससे वह लगभग अनास्थावादी हा चुका था.
पूज्य मुनिमना श्रीहजारीमलजी म० ने जुवारी की पीड़ा को आत्मीयता से सुना और फिर एक नेक सलाहकार की तरह हृदय-स्पर्शी उपदेश-वाक्यों से स्थायी प्रभाव डालकर उसका हृदय जीत कर जीवन-दिशा ही बदल दी थी.

'बहुधा हारा और निराश व्यक्ति ही अदृश्य-सत्ता को स्वीकार कर अपने अस्तित्व को उसमें लय कर देना चाहता है'. स्वामीजी म०ने जुवारी कीनब्ज संभाली एवं ताड़ना-तर्जना रहित सीख देकर सदा-सदा के लिए सात्विक भावों का पुजारी बनाकर उसे अमर आस्थावान् बना दिया. उनका यह सिद्धान्त था : 'जीवन में व्यक्ति को व्यक्ति से मृदु व्यवहार करना चाहिए. क्योंकि व्यवहार की मृदुता संमुखस्थ में भी मृदुता और कोमलता ला देती है, स्वामीजी के व्यवहार से उसके हृदय पर जो प्रभाव पड़ा वह असाधारण था. वह सन्त-संस्कृति की ही विजय है. इस प्रकार पहले का जुवारी और अब का सन्त-भक्त, एक मात्र सन्त स्वामी हजारीमलजी मुनि को ही नमस्कार नहीं करता है, अपितु संत-संस्कृति की अविच्छिन्न परम्परा को नमस्कार करता है.' इस तरह वह व्यक्ति के प्रति ही आकृष्ट नहीं हुआ, समष्टि के प्रति भी दायित्व समझने लगा; बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो वह व्यक्तिपूजक होकर भी गुणमूलक परम्परा का अनुयायी हो गया.

बहुधा ऐसा कहा जाता है कि दूर से वस्तु या व्यक्ति में सौंदर्य और आकर्षण परिलक्षित होता है, समीप पहुँचते ही वह समाप्तप्राय हो जाता है. इसके विपरीत कभी-कभी जो निकट से सुन्दर दीखता है, दूर से वह उतना सुन्दर नहीं दीखता. पूज्य मुनिमना इन श्रेणियों से ही भिन्न थे. उन्हें जिसने नजदीक से देखा, उसने तो सदैव के लिये उन्हें अपना आराध्य और आदर्श माना ही, परन्तु जो दूर रहे, वे भी आकर्षित हुए बिना न रहे.

वे व्यक्तिगत रूप से जितने महान् व दिव्य थे, सामूहिक जगत् में उससे भी महान् थे. वे दूसरों के सुख-दुःखको अपनेपन के भाव से सुनते थे ! अपनी जीवन-गाथा कहने वाला यही अनुभव करता था कि मेरा परम शुभचिंतक यदि कोई है, तो यही परमपुरुष है.

### हम कब अपनीबात छुपाते ?

आज व्यक्ति दुमुही की तरह दुहरा व्यक्तित्व लेकर जी रहा है. दुहरे व्यक्तित्व का अर्थ है कृत्रिम जीवन. आज समाज के

सामने जो व्यक्तित्व प्रदर्शित होता है, वस्तुतः मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन उससे भिन्न होता है. उसे वह छुपाये रखता है. जैसा अंदर में वह है, उसे प्रकट नहीं करना चाहता.

इस प्रकार के जीवन का राजनीति या चाणक्य-नीति में स्थान होगा, परन्तु आत्म-चिन्तकों की दृष्टि में ऐसा जीवन क्षुद्र जीवन है. कृत्रिमता-प्रेमी छल, बल और कल से काम लेता है. मनीषियों का कहना है—ये तीनों शूल हैं, बाण हैं, इन त्रिमुख बाणों से आत्मा आहत हो जाती है. इस तरह की त्रिकोण-आहत-आत्मा में सत्य की पूजा, प्रतिष्ठा और सम्मान कहाँ ? सत्य प्रतिबिम्बित नहीं, तो सरलता नहीं. सरलता नहीं तो निर्मलता कहाँ ? सरलता व निर्मलता नहीं तो आत्म-अर्पण नहीं. आत्म-अर्पण नहीं तो धर्म का प्रतिबिम्ब कहाँ ? प्रतिबिम्ब नहीं तो दिल के दाग कैसे मिटें ? बिना इसके मन में चमक कहाँ ? *चमक नहीं तो आत्म-गुण की छाया कैसे पड़े ? और इसके बिना आत्मा में पवित्रता का उदय कैसे हो ?* स्वामीजी म० का मन, इतना निर्मल और बृहद् था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने दोष, उनके स्वच्छादर्श में देख सकता था. उनके मनकी स्वच्छता को देखकर मन कह उठता है :

'कैसा मन पाया था उन्होंने चांदनी-सा.'

उनके जीवन में गोपनीय तो कुछ था ही नहीं. जो कुछ था, वह एक खुली पुस्तक की तरह स्पष्ट था. कवि बच्चन के शब्दों में कहें, तो यों कह सकते हैं :—

हम अपना जीवन अंकित कर,
फेंक चुके हैं राजमार्ग पर,
जिसका जी चाहे सो पढ़ ले,
पथ पर आते जाते !
हम कब अपनी बात छुपाते !!

सच है प्रारम्भ से अन्त तक उन्होंने कभी कुछ छुपाया ही नहीं था—अपने जीवन में ! वे स्व और पर के भेद-रहित बालक की तरह ही स्वच्छमना बने रहे !

### उनकी प्रवचन-पद्धति :

स्वामीजी म० की धर्मदेशना की अपनी एक असाधारण प्रणाली थी. वे बात तो वही कहते थे जो अनादिकाल से मुनिजन कहते आये हैं. किन्तु उनके कहने में न तो दार्शनिक सूक्ष्मता होती थी, न अध्यात्मवाद की अज्ञेय गहराई और न लोकमानस के अनुरंजन की लोकैषणा. प्रवचन करते समय वे अन्तर्विलीन हो जाते थे. उनके वाक्य-वाक्य से उनके हृदय की शुचिता, सरलता, मृदुता, विरक्ति और आत्म-कल्याण की सहज स्पृहा टपकती थी. इसलिए टपकती थी कि आगम समर्थित संयम-मूलक व्याख्यामय उनका आचरण था !

वे आदर्श और व्यवहारके पार्थक्य में विश्वास नहीं करते थे. यही कारण था कि उनकी वाणी न एकांत हवाई आदर्श तक सीमित रहती थी और न आदर्शनिरपेक्ष व्यवहार मात्र का अनुसरण करती थी. उनके प्रत्येक प्रवचन में आदर्श और व्यवहार का अद्भुत संमिश्रण रहता था, जो उपदेशक श्रोतृवर्ग की आसपास की परिस्थितियों, जीवन-प्रणालियों और मानसिक स्थितियों से अनभिज्ञ होता है, उसका उपदेश अन्य दृष्टियों से कितना ही प्रशस्त क्यों न हो, श्रोताओं के जीवन को प्रभावित नहीं कर सकता. उससे उन्हें जीवन की दिशा नहीं मिलती और न वे सही व सीधी राह ही पा पाते हैं. सूक्ष्म-दर्शी स्वामीजी इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे. अतएव उनकी देशना जीवन को गहराई से स्पर्श करने वाली होती थी. उनकी वाणी से श्रोताओं के जीवन की समस्याएँ सुलझती थीं. उन्हें जीवन की सही दिशा मिलती थी.

स्वामीजी की भाषा में कोई बनावट नहीं थी. अलंकारों से सुसज्जित होकर वह प्रकट नहीं होती थी. सरल, सुगम, सुबोध अन्तस्तल से निःसृत होती थी और श्रोता के अन्तर् तक पहुंचकर उसे उद्बुद्ध कर देती थी. अपढ़ से अपढ़ श्रोता भी

उसे अनायास ही हृदयंगम कर सकता था. भगवान् महावीर द्वारा अंगीकृत भाषा-नीति का वे पूरी तरह अनुसरण करते थे. यही कारण है कि उनके प्रवचनों ने सहस्रों भद्रात्माओं को प्रभावित किया है. न जाने कितने पापी पाप-पथ का परित्याग करके धर्म और नीति के मार्ग के राही बने हैं !

वे कभी राजस्थानी में तो कभी खड़ी बोली में प्रवचन करते थे. जैसा रोगी, वैसा ही उपचार करना उन्हें खूब आता था. जिन प्रदेशों में उनका विचरण हुआ, वहाँ की जनता आज भी स्वामीजी की प्रवचनशैली को स्मरण करती है और मन मसोस कर रह जाती है. आत्म-दृष्टि प्राप्त करा देने का उनका ढंग और तौर-तरीका अलग था. वे कहते थे आत्म-दृष्टिप्राप्त भक्त, मैं उसे मानता हूँ जिसके जीवन में प्रस्तुत कवि-कड़ी का भाव प्रतिबिंबित होता है—

**पर-घर पाऊँ पूजा या, निज घर अपमान मिले;**
**दोनों में ही मुस्कान रहे, मन के भीतर भी आह न हो।**
**पर पीड़ा में ही रोऊँ जीभर, पर सुखको अपना सुख समझूँ,**
**सुखियों से भी मुझको दाह न हो !**

जीवन के प्रति उनकी दृष्टि थी कि संसार से भागकर तो तुम गिरि-कन्दराओं में भी सुख प्राप्त नहीं कर सकते. जीवन में भागने की नहीं, दृष्टि बदलने की आवश्यकता है !

## जीवन सरोज : कुछ पांखुरियां

### एक :

वर्धमान महावीर के शब्दों में सन्त, अप्रतिबद्ध विहारी होता है. जीवन की ऐहिक शृंखलाओं के बंधन से मुक्त, उन्मुक्त आकाशचारी की तरह सर्वत्र विचरण करता है. उसका लक्ष्य एक ही होता है कि स्व-साधना वर्धमान होती रहे और पर को आत्मसाधना की प्रेरणा मिलती रहे !

स्वामीजी म० अपने गुरु-भाइयों सहित पद-विहार के पथ पर बढ़ते-बढ़ते अपनी जन्मस्थली डांसरिया के समीप टाडगढ़ जा निकले !

साम्प्रदायिक वर्ग-विभाजन की दृष्टि से स्वामीजी म० तेरापंथी परिवार में जन्मे थे. टाडगढ़ में आज भी विपुल मात्रा में तेरापंथी श्रावकों के घर हैं. उस समय भी पर्याप्त थे.

स्वामीजी भिक्षार्थ पधारे. अनेक घरों में पदार्पण हुआ! कहीं-कहीं आहार नहीं मिला. निवास पर आये. आहार से निवृत्त हुये. ब्यावर के कुछ सज्जन भी आ गये. कुछ जैनेतर बन्धुओं ने उनसे कहा : "मुनिश्री को यात्रा में पर्याप्त असुविधाओं का सामना करना पड़ा. यहाँ पर भी दिक्कत उठानी पड़ी. यहाँ पर तेरापंथी लोगों ने मुनिश्री को पत्थर वहराये. आगत व्यक्तियों के मस्तिष्क में बात बैठ गई कि स्वामीजी म० को आहार के स्थान पर तेरापंथी भाइयों ने पत्थर वहराये. उन सज्जनों ने ब्यावर में उक्त बात कही. ब्यावर के स्थानकवासियों के मस्तिष्क उत्तेजित हो गये कि हमारे महाराज को पत्थर कैसे बहरा दिये ! तेरापंथ के आचार्य (तुलसी) ब्यावर आ रहे हैं, हम भी उनका नगर प्रवेश के समय काले झण्डों से स्वागत करेंगे !

स्वामीजी म० जितने समय रहना था, वहाँ रहे. आगे प्रस्थान कर दिया. संयोग की बात कि घूमते हुए ब्यावर ही पदार्पण हो गया. चर्चा सामने आई. स्वामीजी म० ने स्पष्टीकरण दिया : "नहीं, टाडगढ़ में हमारे साथ ऐसी कोई घटना नहीं हुई. हमें किसी ने भी पत्थर नहीं बहराये !" ब्यावर के तेरापंथी श्रावकों ने और स्थानकवासी श्रावकों ने इस बात को लेकर रोटी-बेटी का सम्बन्ध विच्छेद करने का भीष्म निर्णय कर लिया था. परन्तु मुनिश्री के स्पष्टीकरण से स्थिति स्पष्ट हो गई और अशान्त वातावरण शान्ति में परिणत हो गया.

उन्होंने अपने साथी मुनियों से कहा : "मैं वीतराग-पथ का राहगीर हूँ. समभाव साधना करने के लिए ही मैंने वीतरागपथ अनुसरा है. मुझे ही निमित्त बना कर ये लोग विषम भाव के बीजारोपण करें यह मेरी साधना का ध्वज नहीं, कलंक है.' अस्तु, उक्त परम्परा स्वामीजी म० की दृढ़ता से कायम न हो सकी. उनके जीवन में इस प्रकार की अनेक बार पारस्परिक द्वेष की स्थिति उत्पन्न हुई परन्तु उन्होंने सब प्रसंगों पर अपनी विलक्षण बुद्धि द्वारा गलत परंपरा स्थापित न होने दी. घटना, वि०सं० १९९३, ब्यावर.

**दो :**

चरितनायक महामनस्वी स्वामीजी म० के वक्ष में एक बड़ी गांठ थी. एक दिन निश्चय हुआ : 'डाक्टर कुंजविहारी-लाल से निदान कराया जाय'

वे अपने सहयोगी मुनि को लेकर निदान निमित्त चले गये. डॉक्टर की राय हुई : 'ऑपरेशन करना होगा.' स्वामीजी ने मन-मन में सोचा : 'जीना है संयम के लिये. संयम और तप की साधना में यह व्याधि, विघ्न उपस्थित करेगी. तब क्यों न डॉक्टर की इच्छा पर ही छोड़ दूं. सब कुछ ?

स्वामीजी ने कहा : 'मैं तैयार हूँ, आप अपनी सुविधानुसार ऑपरेशन कर सकते हो.' 'डॉक्टर ने पूछा :' क्लोरोफार्म का उपयोग किया जाय या इंजेक्शन का ?"

एक का भी नहीं. मैं सब तरह से तैयार हूँ, आप अपनी सुविधानुसार ऑपरेशन कर सकते हैं.' स्वामीजी का यह संक्षिप्त-सा उत्तर था. 'साहस, संकल्प और विश्वास का ऐसा विकट धनी पुरुष आज तक मैंने नहीं देखा—कह कर डाक्टर आश्चर्य-चकित हो गये. उन्होंने अपना काम प्रारम्भ किया. ४५ मिनिट में छाती के एक भाग से ६ तोले की गांठ निकाल कर मेज पर रख दी. स्वामीजी से कहा गया : 'तीन दिन तक यहीं पर रहना होगा. ऑपरेशन काफी डेंजरस था.'

भद्र सन्त का उत्तर था : "मैं सकुशल अपने निवास पर पहुँच जाऊँगा." और उसी समय पूरे चार फर्लांगका रास्ता पार करके जैन स्थानक (पीपलिया बाजार) में सानन्द पधार गये.

घटना : सं० २००७, ब्यावर.

**तीन :**

जैनधर्म के सभी सम्प्रदाय आध्यात्मिक पर्वों में संवत्सरी पर्व को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पवित्र आध्यात्मिक त्यौहार मानते हैं. इस दिन सभी सम्प्रदायों के जैन बंधु तपस्यापूर्वक अपने गत वर्ष के जीवन में लगे दोषों का प्रायश्चित्त करते हैं. छोटे-छोटे बालक भी अपनी रसना पर नियंत्रण कर यथाशक्ति अवश्य तप करते हैं.

ब्यावर के स्थानकवासी संघ में और जैन-नवयुवक संघ में किसी मामले को लेकर संवत्सरी के दिन चर्चा चली । चर्चा-मंच तेज होता गया. बात यहाँ तक आगे बढ़ी कि व्यक्ति दो दलों में बँट गए. मुनिश्री अपने दोनों शिष्य स्वरूप गुरु-भाइयों सहित न्यात के नोहरे (सामूहिक अर्थराशि से निर्मित सार्वजनिक स्थान) में प्रवचन-मंच पर स्थित थे.

संघर्ष बढ़ने की पूरी-पूरी संभावना तीव्र हो चली थी. स्वामीजी म० ने निष्पक्ष दृष्टि से सोचा और अपना अद्भुत निर्णय किया. अपने शिष्यों से कहा : 'व्याख्यानमंच से उठकर तत्काल हमें अपने निवास (जैन स्थानक) पर पहुँच जाना चाहिए.' स्वामीजी का आदेश हुआ. तीनों मुनि संवत्सरी का प्रवचन छोड़कर चले आये.

स्थिति के अनुसार संघर्ष बढ़ता किन्तु मुनिश्री के प्रस्थान करते ही स्कूल की छुट्टी होने पर बच्चे विभिन्न दिशाओं में बिखर जाते हैं—ऐसे ही दो दलों में विभाजित जैनबन्धु भी तितर-बितर हो गए. संघर्ष का शमन हो गया.
घटना : सं० २०१६, ब्यावर.

**चार :**

स्थानकवासी जैनों का अखिल भारतीय स्तर पर अजमेर में एक मुनि-सम्मेलन हुआ. सम्मेलन में एकीकरण की दृष्टि से युग-पुरुष आचार्य श्रीजवाहरलालजी म० ने उस युग में रहे सन्तों की मन:स्थिति को समझा. और पहले गणों में सम्प्रदायों का केन्द्रीयकरण किया जाय—ऐसा मूल्यवान सुझाव प्रस्तुत किया. उनके विचारों को समर्थन मिला. राजस्थान की छः सम्प्रदायों ने मिलकर निश्चय किया : 'छः सम्प्रदायों का एक गण बनना चाहिये. और उसका फिर एक आचार्य भी.' सबने मिलकर अपना विश्वास प्रकट करते हुए कहा : 'स्वामीजी म० का हृदय पितृहृदय है अतः छः सम्प्रदायों के आप ही आचार्य बनाये जायँ.'

स्वामीजी म० का यह ध्रुव विश्वास था कि शासन करनेवाला कोमल हृदय से काम ले तो व्यवस्था बिगड़ती है. कठोरता न बरती जाय तो अनुशासन स्थापित नहीं होता. अतः मुनि-पद ही मेरा सलौना पद है. और फिर आचार्य-पद स्वीकार करने से मेरी एकान्त-साधना में विक्षेप भी उपस्थित हो सकता है. अतः स्वामी जी म० का निर्णय था : 'मैं आचार्य-पद ग्रहण करना नहीं चाहता. मैं साधक ही रहना चाहता हूँ, शासक नहीं.

घटना १९९९. अजमेर, (राजस्थान)

**पांच :**

राजस्थान के स्थानकवासी जैनमुनि सम्प्रदायों के विभाजन को जितना महत्त्व देते रहे हैं, संगठन को भी उससे कम नहीं. इसलिये लीक-लीक चलने को वे सदैव गलत मानते रहे हैं. एक समय ऐसा था जब वे अलग-अलग बँटे. अपने नैतिक विचारों के विश्वासों के अनुसार उनका प्रचार करते रहे.

आगे आनेवाली पीढ़ी ने सोचा : 'हमारे बड़ों ने विभाजित होना उचित माना था. हम संगठित होने में जैनधर्म का अभ्युदय मानते हैं. विकेन्द्रित होने से नैतिक प्रचार की शक्ति विभाजित हो जाती है. हम जो 'धर्माभ्युदय' को व्यापक बनाने का लक्ष्य लेकर चले हैं—इससे बाधा उत्पन्न होती है. तब क्यों न शक्ति का केन्द्रीकरण किया जाय ? यह आज के युग की माँग है. इस शुभ संकल्प से उत्प्रेरित होकर पाली (राजस्थान) में छः सम्प्रदायोंका एक मुनि सम्मेलन आयोजित किया गया. छहों सम्प्रदायों के मुनिजन एकत्रित हुए. सबने आचारगत हार्द पर चर्चा की. संगठन सूचक नियम बनाये. स्वामीजी को उन्होंने अपने सम्प्रदाय का प्रवर्तक-पद प्रदान किया. आचार्य की नियुक्ति का परिपाक काल न आया जान दोबारा बृहत् सम्मेलन में इस बृहत् कार्य को करने का निश्चय किया.

घटना: सं० १९९०, पाली.

**छः**

फल तो भावांरे लारे है. 'यस्मात् क्रिया प्रतिफलंति न भावशून्याः' फल तो भावों के साथ है. फल, मात्र साधुओं को देने में नहीं है. हम लोग तप करते हैं तो उस दिन का भी भोजनांश अभावग्रस्तों तक पहुँचना चाहिये. सदयतावश दिया गया सहयोग अभाव का नहीं, साधन-सम्पन्नता का निमित्त बनता है. इसे परिग्रह का प्रायश्चित्त भी कहा जा सकता है. इस प्रकार उन्होंने एक समय विश्वशांति की भावना का परिचय जनता को उद्बोधित करते हुए तो दिया ही था, साथ ही एक अधोवस्त्र, एक उत्तरीय, एक बारदाने का आसन और अन्य अनिवार्य उपकरणों के अतिरिक्त दुष्काल, सुकाल में परिणत हो जाय तब तक के लिये सबका परित्याग कर दिया था. एक बार राजस्थान में भी दुष्काल पड़ा था. वह समय, बंगाल जितना कठिन-कठोर तो नहीं था परन्तु उस समय भी उन्होंने अपने शिष्यों को आदेश दिया था कि मारवाड़ में सुकाल की स्थिति पुनः स्थापित न हो जाय तब तक मेरे लिए घृत, दुग्ध-दधि, नवनीत आदि कोई भी बहुमूल्य खाद्य

# वचन संचय !

[स्वामी जी महाराज के द्वारा विभिन्न समयों और स्थलों पर उच्चारित कतिपय वचनों का संक्षिप्त संचयन प्रस्तुत किया जा रहा है. विचारशीलों के लिये ये विचार चिनगारियाँ हैं. चिनगारियों को चेता लेने वाला उनका चेला है. श्रद्धाशीलों के लिये ये जीवनदीप हैं. दीप में भक्ति का स्नेह उंडेलने वाला उनका श्रद्धालु भक्त हैं ! व्याख्यान मंच पर इनकी विवेचना करने वाला उनका व्याख्यानी शिष्य है !! ]

भाग्य से संघर्ष करो ! संघर्ष से भाग्य को संतोष मिलता है. भागने से भाग्य की क्रूरता बढ़ती है. भागने से जीवन की समस्याएँ नहीं सुलझतीं. अतः संघर्ष करते रहो. संघर्ष ही जीवन है !

●

जीवन संयम के लिए है. जीना है तो संयम के लिये जीओ. भोग में रोग के कांटे हैं. योग में जिन्दगी के सुगंधित फूल हैं. फूलों का उपहार उसी को मिलता है जो भोग की मेंड़ पर बैठकर भी तप व संयम की आंच तापता रहता है.

●

मैं अब सबका बनना चाहता हूँ. मैं सबका हूँ. सब मेरे हैं. विश्व-प्रेम मेरा सर्वोपरि काम्य है.
पर-उपकार, हृदय का सहज गुण है. कोई यह कहता हो कि मैंने अमुक को दुःख से उबारा है—तो यह उसका दम्भ है.

●

अतीत और भविष्य के बारे में सोचना छोड़ो ! वर्तमान पर सोचना और चलना सत्य है । अतीत और भविष्य के काल्पनिक जाल में मन को फँसाने से आत्मा गुरु (कर्मनिबद्ध) होती है.

●

नारी, माँ, बहिन, सेविका, पत्नी और पुत्री है. परन्तु इन सब रूपों में वह केवल वात्सल्य की अमर मूर्ति ही है. वात्सल्य के अभाव में नारी केवल शून्य है. वात्सल्य-भावना नारी को नारायणी बनाती है.

●

कानून या सिद्धांत के सिकंजे शरीर को जकड़ सकते हैं ! हृदय इनकी पकड़ से परे है ! पीड़ा की अनुभूति व सहानुभूति के भाव हृदय की वसुन्धरा में अंकुरित होते हैं ! मस्तिष्क, मनुष्य को तर्क की कंटीली झाड़ियों में उलझाता है ! हृदय की पुकार मनुष्य को करुणा के आनन्द-लोक में पहुँचाती है !

●

कपड़े पहन कर सन्त होने वाले अनेक मिल जाते हैं। उन अनेकों में से कुछ ही ऐसे होते हैं जिनका सोचना और बोलना निसर्गतः सन्ताचार के अनुकूल हो.

●

सन्त सब का होता है ! वह सन्त सबका निश्चय ही नहीं है, जिसकी वाणी में सम्प्रदायवाद के कांटे हों.

●

वन्दनीय महावीर ने करुणा-भींगी पलकों से दरिद्र ब्राह्मण को देखा था. उन्होंने अपना उत्तरीय उतार कर उसके स्कंध पर अपने हाथों स्वयं रख दिया था. वस्त्र प्रदान कर उनके साधनामूलक मन को परम मोदानुभूति हुई थी. इस कार्य से उनकी निस्पृह और निर्वृत्तिमूलक साधना में तनिक भी अन्तर नहीं आया था. इससे उनकी पवित्र आत्मसाधना उर्ज्जस्वल हो उठी थी !

●

जिस सन्त के रेशे-रेशे में, पुष्प में सुगंध, दुग्ध में धवलिमा और अग्नि में ऊष्मा समाई रहती है—ऐसे ही सब के प्रति करुणा न हो वह गुणग्राही संतों रूपी हंसों की पांत में बगुला है.

●

जिस धनार्जन में श्रम के मोती न चमकते हों वह धन एक दिन दुराचार के अन्धकार में धकेल देगा. प्रामाणिकता-पूर्वक अर्जित द्रव्य सदाचार की ओर बढ़ने को उत्प्रेरित करता है.

●

मुझे मनुष्य की नैतिकता में अखण्ड आस्था है. जहाँ विश्वासों की अमिट छाया है वहीं साया मिलता है. साया और छाया संकल्पविजयी के लिये अलग-अलग नहीं हैं ! व्यक्ति की सहज सरलता और नैतिकता में हमारा विश्वास होना चाहिये. कोई भी मनुष्य अनैतिक नहीं बनना चाहता है. परावलम्बन की कठिनाई का ताप, मनुष्य को खेदखिन्न बना कर पश्चात्ताप की भट्ठी में झुलसा देता है ! परावलम्बी जीवन, स्वतंत्रता का सुख नहीं भोग सकता !

●

कृत्रिमता, छल और बल के बाणों से आत्मा लहूलुहान हो जाती है. इन बाणों से आहत आत्मा में सत्य की पूजा प्रतिष्ठा और सम्मान कहाँ ? जहाँ आत्मा सम्मानित नहीं, वहाँ सत्य प्रतिबिम्बित नहीं, सत्य प्रतिबिम्बित नहीं तो सरलता नहीं, सरलता नहीं तो निर्मलता कहाँ ? सरलता-निर्मलता नहीं, वहाँ आत्मार्पण नहीं. आत्मार्पण नहीं तो धर्म का प्रतिबिम्ब कहाँ ? प्रतिबिम्ब नहीं तो मन के दाग कैसे दिखें ? दाग दिखेंगे नहीं, तो मिटाये कैसे जायेंगे ? दाग नहीं मिटेंगे तो मन में चमक कहाँ ? चमक नहीं तो उसमें आत्मगुण की छाया कैसे पड़े ? आत्मगुणों की छाया न दीखने से ही उसे आत्मा में पवित्रता नजर नहीं आ पाती.

●

सरल, सुगम और सुबोध भाषा, हृदय की भाषा है. अलंकार के आवरण में लिपटी भाषा श्रोता के हृदय-देश में नहीं पहुँचती; वह इससे उद्बुद्ध भी नहीं होता. अपढ़ से अपढ़ श्रोता भी हृदय की भाषा समझ लेता है। उसके पास भी अनुभूतिशील हृदय है.

●

एक गुफा में दो सिंह नहीं रह सकते. क्योंकि वे दूसरे के प्राणों का व्यपरोपण करते हैं. वे प्राणियों के खून को चूस कर जीवन-पोषण करते हैं. पर एक क्षेत्र में दो भिन्न सम्प्रदायों के साधु रह सकते हैं. क्योंकि साधु समभाव साधना का समता-रस पीकर आत्म-पोषण करते हैं. साधु अगर यशः कीर्ति के लिये लड़ते हैं तो इसका साफ-साफ अर्थ यह है कि उन्होंने सत्य के दर्शन नहीं किये. ऐसे सन्त लिबास के सन्त हैं, पर बढ़ रहे हैं, वे अहंकार की ओर ही. वे मर-मर कर जीते हैं· प्रकाश का पथ समता, विश्वममता और धर्मदृढ़ता से मिलता है.

●

जो उपदेशक श्रोताओं के जीवन में आने वाली समस्याओं, परिस्थितियों जीवनप्रणालियों और मानसिक स्थितियों से अनभिज्ञ रहता है; उसका उपदेश अन्य किन्हीं दृष्टियों से चाहे जितना प्रशस्त क्यों न हो पर वह जीवन नहीं बदल सकता. श्रोता के जीवन को प्रभावित नहीं कर सकता इसीलिए जीवन की दिशा नहीं बदलती.

●

संसार का लक्षण परिवर्त्तन है. यहाँ स्थायित्व के नाम पर क्या स्थिर है ? स्नेह और ममत्व भी बहकाए और बँटाए बट जाते हैं. स्नेह का स्रोत, एक दिशा में बहते-बहते दूसरी दिशा में बहने लगता है. बाल्यावस्था में माता के प्रति रहा हुआ ममत्व युवावस्था में पत्नी पर केन्द्रित हो जाता है. पुत्री पर टिका स्नेह पुत्र प्राप्त होते ही दिशा बदल कर पुत्र में सिमट जाता है. एक दिन पुत्र में सिमटी ममता भी स्वार्थ से निचुड़ने लगती है.

●

स्नेह बँट जाता है. धन लुट जाता है. समय सरक जाता है ! समय की करवट से, सब कुछ उलट-पुलट हो जाता है. मनुष्य का, न स्नेह स्थायी है न सलोने अलोने सुनहरे स्वप्न ! जगमें स्वार्थ प्रबल है. स्वार्थ के कच्चे धागों में रागी, वैरागी, त्यागी, तपस्वी, कवि, विद्वान् और मुनि—सब जकड़े हुए हैं.

●

संसार की प्रत्येक माता में विश्वमातृत्व विद्यमान है. नारी के आँसुओं में दाहक ज्वाला नहीं, पावस की शीतलता है. आँसू नारी के हृदय का अमृत है ! आँसू उसके मातृत्व का प्रमाण है.

●

धान्य की लहलहाती खेती कितनी सुखद है ! पता है आँखों का यह सौन्दर्य उपलब्ध करने के लिए किसान ने कितना पसीना बहाया है ? संस्कृत जीवन के सम्बन्ध में भी यही बात है. किसी भी कार्य के प्रति दृढ़ निष्ठा का होना आवश्यक है. निष्ठा प्रत्येक सुन्दर कार्य के नींव की ईंट है.

●

भारत का अध्यात्मवाद अरण्य में भटकने की बात नहीं कहता, वह यह भी नहीं कहता कि सांसारिक कार्य में अभिरुचि मत रखो ! वह नहीं कहता है कि नारी नरक की खान है. वस्तु जैसी है, उसे वैसा ही समझ लो पर वैराग्य व संन्यास के नाम पर अरण्य में ठोकर खाते हुए मत फिरो !!

●

शरद ऋतु में बादल बरसता नहीं केवल गरजता है. अनुदार व्यक्ति काम कम करता है. बोलता भर है. इसके विपरीत सज्जन या उदार कहता कुछ नहीं बरसता जाता है या काम किए जाता है.

●

कर्म करो ! आसक्त मत बनो !! रुचि अवश्य दिखाओ पर अहंकार त्याग दो. कर्म करना तुम्हारा काम है, उसमें सौन्दर्य खोजना, उसका मूल्यांकन करना—ये सब दूसरों के काम हैं । तुम अपनी सीमा में काम करो वे तुम्हारा मूल्य अवश्य अंकित करेंगे ।

●

तोता रामायण की चौपाइयाँ और गीता के श्लोक रट लेता है परन्तु इतने मात्र से वह बिल्ली से अपनी रक्षा नहीं कर सकता. साधु, महंत, पण्डित और मुल्ला भी भाषण देकर जनता के मस्तिष्क में विचारों का छौंक लगा सकते हैं परन्तु माया के पंजे से वे अपनी रक्षा नहीं कर सकते.

●

हमारे कुछ धर्माचार्यों ने भारतीय जनता को स्वार्थमय बना दिया है. वे निरंतर यही उपदेश करते हैं कि संसार स्वार्थमय

है। तुम्हारा कोई सगा नहीं है। मृत्यु के समय कोई साथ नहीं देगा. पर वे यह क्यों नहीं सोचते कि मृत्यु के समय नहीं पर आज तो साथ दे रहे हैं. सारा संसार स्वार्थमय है यह सोचकर अगर एक दूसरे पर विश्वास ही मनुष्य को न रहेगा तो उस हालत में संसार जरूर स्वार्थ की आग में जलने लगेगा और उस आग में पण्डित मुल्ला या साधु कोई भी नहीं बच सकेगा।

●

पराजय से मनुष्य निराश हो जाता है परन्तु वस्तुतः पराजय से मनुष्य की बासी जिन्दगी में ताजगी आती है. वह मनुष्य की हलचलभरी जिन्दगी में रंगीनी ला देती है. उसके खून में उबाल आ जाता है. साँसों में गीत गूंजने लगते हैं, यद्यपि विजय महान् है परन्तु आवश्यक हो तो पराजय महत्तर है.

●

कल ! इस शब्द में कितनी संभावनाएं भरी पड़ी हैं. भले ही आज का दिन कितना ही निराशा के मेघों से घिरा, भय, बीमारी तथा मृत्यु की आशंका लिए है, किन्तु सौभाग्य की संभावना का कल कितना सुन्दर है ! इसलिये अच्छा हो हम मृत्यु को सिर्फ आनेवाले एक कल की तरह समझें जो असीम विश्वास और उत्साह से भरापूरा है.

●
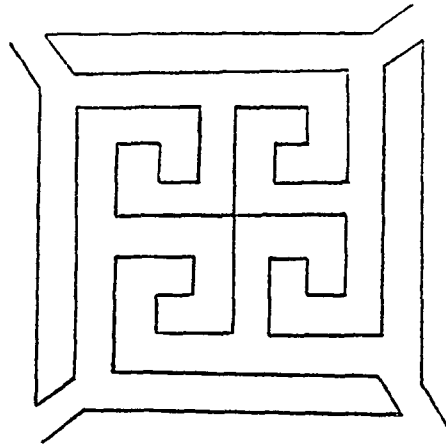
# स्वामीजी के जीवनसूत्र

महास्थविर मुनिराज श्रीहजारीमलजी म० को उनके जीवनकाल में और आजतक जनमानस एकांत श्रद्धा, स्नेह, भक्ति और आदर की दृष्टि से देखता रहा, मानता रहा तथा मान रहा है. उसका कारण यह है कि उनका जीवन, कुछ जीवन की उदात्त और दिव्य प्रेरणाओं से प्रेरित था. उनमें से कतिपय प्रेरणाएं निम्न प्रकार हैं—

(१) विश्वशान्ति (२) विश्ववात्सल्य (३) मातृजाति का उचित सम्मान (४) छोटों के प्रति स्नेह (५) गुणी जनों के प्रति आदर (६) धर्म के प्रति जागरूकता (७) अखंड ब्रह्मचर्य में एकांत निष्ठा (८) हितमित व परिमित मधुर संभाषण (९) निष्काम एवं निःस्पृह वृत्ति (१०) संयम और तपश्चर्या में परायणता.

ये वे जीवन-सूत्र हैं जिन पर उन्हें अपूर्व आस्था थी. 'इन सूत्रों के अनुसार मेरी दिनचर्या निर्वाध व्यतीत हो—ऐसा वे अहर्निश चिन्तन किया करते थे. इन सूत्रों की व्याख्यामय उनका जीवन था. सूत्रों की सीमा में आनेवाली सीमित रेखा के अतिरिक्त भी उनके जीवन में कुछ ऐसे विलक्षण सत्य देखे जाते थे, जो उच्चकोटि के सन्तों में विरल ही पाए जाते हैं.

## एक : उनकी दीन-बन्धुता !

वैसे मिलने भेंटने बोलने के प्रसंग कभी भी किसी के भी हों वे नहीं टालते थे. उन्होंने अपने जीवन में गरीब और अमीर के साथ कभी भेद-व्यवहार नहीं किया तथापि वे दीन, असहाय, निराश और धनहीन से अधिक सम्बन्ध रखते थे. इस के पीछे उनका यह विश्वास बोलता रहता था—'निराशा में घिरा व्यक्ति सन्त के सम्पर्क में आकर, सन्त के जीवन से, साधना से, उपदेश से—आशा और उत्साह का प्रकाश प्राप्त कर सकता है. कर्त्तव्य की निष्ठा की पवित्र ज्योति जगा सकता है. इसलिये सन्त पुरुषों का संग आवश्यक है.' स्वयं जिस विचार-पथ पर चलते थे उसी पर बढ़ने का वे अन्य सम्पर्कस्थ व्यक्ति को बड़ी दृढ़तापूर्वक उपदेश करते थे. 'पत्थर के भगवान् की पूजा कर तुम यह सोचते हो कि वे हमारी आत्मा का पाप शान्त कर देंगे. यह कभी नहीं हो सकता. अपने क्रूर कर्मों का यदि वस्तुतः प्रायश्चित्त करना चाहते हो तो पहले झोंपड़ी में रहनेवाले दरिद्रनारायण को प्रसन्न कर लो, तभी सौ हाथोंवाला आत्मस्वरूप भगवान् तुम्हें सत्य-पथ पर बढ़ने की सत्प्रेरणा प्रदान कर सकता है.'

## दो : प्राणिमात्र के प्रति स्नेह !

मनुष्य, अपने ही खुद की सोचे. अपने ही आराम-विश्राम को महत्त्व दे, आस-पास के मनुष्य और दूसरे प्राणी किस प्रकार

जीवन व्यतीत कर रहे हैं, इस ओर कभी ध्यान ही न दें तो निस्संदेह, उस मानव को मानव के परिधान में पशु कहना होगा.

स्वामीजी की करुणा-धारा आवश्यकता के अनुसार मनुष्यों और पशुओं की ओर मुड़ जाती थी क्योंकि 'खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा,.......वेरं मज्भं न केणइ.' भावना की इस भावगंगा में उन्होंने अपने आपको निमज्जित किया था. स्वाभाविक ही था वह उनके जीवन के प्रत्येक व्यवहार व कर्म से प्रकट होती.

एक बार उन्होंने देखा कि 'तिवरी' के आस-पास इस वर्ष सुकाल न होने के कारण साधारण जनता भारी संकट में है. व्यापक अभाव व्याप्त है. रोटी-रोजी के और वस्त्र के अभाव में तिवरी के आस-पास के अभावग्रस्त लोग रेलवेलाईन पर सामर्थ्य है तो और नहीं है तो, दिनभर खटते हैं—छोटे-छोटे बच्चों को साथ लेकर—मेहनत मजदूरी करते हैं.

उन्होंने गंभीरतापूर्वक सोचा. अपने प्रवचन को मोड़ दिया. निपुण व्याख्याता वही कहलाता है जो मानव समस्या को लक्ष्य में रखकर विवेचन करता है और सत्य के दर्शन कराता है. अतः उस समय उन्होंने अपने उपदेशों में इस समस्या को सामने रखकर प्रवचन करने प्रारम्भ किये.

'जो श्रम कर रहे हैं, उन्हें श्रम इस स्थिति में ही क्या हर अवस्था में करना होगा. श्रम के बिना किसी से दान स्वरूप सहयोग लिये जाने से तात्कालिक समस्या का हल होता है. वह उस काल तक ही सीमित होकर रह जाता है. यह स्पष्ट है कि वह स्थायी हल नहीं है. साथ ही इस प्रकार से बिना श्रम के प्राप्तव्य से श्रम के प्रति अनास्था उत्पन्न होती है. तथापि साधनसम्पन्न मनुष्य का इस हालत में धर्म हो जाता है कि वह अभावग्रस्तों को सुविधा पहुँचाये. अस्तु, उनके सतर्क करुणाभाव-प्रतिपादक उपदेशों से प्रेरित होकर प्रसिद्ध उद्योगपति श्रीजुगराजजी श्रीश्रीमाल ने अभावग्रस्त लोगों के लिये यथायोग्य वस्त्र व भोजनादि की व्यवस्था की.'

प्रस्तुत प्रसंग में एक और करुणा का साकार घटित स्वरूप प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा. एक बार नागोर के समीपवर्त्ती क्षेत्रों में चारे के अभाव में पशुओं का जीना दूभर हो गया था. उस समय उन्होंने दुष्काल के संकट के परिणामों को सामने रखकर अपने प्रवचनों में पशुओं की उपयोगिता और उनके द्वारा मानव जाति के लिये होनेवाले लाभों का प्रतिपादन किया. अनुदिन के प्रवचनों में प्रकारान्तर से यह विषय उपस्थित किया कि 'धार्मिक पुरुषों के लिए इस समय इस समस्या का निराकरण करना ही आध्यात्मिक साधना का सार है !'

## स्थानकवासी सम्प्रदाय का उद्गम, विकास और परम्परादर्शन

भारत की निर्गुण सन्त सम्प्रदायों की परंपरा बुद्धिवादी परंपरा कहलाती है. भावविह्वलता का अतिरेक सदा नहीं रहता. उसका एक समय होता है. उम्र की सलवट ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों मनुष्य यथार्थवादी होता जाता है. जैन-परम्परा में भी महावीर के बाद सन्तों में साकार और निराकार धारा का प्रस्फुटन हुआ. लगभग सभी धर्मों में उपासना की दो धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं. इन धाराओं को साकार और निराकार कहा जाता रहा है. भक्ति युग में इसे सगुण और निर्गुण नाम से अभिहित किया गया.

भगवान् म० के सैकड़ों वर्षों बाद भारत के बहुत बड़े भाग में भयंकर दुष्काल पड़ा था. उस समय अन्नसंकट-जनित अस्त-व्यस्तता के परिणामस्वरूप जैनधर्म की निराकार धारा अन्तःसलिला हो गई थी. किंतु इस धारा का यह सौभाग्य रहा कि इसका साहित्य रह गया था. पन्द्रहवीं शती तक यह धारा अन्तःसलिला ही बनी रही. सोलहवीं शती के तृतीय दशक में लोंकाशाह नामक क्रान्तिकारी वीर पुरुष का उदय हुआ. वह परम बौद्धिक और विचारक था. उसने तत्कालीन श्रमणों के भयंकर पतन को देखा, तो उसका लौहपुरुष विद्रोह कर उठा.

लोंकाशाह ने धर्मग्रंथों का अध्ययन प्रारम्भ किया, उसे निराकार की अन्तःसलिला का निनाद सुनाई देने लगा. उसने अधिक तत्परता व लगन से आगमों का गहन एवं सूक्ष्म अध्ययन और चिन्तन किया. लोंकाशाह को पता लगा

कि धर्म की आत्मा आडंबर एवं दंभ के आवरण में छिप गई है ! उसे प्रकाश में लाना ही इस समय सबसे बड़ी शासन-सेवा है. कहा जाता है कि इसके बाद लोंकाशाह ने काफी समय तक पद यात्रा करते हुये अपने विचारों का शंखनाद सर्वत्र सुनाया. उनके विचारों को आशातीत समर्थन मिला.

आराध्य की मूर्ति स्थापित न करके एक स्थानविशेष में सामूहिक रूप में या व्यक्तिगत रूप में निराकार उपासना करने के कारण उनके अनुगामियों का सम्प्रदाय स्थानकवासी सम्प्रदाय कहलाया.

इस अर्थ में जैनधर्म में साकार और निराकार—ये दोनों प्रकार के सम्प्रदाय हैं. स्थानकवासी सम्प्रदाय निराकार की उपासना में विश्वास रखता है.

लोंकाशाह के विचारांशों में संशोधन करके श्रीधर्मदासजी. श्रीलवजी ऋषि और श्रीधर्मसिंहजी इन तीन महापुरुषों ने इस सम्प्रदाय को संवर्द्धित और परिपुष्ट किया. तीनों धर्म-स्तंभों के विचार-आधार पर ही स्थानकवासी सम्प्रदाय टिका हुआ है. आचार्य श्रीजयमलजी म०, आचार्य श्रीधर्मदासजी म० की सम्प्रदाय की कड़ी थे. श्रीहजारीमलजी म० भी इसी संप्रदाय के एक उज्ज्वल रत्न थे.

वि० की अठारहवीं शती में आचार्य श्रीरघुनाथजी महाराज से दयादान के सैद्धान्तिक प्रश्नों में विचार सामंजस्य स्थापित न होने के कारण श्रीभीखणजी स्वामी ने गुरु से सम्बन्ध तोड़कर स्वतंत्र सम्प्रदाय 'तेरापंथी' के नाम से स्थापित किया. आचार्य श्रीजयमलजी महाराज श्रीभीखणजी के चचेरे गुरु थे. आचार्यश्री नहीं चाहते थे कि भीखणजी गुरु से विमुख हों. उन्होंने इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रयत्न किये और श्रीभीखणजी को समझाया भी, किन्तु वैसा न हो सका.

श्रीहजारीमलजी महाराज अपने समाज और सम्प्रदाय के अत्यंत निष्ठावान् संत थे. वे कहते थे—'मनुष्य जिस समाज, सम्प्रदाय, धर्म और परिवार से जब तक अनुबंधित हो, उसके प्रति उसे ईमानदारी के साथ कर्त्तव्य करना चाहिये.' यह कहना उनका कोरा उपदेश ही नहीं था. व्यक्तिगत रूप से वे इस पर अत्यन्त दृढ़ भी थे.
श्रीभीखणजी गणि की परंपरा के अष्टम आचार्य श्रीकालूगणि का बड़ी पादू (राजस्थान) में आगमन हुआ. उस समय पूज्य श्रीस्वामीजी महाराज भी पादू में ही विराजित थे. श्रीकालूगणिजी ने सोचा : 'हमारे आदिगुरु आचार्य श्रीभीखणजी स्वामी के चचेरे गुरु आचार्यश्री जयमलजी महाराज की सम्प्रदाय के बड़े सन्त प्रवर्तक श्रीहजारीमलजी म० यहीं विराजमान हैं. उनसे मिलना चाहिये.' उन्होंने अपने भक्तों से कहा—'स्थानकवासी मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज को यहाँ आने का निमंत्रण दे आओ.'

भक्त निमंत्रण देने गये. प्रसंग यहाँ आकर अड़ गया—'कालूगणि मुनिश्री के निवास पर आयें या मुनिश्री कालूगणि के निवास पर जायें ?' मुनिश्री ने निर्णय दिया—'तेरापंथी' सम्प्रदाय में यह प्रचारित करने की प्रथा है कि कोई भी स्थानकवासी मुनि उस पक्ष के चाहने पर भी मिलता है तो यही प्रचारित किया जाता है कि स्थानकवासी मुनि कालूगणि के दर्शन करने या दर्शनों का लाभ लेने आये. जैसे भी हो यह परंपरा आज तक रूप बदल कर चल रही है, अतः उनकी मिलने सम्बन्धी इस भावना की तो मैं क़द्र करता हूँ मगर उनके निवास पर नहीं जा सकता. अच्छा यही है कि वे स्वयं ही यहां पधार जायें.'

मिलने वाला जिससे मिलना चाहता रहा है वह उसके निवास पर जाकर ही उससे मिलता रहा है. और इस प्रकार से मिलना व्यवहार्य भी कहलाता है. एक दिन अन्य स्थान पर दोनों मुनियों का अत्यंत स्नेहपूर्ण मिलन हुआ. आचार्य श्रीजयमलजी म० की उदारता और सौहार्दभाव की चर्चा हुई. 'हम दोनों मूलतः चारित्रिक ऊर्जा के धनी आ० रघुनाथजी म० से संबंधित रहे हैं. कालगत दूरी अवश्य है. परन्तु स्नेहगत दूरी नहीं है !' इस प्रकार के वार्ता-प्रसंगों में उनकी मिलन-वेला प्रेमपूर्ण ढंग से संपन्न हुई.
घटना. सं० १९९१, पादू (राज०)

# स्वामीजी की आचार्यपरंपरा

## भारतीय संस्कृति के जीवनाधार सन्त :

सन्त भारतीय संस्कृति के जीवनाधार हैं. भारत के सन्तों ने अध्यात्मविद्या प्रदान कर संसार के भवारण्य में भूले-विसरों को जीवन का चरम लक्ष्य बताया है. आज अध्यात्मविद्या विदेशों में भी पल्लवित हो रही है. इसका उद्गमस्थल भारत है. यह अतिशयोक्ति नहीं कि भारत के सन्त अनुस्रोतगामी न बनकर प्रतिस्रोतवाहक बने और उन्होंने भोगाकुल भयग्रस्त संसार को, दुनिया से स्वयं दूर रह कर, ध्यान, धारणा, समाधि और लयावस्था की अनुभूति का अमृत बांट कर संसार में महनीय उपकार किया है.

सन्त, विचार में आचार और आचार में विचारों का पवित्र पावन संगम है. सन्त का जीवन विचार, आचार, विवेक-क्रिया, साधना, संयम और तप आदि का बहुरंगी चित्र है. भारतीय जन-जीवन, सन्त का समादर करता है, उसकी पूजा करता है. क्योंकि सन्तों के तपःपूत जीवन से उसे प्रेरणा मिलती है. जीवन की सम्यग् दिशा का सुबोध प्राप्त होता है. अतः सन्त का जीवन एक आलोकस्तंभ है. उसके चारों ओर प्रकाश-किरणें बिखर रही हैं.

सन्तसंस्कृति के प्रभाव से भारत का समग्र भाग प्रभावित है. कश्मीर से कन्याकुमारी तक व अटक से कटक तक सर्वत्र सन्तजीवन का सौरभ परिव्याप्त है. दक्षिण भारत के जीवट के सन्त, गुजरात व महाराष्ट्र के भक्तिपरायण संत, पंजाब के, उत्तर भारत के व मध्यभारत के संतों की कीर्तिकथा और गौरवगाथा सुनकर आज भी किस भद्र भावना वाले व्यक्ति का मस्तक श्रद्धानत नहीं हो जाता है ? और फिर राजस्थान तो एक प्रकार से सन्तों का ही देश है. तप, त्याग की विख्यात रणभूमि राजस्थान के उद्भट अलबेले मस्त सन्त जो अपनी जीवन-ज्योति से जन-जन के मन को जागृत करते रहे हैं—कौन उन्हें भुला सकेगा ? जैन जगत् के सन्त, श्री आनन्दघन जी, योगिराज श्रीदेवचन्द्र जी जैसे पण्डित पुरुष और श्रीयशोविजयजी जैसे विद्वान् सन्त एवं भक्ति के अद्वितीय कवि विनयचन्द्रजी, भूधर जी, द्यानत व दौलतराम जी एवं बनारसीदासजी जैसे अमर सन्त जैन समाज में भक्ति युग के यशस्वी कवि हुए हैं.

राजस्थान सन्तभक्तों का देश है. राजस्थान, जिसमें प्रेमदीवानी, स्नेहविह्वल मीराबाई की सरस स्वर-लहरी समस्त भारत में गूँज रही है, जिस राजस्थान में दादू की उदात्त विचारधारा, जिससे राष्ट्रीय कवि रवीन्द्र भी प्रभावित हुए हैं, वीर राजस्थान के उन आध्यात्मिक वीर सन्तों की अमर देन चिर नवीन है. राजस्थान इसीलिये 'वीर राजस्थान' के रूप में अमर है कि यहाँ के निवासी अन्याय के लिये रण में अद्भुत पराक्रम भी दिखा सकते हैं और समय आने पर संयम के रण में भी उसी वीरता से आगे बढ़ते हैं. जब तक राजस्थान के सन्तों का जादूभरा संगीत राजस्थानियों की हृत्तंत्री के तारों को झंकृत करता रहेगा, तब तक निःसंदेह वे समस्त उर्ज्जस्वल अतीत को साकार करते रहेंगे.

राजस्थान के सन्तजन लोकभाषा के बहुत बड़े हिमायती रहे हैं. उन्होंने सदैव यह लक्ष्य अपने सामने रखा है कि जिस प्रांत में हमें जनता में जागृति उत्पन्न करनी है उस प्रांत में उसी भाषा में अपनी सतेज वाणी का प्रकाश करें. इस प्रकार राजस्थान के सन्तों ने जो संदेश दिये हैं वे निश्चय ही भारतीय संस्कृति को राजस्थानी सन्तों की अमर देन के रूप में सदैव उल्लेखनीय रहेंगे.

इतनी भूमिका के वाद स्वामीजी म० की आचार्यपरम्परा और सन्तपरम्परा का क्रमशः उल्लेख किया जाता है.

## आचार्य श्रीजयमलजी म०

आचार्य श्रीजयमलजी म० धर्मोद्धारक वीर पुरुष श्रीधर्मदासजी म० की परम्परा के ज्योतिर्धर सन्तरत्न थे. उन्होंने उफनते यौवन की तपती दुपहरी में ब्रह्मचर्य के कठोर व्रत को स्वीकार कर राजस्थान की वीर सन्तपरम्परा को गौरवान्वित किया था. अपने कौटुम्बिक मोह को विश्व-प्रेम में परिवर्तित कर दिया था और माता सरस्वती के विनीत पुत्र के रूप में ज्ञान की अखंड लौ प्रज्वलित की थी. वे माता जिनवाणी की जीवनपर्यन्त त्याग, तपस्या, वैराग्य आदि के द्वारा उपासना करते रहे.

आपका जन्म मरु-प्रदेश के लांविया ग्राम में हुआ था. माता पिता का नाम क्रमशः महिमावाई और मोहनदासजी था. एक संभ्रांत परिवार की कन्या (श्री लक्ष्मी वाई) के साथ इनका विवाह २२ वर्ष की अवस्था में हुआ था. द्विरागमन का समय नवविवाहितों के लिये उमंगों का गुलाल वरसाता हुआ-सा होता है. आपके यहाँ भी द्विरागमन होने वाला था. इसी वीच मेड़ता में आपको पूज्य श्रीभूधरजी म० का वैराग्यमूलक उपदेश श्रवण करने का स्वर्ण-अवसर मिला. मुनिश्री के मुख से सुदर्शन सेठ के ब्रह्मचर्य व्रत की महिमा का संगीत सुना. विचार वदले. जीवन वदला. पूज्य श्री भूधरजी म० से दीक्षा प्रदान करने की विनती की. भूधर जी म० ने कहा—'जीवन के महान् निर्णय को इस प्रकार सहसा कैसे कर रहे हो ?'

जयमलजी ने कहा : 'निर्णय तो सहसा और एक साथ ही होते हैं. प्यास लगी हो तव पानी पीने के लिए सोचने-विचारने की आवश्यकता नहीं होती. अन्ततः मेड़ता में ही रहकर परिवार की अनुमति प्राप्त की, और सं० १७८७ की मगसिर कृष्णा द्वितीया को मुनि-दीक्षा ग्रहण की.

तो द्विरागमन का उल्लास भी संयमवीर के पथ का अवरोधक तत्त्व न वन सका.

नवदीक्षित जयमल जी ने मुनिजीवन की साधना के साथ-साथ ही ज्ञानोपासना भी प्रारम्भ की. आगे चलकर लोकगीतों व सामाजिक रंगमंच पर प्रचलित धुनों की रागों में स्वानुभूतिमूलक विपुल साहित्य सृजन किया. इनके भक्ति, वैराग्य स्तुति, उपदेश एवं तात्त्विक विषयों के फुटकल पद आज राजस्थान के विभिन्न ज्ञानागारों में पाए जाते हैं. 'जयवाणी' के नाम से इनकी रचनाओं का एक वृहत् संग्रह सन् १९६० में आगरा से प्रकाशित हो चुका है.

आचार्यश्री के जीवन और व्यक्तित्व के सम्वन्ध में डा० नरेन्द्र भानावत का प्रस्तुत ग्रंथ में प्रकाशित निवंध यथेष्ट प्रकाश डालता है.

## आचार्य श्रीरायचन्द्रजी

उत्तराधिकार भौतिक और आध्यात्मिक दो प्रकार का होता है. भौतिक, चल-अचल सम्पत्ति के रूप में होता है, जव कि आध्यात्मिक उत्तराधिकार तप, त्याग एवं संयम का होता है. जिसको उत्तराधिकारी वनाया जाता है उसके विचार और आचार से यह प्रकट होता है. आचार्य श्रीजयमलजी ने संघ-व्यवस्था का दायित्व रायचन्द्र जी को सं० १८४९ में युवाचार्य घोषित करके प्रदान कर दिया था.

अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करते समय आचार्यश्री ने संघ के समक्ष कहा : 'मैं आज 'युवाचार्यपद रायचन्द्र जी को प्रदान

करता हूँ. यह समय इनके पूर्वाभ्यास का है. मैं अनुभव कर रहा हूँ कि ये आचार्य पद के उत्तरदायित्व को दक्षतापूर्वक निभा सकते हैं. संघ इनके नेतृत्व में रत्नत्रय की वृद्धि करता हुआ आध्यात्मिक पथ पर निरंतर बढ़ता रहे, यही मेरी आन्तरिक अभिलाषा है.

आचार्यश्री रायचन्द्रजी का जन्म, सं० १७९६ आसौज शुक्ला एकादशी को जोधपुर में हुआ था. माता नन्दादेवी और पिता विजयराज धाड़ीवाल थे.

इन्होंने किशोरावस्था व यौवनावस्था के संधिस्थल पर खड़े होकर मुनिदीक्षा का भीष्म निर्णय किया था. स्वामी श्री गोरधनदास जी द्वारा सं० १८१४ आषाढ़ शुक्ला एकादशी को मारवाड़ के प्रसिद्ध पुरातन नगर पीपाड़ में भागवती दीक्षा ग्रहण की थी. ३९ वर्ष १० माह और ६ दिन तक मुनिजीवन के कठोर विधि-निषेधों में रहकर आचार्य जयमल जी की दृष्टि में युवाचार्य पद की योग्यता प्राप्त कर ली थी. समग्र मुनि जीवन ५४ वर्ष ६ माह और १८ दिन तक अत्यन्त दृढ़तापूर्वक व्यतीत किया.

इनके वैराग्योद्गम की कहानी अत्यंत अद्भुत है. किशोर और यौवन अवस्था के मदभरे दिन थे. माता-पिता ने सुशील कन्या से पाणिग्रहण करने की तैयारी कर ली थी. स्वजन-परिजन पर्याप्त मात्रा में उपस्थित हो गये थे. घर में स्त्रियाँ मंगलगीत गा रही थीं. अड़ोस-पड़ोस से विवाह की शुभ कामना स्वरूप भोजन (बिंदोला) के निमंत्रण वश घर-घर क्रमशः भोजन करने जाना पड़ता था एक दिन (बिंदोला आरोगणने पडोसी रे घरे पधारया हा) भोजन करते-करते अकस्मात् वैराग्य भाव के अंकुर फूट पड़े. विवाह की तैयारी जहाँ की तहाँ रह गई और थोड़े ही दिनों बाद दीक्षा का बिंदोला प्रारंभ हो गया और आप मुनिव्रत धारण कर वीरव्रती बन गये.

इन्होंने ज्ञानधन का विपुल अर्जन किया था. दर्शनशास्त्र पढ़ा. लक्षणग्रंथों पर अधिकार प्राप्त किया. वह युग, पद्य की प्रतिष्ठा का युग था. अतः इन्होंने तत्त्वात्मक, उपदेशात्मक, स्तुत्यात्मक एवं कथात्मक पद्यों की राजस्थानी भाषा में रचना की. वे रचनाएँ राजस्थान के विभिन्न प्राचीन भण्डारों में आज तक बराबर मिलती जा रही हैं. परन्तु इस यंत्र-युग में भी कोई ऐसा अन्वेषक नहीं उत्प्रेरित हुआ जिसने प्राचीन मुनियों की मूल्यवान रचनाओं को प्रकाशित कर जनता के समक्ष उपस्थित किया हो. मैंने इनकी विपुल रचनाओं का एक संग्रह 'रायरचना' के नाम से तैयार किया है जो शीघ्र प्रकाश में आने वाला है.

आपने ७ भव्यात्माओं को दीक्षा प्रदान कर उनकी शिक्षा-दीक्षा, तप, त्याग, वैराग्य आदि का दायित्व वहन किया था. आपकी सम्पूर्ण आयु ७२ वर्ष ३ माह की थी. सं० १८६८ माघकृष्ण चतुर्दशी को देहोत्सर्ग किया.

## आचार्य श्रीआसकरणजी

आचार्य श्री रायचन्द्र जी ने संवत् १८५७ आषाढ़ कृष्णा पंचमी के दिन श्रीआसकरण जी म० को युवाचार्य पद प्रदान किया. निरीक्षण करते रहे कि आचार्य-पद का महान् दायित्व परिवहन करने में ये कितने सक्षम हैं. कालांतर में आचार्यश्री को विश्वास हो चला कि आचार्य-पद का उत्तरदायित्व ये कुशलतापूर्वक वहन कर सकेंगे. आचार्य श्री-रायचन्द्रजी म० के स्वर्गवास के पश्चात् आपने सं० १८६८ माघ पूर्णिमा के दिन मेड़ता में आचार्य-पद ग्रहण किया. जयगच्छ सुयोग्य नेतृत्व प्राप्त कर प्रमुदित हुआ

आचार्य श्रीआसकरणजी का जन्म, तिवरी (तिमरपुर राज०)में संवत् १८१२ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को हुआ था. माता गीगादे और पिता रूपचन्द्र जी बोथरा थे. इनका गृही जीवन साढ़े सोलह वर्ष रहा. आचार्य श्रीजयमलजी म० द्वारा सं० १८३० वैशाख कृष्णा पंचमी को तिवरी में मुनिदीक्षा धारण की थी.

इनके वैराग्योद्गम की कहानी बड़ी महत्त्वपूर्ण है. आसकरणजी के वाग्दान की तैयारी हो चुकी थी. माता परम प्रसन्न थी. मेरे घर में जिस चांद-सी बहूरानी का आगमन होनेवाला है, उसके अभिभावक आज वाग्दान कर वचनबद्ध होंगे.

## ज्ञातव्य

यह है कि आचार्य जयमल जी म० के पट्ट पर आसीन होनेवाले सभी आचार्य अविवाहित थे. किसी का वाग्दान होने वाला था तो किसी का वाग्दान हो चुका था और उन्होंने मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली थी. प्रारंभ के तीन आचार्यों के अतिरिक्त सभी आचार्य बाल्यावस्था में दीक्षित हुए थे.[1] किस आत्मा में कितनी तेजस्विता छुपी हुई है, यह उसके बालरूप को देखकर अनुमान करना असंभव लगता है. आरम्भ में साधारण प्रतीत होनेवाले इन तेजस्वी सन्तों ने बड़ी शान के साथ अपनी पावन परम्परा का निर्वाह किया और जिनशासन को जन-जन तक पहुँचाने में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है. यह इस सम्प्रदाय की अपनी एक मौलिक विशेषता रही है.

---
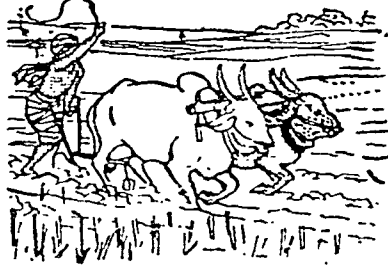
विक्रम संवत् १९८५ में आचार्य श्रीकानमल जी महाराज के स्वर्गवास के पश्चात् सं० १९८९ में मारवाड़ के प्रसिद्ध नगर पाली में छह सम्प्रदायों के मुनिवरों का एक सम्मेलन आयोजित हुआ. उसमें इस सम्प्रदाय की सुव्यवस्था के लिए श्रद्धेय मुनि श्रीहजारीमल जी महाराज को प्रवर्तक-पद प्रदान किया गया और स्वामी जी श्रीचौथमल जी मंत्री पद पर आसीन किये गये. कुछ समय तक यह व्यवस्था चालू रही, किंतु सम्प्रदाय के प्रमुख विचारशील सज्जनों का विचार था कि जब सम्प्रदाय में विद्वान् मुनिराज विद्यमान हैं तो फिर आचार्य-पद की रिक्तता की पूर्ति क्यों न की जाय ? तदनुसार उनका प्रयास प्रारम्भ हुआ और वि० सं० २००४ में नागौर नगर में श्रमणसंघीय प्रान्तमंत्री पं० र० मुनि श्रीमिश्रीमल जी म० (मधुकर) भारी समारोह के साथ नौवें आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित किये गये और श्री आचार्य जसवन्तमल जी म० नाम से अभिहित किये गए. सम्प्रदाय के इतिहास में संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं तथा व्याकरण, साहित्य एवं दर्शनशास्त्र आदि के विशिष्ट ज्ञाता विद्वान् का नेतृत्व पद पर आना एक नवीन घटना थी. आपके नेतृत्व में सम्प्रदाय का विशेष उत्कर्ष होगा, ऐसी आशा थी. किंतु परिस्थितियाँ कुछ ऐसी निर्मित हुईं कि आचार्य श्रीजसवन्तमलजी म० की शांतिप्रिय एवं साधनाशील प्रकृति ने आचार्य-पद पर न रहने का निर्णय किया. अनेकानेक सन्तों एवं श्रावकों के अनुनय-विनय को भी ठुकरा कर आपने पद त्याग कर दिया. तत्पश्चात् वही प्रवर्तकपरम्परा पुनः प्रचलित हुई. वि० सं० २००९ में सादड़ी (मारवाड़) में अखिल भारतीय स्था० मुनियों का बृहत् सम्मेलन हुआ, जिसके सर्वसम्मत निर्णयानुसार अन्य सम्प्रदायों के साथ इस सम्प्रदाय का भी श्रमणसंघ में विलीनीकरण हो गया.

# स्वामीजी का वंश-परिचय

**स्वामी श्रीबुधमलजी म०**

आचार्य श्रीजयमलजी म०[1] के ५१ शिष्य होने का उल्लेख मिलता है. उनके १९ शिष्यों के नाम भी पाए जाते हैं. स्वामी श्रीगोरधनजी म० आचार्यश्री के ज्येष्ठ शिष्य थे. मुनि श्रीरायचन्द्रजी आपके प्रतिभावान् तार्किक व चर्चावादी शिष्य थे. आपको संघ द्वारा जयगच्छ का आचार्य पद प्रदान किया गया था. आप द्वितीय आचार्य थे. अपने समय के ज्योतिस्तंभ थे. आपके ५ शिष्य हुये. प्रधान शिष्य श्रीआसकरणजी थे. आचार्य रायचन्द्रजी के बाद आप तीसरे आचार्य हुए. आपके १० शिष्य थे. श्रीबुधमलजी म० पांचवें शिष्य माने जाते थे.

स्वामी श्रीबुधमलजी म० का जन्म जोधपुर समीपस्थ लुणार ग्राम में हुआ था. माता पन्नादे और पिता श्रीकपूरचन्द्रजी थे. आपके माता-पिता व स्वयं इस प्रकार तीनों ने भागवती दीक्षा धारण की थी. आपकी स्तुति व प्रशस्ति में कवियों ने जो पद्य-रचना की है उसमें आपके माता-पिता और स्वयं आपके दीक्षित होने का विस्तार से उल्लेख पाया जाता है. आपके ही शिष्य स्वामी श्रीफकीरचन्द्रजी म० के उल्लेखानुसार जोधपुर के राजा मानसिंहजी और नवाब मीरखान में युद्ध हुआ. ग्राम में जीवन की सुरक्षा में सन्देह उत्पन्न होने लगा. श्रीकपूरचन्द्रजी सपरिवार लुणार से जोधपुर आगये. दोनों भूपतियों में संघर्ष छिड़ा हुआ था. एक दिन मीरखान-पक्ष की ओर से चलाया गया तोप गोला पन्नाजी के बराबर से गुजरा. पन्नाजी को शारीरिक हानि तो नहीं हुई, केवल उनके वस्त्र झुलस गये. यह गोला श्रीपन्नाजी के वैराग्य में निमित्त बन गया. जयगच्छीय श्रीगीगाजी साध्वी के पास पन्नाजीने जयपुर में दीक्षा धारण कर ली. श्रीकपूरचन्द्रजी का मन भी निर्वेद में ढल गया, साथ ही पुत्र का भी.

आचार्य श्रीआसकरणजी म० उन दिनों जोधपुर में विराजमान थे. पिता-पुत्र आचार्यश्री की सेवा में पहुँचे. आचार्यश्री ने पिता-पुत्र के वैराग्य-मूलक मन की गहराई नापी. और दोनों को सं० १८६९ की पौष शुक्ला षष्ठी को महामंदिर (जोधपुर) में दीक्षा प्रदान की.

दीक्षानंतर स्वामी श्री बुधमलजी ने जैनागमों का अध्ययन किया. पहले जैसी परंपरा थी तदनुसार जैनागमों व अन्य

---

१. स्वामीजी के वंशपरिचय के प्रसंग में आ० जयमलजी, आ० रायचन्द्रजी, आ० आसकरणजी का परिचय आवश्यक है. यह अन्यत्र आचार्य-परंपरा में दिया जा चुका है. अतः यहां स्वामी बुधमलजी म० से हजारीमलजी तक के अतीत परिवार का परिचय प्रस्तुत किया गया है.

ग्रंथों को कलापूर्ण ढंग से लिपिवद्ध किया। आपके जीवन की सर्वाधिक विशेषता यह थी कि आप निरंतर श्रुतसाधना में निमग्न रहते थे. जीवन में सदैव अप्रमत्त भाव की उपासना में लीन रहे. एक मिनट भी व्यर्थ खोना आपको इष्ट नहीं था. यही कारण है कि आपके लिखित ग्रंथ आज भी विपुल मात्रा में पाए जाते हैं.

परवर्ती अनेक विद्वान् सन्त-सतियों ने आपके परिचय एवं प्रशस्ति के रूप में पद्य-रचना की है—

सुन्दराक्षरसंयुक्त-शास्त्र-लेखन-तत्परम् ,<br>
बुधमल्लं-महाराजं वन्दे भक्तिपुरस्सरम् ।

आपने ३२ आगमों की अनेक वार प्रतिलिपियाँ मनोयोगपूर्वक की थीं. आज भी आप द्वारा लिखित ग्रंथ स्थान-स्थान पर खोज करने पर पाए जाते हैं. ज्ञानाराधना में अत्यंत निरत रहते हुए आप संयमसाधना में भी आस्थावान् थे. संयम का अत्यंत दृढ़तापूर्वक आपने पालन किया. सं० १९२६ वैशाख शुक्ला दशमी के दिन नागौर नगर में विधिवत् संलेखना करके स्वर्गवासी हुये.

## स्वामी श्रीफकीरचन्द्रजी महाराज

आप स्वामी श्रीबुधमलजी म० के एकमात्र विद्वान् शिष्य थे. आपका जन्म जोधपुर समीपस्थ विसलपुर ग्राम में हुआ था. माता कुन्दना के अंगजात और पिता श्रीनरसिंहदासजी के आत्मज थे, आपके एक छोटे भाई थे जो इसी गच्छ में आचार्य कस्तूरचन्द्रजी म० के नाम से विख्यात थे. पुत्रों और पत्नी को असमय में ही त्याग कर श्रीनरसिंहदासजी स्वर्गवासी हुए. आपके पूरे परिवार ने, जिसमें पत्नी भी सम्मिलित थीं, जिनधर्म की दीक्षा धारण की.

स्वामीजी की अध्यवसायशील प्रकृति के वारे में लिखे गये अनेक पदों में से एक इस प्रकार है—

विनय करी गुरुदेव रिझावी, भण्या अंग सारा,<br>
छेद मूल उपांग पइन्ना लिया कंठ—धारा।<br>
व्याकरण छंद ज्योतिष स्वरोदय और वेद च्यारा,<br>
पुराण कुरान ने डिंगल पिंगल, न्याय नाममाला।

जैनागमों के अंग उपांग आदि का सूक्ष्म मनन किया. आगमों के अतिरिक्त अन्य धर्मों के ग्रन्थों का भी गहन अध्ययन किया. आपका व्याकरण संबंधी ज्ञान गंभीर मूल्यवान् था. आप संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे. यही कारण है कि आपके पास अन्य सम्प्रदायों के सन्त भी अध्ययन करने में गौरव का अनुभव करते थे. मूर्तिपूजक श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य श्रीविजयानन्दजी सूरि (आत्मारामजी) ने सम्प्रदाय परिवर्त्तन कर लेने के पश्चात् भी आपकी विशिष्ट विद्वत्ता की ख्याति से प्रभावित व आकृष्ट होकर व्याकरण आदि का अध्ययन किया था. सौराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त तपस्वी श्री माणकचन्दजी राजस्थान में[1] आये और आपके निकट लगभग दो वर्ष तक रहकर व्याकरण आदि का अध्ययन करते रहे. तपस्वी श्रीमाणकचन्द्रजी म० के गुर्जर भाषा में प्रकाशित बृहद् जीवन-चरित्र में स्वामी श्रीफकीरचन्द्रजी म० की अद्वितीय विद्वत्ता के वारे में पर्याप्त विस्तार से उल्लेख किया गया है.

आप प्रखर तार्किक और उद्भट चर्चावादी भी थे. किंतु आपकी तत्त्वचर्चा कभी मनोमालिन्य का कारण नहीं बनी. तत्त्व-चर्चा, तर्क और प्रमाणों के आधार पर बड़ी कुशल व तर्कसंगत करते थे. तेरापंथी (जैनों की एक उपशाखा) सम्प्रदाय के मुनियों के साथ भी आपने तत्त्वचर्चा अपने समय में की थी. तेरापंथियों के गढ़ लाडनू में वर्षावास करना प्रबल

---

१. किशनगढ़ आदि स्थानों में.

प्रभाव, उन जैसे संयमशील और प्रकाण्ड पण्डित और तत्त्वज्ञानी के लिए ही संभव था. आपका लाडनू-चार्तुमास धर्म-प्रभावना की दृष्टि से बड़ा सफल रहा. अनेक भाइयों और बाइयों को दया-दान का उपदेश देकर जिनाज्ञामूलक सन्मार्ग प्रदर्शित किया. आपके पश्चात् ही पूज्य श्रीजवाहरलालजी म० को इस क्षेत्र में सफलता का गौरव प्राप्त हुआ था.

उस युग के असाधारण प्रतिभाशाली इन विद्वान् संतशिरोमणि ने चैत्र कृष्णा त्रयोदशी के दिन समाधिमरणपूर्वक व्यावर नगर में देहोत्सर्ग किया.

## स्वामी श्रीजोरावरमलजी म०

आप स्वामी श्रीफकीरचन्द्रजी म० के सबसे छोटे प्रतिभावान शिष्य थे. आपका जन्म सिहु (जोधपुर) की पवित्र धरती पर विक्रम संवत् १९३६ की वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन माता मगना बाई की रत्नकुक्षि से हुआ था. आप श्रीरिद्ध-करणजी के आत्मज थे. सं० १९४४ की अक्षयतृतीया के शुभ मुहूर्त में स्वामी श्रीफकीरचन्द्रजी के द्वारा मुनिदीक्षा ग्रहण की थी. आपकी यह दीक्षा जयगच्छीय परंपरा के गौरवशाली नगर नागौर में हुई.

दीक्षाग्रहणोपरांत संस्कृत व्याकरण, आगम, टीका चूर्णि, छन्दःशास्त्र, ज्योतिष और न्यायशास्त्र का गहन अध्ययन किया. अध्ययन के साथ-साथ सूक्ष्म चिंतन करना आपके जीवन की एक उल्लेखनीय विशेषता थी. प्रबुद्ध एवं गंभीर चिंतन का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि सम्प्रदाय में रहते हुए भी आपके विचारों में विराटता आगई और आप समन्वयवादी हो गये. आपको लगा कि सब धर्मों का लक्ष्य एक ही है. आपके जीवन में समन्वयवृत्ति के महत्त्वपूर्ण कार्यों की एक लम्बी सूची जुड़ी हुई है. सामाजिक क्षेत्र में मानव के सर्वांगीण विकास पर सोचना और उसे कार्यरूप में परिणत करना ही अन्त में आपने अपने लोकहित का मूलाधार बना लिया था ।

आपने कुचेरा डेह नागौर आदि क्षेत्रों में हरिजनों के सम्मान का प्रभावशाली आन्दोलन प्रारम्भ किया था. सं० १९९५ का प्रसंग उल्लेख्य है. साधारणतया सर्वत्र ही हरिजनों को जूठन देने की परंपरा है. स्वामीजी को यह व्यवहार मानवजाति का घोर अपमान प्रतीत हुआ. उन्होंने कुचेरा, नागौर डेह आदि क्षेत्रों में हरिजनों के सम्मान का प्रभाव-शाली आन्दोलन प्रारम्भ किया. सर्वप्रथम कुचेरा में अनुदिन के प्रवचनों में इसका विरोध किया. निरन्तर के प्रवचनों के परिणामस्वरूप कुचेरा के जैन बन्धुओं ने हरिजनों को झूठा भोजन न देने की प्रतिज्ञा की. साथ ही उन्हें शुद्ध भोजन अमुक परिमाण में देने का भी निश्चय किया. इसके बाद में जहाँ कहीं भी आप पधारे सर्वत्र इस बुराई के उन्मूलन के लिये प्रयत्नशील रहे.

मुनिश्री द्वारा किये गये अन्त्यजोद्धार के कार्य की उलटी प्रतिक्रिया हुई. हरिजन-बन्धु मुनिश्री के पास आये और बोले—'महाराज, आपने यह क्या किया ? पहले हमें अधिक मात्रा में भोजन प्राप्त होता था और अब सीमित ही मिलता है. आपका यह सुधार हमारे किस काम आया ?'

स्वामीजी म० ने हरिजन-बन्धुओं की बात सुनी और विचारों में गहरे उतर गए.—'मनुष्य कितना हीन भावों में डूब जाता है. उसे अपने मानवीय महत्त्व का भी भान नहीं रहता है. सच है, दासता मनुष्य के शरीर पर ही नहीं, मन, वाणी और आत्मा पर भी छा जाती है. जब और जिन परिस्थितियों में इस प्रथा का प्रारम्भ हुआ होगा उस समय अवश्य इन लोगों के मन में यह चुभा होगा कि हमें उच्छिष्ट भोजन दिया जाता है. धीरे-धीरे वे विचार मर गये. दासता और दीनता इनके दिमाग़ पर आज किस क़दर सवार हो गई है कि शुद्ध भोजन मिल रहा है तो भी उच्छिष्ट भोजन के बिना इन्हें सन्तोष नहीं मिल रहा है. दैन्य कितना बड़ा पाप है. वह मानव को अपना मूल्य और महत्त्व भी नहीं आँकने देता है. आज उन्हीं के हित की बात में उन्हें हानि दिखाई दे रही है.......'

मुनिश्री ने आगत हरिजन-बन्धुओं को समझाया—'मनुष्य-मनुष्य सब समान हैं. वर्णविभाजन का उद्देश्य समाज की सुव्यवस्था था. सुव्यवस्था करने में जिसके हिस्से में जो कार्य आता है, उसे वह कार्य करना होता है. आप लोग सेवा-

कार्य करने लगे, किन्तु धीरे-धीरे समाज से अलग हो गये. आज स्थिति यह कि आप उच्छिष्ट भोजन के आधिक्य को महत्त्व देने लगे और अपने स्वाभिमान को भुला बैठे. आप समझते हैं कि मैंने आपको घाटे में डाल दिया है, पर यह मत समझना कि आपके अधिकार छिनवाने का प्रयत्न किया है. अगर आप लोग ऐसा समझते हैं तो यह गलत है. मैं चाहता हूँ कि आपका सुपुप्त स्वाभिमान जाग्रत हो. आपकी मानवता ऊँची उठे. और आप अपने को कुलीन कहे जाने वालों की कोटि में ही अनुभव करें. स्वच्छ भोजन प्राप्त करना आपका स्वाभाविक अधिकार है. आपको यह अधिकार प्राप्त करना ही चाहिये. हरिजन-वन्धुओं के गले वात उतर गई. स्वामीजी द्वारा मानव अधिकार की व्याख्या से वे अत्यधिक प्रभावित हुये.

कुचेरा के समीप ही डेह ग्राम में भी स्वामीजी ने उक्त आन्दोलन को उसी समय चलाया और सफलता प्राप्त की । यह प्रसंग पचास वर्ष से भी अधिक पूर्व का है । आचार्य श्रीजवाहरलाल जी म० ने भी इस आन्दोलन को आगे बढ़ाने का प्रयास किया.

स्वामीजी म० के गुरुदेव जब तक रहे तब तक आपने अपने को सर्वतोभावेन उनके चरणों में अर्पित किये रखा. आपने मन में यह निश्चय कर रखा था कि गुरु म० जब तक विद्यमान हैं तब तक उनकी सेवा और अध्ययन ही मेरा प्रधान कार्य रहेगा. गुरु म० के स्वर्गवास के पश्चात् आपने राजस्थान के लगभग छोटे-बड़े सभी गाँवों में धर्म-प्रचार किया. सर्वत्र सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन का दिव्य संदेश दिया. आपने अपने प्रवचनों में समन्वय के स्वर को सर्वाधिक मुखरित किया. राजस्थान के ठाकुरों, राजाओं और जागीरदारों में आपका धर्मगुरु के रूप में पर्याप्त प्रभाव था. उन्हें मांस, मदिरा, जुआ और शिकार जैसे क्रूर कर्मों से उपरत कर उनमें मानवीय संवेदना की अनुभूतियों को जाग्रत किया । जागीरदारों से शिकार छुड़वाने की दिशा में आपको अद्वितीय सफलता मिली । इस दिशा में मारवाड़ के 'हरसौलाव' के ठाकुर, रजलानी के महाराजा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं.

स्वामीजी म० के संयमीय जीवन पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि वे कितने बड़े धीर, वीर, तपस्वी थे. ब्रह्मचर्य का दिव्य तेज उनके भाल पर प्रतिबिम्बित था. स्वीकृत प्रतिज्ञाओं को दृढ़तापूर्वक स्वयं पालन करते थे और अपने अधीनस्थ मुनियों को भी समय-समय पर प्रतिबोधित करते रहते थे. स्वयं जिस सम्प्रदाय में रहे उस सम्प्रदाय के नियमों के पालन में बड़े वफादार सैनिक की तरह सजग रहे. अन्य सम्प्रदाय से सम्बन्धित व्यक्ति को अपने सम्प्रदाय की ओर आकर्षित कर स्व-सम्प्रदाय की अभिवृद्धि करना अभीष्ट नहीं था. जैसा कि सर्वत्र होता रहा है ! होता आया है । इस संबंध में उनका स्पष्ट अभिमत था कि—जहाँ हो, वहीं रहो. नैतिक बनो, धर्म के निकट रहो. नियमित रूप से धर्मक्रिया करो. कहीं करो, करो. धर्मात्मा बनने के लिये सम्प्रदाय बदलने की नहीं, हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता है.'

आपके नाम के व्याख्यामय मुनिजीवन का लक्षण एक कवि ने किया है. जैन जगत् में व विशेषतः जयगच्छ में निम्न कवित्त बहुत प्रसिद्ध है.

> जो रति-नायक जीति करे, जो रन संजम जोर लगावे।
> जो रत प्रीति जिनेश्वर के पद, जो रत्न-त्रय यत्न करावे।
> जो रमतो रह आतम-ज्ञान में, जो रसना शिव-मार्ग बतावे।
> जो रत होय रटे प्रभु-जाप ही 'जोर' मुनीश्वर सो ही कहावे।

स्वामी जी म० ने भंवाल-मारवाड़ में सं० १९८९ के वर्ष में संल्लेखना पूर्वक समाधिमरण प्राप्त कर जिनधर्म की शाश्वत संलेखना की परम्परा में मृत्यु को चुनौती दी और कालधर्म की उपलब्धि की.

## स्वामी श्रीब्रजलालजी म०

आप स्वामी श्रीजोरावरमलजी म० के मँझले शिष्य हैं. जन्म-स्थान तिवरी (मारवाड़) । सं० १९५८ की वसंत

पंचमी के दिन माता चम्पादेवी की पुण्यकुक्षि से जन्म हुआ. श्रीअमोलकचन्द्रजी श्रीश्रीमाल को आपके पिता होने का गौरव प्राप्त हुआ. वैशाख शुक्ला द्वादशी विक्रम सं० १९७१ के दिन स्वामी श्रीजोरावरमलजी से आपने व्यावर में दीक्षा अंगीकार की.

गुरु ने शिष्य को अपना विद्यावैभव प्रदान किया. शिष्य ने गुरु की अपूर्व निष्ठापूर्वक सेवा की. गुरु के आदेश-निर्देश से एक इंच भी इधर-उधर होना आपके सेवापरायण मन ने कभी स्वीकार नहीं किया. गुरु म० के समक्ष जैसी संयमनिष्ठा थी वैसी ही निष्ठा आज तक विद्यमान है. दीक्षा के बाद आज तक संयम में पराक्रम दिखाते हुये, साधुता की मस्ती का आनन्दोपभोग करते हुये, संयमशील जीवन की नैया को कर्त्तव्यशील मांझी की तरह खेते चले जा रहे हैं. आपको दीक्षा धारण किये ५० वर्ष से भी अधिक समय व्यतीत हो गया है. इस बीच अल्हड़ जवानी आई, और गई. परन्तु संयम में हिमालय-सी अचलता, समुद्र-सी गम्भीरता और इस्पात-सी कठोरता जैसी प्रारम्भ में रही वैसी ही आज भी विद्यमान है.

थोकड़ों का ज्ञान आपका अद्भुत है. कितने ग्रंथों का ज्ञान प्राप्त किया या किसी ने कितने ग्रंथ पढ़ लिये, इस बात को आपने कभी महत्त्व नहीं दिया. आपने सदैव एक ही सिद्धांत को अपने जीवन का आदि, मध्य और अन्त का केन्द्र माना है कि जो हम पढ़ते हैं, समझते हैं वह हमारे जीवन को कितना स्पर्श कर पाया है. यही कारण है कि आपने पढ़-पढ़कर पठित ग्रंथों की संख्या बढ़ाने में कभी विश्वास नहीं किया, जो पढ़ा उसे जीवन की प्रयोगशाला में ढाला है.

आपके जीवन की सर्वाधिक विशेषता है—सेवा. सेवा को आपने साधुता का श्रृंगार माना है. इसलिए आप सेवाव्रती के रूप में साधु समाज में विख्यात हैं. सेवा परम धर्म है. यह धर्म, योगियों की योगसाधना से भी दुष्कर है, क्योंकि इसके पालन करने में अपनी मनोवृत्तियों का दृढ़तापूर्वक दमन करना पड़ता है. मन पर विजय प्राप्त करने वाला ही सेवा-जैसे महान् गुण को जीवन में साकार कर पाता है. भर्तृहरि ने भी कहा है—'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' गुरु की सेवा करना उतना प्रशंसनीय नहीं है जितना प्रशंसनीय है प्रत्येक छोटे-बड़े सन्त की सेवा करना. गुरु की सेवा समाज में सम्मान पाने एवं गुरु का प्रिय बनने को भी मनुष्य कर लेता है. किन्तु आप समान भाव से छोटे-बड़े सभी मुनियों की सेवा कर अपूर्व प्रसन्नता का अनुभव करते हैं. अपने उपकारी के प्रति विनम्र भाव से सेवकत्व जतलाना एक बात है और आकांक्षा रहित होकर गुणी जनों की सेवा में प्रवृत्त रहना जीवन की दुष्प्राप्य सिद्धि है. आपकी पुनीत सेवावृत्ति के परिणामस्वरूप ही मैं (मधुकर मुनि) साधु जीवन में एकदम निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त रह कर एकाग्रभाव से अध्ययन में तत्पर रह सका. वस्तुतः मेरे जीवन के निर्माण में स्वामीजी म० की अनुग्रहपूर्ण सद्भावना एक प्रधान कारण रही है, गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी महाराज की और फिर स्वामी श्रीहजारीमल जी म० की सेवा के अवसरों को आप स्वयं ओट आ लेते और मुझे सदैव ज्ञान-ध्यान करते रहने की प्रेरणा प्रदान करते रहे. जीवन के ६३ वर्ष पूर्ण कर चुकने पर भी आप में आज भी सन्तों की सेवा के प्रति वही तीव्र वेग है.
आपके भाल पर ब्रह्मचर्य का तेज आज भी देदीप्यमान है. आप अपनी धुन के धनी हैं. आपमें साधुता की सहज मस्ती है. श्रावक समाज पर आपका प्रभाव पर्याप्तमात्रा में विद्यमान है.

स्वामीजी म० के स्वर्गवास के बाद आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता है तथापि आपकी वाणी में जो कड़क है उसके पीछे विशुद्ध साधुत्व का बल बोलता दिखाई देता है. आपने सौन्दर्यात्मक लेखन में खूब प्रगति की है. वर्तमान में आपका जैनलिपि (प्राचीनशास्त्रों की पडीमात्रा लिपि) में सुन्दर लेखन साधु-समाज में प्रसिद्ध है.

मुनि मिश्रीमल 'मधुकर'

(स्वामीजी म० के वर्तमान परिवार का परिचय यहाँ दिया जा रहा है. मैं भी उसका एक सदस्य हूँ. इसी नाते निम्न-लिखित पंक्तियाँ लिखने की विवशता है—स्वयं अपने बारे में )
जन्म, तिंवरी सं० १९७० में. माता तुलसा जी. पिता जमनालालजी धाडीवाल. गुरुदेव श्रीजोरावरमल जी म० की कृपा

हुई. सं० १९८० में भिनाय (मेरवाडा) में वैशाख शुक्ला दशमी को दीक्षा सम्पन्न हुई. जीवन को एक नई दिशा मिली.

दीक्षा के पश्चात्, संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओं का और व्याकरण, साहित्य, धर्म एवं दर्शन आदि विविध विषयों का अध्ययन किया. सौभाग्य से ऐसे समर्थ विद्वान् गुरुदेव का सान्निध्य प्राप्त हुआ. जो ज्ञान के महत्त्व से भली भाँति परिचित थे और जो अपने जीवन में ज्ञान की ज्योति स्वयं प्राप्त कर सके थे. उन्होंने अध्ययन की प्रेरणा दी. समुचित व्यवस्था की. गुरुदेव के देहोत्सर्ग के पश्चात् स्वामी श्रीहजारीमलजी म० की छत्र-छाया में आया. आपने भी गुरु का प्यार दिया और पथप्रदर्शन किया. प्राकृत भाषा के उद्भट विद्वान् प० वेचरदास दोशी को भी अध्यापन के निमित्त बुलाया गया. बंगाल संस्कृत साहित्य-परिषद् की न्यायतीर्थ और काव्यतीर्थ आदि परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं. साहित्यिक जीवन में प्रवेश हुआ. सर्वप्रथम श्रमण भगवान् महावीर की धर्मदेशनाओं का संकलन किया[1]. जयवाणी आदि ग्रंथों के संपादन का भी सुअवसर मिला. इसके पश्चात् अन्य सन्त कवियों की रचनाओं का अनेक वर्षों तक अन्वेषण करके रायरचना और आसकरण-पदावली का सम्पादन किया. संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में अनेक प्रकीर्णक रचनाएँ की हैं जो विभिन्न संग्रहों और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं.

## मुनि श्रीमाँगीलालजी

आप स्वामी श्रीहजारीमलजी म० के ज्येष्ठ शिष्य थे. आपने ढलती उम्र में स्वामी म० द्वारा वि० सं० १९९४ मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को नौखा ग्राम में दीक्षा ग्रहण की थी. आपका जन्म भाद्रपद शुक्ला दशमी को दादिया (किशनगढ़) में हुआ था. माता का नाम पुष्पादेवी और पिता का नाम हजारीमलजी तातेड था.

आपका प्रारम्भ से ही धर्म के प्रति रुझान था. सात्विक भाव का बीजारोपण बचपन से ही हो गया था. परम विदुषी महासती श्रीउमरावकुँवरजी म० आपकी ही सुपुत्री हैं, जिन्होंने स्वामीजी म० की परम्परा में दीक्षा ग्रहण की है. पुत्री की दीक्षा ने आपको संयम-जीवन की ओर मोड़ दिया. आप वृद्ध होते हुए भी तपस्या करते रहे. रसनाविजय के लिए एक उदाहरण स्वरूप सन्त हुए. आपने तीन वर्ष के लगभग ब्यावर में स्थिरवास किया. अंत में सं० २०१३ श्रावण कृष्णा दशमी को स्वर्गगमन किया.

## तपस्वी श्रीमोहनमुनिजी

आप स्वामी म० के द्वितीय शिष्य हैं. आपका जन्म मेवाड़ के शाहपुरा नगर में हुआ था. माता गुलाबबाई और पिता माँगीलालजी पारख थे. स्वामीजी से महामंदिर (जोधपुर) में दीक्षा धारण की थी. दीक्षा के थोड़े समय पश्चात् ही तपश्चरण प्रारम्भ कर दिया था. आज भी आपकी तपश्चर्या का क्रम चलता ही रहता है. उग्र विहारी मुनियों में आप विशेष उल्लेखनीय माने जाते हैं.

## श्रीसोहनमुनिजी

आप श्रीमोहनमुनिजी के शिष्य हैं. सांसारिक दृष्टि से आपके सहोदर लघुभ्राता भी हैं. आपने श्रीमोहनमुनिजी से इन्दौर में मार्गशीर्ष नवमी सं० २०१८ में दीक्षा ग्रहण की. अध्ययन और सेवा में आपकी विशेष अभिरुचि है. सब सन्तों की आपके साथ पूरी सद्भावना है कि आप अपने इस उद्देश्य में आगे बढ़ें. आपको भी पूरी लगन है. भविष्य में इसका सुन्दर परिणाम देखने को समाज उत्सुक है.

---

१. धर्मपथ, जागरण आदि

# जयगच्छीय विशिष्ट संत

आचार्यश्री जयमलजी महाराज की सन्तपरम्परा वैचारिक और आचारिक मामलों में अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है. इस परम्परा में होने वाले आचार्य और विशिष्ट सन्तों में भूल से ही कोई ऐसा सन्त रहा होगा, जिसने साहित्य-मुक्ताओं में चंचुप्रवेश न किया हो.

प्रत्येक युग की एक सीमा होती है. जयगच्छीय सन्तों ने माता सरस्वती के ज्ञानमंदिर में श्रद्धा और भक्ति के पद्यपुष्पों की मालाएँ अत्यंत विनीत भाव से समर्पित की हैं. माता सरस्वती को पुष्पमाला अर्पित करने पर भी समुचित अनुसंधान के अभाव में वे इतिहास के पृष्ठों पर अंकित न हो सके, प्रकाशित न हो सके, ख्याति और यश के निकष पर चढ़ाए न गए.

परन्तु राजस्थान के प्राचीन ज्ञानागारों की खोज करने पर उनकी कृतियाँ रत्न की तरह चमकती दीख रही हैं. यह अन्वेषकों की पैनी दृष्टि का सत्य है. साहित्य के कालविभाजन के अनुसार एक युग का नाम भक्तियुग है. भक्तियुग में आत्मविज्ञापन से दूर रहने का एक प्रवाह चल पड़ा था. परिणामस्वरूप उस काल में सन्त-भक्त कवियों ने अनंत सत्ता के प्रति पद्य-पुष्पांजलियाँ अर्पित कीं परन्तु अपना एक निश्चित लक्ष्य निर्धारित कर रखा था कि जो रचनाएँ की जाएँ वे ख्याति के लिये नहीं अपितु स्वांत:सुखाय ही की जाएँ. भक्तियुग अठारहवीं सदी से कुछ अधिक दशकों तक माना जाता है.

जयगच्छ में होनेवाले परवर्ती सभी सन्त भक्तियुग में हुए हैं. स्वयं ने आनन्दानुभूति करके अपनी रचनाओं को जब जहां अवसर मिला वहाँ के भण्डारों में रख दीं. कभी यह नहीं सोचा कि इनका प्रचार-प्रसार हो. इनके प्रचार-प्रसार के साथ हमारा नाम हो. आचार्य श्रीजयमलजी महाराज एक विशिष्ट चिन्तक और साहित्यकार सन्त थे. वे सन्तपरम्परा का निर्वाह करने वाले सबल और सूक्ष्म साहित्यकार थे. उनके साहित्य ने उनके पश्चाद्वर्ती सन्तों को इस दिशा में बढ़ने के लिये उत्प्रेरित किया था. बहुत से ऐसे सन्त उनकी साहित्यिक परम्परा को निभानेवाले हुए. परन्तु आज उनकी रचनाएँ अत्यल्प मात्रा में ही पाई जाती हैं.

जयगच्छ में कुछ अन्वेषणप्रिय संत हुए और हैं जिन्होंने उनकी कृतियों की खोज की है. उन्हें इस परम्परा के सन्तों की अनेकानेक कृतियां मिली हैं. 'मुनि श्रीहजारीमल स्मृतिग्रंथ' में जयगच्छ के उन समस्त विशिष्ट सन्तों का हम परिचय देना चाहते थे परन्तु दुर्दैवविपाक ही समझिये कि जिन सन्तों के पास इस सम्बन्ध की सामग्री है, प्रयत्न करने पर भी हमें वह उपलब्ध न हो सकी. यदि वह सामग्री किसी पृथक् ग्रंथ के रूप में प्रकाश में आए तो हम उनका अभिनन्दन करेंगे.
जयगच्छ के जिन महामनीषी मुनियों का परिचय दिया जा चुका है. उनके अतिरिक्त कतिपय विशिष्ट सन्तों का भी परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है, जो इस प्रकार है—

(१) स्वामी श्रीशोभाचन्द्रजी महाराज (२) स्वामी श्रीहरखचन्द्रजी महाराज (३) स्वामी श्रीचौथमलजी महाराज (४) स्वामी श्रीवक्तावरमलजी महाराज (५) स्वामी श्रीचैनमलजी महाराज (६) स्वामी श्रीरावतमलजी महाराज.

## श्रीशोभाचन्द्रजी म०

जन्म चिचंडनी (जोधपुर) सं० १९१७. पिता श्रीजीतमलजी माता धुरावाई की रत्नकुक्षि से जन्म ग्रहण किया. हृदय की सुकोमल भूमि में वचपन से वीतराग वाणी का पानी साधु-सन्तों द्वारा पड़ता रहा. फलस्वरूप धर्म का वीज अंकुरित हुआ. जनक-जननी से भागवती दीक्षा धारण की अनुमति ग्रहण कर सं० १९२६ की भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा के दिन पाली (राजस्थान) क्षेत्र में आचार्य हीराचन्द्रजी म० का शिष्यत्व स्वीकार किया.

ज्ञानाराधना की. यौवन आया, चुप-चाप चला गया. ज्ञान की अखंड लौ से आपने अपने जीवन-पथ में प्रकाश पाया. चारित्र की कठोर साधना, स्वाध्याय, त्याग और तप की अखंड आराधना के फलस्वरूप आपका स्वभाव अत्यन्त नम्र वना. जिज्ञासा वेगवती हुई. स्व और पर सन्त परिवार की भेदक दीवारों को लांघ कर सब से स्नेह व सौजन्यपूर्ण व्यवहार करना—उस समय के सन्तों में आपमें विशेष रूप से पाया जाता था.

आप के स्वभाव के आकर्षण ने तीन भव्यात्माओं को जिनधर्म की दीक्षा धारण की वलवती प्रेरणा प्रदान की. **मुनि श्रीचौथमलजी म०, नरसिंहजी म० व श्रीमूल मुनिजी म०.**

## वैशिष्ट्य

जिनके जीवन में हिमालय-सा उन्नत लक्ष्य व उद्देश्य होता है वह व्यक्ति परिवार की सीमाओं में वँधकर कभी नहीं रहता है. सन्त परिवार की दृष्टि से आपका मुनि हजारीमलजी म० के दादा गुरु श्रीफकीरचन्द्रजी म० एवं गुरु श्रीजोरावर-मलजी म० से निकट सम्वन्ध नहीं था. तथापि आचार्य श्रीजयमलजी म० के पश्चाद्वर्ती वने जयगच्छ के नाम की मुद्रा सम्प्रदाय के तीनों मुनियों के पीछे लगी होने के कारण उनका सम्वन्ध एक परिवार के सन्तों के समान ही था. युग और समय के अनदेखे प्रभाव वड़े विचित्र होते हैं. काल का चक्र बीतता जा रहा है. आज कालचक्र का वह पहलू हमारे सामने है कि जिसमें शोभाचन्द्रजी म० के सन्तपरिवार में से कोई भी दृष्टिपथ नहीं हो रहा है. परन्तु उनका शिष्य एक भी न होने पर भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उनका सन्तपरिवार है. स्वामी श्रीजोरावरमलजी म० उनके स्नेही समकालीन थे. अतः उनका सन्त या शिष्य न होने पर भी जोरावरमलजी म० के शिष्यों का सन्त-परिवार विद्यमान है अतः वह उनका ही शिष्य परिवार है. जोरावरमलजी म० का जव तक सन्तपरिवार है यह गौरव-पूर्वक कहा जा सकता है कि श्रीजोरावरमलजी का सन्तपरिवार उनका भी परिवार है.

## स्वामी श्रीहरखचन्द्रजी म०

सन्तजीवन भारतीय धर्मशास्त्रों में अत्यन्त पवित्र माना गया है. वह इसलिये कि दुनिया के छल-प्रपंच व मायाजाल से उसने अपने आपको परिमुक्त कर लिया है. मानव अपने स्वार्थ व लाभवश इस प्रकार के वन्धनों में जकड़ा-पकड़ा हुआ पाया जाता है कि प्रयत्न करने पर भी वह इस वंधन से मुक्त होने में अपने आपको दुर्वल अनुभव करता है. अतः सामान्यतः मनुष्य में दुर्वलता सहज है. वस यही भाव सन्त-जीवन की ओर मनुष्य को आकर्षित करता है.

मुनिश्री हरखचन्द्रजी म० के प्रति जन-जन की सहज श्रद्धा थी. इसका कारण यह था कि वे सांसारिक वन्धनों से मुक्त होकर अनन्त आकाश और विशाल धरती पर धर्म का छत्र धारण कर चुके थे. वाणी के वे जादूगर वन चुके थे. भगवान् महावीर अपनी धर्मदेशनाओं में स्थान-स्थान पर साधकों को सत्य का छोर थमाते हुये कह गये—साधको, थोड़ा बोलो, स्वल्प वोलो. अधिक वोलने पर अधिक प्रवृत्तिमय जीवन होगा. प्रवृति, निवृत्तिमूलक वीतराग धर्म में वाधा उपस्थित करती है. महावीर की यह धर्मदेशना उनके जीवन में साकार हो गई थी. अतः उनके श्रीमुख से कहा गया प्रत्येक सहज वचन सत्य प्रमाणित होता था. यही कारण है कि उनका स्वर्गवास हुये आज अर्ध शताव्दी से भी अधिक समय व्यतीत हो गया है, फिर भी उनके चारित्रिक जीवन पर आज भी श्रद्धालुओं की विपुल मात्रा में अखंड श्रद्धा पाई जाती है.

उन्होंने जिसको जो कह दिया वह वैसा ही हो गया, यदि किसी को यह कहा कि व्यापार में लाभ होगा तो वह निहाल हो गया. यही कारण है कि आज भी उनके स्वर्गवास स्थान पर सच्चे मन से खड़े होकर अगर कोई यह सोचता है कि मेरा यह कार्य हो जाना चाहिये तो वह हो जाता है. संक्षेप में उनकी वाणी से कहा गया प्रत्येक वचन जन-जन के लिये वरदान साबित होता था. वचनसिद्ध महात्मा पुरुष के रूप में वे अपने समय में बहुत प्रख्यात हुए.

आपका जन्म सेठों की रीयां में सं० १८८२ कार्तिक शुक्ला ९ में हुआ था. माता-पिता का नाम क्रमशः श्रीनथमलजी भंडारी और पाना बाई था. आपने पूज्य श्रीकुशालचन्द्रजी म० द्वारा विक्रम सं० १८९१ में अपने जन्मस्थान रीयां में ही दीक्षा ग्रहण की थी. विक्रम सं० १९३६ वैसाख कृष्णा एकादशी को कुचामण में नश्वर देह का परित्याग कर अपने संयमीय जीवन का अन्तिम काम्य प्राप्त किया था.

## स्वामी श्रीचौथमलजी म०

स्वामीजी की परिचय रेखा में उनको सीमित या अंकित करना असंभव है. वे नये युग की उजली रेखा को कल्पना की आंखों से भविष्यद्दृष्टा की तरह देखते थे. वे पुराने युग के सन्त कहलाते थे. साधुत्व की मर्यादा और सीमा रेखा में खड़े रहकर भी भविष्य में समाज को किस प्रकार के विचार-आचार का प्रतिपादन प्रिय होगा, इसके उन्होंने वखूबी अपनी पद्य-रचनाओं में संकेत दिये हैं. वे सुधारक भी प्रथम कोटि के थे. जड़ता या विचारशून्यता उन्हें कतई पसन्द नहीं थी. साधु समाज को भी उन्होंने पर्याप्त सतर्क और सबल सुधारात्मक विचार दिये. मारवाड़ प्रांत के अत्यंत निर्भीक सन्त थे. अपनी वात को सचोट शब्दों में कहना उनका स्वभाव था. उन्होंने साधुसमाज के सामने सवसे पहले यह विचार प्रस्तुत किये कि निवृत्तिप्रधान जैनमुनि आज जो काष्ठ के पात्र ग्रहण करते हैं, वे मकान और पानी उन्हें निर्दोष नहीं मिलते हैं. जव उन्होंने ये और इस प्रकार के सतर्क अन्य विचार प्रस्तुत किये तो साधु समाज में काफी चर्चा रही. पर उनके सटीक प्रश्न का किसी के पास कोई उत्तर नहीं था. तव से साधु समाज में एक विचारधारा इस श्रेणी की भी वनी जो स्वामीजी के विचारों का समर्थन करती है. ये विचार उन्होंने प्रवचन-मंच से तो सैकड़ों वार उपस्थित किये ही परन्तु अपने उन विचारों को कविता की कड़ी में पिरोकर भी उपस्थित किये. वे सुधारात्मक गीत आज भी विद्यमान हैं. वैसे आपका कवित्वबल जागृत और प्राणवान था. भक्तिप्रधान तत्त्वप्रधान सुधारप्रधान और कथाचरित प्रधान रचनाएं कीं. उनके निकटवर्ती स्वामी श्रीचांदमलजी, श्रीजीतमलजी, वख्तावरमलजी, लालचंदजी आदि ने प्रकाशित भी करावे हैं. कुछ पुस्तकें विभिन्न नामों से उनके जीवनकाल में भी प्रकाशित हो चुकी हैं.

संस्कृत और प्राकृत भाषा के वल पर जैनागमों का गंभीर अध्ययन और चिंतन किया.

प्रवचनपद्धति श्रवणसुखद थी. भाषा का माध्यम राजस्थानी था. क्योंकि राजस्थान का समूचा क्षेत्रफल उनका विहार क्षेत्र था. संगठन की ओर उनका सर्वाधिक लक्ष्य था. अलग-अलग सम्प्रदायों में साधुओं का वँटे रहना उन्हें तनिक भी पसन्द नहीं था. व्यक्तिशः उन्होंने संगठनों के लिये समय-समय पर विपुल प्रयत्न किये थे. वे मानते थे कि महावीर के उत्तराधिकारियों की शक्ति विकेन्द्रित हो रही है. इसका केन्द्रीकरण होना नितान्त आवश्यक है. यह युग संगठन का युग है. संगठित होकर ही हम लोग नैतिक अभियान छेड़कर जन-जनें में नैतिकता की पूजा प्रतिष्ठा कर सकते हैं.

सं० २००९ में सादड़ी में मुनियों का अखिल भारतीय स्तर पर सम्मेलन होने की घोषणा सुनी चर्चा, सुनी तो उनके मनका कोना-कोना प्रसन्नता, से परिव्याप्त हो गया था. यद्यपि वे शारीरिक अवस्थावश उस सम्मेलन में शरीक नहीं हो सके थे परन्तु अपने साथी मुनि श्रीचांदमलजी श्रीजीतनमलजी व श्रीलालचन्दजी म० को वड़े चाव व उत्साह से सम्मेलन में भाग लेने के लिमे भेजा था.

सम्मेलन के पश्चात् अखिल भारतीय स्तर पर 'श्रमणसंघ' के नाम से साधुओं का संगठन हो गया है, जव उन्होंने यह सुना

तो उनका मन सन्तोष अनुभव कर कहा था. मेरी जीवन की एक साध तो पूरी हुई, धीरे-धीरे समाज में अन्य सुधार भी होंगे. समाज को संगठन भूमि मिली है. खुदेगी तो समय आने पर सुधार और चारित्रिक निर्मलता के सुफल भी भावी समाज प्राप्त करेगा.

आपका जन्म सं० १९४७ आषाढ़ शुक्ला तृतीया पिरोजपुरा (कुचेरा) में माता कुंवरादे की रत्नकुक्षि से हुआ था. पिता का नाम श्रीहरचन्दराय जाट था.

१९५९ वैसाख कृष्णा सप्तमी को सेठों की रिया में श्रीनथमलजी का शिष्यत्व ग्रहण किया था. आपके दादागुरु का पवित्र नाम श्रीसूरजमलजी म० था. दोनों मुनि अपने समय के आचारनिष्ठ व कर्मठ स्वाध्यायी सन्त माने जाते थे. वर्तमान में श्री चांदमलजी म० इसीलिए स्वाध्यायी चांदमलजी म० के नाम से विख्यात हैं कि आपके अग्रज स्वाध्याय-प्रेमी थे. श्रीचांदमलजी म० और श्रीजीतमलजी म०, श्रीचौथमलजी म० के गुरुभाइयों में हैं. इस युग में शास्त्रलिपि-कारों में श्रीचांदमलजी का नाम सर्वोपरि है.

श्रीचौथमलजी म० का स्वर्गवास जोधपुर में समाधीमरण पूर्वक हुआ था. तेरह दिन संथारा भावों की बड़ी निर्मलता के साथ चला था. सम्मेलन के बाद सबसे पहले स्वर्गवास आप ही का हुआ था. ऐसा लगता था कि वे सम्मेलन होने की बाट ही जो रहे थे. उनके मन की मुराद संगठन की थी. वह पूरी होते ही वे अपने संयमीय जीवन के काम्य को पा गये. श्रमण संघ में परिगणित अन्य सन्त भी उनके संल्लेखना के भीष्म व्रत की पूर्णाहुति के समय पधारे थे. सन्तों को देखकर उन्हें अपार हर्ष हुआ. उन्होंने कहा था कि मेरी युगों की अभिकांक्षा आज साकार है. मैं आज परम प्रसन्न हूँ.

## स्वामी श्रीरावतमलजी म०

जिनके जीवन की गहराई से सन्तत्व जन्म लेता है वे महान् सन्त कभी युवा और वृद्धत्वावस्था की विभाजक रेखा को स्वीकार नहीं करते हैं. स्वामी श्रीरावतमलजी म० भी एक ऐसे ही सन्त हैं. आज वय की दृष्टि से जयमलजी म० की सम्प्रदाय में तो वे सबसे पुराने अनुभवी और ज्ञानी तपस्वी सन्त हैं ही परन्तु अनुमान है कि अखिल भारतीय श्रमण संघ में भी आप सब से वयोवृद्ध सन्त हैं.

आपका जन्म मारवाड़ के के रडोद (आसोप के पास) नामक ग्राम में, सं० १९४५ में हुआ था. माता-पिता होने का गौरव क्रमशः श्री परादे व श्रीमहरदासजी को प्राप्त हुआ था. सं० १९६० वैशाख कृष्णा पंचमी के शुभ दिन रियां सेठोंकी में गुरुवर श्रीमगनमलजी म० के द्वारा दीक्षा ग्रहण की थी. आपके शिष्यों में श्रीभैरवमुनि जी हैं.

## विशेष

तप:साधना आपके जीवन का सर्वाधिक प्रिय लक्ष्य है. आगमस्वाध्याय और तप बस ये ही दो जीवन में करणीय मान कर किए जा रहे हैं. वर्षावास के अतिरिक्त समय में भी आप जहां पर विराजते हैं वहीं पर स्वयं भी तपस्या करते हैं और अपने सम्पर्कस्थों को भी तप करने की पवित्र प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं. आपका मानना और कहना भी केवल मानने और कहने तक ही सीमित नहीं है. आप तप स्वयं करते हैं और दूसरों को भी तप का महत्त्व बताकर तप द्वारा महान् आत्मबल और आत्मशोधन की ओर अभिमुख करते रहते हैं.

आपकी मान्यता है कि प्रवचन करना साधु का परम धर्म है. यही कारण है कि आपके द्वारा जनता को प्रवचन का लाभ मिलता रहता है. प्रवचनशैली मारवाड़ी है, परन्तु बड़ी रसमय. दोहे सवैये कवित्त आदि काव्य कला के माध्यम से जनता को अपनी बात सटीक जमा देते हैं. बात-बात पर दोहे कवित्त का सरस संगीत सुनाई देता है. थोड़े समय के लिये भी जो उनके पास बैठता है वह उनसे किसी शिक्षात्मक दोहे द्वारा दिव्य प्रेरणा ग्रहण करता है.

# स्वामी महाराज का साध्वी परिवार
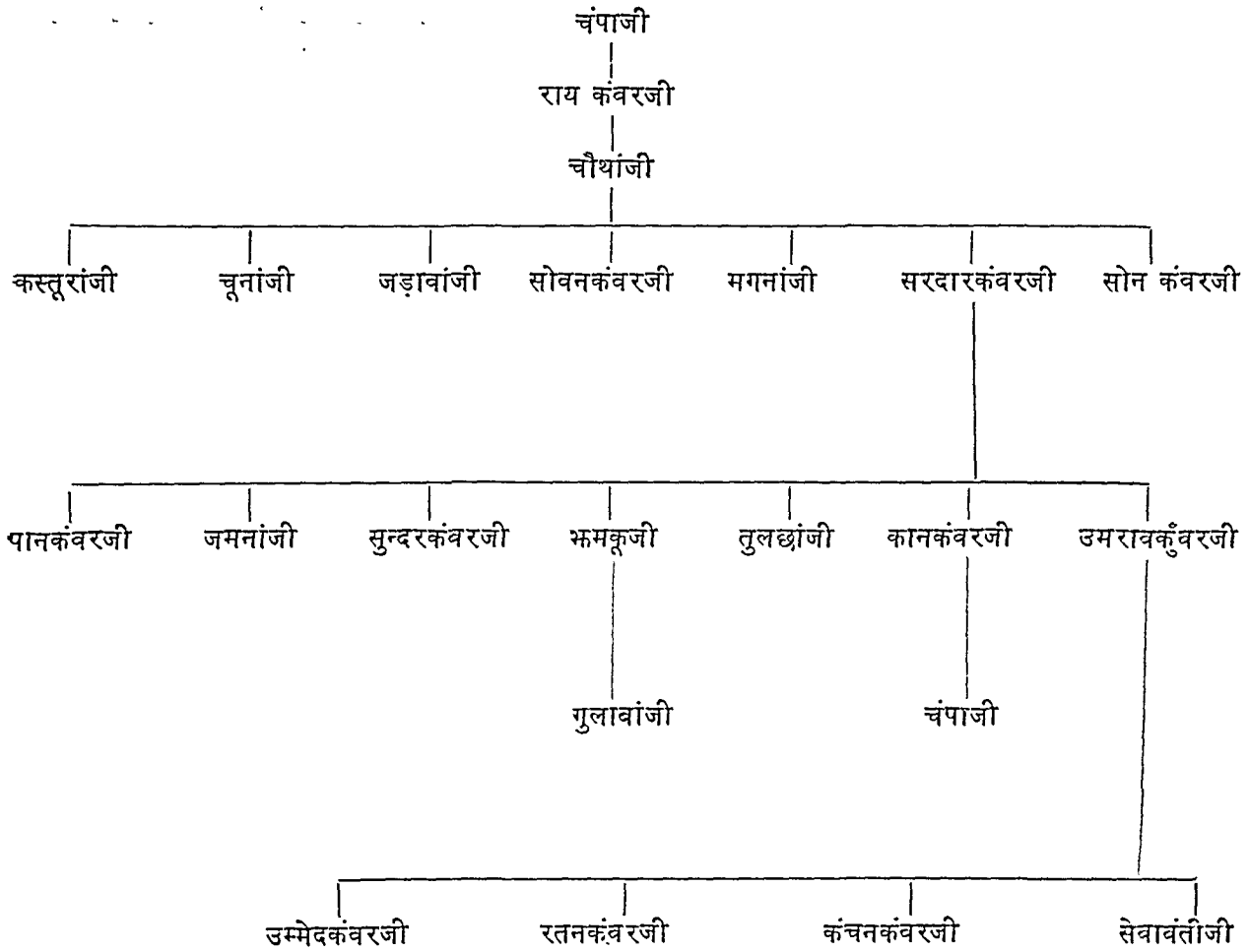
# स्वामीजी के प्रिय पद

राग—[काफी—देसी—होरी नी]

श्रेयांस जिनन्द सुमर रे।

चेतन जाण कल्याण करन को, आन मिल्यो अवसर रे।
शास्त्र प्रमाण पिछान प्रभू गुण, मन चंचल थिर कर रे। श्रे० १
सास उसास विलास भजन को, दृढ़ विश्वास पकर रे।
अजपाभ्यास प्रकाश हिये बिच, सो सुमरन जिनवर रे। श्रे० २
कंद्रप क्रोध लोभ मद माया, ये सबही परहर रे।
सम्यक्-दृष्टि सहज सुख प्रगटे, ज्ञान दशा अनुसर रे। श्रे० ३
झूठ प्रपंच जोबन तन धन अरु, सजन सनेही घर रे।
छिन में छोड़ चले पर भव को, बांध सुभासुभ थर रे। श्रे० ४
मानस जनम पदारथ जाकी, आशा करत अमर रे।
ते पूरब सुकृत कर पायो, मरम-परम दिल धर रे। श्रे० ५
'विश्वसैन' 'विस्नाराणी' को, नंदन तू न विसर रे।
सहज मिटे अज्ञान अविद्या, मुक्ति पंथ पग भर रे। श्रे० ६
तू अविकार विचार आतम गुन, भव-जंजाल न पर रे।
पुद्गल चाह मिटाय 'विनयचन्द', ते जिन तू न अवर रे। श्रे० ७

●

धरम जिनेश्वर मुझ हिवडे बसो, प्यारो प्राण समान।
कबहूँ न बिसरूं हो चितारूं नहीं, सदा अखंडित ध्यान। ध० १
ज्यूं पनिहारी कुम्भ न बीसरे, नटवो नृत्य निदान।
पलक न विसरे हो पदमनि पियुभणी, चकवी न विसरे भान। ध० २
ज्यूं लोभी मन धन की लालसा, भोगी के मन भोग।
रोगी के मन माने औषधी, जोगी के मन जोग। ध० ३
इण पर लागी हो पूरण प्रीतड़ी, जाव जीव परियंत।
भव-भव चाहूं हो न पड़े आंतरो, भव भञ्जन भगवंत। ध० ४

काम-क्रोध मद मत्सर लोभथी, कपटी कुटिल कठोर।
इत्यादिक अवगुण कर हूं भर्यो, उदय कर्म के जोर। ध०
तेज प्रताप. तुमारो प्रगटे, मुज हिवड़ा में आय।
तो हूं आतम निज गुण संभालने, अनंत बली कहिवाय। ध०
'भानू' नृप 'सुव्रता' जननी तणो, अंगजात अभिराम।
'विनयचन्द' ने बल्लभ तू प्रभु, सुध चेतन गुणधाम। ध०

●

[ राग—रेखता ]

कुंथु जिनराज ! तू ऐसो, नहीं कोई देव तो जैसो।
त्रिलोकी-नाथ तू कहिये, हमारी बांह दृढ़ गहिए। कुं०
भवोदधि डूबतो तारो, कृपानिधि आसरो थारो।
भरोसा आपको भारी, विचारो विरुद उपकारी। कुं०
उमाहो मिलन को तोसों, न राखो आंतरो मोसों।
जैसी सिद्ध अवस्था तेरी, तैसी चैतन्यता मेरी। कुं०
करम-भ्रम जाल को दपट्यो, विषय सुख ममत में लपट्यो।
भ्रम्यो हुं चहूं गती माही, उदयकर्म भ्रम की छाही। कुं०
उदय को जोर जौलों, न छूटे विषय सुख तौलों।
कृपा गुरुदेव की पाई, निजातम भावना भाई। कुं०
अजब अनुभूति उर जागी, सुरत निज रूप में लागी।
तुम्हीं हम एकता जाणूं, द्वैत भ्रम कल्पना मानूं। कुं०
'श्रीदेवी' 'सूर' नृप नन्दा, अहो सरवज्ञ सुख कन्दा।
'विनयचन्द' लीन तुम गुन में, न व्यापे अविद्या मन में। कुं०

●

[ श्री नवकार जपो मन रंगे—यह देशी ]

श्री महावीर नमो वरनाणी, शासन जेहनो जाणरे प्राणी।
धन-धन जनक'सिद्धारथ'राजा,धन 'त्रसलादे'मात रे प्राणी। श्री०
ज्यां सुत जायो गोद खिलायो, 'वर्धमान' विख्यात रे प्राणी।
प्रवचन सार विचार हिया में, कीजे अरथ प्रमाण रे प्राणी। श्री ०
सूत्र विनय आचार तपस्या, चार प्रकार समाध रे प्राणी।
ते करिये भवसागर तरिये, आतम भाव अराध रे प्राणी। श्री०
ज्यों कंचन तिहुं काल कहीजे, भूषण नाम अनेक रे प्राणी।
त्यों जग जीव चराचर जोनी, है चेतन गुण एक रे प्राणी। श्री०
अपनो आप विषै थिर आतम, 'सोहं' हंस कहाय रे प्राणी।
केवल ब्रह्म पदारथ परिचय, पुद्गल भरम मिटाय रे प्राणी। श्री०

शब्द रूप रस गन्ध न जामें, नाय परस तप छांह रे प्राणी।
तिमर उद्योत प्रभा कछु नांही, आतम अनुभव मांहि रे प्राणी। श्री०
सुख दुःख जीवन मरन अवस्था, ए दस प्राण संगात रे प्राणी।
इनथी भिन्न 'विनयचन्द' रहिये, ज्यों जलमें जल जातरे प्राणी। श्री०

०

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहुँ रे कंत,
रींझ्यो साहेब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनंत रे—ऋषभ०
प्रीतसगाई रे जगमां सहु करे रे, प्रीतसगाई न कोय,
प्रीतसगाई रे निरुपाधिक कही रे, सोपाधिक धन खोय—ऋषभ०
कोई कंत कारण काष्ट भक्षण करे रे, मलशुं कंतने धाय,
ए मेलो नवि कइये संभवे रे, मेलो ठाम न ठाय—ऋषभ०
कोई पतिरंजन अति घणो तप करे रे, पतिरंजन तन ताप,
ए पतिरंजन में नवि चित धरयुं रे, रंजन धातु मेलाप—ऋषभ०
कोई कहे लीला रे अलख अलखतणी रे, लख पूरे मन आश,
दोषरहितने लीला नवि घटे रे, लीला दोष विलास—ऋषभ०
चितप्रसन्ने रे पूजन-फल कह्युं रे, पूजा अखंडित एह,
कपट रहित थइ आतम अरपणा रे,'आनन्दघन'पद-रेह—ऋषभ०

०

[ राग—आशावरी ]

पंथड़ो निहालुं रे बीजा जिनतणो रे, अजित अजित गुणधाम,
जे तें जीत्या रे, ते मुझ जीतियो रे पुरुष किस्युं मुज नाम ?—पंथडो०
चरमनयण करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल संसार,
जे नयणे करी मारग जोइए रे, नयण ते दिव्य विचार—पंथडो०
पुरुष परम्पर अनुभव जोवतां रे, अंधोअंध पुलाय,
वस्तु विचारे रे जो आगमें करी रे, चरण धरण नहीं ठाय—पंथडो०
तर्क विचारे रे वाद परम्परा रे, पार न पहोंचे कोय।
अभिमत वस्तु रे वस्तुगते कहे रे, ते विरला जग जोय—पंथड़ो०
वस्तु विचार रे दिव्य नयणतणो रे, विरह पड्यो निरधार,
तरतम जोगे रे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार—पंथड़ो०
काल-लब्धि लही पंथ निहालशुं रे, ए आशा अवलम्ब,
ए जन जीवे रे जिन जी जाणजो रे, 'आनन्दघन' मत अंब—पंथड़ो०

०

[ राग—धनाश्री सिंधुडा ]

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव,
मत-मत भेदे रे जो जइ पूछिये, सहु थापे अहमेव—अभि०

सामान्ये करी दरिशण दोहिलुं, निर्णय सकल विशेष,
मदमें घेर्यो रे अंधो केम करे, रवि शशि रूप विलेख—अभि०

हेतु विवादे हो चित धरी जोइए, अति दुर्गम नयवाद,
आगमवादे हो गुरुगम को नहीं, ए सबलो विखवाद—अभि०

घाती डुंगर आड़ा अति घणा, तुज दरिशण जगनाथ,
ढिठाइ करी मारग संचरुं, सेंगु कोइ न साथ—अभि०

दर्शन-दर्शन रटतो जो फरुं, तो रण रोझ समान,
जेहने पिपासा हो अमृत पाननी, किम भाजे विषपान—अभि०

तरस न आवे हो मरण जीवनतणो, सीजे जो दर्शन काज,
दरिशण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी, 'आनन्दघन' महाराज—अभि०

●

[ राग—केदारा-गौड़ ]

देखण दे रे सखी मने देखण दे, चंद्रप्रभ मुखचंद, सखी०
उपशम रसनो कंद, सखि गत कलिमल दुखदंद, सखी चंद्र०

सूक्ष्म निगोदे न देखीओ, सखी बादर अतिहि विशेष, सखी०
पुढवी आउ न लेखियो, सखी तेउ वाउ न लेश, सखी चंद्र०

वनस्पति अति घण दिहा, सखी दीठो नहीं दीदार, सखी०
बि,ति,चउरिंदिय जललीहा, सखी गतसन्नोपण धार, सखी चंद्र०

सुर तिरि निरयनिवासमां, सखी मनुज अनारज साथ, सखी०
अपज्जत्ता प्रतिभासमां, सखी चतुर न चढ़ीओ हाथ, सखी चंद्र०

एम अनेक थल जाणीए, सखी दर्शन विणु जिनदेव, सखी०
आगमथी मत जाणीए, सखी कीजे निर्मल सेव, सखी चंद्र०

निर्मल साधु भक्ति लही, सखी योग अवंचक होय, सखी०
क्रिया अवंचक तिम सही, सखी फल अवंचक जोय, सखी चंद्र०

प्रेरक अवसर जिनवरु, सखी मोहनीय क्षय जाय, सखी०
कामित पूरण सुरतरु, सखी 'आनन्दघन' प्रभु पाय, सखी चंद्र०

●

[ राग—रामग्री-कड़खा ]

धार तरवारनी सोहिली, दोहिली चउदमा जिनतणी चरणसेवा,
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवना-धार पर रहे न देवा—धा०

एक कहे सेविये विविध किरिया करी, फल अनेकांत लोचन न देखे,
फल अनेकांत किरिया करी बापड़ा, रड़बड़े चार गतिमांहे लेखे—धा०
गच्छना भेद बहु नयण निहालतां, तत्वनी वात करतां न लाजे,
उदरभरणादि निज काज करता थका, मोह नड़िया कलिकाल राजे—धा०
वचन निरपेक्ष व्यवहार जूठो कह्यो, वचन सापेक्ष व्यवहार साचो,
वचन निरपेक्ष व्यवहार संसार फल, सांभली आदरी कांइ राचो—धा०
देव गुरु धर्मनी शुद्धि कहो किम रहे किम रहे, शुद्ध श्रद्धान आणो,
शुद्ध श्रद्धान विण सर्व किरिया करी, छार पर लींपणु तेह जाणो—धा०
पाप नहीं कोइ उत्सूत्र भाषण जिस्यो, धर्म नहीं कोइ जग सूत्र सरिखो,
सूत्र अनुसार जे भविक किरिया करे, तेहनुं शुद्ध चारित्र परिखो—धा०
एह उपदेशनो सार संक्षेप थी, जे नरा चितमां नित्य ध्यावे,
ते नरा दिव्य बहु काल सुख अनुभवी, नियत 'आनन्दघन' राज गावे—धा०

●

[ राग—गुर्जरी-रामकली ]

कुंथुजिन ! मनडुं किम ही न बाझे हो कुंथुजिन, मनडुं किम ही न बाझे,
जिम-जिम जतन करीने राखुं, तिम-तिम अलगुं भाजे हो—कुं०
रजनी वासर वसति उज्जड, गयण पायाले जाय,
साप खाये ने मुखडुं थोथुं, एह उखाणो न्याय हो—कुं०
मुगतितणा अभिलाषी तपिया, ज्ञान ने ध्यान अभ्यासे,
वयरीडुं कांइ एहेवुं चिंते, नाखे अवले पासे हो—कुं०
आगम आगमधरने हाथे, नावे किणविधि आकुं,
किहां कणे जो हठ करी हटकुं, तो व्यालतणी परे वांकुं हो—कुं०
जो ठग कहुं तो ठगतो न देखुं, साहुकार पण नांहि,
सर्वमांहे ते सहुथी अलगुं, ए अचरिज मनमांही हो—कुं०
जे-जे कहुं ते कान न धारे, आप मते रहे कालो,
सुर नर पंडित जन समजावे, समजे न मारो सालो हो—कुं०
में जाण्युं ए लिंग नपुंसक, सकल मरदने ठेले,
बीजी वाते समरथ छे नर, एहने कोइ जेले हो—कुं०
मन साध्युं तेणे सघलुं साध्युं, एह वात नहीं खोटी,
एम कहे साध्युं ते नवि मानुं, ए कही वात छे मोटी हो कुं०
मनडुं दुराराध्य तें वश आण्युं, ते आगमथी मति आणुं,
'आनन्दघन' प्रभु माहरुं आणो तो सांचु करी जाणुं हो—कुं०

●

[ राग—राग आसावरी ]

षड् दर्शन जिन-अंग भणीजे, न्यास षडंग जो साधे रे,
नमि जिनवरना चरण उपासक, षड्दरशन आराधे रे—षड्०

जिन सुर पादप पाय वखाणु', सांख्य जोग दोय भेदे रे,
आतम-सत्ता विवरण करता, लहो दुग अंग अखेदे रे—षड्०
भेद अभेद सुगत मीमांसक, जिनवर दोय कर भारी रे,
लोकालोक अवलंबन भजिये, गुरुगमथी अवधारी रे—षड्०
लोकायतिक कूख जिनवरनी, अंश विचार जो कीजे रे,
तत्त्व-विचार जो कीजे रे, गुरुगमविण किम पीजे रे—षड्०
जैन जिनेश्वर वर उत्तम अंग, अंतरंग बहिरंगे रे,
अक्षर न्यास धरा आराधक, आराधे धरी संगे रे—षड्०
जिनवरमां सघळा दर्शन छे, दर्शन जिनवर भजना रे,
सागरमां सघळी तटिनी सही, तटिनीमां सागर भजना रे—षड्०
जिनस्वरूप थइ जिन आराधे, ते सही जिनवर होवे रे,
भृंगी इलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे—षड्०
चूर्णि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परम्पर अनुभव रे,
समय-पुरुषना अंग कह्यां ए, जे छेदे ते दुर्लभ रे—षड्०
मुद्रा बीजधारणा अक्षर—, न्यास अर्थ विनियोगे रे,
जे ध्यावे ते नवि वंचीजे, क्रिया अवंचक भोगे रे—षड्०
श्रुत अनुसार विचारी बोलु', सुगुरु तथाविध न मिले रे,
किरिया करी नवि साधि शकीये, ए विषवाद चित्त सघळे रे—षड्०
ते माटे उभो कर जोडी, जिनवर आगल कहिये रे,
समय चरण सेवा शुद्ध देजो, जिम 'आनन्दघन' लहिये रे—षड्०

●

(निद्रडी वेरण हुइ रही—यह देशी)

ऋषभ जिणंदसु' प्रीतड़ी, किम कीजे हो कहो चतुर विचार,
प्रभुजी जइ अळगा वस्या, तिहां को नवि हो कोई वचन उच्चार।
कागळ पण पहोंचे नहिं, नवि पहोंचे हो तिहां को परधान
जे पहोंचे ते तुम समो, नवि भाखे हो कीनो व्यवधान।
प्रीति करे ते रागिया, जिनवरजी हो तुमे तो वीतराग,
प्रीतड़ी जेह अरागीथी, मेलववी ते हो लोकोत्तर माग।
प्रीति अनादिनी विष भरी, ते रीते हो करवा मुज भाव,
करवी निर्विष प्रीतड़ी, किण भांते हो कहो बने बनाव।
प्रीति अनंती पर थकी, जे तोड़े हो ते जोड़े एह,
परम पुरुषथी रागता, एकत्वता हो दाखी गुण गेह।
प्रभु जीने अवलम्बतां, निजप्रभुता हो प्रगटे गुणराश,
'देवचन्द्र' नी सेवना, आपे मुजे हो अविचल सुखवास।

●

(हरीगीत छन्द)

बहु पुण्य केरा पुंजथी शुभ देह मानवनो मल्यो,
तोये अरे भव-चक्रनो आंटो नहि एके टल्यो,
सुख प्राप्त करतां सुख टले छे, लेश ए लक्षे लहो,
क्षण-क्षण भयंकर भाव मरणे, कां अहो राची रहो ?
लक्ष्मी अने अधिकार वधतां शुं वध्युं ते तो कहो,
शुं कुटुंब के परिवार थी वधवापणुं ए नय ग्रहो,
वधवापणुं संसारनुं नरदेहने हारी जवो,
एनो विचार नहि अहो ! हो ! एक पल तमने हवो,
निर्दोष सुख निर्दोष आनन्द, ल्यो गमे त्यांथी भले,
ए दिव्य शक्तिमान जेथी, जंजीरेथी नीकले,
परवस्तुमां नहि मुंझवो, एनी दया मुजने रही,
ए त्यागवां सिद्धान्त के पश्चात् दुःख ते सुख नहि,
हुं कोण छुं ? क्यांथी थयो, शुं स्वरूप छे मारुं खरुं !
कोना संबंधे वळगणा छे, राखुं के ए परिहरुं,
एनो विचार विवेकपूर्वक, शान्त भावे जो कर्यां,
तो सर्व आत्मिक ज्ञानना, सिद्धान्त तत्त्वो अनुभव्यां.
ते प्राप्त करवा वचन कोनुं, सत्य केवल मानवुं,
निर्दोष नरनुं कथन मानो, तेह जेणे अनुभव्युं,
रे आत्म तारो, रे आत्म तारो, शीघ्र, एने ओळखो,
सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो, ए वचनने हृदये लखो।

●

हम तो कबहुं न निज घर आये।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये।
हम तो कबहुं न निज घर आये।
पर पद निजपद मान मगन ह्वै, परपरणति लपटाये।
शुद्ध-बुद्ध सुखकन्द मनोहर, चेतनभाव न भाये।
हम तो कबहुं न निज घर आये।
नर, पशु, देव, नरक निज जान्यौ परजयबुद्धि लहाये।
अमल, अखण्ड, अतुल, अविनाशी आतमगुन नहीं गाये।
हम तो कबहुं न निज घर आये।
यह बहु भूल भई हमरी फिर, कहा काज पछताये।
'दौल' तजौ अजहूँ विषयन को, सतगुरु वचन सुहाये।
हम तो कबहुं न निज घर आये।

●

अब हम अमर भये, न मरेंगे ।।
जा-कारन मिथ्यात दियौ तज, क्यों करि देह धरैंगे ?
अब हम अमर भये, न मरेंगे ।।

उपजै-मरै काल तैं प्रानी, तातैं काल हरेंगे !
राग-दोष जग बन्ध करत हैं, उनको नाश करेंगे ।
अब हम अमर भये, न मरेंगे ।।

देह विनाशी, मैं अविनाशी, भेद-ज्ञान पकरेंगे ।
नाशी जासी, हम थिरवासी, चोखे हों निखरेंगे ।
अब हम अमर भये, न मरेंगे ।।

मरे अनन्तवार, बिन समझें, अब सब दुख बिसरेंगे ।
'द्यानत' निपट निकट दो अक्षर, बिन सुमरैं सुमरैं गे ।
अब हम अमर भये, न मरेंगे ।।

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ।
ज्यों शुक नभ चाल बिसरि, नलिनी लटकायौ ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ।।

चेतन अविरुद्ध शुद्ध, दरशबोधमय विशुद्ध ।
तजि जड़ रस फरस रूप, पुद्गल अपनायौ ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ।।

इन्द्रिय सुख दुख में नित्त, पाग राग-रुख में चित्त ।
दायक भव-विपत्तिवृन्द, बंध को बढ़ायौ ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ।।

चाह-दाह दाहे, त्यागौ न ताह चाहे ।
समता-सुधा न गाहे, जिन-निकट जो बतायौ ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ।।

मानुष भव सुकुल पाय, जिनवर शासन लहाय ।
'दौल' निज स्वभाव भज, अनादि जो न ध्यायौ ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ।
ज्यों शुक नभ-चाल विसरि, नलिनी लटकायौ ।।

अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई !
कपट कृपान तजै नहिं तबलौं, करनी काज न सरना रे ।
अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई !

जप तप तीरथ जज्ञ व्रतादिक, आगम अर्थ उचरना रे।
विषय कषाय कीच नहिं धोयो, यों ही पचि पचि मरना रे।
अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई!

बाहिर भेष क्रिया उर शुचि सों, कीये पार उतरना रे।
नाहीं है सब लोक रंजना, ऐसे वेदन वरना रे।
अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई!

कामादिक मल सों मन मैला, भजन किये क्या तिरना रे!
'भूधर' नील वसन पर कैसें, केसर रंग उछरना रे?
अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई।

●

चेतन, उल्टी चाल चले।
जड़ संगति सों जड़ता व्यापी, निज गुन सकल टले।
चेतन, उल्टी चाल चले।

हितसौं विरचि ठगनिसौं राचे, मोह पिशाच छले।
हँसि-हँसि फन्द सँवारि आपही, मेलत आप गले।
चेतन, उल्टी चाल चले।

आये निकसि निगोद सिन्धु तें, फिर तिह पंथ टले।
कैसे परगट होय आग जो दबी पहार तले।
चेतन, उल्टी चाल चले।

भूले भव-भ्रम बीचि 'बनारसि' तुम सुरज्ञान भले।
धर शुभ ध्यान ज्ञान-नौका चढ़ि, बैठे ते निकले।
चेतन, उल्टी चाल चले।

●

राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री।
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पनारोपित, आप अखण्ड सरूप री।
राम कहो, रहमान कहो कोऊ...।

निज पद रमे राम सो कहिए, रहिम करे रहिमान री।
कर्षे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री।
राम कहो, रहिमान कहो कोऊ....।

परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चीन्हें सो ब्रह्म री।
इह विधि साधो आप 'आनन्दघन', चेतन में निष्कर्म री।
राम कहो, रहमान कहो कोऊ...।

# अपूर्व अवसर

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे? क्यारे थईशुं बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जो।
सर्व सम्बन्धनुं बंधन तीक्ष्ण छेदी ने, विचरशुं क्व महत्पुरुषने पंथ जो।

सर्वभावथी औदसीन्य वृत्ति करी, मात्र देह ते संयम-हेतु होय जो।
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहिं, पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो।

दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे, देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो।
एथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकीए, वर्ते एवुं शुद्धस्वरूपनुं ध्यान जो।

आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी, मुख्यपणे तो वर्ते देह पर्यन्त जो।
घोर परिषह के उपसर्ग भये करी, आवी शके नहिं ते स्थिरतानो अन्त जो।

संयमना हेतुथी योग-प्रवर्तना, स्वरूपलक्षे जिन-आज्ञा आधीन जो।
ते पण क्षण-क्षण घटती जती स्थितिमां, अंते थाय निज स्वरूपमां लीन जो।

पंच विषयमां रागद्वेष-विरहितता, पंच प्रमादे न मले मननो क्षोभ जो।
द्रव्य, क्षेत्र ने काल, भाव प्रतिबन्ध विण, विचरवुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो।

क्रोध प्रत्ये तो वर्ते क्रोध स्वभावता, मान प्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो।
माया प्रत्ये माया साक्षीभावनी, लोभ प्रत्ये नहि लोभ समान जो।

बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहिं, वंदे चक्री तथापि न मळे मान जो।
देह जाय पण माया थाय न रोममां, लोभ नहिं छो प्रबल सिद्धि निदान जो।

नग्नभाव, मुण्डभाव सह-अस्नानता, अदंतधावन आदि परम प्रसिद्ध जो।
केश, रोम, नख के अंग शृंगार नहि, द्रव्य-भाव संयममय निर्ग्रन्थ सिद्धि जो।

शत्रु-मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता, मानअमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो।
जीवित के मरणे नहि न्यूनाधिकता, भवमोक्षे पण वर्ते शुद्ध स्वभाव जो।

एकाकी विचरतो वली श्मशान मां, वळी पर्वतमां वाघ सिंह-संयोग जो।
अडोल आसन ने मनमां नहि क्षोभता, परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो।

घोर तपश्चर्यामां (पण) मनने ताप नहि, सरस अन्ने नहि मनने प्रसन्नभाव जो।
रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी, सर्वे मान्यां पुद्गल एक स्वभाव जो।

एम पराजय करीने चारित्रमोहनो, आवुंत्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो।
श्रेणी क्षपक तणी करीने आरूढ़ता, अनन्य चिन्तन, अतिशय शुद्ध स्वभाव जो।

मोह-स्वयंभूरमणसमुद्र तरी करी, स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोहगुणस्थान जो।
अन्त समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थई, प्रगटाऊँ निज केवलज्ञान-निधान जो।

चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां, भवना बीज तणो आत्यन्तिक नाश जो।
सर्वभावज्ञाता द्रष्टा सह शुद्धता, कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनन्तप्रकाश जो।

वेदनीयादि चार कर्म वर्ते ज्यां, वळी सींदरीवत् आकृतिमात्र जो।
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे, आयुष पूर्णे मटी ए दैहिक पात्र जो।

मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा, छूटे जहां सकल पुद्गल सम्बन्ध जो।
एवुं अयोगी गुणस्थानक त्यां वर्ततुं, महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो।

एक परमाणु मात्रनी मले न स्पर्शता, पूर्ण कलंक रहित अडोल स्वरूप जो।
शुद्ध निरञ्जन चैतन्य मूर्ति अनन्यमय, अगुरुलघु, अमूर्त सहज पदरूप जो।

पूर्वप्रयोगादि करणनां योगथी, ऊर्ध्व गमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो।
सादि अनन्त, अनन्त समाधि सुखमां, अनन्त दर्शन, ज्ञान अनन्त सहित जो।

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां, कही शक्या नहीं ते पण श्री भगवान जो।
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे ! अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो।

एह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में, गजा वगर ने हाल मनोरथ रूप जो।
तो पण निश्चय 'राजचन्द्र' मनने रह्यो, प्रभु-आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो।

●

## स्वामीजी के कृतित्व के नमूने

वितर वारिद ! वारि दवातुरे, चिर-पिपासित-चातक-पीतके।
प्रचलिते पवने क्षणमन्यथा, क्व च भवान् क्व पयः क्व च चातकः।

इस श्लोक के भावों पर :

वेग पधारो रे मेघराज ! मया कर काज सुधारो रे। ध्रुव।

मैं बालक मति-हीन दीन अति, यह है काज तुम्हारो रे।
तड़फ रया है प्राण हमारा, मती विसारो रे। वेग०।

तुम-घर मांही कोई कमी ना, भर्या अखुट भंडारो रे।
पर-उपकारी कारज सारे, लेई उधारो रे। वेग०।

करूं अरजी में गरजी होकर, और नहीं आधारो रे।
टुक एक महर नजर कर मुझ पर, दुखड़ो टारो रे। वेग०।

जो नहीं वर्स्या इण अवसर तो, नहीं है म्हारो सारो रे।
दक्षिण-पवन झपाटे सटके, होसी उधारो रे। वेग०।

### फूट

जगत में घर की फूट बुरी है। ध्रुव।

फूट बुरी है आपस केरी, सोचो आप जरूरी।
एक-एक से वैर बढ़ाकर, भूले काम जरूरी। जगत।

शांति का नाश करे इक छिन में, फूट राक्षसी पूरी।
कलह बढ़ावत, प्रेम घटावत, बात बनावत कूरी। जगत।

फूट भई रावन के घर में, भयो विभीषण दूरी।
सोवनी लंक गमाय आजलो बाजत अपजस तूरी। जगत।

कौरव-पांडव फूट भई जब, झगड्या बात बहूरी।
'भीषम' 'करण' से वीर खपाये, मानी न बात गरूरी। जगत।

(राजीमती से विवाह करने के लिये जाते समय मार्ग में बाड़ों में और पिंजरों में संरुद्ध पशु और पक्षियों को देखकर भगवान् नेमिनाथ का सारथी से पूछना—)

भगवान्—कैसे मचाया शोर जीवों ने, कैसे मचाया शोर ॥ ध्रुव ॥

वनचर जीव को वन है प्यारा, सुरक्ष रहे पंखों-वारा।
देख रहे चहूं ओर ॥ जीवों ने ॥

तड़फ रहे हैं प्राण इनों के, प्रबल सहाय न दीसे जिनों के।
किम भेले किये इन ठौर ॥ जीवों ने ॥

सारथी—सारथी सज्जन वाक्य सुणी के, दयाभाव है हृदय जिन्हीं के।
अरज करे कर जोर ॥ जीवों ने ॥

कारण आप विवाह के मांई, भोजन काज हनेंगे तांई।
सांच कहूं शिरमोर ॥ जीवों ने ॥

भगवन् ! भारी दीन-दयाला, सब जीवों के हैं रखवाला।
बंधन दिये सब खोल ॥ जीवों ने ॥

उपदेशी भजन

आप मुवाँ जग सूना है तो ही पाप करत नर दूना है ॥ ध्रुव० ॥

एह कहावत सब नर भाखे, इन का भाव न घट में राखे।
जैसे आहार अलूना है ॥ आप० ॥

मुख से कहना वैसा करना, इन बातों से होवे तिरना।
धरना चित्त में करुणा है ॥ आप० ॥

जाना है जग में नहीं रहना, उत्तम मारग में नित रहना।
समजो आप सलूना है ॥ आप० ॥

[जैन-रामायण के अनुसार किष्किंधा के स्वामी बाली ने संयम ग्रहण किया था, उस अवसर पर प्रस्तुत रचना]

राज तज बाली भए मुनिराज ॥ ध्रुव ॥

राज-काज सब त्याग दियो है, साम्य-सुधा-रसपान कियो है।
छोड़ विषय के साज ॥ राज० ॥

समिति गुप्ति शुद्ध आराधे, मनसा नित हित साधन साधे।
सब जंतु हित काज ॥ राज० ॥

अष्टापद गिरि आप पधारे, विषम भाव सब दूर निवारे।
तारण - तरण जहाज ॥ राज० ॥

सुर-नर मुनि की सेवा करत है, कर्म मैल निज दूर हरत है।
सेवत भव्य-समाज ॥ राज० ॥

[अपनी दासी को चुराकर ले जाने वाले उज्जयिनीनरेश चंडप्रद्योतन पर विजय कर उसे वन्दी वना कर अपनी राजधानी वीतभय-पाटन की ओर ले जाते समय मार्ग में आए हुए सांवत्सरिक पर्व पर राजा उदायी—]

बार-बार मुझ अरजी ऐसी, सुण लीजो महिपत ! सारी ।
आज संवत्सरी पर्व मनोहर, आप खमावो हितकारी । बार-बार ।

चार आहार तज अष्ट पहरिया, पौषध व्रत लीधो धारी ।
वैर-विरोध तजी समभावे, खत्ता माफ करो म्हारी । बार-बार ।

चण्ड प्रद्योतन भूप न माने, किम बोलो तुम अविचारी ।
नजर कैद कर दासीपति को, विरुद दियो है बदकारी । बार-बार ।

धन्य-धन्य जग में राय 'उदाई', पूरण समता-रस-धारी ।
आप कयो (सो) मंजूर सरब है, क्षमत क्षामणा किया भारी । बार-बार ।

नोट—स्वामीजी महाराज ने अनेक रचनाएँ की थीं, उनमें कुछ उपलब्ध हुई हैं, वे यहाँ दी गई हैं. वे कभी अपनी रचना पर अपना नाम नहीं लगाते थे.

## स्वामीजी के वर्षावास

नागौर — वि० सं० १६ सौ-५४, ८१, ८५, २००२.
ब्यावर — वि० सं० १६ सौ-६६, ७६, ७७, ८३, ८६, ८६, ६५, ६६, २००७, ८, १६.
तिंवरी — वि० सं० १६ सौ-५६, ६२, ६४, ७०, ७३, ७७, ८४, ८७, ६२, २००६, २०१५.
जोधपुर — वि० सं० १६ सौ-६१, ६१, २०००, २०१४.
पाली — वि० सं० १६ सौ-६६, ७१, ७४, ८०, ६३, ६७.
जयपुर — वि० सं० १६ सौ ६०, २०१२.
हरसोलाव— वि० सं० १६ सौ-५५, ५८, ६७, ७८.
मेड़ता — वि० सं० १६-सौ-६६, २०१७.
कालू — वि० सं० १६ सौ-५६.
विसलपुर — वि० सं० १६ सौ-६३.
डेह — वि० सं० २००३.
भोपालगढ़—वि० सं० २००५.
विजयनगर—वि० सं० २००६.
अजमेर — वि० सं० २०१०.
नोखा — वि० सं० २०१३.
कुचेरा — वि० सं० १६ सौ-५७, ६०, ६५, ६८, ७२, ७५, ८२, ८८, ६४, ६८, २००१ २००४, २०११, १०१७.
नोट — वि० सं० १६ सौ के ५४ से ८५ तक गुरु महाराज के साथ और शेष वर्षावास स्वतंत्र.

## शत शत तुम्हें प्रणाम

शोकाकुल भयग्रस्त अति  त्रस्त विश्व के त्राण
त्राण करो दे ज्ञान धन  नक्षों के ध्रुव ध्यान

भव्य वर्ण गोधूम सम  दीर्घ देह सित केश
विमल कमल सम नयन दल  त्रिपुटी भाल विशेष

सत्य रूप सुख वर्द्धिका  अति सुन्दर सुख शान्त
गुरुवर था यह आपका  बाह्य रूप शिव कान्त

गिरा ज्ञान श्रुति सम सुगम  था व्यक्तित्व महान
स्वर विनीत चिर तेजमय  प्रिय पुनीत व्याख्यान

मन में थी अति मधुरता  सीधा सादा वेश
समन्वयात्मक आपका  था शाश्वत सन्देश

जन जन के प्रति सहज था  सुहृद सौम्य सद्भाव
प्राणिमात्र प्रत्यय नंदित  सजग रहा समभाव

मेरे पर थी आपकी  कृपा अतीव अपार
वरद हस्त अवलोकतां  मेरे करुणा धार

रहूं सदा संयत सतत  जोरावर जयमान
शीलाशुभ हो साधना  मिले भक्ति वरदान

पूज्य हजारीमल तव  सच्चिदानन्द नाम
बृज के दिल के देवता  शत शत तुम्हें प्रणाम

मुनि बृजलाल

वि. सं. २०२१ द्वितीय चैत्र कृष्णा ११ ब्यावर

श्रमणसंघाचार्य श्रीआनन्दऋषिजी महाराज

## सरल हृदय सन्त

स्वयं सन्मार्ग पर चलने और समाज को सत्पथ का बोध कराने के लिये सन्त-संस्था की उपयोगिता मानी गई है. ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की त्रिपथगा मानवमेदिनी में प्रवाहित कर सन्त, जनसमुदाय में आध्यात्मिक अवगाहन की सुन्दर सुविधा प्रस्तुत करते हैं. सन्तों की इस शीतल निर्मलसलिला-सुरसरिता के अमृतोपम पयःपान से—भव्य प्राणी अपनी परमार्थ-पिपासा को शान्त करते हैं और इसीमें निमज्जनोन्मज्जन कर कपायकलुष का प्रक्षालन करके सत्य, तथ्य और पथ्य की पुनीत प्रेरणा प्रदान करते हैं—जो उनके जीवन को प्रशस्त बनाने में सहायक सिद्ध होती है.

अतएव समाज की सुव्यवस्था के लिये आदर्श संघ की स्थापना करते समय वीतराग तीर्थंकर महावीर ने अपने साधु—साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ में संयमी वर्ग को मूर्धन्य स्थान देकर उसे आत्मकल्याण की साधना के दृढ़ संकल्प के साथ-साथ समाज में आत्मजागृति प्रस्तुत करने का उत्तरदायित्व भी सुपुर्द किया.

श्रद्धेय स्वर्गीय श्रीहजारीमलजी महाराज आत्मसाधना के पवित्र पथ पर स्वयं चलते हुए सम्पर्क में आनेवाले जिज्ञासुः जनों को भी सत्पथ की शिक्षा प्रदान करते थे. आपका स्वभाव बहुत ही सरल था. क्षमा, मृदुता आदि साधुगुण आपके अन्दर विशेष रूपमें विद्यमान थे. इन विशेपताओं के कारण मरुधरा (राजस्थान) के सुयोग्य सन्त के रूप में आप प्रख्यात हुए. संघ-ऐक्य के कार्य से राजस्थान में विचरते समय आपके दर्शन का सुअवसर प्राप्त हुआ था. प्रत्यक्ष मिलन से आपके विशिष्ट स्वभाव का परिचय प्राप्त कर अंतःकरण में प्रमोदभावना जागृत हुई.

आप अपने शिष्यसमुदाय एवं नेश्राय में रहे हुए सन्तों के साथ बहुत ही कृपापूर्ण मधुर व्यवहार रखते थे. आपकी छाप आपके सुयोग्य शिष्य श्रीमधुकर जी पर अच्छी दिखाई दे रही है. आप उच्चकोटि के विद्याभिलाषी, संयमनिष्ठ, महान् गुणी सन्त हैं. आप गर्व से बहुत ही दूर रहते हैं.

पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों के कारण साम्प्रदायिकता के दोष, समाज में कलह, मतभेद आदि व्याप्त होते देख जब चतुर्विध संघ के नेताओं ने अपनी आवाज बुलन्द की, तब जिन मुनिवरों ने अपने साम्प्रदायिक मोह का त्याग कर संगठनतत्त्व को प्रोत्साहन देने का निश्चय किया, उनमें श्रद्धेय श्रीहजारीमल जी महाराज एक निष्ठावान् सन्त थे. आपने अपनी संप्रदाय-परम्परा को श्रमण-संघ में विलीन कर सांप्रदायिक प्रवर्तक पदवी का परित्याग कर दिया था. जो निष्ठा आपने संगठन के प्रति व्यक्त की उसका परिपालन जीवन-पर्यन्त किया.

आपके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर श्रमणसंघ ने आपको संघ का प्रान्तीय मंत्री पद प्रदान किया. इस उत्तरदायित्त्व का परिवहन भी आपने कुशलतापूर्वक किया.

आज आप अपने पार्थिव देह में विराजमान नहीं रहे, तथापि आपका यशः शरीर आज भी समाज की अन्तर्दृष्टि का विषय बना हुआ है. उस सन्त-जीवन की पुनीत पुष्पवाटिका से आज समाज सौरभान्वित हो रहा है.

श्रमण के जिन आदर्श गुणों द्वारा आपने अपनी आत्मा को उत्कृष्ट बनाया, श्रमणगण स्वामीजी के इन गुणरत्नों की समाराधना से अपनी आत्मा को सफल बनाने की प्रेरणा प्राप्त करें, इसी भावना के साथ उस परम श्रद्धेय महान् सन्त को मैं अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ.
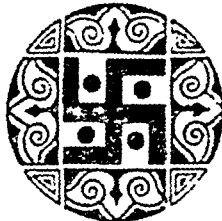
उपाध्याय श्रीअमरमुनिजी महाराज

## मंगलमूर्ति सन्त

### अन्तरजगत् का यात्री

जैन संस्कृति की साधना अंत:परिमार्जन की साधना है, आत्मपरिष्कार की उपासना है. वह बाहर के वेष और कर्मकाण्ड की चमक-दमक में ही परिसमाप्त नहीं होती है. उसका मार्ग बाहर में उतना नहीं, जितना कि अंदर से होकर गुजरता है. यही कारण है कि महाश्रमण भगवान् महावीर ने मुक्ति की विवेचना करते हुए—स्त्री, पुरुष, नपुंसक, ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र, स्वलिंग, अन्यलिंग-सभी को आंतरिक वीतरागभाव की चरमपरिणति में मोक्ष होना प्रतिपादन किया है.

मरुधरा के महान् सन्त श्रद्धेय हजारीमलजी महाराज इसी अन्तरंग साधनापथ के प्रशस्त यात्री थे. बाल्यकाल के पुनीत क्षणों में वे साधुत्व की निर्मल भूमि पर अवतरित हुए. तब से सतत, बिना किसी प्रकार का शोरगुल मचाये, विज्ञापन-बाजी से दूर, मौनभाव से अंदर ही अंदर सद्गुरु-निर्दिष्ट अध्यात्मपथ पर अग्रसर होते रहे. आँधी आयी, तूफान आये, सुख-दु:ख के भयंकर झंझावात उठे, परन्तु वे न कहीं रुके, न कहीं भटके. यौवनकाल के घनान्धकार में, विवेक एवं वैराग्य की मसाल लेकर, जिस शानदार ढंग से वे जीवन में प्रकाश फैला सके, मंजिल पर पहुँच सके—वह भविष्य के साधकों के लिए मूर्तिमान् आदर्श बन गया.

### नख-शिख सरल

क्या गृहस्थ और क्या सन्त, सभी साधकों की साधना का महाप्राण सरलता है, निष्कपटता है, अदंभता है. आत्मविशुद्धि के लिये सरलता जैसा अमोघ साधन, दूसरा और कौन है ? बाह्य आचार प्रचार न्यूनाधिक हो सकता है. क्षेत्र काल आदि की परिस्थितियों के अनुसार क्रियाकलाप में घटाव-बढ़ाव सदा से क्षम्य रहा है और रहेगा. परन्तु जो भी हो, जितना भी हो, वह सरल शुद्ध भाव से हो, इसमें कहीं भी कभी भी दो मत नहीं हैं. घृतसिक्त पावक के समान सहज सरल साधना निर्धूम होती है, निर्मल होती है भगवान् महावीर ने कहा है—

> सोही उज्जुय-भूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ,
> निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तेव पावए !

श्रद्धेय हजारीमलजी महाराज, सरल भाव की ज्योतिर्मय मूर्ति थे. वे काव्य की भाषा में नख-शिख सरल थे, निर्दम्भ थे. मैंने उन्हें निकट से देखा है, ब्यावर और जयपुर के वर्षावास में उनके सतत् साहचर्य में रहा हूँ. मारवाड़ और मेवाड़ की दुर्गम विहार यात्रा में कितनी ही बार उन्हें परखा है, वे शत-प्रतिशत, सरल और अदम्भभाव की कसौटी पर खरे उतरे हैं. आचार सरल, विचार सरल, और परस्पर के सब व्यवहार सरल. जो भी किया, वह साफ, जो भी कहा वह भी साफ. कहीं छुपाव नहीं, दुराव नहीं. वे नाक की सीधी राह चलने के आदी थे. अगल-बगल की चाल उन्हें पसन्द नहीं थी. अथवा यों कहिये कि वे टेढ़ी-मेढ़ी राह चलना ही नहीं जानते थे.

### सम्प्रदायातीत मानस

स्वर्गीय आत्मा स्थानकवासी परंपरा के सन्त थे, ढुल-मुल नहीं, निष्ठावान् सन्त. स्थानकवासी आचार और विचार के प्रति मैंने उन्हें काफी सजग और सतर्क पाया है. परन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि उनकी यह स्व-निष्ठा दूसरों के प्रति घृणा का भाव रखती थी. स्व-निष्ठा होते हुए भी दूसरों के प्रति उदार और उदात्त भावना कोई उनसे सीखा होता. मैंने उनके चरणों में जहाँ एक ओर स्थानकवासी भक्त श्रद्धावनत बैठे देखे हैं, वहाँ दूसरी ओर श्वेताम्बर मूर्तिपूजक, वैष्णव, आर्य-समाजी आदि भक्त-जन भी भाव-विभोर मुद्रा में दर्शन करते देखे हैं. मुनिश्री की तत्कालीन प्रसन्न मुखमुद्रा की वह दिव्यछवि

आज भी हृदयपटल पर अंकित हैं. एक ओर उनके मुख-कमल से जैन-सन्त आनन्दघन. देवचन्द, जयमल्लजी महाराज आदि के विचारोत्तेजक भजनों की मधुर मादक सुगंध प्रसूत होती थी, वहाँ दूसरी ओर मर्मी वैष्णव सन्तों के आध्यात्मिक पदों का पराग भी कुछ कम मोहक नहीं होता था. उनका निर्मल मानस सम्प्रदाय-विशेष से संबंधित होते हुए भी सम्प्रदायातीत था. वे व्यक्ति की अपेक्षा गुणों की पूजा को महत्त्व देते थे. सत्य कहीं भी हो, किसी का भी हो, वह सब उनका था और उसी समष्टिगत सत्य को वे मुक्त भाव से सरल, सरस आडम्बर हीन भाषा में समष्टि को अर्पण करते थे.

## विनम्र ही नहीं, प्रविनम्र

सन्त विनम्रता की साक्षात् मूर्ति होता है. जिसे अहंकार छू गया वह सन्त कैसा ? क्योंकि अहंकार और साधुता का शाश्वत वैर है—'तेजस्तिमिरयोरिव'. भगवान् महावीर कहते हैं—धर्म का मूल विनय है—'धम्मस्य विणओ मूलं' सन्त श्रेष्ठ नानक, सन्तों की परिभाषा के सम्बन्ध में कहते हैं—

'नानक नन्हें हो रहो जैसे नन्हीं दूव.'

श्रीहजारीमलजी महाराज ऐसे ही विनम्र सन्त थे. विनम्र क्या, प्रकर्षताबोधक 'प्र' उपसर्ग लगाकर कहना चाहिए, वह प्रविनम्र सन्त थे. अपनी परम्परा के माने हुए, वयोवृद्ध, भक्त मंडल में यशस्वी, फिर भी इतने विनम्र कि आश्चर्य—चकित हो जाना पड़ता था. निर्धन, धनी, बाल, वृद्ध, गृहस्थ, सन्त सभी के साथ उनका वह सहज उदारभाव था, हृदय और वाणी का वह विलक्षण माधुर्य था कि परिचय में आने वाला हर व्यक्ति गद्गद हो उठता था. उन्हें छोटे-से-छोटे साधुओं के समक्ष भी नतमस्तक नमस्कार मुद्रा में देखा है. मैं स्वयं उनसे आयु और दीक्षा में काफ़ी लघु हूँ, फिर भी मुझे उनसे वाणी और व्यवहार में वह सम्मान मिलता रहा है जिसकी कोई दूरस्थ कल्पना भी करे तो कैसे करे ?

## दया का देवता

दया साधना का नवनीत है. करुणा की अनवरत रसधारा ही साधक की साधना-भूमि को उर्वरा बनाती है. दया धर्म की गंगा के महातीर पर ही अन्य सब धर्मो एवं सद्गुणों के कल्पतरु फूलते-फलते हैं. सन्त तो दया का देवता ही माना जाता है. वह स्व-पर का भेद-विभाव किये बिना सबको एक ही भाव से प्रेम और करुणा का, वात्सल्य और दया का अमृत वितरण करता है. सन्तों का हृदय नवनीत से भी विलक्षण स्नेहार्द्र होता है. नवनीत पर-ताप से नहीं, स्व-ताप से ही द्रवित होता है, किन्तु सन्त-हृदय का द्रवत्व सदैव पर-ताप से ही होता है, स्व-ताप से नहीं.

श्रीहजारीमलजी महाराज ने स्वभावतः ही वह अद्भुत दयार्द्र हृदय पाया था कि जिसके कारण उनकी साधुता प्रतिक्षण ज्योतिर्मय होती चली गई. परदुःखदर्शन तो क्या, परदुःख की कथा मात्र से ही उनका कोमल हृदय चन्द्रकान्तमणिवत् विचलित हो उठता था, आँखों से अश्रुधारा तक वह निकलती थी. वे आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के शब्दों में—'त्वं नाथ दुःखिजन-वत्सल हे शरण्य !' का सर्वतोभद्र मंगल रूप धारण कर लेते थे.

## अजर-अमर जीवन के धनी

सन्त शब्द संस्कृतभाषा के सत् शब्द से बना है, जिसका अर्थ है—अविनाशी, अजर-अमर, त्रिकालाबाधित सत्त्व-सत्ता ! क्योंकि सन्त शरीर नहीं होता, आत्मा होता है. आत्मा का वह दिव्य तेज, जो महाकाल के अंधकार से न कभी आच्छादित हुआ है न आच्छन्न. वह कभी होगा भी नहीं. सन्त शरीर से मरकर भी आत्मा से अमर है. अपने दिव्य गुणों के प्रकाश से अविनाशी है.

श्रीहजारीमलजी महाराज, भले ही देहाकार से हम में नहीं रहे हैं, परन्तु अपने दिव्यगुणों के भावाकार से तो अब भी हम सब में साक्षात् विद्यमान हैं. उनके साधुत्व का मूल रूप, अब भी हम सब के भाव-कक्ष में, ज्यों का त्यों विराजमान है. उनकी स्मृति, उनके निर्मल साधुत्व को अपने हृदय में सदा सर्वदा संजोये रखने में है.

## दिवंगत के वर्तमान प्रतिनिधि

श्रीब्रजलालजी महाराज और श्रीमधुकर मुनिजी, व्यावहारिक दृष्टि से स्वर्गीय आत्मा के गुरु-भ्राता होते हैं परन्तु उक्तमुनि ने उनमें भ्रातृत्व का नहीं, गुरुत्व का ही दर्शन किया है. उनकी सेवा में सदैव दत्तचित्त, उनकी आज्ञापालन के लिए सतत सतर्क, सर्वतोभावेन उनके श्रीचरणों में सबकुछ अर्पण—यह सब गुरुशिष्य के पवित्र सम्बन्ध का मूल्यांकन है, जिसमें मेरे दोनों स्नेही सहयोगी खरे उतरे हैं. मैं अमर विश्वास के साथ कह सकता हूँ—स्वर्गीय आत्मा के पुनीत दर्शनों का लाभ आज भी उनका भक्तमंडल, उक्त मुनि-युगल में कर सकता है. 'गुरुत्वं शिष्यरूपेण चिरं विजयतेतराम्.'

डॉ० इन्द्रचन्द्र,
शास्त्री, एम०ए०, पी-एच० डी०

## मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज : कुछ संस्मरण

मैंने मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज के सर्वप्रथम दर्शन १९३४ ई० में किये थे. ग्रीष्मावाकाश था, मैं ब्यावर गुरुकुल में गुरुवर पं० श्रीशोभाचन्द्रजी भारिल्ल के पास ठहरा हुआ था. आर्थिक आवश्यकता के कारण मैं किसी अस्थायी काम की खोज में था और पण्डितजी ने मुनिश्री के अल्प-वयस्क गुरुभाई मधुकर मुनि को पढ़ाने के लिए भेज दिया. मुनिश्री नागौर (मारवाड़) में थे. मैं वहाँ पहुँचा और छुट्टियाँ पूरी होने तक अध्यापन करता रहा. यह सिलसिला भविष्य के लिए भी चल पड़ा और मैं प्रतिवर्ष ग्रीष्मावकाश में उनके पास जाने लगा.

मुनि श्रीहजारीमलजी का विहार-क्षेत्र मारवाड़ तक सीमित था. नागौर, कुचेरा, खजवाना, नौखा, हरसोलाव, जोधपुर, तिंवरी, मथानिया, सोजत, किशनगढ़, अजमेर तथा ब्यावर उनके प्रिय क्षेत्र थे. दो-तीन नगरों को छोड़कर मारवाड़ का प्रनेश प्रायः अशिक्षित है. अनेक स्थानों पर पानी का संकट बना रहता है. ग्रीष्मऋतु में यह और भी बढ़ जाता है. ऐसे प्रदेश में पैदल घूमकर धर्मोपदेश करना अपने आप में बहुत बड़ी साधना है. यदि एक शब्द में कहा जाय तो मुनिश्री सच्चे स्थानकवासी साधु थे. उनकी सरलता, निरभिमानता, सादगी का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा. मिथ्या आडम्बर धर्म-संस्था की बहुत बड़ी शक्ति है. इसके बिना उसका प्रचार नहीं हो पाता और प्रचार के बिना धार्मिक संगठन नहीं टिक सकता. किन्तु वही इसके पतन का कारण भी है. साधक बाह्य-कामनाओं से विरक्त होकर त्याग का मार्ग अपनाता है. किन्तु एक नये प्रकार की आसक्ति खड़ी हो जाती है. शिष्य-मोह, प्रतिष्ठा-मोह, अनुयायियों का मोह आदि उस आसक्ति के विविध रूप हैं. मुनिश्री में आडम्बर का सर्वथा अभाव था. उन्होंने न कभी तपस्या का प्रदर्शन किया, न कभी ज्ञान का और न कभी चर्या का, मैले कपड़े रखकर उन्होंने कभी मल्लधारी बनने की भी चेष्टा नहीं की.

साधु-समाज से मेरा सम्पर्क बचपन से रहा है और उसका अनुकूल-प्रतिकूल दोनों प्रकारका प्रभाव पड़ा है. एक बार की बात है, जहाँ हमारा विद्यालय था, एक प्रभावशाली आचार्य का आगमन हुआ. विद्यार्थियों के लिए नाश्ता करने से पहले व्यायाम करना होता था, फिर मुनिदर्शन. उसके पश्चात् नाश्ते की अनुमति मिलती थी. आचार्यश्री के साथ लगभग २० साधु थे. व्यायाम के कारण थकावट और भूख पहले ही सताने लगती थी. ऐसी स्थिति में प्रत्येक साधु को तीन बार उठ बैठ-कर वन्दना करना अर्थात् साठ बैठकें और लगाना-बस की बात नहीं थी. परिणामस्वरूप, पूरी विधि का पालन किये बिना केवल हाथ जोड़कर उस नियम को निभाया जाने लगा. इस बात की तुरन्त शिकायत हो गई. एक दिन संस्था के अध्यक्ष की उपस्थिति में आचार्यश्री के सामने हमारी पेशी हुई और यह पूछा गया कि हमें वन्दना करना आता है या नहीं ? प्रत्येक विद्यार्थी ने विधिपूर्वक वन्दना करके इस प्रश्न का उत्तर दिया. आचार्यश्री ने पुनः पूछा—प्रतिदिन प्रत्येक साधु को इस प्रकार वन्दना क्यों नहीं की जाती ? मेरे मन में इस की भयंकर प्रतिक्रिया हुई और उसके संस्कार अबतक

वने हुए हैं. उसके पश्चात् प्राय: ऐसा होता कि जब मैं दर्शन करने जाता था तो एक-दो साधुओं को जान-बूझकर छोड़ देता था. वे देखते रहते थे और मैं उन्हें वन्दना किये विना ही वापिस लौट जाता था. इसकी कई प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती थीं. कुछ साधु इसकी उपेक्षा कर देते थे और जब दो-चार दिन वाद मैं उनके दर्शनार्थ जाता तो व्यवहार में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता था. उनके प्रति हृदय स्वाभाविक श्रद्धा से झुक जाता था. कुछ ऐसे होते थे जो मिलने पर अपनी नाराज़गी प्रकट करते थे और कुछ आचार्यश्री या वड़े साधु के पास शिकायत करते थे, जो क्रमश: संस्था के अध्यक्ष के पास पहुँचती थी.

कुचेरे की वात है, एकवार वहाँ कुछ साधुओं का आगमन हुआ. आने के दो दिन वाद मैं दर्शनार्थ गया. मेरे साथ सेठ मोहनमल जी चोरड़िया के द्वितीय पुत्र पारसमलजी भी थे. उन्हें देखकर साधुजी ने उनके भावी ससुराल के समस्त कुटुम्वियों के नाम वताने शुरू किये. वालक चुपचाप सुनता रहा. जब वाहर निकला, तो पूछने लगा—साधुओं को इन नामों से क्या मतलव था ? दूसरी ओर जव साधुजी को यह ज्ञात हुआ कि मैं एक जैन संस्था का विद्यार्थी रहा हूँ तो पूछने लगे—कल दर्शन करने क्यों नहीं आये ? क्या वीकानेर में भी ऐसा ही करते थे ? मैंने उत्तर दिया, वहाँ तो और भी अधिक विलम्ब हो जाता था. मुझे यह मालूम नहीं था कि आप इसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं. उसके पश्चात् न मैं उनके दर्शनार्थ गया और न वह सरल हृदय वालक.

मुनिश्री हजारीमलजी में इस प्रकार की लोकैषणा नहीं थी. मैंने कई वार जान-बूझकर ऐसा किया कि उन्हें वन्दना किये विना ही श्रीमधुकर मुनि को पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया किन्तु उनके व्यवहार में मैंने किसी प्रकार परिवर्तन नहीं देखा ! वे अपने व्याख्यान में आदर्श व्यक्तियों के चरित्र मारवाड़ी गीतों में गाकर सुनाया करते थे. सरलहृदय भक्तों पर उनका सीधा प्रभाव पड़ता था. मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि भगवान् महावीर ने लोकभाषा में उपदेश देने की जो परम्परा प्रारम्भ की थी यह उसका वर्तमान रूप है. संस्कृत के श्लोक, लच्छेदार हिन्दी, दार्शनिक चर्चा आदि बातें पांडित्य-प्रदर्शन के लिए भले ही हों किन्तु उनका हृदय पर सीधा असर नहीं पड़ता. मीरा तथा सूरदास के सीधे-सादे भजन भावनाओं को जितना तरंगित करते हैं, उतना शंकराचार्य या धर्मकीर्ति का शब्दजाल नहीं कर सकता. संक्षेप में कहा जा सकता है कि मुनिश्री हृदय की भाषा में उपदेश देते थे, बुद्धि की भाषा में नहीं. उस परिवार में तीन साधु थे—स्वयं मुनिश्री, व्रजलालजी महाराज और श्रीमधुकर मुनि. तीनों का परस्पर स्नेह और सहृदयता अभिनन्दनीय थी. न उनमें दिखावा था, न मायाचार और न किसी प्रकार का अभिमान. ऐसे मुनियों के प्रति हृदय अपने आप झुक जाता है. इस परिवार का एक साथी और था जो साधु न होने पर भी उसका स्थायी सदस्य-सा वन गया था ! वह था, भानजी नाम का जाट ! उस में सरलता थी और मस्ती थी. सदा अपने आपमें तृप्त रहता था. उसे देखकर ऐसा लगता था कि यदि जीवन का लक्ष्य सुख है तो वह तृप्ति से प्राप्त होता है. जो ज्ञान अतृप्ति को उत्पन्न करता है उस ज्ञान से अज्ञान अच्छा. कवीर का एक दोहा है कि भगवान् स्वप्न अर्थात् अर्ध-निद्रित अवस्था में मिलते हैं और जागने पर लुप्त हो जाते हैं. ऐसे जागरण से निद्रा अच्छी.

मुनिश्री हजारीमलजी महाराज तथा उनके परिवार का स्मरण प्राय: आता रहता है. ग्रंथ के द्वारा उनकी स्मृति स्थायी वनाना अभिनन्दनीय है. इन शब्दों के साथ उस महापुरुष के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ.

मुनि श्रीमल्लजी महाराज

## साधुता के गौरीशंकर

आत्मा की चरम उन्नति, अन्तर्बाह्य संयोगों की मुक्ति में है. समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझने का उच्चतम भाव सच्चे सन्त में होता है. इसी आत्मौपम्य बुद्धि के परिणाम स्वरूप सन्त, मनुष्यों के कल्याण-कार्य में जुटे

रहते हैं. सन्त मनुष्य की आकृति में मनुष्यता का बीज बोनेवाला कुशल माली है. लोकोत्तर पथ प्रदर्शक ही नहीं वह इसका शिक्षक भी है. जगत्कल्याण के लिए भीषण से भीषण कष्ट सह कर भी वह सुख के ही दर्शन करता है. विलुप्त होती हुई मानवता यत्र-तत्र उपलब्ध हो रही है, उसका सम्पूर्ण श्रेय सन्तों को ही है. यदि सन्त-समाज का इस दिशा में प्रयत्न न होता तो मनुष्य-समाज आज पशुओं की श्रेणी से अलग दृष्टिपथ न होता. इसी लिए कहा जाता है कि सन्त मनुष्य में मनुष्य के गुणों का जन्मदाता है. महास्थविर श्रीहजारीमलजी महाराज महान् थे. उक्त सन्तोचित सभी गुण उनमें विद्यमान थे. उन्होंने राजस्थान के विभिन्न भागों में पैदल भ्रमण करके मानव समाज के विकास में जो योगदान दिया है वह अपूर्व है. उसका प्रत्यक्ष अनुभव करने का अवसर मुझे मिला है. जब मैं उनके विहार-क्षेत्र में गया तब मैंने देखा कि जैन-अजैन सभी मानवों में श्री हजारीमलजी महाराज के उपदेश का असर है. श्रीहजारीमलजी महाराज का नाम श्रवण करते ही उनके दिलों में प्रसन्नता छा जाती थी. अपने मधुर स्वभाव से वे हरएक को अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे. छोटे-से-छोटे साधु भी जब उनसे मिलने जाते तो उसे देखते ही सर्वप्रथम उनके दोनों हाथ जुड़ जाते और मधुर मुस्कान के साथ स्वागत करते. उनके दर्शन करते समय और बातचीत करते समय अन्तर्मन को अवर्णनीय सन्तोष मिलता था. ऐसे शील तथा मधुर स्वभाव के थे—श्रीहजारीमलजी महाराज.

सादड़ी सम्मेलन के पहले इस महास्थविर के दर्शन का अवसर मिला था. परन्तु संप्रदायवाद के आवरण में होने के कारण उस महापुरुष को सम्यक् रूप में पहचान नहीं पाया था. सादड़ी सम्मेलन में वह आवरण सर्वानुमति से हटा दिया गया, तब ही भिन्न-भिन्न संप्रदायों में रहे हुए महास्थविरों के एवं महामुनिवरों के निकट सम्पर्क में आने का मंगलमय अवसर मुझे प्राप्त हुआ. ज्यों-ज्यों मैं श्रीहजारीमलजी महाराज के परिचय में आता गया त्यों-त्यों उनमें मेरी श्रद्धा बढ़ती गई.

कुचेरा वर्षावास में उपाचार्यश्री के साथ रहकर आपने सादड़ी-सम्मेलन-जन्य एकता को मूर्त्त रूप दिया. दोनों महापुरुषों का वह अभेद रूप देखकर समाज का मनमयूर नाच उठा. कितना अच्छा होता यदि मुझे भी दोनों महापुरुषों की सेवा का अपूर्व अवसर मिलता ? परन्तु उपाचार्यश्री की आज्ञानुसार इस वर्ष, सेवाभावी मुनि सुन्दरलालजी और प्रिय व्याख्यानी मुनि श्रीसुमेरमलजी के साथ—सरदारशहर चातुर्मास करना पड़ा.

"आज्ञा गुरूणां खलु धारणीया" इस सिद्धान्तवाक्य पर विश्वास होने के कारण मैं सरदारशहर चला गया. भीनासर सम्मेलन में श्रमणसंघीय विधानानुसार उपाचार्य श्री ने मंत्री मंडल का चुनाव किया. महास्थविर श्रीहजारीमल जी महाराज को मंत्रीपद मिला. उपस्थित सर्व मुनिवरों ने इसका सहर्ष स्वागत किया. किन्तु उस महापुरुष के मुख पर मंत्रीपद के कारण प्रसन्नता नहीं थी. उसके मुख को देखकर यही मालूम होता था कि सिर्फ आज्ञाराधना के लिए एवं उपाचार्यश्री का सम्मान रखने के लिए ही उन्हें मन्त्रीपद की स्वीकृति देनी पड़ी है. श्रमणसंघ के मंत्री बनने पर भी छोटे साधु के साथ आपका प्रेम-व्यवहार ज्यों का त्यों बना रहा. आपके जीवन का यह एक वैशिष्ट्य था. इसी कारण वे मेरी दृष्टि में महान् थे.

भीनासर बृहत्साधुसम्मेलन सम्पन्न होने के पश्चात् परम श्रद्धेय उपाचार्यश्री की आज्ञा से उपाध्याय कवि श्रीअमरचन्द्र महाराज की सेवा में वर्षावास करने के लिये मैं और मुनि आईदान जी (समदर्शी) चल दिये, उपाध्यायश्री जी महाराज, मंत्री हजारीमल जी महाराज के साथ कुचेरा विराजमान थे, हम दोनों मुनि भी कुचेरा पहुँचे. मंत्रीश्री जी म० का चातुर्मास नोखा क्षेत्र में निश्चित हो गया था. चातुर्मास में सेवा का लाभ मिलेगा यह आशा तो निराशा में बदल गई परन्तु अब कोई उपाय नहीं था. फिर भी जितने दिन मंत्री श्री जी कुचेरा में विराजमान रहे, उतने दिन सेवा का एवं ज्ञानचर्चा का लाभ तो हुआ ही, परन्तु उस समय यह नहीं ज्ञात हो सका कि महान् आत्मा के ये मेरे लिये अंतिम दर्शन हैं. चातुर्मास के पश्चात् हम दोनों मुनि उपाचार्यश्री की सेवा में पहुँचे. करीब दो महीने तक मैं उपाचार्यश्री जी की सेवा में रहा. उपाचार्यश्री की आज्ञा से मैंने तपस्वी मुनि केशूलाल जी एवं शास्त्रज्ञ मुनि गोपीलाल जी इन तीन सन्तों के साथ महाराष्ट्र की तरफ विहार किया. भौगोलिक दृष्टि से महाराष्ट्र और राजस्थान में सैकड़ों मील का अन्तर है, परन्तु

मंत्री श्रीहजारीमलजी म० के दिल में अंतर नहीं था. जहाँ सच्चा और स्थायी प्रेम होता है उसमें भौगोलिक अंतर बाधक नहीं होता है. यही कारण है कि मंत्री श्रीहजारीमल जी महाराज समय-समय पर पत्रों द्वारा मेरी सार-सँभाल अपने जीवन के अन्त तक लेते रहे हैं. हृदय का प्रेम एक बार जिसके प्रति उमड़ा कि उमड़ा. जब वह कोई पथ नहीं पाता तो पत्र के माध्यम से प्रेमपात्र के पास पहुँचता है. मंत्री श्रीहजारीमल जी महाराज का सहवास भले ही अल्प मिला, परन्तु उनका विशाल प्रेम प्राप्त हुआ है. उस प्रेममूर्ति संयमधन, महास्थविर के प्रति आज भी मैं श्रद्धान्वित हूँ.

मुनि श्रीकन्हैयालाल जी 'कमल' न्यायतीर्थ

## वे क्या थे ? एक अवलोकन

स्वर्गीय स्वामी श्रीहजारीमल जी महाराज के सान्निध्य में रहने का मुझे सर्वप्रथम शैशवकाल में सौभाग्य प्राप्त हुआ था. उस समय मैं, अपने गुरुदेव के श्रीचरणों में शिक्षा प्राप्त कर रहा था. मैंने प्रथम बार में ही उनमें सहज वात्सल्य भावकी झलक पाकर अपना सुकोमल हृदय उन्हें समर्पित कर दिया था. तभी से मैं स्वामीजी महाराज का हो गया था और स्वामी जी महाराज मेरे अपने हो गये थे. उन महामुनि ने मेरे गुरुदेव से विचारविमर्श करके मेरे अध्ययन की व्यवस्थित रूपरेखा बनाकर मुझे ज्ञानालोक की राह दिखलाई थी.

अध्ययन का फल यद्यपि योग्यता है, पर अध्ययन की गहराई का अंकन परीक्षा के मापदण्ड से होता है. परीक्षा के भय से भी अध्ययन में मन लगाने वाले कुछ विद्यार्थी होते हैं. इस अपेक्षा को लेकर स्वामी जी महाराज परीक्षाप्रणाली के समर्थक थे. उनकी भावना प्रेरणा से अनेक मुनियों ने कलकत्ता और वाराणसी की परीक्षाएँ दी थीं. राजस्थानी मुनियों का यह प्रथम प्रयास था. मैं भी उनमें से एक था. उस समय एक वर्ग-विशेष ने इस परीक्षा-पद्धति का कठोरतम विरोध भी किया.

स्वामी जी म० ने उस थोथे विरोध की परवाह नहीं की और हमें अध्ययन के प्रति निष्ठावान् बनाया. हमारे अध्ययन का क्रम ठीक तरह चलता रहे, इस दृष्टि से पं० बेचरदास जी दोशी बुलाये गये. प्राकृत भाषा और जैनागमों का अध्ययन हम दोनों[1] ने प्रारम्भ किया. आज हम जो कुछ बन पाये हैं, यह उन्हीं महामनीषी सन्त की कृपा का प्रसाद है. राजस्थान के स्थानकवासी समाज में हमारी इस प्रकार की अध्ययन-प्रणाली को लेकर काफी उखाड़-पछाड़ के प्रयत्न हुए पर वे सब स्वामी जी म० की दृढ़ता से अस्थानीय ही सिद्ध हुए. हमारी विद्याध्ययन की रुचि अधिकाधिक अग्रगामी हुई. उनका विरोध हमारे लिए वरदान साबित हुआ.

यद्यपि स्वामी जी म० अत्यन्त विनम्र व अनाग्रही थे परन्तु अपने प्रगतिशील विचारों के प्रति अत्यधिक आग्रहशील भी थे. अच्छे-अच्छे धनपति भी अनुचित दबाव डाल कर उनको अपने विचारों से नहीं डिगा सकते थे. एक संस्कृत कवि की यह उक्ति उनके प्रति यथार्थ चरितार्थ हो रही है—

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि,
लोकोत्तराणां चेतांसि, को हि विज्ञातुमर्हति !

वे श्रुत, वय और दीक्षा स्थविर होते हुए भी पारस्परिक व्यवहार में अत्यधिक उदार विचार रखते थे. आगन्तुक सन्त चाहे दीक्षा में कितने ही छोटे क्यों न हों, वे उनके स्वागत के लिए बहुत लम्बी दूर चले जाते थे. लघुत्व भाव की

---

१. मुनि श्रीमधुकरजी और लेखक.

साधना इतनी ऊँची थी कि उनके मधुर व्यवहारों से छोटे सन्तों के हृदय में सहज आत्मिक भाव जाग उठता था. छोटे सन्तों से वे मिलते, उनकी समस्याएँ समझते और उन्हें योग्य मार्ग अपनाने का दिशासंकेत करते.

उनसे श्वेताम्बर, दिगम्बर, तेरापंथी. बीसपंथी आदि जैनधर्म की शाखाओं के सन्त तो मिलते-जुलते ही, परन्तु कबीरपन्थी या दादूपन्थी, जो मिलता वह उनका अनुरागी बन जाता, क्योंकि वे समन्वयवादी विचारधारा के संपोषक थे. यही कारण है कि नागौर, कुचेरा, खजवाना, रूण आदि के आसपास के छोटे-बड़े सभी गाँवों में जैनेतरों के द्वारा भी जैनों के समान ही उनका सर्वत्र स्वागत सत्कार और सम्मान होता था.

अपने आस-पास श्रावक, श्राविकाओं का जमघट होना उन्हें पसन्द नहीं था. वे सदा उन्मुक्त वातावरण में रहना ही पसंद करते थे श्रमण-जीवन का मौलिक प्रेरक सूत्र उनके जीवन में साकार हो उठा था. "काले कालं समायरे" यह उनके जीवन का अत्यधिक प्रिय मंत्र रहा है. उनके मन में यदा-कदा एकान्तवास का संकल्प आता तो वे हमें कहा करते—स्वाध्याय करते समय जब मैं गुणशील उद्यान, श्रीवन उद्यान आदि में ठहरे हुए श्रमण-निग्रंथों के जीवन की झलक पाता हूँ तो मेरा मन अतीत के श्रमण-जीवन की परिकल्पना में ऐसा निमग्न हो जाता है कि मानो थोड़ी देर के लिए सहज समाधि में लीन हो गया हूँ. विहार करते समय जब वे जंगल में ठहरते तो अपूर्व शान्ति एवं समाधि का अनुभव करते थे. उन्होंने अनेक बार कहा था—मैं चाहता हूँ—मेरा अंतिम जीवन एकान्त शान्त वातावरण में बीते, स्वामी जी म०की यह भावना साकार हो कर ही रही. उनका स्वर्गगमन एक छोटे-से ग्राम (नोखा चंदावतों का, मेड़ता, मारवाड़) में ही हुआ.

इस प्रकार स्वामी जी म० अपने सुदीर्घ श्रमण-जीवन में अनेक साधकों की प्रगति के प्रेरणास्रोत रहे. प्रगतिवादी विचारधारा की अमूल्य निधि हमें सौंप गये.

मेरे श्रमण-जीवन के धाता-विधाता आदि से अन्त तक स्वामी जी महाराज थे. अतः परम श्रद्धेय उन विद्यानुरागी गुरु प्रवर के प्रति मेरा मस्तक नत है. युग-युग तक नत रहेगा.

श्रीसुरेशमुनिजी महाराज
शास्त्री, साहित्यरत्न

## मधुर मिलन : मधुर स्मृति

जीवन की डगर पर चलता हुआ यात्री अनेक व्यक्तियों से साक्षात्कार करता है. उनमें कुछ व्यक्तित्व तो ऐसे होते हैं, जो सिनेमा की तस्वीर की तरह सामने आते हैं और चले जाते हैं ! उनके मिलन में कुछ स्थायित्व नहीं होता. किन्तु कुछ व्यक्तित्व ऐसे उजागर होते हैं, जो अपनी एक ही झलक से, मन को मुग्ध कर जाते हैं, अन्तर में गहरे उतर जाते हैं और मानस-पटल पर अपनी तेजोमय स्मृति की ऐसी रेखाएँ छोड़ जाते हैं, जो मिटाये नहीं मिटतीं, भुलाये नहीं भूलतीं.

बात पुरानी है. सन् १९५० की समझिए ! उपाध्याय कविरत्न श्रीअमरचन्दजी महाराज का वर्षावास ब्यावर में था. ब्यावर के संघ में उन दिनों साम्प्रदायिक तनाव अपने यौवन पर था. सन्तों में भी और गृहस्थों में भी. एक ओर पूज्य जवाहरलालजी महाराज के सम्प्रदाय वालों का ज़ोर-शोर, दूसरी ओर श्रीचौथमलजी महाराज की मान्यता वालों का बोलबाला और तीसरी ओर स्थानकवाला पक्ष यानी पूज्य जयमलजी महाराज की परम्परा वालों की लहर-बहर. इस साम्प्रदायिक तनाव-खिंचाव के विष को कम करने के लिए ही, अखिल भारतीय एस० एस० जैन कान्फरेन्स के कुछ प्रमुख तत्त्वों तथा ब्यावर के समूचे संघ के सामूहिक अनुरोध-आग्रह पर ही, कविश्री का वर्षावास ब्यावर में स्वीकार

हुआ था और संघ की इस मौलिक तथा दूरगामी भावना को मूर्त करने के लिए ही उपाध्याय कविरत्न श्रीअमरचन्दजी महाराज, उमेशमुनि विजयमुनि तथा इन पंक्तियों का लेखक—हम चारों सन्त आगरा से दिल्ली और दिल्ली से ब्यावर की कठिन-कठोर यात्रा करके उस नयी दुनिया में पहुँचे थे.

ब्यावर-क्षेत्र और वहाँ का रंगीला वातावरण हमारे लिए एकदम नया था ! हम भी बिल्कुल नए—सर्वथा अपरिचित ! पर, उस रंगीन और संगीन वातावरण में भी हम प्रसन्न और मस्त !

सन्तों के तीन पक्ष तो वहाँ पहले मौजूद थे ही इधर से हम पहुँच गए, नए पंछी—तटस्थ—बिल्कुल निष्पक्ष ! उन तीनों पक्षों का आपस में कोई ताल-मेल नहीं, और हमारा सब से मेल-जोल, बोल-चाल, वार्ता-व्यवहार, हिलन-मिलन यानी हम सबके और सब हमारे। तटस्थता की नीति इसीलिए तो स्पृहणीय तथा उपादेय है कि, वह व्यक्ति-व्यक्ति, समाज-समाज तथा राष्ट्र-राष्ट्र को मिलाती है, जोड़ती है, एक मंच पर बिठाती है, सह-अस्तित्व एवं सह-जीवन का पाठ पढ़ाती है.

उन्हीं दिनों प्रवर्त्तक श्रीहजारीमलजी म० से हमारा मिलन हुआ. क्षमापना का पावन दिन था. हम मिले, घुल-मिल कर मिले. तन से मिले, मन से मिले, लहर से मिले, बहर से मिले, वन्दना क्षमापना की प्रथा चली, भावना की उमंग चली, वार्ता-व्यवहार का दौर चला. खुलकर दिल के अरमान निकले-निकाले.

और, मैंने देखा, जैन-जगती के महान् सन्त श्रीहजारीमलजी महाराज के चेहरे पर एक प्रसन्न आभा खेल रही थी. उनका रोम-रोम खिल रहा था. उनके मनकी प्रसन्न लहर उनकी वाणी पर थिरक रही थी. मधुर-मिलन की उस वेला में हम भी प्रसन्न, वह भी प्रसन्न, दर्शक भी प्रसन्न ! आस-पास के वातावरण पर प्रसन्नता तैर रही थी.

उस सहज-शान्त जीवन, सरल-सौम्य व्यक्तित्व तथा निश्छल-सात्विक स्वभाव की एक मधुर-स्मृति आज भी मेरे मन-मानस में घूम रही है, आँखों के सामने झूम रही है ! और, उनके पुनीत चरण-कमलों में अपनी भाव-प्रवण श्रद्धांजलि अर्पित-सर्मपित करते हुए, अन्तर्मन एक अमाप्य हर्ष की अनुभूति कर रहा है !

◎

मुनिश्री नेमचन्द्रजी महाराज

## सरलात्मा श्रीहजारीमलजी महाराज

बहुत दिनों से नाम सुना था. आँखें उनके दर्शनों की प्यासी थीं. मीराबाई के प्रसिद्ध भक्तिस्रोत मेड़ता नगर में सर्वप्रथम उनके दर्शन हुए. मैंने उन सरलमति, सरलगति और सरल हृदय के दर्शन किए. आँखें अभी तक अतृप्त थीं, चाहती थीं कि उनके साथ बातचीत करके उनके वचन और हृदय की थाह ली जाय। बातचीत की पहल मैंने ही की—'आप सुख शान्ति में हैं, महाराज ! उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक प्रत्युत्तर में कहा ···' हां देवगुरु—धर्म के प्रसाद से आनन्द है. आप सन्तों के सुखसाता तो हैं न ?' बस, फिर तो लगभग आध-पौन घण्टे तक हमारी दिन चर्या, अध्ययन, प्रगति आदि के बारे में बातें चलीं. इन बातों में उन्होंने सरलभाव से, प्रसन्न मुखमुद्रा में हमारे जीवन के विकास के लिए दिलचस्पी ली. फिर तो मेड़ता में जितने दिन रहे, कुछ न कुछ चर्चा सहजभाव से चलती रही. इसके बाद ब्यावर में कई बार स्वामीजी महाराज के दर्शन हुए,मिलन हुआ.

मैंने देखा कि वे अलग उपसम्प्रदाय (स्थानकवासी सम्प्रदायान्तर्गत) के होते हुए भी कदापि साम्प्रदायिकता को उत्तेजित करनेवाली या छिद्रान्वेषण करने की एक बात भी नहीं करते थे.

ब्यावर वैसे साम्प्रदायिक तनाव का गढ़ है. और वहाँ साम्प्रदायिकता के तत्त्व, समय-समय पर दोष-छिद्र ढूंढ़ने की दृष्टि

से मंडराया करते हैं. किन्तु स्वामीजी महाराज इन तत्त्वों से सतर्क रहा करते थे. और जब भी साम्प्रदायिक मसला आता तो उनकी सरलात्मा उसे स्वीकार नहीं करती थी. वे नहीं चाहते थे साम्प्रदायिक मोह में घुटना, वे नहीं चाहते थे साम्प्रदायिक प्रतियोगिता में उतरना, वे नहीं चाहते थे वाह्याडम्बर द्वारा जनमानस को आकर्षित करना !

वे चाहते थे सबके साथ मिल-जुलकर रहना, एक-दूसरे के आत्मोत्थान में सहायक बनना, एक-दूसरे के गुणों से प्रेरणा लेना. यही कारण था कि जहाँ साम्प्रदायिकता-ग्रस्त साधु दूसरे सम्प्रदाय या उपसम्प्रदाय के साधु के विशिष्ट गुणों को प्रत्यक्ष देखते हुए भी ग्रहण करने से या उन्हें प्रतिष्ठा देने से हिचकिचाते, वहाँ स्वामीजी महाराज गुणग्राही थे. गुण प्रशंसक थे. 'गुणिषु प्रमोदम्' की भावना उन्होंने जीवन में चरितार्थ कर बताई थी. 'उनकी सरलता दिखाऊ नहीं थी.' प्रदर्शन करना तो उन्हें पसन्द ही न था. उनकी सरलता हृदय के आचरण से, नम्रवाचा से भी प्रकट होती थी. ऐसा मालूम होता है कि उनकी सरलता एवं गुणग्राहिता मानो गुरुभ्रातृयुगल, (व्रजलालजी महाराज व मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर')में प्रतिबिम्बित हुई हो. काश ! स्थानकवासी सम्प्रदाय का जैन साधु वर्ग उन सरलात्मा का पथानुसरण करता.

श्रीउमेश मुनिजी

## श्रमण परम्परा के गौरव : श्रद्धेय मुनिहजारीमलजी

हमारी गौरवशालिनी मातृभूमि सन्तों, मुनियों, ऋषियों और महात्माओं की तपोभूमि रही है. इसे मर्यादापुरुषोत्तम राम, महान् कर्मयोगी कृष्ण, महान् आत्म-साधक तथा आत्मवेत्ता श्रमण भगवान् महावीर और महात्मा गौतम बुद्ध जैसे मानव-रत्नों की अध्यात्म-क्रीड़ास्थली तथा आत्म-साधना भूमि होने का असाधारण गौरव प्राप्त है. इसे हम योग-भूमि कहने में भी संकोच का अनुभव नहीं करेंगे. इसके कण-कण में आज भी सन्त-साधना का साक्षात्कार कराने की क्षमता है, यदि कोई इसे जाने, पहचाने और माने तो ! इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक साधारण से साधारण गृहस्थ के द्वार से लेकर बड़े-से-बड़े सम्राटों के राज-प्रासादों ने सन्तों की चरण-धूलि से अपने आपको सौभाग्यशाली माना है. फलतः हमारी संस्कृति और सभ्यता पर उनकी अमिट छाप का पड़ना सहज स्वाभाविक था. इसीलिए विद्वज्जगत् में भारतीय-संस्कृति को सन्त संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध होने का गौरव प्राप्त हुआ है. परिणामतः हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं पर आज भी सन्तों की छाप अवशिष्ट है.

एक समय था, जब भारत में सन्तों का प्रत्येक क्षेत्र पर वर्चस्व था. वह एक तरह से भारत का निर्माता और जनता का निर्देशक बनकर यहाँ के मैदानों में निःसंग भाव से इधर से उधर अर्थात् कश्मीर से कन्याकुमारी तक घूमा, और खूब घूमा ! भारतीय परम्परा के अनुसार सन्त-समाज घुमक्कड़ों का समाज रहा है जो एक प्रान्त की परम्पराओं को साथ जोड़ने में और राष्ट्र को एकरूपता प्रदान करने में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी का कार्य सम्पादित करता रहा है. इसीलिए वह भारतीय वाङ्मय में परिव्राट् या परिव्राजक के नाम से सम्बोधित किया गया है.

प्रागैतिहासिक काल पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो वहाँ भी हमें साधारण गृहस्थ की समस्याओं से लेकर बड़ी-बड़ी राजनीतिक उलझनों को सुलझाने में सन्त-परम्परा एक बहुत ही शानदार पार्ट अदा करती हुई नजर आती है. उस समय सन्तों ने राजनीति में भी प्रवेश किया, परन्तु तटस्थ भाव से, तथा जन-हित और जन-कल्याण के भाव-लहरों को हृदय में सँजोकर. वह किसी निजी स्वार्थ या राजसत्ता के प्रलोभन से खिंचकर इधर नहीं आया, वरन् जनता-जनार्दन की सेवा का ही मुख्य लक्ष्य था—उसका लक्ष्यबिंदु था पथ-भ्रष्ट मानव को सही मार्गदर्शन कराना, उसके जीवन का दिग्भ्रम मिटा कर सही दिशा-निर्देश करना. इस रूप में वह सच्चे अर्थ में एक पथ-प्रदर्शक था, गाइड था, हर दिशा और हर क्षेत्र का.

जब हम इतिहास की गहराई में पैठ कर उसका पर्यालोचन करते हैं तो इस संत-परम्परा में ही एक अन्य और विशिष्ट परम्परा के दर्शन होते हैं, जो कि श्रमण परम्परा के नाम से जानी, मानी और पहचानी जाती है. इसमें जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं के भिक्षुओं का समावेश हो जाता है.

जब जैन परम्परा के भिक्षुओं की जीवन-चर्या की ओर हम नजर दौड़ाते हैं तो हमें वहाँ बहुत ही कठिन-कठोर मर्यादाओं से आबद्ध जीवन के दर्शन होते हैं. इसीलिए जहाँ दूसरी परम्पराओं के सन्त केवल राजनीति में ही उलझ-पुलझ कर रह गए, वहाँ जैन भिक्षु एकांत आत्म-साधना का पथिक बन विचरण करता रहा. उसका क्षेत्र अध्यात्म-साधना रहा. यदि उसने जन-जीवन से सम्पर्क भी स्थापित किया तो वह भी आत्म-साधना के मार्गदर्शक के रूप में उसने भौतिक संसार की ओर नहीं, वरन् सच्चे आत्म-सुख और सच्ची शान्ति द्वारा प्राप्त होनेवाली मोक्ष की पगडंडी-की ओर जन-मानस को उत्प्रेरित किया. उसने भुक्ति नहीं, मुक्ति की ओर मानव को अभिमुख रहने की सतत प्रेरणा प्रदान की.

हमारे श्रद्धेय श्रीहजारीमल जी महाराज भी अध्यात्म-पथ के पथिक जैन भिक्षुओं की वर्त्तमान परम्परा में अपनी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर गये हैं.

सन्तों के निधन पर शोकसंतप्त होना हमारी सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप नहीं है. सन्त का मरण तो मरण-महोत्सव है. सन्त इस दुनिया में रहता है तब भी अपनी साधना की मस्ती में मस्त रहता है और जब वह पार्थिव शरीर को छोड़ कर अगली दुनिया के लिये प्रयाण करता है, तब भी खुशी-खुशी आनन्द की लहरों में अपने लक्ष्य-बिन्दु को दृष्टि में रख कर जाता है. क्योंकि उसके मानस-सागर में अपनी साधना और कृतित्व के प्रति पूर्ण विश्वास और दृढ़ आस्था की वेगवती लहरें रहती हैं. ये लहरें उसे अनास्था और अविश्वास के कूड़े-करकट की गंदगी से बचाए रखती हैं. यह उसकी मौत नहीं—जिसको कि मोह-पाश से आबद्ध यह सांसारिक प्राणी मौत समझने की भूल किया करता है वरन् लक्ष्य-प्राप्ति की ओर एक बढ़ता हुआ लौह-चरण होता है. यह एक सर्वविदित तथ्य है कि जब मानव अपने अभीप्सित लक्ष्य की ओर आगे बढ़ चलता है तो वह प्रयाण उसके और उसके स्नेहियों के लिये एक खुशी का पैगाम होता है.

श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी म० भी इस नश्वर देह को छोड़ कर उस अनश्वर लक्ष्य की ओर एक कदम और आगे बढ़ गये. ऐसा हमें उनके प्रति दृढ़ विश्वास और आस्था होनी चाहिये.

मानवजीवन का पुष्प इस संसार के उद्यान में पुष्पित होता है और एक दिन मुरझा कर परिसमाप्ति की ओर बढ़ जाता है. फूल एक नन्हीं सी कलिका के रूप में खिलता है, महकता है और अपने आस-पास के वातावरण को सुगन्धित से भर-भर देता है. उसकी इस सुरभि से अपना कहा जानेवाला माली और उद्यान से बाहर की दुनिया भी परिचि हो जाती है. ऐसे ही कुछ विशिष्ट मानव भी उच्च श्रेणी में लाकर खड़ा कर देते हैं अपने आपको उनके जीवन-गुणों की सुगन्ध भी हर पास आने वाले, या दूर से ही गुजर जाने वाले के मन-मस्तिष्क को सुरभि से परिप्लावित किए बिना नहीं रहती. वह जन-जन के मन में आत्म-परिचय की छाप छोड़ जाता है. जीवन-सम्पादन का जीवित आदेश देते हुए एक उर्दू के शायर के शब्दों में यूँ समझ लीजिए—

> "फूल बन कर महक, तुझको ज़माना जाने,
> तेरी भीनी खुशबू को, अपना बेगाना जाने !

बस, यही जीवन जीने की कला है. जिसको हमारे श्रद्धेय श्रीहजारीमल जी महाराज ने प्राप्त किया था, भारतीय संस्कृति से विरासत के रूप में उन्होंने जीवन को जिया, खूब जिया बड़े ही कलात्मक ढंग से. वे इस संसारोद्यान के एक ही सुन्दर सुगन्धित पुष्प थे. जीवन-तरु की डाली पर रहे तब भी महक का अक्षय भंडार जन-हित के लिए मुक्तकर से लुटाते रहे और जब डाल से पृथक् हुए तब भी अपनी जीवन-दर्शन-सुरभि से सुवासित करते रहेंगे, जो कि आने वाली पीढ़ी के लिए गौरव की बात होगी. ऐसा मेरा उनके प्रति श्रद्धापूर्ण विश्वास है.

उन्होंने कब और कहाँ जन्म लिया ? उनका शैशव कैसा बीता ? उनके माता-पिता कौन थे ? उन्होंने किस जाति, कुल

या वर्ग में आंखें खोलीं ? इन प्रश्नों से हमें यहाँ कोई विशेष सरोकार नहीं. हमें तो केवल इतना ही देखना और जानना है कि उन्होंने क्या कुछ प्राप्त किया इस निर्ग्रन्थ श्रमणपरम्परा में अपने आपको दीक्षित-शिक्षित करके ? क्योंकि हमारी गौरवशाली जैन सांस्कृतिक परम्परा हमें बाह्यदर्शन के लिए नहीं, वरन् अन्तर्दर्शन के लिए प्रेरित करती है.

उनकी अध्यात्म-साधना का काल काफी लम्बा रहा है. गणना की दृष्टि से उनकी अध्यात्म-साधना के चौंसठ वर्ष अपना कुछ अर्थ रखते हैं, आज के इस विलासिता-प्रधान भुक्ति-युग में ! इस लम्बी अवधि में उन्होंने बहुत कुछ उपलब्ध किया होगा. उनका यह अनुभव-प्रकाश साधकों के मार्ग-दर्शन का कार्य कर सकता है, यदि उसका सही मूल्यांकन कर, उनका शिष्यवर्ग जन-मानस तक उसे पहुँचाने का सत्प्रयत्न करे.

वे न तो शब्द-जाल के महारण्य में भटकने वाले कोई वैयाकरणी ही थे, और न बाल की खाल उतारने वाले नैयायिक ही, और न वे दर्शन की गहन गुत्थियों में उलझने वाले दार्शनिक ही थे. वे तो एक अध्यात्म-निष्ठ सरलमना लोकोत्तर प्रवृत्ति के सन्त थे. इस बात का अनुभव मुझे उनके साथ की गई कुछ समय तक की वीर-भूमि मेवाड़ की सहयात्रा में हुआ. अध्यात्म-रस में पगे दोहे और पद जब कभी वे तरंगित हृदय से गाते थे तो मन-मयूर मस्त हो, मार्ग की सब थकावट भूल, नाच उठता था. कभी-कभी तो वे छोटे-छोटे दोहों के माध्यम से राजपूती इतिहास की बड़ी ही सुन्दर सुनहरी कड़ियाँ खोलकर सामने रख देते थे. उनकी वह सूक्तियाँ उस शुष्क पर्वतीय यात्रा को भी रसमय बना देती थीं. वे अतीत की घटनाएँ अपने में सँजोये मौन पर्वत भी उनके मुख से मुखर हो अपने इतिहास की वीर-वाणी हमारे कर्ण-कुहरों में डाल देते थे. उन्होंने जो एक सच्चे हितैषी की सी सहृदयता और एक बालक-सी निश्छलता तथा सरलता प्राप्त की थी, वह प्रत्येक साधक के लिए स्पृहणीय है. यह शिशु की सी सरलता, भद्रता और भव्यता ही उनका व्याकरण था, यही उनका न्याय और दर्शन-शास्त्र था. थोड़े ही शब्दों में उनका जीवन सागर की तरंगों पर साहस की बिजली के प्रकाश में बढ़ते हुए नाविकों के लिए एक प्रकाशस्तम्भ था. जिसके प्रकाश में प्रत्येक नाविक अपना मार्ग स्वयं ढूंढ़ लेता है. इस अनूठे जीवन सत्य को उर्दू के शायर के शब्दों में यूँ समझ लीजिए.

**"खुशनुमा दुनिया में वो हाजत रवा मीनार हैं !**
**रोशनी से जिनकी मल्लाहों के बेड़े पार हैं !!"**

श्रीविजयमुनिजी, महाराज
शास्त्री, साहित्यरत्न

## *श्रमण संघ की विमल विभूति श्रद्धेय हजारीमलजी*

मनुष्य के मन का विचार निःसन्देह मनुष्य से ऊँचा होता है. जीवन में उसे छूने का प्रयत्न ही साधना है. आरम्भ अन्तर्जगत् से होता है और धीरे-धीरे बहिर्जगत् में उसका विस्तार होता है. वृक्ष का फैलाव बाहर होकर भी उसकी जड़ें धरती में समाई रहती हैं. मनुष्य का बाहरी जीवन, उसके विचार-बीज में से फूटता है. भारतीय संस्कृति में 'सन्त' विचारों का केन्द्र माना जाता है.

भारत की पुण्य-भूमि में समय-समय पर सन्त पुरुषों के आगमन ने यहाँ की मिट्टी और हवा में अपने जीवन से, अपने उज्ज्वल कर्म से और अपनी वाणी से जो संस्कार-बीज बोये थे, वे आज भी त्याग, तपस्या और ज्ञान के रूप में यहाँ पर अंकुरित हैं. भारत ने सदैव ही सम्राट् के चरणों में नहीं, सन्त के पावन चरणों में ही अपना मस्तक झुकाया है. इस प्रकार सन्त-जीवन, भारतीय संस्कृति का केन्द्र-बिन्दु रहा है.

स्थानकवासी समाज के युग-पुरुषों की लम्बी परम्परा ने समाज को बहुत कुछ दिया है. युग-पुरुषों की इसी लम्बी

परम्परा की एक बेजोड़ कड़ी थे-मंत्रि प्रवर, श्रद्धेय हजारीमल जी महाराज अभी कल तक वे हमारे मध्य में थे, पर आज नहीं रहे. उस विमल विभूति के वियोग ने समाज को अनाथ बना दिया है 'वे आज नहीं रहे'—इस तथ्य को मानने से भले ही हमारा भक्ति-परायण मन विद्रोह करे, फिर भी यह सत्य है, कि उनका भौतिक रूप अब हम न देख सकेंगे. उनका अध्यात्मरूप हमारे कण-कण में रम चुका है. अत: उस विमल विभूति का भौतिक वियोग होकर भी आज अध्यात्मसंयोग हमारे जीवन के साथ है. फिर शोक क्यों ? अंग्रेजी साहित्य में मनुष्य-जीवन के लिए दो वाक्यों का प्रयोग किया जाता है— A man is mortal and a man is immortal अर्थात् मनुष्य मरणशील है, और मनुष्य अमर भी है. जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु, फिर भले ही वह चेतन हो अथवा अचेतन—पर्याय-दृष्टि से अनित्य होती है, और गुण-दृष्टि से नित्य. श्रद्धेय हजारीमलजी महाराज, आज नहीं होकर भी हैं और होकर भी आज नहीं रहे. भक्त-हृदय की मोह-बुद्धि उनके भौतिक वियोग को देखकर शोक, विषाद और परिताप करती है.

निश्चय ही श्रद्धेय मन्त्री जी महाराज महान् थे क्योंकि महान् बनने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है, वे समस्त गुण उनमें विद्यमान थे. आप कह सकते हैं, और जैसा कि कुछ लोग कहेंगे कि वे महान् नहीं थे. क्योंकि न तो वे प्रवक्ता थे, और न नामी लेखक ही, परन्तु मेरी दृष्टि में महानता के उक्त दोनों लक्षण सर्वथा निरर्थक हैं. विशेषत: तब, जबकि विचार में उदारता न हो, वाणी में मधुरता न हो और व्यवहार में शिष्टता न हो.

जो लोग उस विमल विभूति के सान्निध्य में रहे हैं, वे इस तथ्य को भली-भाँति जानते हैं, कि स्वामी जी महाराज का जीवन हिमालय से भी ऊँचा था, और सागर से भी अधिक गम्भीर था. उनके मन की गरिमा ने और वाणी की मधुरिमा ने तथा उनके कर्म की महिमा ने जन-जन के जीवन को भावित किया था, पवित्र किया था और विशुद्ध किया था. वे मन से पवित्र थे, हृदय से सरल थे, बुद्धि से प्रखर थे और व्यवहार से मधुर थे. क्या सन्त और क्या गृहस्थ वे सबसे सहज स्नेह करते थे. उनके जीवन-कोष में कोई भी पराया न था, सब अपने थे. सबको प्यार करना, सबको प्रेम करना, जैसे उनका जीवन-व्रत ही था.

नाम तो उनका पहले भी अनेक बार सुना था और वह भी इस रूप में कि मरुधरा के तेजस्वी आचार्य, परम श्रद्धेय जयमलजी महाराज के प्रतिनिधि के रूप में आज भी एक ज्योति अपना प्रकाश विकीर्ण कर रही है, जिसे लोग 'हजारी मलजी महाराज' के नाम से जानते, पहचानते, और मानते हैं. एक युग था, जब कि समग्र मरुभूमि पर पूज्य श्री जय मलजी महाराज का धर्म-शासन ही स्वीकार किया जाता था. उसी पावन परम्परा की विमल विभूति थे 'स्वामी जी महाराज'. इस विमल विभूति का प्रथम दर्शन मुझे व्यावर में सन् १९५० में हुआ था. पूज्य कवि जी महाराज कुन्दन-भवन में और स्वामीजी महाराज ठहरे थे स्थानक में. पूज्य उपाध्याय श्रीअमरचन्द्रजी महाराज श्रद्धेय हजारीमलजी महाराज के दर्शनार्थ स्थानक में पधारे थे. तभी मैंने पहली बार उस विमलविभूति के पुनीत दर्शन किए थे. तब मैंने यह कहा था—

> 'दूरेऽपि श्रुत्वा भवदीय-कीर्तिं, कर्णौ तृप्तौ न च चक्षुषी मे !
> तयोर्विवादं परिहर्तुकामः समागतोऽहं तव दर्शनाय !!

पूज्य प्रवर ! दूर बैठे-बैठे, अपने कानों से आपका शुभ नाम तो सुना था. परन्तु जो कुछ सुना था, नेत्र उसपर इसलिए विश्वास नहीं करते थे, क्योंकि इन्होंने आपका पवित्र दर्शन नहीं किया था. आज आपका दर्शन पाकर मैं परम प्रसन्न हूँ. इसलिए कि मैंने जैसा सुना था, उससे भी अधिक सुन्दर रूप में आपको देखा है. आज आपको देखकर मैंने अपने श्रोत्र और नेत्र के चिर विवाद को समाप्त कर दिया है.

व्यावर वर्षावास में बोया गया स्नेह-बीज कुछ इस रूप में अंकुरित एवं पल्लवित हुआ कि वर्षावास के बाद भी पूज्य गुरुदेव की मेवाड़यात्रा में उनके साथ ही रहे और साथ ही व्यावर वापस लौटे. भीनासर सम्मेलन में भी आपके दर्शन हुए. सम्मेलन से लौटते हुए नागौर से कुचेरा पूज्य अमरचन्द्र जी महाराज को आप ही ले गए थे. हमारा कुचेरा वर्षावास

आपकी पुण्य-प्रेरणा का ही शुभ परिणाम था. जयपुर में आपने एक वर्षावास भी उपाध्यायजी महाराज के स्नेहवश ही किया था.

मुझ जैसे एक अकिंचन व्यक्ति पर भी आपका अत्यंत स्नेह था. स्नेह की अपार सम्पत्ति, आपसे पाकर मैं तब भी धन्य था, और आज भी अपने आपको भाग्यशाली मानता हूँ. मैं आपके उन असाधारण गुणों पर मुग्ध हूँ जो अन्यन्त्र दुर्लभ हैं. बड़प्पन के भार को ढोनेवाले बड़ों की आज भी कमी कहाँ है ? परन्तु दम्भ-रहित होकर जीवन जीने की कला आपसे कोई सीखे. भीनासर सम्मेलन में मंत्री-पद पाकर भी आपने कभी उसका अहंकार नहीं किया और अपने पद का दुरुपयोग भी नहीं किया, जबकि अपने पद का अहंकार करनेवाले और उसका दुरुपयोग करनेवाले सन्त, आज भी अपने समाज में विद्यमान हैं.

श्रद्धेय हजारीमलजी महाराज प्रकृति से सरल थे, मन से उदार थे और बुद्धि से विचक्षण थे. गंभीर विचार करना उनका सहज स्वभाव था. मधुर वाणी और कोमल व्यवहार करना उनका सहज धर्म था. न कभी किसी की निन्दा करना और न किसी की चापलूसी करना, उनका प्रकृति-सिद्ध गुण था. जो भी उनके निकट आया, उनका होकर ही लौटा. उनकी आत्मीयता की परिधि बहुत विशाल और व्यापक थी. वहाँ पर सब 'स्व' थे, कोई भी 'पर' न था. मधुर वाणी होने के कारण वे कभी किसी के साथ अप्रिय व्यवहार नहीं करते थे. सबके हित में ही वे अपना हित समझते थे. संघ-हित में और समाज-एकता में उन्हें गहरी निष्ठा थी. श्रमण-संघ से उनका सच्चा प्रेम था. संघ-विरोधी लोगों की हरकतों को वे पसन्द नहीं करते थे. स्वामीजी महाराज अवस्थासे वृद्ध होकर भी नये विचारों का समर्थन करते थे. समाज और संघ का हित ही उनका लक्ष्य था भले ही वह नये विचार से हो अथवा पुराने विचार से. यह है उनके अंतरंग जीवन का परिचय.

शरीर दुबला-पतला होकर भी कद्दावर था. गेहुँआ वर्ण. मुस्कानभरा चेहरा. हृदय की सरलता और सरसता को अभिव्यक्त करने वाले सुन्दर नेत्र, लम्बी नासिका. सिर पर धवल-विरल केश-राशि. श्वेत श्मश्रु. धवल खादी के शुद्ध वस्त्र. गज जैसी गम्भीर गति. यह सब कुछ उनके दिव्यत्व का बाहरी रूप था, इसे मरुभूमि की जनता 'श्रद्धेय हजारीमलजी म० के नाम से पहचानती थी.

संस्कृत और प्राकृत के वे पण्डित थे. आगमों के मर्मज्ञ और ज्ञान के सागर. उन्होंने कभी भी अपने ज्ञान का अहंकार नहीं किया. बोलने में और व्याख्यान में भी वे राजस्थानी भाषा का ही प्रयोग किया करते थे. उनकी भाषा में एक अद्भुत मिठास और आकर्षण था. राजस्थानी संस्कृति में उनका सम्पूर्ण जीवन रंग चुका था. बोलने में, लिखने में, खाने में, चलने में, फिरने में, खाने में, पीने में हर जगह वे मारवाड़ी थे. अपने को मारवाड़ी कहने में वे एक प्रकार का संतोष अनुभव करते थे.

स्वामी जी महाराज लेखक नहीं थे, परन्तु निश्चय ही वे अपने युग के एक सरस प्रवक्ता थे. उनकी प्रवचन-शैली सीधी-सादी होकर भी मधुर थी. ढाल और चरित्रों को वे बहुत ही सुन्दर ढंग से तथा मधुर स्वरलहरी में गाते थे. रामायण बाँचने में वे मारवाड़ के बे-जोड़ कलाकार थे. मारवाड़ का प्रसिद्ध राग 'माड़' उनके श्रीमुख से बहुत ही आकर्षक और प्रिय लगता था.

जिन लोगों ने उनके मुख से देवचन्द जी, आनन्दघनजी और विनयचन्द जी की चौबीसी सुनी है, वे भली-भांति जानते हैं कि उनके संगीत की स्वर-लहरी में कितना आनन्द था ? कितना आकर्षण था ? कितनी तल्लीनता थी ? सुननेवाला श्रोता अध्यात्मरस की सरिता में डूब-डूब जाता था. अन्तरंग आनन्द में झूम-झूम जाता था. गाने वाला और सुननेवाला आत्म-विभोर हो जाता था. मुझको अनेक बार इस अध्यात्म-रस के अनुभव करने का परम सौभाग्य मिला था. विहार-यात्राओं में अनेक बार ऐसा आया, जब कि स्वामी जी महाराज और श्रद्धेय अमरचन्द्रजी महाराज-दोनों जमकर बैठ जाते थे और एक-दूसरे को सुनते सुनाते. 'स्वामी जी सुनाते आनन्दघन के अध्यात्म-पद और गुरुदेव सुनाते आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की और आचार्य समन्तभद्र की दार्शनिक स्तुति' उस समय हम लोगों को ऐसा लगता, जैसे मानो अध्यात्म और दर्शन-शास्त्र का सुन्दर समन्वय होकर, दो धाराएँ मिल-जुलकर एक विशाल महानद के रूप में प्रवाहित होकर जन-मन के ताप का परिहार कर रही हों. कितने सुखद, कितने सुन्दर, कितने मधुर और साथ ही कितने

स्वप्निल थे जीवन के वे क्षण ? मुझे आज भी याद है कि हल्दीघाटी का इतिहास प्रसिद्ध दुर्गम घाटियों को पार करते हुए, एक ऐसा प्रसंग आया था, जिन दुर्गम घाटियों ने कभी राणाप्रताप और बादशाह अकबर के वीर सैनिकों का तुमुल नाद सुना था. आज वे ही घाटियाँ दो सन्तों की, अहिंसा के सेवकों की शान्त-स्वर-लहरी से प्रतिध्वनित होकर, जैसे अध्यात्म-रस में डूब रही हों.

क्या लिखूं. लिखना बहुत कुछ चाहता हूँ, परन्तु अब लिखा नहीं जाता. आज तो यह सब कुछ जैसे अनन्त अतीत की करुण-कहानी बनकर शेष रह गया है. जैसे-जैसे अतीत में प्रवेश करता हूँ, स्वामी जी महाराज के मधुर जीवन की उन मधुर स्मृतियों को खोजने के लिए वैसे-वैसे चित्र मेरे स्मृति-पट पर अंकित होते जा रहे हैं. किन्तु क्या करूँ ? मैं अपने अन्तर-मन की भावनाओं को अभिव्यक्त नहीं कर पा रहा हूँ.

स्वामीजी महाराज क्या थे. उक्त प्रश्न का समाधान करने के लिए न मेरे पास कोई शब्द, न कोई उपमा, और न कोई वस्तु ही है, जिसके तुल्य में उन्हें कह सकूं. वे अपने जैसे आप थे. वे अपने ढंग के निराले थे, अद्‌भुत थे और असाधारण भी थे. इसलिए वे हमसे विशिष्ट थे.
'आओ' आप और हम-सब मिलकर एक स्वर से उस विमल विभूति के सद्‌गुणों का कीर्तन करलें.

श्री गुलाबचन्द्र मुणोत, अजमेर

## नमन हो मेरे कुल रत्न को

स्वर्गीय पूज्य मुनि श्रीहजारीमलजी म० की और मेरी जन्मभूमि एक ही थी. उनसे मेरा पारिवारिक दृष्टि से निकटतम संबंध था. संसार पक्ष से वे मेरे काका सा० थे. तथापि मैं कई वर्षों तक उनके पुण्यदर्शनों से वंचित रहा. उसका मुख्य कारण यह था कि मेरे जन्म से ६ वर्ष पूर्व ही आपने वि० सं० १९५४ में ही जिनदीक्षा ग्रहण कर ली थी. दस वर्ष की अल्पायु में अध्ययन के हेतु मुझे जन्मभूमि से दूर चला जाना पड़ा.

मैं कभी-कभी चिन्तन करते हुए आश्चर्य में पड़ जाता हूँ कि इतने उच्च संस्कार आप में कैसे जागृत हुए ? स्पष्ट लगता है कि उनकी माता ही पुत्र के लिये सुसंस्कारों की जननी थीं और उनकी प्रेरणा से ही वे ऐसे विकट पथ को अपना कर त्याग-मार्ग पर लगे थे.

प्रथम बार जब मुझे आपके दर्शन का सौभाग्य अजमेर में प्राप्त हुआ तो हृदय गद्‌गद हो गया. मैं सपरिवार आपके दर्शन निमित्त गया. मैंने प्रथमबार ही पाया कि आपके विचार उच्च हैं, शान्ति की आप सजीव प्रतिमा हैं, आपकी वाणी में मृदुता है, हृदय में कोमलता है, व्यवहार में कुशलता है.

मैं स्वर्गीय मुनि श्रीहजारीमलजी म० को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए अपना गौरव समझता हूँ कि आपने अपने परिवार को ही नहीं किन्तु हजारों व्यक्तियों के जीवन को उज्ज्वल कर दिया. आप इतनी अल्पायु में त्याग मार्ग को अपना कर बाल-ब्रह्मचारी रहे. आप अद्वितीय साहस के धनी थे. सहन-शीलता, धैर्य, एवं समदर्शित्व आदि आपके विशेष गुण थे.

उनके मन के विमल चिन्तन की ऊँचाई का कहाँ तक बयान किया जाय ? उन्हें सम्प्रदाय का आचार्य पद प्रदान करने का प्रस्ताव सब साधुओं व संघ द्वारा रखा गया था तथापि उन्होंने अस्वीकार कर दिया. एक विशेषता आपके जीवन में यह थी कि आप प्रशंसा से हर्षित और प्रतिकूल आलोचनाओं से क्षुब्ध नहीं होते थे. अपने कर्त्तव्य की ओर ही अग्रसर

रहते थे. आप ६४ वर्ष तक निरन्तर स्व-पर कल्याण में लीन रहे. ऐसी दिवंगत महान् आत्मा की पवित्र स्मृति किस विचारशील मानव को न आयेगी ? मेरे जीवन में अन्तिम क्षण तक उनकी बालसुलभ सरलता स्मरण रहेगी. ऐसे श्रद्धेय पुरुषों के चरणों में मैं नतमस्तक हूँ.

प्र० श्रीपुष्करमुनिजी महाराज

## एक ज्योतिमय जीवन

बहुत शौक से सुन रहा था जमाना,
तुम्हीं सो गए दास्तां कहते-कहते !

जोधपुर से आए एक सज्जन के मुख से मंत्री हजारीमलजी महाराज के स्वर्गवास की हृदयवेधक सूचना सुनी तो सिर चकरा गया और एक क्षण तक विश्वास ही नहीं हुआ कि क्या यह सत्य है ? मैंने उनसे प्रश्न किया कि क्या कह रहे हैं आप ? उन्होंने स्वामी जी महाराज की रुग्णता का विस्तृत विवरण सुनाया और साथ ही यह भी बताया कि जोधपुर से अंत्येष्टि-क्रिया में सम्मिलित होने के लिये श्रद्धालु श्रावक बस लेकर पहुँचे हैं.

मंत्री मुनिश्री के स्वर्गवास के दुःखद समाचारों ने सहसा चालीस वर्ष पुरानी स्मृतियाँ जाग्रत कर दीं. वि० सं० १९८० का वर्षावास श्रद्धेय सद्गुरुवर्य महास्थविर श्रीताराचन्द जी महाराज का पाली में था. मैं भी उस समय गुरुदेवश्री के सान्निध्य में दीक्षा लेने से पूर्व धार्मिक अध्ययन कर रहा था. उस वर्ष पंडित-प्रवर श्री जोरावरमल जी महाराज के साथ आप श्री का चातुर्मास भी वहीं था. गुरुदेव से आप वय एवं दीक्षा आदि में लघु थे. गुरुदेव के प्रति आपकी अपूर्व निष्ठा थी और उनका भी आप पर अपार स्नेह था. आप समय-समय पर उनके पास भी पधारते रहते थे. मुझ पर भी आपश्री की असीम कृपा थी. आपने मुझे उस समय मधुर शिक्षाएँ प्रदान कीं—वे आज भी मेरे जीवन की अमूल्य थाती हैं.

पिछले चालीस वर्षों में बीसों बार स्वामी जी महाराज के दर्शनों का सौभाग्य सम्प्राप्त हुआ है. जयपुर में संयुक्त वर्षावास करने का अवसर भी मिला है. उनकी नेत्र चिकित्सा के अवसर पर लम्बे समय तक सेवा का अवसर प्राप्त हुआ, आगमिक, सामाजिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयों पर वार्तालाप भी किया है वह अगणित शिष्ट वाग्विनोद—आज भी कानों के गहन गह्वरों में प्रतिध्वनित हो रहा है.

सन्त की दृष्टि से स्वामी जी म० की गणना प्रथम कोटि में की जायेगी. वे उच्चकोटि के सहृदय सन्त थे. उनका जीवन आचार और विचार का पावन संगम था. आज के युग में प्रतिभा सम्पन्न विद्वानों की कमी नहीं है, यह फसल बड़ी तेजी से बढ़ती जा रही है. विचारकों का बाजार भी बड़ा गर्म है. ग्रन्थकारों का तो कहना ही क्या ! वे भी अल्प-संख्यक नहीं रहे हैं. पर सच्चे सन्त बड़े मँहगे हो गये हैं. किन्तु स्वामी जी महाराज सच्चे सुसंस्कारी सन्त थे. इसी कारण जन-जन के वे हृदय के हार और जन-मन के सम्राट् थे.

सहृदयता, नियमबद्धता, परिश्रमशीलता, परदुखकातरता इत्यादि जो सद्गुण सन्तजीवन में अपेक्षित हैं, वे सभी स्वामी जी महाराज में अत्यधिक मात्रा में विद्यमान थे. उनका हृदय कुसुम से भी अधिक कोमल और मक्खन से भी अधिक मृदु था. उनकी नवनीत-सी स्निग्ध सहृदयता, विषण्ण हृदयों के लिए मरहम का काम देती थी. सुहावनी सुबह से भी ज़ियादा था उनमें आकर्षण.

स्वामी जी महाराज का अपना एक केन्द्रीभूत विचार था कि अधिक वार्तालाप से समय और शक्ति का अपव्यय होता है, अतः बहुत ही कम बोलो, और जब बोलो तो मधुर बोलो. मधुर वाणी ही सन्तजीवन की शोभा है. मुग्ल को कवियों

ने कमल की उपमा से समलंकृत किया है, अतः उससे ललित शब्दावली ही निकलनी चाहिये. स्वामीजी महाराज जब भी बोलते थे तब ऐसा ही प्रतीत होता था कि उनकी वाणी में मिश्री घुली हुई है. वे स्वयं कम बोलना पसन्द करते थे. मौन के सम्बन्ध में उनके विचार मननीय थे. उन्होंने एक बार कहा था—"मौन केवल धर्म ही नहीं अपितु स्वास्थ्य के लिए भी एक अच्छा टॉनिक है !" स्वामी जी महाराज का रहन-सहन बड़ा ही सादा एवं सीधा था. जहाँ तक शुद्ध खादी के वस्त्र उपलब्ध होते, वे उन का ही उपयोग करना श्रेयस्कर समझते थे. छोटा-सा और फटा-सा वस्त्र शरीर पर यों ही डाल लेते थे. कभी कोई उन्हें कहता तो मुस्करा कर कह देते—'भाई, शरीर ही तो ढँकना है. वस्त्र नया हो या पुराना हो, छोटा हो या बड़ा !'

स्वामीजी महाराज की स्मरणशक्ति विलक्षण थी. उन्हें पूज्य जयमलजी म०, आचार्य देवचन्दजी, उपाध्याय यशोविजयजी, आनन्दघनजी, विनयचन्दजी आदि अनेक सन्तों के अध्यात्मरस से छलछलाते हुये पद कंठस्थ थे. उनका गला भी सुरीला था. जब वे गाते तो श्रोता झूम उठते थे. रामायण, महाभारत आदि के प्रसंगों को बहुत ही सुन्दर ढंग से सुनाया करते थे. इसके अतिरिक्त कर्मग्रन्थ, तत्त्वार्थसूत्र व आगम के सुन्दर स्थल उनके स्मृतिपट पर नाचते रहते थे. राजस्थानी लोकथाएँ, ओखाणें, चुटकुले आदि भी उन्हें बहुत से स्मरण थे. जब वे उन्हें सुनाते थे तब श्रोता हँस-हँस कर लोट-पोट हो जाते थे.

आज स्मृति के झरोखे से अनेक स्मृतियाँ झांक रही हैं. उन सभी पावन स्मृतियों को इस लघु संस्मरण में पिरोना कठिन है. उनकी स्मृति तो सदा बनी ही रहनी चाहिए.

◉

श्रीज्ञान मुनिजी महाराज

## दिव्य पुरुष के दर्शन

सन्त का वेष लेने वाले व्यक्तियों की संसार में कमी नहीं है. अकेले भारत में ५६ लाख के लगभग साधु सुने जाते हैं. साधुओं की इतनी विशाल संख्या होने पर भी लोगों का आचार-विचार समुन्नत न होकर अवनत होता चला जा रहा है. यह आश्चर्य की बात है. अकेला सूर्य अंधकार को नहीं छोड़ता फिर जहाँ लाखों सूर्य हों तब भी अंधकार बना रहे, तो मानना पड़ेगा कि सूर्य अपने सूर्यत्व से विहीन हो गया है, उसकी अंधकार को नष्ट करने की शक्ति समाप्त हो गई है. ठीक यही बात आज के साधु वर्ग पर भी लागू होती है. आज साधु वेष अवश्य है पर वास्तविक साधु बहुत कम हैं. साधुता के नाम पर आज ढोंग अधिक पनप रहा है. ऐसे वेषधारी साधुओं से समाज एवं राष्ट्र का हित सम्पन्न नहीं हो सकता. समाज एवं राष्ट्र का हित उन्हीं साधु-सन्तों से संभव है, जो मोह-माया के आवरण को दूर हटा कर अहिंसा, संयम और तप के विराट् साधना-पथ पर—बढ़ते जा रहे हैं, तथा आत्म भावना एवं जनहित-कल्पना में अपनी समस्त शक्तियाँ निछावर कर देते हैं. ऐसे सन्तों का दर्शन कहीं सौभाग्य से ही होता है. संस्कृत के एक आचार्य को यह कहना पड़ा—

निज-हृदि विकसन्तः, सन्ति सन्तः कियन्तः ?

अर्थात् अपने हृदय में गुणों का विकास करने वाले सन्त मुनि कितने हैं ? उत्तर स्पष्ट है—बहुत थोड़े हैं. चाणक्य नीति में इसी सत्य को समझाया है—

साधवो न हि सर्वत्र, चन्दनं न 'वने-वने'—हर किसी जंगल में चन्दन के वृक्ष नहीं मिला करते हैं. वैसे ही हर स्थान पर साधु पुरुष भी नहीं मिला करते हैं.

हमारे श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी म० ऐसे ही त्यागी, वैरागी मुनिवर थे. वैराग्य जप-तप के विशाल सरोवर में वे गहरी डुबकी लगाने वाले सन्त थे. त्याग की उज्ज्वलता के साथ-साथ उनका अंतर्जगत् बाहर से भी अधिक सुन्दर था, समुज्ज्वल

था. चमत्कृतिपूर्ण था. संयम साधना का परम पवित्र अनुराग उनके कण-कण में व्याप्त हो रहा था. उनके जीवन में संयम अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था. इस तरह संयम-साधना के अध्यात्म आनन्द में वे सदा अप्रमत्त भाव से निमग्न रहा करते थे.

भगवती सूत्र में भगवान् महावीर ने संयमी पुरुष के सुख का बड़ी विलक्षणतापूर्वक वर्णन किया है. उक्त सूत्र के शतक १४, उद्देश्य ६ में लिखा है कि 'एक मास की दीक्षा वाला श्रमण, निर्ग्रन्थ वाणव्यन्तर देवों के सुख को अतिक्रमण कर जाता है. दो मास की दीक्षा वाला नागकुमार आदि भवनवासी देवों के सुखों का अतिक्रमण कर जाता है. इसी प्रकार तीन मास की दीक्षा वाला असुरकुमार के देवों के सुख को, चार मास की दीक्षा वाला ग्रह नक्षत्र एवं ताराओं के सुख को, पाँच मास की दीक्षा वाला ज्योतिष्क देव जाति के इन्द्र चन्द्र एवं सूर्य के सुख को, छः मास की दीक्षा वाला सौधर्म एवं ईशान देवलोक के सुख को, सात मास की दीक्षा वाला सनत्कुमार एवं माहेन्द्र देवों के सुख को, आठ मास की दीक्षा वाला ब्रह्मलोक एवं लान्तक देवों के सुख को, नव मास की दीक्षावाला, आनत और प्राणत देवों के सुख को, ग्यारह मास की दीक्षा वाला नव ग्रैवेयक देवों के सुख को तथा बारह मास की दीक्षा वाला श्रमण अनुत्तरोपपातिक देवों के सुख को अतिक्रमण कर जाता है."

जहाँ तक मैं जानता हूँ, वहाँ तक कह सकता हूँ कि भगवान् महावीर की उक्त मान्यता श्रद्धेय मंत्री श्रीहजारीमलजी म० के जीवन में व्यवहार का रूप ले रही थी. महाराजश्रीजी अपनी संयम-साधना में तथा त्याग-वैराग्य की आराधना में सदा आनन्दविभोर रहा करते थे. उनके मस्तक पर कभी सलवट नहीं देखी गई. क्या बाल, क्या युवक, क्या वृद्ध, क्या नारी, क्या पुरुष सभी पर वे स्नेह की, प्रसन्नता की—मधुर वर्षा किया करते थे. संयम का वे पूर्णतया आनन्द लूट रहे थे.

परम आदरणीय, सन्तहृदय मंत्री श्रीहजारीमलजी म० का परम पवित्र जीवन एक विस्तृत उपवन के समान था. उसमें त्याग, वैराग्य, जप, तप, ब्रह्मचर्य, धैर्य, उदारता, सहृदयता, कठोरता, कोमलता, दुःखी जनों के प्रति वत्सलता आदि ऐसे अनेकों सुगन्धित गुण-पुष्प दिखाई देते थे, जिनकी सुगन्ध ने लाखों हृदयों को सुगन्धित बना दिया था. मंत्री श्री के जीवन का एक-एक गुण इतना विलक्षण और अद्भुत है कि कुछ कहते नहीं बनता. सभी सद्गुणों के सम्बन्ध में कुछ न कह कर आज मैं श्रद्धेय मंत्री श्री के एक गुण का वर्णन करूँगा. वह गुण है—

"वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि"

मंत्रीश्रीजी वज्र से भी अधिक कठोर थे, और पुष्प से भी ज्यादा कोमल. वज्र और पुष्प दोनों के परस्पर विरोधी गुण एक स्थान पर कैसे टिक सकते हैं ? इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है. मैं समझता हूँ श्रद्धेय मंत्री का जीवन इस प्रश्न का ही एक समाधान था. उनकी जीवन-घटनाओं से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि इस पवित्र जीवन में दोनों विरोधी गुण बिना किसी बाधा के स्पष्टतया देखे जा सकते हैं.

मंत्री श्रीजी म० अपने शरीर के लिए वज्र के समान कठोर थे. अपने दुःख में वे कभी घबराए नहीं. भयंकर-से-भयंकर वेदना की घड़ियों में भी इन्होंने जबान से उफ़ तक नहीं की. प्रत्युत् बड़ी शान्ति और धीरता से उसे सहर्ष सहन किया. वस्तुत: साधक की महत्ता इसी बात में है कि संकट की वर्षा हो रही हो, प्रतिकूलता की भीषण आंधियाँ चल रही हों, फिर भी यदि वह डांवाडोल नहीं होता, धैर्य को अपने हाथ से जाने नहीं देता, तथा अपने बौद्धिक सन्तुलन को सर्वथा सुरक्षित रखता है, तो साधक की इन्हीं वृत्तियों से पता चलता है कि वह संसार का एक महापुरुष है. हमारे मंत्री श्रीजी का महापुरुषत्व इन्हीं बातों से अभिव्यञ्जित हो जाता है कि भीषण से भीषण दुःख में भी वे स्वस्थ रहे. जरा भी डांवा-डोल नहीं हुए और प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति में भी सबको प्रसन्न मुद्रा में दिखाई दिया करते थे. पर जब वे (मंत्री श्रीजी) किसी दूसरे को दुःखी देख लेते तो एक दम सिहर उठते थे. करुणा के मारे उनका हृदय व्याकुल हो उठता था. जब तक उस दुःखी के दुःख को दूर नहीं कर देते थे तब तक उनको शान्ति नहीं मिलती थी. गोस्वामी तुलसीदासजी की—

सन्त हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पर कहिय न जाना !
निज दुःख द्रवहिं सदा नवनीता,पर दुःख द्रवहिं सन्त पुनीता !!

यह उक्ति इनके जीव पर शत प्रतिशत सत्य प्रमाणित होती है. गोसाईं जी का कहना है—कवियों ने सन्तों के हृदयों को नवनीत की उपमा दी है. सन्त हृदय को वे माखन-तुल्य समझते हैं. पर वस्तुस्थिति ऐसी प्रतीत नहीं होती. क्योंकि माखन उस समय द्रवित होता है, पिघलता है, जब स्वयं ताप पाता है, पर सन्तहृदय अपने ताप से कभी द्रवित नहीं होते, दुःख-वेला में तो वे हंसते रहते हैं, कभी घबराते नहीं हैं. वे तो अन्य पीड़ित व्यक्तियों की पीड़ा को देखकर या उसका स्मरण होते ही दुखित हो उठते हैं. अतः सन्त हृदय और नवनीत दोनों में आपसी कोई मेल नहीं है. एक पर-परिताप से द्रवित होता है और एक निज के परिताप से. अपनी बात संक्षेप में कह दूं, श्रद्धेय मंत्री श्री हजारीमल जी म० बड़े कोमल स्वभाव के महापुरुष थे. माखन की कोमलता उनकी कोमलता के समकक्ष नहीं बैठ सकती थी.

धन्य है, वे महापुरुष जिन्होंने आत्मा और शरीर के वास्तविक भेद को समझ कर अपनी शान्ति को कभी भंग नहीं होने दिया. इन मंगलमूर्ति महापुरुष की आदर्श कोमलता तथा वज्रमय कठोरता देखकर ही मेरे मन की परत पर यह संस्कृत-वाक्य उभर आया है—'वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि'.

●

श्रीरोशनमुनिजी महाराज

## एक वाक्य जीवन-दीप बन जाय

स्थविरपदविभूषित श्रीहजारीमलजी महाराज, गुणागार के रूप में आज भी मेरे सम्मुख साकार हैं. ब्यावर में ही उनके सामीप्य, दर्शन और सेवा का शुभ अवसर प्राप्त हुआ था. वह समय अल्प था. परन्तु उस स्वल्प समय की पवित्र घड़ियों में ही मैंने उनमें कुछ ऐसे गुणों के दर्शन किये थे जिनके आकर्षण स्वरूप उनके दर्शन की शुभाशा पुनःपुनः किया करता था.

वे हृदय से स्वच्छ, कोमल, करुणामूर्ति थे. उनके विमल हृदय से निकले वे शब्द आज भी मुझे प्रतिक्षण याद आते हैं. मैं सोचा करता हूँ उनके ये शब्द ही मेरी साधना का आधार बन जाएँ. उन्होंने कहा था—'रोशन मुनि, तुम निर्मोही और अमायी हो'. उन पूज्य आत्मा के इस स्वर्णिम वाक्य को स्मरण करके श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ. उनका यह वाक्य ही मेरा जीवन-दीप बन जाय. इस वाक्य को मैं जीवनपर्यंत न बिसरूँ.

●

श्री रिखबराज कर्णावट एडवोकेट, जोधपुर

## सरलता के मूर्तिमान स्वरूप

स्वामीजी श्रीहजारीमलजी महाराज ने करीब ६५ पैंसठ वर्षों तक जैन-साधु का जीवन बिताया. प्रकाश-स्तम्भ की तरह विषयान्धकार में भूले-भटके जन-मन को सत्पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान करते रहे. जीवन भर उनकी यही चेष्टा रही कि पाप, ताप व अभाव से पीड़ित मानव समाज का कल्याण हो. स्वामीजी प्रतिपल इसी भावना में रहते थे कि—

'सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः !
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् !'

ऐसे महात्माओं की गुणावलियों का स्मरण कर उनके प्रति अपनी श्रद्धाँजलि अर्पित करने में लेखक अपने को कृतकृत्य समझता है.

लेखक को स्वामीजी महाराज के प्रथम दर्शन का सौभाग्य अपने बचपन में ही प्राप्त हो गया था. लेखक के पिताजी ने स्वामीजी महाराज के सम्बन्ध में उन दिनों बातचीत के दौरान में कहा था कि—स्वामीजी 'चौथे आरे की बानगी' हैं. तब से स्वामीजी के स्वर्गारोहण तक लेखक का स्वामीजी से परिचय रहा और इस बीच सैंकड़ों बार स्वामीजी की सत्संगति का लाभ लेखक को मिलता रहा. स्वामीजी से समाज को कुछ न कुछ सत्प्रेरणा व स्फूर्ति प्राप्त होती रहती थी. उच्च भावों की प्रगति में स्वामीजी के दर्शन सदा सहायक बने रहते थे. स्वामीजी का सौम्य मुख-मण्डल और मीठे वचन अनायास ही सम्पर्क में आनेवाले व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे. व्यावहारिक रूप में स्वामीजी मनोविज्ञान के महान् पण्डित थे. सांसारिक लोगों की स्थिति का विचार रखकर ही वे जनता को उपदेश करते थे. जिससे शनैः शनैः श्रोता की अभिरुचि आध्यात्मिकता की ओर बढ़ती रहे. दुरूह शास्त्रीय भावों को लोकभाषा में प्रकट करने और उन्हें जनमानस में अंकित करने की कला में स्वामीजी निपुण थे. सरलता स्वामीजी में कूट-कूटकर भरी हुई थी। स्वामीजी सरलता के मूर्तिमान स्वरूप थे. ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना में वे उच्चतर भूमिका पर पहुँचे हुए थे किन्तु अपनी आराधना का इज़हार उन्होंने कभी नहीं किया. स्वामीजी गोस्वामी तुलसीदासजी के इस कथन को मानते थे कि:—

> 'पुण्य प्रकट ना कीजिये, करिये पाप प्रकाश,
> प्रकट किये दोउ घटत है बरणत तुलसीदास !'

स्वामीजी महाराज अपनी छोटी-सी कमजोरी को भी बृहद् रूप में महसूस करते थे और यही कारण है कि कमजोरियाँ उनसे दूर भागती थीं. जागतिक प्रपंच से वे कोसों दूर रहते थे. इंच भर भी वे सत्य और अहिंसा के मंच से नीचे नहीं उतरे. इस महापुरुष ने ज़िन्दगी में जो पाया वह सब कुछ साँसारिक प्राणियों के उपकार के लिये बाँट दिया. छोटे-छोटे ग्रामों में भी स्वामीजी ने धर्म-प्रचारार्थ भ्रमण किया और भोले-भाले लोगों को सत्पथ पर आरूढ़ होने की प्रेरणा दी. स्वामीजी उन इने-गिने साधुओं में थे जिन्हें लोगों ने साम्प्रदायिक दृष्टि से नहीं देखा, जैन तथा जैनेतर सभी लोग स्वामीजी से धर्म श्रवण का अवसर पाने में अपना अहोभाग्य समझते थे. संकीर्ण परिधि को लांघकर विश्व कल्याणार्थ अपने जीवन को लगा देना स्वामीजी का लक्ष्य था. वैसे स्वामीजी स्वयं स्थानकवासी साधु परंपरा के थे किन्तु दूसरे मजहब व सम्प्रदायों से स्वामीजी को द्वेष नहीं था. न स्वामीजी को इस बात का कदाग्रह था कि 'मेरा सो सच्चा' बल्कि स्वामीजी तो 'सच्चा सो मेरा' कहने में संतोष प्राप्त करते थे. उनकी भव्य आकृति के दर्शन मात्र करने से ही श्रद्धा व भक्ति दर्शकों में प्रस्फुटित होती थी. व्यक्तिगत महत्वकांक्षा स्वामीजी को छू तक न सकी. प्रातः स्मरणीय पू० जयमलजी महाराज की सम्प्रदाय के आचार्य बनाने का प्रश्न आने पर स्वामीजी ने आचार्यपद पर स्वयं आसीन होने से इंकार किया और अपने लघुभ्राता पण्डित रत्न मिश्रीमलजी महाराज का नाम निर्दिष्ट किया. 'पुत्ताय सीसाय भवित्ता' की उक्ति के अनुसार पण्डित मुनि श्री मिश्रीमलजी की योग्यता बढ़ाने का सम्पूर्ण श्रेय स्वामीजी महाराज को है जिनकी छत्रछाया में पण्डित मिश्रीमल जी महाराज ने ज्ञान-ध्यान की आराधना की और जैन जगत् के समक्ष निर्मल प्रकाश देनेवाले सितारे के रूप में जिन्हें हम आज देखकर गौरव अनुभव कर रहे हैं.

स्वामीजी का समस्त जीवन संसार से विरक्त, उदासीन व निस्पृह था और वे स्वच्छ, निर्मल तथा उज्ज्वल मुनि जीवन के भोक्ता थे. स्वामीजी उन सभी साधु के लक्षणों से ओत-प्रोत थे जो श्रमण भगवान् महावीर ने साधु के लिये बताये हैं :

> नाण-दंसण-सम्पन्नं संजमे य तवे रयं,
> एवं गुणसमाउत्तं संजयं साहुमालवे !

श्रमण संघ के निर्माण के समय भी स्वामीजी महाराज ने अपना पूर्ण लक्ष्य उस तरफ रखा. स्वामीजी का विद्वान था

कि 'संघे शक्तिः कलौ युगे.' श्रमण संघ के अत्यन्त आग्रह पर स्वामीजी ने मरुधर प्रान्त के मन्त्री बनने की स्वीकृति दी. स्वामीजी प्रिय भाषी, दूरदर्शी व गुणवंत होने से अपने इस पद का निर्वाह करने में पूर्णतः सक्षम थे. प्रगतिशील विचारों का स्वामीजी ने सदा स्वागत किया और उनको समर्थन दिया.

स्वामीजी के गुणों का कहाँ तक वर्णन किया जाय वे इतने अधिक हैं कि इस लेख के कलेवर में उनका सांकेतिक उल्लेख भी संभव नहीं है. उनके विराट् जीवन में गम्भीरता, सरलता, मर्मज्ञता, नीतिमत्ता, वत्सलता, सहिष्णुता, आध्यात्मिकता, समता आदि गुण इस तरह से व्याप्त थे जैसे तिलों में तेल व्याप्त हो. अपने जीवन काल में उन्होंने केवल अपना ही कल्याण नहीं किया किन्तु अनेक प्राणियों को सत्पथ पर आगे बढ़ाया और सम्पूर्ण विश्व के कल्याण में निरत रहे. उनका भौतिक शरीर पृथ्वी की गोद में अवश्य समा गया और समाज में एक अभाव की खटक पैदा कर गया किन्तु यशः शरीर उनका आज भी क़ायम है और युग-युगों तक उनके जीवन की उपासना और धर्म-प्रचार संसार के भूले-भटके लोगों को सत्धर्मका प्रकाश देकर सत्पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता रहेगा.

❂

मुनि श्रीसमदर्शीजी

# एक मधुर स्मृति

## सरलता का महत्त्व

सरलता—साधना का प्राण है. श्रमण-साधना तो क्या, मानवता की ज्योति को प्रज्वलित करने के लिए भी जीवन में सरलता का होना आवश्यक है. आगम में मानव बनने के जो चार कारण बताए हैं, उनमें सर्व प्रथम है—"पगइभद्दयाए" अर्थात् प्रकृति की भद्रता, सरलता—साधनाओं का मूल है.

## सरलता की साकार मूर्ति

श्रद्धेय मंत्री मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज, जिनकी मधुर संस्मृति ही आज हमारे पास है—जिनका अभाव मन को पीड़ा से भर देता है. वे सरलता, सौम्यता एवं निष्कपटता की साकार मूर्ति थे. उनके जीवन में वह कला थी, जो मिलने वाले व्यक्ति को सहज ही अपनी ओर खींच लेती थी, दूसरे को अपना बना लेती थी. वह कला-मन, वचन, वाणी की एकरूपता थी. जो उनके मन में था, वह वाणी में और जो वचन में था, वही कर्म में. जीवन की यह एकरूपता अति दुर्लभ है, परन्तु श्रद्धेय मंत्रीजी महाराज के जीवन में वह स्वभावतः थी. उनके पावन-पुनीत जीवन का यह पहलू स्पृहणीय है. सचमुच वे सरलता के प्रकाश-पुंज थे. उनके कण-कण में स्नेहशीलता एवं निश्छल प्रेम की धारा प्रवहमान थी.

## ज्ञान और कर्म योगी

ज्ञान-पिपासा उनके जीवन की एक महान् साध थी. जीवन के अरुणोदय से लेकर जीवन की संध्या तक वे अनवरत ज्ञान-पिपासा को शान्त करने में तन्मय रहते थे. जब देखो तभी स्वाध्याय एवं संयम क्रिया में व्यस्त मिलते थे.
निष्क्रिय होकर बैठना उन्हें पसन्द नहीं था. अपने दैनिक कार्यों से निवृत्त होकर अवकाश के समय वे शास्त्रों की गाथाएँ एवं भक्तिरस के तथा उपदेशप्रद भजन कण्ठस्थ करने में लग जाते थे. उन्हें दस-बीस नहीं, सैकड़ों हजारों भजन, पद, एवं दोहे कंठस्थ थे.

**स्मृति के मधुर पृष्ठ :**

मुझे श्रद्धेय मंत्रीजी महाराज के दर्शन करने एवं उनके चरणों में बैठकर सीखने का अनेक बार सुअवसर मिला है. वि० सं० २०११ में गुरुदेव उपाचार्य श्रीगणेशीलालजी महाराज के साथ कुचेरा के वर्षावास के समय, आपका जो स्नेह रहा, वह अद्भुत था. उसके बाद अजमेर में, भीनासर सम्मेलन में एवं कुचेरा आदि क्षेत्रों में मुझे आपकी सेवा में रहने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है. वे मेरे जीवन के मधुर क्षण रहे हैं, जिनमें मैं उनके चरणों में बैठकर कुछ सीख सका. आज वे मधुर क्षण केवल स्मृति के मधुर पृष्ठ ही रह गए हैं.

डॉ० श्रीकुंजविहारीलाल

## पुण्य संस्मरण: सन्त हों तो ऐसे हों

पूज्य जैन मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज के दर्शन व सेवा का शुभ अवसर मुझे चिकित्सा के सेवा-कार्य करने के प्रसंग में ही प्राप्त हुआ था. गुणी व सन्त पुरुषों का मैं सदा से ही आदर करता आया हूँ.

मुझे आज भी चित्रवत् स्पष्ट व साकार स्मरण है. राजस्थान के व्यावर नगर में उस सन्त पुरुष का एक दिन हॉस्पिटल में आगमन हुआ था. उनके सीने में एक छोटी-सी गांठ थी. निदान निमित्त कक्ष में वे पधारे. मैंने निदान कर उनसे—कहा—महाराज ! ऑपरेशन करना पड़ेगा, लेकिन आपके साथ गारजियन...!' वे निमिषभर मौन रहे. फिर कहा—'मैं तैयार हूँ. आप अपनी सुविधानुसार ऑपरेशन कर सकते हैं'.

मैंने कहा—'महाराज, क्लोरोफार्म का उपयोग किया जाय या इंजैक्शन का? मेरे प्रश्न का उन्होंने संक्षिप्त उत्तर दिया—एक का भी नहीं. मैं पूरी तरह तैयार हूँ. आप अपनी सुविधापूर्वक आपरेशन कर सकते हैं.
मैं उनके साहसपूर्ण उत्तर को सुनकर आश्चर्य से स्तंभित-सा रह गया. दोबारा कुछ न कह सका.

उस अद्भुत पुरुष के ऑपरेशन की घटना मुझे याद है. ३० मिनट में उनके वक्ष के दक्षिण पक्ष से ५ तोले की गांठ "लोकल ऐनेस्थिसिया" से निकाली.

ऑपरेशन कर चुकने पर मुझे तो पुन: अपना चिकित्सक धर्म निभाना था. मैंने मुनिश्री से कहा—'महात्मा जी ! आप तो सन्त पुरुष हैं किन्तु हमारे थ्योरिकल हिसाब से आपको ३ दिन तक यहीं रहना चाहिए—उन्होंने ऑपरेशन से पूर्व जितनी साहस पूर्ण स्वीकृति बिना क्लोरोफार्म के ऑपरेशन करने की दी थी, उतने ही साहसपूर्वक कहा—हम जहाँ पर ठहरे हैं वह स्थान यहाँ से ४ फर्लांग ही है. मेरा आत्मविश्वास कहता है कि मैं सकुशल वहाँ पर पहुँच जाऊँगा. वे सचमुच ही जैनस्थानक में पहुँच गये, ३ घन्टे बाद हॉस्पिटल का समय समाप्त होने पर उनके निवास-स्थान पर गया तो वे लकड़ी के पाट पर शयन करते मिले.

इस ऑपरेशन के बाद भी मैंने अनेक जैनमुनियों की चिकित्सा-सेवा की. आज मुनि श्रीहजारीमलजी म० संस्मरण लिखते हुए हर्ष होता है कि वे महान् सन्त थे. वस्तुत: भारत की आध्यात्मिक विद्या व योगविद्या की सतह तक ऐसे ही सन्त पहुँचे हैं. ऐसे सन्तों की योगिक प्रक्रियाओं के द्वारा ही भारत ऋषि, मुनि, त्यागी व महात्माओं का देश कहलाता है. मेरे मस्तिष्क व हृदय पर उनके पुण्य संस्मरण लिखते हुए जो भावोदय हुआ उनके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि वे महान् सन्त थे. सन्त हों तो ऐसे ही हों.

श्री पारसमल 'प्रसून'

## संस्मरण : विष अमृत हो गया

गौरा, लम्बा, पतला, शुभ्रवस्त्रावृत सुभग वदन, आँखों में विहंसती प्रभा, मुखपर मंद मृदु मुस्कान, वाणी में मधुरिमा का अक्षय कोष. इस कोष में छुपा था विष को अमृत में परिवर्तित करने वाला आत्मा—श्रीहजारीमलजी महाराज. एक शब्द में कहें तो सच्चे सन्त. सरलता की प्रतिमूर्ति. कारुण्य एवं वात्सल्य के साक्षात् सिन्धु. जिस किसी ने एक बार भी उनका पावन मनभावन सुदर्शन किया, वह भला क्या पूज्यप्रवर के मुख पर प्रतिक्षण खेलने वाली मंद मधुरिमा को कभी विस्मृत कर सकेगा ? कभी नहीं. पूज्य गुरुदेव की मधुर अमृतोपम वाणी तो आज भी शतसहस्र भावुक भक्तों के हृदय को उल्लसित कर रही है. गुरुदेव में स्फटिक मणि की भांति विमल ज्ञान के साथ गंगा-जल से भी विशेष निर्मल आचरण का कंचन-मणि का सुसंयोग था. उनका आदर्श जीवन आज भी हमारा पथप्रदर्शक है. उनके जीवन-चित्रपट के के दिव्य दृश्य कभी भी अदृश्य नहीं होंगे.

गुरुदेव क्षमा-शान्ति के सागर थे. उनके संपर्क में आकर अनेक पाषाण-हृदय भी द्रवित हो गये. उनके संस्मरण की एक झाँकी यहाँ प्रस्तुत है.

परम सौभाग्य से पूज्य गुरुदेव का सं० २००५ का वर्षावास हमारे छोटे-से ग्राम भोपालगढ़ में हुआ था. उस समय विद्यालय के प्रधान अध्यापक के रूप में श्री वटुक जी नियुक्त थे. वे स्वभाव के कठोर थे. जो बात एक बार कह दी उसको उसी रूप में करवा लेना उनके जीवन की उल्लेखनीय विशेषता थी. जब उनकी क्रोध से तनी हुई भृकुटि देखते तो हम विद्यार्थी तो क्या, ग्रामवासी भी भयभीत हो जाते थे.

प्रसंग का स्मरण नहीं है. एक बार उन्होंने किसी समस्या को लेकर विद्यालय-हॉल के सामने भूख हड़ताल कर दी. सारे ग्राम में खबर फैल गई, पर्याप्त प्रयत्न इस बात के लिये किये गये कि वे किसी प्रकार अपनी भूख हड़ताल स्थगित कर दें. पर सब प्रयत्न विफल सिद्ध हो चुके थे. दो दिन बीत गये थे. विद्यालय के इतिहास में यह एक प्रकार की अभूतपूर्व घटना थी. अध्यापक जी ने घोषित कर दिया था कि यह ब्राह्मण-शरीर तो अब प्राण तज कर ही उठेगा. स्थिति लाइलाज हो गई थी.

पूज्यप्रवर का ध्यान इस ओर आकर्षित हुए बिना न रहा. स्वामी जी ने अत्यंत स्नेहपूर्वक अध्यापक जी को एकांत में बुलाकर समझाया. कुछ ही मिनट के बाद स्वामी जी म० से वार्त्ता करके वे बाहर आये तो देखा—उनके चेहरे पर प्रसन्नता की कान्ति परिव्याप्त थी. वे वैर भूल गये. क्रोधी चेहरे पर शान्ति व प्रसन्नता की लहरें चमकने लगीं. उनके नेत्र पश्चात्ताप से साश्रु हो रहे थे. उनकी आँखों से गंगा-जमुना की अविरल धारा प्रवाहित हो रही थी. ग्रामवासियों के मन में जो आशंका व अशान्ति छाई हुई थी वह क्षण मात्र में ही मिट गई और स्वामी जी म० ने समग्र ग्रामवासियों की श्रद्धा प्राप्त की.

प्रेम व शान्ति का यह बोलता प्रत्यक्ष जादू था. प्यार के समक्ष क्रोध की पराजय थी. वातावरण में नया आनन्द और उल्लास था. मानवमेदिनी में सर्वत्र चर्चा थी कि इस अनोखी घटना ने तो चंडकौशिक व भगवान् महावीर की घटना का स्मरण करा दिया है.

फिर तो जब तक गुरुदेव विराजे वटुक जी प्रतिदिन मुनिश्री के प्रवचनों का लाभ लेते रहे. उन्होंने अनेक बार अनेकों से इस बात को दुहराया कि स्वामी जी मेरे जीवन के परम निर्माता हैं. मैं इनके उपकार को जीवन की आखरी घड़ी तक नहीं भूल सकता.

तो ऐसे थे हमारे परम पूज्य गुरुदेव श्रीहजारीमलजी म०. उनके पवित्र परिचय से विष भी अमृत में परिणत हो गया. उस दिव्य आत्मा को मैं अपनी श्रद्धा के पुष्प अर्पित कर अपने को कृतकृत्य अनुभव करता हूँ.

श्रीदेवेन्द्रमुनिजी, शास्त्री, साहित्यरत्न

## वे एक महापुरुष थे

फ्रांस के विश्व-विख्यात विद्वान् रोम्यां रोलां ने कहा—"महापुरुष ऊँचे शैल-शिखरों के समान होते हैं. हवा उन पर जोरों से प्रहार करती है, मेघ उनको ढँक देता है, परन्तु वहीं हम अधिक खुले तौर से व जोर से साँस ले सकते हैं." वस्तुत: महापुरुष की छत्रछाया में और उनके पावन पादपद्मों में बैठकर जो आनन्दानुभूति होती है वह अनुभवगम्य है. महापुरुष स्वयं कष्ट सहन करते हैं किन्तु आश्रित व्यक्ति को कभी कष्ट नहीं होने देते. जहाँ वे स्वयं के लिए 'वज्रादपि कठोर' होते हैं वहाँ दूसरों के लिए कुसुमादपि कोमल होते हैं. वे स्वयं विघ्नों और बाधाओं के वात्याचक्रों से विचलित नहीं होते परन्तु दुखियों के स्वल्प से करुण क्रन्दन से भी काँप जाते हैं. अनेकान्त की भाषा में कहा जाय तो महापुरुष का जीवन विविधताओं का सुन्दर संगम है. उसमें कोमलता है, कठोरता भी, सहिष्णुता भी. आवेग भी, निष्ठा भी, तर्क भी, अपेक्षा भी, उपेक्षा भी, राग भी, विराग भी, आचार भी, विचार भी और सरलता भी होती है.

यह एक शाश्वत सिद्धांत है कि महापुरुष बनने के लिये जीवन को निखारना और चमकाना होता है. तपे बिना कोई भी व्यक्ति ज्योति नहीं बनता और खपे बिना कोई भी व्यक्ति मोती नहीं बनता. परम-श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज इसी प्रकार के एक विशिष्ट महापुरुष थे. उनका जीवन गंगा की तरह निर्मल था, स्फटिक की तरह स्वच्छ था, संगीत की तरह सुखद था और उषा की तरह मोहक था.

सन् १९४२ के मई के द्वितीय सप्ताह में उस महापुरुष के दर्शनों का सौभाग्य सर्वप्रथम ब्यावर में प्राप्त हुआ. गेहुआँ वर्ण, लम्बा कद, एकहरा शरीर, उन्नत ललाट, पैनी नाक, उपनेत्र में से गोल-गोल चमकती हुई आँखें, सजग कर्ण, अधरों पर खेलती स्निग्ध मधुर-मुस्कान, विरलरूप में सुशोभित सिर पर बर्फ-सी धवल केशराशि—यह था उनका बाह्य व्यक्तित्व जिसे मैं अज्ञात प्रेरणावश टकटकी लगाये कुछ क्षणों तक निहारता रहा. मुझे अनुभव हुआ कि उनके प्रशस्त ललाट पर क्रोध और दुश्चिंताओं की लिखावट नहीं है, सीधी और सरल भृकुटियों में असहिष्णुता का कुंचन नहीं है. ऊँची व पैनी नासिका पर दम्भ का उतार-चढ़ाव नहीं है. अधरों पर निष्ठुरता की वक्रता नहीं है और न एवरेस्ट की तरह उनका व्यक्तित्व दुरूह है अपितु सरिता की सरसधारा के समान सहज ग्राह्य है जो अपने शीतल स्वच्छ शिखरों से जन-जन के मन को आह्लादित करता है. कवि की भाषा में—

**जिसके अधरों पर अगर, अमर मधुर मुस्कान,**
**उसके लिये जहान में, सब कुछ है आसान.**

भारत के अनेक मूर्द्धन्य मनीषी महापुरुषों को अत्यन्त सन्निकट से देखने का इन पंक्तियों के लेखक को अवसर प्राप्त हुआ है. इस आधार पर अधिकार की भाषा में कहा जा सकता है कि श्रीहजारीमलजी महाराज भी एक विशिष्ट महापुरुष थे. कारलाइल ने महापुरुष की परिभाषा करते हुए लिखा है कि—"किसी भी महापुरुष की महानता का पता लगाना है तो यह देखना चाहिये कि वह अपने छोटों के साथ कैसा बर्ताव करता है ?" प्रस्तुत कसौटी पर श्रीहजारीमल जी महाराज पूर्ण खरे उतरते थे.

भारत के विचारकों ने मस्तिष्क को महत्त्व नहीं दिया है अपितु यह कहा कि हृदयशून्य विकसित मस्तिष्क—अभिशाप है. श्रीहजारीमल जी महाराज बाल की खाल निकालनेवाले प्रकाण्ड पण्डित नहीं थे और न धुंआधार प्रवक्ता ही, तथापि उनका हृदय इतना विशाल था और मन इतना विराट् था कि आबाल वृद्ध सभी उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे. वे हृदय के राजा थे, मनके सम्राट् थे.

उस युग-पुरुष के जीवन में अनेकों गुण थे—सहृदयता, नियमबद्धता, परदुःखकातरता, सरलता सौजन्य-आदि. उनका जगमगाता व्यक्तित्व, वस्तुत: विभिन्न रंगों से रंजित एक कलामय चित्र की तरह रमणीय था. किसी को उच्च स्वर में वार्तालाप करते देखकर उनके रोंगटें खड़े हो जाते थे. वे कभी-कभी मधुमक्षिकाओं के दंश सदृश पीड़ा का अनुभव

करते थे. उस समय उनका अभिनय प्रेक्षणीय होता था. दुनिया इसे कायरता कह सकती है परन्तु विचारक उसे उनका बहुत बड़ा गुण मानते और स्वभाव की कोमलता कहते हैं. अपने स्वभाव की कोमलता के कारण वे संघर्षों से सदा दूर रहे और अंत तक जनप्रिय बने रहे. सन् १९५५ में जयपुर में संयुक्त वर्षावास था. उस वर्षावास के मधुर संस्मरण आज भी स्मृति-पटल पर चलचित्रों की भाँति आरहे हैं. पर उन सभी को वाक्यों की कड़ियों में पिरोना कठिन है. एक शब्द में कहा जाय तो उस महापुरुष में पुरानी पीढ़ियों की सब खूबियों के साथ ही नवीन विचार भी पर्याप्त मात्रा में थे. दुर्भाग्य से वे आज हमारे बीच में नहीं हैं पर उनका पावन चरित्र प्रकाशस्तम्भ की तरह सदा हमारा पथ-प्रदर्शन करता रहे. यही मंगल-कामना है.

मुनि श्रीरामप्रसादजी.

## पुण्याः स्मृतयः

न योऽभूद् मादृक्षैः परिचिततरोऽतीतसमये, न पूर्वं यस्यासीत्, प्रथिततरनामाऽप्यवगतम् !
हजारीमल्लाख्यं, मुनि-बहुल-भीनासर-भुवि मुनीन्द्रं तं नेत्रे निमिषमिह साक्षात्कृतवती[1] !!

—जिन हजारीमलजी महाराज का हमें पहले परिचय नहीं था, तथा प्रसिद्ध होने पर भी जिनका नाम हमने कभी नहीं सुना था, उन्हें भीनासर में-जहाँ बहुत से मुनि एकत्रित थे-हमारे अपलक नेत्रों ने देखा.

कचाः शुक्लाः शुक्ला हिम इव हिमावास-शिरसि, वपुः शुक्लं शुक्लं सित-पट धरत्वादविकलम् !
तथा शुक्लः शुक्लो मधुरतरहासश्च वदने, समा शुक्ला तस्यावरतति हि मूर्तिः स्मृतिपथे !!

—हिमालय पर पड़ी हिम के समान धवल उनके केश थे. उनकी गौर-देह श्वेत-परिधान के कारण और भी उज्ज्वल लगती थी. उनके चेहरे पर मधुरता-पूर्ण मुस्कान की धवलिमा थी. इस प्रकार उनकी शुक्लाति-शुक्ल मूर्ति हमें स्मरण हो रही है.

वयोभिर्दीक्षाब्दैर्जिन-वचन-शिक्षादि-सुगुणैः, महत्त्वं बिभ्राणः परमपि दधानो गुरुपदम् !
लघूनां साधूनामपि, सहज-मुद्रां तु कलयन्, कृते स व्याहार्षीद् हसितवदनः स्वागतमिति !!

—वे आयु काल और दीक्षा काल से बड़े थे. जिनागम की शिक्षाओं से परिपूर्ण थे तथा अन्य गुणों से भी महान् थे. गुरुत्व का उत्कृष्ट पद उन्हें प्राप्त था. फिर भी अपनी सहज मुद्रा अथवा स्वाभाविकता को बनाये रखते हुए वे छोटे मुनियों के लिए भी प्रसन्नवदन होकर स्वागत पद का प्रयोग करते थे.

न विद्वत्वं तेषां न च विभु-प्रभावः प्रभवताम्, पटुत्वं वा वाण्या लघु-समय-संगेन विदितम् !
तथापि व्याहृत्या हरति हि मनो मे मधुरता, तथा बालस्येवाऽऽहरति खलु तेषां सरलता !!

—उनके पाण्डित्य को, उनके बड़प्पन के व्यापक प्रभाव को तथा उनकी वाणी के कौशल को बहुत थोड़े समय साथ रहने के कारण हम न भी जान सके तो भी उनकी वचन-माधुरी बड़ी हृदयहारी प्रतीत होती थी तथा उनकी बाल-सुलभ सरलता मन को आकृष्ट करती थी.

मदीयैः स्वर्यातैर्गुरुभिरथ वाचस्पति-पदैः, पुरा तेषां प्रीतिः समजनि सुधासार-भरिता !
अहं स्मारं-स्मारं निज-मनसि तामेव नियतम्, पुरस्कर्तुकाव्यैरिममगुरुयत्नं विहितवान् !!

—मेरे स्वर्गीय गुरुदेव व्याख्यानवाचस्पति श्रीमदनलालजी महाराज से उनका अमृत-रस-वाही-स्नेह बहुत पहले हो गया था. उसी स्नेह को अपने मन में पुनःपुनः लाते हुए कुछ पंक्तियों द्वारा प्रकट करने का यह लघुतर प्रयत्न किया है.

---

१. नपुंसक लिंगे द्विवचने प्रयोगः

डा० सूरजनारायण जी,
भूतपूर्व सिविल सर्जन, अजमेर राज्य.

## नमन करो स्वीकार

भारत में ऋषियों की परम्परा न होती तो भारतीयों के पास अध्यात्मविद्या न होती तो भारतीय, अन्य देशों की तुलना में किस बात में महान् कहलाते ? आज अन्य देश भौतिक दृष्टि से अपना अस्तित्व अलग रखते हैं परन्तु अदृश्यशक्ति के अनदेखे सत्य, व दर्शन की गहरी गुत्थी और आत्मदृष्टि का जहाँ भी प्रसंग आता है—उन्हें भारतीय दर्शनों की दृष्टि प्राप्त करनी होती है. इस दृष्टि का उद्गम दुनिया से दूर रह कर सार्वभौम सत्य का साक्षा- त्कार करने वाले सन्त हैं.

अत: ऋषि परम्परा का, भारत ने सदैव ऋण स्वीकार किया है. ऋषि मुनियों की परार्थचिन्तनात्मक पावनी गंगा में भारत स्नान कर आत्मस्फूर्त रहा. आज भी सन्तसंस्कृति के प्रति हम भारतीय लोग आकर्षित और श्रद्धावान् हैं—इसीलिये कि सन्तों के अनुभूतिमूलक अमृत से हमारी आत्मा को परितृप्ति प्राप्त होती है.

मुझे चिकित्सा के माध्यम से जन-सेवा की दृष्टि अपने गुलाबी बचपन में महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ते-पढ़ते, प्राप्त हुई थी. अपने जन-सेवा-कार्य में जैनमुनियों की चिकित्सा का भी अनेक बार शुभ प्रसंग आया है. पूज्य स्वामी श्रीहजारीमलजी महाराज की चिकित्सा करने के प्रसंग में मैंने उनसे अनेक बार धर्म चर्चा भी की है.

मैंने अनुभव किया था—स्वामीजी के रक्ताणुओं में भी साधुता मिश्रित थी. भयंकर रोगाक्रमण की कष्टपूर्ण वेला में भी उनके धैर्य का बाँध फौलादी ही बना रहा.

जब-जब मुझे साधुओं का पावन जीवन-स्मरण आता है, तब-तब पूज्य श्रीहजारीमलजी महाराज की भव्य और सरल मूर्ति स्मृति के आँगन में साकार हो जाती है. मेरा हृदय उनकी, और उन जैसे पुरुषों की स्मृति आते ही श्रद्धापूरित हो जाता है. पूज्य मुनिश्री को मेरे भक्ति पूर्वक नमस्कार हैं वे विमलात्मा जहाँ भी हों, मेरे नमन स्वीकार करें !!

प्र० श्रीकस्तूरचन्द्रजी महाराज.

## संस्मरण और कृतज्ञता

सरल स्वभावी पूज्य मुनिराज श्रीहजारीमलजी म० के दर्शन का सौभाग्य अनेक बार मुझे प्राप्त हुआ है. जब-जब मैंने उनके दर्शन किये, उनके उदात्त, प्रेरक और कर्मठ जीवन से प्रेरणा ग्रहण करने में ब्यावर, जोधपुर, नागौर, भीनासर प्रभति नगर साक्षी हैं.

उनके स्नेह, औदार्य और सदाशयता आदि गुण मुझे आज तक याद आते हैं. जोधपुर वर्षावास के अन्तिम दिनों में नेत्र का ऑपरेशन कराकर मैं, सरदारपुरा में ठहरा हुआ था, स्वामीजी को क्या आवश्यकता थी कि वे मेरे पास, दीक्षा में बड़े होते हुये भी साता पृच्छा करने आते ? परन्तु यह उनके सहज औदार्य और निर्मल स्नेह का महत् उदाहरण है. सं० २०१८ में मन्दसौर मध्य प्रदेश वर्षावास था. सहसा उनके स्वर्गवासी होने के दुःखद समाचार सुनकर हृदय को आघात लगा. तभी मेरा मन शोक में डूबकर यह सोचने को विवश हुआ—'श्रमणसंघ में अब वृद्ध, अनुभवी, उदारचेता और समत्व का साधक सन्त कहाँ है ?"

उनका स्नेह सम्प्रदाय, प्रान्त, और वर्ग के घेरे में कभी आबद्ध नहीं हुआ था. उनका स्नेहतत्त्व धर्मनिष्ठ था. धर्म की चर्चा और धर्माचरण जहाँ जिसमें भी उन्होंने पाया—वे उन सभी के प्रति सहज ही द्रवित होते थे.

उनके जीवन के पावन सन्देश और उपदेश मेरे जीवन को प्रकाशित कर रहे हैं. मैं उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ. साथ ही उस दिव्य दिवंगत महान् आत्मा के चरणारविन्द में श्रद्धानत हूं.

◉

श्रीनैनसुख हजारीमलजी, बोथरा, अहमदनगर.

## संस्मरण और श्रद्धा

जैन संस्कृति व्यक्ति पूजा की अपेक्षा गुण पूजा में विश्वास रखती है. परम श्रद्धेय स्वामी जी महाराज भी निरन्तर तत्त्वचिन्तन सतत मनन, ज्ञानाराधन एवं आत्म गुण के रमण में निमग्न रहते हुये ध्येय सिद्धि करने में ही प्रयत्नशील रहते थे. भले ही आज वे अपने पार्थिव शरीर से हमारे मध्य नहीं रहे हों परन्तु उनकी जीवन-सुगन्ध आज भी हमें प्रेरणा दे रही है.

मेरे जीवन में उस विरल विभूति के दर्शन करने का सुअवसर संवत् २००९ में, स्वामीजी महाराज वर्षावास निमित कुचेरा (राजस्थान) क्षेत्र में विराजमान थे—तब आया था. प्रथम दर्शन में जब मैंने अपना परिचय दिया तब वे शान्तमूर्ति मेरी तरफ देखते रहे. मैं भी उनकी सरलता, शान्त मुखमुद्रा व भद्रता पर मुग्ध था. वे आलेखन करते रहे पश्चात् मधुर स्वर में कहने लगे 'मेरे गुरुवर्य के सांसारिकपक्ष के बोथरा परिवार में से तुम्हें देखकर गुरुदेव की स्मृति जागृत हो आती है. और उन्होंने एक प्रपत्र जो मेरे दादाजी श्रीछोटेमलजी बोथरा ने घोडनदी (पूना) से संवत् १९७२ में परम पूज्य गुरुदेव की सेवा में भेजा था. मेरे पिता श्रीहजारीमलजी बोथरा ने उनके आकस्मिक अवसान व व्यथितचित्तता, व्यग्र मन:स्थिति एवं कुटुम्ब पर आई हुई आपत्ति का उल्लेख करते हुए कुटुम्ब व परिजनों के साथ आत्मीय भाव से गुरु भक्ति के भाव का चित्र चित्रित किया था. मुझे पढ़ने को दिया मैंने पढ़कर अनुभव किया कि मेरे प्रति गुरुदेव का कितना अपनत्व पूर्णभाव है ? उस हृदयस्पर्शी प्रसंग का स्मरण करते ही आज मेरा हृदय गद्गद हो रहा है. उन्होंने जिस वात्सल्य भाव से मुझे अपनापन दिया था, वह जीवन की अविस्मरणीय वेला है.

भीनासर (राजस्थान) के बृहत् साधु-सम्मेलन के वक्त दर्शन का पुन: अवसर प्राप्त हुआ था. मैंने अपने जीवन को धन्य माना था. ऐसे महान् पवित्र आत्मा को मैं श्रद्धा के सुमन समर्पित करते हुये आज परम आनन्द की अनुभूति कर रहा हूँ.

◉

श्रीचम्पालालजी बांठिया.

## एक मधुर संस्मरण

उष्णताप्रधान मरुधरा का कुचेरा ग्राम ! चौमासे का मौसम ! अन्य प्रान्तों में जब आसमान से पानी की वर्षा होती है तब वहाँ शरीर से पसीने की धाराएँ बहती हैं. उन्हीं दिनों मैं कुचेरा गया था.

स्वर्गीय पूज्य श्रीगणेशीलालजी म० का और प्रवर्तक श्रीहजारीमलजी म० का संयुक्त चौमासा था. दोनों महान् सन्त एक ही मकान में ठहरे थे. ऊपर की मंजिल में पूज्यश्री और नीचे की मंजिल में प्रवर्तकजी थे.

जिन कमरों में हवा का नाम-निशान न था, उन्हीं में रात-दिन ज्ञानार्जन, ध्यान और स्वाध्याय में निमग्न रहते हुए प्रवर्त्तक मुनिश्री को देखकर विस्मय के साथ अनायास ही उनकी तपोनिष्ठा एवं सहिष्णुता के प्रति हृदय में श्रद्धाभाव जागृत हो उठा. हृदय ने कहा—'सच्चे सन्त का यही लक्षण है. ऐसी कसौटियों पर ही सन्त का जीवन कसा जाना चाहिए.'

किसी भी प्रकार के प्रदर्शन की भावना ने उन्हें स्पर्श तक नहीं किया था. वे अपने आप में जो कुछ भी थे, उससे अन्यथा प्रदर्शित करने की वृत्ति उनमें नहीं थी. सादगी, सरलता एवं शिशु की-सी शुचिता उनके जीवन की सर्वोपरि विशेषता थी, जिसने उनकी साधना में प्राणों का संचार कर दिया था.

यद्यपि मेरा उनके साथ विशेष वार्तालाप नहीं हुआ तथापि उनके उच्च व्यक्तित्व का कुछ ऐसा प्रभाव मेरे मन पर पड़ा कि वह विस्मृत नहीं किया जा सकता. आज भी वह भद्रात्मा मेरी कल्पना में जैसे सशरीर अंकित है.

श्रीगुलाबचन्द्रजी जैन, दिल्ली.

## *महामना मुनि श्रीहजारीमलजी*

सन् १९३७ के वर्षाकाल की बात है. जोधपुर से दिल्ली वापस आते हुए कुचेरा ग्राम (मारवाड़) में श्रीमधुकरजी म० तथा उनके गुरुतुल्य ज्येष्ठ-गुरुभाई वयोवृद्ध मुनिराज श्रीहजारीमलजी म० का परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य मिला.

प्रथम परिचय में ही आपकी सरलता, सज्जनता, साधुता और विद्याप्रेम की असाधारण छाप मेरे मन पर पड़ी. इस घटना को २६-२७ वर्ष हो गए, अब भी ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो यह घटना अभी घटी है. फिर तो अनेक बार जब-जब मेरा मारवाड़ जाना होता. तब-तब मैं प्राय: आपके दर्शन करने का मन में उत्साह रखता और फिर दर्शन करके ही लौटता ..!

आपके विद्याप्रेम और अपने साधुओं को विद्या-अध्ययन कराने और कलात्मक लेखन की प्रेरणा देने का प्रत्यक्ष प्रमाण तो उस समय मिला जब पंडित बेचरदासजी के द्वारा मुझे लगभग पाँच-सौ वर्ष पुरानी स्वर्णाक्षरों की चित्रांकित संस्कृत भाषा में एक पुस्तक 'कालकाचार्य की कथा' प्रदान की. इसके अन्तिम पृष्ठ पर अपने ज्येष्ठ-गुरुभ्राता मुनिराज श्रीव्रजलालजी के हाथ से सुन्दर हिन्दी भाषा के अक्षरों में स्नेहपूर्ण उपहार प्रदान करने के आशीष वचन अंकित कराये.

पुस्तक तो आज भी ऐसी मालूम होती है कि मानो अभी लिखकर तैयार की गई है. पुरातत्त्ववेत्ता और भारतीय तथा विदेशी विद्वानों ने जब इस ग्रंथ को देखा तब यही कहा कि ऐसी पुस्तक गुजरात और राजस्थान के प्राचीन जैन-भण्डारों में भी देखने में कम आती है, यह पुस्तक भारतीय एवं जैन-कला का उच्चतम प्रतीक है.

इसके थोड़े समय बाद जब मैं अपने मित्र फ्रांसीसी प्रोफेसर ओलीवर लुकुम्ब के साथ आबू पहाड़ के प्राचीन जैनमंदिरों को देखकर लौट रहा था तो मैं पंडित बेचरदासजी से मिलने व्यावर जैन-गुरुकुल गया. वहाँ भी मुनिश्री के दर्शन करने और वार्तालाप करने का अवसर मिला. आपसे धर्म-कार्यों के संबंध में अनेकों बार पत्र व्यवहार करने का भी गौरव प्राप्त हुआ. इस लम्बी अवधि में आप से कितनी ही बार कई स्थानों में (गुलाबपुरा, अजमेर आदि) में भेंट करने का भी अवसर मिला.

यह आप ही की कृपा का परिणाम है कि आज मुनि श्रीमिश्रीमलजी 'मधुकर' प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी भाषा के योग्य विद्वान् और कवि बन सके हैं। आप का हृदय अति कोमल, मधुर, निष्कपट और वात्सल्यमय था. सम्प्रदाय में रहते हुए भी वे साम्प्रदायिक संकीर्णता से कोसों दूर थे. उम्र में बहुत अधिक, कद लम्बा और वर्ण गौर था. व्यवहार में ऊँच-नीच या छोटे-बड़े का भेद किंचित् भी देखने में नहीं आता था. वे पुराने जमाने के मुनिराज थे किन्तु विचारों में आज के नवयुवक साधुओं से पीछे न थे. आपके आचार-व्यवहार में दृढ़ता और प्राणिमात्र के प्रति दया के भाव भरे थे. आडम्बर और ढोंग से दूर थे. वे मारवाड़ के प्रसिद्ध जैन-मुनिराज ऋषि श्रीजयमलजी महाराज की परंपरा के उज्ज्वल नक्षत्र थे. ऐसे महान् सन्त के प्रति मैं भी अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करके अपने आपको कृतार्थ समझता हूँ साथ ही प्रार्थना करता हूँ कि मुनिराज श्री व्रजलालजी और श्रीमिश्रीमलजी 'मधुकर' आपके चरणचिह्नों पर चलकर वीरशासन की सेवा करने में आपही की तरह सामर्थ्यवान् बनें.

श्री धीरजलाल के० तुरखिया

## जिनशासन की विमल विभूति-सन्त

अवसर्पिणिकाल में भरत क्षेत्र में अनेक विभूतियाँ जिनशासन में हो चुकी हैं. महान् यशस्वी आचार्य श्रीजयमलजी महाराज की सम्प्रदाय में मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज भी एक विभूति थे.

आप बड़े ही शान्त, दान्त, गंभीर और सौम्य प्रकृति के भद्रपरिणामी सन्त थे. विहार क्षेत्र विशेषतः मरुभूमि ही आपका था. आप जैसे सन्तों के योग से शुष्क मरुभूमि भी धर्म-उद्यान से सदा हरी-भरी थी.

आपश्री से मुझे सर्वप्रथम ब्यावर गुरुकुल के अधिष्ठाता के नाते, साधुसम्मेलन के मंत्री के नाते, और अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फरेन्स के मंत्री के नाते व श्रावकसंघ के विनीत सेवक के नाते—अनेक वार दर्शन करने मिलने और निकट परिचय में आने व सत्संग करने के अवसर मिले. हर समय आपको शान्त चित्त और समत्वभाव में प्रतिष्ठित देखकर हृदय उल्लसित होजाता था.

आपके शिष्य पं० मुनि श्रीमिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' को पूज्य श्रीजयमलजी महाराज के पाटानुपाट के लिए नागौर में आचार्य पद दिया गया था तव भी आप समरसी भाव में ही पाये गये. अहंकार का स्पर्श न हो पाया था.

और तो क्या दुःख, दर्द में भी आपमें वही समरसी भाव पाया जाता था. किसी की आलोचना होती हो तो वैसे प्रसंग से सदैव दूर ही रहा करते थे. उनका विरोधी कोई था ही नहीं, अगर किसी विघ्न-संतोषी ने कभी विरोध भी करना चाहा तव भी आप अपने समत्वमूलक भाव से उपरत नहीं हुए, दर्शनार्थी के द्वारा सुखशान्ति की पृच्छा करने पर आपके श्रीमुख से 'आनन्द-मंगल' की ही प्रति-ध्वनि सुनी जाती थी.

किंवहुना, कभी क्रोधादि कषायों ने आपको स्पर्श ही नहीं किया था. आपके सरल विमल आचार और विचारों की सादगी देखकर निकटभव्यता के लक्षण स्पष्ट ही परिलक्षित होते थे. चौथे आरे की वानगी रूप सन्तश्रीजी थे. समता रस के समुद्रवाले किसी के दिल को न दुखाने में सदा जागृत, दयानिधि, परम गुणग्राहक, सौम्यमूर्ति, भद्रपरिणामी मुनि श्री हजारीमलजी म० को जिसने भी एक वार देखा होगा वह कभी भी उनके जीवनोत्कर्षमूलक गुणों को और स्वभाव को विस्मृत नहीं कर सकता है. ऐसे संसार में आदर्श दिव्य पुरुष को मेरे कोटिशः भाववन्दन हैं.

◉

पं० रघुवीरसहायजी शर्मा, आयुर्वेदाचार्य.

## पावन संस्मरण

साधुपुरुष, संसार के उद्धारकर्ता हैं क्योंकि वे 'शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः' के सिद्धान्तानुसार सर्वभूतात्मैक्य का अनुभव करते हैं. और वीतराग होकर कंचन और काष्ठ में समत्व साधकर अपनी इच्छाओं की आहुति देते हुए अपने जीवन को आत्मसाधना, ज्ञानोपदेश, व जनकल्याण के लिये अर्पित कर देते हैं. काम, क्रोध इत्यादि निराकार प्रबल शत्रुओं को पराजित कर अपने जीवन को तपःपूत बनाना ही अपने जीवन का परम ध्येय बनाकर चलते हैं.

काम, क्रोध, लोभ, मोह के गर्त में फँसे हुए तथा अन्य जघन्य कार्यों में रत-व्यक्तियों का उद्धार सन्तों के सदुपदेशों से हुआ है. और वर्तमान में भी कितने ही कुमार्गगामी, विलासी तथा कंचनकामिनी के पीछे अपने धर्म-कर्म व जीवन के उद्देश्य को भूल जानेवाले व्यक्तियों को अपने सदुपदेशों से मोड़कर सन्त-जन ही उचित मार्ग पर लाते हैं.

श्वेताम्बर. स्थानकवासी जैन-सन्तों में आचार्य श्रीजयमलजी महाराज की सम्प्रदाय के समुज्ज्वल रत्न पूज्यपाद श्रीहजारीमलजी महाराज एक उच्चकोटि के महान् योगी, तपोधन, अध्यात्मनिष्ठ सरल एवम् सौम्य, ज्ञानवृद्ध तथा

आयुवृद्ध महात्मा थे. सन् १९४३ में सेठ इन्द्रचन्द्रजी गेलड़ा ने अपनी मातेश्वरी की स्मृति में 'श्रीजिनेश्वर' धर्मार्थ औषधालय' की स्थापना की और औषधालय के द्वारा जन-सेवा करने का प्रारम्भ से ही मुझे अवसर मिला. इस सुयोग के कारण ही स्वामीजी महाराज अपने गुरुभाई परम सेवाभावी श्रीव्रजलालजी महाराज तथा पंडित-प्रवर श्रीमिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' के साथ मुनित्रयी के रूप में कुचेरा पधारे. तभी महाराजश्री के दर्शन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ.

लम्बा कद, गोधूमवर्ण, प्रशस्त विशाल ललाट, आजानुबाहु, शांत एवं मुनि जनोचित कांतिमयी मुखाकृति सर्व साधारण के हृदयों में शान्ति का संचार करती थी,

साधारण व्यक्तियों को बाल्यकाल में माता-पिता एवं निकटतम सम्बन्धियों का स्नेह अपनी ओर खींचता है. विविध प्रकार की बालसुलभ क्रीड़ाएँ तथा आमोद-प्रमोद व प्रलोभन सामने आते हैं. काल गति करता जाता है, यौवन का आगमन हो जाता है. व्यक्ति सुखों की कठोर शृंखलाओं में बँध जाता है. किंतु सन्तहृदय आत्मा एक विशिष्ट आदर्श लेकर उपस्थित होता है.

महामहिम मुनिराज को सांसरिक भोग तथा सुख अपनी तरफ आकृष्ट नहीं कर सके. आपने भौतिक वैभवों को तृणवत् त्याग दिया था और दुर्दमनीय चंचल मन की गति को मोड़ कर अध्यात्म-साधना की ओर प्रेरित किया था. इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आपने केवल ११ वर्ष की सुकोमल वय में ही भागवती दीक्षा धारण की थी. दीक्षा लेने के उपरान्त ३२ वर्ष तक गुरुचरणों की सेवा में रत रहते हुए मुनिवर ने संस्कृत, प्राकृत गुजराती, हिन्दी, व्रज एवं राजस्थानी भाषा का अध्ययन किया. जैन-धर्म के अनेकों ग्रंथों को हृदयंगम किया और गुरुवर के साथ मरुभूमि के विविध स्थानों पर भ्रमण करते हुए अपने जीवन को तपःपूत बनाया.

गुरुवर का शरीर आत्मलीन होने के बाद संवत् १९८६ से स्वामीजी का स्वतंत्र विचरण प्रारंभ हुआ. अपने सरल सुबोध उपदेशों की अमृतमयी वाणी की अजस्र धारा से जन-साधारण के हृदयों में अध्यात्म और नैतिकता का संचार किया. लगभग ६४ वर्ष तक मुनिवर ने संयमपूर्ण तथा कठिन साधनायुक्त साधु-जीवन विताया.

स्वामीजी बड़े ही शान्त सरल, और उच्चकोटि के भद्र सन्त थे. मुनिवर का जीवन सर्वजन प्रशंसनीय रहा. आप हृदय के इतने विमल और सरल थे कि संसार से पद्मपत्रवत् पूर्ण निर्लिप्त तथा पूर्ण विरक्त रहते हुये भी संपर्क में आनेवाले साधारण तथा विशेष सभी व्यक्तियों से उनकी सुख सुविधा के विषय में साधारणत: संतोषजनक वार्तालाप कर, सबको शान्ति का उपदेश दिया करते थे.

आपका स्नेह व सदुपदेश केवल जैन-जगत् तक ही सीमित नहीं था. जैन व जैनेतर सभी के साथ आप सरल व मधुर बर्ताव के अभ्यासी थे. उन्होंने जहाँ भी चातुर्मास किया वहाँ के वातावरण में सर्वत्र शान्ति तथा प्रेम का साम्राज्य स्थापित हो जाता था. वर्षाॠतु में तप्त भूमि पर मेघ उन्मुक्त रूप से बरस कर उसे हरी-भरी तथा शस्य-श्यामला बना देता है, वैसे ही दुःख क्लेश, द्वेष, वैमस्य, से दुखी हुए सर्वसाधारण के हृदय, स्वामीजी के उपदेशों की शीतल धारा से शान्ति प्राप्त करते थे. विविध धर्मावलम्बी जनता दूर-दूर से आकर्षित होकर स्वामीजी के दर्शनार्थ और सदुपदेशों को श्रवण करने के लिये उत्सुकतापूर्वक आया करती थी. जहाँ-जहाँ भी मुनिवर चातुर्मास के लिये या विचरण काल में पधारे, वहाँ सबने उनको अपना ही माना और साम्प्रदायिक भेदभाव से दूर रहकर स्वामीजी के चरणों के दर्शन प्राप्त कर अपने को कृतार्थ किया. उनका अपने गुरु-भाइयों के प्रति इतना स्नेह था कि आजतक बहुत से लोग यह भी नहीं जान पाये कि ये गुरुभाई हैं या गुरुशिष्य. दोनों गुरुभाइयों ने भी आपको गुरु के समान ही समझा.

पिछले पाँच-सात वर्षों से मुनिराज को हृदय-व्याधि का कष्ट विशेष रूप से रहा करता था. चिकित्सकों की यह राय थी कि स्वामीजी को अब विशेष परिभ्रमण छोड़कर एक स्थान पर विराजमान हो जाना चाहिये. श्रावकों की भी अनेक बार यही विनती रही. परन्तु स्वामीजी ने अपने उपदेशों से जनता को वंचित रखना कभी उचित नहीं समझा.

आपने जीवन को पंगु बनाकर एक स्थान पर रहने की अपेक्षा विचरणशील जीवन ही पसंद किया. वे कहते थे कि 'रमता जोगी और बहता पानी पवित्र रहता है'.

स्वामीजी का अन्तिम चातुर्मास संवत् २०१८ कार्तिक शुक्ला १४ को कुचेरा में सानन्द सम्पन्न हुआ था. अस्वस्थतावश वर्षावास सम्पन्न हो जाने पर भी कुछ अधिक समय तक विराजना हुआ था. स्वास्थ्य कुछ ठीक होने पर खजवाना की तरफ विहार किया. महाराजश्री जब खजनाना विराज रहे थे तब वहाँ के श्रावकों ने कुछ अधिक दिन तक अपने यहाँ विराजने की प्रार्थना की. स्वामीजी ने श्रावकों से कहा था—'मुझे तो नोखा जाना है'. कौन जाने नोखा जाने की यह बात स्वामीजी का भविष्य ज्ञान था या अकस्मात् यूं ही यह शब्द स्वामीजी महाराज के श्रीमुख से निकल गये थे. वे नोखा पहुँच कर नोखा के ही हो गये.

मेड़ता तहसील में 'नोखा चांदावतों' का एक सुन्दर ग्राम है. मद्रास नगर के ख्यातनामा सेठ श्रीमान मोहनमलजी चोरड़िया की यह जन्मभूमि है. यहाँ विशाल चोरड़िया परिवार निवास करता है. यहाँ के सभी श्रावक स्वामी जी म० के विशेष भक्त हैं. भक्तों की भावना पूर्ति के लिये ही स्वामी जी, संभव है, नोखा पधारे थे. नोखा में बड़े आनन्द पूर्वक विराजमान थे. धर्मध्यान तथा तपस्या इत्यादि चल रही थी. परन्तु—

अघटितघटितं घटयति, सुघटितघटितानि दुर्घटीकुरुते ।
विधिरेव तान्विघटयति, यान्नरो नैव चिन्तयति .

सुगमता से सम्पन्न होने वाले कार्य कठिनता से सम्पन्न हो पाते हैं. अनहोनी घटनायें सामने उपस्थित हो जाती हैं. विधि-विधान कुछ ऐसा विचित्र है कि उन घटनाओं का हम सबको सामना करना पड़ता है, जिनके बारे में मनुष्य कभी सोच भी नहीं पाता है. सं० २०१८ चैत्रकृष्णा दशमी की रात्रि को उन्होंने अत्यन्त शान्तभाव से समाधिमरण किया. उनके देहोत्सर्ग के थोड़े ही क्षणों में शोक-समाचार चारों ओर गृहस्थों ने प्रसारित किये. जोधपुर, अजमेर ब्यावर, पाली, नागौर, कुचेरा एवं सुदूर प्रदेशों में जैन जनता को तार-फोन आदि किये गये. समीपस्थ ग्रामों के निवासी स्वामीजी के अन्तिम दर्शन करने उमड़ पड़े. स्वामीजी के पार्थिव शरीर को नये परिधान पहनाये गये. पद्मासन से उनके शरीर को स्थापित किया गया. मैंने देखा कि उनका मृत शरीर भी तपःत्यागमय जीवन के प्रभाव से ऐसा लग रहा था जैसे वे ध्यानमुद्रा में ही बैठे हों ! उनके शरीर को रजत शिविका पर विराजित किया गया. सहस्रों की संख्या में नर-नारी अपने गुरुवर की शिविका के साथ दुखी व साश्रुनयनों से आगे बढ़ रहे थे. जनसमूह धीरे-धीरे जैनधर्म की जय के नारे लगाता हुआ एक सरोवर के समीप पहुँचा. ज्ञानी जनों की बात को तो ज्ञानी ही जानें, परन्तु मैंने देखा कि उपस्थित जनसमूह साश्रु-नयनों से उनके अन्तिम अग्निसंस्कार को देख रहा था.

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ?

यह संसार परिवर्तनशील है, जिसने जन्म लिया है उसकी एक दिन मृत्यु भी अवश्यंभावी है. व्यक्ति आता है और चला जाता है. परन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो जाने के बाद भी जन-जन के हृदयों पर अपने व्यक्तित्व की ऐसी गहरी छाप छोड़ जाते हैं जिससे वह चिरस्मरणीय बन जाती है. अस्तु शरीर त्याग जाने पर भी वे अमर रहेंगे. स्वामीजी म० की पवित्र आत्मा जहाँ भी हो, मैं अपनी—उस महान् आत्मा को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ.

◐

श्रीलालचन्दजी पीतलिया.

## मेरे मनोदेवता के प्रति

कराल काल की करतूतों का अन्त कहाँ ? देखते-देखते वह हमारे श्रद्धास्पद और स्नेहास्पद जनों को उठा ले जाता है. विवश आँखें बरसना शुरु कर देती हैं. बरसती हैं. बरसती रहती हैं. मन का वह श्रद्धाभाजन लौटकर नहीं आता है.

आँखें कितनी ही बरसें, हृदय कितना ही पसीजे, मन कितना ही भीगे, पर काल की भयंकर आँखें कभी नहीं भीगतीं. उस दिन सुना पूज्य मुनिमना मरुधरा मंत्री श्रीहजारीमलजी महाराज काल की आंखों आ गये, तो विश्वास नहीं हुआ था. परन्तु अविश्वास का महल जल्दी ही ढह गया.

और फिर मैं सोचने लगा—"उनके स्वर्गवास से मरुधरा सूनी हो गई. क्योंकि मरुभूमि में वे आध्यात्मिक भावों के केन्द्र-स्थल थे. मरुभूमि का हर श्रद्धावादी उनमें अपनी श्रद्धा अर्पित करके स्वयं को भवभ्रमण से मुक्त अनुभव करता था.

मेरी जिन्दगी का वह सुनहरा दिन था, जिस दिन (सं० २०१५) कृपालु गुरुदेव अपनी पद-रज से मेरे गांव सिरयारी (राणावास) को पावन करने पधारे थे. मैंने इससे पहले उनके कभी दर्शन नहीं किये थे. दर्शन करते ही मन स्वतः ही उनके प्रति झुक गया था. सिरयारी का प्रत्येक व्यक्ति उनका भाषण सुनकर सदा के लिये उनके प्रति आस्थावान् हो गया था. उनके व्याख्यान की सर्वोपरि विशेषता थी—'मधुरता' और 'सरलता'. धर्मजागरण और ज्ञानार्जन की वे जिन भावों में भीगकर प्रेरणा प्रदान करते, उन भावों को सुनकर अपने हृदय-कक्ष में धर्मनिष्ठा और ज्ञान की अखण्ड लौ प्रज्वलित करने की इच्छा वलवती हो उठती थी.

उनका जन्म टाडगढ़ (मेवाड़) के समीप डांसरिया ग्राम में हुआ था. यह गांव पर्वतों के बीच बसा हुआ है. इस गांव में जन साधारण में भी पर्याप्त स्नेह और सद्भाव है. यह आन-शान पर प्राण देने वाले मेवाड़ की अपनी निजी विशेषता है. यही कारण है कि स्वामीजी म० के स्वभाव को उसने अत्यन्त करुणामय बना दिया था.

उनके पुण्य दर्शन करके मेरे मन में इस कामना ने जन्म ले लिया था कि कुछ समय तक इस आत्मा के चरणों में रहूं. पर दुर्दैव को वह स्वीकार न था. उसने मेरे मनोदेवता को छीन लिया.

मेरा मन उनके प्रथम दर्शन से ही झुक गया था. आज भी मेरा मन श्रद्धा से उनके प्रति झुका जा रहा है.

⊙

उपाध्याय श्रीहस्तीमलजी म०

## कबहुं न बिसरुं !

श्रमण-संस्कृति का मूल, समता पर अवलम्बित है. क्षणभंगुर-भुक्ति-पथ से मन मोड़कर, अटल-सुखद-निर्मल-मुक्ति की ओर, सहज-सरल, सात्विक गति से बढ़ना एवं इसके अवरोधक अज्ञान और मोह को, वायु-प्रेरित-सघन-घन की तरह दूर करना ही, इस संस्कृति का पवित्रतम लक्ष्य माना गया है जो समभाव से ही सिद्ध हो सकता हैं. स्वामी श्री हजारी-मलजी म० वस्तुतः श्रमण-संस्कृति एवं समत्व के एक मूर्तिमान्-सजीव प्रतीक थे.

उनकी सहज-सरलता, भद्रता, सहनशीलता, आत्मीयता, समता और सहृदयता आज भी जन-मानस में सम्मान पा रही है और उनकी सौम्याकृति नयनों में नाच रही है. अतः गुणमय शरीर से आज भी स्वामीजी हमारे सामने हैं और आगे भी रहेंगे.

स्वर्गवास के कुछ मास पूर्व ही उनके पवित्र-दर्शन और सुखद-सहवास का सुअवसर प्राप्त हुआ था. निकट से देखा तो पाया कि वे मान, सम्मान और महिमा पूजा की कामना से सर्वथा परे थे. स्वामीजी के जीवन में 'समयाए समणो होइ' इस सूत्र का साक्षात्कार होता था और 'समो निंदापसंसासु' का अन्तर्नाद गूंजता रहता था. उनके निश्चल मन में पद की कोई कामना नहीं थी, भीनासर सम्मेलन में मंत्रीपद से सुशोभित होने पर भी उनमें गर्वातिरेक नहीं दिखाई दिया. सचमुच श्रमण-जीवन का ऐसा ही पुनीत आदर्श संसार को शान्ति का पाठ दिखाने में सफल हो सकता है. इस तरह आपका श्रमण-जीवन, उस विराट्-सत्य का एक खुला पृष्ठ है जो सदा सबके लिए परमोपयोगी सिद्ध हो सकता है.

पूर्व परम्परा से उनका हमारा निकटतम सम्बन्ध रहा है. जयमल्लजी म० और पूज्य कुशलोजीम० परस्पर गुरु भाई थे और उन दोनों में प्रगाढ़ प्रेम और असाधारण बन्धुभाव था. आप पूज्य आचार्य श्रीजयमल्लजी म० की सप्तम पीढ़ी में थे और हम कुशलोजी म० की सप्तम पीढ़ी में हैं.

वे गुणागार थे. उनके किन गुणों का वर्णन किया जाय! यहाँ तो 'कबहूं न विसरुं हो चितारुं नहीं' का संगीत गूंज रहा है.

# हृदय की श्रद्धा हाथों में

श्रद्धा मेरे हृदय में है ! श्रद्धा को हाथों से निकाल कर कैसे बता सकती हूँ—गुरुवर ! आपकी दृष्टि में, आपके प्रति श्रद्धा रखने वाला और अश्रद्धावान दोनों ही समान थे. आपको जीवन में यह नापने-जोखने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई थी कि मुझमें किसकी कितनी श्रद्धा है ! तथापि मैं, आपके प्रति कितनी श्रद्धा रखती आई हूँ—यह हाथ पर रखकर तो नहीं पर हाथ से लिखकर जतानी पड़ रही है ! पड़ ही क्यों रही है—यह मेरा परम पुनीत कर्त्तव्य है ! आपको नहीं समाजस्थों को वताने-जताने की आवश्यकता है. मैं उन्हीं को वता-जता रही हूँ फिर भी हृदय में उफनती श्रद्धा हाथों से उठाकर वताने में असमर्थ हूँ !

मेरी श्रद्धा जितनी गहरी या उथली है—मेरी श्रद्धा की उतनी ही गहराई और जितना उथलापन है, उसका उतना ही मूल्यांकन कर, वन्दना के सामूहिक उठते स्वरों में, एक स्वर मेरा भी—अपनी जानकर—मिला लेना ! क्योंकि यह मेरा लोक व्यवहार गत श्रद्धार्पण है !

श्रद्धा हृदय की वस्तु है ! उसका स्थान हृदय ही है ! यह हाथों में निथार कर नहीं निकाली जाती. श्रद्धा वाँटी भी नहीं जाती! श्रद्धा कृपण की तरह हृदय में संजोकर रखने से हृदयान्धकार मिटता है! मैं, हृदय का अन्धकार मिटाना चाहती हूँ ! श्रद्धाप्रदर्शन से हृदय-प्रकाश, प्रस्थान कर जाता है! अन्धकार हृदय के अन्दर प्रवेश पाता

है ! मैं श्रद्धा देकर भी हृदय श्रद्धा से शून्य करना नहीं चाहती ! मेरी श्रद्धा के श्रद्धेय सब के श्रद्धेय बन गये—यह मेरा अचल-अखण्ड अमर सौभाग्य है !

—विदुषी महासती श्रीउमरावकुंरजी

## युगपुरुष : श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज

युगपुरुष अपने युग की चेतना का प्रतिनिधि होता है. उसके चिन्तन में युग का चिन्तन चलता है, उसकी वाणी में युग की वाणी मुखरित होती है और उसके कर्म में युग का कर्म प्रारम्भ होता है. युग-पुरुष का जीवन जन-जन के जीवन में प्रेरणा, स्फूर्ति और चेतना भर देता है.

श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज अपने युग की एक विमल विभूति थे. वे क्या थे ? विचार में गम्भीर, आचार में प्रखर और वाणी में मधुर ! उनका पावन और पवित्र जीवन, विचार और आचार का सुन्दर संगमस्थल था. स्वामीजी म० अपने सिद्धान्त में अडिग और अडोल थे. व्यवहार में मृदु और मधुर होने पर भी वे किसी के प्रभाव में नहीं आते थे. प्रकृति से भावुक एवं भावना-शील होते हुए भी व्यवहार में उनकी चतुरता परिलक्षित होती थी. दृष्टिकोण उनका इतना विशाल था कि उसमें सबको समाहित होने का सहज ही अवकाश मिल जाता था. उस पावन व्यक्तित्व के प्रति मैं अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ.

प्र० श्रीपृथ्वीचन्द्रजी म०

## श्रद्धापुष्प

स्वामीजी महाराज का जीवन सरलता, सरसता और आत्मसाधना से परिपूर्ण था. उनका जीवन आज भी मेरे दृष्टि-पटल पर पूर्णतः अंकित है.

जहाँ तक मैं स्वामीजी महाराज के जीवन--पहलुओं को देखभाल पाया हूँ—उसके आधार पर कह सकता हूँ कि उनके मन में वटुव्रज-सी सरलता, वचन में मिश्री-सी मधुरता और तन में मधुकर-सी स्फूर्ति साकार थी और थी साधना के पथ पर आगे बढ़ने में वज्र-सी कठोरता.

सौम्याकृति से सदा सर्वजनहितकर सोमरस की बूंदें टपका करती थीं. उनका नाम 'हजारी' वस्तुतः सार्थक था. वह नाम आज भी हजारों अधरों से उच्चरित होकर कर्ण-कुहरों में गूंज रहा है. उस अलौकिक ऋजु पुरुष की छाप मेरे हृदय पर अनंतकाल के लिए अंकित रहेगी !

प्र० मुनि श्रीपन्नालालजी महाराज

## अर्पित श्रद्धा-पुष्प

अवनी पर चन्दन शीतल है. चन्दन से चन्द्र की चांदनी शीतल है ! चन्द्र की चांदनी से सन्त शीतल है ! पशुओं से मनुष्य श्रेष्ठ है ! साधारण मनुष्य से विद्वान् श्रेष्ठ है ! विद्वान् की विद्वत्ता से सन्त का मंगल-आचरण श्रेष्ठ है ! हर तरह से सन्त सर्वश्रेष्ठ है ! उत्तम है ! सन्त का सोचना, बोलना और करना यह सब देव-कोटि का है ! क्योंकि वह समाज से लेता कम और देता अधिक है. देने वाला देव है. जैन दृष्टि से सन्त के शुभाचरण की तुलना में इन्द्रादि देवों की समृद्धि और पद फीका है. क्योंकि सन्त का कण-कण ज्ञान दर्शन और चारित्र में सरावोर होता है.

रत्नत्रय की साधना के लिये साधुजीवन उत्तम माना गया है. क्योंकि वह व्यक्ति में केन्द्रित न होकर समष्टि में व्याप्त होता है. उसी के हित में रत रहता है. मंगल आचरण केवल सन्तों के जिम्मे ही हो और सन्तत्ववृत्ति स्वीकार किये विना वह सम्भव नहीं है—ऐसा नहीं है. जैनधर्म में उसके लिए दो पथ निर्धारित हैं. सन्तवृत्ति और गृही (श्रावक) वृत्ति. किन्तु हमें स्वीकार करना होगा—यह सब सद्‌विचारों और सुसंस्कारों के विना सम्भव नहीं है.

मेरा सौभाग्य है कि सन्त-समागम की अभिरुचि मुझे पूर्वजों से प्राप्त हुई है. उसके फल-स्वरूप ही मैं सन्तों की सेवा में समय-समय पर पहुँचता रहा हूँ और सन्तवचनों का लाभ उठाता रहा हूँ. अपने जीवन में कुछ सफलता के दर्शन किये हैं तो वह साधुकृपा का ही सुफल है. मेरे जीवन पर दो सन्तों का विशेष और चामत्कारिक प्रभाव है. एक पूज्य श्री शोभाचन्द्रजी म० तथा दूसरे जन-जन पूज्य स्वामी श्रीहजारीमलजी म०. इनके अतिरिक्त भी मैं अनेक सन्तों के सम्पर्क में आया हूँ.

स्वामीजी म० में यह विशेषता थी कि वे स्वभाव से अत्यन्त सरल होने के साथ-साथ अत्यन्त उपशांतकषाय थे. स्वामीजी म० के प्रत्येक व्यवहार में शीतलता शान्ति एवं सरलता ही अभिव्यक्त होती थी. उन्हीं की कृपा का फल है कि मुनि मिश्रीमलजी म० 'मधुकर' जैसे एक विद्वान् और अभिमान के गरल से रहित महान् सन्त की उपलब्धि समाज को हुई है. यही कारण है कि वे जनता के विशेष श्रद्धा और आदर के पात्र बने हैं.

वर्तमान युग की सर्वाधिक आवश्यकता साम्प्रदायिकता के उन्मूलन की है. परस्पर प्रेम का प्रचार तथा स्याद्वाद के महान् सिद्धान्त द्वारा भेदभाव को मिटाकर समन्वय की चेष्टा की जाय. ऐसा न होने से धर्म को गहरा धक्का लगने की सम्भावना हो रही है और समय तथा शक्ति नष्ट हो रही है. जहाँ तक मेरी स्मृति काम कर रही है, श्रीहजारीमल जी म० भी मेरे इन विचारों को पसन्द करते थे और उनका व्यवहार भी इसीके अनुसार था. इन्हीं विचारों का पूर्ण प्रतिबिम्ब, मैं मुनि श्रीमिश्रीमलजी म० 'मधुकर' में देख रहा हूँ. इस विचारधारा का अधिकाधिक प्रचार हो तो समाज बहुत लाभान्वित हो सकता है.

अस्तु, उस पूज्य पुरुष के प्रति मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ यह कामना करता हूँ कि स्वामीजी म० के जीवन व उपदेशों और विचारों के अनुरूप ही अपना जीवन बनाऊँ.

स्वामीजी म० की पवित्र स्मृति में मेरी श्रद्धा के ये पुष्प सादर अर्पित हैं.

मेहता रणजीतमल, भूतपूर्व जज हाईकोर्ट, जोधपुर.

## श्रद्धासुमन-समर्पण

श्रद्धेय दिवंगत श्रीहजारीमल जी महाराज का 'स्मृतिग्रंथ' प्रकाशित होने जा रहा है. इस अवसर पर मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि के रूप में दो शब्द निवेदन करना अपना महान् सौभाग्य समझता हूँ.

चाहे वे किसी भी धर्म के हों, सन्त संसार में श्रेष्ठ हैं. जैन या अजैन सभी सन्त पुरुषों का जीवनस्तर, उनका आत्मिक ज्ञान-ध्यान, तथा दैनिक कार्यक्रम—एक ऐसे निर्मल अलौकिक स्तर पर चलता रहता है कि मेरी मान्यता है कि उनके जीवन को ठीक-ठीक आंकना मुझ जैसे साधारण व्यक्तियों के लिये वैसा ही है जैसे आकाश के सितारों को भूतल पर अवतरित करने का प्रयास.

फिर भी साधारण मानव का भी सन्त के प्रति एक दृष्टिकोण होता है. और आज के युग में सभी को अपनी बात कहने की स्वतन्त्रता भी तो है. यही विचारधारा मेरी इन पंक्तियों की आधारशिला है.

महाराज श्री मुझे कैसे दिखाई पड़े ? त्याग और तप, ज्ञान और ध्यान का ओजस्वीपन उनकी प्रसन्न मुखमुद्रा पर सदैव शोभायमान रहता था. वे बहुत ही मितभाषी थे. मेरा अनुमान है कि वे आवश्यकता होने पर ही कुछ कहने को तत्पर होते थे. उनका स्वभाव बहुत ही कोमल और सरल था. छल-कपट तो उनसे कोसों दूर था, और जब भी मुझे उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ, मुझे ऐसा लगता था कि वे अगाध शान्ति और असीम आत्मानन्द के महासागर में अनवरत डुबकियां लेते रहते थे. उनका शान्त-हृदय सांसारिक प्रपंचों से सदैव अलग-थलग था. ऐसे सन्त जैन श्रमणपरम्परा के तो उत्कृष्ट उदाहरण होते ही हैं, लेकिन मेरी अल्पबुद्धि में वे किसी देश, जाति, धर्म व संप्रदाय विशेष की ही सम्पत्ति

नहीं, किन्तु विराट् मानवता के उच्चत्तम पवित्र प्रतीक भी होते हैं, जिन पर हमारे देश को ही नहीं, वरन् सारे विश्व को ही गौरव की अनुभूति होना स्वाभाविक है.

ऐसे सन्त, जब अपनी जीवन-लीला को समाप्त कर दिव्यत्व की ओर प्रयाण करते हैं, तो उनका स्थान रिक्त हो उठता है. सहज ही, एक न्यूनता का कटु अनुभव होता है. उनका स्थान सहज में भरा भी नहीं जा सकता है. हम केवल उन्हें अपनी श्रद्धांजलि के भावपुष्प समर्पित करने के अतिरिक्त कर ही क्या सकते हैं ?

न्यायमूर्ति श्री इन्द्रनाथ मोदी

## श्रद्धांजलि

**परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते,**
**स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्.**

इस परिवर्तनशील संसार में कौन नहीं जन्म लेते हैं और मरते हैं ? किन्तु जन्म और जीवन उन्हीं का सफल है, जिन्होंने अपने वंश की प्रतिष्ठा में चार चांद लगाए, जाति के अभ्युत्थान में योगदान किया, कोई श्रेष्ठ कार्य करके जीवन में क्रान्ति की.

विश्ववाटिका में नाना प्रकार के पुष्प खिलते हैं और अपना सौरभ दुनिया को लुटा कर मुरझा जाते हैं. ऐसे ही महान् पुरुष भी इस संसार में आते हैं और अपने सत्कृत्यों का सौरभ संसार में फैलाकर चले जाते हैं. जिस प्रकार मेघ वृष्टि करके चला जाता है, किन्तु पिछला वातावरण बहुत ही सुन्दर बना जाता है. सम्पूर्ण वसुन्धरा को हरीभरी बना देता है. महान् पुरुष विश्व में आते हैं और पथभ्रान्त जनों को सत्यपथ प्रदर्शित करके तथा भूतल को अपनी वाणी-सुधा में आप्लावित करके संसार से विदा हो जाते हैं. जन-जन के हृदय में सम्यक्ज्ञान का महान् प्रकाश फैलाकर जाते हैं.

मुनि श्रीहजारीमलजी स्वामी भी ऐसे ही एक महान् विशिष्ट सन्त थे. आपने निरन्तर ६४ वर्षों तक अप्रमत्तभाव से संयमसाधना में प्रगति करते हुए भारत के विभिन्न प्रदेशों में परिभ्रमण किया और अनेकों भव्यात्माओं को अपने उपदेशामृत का पान कराया.

आपके दर्शनों का सौभाग्य मुझे ब्यावर में प्राप्त हुआ था. आपका सौम्य चेहरा, भद्र स्वभाव, शान्त प्रकृति तथा वाणी का अनूठा प्रभाव सदा स्मरणीय है. आपकी दृष्टि में विलक्षण तेज और व्यक्तित्व में असाधारण आकर्षण था. ऐसे महापुरुष के चरणारविन्द में मैं, श्रद्धा के सुमन अर्पित कर कृतार्थता अनुभव करती हूँ.

सती श्री कुसुमवतीजी जैनसिद्धांताचार्या

## अभ्यर्थना और श्रद्धांजलि

महापुरुष, मुनि श्रीहजारीमलजी म० की पावन स्मृति में 'स्मृतिग्रंथ' प्रकाश में आ रहा है. मेरी निश्चित धारणा है कि वे गुणपूजा के पक्षकार थे. जीवन पर्यन्त उन्होंने पंच महाव्रतों का दृढ़ता पूर्वक पालन किया था. चरित्रनिष्ठ महामुनि के जीवन की दिव्य प्रेरणाओं को आधार मानकर हम भी वर्गों में विभाजित वीतराग के अनुगामी गुण-पूजा व त्याग प्रतिष्ठा का श्रीगणेश करें. यही शुभ अभ्यर्थना करते हुए अपनी विनीत श्रद्धांजलि प्रस्तुत करता हूँ.

मुनि श्रीजनकविजयजी गणि

## स्मरणाञ्जलि

हमारा देश आर्यावर्त्त, आज भौतिक साधनों में, सैनिक बल में, आर्थिक समृद्धि में तथा जड़ विज्ञान में विश्व के अनेक देशों से कितना ही पिछड़ा हुआ क्यों न हो, फिर भी वह एक ऐसी समृद्धि का धनी है जिसके कारण समग्र जगत् के विचारशील विद्वान् उसका आदर करते हैं. उस समृद्धि की बदौलत आज भी उसका स्थान सर्वोपरि है और उसके कारण हम महान् गौरव की अनुभूति करते हैं. वह समृद्धि हमारी आध्यात्मिक संस्कृति है. अन्ततः भौतिकवाद से त्रस्त जगत् को किसी समय वही शान्ति पहुँचाएगी, यह हमारा सुनिश्चित विश्वास है. अतएव हमें इसे सजीव और स्फूर्त्त बनाये रखना है.

हम यह भूल नहीं सकते कि यह पुनीत संस्कृति भारत के ऋषियों की तपस्या और अनुभूति की ही देन है और उन्हीं की कृपा से यह आज भी जीवित है. स्व० मुनि श्रीहजारीमलजी म० ने इस संस्कृति को जीवित रखने और फैलाने में जो महत्त्वपूर्ण योग दिया है उसके लिए वे सदैव अभिनन्दनीय, अभिवन्दनीय और स्मरणीय हैं. उनकी आत्मा हमारी इस स्मरणांजलि को स्वीकृत करे.

श्री सुज्ञानचन्द्र भारिल्ल, एडवोकेट

●

## मेरा युग-युग तक हो वन्दन !

अहर्निश साधना की अखण्ड-ज्योति प्रज्वलित रखकर साधना के चरम सत्य को प्राप्त करने वाले पूज्य मंत्री मुनिराज श्रीहजारीमलजी म० के दर्शन कर मैं धन्य-धन्य हुई थी. वह दिन याद आ रहा है. वह समय था सं० २०१२ भीनासर सम्मेलन का.

पूज्या साध्वी श्रीउमरावकुँवरजी के श्रीमुख से—जब आपका जम्मू आगमन हुआ था—परमश्रद्धेय गुरुदेवश्री की स्वभावगत विशेषताओं का वर्णन सुनते-सुनते मैं श्रद्धाभिभूत हो भक्तिनत हो गई थी.

उनके भीनासर में दर्शन कर मैंने यह अनुभव किया था—"आज मेरे अखण्ड सौभाग्य का दिन है. जिस परम पुनीत आत्मा के दर्शन कर रही हूँ इनके जीवन में मधुरता, दृष्टि में वात्सल्य-भाव और तेज है. इनके जीनन में विवेक की संजीदगी है. वृद्ध होते हुए भी स्वतः ही अपना कार्य कर रहे हैं. कार्य कर चुकने पर भी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं. सेवा इनके जीवन की बड़ी विशेषता है."

इन सब विशेषताओं के कारण ही वे जन-जन के मन में बस गए. जन-जन की जिह्वा पर बस गए. मेरा यह दुर्भाग्य ही रहा कि मैं पुनः उनके दर्शन न कर सकी. भीनासर के दर्शन ही मेरे प्रथम और अन्तिम दर्शन सिद्ध हुए.

परन्तु मेरे हृदय के कण-कण में आज भी यही अन्तरध्वनि गूंज रही है—

"उस सन्त पुरुष के चरणों में हो, मेरा युग-युग तक अभिवादन !"

श्री कलावती जैन

●

## मेरी श्रद्धा के आधार

विश्वांगण में मनुष्य स्वयं अनुभव प्राप्त कर अपने जीवन की पुस्तक के पृष्ठों पर आचरण की मसि से अनुभव का अमृतानुभवांकन करना चाहता है. यह प्रयास अत्यन्त पवित्र है. विकासोन्मुख व्यक्ति बंधी-बंधाई व सुनी-सुनाई बातों पर, पलकें मूंदकर चलना स्वीकार नहीं करता है. यह मेरी समझ में प्रगति का प्रतीक है.

कलाकार की कृति उसके अनुभव के वल पर ही हमारे नेत्र का सौंदर्याधार वनती है.

परम श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज भी अपने अनुभव के वल पर संयम के महामार्ग पर अग्रसर हुए थे. उन्होंने अनुभव की प्रयोगशाला में अपने आपको निर्भय होकर प्रविष्ट कर दिया था. तप करना उत्तम है. पर क्यों उत्तम है ? इसका अनुभव तो तप करके ही किया जा सकता है. इसीलिये उन्होंने नाना प्रकार के तप तपे, वाल्यकाल से ही उन्होंने संयमीय जीवन के नाना प्रयोग प्रारम्भ कर दिये थे. प्रतिफल यह आया कि वे एक विशिष्ट सन्त-रत्न के रूप में हम सव की श्रद्धा के आधार वने.

उन्हें मैंने मरुभूमि में शान्ति, क्षमा, ध्रुवधैर्य, कष्टसहिष्णु और करुणा के साकार रूप में देखा था. जिस दिन मैंने इन रूपों में उनके दर्शन किये थे, तभी से उनके प्रति मेरे हृदय में अपार श्रद्धा उत्पन्न हुई थी. ज्यों-ज्यों कालक्रम वढ़ा मेरी श्रद्धा भी वर्धमान होती गई. आज मेरी श्रद्धा के उस आधार को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए मनमें वार-वार एक प्रश्न उभर रहा है—अब मेरी श्रद्धा का नया आधार कौन वनेगा ?

**मुनि श्रीसौभाग्यमलजी महाराज, मालवकेसरी**

◉

## सौम्यस्वभाव सन्त

जैनदर्शन के विद्वान्, लोकप्रिय मुनिराज पूज्य श्रीहजारीमलजी के दर्शन का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ था. उनके सौम्यस्वभाव की छाप मेरे हृदय पर आज भी गहरी अंकित है. पिछले वर्ष महाराजश्री के स्वर्गवास की सूचना सुनकर मन को गहरी व्यथा का अनुभव हुआ. लेकिन सोचता हूँ—इस अनन्त-पथ पर एक न एक दिन तो सभी को सुनिश्चित जाना है ! यही सोचकर चुप हो रहता हूँ.

उनका सम्पूर्ण जीवन जनहित और मानवता के नैतिक जागरण में वीता. मुझे विश्वास है कि महाराजश्रीका 'स्मृतिग्रंथ' जनसमुदाय के लिए अवश्य ही लाभप्रद सिद्ध होगा. इस शुभ प्रयत्न की मैं हृदय से सफलता चाहता हूँ.

**श्रीमूलचन्द्रजी देशलहरा**

◉

## आचार के गौरीशंकर

मुनि श्रीहजारीमलजी की स्मृति में एक ग्रंथ प्रकाशित करने के आयोजन का मैं हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ. सन्त जनों का जीवन सार्वजनिक कल्याण के लिए समर्पित होता है. अत: उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना समाज का कर्तव्य है. उन्होंने ११ वर्ष की अवस्था में सांसारिक प्रलोभनों की ओर से मुँह मोड़कर तपश्चर्या का मार्ग अंगीकार किया था और ६४ वर्ष तक लगातार उसी पर अग्रसर होते गये. अपनी अखण्ड साधना से उन्होंने त्याग और तपस्या का जो ऊँचा आदर्श प्रस्तुत किया वह वास्तव में अद्भुत है.

आज हम सब भौतिकता की साधना में लीन हैं और पश्चिम की हवा ने हमारे मापदण्ड वदलकर, ऐसे वना दिये हैं कि जीवन की सफलता भौतिक-उपलब्धियों में आँकने लगे हैं. पर सच यह है कि हम जिसके पीछे दौड़ रहे हैं, वह छाया मात्र है, उस में सार नहीं है.

मुनिश्री ने वताया कि वास्तविक आनन्द की सिद्धि भोग में नहीं है, त्याग में है और व्यक्ति का जीवन कृतार्थ तव वनता है, जव कि उसके कदम उत्तरोत्तर ऊँचाई की ओर वढ़ते हैं. जो साधना की चोटी पर पहुँच जाते हैं, वे जानते हैं कि ऊँचाई का कितना निराला आनन्द और कितना सुख होता है.

मुनिश्री ने इस मर्म का उपदेश केवल शब्दों में नहीं दिया. आचरण से भी उसका दर्शन कराया.

जिनकी कथनी और करनी समान हो, ऐसे सत्पुरुष आज के युग में विरल हैं. पर जितने भी हैं, यह संसार उन्हीं पर टिका है.

मुनिश्री के प्रति मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और आशा करता हूँ कि जिन गुणों के कारण हम उनका स्मरण और अभिनन्दन करते हैं, वे गुण जन-जन में अवश्य फैलेंगे और आज का संतप्त मानव उनसे प्रेरणा ग्रहण कर सही मूल्यों की ओर अग्रसर होगा.

श्रीयशपालजी जैन

## मेरी श्रद्धा मेरा मन

राजस्थान के पूज्य श्रीहजारीमलजी महाराज का आध्यात्मिक जीवन अत्यन्त महान् और ऊंचा था. वे हृदय के अत्यन्त सरल और विमल थे. संसार में संतों की आध्यात्मिक पूंजी ही मनुष्य को सुख दे सकती है. दुःख से त्राण कर सकती है. मुनिश्रीजी आत्मयोगी और परमज्ञानी थे. उनके ज्ञान और आत्म-योग पर राजस्थान का अधिकांश श्रद्धालुवर्ग गहरी आस्था और निष्ठा रखता था. उनसे उन्होंने जो पाया वह उनके आत्म-सुख का परम कारण है.

आज उनके अभाव में उनका श्रद्धालुवर्ग एक अभाव की अनुभूति कर रहा है. पीड़ा का अनुभव करता है. परन्तु दुःख जैसी क्या बात है ? उनकी विरासत को अपने जीवन में नैतिक आचरण के द्वारा खूब उतारें, उसकी सुरक्षा करें, यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है.

मेरा मन ! मेरी श्रद्धा, मेरा विश्वास, ऐसे सन्त चरणों का दास है !

श्रीजगन्नाथजी नाहर

## वे क्या थे ?

करुणा के असीम सागर, शान्ति के निर्भय प्रचारक, अध्यात्मवाद के प्रबल प्रसारक, अति सरल, सत्य के तेज पुञ्ज, छलकपट से अनभिज्ञ, प्रवीण संगठनकर्त्ता, अडिग कर्तव्यपरायण, उच्चकोटि के सादगी प्रिय, क्रोध से सहस्रों कोस दूर स्याद्वाद के सच्चे अनुयायी, शास्त्र-ज्ञान के निरभिमानी पंडित और थे वे अहिंसा के अमर पुजारी मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज.

ऐसे सन्त जन-जन वंद्य होते हैं. उनको मेरे अनेकों प्रणाम !

श्री मिलापचन्द्र भुरट, बी० एस-सी० ए-जी०

## तुम केवल श्रद्धा हो !

पूज्य पुरुष मंत्री श्रीहजारीमल जी म० भी जीवन के राहभूले पथिकों को जीवन-दर्शन कराने वाले थे. वे निरन्तर अपने सात्विक विचारों से उनका पथ आलोकित करते रहे—संयमीय जीवन की शुरूआत से—आखिर तक.

वे स्वभाव के सरल, मन के निर्मल, तन के तपस्वी और शुद्ध सन्ताचरण के हामी थे.

प्राणीमात्र का कल्याण उनका काम्य था. मैंने उस पुनीत आत्मा के अनेक बार शुभ दर्शन किये थे. जब-जब भी उनके दर्शन किये तब-तब मैंने यही अनुभव किया था. सम्प्रदाय विशेष में रह कर भी उनके विशाल हृदय में संकीर्ण विचारों

की दरिद्रता नहीं थी. व्यक्तिगत साधना में अत्यन्त दृढ़ थे, अन्य सन्तों के प्रति कृपा और स्नेह उनकी आँखों से अहर्निश बरसता रहता था. यही कारण है कि साधुसमुदाय उन्हें अत्यन्त आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखता था.

उनके कृतित्व-जगत् और व्यक्तित्व-जगत् के अनेक वैशिष्ट्य थे, मैं कुशल कलाविद् नहीं कि उन गुणाकर के गुण-पुष्पों की माला गूंथ सकूं. उनका पुण्य स्मरण हृदय-भूमि में केवल श्रद्धा ग्रौर आस्था ही अंकुरित करता है. उनका तप, त्याग और साधना इतनी कठोर थी कि आज मेरा मन यह कहने को विवश हो रहा है—गुरुदेव तुम केवल श्रद्धा हो.

श्रीमगरूपचन्दजी भण्डारी

## मेरे लिए

वे मरुधरा के धर्मप्राण आचार्य श्रीजयमलजी म० की सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे. श्रमण संघ की अखण्डता के लिए प्रवर्त्तक पद का परित्याग कर श्रमणवर्ग में उदाहरण सिद्ध हुए. उनके असाधारण व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उन्हें श्रमण-संघ ने मारवाड़ प्रान्त का मंत्री पद प्रदान किया. पूर्ण उत्तरदायित्व पूर्वक उन्होंने उसको निभाया. साधकों का समुचित मार्गदर्शन किया.

वे आत्मविद्या के ज्ञानी साधक थे. परमयोगी थे. उनकी योग-साधना का प्रत्यक्ष रूप उनके दर्शन मात्र से प्रतिविम्बित होता था. मैंने उनके दर्शन किये—तो वे मेरे लिए श्रद्धा के अमर आधार बन गए. वे गए. मन को असीम कष्ट है, पर मेरी श्रद्धा का सुहाग मर कर भी वे अमर कर गए. मैं श्रद्धा सहित उस गुणी योगी पुरुष मुनि श्रीहजारीमलजी म० के प्रति नत हूँ.

प्रवर्तक श्रीशुक्लचन्दजी म०

## भावांजलि

वीर, रणभूमि में लड़कर देशरक्षा के स्वाभिमान का सुख पाता है. वह वीर युद्ध में काम आ गया यह जानकर भी उसके परिजन परिताप का अनुभव नहीं करते. उसकी बहादुरी से प्रेरणा ही लेते हैं.

सन्त भी जीवन भर युद्ध करता है. सन्त महात्माओं का युद्ध राम और रावण का युद्ध है. काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर, छल आदि अनेक बुराइयां दशमुखी रावण की सूचक हैं. प्रेम, जगत्वत्सलता, सदाचार और ईश्वरभक्ति आदि रामवृत्ति, भगवान् राम की सूचक हैं. इसलिए सन्त, जीवन पर्यन्त राम का प्रतिनिधित्व करता हुआ युद्ध करता रहता है. अतः सन्त परम योद्धा है.

देशरक्षा के लिये लड़ाई नियत समय तक ही होती है. सन्तवृत्ति में बुराइयों से जीवनपर्यन्त लड़ाई होती रहती है. लौकिक लड़ाई में मरने वालों का दुख नहीं मनाया जाता. यह सब इसलिये कि उसने युद्धभूमि में शत्रु को पीठ नहीं दिखाई.

सन्त भी बुराइयों से अभिभूत होकर आत्मशत्रुओं को पीठ नहीं दिखाते.

जैनमुनियों के नियम अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा कठोर होते हैं. अतः जैनमुनि की पोशाक पहनकर आत्मशत्रुओं से लड़ाई लड़ना और भी कठिन है. प्रवर्तक मुनि श्रीहजारीमलजी म० से अपने राम—(नेनूराम) की कभी प्रत्यक्ष 'रामा श्यामा' नहीं हुई थी, परन्तु सन्तों की रामा श्यामा तो प्रभु भक्ति में ही होती है.

जैन समाज ने उनकी स्मृति को कायम रखने की दृष्टि से 'स्मृतिग्रन्थ' का आयोजन किया है. यह बहुत सुन्दर काम है. सन्तजीवन के अनुरूप है.

राजस्थान के उस जैन मुनिराज को मेरी रामजी म० के स्मरणपूर्वक भावांजलि समर्पित है.

स्वामी श्रीनेनूरामजी आयुर्वेदाचार्य

●

## भावसमर्पित श्रद्धांजलि

भारतीय संस्कृति व्यक्तिपूजा में नहीं, गुणपूजा में विश्वास करती है. विशिष्ट गुणवान् व्यक्ति ही वस्तुतः जन-जन के मन में विशिष्ट श्रद्धा का केन्द्र बनता है.

मानव की पूजा कौन करे, मानवता पूजी जाती है.
साधक की पूजा कौन करे, साधकता पूजी जाती है.

श्रमण-संघ के महाप्राण सन्त, ऋषिप्रधान भारत की महान् सम्पत्ति, आध्यात्मिक क्रांति के संदेशवाहक, श्रीहजारीमलजी महाराज एक ऐसे ही अनुपम व्यक्तित्व के धनी थे. उन महान् सन्त के पुण्यदर्शन करने का सुअवसर मुझे ब्यावर में प्राप्त हुआ था. उनके शुभ दर्शन पाकर मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा. उनकी पीयूष-वर्षिणी वाणी श्रवण कर मेरे हृदय में अमन्द आनन्द की मन्दाकिनी प्रवाहित होने लगी !

आज वे भौतिक रूप में हमारे सम्मुख नहीं रहे हैं परन्तु सद्गुणों के आदर्श के रूप में आज भी वे हमारे समक्ष ही हैं. उनके सरल व सरस स्वभाव से मैं अत्यधिक प्रभावित हुई हूँ. मैंने देखा उनके हृदय में अनुपम उदारता, भावों में गाम्भीर्य और वाणी में माधुर्य ! उनका जीवन आचार-विचार से मंजा हुआ व संयम-साज से सजा हुआ था. त्याग, तप और क्षमा उनके प्रधान आभूषण थे. वे आध्यात्मिक सौन्दर्य के आलोक से आलोकित थे, पौरुष की साक्षात् मूर्ति थे. उनकी सरल प्रकृति और भव्य आकृति देख मेरा मन अपने आप बोल उठा—इस महान् सन्त के अंदर एक महान् आत्मा निवास करती है. उनके जीवन की मधुर सुवास मेरे मन के कण-कण को आज भी सुवासित कर रही है. आज वे हमारे चर्म-चक्षुओं के सामने नहीं रहे किन्तु उनके तप और त्याग का उज्ज्वल प्रकाश हमारे अंतश्चक्षुओं के सामने चमक रहा है. मैं विश्वास करती हूँ कि उनकी मधुर स्मृति हमें युग-युग तक संयमीय जीवन के लिये पावन प्रेरणा प्रदान करती रहेगी.

आर्या श्री कौशल्याकुमारीजी, जैनसिद्धांताचार्या

●

## बहुरत्ना मरुधरा

दो पहलू हैं ! एक दिखावटी आडम्बर और कृत्रिमता से लदापदा, दूसरा आडम्बरहीन और वास्तविकता से ओतप्रोत. दोनों में भिन्नता है. दोनों के आकर्षण में भी पर्याप्त अन्तर है. पहला चाकचिक्यपूर्ण है. दूसरे आकर्षण में सात्विकता है. वहां चाकचिक्यता जैसी चौंधिया देने वाली कोई कृत्रिमता नहीं है. स्वभावतः ही उस ओर दर्शकों की आंखें कम पहुंचती हैं. किन्तु जो कोई भी उसे पा लेता है, सचमुच उसे अपूर्व सहजानन्द का अनुभव होता है. क्योंकि वहाँ पर वास्तविकता के दर्शन होते हैं।

स्वर्गीय स्वनामधन्य परम श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी म० का जीवन, निर्लिप्त व निर्विवाद रूप से दूसरे उज्ज्वल पहलू-सा था. यह बात मैं औपचारिक रूप में नहीं कह रहा हूँ बल्कि अनुभव के आधार पर ही इसका प्रकटीकरण है. यों तो एक बार उनके दर्शन पहले भी हुए थे. परन्तु उसे मैं एक झलक मात्र ही स्वीकार करता हूँ. उनसे मैं पूरा-पूरा परिचय नहीं कर पाया था. पुनः भीनासर सम्मेलन के अवसर पर एक उद्यान में उनके शुभ दर्शन का सौभाग्य मिला. उसे मैं उनके अन्तिम दर्शन भी कह सकता हूँ. उसके बाद दोबारा उनके दर्शन का लाभ नहीं प्राप्त कर पाया. प्रथम दर्शन में ही मंत्री श्रीजी के मृदुल व्यक्तित्व की छाप जो मुझ पर पड़ी तो सचमुच हृदय और मस्तक दोनों ही श्रद्धावनत हो गये.

उनके निष्कपट सरल व ममतापूर्ण व्यवहार ने मेरे मन को जीत लिया. मैंने सुना है—'वहुरत्ना वसुंधरा' आज उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए मन यों कहने को विवश हो रहा है—'वहुरत्ना मरुधरा' इस तरह मरुधरा के वे एक रत्न थे.

स्वर्गीय श्रीहजारीमलजी म० हमारी गौरवमयी परम्परा के सन्त थे. उनके प्रति नये सिरे से क्या श्रद्धा व्यक्त करूँ ? मेरी श्रद्धा के पुष्प तो उनके पवित्र चरणों में पहले से चढ़ चुके थे. उनका समुज्ज्वल 'मंगलमय यश' स्मृतिग्रंथ से भी ज्यादा व्यापक व स्थायी है. फिर भी उनके सुयोग्य शिष्यरत्न श्रीमधुकरजी महाराज द्वारा श्रद्धास्वरूप स्मृतिग्रंथ संवन्धी जो उपक्रम किया जा रहा है, उसके प्रति भी मेरी हार्दिक शुभ कामना व शुभ भावना है.

प्रांतमंत्री श्रीअम्वालालजी महाराज

## समभावयोगी सन्त

सेयंवरो वा आसंवरो वा, बुद्धो वा तह व अन्नो वा !
समभावभावियप्पा लहेइ मुक्खं न संदेहो !!

साधक श्वेताम्वर हो या दिगम्बर, वौद्ध हो या वैष्णवादि, जाति और वर्ग का प्रश्न नहीं है—हिन्दू, यवन, सिख, पारसी, ईसाई, व्राह्मण अथवा क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र, किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो, जिसमें समभाव की साधना का योग चल रहा है—वह अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त होगा.

समभाव सर्व सिद्धि का केन्द्र है. समभाव से जातिगत, धर्मगत, वर्गगत, सम्प्रदायगत और राष्ट्रगत, सभी प्रकार के संघर्ष और द्वंद्व समाप्त हो सकते हैं. मेरी निश्चित धारणा है कि इस से विश्व-शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है. मेरी यह शुभाशा है कि सभी वर्ग के लोग समभाव साधना के द्वारा जीवन का परम काम्य प्राप्त करें.

स्मृतिग्रन्थ के नायक, समभाव व योग-साधना के वल पर ही जीवन में श्रेष्ठता प्राप्त कर जन-जन वंद्य वने थे. मेरे श्रद्धा के नेत्रों में वे मुझे समभाव योगी ही दीख रहे हैं. शिवमस्तु सर्वजगतः !

आचार्य श्रीविजयसमुद्रसूरिजी महाराज

## मरुधरा की एक महान् विभूति

भारतीय जनता ऋषियों, महर्षियों, सन्तों, साधुओं का सम्मान सदैव करती आई है क्योंकि साधक का जीवन महान्, पवित्र, शीतल, शम, दम एवं उपशम भाव से परिपूर्ण होता है. वे अपने सहज सात्विक गुणों से अज्ञानी जीवों को मार्ग-दर्शन कराते रहते हैं.

आर्यावर्त के इतिहास को इन्हीं नव-रत्नों पर विश्वास है और इन्हीं पर गर्व है. ऐसी महान् विभूतियों द्वारा ही आर्य-संस्कृति को पोपण मिला और मिल रहा है. सत्य तो यह है कि भारतीय संस्कृति, धर्म और दर्शन का इतिहास सन्तों का ही इतिहास है. उन्हीं की इस सात्विक देन के कारण भारतवर्ष का स्थान विश्व में अद्वितीय माना जाता है.

आज जिस महापुरुप को श्रद्धांजलि अर्पण करने की भावना हो रही है, वे ऐसे ही उच्चकोटि के सन्त थे, जिन्होंने "मधु-कर" मिश्री जैसे को समाज के लिए उपहार दिया है. स्थानकवासी समाज का इतिहास ऐसे एक दो नहीं, सैंकड़ों सन्तों के स्तुत्य जीवन और ज्ञान की अलौकिक प्रभा से भरा पड़ा है. उन्हीं महापुरुपों में से मुनिराज श्रीहजारीमलजी महाराज थे. उन्होंने श्रमणसंघ के मंत्री पद का उत्तरदायित्व वड़ी खूवी से निभाया. "मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्" यह आदर्श उनका जीवनव्यवहार वन गया था.

इससे उनका जीवन अतिशय भव्य और दिव्य था. उन पुण्यश्लोक शान्त भद्रपरिणामी मन्त्री मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि समर्पित कर धन्यता का अनुभव करती हूँ.

श्रीसुमतिकुंवरजी आर्या

## मेरे श्रद्धाप्रसून

यह सही है कि स्व० महाराजश्री का कार्यक्षेत्र अधिकतर राजस्थान ही रहा परन्तु इससे उनके चारित्र्य में, संगठन और अनुशासन की अनुभूति अधिक प्रखर हो उठी, और उल्लेखनीय यह है कि श्रमण-संगठन की आवश्यकता और अनुशासन की कठोरता के पक्के हिमायती होने के बावजूद भी, वे अत्यन्त संवेदनशील और भावनाप्रधान थे. मेड़ता में पिछले दर्शन, मेरे लिये अन्तिम ही सिद्ध हुए. आज स्मृति टटोलता हूँ तो लगता है—मेड़ता में वे कितने भाव-प्रवण और श्रावकों के अनुराग से अभिभूत थे.

श्रीस्वामीजी की साहित्यरुचि और जैन आगमों के प्रति एकान्त-निष्ठा केवल औपचारिक न थी, वे चाहते थे कि जैन साहित्य का अधिकाधिक प्रचार और प्रसार हो और गूढ़ तथा अप्राप्य ग्रन्थों को पूरे विश्लेषण और अनुसंधान का अवसर मिले. आशा है हमारा समाज उनकी इन भावनाओं को क्रियात्मक रूप देने में पीछे न रहेगा.
स्व० महाराजश्री के सुयोग्य अंतेवासी पं० र० मुनि श्रीमिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' में हम मुनिवर के सारे गुण पा रहे हैं और स्वाभाविक ही इसका श्रेय अन्ततः स्व० श्री १००८ श्रीहजारीमलजी म० को है. और उनकी पुण्यस्मृति में इससे अच्छी श्रद्धांजलि और क्या होगी यदि हम सभी उन्हीं के बताये मार्ग पर केवल कहने और बोलने के बजाय-सच-मुच में चलना शुरू कर दें.

श्रीजवाहरलालजी मुणोत

## श्रद्धांजलि

पूज्य मुनिराज श्रीहजारीमलजी म० के प्रेरक उपदेश का ही सुफल है कि मैं सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में प्रवेश पा सका. उनके उपदेशों ने मेरे हृदय में जनसेवा के भावों के अंकुर उत्पन्न किये. स्थानीय जैन समाज में गति लाने के लिये श्रावकसंघ की स्थापना करवाई. सेवक के नाते उसमें मेरा भी उल्लेख हुआ.

उनका सं० २००६ का वर्षावास विजयनगर में था. मेरा वह वर्ष उनके अधिक सम्पर्क में आने का था. उसने मेरे जीवन को एक नई दिशा दी. उनको अनेक बार अनेक प्रसंगों पर मैंने देखा कि वे दया और करुणा की साकार प्रतिमा हैं.

श्रीकन्हैयालालजी भटेवडा, विजयनगर

## अर्पित है श्रद्धा मेरी

मनुष्य का जीवन अध्रुव और अशाश्वत है. वह जिस क्षण जन्म लेता है उसी क्षण मृत्यु की ओर यात्रा प्रारम्भ हो जाती है. जन्म और मृत्यु एक मुद्रा के दो पहलू हैं.—यह सब होते हुए भी एक अलौकिक ज्योति मानव के सम्मुख है. मृत्यु शरीर को हानि पहुँचाती है. आत्मा इस खतरे से मुक्त है. जन्म मरण के विवर्त्त से सन्त भी व्यतीत होता है. परन्तु वह अपने आदर्श, त्याग, तपोमय जीवन के कारण मर कर भी अमर है.

स्वर्गीय शान्तस्थविर श्रीहजारीमलजी महाराज हमारे सम्मुख नहीं हैं किन्तु उनके आदर्श और कार्य हमारे लिए प्रेरणा

का आधार है. "यश से नहीं व्यक्ति कर्म से अमर रहता है" इस कथन के ध्रुवाधार पर कह सकती हूँ, वे अमर हैं और अमर ही रहेंगे.

साध्वी श्रीयशकुंवरजी

## समर्पित हैं श्रद्धा-सुमन मेरे

इस धराधाम पर जब भास्करदेव अवतरित होते हैं तो प्रकृतिश्री मुस्कुरा उठती है. चम्पा की सलौनी टहनी पर जब सुमन खिलते हैं तो समग्र वातावरण सुवासित हो उठता है. आकाश में बादलों की जब बारात सजती है तो काले कजरारे मेघ नृत्य करने लगते हैं, गर्जना करते हैं. तो मनमौजी मयूर भी नृत्य करने लगते हैं. वसंत के शुभागमन पर आम्र-मंजरी लहराने लगती है. कोकिला स्वयमेव ही पंचम स्वर में मधुर राग आलापने लगती है. रजनी के प्रियतम नभमंडल में उदित होते हैं तो अन्धकार विलुप्त हो जाता है. इसी प्रकार जब कोई असाधारण, दिव्य भव्य विभूति का अवनीतल पर अवतरण होता है तो परिवार, समाज, राष्ट्र और यहाँ तक कि समग्र विश्व भी प्रफुल्लित हो उठता है.

परम श्रद्धेय स्व० पूज्य गुरुदेव श्रीहजारीमलजी महाराज भी एक ऐसे प्रतिभासम्पन्न विभूति थे. वे सचमुच हजारों में से एक थे. उनमें चरित्रनिष्ठा, व्रतों की दृढता, मानस की कोमलता, भावों की भव्यता और साथ ही उनके जीवनव्यवहार की प्रत्येक क्रिया में आर्द्रता भी थी. उनके सद्गुणों से परिपूर्ण जीवन के लिये तो मेरे मुख से कवि की ये पंक्तियां बरबश ही प्रस्फुटित होती हैं—

**अधरं मधुरं, वदनं मधुरं, नयनं मधुरं, हसितं मधुरं, हृदयं मधुरं, गमनं मधुरं, मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् !**
**वचनं मधुरं, चरितं मधुरं, वसनं मधुरं, वलितं मधुरं, चलितं मधुरं, भ्रमितं मधुरं, मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् !!**

ठीक इसी प्रकार स्वामीजी म० का सब कुछ मधुर था. 'अधरं मधुरं' उनके होठ मधुर थे. क्योंकि सत्य वचनों का उच्चारण करने के लिये ही वे खुलते थे. 'वदनं मधुरं' उनका सारा शरीर ही मधुरता से ओतप्रोत था. उनका चेहरा इतना मधुर और रसिक था कि देखने वाले को आत्मतृप्ति की अनुभूति होती थी. इतना अद्भुत सौंदर्य उनमें लहराता था. 'नयनं मधुरं' उनके नेत्रकमलों से करुणावर्षा सतत हुआ करती थी. कमल-से कलात्मक नयनों में अजेय गहराई थी. उनकी विशाल पलकें परदुख से जब बोझिल बन जाती तो नयनों से करुणा-बिन्दु टपक पड़ते. 'हसितं मधुरं' अपनी साधना में, आत्मज्ञान में आत्मरमणता में अहर्निश मुस्कुराहट अठखेलियाँ करती थीं. 'हृदयं मधुरं' उनका हृदय नवनीत-सा सुकोमल और शर्करा-सा मधुर था. उनके हृदय में करुणा मैत्री और दया के भाव परिव्याप्त थे. इसीलिये वे सरलता के संगम थे. 'गमनं मधुरं' पतितों के उद्धार के लिये ही वे गमन करते थे. ईर्यासमिति के पूर्णरूपेण पालन पर उनका अत्यधिक ध्यान था. 'मधुराधिपतेरखिलं मधुरं' इस प्रकार उन मधुराधिपति का सब कुछ मधुमय था. फिर 'वचनं-मधुरं' उनके वचनों में चातुर्य, माधुर्य, औदार्य, विवेक और साथ ही साथ दिव्य एवं भव्य जीवनसत्य था. उनके चेतनामय वचन मुर्झाये हुए मानव-फूलों को नवचेतन एवं नवस्फुरण प्रदान करते थे. दुख-दुविधा से जिनका जीवन पत्र रहित वृक्ष-सा बन गया हो उसे वे अपने आर्द्रतापूर्ण वचनरूपी वर्षा से पुनः पल्लवित कर देते थे. उनकी वाणी में एक अलौकिक प्रकार का जादू था जो सुनने वाले के समग्र जीवन को आलोकित कर देता था.

उनकी वाणी के पीछे विलास नहीं विचार था. विचारों के पीछे हृदय की शून्यता नहीं मगर भावभीनी भावना थी. वाणी में जिन्दगी के अनुपम लालित्य के दर्शन होते थे. उन्होंने वक्तृत्वकला की महान् साधना नहीं की थी किन्तु उनके सहज जीवन से ही वह निर्मित हुई थी. 'चरितं मधुरं' उनका सम्यक्चारित्र सचमुच महान् और मधुर था. वे अपने चरित्र की चमक लिए जहाँ भी जाते थे वहाँ अपनी आत्मसुवास से सारे वातावरण को सौरभान्वित कर देते थे. 'वसनं मधुरं'-उनका वसना भी मधुर था. जब आत्मज्ञानधारी वे संत अपनी आत्ममस्ती में बैठते तो ऐसा लगता मानो भव्य विभूति प्रभु से साक्षात्कार कर रही हो. सुदृढ़ सुस्थिर, सुसमाधिमय बैठने का उनका अपना निराला तरीका था. उनके वसन अर्थात्

वस्त्र भी मधुर अर्थात् श्वेत थे जो निर्मलता और पवित्रता के प्रतीक थे. 'वलितं मधुरं' उनका आत्मबल असाधारण था. इसलिये भक्तों के लिये वह भी मधुर था. वे अपने आत्मबल का उपयोग अधिक से अधिक साधनात्मक जीवन को सुदृढ़ बनाने में करते थे.

समरांगण में हजारों शत्रुओं का संहार करने वाले हजारों मिलेंगे मगर षड्रिपुओं पर विजय प्राप्त करने वाले हजारों में से एक ही [हजारीमल जी म०] थे. इससे उनका बल भी मधुर था. 'चलितं मधुरं' हंस की धीमी गति से वे संयम के मार्ग में पर्यटन किया करते थे. सन्तों का विहार भव्य जीवों के कल्याणार्थ ही होता है. अपनी मर्यादानुसार चलते हुए जो जनकल्याण करते थे. 'भ्रमितं मधुरं' उनका सादा-सा, भ्रमण करना भी बड़ा मधुर लगता था. जिस समय वे भ्रमण करते तो ऐसी अनुभूति होती मानो मानव मात्र के अभ्युत्थान का चिन्तन करते हुये एक सजग प्रहरी, आत्ममस्ती एवं मधुर मानस लिये भ्रमण कर रहा है. 'मधुराधिपतेरखिलं मधुरं' उनका समग्र जीवनव्यवहार मधुरतासे ओत-प्रोत था.

उनमें बालक-सी निश्छलता, कर्मठ युवक-सी कार्यदृढता, प्रौढ-सी गंभीरता और वृद्ध-सी अनुभवगरिमा थी. साधूचित गुणों से और अपने तप त्याग वैराग्यमूलक व्यक्तित्व से वे बरबस ही मन मोह लेते थे. उनके तपःपूत शरीर पर संयमीय सौन्दर्य था. चेहरे पर निःसीम शान्ति थी, वात्सल्य और मधुरता थी. पद उन्हें भाररूप लगते थे. अनावश्यक धूमधाम उन्हें बखेड़ा लगती थी. उनके जीवन में निस्पृहता का सागर लहराता था. मानवता की लहरें उठती थी. वे साधुता के सुनहरी रंगमहल में निवास करते थे. खुशामदियों के मीठे वचन उन्हें डिगा नहीं सकते थे. वे अपने संयमीय जीवन के प्रति पूर्ण वफादार थे.

उन्होंने अपनी सफल साधना से जो उज्ज्वल ज्योति अपने जीवन में जगाई वह जैन समाज के लिये गौरव का विषय है. इस प्रसंग में एक पद्य स्मृतिस्थ हो आया है—

दूर न कोई हो कभी, वह उपाय है कौन ? यही प्रश्न है विश्व में, यहाँ विश्व है मौन !

अन्त में मैं अपने श्रद्धासुमन उन महान् आत्मा को समर्पित करती हूँ.

कुमारी श्रीकुमुदिनी मुथा

●

## कैसे करूं अर्पित तुम्हें श्रद्धा-सुमन मेरे ?

बड़ा होने का नाटक भी किया जाता है. कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं कि उनका अहंकार दया और करुणा को भी कुचल देता है किन्तु परम श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज ऐसे नहीं थे. उन्होंने बड़प्पन का कभी अभिमान नहीं किया. उनके जीवन में जो कुछ था वह सहज था. वहाँ दिखावे और प्रदर्शन के लिए कुछ न था. करुणा और दया उनके जीवन में पूर्णतः साकार हुई थी. किसी को कष्ट या पीड़ा से घिरा हुआ देखते तो उनका हृदय पिघल जाता था. मैंने जीवन के कुछ क्षण उनके सान्निध्य में व्यतीत किये हैं. अनेकों बार पदयात्रा करते हुए ऐसे प्रसंग आए हैं जब अभावग्रसित, भाग्य के ठुकराए हुए मनुष्य, जीवन से निराश होकर अपना जीवनांत करने की मलिन बुद्धि से प्रेरित होकर इधर-उधर भटकते—मिले हैं. मुनिश्री ऐसे व्यक्ति को तत्काल पहचान लिया करते थे और वार्ता द्वारा उसकी मर्मपीड़ा को छू कर सारा राज खुलवा लिया करते थे. उसे जीवन जीने की कला सिखाते. उनके जीवन के अनेक प्रसंग ऐसे हैं जो मुझे प्रमाद और आलस्य के क्षणों में प्रेरणा तो प्रदान करते ही हैं, जीवन को समुज्ज्वल बनाने का पाठ भी पढ़ाते हैं. उनका व्यवहार प्रत्येक मनुष्य के साथ, चाहे वह छोटा हो या बड़ा—समान रहता था. अतः युवा, वृद्ध, बाल सभी उनके दर्शन कर अपूर्व आनन्दानुभव करते थे. उनके विमल मन में छोटे-बड़े का भेद था ही नहीं. साथ वाले मुनियों का, मुनिव्यवस्थानुसार जो कार्य उनके करने का होता था, उसे वे स्वयं कर लिया करते थे.

एक बार हम यात्रा कर रहे थे. कुछ मुनि उनसे आगे-आगे चल रहे थे. वे वृद्ध थे. अतः उनका पीछे और धीरे-धीरे चलना स्वाभाविक ही था. एक मुनि अपना पुस्तकों का थैला एक स्थान पर रख विश्राम करने के लिए रुककर चलने

लगे तो थैला भूल गए. उन्होंने आगे चले मुनियों को थैला उठाने को नहीं बुलाया और स्वयं ही अपने स्कंध पर धारण कर लिया. दो-तीन माइल के करीब आगे चलने पर उन्हें अपना थैला याद आया. पीछे लौटने लगे तो उन्होंने कहा—"तुम्हारा थैला मेरे पास है, चले चलो." बात साधारण-सी लगती है परन्तु इस घटना ने काफी प्रभावित किया. यह घटना याद आती है तो उनके प्रति श्रद्धा, स्नेह और भक्ति उमड़ आती है.

वे मुनिसंघ के नियंता थे. चाहते तो किसी भी मुनि को कह सकते थे. उनके कहे से कौन मुकर सकता था ? किन्तु उन्होंने वैसा न कर स्वयं ही थैले का भार वहन कर लिया. उस समय मैंने अनुभव किया श्रद्धेय गुरुवर कितने उदार, स्नेहशील और करुणा से ओतप्रोत हैं !

मुनि श्रीमिश्रीमलजी 'मुमुक्षु'

## करुणामूर्ति महामना मुनि श्रीहजारीमलजी !

संत भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। उस दिव्य पुरुष ने राजस्थान के रजकणों को पावन करते हुए इस सत्य को साक्षात् कर दिखाया था. उनका हृदय किसलय-सा कोमल था. सारे वृक्ष में अनुभूतिशील या कवि-हृदयों को अपनी ओर खींचती हैं तो वह वृक्ष की कोमल पँखुरियाँ. सन्तमना मुनि श्रीहजारीमलजी म० में सर्वाधिक आकर्षण का कोई केन्द्र-स्थल था तो वह उनका पीड़ितों के प्रति अर्पित करुणाशील मन !

उनके जीवन को मैंने पढ़ा तो मन श्रद्धावनत हो गया. उनके जीवन से मुझे यह अनुभव हुआ कि वे तन और मन दोनों से सन्त थे. इसलिये यह कहने में मुझे प्रसन्नता है कि सन्त भारतीय संस्कृति के प्राण हैं. और वे उन प्राणों में से एक थे. वे चोला बदल कर साधु कहलाने वालों में से नहीं थे. वे मन से भी पूर्ण साधु थे.

आज मेरा मन उनके प्रति भावांजलि अर्पित करते हुए हृदय के इस भाव को प्रकट करने के लिए विवश है कि वे सन्त-मना ही नहीं महामना भी थे. उस महामना के प्रति मेरी श्रद्धा, उनके दिव्यलोक तक पहुँचे और वे मुझ अकिंचन के भावों को पहचान सकें.

आज मैं यही सोचकर यहीं पर रुक रहा हूँ कि उनको श्रद्धार्पण करने के अधिकारी हम तभी हैं जब स्वयं भी प्रमाद तज उनके चरण-चिह्नों पर चलें.

अंत में यही भाव उभर कर आ रहा है कि कैसे करूँ अर्पित श्रद्धा-सुमन तुम्हें मेरे ?

मुनि श्रीनन्दीषेणविजयजी 'विश्वबन्धु'

## चारित्रिक ऊर्जा के धनी

मैंने पूज्य स्वामीजी महाराज के दर्शन, अपनी वासंती वय में किये.

हृदय में एक परम पुरुष का चित्र अंकित हुआ ! मैंने वीरपथिक बनकर दोबारा दर्शन किये ! पिता का-सा वात्सल्य और प्रेम मिला. मेरे अन्दर के बुद्धिवादी मुनि ने उनके स्नेह कृपा और वात्सल्य को परखा. परखते-परखते ही मेरा अन्तर मानस झुक गया—उनके चरणों में.

मैं उन्हें साधना का प्रेरक सेतु मानने लगा.

लोकैषणाओं के झंझावातों से बच निकलने वाला उनका प्रेरक सन्देश तूफान में फँसी नौका का संबल है—"बड़े बनने का प्रदर्शन मत करो ! अन्यथा असम्मान, घृणा और आलोचना की तीखी लोह-कीलें तुम्हारे हृदय को छेद देंगी. बड़ा

वन जाने के उपक्रम से या वड़प्पन को मौन भाव से स्वीकार करने से तुम्हारा मन ही तुम्हें कचोटने लगेगा. उस समय तुम सन्तों की सेवा न कर सकोगे."

जीवन के तीसरे मोड़ पर खड़े होकर दिए उनके सन्देश को मैंने अपने दूसरे मोड़ पर सुना. आज वही सन्देश मेरे जीवन का स्वर्णिम और प्रिय पृष्ठ वनता जा रहा है.

जीवन के महानादर्श का दिशानिर्देश करनेवाले परम पूज्य चारित्रिक ऊर्जा के धनी मुनिराज श्रीहजारीमलजी महाराज को मेरे अगणित श्रद्धाभिवादन ! अभिनन्दन !! अभिनमन !!!

श्रीअशोक मुनि

## वे महान् थे, महान् ही रहे

मनुष्य मात्र में महान् वनने की आकांक्षा स्वाभाविक होती है. किन्तु सफलता प्राप्त करने वाले विरल ही होते हैं. श्रमण संघ के महास्थविर मंत्री श्रीहजारीमलजी महाराज, महान् थे और महान् ही वने रहे. अंत तक उनकी महानता नदी से समुद्र, परमाणु से महास्कन्ध बनता है—वैसे ही विकसित और पल्लवित हुई थी.

मुनिश्री उस समय अपने स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी महाराज की चरणसेवा में तन्मयतापूर्वक संलग्न थे. जवानी आकर उनके जीवन द्वार पर दस्तक दे रही थी. इस अल्हड़ मादक अवस्था में आत्मसाधना कितनी दुष्कर होती है, इसे कठोर साधना करने वाला साधक ही जान सकता है. उस साधना में कितना आनन्द आता है, यह भी साधक के अनुभव की ही वस्तु है. वह मेरे शैशवकाल का समय था-- जव मैंने उस पुण्य आत्मा के सर्वप्रथम दर्शन किये थे. हरसोलाव व रजलानी में मुझे उनके प्रथम दर्शन हुए थे. इसके बाद दोवारा व्यावर, जोधपुर, कुचेरा तथा अंत में भीनासर के मुनिसम्मेलन में.

उस समय के पावन संस्मरण आज भी हृदयपटल पर सचित्र अंकित हैं, जिनकी स्मृतियाँ यदा-कदा हुआ करती हैं. वे शान्त सरल और निष्कपट सन्त थे. कलह और कदाग्रह की वृत्ति से सदा दूर ही रहते रहे. आज वे भौतिक शरीर से अदृश्य होगए हैं किन्तु उनके गुण, उनकी गुण-गरिमा की महक खिले पुष्प की तरह ही महक रही है. वह साधकों के हृदय में सदा स्थान पाती ही रहेगी.

'मुनि श्रीहजारीमल स्मृतिग्रंथ प्रकाशन समिति' ने उनके जीवन को व्यवस्थित रूप से लिखकर प्रकाशित करने का तथा आचार्य श्रीजयमलजी महाराज एवं परवर्ती सन्तों एवं कवियों आदि के कार्यों को प्रकाश में लाने का जो शुभ संकल्प किया, निःसंदेह वह महान् कार्य होगा. इससे इतिहासज्ञों के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री की उपलब्धि होगी.

मुनि श्रीलक्ष्मीचन्द्रजी म०

## मेरी श्रद्धा, मेरी आस्था

महापुरुषों का यशशरीर आचन्द्रार्क संजीवित रहता है. उनका यह रूप रत्नत्रय को आत्मसात करने पर ही स्थायित्व पाता है. अतः महापुरुषों का जीवन, अंधकारपूर्ण पथ में प्रकाशस्तम्भ का कार्य करता है.

महान् पुरुषों की परम्परा में से ही प्रातःस्मरणीय मरुधरामंत्री सरल स्वभावी, उदारचेता, श्रीहजारीमलजी म० भी थे. उनके अनेक जीवनप्रसंग समय-समय पर हृदय में उभरते रहते हैं. उनका पितृवत् स्नेह स्मरण आता है तो हृदय गद्गद हो जाता है.

उनका त्यागतपमय जीवन, आज के साधु समाज के सम्मुख एक पावन आदर्श उपस्थित कर रहा है. पूज्य स्वामीजी म० का यह मधुर वाक्य 'जीवन की इस सूनी वेला में बार-बार स्मरण आता रहता है—"श्रीजमनाजी वृद्धा हैं, मुझे बार-बार यही ख्याल आता है कि इनके बाद तुम दो ही रह जाओगी." हुआ भी ऐसा ही. स्वामीजी म० के १४ माह के बाद ही वे भी स्वर्गलोकवासिनी हो गईं.

श्री स्वामीजी म० की कठोर संयम-साधना का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि शारीरिक दृष्टि से अत्यंत वृद्ध होते हुए भी उन्होंने स्थिरवास स्वीकार नहीं किया था. अपना आवश्यक कार्य वे—शिष्य बराबर सेवा में प्रस्तुत रहते हुए भी, स्वयं करते थे. मेरा अध्ययन और जीवननिर्माण उन्हीं की शुभ प्रेरणा का सुफल है.

आज उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए प्रभु से यही प्रार्थना है कि हमें भी उन्हीं के पथ पर चलते रहने की प्रेरणा मिलती रहे और आत्मकल्याण की आस्था अचल बनी रहे.

साध्वी श्रीचम्पाकुंवरजी

◉

## श्रद्धा-आंजुरी

राजस्थान के गांवों और नगरों में घूमते हुए पूज्यात्मा मुनि श्रीहजारीमलजी म० के दर्शन का मुझे अनेक बार अवसर प्राप्त हुआ. उन्हें मैंने निकट से देखा. उनकी मुझ पर बड़ी कृपा थी. उनके शिष्यों से भी मेरा निकट का सम्पर्क रहा है.

उस महामना मुनि की सरल और कोमल भावना ने मेरे अन्तस को आलोकित और प्रभावित किया है. मुझे जब-जब जैन मुनियों से मिलने का प्रसंग आता है तब-तब एक आदर्श मुनि के रूप में उनकी पुण्य-स्मृति आये बिना नहीं रहती.

आज मेरी उभरती श्रद्धा उनको स्मरण करके हृदय में समाहित हो रही है. वे जहाँ भी हों, मेरे स्नेह को स्वीकार करें, यही मेरी उनके प्रति श्रद्धा-आंजुरी है.

सन्त स्वामी रामदासजी शास्त्री, रामद्वारा समदड़ी

◉

## श्रद्धासमर्पण

मेरे पूज्य पिताजी के साथ मुझे बहुत समय तक पूज्य श्रीहजारीमलजी महाराज के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था. उनके सतोगुणी स्वभाव और सरल हृदय से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ. मेरे मानस में उनके प्रति प्रगाढ श्रद्धा रही है. ऐसे सन्तों का आधार पा कर ही धार्मिक व्यक्ति इस संसार में असंतोष की अनुभूति करते रहे हैं.

ऐसे महान् सन्त के लिये मेरी श्रद्धा सदा के लिये समर्पित है.

श्रीगोपालमलजी महता, जिला एवम् सब न्यायाधीश, अजमेर

◉

## श्रद्धान्वित हूँ

वयोवृद्ध श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी म० सा० अत्यन्त सरलस्वभाव तथा क्रियावान संत थे. आपने लम्बे समय तक संयम का पालन करते हुए बहुत से क्षेत्रों को पावन किया. उन महापुरुष के जीवन से हमें बहुत-सी शिक्षाएँ लेनी हैं. मैं उन महापुरुष के संयममय जीवन के प्रति श्रद्धान्वित हूँ.

श्रीसरदारमलजी कांकरिया

◉

## हृदयंगम हों उनकी शिक्षाएँ

पूज्य गुरुदेव श्रीहजारीमलजी म०, दया, क्षमा, विनय, कर्मठता, साहस, स्फूर्ति, दूरदर्शिता, विवेक, निर्भीकता, विनोद-प्रियता, भावुकता और ऐसे ही न जाने कितने गुणों के भण्डार थे.

वे वाणी में मधुरिमा, संयममार्ग में एकनिष्ठा, दिव्यज्ञान एवं पांडित्य का वैभव लेकर संयमपथ पर अग्रसर हुए थे. उनका यही रूप मुझे उनमें प्रारम्भ से अंत तक दिखाई देता रहा.

समय-समय पर मुझे दर्शन करने का सुअवसर मिला था. वे श्रमणसंघ में मंत्री पद पर विभूषित थे. संघ की प्रगति के लिए उन्होंने अविश्रान्त परिश्रम, लगन और त्याग के साथ काम किया.

गुरुदेव के चरणों में श्रद्धा-पूर्वक शत-शत वन्दन करके प्रतिज्ञावद्ध होता हूँ कि उनकी अमृत-तुल्य शिक्षाएँ जीवन में उतारूँ.

श्री पारसमल बाफना

०

## सत्संग के दुर्लभ क्षण

स्वामी श्रीहजारीमलजी म० के सत्संग के लिये उपलब्ध जीवन के अपने क्षणों को मैं परम पवित्र मानता हूँ. आज भी उनके सत्संग में व्यतीत हुये क्षण, मस्तिष्क में तैर आते हैं तो आह्लाद की अनुभूति होती है.

स्वामीजी म० सरलता, सहृदयता, साधुता की सजीव मूर्ति थे. आपके प्रभावक व्यक्तित्व से सहस्रों व्यक्ति लाभान्वित हुए हैं तथा आपके जीवन से अपूर्व प्रेरणा ग्रहण कर बहुत-से साधक सत्यपथ पर आगे बढ़े हैं.

मुनिश्री के मिलन की मधुर स्मृतियां अविस्मरणीय हैं.

श्रीकन्हैयालाल लोढा, केकड़ी

०

## उस पुण्य-पुरुष के प्रति

भारतीय संस्कृति जीवन के बाह्य और आन्तरिक, दोनों पक्षों का सामंजस्य साधती है. इस संस्कृति की यह एक उल्लेखनीय और अभिनन्दनीय विशिष्टता है. जीवन के दोनों पक्ष यथार्थ हैं और उनमें से किसी एक की उपेक्षा करके दूसरे पर ही बल देना जीवन की समग्रता को अस्वीकार करना है. यह अस्वीकृति वैयक्तिक ही नहीं सामाजिक जीवन के लिए भी घातक सिद्ध होती है. इसी कारण भारत की संस्कृति में जीवन की समग्रता पर पूरा-पूरा लक्ष्य दिया गया है. भारतवर्ष की संस्कृति चिर-पुरातन है. उसके उद्गम का पता लगाने के लिए कोई साधन आज उपलब्ध नहीं है. ऐसा होने पर भी उसकी धारा सतत परिवर्तनशील रही है. उसके निर्माण, संशोधन और परिवर्धन में भारतीय सन्तों का प्रमुख हाथ रहा है.

वास्तव में हमारी संस्कृति में जो दिव्यता, भव्यता अंतर्मुखता और पूर्णता के तत्त्व हैं, वे प्रायः सन्तों की ही देन हैं. उन सन्तों ने भोग-विलासमय जीवन से ऊपर उठकर त्यागमय जीवन अंगीकार किया, जन-कोलाहल से दूर रहकर एकान्त वनवास अंगीकार करके जीवन के गहन रहस्यमय तथ्यों का चिन्तन, मनन और निदिध्यासन किया और तब अपने अनुभवों को प्रकाशित किया. उनकी इस तपश्चर्या के परिणामस्वरूप ही हमारी संस्कृति में आध्यात्मिकता का अमृत प्रवाहित है.

भारतवर्ष भौतिक विद्याओं में भले कई देशों से पीछे हो, मगर अध्यात्मविद्या में वह सदैव सब से आगे रहा है और अपने इस वैशिष्ट्य के लिए आज भी गौरव का अनुभव कर सकता है.

मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज उन्हीं अध्यात्मनिष्ठ सन्तों की परम्परा में एक थे. उनके हृदय में नवनीत की मृदुता, वचनों में सुधा का माधुर्य, नेत्रों में पवित्रतम सात्त्विक तेज और व्यवहार में सन्तजनोचित सहृदयता थी. साठ वर्षों से भी अधिक समय तक वे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के उत्थान में संलग्न रहे. जनता को अपने जीवनव्यवहार से और वाणी द्वारा भी श्रेयस् का पथ प्रदर्शित करते रहे और स्वर्गवासी हो जाने के पश्चात् भी अपने मधुर एवं प्रेरणाप्रद संस्मरण छोड़ गए.

इस पुण्य-पुरुष के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करके मैं अपने आपको गौरवशाली मानता हूँ.

**श्रीहरिभाऊ उपाध्याय, शिक्षामंत्री राजस्थान, जयपुर**

## *महामुनि : एक श्रद्धांजलि*

सन्तों का जीवन आदर्श और पवित्र होता है. उनके दर्शन और सेवा मानव को शुभाचरण की प्रेरणा देते हैं. सन्त का प्रत्यक्ष जीवन जितना पावन होता है उनका स्मरण भी उतना ही पावन होता है.

तपोधन मुनि श्रीहजारीमलजी म० के प्रत्यक्षीकरण का मुझे अनेक बार सौभाग्य प्राप्त हुआ है. उनसे दूर रहकर मैं जितना उनके जीवन से प्रभावित हुआ, निकट जाने पर मेरी श्रद्धा और,भी वलवती होती गई.

आज वे नहीं हैं. उनके तप-त्यागमय जीवन का प्रतिविम्ब उनके शिष्यों में पाकर मैं हार्दिक प्रसन्नता अनुभव कर रहा हूँ. किसी भी सन्त के आदर्श हम में कितने मुखरित हो रहे हैं ? यह है महत्त्वपूर्ण प्रश्न. उनके उपदेशों के तथा उद्देश्यों के अनुरूप सामाजिक चलें तो निश्चय ही समाज का आध्यात्मिक अभ्युदय हो सकता है.

सं० २०१४ में उनका चौमासा जोधपुर था. तब और इससे पहले अनेक बार उनकी चिकित्सा-सेवा करने का अवसर मुझे मिला है. उस अलौकिक महापुरुष के साक्षात्कार से मेरे मन और आत्मा में परमशक्ति और संतोष प्राप्त हुआ. २०१४ के वाद उनसे शुभ मिलन नहीं हो पाया. आज उस शान्त मनीषी का स्मरण करते हुए मेरी सन्त पुरुषों पर गहरी श्रद्धा उभर कर ऊपर आ रही है.

उनकी स्मृति को चिरस्थायी करने के उद्देश्य से 'स्मृतिग्रंथ' का आयोजन वहुत सुन्दर लगा. उस अदृश्य पुरुष को मेरे अनेकों भाव-प्रणाम और शुभ स्मरण.

**पं० उदयचन्द्र भट्टारक, आयुर्वेदमार्तण्ड, प्राणाचार्य, वैद्यावतंस महोपाध्याय, राजमान्य राजवैद्य.**

## *उनके तीन गुण*

महान् पवित्र आत्मा मेरे गुरुदेव ! तुम्हें कैसे श्रद्धांजलि अर्पित करूं ? गुरुजनों की आज्ञा है कि मैं अपने मनोभाव लिखूं. पर सोचती हूँ मुझ में सामर्थ्य कहाँ ? गुरुदेव के गुण तो अनन्त हैं.

कवीर के शब्दों में अगर सम्पूर्ण पृथ्वी का कागज वनाया जाय, सम्पूर्ण वनराजि के वृक्षों की कलम और सभी समुद्रों की स्याही वनाई जाए तो भी हृदय में उल्लसित भावों को लिखना संभव नहीं.

गुरुदेव ! आपकी महिमा निराली थी. आज मुझे अपना अतीत स्मरण हो उठा है, वाल्यकाल से ही आपकी कृपादृष्टि का सौभाग्य मुझे मिल गया था. पिता, पति, स्वसुर आदि के वियोग के वज्र जव मुझ पर गिरे उस समय आप ही ने वड़े आश्वासन भरे मधुर व हृदयस्पर्शी शब्दों में सान्त्वना दी थी—'यह संसार परिवर्तनशील है. सभी को काल के गाल में समाना है, मृत्यु के सामने किसी का वश नहीं चलता, अतः धैर्य धारण करो.' आज मुझे वह सव कुछ याद आता है,

जिन्हें उनके कंठविनिर्गत पद और भजन सुनने का सौभाग्य मिला है, वे भली भांति जानते हैं कि उनकी वाणी में कैसा अनोखा जादू था. उनकी धर्मदेशना का अद्भुत प्रभाव होता था कि लम्बा समय भी व्यतीत होते पता नहीं चलता था. मैंने लोगों को कहते सुना है "चालो मीठो वखाण सुणणने चालो कांई" मधुरता के साथ-साथ उनकी भाषा में बड़ा ही ओज तथा प्रवल आकर्षण था.

दयालुता, वचनदृढ़ता और निर्ममत्व उनके स्वाभाविक गुण थे. संवत् २००१ में इसी महान् सरलात्मा के चरणकमलों में दीक्षा स्वीकार करने की मेरी इच्छा हुई. किन्तु गुरुदेव व गुरुणीजी व्यावर में नहीं थे. इच्छा व्यक्त करते ही विद्युत् वेग की तरह सम्पूर्ण शहर में चर्चा फैल गई. मेरे भाई गुलाबचन्द जी मुणोत गुरुदेव के पास अश्रुपूर्ण नेत्रों से पहुँचे. उन्हें रोते देख गुरुदेव की आँखें भी सजल हो गईं. वोले—'गुलावचन्द भाई, क्या वात है ? रोओ मत, वात कहो ।'

गुलावचन्दजी ने निश्वास छोड़ते हुए कहा—'गुरुदेव वड़ी आशा लेकर आया हूँ.'
गुरुदेव वोले—'कहो न फिर !'

वे कहने लगे—'गुरुदेव, वाई संयम लेने को कहती है. यह मेरे लिये ही नहीं, दोनों परिवारों के लिए असह्य है. हम इसे साध्वी के रूप में नहीं देख सकते ! वाई को वहुत समझाया, पर वह नहीं मान रही है. अपने विचारों में अडिग है ! अत: मैं आपसे एक आश्वासन लेने आया हूँ.'

'वह क्या ?'

'मैं दीक्षा नहीं दूंगा,' वस यही आपसे सुनना चाहता हूँ हुजूर ! आप पर दृढ़ विश्वास है और मैं यहाँ से प्रसन्न चित्त होकर घर वालों को खुश खवर सुनाऊंगा दयालु! आपके मना कर देने पर दीक्षा नहीं हो सकेगी.' गुरुदेव ने फौरन कह दिया था—'चिन्ता मत करो गुलावचन्दजी, मैं क्या मेरी आज्ञा में रहने वाला कोई संत या सती, यहां तक कि राजस्थानी कोई भी साधु साध्वी तुम्हारी वहिन को दोनों घर वालों (सुसराल और पीहर पक्ष) की प्रसन्नता पूर्वक प्राप्त आज्ञा के विना—दीक्षा नहीं देंगे.' फिर पीठ पर थपथपी लगाते हुए कहने लगे—'अव मत रोओ. चिन्ता दूर हो गई न ?'
गुलावचन्दजी प्रसन्न थे. उनकी कामना सफल हुई. यह है गुरुदेव की दयालुता का ज्वलन्त उदाहरण. दूसरा उनका गुण था—'कहे हुए शब्दों पर दृढ़ता.'

इस आश्वासन का पता लगने पर मुझे वड़ा दुःख हुआ. पर क्या किया जाय ? कुछ ही देर वाद, वात दिमाग में आ गई. गुरुदेव ने ठीक ही तो कहा—'आज्ञा के विना जैन मुनि दीक्षा नहीं देते. मैं आज्ञा प्राप्त करूंगी तो दीक्षा लेने की मनाई भी नहीं होगी.'

किन्तु आठ वर्षों तक अत्यन्त कोशिश करने पर भी आज्ञा नहीं मिली. तव स्वयं दीक्षा ग्रहण कर ली. किन्तु गुरुदेव व गुरुणी-जी म० ने मुझे स्वीकार नहीं किया. तव मैंने गुरुदेव के समक्ष नम्रता पूर्वक प्रार्थना की. 'गुरुदेव, अव तो मैं घर जाने वाली नहीं हूँ. महाव्रत दे दीजिये.'

उत्तर मिला—'मैं वचन दे चुका हूँ. तुम्हें दीक्षा नहीं दे सकता.' किन्तु महान् सौभाग्य से उन दिनों पंजाव प्रान्तीय पं० श्रीविमलमुनि जी आगए और दीक्षा हो गई. यह थी गुरुदेव की वचनदृढ़ता.

तीसरा गुण निर्ममत्त्व तो इसी से स्पष्ट है कि मैं गुरुदेव की शिष्या वनने जारही थी. गुरुदेव का ही परिवार वढ़ रहा था. फिर भी वे चेली के मोह से ऊपर उठे रहे.

दीक्षा के वाद मैं गुरुदेव के चरणों में पहुँची. देखते ही कहने लगे—'कांई ओ ! गुलावचन्द जी की वहन, साधुपणों सोरो है ? विहार अने लोच विगेरा सोरो हुयो ?'

मैंने कहा—'तहत्त.' तत्पश्चात् गुरुणी जी से कहा—कांई ओ झमकूजी, मारग में आहार पाणीरी तकलीफ तो नहीं रही ?' 'सव जोगवाई ठीक वैठ गई गुरुदेव ?'

कितने मीठे और मधुर शब्द थे उस महापुरुष के.

दीक्षा के बाद गुरुदेव की छत्रछाया में दो चातुर्मास साथ-साथ किये, अजमेर और जोधपुर. जोधपुर चातुर्मास के बाद हमें विहार करना पड़ा. अजमेर जाकर गुरुणीजी म० को आचार्य की एवं मुझे शास्त्री की परीक्षा देनी थी—पाथर्डी बोर्ड की. अतः गुरुदेव का शुभाशीर्वाद लेकर प्रस्थान किया. उस समय कौन सोच सकता था कि यही गुरुदेव के अन्तिम दर्शन हैं ? गुरुदेव से आज्ञा लेकर जयपुर चातुर्मास करके अलवर, देहली, शिमला, भाखड़ा नंगल होते हुए लुधियाना आचार्य महाराज की सेवा में पहुँचे. वहाँ चातुर्मास करके जम्मू-कश्मीर आदि स्थानों में पहुंचे. वहाँ भी गुरुदेव की ओर से बराबर पत्र मिलते रहते थे. हम जब तक उधर रहे, आपको हमारी बड़ी चिन्ता रही. आने जाने वालों से आप हमारे समाचार पूछते, जिनमें छोटी-छोटी बातें भी सम्मिलित रहती थीं.

कश्मीर और पंजाब का विहार समाप्त कर हम सब शीघ्र गुरुदेव की सेवा में पहुँचने और साथ ही चातुर्मास करने को उत्कंठित थीं, परन्तु विधि को यह स्वीकार नहीं था. देहली में ही यह हृदय-वेधी समाचार सुनने को मिला कि गुरुदेव स्वर्ग सिधार गए. श्रीआनन्दराजजी सुराणा तार लेकर आए. गुरुदेव के स्वर्गप्रयाण के समाचार से दिल दहल उठा. हृदय से चीख निकल पड़ी. नेत्रों के आगे अंधकार छा गया. मानों सब कुछ लुट गया. आशाओं पर पानी फिर गया. लोकोत्तर सरलता, सौजन्य और संयम की वह महनीय सजीव प्रतिमा सहसा विलीन हो गई।

आह, असीम सामर्थ्य का धनी मानव इस जगह, कितना विवश है ! यहाँ पर असहाय और क्षुद्र बन जाता है. गुरुदेव, आप उसी उदारता करुणाशीलता और सौजन्य की प्रतिमूर्ति बनकर हमारी कोटि-कोटि वन्दना स्वीकार कीजिए.

साध्वी श्रीउम्मेदकुंवरजी

●

## श्रद्धा पुरुष

स्वामीजी महाराज सूक्ष्म अहिंसावादी, कठोर ब्रह्मचारी, परमविनीत, अत्यन्त निरभिमानी थे. उनका हृदय करुणा और वात्सल्य के अणु परमाणुओं से निर्मित हुआ था.

आत्मा के उक्त स्वाभाविक गुण उन्होंने फूल-सी कोमल अवस्था में गुरुचरणों की छाया में रह कर प्राप्त किये थे. आज के जैन मुनियों को देख कर मैं मानता हूँ कि उनका जीवन परम आदर्शमय था. वे करुणा-भावना से निर्मित हुए, कठोराचरण में ढले और ब्रह्मचर्य के तेज से चमके थे.

मैं और मेरी प्रत्येक शुभ प्रवृत्ति का क्षण उस श्रद्धापुरुष मुनिराज श्रीहजारीमलजी महाराज के प्रति श्रद्धानत है.

अचलसिंह, एम० पी०
अध्यक्ष, अ० भा० स्था० जैन कॉन्फ्रेंस, देहली

●

## वह सन्तपुरुष महान्

इस संसार में अनन्तकाल से समय-समय पर ऐसे जगत् प्रसिद्ध सन्त महात्मा होते आये हैं जिनके प्रातःस्मरणीय नाम आज तक चले आ रहे हैं. परन्तु कुछ ऐसे भी सन्त हुये हैं जिनका नाम जगत्विख्यात नहीं हुआ. किन्तु उन्होंने अपनी आत्मा का परम साध्य पाकर उच्च स्थान प्राप्त किया है. ऐसे ही संतों की पंक्ति में इस सदी की महान् आत्माओं में श्रीहजारीमलजी म० भी हैं. कवि शेक्सपीयर के शब्दों में—'उनके जीवन का सदैव यही ध्येय था कि नाम में क्या रखा है 'आत्मा का उद्धार या जीवन की सफलता तो सदैव कृतित्व में है.' मेरी दृष्टि में इसी कथन को उन्होंने साकार कर दिया था. वे हमेशा उपदेश में यही भाव दर्शाते थे कि जिनके हृदय में लेशमात्र भी दया नहीं है वे यदि ज्ञान की बड़ी-

वड़ी वातें बनाते हैं तो उनका ज्ञान उन्मत्तप्रलाप मात्र है. जो भी उनके सम्पर्क में आया और जिसने उनके वचनामृत का पान किया, वही उनकी संत प्रकृति व अनेक सद्‌गुणों का भक्त बन गया. वे महान् सरलहृदय सन्त थे. उन्होंने जीवन भर कभी नाम पाने की आंकाक्षा नहीं की. जो भी सन्तप्तहृदय उनके पास पहुँच गया उसे सदैव सन्मार्ग का उपदेश देकर अशोक-वाटिका में पहुँचा दिया. यही उनकी महान् देन उनके उपदेशों में सदैव झलकती रहती थी—'वर्तमान वर्ते सदा सो ज्ञानी जग मांय' उन्होंने जिन भावों से सांसारिक सुखों का त्याग किया उन्हीं उच्च भावों को जीवन भर कायम रखा.

वैसे तो स्थानकवासी समाज में साम्प्रदायिक मोह अभी तक कुछ अंशों में विद्यमान है और प्राय: श्रावकगण में कुछ लोग अभी तक इसे मान्यता भी प्रदान करते हैं मगर जो भी स्थानकवासी जैन इस महान् आत्मा की सेवा में उपस्थित हुआ और जिसने वचनामृत का पान किया, उसने अपने सम्यक्त्वदाता गुरु के समान उनका सादर सत्कार किया.

श्रीसरदारमलजी छाजेड़

## जेनी सुवास सर्वत्र म्हेकी रही छे

कुदरतना गर्भागारमांथी विश्वना विशाल भूमंडल पर प्रतिदिन अनेक व्यक्तिओ प्रवेशे छे अने विदाय ले छे. परन्तु चित्र-गुप्तना चोपडे अे सोनी नोंध लेवाती नथी अने स्मृतिये जळवाती नथी.

आम छतां आ सनातन नियम सर्वथा अपवादविहीन तो नथीज. अनेक पयगंबरो, तीर्थंकरो, ज्योतिर्धरो अने महापुरुषो के जेओअे पृथ्वी पर प्रवेशी, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि सत्योनो विश्वने संदेश आप्यो, अेमनी नोंध इतिहासना पाने सुवर्णाक्षरे अंकाई छे, अने अेमनी स्मृति युग-युगथी लोकोना अन्तरमां दृढ़ स्वरूपे सचवाई रही छे.

आ ग्रंथमां अेवा एक वीतरागी सन्त श्रीहजारीमलजी म० नी स्मृति जनहृदय पर चिरंजीव राखवानो सुयोग्य प्रयास करवामां आव्यो छे-

स्मृतिग्रंथ प्रकाशन समिति द्वारा प्रगट थयेल 'महकता व्यक्तित्व' शीर्षक पुस्तक द्वारा जाणवामां आव्युं के मात्र अगीयार वर्षनी कुमली दये श्रीहजारीमलजी म० नुं जीवन, तप, त्याग, वैराग्यथी सर्वथा योगनिष्ठ बनी गयुं हतुं. अेमना अंतरमां प्रेम, करुणा, त्याग अने मध्यस्थभाव महेकता. संसार अेपणाथी पीडित मानवीओ प्रत्ये अेमनी संवेदना सदैव जागृत रहेती, संसारत्रस्त मनुष्योना अे आश्वासन हता.

चिंतन, मनन आत्मरटन, निदिध्यासनमां अे सदा ओतप्रोत रहेतां, धर्मोपदेश आपता त्यारे ज्ञान, विरक्ति अने मृदुतानी सुरभि अेमना शब्दे-शब्दे टपकती, अेमनी वैराग्यमूलक वाणीनो स्रोत श्रोताने मंत्रमुग्ध बनावी देतो. तोली तोली ने बोलाता शब्दो आकार लेतां त्यारे अेमां सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्रनी प्रतिभा प्रतिबिम्बित थती.

मूले आचार्य श्रीजयमलजी महाराजना संप्रदायना अे संत श्रमणसंघनी स्थापना पहेलां वी० सं० १९८८ मां पाली मुकामे भरेला ६ संप्रदायना संघना प्रवर्तक रह्या. अे वाद वर्धमान श्रमण संघनी स्थापना थतां तेमनो संप्रदाय श्रमणसंघमां प्रविष्ट थतां तेओ विशाल श्रमणसंघना अेक प्रतिभाशाली सन्त बन्यां.

आ प्रभावशाली सन्त श्रीहजारीमलजी महाराजनी स्मृति रूपे आध्यात्मिक, तात्त्विक, शैक्षणिक आदि विविध प्रकारना साहित्यथी समृद्ध अेवो स्मृतिग्रंथ प्रकाशित थई रह्यो छे, अे माटे स्मृतिग्रंथसमितिने धन्यवाद छे.

जेओ अेमना जीवनकाल दरम्यान वीतरागी, योगनिष्ठ, आध्यात्मिक अने उत्कृष्ट साधक जीवननी सुन्दर सुवास पसारी गया अेवा श्रीहजारीमलजी म० श्री प्रत्ये हुं मारी आ भाव-भक्तिभरी श्रद्धांजलि समर्पुं छुं.

श्रीखीमचन्द मगनलाल वोरा, मंत्री, अ० भा० स्था० जैन कॉन्फ्रेंस

# दो बूंद आँसू

संध्या ने दोपहरी को ढाल दिया था.
क्योंकि सांझ संवरने लगी थी,
छुटपुटा फैलने की तैयारी में था
और
आकाश नीरव था—कसावट गहरी थी उसमें
हवा भारी थी—बोझिल—और उदासी से बँधी हुई,
बादलों का जैसे मौनव्रत था.
घर के द्वार पर देहरी के पास
दीवार से सटी हुई,
बैठी है एक नारी—मूर्तिवत् !
ललाट पर उभरी हैं चिन्तन की रेखायें,
कम्पन नहीं है उनमें.
पर गहरी स्थिरता है.
रेखायें जब बनती हैं चिन्तन की
तो सजीव हो उठता है वर्तमान
कर्मभाव मुखरता है—
दृढ संकल्प की निष्ठा तत्पर हो उठती है.
ऐसा पल घुमड़ा है अभी
इस नारी की आँखों में—
आँखों में आकाशी चमक है,
सज्जित है सौम्य श्रृंखला से वह
रंजित है—सरलता—पवित्रता के अनुराग में.
ममत्व के बांध से बंधी हुई, देवी वह
बैठी है—निर्विकार.

पर, मंथन विचारों का मथ उसे रहा है.

वह मां है—नन्द की मां—
हजारी के वात्सल्य की दात्री.

विचारों ने करवट ली—
लाल मेरा ! कैसा पगला है
सोचने लगा है क्या ? अभी से बात वर्तमान की.
वर्तमान ! हाँ वर्तमान की बात जो कही है अभी.
याद है मुझे वह वाणी—आज भी
मधुर स्वर वह चिरन्तन सत्य—सा,
वर्तमान को आस्था दो
वर्तमान संबल है मानव के मन का.

कचोटती है तन और मन को—
अतीत की स्मृतियाँ, आकुल बना जाते हैं

विडम्बना के भाव जब वे भूत के जगते हैं—
कहा था साध्वी चोंथांजी ने सुमधुर वाणी में
ब्यावर में.

जब नौ का था पुत्र हजारी मेरा,
जाने क्या रेख पढी मेरे मस्तक की—
साध्वी ने और फिर कहा था—
वर्तमान प्रबल है.

शक्ति का संबल है.

कंबल है शान्ति का—जो घटा देता है
अतीत के शीत को.

तुम देवी मेरी ओर देखकर बोली थीं.

अतीत के दुःख में डूबो मत
रिता दो पीडा के घट को
बूंद बूंद ही सही पर दुःख को विसार दो.

और फिर नन्द को—
हजारी को देखकर दुलार की वाणी में कहा था—
इसमें अलौकिक शक्ति की प्रभा समाई है.

सरले !
तुम सरल हो, सहृदय और सुकोमल हो.

वर्तमान पर चलना ही श्रेय है—
इसी से गौरव बनोगी तुम हजारी से पुत्र की.

श्रद्धा के भाव से उनके चरणों में,
झुक गया था माथ तब मेरा अनायास ही
और आज वह कहने लगा है सयाना बन,
बात वर्तमान की.

माँ ने देखा और ममत्व की धार वह चली.

कैसा तल्लीन था आत्मलीन-सा हुआ
जब सुनी थी धर्मदेशना गुरुजी की
मुनि श्री जोरावरमल की.

प्रवचन सुन उनका,
भीग गया था जैसे उसके प्रवाह में.

लगता है मुझे यह गुरु का प्रसाद है—
तभी—
मन मेरे लाल का खोया है,
सन गया है शायद—निर्वेद के भाव में
गुरु की वैराग्यमूलक वाणी से.

तभी तो कहता है—कहा है अभी—
मां ! वर्तमान पर सोचने वाली हो तुम तो.

छोड़ा अतीत और भविष्य के विचार को.

सत्य है विचारना ही वर्तमान का.

मन के—उलझने से—
अतीत और भविष्य के काल्पनिक जाल में,
कर्मनिबद्ध होती है आत्मा.

पुत्र सच कहता है—
वर्तमान सत्य है.
ममता के विचार जगे.
और हौले से पलकें उठा कर देखा—
विनीत रूप में बालक हजारी खड़ा है,
नेत्र झुकाकर—मां के सम्मुख.
साधना की दिशा में बढ़ने को,
पाने को आज्ञा मां की.
पर मां खोई है विचारों में.

बालक हजारी ने सहसा ही तोड़ कर विराम कहा—
बोलो मां, 'बोलो तो'—
तुम क्यों मां मौन हो.
कहा था—गुरुणी ने जो सत्य है—है न सत्य ?
हां वत्स !, वाणी झंकार उठी मां के निश्चय की !
सत्य है—गुरुणी का कथन भी.

और उचित है यह भी जो—तू कह रहा.

तो मां,
फिर आज्ञा दे दो न—दीक्षा की.

चाहता हूँ धर्म की सेवा में समर्पित यह
जीवन हो.

बात कह मौन हुआ हजारी
और फिर डूबी-सी ममत्व के सागर में.

बैठी थी दीवार से सटकर,
ताक रही थी शून्य में—ऊंचे आकाश को.

संध्या तब गहरी थी—उतर आई,
प्रकृति शान्त थी खामोश थी.

हवा भारी थी—उदासी से डूबी हुई.
और भारी था—मां का कलेजा भी.
पर वह मां थी—स्नेहमयी.
कर्त्तव्य और धर्म के भाव में पगी हुई.

तभी एक—गर्जन हुआ—सन्नाटा चीरकर
बादल की कोख से बिजली गरज उठी,
वेग उठा प्रभंजन का—प्रकृति मचल उठी.

मां ने अपने को समेट कर
पुत्र को वक्ष से लगा कर
मस्तक पर प्यार का चुम्बन दे

बोली वह—करुणामयी—-
तू मेरी ममता का केन्द्र है,
लाल मेरे—जीवन का तू ही सर्वस्व है,
पर, पाषाण सा अचल है—निश्चय तेरा.
यह मैं जानती हूँ.
तेरे भावों को कर लिया है हृदयगंम मैंने.

तुझे सुख है साधना में ही—

तो मैं आज्ञा देती हूँ—
तेरा पथ प्रशस्त हो—सेवा कर जन-जन की.
कि सहसा एक झोंका—सा आया, और

भर उठी धरती आलोक से—
बादलों ने गूंज कर नौछावर
करदी बूंदों की.

मां तू कितनी अच्छी है—
मेरी मां, गद्गद हुई वाणी हजारी की.
मां के चरणों की धूल लगा मस्तक पर
पुत्र ने विदा ली ! सेवा व्रत लिया.
लाल मेरे—पर कंठ अवरुद्ध हुआ
जननी का.

भगवान् महावीर तेरा कल्याण करें—
और आनन्दमय—व्यथा के कोष से—
टपक पड़े—दो बूंद आंसू—
मोह छोड़ पलकों का.

प्रो० राधेश्याम त्रिपाठी, एम० ए०

## स्वागत प्रभात के प्रभा-पुत्र !

स्वागत ! जन-मानस के मानधनी,
स्वागत ! धरती के कण-कण का,

नील गगन का, मुक्त पवन का
जन-जन का स्वागत ! स्वीकारो
है धवल नवल प्रिय विमल

तुम्हारा सत्-शिव-सुन्दर—
स्वर-स्वर मधुर-मुखर मन
स्वागत ! श्रद्धा-भाव-भावना-भू
तुम्हारा शाश्वत स्वागत !

उतरो नीलाभ गगन से
विचरो मानस की लहरों पर
बैठा निर्मल तल में डुबकी लगाकर

मुक्त करो स्नेहिल सीपी को—
चुन-चुन बीनो विवेक के मोती
ये अनमोल ! भोले ! ये मोती अनबोले !
शान्ति-क्षितिज पर सत्य-सूर्य चमका है.

स्वागत ! प्रभात के प्रभा-पुत्र !

ये आकुल नयन हजारों दर्शन के प्यासे हैं,
हुलसो हिमहिय हरखो हे हितकारी
स्वागत ! संत हजारी !

श्रीओंकार पारीक

## वह देवपुरुष महान्

सात्विकता के पावन प्रतीक,
महानता में सूर्य सम,
दिव्य ज्ञान का दे प्रकाश,
मिटाया हृदय का घोरतम.

याद रहेगा युग-युग तक वह,
अमरता का सुरम्य ज्ञान.
दिया कभी था जो वसुधा को
तुमने देव-पुरुष महान्.

सौ० मदनकुँवर पारख

## गौरव-गान

[तर्ज :—देख तेरे संसार की हालत ......]

स्वामी हजारीमल गुरुवर के, गाओ गौरव गान।
जिससे होवे परम कल्याण ।। टेर ।।

सम्यक् पाला संयम गुरुवर, सम्यक् पाया ज्ञान।
निर्मल गुण रतनाँ की खान ।।

नन्द कुँवर बाई का जाया,
अखिल विश्व में सुयश कमाया।
संयम साध उच्च-पद पाया,
सत्-पुरुषों में नाम कमाया,

जीवन मेरा उन्नत होवे ऐसा दो वरदान
जिससे होवे परम कल्याण—

जय गच्छ नायक पूज्य हजारी,
शुद्ध करणी कर आतम तारी।
उज्ज्वल-यश की किरणें सारी,
फैल रही हैं देव ! तुम्हारी ।।

मेरे मन के पूरण करदो अब सारे अरमान
जिससे होवे परम कल्याण—

'व्रज' मुनिवर हैं 'मधुकर' प्यारे,
जगमग चमके शिष्य तुम्हारे।
जैन जगत् के दिव्य सितारे,
जन मन गण के एक सहारे ।।

संयम-पथ के साधक स्वामी पाली जिनवर आन
जिससे होवे परम कल्याण—

तव चरणों में शीश झुकाऊँ,
श्रद्धा के दो पुष्प चढ़ाऊँ।
मन मन्दिर में तुम्हें बिठाऊँ,
विमल प्रेम की ज्योति जगाऊँ।।

'हीरा मुनि' नित बलि २ जाये जैन धर्म की शान
जिससे होवे परम कल्याण—

श्री हीरा मुनि जी म० 'हिमकर'

# आज मस्तक स्वतः ही झुका जा रहा है

आज मस्तक स्वतः ही झुका जा रहा,
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हें.

किन्तु वाणी कहे आज क्या किस तरह,
किस तरह वह तुम्हारी करे अर्चना ?
किस तरह वह तुम्हारे गुणों को कहे,
क्या करे वह नये कोप की सर्जना ?

स्नेह भीने सहस्रों हृदय अश्रुओं से,
करेंगे गुरुवर्य चर्चित तुम्हें.
आज मस्तक स्वतः ही झुका जा रहा,
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हें.

था लहरता तुम्हारे नयन में सदा,
स्नेह का एक निस्सीम निष्पाप सागर.
कि करुणा उमड़ती सदा बन तरंगें,
गगन कांपता डोल जाता प्रभाकर.

जगत् के प्रलोभन सदा दूर रहते,
कि मानों प्रताडित किया हो उन्हें.
आज मस्तक स्वतः ही झुका जा रहा,
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हें.

सुकोमल वयस में गहा मुक्ति का पथ,
सदा अग्रसर किन्तु होते रहे थे.
कभी भी न नन्हें चरण डगमगाए,
महत साधना-भार ढोते रहे थे.

दिखाया सदा पथ भटकते हुओं को—
किया आत्मवत और हर्षित उन्हें.
आज मस्तक स्वतः ही झुका जा रहा,
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हें.

'हजारी' हजारों वरस तुम हृदय में,
वहो प्रेरणा का सहज स्रोत बनकर.
सभी आत्माएँ बनें भद्र तुम-सी,
तुम्हारे सुगुण ही रहें सब बिखर कर.

हुआ क्या न सशरीर हो जो यहां पर,
न करना कभी पर विसर्जित हमें.
आज मस्तक स्वतः ही झुका जा रहा,
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हें.

तपोधन ! तुम्हें वन्दना बार सौ-सौ,
सहस बार स्नेहांजलि भेंट तुमको.
महादिव्य आत्मा, महा प्राणयोगी,
सहस बार श्रद्धांजलि देव तुमको.

हृदय में सदा छवि तुम्हारी रहेगी,
दृगों ने किया क्योंकि चित्रित तुम्हें.
आज मस्तक स्वतः ही झुका जा रहा,
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हें.

श्री कमला जैन 'जीजी' एम० ए०

## म्हारि भाव आंजलि

परमपूजनिक महाभागवान श्रीहजारीमलजी महाराज सा० म्हारी परम्परा सुं गुरु होतां छतां उण उत्तम पुरुषां ने परम्परा गुरु सम्बन्ध सुं अलग राख ने देखतां छतां भी वां निर्मल चारितवान पुरुषां ने मानतो झुकतो लुलतो म्हांरो मन उणां रो दास हो गयो.

बड़ा सरल स्वभावी, भदरीक आत्मा श्रीहजारीमलजी म० सा० रा दरसण रो सौभाग म्हाने घणीवार मिलतो रयो हो. स्वामीजी० सा० रो बी म्हारे उपरे घणो उपकार हो.

असातारो उदो संसार में सबां के लारे लागोडो है. हूं परम पवित्तर आतमा री सहण-सगती री कांई तारीफ करूं. घोर सुं घोर असाता रो उदो होतां छतां बी वे घणा मजबूत रहता हा. म्हैं उणारी सहणसगती निहाल-निहाल घणो अचंबो करतो. करम-सिद्धाँत पर वारी घणी अटूट सरधा ही.

म्हें आपसूं घणी वार ठाणापति विराजण री वीणती करी. पण वां रो साहस अटूट हो. ठाणापति विराजण री वीणती सिकारी कोनी, वे एक आ हीज कहता के ठाणापति रेवण सूं गोडा थाक जावे. म्हारो बस चालसी जठा तक ठाणापति रेवण रो मन कोनी. इण तरह सूं स्वर्गवास पेली भी घणी वार वीणंती करी ही.

"चारितवान निरमल आत्मा रो भव-भव में सरणो होइजो" आ भावना भातां म्हारे हिरदे में पूज गुरुदेव री खामी घणी खटके है. वारी पवित्तर आतमां ने हूं बार-बार म्हांरी भाव-भरी आंजली अरपण करूं हूं.

सेठ श्रीमोहनमलजी चोरडिया

## स्वामी श्रीहजारीमलजी म०

पूज्यश्री हजारीमलजी म० के लिये 'स्वामीजी' विशेषण योग्य था. वे वस्तुतः समाज के स्वामी ही थे. स्वामित्व का अधिकार वहाँ शोभित होता है जहाँ सरलता होती है. उनमें जितनी सरलता और विमलता थी वह और वैसी सरल आत्मा के आज कहीं खोजे भी दर्शन नहीं होते हैं. जब-जब मुझे उनकी स्मृति आती है तो उनके साथ बीते बाल्यकालीन स्वप्नचित्र आंखों में तैर जाते हैं. मस्तक श्रद्धा से झुक-झुक जाता है.

आदरणीय श्रीहजारीमलजी म० मेरे कुलगुरु थे. परन्तु कुलगुरु के ममत्वभाव से ऊपर उठकर भी एक अपरिचित मुनि की पंक्ति में खड़े करके अनेक बार मेरे तर्कशील मस्तिष्क ने उन्हें जांचना तथा परखना चाहा. तब भी उनकी सरलता ने मेरे हृदय की भक्ति एवं स्नेह को ही प्राप्त किया है.

आज उनकी माटी की काया हमारे मध्य नहीं है परन्तु मैं ऐसा मानता हूं कि उनकी दृढ़ चरित्रनिष्ठा, प्रबल करुणा और निश्छल निष्कपट हृदय हमारे रक्ताणुओं में प्रवेश कर जाय तो हम धन्य हो सकते हैं. हम में धन्यता उनके गुणों को स्मरण करने पर भी प्राप्त हो जाय तो इससे बढ़कर हमारा सौभाग्य क्या हो सकता है ?

मेरा सन्तार्पणभाव—मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज जैसे सन्तों के लिए अर्पित है.

श्रीआनन्दराजजी सुराणा

## मेरे परम्परा गुरु !

पूज्य गुरुदेव श्री हजारीमलजी म० मेरी पैत्रिक परम्परा से गुरु रहे हैं. उनमें स्नेह सौजन्य आदि कुछ ऐसे गुण थे जिन्होंने मुझे एकान्त श्रद्धावादी बना दिया है. वे हमारे परम्परा से गुरु तो थे ही, सेवा और भक्ति-केन्द्र भी बन गये थे.

मुन्शी श्रीघेवरचन्द्रजी पारख

## श्रद्धा-सुमन समर्पित तुमको

अगरवत्ती जब से जलती है तभी से सुवास विकीर्ण करना प्रारम्भ करती है. अन्त तक सुवास देती है ! मुनिश्री अपने जीवन के प्रारम्भ से अन्त तक अपनी आत्मसाधना और समाज अभ्युदय के कार्यों की सुगन्ध से परिव्याप्त रहे, उन्होंने स्वसाधना और जनकल्याण के कार्य किए परन्तु जल में कमल बन कर. कमल प्रारम्भ से अन्त तक पानी में रहता है परन्तु कमल पर पानी की बूंद भी दिखाई पड़ती है ? नहीं ! स्वामीजी म० भी ठीक इसी प्रकार का साधु समाज में आदर्श जीवन व्यतीत कर अतीत हुये हैं.

वह जीवन क्या है, जो संसार को प्रेम का धन न बाँट सके ? वह वक्ता और विचारक, क्या वक्ता और विचारक है जो सम्प्रदाय और व्यक्ति को समाज के प्रति केन्द्रित करने का प्रचार न करे ? स्वामीजी म० ने जीवन भर सर्वत्र प्रेम की वृष्टि की. शान्ति की पावनी गंगा बहाई. उनकी वात्सल्य भावना में जिसने भी स्नान किया वह समभव-साधना का अमर पुजारी बना.

आज मैं, चतुर्दिक देख रहा हूँ. वैसा महामानव मुझे कहीं दृष्टि पथ नहीं होरहा है. उनके संसार के लिये किये गये उपकार अमर हैं. इसलिये वे स्वयं भी अमर हैं. संसार उनका चिरऋणी है. मैं, उनके उपकारी जीवन और गुणों के प्रति श्रद्धा अर्पित करते हुए अपने श्रद्धाशील हृदय में सुख अनुभव करता हूँ.

श्रीमूल मुनिजी म०

◉

## वह युगपुरुष महान्

उस युग पुरुष के निस्पृह जीवन की परिक्रमा करने पर, मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ—"युग-युग तक उनकी कीर्ति-कथा, सहस्र-सहस्र कण्ठस्वरों से फूट कर उस पूज्य पुरुष तक पहुँचती रहेगी और वे अपनी सन्तजनोचित विशेषतावश उसे अस्वीकार ही करते रहेंगे !"

श्रीसोहनमुनिजी म०

◉

## जीवनधर्म के कुशल और यशस्वी कलाकार

कलाविहीन जीवन, जीवन नहीं है. कलामय जीवन ही सच्चा और सफल जीवन है. वह जीवनकला कौन-सी है जो जीवन को धन्य, कृतकृत्य और सफल बना देती है ?

इस सनातन प्रश्न का उत्तर जीवन के मर्मी शास्त्रकार एक ही वाक्य में इस प्रकार देते हैं :—

सव्वा कला धम्मकला जिणेइ.

अर्थात् सभी कलाओं में धर्मकला सर्वश्रेष्ठ है. प्राकृत जीवन को संस्कृत बनाने के लिए 'कला' की आवश्यकता होती है और कलामय जीवन बनाने के लिए धर्म की आवश्यकता रहती है.

पूज्य मुनि श्रीहजारीमलजी म०सा० निर्ग्रन्थ भिक्षु थे, ज्ञानी, त्यागी, तपस्वी थे; लेकिन सही अर्थ में वे थे जीवन-धर्म के यशस्वी और कुशल कलाकार. मैंने हजारों जन-मन को अपने जीवन-धर्म की कला से संस्कृत और पावन-पवित्र करते हुए उन्हें देखा है. जीवन-धर्म के यशस्वी और कुशल कलाकार पू० हजारीमलजी म० की पावन स्मृति आज भी धर्म-जीवन की कला, जीवन का आदर्श प्रस्तुत कर जाती है और कलामय जीवन बनाने की प्रेरणा देती है.

श्री शान्तिलाल वनमाली शेठ

## श्रद्धार्पण

तत्त्वज्ञों ने मानवजीवन की सफलता त्याग में मानी है. जिसके जीवन में त्याग है, अध्यात्मसाधना के लिए धर्म-परायणता है, वही व्यक्ति अखिल विश्व के लिए वन्दनीय और महनीय होता है.

मरुधर देश के पावनकर्त्ता, तपोनिष्ठ स्वर्गीय श्रद्धेय स्वामी श्रीहजारीमलजी म० एक महान् आदर्श संतरत्न थे. मैंने आपके दर्शन भीनासर-सम्मेलन में किये थे. वे क्षण अनिर्वचनीय आनन्दप्रद व दुर्लभ थे, जो सौभाग्य से मुझे मिले.

आपके दिव्य जीवन में मधुरता, तेजस्विता आदि अनेकानेक गुण विद्यमान थे. आपश्री शरीर से वृद्ध होते हुए भी युवक की भाँति उत्साहपूर्ण व कुशल कार्यकर्त्ता थे.

आपका जीवन सरल एवं निरभिमान था. ज्ञानाभ्यास गहन था. आप शासन सेवा में सदैव तत्पर रहते थे. आपने जैन संस्कृति को जीवित रखने व प्रसारित करने में बेजोड़ श्रम किया. बाधाओं से घबराना आपने सीखा ही न था. इसीलिए आप आज भी जन-जन के हृदयमंदिर में विराजमान हैं.

उस महान् आत्मा के चरण-कमलों में मेरी श्रद्धा के पुष्प समर्पित हैं.

श्री मदनमुनिजी "पथिक'

## कलपे म्हाणो जीवड़लो

(तर्ज—म्हाने जयपुरियारो लहरियो...)

गुरुवर दीनानाथ, जोड़ां चरणां में हाथ।
म्हाणी झुक-झुक वन्दना होईज्यो म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—टेर

म्हाणा कालजा री कोर, म्हाणा माथा रा हो मौड़।
म्हाने छोड़ी ने अकेला, आप चाल्या ओ म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—१

मोतीलाल जी रा नन्द, नन्दू बाई रा कुल चन्द।
गांव डांसरिया में आप, जनम लीनो म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—२

प्यारो नाम है हजारी, बोले सघला नर नारी।
मोटी पुण्यवानी साथे लेई, आया ओ म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—६

छायो घट में वैराग, देऊं संसार ने त्याग।
मोह माया ने छोड़ी ने, संजम लीनो म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—४

भणियां आगमा रो सार, भरिया ज्ञान रा भण्डार ।
सांचा जैन रा अनमोल हीरा, वणग्या ओ म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—५

गांवा नगरां में पधारया, भवि जीवां ने सुधारचा ।
जिनवाणी रा वे मीठा प्याला, पाया ओ म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—६

यशधारी गुरुदेव, नाम लेवां नितमेव ।
श्रमणसंघ में सितारो, तेज चमक्यो म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—७

जिन मारग ने दिपायो, जीवन सफल वणायो ।
थांणी महिमा रो पार, नहीं आवे ओ म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—८

म्हाने छोड़ मंझधार, गया स्वर्ग सिधार ।
म्हाणो एक पल में जलतो, दीपक वुझग्यो म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—९

सव रा दिल में शोक छायो, हियो भर-भर आयो ।
दोई नेणा में पानीड़ो टप-टप, आवे ओ म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—१०

पूरो आपरो आधार, सव छूट्यो तारण हार ।
म्हाणा मनड़ारी वातां, कूण सुणसी ओ म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—११

अव या ही अरदास, कीज्यो मुगत्यां में वास ।
जुग-जुग में अमर आप, रहिजो म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—१२

'व्रज मुनिजी' महाराज, 'मुनि मधुकर' म्हाणा ताज ।
जाणे चन्द्रमा सूरज भला, उगा ओ म्हाणा स्वामी जी ।
हरषे म्हाणो जीवड़लो—१३

गुरुदेव सुन लीजो, श्रद्धाञ्जली मान लीजो ।
किरपा राखजो, 'रसिक' दर्शन दीजो म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—१४

श्रीमगनमुनिजी 'रसिक'

●

## उत्तमहीरयस्स जम्मणट्ठाणं

रायट्ठाणजणवयम्मि टाडगढसमीवे डांसरिया नामं एगो गामो आसि. तत्थ वि० सं० १९४३ माहमासे, सुक्कपक्खे सुहे दिवहे, वसन्तपंचमीए तिहीए बंभमुहुत्ते एक्काए माआए कुच्छीए एगो पुत्तो जाओ. तम्मि काले णवजायसिसुणो सुहलक्खणं वंजणं च दट्ठूण सव्वे इत्थीओ पुरिसा य हरिसेण पुलकिअतणवो हवीअ. तेहिं विण्णायं—अयं वालो, उम्मुक्क-बालभावे अम्हाणं कुलकेऊ कुलपईवो कुलमउलिभूओ कुलजसकरो होहिइ. एण कारणेण अम्हे इयाणिं कयत्था कयपुण्णा जाया आसि, एत्थन्तरे कइवया नेमित्तिया आगया तम्मि घरे, तेहिं नेमित्तिएहिं विण्णायं—कइवया गहा उच्चयं गया चिट्ठन्ति, एणं नज्जइ अयं वालो जह सिग्घं समुज्जलणक्खत्तं पिव संसारे पयासिहिइ, इमो य उच्चयं पयंपि पाविहिइ. धणेण कित्तीए सिरीए पच्चहं—वड्ढिहिइ अहव संजमेण तवसा सह अज्झत्थसिरीए सययं सोहं लहिहिइ. एत्तिअं वज्ज-रिऊण जं दिसं पाउब्भूआ तमेव दिसं पडिगया. वारसाहे वइक्कन्ते तस्स वालस्स अम्मापिऊहिं गुणसहस्सुववेअं गुणणि-प्फण्णं नामधेज्जं हजारीमल त्ति कयं. पुव्वभवुवज्जिअपुण्णपहावेण उत्तमवालो स निव्वाघाएण कप्पतरु व्व विज्जालए अज्झावगाओ विज्जं पढेन्तो रूवेण धम्मकलाहिं विज्जाए निम्मलगुणेहिं दहवासेच्च विक्खाओ जाओ. एगार-हवासे पविट्ठे समाणे मोहणिज्जकम्मखओवसमेण पुव्वसुहसक्कारो उव्वुद्धो. हजारीमलस्स मणंमि अपुव्वज्झवसाओ समुप्पन्नो. परमत्थओ कस्सइ जीवस्स न माया, न पिया, न भाया, न भइणी, न भज्जा, न सुण्हा, न पुत्तो, न धूआ, न सत्तू मित्तं च अत्थि लोए. कज्जवसेण सव्वे जणा दीसन्ति. संसारे रागविमोहियमणाणं अदीहदंसीणं जीवाणं सुलहाओ आवयाओ. पुव्वकयकम्माणि च्च सुह—दुह—जणणम्मि समत्थाणि अत्थि. अण्णेण न केणावि सुहं दुहं च दिज्जइ जीवस्स. पुव्वकम्मकयाओ दोसाउ सव्वाइं दुक्खाइं जीवा वेदयन्ति. अवराहेसु गुणेसु व परो निमित्तमेत्तं होइ.

अणिच्चं रूवं जीविअं जोव्वणं च विज्जुसमं चवलं, सव्वे वन्धवो सवन्धा, धिरत्थु इमस्स संसारवासस्स, जं मूढा पच्च-क्खं अणिच्चं जाणिऊण वि थिरं भणेन्ति, नाऊण वि जिणवयणं पुणो महारंभ—परिग्गहेसु वट्टेन्ति. ता संसार-निवासहेउभूएण गरुयदुक्खमूलेण गिहिवासेण अलं.

### आयरियजयमलस्य संखित्तगुणपरिचओ

एत्थन्तरे किर राजट्ठाणजणवयरयणभूओ, गुणरयणाण आगरो सव्वंगसुन्दराहिरामो, कुलहरं पिव खंतीए, वसुन्धराए मण्डणं विव, आदेअभावस्स ठाणं व, कुसलकम्मस्स विवागसव्वस्सं व, सयलजणणअणाणं आणन्दो पिव, धम्मनिरयाणं पच्चाएसोव्व, परमधण्णयाए निलओ व, जेण तेअगुणेहिं नवसरयरवी, सोमगुणेहिं नवसरयससी, रूवगुणेहिं पुण्डरीअं विजिअं, महाणुभावो, घोरतवस्सी विजितिन्दिओ, आयरियपवरो पुज्जपाओ सणामधण्णो सिरी सामी जयमलजी महाराओ अहेसि.

### गुरुप्पवरो समोसरिओ

महाजसस्स तस्स गणे एगो थेरो अणेगसीसपरियालपरिवुडो डांसरियागामे उवस्सयम्मि उग्गहं उग्गिण्हिअ संजमेण तवसा च अप्पाणं भावेमाणे विहरइ. तेसिं मुणिपुंगवाणं दंसणट्ठं विरत्तप्पा हजारीमल्लो वि निग्गन्थं पावयणं च सोउं घराउ निक्खमई. उवस्सयं पाविऊण सव्वेसि मुणिसत्तमाणं दंसणं करिअ कमसो मुणिवरे सविहिणा वन्दइ नमंसइ सक्कारेइ सम्माणेइ, तप्पच्छा गुरुपामूले आगम्म पुणो तिहुत्तो आयाहिणं पयाहिणं काऊण गुरूणं तिए उवविट्ठो पंजलिउडो विण-एण वज्जरइ हजारीमल्लो-भन्ते ! अहयं भवन्ताणं पासे केवलिभासिअं धम्मं सोउमिच्छामि, जइ न गिलाएति तत्थ-भवन्ता. तओ पच्छा गुरुमुहाओ उवएसं सोऊण महप्पणो हजारीमल्लस्स मणे वेरग्गो विगुणिओ जाओ. जं वेरग्गबीअं उव-एसहाराए अंकुरिओ जाओ, तप्पभावेणं महप्पा हजारीमल्लो विणयेण वोल्लेइ-भवन्तेहिं जं कहिअं तं सच्चं, असंदिद्धं अवि-तहं च अत्थि, नो इहरा.

अहं णिअगेहिं अव्भणुण्णाए समाणे तुम्हाणं तिए भगवइं जिणदिक्खं धारिउमिच्छामि. गुरुणाहिअं—जहासुहं देवाणुप्पिया ! माइं पडिवन्धं काहि त्ति. निवेइऊण उट्ठाय उट्ठेइ गुरुवरं नमिऊण महप्पा हजारीमल्लो जाए दिसाए समागओ तं दिसं

दिसं पडिगओ. नियगाणं पुरओ अप्पणो हिययुग्गारं रक्खीअ-अहं गिहवासं चइऊण अणगारवित्ति धारेउमिच्छामि.

तेहिं कहिअं, दुक्करा भो ! अणगारवित्ती, न एवं बालकीलावणगं, तुमं इयाणिं बालो सि.

महेसिणा हजारीमल्लेण साहिअं-तुम्हाणं कहणं सच्चं,कीवाणं कापुरिसाणं इहलोए पडिवद्धाणं, परलोयणिप्पिवासाणं दुरणुचरा इमा साहुवित्ती, निस्संकमेयं, परं नो चेव धीरस्स, निच्छिअस्स, विरतस्स, अणियट्टगामिस्स. ते जाहे नो संचाइन्ति विसयाणुलोमेहिं तह विसयपडिकूलेहिं वयणेहिं सण्णवित्तए, ताहे अकामाइं चेव कहीअ-भद्द ! जइ तुमं दिक्खं धारिउमिच्छसि, तरिहि गच्छसु, मंगलमई होउ तुह संजमजत्ता, एवं नियगेहिं अब्भणुण्णाए समाणे पायविहारचारेण जत्थ गुरुपवरो आसि, तत्थ संपत्तो महप्पा हजारीमल्लो.-सुहतिहि-करण-जोग-णक्खत्त-मुहुत्ते गुरुपवरेण अप्पणा च्च करकमलेण पव्वाविओ सिक्खाविओ, सामाइयं चारित्तं दिण्णं, महया हरिसेण चारित्तं पडिवज्जिअं महेसिणा हजारीमल्लेण.

अट्ठमे दिवहे छेदोवट्ठावणिज्जचारित्तारोवणं करेमाणेण गुरुणा साहिअं—

## मोक्खसाहणभूआ सिक्खा

अरिहं देवो, सुसाहुणो गुरुणो, जिणदेसिओ तत्तत्थो एएसिं सद्दहाणे सम्मत्तं होइ. सम्मत्तस्स निम्मलपालणे सदा जइयव्वं. मणवयणकायजोगेहिं सावज्जपरिवज्जणं च एसो चिअ जइणधम्मो जो मन्दसत्ताणं दुरणुचरो. छण्हं वि पुढवीकायाईण जीवाणं सया सव्वओ दया कायव्वा. सव्वोवाहिविसुद्धं सच्चवयणं भाणियव्वं.

असुद्धचित्तेण तणमेत्तं पि अदिण्णं न घेत्तव्वं. णवगुत्तिसणाहं बंभवयं सया धारेयव्वं, धम्मोवगरणे विणा थेवोवि परिग्गहो न कायव्वो, रयणीए आहारचउक्कंपि नेव भोत्तव्वं. णिच्चं समिईउ पंच, गुत्तीउ तिण्णि सेवियव्वाओ. उदिआ बावीसपरीसहा सम्मं जेयव्वा. आयरियपमुहाणं ससत्तीए वेयावच्चं कायव्वं, णरतिरिदेवेहकया उवसग्गा सहिअव्वा. सद्दाइसु विसएसु रागदोसा न कायव्वा. बायालदोससुद्धो कारणे पिण्डो भोत्तव्वो. कायव्वो सज्झाओ, परिहरियव्वाओ सव्वाओ विकहाउ. सब्भिन्तरबाहिरतवम्मि सययं उज्जमिअव्वं. धम्मसुक्काणि झाणाणि झाएव्वाणि, मोत्तूण अट्टरुद्दे. अणिच्चयाइपवरभावणासमुदयं भाविअव्वं. सच्छन्दया न कायव्वा, विणओ सया अब्भसियव्वो. दसविहो समणधम्मो णिच्चंपि अणुट्ठेओ. वसियव्वं मुणिमज्झे, कुसीलसंसग्गी नो कायव्वा. विसेसपयत्तेण पंचविहो वि पमाओ सया परिहरिअव्वो. एस मुणिधम्मो खिप्पं मोक्खम्मि णेइ. हजारीमल्लेण णवदिक्खियमहामुणिणा णिवेइयं-भन्ते ! जह भवन्तस्स आणा, तह करेमि न अण्णहा. जप्पभिइं च चारित्तं गहिअं तप्पभिइं महामुणिणा विणएण गहणआसेवणरूवा दुविहा सिक्खा सिक्खिआ. संयमतवविणयकरणचरणेसु निच्चं उज्जुत्तो महामुणी, विहिणा गुरुपायमूले जिणवाणिं सो रिसी अहिज्झिउं समाढत्तो. चउत्थछट्ठट्ठमदसमदुवालसाइ विविहे तवे पकुव्वइ. जह गुरूणं तह अण्णरायणियसाहूण विणयं वेयावच्चं च मणसा वायाए काएणं कुणइ.

आयार-गोअर-विणय-वेणइय-चरण-करण-जायामायावत्तियो धम्मो महप्पणा हजारीमल्लेण अप्पमत्तेण सेविओ. भीणासरसाहुसम्मेलने मंतित्ति पएण विभूसिओ एस महप्पा. बीकानेर नयरे भीनासरसाहुसम्मेलने कुचेरा नयरम्मि य तेसिं पुणीअदंसणं पुव्वपुण्णेण मए वि कयं.

## विसिट्ठा गुणा

ते सन्ता, दन्ता, धीरा, वीरा, जिइन्दिया, गभीरा, सुतत्थविण्णू, सुदीहरदंसिणो, जियपरीसहुवसग्गा, खन्तिखमा तवसच्चउज्जवमद्दवसंतोसप्पहाणा, उच्छूढसरीरा, सल्लविहूणा आसि. संजमेण तवसा च अप्पाणं भावेमाणाणं हजारीमल्लमहारायाण अइक्कन्ता चउसट्ठीवासा सामण्णपज्जाया.

## पण्डिअमरणं कहं हवीअ ?

आउनो चरिमकालम्मि अकम्हा सरीरे महावेयणा उज्जला दुरहिआसा जा तेसिं परमसंतिं पराजेउं सुमहं पयत्तं काहीअ. तहवि तं पराजिणिउं न सक्का. जया अप्पणो नाणेण महेसिणा देहावसाणं जाणिअं तया समणे निग्गन्थे निग्गन्थीओ य

खामेइ, खामित्ता पुरत्थाहिमुहे संपलियंकणिसण्णे करयलपरिग्गहिअं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं काऊण एवं वोल्लीअ-नमो-त्थुणं अरिहंताणं भगवन्ताणं जाव संपत्ताणं, नमो जिणाणं जिअभयाणं पुव्विं पि मए गुरुवरस्स अन्तिए सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए मुसावाए अदिण्णादाणे मेहुणे परिग्गहे कोहे पेज्जे दोसे माणे माया लोहे कलहे अब्भक्खाणे पेसुण्णे परपरिवाए रइअरई मायामोसे मिच्छादंसणसल्ले पच्चक्खाए, इयाणिं पि अहं सव्वं पाणाइवायं, पच्चक्खामि जाव मिच्छादंसण-सल्लं जावज्जीवाए पच्चक्खामि. चउविहंपि आहारं जावज्जीवाए पच्चक्खामि. भण्डमत्तोवगरणे सरीरम्मि व ममाइयमइं वोसिरामि एवं संलेहणा झूसणाझूसिए भत्तपाणपडिआइक्खिए कालमणवकंखमाणो विहरइ हजारीमल्लो महप्पा.

आलोइयपडिक्कन्ते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सग्गं पत्तो हजारीमल्लो महाराओ. महारायो वजलालो तह महुगर मीसीमलो दोण्णि वि मुनिवरेहिं वेयावच्चं कयं अगिलायमाणेहिं. एरिसं मरणं जीवो गरुयपुण्णेहिं लहइ. तह एरिसाणं महप्पाणं वेयावच्चं पि अइपुण्णेहिं कीरइ जीवेण.

जत्थ वि भवन्तो अत्थि मज्झम्मि अणुग्गहं कुणउ त्ति मे पत्थणा अत्थि.

मुनि श्रीफूलचन्द्रजी 'श्रमण'

## चिर नवीन हैं याद तुम्हारी

प्रणम्य !

आप मानवरूप में भी देवत्व के प्रतीक थे.
पीड़ित मानवता के कल्याणार्थ आपका त्याग,
उत्सर्ग व चिन्तन था.
आपका दिव्य संदेश, आपके सारगर्भित उपदेश,
मानव मात्र का सदा सर्वदा मार्गदर्शन कर उसे
जीवन में सफलता एवं श्रेष्ठता की ओर अग्रसर
करते रहेंगे.

गुरुदेव !

यद्यपि अब आप हमारे मध्य नहीं हैं,
तथापि आपकी तेजस्वी मूरत,
उस पर अवतरित शान्ति एवं सौम्यभाव,
की झलक तथा आपकी विचक्षणता,
स्मृति रूप में सदा ही हमारे हृदय-पटल पर
चिरस्थायी रहेगी !

पूज्यतम !

इस तुच्छ दास की अन्तर्मन से अर्पित
भावांजलि है !
श्रद्धेय पुरुष ! आशीष दो.

श्रीरेखचन्द पारख

## वे हि हजारी मुनीश अहो !

ह–र्षित हो मुनि हंस-कला उर में अपना कर।
जा–गरूक हो जगज्जाल को अहा ! जला कर ।।
री–ति, नीति, मर्याद, जिनेश्वर धर्म दृढा कर।
म–न्मथ को मद मार पार करिके भव-सागर ।।
ल–ब्ध-प्रतिष्ठ निज इष्ट पै, पहुधारे जो पेखलो।
जी–वन सु-धन्य को नाम शुभ, आद्याक्षर में देखलो ।।
संयमनिष्ठ विज्ञानगरिष्ठ, वरिष्ठ महा, निज इष्ट पियारे।
शिष्ट अचार, विचार वलिष्ठ सु-लब्धप्रतिष्ठ, महामतिवारे।
मिष्ठ गिरा, करणी उत्कृष्ट रु क्लिष्ट परीषह के सहनारे।
वे हि हजारी मुनीश अहो! कवि-बाल कहे सुरलोक सिधारे।

श्रीबालाराम, 'कवि-किंकर'

## नवीन समर्पण क्या ?

जो समर्पित हो चुके हैं, उन पुष्पों से अर्चन क्या ?
जो भाव चरण में पहुँच चुके, उन भावों का अर्पण क्या ?
खिले कुसुम, वहाँ मधुकर पहुँचे, आश्चर्यान्वित सर्जन क्या ?
भास्कर चमका, कमल खिले तो, यह भारी परिवर्तन क्या ?
त्रिधाराएँ मिलीं, तीर्थ का, नूतन फिर परिकल्पन क्या ?
जहाँ समर्पित हृदय हुआ वहाँ, गुणगौरव का जल्पन क्या ?
रत्नत्रय ही जीवन जिसका, उस मुनिवर का वर्णन क्या ?
सहस्रगुणान्वित सन्त 'हजारी' 'कुमुद' नवीन समर्पण क्या?

श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

## श्रीहजारीमल-मुनीनाम्

१

गातुं गुणानद्य प्रवृत्ताः,
श्री हजारीमल मुनीनाम् ।
वन्द्यचरणानां वराणाम्,
मरुधरामानसमणीनाम् ।

२

कीदृशी प्रतिभा प्रभाऽऽसीत्,
कीदृशी प्रकृतिः कृतिर्वा ।
कीदृशी शान्तिश्च दान्तिः,
कीदृशी भणितिः भृतिर्वा ।

३

मन्त्रिपदवीमादधानाः,
येऽभ्रमन् बहुजनहिताय ।
सदयहृदयाः महात्मानः,
केवलं स्वान्तःसुखाय ।

४

मनसि मनसि विराजते,
पुण्यस्मृतिः सद्गुणखनीनाम् ।
गातुं गुणानद्य प्रवृत्ताः,
श्रीहजारीमल-मुनीनाम् ।

५

मोहममतामुक्तिकामाः,
वयसि पथमे प्राव्रजन्ये ।
सिद्धजोरावरमलानाम्,
शिष्यतामायन्नगण्ये ।

६

त्यागसीमानं विलंघ्य,
सत्य तत्त्वान्वेषणाय ।
ये समाजान्नाभिचेलुः,
लोकविपदामनुभवाय ।

७

पोषकाः परमा अभूवन्,
साधु मुनिजनजीवनीनाम् ।
गातुं गुणानद्य प्रवृत्ताः,
श्री हजारीमल-मुनीनाम् ।

८

व्यथितहृदयाकृष्ट-केदा-
रेषु भावान् यानभावान् ।
येऽवपन्नुपदेशकाले,
प्रवचनार्हान्प्रप्रभावान् ।

९

भक्त-मानस-मन्दिरेषु,
साधनास्निग्धां विदिग्धाम् ।
ज्ञानदीपालि महान्तोऽ-
ज्वालयन्महसाभिमुग्धाम् ।

१०

अतस्ते नेतृत्वमापुः,
परिषदां पथदर्शिनीनाम् ।
गातुं गुणानद्य प्रवृत्ताः,
श्री हजारीमलमुनीनाम् ।

११

दूरमेत्याऽपि स्वमातुः,
नेदीयांसो येऽभिजाताः ।
एकमुत्संगं विमुच्य,
ह्यनेकाङ्कश्रियो जाताः ।

१२

व्यक्तिगतवात्सल्यविमुखा,
प्राप्तवत्सलताब्धि धाराः ।
सीमिताशावंचिता अपि,
ये समाशा हृदयहाराः ।

१३

भवन-भूमीर्विलङ्घ्यापि,
महितनिजजन्माऽवनीनाम् ।
गातुं गुणानद्य प्रवृत्ता,
श्रीहजारीमलमुनीनाम् ।

१४

स्वजननीजलदानदीनाः,
अध्वपतितां पाययन्तः ।
लोकमातरमम्बु सुतवत्,
काष्ठपात्रं रिक्तयन्तः ।

१५

वेपमाने वपुषि कम्बल-
मक्षिपन्येऽपरिचितस्य ।
शीतशीर्णां तनुमुपेक्ष्या-
प्यात्मनः करुणार्दितस्य ।

१६

एवमास्त उदात्तचरितं,
सृतिव्यथाचिन्तामणीनाम् ।
गातुं गुणानद्य प्रवृत्ताः,
श्री हजारीमलमुनीनाम् ।

१७

रोदनात्किं धावनाज्जी-
वनसमस्याः समाधेयाः ।
भीत ! भवितारस्तदर्थम्,
प्रत्न प्रयत्ना अनुविधेयाः ।

१८

जीवितं संघर्षनिकषे,
निकषितं तावच्चकास्ति ।
सहन्तां दुःखानि सुखवत्,
नो सुखं धर्मविनाऽस्ति ।

१९

करतलीकृतकान्तिशान्ति,
सान्त्वनामृतदोहनीनाम् ।
गातुं गुणानद्य प्रवृत्ताः,
श्री हजारीमलमुनीनाम् ।

२०

अर्जितं श्रमशोभि भूयात्,
जनः सत्यः सत्यसन्धः ।
साम्प्रदायिकतासु न स्या-
दन्यधर्मविरोधगन्धः ।

२१

एकदाऽस्यां सिंहपालौ,
मुनिवरैः मीरा पदानि ।
सत्यं स्मराम्यनुरागिभि-
र्मया गीतानि श्रुतानि ।

२२

अद्भुता हृदुदारता,
धृतदोष सिकतामार्जनीनाम् ।
गातुं गुणानद्य प्रवृत्ताः,
श्री हजारीमलमुनीनाम् ।

२३

नो गभीरा दार्शनिकता,
सूक्ष्मता वाऽध्यात्मपथगाः ।
तेषामभूवन्देशनायाम्,
रीतयः सरलाश्च सुभगाः ।

२४

समाधानं संशयानाम्,
स्वयमभूज्जनसंचितानाम् ।
तेषां पुरस्तादसम भव्य-
व्यक्तितानुप्राणितानाम् ।

२५

साश्रुनेत्रं स्मरति मूर्तीनां,
नरः सन्तोषिणीनाम् ।
गातुं गुणानद्य प्रवृत्ताः,
श्रीहजारीमलमुनीनाम् ।

२६

नामलोभो मानमोहो,
नो कदा स्फुरतां सुधीषु ।
दम्भहीना कर्मनिष्ठा,
जागरीदियमग्रणीषु ।

२७

कीर्त्यकामाः नीत्यवामाः,
शिष्यवादविरोधमन्याः ।
स्वप्रमादस्वीकृतौ ये,
महाराजाः प्रथमगण्याः ।

२८

सरलप्रकृतीनां विधेयाः,
सदा पितृवत्पालनीनाम् ।
गातुं गुणानद्य प्रवृत्ताः,
श्रीहजारीमलमुनीनाम् ।

आचार्य श्रीमणिशंकरजी द्विवेदी,
प्रिंसिपल, गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, जोधपुर

## सद्धंजली

थेरो मुणी चत्तसयातिसल्लो सो एरिसो आसि हजारिमल्लो ।

गोहूमवण्णो य पलम्बहत्थो, पसत्थवयणो अवि दीहकाओ ।
जो बंभचेरेण तवेण दित्तो, सो एरिसो आसि हजारिमल्लो ॥ १ ॥
वाणीए किं आसि ? खु तस्स सच्चं, फुडवाइओ आसि मुणी महप्पा ।
झाणे णिमग्गो य रओ गुणेसु, सो एरिसो आसि हजारिमल्लो ॥ २ ॥
पयईपसन्तो दन्तो गहीरो, उवासगो जो उ अहिंसयाए ।
परोवयाराय गहीयदेहो, सो एरिसो आसि हजारिमल्लो ॥ ३ ॥
के के जिया तेण महानरेण ? चउक्कसाया मयमोहसत्तू ।
मणेण काएण गिराइ गुत्तो, सो एरिसो आसि हजारिमल्लो ॥ ४ ॥
सरोवरा सन्त-वलाहया य, रुक्खा तहा हुन्ति परस्स अट्ठा ।
अभेयभावेण रओवयारे, सो एरिसो आसि हजारिमल्लो ॥ ५ ॥
मणं महाभीमहयं वसम्मि, किच्चा जियाइं जेणिंदियाइं ।
निउणासवारुव्व जो अविइओ, सो एरिसो आसि हजारिमल्लो ॥ ६ ॥
जया चउम्मासकए पयट्टो, 'कराचि' नयरं तु तया स दिट्ठो ।
न भुल्लइ अज्ज वि तस्स वत्ता, सो एरिसो आसि हजारिमल्लो ॥ ७ ॥
थिरीकरणनिउणो होत्थ जो अथिराणं, समाहाणकुसलो आसि जो संकियाणं ।
सयलवायपउणो होसि जो वाइयाणं, परमहरिसजणगो जो अभू सज्जणाणं ॥ ८ ॥
जे जेइ जुज्झम्मि सहस्सवीरे, सूरो न सो विण्णुजणेहिं सिट्ठो ।
जियकाममल्लो य सया निसल्लो, थेरो मुणी आसि हजारिमल्लो ॥ ९ ॥

श्रीपुष्क भिक्खू

## पूज्यवरो जय:

१—सुगुण-वृंद-विभूषित-भावन:, सुजनता-जनता-जय-जीवन: ।
मुनि-पति: सुमति: शम-संचय:, जयतु पूज्यवरो भुवने जय: ।

२—सुवितता भुवि यस्य विरागता, सुविहिता भुवि येन विशालता ।
स मुनि-मंडल-मोहन-मूर्तिक:, जयतु पूज्य-वरो भुवने जय: ।

३—सरलता-शुचिता-सरिता-पति:, मधुरता-मृदुता-गुण-संतति: ।
मनन-वाचन-संस्कृत-वाङ्मय:, जयतु पूज्यवरो भुवने जय: ।

४—रिपुषु मार-ममत्व-मदादिषु, जय-मवाप्य निजं 'जय'-नामकम् ।
प्रकटितं कृतमत्र हि येन स:, जयतु पूज्य-वरो भुवने जय: ।

५—स्मरणतो हृदि यस्य महामुने:, लघुतरोऽपि सुयाति सुगौरवम् ।
स जिन-शासन-सम्मत-संयम:, जयतु पूज्य-वरो भुवने जय: ।

६—शान्त: सदा यो मुनि-माननीय:,श्रीमान् हजारीमल-मान्य-भाग: ।
तत्सेवकोऽसौ मुनि 'मिश्रिमल्ल:', व्यरीरचत् पद्य-सुपुंज-मेतत् ।

रचयिता श्रीमधुकरमुनि:

## गुरुदेवश्रीजोरावरमल्ल-मुनीश्वराणां परिचय:

१—मारवाड़े महादेशे, 'मेड़ता'-मण्डले शुभे ।
प्रसिद्धो 'लांबियां' ग्राम:, आसीद्धर्म-विदां खनि: ।।

२—श्रावको न्यवसत्तत्र, 'मोहनदास'-संज्ञक: ।
महता-वंशजो धीमान्, दृढ-धर्मा गुण-प्रिय: ।।

३—महिमानं सुतन्वन्ती पत्यु: पितृ-कुलस्य च ।
संजाता 'महिमा' देवी, तस्य जाया शुभाशया ।।

४—जय-स्तम्भ: सुधर्मस्य, जयो मुक्ति-पथार्थिनाम् । ।
'जयमल्लो'ऽभवत्तस्या:, पुत्र: संघ-ध्वजा-धर: ।।

५—स द्वाविंशति-वर्षीयान्, नूतनाऽऽरब्ध-यौवन: ।
परिणिन्ये प्रियां 'लक्ष्मीं', लक्ष्मीमिव मनोहराम् ।।

६—षण्मासानंतरं श्रीमान् आगतो मेड़ता-पुरे ।
वाणिज्याय, चतुर्दश्यां, कार्तिक्यां दैवयोगत: ।।

७—सार्द्धं सहचरैस्तत्र, तेन धर्म-हृदा किल ।
व्याख्यानं' भूधर' मुने: श्रुतं शील-प्रशंसनम् ।।

८—'सुदर्शन'-कथां श्रुत्वा, जातो भोग-विरक्तिमान् ।
त्यक्त्वा मोहं स्व-बंधूनां, दीक्षामंगीचकार स: ।।

९—तपस्वी ज्ञानवान् शान्त: उग्र: संयम-पालने ।
तत्तद्देशे विहृत्याऽसौ जिन-धर्ममुपादिशत् ।।

१०—आषोडश-समा धीर: तप एकान्तरं व्यधात् ।
पञ्चाशद्वर्ष-पर्यन्तं नैवाऽऽसेवत संस्तरम् ।।

११—'बीकानेर': सुदुर्गम्य आसीत् स्थानकवासिनाम् ।
तत्र गत्वा महाकष्टै:, श्रावकान् समबोधयत् ।।

१२—तत्र संयमिनां पूजां, पुनरस्थापयन् मुनिः ।
प्रसिद्धस्तस्य नाम्नाऽयं संप्रदायो वरोऽभवत् ॥
१३—सप्तति-वर्ष-पर्यंतं, धृत्वा खलु सुसंयमम् ।
द्योतयित्वा मुनेधर्मं बोधयित्वा बहून् जनान् ॥
१४—वर्षे हि वैक्रमे योगे[3], वौण[4] "सिद्धचेक[1]-संयुते ।
नर-सिंह-चतुर्दश्यां, देवालयमगाज्जयः ॥
१५—तस्य पट्टे महामान्यो, 'रायचंद्रो' मुनीश्वरः ।
संघ-श्लाध्यो गुणैर्गीतो, जातो पूज्यः प्रिय-व्रतः ॥
१६—तस्य पट्टे सुधी-मान्ये, भव्ये धर्म-धुरा-धरे ।
'आसकर्णो' महाभागः, आसीत् पूज्यः प्रभा-परः ॥
१७—शिष्यस्तस्य गुणैराढ्यः, 'बुधमल्ल'-मुनिः सुधीः ।
गुरो र्भक्तौ सदा लीनः, आसीत् शान्ति-सुधाकरः ॥
१८—'फकीरचन्द्र' इत्याख्यः, तस्य शिष्यो महायशाः ।
आसीद्धर्म-विशेषज्ञो, वादी वाद-जयी व्रती ॥
१९—शास्त्रार्थ-कौशलं तस्य, दृष्ट्वा तर्क-वितर्कणम् ।
मन्ये देव-गुरुर्विभ्यन्, पूर्वमेव दिवं गतः ॥
२०—संयुतः षोडशैः शिष्यैः, बभौ मान्यो मुनिस्तथा ।
यथा भाति कला-कान्तः पूर्णिमायां तिथौ विधुः ॥
२१—'लाडनू'-नगरे गत्वा, तेरहपंथिनो बहून् ।
स्थानकवासि-सद्धर्मे ऽस्थापयत् मुनि-पुंगवः ॥
२२—तेरहपन्थिभिः सार्द्धं, शास्त्रार्थं कृतवान् मुनिः ।
विद्वत्संसदि लेभे च विजयं धर्म-यशस्करम् ॥
२३—विहृत्याऽनेकदेशेषु, कृत्वा धर्म-प्रचारणम् ।
धर्म-देव-पदं स्वीयं, कृतार्थं कृतवानिह ॥
२४—तस्य शिष्यो यशःशाली, तेजस्वी विदुषांवरः ।
श्री 'जोरावरमल्लोऽभूत्, मेदिन्यां मुनि-पुंगवः ॥
२५—जन्मनाऽलंकृतस्तेन, सुग्रामः 'सिहु'-संज्ञकः ।
धन-धान्यादि-संपन्नः सर्व-प्राणि-सुखावहः ॥
२६—कवयश्चारणास्तत्र, वसन्ति स्तुति-पाठकाः ।
येभ्यो ग्रामः प्रसन्नेन, राज्ञा दत्तः प्रसादतः ॥
२७—आसीत्तत्र महाभागः, ओसवाल-कुलोद्भवः ।
'बोथरा'-जाति-श्रृंगारः, श्रीपतिः सुख-सन्ततिः ॥
२८—उदारो नीति-निष्णातो, दीनार्थिभ्यः सुर-द्रुमः ।
ऋद्धि-करण इत्याख्यः ऋद्धिधारी वणिग्वरः ॥
२९—दीना जना यमाश्रित्य, बभूवुर्वृद्धि-शालिनः ।
ऋद्धि-करण इत्याख्या, तस्यान्वर्थमुपागमत् ॥
३०—मन्यन्तेस्म जनास्तत्र, श्रेष्ठं तं परमं जनम् ।
आसीद् बन्धुः स सर्वेषां, पिता भ्राता सहायकः ॥
३१—निमग्ना धर्म-कार्येषु, संमग्ना पति-सेवने ।
अमग्ना मोह-मायायां 'मग्ना' तस्य प्रियाऽभवत् ॥

३२—द्रव्य[६]-लोका[३]-ङ्क[९]-भू[१]-ख्याते, शुभे वैक्रम-वत्सरे ।
अक्षयायां तृतीयायां, श्रेष्ठे शुभ-मुहूर्त्तके ॥
३३—पूर्वदिगिव भास्वंतं, भास्करं सुतमाप सा ।
तेजस्विना सुपुत्रेण, दिदीपे च तयोर्गृहम् ॥
३४—श्री रिद्धकरणादासन्, प्रतिकूलास्तु ये जनाः ।
प्रभावाद्बालकस्यास्य, प्रेम्णा प्राप्ताः सुवन्धुताम् ॥
३५—बालकस्य प्रभावं तं, संवीक्ष्य पितरौ मुदा ।
जोरावरमलेत्याख्यां चक्रतुस्तस्य हर्षितौ ॥
३६—बाल्येऽपि तस्य सद्वृत्तिं, रुचिं धर्मे विलोक्य च ।
ऊचिरे बहवो वृद्धाः, 'अयं योगी भविष्यति' ॥
३७—ताते दिवंगते शीघ्रं वाणी सत्या बभूव सा ।
जनन्या सह बालः सः, जैन-योगी बभूव यत् ॥
३८—वेदा[४]-ब्धि[४]-निधि[९]-शीतांशु[१]-मिते वैक्रम-वत्सरे ।
स्वीय-जन्म-तिथावेव, नागौर-नगरे वरे ॥
३९—जनन्या सार्द्धमादृत्य, निर्ग्रन्थ-व्रतमुत्तमम् ।
'फकीरचन्द्र'-शिष्योऽभूत्, बालो जोरावरस्तदा ॥
४०—गुरोरिव गुरोस्तस्य, शास्त्रज्ञस्य प्रसादतः ।
स्वल्पेनैव स कालेन, पाण्डित्यं परमं गतः ॥
४१—व्याकृतावागमे तर्के, साहित्ये गणिते श्रुते ।
निर्ग्रंथानां समाचार्यां तथोत्सर्गापवादयोः ॥
४२—व्याख्याने धर्म-चिन्तायां, श्रीसङ्घस्यानुशासने ।
पाटवं परमं लेभे, सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्रताम् ॥
४३—आकृतौ व्याकृतौ साक्षात्, भास्वंतं भास्करं भुवि ।
अभिषिच्य निजे पट्टे, गुरुर्गुरोर्गृहं गतः ॥
४४—जोरावरो मुनिर्दीप्यन्, जैन-शासन-भास्करः ।
उन्निनीषुः समाजं स्वं, रेभे धर्म-प्रभावनाम् ॥
४५—अश्लीलानि कुगीतानि, गायन्तिस्म कुलांगनाः ।
उच्छिष्टं भोजयन्ति स्म, अस्पृश्यान् गृहिणो महे ॥
४६—वेश्या-नृत्यं तथा रात्रौ, भोजनं जिन-धर्मिषु ।
विलोक्य हृदयं तस्य, दुःखं लेभे परं यतः ॥
४७—न्यषेधयन् मुनिस्तास्ताः, कुरूढीः स्वप्रभावतः ।
यानि निन्द्यानि कार्याणि, तानि सर्वाण्यभर्त्सयत् ॥
४८—बाल-वृद्ध-विवाहादीन् कन्यानां विक्रयं तथा ।
मृत्यु-भोजं, महात्माऽसौ, व्याख्यानेष्वनिन्दयत् ॥
४९—यदा लोकः कुरीत्यादीन्, त्यक्त्वा शुद्धो भविष्यति ।
तदैव जिन-धर्मस्य, स्थापना संभवा स्थिरा ॥
५०—इत्येवं मन्यमानोऽसौ, नीति-शास्त्रस्य देशनाम् ।
सार्द्धं धर्मोपदेशेन सततं कृतवान् मुनिः ॥

५१—मिथ्या-ज्ञान-तमो-व्याप्तान्, वीक्ष्य सामाजिकान् निजान् ।
सुविद्यायाः प्रचाराय, प्रयत्नं प्रचुरं व्यधात् ।।

५२—'कुचेरा'-ख्य-शुभे ग्रामे, मुनेस्तस्य प्रभावतः ।
स्थापितो 'ज्ञान-भंडारो' जिज्ञासुभ्यो हितावहः ।।

५३—साधवः श्रावकाश्चापि, शिष्यास्तस्य गुणाऽऽग्रहाः ।
अभवन् वहवो योग्याः श्रद्धावन्तो दृढा व्रते ।।

५४—अनेके मानवास्तस्य पार्श्वे दीक्षार्थमागताः ।
परन्तु तेषु ये योग्याः, तेन त एव दीक्षिताः ।।

५५—वाण[५]-सि[८]द्ध्यंक[९]-भू[१]-वर्षे वैशाखे च महामुनिः ।
ग्रामेऽतिष्ठन् 'कुचेराख्ये', सशिष्यो विहरन् मरौ ।।

५६—रोग-संक्रान्त-देहोऽभूत्, तत्र कर्म-प्रभावतः ।
वैद्यैश्चिकित्सितोऽनेकैः स्वास्थ्यं नैव यदाऽऽगमत् ।।

५७—वीकानेरात् समाहूतः सुवैद्यश्चन्द्रशेखरः ।
तेन स्वास्थ्यं मुनिर्लेभे, मोदं श्रीसंघ आप्तवान् ।।

५८—श्रेष्ठिमोहन-मल्लेन, कृतभूरिव्ययेन च ।
भूरि-भूरि-प्रसन्नेन, स्व-गुरोः स्वास्थ्य-लाभतः ।।

५९—ग्रामेऽतिदुर्लभं दृष्ट्वा, भैषज्यादि-सहायताम् ।
गुरोः संस्मरणायैव स्थापित औषधालयः ।।

६०—धर्म-प्रभावनां कुर्वन्, भावयन् शुभ-भावनाम् ।
विहरन्नेकदा सो हि ग्रामं 'भंवाल' मागतः ।।

६१—तत्राऽकस्मादभूद्देवः पक्षाघातेन पीडितः ।
सा व्यथा तस्य संजाता जीवितस्य विनाशिनी ।।

६२—द्रव्य[६]-सिद्धि[८]-निधि[९]-क्षोणी[१]-मिते वैक्रम-वत्सरे ।
सितायां ज्येष्ठ-तुर्यायां, तिथौ पूर्ण-समाधितः ।।

६३—द्विचत्वारिंशदव्दान् हि पालयित्वा मुनेर्व्रतम् ।
धर्म-ध्यान-मनाः शीघ्रं स्वर्गवासी वभूव सः ।।

६४—तस्याऽधुना त्रयः शिष्याः, सच्चरित्रा जन-प्रियाः ।
विहरन्ति मरौ देशे, भान्ति शान्ताश्च मानिताः।। ।।

६५—श्रीमान् हजारिमल्लोऽस्ति, सन्मुनिः सरलः प्रियः ।
विशुद्धो वहिरंतश्च, प्रिय-धर्मा गुणाकरः ।।

६६—'व्रजलाल'-मुनिर्नित्यं सेवा-धर्म-परायणः ।
सहिष्णुर्गणिताऽभ्यासी, भाति सुन्दर-लेखकः ।।

६७—मिश्रीमल्लस्तृतीयोऽयं, मधुकरोपनामकः ।
एतत्पद्यौघ-निर्माता विभाति प्रतिभा-युतः ।।

६८—गुरोर्जोरावरस्यैते, त्रयः शिष्यास्त्रयीव ये ।
त्रिपदीं च प्रदीप्यन्तः संघ-सेवां प्रकुर्वते[१] ।।

रचयिता—श्रीमधुकर मुनिः

---

१. श्रीयुत पूज्य गुरुदेवपादानां हजारीमल्लमुनीश्वराणां जीवितावस्थायां कृतेयं रचना.
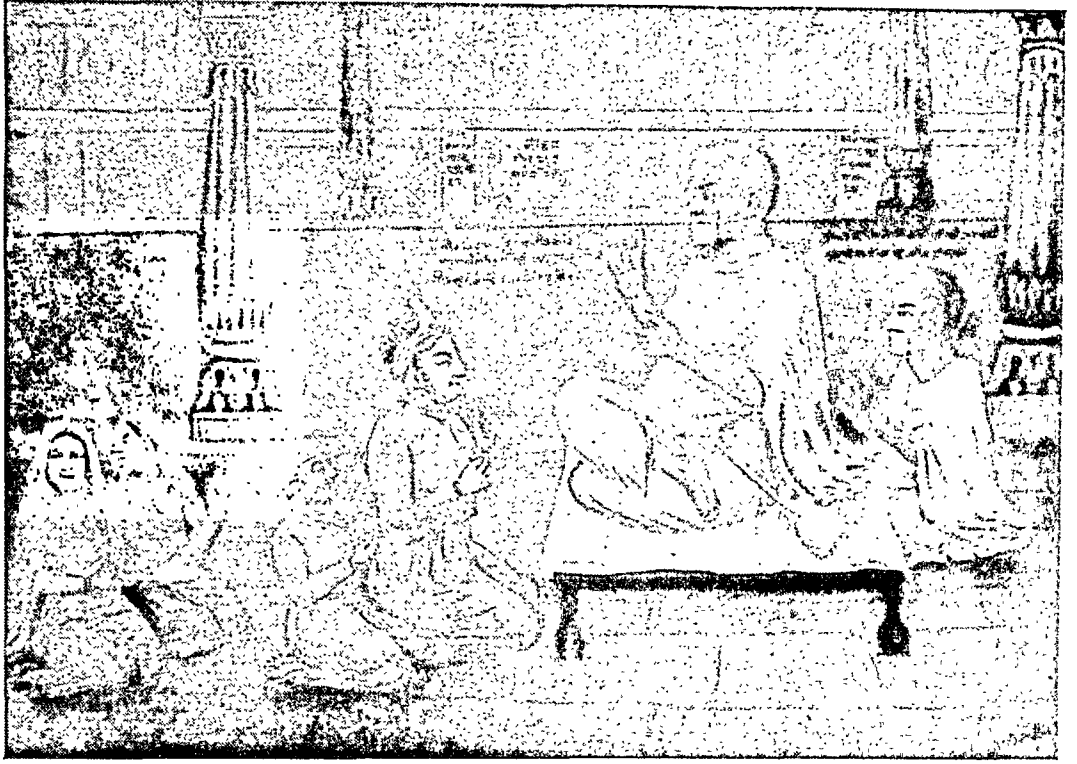
आचार्यश्री जयमल्लजी म० गृहस्थ-जीवन का रहस्य बताते हुए. पीछे श्रीरायचन्द्रजी महाराज जो इस सम्प्रदाय के द्वितीय आचार्य हुए.

स्वामी श्रीहजारीमलजी महाराज
युवावस्था में.

आचार्यश्री जयमलजी महाराज का शास्त्र-लिपिमें लिखित एक नमूना ।

स्वामीजी द्वारा प्रारंभिक अवस्थामें लिखित शास्त्रलिपि का नमूना ।
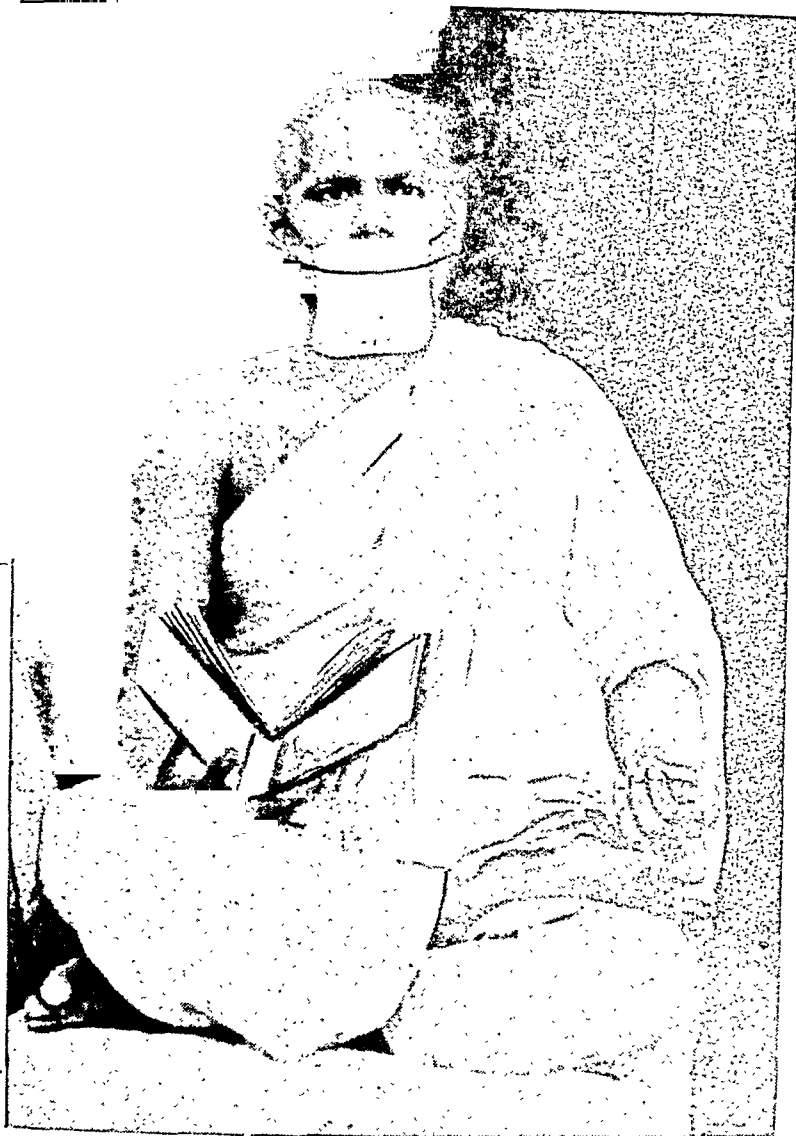
स्वामीजी के गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी महाराज

गुरुदेव के तीन शिष्य
क्रमश : १ मुनि मधुकरजी २ स्वामीजी
३ श्री ब्रजलालजी

स्वर्गवास के पश्चात् विमान की तैयारी.

अन्तिम संस्कार के लिए प्रस्थान.

वड़ा काष्ठ-पट्ट जिसपर संलेखना ग्रहण की.
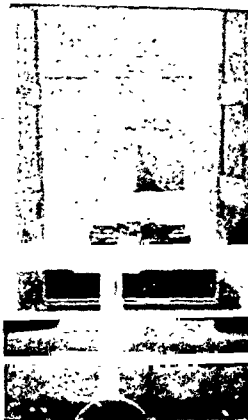
स्वामीजी के दो उपनेत्र

स्वामीजी का काष्ठ-पात्र स्वाध्याय-पुस्तक तथा यष्टिका

# आचार्य श्री जयमल जी वंशावली
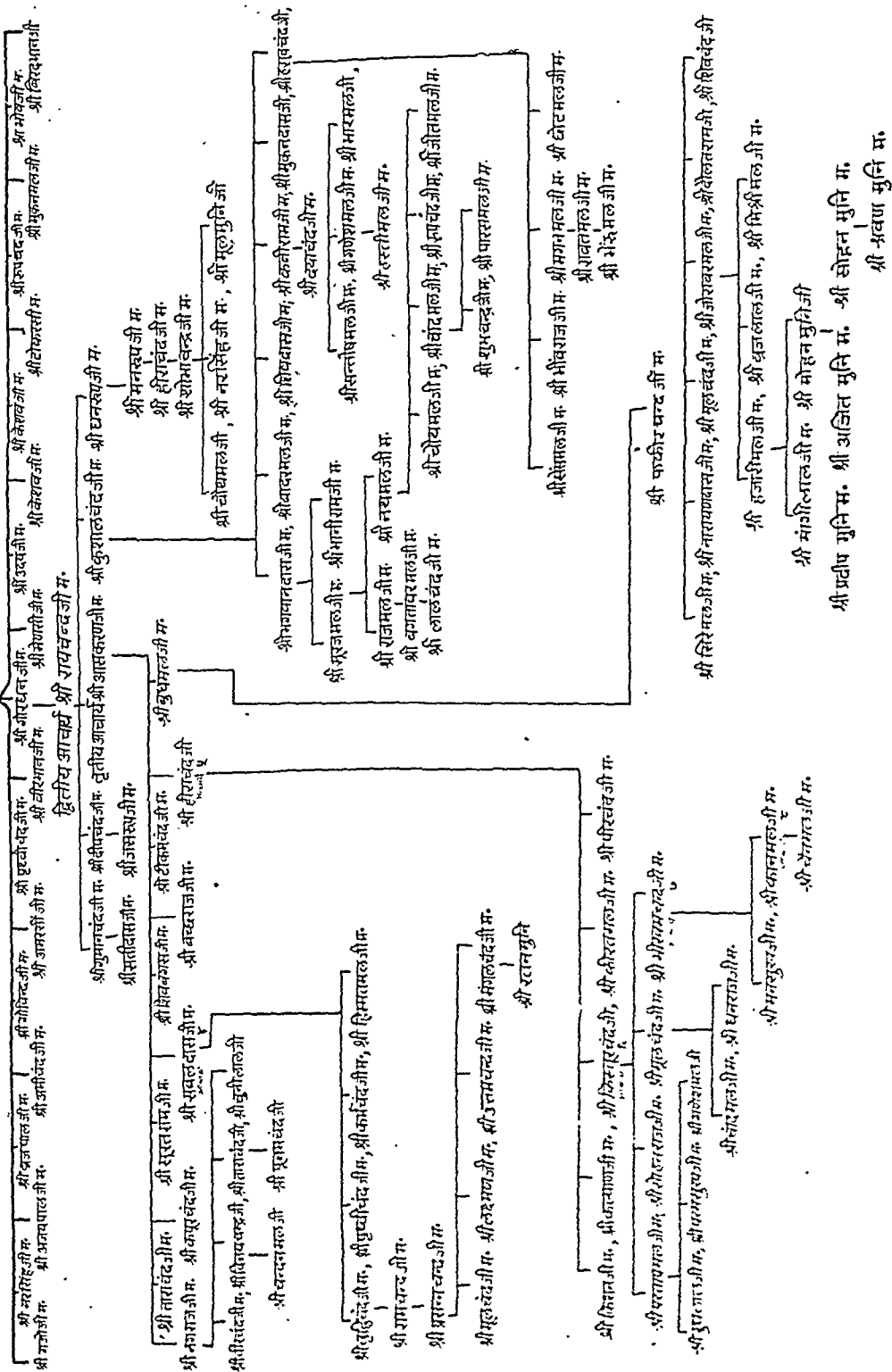
डा० नरेन्द्र भानावत,
एम० ए०, पी-एच० डी, साहित्यरत्न, हिन्दी-विभाग राजस्थान
विश्वविद्यालय, जयपुर.

# संत कवि आचार्य जयमल्लजी : व्यक्तित्व और कृतित्व

भारतीय वाङ्मय की वाटिका को सजाने-संवारने का जितना अधिक श्रम और तप जैन-साधक मनीषियों ने किया है उतना शायद ही किसी एक धर्मविशेष के साधकों ने किया हो. काव्य, कोश, अलंकार, ज्योतिष, आख्यान, वैद्यक, इतिहास, रूपक-सभी ओर इन दृष्टिसम्पन्न मालियों की दृष्टि दौड़ी है. इनके विस्तृत लोक-ज्ञान और अगम शास्त्रीय विवेक ने कला और विज्ञान के क्षेत्रों में रंग-विरंगे चटकीले फूल खिलाये हैं. ये सुरभित पुष्प अपने सौन्दर्य से सबको आकर्षित करते हैं पर रूप-मोह में नहीं डुबोते, अपने सौरभ से सबको मंत्र-मुग्ध तो करते हैं पर विलास की निद्रा में नहीं सुलाते. इन फूलों का सात्विक परिमल मन को पवित्र, हृदय को निष्कलुष और आत्मा को परमात्मोन्मुख बनाता है.

हिन्दी साहित्य के इतिहास का अवगाहन करने पर सखेद आश्चर्य होता है कि इतिहास-लेखकों ने इन फूलों (साहित्य सम्पदा) का उचित मूल्यांकन नहीं किया. साहित्य के ऐतिहासिक विकासक्रम में इनके अस्तित्व तक की अवमानना की. इस स्थिति का एक कारण यह भी रहा कि जैन साहित्य उपाश्रयों और मन्दिरों के गर्भ-गृहों में प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों के रूप में लावारिस सम्पत्ति की तरह अस्त-व्यस्त बिखरा पड़ा रहा. न जाने कितने यशस्वी साहित्यकार और भावुक भक्त कवि काल-कवलित हो गये. दीमक के ग्रास बन गये ! अब समय आया है कि प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का सम्यक् अध्ययन अनुशीलन कर हिन्दी-विद्वानों के सामने जैन साहित्य का प्रामाणिक सर्वांग-सम्पूर्ण इतिहास प्रस्तुत किया जाय.

यों जैन साहित्य के इतिहास-लेखन के स्फुट प्रयत्न यदा-कदा अवश्य होते रहे. स्वर्गीय नाथूराम 'प्रेमी' और मोहनलाल दलीचन्द देसाई के प्रयत्न इस दिशा में उल्लेखनीय हैं. श्रीकामताप्रसाद जैन ने भी इधर 'हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' लिखा है. बीकानेर के श्रीअगरचन्दजी नाहटा की लेखनी से कई अज्ञात जैन ग्रंथकार प्रकाश में आये हैं. पर ये सारे प्रयत्न 'ऊंट के मुंह में जीरा' जैसे हैं.

जैन धर्म विविध शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त है. श्वेताम्बर स्थानकवासी सम्प्रदाय, जैनधर्म की ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण परम्परा रही है. इस सम्प्रदाय में तपःपुंज बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न अनेक आचार्य और प्रभावक कवि हुए हैं. दिगम्बर सम्प्रदाय के कतिपय कवियों का उल्लेख तो इधर के साहित्य-इतिहास में हुआ है पर स्थानकवासी परम्परा के कवियों का नामोल्लेख जैन साहित्य के इतिहासग्रंथों तक में नहीं मिलता. यह स्थिति विस्मय-जनक ही नहीं भयावनी भी है. हमारे आलोच्य कवि आचार्य जयमल्लजी का सम्बन्ध इसी स्थानकवासी परम्परा से है.

इस असाधारण कवि-व्यक्तित्व की गणना अब तक के किसी साहित्य के इतिहासकार ने नहीं की. सर्वप्रथम इस सुकुमार कवि-पुष्प पर 'मधुकर' की तरह मंडराने वाले हैं मुनि श्रीमिश्रीमल्लजी महाराज.[१]

जीवन वृत्त—कविवर जयमल्लजी का जन्म सं० १७६५ भादवा सुदि १३ को[२] जोधपुर राज्यान्तर्गत-मेड़ता से जैतारण की ओर जाने वाली सड़क पर अवस्थित 'लांबिया' नामक गांव में हुआ. पिता और माता का नाम क्रमशः मोहनलाल जी एवं महिमा देवी था. ये समदड़िया महता गोत्रीय बीसा ओसवाल थे. इनके पिता कामदार थे. बड़े भाईका नाम रिड़मल था. २२ वर्ष की अवस्था में[३] इनका विवाह रीयां निवासी शिवकरणजी मूथा की सुपुत्री लक्ष्मीदेवी के साथ हुआ.

दीक्षा प्रसंग—जयमल्लजी की वैराग्य-भावना सहज स्फूर्त थी, वह आरोपित या विवश क्षणों की परिणति नहीं थी. व्यापारी बनकर कर्मक्षेत्र में उतरे अवश्य पर व्यापार उनका लक्ष्य नहीं था. धर्म की ओर रुझान होते हुए भी पागलों की तरह उसके पीछे भटके नहीं. संयोग की ही बात थी कि वे अपने व्यावसायिक मित्रों के साथ सौदा करने के लिए मेड़ता गए. वहां बाजार बन्द देख अनायास ही स्थानकवासी परम्परा के आचार्य श्रीधर्मदासजी[४] की शाखा के प्रशासक पूज्यप्रवर भूधरजी[५] महाराज की सेवा में उपस्थित हो गये. भूधरजी महाराज अपने प्रवचन में ब्रह्मचर्य व्रत की दृढ़ता और महत्ता पर सेठ सुदर्शन का जीवन-प्रसंग गा-गाकर सुना रहे थे. युवकहृदय पहली बार इस संयम-भावना से अभिभूत हुआ. आषाढ़ की प्रथम वृष्टि का स्पर्श पाकर झुलसी धरती जिस प्रकार हरी-भरी हो उठती है उसी प्रकार धर्मदेशना के अमृत का पान कर जयमल्ल सांसारिक विषय-वासनाओं की ज्वाला को शान्त कर सका. एकदम, आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत अंगीकार कर लिया पर सन्तोष कहां ? वह तो पूर्ण साधक बनने की प्रतिज्ञा कर चुका था, कैसे मेड़ता छोड़कर चला जाय ? मां की ममता और पिता का आक्रोश, सबसे बढ़कर नवपरिणीता वधू का ज्वार-भाटे की तरह उफनता हुआ प्यार-पर सब व्यर्थ ! कोई उसे न रोक सका. पत्नी द्विरागमन की तैयारी में तल्लीन और पति श्रमणजीवन की तैयारी में तत्पर[६]

साधना काल—श्रीजयमल्लजी साधना में वज्र की तरह कठोर थे. विचारों में प्रेम और कर्त्तव्य का द्वन्द्व नहीं था. इनकी विवाहिता पत्नी भी संयममार्ग की पथिका बन गई थी. जीवन का एक ही लक्ष्य था—आत्म-कल्याण. श्रमणजीवन में प्रवेश करते ही एकान्तर तप[७] की आराधना प्रारम्भ हो गई जो १६ वर्ष तक निरन्तर चलती रही.
ये अध्यवसायी ही नहीं अथक अध्येता भी थे. बुद्धि के धनी और स्मृति के चिरसहचर थे. दीक्षा लेने के बाद स्वल्प समय में ही इन्होंने 'श्रमण-सूत्र' कण्ठस्थ कर लिया था, तभी तो सप्ताह भर बाद ही बड़ी दीक्षा हो गई. मेधा के चमत्कार का क्या कहना ? एक ही प्रहर में पांच शास्त्र[८] कण्ठस्थ कर लिये थे.[९]

धुन के पक्के थे. गुरु के प्रति असीम श्रद्धा थी. जब भूधरजी स्वर्ग सिधारे तभी प्रतिज्ञा कर ली थी कभी न लेटने की.

---

१. इन्होंने 'जयवाणी' नाम से आचार्यश्री की रचनाओं का संकलन किया है जो सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा से प्रकाशित हुआ है.
२. पूज्य गुणमाला : श्रीचौथमलजी महाराज, पृ० ८.
३. संवत १७८८ ज्येष्ठ शुक्ला ६ 'पूज्य गुणमाला' के अनुसार
४. पूज्य धर्मदासजी युगप्रधान आचार्य थे. इनका जन्म अहमदाबाद के पास सरखेज गांव में जीवन भाई पटेल के यहाँ सं० १७०१ चैत्र शुक्ला एकादशी को हुआ था. सं० १७२१ में वे आचार्य बने और ३८ वर्ष तक धर्म प्रचार करने के बाद सं० १७५९ में स्वर्गस्थ हुए. जिनवाणी: सितम्बर १९६०, पृ० २२८-३२.
५. भूधरजी का जन्म सं० १७१२ में हुआ था और मृत्यु सं० १८०४ में. ये अच्छे व्याख्याता और सफल धर्मप्रचारक थे.
६. जयमल्लजी ने सं० १७८७ (गुणमाला के अनुसार १७८८) की मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को मेड़ता में दीक्षा ली. सात दिनों के बाद ही 'सिकरगिया' गांव में इनकी बड़ी दीक्षा हुई.
७. एक दिन उपवास एक दिन आहार के क्रम को एकान्तर तप कहते हैं.
८. (१) कप्पिया (२) कप्पवडंसिया (३) पुप्फिया (४) पुप्फचूलिया (५) वण्हिदसा.
९. 'पांच सूत्र तो एक पहर में पढ़कर कंठे करियारे'-गुणमाला, पृ० ५७.

५० वर्ष (जीवन-पर्यन्त) तक ये लेटकर न सोये. इस सतत जागरूकता ने इन्हें अंतर्मुख बनाया और इनकी अंतर्दृष्टि ने काव्य का स्वरूप पाया जो 'स्वान्तःसुखाय' बनकर ही नहीं रहा वरन् 'परान्तःसुखाय' भी बना.

सं० १८०४ में आसौज सुदी १० शुक्रवार को आचार्य भूधरजी का स्वर्गवास हुआ. उनकी मृत्यु के बाद ये आचार्य[1] बने. इनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि इनकी आख्या पर ही इनके सम्प्रदाय का नामकरण हो गया. लगभग ५० वर्ष तक आचार्य अवस्था में धर्म-प्रचार करते रहे. अंतिम वर्षों में ये अस्वस्थ रहे. अंत में संवत् १८५३ की वैशाख शुक्ला चतुर्दशी को नागौर में ३१ दिन के संथारे से स्वर्गवास हुआ.

**शिष्यसम्पदा**—इनके शिष्यों की संख्या ५१ थीं[2] श्रीरायचन्द्रजी महाराज को इन्होंने अपना पट्टधर बनाया[3] इनका सम्प्रदाय 'जयमल्लसम्प्रदाय' के नाम से विख्यात हुआ जो आज भी प्रचलित है.

**विहारक्षेत्र**—जैन सन्तों का वर्षावास के अतिरिक्त एक जगह ठहरने का विधान नहीं है. तदनुसार वे आठ माह तक ग्रामानुग्राम विचरण कर जन-जन को धर्मोपदेश देते रहते थे. आचार्य श्रीजयमल्लजी का विहारक्षेत्र प्रधानतः राजस्थान रहा है. राजस्थान के अतिरिक्त दिल्ली, आगरा, पंजाब व मालवा में भी विचरते रहे.

**जन-सम्पर्क और धर्म-प्रचार**—आचार्य जयमल्लजी अपने समय के प्रमुख सन्तों में से थे. इनका साधारण जनता से लेकर राजवर्ग तक सम्पर्क था. राजवर्गीयों द्वारा आखेटचर्या आदि में होने वाली हिंसा से, मुनि श्री ने अपनी साधना-सिक्त ओजस्विनी वाणी द्वारा न केवल उन्हें विरत ही किया अपितु उनमें से अनेकों को अपना दृढ़ अनुयायी भी बना लिया. महाराजाओं में जोधपुर नरेश अभयसिंह[4] जी आपसे तथा आचार्य भूधरजी से अत्यधिक प्रभावित थे. जब ये पीपाड़ में विराज रहे थे तब इनकी गौरव-गाथा सुनकर महाराजा ने अपने दीवान रतनसिंह भंडारी को भेजकर (इनको) जोधपुर पधारने की विनती करवाई. जब आप जोधपुर पधारे तब महाराजा अकेले ही दर्शन को नहीं आये वरन् अपनी रानियों और सरदारों को भी शाही ठाट से लाये.[5] यही नहीं सं० १७९१ में जब ये दिल्ली विराज रहे थे तब जोधपुर नरेश ने ७ राजाओं के साथ आपका उपदेश श्रवण किया. जयपुर-नरेश तो इनकी यश-गाथा से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने शाहजादे को भी यह शुभ संवाद सुनाया. शाहजादे के हृदय में मुनि-दर्शन की इच्छा बलवती हुई. उसने दर्शन कर हिंसा अहिंसा सम्बन्धी कई प्रश्न किये और उनका समुचित समाधान पाकर निरपराध प्राणियों का वध न करने की प्रतिज्ञा की.[6] जोधपुर-नरेश के साथ ही कविवर करणीदानजी[7] ने भी इनके दर्शन किये थे.[8]

जैसलमेर में आप के पधारने पर वहाँ कुछ विरोधियों ने आपकी मूर्ति बनाकर उस पर धूल उछाली. यह समाचार सुनकर आपने मुस्करा कर कहा-मेरे कर्म धुल रहे हैं. राजा ने अपने किले में इनका ससम्मान स्वागत किया और साधुचर्या की जानकारी पाकर प्रसन्नता प्राप्त की. उसने अपने ग्रंथ-भण्डार भी इन्हें बतलाये.[9]

---

१. सं० १८०५ अक्षय तृतीया को जोधपुर में ये आचार्य बने.

२. धासीरामजी, सूरतरामजी, गजराजजी, तुलसीदासजी, बगतमलजी, उदोजी, खेमचंदजी, पृथ्वीराजजी आदि इनके प्रमुख शिष्य थे.

३. रायचदन्जी का जन्म सं० १७९६ में आसौज सुदि ११ जोधपुर में विजयराजजा धाड़ीवालके यहां हुआ था. सं० १८१४ की आषाढ शुक्ला ११ को पीपाड़ शहर में गोवर्द्धणदासजी महाराज से इन्होंने दीक्षा अंगीकृत की. सं० १८६८ में इनका स्वर्गवास हुआ. ये भी आचार्य जयमल्लजी की तरह प्रतिभाशाली कवि थे.

४. इनका शासनकाल सं० १७८१ से १८१६ तक रहाः जोधपुर राज्यका इतिहास, द्वितीय खण्ड-ओझा.

५. पूज्यगुणमालाः चौथमल्लजी म० पृ० ६०-६३.

६. वही : पृ० ६९-७६.

७. ये कविया शाखा के चारण मेवाड़ के शूलवाड़ा गांव के रहने वाले थे. इन्होंने 'सूरजप्रकाश' नाम का बड़ा ग्रंथ लिखा है जिसमें ७५०० छंद हैं. महाराजा अभयसिंहजी ने इन्हें लाखपसाव तथा कविराजा की उपाधि दी थी.

८. पूज्य गुणमाला : चौथमल्लजी म० : पृ० ८२.

९. वही : पृ० ७८-८१ ।

जयमल्लजी ने धर्मप्रचार करते समय अपने नये क्षेत्र भी बनाये. बीकानेर ऐसा ही एक क्षेत्र था. आप की पहुँच के पहले बीकानेर में स्थानकवासियों का कोई प्रभाव नहीं था. संभवतः ये पहले सन्त थे जिन्होंने बीकानेर में जाकर स्थानकवासी धर्म की ज्योति प्रज्वलित की. इस धर्माभियान में इन्हें अनेक परीषहों का सामना करना पड़ा. बीकानेर जाने पर उन्हें प्रवेशद्वार पर ही यह कह कर रोक लिया गया—

बीकानेर है क्षेत्र जत्यों का नहीं थांरो, पग फेर ।
जावो जल्दी पाछा जिससे हो जासी तुम खैर ॥[1]

संत की मर्यादा के कारण ये उलटे पाँव लौट पड़े और 'छतरी तलावरी पाल' पर एक कुंभकार के यहाँ आठ दिन तक रहे. अन्तिम दिन आपकी श्रद्धालु श्राविका रामकंवर बाई को जब इस घटना का पता लगा तब उसने प्रतिज्ञा की कि "जब तक पूज्यश्री नगर में पदार्पण नहीं करेंगे तब तक मैं अन्न-जल न लूंगी. उसके दोनों पुत्रों का प्रतिदिन मां के साथ ही भोजन करने का नियम था. मां को इस प्रकार चिन्तित देखकर उन्होंने तात्कालिक बीकानेर नरेश गजसिंहजी[2] से विशेष आज्ञापत्र प्रचारित करवा कर पूज्यश्री को नगर में प्रवेश कराया. स्वयं गजसिंहजी जयमल्लजी के धर्मोपदेश से प्रभावित हुए और उन्हें एक माह तक अपने महल में ठहराया.[3] उदयपुर के महाराणा रायसिंहजी[4] (द्वितीय) नागौर अहिपुर के राजा बखतसिंहजी[5] भी इनके सम्पर्क में आकर प्रभावित हुए.

कई ठाकुर और सरदार भी जयमल्लजी के व्यक्तित्व और चारित्रिक गुणों से प्रभावित थे. पीपाड़ से जोधपुर विहार करते समय आप मध्यवर्ती गांव 'बुचकला' में ठहरे. वहाँ के ठाकुर के यहाँ गोचरी गये, जहाँ नौकर ने मना कर दिया. ये उलटे पाँव लौट पड़े. ठाकुर को पता चला तो उसने नौकर को बुरा-भला ही नहीं कहा वरन् स्वयं दिन भर आचार्यश्री की सेवा करते हुए भविष्य में आखेटचर्या न करने की प्रतिज्ञा की.[6] इसी प्रकार पोकरण के ठाकुर देवीसिंहजी चांपावत को भी शिकार-वृत्ति से विमुख किया.[7] देवगढ़ के जशवंतराय और देलवाड़ा के राव रघु इनका उपदेश सुनकर धर्मानुरागी बने.[8]

जयमल्लजी आगमों के विशिष्ट ज्ञाता थे. एक बार पीपाड़ में एक पोतियाबंध[9] से आपका शास्त्रार्थ हो गया. उसका कहना था कि इस काल में महावीर ने मुनिवृत्ति का निषेध किया है. आपने भगवती सूत्र के आधार पर शंका-समाधान किया.[10]

व्यक्तित्व—जयमल्लजी का व्यक्तित्व मधुर और प्रभावशाली था. उनकी आंखों में तेज, स्वभाव में सरलता, हृदय में करुणा और वाणी में ओज था. कठोर से कठोर प्राणी भी इनके सम्पर्क में आकर करुणाशील बन जाता था. ये सच्चे अर्थों में 'धर्म-पथ के दीप-स्तंभ थे'. बाधाओं को हँसते हुए सहन करना इनका स्वभाव बन गया था. 'तपोनिधि संयम-शुचिता-

---

१. पूज्य गुणमाला : पृ० ९२.
२. इनका शासनकाल सं० १८०२ से १८४४ तक रहा.
   –बीकानेर राज्य का इतिहास : पहला भाग, पृ० ३२३-५८–ओझा.
३. पूज्य गुणमाला : पृ० ९१-९८.
४. वही : पृ० १०३.
५. वही : पृ० ८८.
६. वही : पृ० ६१.
७. वही : पृ० ७८.
८. पूज्य गुणमाला : पृ० १०३
९. १६ वी सदी से पोतिया बंध की एक परम्परा चली है. ये श्रावक होते हैं पर साधु के समान उपाश्रयों में बैठकर शास्त्र का पठन-पाठन करते हैं, घरों से भिक्षा लाते हैं, खुले सिर और नंगे पांव चलते हैं. देखो—पोतियाबन्ध परम्परा पर एक दृष्टि, गजेन्द्रमुनि, जिनवाणी : अगस्त १९६०, पृ० १९७-२००
१०. पूज्य गुणमाला : पृ० ५८-६०

सार' के रूप में 'मोह-मल्ल के प्रबल विजेता' को जो श्रद्धांजलि[1] अर्पित की गई है वह सोलह आना ठीक है ! कालजयी यह शूरवीर अपने आप में अद्भुत था. हाथ में क्षमा-खड्ग और शील-सत्य की बरछी लेकर यह ज्ञान के अश्व पर आरूढ़ था.

**काव्य-साधना**—आचार्य रूप में जयमल्लजी जितने प्रभावक थे, कवि रूप में उतने ही सहृदय भावुक. इनके कवि-व्यक्तित्व में सन्तकवियों का विद्रोह और भक्त-कवियों का समर्पण एक साथ दिखाई पड़ता है. समय की दृष्टि से इनका आविर्भाव रीतिकाल में हुआ. ये हिन्दी के प्रमुख रीतिकालीन कवि पद्माकर के समकालीन थे. यों नागरीदास और चाचा हितवृन्दावनदास भी उसी समय राधा-कृष्ण के चरणों में अपनी भाव-भरी काव्यांजलि समर्पित कर रहे थे. ठाकुर और बोधा जैसे कवि रीतिमुक्त होकर एक ओर प्रेम का सात्विक चित्रण कर रहे थे तो दूसरी ओर कविराय गिरधर जैसे सूक्तिकार भी थे जो नीति की बातों को कुंडलियों में गा-गाकर कह रहे थे. कवि जयमल्ल ने इन सब सूत्रों से अपनी कविता का ताना-बाना बुना.

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल (सं० १७०० से १६००) की यह प्रमुख विशेषता थी कि संस्कृत में कवि और आचार्यों का जो अलग-अलग वर्ग था वह इस युग में आकर एक हो गया. कवि कर्म का सम्बन्ध केवल काव्य-रचना से था, जब कि आचार्यों का काम केवल काव्यगत सिद्धान्तों का निरूपण करना था. अब रीति-युग में कवि स्वयं आचार्य बन गया. वह पहले कविता के लक्षण आदि बताकर आचार्यधर्म का पालन करता, फिर उसके उदाहरण के रूप में कवि-कर्म की पूर्ति के लिए कविता रचता. परिणामतः काव्यधारा एक निश्चित नियम, रीति या रूढ़ि में बँधकर बहने लगी. हमारे आलोच्य कवि इस प्रकार के तथाकथित 'आचार्य' तो नहीं बने पर उनको 'आचार्य' का विरुद अवश्य मिल गया. यह विरुद उनकी काव्याराधना का प्रतिफल न होकर उनकी धर्मसाधना, संयम-निष्ठा और आगमिक ज्ञान की गंभीरता का परिणाम था.

कवि जयमल्लजी रीतिकाल की बँधी बँधाई परिपाटी में नहीं चले. उन्होंने रीतिकाल की उद्दाम वासनात्मक शृंगार-धारा को भक्तिकाल की प्रशान्त साधनात्मक प्रेम-धारा की ओर मोड़ा. इन्होंने तीर्थंकरों, सतियों, विहरमानों, व्रती श्रावकों आदि को अपना काव्य-विषय बनाया.

**काव्य-रचना**—मुनि 'श्रीमिश्रीमल्लजी' मधुकर 'ने बड़े परिश्रम से इनकी यत्र-तत्र बिखरी हुई रचनाओं का 'जय-वाणी' नाम से संकलन किया है. इस संकलन में आलोच्य कवि की ७१ रचनाएँ संग्रहीत हैं. इन समस्त रचनाओं को विषय की दृष्टि से चार खण्डों में-स्तुति, सज्झाय, उपदेशीपद और चरित, चर्चा-दोहावली में विभक्त किया गया है. उपाध्याय अमर मुनि ने इसकी चर्चा करते हुए लिखा है—स्तुतिखण्ड में उन्होंने अपने आराध्य देवों के संस्तवन में अपनी भक्ति-भाव-भरित अनेकशः श्रद्धाञ्जलियां गुम्फित की हैं. 'सज्झाय' खण्ड में आत्म-स्वातन्त्र्य के मार्ग को प्रशस्त करने वाले अनेक गहन चिन्तनों को काव्यमयी भाषा में लिपिबद्ध किया गया है. इसी प्रकार 'उपदेशी पद' नामक खण्ड में अनेक आत्म-विकासी एवं मानवीय नैतिक धरातल को समुन्नत करने वाले उपदेश सहज-सुबोध शैली में ग्रथित किये हैं. अन्तिम खण्ड में जिन महान् आत्माओं के पावन चरितों को काव्यमृत से सिंचित एवं भावित किया गया है, उनके जीवन्त चित्र आत्मा को असत् से सत् की ओर, तम से ज्योति की ओर एवं मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाने की अपूर्व क्षमता रखते हैं. इसी भांति इस खण्ड की चर्चा एवं दोहावली भी जीवन के अनेक उत्कर्ष-विधायक तत्त्वों से आपूर्ण है[2].

इन रचनाओं के अतिरिक्त भी आचार्यश्री की और कई रचनाएं हस्तलिखित प्रतियों में बिखरी पड़ी हैं. खोज करते समय जो अतिरिक्त रचनाएं हमारी दृष्टि में आई हैं उनके नाम इस प्रकार हैं[3]—

(१) चन्दन बाला की सज्झाय (२) मृगालोढ़ा की कथा (३) श्रीमतीनी ढाल (४) मल्लीनाथचरित (५) अञ्जनानो

---

१. गुणगीतिका—पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, पृ० ३

२. जयवाणी : पृ० ६ ('कवि और कविता' एक मूल्यांकन).

३. ये सभी रचनाएं आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान-भंडार, जयपुर में संग्रहीत हैं.

रास (६) पाँच पांडव चरित्र (७) कलंकली की ढाल (८) नन्दन मनिहार (९) क्रोध की सज्झाय (१०) आनन्द श्रावक (११) सोलह सती की सज्झाय व चौपई (१२) अजितनाथ स्तवन (१३) दुर्लभ मनुष्य-जन्म की सज्झाय (१४) रावणविभीषण संवाद (१५) इलायचीपुत्र को चौढालियो (१६) नव तत्त्व की ढाल (१७) नव नियाणा की ढालाँ (१८) दान-शील-तप-भावना सज्झाय (१९) मिथ्या उपदेश निषेध सज्झाय (२०) लघु साधुवन्दना (२१) वज्र पुरन्दर चौढालिया (२२) कुंडरीक-पुंडरीक चौढालिया (२३) सुरपिता का दोहा (२४) रोहिणी (२५) अंबड संन्यासी (२६) कर्मफलपद, आदि.

काव्य-रूप और वस्तु व्यञ्जना:—जैनागमों में वाङ्मय के चार रूप बताये गये हैं—(१) धर्मकथानुयोग (२) चरण-करणानुयोग (३) गणितानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग.

जयमल्लजी ने सबसे अधिक प्रथम अनुयोग पर ही लिखा. यही रूप जन-साधारण के लिए उपयोगी और आकर्षक होता है. इसमें चरित-नायक की कथा गा-गाकर विविध रूपों में कही जाती है. ये एक प्रकार के कथा-काव्य या चरित-काव्य होते हैं. इनके प्रमुख रूप लौकिक छन्दों में रचित रास, रासो, चौपाई, ढाल, चौढालियो, चरित आदि होते हैं. कवि जयमल्लजी ने इन सभी रूपों में तीर्थंकरों, सतियों, बलदेव आदि धार्मिक पुरुषों का आख्यान गाया है.

दूसरे रूप चरणानुयोग को अपनाकर उन्होंने अपने सन्त कवि का दायित्व निभाया. इसमें व्यवहार, सदाचार और नीति सम्बन्धी बातों का बोलचाल की भाषा में मार्मिक वर्णन किया है. इस सम्बन्ध के कई गीत और स्तवन स्तुति-काव्य के रूप में आलोच्य कवि ने लिखे हैं. इन काव्यरूपों में स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, सज्झाय, गीत, बीसी, चौबीसी, तीसी, बत्तीसी छत्तीसी, बयालीसी, आदि काव्य-रूप प्रधानत: कवि द्वारा अपनाये गये हैं.

द्रव्यानुयोग के रूप में कवि ने कम लिखा है. तात्त्विक सिद्धान्तों का निरूपण स्वतन्त्र रूप में कम कर कथा के मध्य यथा-प्रसंग कर दिया गया है. यों दंडक, क्षमा, सम्यक्त्व, क्रोध, पाप, कर्म, मोक्ष आदि पर स्फुट रूप में लिखी हुई रचनाएं मिलती हैं.

भाव-व्यञ्जना:—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सन्त कवि जयमल्लजी की भाव-धारा दो रूपों में विशेषत: बही है—प्रबन्ध और मुक्तक. प्रबन्ध-रूप महाकाव्य की विशदता नहीं ले पाया. वह बन्धकाव्य की तरह भी अपना विकास न कर सका. मात्र कथाकाव्य बनकर रह गया. उसमें इतिवृत्त का अंश अधिक है. मार्मिक स्थलों की पहचान करने की क्षमता कवि में अवश्य है पर कथा कहने की अधीरता उसमें इतनी अधिक है कि वह मार्मिक स्थलों पर बिना विराम किये ही आगे बढ़ जाता है. प्रबन्धकाव्यों की तरह उसने कथा को अध्याय या सर्गों में विभाजित नहीं किया पर ढालों की संख्या देकर इस अभाव की पूर्ति कर दी है. यहाँ जो प्रबन्धकाव्य मिलते हैं उन्हें कथा-काव्य कहना अधिक समीचीन होगा. ये कथाएँ आगमसम्मत हैं. इन सबका एक ही उद्देश्य है, वह है निर्वाणप्राप्ति. सांसारिक भोग-विलास से विमुख होकर लोकोत्तर आनन्द के लिए प्राय: सभी पात्र प्रवज्या धारण करते हैं. इन कथाओं में काव्य-शास्त्रीय ढंग की जो कार्यावस्थाएं हैं, उनका क्रमबद्ध स्वरूप देखा जा सकता है. आरम्भ में जो पात्र है. वह राजघराने या कुलीन परिवार से सम्बन्धित है. यों सामान्यत: उसका परिवेश धार्मिक-आध्यात्मिक सौरभ से पूर्ण है. कभी-कभी इससे विपरीत स्थितियां भी देखने को मिलती हैं. उद्देश्य की प्राप्ति (निर्वाण प्राप्ति) के लिए 'प्रयत्न' शुरू होने के रूप में प्राय: किसी न किसी तीर्थंकर या मुनिराज का उस नगरी विशेष में पदार्पण होता है. नायक इन शुभ समाचारों से प्रसन्न होकर राजसी ठाट-बाट के साथ उन्हें वन्दन करने के लिए जाता है. वे (तीर्थंकरादि) धर्मोपदेश देते हैं और पूछने पर नायक के पूर्वभव का आख्यान भी कहते हैं. अपने पूर्व-जन्म की कथा सुनकर नायक सांसारिक भयंकर दुखों से संतप्त होकर संयम-धारण करने का संकल्प कर लेता है. इस संकल्प को साकार रूप देने के लिए नायक को संघर्ष करना पड़ता है. यह संघर्ष प्राय: पारिवारिक होता है. कभी माता की ममता[1] उसे रोकती है तो कभी

---

१. (क) सुबाहु कुमार की माता उसे रोकती है—जयवाणी : पृ० २११-१३

(ख) देवकी गजसुकुमाल को रोकती है—जयवाणी : पृ० ३४०-४१

प्रियतमा की अश्रुपूर्ण आंखें उसे संकल्प से डिगाना चाहती हैं.[1] किन्तु वह मोहपाश को तोड़ कर कर्त्तव्य-पथ पर बढ़ जाता है. यही 'प्राप्त्याशा' की स्थिति है. कभी-कभी संयम-धारण करने की भावना को प्रोत्साहित करने के लिए प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी अनुकूल वन जाती हैं. कृष्ण, नेमिनाथ को विवाह के सूत्र में बांधने के लिए अथक प्रयत्न करते हैं. राजमती के साथ उनका (नेमिनाथ का) वाग्दान भी हो जाता है. यही नहीं, नेमिनाथ विवाह करने के लिए दूल्हा बन कर, वरात सजाकर, राजमती के प्रासाद तक भी चल देते हैं. पर अचानक परिस्थिति वदलती है और वे भोज के लिए वन्दी पशु-पक्षियों का कातर करुण क्रन्दन सुनकर तोरण से उल्टे पाँव लौट दीक्षा धारण कर लेते हैं.[2]

संयम लेने के बाद केवल-ज्ञान प्राप्त होने तक की स्थिति 'प्राप्त्याशा' से लेकर 'नियताप्ति' तक की स्थिति है. 'नियताप्ति' तक पहुँचने के लिए साधक को कई प्रकार की कठिन परिस्थितियों (परीषहों) से गुजरना पड़ता है. यदि वह इन परिस्थितियों से वीर योद्धा की भाँति जूझ सकता है तो 'फलागम' निश्चित है. स्कंदक ऋषि की उनके बहनोई द्वारा ही चमड़ी उतरवाई गई पर वह तनिक भी विचलित नहीं हुए[3]. उदाई राजा ने अपने पुत्र को राज्य न देकर भागिनेय केशी को राज्य दिया और प्रव्रज्या ली पर केशी ने मुनि उदाई को विषमिश्रित औषध देकर मरवा डाला, इस पर भी उदाई मुनि समभावी वने रहे.[4] मेघकुमार ने अन्य मुनियों के पैरों की ठोकरें खाई,[5] संताप भी हुआ पर पूर्वभव में हाथी की शशक बचाने की भावना ने उसे संयम में दृढ़ वना दिया. कार्तिक सेठ ने अपनी पीठ पर खीर की गरम-गरम थाल झेली.[6] गजसुकुमाल ने खैर के खीरे मस्तक पर रखे जाने पर भी ध्यान न छोड़ा.[7] ये ही वे बाधाएँ हैं जो साधक को कसौटी पर कसती हैं. जो इस परीक्षा में खरा उतर जाता है वह 'नियताप्ति' की स्थिति में पहुँच जाता है. इन कथाओं

---

१. मेघकुमार को उसकी आठ रानियाँ रोकती हैं—जयवाणी पृ० ३७४-७५

२. भगवान् नेमिनाथ : पृ० २१७-२२८—जयवाणी

३. तीखी पासणा नी धार,
मस्तक ऊपर फार, सुकोमल साध ।
त्वचा उतारी देहनी ए ॥२३॥
पगां सुधी खाल,
तो ही रह्या संयम मां लाल, सुकोमल साध !
ना केई सल घाल्यो नहीं ए ॥२४॥—जयवाणी : पृ० ३०८

४. अटण करता आविया, वैद्य अकारज कीधो रे ।
विष मिश्रित वस्तु तिका, मुनिवर पात्रे दीधो रे ॥३॥
निरदोषण जाणा थानक आय ने, रोग जावा औषध खायो रे ।
जहर प्रगट्यो वेदन हुई ऊजल, सही न जायो रे ॥४॥—जयवाणी : पृ० ३६०

५. कोई परठन जावेजी मातरो, रात तणे समय मांय जी,
किण री ठोकर लागवे, कोई ऊपर पड़ी जाय जी ॥
कोई लेवा जावेजी वांचणी, पग तले आगुंली आय जी ।
पगनी रज पड़ साथ रे, अरति आई मन मांय जी ॥ मेघ० ॥२—जयवाणी : पृ० ३७१ ढाल १३

६. ऊनी खीर परुसने, मोंरां ऊपर मूकी थाल ।
सेठ मोर फेर्या नहीं, जिन थाल सूं उपड्या छाल रे ॥१२॥
कठिन परीषह सेठ सह्यो, जाणे अजयणा थाय ॥
रखे थाल हेठो पड़े रे, तो नानाजीव मार्या जाय रे ॥१३॥—जयवाणी पृ० ३६०-३६१

७. मस्तक पाल वन्धी माटी की, मुनिवर समता रस भरिया ।
झग झगता खयर ना खीरा, मुनिवर ने शिर धरिया ॥४॥
खदबद खीच तणी परे सीजे, तड़-तड़ नासां तूटे ।
मुनिवर समता-भाव करी ने, लाभ अनंतो लूटे ॥५॥—जयवाणी पृ० ३४८

में यह स्थिति या तो केवलज्ञान की प्राप्ति पर निश्चित होती है या किसी विमान (स्वर्ग-लोक) विशेष में पहुँचने पर. इसके वाद 'फलागम' के रूप में मुक्ति की प्राप्ति होती है जहाँ जन्म-मरण का चक्र टूट जाता है. यह पूर्ण आध्यात्मिक स्थिति होती है जहाँ लौकिकता का किंचित् भी अंश नहीं रहता.

इन कथा-काव्यों को पढ़ने से पता चलता है कि इनका आधार आगम रहे हैं. ग्रंथ पर कहीं-कहीं कथानक रूढ़ियों का प्रयोग इतना अधिक हुआ है कि कथा का मूल-अंश दब-सा गया है. संक्षेप में कहा जा सकता है कि कवि जयमल्लजी ने अपने इन कथा काव्यों में निम्नलिखित प्रमुख कथानक-रूढियों का प्रयोग किया है—

(१) नायक कोई राजा, राजकुमार या गाथापति है.

(२) नायक को सांसारिक भोग के सभी-सुख-साधन यथेष्ट मात्रा में सुलभ हैं. सामान्यतः उसके एक से अधिक रानियाँ हैं.

(३) तीर्थंकर भगवान् या कोई विशिष्ट मुनिराज गामानुग्राम विहार करते हुए उसकी नगरी में पदार्पण करते हैं.

(४) नगरी के प्रमुख उद्यान में ये मुनिवर ठहरते हैं.

(५) नायक राजसी ठाट-वाट के साथ सपरिवार उन्हें वन्दन करने के लिए जाता है.

(६) तीर्थंकर भगवान् नायक को धर्म-देशना के साथ-साथ उसके पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाते हैं.

(७) अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर नायक संसार से विरक्त होकर दीक्षा लेने का संकल्प करता है और अपने पुत्र को उत्तराधिकार देता है.

(८) दीक्षा के भयंकर कष्टों का वर्णन कर नायक की माता और पत्नी उसे संयम से रोकने का प्रयत्न करती हैं.

(९) नायक उन्हें प्रतिबोध देकर दीक्षित हो जाता है, कभी-कभी माता-पिता और पत्नी तक उसके साथ संयम ग्रहण कर लेती है,

(१०) साधना-काल में नायक को भयंकर उपसर्ग और परीषह सहन करने पड़ते हैं.

(११) इन कठिनाइयों में प्रायः देवता आकर सहायता करते हैं पर तपस्वी साधक अपने बल पर ही उसका मुकाबला करते हैं.

(१२) कभी-कभी देवता भी वैक्रिय रूप धारण कर नाना प्रकार के दुःख देकर नायक के संयम की परीक्षा लेते हैं.

(१३) साधना में खरा उतरने पर नायक की जयजयकार होती है, उसे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है और अन्ततः वह मोक्ष पाता है.

काव्य-निर्माण का निर्वाह यहाँ प्रायः सभी कथाओं में हुआ है. इसके दो रूप रहे हैं. इसी जीवन से सम्बन्ध रखने वाला, दूसरा पूर्व-जन्म से सम्बन्वित. कर्मवाद में आस्था रखने के कारण सैद्धान्तिक दृष्टि से भी काव्य-निर्णय की स्थिति को यहाँ सहज आश्रय मिल गया है. यहाँ जो प्रतिनायक है वह पूर्वजन्म में किसी न किसी रूप से नायक द्वारा शोषित, पददलित और पीड़ित रहा है. इसीलिए इस जन्म में वह नायक से वदला लेता है.

यहाँ जितने भी पात्र आये हैं वे कुलीन वर्ग से संबंधित हैं. पुरुष पात्र राजा-महाराजा या सेठ आदि हैं. जीवन के प्रातः-काल में पूर्णतः भोगी और गृहस्थी हैं. संध्याकाल में संयम धारण कर निर्वाणपथ के पथिक वनते हैं. निम्न वर्गों में कुम्भ-कार का प्रायः वर्णन मिलता है. आचार-विचार में ये वारह व्रतधारी श्रावक-से हैं. सद्दालपुत्र की गिनती आदर्श श्रावकों में की जाती है. उदाई राजा को एक कुंभकार ने ही ठहरने के लिए राजाज्ञा के विरुद्ध भी साहस करके स्थान दिया था. स्त्रीपात्रों में माता और पत्नी के रूप अधिक निखर कर सामने आये हैं. राजमती का चरित्र उस नारी का चरित्र है जिसने यौवन की देहरी पर प्रेम को निमन्त्रित किया था, वह आता हुआ दिखाई भी दिया पर न आया. उसके बाद विरह की अनन्त साधना और फिर योग धारण. देवकी सात-सात पुत्रों को जन्म देकर भी अपने मातृत्व को तृप्त न कर

सकी. इसका प्रायश्चित्त उसे वात्सल्य रस की सजीव प्रतिमा बना देता है. और वह अन्ततः आठवें पुत्र (गजसुकुमाल) की माता बनकर अपने मातृत्व को सार्थक करती है. देव पात्रों में देवता और यक्ष आते हैं. ये सहायता भी करते हैं और आतंकित भी. पर इन दैविक शक्तियों के आगे भी ऊर्जस्वल मनुष्यत्व कभी नतमस्तक नहीं होता.

इन कथा-काव्यों में इतिवृत्त की प्रधानता है. कथा में वस्तु-वर्णन और दृश्य-वर्णन के कई अवसर आये हैं. दृश्य-वर्णन-प्रमुख स्थल प्रायः निम्नलिखित रहे हैं——

(क) वस्तु रूप में:——

(१) नगर-वर्णन (२) वैभववर्णन (३) जन्म-वर्णन (४) रूप-वर्णन (५) विवाह-वर्णन (६) मुनि-दर्शन-वर्णन, दीक्षा-वर्णन

(ख) भाव-रूप में:——

(१) मुनि-व्रत की कठोरता का वर्णन (२) शृंगार के संयोग-वियोग रूप (३) वात्सल्य के संयोग-वियोग रूप (४) वीर और रौद्र रस के चित्र (५) करुण और शान्तरस के चित्र (७) मुक्त हास्य का सजीव चित्र.

वस्तु रूप में जो चित्रण हैं, वे इतिवृत्तात्मक बनकर ही रह गये हैं. प्रकृति-चित्रण और उसकी आलंकारिक क्षमता के कारण ये वस्तुवर्णन रस-परिपाक में असमर्थ रहे हैं. जैन मुनियों ने प्रकृति के उपादानों से ग्रहण करने का प्रयत्न किया है परन्तु उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम भिन्न रहा है. अर्थात् वैष्णव कवियों ने कृष्ण-भक्ति के नाम पर विलासविवर्धक तथ्याभिव्यक्ति में तनिक भी संकोच नहीं किया है, जब कि अध्यात्मसंस्कृतिमूलक जीवनयापन करने वाले एवं आत्मस्थ सौन्दर्यप्रबोधक सन्तों ने प्रकृति से साधना के प्रकाश में सौन्दर्य ग्रहण तो किया है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम पार्थिव सौन्दर्यमूलक तथ्य न हो कर अन्तरंग सौन्दर्य ही रहा है.

नगर-वर्णन में उसके वैभव का ही अधिक चित्रण है. द्वारिका नगरी के वर्णन में कवि ने उसके ऐश्वर्य को यों व्यक्त किया है——

'सोवन कोट रतन कांगुराजी, सोभे रूड़ा आवास ।
झिग मिग करने दीपताजी देवलोक जिम सुख वास ॥ ——पृ० ३१८

रूप-वर्णन के तीन प्रसंग हैं. जन्म के अवसर पर, विवाह के अवसर पर और मुनि-दर्शन के अवसर पर. द्रौपदी का जन्म हुआ है. उसके रूप का कोई पार नहीं. उसकी बोली शकरकंद-सी मीठी, उसका अर्ध चन्द्राकृति सम ललाट, नयन कमल से विकसित, भुजाएँ मृणालिनी-सी, नासिका दीपशिखा-सी और दंत-पंक्ति दाड़िम-कुली-सी.[1] विवाह के लिए नेमिनाथ वरयात्रा सजाकर चले हैं. रथ में बैठे हुए वे ऐसे लगते हैं मानों ग्रह-नक्षत्रों के बीच चन्द्र हो'.[2] देवकी भगवान् नेमिनाथ को वन्दना करने के लिए जा रही है. उसने स्नान कर नया वेश धारण किया है, आभूषण पहने हैं——हाथों में कंकण, कंठ में नवसर हार, पैरों में नूपुर; मानों साक्षात् देवांगना हो.[3]

---

१. कुंवरी रूप माहे रलियामणी, मुख बोले अमृत-वाण ।
मीठी शाकरकंद सीं, वले भासे हित मित जाण ॥ नयणसलूणी रे कन्यका ।
अरध शशी सम सोभतो, पुनि पूरण भरियो भाल ।
नयन कमल जिम विकसता, वेहुँ बांह कमल नी नाल ॥
नाशिका दीपे शिखा समी, नकवेसर लहे नाक ।
दंत जिसा दाड़िम कुली, मृग-नयनो सूरत पाक ॥——पृ० ३१९-१८

२. नगारां री धोरज वाजे, आकाशे जाणे अंबर गाजे ।
नेम कँवर रथ बैठां छाजे, ग्रह नक्षत्र में जिम चंद्र विराजे ॥——पृ० २२२

३. न्हाई ने मंजन करी, पहिर्या नव-नवा वेश ।
माणक मोती माला मूंदड़ी, गहणा हार विशेष ॥——पृ० २१३

मुनि-दर्शन के लिए राजा-महाराजा अकेले नहीं जाते थे. वे शोभा-यात्रा के साथ सज-धजकर जाते थे. देवकी नेमिनाथ को वन्दना करने जा रही है. उसने शानदार रथ सजाया है. वह बहुत ही हलका है. और चार पहियों वाला है चारों ओर मोतियों की जाली लगी हुई है.[1] उसमें जुते हुए बैलों का क्या कहना ? दोनों की समान जोड़ी है. उन पर झूल सुशोभित हैं. उनके सींगों में 'राखड़ी', गले में रजतघंटिकायुक्त स्वर्ण-शृंखला और सींगों पर सोने की खोल. रेशम की मृदु 'नाथ' नाक में पड़ी है ताकि उन्हें पीड़ा न हो.[2]

दीक्षा-वर्णन में वर्षीतप का, दान देने का, लोच करने का प्रायः वर्णन किया गया है.

वस्तु-रूप में जो वर्णन आये हैं उनमें कुछेक बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं, जैसे रथ-वर्णन. भाव-रूप में, जिन मनोवृत्तियों की अतुल गहराई में पैठकर कवि ने चित्रण किया है, वह प्रभावोत्पादक और सरस बन पड़ा है. कवित्व का स्फुरण इन्हीं स्थलों पर दिखाई देता है.

जैन-संत-कवि की काव्य-कला का मूल्यांकन करते समय हमें लौकिक-काव्य को परखने की प्रचलित कसौटी से कुछ भिन्न कसौटी अपनानी होगी. तभी हम उसके साथ ठीक-ठीक न्याय कर सकेंगे. जैन-संत-कवि की मूल चेतना लौकिक-सुख से प्रेरित-प्रभावित न होकर लोकोत्तर आनन्द से संचरित होती है. इसीलिए प्रायः इन कवियों ने संसार की नश्वरता और असारता का वर्णन प्रभावोत्पादक ढंग से किया है.

कवि जयमलजी ने इन कथाओं के माध्यम से भोगपरक जीवन की निस्सारता और योगपरक संयमनिष्ठ जीवन की श्रेष्ठता प्रमाणित की है. कमलावती के माध्यम से उन्होंने कहलाया है—

> रतन जड़ित हो राजाजी पिंजरो, सुवो तो जाणे छे फंद ।
> इसड़ी पण हूँ थांरा राज में, रति न पाऊँ आणन्द ॥ —पृ० १६४ ॥

राजा प्रदेशी भी केशी श्रमण से सभी शंकाओं का समाधान पाकर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि—

> कुण माता ने कुण पिता, कुण स्त्री प्रिय भाय रे ।
> हुवे दुपमण कपड़ा डील रा, जब करम उदय हुवे आय रे ॥ —पृ० २६०

अतः सुख का एक ही रास्ता है—

> हस्ती जिम बंधन तोड़ने, आवणो वन में सुखे जाय ।
> ज्यूं कर्म बंधन तोड़ी संजम ग्रहां—होस्यां ज्यूं सुखी मुगत मांय ॥—पृ० १६५

पर यह संयम मार्ग सरल नहीं है 'कृपाण की धार के समान' दुस्तर है. इसकी कठोरता, भयंकरता और उग्रता का वर्णन देखिये—

---

हाथां में कांकण सोनना, कंठे नवसर हार ।
पगे नेवर दीपना, जाणे देवांगना उणिहार ॥१४॥—पृ० ३२७

१. रथ हलको घणो बाजणो, बले च्यार पैड़ा रो जाण ।
अशुद्ध शब्द करे नहीं, लागे लोकां ने सुहाण ॥३॥
हलवा काष्ठ नो झूंसरो, चले चोड़ा पैड़ा जोत ।
मोत्यां री जाली लग रही, छवी शोभा की उद्योत ॥४॥—पृ० ३२६

२. बलदां रे झूलज सोवनी, नाके नथ रसाल रे ।
राखड़ी सींगां में सोवनी. गल बांधी घुघर-माल रे ॥६॥
सोना री गले में सांकलां, रूपा री घूघरियो जाण रे ।
सोना री खोलो सींग में, दीप रह्या झलहल आण रे ॥१०॥
[illegible] रो [illegible] मिहरो, लटके सीगारे मांय रे ।
नाथ सीने रेशम री भली, जिणसूं नाक दोरो नहीं थाय रे ॥११॥—पृ० ३२६-२७

मुनिवर मोटा अणगार, करता उग्र विहार।
पड रही तावड़े री भोट, तिरसा सूं सूखा होट।
कठिन परिसो साधनो ए॥ तालवे कोइ नहीं थूक,
जीभ गई ज्यांरी सूख, होठो रे आई खरपटी ए॥—पृ० १८३॥

निर्वेदप्रधान रचनाओं के होने पर भी शृंगार-रस के संयोग-वियोग के कई रसीले चित्र यहाँ देखने को मिलते हैं. संयोग का वर्णन अधिकतर वहाँ हुआ है जहाँ संयम लेने के पूर्व नायक सांसारिक भोग भोगता है.[1] विरह के चित्र वहाँ अंकित हैं जहाँ नायक दीक्षित हो जाता है. राजमती के प्रिय-वियोग के चित्र बहुत ही सुन्दर और स्वाभाविक बन पड़े हैं. उसके लिए 'महल अटारी भए कटारी' और 'चन्द-किरण तनु दाझतिया' है. उसकी आँखें प्रियदर्शन को आतुर हैं—

तरसत अंखियां, हुई द्रुम-पखियां!
जाय मिलो पिव सूं सखियां!!
यादुनाथ रे हाथ री ल्यावे कोई पतियां॥१॥ पृ० २२९

वह प्रिय को उपालंभ देना चाहती है. "थे तज राजुल किम भये जतिया" जो उसका उपालंभ नेमिनाथ को देने जायगी, उस दूतिका को वह गहनों से लाद देगी—

जाकूं दूंगी जरावरो गजरो, कानन कूं चूनी मोतिया॥३॥
अंगुरी कूं मूंदड़ी-ओढ़ण कूं फमड़ी, पेरण कूं रेशमी धोतिया॥४॥ —पृ० २२९-२३०॥

उसका यह विरह ही उसे अनन्य प्रेमिका[2] बनाकर मुक्ति-पथ पर ले दौड़ता है और वह अन्त में साधिका बन जाती है. इस प्रकार कहा जा सकता है कि यहाँ जो शृंगार आया है वह शान्त रस की पीठिका बनकर ही.

वात्सल्य-रस के संयोग के चित्र भी यहाँ उसी तन्मयता से अंकित हैं. देवकी के ६ पुत्र देवता के उपक्रम से मृत घोषित हो जाते हैं, कृष्ण का पालन-पोषण भी वह नहीं कर पाती. पर जब भगवान् नेमिनाथ से उसे यह जानकारी मिलती है कि जो ६ साधु हैं वे जन्मत: उसी के पुत्र हैं तो उसका मातृत्व उमड़ पड़ता है. वह जब छहों मुनिवरों के पास पहुँचती है तो उसके संयोग-वात्सल्य का स्रोत उमड़ पड़ता है—

तड़ाक से तूटी कस कंचू तणी रे, थण रे तो छूटी दूधाधार रे।
हिवड़ा माहे हर्ष मावे नहीं रे, जाणे के मिलियो मुझ करतार रे॥४॥
रोम-रोम विकस्या, तन-मन ऊलस्या रे, नयणे तो छूटी आंसू धार रे।
विलिया तो बांहा माहे मावे नहीं रे, जाणे तूट्यो मोत्यां रो हार रे॥५॥ —पृ० २३०॥

इस संयुक्त अनुभूति पर न जाने सूर के कितने पद न्यौछावर किये जा सकते हैं. संयोग-वात्सल्य का प्रत्यक्ष रूप वहाँ देखने को मिलता है जब देवकी की गोद में गजसुकुमाल किलकारी करते हैं. वह उसे यशोदा की तरह झुलाती है, आँखों में अंजन आँजती है, अंगुली पकड़कर चलाती है, खाने को दही-रोटी देती है.[3] इस वर्णन को पढ़ कर तो ऐसा लगता है मानों कवि जयमल ने माता का हृदय पा लिया हो.

---

१. चंद्र-वदन मृग-लोयणीजी, चपल-लोचनी बाल।
हरीलंकी, मृदु भाषिणीजी, इंद्राणी-सी रूप रसाल॥२॥
प्रीतवती मुख आगलेजी, मुलकंती मोहन वेल।
चतुरांना मन मोहतांजी, हंस-गमणी सूं करतां बहु केल॥३॥ —पृ० ३२२

२. कुण ताके तारां ने, छोड़ शशी, म्हारे सांवरिया सरीखी मूरत किसी, म्हें दूजा भरतार नी तृष्णा त्यागी॥ —पृ० २३०

३. जी हो खेलावण-हुलरावणे, लाला, चुंबावण ने पाय।
जी हो न्हवरावण पेहरावणे, लाला, अंगो अंग लगाय॥८॥

वियोग-वात्सल्य का वर्णन भी कम सुन्दर नहीं है. देवकी के हृदय की थाह वही स्त्री ले सकती है जिसने ७-७ पुत्रों को जन कर भी मातृत्व का आनंद नहीं उठाया. उसके हृदय में इस बात का बड़ा दर्द है कि उसने कन्हैया को हाथ पकड़-कर चलाया नहीं, रोते हुए को बहलाया नहीं, ओढ़ाया नहीं, पहनाया नहीं. इस पश्चात्ताप में घुल-घुल कर देवकी सचमुच वात्सल्य की मूर्ति बन गई है—

"जाया में तुम सारिखा कन्हैया, एकण नाले सात रे।
एकण ने हुलरायो नहीं कन्हैया! गोद न खिलायो खण मात रे ॥७॥
रोवतो में राख्यो नहीं कन्हैया! पालणिये पोढ़ाय रे।
हालरियो देवा तणी, कन्हैया, म्हारे हूंस रही मन मांय रे ॥९॥
आंगणिये न करावी थिरी, कन्हैया! आगुंलियाँ विलगाय रे।
हाऊ बैठो छे तिहां, कन्हैया! अलगो तूं मति जाय रे ॥१०॥
ओढणियो पहराव्यो को नहीं, कन्हैया, टोपी न दीधी माथ रे।
काजल पिण सार्यो नहीं, कन्हैया, फदिया न दीधा हाथ रे ॥१०॥ —पृ० ३२२-२३

कहना न होगा कि इस भावना को वात्सल्य रस के सम्राट् महाकवि सूर भी नहीं पहुँच सके हैं.

वीर और रौद्र रस के प्रसंग भी यथास्थान आये हैं. जब कुंती कृष्ण के पास पहुँचकर द्रौपदी की खोज लाने के लिए उत्तेजित करती है, तब कृष्ण जो वचन नारद को कहते हैं उनमें उनका उत्साह छलका पड़ता है—

'दल बादल पाछा फिरे, फिरे नदियाँ का पूर।
'माधव वचन फिरे नहीं, जो पिच्छम ऊगे सूर ॥पृ० ४१४

रौद्र रस का प्रसंग तब उपस्थित होता है जब राजा पद्मोत्तर कृष्ण द्वारा भेजे गए दूत को बुरा भला कह बैठता है—

सिंह रे मुंडा मांय, कांई घाले आंगुली रे।
असवारां री होड करे, डोशी पागुंली रे ॥—पृ० ४१७

करुण और शान्त रस के चित्र पशुओं के करुण क्रन्दन, स्कंदक ऋषि, उदाई राजा, मेघकुमार, गजसुकुमाल, कार्तिक सेठ आदि के क्षमा-भाव में दिखाई देते हैं. यों प्रत्येक कथा का अन्त शान्तरस में ही हुआ है, सभी रस शांतरस के सहयोगी बनकर ही आये हैं.

हास्य और व्यंग्य के लिए भी कतिपय अवसर उपस्थित किये गये हैं. नेमिनाथ विवाह के लिए इच्छुक नहीं हैं. इसके कारणों की कल्पना हास्य-व्यंग्य-प्रसूत है. कृष्ण की रानियां देवर नेमिनाथ को चिढ़ाने के लिए कभी तो कहती हैं कि 'तोरण आयां करे आरती, टीको काढ़ने सासू खांचे नाको रे' अतः 'इम डरतो परणे नहीं.' कभी कहती हैं—'बाई चित करने चंवरी चढ़े, तीने फेरा लेणा पड़े लारो रे' इसलिए विवाह नहीं करता. कभी कहती हैं—'जुवाजुई रमतां थकां, रखे बनड़ो जावे हारो हे बाई' और कभी 'दोरड़ो, दोरो है कांकण दोरड़ो खेलणो पड़े एकण हाथो हे बाई'. इसी प्रकार एक स्थान पर सखियां नेमिनाथ को काला कहकर राजुल से मजाक करती हैं—

"सहियां कहे राजुल! सुणो,
बाई! कालो नेम कुरूपो ए। भल भूपो ए—
और भलेरो लावसां के सहियां ए॥

---

जी हो आंखड़ली अंजावणी, लाला, भाल करावणचन्द।
जी हो माथै टीकी सांवली, लाला, आलिंगन आनंद ॥९॥
जी हो पग-मांडण ग्रही अंगुली, लाला, ठुमक-ठुमक-री चाल।
जी हो बोलण भाषा तोतली, लाला, रिंझावण अतिख्याल ॥१०॥
जी हो मही लेवी निरखणे, लाला, अरु नचावण तंबोल।
जी हो मुख म. मुख में दिराबणां, लाला, तंबोल अधर अमोल ॥११॥ —जयवाणी : पृ० ३३७

करी कुसामदी ताहरी पिण म्हारे दया न आयो-ए। न सुहायो ए—
कालो वर किण काम रो के सहियां ए—॥ पृ० २३२

यहाँ तक हमने आलोच्य कवि की प्रबन्ध-पटुता और वर्णन-क्षमता का विवेचन किया है. अब उसकी मुक्तक रचनाओं पर विचार करेंगे.

मुक्तक रचनाओं में कथा की कोई धारा नहीं बहती. यहाँ प्रत्येक मुक्तक अपने आप में स्वतन्त्र होता है. जयमल्लजी ने जिस सफलता के साथ कथाओं को प्रबन्धात्मक रूप दिया है, उसी सफलता के साथ भावनाओं को मुक्तक-रूप भी. इनके मुक्तक-काव्य को तीन भागों में बांटा जा सकता है—

(१) स्तुतिप्रधान मुक्तक (२) नीतिप्रधान मुक्तक (३) तत्त्वप्रधान मुक्तक

स्तुतिप्रधान मुक्तकों में तीर्थंकरों, विहरमानों, सतियों, साधुओं आदि की प्रधान रूप से स्तुति की गई है. तीर्थंकरों में कवि को विशेष रूप से सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ[1] और २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ[2] अधिक भाये हैं. विहरमानों में प्रथम विहरमान श्री सीमंधर स्वामी कवि के आराध्य रहे हैं. सतियों में आदर्श सतियों की नाम—गणना (६४ सतियां) कर उनका शील-माहात्म्य बतलाया है. साधुओं में आदर्श साधुओं के नाम गिना कर उनकी साधना का गुणानुवाद किया हैं. चार मंगल[3] (अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म) भी कवि के लिए स्तुति-योग्य रहे हैं. प्रथम मंगल में अरिहन्त के ३४ अतिशय और ३५ वाणी की विशिष्टताएँ वर्णित हैं. दूसरे मंगल में सिद्ध का स्वरूप निरूपित है. तीसरे मंगल में साधु की ज्ञान क्रिया और महिमा दिग्दर्शित है. चौथे मंगल में धर्म, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और रात्रि-भोजननिषेध का साधनात्मक रूप प्रदर्शित है.

यहाँ जो स्तुत्य पात्र आये हैं वे शक्तिशाली, पुरुषार्थी और वीतरागभावी हैं. उनकी स्तुति करने के मूल में दो भावनाएँ निहित हैं. एक तो स्तुति-योग्य पुरुषों के समान अपने आप को बनाने की ललक और दूसरे उनके नामस्मरण से दुख-मुक्ति की बलवती स्पृहा, कवि शान्तिनाथ का स्तवन इसीलिए करता है कि—

तुम नाम लिया सब काज सरे,
तुम नामे सुगति महल मले ॥—पृ० ७

ठीक यही बात सीमंधर स्वामी के नाम-स्मरण के बारे में भी कही गई है—

तुम नामे दुःख दोहग टले,
तुम नामे सुगति सुख मले ॥ —पृ० १३

इन स्तुतिप्रधान मुक्तकों में कवि अपने आराध्य के गुणकीर्त्तन में ही विशेष लगा रहा है. भक्त कवियों की सी दीनता, आर्त्तता, याचना, लघुता और विह्वलता के दर्शन नहीं होते. न तो कवि तुलसी की भाँति राम के दरबार में अपने हृदय की 'विनयपत्रिका' को खोल कर रखता है, न सूर की भाँति वह अपने आराध्य को चुनौती देता है कि 'हौं तो पतित सात

---

१. चालीस धनुप ऊँची रे देही
बलि हेमवरणी उपमा रे कही।
दीठे दिल दरियाव ठरो,
श्री शान्ति जिनेश्वर शान्ति करो ॥१६॥ पृ० ६

२. पांचे अगनी कमठे साझी,
देखण भीड़ मिली जाझी।
नागने काढ्यो काठतांणी,
श्री पास भजो पुरुषादानी ॥८॥ पृ० ८

३. 'मंगल' एक प्रकार का काव्य-रूप है जिसमें विवाह-वर्णन की प्रधानता रहती है. विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले गीत भी मंगल कहलाते यहाँ 'मंगल' शब्द भिन्न अर्थ में आया है.

पीड़िन को, पतिते ह्वै निस्तरि हों.' इसका प्रधान कारण कवि का एक सिद्धान्त-विशेष में आस्थावान् बने रहना है. यों एकाध जगह 'रड़वड़ियो जेम गेड़ि दड़ो' या 'पची रह्यो जिम तेल वड़ो', कहकर उसने संसार के परिभ्रमण की कठिनाइयों और परेशानियों का मार्मिक चित्र खींच दिया है.

कवि भगवान् के साथ अपना कोई विशेष पारिवारिक सम्बन्ध भी नहीं जोड़ता है. कबीर की तरह 'हरि जननी मैं बालक तोरा' या 'हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया' जैसी भावना प्रकट करने का अवसर ही यहाँ नहीं. वह तो स्वयं ईश्वर बनने की साधना में संलग्न है. ईश्वर का अंश बनकर क्यों रहे ? फिर भी सीमंधर स्वामी के साथ 'कागदियो' शीर्षक रचना में वह दाम्पत्य सम्बन्ध जोड़ता है—

दूर दिसावर जेहनो पिऊ वसेजी,
ते नार सुहागण कहाय।
महाविदेह में धणिय विराजिया जी
तिके निरधणिया किम थाय ।।—पृ० ४३-४४

पर यह सम्बन्ध मिलन की खुशी का नहीं, विरह की पीड़ा और विवशता का है—

आड़ा डूंगर ने नदियां वन घणाजी, बीचे विकट विद्याधर ग्राम।
वाणी सुनवाने हो आय सकूं नहीं, यां ही लेसु' तमारो नाम ॥ पृ० ४४

नीतिप्रधान मुक्तकों में सदाचार, ज्ञान और उपदेश की बातें कही गई हैं. इसकी दो धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं. एक में आत्म-गुणों के महत्त्व की झलक है तो दूसरी में लौकिक व्यवहार और आचार का निरूपण. आत्मबल के विकास के लिए जिन गुणों पर बल दिया गया है वे हैं धर्माचरण, सम्यक्त्व भाव, क्षमा, ब्रह्मचर्य-पालन आदि. आत्म-कल्याण की ओर व्यक्ति को अभिमुख करने के लिए शरीर की नश्वरता और जीवन की क्षणभंगुरता[1] का वर्णन कर साधु-जीवन की श्रेष्ठता[2] का प्रतिपादन किया गया है. इस आध्यात्मिक जागरण-अभियान का ओजपूर्ण चित्र देखिये—

दया-रणसिंघो वाजियो, जागो-जागो नर-नार।
मुगत-नगर में चालणो तुमे, वेगा हुइजो त्यार ॥ —पृ० १६०

वस्तुतः जो यह तैयारी कर लेता है उसे पारमात्मिक ज्योति का साक्षात् हो जाता है.

मोती विखर्या चौक में रे, आंधा उलंघ्या जाय।
ज्योति खुली जगदीश री रे, चतुरां लिया उठाय ॥ —पृ० १६०

लोक को भी साधक की दृष्टि से देखा गया है. वह हटवाड़े के मेले की तरह[3] है. कभी यह जग सपना लगता[4] है तो कभी कलियुग के दुःखों का घर[5] 'जहाँ पापनी वातां वल्लभ लागे, धरम लागे खारो रे'. सच तो यह है कि इस 'मिनख

---

१. डाभ अणी जल-बिन्दुओ, जेहवी सन्ध्या नो वान।
अथिर ज जाणों रे थांरो आउखो, जिम पाको पीपल पान ॥४॥
घड़ियाल नी पर जिम वाजे, घड़ी तिमतिम घटेज आव।
काल अजाण्यो रे तोने घेरसी, कर कांई धर्म उपाव ॥५॥
जोवन जावे रे घणो उतावलो, जिसो नदी नो वेग।
अथिर जाणों रे आउखो, तिण में घणा रे उद्वेग ॥७॥—पृ० १४०

२. साधु चिंतामण रतन सा, चाले दया रस चाल।
ज्यां-ज्यां जतने सेविया, त्यां-त्यां किया निहाल ॥—पृ० ६६

३. यह मेला : जयवाणी, पृ० १२०-२१

४. यह जग सपना : जयवाणी, पृ० ११५-१३

५. कलियुग लोक : जयवाणी, पृ० ११८

जमारे' को सफल और सार्थक बनाने के लिए आत्मा को सन्नद्ध होना होगा. 'दीवाली' शीर्षक कविता में जो आध्यात्मिक रूप, दीवाली को दिया गया है,[1] वह महादेवी के 'क्या पूजा क्या अर्चनरे' गीत की याद दिला देता है.

यह सही है कि इन नीतिपरक युक्तकों में काव्य की अपेक्षा उपदेश की अधिक प्रधानता है. अन्य नीतिकार कवियों ने जहाँ सूक्तियों के माध्यम से लोकव्यवहार की बातें कहकर लोक-जीवन को सुखी बनाने का उपक्रम किया है, वहाँ कवि जयमलजी का लक्ष्य लोकोत्तर जीवन को सफल बनाने का रहा है. एक ने लौकिक पक्ष के विविध रहस्यों का उद्घाटन किया है तो दूसरे ने आत्म-प्रदेश की यात्रा में पड़ने वाले विभिन्न स्थलों का पर्यटन. एक की दृष्टि यथार्थमूलक अधिक रही है तो दूसरे की पूर्णतः आदर्शमूलक.

तत्त्वप्रधान मुक्तकों में जैन-दर्शन के कतिपय तात्त्विक सिद्धान्तों को पद्यबद्ध किया गया है. यहाँ कवित्व पीछे छूट गया है और दर्शन की पारिभाषिकता तथा दुर्बोधता उभर आई है. ऐसे मुक्तकों में 'इरियावही नी सज्झाय', 'चौवीस दंडक नी सज्झाय', 'पन्द्रहपरमाधर्मी देव', 'शास्त्र छत्तीसी', 'जीवा बयालीसी' आदि रचनाओं के नाम गिनाये जा सकते हैं.

उपर्युक्त विवेचन से इस संत कवि की काव्य-साधना और भाव-व्यंजना का विशद स्वरूप हमारे सामने प्रत्यक्ष हो उठता है. कवि में प्रबन्ध-पटुता, वर्णन-कौशल और रसोपलब्धि कराने की क्षमता के साथ-साथ मुक्तक-रचनाओं के सृजन की प्रतिभा भी है. संक्षेप में कहा जा सकता है कि जयमलजी की कविता में कबीर का विद्रोह, सूर का वात्सल्य और तुलसी का लोकहित, साथ-साथ दिखाई देता है.

काव्य-कला—साधक-कवियों की दृष्टि काव्य-कला पर उतनी नहीं रही जितनी जीवन-निर्माण की कला पर. यही कारण है कि इनकी कविताओं में आपको न तो कल्पनाओं का स्वच्छन्द विहार मिलेगा, न भावनाओं का शृंगारपरक उद्दाम वेग. न यहाँ 'भूषण बिना न राजइ कविता बनिता मित्त' की मादक मनुहार मिलेगी, न छन्दों का संग्रहालय.' ये कवि तो अनुभूति में जितने सच्चे और खरे हैं अभिव्यक्ति में भी उतने ही स्पष्ट और सीधे. इन्हें चमत्कार प्रदर्शन कर किसी का हृदय जीतना नहीं था, काव्य के माध्यम से जीने की कला बताकर उनका उद्धार करना था. इस कसौटी पर संत कवि आचार्य जयमलजी की काव्यकला खरी उतरती है.

कविता करना इनका लक्ष्य नहीं था. धर्मोपदेश देते समय जन-साधारण को आत्मा, परमात्मा, पाप, पुण्य, बंध, मोक्ष आदि का स्वरूप समझाने के लिए जो भावनाएँ हृदय में उठती थीं, वे ही तन्मयता की स्थिति में सरस और तीव्र बनकर कविता बन गईं.

ये अपनी बात जनता की ही भाषा में कहने के अभ्यस्त रहे हैं. संस्कृत, प्राकृत के विशिष्ट ज्ञाता होते हुए भी इन्होंने अपनी रचनाएँ सामान्यतः राजस्थानी भाषा में ही लिखी हैं. जयमलजी का विहारक्षेत्र और कार्यक्षेत्र भी अधिकतर राजस्थान ही रहा है, अतः यहाँ की लोकसंस्कृति, लोक-व्यवहार और लोक-भावना का सही प्रतिबिम्ब इनकी रचनाओं में झलकता है.[2]

भाषा पर कवि का अच्छा अधिकार है. वह भावानुकूल उठती-गिरती है. प्रबन्धात्मक रचनाओं में भाषा का प्रवाह और माधुर्य है तो मुक्तक रचनाओं में उसका गांभीर्य और सारल्य. भाषा की प्रवहमानता और मधुरता का एक उदाहरण देखिए—

---

१. दीवाली जयवाणी, पृ० ५३

२. (क) विवाह में जिनको बुलाया जाता है उन्हें पीले चावल दिये जाते हैं :

'बिगर बुलायां आविया रे, थाने किण पीला चवल दीधा'

(ख) अमंगल होने पर स्त्री का दायां अंग फड़कता है. राजुल सखियों से कहती है :

'म्हारे जीमणो फरूके गातो ए, जग-नाथो-ए ॥ मिलसी के मिलसी नहीं द-सहियां ए ॥

(ग) अनिष्ट निवारण के लिए अमांगलिक बात पर थूंक दिया जाता है :

राजुल की सखियां इसीलिए कहती हैं : 'बाई ! बोलनां मती चूको ए, परो थूको ए ॥

तोरण ऊपर आवियो म सहियां ए ॥

महाराज चढ़े गज-रथ तुरियां हय गय रथ पायक-सुखदायक। नयन-कमल हरसत ठरिया ।।महा०।।
खूब बरात बनी-ब्यावन की । घोर घटा उमही झरियां ।।महा०।। पृ० २२१

जहाँ तात्त्विक विवेचन किया गया है वहाँ पारिभाषिक शब्दों का बाहुल्य है. ऐसे स्थल जैन-दर्शन से अपरिचित व्यक्तियों के लिए अवश्य दुर्बोध हो गये हैं पर जिसे जैन-दर्शन का थोड़ा-बहुत भी ज्ञान है, वह रस लिए बिना नहीं रहेगा. अस्सी प्रतिशत से अधिक शब्द राजस्थानी और हिन्दी के हैं. कहीं-कहीं प्राकृत के वाक्यांश भी प्रयुक्त हुए हैं जिनसे सांस्कृतिक वातावरण के निर्माण में सहायता मिली है. जैसे—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया' (पृ० ३२५).

कवि की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक कम, अभिधात्मक अधिक है, यही कारण है कि जगह-जगह कवित्व में बाधा पहुँची है. यहाँ कबीर की तरह चमत्कारपूर्ण और विरोधमूलक संख्यात्मक या सम्बन्धात्मक प्रतीकों का प्रयोग नहीं हुआ है. केवल एक जगह ऐसे संकेत मिले हैं—

(क) संख्यात्मक प्रतीक—

पांचू[1] मेली रे मोकली, छहुं[2] री खबर न काय।
सातां[3] सेती रे लग रह्यो, पड़ूयो आठ मद माय ।।

(ख) वर्ण प्रतीक—

पापां सूं परिचय घणो, 'हवो'[4] रहे रे हजूर।
ल,[5] ले लिव लागी रही, दद्दो[6] दिल सूं दूर ।। पृ० १६२

*यद्यपि अलंकारों की ओर कवि का झुकाव अधिक नहीं रहा तथापि भावों को मधुर से मधुरतर और स्पष्ट से स्पष्टतर* बनाने के लिए यथाप्रसंग अलंकारों का प्रयोग किया गया है. सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग ही अधिक हुआ है. इनमें भी उपमा और रूपक ही कवि को विशेष प्रिय रहे हैं. उपमानों के चुनाव में कवि विशेष सजग रहा है. उसकी दृष्टि केवल मात्र रूढ़िबद्धता या शास्त्रीय ज्ञान में बँधकर नहीं रही. इससे ऊपर उठकर भी उसने देखा है. लोकजीवन और लोक-मानस का गहन अध्ययन और सूक्ष्म निरीक्षण कवि द्वारा प्रयुक्त उपमानों से झांकता प्रतीत होता है. शास्त्रीय और किताबी ज्ञान लोक-संस्कृति से पीछे छूट गया है. यहाँ दोनों के कतिपय उदाहरण दिये जा रहे हैं—

(क) शास्त्रीय रूढ़िबद्ध उपमानः—

(१) कुगुरु तो कालो नागज सरिखा (१२४–११)

(२) आयु घटती जाय छे, जिम अंजली नो पाणी रे (१३१–१८)

(३) जाया तो विण घडी रे छ मास (२११–३)

(४) नेम कंवर रथ बेठाँ छाजे,
ग्रह नक्षत्र में जिम चन्द्र विराजे (२२२–३)

(५) कुँवर लागे छे प्यारो,
उंबर फूल ज्यूं दुलभ हमारो हो (२५६–१)

---

१. पांच इन्द्रियां : श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय.
२. षट्काय : पृथ्वीकाय. अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय.
३. सात व्यसन :
४. हिंसा
५. ललना
६. दया

(ख) लोक-जीवन से लिए गए उपमानः—

(१) ओ जीव राय ने रंक थयो, वलि नरक निगोदमां वहू रे रह्यो,
रड़वडियो जेम गेड़ि दड़ो, श्री शान्ति जिनेश्वर शान्ति करो (६–१६)

(२) चार गतिनां रे दुख कह्या, जीवे अनंति अनंति वार लह्या,
पची रह्यो जिम तेल वड़ो, श्री शान्ति जिनेश्वर शान्ति करो (६–२०)

(३) तामस तपियो नर इसो, आँख मिरच जिम आँजी रे.
क्रोध विणासे तप सही, दूध विणासे कांजी रे (६८–२०)

(४) आदि अनादि जीवड़ो, भमियो चऊं गति मांय.
अरहट घटिका नी परे, भरि आवे रीति जाय (८४–१)

(५) काल खड़ो थारे वारणे, जिम तोरण आयो वींद (११३–१०)

(६) डाभ अणी जल जेहवोजी, आगिया नो चमत्कार.
तेहवो ए धन आउखोजी, वीजली नो झबकार (१२५–७)

(७) पिण परवश पड़ियां जोर न लागे,
जिम दबी सांप नी ठोडी रे (१३५–७)

(८) ले जाई लक्कड़ में दीधो, हुवो घर रो धोरी रे.
घास फूस छाणा देई ने, फूंक दियो जिम होली रे (१३५–१६)

(९) अथिर ज जाणो रे थांरो आउखो,
जिम पाको पीपल पान (१४०–४)

(१०) सड़ण-पड़ण-विधसंण देहनी, तिणरी किसड़ी रे आस.
खिण एक मांही रे जासी विगड़ी, जिम पाणी मांहे पतास (१४१–१६)

(११) देव गुरु धर्म री नहीं पारखा,
सगलाई जाणे सारखा.
जिम सरवर नी फूटी पाल (१५६–४)

लगभग सभी उपमान मौलिक और सटीक हैं. इनसे कवि के विस्तृत ज्ञान और सच्चे अनुभव का पता चलता है. बिना मर्मभेदिनी दृष्टि के ऐसे उपमान ढूंढे ही नहीं जा सकते. जीव की परिभ्रमणशीलता का न जाने कितने कवियों ने वर्णन किया है पर उसकी विवशता को 'रड़वड़ियो जेम गेड़ि दड़ो' और 'पची रह्यो जिम तेल वड़ो' कह कर इसी कवि ने पुकारा. क्रोधी मनुष्य के स्वभाव का 'आंख मिरच जिम आंजी रे' से सुन्दर वर्णन और क्या होगा ? काल के आने की अनिवार्यता और निश्चितता का संकेत 'तोरण आयो वींद' से अधिक और क्या हो सकता है ? शरीर की नश्वरता का बोध 'पाणी मांहे पतास' से अधिक कौन करा सकता है ? इन उपमानों में जितना साधर्म्य निहित है उतना अन्यत्र बहुत कम देखा जाता है.

रूपक-दृष्टि में भी कवि पीछे नहीं रहा. अधिकतर उसने सांगरूपक बांधे हैं. कुछ उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य हैं—

(१) साधूजी ऊठ्या सूरमा रे, ज्ञान घोड़े असवार.
कर्म कटक दल जूंझिया रे, विलम्ब न कीध लिगार (१६२–३३)

(२) म्हारे क्षमा गढ़-मांय, फोजां रहसी चढ़ी-री माईं.
बारे भेदे तप तणी, चोको खड़ी.
बारे भावना नाल, चढ़ाऊं कांगरे-री माईं.
तोडूं आठे कर्म, सफल कार्य सरे (३४३–२४,२५)

(३) काया रूपी हवेलियाँ, तपस्या करने रेल.
सूंस[1] वरत कर मांडणों, विनय भाव वर वेल ।२८।
क्षमा रूप खाजा करो, वैराग्य घृतज पूर.
उपशम मोवण घालने, मदवो मोतीचूर ।२९।
दिवाली दिन जाणने, धन पूजे घर मांय.
इम तूं धर्म ने पूज ले, ज्यों अमरापुर में जाय ।३१।
राखे रूप चवदश दिने, गहणा कपड़ां री चूंप.
ज्यों चूंप राख धर्म सूं, दीपे अधिको रूप ।३२।
पर्व दिवाली ने दिने, पूजे वही, लेखण ने दोत.
ज्यूं तू धर्म ने पूजले, दीपे अधिको जोत ।३४।
पर्व दिवाली जाण ने, उजवाले हवेली ने हाट.
इम तूं व्रत उजवाल ले, वन्धे पुनांरा ठाट ।३५। पृ० ५३

उपर्युक्त तीनों रूपक सुन्दर वन पड़े हैं। पहले में संत को शूरवीर का रूप दिया गया है। वह ज्ञान के घोड़े पर सवार है और वड़ी त्वरा के साथ कर्म-सैन्यदल का नाश करता है. दूसरे में क्षमा-गढ़ में प्रविष्ट होने के लिए वारह भावना रूपी नाल की चढ़ाई और आठ कर्म रूपी किवाड़ों को तोड़ने का वर्णन है. तीसरा रूपक आध्यात्मिक दिवाली का है. दीपावली पर्व मनाने का यह तरीका पूर्णतः आध्यात्मिक है. यहाँ काया की हवेली को तपस्या से उज्ज्वल करना है, क्षमा के खाजे, वैराग्य के घेवर तथा उपशम के मोवण से मोतीचूर वनाने हैं. धर्म की वही और कलम दवात को पूजना है. यही नहीं, काय के मन्दिर में जिनदेव को प्रतिष्ठित कर उनकी पूजा करनी है. उन्हें धैर्य की धूप, 'तपस्या' की अगर और 'श्रद्धा' के सुमन चढ़ाने हैं. 'दया' के दीपक में संवेग की वाती जला कर, 'ज्ञान' का तेल डालकर 'समकित' का ऐसा उज्ज्वल प्रकाश करना है कि आठों कर्मों का अंधकार भस्म हो जाय—

काया रूप करो 'देहरो, ज्ञान रूपी जिनदेव।
जस महिमा शंख झालरी, करो सेवा नितमेव ।१४।
धीरज मन करो धूपणों, तप अगरज खेव।
श्रद्धा पुष्प चढ़ायने, इम पूजो जिन देव ।१५।
दया रूपी दिवलो करो, संवेग रूपणी वाट।
समगत ज्योत उजवाल ले, मिथ्या अंधारो जाय फाट ।१६।
संवर रूपी करो ढांकणो, ज्ञान रूपियो तेल।
आठों ही कर्म परजाल ने, दो रे अन्धारो ठेल ।१७। —जयवाणी : पृ० ५२

साधर्म्यमूलक अलंकारों में दृष्टान्त और उदाहरण के प्रयोग ही कहीं-कहीं दिखलाई पड़ते हैं—

(१) दग्व वीज जिम धरती व्हायां, नहि भेले अंकुरजी.
तिम हीज सिद्धजी, जन्म मरण री कर दी उत्पत्ति दूरजी (२८—८)

(२) रुधिर नो कोई खरड्यो कपड़ो, रुधिर सूं केम धोईजे रे.
हिंसा कर हुवे जीव मेलो, वले हिंसा धर्म करीजे रे (११९—६)

भाषा को प्रभावोत्पादक और भावों को प्रेपणीय वनाने के लिए लोकोक्तियों और मुहावरों का भी यथास्थान प्रयोग किया गया है. यथा—

---

१. सौगन, व्रत, प्रत्याख्यान आदि.

(१) जिण घर नो तूं टुकड़ो खावे सो घर नाखे ढाई रे (११७-१)
(२) वमिया आहार की हो, वांछा कुण करे ?
करे छे कूतरो ने काग (१६३-६)
(३) दिक्षा के पुत्र दोहिली, तो ने कहुं छुं जताय.
मेण-दात लोहना चणा, कुण सकेला चाय (२१३-२)
(४) हुवे दुषमण कपड़ा डील रा, जव करम उदय हुवे आय रे (२६०-१)
(५) पांडव जीत माथौ मति धूण.
पिण हूं तोने करसूं आटे लूण (४१६-२)

छन्द-विधान :—जैन-संत प्रतिदिन व्याख्यान देते हैं. इन व्याख्यानों में मुख्य-भाग कथा-काव्यों का रहता है. आलोच्य कवि आचार्य जयमल्लजी ने स्वयं कई कथा-काव्य रचे जिन्हें वे व्याख्यानों में गा-गाकर सुनाया करते थे. गाने और सुनाने के उद्देश्य से लिखे जाने के कारण इनमें संगीत-तत्त्व की प्रधानता हो गई है. यही कारण है कि यहाँ जो छन्द अपनाये गये हैं वे ढाल आदि हैं, जिनसे विभिन्न राग-रागिनियों[1] का बोध होता है. अन्य छंदों में दोहा-सोरठा-सवैया आदि हैं. प्रबन्धात्मक काव्यों में जहाँ दो भावों या घटनाओं के बीच कथा-सूत्र संयोजित करना होता है वहां प्रायः दोहा या सोरठा छन्द का प्रयोग किया गया है और जहाँ किसी भावना या घटना का चित्रण किया गया है वहां किसी राग विशेष में बंधी हुई ढाल में.

निष्कर्ष यह है कि संत कवि जयमलजी का व्यक्तित्व उस युग के कवियों में अलग जान पड़ता है. सूर ने जहाँ 'सौन्दर्य' को प्रधानता दी, तुलसी ने 'शक्ति' की प्रतिष्ठा की, वहाँ हमारे इस कवि ने 'शील' का निरूपण कर समाज को वासना की वेग-धारा में बहने से बचाया. पद्माकर जैसे कवि जिस युग में 'नैन नचाय, कह्यो मुसकाय, लला फिर आइयो खेलन होरी' का निमन्त्रण दे रहे थे, उसी युग में पैदा होकर इस साधक कवि ने 'च्यारूँ ई जाप जपो भला, मोटी दिवाली नी रात' का बोध देकर भक्ति और अध्यात्म की अवरुद्ध काव्य-सरिता को फिर से बहने का प्रवाह दे दिया. यही उसकी उपलब्धि और महानता है.

प्रसंगतः यह उल्लेख कर देना भी अनिवार्य जान पड़ता है कि रीतियुग में एक ओर कविगण विलास-वैभव एवं साम्पत्तिक जीवन को महत्त्व देकर पार्थिव सौन्दर्य का उद्घाटन कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर जैन कवि आध्यात्मिक संस्कृति को उद्दीपित करने वाली लोककल्याणकामिनी वाग्धारा द्वारा अन्तःस्थ सौन्दर्य को निखारने में तल्लीन थे. वे किसी के आश्रित कवि नहीं थे जिससे कि उन्हें अपने स्वामियों की प्रसन्नता के लिए विकारपोषणार्थ शृंगारधारा को साकार कर जनमानस को विशृंखलित करना पड़ता. उनका आराध्य और श्रेय नैतिक सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति के द्वारा राष्ट्रीय चरित्र को उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करना था· यही जैन कवियों की मौलिक विशेषता रही है. इस सत्योपलब्धि की एक कड़ी आचार्य जयमलजी हैं, जिन्होंने जीवनरस और सिद्धि को न केवल तत्कालीन मनुष्यों के लिए ही प्रस्तुत किया अपितु काव्य द्वारा ऐसी सृष्टि की जिससे शताब्दियों तक मानवता अनुप्राणित होती रहे.

---

१. कुछ रागों के तर्ज इस प्रकार हैं. जो मुक्तक रचनाओं में प्रयुक्त हुई हैं —
(१) ते मुझ मिच्छा मि दुक्कडं (२) आदर जीव क्षमा गुण आदर (३) वीर वखाणी राणी चेलणा (४) हिवे आश्चर्य थयो ए (५) कागदियो लिख भेजुं हो संगू को नहीं (६) ते गुरु मेरे उर बसो (७) चणाली चामुंडा रिण चढे (८) कोयलो पर्वत-धूंधलो रे लाल (९) ढोला रामत ने परी छोड़ने (१०) सामी म्हारा राजा ने धरम सुणावजो (११) चितोड़ी राजा रे (१२) इम धन ने परचाने (१३) अधर्मी अविनीत (१४) तुझ विन घड़ी (१५) गज घोड़ा देख भुलाणो रे (१६) प्राणी काय ठाकुर पुरमायो रे (१७) दुनिया में बहुत ठगाई रे (१८) कलजुग रो लोक ठगारो रे (१९) प्राणी किये कर साहिब रीजे रे (२०) प्राणी ! ए जग सपनो लागो रे (२१) [illegible] मिनख जमारो पायो रे (२२) भवि जीवां करणी हो कीजो चित निर्मली (२३) जीवड़ला दुलहो मानव भव कांई रे तूं हारे (२४) [illegible] तिके पण कहिये वाल (२५) पुण्य रा फल जोयजो कायर मत होयज्यो रे (२६) काट भाई रूडो ते इयूं किधो (२७) [illegible] रे प्राणी, इम रुलियो संसार.

प्रो० श्रीराधेश्याम त्रिपाठी
एम० ए०

# आचार्य रायचंद्रजी म० की साहित्यसर्जना

भारतीय साहित्य में जैन साहित्य का जो लोकोपकारक और धर्मनिष्ठ स्वरूप है, वह अनायास ही इस साहित्य के रूप-वैभव की गरिमा का जीवन्त आभास देता है. जो अपने साथ एक ऐसी परम्परा का सूत्र थामे हुए है जिसका एक सिरा विक्रम संवत् ११६७ से पूर्व का है. जैनाचार्य जिनवल्लभ सूरि के 'बृहद् नवकार' के रूप में विक्रम संवत् १२२५ तथा १२४१ के क्रमशः "भरतेश्वर बाहुबलि घोर" तथा 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' से बन्धकर विक्रम की १५ वीं शताब्दी में जाकर गठित होता हुआ सूत्र वर्तमान तक सुगठित है.

जैन-साहित्य के रचनाकार अधिकांश: जैन मुनि हुए हैं जिन्होंने मानव को जीवन का प्रकाश दिया, वह प्रकाश जो सांसारिक, माया, मोह, लोभ, क्रोध, मद और जड़ता आदि मानसिक विकारों को दूर करने में सामर्थ्यवान् हो सका है. जीवन यदि धर्म की पवित्र रेखाओं से बन्धकर आचरण नहीं करता तो वह व्यर्थ है. इस प्रकार जीवन को धर्ममय बनाने और लोक का कल्याण करने की भावना इस साहित्य में विद्यमान है. १२ वीं शताब्दी से लेकर वर्तमान युग तक हमारे सामने जैन रचनाओं के अनेक स्वर्णिम पृष्ठ खुले पड़े हैं, जिनमें मानव-जीवन का सत्य छलक रहा है और जिसके निर्माता जैन मुनि हैं. इसी परम्परा में आचार्य श्रीरायचन्द्रजी महाराज का योगदान जैन साहित्य की आधुनिक कड़ी के रूप में है.

आचार्य रायचन्द्र जी का जन्म विक्रम संवत् १७९६ आश्विन शुक्ला एकादशी को हुआ था. आपकी किशोर वय ने जीवन की सार्थकता को खोजने की दिशा ढूंढ ली, और विक्रम संवत् १८१४ की आषाढ शुक्ला एकादशी को आपने दीक्षा ग्रहण कर ली. आपका सन्त स्वरूप सौम्यता का प्रतीक था. लोकमानस में जैन धर्म के उच्च आदर्श की प्रतिष्ठा करने के लिए लोकभाषा को अपने भावों का माध्यम बनाया. लोकभाषा के रथ पर बैठकर आपके भाव काव्य-सृजन की वल्गा थामे बढ़ते रहे. आपने जैन चरित्र व कथा-काव्यों तथा स्तवनों की परम्परा में ऋषभ देव, महावीर, नेमिनाथ, आदि तीर्थंकरों, जम्बू स्वामी, गौतम स्वामी, शालिभद्र आदि उच्चवंशी जैन साधुओं और देवकी, चन्दनबाला, मृगलेखा आदि सतियों के महत्त्व का एवं उनके जीवन की विविध घटनाओं का वर्णन किया है. उपदेशात्मक शैली पर लिखी चेतावनीयुक्त शिक्षाएँ, रासा, वाणी, सज्झाय आदि विभिन्न पक्षों पर आपने बड़ा ही भावपूर्ण वर्णन किया है. आपकी रचनाओं में काव्य का माधुर्य उदात्त चरित्रों की सृष्टि करता हुआ लौकिक भावभूमि पर रमण करता है. आप प्रतिभासम्पन्न तो थे ही, साथ ही आपके सरस व भावुक हृदय में सन्त के साथ जो कवि विद्यमान है, वह लोकभावों का सदाचारपूर्ण चित्र खींचने में सफल और सक्षम हुआ है.

सन्तों और मुनियों ने स्तवन द्वारा महान् पुरुषों और अवतारों का गुणानुवाद किया है. "राय-रचना" में मुख्य रूप से जिनका स्तवन है उनमें भगवान् ऋषभदेवजी, चन्द्रप्रभ, नेमिनाथ, महावीर और गौतम सम्बन्धी जिनस्तवन उल्लेखनीय हैं। इन स्तवनों में आचार्य श्री ने यह प्रतिपादित किया है कि महान् आत्माओं की स्तुति करने से सांसारिक कष्टों से छुटकारा होता है. रोग, शोक मिट जाते हैं तथा नामस्मरण से अनेक कार्य सिद्ध होते हैं. ऋषभस्तवन का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

> "मनचिन्तविया, मनोरथ फले
> जे सुख चावो ते सुख मिले

लाभे लिच्छमी लील विलास
श्री आदिनाथ पूरो मेरी आस

तथा भवसागर से मुक्त होने की लोकोत्तर भावना भी इन स्तुतियों में विद्यमान है—

"प्रभु तुम चरणे म्हारो चित लागो
थारो मुगत महल मो सूं अति आगो
मुझ भवसागर थी वेगो तारो
प्रभु पार्श्वनाथ लागे प्यारो—पार्श्वनाथ स्तुति

इन स्तवनों में तीर्थंकरों के जीवन तथा कार्य व्यापारों की एक स्पष्ट झलक भी मिलती है.—

"अनन्त वलि ताप दुष्कर किया
करमां ने दावानल दिया
खम, सम, दम ने धीमा धीर
मनवंछित पूरण महावीर"—श्री महावीरस्तवन

जैनागमों में चार अनुयोग वतलाये गए हैं, जिनमें प्रथमानुयोग का एक विशिष्ट स्थान है. वह जनसामान्य के लिए सुगम और वोधगम्य भी है. देखा जाय तो रायचन्द्रजी का साहित्य प्रधानतः चरितानुयोगी है. उनके साहित्य में चरितों एवं कथाओं का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है. जैन साहित्य का बहुत वड़ा भाग तीर्थंकरों, मुनियों, आचार्यों, श्रेष्ठियों, सतियों और धर्मप्राण नरेशों से सम्वन्धित चरितकाव्यों और कथाकाव्यों के रूप में पाया जाता है. इन कथाकाव्यों में विविध प्रकार से वर्णित पापों के दुष्परिणाम, पुण्य के प्रसाद तथा धर्मपालन की महत्ता का दिग्दर्शन हुआ है. जैन मुनियों का उद्देश्य जनसाधारण को धर्म की ओर प्रेरित करना था और साधारण मानसिक स्तर की जनता गहन धर्मतत्त्व को चरित के द्वारा जिस सुगमता से हृदयगंम कर सकती है, अन्य उपायों से नहीं. अतएव जैन साहित्य में चरितों तथा कथाकाव्यों का विशेष महत्त्व है. रायरचना में चरितकथाकाव्य इसी परम्परा के अन्तर्गत आते हैं. रायरचना में जिन चरित्रों को काव्यात्मक स्वरूप दिया गया है, वे इस प्रकार हैं—नव तीर्थंकर, मरुदेवी माता, वलभद्र, शालिभद्र, भगवान् ऋषभदेव, नन्दन मणियार, धन्वन्तरि वैद्य, भग्गू, दुर्योधन, कोतवाल, उज्झित कुमार, हरिकेशी अणगार, अतिमुक्त कुमार, स्कंधक, धनमित्र, आपाढ-भूति, कलावती, मृगलेखा, नर्मदा, कुरटगड़, पुष्पचूला, मेतार्य, रथनेमि, वहुपुत्तिया देवी और जिनरक्षित-जिनपाल.

रायमुनि ने ऐतिहासिक और पौराणिक दोनों प्रकार के चरितकाव्य लिखे हैं.
इन चरितकाव्यों में चरितनायक का जन्मस्थान, उसकी तपस्या तथा उसके व्यक्तित्व की महत्ता का वर्णन किया गया है. कहीं-कहीं पर चरित्रनायक की महानता वतलाने के लिए दृष्टांतों का उपयोग भी किया गया है. लोकमानस ने इन चरित्रों के प्रति जो श्रद्धाभाव व्यक्त किए हैं, उनका संकेत भी घटनाक्रम के अनुसार दिया गया है. मरुदेवी माता के चरित्रांकन में रायमुनि ने उनके स्वरूप का सुन्दर पक्ष प्रस्तुत किया है. मरुदेवी माता के सतीत्व का सुन्दर वर्णन इस प्रकार है.

"कोड़ पूरव लगे हो सुहागण रही सती, नित-नित नवला वेस
भर जोवन रह्या हो माता जीवी ज्यां लगे, काला रह्या केस"

भगवान् ऋषभदेव, मेतार्य मुनि, कलावती और नर्मदा आदि का चरित्र रायमुनि ने विस्तार से चित्रित किया है. भगवान् ऋषभदेव के चरितांकन में रायमुनि ने युगधर्म की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए उनके जन्मस्थान, माता-पिता का नामोल्लेख, वाल्यजीवन की झांकी, उनकी दीक्षा, उनके उपदेश और उनके द्वारा किये गये प्रमुख कार्यों का वड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है. सभी वर्णन 'ढाल' के अन्तर्गत विभिन्न राग-रागिनियों में हुए हैं. उनके सिद्ध चमत्कारों का वर्णन भी

कवि ने वड़ा ही मार्मिक किया है. उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से अनेक श्रेष्ठियों और नरेशों ने उनके प्रवचनों को सुनकर धर्म की दीक्षा ग्रहण की.

स्तवन और चरितकाव्यों के अतिरिक्त रायमुनि ने अपनी वाणी का सार निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है—सज्झाय, निह्नवों का वर्णन, उपदेशी पद और गुरुमहिमा. इसके साथ गौतम रासा की रचना भी की है. साधुवन्दन, सिद्ध-स्वरूप, चेतावनी आदि के द्वारा विविध पक्षों पर काव्यात्मक वर्णन किया है. संसार की असारता के साथ-साथ अस्थिरता का संदेश भी आपने दिया है. गुरुमहिमा के स्वरूप को प्रतिष्ठित करने के साथ ही शिष्य का विनय, और अविनीत शिष्य को चेतावनी भी है. यौवन की अस्थिरता का बोध कराते हुए अयोग्य दीक्षा का निषेध भी आपने किया है और उद्बोधन के द्वारा साध्वियों को चेतावनी भी दी है. पाप, कपट, लोभ, निन्दक, कृपण आदि के स्वरूप को वतलाते हुए आपने दानशीलता, और पुण्य का महत्त्व भी प्रतिपादित किया है. इस प्रकार रायमुनि ने जीवन के सभी पक्षों को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा है. इनकी वाणी में मुख्यतः दान, शील, तप और भावना इन चार प्रकार के धर्मों के फल के दृष्टान्त हैं. साथ ही क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार दूषणों पर भी सुन्दर लिखा गया है. इनके मुख्य विषय इस प्रकार हैं—

(१) ऋषभदेव, महावीर, नेमिनाथ आदि तीर्थंकर.
(२) जम्बूस्वामी, गौतम स्वामी, स्थूलिभद्र, शालिभद्र आदि जैन साधु.
(३) तेजपाल, वस्तुपाल आदि जैन श्रेष्ठी.
(४) चन्दनवाला, नर्मदा, कलावती, पुष्पचूला आदि सतियां.
(६) स्तुति, नीतिव्यवहार, उपदेश, शिक्षा आदि

इस प्रकार रायमुनि ने अपनी भाषा, जो कि लोकप्रचलित वोलचाल की थी, में अपने उद्गारों को व्यक्त करके धार्मिक भावनाओं की सृष्टि की. इनकी वाणी की मूल प्रेरणा धर्म है. सारा काव्य शान्तरस में अपनी रसात्मकता लिए हुए है. विभिन्न राग-रागिनियों के माध्यम से इनकी वाणी मुखरित है.

कमला जैन 'जीजी'
एम० ए०

# आशाकिरण आचार्य आसकरणजी

भारत की सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में चिरकाल से चली आ रही सन्तपरम्परा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है. यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि भारत की आदिम व उज्ज्वल संस्कृति के जन्मदाता यहाँ के योगी ऋषि और मुनि ही थे. जैन, वैदिक और बौद्ध धर्म व संस्कृति की धाराओं को ऋषियों और सन्त भिक्षुओं ने ही प्रवाहित किया और युगों तक गतिशील रखा.

भारत के संतों ने त्याग और वैराग्यमय जीवन विताने के साथ-साथ साहित्य की भी श्रीवृद्धि की. भारत का अधिकांश साहित्य मुनियों एवं ऋषियों की ही तपःपूत साधना का प्रसाद है. हिन्दी साहित्य को भी संतों की अपनी निराली देन है. तुलसीदास, मीरावाई, सूरदास, आनन्दघन आदि के द्वारा रचित साहित्य भारत में ही नहीं वरन् विश्व-साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण है. इसी सन्त-परम्परा में जैन आचार्य कवि आसकरण जी का स्थान आदरणीय है.

आपका जन्म संवत् १८१२ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को राजस्थान के तिवरी नामक ग्राम में हुआ था. पिता का नाम रूपचन्द्रजी तथा माता का नाम गीगादे था. वचपन से ही आप वड़े प्रतिभाशाली व तेजस्वी थे. आपके माता-पिता को आप पर वड़ा गर्व था तथा आपसे वड़ी-वड़ी आशाएँ थीं. किन्तु उन्हें स्वप्न में भी संभावना नहीं थी कि उनका पुत्र संसार के भौतिक सुखों से भी ऊपर उठकर उनका व अपना नाम सदा के लिये अमर कर देगा. साढ़े सोलह वर्ष की आसकरण जी की अवस्था होते ही माता-पिता ने उनका विवाह करना चाहा किन्तु उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया और सव स्वजन-परिजनों को छोड़कर संयम लेने का पक्का इरादा कर लिया और शीघ्र ही उस अल्प वयस् में ही आपने आचार्य श्रीजयमलजी म० के श्रीचरणों में वि० सं० १८३० वैशाख कृष्णा पंचमी को दीक्षा ग्रहण की.

दीक्षा के वाद आपने जैनागमों का गम्भीर अध्ययन किया और वहुत जल्दी उन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया. अपने गुरु के प्रति आपके हृदय में अगाध श्रद्धा थी. आप स्वयं अत्यन्त कठोर साधक व तपस्वी थे. परिणाम स्वरूप आचार्य श्री रायचन्द्रजी म० की कसौटी पर आप खरे उतरे तथा उनके द्वारा संवत् १८५७ आषाढ़ कृष्णा पंचमी के दिन युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए. तत्पश्चात् श्रीरायचन्द्रजी म० का स्वर्गवास होने पर सं० १८६८ माघ शुक्ला पूर्णिमा के दिन आपको आचार्य पद प्रदान किया गया. आचार्य रूप में भी १४ वर्ष तक आपने जैन धर्म का प्रचार किया. संयम के अभिलाषी १० श्रेष्ठ व्यक्तियों को मुनिदीक्षा दी तथा जन-जन को अपने असीम ज्ञान का लाभ दिया. ७० वर्ष की उम्र में सं० १८८२ की कार्तिक कृष्णा पंचमी को आपने देह त्याग किया.

### व्यक्तित्व

आपका व्यक्तित्व वड़ा ही प्रभावपूर्ण था. अपने सरल स्वभाव के कारण आप सहज ही प्रत्येक को अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे. आपकी अत्यन्त मधुर व सरल ढंग से कही हुई प्रत्येक वात श्रोताओं के मर्म तक सहज ही पहुँच जाती थी. आपमें अति विनयशीलता और गुरुभक्ति थी. वीस विहरमान रचना में कहा है—

पूज्य जयमल जी प्रसाद थी, थाने सिमरुं वारंवारो जी।

तप महिमा में:—

पूज्य श्री मोटा रायचन्द जी, पोहंच ज्यांरी छे भारी रे।
ज्यारे प्रसादे गुण जोडीया, त्रेपने आसोज मझारी रे।

## रचनाकाल

आपका रचनाकाल वि० सं० १८४० से शुरु हुआ और अंत तक आप इसमें संलग्न रहे. मारवाड़ के ग्रंथागारों में आपकी विभिन्न विषयों पर लिखी हुई अनेक रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं जिनका संकलन 'आसकरण-पदावली' के नाम से विद्वद्वर्य श्रीमधुकरमुनि कर रहे हैं. अभी भी अन्वेषण किया जा रहा है और आशा है शीघ्र ही वह प्रकाशित होकर पाठकों के हाथों में पहुँचेगा. आप बड़े ही कर्मठ व मनोयोगी संत थे. आपकी रचनाएँ भी अत्यन्त प्रेरणाप्रद हैं. दया, दान, विनय व तप आदि जैसे सरल से सरल व सगुण तथा निर्गुण पूजा जैसे कठिन से कठिन विषयों को भी आपने बड़े ही सरस व सुन्दर ढंग से समझाने का प्रयत्न किया है.

## काव्यकला

जैसा कि बतलाया जा चुका है, संवत् १८१२ में श्रीआसकरणजी का अपनी बहुमुखी प्रतिभाके साथ आविर्भाव हुआ. आसकरण जी का काव्यकाल हिन्दी का रीतिकाल था, जिसमें श्रृंगारपरक काव्यों के साथ-साथ भक्ति की धारा भी बही चली जा रही थी. सूर, तुलसी, मीरा आदि प्रसिद्ध भक्त कवि अपनी अमर काव्यरचना कर चुके थे. आसकरणजी की रचनाएँ भी भक्तिरस से ओतप्रोत हैं. आपकी रचनाओं में यदि एक ओर हम सूर, तुलसी का प्रभाव देखते हैं तो दूसरी ओर कबीर का प्रभाव भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है.

रीतिकाल में उस समय दो धाराएँ प्रवहमान थीं. एक तो पुरातनवादी और दूसरी स्वच्छंदतावादी. प्रथम में तो श्रृंगार व नीति आदि का परम्पराबद्ध वर्णन होता था और दूसरी में इष्ट के प्रति प्रेम का सात्विक निरूपण. श्रीआसकरणजी के साहित्य में इन दोनों का बाहुल्य है. आपने अपनी रचनाओं के द्वारा जिस प्रकार अपने इष्टदेव की भक्ति की है उसी प्रकार मानव मात्र को धर्म नीति की भी भरसक शिक्षा दी है. आपकी सुप्रसिद्ध ढालें (नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, ऋषभदेव आदि २) उपास्य के प्रति अखण्ड भक्ति का परिचय देती हैं, उसी प्रकार विनय का महत्त्व, शील की महिमा, दान, तप आदि पर लिखी हुई रचनाएँ नीतिपूर्ण शिक्षा भी देती हैं.

## रचनाएँ

आपने खण्डकाव्य और मुक्तक दोनों प्रकार की काव्यरचनाएँ की हैं, जिनमें से कतिपय इस प्रकार हैं—

(१) खण्डकाव्य—

श्रीजयमलजी म०, गजसुकुमाल, केशी गौतम, नमिराजजी, धन्नाजी, पार्श्वनाथजी, कालीरानी, मुनि जयघोष विजयघोष निषदकुमार, डोकरी, भरतजी की ऋद्धि, नेमिनाथजी.

(२) मुक्तक—

जीव परिभ्रमण, तपमहिमा, स्तुति, साधुवंदना, सज्झाय, स्वर्ग आयुष्य के दसबोल, साधुसंगति, गुरुमहिमा, विनय का महत्त्व, तेरह काठिया, देवलोक का वर्णन, पर्युषण पर्व, शीलमहिमा, दान, संत, उपदेशीपद, काल का अविश्वास, तेरा कोई नहीं, कालगति, परनारी, गौतम को संदेश, तृष्णा, बारहमासा, निंदकइक्कीसी, भवपच्चीसी, सीख-मोहवैरी, संसार की माया काची, सद्गुरु वाणी साची, पंचम आरे का सुख अपूर्ण, धर्म की दलाली, अष्टादश पाप, सामायिकव्रत होनहार, दृढ़प्रहारी, श्रमण भद्र.

अपनी लेखनी से आपने अनेक विषयों को छूआ है जो कि उपरोक्त रचनाओं के नामकरण से ही स्पष्ट है. ढालों में

आपने अधिकतर जीवनचरित वर्णित किये हैं तथा फुटकर रचनाओं के द्वारा अत्यंत सुन्दर ढंग से जीवननिर्माण की शिक्षा दी है. यथा :—

आत्मप्रशंसक परनिंदक रचना में आपने दर्शाया है कि स्वयं की प्रशंसा करना तथा औरों की निंदा करना घृणित कार्य है. ऐसा करने वाला व्यक्ति कितना भी दान दे या सत्य बोले, न दानी कहलायेगा और नहीं सत्यवादी :

दानतणो दातार न कहिजे,
न कहिजे सतवंत सूरोजी।
सोभागवंत तिणने नहिं कहिजे,
जिणने निंद्यारो पूरो जी।

इसी प्रकार होनहार तथा कालगति की अमिटता स्पष्ट की है—

निश्चय भाव कदे नहिं चूके,
भावे करो क्रोड़ प्रकार।
लाभ तोटो सुख दुख भुगते,
जीव बांध्या ते लार।
टले नहीं होवणहार॥

काल के क्रूर हाथों से कोई नहीं बच सकता:—

काल तणो कोई नहीं भरोसो,
तू परमाद में पसियो।
विषय थकी जीव चहुं गत भमियो,
तो पिण भोग रो रसियो।

## भावाभिव्यक्ति

मुनि आसकरण जी एक महान् जैन संत थे, अतः सहज ही आपने संतमहिमा, चौवीस तीर्थंकर, सोलह सतियां, बीस विहरमान, पर्युषण पर्व, विनय, शील, दान, तप आदि २ विषय अपने लेखन के लिए चुने. जैन परम्परा अपनी कठोर तपस्या के लिए विश्वविश्रुत है. तपश्चर्या के विना पूर्ववद्ध कर्ममल का प्रक्षय नहीं हो सकता. इस तथ्य को ध्यान में रखकर आपने स्पष्ट समझाया है कि तप का महत्त्व अत्यधिक है और उसके विना साधना सफल नहीं हो सकती. तपस्या तो अज्ञानपूर्वक करने पर भी निष्फल नहीं जाती. फिर ज्ञान सहित तप के फल का तो पूछना ही क्या है. उससे तो अनादिकालीन भवभ्रमण का अन्त ही आ जाता है और पुनर्जन्म का चक्र बंद हो जाता है—

तप बड़ो संसार में जीव उज्वल थावे रे,
कर्म रूप ईंधन बले शिव नगरी सिधावे रे।
अज्ञान पणे तपस्या करे तो ही निर्फल न जावे रे,
ज्ञान सहित तप जे करे ते गर्भावास में न आवे रे।

तप की तरह ही आपने संतों की महिमा दर्शाते हुए बताया है कि संत एक महान् व निस्वार्थ साधक है जो जहाज की तरह खुद तो भवसागर से पार होता ही है, साथ ही अपने सम्पर्क में आने वालों को भी विना कुछ लिए पार कर देता है—

जिहाज समाणा संत ऋसेश्वर,
बैठे भवि जीव आय रे।
पर उपगारी मुनि कोई दाम न मांगे,
देवे मुगत पहुंचाय रे।

आलोच्य कवि की रचनाओं को देखते हुए स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनका अध्ययन विशाल था. उन्होंने सन्तसाहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था. सन्तों के परम्परागत विचारों को पचाया था, जिनमें कवीर भी एक हैं.

कव मठपति कव सिन्यासी जोई,
कव रामानन्दी कवीर पंथी होई।
कव मंथन कव वण्यो मती,
कव पांडियो कव दादूपंथी ॥

उपरोक्त पद आचार्य श्रीआसकरण जी ने अपनी जीव परिभ्रमण रचना में लिखा है. उन्होंने वताया है कि आत्मा अनादि है और वह ब्रह्मांड में परिभ्रमण करते हुए कभी संन्यासी, कभी मठाधिपति, कभी कवीरपंथी व कभी दादूपंथी के रूप में अवतरित होती है, किन्तु कर्मकांड के पाखंड में फंसकर ही मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकी. कवीर ने भी इसीलिए स्वयं मुसलमान होते हुए भी मुसलमानों को तथा हिन्दुओं को भी फटकारा है:—

कांकर पाथर जोरि के मसजिद लइ वनाय,
ता चढ़ि मुल्ला वांग दे क्या वहिरा भया खुदाय।
पोथी पढ़ि २ जग मुआ पंडित भया न कोय,
ढाई अक्षर प्रेम के पढ़े सो पंडित होय।

मुनि श्रीआसकरणजी ने मानव मात्र को सावधान होने का संदेश देते हुए वार-वार कहा है कि होनहार को कोई नहीं टाल सकता. रावण जैसे वड़े-वड़े राजा हुए किन्तु काल का ग्रास वन गये:—

लंका नगरी रो साहिवो रावण,
कह्या वंधव इक लाखो।
काल वेताल जिणानेई ले गयो,
लंक भई छिन में राखो।
आण मोलत जव काल री पहुंचे,
तरे किंचित जोर न चाले।

काल की इसी प्रवलता को देखकर व जन्म-मरण की चक्की में मनुष्यों को पिसते देखकर कवीर का हृदय रो उठा था.

चलती चाकी देखि के दिया कवीरा रोय।
दो पाटों के वीच में सावत वचा न कोय ॥

जीव माया से प्रेरित होकर धर्मविमुख हो जाता है और कभी उच्च तथा कभी नीच कर्म करता हुआ चौरासी लाख योनियों में भटकता फिरता है:—

धर्म विना जीव भम्यो अपारो,
लाख चौरासी के मझारो।
कवहिक ऊंचो कवहिक नीचो,
कवहिक दुर्वल कवहिक मीचो।

संत तुलसी ने भी यही वात कही है :—

आकर चारि लक्ष चौरासी, जोनि भ्रमत यह जीव अविनाशी,
फिरत सदा माया करि प्रेरा, काल करम सुभाउ गुन हेरा।

जैन परम्परा त्याग-वैराग्यमूलक परम्परा है. इस परम्परा के अनुसार साहित्य एवं ज्ञान का प्रधान लक्ष्य आत्महित-साधना है. प्रत्येक जैन सन्त कवि ने त्याग वैराग्य के सुधास्रावी स्वरों को ही उद्गीर्ण किया है. आचार्य श्रीआसकरणजी

ने इसी पावन परम्परा का निर्वाह किया है. इस कारण आपकी रचनाओं में अनेक विशेषताएँ समाविष्ट हुई हैं. आपकी एक बड़ी विशेषता यह है कि आपने जो बारहमासे लिखे हैं वे रीतिकालीन परम्परा से बिलकुल भिन्न हैं. रीतिकालीन बारहमासों में नायक, नायिका, आलंबन और प्रकृतिवर्णन का घिसा-पिसा राग अलापा जाता था. नायिका प्रकृति के विभिन्न रूपों को देखकर नायक के अभाव में विकल होती है. किन्तु आसकरणजी ने ऋतु को वैराग्य व तपस्या के प्रेरणाप्रद भावों के प्रेरक के रूप में लिया है. यथा—

चैत्र मास मनुष्यों को चेतावनी देते हुए कहता है कि मनुष्य जन्म पाया है तो धर्म का आश्रय लो. यह भव व्यर्थ मत करो—

चेत कहे तमे चेतज्यो, पायो नर अवतारो जी,
खरची लिजो धर्म ध्यान री, एसो जमारो म हारो जी।

इसी प्रकार सावन भी सावधान करते हुए कहता है कि साधुओं की वाणी सुनो ताकि पाप व पुण्य को समझ सको और फिर कभी जन्म न लेना पड़े :—

सावण सुनो वाणी साध री,
सुणियां पातक जासे जी।
खबर पड़े जी पुण्य पाप री,
जिम गर्भावास न आसे जी ।

## कलापक्ष

यद्यपि आपका लक्ष्य पांडित्य का प्रदर्शन करना नहीं था, जिससे कि केशवदास की भांति आपकी हर पंक्ति में अलंकारों की भरमार होती. फिर भी आपकी रचनाओं में सहज ही अलंकारों की सुन्दर छटा अपनी झलक दिखा देती है. अनुप्रास का एक उदाहरण देखिये :—

सहस अठारे साधजी समणि चालीस हजार,
एक लाख गुण सहज ऊपरे श्रावक हुआ व्रतधार।

उपमालंकारों का बाहुल्य है :—

आरीसा अपरा ऊपरी मेलिया,
जेहवी पांसलिया जाणो रे।
हाथ रो पंजो वड नो पानडो,
कुलथ फलियां सुखी अंगुलिया रे।

आपकी रचनाओं में करुण, वीर, शृंगार तथा रौद्र आदि रसों का भी सुन्दर परिपाक हुआ है.

जब नेमिनाथजी वैराग्य हो जाने पर राजुल को छोड़ जाते हैं तब वह करुण विलाप कर उठती है :—

नेणां नीरज नांखती, जाणे तूट्यो मोत्यां नो हार,
में पाप किया भव पाछले, मोने तज गया नेम कुमार ।

शांत रस के उदित हो जाने पर हृदय में कैसी-कैसी भावनाएँ उठने लगती हैं, इसे आचार्यश्री ने बड़े मार्मिक रूप में दर्शाया है—

काया माया कारमी, काचो एहनो संग रें लाल,
जातां रे वार लागे नहीं, जिम हलदी नो रंग लाल।

तप और साधना के लिए कितना कष्ट और पीड़ा उठानी पड़ती है, यह हमें मुनि श्री द्वारा रचित गजसुकुमालचरित्र में देखने को मिलता है. गजसुकुमाल का ससुर उन्हें तप करते देखकर आगबबूला हो उठता है और उनके साथ कैसा

व्यवहार करता है, यह पढ़कर रौद्ररस हमारे सामने साकार हो उठता है—

> सोमल देखी लारलो देशी, बांधी माटी नी पाल।
> मस्तक खीरा मेलिया अंगीरा, वेदन भई असराल।
> नाड़्यां तूटे ने भेजी फूटे, बल रही नसां जाल।

छन्दों में आपने प्रचुर मात्रा में पद ही लिखे हैं, पर सवैया और दोहा आदि छन्दों का भी प्रयोग किया है. वास्तव में आचार्य श्रीआसकरणजी की रचनाएँ हिन्दी साहित्य भंडार की अनमोल निधि हैं. आपकी बहुमूल्य समस्त रचनाएँ उपलब्ध होने पर निश्चय ही भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि होगी. व्रज, भोजपुरी, अवधी आदि भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य की अपेक्षा निस्संदेह राजस्थानी का साहित्य अधिक समृद्ध है. डिंगल में वीररस के अनेकानेक ग्रंथ उपलब्ध हैं. आचार्य जी की रचनाएँ वीररस के अलावा प्रेम, त्याग, वैराग्य आदि के क्षेत्र को अपनी रसमयी काव्य-धारा से सिंचित करती हैं. दुःख है कि अधिकांश राजस्थानी साहित्य अब तक अप्रकाशित है और काव्यप्रेमियों के लिए अनुपलब्ध है. आशा है हिन्दी साहित्य-संसार आचार्य जी के साहित्य का अध्ययन कर उसका यथोचित सन्मान करेगा. वास्तव में आपकी रचनाएँ मुमुक्षुओं के लिए सांत्वनाप्रद और आशा-किरण हैं.
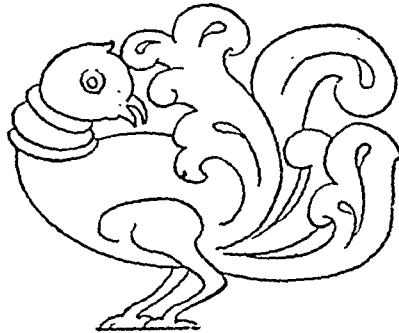
मुनि श्रीलक्ष्मीचन्द्रजी महाराज

# मुनि रूपचन्द्रजी : एक खोज-पूर्ण आलेख

'हिन्दी व राजस्थानी साहित्य के विकास और संरक्षण में जैन मुनियों का विशिष्ट योग रहा है. जैन मुनियों ने अपनी अनुभूति व्यक्त करने का माध्यम, लोकभाषा को बनाकर, न केवल जनसाधारण को मूल्यवान् दार्शनिक व धार्मिक विचारों से परिचित कराया अपितु प्रकारान्तर से लोकभोग्य या जनमंगलकारी साहित्य की भी सृष्टि की, जिससे शताब्दियों तक मानवता अनुप्राणित होती आ रही है. भगवान् महावीर और बुद्ध ने भी आत्मानुभूति को ऐसी ही बोध-गम्य भाषा में व्यक्त करना समुचित समझा कि सामान्य जन भी सरलता से उच्चतम विचार आत्मसात् कर जीवन के प्रशस्त पथ का अनुसरण कर सके.

आज तक अधिकांशतः साहित्य और इतिहास-समीक्षकों ने इस प्रकार की मंगलमय रचनाओं को केवल साम्प्रदायिक कृतियां घोषित कर उन्हें धार्मिक जगत् तक ही सीमित माना है जबकि भारतीय नैतिकता का जहाँ तक प्रश्न है, इन का गौरव किसी भी दृष्टि से कम नहीं है. भले ही लाक्षणिक दृष्टि से ऐसी कृतियों का साहित्य में अन्तर्भाव न होता हो किन्तु मानवता के मूल्यांकन एवं उसे उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करने में इन रचनाओं का निर्विवाद महत्त्व है.

आज के शोधप्रधान युग में हिन्दी साहित्य और भाषा के मौलिक महत्त्व पर प्रकाश डालने वाले प्रचुर प्रयत्न हुए हैं. पूर्वार्जित एवं संचित संपत्ति-हस्तलिखित ग्रन्थों का अन्वेषण किया जा रहा है, और दिनानुदिन नव्य भव्य पुष्प माता शारदा के ज्ञानमन्दिर से समुपलब्ध होते ही रहते हैं. प्रसंगतः यह सूचित कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि अब भी बहुत-से ऐसे स्थान हैं जो अन्वेषण की प्रतीक्षा में हैं. कई कवि ऐसे हैं जिनका उल्लेख अद्यावधि प्रकाशित किसी भी हिन्दी साहित्य और भाषा के इतिहास में नहीं हुआ है. जब तक प्राचीन ज्ञानागारों का व्यापक रूप से सर्वेक्षण नहीं हो जाता तब तक हिन्दी का इतिहास अपूर्ण रहेगा.

राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा में जैन परम्परा शताब्दियों से मूर्धन्य रही है. जैन सन्तों ने अपने लौकिक एवं लोकोत्तर साधनामूलक विचारों से जनमानस को प्रभावित किया है. तथ्य तो यह है कि एक समय था जब आचार्य हरिभद्र सूरि जैसे बहुश्रुत मनीषी ने सम्पूर्ण पश्चिम भारत को संस्कृति के सूत्र में बांध रखा था जिसकी परम्परा आंशिक परिवर्तन के साथ आज भी विद्यमान है. कालिक परिस्थितियों के अनुसार वह परम्परा कई सम्प्रदायों में विभक्त होने पर भी मौलिकदृष्ट्या एक है.

जिस प्रकार हिन्दी के भक्त कवियों में सगुण और निर्गुण धाराएँ प्रवर्तित हैं उसी प्रकार जैन परम्परा में भी दोनों धाराएँ समान रूप से प्रचलित रही हैं. यहां निर्गुण परम्परावादी सम्प्रदाय का उल्लेख विवक्षित है, जिसने राजस्थान के जनमानस को उल्लेख्य रूप से प्रभावित कर साहित्य-सृष्टि की है. हमारा तात्पर्य स्थानकवासी सम्प्रदाय से है. यह परम्परा साधना में बाह्याडम्बरों को महत्त्व नहीं देती. शुद्ध ज्ञान और चारित्र के प्रति नैष्ठिक भावनाओं को जीवन में साकार करना ही इसका लक्ष्य रहा है. आत्मोत्थान के लिए वह किसी ऐसे निमित्त को महत्त्व नहीं देती जो साधक को

एक सीमा में उलझा दे. साधना का क्षेत्र स्पष्ट और अहिंसावादी अपेक्षित है. स्व के अतिरिक्त पर को आत्मोत्थान में स्थानकवासी परम्परा सावक वाधक नहीं मानती.

स्थानकवासी मुनि-समाज ने भले ही विद्वद्‌भोग्य साहित्य की उल्लेखनीय सेवा न की हो पर सांस्कृतिक दृष्टि से जन-जीवन-उन्नयन के लिए जो सूत्रात्मक एवं गेय कृतियां रची हैं उनका अपना स्थान है. सन्त-साहित्य का आलोचक वर्ग इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता. सामान्य पद्यों में अनुभवमूलक सत्य सीमित शब्दावली में समुपस्थित करना, दीर्घकालीन सक्षम साधक के लिए ही संभव है परन्तु बड़े ही खेद और परिताप के साथ सूचित करना पड़ रहा है कि आज के वैज्ञानिक और शोधप्रधान युग में भी हमारा विद्वान् मुनि-समुदाय अपने ही पूर्वजों की कृतियों के प्रति उदासीन है. यही कारण है कि हमारे पास साहित्यिक श्रृंखलाएँ विद्यमान होने के वावजूद भी इसका व्यवस्थित व प्रामाणिक इतिहास सामने नहीं आया है. किसी भी समाज की उच्चता और दर्शनमूलक परम्परा का वास्तविक परिचय उसके साहित्य में प्रतिविम्वत होता है.

प्रस्तुत प्रवन्ध में धर्मदासीय परम्परा के एक प्रतिभासम्पन्न मुनि श्रीरूपचन्द्रजी महाराज—जो आचार्य श्रीजयमलजी महाराज के सुशिष्य थे—के सम्वन्ध में कतिपय विचार उपस्थित किए जा रहे हैं.

जयपुर, जोधपुर, रतलाम, वालोतरा आदि पश्चिमीय भारत इनका विहारक्षेत्र रहा था. इनकी औपदेशिक वाणी का प्रभाव महलों से लगाकर झोंपड़ों तक विस्तृत था. उच्चादर्शमूलक संयममय जीवन व्यतीत करते हुए आत्मानुभूति को लिपिवद्ध कर इन्होंने जो विचारकण देश्य भाषा में प्रस्तुत किए हैं, उनसे विदित होता है कि चारित्र की एकनिष्ठ साधना में वे इतने तन्मय थे कि उसमें तनिक भी शैथिल्य क्षम्य नहीं मानते थे. जैसा कि इनकी ४७ पद्यात्मक एक लघुकृति से अवगत होता है. इसमें कोई सन्देह नहीं कि विक्रम की १८वीं शताव्दी में समाज में, बड़ा विषम वातावरण था. कई सम्प्रदायों के उपसम्प्रदाय, व्यक्ति विशेष के प्रभाव के कारण वनते जा रहे थे. स्थानकवासी समाज भी इस प्रभाव से अपने आपको न वचा सका. मुनिजीवन के दैनिक आचारों में स्वल्प शैथिल्य प्रविष्ट हो गया था. गुणों के स्थान पर व्यक्तिपूजा पनप रही थी. मुनि रूपचन्दजी ने इनका विरोध करते हुए मुनि समाज को निरतिचार जीवनयापन करने की महती प्रेरणा दी. घोषित किया कि जव हमें आत्मोत्कर्ष के स्वर्णिम पथ का अनुसरण करना है और जन-जीवन को नये मानदण्ड के आधार पर उच्च स्थान पर प्रतिष्ठापित करना है तो हमारा आंतरिक जीवन अत्यन्त शुद्ध और उच्च आदर्शानुव्यंजक होना चाहिए. उच्चाचार ही साधुजीवन का सौरभ है. समाज और राष्ट्र का वास्तविक उत्थान सदाचारिक और संयमशील मुनिपरम्परा पर ही अवलंवित है. निराकांक्षी जीवन ही प्रेरणा का स्रोत वन सकता है और राष्ट्रीय चरित्र का प्रतीक भी.

मुनि रूपचन्द्रजी के समय राजस्थान सामंतवादी भोगविलासों में अनुरक्त था. उन दिनों सन्तों की साधना जनजीवन को उद्दीप्त करती हुई नैतिक कर्तव्य के प्रति आकर्षित कर रही थी. यहाँ यह कहने की शायद ही आवश्यकता रह जाती है कि उपदेश के क्षेत्र में गद्य की अपेक्षा पद्यात्मक शैली राजस्थान के लिए अधिक उपयुक्त थी. उच्चतम आध्यात्मिक व नैतिक भावों को अभिव्यक्त करने वाली मुनि रूपचन्द्रजी की जिस स्फुट रचना का उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लेख किया गया है उसका निर्माणकाल सं० १८२० का चैत्र और रचनाक्षेत्र नवसर ग्राम है. जैसा कि इन पंक्तियों से प्रमाणित है.

संवत् अठारेवीसा ने समे, नवसर गाम मझार म०....।
चेत महिने रे जोडज ए करी भव जीवां ने उपकार (सं० ४५)।

राजस्थान में उन दिनों स्थानकवासी सम्प्रदाय कई उप-सम्प्रदायों में विभक्त था जैसा कि तात्कालिक साधुमार्गीय पट्टावलियों से स्पष्ट है. आचार्य श्रीजयमलजी महाराज ने अपनी आध्यात्मिक साधना के बल पर उन दिनों वीकानेर और जोधपुर नगर एवं तत्सन्निकटवर्ती वहुभाग में निवास करने वाले ओसवाल लोगों को स्थानकवासी परम्परा में दीक्षित

किया. उनके द्वारा इस परम्परा में दीक्षित होने वालों का समुदाय आगे चल कर जयमलजी सम्प्रदाय के नाम से अभिहित हुआ.

कबीर, नानक नहीं चाहते थे कि मेरी सक्रिय विचारधारा को मेरे अनुयायी मेरे नाम से अभिहित करें. ठीक इसी प्रकार मुनि श्रीजयमलजी महाराज ने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की होगी कि श्रमणसंघ की इस धारा की उपशाखा के रूप में मेरा नाम संयुक्त किया जाय. पर तदुत्तरवर्ती मुनियों ने अपने परमोपकारी की स्मृति सुरक्षित रखने के लिये नाम संयुक्त कर लिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं. यों तो प्रत्येक सम्प्रदाय के जैन मुनियों का जीवनक्रम अंतर्मुखी अर्थात् मूलगुण-मूलक ही होता है, फिर भी जयमलजी ने मूल गुण की रक्षा करनेवाले उत्तर गुणों को भी उल्लेखनीय प्रश्रय दिया और अपने सम्प्रदाय में कुछ ऐसे संशोधन समुपस्थित किये जिनसे संयम की साधना को आन्तरिक वल प्राप्त हो सके.
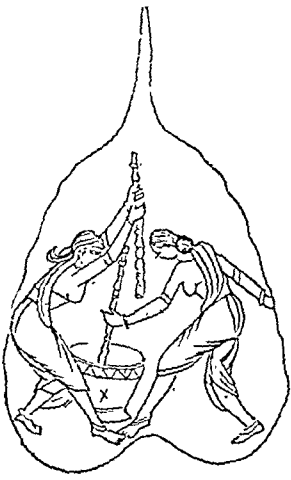
श्रीशान्ता भानावत

# श्रीतिलोक ऋषि की काव्यसाधना

हिन्दी साहित्य में 'सन्त' शब्द सामान्यतः निर्गुणोपासक कवियों के लिए और 'भक्त' शब्द सगुणोपासक कवियों के लिए रूढ़ हो गया है. सन्त कवियों में कबीर का स्थान सर्वोपरि है. इधर जब से जैन साहित्य के प्रति विद्वानों की दृष्टि गई है तब से सन्तसाहित्य की परिधि अधिक व्यापक हो गई है. निर्गुणमार्गी सन्त कवियों की तरह जैन सन्त कवियों ने भी नामस्मरण, सद्गुरुमाहात्म्य, कषायपरित्याग, भावशुद्धि, ज्ञानोपासना, संयमवृत्ति, वाह्याडम्बर-विरोध और अन्तरंग उपासना पर अधिक बल दिया है. सच तो यह है कि ये जैन कवि जीवन से भी उतने ही सन्त हैं जितने काव्य से. इनकी धर्मसाधना ने ही उन्हें काव्यसाधना की ओर उन्मुख किया है. श्रीतिलोकऋषि ऐसे ही सन्त कवियों की माला में उज्ज्वल मनके के रूप में देदीप्यमान है. जैन समाज में उनकी लोकप्रियता कबीर से होड़ लेती है. इनके कवित्त, सवैये और मुक्तक पद अध्यात्मप्रेमी लोगों द्वारा इसी प्रकार गाये जाते हैं जिस प्रकार रसिकों द्वारा बिहारी के दोहे.

## जीवनवृत्त

तिलोकऋषि का जन्म वि० संवत् १६०४ में चैत्र कृष्णा तृतीया, बुधवार को रतलाम में हुआ. इनके पिता दुलीचन्दजी सुराणा नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे. उन्हें भौतिक वैभव के सभी साधन उपलब्ध थे, फिर भी उनकी धर्म के प्रति गहरी निष्ठा और जिनवाणी के प्रति उत्कट श्रद्धा थी. आलोच्य कवि की माता नानू बाई भी धर्मप्राण महिला थी. माता पिता के इन धार्मिक संस्कारों ने 'बालक' तिलोक को 'ऋषि' तिलोक बनाने में बड़ा योग दिया. जन्म से चार मास पूर्व ही कवि के पिता इस लोक से कूच कर गये थे. जन्मजात पितृवियोगी बालक तिलोक के कवि-जीवन में इस अभाव ने अनेक भाव-रत्नों की सृष्टि की.

जब कवि दस वर्ष का था तभी ज्ञान-क्रिया-सम्पन्न पंडित अयवन्ता ऋषिजी अपने शिष्य-परिवार के साथ रतलाम पधारे. कवि अपनी मां के साथ उनका प्रवचन सुनने गया. 'वैराग्य' भावना पर उनका प्रवचन इतना अधिक मर्मस्पर्शी और हृदयग्राही था कि कवि की माता नानू बाई आत्मविभोर हो गई और संयमपथ पर बढ़ने का दृढ़ संकल्प कर बैठी. मां को संयममार्ग पर बढ़ते देख बेटी हीराबाई कैसे रुक सकती थी ? और बेटे 'तिलोक' का क्या कहना ? वह तो तीन लोक की कल्याणकामना का संस्कार लेकर इस भव में अवतरा था.

क्या हुआ यदि उसका वाग्दान सैलाना निवासिनी श्रीमती चुन्नीबाई की लाडली बेटी गुलाबकुंवर के साथ निश्चित हो गया ? लो, वह भावी जीवन-संगिनी भी इस लोक से चल बसी। संसार की असारता और काया की नश्वरता के दो चित्र सामने थे। बालक तिलोक साधनापथ पर बढ़ चला. भाई कुंवरमल से न रहा गया, उसने भी संयम का रास्ता अपनाया. फलतः संवत् १६१४ में माघ कृष्णा प्रतिपदा, गुरुवार को अयवन्ता ऋषिजी के सान्निध्य में एक ही परिवार के चार व्यक्ति (मां, बेटी और दो बेटे) दीक्षित हुए.

जैन आचार के अनुसार चौमासा (वर्षावास) के अतिरिक्त जैन सन्त के लिए एक स्थान पर अधिक ठहरना निषिद्ध है. जैन सन्त की चरण-गंगा सतत प्रवहमान रहने में ही आनन्द और तृप्ति का अनुभव करती है. दीक्षा लेते ही कवि तिलोक अपने गुरु अयवन्ताऋषिजी के साथ विहार करते रहे. अपने गुरु के साथ ही कवि ने जावरा, शुजालपुर, प्रतापगढ़, शाजापुर, भोपाल, वरडावदा आदि स्थानों पर चातुर्मास किये. सं० १९२२ में अयवन्ता ऋषि जी देवलोकवासी हुए तव से कवि स्वतन्त्र चातुर्मास करने लगा. कवि के ये चातुर्मास मालवप्रदेश तक ही सीमित न रहे. एक ओर उसने बागड़ प्रदेश के धरियावद क्षेत्र को स्पर्श कर पिछड़ी जाति के लोगों, भीलों, मीणों आदि को सच्चा जीवन जीने की कला सिखाई तो दूसरी ओर दक्षिण भारत के अछूते क्षेत्रों को अपनी पद-रज से पवित्र कर विपरीत श्रद्धालु लोगों को धर्म का मूल तत्त्व वताया. इसी तत्त्वसंधान में एकान्त लीन रहने वाला यह कवि ३६ वर्ष की अल्पायु में ही इस लोक से चल वसा. अन्तिम दिनों में कवि तीव्र शिरोवेदना और भयंकर व्याधि से पीड़ित रहा. सं० १९४० में श्रावण कृष्णा द्वितीया, रविवार को अहमदनगर में इस सन्त कवि ने मानवलीला संवरण की. श्री तिलोक-रत्न-स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, आज भी इस ज्ञानरत साधक की यशःसुरभि चारों ओर विखेर रहा है.

### काव्य-साधना

तिलोकऋषि का जीवन जितना साधनामय और ज्ञानरत था, उनका काव्य उतना ही भावनामय और संगीत-तत्त्व से पूर्ण. उन्होंने अपनी काव्य-आराधना सहज भाव से की. जहाँ कारीगरी है वहाँ भी उनका अकृत्रिम संत-स्वभाव ही आगे रहा है. कविता करना उनका व्यवसाय नहीं था, उनका व्यवसाय तो था लोकमानस को प्रवुद्ध करना. इस लोकजागृति और आत्मोन्नति में काव्य जितना सहायक होता, कवि उस अनुपात में उसे आत्मसात कर आगे बढ़ता. दूसरे शब्दों में ये सन्त पहले थे, कवि वाद में.

कवि तिलोक ऋषि ने विपुल परिमाण में लिखा. जन-साधारण के लिये भी लिखा और विद्वन्मंडली के लिये भी लिखा. स्वान्तःसुखाय भी लिखा और लोकहिताय भी. प्रवन्धकाव्य भी लिखा और मुक्तक भी. स्थूल रूप से उनकी काव्य-सामग्री को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) रसात्मक कृतियाँ और (२) कलात्मक कृतियाँ. रसात्मक कृतियों को सामान्यतः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है. (क) स्तवनमूलक (ख) आख्यानमूलक (ग) औपदेशिक. कलात्मक कृतियों को भी दो भागों में रखा जा सकता है (क) चित्रकाव्यात्मक और (ख) गूढार्थमूलक. यहाँ प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है.

## (१) रसात्मककृतियाँ

ये कृतियाँ विशुद्ध साहित्यिक रसबोध की दृष्टि से रची गई हैं. इनमें कवि की अनुभूति, उसका लोकनिरीक्षण और गेय व्यक्तित्व समाविष्ट है. साधारणतः संत कवियों के सम्बन्ध में माना जाता है कि वे अधिक पढ़े लिखे नहीं होते. जो कुछ आत्मानुभव करते उसे ही शब्दों का रूप दे देते. इसलिये वहाँ कला के दर्शन नहीं होते. पर हमारा आलोच्य कवि तिलोक ऋषि इस परम्परागत अर्थ में सन्त कवि नहीं था. वह आगमों का पंडित, संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषाओं का विद्वान्, शास्त्रीय ज्ञान का धनी, विभिन्न छन्दों का जानकार तथा लोकप्रचलित रीति-रिवाजों, विश्वासों एवं परम्पराओं का ज्ञाता था. यही कारण है कि उसकी रचनाओं में एक ओर संत कवि का सारल्य है तो दूसरी ओर शास्त्रज्ञ कवि का पाण्डित्य. उनसे निरा निवृत्तिमूलक उपदेश नहीं मिलता वरन् प्रवृत्तिमूलक रसग्रहण भी होता है. ये रसात्मक कृतियाँ तीन प्रकार की हैं—

#### स्तवनमूलक

भारतीय साधनामार्ग में नामस्मरण एवं ईश्वर-स्तुति का वड़ा महत्त्व है. सन्तों एवं भक्तों दोनों ने इस प्रकार की रचनाएँ लिखी हैं. भक्तों ने भगवान् के साथ अपना पारिवारिक सम्बन्ध अधिक जोड़ा है. कभी यह सम्बन्ध स्वामी और सेवक का रखा तो कभी माँ और वेटे का रहा, कभी यह सम्बन्ध पति और पत्नी का रहा तो कभी पिता और पुत्र का

रहा. सन्तों में यह व्यक्तिपरक सम्बन्ध कम और नाम का माहात्म्य अधिक रहा है, तिलोक ऋषि ने चौवीस तीर्थंकरों, पंच परमेष्ठियों, गणधरों और सन्त-सतियों की स्तुति विशेष रूप से की है. स्तुतियों में उनके बाह्य रूपरंग का वर्णन कम और आन्तरिक शक्ति तथा गरिमा का वर्णन अधिक रहा है. उदाहरण के लिये 'पंच परमेष्ठी वन्दना' को देखा जा सकता है.

अरिहन्तों की वन्दना करते हुए कवि ने उनके कर्मक्षयकरण स्वभाव, चौंतीस अतिशय, पैंतील वाणी, शारीरिक सौन्दर्य, अनन्तगुण, निर्दोष भाव आदि का स्मरण किया है.

नमो श्री अरिहन्त, कर्मों का किया अन्त, हुआ सो केवलवन्त करुणा भंडारी है,
अतिशय चौंतीस धार, पैंतीस वाणी उच्चार, समझावें नरनार पर उपकारी है।
शरीर सुन्दराकार, सूरज सो झलकार, गुण है अनन्त सार, दोष परिहारी है,
कहत तिलोक रिख मन वच काया करि, लुलि-लुलि बारम्बार वन्दना हमारी है।

सिद्धों की वन्दना करते हुए उनके अचल, अटलरूप, आवागमन-चक्र-मुक्ति, सर्व कर्मक्षयी एवं कालजयी व्यक्तित्व, निर्विकार एवं निर्लेप स्वरूप आदि की स्तुति की है.

सकल करम टाल, वश कर लियो काल, मुगति में रह्या माल, आतमा को तारी है,
देखत सकल भाव, हुआ है जगत राव, सदा ही खायक भाव, भये अविकारी है।
अचल, अटलरूप आवे नहीं भवकूप, अनूप सरूप ऊप, ऐसे सिद्धधारी है,
कहत है 'तिलोक रिख' बताओ वास प्रभु सदा ही उगंते सूर, वन्दना हमारी है।

आचार्यों की वन्दना करते हुए उनके ३६ गुणों, आचारनिष्ठा, मधुर वचनामृत, नेतृत्वगरिमा, लोकहितभावना आदि का कीर्तन किया है.

गुण है छत्तीस पुर, धरत धरम उर, मारत करम क्रूर, सुमत विचारी है,
शुद्ध सो आचारवन्त, सुंदर है रूप कन्त भण्या सब ही सिद्धान्त, वांचणी सुप्यारी है।
अधिक मधुर वेण, कोई नहीं लोपे केण, सकल जीवां का सेण, कीरत अपारी है,
कहत है 'तिलोकरिख' हितकारी देत सीख, ऐसे आचारज ताकूं वन्दना हमारी है।

उपाध्यायों की वन्दना करते हुए उनके अंग उपांगादि शास्त्रों के पठन, नीर-क्षीर-विवेकी बुद्धि, भ्रमविध्वंसक व्यक्तित्व, तपतेजस्विता, अगाध पांडित्य, तर्कशक्ति आदि गुणों का स्मरण किया है.

पढ़त इग्यारे अंग, करमों सु करे जंग, पाखंडी को मानभंग करण हुसियारी है,
चवदे पूरव धार, जानत आगम सार, भविन के सुखकार, भ्रमता निवारी है।
पढ़ावे भविक जन, स्थिर कर देत मन, तप कर तावे तन ममता निवारी है,
कहत है 'तिलोक रिख' ज्ञान भानु परतिख, ऐसे उपाध्याय ताकुं वन्दना हमारी है।

साधुओं की वन्दना करते हुए उनके आत्म-संयम, समिति गुप्ति पालन, छः काय की रक्षा, महाव्रत पालन, कषाय-त्याग, ममता-निवारण, स्वाध्याय, क्रिया, प्रभुभक्ति आदि विविध आचारों का बखान किया है—

आदरी संयम भार, करणि करे अपार, समिति गुपतिधार विकथा निवारी है,
जयणा करे छः काय, सावद्य न बोले वाय, बुझाय कषाय लाय, किरिया भंडारी है।
ज्ञान भणे आठूं याम, लेवें भगवंत नाम, धरम को करे काम, ममता कूं मारी है,
कहत है 'तिलोक रिख' करमों को टाले विख, ऐसे मुनिराज ताकूं वंदना हमारी है।

(ख) आख्यानमूलक

स्तवनात्मक रचनाओं में गीतितत्त्व अधिक सुरक्षित रह सका है. आख्यानमूलक कृतियाँ प्रबन्ध काव्य की कोटि में आती हैं

पर ये महाकाव्य और खण्डकाव्य की कसौटी पर नहीं कसी जा सकतीं. यद्यपि इनमें कई भावपूर्ण रसात्मक स्थल हैं पर प्रधान दृष्टि इतिवृत्त पर ही रही है. कथानक अन्त की ओर दौड़ते प्रतीत होते हैं. सभी में धार्मिक दृष्टि और उपदेश की भावना प्रमुख रही है. इन कथाओं के नायक वैभवशाली राजा भी हैं और नवयौवनसम्पन्न राजकुमार भी. नगर के प्रख्यात सेठ-साहूकार भी हैं और शीलधर्म पर प्राण देनेवाली सद्नारियाँ भी. इतना अवश्य कहा जायगा कि सारे पात्र ऊँचे कुल और वैभव-विलास से सम्बन्ध रखनेवाले हैं. सामान्य पात्रों की ओर कवि का ध्यान शायद इसलिए नहीं गया, क्योंकि वह भुक्ति से मुक्ति की ओर, भोग से योग की ओर, और राग से विराग की ओर जीवन-प्रवाह को गति देना चाहता है. कहीं-कहीं तो ये आख्यान केवल पद्यवद्ध कथा-काव्य बनकर ही रह गये हैं.

इन आख्यानपरक कृतियों में कई काव्य-रूप दृष्टिगत होते हैं. जिन आख्यानों को चार ढालों में गुम्फित किया गया है वे 'चौढालिया' नाम से अभिहित किये गये हैं. सुदर्शन सेठ, अर्जुनमाली, नंदीषेण मुनि, वर्धमान स्वामी, खंदक मुनि, मेतारज मुनि, आनन्द, कामदेव आदि रचनाएँ 'चौढालिया' संज्ञक रचनाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं. जो आख्यान पांच ढालों में लिखे गये हैं वे 'पंचडालियाँ' नाम से प्रसिद्ध हैं. 'महावीर स्वामी का पंचढालिया' तथा 'भृगु पुरोहित पंच-ढालिया' ऐसी ही रचनाएँ हैं. जिनमें प्रमुख नायक का चरित्र प्रधानतः वर्णित है वे 'चरित्र काव्य' कहे गए हैं. ऐसे चरित्र काव्यों में आलोच्य कवि द्वारा लिखे गये श्रीचंद केवली चरित्र, श्रीसीता चरित्र, श्रीनेमिचरित्र, हंसकेशवचरित्र, धर्मबुद्धि पापबुद्धि चरित्र, श्रेणिक चरित्र, शालिभद्र चरित्र, समरादित्य केवली चरित्र आदि प्रमुख हैं. 'लावणी' नाम से भी कई आख्यान पद्यवद्ध किये गये हैं, काल की लावणी, जीव-रक्षा की लावणी, गजसुकुमाल की लावणी, धन्नाजी की लावणी, पंचम आरा की लावणी आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं. 'छंद' संज्ञक रचनाओं में श्रीआचार्य छंद, श्रीपार्श्वनाथजी का छंद, साधु छंद आदि के नाम गिनाए जा सकते हैं. राजमती वारहमासा, गौतम स्वामी रास, जयकुमार की चौपाई आदि रचनाएँ भी इसी वर्ग की हैं.

इन आख्यानमूलक रचनाओं के सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि वे प्रभाव डालने में बड़ी कारगर सिद्ध हुई हैं. जन साधारण में धर्म-प्रचार करने के साधन रूप में इन रचनाओं की बड़ी उपयोगिता है.

(ग) औपदेशिक

काव्य के माध्यम से उपदेश देना संत कवियों की सामान्य प्रवृत्ति रही है. जिनमें कवित्वप्रतिभा नहीं होती वे सीधा औपदेशिक भाव प्रकट कर ही रह जाते हैं पर जिसे कविता का वरदान प्राप्त है वह लाक्षणिक अभिव्यक्ति द्वारा उस भावविशेष को सरल वना देता है. यों तो कवि ने सामान्यतः संसार की असारता, शरीर की नश्वरता, मन की चंचलता कामभोगों की निस्सारता आदि का वर्णन कर साधक को कषाय-त्याग, व्रत-पालन, दया-दान, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि वृत्तियों की ओर अभिमुख किया है. यदि कवि इन भावनाओं को अभिधेय अर्थ में ही ग्रहण करके रह जाता तो वह पद्यकारों की श्रेणी में ही गिना जाता है पर तिलोक ऋषि ने अपनी रूपकयोजना द्वारा सामान्य लौकिक भावों में भी अलौकिक सौन्दर्य और अध्यात्मभावों का माधुर्य भर दिया है.

यह रूपकयोजना सामान्यतः चार रूपों में व्यवहृत हुई है. जितने भी लौकिक त्यौहार हैं उन्हें अध्यात्म भावना का रंग दिया गया है. इन त्यौहारों में दशहरा, धनतेरस, रूपचवदस, दीपावली, होली, शीतला सप्तमी, वसन्तपंचमी, अक्षय-तृतीया, गणगौर, पर्युषण पर्व आदि त्यौहारों को कवि ने अपना वर्ण्य विषय वनाया है. देश और काल को भी कवि ने आध्यात्म भावों में बांधा है. जिन-जिन गाँवों और नगरों में कवि ने पद-यात्रा की है उनके नामों और गुणों को लोकोत्तर अर्थ में ढालकर आत्मा को पवित्र वनाने का उपदेश दिया गया है. काल की दृष्टि से कवि ने एक ओर वारहमासा को रूढिगत विरहालाप से वाहर निकाल कर अध्यात्म क्षेत्र की ओर मोड़ा है तो दूसरी ओर सात वारों सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, रवि को भी आत्मधर्म से उपमित किया है. सामान्य नाम संस्करण प्रणाली को भी अध्यात्म रंग में रंग दिया गया है. इस यह आशय का एक कवित्त उद्धृत किया जाता है :

> प्रेमसी कुम्भारसिंह दश किया जीवराज, मानसिंह भाईदान लिग्या प्यारी भाई है,
> कर्मचन्द्र काठा भया, रूपचन्दजी से प्यार, धनराजजी की दान चाहत सदाई है।

ज्ञानचन्दजी की बात सुने न चेतनराय, आवें नहीं दयाचन्द सदा सुखदाई है,
कहत तिलोकरिख मनाय लीजे नेमिचन्द, नहीं तो कालूराम आयां विपत सवाई है।

विराट् सांग रूपक बाँधकर कवि ने जो उपदेश दिये हैं वे चमत्कार प्रकट नहीं करते वरन् उनमें निजीपन, घरेलू वातावरण और लोकव्यवस्था का विशिष्ट चित्रण है. राज्यव्यवस्था के कुत्सित और आदर्श दोनों चित्रों को कवि ने बड़ी खूबी के साथ अन्तरंग-आत्मपरक-व्यवस्था के साथ फिट बैठाया है.

कुत्सित चित्र :

काया रूप नगरी में चिदानन्द राज करे, क्रोध-कोटवाल मान-सिंह प्रधान है,
कपट हजूर्यो लोभ छड़ीदार बन्यो तामें, मोह फौजदार अति करत गुमान है।

आदर्श चित्र :

जीव रूप राजा समकित परधान जाके, ज्ञान को भंडार शील रूप रथ सारके,
क्षमा रूप गज मन हय को स्वभाव वेग, संजम की सेना तप आयुध अपार के।
सज्झाय वाजित्र, शुभ ध्यान नेजा फरकत, रैयत छ काय सो बचाय कर्म मार के,
मोक्ष गढ जीतवा को, कहत तिलोकरिख, करिये संग्राम ऐसी धीरजता धार के।

कलात्मक कृतियाँ :

तिलोकऋषि के कवि-व्यक्तित्व के साथ उनके चित्रकार-व्यक्तित्व ने मिल कर कई नवीन, मौलिक, कलात्मक कृतियों को जन्म दिया. इन कलात्मक कृतियों में कवि की एकाग्रता, उसकी सूझ, लेखनकला चित्रण-क्षमता और अपार भाषाशक्ति का परिचय मिलता है. ये कलात्मक कृतियाँ दो प्रकार की हैं :

(क) चित्रकाव्यात्मक :

संस्कृत आचार्यों ने चित्रकाव्य को अधम काव्य कहा है और ध्वनिकाव्य को श्रेष्ठ काव्य. विवेच्य चित्रकाव्य उस तथाकथित "चित्रकाव्य" से भिन्न है. यहाँ "चित्रकाव्य" का प्रयोग काव्य की विशेष लेखनपद्धति द्वारा निर्मित चित्र के प्रसंग में किया गया है. ऐसे चित्रकाव्य की सृष्टि वही कर सकता है जिसमें कवि का हृदय हो, चित्रकार का लाघव हो, गणितज्ञ की बुद्धि हो और स्थितप्रज्ञ की तन्मयता हो. कहना न होगा कि तिलोकऋषि ने इन सबका दायित्व कुशलता के साथ निभाया है. इन चित्रों को "काव्यात्मक चित्र" भी कहा जा सकता है पर प्रधान दृष्टि चित्र बनाने की रही है. इसीलिये हमने इन कृतियों को "चित्रकाव्यात्मक" संज्ञा दी है.

ये चित्रकाव्य दो प्रकार के हैं. सामान्य और रूपकात्मक. सामान्य चित्रों में कवि ने स्वरचित या किसी प्रसिद्ध कवि की कविताओं-दोहे, सवैये, कवित्त आदि को इस ढंग से लिखा है कि एक चित्र सा खड़ा हो जाता है. समुद्रबन्ध, नागपाश बन्ध आदि कृतियाँ इसी प्रकार की हैं. इन चित्रों के नामानुरूप भाव वाली कविताओं को ही यहाँ लिपिबद्ध किया गया है. समुद्रबन्ध कृति में संसार को समुद्र के रूप में उपमित करने वाली कविता का प्रयोग किया गया है. नागपाशबन्ध में भगवान पार्श्वनाथ के जीवन की उस घटना को व्यक्त करने वाला छन्द सन्निहित है जिसमें उन्होंने कमठ तापस की पंचाग्नि से, संकटग्रस्त नागदम्पती का उद्धार किया था. प्रयुक्त छन्द इस प्रकार है :

अमर उद्धरण धीर गम्भीर, भविक भव पार उतारण रक्षा करण समंद कमठ तापस मद हारण।
संकट उरगंगवाय खरग पदवी ठवी सारण, विकट कमठ दियो कष्ट सही जलदल विस्तारण।
जय नागदेव करूर भये दहल तपविन न गण, सख दियो त्रिविध विचित्र सही पारस गरू तारण तरण।

"चित्रालंकार काव्य" कवि की एकाग्रता, बौद्धिकता और श्रमशीलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है. इसमें प्रारम्भ से अंत तक की कुल ३६ पंक्तियों में ३६ दोहे लिखे गये हैं. प्रथम पंक्ति में मंगलाचरण, द्वितीय पंक्ति से पच्चीसवीं पंक्ति तक २४ तीर्थंकरों के स्तुतिपरक २४ दोहे हैं. तदनन्तर क्रमशः नमस्कार मंत्र के ५ दोहे, त्रिरत्न के ३ दोहे और देव, गुरु, धर्म

विषयक ३ दोहे दिये गये हैं. यही नहीं, बीच-बीच में छत्रबंध, दुर्गबंध तथा गोमूत्रिका बंध में तीन प्रकार के नमस्कार मंत्र दिये गये हैं. रचनाकाल, रचनाकार आदि का नाम भी बड़ी खूबी से लिख दिया गया है. अशोक वृक्ष, ज्योतिषचक्र आदि भी इसी प्रकार की कलाकृतियाँ हैं.

रूपकात्मक चित्रकाव्यों में कवि की रूपक योजक-वृत्ति ही काम करती रही है. ज्ञानकुंजर और शीलरथ के रूपकात्मक चित्र अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं. हाथी कवि का प्रिय प्रतीक रहा है. 'ज्ञानकुंजर' उन लोगों के लिए, जो पढ़े-लिखे नहीं हैं, जैन धर्म के समग्र सिद्धान्तों को समझने की कुंजी है. विभिन्न आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण अक्षरों द्वारा हाथी का यह चित्र बड़ा भव्य और विशाल है. २४ तीर्थंकरों के नाम लिखकर हाथी की सूंड, गणधरों के नाम लिखकर उसका कान, ज्ञान रूप उसकी आँख, धीरज और धर्म लिखकर उसकी दंतूरे, बत्तीस आगमों के नाम लिखकर उसके पाँव, पांच महाव्रतों के नाम लिखकर उस पर चढ़ने की सीढ़ियाँ आदि बनाई गई हैं. दान दया रूपी महावत के हाथों में उपदेश और ज्ञान का अंकुश दिया गया है. उसके ऊपर देव, गुरु धर्म की छत्री है जिसमें सम्यक्त्व की डंडी लगी हुई है. अंबाड़ी को विभिन्न शास्त्रीय गाथाओं से सजाया गया है. अंबाड़ी के ऊपर स्थित मन्दिर के दोनों ओर, ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप रूप चार स्तंभ हैं. इसके मध्य प्रतिभाशाली मुनि की आकृति है. ऊपर धर्मध्यान और शुक्लध्यान की पताका लहरा रही है. महाकवि तुलसी रूपकों के बादशाह माने गये हैं. आध्यात्मिक क्षेत्र में रूपकों की सृष्टि करनेवाला यह तिलोक कवि भी किसी बादशाह से कम नहीं है.

(ख) गूढ़ार्थमूलक :

संत कवियों ने अपने सिद्धान्तों को कहीं-कहीं बड़ी रहस्यात्मक भाषा में प्रतिपादित किया है. इस प्रकार की गूढ़ अभिव्यक्ति को 'उलट बांसियों' के नाम से अभिहित किया गया है. इसका कारण यह रहा कि यह अभिव्यक्ति सामान्य लोक-नियमों का अतिक्रमण ही नहीं करती, उससे नितान्त विरोध और वैषम्यभाव भी प्रकट करती है. आलोच्य कवि तिलोक के काव्य में इस प्रकार की उलट बांसियां तो नहीं मिलती जिस प्रकार की कबीर के काव्य में. फिर भी कवि-अपनी शब्द-क्रीड़ा करना नहीं भूला. सगुण भक्त कवियों में सूर ने जिस प्रकार दृष्टिकूट पद लिखे हैं उसी प्रकार तिलोकऋषि ने भी कतिपय गूढ़ार्थ-व्यंजक दोहे लिखे हैं. उन्हें कूटशैली के अन्तर्गत रखा जा सकता है. यहाँ इस प्रकार का एक दोहा द्रष्टव्य है :

दधिसुत-रिपु ते जाणिये, तस रिपु-रिपु ते जाण, कंठ छवि तसु वाहने, लछण सो है सुजाण,
येह जिनराज ने भजो नित ।

अर्थ : दधिसुत अर्थात् चन्द्रमा, उसका रिपु राहु, राहु का रिपु विष्णु (राम) विष्णु का रिपु रावण. रावण का स्वामी शिव, उस कंठ छविवाले शिव का वाहन वृषभ जिसके चिह्न रूप से सुशोभित होता रहता है, ऐसे जिनराज अर्थात् ऋषभदेव भगवान का नित्य भजन करो.

इस कूट शैली के साथ-साथ कवि ने संस्कृत की सूक्तियों पर भी कवित्त लिखे हैं. इस शैली को 'समस्यापूर्ति' के अन्तर्गत रखा जा सकता है. 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरंति, मनुष्यरूपेण श्वानो भवंति, मनुष्यरूपेण खराश्चरंति' आदि पर लिखे गये इनके कवित्त बड़े मर्मस्पर्शी और प्रभाव डालने वाले हैं.

तिलोक ऋषि की इन काव्यगत विशेषताओं के आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह कवि संत कवियों में अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए है. संत कवियों ने सामान्यतः अपनी रचनाएँ दोहा और पद में की पर इस कवि ने रीतिकालीन कवियों के सवैया और कवित्त जैसे छन्द को अपनाकर उसमें जो संगीत की गूंज और भावना की पवित्रता भरी वह अन्यतम है. तिलोकऋषि के काव्य में भक्तियुग की रसात्मकता और रीतियुग की कलात्मकता के एक साथ दर्शन होते हैं. यह अपने आप में कम वैशिष्ट्य नहीं है.

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित,
एम० ए० (हिन्दी), एम० ए० (संस्कृत), पी-एच० डी०,
रीडर, हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर.

# कविवर्य अमीऋषिजी और अमृतकाव्यसंग्रह

'अमृत-काव्यसंग्रह' पण्डितरत्न मुनि श्रीअमीऋषिजी की कई काव्य-रचनाओं का संग्रह है. संग्रह के अन्तर्गत मुनिवर्य द्वारा रचित १ शिक्षा-बावनी, २ सुबोध-शतक, ३ विविधबोध-बावनी, ४ चौरासी उपमायुक्त मुनि-गुण-बत्तीसी, ५ एकल विहारी मुनि हितशिक्षा चालीसा, ६, शारदा विनय, ७ तीर्थंकर परिचय, ८ श्री त्रिलोकाष्टक, ९ हिंसामति हित-शिक्षा, १० निश्चय-व्यवहार-चर्चा, ११ प्रश्नोत्तरमाला तथा १२ कतिपय समस्यापूर्तियाँ और अनेक प्रकीर्णक संगृहीत हैं. संगृहीत रचनाओं के अतिरिक्त श्री अमीऋषिजी की और भी रचनाओं का पता चलता है. मुनि श्रीमोती-ऋषिजी ने ऐसे प्राप्त ग्रंथों की संख्या २८ बताई है और निम्नलिखित रूप में उनकी तालिका प्रस्तुत की है:—
१ स्थानक निर्णय, २ मुखवस्त्रिका निर्णय, ३ मुखवस्त्रिका चर्चा, ४ श्रीमहावीरप्रभु के छव्वीस भव, ५ श्रीप्रद्युम्न चरित ६ श्री पार्श्वनाथ चरित, ७ श्री सीताचरित, ८ सम्यक्त्व महिमा, ९ सम्यक्त्व निर्णय, १० श्री भावनासार, ११ प्रश्नो-त्तर माला, १२ समाज स्थिति दिग्दर्शन, १३ कषाय कुटुम्ब छहढालिया, १४ जिनसुन्दरी चरित १५ श्रीमती सती चरित, १६ अभयकुमारजी की नवरंग लावणी, १७ भरतबाहुबली चौढालिया १८ अयवंता कुमार मुनि-छह ढालिया, १९ विविध बावनी, २० शिक्षा बावनी, २१ सुबोध शतक. २२ मुनिराजों की ८४ उपमाएँ, २३ अम्बड संन्यासी चौढालिया, २४ कीर्त्तिध्वज राजा चौढालिया, २५ सत्यघोषचरित, २६ अरणकचरित, २७ मेघरथ राजा का चरित २८ धारदेवचरित.

उक्त तालिका में ११, १९, २०, २१, तथा २२ संख्या वाले नाम अमृतकाव्य-संग्रह के क्रमशः ११, ३, १, २, तथा ४, पर दिये गये नामों से मिलते-जुलते हैं, अतएव इन पांच रचनाओं को कम कर दें तो प्रथम तालिका में प्रश्नोत्तरमाला तक के ११ तथा द्वितीय तालिका में से केवल २३ अर्थात् कुल ३४ रचनाओं तथा इनके अतिरिक्त अनेकानेक समस्या-पूर्तियों तथा प्रकीर्णकों का श्रेय मुनिवर्य श्रीअमीऋषिजी को दिया जायगा. इन रचनाओं का अनेक दृष्टिबिन्दुओं से वर्गीकरण किया जा सकता है, वह इस प्रकार—इन्हें नीति, साम्प्रदायिक वर्णन, चरित वर्णन आदि जैसे कई वर्गों में रखा जा सकता है. संग्रह-शैली-भेद से भी इनके अनेक रूप, यथा, अष्टक, चालीसा, बावनी, शतक, आदि मिलते हैं. छन्दभेद की दृष्टि से विचार करें तो केवल अमृत-काव्य-संग्रह में संग्रहीत रचनाओं में ही दोहा, कवित्त, सवैया, सोरठा,पद्धरी, हरिगीतिका, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, मालिनी आदि छन्दों का सुचारु निर्वाह मिल जायगा. सवैया और कवित्त पर तो इनका विशेष अधिकार जान पड़ता है. प्रायः अष्टक आदि के नाम से प्रस्तुत की जाने वाली रचनाओं में निश्चित रूप से सदैव केवल गिनती के ही छन्द नहीं रहते. श्रीअमीऋषिजी की रचनाओं में भी इसी परम्परा के दर्शन होते हैं. मंगलाचरण और समाप्तिसूचक छन्दों को छोड़ भी दें तो भी मूल-विषय से सम्बन्धित छन्दसंख्या में कहीं अधिक ही हैं. छन्द और शैली की ऐसी विविधता के साथ-साथ विषय की विविधता और उसके कारण जीवन के विशाल निरीक्षण-परीक्षणके प्रति ऋषिजी की सजगता जितनी ही सराहनीय है, उतनी ही साहित्य-शास्त्रकी चमत्कारक-प्रणालियों का ज्ञान और उन पर उनका अधिकार भी प्रशंसनीय है. संत, दार्शनिक और भावुक कवि प्रायः चित्र-काव्य की रचना में प्रवृत्त होते नहीं दिखाई पड़ते. कवियों के बीच भी जिन्होंने अपने काव्य में आलंकारिक-चमत्कार को बहुत बहुमान दिया, उन्होंने भी चित्र-काव्य-रचना की ओर अपनी रुचि नहीं दिखाई. जिन्हें शास्त्र-सम्पादन करना था, उनमें से भी

बहुतेरों ने उसकी उपेक्षा ही उचित समझकर मौनावलम्बन से काम लिया, किन्तु संत, दार्शनिक और कवि का एक-साथ सम्मिलित रूप प्रस्तुत करने वाले मुनिवर्य श्रीअमीऋषिजी ने इस दिशा को भी अछूता न छोड़ा, आपने खड्गबन्ध, कपाट-बन्ध, कदलीबन्ध, मेरुबंध, कमलबंध चमरबंध, एकाक्षर त्रिपदीबंध, चटाईबंध, गोमूत्रिकाबंध, छत्रबंध, वृक्षाकारबंध, धनुर्बन्ध, नागपाशबंध, कटारबंध, चौपटबंध, चौकीबंध स्वस्तिकबंध आदि अनेक चित्रकाव्यों का सृजन किया है. इस प्रकार उक्त रचनाओं के साथ इन चित्रकाव्य-रूपों की गणना करने तथा 'जयकुंजर' नामक काव्य-कृति को सम्मिलित कर लेने पर तो ऋषि जी की बहुमुखी प्रतिभा और काव्य सृजन-क्षमता के साथ-साथ चमत्कार-चारुता-सम्पादन के प्रति भी विश्वास किए बिना नहीं रहा जा सकता. प्रत्येक छंद में अमीरिख, अमृत, पीयूष, रिख अमृत, अथवा अमी की छाप देकर पूर्व-प्रचलित कविपरिपाटी को आपने सर्वत्र निबाहा ही नहीं है, उससे अपने कवित्व के प्रति अपनी सजगता को भी द्योतित करा दिया है. संतों के बीच भी अपने नाम की छाप देकर लिखने या छन्द कहने की प्रवृत्ति प्रचलित रही है, अतएव आप कवि और संत दोनों के बीच भली-भांति बैठ जाते हैं.

श्रीअमीऋषिजी का काव्य उनके संत तथा कवि दोनों रूपों के सम्यक् सम्मिलन का स्वयं ही प्रमाण है. संत की निश्छलता, स्पष्टोक्ति और हित-भावना ने उनके काव्य को शिक्षा और उपदेश से जिस प्रकार मण्डित किया है, प्रत्येक पंक्ति से जीवन और जगत् के संबंध में सत्य के उद्घाटन का जैसा आग्रह उनकी रचनाओं में छलक रहा है, वैसी ही भाषा की सुस्पष्टता एवं सरलता और शब्द-योजना तथा छन्द-प्रवाह से उनकी काव्य-प्रतिभा भी फूटी पड़ रही है. संत की वाणी अलंकृति की राह नहीं अपनाती, सीधी, सरल राह से होकर चलती है, तिर्यक् उक्ति-भंगिमाओं का प्रदर्शन नहीं करती. उसकी वाणी अपने लक्ष्य को सीधे वेधती है, अलंकारों, वक्रोक्तियों और ध्वनियों की आड़ लेकर आगे नहीं बढ़ती. सीधी बात में ही उसका प्रभाव बढ़ जाता है, उसके लक्ष्य की सिद्धि उसी में होती है. स्पष्ट है कि श्रीअमीऋषिजी की रचना भी इसीलिये इन सद्गुणों से युक्त है.

संत का कार्य जीवन के नानाविध रूपों को निरावरण करके उन्हें जनता के सामने प्रस्तुत करना और इस रूप में उसे सच्ची राह दिखाना है. नीति और उपदेश का मार्ग ही उसका मार्ग है और इस मार्ग पर चलने के लिये कभी अपदार्थ पदार्थों की निन्दा, कभी मोह-भ्रम में भटके हुए मनुष्य की चेतना को संबोधन, कभी अच्छे-बुरे के विवेक के लिये दो वस्तुओं की तुलना, कभी पूर्व-कथाओं की सूचना देकर काम-क्रोधादि के कुपरिणाम की ओर पाठक का ध्याना-कर्षण, कभी समाज के दूषणों पर कठोर प्रहार आदि अनेक कौशलों का प्रयोग करके उसे अपनी बात का प्रभाव-जमाना होता है. श्रीअमीऋषिजी ने अपनी रचनाओं में इन सभी साधनों का कुशल उपयोग किया है.

संतों की दृष्टि में ईश्वर के प्रति जीव की उदासी का मुख्य कारण उसका यह मोह एवं भ्रम है कि वह कोमल और सुन्दर शरीर का है. अथवा अभी क्या है, अभी तो बहुत आयु पड़ी है, भगवान् का भजन भी हो जायगा. इस भ्रम को दूर करने का एक तरीका यह है कि ठेठ भाषा में मनुष्य को सतर्क कर दिया जाय : 'काल चबेना जगत् का कुछ मुख में कुछ गोद"; और यह भी है कि अन्योक्ति के सहारे उसे नश्वरता का ज्ञान कराते हुए कह दिया जाय :

'माली आवत देख कर, कलियां करी पुकार। फूले-फूले चुन लिये, काल्ह हमारी बार।

अथवा, यह भी है कि चमत्कारक रूपक के सहारे मनुष्य को सावधान कर दिया जाय कि—

'जम-करि-मुंह तरहरि पर्यो, इहिं धरहरि चित लाउ। विषय, तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ॥"

संत इनमें से पहले दो प्रकार की उक्तियाँ अपनाता है और कवि, विशेषतः चमत्कार-प्रिय कवि, अन्तिम प्रकार की उक्ति का सहारा लेता है. श्रीअमीऋषिजी ने संत होने के नाते पहले दो प्रकार की उक्तियों के मेल में ही अपनी उक्तियों को उपस्थित किया है. अमीऋषिजी ने निम्नलिखित छन्द में स्त्री शरीर-सौन्दर्य के तीन आकर्षक उपमान और रंग-वैचित्र्य को उपस्थित करके मोहकता, दर्शनीयता, विकसमानता और मृदुलता के साथ इन सबकी

म्लानता की अनुभूति जाग्रत करने वाला चित्र अंकित कर दिया है, 'फुलाना' तथा 'कुमलाना' शब्द जैसे यहाँ आकर सार्थक हो गये हैं :—

"मन में विचार नर, आउखो अलप तामें, करे अति आश न भरोसा पल दम का,
पल में पलट जाय, इन्द्रधनुष जिम, संध्या का फुलाना, कुमलाना ज्यों कुसुम का।
कोमल शरीर सुख ऐश में लोभाय रह्यो निकसत दम ढेर होयगा भसम का,
जम डर आन के सयाने अमीरिख कहे, धार ले शरण चित्त, प्रभु के कदम का।" —शिक्षा बावनी।

प्रबुद्ध व्यक्ति को समझाना सरल है, मूढ़ या हठी को उपदेश देना कठिन. संतों ने बराबर इस बात का अनुभव किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मूर्ख को बहुत समझाने का प्रयत्न न करे. साथ ही उनका अनुभव यह भी है कि किसी व्यक्ति का स्वभाव बाहरी उपचारों से नहीं बदला जा सकता. "कहा होत पयपान कराये, विष नहिं तजत भुअंग." सूरदास ने इस प्रकार का छन्द लिखकर इसी धारणा को पुष्ट किया है. श्रीअमीऋषि का अनुभव, श्रुत और पठित ज्ञान भी इसी के अनुकूल बैठा, अतएव उन्होंने भी बड़े ही सरल शब्दों में इस बात का निर्देश कर दिया है:—

"सीख नहीं दीजे हठग्राही मूढ़ प्राणिन कूं, सार नहीं होवै जैसे पानी के मथाए से,
खर का चन्दन–लेप, मुकुट भूषण तन, होवत निकाम जैसे ओस बिन्दु बाए से।
मर्कट के गले हार सार शोभादार बहु, तोरी के देवत फेंक फंद जानी काये से,
अमीरिख कहे नहीं माने उपकार मन, होवत है बैरी बात हित की बताए से। —शि० बा०।

सूरदास जी का 'खर को कहा अरगजा लेपन, मरकट भूषण अंग' भी आ गया और 'पानी को मथाए' 'ओस बिन्दु बाएसे' के द्वारा मुहावरों का निर्वाह ही नहीं हुआ उनके द्वारा निस्सारता और असंभाव्यता का अविलम्ब अनुभव भी हो गया. उपदेश के साथ कवित्व का मेल प्रशंसनीय है, विशेषतः इसलिये भी कि ऐसा केवल एकाध स्थल पर ही नहीं हुआ है. अधिकांशतः हुआ है. संसार की असारता और नश्वरता का चित्र खींचते हुए निम्नलिखित दोनों छन्दों में मुनि जी ने इसी कौशल का परिचय दिया है, साथ ही प्रवाहमय शब्द-योजना का निर्वाह करके उक्ति को प्रभावपूर्ण बना दिया है :—

"ढील नहीं कीजे गुरुदेव के वचन सुणि, छीजे छिन-छिन आयु, अंजली के पाणी ज्यूं,
देह बलहीन होय, आई है जरा नजीक, नदी पूरवेग जैसे, बीते है जवानी ज्यूं।
कालदूत आय तेरे शीस पर छाय रह्यो, देह की ममत्व नहीं छोड़े अभिमानी ज्यूं,
अमीरिख कहे पाप बांध के सिधायो जब, जम हाथ नरक में पचे,नाज धानी ज्यूं। —शि० बा०

अथवा, "आयु है अथिर जैसे अंजली के नीर सम, दौलत चपलता ज्यों दामिनी झलक में।
यौवन पतंग रंग, काया है नीकाम अति, बार नहिं लागे ओस बिन्दु की ढलक में,
सुपन समान यह संपदा पिछान मन, सरिता को पूर ढल जाय ज्यों पलक में।
कहे अमीरिख जग सुख है असार धार, सुकृत सदीव यही सार है खलक में।" —सुबोध शतक

नारी-निन्दा संतों का प्रिय विषय रहा है. कभी-कभी बिहारी जैसे शृंगारप्रिय कवियों ने भी 'छवि-छायाग्राहिनी' तिय से बचे रहने की ओर संकेत कर दिया है, अन्यथा उनकी प्रवृत्ति 'हाँसी-फाँसी डालनेवाली' नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करने की ओर ही अधिक रही है. तथा, बिहारी का कथन है:—

डारे ठोढ़ी-गाड़, गहि नैन-बटोही, मारि,
चिलक-चौंध में रूप-ठग, हाँसी-फाँसी डारि।

अमीऋषिजी ने बिहारी के कथन का निर्वाह करते हुए भी उसकी योजना प्रशंसा के लिये नहीं, उसकी निन्दा और

निर्वेद के स्थायी उद्बोध के लिये की है:—

"जोबन की झलक चलक तन भूषण की दरसाय चकित करत जे विचारे है,
सुमति भूलाय के भूराय करि लेत वश, तन धन जस लूटी पराधीन पारे है ।
कहे अमीरिख निज समय निहारी सार, करत जुलम हिये करुणा न धारे है,
हांसी फांसी डारी नैन बानन ते मारी ऐसी, नारी है ठगोरी ठगी अधोगति डारे हैं ।—सु० श० ।

कबीर ने 'करमगति टारे नाहिं टरी' की पुकार लगाई तो अमीऋषिजी ने भाग्यवाद के आधार पर व्यापारों से विरति और ताला-कुंजी की अनावश्यकता पर जोर दिया है और स्याद्वाद की दुहाई दी है. सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि से बचाना, काम-क्रोधादि से अलिप्त रखना जहाँ संतों के उपदेश का विशेष उद्देश्य है, दर्शन-सिद्धान्तों का प्रतिपाद्य है, वहाँ परस्पर के भेद-भाव को नष्ट करके, जाति-पाँति और छुआछूत के द्वारा उत्पन्न वाह्याचार का निषेध भी उनका कार्य है या बना रहा है. कबीर ने इस भेद-भाव पर बड़ी कड़ी दृष्टि डाली है और इसे माननेवालों की आड़े हाथों खबर ली है, उनके नग्न रूप को प्रदर्शित करके उन्हें लज्जित किया है। श्रीअमीऋषिजी की दृष्टि से भी शुद्धतावादियों के विचित्राचार बच नहीं सके हैं और उन्होंने शोध-मीमांसा के रूप में प्रकीर्ण छन्दों की रचना कर ही दी है. किन्तु उनकी उक्ति में कबीर की-सी कटुता नहीं है. यथा—

"मेवा दाख मधु गुड खांड गोल लूण हींग, शर्बत मुरब्बा प्राय म्लेच्छ ही बनावे है,
डाक्टर की दवा खास बनत विलात माही, उत्तम कुलीन कोई पीवे अरु खावे है ।
चाय घृत खावे कीड़े युक्त फल चावे, औ तमाल पत्र पीते खाते सूग हू न आवे है,
अमीरिख पुद्गल के लक्षण न जाने शठ, शोध-शोध गावे कछु भेद नहीं पावे है ।"—प्रकीर्णक ।

किन्तु ऐसे स्थलों पर उनकी प्रतिभा केवल तथ्योक्ति तक ही सीमित रह गई है, काव्यचातुरी की झलक वहाँ नहीं मिलती. चमत्कार के लिये उन्होंने बिल्कुल ही न लिखा हो, सो नहीं. श्लेष अलंकार के प्रयोग के आधार पर बारहों महीनों का नाम लेकर उपदेश के लिये मार्ग निकाल लेने में अमीऋषिजी भी चमत्कारवादी कवियों से कम नहीं हैं— उदाहरणतः,

"चेत भवि धार ज्ञान संजम वैसाख होय, जेष्ठ पर आषाढ़ समान सुविचारिये,
श्रवण आगम सुणी धार भद्र पद रोक, मन अश्विन को काती कपट को टारिये ।
मृगशिर सिंह जैसे काल गही लेगो ताते, पोष पट्काय महामुनि पद धारिये,
फागुण में फाग सखी समता के साथ खेल, अमीरिख ऐसे बारे मास को उच्चारिये ।"

इसी प्रकार मुनिवर्य मनुष्यों के नामों के द्वारा आध्यात्मिक उपदेश देने में भी नहीं चूकते और काव्य में चमत्कार ले आते हैं. प्रकीर्णक ३७-४० इसके प्रमाण हैं. इसी चमत्कार-प्रदर्शनेच्छा अथवा व्यापक अधिकार-लालसा के कारण उन्होंने प्रकीर्णक तथा प्रश्नोत्तरमाला में सर्व लघुवर्णकाव्य की जैसी रचना की है वैसे ही प्रकीर्णकों में मत्तार्गेग नकार काव्य भी प्रस्तुत किया है. रूपक और अन्योक्तियाँ लिखने में इनका मन अच्छा रमता है और दृष्टान्त देने तथा कथात्मक शैली में बात कहने के आप अभ्यस्त हैं. 'मधुविन्दु दृष्टान्त' देते हुए आपने लिखा है—

"चउगति कानन में पंथी जीव काल गज, नरभव वट आयु शाखा लटकानो है,
कूप है निगोद अहि क्रोध मान दम्भ लोभ, अजगर दोय रागद्वेष भीम जानो है ।
मूसे दिन रैन परिवार मधुमक्खी सम, विद्याधर संत उपदेश फरमानो है,
अमीरिख कहे विषै सुख मधु बिंदु सम, सहे एते संकट में मूढ़ ललचानो है ।"

लोकप्रसिद्ध अथवा पंचतन्त्र में आई हुई कहानियों को लेकर उन्हें सवैया छन्द में काव्यात्मक रूप देकर मुनिजी ने जीवनोपदेश के लिये अच्छा मार्ग निकाल लिया है. इसी प्रकार प्रश्नोत्तरमाला के अंतर्गत अनेक प्रकार के गोलों की कल्पना करके जीव की गति का वर्णन भी किया है. कथा की कथा, उपदेश का उपदेश और काव्य का स्वाद अलग. ऐसे सभी छन्द पठनीय और मननीय हैं. समस्यापूर्त्तियाँ भी शब्द-योजना के कारण उत्पन्न श्रवण-सुन्दरता और प्रसाद-

मयता के साथ-साथ उपदेश और व्यंग के लिये स्मरणीय हैं. उदाहरणार्थ नीचे दो समस्यापूर्त्तियाँ दी जाती हैं, जिनमें पहली शब्द-योजना के लिये और दूसरी उपदेश और चमत्कार-रक्षण के लिये प्रमाण है—

१—विधवा सिर कीध सुहाग को टीको।

"कुल कान कटा करिके कुलटा अधरामृत बूंद चटा पर पीको,
ठारि अटा तन धारि छटा करि वंक कटाच्छ कटा जन ही को।
लाय वटा निज नेम घटा उलटा करि काज हटा सुमती को,
हे धिक वेश पियूष गुणी विधवा सिर कीध सुहाग को टीको।"

२—लोह के सुपिंजर में पारस पर्यो रह्यो।

"पाय नरदेह नेह कीनो ना धरम साथ, पातक के काज दिन रैन ही अर्यो रह्यो,
सुगुरु की केन हितकारी उर धारो नाहिं, अज्ञान मिथ्यात्व को विकार ही भर्यो रह्यो।
जीव पुद्गल को स्वरूप ना पिछान्यो कर्मी, मन को मनोरथ सो मन में धर्यो रह्यो,
अमीरिख वसन लपेट्यो निज गेह सदा, लोह के सुपिंजर में पारस पर्यो रह्यो।"

कवि-प्रतिभा का संचरण जिस प्रकार कल्पना, भावुकता और वैचित्र्य-संपादन के हेतु होता है और शब्द-योजना जिस प्रकार भावावेगों, क्रियाओं, अन्तरानुभूतियों के चित्र और मज़मून बांधने में प्रयुक्त की जाती है, श्रीअमीऋषिजी की कवि-प्रतिभा का संचरण और उनकी शब्द-योजना की प्रयुक्ति दोनों ही उनके उद्देश्य के कारण वैसी नहीं हैं. श्री अमीऋषिजी का उद्देश्य तो जीव और जगत् को उनके वास्तविक और सही रूप में उपस्थित करके मोहान्धकार में फँसे हुए मनुष्य का उससे उद्धार करना और उसके लिये उसे मार्ग दिखाना था. हास-विलास आदि की नाना गतियों में न वे स्वयं मग्न हुए और न किसी दूसरे को ही उस ओर ले गये. निर्वेद के द्वारा जिस शान्त-रस को उपस्थित करना उनका उद्देश्य था, उसी की सिद्धि की ओर उन्होंने ध्यान दिया और उसमें भी सफल हुए. स्वाभाविक रूप से उनकी वाणी सहज मार्ग से होकर ही चली और उन्होंने जिस निर्व्याज-भाव से अपने उद्गार प्रस्तुत किये उनमें प्रासादिकता और अनेक व्यवहृत भाषाओं के शब्दों का समावेश भी हो गया. राजस्थानी के विभिन्न भेदों में तो उन्होंने कविता की ही, अरबी-फ़ारसी और अंग्रेजी के प्रचलित शब्द भी उनकी पंक्तियों में स्वयमेव आकर बैठ-से गये. इन शब्दों के आ जाने से ब्रजभाषा के सौन्दर्य की कहीं कोई हानि नहीं हुई, बल्कि उल्टे अर्थ-सौकर्य और प्रवाह में सहायता ही मिली. विदेशी शब्दों में केवल दम, ऐश, क़दम, हुश्यार, मौज, क़ैद, स्वारी, तैयार या त्यार, जरूर, मौत, खुराक, फरमाई, खबर, दौलत, खलक, हाजर, हजूर, जुलम, गरीब, गरज, खफा, सफा, कानून, मजमून, जैसे शब्दों का ही प्रयोग आपने नहीं किया है, अंग्रेजी के 'नम्बर' का प्रयोग भी निःसंकोच कर दिया है. किन्तु इन शब्दों का मिश्रण सर्वत्र या बाहुल्य के साथ नहीं है. शब्दों को अपने उच्चारण के या मात्रा के अनुकूल बना लेने में तो आप कुशल हैं ही नये-नये शब्दों को गढ़ लेने में भी प्रवीण हैं. इंद्रधनुष का इन्दर धनुष्य, शोभा से शोभादार, निकम्मी या निष्काम से नीकाम, सदैव से सदीव, सजा से सजावार, जैसे शब्द भी उनके यहां मिलेंगे और मात्रा-लोप, आगम या परिवर्तन से होने वाले विकार भी उनके शब्दों में बहुलता से दिखाई देंगे. अति का अती, मित्र का मित, पीड़ा का पीड, अग्नि का अगन, शय्या या सेज का सिज्जा, चिता का चिल्या, भांति का भांत,ताको का ताकू, ऊपर का उपर, ममता का ममत जैसे प्रयोग उनकी रचना में अति साधारण से ही समझने चाहिये. देशज प्रयोग भी प्रायः दिखाई पड़ते हैं. किन्तु इन प्रयोगों से काव्यपाठ और काव्यार्थ-बोध में सहायता ही मिली है, बाधा उपस्थित नहीं हुई. वस्तुतः श्रीअमीऋषिजी की उक्तियाँ इतनी सहज और उपदेश इतने सीधे हैं कि उनकी भाषा भी उसी ढाल में ढल गई है. भाषा-परिष्कार और शाब्दिक-एकरूपता की ओर उनका ध्यान नहीं है, भाव या विचार की निश्छल अभिव्यक्ति ही उनका उद्देश्य है और इसी दृष्टि से उनकी भाषा का विचार होना भी चाहिये. श्रीअमीऋषिजी के कवि-रूप पर छाए हुए उनके संत रूप को ही उनका वास्तविक रूप मानना चाहिये और जहाँ-जहाँ इन दोनों रूपों का सम्मिलन दिखाई देता हो, वहाँ उनकी काव्य-प्रतिभा की भी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करनी चाहिये.

पारसमल प्रसून
एम० ए०, साहित्यरत्न

# दीर्घदृष्टि लोंकाशाह

## विषय-प्रवेश

विक्रम संवत् १४७२ के कार्तिक मास की अमल रात्रि !

ऊपर नील गगन में चन्द्रमा अपनी समग्र रश्मियों से जगमगा कर वसुधातल को उजला बना रहा था. कितना सुन्दर संयोग था कि सौभाग्यवश इसी रात्रि में धरती पर भी अरहटवाड़ा नगर में, ओसवाल गृहस्थ सेठ हेमाभाई के घर, माता गंगाबाई की कुक्षि से एक चन्दा का उदय हुआ. कवि की बात सही हुई कि—"एक ही रात में दो दो चांद खिले".

पर आश्चर्य कि इस सलौने चांद ने आगे जाकर प्रचण्ड प्रभाकर की तरह, धार्मिक जगत् में व्याप्त रूढ़िवादिता के अज्ञानपूरित भीषण अंधकार को क्षत-विक्षत कर, सत्य के प्रखर आलोक से आध्यात्मिक क्षेत्र को प्रकाशित कर प्रशस्त बनाया.

यह चन्द्रमा और कोई नहीं, मध्यकालीन जगत् का अग्रगण्य, महाप्रभावक, निडर क्रांतिकर वीर लोंकाशाह था. वही लोंकाशाह जिसकी क्रान्ति जैन जगत् के इतिहास में अद्वितीय एवं अद्भुत है, और वही लोंकाशाह जिसके पुण्य प्रयासों का ही सत् परिणाम है आज का स्थानकवासी समाज.

## तात्कालिक परिस्थितियाँ

कल्पसूत्र में उल्लेख है—भगवन् ! आपके जन्म-नक्षत्र पर भस्मकग्रह का संक्रमण है—उसका क्या फल होगा ? शक्रेन्द्र ने भगवान् से नम्र जिज्ञासा की.

भगवान् ने फरमाया—"हे इन्द्र ! इस भस्मकग्रह के कारण दो हजार वर्ष तक श्रमणसंघ की उत्तरोत्तर सेवा-भक्ति क्षीण होगी. धर्म की हानि होगी. जड़ता बढ़ेगी. सच्चे गुणों की पूजा घटेगी. भस्मकग्रह के हटने पर जैन धर्म में नव चेतना का जागरण होगा. उजड़े उपवन में एक नई बहार छा जायेगी.

वीतराग के वचन में कैसे सत्य नहीं ? वे तो सर्वज्ञ होते हैं. भगवान् महावीर के निर्वाण के कुछ समय पश्चात् पंचम आरा प्रारम्भ हो गया. काल-प्रभाव से धर्म का भी क्रमशः ह्रास होने लगा. कल के चमकते दमकते धर्म-सूर्य को आज ग्रहण लग गया था. दृढ़ वैराग्य व सर्वोच्च त्याग की मनहर भूमिका पर आधारित जैन धर्म आज आडम्बर व विलासिता के कीचड़ में फँस गया था. त्याग भोग से पराजित हो गया था, विराग के स्थान पर जैन-वीणा आज राग के मादक स्वर अलाप रही थी. श्रमणवर्ग में शैथिल्य का अखण्ड साम्राज्य था. नंगे पाँव, नंगे सिर, गांव गांव, नगर

नगर, डगर-डगर, पैदल घूमकर अहिंसा, संयम व त्याग की गंगा वहाने वाला, घर-घर धर्म का अलख जगाने वाला, निस्पृह, क्रियाशूर धर्मवीर, क्रियानिष्ठ जैन श्रमण-समूह, आज परिग्रह, वाह्य क्रियाकाण्ड और साम्प्रदायिकता आदि के चक्र में पड़ गया था. धर्म का अन्तस्तल विलुप्त था. मिथ्या आडम्बरों में ही धर्म साधना की इतिश्री समझी जाने लगी थी. चैत्यवाद का जोर था. चेतनपूजा के स्थान पर जड़पूजा का प्रावल्य था. जैन-धर्म का सार तप, त्याग व इन्द्रियनिग्रह तो अब बस कल की वस्तु बन गया था. इस प्रकार उस समय सामाजिक व धार्मिक दशा शोचनीय थी.

## क्रान्तिका शुभागमन

प्रकृति का अपरिवर्तनशील विधान है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है. परिस्थितियाँ स्वयं समयानुसार महापुरुष को उत्पन्न करने की शक्ति रखती हैं. धर्म का सच्चा स्वरूप सदा छिपा नहीं रह सकता. आडम्बर एक दिन प्रकट होते ही हैं. अंततः धर्म की मशाल जलती है. आखिर सत्य की पूजा होती है.

१५ वीं शताब्दी विश्व-इतिहास में धर्मक्रान्ति का काल है. यूरोप में भी जब पोपशाही खूब फैली, जनता गुमराह होने लगी, स्वर्ग के प्रमाण-पत्र तक बिकने लगे, पास-पोर्ट बनने लगे, तब जर्मनी में मार्टिन लूथर चमका. उस नर-नाहर ने बुलन्द गर्जना की. इतिहास साक्षी है कि एक दिन इस नन्हें दिये ने तूफान को पराभूत कर दिया और लूथर की प्रचण्ड चट्टान से टकराकर पोप का जंगी बेड़ा चूर-चूर हो गया.

इसी तरह भारतवर्ष में भी इसी काल में बिजली के महान् प्रकाश की तरह आशा-उमंग का नया आलोक ले अवतरित हुए थे—समर्थ क्रियोद्धारक सत्य-पथ—प्रदर्शक वीर लोंकाशाह.

इस प्रकार भगवान् महावीर की भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य हुई. लोंकाशाह ने वि० संवत् १५३१ में क्रान्ति का बिगुल फूंका. धर्म के मूल रहस्यों को प्रकाशित किया और सत्-धर्म का डंका आलम में बजवा दिया.

## प्रारम्भिक जीवन

लोंकाशाह का वाल्यकाल खेलकूद में बीता. वे बड़े होनहार थे. जीवन प्रारम्भ से ही वैराग्यवृत्ति प्रधान था, पर माता-पिता के अत्यन्त आग्रहवश वे विवाह-सूत्र में बद्ध हुए. उनका गृहस्थ-जीवन भी आदर्श था. एक सुपुत्र-रत्न की भी प्राप्ति हुई. बाद में वे कुछ कारणों से अहमदाबाद में आकर बस गये. जवाहिरात के व्यापार में खूब चमके. गुलाब की सुवास सीमित क्षेत्र में अवरुद्ध कैसे रह सकती है ? प्रसन्न होकर तत्कालीन बादशाह मुहम्मद शाह ने लोंकाशाह को कोषाध्यक्ष के पद पर सुशोभित किया.

सुख की कमनीय क्रोड में पलने वाले लोंकाशाह को क्या अभाव था ? उनका वर्चस्व जोरों पर था. पर उनका दीर्घ-दर्शी अन्तर्मन समाज व धर्म की विकृत अवस्था देखकर फूट-फूट कर रोता था. वे एक महान् आत्मा थे. उन्होंने समाज का भद्दा चित्र एकदम भांप लिया.

यह सब देख उनके अंतस्थल में क्रान्ति की लहरें हिलोरें मारने लगी, गहरा चिंतन किया. हृदय में से पुकार उठी—लोंकाशाह ! समाज और धर्म में कुछ जागृति ला. अभी समय है, फिर तो बिगड़ा बनना मुश्किल हो जायेगा.

## सत्य की खोज में

उनकी दूरदर्शिता ने पाँखें फैलाई. पहले विशेष ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा जागी. लोंकाशाह सत्यान्वेषक बने. गवेषणा का क्रम चला. वे स्वयं एक अच्छे लेखक थे. उन्होंने एक लेखक-मण्डल बनाया. शास्त्रों का लेखन प्रारम्भ हुआ. पर उस समय शास्त्र श्रावकों को उपलब्ध कहाँ ? शिथिल श्रमणवर्ग ने अपनी सुरक्षा के लिए श्रावकों को उलटी पट्टी पढ़ा रखी थी कि उनका शास्त्रों से क्या संबंध ? उन्हें तो शास्त्र पढ़ने ही नहीं चाहिये. कितनी धांधली थी ! और अंधा बना भोला श्रावकसमुदाय "बाबावाक्यम् प्रमाणम्" के जाल में आबद्ध था. अतः लोंकाशाह को शास्त्र कठिनता से उपलब्ध हो रहे थे.

पर सज्जन की चाह सदा पूरी होती है. जो ढूंढता है उसे मिलता है. संयोग कि एक बार ज्ञान मुनि लोंकाशाह के घर गोचरी को गये. उन्होंने उनके मोती जैसे अक्षरों को देखकर सूत्रों की नकल करने का काम सौंपा. ज्ञानजी को क्या पता था कि यह आज का सुलेखक कल का महान् क्रान्तिकारी बन धर्म का सत्य स्वरूप दृढ़ता से प्रतिपादित करेगा.

## ज्ञान की प्राप्ति

शास्त्रों की नकल चलती गई. दो प्रतियाँ बनती थीं. एक मुनिजी को देते. दूसरी अपने पास रखते. स्वाध्याय, चिंतन, मनन, पठन-पाठन से लोंकाशाह का ज्ञान बढ़ता गया. ज्ञान के प्रकाश में रूढ़िवाद या आडम्बर कैसे टिक सकता है ? ज्यों-ज्यों शास्त्र-ज्ञान बढ़ता गया त्यों-त्यों विलासिता व शिथिलता की पोल खुलती गई. और दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं ..............." ने तो उनका पूरा पथ-प्रदर्शन कर दिया. उनके नेत्र खुल गये. शास्त्रों के विशुद्ध ज्ञान से, समाज में व्याप्त अंध-श्रद्धा से उन्हें ग्लानि हो गई. शुद्ध जैन आगम पर श्रद्धा मजबूत हुई. अब तो उन्हें समाज में दिन-प्रतिदिन बढ़ती शिथिलता स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगी. उन्होंने देखा तो भली भांति ज्ञात हुआ कि—मंदिरों, मूर्तियों, मठों की प्रतिष्ठा का उल्लेख आगमों में कहीं नहीं है.

अब दीर्घदृष्टि लौंकाशाह भला कैसे शांत रहते ? सद्ज्ञान का प्रसार उनका लक्ष्य बन गया. प्रथम तो वे पास आनेवालों को ही ज्ञानप्रसाद बाँटते. पर शीघ्र ही उन्होंने समझ लिया कि आज का जमाना विज्ञापन का है. तब वे सार्वजनिक स्थानों पर अपने सत्य विचार निडरता से प्रकट करने लगे.

## उपदेशधारा

अपने सद्ज्ञान का सार विलक्षण मेधावी, दीर्घदृष्टा वीर लौंकाशाह ने इस प्रकार घोषित किया—

'शास्त्रों में प्रमाणित अहिंसा, त्याग, संयम से समन्वित सद्धर्म, आज शिथिल सम्प्रदायपोषक हाथों में पड़कर कलुषित बन गया है. मोक्षसाधना के लिये आडम्बरभरी हिंसायुक्त जड़पूजा की कोई आवश्यकता नहीं है. मानसिक पूजा से ही आत्मकल्याण शक्य है. वीतराग धर्मकी आराधना के लिये त्याग तपश्चर्या की आवश्यकता है. मूर्तिपूजा आगमोक्त नहीं है. अहिंसा में ही धर्म है. धर्म के नाम पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसा भी अक्षम्य है. सांसारिक लालसाओं की पूर्ति हेतु देवार्चन मिथ्यात्व है. रूढि एवं अंधपरम्परा को तोड़ना ही जैनत्व है. जैन जन्म या जाति से नहीं प्रत्युत गुण व आचरण से होता है. जैन-धर्म का दीक्षा-प्रसंग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है. केशमुंडन तो वैराग्य का लक्षण है. कषायविमोचन ही सच्चा वैराग्य है. जैन श्रमण के तो क्षमा मार्दव आर्जव आदि १० निकट अभिन्न सहयोगी होते हैं. वह तो संसार से अत्यल्प ग्रहण कर आत्मकल्याण करता हुआ विश्वकल्याण में सतत निरत रहता है. वह किसी को भारस्वरूप नहीं होता. साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका ये जैन-संघ के चार सुदृढ़ स्तंभ हैं. यदि इनमें से कोई एक भी डगमगा जाय तो सारी भव्य इमारत हिल सकती है. साधुवर्ग एवं श्रावकवर्ग दोनों की धर्म को सुदृढ़ बनाने की समान जिम्मेदारी है. अहिंसामय जैनधर्म की हानि से विश्वशांति को खतरा पहुँच सकता है और यह विश्व दुःख के गहरे सागर में गोते खा सकता है. अतः जैन-धर्म का सच्चा स्वरूप विश्व का सम्यक् पथप्रदर्शन करता रहे तथा जन-मानस में प्रेम और शांति की भावना जागृत करता रहे, यह सर्वथा वांछनीय है.

लोंकाशाह को कथन की मनहर शैली, सरलता, सज्जनता, विनम्रता समाज की हितभावना एवं दूरगामी दृष्टि प्राप्त थी. उनके उपदेशों का आशातीत प्रभाव होने लगा. लोग खिंचे से आने लगे. कुछ श्रद्धा से आते तो बहुत कुछ कौतूहल से या परीक्षा लेने या तमाशबीन बन दर्शक की तरह आते. पर उनके पास आकर सत्य संदेश के समर्थक बन जाते.

एक नई घटना थी. पुराण पंथी वर्ग के खेमे में खलबली मच गई. उनके लिये तो लोंकाशाह के ये प्रयास सर्वघाती थे. सत्तालोलुप वर्ग इस प्रभावशाली दूरगामी धर्मक्रांति को देख घबरा गया. लोगों को बहकाया जाने लगा कि—लोंकाशाह नाम के एक 'लहिये' ने अहमदाबाद में शासन के विरोध में विद्रोह खड़ा कर दिया है. वह धर्मभ्रष्ट है, उत्सूत्र प्ररूपणा कर रहा है, ढोंगी है, छलिया है.'

## लखमसी का सहयोग

तत्कालीन एक सुसंपन्न व प्रख्यात श्रावक अनहिलपुर पाटण निवासी श्रीलखमसी भी लोंकाशाह को परखने आये. बात इन्द्रभूति व महावीर की-सी हुई. लखमसी ने अपने प्रश्न रखे. लोंकाशाह ने शास्त्रसम्मत युक्तियों से सुस्पष्ट समझाया. लखमसी पूर्ण प्रभावित हुए. फिर खूब विचारविमर्श, गहरा शंका-समाधान और अंततः लोंकाशाह के घनिष्ठ सहयोगी ! सह धर्मप्रचारक !

## क्रांति की व्यापकता

अब तो शक्ति एकदम द्विगुणित. फिर तो अरहटवाड़ा, पाटण, सूरत आदि चार संघों के संघपति भी लोंकाशाह की विचारधारा के कायल बने. शनैः शनैः लोंकाशाह की धर्मक्रांति की लपटें फैलती गईं. सत्य का बल प्रबल होता है. कितने आश्चर्य का विषय है कि उस युग में बिना किसी रेल, तार, प्रेस, प्लेटफार्म, प्रचार प्रसार यंत्रों के मात्र सत्य, दृढ़ता व दूरदर्शिता से लोंकाशाह के ये सत्य सिद्धान्त भारत के कौने-कौने में फैल गये.

## क्रांति की अंतिम आहुति

लोंकाशाह ने आगमानुसार साधुमार्ग का पुनरुद्योत किया. वे स्वयं तो दीक्षित नहीं हुए क्योंकि वृद्ध हो चुके थे. उनके साथियों ने दीक्षित होने की प्रार्थना भी की थी. पर लोंकाशाह बहुत दूर की सोचने वाले थे. वे जानते थे कि आचरण की सर्वांगसुंदरता ही अभी अपेक्षित है. उनके साथियों ने स्वयं दीक्षित होने की जब अत्यधिक भावना बार-बार व्यक्त की तो उन्हें सच्चे संयम का विकट स्वरूप भली भांति समझाया. फिर भी उनकी दृढ़ता व प्रबल इच्छा देखी तो लोंकाशाह ने जिन धर्म के उद्योत के लिये उनकी भावना का स्वागत किया और उनके उपदेश से लखमसी जगमाल आदि ४५ व्यक्ति एक साथ भागवती दीक्षा से दीक्षित बने. लोंकाशाह की क्रांति की यह चरम परिणति थी. इन ४५ व्यक्तियों में से कई बड़े-बड़े संघपति व लक्ष्मीपति थे. इनके संयम, तप, तेज का खूब प्रभाव पड़ा.

## महत्त्व एवं मूल्यांकन

इस प्रकार लोंकाशाह ने धर्म के नाम पर प्रचलित पाखंड का पर्दाफाश किया. उन्होंने क्रांति का नव्य भव्य संदेश दिया. सत्यमार्ग की प्ररूपणा हुई. धर्म का पुनरुद्धार हुआ.

वह धार्मिक क्रांति का सुप्रभात कितना आह्लादकारी था जब कि शताब्दियों की अंधकारमय रात्रि में सुपुप्त जनमानस ने चेतना की प्रथम अंगड़ाई लेकर क्रांति-ज्योति के सर्वप्रथम अभिनव दर्शन किये. यह नूतन मंगल-प्रभात था. सत्यधर्म का सूर्य चमक रहा था. उसके नव्य दिव्य प्रकाश में रूढ़िवादिता-रात्रि का आडम्बर-अंधकार एवं शैथिल्य के उलूक न जाने कहाँ विलुप्त हो गये ! जन-मानस का हृदय-कमल प्रफुल्लित था.

धर्मक्रांति की वीणा बजाने वाले, सत्य का शंख फूंकने वाले, महान्, निडर-दूरदर्शी, वीर क्रांतिकारी लोंकाशाह ! तुम्हें हमारा भावपूर्ण शत-शत वन्दन अभिनन्दन है !

लोंकाशाह की यह क्रांति विलक्षण है. ज्ञान-दर्शन-चारित्रप्रधान 'स्थानकवासी समाज' इसी वीर पुरुष की देन है. उस विकट अंधकार के अटपटे जड़युग में गुण-पूजा की सबल स्थापना कितनी उत्साहपूर्ण व आशा-प्रद घटना है. हम कल्पना तक नहीं कर सकते. अगर लोंकाशाह ने यह धार्मिक क्रांति न की होती तो आज क्या होता ?

## हमारा कर्तव्य

भारत के लूथर लोंकाशाह की क्रांति का मूल्यांकन सरल नहीं है. पर दुर्भाग्य से हमारे समाज में इतिहास के लेखन व प्रचार एवं प्रसार की भावना न होने से एक ऐसा जबर्दस्त क्रांतिकर अतीत के अंधकार में आज भी विलुप्त है. नहीं तो क्या इस सुधारक का महत्त्व मध्यकालीन किसी भी धर्म-सुधारक से कम है? इस महान् क्रांतिप्रणेता का आद्योपांत विशद

विवरण प्रस्तुत कर हम अब पुरानी भूलों का परिमार्जन कर सकते हैं. अन्यथा आनेवाला कल हमें कदापि क्षमा नहीं करेगा.

## धर्मवेदी पर बलिदान

सुधारक का पथ कंटकाकीर्ण होता है. उन्हें पूजा मिलती है तो प्रहार भी. मूर्ख जनता अपने वीर सुधारक का एकदम स्वागत कहाँ करती है ? ईसा को शूली पर चढ़ना पड़ता है तो सुकरात को विषपान करना होता है. पैगम्बर मुहम्मद साहब को मक्का से मदीना प्रयाण करना पड़ता है. यही बात इस सुधारक लोंकाशाह के साथ हुई. चैत्यवासी एवं स्वार्थी लोग लोंकाशाह की विमल कीर्ति व उनका दिन प्रतिदिन बढ़ता प्रभाव सहन नहीं कर सके. एक दिन विषयुक्त आहार से इस वीर ने अपने प्राणों तक को समाज धर्म की बलिवेदी पर हँसते-हँसते न्यौछावर कर दिया. क्रांति की मशाल की कितनी दीप्ति ? लोंकाशाह धर्म के लिये ही जिये व धर्म के लिये ही मरे. वे क्रांति की लपट बनकर आये और प्रकाशपुंज फैला गये.

## अंतिम आकांक्षा

नश्वर शरीर से न सही क्रांति के अविनश्वर स्वर से वे आज भी अमर हैं. उनकी क्रांति के स्फुलिंग आज भी वायुमण्डल में इतस्ततः व्याप्त हैं. उनकी सिंहगर्जना से आज भी दिशाएँ गूंज रही हैं.

लोंकाशाह के क्रान्तिमय जीवन के अंगारे आज भी मंद नहीं हुए हैं. उनकी ज्योति अखंड है. आवश्यकता है कि उस क्रांति की ज्वाला में से एक शोला फूटकर बाहर आये व चमके तथा पुनः सशक्त नई क्रांति करे ताकि आज का अज्ञान, भय, अविश्वास, द्वेष, फूट से जर्जरित विशृंखल जैन-समाज पुनः संयुक्त व सुदृढ़ बनकर इस आकुल विश्व में नवमंगल-संचारित कर सके.

श्रीदलसुखभाई मालवणिया,
निदेशक, द० ला० भारतीय संस्कृति-विद्यामंदिर अहमदाबाद

# लोंकाशाह मत की दो पोथियाँ

[भारतवर्ष के सांस्कृतिक उत्क्रान्तिपूर्ण इतिहास में १५-१६वीं शताब्दी का विशिष्ट महत्त्व रहा है. कबीर, नानक, और तारणतरण स्वामी आदि महान् पुरुषों ने निर्गुण विचारधारा का प्रबलता से समर्थन किया है एवं सगुणोपासक समाज धर्म और पूजा के नाम पर फैले हुए अर्थहीन आडम्बरों पर प्रहार कर जनमानस को उद्बुद्ध किया है.

श्रीमान् लोंकाशाह भी इसी युग की उपलब्धि हैं. इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके मन में जैनधर्म की शुद्ध प्रभावना की बलवती भावना घर किये हुई थी और वे यह चाहते थे कि श्रमणसंस्कृति में आचारमूलक जो शैथिल्य प्रविष्ट हो गया है उसका उन्मूलन हो.

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है कि श्रीमान् लोंकाशाह ने आदर्शमूलक सम्प्रदाय प्रारम्भ तो किया पर उनकी मौलिक विचारधारा क्या थी ? वे संस्कार के रूप में समाज को क्या देना चाहते थे और उनका उच्चादर्श किस प्रकार और किस सीमा तक प्रतिस्फुटित हुआ ? एवं उनके परवर्ती विभिन्न आनुगामिकों ने उनके नाम पर किन सिद्धांतों का समर्थन करते हुए परिवर्तन परिवर्धन व परिशोधन किया ? इत्यादि तथ्य तिमिराच्छन्न हैं.

प्रस्तुत निबंध इसी अनुसंधान में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है. इसके पश्चात् भी अन्वेषण का क्षेत्र प्रशस्त होता रहे एवं अन्य किन्हीं विद्वानों को एतद्विषयक प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध हो तो वे अवश्य ही प्रकाश में लाएं ताकि यह अन्धकारपूर्ण युग आलोकित हो सके.

इस सम्बन्ध में निम्न सामग्री भी द्रष्टव्य है—

(१) सिद्धांत चौपई—मुनि लावण्यसमयकृत, रचनाकाल १५४३.
(२) सिद्धांतसारोद्धार-कमलसंयम उपाध्यायप्रणीत. रचना-काल १५४४.
(३) त्रयोदशवचन-पार्श्वचन्द्र सूरि ग्रथित, रचना सं० १६ वीं सदी के करीब.
(४) सिद्धांतबोल संग्रह-लेखन काल : १५७१
(५) कुमतिविध्वंसन चौपई-हीरकलश गुंफित. रचनाकाल १६१७.
(६) लोक-मतनिराकरण चौपई-सुमतिकीर्ति कृत.
(७) प्रवचन-परीक्षा-धर्मसागरग्रथित रचनाकाल १६७५.
(८) लुंपकमत-तमोदिनकर चौपई. गुणविनयकृत. रचना : १६७५.
(९) लोंकामत-स्वाध्याय-गजसागर. रचना : १७ वीं सदी.
(१०) रूपचन्द मांडणि—टीकम कृत. रचना : १६९९.
(११) दया धर्म चौपई—भानुचन्द्र कृत.

इन के अतिरिक्त तात्कालिक जैन ग्रन्थों की पट्टावलियों में लोंकाशाह और तदनुयायियों के सम्बन्ध में भी कई उल्लेख उपलब्ध हैं जो समसामयिक स्थिति के अध्ययन में सहायक हो सकते हैं. पुरातन ज्ञानागारों में भी विद्वानों के स्मरणपत्र व स्फुट चर्चात्मक ग्रन्थों में इस विषय की चर्चा पाई जाती है. —संपादक ]

श्री लोंकाशाह स्थानकवासी सम्प्रदाय के आदि संस्थापक माने जाते हैं. किन्तु उनके विषय में तथा उनके द्वारा रचित साहित्य के विषय में हमारा ज्ञान अत्यल्प है. उनके विरोधियों ने उनके विषय में जो कुछ लिखा है, उसी को आधार मान कर अभी तक लोंकाशाह का इतिहास लिखा गया है. अब तक यह खोज नहीं हुई कि उन्होंने स्वयं या उनके अनुयायियों ने क्या कुछ लिखा है. सही जानकारी के लिए और उनके प्रामाणिक इतिहास के लिए यह आवश्यक है कि उनका लिखा या उनका उपदिष्ट कुछ साहित्य खोजा जाय. इस ओर मेरी अभी-अभी प्रवृत्ति हुई है. मैंने कुछ हस्तलिखित प्रतियों का निरीक्षण किया तो पता लगा कि श्री लोंकाशाह के विरोधियों ने जो लिखा है उसमें यह विवेक नहीं किया गया कि स्वयं लोंकाशाह ने क्या कहा और उसके बाद उनके अनुयायियों ने (जो कालक्रम से होते आये हैं) क्या कहा ? अतएव विपक्षियों के इस साहित्य से यथार्थ बात सामने नहीं आती. किन्तु समग्र रूप से स्थानकवासी सम्प्रदाय की क्या-क्या बातें थीं, यही केवल जाना जाता है.

किस क्रम से यह सम्प्रदाय आगे बढ़ा और लोंकाशाह ने कितनी बातें कहीं और कितनी बातें बाद के आचार्यों ने उसमें जोड़ी, यह जानने का ठीक साधन अभी तक मुद्रित रूप में हमारे सामने नहीं आया. मैंने हस्तलिखित प्रतियों में खोजना प्रारम्भ किया कि स्वयं लोंकाशाह को क्या बातें मान्य थीं ? सद्भाग्य से मेरे सामने ऐसी दो हस्तलिखित प्रतियां आई हैं जिनके विषय में यह कहा जा सकता है कि उनका सीधा संबन्ध लोंकाशाह से है. इन दो प्रतियों का परिचय यहां देना है और इनके फलितार्थ पर कुछ विवेचन करना है.

इन दो प्रतियों की नकलें लोंकाशाह के विरोधियों ने की हैं, क्योंकि एक में लुंका के स्थान पर संस्कृत में 'लुंपक' लिखा हुआ है और दूसरी में प्रति की समाप्ति के अनन्तर लिखा है—इसमें जो लिखा है वह श्रद्धा के लिए नहीं, अपितु लोंकाशाह क्या मानते हैं, उसे दिखाने के मन्तव्य से लिखा है. तथापि दोनों प्रतियों में लिखित मूल मन्तव्य तो लोंका के ही हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं. क्योंकि एक में स्पष्टरूपेण लिखा है कि यहाँ लोंकाशाह के द्वारा जिन ५८ बोल-बातों की श्रद्धा की गई है तथा जो उन्होंने किया है वही लिखा जाता है. एक में ५८ तो दूसरी में ३३ बोल हैं.

इतनी सामान्य-चर्चा के बाद अब दोनों प्रतियों के आधार पर जो मत फलित होता है उसकी चर्चा की जाय.

यह तो निश्चित है कि लोंकाशाह ने मूर्ति का निर्माण, मूर्ति की पूजा, मूर्ति की प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा आदि मूर्तिपूजा के साथ संबन्ध रखने वाली सभी बातों में हिंसा देखी है. दया के नाम पर या अहिंसा के नाम पर उनका विरोध किया है. उन्होंने यह बताने का प्रयत्न किया है कि शास्त्र में मूर्तिपूजा को कर्तव्य या आवश्यक कर्तव्य में स्थान नहीं है. द्रौपदी जैसी किसी व्यक्ति द्वारा मूर्तिपूजा करने का उल्लेख यदि शास्त्र में है भी तो इसका तात्पर्य इतना ही है कि उसने मूर्ति की पूजा सांसारिक प्रयोजनों से की है, मोक्ष के लिए नहीं. मूर्तिपूजा हिंसा का काम है अतएव वह धर्म-कार्य नहीं है, इस बात की सिद्धि करने के लिए श्री लोंकाशाह ने जहां कहीं से, जो भी आगम-वाक्य का सहारा मिला, उस सभी का उपयोग करके एक ही बात कह दी है कि दया में धर्म है और हिंसा से संसार. अतएव मूर्ति-पूजा अकरणीय है.

उनके इस आग्रह का खंडन कई विद्वानों ने योग्य उक्तियों द्वारा करने का प्रयत्न किया है. और सम्भवत: उन उक्तियों का ही फल है कि आज स्थानकवासियों में मूर्तिपूजा का भले ही प्रचार न हुआ हो किन्तु लोंका गच्छ में तो मूर्ति-पूजा का प्रचलन हुआ ही है. तत्कालीन धार्मिक इतिहास का पर्यालोचन किया जाय तो विदित होगा कि देश की धार्मिक आवश्यकताओं में से ही मूर्तिपूजा जैन धर्म में आई है और वह स्थिर रहने के लिए ही आई है. उनका सर्वथा उन्मूलन नहीं हो सकता है. मूर्तिपूजा में कई प्रकार के आडम्बर आ गए हैं और उनका निराकरण जरूरी है किन्तु आडम्बरों के साथ मूर्तिपूजा को भी उठा देना संभव नहीं है.

लेकिन लोंकाशाह को तो एक बात का विरोध करना था. अतएव अति आग्रह किये बिना उनका काम चल नहीं सकता था. समाधान-वृत्ति को अपनाने पर या समन्वय-वृत्ति को अपनाने पर तो धर्म में भी मूर्ति को स्वीकार करना पड़ता और ऐसी स्थिति में मूर्तिपूजा का आत्यन्तिक विरोध सम्भव नहीं रह जाता, ऐसे आत्यन्तिक विरोध में से ही सम्प्र-

दायों का जन्म होता है. समाधान या समन्वय में से सम्प्रदाय उत्पन्न नहीं हो सकता. इस प्रकार जैनधर्म में मूर्तिपूजा विरोधी लोंकाशाह सम्प्रदाय शुरू हुआ. किन्तु आज के अमूर्तिपूजक जैन लोग अपने को लोंका सम्प्रदाय के नाम से नहीं परन्तु स्थानकवासी या तेरापंथी के नाम से कहते हैं. ऐसा क्यों हुआ, यह भी जानना जरूरी है. लोंकाशाह की मूर्ति-पूजा विरोधी मान्यता को कायम रखते हुए भी इन सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने कुछ नई बातें जोड़ी हैं. उन नई बातों को जोड़ने के कारण ये सम्प्रदाय नये-नये नामों से पहिचाने जाते हैं. स्वयं लोंकाशाह ने किसी भी साधु के पास दीक्षा नहीं ली. वे भिक्षाजीवी थे. किन्तु महाव्रतों को उन्होंने स्वीकार नहीं किया था. इसलिए वे न श्रावक थे और न साधु ही. सं० १५३४ (मतान्तर से १५३०, १५३१) में भाणाजी जब उनके अनुयायी हुये तो भाणाजी ने महाव्रतों का स्वीकार किया था. और फिर उन्हीं से वेशधरों की परम्परा शुरू हुई जो लोंका के नाम से प्रसिद्ध हुई. आगे चल कर इसी लोंका-सम्प्रदाय में से, गुरु के साथ मनमुटाव हो जाने के कारण भाणाजी ऋषि (ये प्रथमोक्त भाणाजी से भिन्न थे.) सं० १६८७ में ढूंढ में जाकर रहे, अतएव उनका सम्प्रदाय 'ढूंढिया' के नाम से प्रसिद्ध हुआ. इस सम्प्रदाय की भी कई शाखा-प्रशाखाएं हुई किन्तु आज ये सभी स्थानकवासी कहलाते हैं. परन्तु इनमें भी कुछ उप-सम्प्रदाय ऐसे हैं जो आज स्थानकवासी होते हुए भी स्थानक में ठहरने से इन्कार करते हैं. ढूंढिया सम्प्रदाय में से ही सं० १८१८ में भीखण जी अलग हो गये. उन्होंने तेरापंथ की स्थापना की. इन सभी का इस विषय में एक मत है कि मूर्तिपूजा न की जाय. किन्तु वेश और उपकरणों में बहुत थोड़ा ही भेद है. कुछ शास्त्रीय बातों में भी भेद है. लोंकाशाह के विषय में यह आक्षेप किया गया है कि वे तत्कालीन सुल्तान के साथ मिल गये और कई मन्दिरों का ध्वंस किया. इस आक्षेप में सत्य का इतना ही अंश है कि सुलतान ने मूर्तिपूजा का विरोध मूर्ति का ध्वंस करके किया जबकि लोंकाशाह ने शास्त्रीय प्रमाणों से. संभव है कि बढ़ते हुये मुस्लिम प्रभाव से भी लोंकाशाह ने कुछ प्रेरणा ली हो और जैनागमों के आधार पर विरोध किया हो.

आज के स्थानकवासी तथा तेरापंथी सम्प्रदायों में ३२ मूल मात्र आगम प्रमाण रूप में स्वीकृत हैं. किन्तु लोंकाशाह को ४५ मान्य थे. यह बात विरोधियों के द्वारा लिखे गये ग्रंथों से जानी जा सकती है. प्रस्तुत ५८ बोल के और ३३ बोल के आधार पर तो यह भी कहा जा सकता है कि लोंकाशाह को ४५ आगमों की निर्युक्ति, चूर्णि, टीका आदि भी उतने अंश में मान्य थे जिनका आगमों के साथ विरोध नहीं है.

लोंकाशाह रजोहरण, दंड, मुखवस्त्रिका तथा कम्बल नहीं रखते थे, जो तत्कालीन यतियों और साधुओं के वंश में स्थान पा चुके थे. पात्र रखते थे किन्तु अन्य यतियों की तरह उसमें लेप नहीं देते थे. किन्तु यह भी स्पष्ट है कि मुख-वस्त्रिका जैसी आज थोड़े से परिमाण-भेद के साथ स्थानकवासी और तेरापंथी सदैव बांधते हैं, लोंकाशाह या उनके अनुयायी भाणाजी नहीं बांधते थे. यह भी स्पष्ट है कि मुखवस्त्रिका में धागा डालकर कान में बांधने की प्रथा लोंकाशाह के कई वर्षों के बाद जब ढूंढिया सम्प्रदाय चला तब शुरू हुई है. इसके पहले मूर्तिपूजकों में भी कुछ लोग बांधते अवश्य थे, परन्तु केवल व्याख्यान के समय ही. बांधने के प्रकार में भी यह इतिहास बताया गया है कि सं० १००८ में मुखवस्त्रिका के छोरों को कान के छेद में डालकर व्याख्यान के अवसर पर मुंह और नाक ढँका जाता था. इसके बाद लोंकाशाह की परम्परा में धागा सीकर के उस धागे से कान में बांध कर व्याख्यान में मुंह और नाक ढँकना शुरू हुआ. इसके बाद ढूंढिया सम्प्रदाय में आज की तरह मुँहपत्ती बांधना शुरू हुआ. उसी के नाप में थोड़ा परिवर्तन करके तेरापंथी भी बांधते हैं. लोंकाशाह के मन्तव्यों की चर्चा करने वाली दोनों हस्तलिखित प्रतियों में मुहपत्ती की कोई चर्चा नहीं है. इससे भी पता चलता है कि उस समय यह कोई विवाद का प्रश्न नहीं था.

विरोधियों ने लोंकाशाह को मूर्ख आदि अनेक विशेषणों से विभूषित किया है. किन्तु इन दोनों हस्तलिखित प्रतियों के आधार से इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जैन आगमों और उनकी टीकाओं का ज्ञान उन्हें था. व्याख्या उनकी अपनी थी पर उन्हें शास्त्रों का ज्ञान ही नहीं था, ऐसा नहीं कहा जा सकता.

मूर्तिपूजा के विरोध के विषय में उनका अति आग्रह था, यह सत्य है. फिर भी उनकी वाणी में विवेक की मात्रा पद-

पद पर दीखती है. अधिकांश बोलों के अन्त में वे यही कहते या लिखते हैं कि बुद्धिमान् लोग इस विषय में सोचें. या विवेकी जन इस पर विचार करें. इससे यह सुस्पष्ट है कि उनके लेखन में कटुता बढ़ाने का भाव नहीं था.

लोंकाशाह का यह विरोध सफल हुआ है और धर्म में जो मूर्तिविरोधी सम्प्रदाय खड़ा हुआ है, इसके मूल में लोंकाशाह ही हैं, ऐसा निःसंकोच कहा जा सकता है.

जैनधर्म के अनुयायियों में लोंकाशाह के कारण कुछ लोग मूर्तिपूजक नहीं रहे. किन्तु जो मूर्तिपूजक रहे उनमें भी आडम्बरों का और साधुओं के आचारों में आई हुई शिथिलता का विरोध हुआ और जैनधर्म अध्यात्मप्रधान ही बना रहे, इसलिए स्वयं मूर्तिपूजक साधुओं ने भी प्रयत्न किये. जैनधर्म को मौलिक आध्यात्मिकता की ओर ले जाने का अनेक महानुभावों ने प्रयत्न किया है. उनमें लोंकाशाह का भी एक विशिष्ट स्थान रहेगा, इसमें दो मत नहीं हो सकते.

इतना परिचय हो जाने के बाद अब उक्त दो प्रतियों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है. ये दोनों प्रतियां अहमदाबाद के श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर के अन्तर्गत मुनिराज श्री पुण्यविजय जी के संग्रह की हैं.

(१) नं० ४१२१ लूंकानी हुंडी. ३३ बोलसंग्रह, पत्र २. इसके आरम्भ में लिखा है कि जो लोग यह कहते हैं कि हमें निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, वृत्ति, प्रकरण आदि प्रमाण रूप से मान्य हैं, उन्हें ये बातें भी मान्य करनी होंगी. इस प्रकार प्रस्तावना करके निशीथचूर्णि में से अहिंसा आदि महाव्रतों के जो अपवाद दिये हैं उनमें से कुछ का उल्लेख किया है. जैसे कि गच्छ की रक्षा के लिए व्याघ्रादि पशु की हत्या की जाय तब भी शुद्ध अर्थात् उसे अप्रायश्चित्ती कहा है, इत्यादि. ये अपवाद निशीथचूर्णि के उद्देशों के क्रम से चुने हैं और बोल १ से लेकर २५ तक इसी में से हैं. २५ वें बोल के अन्त में लिखा है—"जिस निशीथचूर्णि में ऐसी बातें हैं वह सम्पूर्ण रूप से कैसे प्रमाण मानी जाय ? अर्थात् उनमें जो अविरोधी बातें हैं वे तो प्रमाण हैं किन्तु कोई यह कहे कि जैसी लिखी हैं वैसी ही प्रमाण मानी जाएँ, तब लोंकाशाह ने संदेह उठाया है.

छब्बीसवाँ बोल उत्तराध्ययन (अ० ६) की टीका में से है, जहां यह उल्लेख है कि मुनि, प्रसंग आने पर चक्रवर्ती के सम्पूर्ण सैन्य को नष्ट कर सकता है. अन्त में लिखा है कि इस विषय में बुद्धिमान् पुरुष सोचें. इसी प्रकार के अपवाद की चर्चा २७ वें बोल से लेकर ३५ वें बोल तक व्यवहारवृत्ति, प्रज्ञापनावृत्ति और आवश्यकनिर्युक्ति में से की गई है और प्रश्न किया है कि इस प्रकारकी बातें जिस आवश्यकनिर्युक्ति में हों, वह चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु स्वामी की रचना कैसे मानी जा सकती है ? और ऐसी ऐसी बातें जिन ग्रन्थों में हों उन्हें सम्पूर्ण रूप से प्रमाण कैसे माना जाय ? अतएव बुद्धिमान पुरुष इस विषय में सोचें और मूल सिद्धान्तों के ऊपर श्रद्धा करें. जिससे इस लोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त करेंगे.

इस प्रति के अन्त में जो लिखा है उससे स्पष्ट है कि यह प्रति लोंकाशाह के मत का यथार्थ निर्देश करती है. साथ ही कापी करने वाले ने अपनी ओर से वाचक को उपदेश दिया है कि प्रतिमा मानने वाले के लिए तो सर्वयुक्तिओं से पंचांगी प्रमाण है और यहां जो यह लिखा है वह केवल जानने के लिए ही लिखा है. यथा—"ए मर्य लूंकामतनी युक्ति छइ. प्रतिमा मानइ तेहने तो पंचांगी प्रमाणइ सर्व युक्ति प्रमाण छइ.' जाणवानइ हेतुइं लिख्युं छइ.' सार यह है कि प्रस्तुत ३३ बोल का विषय यह दिखलाना है कि मूल आगम ही प्रमाण है और निर्युक्ति आदि सर्वांशतः प्रमाण नहीं हैं. यह कहना इसलिए आवश्यक था कि विपक्षी लोग लोंका के समक्ष आगमों की टीकाओं में से प्रमाण उपस्थित करते होंगे. अतएव उन टीकाग्रन्थों के प्रामाण का परीक्षण करना लोंका के लिए आवश्यक हो गया था. ३३ बोल में यही उन्होंने किया है.

(२) नं. २९८९. लूंकाना सद्दहिया अठावन बोल विवरण पत्र १५. इस प्रति के प्रारम्भ में हरताल लगाकर गुरु का नाम निकाल दिया है और उसके बाद—'गुरुभ्यो नमः. लूंकाना सद्दहिया अनइ कर्या बोल ५८ लिखिइ छइ'—है. इस प्रकार प्रारम्भ में ही लूंका की श्रद्धा जिन ५८ बोलों में थी और जो उन्होंने दूसरों के समक्ष रखे थे, उनकी

सूची दे दी है. इसके वाद एक एक का विवरण लिखा गया है. समाप्ति में प्रथम प्रतीत होता है कि इस ग्रंथ का संस्कृत नाम दिया है जिस पर हरताल लगा दी गई है. उसका कारण यह है कि यह प्रति विरोधी ने लिखी थी. और लुंका के नाम का संस्कृत रूप लुंपक का निर्देश उसमें किया गया है. प्रतीत होता है कि जव यह किसी लुंका के अनुयायी के पास आई तव उसने लुंपक नाम के ऊपर हरताल लगा दी. साथ ही संस्कृत नाम के ऊपर भी हरताल लगा दी. फिर भी जो पढ़ा जाता है वह इस प्रकार है—

**इति श्री लुंपकेन कृताष्टपंचाश....त...विचारश्च. लुंकाना सद्दहिया अनइ लुंकाना करिया अठावन बोल अनइ तेहनुं विचार लिदिउ छइ. शुभं भवतु.**

यह प्रति पत्र १५ की प्रथम अर्ध वाजू में समाप्त होती है किन्तु उसके वाद ५४ वोल की एक सूची लिखी गई है और प्रारम्भ में प्रश्न किया गया है कि इन ५४ वातों का मूल आगम में कहां है ? इस सूची में तत्काल के आचार और विचार की ऐसी वातों का संग्रह किया गया है जो मूल आगमों में नहीं मिलती हैं, किन्तु उस काल में जैन समाज में प्रचलित हो गई थीं और जिनके विषय में लोंका और उनके अनुयायी प्रश्न उठाते होंगे. इस प्रति को मुद्रित करने का विचार है, अतएव विशेष विवरण मुद्रण के समय दिया जायगा.

कुंवर लालचन्द्र नाहटा 'तरुण'

# स्थानकवासी परम्परा की विशेषताएँ

शरीर विजातीय पदार्थों के प्रवेश से विकारग्रस्त हो जाता है. यही नियम भाषा, जाति, पंथ, संप्रदाय, संस्कृति एवं धर्म पर भी चरितार्थ होता है. वातावरण में व्याप्त विजातीय तत्त्वों की प्रचुरता एवं अनंतकालीन विभावपरिणति से उद्भूत मानव-मन की प्रमादप्रियता से जब धर्म में विजातीय तत्त्व स्थान पा जाते हैं तो धर्म में पाखंड, आडंबर एवं गुरुडमवाद का बोलबाला हो जाता है. धर्म का वास्तविक उद्देश्य विलुप्त हो जाता है. निःसत्त्व क्रिया-कांडों की भरमार हो जाती है, जिनपर आधारित विधि-निषेधों से मानव का मन कुंठाग्रस्त हो जाता है. धर्म के इस शव से उत्पन्न दुर्गन्ध से समस्त वातावरण विषम और विषमय हो जाता है. ऐसे समय में या तो उसमें क्रांति होती है अथवा वह विनष्ट हो जाता है. जैन-धर्म भी इसका अपवाद नहीं है. भगवान् महावीर ने जिन रीति-रिवाजों या क्रियाकाण्डों का विरोध किया था उनके कुछ काल पश्चात् वे ही चोर दर्वाजों से इसमें प्रवेश करने लगे.

जब धीरे-धीरे जैन-धर्म में विकार अत्यधिक बढ़ गये, तो उसमें क्रांति के लिये पूरी-पूरी पीठिका तैयार हो गयी. ऐसे ही समय में अहमदाबाद के श्रीमान् लोंकाशाह नामक महान् प्रतिभासंपन्न, तेजस्वी, विद्वान् श्रावक को संयोगवशात् आगम-अवलोकन का अवसर उपलब्ध हुआ. उनके सुन्दर अक्षरों पर मोहित होकर ज्ञानजी नामक यति ने उन्हें प्रतिलिपि करने के हेतु शास्त्र दिये. सुज्ञ श्रावकजी ने उन शास्त्रों की दो-दो प्रतिलिपियाँ की. एक-एक प्रति यतिजी को दी तथा एक-एक अपने पास सुरक्षित रखी. तीव्र मेधावी और परम जिज्ञासु तो वे थे ही, यतियों एवं पंडितों के विशेष संपर्क से आगमों में उनकी गति भी थी; फिर मिल गया उन्हें प्रतिलिपि करते समय आगमों के गहन अध्ययन, अनुशीलन और अनुसंधान का अवसर ! फिर क्या था, उनकी प्रतिभा निखर उठी. उनके ज्ञानचक्षु खुल गये. उन्होंने दृढ़ संकल्प किया कि जैन-धर्म में प्रविष्ट आडंबर और पाखंड-प्रपंच हटाकर शुद्ध जैन-धर्म का प्रचार करूँगा. अपने भगीरथ-प्रयत्नों से उन्होंने अपने जीवनकाल में ही बहुसंख्यक व्यक्तियों को अपना अनुयायी बनाया. वर्तमान युग में भगवान् महावीर द्वारा संस्थापित और श्रीमान् लोंकाशाह द्वारा प्रचारित जैन धर्म की मौलिक धारा स्थानकवासी परम्परा के नाम से प्रख्यात है. यह परम्परा जैन-धर्म की प्राचीन गरिमा से संयुक्त तो है ही, आधुनिकता से भी समन्वित है. इसकी तीन मौलिक विशेषताएँ हैं :—

(१) मूर्तिपूजा की अनुपादेयता (२) मुखवस्त्रिका की अनिवार्यता (३) आगमोक्त आचार का परिपालन.

**(१) मूर्तिपूजा की अनुपादेयता**—जैसा कि भारत के माननीय प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलालजी नेहरू ने अपनी विश्व-विख्यात पुस्तक 'हिन्दुस्तान की कहानी' में सिद्ध किया है, मूर्तिपूजा का मूल स्रोत यूनान है. भारत में बुद्ध के बचे हुए स्मृतिचिह्नों के आदर मान-सम्मान ने आगे जाकर उनकी और बुद्ध की मूर्तियों की पूजा को जन्म दिया. इसी का अनुकरण अन्य संप्रदायों ने किया. फारसी में मूर्ति के लिये प्रयुक्त शब्द 'बुत' बुद्ध का अपभ्रंश ही है, यह इसका प्रमाण है. जैन-धर्म में महावीर के बहुत काल पश्चात् मूर्ति-पूजा का प्रवेश हुआ. प्रारम्भ में केवल स्मारक आदि बने. फिर धीरे-

धीरे उसमें मूर्तियां आईं, और उनका पूजन प्रारम्भ हुआ और अब तो साधक की समस्त साधना ही इस पूजापाठ के आसपास केन्द्रित हो गई. किन्तु प्राचीन और आगमिक साहित्य का अवलोकन करते हैं तो यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मूल जैनधर्म में मूर्तिपूजा को कोई स्थान नहीं था. यदि मूर्तिपूजा मूलत: आगमसम्मत होती तो आगमों में अवश्य इसका उल्लेख होता कि मूर्ति किस धातु की होनी चाहिये, किस आकार-प्रकार की होनी चाहिये, किस आसन और किस मुद्रा में होनी चाहिये ? किन्तु पूरे के पूरे आगमसाहित्य में किसी भी स्थान पर उक्त विषयों का वर्णन प्राप्त नहीं होता. इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आगमकारों को मूर्तिपूजा अभीष्ट नहीं थी, न जैनधर्म में उस समय मूर्तिपूजा प्रचलित ही हुई थी.

उपासकदशांग सूत्र में भगवान् महावीर के प्रमुख १० श्रावकों के जीवनचरित का तथा जीवन-चर्या का विस्तृत वर्णन है. उनके उपवास करने, पोपधशाला में जाने, पौपध करने के उल्लेख भी हैं, किन्तु किसी भी श्रावक द्वारा, किसी भी समय में मंदिर जाने या मूर्ति पूजने का कोई उल्लेख नहीं है. किसी श्रावक द्वारा मंदिर आदि के निर्माण कराये जाने का भी वर्णन नहीं है.

अनेक आगमों में हमें भगवत्-वंदनार्थ जानेवाले श्रावकों, राजाओं और देवताओं का विशद वर्णन मिलता है, किन्तु तीर्थंकरों की मूर्तिवंदनार्थ जानेवालों का नहीं.

भगवती और पुष्फिया सूत्र में सोमिल को उत्तर देते हुए महावीर फरमाते हैं—हमारे मत में ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि से आत्मविकास करना ही यात्रा है. 'ज्ञाताधर्मकथा' सूत्र में थावच्चा अनगार ने भी शुक परिव्राजक को ऐसा ही उत्तर दिया. इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जैनधर्म में मंदिर-मूर्ति अथवा पर्वत, नदी आदि पर जाने को कभी भी पुण्यकार्य या धर्मकार्य (तीर्थयात्रा) नहीं माना गया. ज्ञान, दर्शन, चारित्र द्वारा आत्मविकास को ही जैनधर्म तीर्थयात्रा मानता है,

हम देखते हैं कि भगवान् ने भिन्न-भिन्न आगमों में, भिन्न-भिन्न नयविवक्षाओं से धर्मसाधना के भेद-प्रभेदों के विस्तृत वर्णन किये किन्तु किसी भी नय से साधना के किसी भी स्तर पर मूर्तिपूजा की गणना नहीं की. न ही उन्होंने कहीं मूर्तिपूजा का आदेश उपदेश रूप से विधिविधान ही किया.[१] भगवती आदि सूत्रों में भगवान् के एवं गौतम आदि के विभिन्न विषयों पर सहस्रों प्रश्नोत्तर हुए. उनमें साधारण विषयों से लेकर गहन गम्भीर दार्शनिक गुत्थियों पर भी प्रश्नोत्तर हुए किन्तु मूर्तिपूजा के विषय में एक भी प्रश्नोत्तर नहीं हुआ. इससे सिद्ध होता है कि उस समय जैनधर्म में मूर्तिपूजा को कोई स्थान नहीं था.

समवायांग सूत्र एवं दशाश्रुतस्कन्ध में ३३ प्रकार की आशातनाएँ टालना आवश्यक बताया है, किन्तु मन्दिर मूर्ति की कोई आशातना होना या टालना नहीं बताया. इसी प्रकार छेदसूत्रों में अनेकों बातों के प्रायश्चित्त बताये किन्तु मूर्तिपूजा नहीं करने से अथवा मूर्ति नहीं बनवाने से अथवा मूर्तिपूजा का खण्डन करने से कोई प्रायश्चित्त आता हो ऐसा नहीं बताया.

---

१. मूर्तिपूजक समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पंडित बेचरदासजी 'जैन साहित्य में विकार' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं :—
'मूर्तिवाद चैत्यवाद के बाद का याने उसे चैत्यवाद जितना प्राचीन मानने के लिये हमारे पास एक भी ऐसा मजबूत प्रमाण नहीं है जो शास्त्रीय सूत्रविधिनिष्पन्न या ऐतिहासिक हो. यों तो हम और हमारे कुलाचार्य भी मूर्तिवाद को अनादि का ठहराने और महावीर-भाषित बतलाने का बिगुल बजाने के समान बातें किया करते हैं, परन्तु जब उन बातों को सिद्ध करने के लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण या अंगसूत्र का विधिवाक्य मांगा जाता है, तब हम बगलें झांकने लगते हैं और अपनी प्रवाहवाही परम्परा की ढाल को आगे कर अपने बचाव के लिये बुजुर्गों को सामने रखते हैं. मैंने बहुत कोशिश की तथापि परंपरा और 'बाबावाक्यं प्रमाणं' के सिवा मूर्तिवाद को स्थापित करने के संबंध में मुझे एक भी प्रमाण या विधान नहीं मिला—मैं यह बात हिम्मतपूर्वक कह सकता हूँ कि मैंने मुनियों या श्रावकों के लिये देवदर्शन या देवपूजन का विधान किसी भी अंगसूत्र में नहीं देखा. इतना ही नहीं बल्कि भगवती आदि सूत्रों में कई एक श्रावकों की कथायें आती हैं. उनमें उनकी चर्या का भी उल्लेख है. परन्तु उसमें एक भी शब्द ऐसा मालूम नहीं होता जिसके आधार से हम अपनी उपस्थित की हुई देवपूजन और तदाश्रित देवद्रव्य की मान्यता को घड़ी भर के लिये भी टिका सकें.

बौद्ध ग्रंथों में जैन सिद्धान्तों के उल्लेख एवं आलोचना दोनों ही मिलते हैं किन्तु कहीं भी जैनधर्म में मूर्तिपूजा की चर्चा नहीं है. इससे भी उस समय में जैनधर्म में मूर्तिपूजा का न होना सिद्ध होता है.

भगवान् महावीर के विहार के एवं उनके ठहरने के स्थानों के विशद वर्णन आगमों में स्थान-स्थान पर प्राप्त होते हैं किन्तु एक भी स्थान पर उनके जैन मंदिर में ठहरने का वर्णन नहीं है. यदि उस समय जैन मंदिर थे तो भगवान् उनमें कभी भी क्यों नहीं ठहरे या गये ?

आगमों में कई नगरों का, और यहां तक कि यक्षायतनों और वागवगीचों तक का भी वर्णन अनेकों स्थलों पर विस्तार से उपलब्ध होता है किन्तु किसी भी नगर में तीर्थंकर-मंदिर का होना नहीं वताया है.

प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम आश्रवद्वार में देवालय, मंदिर, मूर्ति, स्तूप, चैत्य आदि वनवाने को हिंसाकारी कृत्य और उसका अनिष्ट फल वताया. इससे स्पष्ट है कि जैनधर्म में मूर्तिपूजा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता.

जैनधर्म में मूर्तिपूजा घुसने के वाद भी अनेक विद्वानों ने उसकी कड़ी आलोचना की है जिससे मूर्तिपूजा का पक्ष अत्यन्त निर्वल हो जाता है.

(२) **मुखवस्त्रिका की अनिवार्यता**—स्थानकवासी जैन मुनि सर्वदा और श्रावक धर्मक्रिया करते समय मुख पर मुखवस्त्रिका वाँधे रहते हैं, क्योंकि—

(१) भगवती सूत्र में स्वयं भगवान् महावीर ने फरमाया है कि 'जीवहिंसा करके वोली गयी भाषा सावद्य (पापमय) होती है.[1]

(२) महानिशीथ नामक सूत्र में भी कहा है—कान में डाली गयी मुंहपत्ती के विना या सर्वथा मुंहपत्ती के विना इरियावही क्रिया करने पर साधु को मिच्छा मि दुक्कडं का या डेढ़ पहरसी का दण्ड आता है.[2]

(३) मुख से निकलने वाले उष्ण श्वास से वायुकायिक जीवों की तो विराधना होती ही है किन्तु त्रस जीवों के मुख में प्रवेश की भी संभावना सदा रहती है[3] तथा अचानक आई हुई खांसी, छींक आदि से थूक आदि शास्त्रों या कपड़ों पर गिरने की भी संभावना रहती है. मुखवस्त्रिका इन सव कठिनाइयों का समीचीन प्रतीकार है.

(४) आगमों तथा अन्य साहित्य में स्थान-स्थान पर मुखवस्त्रिका मुँह पर बांधने के पुष्कल प्रमाण प्राप्त होते हैं, यथा—

(१) ज्ञाताधर्मकथा के १४ वें अध्ययन में लिखा है कि जब तेतली प्रधान को उसकी स्त्री अप्रिय हो गयी तो वह दानादि देकर समय विताने लगी. उस समय तेतलीपुर में आया हुआ सुव्रताजी का संघाडा नगर में भिक्षार्थ घूमता हुआ तेतली प्रधान के घर आया. तव तेतली प्रधान की अप्रिय पत्नी पोट्टिला ने उन साध्वीजी को अशनादि वहराया और पूछने लगी—आप अनेकों नगरों में भ्रमण करते हैं. कहीं ऐसी जड़ी वूटी या मंत्रादि उपाय देखा हो तो वताइये जिसके प्रयोग से मैं पुनः स्वपति की प्रिया वन जाऊँ. ऐसा सुनते ही उन महासतीजी ने अपने दोनों कानों में दोनों हाथों की अंगुलियां

---

१. गोयमा ! जाहेणं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अणिज्जूहित्ताणं भासं भासति ताहेणं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासइ जाहेणं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं णिज्जूहित्ताणं भासं भासइ ताहे सक्के देविंदे देवराया असावज्जं भासं भासइ—श्री भगवतीसूत्रे षोडश शतकस्य द्वितीयोद्देशे.

२. कन्नेट्ठियाए वा मुहणंतगेण वा विणा
इरियं पडिक्कमे मिच्छुक्कडं पुरिमड्ढं ॥ महानिशीथ सूत्र अ० ७

३. तथा संपातिमा सत्त्वाः, सूक्ष्म च व्यापिनोऽपरे ।
तेषां रक्षानिमित्तंच विज्ञेया मुखवस्त्रिका ।
—योगशास्त्र का हिन्दी भाषांतर पृ० २६० ।
अर्थात् संपातिम और सूक्ष्म जीवों की रक्षा के लिये मुखवस्त्रिका समझनी चाहिए ।

लगाकर कहा—अहो देवानुप्रिये ! हमें इस प्रकार के शब्द कानों से सुनना भी नहीं कल्पता है. फिर ऐसा मार्ग दिखाना तो रहा ही कहाँ ?

इससे यह सिद्ध होता है कि साध्वीजी के मुँह पर मुखवस्त्रिका बँधी हुई थी, क्योंकि उनके दोनों हाथ तो दोनों कानों को बंद करने के लिये उन पर लगे हुए थे और खुले मुँह वे बोल नहीं सकती थी. ऐसी स्थिति में बोलने से उनके मुख पर मुखवस्त्रिका बंधी होनी चाहिए.

(२) निरयावलिया सूत्र में लिखा है कि जैनधर्म से निकले सोमिल ब्राह्मण ने काष्ठ की मुंहपत्ती मुँह पर बांधी, किन्तु संन्यास धर्म में कहीं भी काष्ठ-पट्टी बांधने का विधान नहीं है. इससे सिद्ध होता है उस समय जैनधर्म में मुंहपत्ती मुंह पर बांधी जाती थी जिसकी नकल सोमिल ने काष्ठपट्टी बांधकर की.

(३) भगवतीसूत्र शतक ८ उद्देशा ३३ में जमालि के दीक्षाधिकार में उल्लेख है "सुद्धाए अट्ठपडलाए पोत्तिए मुंह बंधइ" गृहस्थ नाई से संबंधित इस पाठ से भी यही सिद्ध होता है कि उस समय आठ पड़त वाली मुखवस्त्रिका मुख पर बांधी जाती थी. यह भी सिद्ध होता है कि व्यावहारिक कार्य में भी आठ पड़त की मुंहपत्ती चाहिये तो वायुकायिक जीवों की विराधना से बचने के लिए तो इसका होना अनिवार्य ही है.

आगमसाहित्य का गहन अध्ययन करने पर और भी अनेकों प्रमाण मुखवस्त्रिका बांधने के मिल सकते हैं.

(४) आगमेतर साहित्य में—

(क) शिवपुराण ज्ञानसंहिता में जैन मुनि के लक्षण बताते हुए कहते हैं—

हस्ते पात्रं दधानाश्च, तुंडे वस्त्रस्य धारकाः,
मलिनान्येव वासांसि, धारयन्त्यल्पभाषिणः ।

हाथ में काष्ठ पात्र वाले, मुंह पर धारण की हुई मुखवस्त्रिका वाले, मलीन वस्त्र वाले और अल्पभाषी को ही जैनमुनि कहा है तथा आगे चलकर यह भी बताया है कि ऐसे (मुखवस्त्रिका मुंह पर बांधने वाले) जैन मुनि ऋषभावतार के समय भी थे. उस समय भी आज की ही भांति सब यही समझते थे कि मुखवस्त्रिका बाँधने की परम्परा भगवान् ऋषभदेव के समय से ही चली आरही है.

(ख) श्रीमालपुराण अध्याय ७-३३ में भी मुंह पर मुंहपत्ती धारण करने वाले को ही जैनमुनि कहा है.

(ग) इनके अतिरिक्त आचारदिनकर, भुवनभानुकेवली चरित्र, हरिबल मच्छी नो रास, अवतारचरित्र, सम्यक्त्वमूल बारा व्रत नी टीप, हितशिक्षा नो रास, ओघनिर्युक्ति, जैनकथारत्नकोष, समुत्थान सूत्र, मुंहपत्तिचर्चासार आदि अनेकानेक ग्रंथ ऐसे हैं, जिनके लेखक स्थानकवासी नहीं होते हुए भी उनमें मुखवस्त्रिका बांधने के प्रमाण प्राप्त होते हैं.

(५) मुखवस्त्रिका स्थानकवासी जैन साधु का परिचय-चिह्न है. संसार के सभी प्रकार के साधुओं के अलग-अलग चिह्न हैं. कोई लम्बा कोई आड़ा तिलक, कोई त्रिशूलधारी तो कोई मयूरपंखधारी, कोई भगवां कपड़े वाले तो कोई लाल कपड़े वाले होते हैं. मुखवस्त्रिका देखते ही स्थानकवासी जैन मुनि की पहचान हो सकती है.

इस प्रकार हमने देखा कि स्थानकवासी परम्परा की मुखवस्त्रिका धारण करने की विशेषता आगमसम्मत, युक्तियुक्त एवं वैज्ञानिक है. अब स्थानकवासी परम्परा की अहिंसा-साधना या आचार-परिपालन की ओर दृष्टिपात करलें—

(२) आचार-पालन-स्थानकवासी परम्पराका आचार-पालन-अहिंसा-साधना सारे विश्व में अनुपम, वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक है. साधु त्रिकरण त्रियोग से हिंसा के सर्वथा त्यागी होते हैं, स्थावर काय से लेकर पंचेन्द्रिय तक किसी भी प्राणी की न तो स्वयं हिंसा करते हैं, न करवाते हैं, न ही करने वालों को अच्छा ही समझते हैं और न ही वे ऐसा उपदेश देते हैं जिससे किसी भी हिंसामय (सावद्य) कार्य को प्रोत्साहन मिले. इसी अहिंसा-साधना के लिए वे आगमोक्त मुखवस्त्रिका धारण

करते हैं और रजोहरण रखते हैं. आगमों में साधुओं के लिए जिन आचारों का निर्देश किया गया है, स्थानकवासी जैन मुनि प्रायः सभी का पालन करते हैं. विहार के समय उनके सामान को ढोने के लिए कोई आदमी साथ नहीं होता, अतः स्वभावतः वे कम से कम उपकरण रखते हैं. साथ में कोई भक्त नहीं चलते जो उनके लिए आहार-पानी की व्यवस्था करें. अतएव उन्हें मार्ग की कठिनाइयों का भारी सामना करना पड़ता है.

दो-दो मास तक सर्वथा निराहार रहने की कठोर-तम तपस्या इसी समाज के साधु और श्रावक करते हैं. समग्र विश्व में धार्मिक तपस्याओं के इतने वड़े-वड़े रिकार्ड खोजने पर भी नहीं मिल सकते. पर्वों, त्योहारों और विशेष अवसरों पर इस परम्परा में नृत्य गाजे वाजे आदि का आयोजन नहीं किया जाता, न ही किसी प्रकार का आडम्बर किया जाता है. तप-त्याग, प्रत्याख्यान, स्वाध्याय आदि सात्विक कार्य ही किये जाते हैं.

इस समाज के सभी साधु साध्वी पाद-विहारी, त्यागी, तपस्वी, क्रोध, मान, माया एवं परिग्रह के सर्वथा त्यागी, प्रबल विरागी, अल्प एवं मृदु भाषी, संसार को आत्म-कल्याण का पथ-प्रदर्शन करने वाले, धर्म के प्रेरणास्रोत, सत्य के पुजारी, ज्ञान के देवता होते हैं. इनके उपदेश निवृत्ति-साधना से अनुप्राणित और वैराग्यरंग से अनुरंजित तो होते ही हैं, किन्तु संसार में सुख, शान्ति और समृद्धि की वृद्धि में सहायक एवं पारस्पग्कि विद्वेप, कटुता, घृणा, प्रतिस्पर्द्धा एवं ईर्ष्या-द्वेप की समाप्ति के लिए अमोघ अस्त्र रूप भी होते हैं. इनके प्रवचन-श्रवण से मन की दुष्प्रवृत्तियाँ शांत हो जाती हैं. विकारों, भ्रान्त-धारणाओं, शंकाओं, कुंठाओं और अन्तर्द्वन्द्वों के ज्वार समाप्त होकर मन और आत्मा शान्त एवं निर्मल वन जाती है.

स्थानकवासी समाज की साहित्यिक मान्यता कुसुमादपि कोमल और वज्रादपि कठोर है. इसे संसार का सभी सत्साहित्य मान्य है, चाहे वह किसी भी देश के किसी भी धर्म के किसी भी विद्वान् द्वारा लिखा गया हो. इसके साथ ही वज्र के समान एक कठोर शर्त भी जुड़ी हुई है कि वह आत्म-कल्याण और आत्म-विकास में वाधक न हो. अर्थात् आगम-विरुद्ध न हो. इस कोमलता और दृढ़ता के फलस्वरूप ही यह अपने (जैन धर्म के) मौलिक स्वरूप को सुरक्षित रख सका है. भीषणतम झंझावातों, भयंकर तूफानों, घोरतम भूकम्पों के दुस्सह दुर्निवार झटकों के वीच भी आज यह समाज अडोल अकम्प खड़ा है. वातावरण में पनपने वाली विकृतियों से वहुत कुछ अछूता रहा है. सनातन और चिरन्तन सत्य का प्रतीक, आधुनिकतम विज्ञान की अभिनव उपलब्धियों से परिपुष्ट, आत्म-विकास का सवलतम मार्ग-प्रदर्शक यह अत्यन्त प्रगतिशील सम्प्रदाय है.

मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज

# स्थानकवासी जैन समाज रा साचा सपूत

स्थानकवासी जैन समाज रा साचा सपूत, म्हांरा प्यारा दयाधर्म रा लाड़ला भाइयो! श्रमण भगवान् श्रीमहावीर स्वामीरो शासण२१०००वर्षों तांइ अखंड चालसी,इसो भगवती सूत्रमें दाखलो आयो है. जिणसूं पूरो-पूरो भरोसो है कि ओ दयामय धर्म सींघरी तरह सुं चालतो हीज रेवेला. पिण सोले सुपणां रा वरतारा सूं कणेही मंद ने कणे ही तेज वेतो वरतेला. जिणरा प्रत्यक्ष दाखला गया कालरा पढ़वा में तथा सुणवा में आया है और अवार भी ओहिज ढंग देख रया हां. समय-समय पर धर्म में सिथिलता आइ जरे चमत्कारी पुरुष पैदा हुआ ने नीचो पड़ता धर्म ने झेलने उंचो चढायो. एडा पुरुष त्यागी वैरागी क्रियापात्र एक हीज नहीं, घणा हुआ है. जिणोंरा थोडासाक नमूनारूप दाखला आप लोगां रे सन्मुख राखूं हूं सो ध्यान सूं पढजो.

(१) धर्मदासजी म०—जातरा भावसार, जीवणदास भाइरा वेटा ने हीरावाई रा अंगजात हा. वे संवत् १७ सौ में पोतियावंध पंथ ने छोड़ने साचो साधुमार्ग अपणायो. आपरे चेला ९९ हुआ. २२ संप्रदायरी थापना किवी. दयाधर्म दिपायो, घणा चमत्कारी-उग्रविहारी-घोर तपस्वी ने क्रियोद्धारक हा. ग्वालियर महाराजा आपरा पूर्ण भक्त वणिया ने खूब सेवा कीधी. कारण एक वार आप ग्वालियर पधारिया ने मसाणां में रूंखरे नीचे स्वाध्याय कर रया हा. उण समें सिकार में गयोडा सिंधिया दरवार ने सर्प काट खायो ने वेहोस होय गया. सारा सरदार दिलगीर होय ने पाछा सहर में जावतां मसाणां रे पास में आया ने श्रीधर्मदासजी म० ने देखिया. जरे सरदारां पूछियो के महाराज, अठे कांइ कर रया हो? स्वामीजी फुरमायो कि आतमा रो साधन कर रया हां. सरदारां कयो के महाराज! थांरो पगफेरो चोखो नहीं हुवो कारण के थारे आवासूं म्हारा राजाजी ने सर्प काट खायो ने उपाय लागे कोयनी. दरवार लासरे ज्युं होय गया है. सो या तो आप इणां ने सावल करो नहीं तर थांने घणी तस्दी देवांला.

स्वामीजी फुरमायो के भाई, थांरी थे जाणो, म्हां तो इसा पडपंच में पड़ां कोयनी. पिण एक वात है के जो राजाजी आज सूं सिकार जावता वंध हो जावे तो सर्प रो जहर तो कांइ वड़ी वात है—म्होटा जहर पिण अमृत सरीखा ही जावे है. सरदारां मंजूर कर दरवार ने चरणां में सुवाणिया, ने आपरा पगां हेटली धूड लेईने माथे सरदारां नाखी. धर्मरा प्रतापसूं केवो या स्वामीजी रा त्यागवलसूं केवो, राजाजी रो जहर उतर गयो ने उठने वैठा होय गया. सारां ने घणो अचंभों आयो. राजाजी सुण ने खुशी मानी ने स्वामीजी ने गुरुपणे धारण किया तथा मदिरा-मांसरा त्याग कर पाछा शहर में आया. स्वामीजी ने पिण शहर में लाया, घणो धर्मरो उद्योत कियो. आ वात संवत् १७६४ रा असाढ़सुदी ७ री है. श्रीधर्मदासजी म० सा० रो नाम घणो वधियो. सैंकड़ां साधु-साधवी हुया, ने संवत् १७७२ में धार नगर में २२ संप्रदाय स्थापित करी. उणहीज वर्ष एक आपरो शिष्य लूणकरणजी धार में संथारो कियो, उण समय आचार्य श्रीजी म० उज्जैण विराजता हा. चेलारा भाव संथारा में ढीला पड़ गया. समजायां समजे नहीं, जरे समाचार उज्जैण पूज्यजी म० सा० ने भेजिया. सुणतां पाण उठा सुं विहार करायो. सिताव पणासुं चालता एक गाम में अहार कियो. अहार में

तेलरा भुजिया अरोगिया ने फेर विहार कर सांजरे पेली आप धार पधारिया. पाणी पी सकिया नहीं ने पडिकमणो ठाय दियो. बाद में पच्चखाण कर चेलाने समजायो, स्वर्गांरा सुख बताया, पिण डिग्योडो मजबूत नहीं हुवो. जरे उण ने उठाय ने उणरी ठौर आप संथारो करने पोढ गया. गर्मीरा जोग सूं बड़ी खेद उत्पन्न हुइ पिण वीर माता रा वीर पुरुष धर्म रे उपर आप बलिदान दे दियो-तीन दिनरो संथारो आयो ने चैत सुदी ११ ने स्वर्ग पधार गया. उणों रो वो पाट आज-त्तांइ धार में मौजूद केवे है. धन्य इसा पुरुषां ने.

(२) श्रीलवजी ऋषिजी म०—सूरतरा वासी, फूलां बाइ रा अंगजात, वोहरा वीर जी रा दोहिता हा. लोंका गच्छरा यति बजरंगजी रे पास ज्ञान पढतां वैराग्य उत्पन्न होय गयो ने यति दीक्षा लिवी; पिण उन्हारो सिथिलाचार सहन नहीं हुवो, जरे आप आज्ञा ले ने स्वतंत्र विहार कर दियो. ने सोमजी सेठ ने वैराग भाव जाग्रत कर संजम दिरायो ने तीसरा भाणजी भाई भी संजम लियो. तीनां स्वयं भगवानरी साक्षी सूं दयाधर्म धारण कर सुद्ध दीक्षा अंगीकार करी. आप लोंकाशाह रे बाद पेला क्रिया सुद्ध करने वाला महा उत्तम पुरुष ज्ञानरा धणी ने प्रभावशाली क्षमारा अवतार हा. घणो प्रचार कर सैंकड़ां भवि जीवां ने समकित्तरो स्वरूप ओलखायो. आपरा घणा लाडला सोमजी स्वामी ने धर्मरा द्वेषी मार नांखिया पिण आप घणी शांति रखाइ. ने धर्म ने उंचो लाया.

(३) श्रीधर्मसिंहजी म०—उत्तर गुजरातरा सरवानिया गामरा रेवासी, रेवा भाइ रा पुत्र ने रंभा बाइ रा अंगजात हा. आप अष्टावधानी हा, ने दो पगां सूं ने दो हाथां सूं अर्थात् चार कलमां सूं एक साथ लिखता हा. आपरी बुद्धि घणी निर्मल ही. ३२सूत्रां रा टव्बा आप बणाया जिका आज दरियापुरी टव्बा नाम सूं समाज में मौजूदा है. आप तीसरा प्रचारक हा, क्रिया उद्धार करने शासण ने दिपायो.

(४) श्री श्रा० जीवराजजी म०—आप कुंवरजी यतिरा चेला हा. घणा विद्वान् भाग्यशाली और विचारक पुरुष हा. एक बार, गर्मी री मौसम में रातरा प्यास लाग गइ, जिण सूं बड़ी वेदना हुई. जतिजी चेलारा मोह में आय ने पानी पीवण रो इशारो कर दियो ने कयो कि एडी तकलीफ हो जावे तो पानी पी लेवे तो चौविहार में टंटो नहीं लागे. आ वात सुण ने जीवराजजी म० फुरमायो के—गुरु महाराज, आपने सहाय देणो तो दूर रह्यो, उल्टो म्हने कायर बनाओ हो. चेलारो मोह डुबावण वालो है. मैं तो मर जाऊं पर व्रत भांगु कोनी. रात ज्यों-त्यों पूरी करी. प्रभात होतां ही गुरुजी ने नमस्कार कर चालता रहिया ने स्वयं दीक्षा लेइने दया धर्म रो प्रचार शुरू कियो. आप रो परिवार भी घणो बढियो ने त्याग तपस्या रा जोर सूं हजारां लोगों ने धर्मरे सन्मुख किया.

(५) श्री दौलतरामजी म०—कोटा संम्प्रदायरा संस्थापक हा. वडा सूत्रों रा जाण, क्रियापात्र और महा म्होटा पुरुष हा. उण जमाना में दिल्ली में दलपतराजजी श्रावक द्रव्यानुयोग रा प्रखर विद्वान् हा. मा बेटा दो जणा हा. धनमाया घर में घणी ही, पिण व्याव कियो नहीं ने श्रावक धर्म में घणा मजबूत हा. सारो धन माताजी ने संभलाय दियो ने बादशाहरे साथ जूवे रमता रोजिना ५ रूपिया जीतता, जिण माय सूं १ रुपिया खावन सारू, ने २ रुपिया स्वधर्मि भाई वहिनांरी सहायता में देता. २ रुपिया ज्ञान खाता में लगावता. आप रा बणायोड़ा ग्रंथ, नवतत्त्व प्रश्नोत्तर, दलपतराय ना प्रश्नोत्तर, समकितछप्पनी, नय निक्षेप प्रमाण आदि ग्रंथ आज है वे सूत्रां सूं बराबर मिलता तथा प्रमाणिक है. सुणण में एडी भी आई के महाविदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामीजी रे श्रीमुख सूं पहिला देवलोकरा इन्द्र निगोदरो स्वरूप सुणियो जरै उछरंग भाव सूं इन्द्र पूछियो के भगवान् एडो निगोदरो स्वरूप समजावण वालो भरत क्षेत्र में कोई है ? भगवान् फरमायो के दिल्ली में दलपतराज श्रावक है, उणरो ज्ञान निर्मल है. इन्द्र महाराज ने सुणने घणो इचरज आयो. ब्राह्मण रो रूप बणायने श्रावकजी कने पहोंचिया ने विनय सूं कयो के मैं आप कने निगोद रो स्वरूप सुननो चावूं हूं. श्रावक जी कयो के खुशी सूं सुणो. श्रावक जी भिन्न-भिन्न तरह सूं निगोद पर सुनायो. सुणने इन्द्र महाराज तो आनन्द में मगन होय गया ने पाछो कयो के श्रावक जी, धन्य है आप रा ज्ञानने. श्रावकजी कयो के ज्ञानीरो ज्ञान तो घणो गहन है, म्हारा क्षयोपशम प्रमाणे सुनायो हूं. पछे श्रावकजी रे सामने आपरो हाथ लंबो कर ने पूछियो के श्रावकजी, म्हारो आउखो आपरा ध्यान में कितरोक जंचे है ? श्रावकजी हाथ देखने फरमोया

लगाय ने कयो के मने तो २ सागरोपम रो भासे है. सुणने इन्द्र महाराज मुलकीया ने कयो आप तो मने ओलख लियो. अवे आप काइं ने काइं मांगो. श्रावकजी कयो के मारे तो काइं चायना नहीं, कारण मनुष्य जन्म ने जैनधर्म हाथे आय गयो फिर काइं चाहिजे. इतो कहतां पिण इन्द्र नही मानीयो, श्रावकजी जरे कह्यो कि आप नाराज हो तो हो, म्हारे रोजाना ५ रुपिया कमावा रो जोग है. सो आप सवा पांच या पूणी पांच कर दिरावो. इन्द्र महाराज ज्ञान सूं जोयो तो मालूम हुइ के पांच में कमति वत्ती नहीं हो सके. जरे फुरमायो के आ वात तो वैठे कोयनी. श्रावकजी कयो—ठीक है. आप आनन्द सूं पधारो. इन्द्र आपरे ठिकाणे गया. श्रावकजी धर्मध्यान में मस्त है. श्रावक री तारीफ सुनने आचार्य श्री दौलतरामजी म० श्रीभगवती सूत्र री वाचणी लेवा सारू दिल्ली पधारिया ने श्रावक जी ने कयो. श्रावक अर्ज करी के चौमासो अठै करावो, मैं सेवा में हाजर हूं. श्री दौलतरामजी म० सा० चौमासो कियो ने पाना भगवती सूत्ररा वाचणी लेवण सारु काढिया. श्रावकजी विनयपूर्वक अर्ज करी के स्वामी नाथ ! भगवती सूत्र घणो म्होटो है, आप पहली दसवेकालिक सूत्ररी वाचणी लिरावो. पूज्य श्री ने थोडो विचार आयो ने फुरमायो के श्रावक जी, दसवैकालिक री तो म्हारा पोता पड़पोता चेला ही वांचणी लियोड़ा है. श्रावकजी कयो—कृपानाथ ! आप तो घणा वहुश्रुति हो पिण तावेदार री अर्ज तो आइज है कि आप ने दसवैकालिक री वांचणी लेणी चोखी रहेला. आखिर दसवैकालिकरी वांचणी प्रारम्भ किवी—श्रावकजी भिन्न-भिन्न तरह सूं समजावण लागा. पूजजी ने घणो आनन्द आयो. चार महिनां में छज्जीवणी तक री वाचणी लिवी. उणमें ही वत्तीस सूत्रों रा भाव वताय दिया. पूज्यजी म० फुरमायो के इत्तो छ जीवणी में जाणपणो है. धन्य है आपरी तर्क वुधि ने. दलपतरायजी अर्ज करी के आखिर छठे आरे छजीवनीज रेवेला सो इतरो इणा में ज्ञान नहीं वे तो पछे वे जीव किण तरह जाणपणो कर आत्मारो कल्याण कर सके. पूज्य महाराज और श्रावक जी रा प्रश्नोत्तर आज मौजूद है. उणां ने पढियां पत्तो पडे है के दोनों महापुरुष समर्थ ज्ञानी होय ने जिन शासन दिपाय ने आछी गती में पधारिया.

(६) आचार्य श्री धनराजजी म०—जातरा पोरवाल. मारवाड़रा मालवाड़ा गामरा रेवासी, कामदार वाधाजी मूथारा वेटा हा. पोतियावंद धर्म में दीक्षा लिवी ने पछे धर्मदासजी महाराज रा चेला हुवा. आप आडो आसण करने सूवता नहीं—आतापना लेता—पांचों विगयरा त्याग ने एकान्तर निरन्तर तपस्या करता हा ने एक ही चादर ओढवा ने राखता हा. घणा चमत्कारी, वचनसिद्ध पुरुष हुवा ने म्होटा-म्होटाने दया धर्म में पक्का वनाय ने आपरो ने परायांरो उद्धार कियो.

(७) आचार्य श्री भूधरजी म०—सोजतरा निवासी, जातरा मूणोयत, माणचन्दजी रा वेटा, जोधपुर महाराजा श्री अजितसिंह जी रा फोजी अफसर हा. घणी लड़ायां जीती, डाकू चोरां ने सर किया. एक वार सिरीयारी रे घाटा में ८४ डाकुवाने घेरिया, लड़ाई फत्ते करी, डाकुवों रो सफायो कियो. उण वखत एक डाकूरा हाथ सूं आपरा उंटरे तरवार रो झटको लागण सूं आधी गर्दन कट गई ने ऊंट घणो तड़फ-तड़फ ने मरियो. ऐडो प्रसंग देखने आपने ग्लानी पैदा हो गई के ओ काम खोटो. आत्मा ने डुवोवण को रास्तो है. आप सरकारी नौकरी छोड़ पोतियावंद धर्म में दीक्षित हो गया. घणी ऋद्धि, औरत, वेटा, परिवार छोड़ ने निकलिया. वाद में श्रीधर्मदासजी म० तथा श्री धनाजी म० रा संसर्ग में आया. साची वात जाण ने सुद्ध साधुपणो लियो. पांच पांचरो आप पारणों करता हा. चार विगय रा त्यागी हा. उपदेश आपरो घणो उमदा हो जिणासूं घणा भविजीवां ने सुध समकितरो दान दिरायो, घणा राजा राणा उमरावां ने समजाया. दिल्ली रा वादशाहरा साहजादीरा प्राण वचाया—उणा राजी वेने चोमासो करायो, आठ दिन पजूसणों रो अगतारो परवाना करने दिया ने वारादरी रो मकान श्रावकां रे धर्म ध्यानरे वास्ते दियो. जैन धर्मरो नाम घणो दिपायो, जिणसुं जोधपुररा दिवान भंडारी खिवसीजी आपरा पक्का भक्त वणिया ने मारवाड में विनती कर ने लाया. मार्ग में आपने घणा परीपा पड़िया. सोजत में एक भय वाला मस्जिद में मरवाने वास्ते उतार दिया पिण त्याग तपस्या रा जोग सूं आल आइ नहीं. पछे उण मस्जिरो दरवार सूं परवानो होय गयो के आज पछे इण मकान में श्रावक, समाइ पोसा पडिकमणा कीजो ने साधां ने उतारजो, कोइ थाने खेचल नहीं कर सकेला. वो थानक कोटरा मोहला में सोजत में हाल मौजूद है. आपरा ९ चेला हुवा. धर्म दीपाय ने स्वर्ग में पधारिया.

(८) **पूज्य श्रीरघुनाथजी महाराज**—आप भूधरजी महाराज रा चेला, सोजतरा रहवासी जातरा वलावत, नथमलजी रा वेटा ने सोमादेजीरा अंगजात हा. आप वेद पुराण उपनिषदों रा ने भगवत्-गीता रा आछा ज्ञाता हा. सोजतरी हाकमी और कियोडो सगपण छोड़ आपरा मित्ररो मरणो सुन चामुण्डा देवी ने माथो चढ़ावण ने जाय रया हा अमर होवणारे वास्ते. रास्ता में पूज्य श्री भूधरजी महाराज मिलिया. तीन दिन तक चर्चा करने समजाया. उसी टेम चार खंद कर लिया. माता पिता रे काल कियां रे वाद सासरा वाला घणो झमेलो कियो कारण आपसूं सम्बन्ध कियो वा वाई रत्नवती दूजा ने परणीजे नहीं, पिण आप तो रातरा मकान सुं कूद ने जोवतुर पोंचिया ने भंडारी जी सींवसी जी सूं मिलिया ने पूज्य महाराज रे पास १७८७ रा जेठ वद २ बुधवार ने साधूपणो घणा ठाठ-वाट सूं लियो. दीक्षा में सारो खर्च श्री जी दरवार का खजाना सूं हुवो. आप दीक्षा लेवतां ही पांच-पांच रो पारणो करणो ने ४ विगय नहीं लगावणरो नियम लियो. १८ वड़ा-वड़ा मुसद्दीयों ने समकितरो दान दियो. आपरो प्रताप घणो वधियो. और धर्मरा प्रचार में भाटा खाया, काटण कुता री वेदना भी सहन कीवी, जहर रो भोजन भी अरोगियो. आपने मारण साहू पर पक्ष वाला घणा उग्र परिषह दिया. पिण जालोर समदडी पाली सादडी मेडता आदि सात सौ गांवों में दया-धर्म को झंडो रोप दियो. आपरा परचा भी घणा है. ५२५ दीक्षा आपरा हाथ सूं हुई. ३२ सूत्रों री हुंडिया भी आप वनाई. आपरा गुरु भाई श्री जेतसीजी महाराज, श्री जयमल्लजी महाराज, श्री कुशलोजी महाराज आदि नव हा. चेला श्री टोडरमलजी नगराज जी आदि घणा विद्वान् ने क्रियापात्र हा. तेरापंथ रा प्रवर्तक श्री भीषणजी भी आपरा चेला हा. संवत १८१६ चैत्र सुद ९ शुक्रवार ने शास्त्रीय मतभेद होणा से सम्वन्ध विच्छेद कर दियो. आपरा जमाना में जतियोरो जोर घणो हो. उणासूं शास्त्रीय चर्चा कर सुद्ध मार्ग री थापना की, जिण पर अंवालाल सेवग मेडतावालो दूहो कयो के—

जति धर्म जातो रह्यो, थानक लागा धाट,
उपाश्रय आडा जड्या, पडिया रे गया पाट।

इसा उग्रभागी वैरागी महा म्होटा पुरुष हा. आपरो जन्म १७६६ माघ सुद ५ रो हो ने पाली में आप काल आयो जाण ने संथारो कियो. १७ दिन रो संथारो दिपायो. अस्सी वर्ष में १८४६ रा माघ सुदी ११ ने दिवंगत हुवा.

(९) **पूज्य श्रीजयमलजी महाराज**—आप उदावतोंरी लांवियां रा वासी, जातरा समदड़िया मूथा, मोहनदास जी रा वेटा, ने महिमा देवीरा अंगजात हा. आपरा वड़ा भाई रिडमलजी हा. उणोरो परिवार नानणा मारवाड़ में है. आपरो जन्म संवत् १७६२ भादवा सुदी १४ शनिवार ने हुवो. आपरो व्याह १७८७ रा आषाढ़ सुदी ९ ने लाछा देवी रे साथ हुवो. आप माल खरीदण वास्ते मेडते आया. पूज्य भूधरजी रे पास वैरागी वण गया. १ पोर में पडिकमणो सीखीया. १७८७ मिगसर वदी २ ने दीक्षा मेडता में लीवी. वडी दीक्षा आप री विखरणिया में तलाव रे पास वड़ला रे हेठे हुई. वो वड़लो भी आज तइं दुनियाँ रे वास्ते प्रभावशाली होय गयो. खांसी खुलखुलीयों नीचे जावतां ही मिट जावे. आप वेले २ पारणो कियो, आडो आसण करता नहीं, अतापना भी लिरावता हा. आप घणा चमत्कारी पुरुष हा. नागोर डेह वीकानेर आदि घणा गांवों में धर्म-प्रचार कियो, केइ परिषह सहन किया. आप कवि प्रसिद्ध हा. शास्त्रानुसार कविता करता हा ने घणा तवन चोपियां वणाई ही. नागौर में एक महीना रो संथारो कर स्वर्ग पधारिया.

(१०) **पूज्य श्री कुशलोजी महाराज**—आप वडलूरा निवासी हा. घणी सुखसाहवी छोड़ने सोजत में संवत् १७८८ रा जेठ में संयम लियो पूज्य भूधरजी रे पास में. आप भद्रीक सरलात्मा और पोंच्योड़ा पुरुष था. कई जगा आपरा प्रचार सुं धर्म री उन्नति हुई. आप आत्मा पर जोर लगाय ने उत्तम गति में पधारिया.

(११) **पूज्य श्री रत्नचन्दजी महाराज**—कूड (राजस्थान) रा निवासी और भड़ागो गोद गया हा. आप श्री गुमानचन्द जी महाराज रा चेला हा. कविता भी आप घणी रसभरियोटी करता ने व्याख्यान आपरो मीठो ने असरकारक हो. जिणसुं घणा जीव प्रतिवोध पाया. आप शास्त्रज्ञ हा. सम्प्रदाय आपरा नाम सुं चाली. [illegible] में [illegible]

श्री बालचन्दजी महाराज घणा चमत्कारी हा. जोधपुर रा घणा मुसद्दी आपरी आस्था राखता हा. पंडित श्री कनीराम जी महाराज कवि ऊँचा दर्जा रा हा ने चर्चावादी आप चोखा हा. आपरा बनायोड़ा ग्रंथ आज मौजूद है. स्वामीजी श्री नन्दलाल जी महाराज लेखक नामी हा. बत्तीस सूत्र घणा विस्तार सूं लिखिया. अक्षर मोत्याँ जिसा हा. आचार्य श्री विनयचन्द जी महाराज, आचार्य श्री शोभाचन्द्र जी महाराज, स्वामी जी श्री चन्दनमल जी महाराज घणा होशियार ने सरल पुरुष हा. भव्य जीवां ने घणा व्हाला लागता हा.

(१२) पूज्य श्रीटोडरमलजी म०—पूज्य श्रीरघुनाथजी म० रा चेला हा. म्होटा पुरुष, महा विद्वान् और लिपिकार भी प्रसिद्ध हा. सात बत्तीसीयां आप हाथां सूं लिखी ने और भी ग्रंथ घणा लिखिया. आप सोजत रा वासी, जातरा कोठारी हा. भाइ रे सासरे बगडी भूजाइ ने लेवण सारू गया ने उठे ही वैरागी बन ने दीक्षा लेली. आप कवि हा, 'टोडरसतसई' बनाई. क्रिया आपरी घणी उंची ही. विदेशों सूं घणा प्रश्न आवता जिणां रा उत्तर आछा ढंग सूं दिरावता हा. आपरी नेश्राय में सैंकड़ों साधु-साध्वी हा. पं० टीकमचन्दजी महाराज व्याकरण रा वेत्ता ने चर्चावादी हा. उणारा भी ग्रन्थ घणा है. श्री रूपचन्दजी महाराज, श्रीदीपचन्दजी म०, श्रीभोपतरामजी म० तीनों ही चमत्कारी पुरुष हा. जगा जगा चमत्कार लोगां देखिया, जिणसूं धर्म पर मजबूत हुआ. श्रीटोडरमलजी म० रा दियोड़ा ने कयोडा वरदान आज तांइ बराबर मिल रया है. आछो साधूपणो पाल ने ऊंची गति में पधारिया.

(१३) आचार्य श्रीरायचन्दजी म०—श्रीजयमलजी म० रा पाटवी चेला हा. घणा चतुर कवि ने क्रियापात्र हा. लेखक भी आछा हा. स्वा. श्रीकुशालचन्दजी म० महातपस्वी उग्रभागी और आचार्य पद्वीरे लायक होता· छतां भी आप पद्वी नहीं लिवी. आपरे ८ चेला हुवा. वचनसिद्ध भी पूरा हा. स्वामीजी री शाखा सूं प्रसिद्ध है. कवियां री ने पंडितां री तथा सुन्दर अक्षर वालांरी तो श्रीजयमलजी म० सा० री संप्रदाय प्रसिद्ध ही है. पं० श्रीफकीरचंदजी म० उन समय रा नामी पंडित हुवा. घणा पं० मुनिराज उनाने पूछता हा. आप व्याकरण तथा दर्शनशास्त्र में धुरन्धर हा. पं० मुनि श्रीरामचन्द्रजी म० सा० भी कमाल रा कवि हा.

(१४) पूज्य श्रीचौथमलजी म०—पूज्य श्रीरघुनाथजी म० रा संप्रदाय में आशुकवि हा. चेला भी घणा हुआ. व्याख्यान भी आपरो घणो सुन्दर हो. आप भंवाल रा वासी, जातरा झामड़ हा. सैंकड़ों म्होटा २ चरित्र ने चोपीयां बनाइ. स्तवनों रा तो ढेर लगाय दिया. उत्तम पुरुष संयम पाल ने स्वर्ग पधारिया.

(१५) पूज्य श्रीअमरसिंहजी म०—जीवराजजी म० री शाखा में हुआ. हजारों नवा श्रावक बणाया. प्रचार आपरो पंजाब, यू० पी०, मारवाड़ में जोरदार रयो, चमत्कारी भी जोरावर हा. कोइ पाखंडी सामने टिक नहीं सकता हा. आपरा सिंघाडा में पं० आ० श्रीजीतमलजी म० नामी लेखक चित्रकार ने विद्वान् हा. संस्कृत, फारसी रा पण्डित हा. लेखनकला तारीफ रे जेडी ही. छोटा सूं छोटा चित्रां में म्होटी वातां बताय दीवी. भण्डारी रघुनाथसीजी आप रा पूर्ण भक्त हा. वैजनाथजी पटवा आपरा श्रावकां में प्रसिद्ध हा. मुनि श्रीज्ञानचंदजी म०, मुनि श्रीजेठमलजी म० पिण वचन-सिद्ध पुरुष हा. वे पुरुष उत्तमगति में जावण री भावना घणी चोखी करी ही. परिवार साधु-साध्वी रो घणो बढियो.

(१६) पूज्य श्रीनानकरामजी म०—श्री अमरसिंहजी म० री शाखा में हा. उंचा क्रियापात्र हा. धर्म अजमेरा प्रांत में घणो दिपायो. अजमेर, किशनगढ़, टोंक, सवाई माधोपुर, भीलवाडा, कोटा, बूंदी तक प्रचार कियो. आप रा सिंघाड़ा में स्वा० श्रीमुकनलालजी म०, स्वा० श्रीनिहालचन्दजी म०, श्रीगजमलजी महाराज घणा प्रभावशाली हुवा. तपस्वीजी माधोलालजी महाराज री क्रिया तो अनोखी ही. आप स्याला में सुवे और जेठ में दोपहर रा विहार करावता. अजयणा बचावण सारु दोनों हाथ भेला करने चालता हा. मासखमण तो आपरे साधारण-सी चीज ही. एक पात्र राखता हा. एक चादर ओढता और ४ द्रव्य जावजीव ताइं लगाया. ऐसा घोर तपस्वी हा. एक बार आप पुष्कर पधारण ने तैयार हुआ. अजमेर रा श्रावकां मना किया के पुष्कर मती पधारो उठे जैन साधां ने रेवण देवे नहीं. पंडा बड़ा कुरापाती है. तपस्वी फुरमायो के अबे तो पुष्कर जरूर जावांला. आप पुष्कर पधारता हा जिण वेला उणा ने देखने ४० पंडा, २० सन्यासी १६ उदासी, १५ त्रिदंडी, ३ बाबाबाबा आदि कुल १०० जना लाठियां लेइ ने आया और कयो कि—मोड़ा! भाजना

सूं परो जाइजे, नहीं तो थारा हाडका-हाडका विखेर देवांला. म्हारे तीर्थ में थारो जैनीयों रो कांइ काम है. साधुजी म० समता राखने नाग पहाड में चलीया गया ने तपस्या ठाय ने वैठ गया. और मन में धारणा कर ली के पुष्करने सर कर ने ही आहार करूंला, नहीं तो जावजीवरा आहार करवारा त्याग है. पूरा दिन २५ नहीं निकलिया ने पुष्कर में जोर सूं वेमारी पैदा हो गई ने घणा उत्पात होंवण लागा. साराराहोशहवास उड़ गया ने विचार कियो के आ कांइ वात है ? कठै ही असवाडे पसवाडे वेमारी नहीं, वैचेनी नहीं तो अठेईज क्यों है? पत्तो पडतां मालूम हुई के एक जैन रा फक्कड़ ने सतायो ने वो महात्मा नाग पहाड़ में तपस्या तप रयो है. लोग भेला होय ने साधुजी महाराज रे पास गया. वां तपस्या ने ध्यान देख ने घणो अचरज पाया. लोग कहियो कि वावाजी, आप गांव में पधारो. म्हां पर दया करो. म्हां दुखी हो गया हां. साधुजी कयो–आप आपरा कर्म भुगते हैं, जैन रा साधा ने पुष्कर में कुण आवण दे. लोग कह्यो–वावाजी, आप पधारो, कोई नहीं रोकेला. साधुजी महाराज कहियो के जीके १०० जणा मणे रोकियो वे आय ने केवे तो चालण में कइं हरज नहीं. पाछा सारा जाय ने गांव भेलो कियो ने पूछियो के जैनरा फक्कड़ ने कुंण रोकियो है ? सो चौड़े केवो, नहीं तो महात्मा घोर तपस्वी है. धर्म पर मर मिटेला ने आपारां गांव भी वरवाद हो जावेला. जणे वे १०० जणा चौडे हुआ. वाने साथे लेण आया. माफी मंगाइ ने गाव में साधुजी ने लाया. गांव में पधारया ने पारणों करतां ही शांति होय गइ. घणा जीव सुलभ हुआ ने तलाक खा गया के आज पछे कोई धर्म रा महात्मा ने आवता म्हां नहीं दर्जाला. उण दिन सुं दुनियां केवण ने लाग गई के—'सौ साधु ने एक साधू.' एडा महापुरुष हा. वे क्षेत्र निकाल दियो. आज ताइं क्षेत्र साताकारी है. और भी श्रीनानकरामजी म० रे संप्रदाय में साधु घणा प्रभावशाली हुआ है.

(१७) आचार्य श्रीस्वामीदासजी म०—श्रीअमरसिंह म० रा भतीजा चेला हा. आप सोजत रा वासी, जातरा रातड़िया मुथा हा. आप वड़ा कड़क हा. जैपुर वाटी, किशनगढ़, रूपनगढ़, सांभर, पर्वतसर आदि गांवा में प्रचार कियो. आपरा सिंघाड़ा में स्वामी श्रीमहकरणजी म० भी प्रसिद्ध हुवा है. पू० श्रीरेखराजजी म० व्याख्यानवाचस्पति हा. कविता घणी सुंदर ही. जोधपुर रा राजकवि मुरारदानजी सुं शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त करी ही. स्वा० श्रीनथमलजी महाराज कवि, क्रियापात्र और समयज्ञ पुरुष हा. स्वा० श्रीवखतावरमलजी म० चमत्कारी हा. वंवई जावणरो मार्ग वे सरल कियो. लिपिकार भी चोखा हा. पंडित नामी हा. घणा संवेगी संतों ने पिण ज्ञान पढायो. गोड़वाड़ प्रांत में आप रो जोरदार धाको जमीयोडो हो, पिण हा घणा सरल और सेवाभावी. ऐ धर्म ने दीपायो ने आछी गति प्राप्त करी.

(१८) पूज्य श्रीशीतलदासजी म०—और तेजसिंहजी म० दोनों गुरुभ्राता हा. वड़ा सरल और पुण्यवान पुरुष हा. आपरा सिंघाड़ा में श्रीदौडजीस्वामी तथा प्रतापमलजी म० प्रभावशाली हुआ ने आत्मा-रो कल्याण कियो.

(१९) पूज्य श्रीनरसिंहजी म०—मेवाड़ में प्रचार जवरो कियो. सैकड़ों गांवों में धर्म री जड़ रोप दी. आपरा सिंघाड़ा में पूज्य श्रीमानमलजी म० वड़ा काकडाभूत तपस्वी हुआ. मणिभद्रजी यक्ष आपरी सेवा में रेतो हो. राणाजी आपरा पूर्ण भक्त हा ने मेवाड़ का घणा सरदार, देलवाड़े रावजी, देवगढ़ रावजी, आदि सोला सरदार सेवा में हाजिर रहता हा. घणी वार सैकड़ों वकरां ने कुडकी घलाई. आपरा शरीर रो अग्नि-संस्कार हुवो जरे एक चादर, मुहपत्ती ने पूंजणी-रे अग्नि सुं आल नहीं आइ. लोगां पर घणो प्रभाव पडयो. मेवाड़ में मान वावाजी री केई लोग आज दिनतक ने [illegible] गया. आपरा सिंघाड़ा में तपस्वी वेणीदासजी महाराज ५० वर्ष अन्न नहीं लियो. घोर तपस्वी हा, अभिग्रह भी [illegible] घणा आकरा किया के हाथी कंदोई री दुकान सुं लाडु लेने वहरावे तो पारणो करणो. उदेपुर में अभिग्रह फलियो. और भी घणा अभिग्रह किया. पंडित वालकिसनजी मुनि महाराज भी नामी हुआ. पिण छोटी उमर में काल कर गया. कवि ऋषभदासजी पिण ग्रन्थ केइ वणाया है. पूज्य एकलिंगदासजी म० भी घणा सरल पुरुष आपरी साधना सफल करी.

(२०) पूज्य श्रीमनोहरदासजी म०–जमनापार रा क्षेत्र सुधारिया. घणो उपकार कियो. आपरा सिंघाड़ा में श्री[illegible]जी म० पिण चमत्कारी पुरुष हुआ. हजारों अग्रवालां ने तथा पल्लिवालां ने जैन वणाया. आगरा में आपरो घणो प्रभाव [illegible] और आज पिण उन्होंरी पुण्य तिथि मनावे ने आपरे नाम पर जैनरत्नमुनि कोलेज हाई स्कूल आदि चाले है. पूज्य

मोखमजी स्वामी, पूज्य श्रीमोतीरामजी म० पिण प्रभावशाली होई ने धर्म ने ऊंचो लाया.

(२१) पूज्य श्रीनाथूरामजी म०—और श्रीरूपचन्दजी म० पिण गुरु भाई हा. प्रचार घणो कियो. यू० पी० प्रांत, भरतपुर, धोलपुर, भटिंडा, बीकानेर आदि में प्रसिद्ध पुरुष हा. पं० ऋषिराजजी म०, भज्जूलालजी म०, श्रीविनेचन्दजी म०, बड़ा कविरत्न, पंडितराज और वादीमानमर्दन हा. उणां रा बनायोडा ग्रंथ अनेक है. श्रीअगरचन्दजी म० अलवेला मस्त चमत्कारी साधु धर्म रा पालक हा.

(२२) पूज्य श्रीमाधवमुनिजी म०—आप जाति रा ब्राह्मण हा और धर्मदासजी म० री संप्रदाय रा आचार्य हा. महाविद्वान् क्रियापात्र तथा बड़ा वीर पुरुष हा. व्याख्यान भी घणो असरकारक हो. ने चर्चावादी ने कवि महान हा. केइ ग्रंथ आपरा बनायोडा है. बड़ा-बड़ा पंडितां सुं टक्कर लीवी ने उन्हांने आगे नहीं आवण दिया. पल्लीवाल भायां ने दिगम्बर लोगां ने समझाय ने धर्म में दृढ़ किया. एक बार एक दिगंबरी भाई पूछियो के आप मुंडा ऊपर पाटी क्यों बांधो हो ? आप फरमायो के पहली तो यो धर्म रो चिन्ह है, दूसरी बात जीवांरी जतना रे वास्ते है. तीसरी बात कोई जीवजंतु मुंडा में बड़े नहीं, इण वास्ते बांधा हां. वो भाई मजाक करी के यों कोई मुंडा में थोड़ा ही बड़े है. आ तो बात गलत है. इत्ता में तो उनरा खुला मुंडा में माखी बड़ गई ने नीचे उतर गइ. वमन होवण लागी ने घणो दुख पायो. जद वो साची मानी के महाराज, आज सूं मैं मुखपत्ति जरूर बांधूंला. केणो साचो है. कविता में अनुप्रास अलंकारां री झड़ बांध देता हा. अनुशासन आपरो बडो करडो हो. छोटी उमर में ही सर्वधर्म सम्मेलन में जैन-समाज रा प्रतिनिधि बण ने मथुरा, जयपुर चौमासो कर पधारता हा, मार्ग में अक्समात् स्वर्ग पधार गया. और धर्मदासजी म० रा सिंघाड़ा में श्रीनरोत्तमदासजी महाराज, श्रीकासीरामजी महाराज, श्रीज्ञानचंदजी महाराज, श्रीचंपालालजी, म०, पूज्य श्रीनंदलालजी म०, श्रीचुन्नीलालजी म०, श्रीपूर्णमलजी म०, श्रीताराचन्दजी म०, तपस्वी श्रीभगवान्दासजी म०, श्रीइन्दरमलजी महाराज आदि घणा उंचा क्रियापात्र, प्रभावशाली, चमत्कारी और श्रद्धाशील पुरुष हुवा ने धर्म ने घणो दिपाय ने आछी गति में पधारिया.

(२३) पूज्य श्रीतिलोक ऋषिजी महाराज—महाकवि, सुन्दर लेखक, चित्रकार, पंडित और सरल प्रकृति रा धणी हा. आप लाखां श्लोकां रा ग्रंथ बनाया. महाराष्ट्र में घणो नाम दिपायो. आयुखो थोड़ां पाया पिण आपरी कृतियां सुं अमर हो गया. पू० श्रीरत्नऋषिजी म० पिण विद्वान् हा. पूज्य श्रीअमोलकऋषिजी म० तो महा उपकारी हा. समाज रो बच्चो बच्चो जाण रयो है. सब सुं बड़ी बात तो आ किवी के महामंगलीक ३२ सूत्रां रो हिन्दी अनुवाद करने छपाया पांच वर्षां रा थोड़ा समय में. इणरे सिवाय और भी घणा ग्रंथ बणाया. ऐडा आप उद्योगी पुरुष हा. आपरा भक्त लालाजी सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसादजी सरीखा दानेश्वरी ने आप सरीखा ज्ञान रा उद्योगी सायत ही सवाज में फिर पैदा होवेला. आप सरल कवि हा. अनेक चरित्र बनाया हा. जिण पर भी आप में मान री मात्रा नहीं ही. विनय रो गुण तो इतो उंचो हो के प्रभात रा वेगा उठ ने छोटा सुं छोटा सन्तां ने पिण आप वंदन कर लेता. धन्य है ऐडा महा पुरुषां ने. इत्ता पुरुषां सूं ही जैनधर्म दीपे है. तपस्वीजी देवजी ऋषिजी महाराज ज्योतिर्विद श्रीदौलतरामजी म०, कवि श्रीअमी ऋषिजी म० पिण क्रियापात्र तथा निर्भीक आचारी हा.

(२४) पूज्य श्री भगवानदास जी म०—खंभात सम्प्रदाय में घणा प्रभावशाली हुवा. हजारां भावसार जातिरा लोगां ने दया-धर्मरा अनुयायी तथा मजबूत बणाया. पूज्य श्री छगनलालजी म० पिण उग्र विहारी हा तथा संप्रदाय री व्यवस्था आछी राखी ही.

(२५) पूज्य श्रीमूलचन्दजी म०—श्री धर्मदासजी म० रा चेला हा, आप काठियावाड में धर्म रो प्रचार कियो. घणा परिषह खमिया. घणी चर्चा वार्त्ता कर वादियों ने पेमाल किया. पूज्य श्रीअजरामरजी महाराज लिंबडी सम्प्रदाय रा प्रवर्तक हा. आपरो आतापनाकर्म घणो वधियो. स्वामीजी श्रीलाधाजी म०, श्रीखोडीदासजी म०, श्री अंबादास जी म०, यह तीनों ही गुजराती भाषा रा ऊंचा लेखक तथा कवि हा. आ० मूलचन्द जी म० रा अनुयायी बोटाद नो सिंघाड़ो, गोंडल रो सिंघाड़ो, छोटा स्वामी जी रो सिंघाड़ो, बरवालारो सिंघाडो आठ कोटी छोटी पक्ष बड़ी पक्ष आदि सारा है—इणां में उपाध्याय देवचन्द्रजी म०, श्री ज्ञानचन्दजी म०, नागचन्द्रजी म० घणा प्रसिद्ध पुरुष हुवा है.

शतावधानी श्री रत्नचन्दजी म० री विद्वत्ता तथा कृति तो समाज रे वास्ते गौरव री चीज है. आपरो साहित्य जैन अजैन दोनों विद्वानों ने हिया रो हार हो रयो है. ज्यादा कांइ केवां अनमोल रत्न हा, सरस्वती रा अवतार तथा भारत-भूषण री पदवी मिली ही.

(२६) दरियापुरी सम्प्रदाय—रा अनुयायी पूज्य श्री उत्तमचन्दजी म०, ईश्वरलाल जी महाराज, तपस्वी चतुरलाल जी म० पिण आपरी जोड रा अनोखा पुरुष हा. पंडित हर्षचन्द जी म० पिण कवि सुन्दर हा. और भी महापुरुष धर्म दिपावण में कसर नहीं राखी—आप तिरिया ने ओरां ने तारिया.

(२७) पूज्य श्री अमरसिंह जी म० (पंजाबी)—घणा म्होटा प्रचारक हा. अनेक परिषा सहन किया. सारी पंजाब में डंको बजायो. आपरा सिंघाड़ा में श्री गैंडाराय जी महाराज, शालिगरामजी म० मयाचन्दजी म०, पूज्य श्री मोतीराम जी महाराज, पूज्य श्री ज्योतिर्विद सोहनलालजी महाराज, पूज्य श्री काशीराम जी म०, वादिमानमर्दन गणी श्री उदयचन्दजी महाराज आदि जैन शासन रा स्तंभ हा. परम्परा धर्म री निभावण में घणा कट्टर हा. चमत्कारी पुरुष हा. पूज्य श्री आत्माराम जी म० तो समाज में चमकता कोहनूर हीरा हा. आप न्याय-व्याकरण रा प्रौढ़ विद्वान् हा. लेखक तो श्रीशतावधानी जी म० सा० रे जोडरा हा. अनेक ग्रंथों सूत्रां रा प्रसिद्ध लेखक अनुवादक हा. २२ संप्रदाय रा सन्त ऐडा उत्तम पुरुषां ने आपरा आचार्य वणाया. आपरी सादगी नम्रता सहनशीलता और सूत्रां री स्वाध्याय तथा मौखिक याददासती घणी ऊंची ही. एक वार दर्शन करने मात्र सूं दर्शक ताजिन्दगी भूले जिसी वस्तु नहीं ही. आपरा सिंघाडा में सतीजी श्री पार्वतीजी सिंहणी समान निडर चर्चावादी ही. आचार पिण ऊंचो हो. श्री राजीमती जी, श्री चन्दाजी आदि सतियाँ पिण संतों रा प्रभावसूं अधिकी ही पिण किणी तरह कम नहीं.

(२८) आचार्य श्री श्रीलालजी महाराज—टोंक रा निवासी, जातरा बंब हा. वैरागी वेजोड़ रा. क्रियापात्र हा, सहन-शीलता, सादगी, नम्रता आपरी आछी घणी ही, आपरी वैरागरी छाप सुणने वाला ऊपर घणी पड़ती. ऐडो वर्ष नहीं निकलियो के १०–१५ दिक्षा आप नहीं दीवेला. साधुमार्गी संघ में आप दीपता पुरुष हुवा. आचार्य श्री जवाहिरलाल जी म० तात्त्विकव्याख्यानी, तर्कभूषण, निर्भीक वक्ता हा. साहित्य रा पूरा रसिक हा. चर्चावादी घणा प्रशंसनीय हा. अनुशासण करडो घणो हो. उत्पातिया बुद्धि आपरी ऐड़ी ही के कोइ भी विकट सूं विकट प्रश्न रो जवाब दे देता जो ऐडो सांगोपांग होवतो के सुनने वाला चकित रे जावता. शिष्यां ने ज्ञान पढावण रो पिण आपने शोख घणो हो अने आज आपरा शिष्य टीकाकार श्री घासीलालजी महाराज सरीखा आगमरी सेवा करने अमर नाम कर रया है और कृतिकार भी मामुली नहीं है. पूज्य श्री हुक्मीचन्द जी महाराज री सम्प्रदाय में पूज्य श्री उदयसागर जी म० पिण घणा गंभीर ने प्रभावशाली पुरुष हुवा हा. आचार्य श्री गणेशीलाल जी म० घणा सरल भद्रीक और पुण्यशाली हा. प्रभाव आपरो भक्तां उपर घणो हो. आचार री पूरी पूरी हिमायती राखण वाला पुरुष हा. आप श्रमणसंघरा उपाचार्य पद माथे भी रह्या हा.

(२९) पूज्य श्रीमुन्नालालजी म०—आप भद्रीक आत्मा, सूत्रां रा ज्ञाता हा. सौम्यमूर्ति, श्रद्धा रा निरूपण करने वाला हा. आपरा सिंघाड़ा में तपस्वी श्रीवालचन्दजी म० दयारा रुखड़ां हा. हजारां जीवां ने अभयदान दियायो. घणा चमत्कारी हा. स्वामी श्रीनंदलालजी महाराज, श्रीदेविलालजी म०, श्रीहीरालालजी महाराज कवि तथा लेखक तथा समयज्ञ पुरुष हा. श्रीजैनदिवाकर चौथमलजी म० तो जगतवल्लभ हा. वाणी आपरी घणी रसीली ही. घणो परिवार वढायो, घणा राजा-महाराजा सेठ साउकारां ने तथा अन्यमतावलंबीयां ने आप री जादुभरी वाणी सुणाय-सुणाय ने सुलभ वणाया. आप जैनधर्म रा भंडा हा. कविता करने में तो वडा कुशल हा. संगीत में कविता दिना पार [illegible],
वचन घणा लागणा हा. आप कोटा में स्वर्ग पधारिया.

(३०) स्वामीजी श्रीपीरचन्दजी म०—आप पूज्य श्रीरघुनाथजी म० सा० रे सिंघाड़े में घोर तपस्वी हा. साथ में सन्त ३१ठाणे हा. जोजावर सूं घाणेराव पधारतां तावडो घणो चढ़गयो ने सन्त पूरा-पूरा थाक गया ने प्यास घणी जोर री लागी. जरे पूज्य महाराज फुरमायो के—पीरदानजी, थे आगे गांव में जावो ने धोवण पाणी [illegible]

जी म० पधारिया अने धर्म रा द्वेषी गांव में वडतां ही एक ठाकर ने सिखा दियो. वो राजपूत आडो फिरयो ने अर्ज करी के म्हारे रावले पधारो—छाछ घाट मिल जावेला. तपस्वीजी रावले पधारिया. छाछ सुं पातरो भर दियो ने फेर घाट रो केने अखज वेरावियो. वेहर ने वाहरे आवतां ही महाजना कह्‌यो के साधां, मांस वेहर ने लाया हो ? तपस्वीजी कह्यो के साधु-सन्त कदे ही आ चीज नहीं लेवे. महाजनां कह्‌यो नहीं लाया तो पातरो दिखावो. तपस्वीजी सोचियो-दगो होय गयो दिखे है. सन्त कह्‌यो—थाने नहीं दिखावां. जरे झमेलो घणो हुओ. खुद घाणेराव ठाकुर सा० पिण मांजनां रो पक्ष कर ने आया ने कह्यो के साधां, मांस वहरतां शर्म नहीं आयी तो वतावतां क्यों शर्म आवे ? माजना सुं झोली खोलने दिखा दो. तपस्वीजी फुरमायो के ठाकरां, आपरे तो सारा सरिखा है. क्यों खाली पखपात करो हो. झोली थे जिद करो तो दिखाय देसूं पिण थे कई जिका नहीं लादी तो ? ठाकुर क्यो के नहीं लाधी तो थाने शावाशी देवां ला ने आज पछे कोई साधांने नहीं सतांवां ला. वड़ा चमत्कारी पुरुष झोली खोलने चौड़े में वताई. देखे तो असल कमोदनी चावल. सारा डरिया ने महात्मा ने करामाती समजने पगां पडिया ने सिला लेख लिख दियो के जैनरा मुंहवंधाने आज पछे छेडां तो तीन सौ तलाक है ने गायांरी हत्या लागे. एडो प्रवंध कराय दियो. वाद में लोग सामा जायने पूज्य महाराज ने लाया. एकांत जाय वा चीज परठ ने पूज्य महाराज कने आया ने प्रायश्चित्त मांगियो. पूज्य महाराज फरमायो के तपसीजी, थारे अजाण में यो करम हुओ जिण रो 'मिच्छा मि दुक्कडं' देवो और प्रायश्चित नहीं. तुमा तो धर्म री वात उंची लाया हो सो धन्यवाद है. इसा उत्तम पुरुष हा. श्रीपोमाजी स्वामीजी, तपस्वी श्रीपृथ्वीराजजी स्वामी, श्रीजेतसीजी, स्वामीजी श्रीफोजमलजी, श्रीमाणकचन्दजी म०, श्रीधर्मचन्दजी म०, श्रीसंतोपचन्दजी म०, प्रभावशाली कवि और क्रियापात्र हुआ. तपस्वी श्रीमानमलजी म० पिण मारवाड़ में वड़ा अवधूत करामाती हा. आप घणा निस्प्रेही हा. आपरा घणे ठिकाणे परचा पडिया. चार-चार महिना और छः-छः महीना री तपस्या अभिग्रह सहित करता हा. आप अक्सर मसाणां में ही चौमासो करता हा. तपस्वीजी श्रीहजारीमलजी म० भी काकड़ाभूत हा. पाली में घणा चमत्कार लोगां रे देखण में आया. इसा स्थानकवासी समाज रा अग्रदूत घणा हुआ. केई परचा पडिया. लेख मोटो हो जाय इणांमु थोडी वातां वताई है. इणरो इतिहास तो स्वतन्त्र निकलेला.
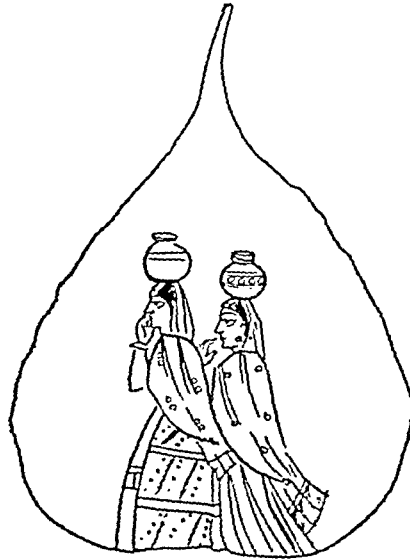
श्रीआलमशाह खान,
एम० ए०, रिसर्च स्कालर,
हिन्दी विभाग, महाराणा भूपाल कालेज, उदयपुर.

# लोंकागच्छ की साहित्य-सेवा
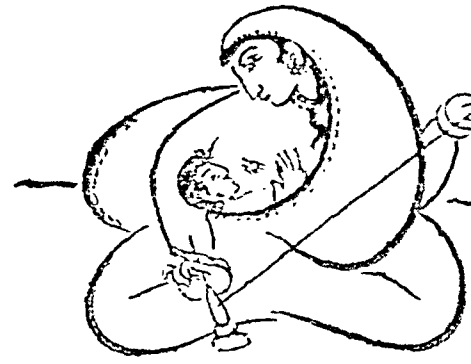
भारतीय साहित्य परम्परा के निर्माण में जैनों का योग-दान निरन्तर एवं अक्षुण्ण रहा है. संस्कृत से लेकर प्राकृत, अपभ्रंश तथा अन्यान्य देश्य-भाषाओं तक जैनों की सृजन-सलिला का प्रवाह कभी नहीं सूखा. वह अबाध गति से प्रवहमान रहा. जैन-साहित्य जितना प्रचुर है उतना ही प्राचीन भी, जितना परिमार्जित है उतना ही विषय-वैविध्यपूर्ण भी और जितना प्रौढ़ है उतना ही विविध-शैली-सम्पन्न भी. यदि एक इकाई के रूप में कभी समस्त भारतीय साहित्य का इतिहास लिखा जायेगा तो इसका आधार यही जैन-साहित्य बनेगा, इसमें संशय नहीं. आचार्य शुक्ल जैसे पूर्वाग्रही आलोचक भले ही इस साहित्य को 'धार्मिक नोटिस मात्र' कह कर उपेक्षित कर दें किन्तु अद्यावधि शोधित तथ्यों के आलोक में हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि भारतीय चिंतना की मूल्यवान धारा अपने समस्त ज्ञान-वैभव के साथ जैन साहित्य में उतरी है. कहने की शायद ही आवश्यकता रह जाती है कि जितना गौरव शुद्ध साहित्य का है उतना ही सम्प्रदायमूलक साहित्य-राशि का.

जैन-साधक सदैव देश-काल एवं तज्जन्य परिस्थितियों के प्रति जागरूक रहे हैं. उनकी ऐतिहासिक बुद्धि कभी सुषुप्त नहीं रही. वे आध्यात्मिक परम्परा के अनुगामी एवं आत्मलक्ष्यी संस्कृति में विश्वस्त रहने के बावजूद भी लौकिक चेतना से विरक्त नहीं थे. क्योंकि उनका अध्यात्मवाद वैयक्तिक होकर भी जन-कल्याण की भावना से अनुप्राणित था. यही कारण है कि सम्प्रदायमूलक साहित्य का सृजन करते हुए भी वे अपनी रचनाओं में देश-काल से सम्बन्धित ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक टिप्पण दे गये हैं जिनका यदि वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन किया जाय तो भारतीय इतिहास के कई तिमिराच्छन्न पक्ष आलोकित हो उठें. आचार्य नरचन्द्र सूरिकृत 'हम्मीर-मद-मर्दन महाकाव्य' और भावकलश रचित हम्मीरायण अथवा हमीर देव प्रभृति जैन-रचनाएं आज भी राजपूत इतिहास के कई निष्कर्षों को चुनौती दे रही हैं. विविध तीर्थ-कल्प, प्रभावक-चरित्र, प्रबन्धकोष, विज्ञप्ति-पत्र, प्राचीन तीर्थमालाएं, जैन गच्छों और परम्पराओं की पट्टावलियां, शिला-लेख आदि ऐसी उपलब्धियां हैं जिनसे तत्कालीन भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक धाराओं का प्रामाणिक विवेचन प्राप्त होता है

मौलिक साहित्य-सृष्टि के साथ-साथ जैन-साधकों ने विभिन्न मूल्यवान कृतियों पर नितांत ही सारगर्भित और पाण्डित्य-पूर्ण टीकाएं रचकर साहित्य-परम्परा की अविस्मरणीय सेवा ही नहीं अपितु संरक्षा भी की है. जैन मुनियों की रचनाओं को पिष्टपेषण से पूर्ण माना गया है. इसमें कोई संदेह नहीं कि औपदेशिक वृत्ति के कारण जैन रचनाओं में विषयान्तर से परम्परागत बातों का वर्णन-विवरण रहता है. पर सम्पूर्ण जैन-साहित्य पिष्ट-पेषण मात्र नहीं है और जो है वह भी न केवल लोक-पक्ष बल्कि भाषा-विकास की दृष्टि से भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है. जैनों ने भारतीय चिन्तना की आदर्श संस्थापक नैतिक एवं धार्मिक मान्यताओं को जन-भाषा-समन्वित शैली में ढाल कर राष्ट्र के आध्यात्मिक स्तर को बड़ा बल दिया है और हमारी धर्म-मूलक थाती की रक्षा की है. उन्होंने इस प्रकार साहित्य परम्परा को संस्कृत के कूप-जल से निकाल कर भाषा के बहते नीर में अवगाहन कराया है—उसे अभिव्यक्ति के नये पथ पर अग्रसर किया है.

विभिन्न जैन-गच्छों ने साहित्य की जो सेवा की है उसका पूरा-पूरा लेखा-जोखा लेने का न यहां अवसर ही है और न

अवकाश ही. यहाँ केवल लोंकागच्छ द्वारा की गई साहित्य-सेवा के विषय में कतिपय सूचनात्मक संकेत वर्णानुक्रम से प्रस्तुत किये जा रहे हैं.

अमोलक ऋषि—इस नाम के दो व्यक्ति हुए हैं. प्रथम तो 'भीमसेन चौपई' के रचयिता, जिनका विशेष परिचय नहीं मिल सका, और द्वितीय बत्तीस सूत्रों के उद्धारक ऋषि सम्प्रदाय के आचार्य. इन्हीं की साहित्य-साधना एवं दीर्घदर्शिता का परिणाम है कि उन दिनों आगम सानुवाद सर्वसुलभ हो सके. यद्यपि तत्पश्चात् इस दिशा में सर्वश्री मुनि आत्मारामजी एवं मुनि घासीलालजी के प्रयास अभिनन्दनीय हैं तथापि एतद्विषयक प्राथमिक प्रयास का श्रेय द्वितीय अमोलक ऋषि जी को ही है.

आणंद—इनका सं० १६६२ के बाद रचित 'शिवजी का सिलोका' प्राप्त है, जो एक ऐतिहासिक १४ पद्यात्मक कृति है. इसमें आचार्य शिवजी का वर्णन है जो गुजराती लोंकागच्छीय द्वितीय पक्ष अर्थात् कुंवरजी पक्ष के पाटानुक्रम से १३ वें आचार्य थे तथा जिनका जन्म, सं० १६५४ माघ सुदि दूज को जामनगर निवासी श्रीमाली संघवी अमरसी की धर्मपत्नी तेजबाई की रत्नकुक्षि से हुआ था. संवत् १६७० में दीक्षा और संवत् १६८८ जेठ सुदि ५, सोमवार को पाटण में पद-स्थापन, सं० १७३३ मिगसर दूज रविवार को स्वर्गवास. इन्हीं आचार्य श्री का एक रास नाकर ऋषि के प्रशिष्य और देवजी ऋषि के शिष्य धर्मसिंह ने सं० १६६२ में उदयपुर में रचा. आचार्य श्री के समय—सं० १६८५—में ही उनके शिष्य धर्मसिंह ने नवीन पक्ष की स्थापना की. इन्हीं की परम्परा में एक और आणंद हुए हैं. जिनका परिचय आगे दिया जा रहा है.

आणंद—कुंवरजी पक्ष के त्रिलोकसिंहजी के शिष्य आणंद (आनन्द) मुनि ने, सं० १७३१ श्रावण, लालपुर (देहली) में एवं, सं० १७३८ कार्तिक सुदि पूर्णिमा, राधनपुर में क्रमशः 'गणितसार' और 'हरिवंशचरित्र' की रचना की. दोनों रचनाओं की अंतिम प्रशस्तियां ऐतिहासिक तथ्यों से परिपूर्ण हैं.

'गणितसार' में दिल्ली का वर्णन करते हुए छत्रपति औरंगजेब, सिद्दी पोलादखां, काजी शेख सुलेमान के न्याय की कवि ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है. साथ ही उसने रामचन्द्र (नागौरीगच्छीय), मानसिंह, हरिकृष्ण, भागीरथ और रूपचन्द्र का उल्लेख भी किया है जिनकी अभ्यर्थना से गणि त्रिलोकसिंह जी, जो आचार्य शिवजी के पट्टधर थे, ने लालपुर में चातुर्मास व्यतीत किया था.

'हरिवंशचरित्र' में कुंवर जी, श्रीमलजी, केशवजी, रत्नागरजी, शिवजी, त्रिलोकसिंह आदि पुण्यात्माओं का स्मरण किया गया है. राधनपुर के श्रमणोपासक भंडसाली सूरजी के पुत्र भीमजी के आग्रह से उत्तराध्ययन सूत्र सटीक, ज्ञाता, समवायांग और अन्तगड़ आदि शास्त्रों के सार स्वरूप प्रस्तुत कृति का सृजन किया गया था.

आनन्द जेठमल—यह जयपुर निवासी ओशवाल जैन गृहस्थ थे. इन्होंने 'जम्बूस्वामी गुणरत्नमाल' (सं० १९०२) पैंतीस ढालों में लिखकर महर्षि के प्रति आदर-भाव व्यक्त किया है.

आसकरण—यह रायचन्द्र ऋषि के शिष्य थे. इनका अस्तित्व समय १९ वीं शती है. 'नेमिराज ढाल' और 'चूंदडी ढाल' आदि इनकी रचनाएं हैं.

उम्मेदचन्द—स्थानकवासी सम्प्रदाय के गुजराती साहित्य-सेवी मुनियों में इनका स्थान महत्त्वपूर्ण है. इन्होंने प्रचुर परिमाण में महामुनियों के आदर्श चरित्र लिखकर जन-मानस को नैतिकता का पाठ पढ़ाया. इनकी कवित्वशक्ति सहज थी, जो उनकी वृहत्तर काव्य-रचनाओं और नाना औपदेशिक स्फुट-पद्यों से स्पष्ट है. रूपाणी भीमजी कालिदास ने उम्मेदचन्दजी कृत काव्य-संग्रह कई भागों में प्रकाशित किये हैं.

कवि का साहित्य-साधना-काल बीसवीं शती का प्रथम चरण है. यह उनकी कृतियों की अंतिम प्रशस्तियों से सिद्ध होता है. इनकी कृतियां इस प्रकार हैं—

१. आर्द्रकुमार का रास (सं० १९२२ विजयादशमी सोमवार, भावनगर)

२. गजसुकुमार की ढाल (सं० १९२२ आश्विन शुक्ला १२, मंगलवार, भावनगर)
३. अर्जुन माली की ढाल (सं० १९२२ आसौज सुदि १४ शुक्रवार, भावनगर)
४. अयमंता मुनि की ढालें (सं० १९२२ आसौज वदि ८, शनिवार भावनगर)
५. अमरकुमार की ढालें (सं० १९२५ मिगसर वदि अमावस्या, रविवार, वोरसद)
६. हरिकेशि मुनि का रास (सं० १९२५ फागुन, गणपुर–गढा)
७. मेतार्य मुनि का चौढालिया (सं० १९२५ वैशाख सुदि ६ सोमवार खंभात)
८. नीपढ कुमार की ढाल (सं० १९२५ भादों, खंभात)
९. सुकोशल की ढाल (सं० १९३०)
१०. नेमराजुल का पट् ख्याल
११. ऋषभदेव का किस्सा (सं० १९२८ कार्तिक वदि ११)

कनीराम—इनका 'तिलोकसुन्दरी चौपाई' का नामोल्लेख स्व० मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने अपने ग्रंथ 'जैन गुर्जर कविओ' भाग ३ पृ० २२२ पर किया है. इसकी एक प्रति मुनि श्री कान्तिसागरजी के संग्रहालय में सुरक्षित है, जिसकी प्रशस्ति का ऐतिहासिक भाग नीचे दिया जा रहा है—

इग्यारे वसु समत कहायो इन्दुहर सवरस पायो रे लो,
धन तेरसे भोमवार सुहायो विजय महूर्त मन भायो रे लो।
शासन मंडण घन ज्यूं गाजे पूज गुमान गुरू राजे रे लो,
तास दिवाजै विलुखज लाजै सांसा सुहना भांजे रे लो।
तस लघु बांधव पाट सुहाया दुरगदास मुनिरायो रे लो,
च्यारू सिंघ निज द्रष्ट चलाया आदित्य तेज सवायो रे लो।
रतनेसर तस पाट वैरागी पुद्गल रसना त्यागी रे लो,
वांण अभी ज्यांरी सुणावण भागी वहु थया धरस लागी रे लो।
तस सुखदाता जिण गुणगाता दलीचन्द गुरभ्राता रे लो,
सकल सिंघ ज्यांरो जगत विख्यात नेह परसपर ज्ञाता रे लो।
ऋष कनिराम जश सिणगायो पीपाड़पुर मन लायो रे लो,
ढाल वाईस कर गाय सुणायो श्रावक-जन-मन भाया रे लो।
वरणव नै वक्ता जो भणसी श्रोता हित धर सुणसि रे लो,
सील नवल रस जांणीं गणसी सिव सुफल लणसी रे लो।

कान्हजी—यह लोंका गच्छ के सुप्रसिद्ध १६ वें आचार्य तेजसिंह के शिष्य थे. सं० १७४३ में इन्हें गणिपद प्राप्त हुआ. इनका मूल निवास-स्थान नाडोलाइ था. तेजसिंह की अपूर्ण 'गुरुगुण-मालाभास' की पूर्ति इन्हीं द्वारा हुई. यद्यपि इनकी कोई वड़ी कृति आज तक देखने में नहीं आई पर अनेक स्फुट पद्य उपलब्ध हैं. इन्हीं के समय में गंग मुनि तथा इनकी परम्परा के अन्य मुनियों ने भी साहित्यिक रचनाएं की हैं, जिनका उल्लेख यथास्थान किया जायेगा।
कान्हजी की रचनाएं इस प्रकार हैं—

१. अर्जुनमाली स्वाध्याय (रचनाकाल सं० १७४८ राणपुर)
२. गजसुकुमार स्वाध्याय (रचनाकाल सं० १७५३)
३. शान्तिनाथस्तवन (रचनाकाल सं० १७५६ सूरत)
४. सुदर्शन सेठ स्वाध्याय (रचनाकाल सं० १७५६ सूरत)
५. समायक दोप स्वाध्याय (रचनाकाल सं १७५८ सूरत)

६. नेमिनाथ स्तवन (रचनाकाल सं० १७७० कालावड़)
७. मेघमुनि स्वाध्याय (रचनाकाल सं० १७७० कालावड़)
८. स्थूलभद्र स्वाध्याय

किशनदास—स्थानकवासी जैन संप्रदाय में 'वावनी' संज्ञक रचना लिखने वाले यह तीसरे कवि हैं. इनकी 'किशनवावनी' हिन्दी की सुन्दर, भावपूर्ण और विचारोत्तेजक रचना स्वीकार की जा सकती है. इसका निर्माण संघराजजी के समय में सं० १७५८ विजया दशमी को साध्वी रतनवाई के देहावसान पर आगरा में हुआ.

कुंवरजी—यह लोंकागच्छीय परम्परा के ८ वें आचार्य जीवराजजी के शिष्य थे. अहमदाबाद के श्रीमाली वणिक् लहुवोजी की धर्मपत्नी रूडी वाई की रत्नकुक्षि से इनका जन्म हुआ. सात व्यक्तियों के साथ सं० १६०२ जेठ सुदि पंचमी को दीक्षा अंगीकार की, सं० १६१२ में गुरुपट्टस्थान हुआ और सं० १६२८ दीपावली को स्वर्गगमन हुआ. कुंवरजी ने अपने गुरु से पृथक् हो एक स्वतन्त्र पक्ष स्थापित किया था.

कुंवरजी ने आत्मशुद्धि एवं जीवनोत्कर्ष के लिए सं० १६२४ श्रावण सुदि १३, गुरुवार को 'साधुवन्दना' का प्रणयन किया. सं० १६२७ एवं सं० १६६१ की इसकी प्रतिलिपित प्रतियां इन्हीं की परम्परा के मुनियों की उपलब्ध हैं.

कुशल—लोंकागच्छीय रामसिहजी के शिष्य कवि कुशल ने सं० १६८६ सोजत में दशार्णभद्र 'चौढ़ालिया' सं० १७८९ चैत्र सुदि दूज को मेड़ता में सनत्कुमार चौढालिया 'लघु साधुवन्दना' एवं 'सीता आलोयणा' का प्रणयन किया.

केशवजी—यह कुंवरजी पक्ष के तीसरे और पाटानुक्रम से १२ वें आचार्य, गुणादा के विजा की पत्नी जयवन्ती के पुत्र थे. जन्म सं० फागुन वदि ५, आचार्य पद सं० १६८६ जेठ सुदि १३, गुरुवार और तदनन्तर स्वल्प समय में देहावसान. केशवजी ने कुंवर के पट्टधर श्रीमल्लजी के समय में लोंकाशाह का सिलोका की रचना की. २४ पद्य की इस ऐतिहासिक कृति में लोंकाशाह और उनकी परम्परा के कतिपय मुनियों का संकेतात्मक परिचय है.

खीमसुनि—'पंचमहाव्रत' 'पंचढालिया सज्झाय' के प्रणेता, खीममुनि उपाध्याय कान मुनि के शिष्य थे. खीममुनि ने अपने रचना-काल का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है पर 'जैन गुर्जर कवियो' भाग ३ पृ० १५३ पर एक अज्ञातकर्तृक रचना 'खिम ऋषि पारणा' का उल्लेख है, जिसका लेखन-काल सं० १७८२ है, यदि यह पारणा पंचमहाव्रत के कर्त्ता खीम मुनि से संवद्ध मान लिया जाय तो इन्हें सं० १७८२ के पूर्व का कवि मान लेने में कोई अनौचित्य नहीं है.

खुशालचन्द—'सम्यक्कौमुदी चौपाई' अथवा 'अरहद्दासा चरित्र' के प्रणेता खुशालचन्द रायचन्द्र के शिष्य और पुण्यात्मा जेठमलजी के प्रशिष्य थे. सम्यक्त्व जैन-दर्शन की आत्मा है, विना इसे प्राप्त किये जीवन शून्यवत् है ! इसी विषय को लेकर सम्यक्कौमुदी चौपाई की रचना हुई है, जिसमें समकित की विशद विवेचना द्वारा जन-मानस को धर्म-भावनाओं की ओर आकृष्ट किया गया है. इस चौपाई की रचना नागौर में सं० १८७९ वैशाख सुदि ३ को हुई.

खेतसी—लोंकागच्छीय १३ वें पट्टधर दामोदरजी के शिष्य कवि खेता ने वि० सं० १७३२ में वैराट (मेवाड़) में 'धन्ना महर्षि के रास' का प्रणयन किया और सं० १७४५ में अनाथी ऋषि की ढालें वनाईं.

खोड़ीदास-खोडाजी स्वामी—यह स्थानकवासी गोंडल संप्रदाय के साधु थे. इनका जन्म राजकोट में वीरजी की पत्नी डाही से सं० १८९२ कार्तिक सुदि ११ को हुआ था. सं० १९०८ आषाढ़ सुदि ११ को दीक्षा अंगीकार की और सं० १९२७ भादों सुदि ११ शनिवार को गोंडल में स्वर्गवास हुआ.

खोड़ीदासजी अपने क्षेत्र के माने हुए संत और कवि थे. तत्रस्थित जैनेतर समाज पर इनका प्रभाव था. इनकी रचनाओं में जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्तों को वोधगम्य भाषा में उपस्थित करने का प्रयास परिलक्षित होता है. इनका काव्य-संग्रह दो भागों में गोंडल से प्रकाशित हो चुका है. खोड़ीदासजी की रचनाएं इस प्रकार हैं—

१. निरंजन पच्चीसी (सं० १९१६ आसोज सुदि १३ जैतपुर)
२. तस्कर पच्चीसी (सं० १९१६ आसोज)

३. जोवन पच्चीसी (सं० १९१६ पोस सुदि पूर्णिमा गोंडल)
४. भीमजी स्वामी जी का चोढ़ालिया (सं० १९१६ पोस सुदि १ गोंडल)
५. वोहत्तरी (सं० १९१८ ज्ञान पंचमी)
३. तीर्थंकर चौढालिया (सं० १९१८)
७. अंजना सती का रास (सं० १९१९ वैशाख सुदि ३ गोंडल)
८. ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का रास (सं० १९२७)
९. चौवीसी
१०. जुगत (ट ?) पच्चीसी
११. सत्यवाईसी

**गंग-गांगजी**—यह लोंकागच्छीय १७ में पट्टधर कानजी की शिष्य-परम्परा में लक्ष्मीधरजी के शिष्य थे. इनकी रचनाएँ ये हैं—

१. रत्नसार तेजसार रास (सं० १७६१ जेठ सुदि ६ गुरुवार, हालार (सौराष्ट्र)
२. जम्बू स्वामी स्वाध्याय (सं० १७६५ श्रावण सुदि २ राणपुर)
३. गौतम स्वामी स्वाध्याय (सं० १७६५ प्रथम भाद्रवदि ५, बुधवार, मांगरौल)
४. सीमंधरविनति (सं० १७७१ भादों सुदि १३ कुन्तलपुर)

**गुलाल**—यह गुजराती गच्छ के नगराज के प्रशिष्य केशर के शिष्य थे. इन्होंने नोवा में सं० १८२१ में श्रावण सुदि ८ रविवार को तेजसार कुमार चौपाई की रचना की.

**गोधा-गोवर्धन**—इनकी ६८ पद्यों की 'रतन-सी ऋषि की मनभास' उपलब्ध है. यह कृति ऐतिहासिक दृष्टि से उपादेय है.

**चौथमल**—इन्होंने उपदेशमाला के आधार दर 'ऋषिदत्ता चौपाई' (सं० १८६४ कातिक सुदि १३ देवगढ़-मेवाड़) की रचना की. इसमें आदर्श नारी का चित्रण हुआ है. इस रचना की प्रतिलिपि इनके शिष्य सूरजमल ने पाली नगर में की.

**जगजीवन**—यह थराद के ओसवाल चौपड़ा गोत्रीय पिता जोइता की पत्नी रत्ना के पुत्र थे. इनके निम्नांकित स्फुट स्तवन उपलब्ध हैं—

१. संभवजिन स्तवन (सं० १८००)
२. मल्लीजिन स्तनवन (सं० १८१४)
३. ऋषभ जिनस्तवन (सं९ १८१५)
४. नेमि जिन स्तवन (सं० १८२५)

**जगन-जगन्नाथ**—यह लोंकागच्छीय ऋषि शेखा के शिष्य थे. इन्होंने सं० १७६१ में 'सुकोमल मुनि चौपाई' की रचना की जिसकी कवि के हाथ की लिखी प्रति राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान में सुरक्षित है. इसमें सुकोमल मुनि के माध्यम से अहिंसामाहात्म्य प्रकट किया गया है.

**जयमल**—ये लोंका-गच्छीय मुनि थे और राजस्थान में विचरण किया करते थे. 'साधुवन्दना' (सं० १८०७ नागौर) इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है. इसके अतिरिक्त 'परदेसी राजा का रास' 'अर्जुनमाली का छः ढाला' (सं० १८२० कार्तिक सुदि पूर्णिमा) 'अवन्ति सुकुमार चौढालिया' (सं० १८२५ असोज सुदि ७ नागौर) 'दीपावली स्वाध्याय' 'मंदक चौढालिया', (सं० १८११ चैत्र ७ लाडूया) 'चन्द्रगुप्त सोलह स्वप्न 'स्वाध्याय' 'नेमि चरित्र चौपाई'-सं० १८०४ भादों सुदि ५), 'कमलावती स्वाध्याय' 'स्थूलभद्र स्वाध्याय' आदि अन्य रचनायें हैं.

मुनि जयमलजी अपने समय में एक आदर्श मुनि के रूप में मान्य रहे. इनकी यशोगाथा को किसी अज्ञात कवि ने स्तव

दिया है, जिसका उल्लेख जैनगुर्जर कविश्रो भाग ३ पृ० १५३६ पर किया गया है. भाव यह है. कि लांबिया में मुहता मोहनदास की धर्म-पत्नी महमादे की रत्नकुक्षि से इनका जन्म हुआ. व्यापारिक प्रसंग को लेकर मेड़ता पधारे और भूधरजी मुनि की आध्यात्मिक वाणी का श्रवण कर सं० १७८८ मिग० वदि दूज अर्थात् २२ वें वर्ष में संयम ग्रहण कर लिया. इससे सिद्ध है कि इनका जन्म सं० १७६६ है. इन्होंने जयपुर, आगरा, दिल्ली, बीकानेर,फतेहपुर, मारवाड़, मेवाड़ किसनगढ़ आदि नगरों में चातुर्मास किये.

तिलोक ऋषि—लोंका-गच्छीय विशिष्ट कवियों में तिलोक ऋषि ऐसे कवि हैं जिनकी प्रचुर कृतियां पाई जाती हैं. यह लवजी ऋषि की परम्परा के अयवन्ता ऋषि के शिष्य थे. रतलाम निवासी सुराणा गोत्रीय दुलीचंदजी की धर्मपत्नी नानूबाई की रत्नकुक्षि से इनका जन्म सं० १९०४ चैत्र वदि ३ बुधवार को हुआ था.

तिलोकचंदजी ने सं० १९१४ में अर्थात् १० वर्ष की कोमल वय में अयवन्ता ऋषि से दीक्षा ग्रहण की. साधना के कठिन मार्ग पर चलते हुए भी सरस्वती के प्रति इनका आकर्षण बना रहा, जिसकी परिणति निम्नांकित कृतियों में हुई—

१. पंचवादी काव्य (सं० १९३० वै० व० १० सोमवार मंदसौर)
२. धर्म जयकुमार चौपाई (सं० १९३० आषाढ़ शु० ३ शुक्र मंदसौर)
३. तिलोक बावनी (सं० १९३३ वै० शु० ९ शनि रतलाम)
४. श्रेणिक रास (सं० १९३९ आषाढ़ सुदि ३ पूना)
५. चंद्र केवली चरित्र
६. समरादित्य केवली चरित्र
७. सीता-चरित्र
८. धर्मबुद्धि पापबुद्धि चरित्र
९. हंस केशव चरित्र
१०. अर्जुन माली चरित्र
११. धन्ना शालिभद्र चरित्र
१२. भृगु पुरोहित चरित्र
१३. हरिवंश काव्य
१४. अमरकुमार चरित्र
१५. नन्दनमणिहार चरित्र
१६. महावीर स्वामी चरित्र
१७. प्रतिक्रमण सत्यबोध
१८. ज्ञान प्रदीपक

तेज-तेजमुनि—यह लोंकागच्छीय भीमजी के शिष्य थे. इनकी रचनायें हैं—
१. चंदराज का रासा (सं० १७०७ दीपावली, सोमवार, राणपुर)
२. जितारि रास (सं० १७३४)

तेजपाल—यह लोंकागच्छीय इन्द्रजी के शिष्य थे. इनकी रचनायें ये हैं—
१. रत्न पंचवीसी रत्नचूड चौपाई (सं० १७३५ रविवार, अहमदपुर)
२. थावच्चामुनि स्वाध्याय

तेजसिंह—यह लोंकागच्छीय मूल परम्परा के १९वें आचार्य पंचेरिया निवासी छाजेड़ गोत्रीय लखमण की धर्म-पत्नी लखमादे के पुत्र थे. जन्म संवत् अज्ञात है. इनकी दीक्षा सं० १७०६ आषाढ़ सुदि १० शुक्रवार को हुई. पदस्थापन बोरा वीरजी द्वारा सूरत में सं० १७२१ वैसाख सुदि ७ गुरुवार को हुआ. यह केशवजी के शिष्य थे. इनके समय में

संप्रदाय संघर्ष की स्थिति में थी तथापि ये साहित्य-रचना में लगे रहे. इतिहास के प्रति इनका विशिष्ट अनुराग था. तेजपाल इन्हीं के शिष्य थे. इनकी निम्नांकित रचनाएँ प्राप्त हैं—

१. नेमिनाथ स्तवन (सं० १७११)
२. ऋषभजिन स्तवन (सं० १७२७ चैत्र पूर्णिमा जालौर)
३. शांतिनाथ स्तवन (सं० १७३३ बुरहानपुर)
४. वीर स्तवन (सं० १७३३)
५. जिन स्तवन (सं० १७६४ रतलाम)
६. अंतराका स्तवन (सं० १७३५ नादेसमा-मेवाड़)
७. श्रीसीमंधर स्तवन (सं० १७४८)

अज्ञात रचनाएँ—

१. सत्ताईस पीठ स्वाध्याय
२. हरिवंशोत्पत्तिरास
३. सोलह स्वप्न स्वाध्याय
४. सुविधिजिन स्तवन
५. तमाखू की स्वाध्याय

श्रीतेजसिंह संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता थे. दृष्टांतशतक इनकी सर्वज्ञात रचना है.

त्रिक्रम—यह नागौरी गच्छीय आसकरण के प्रशिष्य और वणवीर के शिष्य थे. इनका 'रूपचन्द ऋषि का रास' (सं० १६९९ भादों वदि ३ बुधवार, अकबरपुर) लोंकागच्छीय इतिहास की दृष्टि से अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है. जीवन-चरित लेखन की दृष्टि से भी यह रचना महत्त्वपूर्ण है. इनकी रचनायें इस प्रकार हैं—

१. अमरसेन रास (सं० १६९८)
२. वंगचूल का रास (सं० १७०६ भादों सुदि ११ गुरुवार किशनगढ़)

दीप—यह लोंकागच्छ की १३-१४ वीं गद्दी के आचार्य के समय स्वतंत्र मत चलाने वाले श्रीधनराज की परम्परा में थे. इनकी रचनायें हैं—

१. सुदर्शन श्रेष्ठि रास
२. वीर स्वामी का रास
३. पांचम चौपाई
४. गुणकरण्ड गुणावली रास (सं० १७५७)

कुलैथ में इन्होंने एक धमार भी लिखी थी.

धर्मदास—यह लोंकागच्छीय जीवराज के शिष्य थे. इनकी कृति 'जसवंत मुनि का रास' सं० (१६५२ भादों वदि १०, खण्डेहरा) प्राप्त है.

धर्मसिंह—इन्होंने सं० १६९२ में, उदयपुर में चातुर्मास रहकर आचार्य शिवजी का ऐतिहासिक रास निर्मित किया. सं० १६८५ में इन्होंने लोंकागच्छ से अलग एक स्वतंत्र शाखा स्थापित की जो 'दरियापारी (पुरी) शाखा' के नाम से विख्यात है. इनकी परम्परा में कई स्वतन्त्र ग्रन्थकार मुनि हुए हैं.

नन्दलाल—यह रतिराम के शिष्य थे. इन्होंने 'लब्धिप्रकाश चौपाई' (सं० १९०३ [illegible]) और '[illegible]' (सं० १९०६) की रचना की.

**नरसिंह मुनि**—यह असंदिग्ध सत्य है कि संशोधन के क्षेत्र में कभी-कभी सामान्य गीत का भी बहुत बड़ा महत्त्व प्रमाणित हो जाता है. यहां जिन नरसिंह मुनि का उल्लेख किया गया है वे न तो स्वयं बहुत बड़े ग्रन्थकार थे और न साहित्यकार ही. किंतु इनकी एक मात्र अद्यावधि अज्ञात कृति उपलब्ध हुई है जिसमें १९वीं शती के एक महान् व्यक्तित्व की यशोगाथा वर्णित है. हमारा तात्पर्य रोड़जी स्वामी से है. ये अपने समय के विशिष्ट कोटि के संयमशील तपस्वी स्थानकवासी मुनि थे. रायपुर, सनवाड़, उदयपुर, नाथद्वारा और आमेट में रहकर इन्होंने जो-जो उपसर्ग सहन किये और सूचित स्थानों में इनके संबंध में प्रचलित जन-प्रवादों पर इस गीत में प्रकाश डाला गया है. इसकी रचना सं० १८४७ में रायपुर (मेवाड़) में की गई है. भले ही यह गीत लघुतम है पर महामुनि की यशःकीर्ति को ज्योतित करने में अनुपम है.

**नानजी**—यह कुंवरजी पक्ष के तृतीय आचार्य रतनसी के शिष्य थे. इन्होंने पंचावरण स्तवन सं० १६७९, दीपावली-जामनगर) और नेमिनाथ स्तवन (सं० १६७२ दीपावली-अहमदावाद) की रचना की.

**नारायण**—यह लोंकागच्छीय अष्टम पट्टधर जीवराजजी के शिष्य थे, इन्होंने कल्पवल्ली में चातुर्मास रहकर सं० १६८४ आसोज वदि ७ गुरुवार को 'श्रेणिकरास' की रचना की.

**परमा**—यह राजसिंघ के शिष्य थे. इन्होंने 'प्रभावती चौपाई'(सं० १६४८ आश्विन शुक्ला १०, शनिवार) की रचना की.

**प्रकाशसिंह**—यह स्थानकवासी संप्रदाय के प्रथम कवि हैं जिन्होंने स्वतंत्र छप्पय लिखे. रचना-काल सं० १८७५ आषाढ़ सुदि ८ (गोंडल) है. यह स्थानकवासी सम्प्रदाय के सद्गृहस्थ थे.

**पासो पटेल**—यह वना के प्रशिष्य और जीवा के शिष्य थे. इन्होंने सं० १८१८ चै० अमावस्या को लीमड़ी में रहकर 'भरत चक्रवर्ती रास' लिखा.

**प्रेम**—इन्होंने सं० १६६१ में 'द्रौपदी रास' और सं० १६९२ में 'मंगल कलश रास' की रचना की.

**प्रेम**—यह नृसिंह के शिष्य थे. इन्होंने 'हरिचंद चौपाई' (सं० १८५८ मगसिर वदि ९ रविवार-जोधपुर) की रचना की. स्व० मोहनलाल दलीचंद देसाई ने 'वैदर्भी चौपाई' को भी इनकी रचना मान लिया है जो स्पष्टतः भूल है. क्योंकि वैदर्भी चौपाई–जिसकी १८वीं शती की प्रतिलिपि प्राप्त है—के प्रणेता प्रेमराज सूरि थे. जब कि 'हरिचंद चौपाई' के प्रणेता १९वीं शती के कवि थे.

**भाणचन्द**—यह लोंकागच्छ के प्राचीन कवियों में प्रमुख ऐतिहासिक कवि हैं. इन्होंने 'दयाधर्म चौपाई' (सं० १५७८ माघ सुदि ७) की रचना की जिसमें अपने सम्प्रदाय का ऐतिहासिक वर्णन एवं तात्कालिक साम्प्रदायिक मान्यताओं का उल्लेख है.

**भीम**—यह लोंकागच्छीय बड़े वीरसिंह के शिष्य थे. इन्होंने तीन खण्डों में 'श्रेणिक रास' लिखा, जिसका क्रमशः रचना-काल इस प्रकार है—

प्रथम खण्ड सं० १६२१ भादों सुदि २, वड़ोदा.

द्वितीय खण्ड सं० १६३२ भादों वदि २, वड़ोदा.

तृतीय खण्ड सं० १६३६ आसोज वदि ७, रविवार.

इनकी एक अन्य रचना 'नागलकुमार—नगदत्त का रास' (सं० १६३२ आसोज सुदि ५, गुरुवार वड़ोदा) प्राप्त है.

**वालचन्द्र**—यह कुंवरजी पक्ष के श्रीमल के प्रशिष्य और गंगदास के शिष्य थे. हिन्दी भाषा पर इनके अद्भुत प्रभुत्व का परिचय इनकी 'वालचन्द्र वत्तीसी' (सं० १६५८ दीपावली, अहमदावाद) से मिलता है. गृहस्थोचित कर्त्तव्यों का सम्यक् विवेचन एवं नैतिक उपदेशों से परिपूर्ण यह एक आदर्शवादी रचना है. स्मरणीय है कि एक और वाल कवि सं० १५१७ में हुए हैं जिनकी 'वाल-वावनी' प्रसिद्ध है. खरतरगच्छ में भी इस नाम के दो कवि हो गये हैं.

**मयाचन्द**—यह लीलाधरजी के शिष्य और कृष्णदास जी के प्रशिष्य थे. इन्होंने 'गजसिंह राजा का रास' (सं० १८१५ चैत्र वदि ८, गुरुवार जामनगर) की रचना की.

स्मरणीय है कि इसी समय मयाचन्द नाम के दो अन्य कवि भी हुए हैं. जिनमें एक तो रत्नसिंह के शिष्य मयाचन्द जिनकी रचना 'वृद्धिरास स्वाध्याय' प्राप्त है और दूसरे सिद्धिवल्लभ के शिष्य मयाचन्द जो 'नवरत्न स्तवन' (सं० १८५२ जेष्ठ सुदि ४, मुलतान) के प्रणेता थे. इन मयाचन्द का मतिलाभ नाम भी था.

मानमुनि—'ज्ञानरस' के प्रणेता मानमुनि नवल ऋषि के शिष्य थे जो सं० १७३९ में विद्यमान थे.

माल—यह खूबचन्द सन्तानीय नाथाजी के शिष्य थे, जैसा कि इनकी रचनाओं की अन्त्य प्रशस्तियों से प्रमाणित है. प्राप्त कृतियों के आधार पर इनका साहित्यसाधना-काल सं० १८१० से सं०१८५७ का मध्यकाल जान पड़ता है. इनकी रचनायें इस प्रकार हैं—

१. आपाढ़भूति चौढालिया (सं० १८१० आपाढ़ सुदि २, भुज)
२. राजीमती स्वाध्याय (सं० १८२२, मुन्द्रा)
३. इलाचीकुमार छः ढाला (सं० १८५५, जेठ, अंजार)
४. इशुकार कमलावती छः ढाला (सं० १८५५, जेठ वदि ३, अंजार)
५. पट्वांधवरास छः ढाला (सं० १८५७, कार्तिक, मांडवी)

'जैन-गुर्जर कविओ' भाग ३ पृ० २२८ पर 'अंजनासुन्दरी चौपाई'—जिसका प्रतिलिपिकाल सं० १८०९ है—को स्व० देशाई ने नाथाजी शिष्य मान की रचना माना है, जो स्पष्टतः भूल है. कारण कि 'अंजनासुन्दरी चौपाई' के प्रणेता मुनि माल वड़ गच्छीय भटनेर शाखा के थे और इनका अस्तित्व समय १७ वीं शती का प्रथम चरण उनकी कृतियों से स्पष्ट है. सूचित माल की इसी कृति का उल्लेख 'जैन गुर्जर कविओ' भाग प्रथम पृ० ४६३ पर भी किया गया है. जिसका प्रतिलिपिकाल सं० १६६३ है. अतः यह स्पष्ट है कि देशाई महोदय की भूल के कारण ही १७ वीं शती के माल की रचना १९ वीं शती के लोंकागच्छीय माल के नाम पर चढ़ गई है. भाषा और वर्णनशैली की दृष्टि से भी दोनों का भिन्नत्व स्पष्ट प्रतीत होता है. इसी मुनि माल की रचनाओं को नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों के १८ वें त्रैवार्षिक विवरण (१९४१–४३) में अज्ञातकर्तृक रचनाएं मान लिया गया है जब कि इनका नाम अंतिम पंक्तियों में स्पष्टतः सूचित है. इस माल की एक दर्जन से अधिक अन्य रचनाएं भी प्राप्त हैं. यह राजस्थानी के कवि थे जब कि नाथाजी के शिष्य गुजराती के.

मालसिंह—यह लोंकागच्छीय करमसी के शिष्य थे. इनकी रचना 'कलावती चौढालिया' प्राप्त है जिसका रचना-काल सं० १८३५ श्रावण सुदि ५ है.

मेघराज—लोंकागच्छीय जगजीवन के शिष्य मेघराज ने 'ज्ञानपंचमी स्तवन' (सं० १८३०–वीरमगाम) और 'पार्श्वनाथ स्तवन' (सं० १८४१) की रचना की.

उल्लेखनीय है कि इस नाम के चार और कवि भी हुए हैं. प्रथम दिगम्बर सम्प्रदाय के ब्रह्मशांति के शिष्य, जिनका 'शांतिनाथचरित्र' (सं० १६१७ में प्रतिलिपित) प्राप्त है. द्वितीय दिगम्बर सुमतिकीर्ति के शिष्य जिनका '[illegible] रास' (सं १७५४ में प्रतिलिपित) उपलब्ध है. तृतीय पार्श्वचन्द्रगच्छीय श्रवण ऋषि के शिष्य जिनकी [illegible] रास (सं० १६६४) सोलह सती का रास, राजचन्द्र प्रवहण (सं० १६६१) पार्श्वचन्द्र स्तुति, [illegible] बालावबोध और स्थानांग बालावबोध आदि रचनाएं मिलती हैं. चतुर्थ मेघराज आंचल गच्छीय भानुलब्धि के शिष्य थे जिनके '[illegible] भेदी पूजा' और 'ऋषभजन्म' ग्रंथ उपलब्ध हैं. इनका समय १७ वीं शती का उत्तरार्द्ध है.

रत्नचन्द्र—यह गुमानचन्द के प्रशिष्य और दुर्गादास के शिष्य थे. इन्होंने चतुर्दश [illegible] '[illegible] चौपाई' सं० १८५२) और पंचढालबद्ध निर्मोहीढाल (सं० १८७४ पाली में) लिखी.

इस नाम के दो अन्य विद्वान् भी हुए हैं. जिनमें से एक बड़गच्छीय [illegible] के शिष्य '[illegible] चौपाई' (सं० [illegible]) के प्रणेता और दूसरे तपागच्छीय शांतिचन्द्र के शिष्य '[illegible] कथा' (सं० [illegible]) के [illegible] हैं.

रामदास—यह लोंकागच्छीय उत्तम के शिष्य थे. इन्होंने 'पुण्यपाल राजा का रास' (सं० १६९३ जेठ वदि १३, गुरुवार सारंगपुर—मालवा) की रचना की. इसकी अंतिम प्रशस्ति महत्त्व की है.

रायचन्द—रायचन्द सुप्रसिद्ध लोंकागच्छीय जयमलजी के शिष्य थे. इनकी कृतियों में उल्लिखित ग्रंथाधारों से विदित होता है कि ये स्वाध्याय के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट थे. इन्होंने सं० १८३३ से सं० १८४७ तक साहित्यिक जीवन व्यतीत कर ज्ञान और क्रिया का समन्वयमूलक आदर्श उपस्थित किया. कवित्वशक्ति जैसे इन्हें पारम्परिक रूप से उपलब्ध थी. इनकी रचनाएं इस प्रकार हैं—

१. समाधि-पचवीसी (सं० १८३३, मेड़ता)
२. गौतम स्वामी का रास (सं० १८३४ भादों सुदि ९, बीकानेर)
३. कलावती चौपई (सं० १८३७ आसोज सुदि ५, मेड़ता)
४. आपाढ़भूति चौढालिया (सं० १८३४ विजयादशमी नागौर)
५. मृगांकलेखा चौपई (सं० १८३८ भादों वदि ११, जोधपुर)
६. महावीर चौढालिया (सं० १८३९ दीपावली, नागौर)
७. ऋषभ चरित (सं० १८४० आसोज सुदि ५, पीपाड़)
८. नर्मदा सती की चोपई (१८४१ मिगसर, जोधपुर)
९. सज्झायादि

रूपचन्द—यह मेघराज की परम्परा के प्रेमकृष्ण के शिष्य थे. रूपचन्द जी ने अपनी कृतियों में अपनी पूर्व परम्परा का सुन्दर वर्णन किया है. यद्यपि इनकी भाषा गुजराती है तथापि अधिक समय तक बंगाल में निवास करने के कारण हिन्दी और बंगला का स्वल्प प्रभाव इनकी रचनाओं में आ गया है. इनकी अधिकतर रचनाएं आजमगढ़ में हुई हैं. संभव है यह आदेशी के रूप में वहां की गद्दी के संरक्षक के रूप में रहे हों. इनकी रचनायें इस प्रकार हैं—

१. श्रीपाल चौपाई (सं० १८५६ फाल्गुन वदि ७ रविवार मकसूदाबाद)
२. धर्मपरीक्षण रास (सं० १८६० मिगसर सुदि ५, शनिवार अजीमगंज)
३. पंचेन्द्रीय चौपई (सं० १८७३ वैशाख सुदि ८ रविवार मकसूदावाद)
४. रूपसेन चौपई (सं० १८७८ श्रावण सुदि ४ गुरुवार अजीमगंज)
५. अम्वडरास (सं० १८८० जेठ सुदि १०, बुधवार, मकसूदावाद)

उपर्युक्त रचनाओं में कोरा धार्मिक वर्णन ही नहीं है अपितु इनमें लोककथाएं भी समाविष्ट हैं. 'अम्वड-चरित्र' में क्षत्रिय अम्वड का अद्भुत चरित्र वर्णित हुआ है. रूपचन्द नाम के कतिपय पूर्ववर्ती कवि भी हुए हैं.

लालचन्द—इनका नाम स्थानकवासी परम्परा की १९ वीं शती की पट्टावलियों में मिलता है. 'सवत्थ पच्चीसी' (सं० १८६३ फाल्गुन सुदि ६, भाणपुर) और 'बुद्धिप्रकाश'—समुद्रबद्धकाव्य (सं० १८६३ कोटा) इनकी अज्ञात रचनाएं हैं. इनके स्फुट छंद, सवैया, कवित्त आदि विभिन्न संग्रहों में मिलते हैं.

विनय—यह अनूपदेवजी के शिष्य थे. इन्होंने मयणरेखा चौपई (सं० १८७० माघ १३, जयपुर) और सुभद्रा चौपई (सं० १८७० पोष शुक्ला १२, जयपुर) की रचना की. 'सुभद्रा चौपई' का रचना-काल श्री देशाई ने अपने जैन-गुर्जर कविओ में सं० १८७२ से पूर्व माना है, जो ठीक नहीं. यही तथ्य स्वामीजी सांवतरामजी के शिष्य हम्मीरमलजी द्वारा सं० १९०२ मिति आपाढ़ वदि १२ ममनोर में प्रतिलिपित प्रति से भी सिद्ध होता है. प्रशस्ति इस प्रकार है—

गुण गुणालंकृ महर्ण दूर्मति श्रीआचारिज सामजी,
तस श्री चर्ण सेवा ताराचन्दजी करि अति अभिरामजी।

श्रीअनोपचन्दजी तास सिष्या आदरी आणंद धरी,
तस चर्णा सेवा श्री वनेचन्दजी ढ़ाल ए पांचू करी।
गज नह ए वसुंधरा वीते सम्त १८७० पोष में सीत द्वादसी,
जैयपुर जिनपद पूरी सव नें अपंड चन्द कला जसी।

वस्तो—यह वढ़वाण के श्रावक थे. इन्होंने 'झूठा तपसी का सिलोका' (सं० १८३६ भादों सुदि रविवार) की रचना की. झूठा तपसी सौराष्ट्र के अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति थे. इनके विषय में राणपुर आदि नगरों में कई किंवदंतियां प्रचलित हैं.

सवलशाह—इन्होंने 'तिलोकसुन्दरी ढाल' (सं० १८९२ फलौदी) की रचना की.

समरचन्द्र—यह कुँवर जी पक्ष के रत्नागर के शिष्य थे. इन्होंने 'श्रेणिक रास' की रचना की.

सांवतराम—यह स्थानकवासी सम्प्रदाय के क्रियाशील मुनि थे. इनकी निम्नलिखित रचनाएं प्राप्त हैं—

१. द्रौपदी चौपाई (सं० १८९३, कार्तिक कृष्णा ७, जयपुर)
२. मदनसेन चौपाई (सं० १८९८ फागुन सुदि ७, बीकानेर)
३. सतीविवरण चौढालिया (सं० १९०७ चैत्र वदि ७, लश्कर)

सुजाण—यह भीमजी के शिष्य थे. इन्होंने सूरत में रह कर सं० १८३२ में 'शीयल स्वाध्याय' का प्रणयन किया.

सुन्दर—इन्होंने 'नेमराजुल के नवभव' (सं० १७९१) की रचना की.

सूजी—सूजी ने 'श्री पूज्य रत्नसिंह रास' (सं० १६४८ वैशाख वदि १३ तालनगर, मेवाड़) की रचना की, यह ऐतिहासिक महत्त्व की रचना है. आचार्य रत्नसिंह कुँवरजी पक्ष के अर्थात् मूल पाटक्रमानुसार ११ वें पट्टधर थे. जागनगर निवासी वीसा श्रीमाली वणिक् सोलाणी गोत्रीय सुरा की पत्नी सोहवदे की रत्न-कुक्षि ने सं० १६३२ में इनका जन्म हुआ था. दीक्षा सं० १६४८ वैशाख वदि १३, अहमदाबाद, पदस्थापन सं० १६५४ जेठ वदि ७ एवं स्वर्गवास सं० १६८६ विदित होता है.

स्वराज—सायला निवासी हरखा के पुत्र स्वराज लोंकागच्छीय सद्गृहस्थ थे. इन्होंने मूली बाई के बारह मास (सं० १८९२ मिगसर सुदि १३ गुरुवार, सायला) ५२ पद्यों में रचे. वर्णित मूली बाई दशा श्रीमाली रतनशाह की पत्नी अमृत बाई की पुत्री और कोठारी नानजी की पत्नी थी. इन्होंने आर्या आणंद बाई से प्राथमिक ज्ञान प्राप्त करने के उपरांत सं० १८९५ में लीमड़ी में रतनबाई से दीक्षा ग्रहण की. इनका जीवन नितांत ही तपश्चर्यापूर्ण था. यह संथारा लेकर सं० १८९० आषाढ़ सुदि १४ शुक्रवार को परमधाम सिधारीं.

हुलासचन्द—यह नागोरी लोंकागच्छीय लक्ष्मीचन्द सूरि की परम्परा के शिवचन्द के शिष्य थे. इन्होंने '[illegible] रत्नावली चौपई' (सं० १९४७ माघ सुदि ११ बुधवार) की रचना की.

उपर्युक्त पंक्तियों में इंगित संकेतों का सीमाक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और व्यापक रहा है. अभी लोंकागच्छ-स्थानकवासी परम्परा के आधीनस्थ प्राचीनतम ज्ञान-भण्डारों का वैज्ञानिक सर्वेक्षण होना तो दूर रहा, कहीं-कहीं तो व्यवस्थित सूची-पत्र तक नहीं बन पाये हैं. अतः वर्णित ग्रंथराशि को देखते हुए सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि अन्वेषण करने पर लोंकागच्छीय साहित्यकारों की और भी अनेक कृतियां उपलब्ध हो सकती हैं.

मुनि श्रीकान्तिसागरजी

# श्रीलोंकाशाह की परंपरा और उसका अज्ञात साहित्य

सन्त-परम्परा के समुज्ज्वल इतिहास में सोलहवीं शती का विशेष महत्त्व है. इस युग को वैचारिक क्रान्तिकारियों का स्वर्ण-काल कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी. कबीर, धर्मदास, नानक, संत रविदास, तरण-तारण स्वामी और श्रीमान् लोंकाशाह आदि आदर्श-प्रेरक व्यक्तियों ने इसी समय में क्रान्ति की शंखध्वनि से भारतीय जनमानस को नवजागरण का दिव्य सन्देश दिया था. धर्म के मौलिक तत्त्वों के नाम पर जो विकार, असंगतियाँ और साम्प्रदायिक-कहलमूलक धारणाएं पनप रही थीं उनके प्रति तीव्र असंतोष का ज्वार इन्हीं सन्तों की अनुभवमूलक वाणी में फूटा था. स्वाभाविक था कि आकस्मिक और अप्रत्याशित क्रान्तिपूर्ण विचारधारा के उदय से स्थितिपालक समाज में हलचल उत्पन्न हो. परिणाम स्वरूप प्रतिक्रियावादी भावनाएं जाग्रत हुई. यह सर्वसिद्ध ऐतिहासिक सत्य है कि मानव-संस्कृति का वास्तविक पल्लवन एवं संवर्द्धन संघर्ष की पृष्ठभूमि में ही होता है. शान्तिकाल में ऐहिक और भौतिकमूलक प्रवृत्तियाँ प्रोत्साहित होती हैं. क्रान्ति, नवसर्जन का न केवल प्रेरक संदेश ही देती है अपितु समत्व की मौलिक भावना द्वारा श्रमणसंस्कृति को जन-जीवन में प्रतिष्ठित भी करती है जो जनतन्त्र का मुख्य आधार है. यही कारण है कि सन्त-परम्परा का विकास विपरीत परिस्थितियों में ही हुआ है. वह पाशविकता से लड़ी और पूरी शक्ति के साथ लड़ी, पर मरी नहीं. क्योंकि उसका आदर्श विशाल और उदार भावनाओं पर आधारित था. वहां व्यक्ति की अपेक्षा गुणों का प्रामुख्य था, वह किसी सम्प्रदाय या उच्च व्यक्ति के प्रति नहीं, पर समीचीन तत्त्वों के प्रति वफादार थी. इसीलिए सुदृढ़ और सौंदर्य-सम्पन्न परम्पराएं वह डाल सकी, जिस पर शताब्दियों तक मानवता गर्व कर सकती है.

यद्यपि श्रीमान् लोंकाशाह के क्रान्तिकारी विचारों का समर्थन उनके अनुयायिवर्ग द्वारा किस सीमा तक और कितना हुआ, इस पर ऐतिहासिक मौन हैं. कहने का तात्पर्य यह है कि जिस समय विचारक्रान्ति का सूत्रपात हुआ उसकी पृष्ठभूमि को द्योतित करने वाली तात्कालिक साम्प्रदायिक साधन-सामग्री तिमिराच्छन्न है, तथापि उनकी परम्परा का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अपने युग में उत्पन्न धार्मिक विकृतियों के प्रति उनका विद्रोह जैन सम्प्रदाय को दूर तक प्रभावित कर एक नवमार्ग का निर्माता और पोषक सिद्ध तो हुआ ही. इसका अकाट्य प्रमाण लोंकाशाह और उनकी परम्परा के विरुद्ध रचा गया विपुल साहित्य है, जिसके सृजन में उस युग के चेतना-सम्पन्न मस्तिष्कों को सजग होकर सक्रिय होना पड़ा था. इनमें लावण्यसमय, कमलसंयम उपाध्याय. पार्श्वचन्द्र सूरि आदि प्रमुख हैं.

किसी नवमत-प्रवर्तक व्यक्ति की विचारधारा का भले ही उस सम्प्रदाय ने तात्कालिक स्वरूप लिपिबद्ध न किया हो. पर समसामयिक साहित्य में, भले ही उसके विपरीत ही क्यों न लिखा गया हो, जो उल्लेख आते हैं, या उसके निरसन के लिए जो पूर्व पक्ष प्रस्तुत किया गया है, उससे उसकी मूल विचारधारा का आंशिक अनुभव तो हो ही जाता है. लोंकाशाह की मूल मान्यताएँ क्या रही होंगी ? उनका सीमित समय में ही क्षेत्र कितना व्यापक हो गया ? आदि बातों का उत्तर उस सम्प्रदाय का तात्कालिक साहित्य भले ही न दे सकता हो, पर उस समय में जो चर्चास्पद साहित्य विरोधियों द्वारा रचा गया उससे बहुत कुछ संकेत तो मिल ही जाते हैं. परन्तु इन महत्त्वपूर्ण साधनों पर अभी तक बहुत कम विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है. मैंने प्रसंगवश जितना भी अध्ययन-अन्वेषण किया उसके आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि यदि सूचित विषय का मौलिक ज्ञातव्य प्रकट करना है तो विरोधी साहित्य के अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है. कड़वा मत की 'गुर्वावली' इस रहस्योद्घाटन में सफल साधन सिद्ध हो सकती है.

लोंकाशाह किन परिस्थितियों में उठे-उभरे, उन्होंने जन-चेतना के किन निगूढ़ गह्वरों में अपनी क्रान्ति के स्वरों का प्रतिनिधित्व किया ? उसका कहाँ कब कितना और कैसे प्रभाव पड़ा ? उसकी परम्परा की दौड़ में अन्य क्या कुछ हुआ है ? इन सब विषयों पर विचार करने का न यह अवसर है, न अपेक्षा ही है. यहाँ तो केवल मुझे अपनी शोध-यात्रा में प्राप्त उस सम्प्रदाय के मुनिवरों के ऐतिहासिक गीतों पर ही विचार करना अपेक्षित है.

आगामी पंक्तियों में समुपलब्ध गीतों से संबद्ध व्यक्तियों के संबन्ध में प्राप्त साहित्यिक और ऐतिहासिक साधनों के आधार पर जैसा भी परिचय प्राप्त हो सका, दिया जा रहा है. उद्धृत गीत यद्यपि गुरुभक्ति से प्रेरित होकर लिखे गये हैं, जिन्हें आचार्य शुक्ल जैसे आलोचक भले ही 'धार्मिक नोटिस' कहकर टाल दें, और इनका लाक्षणिक दृष्टि से साहित्यिक मूल्य न हो परन्तु भाषा-शास्त्र और संस्कृति की दृष्टि से ये बहुत ही उपादेय हैं. उस समय की ऐतिहासिक उलझनों को सुलझाने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुए हैं। उदाहरणार्थ गुजरात के सुलतान महमूद बेघडा के दाहोद के सं० १५४५ वाले लेखान्तर्गत उल्लिखित 'अहम्मदपुर' की भौगोलिक समस्या प्रस्तुत प्रबन्ध में दिये हुए 'जसवंत चातुर्मास' से ही सुलझी है. भले ही ये गीत लघुकाय और प्रशंसात्मक हों पर संबद्ध आचार्य के विषय में कोई न कोई प्रामाणिक नवीन ज्ञातव्य समुपस्थित करते हैं। मैंने आगामी पंक्तियों में अपने आपको गणि तेजसिंह के शिष्य और उनके पट्टधर कानजी तक ही अर्थात् १७ वें पाट तक ही सीमित रखा है, क्योंकि अन्य मुनियों के गीत प्राप्त न थे और पूरी परम्परा पर प्रकाश डालना संभव न था.

साहित्य के और विशेषकर राजस्थानी-गुजराती भाषाओं के क्षेत्र में स्थानकवासी मुनियों ने जो योग दिया है, सचमुच अभिमान की वस्तु है. इस पवित्र कार्य से जनमानस आश्वस्त हुआ है. कहा जाता है कि अद्यावधि इस दिशा में समुचित मूल्यांकन की ओर कदम नहीं उठाया गया है, पर मेरी विनम्र सम्मत्यनुसार अभी वह समय भी परिपक्व नहीं हुआ है, कारण कि अभी तो अनुसंधान ही कहां हो पाया है ? जब तक लोंकागच्छीय और स्थानकवासी समाज द्वारा संग्रहीत एवं संरक्षित पुरातन ज्ञानागारों का समुचित पर्यवेक्षण न हो जाय, तब तक नव्य दृष्टिकोण की कल्पना असंभव है. ज्ञात से भी अज्ञात अभी बहुत कुछ शेष है. मेरे निजी संग्रह में भी स्थानकवासी समाज के प्रतिष्ठित मुनियों और साध्वियों द्वारा रचित व प्रतिलिपित साहित्य पर्याप्त है. यह मुझे सखेद कहना पड़ता है कि मुनि-समाज ने इस विषय पर आज के शोधप्रधान युग में भी कम ही ध्यान दिया है.

मूल ऐतिहासिक गीतों के पूर्व तत्संबंधी मुनियों की परम्परा पर विचार अपेक्षित है—

**भाणाजी**—सिरोही के निकट अरहटवाल-अटकवाड़ा के निवासी, जाति से पोरवाल, सं० १५३१ में स्वयमेव दीक्षा, लोंकागच्छ के आदि मुनि. भाणाजी के वैयक्तिक जीवन और उनके विहारप्रदेश आदि के विषय में अधिक ज्ञातव्य तिमिराच्छन्न है. साम्प्रदायिक पट्टावलियां भी इस संबंध में मौन हैं, पर समसामयिक अन्यगच्छीय पट्टावलियों से किंचित् प्रकाश मिलता है. स्व० मोहनलाल दलीचंद देसाई ने इनका दीक्षाकाल सं० १५३१ अहमदाबाद दिया है, पर 'तपागच्छीय पट्टावलियों' में दीक्षा समय सं० १५३३ उल्लिखित है, जैसे—

'तन्मध्ये वेपधरास्तु वि० त्रयस्त्रिंशदधिकपंचदशशत १५३३ वर्षे जाता तत्र प्रथमो वेपधारी भाणाख्योऽभूदिति'

—पट्टावली समुच्चय पृष्ठ ६७

उपाध्याय रविवर्द्धन ने अपनी पट्टावली में दीक्षाकाल सं० १५३८ दिया है—

'तद्वेपधरास्तु सं० १५३८ वर्षे जाताः, तत्र प्रथमो वेपधारी ऋपि भाणाख्यो ऽभूदिति'

—पट्टावली समुच्चय पृष्ठ १५७

उपर्युक्त उल्लेख अधिक विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता. सं० १५३३ का समर्थन कुंवरजी पक्षीय केशवजी रचित (सं० १६८८ लगभग) 'लोंकाशाह शिलोके' की इन पंक्तियों से होता है—

शत पन्नर तेत्रीसनो सालइ, भाणजी नें दीक्षा पालइ ।

—जैनगूर्जरकविओ भाग ३, पृष्ठ १०८४

इनका स्वर्गगमन देसाई ने सं० १५३७ सूचित किया है, पर वह सत्य प्रतीत नहीं होता, कारण कि 'कडुआ मत पट्टावली' के अनुसार सं० १५४० में नाडोलाई में कडवा शाह इन से मिले थे और वार्तालाप हुआ था, अतः इस समय तक तो भाणाजी का अस्तित्व असंदिग्ध है. इस पट्टावली में और भी लोंकाशाह के अनुयायियों के संबंध में कतिपय महत्त्वपूर्ण उल्लेख हैं जिनका स्वतन्त्र पर्यवेक्षण अपेक्षित है.

२. भीदाजी—सिरोही के ओसवाल, साथडीया गोत्रीय, स्व० तोला के भाई, अहमदाबाद में सं० १५४० में ४५ व्यक्तियों के साथ दीक्षा भाणाजी के पास ग्रहण की.

३. नूंनाजी—सिरोही के ओसवाल, दीक्षा सं० १५४५ या ४६.

४. भीमाजी—पाली निवासी, लोढ़ा गोत्रीय, संयम ग्रहण सं० १५५०.

५. जगमालजी—उत्तराधवासी, ओसवाल सुराणां गोत्रीय, दीक्षा ग्रहण सं० १५५०, झांझणनगर में.

६. सरवाजी—दिल्ली निवासी श्रीश्रीमाल ज्ञातीय सिंधूड़ गोत्रीय, संयम ग्रहणकाल सं० १५५४. 'लोंकागच्छ की वड़े पक्ष की पट्टावली' में उल्लेख है सरवाजी ने एक माह का संथारा पचखा था.

विजयगच्छ—सरवाजी के समय में लोंकागच्छ में प्रथम क्रान्ति हुई और परिणामस्वरूप विजय ऋषि ने 'विजयमत' की स्थापना की. संस्थापन काल पर विद्वज्जगत् में भिन्नत्व है. कोई तो सं० १५६५ या १५७० मानते हैं. जैनधर्म और साहित्य की दृष्टि से यह परम्परा प्राणवान् रही. तात्कालिक मुगल शासकों पर भी कतिपय आचार्यों का प्रभाव अन्यान्य स्फुट ऐतिहासिक पद्यों से प्रमाणित है. विजय ऋषि की परम्परा में आचार्य धर्मदासजी, खेमसागरजी, पद्मसागरसूरि, गुणसागरसूरि, कल्याणसागरसूरि, सुमतिसागरसूरि, विनयसागरसूरि, मनोहर दास, मल्लीदास, विजयसिंह, मोहन ऋषि, पंचायण, सुजाण, गिरधर, केशराज आदि आचार्य और ऐसे स्थविर हुए हैं जिनने धार्मिक प्रभावना के साथ-साथ अपनी प्रतिभा द्वारा पर्याप्त साहित्य सृजन कर भारतीय भाषा ग्रन्थों में अभिवृद्धि की. तात्कालिक ही नहीं आज भी इनकी कृतियों—ढालसागर और रामयशोरसायण—का समाज में सर्वत्र आदर है. विशेषकर राजस्थान-मेवाड़ में इस परम्परा का इतना प्रभाव था कि राज-सभाओं में भी इनके अनुयायियों का सम्मान होता था. उयदपुर के सुप्रसिद्ध कवि मानजी की रचनायें-संयोगद्वात्रिंशिका, राजविलास और विहारी सतसई की हिन्दी टीका—आदि स्फुट-आज भी साहित्यिक जगत् का अभिमान हैं. आज तक केवल यही माना जाता था कि इस परम्परा का साहित्य केवल केशराज और गुणसागरसूरि द्वारा ही रचित है, पर मेरे संग्रहस्थ एक विजयगच्छ के गुटके में इस संप्रदाय का प्रचुर भाषासाहित्य उपलब्ध हुआ है जिससे कई अज्ञात कवियों का पता चला है. सत्रहवीं शताब्दी से लगाकर उन्नीसवीं शती तक विजयगच्छीय यति-मुनियों ने जो सारस्वतोपासना की है, वस्तुतः वह अभिमान की वस्तु है. मेवाड़ के जैन-सांस्कृतिक इतिहास में इनका अनुपम योग रहा है. अन्वेषण का क्षेत्रप्रशस्त होने पर और भी रचनायें उपलब्ध हो सकती हैं. कोटा, बयाना में इनके सुविशाल साहित्यसंग्रह विद्यमान हैं.

७. रूपजी—अणहिलपुर पाटण निवासी, ओसवाल वैद गोत्रीय, पिता देवा, माता मिरधाई, जन्म सं० १५४३, स्वयमेव दीक्षा सं० १५६८ माह शुक्ला पूर्णिमा. इनने पाटणगच्छ-गुजराती लोंकागच्छ की स्थापना की. लोंकागच्छ की वड़े पक्ष की पट्टावली में विशेष उल्लेख है कि रूपा साह ने शत्रुंजय का संघ निकाला था और वाद में सरवाजी का अहमदावाद में व्याख्यान सुनकर प्रव्रजित हुए और वह भी ५०० व्यक्तियों के साथ. अन्य प्रमाण इस के समर्थन में अपेक्षित है.

रूपजी ने सं० १५७८ में जीवराजजी को संयम देकर स्वपद पर स्थापित किया. ७ वर्ष तक गुरु-शिष्य साथ में विचरण करते रहे.

इनके समय में हीरा नामक व्यक्ति ने—"नागौरी लुंकागच्छ" की स्वतंत्र स्थापना की और मूर्त्तिपूजा स्वीकार की. इन के परवर्त्ती अनुगामियों ने भी जैन संस्कृति को गौरवान्वित किया. अनुसंधान की दृष्टि से यह परम्परा भी उपेक्षित ही रही है. यति रघुनाथ ने इस शाखा की विस्तृत पट्टावली संस्कृत भाषा में लिखी है जो इतिहास की दृष्टि से बहुत ही

काम की है. इसका प्रणयन सं० १८६० में पटियाला में हुआ. रघुनाथ स्वयं संस्कृत साहित्य के विशिष्ट अभ्यासी और ग्रन्थकार महानुभाव थे. ये इस गच्छ के आचार्य लक्ष्मीचन्द्र जी के समय में विद्यमान थे. इनका सं० १८६३ में चूरु में चातुर्मास था तब रघुनाथ ने इनकी सेवा में एक वृहत्पत्र संस्कृत भाषा में प्रेषित किया था, जो पत्र-साहित्य की दृष्टि से अन्यतम है. ये आचार्य हरखचंदजी के पट्टधर थे. इनका नाम पट्टावलियों (रघुनाथ कृत पट्टावली के अतिरिक्त) नहीं मिलता है. सूचित पत्र इन पंक्तियों के लेखक द्वारा "जैन सत्यप्रकाश वर्ष १९ अंक १२ में प्रकाशित है.

इसी समय उत्तरार्द्ध लाहोरी लुंकागच्छ स्थापित हुआ. सरवाजी के अनुयायी लोंकागच्छ की मूल मान्यताओं के अनुगामी बने रहे.

सूचित उत्तरार्द्ध गच्छानुयायी सरवाजी के शिष्य अर्जुन के शिष्य दुर्गादास ने सं० १६३५ में "खंधक चौपाई" की रचना की जिसका परिचय" 'जैन गूर्जर कविओ" भाग ३ पृष्ठ ७४० पर दिया है. सुप्रसिद्ध कलासमीक्षक डा० आनन्दकुमार स्वामी के समीप सं० १६८० के चित्रित समवरण-चित्र में उत्तरार्द्ध गच्छीय आचार्य कृष्णचंद्र और मुनि ताराचन्द के नाम आते हैं.

८. जीवराजजी—रूपऋषिजी ने जीवराज जी को सं० १५७८ में स्व पद पर स्थापित किया. ये सूरत के देसलहरा गोत्रीय तेजल-तेजपाल की पत्नी कपूरां बाई के पुत्र थे. जन्म सं० १५५०, दीक्षा सं० १५७८ माह शुक्ला २ गुरुवार, रुपऋषि-भास में इनका दीक्षा समय सं० १५७८ सूचित किया है और जीवराजजी-भास में वही कवि सं० १५६८ सूचित करता है—जब कि सं० १५६८ में तो रूपजी स्वयं संयम स्वीकार करते बताये गये हैं. सं० १६१२ वैशाख सुदि ६ को बड़े वरसिंघजी को पद पर स्थापित किया, एवं स्वयं सं० १६१३ ज्येष्ठ शुक्ला ६ सोमवार को ५ दिन का अनशन लेकर ६३ वर्ष की आयु में परम धाम प्रस्थित हुए. इनके नाम से "गुजराती लोंकागच्छ" प्रसिद्ध हुआ. जीवराजजी के एक शिष्य मोल्हा की अज्ञात रचना "लोकनालिका बालावबोध" प्राप्त है. जिसका आदि और अन्त भाग यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

> आदिदेवं नमस्कृत्य बालानां बोधहेतवे ।
> क्रियतेनुपकाराय नालिकायास्तुवार्त्तिकं ॥१॥
> जीवऋषि महापूज्यः तस्य पादप्रसादतः ।
> कृतं मोल्हा मुनिंद्रेण नालिकायास्तुवार्त्तिक ॥२॥

अन्त भागः—

इत्याचार्य श्रीजीवऋषिचरणांभोजसेवक मोल्हाभिधानेनकृतः लोकनालिकायाः वार्तिकावबोधः समाप्तः ॥
श्रीरस्तु । सं० १६०६ ॥

स्मरणीय है कि गुजराती लोंकागच्छ में एक और मुनि इसी नाम के प्रसिद्ध रहे हैं जो चतुर कवि कृत "नंदन मनयागिरि चौपाई" (र० का० सं० १७७१) में उल्लिखित हुए हैं. लोकनालिका के वार्त्तिककार पूर्ववर्ती हैं.

जीवराजजी के दो शिष्य कुंवरजी और श्रीमल्लजी[1] थे, जिनसे कुंवरजी पक्ष की स्थापना हुई. इनकी परम्परा भी विद्वान्

---

१. श्रीमल्लजी के एक शिष्य सुन्दरऋषि थे जिनकी अज्ञात रचना होडाचक्र भाषा" मेरे संग्रह में सुरक्षित है. रचना काल का उल्लेख नहीं दिया है, पर अहमदाबाद से प्रकाशित "प्रशस्ति संग्रह" में एक लेखनपुष्पिका सं० १६५७ (पृष्ठ ...) की आई है जिसमें सुन्दरऋषि का नामोल्लेख श्रीमलजी के शिष्य के रूप में हुआ है, इसी आधार पर इन्हें उनका शिष्य माना है. होडाचक्र भाषा का अन्तिम पद्य इस प्रकार है—

> कछुक पराइ उक्त हरि कछु निज हिय विनांम
> सुन्दरऋषि भाषा रची होडाचक्र सुखिताम ।

कृति साधारण होते हुए भी सामान्य ज्योतिषी का मार्ग प्रशस्त कर सकती है. होडाचक्र की दृष्टि से संक्षिप्त है ... 'जैन गूर्जर कविओ' के तीसरे भाग में सुन्दर ऋषि का उल्लेख है. नहीं कहा जा सकता है कि वह यही है या कोई अन्य.

एवं ग्रंथकर्त्री थी. गल्लूऋषि शिष्य श्रीपाल ने "दशवैकालिक वालावबोध" की रचना सं० १६६४ में की जिसकी कर्त्ता के हाथ की प्रति उपलब्ध है. पुष्पिका इस प्रकार है—

> श्रीमन्महावीरशासनेचितांमखिलसदृशाः आचार्य श्रीरूपऋषि तत्पट्टे गच्छाधिपो मुनिश्रीजीवराजस्तत्पट्टे मुनि श्री कुंवरजीगच्छाधिपस्तत्पट्टे मुनि श्री श्रीमल्लगच्छाधिपस्तत्पट्टे आचार्य श्रीरत्नसिंह विराजमाने आचार्य श्रीजीवनऋषि हस्तदीक्षितऋषि श्रीमल्लूस्तशिष्य मुनि श्रीपालेन श्रीगुरुप्रसादात् विरचितः श्रीदशवैकालिक बालावबोधः ॥ सं० १६६४ वर्षे श्रीविक्रम महानगरे आसो मासे शुक्लपक्षे द्वितीया दिने शुक्रवारे प्रथम दिने प्रथम प्रहरे लाभ वेलायां सम्पूर्ण कृतः लिखितं श्रीपाल मुनिना स्वपठनार्थे

इनके अतिरिक्त कुंवरजी प्रमुख मुनियों द्वारा रचित साहित्य इस प्रकार उपलब्ध हैं—

१, कुंवरजी साधु वंदना र० का१ सं० १६२४.

२. नानजी पंचवरण स्त० र० का० सं० १६६६.

३. समरचंद्र श्रेणिक रास र० का० सं०

४. वालचंद्र वालवावनी र० का० सं० १६८५

५. केशवजी लोंकाशाह शिलोका र० का० सं० १६८८ लगभग.

६. धर्मसिंह आ० शिवजी रास र० का० सं० १६९२ उदयपुर,

धर्मसिंहजी शिवजी ऋषि के शिष्य थे. इनसे दरियापुरी सम्प्रदाय अलग चला. इन्होंने कई प्राकृत भाषा की रचनाओं पर स्तवकादि लिखकर सामान्य मुनियों को स्वाध्याय की सुविधा की. ये कवि भी थे. इनकी परम्परा २० वीं शती तक विद्यमान रही है.

| | | | |
|---|---|---|---|
| ७ | आणंद | गणितसार | र० का० सं० १७२१ लालपुर |
| ८ | आणंद | हरिवंश चरित्र | र० का० सं० १७३८ राधनपुर. |
| ९ | किशन मुनि | कृष्णवावनी<br>स्फुट स्तुति | र० का० सं० १७६७ |
| १० | रामचन्द्र | तेजसार रास | र० का० सं० १८६० नवानगर. |

## एक महत्त्वपूर्ण गुटका—

तात्कालिक अन्यान्य ऐतिहासिक साधनों से प्रमाणित है कि लोंकागच्छ के अष्टम आचार्य जीवाजी के एक शिष्य कुंवरजी को वालापुर के श्रीसंघ ने आचार्य पद देकर 'लोंकागच्छ नानी पक्ष' की स्थापना की. वालापुर और तत्सन्निकटवर्त्ती प्रदेश में इनका वर्चस्व था. वालापुर और बुरहानपुर सत्रहवीं शताब्दी से ही जैन संस्कृति के व्यापक केन्द्र रहे हैं. दोनों स्थानों के श्रावकों में प्रारम्भ से ही स्वाध्याय के प्रति स्वाभाविक आकर्षण रहा है. सतत संतसमागम के कारण संस्कारशील परम्परा का प्रादुर्भाव एवं विकास साहजिक कार्य है. मैं यहाँ पर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित गुटके का परिचय देने जा रहा हूं जिसमें कुंवरजी पक्ष के मुनियों द्वारा रचित अज्ञात रचनाएं संकलित हैं. इसका लेखनकाल सं० १७०४ से १७२९ है. सुप्रसिद्ध सैद्धान्तिक कवि जीवराजजी के शिष्य लालजी, सामल और श्रीपति ने इसे विभिन्न समयों में वहां के प्रतिष्ठित श्रावक श्री अमरसी पुत्र अखयराज, विजयराज, रूपराज और जीवराज के लिए प्रतिलिपित किया. नित्य स्वाध्याय के गुटके के शीर्ष भाग में "गुरु केशवजी गुरुभ्यो नमः" आलेखित है. भक्तामर, कल्याणमन्दिर स्तोत्र और संवोधसत्तरी के अतिरिक्त साम्प्रदायिक रचनाओं का सुन्दर संग्रह है. श्रीपति, जीवराज, सांमल, वालचन्द आदि मुनियों की कृतियाँ सन्निविष्ट हैं. गुटका सूचित परिवार के कलाप्रेम का परिचायक है, चारों ओर सुन्दर बोर्डर बनाकर विविध अलंकरणों से सुसज्जित है. इसमें जो लेखनपुष्पिकाएं दी हैं वे मुनिपरम्परा की नामावली उपस्थित करती हैं. केशवजी शिष्य भीमा, ठाकुरसी ऋषि, पूंजराजजी, वाघजी, हीरानन्द (मीरपुरीय) आदि नव्य नाम कृतियों के साथ हैं.

६ बड़े वरसंघजी—प्रभास पाटण निवासी, ओसवाल नाहटा गोत्रीय, पिता सुमीया माता कस्तूरां बाई, जन्म सं० १५६४ दीक्षा सं० १५८७ चैत्र वदि ५, पदस्थापन सं० १६१२ वैशाख शुक्ला ६, सवा वर्ष जीवराजजी के साथ विहार, सं० १६४४ कार्त्तिक शुक्ला ३ को स्तंम्भतीर्थ-खंभात में स्वर्ग-गमन.

जिस प्रकार जीवराजजी के एक शिष्य कुंवरजी को बालापुर के श्रावकों ने आचार्य पद प्रदान कर 'लोंकागच्छ नानी पक्ष' की स्थापना की, उसी प्रकार वटपद्रीय-वडौदा के भावसारों ने इन्हें श्रीपूज्य की पदवी देकर 'गुजराती लोंकागच्छ बडी-पक्ष' का प्रादुर्भाव किया. कवि नेंम प्रणीत इनकी प्रशंसा में एक छन्द सं० १७७१ के पूर्व लिखा गया जो इसी प्रवन्ध में आगे दिया जा रहा है. इसमें विशेष ऐतिहासिक तथ्य तो नहीं है, केवल माता-पिता के नाम हैं. सं० १५३६ में लोंकाशाह की साधना की सफलता मानी है और प्रथम चारित्र की उपलब्धि का श्रेय रूपऋषि को दिया है जो विचार-णीय है. लोंकागच्छ में प्रथम मुनि तो भाणाजी ही माने जाते रहे हैं, पर अनुमान है कि कवि गुजराती लोंकागच्छ का अनुयायी था और इसकी संस्थापना रूपऋषि द्वारा हुई थी. अतः इस अपेक्षा से मुनित्व की प्राथमिक संज्ञा दी जान पड़ती है. पर लोंकाशाह द्वारा १५३६ की सफलता का रहस्य समझ में नहीं आया. सूचित काल में ऐसी कोई उल्लेख्य घटना का पता नहीं लगता. कहीं इसका संकेत लोंकाशाह के स्वर्गवास से तो नहीं है ?

तात्कालिक जैन परम्परा के इतिहास से विदित होता है कि वह समय जैन समाज के लिए बड़ा ही विषम था. नित नई क्रान्तियां हुआ करती थीं, जिसका तनिक भी व्यक्तित्व उभरा कि उसने अपनी नव्य प्ररूपणा प्रारम्भ कर दी. यह सनातन सत्य है कि एक क्रान्ति दूसरी क्रान्ति की पृष्ठभूमि हुआ करती है. पूर्वजों के चरण-चिह्नों पर चलना भारतीय परम्परा रही है. सं० १६१६ में सिसु प्रमुख बारह व्यक्तियों ने विभिन्न मान्यताओं के रहने के बावजूद भी वरसंघजी से विरुद्ध होकर नया मार्ग निकाला. कुंवरजी[१] ने भी इसी समय अपना पक्ष स्वतन्त्र स्थापित किया. ये कवि थे. इनकी सं० १६२४ श्रावण सुदि १३ गुरुवार, रचित साधु वंदना उपलब्ध है.

बड़े वरसंघजी सं० १६२७ में गच्छ का दायित्व अपने शिष्य लघु वरसंघजी को सौंपकर २७ वर्ष साथ विचरण करते रहे. खंभात में इनका स्वर्गवास सं० १६४४ में हुआ.

बड़े वरसंघजी के समय में भीमाजी भावसार ने, जो बाद में मुनि हो गये थे, ३ खंडों में श्रेणिक रास क्रमशः सं० १६२१ भाद्रपद शुक्ला २ बड़ौदा, सं० १६३२ भाद्र पद कृष्णा २ बड़ौदा, और सं० १६३६ आश्विन कृष्णा ७ रविवार को पूर्ण किया. इसी बीच भीमजी ने सं० १६३२ में नागलकुमार-नागदत्त रास भी बनाया.

मेरे संग्रह में वरसंघ की प्रशंसा में लिखा गया एक अपूर्ण सार्थ पद्य है जिसका लेखनकाल सं० १६४१ है. वह पद्य इस प्रकार है—

......................रमुनियुतं मालवेलातटीचं ।
वंदे श्रीवीरशिष्यं श्रुतवरसरसी खेलने राजहंसं ॥
शिवादं साधुसिंहं शिवपुरसुखदं सुन्दरंसाधुयुक्तं ॥६॥
इति स्रग्धरा छन्द

अभिनवंसदाचार्यं सारासार विचारकं ।
गणिसंपत्समायुक्तं वंदे वादीवरांकुशम् ॥७॥

वंदे चारुवरं वरहगणिवादिव्यालमृगारिं ।
शांत्यागारं शुभवरगुणं साधुपद्मेराशांकं ॥

---

१. लोंकागच्छ की बड़े पक्ष की पट्टावली में बताया गया है कि कुंवरजी ने अपने पक्ष की स्थापना सं० १६१६ में [illegible] की थी. पर यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता.

प्रेज्ञाजीवंवरसुरतरुं धर्म्मवीरं वरेण्यं ।
श्रीमत्पूज्यैर्वरगणिपदेस्थापितंसाधु सारं ॥८॥

श्रीश्रीपूज्यैर्वरगणियुतैरत्रदेशेषुशीघ्रं ।
कृत्वाशूकं सकलसुखदं श्रावकाणांशमीना ॥
आगंतव्यं सुगुणनगरे दर्शनेहरचसंवो ।
यस्मात्तस्मात् सफल सुवसोमं चुकार्योधुनात्र ॥६॥

··· वंदे के पुनः । श्रीवरऋषिना शिष्य पुनः । श्रुत क० सिद्धान्तरूप प्रधान सरोवरइं रमवानइ विषइ राजहंस समान, पुनः शिक्षा० क० सिक्षा ग्रहण आसेवण रूपना देणहार, साधु श्रीसिंह स्थविर, सिव क० मोक्षसुखना देणहार, सुन्दर क० सुशोभित, साधुनइ वंदइ करी संयुक्तनइ हूं वांदू ॥६॥

हिवइ श्री आचार्य वरसिंहना काव्य वषाणइ छइ. अभिनवः क० नवा, सदा० क० सदा काल अथवा सोभनिक आचार्य ऋषि श्रीवरसिंहनइ हु वांदु. पुनः किं विशिष्टैः श्री आचार्य, सारा० क० तत्व अतत्वना विचारणहार, पुनः किं विशिष्टं गणिः क० आचार्यनी आचार सूत्रादिक संपदाए करी संयुक्त, वंदे क० तेहनइ हु वांदु. वादि क० वादि रूप दुष्ट हस्तीनइ अंकुस समान ॥७॥

वांदे क० हु वांदु. चारु क० मनोहर श्रीवरसिंह गणिनइ पुनः वादि कः वादी रूप दुष्ट हस्ती जीपवानइ विषइ सिंह समान, पुनः शान्त्या० क० उपशमना वर, पुनः शुभकः क० भले प्रधान गणइं करीनइ सहित, साधुक साधु रुप कमल विकसावानइ विषइं चंद्रमा, सारांन, प्रे० क० बुध्रे करी बृहस्पति, पुनः वरकः० प्रधान कल्पवृक्ष, धर्मक० क० धर्मनइ विषइ अक्षोभ्य व० क० प्रधांन, श्रीम० क० श्रीपूज्य वरसिंह ऋषि प्रधान आचार्य पदइ थापड साधु मौहे जे सार आचार्य ऋषि वरसिंहनइं हु वांदु. श्रीश्री क० श्रीपूज्येवर० क० प्रधान आचार्य वरसिंह सहित, रत्र० क० कपदेशन विषइ शीघ्र उतावला कृ०क० दयाकरीनइ—सुखना देवणहारी,—शूणनगरनइं विषइं, दर्श०क० दर्शननी वांछा करइ छइ संघ. तस्मा० तिणइं कारणइ सफल मनोरथ शीघ्र करउ ॥

श्रीरस्तु. संवत १६४१ वर्षे वैशाख वदि अमावस्यायां. सोमवासरे विभीतक ग्रामे लिखितं मुनि मोटाकेन ॥ छ । लिखावतं ऋ० ४ जयमलजी ॥

१०. लघु वरसिंघजी—सादड़ी निवासी ओसवाल, पिता झाझण, माता सुन्दर बाई, जन्म सं० १५८६, दीक्षा सोलहवें वर्ष सं० १६०६ सिरोही, पदस्थापन सं० १६२७ अहमदपुर, साठवें वर्ष में जसवंतजी को सं० १६४६ सोजत में दीक्षा दी, १२ वर्ष तक गुरु-शिष्य साथ में विचरे. सं० १६६२ में माही पूर्णिमा के दिन अनशन द्वारा खंभाल में देहोत्सर्ग. स्व० मोहनलाल भाई देसाई ने अपने 'जैनगूर्जर कविओ' भाग ३ पृष्ठ २२०६ पर इनका स्वर्ग स्थान उसमापुर, सोजत या दिल्ली बताया है.

११. जसवंतजी—राजस्थान प्रान्तान्तर्गत शुद्धदंतीपुर-सोजत-के निवासी ओसवाल लोंकड़ गोत्रीय, पिता परवत, माता सहोदरां, जन्म सं० १६३४, दीक्षा सं० १६४६ माह सुदि १३ सोजत, सं० १६८८ मगसिर पूर्णिमा को रूपसिंह को अहमदपुर नगर में स्वपद पर स्थापित किया.

अभी तक गुजराती लुंकागच्छ में जितने भी संयमी महापुरुष हुए हैं उन सब में जसवंतजी अधिक प्रभावशाली व्यक्ति जान पड़ते हैं. इन्होंने राजस्थान गुजरात और सौराष्ट्र में विहार कर जिनशासन की महती प्रभावना की. इनका शिष्य-परिवार विशाल और विद्वान् ग्रंथकार था. संघर्षमूलक युग में, जहां चारों ओर धर्म के नाम पर अमानवीय तत्त्वों का पोषण होता हो, वहां एक संप्रदाय के आचार्य का इतना व्यापक प्रभाव इस बात का परिचायक है कि वह संयम की साधना के साथ पाण्डित्य-गुणसमन्वित व्यक्तित्वसंपन्न विज्ञ थे. ज्ञान और चारित्र की समन्विति ही संतको जन-मानस में प्रतिष्ठित करती है.

आचार्य तेजसिंह ने परम्परानिर्वाहार्थ इनका संक्षिप्त परिचय अन्य आचार्यो के समान वृद्धों के मुख से सुनकर दिया है. इनके विषय में ३ और कृतियां भी प्राप्त हैं जिनमें विस्तृत विवरण उपलब्ध है. एक रचना तो इनकी दीक्षा के ३ वर्ष बाद ही जीवराज-शिष्य धर्मदास ने सं० १६५२ में 'जसवंत मुनि का रास' नामक रची, जिसका परिचय 'जैन गूर्जर कविओ' भाग ३ पृष्ठ ८१९ पर दिया है. अन्य दो कृतियां, जो अद्यावधि अज्ञात थीं, इस प्रबंध में सर्वप्रथम उद्धृत की जा रही हैं. इनसे उनके जीवन की ऐतिहासिक घटनाओं पर अभिनव प्रकाश ही नहीं पड़ता अपितु भ्रामक बातों का परिमार्जन भी हो जाता है.

प्रथम कृति में इनकी दीक्षा का भव्य वर्णन प्रस्तुत किया गया है. उत्साह के साथ संयम ग्रहण करने का निश्चय हो जाने पर गुरुवर्य श्रीवरसिंघजी को तथा अन्य प्रमुख श्रीसंघों को आमंत्रित किया जाता है और इस आध्यात्मिक समारोह में बीकानेर, जैसलमेर, कालू, निम्बाहेडा, अजमेर, बगड़ी, जयतारण, जोधपुर आदि नगरों का संघ श्रद्धा के साथ सम्मिलित होता है. पिता ने विवाह के समान प्रचुर व्यय कर सांसारिक बंधनों से जसवंत को मुक्त कर गुरु के श्रीचरणों में समर्पित किया.

दूसरी रचना है—'जसवंत चातुर्मास' जिसके प्रणेता हैं आचार्यश्री के शिष्य विद्या मुनि के शिष्य मुनि माधव. इनने सं० १६९१ कार्तिक कृष्णा ६ गुरुवार को खंभात में रचना की. प्रतिलिपिकार हैं कर्ता के शिष्य मुनि वीरजी. अतः यह रचना सभी दृष्टियों से विश्वस्त और प्रामाणिक है. ६४ पद्यों की इस कृति में आचार्यश्री के सिरोही, खंभात, पाटण, सवितुर, वटपद्र-वड़ौदा, अहमदपुर, राजनगर-अहमदाबाद, उसमापुर, जालौर, अजमेर, आगरा, बगड़ी, गुन्दवच, पीपाड़, दीव, गौरी (?) सुदामापुरी-पोरबन्दर, और मंगलपुर-मांगरोल आदि चातुर्मासों का वर्णन किया है. सूरत के बोहरा हापा, वीरजी, बुरहानपुर के सानी माणकदास, पोरबन्दर के सोमजी, मंगलपुर के मालजी और अहमदपुर के धर्मदास व जिणदास के नाम भी सम्मिलित हैं. प्रति किसी श्रद्धाशील गुरुभक्त के लिये ही लिखी गई है, चतुर्दिक् सुन्दर सुशोभन. और पृष्ठि तो उत्तम ग्रंथ-चित्रकला की परिचायिका है.

जसवंतजी को गुंदवच का १४ वां चातुर्मास धार्मिक दृष्टि से विशेष लाभप्रद सिद्ध हुआ, वहीं पर पेथड़-पुत्र रूपकुमार को आचार्यश्री की वाणी ने अपना बना लिया. सं० १६७५ मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी को दीक्षा अंगीकार की और सं० १६८८ मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी को स्वपद पर अहमदपुर में स्थापित किया. अपना आयुष्य निकट जानकर सं० १६८८ मार्गशीर्ष पूर्णिमा को आठ प्रहर का अनशन लिया. अहमदपुर[1] में ही देहोत्सर्ग हुआ.

---

१. ऐतिहासिक साधन चाहे अत्यन्त लघुतम या सामान्य ही क्यों न हो पर किसी वस्तुविशेष के साथ घनिष्ठ संबंध निकल आने पर कभी-कभी इतना क्रान्तिकारी और मार्गदर्शक सिद्ध होता है कि तद्विदों को वर्षों की साधनोपरान्त स्थिर सम्मति को बदलना पड़ता है. मुनि 'जसवंत चातुर्मास' यद्यपि एक विशुद्ध धार्मिक और वह भी सूचनात्मक कृति है तथापि उपर्युक्त पंक्तियां [illegible] इस पर [illegible] होती हैं. उदाहरणार्थ राजस्थान के सम्माननीय गवेषक श्री गोपालनारायणजी बहुरा द्वारा संपादित एवं [illegible] प्रणीत 'राज-विनोद' के समीक्षात्मक संस्करण में गुजरात के शासक महमूद बेगड़ा का वि० सं० १५४५ का [illegible] प्रकाशित है, इसके विवेचन में मित्रवर्य डा० एच० डी० सांकलिया ने पृष्ठ ३८ पर लेखान्तर्गत 'अहमदपुर' को अहमदाबाद मानने की संभावना प्रकट की है. प्रश्न होता है कि इस नगर की स्थिति कहां है ? पुरातत्त्व के अनुसंधान के लिये [illegible] 'जसवंत-चातुर्मास' से यह उलझन सरलता से सुलझ जाती है. लोंकागच्छ के आचार्यों का इस नगर से घनिष्ठ संबंध रहा है. [illegible] इस नगर को कई बार पावन किया. ३७ वां चौमासा दीव में व्यतीत कर अहम्मदपुर पधारते हैं. [illegible] है. दशवां चातुर्मास भी बड़ौदा होते हुए अहम्मदपुर ही करते हैं और ११ वां अहमदाबाद. इससे स्पष्ट प्रमाणित है कि [illegible] अवस्थिति खंभात और बड़ौदा के बीच कहीं रही होगी. आचार्यश्री का जब देहान्त अहम्मदपुर में हुआ [illegible] और समुचित रूप से मरणोत्तर व्यवस्था की. अहमदाबाद और अहम्मदपुर तो सर्वथा भिन्न नगर हैं, [illegible] का भिन्न उल्लेख स्पष्ट है. हां 'कडूआ मत पट्टावली' के अनुसार [illegible] अहमदपुर [illegible] पर वह भी सूचित अहम्मदपुर से पृथक् ही था. सं० १५५२ का एक [illegible] इस नगर की [illegible] देता है—

आचार्य तेजसिंह द्वारा संवत १७५१ में रचित 'गुरु-गुणमाला भास' में जसवंत के विषय में कतिपय संवत भ्रामक दिये हैं जिनका परिमार्जन अपेक्षित है. भास में बताया गया है कि आचार्यश्री ने रूपसिंह को स्वपद पर सं० १६८८ मार्गशीर्ष पूर्णिमा को स्थापित किया और अनशन सं० १६८८ मार्गशीर्ष कृष्णा २ को ग्रहण किया, (देखें गुरु गुणमाला भास में जसवंत भास, संख्या ७) जब कि 'जसवंत चातुर्मास' और आचार्य के प्रशिष्य मुनि वाघाजी रचित द्वारा 'रूपऋषि भास' में पद स्थापन समय सं० १६८८ मिगसर सुदि ८ सूचित किया है और अनशन सुदि पूर्णिमा को बताया है.

ऋषि रूपसीह नि पट्ट आपीइ मुझ मनि हरष अपार,
संवत सोल अठासीइ मागसिर शुदि अष्टमी सोमवार।
चढति दिन चढति कला निज पद दीधुं सार,
—मुनि माधव—जसवंत चातुर्मास।

रूडा रूपसिंह नी पदवी परतग दीध,
अविरल मूरती अष्टमी मागरसिर सुदि सोमवार।
—मानू रचित रूपसी छंद।

श्री पूज्य जसवंत पद योग्य रूपसिंह परषिया ए,
अहमदपुर मझारि संघ समिप्यिइं हरषिया ए।
संवत ससि रस सार असीय ऊपरि आठ आगला ए,
मिगसर सुदिं सोमवार आठिमें तिथि गुरु गुण निलना ए।
—वाघ मुनि प्रणीत 'रूपऋषि भास'

अनशन विषयक उद्धरण इस प्रकार है—

संवत सोल सार अठ्यासिए अहिमदपुरि ए,
श्री जसवंत सुजाण अणसण नी मति उपनी ए।
पूगया पुरुष प्रधांन रूपऋषीस्वर गुण निलने ए,
जो दियो अनुमति आरज संथारो संघ साषिं करूं ए।
मागसिर सुदि पुन्यंम जाणि पच्छिम जामि अणसण कर्युं ए,
—जसवंत चातुर्मास

तेह जसवंत जाणीइ मिगसर सुदि सोमवार,
पुनिमि तिथि अति निरमली अणसण कीधौ उदार।
षमाय षमावि संघनी वलीय वचन इम बोलि,
सिद्ध थया सवि माहरा चिंतव्या सुरतरु तोलि।
—वाघ मुनि रचित भास,

उपर्युक्त सभी उद्धरण तेजसिंह की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय हैं. कारण कि इन में से कई तो आचार्य के शिष्य-प्रशिष्य द्वारा रचित रचनाएं हैं. माधव तो प्रत्यक्षदर्शी ही थे. जब कि तेजसिंह का आधार पारम्परिक जनश्रुति रहा है.

---

संवत् १५५२ वर्षे वैसाख वदि २ शुक्रे श्री अहमदपुरे बादशाह मुहमद विजयराज्ये'

भूवनेश्वरी पीठ-ग्रन्थसूची. पृ० २०, गोंडल.

जैन-ग्रन्थों की प्रशस्ति और लेखनपुष्पिकाओं में अहम्मदपुर का उल्लेख अहमदाबाद से भिन्न ही आता है. वस्तुतः आज उसकी भौगोलिक अवस्थिति कहां और किस मंडल में है, यह अन्वेषणीय हैं.

जीवराजजी—प्रसंगत: यहाँ एक ऐसे कवि का परिचय देना आवश्यक जान पड़ता है जो अद्यावधि उपेक्षित रहा और लोंकागच्छ के साहित्यकारों में जिसका अपना स्वतन्त्र स्थान है. मेरा तात्पर्य सोमजी शिष्य कवि जीवराजजी से है इनका नाम किसी भी प्रकाशित जैन इतिहास विषयक कृति में नहीं आया है. आचार्य जसवंत की विद्यमानता में ही इनने पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली होगी, पर पट्टावलियों में तो वही स्थान पाता है जो सम्प्रदाय का नेता हो या किसी विशिष्ट घटना से जिसका सीधा सम्बन्ध रहा हो. सामान्य मुनिजन, चाहे प्रतिभासम्पन्न ही क्यों न हो, का उल्लेख सम्भव ही नहीं. इन पंक्तियों के लेखक की दृष्टि में जीवराज वह मुनि और कवि है जिसने लोंकागच्छीय परम्परा को समुज्ज्वल किया है. यद्यपि इन्होंने कोई बृहदाकार कृति का सर्जन नहीं किया, न वे आचार्य पद से समलंकृत थे, पर इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है इनकी जिन चौवीसी की रचना, जो इस सम्प्रदाय का गौरव है. यों तो और भी भक्तिमूलक जीवन के अभिलाषियों ने प्रभु के चरणों में आत्म-निवेदन स्वरूप स्तुतिपरक रचनाएं अवश्य की होंगी, पर जीवराजजी का इस दिशा में जो प्रयास है वह अपने ढंग का अकेला ही है. इस एक ही कृति ने कवि को गुणमूलक परम्परा के कारण अमरत्व प्रदान किया है,

कवि आत्मवृत्त पर मौन है. केवल एक स्थान पर अपने गुरु सोमजी का नाम निर्देश किया है. वैयक्तिक जीवन, दीक्षा आदि सभी कुछ भौतिक परिचय तिमिराच्छन्न है. पर उनकी वाणी उनके हार्द और ऊर्ज्जस्वल व्यक्तित्व का परिचय भली भाँति दे देती है. वस्तुत: साहित्यिकों का जीवन-मापदण्ड उनकी कृतियां ही होती हैं—जिनमें जीवन के विविध अनुभवों का संचय सुरक्षित रहता है. इनकी चौवीस तीर्थंकरों की स्तुतियों का संग्रह मेरे हस्तलिखित चित्कोश में है. इसे देखते हुए तो यही पता लगता है कि कवि को चौवीसी लिखने का विचार नहीं था, जब कुछ स्तवन रचे गये तो बाद में अवशिष्ट तीर्थंकरों के स्तवन भी सम्मिलित कर चौवीसी का रूप दे दिया, यह मैं इसलिये लिख रहा हूं कि जिन स्तवनों में रचनाकाल है उनसे यह विचार स्वयं बन जाता है. उदाहरणार्थ भगवान् ऋषभदेव का बृहत्स्तवन सं० १६७६ की रचना है तो महावीरस्तवन सं० १६७५ की कृति है.

आनंदघन और देवचंदजी के स्तवनों में जितनी आत्मपरक भावनाएं प्रस्फुटित हुई हैं उतनी अन्यत्र नहीं. आध्यात्मिक भावों का उद्दीपन ही तो भक्ति में वांछनीय है. इसके विपरीत केवल आकांक्षाओं को बलवती बनाने की भावनाओं को प्रोत्साहन देना स्तुति-साहित्य के लिये कलंक है. जीवराजजी की चौवीसी इन अपवादों से परे है. इसमें केवल तीर्थंकरों के गुणों का ही विशद् विवेचन है. सैद्धान्तिक दृष्टि से यह कृति अनुपम है. चौवीसियों में प्राय: देखा गया है कि एक ही गेय पद में एक स्तवन समाप्त हो जाता है, पर इस की विशेषता है कि एक ही तीर्थंकर का स्तवन कई ढालों में है. ऋषभदेव-स्तवन ७५ गाथाओं में है.

जिन स्तवनों में रचनाकाल है उनका ऐतिहासिक दृष्टि से थोड़ा महत्व होने से उद्धरण देना आवश्यक जान पड़ता है—

१. आदिनाथ स्तवन का अन्तिम भाग—

संवत् सोल छिहोत्तरा वरपे श्रावण सुदि पंचमी सार ए।
वावेलो चौमासि मन उल्लसि करयु स्तवन रविवार ए।
जे भावे भणसइं नित्य थुणसइं सिद्ध थाय तस काज ए॥
कर जोडी हरप कोडी गुण जंपे ऋषि जीवराज ए॥

वीर स्तवन—अन्त भाग—

संवत सोल पंचोत्तरा वरपे आपाढ़ सुद दसमी सार ए
शुक्रवारे तवन रच्यु जेतपुर नगर मझार ए
ऋषि सोमजी सदा सोभागी जेहनो जस अपार ए
तास सेवक ऋषि जीवराज जंपे सकल संघ जयकार ए॥

चन्द्रप्रभु स्तवन—

संवत् सोल सित्योत्तरा भाद्रवा सुदि आठम सार ए
मंगलवारे तवन कीधुं बालापुर मझार ए ।।
गल्ल भाव आणी भगति जाणी, तवन भणइ जे एक मना ।
कर जोडी जीवराज बोलइ काज सरसइ तेहनां ।।

सप्त जिन स्तवन—

सत्तमो जिनवर उदय दिनकर सोभागी महिमा निलो ।
भगति वच्छलविरद जेहनें धन्य स्वामी त्रिभुवन तिलो ।।
संवत सोल उगणासी वरषे विजयदशमी सोमवार ए ।
बाहादरपुर मांहे तवन कीधुं भणतां सुणतां जयकार ए ।।
सुबुद्धि आणी सहज वाणी जिन तणां गुण भाषी ए ।
ऋषि सोमजी चा सीस जीवराज बोले दया तणां फल दाखी ए ।।

इन उद्धरणों से कवि के विहारप्रदेश पर भी प्रकाश पड़ता है. कवि कब तक जीवित रहे, यह कहना कठिन है, पर इतना असंदिग्ध तथ्य है कि सं० १७०४ तक विद्यमान थे जैसा कि उपर्युक्त महत्वपूर्ण गुटके की एक कृति दीपावली-स्वाध्याय (जो इसी कवि की रचना है और इन्हीं के शिष्य लालजी द्वारा प्रतिलिपित है) से ज्ञात होता है.

प्रश्न होता है कि ये सोमजी कौन थे ? धर्मसिंहजी की परम्परा में एक सोमजी का नाम आता है, पर कवि-काल को देखते हुए तो वह पर्याप्त परवर्त्ती जान पड़ते हैं. संभव है कि रूपसिंह या जसवंतजी कालिक कोई मुनि रहे हों.

१२ रूपसिंह जी—ओसवाल साहलेचा गोत्रीय, पिता साह पथड माता कनकांदे, जन्म सं० १६५८, संयमग्रहण सं० १६७५ मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी गुरुवार, पदस्थापन सं० १६८८ मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी सोमवार अहमदपुर, सं० १६९७ आषाढ कृष्णा १० किशनगढ में स्वर्गवास.

इसी प्रबंध में रूपऋषि के प्रशंसात्मक ३ गीत दिये हैं, जिनमें प्रथम मानूं कृत (रचनाकाल सं० १७७१ के पूर्व का है) दूसरी रचना इन्हीं के शिष्य प्रशिष्य भोजराज और बाघ मुनि की है. ऐतिहासिक दृष्टि से इनका विशेष मूल्य है.

रूपऋषि के जीवन-पट पर विस्तृत प्रकाश डालनेवाली सामग्री अत्यल्प ही है, तथापि जो भी तात्कालिक स्फुट उल्लेख हैं इनसे उनका वैशिष्ट्य झलकता है. इनसे पूर्वकालिक आचार्य संस्कृत के कितने विद्वान् और साहित्यसेवी थे ? कहने के साधन नहीं है, पर रूपऋषि संस्कृत साहित्य से भलीभांति परिचित रहे हैं, यह एक असंदिग्ध तथ्य है. इनके द्वारा रचित "नाममाला" संस्कृत भाषा में गुम्फित प्राप्त है जिसका परिचय यहाँ कराया जा रहा है—

प्रणम्य प्रमोदेन निग्रंथनाथं, प्रसिद्धं गुरुं कीर्त्तिमंत चिदर्थं ।
प्रवीणोपहास्यालयो नव्यपाठी, प्रवक्ष्यामि काव्यैरहं नाममालां ।।१।।
दयोमुक्तिधर्म्मो च तीर्थंकरस्या, चतुर्विंशतिश्चार्हतांज्ञातपुत्रः ।
चतुस्त्रिंशदेवाधिबुद्धातिशेषा, ऋषिश्चोपवासोमतिः स्वामि मौने ।।२।।

× × × ×

श्रीलुंकागच्छतिलकतुल्य श्रीपूज्यवरसिंह पट्टभूषण श्रीयशस्वी गणि शिष्य रूपकृतनाममालायां संक्षिप्तवादः ।।

दया नाम—

दया १ विमुक्ति २ महनी ३ विभूति ४ । नंदि ५ प्रमोदः ६ समितिश्च ७ शांति ८ ।
कल्याण ९ कीर्ति १० रति ११ कांति १२ भद्रा १३ पुष्टि १४ प्रतिष्ठा १५ च विशिष्ट दृष्टि १६।।१३।।

आश्वास १७ विश्वास १८ शिवानि १६ शूको २०, लब्धि २१ विशुद्धया २२ यतने २३ च पूता २४ ।
शुद्धि २५ स्मृधि २६ विरति २७ समाधि : २८ स्त्राणं २६ शुचिः ३० संयम ३१ संवरौ च ३२ ॥ १४ ॥
गति ३३ सुगुप्ति ३४ व्यवसाय ३५ यज्ञो ३६, द्वीप ३७ श्चदीप : ३८ शरणं ३६ त्वहिंसा ४० ।
निर्वाण ४१ शीले ४२ विमलप्रभाला ४३, स्थितिः ४४ : शुभांगा ४५ यजनं ४६ च रक्षा ४७ ॥ १५ ॥
अनाश्रवो ४८ निवृत्ति ४६ रप्रसादो ५० श्रुति ५१ श्चतृप्ति ५२ र्यतनं च पूजा ५४ ।
ऋद्धि ५५ श्चवृद्धि ५६ : करुणो ५७ छयो ५८ च क्षांति ५६ श्चवोधि ६० स्वपिमंगलं च ६१ ॥ १६ ॥
कृपा ६२ चतुक्रोश ६ घृणा ६४ नुकंपा ६५ ॥
अन्त भाग—
ग्रास नाम—
ग्रास १ श्चपिंड २ कवलो गडोल : ४
आदि नाम—
आदि १ श्चपूर्व २ प्रथमा ३ दिमानि ॥२५॥

> इतिश्रीलुंकागच्छतिलकतुल्य श्रीपूज्यवरसिंहपट्टभूषण श्रीयशस्विगणि शिष्य रूपकृत नाममालायां विस्तरः प्रवाद : सम्पूर्णः ॥छ॥

इनमें १२५ श्लोकों में कवि ने लोकप्रचलित नामों का समावेश कर दिया है. ऐसा प्रतीत होता है कि अपने साधुओं के ज्ञानवर्द्धनार्थ ही इसकी सृष्टि हुई है. रचना सुन्दर है और इसका प्रकाशन वांछनीय है. इसके अतिरिक्त स्फुट स्तवन भी प्राप्त हैं जिनकी संख्या एक दर्जन लगभग है.

रूपऋषि के सम्प्रदाय के मुनि रामदास ने सं० १६६३ ज्येष्ठ कृष्णा १३ सारंगपुर (मालवा) में "पुण्यपाल रास" निर्मित किया. इस कृति की अंतिम प्रशस्ति में अपने पूर्वाचार्यो की विस्तृत नामावली दी है. कवि चतुर भी इसी परम्परा के हैं जिनकी रचना "चंदनमलयागिरि रास" (र० का० सं० १७७१) प्राप्त है. अनुसंधान करने पर अन्य कवि भी उपलब्ध हो सकते हैं.

१३ दामोदरजी—अजयमेरु-अजमेर निवासी, लोढा गोत्रीय, पिता रतनसिंह-रतनशाह माता रत्नादे, जन्म सं० १६७२ दीक्षा सं० १६८९ ज्येष्ठ शुक्ला ७, पदस्थापन सं० १६६७ आपाढ कृष्णा ६, स्वर्गगमन सं० १६६७ माह सुदी १३. सतीचंद नामक किसी मुनि ने इनका छंद लिखा है. कवि ने प्रारम्भ में लोंकाशाह द्वारा सं० १५२८ में पुस्तक-वांचना की चर्चा कर सं० १५३१ में "लोंकागच्छ" की स्थापना वताई है. दामोदरजी अजमेर निवासी होने के कारण कवि ने वहाँ के प्रसिद्ध स्थानों का वर्णन किया है. जव छन्द ही उद्धृत किया जा रहा है तव वर्णन का पिष्टपेषण व्यर्थ है.

इसमें ऐतिहासिक तथ्य केवल इतना ही है कि इनकी दीक्षा किशनगढ़ में हुई थी और छन्दकार ने दीक्षातिथि ज्येष्ठ सुदि ५ सूचित की है जव अन्यत्र ७ का उल्लेख है. आचार्य पद भी इन्हें किशनगढ में ही मिला जिसमें वहां के बेलीदास आदि श्रावकों ने विशेप भाग लिया.

कवि ने अपना समयसूचक कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, पर "नाहिजिहां तणी जिहां राई" शब्दों से पता चलता है कि यह रचना उनके समय में अर्थात् सं० १६८४-१७१५ के मध्य भाग में हुई होगी. और विचार करने पर पता लगता है कि इसमें दामोदरजी के आचार्य पद की चर्चा भी है और उनका आचार्यत्वकाल अत्यन्त सीमित रहा है. अतः इन वातों से अनुमान तो यही होता है कि निश्चित रूप से इनका रचनाकाल लगभग सं० १६६७ की होना चाहिए. छन्द पर भापा की दृष्टि से डिंगल का प्रभाव परिलक्षित होता है. कविता सारगर्भित और भावों से ओतप्रोत है.

दामोदरजी के शिष्य खेता की दो रचनाएँ—धन्नारास (र० का० सं० १७३२ देवगढ़, मेवाड़) और स्वामी सुमति री ढालें (र० का० सं० १७४५)—उपलब्ध हैं.

१४ कर्मसिंह—ये महाराज दामोदरजी के बड़े भाई थे. जन्म सं० १६६६, दीक्षा सं० १६८८, पदस्थापन सं० १६९७ माह सुदि १३ (दामोदर जी के अनन्तर) स्वर्गवास सं० १६९८ माह सुदि ९ खंभात.

दामोदरजी और कर्मसिंह के अस्तित्वकाल में जयतारण में धनराज मुनि ने इन दोनों के विरुद्ध होकर अपना स्वतन्त्र पक्ष स्थापित किया था जिसका उल्लेख कवि सतीचन्द और आचार्य श्रीतेजसिंहजी भी करते हैं. धनराज की शिष्य-परम्परा में कई-आसकरणजी[1] वर्द्धमानजी और कवि दीपो-दीपचन्द-आदि हुए हैं. इनकी रचनाएँ मेरे संग्रह में सुरक्षित हैं. ये सब सुन्दर और सुपाठ्य ग्रन्थों के प्रति-लेखक भी थे.

कर्मसिंह का आचार्यत्व काल अत्यन्त मर्यादित रहा है अतः कवि तेजसिंह दोनों बंधुओं का परिचय एक ही पद्य में देकर संतुष्ट हो गये. वह समय, जैसा कि ऊपर बताया गया है, बड़ा संघर्ष का था. धनराज ने फिर आगे चल कर सूरत जाकर आपसी मेल-मिलाप भी कर लिया था जिसका विस्तृत वर्णन किसी लोंकागच्छीय अज्ञात पट्टावाली के आधार पर स्व० मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने "सूर्यपर नो स्वर्णयुग" की विद्वत्तापूर्ण भूमिका में दिया है.

१५ केशवजी—जयतारण निवासी ओसवाल पिता नेतसी माता नवरंगदे, जन्म सं० १६७५, दीक्षा नौ व्यक्तियों के साथ सं० १६८९ ज्येष्ठ सुदि ७, पद स्थापना काल सं० १६९८ माह सुदि ९, स्वर्गगमन सं० १७२० आषाढ़ कृष्णा ९ कोलदे में. सूरत के प्रमुख श्रावक वोहरा वीरजी को लिखकर गच्छभार संभलाया था.

"लोंकागच्छीय बड़े पक्ष की पट्टावली" में इनका दीक्षास्थान कोलदे लिखा है और १५ दिन का संथारा पचखने का विवरण है. इनका गोत्र कोठारी था.

केशवजी के समय में भी पर्याप्त साम्प्रदायिक संघर्ष रहा, उस समय की मीमांसा यहाँ न तो अभीष्ट है और न स्थान ही है, पर इतना कहना समुचित होगा कि लोंकागच्छ की समस्त शाखाओं के लिए यह काल बड़ा ही कठिन रहा. यहाँ तक कि राजस्थान और गुजरात के प्रान्तीय भेद और धार्मिक जीवनयापन-पद्धति जैसी वस्तु भी समीक्षा का विषय बन चुकी थी. मेरा तो मानना है कि एक प्रकार से यह युग उत्कर्ष का भी था, कारण कि आलोचना और विरोध में ही विकास के बीज होते हैं. जिस सम्प्रदाय का जितना अधिक विरोध होगा, वह उतना ही प्रगतिगामी बनेगा.

आचार्य केशवजी की प्रशंसा में रवि मुनि ने जो गीत लिखे हैं वे आगे उद्धृत किये गये हैं. इन्हीं मुनि ने सं० १७८१ में भी दो भास आचार्यश्री के बालापुर के श्रीसंघ के आग्रह से लिखे थे, पर इस समय वे मेरे सम्मुख नहीं हैं, प्रयत्न करने पर भी उपलब्ध न हो सके. अतः अन्त भाग देकर ही संतोष करना पड़ रहा है—

संवंत सतरशशि वसु समइ रे, रविमुनि कहइ उल्लास।
बालापुर नी रे संघनी वीनतीइ कीधी भास ॥८॥

× × ×

श्रीबालापुर मन रंग तो रविमुनि भास बनाइ ॥१॥

इन रचनाओं से रविमुनि का समय स्वतः स्थिर हो जाता है.

केशवजी भाषाकार के रूप में ख्याति अर्जित कर चुके हैं. इनने "दशाश्रुतस्कंध" और "दशवैकालिक सूत्र" पर बालावबोध लिखे हैं. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के हस्तलिखित ग्रंथसंग्रह में एक प्रति है जिसमें कृत पद्यों का संकलन बताया जाता है. इसकी अंतिम पुष्पिका इस प्रकार है—

---

१. इनने संवत् १७०४ में उदयपुर चातुर्मास व्यतीत किया था. उस समय की 'संथारापयन्ना' बालावबोध की एक हस्तलिखित प्रति मेरे संग्रह में है जिसकी लेखनपुष्पिका इस प्रकार है—
"संवत १७०४ वर्षे भाद्रपद मासे शुक्लपक्षे षष्ठ्यां तिथौ शुक्रवासरे ॥ उदैपुर मध्ये राणाश्रीजगतसिंघजी राज्ये कुंवर श्रीराजकुमार चिरं भूयात् ॥ आचार्य श्री आसकरणजी विद्यमानेन ॥ उदैपुरमध्ये चातुर्मासिक कारितं तेन लिपिकारापितं ॥श्रा० देरंगा ॥ "प्रति बहुत ही जीर्ण है".

"इति श्रीमदाचार्यजी श्री ६ केशवजी कृतानि काव्यानि ।। लिपिकृतं पूज्यऋषि श्री सोमजी चच्छिष्य पू० ऋषि श्री ५ : महिराजी ऋत्शिष्य पू० ऋषिश्रीटोडरजी तत्शिष्य पवित्रात्मा श्री ५ भीमजी तच्छिष्येण मुनि दामाख्येणालेखि। शुभं श्रेयः संवद्वसुगगनसमुद्रचन्द्रवर्षे (सं० १७०८) कार्त्तिकमासे त्रयोदशीगुरुवासरे राणपुरे लिपिकृत्वा प्रतिरियं शुभं श्रेयः ॥

—राज० प्रा० ग्रन्थसूची भाग २ पृष्ठ ३०५, जोधपुर.

ये गीत वस्तुत: केशवजी रचित हैं या क्या ? बिना मूल प्रति का अवलोकन किये कुछ भी कहना सम्भव नहीं. पुष्पिकान्तर्गत मुनियों की अन्य प्रतिलिपित रचनाएँ भी इन पंक्तियों के लेखक के संग्रह में सुरक्षित हैं. भीमजी दामाजी के गुरु थे, केशवजी शिष्य महीराज के प्रशिष्य और तेजमुनि के गुरु थे. तेजमुनि कृत "चंदराजा का रास" (र० का० सं० १७०७ कार्तिक, राणपुर) उपलब्ध है. एक हीरानन्द नामक कवि की रचनाएँ सं० १७७० पाई जाती हैं, पर निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता कि ये किस केशवजी के शिष्य थे ? कारण कि कुंवरजी पक्ष में भी एक केशवजी का उल्लेख मिलता है, जो अपनी शाखा के १३ वें आचार्य थे.

यहाँ पर प्रसंगत: विवक्षित १५ वें पट्टधर केशवजी के एक शिष्य कवि बाल कृत बावनी का परिचय देना इस लिये अनिवार्य है कि यह रचना सर्वथा अज्ञात और अन्यत्र अनुल्लिखित है. इसका रचनाकाल सं० १७१५ है अत: आचार्य श्री की विद्यमानता में ही प्रणीत है. रचना के प्रारंभिक भाग में संक्षेप में कवि ने आत्मीयों की परम्परा दी है. उसमें जसवंत ऋषि के शिष्य-पट्टधर प्रभावसंपन्न आचार्य रूपसिंहजी का नाम नहीं है, यह एक आश्चर्य है. यद्यपि उनके समय में ऐसी कोई अवांछनीय घटना भी नहीं घटी, फिर भी उनका नाम न होना खटकता है.

जैन साहित्य में संख्यावाचक कृतियों का बाहुल्य रहा है. बल्कि कहना यह चाहिए कि एतद्विषयक परम्परा को जितना प्रोत्साहन और प्रेरणा जैन मुनियों ने दी है, शायद ही किसी ने कल्पना तक की हो. लोंकागच्छ के साहित्यकारों में इत: पूर्व बालचंद और किशन मुनि ने सफल प्रयास किया था जैसा कि ऊपर की पंक्तियों से स्पष्ट हो चुका है. उन्हीं के अनुकरण स्वरूप कवि बाल का यह सुप्रयत्न जान पड़ता है. इसकी भाषा हिन्दी और भाव आध्यात्मिक रस से ओतप्रोत हैं. जनता के दैनिक जीवन की शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है.

इसका आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

। पद्य ५६ । कर्ता कवि बाल । सं १७१५ आश्विन शुक्ला ५।

ओंकार अनंत अलख अवगत अवनासी। अकपट अमिट अघट अप्रगट पद जोत प्रकासी ॥
नर सुरवर राजेन्द्र आंन चित अंतरै आवै। असरन सरन नाथ नाथ अन्य नाथ न भावै ॥
संसार पार तट पामीओ उत्तम जस जंपे अवर। देवाधिदेव भव सयमेव शिव सो सुप्रसन केशव सुगर ॥१॥
नमो साधु निकलंक मांन भीदा सूय भम्भल। नुन भीम गुरु नमो अनग मगो जिन अगल ॥
जगमल सरखो जति नमो रूपा जीवा ऋषि। सिंघ वे जसवंतसीह नमो दामोदर दीपक दृप्प ॥
कर्मसीह नमो पोटे कलौ सुखदायक सुरतरु समो। गच्छ तिलक गुज्जरगछैं नर नायक केशव नमो ॥२॥
महियल धन मरुधरा उतनछ पइयापुर आपां। उस वंस अवतार सोहै चौरासी मापां ॥
कोठारी कासिप गोत्र गढपति गरथे। उचितापति अपीया हेम हय वर रूप हगे ॥
आचार सुर आगे लगै दातारां उपम देउ। प्रगटाया तीयारां पटंतरे चीसलने नोगा देउ ॥३॥
सिरहर वलि संपनो तिये कुलमें कलपतरु। सुभ कर सुत नेतसी संघ सिकिरा धरम धर ॥
नवरंगदे ता नांम प्रीया सत्य सील पीयारी। उयरे तेण उपनौ कुंवर केशव सुखकारी ॥
सुपनरांक संसार सुख-सुवेसे संजम लीयौ। कमसी सुगर केशव नें धंन गछपति थपीयो ॥४॥

अन्त

कहै बाल सुगुरु केशव तणी बावन अक्षर बावनी ॥५२॥
सतरा सय संवत वरस पनरा वषाणु। हैला भास आसोज शुकल पंचम शुभ जाणु ॥

शुभ महूरत सोमवार सुणंत भणंत सुप करंता। गछपतिनां गुण माण मालहदि पहिरे दुप हरंता॥
आचार्य केशव ईश अवल सुकवि वाल सद्‌ गुरु वर्ण। ओंकार आदि वावन अक्षर सकल संघ मंगल कर्ण॥

१६. गणि तेजसिंह—पंचेटिया निवासी, ओसवाल छाजेड गोत्रीय, पिता लखमण माता लखमादे, दीक्षा सं० १७०६, (लोंकागच्छ पट्टावली में इनका संयम-ग्रहण-स्थान जयपुर वताया गया है, पर वह गलत है कारण कि जयपुर की स्थापना ही सं० १७८४ में हुई है) पद स्थापना सं० १७२१ वैसाख सुदि ७ गुरुवार, स्वर्गगमन सं० १७५१ के वाद. यद्यपि देशाई महोदय ने इनका स्वर्गवास सं० १७४३ माना है पर इनकी रचनाओं से प्रमाणित है कि सं० १७५१ तक ये जीवित थे.

गणिवर्य तेजसिंह को इतिहास के प्रति विशिष्ट अनुराग था. अपनी रचनाओं में भी वह रचनाकाल, स्थान और किस की अभ्यर्थना से किस कृति का सृजन किया आदि वातों का उल्लेख करने में कम चूके हैं. इससे इनके जीवनपट पर भी सामान्य प्रकाश पड़ा है और फैली हुई भ्रान्तियों का परिमार्जन हुआ है. यद्यपि इनकी रचनाएं साहित्यिक दृष्टि से उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, पर सामान्य जैन श्रद्धालुओं को उनसे मार्गदर्शन मिलता है. आत्मशुद्धि और जीवनदर्शन के स्वर कर्णगोचर होते हैं.

इनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और इतिहास की दृष्टि में विशिष्ट मूल्य रखने वाली कृति "गुरुगुणमाला भास" है जो इस निवंध की प्रेरक शक्ति रही है. इसकी प्राप्ति मुझे सं० १९९३ के मेरे सूरत चातुर्मास दरम्यान तत्रस्थ एक प्रभावशाली परिवार से हुई थी. साथ ही कई स्फुट रचनाएं, जिनका संवंध स्थानकवासी परम्परा से रहा था, उपलव्ध हुईं. दूसरी प्रति सं० १७७१ के स्थानकवासी परम्परा के मुनियों द्वारा प्रतिलिपित गुटके में प्राप्त हुई. इन्हीं के आधार पर स्व० मोहनलाल दलीचंद देशाई ने अपने जैन गुर्जर कविओ में लोंकागच्छ की पट्टावली दी है. कवि ने पूर्वजों से सुनकर पूर्वाचार्यों का इतिवृत्त लिपिवद्ध कर जैन इतिहास की एक काल विशेष से संवद्ध घटनावली को सुरक्षित रखा. यद्यपि इसमें आये उल्लेखों को तात्कालिक अन्यान्य ऐतिहासिक साधनों के प्रकाश में विश्लेषण करने पर कुछ तथ्य संदिग्ध प्रतीत हुए, पर इससे कृति का महत्त्व कम नहीं होता और न गणिवर्य के प्रयास पर ही आंच आती है. रूपसिंह से लगाकर १६ वें पाट तक का व्यवस्थित वर्णन एक स्थान पर प्राप्त होना अन्यत्र दुर्लभ ही है. इस रचना के अतिरिक्त भी "२७ पाट स्वाध्याय" नामक एक और रचना सं० १७३४ में रची थी, पर मुझे इसका केवल अंतिम पत्र ही प्राप्त हो सका है—

पाट सतावीस ए कह्या रे जिनशासन के मुणिंद।
अधिक प्रत्यय मुंहता तणो नथमल सुत रे भागचंद हीरचंद कि॥
संवत सतर चोतीस में रे गणिगुण गाया चौमास।
वीनती हीराचंद नी सही रतनपुरी सदा सुखवास॥

इनकी गुर्जर गिरा में परिगुम्फित रचनाओं का परिचय जैन गुर्जर कविओ में आ चुका है, तदनन्तर कतिपय नव्य कृतियां मेरे संग्रह में इस प्रकार उपलव्ध हैं—

१ हरिवंशोत्पत्ति रास, २ सुविधि जिन साधना, ३ सोलह स्वप्न सज्झाय (सं० १७३३ आश्विन कृष्णा १४ ऋषि दामाजी शिष्य मनोहर द्वारा प्रतिलिपित) ४ स्वाध्याय, ५ प्रतिक्रमण स्वाध्याय, तमाखू स्वाध्याय आदि.

इनकी रचनाओं से पता चलता है कि इनका विहार प्रदेश वहुत ही विस्तृत था, मेवाड़, मारवाड, मालवा और गुजरात के प्रमुख नगरों का उल्लेख स्वकृतियों में किया है.

संस्कृत भाषा में रचित इनका एक 'दृष्टान्त शतक' नामक ग्रंथ भी उपलव्ध है—जिसकी अन्त्य प्रशस्ति इस प्रकार है—

"संवत १७६८ वर्षे कार्तिक सुदि १४ दिने वार मंगले. सं० १८४० कार्तिक वदि ३०.

श्रीलुंकाख्यगणे गणीश्वरगुरुः श्रीकेशवान्ते स्थितः
शिष्येणाशु कृतं वरं निजधिया दृष्टान्तकानां शतम्

छंदोऽलंकृतिशब्दशास्त्ररहितं काव्यं यदा निर्मितं
तत्सर्वं मुनितेजसिंहगणिभिर्धीरैर्विशोध्यं वरैः ॥१०२॥

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के हस्तलिखित ग्रंथों की सूची में 'ज्ञानप्रकाश स्तवक' तेजसिंह कृत सूचित है, पर मूल प्रति के विना निरीक्षण कैसे कहा जाय कि वह इसी तेजसिंह द्वारा प्रणीत है या अन्य किसी द्वारा. इनकी रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि तेजसिंह का साहित्य-साधना-काल सं० १७११ से १७५१ के लगभग रहा है. सं० १७५१ का उल्लेख एक सज्झाय में इन शब्दों में हुआ है—

संवत सतर एकावनां वरषे कहे तेजसिंह गणधारी ।
दीव नगर संघ दीपतो धरमी नें धनधारी ॥

इनके प्रशिष्य तेजपाल 'रत्नपंचवीसी' और 'रत्नचूड चौ०' (र० का० सं० १७३५) के प्रणेता थे.

इनके समय में और केशवजी के आचार्यत्व काल में पूर्वोलिखित धनराज आदि ३ मुनि वोहरा वीरजी के सुप्रयत्न से सूरत में आकर गच्छ में सम्मिलित हुए. धनराज के संतानीय दीप मुनि सुदर्शन रास, गुणकरंड चौ० और धमार (मेरे संग्रह में, कुलैथ नगरे रचित,) के प्रणेता थे.

१७ कानजी—नाडोलाई के ओसवाल पिता कचरा माता जगीसा. इनका संयम ग्रहण समय अनुपलब्ध है, देवमुनि रचित भास में केवल इतना ही संकेत है कि वाल्यकाल में दीक्षित हो चुके थे. इनकी कृतियां औपदेशिक ही मिलती हैं. एक स्थूलिभद्र स्वाध्याय (पद्य १५) मेरे संग्रह में है.

इनके समय में गांगजी मुनि ने सं० १७६१ में रत्नसार तेजसार रास, सं० १७६१ में राणपुर में जंबू स्वाध्याय का निर्माण किया. इन्हीं के शिष्य दाम-वरसिंह ने सं० १७६६ में नवतत्व चौपाई रची. तदनन्तर भीमसेन-सुजाण और महानंद आदि मुनियों ने गुजराती में कई कृतियां विनिर्मित कीं.

कानजी के वाद तुलसीदासजी, जगरूपजी, जगजीवनजी, मेघराजजी, सोमचंदजी, हरखचंदजी, जयचंदजी, कल्याणचंदजी, खूवचंदजी और न्यायचंदजी आचार्य हुए, विस्तार भय से इनका नामोल्लेख ही पर्याप्त समझा गया. कुंवरजी पक्ष, धर्मसिंहजी, लवजीऋषि और धर्मदासजी आदि की परम्परा का इतिहास भी गौरवपूर्ण रहा है और इनके मुनियों ने समय-समय पर जैन संस्कृति के विकास में योग भी दिया है, पर उन सभी का नव्य मूल्यांकन सीमित समय और साधन द्वारा संभव नहीं. मेरी मर्यादा कानजीऋषि तक ही सीमित थी.

यहाँ पर लोंकाशाह के परवर्ती मुनियों के जीवन पर मार्मिक प्रकाश डालनेवाले जो कतिपय काव्य प्रकाशित किये जा रहे हैं, इनके अतिरिक्त भी स्थानकवासी मुनियों की प्रशस्ति स्वरूप कई पद्य लिखे गये हैं, जिनका मारवाड़ और मेदपाट से संवंध रहा है. किसनमुनि, पूज्य लालचंदजी, विजयचंदजी आदि अनेक प्रभावशाली आचार्य और मुनियों द्वारा विविध विषयक साहित्य भी निर्मित हुआ है, जो अद्यावधि अज्ञात ही रहा है, पर उन सभी का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना, समय और श्रमसाध्य कार्य है. इतना कह देना आवश्यक है कि चाहे जैन संप्रदायों में कितना ही मनोमालिन्य हो, पर मेवाड़ जैसे कठिन विहार के प्रदेश में स्थानकवासी-मुनियों ने जैन-संस्कृति की व्यापक एवं सार्वभौमिक भावनाओं को वनाए रक्खा है. शताधिक कृतियों की प्रतिलिपि कर भाषा साहित्य की परम्परा को गतिमान किया और अपनी औपदेशिक वाणी से जन-मानस को विचारपूर्ण क्रान्ति के लिये प्रोत्साहित किया.

जो ऐतिहासिक काव्य उपलब्ध हुए हैं वे मूल रूप में इस प्रकार हैं—

१

नेंम कवि रचित

वड़ा वरसिंघ जी का छंद

पास जिणंद परम पद पहिलो करीस प्रणाम । गुण [illegible] वरसंघ ना [illegible] गुण [illegible] नाम ॥
पाटण यादे अनादे पुर दीपे गूजर देस । [illegible] ॥

धूनां वचन सुधारवा सवलां शास्त्र सुध। जेयन ध्रम देखाडयो बोहतां जन प्रतिबोध ।।
सुध सांवद्य अखर सवे बचने कथआं वीर। पनर छत्रीसे प्रगटीस बचन सुध सरीरीज आंन तणों ।।
ध्रम जगवो पांचमैं आरे प्रगट पहिलो रूपो पांमियो। चिंतामणि चारित्र रूप रसेसर पायौ ।।
उतपत इम अंकोर केवल वयणे प्रगट प्रवचन। पुन पडूर जिन शासन साचौ जती अंतर भेद अनंत ।।
जीव रपेसर जे हुआ मोटा पुरुष महन्त। नाम लेअंतां नध नद्य संपत सुख संसार ।।
सेवंतां सुख ऊपजै उपशम गोर अणगार। मयण क्रोध माया मछर. दुरी निवारण दोप ।।
स्वल्प संतोपी संयम मलियो, मारग दाखण मोय। केवल वयगें प्रसिद्ध किय, पोंहचे पुण्य प्रमाण ।।
जीव ऋपि जैन शासन जती, वडो गुण जांणी माया काय मोहथी। वश कीधा मुनिवरजी,जीव ऋषि जे वडा जती।
कोअ नहीं एणें काज जीवऋर्षीश्वर जीवतां। सियल संतोषीसुख पलडी ग्रहीअ पटिनूं रूपक वरसंघ रखि ।।

## छंद

वरसंव रसेसर धार सवांणें जतीस रे उदयो जगे एणे जांणे।
भलां गुण अन्तर जांणे भेद वचन विचार लह दाय भेद ।।
धरा लग धरम न चूंकि ध्यांन, मनीसर महिमा मेर समान।
लको जन धरम लिहिल वेलाय, करि भवि एक लगार ।।
कपाय दए दहवीस नें कदण दोप, स्वल्प आहार माने संतोष।
ममता माया छंडी मोह संजमें चासण चाढि सोह ।।
ईर्या सुद्ध लेई आहार आजू न कालि वडो अणगार।
हृदय मूल न आंणे रीस वरसंघ ऋष वीस वावीस ।।
प्रसिद्धे महाव्रत पालि पंच नवें तत्व सवि जांणैं संच।
भेद न वंचजो लाख अनंत जीव अजीव सुर पण साधे ।।
जोग सदीव क्रिया सुध साध निवारण क्रोध अवोधक जीव दिए प्रतिबोध।
न कदे न पाप वधारण नाम धरता पाग न चूंकि ध्यान ।।
जोय कर कीडी कुंजर जेम निरमल काया जात न गेम।
ऋपीश्वर जीव दया प्रतिपाल, दिन प्रति वयण आपद आंण ।।
अभयज दान आलोहि अख परज न हालि भारंड पंख।
अढारें पाप तजें अपराध सदा सुध मारग दाखि साध ।।
प्रवचन सूत्र सूद्र म प्रवेस अमीरस वांणी दिए उपदेस।
मल दल कंद ए अमली मांण व्रण वस जोध मदन वपांण ।।
रतिपति राव कियो मन रोस उडोड्या ढे कम असोस।
दलपते आप अनंग दीवान धसरवा पाप कनि दरवांन ।।
कहा जे च्यारे क्रोध कपाय रिहितुं आगलो सुरते राय।
वधारें क्रोध करि भडवाअ रहे लो आगमि अन्द्र राह।
भंजो भाराये अपाढी भूत भीता ज्र्ूध प्राणें वडा जम दूत ।।
गीतारथ मोटा गाजी गात्र मानव तणी त्याहां केई मात्र।
मदन कहे ऋपि छोडो माण पुगी कोण मुसु जोध परांण ।।
आगि वरसंघ कहि अणगार कसो तुम अणकरि अहंकार।
आगा रखें संकर बोलै अगने मनावो तूं नाहार मदन ।।

वरसंघ रपे तणीं सुणों वांण, मदन महा चढ्यो भड प्रांण ।
उलसे आयो आप अणंग जतीस रे साथे जवरो जंग ॥
जपै ऋषि वरसंघ जीत जू यार अरिहंत देव तणों आधार ।
अपूरव भाव अंतर न आंणै पंच व्रत...पवंग पलाणै ॥
वाजि पट त्रीस वाजित्र घन सजि अगै सियल तणो ते संत ।
सजोडा भारथे पंच सुभत पूइसन मावि त्रिण गुपति ॥
मुनिसर भोटि जुध मंडाणौं अनंग सरे संकरे अंवासण...।
प्रवचन सूत्र सुखिम प्रहार धर्मचक्र नवाडो व्रत धार ॥
सुदृढ खिमावंत खेडो साहि मदन हि कप हुओ मन मांहि ।
दीठो जीव रिषि तणों प्रसाह मडी दोहो वर कियो मदराअ ॥
नपेसर तुझ खमि कोण ताप परठै परजं व्यासी पाप ।
छके मयण गीओ वल छंड मोटां सु कोअ न सके मांड ॥
जीतो वरसंघ हुओ जिकार स सव जंपि सयल संसार ।
करि जन शासन कोडि कल्याण वदे पठत्रीसे वृत्त वपांण ॥

**कलश**

पूज्य प्रतपो संसार सयल जीव सुखकारी ।
उत्तम रिषि अणगार ध्यांन शुद्धे व्रतधारी ॥
शासन नध्य सांनध वस्यो सघलें ख्याती ।
उत्कृष्टो आचार गच्छ वधज्यो गुजराती ॥
ताहरें तापि समया तणां दोपी दह वाटे गया ।
वरसंघ रिपि कव्य नेंम कहे सदा प्रतिपालो दया ॥

इति श्री वरसंघजी रो छंद ।

संवत १७७१ वर्षे चैत्र मासे कृष्ण पक्षे चतुर्थी तिथौ द्राफा मध्ये लि० पू० ऋ० श्री वेलजी तच्छिष्य पू० ऋ० श्री कान्ह जी तच्छिष्य लि० मुनि भोजा । भोजा नंदा पठनार्थ ॥

## २

## आचार्य जसवंत—छंद

श्री जिनशासन सलहि ए साधां तणां संमंध, जैन तणां जाणि जकै नर ता ग्यांन वंध ॥
जेहा जसवंत जंपीए आचारज अणगार, वाणि अमिरस जे वयण सहु वदे संसार ॥
जेहा जसवंत जंपीए आचारज अणवीह, धन्य महुरति ति धन घडी धन्य वेला धन्य दीह ॥
नयरी धन्य नवि साहसी निज निरखंत निधांन, सलहा आवै सारखा उत्तम पुरुष समांन ॥
जहां एवि पधारिया परवत नें प्रथेराज, परवत घरे सहोदरा अनि पटि अम आगाज ॥
उदर तिहारे ऊपनो मही पडि महिमावंत, जोति महा घण जागीयो जिन शासन जयवंत ॥
रषभ तणा वसीआ रदे सुधा शास्त्र सार, मांगे मां विमांकनें अनुमति [illegible] [illegible] ॥

**छंद**

माता दीओ अनुमती तुझ गुण [illegible] [illegible] ।
मुझ नत्थ संसार रा नुन त्याग चित्तमां धारीयो वैराग ॥

भगवंत तणो ग्रहीयो भेद वसुधा वात ए द्रुवेव ।
वदहि मात सुणि जसवंत अविचल नांणि सुख अनंत ।।
परवत तात तनु पोहो चाल विह्वोलील भांगवि वाल ।
कांकु पेय उकल मोड धारे रदे बीजा धोड ।।
सजसी साख साहस ओघ जसवंत तुझ बंधव जोद्धि ।
मोटा थाहरा मोसाल सोहि हंस सुत श्रीपाल ।।
तिम निज सो काया न्यांन ग्रहीयो रदे उत्तम ज्ञांन ।
सोहिए अंगी जको सोहाय काय जोणि तावी ए ग्रभवास ।
मेर हर तणां लाभे मांन अभरे दाखि ना विज्ञान ।
मुंपे कमल जे दसमास रहिवो रात्य दीह वदीस ।।
जल दल मलें पंच श्रीजंच मांहि नीझरें मल-मूत्र ।
मछ्यां जेम तुछ जल मांहि तेणि त्यम करि त्रुफडी-ह ।।
एहवां दुख जांणि अनंत जग वपि जागीयो जसवंत ।
जसवंत जोति घण तेणि आर प्रणामि आगलि परिवार ।।
कहीए घणुं कौतुक हाय मुंह नाह दिव्यो अनमति मायैं ।
वदवा वयण जिवा वालि परिसी पूत्र वार त्रपाल ।।
आणंद उपशम धरि आव्य ततक्षण संघ सहु तेडाव्य ।
भावनां घणी लख्यां भूज्य सतरा धरा दसमी पूज्य ।।
पुण्य रो एणि गच्छ परसंग वेगा पधारज्यौ वरसंग ।
चावो सुगर जाणिवोज मुरधर देश कीधी मोज ।।
थांनक मोरधर घरि थाय साचो साधरो समवाय ।
निज गुरु आवीया निद्रोह सोजित नयर वाटण सोय ।।
परवत साह रो पुन्यवंत जती व्रत झालिसी जसंत ।
दाखि वात एम देश-विदेश नर वियया हरप न वेस ।।
नरनाहा गुर वीकानेर महाजन लगि जेसलमेर ।
जपि जाहा लो श्रावक जेह सांभलि आवीया संघ लेह ।।
सवलो जोधपुर रो संघ भणि-भणि भावन अणभंग ।
कालूं मेडतो कै कंद नर विथया हरप निरंद ।।
निमाहे से रो लगै अजमेर घणथट हुओ आवि घेर ।
बिगडी जैतारण सुखवास श्रावक लाए सहु साबास ।।
सजस रीति जुंनीया साह मोछव हुए सोजित मांह ।
मलीया सादडी रा साह आंणि मन घणैं उछाह ।।
परवत करि ए प्रसिद्ध नित्य-नित्य वावरि नव निद्ध ।
वव्यों वरें जीमणवार परवत प्रसिद्ध अनंत नि वार ।।
मलीया जोवा मंडलीक दीक्षा महोछव वड वीक ।
मंगल पाखर्यो कल कोड धारे रदे साचो वुड ।।
जेणी विधि दंसण भद्र जु आंण वांदणि आवीया व्रथमांण ।
मुनिवर वेश वरे मुगट पांचां जणां सुपरगट ।।

ओघो मुहपत्ति करि आंणि पारभ वडो हुव्य प्रमांण ।
रूयगि सोहि जसवंत रषि शुदगर तणों साचो रिषि ॥
वदहि जेम ज साहे वचन विकसे तेम सुगर वदन ।
वरसंव कियो एम विचार भूज जूं दीओं गच्छ रो भार ॥

### पूरव छाई

नयरी सीरोही नयर पडिया जसु गट ।
थरि तेंग थांनक थपीउ महीपद ठवण प्रगट ॥

### छंद

पद ठवण शुदग तणो प्राभो ठांमि तेण उछव थयो ।
मालवो गुजर धा मंडल गछ संघ लोग हि गह्यो ॥
साध-साधवी अनेक श्रावक वसहि सहि सजस वेंचाइयै ॥
चारित्र खंडाधार चलि चति चोखि नवि चलि ।
नव धन्य धूना गच्छनायक नन्नो नेह अमृत नलि ॥
दरीयाउं शुदगई तणों दरसण पुन्य पाप नि पाइएँ ।
श्रीपूज्य वरसंध पाट शुदगर एं आंकणी ॥
पुन्यवंत प्रज्ञावंत प्राभो ध्यानि शुद्ध मनि धरि ।
अगियार अंग उपांग बारह उग्र करणी आदरि ॥
आगम नीगम अरथ अनोपम सकल सूत्र सराहीए ॥
महाव्रत पंच मूल मंडे करम आठे कापीआ ।
कषाय च्यांरि दूर कीधी भला शुदगर भेटीया ॥
वेराग वेलि समु द्रव्य सुद्धां ध्यान निर्मल ध्याइएं ।
श्रीपूज्य वरसंव पाट खुदगर गुण जसवंत गाइए ॥

### कलश

गाइजे गूण जांण गुंण गिरवो गितारथ ।
प्रतपो चारित्र पात्र पुंन्य अंकोरे पदारथ ॥
परवत पिता प्रचंड उदर सहोद्रां ऊपनो ।
निरमल मति निधांन सकल श्रीसाध संपनो ॥
रूप ऋषि जीव ऋषि वरसंव ऋषि तेहनें प्रताप अन्धकार तिम ।
श्रीपूज्य पाट वरसंवजी जसो जोति जग वसि ज्यम ॥
॥ इति श्री जसवंतजी नो छन्द ॥

### ३

### मुनि माधव रचित जसवंत चतुर्मासि

### श्री वीतरागाय नमः

### दुहा

प्रथम जिणेसर पायकमल, पहिलुं प्रणमी पाय, गछनायक गुण गायवा, मुझ मति उलट थाय ॥१॥
मास वसंति कोकिला, देखी चकवो चंद, मोर मेह गाजि [illegible] पामि परमाणंद ॥२॥

तिम मुझ उलट उपनो, गुरू गुण गावा अवदात, ते भवीयण तुम्हो सांमलो, जेहनो जस विख्यात ।।३।।
रूप ऋपीवर गुण निलो, जीवजी जुगप्रधान, वड वरसिंघ वरसिंघजी, जस्स महिमा मेरू समान ।।४।।
तास पाटि पटोवरू, परवत पुत्र पवित्र, सती सहोदरां जनमीयां कहिसूं तास चरित्र ।।५।।
मरूधर देशि जाणीइ, सोभित मोटुं गाम, वसि तिहां विवहारिया, उसवंस अभिरांम ।।६।।
परवत घरणी सहोदरां, जनमो पुत्र रतन, अनुक्रमि वैरागीयो, संयम उपरि मन ।।७।।
श्रीपूज्य स्वहस्तें करी, संजम दीधूं सार, तिहांथी अनुक्रमि आवीया, सविपुर नगर मझारि ।।८।।
संघ तेडी श्रीपूज्यजी, पूत्रा पुरुष प्रधान, ऋपि जसवंतनि पद आपीइं, एह छइ गुण निधान ।।९।।
संघ सहु, वलतुं कहि. वांदी सहि गुरू पाय, पूज्य पटोधर थापीइ जस नामि नव निध पाय ।।१०।।
संघ समक्षि श्रीपूज्यजी, निज पद दीधुं सार, संघ सहु आणंदीया, तव वरत्यो जयजयकार ।।११।।
विहार करी वंदावतां, आव्या गुजर देस, श्रावक सहु आणंदीया, सुणी सदगुरू उपदेश ।।१२।।
जस कीरति वाधी घणी, जसवंतजीनी जाणि, जिन शासन दीपाववा, उदवपों अवनी भाण ।।१३।।
श्रीपूज्य पाटि दीपावता, ऋपि जसवंत जगि जाण, तास चउमासां गायसुं, सुणयो चतुर सुजाण ।।१४।।

### राग देशाष

श्रीपूज्य सीरोही आवीया, पूज्य प्रथम चउमास
सकल संघ आणंदीया, पोहोचि मनानी आस । १५ श्री
श्रीपूज्य वीजें बंदिर पंभायति, चउमासुं सार
संघ सहु उछव करि, हइउ हरष अपार । १६ श्री
पाटिण पूज्य पधारीया, प्रभू पूरण आस
भणसाली भगति करि घणी, तृतीए चउमासि ।१७ श्री
उसमांपुरि चउथुं करूं, पांचमुं पंभाइति
बुधि निधानइ वि कर्यां, सविपुरि संघाति । १८ श्री
पंभाइति करूं आठमुं, श्रावक सुपकार
धर्म दीपति थइ घणी, आंबावती मझारि । १९ श्री
वटपद्र पटोघर आवीया, संघ हरष अपार
तप जप वहु लाहवा, नवमि ते सार । २० श्री
अहिमदिपुरि गुरू आवीया, दशमि सुपसार
अग्यारमि राजनगरमां, सोनी समझा अपार । २१ श्री
उसमापुरि उछव घणां, विलगतां सार
सात सात थयां पंभाइति, गातां हरष अपार । २२ श्री

### राग सारंग

अहिमदिपूरि पनरहवांरे, पाटिण रहा नव सात
जादोरे सतमुं जाणीइरे, जेहनी वहुली प्यात । २३
सुगुण नर सेवो एह गुरू सार
जस नामि सुप अपार । सुगुण० आंचली
आठ दशपी पोडइ थयां रे, आगरि उगणीसमुं उदार
अजमेर महिमा घणो रे, दश दशमुं करं सार । २४ सुगुण०

बगडी एकवीसमुं हवुं रे, बावीसमुं करूं पंभाइति
साहा नरा सील व्रत उचरेरे, जहनो जस विष्यात । २५ सुगुण०
उसमांपुरि महिमा घणे रे, त्रेवीसमि थयो सार
भवीक जन समझाय घणां रे, कहितां नावि पार । २६ सुगुण०
चउमासि चउवीसमि रे, गुंदवचि गुणनो ठाम
साहा पेथड पुत्र भणि घणुं रे, जेहनुं रूपसीह नाम । २७ सुगुण०
पटोधर पंचवीसमि रे, सवि पुर सदगुरू सार
दानादिक उछव घणां रे, वरत्यो जयजयकार । २८ सुगुण०
साल दशमुं गुंदवचि रहा रे, श्रावक हर्ष अपार
रूपकुमर तिहां सज थया रे, वरवा संजम सार । २९ सुगुण०

### राग सामेरी

गुंदवचि नगरि उछव घणां, साह पेथड पुत्र दिक्षा तणां
तेह तणां मनोरथा पहाचि अति घणांए । ३०
रूपकुमर तव सज थया, सामग्री सहुइ गहि गया
उछव करवा संघ सहु मलाए । ३१
संवत साल पंचोतरि, मागसिर शुदि बारसि सही करि
स्वहस्ते श्रीजसवंत संजम दीएए । ३२
दिनदिन प्रति चढती कला, रूपऋषि गुणे भला
गुण निला सास्त्र सुविध भणा भलाएं । ३३
पीपाडि पूज्य पधारीया, सतावीसमुं घरीया
गुंदवचि अठावीस पुरां थयां ।३४
सीरोही सदगुरू आवइ, संघ सहु मली वधावि
गोरि गावि उगणत्रीसमि उछव थाविए । ३५
जालोरे त्रीस पुरा थयां, सीध गुणे सीरोही रह्या
योग संग्रहे पाटिण पूज्य पधारीयाए । ३६
वडोदरि वारू धरी, सामग्री पोति पुण्य भरी
तेत्रीसमि सदगुरुनी सेवा करी । ३७

### ढाल फागनी

सूरति सदगरू आवीया श्रीसंघ हरप अपार, ववावि वर कामनी वोली जयजयकार । ३८
वोहरा हापा हरप घणो थयो वीरजी वारू विचार दानादिक विध साचवि पारिप प्रमुप उदार । ३९
वुधि निधान बुहरानपुरि सानी माणिकदास धायतादिक संघ सहु मली पांदवा आवि उल्हास । ४०
संघ सहु संतोपीया पोहोती मननी आस, अतीसइ समुं सहु जाणयो श्री गुरु रह्या चउमास । ४१
पांत्रीसमुं पूज्य आवीया त्रांबावती मझारि संघ सहु साता घणी उलटि अंगि अपार । ४२

### राग मारूगी

कोणीक राजा रंजीयो, आव्या जाणी वीर जिणंदजी ।
तेम सोरठ संघ हरपीउ, सुणी आगम महा मुणिंदजी, श्री गुरु चन्द चन्दजी । ४३

जेहनि नामि परिमाणंदजी, श्री गरू० ।
पोरिबंदिरे पूज्य पधारा, सकल संघ सुखकारी जी ।
विसा सोमजी वित्त वावरि, हुया हरप अपार जी । श्री गु० ४४
पोरबंदिरि वार त्रणि करी करीनि, मंगलपुरि वंदाविजी ।
वोहरा मालजी प्रमुख संघहरषि, वंदन काजि आविजी । श्री गु० ४५
वुधि नीधान दीवबंदिरि आव्या, सकल संघ मनि भाव्याजी ।
नगरलोक सहु साहमां आव्या, मोतीइ थाल वधाव्याजी । श्री गु० ४६
सातत्रीसमुं सदगुरुहीनि, संघ सहु संतोष्याजी ।
दानादिक वहु विधइं करीने, पंज अमृत पोपांजी । श्री गु० ४७
श्री अहिमदपुरि आठत्रीस करीनइ, षंभाइति पूज्य आव्याजी ।
त्रीस नवमुं एह जाणयो, संघ सहु मनि भाव्याजी । श्री गु० ४८

## दुहा

षंभाइति संघ पूछी करी श्रीगुरु करि विहार, अहिमदपुरि पूज्य आवीया हुयो हरप अपार । ४९
साहा नरा सुत सरदार छइं धर्म्मीजन धर्मदाश, जिणदाश धीरदाश वषाणीइ पुरवी सहुनी आस । ५०
तास तणी आज्ञा लही संघ सुकरी विचर, ऋपि रूपसीहनि पट्ट आपीइ मुझ मनि हरष अपार । ५१
संवत सोल अठासीइ मागसिर श्रुदि अष्टमी सोमवार, चढति दिन चढति कला निज पद दीधुं सार । ५२
श्रीपूज्य संघ तेडी करी बोला वुधि नीधान, ऋपि रूपसीहनि मानयो एह छइ गुण नीधान । ५३
श्रीपूज्य श्रीजसवंतजी आचार्य अण वीह, तास पाट दीपाववा ऋष्यांपति रूपसीह । ५४

## ढाल धवल धन्यासी

संवत सोलि सार अठ्यासीए अहिमदपुरि ए ।
श्रीजसवंत सुजाण अणसणनी मति उपनी ए । ५५
पूग्या पुरुप प्रधान रूप ऋपीस्वर गुण निलो ए ।
जो दीयो अनुमति आरज संथारो संघ सापि करूं ए । ५६
मागसिर श्रुदि पुन्यम जाणि पछिम जामि अणसण करयुं ए ।
श्री जसवंत सुजाण संथारो निज मुषि करो ए । ५७
स्वपखी परपषी जाणि आवि उलट अति घणो ए ।
वार वार वंदेव जस महिमा वाधो घणो ए । ५८
अणसण पालीसार आठ पोहोरनुं अति भलुं ए ।
उगणचालीसमूं सार आराधी अमर थया ए । ५९
दिन दिन दीपयो ज्यो एह चन्द्रपरि चढती कला ए ।
आचार्य उदयवंत दिनकरनी परि दीपज्यो ए ।६०
धन्य पवती धनराज साहा देदा सुत वषाणी ए ।
सारि सहुनां काज प्रधान पदवी तुझ भली ए ।६१

## कलसलो

श्री रूप जीवजी वड लघुवरसिंघ आचार्य जसवंत ए ।
तास पाटि पेथड नंदन उदयो अवकंत ए । ६२

संवत सोल एकाणुंया वर्षे कार्त्तिक वदि छठि गुरू।
आवावतीइं रचां चउमासां पाठक जननि सुपकरू। ६३
श्रीपूज्य जसवंत शिष्य सुन्दर ऋषिविज्जा गुण धार ए।
तास शिष्य माधव जंपइ श्रीसंघ जयजयकार ए। ६४

इति श्री ६ आचार्य ऋषि श्री ६ जसवंतजी नां चतुर्मासा सम्पूर्णः ।।

श्री आचार्यजी ऋषि ६ जसवंत जी। तस्य शिष्य ऋषि श्री ५ विज्जाजी तस्य शिष्य ऋषि श्री ५ माधवजी तयोरंतेवासी लिखितं मुनि वीरजी पठनार्थं सुदो जय चातस्या सुता बा० मवीबाई शुभं भवतु। कल्याणमस्तु ॥

४

मानूं रचित

**रूपजी का छन्द**

सरसती समरूं सदा गवरी नंद गणेश ।
रूडें विरदिं रूपसी जसह थल जस जंपेस ।।१।।
गुणसागर जस गह गहिं गोतम जसडो गात्र ।
रवजैं प्रतपो रूपचंद चावो चारित्र पात्र ।।२।।
गरवो गछ गुजरातियां गाइजें गुण जांण ।
रूप सीह जिम रूपसी वंचि वड़े वपांण ।।३।।
पाट तपि जसवंतरी जस प्रगट्यो कुल एक जीह ।
दावि मोटि दाघजी दन-दन चढता दीह ।।४।।
रूप सपिसर पाट तहु जीवराज जस हाथ ।
त्यां आसुहुं तेजपालरिं गणी गण घे वोहोथ ।।५।।
वडा वरसंघरा चाकसूं वांचीजै वापांण ।
मांभी अविरल म—यु मोटा प्रसणा माण ।।६।।
वरसंघ रे पाट वली वरसंव हुयो व्रीआंन ।
क्रीया पात्र कहीज तूं नरां सिरोमणि नाम ।।७।।
तेणे पाटे परवत तणो जसडु थयो जसराज ।
माभि चोरासी महिं मेर समी वेड वाभ ।।८।।
तेणें वर कर रूपो थपीऊ काअम कोड वरीस ।
साधां मोटो जेम सही दिन दिन आणें रीस ।।९।।

**छंद मोतीदास**

दिन आणें रीस लगार भूले भल लीधो संयम भार ।
वंचि वरी आव वडा वपाण म जेम चंद मनावि आंण ।।१०।।
सुण्या जसवंत तणा उपदेश लीयो संयम लघु मति वेस ।
पधारिया पूय गुंदावि गभीर निरमल वंन वटायो नीर ।।११।।
करि कर जोड वीनती कीध रूडी परि रूपसी संयम लीध ।
पर हर नारि न कीधो प्रेम जस हय जाण गउतम जेम ।।१२।।

भज भले संयम लीधो भार परी विधि चालि पंडावार ।
वस्तु वड शास्त्र जाणे वेद भलां कवि पात्रां वाला भेद ।।
सदा लगी सायर जेम सबीर हवेइ तेणी कोय न लापि हीर ।
भुजे जसराज भलायो भारि अनोपम आज वडो अणगार ।।
पीथावत पंचमुषा पांणी भलो गह लूंके ऊंगो भाण ।
मानि तुझ आंण वडा मुनिराय भलपण चारित्र हे कण भाय ।।
भुजे जसराज भलायो भार सोहे अंगि सील तणो सणगार ।
पूरव छाड सील तो अगि सासतो साचो कियो सनाह ।
पेथाउत वेहुं पषि सहो जम करइ सराह ।
परवत सुत मोटो पुरुष करणी उत्तम कीध ।
रूडा श्रीरूपसीह नी पदवी परतग दीध ।।
अविचल मूरति अष्टमी मागसिर सुद सोमवार ।
वडा वडा मलिया वरंद भूज गछि लोप्या भार ।।
भूज भार सोंप्यो गछनायक रूपें वधीयो रूपसी ।
प्रथीराज समंम पेप पदवी जगत्र सहू कालि जिसी ।।
वे हो राय बसंत दोन वांचे लाह संयम नित्य लीयें ।
प्रभात श्रीरूपसींह प्रणमें वडो मुनिवर वंदिये ।।
गाइ जगो तिम किना गुण धर पाप सघलां परहरि ।
देपिइं दरसण हु ऋतना सिषरि धरम वे पषि परो ।।
थाचो थूलभद्र जांणि चाउ जस चरि नें ।
परभाति श्रीरूपसींह प्रणमें ।
वाल ब्रह्मचारी विरुद मोटो धार पग पंडा वरै ।
बावीस परीसा जेणि जीप्या काम नित्य उत्तम करइ ।
ताहरी पीथड ठाणा प्रृथवी होड कुण हालिवी ए ।
परभाती श्रीरूपसिंह प्रण में वडो मुनिसर वंदिए ।।

कलस

वडो साध वंदिये मोह जिणि जीती माया ।
क्षिमा तणों भंडार कोध नह आंणि काया ।।
जसवंत रो पाटवी जगत्र सघलो ही जाणें ।
काछवाछी निकलंक वडा कवि पात्र वषांणें ।।
देपीइ दरसण जाय दुप कीती काव्य मांनू कीये ।
भोजक नंदा पठनार्थ । लि० मुनि भोजा

५

भोजा ऋषि प्रणीत

## रूपसिंह ऋषीश्वर भास

।। पूज्य ऋषि श्री भोजराजजी गुरुभ्यो नमः ।।

राग सोरठ, ढाल काछवा नी

वांदुं श्रीवीरजिणिंद हे सखी वांदुं श्री वीरजिणंद ।

सेवो रूपसिंघ हे सखी युगप्रधांन जसवंत जिसो जी ।
वैरागी वड भाग हे सखी कुण कहीजइ त्रिभुवन मांहि तिसो जी ।
साह पेथड सुत सार है सखी मात कनकादे उरि ऊपना ।
जाणों जंबूकुमार हे सखी गुणनिधांन गच्छपति नीपना जी ।।
गुरु गौतम अवतार हे सखी जसवंतजीइं पूरा परषीया जी ।
आचारिज पद आपि हे सखी संघ समीक्ष्यइं हीयडि हरषीया जी ।।
जसवंतजी जगि जाण हे सखी आठ पहोर नो अणसण आदरी जी ।
सार्यां सघलां काम हे सखी पाटि पट्टोधर रूपसिंघजी करी जी ।।
वरत्यौ जय-जयकार हे सखी दरसण दीठइ दोलति होइ घणी जी ।
हरष धरि मन मांहि हे सखी आण मानयो सहुको एह तणीजी ।।
सुरतरु सरिषो सुजांण हे सखी पार न पामि गुरु गुण ते कही जी ।
तो मानव कुण मात है सखी गुण संपूरण वोलिजे सुहीजी ।।
श्रीरूपसिंघ ऋषिराइ हे सखी पुहवी प्रतपो अविचल ।
भोज भणइ कर जोडि नाम वपुं निज गुरु तुम्ह तणुंजी ।।
मेह समरइ जिम मोर हे सखी ।
तिम समरूं तुम्ह नाम हे सखी हरष धरीनि गिरुया गच्छपति ।।
मेह तणी परि वाट हे सखी संघजी जोइ सदगुरु तुम्ह तणी जी ।
मया करी मुनिराइ हे सखी वेगइ वंदावो गुरुजी गच्छ धणी जी ।।

## कलशलो

श्री ...... .. .......
तस पाटि दिनकर जिसो दीपइ श्रीरूपसिंघ वषांणीइ ।।
नर नारि भणिस्यइ अनि सुणस्यइ गच्छपतिना गुण घणां ।
श्रीपूज्य शिष्य कर जोडि जंपइ फलइ मनोरथ तस तणां ।।

इति श्री भास संपूर्ण

लिखतं ऋषि ५ भोजाजी तस्य शिष्य ऋषि वाघा । वाई अमृतदे पठनार्थं ।।

## ६

## वाघ मुनि रचित

## रूप ऋषि भास

ढाल धूआरिनी

प्रथम जिनेसर पाय प्रणमीनि श्रीगुरु लागुं पाइ ।
श्रीपूज्यना पट्टोधर गाऊं पातिक दूरि पुलाय ।।१।।
गुणायर गच्छपति गाइइ हो श्रीरूपसिंघ साधु सुजांण गु० आंकणी ।।
ओसवंस अवनीतल उदयो साह पेथड सुत सार ।
दिनकरनी परि दीपइ दिन-दिन गुरु ज्ञान तणा भंडार ।।
स्वर्ग तणा सुप सुंदर अनुभवि कनकादे उरि अवतार ।
उत्तम ग्रह अनुसारि अनोपम जनम हुउ तिण वार ।।

जनम महोच्छव जन सवि पोपि रूपसिंह नाम उदार ।
गुण सागर गंगा जलनी परि निरमल नाण अपार ।।
बालपणि बहु बुद्धि मनोहर वाणी अमीय रसाल ।
हाटक ऊपरि हार विराजइ दिनकर तेज झमाल ।।
वचन सुधारस सरिपा सांभलि श्रीगुरुजी ना सार ।
मेघ तणी परि मोटि महोछवि आदर्यो उत्तम भार ।।
जनम नगर वींझेवि दीपि पुन्यवंत बहु परिवार ।
गुंदवच नगरि सोह चडावी लीधोय संजम भार ।।

राग धन्यासी

संवत सोल रसाल अन्द पच्योत्तरो जाणीइ ए ।
मिंगसिर सुदि गुरुवार दस-दोइ तिथि वषाणीइ ए ।।
दिष्या देइ सार जसवंतजी जयकारीया ए ।
वंदावि मारुयाडि गुज्जर देसि पधारीया ए ।।
विचरइ श्रीमुनिराइ भवि जननि प्रतिबोधता ए ।
साथि श्रीरूपसिंह बहु परिवारि सोभता ए ।।
हालार सोरठ देस विहार करी वंदावीया ए ।
लाभ तणि लेइ कोडि अनुक्रमि गुज्जर आवीया ए ।।
श्रीपूज्य जसवत पद योग्य रूपसींह परपीया ए ।
अहिमदपुर मझारि संघ समिष्यइं हरपिया ए ।।
संवत ससि रस सार असीय ऊपरि आठ आगना ए ।
मिगसिर सुदि सोमवार आठिमें तिथि गुरु गुणनिला ए ।।
दे पदवी मुनि पाल अमृत वांणी उचरइ ए ।
सारुं आतम काज भव जल निधि जीव निस्तरइ ए ।।

ढाल जलही नी

वचन सुणी गुरु तणां रूपसींहजी इम बोलि ।
जयवंता संघ नायक विचरो जिम जिन तोलि ।।
जसवंतजी जयकारीया गुण निधि गुणह भंडार ।
पट्टोधरनि बुझवी अणसण उचरइ सार ।।
तेह जसवंत जाणीइ मिंगसिर सुदि सोमवार ।
पुनिमि तिथि अति निरमली अणसण कीधो उदार ।।
षमाय षमावी संघनि वलीय वचन इम बोलि ।
सिद्ध थया सवि माहरा चिंतव्यां सुरतरु तोलि ।।
युगप्रधान रूपसाह नां करयो बहुला जतन ।
पट्टोधर नी आगिना धारयो जेम रतन ।।
इम अनेक शिष्या कही धरीय परम शुभ ध्यान ।
आठ पहोर अणसण करी पामीया अमर विमान ।।
एहवा गुणवंत गुरु तणां नाम जपि नर-नारी ।
इह भवि सुप संपद लहि परभवि शिव सुपकारी ।।

जसवंतजी नां पाटवी रूपसिंह जी चिरं जीजो
गौतम नी परि गाजता भविजन श्रीगुरु वंदो ।।

कलशलो

तीरथ नायक रूप ऋषिजी जीवोजी दोइ वरहरी।
जसवंतजीनी पाटि प्रतपइ श्री रूपसींह तेजि करी ।।
जसवंतजी नां शिष्य दीपइं भोजराज चचडती कला।
तास शिष्य मुनि वाघ प्रणमि पाय पंकज निर्मला ।।
।। इति श्री भास समाप्त ।।

७

सतीचंद कृत

## दामोदर छंद

### दुहा

परम पुरुष पय अनुसरी समरूं श्रीगुरू नाम, आचारय गुण गावतां सीझै विछत काज ।१।
वीर जिन मध्रह भिर गति दोय हजार वरीस, विक्रें संवत वेत सुत पनरसें अठावीस ।२।
लकें पुस्तक वांचा करी जाण्यो श्रीजिनधर्म, जीव दया चित में वसी टाल्यों मोह भ्रम ।३।
लुंकागछ जगमें प्रगट पनरसें ईकतीस भाखें संजम आदरों पोती मन जगीस ।४।
प्रागवंस भीमो जती नुंन भोम जगमाल सरवा रूप मुणिंद पटि जीवराज उसवाल ।५।
सात में पाटि ए व्रनमुं मरुधर देश निधांन, तिहां मण्डल अजमेर गढ महिमा ईक्कउ ठांन ।६।

### छंद अडयल्ल

मैं देस नगर अविचल अविठांण गीरवर मेर सिपर उपमांन।
सपर कोट प्राकार सुजाण भीतर कोट वाहिर जग ठांण ।७।
विषम ठाम गढ विमानं दरवाजा उंचा असमानं
पाजेंपीर कुंवा जलपाई केसी सा रची हार गलाई। ८
नौवति सवद सदा वरदाई साहाजिहांन तणी जिहां राई।
अदलि नाम काहावें न्याई चोडी चाड नहीं दुप दाई ।। ९
दिन दुनि सबको मन भाई आरियण कोइ नहीं तीन ठांइ।
तीन धंन घमी जीण मोटा पापडी नर दिसें छोटा ।।
नाना विध मंडप तिहां छाया नित्य नित्य उछव मंगल माया ।। ११

### दुहा

वावि सरोवर कूंप जल पोहकरणी वोधाल। जलनिधि मोटा झालरां चोपंडी चौसाल ।। १२
घरि घरि कलस सोहामणां तोरण घर घर वार। सपर वंध प्रासाद पर धजा सुरंग नीहार ।। १३

### छंद भुजंगप्रिया

जिहां वाग वाडी वगीचे वणाए जिहां रंग नाटिक गीत सुहाए।
जिहां दिज दुनी पढ़े छन्न नीका जिहां वस्त्र अंवार व्योपार टीका ।।१४

जिहां वहुधां नायकी जैन देवा जिहां जैन संपीवे संपी केवां ।
जिहां व्रन च्यारे वसें छत्र रेवां जिहां धर्म सोभा चढी साधरेवां ।।१५
जिहां चोहटा विच नीकी विराजैं जिहां साइ द्रव्येसरी व्रंद छाजे ।
जिहां मस्त हाथी कीधुं मेघमाला जिहां जोध जाणें कीधुं कांन काला ।।१६
जिहां असुं चांपलची मान वाला जिहां ऊंट असवारी जीनसाला ।
जिहां उसवंस महाराज राजें जिहां ध्रम नीसांण जाण वीर गाजे ।१७
किधु नागरी जोपुरी जोत ठांणी कीधुं श्रग लीला कीधुं ईस वाणी ।
जिहां पोषधसाला आछि मिठाई जिहां साह रतन वसैं ध्रमधारी ।।१८
सदा साधवा साधवी प्रेंम मत्तै भाया सील दानि दया रंग रात्तै ।
कीधुं उपमांन कामदेवा विचारी कीधुं अंन धनेंसरां व्रतधारी ।। १९

## दुहा

तस घरणी गुण आगलां सतियां सिर सिरदार । रतनादे लिषमी जिसी सोभा गुण गुणकार ।। २०
तस नंदन च्यारे सरस तिण में एक प्रमाण । दांमोदर महिमा निलौं सोभागी महिमांन ।। २१
संवत सोल निव्रासीएं रूपा गुर गुणधार । गढ श्रजमेर समासर्‍यां सव जीवन सुषकार ।। २२

## छंद हाटकी

मैं है मागर सागर जागर आगम श्रावक रंग सुरंग कीयं ।
पाटवर अन सु धन धना धन जाचिक जिन वहु दान दीयं ।।
कुंमर दामोदर पुन्य जिसों दर वंदि सदगुर पाटवीयं ।
अमृतन रस वाणी सुगुरु वषांणी सुमतां संयम सार दीयं ।।
विहुल झमकार असार तसो जग जोवन संजम विन थयं ।।
लषमी सुपन तरी भोग किसो अवा जिसो पष चंदवीयं ।
सुणैं उपदेश करे उर वंदण आयो घर वैराग लीयं ।।
अमृत रस वाणी सुगुरू वषांणी सुमता संयम सार दीयं ।
माता पग लागी कहै सुवाच पिण द्यो उनमति मुझ मान हियं ।।
सुणहि कुलवंती उहि कुलमंडण ए लषिण परवार हियं ।
कीजें घर घरणि सुकल उदारणि भोगवी सुष वाल कीयं ।।
अमृत रस वाणी सुगुरू वषांणी सुमता संजम सार दियं ।
वलतो कहै कुंमर पाप तजै सव मारग मोष चित रचीयं ।।
समभावैं मात पिता गुण सुंदर दीधी उनमति सुध कीयं ।
सव संघ विचारी संयमधारी कीसनगढ दीपा सवियं ।।

अमृत रस आंकणी— ।

चपल चपल तुरंगम तेज मगल मे मत घटा रचियं ।
कारथ पायक लायक लायक श्रोउ उदधि विनाद कीयं ।।
धपमप धपमप वर्जे मदल सजे चचपट चचपट ताल वियं
भर्र भर्र किन्नरानदन फेरी झणणं कि झणणं कित विण विण विवयं ।
संवत निव्यासी मान विलासी जेठ सुदि पांचम लग्नीयं ।।

थावचा जेम जमालि उछव आगम वेण यथा कथियं ।
चोवीसे साथें इणी पर भाषें धन कुष जिण अवतरीयं ।।
रूपां गुरु पासे नव जण संजम चारित्त गांणी हथ आदरीयं ।
जे जे जस बोलें अमृत तोलें दामोदर महिमां झिलीयं ।।

## दोहा

श्रीसदगुरू नी सेवा करें सीषें अर्थ विचार, छंद तरक परवीण गुण व्याकरणादिक सार ।
चवदे विदा अविस वहोतर कला प्रधांन, सोभागी महिमा निलों ग्यांन दै रहै लीन ।।
संवत सोल सताणुवे आषाढे शनिवार, विधनादिक पदवी रची कीसनगढ सुविचार ।

## छंद अडयल

तो रूपा गुरु सुन्दर धर्म धुरंधर थाप्यो निज पटधार ।
दामोदर नींको दीधो टीकों रूपां सवै गछ भार ।।
श्रावक महिमा मागर कलासागर वेणीदास उदार ।
उच्छव बहुं किधां वंछित सीधां भरियां पुन्य भंडार ।।
महिमां जग भींतर आणंदनि पर संघ सवै सिरदार ।
गछपति सुपकारी जग हितकारी दामोदर दिनकार ।।
व्रत पांच सिषावें सुमति चढावें दशविध धरम प्रकार ।
सतरे विध संयम तिर्थ जंगम पंचें पंचाचार ।।
नौविध भ्रमचारी उग्रविहारी दूरें दोष अढार ।
संपति गुण पुरां तेज सनूरां निरदोपण आहार ।।
तिहु गुपतें पिवित्र मगह चित्रां त्यागें विषय विकार ।
मनथ मद धुरा सील सनुरा जिन सासन सिरदार ।।
क्रोधा विकथा टालैं भव अजुवालैं सोहै गुण छत्तीस ।
वारौ तप तापन भावन भावन लक्षण अंग वत्रीस ।।
मुनिवर वड प्रत्तमा द्वादश धर्मा धिन धिन तो पोहवीस
भवि जिन जे वंदे ते चिर नंदे पौहचै मन जगीस ।।
पावन पुरूषोत्तम पोहवी उत्तिम तरण तारण संसार ।
गोइम जिम ग्यांनी मधुरां वाणी केसी गोयम तीर ।।
ठकर जस करणी पुन्यम भरणी समता रस भंडार ।
रतना कुल मंडण कुमति निपंडण जगजीवन अणगार ।।

## दोहा

जग तारण जग उद्धरण श्रीधनराज उजीर, मांनु श्रीजिन वीर के गोतिम नाम सधीर ।
गछ नायक गुणवंत नर अति सेवंत मुणिद, महिमा महियल विस्तरी जागें जोति जिणंद ।।
ज्ञान जोति जगमग जगी वटालें कर्म्म दंदुल । कुमति विडारण केहरी वालों बोल अमोल ।

## छंद नाराचक

सुकाम धाम ईस वीस ग्यांन ध्यान सोही ए ।
निरंद इंद भूप चंद दुप विभ मोही ए ।।

ईग्यार अंग वार उपांग च्यार मूल देखी ए।
सिद्धांत सार व्रत धार साव व्रत पेखी ए॥
चलंत मतिज्ञान वंत पाप दुरि छेद ए।
करंती लील सुघ सील आठ कर्म्म मोडी ए॥
अमा मुणंद सुपकंद भवि जीव लोडी ए।
अनार वीज दंत दंतरीह जेम लंक ए॥
पमा दया सुरग सत राग मेंडी पेदि ए।
चलंत सत चाल दोप नाग हंस संक ए॥
सुचिल चिल कांमगार ध्यांन ईसरो।
समेर मांन इंद्रराज पूज्यजी मुनीसरो॥
रूप पेहे हीर गंगनीर कामनाथ संक ए।
दामोदरा महा मुणिद सान पान रंग ए॥

## दुहा

जातवंत कुलवंत लज्जावंत दयाल। त्रिनें वंत सरूप तन लाधव सगुण मयाल॥
जिनसासन उद्योत कर वहुश्रुत वहु परिवार। मन मोहन गुण आगलौं जिनसासन सिणगार॥

## छंद त्रिभंगी

उदय-उदय जिणंद देव सारत सुरद सेव।
मानसूते नितमेव हरप भरे मंडल अधिकवान॥
सरज धरे अचल मांण मुणंद छाजत गणि प्रधान तपहुं निवांन।
काग दी घनो वलद सो हम कीधो जिणंद धरम वरै।
सेवो-सेवो है सवें गुरू पाय दूहवो दरग जाय संपत सत थाय विविध परै।
कीधो काहुसु गुरू गुरूं उदधि सुग्यांन धरूं सुकृत करूं मुसर सरे॥
कीधो काहुं इंदराज सारित्त भपिक काज धरम पांन सरग सरो।
कीधो काहुं रामचंद काम धूरि कंद भारत भरम कंद पवन पुरो॥
कीधो काहुं गंगाजल टारत करम मल कीधो काहुं वल ध्यान धरूं।
कीधो जगदीश पुरित जग जगीश सकम विपम वीस अनहरे॥
सोवन-सोवन वानि छाजित गणि प्रधान अमृत सरे
जव लगी शशी सूर गाजत उदधि पुर सुगुरूं सेवक भ्रम उर-हेस जिमानसर प्रेम भरै।
प्रेपत सुगुरु मुप पावन अनंत सुप मेटत दूरे सुप परसपरे।

## कलस

सीयल सिद्ध दातार दुरित दारिद विहंडण।
लुंकागच्छ सिणगार कुमति मिथ्यामति पंडण॥
आचार्य गुणवंत पूज्य दामोदर सूणीएं।
तस सासन गुणधार सगुरु पेंम रपि सुप संपति तिनको वरणी।
सतीचंद साथ सदगुरु अचल जा दानी करति सीहर वरणी॥

इति दामोदर छंद

८

रवि मुनि रचित

## आचार्य श्री केशवजी ऋषि भास

गुरु गुण गाईये रे श्री केशवजी गुणधार।
प्रवल प्रताप पुन्ये जेहनो सहु जाणइं संसार ।। गुरु गुण १ ।।
श्री जिनवर पाटि सुपकारी जिम सोहम गणधार।
तिम श्रीपूज्ये क्रमसीह पटोधर दुपहरण सुपकार ।। गु० २ ।।
सुमति गुपति गुण अंगइ सोभित पट्जीवन हितकार।
कुमति मिथ्थात्व तिमिर दल चूरण नेम जाणइ दिनकार ।। गु० ३ ।।
सुरपत्य वाहण अरि कुण कहिये सामिनी तस भरतार।
मुष मंडण बांधव मुत पेत्ती सा सोहइ मृपि सार ।। गु० ४ ।।
जिम जगती धरतीपते तिम गुरु गुण गभीर उदार।
सीहने ताकुले कीरतीकारी नवरंग देउरे अवतार ।। गु० ५ ।।
जनपद मांहि सोहइ जिम मरूधर जायतारणें जयकार।
संघ सवे दरसण इम वंछइ कोईल जिम सहकार ।। गु० ६ ।।
जिहां लगी उडुपति दिनकर तिहां लगें प्रतपो श्रीगुरु सार।
मानूंदास सेष गुण श्रीगुरुना रिवमुनि कहइ अपार ।।७।।

९

राजसिंह रचित

## केशवजी भास (अपूर्ण)

श्री सूरती.......................
...........................श्री सूरति नयर सिणगार ।।५।।
वोहरा श्री वीरजी संघ सिरोमणि, पुण्यवंत वहु परिवार।
श्रीपूज्यजी नो वचन विचारी, करिय पद महोछव सुविचार ।।६।।
अनुक्रमि गुरु विहार करता, गुजर मरुधर सार।
मेदपाट मालवनइ सोरठ, सिंघ संतोषी सुविचार ।।७।।
सूरति नगरि सिंघ सिरोमणि, वोहरा सुत वहु परिवार।
श्री सि.......सेवा करइ गुरु नी, दिन-दिन अधिक आणंद ।।८।।
मन सुधइ सेवा करतां सदा पामइ परमानन्द।
सेवा करइ सद् गुरु नी साह पुनसी गुण निवास ।।९।।
साह कर्मचन्द नी वीनती ए भास रचि अति उल्लास।
श्रीपूज्यजी केशवजी गुणागुर वहु गणां निवास।
तास सेवक राजसिंह इम जंपइ आंणी अंगि उल्लाहास।
लि० ऋषि वल्लपाल। वाई मेघवा पठनार्थ।

१०

देवमुनि रचित

## आचार्य तेजसिंह भास

### ढाल चूनडी नी

शान्ति जिणेसर सुखकरु प्रणमुं अहनिसि पायो रे।
श्रीगुरुनां गुण गावतां सुख संपति घर थायो रे।
श्री तेजसिंह गुरु सेविये ।।१।।
इला मांहे अति शोभतो नगरां महि सिरदारो रे।
साह लखमण तिहां वसें नगर पंचेटीयो सारो रे।।२।।
तस घर लखमा दे सति जायो सुत कुल चन्दो रे।
दिन-दिन अति शोभा करु तेजें करी दिणंदो रे।।३।।
अनुक्रमें दीक्षा आदरी श्रीपूज्यजी ने पासो रे।
व्याकरणादिक सहु भण्यां आगम अरथ अभ्यासो रे।।४।।
सूरति वहोरा वीरजी पद दीधो गुण पेखो रे।
संघ सकल सेवें सदा वधतें भाव विशेषो रे।।५।।
व्यवहार करंता आवीयां सीरोही सुखदायो रे।
चरण-कमल श्रीगुरु तणां प्रणम्यां पाप पुजायो रे।।६।।
संवत-सतरै बैतालीसै सीरोही चौमासो रे।
सकल संघनी वीनती देवमुनि कहे भासो रे।।७।।

११

## आचार्य श्रीतेजसिंह भास (अपूर्ण)

### ढाल फागनी

श्रीपारस प्रणमुं मुदा हो गावा गुण गछ राय।
श्रीपूज्य श्रीगुरु तेजसी हो नाम जप्यां सुख थाय।।
धन्य धन्य श्रीगुरु तेजसी हो ।।१।।

उतपति मरुधर जाणिइ हो पांचेटीयो पुर ठांम।
उसवंश कुल सुंदरु हो लखमणसी शुभ नाम हो ।।२।।

तसु सुत श्रीतेजसिंहजी हो लखमादे प्रभु माय।
लघु वयसें संजमि जिणि लीद्धो श्रीपूज्य केशव पाय ।।३।।

खंभायति चौमासें श्रीगुरु पूरें संघ मनि खंति।
वदन कमल देखि हरपज पामैं कोकिल मास वसंत ।।५।।

गौतमनी परि श्रीगुरु वांचै जिनवर वचन विचार।
श्रवणें सुणीनैं संघ करै हो दान शियल तप सार ।।६।।

## १२

रविमुनि रचित

### आचार्य श्रीतेजसी भास

म्हारी सही रे समाणी, ए देशी

प्रथम नमी जिन पाय सुमति ना तो गुण गाउं गच्छपतिनां रे ।
माहरो गुरु रे वैरागी श्रीतेजसिंहजी सुगण सुजाता तो । नाम लही सुखसाता रे मांहरो ।।१।।
गुरु रे वैरागी अनइ रागी गुणनां तो सुंदर साध सोभागी रे माहरो, आंकणी ।
वदन सोहइ जिम पुन्यमचंद तो दीठां हो ए आनन्द रे माहरो ।
नयन कमल सम सोभाकारी तो संपदा सहु अति सारी रे ।।२।।
वाल-ब्रह्मचारी सदा सुखकारी तो श्रीपतिजी नो पट्टधारी रे मा० ।
सरस सुधारस सारसी वाणी तो सुणंता रीझइ वहु प्राणी रे मा० ।।३।।
साह लखमण सुत वसुधा विख्याता तो करणी अधिक तुम्हारी रे मा० ।।४।।
तप संयम गुण अधिको अंगि तो सत्य संवेग धरइ रंगी रे ।
नय निगमादिक न्याय विचारी तो आगम अरथ सुधारी रे ।।५।।
युगतिवंत देखी वहु अन्य तो सहु को कहइ धन्य धन्य रे ।
सरस वखांण कला जन पेखी तो प्रसरइ गुरजीनी निरखी रे ।।६।।
पार न पामुं हुं गुण प्रभुजीनां तो गुण अनन्त गुरुजीनां रे ।
सुंदर सुरति नयर सुहावइ तो रविमुनि तुम्ह गुण गावइ रे ।।७।।

।। इति भास समाप्त ।।

लेखन काल सं० १७३२ पोष वदी १ रविवार ।

## १३

देवमुनि रचित

### आचार्य श्री कानजी भास

### ढाल विदलानी

प्रथम नमुं जिन पाय गुण गावुं तास पसाय हो ।
गुरु नें भाषणडें श्रीपूज्यनां, पटधार नामें कांहन उदार हो गुरु० ।।१।।
मरुधर देश मझार नडुलाई नयर सिरदार हो गु० ।
कचरा तात सुखदाई जगीसा गुरुजी नी माई हो गुरु० ।।२।।
वाल पणे व्रत, लीधो श्रीपूज्यजी निज कर दीद्धो हो गुरु० ।
सिद्धान्त भण्यां न्याय सार व्याकरण काव्य विचार हो गुरु० ।।३।।
सूरत नयर पद दीधो पूरवली पैरे कीधो हो गुरु० ।
वरसंघ वरसंघ दीठो वरसंघ जसवंत कीद्धो हो गुरु० ।।४।।
श्रीपूज्यजी एम विचारी कीद्धा निज पटधारी हो गुरु० ।
अविचल जोडी जग मांहि जेहनें वांद्या अति सुख थाय हो गुरु० ।।५।।
संघनी विनती जांणी श्रीपूज्यजी चित्तमां आणी हो गुरु० ।
चंबावती नयरे आया सकल संघ सुख पाया हो गुरु० ।।६।।

संवत छैंताले उल्लास खंभायति नयर चौमास हो।
देवमुनि गुरु नामें भणतां सुख पामं हो गुरु० ॥७॥

संवत १७७१ में प्रतिलिपित एक गुटके में निम्न पद्य है, जिसके लिपिकार आचार्य श्रीतेजसिंह के शिष्य वेलजी हैं—

१४

सोरठ देश शिरोमणि जानत आवत तेज लको पटधारी।
संघ सकल जू मोती वधावत गावत गीत वडी वहु नारी॥
वखांण सुनाजत संघ रिझावत दीपत तेज तपे दुथ तारी।
कान्हकी कीरति चंद जू गावत पावत हें सुख संपति प्यारी॥

१५

आचार्य श्री तेजसिंह रचित

**गुरु-गुणमाला भास**

१

राग धन्यासी, ढाल तुं मेरे मन तुं अभिनंदन देवा,
राग रामकली, ढाल अंवर दे हो मुरारी।
लकें जिन वचननी लवध ते पाई,
पोरवाड सिद्ध पाटण में लका नांमें लुंका कहाई,
लके जिन वचन नी लवध ते पाई॥१॥
संवत पनर अठ्यावीसे वडगच्छ सूत्र सिद्धान्त लिखाई।
लिखी परति दोई एक आप राखी एक दिये गुरु ने ले जाई॥२॥
दोय वरस सूत्र अर्थ सर्व समझी धर्म विध संघ नें वताई।
लके मूल मिथ्यात उथापी देव गुरु धर्म समझाई॥३॥
त्रीसे वीर राशि ग्रह भस्म उतरतां, जिम वीर कह्यौ तिम थाई।
उदे-उदे पूजा जिनशासन नी, ति दया धर्म दीपाई॥४॥
इगत्रीसे भाणाजी ए संजम लेई लुंकागच्छे आदि जति थाई।
लुंकागच्छे नी उतपति इण विधें, कहें तेजसंघ समझाई॥५॥
इति गच्छ संबंध भास

२

ढाल अवसर अनज छे रे भाई,
लुंकागच्छ आदि थया अविकारी,
भाणां भीदा नून भीम जगमाल साध सरवा सुविचारी।
भगवंत भाख्यौ तिणें सरव राख्या, दया धरम चित धारी॥
केशी गौतम नी परि मिलिनें विचार्यो सुध आचारी॥
विनयादिक विवेक सव विविसुं करो जिन वचन विचारी॥
देश-देशनां श्रावक समझाव्या, थयां सवे उग्रविहारी।
संवत पनर पेंसठे लुंकाथी विजे कीधी विध न्यारी॥

विजामति तिणें नाम कहायो जाणों सुजांण विचारी।
साध-साधवी सहस्र दोय संख्या, श्रावक वहु धनधारी ।।
अठतीस वर्ष इणि परि विचर्या पछै रूपऋषि थया गणधारी।

३

रूप ऋषि भास

## राग धन्यासी तथा सोरठ

ढाल रावण रे तोकु कवण मति आई,
रूपा ऋषि सरवण नो सिणगारी,
देवो पिता मात मिरधाई जाया पनर त्रयालें सुखकारी। रूपा०।
**पनर अठसठ माही पून्यम स्वयमेव संजमधारी ।।**
मोदिक पात्र सासूए मूक्यौ गच्छ वंधेज सुकन विचारी।
तिए समें सहु साध-साधवी श्रावक वहु धनधारी ।।
पद देई पाटण गछ थाप्यो जिनशासन जयकारी।
पनर अठ्यौत्तरें जीवजी ने संजम पद दे किया पटधारी ।।
सात वरस गणि साथे विचर्या समझाव्या वहु नरनारी।
महा पन्नवणां उदे ग्रंथ मांहे आगम कह्यो ते उदारी ।।
रूपा जीवाना भेद आचरिया थया तेजउ विचारी।
चोरासी गच्छ मांहे केई गछनां थया उग्र विहारी ।।
ज्ञान ध्यान तप तेहनो देखी थिर थया श्रावक तिण वारी।
लुंका नागोरी पनरसें असीइं जूदा थया नागोर मझारी ।।
हीरो आचार्य थयो तेणि चौदस पाखीमां निवारी।
उतराध देसे गछ उतराधी ते जूदा थया तेण वारी ।।
साथ सरवानो परिवार सघलो लुंका विरुद नामधारी।
पनर पंच्यासीए रूपऋष अणसण दिन पचवीस चउविहारी ।।
अणसणमां उदोत कियो देवे सातवार जांणे ते संसारी।
पंचवीस ग्रीहावास वर्ष वली सतरे साध संजमपदधारी ।।
वरस सर्व आयु पाली थया देव स्वर्ग मझारी ।।

४

## जीवजी भास

राग धन्यासी, काफी,

जीव ऋपि सासन उदयो दिणंदा जीव ऋपि जिणंदा।
पंनर पंच्यासे कपूराई जनम्या दोपी तेजपाल फूलचंद ।। जीव० १ ।।
अढसठ माह सुदि पंचमी दिवसे संजम मन मानंदा।
तिणे समें रूपऋपि पदवी देतां धन विलस्या लाख लेखंता जी ।। जीव० २ ।।
विहार कर्यो जीवजीए जिण देसें समझाव्या नर-नारिंदा।
सोल वारोत्तर वैशाख सुदि सातम, जीवें वरसंघ ने पद देही ।। जीव० ३ ।।

वरस झाझेरा गणि दोय विचर्या, धर्मनो ध्यान धरंदा।
तेरोत्तरै जेठ सुदि सोमे जीवजीए अणसण लेदां ॥ जीव० ४ ॥
अठ्यावीस गृहवास वर्ष पेंत्रीस संजम पद पालंदा।
पंच दिन चौविहार त्रेसठ वर्ष आयु पाली पाम्या सुर तेज वृंदा ॥ जीव० ५ ॥

५

## वडा वरसंघजी भास

राग धन्यासी, गौडी,

ढाल आवे माई ब्रज ललना दुख मोचना

वरसंघजी जीवजीनां पटधार,
सोरठ देश पाटण पिता सुमिया कस्तूरां कूख अवतार ॥ वर० १ ॥
संवत पनर चौंसठ जनमां सित्यासीइं संजम धार।
सोल वौरोत्तरे सिसुमति नीकल्यां अविवकारी अपार ॥ वर० २ ॥
वरसंघ सु विरुद्ध करीनें सिसुधन नाम गणिधार।
लका सा पाँचा सा विजा सरवा कडूआ धरमा मनधार ॥ वर० ३ ॥
ब्रह्मा कोथलिया साकर टाकरिया सिसुमति सुं थया वार।
सवे चवदिस पासे वेठां पडिकमणो वजे हीर कुल मान्यौ ॥ वर० ४ ॥
आकार सरवे देश कडूइं गृह वेसइं ? धर्मो नामा धनो धार।
कोथलीए पोसो कोथली में ब्रह्मा मति मान्यौं नमस्कार ॥ वर० ५ ॥
साकरीइं व्रतठाकरीइं समकित सिसुए मान्यौ सूत्र विवहार।
वारे मत एक स्थिर परुपणा जो रह्या हुत तिणवार ॥ वर० ६ ॥
वर्द्धमान उहीपरि लुंका तो ववे गच्छ विस्तार।
चंद्रगुपति चंद्र छिद्र दीठां फल कह्यौ पूरवधार ॥ वर० ७ ॥
शासनमां वहु मति-मतां रे ए लक्षण पंचम आर।
मत गया केई मत जासे थिर थडनो विस्तार ॥ वर० ८ ॥
एकवीस सहस लगीं आरा रहसी अंति दुप्पसें नाम गणधार।
वरसंघजी ए वरसंघजी नें सत्तावीसे दियो गच्छ भार ॥ वर० ९ ॥
सतर वरसे वे साथे विचर्या आव्या खंभायति नयर मझार।
वड वरसंघजी सोले चामालें अणसण अंग उदार ॥ वर० १० ॥
सिसुधन पखथी श्रीपति संघ संघातें वादी आण मानी व्रतधार।
गृहावास त्रैवीस संजम सतावन वत्रीस वरस पटधार ॥ वर० ११ ॥
आठ पोहर अणसण असी वर्ष आयु, पाली लियो सुर अवतार ॥

६

## लघु वरसंघजी भास

राग धन्यासी, कल्याण,

ढाल आज माई रंग दे,

वरसंघजी पाट वरसंघ कहाजे,
पनर निव्यासीइं सुंदरी जाय झाडण सा तात वीर्जे ॥ वर० १ ॥

सोलछके संजम ले विचरिइं, सत्तावीसें गणि पद लीजें ।
विचरतां वर्ष साठे चिंतव्यो कौंन हिवे पद थापीजें ।। वर० २ ।।

रात्रे देव सुपन मांहे कहियो पर्वत सुत पद दीजैं ।
अगुणपंचासै जसवंतजीनें दीक्षा दे पद ठवीजैं ।। वर० ३ ।।

वार वरस भाभेरां गणी वे विचर्या ने हव दीजैं ।
सोले बासठे माहि पुन्य जे अणसण अंगि आदरीजे ।। वर० ४ ।।

सोल गृहवास सोल वर्ष संजम पैंत्रीस पद पालीजे ।
बोहोत्तेर वर्षनो आयु पाली पाम्यां स्वर्ग सहीजै ।। वर० ५ ।।

७

## आचार्य जसवंतजी-भास

राग धन्यासी, नट
ढाल पीया तेरे अखियां उपर वारी,

जसवंतजीइं जग मांहे जश पायो,
चौरासी गछ मांहे जस चावो सगले देस सवायो ।। जस० १ ।।

पर्वत पिता सहोदर माता सोलें चोत्रीसे जायो ।
उगणपंचासे संयम लेई पद त्रीसी दिने आयो ।। जस० २ ।।

सोल अठ्यासीए मगसिर पुन्यम रूपसाहजी ने पद ठायो ।
मिगसिर वदि बीज बुद्धे अणसण, आराधी देव पद पायो ।। जस० ३ ।।

सोल गृहावास वर्ष अठत्रीस नें संजम पद धरायो ।
चोपन वरस सर्वे आयु पाल्यौ गणि तेजसंघ गुण गायो ।। जस० ४ ।।

८

## रूपसाह भास

राग धन्यासी, सांरग,
ढाल रे वनचर कौन देश थैं आयी

जसवंतजी पाट पर रूपसाह नीको,
जसनो जिहाज जाणी जसवंतजी दियो आचार्य पद टीको ।। जस० १ ।।

पिथड पिता कनकाई जनमो सोले अठाणवे कीको ।
संजम पंच्योत्तरे सोल अठ्यासी धणी थयो गणि पदवीको ।। जस० २ ।।

सोल छन्नुइ अणसण कीधो पच्चक्खाण भात पाणीको ।
दामोदर ने पद देई देव पद पाम्या जग मांहे जस जाको ।। जस० ३ ।।

सतर गृहावासइ इकवीस संजम सात वर्ष आयु पदवीको ।
अठवीस वर्षनो आयु जांणी कहे तेजसिंह रूपसाह को ।। जस० ४ ।।

९

## आचार्य दामोदर और कर्मसिंह का भास

राग धन्यासी तथा सामेरी

ढाल दीनानाथ भमर कमल विनु भूरें

कर्मसिंह दामोदर बे भाई,
पांचमें आरे बे पुण्यवंत उपना, बेहुं जणे गणि पद पाई ॥ कर्म० १ ॥
उगणोत्तरे रतनादे जनम्यो कर्मसिंह बहोत्तर दामोदर भाई ।
अठासीइं नवासीइं संजम महोछव कियो रतने साह सवाई ॥ कर्म० २ ॥
सोल छिन्नुइं बे भाई पद पाम्या, पहिलां नांने पछै वड़े भाई ।
मास दामोदर वर्ष एक कर्मसी अंति अणसण अंगि आई ॥ कर्म० ३ ॥
दामोदर सोल गृह आठ वर्ष संयम, त्रेवीस वर्षे स्वर्ग जाई ।
तिण समें धनराज कर्मसिंह थी जूदो गणि नाम धराई ॥ कर्म० ४ ॥
सोल सताणु खंभायति अणसण कर्यो केशवने पद ठवाई ।
सतर गृहे दिक्षा सतावीस वर्ष आइयु पाली सुर थाई ॥ कर्म० ५ ॥

१०

## आचार्य केशव जी भास

राग धन्यासी तथा ललित

ढाल जागि अब भोर भयो नाभि के नंदा

श्री केशवजी संघ सेवें मन भायो,
सतर वरसे संघ साथे धनराज मेल करवा पासे आयो श्री केशवजी० १ ॥
नेतसी पिता नवरंगदे, सोलसे पंचोत्तेरे जायो ।
निव्यासीइं नवसुं संजम लेई सत्ताणुइं गणि पद पायो ॥ श्रीकेश० २ ॥
विचरंतां तेरोत्तरे संवच्छर सुरति नयर सोहायो ।
वोरा वीरजी विचार करीनई धनराजजीने तेडायो ॥ श्रीकेश० ३ ॥
मेल करतां मनोरथ फलियां लालमण पाए आयो ।
तिन थिवर गछमांहे आया सघले जस सवायो ॥ श्रीकेश० ४ ॥
सतर वीसोतरै जेठ वदि नवमी कोलदे अणसण ठायो ।
त्यारे वोरा वीरजी नें नामें लखि ने, गच्छनो भार भलायो ॥ श्रीकेश० ५ ॥
चउद गृहावास बत्रीस संजम में वरस त्रेवीस पद धरायो ।
वरस छेंतालीस सरव आयु पाली स्वर्ग थयो सुर रायो ॥ श्रीकेश० ६ ॥

११

## राग धन्यासी

हमारे दोलति गुरुनी दयाथी,
श्रीकेशवजी नी धुरथी कपा मोटी महिमा गुरुनी मयाथी ॥ हमारे० १ ॥
संवत सतर एकत्रीसें संवछर वोरा वीरजी हीयाती ।
वैसाख सुदि ७ सातम बुधवारे गच्छ भलाव्यो गुरुना कह्याथी ॥ हमारे० २ ॥

संघ वंदावतां धर्मनो महिमा गुरुभाई सु संतोष थयाथी।
गणि तेजसिंघनें सुगुरु प्रसादें सरव संपति सुख सयाथी॥ हमारे० ३॥
पूरवे पंचपाट विद्ध जांणी विचार्या मन नी मयाथी।
कानजी में पौतासम कीधो गणि तेजसिंघ पासे रह्याथी ॥ हमारे ४॥
संवत सतर त्रैंतालीसै संवच्छर चौमासो सूरति थयाथी।
दिन-दिन दौलति अधिकी दीसै दुसमन दोष गया थी॥ हमारे ५॥

### कलशलौ

लुंकागच्छ उतपति कही ते सत्य संघ सेवे सांभलौ सही।
वली साध सारा गुण भंडारा थया षटनाम ते कही॥
वली वाट पाटोधर धरम धुरंधर गांम नामे सवे कह्या।
तेहनां पोच कल्याणक माता पिता नाम जांणी परम्पराए लह्या॥
संवत सतर एकावनां संवछर दीवनगर चोमासए।
ए भण गुणें जे कहे गणि तेजसिंघ तस घर संपति सुखवासए॥
इति श्रीगुरु-गुणमाला भास सम्पूर्ण॥ सर्वगाथा ६६॥

इस प्रति में अंतिम एक और सामूहिक गीत है जो इस प्रकार है—

### राग देशाख

लवधवंत लुंका सही श्रावक समझाव्यां।
सिद्धान्त वचन सुणाविनें मिथ्यात मुकायां॥ ल० १॥
असंयत पूजन उथापिनें दया धर्म दीपाव्यां।
सांते आंतरै जिम जिणे मिथ्यात मिटाया॥ ल० २॥
भांण भीम दनु भीमजी जगमल मुनि सरवा।
रूपऋषि संजम लियो भवसायर तरवा॥ल० ३॥
तस पाटे जीवऋषि थया पाटे वरसंघ जांणे।
वरसंघ तस पाट वली माने सहु संघ आंण॥ल० ४॥
जसवंत रूप दामोदरू कर्मसिंह कुल भांण।
तस पाट केशव गणि तेज अधिके वांन॥ ल० ५॥

इन ऐतिहासिक स्फुट गीतों के अतिरिक्त भी स्वामी श्रीजेठमलजी द्वारा अहमदावाद के किसी अंग्रेज उच्च अधिकारी को प्रेषित पत्र प्राप्त है पर स्थानाभाव के कारण उसे अविकल रूप से उद्धृत करना संभव नहीं.

अन्त में लोंकाशाह के अनुगामियों से निवेदन करना चाहूँगा कि वे इतस्ततः विशृंखलित महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर अपने पूरे इतिवृत्त के प्रकाशन पर ध्यान दें. मेरा विश्वास है यदि ऐसा किया गया तो अनेक मूल्यवान् नव्य और भव्य तथ्य प्रकाश में आने की पूर्ण संभावना है.
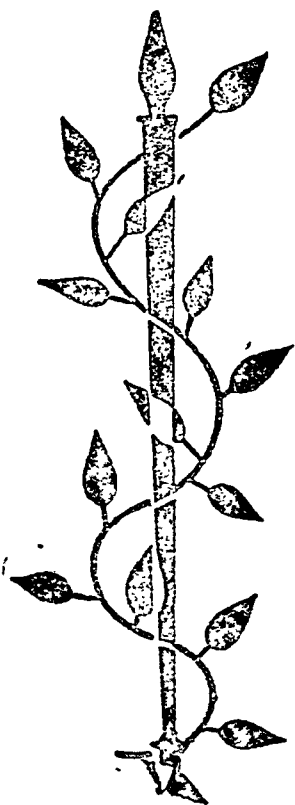
# दर्शन और धर्म

## द्वितीय अध्याय

श्री ज्ञान भारिल्ल, एम० ए०

# अनन्य और अपराजेय जैनदर्शन

जैनदर्शन इस विश्व में आज तक प्रचलित और प्रतिपादित हुए समस्त दर्शनों में अद्भुत, अनन्य और अपराजेय है. इस संसार का वह सर्वश्रेष्ठ दर्शन है. इस कथन की सत्यता उन सुधी और धैर्यवान् पाठकों के समक्ष स्पष्ट हुए विना नहीं रह सकती जो वास्तव में सत्य के अन्वेषी हैं और जो तटस्थ भाव से, किसी भी पूर्वाग्रह से रहित होकर जैनदर्शन के विषय में जानना चाहते हैं. इससे पूर्व कि हम इस निवन्ध में जैनदर्शन की उन विशेषताओं पर विचार करें जो अन्य किसी भी दर्शन में हमें देखने को नहीं मिलतीं, इतना स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि हमारी इस विचारणा के पीछे शुद्ध सत्य और वास्तविकता के ज्ञान की भावना ही है, किसी अन्य धर्म के प्रति उपेक्षा या ईर्ष्या का लेश मात्र भी नहीं है. एक-एक तथ्य जो इस निवन्ध में प्रस्तुत किया जा रहा है, उसे देख कर पाठक स्वयं भी ऐसा ही अनुभव करेंगे— ऐसा हमारा विश्वास है.

कभी-कभी एक विचित्र प्रश्न पूछा जाता है. यदि जैनदर्शन ऐसा श्रेष्ठ है, इतना सम्पूर्ण दर्शन है, तो फिर उसका अनुसरण करनेवाले व्यक्तियों की संख्या इतनी कम क्यों है ? इस प्रश्न का उत्तर सीधा और स्पष्ट है. मनुष्य का स्वभाव है कि वह कठिनाई से वचना चाहता है और सरल मार्ग पर चल निकलता है. आज के इस स्व-केन्द्रित भौतिक युग में तो यह प्रवृत्ति अपने चरम-विन्दु पर है. आज का भौतिकवादी मनुष्य-समाज अपने लिए और इस संसार के इस जीवन के लिए सारी सुख-सुविधाएँ वटोर लेना चाहता है और उसमें अपने जीवन की चरम सार्थकता समझता है, जव कि जैनदर्शन, स्वार्थ से परे परमार्थ और सत्य की ओर दृष्टि रखता है, मनुष्य को त्याग के मार्ग की ओर संकेत करता है और भौतिक नहीं, आध्यात्मिक सुख प्रदान करने का मार्ग है. यही कारण है कि आज जैनदर्शन के अनुयायियों की और जैनदर्शन को समझने और स्वीकार करनेवालों की संख्या न केवल कम है, वल्कि प्रतिदिन कम होती जा रही है. यह असमर्थता, अयोग्यता और दुर्भाग्य आज के भौतिकवादी मनुष्य का है,—दर्शन अथवा धर्म की स्थिति इससे परिवर्तित नहीं होती. वल्कि इससे यही प्रमाणित होता है कि यह दर्शन कोई काम चलाऊ दर्शन नहीं, हमारे सांसारिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए ओढ ली गई कोई वनावटी नकाव नहीं—यह वह ठोस, दृढ़ और अचल आधार है जिसके सहारे आगे वढ़-कर और ऊपर चढ़कर हम अपने वास्तविक और अन्तिम लक्ष्य—आध्यात्मिक विकास और सम्पूर्ण आत्मविशुद्धि तक पहुँच सकते हैं.

और यह चित्र तो आज की स्थिति का है, जव कि मनुष्य विगत कुछ शताब्दियों से धीरे-धीरे किन्तु स्पष्ट रूप से अवनति की ओर वढ़ा है, जहाँ तक मानवोचित गुणों का सम्वन्ध है. विज्ञान और सभ्यता ( जिसे आज सभ्यता कहा जाता है, की दृष्टि से वह चाहे स्वयं को आगे वढ़ा समझे, किंतु मानवता के जो महान् और स्वाभाविक और स्थायी गुण हैं उनकी दृष्टि से आज के युग का मानव पीछे की ओर ही चला है, कमजोर और अयोग्य ही हुआ है. लेकिन एक भी युग था जव मनुष्य भौतिक स्वार्थों में इस तरह और इतना लिप्त नहीं था. और तव वह अपनी आत्मा को आज से अधिक

पहचानता था, जीवन के अर्थ और सार्थकता को अधिक जानता था और अपने अन्तिम और एक मात्र लक्ष्य पर सीधा चलने का प्रयत्न करता था. इस युग में जैनधर्म—जो एक चिरन्तन ज्योति के समान प्राणी-मात्र के पथ को आलोकित करता है—के अनुयायी करोड़ों की संख्या में थे. इतिहास उलटने पर ऐतिहासिक तथ्यों और अनुसंधानों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त और सम्प्रति महाराजा के शासनकाल में जैनियों की संख्या २० करोड़ से अधिक थी. मि० फरग्युसन (Ferguson) ने लिखा है कि भारत भर में जैन संस्कृति के स्मारक स्थान-स्थान पर विखरे पड़े हैं. किसी स्थान पर एक चिह्न वना कर यदि हम खोज करें तो चार कोस के घेरे में हमें जैन संस्कृति का कोई न कोई स्मारक अवश्य उपलब्ध होगा. श्रीगंगानाथ वेनर्जी की मान्यता के अनुसार भी ईस्वी पूर्व की सदियों में जैनों की संख्या करोड़ों तक पहुंचती थी.

तात्पर्य केवल इतना ही है कि किसी भी धर्म अथवा दर्शन की सत्यता और श्रेष्ठता की परीक्षा करने का यह तरीका नहीं कि उसके अनुयायियों की संख्या की गिनती की जाय. उसकी श्रेष्ठता उसमें प्रतिपादित किये गये उन तत्त्वों में निहित होती है जो मनुष्य को अपने जीवन की उच्च भूमिका पर पहुँचने के लिए प्रेरित करते हैं. जैन दर्शन के उन विश्वप्रसिद्ध सिद्धान्तों का, जिनके अनुसरण और पालनसे आज पग-पग पर आशंका, युद्ध और विनाश से संत्रस्त मानवता सुरक्षित हो सकती है, का विचार हम आगे करेंगे. जैसा कि हमने पहले कहा, मनुष्य-स्वभाव सरलता को पकड़ने की कोशिश करता है और कठिनाई से वचना चाहता है. सत्य का मार्ग इतना सरल ही होता तो फिर कठिनाई शेष क्या रहती ? और यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो कठिनाई जो हमें मालूम पड़ती है वह हमारी कमजोरी में से आई है. हम ज्ञान से अज्ञान की ओर चलें, प्रकाश से अन्धकार की ओर वढ़ें और मार्ग में ठोकरें खाकर रुक जाएँ तो वह हमारी ही नासमझी है, हमारा ही अज्ञान है.

आइये, हम अज्ञान से ज्ञान की ओर चलें. अन्धकार से प्रकाश की ओर वढ़ें— जैनदर्शन के आलोक-लोक में अपने अंधकारग्रसित नेत्र खोलें. जैनदर्शन की ज्ञानाञ्जन-शलाका से अपनी 'अज्ञानतिमिरान्ध' आँखें उन्मीलित करें.

## धर्म और दर्शन

धर्म और दर्शन परस्पर इतने संवंधित हैं कि यदि उन्हें एक ही वस्तु मान लिया जाए तव भी अनुचित नहीं होगा. धर्म का सम्वन्ध आचार से है और यह एक स्पष्ट वात है कि आचार और विचार का वहुत ही प्रगाढ संवंध है. अच्छे विचारों के विना अच्छे आचरण की आशा नहीं की जा सकती और अच्छे आचरण के विना अच्छे विचारों का मन में उठना अशक्य है. आचार और विचार परस्पर एक दूसरे को शक्ति देते हुए चलते हैं। यदि कोई मनुष्य निरन्तर अच्छा आचरण रखता है तो उसकी विचारधारा भी धीरे-धीरे शुद्ध होती चलती है और इसी तरह यदि कोई मनुष्य निरन्तर अच्छे विचार रखता है तो उसका आचरण भी, यदि वह शुद्ध नहीं है तो धीरे-धीरे शुद्ध और अच्छा होता जाता है.

यहाँ हमें दर्शन की आवश्यकता और उपयोगिता का अनुभव होता है. हमें यह विचार करना आवश्यक है कि अच्छा आचरण किसे कहें ? प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही मनोनुकूल जैसा भी आचरण अच्छा लगे वही 'अच्छा' हो, यह आवश्यक नहीं. ऐसा हो तो मनुष्य अपनी वृत्तियों और इन्द्रियों को अच्छा लगने वाला प्रत्येक आचरण अच्छा समझ कर व्यवहार करने लगे और परिणामतः समाज में एक उच्छृङ्खलता व्याप्त हो जाय. अतः हमें इस परिणाम पर आना ही होगा कि अच्छा वह है जो सत्य हो. और सत्य क्या है इसका निर्णय करने के लिये हमें एक निश्चित और व्यवस्थित दर्शन की आवश्यकता है.

अव जो प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है वह यह कि वह कौन-सा दर्शन है जिसका आश्रय लेकर हम सही मार्ग पर आगे वढ़ सकते हैं ?

वैसे तो संसार में जितने भी दर्शन हैं, सभी मनुष्य को सुविचार प्रदान करते हैं, किन्तु जैन दार्शनिकों ने इस विश्व को अनेकान्तवाद नाम से जो दर्शन भेंट किया है, उसकी समता कोई अन्य दर्शन नहीं कर सकता. क्योंकि यह दर्शन एक

ऐसी पद्धति से युक्त है जो मनुष्य को किसी भी वस्तु के विषय में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने की समझ प्रदान करता है.

आज पश्चिम भौतिकवादी हो चुका है. भौतिक सुख और विकास ही उसका लक्ष्य है. उसका दर्शन भौतिक एवं सांसारिक सुखों के चारों ओर ही घूमता है. परिणामतः पश्चिम के देश दर्शन के पूर्ण विकास से बहुत ही दूर पड़े हुए हैं. जबकि भारत में धर्म तथा दर्शन भौतिक विकास या सुख के साधन न माने जाकर आत्म-विकास के साधन माने गए हैं. प्रकृति की कोई सांकेतिक लीला ही समझा जा सकता है कि दुनिया भर के सभी धर्मों का उद्भवस्थान एशिया खण्ड ही रहा है. हिन्दूधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म, ईसाई धर्म, और इस्लाम धर्म—ये पांचों धर्म आज के विश्व के मुख्य धर्म हैं. इनमें से संसार ने जैन, बौद्ध और हिन्दू-धर्म को तो भारत में विकसित होते देखा है जब कि इस्लाम और ईसाई धर्म भी एशिया से ही अस्तित्व में आए हैं.[1]

इस्लाम, ईसाई और बौद्ध धर्म तो पिछले दो ढाई हजार वर्ष से ही अस्तित्व में आए हैं. इसे सारा संसार जानता है. शेष रहते हैं हिन्दू तथा जैनधर्म. इन दोनों के अनुयायी अपने-अपने धर्म को अनादिकालीन होने का दावा करते हैं. हमें इस निबन्ध में इस चर्चा में नहीं पड़ना है कि कौन-सा धर्म प्राचीन या अनादि है और कौन-सा अपेक्षाकृत नया. और किसी भी धर्म अथवा दर्शन की श्रेष्ठता केवल इस बात पर निर्भर नहीं करती कि वह कितना पुराना है. ठीक वैसे ही जैसे कि वह अपने अनुयायियों की संख्या पर भी निर्भर नहीं करती. किन्तु यदि हम खोज करें तो यह प्रकट होता है कि वेदों और भागवत आदि ग्रंथों में, जो कि हिन्दू धर्मशास्त्रों में अधिक से अधिक प्राचीन माने गए हैं, जैनों के वर्तमान तीर्थंकरचौबीसी के पहले तीर्थंकर श्रीऋषभदेव के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते हैं. इससे सहज ही यह सिद्ध होता है कि इन दोनों धर्मों में भी जैन धर्म ही अधिक प्राचीन है. ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा सिद्ध इस बात को अनेक पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने स्वीकार किया है. जैन अनुश्रुति के अनुसार भगवान् महावीर ने किसी नये तत्त्वदर्शन का प्रचार नहीं किया है. पार्श्वनाथ के तत्त्वज्ञान से उनका कोई मतभेद नहीं. किन्तु जैन अनुश्रुति इससे भी आगे जाती है. उसके अनुसार श्रीकृष्ण के समकालीन तीर्थंकर अरिष्टनेमि की परम्परा को ही पार्श्वनाथ ने ग्रहण किया था. और स्वयं अरिष्टनेमि ने प्रागैतिहासिक काल में होने वाले नमिनाथ से. इस प्रकार यह अनुश्रुति हमें ऋषभदेव, जो भरत चक्रवर्ती के पिता थे, तक पहुँचा देती है. इसके अनुसार तो वर्तमान वेद से लेकर उपनिषद् पर्यन्त सम्पूर्ण साहित्य का मूल स्रोत ऋषभदेव द्वारा प्रणीत जैनतत्त्वविचार ही है.[2]

जहाँ तक दर्शन का प्रश्न है, हिन्दू-धर्म में उसकी अनेक शाखाएँ हैं और हिन्दू दार्शनिकों में हिन्दू-दर्शन के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में मतभेद हैं. वेदान्त, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, चार्वाक आदि—ये भिन्न-भिन्न शाखाएँ हिन्दू धर्म में हैं. इसके अतिरिक्त वेदान्त में अद्वैत और विशिष्टाद्वैत आदि भी अनेक उपशाखाएँ हैं. वैदिकधर्मसम्मत चौबीस अवतारों में आद्य जैनतीर्थंकर ऋषभनाथ और बौद्धधर्मप्रणेता बुद्ध भी सम्मिलित किये गये हैं. इन सब बातों पर विचार करने से ऐसा लगने लगता है कि वैदिकधर्म कोई एक धर्म ही नहीं है.

किन्तु इन सब में एक मात्र जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जिसमें स्थिरता, एकता, और मूलभूत दृढ़ता विद्यमान है. इस दर्शन में तत्त्वाश्रित शाखाएँ अथवा उपमार्ग नहीं हैं. धर्माचरण की दृष्टि से जैनधर्म में दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि शाखाएँ हैं किन्तु दर्शन की भूमिका पर ये सभी शाखाएँ एक हैं और एकमत ही हैं. हजारों वर्षों पूर्व, नहीं, अनादि काल से जैन तीर्थंकरों ने ठोस सिद्धान्त संसार के समक्ष रखे हैं. वे आज भी ज्यों के त्यों मौजूद हैं. स्पष्ट है कि ऐसा होने का कोई विशेष कारण भी होना चाहिये. यही कारण जैनदर्शन की विशिष्टता है.

केवल प्राचीनता की दृष्टि से जैनदर्शन की विशिष्टता का दावा नहीं किया गया है. यह निवेदन हम पूर्व कर चुके हैं.

---

१. अनेकान्त व स्याद्वाद—स्व० चन्दुलाल शाह.

२. न्यायावतार वार्तिकवृत्ति (प्रस्तावना)

जैनदर्शन की विशिष्टता और श्रेष्ठता उसके दर्शन, उसके तत्त्वज्ञान में निहित है. जैनदर्शन का वह विशिष्ट और सर्वोच्च सिद्धान्त अनेकान्तवाद है. अनेकान्तवाद की एक विशिष्ट महत्त्वपूर्ण तथा प्रमाणयुक्त पद्धति है. संसार के जितने भी विद्वान् इस तर्कपद्धति के परिचय में आते हैं, वे सभी इस पर मुग्ध हो जाते हैं. हर्मन जेकोवी, डा० स्टीनकोनो, डा० टेसीटोरी, डा० पारोल्ड, बर्नार्ड शा जैसे चोटी के पाश्चात्य विद्वानों ने इस दर्शन और इस तर्कपद्धति की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है.

अनेकान्त के विषय में हम आगे विस्तार से विचार करेंगे. यहाँ हमें इतना ही कहना अभीष्ट है कि जैनदार्शनिकों ने प्रत्येक वस्तु का एक स्थान पर अनेक दृष्टियों से निरीक्षण करने की अपनी अद्वितीय पद्धति से न केवल अपने ही दर्शन की, किन्तु संसार के सभी दर्शनों की छानबीन की है और यह सिद्ध किया है कि ये सारे दर्शन केवल एक ही अन्त (एकान्त) पर आधारित हैं. अलग-अलग दृष्टिबिन्दुओं पर विचार किये बिना ही, सिर्फ एक ही ओर से विचार करके इन दर्शनों की रचना की गई है. जैनदार्शनिकों ने यह सिद्ध किया है कि जैनदर्शन सातों नयों (जिन्हें सात अन्त अथवा सात छोर कहा जा सकता है) पर आधारित है, इसलिए सम्पूर्ण और अविचल है, जबकि शेष मुख्य-मुख्य दर्शन एक ही अन्त अथवा छोर पर आधारित हैं, इसलिए अपूर्ण और ऐकांतिक हैं. हम यहाँ पर उल्लेख करना उचित और संगत समझते हैं कि भिन्न-भिन्न दर्शन किस-किस एक-एक नय पर रचित हैं. यथा—

(१) अद्वैत वेदान्त और सांख्य, संग्रह नय पर आधारित हैं.
(२) नैयायिक और वैशेषिकदर्शन नैगम नय पर आधारित हैं.
(३) चार्वाकमत सिर्फ व्यवहार नय पर आधारित है.
(४) बौद्धमत ऋजुसूत्र नय पर आधारित है.
(५) मीमांसक मत शब्द नय पर निर्भर है.
(६) वैयाकरणदर्शन समभिरूढनय का आधार लेकर चलता है.
(७) इनके अतिरिक्त अन्य कई Extremist (उद्दाम) तत्त्वज्ञान हैं जो सब एवंभूत नय के अनुसार चलते हैं.

उपरोक्त स्थिति को देखते हुए जैनदर्शन हमें एक महासमुद्र की भांति प्रतीत होता है जो इन सातों नयों को अपने में समाहित किए हुए है.

आइये, अब हम अनेकान्तवाद के विषय में कुछ विचार करें जिसकी सनातन शक्ति के बल पर जैनदर्शन संसार का सर्वश्रेष्ठ और दिग्विजयी दर्शन माना जाता है.

## अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

अनेकान्त शब्द का यदि हम विग्रह करें तो हमें उसमें तीन शब्द मिलते हैं—अन्+एक+अन्त, अर्थात् जिसका एक अंत नहीं—जिसमें अनेक अन्त हैं—वह अनेकान्त. किसी भी वस्तु के विषय में निर्णय करने से पूर्व हमें उसके अलग अलग पहलुओं तथा उसकी विभिन्न सीमाओं को अपनी दृष्टि में रखना चाहिये. ऐसा करने पर जो निर्णय हम करेंगे, उसमें हमें वस्तु का सच्चा स्वरूप जानने को मिलेगा. यह सुनहरी शिक्षा हमें अनेकान्तवाद देता है. श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है—

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वहइ
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥

भावार्थ—जिसके बिना लोकव्यवहार भी सर्वथा नहीं चलता, उस भुवन के श्रेष्ठ गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार हो.[1]
इंग्लैंड के प्रसिद्ध विद्वान् डा० थामसन ने कहा है कि—Jain logic is very high. The place of syadvad

---

१. सन्मतितर्क

in it is very important. It throns a fine light upon the various conditions & states of the things.
(न्यायशास्त्र में जैनन्याय अति उच्च है. उसमें स्याद्वाद का स्थान अति गम्भीर है. वस्तुओं की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर वह सुन्दर प्रकाश डालता है.)

महामहोपाध्याय रामशास्त्री ने कहा है—'स्याद्वाद जैनधर्म का अभेद्य किला है. उसमें प्रतिवादियों के मायामय गोले प्रवेश नहीं कर सकते हैं."

पं० हंसराज शर्मा कहते हैं—"अनेकान्तवाद-स्याद्वाद अनुभवसिद्ध स्वाभाविक और परिपूर्ण सिद्धान्त है."

महात्मा गांधी स्याद्वाद के विषय में कहते हैं—"अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) मुझे बहुत प्रिय है. उसमें मैंने मुसलमानों की दृष्टि से उनका, ईसाइयों की दृष्टि से उनका, इस प्रकार अन्य सभी का विचार करना सीखा. मेरे विचारों को या कार्य को कोई गलत मानता तब मुझे उसकी अज्ञानता पर पहले क्रोध आता था. अब मैं उनका दृष्टिबिन्दु उनकी आँखों से देख सकता हूँ, क्योंकि मैं जगत् के प्रेम का भूखा हूँ. अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है." गांधीजी द्वारा कही गई बात राजनीति के क्षेत्र में कितनी उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है, यह स्पष्ट है. वैज्ञानिक क्षेत्र में स्याद्वाद ने अपनी उपयोगिता सिद्ध की है. वस्तुओं को अनेक दृष्टि से देखना, जाँचना और उनके विविध गुण-धर्मों से परिचित होना अनेकान्त दृष्टि के अतिरिक्त और क्या है ? यदि विज्ञान अपनी पहले से चली आ रही मान्यताओं से ही जकड़ा रहता और कई-अनेक दृष्टियों को नहीं अपनाता तो क्या वह अपनी कोई भी शोध कार्यान्वित कर सकता था ? लोहा बहुत भारी होता है और पानी में डूब जाता है, ऐसी एकान्त रूढ मान्यता बहुत समय से चली आ रही है. किन्तु विज्ञान ने उसे अन्य दृष्टियों से देखने का प्रयत्न किया. इस प्रयत्न और प्रयोग में लोहा हल्का भी बन जाता है और इस कारण से पानी पर तैर सकता है. उसके इस अनेकान्तज्ञान ने लोहे के जलयान समुद्र में चला दिए. इसी प्रकार बिजली, ध्वनि, अणुशक्ति आदि से सम्बन्धित सभी चीजें अनेकान्त दृष्टि पर ही अवलम्बित हैं.

वैज्ञानिक जगत् में अनेक समस्याएँ घिरी हुई थीं. किन्तु सन् १९०५ में जब प्रो० आइन्सटीन ने संसार के सम्मुख अपना सापेक्षवाद सिद्धान्त (Theory of Relativity) रखा, तब उनमें से अधिकांश समस्याओं का समाधान सहज ही में हो सका. यह सापेक्षावाद क्या है ? स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद का ही दूसरा नाम सापेक्षवाद है. जैनशास्त्रों में स्याद्वाद को स्पष्ट रूप से अपेक्षावाद या सापेक्षवाद कहा गया है.[१]

जैन दार्शनिकों द्वारा स्याद्वाद और अनेकान्तवाद, इन दोनों शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में किया गया है. अतः उनमें कोई भिन्नता नहीं है.[२]

किसी वस्तु का एक ही अन्त अथवा छोर अथवा पहलू अथवा गुणधर्म देखकर जब उसके समस्त स्वरूप का निर्णय कर लिया जाय तो वह एकान्तवाद है. किन्तु जब वस्तु के अनेक अन्त, छोर, पहलू अथवा गुणधर्मों का अवलोकन करके उसके सम्बन्ध में निर्णय किया जाय तो वह अनेकान्तवाद है. कहा गया है कि "एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरुद्ध-नानाधर्मस्वीकारो हि स्याद्वादः" एक ही पदार्थ में सापेक्ष रीति से नाना प्रकार के विरोधी धर्मों का स्वीकार करना ही स्याद्वाद है.[३]

यहाँ हमें स्याद्वाद शब्द की व्युत्पत्ति करके उसके सही अर्थ को समझ लेना चाहिए. स्याद्वाद शब्द 'स्याद्' और 'वाद' इन दो पदों से बना हुआ है. अतः इसका अर्थ हुआ—स्यात् शब्द की मुख्यता वाला वाद—स्याद्वाद. वाद का अर्थ तो स्पष्ट है—कथन अथवा प्रतिपादन. किन्तु स्याद् शब्द अत्यन्त रहस्यपूर्ण है और उसके ठीक अर्थ को समझ लेना अत्यन्त

१. जैनधर्मसार
२. अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः लघीयस्त्रयटीका.
३. स्याद्वादोऽनेकान्तवादः. —स्याद्वादमंजरी.

आवश्यक है. इस पद का अर्थ ठीक नहीं समझ कर संसार के बड़े-बड़े विद्वानों ने भूल की है और परिणामतः स्याद्वाद को संशयवाद अथवा विवर्तवाद कहा है. जैन ग्रंथों में अनेक ऐसे विवेचन हैं जो इस पद का सही रहस्य अथवा अर्थ बताते हैं फिर भी यह भ्रांतिपूर्ण परम्परा अब तक चली आ रही है.

जो शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो उसी अर्थ में उसे ग्रहण किया जाना चाहिए. अन्यथा यदि अर्थ का अनर्थ हो तो उसमें क्या आश्चर्य है ? भाषा के अनुसार स्यात् शब्द का अर्थ भले ही 'सम्भवतः' अथवा 'कदाचित्' होता हो, किन्तु यहाँ पर 'स्यात्' शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है. इसका प्रयोग कथंचित् अर्थात् 'विशिष्ट अपेक्षा से' इस अर्थ में हुआ है. इस अर्थ में जब हम 'स्यात् अस्ति घटः' अथवा 'स्यात् नास्ति घटः' कहते हैं तब उसका यह अर्थ नहीं होता कि सम्भव है यहाँ घड़ा है, अथवा सम्भव है यहाँ घड़ा नहीं है. किन्तु इसका अर्थ होता है 'कथंचित्' अर्थात् 'किसी विशिष्ट अपेक्षा से' यह घड़ा है. और कथंचित्—किसी विशिष्ट अपेक्षा से यह घड़ा नहीं है. अस्तु, स्यात् पद किसी प्रकार संशय अथवा सम्भावना प्रकट करने के लिए नहीं, अपितु एक निश्चित अपेक्षा का दृष्टिकोण प्रकट करने के लिये प्रयुक्त किया गया है.

अंग्रेजी भाषा में स्यात् पद का अर्थ (It may be perhaps, perchance) इस प्रकार किया जाता है जो कि सर्वथा गलत है. संगत और सही अर्थ है—(Under certain circumstances). अतः जहाँ स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति ऐसे पद कहे गए हों वहाँ (Perhaps it is, Perhaps it is not) ऐसा गलत अर्थ करने के स्थान पर (Under certain circumstances it is) तथा (Under certain circumstances it is not) ऐसा अर्थ जाना चाहिए. सर मोनियर विलियम्स की विश्वविख्यात संस्कृत-इंग्लिश डिक्सनरी में यह अर्थ दिया हुआ है.[1] फिर भी हम यदि इसका अर्थ (Rigarding certain aspects) अर्थात् अमुक अपेक्षा से करें तो वह अधिक व्यावहारिक होगा.[2]

आचार्य मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी में स्पष्ट कहा है कि 'स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्' अर्थात् स्यात् अव्यय अनेकान्त का द्योतक है.[3]

उपरोक्त विवेचन से इतना तो अब हम समझ ही चुके हैं कि किसी भी एक वस्तु को किसी एक ही पक्ष से देखकर उसके स्वरूप के सम्बन्ध में निर्णय करना एकान्त निर्णय है और इसीलिये वह गलत है. अनेकान्तवाद हमें यही शिक्षा देता है कि किसी भी विषय का निर्णय करने से पहले उसके हर पहलू की जांच करना चाहिए.

किन्तु इतना ही समझ लेना पर्याप्त नहीं है कि वस्तु के अनेक पक्ष, अनेक अन्त होते हैं. हमें यह भी जानना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु में आपस में विरोधी अनन्त-गुण-धर्मात्मक अनेक प्रकार की विविधताएं भरी हुई हैं. इस दृष्टि से जैन दार्शनिकों का कहना है कि जो वस्तु तत्त्वस्वरूप है, वह अतत्त्व रूप भी है. जो वस्तु सत् है, वह असत् भी है. जो एक है, वह अनेक भी है. जो नित्य है, वह अनित्य भी है. इस प्रकार हर एक वस्तु परस्पर विरोधी गुण धर्मों से भरी हुई है.

इस महत्त्वपूर्ण बात को ठीक तरह से समझ लेने पर ही हम अनेकान्त अथवा स्याद्वाद के सही अर्थ को समझ सकते हैं. स्वाभाविक रूप से यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'जो सत् है वही असत् कैसे हो सकता है ?'

सामान्य दृष्टि से देखने पर हमें प्रतीत हो सकता है कि यह विरोधाभास इतना प्रबल है कि इसे देखने से जैन दार्शनिकों द्वारा कही गई बात में संशय हो सकता है. किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है. जैन दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद की दृष्टि से, अनेक भिन्न-भिन्न दृष्टिबिन्दुओं तथा विचारधाराओं का एक साथ विचार करने के बाद ही यह

---

१. पृष्ठ १२७३.
२. जैनधर्मसार—स्व० चन्दुलाल शाह.
३. पांचवे श्लोक की व्याख्या.

बात कही है. द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की चारों अपेक्षाओं, सातों नयों द्वारा की गई तुलना और सप्तभंगी से मिलान करने के पश्चात् ही जैन शास्त्रकारों ने यह विचित्र किन्तु सम्पूर्ण रूप से सत्य बात कही है. उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो सकेगी.

(१) कोई दवाई है. वह एक विशेष बीमारी से पीड़ित मनुष्य के लिए उपयोगी है, लेकिन वही दवाई दूसरे पीड़ित मनुष्य के लिए व्यर्थ होती है. यह स्वीकृति तथ्य है. अतः एक ही दवाई उपयोगी भी है और व्यर्थ भी.

(२) विष एक ही है. किन्तु वह अलग-अलग स्थितियों में बिलकुल विपरीत कार्य करता है. वह मनुष्य को मार भी देता है और विशेषरूप से, विशेष संयोग में प्रयोग में लिये जाने पर वह मनुष्य को जिलाने का भी कार्य करता है. इस तरह विष, जो एक ही पदार्थ है, विष और अमृत दो पदार्थों का कार्य करता है. अर्थात् उस एक ही पदार्थ में दो सर्वथा विरोधी गुणधर्म उपस्थित रहते हैं.

जैनदर्शन के अनेकान्तवाद के विरुद्ध अन्य मत स्वीकार करने वालों का सबसे बड़ा विरोध यह है कि जो वस्तु सत् है वही वस्तु असत् कैसे हो सकती है ? जो नित्य है वही अनित्य कैसे हो सकती है ? इसका मुख्य कारण यही है कि उन्होंने एक वस्तु को एक ही पहलू से, एक ही स्वरूप में देखा है, जब कि जैन दार्शनिकों ने वस्तु के पूर्ण स्वरूप को अपनी दृष्टि में रख कर यह बात कही है, किसी एक पहलू अथवा स्वरूप के सम्बन्ध में यह बात उन्होंने नहीं कही है.

गम्भीरता से विचार करने पर प्रतीत होगा कि ये जो विरोधी दिखने वाले गुणधर्म हैं वे वस्तुतः अलग-अलग नहीं, एक ही हैं. जो सत् है वही असत् है, दोनों एक दूसरे में मिले हुए हैं, एक के बिना दूसरे का अस्तित्व न केवल निरर्थक ही बल्कि असंभव हो जाता है. एक का अस्तित्व दूसरे के कारण—दूसरे के आधार पर ही है. यदि उनमें से एक का नाश हो जाय तो दूसरे का अस्तित्व भी नहीं रह सकता. जगत् में यदि असत्य न होता तो सत्य की क्या आवश्यकता थी ? असत्य है, इसीलिये सत्य भी है. परस्पर विरोधी दिखाई पड़ने वाले ये सत्त्व और असत्त्व आदि धर्म तत्त्व के दो स्वरूप हैं. अनेकान्त दृष्टि से देखे जाने पर ये दोनों भिन्न भी हैं और अभिन्न भी.

इसी प्रकार नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि परस्पर विरोधी गुणधर्म होते हुए भी वास्तव में एक ही हैं. प्रकाश और अन्धकार को ही लीजिये. वैसे तो ये भिन्न तत्त्व हैं. इनका कार्य एक दूसरे का विरोधी है. यदि यह कहा जाय कि एक ही वस्तु में प्रकाश और अन्धकार दोनों साथ रहते हैं, तो क्या यह बात स्वीकार की जायेगी ?

विचार करने पर मालूम होगा कि यह सत्य है. जब आकाश में प्रकाश था तब अन्धकार कहाँ था ? प्रकाश के आने पर अन्धकार कहाँ गया ? क्या अन्धकार के छिपने के लिए अन्य कोई स्थान है ? नहीं. तब फिर यह मानने में आपत्ति क्यों कि ये दोनों तत्त्व एक ही हैं अथवा एक दूसरे में ही समाहित हैं ? अन्धकार जो था वह प्रकाश में ही विलीन हो गया, उसी तरह जो प्रकाश था वह अन्धकार के आगमन पर उसमें ही विलीन हो गया. अतः जो परिवर्तन हमें दिखाई देता है वह सिर्फ अवस्था का है. रात की अपेक्षा से अन्धकार और दिन की अपेक्षा से प्रकाश को हम देखते हैं. अतः जैन दार्शनिकों ने अन्धकार और प्रकाश के मूलभूत पुद्गलों को एक माना है. केवल अवस्थाभेद के कारण ही वे अन्धकार और प्रकाश के रूप में आते हैं. इससे यह स्पष्ट होता है कि परस्पर विरोधी गुणधर्म वाले ये तत्त्व वास्तव में एक ही तत्त्व के अन्तर्गत हैं. यदि हम अनेकान्त दृष्टि से देखें तो हमें इसे समझने में कठिनाई नहीं हो सकती है.

बहुत बड़ा आश्चर्य तो हमें तब होता है जब वेदान्त के अनुयायी इस बात का विरोध करते हैं. उनकी मान्यता है कि प्रथम जो था वह शुद्ध विशुद्ध निर्गुण ब्रह्म था. उसमें से माया का सर्जन हुआ. ब्रह्म शुद्ध है. माया अशुद्ध है. ब्रह्म और माया परस्पर विरोधी गुण धर्म वाले तत्त्व हैं. यदि माया की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई तो इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि उत्पत्ति के पूर्व यह माया ब्रह्म में बसी हुई थी. और यदि ऐसा ही है तो उस शुद्ध ब्रह्म के भीतर ही एक अशुद्ध तत्त्व मौजूद था. इस तरह वेदान्त की कल्पना के अनुसार शुद्ध और अशुद्ध—दो परस्पर विरोधी तत्त्व एक साथ ही थे. [illegible]

ही मान्यता और कल्पना को काटकर वे इस बात को स्वीकार नहीं करते. और यदि करें तो जैनदर्शन ने जो यह बात बताई है कि 'प्रत्येक वस्तु परस्पर विरोधी गुणधर्म से युक्त है' उसे भी उन्हें स्वीकार करना होगा.

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तदृष्टि ही एक ऐसा मार्ग है जो हमें इस संसार की प्रत्येक वस्तु को उसके सच्चे और वास्तविक रूप में समझ सकने में सहायता करता है. बल्कि यदि ऐसा कहा जाय कि अनेकान्तदृष्टि ही एक मात्र दृष्टि है, शेष अज्ञान है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी. अनेकान्तदृष्टि प्राप्त होते ही हमारे जीवन में समभाव का उदय स्वाभाविक रूप से हो जाता है. क्योंकि ऐसा होने पर हम किसी भी वस्तु अथवा घटना की समस्त मर्यादाओं, विभिन्न पहलुओं को जानते और विचारते हैं. हम यह जान जाते हैं कि अवस्था-स्वरूप बदलने से ही वस्तु में परिवर्तन आता है. इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इत्यादि के बदलने पर उस वस्तु के स्वरूप में परिवर्तन आता है. अथवा यों कहें कि इन भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न स्वरूपों में दिखाई पड़ती है. एक ही देह काल की अपेक्षा से बाल्यावस्था, यौवन, अधेड़ावस्था, वृद्धावस्था आदि अवस्थाओं में पहचानी जाती है. द्रव्य की अपेक्षा से वही देह कोमल, मजबूत, स्वस्थ, पीड़ित, सशक्त, अशक्त आदि दीख पड़ती है. क्षेत्रभेद से वही अंग्रेज अमरीकन हिन्दुस्तानी आदि रूप में जानी जाती है. भाव की अपेक्षा से वही मनुष्य सौम्य, रौद्र, शान्त अशांत स्थिर-अस्थिर रूपवान-कुरूप आदि दिखलाई पड़ता है.

तात्पर्य यह है कि किसी भी पदार्थ में परस्पर विरोधी गुणधर्मों का अस्तित्व होता ही है. जैन दार्शनिक जब यह कहते हैं कि एक ही वस्तु है भी और नहीं भी है; तब अनेकान्त दृष्टि द्वारा ही यह बात कहते हैं, और यह यथार्थ है. अनेकान्त दृष्टि की ये बातें इतनी महत्त्वपूर्ण और समझने योग्य हैं कि यदि हम इन्हें ठीक प्रकार से समझ लें तो हमारे सम्पूर्ण जीवन और सारे संसार की समस्याओं का हल आसानी से हो जाय. आज के विज्ञानवादी अणु-परमाणुओं के संशोधनयुग में हमें यह बात समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि एक और अनेक दोनों एक ही साथ एक समय में ही रहते हैं. जैनतत्त्वज्ञानियों ने सर्वथा असंदिग्धता से, भारपूर्वक यह बात कही है कि एकान्त नित्य से अनित्य का या एकान्त अनित्य से नित्य का स्वतंत्र उद्भव असंभव है. यह ज्ञान हमें द्वैत अद्वैत और उसकी सभी शाखाओं से तथा क्षणिकवाद आदि सभी एकान्त तत्वज्ञानों में नहीं मिल सकता. क्योंकि इनकी रचना एकान्तज्ञान के आधार पर तथा ऐकान्तिक निर्णय द्वारा की गई है. इन सब दर्शनों के सम्मुख जैनदर्शन का अनेकान्तवाद एक महान् समुद्र की भांति खड़ा है. उसके द्वारा दी गई समझ और ज्ञान ही एक मात्र सच्ची समझ और ज्ञान है. वस्तु के विभिन्न पक्ष तथा उसी वस्तु में रहे हुए परस्पर विरोधी गुणधर्म हमें एकान्त दृष्टि से समझ में नहीं आते, दिखाई ही नहीं देते. अनेकान्तदृष्टि द्वारा ही हम उन्हें देख और समझ सकते हैं. जैनदर्शन, जहाँ तक दर्शन का सम्बन्ध है, एक महान् सिद्धि है. यही कारण है कि अनेकान्तवाद को तत्त्वशिरोमणि की उपाधि दी गई है.[१]

## सुवर्ण और कसौटी

वैसे तो अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और अपेक्षावाद (सापेक्षवाद) एक ही हैं. फिर भी यदि हम अनेकान्तवाद को और भी बारीकी से समझना चाहें तो हम यह कह सकते हैं कि अनेकान्तवाद के इस तथ्य को कि प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी अनेक गुण-धर्म होते हैं; युक्तियुक्त एवं तार्किक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए जिस पद्धति की आवश्यकता है वह पद्धति स्याद्वाद है. हम अनेकान्त को सुवर्ण तथा स्याद्वाद को कसौटी की उपमा दे सकते हैं. अथवा अनेकान्त को हम एक किले की तथा स्याद्वाद को उस किले तक जाने वाले मार्गों को बतलाने वाले नक्शे की उपमा भी दे सकते हैं. किन्तु भूलना नहीं चाहिए कि अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद एक ही तत्त्वज्ञान के अंग हैं, इस कारण वे वस्तुतः एक ही हैं.[२]

---

१. अनेकान्तवाद व स्याद्वाद—स्व० चन्दूलाल शाह.
२. स्याद्वादोऽनेकान्तवादः —स्याद्वादमंजरी.

## आज का संकटग्रस्त संसार, जीवन और जैनदर्शन

आजका युग, आज का संसार—यह भौतिक वाद की ओर अन्धा होकर दौड़ता चला जा रहा मानव-समाज विनाश के अतल गर्त के कितना समीप आ पहुँचा है, इस वात को कौन समझदार व्यक्ति नहीं जानता ? आज के मनुष्य का जीवन कितना संदिग्ध और उलझनों से भरा हुआ प्रतीत होता है ? ऐसा लगता है कि चारों ओर सघन अन्धकार परिव्याप्त है और कहीं किसी दिशा में कोई एक भूली-भटकी किरण भी दिखाई नहीं देती.

हम आँखें होते हुए भी अन्धे वने हैं. प्रकाश की उपेक्षा करके अन्धकार की ओर दौड़ें तो यह हमारा ही अज्ञान है. किन्तु यदि अपनी सहज बुद्धि का उपयोग करें, तटस्थ तथा निष्पक्ष भाव से विचार करें तो हमारे लिए निराशा का कोई कारण नहीं है.

अनन्त और अमर आशा का संदेश लिये हुए जैनदर्शन और जैनधर्म के युग-युगान्तरों से चले आ रहे अटल सिद्धान्त हमारे द्वार पर खड़े हैं. आवश्यकता इतनी ही है कि हम अपने हृदय के, मन के अवरुद्ध कपाट उन्मुक्त करें और उन सिद्धान्तों का स्वागत करें जो हमारे जीवन को, हमारी सृष्टि को, हमारे अस्तित्व को सुरक्षित तथा उन्नत करने के लिये उपस्थित हैं.

आज हमें जीवन एक समस्या के समान प्रतीत होता है. हम चारों ओर से परेशानियों और झंझटों से अपने आपको घिरा हुआ अनुभव करते हैं. क्या इसका कारण कभी हमने शान्त चित्त से विचारा है ?

इसका एक मात्र कारण है कि हम अपने सहज स्वभाव को भूल वैठे हैं. मनुष्य जीवन के जो वास्तविक और हितकारी सिद्धान्त हैं उन्हें हमने त्याग दिया है और हम इन झूठे और भ्रामक आकर्षणों की ओर दौड़ रहे हैं जो मात्र भौतिक हैं, अस्थायी हैं, और इसीलिए असत्य हैं.

सत्य का मार्ग जैनदर्शन जव हमें वतलाता है तो हम, चूंकि हमें वुद्धिवादी होने का भ्रम और गर्व है, अपना मुंह वना-कर कहते हैं—यह साधु-संन्यासियों की वातें हैं, भला इस संसार में यह कहीं चलता है !

यह साधु संन्यासियों की वातें भला आपके इस असाधु, इस जड़-अनुरक्त संसार में कैसे चल सकती हैं ? और नहीं चल सकतीं तो न चलने दीजिए. इससे सत्य को हानि नहीं है. आप हिंसक वने रहिए, अपने ही हाथों मानवता का खून कीजिए, अपने ही अस्तित्व को अपने ही हाथों विनष्ट कर दीजिए—इसमें अहिंसा के पवित्र तत्त्व की कोई हानि है ? आप शायद विचार कर रहे हैं, विचार वड़ी उपयोगी वस्तु है, विचारिए. . ...... आज की मानवता, मानवसमाज के सन्मुख जो समस्या है वह मनुष्य के अपने ही स्वार्थ, दुर्वलता और अज्ञान के कारण है. आज का मनुष्य कठिनाई का सामना करने को तैयार नहीं है. वह कठिनाई से तो मुंह मोड़ कर भागता ही है, स्वयं अपनी दुर्वलताओं को भी स्पष्ट रूप से समझने से कतराता है. यह मनुष्य की पलायनवृत्ति (Escape tendency) है. और विश्वास कीजिये जव तक यह वृत्ति मनुष्य में है तव तक वह किसी भी प्रकार अपना हित नहीं कर सकता. उसे निरन्तर अवनति और विनाश की ओर ही खिसकते चले जाना होगा.

जीवन में किसी भी दुःख अथवा समस्या के आ पड़ने पर उसे दूर करने, उसका समाधान ढूंढ निकालने का मार्ग क्या है ? जैनदर्शन कहता है कि अपने विवेक का उपयोग करो. यह विचार करो कि वह दुःख क्या है, उसका स्वरूप कैसा है, उसका कारण क्या है, उसे दूर करने का उपाय क्या है ? दुःख आया है तो उसके सामने हमारे पास जो सुख है उसका विचार हमें करना चाहिए. ऐसा विचार हमारे मन को शान्त और सुव्यवस्थित करेगा. इस तरह शान्त बने हुए चित्त से अपनी विवेक-बुद्धि का उपयोग करके यदि हम विचार करने लगेंगे तो हमें साफ दिखाई देगा कि आया हुआ, अथवा माना हुआ वह दुःख दूर किया जा सकता है. उस दुःख के पीछे ही सुख भी रहा हुआ है. हम उस दुःख के कारणों को जान सकेंगे. और कारण जानने के वाद हम उसे दूर करने का पुरुषार्थ भी कर सकेंगे. इस प्रकार की समझ और उस समझ से दिखाई पड़ने वाला उन्नति का एवं सुख का राजमार्ग हमें केवल स्याद्वाद के द्वारा ही मिलेगा.

तात्पर्य यह है कि मनुष्य-समाज के समक्ष आज जो समस्याएँ, जो भी कठिनाइयाँ हैं, उनका अस्तित्व इसीलिये है कि हमें जीवन का, जीवन के उद्देश्य का, जीने की पद्धति का स्पष्ट ज्ञान नहीं है. यदि हमें यह ज्ञान हो जाय तो आज ध्वंस के कगार पर खड़ी हुई मानवता की रक्षा निश्चित रूप से हो सकती है.

और इस ज्ञान की मशाल को मजबूती से अपने हाथों में चिर काल से-अनादि काल से थामें हुए जैनदर्शन एक अचल ज्योतिस्तम्भ के समान खड़ा है.

आइये, हम जरा विचार करें कि जैनदर्शन हमारे सामने क्या सिद्धान्त उपस्थित करता है.

## जैनदर्शन की विशिष्ट आचारपद्धति

कौन नहीं जानता कि हमारा मन, मनुष्य मात्र का मन, आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा इन पांचों इन्द्रियों के सहयोग से कार्य करता है. यदि इनमें से एक भी इन्द्रिय कार्य नहीं करती तो जीवन खंडित हो जाता है. ठीक इसी प्रकार जैन-दार्शनिकों ने मनुष्य के आचरण—मनुष्य के जीवन-व्यवहार के लिए एक ऐसी विशिष्ट आचारपद्धति बताई है जिसका अनुसरण और पालन यदि हम करने लग जायं तो यह निश्चित स्पष्ट और अवश्यम्भावी है कि हमारे सामने आज जो हमारे विनाश का भय उपस्थित हो गया है उससे हमें सहज ही मुक्ति मिल जाय तथा मानव-समाज एक सुखी समाज बन जाय. इस आचारपद्धति के प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :— (१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय (४) ब्रह्मचर्य (५) अपरिग्रह.

इन महान् अर्थगम्भीर और परम कल्याणकारी सिद्धान्तों के विषय में शाब्दिक दृष्टि से हम प्रायः लोगों को बात-चीत करते देखते हैं. लेकिन उनमें से कितने हैं जो इनके वास्तविक अर्थ को समझते हैं ? कितने हैं जो गम्भीरता से इनके मर्म पर विचार करते हैं ? इनका पालन करना तो दूर—बहुत दूर की बात है.
ये सिद्धान्त इतने महान् हैं कि इनमें से प्रत्येक पर अलग-अलग विशाल ग्रंथों की रचना की जा सकती है. किन्तु हम यहाँ पर उनका अत्यन्त संक्षेप में विवेचन करेंगे और देखेंगे कि आज के जगत् को वह कितनी बड़ी शक्ति, कितना अनन्त प्रकाश और सुख देने की सामर्थ्य रखते हैं.

अहिंसा शब्द आज विश्वव्यापक बन चुका है. किन्तु अहिंसा का बहुत स्थूल अर्थ ही अधिकतर लोगों ने समझा है. लोग समझते हैं कि दूसरे मानव को दुख पहुँचाने वाला कोई कार्य नहीं करना ही अहिंसा है. यह बहुत ही सीमित अर्थ है. हिंसा के सच्चे अर्थ में केवल मनुष्य ही नहीं बल्कि पशु-पक्षी कीड़े-मकोड़े इत्यादि सूक्ष्म जीवों की हिंसा भी वर्ज्य है. क्योंकि उनकी हिंसा करने से भी हमारा हृदय कठोर और क्रूर बनता है. और कठोर और क्रूर हृदय में सात्विक भाव जाग्रत नहीं होते. पूर्णतया और सही अर्थ में अहिंसा का पालन करना ही जीवन को नींव से सुन्दर और सुखी बनाने का उपाय है. जैन दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित अहिंसा के सिद्धान्त की यही विशेषता है कि वह अपनी इस महान् भावना को न केवल मनुष्य तक ही, बल्कि जीव मात्र तक विस्तारित करता है. इस सृष्टि में अपना सूक्ष्म से सूक्ष्म भी अस्तित्व रखने वाले प्रत्येक प्राणी को जैनदर्शन एक स्वतंत्र आत्मा स्वीकार करके उसके हित और उपकार की भावना पर बल देता है. जैन अहिंसा का यही वास्तविक, व्यापक और विशिष्ट स्वरूप है. यदि संसार इस व्यापक स्वरूप में इसका पालन करे तो यह संसार ही स्वर्ग के समान सुख का स्थान बन जाय.

सत्य का अर्थ है असत्य कथन अथवा विचार न करना. असत्य में हिंसा भी निहित है. हमारे असत्य वचन अथवा असत्य आचरण से किसी अन्य को दुःख अवश्य होगा. और धर्म तथा दर्शन का विचार करने वाले पाठकों को विस्तार से यह समझाने की आवश्यकता नहीं कि अन्य को दिया गया दुःख स्वयं हमारे लिये क्या लेकर आएगा ?

अस्तेय का अर्थ है चोरी नहीं करना. यहाँ इस चोरी शब्द का अर्थ केवल कानून की भाषा के अर्थ तक ही सीमित नहीं समझना चाहिए. इसका अर्थ है—जो हमारा नहीं है, न्यायपूर्वक हमारा नहीं है उसे स्वीकार नहीं करना. ऐसी कोई भी वस्तु लेना, जिस पर न्यायपूर्वक हमारा अधिकार न हो, चोरी माना गया है.

ब्रह्मचर्य एक अत्यन्त व्यापक व्रत है, इसका पूर्णतया पालन संसारी मनुष्यों के लिये संभव नहीं है. किन्तु व्यवहार में इसे दो प्रकार से लागू किया गया है. एक तो परस्त्री के प्रति कुदृष्टि अथवा कुविचार न करना, दूसरे स्वपत्नी के साथ अब्रह्मचर्य का सेवन सीमित करना. इसमें मन, वचन काय तीनों पर अंकुश रखना आवश्यक माना गया है.

अपरिग्रह अन्तिम आचार माना गया है. आज जो संसार की स्थिति है उसमें अपरिग्रह के सिद्धान्त का पालन कितना उपयोगी है, यह वहुत आसानी से समझा जा सकता है. अपरिग्रह का अर्थ है—अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना. आज इस भौतिक जगत् में हमारे चारों ओर जो सामाजिक और राजनैतिक दुर्दशा दिखाई पड़ती है, उसका एक प्रधान कारण अपरिग्रह व्रत का पालन न करना भी है.

आज के संसार में धनवान् तथा गरीव वर्ग के वीच असह्य असमानता में से कार्ल मार्क्स (Karl Marx) का नया अर्थशास्त्र उत्पन्न हुआ. उससे प्रेरणा पाकर लेनिन (Lenin) ने रूस में एक जवरदस्त क्रान्ति उपस्थित की. उसमें से साम्यवाद तथा समाजवाद उत्पन्न हुये और उनसे रक्तमय क्रान्तियाँ हुईं.

जैन समाज-शास्त्रियों ने आज से हजारों-लाखों वर्षों पूर्व अपरिग्रह का जो अर्थशास्त्र वनाया था, यदि उसका पालन किया गया होता तो द्वेष, विद्वेष मारकाट और व्यापक हिंसा से पूर्ण घटनाएँ विश्व में न होतीं. कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्टालिन, चाउ एन लाई आदि साम्यवादियों द्वारा अपनाई गई विचारधाराएँ तथा कार्यप्रणालियाँ भी घातक ही हैं. क्योंकि इनके पीछे अहिंसा की कोई भावना नहीं है.

शोषकों की हिंसा के विरुद्ध साम्यवादियों की हिंसा आई. किन्तु हिंसा से हिंसा नहीं मिटती, हिंसा से दुख समाप्त नहीं होता, हिंसा से सुख प्रकट हो ही नहीं सकता. यह एक भयानक विषमचक्र है, और अपरिग्रह का अभाव इसके मूल में है. मानव जाति को यदि सुख और शान्ति चाहिए तो इसका सच्चा और सफल उपाय अपरिग्रह का पालन ही है. सादगी और सन्तोष की वृत्ति विकसित करना ही है. परिग्रह से कभी सन्तोष-सुख नहीं मिलता है.

संक्षेप में इसी प्रकार कह सकते हैं कि जैनतीर्थंकर भगवन्तों ने संसारी मनुष्यों के पालन करने के लिये उपरोक्त पाँच आचार-सिद्धान्त वताए हैं, उनके पालन के अतिरिक्त समूची मानव-जाति की रक्षा, अस्तित्व और उद्धार का कोई अन्य मार्ग नहीं है.

इन सिद्धान्तों पर वड़ी गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए. जैनदर्शन के ये अक्षत सिद्धान्त परस्पर जुड़े हुए हैं. इनमें से आप एक को छोड़िए तो दूसरा स्वतः छूट जाता है.

इतने विवेचन से यह वात अब हमारी समझ में सहज ही आ जाती है कि यदि मनुष्य, मानवता एवं संसार की सुरक्षा और उन्नति का कहीं कोई मार्ग है तो वह मार्ग हमें जैनदर्शन ही दिखाता है. इन विशिष्टताओं को अपने भीतर समाहित किए हुए इस अद्भुत जैनदर्शन को यदि विश्व का सर्वश्रेष्ठ, अनन्य और अपराजेय दर्शन कहा जाय तो न इसमें कोई अतिशयोक्ति है और न कोई असत्य का अंश. यह वात एक निर्विवाद तथ्य के रूप में हमारे सामने स्पष्ट हो जाती है.

### जैनदर्शन में आत्मविकास का अनन्त अवकाश

आत्मा और परमात्मा के विषय में विभिन्न दर्शनों की भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं. जैनदर्शन की भी इस सम्बन्ध में अपनी एक विशिष्ट मान्यता है. और विचार करने पर हम देखेंगे कि वह मान्यता अन्य दर्शनों की सीमित मान्यताओं से कितनी विशिष्ट व्यापक और उच्च है.

कुछ दर्शन आत्मा के विषय में यह मानते हैं कि विभिन्न जीवात्माएँ वस्तुतः किसी एक ही परम-आत्मा (ईश्वर) का विस्तार हैं. अपना विकास और शुद्धि करते करते वे अंत में मुक्त होकर उसी परम-आत्मा में विलीन हो जाती हैं, हो सकती हैं. इस तरह ये दर्शन भिन्न-भिन्न जीवात्माओं की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार न करते हुए एक ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं.

कुछ अन्य दर्शन (उदाहरण के लिये बौद्धदर्शन) यह स्वीकार करते हैं कि आत्मा अन्ततोगत्वा किसी दीपक की लौ के समान बुझ जाती है और शून्य में विलीन हो जाती है. वह विलीनीकरण उस जीवात्मा का पूर्ण अनस्तित्व (Total Extinction) है.

इसके विपरीत जैनदर्शन की यह विशिष्ट मान्यता है कि प्रत्येक जीवात्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है. जीवन्मुक्ति के पश्चात् आत्मा सिद्ध (परमात्मा) बन जाती है. और सिद्धात्माओं के निवास (सिद्धशिला) पर वह एक स्वतंत्र सिद्ध—परम आत्मा के रूप में स्थित रहती है. इस तरह जैनदर्शन प्रत्येक आत्मा के उच्चतम विकास और अस्तित्व के लिये एक अनन्त अवकाश की मान्यता रखता है. जैनदर्शन की यह मान्यता विशिष्ट तो है ही, साथ ही पूर्णतया तर्कयुक्त और व्यापक भी है.

## जैनदर्शन और जगत्

मानव-मस्तिष्क में ये प्रश्न सदा से उठते आये हैं कि जिसमें हम सदा से रहते आये हैं और रहते हैं वह जगत् क्या है ? कब से है ? इसका निर्माण किसने किया ? किन उपादानों से किया ? अथवा क्या यह अनादिकालीन है ? अकरणीय है ? इन प्रश्नों के उत्तर खोजने और देने का प्रयत्न विभिन्न दर्शनों ने किया है. भिन्न-भिन्न समय पर और भिन्न कारणों से संसार के निर्माण किये जाने की बात ये भिन्न-भिन्न दर्शन कहते हैं. किन्तु जैसा तर्कयुक्त और संगत समाधान जैनदर्शन इस सम्बन्ध में प्रस्तुत करता है वह इन सब में विशिष्ट और श्रेष्ठ है. महात्मा बुद्ध ने, जो भगवान् महावीर के प्रायः समकालीन थे, ऐसे प्रश्नों पर अधिक कुछ भी नहीं कहा है. परन्तु भगवान् महावीर ने उनका सरल और बुद्धिगम्य स्पष्टीकरण किया है. जहाँ वस्तुएँ इतनी अधिक हों कि प्रत्येक की पृथक्-पृथक् गणना संभव न हो, वहाँ वर्गीकरण का सिद्धान्त उपयोगी होता है. जगत् का वर्गीकरण करने से हमें दो तत्त्व—मौलिक पदार्थ—उपलब्ध होते हैं. (१) जीव और (२) जड़. इनके अतिरिक्त और कोई मौलिक वस्तु है ही नहीं, अतएव यह कहा जा सकता है कि जीव और जड़ के समूह को ही जगत् कहते हैं.

प्रत्येक प्राचीन दर्शनशास्त्र और आधुनिक विज्ञान, इन दोनों की मान्यता है कि "नासतो विद्यते भावः, नाभावो जायते सतः" अर्थात् जो सत् नहीं, असत् है, वह कभी सत् नहीं हो सकता और जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता, इस सर्वसम्मत सिद्धान्त को स्मरण रखते हुए विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि जगत् यदि सत् है (और उसकी सत्ता निर्विवाद सिद्ध है) तो वह अनादिकालीन अवश्य है. इसका निर्माण न किसी ने किया है और न करने की आवश्यकता ही थी. इस प्रकार दो मौलिक पदार्थों का समूहात्मक संसार सदा से विद्यमान था, है और रहेगा. इसमें दिखलाई देने वाली विविधता इन्हीं दोनों वस्तुओं के अमुक भांति के सम्मिश्रण आदि पर निर्भर है. एक उदाहरण लीजिए—मिट्टी जड़ वस्तु है. कुम्हार उसे लेता है, चाक पर चढ़ाता है और घड़ा बना देता है. अब वह मिट्टी घड़े के रूप में आ जाती है. इसी प्रकार अन्यान्य वस्तुएँ अमुक प्रकार के संयोगों में पड़कर भिन्न-भिन्न रूप धारण करती रहती हैं. यही जगत् की विविधता का रहस्य है. किन्तु इस बाह्य विविधता के आवरण को चीर कर भीतर नजर डालने से हमें उल्लिखित जड़ और चेतन, यही दोनों मौलिक पदार्थ उपलब्ध होते हैं. ये अनादिकालीन हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे. अतः ऐसा कहना सर्वथा उचित ही है कि जगत् अनादिकालीन है और अनन्त काल तक रहेगा. इसका न तो कोई कर्ता है, न हर्ता है.

जगत् की उत्पत्ति अथवा रचना के सम्बन्ध में जैनदर्शन का यह सर्वथा मौलिक, तर्कसम्मत, बुद्धिगम्य और विशिष्ट दृष्टिकोण है.

## क्या ईश्वर कर्ता है ?

कुछ ऐसे मत हैं जिनकी मान्यता के अनुसार यह सारी सृष्टि परमात्मा के ही द्वारा उत्पन्न की गई है. किन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, सृष्टि अनादिकालीन है, अतः इसके बनने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता. फिर भी तर्क के लिये

यदि हम यह मान लें कि परमात्मा ही इसे बनाता और बिगाड़ता है तो यह शंका उत्पन्न होती है कि आखिर इन झंझटों में पड़ने की उसे क्या आवश्यकता है ? इसमें उसका क्या अभिप्राय है ? ईश्वर कोई बालक नहीं है कि अपने मनोरंजन के लिये वह सृष्टि को बनाए और बिगाड़े. फिर यदि सृष्टि को बनाने का उसका स्वभाव है तो वह उसे बिगाड़ता क्यों है ? बिगाड़ने का स्वभाव है तो बनाता क्यों है ? बनाने और बिगाड़ने के दोनों स्वभाव परस्पर विरोधी हैं, अतः दोनों एक ही परमात्मा में नहीं हो सकते. परमात्मा सब प्रकार की इच्छाओं से मुक्त है. उसे सृष्टि बनाने की इच्छा नहीं हो सकती. तब कौन बलात् उससे बनवाता है ? यदि कोई बलात् उससे बनवा लेता है तो वह ईश्वर ही कैसे रहा ? वह बलात्कार करने वाली शक्ति ही क्या ईश्वर नहीं हुई ? ईश्वर तो उसके हाथ का एक कठपुतला हुआ. इस प्रकार ईश्वर के ईश्वरत्व में ही बट्टा लगता है.

ईश्वर को दयालु माना जाता है. यदि वह दयालु भी है और कर्त्ता भी है तो उसने भाँति-भाँति के दुखों का सृजन क्यों किया ? अपने माता-पिता के सर्वस्व, निर्दोष जीवनाधार पुत्र को असमय में ही मार कर उन्हें असह्य वेदनाओं में पटक कर उनकी छटपटाहट देखता रहता है, तब ईश्वर की दयालुता कहाँ चली जाती है ? इस प्रकार सृष्टि को अनन्त दुःख देता हुआ क्या ईश्वर दयालु कहा जा सकता है ?

यहाँ यह कहा जा सकता है कि यह जीव के पूर्वोपार्जित कर्मों का फल है. न पहले पाप करता न ऐसा दुःखमय परिणाम भोगना पड़ता. इसमें ईश्वर क्या कर सकता है ? किन्तु यह बचाव भी विचार करने पर छिन्न-भिन्न हो जाता है. ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिशाली भी माना जाता है. जब उन जीवों ने पाप करने का विचार किया तो सर्वज्ञ ईश्वर ने जाना ही होगा. वह दयालु है इसलिए उन्हें पाप से बचाने का प्रयत्न वह कर सकता था. और वह सर्वशक्तिमान् है इसलिए किसी प्रकार उन्हें पाप से रोक भी सकता था. किन्तु उसने ऐसा कुछ नहीं किया—वह सर्वज्ञ-दयालु, सर्वशक्तिमान् और कर्ता ईश्वर केवल देखता ही रहा ! यह विचार कहाँ तक उचित है इसे पाठक स्वयं ही सोच सकते हैं. अस्तु, जैनदर्शन ईश्वर को इन प्रपंचों से, इस क्रूरता से मुक्त रखता है. वह ईश्वर को इन कलंकों से बचाता है. वह मानता है कि ईश्वर सर्वज्ञ है, पूर्ण वीतराग है, कृतकृत्य है, अपुनरावृत्ति है, सांसारिक झंझटों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है.

एक मात्र शंका, जो यहाँ उपस्थित की जा सकती है, वह यह है कि यदि ईश्वर वीतराग है, निग्रह और अनुग्रह नहीं करता, रुष्ट और तुष्ट नहीं होता, तो वह अपने भक्तों की भलाई नहीं करेगा. तब उसकी आराधना करने की क्या आवश्यकता है ?

इसका स्पष्ट और सरल उत्तर यह है कि ईश्वर हमारी भलाई करे, इसलिए हम उसकी आराधना करें; यह स्वार्थपूर्ण हृदय की वासना है. ऐसी भावना के साथ ईश्वरभक्ति करना वास्तविक भक्ति नहीं है बल्कि रिश्वत देकर उसे फुसलाना ही है. भक्ति में आदान-प्रदान की भावना नहीं होती, सर्वस्व दान की कामना होती है. भक्ति व्यापार नहीं है: अतः निष्काम भक्ति ही वास्तविक भक्ति है. कल्याण स्वयं ही इस प्रकार की भक्ति द्वारा आकर चरणों पर लोटता है. कहा गया है—'देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो.' (जिसका मन सदा धर्म में लीन रहता है, देवता भी उस के चरणों पर लोटते हैं.)

तात्पर्य यह नहीं है वीतराग की भक्ति से कुछ लाभ नहीं होता. मानसशास्त्र का यह नियम है कि जो व्यक्ति सदैव जिसका स्मरण करता है, जैसा बनने की भावना करता है; वह कालांतर में वैसा ही बन सकता है. इस नियम के अनुसार वीतराग का स्मरण करने से और वीतराग बनने की प्रबल भावना से भक्त भी वीतराग बन जाता है. इसके अतिरिक्त वीतराग भगवान् आत्मविकास के सर्वोत्तम आदर्श हैं. हमें उस आदर्श तक पहुँचना है. अतः हमारा ध्यान सदैव उस आदर्श पर रहना चाहिए.

जड़ होने के कारण अंजन की इच्छा नहीं होती कि अमुक व्यक्ति मुझे सेवन करता है, इसलिए उसकी दृष्टि निर्मल कर

दूँ. फिर भी अंजन का सेवन करने वाले की दृष्टि निर्मल हो जाती है. इसी प्रकार वीतराग होने के कारण भगवान् की इच्छा नहीं होती कि मैं अपने भक्त का कल्याण करूं, तो भी उनकी भक्ति करने वाले का कल्याण अवश्य होता है. दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि, किसी कार्य का कर्त्ता हो या न हो परन्तु कारणों की पूर्णता होने पर कार्य की निष्पत्ति हो ही जाती है. अतः वीतराग भगवान् की भक्ति करना ही चाहिए. वह कभी निष्फल नहीं हो सकती.

## जैनदर्शन नित्य नूतन है

जैनदर्शन सम्बन्धी अपनी इस विवेचना में हमने देखा कि इस महान् दर्शन का प्रत्येक सिद्धान्त, चाहे वह सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ—अणु-परमाणु के विषय में हो अथवा सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् परमात्मा तथा अनन्त और अनादि सृष्टि के विषय में, अकाट्य, तर्कयुक्त और विशिष्ट है. यही कारण है कि इस विश्व का यह दिग्विजयी दर्शन चिरनवीन-नित्य-नूतन है. लाखों वर्षों से जो सिद्धांत इस दर्शन के द्वारा प्रतिपादित किये गए हैं वे आज भी जीवन के हर क्षेत्र में, जीवन की प्रत्येक समस्या के विषय में, सीधा, सच्चा और स्पष्ट समाधान प्रस्तुत करते हैं. हमने देखा कि जैनदर्शन का अनेकान्त-वाद, जिसे युग-युग के पूर्व से जैन दार्शनिकों ने संसार को भेंट किया है, एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसे अन्ततोगत्वा विज्ञान ने स्वीकार किया है. उसके अतिरिक्त कोई दृष्टिकोण नहीं है जिसके आधार पर चल कर हम वस्तु, जीवन, सत्य को उसके सच्चे स्वरूप में जान सकें. हमने देखा कि जैन दर्शन ने जो आचार-पद्धति हमें बताई है, वही, केवल वही, आचार-पद्धति है जिसका पालन करने से ही आज की मानवता की, सृष्टि की रक्षा और अस्तित्व सम्भव है. यह असम्भव है कि मानव-समाज उस आचार-पद्धति को त्याग दे और त्याग कर अपना अस्तित्व कायम रख सके. हमारे जीवन की समस्त कठिनाइयाँ, हमारी समस्याएँ, हमारे दुख, सर्वनाश का भय जो हमारे द्वार तक आ पहुँचा है, यदि दूर किया जा सकता है तो केवल इसी आचार-पद्धति के अनुसरण द्वारा ही. हमने देखा कि जीवन, जगत् और जगत् की रचना के विषय में जैनदर्शन ने जो समाधान उपस्थित किए हैं, वे अकाट्य हैं और उन्हें स्वीकार किए बिना हमारे पास अन्य कोई मार्ग नहीं है. इसीलिए हमें यह मानना ही पड़ेगा कि जैनदर्शन इस संसार का एक अनन्य दर्शन है. कोई अन्य दर्शन नहीं जो इसकी समता में रखा जा सके. जैनदर्शन का चिन्तन, उसके सिद्धांत किसी भी तर्क द्वारा अवास्तविक प्रमाणित नहीं किए जा सकते. ऐसा सुदृढ़, सुविचारित ठोस वैज्ञानिक दर्शन यदि इस संसार का अपराजेय दर्शन है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं.

हम अपनी ओर से यही भावना कर सकते हैं कि संसार के इस अनन्य, अपराजेय और नित्य नूतन दर्शन—जैनदर्शन—का ज्ञान और अनुसरण इस विश्व के सन्मुख कल्याण का मार्ग मुक्त करे.
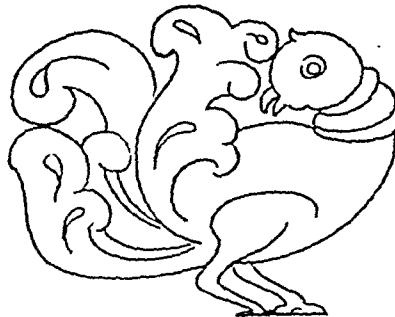
महेन्द्र राजा
एम० ए०, डिप० लिप-एस-सी०, एफ० एल० ए० (लंदन)

## कुछ विदेशी लेखकों की दृष्टि में
# जैनधर्म एवं भगवान् महावीर

लगभग ७ वर्ष तक इंग्लैंड के सार्वजनिक पुस्तकालयों के संपर्क में रहने के बाद मुझे आज यह लिखने में जरा भी संकोच नहीं कि भारत और भारतीयों के विषय में जितनी पुस्तकें अंग्रेजी में प्रकाशित हुई हैं, उतनी हिन्दी तो बहुत दूर, भारत ही नहीं, संसार की भी किसी अन्य भाषा में उपलब्ध नहीं होंगी. इतना होने पर भी अंग्रेजी में प्रतिवर्ष भारत सम्बन्धी २०-२५ पुस्तकें प्रकाशित होती ही रहती हैं. इन पुस्तकों के रचयिता कोई ऐरे-गैरे लोग नहीं होते जो इंग्लैंड या युरोप में रहते हुए भारत के सपने देखते रहते हैं और फिर भारत के संबंध में इधर उधर से कुछ पढ़कर स्वयं के नाम से कोई पुस्तक तैयार कर लेते हैं. इन पुस्तकों के लेखक वस्तुत: वे लोग होते हैं जिन्हें भारतीय परिवारों के संपर्क में आने का भले ही कोई अवसर न मिला हो, पर उन्होंने भारत के बाहरी रूप को अच्छी तरह देखा है.

आज अंग्रेजी के उपलब्ध प्रकाशित साहित्य की स्थिति यह है कि आपको प्राय: प्रत्येक विषय की पुस्तक मिल जाएगी. कुछ विषयों के एक-एक अंग पर बड़े-बड़े ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं. किसी भी देश का इतिहास, संस्कृति, धर्म, आचार-विचार, आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में उस देश की किसी भाषा में भले ही कोई पुस्तक न मिले, पर यदि आप अंग्रेजी साहित्य की ओर दृष्टि करें तो आपको शायद ही निराश होना पड़े.

सूचीकार एवं वर्गीकार (Cataloguer and classifier) के रूप में कार्य करते हुए प्रतिवर्ष लगभग दस हजार से ज्यादा पुस्तकें मेरे हाथ से गुजरती हैं. इन पुस्तकों में मैंने उपन्यास एवं कथासाहित्य की पुस्तकें सम्मिलित नहीं की हैं. इतनी अधिक पुस्तकें पढ़ने का अवसर भले ही न मिला हो पर इन पुस्तकों की विषयवस्तु, उनके लेखक का परिचय, उनकी उपादेयता, विषय-विश्लेपण आदि को समझने का अवसर अवश्य मिला है. इसके अतिरिक्त कभी-कभी पुस्तक के किसी अध्याय में अकस्मात् भारत सम्बन्धी कोई बात नजर आ गई तो फिर उत्सुकतावश उसे पढ़ने का मोह भी संवरण नहीं कर पाया हूँ.

इस प्रकार अपने कार्य के दौरान में मेरे हाथों से ऐसी अनेक पुस्तकें गुजरी हैं जिनमें यथावसर भगवान् महावीर एवं जैन धर्म सम्बन्धी चर्चा भी आई है. इन पुस्तकों के जैनधर्म सम्बन्धी अध्यायों या पेरेग्राफों को मैंने रुचिपूर्वक पढ़ा है. उन्हें पढ़ कर कई बार मेरे मन में यह इच्छा हुई कि मैं "विदेशी लेखकों की दृष्टि में जैनधर्म एवं महावीर" शीर्षक एक लेख लिख डालूं, पर आलस्यवश ऐसा नहीं कर सका. पिछले वर्ष जब श्री हजारीमल स्मृति-ग्रंथ के लिए किसी लेख की मांग की गई तो अकस्मात् ही मुझे उक्त विषय स्मरण हो आया और मैं इस लेख की तैयारी करने लगा.

अभी तक मुझे जितनी भी पुस्तकों में जैन धर्म सम्बन्धी उल्लेख देखने को मिले हैं, उन सभी के लेखक इस मत से सहमत हैं कि जैनधर्म बौद्धधर्म से पुराना है पर इन दोनों ही धर्मों का विकास एवं उत्थान छठी शताब्दी में विशेष रूप से हुआ. प्रायः सभी लेखक इस मत के भी हैं कि ये दोनों धर्म ब्राह्मणत्व के विरोध में उठे और अपने उद्देश्य में बहुत कुछ सफल भी हुए.

वाद में जैनधर्म एवं ब्राह्मण धर्म की समानता का विलक्षण उदाहरण देते हुए लेखक ने जैनधर्म का मूल ब्राह्मण धर्म में बतलाया है. लेखक का मत है कि जैनधर्म का अधिकांश आचार-विचार ब्राह्मण धर्म पर आधारित है. उदाहरणत: ब्राह्मण धर्म में साधुओं को वर्षाकाल में विहार करना मना है तथा किसी एक स्थान पर निश्चित काल से अधिक समय तक ठहरने का भी निषेध है. यही बात जैन धर्म में भी है. ब्राह्मण एवं जैन धर्म दोनों में ही साधुओं को केश न कटवाने का विधान है तथा दोनों ही धर्मों में पानी छान कर पीने तथा साधुओं को साथ में एक भिक्षापात्र रखने का नियम है. अत: जैनधर्म को ब्राह्मण धर्म के विरोध में खड़े दो आन्दोलनों में से एक ही माना जा सकता है, जैनधर्म की नींव, विचारधारा एवं आचार-विचार का आधार ब्राह्मण धर्म ही है."

कहने की आवश्यकता नहीं कि लेखक के उक्त मत से विशेषकर 'पानी छानकर पीने की बात' से शायद ही कोई व्यक्ति सहमत होगा. अहिंसा के समान ही पानी छानकर पीने की बात भी जैनधर्म की अपनी विशेषता है तथा उसका उद्देश्य भी अनावश्यक हिंसा से बचाव ही है. आज तक ऐसा कहीं कभी सुना या पढ़ा नहीं गया कि ब्राह्मण धर्म में भी पानी छानकर पीने का एक आवश्यक नियम बतलाया गया है.

जैनधर्म को इतनी जल्दी महत्त्व कैसे मिल गया तथा महावीर को अपने सिद्धांतों का प्रचार करने में इतनी अधिक सफलता क्यों मिली, इसका समाधान भी लेखक ने अपनी विलक्षण सूझ-बूझ से किया है. लेखक का मत है कि चूंकि महावीर को समाज में महत्त्व प्राप्त था तथा धनी लोगों से उनका परिचय था अत: उन्हें उन सभी का सहयोग आसानी से प्राप्त हो गया. दूसरी ओर उनके सरल जीवन एवं विचारधारा से निम्न वर्गों के लोग भी उनकी ओर आकर्षित हुए. जैनधर्म को ब्राह्मण धर्म के विरोध में सफलता केवल इसीलिए मिली कि जैनधर्म ने सभी वर्गों के लिए अपना द्वार खोल दिया और तथाकथित जातिवाद को कोई प्रश्रय नहीं दिया.

जैनधर्म के सिद्धांतों का जितना स्पष्ट, निष्पक्ष एवं सही-सही परिचय लंदन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्री ए० एल० बाशम ने 'कान्साइज एन्साइक्लोपीडिया आफ लिविंग फैथ्स' में[1] दिया है, वैसा संभवत: अब तक कोई अन्य आधुनिक लेखक नहीं दे पाया है.

श्री बाशम का मत है कि हिन्दू धर्म से अपने आपको अलग एवं स्वतन्त्र माने जाने का जितना दावा बौद्ध धर्म का है, करीब उतना ही, बल्कि उससे कुछ अधिक ही, दावा जैन धर्म का भी है.

जैन धर्म प्रारम्भ से ही विशुद्ध रूप में एक भारतीय धर्म रहा है. बौद्धधर्म के विपरीत जैन धर्म Theism से कभी समझौता नहीं किया और वह अपनी जन्मभूमि में ही फलता-फूलता रहा. बौद्ध धर्म यदि जीवित रह सका तो इसका मुख्य श्रेय उन बौद्ध मठों को मिलना चाहिए जो बाद में मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट कर दिये गये. इसके विपरीत जैनधर्म यदि जीवित रह सका तो केवल उन इने-गिने शिक्षित एवं सुसंस्कृत अनुयायियों के कारण जो अपने भिक्षुओं के कड़े आचरण के कारण उनसे प्रभावित रहे तथा अपने सिद्धान्त एवं विश्वास पर दृढ़ रहे. जैन धर्म के सिद्धान्तों को उन्होंने अपने जीवन में उतारा. इन थोड़े से धर्मभक्त नागरिकों एवं उनकी भावी पीढ़ी ने आज तक जैन धर्म को जीवित रखा है.

लेखक का मत है कि जैन धर्म का आत्मा एवं मोक्ष का सिद्धान्त हिन्दुओं के सांख्यदर्शन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है और इस बात की भी सम्भावना की जा सकती है कि जैन एवं सांख्यदर्शन दोनों का ही आधार कोई एक प्राचीन मूल सूत्र रहा हो. ...... अन्य धर्मों की अपेक्षा जैन धर्म की एक मुख्य विशेषता यह है कि इस धर्म ने ही सर्व प्रथम यह मत प्रतिपादित किया कि संपूर्ण विश्व जीवमय है.

वैसे देखा जाय तो अब बहुत कुछ बातों में जैन धर्म ने हिन्दू धर्म से अप्रत्यक्ष रूप में समझौता कर लिया है. कुछ

---

१. Concise encyclopedia of living faiths; edited by R. C. Zaehner. (London, Hutchinson, 1959)

"एन एनसाईक्लोपीडिया आफ रिलीजन[1] में चार्ल्स एस०ब्रेडन जैनधर्म सम्बन्धी परिच्छेद में लिखते है "कि जैनधर्म स्पष्ट ही बौद्धधर्म से कुछ पुराना है और उसका प्रारम्भ छठी शताब्दी से बहुत पहले का माना जा सकता है ..जैनधर्म में हिंदू धर्म के कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त को कुछ परिवर्तित रूप में अपनाया गया है. विश्व के किसी भी अन्य धर्म की अपेक्षा जैनधर्म में 'अहिंसा' या किसी को कष्ट न देने के सिद्धान्त को सर्वाधिक प्रमुखता दी गई है. जैनधर्मानुयायियों के मंदिर बहुत ही आकर्षक एवं विश्व के अन्य मतानुयायियों के पूजास्थलों की अपेक्षा भव्य होते हैं. वास्तुकला की दृष्टि से भी उनका अलग महत्त्व है. कोई भी अपरिचित व्यक्ति उन्हें प्रथम बार देखकर सहसा स्तंभित रह जाता है."

विश्वप्रसिद्ध अमेरिकी पाक्षिक पत्रिका 'लाइफ' में समय-समय पर जो लेखमालाएं प्रकाशित होती हैं, बाद में अधिकांश का प्रकाशन संदर्भ-ग्रन्थ के रूपमें भी होता है. १६५६ में इस पत्रिकाके संपादकों की ओर में 'वर्ल्ड्स् ग्रेट रिलीजियन्स'[2] नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था. वैसे तो इस ग्रंथ में प्रायः सभी धर्मों के सम्बन्ध में लम्बे-लम्बे सचित्र लेख दिये गए हैं तथा विश्व के अनेक धर्मों का परिचय अलग-अलग परिच्छेदों में हैं. कम संख्या वाले मतानुयायियों का परिचय एक प्रारम्भिक परिच्छेद में दिया गया है. इसी परिच्छेद में जैन, सिख और पारसी धर्मों के लिए भी एक-एक पैराग्राफ दिया गया है.

अन्य प्रसिद्ध लेखकों के समान, 'लाइफ' के संपादकों के मत से भी जैनधर्म का प्रारम्भ ईसापूर्व छठी शताब्दी में हिन्दूधर्म की बुराइयों के विरुद्ध एक आंदोलन के रूप में हुआ था……एक शब्द में जैनधर्म का मुख्य सिद्धांत 'अहिंसा' है जिसे बहुधा जैन लोग इस सीमा तक मानते हैं कि पाश्चात्य वातावरण में पले लोगों को हास्यास्पद सा जान पड़ता है. ऐसी स्थिति में यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होना चाहिए कि जैन लोग गांधीजी को किस प्रकार अपने मत का अनुयायी मानने का दावा करते हैं.

'लाइफ' के मत से जैनत्व 'धर्म' की अपेक्षा 'नीति' अधिक है, भले ही जैनियों के अपने तीर्थंकर हों, विशाल मन्दिर हों तथा उनमें वे पूजन-अर्चन करते हों. आधुनिक युग में जैनधर्म एक नए रूप में विश्व के समक्ष आगे आ रहा है. विश्व-बन्धुत्व तथा युद्ध की समाप्ति की पृष्ठभूमि में जैनधर्म का अपना अलग महत्त्व है तथा रहेगा.

"दी न्यू शेफ—हरज़ोग एनसाईक्लोपीडिया ऑफ रिलीजियस नालेज"[3] में श्री ज्योफ्रे डब्ल्यू० गिलमोर ने जैनधर्म के संबन्ध में लिखा है कि जैनधर्म के संस्थापक पार्श्वनाथ थे जिन्होंने यद्यपि एक स्वतंत्र विचारधारा को जन्म दिया पर वह विचारधारा उनके बाद दो शताब्दी तक कार्यशील नहीं हो पाई. उनकी इस विचारधारा को आगे बढ़ाने का श्रेय महावीर को है जो उनके करीब २५० साल बाद हुए.

इसके बाद जैनधर्म एवं बौद्धधर्म की समानता बतलाते हुए लेखक ने मुख्यरूप से अहिंसा का उल्लेख किया है और यह ठीक ही लिखा है कि "दोनों धर्मों में अहिंसा मुख्य सिद्धांत होते हुए भी जैनधर्म इस अर्थ में अधिक महत्त्व रखता है कि अहिंसा के सिद्धान्त को जैन लोग जिस कट्टरता से मानते हैं और उसका व्यवहार में जितना प्रयोग करते हैं, उतना बौद्ध लोग नहीं. इसका प्रमाण केवल इस तथ्य से मिल जाता है कि जैन मुनि अहिंसा का पालन करने में इतने आगे बढ़े हुए हैं कि वे अपने मुंह पर हमेशा एक पट्टी बांधे रहते हैं ताकि सांस लेने या बाहर निकालने में किसी जीव की हत्या न हो जाए. इसी प्रकार जब वे उठते-बैठते या सड़क पर चलते हैं तो एक छोटा सा झाड़ू[4] साथ में लिए रहते हैं जिससे वे रास्ता साफ करते चलते हैं और इस प्रकार किसी संभावित हिंसा से बचे रहते हैं.

---

१. Encyclopedia of Religion; edited by vergilius Ferm (New york, Philosophical Library, 1945)
२. 'World's Great religions' by the editors of 'Life' International.
३. The New Schaff Herzog encyclopedia of religious Knowledge, edited by Samuel Macaulay Jackson (Baker Book, House Michigan,1956,
४. लेखक का आशय रजोहरण से है, जो प्रायः ऊन का होता है.—सम्पादक

वाद में जैनधर्म एवं ब्राह्मण धर्म की समानता का विलक्षण उदाहरण देते हुए लेखक ने जैनधर्म का मूल ब्राह्मण धर्म में बतलाया है. लेखक का मत है कि जैनधर्म का अधिकांश आचार-विचार ब्राह्मण धर्म पर आधारित है. उदाहरणत: ब्राह्मण धर्म में साधुओं को वर्षाकाल में विहार करना मना है तथा किसी एक स्थान पर निश्चित काल से अधिक समय तक ठहरने का भी निषेध है. यही बात जैन धर्म में भी है. ब्राह्मण एवं जैन धर्म दोनों में ही साधुओं को केश न कटवाने का विधान है तथा दोनों ही धर्मों में पानी छान कर पीने तथा साधुओं को साथ में एक भिक्षापात्र रखने का नियम है. अत: जैनधर्म को ब्राह्मण धर्म के विरोध में खड़े दो आन्दोलनों में से एक ही माना जा सकता है, जैनधर्म की नींव, विचारधारा एवं आचार-विचार का आधार ब्राह्मण धर्म ही है."

कहने की आवश्यकता नहीं कि लेखक के उक्त मत से विशेषकर 'पानी छानकर पीने की बात' से शायद ही कोई व्यक्ति सहमत होगा. अहिंसा के समान ही पानी छानकर पीने की वात भी जैनधर्म की अपनी विशेषता है तथा उसका उद्देश्य भी अनावश्यक हिंसा से बचाव ही है. आज तक ऐसा कहीं कभी सुना या पढ़ा नहीं गया कि ब्राह्मण धर्म में भी पानी छानकर पीने का एक आवश्यक नियम बतलाया गया है.

जैनधर्म को इतनी जल्दी महत्त्व कैसे मिल गया तथा महावीर को अपने सिद्धांतों का प्रचार करने में इतनी अधिक सफलता क्यों मिली, इसका समाधान भी लेखक ने अपनी विलक्षण सूझ-बूझ से किया है. लेखक का मत है कि चूंकि महावीर को समाज में महत्त्व प्राप्त था तथा धनी लोगों से उनका परिचय था अत: उन्हें उन सभी का सहयोग आसानी से प्राप्त हो गया. दूसरी ओर उनके सरल जीवन एवं विचारधारा से निम्न वर्गों के लोग भी उनकी ओर आकर्षित हुए. जैनधर्म को ब्राह्मण धर्म के विरोध में सफलता केवल इसीलिए मिली कि जैनधर्म ने सभी वर्गों के लिए अपना द्वार खोल दिया और तथाकथित जातिवाद को कोई प्रश्रय नहीं दिया.

जैनधर्म के सिद्धांतों का जितना स्पष्ट, निष्पक्ष एवं सही-सही परिचय लंदन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्री ए० एल० बाशम ने 'कान्साइज एन्साइक्लोपीडिया आफ लिविंग फैथ्स' में[1] दिया है, वैसा संभवत: अब तक कोई अन्य आधुनिक लेखक नहीं दे पाया है.

श्री बाशम का मत है कि हिन्दू धर्म से अपने आपको अलग एवं स्वतन्त्र माने जाने का जितना दावा बौद्ध धर्म का है, करीब उतना ही, बल्कि उससे कुछ अधिक ही, दावा जैन धर्म का भी है.

जैन धर्म प्रारम्भ से ही विशुद्ध रूप में एक भारतीय धर्म रहा है. बौद्धधर्म के विपरीत जैन धर्म Theism से कभी समझौता नहीं किया और वह अपनी जन्मभूमि में ही फलता-फूलता रहा. बौद्ध धर्म यदि जीवित रह सका तो इसका मुख्य श्रेय उन बौद्ध मठों को मिलना चाहिए जो बाद में मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट कर दिये गये. इसके विपरीत जैनधर्म यदि जीवित रह सका तो केवल उन इने-गिने शिक्षित एवं सुसंस्कृत अनुयायियों के कारण जो अपने भिक्षुओं के कड़े आचरण के कारण उनसे प्रभावित रहे तथा अपने सिद्धान्त एवं विश्वास पर दृढ़ रहे. जैन धर्म के सिद्धान्तों को उन्होंने अपने जीवन में उतारा. इन थोड़े से धर्मभक्त नागरिकों एवं उनकी भावी पीढ़ी ने आज तक जैन धर्म को जीवित रखा है.

लेखक का मत है कि जैन धर्म का आत्मा एवं मोक्ष का सिद्धान्त हिन्दुओं के सांख्यदर्शन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है और इस बात की भी सम्भावना की जा सकती है कि जैन एवं सांख्यदर्शन दोनों का ही आधार कोई एक प्राचीन मूल सूत्र रहा हो. ...... अन्य धर्मों की अपेक्षा जैन धर्म की एक मुख्य विशेषता यह है कि इस धर्म ने ही सर्व प्रथम यह मत प्रतिपादित किया कि संपूर्ण विश्व जीवमय है.

वैसे देखा जाय तो अब बहुत कुछ बातों में जैन धर्म ने हिन्दू धर्म से अप्रत्यक्ष रूप में समझौता कर लिया है. कुछ

---

१. Concise encyclopedia of living faiths; edited by R. C. Zaehner. (London, Hutchinson, 1959)

हिन्दू देवताओं को जैन लोग भी पूजते हैं तथा जैनियों के यहां जन्म, मृत्यु व शादी के अवसर पर विविध संस्कारों के लिए ब्राह्मणों को भी बुलाया जाता है.

इसके बावजूद भी Theism से जैनधर्म ने कभी समझौता नहीं किया. जैन धर्म जैसा आज से करीब दो ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व था, वैसा ही, अपने उसी मूल रूप में आज भी है.

यद्यपि संख्या में जैन लोग भारत के अन्य किसी भी धर्म के मतानुयायियों की अपेक्षा कम हैं, पर भारत के दैनिक सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में ये बड़े ही प्रभावशाली रहे हैं. इसका मुख्य कारण इनकी संपन्नता, इनका अतुल वैभव एवं शिक्षा का उच्च स्तर है. इस बात की किंचित् भी सम्भावना नहीं की जानी चाहिए कि ये लोग हिन्दुत्व के विशाल सागर में समाकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त कर देंगे....

...इनके अहिंसा सिद्धान्त का आधुनिक भारत पर जो प्रभाव पड़ा है, उसका पूरा-पूरा श्रेय उन्हें नहीं मिल सका है. महात्मा गांधी के जीवनदर्शन पर जिन कुछ मुख्य बातों के प्रभाव का अभी तक पता चल सका है, उसमें जैनधर्म का प्रमुख स्थान है. अपनी युवावस्था में ही गांधीजी जैन साधुओं से प्रभावित हो चुके थे. इस बात में कोई संदेह नहीं कि गांधीजी का अहिंसा का सिद्धान्त वस्तुतः जैन धर्म की ही देन है तथा इस बात के लिए गांधीवादी जैनियों के सदा ऋणी रहेंगे."

करीब दो वर्ष पूर्व बालकों के लिए उपयोगी एक छोटी सी पुस्तक यहां प्रकाशित हुई थी. इस पुस्तक का नाम है "एनसियेण्ट इण्डिया"[१] और इसके लेखक हैं श्री ई० रायस्टन पाइक. १३ से १५ वर्ष तक के बालकों के लिए लिखित इस पुस्तक में प्राचीन भारत का परिचय १० परिच्छेदों में दिया गया है. इसमें से एक परिच्छेद भगवान् महावीर के सम्बन्ध में है. जिसका शीर्षक है "दी प्रिंस हू बिकेम ग्रेट हीरो" The prince who became great hero (अर्थात् वह राजकुमार जो महावीर बना) 'ग्रेट हीरो' वस्तुतः महावीर का ही अंग्रेजी अनुवाद है, पर मैं समझता हूँ कि हिन्दी में 'महावीर' का जो शाब्दिक अर्थ होता है, अंग्रेजी में 'ग्रेट हीरो' का अर्थ उससे कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है. ऐसा लिखने का मेरा अभिप्राय मात्र इतना ही है कि इस पुस्तक के लेखक की दृष्टि में महावीर का स्थान काफी ऊंचा है.

जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूं, उक्त पुस्तक प्राचीन भारत से संबन्धित है, अतः भगवान् महावीर सम्बन्धी इस परिच्छेद में भी तत्कालीन भारतीय पृष्ठ भूमि में ही भगवान् महावीर का विवरण दिया गया है.

लेखक ने बड़ी ही सरल एवं सुबोध शैली में पहले महावीर के समय के भारत का परिचय देते हुए बिम्बसार, अजातशत्रु, वैशाली, कोशल आदि का विवरण दिया है. अजातशत्रु का उल्लेख करते हुए लेखक ने लिखा है कि उसने महावीर और बुद्ध दोनों के दर्शन किये थे और वह उनसे काफी प्रभावित भी हुआ था.

महावीर के अवतरण के पूर्व सर्वत्र हिंसा का बोलबाला था. पशुबलि चरम सीमा पर थी. मंदिरों में इस कार्य के लिए विशेष स्थान नियत कर दिये गए थे और देवताओं के नाम पर प्रतिदिन अनेक मूक पशुओं की बलि दी जाती थी. जातिवाद की प्रथा भी उन दिनों इस प्रकार व्याप्त थी कि कुछ इने-गिने लोगों को छोड़कर अधिकांश का जीवन बड़ी विपन्न अवस्था में बीतता था. केवल ब्राह्मणों को ही वेद पढ़ने-पढ़ाने या तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार था. इतना ही नहीं, भगवान् की पूजा--आराधना भी हर कोई नहीं कर सकता था. केवल ब्राह्मणों की कृपा से ही कोई व्यक्ति किसी प्रकार का धार्मिक कार्य कर सकता था. इसका एक मुख्य कारण यह भी था कि उन दिनों ब्राह्मणों ने धर्म को इतना जटिल बना दिया था, धर्म सम्बन्धी प्रत्येक क्रियाकलाप ऐसी-ऐसी रूढ़ियों एवं संस्कारों से ग्रसित कर

---

१. Ancient India; by E. Royston Pike. (London, Weidenfeld and Nicolson, 1961) Young enthusiast library: The young historian series. No. 5.

दिया गया था कि उन विधि-विधानों की क्रिया ब्राह्मणों के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता था. ब्राह्मणों के अभाव में किया गया कोई भी कार्य व्यर्थ और महत्त्वहीन समझा जाता था.

ब्राह्मणों की ही इच्छानुसार देश में स्थान-स्थान पर कुछ ऐसे स्थल नियुक्त कर दिये गए थे जहां बड़े समारोह के साथ पशुबलि दी जाती थी. ब्राह्मणों ने जनसाधारण के मन में ऐसी धारणा उत्पन्न कर दी थी कि भगवान् बलि से प्रसन्न होते हैं. उनका ऐसा कहना सच हो या नहीं, पर यह निर्विवाद है कि धर्म की आड़ लेकर उस समय ब्राह्मण लोग अनेक प्रकार से अपना स्वार्थ साधन करते थे.

ब्राह्मणों का इस प्रकार का बाह्य आडम्बर और भ्रष्टाचार देखते-देखते जब लोग तंग हो गए, लगातार बलि के दृश्य देखते-देखते जब लोगों के मन में भी कुछ समझ आई तो यह स्वाभाविक था कि उनके हृदय में ब्राह्मणों के एकाधिकार के विरुद्ध भावना जागृत हो. पर इतना ही पर्याप्त नहीं था. ईसापूर्व छठी और ५वीं सदी में लोगों के मन में धर्म और दर्शन के प्रति आस्था बढ़ रही थी और लोग स्वयं इन बातों में रुचि लेने लगे थे. 'ब्राह्मणवाक्यं प्रमाणम्' मानने के लिए अब वे तैयार नहीं थे. अब वे प्रत्येक बात के विषय में क्यों और कैसे ?' कहां व क्या ? आदि प्रश्न पूछने लगे थे.

जब ब्राह्मण लोग उनकी इस जिज्ञासा का समाधान नहीं कर सके तो उनके मन में ब्राह्मणों के प्रति अविश्वास और अश्रद्धा हो उठी. ऐसे ही समय महावीर का अवतरण हुआ.

'महावीर' शब्द का अर्थ है 'ग्रेट हीरो' (Great hero) यह उपाधि उन्हें उनके अनुयायियों द्वारा दी गई है. उनका असली नाम वर्द्धमान था तथा उनका जन्म गणतन्त्र की राजधानी वैशाली के लिच्छवि वंश में हुआ था. कुछ लोगों का यह भी मत है कि वे वैशाली-नरेश के नाती थे तथा कुछ लोग राजा बिम्बसार से भी उनका संबंध जोड़ते हैं. महावीर का जन्म कब हुआ, इस सम्बन्ध में लोगों में मतभेद है पर आधुनिक अनुसंधान के आधार पर उनका जन्म ई० पू० ५४० में हुआ माना जाता है. क्षत्रियवंश में जन्म लेने के कारण उनकी शिक्षा-दीक्षा भी तत्कालीन रीति-रिवाजों के अनुसार हुई. शिक्षासमाप्ति के बाद युवावस्था में उनका विवाह हुआ और उनको एक पुत्री भी हुई. लेकिन महावीर एक महान् विचारक थे. घर-गृहस्थी में उनका मन अधिक समय तक नहीं रह सका. तीस वर्ष की अवस्था में वे अपनी पत्नी, पुत्री तथा घर-बार छोड़कर कुछ ऐसे साधुओं के साथ चले गए जो पार्श्वनाथ के उपासक माने जाते थे.[१] पार्श्वनाथ लगभग २५० वर्ष पूर्व हुए थे तथा वे जैनों के महापुरुषों की श्रेणी में २३वें माने जाते हैं. कहा जाता है कि उनके पूर्व २२ अन्य महापुरुष हो चुके थे.

लगभग १२ वर्ष तक महावीर सारे देश में इधर-उधर घूमते रहे. अपनी दैनिक जीवन की आवश्यकताएं उन्होंने बहुत कम कर दीं तथा वे तपस्या में अधिक समय बिताने लगे. कभी-कभी वे ध्यानावस्था में कई दिनों तक भूखे-प्यासे रह जाते थे. पहले तो वे कुछ वस्त्र पहने रहे पर कुछ समय बाद उन्होंने सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया. उन्होंने वस्त्रों को भी अनावश्यक कहकर त्याग दिया. कहा जाता है कि इसके बाद वे मृत्यु पर्यन्त निर्वस्त्र रहे.

इस प्रकार रहते-रहते वे १३वें वर्ष में जिन हो गए. 'जिन' का अर्थ है 'विजेता'. यह एक प्रकार से ठीक ही है, क्योंकि इस अवधि में उन्होंने प्रत्येक विषय का ज्ञान प्राप्त कर लिया था और सभी प्रकार की मानवीय भावनाओं, आकांक्षाओं पर विजय प्राप्त कर ली थी. इसी 'जिन' शब्द से ही जैन शब्द बना जो आज उनके अनुयायियों के लिए प्रयोग किया जाता है.

महावीर यद्यपि जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे, पर अन्य किसी व्यक्ति की अपेक्षा उन्होंने ही इसके प्रसार-प्रचार में सर्वाधिक योगदान दिया. उन्हें 'तीर्थंकर' भी कहा जाता है. उनके पहले २३ तीर्थंकर हो चुके थे, अतः उन्हें २४वां

---

१. महावीर ने कुछ साधुओं के साथ नहीं, एकाकी ही अभिनिष्क्रमण किया था और दीर्घ काल तक वे एकाकी ही साधनानिरत रहे थे, यह तथ्य इतिहास से प्रमाणित है किन्तु यहाँ श्रीपाइक के विचार दिये जा रहे हैं.—सम्पादक

तीर्थंकर माना गया है. तीर्थंकर का अर्थ होता है वह व्यक्ति जो जनसाधारण को सांसारिक बंधनों से छुटकारा दिलाकर 'निर्वाण' की ओर अग्रसर करे. तीर्थंकर की विशेषताओं के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह 'पुरुषोत्तम' 'आदर्श पुरुष' होता है. वह ऐसा व्यक्ति होता है जो न किसी से राग करता है, न द्वेष, न किसी पर क्रोधित होता है, न प्रसन्न. जिसे किसी वस्तु के प्राप्त होने पर न तो खुशी होती है और न उसके वियोग में रंज. धनी-गरीब, ऊंच-नीच, सभी के साथ वह समान व्यवहार करता है. सर्वथा निर्भय और निःशंक वह सभी मानवीय आवश्यकताओं के प्रति रागहीन होकर न तो निद्रा की आवश्यकता महसूस करता है और न किसी प्रकार के आहार-विहार की. जैनों के धार्मिक ग्रंथों में तीर्थंकर की ३४ विशेषताएँ बतलाई गई हैं. महावीर में ये सभी विशेषताएँ थीं.

लगभग ३० वर्ष तक महावीर जगह-जगह उपदेश देते रहे. करीब ७२ वर्ष की आयु में शरीरत्याग किया.

यद्यपि महावीर ने उपनिषदों से भी बहुत कुछ ग्रहण किया पर उपनिषदों की अपेक्षा महावीर के सिद्धान्तों में कुछ मौलिक अंतर था. महावीर 'आत्मा' को मानते थे 'विश्वात्मा' को नहीं. जैनधर्म के अनुसार मरने के बाद जीव पुनः (तुरन्त) जन्म लेता है. इस प्रकार यह जीवन-चक्र चलता ही रहता है. जैनधर्म में 'कर्म' को बहुत महत्त्व दिया गया है. वस्तुतः जैनधर्म के सारे सिद्धान्त 'कर्म' के इर्द-गिर्द घूमते हैं. कर्म का सीधा और सरल अर्थ है जीव द्वारा किया गया कार्य. जो जीव जैसा कार्य करता है उसी के अनुसार जन्म-जन्मांतर में उसे अच्छा-बुरा फल मिलता है. महावीर के सिद्धान्त के अनुसार जीव को जहाँ तक संभव हो अच्छे-से-अच्छे कार्य करके शीघ्रातिशीघ्र जन्म-मरण के इस चक्कर से छुटकारा पाना चाहिए. इसका सरल मार्ग भी उन्होंने बतला दिया. यह सरल मार्ग है 'अहिंसा' अर्थात् किसी को किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट नहीं देना. महावीर का मत था कि केवल मानव ही नहीं, वरन पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, जल-वायु आदि में भी जीव होता है. इस आधार पर जैन लोग कम-से-कम वस्तुओं का उपयोग कर अहिंसा का पालन करते हैं. इसी आधार पर जैनधर्म में पशुबलि का निषेध तो हो ही गया, पर ऐसी क्रीड़ाओं-कार्यों का भी जैनों ने बहिष्कार किया, जिनमें पशु-पक्षियों को किसी प्रकार का कष्ट पहुंचता हो. आहार के लिए पशु-हत्या तो स्वाभाविक ही बंद हो गई. आज संसार में जैन समाज ही एक ऐसा समाज है जिसे पूर्णतः शाकाहारी कहा जा सकता है. भारत में जैन परिवारों में किसी भी प्रकार के उपयोग के लिए पानी को पहले छान लिया जाता है. इसका भी मुख्य उद्देश्य अदृश्य जीवों की हत्या रोकना है. कुछ जैन साधु अपने मुंह के ऊपर कपड़ा बांधते हैं (केवल इसीलिए कि बोलने में सूक्ष्म कीटाणु मुंह के अंदर न चले जाएं.) सड़क पर चलते समय भी पूर्णतः सावधानी रखी जाती है ताकि रास्ते में छोटे-छोटे कीड़े न कुचल जाएँ. चूंकि जीवित रहने के लिए कुछ-न-कुछ खाना-पीना आवश्यक है, अतः यह जानते हुए कि 'वनस्पति' में भी जीव होता है, जैन लोग आहार के लिए कुछ (सभी नहीं) ऐसी वनस्पतियों का उपयोग करते हैं जिन्हें प्राप्त करने में जीवहत्या की संभावना कम रहती है. जैन लोगों को इस बात का गौरव है कि भारत में सबसे पहला पशु-अस्पताल उन्होंने ही खोला था.

महावीर के सिद्धान्तों में अहिंसा प्रमुख है. वस्तुतः अहिंसा ही जैनधर्म की रीढ़ है, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—इन चार बातों से बचना अहिंसा के बाद मुख्य रूप से माना जाता है. ये सभी बातें ऐसी हैं जो कोई भी व्यक्ति आसानी से पालन कर सकता है, पर महावीर का आग्रह था कि संसार में रहते हुए इन बातों से बचे रहना मुश्किल है. अतः उनका मत था कि शीघ्रातिशीघ्र इस संसार से वैराग्य लेकर साधु-संन्यासी का जीवन बिताना चाहिए. जन-साधारण की अपेक्षा जैन साधु के जीवन-निर्वाह के नियम और भी कठिन हैं. वे अपने साथ न तो किसी प्रकार का धन या सामान आदि रखते हैं और न कभी किसी एक मकान में ही रहते हैं. यद्यपि व्यावहारिक जीवन में सभी जैन वस्त्र पहिनते हैं पर सिद्धान्ततः उनमें 'दिगम्बर' नामक एक सम्प्रदाय है जो साधुओं के निर्वस्त्र रहने पर जोर देता है. उनकी मूर्तियाँ भी नग्न रहती हैं.

इस प्रकार सोचने-समझने और कार्य करने की प्रेरणा महावीर को कहाँ से मिली ? इस संबंध में मैं कुछ भी नहीं कह सकता. विद्वानों में भी इस संबंध में मतभेद है. लेकिन हमें इससे कोई सरोकार नहीं. मुख्य बात यही है कि आज से

करीब दो हजार वर्ष से भी अधिक समय पहले एक उच्च क्षत्रिय वंश के राजकुमार ने साधारण जन की भांति रहकर जनसाधारण को इतना अधिक प्रभावित किया और उन्हें ऐसा नैतिक उपदेश दिया कि उनके बाद से अब तक वह उपदेश अमिट रहा है. संसार के सभी धर्मों में महावीर के सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप में विद्यमान हैं. जिस व्यक्ति ने 'आत्मा' का महत्त्व बतलाया, सरल और सादे जीवन पर जोर दिया, जिसने पशु-पक्षियों को भी मानव के समकक्ष रखा तथा यह बतलाया कि वे भी मानव के समान सुख-दुख का अनुभव करते हैं, उसे हम सर्वोच्च सम्मान व श्रद्धा नहीं दें तो फिर और किसे देगें ?

एक ओर जहाँ श्री पाइक ने जैनधर्म एवं महावीर की प्रशंसा में इतना अधिक लिखा है, तथा बच्चों के लिए लिखी गई उक्त पुस्तक में जैनधर्म की बहुत प्रशंसा की है, तो दूसरी ओर अमेरिका में प्रकाशित कालेज स्तर की एक पाठ्य पुस्तक में केवल कुछ ही पैराग्राफों में जैनधर्म को चलता कर दिया गया है. इस पुस्तक के लेखक हैं श्री जार्ज ए० बार्टन और पुस्तक का नाम है 'दी रिलिजियन्स आफ दी वर्ल्ड'[१]. श्री बार्टन लिखते हैं—बौद्धधर्म के समान ही जैनधर्म भी ब्राह्मण धर्म के विरोध में एक आंदोलन के रूप में प्रारंभ हुआ. जहाँ तक ईश्वरों का प्रश्न है, महावीर गौतम से भी बढ़ गए. गौतम ईश्वरों का अस्तित्व मानते थे लेकिन उनकी पूजा के हिमायती नहीं थे. महावीर ईश्वरों को मानते ही नहीं थे पर गौतम के समान पुनर्जन्म एवं कर्म के सिद्धान्त को उन्होंने माना.

जैनधर्म के ५ मुख्य (आचारसंबंधी) सिद्धान्त हैं, जिनके आधार पर उसके अनुयायियों को हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह से बचाने का प्रयास किया गया है. यद्यपि बौद्धधर्म में भी कुछ इसी प्रकार के ५ नियम हैं, पर यह कहना गलत होगा कि जैन धर्म ने उन्हें बौद्धधर्म से लिया या बौद्धधर्म ने जैनधर्म से. प्रसिद्ध लेखक जैकोवी[२] के मतानुसार इस बात की संभावना अधिक है कि दोनों पर हिन्दू धर्म का प्रभाव पड़ा.

जैन लोग अहिंसा के सिद्धान्त को इतना अधिक आगे मानते हैं कि वे (मनुष्येतर) जीवहत्या को भी बहुत ही बड़ा मानते हैं. शायद यही कारण है कि भारत के प्रत्येक ग्राम और नगर में, जहाँ जैनियों की कुछ बस्ती है, कोई न कोई पशु-चिकित्सालय आवश्य है.

ई० डब्ल्यू० होपकिन्स[3] तो जैन धर्म को धर्म ही नहीं मानते. उनका कहना है कि जो धर्म ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता वरन मानवपूजा का हिमायती है, उसे जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं.

"एन्साईक्लोपीडिया अमेरिकाना"[४] में जैन धर्म को भारत के बहुत से धर्मों में से एक मानते हुए लेखक का मत है कि केवल अहिंसा के कारण ही जैन धर्म का जन्म व विकास हुआ. मुख्य ब्राह्मणों की बलिप्रथा के विरोध में जन्मे इस धर्म ने लोगों को शीघ्र ही आकर्षित किया और इसी का परिणाम है कि भारत में अधिकांश पशुचिकित्सालय जैनधर्मावलम्बियों द्वारा खुलवाए गए हैं. जैन मन्दिरों की प्रशंसा में लेखक ने लिखा है कि वे अत्यन्त सुन्दर चित्ताकर्षक, भव्य एवं वास्तुकला की दृष्टि से उच्चकोटि के होते हैं. जैनियों की अपनी स्वतन्त्र वास्तु कला है.

"एन्साईक्लोपीडिया ब्रिटानिका"[५] में लेखक ने जैनियों को भारत का एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय माना है. अपनी संपन्नता के कारण जैन लोग अपनी संख्या की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हैं.

"ब्रिटानिका' के लेखक को यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि जैनधर्म बौद्धधर्म की अपेक्षा कुछ पुराना है. अन्य

---

१. Barton, George A. : The Religions of the world. (Chicago, University of Chicago Press, 1919). 2nd edition.
२. Jacobi, H. in "Sacred Books of the East. Vol. xxii
३. Hopkins E. W. Religions of India (Bostan,1895).
४. Encyclopedia Americana. vol Xv, 1958 edition.
५. Encyclopedia Brittanica. vol. XII 1961. edition.

लेखकों के समान इस लेख का लेखक भी यह मानता है कि पहले के २२ तीर्थंकर भले ही पौराणिक चरित्र हों, पर पार्श्वनाथ एवं महावीर वास्तविक व्यक्ति थे. पहले २२ तीर्थंकर कहाँ तक ऐतिहासिक हैं, यह विवाद का विषय है. श्वेताम्बर-दिगम्बर विवाद पर कुछ विचार करते हुए तथा तत्संबंधी ऐतिहासिक तथ्यों की पुष्टि अपुष्टि पर अपना मत व्यक्त करते हुए लेखक ने जैन साहित्य की अलभ्यता पर खेद प्रकट किया है. लेखक का मत है कि जैन साहित्य प्रचुर मात्रा में अस्तित्व में है, पर उसका अधिकांश अभी तक अप्रकाशित है तथा आलमारियों में बन्द है. इसी कारण जन-साधारण को इस संबंध में अधिक जानकारी नहीं हो सकी.

लेखक का मत है कि जैन वास्तुकला, विशेषकर मन्दिरनिर्माणकला की अपनी अलग शैली है. इस कला में जैनियों से आगे बढ़ना अन्य किसी के लिए कठिन है. यद्यपि कुछ जैन गुफा मन्दिरों एवं स्तूपों पर बौद्ध-शैली का प्रभाव है पर पत्थरों पर खुदाई की कला को उन्होने चरम सीमा पर पहुँचाया था जिस पर अब तक अन्य कोई नहीं पहुँच सका है.

एक छोटे से लेख में यह संभव नहीं कि अंग्रेजी में प्राप्त प्रत्येक ऐसे ग्रन्थ का संदर्भ दिया जा सके जिसमें जैन धर्म या महावीर संबंधी कुछ चर्चा हो. पाठकों की सुविधा के लिए इस लेख के अन्त में कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों का विवरण दिया गया है जिनमें जैन धर्म सम्बन्धी चर्चा विस्तार से की गई है. इच्छुक व्यक्तियों को उन्हें देखने का प्रयत्न करना चाहिए. यहाँ उपसंहार के रूप में मैं अमेरिका में प्रकाशित एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ "दी आर्कियोलाजी आफ वर्ल्ड रिलीजियन्स"[1] का उल्लेख करने का मोह संवरण नहीं कर पा रहा हूँ.

इस पुस्तक में करीब ६० पृष्ठों में जैन धर्म एवं महावीर सम्बन्धी विवरण तथा विषय से सम्बन्धित करीब २० चित्र दिये गए हैं. अभी तक मुझे जैन धर्म सम्बन्धी जितने भी ग्रंथ देखने को मिले हैं, उनमें सबसे अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट विवरण इसी ग्रंथ में देखने को मिला है.

विद्वान् लेखक ने जैन धर्म सम्बन्धी प्रायः प्रत्येक प्रश्न पर जैन धार्मिक ग्रंथों के आधार पर विचार किया है. जैन धर्म के २४ संस्थापक, विपुल जैन साहित्य, सभी तीर्थंकरों का वर्ण, चिह्न, आयु, ऊंचाई, काल तथा एक दूसरे के बीच की अवधि का उल्लेख करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि एक के बाद दूसरे प्रत्येक तीर्थंकर की आयु एवं बीच की अवधि, तथा ऊंचाई में क्रमशः कमी होती गई. प्रारम्भिक कुछ तीर्थंकरों के सम्बन्ध में तो जैन साहित्य में ऐसे कल्पनातीत आंकड़े दिये गए हैं जो स्पष्ट ही अतिशयोक्ति माने जाएँगे. पर लेखक का अनुमान है कि अन्य धर्मों के देवताओं के समान ये भी पौराणिक चरित्र ही हैं.

अन्तिम दो तीर्थंकरों के विवरण सहज संभाव्य मानते हुए लेखक का मत है कि केवल पार्श्वनाथ एवं महावीर को ही ऐतिहासिक चरित्र माना जा सकता है. तथा उन्हें ही इस धर्म का संस्थापक माना जाना चाहिए.

यद्यपि पार्श्वनाथ के संबन्ध में लेखक का मत है कि अधिकांश बातें बढ़ा-चढ़ाकर कही गई हैं. पर वह यह स्वीकार करता है कि पार्श्वनाथ के जीवन की घटनाएँ तत्कालीन भारतीय सामाजिक स्थिति देखते हुए सत्य हो सकती हैं तथा उनके संबंध में जो कुछ लिखा गया है, अधिकांश ऐतिहासिक माना जा सकता है.

इसके बाद पार्श्वनाथ एवं महावीर की जन्मतिथि एवं काल, जैनधर्म के मूल सिद्धांत, जैनधर्म के आधार पर विश्वरचना, कालक्रमानुसार विश्व-विवरण, जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आश्रव आदि का विस्तृत परिचय, धर्म का विश्लेपण, भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि में जैनधर्म का विकास-प्रचार, शिशुनाग एवं नन्द काल, मौर्यकाल, कुषाणकाल, गुप्तकाल तथा मध्यकाल में जैनधर्म के इतिहास पर अलग-अलग परिच्छेदों में विचार किया गया है.

जैन धर्म का इतिहास तथा उक्त सभी कालों में जैन वास्तु एवं चित्रकला का जितना विशद विवरण इस पुस्तक में दिया

---

१. Finegan Jack : The archeology of world Religions. (Princeton, princeton university press 1952.)

गया है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इस पुस्तक के लेखक श्रीफाइनगेन वर्कली (कैलीफोर्निया) में पेसिफिक स्कूल आफ रिलीजियन में लेक्चरर हैं.

कुछ अन्य ग्रन्थ जिनका उल्लेख लेख में नहीं हो सका—

1. Brown, W. Norman : The story of Kalka, Texts, History, Legends, and Miniature Paintings of the Svetambara Jain Hagiographical Work, The Kalkacharyakatha. (Smithsonian Institution, Freer Gallery of Art. Oriental Studies. 1)

2 Smith Vincent A. : The Jain Stupa and other antiquities of Mathura . (Archeological Survey of India, New Imperial Series, xx) 1901.

Griffin, Lepel : Famous monuments of Central India. 1886

Macdonell, A.A. : India's past : a survey of her literatures, languages and antiquities. 1927

Brown, Noman Brown : A. descriptive and illustrated catalogue of the miniature paintings of the Jain Kalpasutra as executed in the early Western Indian style.

(Smithsonian Institution, Freer Gallery of Art, Oriental studies, Vol. 2) 1934

Brown, W. Norman : Manuscript illustrations of the Uttradhyayana Sutra reproduced and described (American Oriental Series 21) 1941

Moore, George Foot : History of religions. International Theological Library 1919-1920

मुनिश्री श्रीमल्लजी

# आर्हत आराधना का मूलाधार : सम्यग्दर्शन

सम्पूर्ण मानवसभ्यता विकासक्रम का सुपरिणाम है. मानवजाति के आज तक के रूप पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो क्रमिक विकास की अजस्र प्रवाहित होनेवाली स्रोतस्विनी का दर्शन-दिग्दर्शन किया जा सकता है. विकास की गति-शीलता स्वयं मानव पर ही निर्भर रही है. उसकी आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओंके साथ उसका अविच्छिन्न सम्बन्ध हैं. समस्त धर्म, दर्शन और संस्कृति इसी शाश्वत प्रक्रिया के अंग हैं. केवल धर्म, दर्शन और संस्कृति ही क्यों, समस्त मानव ज्ञान-विज्ञान ही इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत हैं.

प्रत्येक युग में इनका स्वरूप भिन्न-भिन्न परिलक्षित होगा. स्थिति, काल और वातावरण के अनुसार हर युग इनका सृजन करता रहा है. मिट्टी मिट्टी है पर कलाकार अपने मनोभावों के अनुसार उसे विभिन्न रूप देता रहता है. सृजन की यह प्रक्रिया सदैव गतिशील रही है. कभी मंद तो कभी तीव्र. यदि यों कहा जाय तो अधिक स्पष्ट होगा कि मनुष्य ने अपने निर्माण के लिए समस्त ज्ञान-विज्ञान का सृजन किया है. धर्म, दर्शन और संस्कृति भी मानव के मस्तिष्क की सहज उपज है और इसका आविष्कार भी उसने अपने लिए ही किया है.

भारतीय धर्म-परम्परा में जीवन के प्रत्येक अनुष्ठान का केन्द्रबिंदु मनुष्य है. धर्म दर्शन तथा संस्कृति के क्षेत्र में सर्वत्र मनुष्य ही उपास्य रहा है. जिस धर्मक्रिया का फल मानवीय जीवन के लिए उपयोगी न हो, वह न भारतीय संस्कृति के लिए अनुकूल है और न आधुनिक जीवनपद्धति के लिए उपादेय. विज्ञान, साहित्य, कला, राजनीति आदि की उपयोगिता की एक मात्र कसौटी मानव का प्रत्यक्ष परोक्ष लाभ है. जीवन के इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जहाँ एक ओर मानव की प्रतिष्ठा बढ़ी है, वहाँ दूसरी ओर स्वर्ग की कल्पनाओं में खोये रहने वाले लोगों को धरती का कुशल-मंगल पूछने का पाठ पढ़ना पड़ा है.

आज के इस जाने-पहचाने विश्व के समग्र विचारों का मध्य विन्दु मानव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है. विश्व-क्षितिज का प्रत्येक ग्रह-उपग्रह मानव रूपी केन्द्र के चारों ओर मंडराता है. विश्व की गति-विधि का मूल आधार है मनुष्य.

जो मनुष्य इतना महनीय और विश्वपरिधि का केन्द्र-विन्दु है, वह यथार्थ में है क्या ? हम इसे मिट्टी, पानी, आग, हवा आदि का संयोग मात्र मानें ? क्या यह जल में से उत्पन्न होने वाला और फिर जल ही में विलीन हो जाने वाला क्षण-भंगुर एक बुद्बुद मात्र है ? नहीं. मनुष्य मात्र वही नहीं है, जो देखा जाता है. उसमें एक ऐसा अदृष्ट तत्त्व भी विद्यमान है, जो होकर भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

इसी तत्त्व का अन्वेषण करने के लिए भारत ने कई ऋषि महर्षि एवं आचार्य उत्पन्न किये. इसी के साक्षात्कार के लिए उन्होंने अपने जीवन तक को उत्सर्ग कर दिया. भारत में जो भिन्न-भिन्न मत-मतान्तर तथा वाद दृष्टिगोचर होते हैं वे इसी अदृष्ट के साक्षात्कार का निर्घोष कर रहे हैं.

आत्मवादी दर्शनों की विचारधारा के अनुसार मनुष्य, मर्त्य और अमृत का सुंदर संयोग है. इसमें कुछ ऐसा है, जो बार-बार बनता है, बिगड़ता है, सड़ता है और मिटता है. परन्तु साथ ही उसमें कुछ ऐसा भी सन्निहित है, जो न उत्पन्न

होता है, न विकृत होता है और न नष्ट ही होता है. वह चिरंतन सुन्दर है. देह मर्त्य है और आत्मा अमृत. मनुष्य का देहमूलक मर्त्य अंश ही उसे पार्थिव जगत् से सम्बद्ध रखता है. भारतीय दर्शन का यह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि "जब तक मर्त्य और अमृत अंशों को ठीक से नहीं समझा जायगा एवं उनका सम्यक् विकास नहीं किया जायगा तब तक मनुष्य अपूर्ण ही रहेगा."

यदि किंचित् सम्यक् दृष्टि से सोचा जाय तो कहा जा सकता है कि आदर्श और यथार्थ के कगारों में जीवन-सरिता प्रवहमान होनी चाहिए. इनका सम्यक् समन्वय ही जीवन को सत्यम् शिवम् सुन्दरम् से अभिहित कर सकता है. यथार्थ और आदर्श, मर्त्य और अमृत का संयोग ही मानव जीवनको उन समस्त मानवीय मूल्यों से अवगत करा सकता है जिसने मनुष्य को देवतातुल्य बनाया है।

आज जिनकी सर्वाधिक आवश्यकता अनुभव की जा रही है वे यही मानवीय मूल्य हैं जो भौतिकता के अतिरेक में प्रायः नष्ट होते जा रहे हैं. स्वार्थ, दम्भ, मोह एवं तृष्णा ने आज इन्हें अपरूप बना डाला है, लिप्सा और वासना के आधिक्य ने विरूप कर दिया है.

भोगवादी मनुष्य केवल अपने भौतिक स्वरूप को ही जानता-पहचानता है. शरीर का सुख उसका सुख है. शरीर का दुःख उसका दुःख है. शरीर के ह्रास-विकास में ही उसके ह्रास-विकास की सीमा है. वह मानता है कि शरीर सुन्दर है तो वह सुन्दर है और यदि शरीर विकृत है तो वह भी विकृत है. भोगवादी मात्र भोग के जाल में आबद्ध रहता है. वह सोचता है कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि सब मेरे हैं और मैं उनका हूं. इन भूतों के संयोग से ही मेरा अस्तित्व है और इनका बिखराव ही मेरा मरण है. भोगवादी अमृत अंश को मानने से इन्कार करता है और मर्त्य अंश को मानने के लिए इकरार करता है. इसीलिए भोग-विलास, दैहिक सुख, अर्थ, काम इत्यादि उसके साध्य बन जाते हैं. इन सबकी प्राप्ति और इनके उपभोग में ही वह अपने जीवन की सार्थकता समझता है.

पाश्चात्य राष्ट्रों में इस दर्शन अथवा दृष्टि का चरम विकास हुआ है. शायद सदियों की घुटन, कुंठा, उत्पीड़न, शोषण एवं रक्तलोलुपता की यह प्रतिक्रिया है. पाश्चात्य साहित्य एवं इतिहास के अनुशीलन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है. यह सब वहां इसलिए संभव हुआ कि वहां मानव की वृत्तियों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया.

हमारे यहां नीति, धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति के आलोक में उनको संस्कारित करने का प्रयत्न किया गया है. इस प्रकार के प्रयत्न वहां स्वल्प दृष्टिगत होते हैं. यह भी हो सकता है कि जिस प्रकार की भूमिका की उसके लिए अपेक्षा होती है वह शायद वहां नहीं बन पाई. हमारे यहां तो हमारा आद्य इतिहास भी उसकी एक भूमिका है. हमारे धर्माचार्य भी सदैव इसके लिए सजग रहे हैं.

अध्यात्मवादी मनुष्य शरीर की सत्ता से इन्कार नहीं करता. उसकी विवेक-दृष्टि शरीर के अन्तःस्थित दिव्य अंश का भी साक्षात्कार करती रहती है. इसीलिए शरीर में स्थित होने पर भी वह आत्मा को शरीर से भिन्न मानता है.[1]

यह एक चेतन तत्त्व है. यही चेतना प्राणीमात्र को संचालित करती है. मानव के उद्भव में इसी तत्त्व का सर्वाधिक योग है. मानवीय उत्क्रान्ति के मूल में भी यह समाहित है. यही चेतना मानवी वृत्तियों को दुष्प्रवृत्तियों की ओर से पराङ्मुख कर शिवत्व की ओर उन्मुख करती है. सामाजिक हित व श्रेय-मार्ग की ओर प्रेरित करती है. स्व के अतिरिक्त अन्य का भी अस्तित्व है एवं उसका सम्यक् ज्ञान भी इसी के आलोक का परिणाम है. व्यक्ति समाज का अंग है, समाज विराट् है. अतः यह व्यक्तित्व, यह सत्त्व समाज में घुल-मिल कर एक रस हो जाना चाहिए. अहम् से वयम् की यह प्रक्रिया इसका प्राण है.

आत्मवादी के जीवन में भोग-विलास आदि का अस्तित्व भी रहता है, परन्तु इनकी प्राप्ति एवं उपभोग ही उसके जीवन

---

१. आया वि काया, अन्ने वि काया. —भगवती सूत्र

का साध्य नहीं बनता. भोग से योग की ओर अग्रसर होने में ही उसकी सफलता है. वह सदा अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ने का विश्वास लेकर चलता है.[१] वह शरीर को मारता नहीं, साधता है. शरीर के बिना केवल शरीरी धर्म-साधना नहीं कर सकता. शरीर का सम्यक् विकास करते हुए अन्तर्मुख होना ही आत्मवाद को अभीष्ट है.

आत्मतत्त्व इन्द्रियग्राह्य नहीं है. उस पर श्रद्धा कैसे की जाय, यही एक मुख्य प्रश्न है. इसे बौद्धिक व्यायाम के जरिये हम प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय नहीं बना सकते. आत्मा की अनुभूति संवेदना से की जा सकती है. 'मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं' ऐसी जो अनुभूति है, वह आत्म-प्रत्यक्ष है. यह अनुभूति सिर्फ शरीर को नहीं हो सकती. शरीर पंच भूतों से बना हुआ है. इन पंच भूतों का जो उपयोग करता है, वही आत्मा है. कोई मनुष्य अंधा हो जाय तो क्या उसे आंखों से देख न पाने के कारण पदार्थों का अनुभव नहीं होता ? होता है. यह अनुभव करने वाला तत्त्व ही आत्मा की संज्ञा से अभिहित होता है. इन्द्रियों से भिन्न यह आत्मानुभव ही संवेदना का प्रधान अंग है.

रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द आदि आत्मा में नहीं हैं. और इन्द्रियां रूप, रस, गंध, स्पर्शादि को ही ग्रहण करती हैं. इसीलिए आत्मा इन्द्रियों के प्रत्यक्ष दर्शन का विषय नहीं हो सकती तथापि अन्तर-आत्मा में स्पष्ट रूप से अनुभूयमान जो संवेदना है, उसके द्वारा शरीर तथा इन्द्रियों से भिन्न आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को समझा जा सकता है.

आत्मा सत् स्वरूप है. उसका कभी विनाश नहीं होता. इसी प्रकार आत्मा चिद्रूप भी है. चिद्रूप का अर्थ ज्ञानमय होता है. आत्मा अपने आपको जानता है और संसार में जितने पदार्थ हैं, उन्हें भी जानने की क्षमता रखता है. यह क्षमता जड़ पदार्थों में नहीं होती.

श्रमण संस्कृति में आत्मवादी को सम्यक्-दृष्टि कहा गया है. सत्य-दृष्टि, सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-दर्शनी और सम्यक्त्वी, ये पर्यायवाची हैं. इन सबको एक ही शब्द में कहना हो तो 'विवेक-दृष्टि' कहा जा सकता है. आत्मवादी विवेक-दृष्टा होता है. वह सत्य की उपासना, साधना और आराधना के लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर देता है.

सत्य ही लोक में सारभूत है.[२] जो मनुष्य सत्य का पालन करता है, वह सुखी होता है. सत्याचरण करने से जीवन में आत्मविश्वास, आत्म-संतोष तथा आत्म-शांति बढ़ती है. सत्यशोधक वस्तुस्थिति को जानने का प्रयत्न करता है. जानना ज्ञान का लक्षण है. ज्ञान मानवता का सार है. ज्ञान का भी सार सम्यक्त्व अर्थात् सच्ची आत्मश्रद्धा है.[3] सत्य शोधक के श्रद्धामय जीवन व्यापार में से सम्यक्त्व फलित होता है. सम्यक्त्वी के लिए सत्य सत्य है. वह सत्य अपने शास्त्रों में है तब भी उपादेय है और यदि वह पर शास्त्रों में है, तब भी उपादेय है. सम्यक्त्वी के लिए सत्य की साधना ही भगवान् की आराधना है. सत्य ही भगवान् है[४] सत्याचरण में स्वत्व परत्व की कल्पना तथा जल्पना सबसे बड़ा मिथ्यात्व है. सत्य दृष्टि प्रतिकूलता में अनुकूलता का सृजन करती है. सत्य की आराधना करने वाले सम्यक्दृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत बन जाते हैं.[५] सत्यसाधक राग-द्वेषात्मक संसार से पार हो जाता है.[६]

सत्य को पहचानने एवं पाने के लिए अनेकांतदृष्टि की नितान्त आवश्यकता है. पूर्वाग्रही व्यक्ति सत्य के यथार्थ रूप को पहचानने में असफल रहता है. उसका एकांत दृष्टिकोण सत्य के समस्त पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित नहीं होने देता है और इस प्रकार वह समग्र सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाता. अपनी स्थूल दृष्टि से भले ही कोई व्यक्ति सत्य के अंश को

---

१. आरोह तमसो ज्योतिः —वेद
२. सच्चं लोगम्मिसारभूयं. —प्रश्नव्याकरण सूत्र
३. नाणं नरस्स सारं सारो वि नाणस्स होइ सम्मत्तं.
४. सच्चं खु भगवं. —प्रश्नव्याकरणसूत्र
५. सम्मदिट्ठिस्स सुअं सुयनाणं, मिच्छदिट्ठिस्स सुअं सुअ-अन्नाणं. —नंदीसुत्तं.
६. सच्चस्स आणाए उवट्ठिओ मेहावी मारं तरइ. —आचारांग.

समझने का दावा कर सकता है किन्तु वह व्यापक एवं अनेकांत दृष्टि के अभाव में उसके प्रति न्याय करने में समर्थ नहीं हो सकेगा.

वर्तमान में वादों एवं मताग्रहों का जो भीषण कोलाहल एवं संघर्ष दिखाई पड़ रहा है उसका भी मूल कारण सत्य को सम्पूर्ण रूप में जानने का अभाव है. "मेरी स्थापना ही सत्य है" यह अहम् भावना ही वस्तुतः इन समस्त विग्रहों का मूल कारण है. अतः सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार आवश्यक है और वह तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपने एकान्त दृष्टिकोण को छोड़कर अनेकांत दृष्टि का वरण करेगा.

वर्तमान में सत्य को आवृत करने की प्रथा-सी चल पड़ी है. अनावृत सत्य सामाजिक अहित का कारण हो सकता है, इस तर्क के अवलम्बन से आवृत सत्य को अंगीकार करने का प्रायः उपदेश दिया जाता है. किन्तु इस यथार्थोन्मुख युग में यह प्रवंचना स्थायी नहीं हो सकती है. जो सत्य है, स्पष्ट है, उसको आवृत रूप में जानने, पहचानने में क्या प्रयोजन है ? अनावृत सत्य की आराधना ही सही सत्य-साधना है, वही प्रयोजनीय है.

श्रमणसंस्कृति सम्यक्त्वमूलक है. सम्यक्त्व है तो ही श्रावक श्रावक है और श्रमण श्रमण है. सम्यक्त्व रहित श्रावक और श्रमण का आत्मसाधना की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है. किसी भी साधक ने जब कभी भी आत्मा के शुद्ध एवं निर्मल स्वरूप को पाया है तो वह सम्यक्त्वमूलक सत्याचरण के द्वारा ही. श्रमण संस्कृति में जीव, जीवन और जगत् की प्रत्येक प्रक्रिया एवं प्रयोग को सम्यक्त्व की कसौटी पर ही कसकर परखा जाता है. जैन आगमों में यह कहा गया है कि जिसने जीवन में सम्यक्त्व नहीं पाया, उसने ज्ञान और चारित्र भी नहीं पाया. सम्यक्त्वहीन का ज्ञान अज्ञान है.[१] सम्यक्त्वहीन का चारित्र भी कुचारित्र है.[२] सम्यक्त्व धर्म के प्रभाव से नीच-से-नीच मनुष्य भी देव हो जाता है और उसके अभाव में उच्च-से-उच्च भी अधम हो जाता है.[३]

आज समता और साम्य की स्थापना के नारों का गगनभेदी उद्घोष प्रायः सुनाई पड़ता है. मनुष्य के स्वार्थ, वासना लिप्सा ने वैषम्य का साम्राज्य स्थापित किया है और मनुष्य-मनुष्य में अन्तर उत्पन्न कर दिया है. उसके बीच एक गहरी खाई का निर्माण कर दिया है, भेद की दुर्भेद्य दीवार खड़ी कर दी है. इसी वैषम्य का निराकरण करने के लिए प्रायः समता अथवा साम्य का आयोजन किया जाता है.

यह युग यांत्रिकयुग, वैज्ञानिकयुग एवं आर्थिकयुग के नाम से सम्बोधित किया जाता है. मानव के विधि-विधान भी इन्हीं के द्वारा परिचालित होते हैं. जिन भावनाओं एवं मनोविकारों की प्रेरणा से मनुष्य ने इतनी उत्क्रान्ति की है, उनकी इन विधि-विधानों एवं रचनाओं में प्रायः उपेक्षा की गई है.] विज्ञान एवं अर्थशास्त्र के नियम एक निश्चित फार्मूले पर नियोजित हो सकते हैं किंतु भावप्रवण मानव को इन बंधनों में कैसे घेरा जा सकता है ? इसी भ्रममूलक दृष्टि ने इन वर्गसंघर्षों का नियोजन किया है. आज जिस साम्य व समता की बात बार-बार दोहराई जाती है उसमें भी ये कमजोरियां समाहित हैं और फिर इसके पीछे मानवहित की विशुद्ध भावना नहीं अपितु राजनैतिक षड्यंत्रों एवं छलछन्दों की धूल उड़ रही है. अतः सम्यक्त्व के विशुद्ध रूप का वरण ही इन सबका समाधान कर सकता है और अशान्ति में भटकने वाले विश्व को शान्ति प्रदान कर सकता है.

श्रमण-साहित्य के अतिरिक्त वैदिक-साहित्य में भी सम्यग्दर्शन की महिमा कम नहीं है. वहाँ ऋत, सत्य, समत्व आदि शब्दों से इसी की ओर इंगित किया गया है. सम्यक्दर्शन शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, परन्तु बहुत कम. श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—हे अर्जुन ! जीवन को शान्त और पवित्र बनाने के लिए समत्व प्राप्त करो. समत्व सब से बड़ा योग है.[४]

---

१. नादंसणिस्स नाणं. —उत्तराध्ययन अ० २८ गा० ३.

२. नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं—उत्तराध्ययन अ० २८ गा० २९.

३. सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्, देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम्. —आचार्यसमंतभद्र.

४. समत्वं योग उच्यते. —गीता

मनु-संहिता में भी इसे परम तत्त्व के रूप में निर्दिष्ट किया है. महर्षि मनु कहते हैं कि सम्यक्दर्शन से सम्पन्न व्यक्ति कर्मबद्ध नहीं होता. संसार में परिभ्रमण वही करता है जो सम्यग्दर्शनविहीन होता है.[1] सम्यक्त्वी का जीवन-व्यापार गुणप्रधान होता है. आत्मा और जगत् के हित की दृष्टि से तर्कसंगत विचार कर जो क्रिया की जाय वही सम्यक्त्वी का आचार है. सम्यक्त्वी का आचार पापप्रधान नहीं होता है.[2]

"मैं मनुष्य हूँ, जो कुछ मानवीय है, उसे मैं अपने से पृथक् नहीं कर सकता" सम्यक्त्वी में ऐसी अभेददृष्टि होती है. वह जल में रहकर भी कमलवत् निर्लिप्त रहता है. स्वादु भोजन, मधुर पेय, सुन्दर वसन, अच्छे अलंकार और भव्य भवन भी उसे पथभ्रष्ट नहीं कर सकते. सभी को अपने समान मानना, और समतामय जीवन का विकास करना ही सम्यक्त्वी की पहिचान है.

सम्यक्त्वी को पहचानने के पाँच लक्षण हैं—सम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य.

समता जीवनव्यवहार का एक मुख्य गुण है. जो पदार्थ, जो प्रवृत्तियाँ और दृष्टि मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करती है, वह असमता की द्योतक है. सम्यक्त्वी भाषा, प्रान्त, जाति, धर्म, अर्थ, शास्त्र, ईश्वर, पंथ आदि किसी भी क्षेत्र में आवेश, आग्रह या पक्षपात के वशीभूत होकर असमता को मान्य नहीं कर सकता. जीवननिर्वाह के लिए जो आवश्यक पदार्थ हैं, वे सारे समाज के लिए हैं. उन पर एकाधिपत्य स्थापित कर वैषम्य पैदा करना सम्यक्त्वी का लक्षण नहीं है. जो समभाव बाह्य जीवन को स्पष्ट करता है, वही अन्तर्जीवन में 'समभाव' का रूप धारण कर लेता है. समभाव का अर्थ है उदय में आये हुए क्रोधादि कषायों को असफल करना. क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा आदि विकार किस में नहीं होते ? इनके परित्याग की बात श्रवण करने में सभी को अच्छी लगती है किन्तु आचरण में लाना अत्यन्त कठिन होता है. सम्यक्त्वी साधक उपशम से क्रोध को, विनय से मान को, सरलता से माया को, संतोष से लोभ को,[3] समभाव से ईर्ष्या को, और प्रेम से घृणा को जीतने का अभ्यास करता है. क्योंकि क्रोध प्रेम का नाश करता है, मान विनय का, माया मित्रता का और लोभ समस्त सद्गुणों का घात करता है.[4] क्रोधादि विकार जीवन भर स्थिर रह जाएं अथवा वर्षभर से भी अधिक रह जाएं तो वे आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात कर सकते हैं. अतः इन पर विजय पाना ही सम्यक्त्वी की प्राथमिक साधना है. इसी साधना को प्रशम भी कहते हैं.

यह साधना व्यक्ति के लिए शीघ्र ग्राह्य हो सकती है किन्तु समष्टि के लिए कठिन सी प्रतीत होती है. हालांकि व्यक्तियों से ही समष्टि का निर्माण होता है, किन्तु समष्टि में विषमता होती है अतः यह कठिनाई स्पष्ट है.

व्यक्तिमूलक या इकाईपरक साधनाओं का समाजीकरण आज आवश्यक होगया है. जब तक इनका समाजीकरण नहीं होगा तब तक समता का स्वराज्य-स्थापन भी एक कल्पना या स्वप्नवत् रहेगा. क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा के जो मूल कारण हैं उनका उच्छेदन आवश्यक है. इनके उच्छेद पर ही समता के भव्य सामाजिक भवन का निर्माण संभव है.

इसके उच्छेद का क्या उपाय है ? इस संबन्ध में यह बताना अपेक्षित है कि वैयक्तिकता का तिरोभाव सामूहिकता में करना होगा. सामाजिक हित को सर्वोपरि महत्त्व देकर व्यक्ति को स्वार्थ, मोह, तृष्णा आदि का विसर्जन करना होगा.

---

१. सम्यग्दर्शनसम्पन्नः, कर्मभिर्न निबध्यते,
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते. —मनुसंहिता.

२. सम्मत्तदंसी न करेइ पावं.

३. उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे,
मायामज्जवभावेण, लोहो संतोसओ जिणे. —दशवैकालिक

४. कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयनासणो
माया मित्ताणि नासेइ लोहो सव्वपणासणो. —दशवैकालिक

तभी संग्रहवृत्ति नष्ट होगी. एक उदाहरण से इसे समुचित रूप में समझा जा सकता है—

शरीर के विभिन्न अंगों में यदि एकात्मता न हो तो शरीर निर्जीव हो जायगा. माना कि चोट लगने के कारण हाथ कार्य करने में असमर्थ हैं और पैर चलने में अशक्त ! तो उन पर क्रोध कर उन्हें काटा नहीं जा सकता अपितु उन की परिचर्या कर पुनः उन्हें कार्य योग्य बनाना पड़ता है. इसी प्रकार समाज का प्रत्येक व्यक्ति शरीर के विभिन्न अवयव के सदृश है. उसके व्यसनों को घृणा से नहीं वरन् स्नेह एवं सहानुभूति से अवसन्न करना है. इस के लिए प्रशम की साधना अति उपयोगी है.

प्रशम की सिद्धि में 'संवेग' सहायक है. रागद्वेषात्मक संसार की ओर से हटाकर इन्द्रियों की गति को वीतराग भाव की साधना की तरफ मोड़ना ही संवेग है. वेग का अर्थ है गति. यदि वह गति वासनापोषण की ओर है तो वह कुवेग है. और यदि वह गति वासनाक्षय की ओर है तो संवेग है. सम्यग्दृष्टि संवेग का आराधक होता है. वह इस तथ्य से भलीभांति परिचित होता है कि इन्द्रियों के द्वारा प्रवाहित जो वासना का वेग है, वह वर्षाकालीन नदी की भांति स्व-पर-संहारक है. शरत्कालीन नदी दो तटों के बीच बहती हुई जैसे सृजन और पोषण में योग देती है, वैसे ही त्याग और भोग रूपी तटों के बीच प्रवाहित जीवन संवेग साधना के लिए उपयुक्त है. त्याग और भोग के बीच में वही साधक विवेकपूर्वक खड़ा रह सकता है जिस की आत्मा पर प्रबल मोह का साम्राज्य न हो. मोह की प्रबलता ही संवेग गुण की घातक है. संवेगसाधना में सजग रहने से ही प्रबल मोह को हटाकर प्रशम गुण का विकास किया जा सकता है.

संवेग की अंतिम परिणति 'निर्वेद' में होती है. मोहोदय को 'वेद' कहते हैं. उसके तीन रूप हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद. पुरुष के साथ रति-सुख की कामना स्त्रीवेद है. स्त्री के साथ रतिसुख की कामना पुरुषवेद है. उभय के साथ की कामना नपुंसकवेद है. इस प्रकार कामवासना का क्षय होना ही 'निर्वेद' है. सम्यक्त्वी का जीवन भोगलक्षी नहीं होता. वह न इह लोक के भोग चाहता है और न स्वर्ग आदि के ही. प्रशम और संवेग की साधना करते-करते वेदोदय की प्रवृत्ति उसी प्रकार क्षीण हो जाती है, जिस प्रकार ज्ञानाभ्यास में रत विद्यार्थी का मन बचपन में खेले हुए गंदे खेलों से उपरत हो जाता है.

सम्यक्त्वी कोमलहृदय होता है. दूसरे को पीड़ा और कष्ट में देखकर वह द्रवित हो उठता है. क्योंकि वह प्राणीमात्रके साथ आत्मीयता की अनुभूति करता है. आत्मीयता के कारण दूसरों का सुख दुःख भी अपना हो जाता है. इसी संवेदनशीलता तथा सहानुभूतिने मनुष्य के हृदयमें दया और दान भावना की सृष्टि की है. मानव को पशु और दानव बननेसे बचाने में इसी का सर्वाधिक योग है. किसीको पीड़ित अवस्था में देखकर हृदय में करुणा का उत्स प्रवाहित होना स्वाभाविक है. आत्मा का यही एक ऐसा सहज गुण है—जिसने पृथ्वी पर बार-बार प्रलय होने से रोका है. इसका विस्तार यदि समुचित रूप से किया जाय तो आज दुनिया को परेशान करने वाला शीत युद्ध भी उपशान्त हो सकता है. इसका स्वाभाविक विकास इन समस्त गत्यवरोधों को समाहित कर शान्ति और सौरभ्य का निर्झर प्रवाहित कर सकता है. दूसरों के सुख दुःख को आत्मीय भाव से ग्रहण कर उनके कष्टों को मिटाने का प्रयास ही अनुकम्पा है. अनुकम्पा सामाजिक जीवन एवं सह-जीवन का स्नेहसूत्र है. अनुकम्पा के कारण ही मनुष्य अपनी तथा अपने परिवार की तरह ही, अपने अधीनस्थ व्यक्तियों की योग्य और उचित आवश्यकताओं की पूर्ति सम्यक् रूप से करता है. दूसरों की आवश्यकताओं का ध्यान न रखकर अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाते रहने से अनुकम्पा का घात होता है. सम्यक्त्व-आराधक अपनी आजीविका का अर्जन करने के लिए जो साधन अपनाता है, उसमें किसी प्रकार की अप्रामाणिकता न आ जाय, इसके लिए सतत जागरूक रहता है.

सम्यक्त्व गुण के विस्तार के लिए आस्तिकता आवश्यक होती है. मनुष्य ज्यों-ज्यों सद्गुणों को जीवन में अपनाता है त्यों-त्यों आस्तिक्य गुण का विकास होता है. आस्तिकता श्रद्धा को बलवती बनाती है. श्रद्धा कभी मनुष्य को विपथगामी नहीं होने देती. श्रद्धा और अंधश्रद्धा में अन्तर है. अंधश्रद्धालु दूसरों के प्रति अशिष्ट व्यवहार कर सकता है, किन्तु श्रद्धालु ऐसा नहीं कर सकता. उसमें करुणा, मुदिता, मैत्री और, तटस्थता विद्यमान रहती है. आत्मा और उसके विकास के

प्रशस्त पथ पर दृढ़ विश्वास का होना ही आस्तिकता की व्यावहारिक भूमिका है. आस्तिकता, आस्था और श्रद्धा सभी एक ही अर्थ का द्योतन करने वाले शब्द हैं. विश्वास भी इन्हीं के अन्तर्गत आता है. बहुत से व्यक्ति आस्तिकता, का सही अर्थ न समझने के कारण अपने आप को नास्तिक कहते हैं. अस्ति का अर्थ है स्थिति या अस्तित्व को स्वीकार करना. इस अभेदमूलक दृष्टि से सभी आस्तिकता के अन्तर्गत आ जाते हैं. नास्तिकता जैसी कोई चीज फिर अस्तित्व में नहीं रहती. पर आस्तिकता को किसी अर्थ विशेष में रूढ़ कर देने के कारण ये सभी विकृतियां उत्पन्न हो गई हैं. आस्था के अभाव में व्यक्ति का विकास निश्चित रूप से अवरुद्ध हो जायेगा. जब लक्ष्य और उद्देश्य के प्रति ही व्यक्ति की आस्था नहीं रहेगी तब दृढ़ता और संकल्प भी उसे सिद्धि के सोपान तक नहीं पहुँचा सकते. साधना के पांव लड़-खड़ा उठेंगे और विकास की गति अवरुद्ध हो जाएगी. अतः आस्तिकता, आस्था अथवा श्रद्धा की सहज स्मित-रेखा में साधना और विकास को ग्रथित करना होगा. आस्था के इस सूत्र में वलयित होने पर सम्यक्त्व की भूमिका प्रशस्त और अबाधित हो जायेगी.

इस प्रकार सम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य, ये पांच लक्षण सम्यक्त्वी के हैं. इनका स्वरूप सम्यक्त्वी के जीवन में परिलक्षित होना ही चाहिये.

सम्यक्त्वी साधक सम्यक्त्व की रक्षा के लिए सतत सावधान रहता है. जागृति जीवन का लक्षण है. अजागृति मरण का प्रतीक है. जाग्रत मनुष्य ही विकृतियों से अपनी रक्षा कर सकता है. असावधानता की अवस्था में जो शिथिलता या विकृति आती है उसे अतिचार कहते हैं. सम्यक्त्व भी एक व्रत है. उसे शुद्ध व निर्मल रखने के लिए पांच अतिचारों से बचना चाहिये. वे अतिचार ये हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, पर-पाखण्डप्रशंसा और पर-पाखण्डसस्तव.

सम्यक्त्वप्राप्ति के साधन, एवं साधना में संशय करना शंका है. शंका-शील व्यक्ति किसीभी विषयका विशेषज्ञ नहीं हो सकता क्योंकि मूल तत्त्वों पर अविश्वास रखने के कारण वह पुरुषार्थ की साधना करने में असमर्थ रहता है. 'संशयात्मा विनश्यति'[1] इस उक्ति के अनुसार संशयी अपनी शक्ति का नाश करता है और स्वयं का भी नाश करता है. सम्यक्त्वी साधक शंकाशील नहीं रहता. वह सदसद्-विवेकिनी बुद्धि के द्वारा तत्त्वों का यथार्थ समाधान प्राप्त करता है[2] जो अदृष्ट तत्त्व बुद्धि की पकड़ में नहीं आते, उन्हें आप्तोपदिष्ट मानकर अपनी शंकाओं का निरसन कर लेता है, आप्तपुरुष यथार्थ ज्ञाता एवं वक्ता होते हैं. क्षीणदोष होने के कारण उनकी वाणी में किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं होती. सम्यक्त्वी की यह दृढ़ श्रद्धा होती है कि "तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"[3] ज्ञानप्राप्ति एवं तत्त्वनिर्णय के लिए जो शंका की जाती है, वह अतिचार की कोटि में नहीं आती. "न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति."

जो सिद्धान्त, साधना तथा क्रियाकाण्ड सम्यक्त्व के परिपोषक न हों वे सभी परधर्म हैं, पर-धर्म की चाह करने को 'कांक्षा' कहते हैं. गीता में 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' कहकर इसी तथ्य का समर्थन किया गया है. धर्म के दो रूप हैं, स्वधर्म और परधर्म. आत्मगुणों की अभिव्यंजक एवं स्वस्वरूप-रमण में स्थिर करने वाली प्रक्रिया स्वधर्म है. परधर्म की प्रक्रिया इससे प्रतिकूल है. स्व-पर-धर्मात्मक परस्पर विरोधी साधनों में मनोयोग बिखर जाने से कांक्षाशील साधक सम्यक्त्व को न तो सुरक्षित रख सकता है और न पुष्ट ही कर सकता है.

आराधना के फल के प्रति संदेह करना 'विचिकित्सा' है. मेरी साधना, जप, तप, एवं पुरुषार्थ का फल मिलेगा या नहीं, ऐसा संदेह विचिकित्सा का परिणाम है. इससे पुरुषार्थ के प्रति अनास्था पैदा होती है.

तन्मयता के द्वारा ही साधक अपनी मनःस्थिति को केन्द्रित कर सकता है. लक्ष्य के प्रति वह तन्मयता ही सफलता

---

१. भगवद्गीता.
२. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्. —तत्त्वार्थसूत्र, अ० १-२
३. आचारांग प्र० श्रु०.

का सुलक्षण है. लक्ष्य के प्रति क्षण मात्र का प्रमाद स्खलना का कारण होगा.[1] लक्ष्यभ्रष्ट कभी अपने सदुद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकता. अतएव लक्ष्य के प्रति तन्मयता आवश्यक है. किसान वादलों की तव तक प्रतीक्षा करता रहता है, जव तक कि वे वरस न जाएं. वे न भी वरसें, तव भी वह अपने कृषि-कर्म से पराङ्मुख नहीं होता. उसकी सतत चलने वाली पुरुषार्थमयी प्रवृत्तियों से सम्यक्त्वी साधकों को शिक्षा लेनी चाहिए और अपनी असफलताओं पर विजय प्राप्त करते हुए विचिकित्सा से बचना चाहिए. 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'[2] इस सिद्धान्त को जीवन में व्यवहृत करने से विचिकित्सा नहीं पनप सकती.

सम्यक्त्वी की साधना भोगप्रधान नहीं होती, इन्द्रिय और विषयों के संयोग से प्राप्त होने वाले सुख परापेक्षी होने से 'पर' कहलाते हैं. इन सुखों की आकांक्षा से किये जाने वाले व्रत' पर-पाखण्ड' हैं. आचार्य हरिभद्र ने पाखण्ड शब्द का अर्थ व्रत किया है.[3] ऐसे व्रत स्वीकार करने वाले 'पर-पाखण्डी' कहलाते हैं. 'परपाखण्डी' धर्मविहीन होते हैं. वे इन्द्रिय-सुखों को ही महत्त्व देते हैं और वहीं तक केन्द्रित रहते हैं. सम्यक्त्वी इन से आगे बढ़ता है. वह आत्मदर्शन चाहता है. इस प्रकार दोनों का साध्य भिन्न होने के कारण सम्यक्त्वी न तो परपाखण्ड रूप व्रतों को स्वीकार करता है और न पर-पाखण्डी की प्रशंसा या परिचय ही करता है.

मनकी वृत्तियां चंचल होने के कारण पतन की ओर शीघ्रता से अग्रसर हो जाती हैं. ऊर्ध्व की ओर उन्मुख करने में आयास करना पड़ता है. किन्तु ऐहिक प्रलोभन ऊर्ध्व की ओर गति नहीं होने देते. यहाँ ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं है जो स्वार्थ के वशीभूत होकर दूसरों की झूठी प्रशंसा कर अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं. वे अपने को अधिक चतुर और प्रवीण समझते हैं तथा दूसरे को मूर्ख और बेवकूफ. ऐसे व्यक्तियों को सहयोग देकर आत्मा को पतनोन्मुख बनाना भीषण पाप है. समाज में आज इस प्रकार का एक वर्ग ही बन गया है. राजनीति में तो स्पष्ट ही उसका बोल-बाला है. धर्म भी इसका शिकार हो गया है. अपनी उच्चता की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए भी इसका अधिकाधिक प्रयोग किया जा रहा है. परपाखंडप्रशंसा और परपाखंडसंस्तव क्लीवों का हथियार है. अमोघ मानकर ही वे इसे सगर्व धारण करते हैं. परपाखण्ड प्रशंसा और और परपाखण्ड संस्तव मन को अधोमुख बनाते हैं. सम्यक्त्व-साधना-मार्ग के ये शूल हैं. इनका उच्छेद करके ही आत्मा सम्यक्त्व के साथ एकाकार हो सकती है.

देव, गुरु, तथा धर्म के प्रति जो श्रद्धा है, उसे भी सम्यक्त्व कहते हैं. जिन्होंने राग, द्वेष, मोहादि आत्मशत्रुओं को जीत लिया है, वे देव हैं. देव तत्त्व की कल्पना आदर्श के रूप में की जाती है. इस तत्त्व में किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता या संकुचित वृत्ति नहीं है. प्रत्येक आत्मा उत्क्रान्ति करता हुआ परमात्मा बनता है. इसीलिए जैन परम्परा में जिस आत्मा ने अपना पूर्ण विकास कर लिया है उसको देव माना है. ऐसे देव के प्रति आत्म-कल्याण के प्रत्येक अभिलाषी का मस्तक झुक जायगा.

गुरु हमारे सामने साधना का मार्ग उपस्थित करता है. साधु स्व-पर-कल्याण के साधक होते हैं. वे महाव्रतों, समितियों तथा गुप्तियों का पालन करते हैं. उन्हें देखकर हम अपनी साधना का व्यावहारिक रूप निश्चित कर सकते हैं. ऐसे साधु के चरणों में किसका मस्तक नत नहीं होगा ?

तीसरा तत्त्व धर्म है. वह अहिंसा संयम और तप रूप है. इस धर्म को स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती.

देव गुरु और धर्म की ऊपर जो व्याख्या की गई है वह सिद्धान्ततः सुन्दर और उदार होते हुए भी उसका उपयोग पंथ तथा सम्प्रदायवाद की पुष्टि में जब किया जाता है तब आत्मगुणों के स्थान पर मिथ्यात्व को ही प्रोत्साहन मिलता है. अन्तः-

---

१. समयं गोयम ! मा पमायए. —उत्तराध्ययन.

२. गीता

३. पाखण्डं व्रतमित्याहुः. —दशवैकालिकटीका.

दृष्टि के स्थान पर बाह्य दृष्टि को ही प्रधानता मिलती है. उस समय आत्मा को न देखकर उसका कलेवर ही देखा जाता है.

सम्यक्त्व जीवन का चिरंतन सत्य है. यह सत्य जब जीवन में संपूर्ण अभिव्यक्ति पाता है, तब व्यवहार और आदर्श की खाई पटती जाती है. सम्यक्त्वी के आचार-विचार में एक विशिष्ट प्रकार की समानता होती है. मानव मानव है. उसमें कमजोरियां भी हैं. परन्तु सम्यक्त्वी का जीवन उन कमजोरियों पर विजय पाने के लिए सतत संघर्षशील रहता है. मानवीय दुर्बलताओं के कारण आदर्शों को न निभा पाना अलग बात है और संकल्पपूर्वक अपने व्यक्तित्व का आदर्श तथा व्यवहार में विभाजन करना अलग बात है. सम्यक्त्वी जीवन को इस प्रकार विभाजित नहीं करता. इसीलिए वह साधना की चरमस्थिति तक पहुँच कर शाश्वत सिद्धि प्राप्त कर सकता है.

आत्म-साधना करने वाले ऋषि, महर्षि आचार्य और धर्मगुरु सम्यक्त्व का यह पाठ चिरकाल से समाज को पढ़ा रहे हैं फिर भी समाज पर इसका कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं हो रहा है. धर्मगुरु इस साधना के द्वारा समाज को परिवर्तित करने का प्रयत्न करते रहे हैं और उधर समाज में शोषण, उत्पीडन, तृष्णा और वासनाओं का वही दौर चालू है. इसके कारण का यदि विश्लेषण किया जाय तो प्रत्यक्ष हो जायगा कि इन सिद्धांतों को व्यवहार की भूमिका पर उतारने के स्वल्प प्रयत्न किये गये. जनसाधारण तक उन्हीं की भाषा में पहुँचाने की ओर ध्यान केन्द्रित नहीं किया गया. व्यक्ति और उसके हितों की उपेक्षा करके कोई भी आदर्श अथवा सिद्धांत व्यावहारिकता की परिधि में अपना स्थान नहीं बना सकता. उसकी सीमाओं में प्रवेश पाने के लिए व्यावहारिकता का परिवेश धारण करना ही होगा.

यहाँ यह उल्लेख भी आवश्यक है कि देश, काल और वातावरण की ओर ध्यान केन्द्रित नहीं किया गया है. प्रत्येक युग की अपनी मान्यताएँ होती हैं. उसकी उपेक्षा कर कोई भी सिद्धांत अपना क्षेत्र नहीं बना सकता. अतः युग के मार्ग को अस्वीकार करना उचित नहीं कहा जा सकता.

इस आलोक में यदि आज सम्यक्त्व की आराधना की जाय तो निश्चित ही विश्व समता की भूमिका प्राप्त कर सकेगा. सत्य अनन्त है. व्यक्ति सान्त है. परन्तु जब व्यक्ति, सीमाओं को, क्षुद्रताओं को पार करके ससीम से असीम बन जाता है, तब उसका सत्य भी अनन्त हो जाता है. अनंत में ही अनंत गुणों की अभिव्यक्ति होती है.

डा० ईश्वरचन्द्र शर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी०

# जैनधर्म के नैतिक सिद्धान्त

जैन दर्शन ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक प्राचीन है. इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह दर्शन अहिंसा को जीवन का परम लक्ष्य और मोक्ष का अनिवार्य साधन मान कर चलता है. इस प्रकार भारतीय दर्शनों में जैनवाद को प्राचीनतम अहिंसावादी दर्शन स्वीकार किया जाता है. जैनियों की यह धारणा है कि उनका धर्म तथा उनका दर्शन वैदिक विचारधारा से भी अधिक प्राचीन है. इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्द्धमान महावीर जैनधर्म के प्रवर्तक नहीं थे, अपितु एक सुधारक थे. यह सत्य है कि महावीर से पूर्व जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे. महावीर ने निस्संदेह जैन दर्शन को एक व्यवस्थित रूप दिया है और साधुओं तथा गृहस्थ अनुयायियों के लिए अहिंसा धर्म पर आधारित ऐसे नैतिक नियमों का प्रतिपादन किया है, जो आज तक जैन समाज द्वारा आदर्श स्वीकार किए जाते हैं. जैन आचारमीमांसा अत्यन्त कठिन और कड़े नैतिक नियमों को प्रतिपादित करती है. इससे पूर्व कि हम जैन आचारशास्त्र की विस्तृत व्याख्या करें, हमारे लिए यह बताना आवश्यक है कि जैन आचारशास्त्र कड़े अनुशासन पर क्यों बल देता है ?

## जैनवाद में कठोरता का कारण

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनवाद निवृत्तिमार्ग को अपनाता है और उस प्रवृत्तिमार्ग का विरोध करता है, जो वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार क्रियात्मक सामाजिक जीवन को वांछनीय स्वीकार करता है. जिन प्राचीन वैदिक मंत्रों का आर्य लोग गान करते थे, देवताओं और परमेश्वर के प्रति सांसारिक जीवन की सफलता के लिये प्रार्थना मात्र थे. किन्तु धीरे-धीरे वैदिक विचारकों ने यह अनुभव किया कि त्याग की भावना बिना वे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते. इसके फलस्वरूप उन्होंने चार आश्रमों की प्रथा को प्रचलित किया. ये चार आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास हैं. इसी प्रकार वैदिक धर्म के अनुसार अर्थ, काम, धर्म तथा मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को भी स्वीकार किया गया है. वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति क्रमिक हो सकती है, यद्यपि उस प्राप्ति के लिये संन्यास अत्यंत आवश्यक है. जीवन के पहले तीन आश्रम संन्यास की उस अन्तिम अवस्था की तैयारी मात्र हैं, जिस पर पहुँच कर मोक्ष की अनुभूति हो सकती है. ब्रह्मचर्य अवस्था में व्यक्ति के लिये अपने समय और शक्ति को विद्या प्राप्त करने में लगाना इसलिये आवश्यक है कि वह गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने के लिये योग्यता प्राप्त करके अर्थ तथा काम को अनुभूत कर सके. पच्चीस वर्षों तक पर्याप्त धन उपार्जन करने के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में पच्चीस वर्ष धर्माचरण में लगाना आवश्यक है. इस अवस्था में व्यक्ति नैतिकता का उपदेश करता है तथा उसका आचरण करता है और सामाजिक कल्याण में प्रवृत्त हो जाता है. अन्तिम पच्चीस वर्ष ध्यान तथा आत्मानुभूति के लिये इसलिये नियत हैं कि व्यक्ति संन्यास की अवस्था में जीवन्मुक्त हो जाय और अन्त में विदेह मुक्ति को प्राप्त करे.

वेदवाद अथवा ब्राह्मणवाद इस प्रकार अनासक्त तथा त्याग के जीवन की ओर क्रमशः अग्रसर होने में विश्वास रखता था. जीवन की यह योजना निःसंदेह आकर्षक और व्यापक थी. लेकिन उस समय के विचारकों ने विशेष कर जैन सिद्धान्त

के समर्थकों ने यह अनुभूत किया कि इस योजना की सफलता में दो मुख्य बाधाएँ थीं. प्रथम बाधा यह थी कि जब व्यक्ति एक बार गृहस्थजीवन में प्रविष्ट हो जाता है तो उसके लिये विषयभोग आदि का त्यागना तथा काम, क्रोध, मोह एवं लोभ से मुक्त होना अत्यंत कठिन हो जाता है. तृष्णा अनन्त है और उसकी तृप्ति कदापि संभव नहीं है. इस दृष्टिकोण को उत्तराध्ययन सूत्र में निम्न लिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है—

"और यदि कोई व्यक्ति एक मनुष्य को सम्पूर्ण पृथ्वी भी दे दे, तो भी वह उसके लिये काफी न होगी. किसी भी व्यक्ति को तृप्त करना अत्यंत कठिन है. तुम जितना अधिक प्राप्त करोगे, उतनी ही अधिक तुम्हारी आवश्यकता बढ़ेगी. तुम्हारी वासनाएँ तुम्हारे साधनों के साथ-साथ बढ़ती चली जायेंगी."

दूसरी बाधा यह है कि संन्यासजीवन की यह क्रमिक योजना, यह मानकर चलती है कि जीवन की कम से कम अवधि एक सौ वर्ष है. वास्तव में जीवन अस्थिर है और किसी भी क्षण एक धागे की भांति टूट सकता है. यदि एक बार व्यक्ति, अपने आध्यात्मिक विकास के अवसर से चूक जाय, तो उसे पुनः मनुष्य का जन्म लेने के लिये युगों की प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है. विख्यात जैन आगम उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है—

"जिस प्रकार वृक्ष का सूखा पत्ता किसी भी समय गिर जाता है, इसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी समाप्त हो जाता है. हे गौतम ! तुम हर समय सावधान रहो ! जिस प्रकार कुशा के तिनके पर लटकी हुई ओस की बूंद क्षण भर के लिये ही अस्तित्व रखती है, मनुष्य का जीवन भी वैसा ही अस्थिर है. गौतम ! तुम हर समय सावधान रहो !"

विश्व के अनेक विचारकों ने जीवन की अनिश्चितता से प्रभावित हो कर क्रियात्मक सांसारिक जीवन को निरर्थक घोषित किया है.

बुद्ध ने दुःख तथा जीवन की अनिश्चितता से प्रेरित हो कर ही संसार को त्याग दिया. वह अशोक महान्, जिसका नाम विश्व के इतिहास में प्रेम और शान्ति का प्रतीक माना जाता है, इसी प्रकार दुःख तथा जीवन की अनिश्चितता से प्रभावित हुआ. विख्यात पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट की उदात्त नैतिकता और विश्वव्यापी शुभ संकल्प की धारणा भी मानवीय दुःखों के अनुभव से ही प्रेरित थी. काण्ट एक कड़े नैतिक अनुशासन में विश्वास करता था. यही कारण है कि जैनवाद में कठोर नैतिक अनुशासन पर बल दिया गया है. इसलिये महावीर ने साधुओं के लिये ऐसे नैतिक नियम निर्धारित किये, जो उन्हें पूर्णतया विरक्त बना दें.

जैनवाद के नैतिक सिद्धांत की व्याख्या करते हुए हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि विशेषकर साधु अथवा मुमुक्षु के लिये सत्य, अहिंसा ब्रह्मचर्यादि महाव्रतों का पालन विशेष महत्त्व रखता है और उनका अनुसरण करने के लिये विशेष सावधानी की आवश्यकता है. एक साधु अथवा साध्वी के लिये अहिंसा का व्रत स्वयं धारण करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु इस के साथ-साथ उसके लिये स्वयं हिंसा न करना और न ही किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा किसी प्रकार की हिंसा करवाना अनिवार्य है. इसी प्रकार एक साधु के लिये स्वयं असत्य न बोलना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु हर प्रकार के असत्य का बहिष्कार करना और मन, वचन तथा काया से असत्य का साधन न बनना भी आवश्यक है. इसी प्रकार अस्तेय अथवा अचौर्य के महाव्रत को धारण करने का अर्थ न स्वयं चोरी करना और नहीं प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में चोरी का समर्थन करना है. ब्रह्मचर्य का महाव्रत एक साधु से यह आशा रखता है कि वह हर प्रकार के काम-प्रवृत्यात्मक सम्पर्क से मुक्त हो और ऐसे कर्मो का साधन भी न बने. जैनवाद के अनुसार पांचवां महाव्रत अपरिग्रह का है. इस के अनुसार साधु के लिये स्वयं किसी भी सम्पत्ति को न रखना और किसी अन्य व्यक्ति द्वारा संचित संपत्ति का साधन न बनना भी आवश्यक है. इन पांच महाव्रतों का पालन करना प्रत्येक मुमुक्षु के लिये आवश्यक है. इस प्रकार का कड़ा नैतिक अनुशासन इसलिये प्रतिपादित किया गया है कि जैनवाद मोक्ष को चरम लक्ष्य मानता है. इससे पूर्व कि हम जैनवाद की आचारमीमांसा की व्याख्या करें, हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम तत्त्ववाद तथा आचारशास्त्र के अभेद-सम्बन्ध पर एक बार दृष्टि डालें.

इसका कारण यह है कि जैनवाद एक नैतिक तत्त्वात्मक (Ethico-Metaphysical) सिद्धांत है. यह वात सदैव स्मरण रखनी चाहिये कि तत्त्वविज्ञान के विना आचारशास्त्र न केवल अव्यावहारिक है, अपितु असंगत और असंभव भी है. एक वास्तविक नैतिक मनुष्य वही है जो दार्शनिक भी है और एक यथार्थ दार्शनिक वह नहीं है जो केवल सत्य का ज्ञान रखता हो, अपितु वह है जो दार्शनिक सिद्धान्तों को अपने व्यावहारिक जीवन पर लागू करता हो. इसी दृष्टिकोण को पुष्ट करते हुये विल ड्यूरैंट (Will Durant) ने एक दार्शनिक का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुये लिखा है—"To be a philosopher .....is not merely to have subtle thought, nor even to found a school, but so to love wisdom as to live according to its dictates, a life of simplicity, indepen-dance magnanimity and trust".

अर्थात् दार्शनिक होने का अर्थ केवल सूक्ष्म विचार रखना नहीं है और न ही कोई सिद्धान्त प्रतिपादन करना मात्र है, अपितु उसका अर्थज्ञान से उस प्रकार प्रेम रखना है कि उसके आदेश के अनुसार सरलता, स्वतंत्रता, सम्मान तथा सत्य-परायणता का जीवन व्यतीत किया जाय.

यदि हम पाश्चात्य दर्शन के इतिहास पर दृष्टि डालें, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि दर्शन का प्रत्येक उदात्त सिद्धान्त, स्पाइनोजा के सिद्धान्त की भांति तत्त्ववाद से आरम्भ होता है और आचारशास्त्र में समाप्त होता है. जहाँ तक भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों का संवंध है, हम यह कह सकते हैं कि नास्तिक तथा आस्तिक सिद्धान्त, समान नैतिक दृष्टिकोण रखते हुये भी एक-दूसरे से इसलिये विभिन्न हैं कि उनकी तत्त्वात्मक मान्यतायें समान नहीं हैं. चार्वाक जैसे नास्तिक सिद्धान्त भी अपनी सुखवादी आचारमीमांसा को उन तत्त्वात्मक धारणाओं पर आधारित करता है. जो पूर्णतया भौतिक हैं. यह एक खेद की वात है कि भारतीय दर्शन में यह प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं कि चार्वाक दर्शन एक पूर्ण विकसित सिद्धान्त था. तथापि हम चार्वाकज्ञानमीमांसा, तत्वमीमांसा तथा आचारमीमांसा के विषय में, भारतीय दर्शन के अन्य ग्रन्थों में उल्लेख प्राप्त करते हैं. अन्य सभी ग्रन्थों ने तो चार्वाक धारणाओं का विरोध करने के लिये ही चार्वाक दर्शन का प्रकरण दिया है और इसलिये भारतीय दर्शन के इस भौतिक सिद्धान्त के प्रति जो सामग्री उपलब्ध है वह चार्वाक ज्ञानमीमांसा तत्त्वमीमांसा तथा आचारमीमांसा को निषेधात्मक सिद्धान्त ही प्रमाणित करती है.

हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि अन्य सभी भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों की भाँति चार्वाकसिद्धान्त भी यह मानकर चलता है कि आधारभूत सत्ताका यथार्थ ज्ञान ही हमारे जीवनका मार्गदर्शन कर सकता है. क्योंकि हम यथार्थ ज्ञान को केवल प्रत्यक्ष द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं, इसलिए चार्वाकदर्शन के अनुसार कोई भी ऐसी वस्तु वास्तविक नहीं है जिसका कि हम प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर सकते हैं. परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि चार्वाक दार्शनिकों ने आधारभूत सत्ता को अस्वीकार किया है, यद्यपि उनका उद्देश्य अन्य सिद्धान्तों द्वारा स्वीकृत ईश्वर, आत्मा तथा अमरत्व की धार-णाओं का विरोध करना था. चार्वाकदर्शन निःसन्देह भौतिक द्रव्य को सत्ता मानकर चलता है, यद्यपि यह भौतिक द्रव्य वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तक ही सीमित माना गया है. क्योंकि चार्वाकदर्शन के अनुसार भौतिक द्रव्य ही वास्तविक है, इसलिये हम अधिक-से-अधिक सुख केवल भौतिक विषयों से ही प्राप्त कर सकते हैं. इस प्रकार चार्वाकदर्शन का मोक्ष के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण भी विशेष महत्त्व रखता है और यह प्रमाणित करता है कि चार्वाकदर्शन के अनुसार आचारशास्त्र तत्त्वमीमांसा पर निर्भर है.

अन्य सिद्धान्तों ने चार्वाक-आचारशास्त्र को अप्रमाणित करने के लिये उसकी तत्त्वात्मक धारणाओं पर ही आक्षेप किया है और ऐसा करके ही चार्वाक-आचारशास्त्र को निराधार वताने की चेष्टा की है. भारतीय स्वभाव से तत्त्ववादी हैं. इस आध्यात्मिक ऋषिभूमि में कोई भी ऐसा दर्शन नहीं पनप सकता जो तत्त्वात्मक न हो अथवा जिसका तत्त्वात्मक आधार निर्वल हो ; क्योंकि दर्शन शब्द का अर्थ आधारभूत सत्ता का प्रत्यक्षीकरण है. यही कारण है कि भारतीय दर्शन के इतिहास में अनेक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों का उत्थान-पतन हुआ है. यही तथ्य भारतीय संस्कृति के इतिहास के उस विरोधाभास की व्याख्या करता है जिसके अनुसार उदात्त नैतिक वुद्धधर्म, विश्वप्रिय होता हुआ भी अपनी जन्मभूमि से

उखाड़ दिया गया. महात्मा बुद्ध की उदात्त आचारमीमांसा, उनका अपूर्वविध सरलतम नैतिक विधान अहिंसा की आध्यात्मिक धारणा पर आधारित होता हुआ भी भारतीय जनता द्वारा इसलिये स्वीकार न किया गया कि उसमें तत्त्वात्मक प्रेरणा न थी. हमारे देश में केवल वे ही सिद्धान्त स्थिर रह सकते हैं जिनकी तत्त्वात्मक पृष्ठभूमि अत्यन्त दृढ़ है. भारतीय दर्शन के सिद्धान्त और व्यवहार का इतिहास यह प्रमाणित करता है कि तत्त्व-विज्ञान के विना आचार-शास्त्र अन्धा है और आचारशास्त्र के विना तत्त्व-विज्ञान शून्य है.

जैनवाद की सभी धारणाएं आचार सम्बन्धी तथा पूजा सम्बन्धी मतभेद रखते हुए भी इस बात में सहमत हैं कि आधारभूत सत्यों का यथार्थ ज्ञान मोक्ष की प्राप्ति के लिये नितान्त आवश्यक है. उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार—'वही व्यक्ति सत् का आचरण करने वाला है जो आधारभूत सत्य ज्ञान में विश्वास रखता है'. जैनवाद के अनुसार जीव के बन्धन का एक मात्र कारण मिथ्यात्व अथवा आधारभूत सत्यों के प्रति मिथ्याज्ञान है. यही कारण है कि जैन आचार-शास्त्र का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये जैन तत्त्वमीमांसा पर प्रकाश डालना नितान्त आवश्यक है. वर्द्धमान महावीर ने जिन नव तत्त्वों को प्रतिपादित किया है वे आजतक जैन सिद्धान्त की आधारशिला हैं. ये नवतत्त्व निम्नलिखित हैं—(१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आस्रव (६) बन्ध (७) संवर (८) निर्जरा (९) मोक्ष. इन तत्त्वों की व्याख्या जैनवाद में इसलिये की जाती है कि हम यह जान सकें कि जीव किस प्रकार संसारचक्र में फंसता है और उसे किन विधियों द्वारा मुक्त किया जा सकता है. यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि वास्तव में जैनवाद के अनुसार जीव तथा अजीव दो मुख्य तत्त्व हैं और अन्य सभी तत्त्व इन दोनों के विभिन्न स्तर हैं. दूसरे शब्दों में जीव तथा अजीव दो आधारभूत सत्ताएं हैं, पुण्य पाप आदि उनकी उपाधियां हैं.

जीव—जीव को चैतन्य माना गया है और ज्ञान तथा दर्शन उसके दो मुख्य लक्षण बताए गए हैं. जीव में पांच प्रकार के ज्ञान हैं, जिन्हें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ज्ञान कहा गया है. दर्शन चार प्रकार के हैं–चक्षु, अचक्षु, अवधि तथा केवल. किन्तु कर्म रूप पौद्गलिक द्रव्य के साथ सम्बद्ध रहने के कारण जीव का वास्तविक ज्ञान तथा वास्तविक दर्शन आच्छादित रहता है. इसलिये जीवनमुक्ति प्राप्त करने के लिये कर्म-पुद्गल का सम्बन्ध हटा देना आवश्यक है. जीव का चरम लक्ष्य केवलज्ञान तथा केवलदर्शन एवं सर्वज्ञता प्राप्त करना है. यह तभी सम्भव हो सकता है, जब जीव पूर्णतया उन कर्मों से पृथक् हो जाय, जिनमें वह आस्रवों के द्वारा लिप्त है. प्रत्येक अवस्था में जीव बन्ध में होता है. जीव की ये अवस्थाएं पृथ्वीकाय (पृथ्वी सम्बन्धी जीव) अप्काय (जल संबंधी जीव) वनस्पतिकाय (वनस्पति सम्बन्धी जीव) पशु, मनुष्य, देवता तथा दैत्यादि हैं. ये सभी जीव कर्मबन्धन में होते हैं. केवल मुक्त जीव ही कर्मपुद्गलरहित होता है.

अजीव—जैनदर्शन के अनुसार धर्म अधर्म, पुद्गल, आकाश तथा काल पाँच ऐसे द्रव्य हैं जिन्हें अजीव कहा गया है. धर्म तथा अधर्म जैन परिभाषा के अनुसार विशेष अर्थ रखते हैं. यहां पर धर्म का अर्थ सद्गुण अथवा धार्मिक विश्वास न होकर गति का आधारभूत नियम है. धर्म वह द्रव्य है, जो एक विशेष रूप से गति को सहायता देता है. वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म द्रव्य है और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गति को संभव बनाता है. इसी प्रकार अधर्म वह द्रव्य है, जो विशेष रूप से वस्तुओं की स्थिति में सहायक होता है. दूसरे शब्दों में धर्म का लक्षण गति है और अधर्म का लक्षण स्थिति है. पुद्गल निस्संदेह विशुद्ध भौतिक द्रव्य का नाम है. इसमें रस, रूप, गन्ध आदि के गुण उपस्थित रहते हैं. इसका विश्लेषण तथा सम्मिश्रण हो सकता है. यह आणविक है और इसका आकार होता है, इसलिये पुद्गल को रूपी कहा गया है. इसका सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप अणु है और स्थूल-से-स्थूल रूप समस्त भौतिक विश्व रूप है. जैनदर्शन के अनुसार लम्बाई, चौड़ाई, सूक्ष्मता, स्थूलता, हल्कापन और भारीपन, बन्ध, पार्थक्य, आकार, प्रकाश तथा अन्धकार और धूप एवं छाया सभी पौद्गलिक तत्त्व हैं. जीव के बन्ध का अर्थ कर्मपुद्गल से प्रभावित होना है और निर्जरा का अर्थ पुद्गल का क्षय है. पुद्गल के इस रूप की व्याख्या करना इसलिये आवश्यक है कि जैन आचारशास्त्र का मुख्य उद्देश्य कर्मपुद्गल का अन्त करना है. संन्यास के नियमों का कठोरता से पालन करने एवं सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्चरित्र के अनुसरण करने का

उद्देश्य कर्मपुद्गल से निवृत्ति प्राप्त करना है. आकाश को भी जैनदर्शन में सर्वव्यापी द्रव्य स्वीकार किया गया है. आकाश के दो भाग हैं, लोकाकाश तथा अलोकाकाश. लोकाकाश, आकाश का वह भाग है जिसमें धर्म, अधर्म, पुद्गल जीव तथा काल स्थित होते हैं. अलोकाकाश वह (शून्य) द्रव्य है, जो लोकाकाश से परे है और जिसमें उपरोक्त पांचों द्रव्य नहीं हैं. अलोकाकाश में धर्म, अधर्म न होने के कारण किसी प्रकार की गति या स्थिति नहीं होती है.

जैनदर्शन में काल भी ऐसा द्रव्य स्वीकार किया गया है, जो पुद्गल तथा जीव के परिवर्तन का आधार है. हमें यह देखना है कि आकाश के लोक भाग में धर्म अधर्म पुद्गल तथा जीव होते हैं. पुद्गल और जीव गति और स्थिति से प्रभावित होते हैं. पुद्गल जीव को बन्ध में डाल देता है और जीव अपने आपको पुद्गल से मुक्त करके निर्जरा एवं जीवनमुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करता है. किन्तु इस प्रकार पुद्गल से निवृत्त होने की प्रक्रिया में, जीव अनेक परिवर्तनों से गुजरता है. पुद्गल में भी सूक्ष्मसे स्थूल बनने में परिवर्तन होते हैं. पुद्गल तथा जीव का यह परिवर्तन, जो कि इन दोनों के विकास का कारण है, काल तत्त्व पर आधारित है.

**पुण्य**—पुण्य का अर्थ शुभ कार्य माना जाता है. जैनदर्शन में भी पुण्य की यही परिभाषा स्वीकार की जाती है. किन्तु पुण्य के दो अंग हैं. क्रियात्मक दृष्टि से तो पुण्य एक शुभ कर्म है, जो जीव द्वारा किया जाता है. यदि शुभकर्म का अर्थ वह कर्म-पुद्गल हो जो जीव द्वारा संचित किया जाता है और जिसका आगामी काल में भोग किया जाता है, तो हम पुण्य के पौद्गलिक अंग की ओर संकेत कर रहे होते हैं. वास्तव में पुण्य एक प्रवृत्ति भी है और संस्कार भी. यहां पर प्रवृत्ति का अर्थ क्रियाशीलता और संस्कार का अर्थ कर्मपुद्गल है. जो क्रियाएँ शुभ संस्कारों को संचित करने में सहायता देती हैं वे पुण्य कहलाती हैं. जैनदर्शन के अनुसार नौ प्रकार के पुण्य स्वीकार किये गये हैं—(१) अन्नपुण्य (२) पानपुण्य (३) वस्त्रपुण्य (४) लयनपुण्य (५) शयनपुण्य (६) मनपुण्य (७) शरीरपुण्य (८) वचन पुण्य (९) नमस्कारपुण्य. अन्नपुण्य का अर्थ किसी ऐसे भूखे या दरिद्र या अकिंचन तपस्वी को भोजन देना है जो उसका पात्र है. इसी प्रकार पानपुण्य का अर्थ किसी प्यासे व्यक्ति की प्यास को बुझाना है. वस्त्रपुण्य का अर्थ उन लोगों को वस्त्र दान देना जिन्हें शरीर को ढंकने के लिये आवश्यकता है. जैनदर्शन के अनुसार यद्यपि अन्न, जल और वस्त्र का दान किसी भी सुपात्र व्यक्ति को दिया जा सकता है, तथापि ये तीनों संयमशील महाव्रती साधुओं के प्रति किये जायं तो उनका महत्त्व और भी अधिक हो जाता है. लयन तथा शयन पुण्यों का अर्थ ठहरने का स्थान तथा शयन के लिये पट्टा आदि देना है. मनपुण्य शरीर पुण्य तथा वचन पुण्य का अर्थ शरीर मन और वाणी का इस प्रकार प्रयोग करना है कि व्यक्ति हर प्रकार की हिंसा से बचे और दूसरों को धर्म तथा नैतिकता की ओर आकर्षित करे. नमस्कारपुण्य का अर्थ गुणी जनों को श्रद्धापूर्वक नमस्कार करना है.

**पाप**—जैनदृष्टिकोण के अनुसार पाप का अर्थ राग द्वेष आदि भावों से प्रभावित होकर निकृष्ट कर्म करना है. यह वास्तव में मनुष्य की नीच प्रवृत्तियों का उसकी शुभ प्रवृत्तियों के विरुद्ध आन्दोलन है. जैनदर्शन के अनुसार निम्नलिखित अठारह पाप माने गये हैं– (१) प्राणवध अथवा जीवहिंसा जिसका अर्थ किसी भी जीवधारी को अथवा उसकी जीवनशक्ति को क्षति पहुंचाना है. (२) असत्य अथवा मृषावाद अर्थात् असत्य बोलना. (३) अदत्तादान पाप अथवा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से चोरी करना. (४) अब्रह्मचर्य पाप जिसका अर्थ मन अथवा शरीर द्वारा कामवृत्ति की तृप्ति करना है, (५) परिग्रह पाप, जिसका अर्थ अपनी सम्पत्ति में आसक्ति है. (६) क्रोधपाप (७) मान पाप अर्थात् अहंकार. (८) माया पाप अथवा छल-कपट. (९) लोभपाप अथवा लालच करना (१०) रागपाप अथवा आसक्ति (११) द्वेषपाप, जिसका अर्थ किसी भी जीव के प्रति घृणा रखना है. (१२) क्लेश पाप अथवा कलह. (१३) अभ्याख्यान पाप, जिसका अर्थ किसी व्यक्ति का अपमान करने के लिये अपवाद फैलाना है. (१४) पैशून्य पाप, जिसका अर्थ चुगलखोरी है. (१५) पर-परिवाद पाप, जिसका अर्थ दूसरों की निन्दा अथवा उनके दोषों पर बल देना है. (१६) रति-अरति पाप, जिसका अर्थ संयम में अरुचि और विषयभोग आदि में रुचि है. (१७) मायामृषा पाप, जिसका अर्थ औचित्य और सद्गुण के आवरण में अनुचित तथा दूषित कर्म करना है. (१८) मिथ्यादर्शनशल्य पाप जिसका अर्थ असत् को सत् स्वीकार करना है.

वन्ध—वन्ध का अर्थ जीव का उसी प्रकार कर्मपुद्गल से मिश्रित होना है, जिस प्रकार दूध में पानी का मिश्रण होना. जीव का कर्मपुद्गल से सम्बद्ध होना अनादि माना गया है. किन्तु ऐसा होते हुए भी यह वन्ध अनन्त नहीं है. व्यक्ति इस वन्ध को तोड़ सकता है और निर्जरा प्राप्त कर सकता है. उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—"चरित्रसम्पन्न होने के कारण साधु मेरुपर्वत की भाँति स्थायित्व प्राप्त कर लेता है और कर्म के उन अंशों को नष्ट कर देता है, जो केवली में भी उपस्थित होते हैं. उसके पश्चात् वह पूर्णत्व, ज्ञान, मुक्ति तथा परम निर्जरा को प्राप्त करता है और सभी दुखों का अन्त कर देता है." यही अवस्था वन्ध से मुक्त होने की अवस्था है. वन्ध चार प्रकार के माने गए हैं—(१) प्रकृति वन्ध (२) स्थितिवन्ध (३) अनुभागवन्ध (४) प्रदेशवन्ध. वन्ध के ये विभिन्न वर्ग वास्तव में कर्मपुद्गल तथा जीव के परस्पर संयुक्त होने के विभिन्न स्तर हैं. प्रकृतिवन्ध का अर्थ है बंधनेवाले कर्म का स्वभाव; उदाहरण—ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति ज्ञान को आच्छादित करने की है. इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृति दर्शन (सामान्यज्ञान) को आच्छादित करने की है. स्थितिवन्ध कर्मपुद्गल तथा सायुज्य (Unity) को वतलाता है. अनुभागवन्ध कर्म के फल की तीव्रता और मन्दता को निर्दिष्ट करता है. प्रदेशवन्ध कर्मपुद्गल तथा जीव के सायुज्य के ऐसे प्रकार को वतलाता है जो दूध-पानी के मिश्रण की भाँति हो सकता है.

आस्रव—आस्रव जीव का वह वैभाविक गुण है, जो कर्म को आकर्षित करता है. इसे आत्मा का वह विकार एवं भाव कहा गया है जो शुभ तथा अशुभ कर्मपुद्गल तथा जीव को अपनी ओर आकर्षित करता है और जो उसे जीव में विलीन कर देता है. आस्रव कर्म की जीव में आगति अथवा अन्दर की ओर प्रवाह है. आस्रव की परिभाषा देते हुए श्रीपूर्णचंद नाहर ने लिखा है—'Asrava is the influx of the Karma particles into the Soul, or it may be said as the acquirement by the soul of the fine Karma matter from without" अर्थात् आस्रव कर्म-पुद्गल का जीव में प्रवाह है अथवा उसे जीव के द्वारा वाहर से सूक्ष्म कर्मपुद्गल को ग्रहण करने की क्षमता कहा जा सकता है. आस्रव को प्रायः दो वर्गों में विभक्त किया जाता है. (१) भावआस्रव अथवा अन्तरात्मक प्रवाह. (२) द्रव्य-आस्रव अथवा विषयात्मक प्रवाह.

भाव-आस्रव का प्रवाह वह मानसिक अवस्था अथवा परिवर्तन है, जो जीव को इस प्रकार आकर्षक वना देता है मानों वह चुम्वक की भाँति कर्मपुद्गल को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है. द्रव्य-आस्रव का अर्थ वह कर्मपुद्गल है, जो जीव के द्वारा आकर्षित किया जाता है और संचित किया जाता है.

आस्रवों की एक और प्रकार की व्याख्या भी की गई है. इस दृष्टि से उनकी एक जलाशय की उन मोरियों से तुलना की गई है जिनके द्वारा जल अन्दर की ओर प्रवाहित होता है. इस दृष्टि से निम्नलिखित पाँच प्रकार के आस्रव माने गए हैं—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय (५) योग.

मिथ्यात्व का अर्थ आधारभूत सत्ता के प्रति विपरीत धारणा एवं मिथ्या धारणा रखना है. अविरति का अर्थ त्याग के विपरीत झुकाव है. प्रमाद का अर्थ सत् कर्म के प्रति आलस्य है. कषाय का अर्थ राग-द्वेष का उत्पन्न होना तथा प्रभाव-शाली होना है और योग का अर्थ शरीर, मन तथा वचन की क्रिया है. योग को भी दो अन्य वर्गों में विभक्त किया गया है, जिन्हें शुभ योग तथा अशुभ योग कहा गया है. शुभ योग पुण्यवन्ध को उत्पन्न करता है और अशुभ योग पाप-वन्ध को. शुभ योग, जो शुभ पुण्य का संचय करने वाला है और कर्मपुद्गल के वन्ध का कारण है, जीव को निर्जरा की ओर अवश्य ले जाता है. यों तो जैन दर्शन में आस्रवों की वहुत वड़ी सूचियां दी गई हैं किन्तु अन्य सव आस्रवों को ऊपर दिये गये पांच आस्रवों के अन्तर्गत किया जा सकता है.

संवर—आस्रव को वन्ध का कारण माना गया है. जैनदर्शन का मुख्य उद्देश्य वन्ध से पूर्णतया मुक्त होकर मोक्ष की प्राप्ति है, इसलिये जैनवाद की दृष्टि से सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व वह है जो कर्म को पूर्णरूप से नष्ट कर देता है. इसी महत्त्वपूर्ण तत्त्व को जैनवाद में संवर कहा गया है. क्योंकि आस्रव जीव के वास्तविक रूप एवं उसकी स्वतंत्र तथा निहित दिव्य सत्ता को आच्छादित करता है, इसलिये संवर वह तत्त्व है जो आस्रव का विरोधी है और जीव की वास्तविक

सत्ता की स्थापना करता है. संवर के द्वारा आस्रव रूपी कर्मपुद्गल के प्रवाह को रोक दिया जाता है. संवर का अर्थ जीवन के उन नियमों का अपनाना तथा तपश्चर्या करना है, जो जीव को आस्रवों से मुक्त करे और नवीन कर्म-बन्धन का अंत कर दे. निम्नलिखित पांच मुख्य संवर उल्लेखनीय हैं—(१) सम्यक्त्व अथवा आधारभूत सत्ता में दृढ़ विश्वास (२) विरति अथवा अनासक्ति (३) अप्रमाद अथवा सावधानी (४) अकषाय अथवा क्रोधादि विकारों से निवृत्ति (५) अयोग अथवा शरीर, मन और वाणी की क्रियाओं से मुक्ति.

ये पंचविध संवर जीव का अन्तरात्मक परिवर्तन कर देते हैं. जैन शास्त्रों में इन संवरों की भी विस्तृत सूचियां दी गई हैं और ५७ संवर संबंधी नियम निर्धारित किये गये हैं. ५७ नियम निम्नलिखित रूप में संक्षेप में बताए जा सकते हैं. (क) पांच समितियां (ख) तीन गुप्तियां (ग) दस यतिधर्म (घ) बारह भावनाएं (ङ) बाईस परीषह और (च) पांच चारित्र.

इन ५७ नियमों की व्याख्या का हमारे विषय से विशेष संबंध नहीं है, क्योंकि ये सभी संवर विशेषतया साधुओं के व्यवहार से सम्बन्ध रखते हैं. यहां पर इतना कह देना पर्याप्त है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों का अनुसरण करने से और इन्हें किसी भी प्रकार भंग न होने देने से जीव कर्म के प्रभाव से मुक्त हो जाता है, और जब उसके कर्मों का क्षय हो जाता है, तो उसे मुक्त अवस्था की प्राप्ति होती है.

**निर्जरा**—निर्जराका अर्थ जीव की वह अवस्था है जिसमें कर्मपुद्गल का आंशिक क्षय हो जाता है. निर्जरा को स्पष्ट करने के लिये निम्नलिखित तीन उदाहरण उपयोगी सिद्ध होते हैं—(१) जिस प्रकार जलाशय का गन्दा पानी मोरियों के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है, उसी प्रकार जब कर्म रूपी पानी आध्यात्मिक शासन के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है, तो व्यक्ति निर्जरा प्राप्त करता है. (२) जिस प्रकार घर से झाड़ू के द्वारा कूड़ा-कर्कट बाहर निकाल दिया जाता है, उसी प्रकार जब कर्म रूपी पानी आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है, तो व्यक्ति निर्जरा प्राप्त करता है. (३) जिस प्रकार नाव में एकत्रित जल को हाथों से बाहर फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार आत्मा में संचित कर्म को बाहर निकाल देना निर्जरा है.

**मोक्ष**—मोक्ष निःसंदेह जीव की कर्मपुद्गल से पूर्ण रूप से निवृत्ति है. हम ने यह पहले ही बतलाया है कि चार प्रकार के बन्धों के द्वारा जीव कर्मपुद्गल से जुड़ा रहता है. यद्यपि हमने बन्ध की व्याख्या ऊपर की है, तथापि मोक्ष की धारणा को उदाहरणों द्वारा अधिक स्पष्ट करने के लिये बन्ध के निम्नलिखित तीन उदाहरण देना आवश्यक है.

(१) जिस प्रकार दूध और मक्खन एक दूसरे में ओतप्रोत होते हैं उसी प्रकार जीव और कर्म बन्ध द्वारा एक दूसरे में विलीन होते हैं.

(२) जिस प्रकार धातु और मिट्टी एक दूसरे में विलीन होते हैं, उसी प्रकार आत्मा और कर्म बन्ध द्वारा एक दूसरे में जुड़े होते हैं.

(३) जिस प्रकार तिल और तेल एक दूसरे में ओतप्रोत होते हैं उसी प्रकार बन्ध द्वारा जीव और कर्म एक दूसरे में समाविष्ट होते हैं.

क्योंकि मोक्ष की अवस्था हर प्रकार के कर्म से जीव की पूर्ण निवृत्ति है, इसलिए निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा मोक्ष की उचित व्यवस्था की जा सकती है—(१) जिस प्रकार तेल को कोल्हू के द्वारा तिल से निकाल लिया जाता है, उसी प्रकार जब आत्मसंयम और तपश्चर्या के द्वारा जीव को कर्म से पृथक् कर दिया जाता है, मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है. (२) जिस प्रकार मक्खन को विलोने के द्वारा छाछ से पृथक् कर दिया जाता है उसी प्रकार जब जीव को तपश्चर्या और आत्मसंयम द्वारा कर्म से पृथक् कर दिया जाता है, तो मोक्ष प्राप्त करता है.

## जैन आचारशास्त्र में संन्यासवाद

जैन आचारशास्त्र की विशेषता यह है कि वह अत्यन्त कठोर है, क्योंकि उसका परम उद्देश्य मोक्ष है, जिसका अर्थ अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन तथा अनन्त शक्ति है. इस असाधारण अवस्था की प्राप्ति स्वार्थ का पूर्णतया त्याग किये विना कदापि नहीं हो सकती. जैनदृष्टि से केवल संन्यासी ही इन कठोर नैतिक नियमों का अनुसरण कर सकता है, क्योंकि वह सभी सांसारिक वन्धनों को त्याग देता है. वास्तव में भारतीय दर्शन में प्रायः सभी सिद्धान्तों द्वारा संन्यास की भावना को अनन्त अवस्था प्राप्त करने का साधन माना गया है. आत्मानुभूति के लिये सभी सांसारिक वस्तुओं का त्याग करना आवश्यक माना गया है. इस प्रकार के उच्च संन्यासवाद की ओर प्रवृत्ति आत्मा की अनन्त वनने की प्रवल इच्छा से ही प्रेरित होती है. यह संन्यासवाद आत्माको विशाल वनाता है, व्यक्ति को उसकी स्वार्थ की भावनाओं से मुक्त करता है और एक ऐसे जीवन का निर्माण करता है, जिसमें मानवमात्र के लिये प्रेम तथा सहानुभूति की भावना की प्रधानता होती है.

संन्यासवाद का अर्थ सेवा तथा आत्मत्याग है. सेवा तथा आत्मत्याग का अनुसरण कायर तथा निर्वल व्यक्ति नहीं कर सकता, अपितु इस मार्ग पर वीर और साहसी आत्मा ही चल सकती है. एक सामान्य व्यक्ति को भले ही संन्यास का जीवन अपूर्ण प्रतीत होता हो किन्तु यह तथाकथित अपूर्ण जीवन वास्तव में पूर्ण जीवन है. इसी दृष्टि को लाओजू जैसे चीनी दार्शनिकों ने भी अपनाया है. लाओजू के अनुसार "सरल जीवन ऐसा निष्कपट जीवन है, जिसमें लाभ को एक ओर फेंक दिया जाता है, चातुर्य का त्याग किया जाता है, स्वार्थ तथा इच्छाओं का वलिदान कर दिया जाता है. यह पूर्णता का ऐसा नियम है जो अपूर्ण प्रतीत होता है, ऐसी सम्पन्नता है जो रिक्त दिखाई देती है, ऐसा पूर्ण सीधा मार्ग है जो टेढ़ा दिखता है ऐसी दक्षता है जो असुन्दर दिखाई देती है, और ऐसी वाक्पटुता है जो मौन दिखाई देती है. यह ऐसा जीवन है जो तलवार की धार की भांति तीखा है, किन्तु जो चुभता नहीं है. यह एक रेखा की भांति सीधा है किन्तु प्रसारित नहीं है. प्रकाश की भांति चमकदार है परन्तु आंखों को चुंधियाता नहीं है. यह वस्तुओं के उत्पादन तथा उनके पोपण का वह जीवन है, जिसमें उन वस्तुओं को अपना नहीं वनाया जाता है. यह कर्म में प्रवृत्त होने की विधि है जिसमें स्वाभिमान नहीं रहता है. यह एक ऐसा साम्राज्य है, जिसमें प्रभुत्व नहीं जमाया जाता."

संन्यास-जीवन का यह विचित्र लक्षण, जो कि एक विरोधाभास को प्रकट करता है, ऐसी जटिलता उत्पन्न करता है, जिसको सुलझाना सामान्य व्यक्ति का काम नहीं है. इस जीवन के मर्म को समझने के लिए ऐसे जीवन का गम्भीर अध्ययन करना चाहिए. हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि संन्यासी के जीवन का उद्देश्य मानवमात्र का उत्थान तथा उसका आदर्श एक सम्पूर्ण जीवन की प्राप्ति होने के कारण निराशावाद को वह प्रश्रय नहीं दे सकता. इसमें सन्देह नहीं कि संन्यासी जीवन के तथाकथित सुखों को घृणा की दृष्टि से देखता है किन्तु उसका उद्देश्य परम सुख होता है. वह अपने वातावरण के प्रति असन्तुष्ट या कम से कम तटस्थ दिखाई देता है, तथापि उसका मुख्य उद्देश्य परम सत्ता की अनुभूति होता है. भारतीय दर्शन को समझने के लिये हमें बुद्ध द्वारा प्रस्तुत चार आर्यसत्यों को नहीं भूलना चाहिए जो निम्नलिखित हैं:—

(१) विश्व में दुख है (२) उस दुख का कारण है (३) उस दुख का अन्त होता है तथा (४) इस उद्देश्य की प्राप्ति का उपाय है. इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय दर्शन संन्यासवाद को निराशावाद के रूप में ग्रहण नहीं करता, अपितु उसे मोक्ष का साधन मात्र ही मानता है.

जैनवाद को श्रमणवाद इसलिए कहा जाता है कि इसके अनुसार केवल संन्यासी अथवा साधु ही अहिंसा का निरपेक्ष अनुसरण करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है. यद्यपि इसमें गृहस्थियों के लिए भी नैतिक नियमों का प्रतिपादन किया गया है, तथापि जैन आचारशास्त्र प्रधानतया संन्यासवादी आचार शास्त्र है. गृहस्थ श्रावकों के लिये जिस प्रकार के आचार को प्रतिपादित किया जाता है, उसे अणुव्रत कहते हैं. किन्तु जो आचार साधुओं के लिये प्रतिपादित किया गया है, उसे महाव्रत कहा जाता है. महाव्रतों तथा अणुव्रतों की व्याख्या करने से पूर्व यह वताना आवश्यक है कि जैन आचारशास्त्र

मोक्ष को ही एक मात्र पुरुषार्थ मानता है और मोक्ष की यह तत्त्वात्मक धारणा ही उसे पाश्चात्य आचारशास्त्र के सिद्धान्तों की अपेक्षा उत्कृष्ट प्रमाणित करती है.

जैनवाद के अनुसार मोक्ष की धारणा एक ऐसा अमूर्त आदर्श नहीं है, जो कि मनुष्यों को केवल इच्छाओं का अन्त करने की आज्ञा दे, और न ही वह पश्चिमी सुखवाद की भाँति इच्छाओं की निरकुंश तृप्ति को वांछनीय स्वीकार करता है. जब मोक्ष की प्राप्ति होती है तो व्यक्ति अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य प्राप्त करने के कारण पूर्णत्व का अनुभव करता है और उसकी इच्छाएं स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं. इस प्रकार शाश्वत और व्यापक आत्मानुभूति में कान्ट द्वारा प्रस्तुत तर्कात्मक आकार तथा पश्चिमी सुखवाद द्वारा प्रतिपादित सुख की भौतिक सामग्री दोनों सम्मिलित होते है. मोक्ष निःसन्देह एक तर्कात्मक एवं प्रत्ययात्मक धारणा हैं और साधारण दृष्टि से भौतिक नहीं कहा जा सकता, किन्तु इसके साथ ही साथ मोक्ष की अनुभूति, जिसका अर्थ आत्मानुभूति है, नैतिकता को विश्वव्यापी आत्मा से सम्बन्धित करती है और इस व्यापक आत्मानुभूति में तर्क तथा सुख दोनों का समन्वय हो जाता है.

यह सत्य है कि एक पूर्ण नैतिक सिद्धांत के लिये एक ऐसी तत्त्वात्मक धारणा की आवश्यकता है, जो आदर्श होते हुए भी वास्तव में अनुभूत किया जा सके और जो व्यापक होते हुए भी अन्तरात्मक हो. यद्यपि कान्ट ने सद्गुण के आन्तरिक अंग पर बल दिया है, तथापि उसने एक बाहरी ईश्वर की मान्यता को अपने नैतिक सिद्धांत को पूर्ण बनाने के लिये ही स्वीकार किया है. कान्ट एक व्यापक दृष्टिकोण को ही आदर्श दृष्टिकोण मानता है और कहता है कि हमें अपने आपको तथा अन्य मनुष्यों को कदापि साधन न मान कर स्वलक्ष्य-साध्य ही स्वीकार करना चाहिए. वह एक उद्देश्यात्मक साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा करता है, यद्यपि उसका यह उद्देश्यवाद कुछ अस्पष्ट है. तथापि कान्ट की धारणा है कि सदाचार तथा सुख दोनों मिल कर पूर्ण शुभ का निर्माण करते हैं, तथापि वह यह स्पष्ट नहीं करता कि इन दोनों का परस्पर समन्वय कैसे किया जा सकता है ? इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिये वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर की धारणा को स्वीकार करता है, जो प्रत्येक व्यक्ति को उसके सदाचार के अनुरूप सुख प्रदान करने वाला है. यह एक विचित्र बात है कि वह कान्ट, जो उद्देश्यात्मक साम्राज्य का समर्थक है और जो इस बात पर बल देता है कि मनुष्य स्वलक्ष्य है, वह स्वयं ईश्वर को सदाचार तथा सुख के समन्वय के उद्देश्य की पूर्ति के लिये साधन मात्र स्वीकार करता है. कान्ट मनुष्य को स्वलक्ष्य मानते हुए भी सदाचार के आत्मसंगत सिद्धांत को इसलिये संगत प्रमाणित नहीं कर सका क्योंकि वह आत्मानुभूति के सिद्धांत से अनभिज्ञ था, वह मोक्ष की धारणा का ज्ञान नहीं रखता था.

पश्चिमीय नैतिक सिद्धांत, नैतिकता को सापेक्ष स्वीकार करते हैं और उसे एक विरोधाभास मानते हैं. ब्रैडले ने अपनी पुस्तक 'नैतिक अध्ययन' (Ethical Studies) में लिखा है ......'नैतिकता में विरोधाभास तो है ही, वह हमें उस वस्तु को अनुभूत करने का आदेश देती है जिसकी (पूर्ण) अनुभूति कदापि नहीं हो सकती और यदि उसकी अनुभूति हो जाय तो वह स्वयं नष्ट हो जाती है. कोई भी व्यक्ति कभी भी पूर्णतया नैतिक नहीं रहा है और न भविष्य में हो सकता है. जहां पर अपूर्णता नहीं है, वहां पर कोई नैतिक औचित्य नहीं हो सकता. नैतिक औचित्य एक विरोधाभास है.'

क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति की धारणा पाश्चात्य विचारकों को ज्ञात नहीं है, इसलिये वे इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं कि नैतिकता के विरोधाभास को ऐसे स्तर पर पार किया जा सकता है, जो कि तर्क और बुद्धि से ऊंचा स्तर है. कान्ठ तत्त्वात्मक दृष्टि से तो अनुभवातीत सिद्धांत प्रस्तुत करता है. किन्तु वह अनुभवातीत नैतिक सिद्धांत (Transcendentalism in Ethics) प्रस्तुत नहीं कर सका. यही कारण है कि उसे धर्मवाद का आश्रय लेना पड़ा और बाह्यात्मक तथा वैयक्तिक ईश्वर की धारणा को स्वीकार करना पड़ा. जैनवाद मनुष्य के विरोधाभास और उसकी अपूर्णता से सन्तुष्ट नहीं रहता. उसके अनुसार मनुष्य स्वभाव से विरोधाभास से परे है और उसमें पूर्णत्व निहित है. उसके जीवन का उद्देश्य नैतिक तथा आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा इस अव्यक्त पूर्णत्व को व्यक्त करना है. मनुष्य में विरोधाभास नहीं है. हमें ऐसी नैतिकता को स्वीकार ही नहीं करना चाहिए, जो एक विरोधाभास हो. ब्रैडले ने स्वयं स्वीकार किया है "मनुष्य विरोधाभास से कुछ अधिक है." मेरी यह धारणा है कि यह आधिक्य वह आध्यात्मिक क्षमता है, जो

मनुष्य को पूर्णता तथा समरूपता प्राप्त करने के योग्य बनाती है एवं उसे मोक्ष की अनुभूति कराती है. केवल ऐसी मोक्ष की धारणा के द्वारा ही आकार तथा सामग्री, सत् तथा असत्, शुभ तथा अशुभ, तर्क तथा सुख, सामाजिक तथा वैयक्तिक कल्याण के विरोध को दूर किया जा सकता है. नैतिकता के आदर्श के रूप में मोक्ष हमें आकार तथा सामग्री, तर्क तथा सुख देता है. इस प्रकार जैनवाद के अनुसार मोक्ष ही एक मात्र नैतिक आदर्श है. इस दृष्टिकोण को सामने रखते हुए हमें जैन आचारशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए.

## संन्यासी अथवा साधु की आचार-मीमांसा

जैनसिद्धांत के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों का अनुसरण करना मोक्ष का साधन है. जैनधर्म में इन्हीं पांच नियमों को साधुओं के आचार के आधारभूत नियमों के रूप में स्वीकार किया गया है. अहिंसा का अर्थ हर प्रकार की हिंसा से बचना है, चाहे वह हिंसा सूक्ष्म से सूक्ष्म अदृश्य जीवों की हो, चाहे वह पशुओं की हो और चाहे मनुष्यों की. हिंसा का अर्थ केवल शरीर द्वारा हिंसा करना ही नहीं है, अपितु मन और वचन द्वारा भी हिंसा करना है. जब जैन साधु अहिंसा का पालन करता है, वह हर प्रकार से यही चेष्टा करता है कि इस महाव्रत का यथासम्भव निरपेक्ष रूप से अनुसरण करे और मन, वचन तथा काया से किसी भी जीवधारी को दुःख न दे. यह तीन प्रकार की अहिंसा तीन गुप्तियों पर आधारित मानी जाती है. दूसरे शब्दों में मन, वचन तथा कर्म द्वारा महाव्रतों के पालन करने को तीन गुप्तियां कहा गया है. हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सभी महाव्रतों का मूल आधार अहिंसा महाव्रत है. इस अहिंसा का निरपवाद अनुसरण करने के लिये ही अन्य चारित्र संबंधी नियमों को स्वीकार किया गया है. सत्य बोलना इसलिये आवश्यक है कि किसी के प्रति झूठ बोलने से उस व्यक्ति को कम से कम मानसिक आघात अवश्य पहुँचता है. यदि कोई व्यक्ति सत्य की अवहेलना करके केवल अहिंसा को अपनाने की चेष्टा करे तो वह कदापि ऐसा नहीं कर सकता. असत्य बोल कर हम निःसंदेह वचन द्वारा हिंसा करते हैं और दूसरे व्यक्ति के मन को दुःखी करते हैं. इसी प्रकार किसी व्यक्ति की संपत्ति को चुराना एवं तीसरे महाव्रत को भंग करना हिंसा है. जिस व्यक्ति की सम्पत्ति चुराई जाती है, निःसंदेह उसको मानसिक आघात पहुँचता है. अतः अस्तेय भी अहिंसा पर आधारित है. आधुनिक विज्ञान भी इस दृष्टिकोण को पुष्ट करता है कि ब्रह्मचर्य पर न चलने से अर्थात् काम की तृप्ति से असंख्य जीवों की हिंसा होती है. अतः ब्रह्मचर्य अहिंसा को पुष्ट करने का साधन है. अपरिग्रह का अर्थ आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति न रखना है. यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक धन-धान्य आदि रखता है, वह निःसंदेह उन निर्धनों और भूखों को जीवन की आवश्यकताओं से वंचित रख रहा है, जिनकी रक्षा करने के लिये अतिरिक्त धन और धान्य का सदुपयोग किया जा सकता है. अतः अपरिग्रह का अनुसरण करना अहिंसात्मक जीवन को पुष्ट करना है.

साधुओं का आचार पूर्णतया अहिंसात्मक माना गया है. इसलिये प्रत्येक जैन साधु को पाँच महाव्रतों और तीन गुप्तियों के साथ-साथ निम्नलिखित पाँच समितियों का भी अनुसरण करना पड़ता है :—(१) ईर्यासमिति अर्थात् जीवों की हिंसा से बचने के लिये सावधानी से चलना. (२) भाषासमिति—वचन द्वारा हिंसा से बचने के लिये भाषा पर नियंत्रण रखना. (३) एषणासमिति—साधु द्वारा भोजन तथा जल का सावधानी से निरीक्षण किया जाना और यह निश्चित करना कि जो अन्न तथा जल उसे दिया जा रहा है वह उसी के लिये तो प्रस्तुत नहीं किया गया. (४) आदान-निक्षेपणसमिति— सूक्ष्म जीवों को आघात न पहुँचाने की दृष्टि से नित्य की आवश्यक वस्तुओं को सावधानी से प्रयोग में लाना. (५) परिष्ठापनिका-समिति—अनावश्यक वस्तुओं को सावधानी से विसर्जित करना.

ये पाँच समितियां साधु को अहिंसा के मार्ग पर चलने में सहायता देती हैं और यह प्रमाणित करती हैं कि साधु का जीवन हर प्रकार से एक तटस्थता का जीवन होना चाहिए। साधु-आचार की यह तटस्थता इसलिये आवश्यक है कि इसी के द्वारा वह हर प्रकार के राग-द्वेष से मुक्त हो सकता है. जब तक साधु संसार के द्वन्द्वों से ऊपर उठ कर निरपेक्ष रूप से अहिंसा का पालन नहीं करता तब तक वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता. साधारणतया अहिंसा का अर्थ अन्य प्राणियों की रक्षा भी माना जाता है. यही कारण है कि अधिकतर जैन गृहस्थ अथवा श्रावक पक्षियों को दाना डालते

हैं और बीमार पशु-पक्षियों के लिये चिकित्सालय आदि बनवाते हैं. इस प्रकार दया को अहिंसा के समकक्ष स्वीकार किया जाता है. किन्तु जैनवाद में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में "तेरापन्थ" नाम का मत अहिंसा की विचित्र व्याख्या करता है और उसे जीवन की रक्षा से पृथक् मानता है. अहिंसा की इस परिभाषा का निष्पक्ष विश्लेषण करना आवश्यक है, क्योंकि अहिंसा ही जैन नैतिकता का आदर्श है. जहां तक साधु-आचार का सम्बन्ध है निरपेक्ष दृष्टि पर आधारित अहिंसा की व्याख्या विशेष महत्त्व रखती है.

निरपेक्ष दृष्टि से जो अहिंसा की व्याख्या की जाती है, वह निःसंदेह जनसाधारण की परिधि से बाहर है और उसके अनुसार साधारण हिंसा और अनिवार्य हिंसा में कोई भेद नहीं है. इस दृष्टि से हिंसा हर अवस्था में और हर समय पर हिंसा ही है. यदि एक बार हम सूक्ष्म जीवों के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं तो कोई कारण नहीं कि कुछ मानवीय जीवों की रक्षा करने के लिये अनन्त सूक्ष्म जीवों की हिंसा को आध्यात्मिक दृष्टि से अनैतिक न समझा जाय. इस बात को तो स्वीकार किया जा सकता है कि इस प्रकार की निरपेक्ष अहिंसा का पालन करना एक बुद्धिमान् मनुष्य के लिये इसलिए असम्भव है कि वह सूक्ष्म जीवों के संहार के बिना अपने आपको जीवित नहीं रख सकता. किन्तु तत्त्वात्मक आधार पर इस प्रकार की सापेक्ष हिंसा को अहिंसा कहना और ऐसे कर्म को मोक्ष की दृष्टि से संगत स्वीकार करना भी एक भूल है. तेरापंथियों की यह धारणा है कि मनुष्य विवश होकर सापेक्ष अहिंसा के मार्ग को अपनाता है और उसका ऐसा करना मोक्ष मार्ग के अनुकूल नहीं कहा जा सकता. उनकी यह धारणा है कि आध्यात्मिक जीवन में तथा व्यावहारिक जीवन में भेद है. मनुष्य को यह स्वीकार करना चाहिए कि वह निर्बल है और वह हर समय आध्यात्मिक नैतिकता का पालन नहीं कर सकता. निरपेक्ष अहिंसा, जो कि सूक्ष्म तथा स्थूल हर प्रकार के जीवों की हिंसा को समान रूप से अनैतिक मानती है, साधुजीवन का ही आदर्श बन सकती है. अहिंसा की यह धारणा तेरापंथ के अनुसार सूक्ष्म जीवों के प्रति तथा मनुष्यों के प्रति दया के भेद को स्वीकार नहीं करती.

यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि मनुष्य निरपेक्ष रूप से अहिंसा को नहीं अपना सकता. महात्मा गांधी ने भी निरपेक्ष अहिंसा के विषय में इस प्रकार के विचार प्रकट किए हैं. उनके शब्दों में "निरपेक्ष एवं पूर्ण अहिंसा का अर्थ सभी जीवों के प्रति हर प्रकार की दुर्भावना से मुक्त रहना है और इसलिए उसके क्षेत्र में मानवेतर भयानक पशु तथा कीड़े भी सम्मिलित हो जाते हैं." एक और स्थान पर गांधीजी ने कहा है—"अहिंसा एक अत्यन्त भयानक शब्द है. मनुष्य बाह्यात्मक हिंसा के बिना जीवित ही नहीं रह सकता. वह खाते, पीते, बैठते, उठते समय अनायास ही किसी-न-किसी प्रकार की हिंसा करता रहता है. उसी व्यक्ति को अहिंसा का पुजारी मानना चाहिए, जो इस प्रकार की हिंसा से निवृत्त होने का सतत प्रयास करता है, जिसका मन दया से पूर्ण है और जो सूक्ष्म जीवों की हिंसा की भी इच्छा नहीं करता. ऐसे मनुष्य का नियन्त्रण तथा उसके हृदय की कोमलता सदैव प्रवृद्ध होते चले जायेंगे. किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई भी जीवित प्राणी बाह्यात्मक हिंसा से पूर्णतया मुक्त नहीं है."

महात्मा गांधी ने तो निरपेक्ष अहिंसा को असम्भव मानकर सापेक्ष अहिंसा को ही सामान्य मनुष्य के लिये आदर्श माना है. उन्होंने अपने लेखों तथा भाषणों में अनेक बार यह अभिव्यक्त किया है कि उनकी अहिंसा एक विशेष अहिंसा है. वह उन जीवधारियों के प्रति दया को अहिंसा नहीं मानते जो मनुष्यों का भक्षण कर जाते हैं किन्तु तेरापन्थी साधु यह मान कर चलते हैं कि विरक्त संन्यासी के लिए निरपेक्ष अहिंसा का पालन करना नितान्त आवश्यक है. इसलिये वे आध्यात्मिक दृष्टि से जीवरक्षा को अहिंसा नहीं मानते. उनका कहना यह है कि जीवरक्षा व्यावहारिक दृष्टि से सराहनीय मानी जा सकती है किन्तु आध्यात्मिक एवं मोक्ष की दृष्टि से उसे धर्म स्वीकार नहीं किया जा सकता है. इस मत के वर्तमान आचार्य तुलसी ने दया की परिभाषा करते हुए लिखा है "दया का अर्थ अपनी तथा अन्य प्राणियों की आत्मा की अधर्म से रक्षा करना है. व्यावहारिक जीवन में जीव की रक्षा को भी दया कहा जाता है."

हम यह कह सकते हैं कि जब आध्यात्मिक पूर्णता की तुलना में दया का मूल्यांकन किया जाता है तो वह अहिंसा की अपेक्षा न्यून स्तर का मूल्य प्रमाणित होती है. अतः इस मत के अनुसार जो व्यक्ति दया से प्रेरित होकर दूसरे के प्राणों

की रक्षा करता है, उसकी सराहना की जा सकती है, किन्तु यदि मोक्ष के स्थान पर दया को कर्म का प्रेरक माना जाय तो ऐसा कर्म आध्यात्मिक दृष्टि से अनुचित होगा. दया से प्रेरित होकर प्राण की रक्षा, अहिंसा के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी की जा सकती है. ऐसी अवस्था में दया को मोक्ष के लिए उपयोगी नहीं माना जा सकता, क्योंकि साधु न तो धन रख सकता है और न किसी अन्य व्यक्ति को धन दे सकता है. यदि धन के स्थान पर व्याध को समझा-बुझा कर उसके मन को परिवर्तित कर दिया जाय तो यह कर्म आत्मा की रक्षा से प्रेरित होने के कारण मोक्ष-धर्म समझा जायेगा, यद्यपि इसमें प्राणी की रक्षा स्वतः ही हो जायेगी. इससे यह प्रतीत होता है कि केवल अध्यात्म और और अनुभवातीत दृष्टि से ही आत्मा की रक्षा को जीव की रक्षा की अपेक्षा उत्कृष्ट माना जा सकता है.

यहाँ पर स्मरण रखना चाहिये कि जहां तक साधु-आचार का सम्बन्ध है, कुछ सीमा तक प्राण-रक्षा की ओर तटस्थता को धर्म स्वीकार किया जा सकता है. क्योंकि साधु मुमुक्षु होता है, उसे शुभ अशुभ से ऊपर उठना पड़ता है और अहिंसा का पालन करते समय जीवों के प्रति तनिक मात्र राग-द्वेष से भी मुक्त रहना पड़ता है. शुभ तथा अशुभ कर्मों को जैन दर्शन में बन्ध माना गया है. जैनदर्शन के विख्यात विद्वान् श्री ए० एन० उपाध्ये ने लिखा है "शुभ तथा अशुभ कर्मों की लोहे तथा सोने की हथकड़ियों से उपमा दी जा सकती है. मोक्ष प्राप्त करने के लिये इन दोनों से मुक्त होना चाहिये. यह आवश्यक है कि आसक्ति को त्याग दिया जाय और व्यक्ति अपनी विशुद्ध आत्मा में ही स्थित होजाय, अन्यथा-समस्त तपश्चर्या और धार्मिक कर्म निरर्थक हैं.' किन्तु तेरापंथी इस तटस्थता पर आवश्यकता से अधिक बल देते हैं और प्राणरक्षा को केवल व्यावहारिक दया स्वीकार करते हैं. इस कर्त्तव्य को केवल व्यावहारिक कर्त्तव्य कह कर और उसका उत्तरदायित्व गृहस्थों पर छोड़ कर तेरापंथी आध्यात्मिक तटस्थता पर आवश्यकता से अधिक बल देते हैं. वे इस बात को भूल जाते हैं कि प्राणरक्षा करते समय भी एक साधु तटस्थ रह सकता है और इस प्रकार प्राणरक्षा भी आत्मा की रक्षा की भाँति आध्यात्मिक दया हो सकती हैं. विशेष कर साधु के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह प्राणियों की रक्षा करते समय, उनके प्रति राग अथवा आसक्ति रखे. आध्यात्मिक आदर्श पर चलते हुए भी और प्राणों की रक्षा करते हुए घृणा, द्वेप, भय, आदि से निवृत्ति की प्राप्ति की जा सकती है.

ऐसा आदर्श हमें भगवद्गीता की स्थितप्रज्ञ की धारणा में मिलता है. भगवद्गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञ वही है, जो दुखों का अनुभव करते समय उद्वेगरहित है, जो सुख का अनुभव करते समय अभिमान एवं आत्मप्रशंसा से रहित है और जिसके भय क्रोध आदि नष्ट हो गए हैं. एक साधु को भी दुख-सुख का अनुभव करना पड़ता है, क्योंकि ये अनुभव उसके पूर्व जन्म का फल होते हैं. किन्तु उसमें और गृहस्थ में अन्तर होता है कि गृहस्थ भावावेश से असन्तुलित अवस्था में होता है, जब कि साधु स्थितप्रज्ञ होने के कारण शांत होता है. वह न किसी व्यक्ति से प्रसन्न होता है न अप्रसन्न. शुभ अशुभ वस्तुओं के प्रति वह अनासक्त और तटस्थ रहता है. भगवद्गीता का यह आदर्श जैन साधु के आदर्श के सदृश है. कुन्दकुन्दाचार्य के शब्दों में—'अज्ञानी के लिये कर्म बन्ध का कारण बनता है, जब कि ज्ञानी आध्यात्मिक होने के कारण उस समय हल्का एवं सात्विक होता है, जब कि वह कर्म के फल को भोगता है. वह साधु जो जीवित प्राणियों की रक्षा करते समय आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भावशून्य होता है और जिसका दृष्टिकोण विश्वातीत होता है, कदापि कर्म से आसक्त नहीं हो सकता और न ही उसका कर्म बन्ध को उत्पन्न कर सकता है."

स्थितप्रज्ञ की यह धारणा जैन धारणा के विपरीत नहीं है. कुन्दकुन्दाचार्य ने ज्ञानी की जो धारणा प्रस्तुत की है, वह स्थितप्रज्ञ की धारणा के सदृश है. कुन्दकुन्दाचार्य ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि ज्ञानी को अपनी आत्मा में ही स्थित रहना चाहिये और यह आत्मस्थिति ही उसे आनन्द देती है. इसी आत्मानुभूति के लिए ही अनासक्त रहना आवश्यक है. कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में इस दृष्टिकोण की पुष्टि करते हुए स्पष्ट रूप से लिखा है—'परमाणु के बराबर तनिकमात्र आसक्ति भी आत्मानुभूति के लिए महान् आपत्ति का कारण है, यद्यपि किसी व्यक्ति ने सभी आगमों को कण्ठस्थ भी क्यों न कर लिया हो. व्यक्ति को अपनी आत्मा में निलीन हो कर आत्मस्थित रहना चाहिए, क्योंकि आत्मा ही ज्ञान का भण्डार है. इस प्रकार सन्तुष्ट रहना ही उत्कृष्ट एवं परम सुख है. भगवद्गीता के दूसरे

अध्याय का ५५ वाँ श्लोक, जो स्थितप्रज्ञ की ऐसी व्याख्या करता है, निम्नलिखित है—

"हे अर्जुन ! जब एक व्यक्ति मन से उत्पन्न अपनी सभी इच्छाओं को त्याग देता है और जब अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा में स्थित हो कर सन्तुष्ट एवं तृप्त हो जाता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है."

यह आदर्श श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को यह समझाने के लिए प्रतिपादित किया गया है कि यदि अर्जुन जैसा योद्धा निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन करे, तो वह कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता. इसी प्रकार जैन मुमुक्षु एवं साधु भी प्राणों की रक्षा करता हुआ सन्तुलित रह सकता है और कर्म-पुद्गल से मुक्त हो सकता है. साधु तथा योद्धा के कर्तव्यों में भेद अवश्य हो सकता है, किन्तु साधु आचार का मार्गदर्शन करने वाले जैन सिद्धान्त तथा योद्धा के मार्गदर्शन करने वाले भगवद्गीता के सिद्धान्त का लक्ष्य एक ही है, भगवद्गीता के अनुसार मुमुक्षु एक साधु की भाँति फल की इच्छा से रहित होकर युद्ध-क्षेत्र में अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है. किन्तु जैन साधु एवं मुमुक्षु एक विरक्त की भाँति प्राणरक्षा के भौतिक फल के प्रति तटस्थ रह कर आध्यात्मिक क्षेत्र में अपने कर्तव्य का पालन करता है, उसका उद्देश्य भी मोक्ष की प्राप्ति है. यदि एक सैनिक द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से किया गया देश की रक्षा का कर्तव्य मोक्ष प्राप्त करने में सहायक हो सकता है, तो अहिंसा के मार्ग पर चलने वाले साधु द्वारा तटस्थ दृष्टि से किया गया प्राणरक्षा का कर्तव्य भी अवश्य ही आध्यात्मिक माना जा सकता है. तेरापंथी अनासक्ति पर आवश्यकता से अधिक बल देते हुये यह भूल जाते हैं कि आत्मा की रक्षा की भाँति जीवरक्षा भी निष्काम भाव से हो सकती है.

जिस प्रकार मुमुक्षु के लिए प्राणरक्षा पर आवश्यकता से अधिक बल न देना इसलिए आवश्यक है कि वह कहीं मोक्ष के परम लक्ष्य को विस्मृत न करदे, उसी प्रकार उसके लिये आत्मा की रक्षा पर आवश्यकता से अधिक बल न देना भी इसलिये ही महत्त्वपूर्ण है कि वह कहीं प्राणरक्षा जैसे शुभ साधन की उपेक्षा न करदे. यदि आध्यात्मिक अंग की ओर उपेक्षा प्राणरक्षा को स्वलक्ष्य मानने की भ्रान्ति उत्पन्न कर सकती है, तो प्राणरक्षा को मोक्ष का साधन न मानने की प्रवृत्ति भी मुमुक्षु में प्राणरक्षा के प्रति घृणा उत्पन्न कर सकती है. यदि जीवित प्राणियों के प्रति राग, बन्ध का कारण है तो उनके प्रति घृणा भी बन्ध का ही कारण है. वास्तव में ये दोनों दृष्टिकोण एक दूसरे के पूरक हैं. जैनदर्शन में आत्मा की रक्षा तथा प्राणरक्षा दोनों को प्रतिपादित किया गया है. आत्मा की रक्षा निःसन्देह इस सिद्धान्त के तत्त्वात्मक लक्षण पर बल देती है, जब कि प्राणरक्षा तथा आत्मा की रक्षा दोनों ही साधु के लिये महत्त्वपूर्ण हैं और इन दोनों का समन्वय यह प्रमाणित करता है कि जैनवाद एक नैतिक तत्त्वात्मक (Ethicometaphysical) सिद्धान्त है.

## श्रावकाचार (Ethics for laymen)

यद्यपि जैनवाद का यह मत है कि मोक्षप्राप्ति के लिये गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रमों से गुजरना अनिवार्य नहीं है. उनमें गुजरने से पूर्व ही संन्यास अपनाना आवश्यक है, तथापि एक गृहस्थ पांच महाव्रतों का आंशिक अनुसरण करके त्यागाश्रम के जीवन का अभ्यास कर सकता है. सभी जैन सम्प्रदाय यह स्वीकार करते हैं कि गृहस्थियों एवं श्रावकों के लिये अणुव्रतों का अनुसरण करना भी वास्तव में त्याग के जीवन का अभ्यास करना है. अणुव्रत का अर्थ महाव्रत का सूक्ष्म अंश अथवा अणु है. अणुव्रत वास्तव में महाव्रतों पर आधारित सरल नियम है.

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अणुव्रतों की जैनमत में जो व्याख्या की गई है उसे देखते हुए वह हमारी अनेक नैतिक और सामाजिक समस्याओं को सुलझा सकते हैं. ये अणुव्रत न ही केवल एक मनुष्य को आत्मशुद्धि के द्वारा आत्मानुभूति करा सकते हैं, अपितु सत्य, अहिंसा, न्याय तथा साहस पर आधारित एक दृढ़ चरित्र का निर्माण कर सकते हैं.

जैनवाद के उपरोक्त अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि इस दर्शन का विशेष लक्षण इसकी व्यावहारिकता है. इसका सुनिश्चित नैतिक अनुशासन व्यक्ति को सामान्य स्तर से ऊपर उठाता है और उसे सच्चरित्र द्वारा यथार्थ ज्ञान से अवगत कराता है. जैनवाद को सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र के तीन नियमों पर आधारित माना गया है. इन्हीं

तीनों नियमों को रत्नत्रयी कहा जाता है. सर्वप्रथम सम्यक्दर्शन एवं सम्यक् निष्ठा को इसीलिए स्थान दिया गया है कि निष्ठा के बिना न तो यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और न सम्यक् चरित्र का अनुसरण किया जा सकता है. गीता के अनुसार भी यह कहा गया है *'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं, संशयात्मा विनश्यति' अर्थात् निष्ठा वाला व्यक्ति ही यथार्थ ज्ञान* को प्राप्त करता है और सन्देह करने वाला व्यक्ति नाश को प्राप्त होता है. सम्यक् ज्ञान का आदर्श जैनदर्शन में प्रतिपादित उन नवतत्त्वों का ज्ञान है, जिनकी व्याख्या हमने ऊपर दी है. सम्यक्-चारित्र का अर्थ उन सत्यों को जीवन में अवतरित करना है, जिनको कि यथार्थ स्वीकार किया गया है. क्योंकि जैनवाद बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का साधन संवर मानता है, इसलिए इन्हीं महाव्रतों का अनुसरण करना अथवा उन पर आधारित अणुव्रतों को जीवन में अपनाना सम्यक्चरित्र माना जायेगा.

हमने ऊपर दिये गए विवेचन में यह देखा कि जैनवाद का आचारशास्त्र अहिंसा को परम धर्म मान कर चलता है और अहिंसा एक निषेधात्मक धारणा प्रतीत होती है. किन्तु जब इस महान् आदर्श को जीवन में अपनाया जाता है तो यह निषेधात्मक आदर्श से कहीं अधिक प्रमाणित होता है. इस आदर्श को निरपेक्ष रूप से जीवन में अपनाना कठिन ही नहीं, अपितु व्यावहारिक दृष्टि से असभंव प्रतीत होता है किन्तु अन्तरंग में पूर्ण अहिंसावृत्ति जाग्रत हो जाने पर अहिंसा के आचरण में भी पूर्णता आजाती है. अतः अहिंसा का मार्ग सरल मार्ग नहीं, अपितु एक तलवार की धार की भाँति कठिन मार्ग है. महात्मा गांधी ने भी अहिंसा की व्याख्या करते हुये अनेक बार कहा है "यह मार्ग निर्बल व भीरु व्यक्ति के लिये नहीं, अपितु वीर और साहसी व्यक्ति के लिये निर्धारित किया गया है." जैनवाद एक ऐसा सिद्धांत है जिसने युगों से अहिंसा के मार्ग को अपनाया है और जो आज तक भी इस उच्च आदर्श को जीवन में अवतरित कर रहा है. अहिंसा का अर्थ न ही केवल किसी व्यक्ति को आघात न पहुँचाना है, अपितु दूसरों की क्रियात्मक सेवा करना भी है. यद्यपि जैनवाद व्यक्तिगत रूप से अहिंसात्मक आदर्शों को जीवन में उतारने पर बल देता है, तथापि यह स्पष्ट है कि उसका उद्देश्य मानवमात्र का कल्याण और सामाजिक प्रगति है. आज विश्व आर्थिक दृष्टि से पूंजीवाद और साम्यवाद की दलबन्दी में ग्रस्त है. पूंजीवाद व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति एकत्रित करने की आज्ञा देकर न ही केवल लोभ के अवगुण को प्रोत्साहन देता है, परन्तु आर्थिक विषमताएँ उत्पन्न करने के कारण असंख्य मनुष्यों को भोजन से भी वंचित करता है. पूंजीवाद निःसन्देह परोक्ष रूप से हिंसा और शोषण को प्रोत्साहन देता है. साम्यवादी हिंसा का प्रयोग करके बलपूर्वक सम्पत्ति का वितरण करते हैं. और व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन करते हैं. इस पूंजी-वाद और साम्यवाद के पारस्परिक संघर्ष का एक मात्र विकल्प आध्यात्मिक साम्यवाद है, जो निःसन्देह जैनवाद द्वारा प्रतिपादित अहिंसात्मक मार्ग की स्वाभाविक उत्पत्ति है. विनोबा भावे ने भारत में भूदान के यज्ञ में जो श्वेत क्रान्ति उत्पन्न की है वह वास्तव में अहिंसा और अपरिग्रह के नियमों पर आधारित है.

यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि महात्मा गांधी जी ने स्वतन्त्रता-संग्राम में जिस अहिंसात्मक मार्ग को अपनाया और जिसका अनुसरण करके उन्होंने अपने तथा अपने साथियों के उदात्त चरित्र का निर्माण किया, उसकी प्रेरणा उन्हें जैनवाद से अवश्य प्राप्त हुई है. अहिंसा को राजनीति में अपना कर और सत्याग्रह की प्रथा को सर्वप्रिय बनाकर महात्मा गांधी ने यह प्रमाणित कर दिया कि अहिंसा अणुव्रत के रूप में करोड़ों व्यक्तियों द्वारा एक साथ व्यावहारिक जीवन में अवतरित की जा सकती है. इस अहिंसात्मक मार्ग को अपनाना निःसन्देह स्वतन्त्रता संग्राम में अद्वितीय साहस और वीरता का काम था, क्योंकि इस संघर्ष में सत्याग्रही को शस्त्रों का सामना करना पड़ता था—चुपचाप दुख सहन करना पड़ता था. किन्तु महात्मा गांधी की सफलता ने यह प्रमाणित कर दिया है कि नैतिक शक्ति भौतिक शक्ति से अधिक बलवती है और सत्य पर आधारित अहिंसा की सदैव विजयी होती है.

श्रीरिषभदास रांका

# जैन साधना

हर प्राणी सुख की अभिलाषा रखता है और सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील भी रहता है. किन्तु इच्छा और प्रयत्नों के बावजूद भी अधिकांश लोगों को सुख और संतोष नहीं प्राप्त होता. इसलिए यह मानना पड़ता है कि सुखप्राप्ति के मार्ग में कुछ न कुछ भूल अवश्य हो रही है. मानव को सच्चे सुख का मार्ग अनुभवी साधक व सिद्ध पुरुषों ने बताया है. वे कहते हैं कि मनुष्य के अधिकांश दुःख उसके तथा दूसरों के अज्ञान, तृष्णा, मूर्खता या असमता के कारण ही निर्माण होते हैं. हमारे पास सुखप्राप्ति के सभी साधन मौजूद हैं. आत्मा में सुखप्राप्ति की शक्ति है. इसलिये आत्मा को सत् चित् व आनंद रूप माना है. उसमें श्रेय-साधन की अनंत शक्ति भरी हुई है. वह चैतन्य-स्वरूप है. पुरुषार्थ से वह अपने श्रेय-साधन की शक्ति में वृद्धि कर सकता है और उसे आनंद की अवस्था प्राप्त हो सकती है. उसने जो चित्-चैतन्य व शरीर में शक्ति पाई है उसका योग्य उपयोग करके उन्नत व सुखी हो सकता है. पर वह शक्ति निरर्थक बर्बाद हो रही है. उसे साधना द्वारा योग्य काम में लगाना चाहिए.

## भारतीय संस्कृति की साधना

भारतीय संस्कृति की तीन धारायें हैं- वैदिक, बौद्ध और जैन. हम देखते हैं कि वैदिक संस्कृति की साधना में पतञ्जलि ने योग के द्वारा दुःखमुक्ति व सुखप्राप्ति का रास्ता बताया. बौद्ध साधना में भी समाधि-मार्ग का वर्णन मिलता है जिससे निर्वाण-प्राप्ति हो सकती है. और जैन साधना में भी कर्मबंधन और उसके परिणामों से मुक्ति पाने का रास्ता बताया है.

## जैनसाधना

जैनदर्शन ने दुःख का कारण कर्म माना है. आत्मा पर कर्म का आवरण आ जाने से मनुष्य सच्चे सुख का रास्ता भूल जाता है और शरीर के प्रति उसका ममत्व हो जाता है. वह शारीरिक सुखों को ही महत्त्व देकर उन्हें पाने के लिए गलत रास्ता अपनाता है. दूसरों को दुःख देने पर कोई सुखी नहीं बनता. पर वह अपने सुखों के लिये सब जीव समान हैं, इस तथ्य को भूलकर दूसरों को कष्ट देने लगता है. जैनदर्शन कहता है कि दूसरों को दुःखी बनाकर सुखप्राप्ति का प्रयत्न अज्ञान है. इस अज्ञान के कारण दुःखवृद्धि के साथ-साथ जन्म-मरण के चक्कर भी बढ़ते हैं. इसलिए आत्मा पर से कर्म का आवरण दूर करना चाहिये. तभी आत्मा की सुप्त शक्तियां जाग्रत होती हैं, जिससे मनुष्य सच्चे सुखका स्वरूप जानकर शारीरिक सुख-दुःखों में विवेक करना सीखता है. अज्ञान, तृष्णा या कषायों द्वारा निर्माण होने वाले दुःख से वह मुक्ति पा जाता है और दूसरों के द्वारा दिये हुए दुःखों को वह शांतिपूर्वक सहन करने की शक्ति पा लेता है. वह दुःखों से विह्वल या क्षुब्ध नहीं बनता.

## मानवता का पूर्ण विकास

कर्मों के आवरण हट जाने पर भी शेष आयु तो उसे भोगनी पड़ती है, नाम से भी वह पुकारा जाता है और जब तक

शरीर है तब तक वेदना भी होती है. उसके लिये आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय कर्मों के आवरण हटना आवश्यक होता है. उनके हटने पर जिसे शुद्ध ज्ञान हो गया है उसे फिर से बंध नहीं होता, क्योंकि साधक सच्चा स्व-रूप जान जाता है. शुद्ध निर्मल तथा पूर्ण सद्‌गुण युक्त बन जाता है. यही मानवता का पूर्ण विकास है, मनुष्य जीवन की अन्तिम सिद्धि और सार्थकता है.

## सिद्धों के प्रकार

इस प्रकार मानवता का विकास करने वाले दो प्रकार के होते हैं. एक अपनी ही मानवता का विकास करते हुए उसकी सिद्धि करने वाले सिद्ध और दूसरे अपनी मानवता की सिद्धि के साथ-साथ दूसरों को मानवता की वृद्धि का मार्गदर्शन करनेवाले, जिन्हें जैन तत्त्वज्ञान तीर्थंकर सिद्ध कहता है. वे तीर्थ की स्थापना कर दूसरों के विकास का मार्गदर्शन कर मानवता के विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं, दूसरों के दुःख से द्रवित होकर उन्हें कल्याण-पथ का प्रदर्शन करते हैं.

## कर्मों के आवरण

आत्मा पर आवरण डालने वाले कर्मों के विषय में ज्ञानियों ने इस प्रकार विवरण दिया है. दृष्टि और ज्ञान ढंकने वाले कर्मों को मोहनीय और ज्ञानावरण कर्म कहा है. उनके कारण मनुष्य अपने सही रूप को भूलकर अज्ञानी बनता है. सत्य को पहचान नहीं सकता. उसे क्या करना चाहिए, इसका सही ज्ञान नहीं होता. यदि ज्ञान हो भी जाय तो वैसा आचरण हो नहीं पाता. मोहनीय कर्म बाधक बनते हैं. इन कर्मों के आवरणों को हटाना और नये कर्म के बंधन न हों इसकी सावधानी ही साधना है. वह साधना इस प्रकार बताई है:—

मन, वचन और शरीर द्वारा होने वाली बुराई को रोकना साधक के लिये प्राथमिक आवश्यकता है. मन कभी खाली नहीं रहता. वह किसी न किसी विषय में लगा ही रहता है. दिन भर मन में वृत्तियों का प्रभाव चलता ही रहता है. उसमें से अनिष्ट के विचार को वह अपने मन में स्थान नहीं देता. यहाँ तक कि जिसने उसका अहित किया हो ऐसे शत्रु को भी वह अपना उपकारकर्त्ता ही मानता है, क्योंकि उसने अहित करके सहनशीलता को बढ़ाया. विचारों पर संयम रखकर बुरे विचार मन में न आने से वाचासंयम आता है. साधक के मुंह से असत्य, दूसरे का अकल्याण या अनिष्ट करने-वाली व कठोर भाषा नहीं निकलती. वह सत्य, परिमित, हितकर व मीठी भाषा ही बोलने का प्रयत्न करता है.

जब मन पर काबू हो जाता है, वाणी में संयम आ जाता है तो शरीर से भी कोई ऐसा कर्म नहीं होता जिससे दूसरे को कष्ट पहुँचे या दूसरे का अकल्याण हो. बल्कि उसके द्वारा ऐसे ही कार्य होते हैं जिनमें दूसरों की भलाई हो. इस प्रकार समप्रवृत्ति करते हुये भी उसकी उसमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होती. वह सहज भाव से अपने आत्मगुणों के विकास के लिये सत्प्रवृत्ति करता रहता है.

## व्रत

जब मनुष्य आत्मविकास का पथ लेकर अपने आपको साधनापथ का पथिक बनाता है तो अहिंसा, ब्रह्मचर्य अममत्वादि गुणों की आराधना करता है. दूसरों के प्रति आत्मभाव होना अहिंसा है. इस साधना का अभ्यास दृढ़ करने के लिये प्रथम व्रत लेना आवश्यक हो जाता है. वह दूसरों के प्रति समभाव रखकर जीवन-व्यवहार करता है. किसी को दुःख या कष्ट नहीं पहुँचाता. वैसे ही सत्य का उपासक बनकर भाषा-संयम का अभ्यास बढ़ाता है. समता व सत्य के उपासक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह दूसरे का शोषण न करे, अन्याय से दूसरे की वस्तु का अपहार न करे पर यह साधना तभी संभव है जब वह अपरिग्रह या सादगी को अपनाता है, उसकी जरूरतें सीमित होती हैं. तृष्णापाश काटे बिना मनुष्य उचित परिग्रह की सीमा की ओर जा नहीं सकता और परिग्रह सीमित हुये बिना आत्म-विकास की ओर शक्ति नहीं लगाई जा सकती. इसीलिये उचित परिग्रह की सीमा साधक को बांध ही लेनी पड़ती है. जैसे परिग्रह को सीमित बनाना साधक के लिये आवश्यक है, वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत को भी साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान है. उसके बिना

वह आत्मशक्तियों का पूर्ण विकास नहीं कर पाता. जैसे जैन साधना में, अहिंसा सत्य, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य को स्थान है वैसे ही वैदिक विचारपरम्परा की साधना में भी यम नियम को स्थान दिया है और बौद्ध साधना में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है.

## तप

योगदर्शन में यम नियम के वाद शरीर को साधना के योग्य वनाने के लिये आसन प्राणायाम बताया है तो जैन साधना में तप के द्वारा शरीर को कसने का विधान है. आज तप का अर्थ शरीर-कष्ट वन गया है पर उसका उपयोग शरीर और मन को साधना के योग्य वनाने में होना चाहिए. जैनसाधना में तप के दो प्रकार हैं—बाह्य और आभ्यन्तंर. बाह्य तप के छह भेद हैं—अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश.
साधक अपनी सारी शक्ति को आत्मविकास में लगावे, उसका वासना में क्षय न करे, इस दृष्टि से वासनाओं को क्षीण वनाने के प्रयत्नों को तप कहा जा सकता है. यह प्रयत्न मन और शरीर दोनों की ओर से होने चाहिए, तभी सफलता प्राप्त हो सकती है. तप में मनका साथ न मिला तो शरीर से किया हुआ तप देह-दंड या कायक्लेश मात्र ही वन सकता है. शरीर से मन की शक्ति विशेष होने से शारीरिक या बाह्य तपश्चर्या से मानसिक-आभ्यंतर तपश्चर्या को अधिक महत्त्व दिया गया है. फिर भी साधक को अभ्यास में वाह्य तप भी उपयोगी होता है, उसकी आवश्यकता होती है. उस पर भी विचार करना आवश्यक है.

## अनशन

शरीर व आहार का सम्वन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है. आहार के विना शरीर चल नहीं सकता. लेकिन यह आहार कितना और कैसा लेना चाहिये, इस जानकारी के अभाव में मनुष्य अधिकतर जरूरत से ज्यादा ही खाता है. इसलिये उसे उपवास करना भी आवश्यक हो जाता है. उपवास में अन्नपाचन में लगने वाली शक्ति बचाकर आत्मचिंतन में लगाई जा सकती है. इसीलिये उपवास को आत्मा के निकट वास करना माना गया है. भोजन को त्याग कर उसके पचाने के लिये खर्च होने वाली शक्ति का उपयोग आत्मचिंतन में किया जाय तो वह अनशन साधना में लाभदायक होता है. पर यदि प्रतिष्ठा या दंभ का कारण वन जाय तो निश्चित ही वह बाधक वनता है. वह कर्ममल को दूर करने के वदले उसे वढ़ाता है.

## अवमोदर्य

साधक शरीर को जितना आवश्यक हो उतना ही आहार देता है. कम से कम आहार के सहारे अपनी जीवनचर्या चलाता है. उससे अधिक आहार से पैदा होनेवाला प्रमाद नहीं आता और साधना के प्रति जाग्रति वढ़ती है. अप्रमत्तता साधना के विकास में आवश्यक होने से वह भूख से कम खाता है.

## वृत्तिपरिसंख्यान

अवमोदर्य की साधना के लिये वस्तुओं की सीमा आवश्यक है. मनुष्य स्वादवश जो जरूरत से अधिक खा लेता है उसके लिये खाने की वस्तुओं का संक्षेप करना आवश्यक हो जाता है और साधक इस आदत को वढ़ाने के लिये व्रत का सहारा लेता है. खाने की वस्तुएं असंख्य हैं. पर साधक उन्हें सीमित करता है.

## रसपरित्याग

मिताहार के लिये रसपरित्याग भी आवश्यक हो जाता है. इसीलिये तपश्चर्या में रस-त्याग का स्थान महत्त्वपूर्ण है. हमारे विकारों पर नियंत्रण आवे, इंद्रियाँ प्रवल न हों, इसलिये रसपरित्याग साधना में सहायक होता है. इसलिये साधक यह मानकर कि खाने के लिये जीना नहीं है पर जीवन के लिये भोजन है, ऐसा आहार करे जिससे मन स्वस्थ रहे.

### विविक्तशय्यासन

साधना में स्थान का भी महत्त्व है. वह ऐसे स्थान में रहे जहाँ का वातावरण और परिस्थिति साधना के लिये अनुकूल हो. इसलिये उसका एकान्त, निरुपाधिक स्थान में रहना आवश्यक है. इसलिये तप में विविक्त शय्यासन का स्थान है.

### कायक्लेश

सर्दी-गर्मी के उपद्रव साधना में बाधक न हों और सदा अप्रमत्त अवस्था बनी रहे, इस दृष्टि से शरीर को सहनशील बनाना आवश्यक है. नहीं तो वैसे प्रसंग आने पर साधक विचलित हो जाता है. सदा स्फूर्ति रहे और प्रतिकूल परिस्थिति का मन पर असर न हो, इसलिये आसनादि द्वारा शरीर को कष्टसहन के योग्य बनाने की आवश्यकता है. इस तप का यही उद्देश्य है.

## आभ्यन्तर तप :

### प्रायश्चित्त

शारीरिक बाह्य तपों की अपेक्षा साधनामार्ग में मानसिक तपों का अधिक महत्त्व है. जीवनशुद्धि तथा आत्मविकास की दृष्टि से सभी धर्मों में मानसिक अभ्यास पर जोर दिया गया है. साधक जब साधना-क्षेत्र में आगे बढ़ता है तब आत्म-आलोचना कर अपनी प्रत्येक शारीरिक क्रिया और मानसिक वृत्ति का शोधन करता है. जब उसे अपने द्वारा हुई भूल मालूम देती है तो प्रायश्चित्त कर फिरसे वह भूल न हो इसका संकल्प करता है. वैसे तो प्रायश्चित्त का श्रमण-परम्परा में महत्त्व था पर भ० महावीर ने उसे दैनिक कार्य-क्रम में जोड़ दिया. उनके पहले २२ तीर्थकरों की परम्परा में भूल हो तब प्रायश्चित्त लेने का विधान था, पर भगवान् महावीर ने मनुष्य स्वभाव की दुर्बलता को जानकर इसमें यह परिवर्तन किया कि मनुष्य सावधान होकर अपने दैनिक कार्यों का निरीक्षण करे. जान या अनजान में होने वाली भूलों की आलोचना कर वैसी भूलें फिरसे न हों, इसके लिये संकल्प करे. आत्मविकास के लिये व्रतों में कहीं दोष आ जाय, व्रतभंग हो जाय, संकल्पों में ढिलाई आवे तो उसका स्मरण कर आलोचना और प्रायश्चित्त साधक को आगे बढ़ाता है. वह अपने मन, वचन और शरीर से होनेवाले दोषों के लिए जो कुछ करना आवश्यक हो वह करता है.

### विनय

साधना में विनय का अत्यन्त महत्त्व होने से आभ्यन्तर तप में अनुभवियों ने उसे भी स्थान दिया है. अहंकार मनुष्य को नीचे गिराता है और विनय साधना में सहायक होता है. अहंकार ज्ञानियों, अनुभवियों तथा गुरु से ज्ञान व अनुभव प्राप्त करने में बाधक बनता है. जब साधक अपने आपको पंडित या ज्ञानी मान लेता है, मुझे सब कुछ मालूम है, ऐसा समझता है, तब उसका विकास रुक जाता है. साधक को हमेशा जिज्ञासु और विद्यार्थी रहना चाहिये, गुणियों के प्रति आदर भाव रखना चाहिये. जाति, कुल और उम्र से कोई श्रेष्ठ नहीं बनता पर गुणों से ही श्रेष्ठ और पूज्य बनता है. इसलिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विनय भी बताये गये हैं. सतत ज्ञानप्राप्ति का अभ्यास और स्मरण को ज्ञानविनय कहा है, वैसे ही ज्ञानियों के प्रति आदर भी ज्ञान का विनय है.

जब तक सिद्धान्त या तत्त्व के प्रति दृढ़ निष्ठा नहीं होती तब तक साधना-पथ में आगे नहीं बढ़ा जा जकता. इसलिये यथार्थ तत्त्व को जानना और उसके प्रति दृढ़ निष्ठा होना आवश्यक है. यदि शंका हो तो ज्ञानियों और गुरु से शंका-निवारण कर लेना चाहिये. यह दर्शन एवं ज्ञान विनय है. ज्ञान से तत्त्व का ठीक निर्णय हो जाय तब तदनुकूल आचरण या अभ्यास करना चारित्रविनय है.

साधक सदा नम्र होता है, उसे अपनी अपूर्णता का ध्यान होता है. वह अपने से वृद्ध तथा अनुभवियों के प्रति सदा विनयी होता है, जिसे जैन साधना में उपचार-विनय कहा गया है. विनय को मोक्ष का मूल माना गया है.

### सेवा

साधक के लिये सेवावृत्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है. क्योंकि चित्तशुद्धि के साथ-साथ गुणों की उपासना ही उसकी आत्मशक्ति को बढ़ाती है. विवेकी साधक अपनी आवश्यकताएं घटाकर दूसरों से कम से कम सेवा लेता है और अधिक से अधिक दूसरों के लिये उपयोगी बनता है. जीवन में एक दूसरे की सेवा और सहयोग आवश्यक होता है पर साधक सदा यह ध्यान रखता है कि वह किसी पर बोझरूप न बने और दूसरों से जो सेवा ले उसे चुकाने का प्रयास करे. जैन-साहित्य में सेवा के लिये *'वैयावृत्य'* शब्द का प्रयोग किया गया है. उसके दस प्रकार बताये गये हैं, जिसका अर्थ यही है कि जहाँ जैसी सेवा की जरूरत हो वह की जाय.

### स्वाध्याय

साधना में स्वाध्याय का भी अत्यन्त महत्त्व है. अपने ध्येय की जाग्रति और उस पथ में आगे बढ़ने के लिये अनुभवियों के अनुभवयुक्त वचन या ग्रंथों का स्वाध्याय अत्यन्त उपयोगी होता है. यदि साधनामार्ग में कहीं कुछ शंका हो तो अपने से अधिक ज्ञानी और जानकार से शंकानिवारण कर लेना चाहिये. पढ़े हुये अनुभवों तथा पाठों का चिंतन तथा शुद्धतापूर्वक उच्चारण और आये हुये अनुभवों का या धर्म का उपदेश आदि बातें ज्ञानप्राप्ति में निःशंक बनाने, उदात्त तथा परिपक्व बनाने में सहायक होती हैं. इसलिये स्वाध्याय का अत्यन्त महत्त्व है. स्वाध्याय एक प्रकार की प्राचीनकाल में हुये महापुरुषों की सत्संगति है. स्वाध्याय करते समय यदि यह दृष्टि रहे तो हम बहुत लाभान्वित हो सकते हैं.

### व्युत्सर्ग

ममता, अहंकार, रागद्वेष तथा क्रोधादि कषायों का त्याग व्युत्सर्ग है. व्युत्सर्ग के दो प्रकार बताये गये हैं—बाह्य और आभ्यन्तर. घर, खेत, धन, संपत्ति, परिवार आदि की आसक्ति का त्याग बाह्य व्युत्सर्ग है और राग, द्वेष, क्रोध, अहंकार आदि आन्तरिक दुर्गुणों का त्याग आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है. चित्त शुद्धि के लिये इन सब बातों का त्याग आवश्यक होता है. साधक प्रातःकाल तथा संध्या समय में, एकान्त में, निरुपाधिक होकर ममतात्याग का चिंतन करे और उसे त्यागने का प्रयास करता रहे तो साधना-पथ में आगे बढ़ता है.

इस प्रकार साधक अपनी तैयारी कर लेता है तब वह ध्यान की ओर आगे बढ़ता है. पतंजलि की साधना में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, यह साधनाक्रम बताया है. प्रकारान्तर से वैसा ही जैन साधना में भी है. आसन शरीर को अप्रमत्त बनाते हैं और प्राणायाम चित्त को स्थिर बनाने में उपयोगी होता है. प्रत्याहार फैली हुई वृत्तियों को एकाग्र बनाता है तो धारणा संकल्प को धारण करने की शक्ति देती है. इतनी तैयारी हो जाने पर साधक ध्यान की साधना कर चित्त को स्थिर दृढ़ एकाग्र और निर्मल बनाता है जिससे समाधि प्राप्त होती है.

### ध्यान

जैन साधना में पूर्व बताई पार्श्वभूमि तैयार होने पर ध्यान की साधना करने को कहा है. कर्मक्षय के लिए ध्यान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधना है .

ध्यान चित्त को एकाग्र बनाता है. चित्त का स्वभाव है—वह खाली नहीं रहता. किसी न किसी विषय का चिंतन करता ही रहता है. ध्यान के दो प्रकार जैन साधना में बताये गये हैं—एक अशुभ और दूसरा शुभ. चित्त एकाग्र और स्थिर करने से उसकी शक्ति में वृद्धि होती है. चित्त की बढ़ी हुई शक्ति से मनुष्य इच्छित कार्य कर सकता है. यदि इस शक्ति का उपयोग वह अशुभ के लिए करना चाहे तो वैसा भी कर सकता है और उसका उपयोग शुभ के लिए भी कर सकता है. इसलिए जैन साधना ने ध्यान के प्रकार बताकर इस विषय का स्पष्टीकरण किया है. आर्त्त और रौद्रध्यान ये अशुभ ध्यान हैं. धर्म तथा शुक्ल ध्यान ये शुभध्यान माने गये हैं.

### आर्त्तध्यान

संसार में इष्टवियोग, अनिष्टयोग, बीमारी तथा वस्तुओं की प्राप्ति की अभिलाषा स्वाभाविक रूप से पाई जाती है. उसके लिए लोग चिंता करते हुए भी पाये जाते हैं. अप्रिय की प्राप्ति सुखकर नहीं होती, दुखदायक होती है. मनुष्य अपने आप को उसके चिन्तन में लगाता है. अनिष्टयोग, इष्टवियोग, बीमारी, वेदना आदि को सर्वथा टालना असंभव है. ऐसे अवसरों पर विवेक और धीरज रखकर उन्हें सहन करना चाहिए. वैसा न कर यदि वह व्याकुल बनकर उस विषय की चिंता करता है तो अपनी शक्ति व्यर्थ खोता है. उस शक्ति को आत्मविकास में लगाए यही इष्ट है और नये विषयों की प्राप्ति में चित्त को लगाना यह विवेक से टाला जा सकता है. क्योंकि तृष्णा के पीछे चित्त को लगाना हानिकर है.

ध्यान किसी भी विषय का किया जा सकता है. चित्त को एकाग्र करने से शक्ति प्राप्त होती है. शारीरिक सुखप्राप्ति के लिए तपश्चर्या कर उन्हें प्राप्त करने के उदाहरण पुराणों में मिलते हैं. पर यह ध्यान मनुष्य को नीचे गिराता है और दुःखों का कारण बनता है, इसलिए आर्त्तध्यान को अनिष्ट माना गया है.

### रौद्रध्यान

हिंसा, असत्य, दूसरों का शोषण तथा परिग्रह के सतत चिंतन को रौद्रध्यान कहा गया है. जैसे आर्त्तध्यान का मूल लालसा या तृष्णा है वैसे ही रौद्रध्यान का आधार क्रूरता-हिंसा है. अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का अनिष्ट चिन्तन, दूसरों को ठगना, असत्य, बेईमानी आदि तरीके सोचने में चित्त को एकाग्र बनाना, दूसरे के धन के अपहार का मार्ग सोचना, परिग्रह की रक्षा का चिंतन करना आदि रौद्रध्यान में आते हैं. रौद्रध्यान साधक की दृष्टि से अनिष्ट है.

जो ध्यान मनुष्य को ऊँचा उठाते हैं वे धर्म और शुक्लध्यान हैं. ऐसे ध्यान के लिये वज्रऋषभनाराचसंहनन जैसा बलिष्ठ शरीर आवश्यक होता है. निर्बल रोगी तथा पंगु शरीर में वह सहनशक्ति नहीं होती. इसलिए उत्कृष्ट ध्यान के लिये स्वस्थ शरीर का होना आवश्यक है.

### धर्मध्यान

जो ध्यान समता को बढ़ाने और दृढ़ करने के लिये किया जाता है वह धर्मध्यान है. इसके लिये जिन्होंने रागद्वेषादि शत्रुओं पर विजय पाई है, ऐसे अनुभवी पुरुषों के वचनों का, चित्र का तथा उनकी मूर्ति का आलंबन लिया जा सकता है.

जब मनुष्य आत्मनिरीक्षण कर अपने दोष या कमजोरियों को समझकर उन्हें दूर करने की कोशिश करता है, राग द्वेषादि कषायों को अपने विकास-पथ में बाधक समझकर उन्हें दूर कर सत्यमार्ग पर चलने का चिंतन करता है, उसपर अपने चित्त को केन्द्रित कर अभ्यास बढ़ाता है तब उस ध्यान को धर्मध्यान कहा जा सकता है.

शुभ-अशुभ कर्मों के फल का चिंतन शुद्धि की ओर अग्रसर करने में सहायक होता है. संसार का स्वरूप, उसकी विशालता, शाश्वतता, स्थिति या विनाश-शीलता का चिंतन, विविध द्रव्यों की परिवर्तनशीलता जान लेने पर अनासक्ति बढ़ती है. फिर उसमें व्याकुलता नहीं आती.

इस तरह के ध्यान से भावनाओं की शुद्धि होती है. अनासक्ति और धर्म के चिंतन से आयुकर्म के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं और वह शुक्लध्यान में प्रवेश कर पूर्ण मानवता को प्राप्त होता है. विकासक्रम में धर्मध्यान के बाद शुक्लध्यान आता है.

### शुक्लध्यान

साधक जड़-चेतन के भेदों को समझकर चिंतन करता है और गहराई में जाकर परमाणु तथा चेतन द्रव्य के संबंधों का भिन्न-भिन्न दृष्टि से विचार करता है तो उसके सदाचार में दृढ़ता आने से चारित्रमोहनीय कर्मों का नाश होता है.

जड़ और चेतन द्रव्य पृथक् हैं, फिर भी संयोग से मिल गये हैं. इनमें से किसी एक तत्त्व का आलंबन लेकर उस पर चित्त को निश्चल या एकाग्र किया जा सकता है. इससे ध्यान में एकाग्रता आती है और मन की सुप्त शक्तियों का विकास होता है. अनेक विषयों में भटकनेवाले मन को एकाग्र करने के लिए ऐसी उपमा दी जाती है कि जैसे चूल्हे में जलने वाली एक एक लकड़ी के निकाल लेने पर अपने आप आग बुझ जाती है वैसे ही मन को चंचल बनाने वाले एक एक विषय को दूर कर देने से चंचलता दूर होकर वह निष्प्रकंप बन जाता है. आत्मा पर जो अज्ञान के आवरण थे वे दूर होकर ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है.

ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर श्वासोच्छ्वास आदि शारीरिक क्रियाएं चलती रहती हैं पर वे सहज भाव में प्राकृतिक धर्म के रूप में चलती रहती हैं. उनसे बन्धन नहीं होता. साधक शैल की तरह अकंप बन जाता है जिसे जैन साधना में शैलेशी अवस्था कहा है. उस समय ऐसी अपूर्व अवस्था उत्पन्न होती है जिसमें अन्दर और बाहर की समस्त सूक्ष्म और स्थूल क्रियाएं रुक जाती हैं. मन का व्यापार भी निरुद्ध हो जाता है. आत्मा पूर्ण रूप से परमात्मस्थ हो जाता है. यहीं साधना का अन्त होता है और साधक सिद्ध बन जाता है.

डा० मोहनलाल मेहता
एम० ए०, पी-एच० डी०

# जैनाचार की भूमिका

आचार और विचार परस्पर सम्बद्ध ही नहीं एक-दूसरे के पूरक भी हैं. संसार में जितनी भी ज्ञान-शाखाएँ हैं, किसी न किसी रूप में आचार अथवा विचार अथवा दोनों से सम्बद्ध हैं. व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए ऐसी ज्ञान-शाखाएँ अनिवार्य हैं जो विचार का विकास करने के साथ ही साथ आचार को भी गति प्रदान करें. दूसरे शब्दों में जिन विद्याओं में आचार व विचार, दोनों के बीज मौजूद हों वे ही व्यक्तित्व का वास्तविक विकास कर सकती हैं. जब तक आचार को विचारों का सहयोग प्राप्त न हो अथवा विचार आचार रूप में परिणत न हों तब तक जीवन का यथार्थ विकास नहीं हो सकता. इसी दृष्टि से आचार और विचार को परस्पर सम्बद्ध एवं पूरक कहा जाता है.

## आचार और विचार

विचारों अथवा आदर्शों का व्यावहारिक रूप आचार है. आचार की आधारशिला नैतिकता है. जो आचार नैतिकता पर प्रतिष्ठित नहीं है वह आदर्श आचार नहीं कहा जा सकता. ऐसा आचार त्याज्य है. समाज में धर्म की प्रतिष्ठा इसीलिए है कि वह नैतिकता पर प्रतिष्ठित है. वास्तव में धर्म की उत्पत्ति मनुष्य के भीतर रही हुई उस भावना के आधार पर ही होती है जिसे हम नैतिकता कहते हैं. नैतिकता का आदर्श जितना उच्च होता है, धर्म की भूमिका भी उतनी ही उन्नत होती है. नैतिकता केवल भौतिक अथवा शारीरिक मूल्यों तक ही सीमित नहीं होती. उसकी दृष्टि में आध्यात्मिक अथवा मानसिक मूल्यों का अधिक महत्त्व होता है. संकुचित अथवा सीमित नैतिकता की अपेक्षा विस्तृत अथवा अपरिमित नैतिकता अधिक बलवती होती है. वह व्यक्तित्व का यथार्थ एवं पूर्ण विकास करती है.

धर्म का सार आध्यात्मिक सर्जन अथवा आध्यात्मिक अनुभूति है. इस प्रकार के सर्जन अथवा अनुभूति का विस्तार ही धर्म का विकास है. जो आचार इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो वही धर्ममूलक आचार है. इस प्रकार का आचार नैतिकता की भावना के अभाव में संभव नहीं. ज्यों-ज्यों नैतिक भावनाओं का विस्तार होता जाता है त्यों-त्यों धर्म का विकास होता जाता है. इस प्रकार का धर्मविकास ही आध्यात्मिक विकास है. आध्यात्मिक विकास की चरम अवस्था का नाम ही मोक्ष अथवा मुक्ति है. इस मूलभूत सिद्धान्त अथवा तथ्य को समस्त आत्मवादी भारतीय दर्शनों ने स्वीकार किया है.

दर्शन का सम्बन्ध विचार अथवा तर्क से है, जबकि धर्म का सम्बन्ध आचार अथवा व्यवहार से है. दर्शन हेतुवाद पर प्रतिष्ठित होता है जबकि धर्म श्रद्धा पर अवलम्बित होता है. आचार के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है जबकि विचार के लिए तर्क की. आचार व विचार अथवा धर्म व दर्शन के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं. एक विचारधारा के अनुसार आचार व विचार अर्थात् धर्म व दर्शन अभिन्न हैं. इनमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है. आचार की सत्यता विचार में ही पाई जाती है एवं विचार का पर्यवसान आचार में ही देखा जाता है. दूसरी विचारधारा के अनुसार आचार व

विचार अर्थात् धर्म व दर्शन एक-दूसरे से भिन्न हैं. तर्कशील विचारक का इससे कोई प्रयोजन नहीं कि श्रद्धाशील आचरणकर्त्ता किस प्रकार का व्यवहार करता है. इसी प्रकार श्रद्धाशील व्यक्ति यह नहीं देखता कि विचारक क्या कहता है. तटस्थ दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि आचार और विचार व्यक्तित्व के समान शक्ति वाले अन्योन्याश्रित दो पक्ष हैं. इन दोनों पक्षों का संतुलित विकास होने पर ही व्यक्तित्व का विशुद्ध विकास होता है. इस प्रकार के विकास को हम ज्ञान और क्रिया का संयुक्त विकास कह सकते हैं जो दुःखमुक्ति के लिए अनिवार्य है.

आचार और विचार की अन्योन्याश्रितता को दृष्टि में रखते हुए भारतीय चिन्तकों ने धर्म व दर्शन का साथ-साथ प्रतिपादन किया. उन्होंने तत्त्वज्ञान के साथ ही साथ आचारशास्त्र का भी निरूपण किया एवं बताया कि ज्ञानविहीन आचरण नेत्रहीन पुरुष की गति के समान है जबकि आचरणरहित ज्ञान पंगु पुरुष की स्थिति के सदृश है. जिस प्रकार अभीष्ट स्थान पर पहुंचने के लिए निर्दोष आँखें व पैर दोनों आवश्यक हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक सिद्धि के लिए दोषरहित ज्ञान व चारित्र दोनों अनिवार्य हैं.

भारतीय विचार-परम्पराओं में आचार व विचार दोनों को समान स्थान दिया गया है. उदाहरण के लिए मीमांसा परम्परा का एक पक्ष पूर्वमीमांसा आचारप्रधान है जब कि दूसरा पक्ष उत्तरमीमांसा (वेदान्त) विचारप्रधान है. सांख्य और योग क्रमशः विचार और आचार का प्रतिपादन करने वाले एक ही परम्परा के दो अंग हैं. बौद्ध परम्परा में हीनयान और महायान के रूप में आचार और विचार की दो धाराएँ हैं. हीनयान आचारप्रधान है तथा महायान विचारप्रधान. जैन परम्परा में भी आचार और विचार को समान स्थान दिया गया है. अहिंसामूलक आचार एवं अनेकान्तमूलक विचार का प्रतिपादन जैन विचारधारा की विशेषता है.

## वैदिक दृष्टि

भारतीय साहित्य में आचार के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं. वैदिक संहिताओं में लोकजीवन का जो प्रतिबिम्ब मिलता है उससे प्रकट होता है कि लोगों में प्रकृति के कार्यों के प्रति विचित्र जिज्ञासा थी. उनकी धारणा थी कि प्रकृति के विविध कार्य देवों के विविध रूप थे, विविध देवप्रकृति के विविध कार्यों के रूप में अभिव्यक्त होते थे. ये देव अपनी प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता के आधार पर उनका हित कर सकते थे और इसलिए लोग उन्हें प्रसन्न रखने अथवा करने लिए उनकी स्तुति करते, उनकी यशोगाथा गाते. स्तुति करने की प्रक्रिया अथवा पद्धति का धीरे-धीरे विकास हुआ एवं इस मान्यता ने जन्म लिया कि अमुक ढंग से अमुक प्रकार के उच्चारणपूर्वक की जाने वाली स्तुति ही फलवती होती है. परिणामतः यज्ञ-यागादि का प्रादुर्भाव हुआ एवं देवों को प्रसन्न करने की एक विशिष्ट आचार-पद्धति ने जन्म लिया. इस आचार-पद्धति का प्रयोजन लोगों की ऐहिक सुख-समृद्धि एवं सुरक्षा था. लोगों के हृदय में सत्य, दान, श्रद्धा आदि के प्रति मान था. विविध प्रकार के नियमों, गुणों, दण्डों आदि के प्रवर्तकों के रूप में विभिन्न देवों की कल्पना की गई.

## औपनिषदिक रूप

उपनिषदों में ऐहिक सुख को जीवन का लक्ष्य न मानते हुए श्रेयस् को परमार्थ माना गया है तथा प्रेयस् को हेय एवं श्रेयस् को उपादेय बताया गया है. इस जीवन को अन्तिम सत्य न मानते हुए परमात्म तत्त्व को यथार्थ कहा गया है. आत्म-तत्त्व का स्वरूप समझाते हुए इसे शरीर, मन, इन्द्रियों आदि से भिन्न बताया गया है. इसी दार्शनिक भित्ति पर सदाचार, संतोष, सत्य आदि आत्मिक गुणों का विधान किया गया है एवं इन्हें आत्मानुभूति के लिए आवश्यक बताया गया है. इन गुणों के आचरण से श्रेयस् की प्राप्ति होती है. श्रेयस् के मार्ग पर चलने वाले विरले ही होते हैं. संसार के समस्त प्रलोभन श्रेयस् के सामने नगण्य हैं—तुच्छ हैं.

## सूत्र, स्मृतियाँ व धर्मशास्त्र

सूत्रों, स्मृतियों व धर्मशास्त्रों में मनुष्य के जीवन की निश्चित योजना दृष्टिगोचर होती है. इनमें मानव-जीवन के कर्तव्य-अकर्तव्यों के विषय में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है. वैदिक विधि-विधानों के साथ ही साथ सामाजिक गुणों एवं

आध्यात्मिक विशुद्धियों का भी विचार किया गया है. संक्षेप में कहा जाय तो इनमें भौतिक सुखों एवं आत्मिक गुणों का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है. सूत्रों व धर्मशास्त्रों में मानव-जीवन के चार सोपान-चार आश्रम निर्धारित किये गये हैं. जिनके अनुसार आचरण करने पर मनुष्य का जीवन सफल माना जाता है. इन चार आश्रमों के पारिभाषिक नाम ये हैं :—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम व संन्यासाश्रम. ब्रह्मचर्याश्रम में शारीरिक व मानसिक अनुशासन का अभ्यास किया जाता है जो सारे जीवन की भूमिका का काम करता है. गृहस्थाश्रम सांसारिक सुखों के अनुभव व कर्तव्यों के पालन के लिए है. वानप्रस्थाश्रम सांसारिक प्रपंचों के आंशिक त्याग का प्रतीक है. आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति के लिए सांसारिक सुख-सुविधाओं के हेतु किये जाने वाले प्रपंचों का सर्वथा त्याग करना संन्यासाश्रम है. प्रथम तीन आश्रमों का पर्यवसान संन्यासाश्रम में ही होता है. इन चार आश्रमों के साथ ही साथ चार प्रकार के वर्णों अर्थात् मनुष्यवर्गों का भी निर्धारण किया गया. इन वर्गों के कर्तव्याकर्तव्यों के लिए आचारसंहिता भी बनाई गई. आचार के दो विभाग किये गये : सब वर्णों के लिए सामान्य आचार और प्रत्येक वर्ण के लिए विशेष आचार. जिस प्रकार प्रत्येक आश्रम के लिए विभिन्न कर्तव्यों का निर्धारण किया गया, उसी प्रकार प्रत्येक वर्ण के लिए विभिन्न कर्तव्य निश्चित किये गये, जैसे ब्राह्मण के लिए अध्ययन-अध्यापन, क्षत्रिय के लिए रक्षण-प्रशासन, वैश्य के लिए व्यापार-व्यवसाय एवं शूद्र के लिए सेवा-शुश्रूषा. इसी व्यवस्था अर्थात् आचारसंहिता का नाम वर्णाश्रमधर्म अथवा वर्णाश्रम-व्यवस्था है.

## कर्ममुक्ति

भारतीय आचारशास्त्र का सामान्य आधार कर्मसिद्धान्त है. कर्म का अर्थ है चेतनाशक्ति द्वारा की जाने वाली क्रिया का कार्य-कारणभाव. जो क्रिया अर्थात् आचार इस कार्य-कारण की परम्परा को समाप्त करने में सहायक है वह आचरणीय है. इससे विपरीत आचार त्याज्य है. विविध धर्मग्रंथों, दर्शनग्रन्थों एवं आचारग्रन्थों में जो विधिनिषेध उपलब्ध हैं, इसी सिद्धान्त पर आधारित हैं. योग-विद्या का विकास इस दिशा में एक महान् प्रयत्न है, भारतीय विचारकों ने कर्ममुक्ति के लिए ज्ञान, भक्ति एवं ध्यान का जो मार्ग बताया है वह योग का ही मार्ग है. ज्ञान, भक्ति एवं ध्यान को योग की ही संज्ञा दी गई है. इतना ही नहीं, अनासक्त कर्म को भी योग कहा गया है. आत्मनियन्त्रण अर्थात् चित्त-वृत्ति के निरोध के लिए योग अनिवार्य है. योग चेतना की उस अवस्था का नाम है जिसमें मन व इन्द्रियां अपने विषयों से विरत होने का अभ्यास करते हैं. ज्यों-ज्यों योग की प्रक्रिया का विकास होता जाता है त्यों-त्यों आत्मा अपने-आप में लीन होती जाती है. योगी को जिस आनन्द व सुख की अनुभूति होती है वह दूसरों के लिए अलभ्य है. वह आनन्द व सुख बाह्य पदार्थों पर अवलम्बित नहीं होता अपितु आत्मावलम्बित होता है. आत्मा का अपनी स्वाभाविक विशुद्ध अवस्था में निवास करना ही वास्तविक सुख है. यह सुख जिसे हमेशा के लिए प्राप्त हो जाता है वह कर्मजन्य सुख-दुःख से मुक्त हो जाता है. यही मोक्ष, मुक्ति अथवा निर्वाण है.

कर्म से मुक्त होना इतना आसान नहीं है. योग की साधना करना इतना सरल नहीं है. इसके लिए धीरे-धीरे निरन्तर प्रयत्न करना पड़ता है. आचार व विचार की अनेक कठिन अवस्थाओं से गुजरना होता है. आचार के अनेक नियमों एवं विचार के अनेक अंकुशों का पालन करना पड़ता है. इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए विभिन्न आत्मवादी दर्शनों ने कर्ममुक्ति के लिए आचार के विविध नियमों का निर्माण किया तथा आत्मविकास के विभिन्न अंगों तथा रूपों का प्रतिपादन किया.

## आत्मविकास

वेदान्त में सामान्यतया आत्मिक विकास के सात अंग अथवा सोपान माने गये हैं. प्रथम अंग का नाम शुभ इच्छा है. इसमें वैराग्य अर्थात् सम्यक् पथ पर जाने की भावना होती है. द्वितीय अंग विचारणारूप है. इसमें शास्त्राध्ययन, सत्संगति तथा तत्त्व का मूल्यांकन होता है. तृतीय अंग तनुमानस रूप है जिसमें इंद्रियों और विषयों के प्रति अनासक्ति होती

है. इसके बाद की जो अवस्था है उसमें मानसिक विषयों का निरोध प्रारम्भ होकर मन की शुद्धि होती है. इस अवस्था का नाम सत्यापत्ति है. इसके बाद पदार्थभावनी अवस्था आती है जिसमें बाह्य वस्तुओं का मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता. सातवां अंग तुरीयगा कहलाता है. इसमें पदार्थों का मन से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता तथा आत्मा का सत् चित् व आनन्दरूप ब्रह्म से एकाकार हो जाता है. यह अवस्था निर्विकल्पक समाधिरूप है.

योगदर्शन का अष्टांग योग प्रसिद्ध ही है. प्रथम अंग यम में अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह का समावेश होता है. द्वितीय अंग नियम में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान का समावेश किया जाता है. तृतीय अंग का नाम आसन है. चतुर्थ अंग प्राणायामरूप है. पांचवां अंग प्रत्याहार, छठा धारणा, सातवां ध्यान व आठवां समाधि कहलाता है. निर्विकल्प समाधि आत्मविकास की अंतिम अवस्था होती है, जिसमें आत्मा अपने स्वाभाविक रूप में अवस्थित हो जाती है.

### कर्मपथ

मीमांसा व स्मृतियों आदि में क्रियाकाण्ड पर अधिक भार दिया गया है जबकि सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त आदि आत्मशुद्धि पर विशेष जोर देते हैं. बौद्धों के अनुसार हमारी समस्त प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—ज्ञात और अज्ञात. इन्हें बौद्ध परिभाषा में विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति कहा जाता है. जब कोई व्यक्ति परोक्ष अर्थात् अज्ञात रूप से किसी अन्य द्वारा किसी प्रकार का पापकार्य करता है तो वह अविज्ञप्ति-कर्म करता है. जो जानबूझ कर अर्थात् ज्ञातरूप से पापक्रिया करता है वह विज्ञप्ति कर्म करता है. यही बात शुभ प्रवृत्ति के विषय में भी है. अतः शील भी विज्ञप्ति व अविज्ञप्ति रूप दो प्रकार का है. बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रत्येक क्रिया के तीन भाग होते हैं—प्रयोग, कर्मपथ और पृष्ठ. क्रिया की तैयारी करना प्रयोग है. वास्तविक क्रिया कर्मपथ है. अनुगामिनी क्रिया का नाम पृष्ठ है. उदाहरण के रूप में चोरी को लें. जब कोई चोरी करना चाहता है तो अपने स्थान से उठता है, आवश्यक साधन-सामग्री लेता है, दूसरे के घर जाता है, चुपचाप घर में घुसता है, रुपये-पैसे व अन्य वस्तुएं ढूंढता है और उन्हें वहां से उठाता है. यह सब प्रयोग के अन्तर्गत है. चोरी का सामान लेकर वह घर से बाहर निकलता है, यही कर्मपथ है. उस सामान को वह अपने साथियों में बांटता है, बेचता है अथवा छिपाता है. ये तीनों प्रकार विज्ञप्ति व अविज्ञप्तिरूप होते हैं. इतना ही नहीं, एक प्रकार का कर्मपथ दूसरे प्रकार के कर्मपथ का प्रयोग अथवा पृष्ठ बन सकता है. इसी प्रकार अन्य पापों एवं शुभ क्रियाओं के भी तीन विभाग कर लेने चाहिए. वस्तुतः प्रयोग, कर्मपथ व पृष्ठ प्रवृत्ति की अथवा आचार की तीन अवस्थाएं हैं. इन्हें प्रवृत्ति के तीन सोपान भी कह सकते हैं. किस प्रकार की प्रवृत्ति अर्थात् कर्म से किस प्रकार का फल प्राप्त होता है, इसका भी बौद्ध साहित्य में पूरी तरह विचार किया गया है. यह विचार बौद्ध आचारशास्त्र की भूमिकारूप है.

### जैनाचार व जैन विचार

जैनाचार की मूल भित्ति कर्मवाद है. इसी पर जैनों का अहिंसावाद, अपरिग्रहवाद एवं अनीश्वरवाद प्रतिष्ठित है. कर्म का साधारण अर्थ कार्य, प्रवृत्ति अथवा क्रिया है. कर्मकाण्डी, यज्ञ आदि क्रियाओं को कर्म कहते हैं. पौराणिक व्रत-नियम आदि को कर्मरूप मानते हैं. जैन परम्परा में कर्म दो प्रकार का माना गया है -द्रव्यकर्म व भावकर्म. कार्मण पुद्गल अर्थात् जड़तत्त्व विशेष जो कि जीव के साथ मिल कर कर्म के रूप में परिणत होता है, द्रव्यकर्म कहलाता है. यह ठोस पदार्थ-रूप होता है. द्रव्यकर्म की यह मान्यता जैन कर्मवाद की विशेषता है. आत्मा के अर्थात् प्राणी के राग-द्वेषात्मक परिणाम अर्थात् चित्तवृत्ति को भावकर्म कहते हैं. दूसरे शब्दों में प्राणी के भावों को भावकर्म तथा भावों द्वारा आकृष्ट सूक्ष्म भौतिक परमाणुओं को द्रव्यकर्म कहते हैं. यह एक मूलभूत सिद्धान्त है कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध प्रवाहतः अनादि है. प्राणी अनादि काल से कर्मपरम्परा में पड़ा हुआ है. चैतन्य और जड़ का यह सम्मिश्रण अनादिकालीन है. जीव पुराने कर्मों का विनाश करता हुआ नवीन कर्मों का उपार्जन करता जाता है. जब तक उसके पूर्वोपार्जित समस्त कर्म नष्ट नहीं हो जाते-आत्मा से अलग नहीं हो जाते तथा नवीन कर्मों का उपार्जन बंद नहीं हो जाता-नया बंध रुक नहीं जाता तब

तक उसकी भवभ्रमण से मुक्ति नहीं होती. एक वार समस्त कर्मों का नाश हो जाने पर पुन: नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता क्योंकि उस अवस्था में कर्मोपार्जन का कोई कारण विद्यमान नहीं रहता. आत्मा की इसी अवस्था का नाम मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण अथवा सिद्धि है. इस अवस्था में आत्मा अपने असली रूप में रहता है. आत्मा का यही रूप जैन-दर्शन का ईश्वर है. परमेश्वर अथवा परमात्मा इससे भिन्न कोई विशेष व्यक्ति नहीं है. जो आत्मा है वही परमात्मा है. 'जे अप्पा से परमप्पा.'

कर्मवाद, नियतिवाद अथवा अनिवार्यतावाद नहीं है. कर्मसिद्धान्त यह नहीं मानता कि प्राणी को नियत समय में उपार्जित कर्म का फल भोगना ही पड़ता है अथवा नवीन कर्म का उपार्जन करना ही पड़ता है. यह सत्य है कि प्राणी को स्वोपार्जित कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है किन्तु इसमें उसके पश्चात्कालीन पराक्रम, पुरुपार्थ अथवा आत्मवीर्य के अनुसार न्यूनाधिकता तथा शीघ्रता अथवा देरी हो सकती है. इसी प्रकार वह नवीन कर्म का उपार्जन करने में भी अमुक सीमा तक स्वतन्त्र होता है. आन्तरिक शक्ति तथा आचार की परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए व्यक्ति अमुक सीमा तक नये कर्मों के आगमन को रोक सकता है. इस प्रकार जैन कर्मसिद्धान्त में सीमित इच्छास्वातन्त्र्य स्वीकार किया गया है.

## कर्मबन्ध व कर्ममुक्ति

जैन कर्मवाद में कर्मोपार्जन के दो कारण माने गये हैं—योग और कषाय. शरीर, वाणी और मन के सामान्य व्यापार को जैन परिभाषा में योग कहते हैं. दूसरे शब्दों में जैन परिभाषा में प्राणी की प्रवृत्तिसामान्य का नाम योग है. कपाय मन का व्यापारविशेष है. यह क्रोधादि मानसिक आवेगरूप हैं. यह लोक कर्म की योग्यता रखने वाले परमाणुओं से भरा हुआ है. जव प्राणी अपने मन, वचन अथवा तन से किसी प्रकार की प्रवृत्ति करता है तब उसके आस-पास रहे हुए कर्मयोग्य परमाणुओं का आकर्षण होता है अर्थात् आत्मा अपने चारों ओर रहे हुए कर्म-परमाणुओं को कर्मरूप से ग्रहण करता है. इस प्रक्रिया का नाम आस्रव है. कषाय के कारण कर्मपरमाणुओं का आत्मा से मिल जाना अर्थात् आत्मा के साथ बँध जाना बंध कहलाता है. वैसे तो प्रत्येक प्रकार का योग अर्थात् प्रवृत्ति कर्मबंध का कारण है किन्तु जो योग क्रोधादि कपाय से युक्त होता है उससे होने वाला कर्मबंध दृढ़ होता है. कषायरहित प्रवृत्ति से होने वाला कर्मबंध निर्वल व अस्थायी होता है. यह नाममात्र का बंध है. इससे संसार नहीं बढ़ता.

योग अर्थात् प्रवृत्ति की तरतमता के अनुसार कर्मपरमाणुओं की मात्रा में तारतम्य होता है. बद्ध परमाणुओं की राशि को प्रदेश-वन्ध कहते हैं. इन परमाणुओं की विभिन्न स्वभाव रूप परिणति को अर्थात् विभिन्न कार्यरूप क्षमता को प्रकृति-वन्ध कहते हैं. कर्मफल की मुक्ति की अवधि अर्थात् कर्म भोगने के काल को स्थिति-वन्ध तथा कर्मफल की तीव्रता-मन्दता को अनुभाग-वन्ध कहते हैं. कर्म बंधने के वाद जब तक वे फल देना प्रारम्भ नहीं करते तव तक के काल को अवाधाकाल कहते हैं. कर्मफल का प्रारम्भ ही कर्म का उदय है. ज्यों-ज्यों कर्मों का उदय होता जाता है त्यों-त्यों कर्म आत्मा से अलग होते जाते हैं. इसी प्रक्रिया का नाम निर्जरा है. जब आत्मा से समस्त कर्म अलग हो जाते हैं तब उसकी जो अवस्था होती है उसे मोक्ष कहते हैं.

जैन कर्मशास्त्र में प्रकृति-वन्ध के आठ प्रकार माने गये हैं अर्थात् कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ गिनाई गई हैं. ये प्रकृतियाँ प्राणी को भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुकूल एवं प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं. इनके नाम इस प्रकार हैं—१. ज्ञानावरणीय २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय. इनमें से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय व अन्तराय—ये चार प्रकृतियां घाती कहलाती हैं क्योंकि इनसे आत्मा के चार मूल गुणों—ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का घात होता है. शेष चार प्रकृतियाँ अघाती हैं क्योंकि ये किसी आत्मगुण का घात नहीं करतीं. ये शरीर से सम्बन्धित होती हैं. ज्ञानावरणीय प्रकृति आत्मा के ज्ञान अर्थात् विशेप उपयोगरूप गुण को आवृत करती है. दर्शनावरणीय प्रकृति आत्मा के दर्शन अर्थात् सामान्य उपयोगरूप गुण को आच्छादित करती है. मोहनीय प्रकृति

आत्मा के स्वाभाविक सुख में बाधा पहुंचाती है. अन्तराय प्रकृति से वीर्य अर्थात् आत्मशक्ति का नाश होता है. वेदनीय कर्मप्रकृति शरीर के अनुकूल एवं प्रतिकूल संवेदन अर्थात् सुख-दुःख के अनुभव का कारण है. आयु कर्मप्रकृति के कारण नरक, तिर्यंच देव एवं मनुष्य भव के काल का निर्धारण होता है. नाम कर्म प्रकृति के कारण नरकादि गति, एकेन्द्रियादि जाति,औदारिकादि शरीर आदि की प्राप्ति होती है. गोत्र कर्मप्रकृति प्राणियों के लौकिक उच्चत्व एवं नीचत्व का कारण है. कर्म की सत्ता मानने पर पुनर्जन्म की सत्ता भी माननी पड़ती है. पुनर्जन्म अथवा परलोक कर्म का फल है. मृत्यु के बाद प्राणी अपने गति नाम कर्म के अनुसार पुनः मनुष्य, तिर्यञ्च, नरक अथवा देव गति में उत्पन्न होता है. आनुपूर्वी नाम कर्म उसे अपने उत्पत्तिस्थान पर पहुंचा देता है. स्थानान्तरण के समय जीव के साथ दो प्रकार के सूक्ष्म शरीर रहते हैं: तैजस और कार्मण. औदारिकादि स्थूल शरीर का निर्माण अपने उत्पत्तिस्थान पर पहुंचने के बाद प्रारम्भ होता है. इस प्रकार जैन कर्मशास्त्र में पुनर्जन्म की सहज व्यवस्था की गई है.

कर्मबन्ध का कारण कषाय अर्थात् राग-द्वेषजन्य प्रवृत्ति है. इससे विपरीत प्रवृत्ति कर्ममुक्ति का कारण बनती है. कर्ममुक्ति के लिए दो प्रकार की क्रियाएँ आवश्यक हैं :—नवीन कर्म के उपार्जन का निरोध एवं पूर्वोपार्जित कर्मका क्षय. प्रथम प्रकार की क्रिया का नाम संवर तथा द्वितीय प्रकार की क्रिया का नाम निर्जरा है. ये दोनों क्रियाएं क्रमशः आस्रव तथा बन्ध से विपरीत हैं. इन दोनों की पूर्णता से आत्मा की जो स्थिति होती है अर्थात् आत्मा जिस अवस्था को प्राप्त होती है उसे मोक्ष कहते हैं. यही कर्ममुक्ति है.

नवीन कर्मों के उपार्जन का निरोध अर्थात् संवर निम्न कारणों से होता है:—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र व तपस्या. सम्यक् योगनिग्रह अर्थात् मन, वचन व तन की प्रवृत्ति का सुष्ठु नियन्त्रण गुप्ति है. सम्यक् चलना, बोलना, खाना, लेना-देना आदि समिति कहलाता है. उत्तम प्रकार की क्षमा, मृदुता, ऋजुता, शुद्धता आदि धर्म के अन्तर्गत हैं. अनुप्रेक्षा में अनित्यत्व, अशरणत्व, एकत्व आदि भावनाओं का समावेश होता है. क्षुधा, पिपासा, सर्दी, गर्मी आदि कष्टों को सहन करना परीषहजय है. चारित्र, सामायिक आदि भेद से पांच प्रकार का है. तप बाह्य भी होता है व आभ्यन्तर भी. अनशन आदि बाह्य तप हैं, प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप कहलाता है. तप से संवर के साथ-साथ निर्जरा भी होती है. संवर व निर्जरा का पर्यवसान मोक्ष-कर्ममुक्ति में होता है.

### आत्मवाद

कर्मवाद का आत्मवाद से साक्षात् सम्बन्ध है. यदि आत्मा की पृथक् सत्ता न मानी जाय तो कर्मवाद की मान्यता निरर्थक सिद्ध होती है. जैन आचारशास्त्र में कर्मवाद के आधारभूत आत्मवाद की भी प्रतिष्ठा की गई है. आत्मा का लक्षण उपयोग है. उपयोग का अर्थ है बोधरूप व्यापार. यह व्यापार चैतन्य का धर्म है. जड़ पदार्थों में उपयोग-क्रिया का अभाव होता है क्योंकि उनमें चैतन्य नहीं होता, उपयोग अर्थात् बोध दो प्रकार का है:—ज्ञान और दर्शन. सुख और वीर्य भी चैतन्य का ही धर्म है. इसीलिए आत्मा को अनन्त-चतुष्टयात्मक माना गया है. अनन्त चतुष्टय ये हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य. बद्ध अर्थात् संसारी आत्मा में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से क्रमशः विशेष बोधरूप अनन्त ज्ञान, सामान्य बोधरूप अनन्त दर्शन, अलौकिक आनन्दरूप अनन्त सुख व आध्यात्मिक शक्तिरूप अनन्त वीर्य प्रादुर्भूत होता है. मुक्त आत्मा में ये चार अनन्त-अनन्त-चतुष्टय सर्वदा बने रहते हैं. संसारी आत्मा स्वदेहपरिमाण एवं पौद्गलिक कर्मों से मुक्त होती है, साथ ही परिणमनशील, कर्त्ता, भोक्ता एवं सीमित उपयोगयुक्त होती है.

### अहिंसा और अपरिग्रह

जैनाचार का प्राण अहिंसा है, अहिंसक आचार एवं विचार से ही आध्यात्मिक उत्थान होता है जो कर्ममुक्ति का कारण है. अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन एवं आचरण जैन परम्परा में उपलब्ध है उतना शायद ही किसी जैनेतर परम्परा में हो. अहिंसा का मूलाधार आत्मसाम्य है. प्रत्येक आत्मा—चाहे वह पृथ्वी सम्बन्धी हो, चाहे उसका आश्रय जल हो,

चाहे वह कीट अथवा पतंग के रूप में हो, चाहे वह पशु अथवा पक्षी में हो, चाहे उसका वास मानव में हो—तात्त्विक दृष्टि से समान है. सुख-दुःख का अनुभव प्रत्येक प्राणी को होता है. जीवन-मरण की प्रतीति सबको होती है. सभी जीव जीना चाहते हैं. वास्तव में कोई भी मरने की इच्छा नहीं करता. जिस प्रकार हमें जीवन प्रिय है एवं मरण अप्रिय, सुख प्रिय है एवं दुःख अप्रिय, अनुकूलता प्रिय है एवं प्रतिकूलता अप्रिय, मृदुता प्रिय है एवं कठोरता अप्रिय, स्वतन्त्रता प्रिय है एवं परतन्त्रता अप्रिय, लाभ प्रिय है एवं हानि अप्रिय, उसी प्रकार अन्य जीवों को भी जीवन आदि प्रिय हैं एवं मरण आदि अप्रिय. इसीलिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम मन से भी किसी के वध आदि की बात न सोचें. शरीरसे किसी की हत्या करना अथवा किसी को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाना तो पाप है ही, मन अथवा वचन से इस प्रकार की प्रवृत्ति करना भी पाप है. मन, वचन और काया से किसी को संताप न पहुँचाना सच्ची अहिंसा है, पूर्ण अहिंसा है. वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों से लेकर मानव तक के प्रति अहिंसक आचरण की भावना जैन विचारधारा की अनुपम विशेषता है. इसे अहिंसक आचार का चरम उत्कर्ष कह सकते हैं. आचार का यह अहिंसक विकास जैन संस्कृति की अमूल्य निधि है.

अहिंसा को केन्द्रबिन्दु मानकर अमृषावाद, अस्तेय, अमैथुन एवं अपरिग्रह का विकास हुआ. आत्मिक विकास में बाधक कर्म-बंध को रोकने तथा बद्ध कर्म को नष्ट करने के लिए अहिंसा तथा तदाधारित अमृषावाद आदि की अनिवार्यता स्वीकार की गई. इसमें व्यक्ति एवं समाज दोनों का हित निहित है. वैयक्तिक उत्थान एवं सामाजिक उत्कर्ष के लिए असत्य का त्याग, अनधिकृत वस्तु का अग्रहण तथा संयम का परिपालन आवश्यक है. इनके अभाव में अहिंसा का विकास नहीं हो पाता. परिणामतः आत्मविकास में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित होती है. इन सबके साथ अपरिग्रह का व्रत अत्यावश्यक है. परिग्रह के साथ आत्मविकास की घोर शत्रुता है. जहां परिग्रह रहता है वहां आत्मविकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है. इतना ही नहीं, परिग्रह मनुष्य के आत्मपतन का बहुत बड़ा कारण बनता है परिग्रह का अर्थ है पाप का संग्रह. यह आसक्ति से बढ़ता है एवं आसक्ति को बढ़ाता भी है. इसी का नाम मूर्च्छा है. ज्यों-ज्यों परिग्रह बढ़ता है त्यों-त्यों मूर्च्छा-गृद्धि-आसक्ति बढ़ती जाती है. जितनी अधिक आसक्ति बढ़ती है उतनी ही अधिक हिंसा बढ़ती है. यही हिंसा मानव-समाज में वैषम्य उत्पन्न करती है. इसीसे आत्मपतन भी होता है. अपरिग्रहवृत्ति अहिंसामूलक आचार के सम्यक् परिपालन के लिए अनिवार्य है.

### अनेकान्तदृष्टि

जिस प्रकार जैन विचारकों ने आचार में अहिंसा को प्रधानता दी उसी प्रकार उन्होंने विचार में अनेकान्तदृष्टि को मुख्यता दी. अनेकान्तदृष्टि का अर्थ है वस्तु का सर्वतोमुखी विचार. वस्तु में अनेक धर्म होते हैं. उनमें से किसी एक धर्म का आग्रह न रखते हुए अर्थात् एकान्तदृष्टि न रखते हुए अपेक्षाभेद से सब धर्मों के साथ समान रूप से न्याय करना अनेकान्तदृष्टि का कार्य है. अनेक धर्मात्मक वस्तु के कथन के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक है. 'स्यात्' का अर्थ है कथंचित् अर्थात् किसी एक अपेक्षा से—किसी एक धर्म की दृष्टि से. वस्तु के अनेक धर्मों अर्थात् अनन्त गुणों में से किसी एक धर्म अर्थात् गुण का विचार उस दृष्टि से ही किया जाता है. इसी प्रकार उसके दूसरे धर्म का विचार दूसरी दृष्टि से किया जाता है. इस प्रकार वस्तु के धर्म-भेद से दृष्टि-भेद पैदा होता है. दृष्टिकोण के इस अपेक्षावाद अथवा सापेक्षवाद का नाम ही स्याद्वाद है. चूंकि स्याद्वाद से अनेक धर्मात्मक अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन या विचार होता है अतः स्याद्वाद का अपर नाम अनेकान्तवाद है. इस प्रकार स्याद्वाद व अनेकान्तवाद जैनदर्शनाभिमत सापेक्षवाद के ही दो नाम हैं.

जैनधर्म में अनेकान्तवाद के दो रूप मिलते हैं—सकलादेश और विकलादेश. सकलादेश का अर्थ है वस्तु के किसी एक धर्म से तदितर समस्त धर्मों का अभेद करके समग्र वस्तु का कथन करना. दूसरे शब्दों में वस्तु के किसी एक गुण में उसके शेष समस्त गुणों का संग्रह करना सकलादेश है. उदाहरणार्थ 'स्यादस्त्येव सर्वम्' अर्थात् कथंचित् सब है ही' ऐसा जब कहा जाता है तो उसका अर्थ यह होता है कि अस्तित्व के अतिरिक्त अन्य जितने भी धर्म हैं, सब किसी दृष्टि से

अस्तित्व से अभिन्न हैं. इसी प्रकार, नास्तित्व आदि धर्मों का भी तदितर धर्मों से अभेद करके कथन किया जाता है. यह अभेद काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार आदि आठ दृष्टियों से होता है. जिस समय किसी वस्तु में अस्तित्व धर्म होता है उसी समय अन्य धर्म भी होते हैं. घट में जिस समय अस्तित्व रहता है उसी समय कृष्णत्व, स्थूलत्व आदि धर्म भी रहते हैं. अतः काल की दृष्टि से अस्तित्व व अन्य गुणों में अभेद है. यही बात शेष सात दृष्टियों के विषय में भी समझनी चाहिये. वस्तु के स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व धर्म का विचार किया जाता है एवं परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्व धर्म का. सकलादेश में एक धर्म में अशेष धर्मों का अभेद करके सकल अर्थात् सम्पूर्ण वस्तु का कथन किया जाता है. विकलादेश में किसी एक धर्म की ही अपेक्षा रहती है और शेष की उपेक्षा. जिस धर्म का कथन करना होता है वही धर्म दृष्टि के सन्मुख रहता है. अन्य धर्मों का निषेध तो नहीं होता किंतु प्रयोजनाभाव के कारण उनके प्रति उपेक्षाभाव अवश्य रहता है. विकल अर्थात् अपूर्ण वस्तु के कथन के कारण इसे विकलादेश कहा जाता है. इस प्रकार अहिंसा और अनेकान्तवाद की मूल भित्ति पर ही जैनाचार के भव्य भवन का निर्माण हुआ है.
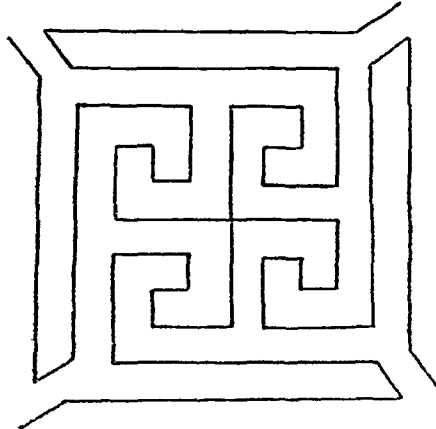
डा० जगदीशचन्द्र जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०

# महावीर और उनके सिद्धान्त

कल्पना कीजिये आज से अढाई हजार वर्ष पहले के जीवन—की उस समय की—आर्थिक,सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की. आजकी अपेक्षा उस समय की आर्थिक परिस्थितियाँ सीमित थीं, जिनका प्रभाव तत्कालीन समाज-व्यवस्था पर पड़ना अवश्यंभावी था. यातायात, वनिज—व्यापार के साधन बहुत अल्प थे जिससे दूर के लोगों के साथ संपर्क रखना कठिन था. देवी देवताओं सम्बन्धी अनेक मान्यतायें प्रचलित थीं. खेती-वारी और वनिज-व्यापार में समृद्धि प्राप्त करने और परलोक में शान्ति प्राप्त करने के लिये लोग यज्ञ-यागों में पशु-हिंसा को धर्म मानते थे. मनुष्यों के वर्ण अर्थात् रंगभेद पर आधारित और कार्य-विभाजन के लिये उपयोगी वेदकालीन वर्ण-व्यवस्था, बदलती हुई आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण अहितकर सिद्ध हो रही थी. मनुष्य-मनुष्य में अन्तर बढ़ रहा था. ज्ञातृपुत्र महावीर ने ऐसे ही समय में वैशाली नगरी के कुंडग्राम में जन्म लेकर विहार की भूमि को पवित्र किया था. वैशाली में लिच्छिवी गण का राज्य था जहाँ कि राजसत्ता नागरिकों द्वारा चुने हुए अनेक गणराजाओं के अधिकार में थी. वर्धमान के पिता सिद्धार्थ वैशाली के ऐसे ही गणमान्य राजाओं में से थे. उनकी माँ त्रिशला लिच्छिवी घराने की थी. 'पूत के पांव पालने में ही दीख जाते हैं' इस कहावत के अनुसार वर्धमान शुरू से ही कुशाग्र बुद्धि थे. कोई चीज जानने और समझने में उन्हें देर न लगती थी. वे अपने माता-पिता और गुरुजनों के आज्ञाकारी और संयमी प्रकृति के थे. दूसरे को दुखी देख उनका हृदय पिघल जाता और दुखियों का दुख दूर करने के लिये वे सदा प्रयत्नशील रहते. वर्धमान बड़े वीर और साहसी थे. उनके वीरतापूर्ण कृत्यों से मुग्ध होकर ही लोग उन्हें महावीर कहने लगे थे.

महावीर का मन संसार में नहीं लगता था. संसार के अन्याय और अत्याचारों को देख उनका कोमल हृदय रो उठता. जितना ही वे विचार करते उतना ही उन्हें यह संसार दुखमय प्रतीत होता. कहीं वे धन-सम्पत्ति की लालसा से युद्ध में संलग्न गणराजाओं को देखते, कहीं उन्हें राजकर और राजदण्ड से पीड़ित लोग दिखाई देते और कहीं ऋण-भार, अकाल और दुर्भिक्ष से ग्रस्त यंत्र की नाईं चलते-फिरते मानव नजर आते. कहीं पशु से भी बदतर जीवन व्यतीत करने वाले दास थे, कहीं समाज से बहिष्कृत नीच समझे जाने वाले शूद्र, और कहीं मनुष्योचित अधिकारों से वंचित अपना सर्वस्व समर्पण कर देने वाली नारियाँ. धर्म के नाम पर आडम्बर और शुष्क क्रियाकाण्ड फैला हुआ था तथा जाति-मद से उन्मत्त बने उच्चवर्ण के लोग अपने ही धर्म-कर्म को सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादन करते थे.

यह सब देखकर महावीर के भावुक हृदय में उथल-पुथल मच गई. एकांत में घण्टों बैठ वे बड़ी गंभीरता से जीवन की समस्याओं पर विचार करते, लेकिन कोई रास्ता उन्हें न सूझता. अनेक वार उन्होंने गृहत्याग कर दीक्षा ग्रहण करने का विचार किया लेकिन घरवालों की अनुज्ञा न मिलने से विचार स्थगित कर देना पड़ा.

महावीर अब तीस वर्ष के हो गये थे. उन्होंने सोचा-ऐसे तो सारी उम्र बीत जायेगी. आखिर उन्होंने लोककल्याण करने का निश्चय कर लिया. उन्होंने एक से एक सुन्दर, नाक के श्वास से उड़ जाने वाले कोमल वस्त्रों और बहुमूल्य आभूषणों को त्याग दिया, सोना-चांदी और मणि-मुक्ताओं को छोड़ दिया, स्वादिष्ट भोजन-पान को तिलांजलि दे दी, अपने मित्रों को त्याग दिया, भाई-बन्धुओं को छोड़ दिया और स्वजन-सम्बन्धियों की अनुमति पूर्वक, पालकी में सवार हो, ज्ञातृखंड नामक उद्यान में पहुँच, श्रमण-दीक्षा स्वीकार की.

महावीर ने बारह वर्ष से अधिक समय तक घोर तप किया. वे शून्यगृहों, उद्यानों, श्मशानों अथवा वृक्षों के नीचे एकासन

से खड़े रहते. कोई उन्हें कठोर वचन कहता तो मौन भाव से सहन करते. भोजन-पान में उन्हें आसक्ति नहीं रह गई थी, अपने लिये तैयार न किया हुआ, रूखा-सूखा भोजन खाकर ही वे काम चला लेते थे. कई दिन तक वे उपवासे रहते. बीमार पड़ने पर चिकित्सा न कराते. कभी कोई ऐसा काम न करते जिससे किसी को कष्ट पहुँचे. महावीर की तपश्चर्या और कष्टसहिष्णुता महान् थी जिसे देखकर बड़े-बड़े साधु-मुनियों के आसन डोल जाते थे.

अपने दीर्घकालीन तपस्वी जीवन में महावीर ने दूर-दूर तक यात्रा की. विहार में घूमें, पूर्वीय उत्तरप्रदेश के बनारस, साकेत, श्रावस्ती और कौशांबी आदि नगरों को उन्होंने अपने पाद-विहारों से पवित्र किया. लेकिन सबसे अधिक कष्ट उन्हें पश्चिमी बंगाल के लाढ देश में सहन करना पड़ा. इस देश में अनार्य जातियां बसती थीं और वे श्रमणों के आचार-विचार को हेय समझती थीं. लेकिन महावीर यातनाओं से जरा भी न घबराये और अपने उद्देश्य पर अटल रहे. परिश्रम का फल मीठा होता है. आखिर एक दिन जंभियग्राम में वालुका नदी के किनारे ध्यान-मुद्रा में अवस्थित महावीर ने बोध प्राप्त किया—उनके ज्ञान-चक्षु खुल गये.

केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद महावीर की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई. जन-समूह उनके दर्शन के लिये उमड़ पड़ा. कोई उनका उपदेश सुनने, कोई कुशल-वार्ता पूछने, कोई शंकानिवारण करने और कोई कौतूहल वृत्ति शांत करने के लिए आया. वैदिक दर्शन के प्रकाण्ड पंडित अर्थ-निर्णय के लिये उनके समीप उपस्थित हुए. महावीर की विद्वत्ता और सर्वतो-मुखी प्रतिभा से चकित होकर उन्होंने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया. आगे चलकर ये ही शिष्य गणधर पद से विभूषित किये गये.

गण और संघ के आदर्श पर महावीर ने अपने अनुयायियों को चार संघों में विभाजित किया था—साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका. संघ के संगठन को दृढ़ बनाने के लिये चारों के चार नेता चुने गये जिससे संघ सुसंगठित रूप से आगे बढ़ता रहा.

निर्ग्रन्थ श्रमण, मठों या उपाश्रयों में रहते और सैकडों की संख्या में एक साथ विहार करते. वर्षा ऋतु में चार महीने वे एक स्थान पर ठहरते, बाकी आठ महीने जन-पद विहार करते. विहार करते समय उन्हें देश-देश की भाषाओं का ज्ञान लोकरिवाजों का ज्ञान तथा जन साधारण के मनोविज्ञान का परिचय आवश्यक था.

महावीर ने अहिंसा पर सबसे अधिक जोर दिया. इस समय खेती-बारी में उन्नति हो जाने से पशु-हिंसा के स्थान पर अहिंसा की उपयोगिता स्वीकार की जाने लगी थी. महावीर का कथन था कि सब जीव सुख-शांतिपूर्वक रहना चाहते हैं, इसलिए हमें किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए. अपने विकारों पर विजय प्राप्त करने, इन्द्रियों का दमन करने और अपनी प्रवृत्तियों को संकुचित करने को ही वे वास्तविक अहिंसा मानते थे. इसलिए उन्होंने अपने भिक्षुओं को बोलने-चालने, उठने-बैठने, सोने और खाने पीने में सतत जागरूक रहने का उपदेश दिया है.

महावीर की मान्यता थी कि यदि सोने-चांदी के असंख्य पर्वत भी खड़े हो जायें तो भी मनुष्य की तृष्णा शान्त नहीं होती इसलिए मनुष्य को अपना परिग्रह कम करना चाहिए. उनके अनुसार सच्चा त्यागी वही हो सकता है जो सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर भी उनकी ओर से पीठ फेर लेता है, उन्हें धता बता देता है.

महावीर ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नहीं मानते. उनके अनुसार आत्म-विकास की सर्वोच्च अवस्था ही ईश्वरावस्था है. महावीर जाति-पांति और छुआछूत के सख्त विरोधी थे. मनुष्य मात्र की समानता पर वे जोर देते थे. उन्होंने बार-बार अपने शिष्यों को संबोधन करके कहा था—हे शिष्यो ! सच्चा जैन अथवा सच्चा ब्राह्मण वही है जिसने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त की है, जो पांचों इन्द्रियों पर निग्रह रखता है, जो मिथ्या भाषण नहीं करता और जो सब प्राणियों के हित में रत रहता है. वास्तव में कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है. जन्म से नहीं. महावीर के निर्ग्रन्थ धर्म को कोई भी पाल सकता था और उन्होंने स्वयं म्लेच्छ, चोर, डाकू, मछुए, और वेश्याओं आदि को अपने धर्म में दीक्षित किया था.

केवलज्ञान होने के पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर तीस वर्ष तक उपदेश देते रहे. राजगृह से विहार करते-करते वे चतुर्मास व्यतीत करने के लिये पावापुरी पधारे. कार्तिक अमावस्या को प्रातःकाल यकायक ईसवी सन् पूर्व ५२७ के दिन ७२ वर्ष की अवस्था में उनका उपदेश बन्द हो गया. और अमावस्या की रात्रि के पिछले पहर में उन्होंने निर्वाण पद पाया.

बात की बात में महावीर-निर्वाण की चर्चा सर्वत्र फैल गई. भुवन-प्रदीप संसार से सदा के लिये बुझ गया. उस समय काशी कौशल के मल्ल और लिच्छिवी गणराजा उपस्थित थे. उन्होंने इस पुनीत अवसर पर सर्वत्र दीपक जला कर दीपावली का उत्सव मनाया. किसी ने कहा—संसार की एक दिव्य विभूति उठ गई है, किसी ने कहा—अब दुर्बलों का कोई मित्र नहीं रहा. किसी ने कहा—श्रमण भगवान् आज कूच कर गये हैं तो क्या ! वे हमारे लिये बहुत कुछ छोड़ गये हैं, उनके सदुपदेशों को आगे बढ़ाने का काम हम करेंगे, दुनिया को सत्पथ हम दिखायेंगे.

आज भी अणुशक्ति के इस युग में महावीर के लोकप्रिय सिद्धान्त विश्व को मार्गदर्शन करने और हमें राष्ट्र की समस्याओं को सुलझाने में सहायक होंगे, इसमें सन्देह नहीं. लेकिन यह कार्य उनके धर्म के तत्त्व को ठीक-ठीक समझ कर हृदयंगम करने से हो सकता है. उनके नाम पर चली आई रूढ़ियों को पालने से नहीं.[1]

१. आकशवाणी बम्बई के सौजन्य से.
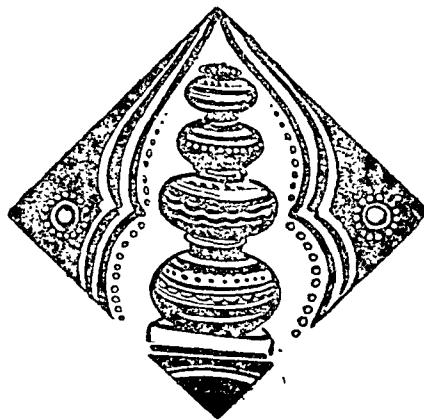
आचार्य श्रीतुलसी

# सर्व-धर्म-समभाव और स्याद्वाद

धर्म एक ही है इसलिए 'सर्व-धर्म' ऐसा प्रयोग सही नहीं है. जब धर्म अनेक नहीं तब समभाव किन पर हो ? निश्चय-दृष्टि से यह धारणा उचित है. व्यवहार की धारणा इससे भिन्न है. जब हम धर्म और सम्प्रदाय को एक ही शब्द से अभिहित करते हैं, तब धर्म अनेक हो जाते हैं और उन सब पर समभाव रखने का प्रश्न भी उपस्थित होता है. पर प्रति-प्रश्न यह है कि जो धर्म सम नहीं हैं उन पर समभाव कैसे रखा जाए ? कोई धर्म अहिंसा का समर्थन करता है और कोई नहीं करता. क्या उन दोनों को सम-दृष्टि से देखा जाए ? यह कैसे हो सकता है ? प्रकाश और धूमिल को सम नहीं माना जा सकता. जो विषम हैं, उन्हें सम मानना मिथ्या दृष्टिकोण है.

किन्तु स्याद्वाद के संदर्भ में समभाव का अर्थ होगा अपने भावों का समीकरण. जिसका दृष्टिकोण अनेकान्तस्पर्शी होता है वही व्यक्ति प्रत्येक धर्म के सत्यांश को स्वीकार और असत्यांश का परिहार करने में सम (तटस्थ) रह सकता है. धर्म के विचार अनेक हैं. कोई कालवादी है, कोई स्वभाववादी. कोई ईश्वरवादी है, कोई यदृच्छावादी. कोई नियति-वादी है, कोई पुरुषार्थवादी . कोई कर्मवादी है, कोई परिस्थितिवादी. कोई प्रवृत्तिवादी है, कोई निवृत्तिवादी.

श्वेताश्वतर-उपनिषद् में उल्लेख है कि—काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष—ये अलग-अलग विश्व के कारण नहीं हैं और इनका संयोग भी आत्मा के अधीन है, इसलिए वह भी विश्व का कारण नहीं है. आत्मा सुख, दुःख के हेतुओं के अधीन है, इसलिए वह भी विश्व का कारण नहीं हो सकता.[1]

ब्रह्मवादी विचारधारा प्रवृत्त हुई तब उसके सामने ये अभिमत प्रचलित थे. महाभारत में हमें काल, स्वभाव आदि का समर्थन करनेवाले असुरों के सिद्धांत मिलते हैं. प्रह्लाद स्वभाववादी थे. इन्द्र ने उनसे पूछा—"आप राज्य-भ्रष्ट होकर भी शोक-मुक्त कैसे हैं ?"[2]

प्रह्लाद ने कहा—"मेरी यह निश्चित धारणा है कि सब कुछ स्वभाव से ही प्राप्त होता है. मेरी आत्म-निष्ठ-बुद्धि भी इसके विपरीत विचार नहीं रखती.[3]

इसी प्रकार इन्द्र के प्रश्न पर असुरराज बलि ने काल के कर्तृत्व का समर्थन किया.[4] नमुचि ने नियतिवाद के समर्थन में कहा—"पुरुष को जो वस्तु जिस प्रकार मिलनेवाली होती है, वह उस प्रकार मिल ही जाती है. जिसकी जैसी भवित-व्यता होती है, वह वैसा ही होता है."[5]

---

१. श्वेताश्वतर १.२
कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोगः एषां न त्वात्मभावा-दात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ।

२. महाभारत शान्तिपर्व २२३.११

३. महाभारत शान्तिपर्व २२३.२३, २२७.७३
कालः कर्त्ता विकर्त्ता च, सर्वमन्यदकारणम् ।
नाशं विनाशमैश्वर्य, सुखं दुःखं भवाभवौ ॥

४. महाभारत शान्तिपर्व २२४। ५-६०

५. महाभारत शान्तिपर्व २२६.१०

स्याद्वाद की मर्यादा के अनुसार काल, स्वभाव आदि कार्य की निष्पत्ति में कारण हैं, पर ये वियुक्त होकर किसी कार्य को निष्पन्न नहीं करते. इनका समुचित योग होने पर ही कार्य निष्पन्न होता है. आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में—'काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत और पुरुषार्थ'—ये पांचों कारण परस्पर निरपेक्ष होकर अयथार्थ बन जाते हैं और ये ही परस्पर सापेक्ष होकर यथार्थ बन जाते हैं.[1]

वस्तुस्थित्या कर्त्तृत्व स्वयं पदार्थ में होता है. प्रत्येक पदार्थ का संस्थान स्वयं संचालित होता है. काल आदि उसके संचालन में निमित्त कारण बनते हैं. पदार्थ और उसकी कारण-सामग्री से अतिरिक्त किसी शक्ति में कर्त्तृत्व का आरोप करने की कोई अपेक्षा नहीं. फिर भी कुछ दार्शनिक ईश्वरकर्त्तृत्व की स्थापना करते हैं. हरिभद्र सूरि ने स्याद्वाद भाषा में कहा—"कर्त्ता वही होता है जो परम ईश्वर है. आत्मा परम ईश्वर है. वह अपने स्वभाव-कार्य का कर्त्ता है. कर्त्तृवाद अमान्य ही नहीं, हमें मान्य भी है.[2]"

कोई दार्शनिक स्थायित्व का आग्रह करता है, कोई परिवर्तन का. किन्तु स्याद्वादी दोनों का प्रत्येक वस्तु में समाहार करता है. इसीलिए उसकी दृष्टि में केवल स्थायी या केवल परिवर्तनशील पदार्थ होता ही नहीं. जिसमें विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व न हो, वह असत् है—वैसी वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं है. समभाव स्याद्वाद का पूर्व रूप है और सह-अस्तित्व उसका फलित है.

यदि सब पदार्थ या एक पदार्थ के अनेक धर्म अविरोधी ही होते तो पदार्थ एक ही होता और एक पदार्थ भी एक धर्म से युक्त होता, किन्तु ऐसा नहीं है और इसीलिए नहीं है कि अनेक विरोधी पदार्थ और हर पदार्थ में अनेक विरोधी धर्म हैं. जिनकी दृष्टि विषम होती है, वे ऐसा मानते हैं कि विरोधी वस्तुओं या धर्मों का सह-अस्तित्व हो ही नहीं सकता. किन्तु समदृष्टि वाले ऐसा मानते हैं कि सह-अस्तित्व, उन्हीं का होता है जो विरोधी अंशों से पृथक् अस्तित्व रखते हैं. यह वस्तु-जगत् के प्रति स्याद्वाद का सह-अस्तित्व सिद्धान्त है.

धार्मिक जगत् के प्रति भी स्याद्वाद का फलित यही है. यह देखकर कष्ट होता है कि कुछ जैन विद्वान् स्याद्वाद का पूरा निर्वाह नहीं कर सके. वाद-विवाद के क्षेत्र में वैसे उतरे, जैसे एकान्तवादी दार्शनिक उतरे थे. समदृष्टि उतनी नहीं रही जितनी स्याद्वाद की पृष्ठभूमि में रहनी चाहिए. इसीलिए उसका फलित, सह-अस्तित्व, उतना विकसित नहीं हो सका, जितना होना चाहिए.

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों एक ही महावृक्ष की महान् शाखाएं हैं. उनके सिद्धान्त-निरूपण में भी कोई बहुत मौलिक अन्तर नहीं है. फिर भी दोनों शाखाओं के विद्वानों ने मतभेद की समीक्षा में ऐसे शब्द प्रयोग किये हैं, जो वाँछनीय नहीं थे. लगता है कि स्याद्वाद की मर्यादा अब विकसित हो रही है. श्वेताम्बर और दिगम्बर धारा की दूरी मिट रही है. सह-अस्तित्व निष्पन्न हो रहा है.

स्याद्वाद एक समुद्र है. उसमें सारे वाद विलीन होते हैं. जितने वचन-पथ हैं उतने ही नयवाद हैं, और जितने नयवाद हैं उतने ही दर्शन हैं.[3]

---

१. सन्मतिप्रकरण ३.५३
कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंतं ।
मिच्छत्तं ते चेवा (व) समासओ होंति सम्मत्तं ॥

२. शास्त्रवार्तासमुच्चय २०७
परमैश्वर्ययुक्तत्वाद्, मत आत्मैव चेश्वरः ।
स च कर्तेति निर्दोषः कर्त्तृवादो व्यवस्थितः ॥

३. सन्मतिप्रकरण ३।४७
जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया ।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया ॥

धर्म या दर्शन की तालिका बहुत लम्बी है. उनके विचारों का भेद भी बहुत तीव्र है. उनका समन्वय करना कोई सरल काम नहीं है. पर स्याद्वाद का मूल समन्वय की गहराई में नहीं है. उसका मूल साधना की गहराई में है. वह वहां तक पहुंचती है जहां सत्य ही आधार है. प्रोफेसर कीथ का मंतव्य है—"दर्शन के प्रति जैनियों की देन, जहाँ तक वह मौलिक थी, इस प्रयत्न के रूप में है कि जो स्थिर वस्तु है और जो अस्थिर है उन दोनों के विरोध का समाधान कैसे किया जाए ? उनका समाधान इस रूप में है कि एक स्थिर सत्ता के रहते हुए भी वह बराबर परिवर्तनशील है. यही सिद्धान्त न्याय में प्रसिद्ध स्याद्वाद का रूप धारण कर लेता है. इस वाद को मूलतः इस रूप में कह सकते हैं कि एक अर्थ में किसी बात को कहा जा सकता है, जबकि दूसरे अर्थ में उसी का निषेध भी किया जा सकता है. परन्तु जैनदर्शन का कोई गम्भीर विकास नहीं हो सका. क्योंकि यह आवश्यक समझा गया कि जैनदर्शन जिस रूप में परम्परा से प्राप्त था, उसको वैसा ही मान लेना चाहिए और इस अवस्था में उसे बौद्धिक आधार पर खड़ा नहीं किया जा सकता.[1]

प्रो० कीथ का निष्कर्ष पूर्णतः यथार्थ नहीं है तो पूर्णतः अयथार्थ भी नहीं है. जैन विद्वान् परम्परा-सेवी रहे हैं. परन्तु जैनदर्शन का गम्भीर विकास नहीं हुआ, यह सही नहीं है. इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैन-परम्परा में तर्क- शास्त्र का उतना विकास नहीं हुआ जितना नैयायिक और बौद्ध धारा में हुआ. इसका कारण यही मान्यता थी कि सत्य की उपलब्धि तर्क के द्वारा नहीं, किन्तु साधना के द्वारा होती है.

स्याद्वाद एक तर्क-व्यूह के रूप में गृहीत नहीं हुआ, किन्तु सत्य के एक द्वार के रूप में गृहीत हुआ.

केवल स्याद्वाद को जानने वाला सब धर्मों पर समभाव नहीं रख सकता, किन्तु जो अहिंसा की साधना कर चुका, वही सब धर्मों पर समभाव रख सकता है. स्याद्वाद अहिंसा का ही एक प्रकार है. जो अहिंसक न हो और स्याद्वादी हो, यह उतना ही असम्भव है कि कोई व्यक्ति हिंसक हो और शुष्क तर्कवादी न हो.

कौटिल्य ने तर्कविद्या को सब धर्मों का आधार कहा है.[2] इसके विपरीत भर्तृहरि का मत है—"कुशल अनुमाता के द्वारा अनुमित अर्थ भी दूसरे प्रवर तार्किक द्वारा उलट दिया जाता है.[3] इसी आशय के सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा था—"कोरे ज्ञान से निर्वाण नहीं होता, यदि श्रद्धा न हो. कोरी श्रद्धा से भी वह प्राप्त नहीं होता, यदि संयम न हो."[4]

जैन विद्वानों ने संयम और श्रद्धा से समन्वित ज्ञान का विकास किया, इसलिए उनका तर्कशास्त्र स्याद्वाद की परिधि से बाहर विकसित नहीं हो सकता था.

तर्क से विचिकित्सा का अन्त नहीं होता. वही तर्क जब स्याद्वादस्पर्शी होता है, तो विचिकित्सा समाप्त हो जाती है. तर्कशास्त्र के सारे अंगों का जैन आचार्यों ने स्पर्श किया और हर दृष्टिकोण को उन्होंने मान्यता दी. उनके सामने असत्य कुछ भी नहीं था. असत्य था केवल एकान्तवाद और मिथ्या आग्रह. आग्रह न हो तो चार्वाक का दृष्टिकोण भी असत्य नहीं है, वह इन्द्रियगम्य सत्य है. वेदान्त का दृष्टिकोण भी असत्य कैसे है? वह अतीन्द्रिय सत्य है. इन्द्रिय-गम्य और अतीन्द्रिय दोनों का समन्वय पूर्ण सत्य है.

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ५८९

२. कौटलीय अर्थशास्त्र १।२
आश्रयः सर्वधर्माणां, शश्वदान्वीक्षिकी मता ।

३. वाक्यपदीय १।३४
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यै-रन्यथैवोपपाद्यते ।।

४. प्रवचनसार चारित्राधिकार । ३७
ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो अत्थे, असंजदो वा ण णिव्वादि ।।

समन्वय या समभाव की दिशा में हरिभद्र सूरि का दृष्टिकोण बहुत प्रशस्त है. उन्होंने लिखा है—"जिस प्रकार अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का सम्बन्ध जैन दृष्टि से घटित होता है, अमूर्त आकाश के साथ घट का सम्बन्ध होता है, अमूर्त ज्ञान पर मूर्त मदिरा का आघात होता है, वैसे ही सांख्य का प्रकृतिवाद घटित हो सकता है. कपिल मुनि दिव्य-ज्ञानी थे. वे भला असत्य कैसे कहते ?[1]"

महात्मा बुद्ध ने क्षणिक-वाद का उपदेश आसक्ति मिटाने के लिए, विज्ञान-वाद का उपदेश बाह्य-पदार्थों से विमुक्त रखने के लिए दिया. वे भला बिना प्रयोजन के ऐसी बात कैसे कहते.[2]

अद्वैत की देशना समभाव की सिद्धि के लिए की गई.[3] इस प्रकार विरोधी प्रतिभासित होने वाली दृष्टियों में अविरोध ढूंढना और उनके प्रवर्तकों के प्रति आदरभाव प्रकट करना एक समदर्शी स्याद्वादी महातार्किक का ही काम है.

आज जैन मनीषियों के लिए यह सद्यःप्राप्त कार्य है कि वे समभाव की साधना से समन्वित स्याद्वाद का प्रयोग कर जीवन के हर क्षेत्र में उठने वाले विवादों और संघर्षों का शमन करें.
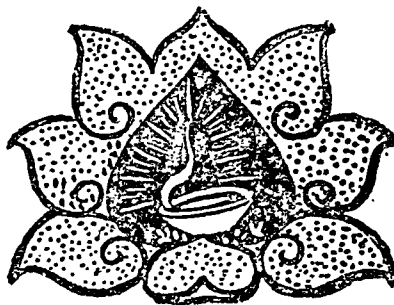
१. शास्त्रवार्तासमुच्चय २३६–२३७

मूर्तस्याप्यात्मनो योगो, घटेन नभसो यथा ।
उपघातादिभावश्च, ज्ञानस्येव सुरादिना ॥
एवं प्रकृतिवादोपि, विज्ञेयः सत्य एव हि ।
कपिलोक्तत्वतश्चैव, दिव्यो हि स महामुनिः ॥

२. शास्त्रवार्तासमुच्चय ४६४–६६ ।

३. शास्त्रवार्तासमुच्चय ५५० ।
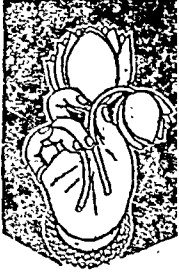
श्री सौभाग्यमल जैन

# स्याद्वाद और अहिंसा

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते,
नास्त्यन्यपीडनं किंचित् जैनधर्मः स उच्यते ।

आचार्य ने संक्षिप्त में जैन धर्म का अंतस्तल उक्त श्लोक में व्यक्त कर दिया है. वास्तव में 'स्याद्वाद और अहिंसा' जैन धर्म का प्राण है. जिस प्रकार किसी प्राणधारी के शरीर में से प्राण निकल जाने पर वह निष्प्राण हो जाता है, उसका जीवन समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार "जैनधर्म" में से उक्त दोनों महान् सिद्धान्त यदि कम (minus) कर दिये जावें तो उसका अस्तित्व ही नहीं रहेगा. वैसे सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने से ज्ञात होगा कि उक्त दोनों सिद्धान्त वास्तव में एक ही हैं. स्याद्वाद में अहिंसा की भावना निहित है और अहिंसा में स्याद्वाद की. जैन दर्शन में अहिंसा का सिद्धान्त सर्वोपरि है. जैन दर्शन ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग किया है. जैन दार्शनिक विचारमंथन ने प्राणी के वधनिषेध मात्र को अहिंसा की परिपूर्णता नहीं मानी अपितु यह भी आवश्यक समझा कि मनुष्य में "बौद्धिक अहिंसा" भी जरूरी है. मनुष्य में जब तक विचार करने की क्षमता है उसके दृष्टिकोण में अंतर रहेगा. इसी प्रकार विश्व में प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मात्मक है और यह भी स्वाभाविक है कि मनुष्य के सीमित ज्ञान के कारण वस्तु का भिन्न-भिन्न स्वरूप अथवा प्रश्न के समस्त पहलू एक समय ही मनुष्य के मस्तिष्क में नहीं आ सकते. इस कारण मनुष्य का किसी वस्तु अथवा प्रश्न के सम्बन्ध में अभिप्राय आंशिक सत्य ही हो सकता है. यदि मनुष्य आंशिक सत्य पर ही परस्पर विवाद करता रहे तथा स्वयं द्वारा अनुभूत सत्य (आंशिक) को ही पूर्ण सत्य होने का दावा करता रहे तो यह परिपूर्ण सत्य नहीं हो सकता. वास्तव में आंशिक सत्यों को यदि एकत्रित कर लिया जाये तो ही पूर्ण सत्य का दर्शन हो सकता है. यही स्थिति विश्व के धर्मों की विभिन्न मान्यताओं के सम्बन्ध में है.

विश्व के धर्माचार्यों ने अपनी तात्कालिक परिस्थिति से प्रभावित होकर सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था. इस कारण यह स्वाभाविक था कि देश, काल, क्षेत्र की भिन्नता के कारण उन सिद्धान्तों में वैषम्य होता और यही हुआ भी. किन्तु मनुष्य अपने धर्माचार्यों के प्रति ममता, उनके मन में व्याप्त आग्रह तथा अहंकार ने उसको उस आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मानने के लिए प्रेरित किया. परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक धर्म का अनुयायी अपने द्वारा स्वीकृत आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य, अन्तिम सत्य मानता रहा. यहां तक भी ठीक था किन्तु उसके आग्रह तथा अहंकार में वृद्धि हुई और उसने स्वयं द्वारा स्वीकृत आंशिक सत्य को दूसरे धर्मानुयायी से पूर्ण सत्य के रूप में मनवाने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया. परस्पर प्रतिस्पर्द्धा हुई, उससे कटुता निर्मित हुई और विश्व ने देखा कि धार्मिक असहिष्णुता ने विश्व में जघन्य दुष्कृत्य कराये और धर्म के नाम पर उनको स्वर्ग-प्रवेश का साधन बताया गया.

विश्व के इतिहास में रुचि रखने वाले सज्जन भलीभांति जानते हैं कि धर्म के नाम पर धार्मिक असहिष्णुता के कारण जितने अत्याचार हुए हैं उतने किसी अन्य कारण से नहीं हुए. यह आश्चर्य का विषय है कि 'धर्म' मनुष्य को आंतरिक शक्ति प्रदानकर्त्ता होते हुए भी मनुष्य ने उसका दुरुपयोग किया. विचार करने पर यही फलित होता है कि मनुष्य में आग्रह अहंकार तथा तज्जनित 'बौद्धिक हिंसा' काम कर रही है. धार्मिक असहिष्णुता के कारण हिंसक कृत्यों की हमारे देश में कमी नहीं रही. यूरोप आदि देशों में भी कमी नहीं रही.

जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर 'महात्मा महावीर' के हृदय में इस परिस्थिति के निराकरण के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ.

पाठक भलीभांति जानते हैं कि महात्मा महावीर के समय में विभिन्न सिद्धान्तों (वादों) का प्रतिपादन करने वाले दार्शनिक तथा धर्माचार्य वर्तमान थे और वह अपने-अपने मतों का प्रचार करते थे. इस कारण यह स्वाभाविक था कि परस्पर जय-पराजय की भावना से वाद-विवाद होता, परस्पर कटुता निर्मित होती और परिणाम स्वरूप धर्म की आत्मा का हनन होता. जैन शास्त्रों से यह स्पष्ट है कि महात्मा महावीर के समय में ३६३ मत प्रचलित थे. बौद्ध साहित्य से भी यह स्पष्ट है कि उस समय ६२ या ६३ मत प्रचलित थे. संख्या का महत्व नहीं है किन्तु उस समय जन साधारण में मतिभ्रम था और परस्पर धार्मिक असहिष्णुता विद्यमान थी. महात्मा महावीर ने इस स्थिति पर गम्भीर विचार किया और यह प्रतिपादित किया कि यह सब आंशिक सत्य प्रतिपादित करते हैं. यदि पूर्ण सत्य का दर्शन करना चाहते हो तो एकांत का आग्रह तज दो. इसी संदर्भ में ३६३ मतों का समन्वय किया.

सूक्ष्म विचार करने पर यह भलीभांति स्पष्ट होगा कि महात्मा महावीर ने विश्व के प्रत्येक प्रश्न तथा वस्तु के सम्बन्ध में विचार करने की एक नई पद्धति को जन्म दिया जिसे "अनेकान्त-विचारधारा" कहा जाता है. संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि महात्मा महावीर ने प्रत्येक वस्तु तथा प्रश्न पर ७ नयों की अपेक्षा से विचार करके अपना मत स्थिर करने की जिस पद्धति का आविष्कार किया उसे 'सप्तभंगी' अथवा 'अनेकान्त-विचारपद्धति' कहा गया. उसे वाणी द्वारा स्पष्ट करने को "स्याद्वाद" नाम से अभिहित किया. सत्य यह है कि इस 'अनेकान्त-विचार पद्धति' में किसी पक्षविशेष के प्रति आग्रह नहीं होता, अनाग्रह होता है. किसी वस्तु अथवा प्रश्न के प्रति एक दृष्टिकोण अपनाने वाला उसी वस्तु तथा प्रश्न के प्रति अन्य दृष्टिकोण अपनाने वाले के प्रति उदार विचार रखता है. वह मानता है कि उसमें भी सच्चाई है. मेरे द्वारा अपनाया दृष्टिकोण जहां सत्य है वहाँ अन्य दृष्टिकोण में भी सत्यता हो सकती है. यह उदारता का लक्षण है. एकांत विचार-धारा का व्यक्ति जहां अपने द्वारा अपनाये दृष्टिकोण के प्रति 'ही' का आग्रह रखता है वहां अनेकांत विचारधारा वाला 'भी' का मत रखता है. वास्तव में महात्मा महावीर ने इस सिद्धान्त का आविष्कार करके विश्व के सम्मुख 'धार्मिक असहिष्णुता' या सर्वधर्मसमभाव का उदाहरण प्रस्तुत किया है.

महात्मा महावीर के निर्वाण से १००० वर्ष पश्चात् का काल साहित्य की दृष्टि से "आगमयुग" कहा जाता है अर्थात् विक्रमपूर्व ४७० से लेकर विक्रम पश्चात् ५ वीं शताब्दी तक का काल "आगम युग" है. उसके पश्चात् ५ वीं शताब्दी से ८ वीं शताब्दी तक का काल साहित्यनिर्माण की दृष्टि से "अनेकान्तयुग" कहा जाता है. इस युग में महात्मा महावीर के पश्चात्-वर्ती आचार्यो ने अनेकान्त पर प्रचुर साहित्य का निर्माण किया. महात्मा महावीर द्वारा प्रतिपादित "स्याद्वाद" सिद्धान्त का ही यह प्रताप था कि जैनाचार्यों ने जो तार्किक दृष्टिकोण अपनाया उस प्रकार का निष्पक्ष तथा उदार दृष्टिकोण अन्य के लिए अपनाना सम्भव नहीं था. श्रीमद् हेमचन्द्रचार्य ने शिवमन्दिर में निम्नप्रकार की स्तुति की थी—

> भवबीजांकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य ।
> ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

उक्त श्लोक में आचार्य ने उस महापुरुष को नमस्कार किया है जिसने रागद्वेष नष्ट करके पुर्नजन्म की सम्भावना समाप्त कर दी हो, चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हरि हो या जिन हो. इस उदारता का उदाहरण अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं है. जैनाचार्यों के तार्किक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में निम्न उद्धरण पर्याप्त होगा जो एक जैनाचार्य ने दृढ शब्दों में व्यक्त किया था—

> पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
> युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

उक्त आचार्य को न तो महावीर के वचनों के सम्बन्ध में पक्षपात है और न कपिलादि मुनियों के सम्बन्ध में द्वेष है. उनकी केवल एक कसौटी तर्क है. वह तर्क-युक्त वचनों को प्रमाण के रूप में मान्य करते हैं. इसी प्रकार एक अन्य आचार्य स्वयं महात्मा महावीर के अनुयायियों द्वारा अपनाई गई एकांत विचारधारा के कारण क्षुब्ध होकर स्पष्ट मन्तव्य देते हैं कि :—

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तत्त्ववादे न च तर्कवादे,
न पक्षसेवाऽऽश्रयणेन मुक्तिः कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ।

उक्त आचार्य ने केवल कषाय से मुक्तता को ही मोक्ष का कारण प्रतिपादन किया है. यदि हम जैनेतर दृष्टिकोण पर विचार करें तो वहाँ पर भी ऐसे सूत्र-वाक्य मिल जाते हैं जिनमें स्याद्वाद अथवा अनेकान्तविचार पद्धति का प्राधान्य है. उदाहरण के लिए "एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति" एक ही सत्य को विप्रगण अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं. वास्तव में विश्व ही भिन्नता का समूह है. उसमें किसी के दुराग्रह के लिए. कोई स्थान नहीं है.

हों भिन्न सब भिन्नत्व तो संसार का है नियम ही,
पर भिन्न होना नहिं किसी से बुद्धिमत्ता है यही ।

जैनाचार्यों ने इस सिद्धान्त का जनसाधारण को सरलता से बोध कराने के लिए कई उदाहरण अपने साहित्य में प्रस्तुत किये हैं. स्याद्वाद के सम्बन्ध में कुछ अजैन विद्वानों ने भ्रांति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है. कुछ विद्वान् इसे संशय-वाद (ढिलमिल यकीनी) बताते हैं. यह भी कहा जाता है कि इसमें जब मनुष्य अपने से भिन्न दृष्टि को सत्य होने का विचार करता है तब वह अपने द्वारा अपनाये हुए दृष्टिकोण को असत्य मानता है. इसी प्रकार किसी समय एक दृष्टिकोण को सत्य मानता है किसी समय अन्य को. यही ढिलमिल यकीनी तथा संशयवाद कहा जाता है. किन्तु जैनाचार्यों ने दधि-मंथन का उदाहरण देकर इसका निराकरण किया है. युरोपीय विद्वानों ने "सापेक्षवाद" (Prnciple of relativity) का आविष्कार करके उक्त सिद्धान्त की उपयोगिता मानी है. एक विद्वान् का कहना है कि यह सिद्धांत अत्यन्त सरल तथा तर्कपूर्ण है. यदि एक लकीर स्लेट पर खींच कर परीक्षा की जाये कि यह बड़ी है या छोटी ? तो निश्चित रूप-से उसके दोनों उत्तर होंगे. अन्य लकीर (जो उससे छोटी हो) खींचकर उसे बड़ी कहा जा सकता है और अन्य (जो उससे बड़ी हो) खींचकर उसे छोटी कहा जा सकता है. यही तो सापेक्षवाद है.

स्याद्वाद सिद्धांत की पृष्ठभूमि में जो भावना काम करती है वही भावना प्रजातंत्रीय पद्धति में कार्य करती है. लोक-तंत्रात्मक राज्य में पार्लियामेंट में "विरोधी दल" का बड़ा महत्त्व है. उसमें भी यही भावना काम करती है. "सत्तारूढ दल" अपनाई गई नीति में आलोचना की गुंजायश स्वीकार करता है. सत्तारूढ दल अपने द्वारा अपनाई नीति तथा कार्य-क्रम में विश्वास रखते हुए भी इस बात की गुंजायश स्वीकार करता है कि अन्य नीति तथा कार्यक्रम देशहित के लिए अपनाया जाना उचित हो सकता है. उक्त आलोचना को सुनकर वह लाभ उठाता है. हम इसे 'राजनीतिक स्याद्वाद' के नाम से अभिहित कर सकते हैं.

जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है स्याद्वाद एक अंग है अहिंसा का. स्याद्वाद वास्तव में बौद्धिक अहिंसा ही है. ऊपर यह भी बतलाया जा चुका है कि जैनदर्शन में "अहिंसा" सर्वोपरि है. यदि यह कहा जाए कि "अहिंसा" जैन-दर्शन का पर्यायवाची नाम है तो भी अत्युक्ति न होगी. भगवान् महवीर ने स्पष्ट कहा था कि जो तीर्थंकर पूर्व में हुए, वर्तमान में हैं, तथा भविष्य में होंगे, उन सबने अहिंसा का प्रतिपादन किया है. अहिंसा ही ध्रुव तथा शाश्वत धर्म है. इस प्रकार जैनदर्शन में अहिंसा का स्थान सर्वोपरि पाया जाता है. जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित "अहिंसा" के सम्बन्ध में देश में काफी भ्रम रहा. किसी ने उसे अव्यवहार्य बताया, किसी ने उसे वैयक्तिक बताकर सामाजिक, राजकीय प्रश्नों के लिए अनुपयोगी बताया. इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न करने वालों ने जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित "अहिंसा" का पूर्ण अध्ययन किये बिना ही उसकी आलोचना की है. जो जैनदर्शन मनुष्य अथवा प्राणधारी के जीवन की प्रत्येक क्रिया में हिंसा का आभास पाता है औंर कहता है कि विश्व में किसी भी प्राणधारी की, पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति तथा त्रस जीवों की हिंसा से विरत रहना चाहिए, उसी जैनदर्शन के व्याख्याता आचार्यों ये यह भी प्रतिपादित किया कि—

"जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयंमासे, जयं सये,
जयं भुंजंतो, भासंतो, पावकम्मं न बंधई ।

तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन यह मानता है कि किसी भी प्राणधारी का जीवन सर्वथा अहिंसक होना असम्भव है, क्योंकि प्राणधारी द्वारा जीवित रहने के लिए वायु काय आदि के जीवों का संहार बिना इच्छा ही हो जाता है. इसी कारण उपरोक्त व्याख्याकार ने यत्नपूर्वक जीवनयापन में पापकर्म के बंधन न होने का प्रतिपादन किया है. हमारे देश के जीवन में अहिंसा की जो छाप दृष्टिगोचर होती है वह जैनधर्म की देन है. सामूहिक प्रश्नों के निराकरण के लिए अहिंसा का प्रयोग हमारे देश में काफी सफल रहा. जैनदर्शन में मनुष्य को केवल वैयक्तिक जीवन व्यतीत करने का ही विधान नहीं किया है अपितु सामूहिक जीवन में उसके कर्त्तव्य भी बतलाये हैं. जैनशास्त्र "स्थानांग सूत्र" में ग्रामधर्म नगरधर्म राष्ट्रधर्म आदि का उल्लेख करके मनुष्य को सामूहिक जीवन के कर्त्तव्यों का बोध कराया गया. हमारे देश में विदेशी सत्ता के विरुद्ध महात्मा गांधीजी के नेतृत्व में "अहिंसक युद्ध" ही लड़ा गया. जिसके परिणामस्वरूप देश स्वतन्त्र हुआ और आज हम स्वतन्त्रता के फल भोग रहे हैं. वास्तव में यह प्रयोग था. हमारे इतिहास में शायद ही अहिंसा के सामूहिक प्रयोग का उदाहरण उपलब्ध हो सके. प्रचीन ग्रंथों में हार तथा हाथी के लिए स्वजनों का युद्ध एक प्रसिद्ध घटना है. रामायणकाल में रावण को सत्पथ पर लाने के लिए श्रीरामचन्द्र ने युद्ध का ही आश्रय लिया. महाभारत में भी भ्रातृजनों में व्याप्त कलह के कारण युद्ध को अनिवार्य माना गया. महाभारत युद्ध के एक पात्र के द्वारा निम्न वाक्य कहलाये जो तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डालते हैं और जिससे युद्ध की अनिवार्यता स्पष्ट होती है.

"सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव"

वास्तव में अहिंसा के प्रयोग में गांधी-युग ने एक नई दिशा का श्रीगणेश किया था किन्तु गांधीयुग के उक्त श्रीगणेश को आज विश्व में अधिक प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है. आज पूज्य गांधीजी के स्वर्गवास को १५ वर्ष हो गये. उनके अभूतपूर्व व्यक्तित्व के अभाव के कारण "अहिंसा" का विचार गति नहीं पा रहा है, विश्व के राजनीतिज्ञ अपने प्रश्नों के निपटाने के लिए अहिंसा का माध्यम स्वीकार नहीं करते अपितु हिंसक युद्ध को माध्यम मानते हैं. यही कारण है कि कुछ समय पूर्व चीन ने सीमा विवाद के नाम पर भारत पर हिंसक आक्रमण किया और शांतिप्रेमी भारत को अपने रक्षण के हेतु शस्त्रों का उपयोग करना पड़ा. दुर्भाग्य से हमारे बीच अहिंसा का अपूर्व हामी पूज्य गांधी जी जैसा प्रभावशाली व्यक्तित्व नहीं है. इसी कारण अहिंसा के तत्त्वदर्शन को हमारे जीवन में जो स्थान मिलना चाहिए था वह नहीं मिल पा रहा है. काश समाज कोई ऐसा नररत्न पैदा कर सके.
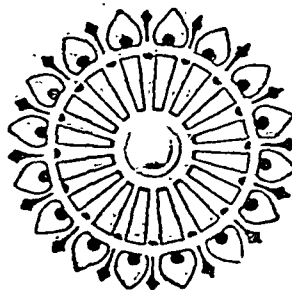
श्रीकन्हैयालाल लोढा, बी० ए०

# जैनदर्शन और विज्ञान

वर्त्तमान युग विज्ञान का युग है. इसमें प्रत्येक सिद्धांत विज्ञान के प्रकाश में निरखा-परखा जाता है. विज्ञान की कसौटी पर खरा न उतरने पर उसे अंधविश्वास माना जाता है और उस पर विश्वास नहीं किया जाता है. आज अनेक प्राचीन धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्त विज्ञान के समक्ष न टिक सकने से धराशायी हो रहे हैं. परन्तु जैनदर्शन इसका अपवाद है. वह विज्ञान के प्रकाश से शुद्ध स्वर्ण के समान अधिक चमक उठा है.

विज्ञान के विकास के पूर्व जैनदर्शन के जिन सिद्धांतों को अन्य दर्शनकार कपोल-कल्पित कहते थे वे ही आज विज्ञान-जगत् में सत्य प्रमाणित हो रहे हैं. जिस युग में प्रयोगशालाएँ तथा यान्त्रिक साधन न थे, उस युग में ऐसे सिद्धांतों का प्रतिपादन करना निश्चय ही उनके प्रणेताओं के अलौकिक ज्ञान का परिचायक है.

जैनदर्शन के सिद्धांतों से विश्वविख्यात साहित्यकार श्री जार्ज बर्नार्ड शा इतने अधिक प्रभावित थे कि महात्मा गांधी के पुत्र श्रीदेवदास गांधी ने जब उनसे पूछा कि आप से किसी धर्म को मानने के लिए कहा जाय तो आप किस धर्म को मानना पसंद करेंगे ? शा ने चट उत्तर दिया-- 'जैनधर्म'. इसी प्रकार प्रसिद्ध विद्वान् डा० हर्मन जैकोबी आदि ने जैनदर्शन के सिद्धांतों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है.

जैनदर्शन के उन कतिपय सिद्धांतों पर, जो पहले इतर दार्शनिकों के बुद्धिगम्य न थे और आज विज्ञान जिन्हें सत्य सिद्ध कर रहा है, प्रस्तुत निबन्ध में प्रकाश डाला जायेगा.

## जीव तत्त्व

**पृथ्वी, पानी, पावक, पवन और वनस्पति की सजीवता:**—जैनदर्शन विश्व में मूलत: दो तत्त्व मानता है :–जीव[1] और अजीव. इनमें से जीव के मुख्यत: दो भेद माने गये हैं[2]--त्रस और स्थावर. वे जीव जो चलते फिरते हैं त्रस और जो स्थिर रहते हैं वे स्थावर कहे जाते हैं. केंचुआ, चिउंटी मक्खी, मच्छर, मनुष्य, पशु आदि त्रस जीवों को तो अति प्राचीन काल से ही प्राय: सभी दर्शन सजीव स्वीकार करते रहे हैं परन्तु स्थावर जीवों को एक मात्र जैनदर्शन ही सजीव मानता रहा है. स्थावर जीवों के भी पांच भेद हैं[3]-पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति.

कुछ समय पूर्व तक जैनदर्शन की स्थावर जीवों की मान्यता को अन्य दर्शनकार एक मनगढंत कल्पना मानते थे. परन्तु आज विज्ञान ने इस मान्यता को सत्य सिद्ध कर दिया है.

---

१. जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए:—उत्तराध्ययन अ० ३६ गाथा २.

२. संसारिणस्त्रसस्थावरा:—तत्त्वार्थसूत्र अ० २ सूत्र १२.

३. पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय: स्थावरा: —तत्त्वार्थसूत्र अ० २ सूत्र १३.

श्री एच० टी० वर्सटापेन का कथन है कि जिस प्रकार बालक बढ़ता है वैसे ही पर्वत भी धीरे-धीरे बढ़ते हैं. आप विश्व के पर्वतों की वृद्धि का अंकन करते हुए लिखते हैं[1]—न्यूगिनी के पर्वतों ने अभी अपनी शैशवावस्था ही पार की है. सेलिबोस के दक्षिणी पूर्वी भागों, मोलूकास के कुछ टापुओं और इंडोनेशिया के द्वीप-समूह की भूमि भी ऊँची उठ रही है. श्री सुगाते का मत है कि न्यूजीलैण्ड के पश्चिमी नेलसन के पर्वत 'प्लाइस्टोसीन' युग के अंत में विकसित हुए हैं. श्री वेलमेन के अनुसार आल्पस पर्वतमाला का पश्चिमी भाग अब भी बढ़ रहा है. द्वीपों की भूमि का उठाव तथा पर्वतों की वृद्धि पृथ्वी की सजीवता के स्पष्ट प्रमाण हैं.

प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री कैप्टिन स्कवेसिबी ने यंत्र के द्वारा एक लघु जलकण में ३६४५० जीव गिनाये हैं. जिस प्रकार मनुष्य पशु आदि सजीव प्राणी श्वास द्वारा शुद्ध वायु से ओक्सीजन (oxygen) ग्रहण कर जीवित रहते हैं और ओक्सीजन या शुद्ध हवा के अभाव में मर जाते हैं, इसी प्रकार अग्नि भी वायु से ओक्सीजन लेकर जीवित रहती या जलती है और उसे किसी बरतन से ढंक देने या अन्य किसी प्रकार हवा न मिलने देने पर तत्काल बुझ जाती है. वैज्ञानिकों का कथन है कि सुई के अग्रभाग जितनी हवा में लाखों जीव रहते हैं जिन्हें 'थेक्सस' कहा जाता है.

वनस्पति भी सजीव है. विज्ञान-जगत् में यह बात सर्वप्रथम सर जगदीशचन्द्र वसु ने सिद्ध की. उन्होंने यंत्रों के माध्यम से प्रत्यक्ष दिखाया कि पेड़-पौधे आदि वनस्पतियां मनुष्य की भांति ही अनुकूल परिस्थिति में सुखी और प्रतिकूल परिस्थति में दुःखी होती हैं. तथा हर्ष, शोक, रुदन आदि करती हैं. जैनागमों[2] में आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चारों संज्ञाओं को भी वनस्पति में स्वीकार किया गया है.

वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि वनस्पतियाँ मिट्टी, जल, वायु तथा प्रकाश से आहार ग्रहण कर अपने तन को पुष्ट करती हैं. आहार के अभाव में वे जीवित नहीं रह सकतीं. वनस्पतियाँ भी पशु पक्षियों के समान निरामिष आहारी और सामिष आहारी दोनों प्रकार की होती हैं. आम, नीम, जामुन आदि निरामिष आहारी वनस्पतियाँ तो हमारी आँखों के सामने सदैव ही रहती हैं. सामिष आहारी वनस्पतियाँ अधिकतर विदेशों में पाई जाती हैं.

आस्ट्रेलिया में एक प्रकार की वनस्पति होती है जिसकी डालों में शेर के पंजों के समान बड़े-बड़े काँटे होते हैं. अगर कोई सवार घोड़े पर चढ़ा इस वृक्ष के नीचे से निकले तो वे घोड़े पर से उस व्यक्ति को इस प्रकार उठा लेती हैं, जैसे बाज किसी छोटी चिड़िया को. फिर वह शिकार उस वृक्ष का आहार बन जाता है. अमरीका के उत्तरी कैरोलीना राज्य में वीनस फ्लाइट्रेप पौधा पाया जाता है. ज्यों ही कोई कीड़ा या पतंगा इसके पत्ते पर बैठता है तो पत्ता तत्काल बंद हो जाता है. पौधा जब उसका रक्त-मांस सोख लेता है, तब पत्ता खुल जाता है और कीड़े का सूखा शरीर नीचे गिर जाता है. इसी प्रकार 'पीचर प्लांट' रेन हैटट्रम्पट, वटर-वार्ट, सनड्यू, उपस, टच-मी-नाट, आदि अनेक मांसाहारी वृक्ष हैं जो जीवित कीटों को पकड़ने व खाने की कला में प्रवीण हैं.

भय के लिए तो छुईमुई आदि वनस्पतियाँ प्रसिद्ध ही हैं, जो अंगुली दिखाने मात्र से भयभीत हो अपने शरीर को सिकोड़ लेती हैं. वनस्पति में मैथुन-क्रिया किस प्रकार संपन्न होती है तथा इस क्रिया के संपन्न न होने की स्थिति में फूल फल में परिणत नहीं होते हैं, आदि सब बातें श्री पी० लक्ष्मीकांत[3] ने सविस्तार दिखाई हैं. वनस्पतियाँ अपने और अपनी संतान के लिए आहार का संग्रह या परिग्रह भी करती हैं. वनस्पतिविशेषज्ञों का कथन है कि एक[4] भी फूलने वाला पौधा ऐसा नहीं है जो अपने बच्चे के लिए बीज रूप में पर्याप्त भोजनसामग्री इकट्ठी न कर लेता हो. ऐसे पौधे वसंत और गर्मी में खूब प्रयास करके सामग्री जमा कर लेते हैं. वनस्पति में निद्रा का वर्णन करते हुए हिरण्यमय बोस लिखते

---

१. नवनीत, सितम्बर १९६२.

२. चत्तारि सण्णाओ पण्णत्ताओ तंजहा-आहारसण्णा. भयसण्णा, मेहुणसण्णा परिग्गहसण्णा—ठाणांगसूत्र स्था० ४ उ० ४.

३. नवनीत, अगस्त १९५५ पृष्ठ २९ से ३२

४. देखिये नवनीत, अप्रैल १९५२ पृष्ठ २६

हैं—'जैसे जीवित (चलते-फिरते) प्राणी परिश्रम के बाद रात में सोकर थकावट दूर करते हैं वैसे ही पेड़-पौधे भी रात को सोते हैं. सूडान और वेस्ट इंडीज में एक ऐसा वृक्ष मिलता है जिसमें से दिन में विविध प्रकार की राग-रागिनियां निकलती हैं और रात में ऐसा रोना-धोना प्रारम्भ होता है मानों परिवार के सब सदस्य किसी की मृत्यु पर बैठे रो रहे हों या सिसक रहे हों. डा० जगदीशचन्द्र वसु ने तो वनस्पति की क्रोध, घृणा, प्रेम, आलिंगन आदि अनेक अन्य प्रवृत्तियों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है. जैन ग्रंथों में वनस्पति की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष कही गई है. प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडमंड शुमांशा के कथनानुसार आज भी अमेरीका के केलीफोर्निया के नेशनल वन में ४६०० वर्ष की आयु के वृक्ष विद्यमान हैं.

## आत्म-अस्तित्व और विज्ञान

आज के विज्ञान-जगत् में आत्म-अस्तित्व पर भी विश्वास प्रकट किया जाने लगा है. विश्व के महान् वैज्ञानिक अपनी शोध-खोज के आधार पर आत्म-अस्तित्व स्वीकार करने लगे हैं. यथा[1] :—

"वह युग निश्चय ही आयेगा, जब विज्ञान अज्ञात-अज्ञेय के सभी बन्द दरवाजे खोलने में समर्थ होगा. जितना हम पहले सोचते थे, ब्रह्माण्ड उससे भी अधिक आध्यात्मिक तत्त्वों पर टिका है. सच तो यह है कि हम ऐसे आध्यात्मिक जगत् में रहते हैं, जो भौतिक संसार से अधिक महान् और सशक्त है."—सर ओलिवर लॉज.

कोई अजानी शक्ति निरन्तर क्रियाशील है, परन्तु हमें उसकी क्रिया का कुछ पता नहीं. ...मैं मानता हूँ कि चेतना ही प्रमुख आधारभूत वस्तु है. पुराना नास्तिकवाद अब पूरी तरह मिट चुका है और धर्म, चेतना तथा मस्तिष्क के क्षेत्र का विषय बन गया है. इस नयी धार्मिक आस्था का टूटना संभव नहीं है."—सर ए० एस० एडिंग्टन.

"कुछ ही समय पहले तक यह बात वैज्ञानिक क्षेत्रों में एक हद तक फैशन बन गई थी कि अपने को नास्तिक (एग्नौस्टिक) कहा जाए, लेकिन अब अगर कोई आदमी अपनी नास्तिकता की नासमझी पर गर्व करता है, तो यह लज्जा और तिरस्कार की बात है. नास्तिकता का फैशन अब मिट चुका है. और, यह विज्ञान के श्रम का ही फल है."—साइन्स एंड रिलिजन.

"सच्चाई तो यह है कि जगत् का मौलिक रूप जड़ (Matter), बल (Force) अथवा भौतिक पदार्थ न होकर मन और चेतना ही है.—जे० बी० एस० हेल्डन.

## अजीव तत्त्व

अब दूसरे तत्त्व 'अजीव' को लीजिए. जैनागमों में अजीव के पाँच भेद कहे हैं—(१) धर्म (२) अधर्म (३) आकाश (४) काल (५) पुद्गल. ये पाँच द्रव्य तथा जीव कुल छः द्रव्य रूप यह लोक[2] कहा गया है. यहाँ न तो धर्म, शब्द कर्त्तव्य, गुण, स्वभाव व आत्म-शुद्धि के साधन का अभिव्यंजक है और न अधर्म शब्द दुष्कर्म या पाप का अभिव्यंजक. यहाँ ये दोनों ही जैन दर्शन के विशेष पारिभाषिक शब्द हैं और दो मौलिक द्रव्यों के सूचक हैं. जैनागमों में धर्म शब्द उस द्रव्य के लिए प्रयुक्त हुआ है जो जीव और पुद्गल की गतिक्रिया में सहायक होता है और अधर्म उस द्रव्य के लिए प्रयुक्त हुआ है जो जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक होता है. इसी प्रकार 'आकाश' और 'काल' को भी मौलिक द्रव्यों में स्थान दिया है.

**धर्म और अधर्म**—विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शोध 'ईथर' है. ईथर और जैनदर्शन में कथित धर्म द्रव्य के गुणों में

---

१. ज्ञानोदयः अक्टूबर १९५९

२. धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल जंतवो.
एस लोगोत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं । —उत्तराध्ययन अ० २८ गा ७

इतना अधिक साम्य है कि ये दोनों एक द्रव्य के दो पृथक्-पृथक् नाम हैं, ऐसा कहना असमीचीन न होगा. ईथर के विषय में भौतिक विज्ञानवेत्ता डा० ए० एस० एडिंगटन लिखते हैं:—[१]

"आज कल यह स्वीकार कर लिया गया है कि ईथर भौतिक द्रव्य नहीं है. भौतिक की अपेक्षा उसकी प्रकृति भिन्न है—भूत में प्राप्त पिण्डत्व और घनत्व गुणों का ईथर में अभाव होगा परन्तु उसके अपने नये और निश्चयात्मक गुण होंगे—"ईथर का अभौतिक सागर."

अलबर्ट आईन्स्टीन के अपेक्षावाद के सिद्धांतानुसार ईथर अभौतिक (अपारमाणविक), लोकव्याप्त, नहीं देखा जा सकने वाला, अखंड द्रव्य है. प्रोफेसर जी० आर० जैन एम० एस-सी० धर्म द्रव्य और ईथर का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए लिखते हैं:—[२]

"यह सिद्ध हो गया है कि विज्ञान और जैन दर्शन दोनों यहाँ तक एकमत हैं कि धर्मद्रव्य या ईथर अभौतिक, अपारमाणविक, अविभाज्य, अखंड आकाश के समान व्यापक, अरूप, गति का अनिवार्य माध्यम और अपने आप में स्थिर है."

इसी प्रकार स्थिति में सहायक अधर्म द्रव्य (Medium of rest) के विषय में वैज्ञानिकों की खोज जारी है.

## आकाश और काल

जैन दर्शन के समान ही विज्ञान-जगत् में आकाश और काल का भी द्रव्य के रूप में अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया है. विश्वविख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन का कथन है कि देश और काल स्वतंत्र पदार्थ हैं और ये भी घटनाओं में भाग लेते हैं. नयी भौतिकी संकेत देती है कि देश और काल के भीतर केवल द्रव्य और विकिरण ही नहीं बहुत सी और भी चीजें हैं जिनका महत्त्व है. डा० हेनशा का मत है—

These four elements (Space, Matter, Time and Medium of motion) are all seperate in our mind. We cannot imagine that the one of them could depend on another or converted into another.

अर्थात् 'आकाश, पुद्गल, काल और गति का माध्यम (धर्म) ये चारों तत्त्व हमारे मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न हैं. हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते कि ये एक दूसरे पर निर्भर रहते हों या एक दूसरे में परिवर्तित हो सकते हों'. इससे जैनदर्शन के इस सिद्धांत की पुष्टि होती है कि सभी द्रव्य स्वतंत्र परिणमन करते हैं और कोई किसी के अधीन नहीं है.

उत्तराध्ययन सूत्र अ०२८ गाथा ८ के अनुसार 'अणंताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल जंतवो' अर्थात् काल द्रव्य अनन्त है. तथा अलोकाकाश में काल आदि द्रव्य नहीं है. जैनदर्शन की इन दोनों मान्यताओं की पुष्टि एडिंग्टन ने की है :—

The World is closed in space dimensions (लोकाकाश) but it opens at both ends its time dimensions. I shall use the phrase arrow to express this one way property which has no analogue in space.

---

१. Now a days it is agreed that ether is not a kind of matter, being non-material, its properties are quite unique, characters such as a mass and rigidity which we meet with in matter will naturally be absent in ether but that ether will have new definite characters of its own..............non material ocean of ether.

The Nature of the physical world P. 31.

२. Thus it is proved that Science and Jain physics agree absolutely so far as they call Dharm (ether) non-material, non-atomic, non-discrete, continuous, co-extensive with space, in divisible and as a necessary medium for motion and one which does not it self move.

जैन दर्शन लोक को परिमित मानता है और अलोक को अपरिमित. लोक को छः द्रव्य रूप मानता है और अलोक केवल एक आकाश द्रव्यमय है. प्रो० अलबर्ट आइंस्टीन ने भी लोक और अलोक की भेद-रेखा खींचते हुए जो व्यक्त किया है उससे जैन दर्शन की लोकविषयक उपर्युक्त मान्यता का पूर्ण समर्थन होता है. आइंस्टीन का कथन है :—"लोक परिमित है, अलोक अपरिमित. लोक के परिमित होने के कारण द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती. लोक के बाहर उस शक्ति (द्रव्य) का अभाव है, जो गति में सहायक होती है." जैन दर्शन ने भी अलोक में द्रव्यों के अभाव का कारण गति में सहायक धर्मास्तिकाय के अभाव को ही बताया है. कितनी आश्चर्यजनक समानता है दोनों के सिद्धान्तों में !

## पुद्गल-परमाणु

अजीव का पाँचवाँ भेद पुद्गल (Matter) है. विश्व के दृश्यमान संपूर्ण पदार्थ इसी के अंतर्गत आते हैं. पुद्गल वर्ण, गंध, रस व स्पर्श युक्त होता है. पुद्गल का सूक्ष्मतम अविभागी अंश 'परमाणु' कहा गया है. जैन दर्शन सोना, चांदी, शीसा, पारा, मिट्टी, लोहा, कोयला, पत्थर, भाप, गैस आदि सर्व पदार्थों को एक ही प्रकार के परमाणुओं से निर्मित मानता है. पदार्थों की भिन्नता का कारण केवल परमाणुओं के स्निग्धता और रूक्षता आदि गुणों के अंतर में निहित मानता है. उसके अनुसार परमाणु परमाणु के बीच कोई भेद नहीं है. कोई भी परमाणु कालांतर में किसी भी परमाणु रूप परिणमन कर सकता है. आधुनिक विज्ञान पहले इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता था तथा ९२ प्रकार के मौलिक परमाणु मानता था. परन्तु अणु की रचना के आविष्कार ने सिद्ध कर दिया कि सब पदार्थों की रचना एक ही प्रकार के परमाणुओं से हुई है और इनका अन्तर केवल उनके अंतर्हित धनाणु (Proton) और ऋणाणु (Electron) की संख्याभेद से है. यही नहीं, प्रयोगशाला में वैज्ञानिकों ने एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व में परिवर्तित कर उक्त सिद्धान्त को व्यावहारिक सत्य प्रमाणित किया. वैज्ञानिक बैंजामिन ने पारे को सोने में बदल दिया. अनेक प्रयोगशालाओं में प्लेटिनम् को सोने में बदलने के प्रयोग सफल हो चुके हैं.

ठाणांग सूत्र, स्थानक २ उ० ३ में पुद्गल के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—'दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तंजहा परमाणुपोग्गला चेव नोपरमाणुपोग्गला चेव, अर्थात् पुद्गल के दो भेद हैं (१) परमाणु—जिसका विभाग न हो तथा (२) स्कंध-बहुत से परमाणुओं का समुदाय. अभिप्राय यह है कि परमाणुओं से स्कन्ध और स्कन्धों के समुदाय से वस्तुनिर्माण होता है. परमाणुओं से स्कन्ध का निर्माण कैसे होता है, इस विषय में पन्नवणासूत्र के त्रयोदश परिणामपद में वर्णन आया है—'गोयमा ! दुविहे परिणामे पण्णत्ते तंजहा··············समणिद्धयाए बंधो न होई, समलुक्खयाए वि ण होई, वेमायणिद्धलुक्खत्तणेणं. णिद्धस्य णिद्धेण दुयाहिएणं, लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएणं. णिद्धस्य लुक्खेण उवेइ बंधो, जघन्नवज्जो विसमो समो वा.' यहाँ आगम में अनेक परमाणुओं में निहित स्निग्धता और रूक्षता बतलाते हुए कहा है—'समान गुण वाले स्निग्ध और समान गुण वाले रूक्ष परमाणु बंध को प्राप्त नहीं होते. बंध स्निग्धता और रूक्षता की मात्रा में विषमता से होता है. दो गुण अधिक होने से स्निग्ध का स्निग्ध के साथ तथा रूक्ष का रूक्ष के साथ बंध हो जाता है. स्निग्ध का रूक्ष के साथ भी बंध हो जाता है. किन्तु जघन्य गुण वाले का विषम या सम किसी के साथ बंध नहीं होता. अर्थात् एक गुण स्निग्ध और एक गुण रूक्ष परमाणुओं में बंधन नहीं होता.

जैन दर्शनिकों ने जैसे स्निग्धता और रूक्षता को बंधन का कारण माना, वैज्ञानिकों ने भी पदार्थ के धनविद्युत् और ऋणविद्युत्, इन दो स्वभावों को बंधन का कारण माना. तथा जैसे जैन दर्शन परमाणु मात्र में स्निग्धता और रूक्षता मानता है, आधुनिक विज्ञान भी पदार्थ मात्र में धनविद्युत् तथा ऋणविद्युत् मानता है. तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ५ सूत्र ३४ की सर्वार्थसिद्धि टीका में आकाश में चमकने वाली विद्युत् की उत्पत्ति का विवेचन करते हुए कहा है[1]—"स्निग्धरूक्षगुण-

---

१. डा० बी० एल० शील का कथन है कि जैन दार्शनिक इस बात से पूर्ण परिचित थे कि पोजेटिव और नेगेटिव विद्युत्कणों के मिलने से विद्युत् उत्पन्न होती है.

निमित्तो विद्युत्" अर्थात् विद्युत् स्निग्ध रूक्ष गुणों के मिलन का परिणाम है. यों कहें कि स्निग्ध गुण से धन (Positive) विद्युत् और रूक्ष गुण से (Negative) विद्युत् उत्पन्न होती है. और इन दोनों की विद्यमानता प्रत्येक पदार्थ में अनिवार्य है. इस प्रकार आणविक बंधन के कारणभूत सिद्धान्त में जैन दर्शन और विज्ञान दोनों एक मत है. जैन दर्शन की भाषा में उसे स्निग्ध और रूक्ष गुणों का संयोग कहा है जब कि विज्ञान की भाषा धन और ऋण विद्युत् का संयोग कहती है. यही नहीं, विज्ञान ने जैन दर्शन के इस सिद्धान्त को—कि दो गुण से अधिक होने पर स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ बंध होता है—स्वीकार कर लिया है. विज्ञान ने भारी ऋणाणु (Heavy Electrons) को स्वीकार किया है, उसे नेगेट्रोन (Negatrons) कहा जाता है. यह साधारण ऋणाणु का ही समुदाय है, इस प्रकार यह ऋणाणु का ऋणाणु के साथ अर्थात् रूक्ष का रूक्ष के साथ बंधन है. इसी प्रकार प्रोटोन स्निग्ध का स्निग्ध के साथ तथा न्यूट्रोन स्निग्ध का रूक्ष के साथ बंधन का परिणाम है.

जैनदर्शन परमाणु को निरंतर गतिशील मानता है. विज्ञान भी कहता है कि प्रत्येक परमाणु में ऋणाणु (इलोक्ट्रोन) हैं और प्रत्येक इलोक्ट्रोन प्रति सेकिण्ड अपनी कक्षा पर १३०० मील की चाल से चक्कर काटता है. प्रकाश की गति प्रति सैकिण्ड १८६००० मील है. जैन शास्त्रों में पुद्गल का वर्णन करते हुए कहा है:—

> सद्दन्धयार-उज्जोओ, पभा छायाऽऽतवे इ वा,
> वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं । —उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८ गा० १२.

अर्थात् शब्द, अंधकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप एवं वर्ण, गंध, रस स्पर्श ये पुद्गल हैं. इनमें से शब्द, अंधकार, प्रकाश, प्रभा, छाया, और ताप को पौद्गलिक मानना जैन दर्शन की निजी विशेषता थी, जो अन्य दर्शनों से निराली ही थी. 'शब्द' ही को लीजिए। पहले यह आकाश का गुण माना जाता था. इस विषय में प्रो० ए० चक्रवर्ती का मत देखिए:—

The Jain account of sound is a physical concept. All other Indian systems spoke of sound as a quality of space. But jainism explains in relation with material particles as a result of concission of atmospheric molecules. To prove this the jain thinkers employed arguments which are now generally found in the text Book of physics.

यहाँ यह दिखलाया गया है कि अन्य सब भारतीय विचारधाराएँ शब्द को आकाश का गुण मानती रही हैं जब कि जैन-दर्शन उसे पुद्गल मानता है. जैन दर्शन की इस विलक्षण मान्यता को विज्ञान ने पुष्ट कर दिया है और अब वह पाठ्य-पुस्तकों पर भी उतर रही है.

आधुनिक वैज्ञानिक मानते हैं कि 'शब्द' शक्ति (energy) रूप है और यह प्रति घंटा ११०० मील की गति से आगे बढ़ता है. परन्तु विज्ञान के नये आविष्कारों ने शक्ति को पदार्थ का ही सूक्ष्म रूप स्वीकार कर लिया है. अतः शक्ति अब पदार्थ से भिन्न प्रकार की कोई वस्तु नहीं रह गई है. प्रोफेसर मैक्सबोर्न लिखते हैं–Energy and mass are just different names for the same thing—अर्थात् शक्ति और पदार्थ एक ही वस्तु के दो अलग-अलग नाम हैं. यही नहीं, आईंस्टीन के सापेक्षवाद के अनुसार शक्ति भार सहित प्रमाणित हो चुकी है, साथ ही पदार्थत्व (mass) वाली भी.

विज्ञान अंधकार, प्रकाश, छाया, ताप को शक्ति (energy) रूप मानता है और पहले कह आये हैं कि शक्ति पुद्गल का ही रूपान्तर मात्र है. अतः ये पुद्गल ही हैं. इस प्रकार जैनदर्शन के इनको पौद्गलिक मानने के सिद्धांत की पूर्ण पुष्टि हो जाती है. अंधकार, छाया और प्रकाश का विवेचन करते हुए लिखा है:—

अंधकार केवल प्रकाश तथा व्यक्तीकरण पट्टियों (Interferance bands) पर गणना यंत्र (counting machine) चलाया जाय तो काली पट्टी में से विद्युत् रीति से विद्युद्दण्ड निसृत होते हैं. इससे सिद्ध होता है कि काली पट्टी केवल प्रकाश का अभाव ही नहीं किन्तु शक्ति (energy) का रूपांतर भी है. अतः अंधकार और छाया उर्जा के भी

रूपान्तर हैं[1] वैज्ञानिकों ने अब प्रकाश और ताप की मात्रा को भी नाप लिया है. उनका कहना है कि प्रकाश विद्युत् चुम्बकीय तत्व है और एक वर्ग मील क्षेत्र पर एक मिनिट में सूर्य से गिरने वाले प्रकाश की मात्रा का तौल ढाई तोला है. तथा तीन हजार टन पत्थर के कोयले जलाने से उत्पन्न ताप का वजन लगभग एक माशा के बराबर होता है.

जैन शास्त्रों में द्रव्य का लक्षण बताते हुए कहा—'सद् द्रव्यलक्षणम्. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'. (तत्त्वार्थ सूत्र अ० ५ सूत्र २९-३०.) अर्थात् द्रव्य सत् है और सत् उसे कहते हैं जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण युक्त हो. अर्थात् जैन-दर्शन यह मानता है कि वस्तु अपने अस्तित्व रूप में नित्य रहती है, उसका नाश कभी भी नहीं होता. उत्पत्ति और विनाश तो उसकी पर्यायें मात्र हैं. जैसे स्वर्ण के मुकुट को तोड़कर कुंडल बना देने पर भी स्वर्णत्व यथावत् बना रहता है. यह स्वर्णत्व ध्रौव्य है और मुकुट के आकार का नाश और कुंडल के आकार का निर्माण इसकी व्यय और उत्पाद पर्यायें अर्थात् रूपान्तर मात्र हैं. इसी प्रकार सब द्रव्य ध्रुव हैं, न तो शून्य से किसी द्रव्य का निर्माण ही संभव हैं और न कोई द्रव्य अपना अस्तित्व खोकर शून्य बनता है. इसी मत का समर्थन करते हुए वैज्ञानिक लेवाईजर (Lavoiser) लिखते हैं.- Nothing can be created in every process there is just as much substance (quality of matters) present before and after the process has taken place. There is only change of modification of matter (from law of indestructibility of matter as defind by Lavioser)

अर्थात् किसी भी क्रिया से कुछ भी नवीन उत्पत्ति नहीं की जा सकती और प्रत्येक क्रिया के पूर्व और पश्चात् की पदार्थ की मात्रा में कोई अंतर नहीं पड़ता है. क्रिया से केवल पदार्थ का रूप परिवर्तित होता है.

डेमोक्राइटस का अभिमत है—विज्ञान के 'शक्ति स्थिति' (conservation of Energy) ,वस्तु अविनाशित्व (law of Indestructibility) 'शक्ति की परिवर्तनशीलता' (Transformation of Energy) आदि सिद्धांत स्पष्ट प्रमाणित करते हैं कि नाशवान पदार्थ में भी ध्रुवत्व है. Nothing can never become some thing and some thing can become nothing अर्थात् कुछ नहीं से किसी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती और कोई पदार्थ अभाव को प्राप्त नहीं हो सकता.

जैन दर्शन के परमाणुसिद्धांत की सचाई से प्रभावित होकर Dr. G.S. Mallinathan लिखते हैं—A Student of Science, if reads the Jain treatment of matter will be surprised to find many corresponding ideas.

अर्थात् एक विज्ञान का विद्यार्थी जब जैनदर्शन का परमाणुसिद्धांत पढ़ता है तो विज्ञान और जैनदर्शन में आश्चर्यजनक समता पाता है. रिसर्चस्कालर पं० माधवाचार्य का कथन है कि आधुनिक विज्ञान के सर्वप्रथम जन्मदाता भगवान् महावीर थे.

## लेश्या

जैन दर्शन 'मन' को आत्मा से भिन्न अनात्म,जड़, और एक विशेष प्रकार के पुद्गलों (मनोवर्गणा के द्रव्यों)से निर्मित पदार्थ मानता है तथा उसमें उन गुणों को स्वीकार करता है जो पुद्गल में विद्यमान हैं अर्थात् मन को भी पुद्गल की भांति वर्ण, आकार व शक्ति युक्त मानता है. आगमों में मन के विभिन्न स्तरों का वर्गीकरण लेश्याओं क रूप में किया गया है. लेश्याएँ ६ प्रकार की होती हैं:— (१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) पीत(तैजस्) लेश्या (५) पद्म लेश्या (६) शुक्ल लेश्या. ये क्रमश: (१) अशुभतम भाव (२) अशुभतरभाव(३) अशुभभाव (४) शुभभाव (५) शुभतरभाव (६) शुभतम भाव की अभिव्यंजक हैं.

अत्यन्त महत्त्व की बात तो यह है कि लेश्याओं का नामकरण काले, नीले, कबूतरी, पीले, हल्का गुलाबी, शुभ्र आदि

१. नवनीत ५५ सितम्बर, पृष्ठ २८

रंगों के आधार का किया गया है. यह इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि किस प्रकार के विचारों से किस प्रकार की मनोवर्गणाएँ उत्पन्न होती हैं. अतीव हिंसा, क्रोध, क्रूरता आदि अशुभतम भाव कृष्णलेश्या के अन्तर्गत होते हैं. इन भावों से कृष्ण वर्ण की मनोवर्गणाएँ पैदा होती हैं और ये लेश्यावाले व्यक्ति के चारों ओर बादलों के समान फैल जाती हैं. इसी प्रकार अशुभतर, अशुभ, शुभ, शुभतर, शुभतम भावों से नीले, कबूतरी, पीले, हल्का गुलाबी, शुभ्र, वर्ण के मनोवर्गणाओं के मेघों के समुदाय में न केवल वर्ण ही होता है अपितु आकार एवं शक्ति भी होती है. विचारों में रंग, आकार, शक्ति होती है, इस तथ्य को पेरिस के प्रसिद्ध डाक्टर बेरडुक ने यंत्रों की सहायता से प्रत्यक्ष दिखाया है. उन्होंने विचारों से आकाश में जो चित्र बनते हैं उन चित्रों के एक विशेष यंत्र से फोटो भी लिए हैं. यथाः—

एक लड़की अपने पाले हुए पक्षी की मृत्यु पर विलाप कर रही थी. उस समय के विचारों की फोटो ली गई तो मृत पक्षी का फोटो पिंजड़े सहित प्लेट पर आ गया. एक स्त्री अपने शिशु के शोक में तल्लीन बैठी थी. उसके विचारों का फोटो लिया गया तो मृत बच्चे का चित्र प्लेट पर उतर आया. आदि आदि—

श्री बेरडुक का कथन है कि जैसा संकल्प होता है उसका वैसा ही आकार होता है और उसी के अनुसार उस आकृति का रंग भी होता है. आकाश में, संकल्प द्वारा नाना रूप बनते हैं. इन रूपों की बाह्य रेखा की स्पष्टता-अस्पष्टता संकल्पों की तीव्रता के तारतम्य पर निर्भर है. रंग विचारों का अनुसरण करते हैं; यथा-प्रेम एवं भक्ति युक्त विचार गुलाबी रंग, तर्क-वितर्क पीले रंग, स्वार्थ-परता हरे रंग तथा क्रोध लाल मिश्रित काले रंग के आकारों को पैदा करते हैं. अच्छे विचारों के रंग बहुत सुन्दर और प्रकाशमान होते हैं, उनसे रेडियम के समान ही सदैव तेज निकला करता है. (देखिये—"संकल्पसिद्धि" विचारों के रूप और रंग.)

जैन शास्त्रों में एक अन्य लेश्या का भी वर्णन मिलता है. उसे तेजोलेश्या कहा गया है. आगमों में इसकी प्राप्तिहेतु तपश्चर्या की एक विशेष विधि बतलाई गई है. तेजोलेश्या विद्युतीय शक्ति के समान गुण-धर्मवाली होती है. इसके[१] दो रूप हैं. एक उष्ण तेजोलेश्या, दूसरी शीतल तेजोलेश्या. अणु या विद्युत् शक्ति के समान यह भी दो प्रकार से प्रयोग में लाई जाती है. इसका एक प्रयोग संहारात्मक है और दूसरा प्रयोग संरक्षणात्मक. प्रथम प्रयोग में प्रयोक्ता अपने मनो-जगत् से उष्णता स्वभाव वाली उष्ण तेजोलेश्या की विद्युतीय शक्ति का प्रक्षेपण करता है जो विस्तार को प्राप्त हो अंग, वंग, मगध, मलय, मालव आदि सोलह देशों का संहार (भस्म) करने में समर्थ होती है.[२] दूसरे प्रयोग में प्रयोक्ता शीतल स्वभाववाली शीतल तेजोलेश्या की शक्ति का प्रयोग कर प्रक्षेपित उष्ण तेजोलेश्या के दाहक स्वभाव को शून्यवत् कर देता है.

उष्ण तेजोलेश्या का प्रयोग गोशालक ने भगवान् महावीर पर किया था. फलतः भ० महावीर के दो शिष्य भस्म हो गये और स्वयं सर्वसमर्थ भ० महावीर को भी अतिसार रोग हो गया जिससे भ० महावीर छः मास तक पीड़ित रहे. इस शक्ति के प्रयोग के विषय में श्रमण कालोदायी भ० महावीर से पूछता है और भगवान् सविस्तार उत्तर देते हैं:[३] अहो कालोदायि ! क्रुद्ध अनगार से तेजो लेश्या निकलकर दूर गई हुई दूर गिरती है, पास गई हुई पास में गिरती है. वह तेजोलेश्या जहाँ गिरती है, वहाँ उसके अचित्त पुद्गल प्रकाश करते यावत् तपते हैं. उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि तेजोलेश्या एक विद्युतीय शक्ति-सी है. इस विषय में विज्ञान की वर्त्तमान उपलब्धियों से आश्चर्य-जनक समानता मिलती है :—

---

१. भगवती-शतक १५

२. सोलसण्हं जणवयाणं तंजहा-अंगाणं, वंगाणं; मगहाणं, मलगाणं, मालवगाणं, अच्छाण', वच्छाणं, कोच्छाण', पाढाण', लाढाण' वज्जीण', मोलीणं, कासीण', कोसलाण', अवाहाणं, सुमुत्तराण', घाताए, वहाए उच्छादणट्ठाए भासीकरणयाए.

—भगवती, शतक १५

३. कुद्धस्स अणगारस्स तेउलेस्सा निसड्ढासमाणी दूरं गंता दूरं निपतइ, देसं गंता देसं निपतई, तहिं तहिं जं ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति जाव पभासंति. भगवती शतक ७ उ० १०

"विचार[1] शक्ति की परीक्षा करने के लिए डाक्टर वेरडुक ने एक यंत्र तैयार किया है. एक कांच के पात्र में सुई के सदृश एक महीन तार लगाया है और मन को एकाग्र करके थोड़ी देर तक विचार-शक्ति का प्रभाव उस पर डालने से सुई हिलने लगती है. यदि इच्छा-शक्ति निर्बल हो तो उसमें कुछ भी हलचल नहीं होती. विचार-शक्ति की गति विजली से भी तीव्र है. पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक एक सैकेंड के १६ वें भाग में १२००० मील तक विचार जा सकता है."

विचार के समय मस्तिष्क में विद्युत् उत्पन्न होती है और उसका असर भी मिकनातीसी सुई द्वारा नापा गया है. जिस प्रकार यंत्रों द्वारा विद्युत् तरंगों का प्रसारण और ग्रहण होता है और रेडियो, टेलीग्राम, टेलीफोन, टेलीप्रिंटर, टेलीवीजन आदि उस विद्युत् को मानव के लिए उपयोगी व लाभप्रद साधन बना देते हैं, इसी प्रकार विचार-विद्युत् की लहरों का भी एक विशेष प्रक्रिया से प्रसारण और ग्रहण होता है. इस प्रक्रिया को टेलीपैथी कहा जाता है. यह पहले लिखा जा चुका है कि टेलीपैथी के प्रयोग से हजारों मील दूरस्थ व्यक्ति भी विचारों का आदान-प्रदान व प्रेषण-ग्रहण कर सकते हैं. भविष्य में यही टेलीपैथी की प्रक्रिया सरल और सुगम हो जनसाधारण के लिए भी महान् लाभदायक सिद्ध होगी, ऐसी पूरी सम्भावना है.

आशय यह है कि अति प्राचीन काल ही से जैन जगत् के मनोविज्ञानवेत्ता मन के पुद्गलत्व, वर्ण, विद्युतीय शक्ति आदि गुणों से भलीभाँति परिचित थे. जब कि इस क्षेत्र में आधुनिक विज्ञानवेत्ता अभी तक भी उसके एक अंश का ही अन्वेषण कर पाये हैं.

### ज्ञान

जैनशास्त्रों में ज्ञान का वर्णन करते हुए कहा है :—

तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिणिबोहियं ।
ओहिनाणं तु तइयं मणनाणं च केवलं ॥—उत्तराध्ययन अ० २८ गाथा ४

अर्थात् ज्ञान पांच प्रकार का है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल ज्ञान. इनमें से मति और श्रुत ज्ञान तो प्रायः सर्वमान्य हैं परन्तु शेष तीन ज्ञान के अस्तित्व पर अन्य दार्शनिक आपत्तियां उपस्थित करते रहे हैं. लेकिन आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषण ने इनको सत्य प्रमाणित कर दिया है. ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करते हुए भगवती सूत्र श० १ उ० ३ में कहा है—अवधि ज्ञान से मर्यादा सहित सकल रूपी द्रव्य, मनःपर्यवज्ञान से दूरस्थ संज्ञी जीवों के मनोगत भाव तथा केवलज्ञान से तीन लोक युगपत् जाना जाता है. इसी विषय पर वैज्ञानिकों के विचार व निर्णय दृष्टव्य हैं—डा० वगार्नर्डथिगा लिखते हैं:[2] "पीनियल आई" नामक ग्रन्थि का अस्तित्व मानव मस्तिष्क के पिछले भाग में है. ग्रंथि हमारे मस्तिष्क का अत्यंत सबल रेडियो तन्त्र है जो दूसरों की आंतरिक ध्वनि, विचार और चित्र ग्रहण करती है. इसका विकास होने पर व्यक्ति दुनिया भर के लोगों के मन के भेद जान सकने में समर्थ हो जायेगा. मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई दुराव न रह सकेगा. कोई किसी से कुछ छिपा कर न रख सकेगा." लेखक का यह भी कहना है कि यह शक्ति प्राचीन काल में विद्यमान थी, बाद में लुप्त हो गई. तथा डा० कर्वे का कथन[3] है—"पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त एक छठी इन्द्रिय भी है जो अगम्य है, जिसे हम अतीन्द्रिय भी कह सकते हैं. मनुष्य प्रयत्न करे तो इस छठी इन्द्रिय का विकास हो सकता है. इस इन्द्रिय या शक्ति के कारण हम दूसरों के मन की बात जान सकते हैं. मन के विचार जानने के अतिरिक्त ऐसे लोग दूर घटी घटना की सूचना भी प्राप्त कर सकते हैं. कुछ वर्षों पूर्व ऐसी बातें करने वालों को

---

१. देखिये-संकल्प सिद्धि -अध्ययन-विचारशक्ति.

२. नवनीत अप्रैल ५३

३. नवनीत जुलाई ५५

लोग मूर्ख मानते थे लेकिन इधर सुप्रसिद्ध विज्ञानवेत्ताओं ने काफी शोधकार्य के पश्चात् इस तथ्य में विश्वास करना आरम्भ कर दिया है. कुछ विद्वानों का विश्वास है कि प्राचीन काल में इस शक्ति का बहुत विकास हुआ था. इसी के समर्थन में एक अन्य वैज्ञानिक का मन्तव्य[1] है—"अनदेखी और अनजानी चीजों के बारे में सही-सही बता देने की ताकत को ही अंग्रेजी में 'सिक्स्थ सेंस' अर्थात् छठी सूझ कहते हैं. समय और दूरी की सीमा में ही नहीं बल्कि किसी दूसरे के मन और मस्तिष्क की अभेद्य सीमा के अन्दर भी आप इस सूझ के जरिये आसानी से प्रवेश पा सकते हैं. क्या यह सच है ? क्या सचमुच ही ऐसी ताकत किसी में हो सकती है ? बात कुछ असम्भव सी दीखती है. पर है यह सत्य. इससे इन्कार नहीं किया जा सकता".

दूरस्थ मानव के मन को विना किसी भौतिक माध्यम (रेडियो, तार, टेलीफोन आदि) के हजारों मील दूरस्थ व्यक्ति के साथ केवल मन के माध्यम से विचारों का आदान-प्रदान प्रेषण-ग्रहण करने की प्रकिया को टेलीपैथी कहते हैं. आज टेलीपैथी के विकास में अमेरीका और रूस में होड़ लगी है. कुछ समय पूर्व अमेरीका के प्रयोगकर्त्ताओं ने हजारों मील दूर सागर के गर्भ में चलने वाली पनडुब्बियों के चालकों को टेलीपैथी प्रक्रिया से संदेश भेजने में सफलता प्राप्त कर विश्व को चकित कर दिया है. अभिप्राय यह है कि दूरस्थ व्यक्ति के मन के भावों को जानना आज सिद्धांततः स्वीकार कर लिया गया है.

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आईन्स्टीन का कथन है कि यदि प्रकाश की गति से अधिक (प्रकाश की गति एक सेंकिड में १८६००० मील है) गति की जा सके तो भूत और भविष्य की घटनाओं को भी देखा जा सकता है.

अभिप्राय यह है कि विज्ञान अवधि, मनःपर्यव व केवलज्ञान के अस्तित्व में विश्वास करने लगा है.

### दर्शन

जैनागमों में 'तत्त्वार्थश्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्'[2] अर्थात् तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है. तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा स्याद्वाद के विना होना असंभव है. कारण कि स्याद्वाद ही एक ऐसी दार्शनिक प्रणाली है जो तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का दिग्दर्शन करती है. प्रत्येक तत्त्व या पदार्थ अनंत गुणों का भंडार है. उन अनन्त गुणों में वे गुण भी सम्मिलित हैं जो परस्पर में विरोधी हैं फिर भी एक ही देश और काल में एक साथ पाये जाते हैं. इन विरोधी तथा भिन्न गुणों को विचार-जगत् में परस्पर न टकराने देकर उनका समीचीन सामञ्जस्य या समन्वय कर देना ही स्याद्वाद, सापेक्षवाद या अनेकांतवाद है. अलवर्ट आइन्स्टीन के सापेक्षवाद (Theory of Relativity) के आविष्कार (जैनागमों की दृष्टि से आविष्कार नहीं) के पूर्व जैनदर्शन के इस सापेक्षवाद सिद्धांत को अन्य दर्शनकार अनिश्चयवाद, संशयवाद आदि कहकर मखौल किया करते थे. परन्तु आधुनिक भौतिक विज्ञान ने द्वन्द्वसमागम (दो विरोधों का समागम) सिद्धांत देकर दार्शनिक जगत् में क्रान्ति कर दी है.

भौतिक विज्ञान के सिद्धांतानुसार परमाणु मात्र आकर्षण गुणवाले धनाणु (Proton) और विकर्षण गुण वाले ऋणाणु (Electron) के संयोग का ही परिणाम है. अर्थात् धन और ऋण अथवा आकर्षण और विकर्षण इन दोनों विरोधों का समागम ही पदार्थरचना का कारण है. पहले कह आये हैं कि जैसे जैनदर्शन पदार्थ को नित्य (ध्रुव) और अनित्य (उत्पत्ति और विनाश युक्त) मानता है उसी प्रकार विज्ञान भी पदार्थ को नित्य (द्रव्य रूप से कभी नष्ट नहीं होने वाला) तथा अनित्य (रूपांतरित होने वाला) मानता है. इस प्रकार दो विरोधी गुणों को एक पदार्थ में एक ही देश और एक ही काल में युगपत् मानना दोनों ही क्षेत्रों में सापेक्षवाद की देन है.

---

१. नवनीत जुलाई ५२ पृष्ठ ४०

२. तत्त्वार्थसूत्र अ० १ सूत्र २

दो रेलगाडियां एक ही दिशा में पास-पास ४० मील और ३० मील की गति से चल रही हैं—तो ३० मील की गति से चलने वाली गाड़ी की सवारियों को प्रतीत होगा कि उनकी गाड़ी स्थिर है और दूसरी गाड़ी ४०-३० = १० मील की गति से आगे बढ़ रही है, जब कि भूमि पर स्थित दर्शक व्यक्तियों की दृष्टि में गाडियां ४० मील और ३० मील की गति से चल रही हैं. इस प्रकार गाड़ियों का स्थिर होना व विभिन्न गतियों का होना सापेक्ष ही है.

जिस प्रकार स्याद्वाद में 'अस्ति' और 'नास्ति' की बात मिलती हैं उसी प्रकार 'है' और 'नहीं' की बात वैज्ञानिक क्षेत्र के सापेक्षवाद में भी मिलती है. पदार्थ के तोल को ही लीजिए. जिस पदार्थ को साधारणतः हम एक मन कहते हैं. सापेक्षवाद कहता है यह 'है' भी और 'नहीं' भी. कारण कि कमानीदार तुला से जिस पदार्थ का भार पृथ्वी के धरातल पर एक मन होगा वह ही पदार्थ, मात्रा में कोई परिवर्तन न होने पर भी पर्वत की चोटी पर तोलने पर एक मन से कम भार का होगा. पर्वत की चोटी जितनी अधिक ऊँची होगी भार उतना ही कम होगा. अधिक ऊँचाई के कारण ही उपग्रह में स्थित व्यक्ति, जो पृथ्वी के धरातल पर डेढ़-दो मन वजन वाला होता है, वहाँ वह भारहीन हो जाता है. पदार्थ या व्यक्ति का भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न वजन का होना अपेक्षाकृत ही है.

दूसरा उदाहरण और लीजिए-एक आदमी लिफ्ट में खड़ा है. उसके हाथ में संतरा है. जैसे ही लिफ्ट नीचे उतरना शुरू करता है वह आदमी उस संतरे को गिराने के लिए हथेली को उल्टी कर देता है. परन्तु वह देखता है कि संतरा नीचे नहीं गिर रहा है और उसी की हथेली से चिपक रहा है तथा उसके हाथ पर दबाव भी पड़ रहा है. कारण यह है कि संतरा जिस गति से नीचे गिर रहा है उससे लिफ्ट के साथ नीचे जाने वाले आदमी की गति अधिक है. ऐसी स्थिति में वह संतरा नीचे गिर रहा है और नहीं भी. लिफ्ट के बाहर खड़े व्यक्ति की दृष्टि से तो वह नीचे गिर रहा है परन्तु लिफ्ट में खड़े मनुष्य की दृष्टि से नहीं.

आधुनिक विज्ञान इसी सापेक्षवाद के सिद्धांत (Theory of relativity) का उपयोग कर दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति कर रहा है. सापेक्षवाद न केवल विज्ञान के क्षेत्र में बल्कि दार्शनिक, राजनैतिक आदि अन्य सब ही क्षेत्रों की उलझन भरी समस्याओं को सुलझाने के लिए वरदान सिद्ध हो रहा है. अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० डा० आर्चा पी० एच० डी० अनेकांत की महत्ता व्यक्त करते हुए लिखते हैं :—The Anekant is an important principle of jain logic, not commonly asserted by the western or Hindu logician, which promises much for world place through metaphysical harmony.

इसी प्रकार जैन दर्शन के 'कर्मसिद्धांत' और विज्ञान की नवीन शाखा 'परामनोविज्ञान', अणु की असीम शक्ति का आविर्भाव करने वाले विज्ञान की अणु-भेदन प्रक्रिया और आत्मा की असीम शक्ति का आविर्भाव करने वाली भेद-विज्ञान की प्रक्रिया आदि गणित सिद्धांतों में निहित समता व सामञ्जस्य को देखकर उनकी देन के प्रति मस्तक आभार से झुक जाता है.

सारांश यह है कि जैनागमों में प्रणीत सिद्धांत इतने मौलिक एवं सत्य हैं कि विज्ञान के अभ्युदय से उन्हें किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचने वाला है, प्रत्युत् वे पहले से भी अधिक निखर उठने वाले हैं. तथा विज्ञान के माध्यम से वे विश्व के कोने-कोने में जन-साधारण तक पहुँचने वाले हैं.

विज्ञान-जगत् में अभी हाल ही की आत्मतत्त्वशोध से आविर्भूत आत्म-अस्तित्व की संभावनाएँ एवं उपलब्धियां विश्व के भविष्य की ओर शुभ संकेत हैं. विज्ञान की बहुमुखी प्रगति को देखते हुए यह दृढ़ व निश्चय के स्वर में कहा जा सकता है कि वह दिन दूर नहीं है जब आत्म-ज्ञान और विज्ञान के मध्य की खाई पट जायेगी और दोनों परस्पर पूरक व सहायक बन जायेंगे. विज्ञान का विकास उस समय विश्व को स्वर्ग बना देगा, जिस में अभाव, अभियोग तथा ईर्ष्या, द्वेष, वैयक्तिक स्वार्थ, शोषण आदि बुराइयाँ न होंगी. मानव का आनंद भौतिक वस्तुओं पर आधारित न होकर प्रेम, सेवा,

आदि मानवीय गुणों पर आधारित होगा. विज्ञान का विकास आध्यात्मिक क्षेत्र में होगा, इसका समर्थन करते हुए विश्व के महान् वैज्ञानिक डा० चार्ल्स स्टाइनमेज लिखते हैं:—महानतम[1] आविष्कार आत्मा के क्षेत्र में होंगे. एक दिन मानव-जाति को पुन: प्रतीत हो जायगा कि भौतिक वस्तुएँ आनंद नहीं देती और उनका उपयोग स्त्री पुरुषों को सृजनशील तथा शक्तिशाली बनाने में बहुत ही कम है. तब वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं को ईश्वर और प्रार्थना के अध्ययन की ओर उन्मुख करेंगे. जब वह दिन आयेगा, तब मानव जाति एक ही पीढ़ी में इतनी वैज्ञानिक उन्नति कर सकेगी जितनी आज की चार पीढ़ियाँ भी न कर पायेगी. आशय यह है भविष्य में आत्मज्ञान और विज्ञान के मध्य की भेद-रेखा मिटकर दोनों परस्पर घुल-मिल जायेंगे. वह दिन विश्व के लिए वरदान सिद्ध होगा.
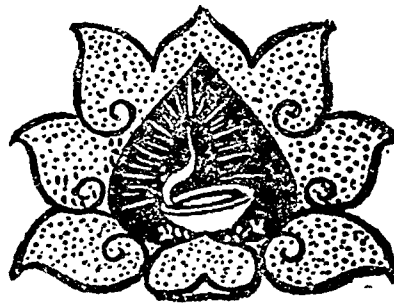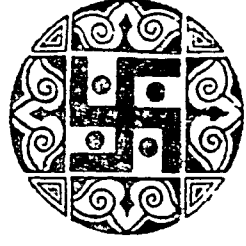
श्रीरूपेन्द्रकुमार पगारिया, न्यायतीर्थ

# सप्तभंगी

जैनधर्म जितना आचार-जगत् में गहरा उतरा है, विचार-जगत् में भी उतना ही गहरा उतरा है. जन्म और मृत्यु जैसे विकट संकट से सर्वथा मुक्ति पाने के लिए साधक के जीवन में आचारशुद्धि और विचार शुद्धि दोनों की आवश्यकता है. आचार और विचार दोनों एक दूसरे के पूरक हैं. एकान्तक्रियावाद की पगडण्डी पर चलने वाला साधक सही विचार के अभाव में अपने गंतव्य स्थल पर नहीं पहुँच सकता. विशुद्ध आचार को समझने के लिए तत्त्व-ज्ञान की आवश्यकता होती है. जब तक साधक को पदार्थ के सही स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक वह कितनी ही क्रिया की गहराई में क्यों न गया हो, ज्ञान के अभाव में उसकी साधना की सफलता में सन्देह ही रहता है. उसे तत्त्व-ज्ञान रूप दीपक की आवश्यकता है. इसी दीपक से सहारे वह अपने गंतव्य स्थल पर पहुँच सकता है.

**वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता:**— किसी भी वस्तु के सच्चे ज्ञान के लिए उसके सही स्वरूप को जानना नितान्त आवश्यक है. वस्तु अनन्तधर्मात्मक है. हमारा ज्ञान ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों अज्ञात धर्म ज्ञात होते जाते हैं. वस्तु का पूर्ण ज्ञान होना ही सर्वज्ञता है. भौतिक विज्ञान पदार्थ के पर्यायों की खोज करता है. उसके गुण-धर्मों को बताता है. उसमें कौन-कौन सी प्रक्रियाएँ होती हैं, यह भी बताता है. तत्त्वज्ञान ऐसा नहीं करता. वह तो पदार्थ के गुणों को स्वीकार करके ही आगे बढ़ता है. इन वस्तुओं के गुणधर्मों का पदार्थ के साथ कैसा सम्बन्ध है, यह बताने का काम तत्त्व-ज्ञान का है. वस्तु में अगणित गुण-धर्म होते हैं, जिनमें कुछ तो ज्ञात होते हैं, कुछ अर्धज्ञात और कुछ अज्ञात. ऐसी अवस्था में यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में कठिनाई अवश्य सामने आती है.

इस कठिनाई के कारण तत्त्वज्ञान के इतिहास में अनेक संशयवादों का जन्म हुआ है. दार्शनिक तत्त्व-विचार में संशयवाद लम्बे समय तक नहीं टिक सकता. उसका समाधान कहीं न कहीं निकल ही आता है. जो लोग यह कहते हैं कि सत्य हमेशा अज्ञात रहता है, उनका यह कथन भी निर्णीत सत्य ही तो है. भगवान् महावीर ने अपने समय के एकांतवादों को खण्डित सत्य कहा. उन खण्डित सत्यों के एकीकरण के लिए उन्होंने समन्वयात्मक एवं सापेक्ष दृष्टि रखी. यही व्यापक दृष्टि तत्त्व-चिंतक साधक को सत्य की ओर ले जाती है.

सत्य विशाल, व्यापक, अखण्ड और अनन्त होता है, परन्तु सामान्यतः मानव का परिमित ज्ञान उसे सम्पूर्ण रूप में जान नहीं पाता, खण्डरूप में अथवा अनेक अंशों में ही वस्तु का ज्ञान कर पाता है. सत्य के परिज्ञान के लिए अथवा ज्ञात सत्य को जीवन में उतारने के लिए व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है.

व्यष्टि, समष्टि और परमेष्ठी-जीवन विकास की यह क्रमपद्धति है. जैनदर्शन की सत्योन्मुखी अनेकान्तदृष्टि, जैनधर्म का सर्वसहिष्णु अहिंसासिद्धांत और जैन परम्परा का चिरागत समन्वयवाद, ये तीनों मिलकर एक ही कार्य करते हैं और वह है व्यक्ति समष्टि के विकास में अवरोधक न बने बल्कि समझौता करके परमेष्ठी से रूप में परिणत हो जाय-परम-ज्योति बन जाय.

इस श्रेयस् एवं विशाल दृष्टिकोण को जीवन में ढालने से पूर्व वस्तु-तत्त्व के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है. चेतन-अचेतनमय इस जगत् की प्रत्येक वस्तु अनन्तगुण-धर्मों का अखण्ड पिण्ड है. वह कभी नहीं रही-यह नहीं कहा जा सकता. वह नहीं है—यह भी नहीं कहा जा सकता, लेकिन कहा यह जायगा कि वह थी, है और रहेगी. वृत्त, वर्तमान और वर्तिष्यमान् इन तीनों कालों में कभी भी उसका अभाव नहीं होता. अतः वस्तु सत् है, शाश्वत है, नित्य है, परन्तु कूटस्थ नित्य नहीं, अपितु परिणामी नित्य है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण पूर्व पर्याय का विगम और उत्तर पर्याय का उत्पाद

होता रहता है. अतः द्रव्यदृष्टि से पदार्थ नित्य है किन्तु विगम और उत्पाद दृष्टि से अर्थात् पर्यायदृष्टि से प्रतिक्षण बदलने वाला परिणामी है. सुवर्ण के कंकण को तोड़कर उसका कटिसूत्र बनवा डाला. हुआ क्या ? आकृति बदल गई परन्तु उसका सुवर्णत्व नहीं बदला. वह तो ज्यों का त्यों हैं. जैसा पहले था वैसा अब भी. सिद्धान्त यह रहा कि—'द्रव्यं नित्यं, आकृतिः पुनरनित्या'.

**प्रमाण और नय**—पदार्थ को समझने की ज्ञानपद्धति दो प्रकार की है स्वार्थ और परार्थ. मति आदि रूप ज्ञानपद्धति स्वार्थरूप है और शब्दरूप पद्धति परार्थरूप है. परार्थ-पद्धति के दो भेद हैं, प्रमाण रूप और नय रूप. अनन्त धर्मात्मक वस्तु-तत्त्व के समस्त धर्मों को अथवा उसके अनेक धर्मों को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण है और उसके किसी एक धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञान नय है. जैसे 'अयं घटः' यह ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि इसमें घट के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का एवं लघुगुरु छोटे-बड़े आदि आकाररूप धर्मों का ज्ञान हो जाता है. 'रूपवान् घटः' यह ज्ञान नय है, क्योंकि इसमें घट के अनन्तधर्मों में से केवल एक धर्म अर्थात् रूप का ही प्रतिभास है, अन्य रस, गन्ध आदि धर्मों का नहीं. 'नयवाद' जैनदर्शन की व्यापक विचारपद्धति है. जैनदर्शन हर बात को 'नय' पद्धति से सोचता है, उसका विश्लेपण करता है. जैनदर्शन में ऐसा कोई भी सूत्र या अर्थ नहीं जो नयशून्य हो—'नत्थि नयेहिं विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमये किंचि.'

नय को प्रमाण माना जाय या अप्रमाण ? यह जैन दार्शनिकों के सामने एक गम्भीर प्रश्न था. यदि नय प्रमाण है तो वह प्रमाण से भिन्न क्यों है ? और यदि अप्रमाण है तो यह मिथ्याज्ञान होगा. फिर मिथ्याज्ञान का मूल्य ही क्या है ? इस का समाधान जैनदार्शनिकों ने बड़े अच्छे ढंग से किया है. वे कहते हैं—नय न तो प्रमाण है और न अप्रमाण. वह प्रमाण का एक अंश है. जैसे समुद्र का एक बिन्दु समुद्र नहीं कहा जा सकता परन्तु समुद्र का अंश तो कहा जा सकता है. प्रमाण का विपय अनेकान्तात्मक वस्तु है और नय का विपय उस वस्तु का एक अंश. यहां यह प्रश्न भी हो सकता है कि यदि नय अनन्तधर्मात्मक वस्तु के किसी एक ही अंश को ग्रहण करता है तो वह मिथ्याज्ञान ही रहेगा. फिर उससे पदार्थ का यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसका समाधान आचार्यों ने असंदिग्ध भाषा में कर दिया है. वे कहते हैं—यद्यपि नय अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक ही धर्म को ग्रहण करता है परन्तु इतने मात्र से उसे मिथ्याज्ञान नहीं कह सकते. एक अंश का ज्ञान यदि वस्तु के अन्य अंश का निपेध करता हो तो उसे मिथ्या कह सकते हैं किन्तु जो अंशज्ञान अपने से अतिरिक्त अंश का निपेध न कर केवल अपने दृष्टिकोण को ही बताता है उसे मिथ्याज्ञान नहीं कहा जा सकता है. जो नय अपने स्वीकृत धर्म का प्रतिपादन करते हुए अपने से भिन्न धर्म का निपेध करता है वह निस्संदेह नय न होकर नयाभास या दुर्नय होता है. निरपेक्ष नय दुर्नय है और सापेक्ष नय सुनय है.

**सप्तभंगी का रूप**:—जैसा कि हम कह आये हैं, पदार्थज्ञान के लिए प्रमाण और नय ये दो पद्धतियाँ हैं. इन दोनों पद्धतियों का समावेश 'सप्तभंगी' में हो जाता है. सप्तभंगी का अर्थ है सात वाक्यों का समूह अर्थात् एक प्रश्न का सात ढंग से उत्तर. किसी प्रश्न का उत्तर या तो 'हाँ' में दिया जाता है या 'नहीं' में. हाँ, और नहीं के औचित्य को लेकर ही 'सप्तभंगी' वाद की रचना हुई है. किसी भी पदार्थ के लिए अपेक्षा के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए सात प्रकार के वचनों का प्रयोग किया जाता है. वे इस प्रकार हैं—

(१) कथंचित् घट है.
(२) कथंचित् घट नहीं है.
(३) कथंचित् है और नहीं है.
(४) कथंचित् घट अवक्तव्य है.
(५) कथंचित् घट है और अवक्तव्य है.
(६) कथंचित् घट नहीं है और अवक्तव्य है.
(७) कथंचित् घट है, नहीं है और अवक्तव्य है.

प्रश्न के वश से एक ही वस्तु में अविरोध रूप से विधि—प्रतिपेध की कल्पना ही 'सप्तभंगी' है. किसी भी पदार्थ के विपय

में सात प्रकार के प्रश्न हो सकते हैं. इसीलिए सप्तभंगी कही गई है. सात प्रकार के प्रश्नों का कारण है सात प्रकार की जिज्ञासा और सात प्रकार की जिज्ञासा का कारण है सात प्रकार के संशय, तथा सात प्रकार के संशयों का कारण है उसके विषय रूप वस्तु के धर्मों का सात प्रकार से होना. उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्तभंगी के सात 'भंग' केवल शाब्दिक कल्पना ही नहीं किन्तु वस्तु के धर्मविशेष पर आश्रित हैं. इसलिए सप्तभंगी का विचार करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके प्रत्येक भंग का स्वरूप वस्तु के धर्म के साथ संबद्ध हो. यदि किसी भी पदार्थ का कोई भी धर्म दिखलाया जाना जरूरी हो तो उसे इस प्रकार दिखलाया जाना चाहिये जिससे कि उन धर्मों का स्थान उस वस्तु में से विलुप्त न हो जाए. जैसे कि आप घट में नित्यत्व का स्वरूप बतलाना चाहते हैं तो आपको घट के नित्यत्व का बोध करवाने के लिए ऐसे उपयुक्त शब्द का प्रयोग करना चाहिये जो घट का नित्यत्व तो बताता ही हो किन्तु उसके अनित्यत्व आदि अन्य धर्मों का विरोध न करता हो. यह कार्य सप्तभंगी द्वारा ही हो सकता है.

*शंका*—भंग सात ही नहीं किन्तु अधिक भी हो सकते हैं—जैसे कि प्रथम और तृतीय विकल्पों का एक साथ उल्लेख करने से नया भंग बन सकता है. इसी तरह सातों भंगों में से एक दूसरे के साथ दो-दो या तीन-तीन भंग के जोड़ने से और भी नवीन भंग बन सकते हैं ?

*उत्तर*—प्रथम और तृतीय धर्म को मिलाने से उत्पन्न नवीन भंग के अनुसार नवीन वाच्य पदार्थ की प्रतीति लोक में नहीं पाई जाती. इसी प्रकार अन्य भंग के लिए भी समझना चाहिये. ऐसी अवस्था में सात से अधिक भंगों की उत्पत्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता.

इस प्रकार एक धर्म के आधार से सात ही भंग बनते हैं, किन्तु पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है, अतः अनन्त सप्तभंगियाँ भी बन सकती हैं, किन्तु भंगों की मर्यादा सात ही है.

*शंका*—माना कि सप्तभंग से अधिक भंग नहीं हो सकते किन्तु उनसे कम तो हो सकते हैं ? क्योंकि जो घट स्वरूप से सत् है वही अन्य पटादि रूप से असत् भी है, इसलिए 'स्यादस्त्येव' तथा 'स्यान्नास्त्येव' ये दो धर्म नहीं घटित हो सकते. इन दोनों का एक दूसरे में समावेश हो जाता है. अतः इन दो भंगों में से किसी एक ही भंग को मान लो. दूसरे की आवश्यकता नहीं.

*समाधान*—यह कथन अयोग्य है क्योंकि सत्त्व और असत्त्व दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं. जो सत्त्व है वह असत्त्व नहीं हो सकता और जो असत्त्व है वह सत्त्व नहीं हो सकता. ऐसी स्थिति में दोनों को अलग-अलग ही मानना चाहिये. अगर इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं माना जायगा तो स्वरूप से सत्त्व ग्रहण के सदृश पर रूप से भी सत्त्व मानने का प्रसंग आजायगा. और पर रूप से असत्त्व की तरह स्वरूप से भी असत्त्वग्रहण का प्रसंग आजायगा. साथ ही बौद्ध लोग जो त्रिरूप हेतु तथा नैयायिक पंचरूप हेतु मानते हैं वे भी सत्त्व और असत्त्व की अपेक्षा से ही मानते हैं. अर्थात्-हेतु का सपक्ष में पाया जाना यह सत्त्व की अपेक्षा से और विपक्ष में न पाया जाना यह असत्त्व की अपेक्षा से माना है. उन्होंने भी सत्त्व और असत्त्व को भिन्न-भिन्न ही माना है. यदि ऐसा न मानकर सत्त्व और असत्त्व में से किसी एक को ही मानते तो त्रिरूप व पंचरूप हेतु की हानि होती अतः उनके सिद्धान्त से भी सत्त्व का भेद ही सिद्ध होता है.

*शंका*—सत्त्व और असत्त्व को भले ही भिन्न-भिन्न मान लें किन्तु सत्त्वासत्त्व स्वरूप तीसरे भंग को अलग मानने की क्या आवश्यकता ? क्यों कि जैसे घट और पट इन दोनों को अलग-अलग कहने पर या एक साथ उभय रूप से घट-पट कहने पर भी घट-पट का ही ज्ञान होता है, भिन्न ज्ञान नहीं होता है, अतः 'स्यादस्ति और स्याद् नास्ति' मानने के बाद तीसरा भंग अस्ति नास्ति मानना व्यर्थ है.

*समाधान*—प्रत्येक की अपेक्षा उभयरूप समुदाय का भेद अनुभवसिद्ध है. जैसे भिन्न घ और ट की अपेक्षा से समुदाय रूप 'घट' इस पद को सब वादियों ने भिन्न माना है. यदि भिन्न नहीं माना जाय तो 'घ' इतना कहने मात्र से ही 'घट' का बोध हो जाना चाहिये. जिस प्रकार प्रत्येक पुष्प की अपेक्षा से माला कथंचित् भिन्न है उसी प्रकार क्रमार्पित 'उभय-रूप-सत्त्व असत्त्व', 'सत्त्व' और 'असत्त्व' की अपेक्षा से कथंचित् भिन्न ही हैं.

प्रश्न—क्रम से योजित सत्त्व-असत्त्व उभयरूप की अपेक्षा से सहयोजित सत्त्व-असत्त्व इस उभयरूप का भेद कैसे सिद्ध हो सकता है ?

उत्तर—क्रम से योजित कल्पना सहयोजित कल्पना से भिन्न ही है, क्योंकि पूर्व कल्पना में पदार्थ की पर्याएँ क्रम से कही जाती हैं, जबकि उत्तर कल्पना में युगपद् उन पर्यायों का कथन है. यदि भेद नहीं माना जायगा तो पुनरुक्ति दोष की संभावना रहेगी. क्योंकि एक वाक्य जन्य जो बोध है, उसी बोध के समान बोधजनक यदि उत्तर काल का वाक्य हो तो यही पुनरुक्ति दोष है. यहाँ पर क्रम से योजित तृतीय भंग है और अक्रम से योजित चतुर्थ भंग है. तृतीय भंग के द्वारा उत्पन्न ज्ञान-विकल्प, अस्तित्व के साथ नास्तित्व रूप स्थिति को बतलाता है. इस प्रकार से स्वयंसिद्ध है कि तृतीय और चतुर्थ भंग से उत्पन्न ज्ञानों में समान-आकारता नहीं है, अतः दोनों भंग अलग-अलग ही हैं.

प्रश्न—भंग सात ही नहीं किन्तु नौ होते हैं. जैसे तृतीय भंग में रहे हुये 'अस्तित्व-नास्तित्व' के क्रम का परिवर्तन कर देने से 'नास्तित्व-अस्तित्व' रूप नया भंग बन जायगा. इसी प्रकार सातवें भंग में प्रदर्शित क्रम को भी पलट दिया जाय अर्थात् 'स्यादस्ति नास्ति च अवक्तव्यः' के स्थान में 'स्यान्नास्ति अस्ति च अवक्तव्य' बना दिया जाय तो एक और नया भंग बन जाता है. इस प्रकार भंगों की संख्या नौ हो जाएगी. नूतन बने हुए भंगों में तीसरे और सातवें भंग की पुनरावृत्ति नहीं कही जा सकती है, क्योंकि अस्तित्वविशिष्ट नास्तित्व का बोध तृतीय भंग से होता है. जबकि नवीन भंग से नास्तित्वविशिष्ट अस्तित्व का बोध होता है विशेषण-विशेष्यभाव की विपरीतता हो गई है, जो विशेषण था वह विशेष्य बन गया है और जो विशेष्य था वह विशेषण बन गया है, यही बात सातवें भंग के संबंध में भी नूतन भंग के साथ समझना चाहिये. अर्थात् उसमें भी क्रम बदल गया है, विशेषण-विशेष्यभाव की विपरीतता आ गई है. अतः भंग सात नहीं किन्तु नव बनते हैं ?

उत्तर—उपरोक्त शंका में केवल समझ का ही फेर है. वह इस प्रकार है—तृतीय भंग में रहे हुए 'अस्तित्व और नास्तित्व' दोनों ही धर्म स्वतंत्र हैं. परस्पर सापेक्ष रूप से रहे हुए नहीं हैं. इसीलिये प्रधानता होने के कारण से ही पदार्थ में अवक्तव्यता धर्म की उत्पत्ति होती है, तदनुसार विशेषण विशेष्य जैसी कोई स्थिति नहीं है. किन्तु पर्यायों में भूतकालीन-भविष्यत्कालीन और वर्तमानकालीन दृष्टिकोण से ही अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्यत्व जैसे वाचक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है. अवक्तव्यत्व रूप धर्म अस्ति नास्ति से विलक्षण पदार्थ है. सत्त्व मात्र ही वस्तु का स्वरूप नहीं है और केवल असत्त्व भी वस्तु का स्वरूप नहीं है. सत्त्व-असत्त्व ये दोनों भी वस्तु का स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि उभय से विलक्षण अन्य जातीय रूप से भी वस्तु का होना अनुभवसिद्ध है. जैसे दही, शक्कर, काली मिरच, इलायची, नागकेशर तथा लवंग के संयोग से एक नवीन जाति का पेय-रस तैयार हो जाता है, जो कि उपरोक्त प्रत्येक पदार्थ से स्वाद में और गुण में एवं स्वभाव में भिन्न ही बन जाता है. फिर भी सर्वथा भिन्न नहीं कहा जा सकता है और न सर्वथा अभिन्न भी कहा जा सकता है, एवं सर्वथा अवक्तव्य भी नहीं कहा जा सकता है. इस प्रकार सातों ही भंगों में परस्पर में विलक्षण अर्थ की स्थिति समझ लेना चाहिये. अतएव पृथक्-पृथक् स्वभाव वाले सातों धर्मों की सिद्धि होने से उन-उन धर्मों के विषयभूत संशय, जिज्ञासा आदि क्रमों की श्रेणियाँ भी सात-सात प्रकार की होती हैं, इस प्रकार प्रत्येक धर्म के विषय में सात-सात भंग होते हैं.

सकलादेश और विकलादेश—यह सप्तभंगी दो प्रकार की है—एक प्रमाणसप्तभंगी और दूसरी नय-सप्तभंगी. प्रमाणवाक्य को सकलादेश वाक्य अर्थात् सम्पूर्णरूप से पदार्थों का ज्ञान कराने वाला वाक्य कहते हैं और नयवाक्य को विकलादेश अर्थात् एक अंश से पदार्थों का ज्ञान करानेवाला वाक्य कहते हैं.

प्रश्न—आपने प्रमाण और नय-सप्तभंगी के भी सात-सात भेद माने हैं किन्तु सात-सात भेद एक-एक के नहीं सिद्ध होते हैं क्योंकि प्रथम द्वितीय व चतुर्थ भंग वस्तु के एक धर्म को ही बताते हैं अतः ये तीन भंग नयवाक्य या विकलादेश रूप हैं और तृतीय, पंचम, षष्ठ और सप्तम भंग वस्तु के अनेक धर्मों का बोध करानेवाले होने से प्रमाणवाक्य या सकलादेश रूप हैं.

उत्तर—यह कथन अयोग्य है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो स्याद्वाद-सिद्धान्त का विरोध होगा.

प्रश्न—अन्य लोग यह शंका करते हैं कि सप्तभंगी के सप्तवाक्य अलग-अलग तो विकलादेश रूप ही हैं किन्तु सातों मिल कर सकलादेश रूप हैं.

उत्तर—पृथक्-पृथक् वाक्य सम्पूर्ण अर्थों के प्रतिपादक नहीं होने से विकलादेश हैं, यह कथन अयुक्त है; क्योंकि ऐसा मानने पर तो सातों वाक्य भी विकलादेश हो जावेंगे. कारण सातों वाक्य मिलकर भी सम्पूर्ण अर्थ के प्रतिपादक नहीं हो सकते. सम्पूर्ण अर्थप्रतिपादक तो सकलश्रुतज्ञान ही हो सकता है. सिद्धान्त के ज्ञाता तो यह कहते हैं कि अनन्त-धर्मात्मक सम्पूर्ण वस्तु के बोध कराने वाले वाक्य को सकलादेश और एक धर्मात्मक वस्तु का बोध कराने वाले वाक्य को विकलादेश कहते हैं. कहने का तात्पर्य यह है कि सकलादेश की दृष्टि में पदार्थ अनन्त गुण रूप है, जब कि विकलादेश की दृष्टि में पदार्थ एक गुण रूप है. सकलादेश समष्टि रूप है, जब कि विकलादेश व्यष्टि रूप है. परन्तु दोनों ही अपेक्षा पूर्वक पदार्थ की विवेचना करते हैं.

'एव' पद की सार्थकता—इन सप्तभंगों में अन्य धर्मों का निषेध नहीं करके विधि-विषयक अर्थात् सत्ता के विषय में बोध उत्पन्न कराने वाला वाक्य प्रथम भंग है. जैसे : 'स्यात् अस्ति एव घटः.' इसी प्रकार अन्य धर्म का निषेध न करके निषेध-बोध-जनक वाक्य द्वितीय भंग है. जैसे : 'स्यात् नास्ति एव घटः.' 'स्यादस्त्येव' में अस्ति के बाद 'एव' लगाने का अर्थ यही है कि प्रत्येक पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा से अस्तित्त्व रूप ही है न कि नास्तित्वरूप. स्वरूप की अपेक्षा से नास्तित्व का निषेध करने के लिए ही 'एव' शब्द लगाया गया है. बौद्धदर्शन का कथन है कि सभी शब्दों में अन्य से व्यावृत्ति कराने की शक्ति होने से घट-पट आदि शब्दों द्वारा घट से भिन्न अथवा पट से भिन्न पदार्थों की व्यावृत्ति हो जाया करती है. अतः अवधारणवाचक 'एव' शब्द का प्रयोग करना व्यर्थ है.

उत्तर—सामान्यतः शब्द विधि रूप से ही अर्थ का बोध कराते हैं. किन्तु संशय, अनिश्चय, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों की निवृत्ति के लिए एवं अन्य की व्यावृत्ति के लिए 'एव' शब्द का प्रयोग अनिवार्य है. यह अवधारणवाचक 'एव' तीन प्रकार का होता है—

१—अयोगव्यवच्छेदबोधक अर्थात् धर्म-धर्मी के संबंध को समान अधिकरण रूप से बतानेवाला, एवं धर्म-धर्मी की एकाकारता, एकत्र-स्थिति-धर्मता अथवा एकरूपता बताने वाला 'एव' अयोग-व्यवच्छेदबोधक कहलाता है.

२—अन्ययोगव्यवच्छेदबोधक—अर्थात् अधिकृत पदार्थ में इष्ट धर्मों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का अथवा अन्य पदार्थों के धर्मों का अस्तित्व नहीं है, इस प्रकार दूसरे के संबंध की निवृत्ति का बोधक 'एव' शब्द अन्ययोगव्यवच्छेदबोधक है.

३—अत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधक—अर्थात् अत्यन्त असंबंध की व्यावृत्ति का ज्ञान करानेवाला 'एव' शब्द अत्यन्तायोग-व्यवच्छेदबोधक है. यह दोषपूर्ण संबंधों की एवं इतर संबंधों की भी सर्वथा व्यावृत्ति करता है.

(१) यही 'एव' शब्द विशेषण के साथ लगा हुआ हो तो 'अयोग' की निवृत्ति का बोध कराने वाला होता है. जैसे : शंखः पाण्डुः एव—शंख सफेद ही है. यहाँ पर शंख में सफेद धर्म का ही विधान उसके असंबंध की व्यावृत्ति के लिए है.यही अयोगनिवृत्ति है.

(२) 'एव' शब्द विशेष्य के साथ लगा हो तो 'अयोग व्यवच्छेद रूप' अर्थ का बोध कराता है. जैसे कि पार्थ एव धनुर्धरः' अर्थात् धनुष्यधारी पार्थ ही है. इस उदाहरण से पार्थ के सिवाय अन्य व्यक्तियों में धनुर्धरत्व का व्यवच्छेद किया गया है.

(३) यदि क्रिया के साथ 'एव' लगा हुआ हो तो वह 'अत्यन्तायोग के व्यवच्छेद का बोधक होता है. जैसे : 'नीलं सरोजं भवत्येव—कमल नीला भी होता है. यहाँ पर इतर वर्णो का निषेध न करते हुए नीलत्व धर्म का विधान भी है.

'स्यात्' शब्द का प्रयोजन—सप्त-भंगी वाक्य-रचना में जितना 'एव' शब्द का महत्त्व है उतना ही 'स्यात्' शब्द का भी

महत्त्व है. अनेकान्त, विधि, विचार आदि अनेक अर्थों में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग होता है किन्तु यहाँ पर केवल अनेकान्त के अर्थ में ही 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया है. अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्म स्वरूप.

**प्रश्न**—'स्यात्' शब्द से ही जब अनेक धर्म-स्वरूप घट आदि पदार्थों का बोध हो जाता है, तब अस्तित्व आदि शब्दों की क्या आवश्यकता है ?

**उत्तर**—'स्यात्' शब्द से अनेकान्त रूप अर्थ का सामान्य रूप से बोध होने पर भी विशेष रूप से अर्थ का बोध कराने के लिए वाक्य में अस्तित्व आदि अन्य शब्द का प्रयोग करना भी आवश्यक है. अत: विवक्षित अर्थ का निश्चयपूर्वक ज्ञान करने के लिए जैसे 'एव' शब्द लगाना अनिवार्य है वैसे ही सर्वथा एकान्त पक्ष की व्यावृत्तिपूर्वक अनेकान्त रूप अर्थ का ज्ञान करने के लिए 'स्यात्' शब्द का जोड़ना अनिवार्य है.

**प्रश्न**—जो घट आदि पदार्थ हैं, वे सभी अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अस्तित्व रूप ही हैं, न कि अन्य पदार्थ से संबन्धित. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के कारण से अस्ति रूप हैं. क्योंकि अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की निवृत्ति तो अप्रसंग होने से अपने आप ही हो जाती है. ऐसी अवस्था में 'स्यात्' शब्द जोड़ना निरर्थक है.

**उत्तर**—किसी दृष्टिकोण से यह सत्य हो सकता है परन्तु जिस पदार्थ का विवेचन किया जा रहा है उसमें रही हुई अनेकान्तात्मक स्थिति किस शब्द से प्रगट होगी ? यह जानने के लिए और बतलाने के लिए एवं वस्तुस्थिति को ठीक समझने के लिए 'स्यात्' शब्द जोड़ना जरूरी है. इसके सिवाय प्रत्येक द्रव्य में द्रव्यत्व अभेदवृत्ति से रहता है, तथा पर्यायें भी अभेद के उपचार से द्रव्य के ही आश्रित होती हैं. इस प्रकार द्रव्य अनेकान्त रूप वाला होता है. यह स्थिति 'स्यात्' शब्द से प्रतीत होती है. अतः सकलादेश सप्तभंगी और विकलादेश सप्तभंगी में 'स्यात्' शब्द जोड़ना अनिवार्य है.

**क्रम और यौगपद्यः**—सकलादेश प्रमाणात्मक वाक्यप्रणाली है और विकलादेश नयात्मक वाक्यप्रणाली. सकलादेश प्रणाली घटादि रूप पदार्थ को सामूहिक रूप से पदार्थ में स्थित सभी धर्मों को एक रूप से काल आदि आठ द्वारों द्वारा अभेद वृत्ति से और अभेद रूप उपचार से विषय करती है. जबकि विकलादेश प्रणाली काल आदि आठों द्वारों द्वारा भेद-वृत्ति से और भेद रूप उपचार से पदार्थ में स्थित अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को ही अपेक्षा द्वारा वर्णन करती है.

**प्रश्न**—क्रम और यौगपद्य से आपका क्या तात्पर्य है?

**उत्तर**—प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व आदि अनेक धर्म हैं, उनका वर्णन देश काल आदि की अपेक्षा से जब करना हो तब केवल अस्तित्व आदि किसी एक शब्द के द्वारा उस पदार्थ में स्थित अनेक धर्मों का एक साथ वर्णन नहीं किया जा सकता है और न एक शब्द द्वारा ही उन सब धर्मों का वर्णन हो सकता है. अत: निश्चित पूर्वापरभाव प्रणाली द्वारा अथवा अनुक्रम शैली द्वारा उस पदार्थ का वर्णन करना क्रमपद्धति है. क्रमपद्धति से विपरीत यौगपद्य है. पदार्थ में स्थित अस्तित्वादि अनेक धर्मों की काल आदि कारणों से जब एकरूपता बतलाई जाती हो, तथा केवल एक शब्द के आधार से धर्मविशेष का कथन करके उसी में शेष धर्मों की स्थिति समझ ली जाती हो, इस प्रकार का प्रतिपादन एक समय में भी सम्भव है. इस तरह का जो वस्तु-स्वरूप का निरूपण है वही यौगपद्य है.

**काल आदि आठ द्वारः**—१ काल, २ आत्मरूप ३ अर्थ ४ सम्बन्ध, ५ उपकार ६ गुणिदेश, संसर्ग और ८ शब्द, इन आठ द्वारों से वस्तु के किसी एक धर्म से शेष धर्मों का अभेद माना जाता है.

(१)"अस्ति एव घटः— यहाँ पर जिस काल में घट द्रव्य में अस्तित्व धर्म रहता है, उसी काल में शेष अनन्त धर्म भी घट में रहे हुए होते हैं. इस प्रकार एक काल-अवस्थिति की दृष्टि से शेष अनन्त धर्मों को अस्तित्व धर्म से अभिन्न मानना काल से अभेदवृत्ति है.

(२) जैसे घट में 'अस्तित्व' नामक गुण उसका स्वरूप बनकर रहता है, वैसे ही अन्य अनेक गुण—जैसे कालापन आदि भी घट के स्वरूप बनकर रहते हैं. यही 'एक स्वरूपत्व' नामक आत्मरूप दूसरा द्वार है जिसके द्वारा अभेदवृत्ति नामक ज्ञानप्रणाली उत्पन्न होती है.

(३) जैसे 'अस्तित्व' नामक गुण का घट द्रव्य आधार है वैसे ही अन्य अनन्त धर्मों का आधार भी वही घट द्रव्य है. अत: अर्थ की दृष्टि से अस्तित्व और अन्य गुणों में अभेदवृत्ति है

(४) जैसे अस्तित्व नामक गुण का घट द्रव्य के साथ सम्बन्ध है वैसे ही अन्य गुणों का भी उसके साथ सम्बन्ध है, अत: सम्बन्ध की दृष्टि से भी अस्तित्व और अन्य गुणों में अभेदवृत्ति है.

(५) जैसे अस्तित्व नामक गुण पदार्थ के प्रति सत्ता के प्रदर्शन में और अपनी विशिष्टता के सम्पादन में सहायता करता है, वैसे ही अन्य गुण भी अस्तित्व की तरह अपनी अपनी क्रियारूप सहायता करते हैं और पदार्थ की विशिष्टता के सम्पादन में सहयोग प्रदान करते हैं . अत: गुणों की 'उपकार' वृत्ति समान होने से उपकारदृष्टि से भी अभेदवृत्ति पाई जाती है.

(६) जैसे अस्तित्व नामक गुण घट द्रव्य के जिस क्षेत्र में रहता है उसी क्षेत्र में अन्य शेष धर्म भी रहते हैं. अत: अस्तित्व की तरह अन्य धर्म भी एक ही देश में रहने वाले होने से गुणिदेश की अपेक्षा से अभेदवृत्ति है.

(७) जैसे—'अस्तित्व' नामक गुण का घट द्रव्य के साथ संसर्ग है वैसा ही शेष अनन्त धर्मों का भी एक ही वस्तुत्व स्वरूप से उसी घट के साथ संसर्ग है. वह संसर्गदृष्टि से अभेदवृत्ति हुई.

प्रश्न—संबंध और संसर्ग पर्यायवाची जैसे शब्द प्रतीत होते हैं, अत: इनमें परस्पर में क्या अन्तर है ?

उत्तर—जहाँ अभेदवृत्ति की प्रधानता हो और भेदवृत्ति की गौणता हो, वह 'सम्बन्ध' अभेदवृत्ति है और जहाँ भेदवृत्ति की प्रधानता और अभेदवृत्ति की गौणता हो वह संसर्ग अभेदवृत्ति है. अर्थात् भेद की गौणता और अभेद की प्रधानता 'संबंध' है. जबकि अभेद की गौणता और भेद की प्रधानता 'संसर्ग' है.

(८) यह 'है' ऐसा शब्द जैसे अस्तित्व गुण वाले घट पदार्थ का वाचक है, वैसे ही शेष अनन्त गुणों वाले घट पदार्थ का वाचक भी यही है. इस प्रकार सभी गुणों की एक शब्द द्वारा वाचकता सिद्ध करने वाली 'शब्द' नामक अभेद वृत्ति है.

द्रव्यार्थिक नय की गौणता और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता होने पर इस प्रकार के गुणों की अभेदवृत्ति की संभावना नहीं होती, जैसे—

(१) एक ही पदार्थ में परस्पर विरोधी अनेक गुणों की स्थिति एक साथ में होना असंभव है, क्योंकि प्रत्येक क्षण में वस्तु का परिवर्त्तन होता रहता है. वह कालकृत भिन्नता है.

(२) नाना गुणों का स्वरूप परस्पर में भिन्न होता है. अत: आत्मरूप अभेदवृत्ति परस्पर की भिन्नता में नहीं पाई जाती है.

(३) अपने आश्रय रूप अर्थ (पदार्थ) अनेक रूप होता हुआ पदार्थ रूप से सभी गुणों के लिए भिन्न-भिन्न रूपवाला ही है, क्योंकि परस्पर में विरोधी गुणों का एकत्र होना असंभव है. इस प्रकार अर्थ रूप से भिन्नता होती है.

(४) संबंधी के भेद से संबन्ध का भी भेद देखा जाता है, अत: संबंध से भी अभेदवृत्ति नहीं दिखाई देती है.

(५) अनेक गुणों द्वारा किए हुए वा क्रियमाण, उपकार भी अनेक हैं, अत: उपकार से भी अभेदवृत्ति नहीं दिखाई देती.

(६) प्रत्येक गुण की अपेक्षा से गुणी के देश का भी भेद माना गया है. अत: गुणिदेश की अपेक्षा से भी भेदवृत्ति ही सिद्ध होती है.

(७) संसर्ग की भिन्नता से संसर्गी में भी भिन्नता आ जाती है, अत: संसर्ग की दृष्टि से भी भेदवृत्ति सिद्ध होती है.

(८) अर्थ के भेद होने से शब्द का भी भेद अनुभवसिद्ध है. यदि शब्दभेद नहीं मानोगे तो वाच्य का अर्थभेद कैसे प्रतीत होगा ? अत: शब्द से भी भेदवृत्ति सिद्ध होती है. इस प्रकार पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से कथंचित् भेद-रूप वर्णन होने

से आठों द्वारों द्वारा भेद प्रणाली की ही मुख्यता होती है. किन्तु द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से कथंचित् अभेद रूप से वर्णन होने से उपरोक्त प्रकारों द्वारा अभेदप्रणाली की ही मुख्यता रहती है.

प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अस्तिरूप है. और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नास्तिरूप है. द्रव्य से द्रव्यत्व कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है. द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से अभिन्न है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से भिन्न है.

**भंग सात ही क्यों ?**—(१) 'स्यात् अस्ति एव घटः' इस प्रथम भंग में पदार्थ की विवेचना 'सत्ता' रूप से की गई है. इस में यह बताया गया है कि—पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से अस्ति रूप है.

(२) 'स्यात् नास्ति एव घटः' इस द्वितीय भंग में पदार्थ की विवेचना 'नास्ति' रूप से की गई है. इसमें यह प्रदर्शित किया गया है कि सभी पदार्थ पर की अपेक्षा से नास्ति रूप ही होते हैं. यदि पर की अपेक्षा से पदार्थ को नास्ति रूप नहीं मानेंगे तो सभी पदार्थों के सर्वात्मक होने का प्रसंग आ जायगा. और इस प्रकार पदार्थों के प्रति अव्यवस्था दोप उत्पन्न हो जायगा. अतः उपरोक्त दोनों भंगों की पदार्थ की वास्तविक विवेचना के लिए आवश्यकता है.

(३) 'स्यात् अस्ति च स्यात् नास्ति च घट'. इस तृतीय भंग में अस्तित्व-नास्तित्व की विवेचना क्रम से बतलाई गई है. इसमें 'घट' विशेष्य है और क्रम से योजित विधि एवं प्रतिषेध विशेषण रूप हैं.

(४) 'स्यात् अवक्तव्य एव घटः' इस चौथे भंग में पदार्थ की विवेचना में 'सहर्अपित' याने दोनों स्थितियां साथ-साथ योजित रूप से बतलाई गई हैं. 'सह अर्पित' अवस्था में स्व की अपेक्षा से और पर की अपेक्षा से घट 'अस्तिरूप' भी होता है, और 'नास्तिरूप' भी होता है. ऐसी दशा में किसी भी शब्द द्वारा उसका विवेचन कर सकना असंभव होता है. क्योंकि शब्दशास्त्र में ऐसा कोई शब्द नहीं है, जोकि एक साथ पदार्थ की अस्तित्व और नास्तित्व दोनों ही स्थितियां बतला सके, अतः शब्दाभाव के कारण इसे 'अवक्तव्य' कहा गया है.

प्रश्न—अनेकान्तवाद छल मात्र है. क्योंकि इसमें नित्यता अनित्यता, अस्तित्व नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी सिद्धांतों की विवेचना की जाती है, जो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अप्रमाणित ठहरते हैं.

उत्तर—अन्य अभिप्राय से कहे गये शब्द का अन्य ही अर्थ करना छल है. जैसे 'नवकंवलोऽयम् देवदत्तः' का अर्थ बदल कर पूछना कि—कहाँ हैं देवदत्त के पास नौ कम्बल ? यह छल का लक्षण अनेकान्त में घटित नहीं होता.

प्रश्न—अस्ति नास्ति आदि नाना धर्मों का प्रतिभास होने से अनेकांतवाद को संशयवाद क्यों नहीं कहा जा सकता ?

उत्तर—सामान्य अंश के प्रत्यक्ष और विशेष अंश के अप्रत्यक्ष होने से ही संशय उत्पन्न होता है किन्तु अनेकान्तवाद में तो विशेप अंशों (धर्मों) की उपलब्धि होती है, अतः अनेकान्तवाद संशयवाद नहीं हो सकता.

अन्य दार्शनिकों ने भी अपने सिद्धांतों की सिद्धि के लिए अनेकान्तवाद का ही आश्रय लिया है. सांख्यों की मान्यता है कि प्रकृति सत्त्व रजस् और तमोगुणमयी है. इस प्रकार परस्पर विरोधी गुणों का अस्तित्व एक प्रकृति में माना है. यह मान्यता अनेकान्तवाद के आधार से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं.

नैयायिक भी द्रव्य आदि पदार्थों को सामान्य-विशेप रूप स्वीकार करते ही हैं. द्रव्य में अनुवृत्ति तथा व्यावृत्ति स्वभाव है, अतः वह सामान्य-विशेप स्वरूप है. पृथ्वी द्रव्य है, तेज द्रव्य है, वायु द्रव्य है, इस प्रकार द्रव्य में द्रव्यत्व सामान्य भी है और विशेप तथा गुण कर्म आदि भी हैं. इस प्रकार नैयायिक भी अनेकान्तवाद के विना वस्तु में सामान्य और विशेप का रहना सिद्ध नहीं कर सकते. वौद्ध मेचक मणि के ज्ञान को एक किन्तु अनेकाकार मानते हैं. इस प्रकार वौद्ध मत में भी ज्ञान एक-अनेक रूप है. अतः वे भी स्याद्वाद का आश्रय लेते हैं. चार्वाक भी पृथ्वी तेज जल और वायु से एक चैतन्य तत्त्व की उत्पत्ति मानते हैं. इस प्रकार वे अनेक में एक का सद्भाव मानकर स्याद्वाद की ही शरण ग्रहण करते हैं. मीमांसक भी प्रमाता, प्रमिति तथा प्रमेयाकार को एक ज्ञान रूप ही मानते हैं. इस प्रकार उन्होंने भी अनेकों को एक रूप में ही स्वीकार किया है.

श्रीसुरेश मुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न

# अनेकान्तवाद
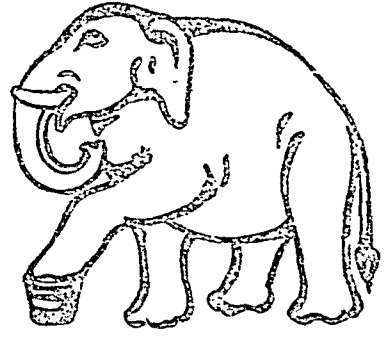
**जैन तत्त्व-ज्ञान का मूलाधार:**—मानव-जीवन का सर्वतोमुखी उन्नयन एवं विकास करने के लिए श्रमण भगवान् महावीर की अहिंसा त्रिवेणी के रूप में प्रवाहित हुई थी. पहली जीव-दयारूपी अहिंसा-जिसके द्वारा स्व-पर के क्लेश तथा मनस्ताप को शान्त करने के लिए, जीवन के कण-कण में दया, करुणा, मैत्री, उदारता तथा आत्मोपमता का निर्मल झरना बहने लगता है. दूसरी, अनेकान्त रूपी बौद्धिक अहिंसा—जिसके द्वारा विचारों का वैषम्य, मालिन्य एवं कालुष्य धुलकर पारस्परिक विचारसंघर्ष तथा शुष्कवाद-विवाद का नामशेष हो जाता है और अन्तर्मन में पारस्परिक सौहार्द तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का प्रकाश चमकने लगता है. तीसरी, तपस्यारूपी आत्मिक अहिंसा—जिसके द्वारा पूर्व-सञ्चित कर्म-मल का शोधन-परिशोधन करके आत्मा को मांजा जाता है, पूर्णतः शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल तथा साफ किया जाता है. उपर्युक्त विचार-पृष्ठभूमि में अनेकान्तवाद जैन-संस्कृति का तत्त्व-ज्ञान-निरूपण का मूलाधार है. जैन-संस्कृति में जो भी बात कही गयी है, वह अनेकान्तात्मक विचार एवं स्याद्वाद की भाषा में तोलकर ही कही गयी है ! इसी दृष्टिविन्दु से संस्कृति के क्षेत्र में जैन-संस्कृति का दूसरा नाम 'अनेकान्त-संस्कृति' भी है.

**अनेकान्त का स्वरूप:**—जैन-संस्कृति का मन्तव्य है कि प्रत्येक वस्तु के अनन्त पक्ष हैं. उन पक्षों को जैनदर्शन की भाषा में धर्म कहते हैं. इस दृष्टि से संसार की प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मा है :—

"अनन्तधर्मात्मकं वस्तु"—स्याद्वादमंजरी

अनेकान्त में 'अनेक' और 'अन्त' ये दो शब्द हैं. 'अनेक' का अर्थ अधिक—बहुत और 'अन्त' का अर्थ धर्म अथवा दृष्टि है. किसी भी पदार्थ को अनेक दृष्टियों से देखना, किसी भी वस्तु-तत्त्व का भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से पर्यालोचन करना 'अनेकान्त' है. एक ही पदार्थ में भिन्न-भिन्न वास्तविक धर्मों का सापेक्ष रूप से स्वीकार करने का नाम "अनेकान्त' है.

जैन-संस्कृति में एक ही दृष्टि-विन्दु से पदार्थ के पर्यालोचन करने की पद्धति को एकांगी, अधूरा एवं अप्रामाणिक माना गया है, और एक ही वस्तु के विषय में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से कथन करने की विचार-शैली को पूर्ण तथा प्रामाणिक स्वीकार किया गया है. इस सापेक्ष विचारपद्धति का नाम ही वस्तुतः अनेकान्तवाद है. अपेक्षावाद, कथचिद्वाद, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद ये सब शब्द प्रायः एक ही अर्थ के वाचक हैं.

अनन्त-धर्मात्मक वस्तु को यदि कोई एक ही धर्म में सीमित करना चाहे, किसी एक धर्म के द्वारा होने वाले ज्ञान को ही वस्तु का ज्ञान समझ बैठे, तो इससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप बुद्धि-गत नहीं हो सकता. कोई भी कथन अथवा विचार निरपेक्ष स्थिति में सत्यात्मक नहीं हो सकता. सत्य होने के लिए उसे अपने से अन्य विचार-पक्ष की अपेक्षा रखनी ही पड़ती है. साधारण ज्ञान, वस्तु के कुछ धर्मों—पहलुओं तक ही सीमित रहता है. केवल ज्ञान की स्थिति में ज्ञान के परिपूर्ण होने पर ही वस्तु के अनन्त धर्मों का ज्ञान होना संभव है. दूसरे शब्दों में, केवलज्ञान ही वस्तु स्वरूप को समग्र रूप में साक्षात् कर सकता है. इस पूर्ण ज्ञान को ही जैन-संस्कृति में प्रमाण माना गया है ! इसके अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार का ज्ञान अपूर्ण एवं सापेक्ष है. सापेक्ष स्थिति में ही वह सत्य हो सकता है, निरपेक्ष स्थिति में नहीं. हाथी को खंभे जैसा बतलाने वाला अन्धा व्यक्ति अपने दृष्टि-विंदु से सच्चा है, परन्तु हाथी को रस्से-जैसा कहने वाले दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा से सच्चा नहीं हो सकता. हाथी का समग्र ज्ञान करने के लिए, समूचे हाथी का ज्ञान कराने वाली सभी दृष्टियों की अपेक्षा रहती है. इसी अपेक्षादृष्टि के कारण 'अनेकान्तवाद' का नाम अपेक्षावाद और स्याद्वाद

भी है. स्याद्वाद में स्यात् का अर्थ है—किसी अपेक्षा से, किसी दृष्टि से और 'वाद' का अर्थ है—कथन करना. किसी अपेक्षा-विशेष से वस्तु-तत्त्व का निर्वचन करना ही 'स्याद्वाद' है.

ही और भी का अन्तरः—अनेकान्तवाद की यह सर्वोपरि विशेषता है कि वह किसी वस्तु के एक पक्ष को पकड़कर यह नहीं कहता कि, "यह वस्तु एकान्ततः ऐसी ही है." वह तो 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करता है. जिसका अर्थ है. इस अपेक्षा के वस्तु का स्वरूप ऐसा भी है. 'ही' एकान्त है, तो 'भी' वैषम्य एवं संघर्ष के बीज का मूलतः उन्मूलन करके समता तथा सौहार्द के मधुर वातावरण का सृजन करती है. 'ही' में वस्तु-स्वरूप के दूसरे सत्पक्षों का इनकार है, तो 'भी' में इतर सब सत्पक्षों का स्वीकार है. 'ही' से सत्य का द्वार बन्द हो जाता है, तो 'भी' में सत्य का प्रकाश आने के लिए समस्त द्वार अनावृत रहते हैं.

जितने भी एकान्तवादी दर्शन हैं, वे सब वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में एक पक्ष को सर्वथा प्रधानता दे कर ही किसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं. वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में, उदारमना होकर विविध दृष्टि-कोणों से विचार करने की कला उनके पास प्रायः नहीं होती. यही कारण है कि उनका दृष्टिकोण अथवा कथन 'जन-हिताय' न होकर 'जन-विनोदाय' हो जाता है. इस के विपरीत, जैन-दर्शन के तत्त्व-पारखी आचार्यों ने खुले मन-मस्तिष्क से वस्तु-स्वरूप पर अनेक दृष्टि-विन्दुओं से विचार करके चौमुखी सत्य को आत्मसात् करने का दूरगामी यत्न किया है. अतः उनका दृष्टि-कोण सत्य का दृष्टिकोण है, शान्ति का दृष्टि-कोण है, जन-हित का दृष्टि-कोण है, सह-अस्तित्व का दृष्टि-कोण है. उदाहरण के लिए, आत्म-तत्त्व को ही ले लीजिए. सांख्य-दर्शन आत्मा को कूटस्थ (एकान्त, एकरस) नित्य ही मानता है. उसका कहना है—'आत्मा सर्वथा नित्य ही है'. बौद्ध-दर्शन का कथन है—"आत्मा अनित्य (क्षणिक) ही है." आपस में दोनों का विरोध है. दोनों का उत्तर-दक्षिण का रास्ता है. पर, जैन-दर्शन कभी एक करवट नहीं पड़ता. उसका विचार है :—यदि आत्मा एकान्त नित्य ही है, तो उसमें क्रोध, अहंकार, माया तथा लोभ के रूप में रूपान्तर होता हुआ कैसे दीख पड़ता है? नारक, देवता, पशु और मनुष्य के रूप में परिवर्तन क्यों होता है आत्मा का? कूटस्थ-नित्य में तो किसी भी प्रकार पर्याय-परिवर्तन अथवा हेर-फेर नहीं होना चाहिए. पर परिवर्तन होता है—यह दिन के उजेले की तरह स्पष्ट है. अतः "आत्मा नित्य ही है"—यह कथन भ्रान्त है. और, यदि आत्मा सर्वथा अनित्य ही है तो यह वस्तु वही है जो मैंने पहले देखी थी—"ऐसा एकत्व-अनुसन्धानात्मक प्रत्यभिज्ञान नहीं होना चाहिए. परन्तु, प्रत्य-भिज्ञान तो अबाध रूप से होता है, अतः आत्मा सर्वथा अनित्य (क्षणिक) ही है—यह मान्यता भी त्रुटिपूर्ण है. जीवन में एक करवट पड़कर 'ही' के रूप में हम वस्तु-स्वरूप का तथ्य-निर्णय नहीं कर सकते. हमें तो 'भी' के द्वारा विविध पहलुओं से सत्य के प्रकाश का स्वागत करना चाहिए. और इस सत्यात्मक दृष्टि से आत्मा नित्य 'भी' है. द्रव्य की दृष्टि से आत्मा नित्य है और पर्याय की दृष्टि से आत्मा अनित्य है.

कहने का तात्पर्य यह है कि, 'ही' के एकान्त प्रयोग से सत्य का तिरस्कार एवं बहिष्कार होता है, आपस में वैर-विरोध, कलह-क्लेश, तथा वादविवाद बढ़ते हैं, और 'भी' से ये सब द्वन्द्व एकदम शान्त हो जाते हैं. 'ही' से संघर्ष एवं विवाद कैसे उत्पन्न हो जाते हैं, इस विषय में एक बड़ा सुन्दर कथानक है. दो आदमी नाच देखने गए. एक अन्धा, दूसरा बहरा. रातभर तमाशा देखकर, सुबह वे दोनों अपने घर वापस लौट रहे थे. रास्ते में एक आदमी पूछ बैठा—क्यों भई, नाच कैसा था ? अन्धे ने कहा—आज केवल गाना ही हुआ है, नाच तो कल होगा. बहरा बोला—'अरे. आज तो नाच ही हुआ है, गाना तो कल होगा. दोनों लगे अपनी-अपनी तानने. मैं-तू के साथ खींचतान और कहा-सुनी हो गयी और मार-पीट तक की नौबत आ गयी.

बस, अनेकान्तवाद यही कहता है कि, एक ही दृष्टि-कोण अपना कर अन्धे, बहरे मत बनो. दूसरे की भी सुनो—दूसरों के दृष्टि-विन्दु को भी देखो-परखो. तमाशे में हुई थी दोनों चीजें—नाच भी और गाना भी. पर, अन्धा नाच न देख सका और बहरा गाना न सुन सका. आज गाना 'ही' हुआ है अथवा नाच 'ही' हुआ है—इस 'ही' के झमेले में पड़कर दोनों उलझ गए—दोनों में लड़ाई ठन गई. यदि वे एक-दूसरे को देख लेते, समझ लेते और 'ही' के चक्कर में पड़कर

अपनी-अपनी न तानते, तो कोई बात ही न होती, संघर्ष की नौबत ही न आ पाती. अनेकान्तवाद परस्पर में संघर्ष उत्पन्न कराने वाली 'ही' का उन्मूलन करके उसके स्थान पर 'भी' का प्रयोग करने की बलवती प्रेरणा प्रदान करता है. **अनेकान्त कानेपन को मिटाता है :**—जैन-दर्शन की अनेकान्तदृष्टि मानव-मन को यही प्रकाश देती है कि मनुष्य को दो आखें मिली हैं. अतः एक आँख से वह अपना, तो दूसरी से विरोधियों—दूसरों का सत्य देखे. जितनी भी वचन-पद्धतियां अथवा कथन के प्रकार हैं, उन सब का लक्ष्य सत्य के दर्शन कराना है. जैसे द्वितीया के चन्द्रमा का दर्शन करने वाले व्यक्तियों में से कोई एक तो ऐसा बतलाता है कि—"चन्द्रमा उस वृक्ष की टहनी से ठीक एक बित्ता ऊपर है." दूसरा व्यक्ति कहता है—"चन्द्रमा इस मकान के कोने से सटा हुआ है." तीसरा बोलता है—"चन्द्रमा उस उड़ते पक्षी के दोनों पंखों के बीच में से दीख रहा है." चौथा व्यक्ति संकेत करके कहता है—"चन्द्रमा ठीक मेरी अंगुली के सामने नजर आ रहा है." इन सभी व्यक्तियों का लक्ष्य चन्द्र-दर्शन कराने का है. और वे अपनी साफ नीयत से ही, अपनी-अपनी प्रक्रिया बतला रहे हैं. पर एक-दूसरे के कथन में परस्पर आकाश-पाताल का अन्तर है.

ठीक इसी प्रकार सत्य-गवेषी दार्शनिक विचारकों का एक ही उद्देश्य है—साधकों को सत्य का साक्षात्कार कराना. सब अपने-अपने दृष्टि-बिन्दु से सत्य की व्याख्या कर रहे हैं. परन्तु, उनके कथन में भेद है. 'अनेकान्त' की सतेज आँख से ही उन तथ्यांशों के प्रकाश को देखा-समझा जा सकता है.

वस्तुतः अनेकान्तवाद सत्य का सजीव भाष्य है. यह सत्य की खोज करने और पूर्ण सत्य की मंज़िल पर पहुँचने के लिए प्रकाशमान महा मार्ग है. दूसरे शब्दों में, जैन-दर्शन का अनेकान्त-विचार, सब दिशाओं से खुला हुआ वह दिव्य मानस-नेत्र है, जो अपने से ऊपर उठकर दूर-दूर तक के तथ्यों को देख लेता है. अनेकान्त में एकांगिता तथा संकीर्णता को पैर टेकने के लिए ज़रा भी स्थान नहीं है. यहाँ तो मन का तटस्थ-भाव एवं हृदय की उदारता ही सर्वोपरि मान्य है. यहाँ स्व-दृष्टि नगण्य है, हेय है और सत्य-दृष्टि प्रधान है, उपादेय है. जो भी सच्चाई है, वह मेरी है, चाहे वह किसी भी जाति, व्यक्ति अथवा शास्त्र में क्यों न हो—यह ज्योतिष्मती दिशा है, अनेकान्त के महान् सिद्धान्त की.

अनेकान्तवाद का आदर्श है कि, सत्य अनन्त है. हम अपने इधर-उधर चारों ओर से जो कुछ भी देख-जान पाते हैं, वह सत्य का पूर्ण रूप नहीं, प्रत्युत अनन्त सत्य का स्फुलिंग है, अंश-मात्र है. अतः जैन-धर्म की अनेकान्त-धारा, मनुष्य को सत्य-दर्शन के लिए आंखें खोलकर सब ओर देखने की दूरगामी प्रेरणा प्रदान करती है. उसका कहना है कि, सारे संसार को तुम अपने ही विचार की आँखों से मत देखो-परखो. दूसरे को हमेशा उसकी आँख से देखिए, उसके दृष्टि-कोण से परखिए. सत्य वही और उतना ही नहीं है जो-जितना आप देख पाए हैं. फिर भी यह तो सम्भव है कि हाथी के स्वरूप का वर्णन करने वाले वे छहों अन्धे व्यक्ति अपने-आप में शत-प्रतिशत सच्चे होकर भी इसलिए अधूरे हों कि एक ने हाथी को देखा था सूंड की तरफ से, दूसरे ने पूंछ की तरफ से, तीसरे ने देखा था पेट छूकर, चौथे ने देखा था कान पकड़कर, पाँचवें ने देखा था दांतों की ओर से और छठे ने पांव की तरफ से. जीवन के इस कानेपन को, एकांगी सत्य को देखने की वृत्ति को ही तो दूर करता है—अनेकान्तवाद ! काना व्यक्ति एक ओर के सत्य को ही देख सकता है. सत्य का दूसरा पहलू, वस्तुतत्त्व की दूसरी करवट उसकी आँख से लुप्त ही रहती है !

एक पुरानी लोक-कथा है. किसी मां का काना बेटा हरद्वार गया. लौटा तो मां ने पूछा—हरद्वार में तुझे सब से अच्छा क्या लगा रे ? कौन-सी नयी चीज देखी तूने वहाँ पर ? गांव के भोले बेटे ने तब तक कहीं बाजार देखा नहीं था ! बोला : मां, मैंने नयी बात यही देखी कि हरद्वार का बाजार घूमता है. माँ हरद्वार हो आई थी. चौंक कर उसने पूछा : कैसे घूमता है रे हरद्वार का बाजार ?

बेटे ने नए सिरे से आश्चर्य में डूबकर कहा : मां, जब मैं हर की पैड़ी नहाने गया तो बाजार इधर था और नहाकर लौटा तो देखा—बाजार उधर हो गया.

भी है. स्याद्वाद में स्यात् का अर्थ है—किसी अपेक्षा से, किसी दृष्टि से और 'वाद' का अर्थ है—कथन करना. किसी अपेक्षा-विशेष से वस्तु-तत्त्व का निर्वचन करना ही 'स्याद्वाद' है.

ही और भी का अन्तरः—अनेकान्तवाद की यह सर्वोपरि विशेषता है कि वह किसी वस्तु के एक पक्ष को पकड़कर यह नहीं कहता कि, "यह वस्तु एकान्ततः ऐसी ही है." वह तो 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करता है. जिसका अर्थ है. इस अपेक्षा के वस्तु का स्वरूप ऐसा भी है. 'ही' एकान्त है, तो 'भी' वैषम्य एवं संघर्ष के बीज का मूलतः उन्मूलन करके समता तथा सौहार्द के मधुर वातावरण का सृजन करती है. 'ही' में वस्तु-स्वरूप के दूसरे सत्पक्षों का इनकार है, तो 'भी' में इतर सब सत्पक्षों का स्वीकार है. 'ही' से सत्य का द्वार बन्द हो जाता है, तो 'भी' में सत्य का प्रकाश आने के लिए समस्त द्वार अनावृत रहते हैं.

जितने भी एकान्तवादी दर्शन हैं, वे सब वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में एक पक्ष को सर्वथा प्रधानता दे कर ही किसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं. वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में, उदारमना होकर विविध दृष्टि-कोणों से विचार करने की कला उनके पास प्रायः नहीं होती. यही कारण है कि उनका दृष्टिकोण अथवा कथन 'जन-हिताय' न होकर 'जन-विनोदाय' हो जाता है. इस के विपरीत, जैन-दर्शन के तत्त्व-पारखी आचार्यों ने खुले मन-मस्तिष्क से वस्तु-स्वरूप पर अनेक दृष्टि-बिन्दुओं से विचार करके चौमुखी सत्य को आत्मसात् करने का दूरगामी यत्न किया है. अतः उनका दृष्टि-कोण सत्य का दृष्टिकोण है, शान्ति का दृष्टि-कोण है, जन-हित का दृष्टि-कोण है, सह-अस्तित्व का दृष्टि-कोण है. उदाहरण के लिए, आत्म-तत्त्व को ही ले लीजिए. सांख्य-दर्शन आत्मा को कूटस्थ (एकान्त, एकरस) नित्य ही मानता है. उसका कहना है—'आत्मा सर्वथा नित्य ही है'. बौद्ध-दर्शन का कथन है—"आत्मा अनित्य (क्षणिक) ही हैं." आपस में दोनों का विरोध है. दोनों का उत्तर-दक्षिण का रास्ता है. पर, जैन-दर्शन कभी एक करवट नहीं पड़ता. उसका विचार है :—यदि आत्मा एकान्त नित्य ही है, तो उसमें क्रोध, अहंकार, माया तथा लोभ के रूप में रूपान्तर होता हुआ कैसे दीख पड़ता है? नारक, देवता, पशु और मनुष्य के रूप में परिवर्तन क्यों होता है आत्मा का? कूटस्थ-नित्य में तो किसी भी प्रकार पर्याय-परिवर्तन अथवा हेर-फेर नहीं होना चाहिए. पर परिवर्तन होता है—यह दिन के उजेले की तरह स्पष्ट है. अतः "आत्मा नित्य ही है"—यह कथन भ्रान्त है. और, यदि आत्मा सर्वथा अनित्य ही है तो यह वस्तु वही है जो मैंने पहले देखी थी—"ऐसा एकत्व-अनुसन्धानात्मक प्रत्यभिज्ञान नहीं होना चाहिए. परन्तु, प्रत्यभिज्ञान तो अबाध रूप से होता है, अतः आत्मा सर्वथा अनित्य (क्षणिक) ही है—यह मान्यता भी त्रुटिपूर्ण है. जीवन में एक करवट पड़कर 'ही' के रूप में हम वस्तु-स्वरूप का तथ्य-निर्णय नहीं कर सकते. हमें तो 'भी' के द्वारा विविध पहलुओं से सत्य के प्रकाश का स्वागत करना चाहिए. और इस सत्यात्मक दृष्टि से आत्मा नित्य 'भी' है. द्रव्य की दृष्टि से आत्मा नित्य है और पर्याय की दृष्टि से आत्मा अनित्य है.

कहने का तात्पर्य यह है कि, 'ही' के एकान्त प्रयोग से सत्य का तिरस्कार एवं बहिष्कार होता है, आपस में वैर-विरोध, कलह-क्लेश, तथा वादविवाद बढ़ते हैं, और 'भी' से ये सब द्वन्द्व एकदम शान्त हो जाते हैं. 'ही' से संघर्ष एवं विवाद कैसे उत्पन्न हो जाते हैं, इस विषय में एक बड़ा सुन्दर कथानक है. दो आदमी नाच देखने गए. एक अन्धा, दूसरा बहरा. रातभर तमाशा देखकर, सुबह वे दोनों अपने घर वापस लौट रहे थे. रास्ते में एक आदमी पूछ बैठा—क्यों भई, नाच कैसा था ? अन्धे ने कहा—आज केवल गाना ही हुआ है, नाच तो कल होगा. बहरा बोला—'अरे. आज तो नाच ही हुआ है, गाना तो कल होगा. दोनों लगे अपनी-अपनी तानने. मैं-तू के साथ खींचतान और कहा-सुनी हो गयी और मार-पीट तक की नौबत आ गयी.

बस, अनेकान्तवाद यही कहता है कि, एक ही दृष्टि-कोण अपना कर अन्धे, बहरे मत बनो. दूसरे की भी सुनो—दूसरों के दृष्टि-बिन्दु को भी देखो-परखो. तमाशे में हुई थी दोनों चीजें—नाच भी और गाना भी. पर, अन्धा नाच न देख सका और बहरा गाना न सुन सका. आज गाना 'ही' हुआ है अथवा नाच 'ही' हुआ है—इस 'ही' के झमेले में पड़कर दोनों उलझ गए—दोनों में लड़ाई ठन गई. यदि वे एक-दूसरे को देख लेते, समझ लेते और 'ही' के चक्कर में पड़कर

अपनी-अपनी न तानते, तो कोई बात ही न होती, संघर्ष की नौबत ही न आ पाती. अनेकान्तवाद परस्पर में संघर्ष उत्पन्न कराने वाली 'ही' का उन्मूलन करके उसके स्थान पर 'भी' का प्रयोग करने की बलवती प्रेरणा प्रदान करता है. अनेकान्त कानेपन को मिटाता है :—जैन-दर्शन की अनेकान्तदृष्टि मानव-मन को यही प्रकाश देती है कि मनुष्य को दो आखें मिली हैं. अतः एक आँख से वह अपना, तो दूसरी से विरोधियों—दूसरों का सत्य देखे. जितनी भी वचन-पद्धतियां अथवा कथन के प्रकार हैं, उन सब का लक्ष्य सत्य के दर्शन कराना है. जैसे द्वितीया के चन्द्रमा का दर्शन करने वाले व्यक्तियों में से कोई एक तो ऐसा बतलाता है कि—"चन्द्रमा उस वृक्ष की टहनी से ठीक एक बित्ता ऊपर है." दूसरा व्यक्ति कहता है—"चन्द्रमा इस मकान के कोने से सटा हुआ है." तीसरा बोलता है—"चन्द्रमा उस उड़ते पक्षी के दोनों पंखों के बीच में से दीख रहा है." चौथा व्यक्ति संकेत करके कहता है—"चन्द्रमा ठीक मेरी अंगुली के सामने नजर आ रहा है." इन सभी व्यक्तियों का लक्ष्य चन्द्र-दर्शन कराने का है. और वे अपनी साफ नीयत से ही, अपनी-अपनी प्रक्रिया बतला रहे हैं. पर एक-दूसरे के कथन में परस्पर आकाश-पाताल का अन्तर है.

ठीक इसी प्रकार सत्य-गवेषी दार्शनिक विचारकों का एक ही उद्देश्य है—साधकों को सत्य का साक्षात्कार कराना. सब अपने-अपने दृष्टि-बिन्दु से सत्य की व्याख्या कर रहे हैं. परन्तु, उनके कथन में भेद है. 'अनेकान्त' की सतेज आँख से ही उन तथ्यांशों के प्रकाश को देखा-समझा जा सकता है.

वस्तुतः अनेकान्तवाद सत्य का सजीव भाष्य है. यह सत्य की खोज करने और पूर्ण सत्य की मंज़िल पर पहुँचने के लिए प्रकाशमान महा मार्ग है. दूसरे शब्दों में, जैन-दर्शन का अनेकान्त-विचार, सब दिशाओं से खुला हुआ वह दिव्य मानस-नेत्र है, जो अपने से ऊपर उठकर दूर-दूर तक के तथ्यों को देख लेता है. अनेकान्त में एकांगिता तथा संकीर्णता को पैर टेकने के लिए ज़रा भी स्थान नहीं है. यहाँ तो मन का तटस्थ-भाव एवं हृदय की उदारता ही सर्वोपरि मान्य है. यहाँ स्व-दृष्टि नगण्य है, हेय है और सत्य-दृष्टि प्रधान है, उपादेय है. जो भी सच्चाई है, वह मेरी है, चाहे वह किसी भी जाति, व्यक्ति अथवा शास्त्र में क्यों न हो—यह ज्योतिष्मती दिशा है, अनेकान्त के महान् सिद्धान्त की.

अनेकान्तवाद का आदर्श है कि, सत्य अनन्त है. हम अपने इधर-उधर चारों ओर से जो कुछ भी देख-जान पाते हैं, वह सत्य का पूर्ण रूप नहीं, प्रत्युत अनन्त सत्य का स्फुलिंग है, अंश-मात्र है. अतः जैन-धर्म की अनेकान्त-धारा, मनुष्य को सत्य-दर्शन के लिए आंखें खोलकर सब ओर देखने की दूरगामी प्रेरणा प्रदान करती है. उसका कहना है कि, सारे संसार को तुम अपने ही विचार की आँखों से मत देखो-परखो. दूसरे को हमेशा उसकी आँख से देखिए, उसके दृष्टि-कोण से परखिए. सत्य वही और उतना ही नहीं है जो-जितना आप देख पाए हैं. फिर भी यह तो सम्भव है कि हाथी के स्वरूप का वर्णन करने वाले वे छहों अन्धे व्यक्ति अपने-आप में शत-प्रतिशत सच्चे होकर भी इसलिए अधूरे हों कि एक ने हाथी को देखा था सूंड की तरफ से, दूसरे ने पूंछ की तरफ से, तीसरे ने देखा था पेट छूकर, चौथे ने देखा था कान पकड़कर, पाँचवें ने देखा था दांतों की ओर से और छठे ने पांव की तरफ से. जीवन के इस कानेपन को; एकांगी सत्य को देखने की वृत्ति को ही तो दूर करता है—अनेकान्तवाद ! काना व्यक्ति एक ओर के सत्य को ही देख सकता है. सत्य का दूसरा पहलू, वस्तुतत्त्व की दूसरी करवट उसकी आँख से लुप्त ही रहती है !

एक पुरानी लोक-कथा है. किसी मां का काना बेटा हरद्वार गया. लौटा तो मां ने पूछा—हरद्वार में तुझे सब से अच्छा क्या लगा रे ? कौन-सी नयी चीज देखी तूने वहाँ पर ? गांव के भोले बेटे ने तब तक कहीं बाजार देखा नहीं था ! बोला : मां, मैंने नयी बात यही देखी कि हरद्वार का बाजार घूमता है. मां हरद्वार हो आई थी. चौंक कर उसने पूछा : कैसे घूमता है रे हरद्वार का बाजार ?

बेटे ने नए सिरे से आश्चर्य में डूबकर कहा : मां, जब मैं हर की पैड़ी नहाने गया तो बाजार इधर था और नहाकर लौटा तो देखा—बाजार उधर हो गया.

दुःख पाकर भी मां हंस पड़ी और अपने भोले बेटे को छाती से लगा लिया.

बाजार तो दोनों ओर था परन्तु कानेपन के कारण वह मां का भोला बेटा एक ओर ही देख सका ! ऐसे ही वे विचारक भी काने ही हैं जो एकान्त के झमेले में पड़कर, अपनी एक दृष्टि—आंख से वस्तु-स्वरूप के सत्य को देखने का यत्न करते हैं. वे वस्तु-स्वरूप के एक-एक पहलू को ही देख पाते हैं, पर वह सत्य होता है दूसरी ओर भी. अपने कानेपन के कारण दूसरी ओर का सत्य उन्हें दीख नहीं पड़ता ! एकान्त का पक्षान्ध भला प्रकाश का दर्शन कैसे कर सकता है ?

अनेकान्तवाद मनुष्य की दृष्टि के इस कानेपन को मिटाकर, वस्तु-स्वरूप को 'विविध दृष्टियों' से देखने की प्रेरणा प्रदान करता है. अपने घर के आंगन में खड़ा व्यक्ति अपने ऊपर ही प्रकाश देखता है. छत पर चढ़कर देखे तो सब जगह प्रकाश ही प्रकाश. अनेकान्त खिड़की या आंगन का धर्म नहीं, छत का धर्म है.

**पदार्थ के विराट स्वरूप की झांकी**—जैन-दर्शन की विचारधारा के अनुसार, जगत् के सब पदार्थ उत्पत्ति, विनाश और स्थिति—इन धर्मों से युक्त हैं ! जैनत्व की भाषा में इन्हें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कहते हैं. वस्तु में जहाँ उत्पत्ति तथा विनाश की अनुभूति होती है, वहां उसकी स्थिरता का भान भी स्पष्टतः होता है. सुनार के पास सोने का कंगन है. उसने उस कंगन को तोड़कर मुकुट बना लिया. इससे कंगन का विनाश हुआ और मुकुट की उत्पत्ति हुई. परन्तु, उत्पत्ति-विनाश की इस लीला में मूल-तत्त्व सोने का अस्तित्व तो बराबर बना रहा. वह ज्यों-का-त्यों अपनी स्थिति में विद्यमान रहा. इससे यह तथ्य निखर कर ऊपर आया कि उत्पत्ति और विनाश केवल आकार-विशेष का होता है, न कि मूल-वस्तु का. मूल वस्तु तो हजार-हजार परिवर्तन होने पर भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होती ! कंगन और मुकुट सोने का आकार-विशेष है. इस आकार-विशेष के ही उत्पत्ति एवं विनाश देखे जाते हैं. पुराने आकार का नाश हो जाता है और नए आकार की उत्पत्ति हो जाती है. अतः उत्पत्ति, विनाश और स्थिति तीनों ही पदार्थ के स्वभाव सिद्ध हुए. सोने में कंगन के आकार का विनाश, मुकुट की उत्पत्ति और सोने की स्थिति, ये तीनों धर्मतया मौजूद है. संसार का कोई भी पदार्थ मूलतः नष्ट नहीं होता. वह केवल अपना रूप बदलता रहता है. इस रूपान्तर का नाम ही उत्पत्ति और विनाश है और पदार्थ के मूल-स्वरूप का नाम स्थिति है.

उत्पत्ति, विनाश और स्थिति—ये तीनों गुण प्रत्येक पदार्थ के स्वाभाविक धर्म हैं, इस तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए, जैन-दर्शन के ज्योतिर्धर विचारकों ने एक बहुत सुन्दर रूपक हमारे सामने प्रस्तुत किया है ! तीन व्यक्ति मिलकर किसी सुनार की दूकान पर गए ! उनमें से एक को सोने के घड़े की जरूरत थी, दूसरे को मुकुट की और तीसरे को मात्र सोने की ! वहां जाकर वे क्या देखते हैं कि सुनार सोने के घड़े को तोड़कर उसका मुकुट बना रहा है. सुनार की इस प्रवृत्ति को देखकर उन तीनों व्यक्तियों में अलग-अलग भाव-धाराएँ उत्पन्न हुईं ! जिस व्यक्ति को सोने का घड़ा चाहिए था, वह घड़े को टूटता हुआ देखकर शोक-सन्तप्त हो गया ! जिसे मुकुट की आवश्यकता थी, वह हर्ष से नाच उठा ! और जिस व्यक्ति को केवल सोने की जरूरत थी, उसे न शोक हुआ और न हर्ष ही ! वह तटस्थ-भाव से देखता रहा.

उन तीनों व्यक्तियों में यह भिन्न-भिन्न भावों की तरंगें क्यों उठीं ? यदि वस्तु उत्पत्ति, विनाश तथा स्थिति से युक्त न होती तो उनके मानस में इस प्रकार की भाव-धाराएँ कभी न उमड़तीं ! घड़ा चाहने वाले व्यक्ति के मन में घड़े के टूटने से शोक हुआ, मुकुट की इच्छा रखने वाले को प्रमोद हुआ और मात्र सोना चाहने वाले को शोक या प्रमोद कुछ भी नहीं हुआ, क्योंकि सोना तो घड़े के विनाश और मुकुट की उत्पत्ति दोनों ही अवस्थाओं में विद्यमान है. अतः वह मध्यस्थ-भाव से खड़ा रहा. अलग-अलग भावनाओं के वेग का कारण वस्तु में उत्पत्ति, विनाश और स्थिति तीनों धर्मों का होना है—

> घट-मौलि-सुवर्णार्थी, नाशोत्पत्तिस्थितिष्वयम्,
> शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम् । —समन्तभद्र, आप्तमीमांसा

वस्तु के इस त्रयात्मक रूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक दूसरा उदाहरण भी जैन-दर्शनकारों ने उपस्थित किया है. किसी व्यक्ति ने दूध को ही ग्रहण करने का नियम ले लिया है, वह दही नहीं खाता और जिसने दही ग्रहण करने का ही व्रत लिया है वह दूध ग्रहण नहीं करता, परन्तु जिसने गोरस-मात्र का त्याग कर दिया है, वह न दूध लेता है और न दही ही खाता है. इस नियम के अनुसार दूध का विनाश, दही की उत्पत्ति और गोरस की स्थिरता, ये तीनों तत्त्व अच्छी तरह प्रमाणित हो जाते हैं. दही के रूप में उत्पाद, दूध के रूप का विनाश और गोरस के रूप में ध्रौव्य, तीनों तत्त्व एक ही वस्तु में स्पष्टतः अनुभव में आते हैं—

पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः,
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ।—वही पूर्वोक्त

पदार्थ के उत्पत्ति, विनाश और स्थिति, इन तीनों धर्मों से यह स्पष्ट हो जाता है कि, वस्तु का एक अंश बदलता रहता है—उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है तथा दूसरा अंश अपने रूप में बना रहता है. वस्तु का जो अंश उत्पन्न एवं नष्ट होता रहता है, उसे जैन-दर्शन की भाषा में 'पर्याय' कहा जाता है और जो अंश स्थिर रहता है वह 'द्रव्य' कहलाता है. कंगन से मुकुट बनाने वाले उदाहरण में, कंगन तथा मुकुट तो 'पर्याय' हैं और सोना 'द्रव्य' है. द्रव्य की दृष्टि से विश्व का प्रत्येक पदार्थ नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है. मिट्टी का घड़ा नित्य भी है और अनित्य भी है. घड़े का जो आकार है, वह विनाशी है, अनित्य है, परन्तु घड़े की मिट्टी अविनाशी है, नित्य है. क्योंकि, आकार-रूप में, घड़े का नाश होने पर भी, मिट्टी-रूप तो विद्यमान रहता ही है. मिट्टी के पर्याय-आकार परिवर्तित होते रहते हैं किन्तु मिट्टी के परमाणु सर्वथा नष्ट नहीं होते.

यही बात वस्तु के 'सत्' और असत्' धर्म के सम्बन्ध में भी है. कुछ विचारकों का मत है कि वस्तु सर्वथा 'सत्' है और कुछ का कहना है कि वस्तु सर्वथा 'असत्' है. किन्तु जैन-दर्शन के महान् आचार्यों का मन्तव्य है कि प्रत्येक पदार्थ सत् भी है और असत् भी. दूसरे शब्दों में, वस्तु है भी और नहीं भी. अपने स्वरूप की दृष्टि से वस्तु 'सत्' है और पर स्वरूप की दृष्टि से 'असत्' है. घट अपने स्वरूप की अपेक्षा से 'सत्' है, विद्यमान है, परन्तु पट के स्वरूप की अपेक्षा से घट असत् है, अविद्यमान है. ब्राह्मण 'ब्राह्मणत्व' की दृष्टि से 'सत्' है, लेकिन क्षत्रियत्व की दृष्टि से 'असत्' है. प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व अपनी सीमा के अन्दर है, सीमा से बाहर नहीं. यदि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक वस्तु के रूप में सत् ही हो जाए, तो फिर विश्व-पट पर कोई व्यवस्था ही न रहे. एक ही वस्तु सर्व-रूप हो जाए.

**अनेकान्तवाद 'संशयवाद नहीं है:**—अनेकान्तवाद के सम्बन्ध में अजैन जगत् में कितनी ही भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं. किसी का विचार है कि अनेकान्तवाद संशयवाद है. परन्तु जैन-दर्शन के दृष्टिबिन्दु से यह सत्य से हजार कोस परे की बात है. संशय तो उसे कहते हैं जो किसी भी बात का निर्णय न कर सके. अंधेरे में कोई वस्तु पड़ी है. उसे देखकर अन्तर्मन में यह विचार आना कि "कि यह रस्सी है या सांप ?" इस अनिर्णीत स्थिति का नाम है संशय. इसमें 'रस्सी' अथवा 'सांप' किसी का भी निश्चय नहीं हो पाता. कोई वस्तु किसी निश्चयात्मक रूप से न समझी जाए, यही तो 'संशय' का स्वरूप है. परन्तु अनेकान्तवाद में तो 'संशय' जैसी कोई स्थिति है ही नहीं. वह तो संशय का मूलोच्छेद करने वाला निश्चितवाद है. यहां जिस अपेक्षा से जो बात कही जाती है, उस अपेक्षा से वह बात वैसी ही है, यह सौ फी सदी निश्चित है. 'अनेकान्तवाद' अपेक्षा की दृष्टि से अपनी बात जोर देकर 'ही' पूर्वक कहता है. उदाहरण के तौर पर, अनेकान्तवादी द्रव्य की दृष्टि से आत्मा को नित्य ही मानता है और पर्याय की दृष्टि से 'अनित्य' ही मानता है. द्रव्य की दृष्टि से आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है अथवा पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य भी है और नित्य भी है—ऐसे अनिश्चयात्मक घपले की बात अनेकान्तवादी कभी नहीं कहता-मानता. 'ही'—पूर्वक अपनी बात को कहता हुआ भी, वह 'स्यात्' पद का प्रयोग इसलिए करता है कि आत्मा द्रव्य की दृष्टि से जैसे नित्यत्व धर्म वाला है, उसी प्रकार पर्याय की दृष्टि से अनित्यत्व-धर्म वाला भी है. सत्य का यह पहलू कहीं आंखों से लुप्त न हो जाए. यदि यह सत्य-दृष्टि विचारक के मानस-नेत्र से ओझल हो जाए तो फिर वहां एकान्तवाद आकर अपना आसन जमा

लेता है और 'एकान्तवाद' से तत्त्व की, सत्य की पूर्ण झांकी कभी मिल नहीं सकती. अतः जैन-दर्शन का अनेकान्तवाद 'संशयवाद' नहीं प्रत्युत वस्तु तत्त्व का यथार्थ निर्णय करने वाला सुनिश्चितवाद है.

**अनेकान्तवाद असत्समन्वयवाद नहीं:**—कुछ आधुनिक शिक्षा-दीक्षा में पले हुए विचारकों का कहना है कि अनेकान्तवाद कोरा समन्वयवाद है. जैन-दर्शन की विचार-सरिणी से, उनका यह कथन एक विशुद्ध भ्रान्ति से अधिक मूल्य महत्व नहीं रखता. अनेकान्तवाद एक ही पदार्थ में अनन्त धर्मों को स्वीकार करता है, इस अपेक्षा से उसे वस्तु के समस्त धर्मों का समन्वय करने वाला कह दिया जाए तो यह दृष्टिकोण अनेकान्तदृष्टि का दूषण नहीं, भूषण है. किन्तु एकान्तवाद की मूल भित्ति पर खड़े किए गये सब धर्म, सब धर्ममार्ग सच्चे हैं, सब धर्ममार्ग मोक्ष के साधन हैं, यह कहना सत्य का गला घोटना है. एकान्त और अनेकान्त का तो अन्धकार तथा प्रकाश की तरह शाश्वत-विरोध है. अनेकान्तवाद असत् बातों का समन्वय कभी नहीं करता. क्या अनेकान्तवाद यह भी सिद्ध करेगा कि आदमी के सिर पर सींग होते भी हैं और नहीं भी होते ? अनेकान्त का समन्वय सत्य की शोध पर आधारित होता है, सत्य के अनुकूल होता है. असत्य के साथ उसका समझौता कभी हो नहीं सकता. अंध समन्वय जीवन में बेमेलपन उत्पन्न कर देगा.

वास्तव में सच और झूठ को शब्द-रूप में स्वीकार कर लेना अनेकान्त नहीं है. जैन-धर्म के जिन महान् विचारकों ने अनेकान्त की प्रतिष्ठा की थी, उनका यह आशय कभी नहीं था कि विधि-निषेध अथवा आचार-शास्त्र की कुछ समान बातों के आधार पर सब धर्म-मार्ग एक रूप ही हैं, समान ही हैं. ऐसा मानना तो गुड़ गोबर एक करना है. समानता को समानता और असमानता को असमानता स्वीकार करने वाला व्यक्ति ही, अनेकान्त का उपासक हो सकता है. सब धर्मों में आचार-विषयक जैसे कुछ समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं, उसी प्रकार असमानताएं भी तो बहुत हैं. भक्ष्य-अभक्ष्य, पेय-अपेय, कृत्य-अकृत्य की सब मान्यताएं समान ही हैं—यह विचार अविवेकपूर्ण है, सर्वथा भ्रान्त है. एकान्त और अनेकान्त के जीव-अजीव तत्त्वों के सम्बन्ध में किये गये विवेचन विश्लेषण में उत्तरी ध्रुव तथा दक्षिणी ध्रुव जैसा अन्तर होते हुए भी, इनमें परस्पर कोई भेद नहीं, सब धर्मों और प्रवर्तकों में पूर्ण साम्य है, यह कह बैठना अनेकान्तवाद नहीं, मृषावाद है.

अनेकान्तवादी का सर्व-धर्म-समन्वय एक भिन्न कोटि का होता है. वह सत्य को सत्य और असत्य को असत्य के रूप में देखता है, मानता है और असत्य का परिहार तथा सत्य का स्वीकार करने के लिए सतत उद्यत रहता है. असत्य का पक्ष न करना और सत्य के प्रति सदा जागरूक रहना ही अनेकान्तवादी की सच्ची मध्यस्थ-दृष्टि है. सत्य-असत्य में कोई विवेक न करना, यह मध्यस्थ-दृष्टि नहीं, अज्ञान-दृष्टि है, जड़-दृष्टि है. सत्य और असत्य दोनों को एक ही पलड़े में रख देना एक प्रकार से असत्य के प्रति पक्षपात और सत्य के प्रति द्वेष ही है. सत्य के प्रति अन्याय न होने पाए और असत्य को प्रश्रय न मिलने पाए, इस अपेक्षा से अनेकान्त-सिद्धान्त के मानने वाले व्यक्ति का मध्यस्थ-भाव एक अलग ही ढंग का होता है. जिसकी स्पष्ट झांकी हम निम्न श्लोक में देख सकते हैं—

> 'तत्रापि न द्वेषः कार्यो, विषयस्तु यत्नतो मृग्यः ।
> तस्यापि च सद्वचनं, सर्वं यत्प्रवचनादन्यत् ॥ —षोडशक १६।१३

दूसरे शास्त्रों के प्रति द्वेष करना उचित नहीं है. परन्तु वे जो बात कहते हैं, उसकी यत्नपूर्वक शोध करनी चाहिए और उसमें जो सत्य वचन है, वह द्वादशांगी-रूप प्रवचन से अलग नहीं है.

अनेकान्तवाद का गाम्भीर्य और मध्यस्थ-भाव दोनों उपर्युक्त श्लोक में मूर्त्त हो उठे हैं. अनेकान्तवादी के लिए कोई भी वचन स्वयं न प्रमाणरूप है और न अप्रमाणरूप ही. विषय के शोधन-परिशोधन से ही, उसके लिए कोई वचन प्रमाण अथवा अप्रमाण बनता है, चाहे वह स्व-शास्त्र का हो या पर-शास्त्र का. जिसका विषय प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से अविरुद्ध हो, वह वाक्य प्रमाण है और जिसका विषय प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से बाधित हो, वह वचन अप्रमाण है. वस्तु अनेक धर्मात्मक है. किसी भी एक धर्म को लेकर कहा गया वचन, उस धर्म की दृष्टि से प्रमाण है; अन्य धर्मों का अपलाप करके कहा हुआ वचन अप्रमाण है, असत्य है, मिथ्या है.

सार-तत्त्व यह है कि जैन-दर्शन का मौलिक अनेकान्तवाद असत् पक्षों का समन्वय-हेल-मेल नहीं साधता. इससे तो जीवन मार्ग में अन्ध-स्थिति उत्पन्न हो जाती है. केवल सत्पक्षों और तथ्यांशों का समन्वय ही अनेकान्त है.

**क्या एक ही वस्तु में विरुद्ध धर्म रह सकते हैं ?**—'एक ही पदार्थ नित्य भी है, अनित्य भी है, सत् भी है, असत् भी है, एक भी है, अनेक भी है, जैन-धर्म के मेरुमणि अनेकान्तवाद का यह वज्र आघोष है. नित्यत्व, अनित्यत्व सत्त्व, असत्त्व, एकत्व, अनेकत्व आदि परस्पर-विरोधी धर्म एक ही पदार्थ में कैसे रह सकते हैं ? इस आशंका का होना सहज है. पर जरा गहराई से विचार करने पर यह तथ्य उजागर हो जाएगा कि विरुद्ध धर्मों का एकत्र पाया जाना कोई नई अद्भुत अथवा आश्चर्यकारी बात नहीं है. यह तो हमारे दैनिक अनुभव में आने वाली बात है. कौन नहीं जानता कि एक ही व्यक्ति में अपने पिता की दृष्टि से पुत्रत्व, पुत्र की अपेक्षा से पितृत्व, भ्राता की अपेक्षा से भ्रातृत्व, छात्र की अपेक्षा से अध्यापकत्व और अध्यापक की दृष्टि से छात्रत्व आदि परस्पर विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं.

हां, विरोध की आशंका तब उचित कही जा सकती है, जब एक ही अपेक्षा से, एक पदार्थ में परस्पर विरुद्ध धर्मों का निरूपण किया जाए. पदार्थ में द्रव्य की दृष्टि से नित्यत्व, पर्याय की दृष्टि से अनित्यत्व, अपने स्वरूप की दृष्टि से सत्त्व और पर-स्वरूप की दृष्टि से असत्त्व स्वीकार किया जाता है. अतः अनेकान्त के सिद्धान्त को विरोधमूलक बतलाना अपनी अज्ञानता का परिचय देना है. अनेकान्त विरोध का तो कट्टर शत्रु है—

'सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् !' —अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

—सकल नयों के विरोध को विनाश करने वाले अनेकान्त को मैं नमस्कार करता हूँ.

किसी भी पदार्थ में नित्यत्व, अनित्यत्व, सत्त्व, असत्त्व, एकत्व, अनेकत्व आदि विरुद्ध धर्मों का रहना यदि असम्भव होता, तो उस पदार्थ में उनका प्रतिभास भी नहीं होना चाहिए था. परन्तु, प्रतिभास तो सहज अबाध रूप से होता है. उदाहरण के लिए घट को ही ले लीजिए. घट अपने स्वरूप की दृष्टि से 'सत्' है. यदि ऐसा न होता, तो घट है, यह ज्ञान नहीं होना चाहिए था. 'घट' घट है, पट नहीं, ऐसी ज्ञानानुभूति भी होती है. अतः घट में पट का अभाव भी ठहरता है. और इसी अपेक्षा से घट को पट की दृष्टि से 'असत्' कहा जाता है. यदि वस्तु को अपने स्वरूप की अपेक्षा से 'सत्' और पर-स्वरूप की अपेक्षा से 'असत्' स्वीकार न किया जाएगा, तो किसी भी विशेष पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती. जिस प्रकार अपने स्वरूप की दृष्टि से 'सत्त्व' उस पदार्थ का धर्म है, उसी प्रकार अन्य पदार्थ की दृष्टि से 'असत्त्व' भी उस पदार्थ का धर्म है. यदि ऐसा न होता तो उसमें इन दोनों बातों का व्यवहार भी नहीं हो सकता था. किन्तु, 'सत्त्व' की तरह 'असत्व' का भी व्यवहार उसमें निरन्तर होता है. अतः पदार्थ को 'असत्' भी माना जाता है.

हां, पदार्थ को जिस अपेक्षा से 'सत्' माना जाता है, यदि उसी अपेक्षा से उसे 'असत् माना जाता, तब तो असम्भव दोष को अवकाश हो सकता था. पदार्थ को जिस दृष्टिकोण से सत् स्वीकार किया गया, उस दृष्टिकोण से वह 'सत्' ही है और जिस दृष्टिकोण से 'असत्' माना गया है, उस दृष्टिकोण से 'असत्' ही है. यही बात 'नित्यत्व' और 'अनित्यत्व' के सम्बन्ध में भी है. जिस अपेक्षा से हम पदार्थ को नित्य मानते हैं, उस अपेक्षा से वह नित्य ही है और जिस अपेक्षा से 'अनित्य' स्वीकार किया जाता है, उस अपेक्षा से वह 'अनित्य' ही है. यदि नित्यवाली दृष्टि से ही अनित्य माना जाता, तो विरोध हो सकता था.पदार्थ को द्रव्य की दृष्टि से नित्य और पर्याय की दृष्टि से अनित्य माना जाता है. ये दोनों धर्म पदार्थ में ही हैं. इसलिए पदार्थ नित्यानित्यात्मक है.

**अनेकान्तवाद की उपयोगिताः**—अहिंसा का विचारात्मक पक्ष अनेकान्त है. राग-द्वेषजन्य संस्कारों के वशीभूत न होकर एक-दूसरे के दृष्टि-बिन्दु को ठीक-ठीक समझने का नाम ही तो 'अनेकान्त' है. इससे मनुष्य के अन्तर में तथ्य को हृदयंगम करने की वृत्ति का उदय होता है, जिससे सत्य को समझकर, उस तक पहुँचने में सुगमता होती है. जब तक मनुष्य अपने ही मन्तव्य अथवा विचार को सर्वथा ठीक समझता रहता है, अपनी ही बात को परम सत्य माना करता है, तब तक उसमें दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की उदारता नहीं आ पाती और वह कूप-मण्डूक बना रहता है. फलतः, वह अपने को सच्चा और दूसरे को सर्वथा मिथ्यवादी समझ बैठता है.

यह जो आज परिवारों में लड़ाई-झगड़े और कलह-क्लेश हैं, सार्वजनिक-जीवन में क्रूरता तथा कल्मष है, धार्मिक क्षेत्र में 'मैं-तू' का बोलबाला है, अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में गहरी तनातनी है, वह सब अनेकान्त के दृष्टि-कोण को न अपनाने के कारण ही हैं. दुनिया का यह एक रिवाज-सा बन गया है कि वह अपनी आँखों से अपनी कल्पना तथा विचार-दृष्टि के अनुसार ही सब कुछ देखना-समझना चाहती है. समाज का प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि सब जगह मेरी ही चले, समूचा समाज मेरे इशारे पर ही नाचे. और जब यह नहीं हो पाता तो आपस में एक-दूसरे के दोष निकालते हैं, टीका-टिप्पणी के रूप में एक-दूसरे पर छींटा-कशी करते हैं, इससे 'मैं-तू' का वातावरण गरम हो जाता है और सर्वत्र अशान्ति की लहर दौड़ जाती है.

राजनीति के क्षेत्र को ही ले लीजिए. राजनीति के पचड़े में पड़कर सारा संसार वादों के चक्कर में फँसा हुआ है, अपनी अपनी बात को खींच रहा है. कोई कहता है : समाजवाद ही विश्व की समस्याओं को सुलझा सकता है. दूसरा कहता है : साम्यवाद से ही विश्व में शान्ति हो सकती है. तीसरा पुकार रहा है पूंजीवाद की छत्रछाया में ही संसार सुख की सांस ले सकता है. कोई किसी वाद से और कोई किसी वाद से विश्व-शांति की रट लगा रहा है. इस पारस्परिक तनाव और खींचतान से ही विश्व के राजनीतिक मंच पर ईर्ष्या, कलह, संघर्ष, भय तथा द्वन्द्व अपनी-अपनी छाती तान कर खड़े हो जाते हैं और संसार अशान्ति का अखाड़ा बन जाता है.

यही स्थिति धार्मिक क्षेत्र में है. वहाँ भी अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग है. प्रत्येक धर्म अपनी उच्चता, सच्चाई तथा मुक्ति की ठेकेदारी का राग अलाप रहा है. अपने-आप को सच्चा और दूसरे को झूठा बतला रहा है.

यदि ये सब विचारक, एक मंच पर बैठकर सहिष्णुता और धैर्य के साथ, एक-दूसरे की बात सुनें और अपनी ही दृष्टि को दूसरों पर बलात् थोपने का यत्न न करें, तो फिर सत्य-तथ्य इनकी आंखों के सामने न तैरने लगे! इनमें परस्पर मेल न हो जाए! 'समझौते और समन्वय का द्वार न खुल जाए! सर्वोदय की पगडंडी साफ न हो जाए! सर्वत्र शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और सहजीवन का प्रकाश न फैल जाए!

और यही सिखाता है जैन-संस्कृति के तत्त्व-ज्ञान का मूलाधार अनेकान्तवाद. जैसे प्रकाश के आते ही अन्धकार अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार अनेकान्त का आलोक मन-मस्तिष्क में आते ही कलह, द्वेष, वैषम्य, कालुष्य, पारस्परिक तनाव संकीर्णवृत्ति एवं संघर्ष बात की बात में शान्त हो जाते हैं. और शान्ति तथा समन्वय का एक मधुर वातावरण बनता-बढ़ता चला जाता है. पारस्परिक विरोध और संघर्षात्मक तनाव के ज़हर को निकालकर अविरोध, शांति, सह-अस्तित्व के इस अमृतवर्षण में ही अनेकान्तवाद की सर्वोपरि उपयोगिता निहित है.
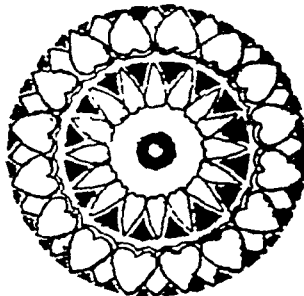
श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री
एम० ए०, पी-एच० डी० दिल्ली

# जैनदर्शन

'जैन' शब्द का अर्थ है जिन के अनुयायी और 'जिन' शब्द का अर्थ है जिसने राग द्वेष को जीत लिया है. उसे अर्हत् अर्थात् पूजनीय भी कहा जाता है. इसी आधार पर जैनधर्म का दूसरा नाम आर्हद्धर्म है. जैनसाधु परिग्रह या संपत्ति नहीं रखते. उनके पास ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जिसे गांठ बांधकर रखा जाय. इसलिये वे निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं और उनका धर्म निर्ग्रंथ धर्म. ईस्वीपूर्व छठी शताब्दी में भारतीय संस्कृति की दो मुख्य धाराएँ थीं. एक ओर यज्ञ तथा भौतिक सुखों पर बल देने वाली ब्राह्मण परंपरा और दूसरी ओर निवृत्ति तथा मोक्ष पर बल देनेवाली श्रमण परंपरा. जैनधर्म श्रमणपरंपरा की एक प्रधान शाखा है.

जैनधर्म न विकासवादी है और न ह्रासवादी. जगत्कर्त्ता के रूप में किसी अतीन्द्रिय सत्ता को नहीं मानता. विश्व परिवर्त्तनशील है. उसकी उपमा एक चक्र से दी जाती है जिसमें उन्नति और अवनति, उत्थान और पतन का क्रम निरन्तर चलता रहता है. इस क्रम को बारह आरों में विभक्त किया गया है. उत्थान को उत्सर्पिणी काल और पतन को अवसर्पिणी काल कहा जाता है. प्रत्येक में छह आरे हैं. प्रत्येक काल के मध्य में धर्म की स्थापना होती है.

प्रस्तुत काल अवसर्पिणी है. इसमें सभी बातें हीयमान हैं. इसके मध्य में अर्थात् तृतीय आरे के अंत में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुये. वे ही जैनधर्म की वर्तमान परंपरा के संस्थापक माने जाते हैं. उनका वर्णन भागवत तथा वैदिक साहित्य में भी आया है. ज्ञात होता है वे सर्वमान्य महापुरुष रहे होंगे. उनके समय के विषय में ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ नहीं कहा जा सकता.

ऋषभदेव के पश्चात् २३ तीर्थंकर हुये. बाईसवें नेमिनाथ भगवान् कृष्ण के चचेरे भाई थे. छांदोग्य उपनिषद् में उनका निर्देश घोर अंगिरस के रूप में आया है. तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ईस्वीपूर्व ८५० में हुये. वे वाराणसी के राजकुमार थे. अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ईस्वीपूर्व ६०० में हुये. वर्तमान जैनधर्म उन्हीं की देन है.

महावीर के पश्चात् एक हजार वर्ष का समय आगमयुग कहा जाता है. उस समय श्रद्धाप्रधान आगम ग्रन्थों की रचना हुई. दार्शनिक दृष्टि से उनका इतना महत्त्व है कि यत्र-तत्र विभिन्न मान्यताएँ मिलती हैं, किन्तु प्रतिपादनशैली दार्शनिक नहीं है.

दर्शनयुग का प्रारम्भ ईसा की ५वीं शताब्दी में हुआ. महावीर के कुछ समय पश्चात् जैनधर्म में श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदाय हो गये. दोनों ने दार्शनिक साहित्य का विकास किया.

जहां तक जैन मान्यताओं का प्रश्न है उनका संग्रह करने वाला प्रथम सूत्रग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र है. इसे मोक्षशास्त्र भी कहा जाता है. यह उमास्वाति या उमास्वामी (तृतीय शताब्दी) की रचना है. इस पर उनका स्वोपज्ञ भाष्य, पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि, सिद्धसेनगणी का भाष्य, अकलंक की राजवार्तिक, विद्यानंद की श्लोकवार्तिक तथा श्रुतसागर की आत्मख्याति नामक टीकाएं हैं. ये रचनायें आगम साहित्य में सम्मिलित की जाती हैं.

कुंदकुंद ने प्रवचनसार. समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि अनेक ग्रंथों की रचना की. उनमें खण्डन-मण्डन न होने पर भी आत्मा, ज्ञान आदि विषयों का सूक्ष्म विवेचन है. दिगम्बर परम्परा में उन्हें आगम माना जाता है. दार्शनिक दृष्टि से भी उनका महत्त्व कम नहीं है.

दर्शनयुग का प्रारम्भ ५वीं शताब्दी में माना जाता है. इसी समय सिद्धसेन दिवाकर और समंतभद्र, मल्लीवादी और पात्र-केसरी नामक आचार्य हुए. सिद्धसेन श्वेताम्वर थे और समंतभद्र दिगम्वर. दोनों ने जैनदर्शन के प्राण अनेकान्तवाद की स्थापना की. भगवान् महावीर ने नयवाद का प्रतिपादन किया था. सिद्धसेन ने उसे आधार बनाकर सन्मतितर्क की रचना की जो अनेकान्तवाद पर प्रथम ग्रंथ माना जाता है. उनकी दूसरी रचना न्यायावतार जैनतर्कशास्त्र का प्रथम ग्रंथ है. सिद्धसेन ने ३२ द्वात्रिंशिकायें भी रचीं. उनमें से २२ उपलब्ध हैं. इनमें स्तोत्र के रूप में दार्शनिक चर्चा की गई है. समंतभद्र की दर्शनशास्त्र से सम्वन्ध रखने वाली ३ रचनाएँ हैं—

(१) आप्तमीमांसा में उन्होंने यह चर्चा की है कि आप्त अर्थात् विश्वास एवं पूजा के योग्य महापुरुष वही हो सकता है जो राग द्वेषादि से परे हो तथा जिसकी वाणी में पूर्वापर विरोध न हो. इस कसौटी पर बुद्ध, कपिल, कणाद आदि नहीं उतरते. अतः उन्हें आप्त नहीं कहा जा सकता. साथ ही नित्यानित्य, भेदाभेद, सामान्य-विशेष, गुण और गुणी का परस्पर सम्वन्ध आदि विषयों को लेकर प्रचलित एकान्त दृष्टियों का खण्डन और अनेकान्त का प्रतिपादन किया है. इस पर अकलंक की अष्टशती और विद्यानन्द की अष्टसहस्त्री नामक टीकाएँ हैं. उनका दार्शनिक साहित्य में मूर्धन्य स्थान है. समंतभद्र के अन्य ग्रन्थ. (२) युक्त्यनुशासन और (३) स्वयंभूस्तोत्र हैं. सभी में उनकी प्रौढ़ तार्किकता का परिचय मिलता है. मल्लिवादी ने नयचक्रम् तथा वादन्याय की रचना की. उनका अथन है कि विभिन्न मत चक्र में आरों के समान हैं. सभी एक-दूसरे का खण्डन करते रहते हैं. किन्तु निष्कर्ष पर कोई नहीं पहुँचता. सम्पूर्ण सत्य चक्र के समान है और समस्त मत उसके घटक हैं. अपने आप में अर्थात् निरपेक्ष होने पर मिथ्या हैं और सापेक्ष होने पर सत्य के अंग वन जाते हैं. क्षमाश्रमण (७वीं शताब्दी) ने नयचक्र पर बृहद् टीका लिखी है. पात्रकेसरी या पात्र स्वामी ने 'त्रिलक्षण-कदर्थन' नामक ग्रंथ रचा. इसमें वौद्धों द्वारा प्रतिपादित हेतु के स्वरूप का खण्डन है.

अकलंक (८०० ईसवी) ने दिग्नाग, धर्मकीर्ति, आदि वौद्ध आचार्यों का खंडन करते हुए जैनदृष्टि से प्रमाणव्यवस्था का प्रतिपादन किया. उनके मुख्य ग्रंथ हैं—अष्टशती, प्रमाणसंग्रह, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय तथा सिद्धिविनिश्चय. इसी समय श्वेताम्वर आचार्य हरिभद्र सूरि हुए. उन्होंने वहुसंख्यक ग्रन्थों की रचना की. दर्शनशास्त्र से सम्वन्ध रखने वाले ग्रन्थ हैं—अनेकान्तजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय तथा लोकतत्त्व निर्णय. उनके षोडशक और अष्टकों में भी दार्शनिक चर्चाएँ हैं. योगदृष्टिसमुच्चय, योगविन्दु तथा योगविंशिका योगविषयक ग्रंथ हैं. धर्मसंग्रहणी प्राकृत में है. हरिभद्र ने दिङ्नाग के न्यायप्रवेश पर टीका लिखकर अपनी उदारदृष्टि का परिचय दिया है. अकलंक के भाष्यकार विद्यानन्द हुए. अष्टसहस्री के अतिरिक्त उनके मुख्य ग्रंथ हैं—प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, तथा श्लोकवार्तिक आदि. इस समय अनंतकीर्तिने लघुसर्वज्ञसिद्धि, बृहत्सर्वज्ञसिद्धि तथा जीवसिद्धि और अनन्तवीर्य ने उस पर सिद्धिविनिश्चय टीका रची.

माणिक्यनंदी (१०वीं शताब्दी) का परीक्षामुख जैन तर्कशास्त्र का प्रथम सूत्र ग्रंथ है. इसी समय सिद्धर्षि ने सिद्धसेन कृत न्यायावतार पर टीका रची. अभयदेव (१०५४) की सन्मतितर्क पर 'वादमहार्णव' नामक विशाल टीका भी इसी समय की है. प्रभाचन्द्र (१०३७ से ११२२). ने परीक्षामुख पर प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा लघीयस्त्रय पर न्यायकुमुन्दचन्द्र नामक टीकायें रचीं. वादिराज ने न्यायावतार पर न्यायविनिश्चयविवरण और जिनेश्वर (११ वीं शताव्दी) ने न्याया-वतार पर प्रमाणलक्ष्य नामक वार्तिक तथा उन पर टीका रची. अनन्तवीर्य (१२ वीं शताव्दी) की परीक्षामुख पर प्रमेयरत्नमाला नामक संक्षिप्त टीका है. वादी देवसूरि (११४३-१२२६) ने प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक सूत्र ग्रंथ और उस पर स्याद्वादरत्नाकर नामक विशाल टीका लिखी. कहा जाता है कि इसकी श्लोक संख्या ८४००० थी, किन्तु संपूर्ण उपलव्ध नहीं है. वादी देव श्वेताम्वर थे. उनकी रचनाएँ परीक्षामुख और प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रतिक्रिया हैं. उन्होंने स्त्रीमुक्ति और केवली के आहार को लेकर विस्तृत चर्चा की है. कहा जाता है इन विषयोंको लेकर कुमुन्दचन्द्र और वादी देवसूरि में शास्त्रार्थ हुआ था. प्रमाणनयतत्त्वालोक पर वादी देव के शिष्य रत्नप्रभ ने रत्नाकरावतारिका टीका लिखी. इसी समय हेमचन्द्राचार्य (११४५ से १२२९) हुए. उन्होंने स्वोपज्ञ टीका के साथ प्रमाणमीमांसा नामक सूत्र ग्रंथ तथा

दो द्वात्रिंशिकायें रचीं. इनकी 'अन्ययोग-व्यवच्छेदिका' नामक द्वात्रिंशिका पर मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी नामक टीका है. १२ वीं शताब्दी में ही शांत्याचार्य ने न्यायावतार पर स्वोपज्ञ टीका के साथ न्यायवार्तिक की रचना की. गुणरत्न (१५ वीं शताब्दी) की षड्दर्शनसमुच्चय पर टीका दार्शनिक साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखती है. भट्टारक धर्मभूषण (१५ वीं शताब्दी) की न्यायदीपिका जैनन्याय का प्रारम्भिक ग्रंथ है.

सत्रहवीं शताब्दी में यशोविजय नामक प्रतिभाशाली आचार्य हुए. उन्होंने जैनदर्शन में नव्य न्याय का प्रवेश किया. उनके मुख्य ग्रंथ है—अनेकांतव्यवस्था, जैनतर्कभाषा, ज्ञानबिन्दु, नयप्रदीप, नयरहस्य और नयामृततरंगिणी, सटीक नयोपदेश. न्यायखंडखाद्य तथा न्यायालोक में नव्य न्याय शैली में नैयायिकादि दर्शनों का खंडन है. अष्टसहस्री पर विवरण तथा हरिभद्रकृत शास्त्रवार्तासमुच्चय पर स्याद्वादकल्पलता नामक टीकाएं हैं. भाषारहस्य, प्रमाणरहस्य, वादरहस्य नामक ग्रन्थों में नव्यन्याय के ढंग पर जैन तत्वों का प्रतिपादन है. उन्होंने योग तथा अन्य विषयों पर भी ग्रंथ रचे. इसी युग में विमलदास गणी ने 'सप्तभंगीतरंगिणी' नामक ग्रंथ नव्यन्याय शैली पर रचा.

### ज्ञानमीमांसा

वेदान्त में आत्मा को सत् चित् और आनंद स्वरूप माना गया है. इसी प्रकार जैनदर्शन में उसे अनंत चतुष्टयरूप माना गया है. वे हैं अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य. प्रथम दो—ज्ञान एवं दर्शन चेतना ही के दो रूप हैं. प्रत्येक आत्मा अपने आप में सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी है. उसके ये गुण बाह्य आवरण के कारण छिपे हुए हैं.

**ज्ञान का स्वरूप :**—जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान प्रकाश के समान है अर्थात् वह अपने आप में विद्यमान वस्तु को प्रकाशित करता है. नई रचना या अपनी ओर से उसमें कोई सम्मिश्रण नहीं करता. यहाँ एक प्रश्न होता है किसी व्यक्ति को देखकर हमें यह प्रत्यक्ष होता है कि वह हमारा शत्रु है. क्या शत्रुत्व उस व्यक्ति में है ? यदि ऐसा है तो वह दूसरों को भी शत्रु के रूप में क्यों नहीं दिखाई देता ? उत्तर में जैनदर्शन का कथन है कि व्यक्ति या वस्तु में प्रतीत होने वाले सभी धर्म सापेक्ष होते हैं. एक ही वस्तु एक व्यक्ति को छोटी दिखाई देती है और दूसरे को बड़ी. दोनों की अपनी-अपनी अपेक्षाएं होती हैं और उस दृष्टि से दोनों सच्चे हैं. इसी प्रकार वही व्यक्ति एक को शत्रु दिखाई देता है और दूसरे को मित्र. दोनों का यह ज्ञान अपनी-अपनी अपेक्षा को लिए हुए है. यदि मित्रता का दर्शन करने वाला व्यक्ति शत्रुतादर्शन करने वाले की अपेक्षा को दृष्टि में रख कर विचार करे तो उसे भी शत्रुता का ही दर्शन होगा. एक ही स्त्री एक व्यक्ति की दृष्टि में माता है, दूसरे की दृष्टि में बहिन, तीसरे की दृष्टि में पत्नी, चौथे की दृष्टि में पुत्री. इनमें से कोई भी दृष्टि मिथ्या नहीं है. मिथ्यापन तभी आयगा जब अपेक्षा बदल जाये. सभी ज्ञान आंशिक सत्य को लिए रहते हैं और यदि उन्हें आंशिक सत्य के रूप में स्वीकार किया जाय तो सभी सच्चे हैं. वे ही जब पूर्ण सत्य मान लिये जाते हैं और दूसरी दृष्टि या अपेक्षा का निराकरण करने लगते हैं तो मिथ्या हो जाते हैं. जैनदर्शन के अनुसार पूर्ण सत्य का साक्षात्कार सर्वज्ञ को ही हो सकता है और उसी का ज्ञान पूर्ण सत्य कहा जा सकता है.

### ज्ञान के भेद

ज्ञान के ५ भेद हैं. (१) **मति**—इंद्रिय और मन से होने वाला ज्ञान. (२) **श्रुत**—शास्त्रों से होने वाला ज्ञान. (३) **अवधि**—दूरवर्त्ती तथा व्यवधान वाले पदार्थों का ज्ञान, जो विशिष्ट योगियों को होता है. इसके द्वारा योगी केवल रूप वाले पदार्थों को ही देख सकता है. (४) **मनःपर्यय**—दूसरे के मनोभावों का प्रयत्क्ष. (५) **केवलज्ञान**—सर्वज्ञों का ज्ञान, जिसके द्वारा वे विश्व के समस्त पदार्थों को एक साथ जानते हैं.

प्राचीन परंपरा में इनमें से प्रथम दो को परोक्ष माना गया और अंतिम तीन को प्रत्यक्ष. कालांतर में अन्यदर्शनों के समान इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष में सम्मिलित कर लिया गया. अकलंक ने इस बात को लक्ष्य में रखकर प्रत्यक्ष के दो भेद कर दिये. सांव्यवहारिक और पारमार्थिक. इन्द्रिय तथा मन से होने वाले प्रत्यक्ष को प्रथम कोटि में ले लिया और अवधि आदि तीन ज्ञानों को द्वितीय कोटि में.

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा कमरे में बैठे हुए व्यक्ति के समान है और मन तथा इन्द्रियाँ खिड़की के समान. उनका काम इतना ही है कि थोड़ी देर के लिए ज्ञाता और ज्ञेय के बीच पड़े हुए आवरण या पर्दे को हटा दें. जानने का काम आत्मा स्वयं करता है. इसी दृष्टि को सामने रखकर प्राचीन आगमों में प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद नहीं किया गया. सर्वप्रथम यह भेद उमास्वाति ने किया. उसका आधार था कि जिस ज्ञान में इन्द्रिय, मन या शब्द आदि की सहायता होती है वह परोक्ष है और जहाँ उस सहायता की आवश्यकता नहीं है वह प्रत्यक्ष है. अन्य दर्शनों के साथ संपर्क होने पर इन्द्रियज्ञान को भी साधारण व्यवहार की दृष्टि से प्रत्यक्ष मान लिया गया.

## प्रत्यक्ष का क्रम

जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो एकदम अंतिम निर्णय पर नहीं पहुंचते. पहले सामान्य ज्ञान होता है, धीरे धीरे विशेषता की ओर बढ़ते हैं. जब किसी दूर की वस्तु को देखते हैं तो यह क्रम स्पष्ट प्रतीत होता है, किन्तु परिचित एवं निकटस्थ वस्तु का ज्ञान शीघ्र हो जाता है. स्पष्टतया मालूम न पड़ने पर भी वहां इस क्रम का अभाव नहीं होता. जैनदर्शन में इस क्रम की पांच अवस्थाएं बताई गई हैं.

(१) दर्शन—सामान्यज्ञान, जहां केवल इतना ही भान होता है कि कुछ है.

(२) अवग्रह—इन्द्रिय के द्वारा वस्तु का ग्रहण. इसकी भी दो अवस्थाएं हैं. १ व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह. व्यंजनावग्रह का अर्थ है इन्द्रिय और पदार्थ का परस्पर सम्बन्ध. यह केवल चार इन्द्रियों में होता है. मन और चक्षुरिन्द्रिय से होने वाले ज्ञान में नहीं होता. दूसरा अर्थावग्रह है—इसका अर्थ है वस्तु का प्रतिभास.

(३) ईहा—विशेष जानने की इच्छा.

(४) अवाय—विशेष का निश्चय.

(५) धारणा—ज्ञान का संस्कार के रूप में परिणत होना, जिससे कालान्तर में स्मरण हो सके.
इन अवस्थाओं में प्रथम दर्शन निराकार होने के कारण ज्ञान कोटि में नहीं आता. शेष चार मतिज्ञान की अवस्थाएं हैं.

## परोक्ष के भेद

परोक्ष का निरूपण मुख्यतया तर्कयुग की देन है. इसके ५ भेद हैं.

(१) स्मृति—पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण. न्यायदर्शन इसे प्रमाण कोटि में नहीं रखता.

(२) प्रत्यभिज्ञान—इसका शब्दार्थ है पहिचान. पूर्वानुभूत वस्तु को पुनः देखने पर हमें यह ज्ञान होता है कि यह वही है, इसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं. कभी तत्सदृश दूसरी वस्तु को देखकर यह ज्ञान होता है कि यह उसके सदृश है. भिन्न वस्तु को देख कर यह ज्ञान होता है कि यह उससे भिन्न है. इस प्रकार पूर्वानुभूत और प्रत्यक्ष तुलना का संकलन करने वाले सभी ज्ञान प्रत्यभिज्ञान हैं. वैदिक दर्शनों में इसका प्रतिपादन उपमान के रूप में किया गया है.

(३) तर्क—धुआँ अग्नि का कार्य है और अग्नि धुएं का कारण. कार्य, कारण के बिना नहीं होता. इसी प्रकार जहां आम होगा वहां वृक्ष अवश्य होगा, क्योंकि आम वृक्ष की अवांतर जाति अर्थात् व्याप्य है. इस प्रकार कार्य-कारण भाव, व्यप्य-व्यापकभाव आदि सम्बन्धों के आधार पर यह निश्चय करना कि एक वस्तु दूसरी वस्तु के होने पर ही हो सकती हैं, तर्क है. इसे व्याप्तिज्ञान भी कहा जाता है.

(४) अनुमान—तर्क के आधार पर स्थान विशेष में एक वस्तु को देखकर दूसरी वस्तु की सत्ता या अभाव सिद्ध करना अनुमान है. इसका निरूपण न्यायदर्शन में किया गया है. यहां इतना ही बता देना पर्याप्त है कि जैनदर्शन हेतु और साध्य के परस्पर सम्बन्ध के लिये इतना ही आवश्यक मानता है कि साध्य के बिना हेतु नहीं रहना चाहिए. बौद्धों के समान उसे कार्य तथा स्वभाव तक सीमित नहीं करता. उदाहरण के रूप में जैनदर्शन का कथन है कि जिस प्रकार कार्य से कारण का अनुमान किया जा सकता है उसी प्रकार कारण से कार्य का भी अनुमान किया जा सकता है. हम

आग देख कर यह अनुमान कर सकते हैं कि वहां उष्णता होगी. इतना ही नहीं, आज रविवार है तो यह अनुमान किया जा सकता है कि दूसरे दिन सोमवार होगा. क्योंकि सोमवार रविवार का उत्तरचर है. इस प्रकार हेतु के पूर्वचर सहचर आदि अनेक रूप हो सकते हैं.

(५) आगम—आप्त अर्थात् विश्वसनीय पुरुष के वचन को आगम कहा जाता है. इसके दो भेद हैं. माता,पिता, गुरुजन आदि लौकिक आप्त हैं. इस सम्बन्ध में दर्शनकारों का मतभेद नहीं है. किन्तु अलौकिक आप्त के विषय में पर्याप्त मतभेद हैं. मीमांसादर्शन का कथन है कि शब्द में दोष तभी आता है जब उसके वक्ता में कोई दोष हो. वेद अनादि हैं, उनका कोई वक्ता नहीं है अतः वे दोषरहित हैं. न्याय तथा वेदान्त का कथन है कि वक्ता में दो गुण होने चाहिए. वह निर्दोष हो और साथ ही अपने विषय का पूर्ण ज्ञाता हो. उनके मत में वेद ईश्वर के बनाये हुये हैं. उसमें कोई दोष नहीं है. साथ ही उसका ज्ञान परिपूर्ण है. जैनदर्शन ईश्वर को नहीं मानता. उसकी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति साधना द्वारा आत्मा का पूर्ण विकास कर सकता है. उस अवस्था में वह वीतराग और सर्वज्ञ हो जाता है. आगम उसकी वाणी है, अतः प्रमाण है.

जैन परम्परा की मान्यता है कि सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी तीर्थंकर उपदेश देते हैं. उनकी ग्रंथ के रूप में रचना गणधरों अर्थात् मुख्य शिष्यों द्वारा की जाती है. उनके पश्चात् ज्ञानसम्पन्न अन्य मुनियों द्वारा रचे गये ग्रंथ भी आगमों में सम्मिलित कर लिये गये. श्वेताम्बर मतानुसार यह क्रम भगवान् महावीर के पश्चात् १००० वर्ष अर्थात् चौथी ईस्वी तक चलता रहा. वे अपने आगमों को बारह अंग, बारह उपांग, छह मूल, छह छेद तथा दस प्रकीर्णकों में विभक्त करते हैं. इनमें से दृष्टिवाद का लोप हो गया. शेष ४५ आगम विद्यमान हैं.

दिगम्बरों का मत है कि अंग उपांगादि सभी आगम लुप्त हो गये. वे पट्खंडागम और कषायप्राभृत को मूल आगम के रूप में मानते हैं. ये ग्रंथ महावीर के ४०० वर्ष पश्चात् रचे गये. इनके अतिरिक्त कुंदकुंद, उमास्वामी, नेमिचंद सिद्धान्त-चक्रवर्ती आदि आचार्यों की रचना को भी आगमों के समान प्रमाण माना जाता है.

जैनदर्शन में ज्ञान के जो भेद किये गये हैं, उन्हीं को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है. और यह बताया गया है कि ज्ञान वस्तु के समान अपने आप को भी ग्रहण करता है. अर्थात् एक ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती.

## सात नय

व्यक्ति अपने विचारों को प्रकट करते समय निजी मान्यताओं को सामने रखता है. एक ही स्त्री को एक व्यक्ति माता कहता है, दूसरा बहिन, तीसरा पुत्री और चौथा पत्नी. इसी प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में भी एक ही व्यक्ति को भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट किया जाता है. एक ही व्यक्ति परिवार की गणना करते समय राम या कृष्ण के रूप में कहा जाता है. जातियों की गणना के समय ब्राह्मण या क्षत्रिय, व्यवसाय की गणना के समय अध्यापक या व्यापारी. इस प्रकार अनेक अभिव्यक्ति की दृष्टियां हैं. उन सब को नय कहा जाता है. जैनदर्शन में उनका स्थूल विभाजन ७ नयों के रूप में किया गया है. इनमें मुख्य दृष्टि विस्तार से संक्षेप की ओर है अर्थात् एक ही शब्द किस प्रकार विस्तृत अर्थ का प्रतिपादन होने पर भी उत्तरोत्तर संकुचित होता चला जाता है यह प्रकट किया गया है.

नैगमनय—इसकी व्युत्पत्ति की जाती है 'नैक गमो नैगमः' अर्थात् जहां अनेक प्रकार की दृष्टियां हों. यह नय वास्तविकता के साथ उपचार को भी ग्रहण कर लेता है. उदाहरण के रूप में हम तांगेवाले को तांगा कहकर पुकारने लगते हैं. क्रोधी को आग तथा वीर पुरुष को शेर कहने लगते हैं. इस उपचार का आधार कहीं गुण होता है, कहीं सादृश्य और कहीं किसी प्रकार का संबंध. जैसे तांगे और तांगे के मालिक में स्व-स्वामिभाव संबंध है. इस नय का क्षेत्र अधिक विस्तृत है.

संग्रहनय—इस का अर्थ है सामान्यग्राही दृष्टि अर्थात् अधिकाधिक वस्तुओं को सम्मिलित करने की भावना. इसके दो भेद हैं परसंग्रह और अपरसंग्रह. परसंग्रह में सभी पदार्थ आ जाते हैं. इसके द्योतक हैं सत्, ज्ञेय, आदि शब्द. अपर

संग्रह का क्षेत्र अपेक्षाकृत न्यूनाधिक होता है. जैसे मनुष्यत्व का क्षेत्र ब्राह्मत्व की अपेक्षा विस्तृत है और जीवत्व की अपेक्षा संकुचित.

**व्यवहार नय**—साधारण व्यवहार के लिए किया जाने वाला भेद इस नय को प्रकट करता है. जैसे मनुष्य का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियों में विभाजन करना. संग्रह में दृष्टि अभेद की ओर जाती है और यहां भेद की ओर.

**ऋजुसूत्रनय**—ऋजु अर्थात् वर्तमान अवस्था को लेकर चलने वाला नय. ऋजुसूत्र की दृष्टि में जिस व्यक्ति का मुख्य व्यवसाय अध्यापन है उसे अध्यापक कहा जा सकता है. जिस समय वह सो रहा है या भोजन कर रहा है उस समय भी अध्यापक है.

**शब्दनय**—ऋजुसूत्र केवल वर्तमानकाल पर दृष्टि रखता है. शब्दनय लिंग, कारक, संख्या आदि का भेद होने पर वस्तु में परस्पर भेद मानता है. उदाहरण के रूप में नगर और पुरी शब्द को लिया जा सकता है. शब्द नय की दृष्टि से दोनों में परस्पर भेद है.

**समभिरूढ़नय**—यह नय समानार्थक शब्दों को स्वीकार नहीं करता अर्थात् जहां एक ही अर्थ को प्रकट करने वाले कई शब्द हैं उनके अर्थ में भी भेद मानता है.

**एवंभूतनय**—इस नय की दृष्टि क्रिया पर रहती है. व्यक्ति विशेष को अध्यापक तभी कहा जायगा जब वह अध्यापन कर रहा है, सोते या भोजन करते समय नहीं. हमारा साधारण व्यवहार ऋजुसूत्र नय को लेकर चलता है. ७ में से प्रथम ३ अर्थनय माने जाते हैं और अंतिम ४ शब्द नय.

नयों का विभाजन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के रूप में भी किया जाता है. द्रव्यार्थिक में मुख्य दृष्टि अभेद की ओर रहती है और पर्यायार्थिक में भेद की ओर. प्रथम चार नय द्रव्यार्थिक माने जाते हैं और अन्तिम ३ पर्यायार्थिक.

## चार निक्षेप

निक्षेप शब्द का अर्थ है रखना या विभाजन करना. शब्द का अर्थ करते समय विभाजन की चार दृष्टियां हैं और हमें यह सोचकर चलना पड़ता है कि प्रस्तुत प्रसंग में किस दृष्टि को लिया जा रहा है ?

(१) नाम निक्षेप—हम किसी व्यक्ति का नाम राजा रख लेते हैं. भिखारी होने पर भी वह राजा कहा जाता है और इस कथन को असत्य नहीं माना जाता. यह नाम निक्षेप अर्थात् नाम की दृष्टि से शब्द का प्रयोग है.

(२) स्थापना निक्षेप—हम मंदिर में रखी हुई मूर्ति को भगवान् कहते हैं. शतरंज के मोहरों को हाथी घोड़े कहते हैं. यह सब स्थापना निक्षेप है. अर्थात् वहां उन्हें उस रूप में मान लिया जाता है. नाम निक्षेप में केवल उस नाम से पुकारा जाता है, वैसा व्यवहार नहीं किया जाता. स्थापना निक्षेप में पुकारने के साथ व्यवहार भी होता है. प्रतीकवाद स्थापना निक्षेप का एक रूप है.

(३) द्रव्य निक्षेप—भावी या भूत पर्याय की दृष्टि से किसी वस्तु को उस नाम से पुकारना. जैसे युवराज को राजा कहना या भूतपूर्व अधिकारी को उस पद के नाम से पुकारना.

(४) भावनिक्षेप—गुण या वर्तमान अवस्था के आधार पर वस्तु को उस नाम से पुकारना. जैसे सिंहासन पर बैठे हुए व्यक्ति को राजा कहना या पदाधिकारी को उसके कार्य काल में उस नाम से पुकारना.

## तत्त्वमीमांसा

जैनदर्शन विश्व को ६ द्रव्य या ७ तत्त्वों के रूप में विभक्त करता है. प्रथम विभाजन ज्ञेय जगत् को उपस्थित करता है और द्वितीय में मुख्य दृष्टि आचार या आत्मविकास की है. ७ तत्त्वों में प्रथम दो अर्थात् जीव और अजीव द्रव्यरूप

हैं और शेष ५ जीव की आध्यात्मिक अवस्थाओं से सम्बन्ध रखते हैं. उनका निरूपण आचारमीमांसा में किया जायगा. यहां ६ द्रव्यों के रूप में जीव और अजीव तत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है.

### छह द्रव्य

द्रव्य का लक्षण है वह पदार्थ जिसमें गुण और पर्याय विद्यमान हों. जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य में अनेक गुण होते हैं और वह प्रतिक्षण बदलता रहता है. बौद्धदर्शन केवल गुण और पर्याय अर्थात् अवस्थाओं को मानता है. उनके आधार के रूप में किसी पृथक् सत्ता को नहीं मानता. दूसरी ओर अद्वैत वेदांत आधारभूत सत्ता को वास्तविक मानता है और उसमें दिखाई देने वाले गुण एवं अवस्थाओं को कल्पित. जैनदर्शन दोनों को वास्तविक मानता है. ६ द्रव्य निम्नलिखित हैं.

(१) जीवास्तिकाय (२) पुद्गलास्तिकाय (३) धर्मास्तिकाय (४) अधर्मास्तिकाय (५) आकाशास्तिकाय और (६) काल. अस्तिकाय शब्द का अर्थ है परमाणु, प्रदेश, या अवयवों का एक पिण्ड होकर रहना. जीव, पुद्गलादि में वे एक साथ रहते हैं. किन्तु काल के अंश एक साथ नहीं रह सकते. वहां एक के नष्ट होने पर ही दूसरा अस्तित्व में आता है. इसलिए उसे अस्तिकाय नहीं कहा गया.

(१) जीवास्तिकाय—जीव का अर्थ है चेतन या आत्मा. जैनदर्शन में इसका स्वरूप अनंत चतुष्टय अर्थात् अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य के रूप में किया जाता है. साथ ही वह अमूर्त्तिक है अर्थात् उसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं है. प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् आत्मा है और वह जिस शरीर में प्रवेश करता है उतना ही बड़ा आकार ले लेता है. चींटी के शरीर में चींटी जितना आत्मा है और हाथी के शरीर में हाथी जितना. इस प्रकार उसमें संकोच और विस्तार होते रहते हैं. प्रत्येक जीव अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है अर्थात् वह कार्य करने में स्वतन्त्र है और तदनुसार फल भोगता है. कार्य और फलभोग का स्वाभाविक नियम है. उस पर किसी अतीन्द्रिय शक्ति का नियंत्रण नहीं है. उदाहरण के रूप में यदि कोई आंखों पर पट्टी बांध कर कुएं की ओर बढ़ेगा तो उसमें गिर जाएगा. उसे गिराने वाली कोई उच्च सत्ता नहीं है, वह स्वयं अपने आपको गिराता है. साथ ही यह भी निश्चित है कि कार्य करने पर फल अवश्य भोगना होगा. यह कार्य-कारण का स्वाभाविक नियम है. भूल न करने पर यदि हम भोजन करते हैं तो अजीर्ण हो जाता है. पेट दुखने लगता है. इस अजीर्ण और उदरशूल के लिए किसी बाह्य सत्ता को नियामक मानने की आवश्यकता नहीं है. उसके लिये हम स्वयं उत्तरदायी हैं.

सांख्य और वेदांतदर्शन में भी पुरुष अथवा ब्रह्म को चित् स्वरूप माना गया है. किन्तु वहां चेतना का अर्थ शुद्ध चैतन्य है अर्थात् उसमें विषय का भान नहीं रहता. यह भान प्रकृति या माया के कारण होता है. मुक्त अवस्था में वह नहीं रहता. किन्तु जैनदर्शन में ज्ञान और दर्शन अर्थात् निराकार और साकार दोनों प्रकार की चेतना जीव का स्वाभाविक गुण है. इसी को उपयोग कहते हैं. जो जीव का लक्षण माना गया है. अर्थात् बाह्य जगत् को सामान्य तथा विशेष दोनों रूपों में जानना जीव का स्वभाव है और वह मुक्त अवस्था में भी बना रहता है. इसी तथ्य के कारण इन परम्पराओं में कैवल्य शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न हो गया है. सांख्यदर्शन में कैवल्य का अर्थ है प्रकृति के सम्पर्क से रहित शुद्ध चेतना. जैनदर्शन में उसका अर्थ है सर्वज्ञता अर्थात् बाह्य तथा आभ्यन्तर समस्त जगत् की अनुभूति.

(२) पुद्गलास्तिकाय—सांख्यदर्शन में जो स्थान प्रकृति का है वही जैनदर्शन में पुद्गल का है. जीव के संसार में भ्रमण और सुख दुःख भोग का सारा कार्य पुद्गल द्वारा संपादित होता है. किन्तु सांख्यदर्शन के समान यहां इसका विकास बुद्धि के रूप में नहीं होता. जैनदर्शन के अनुसार वह चेतना का गुण है और उसी के समान अनादि तथा अनन्त है. न्यायदर्शन में पृथ्वी आदि चार भूतों के परमाणु भी भिन्न-भिन्न प्रकार के माने गये हैं. जल के परमाणुओं में गंध नहीं होती, अग्नि के परमाणुओं में गंध और रस नहीं होते तथा वायु के परमाणुओं में केवल स्पर्श ही होता है, किन्तु जैनदर्शन पृथ्वी आदि के परमाणुओं में मौलिक भेद नहीं मानता. सभी में रूप, रस, गंध तथा स्पर्श चारों गुण

रहते हैं. पुद्गल के दो रूप हैं परमाणु और स्कंध अर्थात् अवयवी. दृश्यमान समस्त जगत् पुद्गल परमाणुओं का संघटन या रचना विशेष है. न्यायदर्शन के अनुसार परमाणु में रहने वाले रूप, रस आदि गुण नित्य हैं, उनमें परिवर्तन नहीं होता. स्थूल वस्तु में जब परिवर्तन होता है तो परमाणु ही बदल जाते हैं, उनके गुण नहीं बदलते. घड़ा पकने पर जब मिट्टी अपना रंग छोड़कर नया रंग लेती है तो मिट्टी के रंग वाले परमाणु बिखर जाते हैं और उसका स्थान लाल रंग के परमाणु ले लेते हैं. किन्तु जैनदर्शन ऐसा नहीं मानता. वहां परमाणु वही रहते हैं किन्तु उनके रूप, रस आदि गुण बदल जाते हैं.

## आठ वर्गणायें

जैनदर्शन में पुद्गल का विभाजन आठ वर्गणाओं के रूप में किया गया है. वर्गणा का अर्थ है विभिन्न प्रकार के वर्ग या श्रेणियां. यह विभाजन उनके द्वारा होने वाले स्थूल पदार्थों के आधार पर किया गया है.

(१) औदारिक वर्गणा—स्थूल शरीर के रूप में परिणत होने वाले परमाणु. जैनदर्शन के अनुसार पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा वनस्पतियों में भी जीव हैं. इनके रूप में प्रतीत होने वाले स्थूल पदार्थ उन जीवों का शरीर है. यह शरीर कहीं सजीव दिखाई देता है और कहीं निर्जीव. इसे औदारिक शरीर माना जाता है. इसी प्रकार पशु-पक्षी तथा मनुष्यों का शरीर भी औदारिक है.

(२) वैक्रियक वर्गणा—देवता तथा नारकी जीवों के शरीर के रूप में परिणत होने वाले परमाणु. योगी अपनी योग-शक्ति के द्वारा जिस शरीर की रचना करते हैं वह भी इन परमाणुओं से बनता है.

(३) आहारकवर्गणा—विचारों का संक्रमण करने वाले शरीर के रूप में परिणत होने वाले परमाणु.

(४) भाषा वर्गणा—वाणी के रूप में परिणत होने वाले परमाणु.

(५) मनोवर्गणा—मनोभावों के रूप में परिणत होने वाले परमाणु.

(६) श्वासोच्छ्वास वर्गणा—प्राणवायु के रूप में परिणत होने वाले परमाणु.

(७) तैजस वर्गणा—तैजस नामक सूक्ष्म शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल परमाणु.

(८) कार्माण वर्गणा—कार्माण या लिंग शरीर के रूप में परिणत होने वाले परमाणु. कार्माण शरीर का अर्थ है आत्मा के साथ लगे हुए कर्मपुद्गल. ये ही जीव को विविध योनियों में ले जाकर स्थूल शरीर के साथ संबन्ध जोड़ते हैं और सुख दुःख का भोग कराते हैं. सांख्यदर्शन में जो स्थान लिंग-शरीर का है वही जैनदर्शन में कार्माण शरीर का है और वहाँ जो सूक्ष्म शरीर का है यहाँ वही तैजस शरीर का. मरने पर जीव स्थूल शरीर को छोड़ देता है, तैजस और कार्माण उसके साथ जाते हैं.

आठ वर्गणाओं में से वैक्रियक और आहारक का देवता, नारकी या योगियों के साथ संबन्ध है. शेष ६ हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं.

(३-४) धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय—धर्म द्रव्य जीव तथा पुद्गल की गति में सहायक है और अधर्म स्थिति में. वर्तमान विज्ञान विद्युत् शक्ति के दो रूप मानता है. धन (Positive) और ऋण (Negative). धर्म और अधर्म वही कार्य करते हैं.

(५-६) आकाशास्तिकाय और काल—आकाश जीव और पुद्गल को स्थान प्रदान करता है और काल उनमें परिवर्तन लाता है. कुछ आचार्यों का मत है कि परिवर्तन जीव और पुद्गल का स्वभाव है, अतः उसके लिए अलग द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है.

वर्त्तमान विज्ञान की दृष्टि से हम इन द्रव्यों को नीचे लिखे अनुसार विभक्त कर सकते हैं :—

जीव (Mind) पुद्गल (Matter) धर्म (positive Energy) अधर्म (Negative Energy) आकाश (Space) काल (Time)

## आचार मीमांसा

ऊपर बताया गया था कि जैनधर्म में ७ तत्त्व माने गये हैं. उनमें से प्रथम २ अर्थात् जीव और अजीव विश्व के स्वरूप को बताते हैं. शेष ५ का संबंध आचार अर्थात् आध्यात्मिक विकास के साथ है.

जैन दर्शन भी मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य मानता है. इसका अर्थ है आत्मा के स्वरूप का पूर्णविकास. प्रत्येक जीव अपने आप में अनंत चतुष्टय रूप है. अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य उसका स्वभाव हैं. किन्तु यह स्वभाव बाह्य प्रभाव के कारण दबा हुआ है. इस प्रभाव को कर्म कहते हैं. कर्मों का बन्ध जिन कारणों से होता है उन्हें आश्रव कहते हैं. इस बन्ध का रुक जाना संवर है और संचित कर्मों का नाश निर्जरा है. जैन आचार इन ५ तत्वों पर विकसित हुआ है. अब हम इनका विवेचन करेंगे.

**आस्रव**—कर्मबन्ध के कारणों को आस्रव कहते हैं. इसके ५ भेद हैं.

(१) **मिथ्यात्व**—विपरीत श्रद्धा. तात्विक दृष्टि से इसका अर्थ है सत्य को छोड़कर असत्य को पकड़े रहना. इसी प्रकार कुदेव कुगुरु या कुधर्म को मानना भी मिथ्यात्व है.

(२) **अविरति**—पाप कर्मों से निवृत्त न होना. पापाचरण न करने पर भी जब तक साधक उससे अलग रहने की प्रतिज्ञा नहीं करता, जब तक मन में डाँवाडोल है तब तक अविरत कहा जाता है.

(३) **प्रमाद**—आलस्य या अकर्मण्यता, जो जीवन में अनुशासन नहीं रहने देती. अंगीकार किए हुए व्रत में किसी प्रकार की भूल-चूक होना भी प्रमाद है.

(४) **कषाय**—क्रोध, मान, माया और लोभ.

(५) **योग**—मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियाँ.

आस्रव का शब्दार्थ है आने का मार्ग. आत्मा अपने आप में शुद्ध है. इन ५ कारणों से कर्म-परमाणुओं का बन्ध होता है और वह मलीन हो जाता है. कर्म एक प्रकार का जड़ पदार्थ है जो आत्मा के साथ मिलकर उसे मलिन कर देता है.

**बंध**—बन्ध का अर्थ है कर्मों का आत्मा के साथ चिपकना और शुभाशुभ फल देने की शक्ति प्राप्त करना. इसके चार भेद हैं.

(१) **प्रकृति बंध**—आत्मा के साथ जो कर्म-पुद्गल बन्धते हैं वे आठ प्रकार के हैं. उनमें से चार आत्मा के अनंत चतुष्टय को आच्छादित करते हैं. शेष योनि विशेष में जन्म, शारीरिक संगठन, तथा आयु आदि का निर्माण करते हैं. प्रथम प्रकार के कर्म आत्म-गुणों का घात करने के कारण घाति कहे जाते हैं और शेष चार अघाति. घाति कर्म नीचे लिखे अनुसार हैं.

(१) **ज्ञानावरण**—ज्ञान को ढंकने वाला. (२) **दर्शनावरण**—दर्शन को ढंकने वाला. (३) **मोहनीय**—आत्मा को विपरीत दशा में ले जाने वाला. वेदान्त तथा योगदर्शन में अविद्या का तथा बौद्धदर्शन में तृष्णा का जो स्थान है वही जैनदर्शन में मोहनीय कर्म का है. (४) **अंतराय**—आत्मशक्ति को कुंठित करने वाला. ४ अघाति कर्म निम्न प्रकार हैं.

(क) **वेदनीय**—शारीरिक सुख दुःख उत्पन्न करने वाला.

(ख) **नाम कर्म**—उच्च नीच गतियों में ले जाने, शरीर रचना करने एवं अन्य अनुकूल तथा प्रतिकूल सामग्री उपस्थित करने वाला.

(ग) आयुष्य—विभिन्न गतियों में अल्प या दीर्घ जीवन प्रदान करने वाला.
(घ) गोत्र—उच्च या नीच कुल में उत्पन्न करने वाला.

(२) प्रदेशबंध—प्रत्येक कर्म के प्रदेश अर्थात् परमाणु.

(३) स्थितिबंध—प्रत्येक कर्म की आत्मा के साथ रहने और फल देने की काल मर्यादा.

(४) अनुभागबंध—न्यूनाधिक फल देने की शक्ति.

आध्यात्मिक विकास के साथ मुख्य सम्बन्ध मोहनीय का कर्म है. इसके दो भेद हैं. (१) दर्शन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय. दर्शन मोहनीय का अर्थ है मिथ्यात्व या दृष्टि का विपरीत होना. चारित्र मोहनीय का अर्थ है क्रोध मान माया और लोभ आदि दुर्बलतायें जो हमारे चारित्र को पनपते नहीं देतीं. उत्कटता की दृष्टि से इसकी चार श्रेणियां हैं, जिन्हें लांघते हुए साधक विकास की उत्तरोत्तर उच्च अवस्थाओं को प्राप्त करता है. प्रथम श्रेणी अनंतानुबंधी है. जिसके मिथ्यात्व मोहनीय तथा इसका उदय रहता है वह श्रद्धा तथा चारित्र दोनों से गिरा हुआ होता है और आध्यात्मिक विकास का अधिकारी नहीं है. दूसरी कोटि अप्रत्याख्यान की है. इसके उदय वाला सम्यग्दृष्टि तो हो सकता है किन्तु आंशिक या पूर्ण किसी भी रूप में व्रत ग्रहण नहीं कर सकता. तीसरी कोटि प्रत्याख्यानावरण है. इसका उदय होने पर पूर्ण या महाव्रतों का पालन नहीं हो सकता. चौथी कोटि संज्वलन है. इसके उदय वाला महाव्रत तो अंगीकार कर सकता है किन्तु सूक्ष्म दोष लगते रहते हैं. इसका नाश होने पर कैवल्य या आत्मा की शुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है.

संवर—इसका अर्थ है आस्रव अर्थात् कर्मबंध के कारणों को रोकना. मिथ्यात्व को रोकना अर्थात् सुदेव, सुगुरु और सुधर्म में विश्वास करना सम्यदर्शन है. तत्वार्थ सूत्र में इसे तत्वार्थश्रद्धान के रूप में बताया गया है. इसका अर्थ है जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित ७ तत्त्व और ६ द्रव्यों में विश्वास. अविरतिरूप आस्रव को रोकने की २ कोटियां हैं. प्रथम कोटि श्रावक की है. वह अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का आंशिक रूप में पालन करता है. इसे देशविरति भी कहा जाता है. दूसरी कोटि सर्वविरति या मुनि की है. वह महाव्रतों का पूर्णतया पालन करता है. इनके पालन के लिए समिति, गुप्ति, परीषहजय, अनुप्रेक्षाएँ आदि अनेक बातों का प्रतिपादन किया गया है. आस्रव के अंतिम तीन द्वारों का निरोध इन्हीं में आ जाता है.

निर्जरा—निर्जरा शब्द का अर्थ है संचित कर्मों का नाश. इसके लिए १२ प्रकार के तप बताये गये हैं. उनमें से ६ बाह्य हैं और ६ आभ्यंतर. बाह्यतप का सम्बन्ध मुख्यतया शारीरिक अनुशासन से है और आभ्यंतर तप का मनोनिग्रह से.
मोक्ष—इसका निरूपण पहले किया जा चुका है.

१४ गुणस्थान—जैनधर्म में आध्यात्मिक उत्थान की भूमिकाओं को १४ गुणस्थानों में विभक्त किया गया है. प्रथम अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान अविकसित अवस्था को प्रकट करता है. द्वितीय से लेकर १२वें तक विकास की विविध अवस्थाओं को, तेरहवां और चौदहवां पूर्णतया विकसित अवस्था को. विकास या उच्चतर भूमिकाओं को प्राप्त करने के दो मार्ग हैं. उपशमश्रेणि अर्थात् विकारों को दबाते हुए आगे बढ़ना. वहां दोष संस्कार के रूप में विद्यमान रहते हैं और अवसर पाकर उभर जाते हैं. परिणाम स्वरूप साधक नीचे गिर जाता है. दूसरा मार्ग क्षपक श्रेणि है. इसमें साधक विकारों का नाश करता हुआ आगे बढ़ता है. उसके पतन की संभावना नहीं रहती.

द्वितीय गुणस्थान पतनकाल में प्राप्त होता है. यह मिथ्यात्व प्राप्त करने से पहले की अवस्था है. उस समय संस्कार के रूप में सम्यग्दर्शन का क्षीण प्रभाव बना रहता है. तृतीय गुणस्थान डांवाडोल मन वाले मिश्रदृष्टि जीव का है. जहां कभी सम्यक्त्व की ओर झुकाव होता है और कभी मिथ्यात्व की ओर. योगदर्शन की दृष्टि से प्रथम गुणस्थान को क्षिप्त और मूढ़भूमिका कहा जा सकता है तथा तृतीय गुणस्थान को विक्षिप्त भूमिका चतुर्थ. गुणस्थान सम्यग्दृष्टि जीव का है, जो श्रद्धा ठीक होने पर भी व्रतों को अंगीकार नहीं कर पाता. पांचवां देशविरति श्रावक या गृहस्थ का

है, उनके जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय होता है. छठे से लेकर दसवें तक पांच गुणस्थान निवृत्तिप्रधान मुनि की भूमिकाओं को प्रकट करते हैं, जो कषायों को क्षीण करता हुआ उत्तरोत्तर ऊपर चढ़ता जाता है. ११ वां उपशांत मोहनीय है. वहाँ मोहनीय पूर्णतया दव जाता है किन्तु दूसरे ही क्षण उसका पुनः उभार आता है और साधक नीचे गिरने लगता है. १२ वाँ गुणस्थान क्षीणमोहनीय है, जो मोहनीय कर्म के पूर्णतया क्षय हो जाने पर प्राप्त होता है. तत्पश्चात् साधक ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अंतराय कर्म का भी क्षय कर डालता है और तेरहवें गुणस्थान में पहुंच जाता है. उस समय वह वीतराग और सर्वज्ञ कहा जाता है. कषायों का सर्वथा नाश होने पर भी योग अर्थात् मन वचन और काय की हलचल बनी रहती है. चौदहवें गुणस्थान में वह भी रुक जाती है. ५ ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है साधक उतनी ही देर जीवित रहता है और शरीर का परित्याग करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है.

श्रीगोपीलाल अमर
एम०ए०, शास्त्री, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न
जैन संस्कृत डिग्री कालेज, सागर (म० प्र०)

# दर्शन और विज्ञान के आलोक में पुद्गल द्रव्य

प्रारम्भिक—जैन दर्शन ने विश्व को जहाँ स्याद्वाद और अनेकान्त के अखण्ड सिद्धान्त दिये हैं वहाँ पुद्गलद्रव्य की अद्वितीय मान्यता भी दी है. उधर जैनेतर दर्शनों ने पुद्गल द्रव्य को तत्तत् रूपों में स्वीकार किया है और इधर विज्ञान भी इस द्रव्य को स्पष्ट रूप से मान्यता देता जा रहा है.

हम यहाँ पुद्गल द्रव्य का एक सुस्पष्ट विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे. सर्वप्रथम हमें जैन दर्शन के अनुसार इस का अध्ययन करना होगा, फिर जैनेतर दर्शनों में उसकी तह खोजनी होगी और तब उसका वैज्ञानिक विश्लेषण करना होगा.

जैन सिद्धान्त विश्व (Universe) को छह द्रव्यों (Substances) से निर्मित मानता है. जो सत् (Existent) हो या जिसकी सत्ता (Existance) हो वह द्रव्य है.[१] जिसमें पर्यायों (Modifications) की दृष्टि से उत्पाद (Manifestation) और विनाश (Disappearance) प्रतिसमय होते रहते हों और गुणों (Fundamental realities) की दृष्टि से, प्रतिसमय ध्रौव्य (Continuity) रहता हो वह सत् (Existent) है.[२] द्रव्य छह हैं.[३]

(१) जीव (Soul, substance possessing consciousness)

(२) पुद्गल (Matter & Energy)

(३) धर्म (Medium of motion of souls, matter and energies)

(४) अधर्म (Medium of rest of souls, matter and energies)

(५) आकाश (Space, medium of location of soul etc.) और

(६) काल (Time)

पुद्गल का स्वरूप—पुद्गल शब्द एक पारिभाषिक शब्द है लेकिन रूढ़ नहीं. इसकी व्युत्पत्ति कई प्रकार से की जाती है.

पुद्गल शब्द में दो अवयव हैं, 'पुद्' और 'गल', 'पुद्' का अर्थ है पूरा होना या मिलना (Combination) और

---

१. सद् द्रव्यलक्षणम् । —आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सू० २९.

२. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । —वही, अ० ५, सू० ३० ।

३. जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयासं. —आचार्य कुन्दकुन्द: पंचास्तिकाय.

'गल' का अर्थ है गलना या मिटना (Disintegration) जो द्रव्य प्रतिसमय मिलता-गलता रहे, बनता-विगड़ता रहे, टूटता-जुड़ता रहे वह पुद्गल है.[1]

सम्पूर्ण विश्व में पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जो खण्डित भी होता है और पुनः परस्पर सम्बद्ध भी. पुद्गल की एक सबसे बड़ी पहिचान यह है कि वह छुआ जा सकता है, चखा जा सकता है, सूंघा जा सकता है और देखा भी जा सकता है. अतः कहा जा सकता है कि जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण, चारों अनिवार्यतः पाये जावें वह पुद्गल है.[2]

पुद्गल (Matter of Energy) के गलन-मिलन स्वभाव (Disintegration and combination phenomena) को वैज्ञानिक शब्दों में भी समझाया जा सकता है. पुद्गल के मिलने या सम्बद्ध होने (Combination) का अर्थ है कि एक स्कन्ध (Molecule) दूसरे स्निग्ध-रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध से मिल सकता है और इस प्रकार अधिक स्निग्ध-रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध उत्पन्न हो सकता है. पुद्गल के गलने या खण्डित होने का अर्थ है कि एक स्कन्ध में से कुछ स्निग्ध-रूक्ष गुणयुक्त देश (भाग) अलग हो सकता है और इस प्रकार कम स्निग्ध-रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध उत्पन्न हो सकता है.

ईसा की उन्नीसवीं शती तक वैज्ञानिकों का मत था कि तत्त्व (Elements) अपरिवर्तनीय (Non-transformable) हैं. एक तत्त्व दूसरे तत्त्व के रूप में परिवर्तित (Transformed) नहीं हो सकता. किन्तु अब तेजोद्गरण (Radio activity) आदि के अनुसन्धानों से यह सिद्ध हो गया है कि तत्त्व परिवर्तित भी हो सकता है.

किरणातु (Uranium) के एक अणु (Atom) में से जब तीन अ-कण (Particles) विच्छिन्न हो जाते हैं तो वह एक तेजातु (Radium) के अणु के रूप में परिवर्तित हो जाता है. इसी तरह जब तेजातु का एक अणु पाँच अ-कणों में विच्छिन्न हो जाता है तो वह सीसा (Lead) के अणु के रूप में परिवर्तित हो जाता है. यह तो हुई विगलन या खण्डन (Disintegration) की क्रिया और अब देखिये पूरण या मिलन (Combination) की क्रिया-भूयाति (Nitrogen) के एक अणु की न्यष्टि (Nuclues) में जब एक अ-कण मिल जाता है तो एक जारक (Oxygen) का अणु बन जाता है. यही प्रक्रिया लघ्वातु (Lithium) और विङ्गर (Beryllium) में भी संभव है.

पुद्गल के गुण :—जैसा कि उक्त परिभाषा से स्पष्ट है, पुद्गल के मूलतः चार गुण होते हैं, स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण. इन चारों के भी बीस भेद होते हैं. यह वर्गीकरण अत्यन्त स्थूल रूप में किया गया है, वास्तव में तो ये गुण अपने विभिन्न रूपों में अगणित होते हैं.

स्पर्श :—पुद्गल में आठ प्रकार का स्पर्श पाया जाता है—स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, कठोर, शीत, उष्ण, लघु (हलका) और गुरु (भारी).

---

१. (१) पूरणात् पुद् गलयतीति गलः । —शब्दकल्पद्रुमकोष.

(२) पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः

आचार्य अकलंकदेव : तत्त्वार्थराजवार्तिक, —अ० ५, सू० १, वा० २४.

(३) छव्विहसंठाणं बहुविहि देहेहि पूरदित्ति गलदित्ति पोग्गला. —धवला ग्रन्थ.

(४) पुंगिलनात् पूरणगलनद्वा पुद्गल इति । —आचार्य अकलंक देव : तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ० ५, सू० १९, वा० ४०.

(५) वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शैः-पूरणं गलनं च यत् ।

कुर्वन्ति स्कन्धवत् तस्मात् पुद्गलाः परमाणवः । —आचार्य जिनसेनः हरिवंशपुराण, सर्ग ७, श्लो० ३६.

(६) पूरणाद् गलनाच्च पुद्गलाः । —गणी सिद्धसेन : तत्त्वार्थभाष्य की टीका, अ० ५, सू० १.

(७) पूरणाद् गलनाद् इति पुद्गलाः । —न्यायकोष, पृ० ५०२.

२. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः । —आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सू० २३.

पुद्गल के एक स्कन्ध (Molecule) में एक साथ स्निग्ध और रूक्ष में से कोई एक, मृदु और कठोर में से कोई एक, शीत और उष्ण में से कोई एक तथा लघु और गुरु में से कोई एक, ऐसे कोई चार स्पर्श अवश्य पाये जाते हैं लेकिन अणु (Ultimate atom) में स्निग्ध और रूक्ष में से कोई एक तथा शीत और उष्ण में से कोई एक, ऐसे कोई दो स्पर्श ही पाये जाते हैं क्योंकि वह पुद्गल का सूक्ष्मतम अंश है अतः उसके मृदु या कठोर और लघु या गुरु होने का प्रश्न ही नहीं उठता.

रस (स्वाद) :—रस पाँच होते हैं, मधुर, अम्ल (खट्टा), कटु, तिक्त (तीखा, चरपरा आदि) और कषायला (जैसे आंवले का स्वाद).

इन रसों का सम्बन्ध भोजन से है. साहित्यशास्त्र में भी नौ रसों की मान्यता है. जैन दर्शन नौ रसों का अन्तर्भाव जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य दोनों में करता है. इनमें से प्रत्येक के हम दो भेद कर सकते हैं, अनुभूतिरूप और शब्दरूप. अनुभूति चूंकि जीव (आत्मा) करता है अतः अनुभूतिरूप रस जीव में और शब्द, जिसकी चर्चा आगे की जावेगी, चूंकि पुद्गल की पर्याय है अतः शब्दरूप रस पुद्गल में अन्तर्भूत होता है.

गन्ध :—गन्ध दो प्रकार की है, सुगन्ध और दुर्गन्ध.

वर्ण (रंग) :—वर्ण मुख्यतः पाँच प्रकार का होता है, कृष्ण (काला), रक्त (लाल), पीत, श्वेत और नील.

दो या दो से अधिक रंगों के मिश्रण से बहुत-से नये रंग बन जाते हैं, उनका अन्तर्भाव यथासंभव इन्हीं पाँच रंगों में होता है.

## पंचवर्णों का सिद्धान्त

जैन दर्शन के अनुसार वर्ण पाँच होते हैं जब कि सौर वर्णपटल (Solar-spectrum) में सात वर्ण होते हैं और प्राकृतिक (Natural) और अप्राकृतिक (Pigmetory) वर्ण तो अनेकों होते हैं. इसका समाधान यह है कि यहाँ वर्ण शब्द से जैनाचार्यों का तात्पर्य सौर वर्णपटल के वर्णों से अथवा अन्य वर्णों से नहीं, प्रत्युत पुद्गल के उस मूलभूत (Fundamental Property) गुण से है जिसका प्रभाव हमारी आंख की पुतली पर लक्षित होता है और हमारे मस्तिष्क में कृष्ण, रक्त आदि आभास कराता है. आप्टिकल सोसायटी ऑफ अमेरिका (Optical society of America) ने वर्ण की यह परिभाषा दी है—वर्ण एक व्यापक शब्द है जो आंख के कृष्ण पटल और उससे सम्बद्ध शिराओं की क्रिया से उद्भूत आभास को सूचित करता है. रक्त, नील, पीत, श्वेत और कृष्ण इसके उदाहरण हैं.[1]

पञ्चवर्णों का सिद्धान्त यही तो है कि यदि किसी वस्तु का ताप बढ़ाया जावे तो उसमें से सर्वप्रथम अदृश्य (Dark) ताप किरणें (Heat Rays) निस्सरित (Emitted) होती हैं और फिर ज्यों-ज्यों उसके ताप को बढ़ाया जावेगा त्यों-त्यों उसमें से क्रमशः रक्त, पीत, श्वेत और यहां तक कि नील किरणें निस्सरित होने लगती हैं. श्रीमेघनाद शाहा और बी० एन० श्रीवास्तव ने लिखा है कि कुछ तारे नील-श्वेत रश्मियां छोड़ते हैं जिससे स्पष्ट है कि उनका तापमान बहुत है. तात्पर्य यह कि ये पांच वर्ण ऐसे प्राकृतिक वर्ण हैं जो किसी भी पुद्गल से विभिन्न तापमानों (Temperatures) पर उद्भूत हो सकते हैं और इसलिए उन्हें पुद्गल के मूलगुण मानना पड़ेगा.

वैसे जैन विचारकों ने वर्ण के अनन्त भेद माने हैं. हम सौर वर्णपटल (Solar Spectrum) के वर्णों (Colours)

---

१. Colour is a general term for all sensations, arising from the activity of retina and its attached nervous machanisms. It may be examplified by the enumeration of characteristic instances such as red, yellow, blue, black and white............

Prof. G. R. Jain : Cosmology old & New.

में देखते हैं कि यदि रक्त से लेकर कासनी (Violet) तक तरंगप्रमाणों (Wavelengths) की विभिन्न अवस्थितियों (Stages) की दृष्टि से विचार किया जाय तो ये अनन्त सिद्ध होंगी और इनके अनन्त होने के कारण वर्ण भी अनन्त सिद्ध होंगे. इसका भी कारण यह है कि यदि एक प्रकाशतरंग प्रमाण में दूसरी प्रकाशतरंग से अनन्तवें भाग (Infinitesimal amount) भी न्यूनाधिक होती है तो वे तरंगें दो विसदृश वर्णों को सूचित करती हैं.

## पुद्गल की विशेषताएँ

वैसे तो पुद्गल की मुख्य विशेषता उसके स्पर्श आदि चार गुण ही हैं, ये चारों उसके असाधारण भाव हैं अर्थात् उसके अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य में सम्भव नहीं हैं. ऐसी विशेषताएँ मुख्यतः छह कही जा सकती हैं. पुद्गल द्रव्य के स्वरूप का विश्लेषण करना ही इन विशेषताओं का उद्देश्य है.

पुद्गल द्रव्य है—द्रव्य की परिभाषा हम पहले प्रस्तुत कर चुके हैं और उस की कसौटी पर पुद्गल खरा उतरता है. इसे समझाने के लिए हम एक उदाहरण देंगे. सुवर्ण पुद्गल है. किसी राजा के एक पुत्र है और एक पुत्री. राजा के पास एक सुवर्ण का घड़ा है. पुत्री उस घड़े को चाहती है और पुत्र उसे तोड़कर उसका मुकुट बनवाना चाहता है. राजा पुत्र की हठ पूरी कर देता है. पुत्री रुष्ट हो जाती है और पुत्र प्रसन्न. लेकिन राजा की दृष्टि केवल सुवर्ण पर ही है जो घड़े के रूप में कायम था और मुकुट के रूप में भी कायम है. अतः उसे न हर्ष है न विषाद.[1] एक उदाहरण और लीजिए. लकड़ी एक पुद्गल द्रव्य है. वह जलकर क्षार हो जाती है. उससे लकड़ीरूप पर्याय का विनाश होता है और क्षाररूप पर्याय का उत्पाद, किन्तु दोनों पर्यायों में वस्तु का अस्तित्व अचल रहता है, उसके आंगारत्त्व (Carbon) का विनाश नहीं होता. मीमांसा-दर्शन के प्रकाण्ड व्याख्याता कुमारिल भट्ट ने इस सिद्धान्त का समर्थन ऐसे ही एक उदाहरण द्वारा मुक्तकण्ठ से किया है.[2]

द्रव्य की परिभाषा एक-दूसरे ढंग से भी की जा सकती है. जिसमें गुण (Fundamental realities) और पर्यायें (Modifications) हों वह द्रव्य.[3]

जो द्रव्य में रहते हों और स्वयं निर्गुण हों वे गुण कहलाते हैं.[4] चूंकि गुण द्रव्य में अपरिवर्तनीय (Non-transformable) और स्थायी रूप से रहते हैं अतः वे द्रव्य के ध्रौव्य (Continuity) के प्रतीक हैं. संज्ञान्तर या भावान्तर अर्थात् रूपान्तर को पर्याय (Modification) कहते हैं.[5] पर्याय का स्वरूप ही चूंकि यह है कि वह प्रतिसमय बदलती रहे, नष्ट भी होती रहे और उत्पन्न भी, अतः वह उत्पाद और विनाश, दोनों की प्रतीक है. द्रव्य की इस परिभाषा की दृष्टि से भी पुद्गल की द्रव्यता सिद्ध होती है.

---

१. घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।। —आचार्य समन्तभद्र. आप्तमीमांसा, श्लोक ५६.

२. वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिन. ।
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्मात् वस्तूभयात्मम् ।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान् मतित्रयम् ।
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखन् ।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ।। —मीमांसाश्लोकवार्तिक, श्लोक २१-२३.

३. गुणपर्ययावद् द्रव्यम् । —आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, ० ३८ ।

४. द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः । —वही, अ० ५, सू० ४१.

५. संज्ञान्तरं भावान्तरं च पर्यायः । —आचार्य सिद्धसेन गणीः तत्त्वार्थभाष्य टीका, अ, ५, सू० ३७.

## पुद्गल नित्य और अवस्थित है

जिसका तद्भाव-अव्यय हो अर्थात् जिसकी मौलिकता (Fundamental reality) कभी नष्ट न हो वह वस्तु नित्य कहलाती है.[1] पुद्गल की मौलिकता स्पर्श रस गंध और वर्ण में है और वे चारों उससे एक समय के लिए भी पृथक् नहीं होते अतः वह नित्य है. यह एक अलग बात है कि यह मौलिकता रूपान्तरित (Modified) हो जाती है. कच्चा आम हरा और खट्टा होता है, और वही पककर पीला हो जाता है लेकिन वह वर्णहीन और रसहीन नहीं हो सकता. सोने की चूड़ी को पिघलाकर हार बनाया जा सकता है, लेकिन सोना फिर भी कायम रहेगा, वह तो हर हालत में नित्य है.

जो संख्या में कम या बढ़ न हो, जो अनादि भी हो और अनन्त भी और जो न स्वयं को अन्य द्रव्य के रूप में परिवर्तन करे वह वस्तु या द्रव्य अवस्थित कहलाती है. अनादि अतीत काल में जितने पुद्गल-परमाणु थे वर्तमान में उतने ही हैं और अनन्त भविष्य में भी उतने ही रहेंगे. पुद्गल द्रव्य की अपनी मौलिकता यथावत् कायम रहती चली जावेगी.

पुद्गल द्रव्य की अपनी मौलिकता (स्पर्श आदि गुण) किसी अन्य द्रव्य में कदापि परिवर्तित नहीं होती और नहीं किसी अन्य द्रव्य की मौलिकता पुद्गल द्रव्य में परिवर्तित होती है.

पुद्गल की एक अद्वितीय विशेषता है उसका रूप.[2] यहाँ रूप शब्द का अर्थ है शरीर अर्थात् प्रकृति और ऊर्जा (Matter & energy) जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण स्वयं सिद्ध हैं.[3]

पुद्गल का छोटा या बड़ा, दृश्य या अदृश्य, कोई भी रूप हो, उसमें स्पर्श आदि चारों गुण अवश्यंभावी हैं. ऐसा नहीं कि किसी पदार्थ में केवल रूप या केवल गन्ध आदि पृथक्-पृथक् हों. जहां स्पर्श आदि में से कोई एक भी गुण होगा वहाँ अन्य शेष गुण प्रकट या अप्रकट रूप में अवश्य पाये जावेंगे.

## न्यायदर्शन की मान्यता

लेकिन न्यायदर्शन के अन्तर्गत केवल पृथ्वी में ही चारों गुण माने गये हैं; जल में केवल स्पर्श, रस और रूप, तेज में केवल स्पर्श और रूप तथा वायु में केवल स्पर्श ही माना गया है. इस भ्रान्ति का कारण यह है कि न्यायदर्शन में पृथ्वी, जल, तेज और वायु को पृथक्-पृथक् द्रव्य माना गया है जबकि वास्तव में, ये सब अपने परमाणुओं (ultimate atoms) की दृष्टि से एक पुद्गल द्रव्य के ही अन्तर्गत आते हैं.

न्यायदर्शन की इस मान्यता के खण्डन में मुख्यतः चार तर्क दिये जाते हैं. प्रथम यह कि यदि पृथ्वी आदि चारों पृथक्-पृथक् द्रव्य होते तो उनमें के एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए थी जबकि होती अवश्य है. उदाहरणार्थ मोती पृथ्वी द्रव्य के अन्तर्गत है लेकिन उत्पन्न होता है वह जल द्रव्य से. बांस पृथ्वी द्रव्य के अन्तर्गत है लेकिन जंगलों में देखते हैं कि दो बांसों की रगड़ से अग्नि द्रव्य उत्पन्न हो जाता है. दियासलाई आदि का दृष्टान्त भी ऐसा ही है. जौ नामक अन्न भी पृथ्वी द्रव्य के अन्तर्गत है लेकिन उसके खाने से वायु द्रव्य उत्पन्न होता है. उद्जन (Hydrogen) और जारक (Oxygen) ये दो वातियां (Gases) हैं, और वायु द्रव्य के अंतर्गत आती हैं लेकिन उनके रासायनिक संयोग से जल द्रव्य बन जाता है.

दूसरा तर्क यह है कि जिस प्रकार पृथ्वी में चारों गुण हैं उसी प्रकार जल, तेज और वायु में से प्रत्येक में भी चारों-चारों गुण हैं. विज्ञान ने भी यह सिद्ध कर दिया है, और जब सभी में समान-समान (चारों-चारों) गुण हैं तो उन्हें पृथक्-पृथक् द्रव्य मानकर द्रव्यों की मूल संख्या बढ़ाना उचित नहीं. न्यायदर्शन जल में गन्ध का निषेध करता है लेकिन

---

१. तद्भावाव्ययं नित्यम् । —आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सू० ४२.

२. रूपिणः पुद्गलाः ।—वही, अ० ५, सू० ५.

३. रूपंमूर्तिः रूपादिसंस्थानपरिणामः, रूपमेषामस्तीति रूपिणः पुद्गलाः । —आचार्य पूज्यपादः सर्वार्थसिद्धि, अ० ५, सू० ५.

उसीमें गन्ध तब कितनी स्पष्ट हो उठती है जब खेतों में पहली बरसात होती है ? चूंकि यह गन्ध जल के संयोग से उत्पन्न होती है अतः उसे केवल पृथ्वी का ही गुण न मानकर जल का भी गुण मानना होगा. वायु में न्यायदर्शन ने केवल स्पर्श गुण ही माना है लेकिन जब उद्जन (Hydrogen) और जारक (Oxygen) वायुओं का संयोग होकर जल बनता है तो उसके सभी गुण प्रत्यक्ष हो जाते हैं.

तीसरे तर्क में हम यह बताएँगे कि न्यायदर्शनकार अग्नि के तेजस्वी रूप के समान सुवर्ण के तेजपूर्ण वर्ण को देख उसमें अप्रकट अग्नितत्त्व की अद्भुत कल्पना करता है.[1] यह बात यदि शक्ति की अपेक्षा कही जाय तो जल के परमाणुओं तक में अग्निरूप परिणत होने की शक्ति सिद्ध होती है.

चौथा तर्क वैज्ञानिक है. विज्ञान सिद्ध करता है कि जिस वस्तु में स्पर्श, रस, गन्ध और रूप, इन चारों में से एक भी गुण होगा उसमें प्रकट या अप्रकट रूप में शेष तीन गुण अवश्यमेव होंगे. सम्भव है कि हमारी इन्द्रियों से किसी वस्तु के सभी गुण अथवा उनमें से कुछ गुण लक्षित न हो सकें. जैसे उपस्तु किरणें (Infrared rays) जो अदृश्य ताप-किरणें हैं, हम लोगों की आंखों से लक्षित नहीं हो सकतीं, किन्तु उल्लू और बिल्ली की आँखें इन किरणों की सहायता से देख सकती हैं. कुछ ऐसे आचित्रीय पट (Photographic plates) होते हैं जो इन्हीं किरणों से अविष्कृत हुए हैं और जिनके द्वारा अन्धकार में भी आचित्र (Photographs) लिए जा सकते हैं. इसी प्रकार अग्नि की गन्ध हमारी नासिका द्वारा लक्षित नहीं होती किन्तु गन्धवहन-प्रक्रिया (Tele-olefaction phenomenon) से स्पष्ट है कि गन्ध भी पुद्गल का (अग्नि का भी) आवश्यक गुण है. एक गन्धवाहक यंत्र (Tele-olefactory cell) का आविष्कार हुआ है जो गन्ध को लक्षित भी करता है. यह यंत्र मनुष्य की नासिका की अपेक्षा बहुत सद्यहृष (Sensitive) होता है और सौ गज दूरस्थ अग्नि को लक्षित करता है. इसकी सहायता से फूलों आदि की गन्ध एक स्थान से ६५ मील दूर दूसरे स्थान तक तार द्वारा या बिना तार के ही प्रेषित की जा सकती है. स्वयंचालित अग्निशमक (Automatic fire Control) भी इससे चालित होता है. इससे स्पष्ट है कि अग्नि आदि बहुत से पुद्गलों की गन्ध हमारी नासिका द्वारा लक्षित नहीं होती किन्तु और अधिक सद्यहृष (Sensitive) यंत्रों से वह लक्षित हो सकती है.

पुद्गल सक्रिय और शक्तिमान् है. पुद्गल में क्रिया होती है. शास्त्रीय शब्दों में इस क्रिया को परिस्पन्दन कहते हैं. यह परिस्पन्दन अनेक प्रकार का होता है. इसका सविस्तार विवेचन भगवती सूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि ने किया है.[2] पुद्गल में यह परिस्पन्दन स्वतः भी होता है और दूसरे पुद्गल या जीव द्रव्य की प्रेरणा से भी. परमाणु की गतिक्रिया की एक विशेषता है कि वह अप्रतिघाती होती है, वह वज्र और पर्वत के इस पार से उस पार भी निकल जा सकता है पर कभी-कभी एक परमाणु दूसरे परमाणु से टकरा भी सकता है.

पुद्गल में अनन्त शक्ति भी होती है. एक परमाणु यदि तीव्र गति से गमन करे तो काल के सबसे छोटे अंश अर्थात् एक समय (Timepoint) में वह लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक जा सकता है. आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा भी सिद्ध है कि पुद्गल में अनन्त शक्ति होती है एक ग्राम (Gram) पुद्गल में जितनी शक्ति (energy) होती है उतनी शक्ति ३००० टन (८४००० मन) कोयला जलाने पर मिल सकती है.

पुद्गल में संकोच-विस्तार होता है—पुद्गल आदि द्रव्य लोक में अवस्थित हैं. लोक में असंख्यात (Countless) प्रदेश (absolute units of space) ही होते हैं जबकि पुद्गल द्रव्य ही केवल अनन्तानन्त (Infinite in number) हैं. अब प्रश्न यह उठता है कि अनन्तानन्त पुद्गल असंख्यात प्रदेश वाले लोक में कैसे स्थित हैं जबकि एक प्रदेश, आकाश का वह अंश है जिससे छोटा कोई अंश संभव ही न हो ? उत्तर यह होगा कि सूक्ष्म परिणमन और अवगाहनशक्ति के

---

१. सुवर्णं तैजसम्, असति प्रतिबन्धकेऽत्यन्ताग्निसंयोगेऽपि अनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणत्वात्। –आचार्य अन्नंभट्ट: तर्कसंग्रह, पृ० ८.

२. शतक ३, उद्देश ३.

कारण परमाणु और स्कन्ध सभी सूक्ष्मरूप परिणत हो जाते हैं और इस प्रकार एक ही आकाशप्रदेश में अनन्तानन्त पुद्गल रह सकते हैं.[1]

उदाहरणार्थ, एक कमरे में एक दीपक का प्रकाश पर्याप्त होता है, लेकिन उसमें सैंकड़ों दीपकों का प्रकाश भी समा सकता है अथवा एक दीपक का प्रकाश, जो किसी बड़े कमरे में फैला रहता है, किसी छोटे वर्त्तन से ढँके जाने पर उसी में समा जाता है.[2] इससे स्पष्ट है कि पुद्गल के प्रकाश-परमाणुओं में सूक्ष्म परिणमन शक्ति विद्यमान है, उसी प्रकार पुद्गल के प्रत्येक परमाणु की स्थिति है. परमाणु की भांति स्कन्धों में भी सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति होती है. अवगाहन शक्ति के कारण परमाणु अथवा स्कन्ध जितने स्थान में स्थित होता है उतने ही, उसी स्थान में अन्य परमाणु और स्कन्ध भी रह सकते हैं.[3]

सूक्ष्म परिणमन की क्रिया का अर्थ ही यह हुआ कि परमाणु में संकोच हो सकता है, उसका घनफल कम हो सकता है.

## वैज्ञानिक समर्थन

यह सूक्ष्म परिणमन क्रिया विज्ञान से मेल खाती है. अणु (Atom) के दो अंग होते हैं, एक मध्यवर्ती न्यष्टि (Nucleus) जिसमें उद्युत्कण (Protons) और विद्युत्कण (Neutrons) होते हैं और दूसरा वाह्यकक्षीय कवच (Orbital Shells) जिसमें विद्युदणु (Electrons) चक्कर लगाते हैं. न्यष्टि (Nucleus) का घनफल पूरे अणु (Atom) के घनफल से बहुत ही कम होता है. और जब कुछ कक्षीय कवच (Orbital Shells) अणु से विच्छिन्न (Disintigrated) हो जाते हैं तो अणु का घनफल कम हो जाता है. ये अणु विच्छिन्न अणु (Stripped atoms) कहलाते हैं. ज्योतिष सम्बन्धी अनुसन्धाताओं से पता चलता है कि कुछ तारे ऐसे हैं जिनका घनत्व हमारी दुनिया की घनतम वस्तुओं से भी २०० गुणित है. एडिंग्टन ने एक स्थान पर लिखा है कि एक टन (२८ मन) न्यष्टीय पुद्गल (Nuclear matter) हमारी वास्केट के जेब में समा सकता है. कुछ ही समय पूर्व एक ऐसे तारे का अनुसन्धान हुआ है जिसका घनत्व ६२० टन (१७३६० मन) प्रति घन इंच है. इतने अधिक घनत्व का कारण यही है कि वह तारा विच्छिन्न अणुओं (Stripped atoms) से निर्मित है, उसके अणुओं में केवल न्यष्टियां ही हैं, कक्षीय कवच (Orbital shells) नहीं. जैन सिद्धान्त की भाषा में इसका कारण अणुओं का सूक्ष्म परिणमन है.

पुद्गल द्रव्य का जीव द्रव्य से संयोग भी होता है.

आगे पुद्गल द्रव्य के वर्गीकरण (Classification) का विषय आने वाला है. यह वर्गीकरण कई प्रकार से सम्भव है. एक प्रकार से पुद्गल को २३ वर्गणाओं या वर्गों में रखा जाता है. इन वर्गणाओं में से एक है कार्मण वर्गणा. कार्मण वर्गणा का तात्पर्य ऐसे पुद्गल-परमाणुओं से है जो जीव द्रव्य के साथ संयुक्त हुआ करते हैं

पुद्गल परमाणुओं का संयोग जीव द्रव्य के साथ दो प्रकार से होता है, प्रथम अनादि और द्वितीय सादि. सम्पूर्ण जीव-द्रव्यों का संयोग पुद्गल- परमाणुओं के साथ अनादिकाल से है या था. इस अनादि संयोग से मुक्त भी हुआ जा सकता है, मुक्त जीव को फिर यह संयोग कदापि नहीं होता—लेकिन अमुक्त या वद्ध (संसारी) जीव को यह प्रतिक्षण होता व मिटता रहता है. इसी होने-मिटने वाले संयोग को सादि कहते हैं.

---

१. सूक्ष्मपरिणामावगाह्य शक्तियोगात् परमाण्वादयो हि सूक्ष्ममानेन परिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता व्यवतिष्ठन्ते, अवगाहन-शक्तिश्चैषामव्याहताऽस्ति, तस्मादेकस्मिन्नपि प्रदेशेऽनन्तानन्तावस्थानं न विरुध्यते । —आचार्य पूज्यपाद-सर्वार्थसिद्धि, अ० ५, सू० १६.

२. प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत् । —आचार्य उमास्वामी : तत्वार्थसूत्र, अ० ५, सू० १६.

३. जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्धं,
तं तु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठा न दाणरिहं । —आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती : द्रव्यसंग्रह.

### संयोग का कारण

यह संयोग क्यों होता है ? इस प्रश्न के दो उत्तर हैं. जहां तक अनादि संयोग का प्रश्न है उसका कोई उत्तर नहीं. जब से जीव का अस्तित्व है तभी से उसके साथ पुद्‌गल-परमाणुओं (कार्मणवर्गणाओं) का संयोग भी है. जिस सुवर्ण को अभी खान से निकाला ही न गया हो उसके साथ धातु-मिट्टी आदि का संयोग कब से है, इसका कोई उत्तर नहीं. जब से सोना है तभी से उसके साथ धातु-मिट्टी आदि का संयोग भी है. यह बात दूसरी है कि सोने को उस धातु-मिट्टी आदि से मुक्त किया जा सकता है, उसी तरह जीव द्रव्य भी स्वयं के पुरुषार्थ से अपने को कार्मणवर्गणा से मुक्त कर सकता है. इधर, जहाँ तक सादि संयोग का प्रश्न है, इसका उत्तर दिया जा सकता है. अनादि संयोग के वशीभूत होकर जीव नाना प्रकार का विकृत परिणमन करता है और इस परिणमन को निमित्त के रूपमें पाकर पुद्‌गल परमाणु अपने आप ही कार्मण वर्गणा के रूप में परिवर्तित होकर तत्काल, जीव से संयुक्त हो जाते हैं.[1] संयोग के बनने-मिटने की यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक जीव द्रव्य स्वयमेव अपने विकृत परिणमन से मुक्त नहीं हो जाता है.

### संयोग की विशेषता

जीव द्रव्य और पुद्‌गल द्रव्य के संयोग की इस प्रक्रिया की यह विशेषता है कि वह संयुक्त होकर भी पृथक्-पृथक् होती है. जीव की प्रक्रिया जीव में और पुद्‌गल की प्रक्रिया पुद्‌गल में ही होती है. एक की प्रक्रिया दूसरे में कदापि सम्भव नहीं. इसी प्रकार एक की प्रक्रिया दूसरे के द्वारा भी सम्भव नहीं. जीव की प्रक्रिया जीव के ही द्वारा और पुद्‌गल की प्रक्रिया पुद्‌गल के ही द्वारा सम्पन्न होती रहती है. लेकिन इन दोनों प्रक्रियाओं में ऐसी कुछ समता, एकरूपता रहती है कि जीव द्रव्य कभी पुद्‌गल की प्रक्रिया को अपनी और कभी अपनी प्रक्रिया को पुद्‌गल की मान बैठता है :[2] जीव की यही भ्रान्त मान्यता मिथ्यात्व, मोह या अज्ञान कहलाती है.

### संयोग से आस्रव आदि तत्त्वों की सृष्टि

जीव और पुद्‌गल की इस संयोग-प्रक्रिया के फलस्वरूप ही जीव (Souls) और अजीव (Nonsouls, e.g. matters & Energies etc.) पुद्‌गल आदि के अतिरिक्त शेष पाँच तत्त्वों की सृष्टि होती है. जैन दर्शन में स्वीकृत सात तत्त्व (principles) ये हैं.[3]

(१) जीव Soul, a substence (२) अजीव (३) आस्रव (४) बन्ध (५) संवर (६) निर्जरा (७) और मोक्ष

आस्रव—जीव से पुद्‌गल द्रव्य के संयोग का मूल कारण है जीव की मनसा, वाचा और कर्मणा होनेवाली विकृत परिणति और इसी विकृत[4] परिणति का नाम आस्रव तत्त्व है.[5]

बन्ध-आस्रव तत्त्व के परिणामस्वरूप जीव द्रव्य से पुद्‌गल द्रव्य का संयोग होता है, लोलीभाव होता है जिसे बन्ध तत्त्व कहते हैं.[6]

बन्ध तत्त्व के अन्तर्गत यह ध्यान देने की बात है कि पुद्‌गल-परमाणु (कार्मणवर्गणायें) जीव द्रव्य में प्रविष्ट हो जाते हैं,

---

१. जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्‌गलाः कर्मभावेन । —आचार्य अमृतचन्द्र : पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो० १२.

२. एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।
प्रतिभाति बालिशानां, प्रतिभासः स खलु भवबीजम् । —वही, श्लो० १४.

३. जीवाजीवास्रव बन्ध संवर निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् ! —आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र ४.

४. कायवाङ्मनःकर्म योगः । —वही, अ० ६, सू० १.

५. स आस्रवः । —वही, अ० ६, सू० ४.

६. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्‌गलानादत्ते स बन्धः । —वही, अ० ७, सू० २.

अन्तर्लीन हो जाते हैं, जीव द्रव्य के साथ कार्मणवर्गणायें अपना एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं, अर्थात् आकाश के जिस और जितने प्रदेशों में जीव स्थित होता है, अपनी सूक्ष्म-परिणमन शक्ति के बल पर ठीक उन्हीं और उतने ही प्रदेशों में उससे सम्बन्धित कार्मणवर्गणाएँ भी स्थित हो जाया करती हैं. इस स्थिति (एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध) का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि वे दोनों एक दूसरे में परिवर्तित हो जाते हैं. इस सम्बन्ध के रहते हुए भी जीव, जीव ही रहता है और पुद्गल पुद्गल ही. दोनों अपने-अपने मौलिक गुणों (Fundamental realities) को एक समय के लिए भी नहीं छोड़ते.

**संवर**—जीव अपने ही पुरुषार्थ से निरन्तर संयुक्त होती रहने वाली कार्मण वर्गणाओं पर रोक लगा सकता है, और यही रोक संवर तत्त्व कहलाती है.[1]

**निर्जरा**—इसी प्रकार, जीव अपनी पूर्व-संयुक्त कार्मणवर्गणाओं को क्रमशः निर्जीर्ण या दूर भी कर सकता है और यही निर्जरा तत्त्व है.

**मोक्ष**—अपनी कार्मणवर्गणाओं से सदा के लिए पूर्णरूपेण मुक्त हो जाना जीव का मोक्ष कहलाता है.[2]

## पुद्गल का वर्गीकरण

पुद्गल क्या है, यह हम जान चुके हैं. वह एक द्रव्य है. उसके परमाणु-परमाणु में प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की अखण्ड प्रक्रिया वर्त्तमान है. इस प्रक्रिया की दृष्टि से, जितने भी पुद्गल हैं चाहे वे परमाणु के रूप में हों, चाहे स्कन्ध के रूप में, सब एक समान हैं. उनमें भेद या वर्गीकरण को अवकाश ही नहीं. अतः हम कह सकते हैं कि द्रव्यदृष्टि से पुद्गल का केवल एक ही भेद है, अथवा यों कहिए कि वह अभेद है.

पुद्गल का अधिकतम प्रचलित और सरल वर्गीकरण किया जाता है अणु (परमाणु) और स्कन्ध के रूप में.[3] हम यहाँ इन दोनों वर्गों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करेंगे.

## अणु

**अणु और उसकी परिभाषा**—अणु, पुद्गल का वह सूक्ष्मतम अंश है जिसका पुनः अंश हो ही न सके.[4] अणु का विभाजन नहीं किया जा सकता, वह अविभाज्य है.[5] अणु को पुद्गल का अविभाग-प्रतिच्छेद भी कहा जाता है.

**अणु की मुख्यतः पांच विशेषतायें हैं**—(क) सभी पुद्गल-स्कन्ध अणुओं से ही निर्मित हैं.

(ख) अणु नित्य, अविनाशी और सूक्ष्म है, वह दृष्टि द्वारा लक्षित नहीं हो सकता, इस बात का समर्थन वैज्ञानिकों द्वारा भी होता है, जब हम किसी परमाणु का निरीक्षण करते हैं तो हर हालत में हम कोई-न-कोई बाहरी उपकरण उपयुक्त करते हैं. यह उपकरण किसी-न-किसी रूप में परमाणु को प्रभावित करता है और उसमें परिवर्तन ला देता है. और हम यही परिवर्तित परमाणु देख पाते हैं, वास्तविक परमाणु नहीं.[6]

---

१. आस्रवनिरोधः संवरः । —आचार्य उमास्वामी; तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९, सू०.
२. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः । —वही अ० १०, सू० २.
३. (१) अणवः स्कन्धाश्च । —वही, अ० ५, सू० २५.
(२) एगत्तेण पुहुत्तेण खंधा य परमाणु य । —उत्तरज्झयणसुत्त ३६,११.
४. नाणोः । —आचार्य उमास्वामीः तत्त्वार्थसूत्र अ० ५.
५. अविभाज्यः परमाणुः । —जैनसिद्धान्तदीपिका, प्रकाश १ सूत्र १४.
६. सर डब्लू० सी० डैम्पियर : विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास—(हिन्दी अनु० पृ० २९९)

(ग) अणु में कोई एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श (स्निग्ध अथवा रूक्ष और शीत अथवा उष्ण) होते हैं.[1]

(घ) अणु के अस्तित्व का ज्ञान (अनुमान) उससे निर्मित पुद्गल-स्कन्धरूप कार्य से होता है.

(ङ) अणु इतना सूक्ष्म होता है कि उसके आदि, मध्य और अन्त का प्रश्न ही नहीं उठता.[2]

**अणु और विज्ञान का तथाकथित 'एटम'**—इन सभी विशेषताओं के बावजूद यह ध्यान देने की बात है कि आधुनिक रसायन-शास्त्र (Chemistry) में जो 'एटम' (Atoms) माने गये हैं, उन्हें प्रस्तुत अणु का ही दूसरा रूप नहीं कहा जा सकता. यद्यपि 'एटम' का मतलब पहले यही लिया गया था कि उसे विभाजित नहीं किया जा सकता लेकिन अब यह प्रमाणित हो चुका है कि 'एटम' (Atom) उद्युत्कण (Proton), निद्युत्कण (Neutrons) और विद्युत्कण (Electron) का एक पिण्ड है जबकि परमाणु वह मूल कण है जो दूसरों से मेल के बिना स्वयं कायम रहता है.

अणु और 'एटम' की इस विषमता को देखकर वैशेषिक दर्शन की यह मान्यता और भी हास्यास्पद लगने लगती है कि सूर्य के प्रकाश में चलते-फिरते दिखने वाले धूलिकण परमाणु हैं.

**अणु का वर्गीकरण**—अणु को चार वर्गों में रखा जा सकता है :—

(१) द्रव्य अणु अर्थात् पुद्गल-परमाणु,

(२) क्षेत्र अणु अर्थात् आकाश-प्रदेश,

(३) काल अणु अर्थात् 'समय'

(४) भाव अणु अर्थात् 'गुण'.[3]

भाव अणु के भी चार मूल भेद[4] और सोलह उपभेद[5] होते हैं.

## स्कन्ध

**स्कन्ध की परिभाषा**—दो या दो से अधिक परमाणुओं का पिण्ड स्कन्ध कहलाता है.

**स्कन्ध का घनत्व**—यह आवश्यक नहीं कि सभी स्कन्ध नेत्र द्वारा लक्षित हो सकें. एक स्कन्ध में भी, जिसे हम सूक्ष्म-दर्शक यंत्र से ही देख पाते हों—अनन्त परमाणु रहते हैं.

जैनदर्शन का यह स्कन्धों के घनत्व का सिद्धान्त विज्ञान द्वारा खूब पुष्ट हुआ है. एक औंस पानी में इतने स्कन्ध हैं कि यदि उन्हें संसार के तमाम स्त्री-पुरुष और बच्चे प्रति सेकण्ड पाँच की रफ्तार से गिनना शुरू कर दें तो पूरा गिनने में चालीस अरब वर्ष का समय लग जावेगा.[6] अभी-अभी सौरमण्डल में एक ऐसे नक्षत्र का पता चला है जिसके एक घन इंच का अंश ६२० टन (१७३६० मन) के वजन का होता है.[7]

**स्कन्ध का वर्गीकरण**—स्कन्धों को तीन वर्गों में रखा जाता है.[8] 'स्कन्ध' अनेक परमाणु जब एक समुदाय में आकर

---

१. एका-रस-गन्ध-वर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिंगश्च.
कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यो भवेत् परमाणुः । आचार्य अकलंकदेवः तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ० २, सू० २५.

२. सौक्ष्म्याद् य आत्मादि-रात्ममध्य-आत्मान्तश्च । —वही, अ० ५, सू० २५, वा० १.

३. चउव्विहे परमाणू पण्णत्ते, तं जहा, दव्वपरमाणू, खेत्तपरमाणू, कालपरमाणू, भावपरमाणू। —भगवतीसूत्र, २० । ५ । १२.

४. वही, २० । ५ । १६.

५. वही, २० । ५ । १.

६. E. N. D. Sc.&. Andrade D. Sc. Ph. D. The Machanism of Nature Page 37.

७. Raby fa Bois F. R. A. 'Arm Chair Science' London, July 1937.

८. जे रूवी ते चउव्विहा पण्णत्ता, खंधा, खंधदेसा, खंधपएसा, परमाणुपोग्गला —भगवती सुत्र, २। १०। ६६.

परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं तब वे स्कन्ध कहलाने लगते हैं. स्कन्ध का खण्ड भी स्कन्ध कहलाता है.[१]

**स्कन्धदेश**—स्कन्ध का कोई भी अंश या खण्ड (part) जो अपने अंगी से पृथग्भूत न हो, स्कन्धदेश कहा जाता है.[२]

**स्कन्धप्रदेश**—स्कन्ध या स्कन्धदेश का एक परमाणु जो अपने अंगी से पृथग्भूत न हो, स्कन्धप्रदेश कहलाता है.[३] अथवा पुद्गल के परमाणु और स्कन्ध के रूप में दो भेद होते हैं लेकिन ग्राह्य और अग्राह्य के रूप में भी दो भेद सम्भव हैं.

**ग्राह्य पुद्गल**—पुद्गल के जो परमाणु जीव द्रव्य से संयुक्त होते हैं उन्हें ग्राह्य कहा जाता है. इन्हें हम कार्मण आदि वर्गणा भी कह सकते हैं.

**अग्राह्य पुद्गल**—ग्राह्य पुद्गलों के अतिरिक्त शेष सभी अग्राह्य हैं, उन्हें जीव ग्रहण नहीं करता, जीव से उनका संयोग नहीं होता.

**तीन भेद**—पुद्गल द्रव्य परिणमनशील है. उसमें परिणमन स्वयमेव तो होता ही है, जीव के संयोग से भी होता है, इसी दृष्टि को लेकर उसके तीन भेद सम्भव हैं.[४]

**प्रयोग-परिणत** (Organic matter)—ऐसे पुद्गलों को प्रयोग-परिणत कहते हैं जिन्होंने जीव के संयोग से अपना परिणमन किया है.

**विस्रसा-परिणत** (Inorganic matter)—विस्रसा-परिणत ऐसे पुद्गलों को कहते हैं जो अपना परिणमन स्वतः किया करते हों, जीव का संयोग ही जिनसे कभी न हुआ हो.

**मिश्र-परिणत**—ये वे पुद्गल हैं जिनका परिणमन जीव के संयोग से और स्वयमेव, दोनों प्रकार से एक-ही-साथ रहा होता है. मिश्र-परिणत पुद्गल उन्हें भी कहा जा सकता है जिनका परिणमन कभी जीव के संयोग से हुआ हो लेकिन अब किन्हीं कारणों से जो स्वयमेव अपना परिणमन कर रहे हैं.

## चार भेद

पुद्गल के चार भेद किसी विशिष्ट दृष्टि से नहीं होते, स्कन्ध के तीन भेद जिनका अध्ययन हमने अभी-अभी किया है. और परमाणु का एक भेद मिलकर पुद्गल के चार भेद कहलाने लगते हैं.[५]

## छह भेद

परमाणु और स्कन्ध के रूप में हमने पुद्गल का अध्ययन किया, और हम देखेंगे कि उसका अध्ययन छह भेदों के रूप में भी हो सकता है.[६] ये छहों भेद स्कन्ध को दृष्टि में रखते हुए किये गये हैं.

---

१. भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते । —आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सू० २६.

२. वस्तुनो पृथग्भूतो बुद्धिकल्पितोऽशो देश उच्यते । —जैनसिद्धान्तदीपिका, प्र० १, सु० २२.

३. निरंशो देशः प्रदेशः कथ्यते । —वही, प्र० १, सु० २३.

४. तिविहा पोग्गला पएणत्ता, पओगपरिणया, वीससापरिणया, मीसापरिणया । —भगवतीसूत्र, ८। १। १.

५. जे रूवी ते चउव्विहा पएणत्ता, खंधा, खंधदेसा, खंधपदेसा, परमाणुपोग्गला । —वही, २।१०।६६.

६. (१) *वादरवादर-वादर-वादरसुहुमं च सुहुमथूलं च ।*
सुहुमं च सुहुमं-सुहुमं धरादियं होदि छब्भेयं । —नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती : गोम्मटसार, जीवकाण्ड गा० ६०२.
(२) अइथूलथूल-थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ।
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा ।
थूला इदि विएणेया सप्पीजलतेलमादीया ।

पुद्गल का यह वर्गीकरण, विश्व के अनन्त पुद्गल-परमाणुओं का यह पृथक्-पृथक् विभाजन, इतना वैज्ञानिक बन पड़ा है कि वह आधुनिक विज्ञान-वेत्ताओं के लिए आश्चर्य का विषय है. इस वर्गीकरण में हम कुछ उन तत्त्वों का भी अन्तर्भाव करते चलेंगे जिनका आविर्भाव या आविष्कार इसी युग में हुआ है.

**स्थूल-स्थूल** [Solids].

लकड़ी पत्थर आदि जैसे ठोस पदार्थ इस वर्ग में आते हैं.

**स्थूल** [Liquids].

इस वर्ग में जल, तेल आदि द्रव पदार्थ आते हैं.

**स्थूल-सूक्ष्म** [Visible Energies].

प्रकाश, छाया, अन्धकार आदि जैसे दृश्य पदार्थ इस वर्ग में लिए गये हैं, प्रकाश ऊर्जा [Energy] भी इसी वर्ग में रखी जा सकती है.

**सूक्ष्म-स्थूल** [Ulteravisible but intrasensual matters].

ऐसे पदार्थ इस वर्ग में आते हैं जिन्हें हम नेत्र इन्द्रिय से तो नहीं जान पाते लेकिन शेष चारों में से किसी-न-किसी इन्द्रिय द्वारा अवश्य जान सकते हैं. इसके उदाहरण हैं उद्जन [Hydrogen], जारक [Oxygen] आदि वातियें [Gases] और ध्वनि ऊर्जा [Sound energies] आदि जैसी ऊर्जायें.

**सूक्ष्म** [Ultravisible matter].

शास्त्रीय भाषा में जिन्हें कार्मणवर्गणा कहते हैं, उन पुद्गलों को इस वर्ग में रखा गया है. ये वे सूक्ष्म स्कन्ध हैं जो हमारी विचार-क्रिया जैसी क्रियाओं के लिए अनिवार्य हैं. हमारे विचारों और भावों का प्रभाव इन पर पड़ता है तथा इनका प्रभाव जीव-द्रव्य एवं अन्य पुद्गलों पर पड़ता है.

**सूक्ष्म-सूक्ष्म**—इस वर्ग में सूक्ष्मतम स्कन्ध आते हैं. ये नग्न नेत्र [Naked eye] से नहीं ही देखे जा सकते. इसके उदाहरणों में विद्युदणु [Electrons] उद्यदणु [positrons], उद्युत्कण [protons] और विद्युत्कण [Neutrons] आदि आते हैं.

## तेईस भेद

एक अन्य दृष्टि से पुद्गल के २३ भेद भी किये जाते हैं.[1] इन भेदों को शास्त्रीय शब्दों में वर्गणाएँ कहते हैं. उनमें से कुछ वर्गणाएँ हैं—आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा कार्माण वर्गणा और तैजस् वर्गणा आदि. इन वर्गणाओं के अनेक उपभेद भी होते हैं.[2]

---

छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।
सुहुमथूलेदि भणिया खन्धा चउरक्खविसया य ।
सुहुमा हवन्ति खंधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।
तव्विवरीया खंधा अइसुहुमा इदि परूवेंदि । —आचार्य कुन्दकुन्द : नियमसार, गा० २१-२४.

१. अणुसंखासंखेज्जाणंता य अगेज्जगेहिं अंतरिया ।
आहारतेजभासायणकम्मइया धुवक्खन्धा ।
सांतर निरन्तरेण य सुण्णा पत्तेयदेहधुवसुण्णा ।
वादरणिगोदसुण्णा सुहुम णिगोदा णभो महक्खन्धा । —आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती : गो० जी०, गा० ५९३-९४.

२. परमाणुवग्गणम्मि य, अवरुक्कस्सं च सेसगे अत्थि ।
गेज्झमहक्खन्धाणं वरमहियं सेसगं गुणियं । —वही०; गा० ५९५.

अनन्त भेद—पुद्गल द्रव्य की संख्या, क्या परमाणु और क्या स्कन्ध, सभी के रूप में अनन्त है. एक पुद्गल दूसरे पुद्गल से, स्पर्श, रस आदि किसी-न-किसी कारण से भिन्न या असमान भी हो सकता है अतः हम कह सकते हैं कि पुद्गल भी अनन्त हैं.[१]

वैज्ञानिक वर्गीकरण—विज्ञान ने सम्पूर्ण पुद्गल द्रव्य [Matters of Energies] को तीन वर्गों में रखा है. ठोस [Solids], द्रव [Liquids] और गैस [Gases]. विज्ञान की यह भी मान्यता है कि ये तीनों वर्गों के पुद्गल सदा अपने-अपने वर्ग में ही नहीं रहे आते, वे अपना वर्ग छोड़कर, रूप बदलकर दूसरे वर्गों में भी जा मिलते हैं.

विज्ञान के इस सिद्धान्त से जैन दर्शन को कोई बाधा तो नहीं ही पहुँचती, बल्कि उसकी पुष्टि ही होती है. जैन दर्शन भी यह स्वीकार करता है कि जल जो द्रव [Liquid] पुद्गल है, पौधे आदि के रूप में ठोस पुद्गल बन जाता है, उद्जन [Hydrogen] आदि दो गैसें [Gases] जल के रूप में तरल [Liquid] बन जाती हैं.

पुद्गल का कार्य—प्रत्येक द्रव्य का अपना कार्य होता है. शास्त्रीय भाषा में इस कार्य को उपग्रह या उपकार करते हैं. यह उपग्रह, पुद्गल द्रव्य अपने स्वयं या अन्य पुद्गल द्रव्यों के प्रति तो करता ही है, जीव द्रव्य के प्रति भी करता है.

पुद्गल द्रव्य द्वारा किसी अन्य पुद्गल द्रव्य का उपग्रह होता है, इसका उदाहरण साबुन और कपड़ा है. साबुन कपड़े को साफ कर देता है, दोनों पुद्गल हैं. एक पुद्गल ने दूसरे पुद्गल का उपग्रह किया, यह स्पष्ट ही है.

पुद्गल—जीव द्रव्य का उपग्रह भी अनेक रूपों में करता है. वह जीव के परिणमन के अनुसार कभी शरीर तो कभी मन और कभी वचन तो कभी श्वासोच्छ्वास के रूप में अपना स्वयं का परिणमन करता हुआ, उस परिणमन के माध्यम से जीव द्रव्य का उपग्रह करता रहता है.[२] सुख, दुःख, जीवन और मरण के रूप में भी पुद्गलद्रव्य, जीवद्रव्य का उपग्रह करता है.

पुद्गल द्रव्य के द्वारा जीव द्रव्य के उपग्रह का यह अर्थ कदापि नहीं कि पुद्गल-द्रव्य द्वारा जीव-द्रव्य में कोई प्रक्रिया या परिणमन किया-कराया जाता है. इसका अर्थ, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, केवल यही है कि जीवद्रव्य का परिणमन जीवद्रव्य में और पुद्गल-द्रव्य का परिणमन पुद्गल-द्रव्य में होता है लेकिन संयोगवश दोनों के परिणमनों में स्वभावतः, ऐसी कुछ समानता या एकरूपता बन पड़ती है कि हमें—जीवद्रव्यको—लगता है कि यह परिणमन हममें—जीव द्रव्य में-हो रहा है.

दोनों द्रव्यों के स्वतन्त्र परिणमन के सिद्धान्त का ही फल है कि एक ही वस्तु के उपभोग से अनेक लोगों—जीवों--में अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं. एक उदाहरण लीजिए. किसी अत्यन्त रूपवती वेश्या का मृत शरीर पड़ा है. एक साधु उसे देखकर सोचता है कि यदि इस वेश्या ने अपने शरीर के अनुरूप सुन्दर कार्य भी किये होते तो कितना कल्याण होता? इसका एक व्यभिचारी उसे देखकर सोचता है—यदि जीवित होती तो इसे जीवन भर न छोड़ता ! कोई व्यक्ति उसे देखकर सोचता है कि अच्छी मरी पापिन, अपना शील बेचा है इसने ! एक उस वेश्या का रिश्तेदार है जो स्नेहवश फूट-फूटकर रो रहा है. एक अजनबी उसे देखकर भी उसकी स्थिति पर कुछ विचार नहीं करता. यहां जो वस्तुतः जीवद्रव्य के अपने परिणमन की तारीफ है कि वह होता तो अपने आप है और लगता है कि पर-पुद्गल द्रव्य अथवा किसी अन्य जीव-द्रव्य के द्वारा कराया जा रहा है. वेश्या के मृत शरीर को देखकर होने वाला साधु का वैराग्य, व्यभिचारी की लम्पटता, असहिष्णु की घृणा, रिस्तेदार का विलाप और अजनबी की मध्यस्थता, यही सिद्ध करते हैं कि जीवद्रव्य का परिणमन उसके अपने उपादान या अन्तरंग कारण [material cause] पर ही निर्भर है, पुद्गल द्रव्य तो केवल निमित्त या बाह्य कारण [outer cause] है.

---

१. आचार्य अकलंक देव : तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ० ५, सू० २५, वा० ३.

२. शरीर-वाङ्-मनः-प्राणापानाः पुद्गलानाम् । —आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सू० १९.

३. सुख-दुःख जीवित-मरणोपग्रहाश्च । —वही, अ० ५, सू० २० ।

**पुद्गल के पर्याय**—किसी भी द्रव्य का स्वरूप ही यह है कि उसमें गुण और पर्याय हों. पुद्गलों के गुणों का विश्लेषण हो चुका है. पर्यायों की चर्चा यहाँ की जा रही है.

यों तो पुद्गल द्रव्य के अन्य द्रव्यों की भांति, अनन्त पर्याय हैं तथापि कुछ प्रमुख एवं हमारे दैनिक व्यवहार में आने वाले पर्यायों की चर्चा यहां की जाती है.

शब्द, बन्धन, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान [आकार], भेद [खण्ड], अंधकार, छाया, आतप [धूप] और उद्योत [चांदनी] पुद्गल के पर्याय हैं.[1] संगीत, प्रदर्शन, आवागमन आदि भी इसी कोटि में रखे जा सकते हैं.

इन सबके अतिरिक्त, पुद्गल के कुछ पर्याय ऐसे भी हैं जो मानव-शरीर और विज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं. इनका विश्लेषण यहाँ हम विशेष रूप से करेंगे.

### शब्द

**शब्द का स्वरूप**—एक स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध के टकराने से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह शब्द है.[2] शब्द कर्ण या श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है.

**शब्द और वैशेषिक दर्शन**—वैशेषिक दर्शन में शब्द को पुद्गल का पर्याय न मानकर आकाश द्रव्य का गुण माना है. इस मान्यता के खण्डन में अनेक तर्क दिये जा सकते हैं. प्रथम और स्पष्ट तर्क तो यही है कि आकाश द्रव्य अमूर्तिक है, उसमें स्पर्श आदि कुछ भी नहीं होते, जबकि शब्द मूर्तिक है, उसमें स्पर्श आदि हैं, उसे छुआ-पकड़ा भी जाता है. अमूर्तिक द्रव्य का गुण भी अमूर्तिक ही होना चाहिए, मूर्तिक नहीं. द्वितीय, आकाश का गुण मानने के मोह में यदि शब्द को अमूर्तिक ही माना जाय तो मूर्तिक इन्द्रिय उसे ग्रहण नहीं कर सकेगी. अमूर्तिक विषय को मूर्तिक इन्द्रिय भला कैसे जानेगी? तृतीय तर्क यह है कि शब्द टकराता है, उसकी प्रतिध्वनि होती है यदि वह अमूर्तिक आकाश का गुण होता तो जैसे आकाश नहीं टकराता वैसे ही शब्द भी न टकराता. चौथे-शब्द को रोका-बांधा भी जा सकता है, जबकि आकाश को, जिसका वह गुण कहा जाता है, रोकने-बांधने की चर्चा ही हास्यास्पद है. पाँचवां तर्क है शब्द गतिमान है जबकि आकाश गति-हीन है, निष्क्रिय है. और अन्तिम तर्क है विज्ञान की ओर से, शब्द ऐसे आकाश में गमन नहीं कर सकता जहां किसी भी प्रकार का पुद्गल [matter] न हो. यदि शब्द आकाश का गुण होता तो उसे आकाश के प्रत्येक कोने में जा सकना चाहिए था. क्योंकि गुण अपने गुणी के प्रत्येक अंश में रहता है. वहां पुद्गल के होने और न होने का प्रश्न ही न उठना चाहिए था.

**शब्द और विज्ञान**—शब्द-सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों की स्थापना जैनाचार्यों ने सदियों पहले की थी उन्हीं का पुनः स्थापन और विस्तार आज के वैज्ञानिकों ने किया है. उदाहरणार्थ-शब्द का वर्गीकरण ही ले लें. जैनाचार्यों ने शब्द को भाषात्मक और अभाषात्मक, दो वर्गों में रखा. आज के वैज्ञानिकों ने उन्हीं को क्रमशः संगीत ध्वनि [Musical sounds] और कोलाहल [Noises] नाम दे दिये. इसी तरह जैनाचार्यों के भाषात्मक शब्दों के प्रभेदों को भी वैज्ञानिकों ने ज्यों-का-त्यों वर्गीकृत कर दिया है. शब्द की प्रकृति और गति के विषय में भी जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान में अद्भुत समानता है.

**शब्दों का वर्गीकरण**—संक्षेप में शब्दों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है, भाषात्मक, अभाषात्मक और मिश्र !

---

१. (१) शब्दबन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायातपोद्योतवन्तश्च । —आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५; सू० २४.
(२) सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण-भेद-तम-छाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ।—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती : द्रव्यसंग्रह, गा० १६.

२. सद्दो खंधप्पभावो खंधो परमाणुसंगसंघादो । पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो—पञ्चास्तिकाय, गा० ७९.

विस्तार से, शब्द के मूलतः दो भेद होते हैं और दोनों के दो-दो प्रभेद तथा द्वितीय भेद के प्रथम प्रभेद के भी चार प्रभेद होते हैं.[1] हम यहां प्रत्येक का परिचय देंगे.

भाषात्मक—इस वर्ग में मानव और पशु-पक्षियों आदि की ध्वनियाँ आती हैं, इसके दो भेद हैं.

अक्षरात्मक—ऐसी ध्वनियाँ इस वर्ग में आती हैं जो अक्षरबद्ध की जा सकें—लिखी जा सकें.

अनक्षरात्मक—इस वर्ग में रोने-चिल्लाने, खांसने-फुसफुसाने आदि की तथा पशु-पक्षियों आदि की ध्वनियाँ आती हैं, इन्हें अक्षरबद्ध नहीं किया जा सकता.

अभाषात्मक—शब्द के इस वर्ग में प्रकृतिजन्य और वाद्ययंत्रों से उत्पन्न होने वाली ध्वनियाँ सम्मिलित हैं. इसके भी दो वर्ग हैं—प्रायोगिक और वैस्रसिक. वाद्ययंत्रों से उत्पन्न होने वाली ध्वनियाँ प्रायोगिक शब्द हैं और इन्हें चार वर्गों में रखा जाता है.

तत वर्ग में वे ध्वनियाँ आती हैं जो चर्म-तनन आदि झिल्लियों के कम्पन से उत्पन्न होती हों. तबला, ढोलक, भेरी आदि से ऐसे ही शब्द उत्पन्न होते हैं.

वितत शब्द वीणा आदि तंत्र-यन्त्रों में, तंत्री के कम्पन से उत्पन्न होते हैं.

घन शब्द वे हैं जो ताल, घण्टा आदि घन वस्तुओं के अभिघात से उत्पन्न हों. इसी वर्ग में हारमोनियम आदि जिह्वाल-यंत्रों से उत्पन्न ध्वनियाँ भी आती हैं।

सौपिर वर्ग में वे शब्द आते हैं जो बांस, शंख आदि में वायु प्रतर के कम्पन से उत्पन्न हों.[2]

वैस्रसिक—मेघगर्जन आदि प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न होनेवाले शब्द वैस्रसिक कहलाते हैं.

### बन्ध

बन्ध की परिभाषा—बन्ध शब्द का अर्थ है बंधना, जुड़ना, मिलना, संयुक्त होना. दो या दो से अधिक परमाणुओं का भी बन्ध हो सकता है. और दो या दो से अधिक स्कन्धों का भी; इसी तरह एक या एक से अधिक परमाणुओं का एक या एक से अधिक स्कन्धों के साथ भी बन्ध होता है. पुद्गल परमाणुओं (कार्मण वर्गणाओं) का जीवद्रव्य के साथ भी बन्ध होता है.

बन्ध की विशेषता:— बन्ध की एक विशेषता यह है कि उसका विघटन या खण्डन या अन्त अवश्यम्भावी है, क्योंकि जिसका प्रारम्भ होता है उसका अंत भी अवश्यमेव होता है.[3] एक नियम यह भी है कि जिन परमाणुओं या स्कन्धों या स्कन्ध परमाणुओं या द्रव्यों का परस्पर बन्ध होता है वे परस्पर सम्बद्ध रहकर भी अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रखते हैं. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के साथ दूध और पानी की भांति अथवा रासायनिक प्रतिक्रिया से सम्बद्ध होकर भी अपनी पृथक् सत्ता नहीं खो सकता, उसके परमाणु कितने ही रूपान्तरिक हो जावें, फिर भी उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रहता है.

---

१. शब्दो द्वेधा, भाषालक्षण-विपरीतत्वात् ।
भाषात्मक उभयथा, अक्षरादिकृतेतरविकल्पत्वात् ।
अभाषात्मको द्वेधा, प्रयोगविस्रसानिमित्तत्वात्, तत्र वैस्रसिको
बलाहकादिप्रभवः, प्रयोगजश्चतुर्धा, तत-वितत-घन सौपिरभेदात् ।
—आचार्य अकलंकदेवः तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ० ५, सू० २४.

२. चर्मतननिमित्तः पुष्कर भेरी-दुर्दुरादिभवस्ततः । तंत्रीकृतवीणा-सुघोष दिसमुद्भवो विततः । तालघण्टालालनाद्यभिघातजो घनः । वंशशंखादिनिमित्तः सौपिरः —आचार्य पूज्यपादः सर्वार्थसिद्धि, अ० ५, सू० २४.

३. संयुक्तानां वियोगश्च भविता हि नियोगतः । —आचार्यवादीभसिंह सूरि, क्षत्रचूड़ामणि.

**बन्ध का कारण:**—पुद्गल का बन्ध जीव के साथ भी होता है और इसके कई कारण हैं.

यह तो स्पष्ट है कि पुद्गल द्रव्य सक्रिय है और जो सक्रिय होता है उसका टूटते-फुटते रहना, जुड़ते-मिलते रहना-स्वभाविक ही है. हाँ, उसमें कोई न कोई कारण निमित्त के रूप में अवश्य होता है. उदाह रणार्थ मिट्टी के अनेक कणों का वन्ध होने पर घड़ा बनता है, इसमें कुम्हार निमित्त कारण है. द्रव्य की अपनी रासायनिक प्रक्रिया भी वन्ध का कारण वन जाती है, कपूर आदि के सम्मिलिन से वनी अमृतधारा और उद्जन (Hydrogen) आदि वातियों (Gases) के मिलने से दना हुआ जल ऐसी ही प्रक्रियाओं के प्रतिफल हैं.

जीव-द्रव्य और पुद्गल द्रव्य के वन्ध में मुख्य कारण है जीव का अपना भावनात्मक परिणमन और दूसरा कारण है पुद्गल की प्रक्रिया.

**बन्ध की प्रक्रिया:**—जैनाचार्यों ने वन्ध की प्रक्रिया का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेपण किया है. यद्यपि विज्ञान इस विश्लेपण को अपने प्रयोगों द्वारा पूर्णत: सिद्ध नहीं कर सका है तथापि विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि इसकी वैज्ञानिकता में संदेह नहीं . परमाणु से स्कन्ध, स्कन्ध से परमाणु और स्कन्ध से स्कन्ध किस प्रकार वनते हैं, इस विपय में हम मुख्यतः सात तथ्य पाते हैं.

(१) स्कन्धों की उत्पत्ति कभी भेद से, कभी संघात से और कभी भेद-संघात से होती है. स्कन्धों का विघटन अर्थात् कुछ परमाणुओं का एक स्कन्ध से विच्छिन्न होकर दूसरे स्कन्ध में मिल जाना भेद कहलाता है. दो स्कन्धों का संघटन या संयोग हो जाना संघात है और इन दोनों प्रक्रियाओं का एक साथ हो जाना भेद-संघात है.[१]

(२) अणु की उत्पत्ति केवल भेदप्रक्रिया से ही सम्भव है.[२]

(३) पुद्गल में पाये जाने वाले स्निग्ध और रूक्ष नामक दो गुणों के कारण ही यह प्रक्रिया सम्भव है.[३]

(४) जिन प्रमाणुओं का स्निग्ध अथवा रूक्ष गुण जघन्य अर्थात् न्यूनतम शक्तिस्तर पर हो उनका परस्पर वन्ध नहीं होता.[४]

(५) जिन पमाणुओं या स्कन्धों में स्निग्ध या रूक्ष गुण समान मात्रा में अर्थात् सम शक्तिस्तर पर हो उनका भी परस्पर वन्ध नहीं होता.[५]

(६) लेकिन उन परमाणुओं का वन्ध अवश्य होता है जिनसे स्निग्ध और रूक्ष गुणों की संख्या में दो एकांकों का अन्तर होता है. जैसे चार स्निग्ध गुणयुक्त स्कन्ध का छह स्निग्ध गुण युक्त स्कन्ध के साथ वन्ध सम्भव है अथवा छह रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध से वन्ध सम्भव है.[६]

(७)वन्ध की प्रक्रिया में संघात से उत्पन्न स्निग्धता अथवा रूक्षता में से जो भी गुण अधिक परिमाण में होता है, नवीन स्कन्ध उसी गुण रूप में परिणत होता है. उदाहरण के लिए एक स्कन्ध, पन्द्रह स्निग्धगुणयुक्त स्कन्ध और तेरह रूक्ष गुण स्कन्ध से वने तो वह नवीन स्कन्ध स्निग्धगुणरूप होगा.[७] आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में भी हम देखते हैं कि यदि किसी अणु (Atom) में से विद्युदणु (Electron ऋणाणु) निकाल लिया जाय तो वह विद्युत्प्रभृत (Positively charged )और यदि एक विद्युदणु जोड़ लिया जाय तो वह निद्युत्प्रभृत (Negatively charged) हो जाता है.

---

१. भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते —उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र. अ० ५, सू० २६.

२. भेदादणु । —वही अ० ५, सू०२७.

३. स्निग्धरूक्षत्वाद् वन्धः । —वही, अ० ५, सू०३३.

४. न जघन्यगुणानाम् । —वही अ० ५, सू० ३४.

५. गुणसाम्ये सदृशानाम् । —वही, अ० ५, सू० ३ छ.

६. द्वयधिकादिगुणानां तु । —वही, अ० ५, सू० ३६.

७. वन्धाऽधिकौ पारिणामिकौ च । —वही, अ० ५, सू० ३७.

**जीव और पुद्गल का बन्ध**—जीव और पुद्गल के पारम्परिक बन्ध की एक विशिष्ट परिभाषा है, जिसका विश्लेषण बहुत कुछ पहले किया जा चुका है.

कषाय सहित होने अर्थात् रागद्वेषरूप भावनात्मक परिणमन करने के कारण जीव कार्मणवर्गणा के पुद्गल को ग्रहण करता है, और इसी ग्रहण का नाम है बन्ध.[1]

**कर्मबन्ध का सिद्धान्त**—जीव जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है, यही तथ्य कर्म-सिद्धान्त की भूमिका है. इस सिद्धान्त को जैन, सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक आदि आत्मवादी दर्शन तो मानते ही हैं, अनात्मवादी बौद्ध दर्शन भी मानता है. इसी तरह ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी भी इस सिद्धान्त में प्रायः एकमत हैं.

**कर्मबन्ध का स्वरूप**—जैन दर्शन में कर्म केवल संस्कारमात्र ही नहीं हैं किन्तु एक वस्तुभूत पुद्गल पदार्थ हैं जो रागी-द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ आ मिलता है. अथवा यों कहिए कि राग-द्वेष से युक्त जीव की प्रत्येक मानसिक, वाचनिक और शारीरिक क्रिया के साथ एक द्रव्य पुद्गलपरमाणु या कार्मणवर्गणा—जीव में आती है जो उसके राग-द्वेष रूप भावों का निमित पाकर जीव से बंध जाता है और आगे चलकर अच्छा या बुरा फल देने लगता हैं.[2]

कर्म के दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म. जीव से संयुक्त कार्मणवर्गणा द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म के निमित्त से होने वाले जीव के राग-द्वेष रूपभाव, भावकर्म कहलाते हैं.

**कर्मबन्ध और वैदिक दर्शन**—ईश्वर को जगत् का नियन्ता मानने वाले दर्शन जीव को कार्य करने में स्वतन्त्र, किन्तु उसका फल भोगने में परतन्त्र मानते हैं.[3] उनके मत से कर्म का फल ईश्वर देता है किन्तु जैन-दर्शन के अनुसार कर्म अपना फल स्वयं देते हैं. उनके लिए किसी न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं होती. शराब पीने से नशा होता है और दूध पीने से पुष्टि. शराब या दूध पीने के बाद उसका फल देने के लिए किसी दूसरे शक्तिशाली नियामक की आवश्यकता नहीं होती. इसी प्रकार जीव की प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति के साथ जो कर्मपरमाणु जीव द्रव्य की ओर आकृष्ट होते हैं और राग-द्वेष का निमित्त पाकर उस जीव से बंध जाते हैं, उन कर्मपरमाणुओं (कार्मण-वर्गणाओं) में भी शराब और दूध की तरह अच्छा और बुरा प्रभाव डालने की शक्ति रहती है. जो चैतन्य के सम्बन्ध से व्यक्त होकर जीव पर अपना प्रभाव डालती है और उसके प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है जो सुखदायक या दुःखदायक होते हैं.

**कर्मबन्ध का वर्गीकरण**—बन्ध या संयोग को प्राप्त होने वाली कार्मण वर्गणाओं में अनेक प्रकार का स्वभाव पड़ना प्रकृतिबन्ध है. यह आठ प्रकार का होता है.[4]

(१) ज्ञानावरण कर्म (२) दर्शनावरण कर्म (३) वेदनीय कर्म (४) मोहनीय कर्म (५) आयु कर्म (६) नाम कर्म (७) गोत्र कर्म (८) अन्तराय कर्म.

---

१. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंध : —वही, अ० ८, सू० २.

२. परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो ।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ।—आचार्य कुन्दकुन्दः प्रवचनसार, गाथा ९५.

३. (१) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । —श्रीमद्भगवद्गीता; अ० ४, श्लो० २७ ।
(२) अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा । —महर्षि वेदव्यास : महाभारत,वनपर्व, अ० ३०, श्लो० २८.

४. आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ।—आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८, सू० ४.

स्थितिबन्ध—कार्मण वर्गणाओं में आत्मा के साथ बद्ध रहने की काल-मर्यादा पड़ना, स्थिति बन्ध है.

अनुभागबन्ध—कार्मणवर्गणाओं में फल देने की न्यूनाधिक शक्ति उत्पन्न होना, अनुभाग बन्ध है.

प्रदेशबन्ध—कार्मणवर्गणा के दलिकों की संख्या का नियत होना, प्रदेशबन्ध है.

सूक्ष्मता—सूक्ष्मता का अर्थ है छोटापन. यह दो प्रकार का है—अन्त्य सूक्ष्मता और आपेक्षिक सूक्ष्मता. अन्त्यसूक्ष्मता परमाणुओं में ही पाई जाती है और आपेक्षिक सूक्ष्मता दो छोटी-बड़ी वस्तुओं में तुलनात्मक दृष्टि से पाई जाती है.

स्थूलता—स्थूलता का अर्थ बड़ापन है. वह भी दो प्रकार का है—अन्त्य स्थूलता जो महास्कन्ध में पाई जाती है और आपेक्षिक स्थूलता जो छोटी-बड़ी वस्तुओं में तुलनात्मक दृष्टि से पाई जाती है.

संस्थान (आकार)—संस्थान का अर्थ है—आकार, रचनाविशेष. संस्थान का वर्गीकरण दो प्रकार से देखने में आता है. प्रथम प्रकार से उसके दो भेद हैं—इत्थं संस्थान, जिसे हम त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल आदि नाम देते हैं और अनित्थं-संस्थान, जिसे हम अनगढ़ भी कह सकते हैं, उसको कोई खास नाम नहीं दिया जा सकता तथापि उसे छह खण्डों में विभक्त किया गया है—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन. संस्थान का द्वितीय प्रकार से वर्गीकरण मानव-शरीर को दृष्टिगत रखकर किया जाता है—समचतुरस्र, न्यग्रोध, परिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक.

भेद (खण्ड)—स्कन्धों का विघटन अर्थात् कुछ परमाणुओं का एक स्कन्ध से विच्छिन्न होकर दूसरे स्कन्ध में मिल जाना भेद कहलाता है.

तम (अन्धकार)—जो देखने में बाधक हो और प्रकाश का विरोधी हो वह अन्धकार है:[1]

कुछ अजैन दार्शनिकों ने अंधकार को कोई वस्तु न मानकर केवल प्रकाश का अभाव माना है पर यह उचित नहीं. यदि ऐसा मान लिया जाय तो यह भी कहा जा सकेगा कि प्रकाश भी कोई वस्तु नहीं है, वह तो केवल तम का अभाव है. विज्ञान भी अंधकार को प्रकाश का अभावरूप न मानकर पृथक् वस्तु मानता है. विज्ञान के अनुसार अंधकार में भी उपरक्त किरणों (Infre-red heat rays) का सद्भाव है जिनसे उल्लू और बिल्ली की आँखें तथा कुछ विशिष्ट आचित्रीय पट (Photographic plates) प्रभावित होते हैं. इससे सिद्ध होता है कि अंधकार का अस्तित्व दृश्य प्रकाश (visible light) से पृथक् है.

छाया—प्रकाश पर आवरण पड़ने पर छाया उत्पन्न होती है:[2] प्रकाश-पथ में अपारदर्शक कायों (opeque bodies) का आ जाना आवरण कहलाता है. छाया को अंधकार के अंतर्गत रखा जा सकता है और इस प्रकार वह भी प्रकाश का अभावरूप नहीं अपितु पुद्गल की पर्याय सिद्ध होती है.

विज्ञान की दृष्टि में अणुवीक्षों (Lenses) और दर्पणों के द्वारा निर्मित प्रतिबिम्ब दो प्रकार के होते हैं, वास्तविक और अवास्तविक. इनके निर्माण की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि ये ऊर्जा प्रकाश के ही रूपान्तर हैं. ऊर्जा ही छाया (shadows) और वास्तविक (Real) एवं अवास्तविक (virtual) प्रतिबिम्बों (images) के रूप में लक्षित होती है. व्यतिकरण पट्टियों (interference bands) पर यदि एक गणनायंत्र (Counting machine) चलाया जाय तो काली पट्टी (Dark Band) में से भी प्रकाश वैद्युत रीति से (photo electrically) विद्युदणुओं [Electrons] का निःसरण होना सिद्ध होता है. तात्पर्य यह कि काली पट्टी केवल प्रकाश के अभावरूप नहीं, उसमें भी ऊर्जा होती है और इसी कारण उससे विद्युदणु निकलते हैं. काली पट्टियों के रूप में जो छाया [shadows] होती है वह भी ऊर्जा का ही रूपान्तर है.

---

१. तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणं प्रकाशविरोधि—आचार्य पूज्यपाद: सर्वार्थसिद्धि, अ० ५, सू० २४.

२. छाया प्रकाशावरणनिमित्ता ।—वहीं, अ० ५, सू० २४.

वर्गीकरण—प्रकाश-पथ में दर्पणों [Mirrors] और अणुवीक्षों [Lenses] का आ जाना भी एक प्रकार का आवरण ही है. इस प्रकार के आवरण से वास्तविक और अवास्तविक प्रतिविम्ब बनते हैं. ऐसे प्रतिविम्ब दो प्रकार के होते हैं, वर्णादिविकारपरिणत और प्रतिविम्बमात्रात्मक.[1] वर्णादिविकारपरिणत छाया में विज्ञान के वास्तविक प्रतिविम्ब लिये जा सकते हैं जो विपर्यस्त [inverted] हो जाते हैं और जिनका प्रमाण [size] बदल जाता है. ये प्रतिविम्ब प्रकाश-रश्मियों के वस्तुत: [Actually] मिलन से बनते हैं और प्रकाश की ही पर्याय होने से स्पष्टत: पौद्गलिक हैं. प्रतिविम्बमात्रात्मिका छाया के अंतर्गत विज्ञाने के अवास्तविक प्रतिविम्ब [virtual images] रखे जा सकते हैं जिनमें केवल प्रतिविम्ब ही रहता है, प्रकाश-रश्मियों के मिलने से ये प्रतिविम्ब नहीं बनते.

प्रकाश—जैन सूत्रकारों ने प्रकाश के आतप और उद्योत के रूप में दो विभाग किए हैं और उन्हीं के रूप में उसका विवेचन किया है. उनका यह विभाजन बड़ा ही वैज्ञानिक बन पड़ा है. जैन सूत्रकारों की यह सूक्ष्मदृष्टि और भेदशक्ति [Discriminative Power] निस्संदेह आश्चर्यजनक है.

प्रकाश का वैज्ञानिक विवेचन भी सम्भव है. वह चाहे सूर्य का हो, चाहे दीपक का, निरन्तर गतिशील है. वैज्ञानिकों ने लोक [ब्रह्माण्ड] में घूमने वाले आकाशीय पिण्डों की गति, दूरी आदि को मापने के लिये प्रकाश-किरण को ही अपना माप-दण्ड मान रखा है क्योंकि उसकी गति सदा समान है. प्रकाश में पहले भार नहीं माना गया था लेकिन अब यह सिद्ध हो चुका है कि वह एक शक्ति का भेद होते हुए भी भारवान् है. वैज्ञानिकों ने यह भी पता लगाया कि प्रकाश विद्युत-चुम्बकीय तत्त्व है. वह एक वर्गमील क्षेत्र पर प्रतिमिनिट आधी छटांक मात्रा में सूर्य से गिरता है.

आतप (धूप)—सूर्य आदि के निमित्त से होने वाले उष्ण प्रकाश को आतप कहते हैं.[2] इसमें ऊर्जा का अधिकांश ताप-किरणों [Heat Rays] के रूप में प्रकट होता है.

उद्योत (चांदनी)—चन्द्रमा, जुगनू आदि के शीत प्रकाश को उद्योत कहते हैं. उद्योत में अधिकांश ऊर्जा प्रकाश-किरणों [Light-energy] के रूप में प्रकट होती है.

ताप—ताप को हम उष्णता कह कर समझ सकते हैं. इसे पुद्गल के उष्ण स्पर्श गुण की पर्याय कहा जाना चाहिए. तभी ताप का विवेचन पूर्णत: वैज्ञानिक दृष्टि से होगा.

परमाणु में धनाणु और ऋणाणु निरन्तर गतिशील रहते हैं और इसी तरह अणु में स्वयं परमाणु और अणु-गुच्छकों में अणु निरन्तर गतिशील रहते हैं. यही आन्तरिक गति जब बहुत बढ़ जाती है और सूक्ष्मकण परस्पर टकराते हुए इधर-उधर दौड़ने लगते हैं तो वे ताप के रूप में दिखने लगते हैं.

विद्युत (बिजली)—विद्युत् को हम साधारणत: घन-विद्युत् और जल-विद्युत् के दो रूपों में देखते हैं. ये दोनों ही पुद्गल-पर्याय हैं और दोनों का वैज्ञानिक मूलाधार एक ही है.

वैज्ञानिक दृष्टि से विद्युत् के दो रूप हैं, धन और ऋण. धन का आधार उद्युत्कण [Proton] और ऋण का आधार विद्युत्कण [Electron] है. सिद्धान्त के अनुसार विश्व का प्रत्येक पदार्थ विद्युन्मय है.

रेडियो--क्रियातत्त्व [Radio-activity]—जब किसी परमाणु [Atom] से किसी कारणवश उसके मूलभूत कण, विद्युत्कण [Electron] और उद्युत्कण [proton] पृथक् होते हैं तो बम फटने की तरह धड़ाके की आवाज होती है, साथ ही उससे एक प्रकार की लौ निकलती है जो प्रकाश की तरह आगे-आगे बढ़ती चली जाती है. इसी लौ के प्रसरण को रेडियो-क्रियातत्त्व [Radio activity] या किरण-प्रसरण [Radiation] कहते हैं.

आधुनिक विज्ञान के १०२ तत्त्व—वैज्ञानिकों ने पुद्गल के कुछ ऐसे पर्यायों का पता लगाया है जो अपनी एक स्वतन्त्र

---

१. सा द्वेधा वर्णादिविकारपरिणता प्रतिविम्बमात्रात्मिका चेति ।—वही, अ० ५, सू० २४.

२. आतप आदित्यादिनिमित्त उष्णप्रकाशलक्षणः । वही, अ० ५, सू० २४.

जाति के होते हैं और जिनमें किसी अन्य जाति का मिश्रण स्वभावतः नहीं होता. ऐसी अमिश्रित जाति के पुद्गल-पर्यायों को ही विज्ञान में तत्त्व कहा जाता है. मौलिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि इन तत्त्वों के अन्वेषण की प्रेरणा वैदिक दर्शन के पञ्च महाभूतों वाले सिद्धान्त से मिली है. तत्त्वों का अन्वेषण दिनोंदिन होता ही चला गया और उनकी संख्या ९२ तक पहुँच गई. अब तो, सुनते हैं कि यह संख्या १०३ तक पहुँच गई है. भविष्य में और भी अनेक तत्त्वों के अन्वेषण की सम्भावना है.

जैन दर्शनकारों ने ७ तत्त्व और ६ द्रव्य ही माने हैं लेकिन उन्हें इस १०३ की संख्या से भी कोई आपत्ति नहीं. उनका वर्गीकरण स्वयं इतना युक्तिपूर्ण और वैज्ञानिक है कि आये दिन होते रहने वाले वैज्ञानिक अन्वेषणों से उनकी पुष्टि ही होती जाती है. ये १०३ तत्त्व केवल पुद्गल द्रव्य के ही पर्याय हैं और उनका अन्तर्भाव इसी द्रव्य के स्थूल-स्थूल आदि ६ भेदों में यथासम्भव किया जा सकता है. जैनदर्शन में परमाणुओं की जातियाँ भी मानी गई हैं और यह भी माना गया है कि एक जाति दूसरी जाति से अमिश्रित रह सकती है.

**अणु बम**—पहले वैज्ञानिकों की मान्यता थी कि उनका तथाकथित परमाणु टूटता नहीं, विच्छिन्न नहीं होता लेकिन धीरे-धीरे उनकी यह मान्यता खण्डित होती गई. धीरे-धीरे यह भी अन्वेषण हुआ कि परमाणुओं के बीजाणुओं की इकाई में अपार शक्ति भरी पड़ी है. उन्होंने यह अन्वेषण भी किया कि यूरेनियम नामक तत्त्व के परमाणुओंका विकीरण हो सकता है, इन्हीं सब अन्वेषणों के आधार पर अणु बम को जन्म मिला.

कहना न होगा कि यूरेनियम तत्त्व, जिसके परमाणुओं के विकीरण से अणुविस्फोट होता है. पुद्गल द्रव्य की पर्याय है, अतः यह सब पुद्गल द्रव्य का ही चमत्कार है.

**उद्जन बम**—उद्जन बम का सिद्धान्त अणु बम के सिद्धान्त से ठीक विपरीत है. अणु बम अणुओं के विभाजन का परिणाम है जबकि उद्जन बम उनके संयोग का. यह भी स्पष्टतः पुद्गल का ही पर्याय है.

**रेडियो और टेलीग्राम आदि**—रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेलीग्राम, टेलीफोन, टेलीप्रिंटर, बेतार-का-तार, ग्रामोफोन और टेप-रिकार्डर आदि अनेक यन्त्र आज विज्ञान के चमत्कार माने जाते हैं. पर इन सबके मूलभूत सिद्धान्त पर दृष्टिपात करने से हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं—यह सब शब्द की अद्भुत शक्ति और तीव्र गति का ही परिणाम है. और शब्द पुद्गल का ही पर्याय है. सचमुच, पुद्गल के खेल अद्भुत और अनन्त हैं.

**टेलीविजन**—जैसे रेडियो यन्त्र-गृहीत शब्दों को विद्युत्प्रवाह से आगे बढ़ाकर सहस्त्रों मील दूर ज्यों-का-त्यों प्रकट करता है वैसे ही टेलीविजन भी प्रसरणशील प्रतिच्छाया को सहस्त्रों मील दूर ज्यों-का-त्यों व्यक्त करता है.

जैन शास्त्रों में बताया गया है कि विश्व के प्रत्येक मूर्त्त पदार्थ से प्रतिक्षण तदाकार प्रतिच्छाया निकलती रहती है और पदार्थ के चारों ओर आगे बढ़कर विश्वभर में फैल जाती है. जहाँ उसे प्रभावित करने वाले पदार्थों—दर्पण, जल आदि का योग होता है वहाँ वह प्रभावित भी होती है. टेलीविजन का आविष्कार इसी सिद्धान्त का उदाहरण है. अतः टेलीविजन का अन्तर्भाव पुद्गल की छाया नामक पर्याय में किया जाना चाहिए.

**एक्स-रेज़**—एक्स-रेज़ भी विज्ञान-जगत् का एक महत्त्वपूर्ण एवं चमत्कारमय आविष्कार है. प्रकाश-किरणों की अबाध गति एवं अत्यन्त सूक्ष्मता ही इस आविष्कार का मूल है. अतः एक्स-रेज को पुद्गल की प्रकाश नामक पर्याय के अन्तर्गत रखना ही उचित है.

**अन्य**—विश्व में जो कुछ भी छूने, चखने, सूंघने, देखने और सुनने में आता है वह सब पुद्गल की पर्याय है. प्राणिमात्र के शरीर, इन्द्रिय और मन आदि पुद्गल से ही निर्मित हैं. विश्व का ऐसा कोई भी प्रदेश—कोना नहीं है जहाँ पुद्गल द्रव्य किसी-न-किसी पर्याय में विद्यमान न हो.

## उपसंहार

यह विज्ञान का युग है. प्रत्येक व्यक्ति की जिज्ञासा आज तीव्र हो उठी है. उसे कोरे शास्त्रीय तर्कों से ही सन्तोष नहीं. विज्ञान की तुला पर तोले विना वह किसी भी सिद्धान्त से सहमत नहीं होता. फलतः सर्वोपरि सिद्धान्त-दर्शन आज वही माना जाने लगा है जो शास्त्र-सम्मत तो हो ही, विज्ञान-सम्मत भी हो.

आज की इसी प्रवृत्ति को लक्ष्य में रखकर मैंने पुद्गल द्रव्य का यह विश्लेषण प्रस्तुत किया है. विश्लेषण दर्शन और विज्ञान, दोनों दृष्टियों से किया गया है. पुद्गल द्रव्य के विषय में स्थान-स्थान पर दर्शन और विज्ञान की समता तो दिखाई ही गई है, विषमता भी दिखाई गई है.

इस निवन्ध में पुद्गल द्रव्य के लगभग सभी पहलुओं का विश्लेषण किया गया है—तुलनात्मक दृष्टि से भी और विवेचनात्मक दृष्टि से भी.

विश्लेषण में शास्त्रीय भाषा का प्रयोग प्रायः नहीं किया है ताकि जन-साधारण उसे सहज ही समझ सके. इसी दृष्टि से यथास्थान अंग्रेजी पर्याय भी देता गया हूँ. कथित विषय की पुष्टि के लिये सन्दर्भ-ग्रन्थों का हवाला भी दिया गया है.

ऐसे ही विश्लेषण जीव द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य के विषय में आज अनिवार्यरूप से अपेक्षित हैं.

पं० मिलापचन्द्र कटारिया

# जीवतत्त्व विवेचन
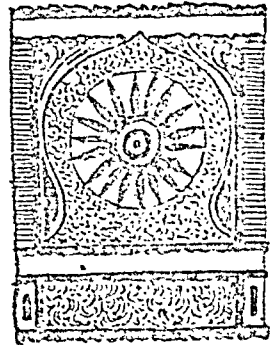
संसार अनादिकाल से छह द्रव्यों से परिपूर्ण है. उसमें एक जीवद्रव्य भी है. जीवों की संख्या सदा से ही अनंतानंत है. वे जितने हैं उतने ही रहते हैं, न घटते, न बढ़ते हैं. कोई भी जीव नया पैदा नहीं होता है और न किसी का विनाश ही होता है. अमुक प्राणी पैदा हुआ, अमुक मर गया, ऐसा जो कहा जाता है उसका अर्थ इतना ही है, कि किसी अन्य देह से निकलकर जीव इस देह में आया है. बस इसे ही उसका जन्म होना कहते हैं. और इस देह से निकलकर जीव अन्य देह में चला गया, बस यही उसका मरण कहलाता है. तत्त्वतः प्रत्येक जीव अजन्मा और अविनाशी है. उन अनंतानंत जीवों में कई जीव अशुद्ध रूप में और कई शुद्ध रूप में पाये जाते हैं. जो अशुद्ध रूप में हैं उन्हें संसारी जीव और शुद्ध रूप वालों को मुक्त जीव कहते हैं.

सब द्रव्यों में एक जीव द्रव्य ही चेतनामय है बाकी सब अचेतन-जड़ हैं. संसार में जो पदार्थ नेत्र आदि इंद्रियों द्वारा ग्राह्य होते हैं वे सब पुद्‌गल द्रव्य हैं. पुद्‌गलद्रव्य रूपी अर्थात् मूर्त्त होने से इंद्रियगोचर है. किंतु जीव द्रव्य रूपी व मूर्त्तिक नहीं है अतः वह किसी भी इंद्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं है. इसका अर्थ यह नहीं है कि वह शून्य रूप है. जीव भी अपनी सत्ता अवश्य रखता है. उसका भी कुछ न कुछ आकार रहता है. संसार-अवस्था में वह देह के आकार में रहता है और मुक्त अवस्था में उसके देह नहीं रहती, तथापि जिस देह को छोड़कर वह मुक्त होता है उस देह के आकार में (किंचित् न्यून) रहता है.

जीव में फैलने और सिकुड़ने की शक्ति विद्यमान है. वह अगर अधिक से अधिक फैले तो अकेला ही सारी सृष्टि को व्याप्त कर सकता है किंतु उसे विभिन्न भवों में जितने प्रमाण का देह मिलता है उतने ही प्रमाण का होकर रहना पड़ता है. भवांतर में ही नहीं, किसी एक भव में भी बाल्यावस्था के छोटे शरीर में छोटा बनकर रहता है, युवावस्था के बड़े शरीर में बड़ा बनकर रहता है फिर वही शरीर वृद्धावस्था में कृश हो जाता है तो उसमें कृश होकर रहने लगता है. जैसे दीपक का प्रकाश छोटे बड़े कमरे में सिकुड़ता-फैलता है, वैसे ही जीव भी बड़ी-छोटी देह में फैलता सिकुड़ता है. प्रत्यक्ष में यह भी देखा जाता है कि जब मनुष्य के दिल में कामवासना पैदा होती है तो उसकी कामेन्द्रिय का प्रमाण बढ़ जाता है. उसी के साथ उसके आत्मप्रदेश भी बढ़ जाते हैं और कामेन्द्रिय का संकोच होने पर उसके आत्मप्रदेश भी संकुचित हो जाते हैं.

यहाँ शंका की जा सकती है कि जैसे दीपक का ढक्कन हटा देने पर उसका प्रकाश फैल जाता है, उसी तरह मोक्ष में जीव के साथ देह के न होने से वह लोक प्रमाण क्यों नहीं फैलता है ? इसका समाधान यह है कि जैसे कोई आदमी पाँच हाथ की लंबी डोरी को समेट कर अपनी मुट्ठी में बंद कर ले. फिर कालांतर में मुट्ठी खोल देने पर भी वह डोरी बिना किसी के फैलाये अपने आप नहीं फैलती है, उसी तरह मोक्ष में देह के न रहने पर आत्मा के प्रदेश भी अपने आप नहीं फैलते हैं.

जीव को देहप्रमाण कहने का अर्थ यह है कि शरीर के प्रायः सभी अंशों में आत्मा के अंश मिले हुए हैं. जैसे दूध में घृत के अंश मिले रहते हैं. शरीर और आत्मा के अंश ऐसे कुछ घुलमिल जाते हैं कि उनकी संयुक्त क्रियाओं में कहीं तो आत्मा का असर शरीर पर होता दिखाई देता है और कहीं शरीर का असर आत्मा पर पड़ा दिखाई देता है. जैसे

आत्मा में क्रोध भाव उत्पन्न होने पर मुखाकृति का भयंकर बनना, भृकुटि चढ़ना, चक्षु का लाल होना आदि. इसी तरह हर्ष होने पर मुख का प्रफुल्लित होना, भय होने पर शरीर का कांपना, कामभाव होने पर कामेन्द्रिय में उत्तेजना होना यह सब शरीर पर होने वाला आत्मा का असर है. तथा बाल शरीर की अपेक्षा युवा शरीर में ताकत का अधिक होना, वृद्धावस्था में ताकत का घट जाना व स्थूल शरीर वाले पुरुष को दौड़ने-कुदने में कठिनाई का अनुभव होना, हाड़ मांस-मय एकसमान देह होते हुए भी स्त्री और पुरुष की भिन्न-भिन्न आकांक्षा होना अर्थात् स्त्री को पुरुष से रमण करने की और पुरुष को स्त्री से रमण करने की इच्छा होना इत्यादि उदाहरण शरीर का असर आत्मा पर पड़ने के हैं.

प्रश्न—अगर शरीर और आत्मा का इतना घनिष्ठ संबंध है तो दोनों को भिन्न न मानकर शरीर को ही आत्मा क्यों न मान लिया जावे ?

उत्तर—दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है. एक चेतन है दूसरा अचेतन है. अतः दोनों एक नहीं माने जा सकते हैं. अगर शरीर ही जीव हो तो मूर्छावस्था में शरीर के रहते भी वह अचेत क्यों हो जाता है ? और निद्रावस्था में कर्ण, रसना आदि इंद्रियों के होते हुए भी वह विषय को ग्रहण क्यों नहीं करता है. कोई मनुष्य शरीर और इंद्रियाँ ज्यों-की-त्यों रहने पर भी पागल कैसे हो जाता है ? इससे प्रकट होता है कि शरीर और आत्मा ये दो भिन्न-भिन्न चीजें हैं. जीव का स्वरूप जैन शास्त्रों में निम्न गाथा में कहा गया है—

> जीवो उवओगमओ, अमुत्तो कत्ता सदेहपरिमाणो ,
> भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ।
>
> —द्रव्य संग्रह : नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती

जीव चैतन्यमय है—जीता है, उपयोगमय है यानी ज्ञाता दृष्टा है, अमूर्तिक यानी इंद्रियों के अगोचर है, अच्छे-बुरे कार्यों का करने वाला है, उसका आकार अपना देह-प्रमाण है, और वह सुख-दुख का भोक्ता है. वह संसार में रह रहा है अर्थात् अनेक योनियों में जन्म मरण करता रहता है, शुद्ध स्वरूप से सिद्ध के समान है और ऊर्ध्वगमन उसका स्वभाव है. सब द्रव्यों में एक पुद्गल ही ऐसा द्रव्य है जो रूपी यानी दीखने में आता है, शेष सब अरूपी हैं. कुछ पुद्गल ऐसे भी होते हैं जो अपनी सूक्ष्मता से नेत्रगोचर नहीं भी होते हैं तथापि वे यंत्रादि के द्वारा ग्रहण योग्य होने से रूपी ही माने जाते हैं. जैसे गंध, शब्द, हवा आदि कुछ ऐसे भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल होते हैं जो सभी इन्द्रियों के अगोचर होने पर भी पुद्गल की जाति के ही माने जाते हैं जैसे कार्मणवर्गणा. जब कोई पुद्गल विशेष रूपी होकर भी अपनी सूक्ष्मता की वजह से नेत्रगोचर नहीं होते हैं तब जीवद्रव्य तो अरूपी है, वह दृष्टिमें तो क्या अन्य किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण में नहीं आ सकता है इसी से भ्रम में पड़कर कई लोग कहने लगते हैं कि यह शरीर ही जीव है, शरीर से भिन्न कोई जीव नाम का द्रव्य नहीं है. किन्तु ऐसा समझना मिथ्या है. आत्मा सूक्ष्म अरूपी होने से भले ही आँखों आदि से ग्रहण में नहीं आता है तथापि जो देखने जानने वाला है, किसी की इच्छा करता है और जिसको हर्ष सुख-दुख का अनुभव होता है, वही आत्मा है. आत्मा के होने से ही प्रत्येक प्राणी को उसके शरीर के छिन्न-भिन्न करने से दुख होता है. आत्मा के निकल जाने पर मुर्दा शरीर को काटने जलाने आदि से कोई पीड़ा नहीं होती है. इससे जाहिर होता है कि आत्मा और शरीर दो भिन्न-भिन्न चीजें हैं. उसके अलावा स्मृति जिज्ञासा, संशयादि ज्ञान विशेष आत्मा के गुण हैं, उनका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होने से उन गुणों वाला आत्मा भी प्रत्यक्ष है, क्योंकि गुण से गुणी भिन्न नहीं रहता है. जहाँ गुण है वहाँ गुणी भी अवश्य होता है. जैसे रूपादि गुण प्रत्यक्ष होने से उन गुणों का धारी घट भी प्रत्यक्ष है.

प्रश्न—माना कि गुण और गुणी अभिन्न हैं किन्तु शरीर ही आत्मा होने से वही गुणी है और ज्ञान उस शरीर का गुण है. ऐसा क्यों न मान लिया जाय ?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि घट की तरह शरीर मूर्त्तिवान् और चक्षुगोचर है. वह अमूर्त्तिक ज्ञानादि गुणों का आधार गुणी नहीं हो सकता. गुण और गुणी में अनुरूपता होती है—निरूपता नहीं. अतः ज्ञानादि गुण जिसमें हैं वह शरीर से भिन्न अन्य कोई अरूपी द्रव्य है और वही आत्मा है.

प्रश्न—ज्ञानादि गुण शरीर के नहीं है. ऐसा कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है. सब पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों से होता है और इन्द्रियरूप ही शरीर है. इन्द्रियाँ न हों तो कुछ भी ज्ञान नहीं होता.

उत्तर—आत्मा को पदार्थ का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है. इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा और इन्द्रियाँ अभिन्न हैं. क्योंकि चक्षु एवं कर्ण के न रहने पर भी अर्थात् अंधा बहरा हो जाने पर भी उनसे उत्पन्न पहिले का ज्ञान आत्मा को बना रहता है. जैसे खिड़कियों के द्वारा देखे हुए पदार्थों का बोध खिड़कियाँ बन्द कर देने पर भी देवदत्त को रहता है. अतः देवदत्त खिड़कियों से जुदा है वैसे ही आत्मा इन्द्रियों से जुदा है. इसी तरह इंद्रियों के रहने पर भी अगर आत्मा का उपयोग विषय-ग्रहण की ओर न हो तो पदार्थज्ञान नहीं होता है. इसलिए इन्द्रियों के होने पर भी आत्मा को पदार्थ ज्ञान नहीं होता और इन्द्रियों के न होने पर भी पदार्थज्ञान रहता है. इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि देहादि से आत्मा कोई जुदी चीज है.

इसके अतिरिक्त किसी दूसरे को इमली खाते देखकर मात्र उसका अनुभव करने से ही हमारे मुंह में पानी आ जाता है. दूसरे का रुदन सुनकर या उसके कष्ट का अनुभव करने मात्र से ही हमारी आँखों में अश्रु पैदा हो जाते हैं. यहाँ अनुभव करने वाला शरीर से भिन्न कोई आत्मा ही हो सकता है. एक इन्द्रिय से जानकारी हासिल करके दूसरी इन्द्रिय से कार्य करने, जैसे आंख से घटको देखकर हाथ उसे उठाने इत्यादि रूप में इन्द्रियों को सोच समझ कर काम में लेनेवाला भी, इन्द्रियों से भिन्न ही कोई हो सकता है. देवदत्त मकान की किसी एक खिड़की से किसी को देखकर दूसरी खिड़की में मुंह डालकर उसे बुलाता है. यहाँ जैसे खिड़कियों से काम लेनेवाला देवदत्त खिड़कियों से भिन्न है, उसी तरह इन्द्रियों को काम में लेनेवाला आत्मा भी, इन्द्रियों से भिन्न है, जैसे थोड़े ज्ञानवाले पांच पुरुषों से अधिक ज्ञान वाला छठा पुरुष भिन्न है, उसी तरह एक-एक विषय को ग्रहण करनेवाली पांचों इन्द्रियों से सभी विषयों को ग्रहण करने वाला छठा आत्मा भी, इन्द्रियों से भिन्न है. एक सेठ अलग-अलग गुमास्ते रखकर उनसे अपनी इच्छानुसार अलग-अलग काम लेता है. जैसे गुमास्तों से सेठ भिन्न है, उसी तरह इन्द्रियों से अपनी इच्छानुसार अलग-अलग विषय को ग्रहण करने वाला उनका अधिष्ठाता आत्मा भी, इन्द्रियों से भिन्न है. जैसे रेल के डिब्बे इंजन की गति विशेष के अनुसार चलते हैं, मुड़ते हैं, दौड़ते हैं, धीमे चलते हैं, उसी तरह इंद्रियाँ भी आत्मा की प्रेरणा से कार्य करती हैं. रेल के डिब्बों से इंजन भिन्न है उसी प्रकार इंद्रियों से आत्मा भिन्न है.

इस प्रकार से जब स्वशरीर में आत्मा की सिद्धि होती है तो उसी तरह परशरीर में भी आत्मा है. क्योंकि जैसे स्व-शरीर में आत्मा होने से इष्ट में प्रवृत्ति देखी जाती है, तद्वत् परशरीर में भी इष्ट अनिष्ट में प्रवृति देखी जाती है. अतः परशरीर में भी आत्मा है, यह प्रमाणित होता है. इससे जीवों की अनेक संख्या सिद्ध होती है. किन्तु सब संसारी जीवों में ज्ञान की हीनाधिकता पाई जाने के कारण सब जीव सर्वथा एक समान नहीं हैं, यह भी सिद्ध होता है. इस असमानता का कारण उनका अपना स्वभाव नहीं है. किन्तु उन पर होने वाला पौद्गलिक कर्मवर्गणाओं का आवरण है.
शरीर यद्यपि अचेतन है तथापि वह चेतन जीव द्वारा चलाये जाने के कारण चेतन सदृश ही दिखाई देता है. जैसे कि बैलों द्वारा चलाया शकट बैलों की तरह ही चलता हुआ दिखाई देता है.

प्रश्न—अगर आत्मा शरीर से भिन्न है तो वह जन्म के समय शरीर में प्रवेश करते और मृत्यु के समय शरीर से निकलते किसी को क्यों नहीं दिखती है ? जैसे पुष्प से गंध भिन्न नहीं, उसी तरह आत्मा भी शरीर से भिन्न नहीं है. जैसे पुष्प के नाश होने से गंध का विनाश हो जाता है उसी प्रकार देह के नाश होने से आत्मा का भी अभाव हो जाता है. गर्भ में शुक्रशोणित के सम्मिश्रण से शरीर का निर्माण होता है. वही शनैः-शनैः बढ़ने लगता है. वहां अन्य स्थान से जीव आकर उसमें स्थान कर लेता है ऐसा कहना केवल कल्पना है.

उत्तर—दूर से आया हुआ शब्द नेत्रों द्वारा नहीं देखा जाता. वह कान द्वारा ही ज्ञात होता है. फिर आत्मा तो सूक्ष्म अरूपी और अमूर्त्त है. वह न नेत्रों के गोचर है और न अन्य इंद्रियों के. इसलिए जीव जन्म-मरण के समय आता-जाता

दिखाई नहीं देता है. जैसे चम्पा के पुष्प को तेल में क्षपण करने से उसकी सुगन्ध पृथक् होकर तेल में मिल जाती है किन्तु पुष्प बना रहता है. इसी प्रकार आत्मा मृत्यु के समय इस शरीर से निकल कर भवान्तर में, अन्य शरीर में, चला जाता है और पूर्व शरीर यहां पड़ा रह जाता है. माता पिता के शुक्रशोणित से बनने वाली देह के सिवा उसमें आने वाली आत्मा का निषेध किया सो भी ठीक नहीं है. क्योंकि माता पिता कई वार मैथुन कर्म करते हैं, किन्तु गर्भ तो कभी-कभी ही रहता है. इससे सिद्ध होता है कि जब कभी उस समय भवान्तर से जीव आने का संयोग बैठता है तभी गर्भ रहता है. अगर गर्भोत्पत्ति में एक मात्र शुक्रशोणित ही कारण होता तो माता पिता के हर मैथुन कर्म के समय में गर्भ रहना चाहिये था. जैसे वनस्पति सचित्त अवस्था में होने पर ही जल सींचने से बढ़ती है सूखा ठूंठ अचित्त होने से नहीं बढ़ता है. उसी तरह गर्भ की वृद्धि भी सजीव अवस्था में ही होती है, निर्जीव अवस्था में नहीं. साधु लोग बरसों नंगे पांव चलते हैं. पर उनके तलुने नहीं घिसते हैं, जब कि जूता पहनकर चलने से वह कुछ काल में ही घिस जाता है. इसका कारण यही है कि तलुवे सजीव हैं. उन्हें खुराक मिलती रहती है जिससे वे घिसते नहीं. जूता निर्जीव होने से घिसता है. पुष्प का नाश होने से उसकी गंध का भी नाश हो जाता है, उसी तरह देह के नाश होने पर आत्मा का नाश हो जाता है, ऐसा मानना समिचीन नहीं है. क्योंकि मृत्यु के समय देह का नाश कहां होता है ? देह तो मौजूद रहती है. फिर क्यों मृत्यु होनी चाहिए ?

प्रश्न—देह तो रहती है पर जिन भू, जल, अग्नि आदि पंचभूतों के समुदाय से देह में चेतना उत्पन्न होती है, उनके जीर्ण हो जाने पर देह के रहते भी चेतना नहीं रहती है. इसे ही मृत्यु कहते हैं. जैसे धातकी, पुष्प, दाख, जल आदि के मिश्रण से शराब में मादकता उत्पन्न होती है. वह मादकता शराब पुरानी पड़ जाने पर भी शराब के रहते हुए उसमें से निकल जाती है.

उत्तर—पंचभूतों में से किसी भी भूत में चेतना नहीं है. फिर वह पंचभूतों के मिश्रण से कैसे उत्पन्न हो सकती है ? यदि कहा जाय कि धातकी आदि अलग-अलग द्रव्य में मादकता नहीं है किन्तु सब के मिलने पर मद्य उत्पन्न हो जाता है उसी तरह पंचभूतों में से अलग-अलग किसी में चेतना न होने पर भी उनके समुदाय में चेतना उत्पन्न हो जाती है किन्तु ऐसा ही हो तो जलते हुए चूल्हे पर पानी की भरी हंडिया को गरम करते समय पंचभूत इकट्ठे हो जाते हैं, वहां चेतना क्यों नहीं पैदा होती है ? मद्य के प्रत्येक उपादान द्रव्य में अगर मादकता के कुछ अंश न हों तो उनके समुदाय में भी मादकता कैसे हो सकती है ? और फिर धातकी आदि से ही मद्य क्यों बनता ? अन्य द्रव्यों से क्यों नहीं ? जैसे हर रज-कण में तेल के अंश नहीं होते तो उनके समुदाय में भी तेल उत्पन्न नहीं होता है. उसी तरह मद्य के हर एक उपादान द्रव्य में मादकता न होती तो उनके समुदाय में भी मादकता नहीं हो सकती थी. सही चीज तो यह है कि धातकी आदि से जो मदिरा पैदा होती है सो धातकी आदि भी पुद्गल है और उनसे उत्पन्न मदिरा भी पुद्गल है. अतः पुद्गल से पुद्गल ही पैदा हुआ उसी तरह पंचभूत भी पुद्गल है तो उनमें भी पौद्गलिक शरीर ही पैदा हो सकता है, चैतनामय आत्मा नहीं. पुरानी हो जाने से शराब रहते भी शराब में से मादकता निकल जाती हैं उसी तरह शरीर के जीर्ण हो जाने से शरीर रहते भी उसमें से चेतना निकल जाती है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सब ही की मृत्यु वृद्धावस्था में होती तो यह भी मान लिया जाता कि शरीर के जीर्ण होने से चेतना नष्ट हो गई किन्तु मृत्यु तो छोटे बच्चों व युवाओं की भी देखी जाती है, यहां तक कि कोई तो गर्भ में ही मर जाता है.

प्रश्न—धातकी दाख आदि प्रत्येक में अल्परूप में मादकता विद्यमान होती है. इस सिद्धान्त को मान लेते हैं. उसी तरह पंचभूतों में भी प्रत्येक में चेतना के अंश हैं और उनके समुदाय में पूरी आत्मा बन जाती है.

उत्तर—ऐसा मानने में भी बाधा है. पंचभूत पुद्गल हैं—मूर्तिक हैं, उनके अंश अमूर्तिक-चेतनास्वरूप कैसे हो सकते हैं ? और सब भूतों के इकट्ठे हो जाने पर चेतना की नई उत्पत्ति मानी जाय तो मृत शरीर में भी भूत समुदाय तो रहता ही है. फिर उसमें आत्मा का अभाव क्यों है ? यदि कहो कि मृत शरीर में से वायु निकल जाने के कारण चेतना नहीं रहती, तो नली के द्वारा वायु प्रवेश कराने पर चेतना पैदा हो जानी चाहिये. पर पैदा नहीं होती है. जो कहो

कि उस वक्त तेज का प्रभाव होने से चेतना पैदा नहीं होती है और चेतना पैदा होने योग्य विशिष्ट वायु की उपलब्धि भी नहीं होती है, तो फिर यों ही क्यों न कहो कि वह तेज और विशिष्ट वायु आत्मतत्त्व के सिवाय अन्य कोई नहीं है ?

प्रश्न—जैसे मिट्टी जल आदि के संयोग से धान्य आदि पैदा होना प्रत्यक्ष देखते हैं, वैसे ही भूतों के संयोग से जीव पैदा होते हैं ऐसा मानना भी उचित ही है.

उत्तर—धान्य के पैदा होने में मिट्टी जलादिक उपादान कारण नहीं है. उपादान कारण उनके बीच में हैं. वे बीज मिट्टी जलादि से भिन्न हैं. उसी तरह शरीर में चेतना भूत समुदाय की नहीं है किन्तु भूत-समुदाय से भिन्न आत्मा की है. जैसे एक वृद्ध पुरुष का ज्ञान युवावस्था के ज्ञान पूर्वक होता है और युवावस्था का ज्ञान बाल्यावस्था के ज्ञान पूर्वक होता है, उसी प्रकार बाल्यावस्था का ज्ञान भी उसके पूर्व की किसी अवस्था का होना चाहिये. वह अवस्था उस जीव के पूर्व भव की ही सम्भव है. जैसे जीव को वृद्धावस्था में अनेक अभिलाषायें होती है. उसके पूर्व युवावस्था में भी होती थीं और युवावस्था के पूर्व बाल्यावस्था में होती हैं. वैसे ही बाल्यावस्था के पूर्व भी कोई अवस्था होनी चाहिये ताकि इच्छाओं की परम्परा टूट न सके. वह अस्वथा जीव का पूर्व जन्म ही हो सकती है. इसी कारण से तो जन्म लेते ही बछड़ा गाय का स्तन चूसने लगता है. इससे यही सिद्ध होता है कि भवांतर से जीव आकर शरीर को अपना आश्रय बनाता है. वर्तमान में भी समाचार-पत्रों में पूर्व जन्म की घटनायें छपती रहती हैं. अगर पूर्व जन्म नहीं है तो बिल्ली का चूहे से और मयूर का सर्प से स्वाभाविक वैर होने का क्या कारण है ?

प्रश्न—यदि प्रत्येक शरीर में जीव भवांतर से आता है तो इसका अर्थ यही हुआ कि इस जन्म के शरीर में जो जीव है वही पूर्वजन्म के शरीर में था. शरीर बदला है जीव तो वही का वही है. तो फिर सभी जीवों को पूर्व जन्म की बातें याद क्यों नहीं हैं ?

उत्तर—जैसे वृद्धावस्था में किन्हीं को अपनी बाल्या अवस्था की बातें याद रहती हैं और किन्हीं को नहीं रहती हैं, इसी प्रकार किसी जीव को भवांतर की बातें याद आजाती हैं, किसी को नहीं. इसमें कारण जीव की धारणा शक्ति की हीनाधिकता है. दूसरी बात यह है कि जिन बातों पर अधिक सूक्ष्म उपयोग लगाया गया हो वे सुदूरभूत की होने पर भी याद आ जाती हैं और जिन पर मामूली उपयोग लगाया गया हो, वे निकट भूत की भी स्मरण में नहीं रहती हैं. मनुष्य को अपनी गर्भावस्था का स्मरण इसीलिये नहीं रहता है कि वहां उसको किसी विषय पर गम्भीरता पूर्वक सोचने की योग्यता ही पैदा नहीं होती है. इसके अतिरिक्त पूर्व शरीर को छोड़कर अगले शरीर को धारण करने में प्रथम तो बीच में व्यवधान पड़ जाता है, दूसरे अगला शरीर पूर्व शरीर से भिन्न प्रकार का होता है और उसके विकसित होने में भी समय लगता है. चूंकि जीव की ज्ञानोत्पत्ति में शरीर और इंद्रियों का बहुत बड़ा हाथ रहता है. यदि पूर्व जन्म में जीव असंज्ञी रहा हो तो वहां किसी विषय का चिंतन ही न हो सका. अतएव अगले जन्म में याद आने का प्रश्न ही नहीं रहता है. इत्यादि कारणों से प्रत्येक प्राणी को जाति स्मरण का होना सुलभ नहीं है.

प्रश्न—एक लोहे की कोठी में किसी प्राणी को बन्द कर दिया जाय और उस कोठी के सब छिद्रों को ढंक दिया जाय तो प्राणी मर जाता है. उस प्राणी की आत्मा उस कोठी से बाहर निकल जाती है. मगर उस कोठी में कहीं छिद्र नहीं होता है. इससे सिद्ध होता है कि उस प्राणी का जो शरीर था वही जीव था.

उत्तर—उस कोठी में शंख देकर किसी आदमी को बैठाया जावे और सब छिद्र बंद कर दिये जावें. फिर उस कोठी में बैठा आदमी शंख बजावे तो शंख की आवाज कोठी के बाहर सुनाई देती है. आवाज के निकलने से कोठी में कहीं छेद हुआ नजर नहीं आता है. फिर आत्मा तो आवाज से भी अत्यधिक सूक्ष्म है. आवाज मूर्त्त है, आत्मा अमूर्त्त है. आत्मा के निकलने पर कोठी में छेद होने की क्या जरूरत है ?

प्रश्न—मरणासन्न मनुष्य को जीवित अवस्था में तोला जाय और फिर मरने के पश्चात् तत्काल तोला जाय तो वजन

में कमी नहीं होती है. अगर शरीर से भिन्न कोई जीव होता तो मरने पर शरीर का वजन कम होना चाहिये था.

**उत्तर**—हवा भरी हुई मशक का जो वजन होता है वही वजन हवा निकालने के बाद भी उसमें रहता है. जब हवा के निकल जाने पर भी मशक के वजन में कमी नहीं आती है तो आत्मा तो अरूपी और हवा से भी अति सूक्ष्म है. उसके निकल जाने पर शरीर के वजन में कमी कैसे आ सकती है ?

**प्रश्न**—आंख ठीक हो तो दिखाई देता है, कान ठीक हो तो सुनाई देता है. दोनों ही में खराबी आजाने पर आत्मा न देख सकती है, न सुन सकती है. इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता है कि देखने-सुनने वाला जो है वह इन्द्रिय रूप शरीर ही है. कोई अलग आत्मा नहीं है.

**उत्तर**—स्वप्नावस्था में मनुष्य अपनी इंद्रियों को काम में लिये बिना भी देखता है, सूंघता है, खाता है, पीता है. यहां तक कि जिस मनुष्य को मरे कई वर्ष हो गये उसे भी प्रत्यक्ष देखता है. इस प्रकार की बातें निश्चय ही शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं.

**प्रश्न**—जीवों की उत्पत्ति भौतिक संमिश्रणों के आधार पर होती है. या तो माता-पिता के रजोवीर्य के मिलने पर या इधर-उधर के परमाणुओं से ही जीवोत्पत्ति हो जाती है. जैसे आटे में जीव पड़ना बालों में जूं पड़ना आदि. अगर ये सब जीव भवांतर से आकर पैदा होते हैं तो भवान्तर के शरीर को छोड़ते ही उनके लिये जैसा शरीर चाहिये वैसे ही शरीर का संयोग अपने आप कैसे बन जाता है ? जैसे किसी जीव को मनुष्य पर्याय में आना है तो उसके मरते ही कहीं अन्यत्र उसी समय पुरुष के और स्त्री के समागम से उत्पन्न शुक्रशोणित का मिश्रण भी तैयार रहना चाहिये, ताकि वह उसमें आ सके. इस प्रकार की तैयारी सदा ही अकस्मात् मिल जाना सम्भव नहीं है. इससे तो यही क्यों न माना जाय कि भौतिक मिश्रणों से ही चैतन्य उत्पन्न हो जाता है. यह नहीं कह सकते कि कोई जीव भवांतर के शरीर से निकलने के बाद, जब तक उनके योग्य शरीर की सामग्री का संयोग न मिले तब तक यों ही भटकता रहता है. क्योंकि विग्रहगति में अधिक से अधिक काल जैन-सिद्धांत में तीन समय मात्र बताया गया है. चौथे समय में तो उसे जहाँ भी जन्म लेना है वहाँ अवश्य पहुँचना ही पड़ता है. यह तीन समय का काल बहुत ही थोड़ा है. जैन शास्त्रों में एक श्वास में ही असंख्यात समय बताये हैं.

**उत्तर**—जैन-शास्त्रों में जीवों का जन्म तीन तरह का माना है—सम्मूर्च्छन, उपपाद और गर्भ. इनमें से सम्मूर्छन जन्म के लिये तो कोई कठिनाई नहीं है. यह जन्म रजोवीर्य के संयोग से नहीं होता है. यह तो तीन लोक में फैले हुये इधर-उधर के पुद्गल पदार्थों से ही हो जाता है अतः अगणित जीवों के इस जन्म के लिए तो हर समय लोक में सामग्री भरी पड़ी है. उपपाद जन्म देव-नारकियों का होता है. इस जन्म के लिए भी माता-पिता के संयोग की जरूरत नहीं है. इस जन्म के लिये तो नियत स्थान बने हुये हैं और वे सदा तैयार मिलते हैं. रहा गर्भजन्म, उसके लिये अगर माता-पिता के संयोग की जरूरत रहती है तो वह भी दुर्लभ नहीं है. मैथुन कर्म करने वाले जीवों की लोक में कोई कमी नहीं हैं. यह संयोग भी हर समय मिल ही जाता है. मैथुन के अन्त में ज्यों ही रजोवीर्य का पतन होकर मिश्रण हो, उसी समय भवांतर से जीव आकर उसमें पैदा हो, ऐसा भी कोई नियम नहीं है. किसी के मत से रजोवीर्य के उस मिश्रण में सात दिन पश्चात् तक जीव का आना बताया गया है.

इस तरह से जीवों के आवागमन की समस्या भी हल हो जाती है.
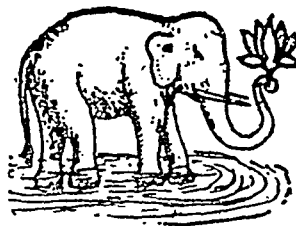
श्रीरतनलाल संघवी न्यायतीर्थ,

# भारतीय दर्शनों में आत्मवाद

## (१) ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि

भारतीय-विचार-जगत् के दार्शनिक क्षेत्र में सुदीर्घ काल से अनुभूतिधारक तत्त्व अर्थात् 'आत्मा' के सम्बन्ध में उत्सुकता-श्रद्धा एवं विचारात्मक अनुसंधान चला आ रहा है. आर्यावर्त्त में अब तक अनेक तीर्थंकर ऋषि-मुनि, तत्त्व-चिंतक, संन्यासी, ईश्वर-भक्त, संत एवं मनीषा-निधि दार्शनिक पुरुष और सर्वोच्च कोटि के निर्मल चारित्र-संपन्न लोक-सेवक, नानाविध भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रगूढ़ समस्याओं का चिन्तन-मनन करते हुए इस विचार-मंथन में अनुरक्त रहे हैं कि इस महान् अज्ञात और अज्ञेय रहस्य वाले ब्रह्माण्ड में मौलिकता तथा अमरता का कौन-सा तत्त्व है ?

यह दृश्यमान और अदृश्यमान अर्थात् प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रीति से विलोक्यमान लोक किन-किन वस्तुओं का बना हुआ है ? ऐतिहासिक और श्रद्धामय दोनों दृष्टियों से विचार किया जाय तो विदित होता है कि जब से मानव-जाति सुसंस्कृत हुई है और जब से इसमें विचार-शक्ति तथा मानव-समाज रचने की दृष्टि उत्पन्न हुई है, तभी से चेतना गुण वाले तत्त्व में आत्मा के सम्बन्ध में ऊहापोह प्रारम्भ हो गया है तदनुसार अब तक यही अनुभव हुआ है कि इस अखिल विश्व में दो तत्त्वों की ही मुख्यता है, जिनके आधार से इस विश्व का विस्तार है.

इस प्रकार श्रद्धा-दृष्टि से आत्मवाद की विचारणा प्रथम तीर्थंकर प्रभु श्रीऋषभदेव से मानी जा सकती है और ऐतिहासिक दृष्टि से लगभग दस हजार वर्ष से कुछ अधिक काल से, मेधा-संपन्न दार्शनिकों के मस्तिष्क में यह समस्या उत्पन्न हुई कि 'अनुभूति अथवा ज्ञान-शक्ति,' एक विशिष्ट तत्त्व है जो कि ज्ञान-शून्य पदार्थों से अर्थात् पुद्गल तत्त्वसे सर्वथा ही भिन्न है. अनुभूतिशक्तिसंपन्न तत्त्व के गुण, धर्म और पर्याय सर्वथा मौलिक, स्वतन्त्र, अनुपम, विलक्षण और असाधारण हैं, जब कि अनुभूतिशून्य तत्त्व, इससे सर्वथा विपरीत गुणों वाला है. इसी चिंतन ने भारतीय साहित्यक्षेत्र में अपना एक स्वतन्त्र विचार-विभाग प्रस्तुत किया जो कि दार्शनिक विचार-क्षेत्र कहलाया.

इस प्रकार से उत्पन्न हुई यह दार्शनिक विचारणा की धारा शनैः शनैः विभिन्न कोटि के चिन्तकों के मस्तिष्क में प्रवाहित होने लगी और परिणाम स्वरूप नित्य नये-नये विचार और नई-नई व्यवस्थाएँ तथा अपूर्व-अपूर्व कल्पनाएँ इस अनुभूतिमय तत्त्व के संबंध में उपस्थित होने लगी.

आज से लगभग पांच हजार वर्ष से कुछ समय पहिले यह विचारधारा मुख्यतः दो क्षेत्रों में विभाजित हो गई. एक धारा मुख्यतः वेद-ऋचाओं के निर्माताओं और तत्संबंधी संप्रदाय के विचारकों द्वारा प्रवाहित हुई, जो कि नैयायिक, सांख्य आदि नामों से वैदिक दार्शनिक रूप में प्रस्फुटित हुई. दूसरी भगवान् पार्श्वनाथ से सम्बन्धित विचारधारा इन के समकालीन अथवा इनसे कुछ पूर्वकालीन आध्यात्मिक महापुरुषों द्वारा प्रवाहित हुई. यह विचारधारा श्रमण दार्शनिक-विचारणा कही जा सकती है. यों प्रज्ञाशील पुरुषों के मानस में मीमांसापूर्वक प्रगति करता हुआ यह आत्मवाद-विचारणा का सिद्धान्त लगभग चार-पांच हजार वर्षों के पूर्व काल से आज दिन तक बराबर अखण्ड रूप से चिन्तन-मनन के रूप में अनुसंधान का विषय रहा है.

अब तक इस विषय में हजारों ग्रन्थ लिखे गये, लाखों महापुरुषों द्वारा इसकी व्याख्या की गई और करोड़ों आध्यात्मिक पुरुषों द्वारा एकांत में, ध्यानावस्था में, इस विलक्षण तत्त्व का चिन्तन मनन किया गया है.

जहाँ तक अनुभूतिमय तत्त्व अर्थात् आत्मा के अस्तित्व का प्रश्न है, सभी दार्शनिकों ने इसका अस्तित्व निःसंकोच रूप

से स्वीकार किया है परन्तु उसके स्वरूप और नित्यत्व आदि के विषय में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ रही हैं. कोई उसे परमाणु रूप मानता है, कोई विश्व-व्यापी स्वरूप वाला मानता है, कोई संकोच-विस्तारमय प्रदेशों वाला मानता, तो कोई उसे ईश्वरीय रूप वाला मानता है. कोई नित्य कहता है तो कोई अनित्य ही बतलाता है. इस तत्त्व की अन्तिम दशा मुक्त रूप कही गई है परन्तु मोक्ष के स्वरूप के संबंध में भी विभिन्न मत हैं. कोई उसे अनन्तकालीन कहते हैं तो कोई परिमितकालीन बतलाते हैं. बौद्ध-दर्शन तो इस विषय में अवक्तव्य जैसी स्थिति में है और दृष्टान्त रूप में "दीप-निर्वाणवत्" कह कर छुटकारा पा लेता है.

इन विविध दार्शनिक विवेचनाओं में भाषा-भेद, प्ररूपणा-भेद, कल्पना-भेद और व्याख्या-भेद के होते हुए भी आत्मा के प्रति किसी को अस्वीकृति नहीं है. इससे प्रमाणित होता है कि प्रायः सभी दार्शनिक आत्मा को एक स्वतंत्र तत्त्व स्वीकार करते हैं.

जब एक बार आत्मा का अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया तो इसके बाद में उत्पन्न होने वाले जन्म, मरण, पाप, पुण्य, वासना, संस्कार, मलीनता, पुनीतता, अर्धविमलत्व, पूर्ण विमलत्व, अज्ञानत्व, ज्ञानत्व, अमरत्व, ईश्वरत्व आदि के विषय में उत्पन्न होने वाले प्रश्नों की भी विवेचना की गई. इनका अपनी-अपनी शैली से तथा अपनी-अपनी भाषा-पद्धति से समाधान किया गया और भारतीय दर्शन-क्षेत्र में समुच्चय रूप से यह एक पूर्ण सत्य स्थापित किया गया कि आत्मा अवश्यमेव है तथा अपरिमित शक्ति-संपन्न एवं अचिन्त्य स्वरूप वाले ईश्वर तत्त्व से इसका घनिष्ठ संबंध है. इस घनिष्ठ सम्बन्ध के विषय में भी मुख्यतः दो विचार धाराएँ प्रस्तुत हुई हैं. नैयायिक वैशेषिक दर्शन आत्मा तथा ईश्वर दोनों को पृथक्-पृथक् मानते हैं, जब कि वेदान्त एवं सांख्य आदि प्रमुख संप्रदाय आत्म-तत्त्व में काल्पनिक भिन्नता बतलाते हुए मूलतः दोनों को एक ही तत्त्व बतलाते हैं.

बौद्ध दर्शन आत्मतत्त्व और ईश्वरत्व के सम्बन्ध में विशेष उलझने की आवश्यता नहीं बतलाता हुआ भी इसके अस्तित्व को स्वीकार करता है, यद्यपि पश्चात्वर्ती सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् नागार्जुन तथा दिङ्नागादि आत्म-तत्त्व के सम्बन्ध में आश्चर्यजनक 'शून्यता' जैसी कल्पताएँ करते हुए पाये जाते हैं फिर भी प्रच्छन्न रूप से आत्मतत्त्व की स्वीकारोक्ति उनमें भी प्रतीत होती है.

बौद्ध तार्किकों में सर्व-प्रथम और प्रधान आचार्य नागार्जुन हुए. इनका काल ईसा की दूसरी शताब्दी है. ये महान् प्रतिभाशाली और प्रचण्ड तार्किक थे. इन्होंने 'माध्यमिक-कारीका' नामक तर्क का प्रौढ़ एवं गम्भीर ग्रन्थ बनाया और बौद्ध-साहित्य का मूल आधार "शून्यवाद" निर्धारित किया. इसके आधार पर शेष भारतीय दार्शनिक मान्यताओं का तथा तर्कों का प्रबल खण्डन किया. दिङ्नागादि पश्चात्-तार्किकों ने इस विषक को विशेषरूप से आगे बढ़ाया और भारतीय तर्क-शास्त्र सम्बन्धी गहन साहित्य का गूढ़तम और गम्भीरतम रूप प्रस्तुत किया.

जैनदर्शन में आत्मतत्त्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है और आत्मतत्त्व की पूर्ण विकसित अवस्था को ही ईश्वरत्व माना गया है. ईश्वरत्व-प्राप्ति के बाद आत्मा पूर्ण रूप से कृतकृत्य तथा विमलतम स्थिति वाला हो जाने से जन्म-मरण आदि रूप भौतिक हस्तक्षेप से एवं तज्जनित विविध संसारचक्र रूप घट-माल से सर्वथा और सदैव के लिये परिमुक्त हो जाता है.

जीव तत्त्व को यह सांसारिक अवस्था कब और कैसे प्राप्त हुई ? इसका उत्तर यही है कि यह समस्या अनादि कालीन है और इसलिये इसका उत्तर यही हो सकता है कि सांसारिक अवस्था प्रत्यक्ष रूप से मलीन दिखाई दे रही है, इसको पवित्र बनाने का ही विचार करो और यह मत पूछो कि यह आत्मा क्यों और कब से तथा कैसे मलीन हुई है ?

मूल स्वरूप में सभी आत्माएँ अरूपी हैं, अजर हैं, ऊँच-नीच अवस्थाओं से रहित हैं और सभी प्रकार के लेपों से रहित हैं. जैन-शास्त्रों में आत्मतत्त्व का लक्षण उपयोगमय, ज्ञानमय अथवा अनुभूतिमय कहा गया है, जड़-तत्त्व में ज्ञान, अनुभव, उपयोग और विवेक जैसी शक्ति का सर्वथा अभाव है. यह अन्तर ही इन दोनों का असाधारण लक्षण है.

प्रत्येक सांसारिक आत्मा में यह सहजात आत्म-धर्म-रूप शक्ति विद्यमान है कि वह अपने मूल सात्त्विक गुणों के बल से सांसारिक अवस्था का उच्छेद करके 'ब्रह्म-ज्योति' के रूप में अखण्ड, अगोचर, सर्वगुणसंपन्न और सर्वशक्तिमान परमात्मा के रूप में परिणत हो सकता है.

जैन-दर्शन का विधान है कि प्रत्येक आत्मा में ईश्वरत्व मौजूद है, केवल उसके विकास करने की आवश्यकता है. अपने में स्थित मूल गुणों का विकास करने में, किसी भी आत्मा के लिये किसी भी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है.

इस प्रकार जैन-दर्शन की 'आत्म-तत्त्व' के संबंध में यह मौलिक विचारधारा है, जो कि अपने आप में विलक्षण स्वरूप वाली होती हुई परिपूर्ण रूप से सत्यमय एवं श्रद्धेय स्वरूप वाली है.

## (४) आत्म-तत्त्व-मीमांसा

संसारावस्था में अवस्थित आत्मतत्त्व के गुणावगुणों की अपेक्षा से जो अनेकानेक श्रेणियाँ दिखाई दे रही हैं, उनका कारण विकृति की न्यूनाधिकता ही है. जिस आत्मा में जितना सात्विक गुणों का विकास है, वह आत्मा उतनी ही ईश्वरत्व के समीप है और जिसमें जितनी विकृति की अधिकता है, उतनी ही वह ईश्वरत्व से दूर है.

आज दिन तक अनंतानंत आत्माओं ने अपने-अपने सत्-प्रयत्न द्वारा ईश्वरत्व प्राप्त किया है और आगे भी करती रहेंगी. ईश्वरत्व-प्राप्ति के पश्चात् ये आत्माएँ पूर्ण-रूपेण कृतकृत्य, 'वीतराग' अक्षय-अनन्त ज्योतिरूप हो जाती हैं, तत्पश्चात् संसार के प्रति इनका किसी भी प्रकार का कोई उत्तरदायित्व शेष नहीं रह जाता है. ये अनन्त-शक्ति के रूप में, परिपूर्ण विमल ज्ञान के रूप में या साक्षात् पूर्ण ईश्वरत्व के रूप में अवस्थित हो जाती हैं.

जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि इस प्रकार अनंतानंत आत्माएँ 'ज्योति में ज्योति' के समान ईश्वरत्व-स्वरूप में विकसित होकर परमावस्था में सदैव के लिये अवस्थित रहती हैं. इनमें न तो स्थानान्तर ही होता है और न अवस्थांतर ही, ये परस्पर में अबाधित रूप से, अखण्ड-अविनाशी-ज्ञान-ज्योति के रूप में स्थित होती हैं. यही जैन-दर्शन का ईश्वरत्व है.

वेदान्त-दर्शन का ब्रह्मतत्त्व, सांख्य दर्शन का पुरुषतत्त्व और जैन-दर्शन का आत्मतत्त्व लगभग समान हैं. उक्त तीनों दर्शनकारों की आत्मतत्त्व की विवेचन-प्रणाली भिन्न-भिन्न होती हुई भी सिद्धान्तः समान है. शब्द-भेद और विवेचन-शैली-भेद होने पर तात्पर्य-भेद उतना नहीं है जितना कि ऊपर से दिखलाई पड़ता है. इस प्रकार अर्थ-भेद के अभाव में तीनों दर्शनों का आत्मवाद लगभग एक-सा ही है.

सारांश यह है संपूर्ण विश्व का मूल आधार एवं इसका उपादान कारण केवल दो तत्त्व ही हैं; प्रथम अचेतन तत्त्व और दूसरा चेतन तत्त्व इन्हीं को वेदान्तदर्शन में माया और ब्रह्म कहते हैं, जब कि इन्हीं तत्त्वों का उल्लेख सांख्य दर्शन में प्रकृति एवं पुरुष के नाम से किया गया है.

वेदान्तदर्शन उद्‌बोधित करता है कि माया तत्त्व के कारण ही ब्रह्म नामक आत्मतत्त्व अपने आपको बँधा हुआ समझता है यदि ब्रह्म तत्त्व अपने स्वरूप को पहचान ले तो तत्काल ही इसकी माया से मुक्ति हो जायगी और यह उसी क्षण ईश्वरीय स्वरूप को प्राप्त हो जायगा. परिपूर्ण ईश्वरतत्त्व में और तत्काल माया से मुक्त आत्मतत्त्व में कोई अन्तर शेष नहीं रह जायगा, क्योंकि वास्तव में माया से परिबद्ध आत्म-तत्त्व की संज्ञा ब्रह्म ही है एवं यह ब्रह्म भी उस परम-ज्योतिस्वरूप ब्रह्म का ही अंश रूप है. विश्व-प्रवृत्ति माया तत्त्व से जनित है, ब्रह्मतत्त्व से नहीं. इस प्रकार स्थूल रूप में वर्णित उपरोक्त ब्रह्मवाद का तथा जैन-दर्शन के आत्मवाद का अन्तिम लक्ष्य एक ही है.

सांख्यदर्शन तत्त्व-चिन्तकों के सम्मुख यह मान्यता प्रस्तुत करता है कि विश्व में केवल दो ही मूलभूत पदार्थ हैं—पुरुष तथा प्रकृति. पुरुषतत्त्व साक्षात् ईश्वर स्वरूप है परन्तु प्रकृति के सान्निध्य ने वह अपने आप को बँधा हुआ मान बैठा है. ज्यों ही पुरुषतत्त्व को यह स्फुरणा होती है कि यह सब खेल प्रकृति का है, प्रकृति के साथ पुरुष का कोई लगाव नहीं है, त्यों ही पुरुषतत्त्व परिमुक्त हो जाता है.

## (५) आत्म-तत्त्व की मौलिकता

सभी आत्माएँ समान रूप से अनन्त गुणों की भंडार हैं. एक आत्मा में जितने भी गुण हैं, उतने ही तथा वैसे ही गुण शेष सभी आत्माओं में विद्यमान हैं. ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अमरता, सात्विकता आदि सभी गुण प्रत्येक आत्मा के मूल धर्म हैं. इन गुणों को वाह्य पदार्थ से प्रेरित अथवा जनित नहीं समझना चाहिये, अतएव ये वैभाविक नहीं हैं.ये सभी स्वाभाविक हैं.

इनमें विकास, अविकास, अर्धविकास, विपरित विकास जैसी नानाविध वैभाविक स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं, परन्तु इन गुणों का सर्वथा विनाश नहीं हो सकता है, क्योंकि इन गुणों का और आत्मा का परस्पर में अभिन्न संबंध है. इसे शास्त्रीय-भाषा में तादात्म्यसम्बन्ध कहते हैं. जैसे उष्णता और अग्नि, शीतलता और जल किरण और सूर्य, औषधि और उसकी प्रभाव-शक्ति आदि का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है. वैसा ही उपरोक्त सभी गुणों का आत्मा के साथ सम्बन्ध जानना चाहिए.

आत्मा चाहे निगोद, तिर्यंच, नरक आदि अवस्था में रहे, चाहे देवगति या, मनुष्यगति में रहे, अथवा अरिहंत-सिद्ध अवस्था में, इन गुणों का विनाश कभी नहीं होता. इन गुणों की स्थिति सांसारिक अवस्था में अविकसित अथवा अपूर्ण विकसित जैसी होती है, जब कि अरिहंत-सिद्ध अवस्था में ये गुण परिपूर्ण रूप से विकसित हो जाते हैं. संसार-अवस्था में आत्मतत्त्व के मौलिक गुण कर्म से आवृत्त रहते हैं, परिमुक्त-अवस्था में, अनावृत्त हो जाते हैं. सिद्धान्त यह है कि स्वरूप स्वरूपी से कदापि पृथक् अथवा भिन्न नहीं हो सकता है.

गुण, कर्म, वृत्ति और स्वभाव ये पारिभाषिक शब्द आत्मगत पर्यायों की स्थिति का परिचय कराते हैं, अतः इन पर विचार करने की आवश्यकता है.

जैन-दर्शन में आत्मतत्त्व की सर्वोत्तम तथा सर्वोच्च विकास-अवस्था तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान की प्राप्ति के समय में कही गई है. आध्यात्मिकभाषा में इस स्थिति को अरिहंत-अवस्था कहते हैं और उस अवस्था में उत्पन्न होने वाली सर्वोच्च सात्विक विशेषताएँ ही स्वाभाविक गुण शब्द से व्यक्त की जाती हैं. इन गुणों में अनन्त ज्ञान, दर्शन, निर्मलता, अक्षयता, अनिर्वचनीय आत्मिक आनंद, सरलता, संतोष, निर्लोभता आदि विशेषाओं का अन्तर्भाव है. ये आत्मिक गुण हैं, इनका और आत्मतत्त्व का परस्पर में तादात्म्य सम्बन्ध है. ये गुण ही आत्मा के धर्म कहलाते हैं.

संसार में परिभ्रमण करते समय इन गुणों एवं धर्मों में जो ह्रास अथवा विकास होता है, उसी को वृत्ति कहते हैं. सांसारिक-अवस्था में वृत्ति का स्थान क्रियात्मक रूप से हृदय और मस्तिष्क माना गया है. आत्म-तत्त्व से प्रेरित मानसिक-शक्ति का प्रभाव शरीर पर होता हुआ भी हृदय एवं मस्तिष्क पर विशेष रूप से जानना चाहिये. मन यद्यपि शरीर-व्यापी ही है परन्तु उसका प्रमुख स्थान हृदय और मस्तिष्क है. मन में जो अच्छे अथवा बुरे विचार उत्पन्न होते हैं, तथा जो भली एवं बुरी भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें ही 'वृत्ति' संज्ञा दी गई है.

ये वृत्तियाँ मुख्यतः तीन भागों में विभाजित हैं :—(१) सात्विक, (२) राजस और (३) तामस. अच्छी वृत्तियो को या श्रेष्ठ तथा हितावह विचारों को, और उत्तम भावनाओं को 'सात्विक-वृत्तियाँ' कहते हैं.

सर्वोच्च विकास-शील अवस्था में अर्थात् अरिहंत-स्थिति में जो गुण हैं, वे ही संसार-अवस्था में रहते हुए- साधना-काल में, सात्विक-वृत्तियों के नाम से परिलक्षित होते हैं. निष्कर्ष यह है कि संसार-अवस्था में रहते हुए आत्मा के गुण-धर्मों में पर्याय रूप से उत्पन्न होने वाली विशिष्ट गुण-धारा ही वृत्ति है.

## (६) आत्मतत्त्व का संविकास

जब तक आत्मा का दृष्टिकोण वाह्यसुख और पुद्गलों में रहता है अर्थात् जब तक सांसारिकसुख, सांसारिक लालसा, इन्द्रिय-भोग, इन्द्रिय-पोषण ,धनसंग्रह, पद-लालसा और यशोलिप्सा आदि तामस वृत्तियों की ओर आत्मा लगी रहती

है, तब तक वह अन्तर्मुख नहीं है. इस स्थिति को 'बहिरात्म' स्थिति कहते हैं. इसे मिथ्यात्व-अवस्था भी कहा गया है. इसकी तीन श्रेणियाँ विचार-भेद से कही गई हैं, इनके पारिभाषिक नाम प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थान हैं.

इन गुण स्थानों की भी अवान्तर रूप से असंख्यात श्रेणियाँ हैं, क्योंकि इन गुणस्थानों में पाई जाने वाली अनंतानंत आत्माएँ हैं, जिनकी विचार-श्रेणियाँ अथवा अध्यवसायस्थान असंख्यात हैं, तदनुसार उपर्युक्त तीनों गुणस्थानों में भी अवान्तर श्रेणियों की संख्या भी असंख्यात प्रकार की हो सकती है.

अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, एवं मिथ्यात्वमोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर आत्मा में बाह्य-भावना के स्थान पर आंतरिक भावना की जागृति होती है, ऐसी आत्माओं की श्रद्धा और रुचि ईश्वर, मोक्ष, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की ओर होनी प्रारंभ हो जाती है, सांसारिक भोगों के प्रति उदासीनता हो जाती है, इस स्थिति को 'अन्तरात्मभाव' कहते हैं. यह विकास की सीढी है, आध्यात्मिकता की नींव है इसे ही जैनदर्शन में 'सम्यक्त्व' कहते हैं.

यह स्थिति चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर बारहवें गुणस्थान तक रहती है. इस स्थिति में विभिन्न आत्माओं की प्रगति विभिन्न प्रकार की होती है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा की विचार-धारा अलग-अलग होती है. आध्यात्मिक-अध्यवसायों की श्रेणियां असंख्यात प्रकार की हैं, तदनुसार चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक के अवान्तर भेदों की संख्या भी असंख्यात प्रकार की हैं, परन्तु फिर भी प्रमुख श्रेणियां दो प्रकार की कही गई हैं:—

कुछ आत्माएं ऐसी होती हैं जिनकी विचार-धारा भावुक मात्र होती है. उनकी कषाय-भावनाएं, विषम-वासनाएं, धन-मूढ़ता आदि तामस वृत्तियां मूल से क्षीण नहीं होती हैं, किन्तु वातावरण तथा कुछ बाह्य संयोगों से दब जाती हैं. इनका बीज तथा इनकी विशालता ज्यों की त्यों अव्यक्त रूप में भीतर छिपी रहती है. केवल बाह्य रूप से शांति दिखाई देती है इसे जैन-दर्शन में "उपशम अवस्था" कहा गया है. इस अवस्था के विपरीत जिन आत्माओं में कषाय, वासना, मोह, मूढ़ता आदि तामस तथा राजस वृत्तियां जड़-मूल से क्षीण हो जाती हैं, जिनके पुन: उदय होने की अथवा पुन: विकसित होने की कोई संभावना नहीं रहती है, ऐसी आत्माएँ ही वास्तव में पूर्ण विकास कर सकती हैं. ऐसी स्थिति को जैन-दर्शन में 'क्षय अवस्था' कहा गया है. उपरोक्त दोनों प्रकार की अवस्थाओं के लिये पारिभाषिक संज्ञा क्रम से 'औपशमिक सम्यक्त्व' तथा 'क्षायिक सम्यक्त्व' है.

क्षायिक सम्यक्त्व का उत्कृष्टतम विकास क्रमश: बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होता है. इस प्रकार अन्तरात्मभाव दो मार्गों से विकास को प्राप्त होता है, एक उपशममार्ग से और दूसरा क्षयमार्ग से. उपशममार्ग से चलने वाली आत्मा अधिक से अधिक ग्यारहवें गुणस्थान तक जाकर लौट जाती है. इस प्रकार उपशममार्गी आत्मा बहिरात्म-भाव तथा अन्तरात्म-भाव में ही चक्कर लगाया करती है और आगे नहीं बढ़ पाती है, किन्तु क्षायिक मार्ग-गामी आत्मा अन्तरात्म-भाव द्वारा आगे विकास करती हुई अपने मूल स्वरूप की ओर बढ़ती ही चली जाती है. और 'परमात्म-भाव' को प्राप्त कर लेती है. इस अवस्था को जैन-शास्त्रों में तेरहवां तथा चौदहवां गुणस्थान कहा गया है. इस अवस्था को प्राप्त आत्मा पूर्ण रूप से 'कृतकृत्य' हो जाता है और सदैव के लिए अपने परमध्येय ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है. जैन-दर्शन में यही 'अरिहंत' अवस्था कहलाती है. यह अवस्था परिपूर्ण परमात्मतत्त्व की या सिद्ध-स्वरूप की ही पूर्ववर्ती पर्याय है. भारतीय दर्शनों के अनुसार इसे ही 'आत्मा की पूर्णता' कहते हैं.

इस प्रकार आत्मा की तीन स्थितियाँ बतलाई गई हैं, (१) बहिरात्म-भाव, (२) अन्तरात्म-भाव और (३) परमात्म-भाव. अन्तरात्म-भाव से परमात्म-भाव की ओर बढ़ते-बढ़ते आत्मा को अनेक स्थितियों में से गुजरना पड़ता है. सबसे प्रथम तो मोह की जो दुर्भेद्य ग्रन्थि है, उसको तोड़ना पड़ता है. इस ग्रंथि को तोड़े बिना आगे आत्मा बढ़ ही नहीं सकता है. इसे तोड़ने के लिए महान् आध्यात्मिक प्रयत्न करना पड़ता है. ऐसी आत्मा को हृदय में विकसित तामस एवं राजस वृत्तियों से घोर संघर्ष करना पड़ता है. जबर्दस्त रस्सा-कसी चलती है. इस संघर्ष में अनिष्ट वृत्तियां तो

आत्मा को सांसारिक भोगों की ओर खींचती हैं, इन्द्रियों को तथा मन को ललचाती हैं और सात्विक वृत्तियां आत्मा को उच्च भावनाओं की ओर आकर्षित करती हैं. इस संघर्ष में यदि आत्मा निर्वल हुई तो अनिष्ट वृत्तियों की जीत हो जाती है और उसका विकास रुक जाता है और यदि आत्मा प्रवल हुई तो सात्विक वृत्तियों की विजय होती है. इस प्रकार के उतार-चढ़ाव को आध्यात्मिक-साहित्य में 'वृत्ति-संघर्ष' अथवा 'भावना-युद्ध' कहते हैं.

शैतान वृत्तियों में एवं सात्विक वृत्तियों के पारस्परिक संघर्ष के वाद यदि सात्विक वृत्तियों की जीत हो जाती है तो यह घटना आत्मा के लिये परम सौभाग्य रूप मानी जाती है. इसे जैन-शास्त्रों में अपूर्वकरण संज्ञा दी गई है.

अनादि काल से परिभ्रमण करते हुए जीव के लिये यह प्रथम ही प्रसंग होता है और इसीलिये शास्त्रकारों ने इसका 'अपूर्वकरण' नाम प्रस्थापित किया है.

अपूर्वकरण की स्थिति में अवस्थित आत्मा की भावना प्रशस्त हो जाती है, और जव उसकी प्रगति विकास की ओर ही रहती है तो उस विकासोन्मुख प्रवृत्ति के लिये जैनदर्शन में 'यथा-प्रवृत्ति-करण' नाम प्रदान किया गया है.

जव आत्मा में 'अपूर्वकरण' तथा 'यथाप्रवृत्तिकरण' का उदय हो जाता है, तव आत्मा में रही हुई मोह की गांठ आत्यंतिक रूप से छूट जाती है, शैतान वृत्तियों का नाश हो जाता है. आत्मा की ऐसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति के लिये जैनाचार्यों ने अनिवृत्तिकरण नाम निर्धारित किया है.

ऊपर उल्लिखित अन्तरात्म-भाव से परमात्म-भाव तक पहुँचने के लिये किसी उत्तमोत्तम आत्मा को तो वहुत थोड़ा समय लगता है और किसी-किसी आत्मा को वहुत अधिक समय भी लग जाता है.

मोक्षगामी एवं मोक्षगत आत्माओं के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान हैं, जिनसे विदित होता है कि कोई-कोई भव्य आत्मा तो कुछ घन्टों, महीनों अथवा वर्षों में ही परमात्म-भाव को प्राप्त कर लेते हैं. जव कि अनेक आत्मा संख्यात वर्षों में, असंख्यात वर्षों में अथवा अनंत काल में परमात्म भाव को प्राप्त कर पाते हैं.

गजसुकुमार, मरुदेवी, भरतचक्रवर्ती, एलायचीकुमार, अर्जुनमाली आदि के दृष्टान्त जैन-आगमों में उपलव्ध हैं, जो प्रथम वात का समर्थन करते हैं. द्वितीय वात के समर्थन के लिये व्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि के उदाहरण देखे जा सकते हैं. इस प्रकार आत्मवाद के विकास के सम्वन्ध में यह एक मननीय एवं चिंतनीय-सुवोध पाठ है.

## (७) आत्मवाद का तारतम्य

(१) चार्वाकदर्शन को छोड़ कर शेष सभी भारतीय-दर्शन आत्मा के अस्तित्व के विषय में एकमत है. उसके स्वरूप वर्णन में एवं उसकी व्याख्या करने में भाषा-भेद अवश्य पाया जाता है, फिर भी उसके अस्तित्व से कोई इन्कार नहीं करता.

(२) आत्मा के स्वरूप, प्रदेशों, तथा अमरता तथा पुनर्जन्म के सम्वन्ध में प्रयुक्त की गई विवेचनशैली में भिन्नता होने पर भी सभी भारतीय दर्शनों का आत्मवाद सम्वन्धी धरातल एक जैसा ही है.

(३) 'आत्मा सांसारिक वंधनों से परिमुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करती है, एवं सम्पूर्ण ईश्वरीय शक्ति के रूप में इसका संविकास होता है.' इस विषय में भी सभी भारतीय दर्शनों में एकता दिखाई देती है.

(३) ईश्वर-स्वरूप के सम्वन्ध में भारतीय-दर्शनों का दृष्टिकोण उलझा हुआ प्रतीत होता है यह अस्पष्ट एवं कल्पनाओं से भरा हुआ है. फिर भी ईश्वर की सत्ता का स्वीकार सभी भारतीय दर्शन करते हैं.

(५) सभी भारतीय दर्शन प्रत्यक्ष रूप से अथवा परोक्ष रूप से यह वर्णन अवश्य करते हैं कि अज्ञेय स्वरूप वाले

ईश्वर-तत्त्व के साथ आत्म-तत्त्व का किसी न किसी प्रकार से सम्बन्ध अवश्य है. दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व होते हुए भी आश्चर्य है कि दोनों का मौलिक स्वरूप समान है.

(६) सभी भारतीय दर्शनों ने आत्म-तत्त्व को चेतनामय, ज्ञानमय, और अनुभूति-शक्ति-संपन्न स्वीकार किया है. इससे निश्चय होता है कि भारतीय दर्शन का चिन्तन मूल में एक जैसा ही है.

यह है भारतीय-दर्शनों में आत्मवाद का सुन्दर सिद्धांत. 'सत्, चित् और आनन्द' की प्राप्ति करना ही इसका मूल ध्येय है तथा चिरंतन सत्य का अनुसंधान करते हुए आत्म-तत्त्व का जो 'शिव-स्वरूप' है उसके मधुर संदर्शन करने में ही यह भारतीय दर्शन समूह अपने आप को कृतकृत्य मानता है.

श्रीराजकुमार जैन,
दर्शनायुर्वेदाचार्य

# कर्म स्वरूप और बंध

अपने मूलभूत सिद्धान्तों के वैशिष्ट्य के कारण जैनदर्शन भारतीय दर्शनों में अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है. जैनदर्शन के अनुसार वेदों को पौरूपेय माना गया है तथा जैनदर्शन ईश्वर को सृष्टिकर्ता स्वीकार नहीं करता. यही कारण है कि उस पर नास्तिकता का आरोप किया है. जैनदर्शन के समान बौद्धदर्शन एवं चार्वाकदर्शन भी वेदों को प्रमाण स्वीकार नहीं करते. अत: उनकी गणना भी नास्तिक दर्शनों में की गई है. किन्तु जैनदर्शन में अनेक ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जिनके आधार पर उसकी आस्तिकता स्वत: ही सिद्ध हो जाती है. उन्हीं सिद्धान्तों में से एक 'कर्म-सिद्धान्त' भी है. वैसे तो कर्म-सिद्धान्त को अन्य षड्दर्शन के साथ बौद्धदर्शन ने भी स्वीकार किया है, किन्तु अपनी विशेषताओं के कारण जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित 'कर्म-सिद्धान्त' अपना विशेष महत्त्व रखता है. जैन-ग्रंथों में कर्म-सिद्धान्त का जैसा सांगोपांग, तर्कसंगत और वैज्ञानिक विवेचन मिलता है, अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता.

कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी विषय इतना गहन एवं विस्तृत है कि एक छोटे से निबंध में उसका सम्पूर्णत: प्रतिपादन सम्भव नहीं है अत: सामान्यत: कर्म क्या है और उसका आत्मा के साथ कैसे और क्यों सम्बन्ध होता है ? इसका अत्यन्त संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत लेख में प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है.

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक संसारी आत्मा कर्मों से बद्ध है. कर्म के पाश में आत्मा वैसे ही बंधी हुई है, जैसे जंजीरों से किसी को बांध दिया जाता है. यह कर्मबन्धन आत्मा को किसी अमुक समय में नहीं हुआ. अपितु अनादिकाल से है. जैसे—खान से सोना शुद्ध नहीं निकलता अपितु अनेक मलों (अशुद्धियों) से युक्त निकलता है, वैसे ही संसारी आत्माएँ भी कर्मबन्धनों से जकड़ी हुई ही रही हैं. यदि आत्माएं किसी भूतकाल में शुद्ध होती तो फिर उनके कर्म बन्धन नहीं हो सकता. क्योंकि शुद्ध आत्मा मुक्त होता है. आत्मा की मुक्ति के अनन्तर कर्मबन्धन सम्भव नहीं. आत्मा के कर्मबन्धन के लिये आन्तरिक अशुद्धि आवश्यक हैं. शुद्ध आत्मा के लिये अशुद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता. अशुद्धि के बिना कर्मबन्ध का भी प्रश्न नहीं उठता. यदि अशुद्धि के बिना भी कर्म बन्धन होने लगे तो, मुक्ति को प्राप्त आत्माओं को भी कर्म बन्धन का प्रसंग उपस्थित हो जायगा. ऐसी अवस्था में आत्मा की मुक्ति के लिए प्रयत्न करना हो जायगा.

अनादि काल से आत्मा का कर्मबन्ध और उसका संसार की विविध गतियों में जन्म लेना, इसका प्रतिपादन आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने 'पंचास्तिकाय' नामक ग्रन्थ में बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है :—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो,
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी।
गदिमधिगदस्य देही देहादो इन्दियाणि जायंते,
तेहि दु विसयग्गहणं तत्तो रागो वा दोसो वा।
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि,
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा।

अर्थात् जो जीव संसार में स्थित है, अर्थात् जन्म और मरण के चक्कर में पड़ा हुआ है, उसके राग रूप और परिणाम होते हैं. उन परिणामों से नए कर्म बंधते हैं. कर्मों से विभिन्न गतियों में जन्म लेना पड़ता है. जन्म लेने से शरीर मिलता है. शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं. इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है. जीव विषयों को ग्रहण करने से इष्ट विषयों में राग और अनिष्ट विषयों से द्वेष करता है. इस प्रकार संसार रूपी चक्रकाल में पड़े हुए जीव के भावों से कर्मबन्ध और कर्मबन्ध से राग-द्वेष रूप भाव होते रहते हैं. यह चक्र अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि सान्त है.

सामान्य रूप से जो भी कुछ किया जाता है वह कर्म कहलाता है. इस संसार में समस्त प्राणी क्रियाशील रहते हैं, मनुष्य भी अपने व्यक्तिगत दैनिक जीवन में अनेक प्रकार की क्रियाओं को करता है. विविध प्रकार की ये क्रियाएं ही साधारणतया कर्म कहलाती हैं. प्राणी जैसा कर्म करता है वह वैसे ही फल का भागी होता है. कर्म के अनुसार फल को भोगना नियति का क्रम है. कर्मसिद्धांत को जैन, सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक आदि आत्मवादी दर्शन तो मानते ही हैं, किन्तु अनात्मवादी एवं अनीश्वरवादी दोनों ही इस विषय में एक मत हैं. कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करने में यद्यपि चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त समस्त दर्शनों में मतैक्य है, तथापि कर्म के फलस्वरूप एवं उसके फल देने के सम्बन्ध में ईश्वरवादी एवं अनीश्वरवादी दोनों में मौलिक मतभेद है.

ऊपर कर्म के विषय में सामान्य रूप से कहा जा चुका है कि जो कुछ किया जाता है, वह कर्म है. इसके अन्तर्गत मनुष्य की व्यक्तिगत दैनिक क्रियाओं का भी समावेश हो जाता है. जैसे खाना, पीना, उठना, बैठना. सोचना, विचारना, हंसना चलना, फिरना, बोलना, खेलना, कूदना, गाना, बजाना आदि. मनुष्य जो भी राग या द्वेष के वशीभूत होकर करता है उसी के अनुसार उसे फल मिलता है. परलोक मानने वाले दर्शनों के अनुसार मनुष्य द्वारा कर्म किये जाने के उपरांत वे कर्म जीव के साथ अपना संस्कार छोड़ जाते हैं. ये संस्कार ही भविष्य में प्राणी को अपने पूर्वकृत कर्म के अनुसार फल देते हैं. पूर्वकृत कर्म के संस्कार, अच्छे कर्म का फल अच्छा एवं बुरे कर्म का फल बुरा देते हैं. पूर्वकृत कर्म अपना जो संस्कार छोड़ जाते हैं और उन संस्कारों द्वारा जो प्रवृत्ति होती है उसमें मूल कारण राग या द्वेष होता है किसी भी कर्म की प्रवृत्ति राग या द्वेष के अभाव में असम्भावित है और जब सम्भव होती है तो कर्मबन्ध जनक नहीं होती है. अतः संस्कार द्वारा प्रवृत्ति एवं प्रवृत्ति द्वारा संस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है. यह परम्परा अथवा चक्रवत् परिभ्रमण ही संसार कहलाता है. कर्म, संस्कार एवं प्रवृत्ति की परम्परा तथा संसार चक्र के विचारों का दिग्दर्शन हमें प्रायः दर्शनों में प्राप्त होता है. किन्तु जैनदर्शन के विचार में पूर्वोक्त विचारों से कुछ भिन्नता है.

जैनदर्शन के अनुसार कर्म संस्कारमात्र ही नहीं है अपितु एक वस्तुभूत पदार्थ है जिसे कार्मणजाति के दलिक या पुद्गल माना गया है. वे दलिक रागी, द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ दूध-पानी की तरह मिल जाते हैं. यद्यपि वे दलिक भौतिक हैं, तथापि जीव के कर्म अर्थात् क्रिया द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ एकमेक हो जाते हैं. कहने का तात्पर्य यह है कि जो भी कर्म किया जाता है, वह जीव या आत्मा के साथ संयुक्त हो जाता है और तब तक संयुक्त रहता है जब तक कि वह अपना फल नहीं दे देता. इस प्रकार प्राणी द्वारा किया गया कोई भी कर्म आत्मा से पृथक् नहीं रहता. संसार में कर्म से घिरे हुए आत्मा की स्थिति ठीक वैसी ही रहती है जैसे कि जाल में फंसी हुई मछली की अथवा लोहे के सींखचों वाले पिंजरे में बन्द सिंह की.

अन्य दर्शनों ने कर्म को क्षणिक मानकर उसके संस्कार को स्थायी माना है. अतः कर्म की सत्ता तो क्रिया करने के बाद ही समाप्त हो जाती है, किन्तु उसका संस्कार ही स्थायी रूप से आत्मा के साथ रहता है. जैनधर्म में यहां कुछ मतभेद है. वस्तुस्थिति यह है कि कर्म एक वस्तुभूत पदार्थ है और वह राग द्वेष अथवा भाव से युक्त जीव द्वारा की गई क्रिया से आकृष्ट होकर उसमें (जीव में) मिल जाता है. कहने का तात्पर्य यह है कि राग, द्वेष से युक्त जीव की प्रत्येक मानसिक वाचनिक और कायिक क्रिया के साथ एक द्रव्य जीव में आता है जो उसके रागद्वेष रूप भावों का निमित्त पाकर उसमें

वन्ध जाता है और आगे जाकर अच्छा या बुरा फल देता है. इसी बात का स्पष्टीकरण निम्न रूप से किया गया है—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो ,
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ।—प्रवचनसार

अर्थात् जब राग, द्वेष से युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामों में परिणत होता है तब कर्म रूपी रज ज्ञानावरणादि रूप से उसमें प्रवेश करती है.

इससे यह स्पष्ट है कि कर्म एक मूर्तिक पदार्थ है जो जीव के साथ बंध जाता है. यहाँ एक ऐसी आशंका उठ खड़ी होती है कि कर्म मूर्तिक है एवं आत्मा अमूर्तिक. अतः दोनों का वन्ध सम्भव नहीं. मूर्तिक के साथ मूर्तिक का बंध तो हो सकता है किन्तु अमूर्तिक के साथ मूर्तिक का वन्ध कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यही है कि अन्य दर्शनों की भांति जैनदर्शन भी जीव और कर्म के सम्बन्ध को अनादि मानता है. संसारी जीव अनादि काल से मूर्तिक कर्मों से बँधा हुआ है और इसीलिए वह भी मूर्तिक हो रहा है, जैसा कि 'द्रव्य संग्रह' में स्पष्टतः कहा है—

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठणिच्चिया जीवे ,
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ।

अर्थात् वास्तव में जीव में पाँचों रूप, पाँचों रस, दोनों गन्ध और आठों स्पर्श नहीं रहते, इसलिए वह अमूर्तिक है. जैन-दर्शन में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण वाली वस्तु को मूर्तिक कहा है. किन्तु अनादि कर्म वन्ध के कारण व्यवहार में जीव मूर्तिक है. अतः कथंचित् मूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कर्म द्रव्य का सम्बन्ध होता है.

सारांश यह है कि कर्म के दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म. जीव से सम्बन्ध कर्म पुद्गल को द्रव्य कर्म कहते हैं और द्रव्य कर्म के प्रभाव से होने वाले जीव के राग-द्वेष रूप भावों को भावकर्म कहते हैं. द्रव्यकर्म भावकर्म का कारण है और भावकर्म द्रव्यकर्म का कारण है. द्रव्यकर्म के विना भावकर्म और भावकर्म के विना द्रव्यकर्म—नहीं होते हैं. इन कर्मों का वन्ध ही जीव के जन्म मरण एवं विविध गतियों में परिभ्रमण का कारण है. इस प्रकार आत्मा और कर्म का सम्वन्ध अनादि काल से चक्रवत् चला आ रहा है.

श्रीजैनेन्द्रकुमार

# प्रश्नोत्तर : अपरिग्रह

प्रश्नकार—कुमार सत्यदर्शी

प्रश्न—आपकी परिभाषा के अनुसार परिग्रह क्या है ?

उत्तर—जो हमारी अन्तश्चेतना को पकड़े और रोके, उस वस्तु रूप बाधा को परिग्रह कह सकते हैं.

प्र०—अन्तश्चेतना आप किसे कहते है ?

उ०—आदमी निश्चेतन तो है नहीं, और यदि चेतन है तो उसके चैतन्य का अधिष्ठान उससे बाहर कैसे माना जा सकता है ? 'अन्तश्चेतना' इसलिए कहा है कि चेतना के अनेक स्तर होते हैं. अपने ही स्रोत से स्फूर्त हो, प्रतिक्रियात्मक न हो, इसलिए 'अन्तस्' का विशेषण है.

प्र०—क्या आप बाह्य और आन्तरिक परिग्रह के भेद भी मानते हैं ?

उ०—भाव और द्रव्य का भेद मानने से समझ को सुभीता होता है. पर सार सदा आन्तरिक है. अर्थात् परिग्रह को मूर्छा-भाव में मानना अधिक सार्थक होगा.

प्र०—गृह-परिवार में रहकर भी आप अपने को मूर्छा-स्वरूप परिग्रह से रहित मानते हैं ?

उ०—नहीं. मैं अपरिग्रह का विश्वासी हूँ, अपरिग्रही पूरा नहीं. लेकिन यह इस मकान के निमित्त से नहीं. जंगल में बैठा रहूं तो भी अन्दर से तृष्णार्त्त हुआ तो जंगल मेरी मदद नहीं कर पायेगा. पशु तो वहाँ ही रहता है, क्या वह अपरि-ग्रही है ?

प्र०—अपरिग्रही होने के लिए वस्तु का त्याग अपेक्षित नहीं है, तो अतीत में जो ऋषि-मुनि हुए हैं, उन्होंने जागतिक वस्तुओं से नाता तोड़ कर एकान्त में रहना पसन्द किया था, क्या उनके लिए ऐसा करना अनिवार्य नहीं था ?

उ०—त्याग-तपस्या में बाहुबली की कौन समता कर सकता है ? लेकिन मुक्ति उन्हें नहीं मिली, जब तक अन्दर में शल्य बनी रही.

वस्तु का नितान्त परिहार हो नहीं सकता. वस्तु अपनी जगह है, उसका नाश संभव नहीं . वस्तु से अगर हम अपने को बचाते हैं तो आखिर किस लिए ? इसीलिए न कि वस्तु हम पर हावी न हो, और हमारी आत्मता को न ढंके इस कोण से देखें तो वस्तु को लेने अथवा छोड़ देने, इन दोनों ही दृष्टियों में वस्तु को प्रधानता मिल जाती है. इसलिए त्याग-तपस्या में अपने आप में कोई मुक्ति समाविष्ट नहीं है. वस्तु की निर्भरता से ऊपर उठने की दृष्टि से अमुक साधना या अभ्यास किया जा सकता है. लेकिन अभ्यास साधना है, साध्य नहीं है.

अपरिग्रह का नितान्त शुद्ध रूप है कैवल्य. कैवल्य की स्थिति पर तीर्थंकर के लिए समवसरण की रचना हो जाती है. समवसरण के ऐश्वर्य का क्या ठिकाना है ! लेकिन क्या उससे तीर्थंकर के कैवल्य में कोई त्रुटि पड़ती है ? या अपरिग्रह पर कोई विकार आता है ?

व्यक्ति और वस्तु के बीच सर्वथा असम्बद्धता नहीं हो सकती. सारा जगत् सामने पड़ा है, क्या अपरिग्रही उसको देखने से इंकार करेगा ? देखना भी एक प्रकार का सम्बन्ध है. दृष्टि सम्यक् वह नहीं है. जो वस्तु-मय जगत् को देख

नहीं पाती, सम्यक् दृष्टि वह है जो वस्तु में रुकती नहीं है. जो रुक सकती है वही दृष्टि वस्तु से विमुख होने की सोच सकती है, यह विज्ञान सिद्ध दृष्टि नहीं कहलायेगी, वल्कि सीधे या उल्टे अर्थ में विमूढ दृष्टि समझी जायेगी. वस्तु और व्यक्ति के बीच समीचीन सम्बन्ध को सिद्ध करने वाला होता है—अपरिग्रह. वस्तु के डर से व्यक्ति को हीन और रहित वनाना उसका इष्ट नहीं है.

सामने वह दीन और दरिद्र है, वस्तु के नाम पर उसके आस-पास अभाव ही अभाव है, क्या आप उसको अपरिग्रही कह सकेगें ? नहीं, उसको दीन और दरिद्र इसलिए कहना होता है कि वाहरी अभाव के कारण उसका मन वस्तु के प्रति और भी ग्रस्त और लुब्ध होता है, ऊपर से नितान्त नग्न होते हुये भी वह भीतर से कातर और लोलुप हो सकता है. अपरिग्रह में वस्तु का लोभ व भय भी समाप्त हो जाता है. आत्म-चेतना सर्वथा स्वयं निर्भर हो जाती है. उसमें से वस्तु के प्रति एक विभुता और इसलिए निश्चिन्तता प्राप्त होती है, अधीनता और चिन्ता नहीं. दूसरे शब्दों में अपरिग्रह अभावात्मक नहीं, सद्भावात्मक भाव है, अर्थात् अपरिग्रह में वस्तु के प्रति रुष्ट विमुखता नहीं होती, वल्कि प्रसन्न मुक्तता होती है. वस्तु की अपेक्षा में जो अपने को दीन अनुभव करता है वह कभी अपरिग्रही नहीं हो सकता. अपरिग्रही तो वह है जो आत्म सम्पन्नता में भरपूर हो.

प्र०—मनुष्य का कार्य वस्तु के द्वारा सम्पन्न होता है अर्थात् दैनिक कार्य चलाने के लिए वस्तु की आवश्यकता होती है. आवश्यकता है तो प्रयत्न भी करने होंगे. क्या उस प्रयत्न को दीनता कहा जा सकता है ?

उ०—हाँ, समग्र दृष्टि यदि वस्तु में घिरी हो और प्रयत्न उसी पर केन्द्रित हो तो दैन्यभाव माना जायेगा.

सांस हम अनायास लेते हैं. उसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है तब सांस का रोग कहलाता है. प्राणवायु तो चहुं ओर है, लेकिन जव उसे भीतर लेने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है तो मानना चाहिए कि स्वास्थ्य निर्वल है और फेफड़े निरोग नहीं हैं.

अन्तश्चैतन्य से युक्त और प्रवृत्त व्यक्ति की आवश्यकताएं अनायास पूर्ण हो जाती हैं, प्रयत्न-हीनता में से पूर्ण नहीं होती, केवल वह पुरुषार्थ वस्तु-मुखी नहीं होता है, चित्तप्रेरित और चिन्मुख होता है. लाख प्रयत्न करने पर भी कोई इतना वस्तु-वैभव नहीं पा सकता कि समवसरण की रचना कर सके. वही तीर्थंकर के लिये अनायास प्रस्तुत हो जाता है. यह महिमा प्रयत्न की नहीं है, अपरिग्रह की है. मैं नहीं मानता कि आत्मचैतन्य में से जगत् का लाभ नहीं होता है. उस जगत्-लाभ या अर्थलाभ में यदि कुछ वाधा वनता है तो चीजों पर मुट्ठी को वांधने का लोभ वाधा वनता है, अन्यथा जो सर्वथा अपनी आत्मा को पा लेता है, सारा ही वस्तुजगत् उसका अपना हो जाता है. त्यागने भागने की कहीं जरूरत ही नहीं रह जाती है.

प्रश्न—समवसरण के प्रसंग में आपने जो कुछ कहा वह ठीक है. तीर्थंकर को उसके लिये कोई प्रयत्न नहीं करना होता. सुना जाता है कि देवगण ही समवसरण की रचना करते हैं. परन्तु तीर्थंकर के आदेश का उल्लंघन कौन कर सकता है ? तब क्या वे देवताओं को समवसरण की रचना करने से इन्कार नहीं कर सकते थे ? जबकि समवसरण रचने में आडम्बर प्रत्यक्ष ही है.

उत्तर—कैवल्य प्राप्त होने से पहले साधक अवस्था में वैसा वर्जनभाव रहा ही होगा. वह आवश्यकता कैवल्य-लाभ के अनंतर यदि निश्शेष हो जाती हो तो विशेष विस्मय की वात नहीं है.

प्रश्न यहां यह नहीं है कि क्या तीर्थंकर को समवसरण की रचना से देवताओं को वर्जित नहीं कर देना चाहिये था ? प्रश्न अपरिग्रह का है और इस उदाहरण के उल्लेख से जो मैं व्यक्त करना चाहता हूं वह इतना ही कि अपरिग्रह में से अनायास वस्तु की विभुता का लाभ हो आता है. मुक्तता उस विभुता का ही रूप है, और अपरिग्रह सच्चे अर्थ में कोई अभावात्मक संज्ञा नहीं है.

मान लीजिए कि तीर्थंकर समवसरण के निर्माण को अपने लिये अस्वीकार कर देते हैं तो उससे यही तो सिद्ध होता है

कि विभुता और भी वढ़ी-चढ़ी है. और उनका अन्तरंग इस विभूति-भाव से सर्वथा प्रकाशित और वस्तुनिरपेक्ष है. हम जव अपरिग्रह को वस्तु के परिमाण के हिसाव से नापते हैं तो कहना चाहिए कि आत्मा का मूल्य वस्तु की अपेक्षा में आंकते हैं. पांच लाख का किसी ने मकान छोड़ा तो मानो पांच लाख अंकों की अपरिग्रहता प्राप्त कर ली. अपरिग्रह की इस आंकिक उपलब्धि के लिये जो वस्तु का त्याग जाहिर किया जाता है, हो सकता है वह अन्दर से यश-प्रतिष्ठा के परिग्रह का लोभ ही हो. वस्तु से जव हम अहम् भाव से जुड़े होते हैं तभी हम उसके वर्जन और त्यजन की भाषा में बात किया करते हैं. वस्तु के साथ सम्बन्ध मिथ्या-दृष्टि का न हो, यदि सम्यक्-दृष्टि का हो जाये तो वर्जन-तर्जन की दोनों भाषाएं एक-सी विसंगत हो जायेगी. मुक्ति में भी कहीं त्याग की संगति रह जाती है ? सीढी के हर डण्डे को छोड़ना पड़ता है, जव तक सीड़ी है. छत पर आगए तब छोड़ने को रह क्या जायेगा ?

प्रश्न—कैवल्य प्राप्त होने के पश्चात् महावीर ने तीर्थ की स्थापना कर प्रवृत्ति कर्म का परिचय दिया था. जब पूर्णत्व प्राप्त हो गया तब प्रवृत्ति की आवश्कता उन्हें क्यों पड़ी ? समाज सुधार के अन्य प्रयत्न वे अपने साधनाकाल के साड़े वारह वर्षों में भी कर सकते थे. तीर्थंकरत्व प्राप्त होने के पश्चात् वे प्रवृत्ति के प्रपंच में क्यों पड़े? यदि निवृत्तिके पश्चात् प्रवृत्ति का क्रम हो तो राजकुमार वर्द्धमान ही क्या, प्रत्येक मनुष्य का कर्म प्रवृत्ति में है ही. पहले निवृत्ति और फिर प्रवृत्ति; इससे अच्छा तो यही न है कि वह जो प्रवृत्ति करता है, करता चला जाये, क्योंकि निवृत्ति-साधना कर लेने के पश्चात् भी अन्ततः प्रत्येक साधक को प्रवृत्ति करनी पड़ती है इससे अच्छा तो यही है कि वह निवृत्ति के शून्यवाद में ही न भटके.

उत्तर—निवृत्ति-प्रवृति के शब्दों की जोड़ी को आप अपने लिये वृथा झमेला न वनायें. निवृत्ति जिसके अंतरंग में नहीं वह प्रवृत्ति उतनी ही चंचल और निष्फल होती है. मैं इन दोनों शब्दों को परस्पर विरोध में नहीं देखता हूं, पहले पीछे की भाषा भी मुझे कुछ विशेष संगत मालूम नहीं होती है. वाद में यदि प्रवृत्ति आ गई हो तो शुरु में ही निवृत्ति क्यों ? यह आपका प्रश्न इस भ्रम में से वनता है कि ये दोनों परस्पर को काटने वाली संज्ञायें हैं और एक समय में एक ही हो सकती है. वस्तुतः ऐसा नहीं है. दुख की अनुभूति सव में है. इस अनुभूति को निवृत्तिपरक माना जायेगा. अव इसी व्यथा-नुभूति में से प्रवृत्ति निकलती है. जितनी वह अपने निवृत्तिस्रोत से संयुक्त होगी उतनी ही वह प्रवृत्ति फलदायक होगी. निवृत्तिमय प्रवृत्ति मुक्तिदायक हो सकती है, और जितना उनमें वैमुख्य और वैपरीत्य होगा उतनी ही वंधनकारक. अपरिग्रही, अहिंसक, अनासक्त कर्म-संयुक्त होता है. जो जितना वियुक्त है, अर्थात् आत्मव्यथा के स्वीकार में से नहीं वल्कि अहंकृत इंकार में से निकलता है वह उतना ही आसक्त ह्रस्व और व्यर्थ होता जाता है.

तीर्थंकर की प्रवृत्ति शायद फल न लाती अगर उन्हें अन्तरंग में निवृत्ति ही सिद्ध न हुई होती. यज्ञ-हिंसा के विरोध में कहीं उनका अहंभाव मिला होता तो क्या उसका उतना फल आ सकता था ? भीतर से निवृत्त हो गये, शुद्ध करुणा की प्रेरणा में से शब्द और कर्म उत्कृष्ट हुए इसी से परिणाम भी आसका होगा. अन्यथा ऊपर से की जाने वाली प्रवृत्ति केवल अस्थिरता का दूसरा रूप हो जाता है. उसमें तेजस्विता और अमोघता नहीं आती.

प्रश्न—परार्थमूलक प्रवृत्ति का अर्थ क्या है ? परार्थमूलक प्रवृत्ति के द्वारा यदि उद्देश्य की उपलब्धि होती है तो वह भी एक स्वार्थ-प्रवृत्ति है. स्वार्थमूलक प्रवृत्ति यदि एकान्त प्रवृत्ति है तो जब वह परार्थ के लिये होती है तब निवृत्तिमूलक कैसे हो जाती है ?

उत्तर—अव आप स्व-पर शब्द की जोड़ी के चक्कर में पड़ गये. व्यथा में 'स्व' की सीमा धुल जाती है. इसलिये उस सृजनकर्म से स्व-पर का अभेद सिद्ध होता है. करुणा मूलक और अहम् मूलक प्रवृत्ति में यही अन्तर है. करुणामूलक कर्म में उपकार, उद्धार या रक्षा की दृष्टि अर्थात्-परार्थ-दृष्टि उतनी नहीं होती. स्वार्थ परार्थ के आगे मैं तीसरा शब्द सुझाता हूँ—परमार्थ यहाँ पर भेद मिट जाता है और स्वार्थ-परार्थ का परमार्थ में समन्वय हो जाता है. स्वार्थ अहं-कृत होता है, उसी तरह परार्थ भी अहंकृत हुआ करता है. उपकार अधिकांश उसी भूल के कारण अंत में अपकार वन जाता है. जो चाहिए वह अकर्म है, अर्थात् ऐसा कर्म जिसमें कर्त्तृत्व न हो. उसी को दूसरे शब्दों में निवृत्ति-मूलक कर्म कह दीजिए. कर्मनिर्जरा कर्महीनता में से नहीं वरन् प्रचण्ड पुरुषार्थ में से ही फलित हो सकती है.

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

# जैनधर्म में भक्तियोग

भक्ति एक प्रकार का योग है, किन्तु 'भक्तियोग' शब्द का प्रयोग जैनशास्त्रों में देखने में नहीं आया. जबकि भक्ति शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र बहुलता से हुआ है. कर्मयोग या निष्काम कर्मयोग की तरह भक्तियोग भी एक सिद्धान्त है और उसका औचित्य तर्कसिद्ध है.

## योग एवं भक्ति शब्द का अर्थ

योग[1] शब्द के अनेक अर्थ हैं. यहां योग का अर्थ प्रयोग अथवा अप्राप्त की प्राप्ति है. उपाय या रक्षा का साधन भी यहाँ योग शब्द का अर्थ लिया जा सकता है. तब 'भक्तियोग' शब्द का अर्थ होगा आत्मशुद्धि के लिये भक्ति का प्रयोग, अथवा भक्ति के द्वारा अप्राप्त को प्राप्त करना, परमात्मा का सानिध्य पाने के लिये भक्ति सर्वोत्कृष्ट उपाय है एवं वह बुराइयों से बचने का साधन भी है. इसलिए यहाँ योग का अर्थ उपाय एवं संनहन अर्थात् कवच भी कर सकते हैं.

भक्ति का अर्थ है भाव की विशुद्धि से युक्त अनुराग. जिस अनुराग में भाव की निर्मलता नहीं होती वह अनुराग (प्रेम) भक्ति नहीं कहला सकता. सांसारिक अनुराग में वासना होती है इसलिए उसे भक्ति का रूप नहीं दिया जा सकता. परमात्मा[2] सन्त या शास्त्र आदि में होने वाले विशुद्ध प्रेम को ही भक्ति कहा जा सकता हैं. भक्ति का भाव उत्पन्न होता है. जिसकी भक्ति की जाती है उसमें पहले पूज्यबुद्धि उत्पन्न होती है. उसका कारण है अपने इष्ट देवता आदि के वे गुण जिन्हें भक्त प्राप्त करना चाहता है.

## भक्ति का लक्ष्य

जैनभक्ति का लक्ष्य वैयक्तिक अर्थात् ऐहिक स्वार्थ नहीं है, अपितु आत्मशुद्धि है. आत्मा जब परमात्मा बनना चाहता है तब उसका प्रारम्भिक प्रयत्न भक्ति के रूप में ही होता है. भक्ति आत्मा को परमात्मा बनाने के लिये एक सरल एवं पकड़ सकने योग्य मार्ग है. खासकर ग्रहस्थ के लिये यह मार्ग विषेप रूप से उपादेय है. भक्ति शुभोपयोग का कारण है और शुभोपयोग से पुण्यबंध होता है. यदि भक्ति में फलासक्ति न हो और वह पूर्णतया निष्काम हो तो अन्त में मनुष्य को शुद्धोपयोग की ओर आकृष्ट करने का कारण बन सकती है जो मुक्ति का साक्षात् कारण है.

## जैनधर्म गुण का उपासक है

जैनधर्म व्यक्ति का उपासक नहीं अपितु गुण का उपासक है. व्यक्ति की उपासना का समर्थन तो करता है पर उसका कारण भी व्यक्ति के गुण ही हैं. व्यक्ति स्वयं में कुछ नहीं है, उसकी सारी महत्ता का कारण उसके गुण हैं और गुणों की उपासना का प्रयोजन भी गुणों की प्राप्ति है. गुणों की प्राप्ति के लिये ही भक्त उपासक गुणवान् उपास्य को अपना

---

१. योगः सन्हनोपायध्यानसंगतियुक्तिपु—अमरकोप, तृतीय कांड नानार्थवर्ग, २२ श्लोक.
योगोऽपूर्वार्थसंप्राप्तौ संगतिध्यानयुक्तिपु, वपुःस्थैर्ये प्रयोगे च विष्कंभादिपुभेपजे, विश्रब्धघातकेद्रव्योपायसन्हतेष्वपि. कार्मणेऽपि च—मेदनी.

२. अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनेपु भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः—सर्वार्थसिद्धिः .

आदर्श मानता है और जिस विधि से स्वयं उपास्य ने गुण प्राप्त किये उसी विधि से उस मार्ग को अपनाकर भक्त भी उपास्य के गुणों को प्राप्त करना चाहता है. यही भक्ति का वास्तविक ध्येय है. इस सम्बन्ध में निम्नांकित प्राचीन उल्लेख बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है.

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ,
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ।

अर्थात् मैं मोक्ष मार्ग के नेता, कर्मरूपी पर्वतों के भेत्ता और विश्व तत्त्वों के ज्ञाता को उसके गुणों की प्राप्ति के लिये वंदना करता हूँ. यहाँ किसी खास व्यक्ति को प्रणाम नहीं है अपितु उन गुणों को धारण करने वाले व्यक्ति को प्रणाम है चाहे वह कोई भी क्यों न हो. एक श्वेताम्बराचार्य भी यही कहते हैं—

भवबीजांकुरजलदाः, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ,
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।

भव-बीजांकुर के लिये मेघ के समान, रागादिक संपूर्ण दोष जिसके नष्ट हो गये हैं उसे मेरा प्रणाम है फिर चाहे वह ब्रह्मा हो या विष्णु अथवा महादेव हो या जिन.

सुप्रसिद्ध तार्किक आचार्य अकलंकदेव भी गुणोपासना के सम्बन्ध में यही कहते हैं—

यो विश्वं वेद वेद्यं जननजलनिधेर्भंगिनः पारदृश्वा ,
पौर्वापर्याऽविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम् ।
तं वन्दे साधुवंद्यं निखिलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तं ,
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा ।

जिसने जानने योग्य सब कुछ जान लिया है, जो जन्म रूपी समुद्र की तरंगों के पार पहुँच गया है, जिसके वचन दोष-रहित, अनुपम और पूर्वापर विरोध रहित हैं, जिसने अपने सारे दोषों का विध्वंस कर दिया है और इसीलिए जो संपूर्ण गुणों का भंडार बन गया है तथा इसी हेतु से जो संतों द्वारा वंदनीय है, मैं उसकी वंदना करता हूँ चाहे वह कोई भी हो—बुद्ध हो, वर्द्धमान हो, ब्रह्मा हो, विष्णु हो अथवा महादेव हो.

ये सब उदाहरण हमें यह बतलाते हैं कि भक्ति के स्थान गुण हैं, व्यक्ति नहीं. इसलिए जैनदर्शन भक्ति का आधार गुणों को मानता है. यदि परमात्मा की भक्ति करने से कोई परमात्मा नहीं बन सकता तो फिर उसकी भक्ति का प्रयोजन ही क्या है ? इस सम्बन्ध में भक्ति के प्रधान आचार्य मानतुंग ने ठीक ही कहा है :—

नात्यद्भुतं भुवनभूषण ! भूतनाथ ।
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ,
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा ।
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ।

हे जगत् के भूषण ! हे जगत् के जीवों के नाथ ! आपके यथार्थ गुणों के द्वारा आपका स्तवन करते हुए भक्त यदि आपके समान हो जाय तो हमें कोई अधिक आश्चर्य नहीं है. ऐसा तो होना ही चाहिए. क्योंकि स्वामी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने आश्रित भक्त को अपने समान बना ले. अथवा उस मालिक से लाभ ही क्या है जो अपने आश्रित को वैभव से अपने समान नहीं बना लेता.

किन्तु यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब परमात्मा रागद्वेष से विहीन है, तब उसकी भक्ति से लाभ ही क्या है ? राग न होने के कारण वह अपने किसी भी भक्त पर अनुग्रह नहीं करेगा और द्वेष न होने से किसी दुष्ट का निग्रह करने के लिये भी कैसे प्रेरित होगा ? क्योंकि अनुग्रह और निग्रह में प्रवृत्ति तो रागद्वेष की प्रेरणा से ही होती है जो शिष्टों पर अनुग्रह और दुष्टों का निग्रह करता है उसमें राग या द्वेष का अस्तित्व जरूर होता है किन्तु जैन इस

प्रकार के किसी ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते. इस प्रश्न का उत्तर जैन स्तोत्रों में जो दिया गया है वह बड़ा ही मनोग्राही तर्कसंगत एवं आकर्षक है. प्रख्यात तार्किक आचार्य समन्तभद्र इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अपने 'स्वयंभूस्तोत्र' में वासुपूज्य तीर्थंकर का स्तवन करते हुए कहते हैं—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ,
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चेतो दुरितांजनेभ्यः ।

हे नाथ ! आप तो वीतराग हैं. आपको अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है. आप न अपनी पूजा करने वालों से खुश होते हैं और न निन्दा करने वालों से नाखुश, क्योंकि आपने तो वैर का पूरी तरह वमन कर दिया है. तो भी यह निश्चित है कि आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित को पापरूप कलंकों से हटा कर पवित्र बना देता है. इसका आशय है कि परमात्मा स्वयं यद्यपि कुछ भी नहीं करता फिर भी उसके निमित्त से आत्मा में जो शुभोपयोग उत्पन्न हो जाता है उसी से उसके पाप का क्षय और पुण्य की उत्पत्ति हो जाती है.

महाकवि धनंजय इसी का समर्थन करते हुए अपने विषापहार नामक स्तोत्र में क्या ही मनोग्राही वाणी में कहते हैं—

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि त्वयि स्वभावाद् विमुखश्च दुःखम्,
सदावदातद्युतिरेकरूपस्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि ।

हे भगवान् ! तुम तो निर्मल दर्पण की तरह सदा स्वच्छ हो. स्वच्छता तुम्हारा स्वभाव है. जो तुम्हें अपने निष्कपटभाव से देखता है वह सुख पाता है. और जो तुमसे विमुख होकर बुरे भावों से तुम्हें देखता है वह दुःख पाता है. ठीक ही है, दर्पण में कोई अपना मुंह सीधा करके देखता है तो उसे उसका मुंह सीधा दिखता है. और जो अपना मुंह टेढ़ा करके देखता है उसे टेढ़ा दिखता है. किन्तु दर्पण किसी का मुंह न सीधा करता है और न टेढ़ा. इसी प्रकार रागद्वेष रहित परमात्मा स्वयं न किसी को सुख देते हैं और न दुःख. वह तो प्रकृतिस्थ है. इस प्रकार के कार्यों में स्वयं उनका कोई भी प्रयत्न संभव नहीं है. सुख अथवा दुःख तो मन की अपनी ही वृत्तियों का परिणाम है. सजीव अथवा निर्जीव पदार्थ एवं अनुरक्त अथवा विरक्त व्यक्ति का दूसरे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों पर जो स्वयं प्रभाव पड़ता है वह मनुष्य के लिये नई चीज नहीं है. यह तो प्रत्येक मनुष्य के अपने अनुभव की वस्तु है. मनुष्य अपनी मनः प्रकृति के अनुसार दूसरों से प्रभावित होता है. किसी स्त्री का मनोहर चित्र किसी भी रागी पुरुष के आकर्षण का कारण बन जाता है. किन्तु यह कार्य वह चित्र नहीं करता, वह तो उसमें निमित्त मात्र है. चित्र में न किसी के प्रति राग होता है और न किसी के प्रति द्वेष. फिर भी यह आकर्षण चित्र का कार्य माना जाता है. यही बात परमात्मा की भक्ति के विषय में भी है.

भक्ति के सम्बन्ध में एकलव्य का उदाहरण संसार में अप्रतिम है. वह मिट्टी के द्रोणाचार्य से स्वयं पढ़कर संसार का अद्वितीय धनुर्धारी बना था. वह एक निष्ठ होकर मिट्टी के द्रोणाचार्य से पढ़ता रहा. उसकी मनःकल्पना में वह मिट्टी की मूर्ति साक्षात् द्रोणाचार्य थी. कहने की आवश्यकता नहीं है कि एकलव्य को संसार का अप्रतिम धनुर्धारी बनने में मिट्टी के द्रोणाचार्य का स्वयं कोई प्रयत्न नहीं था क्यों कि मिट्टी में किसी प्रकार की आकांक्षा सम्भव ही नहीं है, पर यह भी सही है कि मिट्टी का द्रोणाचार्य ही एकलव्य को ऐसा धनुर्धारी बना सका जिसकी धनुःसंचालन-कुशलता को देखकर द्रोणाचार्य का साक्षात् शिष्य अर्जुन भी दंग रह गया.

संस्कृत-ग्रंथों में एक प्रयोग आता है—'कारीषोऽग्निरध्यापयति:' अर्थात् छाणों की आग पढ़ा रही है. एक गरीब छात्र के पास ओढ़ने के लिये कुछ भी नहीं होने से जाड़े की रातों में आग के सहारे से पढ़ता है और कहता है कि यह आग ही मुझे पढ़ा रही है. आग तो अध्यापक नहीं है फिर वह कैसे पढ़ा रही है ? उसमें इसलिये पढ़ाने का उपचार है कि अगर आग न हो तो वह छात्र पढ़ नहीं सकता. पढ़ने और अग्नि में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है. इसी तरह भक्त के आत्मोद्धार और भगवान् की भक्ति में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है. यद्यपि जैनदर्शन मानता है कि भक्ति साक्षात् मुक्ति का कारण नहीं है, क्योंकि उससे 'दासोऽहम्' की भावना नष्ट नहीं होती, तो भी भक्ति का महत्त्व

कम नहीं होता. वह मनुष्य के सामने परमात्मा का आदर्श उपस्थित करती है. यद्यपि उस आदर्श की प्राप्ति अभेद रत्नत्रय से होती है, भक्ति से कभी नहीं, किन्तु साधना की प्रथम भूमिका में भक्ति का बहुत बड़ा उपयोग है. इसका कारण यह है कि मन जब उपास्य की ओर आकृष्ट होता है तब वह उसके मार्ग का अनुसरण करना भी अपना कर्तव्य समझता है. वह असत् प्रवृत्तियों से हटता है और सत् प्रवृत्तियों को अपनाता है. अदया से दया की ओर, अक्षमा से क्षमा की ओर तथा संक्षेप में अधर्म से धर्म की ओर बढ़ता है. यदि भक्ति में पाखण्ड न हो, किसी प्रकार का प्रदर्शन न हो और वह मानव-मन को अपने यथार्थ रूप से छूने लगे तो भक्ति उसको मुक्ति की ओर ले जा सकती है. यही कारण है कि अनेक जैन कवियों ने भक्ति को इतना अधिक महत्त्व दे दिया है कि उसे पढ़ कर आश्चर्य हुए विना नहीं रहता.

भक्ति तर्क को पसन्द नहीं करती, वह तो श्रद्धाप्रसूत है. पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि भक्ति में विवेक नहीं होता. ऐसा हो तो वह भक्ति ही नहीं है. ज्ञानी और अज्ञानी की भक्ति में जो महान् अंतर जैनाचार्यों ने बतलाया है उसका कारण विवेक का सद्भाव और असद्भाव ही तो है. विवेक सहित भक्ति ही मनुष्य को अमरत्व की ओर ले जाती है. जो साधक श्रमणत्व की ऊंची भूमिका में नहीं जा सकता उसके लिए भक्ति संबल है, मुक्तिमार्ग में पाथेय है और साधक के लिये एक सहारा है. इसलिये महाकवि वादिराज ने अपने एकीभाव स्तोत्र में कहा है—

> शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा,
> भक्तिर्नो चेदनवधिसुखावंचिका कुंचिकेयम्,
> शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो,
> मुक्तिद्वारं परिदृढ़महामोहमुद्राकपाटम् ।

अर्थात् शुद्ध ज्ञान और पवित्र चारित्र होने पर भी यदि असीम सुख देने वाली तुम्हारी भक्ति रूपी कुंचिका न हो तो जिसके महामोह रूपी ताला लगा हुआ है ऐसा मुक्तिद्वार, मुक्ति की इच्छा रखने वाले के लिये कैसे खुल सकता है? यहां कवि ने भक्ति की तुलना में शुद्ध ज्ञान और पवित्र चारित्र को भी उतना महत्त्व नहीं दिया. यह भक्ति की पराकाष्ठा है.

## भक्ति का फल

जैनाचार्यों ने भक्ति को एक निष्काम कर्म माना है. यदि उसे लक्ष्य कर मनुष्य में फलासक्ति उत्पन्न हो जाय तो भक्ति बिल्कुल व्यर्थ है. जैनशास्त्रों में निदान (फलाकांक्षा) को धार्मिक जीवन में एक प्रकार का शल्य (कांटा) बतलाया गया है. भक्त के सामने सदा मुक्ति का आदर्श उपस्थित रहता है. वह उससे कभी भटकता नहीं. यदि भटक जाय तो उसे सच्चा भक्त नहीं कह सकते. भक्ति का सच्चा फल वह यही चाहता है कि जब तक मुक्ति की प्राप्ति न हो तब तक प्रत्येक मानव जन्म में उसे भगवद्भक्ति मिलती रहे. इसी आशय को स्पष्ट करते हुए 'द्विसंधान काव्य' के कर्त्ता महाकवि धनंजय कहते हैं—

> इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्, वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ।
> छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्, कश्छायया याचितयाऽऽत्मलोभः ।
> अथास्ति दित्सा यदिवोपरोधः, त्वय्येव सक्तां दिश भक्ति बुद्धिं ।
> करिष्यते देव तथा कृपां मे, को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरीः ।

हे देव! इस प्रकार आपकी स्तुति कर मैं आप से उसका कोई वर नहीं मांगता, क्योंकि किसी से भी कुछ मांगना तो एक प्रकार की दीनता है. सच तो यह है कि आप उपेक्षक (उदासीन) हैं. आप में न द्वेष है और न राग. राग विना कोई किसी की आकांक्षा पूरी करने के लिए कैसे प्रवृत्त हो सकता है? तीसरी बात यह है कि छायावाले वृक्ष के नीचे बैठकर फिर उस वृक्ष से छाया की याचना करना तो बिल्कुल व्यर्थ है, क्योंकि वृक्ष के नीचे बैठने वाले को तो वह स्वतः ही प्राप्त हो जाती है.

यह सब कुछ होने पर भी यदि आप स्तुति का कोई फल देना ही चाहें, इतना ही नहीं इसके लिए आपका अनुरोध या आग्रह भी हो तो हे भगवान्! आप मुझे यही वर दीजिए जिससे आपकी भक्ति में ही मेरी बुद्धि लगी रहे. यह कृपा मुझ पर जरूर कीजिये. ऐसा कौन है जो अपने आश्रित के हित की ओर ध्यान न दे !

कल्याणमंदिर स्तोत्र के कर्त्ता महाविद्वान् कुमुदचन्द्र भी इस संबंध में यही बात करते हैं:—

यद्यस्ति नाथ भवदंघ्रिसरोरुहाणाम्, भक्तेः फलं किमपि सततं संचितायाः ,
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्यभूयाः स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ।

हे शरण्य ! आपके चरण-कमलों की सतत संचित भक्ति का यदि कोई फल हो तो वह यही होना चाहिए कि इस जन्म और अगले जन्म में आप ही मेरे स्वामी हों. क्योंकि आप के अतिरिक्त मेरा कोई भी शरण नहीं हो सकता.

किन्तु जैसा कि पहले कहा है, मनुष्य का चरम लक्ष्य मुक्ति है. इसलिए कोई भी भक्त जब तक मुक्ति नहीं मिले तब तक ही इस फलाकांक्षा का औचित्य समझता है. इसलिए भगवान् की पूजा के अंत में जैन मंदिरों में जो शान्तिपाठ बोला जाता है, उसमें इस अभिप्राय को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है:—

तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वये लीनम् ,
तिष्ठतु जिनेन्द्र! तावत् यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः ।

हे भगवन् ! जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो तब तक तुम्हारे चरण मेरे हृदय में लीन रहें और मेरा हृदय तुम्हारे चरणों में लीन रहे. इन उद्धरणों से यह अच्छी तरह समझा जा सकता है कि जैन भक्ति का उद्देश्य परमात्मत्त्व की ओर बढ़ना है. किसी भी प्रकार का लौकिक स्वार्थ उसका लक्ष्य नहीं है. जिसके जीवन में भक्ति की महत्ता अंकित हो जाती है उसकी दुनिया के क्षणभंगुर पदार्थों में आस्था नहीं होती और न उसके मन में किसी प्रकार के वैयक्तिक स्वार्थ की ही आकांक्षा होती है. वास्तविक भक्त वह है जिसकी दुनिया के क्षणभंगुर सुखों में आस्था नहीं होती. जिसको इस प्रकार की आस्था, आसक्ति अथवा आकांक्षा होती है वह कभी परमात्मत्त्व की ओर नहीं बढ़ सकता, भक्तहृदय अहिंसक होता है इसलिए उसका कोई शत्रु भी नहीं होता है वह अपनी भक्ति के बीच में इस प्रकार की आकांक्षायें भी नहीं लाता जो द्वेषमूलक एवं हृदय को विकृत करनेवाली हों. जैनदृष्टि से वे स्तोत्र अत्यन्त नीच स्तर के ही समझे जाने चाहिए जो मनुष्य को हिंसा एवं विकार की ओर प्रेरित करने वाले हों.

हाँ, जैन भक्ति एवं पूजा के प्रकरणों में भक्ति के फलस्वरूप ऐसी मांगें जरूर उपलब्ध होती हैं जो वैयक्तिक नहीं अपितु सार्वजनिक हैं, फिर चाहे वे लौकिक ही क्यों न हों. भगवान् की उपासना के बाद जो जैन उपासना-गृहों में शांतिपाठ बोला जाता है उसमें भक्त कहता है:—

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः ,
काले काले च सम्यग् विलसतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ।
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके ,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्य—प्रदायि ।

हे भगवन् ! सारी प्रजा का कल्याण हो. शासक बलवान् और धर्मात्मा हो. समय-समय पर (आवश्यकतानुसार) पानी बरसे. रोग नष्ट हो जावें. कहीं न चोरी हो और न महामारी फैले और सारे सुखों के देनेवाला भगवान् जिनेन्द्र का धर्मचक्र शक्तिशाली हो.

इसी प्रकार का एक उल्लेख और भी सुनिये :—

संपूजकानां प्रतिपालकानाम्, यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम् ,
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः, करोतु शांति भगवान् जिनेन्द्रः ।
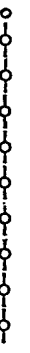
जो भगवान् के भक्त हैं, जो दीन-हीनों के सहायक हैं, जो यतियों में श्रेष्ठ हैं, जो तपोधन हैं उन सबको तथा देश, राष्ट्र, नगर और राजा को भगवान् जिनेन्द्र शान्ति प्रदान करें.

ये सब उल्लेख स्पष्ट यह बतलाते हैं कि जैनों के वाङ्मय का लक्ष्य आत्मशोधन के साथ-साथ लोकोपकार की भावना भी है. उसका दृष्टिकोण संकुचित नहीं अपितु उदार, विशाल एवं व्यापक है. इसमें वसुधैवकुटुम्बकम् की 'उदात्त' तथा प्रांजल भावना ओतप्रोत है. इससे मानव को जो प्रेरणा मिलती है उससे उसकी पशुता निकल कर मानवता निखर जाती है. जैन-भक्ति की एक विशेषता यह भी है कि इसमें किसी प्रकार के आडम्बर को स्थान नहीं मिलता. आडम्बर भक्ति की विडम्बना है. उससे कभी आत्मा का यथार्थ दर्शन नहीं होता. उपास्य का जो वास्तविक स्वरूप है उसीकी उपासना पर जैनभक्ति में बल दिया गया है. भक्त भी उसी स्वरूप की प्राप्ति के लिये कृतसंकल्प होता है. जैन मंदिरों में वीतरागता के साधनों के अतिरिक्त जो बाह्य चीजें दीख पड़ती हैं, वे चाहे कितनी ही आकर्षक क्यों न हों, भक्ति में उनका कोई महत्त्व नहीं. जहाँ भक्ति के उच्च स्तर का वर्णन मिलता है वहाँ सोने-चाँदी आदि अत्यन्त बाह्य पदार्थों की कौन कहे, शरीराश्रित गुणों को भी कोई महत्त्व नहीं दिया गया. वहाँ तो आत्माश्रित गुणों को ही भक्ति कर आधार माना गया है क्योंकि उन्हीं की अभिव्यक्ति जीवन में अपेक्षित है. शरीर और इससे सम्बन्ध रखने वाले सभी बाह्य पदार्थ जड़ हैं. जड़ के किसी भी गुण-धर्म की अभिव्यक्ति आत्मा को इष्ट नहीं है.

## मूर्तिपूजा और भक्ति

श्वेताम्बर जैनों के स्थानकवासी और तेरापंथी एवं दिगम्बर जैनों का तारणपंथी सम्प्रदाय—यद्यपि मूर्तिपूजा को महत्त्व नहीं देते, फिर भी वे भक्ति का समर्थन करते हैं. यद्यपि मूर्तिपूजा और भक्ति का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं तो ये दोनों चीजें एक नहीं हैं. किन्हीं दो पदार्थों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बनाना व्यक्तिगत प्रश्न है. भक्ति के लिये भी कोई मूर्ति को अवलम्बन मानता है और कोई नहीं मानता है. जो संप्रदाय मूर्ति या प्रतिमा को अवलम्बन नहीं मानते, वे भी भगवान् की भक्ति करते हैं. भक्ति तो मनुष्य की मानसिक वृत्ति है. वह मूर्तिरूप आलंबन के विना निरालंबन भी हो सकती है. वास्तव में परमात्मा या भगवान् ही आलंबन हैं. उपास्य में तो कोइ भेद है नहीं, भले ही उनकी मूर्ति बनाई जाय या न बनाई जाय. विना मूर्ति के भी परमात्मा या महात्माओं के गुणों में अनुराग उत्पन्न कर उसमें पूजनीयता की आस्था स्थापित की जा सकती है. भक्ति का रहस्य भी यही है. इन तीनों संप्रदायों ने जो मूर्ति का विरोध किया है इसके ऐतिहासिक कारण हैं. इससे किसी में किसी की स्थापना करने की मानव-बुद्धि का विरोध नहीं होता. मूर्तिपूजा का विरोध करना उन तीनों सम्प्रदायों का क्रान्तिकारी कदम था किन्तु वह भक्ति का विरोध कभी नहीं था. जैनधर्म में जो भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है उसे जैनों के सभी सम्प्रदाय एक मत से स्वीकार करते हैं.

## भक्ति साहित्य

जैन वाङ्मय में भक्तिसाहित्य अथवा स्तोत्रग्रन्थों का उल्लेखनीय स्थान है. तीर्थंकरों पंचपरमेष्ठी एवं अन्य देवी-देवताओं सम्बन्धी हजारों स्तोत्रग्रन्थ उपलब्ध होते हैं. भक्तामरस्तोत्र, कल्याणमन्दिरस्तोत्र आदि स्तुतिपरक रचनाएँ बड़ी ही महत्त्वपूर्ण हैं. जैन उपासक प्रतिदिन इन रचनाओं को भक्ति के भाव में विभोर होकर अपनी आत्मशुद्धि के लिये पढ़ते हैं. तुलनात्मक दृष्टि से इन स्तुतिग्रन्थों की अनेक विशेषताएं हैं. इनका प्रत्येक पद्य एक मंत्र माना जाता है और इन पर अनेक कथाएं लिखी गई हैं. जैनों के वैयक्तिक जीवन पर इन स्तोत्रों का बहुत प्रभाव है. यह साहित्य इतना विशाल है कि इस पर विभिन्न दृष्टियों से अनुसंधान किया जा सकता है. जैनों के चोटी के आचार्यों ने अन्यान्य विषयों की रचना के साथ-साथ भक्तिसाहित्य को भी अपनी रचना का विषय बनाया है. दार्शनिक साहित्यकारों ने भक्ति को तर्क की कसौटी पर कस कर अपने ग्रन्थों में इसकी उपादेयता सिद्ध की है.

## भक्ति का समन्वय

संसार के सभी धर्मों में भक्ति का उल्लेखनीय स्थान है. जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं और जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, उनका भक्ति तत्त्व अनेक दृष्टियों से समान नहीं है. गीता का अध्ययन करने से पता चलता है कि ईश्वर की सत्ता स्वीकार करके भी गीताकार निष्काम भक्ति पर बहुत जोर देते हैं. ऐसा ज्ञात होता है कि गीताकार पर कर्तत्ववाद की कोई छाप ही नहीं है. गीताकार की भक्ति और जैनभक्ति में अनेक दृष्टियों से साम्य है किन्तु उपास्य का स्वरूप दोनों में एक-सा नहीं है. विभिन्न धर्मों में जो भक्तितत्त्व की व्याख्या मिलती है उसका अनेकान्तवाद के आधार पर समन्वय किया जा सकता है. इस प्रकार के समन्वय की आज अत्यन्त आवश्यकता है. अतः साध्य की सिद्धि के लिये उसका निष्कपट भाव से प्रयोग करना चाहिए, यही भक्तियोग की मर्यादा है.
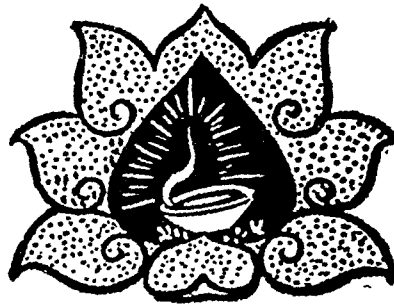
डा० कन्हैयालाल सहल
अध्यक्ष हिन्दी विभाग, बिड़ला आर्ट्स कॉलेज, पिलानी

# नियति का स्वरूप

काव्यप्रकाशकार ने कवि-भारती का जयजयकार करते हुए 'नियतिकृतनियमरहिता' का प्रयोग किया है जिससे स्पष्ट है कि वे नियति[1] को नियम-समष्टि अथवा नियमन करने वाली शक्ति के रूप में ग्रहण करते हैं. 'नियति' शब्द का इस तरह का प्रयोग वैदिक 'ऋत' से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है जहाँ ऋत के कारण ही संसार में नियम-चक्र चलता है तथा ब्रह्माण्ड में व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है.[2]

वैज्ञानिक अध्ययन और प्रयोगों के परिणामस्वरूप अब यह तथ्य अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि यह विश्व कुछ ऐसे नियमों द्वारा संचालित है जो अकाट्य और अनुल्लंघनीय है. इस विचारधारा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति विश्व-शृंखला की एक कड़ी मात्र है. संस्कृत के अनेक प्राचीन ग्रंथों में नियति के स्वरूप की विवेचना की गई है. उदाहरणार्थ योगवासिष्ठ के निम्नलिखित श्लोकों को लीजिए—

> यथास्थितं ब्रह्मतत्त्वं सत्ता नियतिरुच्यते ।
> सा विनेतुर्विनेयत्वं सा विनेयविनेयता । —प्रकरण २, सर्ग १० श्लोक १.
> आदिसर्गे हि नियतिर्भाववैचित्र्यमक्षयम् ।
> अनेनेत्थं सदा भाव्यमिति संपद्यते परम् । —प्रकरण ३, सर्ग ६२, श्लोक ६.
> महासत्तेति कथिता महाचितिरिति स्मृता ।
> महाशक्तिरिति ख्याता महादृष्टिरिति स्थिता ।१०।
> महाक्रियेति गदिता महोद्भव इति स्मृता ।
> महास्पन्द इति प्रौढा महात्मैकतयोदिता ।११।
> तृणानीव जगत्येवमिति दैत्याः सुरा इति ।
> इति नागा इति नगा इत्याकल्पं कृता स्थितिः ।१२।

अर्थात् सर्वत्र सम रूप से स्थित जो व्यापक ब्रह्म की सत्ता है, उसी का नाम नियति है, वही कार्य-कारण के नियम्य और नियामक रूप से स्थित है. कारण होने पर कार्य अवश्य होता है और कार्य होने पर उसका कोई कारण अवश्य होता है. इसी नियम का नाम नियति है. वही कारण आदि की नियामकता है और वही कार्य आदि की नियम्यता भी है.

सृष्टि के प्रारम्भ से ही अग्नि आदि की उष्णता और ऊर्ध्वज्वलन नियति के कारण हैं, पर ब्रह्म स्वयं अपने संकल्प से पदार्थों की विचित्रतासहित अक्षय नियति का रूप धारण कर लेती है. वही नियति संपूर्ण ब्रह्माण्डों की स्थिति, विस्तार,

---

१. नियम्यन्ते धर्मा अनया इति नियतिः ।

२. There is no error in the Eternal plan, All kings are working for the final good of man.
—Wordsworth

सामर्थ्य, विवेक, रचना, जन्म और अर्थक्रियाकारितादि की हेतुता से महासत्ता, महाचिति, महाशक्ति, महादृष्टि, महाक्रिया, महाउद्भव और महास्पन्द, गति इत्यादि नामों से कही गई है. तृणों के समान सब जगत् का परिवर्तन करती हुई—दैत्य इस प्रकार के क्रूर हैं, देवता इस प्रकार शान्त हैं, नाग ऐसे हैं, पर्वत ऐसे जड़ हैं इत्यादि रूप से कल्पपर्यन्त नियति अपने रूप में स्थित रहती है.

× × ×

न शक्यते लंघयितुमपि रुद्रादिबुद्धिभिः। —३,६२,२.
सर्वज्ञोऽपि बहुज्ञोऽपि माधवोऽपि, हरोऽपि च।
अन्यथा नियतिं कर्तुं न शक्तः कश्चिदेव हि। —५,८६,२६.
सर्गादौ या यथारूढा संविक्तचनसंततिः।
साऽद्याप्यचलिताऽन्येन स्थिता नियतिरुच्यते। —३,५४,२२.
आमहारुद्रपर्यन्तमिदमित्थमिति स्थितेः।
आतृणपद्मजस्पन्दं नियमान्नियतिः स्मृता। —६,३७,२१.

अर्थात् रुद्रादि देवता भी नियति का उल्लंघन नहीं कर सकते. माधव और हर के समान सर्वज्ञ और बहुज्ञ भी नियति के नियमों में व्यतिक्रम नहीं कर सकते. वर्तमान विश्व के प्रारम्भ में नियति की जैसी कल्पना की गई थी, उसी रूप में वह आज भी अचल भाव से स्थित है. रुद्र से लेकर छोटे-से-छोटे तृण पर्यन्त नियति का ही नियमन-व्यापार सर्वत्र दिखलाई पड़ता है. इस नियमन के कारण ही इसे नियति कहा गया है.

योगवासिष्ठ में ही नियति की नटी के रूप में भी कल्पना की गई है—

नियतिर्नित्यमुद्वेगवर्जिता परिमार्जिता।
एषा नृत्यति वै नृत्यं जगज्जालकनाटकम्। —प्रकण ६, सर्ग ३७, श्लोक २३.

अर्थात् यह नियति नित्य उद्वेगरहित तथा परिमार्जित रहते हुए जगज्जाल रूप नाटक रचती रहती है. Rational Mysticism के लेखक ने भी नियति के प्रभुत्व को स्वीकार किया है—"Individual man can modify the course of nature on the earth in many minor ways; but he can not alter the course of nature as a whole, that is to say, those cosmic happenings which are determind by a higher power, or by higher powers" —(Kingsland) : Rational Mysticism p 354

अर्थात् बहुत से छोटे-मोटे रूपों में तो व्यक्ति प्रकृति के कार्य-व्यापार में रूपान्तर उपस्थित कर सकता है किन्तु कुल मिलाकर वह प्रकृति की पद्यति को बदल नहीं सकता अर्थात् विश्व की जो घटनाएँ किसी उच्चतर शक्ति अथवा उच्चतर शक्तियों द्वारा नियत कर दी जाती हैं, उनमें परिवर्तन उपस्थित करना व्यक्ति के वश का रोग नहीं. योगवासिष्ठकार के मतानुसार नियति विश्व की नियामिका शक्ति है, जिसके अनुशासन को अखिल भुवन तथा चर और अचर सभी स्वीकार करते हैं. एक छोटी-सी सभा के संचालन के लिये भी जब नियम बनाए जाते हैं, तब इस विराट् ब्रह्माण्ड के लिये नियमों की कितनी अधिक आवश्यकता है, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है. नियमों के अभाव में सर्वत्र धांधली और अव्यवस्था फैल जायगी, कर्म-व्यवस्था के संबन्ध में वेद में भी कहा गया है—

'न किल्विपमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सममान एति,
अनूनं निहितं पात्रं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनराविशति।'

अर्थात् कर्म-व्यवस्था में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं हो सकती. आम का बीज डालने से जमीन में आम ही उगता है. यह कारण-कार्यविधान विश्व में सर्वत्र लागू है. यहां कोई आधार या सिफारिश भी नहीं चलती और न यही संभव है कि मित्रों के साथ गति प्राप्त की जा सके. किसी भी बाह्य कारण से हमारे इस कर्म-फल-पात्र में कोई घटा-बढ़ी नहीं

हुई. जैसा और जितना हमने इसे भरा, वैसा और उतना ही यह सुरक्षित है. पकाने वाले को पका पदार्थ फिर आ मिलता है अर्थात् कर्म-फल से छुटकारा नहीं मिलता.

शैवागमों द्वारा किया गया नियति का निरूपण भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है. नियति शैवागम दर्शन का एक विशिष्ट शब्द है जो उस तत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसके कारण प्रत्येक वस्तु की कारिका शक्ति नियत रहती है. 'नियतिर्नियोजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले.'

नियति के कारण ही सरसों के बीज से सरसों का अंकुर फूटता है और अग्नि में केवल जलाने की शक्ति है, नियति के कारण ही पवन में जल को आन्दोलित करने की क्षमता पाई जाती है.

बहुत से नियतिवादियों का तो कहना यह है कि संसार में जो आपाततः आकस्मिक और आश्चर्यमयी घटनाएँ घटित होती हुई दिखलाई पड़ती हैं, वे वस्तुतः न आकस्मिक होती हैं और न आश्चर्यमयी. आकस्मिकता और आश्चर्य की सत्ता तो उन लोगों के लिये है जो नियति के रहस्य को हृदयंगम नहीं कर पाते. नियति यदि विश्व की नियामिका शक्ति है, यदि यह कर्म-चक्र की संचालिका है, यदि नियति की प्रेरणा से ही यह गोलक, कर्म-चक्र की भांति घूम रहा है तो अवश्य ही यह सब किसी विधान के अन्तर्गत होता होगा.

किन्तु इसके विपरीत एक विचारधारा ऐसी भी है जो भाग्य को अन्धा मान कर चलती है. योरोपीय देशों के लोगों का विश्वास था कि कोई ऐसी शक्ति अवश्य है जो मनुष्य के जन्म के समय ही उसके संपूर्ण जीवन की गतिविधि निश्चित कर हमेशा के लिये उसके भाग्य का निपटारा कर देती है. भाग्य, वह अवश्यंभावी दैवी विधान है जिसके अनुसार प्रत्येक पदार्थ और विशेषतः मनुष्य के सब कार्य-उन्नति, अवनति, नाश आदि पहले से ही निश्चित रहते हैं और जिससे अन्यथा कुछ हो ही नहीं सकता. अशिक्षितों में से अधिकांश लोगों का यही विश्वास रहता है कि संसार में जो कुछ होता है, वह सदा भाग्य से ही होता है और उस पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं होता. साधारणतः शरीर में भाग्य का स्थान ललाट माना जाता है. बहुत-से लोग यह मानते हैं कि छठी के दिन भाग्य की देवी शिशु के ललाट पर भाग्य का अंकन कर जाती है जिसमें न राई घटती है, न तिल बढ़ता है. सामान्य लोगों की दृष्टि में भाग्य अन्धा है और उसके द्वारा नियोजित कार्य-व्यापार में कारण-कार्य की कोई शृंखला नहीं दिखलाई पड़ती. ग्रीस देश के दुःखान्त नाटकों में भी किस्मत की जो कल्पना की गई है, उसके अनुसार वह एक ऐसी निरपेक्ष शक्ति है जिसके अनुशासन को सभी स्वीकार करते हैं किन्तु स्वयं वह किसी भी प्रकार के प्राकृतिक अथवा नैतिक विधान को मानकर नहीं चलती.

स्व० डॉ० अन्सारी किसी रोगी की चिकित्सा के सिलसिले में रेल द्वारा यात्रा कर रहे थे. डॉक्टर साहब उन महाभागों में से थे, जो गांधीजी की भयंकर-से-भयंकर बीमारीकी खबर सुनते ही महात्माजी को सूचित किया करते थे कि मैं आपको मृत्यु के मुख से छुड़ा लाऊँगा किन्तु उन्हीं डॉक्टर अन्सारी को रेल के डिब्बे में ही जब हृद्रोग ने आ दबाया तो कहने लगे—'मैं मृत्यु के पद-चापों की निकटतम आती हुई ध्वनि को सुन रहा हूँ. चाहता हूं कि कभी विधि के विधान में कुछ दिवस अपने लिये और सुरक्षित करवा लूं किन्तु कोई उपाय नहीं, कोई चारा नहीं. वे ही डॉक्टर साहब, जो किसी दूसरे को मृत्यु के भीषण मुख से निकालने जा रहे थे, स्वयं कराल काल के गर्भ में समा गये.

डाण्टे के 'इन्फर्नो' तथा 'होमर' के 'ईलियड' और 'ओडीसी' से लेकर आधुनिक युग तक के लेखकों ने भवितव्यता की प्रबलता को स्वीकार किया है. किन्तु जो भवितव्य है, वह क्या पहले से नियत है? क्या वह किसी कारण-कार्य-परम्परा का अनुसरण करता है अथवा उनका सारा कार्य व्यापार अन्धवत्-प्रवृत्त होता है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न भवितव्यता के सम्बन्ध में हमारे मन में उठे बिना नहीं रहते. दुनिया के मनीषियों ने इस विषय पर भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किये हैं. चीन की एक कहावत में कहा गया है कि बीमारी का इलाज हो जाता है, किन्तु भाग्य का नहीं. अनेक बार ऐसा हुआ है कि भाग्य से बचने के लिये किसी ने जिस मार्ग का अनुसरण किया, उसी मार्ग में वह अपने दुर्भाग्य का शिकार हो गया. इस सम्बन्ध में राबर्ट साऊदे का निम्नलिखित कथन उल्लेख्य है—

"The poor slaves...must drag the car if Destiny wherever she drives, inexorable and blind
जो हमारे भाग्य की गाड़ी चलती है, वह यदि अन्धी हो तो फिर इस जीवन का क्या ठिकाना है.

उक्त विवेचन को पढ़ कर ऐसा लगता है कि यदि इस विश्व में सब कुछ पूर्वनिर्दिष्ट है तो क्या मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है ? दर्शन-शास्त्र का यह एक बड़ा जटिल प्रश्न है जिस पर गम्भीरता से विचार करना आवश्यक है.

डा० राधाकृष्णन् ने शायद कहीं कहा था कि 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' केवल पाणिनि का ही सूत्र नहीं, वह हमारे देश का दार्शनिक सूत्र भी है. प्राकृतिक जगत् की वस्तुओं की भांति मनुष्य वस्तु नहीं, वह वस्तुओं को अपनी इच्छानुसार रूप देने वाला कर्त्ता है. जब वैज्ञानिक किसी वस्तु का आविष्कार करता है, तब वह उस वस्तु से अपने को अलग कर लेता है और तब उसके रहस्योद्घाटन का प्रयत्न करता है. इससे स्पष्ट है कि जहाँ तक व्यक्ति का सम्बन्ध है, उसमें अपनी स्वतन्त्र इच्छा—शक्ति का तत्त्व सन्निहित है. वह तत्त्व वस्तु-बाह्य अथवा आन्तरिक है. इस तत्त्व की जब हम उपेक्षा करने लगते हैं तब हम अपने आप को मात्र वस्तु मान लेते हैं. जड़ पदार्थों की भांति हम अपने आपको यंत्र का एक पुर्जा समझने लगते हैं और उस स्वतन्त्रता से अपने आपको वंचित कर लेते हैं—जो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है.

मनुष्य नियति के अधीन है अथवा कर्म करने में स्वतन्त्र है, इस प्रश्न का वेदान्त ने स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया है. वेदान्त के अनुसार जब तक मनुष्य अविद्या के वशीभूत रहता है, तब तक वह स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता. मोक्ष अथवा स्वातन्त्र्य, विद्या द्वारा ही सम्भव है. जो मनुष्य इच्छा तृष्णा अथवा वासनाओं का शिकार है, वह स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता. स्वतन्त्र बनने के लिए सतत साधना द्वारा उसे आत्म-साक्षात्कार करना होगा. साथ ही यह भी सत्य है कि मनुष्य की मनुष्यता इस स्वातन्त्र्य-सिद्धि में ही है क्योंकि वही एक ऐसा प्राणी है जो साधना द्वारा आत्म-संस्कार कर सकता है. पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों तथा जीव-जन्तुओं में यह शक्ति नहीं कि वे मनुष्य की भांति अपना संस्कार कर सकें. वे अपनी सहज वृत्ति से ऊपर नहीं उठ सकते.

दैववाद तथा स्वातन्त्र्यवाद के सम्बन्ध में जो विचार ऊपर प्रकट किए गये हैं, वे हमारे देश की दार्शनिक विचारधारा के अनुरूप हैं किन्तु व्यावहारिकता की दृष्टि से हमारे जीवन में दैव तथा पौरुष दोनों का स्थान है. माघ कवि के शब्दों में—

> "नालम्बते दैष्टिकतां, ना निषीदति पौरुषे ।
> शब्दार्थौ सत्कविरिव, द्वयं विद्वानपेक्षते । —शिशुपालवध, द्वितीय सर्ग, श्लोक ८६.

अर्थात् विद्वान् न तो केवल दैव का सहारा लेता है और न पौरुष पर ही स्थित रहता है. जिस प्रकार सत्कवि शब्द और अर्थ दोनों का आश्रय ग्रहण करता है, उसी प्रकार विद्वान् भी दैव और पौरुष दोनों को जीवन में आवश्यक समझता है. गीताकार ने भी कार्य सिद्धि में अधिकरण, कर्त्ता, भिन्न-भिन्न प्रकार के कारण तथा विविध चेष्टाओं से साथ 'दैवं चैवात्र पंचमम्' कह कर दैव की भी सत्ता स्वीकार की है.

एक बार हमारे प्रधानमन्त्री पं० नेहरू ने नियतिवाद और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का तारतम्य बतलाते हुए लिखा था—'इस विश्व में नियतिवाद और स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति दोनों के लिये स्थान है. इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है. ब्रिज के खेल में प्रत्येक खिलाड़ी को जो ताश के पत्ते मिलते हैं, उसमें खिलाड़ी की स्वतन्त्र-इच्छा-शक्ति का कोई हाथ नहीं रहता किन्तु उन्हीं पत्तों की सहायता से अपने अनुभव और बुद्धि-कौशल द्वारा चतुर खिलाड़ी जो खेल, खेलता है उसमें उसकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का पूरा योग है.' एक दूसरा उदाहरण लीजिए. पिता के चुनाव में पुत्र स्वतन्त्र नहीं है किन्तु पुत्र रूप में अवतरित व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति द्वारा अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर सकता है. कर्ण के सारथि-पुत्र होने की बात कह कर जब अश्वत्थामा ने उसके मर्मस्थल पर चोट करनी चाही तो कर्ण ने कहा था—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्,
दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरुषम्।

कर्ण की इस ओजमयी उक्ति में ही नियति और स्वातन्त्र्य का तत्त्व समाहित है.

## मंखलि गोशालक का नियतिवाद

इस प्रसंग में मक्खलि गोशाल के नियतिवाद की चर्चा करना भी अवांछनीय न होगी. मक्खलि, आजीवकों के सुप्रसिद्ध सिद्धांत नियतिवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं. वे बहुत समय तक भगवान् महावीर के साथ रहे किन्तु फिर मतभेद के कारण उनसे पृथक् हो गये. 'भगवती सूत्र' तथा आवश्यक सूत्र' की चूर्णि में दोनों के पार्थक्य का विवरण उपलब्ध है. कहा जाता है कि एक दूसरे से पृथक् होने पर ये दोनों १६ वर्षों तक अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे. इस अवधि में मक्खलि गोशाल की भी प्रतिष्ठा बढ़ गई और श्रावस्ती में उनके अनेक अनुयायी हो गये. उन्होंने अपने आपको तीर्थंकर भी घोषित कर दिया. विद्वानों के मतानुसार भगवान् महावीर से उनका मौलिक मतभेद नियतिवाद के सम्बन्ध में ही था. जहाँ गोशाल एकांत नियतिवादी थे, वहां श्रमण भगवान् महावीर अनेकान्तवाद के समर्थक थे. 'श्रीमदुपासकदशांग-सूत्र' का निम्नलिखित प्रसंग यहाँ उल्लेख्य है—

एक दिन सद्दालपुत्र 'आजीविकोपासक' वायु से कुछ सूखे हुए मिट्टी के कच्चे बरतनों को घर से बाहर निकाल कर धूप में सुखा रहा था. उस समय भगवान् महावीर ने उससे पूछा : 'हे सद्दालपुत्र! ये मिट्टी के बरतन किस प्रकार बनते हैं ? सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया : 'हे भगवन् ! प्रथम ये सब मिट्टी के रूप में थे, उस मिट्टी को पानी में भिगो कर उसमें राख और लीद मिलाते हैं, पीछे बहुत खूंद करके उसको चाक पर चढ़ाते हैं जिससे बहुत से करवे. कुंजे आदि तैयार होते हैं.

यह सुनकर श्रमण भगवान् ने फिर पूछा : 'सद्दालपुत्रा, एसणं कोलालभंडे किं उट्ठाणेणं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेणं कज्जति उदाहु अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेणं कज्जति ?" अर्थात् हे सद्दालपुत्र ! जो ये मिट्टी के बरतन बने हैं, ये सब उत्थान, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से बने हैं या बिना उत्थान, बल वीर्य और पुरुषकार-परा- क्रम से बने हैं ?

इस पर सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया, 'भंते ! अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेणं, नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव पर-क्कमे इ वा, नियया सव्वभावा' अर्थात् हे भगवन् ! बिना उत्थान, बल, वीर्य और पराक्रम से बनते हैं. इनके बनाने में उत्थान, बल और पराक्रम की कुछ भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सब भाव नियत हैं.

इस पर श्रमण भगवान् ने फिर पूछा, "सद्दालपुत्ता ! जइ णं तुब्भं केइ पुरिसे वायाहयं वा पक्केलयं वा कोलालभंडं अवहरेज्जा वा विक्खिरेज्जा वा भिंदेज्जा वा अच्छिंदेज्जा वा परिट्ठवेज्जा वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरेज्जा, तस्स णं तुमं पुरिसस्स किं दंडं वत्तेजासि ?"

अर्थात् हे सद्दालपुत्र ! यदि कोई पुरुष कच्चे में से पके हुए तेरे बरतनों की चोरी कर ले जाय, बिखेर दे, फेंक दे, छेद करदे, फोड़ डाले या बाहर लेजाकर छोड़ दे अथवा तेरी अग्निमित्रा भार्या के साथ अनेक प्रकार से भोग, भोगे तो तू उस पुरुष को दंड दे अथवा नहीं ?

यह सुनकर सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया, "भंते ! अहं णं तं पुरिसं आओसेज्जा वा हणेज्जा वा बंधेज्जा वा महेज्जा वा तज्जेज्जा वा तालेज्जा वा निच्छोडेज्जा वा निब्भच्छेज्जा वा अकाले चेव जीविआओ ववरोवेज्जा."

अर्थात् हे भगवन् ! मैं उस पुरुष पर आक्रोश करूं, दंडादिक से मारूं, रस्सी से बांध लूं, तर्जना करूं, तमाचा लगाऊं दाम वसूल करके तिरस्कार करूं और उसके प्राण ले लूं.

यह सुन कर भगवान् महावीर ने कहा, "हे सद्दालपुत्र ! तुम्हारे मतानुसार तो उत्थान, बल, वीर्य और पराक्रम कुछ नहीं है, सब भाव नियत ही हैं तो तेरे पके हुए मिट्टी के बरतनों को चोरने वाले या फोड़ने वाले तथा तुम्हारी भार्या

से भोग करने वाले को तुम क्यों मारते हो जब कि तुम्हारे मत से होनहार होकर ही रहता है तथा उत्थान, बल, वीर्य, पराक्रम आदि सब व्यर्थ हैं."

श्रमण भगवान् के उक्त शब्द सुन कर सद्दालपुत्र से कुछ उत्तर देते न बना और उसने प्रतिबोध पाया.

इसी प्रसंग में 'उपासकदशांग सूत्र' के ६ठे अध्ययन में उपलब्ध कुंडकोलिक और देव का विवाद भी उद्धरणीय है.

देव ने कहा, उत्थान कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार तथा पराक्रम व्यर्थ है क्योंकि अनेक बार उत्थानादि करने पर भी कार्य सिद्धि नहीं होती. कहा भी है—

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभाशुभो वा,
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्तिनाशः।
न हि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनाऽपि यत्नेन,
करतलगतमपि नश्यति यस्य तु भवितव्यता नास्ति।

—उवासग-दसाओ, ६–१६५

अर्थात् नियति के बल पर जो कुछ भी शुभ अथवा अशुभ होने वाला है, वह होकर ही रहेगा. प्राणी चाहे कितना भी बड़ा प्रयत्न क्यों न करे, जो कुछ नहीं होने वाला होगा, नहीं होगा, और इसी प्रकार, जो होने वाला होगा, उसका नाश भी नहीं हो सकेगा. जो भवितव्य नहीं है, नहीं होगा और जो भवितव्य है, वह बिना प्रयत्न के भी होगा किन्तु जिस व्यक्ति के लिये उसकी भवितव्यता नहीं, उसकी हथेली में आकर भी वह नष्ट हो जायगा.

यह सुन कर कुण्डकोलिक श्रमणोपासक ने देव से पूछा : "तुमने इस प्रकार की दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देव-प्रभाव किस प्रकार प्राप्त किये ? उत्थानादिक से प्राप्त किये अथवा अनुत्थानादिक से ?"

इस पर देव ने उत्तर दिया : "मुझे इस प्रकार की देवऋद्धि आदि बिना उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार पराक्रम किये प्राप्त हुई है."

यह सुन कर कुंडकोलिक ने कहा : "यदि यही बात है तो जो जीव उत्थान आदि नहीं करते, वे भी तेरे जैसी दिव्य देव-ऋद्धि क्यों नहीं प्राप्त कर लेते? वस्तुतः तू ने उत्थानादि से ही देव-ऋद्धि प्राप्त की है और तेरा कथन मिथ्या है." उक्त वचन सुन कर देव शंकित हो गया है कि गोशाल का मत सत्य है या श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी का मत सत्य है.

नियतिवाद और पुरुषार्थवाद का विषय चिरकाल से ही दार्शनिक क्षेत्र में वादविवाद का विषय रहा है. श्री गुणरत्नसूरि-कृत 'षड्दर्शन समुच्चयटीका' की प्रस्तावना में नियति के स्वरूप की विवेचना करते हुए कहा गया है—

ते (नियतिवादिनः) ह्येवमाहु—

नियतिर्नाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्वशादेते भावाः सर्वेऽपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते, नान्यथा. तथाहि यद् यदा यतो भवति तत्तदा तत एव नियतेनैव रूपेण भवदुपलभ्यते, अन्यथा कार्यकारणव्यवस्था प्रतिनियतरूप व्यवस्था च न भवेत् नियामकाभावात्. तत एवं कार्यनैयत्यतः प्रतीयमानामेनां नियतिं को नाम प्रमाणपथ-कुशलो बाधितुं क्षमते ? मा प्रापद् (अन्यथा) अन्यत्रापि प्रमाणपथव्याघातप्रसंगः. तथा चोक्तम्—

नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत्,
ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुवेधतः।
यद्यदैव यतो यावत्तत्तदैव ततस्तथा,
नियतं जायते नान्यात् क एनां बाधितुं क्षमः।

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि नियतिवादी नियति को कार्यकारण की नियामिका शक्ति के रूप में ग्रहण करते हैं यदि नियति न हो तो कार्यकारण की व्यवस्था ही भंग हो जाय.

नियतिविषयक यह दृष्टिकोण अत्यन्त वैज्ञानिक है जिसकी तुलना वैदिक 'ऋत' तथा पाश्चात्य दार्शनिकों के नियतवाद (Detcromiinsm) से की जा सकती है, यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि नियति संबन्धी यह धारणा अन्ध भाग्यवाद (Blind fatalism) की किसी भी प्रकार नहीं है—जहाँ भाग्य के देवता को अन्धा चित्रित किया गया है. बबूल का पेड़ लगाने से बबूल का पेड़ ही उगता है, अन्य कोई पेड़ नहीं, इसका कारण नियति ही है, और कुछ नहीं. नियति के विषय में यही दृष्टिकोण काश्मीर शैवागमों में भी गृहीत हुआ है. मिट्टी से मिट्टी का घड़ा ही निर्मित होता है, स्वर्ण-घट नहीं, इसके मूल में भी कार्यकारण की नियामिका शक्ति नियति ही वर्तमान है.

मक्खलि गोशाल के नियतिवाद का वास्तविक रूप क्या था, यह प्रश्न सहज ही हमारे मन में उपस्थित होता है. 'उपासकदशांग सूत्र' में श्रमण भगवान् महावीर के तथा मक्खलि गोशाल के अनुयायियों में जिस प्रकार का वार्तालाप हुआ है, उससे मक्खलि भाग्यवादी, (Fatalist) सिद्ध होते हैं, गुणरत्नसूरी द्वारा प्रतिपादित नियतिवाद के मानने वाले नहीं. यदि मक्खलि के अनुयायी गुणरत्नसूरी द्वारा प्रस्तुत नियतिवाद के मानने वाले होते तो वे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रश्नों का भली-भांति ऊत्तर दे सकते थे, उन्हें निरुत्तर होने की आवश्कता नहीं थी.

मक्खलि गोशाल द्वारा किया हुआ नियतिवाद का स्वतंत्र विवेचन यदि उपलब्ध हो तो मक्खलि के नियतिवाद का यथार्थ रूप समझने में बड़ी सहायता मिलेगी. श्रीपरशुराम चतुर्वेदी ने 'आजीवकों का नियतिवादी सम्प्रदाय' शीर्षक अपने एक लेख में लिखते हैं :—

'छुट-पुट अवतरणों के सहारे भी यह अनुमान करते अधिक विलंब नहीं लगता कि मक्खलि गोशाल के नियतिवाद में सारतत्त्व की कमी नहीं है. उनकी मान्यता की आधार-शिला यह प्रतीत होती है कि 'नियत' किसी सुव्यवस्था के सिद्धांत का एक व्यापक एवं सर्वग्राही नियम है जो प्रत्येक कार्य एवं प्रत्येक दृश्य को मूलतः शासित किया करता है, जिस कारण मनुष्य के कर्म स्वातंत्र्य को कोई स्थान नहीं और न उसकी क्रियाशक्ति का ही कोई परिणाम संभव है. वास्तव में यह नियति एक प्रकार के किसी प्राकृतिक व विश्वात्मक नियम की प्रतीक है जिसके किसी न किसी रूप को स्वयं भगवान् बुद्ध एवं महावीर ने भी स्वीकार किया है. उनके द्वारा उपदिष्ट कर्मवाद में भी एक सर्व व्यापक नियम दृष्टिगोचर होता है जो सारे विश्व को नियंत्रित एवं शासित करता है, अन्तर केवल यही हो सकता है कि वहाँ पर अपवाद की भी संभावना है, इसी प्रकार सांख्य दर्शन के परिणामवाद में भी हमें नियतिवाद के तत्व दीख पड़ते हैं, किन्तु वहाँ पर भी आजीवकों की जैसी कठोरता का पता नहीं चलता. नियति की चर्चा करते समय मक्खलि गोशाल का कथन कुछ इस प्रकार का था कि 'जिस प्रकार कोई सूत से भरी रील फेंकने पर बराबर उभरती चली जाती है और वह उसकी पूरी लंबाई तक एक ही प्रकार से बढ़ती जाती है, उसी प्रकार चाहे कोई मूर्ख हो, चाहे कोई पंडित ही क्यों न हो, सभी को ठीक एक ही नियम का अनुसरण कर अपने दुःख का अन्त करना है, मक्खलि गोशाल के इस नियतिवाद की धारणा को उनके दक्षिणी अनुयायियों ने कुछ और भी विकसित किया. उन्होंने, कदाचित् पकुध कच्चायन की मान्यता के अनुसार, नियति को 'अविचलितनित्यत्वम्' जैसा विशेषण अथवा नाम दिया जिसका भाव यह था कि वह सभी प्रकार से अपरिवर्तनशील है. इस प्रकार नियति का रूप गतिशील न होकर सर्वथा 'नित्य स्थायी' (Static) सा बन जाता है जिसमें किसी प्रकार के काल (Time) की भी गुंजायश नहीं रहती. एक तमिल ग्रन्थ के अनुसार धन एवं निर्धनता, पीड़ा और आनन्द, किसी एक देश का निवास और अन्य देशों में भ्रमण-ये सभी पहले से ही गर्भ के भीतर निश्चित कर दिये गए रहते हैं और यह सारा जगत् किसी कठोर नियति द्वारा शासित और परिचालित है.'[1]

मक्खलि गोशाल के दक्षिणी अनुयायियों की विचारधारा को यदि एक बार छोड़ दें तो उक्त उद्धरण के आधार पर मक्खलि उस नियतिवाद के समर्थक जान पड़ते हैं जिसके अनुसार विश्व कार्यकारण के नियमों द्वारा संचालित है. यह दृष्टिकोण 'उपासकदशांग सूत्र' में प्रस्तुत किये हुए नियतिवादी दृष्टिकोण से भिन्न जान पड़ता है तथा श्री गुणरत्नसूरि

१. भारतीय साहित्य (जुलाई १९५८) पृ० २९-३०

के उल्लेख से मेल खाता है. मक्खलि गोशाल के नियतिवाद का तात्त्विक रूप वस्तुत: गवेष्य है. 'नियति' दैव का रूप है अथवा कर्म का, यह प्रश्न विद्वानों द्वारा विचारणीय है.

दैववादी 'दैव' को ही प्रत्येक कार्यसिद्धि का हेतु मानते हैं किन्तु जैन दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर ने एकान्त कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, पूर्वकृतवाद, पुरुषार्थवाद आदि की अलग-अलग एकान्त मान्यता को मिथ्यावाद कहते हुए इन सबके समुदाय को ही कार्यसाधक माना है—

> कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता ।
> मिच्छत्तं ते चेव उ, समासओ होंति सम्मत्तं ।। —सन्मतितर्क प्रकरण तृतीय खण्ड

गीताकार ने भी किसी भी कर्म की सिद्धि के लिये अधिष्ठान, कर्त्ता, भिन्न-भिन्न साधन, भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ तथा दैव—ये पाँच हेतु माने हैं.[1]
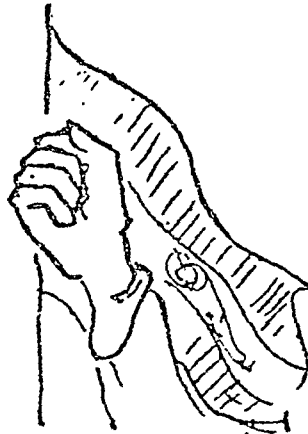
१. पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे । सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।।
अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् । विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।।

मुनि श्रीसुशीलकुमार

# भिक्षु जमाली और बहुरतदृष्टिवाद

भगवान् महावीरके युग में, सत्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ सोचा गया. वह एक चिन्तन-प्रधान युग था. विचारकोंने विचार की मौलिकता के नाते अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया था. विचार एक बहुत बड़ी शक्ति है. विचारकों के बल से हम मनुष्य के सोचने के ढंग को और सिद्धान्त स्थापित करनेवाले दृष्टिकोण को इस प्रकार व्यवस्थित कर देते हैं कि बुद्धि की सही समझ और स्फुरणा से उठे हुए भावावेग वास्तविकता का रूप ले लेते हैं. जीवन और जगत् के प्रति जितनी हमारी धारणा है वह सब विचारकों की देन है. हमारे विश्वास और हमारी श्रद्धा हमें अपने सम्बन्ध में और जगत् के सम्बन्ध में स्वरूप निर्धारण करने में एक मात्र सहायक होती है.

भगवान् महावीरने आत्मा को और इस सारे जगत् को स्याद्वाद की दृष्टि से, नय और निक्षेपके वर्गीकरण से व भेद और अभेद दृष्टि से सोचा है. इसी तरह भगवान् बुद्ध ने, पूर्ण काश्यप ने, प्रबुद्ध कात्यायन ने, मंखली गोशाल ने और संजय बेलट्ठी-पुत्त ने भी इस जगत् के सम्बन्ध में अपने-अपने ढंग से विचार किया है. वह हमारे राष्ट्र का स्वर्ण-युग था. उस काल में मौलिक विचार और मौलिक दर्शन हमारी संपत्ति बन रहे थे. विचारों की दृढ़ता और आचार की निष्ठा उस युग की अस्मिता बन गई थी.

जमाली उसी जमाने के ऋषि हैं. भगवान् महावीर के वे अनन्यतम शिष्य थे. सांसारिक सम्बन्ध में वे बहन के पुत्र होने के नाते भानजे लगते थे. और स्वयं भगवान् महावीर की सुपुत्री का परिणय भी उन्हीं के साथ हुआ था, इस नाते भगवान् महावीर के जामाता भी थे. वैराग्य-भाव के साथ जमाली ने ५०० राजकुमारों और सुदर्शना ने १००० सखियों के साथ भगवान् महावीर के पास दीक्षा धारण कर ली थी. भगवान् महावीर के केवल-ज्ञान के चौदह वर्ष बाद श्रावस्ती के तैंदुकवन में यह चर्चा उठी थी, जिसको हम बहुरतदृष्टिवाद कहते हैं.

जमाली, श्रमण भगवान् महावीर से अलग हो कर तैंदुकवन में विश्रामार्थ गये तो उन्होंने अपने शिष्यों से कहा, कि मेरा शरीर रुग्ण है, बहुत जल्दी मेरे शैयासन को बिछा दो. दर्शन का प्रारम्भ जीवन की बहुत छोटी-छोटी घटनाओं से हो जाया करता है. मालूम नहीं कब सत्य या सत्याभास हमें प्राप्त हो जाये और उसके पीछे हम अपना सर्वस्व लगा दें. ऐसी ही स्थिति जमाली की हुई.

आसन बिछाने की आज्ञा देने के बाद जमाली ने अपने शिष्यों से पूछा : 'मेरा आसन बिछ गया?' शिष्यों ने कहा : 'हां'. उनकी स्वीकारोक्ति के बाद जमाली जब बड़ी अधीरता के साथ पहुँचे तो देखा कि आसन अभी बिछ रहा है. जमाली ने कहा : 'सत्य का व्रत लेने वाले साधक इतना असत्य नहीं बोल सकते. आसन जब तक पूरी तरह बिछा नहीं, तब तक बिछे होने की बात कैसे कह सकते हैं ?' शिष्यों ने कहा : "श्रमण भगवान् महावीर का यह सिद्धांत है कि 'चलमाणे चलिए' और अन्त में "निज्जरमाणे निज्जरिए" इसके अनुसार जिस काम को हम कर रहे हैं, उसको कर चुके, ऐसा हमें मानना चाहिए.' जमाली कहने लगे : 'जब तक काम पूरा न हो जाय, जब तक क्रिया उद्देश्य को परिपूरित न कर दे, तबतक हम

ऐसा नहीं कह सकते कि वह काम हो गया, अगर कहते हैं तो उसमें असत्य लगता है.[1] बस इतनी-सी बात पर चर्चा चल पड़ी. भगवान् महावीर का सिद्धांत और जमाली का तर्कवाद दोनों एक दूसरे के विरुद्ध मोर्चा बना कर खड़े होगए. जमाली के साधुओं में और सुदर्शना की साध्वियों में यह चर्चा चल पड़ी कि जमाली का कथन सत्य है या भगवान् महावीर का!' सुदर्शना जमाली के सिद्धांतका समर्थन करने लगी. किन्तु कुछ समय पश्चात् ही एक ऐसी घटना घटी कि जिससे उसे अपनी भूल का पता चल गया. ढंक नाम के प्रजापति के यहां ठहरने का अवसर प्राप्त हुआ. ढंक जमाली के इस सिद्धांत का विरोधी था और भगवान् महावीर के 'चलमाणे चलिए' सिद्धांत का उपासक था. उसने उसके सामने अग्नि का एक शोला महासती सुदर्शनाकी साड़ी पर गिरा दिया. गिरते ही सुदर्शना चिल्ला उठी : 'मेरी साड़ी जल गई. तब ढंक ने कहा : 'आप जमाली के सिद्धांत को मानने वाली हैं, जब तक क्रिया की अन्तिम परिणति न हो जाय, तब तक आप यह नहीं कह सकतीं कि साड़ी जल गई, क्योंकि शोले ने साड़ी नहीं जलाई, अभी तो इसका एक हिस्सा ही जला है. आपने कैसे कह दिया कि साड़ी जल गई. बात तो व्यवहार की थी पर उसका असर मन पर हो गया और जमाली के सिद्धांत को एक आग के छोटे से शोले ने तथ्यहीन कर दिया. सुदर्शना के साथ अन्य साध्वियाँ भी महावीर के संघ में जा मिलीं. बहुत साधु भी जिनके मन में जमाली के सिद्धांत के प्रति आस्था नहीं हुई, भगवान् महावीर के श्रमण-संघ में चले गये, किन्तु जमाली अपनी बात पर डटे रहे और उनके लगातार चिन्तन ने बहुरतदृष्टिवाद को जन्म दिया.

व्यवहार का बहुत-सा सम्बन्ध जमाली के सिद्धांत से जुड़ता है. हम भोजन कर रहे हैं तो ऐसा नहीं कह सकते कि भोजन कर चुके. हम जा रहे हों तो ऐसा नहीं कहते कि हम जा चुके हैं. हम लिख रहे हों तो ऐसा नहीं कह सकते कि हम लिख चुके हैं अगर कहते हैं तो व्यावहारिक दृष्टि से सत्य उसके साथ नहीं रहता. जमाली ने अपने बहुरतदृष्टिवाद की सिद्धि के लिए जितने तर्क दिए हैं वे सब व्यवहार से लिए हैं. बहुरतदृष्टिवाद का अर्थ यह है कि उद्देश्य की परिपूर्णता में जब हम सफल हो चुके हों अर्थात् बहुतांश या सर्वांश में जब हम क्रिया पूर्ण कर लें तभी हमें किसी कार्य को 'किया हुआ' कहना चाहिए. यही जमाली का दर्शन था.

वाणी सत्य के किनारों से सट कर चल सके, इस पर बड़ी शोध हुई है. यद्यपि वाणी और सत्य को अर्थात् यथार्थ और भाषा को आपस में जोड़ने की क्षमता पूर्णता से मनुष्य को प्राप्त नहीं हुई है. भाषा इतनी निर्बल और शक्तिहीन है कि वह अपने मन में उठने वाले किसी गंभीर भावावेग को अभिव्यक्ति नहीं दे सकती. गुड़ खाने के बाद गुड़ का स्वाद बताने का सामर्थ्य हमारी भाषा में नहीं है, 'गूंगे का गुड़' लोकोक्ति से आप यह मत समझ लीजिये कि गूंगा ही गुड़ का स्वाद नहीं बता सकता अपितु संसार का कोई भी व्यक्ति नहीं बता सकता. सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि जब हम सत्य बोलने की प्रतिज्ञा लेते हैं उस समय जितनी सरलता प्रतीत होती है, उतना बोलने में सत्य को स्थापित करना आसान नहीं होता है.

जमाली सत्य के पक्षपाती थे, और सत्य की पूर्ण रक्षा के विचार से ही उन्होंने बहुरतदृष्टिवाद की स्थापना की. जीवन के अन्त तक वे इसी बात पर डटे रहे. किन्तु भगवान् महावीर के अकाट्य तर्कों और गहराइयों से प्राप्त हुए अनुभव के मोती इतने वास्तविक थे कि उन्होंने बहुरतदृष्टिवाद को स्थापित नहीं होने दिया.

भगवान् महावीर का कथन था कि लोग समय की सूक्ष्मता को और क्रिया की तीव्रता को पहचान नहीं पाते हैं. काल का सबसे छोटा हिस्सा, जिसके हम टुकड़े न कर सकें और जिससे और लघुतम काल की कल्पना न कर सकें, एक 'समय' कहा गया है. 'समय' को समझाने के लिये किसी भी दृष्टांत के द्वारा 'नेति-नेति' प्रक्रिया का ही अवलम्बन लेना पड़ता है. भगवान् महावीर कहते हैं कि आँख की पलक गिरा देने मात्र में असंख्यात समय बीत जाते हैं. 'समय' कितना सूक्ष्म है, इससे आप अनुमान लगा सकते हैं. फिर आवलिका, श्वासोच्छ्वास, प्राण, स्तोक, लव, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, सहस्रयुग, पूर्व, शंकु, महापद्म, निखर्व, त्रुटितांग और शीर्षप्रहेलिका तक की गणना तो और भी विस्तृत है. यह सब गणना भी समय को नापने में असमर्थ है.

---

१. विस्तार से जानने के लिए देखिए विशेषावश्यकसूत्र —गा० २३०६ से २३३२

कोई बलिष्ठ नवयुवक अपने बलिष्ठ हाथों से जब वस्त्र काटता है तो जमाली के अनुसार जब तक वह पूरा वस्त्र न काट ले तब तक वस्त्र काटा हुआ नहीं कहा जासकता. किन्तु भगवान् महावीर कहते हैं कि वस्त्र काटने की प्रथम क्रिया जितनी हो चुकी है, जिसमें कितने तन्तु कट चुके और एक तन्तु में कितने रेशे, और एक रेशे में कितने रज-कण और हर रज में कितने परमाणु प्रदेश, उन सबको काट कर के ही वह व्यक्ति उस वस्त्र के मध्य तक पहुँचा है. अगर आप कहें कि पहला तन्तु जो उसने काटा और पहले तन्तु में रहे हुए लक्ष्यावधि रजकणों को काटा, वह सब काटा हुआ नहीं माना जा सकता, तो समूचे वस्त्र का काटना भी आप कैसे मानेंगे ? क्योंकि वही क्रिया काटने की पहले समय भी हुई और अन्तिम समय में भी वही काटने की क्रिया की गई. कोटि-कोटि तन्तुओं के रजकणों को काटने को काटना हम नहीं मानें और जिनको हम काट चुके हैं उनको हम काट रहे हैं, कहें तो क्या यह सत्य के निकट होगा ?[1] आप भोजन कर रहे हैं, लेकिन आप जो ग्रास खा चुके और उस एक ग्रास में कितने बीज और उस बीज में रहे हुए कितने रज-कण, हर रजकण में कितने परमाणु-प्रदेश को खा चुकने पर भी आप खा रहे हैं. यह कैसे कहेंगे ? यही उदाहरण आप चलने पर घटाइये, अनुभव पर घटाइये, मरने पर घटाइये, छेदन करने में, भेदन करने में घटाइये अथवा किसी पर भी घटाइये. आपको इस सत्य का दर्शन होगा कि आप जिसे काट रहे हैं, उसको काट चुके हैं, चल रहे हैं वो चल चुके हैं. अनुभव कर रहें हैं, वो कर चुके हैं. अगर इसे व्यवहार में घटाना हो तो एक बड़ा सीधा उदाहरण है. कोई व्यक्ति अपने घर से अमरीका के लिये चल पड़ता है, और थोड़ी देर बाद उसका कोई मित्र आकर पूछता है कि वह कहाँ गया ? आप कहते हैं—अमरीका गया. बेशक वह अभी रास्ते में ही हो, या चल रहा हो परन्तु इस बात को सुनने के बाद भी आपके कथन को कोई असत्य नहीं कहता. जब कि उद्देश्य के नाते वह असत्य है.

अमरीका जाने के निमित्त घर से चल पड़ने का नाम ही अमरीका जाना मान लिया, यह क्यों ? इसलिए कि यह एक व्यवहार है. उद्देश्य के नाते यह कथन सर्वत्र असत्य नहीं है. किन्तु कर्मवाद के क्षेत्र में जब हम भगवान् महावीर के सिद्धान्त को घटायेंगे, केवल-ज्ञान की प्राप्ति और महा-परिनिर्वाण की अवस्था में इसे लागू करेंगे तो हमें भगवान् महावीर के इस सिद्धान्त की सच्चाई का दर्शन होगा.[2] जैसा कि भगवती सूत्र में भगवान् ने कहा है कि : प्रथम समय के चलित कर्म अथवा आदि समय में चलित कर्मांश को उत्तर समय की अपेक्षा चलित मानना. उदय में आए हुए कर्म-दलिक के अनुभव को असंख्यात समयवर्ती उत्तर समयों की अपेक्षा वेदित मानना. भोगते हुए कर्मभोग को मुक्त मानना. जीव-प्रदेश हे कर्मांश को प्रहाण करते हुए प्रहीण मानना. छेदन होते हुए कर्मांश को छिन्न, भेदन होते हुए कर्म के रसास्वाद को भिन्न, दग्ध होते हुए कर्मांश को दग्ध, नष्ट होते हुए आयुष कर्मांश को मृत और निर्जरित अर्थात् अपुनर्भावि रूप में क्षय करते हुए कर्मांश को निर्जरित मानना ही सिद्धान्त के अनुकूल है.

सत्य की गहराई और कर्मबन्ध की विलक्षणता, केवलज्ञान की उत्पत्ति और निर्वाण की प्राप्ति के सारे पहलुओं को समझ लिया जाय तो हम इन एकार्थक और भिन्नार्थक वाक्यों की सचाई को सही रूप से जान सकते हैं. अगर हम समय की सूक्ष्मता में विश्वास करते हैं, क्रिया की तीव्रता को मानते हैं और स्कन्ध, देश, प्रदेश के सारे पदार्थगत सूक्ष्म तन्त्रात्मक, हिस्सों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, तो भगवान् महावीर के सिद्धान्त को माने बिना किसी तरह भी सत्य हाथ नहीं लग सकता. सत्य के प्रति तीर्थंकर भगवान् कितने जागरूक थे और कितनी गहराई से उन्होंने हमारे सामने इस सत्य का प्रकाश अनावृत किया है, उसके लिये युग-युग तक हम उनके कृतज्ञ रहेंगे. यह स्वाभाविक है, किन्तु जमाली श्रमण के इस उपकार को हम नहीं भुला सकते कि अगर वह बहुरतदृष्टिवाद के आग्रही सिद्धान्त को स्थापित न करते तो हमें भगवान् महावीर के सत्य-सिद्धान्त को समझने में अवश्य कठिनाई अनुभव होती. ★

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र.

२. चल माणे चलिए ?, उदीरिज्जमाणे उदीरिए ?, वेइज्जमाणे वेइए ?, पहिज्जमाणे पहीणे ?, छिज्जमाणे छिन्ने ?, भिज्जमाणे भिन्ने ?, उज्झमाणे दड्ढे ?, मिज्जमाणे मडे ?, निज्जरिज्जमाणे निज्जिएणे ?

डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र, माधव
एम०ए०, पी-एच० डी०, निदेशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

# धर्म का वास्तविक स्वरूप

धर्म के तत्त्व के सम्बन्ध में विभिन्न मत पंथ सम्प्रदायों में नाना प्रकार के वितंडावाद आज भी प्रचलित हैं और शायद सदा प्रचलित रहेंगे. इसमें मुख्य हेतु कदाचित् यही है कि प्रत्येक मत-पंथ या सम्प्रदाय के व्यक्ति अपने-अपने मत पंथ या सम्प्रदाय के संकीर्ण दायरे से बाहर की बातें सोच समझ नहीं पाते या सोचना समझना नहीं चाहते. इसी-लिए धर्म के क्षेत्र में प्रायः कूपमंडूकता का ही बोल-बाला है और इसीलिए धर्म के नाम पर संसार में इतना अधर्म हो रहा है. और इतिहास साक्षी है कि धर्म के नाम पर क्या-क्या अनाचार और रक्तपात नहीं हुए. अस्तु, आश्चर्य नहीं कि आज के प्रगतिशील व्यक्ति, धर्म का नाम सुन-सुन कर नाक भौंह सिकड़ने लगते हैं और इसे अफीम की संज्ञा दे बैठते हैं. उनकी दृष्टि में धर्म एक नशा है जिसका सेवन करने वाले धर्मांध हो कर सब कुकर्म करने पर उतारु हो जाते हैं और जीवन के सामान्य शिष्टाचार के नियमों से भी आँखें बन्द कर लेते हैं.

धर्म शब्द का यथार्थ पर्यायवाची शब्द न अंग्रेजी भाषा में है, न विश्व की किसी भी अन्य भाषा में है. धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना, पोषण करना. वैशेषिक दर्शन के अनुसार धर्म की परिभाषा है. 'यतोऽ-भ्युदयनिःश्रेयस्-सिद्धिः सधर्मः' अर्थात् जिससे लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस् (कल्याण अथवा मोक्ष) की सिद्धि हो वही धर्म है. महर्षि जैमिनी धर्म की परिभाषा एक व्यापक परिवेश में करते हैं—"चोदनालक्षणो धर्मः" अर्थात् श्रुतिस्मृति द्वारा बोधित अर्थ ही धर्म है. सच तो यह है कि श्रुति स्मृति ही धर्म का प्राण है और उनके वचन ही धर्ममार्ग में अग्रसर होने की प्रेरणा देते रहते हैं :

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो, धर्म-शास्त्रं तु वै स्मृतिः,
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां हि धर्मो निर्बभौ।

परन्तु श्रुतियां भी अनेक हैं और स्मृतियां भी अनेक हैं. और उनमें मतैक्य नहीं. वे भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन करती हैं, ऐसी अवस्था में विचारक या धर्मसाधक क्या करें ? ऐसी अवस्था में 'महाजनो ये न गतः स पंथा' जिस मार्ग से महापुरुष चलते हों वही निष्कंटक है. यहां महापुरुष का अर्थ है श्रेष्ठजन, आदर्श, धर्मप्राण व्यक्ति, जिसने अपने लोक-परलोक को संवार लिया है. जो मुक्त है या मोक्षार्थी है, न कि लौकिक पद मर्यादा या मान-प्रतिष्ठा के कारण महान् बन बैठा है. ऐसे ही महापुरुष सूत्र बतला गये हैं जिनका पथदर्शन मानवता को कल्याणपथ पर अग्रसर करता रहेगा. वे कहते हैं :

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्,
आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत्।
विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यं अद्वेषरागिभिः,
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।
श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः,
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्।

अर्थात् धर्म का यह रहस्य सुनो और सुनकर हृदय में धारण करो जिसे अपने लिए बुरा समझते हो उसे दूसरों के

के लिए मत करो. विद्वानों ने, संतों ने, और सदा रागद्वेष से मुक्त वीतराग पुरुषों ने जिसका सेवन किया है और जिसे हृदय ने मान लिया है वही धर्म है, उसे जानो. करोड़ों ग्रंथों में जो कहा गया है उसे मैं आधे श्लोक में कहूंगा : दूसरों का भला करने से पुण्य होता है और बुरा करने से पाप. गोस्वामी तुलसीदासजी इसी को कहते हैं :

**परहित सरिस धरम नहिं भाई, परपीड़ा सम नहिं अधमाई ।**

सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, यम, दिन और रात सांझ और सवेरा और स्वयं धर्म मनुष्य के आचरण को जानते हैं, यानी मनुष्य अपना कार्य विचार या कर्म इन से छिपा नहीं सकता.

'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां' का उद्‌घाटन ऋषियों ने, संतों ने, मुनियों ने अपने अनुभूत आचरण और आचरित अनुभय के आधार पर यत्र तत्र किया है. मनु ने चारों वर्णों के लिए बहुत ही संक्षेप में धर्माचरण का संकेत किया है :

**अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः,**
**एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ।**

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्रता का पालन करना, इन्द्रियों पर काबू रखना—मनुने चारों वर्ण के लिये थोड़े में यह धर्म कहा है. अहिंसा का अर्थ केवल 'सिसा न करना' ही नहीं है. उसका वास्तविक अर्थ है—'आत्मवत्सर्थभूतेपु." इसी प्रकार सत्यं का अर्थ केवल सच बोलने तक ही सीमित नहीं, उसका अर्थ है सत्चित्आनन्द स्वरूप परमात्मा में स्थित होकर आचरण करना. इसी प्रकार अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह भी व्यापक अर्थों में व्यवहृत हुये हैं. परन्तु इन शब्दों का जो सामान्य भाव है उसी का अनुसरण करने पर विशिष्ट भावलोक के द्वार उन्मुक्त होंगे जहां धर्म से वस्तुतः साक्षात्कार होगा. जो ज्ञानी और तत्त्वदर्शी हैं उनके चरणों में आदर और भक्ति पूर्वक साष्टांग पणिपात द्वारा, उनकी अहैतुकी सेवा में अपने को लीनकर के तथा अत्यन्त विनम्रतापूर्वक जिज्ञासुभाव से उनसे परिप्रश्न करके धर्म का तत्त्व जाना जा सकता है. ऐसा गीता उपदेश करती है :

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया,**
**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।**

श्वेम्वर उपनिषद् में ईश्वरीय शक्ति से अनुप्राणित महर्षि ने विश्व के सामने खड़े होकर उसी अमर सन्देश की घोपणा की :

**श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः, आये धामानि दिव्यानि तस्थुः ।**
**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।**
**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ।**

हे अमृतपुत्र ! अनादि पुरातन पुरुष को पहचानना ही अज्ञान एवं माया से परे जाना है. केवल उस पुरुष को जानकर ही लोग ज्ञानी बन सकते हैं, मृत्यु के चक्कर से छूट सकते हैं—और कोई मार्ग है नहीं. यह निर्मल ज्ञान ही धर्म की आत्मा है. सच तो यह कि संसार में ज्ञान के सदृश पवित्र करने वाला तत्त्व निःसन्देह कुछ भी नहीं है, छान्दोग्य उपनिषद् में इसी सत्य का समर्थन है :

'सच एषोणिमा एतात्म्य मिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि—श्वेत केतो इति.'

अपनी आत्मा को जानना पहचानना और उसी में स्थित होकर आचरण करना—'स्वस्य च प्रियमात्मनः' यही धर्माचरण का केन्द्र-विन्दु है. कठोपनिषद् में उस पुरुष के स्वरूप के सम्बन्ध में आया है :

**भयादग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः, भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ।**

उसी के भय से अग्नि तपती है, उसी के भय से सूर्य प्रकाश देता है—उसी के भय से इन्द्र और वायु अपना काम करते हैं और उसी के भय से मृत्यु भी भयभीत है.

इस प्रकार धर्म की आत्मा का जब साक्षात्कार हो जाता है तो सभी विभिन्न धर्मों, मतों, पंथों, सम्प्रदायों में उसी एक

का अखण्ड अविच्छिन्न सूत्र हाथ लग जाता है और समस्त विनाशशीलों में अविनाशीतत्त्व—'विनश्यत्सु अविनश्यन्तं' का स्वर्णसूत्र हाथ लग जाने पर मानव विश्वकल्याण की कामना से ओतप्रोत होकर इसका उद्घोष करता है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः,
सर्वे भद्राणि पश्यंतु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत्।
दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्,
शान्तः मुच्येत् वंधेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्।

संसार में सभी जीवजन्तु कीट पतंग स्थावर जंगम सुखीहों, सभी निरामय हों, सभी कल्याण कामी मंगलदृष्टिसम्पन्न हों किसी को भी किसी प्रकार दुख न हो. दुर्जनों में सज्जनता आ जाय, सज्जनों को शान्ति प्राप्त हो, जो शान्त हैं वे वंधनों से मुक्त हो जाएँ और जो मुक्त हैं वे मायावद्ध जीवों को मुक्त करें.
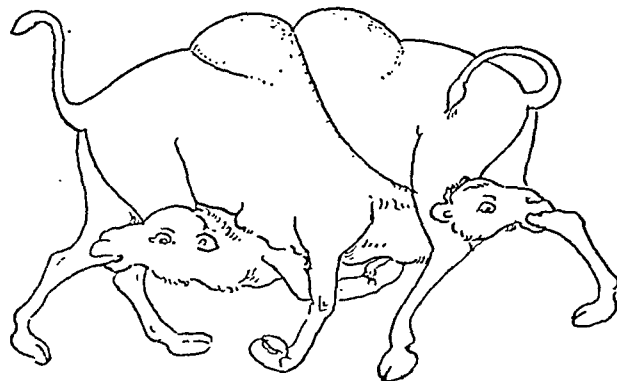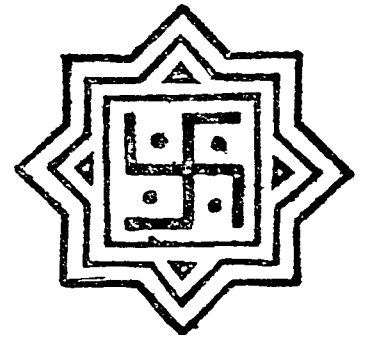
पं० हीरालाल जैन
सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ

# गुणस्थान

अनादि काल से यह जीव अज्ञान के वशीभूत होकर विषय और कषाय में प्रवृत्ति करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता चला आ रहा है, यद्यपि अपने इस परिभ्रमण-काल में जीव ने चौरासी लाख योनियों के अनन्त उतार-चढ़ाव देखे हैं, पुण्य का उपार्जन कर मनुष्य और देवों के दिव्य सुखों को भी भोगा है और पाप का संचय कर नाटकों और पशु-पक्षियों के महान् दुःखों का भी अनुभव किया है, तथापि आज तक अपने आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार या यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकने से भव-बन्धनों से मुक्ति पाने के लिये प्रयत्न करने पर भी वह सफल नहीं हो सका है. आत्म-स्वरूप का दर्शन नहीं हो सकने के कारण इस जीव की दृष्टि अनादि से ही विपरीत हो रही है और उसी के कारण आत्मा से भिन्न परपदार्थों को यह अपना मानकर उन्हीं की प्राप्ति के लिये अहर्निश प्रयत्न करता रहता है और इच्छानुसार उनके प्राप्त नहीं हो सकने से आकुल-व्याकुल रहता है. जीव की इस विपरीत दृष्टि के कारण ही जैन शास्त्रकारों ने उसे मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा कहा है.

बहिरात्मा अपनी मिथ्यादृष्टि को छोड़कर किस प्रकार अन्तरात्मा या यथार्थ दृष्टिवाला समयग्दृष्टि बनता है और किस प्रकार आगे आत्म-विकास करते हुए परमात्मा बन जाता है, उसके इस क्रमिक विकास के सोपानों का नाम ही गुण-स्थान है. बहिरात्मा ने परमात्मा बनने के लिये आत्मिक गुणों की उत्तरोत्तर प्राप्ति करते हुए इस जीव को जिन-जिन स्थानों से गुजरना पड़ता है उन्हें ही जैन-शास्त्रों में 'गुणस्थान' कहा है. गुणस्थानों के चौदह भेद हैं, जो इस प्रकार हैं :

१ मिथ्यादृष्टि, २ सासादन सम्यग्दृष्टि, ३ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, ४ अविरत-सम्यग्दृष्टि, ५ देशसंयत, ६ प्रमत्तसंयत, ७ अप्रमत्तसंयत, ८ अपूर्वकरण संयत, ९ अनिवृत्तिकरण संयत, १० सूक्ष्मसाम्पराय संयत, ११ उपाशान्त कषाय संयत, १२ वीतरागछद्मस्थ संयत, १३ सयोगिकेवली गुणस्थान और १४ अयोगिकेवली गुणस्थान.

**(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान :** जब तक जीव को आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं होता तब तक वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है. संसार के बहुभाग प्राणी इसी प्रथम गुणस्थान की भूमिका में रह रहे हैं. ये मिथ्यादृष्टि जीव शरीर की उत्पत्ति को ही आत्मा की उत्पत्ति और शरीर के मरण को ही आत्मा का मरण मानते हैं. शरीर की सुरूपता-कुरूपता और सबलता-निर्बलता को ही अपना स्वरूप मानते हैं. पुण्य-पाप के उदय से होने वाली इन्द्रियजनित सुख-दुख की परिणति को ही आत्मस्वरूप मानते हैं और इसी कारण इष्ट-वियोग या अनिष्ट-संयोग के होने पर वे असीम दुःखों का अनुभव करते रहते हैं.

जब किसी सुगुरु के निमित्त से इस मिथ्यादृष्टि जीवको आत्म-स्वरूपका उपदेश प्राप्त होता है, तब इसकी कषाय मंद होती है, आत्म-परिणामों में विशुद्धि बढ़ती है और यह आत्म स्वरूप को प्राप्त करने के लिये उद्यत होता है. आत्म-परिणामों की विशुद्धि के कारण इसके अनादि काल से लगे हुए कर्मों का उदय भी मन्द होता है, नवीन कर्मों का बन्ध भी बहुत हलका हो जाता है और राग-द्वेष की परिणति भी धीमी पड़ती है. ऐसे समय में ही यह जीव करण-लब्धि के द्वारा अपने अनादिकालीन मिथ्यात्वरूप महामोह का अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप तीव्र कषायों का उपशमन करके सच्ची आत्म-दृष्टि को प्राप्त करता है अर्थात् आत्म-साक्षात्कार करता है. इस अवस्था को ही शास्त्रीय भाषा में

असंयतसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान की प्राप्ति कहते हैं. मिथ्यादृष्टि जीव आत्मसाक्षात्कार के होते ही प्रथम गुणस्थान से एक दम ऊँचा उठकर चतुर्थ गुणस्थानवर्ती बन जाता है.

मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शनमोहनीय कर्म अनादिकाल से अभी तक एक मिथ्यात्व के रूप में ही चला आ रहा था. किन्तु कणलब्धि के प्रताप से उसके तीन खण्ड हो जाते हैं, जिन्हें शास्त्रीय शब्दों में क्रमशः मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति कहते हैं. जीव को प्रथम बार जो सम्यग्दर्शन होता है उसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व कहते हैं. इसका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है. इस काल के समाप्त होते ही यह जीव सम्यक्त्वरूप पर्वत से नीचे गिरता है. उस काल में यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जावे, तो वह तीसरे गुणस्थान में पहुँचता है और यदि अनन्तानुबन्धी क्रोधादि किसी कषाय का उदय आजावे, तो दूसरे गुणस्थान में पहुँचता है. तदनन्तर मिथ्यात्वकर्म का उदय आता है और यह जीव पुनः मिथ्यादृष्टि बन जाता है अर्थात् पहले गुणस्थान में आ जाता है. इस सब के कहने का सार यह है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थान जीव के उत्थान काल में नहीं होते, किन्तु पतनकाल में ही होते हैं.

**(२) सासदनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान :** जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, इस गुणस्थान की प्राप्ति जीव को सम्यक्त्व-दशा से पतित होते समय होती है. सासादन का अर्थ सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन की विराधना है. सम्यग्दर्शन के विराधक जीव को सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं. इसे सास्वादन सम्यग्दृष्टि भी कहते हैं. जैसे कोई जीव मीठी खीर को खावे और तत्काल ही यदि उसे वमन हो जाय, तो वमन करते हुए भी वह खीर की मिठास का अनुभव करता है. इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जब कर्मोदय की तीव्रता से सम्यक्त्व का वमन करता है, तो उस वमन काल में भी उसे सम्यग्दर्शनकाल भावी आत्मविशुद्धि का आभास होता रहता है किन्तु जैसे किसी ऊंचे स्थान से गिरने वाले व्यक्ति का आकाश में अधर रहना अधिक काल तक सम्भव नहीं है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन से गिरते हुए यह जीव दूसरे गुणस्थान में एक समय से लगाकर ६ आवली काल तक अधिक से अधिक रहता है. तत्पश्चात् नियम से मिथ्यात्व कर्म का उदय आता है और जीव पहले गुणस्थान में जा पहुँचता है. काल के सब से सूक्ष्म अंश को समय कहते हैं और असंख्यात समय की एक आवली होती है. यह छह आवलीप्रमाण काल भी एक मिनट से बहुत छोटा होता है.

**(३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि :** चौथे गुणस्थान की असंयत सम्यग्दृष्टि दशा में रहते हुए जीव के जब मोहनीय कर्म की सम्य-ग्मिथ्यात्वप्रकृति का उदय आता है, तो यह जीव चौथे गुणस्थान से गिरकर तीसरे गुणस्थान में आ जाता है. सम्य-ग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव के परिणाम न तो शुद्ध सम्यक्त्वरूप ही होते हैं और न शुद्ध मिथ्यात्वरूप ही होते हैं. किन्तु उभयात्मक (मिश्ररूप) होते हैं. जैसे दही और चीनी का मिला हुआ स्वाद न तो केवल दही रूप खट्टा ही अनुभव में आता है और न चीनी रूप मीठा ही. किन्तु दोनों का मिला हुआ खट-मिट्ठारूप एक तीसरी ही जाति का स्वाद आता है. इसी प्रकार तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव के परिणाम न तो यथार्थ रूप ही रहते हैं और न अयथार्थरूप ही. किन्तु यथार्थ-अयथार्थ के सम्मिश्रित परिणाम होते हैं. इस गुणस्थान का काल भी अधिक से अधिक एक अन्तर्मुहूर्त ही है. मुहूर्त का मतलब दो घड़ी या ४८मिनट है. उसमें एक समय कम काल को उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहते हैं. एक समय अधिक आवली काल को जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं. आगे एक-एक समय की वृद्धि करते हुए उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होने तक मध्यवर्ती काल को मध्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं. इस मध्यम अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात भेद होते हैं. सो इस तीसरे गुणस्थान का काल यथासंभव मध्यम अन्तर्मुहूर्त जानना चाहिए. इतना विशेष है कि इस गुणस्थान वाला जीव यदि सम्भल जावे तो तुरन्त चढ़कर चौथे गुणस्थान में पहुँच सकता है, अन्यथा नीचे के गुणस्थानों में उसका पतन निश्चत ही है.

**(४) असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान :** जैसा कि पहले बतलाया गया है, जीव को यथार्थदृष्टि प्राप्त होते ही चौथा गुणस्थान प्राप्त हो जाता है. यह यथार्थ दृष्टि—जिसे कि सम्यग्दर्शन कहते हैं—तीन प्रकार की होती है—औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक. दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन प्रकृतियों तथा चारित्र मोहनीय कर्म की अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रकृतियाँ, इस प्रकार सात प्रकृतियों के उपशम

से औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है. जीव को सर्वप्रथम इसी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, किन्तु इसका काल अन्तर्मुहूर्त ही है, अतः उसके पश्चात् वह सम्यक्त्व से गिर जाता है फिर और मिथ्यादृष्टि वन जाता है. पुनः यह जीव ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करता है और बतलाई हुई सातों प्रकृतियों का क्षयोपशम करके क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि बनता है. इस सम्यग्दर्शन का काल अन्तर्मुहूर्त से लगाकर ६६ सागर तक है. अर्थात् किसी जीव को यदि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन लगातार बना रहे—तो उसके देव और मनुष्यभव में परिभ्रमण करते हुए लगातार ६६ सागर तक वना रह सकता है. जब जिस जीव का संसार बिल्कुल ही कम रह जाता है, तब वह क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव, उक्त सातों ही प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि बनता है. यह जीव संसार में अधिक से अधिक तीन भव तक रहता है. उसके पश्चात् चौथे भव में नियम से ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है.

इस गुणस्थानवर्ती जीव की बाहिरी क्रियाओं में और मिथ्यादृष्टि की बाहिरी क्रियाओं में कोई खास अन्तर दिखाई नहीं देता, पर अन्तरंग की परिणति में आकाश-पाताल जैसा अन्तर हो जाता है. जहाँ मिथ्यादृष्टि की परिणति सदा मलीन और आर्त्तरौद्रध्यान-प्रचुर होती है, वहाँ सम्यग्दृष्टि की परिणति एकदम प्रशस्थ, विशुद्ध और धर्मध्यानमय हो जाती है. चारित्रमोहनीय कर्म के तीव्र उदय होने से यद्यपि चौथे गुणस्थान वाला जीव व्रत-शील-संयमादि का रंच मात्र भी पालन नहीं करता है, इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति भी बराबर बनी रहती है तथापि मिथ्यादृष्टि दशा में जो इन्द्रियों के विषय-सेवन में उसकी तीव्र आसक्ति थी, वह एकदम घट जाती है. वह अनासक्त रहता हुआ ही इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता है, अन्यायपूर्वक आजीविका का परित्याग कर देता है और न्याय-नीति से ही धनादिक का उपार्जन करके अपना और अपने कुटुम्ब का भरणपोषण करता है. जैसे जल में रहते हुए भी कमल जल से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार यह असंयत सम्यग्दृष्टि जीव घर में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहता है—और इन्द्रियभोगों को भोगते हुए भी उनमें अनासक्त रहता है.

(५) **देशसंयत गुणस्थान** : चौथे गुणस्थान में रहते हुए जीव आत्मविकास की ओर अग्रसर होता है, तब उसे ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि मैं जिन भोगों को भोग रहा हूं ये भी कर्मबन्धन के कारण हैं, विनश्वर हैं और अन्त में दुःखों को ही देने वाले हैं, तब वह हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पाँचों पापों का स्थूल त्याग करता है अर्थात् अब मैं किसी भी त्रसप्राणी का संकल्पपूर्वक घात नहीं करूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा करके अहिंसाणुव्रत को अंगीकार करता है. आज से मैं राज्य-विरुद्ध, समाज-विरुद्ध, देश-विरुद्ध और धर्म-विरुद्ध असत्य नहीं बोलूंगा, इस प्रकार से स्थूल झूठ का परित्याग करके सत्याणुव्रत को स्वीकार करता है. अब मैं बिना दिये किसी की वस्तु को नहीं लूंगा. मैं दायाद (भागीदार) का हक नहीं छीनूंगा, राज्य के टैक्सों की चोरी नहीं करूंगा, इस प्रकार से स्थूल चोरी का त्याग करके अचौर्याणुव्रत का पालन करता है. अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त संसार की स्त्रीमात्र को अपनी मां, बहिन और बेटी के समान समझ कर उन पर बुरे भाव से दृष्टिपात नहीं करूंगा, इस प्रकार स्थूल कुशील का त्याग करके ब्रह्मचर्याणुव्रत को अंगीकार करता है. और अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखता हुआ अनावश्यक परिग्रह के संग्रह का परित्याग कर परिग्रहपरिमाणाणुव्रत को स्वीकार करता है. तथा इन ही पाँचों अणुव्रतों की रक्षा और वृद्धि के लिये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप सात शीलव्रतों को भी धारण करता है. इस प्रकार वह सम्यग्दर्शन के साथ श्रावक के उक्त १२ व्रतों का पालन करते हुए आदर्श गृहस्थजीवन बिताता है. मिथ्यादृष्टि जीव की अपेक्षा असंयतसम्यग्दृष्टि जीव के परिणामों की विशुद्धि अनन्तगुणी अधिक होती है और अविरत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा इस देशसंयत जीव के परिणामों की विशुद्धि और भी अनन्तगुणी होती है. इस गुणस्थान वाला संसार से उत्तरोत्तर विरक्त होते हुए अपने आरम्भ और परिग्रह को भी घटाता जाता है और श्रावक के प्रतिमारूप में जो ग्यारह दर्जे शास्त्रों में बतलाये गये हैं, उनको अंगीकार करता हुआ अपने आत्मिक गुणों का विकास करता रहता है. अन्त में सर्व आरम्भ का त्यागकर, शुद्ध ब्रह्मचर्य को धारण कर अपनी स्त्री का भी परित्याग कर, तथा घर-बार को भी छोड़ कर या तो साधु बनने की ओर अग्रसर होता है या जीवन को अल्प समझकर सल्लेखना को धारण कर समाधिमरणपूर्वक अपने शरीर का परित्याग करता है.

इस गुणस्थान का काल कम से कम अन्तर्मुहूर्त है और अधिक से अधिक आठ वर्ष और एक अन्तर्मुहूर्त से कम एक पूर्व कोटी वर्ष है जो कि कर्म भूमिज मनुष्य की उत्कृष्ट आयु वाले के ही सम्भव है.

(६) **प्रमत्तसंयत गुणस्थान :** गृहस्थधर्म का पालन करते हुए भी जब यह जीव अनुभव करता है कि मैं कितनी ही सावधानी क्यों न रखूं, कुटुम्ब आदि के निमित्त से या धनोपार्जनादि के कारण मेरी आत्मिक शान्ति में बाधा पड़ती ही है, तब वह अपने परिवार से भी नाता तोड़ कर और घर-बार का भी परित्याग कर साधु बनने के लिये तैयार होता है. ऐसी दशा में वह हिंसादि पाँचों पापों का सर्वथा परित्याग कर आजीवन के लिये अहिंसादि पंच महाव्रतों को अंगीकार करता है, घर में रहना छोड़कर साधुजनों के साथ निवास करता है और भिक्षावृत्ति से निरुद्दिष्ट आहार लेता हुआ अपने संयम की साधना में संलग्न हो जाता है. यद्यपि यह संयम का पालन करता है, अतः संयत है. तथापि इसके जब तक प्रमाद का सद्भाव बना रहता है तब तक उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं. इस गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्ट काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है. इसलिए साधु के सदा-प्रमत्तदशा नहीं रहती है, किन्तु थोड़ी देर में वह सावधान होकर आत्मचिन्तन करता रहता है. जब वह आत्म-चिन्तन करता है, तब उसके अप्रमत्तदशा आ जाती है. इस प्रकार वह सदा प्रमत्तदशा से अप्रमत्तदशा में और अप्रमत्तदशा से प्रमत्तदशा में आता जाता रहता है.

संज्वलन कषाय और नव नोकषायों का उदय होने पर महाव्रतों के परिपालन में किन्हीं कारणों से जो अनुत्साह होता है उसे प्रमाद कहते हैं. प्रमाद के १५ भेद परमागम में बतलाये हैं—चार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) चार विकथाएँ (स्त्रीकथा, राजकथा, आहारकथा और देशकथा) पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर झुकाव, प्रणय (स्नेह) और निद्रा. साधु सदा आत्म-चिन्तन में निरत नहीं रह सकता है, अतः उसकी प्रवृत्ति इन १५ प्रमादों में से किसी न किसी प्रमाद की ओर घड़ी-आध घड़ी के लिये होती रहती है. जितनी देर उसकी प्रवृत्ति प्रमाद रूप रहती है, उस समय उसकी प्रमत्त संज्ञा है और वह पाँचों पापों का यावज्जीवन के लिये सर्वथा त्याग कर चुका है, अतः संयम-धारण करने के कारण संयत है. इस प्रकार वह प्रमत्तसंयत कहा जाता है.

(७) **अप्रमत्तसंयत :** जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, साधु की सावधान-दशा का नाम ही सातवाँ गुणस्थान है. जितनी देर आत्म-चिन्तन और उसके मनन में जागरूक रहता है, उतनी देर के लिये ही वह सातवें गुणस्थान में पहुँचता है, और किसी एक प्रमाद रूप परिणति के प्रकट होते ही छठे गुणस्थान में आ जाता है. यद्यपि इन छठे और सातवें गुणस्थान का काल साधारणतः अन्तर्मुहूर्त बतलाया गया है, तथापि छठे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान का काल आधा है. इसका यह अर्थ है कि साधु आत्म-चिन्तन में संलग्न रह कर जितनी देर अन्तर्मुख रहता है उससे अधिक काल तक वह बहिर्मुख रहता है.

यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि जिन साधुओं की प्रवृत्ति निरन्तर बहिर्मुखी देखने में आती है, जो निरन्तर खान-पान की ही चर्चा करते रहते हैं, विकथाओं में व्यस्त और निद्रा में मस्त रहते हैं, समझ लीजिए कि वे भावलिंगी साधु नहीं हैं. व्याख्यान देते, खान-पान करते और चलते फिरते में भी भावलिंगी साधु सदा सावधान रहेगा और उक्त कार्यों के करते हुए भी बीच-बीच में उसे विचार आता होगा कि—"आत्मन् तुम कहाँ भटक रहे हो ! यह बातचीत, खानपान और गमनागमनादि तो तुम्हारा स्वभाव नहीं हैं. फिर भी तुम अभी तक इनमें अपना अमूल्य समय व्यतीत कर आत्म-स्वरूप से पराङ्मुख हो रहे हो" ऐसा विचार आते ही वह आत्माभिमुख हो जायगा.

वर्तमान काल में कोई भी साधु सातवें गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों में नहीं चढ़ सकता है, क्योंकि ऊपर चढ़ने के योग्य न तो उत्तम संहननादि आज हैं और न मनुष्यों में उतनी पात्रता ही है. किन्तु जिस काल में सर्व प्रकार की पात्रता और साधन-सामग्री सुलभ होती है, उस समय साधु ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता है.

सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक का काल परम समाधि का है. परम समाधि की दशा छद्मस्थ जीव के अन्तर्मुहूत काल से अधिक नहीं रह सकती है. इसलिए सातवें, आठवें आदि एक-एक गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त है और सबका सामूहिक काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है, ऐसा जानना चाहिए.

सातवें गुणस्थान के दो भेद हैं—१ स्वस्थान-अप्रमत्त और २ सातिशय-अप्रमत्त. सातवें से छठे में और छठे से सातवें गुणस्थान में आना जाना स्वस्थान-अप्रमत्तसंयत के होता है. किन्तु जो साधु मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करने के लिए उद्यत होते हैं, सातिशय अप्रमत्तदशा उन्हीं साधुओं की होती है. उस समय ध्यान अवस्था में ही मोहनीय कर्म के उपशमन या क्षपण के कारणभूत अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नाम वाले एक विशिष्ट जाति के परिणाम जीव में प्रकट होते हैं, जिनके द्वारा यह जीव मोहनीय कर्म का उपशनम या क्षपण करने में समर्थ होता है. इनमें से अधःकरण रूप विशिष्ट परिणाम सातिशयअप्रमत्तसंयत के अर्थात् सातवें गुणस्थान में ही प्रकट होते हैं. इन परिणामों के द्वारा वह संयत मोहकर्म के उपशम या क्षय के लिए उत्साहित होता है.

आगे के गुणस्थानों का स्वरूप जानने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि आठवें गुणस्थान से दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं—उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी. उपशमश्रेणी के ४ गुणस्थान हैं:—आठवाँ, नौवाँ, दशवाँ और ग्यारहवाँ. क्षपकश्रेणी के भी ४ गुणस्थान हैं—आठवाँ, नौवाँ, दशवाँ और बारहवाँ क्षपकश्रेणी पर केवल तद्भवमोक्षगामी क्षायिक सम्यग्दृष्टि साधु ही चढ़ सकता है, अन्य नहीं. किन्तु उपशमश्रेणी पर तद्भवमोक्षगामी और अतद्भवमोक्षगामी तथा औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि दोनों प्रकार के जीव चढ़ सकते हैं. किन्तु इतना निश्चित जानना चाहिए कि उपशमश्रेणी पर चढ़ने वाला साधु ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँच कर और अन्तर्मूहूर्त के लिए मोहनीयकर्म का पूर्ण उपशमन करके वीतरागता का अनुभव करने के पश्चात् भी नियम से नीचे गिरता है. यदि वह संभलना चाहे तो छठे-सातवें गुणस्थान में ठहर जाता है, अन्याथा नीचे के भी गुणस्थानों में जा सकता है. किन्तु जो तद्भवमोक्षगामी और क्षायिक सम्यग्यदृष्टि जीव हैं, वे सातवें गुणस्थान में पहुँच कर फिर भी मोहकर्म की क्षपणा के लिये प्रयत्न करते हैं और आठवें गुणस्थान में पहुँचते हैं. इसलिए आगे दोनों श्रेणियों के गुणस्थानों का स्वरूप एक साथ कहा जायगा.

**(८) अपूर्वकरण-संयतगुणस्थान :** जब कोई सातिशय अप्रमत्त संयत मोहकर्म का उपशमन या क्षपण करने के लिए अधःकरण परिणामों को करके इस गुणस्थान में प्रवेश करता है, तब उसके परिणाम प्रत्येक क्षण में अपूर्व-अपूर्व ही होते हैं. प्रत्येक समय उसके परिणामों की विशुद्धि अनन्तगुणी होती जाती है. इस गुणस्थान के परिणाम इसके पहले कभी नहीं प्राप्त हुए थे, अतः उन्हें अपूर्व कहते हैं. इस गुणस्थान में अनेक जीव यदि एक साथ प्रवेश करें, तो उनमें से एक समयवर्ती कितने ही जीवों के परिणाम तो परस्पर समान होंगे और कितने ही जीवों के परिणाम असमान रहेंगे. परन्तु आगे—आगे के समयों में सभी जीवों के परिणाम अपूर्व और अनन्तगुणी विशुद्धि को लिए हुए होते हैं, इसीलिए इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है. इस गुणस्थान का कार्य मोहकर्म के उपशमन या क्षपण की भूमिका तैयार करना है. यद्यपि इस गुणस्थान में मोहकर्म की किसी भी प्रकृति का उपशम या क्षय नहीं होता है, तथापि मोहकर्म के स्थिति-खण्डन अनुभाग आदि कार्य प्रारम्भ हो जाते हैं.

**(९) अनिवृत्तिकरण-संयतगुणस्थान :** आठवें गुणस्थान में अन्तर्मूहूर्त काल रह कर और अपूर्व-अपूर्व विशुद्धि को प्राप्त हो, विशिष्ट आत्म-शक्ति का संचय करके यह जीव नौवें गुणस्थान में प्रवेश करता है. इस गुणस्थान के प्रत्येक समयवर्ती जीवों के परिणाम यद्यपि उत्तरोत्तर-अपूर्व और अनन्तगुणी विशुद्धि वाले होते हैं, किन्तु एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश ही होते हैं, उनमें निवृत्ति या विषमता नहीं पाई जाती है, अतः उन परिणामों को अनिवृत्तिकरण करते हैं. इस गुणस्थान में होने वाले परिणामों के द्वारा आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गुणश्रेणी, निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थिति खण्डन और अनुभागखण्डन होता है. अभी तक जो करोड़ों सागरों की स्थिति वाले कर्म बंधते चले आ रहे थे उनका स्थितिबन्ध उत्तरोत्तर कम-कम होता जाता है, यहाँ तक कि इस गुणस्थान के अन्तिम समय में पहुँचने पर कर्मों की जो जघन्य स्थिति बतलायी गयी है, तत्प्रमाण स्थिति के कर्मो का बन्ध होने लगता है. कर्मों के सत्व का भी बहुत परिमाण में ह्रास होता है. प्रतिसमय कर्मप्रदेशों की निर्जरा असंख्यातगुणी बढ़ती जाती है. उपशमश्रेणी वाला जीव इस गुणस्थान में मोहकर्म की एक सूक्ष्म लोभप्रकृत्ति को छोड़ कर शेष सर्वप्रकृतियों का उपशमन कर देता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव उन्हीं का क्षय करके दशवें गुणस्थान में प्रवेश करता है. यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि क्षपकश्रेणी

वाला मोहकर्म की प्रकृतियों के साथ अन्य कर्मों की भी अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है.

**(१०) सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान :** इस गुणस्थान में परिणामों की प्रकृष्ट विशुद्धि के द्वारा मोहकर्म की जो एक सूक्ष्म लोभप्रकृत्ति शेष रह गई है, वह प्रतिसमय क्षीण-शक्ति होती जाती है. उसे उपशमश्रेणी वाला जीव तो अन्तिम समय उपशमन करके ग्यारहवें गुणस्थान में जा पहुँचता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव क्षय करके बारहवें गुणस्थान में पहुँचता है. जिस प्रकार धुले हुए कसूमी रंग के वस्त्र में लालिमा की सूक्ष्म आभा रह जाती है, उसी प्रकार इस गुणस्थान के परिणामों द्वारा लोभकपाय क्षीण या शुद्ध होते हुए अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रह जाता है, अतः इस गुणस्थान को सूक्ष्म-साम्पराय करते हैं. यहाँ साम्पराय का अर्थ लोभ है. इतना विशेप ज्ञातव्य है कि क्षपक श्रेणी वाला इस गुणस्थान के अन्तिम समय में सूक्ष्मलोभ के साथ अन्य कर्मों की भी अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है.

**(११) उपशान्तकपाय वीतरागछद्मस्थगुणस्थान :** दशवें गुणस्थान के अन्तमें सूक्ष्म लोभका उपशम होते ही समस्त कपायों का उपशमन हो जाता है और वह जीव उपशान्तकपायी बन कर ग्यारहवें गुणस्थान में आता है. जिस प्रकार गन्दले-जल में कतक-फल या फिटकरी आदि डालने पर उसका मलभाग नीचे बैठ जाता है और निर्मल जल ऊपर रह जाता है, उसी प्रकार उपशम श्रेणी में शुक्लध्यान से मोहनीयकर्म एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है, जिससे कि जीव के परिणामों में एक दम वीतरागता, निर्मलता और पवित्रता आजाती है, इसी कारण उसे उपशान्तमोह या वीतराग संज्ञा प्राप्त हो जाती है. किन्तु अभी तक वह अल्पज्ञ ही है, क्योंकि ज्ञान का आवरण करने वाला कर्म विद्यमान है, अतः वह वीतराग होते हुए भी छद्मस्थ ही कहलाता है. मोहकर्म का उपशम एक अन्तर्मुहूर्त काल के लिए ही होता है, अतः उस काल के समाप्त होते ही इस जीव का पतन होता है और यह नीचे के गुणस्थानों में चला जाता है.

**(१२) क्षीणकपाय वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान :** क्षपक श्रेणी वाला जीव दशवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का क्षय करके एकदम बारहवें गुणस्थान में जा पहुँचता है. इस गुणस्थान में शुक्लध्यान का दूसरा भेद प्रकट होता है. उसके द्वारा वह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन घातिक कर्मों का क्षय करता है. मोहकर्म का क्षय तो दशवें गुणस्थान के अन्त में ही हो चुका था. इस प्रकार चारों घातिक कर्मों का क्षय होते ही वह कैवल्यदशा को प्राप्त करता हुआ तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है.

**(१३) सयोगिकेवली गुणस्थान :** बारहवें गुणस्थान तक ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का सद्भाव रहने से जीव अल्पज्ञ ही रहता है अतः वहाँ तक के जीवों की छद्मस्थ संज्ञा है. किन्तु बारहवें गुणस्थान के अन्त में उन कर्मों का एक साथ क्षय होते ही जीव विश्व के समस्त चराचर तत्त्वों को हस्तामलकवत् स्पष्ट देखने और जानने लगता है. अर्थात् वह विश्वतत्त्वज्ञ और विश्वदर्शी बन जाता है, इसे ही अरहन्त अवस्था कहते हैं. केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के कारण उसे केवली भी कहते हैं. योग अभी तक बना हुआ है, अतः इस गुणस्थान का नाम सयोगीकेवली है. इस गुणस्थान में चार घातिया कर्मों के नाश से अरहन्त भगवान् के नव केवल लब्धियाँ प्रकट हो जाती हैं. ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरण के क्षय से अनन्त दर्शन, मोहकर्म के क्षय से अनन्तसुख और क्षायिक सम्यक्त्व, अन्तरायकर्म के क्षय से अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग और अनन्तवीर्य की प्राप्ति होती है. कैवल्य की प्राप्ति होने पर समवसरण-विभूति और अष्ट महाप्रातिहार्य भी प्रकट होते हैं. और अरहन्त भगवान् विहार करते हुए भव्य जीवों को अपने जीवनपर्यन्त मोक्षमार्ग का उपदेश देते रहते हैं. इस गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टकाल आठ वर्ष एवं अन्तर्मुहूर्त कर्म एक पूर्वकोटी वर्ष है.

जब तेरहवें गुणस्थान के काल में एक अन्तर्मुहूर्त मात्र समय शेप रह जाता है और केवली भगवान् की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु से शेप अघातिया कर्मों की स्थिति अधिक रहती है तब उनकी स्थिति के समीकरण के लिए तीसरा शुक्लध्यान प्रकट होता है और भगवान् केवलीसमुद्घात करते हैं. प्रथम समयमें चौदह राजुप्रमाण लम्बे दण्डाकार आत्म-प्रदेश फैलते हैं. दूसरे समय में कपाट के आकार के आत्मप्रदेश चौड़े हो जाते हैं. तीसरे समय में प्रतर के आकार में

विस्तृत होते हैं और चौथे समय में उनसे आत्मप्रदेश सारे लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं. इसे लोकपूरण-समुद्घात कहते हैं. इसी प्रकार चार समयों में आत्मप्रदेश वापिस संकुचित होते हुए शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं. इस केवली-समुदृघात क्रिया से नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति भी आयुकर्म के बराबर अर्न्मुहूर्त की रह जाती है. तभी वे चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करते हैं.

**(१४) अयोगिकेवली गुणस्थान :** इस गुणस्थान में प्रवेश करते ही शुक्लध्यान का चौथा भेद प्रकट होता है और उसके द्वारा उनके योगों का निरोध होता है. योग-निरोध के कारण ही उनको अयोगिकेवली कहा जाता है. इस गुणस्थान का काल यद्यपि अन्तर्मुहूर्त कहा जाता है, तथापि वह 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाँच ह्रस्व स्वरों के बोलने में जितना समय लगता है, तत्प्रमाण ही है. इस गुणस्थान के उपान्त्य या द्विचरम समय में केवली भगवान् अघातिया कर्मों की ७२ प्रकृतियों का क्षय करते हैं और अन्तिम समय में, यदि वे तीर्थंकर हैं, तो १३ प्रकृतियों का, अन्यथा १२ प्रकृतियों का क्षय करते हैं और एक क्षण में सर्व कर्मों से विप्रमुक्त होकर अयोगिकेवली भगवान् मुक्त या सिद्ध संज्ञा को प्राप्त करते हुए सिद्धालय में जा विराजते हैं और सदा के लिये आवागमन से विमुक्त हो जाते हैं.

## उपसंहार

कर्म-मलीमस यह संसारी जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा इन चौदह गुण-स्थान रूप नसैनी पर चढ़ता हुआ लोकान्त में अवस्थित सिद्धालय तक पहुँचता है और संसार के अनन्त दुःखों से छूट कर अनन्त आत्मिक सुख का अनुभव करता है. प्रारम्भ के तीन गुणस्थान वाले जीवों की बहिरात्मा संज्ञा है. चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान वाले जीवों को अन्तरात्मा कहते हैं और तेरहवें चौदहवें गुणस्थान वाले जीव परमात्मा कहलाते हैं. इस प्रकार बहिरात्मा से परमात्मा बनने के लिये गुणस्थानों पर चढ़कर उत्तरोत्तर आत्मविकास के लिये प्रत्येक तत्त्वज्ञ पुरुष का प्रयत्न होना चाहिए.
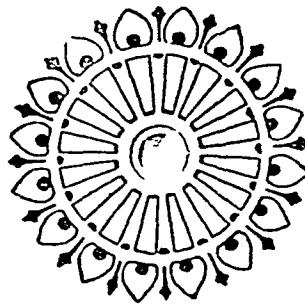
मुनि श्रीमहेन्द्रकुमार 'द्वितीय'
बी० एस० सी० (Hons)

# अनेकतत्वात्मक वास्तविकतावाद और जैनदर्शन

विश्व की चरम वास्तविकता एक नहीं अपितु अनेक हैं, यह अनेकतत्त्वात्मक वास्तविकतावाद है. विविध विचारधाराओं में यदि कोई विचारधारा जैनदर्शन के अधिक निकट हो, तो वह अनेकतत्त्वात्मक वास्तविकतावाद की है. इस विचारधारा में भी तत्त्वों के स्वरूप, संख्या आदि को लेकर अनेक अभिप्राय प्रस्तुत हुए हैं. द्वैतवाद (Dualism) विश्व में दो तत्त्वों की सत्ता का प्रतिपादन करता है— जड़ और चेतन. अनेकवाद अनेक प्रकार के तत्त्वों का प्रतिपादन करता है. अनुभयवाद जड़ और चेतन के अतिरिक्त तीसरे ही प्रकार के तत्त्वों को विश्व की वास्तविकता मानता है. यहाँ पर हम केवल कुछ विशिष्ट दार्शनिकों और वैज्ञानिकों की विचारधारा की जैनदर्शन के साथ तुलनात्मक समीक्षा करेंगे.

आधुनिक दार्शनिकों में बर्ट्रेण्ड रसेल की विचारधारा में अनेक तत्त्वात्मक वास्तविकतावाद का प्रतिपादन हुआ है. भौतिक पदार्थों के अस्तित्व को वे अनुभूति पर आधारित नहीं मानते. रसेल ने सभी प्रकार की आदर्शवादी और ज्ञात सापेक्षवादी विचारधाराओं का तार्किक ढंग से खण्डन किया है. बर्कले के अनुभववाद और प्लूतो के प्रत्ययों के सिद्धान्त की भी उन्होंने तर्कपूर्ण रीति से धज्जियां उड़ाई हैं. ज्ञान में मानसिक विश्लेषण की दृष्टि से रसेल ने एक नये प्रकार के वास्तविकवाद को जन्म दिया है. इसमें स्पष्ट रूप से माना गया है कि ज्ञेय पदार्थों का अस्तित्व ज्ञाता से सर्वथा स्वतन्त्र है. जैनदर्शन भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करता है. इस प्रकार पदार्थों के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को दोनों दर्शनों में स्वीकार किया गया है.

बर्ट्रेण्ड रसेल जहाँ पदार्थों के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं वहाँ चैतन्य के अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं. अतः भौतिकवाद के भी वे विरोधी हैं. यहाँ तक तो उनका दर्शन, जैनदर्शन के साथ सामंजस्य रखता है. किन्तु इससे आगे वे मानते हैं कि विश्व की वास्तविकता 'अनुभय' अर्थात् जड़ और चेतन से परे तीसरे प्रकार के तत्त्व हैं. जिनको वे घटनाएं (Events) कहते हैं. इस प्रकार उनके अनुसार विश्व के सभी पदार्थ घटनाओं के समूह हैं. घटनाएं अपने आप में जड़ और चेतन दोनों से भिन्न हैं और आकाश काल के सीमित प्रदेश में स्थित हैं.[1] इन घटनाओं को वे स्वभावतः गत्यात्मक (Dynamic) मानते हैं तथा एक दूसरे से सम्बन्धित भी. 'घटना' के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने लिखा है जब मैं 'घटना' के विषय में कह रहा हूँ, तो मेरा तात्पर्य किसी अनुभवातीत वस्तु से नहीं है. बिजली की चमक को देखना एक घटना है. मोटर के टायर को फटते सुनना अथवा सड़े अण्डे को सूंघना या किसी मेंढक के शरीर की शीतता का अनुभव करना आदि घटनाएँ हैं.[2] इन घटनाओं के परस्पर सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, जिनके कारण उनका कोई समूह जड़ कहलाता है और कोई चेतन. इस प्रकार जड़ पदार्थों की घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध चेतन पदार्थों की घटनाओं के सम्बन्धों से भिन्न हैं, यद्यपि दोनों में विद्यमान घटनाओं का स्वरूप एक ही है.[3]

---

१. एन० आउटलाइन आफ फिलोसोफी, पृ० २८७.

२. वही पृ० २८७,

३. दर्शन-शास्त्र का रूपरेखा, पृ० १३१.

अब यदि जैनदर्शन के द्रव्य गुणपर्यायवाद के साथ रसेल के इस 'घटनासिद्धान्त' की तुलना की जाये, तो इनके बीच रहे हुए सादृश्य-वैसदृश्य का पता हमें लग सकता है. जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य, गुण और पर्यायों का आश्रय है.[1] प्रतिक्षण प्रत्येक द्रव्य में जो परिवर्तन होता है, उसे पर्याय कहा गया है.[2] जीव और पुद्गल, धर्मास्तिकाय, और अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, सभी द्रव्यों में प्रतिक्षण यह पर्याय का क्रम चलता रहता है. अब जिसको रसेल 'घटना' कहते हैं, वह सम्भवतः पर्याय का ही द्योतक लगता है. रसेल पदार्थों को घटनाओं के समूह रूप मानते हैं. जैनदर्शन 'पर्याय' प्रवाह के आधार को द्रव्य मानता है. रसेल की घटनाएं गत्यात्मक हैं और एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, तो जैनदर्शन भी पर्यायों को सदा गतिमान और एक दूसरे से सम्बन्धित बताता है. घटनाएं और पर्याय दोनों हमारे अनुभय से परे नहीं हैं. रसेल जहाँ घटनाओं को विविध सम्बन्धों से जड़ और चेतन में विभाजित करते हैं और जड़ पदार्थों की घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध को चेतन पदार्थों की घटनाओं के सम्बन्ध से भिन्न मानते हैं, वहाँ जैनदर्शन भी पुद्गल और जीव की पर्यायों को भिन्न-भिन्न मानता है. अन्तर केवल इतना ही है कि रसेल प्रत्येक घटना को एक स्वतन्त्र तत्त्व-अनुभव मानते हैं, जब कि जैनदर्शन पर्याय को स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं करता. यथार्थता की दृष्टि से देखने पर रसेल का यह अनुभय भी अन्ततः तो द्वैतवाद में ही परिणत हो जाता है. क्योंकि जहाँ पारस्परिक सम्बन्धों से वे घटनाओं को दो प्रकारों में विभाजित करते हैं, वहाँ मौलिक तत्त्व घटनाएं न रह कर जड़ और चेतन ही बन जाते हैं.

जड़ चेतन की उत्पत्ति के लिये उत्तरदायी सम्बन्धों की परीक्षा करते हुए डा० स्टेस (Dr. Stace) इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये सम्बन्ध अनुभयवाद को वस्तुतः द्वैतवाद बना डालते हैं.[3] वे कहते हैं कि यदि जड़ और चेतन का अन्तर उनके तत्त्वों के सम्बन्धों का अन्तर है, तो इसका मतलब है कि चेतन पदार्थ के तत्त्वों में जो सम्बन्ध है, वह भौतिक पदार्थ के सम्बन्ध से बिल्कुल भिन्न है, अर्थात् वह भौतिक नहीं है. यह भी निश्चित है कि वह अनुभय नहीं है, तो अवश्य ही मानसिक या चेतन होगा. अनुभय नहीं होने का मतलब है कि जड़ और चेतन दोनों से भिन्न नहीं है, अर्थात् भौतिक या मानसिक है. यह भी मालूम है कि भौतिक नहीं है. इसलिए अवश्य ही मानसिक होगा. इसी तरह यह दिखाया जा सकता है कि भौतिक पदार्थों के तत्त्वों में विद्यमान सम्बन्ध भौतिक हैं. अतएव अनुभय तत्त्वों से चेतन पदार्थ को उत्पन्न करने वाले सम्बन्ध सिर्फ चेतन हैं और भौतिक पदार्थ को उत्पन्न करने वाले सिर्फ भौतिक. इसका मतलब है कि जड़ और चेतन की भिन्नता मौलिक या आधारिक है. किन्तु ऐसा होने से उनका वास्तविक द्वैत सिद्ध हो जाता है. इस द्वैत का परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि यह द्वैत सम्बन्धों का है. और सम्बन्ध ही जड़ को जड़ और चेतन को चेतन बनाने वाले हैं[4]. इस प्रकार यद्यपि रसेल ने घटनाओं को अनुभय तत्त्वों के रूप में बताया है, पर वस्तुतः तो उनके मूल में जड़ या चेतन, कोई न कोई होता ही है.[5]

यह तो जैन-दर्शन भी मानता है कि जितने भी चेतन तत्त्व हैं और परमाणु पुद्गल हैं वे सभी स्वतन्त्र वास्तविकताएँ हैं, और इस दृष्टि से विश्व के मूलतत्त्वों की संख्या तो अनन्त ही है. जहाँ हम इन तत्त्वों को प्रकारों में बांटते हैं, वहाँ हमारे सामने केवल दो भेद रह जाते हैं, जीव और पुद्गल.[6] अस्तु रसेल का दर्शन पाश्चात्य जगत् का एक ऐसा दर्शन है जो सम्भवतः जैनदर्शन के सबसे निकट माना जा सकता है.

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों में प्रो० हेनरी मार्गेनो की विचारधारा भी जैनदर्शन के साथ बहुत सादृश्य रखती है.

---

१. गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्; जैनसिद्धान्तदीपिका १-३.

२. पूर्वोत्तराकारपरित्यागादानं पर्यायः । वही १-४४.

३. दी फिलासोफी आफ बर्ट्रेण्ड रसेल, बी०ए० शिल्प द्वारा सम्पादित पृ०३५५-४००

४. दर्शनशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १३३

५. रसेल ने स्वयं अपने दर्शन को द्वैतवाद कहा है. देखें दर्शन-दिग्दर्शन पृ०३७१.

६. धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये तीन भी वास्तविक तत्त्व हैं, किन्तु इनकी संख्या एक एक है.

प्रो० मार्गेनो ने कन्स्ट्रक्ट्स के सिद्धांत का निरूपण करके यह बताया है कि ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ दोनों कास्व तन्त्र अस्तित्व है. अभौतिक वास्तविकता को भी वे स्वीकार करते हैं.

इस प्रकार जैन-दर्शन के साथ इनकी विचारधारा का काफी सामंजस्य प्रतीत होता है. मार्गेनो की विचारधारा में ज्ञान मैमांसिक विश्लेषण के द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ की वास्तविकता के विषय में चिन्तन किया गया है. और वह विचारधारा समीक्षात्मक वास्तविकतावाद (Critical realism) के निकट चली जाती है.

समीक्षात्मक वास्तविकतावाद के अनुसार ज्ञान-प्रक्रिया में तीन तत्त्व होते हैं :

१. ज्ञाता (known of mind), २. ज्ञेय (object as it is), ३. ज्ञात पदार्थ (object as known)

'ज्ञाता' ज्ञान करनेवाला है. जिस वस्तु का ज्ञान होता है, उसी को 'ज्ञेय पदार्थ' कहते हैं. मन या ज्ञाता की चेतना के समक्ष जो पदार्थ विद्यमान रहता है, उसीको 'ज्ञात' पदार्थ कहते हैं, उसे प्रदत्त (Datum) भी कहते हैं. क्योंकि ज्ञाता को यही प्राप्त होता है. वास्तविक वस्तु नहीं मिलती. यह सिद्धांत वास्तविक वस्तु और ज्ञात वस्तु दोनों में द्वैत या भिन्नता मानता है, इसलिए इसे ज्ञान-शास्त्रीय-द्वैतवाद (Epigtemological dualism) कहते हैं.[1] इस प्रकार इसके अनुसार ज्ञेय पदार्थ और ज्ञात पदार्थ में संख्यात्मक भिन्नता (Numerical duality) तो होती है. किन्तु इन प्रदत्तों के द्वारा पदार्थ वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है. क्योंकि हम प्रदत्तों को नहीं देखते. बल्कि चश्मे की तरह उनके माध्यम से वस्तुओं को देखते हैं. अब देखा जा सकता है कि जैनदर्शन की विचारधारा इसके समीप हैं. जैन-दर्शन ज्ञेय पदार्थ को स्वतंत्र वास्तविकता के रूप में स्वीकार करता है. ज्ञाता का भी स्वतंत्र वास्तविक अस्तित्व मानता है 'ज्ञात पदार्थ' ज्ञेय पदार्थ से संख्यात्मक भिन्नता रखता है. ज्ञानप्रक्रिया में दो प्रकार के साधनों का उपभोग होता है— ऐन्द्रिय और अनीन्द्रिय. ऐन्द्रिय साधनों द्वारा ज्ञात पदार्थ ज्ञेय पदार्थ से न केवल संख्यात्मक भिन्नता रखता है बल्कि इनमें स्वरूपात्मक भिन्नता भी होनी संभव है. हाँ, यह ज्ञात-पदार्थ ज्ञेय पदार्थ और ऐन्द्रिय उपकरणों के पारस्परिक सम्बन्धों के अनुरूप ही होता है. गणित की भाषा में इसे कहें तो यदि 'अ' ज्ञेय पदार्थ है और 'ब' ऐन्द्रिय साधनों द्वारा ज्ञात पदार्थ है तो ब-फ (अ ऐन्द्रिय सम्बन्ध)[2] होता है. इस प्रकार हमारे ज्ञान में आने वाला विश्व वास्तविक विश्व में यह 'द्वैत' हो जाता है. अब, जहाँ अतीन्द्रिय साधनों द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, वहाँ ज्ञात पदार्थ और ज्ञेय पदार्थ में संख्यात्मक द्वैत तो रहता है, किन्तु स्वरूपात्मक द्वैत तो नहीं रहता. अर्थात् यदि 'क' अतीन्द्रिय साधनों द्वारा ज्ञात पदार्थ है तो 'क-अ' होता है.

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनदर्शन और समीक्षात्मक वास्तविकतावाद में बहुत कुछ सादृश्य है, किन्तु थोड़ा अन्तर भी है ; दूसरा जहाँ प्रदत्त (Datum)और यथार्थ वस्तु में स्वरूपात्मक भिन्नता को स्वीकार नहीं करता, वहां, जैनदर्शन उसकी संभवता को स्वीकार करता है. दूसरी बात यह है कि प्रदत्तों को जैन-दर्शन में कोई स्वतंत्र वास्तविकता के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु वह वस्तुतः ज्ञाता का ही एक अंग बन जाता है. हाँ, उसका स्वरूप 'ज्ञेय-पदार्थ' पर आधारित अवश्य होता है. ऐसा मानने से जो दोष समीक्षात्मक वास्तविकतावाद में आते हैं,[3] जैन-दर्शन की विचारधारा उनसे मुक्त रह जाती है.

वैज्ञानिकों में अनेक ऐसे हैं, जो अनेकतत्त्वात्मक वास्तविकतावाद को स्वीकार करते हैं. प्राचीन युग में न्यूटन ने स्पष्ट रूप से भूत और चेतन के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया था, आधुनिक युग में हाईसन वर्ग व्ही हॉकर आदि भी पदार्थ के वस्तुसापेक्ष अस्तित्व को स्वीकार करते हैं. हाईसनवर्ग का स्थान वर्तमान वैज्ञानिकों में प्रथम श्रेणी में है. उन्होंने अपने 'भौतिक विज्ञान और दर्शन' नामक ग्रन्थ में आधुनिक विज्ञान के दर्शन की जो चर्चा की है, उसके

---

१. दर्शनशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ३४५.

२. (फलक) (Function) का चिह्न है.

३. विवरण के लिए देखें, दर्शन-शास्त्र की रूपरेखा, पृ० ३४७-३४८.

आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने भौतिक पदार्थों को वस्तुसापेक्ष वास्तविकता के रूप में माना है. साथ ही चेतन तत्त्व की वास्तविकता को भी वे स्वीकार करते हैं. उन्होंने माना है कि चेतनतत्त्व को भौतिकशास्त्र, रसायन-शास्त्र और विकासवाद के सिद्धांतों पर नहीं समझाया जा सकता.[1] हाईसन वर्ग यह भी मानते हैं कि 'वास्तविकता' को समझने के लिये हमारी धारणाओं की सूक्ष्म परिभाषायें आवश्यक हैं.[2] इनकी विचारधारा को हम आधुनिक प्रत्यक्षवाद (Modern Positivism) के अन्तर्गत मान सकते हैं. उन्होंने स्वयं आधुनिक प्रत्यक्षवाद की चर्चा में यह कहा है कि 'पदार्थ अनुभूति' 'अस्तित्व' आदि की समीक्षात्मक परिभाषायें आवश्यक हैं.[3]

अब जैन-दर्शन के साथ यदि इसकी तुलना की जाये तो कहा जा सकता है कि वैज्ञानिकों की दार्शनिक विचारधाराओं में हाईसन वर्ग की विचारधारा जैन-दर्शन के साथ बहुत सादृश्य रखती है. दोनों ही भूत और चेतन के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं. ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्धी हाईसन वर्ग की दार्शनिक विचारधारा का विस्तृत विवेचन नहीं होने से, इतनी समीक्षा प्रर्याप्त मानी जा सकती है.

हाईसन वर्ग के अतिरिक्त अन्य वैज्ञानिक भौतिक पदार्थों को और चेतन तत्त्व को भी वास्तविक मानते हैं किन्तु उनकी विचारधारा दर्शन के रूप में उपलब्ध होने से तुलनात्मक समीक्षा नहीं की जा सकती.

१. फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० ९५.
२. वही पृ० ८४.
३. वही पृ० ७८.

श्रीदेवनारायण शर्मा
एम० ए०, साहित्यरत्न,
रिसर्च स्कॉलर, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, मुजफ्फरपुर, बिहार.

# हिंदू तथा जैनसाधु-परम्परा एवं आचार

यह हमारी राष्ट्रीय विशेषता है कि जब भी हम किसी वस्तु के इतिहास का अन्वेषण करते हैं, तो उसके मूल-स्रोत की जानकारी के लिये वेदों को अवश्य टटोलते हैं. और यह ठीक भी है क्योंकि वेदों में बीजरूप में जो चिंतन है उसका सम्यक् विकास आगे के साहित्य में मिलता है. वस्तुतः यही बात साधु-परम्परा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है. यद्यपि यह सत्य है कि आत्मा,पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय में वैदिक ऋषियों ने अधिक नहीं सोचा था, किन्तु इनका विकास आगे चलकर उपनिषदों में हुआ-सा लगता है. आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु है, जो मरणोपरान्त परलोक को जाती है, सिद्धान्त का आभास वैदिक ऋचाओं[1] में मिलता है. यद्यपि वेदों का वातावरण आनन्द और उल्लास का है, उसमें भय अथवा शोक की छाया नहीं है. किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वैदिक जनता[2] इसी संसार पर भूली हुई थी और उसे सांसारिक जीवनोंपरान्त आनेवाले पारलौकिक जीवन का ध्यान ही नहीं था. ध्यान था और ऋषियों[3] ने कभी-कभी इस रहस्य पर विचार भी किया है.

पर इसके बाद भी वेदों से यही स्पष्ट होता है कि उस समय के आर्यों में श्रेय की अपेक्षा प्रेय की भावना ही अधिक है प्रबल थी.[4] प्रेय को छोड़कर श्रेय की ओर बढ़ने की आतुरता उपनिषदों के समय जगी, जब मोक्ष के सामने गृहस्थ जीवन निस्सार समझा जाने लगा एवं लोग, जीवन से आनन्द लेने के बदले संन्यास[5] लेने लगे. उपनिषदों ने मोक्ष का संसार को समाधान बतलाया और यह कहा कि मोक्ष का मार्ग ज्ञान है. इस युग में ज्ञान की इतनी महिमा बढ़ी कि वर्णाश्रम और यज्ञवाद, दोनों बहुत पीछे छूट गये.

चूंकि मोक्ष का सिद्धान्त निरुपित करने में बार-बार सांसारिक जीवन की दुःखपूर्णता की चर्चा की गयी, इस कारण समाज में एक तरह का निराशावाद फैलने लगा और लोग, जीवन में उस उत्साह को खोने लगे, जो वेदकालीन भारत-वासियों की विशेपता थी. वैदिक-सभ्यता, कर्मठ मनुष्य की सभ्यता थी जो सोचता कम, काम अधिक करता था. जिसे नरक की चिन्ता नहीं, सदा स्वर्ग का ही लोभ था. जो जीवन को दुःखों का आगार नहीं, सुख और आनन्द का साधन मानता था. मगर उपनिषदों ने मानव-जीवन के अनेक नये पट उघाड़ दिये और वह उनके सवालों के चक्कर में पड़ गया. यह सृष्टि क्या है ? जीव सान्त है या अनन्त ? यह जन्म के पहले क्या था ? जीवन की स्थिति मरने के बाद क्या होगी ? क्या जीवन मरने के साथ ही समाप्त हो जायेगा ? या मरने के बाद भी हमें स्वर्ग मिलेगा ? अगर हाँ तो इसका

---

१. ऋग्वेद-१, १६४, २०-३७-३८.
२. यजुर्वेद—३१।१८.
३. वही—११।५.
४. अथर्ववेद-१९।५२।१, यजु० पुरुष सूक्त २२.
५. ऋग्वेद-३५०८।६।२८

प्रमाण क्या है ? इन प्रश्नों ने मानव को स्थूल एवं प्रत्यक्ष से सूक्ष्म तथा अनुमान की ओर अग्रसर होने को बाध्य किया. और वे ऐसे धर्म की खोज में लगे जो भोगप्रधान नहीं, योगप्रधान हो, वैराग्य-प्रधान हो. सारांशत: हम यहीं से साधु-परम्परा का सूत्रपात होता हुआ देखते है.

वैदिकदर्शन में वैराग्य की मनोभावना का आरम्भ उपनिषदों में ही होता है और वह भावना बौद्ध तथा जैनदर्शनों में अधिक प्रबल होती हुई दीखती है. उपनिषदों से आत्म-विद्या और तपश्चर्या की जो परिपाटी चली उससे प्रेरित होकर लोग अधिक संख्या में विरागी होने लगे. इसका कारण यह था कि जो लोग यह समझते थे कि उन्हें आत्म-ज्ञान प्राप्त हो गया तथा वे जीवन्मुक्त हो गये हैं या जीवन्मुक्ति की राह पर हैं, वे संसार को छोड़कर इसलिए संन्यासी या विरागी हो जाते थे कि कहीं गृहस्थाश्रम में रहने से वे इस अवस्था से पतित न हो जाएं. ये संन्यासी और परिव्राजक सर्वत्र घूमते रहते थे. पेड़ों के नीचे अथवा कुटियों में उनका सोना होता था और वनों में तपश्चर्या. इन साधुओं की विशेषता यही थी कि यज्ञ में इनका विश्वास नहीं था, कर्मकाण्ड को वे नहीं मानते थे और ऐहिक सुखों को वे मनुष्य का हीन उद्देश्य बतलाते थे. उनका लक्ष्य मनुष्य के भीतर वैराग्य जगाकर उसे ईश्वर की ओर ले जाना था. यद्यपि यह संन्यास मार्ग वैदिककाल में ही प्रचलित हो चुका था, तो भी प्राय: वह कर्मकाण्ड से आगे कदम नहीं बढ़ा सका था. स्मृति आदि ग्रन्थों में संन्यास लेने की बात कही गयी है, परन्तु उसमें प्रधानतः पूर्वाश्रमों के कर्त्तव्यपालन[1] का उपदेश दिया ही गया. परन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि जो कर्मकाण्ड अथवा यज्ञवाद इतनी प्रबलता से देश में प्रचलित था और जिसका समर्थक प्रभावशाली पुरोहितवर्ग था, उसने भी इस उपनिषद्कालीन निवृत्ति-प्रधान धर्म के सामने घुटने टेक दिये. इस आश्चर्यमय परिवर्तन को देखकर यह स्पष्ट कहना पड़ जाता है कि उसके अपदस्थ हो जाने के कुछ ऐसे प्रबल कारण अवश्य उपस्थित हुए, जिन्होंने उसके मानने वालों पर तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न की. वास्तव में इसमें से पहला एवं प्रधान कारण जैन एवं बौद्ध धर्मों का प्रचार-प्रसार है. क्योंकि इन्हीं दोनों धर्मों ने प्राय: चारों वर्णों के लिए संन्यासमार्ग का द्वार खोल दिया. पर, इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि भगवान् महावीर तथा बुद्ध के पूर्व इस देश में वैरागी अथवा संन्यासी थे, ही नहीं. थे, पर संन्यास अथवा वैराग्य-ग्रहण करने का अधिकार केवल ब्राह्मण-वर्ग को ही था, अन्य वर्गों को नहीं. इस कारण ये वैरागी और संन्यासी इने गिने ही देखने को मिलते थे. लेकिन इन दोनों श्रमण-सम्प्रदायों ने अपने आचारों एवं निवृत्ति प्रधान उपदेशों से इस प्रकार देश की जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया कि पुरोहित-धर्म जो चिरकाल से पोषित एवं सत्कृत होने के कारण दृढ़मूल हो चुका था, उसकी जड़ सर्वथा हिल गयी.

वस्तुतः यह श्रमण वर्ग भी ब्राह्मण वर्ग के साथ ही इस देश में विद्यमान रहा है. भगवान् ऋषभदेव को जिन्हें श्रीमद्-भागवत में भगवदंशावतार माना गया है, जैनलोग अपना आदि तीर्थंकर मानते हैं. बौद्धों के कथानुसार सिद्धार्थ गौतम वास्तव में अन्तिम बुद्ध हैं और त्रेतायुग के दाशरथी राम भगवान् बुद्ध के एक अवतार समझे जाते हैं. हिन्दुओं के प्राचीन-ग्रन्थों में यत्र-तत्र जैनों और बौद्धों के प्राचीन अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं. इसलिए यह ठीक-ठीक कहना कठिन है कि ब्राह्मण और श्रमण-सम्प्रदायों में कौन किसकी अपेक्षा अधिक प्राचीन है. वेद में वेदनिन्दकों, नास्तिकों और यज्ञ में विघ्न डालने वाले दृश्यादृश्य सभी तरह के प्राणियों के विरुद्ध मन्त्र और निराकरण के साधन हैं. इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इन दोनों सम्दाओं का रूप चाहे जो भी हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त दोनों मतो के लोग वेद-मन्त्रों के रचना-काल से पहले के ही है.

ये श्रमण अवैदिक होते थे. ब्राह्मण यज्ञपात्र को मानते थे, श्रमण उन्हें अनुपयोगी समझते थे. सभी ब्राह्मण आस्तिक थे, किन्तु श्रमणों के भीतर आस्तिक और नास्तिक दोनों ही प्रकार के लोग थे. अनुमान यह है कि योग और कृच्छ्राचार की परम्परा इस देश में आर्यों के आगमन के पूर्व से ही विद्यमान थी और इस परम्परा का वर्द्धन एवं पोषण संभवतया

---

१ मनु०अध्या० ६।१।२

यह श्रमण-वर्ग ही करता आ रहा था. किन्तु जबतक यज्ञपात्र की प्रधानता रही. श्रमणों का प्रभाव सीमित रहा. उनका प्रभाव तबतक बढ़ा जब समाज में प्रबल वेग से मोक्ष का सिद्धान्त प्रचलित हुआ और लोग गृहस्थ की अपेक्षा संन्यासी को अधिक श्रेष्ठ समझने लगे.

इसी प्रकार मूर्ति-पूजक वैरागियों की भी परम्परा आती है. यद्यपि उपनिषदों में मूर्तिपूजा का प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु महामहोपाध्याय काणे विरचित धर्मशास्त्रों के इतिहास से ज्ञात होता है कि ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व समाज में ऐसे पुरोहित थे, जो मंदिरों में प्रतिमा-पूजन करवाते थे. इस आधार पर यह स्वीकार कर लिया जा सकता है कि वैरागी कहलाने वाले भक्त-साधुओं की परम्परा का आरम्भ भी ई०पूर्व०५०० के लगभग हो चुका था. इस तरह हम भारत की साधु-परम्परा का सामान्य अवलोकन कर लेने के बाद अब यहाँ उनके आचार का भी स्थूल रूप से दिग्दर्शन कर सकते हैं. वस्तुतः यह आचार शब्द धर्म का ही समानार्थक शब्द माना जाता रहा है. मनु ने दशकं-धर्म-लक्षणम् के द्वारा आचार को ही विशेष स्पष्ट करने की चेष्टा की है. जैन धर्म और बौद्धधर्म में तो इसका महत्त्व और भी अधिक है. वहाँ यह आचार विविध रूपों में निरूपित किया गया है. अहिंसा, निष्कामता, मनोविजय, आत्म-संयम जैसी सदाचरण-सम्बन्धी बातों की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया है. क्षमा, शील, प्रज्ञा, मैत्री, सत्य, वीर्य आदि बोधिसत्त्व के आदर्श गुण माने गये हैं. इसी तरह थोड़े से शब्द भेद के साथ प्रायः इन्हीं को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान के नाम देकर योग-दर्शन ने भी अपने यहाँ यम-नियमों के रूप में स्थान दे दिया है. स्मृतियों ने तो आचारः परमोधर्मः इस कथन के द्वारा धर्म का स्पष्ट अर्थ ही आचार प्रधान कर्म निर्धारित कर दिया है. हम देखते हैं कि जैनधर्म में भी 'अहिंसा परमो धर्मः' इस कथन के द्वारा अहिंसा प्रधान कर्म को ही धर्म कहा गया है.[१]

इस तरह इस निष्कर्ष पर हम आसानी से पहुँच सकते हैं कि अहिंसा अथवा आचार प्रधान कर्म को ही भारतीय परम्परा में धर्म की संज्ञा दी गई है. जैनधर्म में अहिंसा के अतिरिक्त जो सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये चार अन्य व्रतों के भी नाम लिये गये हैं, वस्तुतः वे स्वतंत्र अथवा पृथक् सत्ता वाले नहीं हैं, अपितु अहिंसा के ही पूरक है. इसे यों भी कहा जा सकता है कि अहिंसा के पूर्ण-पालन के लिए ही इन व्रतों की साधना आवश्यक मानी गयी है.

अब यह सिद्ध हो जाने के बाद कि आचार ही धर्म है अथवा आचार को ही धर्म कहते हैं, यह समझने में भ्रम का कोई स्थान नहीं रह जाता कि किसी व्यक्ति, समाज, अथवा राष्ट्र के जीवन में आचार का कितना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है. हिन्दू और जैन दोनों ही परम्पराओं में जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, अमैथुन और अपरिग्रह इन पंचव्रतों को ही धर्म का मूल स्तम्भ माना गया है. इन व्रतों के स्वरूप पर विचार करने से एक तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इनके द्वारा मनुष्य की उन वृत्तियों का नियंत्रण करने का प्रयत्न किया गया है, जो समाज में मुख्यरूप से वैर एवं विरोध का कारण हुआ करती हैं. दूसरी यह बात ध्यान देने योग्य है कि आचरण का परिष्कार सरलतम-रीति से कुछ निषेधात्मक नियमों के द्वारा ही किया जा सकता है. हम देखते हैं कि व्यक्ति जो क्रियाएँ करता है, वे मूलतः स्वार्थ से प्रेरित होती हैं. अब क्रियाओं में कौन सी क्रिया अच्छी है और कौन सी बुरी यह किसी मानदण्ड के निश्चित होने पर ही कहा जा सकता है. हम यहाँ उसके मानदण्ड के रूप में स्पष्टतः रख सकते हैं—समाज का हित एवं शान्ति की रक्षा. हिंसा ,असत्य, चोरी,कुशील और परिग्रह ये सभी सामाजिक पाप हैं. व्यक्ति जितने ही अंश में इनका परित्याग करेगा, उतनाही वह सभ्य समाज-हितैषी माना जायेगा और इस प्रकार जितने व्यक्ति इन व्रतों का पालन करेंगे उसी अनुपात में समाजशुद्ध, सुखी और प्रगतिशील हो सकेगा.

---

१. चरित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह,विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।। प्र० रत० कु० क० ।। १७.
धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवो,
देवा वि त्तं न संति जस्स धम्मे सया मणो ।—दशवैकालिक सूत्र । अ० १, गा० १.

यहाँ धर्माचार्यों ने प्रथम तो यह अनुभव किया कि सबके लिये सब अवस्थाओं में इन व्रतों का पूर्ण परिपालन संभव नहीं है. अतएव जैन-धर्म में तो इन व्रतों के दो स्तर स्थापित किये गये—अणु और महत् अर्थात् एकदेश और सर्वदेश. पश्चात् काल में आवश्यकतानुसार इनके अतिचार भी निर्धारित हुए, जिससे सच्चे अर्थ में (भावतः) इन व्रतों का पालन हो सके. इस प्रकार व्रतों के अणु और महत् इन दो विभागों के द्वारा जैनधर्म में गृहस्थ और साधु-आचार के बीच भेद प्रकट करनेवाली स्पष्ट रेखा खींच दी गयी. प्रायः इसी तरह की मिलती जुलती व्यवस्था हम हिन्दूधर्म में भी पाते हैं जो व्यक्ति के जीवन व यथाक्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास-धारण की चतुर्विध आश्रम-व्यवस्था से प्रमाणित है. वस्तुतः व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम से जिस जीवन का प्रारम्भ करता है उसकी परिसमाप्ति संन्यासाश्रम में ही जाकर होती है, जबकि साधक उस गृह तथा परिवार को भी, जो उसके बाल्य और युवा दोनों अवस्थाओं में आश्रय एवं आकर्षण के स्थान रहे हैं, बन्धन का कारण समझता हुआ छोड़कर चल पड़ता है और पुनः उसकी ओर लौटकर देखता तक नहीं. वस्तुतः यह मानव-जीवन का एक महान् परिवर्तन एवं चरम साधना है. ऐसे साधु-आचार पर प्रकाश डालने वाले ग्रंथ भी भारतीय साहित्य के अंतर्गत अधिकांश एवं शीर्ष-स्थानीय माने जाते हैं.

यह साधु आचार विषयक साहित्य बहुत विशाल है. इसकी विशालता का प्रधान कारण यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से ही धर्म एवं अध्यात्मचर्चा का प्रधान केन्द्र इस भारत में प्रायः जितने भी धार्मिक ग्रन्थ लिखे गए, उनमें शायद ही कोई ग्रंथ बचा हो जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से साधु-आचार से सम्बद्ध न हो. प्रायः इन सभी ग्रंथों में मानव के चरित्र को निर्मल एवं उज्जवल बनाने के यथासंभव सभी प्रयत्न किये गए हैं, जिनमें उद्योतमान मणि-दीप के रूप में अनिवार्यः साधु-आचार भी वर्णित है. इस प्रकार भारतीय परम्परा में जो भी साहित्य धार्मिक क्षेत्र के अन्तर्गत आता है, उसे हम प्रायः साधु-आचार विषयक भी मान सकते हैं, जिनकी संख्या सहस्त्रावधि ग्रंथों से भी कहीं अधिक है. पर यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि यह साहित्य किन्हीं एक या दो पन्थों अथवा सम्प्रदायों की सम्पत्ति हो,इनके अन्तर्गत तो सैकड़ों पन्थ और सम्प्रदाय आ जाते हैं. किन्तु यहाँ निबन्ध की सीमा को देखते हुए मात्र हिन्दू और जैन साधु-आचार का सामान्य परिचय ही अभीष्ट है और इस में भी हिन्दूपरम्परा से प्रतिनिधि ग्रंथ के रूप में मनुस्मृति और जैन परम्परा से मूलाचार इन दो को ही ग्रहण किया गया है, वह भी स्थूल-दृष्टि से सूक्ष्म-दृष्टि से नहीं. क्योंकि 'अरथ अमित अरु आखर थोरे' की उक्ति को चरितार्थ करने वाले इन धर्म ग्रंथों का सूक्ष्म विवेचन स्वतः एक महान् साहित्य रचे जाने की अपेक्षा रखता है.

## मनुस्मृति और साधु-आचार

मनुस्मृति में साधु-आचार का वर्णन वैदिक एवं वर्णाश्रम परम्परा पर आधारित है. मनु ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, इन चारों आश्रमों का क्रमानुसार पालन पर जोर देते हुए साधु के वानप्रस्थी और संन्यासी नामके दो विभाग किये हैं. यही कारण है कि वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व स्नातक द्विज के लिये उन्होंने विधिवत् **गृहस्थाश्रमी** होना आवश्यक बताया है. इतना ही नहीं, मनु के मत से गृहस्थ जब अतिवृद्ध हो जाए, उनकी त्वचा शिथिल पड़ जाय, उसके बाल जब सफेद दिखने लगें और जब वह पौत्रवान् हो जाए तब सांसारिक विषयों से स्वभावतः विरत हुआ—वह वन का आश्रय ग्रहण करे.

वानप्रस्थाश्रम स्वीकार कर लेने के बाद, साधक ग्राम्य आचार एवं उपकरणों का भी परित्याग कर दे. पत्नी की इच्छानुसार ही, वह उसे अपने साथ लेले अथवा पुत्र के संरक्षण में ही रख दे. पर, वन में वानप्रस्थी श्रौत अग्नि तथा उससे सम्बन्धित साधन सुक, सुवा, आदि के साथ ही निवास करे. वानप्रस्थी के लिये मुनिनिमित्तक अन्नों एवं वन में उत्पन्न पवित्र शाक, मूल, फलादि से गृहस्थों के लिये विहित **पंचमहायज्ञों** का पालन करना मनु ने आवश्यक बतलाया है.

---

१. देखिये मनु० अध्या ६.

मुनि की वेश-भूषा एवं रूप के सम्बन्ध में भी मनु के विचार बड़े स्पष्ट हैं, उनकी राय में मुनि चाहे तो मृगचर्म धारण करे अथवा वस्त्रखण्ड, पर उसे जटा, दाढ़ी, मूंछ एवं नख आदि रखने ही हैं.

मुनि अपने भोजन में से यथाशक्ति बलि तथा भिक्षा प्रदान करे एवं आश्रम में आये हुए अतिथियों की जल, कंद, मूल, फलादि से अर्चना भी करे. तपस्वी को नित्यवेदाभ्यास, दानशीलता, निर्लोभ एवं सर्वहित में रत रहते हुए अमावस्या, पूर्णिमा आदि पर्वों में शास्त्रानुसार किये जाने वाले यज्ञों का भी सम्पादन करना चाहिए.उस मुनि को वन में उत्पन्न नीवार आदि से निर्मित यज्ञ के योग्य हवि को देवताओं को अर्पित कर शेष स्वयंकृत लवण के साथ ग्रहण करना चाहिए. उसके लिये शहद, मांस, तथा भूमि में उत्पन्न पुष्प आदि सभी त्याज्य हैं. मनु ने मुनिको आश्विनमास में सभी पूर्व संचित धान्यों शाक-मूल-फलों, यहां तक कि शरीर में धारण किये गये जीर्ण-वस्त्रखण्ड को भी छोड़ देने का आदेश दिया है. अफालकृष्ट भूमि के धान्य ही उनकी दृष्टि में तपस्वी के लिये ग्राह्य हैं. फालकृष्ट भूमि से उत्पन्न अन्न वनान्तर्गत का भी, यहां तक कि उत्सृष्ट भी ग्राह्य नहीं है. भले ही इसके फलस्वरूप मुनि को भूखा ही क्यों न रह जाना पड़े. सामर्थ्य के अनुसार प्राप्त अन्न को भी रात्रि अथवा दिन के चतुर्थ अथवा अष्टकाल में ही वानप्रस्थी ग्रहण करे. यहां अन्य कालों का निषेध किया गया है. तपस्वी उस अन्न को भी कृष्णपक्ष में एक-एक पिण्ड घटाता हुआ एवं शुक्लपक्ष में एक-एक पिण्ड बढ़ाता हुआ ग्रहण कर चान्द्रायणव्रत के द्वारा जीवन-यापन करे. इसके विकल्प में कालपक्व तथा वृक्ष से गिरे हुए फल के खाने की व्यवस्था है. वानप्रस्थी को जीवन धारण के योग्य भिक्षा वानप्रस्थ ब्राह्मणों से अथवा वनवासी ग्रहस्थ ब्राह्मणों से अथवा उपर्युक्त दोनों के अभाव में ग्रामवासियों से भी ग्रहण करनी चाहिए. पर साथ ही, यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि वह भिक्षा भी किसी के पात्र में नहीं अपितु पत्ते के दोने में, कपाल खण्ड में अथवा हाथों में ही आठ ग्रास लेनी चाहिए.

यहां जिस प्रकार आहार ग्रहण करने आदि के संबंध के कठोर नियम मनु ने बताये हैं, उसी प्रकार मुनि की दिनचर्या भी सुकर नहीं गिनायी है. तपस्वी के लिये भूमि पर लौटते हुए चलना, पैरों के अग्रभाग से दिन भर खड़ा रहना, संध्या, प्रातः एवं मध्याह्न में स्नान करना तथा इनसे भी बढ़कर ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि के बीच, वर्षा में खुले आकाश के नीचे एवं हेमन्त ऋतु में आर्द्रवस्त्र धारण कर तप वृद्धि करने का विधान है. इसके बाद भी तीनों कालों में स्नान-क्रियादि से निवृत्त होकर देवता, ऋषि एवं पितरों का तर्पण व अन्यान्य उग्रतर व्रतों का पालन करते हुए अपने शरीर को कृश बनाना यह भी तपस्वी का धर्म बताया गया है.

इस प्रकार इन नियमों का तथा शास्त्रोक्त अन्य नियमों का भी पालन करते हुए मुनि की विद्या, तप आदि की वृद्धि शरीर की शुद्धि एवं ब्रह्मत्व की सिद्धि के लिये उपनिषदों में पढ़ी गयी विविध श्रुतियों का अभ्यास करना चाहिए. असाध्य रोगों से आक्रान्त हो जाने की स्थिति में तपस्वी को शरीर निपातपर्यन्त जल तथा पवन का आहार करते हुए योगनिष्ठ होकर ईशान-दिशा की ओर आगे बढ़ते चला जाना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार शोकभय रहित शरीर-परित्याग करने वाला ही मोक्ष का अधिकारी होता है.

उपर्युक्त प्रकार से वानप्रस्थी तपस्वी के आचार का वर्णन करने के पश्चात् मनु ने परिव्राजक साधुओं का आचार बतलाया है. वस्तुतः यह जीवन का अंतिम पहलू है, जिसके पश्चात् जीवन में और कुछ करने को नहीं रह जाता. यही स्थिति वेदान्तियों के शब्दों में सोऽहमस्मि की अवस्था मानी जाती है, जबकि वानप्रस्थी मुनि ग्रह का पूर्ण परित्याग कर पवित्र दण्ड, कमण्डलु आदि के साथ पूर्णकाम एवं निरपेक्ष रूप से संन्यास धारण कर लेता है और अनग्नि एवं अनिकेत होकर मात्र भिक्षा के लिये ही ग्राम की शरण लेता है और अन्यथा नहीं. वह इस अवस्था में शरीर की उपेक्षा करता हुआ स्थिर-बुद्धि होकर ब्रह्म चिंतन में एकनिष्ठ भाव से अपने भिक्षापात्र के रूप में कपाल, निवास के लिये वृक्ष की छाया एवं शरीर आवेष्टन के लिये जीर्णवस्त्र धारण कर लेता है. साथ ही वह ब्रह्म-बुद्ध समलोष्टाश्मकांचन की भावना से युक्त होता हुआ पूर्ण जीवन्मुक्त लक्षित होता है. वह न जीने की ही कामना करता है और न मरने की ही. वह मात्र एक आज्ञाकारी किंकर की तरह स्वामी-काल के आदेश की प्रतीक्षा में रहता है. वह सदा आँखों से

देखकर पद-विक्षेप, वस्त्र से पवित्रकर जल ग्रहण. सत्यमय वचन-प्रयोग एवं वचन निषिद्ध संकल्प रहित मन के अनुसार आचरण करता है. उस व्यक्ति में दूसरों के कटू-वाक्यों को सह लेने की अपूर्व क्षमता, सबों को सम्मान देने की प्रवृत्ति एवं विश्व मैत्री की हार्दिक अभिलाषा पाई जाती है. वह क्रोधी के प्रति भी शान्ति एवं निंदक के प्रति भी स्तुति की भावना से व्यवहार करता है. वह सप्तद्वारावकीर्ण अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय एवं मन तथा बुद्धि विषयक अनृत-वार्तों का परिहार कर ब्रह्म विषयक वाणी का ही प्रयोग करना अपेक्षित मानता है. वह परिव्राजक ब्रह्मभाव में लीन, योगासनस्थिति, निरपेक्ष, निरामिष एवं आत्म-साहाय्य से ही मोक्ष-सुख की कामना रखता हुआ, इस संसार में विचरण करता है.

ब्रह्मलीन विरक्त साधु के लिये मनु ने भूकम्प आदि उत्पातों की संभावना, अंगस्फुरण आदि के फल, सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार हस्तरेखा आदि के परिणाम, यहाँ तक कि शास्त्रोपदेश आदि के कथन द्वारा भी भिक्षा प्राप्ति करने की प्रवृत्ति की निन्दा की है.

साधुओं को भिक्षा के लिये जाते समय सावधान करते हुए मनु ने स्पष्ट कह दिया है कि जिस दरवाजे पर अन्य तपस्वी, भोजनार्थी, ब्राह्मण, यहां तक कि पक्षी, कुत्ते अथवा क्षुद्रातिक्षुद्र कोई याचक भी खड़ा हो तो वहां कभी भी जाना उचित नहीं. मुनि का भिक्षा पात्र तुम्वी, काष्ठ, मृत्तिका अथवा बांस आदि के खण्ड से निर्मित एवं निश्छिद्र होना चाहिए. विषयासक्ति से बचने के लिये साधु को दिन में एक बार ही भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए.

साधु के भिक्षा-ग्रहण-काल का स्पष्टीकरण करते हुए मनु ने साफ-साफ बतला दिया है कि जब रसोई की उष्णता समाप्त हो चुकी हो, मूसल कूटने का शब्द तक न सुनाई देता हो, रसोई की आग भी बुझ चुकी हो एवं प्रायः सब लोग भोजन भी कर चुके हों तब साधु को भिक्षा ग्रहण के लिये प्रस्थान करना चाहिए. भोजन के मिल जाने पर तपस्वी प्रसन्न हो और न अप्राप्ति की स्थिति में दुखी हो. दाता में ममत्व की प्रवृत्ति से बचने के लिये साधु सत्कार पूर्वक दी गई भिक्षा को स्वीकार न करे.

तपस्वी को सदा जन्म-मरण, सुख-दुःख, जरा व्याधि आदि के कारणों पर विचार करते हुए, सभी प्राणियों में समदृष्टि के साथ ही स्वधर्माचरण में प्रवृत्त होना चाहिए. उसे चाहिए कि अपने शरीर को क्लेश पहुँचाकर भी चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओं की रक्षा के लिये दिन अथवा रात में भी भूमि को देखकर विचरण करे. पर, इसके बाद भी यदि उससे अज्ञान-वश हिंसा हो ही जाए, तो वह उसके प्रायश्चित-स्वरूप छः प्राणायाम करे. सप्त व्याहृतियों एवं प्रणवों से युक्त विधिवत किये गए तीन प्राणायाम भी ब्राह्मण का श्रेष्ठ तप जानना चाहिए. यहां उस ब्रह्मलीन यति के लिए प्राणायाम के द्वारा रागादि दोषों का, ब्रह्मनिष्ठ मन की धारणा से पापों का, इन्द्रियों का निग्रह कर विषय-संसर्ग का एवं ध्यान के द्वारा क्रोधादि अनीश्वर गुणों का दहन करना आवश्यक बतलाया गया है.

पर यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि संन्यासी के उपर्युक्त विशेष धर्म का विधान करते हुए भी मनु ने मनुष्य के साधा-रण धर्म धृति, क्षमा, दम, अस्तेय आदि की भी अपेक्षा बतलाया है. यद्यपि मनु के विचार में उपर्युक्त सभी उपाय मुनि को सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने में सहायक होने के ही कारण बाह्य हैं. क्योंकि कर्म-बन्धन से मुक्त होने का एकमात्र उपाय सम्यग्दर्शन ही है. यदि सम्यग्दर्शन अर्थात् समत्वभाव की जागृति यति में नहीं हुई तो अन्य सभी बाह्यआचार आडम्बर मात्र ही रह जायेंगे. वे किसी भी स्थिति में यति को मोक्ष की प्राप्ति कराकर धर्म के कारण नहीं हो सकते. यही कारण है कि उपर्युक्त सभी मुनि के आचारों का स्पष्टीकरण करते हुए भी मनु ने समत्व प्राप्ति पर ही अधिक जोर दिया है और उसके बिना सभी परिश्रम व्यर्थ घोषित कर दिये हैं.

इसी प्रकार मनु ने बहूदक, हंस, परमहंस कुटीचक संज्ञक सभी प्रकार के संन्यासियों के आचार एवं नित्यचर्या आदि गिनाये हैं. पर, इन सबों के सामान्य धर्म एवं आचार में कोई विशेष अन्तर नहीं रखा है. अर्थात् ऊपर वर्णित परिव्राजक के आचार ही सामान्य रूप से सबों के लिये अनुकरणीय हैं ऐसा माना है. केवल कुटीचक के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें

कही हैं. इस कोटि का यति अपने पुत्र के आश्रय में ही रहकर भोजन, वस्त्रादि जीविका की चिन्ता से मुक्त हुआ मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न करता है.

## मूलाचार और साधु[1] आचार

आचार्य वट्टकेर ने मनु की तरह मुनि बनने के लिये न तो कोई आयु-सीमा ही निर्धारित की है और न उनके लिये मुनि बनने से पूर्व गृहस्थाश्रमी बनना ही आवश्यक माना है. उनकी दृष्टि में जिस व्यक्ति के हृदय में कामभोग की अभिलाषा समाप्त हो चुकी हो, जिसकी बुद्धि धर्माभिमुख हो, वही विरक्त कर्मवीर पुरुष निर्माल्य-पुष्प की तरह गृहवास त्याग कर साधु-धर्म स्वीकार कर सकता है. अर्थात् जिस व्यक्ति में उपर्युक्त विशेषताएँ नहीं आ पाई हैं, वह चाहे किसी भी आयु का क्यों न हो, वह यति-धर्म का अधिकारी, अनगार नहीं कहला सकता.

सत्य, अहिंसा, अदत्त-परिवर्जन, ब्रह्मचर्य तथा त्रिगुप्तियों में नित्य प्रवृत्ति एवं परिग्रह से निवृत्ति को आचार्य ने साधु के मूल गुण माने हैं. मुनि के लिये मिथ्यात्व, राग, हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, आदि ग्रंथियों से मुक्त होकर यथाजात रूप अर्थात् दिगम्बरत्व स्वीकार कर जिन-प्रणीत धर्म में अनुरक्त रहना अनिवार्य बताया गया है. उनकी राय में साधु सदा निरीह, निष्काम भाव से जीवन-यापन करते हैं, एवं उन्हें इस पंच तत्त्व निर्मित अपने शरीर में किसी तरह की ममता नहीं रहती.

आचार्य ने साधु के आवास-काल एवं आवास-स्थान के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार व्यक्त किये हैं :

साधु के लिए आश्रय लेने का समय सूर्यास्तकाल ही है. वह काल जहां कहीं भी प्राप्त हो जाए. पर, ध्यान यह रहे कि वह आवास भी घर से बाहर हो, घर में नहीं. अनगारों के लिए ग्रामवास एवं नगरवास की सीमा आचार्य ने क्रमशः एक रात और पांच दिन निर्धारित की है. मुनि की उपमा गन्धहस्ति से देते हुए उनके लिए एकान्तवासी होकर ही मुक्ति सुख का अनुभवन करना आवश्यक बताया गया है. एकान्त स्थानों में सामान्यत, गिरि-कन्दरा, शून्य-गृह, पर्वत श्मशानादि के नाम गिनाये गये हैं.

मुनि की चर्चा, विहार, भिक्षा आदि के सम्बन्ध में आचार्य वट्टकेर के निम्नलिखित आदेश हैं :

मुनि पर्वत की गुफाओं में वीरासनादि से अथवा एकपार्श्वशायी रहकर रात्रि व्यतीत करे. उसे वायु की तरह मुक्त, निरपेक्ष एवं स्वच्छन्द होकर ग्राम, नगर, आदि से मण्डित इस पृथ्वी पर परिभ्रमण करना चाहिए. पर विहार करते समय मुनि सतत, सचेष्ट रहे कि कहीं उसकी असावधानी से किसी जीव को क्लेश न पहुंचे. उसे जीवों के प्रति अनुक्षण सतर्क एवं दयार्द्र-दृष्टि रखनी चाहिए. मुनि के लिए, जीवों के सभी पर्याय एवं अजीव अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदि के स्वरूप, सभेद पर्याय आदि का ज्ञान प्राप्त कर ही सावद्य वस्तुओं का त्याग एवं अनवद्य का ग्रहण करना कर्त्तव्य है. यति तृण, वृक्ष, छाल, पत्र, कन्द, मूल, फल आदि के छेदन करने तथा कराने दोनों ही से अलग रहे. साधु को पृथ्वी का खनन, उत्कीर्णन, चूर्णन, सेवन, उत्कर्षण, वीजन, ज्वालन, मर्दन, आदि कार्यों से दूर रहना चाहिए. इतना ही नहीं, वह इन कार्यों को दूसरे से भी न करावे और न दूसरे के किये हुए का अनुमोदन ही करे.

श्रमण-साधुओं के लिये दण्डधारण का सर्वथा निषेध किया गया है. वट्टकेर के मतानुसार साधु को शस्त्र, दण्ड आदि का पूर्णतः त्यागकर सभी प्राणियों में समभाव रखते हुए आत्म-चिन्तनशील होना चाहिए. उसे छठे, आठवें, दसवें, बारहवें आदि भक्तों पर पारणा करना चाहिए और वह भी दूसरों के घर भिक्षा के द्वारा प्राप्त अन्न से, न कि अपने लिए बनाये, बनवाये या बनाने की सहमति से प्राप्त अन्न से. और वह पारणा भी रसास्वादन के लिये नहीं, अपितु चरित्र-साधना के लिये विहित है.

आचार्य ने किसी के पात्र में वा अपने हाथ से लेकर अथवा किसी तरह के दोष से युक्त भोजन, मुनि के लिए सर्वथा

---

१. देखिये मूल० अनगारभावनाधिकार.

त्याज्य कहा है. वह भोजन यदि परम विशुद्ध तथा सभी दोषों से मुक्त हो और वह भी अन्य के द्वारा पाणिपात्र में ही दिया जाए तब मुनि उसे ग्रहण करे, ऐसा आचार्य का मत है.

यति के द्वारा भिक्षा निमित्त हिंडन की ओर ग्रन्थकर्त्ता (आचार्य वट्टकेर) ने ध्यान आकृष्ट करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि साधु विना यह जाने हुए अमुक स्थान में गृहस्थ उसकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, अतः वहां उसका स्वागत होगा तथा अमुक दिशा में उसकी उपेक्षा होगी, सामान्य रूप से घर के कतारों से उच्च-नीच, धनी, दरिद्र आदि को समान दृष्टि से देखता हुआ भिक्षा ग्रहण करे. उसके लिये शीतल, उष्ण, रुक्ष, स्निग्ध आदि का विना विचार किये ही अस्वादपूर्वक भोजन स्वीकार करना कर्त्तव्य है. क्योंकि मुनि इस पंचतत्त्व से निर्मित शरीर का धारण धर्म-पालन के निमित्त तथा धर्म पालन व मुक्ति-प्राप्ति-हेतु करता है. अतः भिक्षा-ग्रहण का एक मात्र लक्ष्य शरीर-धारण करना ही है और कुछ नहीं. श्रमण मुनि न भिक्षा प्राप्त होने पर संतुष्ट और न उसकी अप्राप्ति की स्थिति में असंतुष्ट ही होता है. उसके लिये ये दोनों ही स्थितियाँ समान हैं. इस कारण वह सदा मध्यस्थ एवं अनाकुल रूप से विहार करता है. वह कभी भी किसी गृहस्थ से दीनतापूर्वक भिक्षा की याचना नहीं करता. ऐसी स्थिति में उसे खाली हाथ भी लौटना पड़ सकता है, पर वह निर्विकार चित्त कभी मौन भंग नहीं करता. वह भोजन स्वीकार करने के सम्बन्ध में बड़ी सावधानी रखता है. वासी, विवर्ण, तथा अप्रासुक अन्न उसे कभी ग्राह्य नहीं होता.

साधु के उपर्युक्त प्रकार से भोजन, आचरणादि का वर्णन करते हुए आचार्य ने उसकी शास्त्रीय योग्यता पर भी जोर दिया है. उनके अनुसार साधु को केवल भोजन आदि की ही शुद्धि नहीं अपितु ज्ञान की शुद्धि भी रखनी चाहिए. विवेकी मुनि के लिये आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग आदि का ज्ञान होना आवश्यक है. वे यति के लिये, स्वभावतः आचार्य उपाध्याय आदि के उपदेशों को धारण-ग्रहण करने में समर्थ, तदनुसार अक्षरशः आचरण करने वाला, वीजबुद्धि (अर्थात् किसी भी विषय को एकाध वीजरूप प्रधान अक्षरों को सुन लेने पर ही समस्त रूप से समझने वाला), और श्रुतों में पारगामी विद्वान् होना अनिवार्य मानते हैं. पर इस ज्ञान-गरिमा के वाद भी श्रमण को मान-रहित, अगर्वित, क्रोधरहित, मृदु स्वभावी, स्व-परसमयविद् एवं विनीत होना चाहिए, आचार्य का लक्ष्य यहां तक है.

साधु के लिए शरीर का संस्कार निषिद्ध है. वह मुख, दांत, नयन, पैर आदि तक नहीं धोते, अर्थात् किसी तरह का भी वाह्यमार्जन उनके लिए विहित नहीं. यहां तक कि शरीर में यदि किसी तरह की कष्टकर व्याधि भी हो जाए, तव भी श्रमण-साधु उसे मौनपूर्वक सहन ही कर ले, पर किसी तरह की चिकित्सा न करावे यह आचार्य का मत है.

साधु अपनी पूर्वावस्था में की गयी रति-क्रीड़ा अथवा धन-जन आदि के विविध भोगों का न स्मरण ही करे और न उसे दूसरों के प्रति कथन ही. उसके द्वारा किसी भी स्थिति में धर्म-विरोधी अथवा विनय-विहीन भाषा का प्रयोग निन्द्य है. साधु आँखों से देखता हुआ तथा कानों से सुनता हुआ भी मूक होकर विहार करे तथा कभी भी लौकिक कथाओं में प्रवृत्त न हो, यह आचार्य की आज्ञा है.

आचार्य मुनि के लिये कठोर तपस्या के पक्षपाती हैं. वे संभवतया आत्मा के साक्षात्कार में इस शरीर के प्रति अनुरक्ति को ही प्रधान बाधा मानते हैं. इस कारण यथासंभव तप के द्वारा इस स्थूल शरीर को जर्जरित करते रहना ही आत्म-वोध में सहायक सिद्ध हो सकता है, इस ओर उनका संकेत है.

अब उपर्युक्तरूप से साधु-आचार के सम्बन्ध में राजर्षि मनु तथा आचार्य वट्टकेर के विचारों के अवलोकन के वाद यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू तथा जैन दोनों ही सम्प्रदायों के साधु अन्तः तथा वाह्य दोनों ही दृष्टियों से एक दूसरे के अत्यन्त सन्निकट है एवं परस्पर प्रभावित भी हैं. वस्तुतः सदाचरण और सहानुभूति ही साधु-जीवन के आधार-स्तम्भ एवं मानदण्ड हैं. तार्किक बुद्धि के द्वारा शास्त्रज्ञ किसी तथ्य का केवल ऊहापोह करता है. किन्तु उस ज्ञान को अपने जीवन में उतारना वह नहीं जानता. साधु उस ज्ञान को अपने जीवन का आदर्श वनाता है और अपना समग्र आचरण उसी भित्ति पर खड़ा करता है. यही कारण है कि इन साधुओं में वर्ग-भिन्नता रहने पर भी आचरण-भिन्नता केवल नाम मात्र की और ऊपरी ही होती है, वास्तविक नहीं.

★

श्रीजुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

# सकाम धर्मसाधन

लौकिक-फल की इच्छाओं को लेकर जो धर्मसाधन किया जाता है उसे 'सकाम-धर्मसाधन' कहते हैं. और जो धर्म वैसी इच्छाओं को साथ में न लेकर मात्र आत्मीय कर्तव्य समझकर किया जाता है उसका नाम निष्काम-धर्मसाधन है. निष्काम-धर्मसाधन ही वास्तव में धर्मसाधन है और वही वास्तविक फल को फलता है. सकाम-धर्मसाधन धर्म को विकृत करता है, सदोष बनाता है और उससे यथेष्ट धर्मफल की प्राप्ति नहीं हो सकती. प्रत्युत उससे, अधर्म की ओर कभी-कभी घोर-पाप-फल की भी प्राप्ति होती है. जो लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप और उसकी शक्ति से परिचित नहीं, जिनके अन्दर धैर्य नहीं, श्रद्धा नहीं, जो निर्बल हैं, कमजोर हैं, उतावले हैं और जिन्हें धर्म के फल पर पूरा विश्वास नहीं है, ऐसे लोग ही फलप्राप्ति में अपनी इच्छाओं की टाँगे अड़ा कर धर्म को अपना कार्य करने नहीं देते, उसे पंगु और बेकार बना देते हैं, और फिर यह कहते हुए नहीं लजाते कि धर्म-साधन से कुछ भी फल की प्राप्ति नहीं हुई है. ऐसे लोगों के समाधानार्थ—उन्हें उनकी भूल का परिज्ञान कराने के लिये ही यह निबंध लिखा जाता है, और इसमें आचार्य-वाक्यों के द्वारा ही विषय को स्पष्ट किया जाता है.

श्रीगुणभद्राचार्य अपने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में लिखते हैं :

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिंतामणेरपि ।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ।

'फल के प्रदान में कल्पवृक्ष संकल्प की और चिन्तामणि चिन्ता की अपेक्षा रखता है—कल्पवृक्ष बिना संकल्प किये और चिन्तामणि बिना चिन्ता किये फल नहीं देता, परन्तु धर्म वैसी कोई अपेक्षा नहीं रखता—वह बिना संकल्प किये और बिना चिन्ता किये ही फल प्रदान करता है.'

जब कर्म स्वयं ही फल देता है और फल देने में कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि की शक्ति को भी परास्त करता है, तब फल-प्राप्ति के लिये इच्छाएं करके—निदान बांधकर—अपने आत्माको व्यर्थ ही संक्लेशित और आकुलित करने की क्या जरूरत है ? ऐसा करने से तो उलटे फल-प्राप्ति के मार्ग में कांटे बोये जाते हैं, क्योंकि इच्छा फल-प्राप्ति का साधन न होकर उसमें बाधक है.

इसमें संदेह नहीं कि धर्मसाधन से सब सुख प्राप्त होते हैं, परन्तु तभी तो जब धर्मसाधन में विवेक से काम लिया जाय. अन्यथा, क्रिया के—बाह्य धर्माचरण के—समान होने पर भी एक को बन्धफल, दूसरे को मोक्षफल अथवा एक को पुण्यफल और दूसरे को पापफल क्यों मिलता है ? देखिये, कर्मफल की इस विचित्रता के विषय में श्रीशुभचंद्राचार्य ज्ञानार्णव में क्या लिखते हैं :

यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पंडितः ।
बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद् ध्रुवं । ७२१ ।

जिस मार्ग पर अज्ञानी चलता है उसी पर ज्ञानी. दोनों का धर्माचरण समान होने पर भी, अज्ञानी अविवेक के कारण कर्म बांधता है और ज्ञानी विवेक द्वारा कर्म-बंधन से छूट जाता है.

ज्ञानार्णव के निम्न श्लोक में भी इसी बात को पुष्ट किया गया है :

वेष्टयत्यात्मनात्मानमाज्ञानी कर्मबन्धनः ।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्धः समयान्तरे । ७१७ ।

इससे विवेकपूर्ण आचरण का कितना बड़ा माहात्म्य है उसे बतलाने की अधिक जरूरत नहीं रहती.

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने, अपने प्रवनचनसार के चारित्राधिकार में, इसी विवेक का—सम्यग्ज्ञान का—माहात्म्य वर्णन करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दों में लिखा है :—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदी भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण । ३८ ।

अर्थात्—अज्ञानी—अविवेकी मनुष्य जिस अथवा जितने ज्ञानावरणादिरूप कर्मसमूह को शतसहस्त्रकोटि भवों में—करोड़ों जन्म लेकर-क्षय करता है उस अथवा उतने कर्मसमूह को ज्ञानी मनुष्य मन-वचन काय की क्रियाका निरोध कर अथवा उसे स्वाधीन कर स्वरूप में लीन हुआ उच्छ्वासमात्रमें—लीलामात्र में—नाश कर डालता है.

इस से अधिक विवेक का माहात्म्य और क्या हो सकता है ? यह विवेक ही चारित्र को 'सम्यक्चारित्र' बनाता है और संसारपरिभ्रमण एवं उसके दुःख-कष्टों से मुक्ति दिलाता है. विवेक के विना चारित्र मिथ्या चारित्र है, कोरा कायक्लेश है और वह संसार-परिभ्रमण तथा दुःख परंपरा का ही कारण है. इसी से विवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञान के अनन्तर चारित्र का आराधन बतलाया गया है, जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य के निम्न वाक्य से प्रकट है :

न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् । ३८ ।—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात्—अज्ञान पूर्वक-विवेक को साथ में न लेकर—दूसरों की देखा-देखी अथवा कहने सुननेमात्र से, जो चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है वह 'सम्यक् चारित्र' नाम नहीं पाता—उसे 'सम्यक् चारित्र' नहीं कहते. इसी से (आगम में) सम्यग्ज्ञान के अनन्तर—विवेक हो जाने पर—चारित्र के आराधन का—अनुष्ठान का—निर्देश किया गया है—रत्नत्रयधर्म की आराधना में, जो मुक्ति का मार्ग है, चारित्र की आराधना का इसी क्रम से विधान किया गया है.

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में, 'चारितं खलु धम्मो' इत्यादि वाक्य के द्वारा जिस चरित्र को—स्वरूपाचरण को—वस्तुस्वरूप होने के कारण धर्म बतलाया है वह भी यही विवेकपूर्वक सम्यक्चारित्र है, जिसका दूसरा नाम साम्यभाव है, और जो मोह क्षोभ अथवा मिथ्यात्व-रागद्वेष तथा काम-कोधादिरूप विभाव-परिणति से रहित आत्मा का निज परिणाम होता है.[1]

वास्तव में यह विवेक ही उस भाव का जनक होता है जो धर्माचरण का प्राण कहा गया है. विना भावके तो क्रियाएं फलदायक होती ही नहीं है. कहा भी है :

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः[2] ।

तदनुरूप भाव के विना पूजनादिक की, तप-दान जपादिक की और यहाँ तक कि दीक्षाग्रहणादिक की सब क्रियाएँ भी ऐसी ही निरर्थक हैं जैसे कि बकरी के गले के स्तन (थन), अर्थात् जिस प्रकार बकरी के गले में लटकते हुए स्तन देखने में

---

१. चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोह-क्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो । ७ ।

२. देखो कल्याण मंदिर स्तोत्र का 'आकर्णितोऽपि' आदि पद्य.

स्तनाकार होते हैं परन्तु वे स्तनों का कुछ भी काम नहीं देते—उनसे दूध नहीं निकलता—उसी प्रकार विना तदनुकूल भाव के पूजा, तप, दान, जपादिक सब क्रियाएं भी देखने की ही क्रियाएं होती हैं, पूजादिक का वास्तविक बल उनसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता.[1]

ज्ञानी-विवेकी मनुष्य ही यह ठीक जानता है कि किन भावों से पुण्य बंधता है—किन से पाप और किन से दोनों का बन्ध नहीं होता स्वच्छ, शुभ शुद्ध भाव किसे कहते हैं ? और अस्वच्छ, अशुभ. अशुद्ध भाव किस का नाम है ? सांसारिक विषयसुख की तृष्णा अथवा तीव्र कषाय के वशीभूत होकर जो पुण्य कर्म करना चाहता है वह वास्तव में पुण्य कर्म का सम्पादन कर सकता है या कि नहीं और ऐसी इच्छा धर्म की साधक है या बाधक—वह खूब समझता है कि सकाम-धर्म साधन मोहक्षोभादि से घिरा होने के कारण धर्म की कोटि से निकल जाता है, धर्म वस्तुका स्वभाव होता है. और इसलिए कोई विभाव परिणति धर्म का स्थान नहीं ले सकती. इसी से वह अपनी धार्मिक क्रियाओं में तद्रूपभाव की योजना द्वारा प्राण का संचार कर के उन्हें सार्थक और सफल बनाता है. ऐसे ही विवेकी जनों के द्वारा अनुष्ठित धर्म को सब सुख का कारण बताया है. विवेक की पुट बिना अथवा उसके सहयोग के अभाव में मात्र कुछ क्रियाओं के अनुष्ठान का नाम ही धर्म नहीं है, ऐसी क्रियाएं तो जड़-मशीनें भी कर सकती हैं और कुछ करती हुई देखी भी जाती हैं. फोनोंग्राफ के कितने ही रिकार्ड खूब भक्ति-रस के भरे हुए गान तथा भजन गाते हैं और शास्त्र पढ़ते हुए भी देखने में आते हैं. और भी जड़ मशीनों से आप जो चाहें धर्म की बाह्य क्रियाएं करा सकते हैं. इन सब क्रियाओं को करके जड़ मशीनें जिस प्रकार धर्मात्मा नहीं बन सकतीं और न धर्म के फल को ही पा सकती हैं, उसी प्रकार अविवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञान के विना धर्म की कुछ क्रियाएं कर लेने मात्र से ही कोई धर्मात्मा नहीं बन जाता और न धर्म के फल को ही पा सकता है. ऐसे अविवेकी मनुष्यों और जड़ मशीनों में कोई विशेष अंतर नहीं होता—उनकी क्रियाओं को सम्यक्चारित्र न कह कर 'यांत्रिक चारित्र' कहना चाहिए. हां, जड़ मशीनों की अपेक्षा ऐसे मनुष्यों में मिथ्याज्ञान तथा मोह की विशेषता होने के कारण वे उसके द्वारा पाप बन्ध करके अपना अहित जरूर कर लेते हैं—जब कि जड़ मशीनें वैसा नहीं कर सकतीं. इसी यांत्रिक चारित्र के भुलावे में पड़कर हम अक्सर भूले रहते हैं और यह समझते रहते हैं कि हमने धर्म का अनुष्ठान कर लिया ! इसी तरह करोड़ों जन्म निकल जाते हैं और करोड़ों वर्ष की बालतपस्या से भी उन कर्मों का नाश नहीं हो पाता, जिन्हें एक ज्ञानी पुरुष त्रियोग के संसाधनपूर्वक क्षणमात्र में नाश कर डालता है.

इस विषय में स्वामी कार्तिकेय ने अपने 'अनुप्रेक्षा' ग्रंथ में, अच्छा प्रकाश डाला है. उनके निम्नवाक्य खास तौर से ध्यान देने योग्य हैं :

> कम्मं पुण्णं पावं हेऊ-तेसिं च होंति सच्छिदरा ।
> मंदकसाया सच्छा तिव्वकसाया असच्छा हु ।
> जीवो वि हवइपावं अइतिव्वकसायपरिणदो णिच्चं ।
> जीवो हवेइ पुण्णं उवसमभावेण संजुत्तो ।
> जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए ।
> दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि ।
> पुण्णासएण पुण्णे जहो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती ।
> इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि य आयरं कुणह ॥
> पुण्णं बंधदि जीवो मंदकसाएहिं परिणदो संतो ।
> तम्हा मंदकसाया हेऊ पुण्णस्स ण हि वंछा ॥ गाथा ९०, १९०, ४१०-४१२.

---

१. भाव-हिनस्य पूजादि-तपोदान-जपादिकम् ।
व्यर्थंदीक्षादिकं च स्यादजाकंठे स्तनाविव ।

इन गाथाओं में बतलाया गया है कि—'पुण्य कर्म का हेतु स्वच्छ (शुभ) परिणाम है और पाप कर्म का हेतु अस्वच्छ (अशुभ या अशुद्ध) परिणाम. मंदकषायरूप परिणामों को 'स्वच्छपरिणाम' और तीव्र कषाय रूप परिणामों को 'अस्वच्छ परिणाम' कहते हैं. जो जीव अति तीव्र-कषायपरिणाम से परिणत होता है, वह पापी होता है और जो उपशम भाव से कषाय की मंदता से—युक्त रहता है वह पुण्यात्मा कहलाता है. जो जीव कषाय भाव से युक्त हुआ विषय-सौख्य की तृष्णा से— इन्द्रिय विषय को अधिकाधिक रूप में प्राप्त करने की इच्छा से–पुण्य करना चाहता है—पुण्यक्रियाओं के करने में प्रवृत्त होता है—उससे विशुद्धि बहुत दूर रहती है और पुण्य कर्म विशुद्धि-मूलक-चित्त की शुद्धि पर आधार रखने वाले होते हैं .अतः उनके द्वारा पुण्य का संपादन नहीं हो सकता—वे अपनी उन धर्मके नाम से अभिहित होनेवाली क्रियाओं को करके पुण्य पैदा नहीं कर सकते. चूंकि पुण्यफलकी इच्छा रखकर धर्म क्रियाओं के करने से—सकाम-धर्म-साधन से—पुण्य की संप्राप्ति नहीं होती, वल्कि निष्काम रूपसे धर्म साधन करने वाले को ही पुण्य की संप्राप्ति होती है, ऐसा जान कर पुण्य में भी आसक्ति नहीं रखना चाहिए. वास्तव में जो जीव मन्दकषाय से परिणत होता है वही पुण्य वांधता है. इसलिए मंदकषाय ही पुण्य का हेतु है, विषयवांछा पुण्य का हेतु नहीं—विषयवांछा अथवा विषयाशक्ति तीव्र कषाय का लक्षण है और उसका करने वाला पुण्य से हाथ धो वैठता है.

इन वाक्यों से स्पष्ट है कि जो मनुष्य धर्म-साधना के द्वारा अपने विषयकषायों की पुष्टि एवं पूर्ति चाहता है, उसकी कषाय मन्द नहीं होती और न वह धर्म के मार्ग पर ही स्थिर होता है. इसलिए उसके द्वारा वीतराग भगवान् की पूजा-भक्ति-उपासना तथा स्तुतिपाठ, जप-ध्यान, सामायिक, स्वाध्याय, तप, दान और व्रत-उपवासादिरूप से जो भी धार्मिक क्रियाएँ बनती हैं—वे सव उसके आत्मकल्याण के लिये नहीं होती—उन्हें एक प्रकार की सांसारिक दुकानदारी ही समझना चाहिए. ऐसे लोग धार्मिक क्रियाएं करके भी पाप उपार्जन करते हैं और सुख के स्थान में उलटा दुख को निमंत्रण देते हैं. ऐसे लोगों की इस परिणति को श्रीशुभचद्राचार्य ने ज्ञानार्णव ग्रंथ के २५ वें प्रकरण में, निदान-जनित आर्त्त-ध्यान लिखा है और उसे घोर दुःखों का कारण वतलाया है. यथा :

> पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणां ,
> यद्वा तैरेव वाञ्छत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात् ।
> पूजा-सत्कार-लाभ-प्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पैः ,
> स्यादार्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःखदावोऽग्रधामं ।

अर्थात—अनेक प्रकार के पुण्यानुष्ठानों को—धर्म कृत्यों को—करके जो मनुष्य तीर्थंकर पद तथा दूसरे देवों के किसी पद की इच्छा करता है अथवा कुपित हुआ उन्हीं पुण्याचरणों के द्वारा शत्रुकुल रूपी वृक्षों के उच्छेद की वांछा करता है, अथवा अनेक विकल्पों के साथ उन धर्मकृत्यों को करके अपनी लौकिक पूजा-प्रतिष्ठा अथवा लाभादिक की याचना करता है, उसकी यह सव सकाम प्रवृत्ति 'निदानज' नामका आर्त्तध्यान है. ऐसा आर्त्तध्यान मनुष्य के लिये दुःख-दावानल का अग्रस्थान होता है. उससे महादुःखों की परम्परा चलती है.

वास्तव में आर्त्तध्यान का जन्म ही संक्लेश-परिणामों से होता है, जो पापवंध के कारण हैं. ज्ञानार्णव के उक्त प्रकरणान्तर्गत निम्न श्लोक में भी आर्त्तध्यान को कृष्ण-नील-कापोत ऐसी तीन अशुभ लेश्याओं के वल पर ही प्रकट होना लिखा है और साथ ही यह सूचित किया है कि आर्त्तध्यान पाप रूपीदावानल को प्रज्वलित करने के लिये ईंधन के समान है :

> कृष्णनीलाद्यसल्लेश्यावलेन प्रविजृम्भते, इदं दुरितदावार्चिःप्रसूतेरिन्धनोपमम् । ४० ।

इससे स्पष्ट है कि लौकिक फलों की इच्छा रखकर धर्म सावन करना धर्माचरण को दूषित और निष्फल नहीं वनाता, वल्कि उलटा पापवंध का भी कारण होता है, और इसलिए हमें इस विषय में वहुत ही सावधानी रखने की जरूरत है. सम्यक्त्व के आठ अंगों में निःकांक्षित नाम का भी एक अंग है, जिसका वर्णन करते हुए श्रीअमितगति आचार्य उपासकाचार के तीसरे परिच्छेद में स्पष्ट लिखते हैं :

विधीयमानाः शम-शील संयमाः श्रियं ममेमे वितरन्तु चिन्तिताम् ,
सांसारिकानेकसुखप्रवर्द्धितीं निष्कांक्षितो नेति करोति कांक्षाम् । ७४।

अर्थात्—निःकांक्षित अंग का धारक सम्यग्दृष्टि इस प्रकार की वांछा नहीं करता है कि मैंने जो शम-शील और संयम का अनुष्ठान किया है वह सब धर्माचरण मुझे उस मनोवांच्छित लक्ष्मी को प्रदान करे, जो नाना प्रकार के सांसारिक सुखों में वृद्धि करने के लिये समर्थ होती है—ऐसी वांछा करने से उसका सम्यक्त्व दूषित होता है.

इसी निःकांक्षित सम्यग्दृष्टिका स्वरूप श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'समयसार' में इस प्रकार दिया है :

जो ण करेदि दुकंखं कम्मफले तह य सव्वधम्मेसु ,
सो णिकंक्खो चेदा सम्मदिट्ठी मुणेयव्वो । २४८ ।

अर्थात् जो धर्म कर्म करके उसके फल की—इंद्रियविषय सुखादिक की इच्छा नहीं रखता है, यह नहीं चाहता है कि मेरे अमुक कर्म का मुझे अमुक लौकिक फल मिले—और न उस फल साधन की दृष्टि से नाना प्रकार के पुण्य रूप धर्मों को ही इष्ट करता है—अपनाता है—और इस तरह निष्कामरूप से धर्म साधन करता है, उसे निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए.

यहां पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूं कि तत्त्वार्थ सूत्र में क्षमादि दश धर्मों के साथ में 'उत्तम' विशेषण लगाया गया है. उत्तम क्षमा उत्तम मार्दवादि रूप से दश धर्मों का निर्देश किया है. यह विशेषण क्यों बताया गया है ? इसे स्पष्ट करते हुए श्रीपूज्यपाद आचार्य अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' टीका में लिखते हैं :

दृष्टप्रयोजन-परिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम् ।

अर्थात्-लौकिक प्रयोजनों को टालने के लिये 'उत्तम' विशेषण का प्रयोग किया है. इससे यह विशेषण पद यहाँ 'सम्यक्' शब्द का प्रतिनिधि जान पड़ता है और उसकी उक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि किसी लौकिक प्रयोजन को लेकर—कोई दुनियावी गर्ज साधने के लिये—यदि क्षमा मार्दव-आर्जव-सत्य-शौच-संयम-तप-त्याग-आकिंचन्य-ब्रह्मचर्य, इन दश धर्मों में से किसी भी धर्म का अनुष्ठान किया जाता है तो वह अनुष्ठान धर्म की कोटि से निकल जाता है. ऐसे सकाम-धर्म साधन को वास्तव में धर्म-साधन ही नहीं कहते. धर्म-साधन तो स्वरूपसिद्धि अथवा आत्म-विकास के लिये आत्मीय कर्त्तव्य समझ कर किया जाता है, और इसलिए वह निष्काम धर्म साधन ही हो सकता है.

इस प्रकार सकाम-धर्म साधन के निषेध में आगम का स्पष्ट विधान और पूज्य आचार्यों की खुली आज्ञाएं होते हुए भी खेद है कि हम आजकल अधिकांश में सकाम धर्म साधन की ओर ही प्रवृत्त हो रहे हैं. हमारी पूजा-भक्ति-उपासना, स्तुति-वंदना-प्रार्थना, जप-तप-दान और संयमादिक का सारा लक्ष्य लौकिक फलों की प्राप्ति ही रहता है—कोई उसे करके धन-धान्य की वृद्धि चाहता है तो कोई पुत्र की संप्राप्ति. कोई रोग दूर करने की इच्छा रखता है, तो कोई शरीर में बल लाने की. कोई मुकदमे में विजय लाभ के लिये उसका अनुष्ठान करता है, तो कोई अपने शत्रु को परास्त करने के लिये. कोई उसके द्वारा किसी ऋद्धि-सिद्धि की साधना में व्यग्र है, तो कोई दूसरे लौकिक कार्यों को सफल बनाने की की धुन में मस्त. कोई इस लोक के सुखों को चाहता है तो कोई परलोक में स्वर्गादिकों के सुखों की अभिलाषा रखता है और कोई-कोई तो तृष्णा के वशीभूत होकर यहां तक अपने विवेक को खो बैठता है कि श्रीवीतराग भगवान् को भी रिश्वत (घूस) देने लगता है—उनसे कहने लगता है कि हे भगवन्, आपकी कृपा से यदि मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जायेगा तो मैं आपकी पूजा करूंगा, सिद्ध चक्र का पाठ थापूंगा, छत्र-चमरादि भेंट करूंगा, रथ-यात्रा निकलवाऊंगा, गजरथ चलवाऊंगा अथवा मन्दिर बनवा दूंगा. ये सब धर्म की विडम्बनाएं हैं. इस प्रकार की विडम्बनाओं से अपने को धर्म का कोई लाभ नहीं होता और न आत्मविकास ही सध सकता है. जो मनुष्य धर्म की रक्षा करता है—उसके विषय में विशेष सावधानी रखता हुआ उसे विडंबित या कलंकित नहीं होने देता—वही वास्तविक धर्म के फल को

पाता है. 'धर्मो रक्षति रक्षितः' की नीति के अनुसार रक्षा किया हुआ धर्म ही उसकी रक्षा करता है—और उसके पूर्ण विकास को सिद्ध करता है.

ऐसी हालत में सकाम धर्मसाधन को हटाने और धर्म की विडम्बनाओं को मिटाने के लिये समाज में पूर्ण आन्दोलन होने की जरूरत है, तभी समाज विकसित तथा धर्म के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा, तभी उसकी धार्मिक पोल मिटेगी और तभी वह अपनी पूर्वगौरव-गरिमा को प्राप्त कर सकेगा. इसके लिये समाज के सदाचारनिष्ठ एवं धर्मपरायण विद्वानों को आगे आना चाहिए और ऐसे दूषित धर्माचरणों की युक्ति-पुरस्सर खरी-खरी आलोचना करके समाज को सजग तथा सावधान करते हुए उसे उसकी भूलों का परिज्ञान कराना चाहिए. यह इस समय उनका खास कर्त्तव्य है और बड़ा ही पुण्य कार्य है. ऐसे आन्दोलन द्वारा सन्मार्ग दिखलाने के लिये समाज के अनेक प्रमुख पत्रों को अपना-अपना—पवित्र कर्त्तव्य समझना चाहिए.
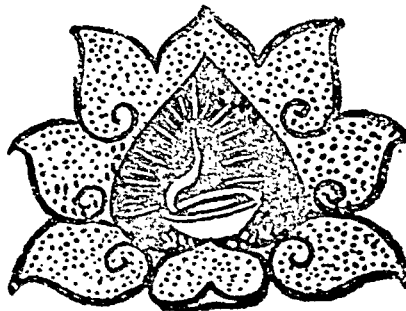
श्रीदरबारीलाल जैन, कोठिया
एम०ए०, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

# जैनदर्शन में संलेखना का महत्त्वपूर्ण स्थान

[अद्यतन युग में जैन संस्कृति के मार्मिक तथ्यों को न समझने के कारण संलेखना जैसी जीवन की पवित्र क्रिया को भी आत्मघात की कोटि में ला खड़ा किया जाता है. वस्तुतः आत्मघात और अनशन में स्पष्टतः महद् अन्तर है. वह यह कि आत्मघात के लिये मनुष्य तब ही उत्प्रेरित होता है जब उसकी मनोवांछित विशिष्ट पौद्गलिक सामग्री प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं होती या कारणवश कषाय के वशीभूत होकर संसार से ऊब कर जीवन नष्ट कर डालना चाहता है. अर्थात् नैराश्य-पूर्ण जीवन की अन्तिम अभिव्यक्ति मृत्यु में परिणत हो जाती है. जब कि संलेखना अनशन ठीक इसके विपरीत सत्य है.

मुमुक्षु आत्माओं के लिये देह की तब तक ही आवश्यकता मानी जाती है जब तक वह समतामूलक संयम की आराधना में सहायक है. तदनन्तर अनाकांक्षीभाव से, शरीर के प्रति तीव्र अनासक्तता के कारण जो शरीर-पात किया जाता है उसमें किसी भी प्रकार की स्वार्थपरक भावना या लोभ के अत्यंताभाव के कारण उसे आत्मघात की संज्ञा देना बुद्धि को अर्धचन्द्राकार देना है.

प्रश्न आन्तरिष्ट दृष्टि का है, न कि स्थूल देह का. प्रत्येक संस्कृति का जीवन और अध्यात्म के प्रति अपना निजी दृष्टिकोण होता है. —सम्पादक]

## पृष्ठभूमि

जन्म के साथ मृत्यु का और मृत्यु के साथ जन्म का अनादि प्रवाह-सम्बन्ध है. जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है और जिसकी मृत्यु होती है उसका पुनः जन्म भी होता है.[1] इस प्रकार जन्म मरण का चक्र निरन्तर चलता रहता है और इसी चक्र में आत्माओं को नाना क्लेश एवं दुःख उठाने पड़ते हैं. परन्तु कषाय और विषय-वासनाओं में आसक्त व्यक्ति इस ध्रुव सत्य को नहीं समझते. इसीलिए जब कोई पैदा होता है तो वे उसका 'जन्मोत्सव' मनाते तथा हर्ष प्रकट करते हैं. लेकिन जब कोई मरता है तो उसकी मृत्यु पर कोई उत्सव नहीं किया जाता. प्रत्युत, शोक एवं दुःख प्रकट किया जाता है.

संसार-विरक्त व्यक्ति की वृत्ति इससे विपरीत होती है. वह अपनी मृत्यु का 'उत्सव' मनाता है और उसपर प्रमोद व्यक्त करता है. अतएव मनीषियों ने उसकी मृत्यु के उत्सव को 'मृत्युमहोत्सव' के रूप में वर्णन किया है.[2] इस वैलक्षण्य को

---

१. जा तस्य हि ध्रुवं मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।—गीता २-२७.

२. संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञानवैराग्यवासिनाम् ।
ज्ञानिन् ! भयं भवेत् कस्मात्प्राप्ते मृत्युमहोत्सवे ।
स्वरूपस्थः पुरं यासि देहाद्देहान्तरस्थितिः ।—शान्तिसोपान, मृत्युमहोत्सव श्लो० १७, १०,

समझना कठिन नहीं है. यथार्थ में सांसारिक जन संसार (विषय-कषाय के पोषक चेतनाचेतन पदार्थों) को आत्मीय समझते हैं. अत: उनके छोड़ने में उन्हें दुःख का अनुभव होता है और उनके मिलने में हर्ष होता है. परन्तु आत्मा तथा शरीर के भेद को समझने वाले ज्ञानी वीतरागी संत न केवल विषय-कषाय की पोषक बाह्य वस्तुओं को ही, अपितु अपने शरीर को भी बन्धन मानते हैं. अत: उसके छोड़ने में उन्हें दुःख न होकर प्रमोद होता है. वे अपना वास्तविक निवास स्थान-मुक्ति को समझते हैं तथा सद्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, त्याग, संयम आदि आत्मीय गुणों को अपना यथार्थ परिवार मानते हैं. फलत: साधुजन यदि अपने पार्थिव शरीर के त्याग को मृत्युमहोत्सव कहें तो कोई आश्चर्य नहीं है. वे अपने रुग्ण, अशक्त, कुछ क्षणों में जाने वाले और विपद्ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोड़ने तथा नये शरीर को ग्रहण करने में उसी तरह उत्सुक एवं प्रमुदित होते हैं जिस तरह कोई व्यक्ति अपने पुराने, जीर्ण, मलिन और काम न दे सकने वाले वस्त्र को छोड़ने में तथा नवीन वस्त्र के परिधान में अधिक प्रसन्न होता है.[1]

इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर जैन श्रावक या साधु अपना मरण सुधारने के लिये शारीरिक विशिष्ट परिस्थितियों में सल्लेखना (समाधिमरण) ग्रहण करता है. वह नहीं चाहता कि शरीर-त्याग, रोते-बिलखते, लड़ते-झगड़ते, संक्लेश करते और रागद्वेष की भट्टी में जलते हुए असावधान अवस्था में हो, किन्तु दृढ़, शान्त और उज्ज्वल परिणामों के साथ विवेकपूर्ण स्थिति में वीरों की तरह उसका पार्थिव शरीर छूटे. सल्लेखना मुमुक्षु श्रावक या साधु के इसी उद्देश्य की पूरक है. प्रस्तुत लेख में इसी के सम्बन्ध में जैन दृष्टि से कुछ प्रकाश डाला जा रहा है.

## सल्लेखना का अर्थ

'सल्लेखन' शब्द जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है. इसका अर्थ है **'सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना'**[2]—सम्यक् प्रकार से काय और कषाय दोनों को कृश करना सल्लेखना है. जिस क्रिया में बाहरी शरीर का और भीतरी रागादि कषायों का, उनके निमित्त कारणों को कम करते हुए प्रसन्नतापूर्वक विना किसी दबाव के स्वेच्छा से लेखन अर्थात् कृशीकरण किया जाता है, उस क्रिया का नाम सल्लेखना अथवा समाधिमरण है. यह यावज्जीवन पालित एवं आचरित समस्त व्रतों तथा चारित्र की संरक्षिका है, इसलिए इसे 'व्रतराज' कहा गया है. श्रावक के द्वारा द्वादश व्रतों और साधु के द्वारा महाव्रतों के अनन्तर पर्याय के अन्त में इसे ग्रहण किया जाता है.[3]

## सल्लेखना का महत्त्व और उसकी आवश्यकता

अपने परिणामों के अनुसार प्राप्त जिन आयु, इन्द्रियों और मन, वचन, काय, इन तीन बलों के संयोग का नाम जन्म है, उन्हीं के क्रमश: अथवा सर्वथा क्षीण होने को मरण कहा गया है. यह मरण दो प्रकार का है—एक नित्यमरण और दूसरा तद्भवमरण. प्रतिक्षण जो आयु आदि का ह्रास होता रहता है वह नित्यमरण है तथा शरीर का समूल नाश हो जाना तद्भव मरण है.[4] नित्य मरण तो निरन्तर होता रहता है, उसका आत्मपरिणामों पर विशेष कोई प्रभाव नहीं

---

१. (क) जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः ।
स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थिर्यथा ।।—शान्तिसोपान, मृत्युमहोत्सव, श्लो० १५.
(ख) वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णति नरो पराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।—गीता २-२२

२. सम्यक्कायकषाय लेखना सल्लेखना । कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना ।
—सर्वार्थसिद्धि । ७-२२.

३. मारणान्तिकी सल्लेखनां जोषिता—त० सू० ७-२२

४. स्वायुरिन्द्रियबलसंक्षयो मरणम्. स्वपरिणामोपात्तस्यायुषः इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात् संक्षयो मरणमिति मन्यन्ते मनीषिणः : मरणं द्विविधम्, नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति. तत्र नित्यमरणं समये समये स्वायुरादीनां निवृत्तिः. तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवनिगमनम् —भट्ट अकलंकदेव, तत्त्वार्थराजवार्तिक ७-२२.

पड़ता. पर शरीरान्त रूप जो तद्‌भवमरण है उसका कषायों एवं विषय-वासनाओं की न्यूनाधिकता के अनुसार आत्म-परिणामों पर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है. इस तद्‌भवमरण को सुधारने और अच्छा बनाने के लिये ही सल्लेखना ली जाती है. सल्लेखना से अनन्त संसार की कारणभूत कषायों का आवेग उपशान्त अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्ममरण का चक्र बहुत ही कम जो जाता है. जैन लेखक आचार्य शिवार्य सल्लेखना धारण पर बल देते हुए कहते हैं कि[1] "जो जीव एक ही पर्याय में समाधिपूर्वक मरण करता है वह सात-आठ पर्याय से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता." उन्होंने सल्लेखना-धारक का महत्त्व बताते हुए यहां तक लिखा है[2] कि जो व्यक्ति अत्यन्त भक्ति के साथ सल्लेखनाधारक (क्षपक) के दर्शन-वन्दन-सेवादि के लिये उनके निकट जाता है वह व्यक्ति भी देवगति के सुखों को भोग कर अन्त में उत्तम स्थान (निर्वाण) को प्राप्त करता है."

तेरहवीं शताब्दी के प्रौढ़ लेखक पंडित आशाधरजी ने भी इसी बात को बड़े ही प्राञ्जल शब्दों में स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वस्थ शरीर, पथ्य आहार और विहार द्वारा पोषण करने योग्य है और रुग्ण शरीर योग्य औषधों द्वारा उपचार के योग्य है. परन्तु योग्य आहार-विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीर पर उनका अनुकूल असर न हो, प्रत्युत व्याधि बढ़ती जाय तो ऐसी स्थिति में उस शरीर को दुष्ट की तरह छोड़ देना ही श्रेयकर है.[3] वे असावधानी एवं आत्म-घात के दोष से बचने के लिये कुछ ऐसी बातों की ओर भी संकेत करते हैं, जिनके द्वारा शीघ्र और अवश्यमरण की सूचना मिल जाती है और उस हालत में व्रती को सल्लेखना में लीन हो जाना ही सर्वोत्तम है.[4]

इसी प्रकार एक दूसरे विद्वान् ने भी प्रतिपादन किया है कि "जिस शरीर का बल प्रतिदिन क्षीण हो रहा है, भोजन उत्तरोत्तर घट रहा है और रोगादिक के प्रतीकार करने की शक्ति नष्ट हो गयी है वह शरीर ही विवेकी पुरुषों को बतलाता है कि उन्हें क्या करना चाहिए. अर्थात् यथाख्यातचारित्र रूप सल्लेखना धारण कर लेना चाहिए.[5]

मृत्युमहोत्सव-कार तो यहां तक कहते हैं कि समस्त श्रुताभ्यास. तपश्चर्या और व्रताचरण की सार्थकता तभी है जब मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु विवेक जागृत हो जाने पर सल्लेखनामरण, समाधिमरण, पण्डितमरण या वीरमरण पूर्वक शरीर त्याग करता है. वे लिखते हैं :

"जो फल बड़े-बड़े व्रती पुरुषों को कायक्लेश आदि तप, अहिंसादि व्रत धारण करने पर प्राप्त होता है, वह फल अन्त समय में सावधानीपूर्वक किये गए समाधिमरण से जीवों को सहज में ही प्राप्त हो जाता है. अर्थात् जो आत्मविशुद्धि अनेक प्रकार के तपादि से होती है वह अन्त समय में समाधिपूर्वक शरीर त्यागने पर प्राप्त हो जाती है.[6]

'बहुत काल तक किये गए उग्र तपों का, पाले हुए व्रतों का और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्रज्ञान का एकमात्र फल

---

१. "एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो ।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठ भवे पमोत्तूण ।—शिवार्य, भगवती आराधना.

२. सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिव्व-भत्ति-राएणं ।
भोत्तूण य देव-सुखं सो पावदि उत्तमं ठाणं ।—शिवार्य, भगवती आराधना.

३. कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यात्प्रतिकार्यश्च रोगितः ।
उपकारं विपर्यस्यंस्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा ।—आशाधर, सागारधर्मामृत–८–६.

४. देहादिवैकृतैः सम्यक् निमित्तैस्तु सुनिश्चते ।
मृत्यावाराधनामग्नमतेदूरे न तत्पदम् ।—आशाधर, सा० ध० ८–१०.

५. प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम् ।
वपुरेव नृणां निगदति चरमचरित्रोदयं समयम् । लेखक—आदर्श सल्लेखना पृष्ठ १६ (उधृत)

६. यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्बनात् ।
तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना ।—शान्तिसोपान, मृत्युमहोत्सव, श्लो० २१.

शान्ति के साथ आत्मानुभव करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना है. इसके विना उनका कोई फल नहीं है—केवल शरीर को सुखाना या ख्यातिलाभ करना है.'[1]

विक्रम की दूसरी शताब्दी के विद्वान् स्वामी समतंभद्र की मान्यतानुसार जीवन में आचरित अनशनादिक विविध तपों का फल अन्त समय में गृहीत सल्लेखना है. अतः अपनी पूरी शक्ति के साथ समाधिपूर्वक मरण के लिए प्रयत्न करना चाहिए.[2]

आचार्य पूज्यपाद—देवनन्दि भी सल्लेखना के महत्त्व और आवश्यकता को बतलाते हुए लिखते हैं[3] कि मरण किसी को इष्ट नहीं है. जैसे अनेक प्रकार के सोने, चांदी, बहुमूल्य वस्त्रों आदि का व्यापार करने वाले किसी भी व्यापारी को अपने घर का विनाश कभी भी इष्ट नहीं हो सकता. यदि कदाचित् उसके विनाश का कोई (अग्नि, बाढ़, राज्यविप्लव आदि) कारण उपस्थित हो जाय तो वह उसकी रक्षा करने का पूरा उपाय करता है और जब रक्षा का उपाय सफल होता हुआ नहीं देखता तो घर में रखे हुए उन सोना, चांदी आदि बहुमूल्य पदार्थों को जैसे-बने-वैसे बचाता है तथा घर को नष्ट होने देता है. उसी तरह व्रतशीलादि गुणरत्नों का संचय करने वाला व्रती—मुमुक्षु गृहस्थ अथवा साधु भी उन व्रतादि गुणरत्नों के आधारभूत शरीर की प्राणप्रण से सदा रक्षा करता है—उसका विनाश उसे इष्ट नहीं होता. यदि कदाचित् शरीर में रोगादि विनाश का कारण उपस्थित हो जाये तो उनका वह पूरी शान्ति के साथ परिहार करता है. लेकिन जब असाध्य रोग, अशक्य उपद्रव आदि की स्थिति देखता है और शरीर का बचना असम्भव समझता है तो आत्मगुणों की रक्षा करता है तथा शरीर को नष्ट होने देता है."

इन उल्लेखों से सल्लेखना के महत्त्व और उसकी आवश्यकता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है. यही कारण है कि जैन-संस्कृति में सल्लेखना पर बड़ा बल दिया गया है. जैन लेखकों ने अकेले इसी विषय पर अनेकों स्वतंत्र ग्रंथ लिखे हैं. आचार्य शिवार्य की **'भगवती आराधना'** इसी विषय का एक अत्यन्त प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है. इसी प्रकार **'मृत्युमहोत्सव'** आदि कृतियाँ भी लिखी गई हैं, जो इस विषय पर बहुत अच्छा प्रकाश डालती हैं.

## सल्लेखना का प्रयोजन, काल और विधि

यद्यपि ऊपर के विवेचन से सल्लेखना का प्रयोजन और काल ज्ञात हो जाता है फिर भी नीचे उसे और भी अधिक स्पष्ट किया जाता है. स्वामी समन्तभद्र ने सल्लेखना-धारण की स्थिति और उसका स्वरूप निम्न प्रकार प्रतिपादित किया है—'जिसका उपाय न हो, ऐसे किसी भयंकर सिंह आदि क्रूर वन्यजन्तुओं द्वारा खाये जाने आदि के उपसर्ग आजाने पर, जिसमें शुद्ध भोजन-सामग्री न मिल सके ऐसे दुर्भिक्ष के पड़ने पर, जिसमें धार्मिक एवं शारीरिक क्रियायें यथोचित रीति से न पल सकें ऐसे बुढ़ापे के आजाने पर तथा किसी असाध्य रोग के हो जाने पर धर्म की रक्षार्थ शरीर के त्याग करने को **'सल्लेखना'** कहा गया है.'[4]

---

१. तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना ।—शान्ति सो० मृत्युमहो० श्लोक २३.

२. अन्तःक्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ।—समन्तभद्र—रत्नकरण्ड श्रा० ५-२.

३. "मरणस्यानिष्टत्वात्. यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसंचयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः. तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति, दुःपरिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते. एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसंचये प्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य न पातमभि-वांछति. तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति. दुःपरिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतते."
—सर्वार्थ सि० ७-२२.

४. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः । —समन्तभद्र—रत्नकरण्ड श्रा० ५-१.

सच बात तो यह है कि इन उल्लिखित चार संकटावस्थाओं में—जो व्यक्ति को झकझोर देने तथा विचलित कर देनेवाली हैं—आत्मधर्म से च्युत न होना और हँसते-हँसते साम्यभावपूर्वक उसकी रक्षा के लिये अवश्य जाने वाले शरीर का उत्सर्ग कर देना साधारण पुरुषों का कार्य नहीं है. वह तो असाधारण व्यक्तियों तथा उनकी असाधारण साधना का फल है. अतः सल्लेखना एक असामान्य वस्तु है. हमें शरीर तथा आत्मा के मध्य देखना होगा कि कौन अस्थायी है और कौन स्थायी ? निश्चय ही शरीर अस्थायी है और आत्मा स्थायी. ऐसी स्थिति में अवश्य नाश होने वाले शरीर के लिये अभीष्ट फलदायी धर्म का नाश नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि शरीर के नाश हो जाने पर तो दूसरा शरीर पुनः मिल सकता है, किन्तु नष्ट धर्म का पुनः मिलना दुर्लभ है.[1] अतएव जो शरीर-मोही नहीं होते वे आत्मा और अनात्मा के अन्तर को ठीक तरह से समझते हैं तथा आत्मा से परमात्मा की ओर बढ़ते हैं. जैन सल्लेखना में यही तत्त्व निहित है. इसी से प्रत्येक जैन देवोपासना के अन्त में प्रतिदिन यह पवित्र भावना करता है.[2]

"हे जिनेन्द्र मेरे दुःख का नाश हो, दुःख के कारण कर्म का भी नाश हो और कर्मनाश के कारण समाधिमरण का लाभ हो तथा समाधिमरण के कारणभूत सम्यक्‌वोध की प्राप्ति हो. ये चारों वस्तुएँ हे देव ! हे जगद्‌वन्धु ! आपके चरणों की शरण से मुझे प्राप्त हों."

जैन सल्लेखना का यही पवित्र उद्देश्य और प्रयोजन है, जो सांसारिक किसी कामना या वासना से सम्बद्ध नहीं है. सल्लेखना-धारक की संसार के किसी भोग या उपभोग व इन्द्रादि पद की प्राप्ति के लिये राग और अप्राप्ति के लिये द्वेष जैसी जघन्य इच्छाएँ नहीं होतीं. उसकी सिर्फ एक विदेह-मुक्ति की भावना रहती है, जिसके लिये ही उसने जीवन-भर व्रत-तपादिपालन का घोर प्रयत्न किया है और अन्तिम समय में भी वह उस प्रयत्न से नहीं चूकना चाहता है. अतएव क्षपक को सल्लेखना में कैसी प्रवृत्ति करना चाहिए और उसे लेने में किस प्रकार की विधि अपनाना चाहिए, इस सम्बन्ध में भी जैन शास्त्रों में विस्तृत और विशद विवेचन किया गया है.

आचार्य समन्तभद्र ने निम्न प्रकार सल्लेखनाविधि वतलाई है.[3]

सल्लेखना-धारक को सवसे पहले इष्ट वस्तुओं से राग, अनिष्ट वस्तुओं से द्वेष, स्त्रीपुत्रादि प्रिय जनों से ममत्व और धनादि में स्वामित्व की बुद्धि को छोड़ कर पवित्रमन होना चाहिए. उसके वाद अपने परिवार और अपने से संवन्धित व्यक्तियों से जीवन में हुए अपराधों को क्षमा कराये तथा स्वयं भी उन्हें प्रियवचन बोलकर क्षमा करे और इस तरह अपने अन्तःकरण को निष्कषाय वनाए.

---

१. नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः ।
देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः ॥—आशाधर, सागारधर्मामृत—८-७.

२. दुक्खक्खओ कम्मक्खओ समाहिमरणं च वोहिलाहो य ।
मम होउ जगतवंधव तव जिणवर ! चरणसरणेण ।—भारतीय ज्ञानपीठ, पूजाञ्जलि पृ० ८७.

३. स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ।
आलोच्य सर्वमेनः कृत-कारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ।
शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।
सत्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ।
आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम् ।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ।
खर-पान-हापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।
पंचनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ।—समन्तभद्र, रत्न क० श्रा० ५, ३-७.

इसके पश्चात् वह जीवन में किये, कराये और अनुमोदित समस्त हिंसादि पापों की निश्छल भाव से आलोचना (खेद प्रकाशन) करे तथा मृत्युपर्यन्त महाव्रतों का अपने में आरोप करे.

इसके साथ ही शोक,भय, खेद, ग्लानि (घृणा), कलुषता और आकुलता को भी छोड़ दे तथा बल एवं उत्साह को जागृत करके अमृतोपम शास्त्रवचनों द्वारा मन को प्रसन्न रखे.

इस प्रकार कषाय को कृश करने के उपरान्त शरीर को कृश करने के लिये सल्लेखनाधारी सल्लेखना में सर्वप्रथम आहार (भक्ष्य पदार्थों) का त्याग करे और दूध, छाछ आदि पेय पदार्थों पर निर्भर रहे. इसके अनन्तर उन्हें भी छोड़ कर कांजी या गर्म जल पीने का अभ्यास करे.

बाद में उन्हें भी त्याग कर शक्तिपूर्वक उपवास करे. इस प्रकार उपवास करते-करते एवं परमेष्ठी का ध्यान करते हुए पूर्ण जाग्रत एवं सावधानी में शरीर का उत्सर्ग करे.'

यह सल्लेखना की विधि है. इस विधि से साधक (आराधक) अपने आनन्द-ज्ञान-धन आत्मा का साधन करता है और और भावी पर्याय को वर्तमान जीर्ण-शीर्ण नश्वर पर्याय से ज्यादा सुखी, शान्त, निर्विकार, नित्य, शाश्वत एवं उच्च बनाने का सफल पुरुषार्थ करता है. नश्वर से अनश्वर का लाभ हो तो उसे कौन विवेकी छोड़ने को तैयार होगा ? अतएव सल्लेखना-धारक उन पाँच दोषों से[1] भी अपने को बचाता है, जो उसकी पवित्र सल्लेखना को दूषित करते हैं वे पाँच दोष निम्न प्रकार हैं :

सल्लेखना धारण करने के बाद जीवित बने रहने की आकांक्षा करना, शीघ्र मृत्यु की इच्छा करना, भयभीत होना, स्नेहियों का स्मरण करना और आगे की पर्याय में सुखों की चाह करना, ये पाँच दोष हैं, जिन्हें अतिचार कहा है और जिनसे सल्लेखना-धारक को बचना चाहिए.

### सल्लेखना का फल

सल्लेखना-धारक धर्म का पूर्ण अनुभव और प्राप्ति करने के कारण नियम से निःश्रेयस् और अभ्युदय प्राप्त करता है. स्वामी समन्तभद्र सल्लेखना का फल बतलाते हुए लिखते हैं कि "उत्तम सल्लेखना करने वाला धर्मरूपी अमृत को पान करने के कारण समस्त दुःखों से रहित होता हुआ निःश्रेयस् और अभ्युदय के अपरिमित सुखों को प्राप्त करता है."[2]

विद्वद्वर पं० आशाधरजी भी कहते हैं[3] कि 'जिस महापुरुष ने संसारपरम्परा के नाशक समाधिमरण को धारण किया है उसने धर्म रूपी महान् निधि को परभव में जाने के लिये साथ ले लिया है. जिससे वह उसी तरह सुखी रहे जिस प्रकार एक ग्राम से दूसरे ग्राम को जाने वाला व्यक्ति पास में पर्याप्त पाथेय रखने पर निराकुल रहता है. इस जीव ने अनन्त बार मरण किया, किन्तु समाधि-सहित पुण्यमरण कभी नहीं किया, जो सौभाग्य एवं पुण्योदय से अब प्राप्त हुआ है. सर्वज्ञदेव ने इस समाधि सहित पुण्यमरण की बड़ी प्रशंसा की है क्योंकि समाधिपूर्वक मरण करनेवाला महान् आत्मा निश्चय से संसार-रूपी पिंजड़े को तोड़ देता है—उसे फिर संसार के बन्धन में नहीं रहना पड़ता है.'

---

१. जीवित-मरणाऽऽशंसे भय-मित्रस्मृति-निदाननामानः ।
सल्लेखनातिचाराः पंच जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ।—समन्तभद्र, र० क० श्रा० ५-८.

२. निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ।—समन्तभद्र, र०क०श्रा० ५-६.

३. सहगामि कृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः ।
समाधिमरणं येन भवविध्वंसि साधितम् ।
प्राग्जन्तुनाऽमुनाऽनन्ताः प्राप्तास्तद्भवमृत्यवः ।
समाधिपुण्यो न परं परमाश्चरमक्षणः ।
परं शंसन्ति माहात्म्यं सर्वज्ञाश्चरमक्षणे ।
यस्मिन्समाहिता भव्या भञ्जन्ति भवपञ्जरम् ।—आशाधर, सागारधर्मामृत ७-५८,८-२७,२८.

## क्षपक की सल्लेखना में सहायक और उनका महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य

आराधक जब सल्लेखना ले लेता है तो वह उसमें बड़े आदर, प्रेम और श्रद्धा के साथ संलग्न रहता है तथा उत्तरोत्तर पूर्ण सावधानी के साथ आत्म-साधना में गति-शील रहता है. उसके इस पुण्य कार्य में, जिसे एक 'महान् यज्ञ' कहा गया है, पूर्ण सफलता मिले और वह अपने पवित्र पथ से विचलित न होने पाये, इसके लिए अनुभवी मुनि-निर्यापकाचार्य उसकी सल्लेखना में सम्पूर्ण शक्ति एवं आदर के साथ उसे सहायता करते हैं और समाधिमरण में सुस्थिर रखते हैं. वे उसे सदैव तत्त्वज्ञान-पूर्ण मधुर उपदेशों द्वारा शरीर और संसार की असारता एवं नश्वरता बतलाते हैं, जिससे वह उनमें मोहित न हो. 'भगवती आराधना' (गा ६५०-६७६) में समाधिमरण कराने वालों का बहुत ही सुन्दर वर्णन करते हुए लिखा है :

"क्षपक की सल्लेखना कराने वाले मुनियों को धर्मप्रिय, दृढ़श्रद्धानी, पापभीरु, परीषहजेता, देशकालज्ञाता, योग्यायोग्य-विचारक, त्यागमार्गमर्मज्ञ, अनुभवी, स्व-पर-तत्त्वविवेकी, विश्वासी और परोपकारी होना चाहिए. उनकी संख्या उत्कृष्ट ४८ और कम-से-कम २ होना चाहिए।"

"४८ मुनि क्षपक की इस प्रकार सेवा करें—४ मुनि क्षपक को उठाने बैठाने आदि रूप से शरीर की टहल करें. ४ मुनि धर्म श्रवण करायें. ४ मुनि भोजन और ४ मुनि पान करायें. ४ मुनि रक्षा-देखभाल करें. ४ मुनि शरीर के मल-मूत्रादि के क्षेपण में तत्पर रहें. ४ मुनि वसतिका के द्वार पर रहें, जिससे अनेक लोग क्षपक के परिणामों में क्षोभ न कर सकें. ४ मुनि क्षपक की अराधना को सुन कर आये लोगों को सभा में धर्मोपदेश द्वारा सन्तुष्ट करें. ४ मुनि रात्रि में जागें. ४ मुनि देश की ऊंच-नीच स्थिति के ज्ञान में तत्पर रहें. ४ मुनि बाहर से आये गये लोगों से बातचीत करें. और ४ मुनि क्षपक के समाधिमरण में विघ्न करने की सम्भावना से आये लोगों से वाद(शास्त्रार्थ द्वारा धर्मप्रभावना) करें. ये महाप्रभावशाली निर्यापक मुनि क्षपक की समाधि में पूर्ण यत्न से सहायता करते हैं और उसे संसार से पार कराते हैं. भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल की विचित्रता होने से यथानुकूल अवसर में जितनी विधि बन जाये और जितने गुणों के धारक निर्यापक मिल जाएँ उतने भी समाधि करायें, अति श्रेष्ठ है. पर निर्यापक एक नहीं होना चाहिए, क्योंकि अकेला एक निर्यापक क्षपक की २४ घंटे सेवा करने पर थक जायेगा और क्षपक की अच्छी तरह समाधि नहीं करा पायेगा.[1]

निर्यापक मुनि क्षपक को जो कल्याणकारी उपदेश देकर समाधिमरण में सुस्थिर रखते हैं उसका पंडित प्रवर आशाधर जी ने निम्न प्रकार वर्णन किया है.[2]

"हे क्षपक ! लोक में ऐसा कोई पुद्गल नहीं, जिसे तुमने एक से अधिक बार न भोगा हो, फिर भी वह तुम्हारा कोई हित न कर सका. पर-वस्तु क्या कभी आत्मा का हित कर सकती है ? आत्मा का हित तो ज्ञान, संयम और त्याग, ये आत्मगुण ही कर सकते हैं. अतः बाह्य वस्तुओं से मोह को त्यागो और विवेक तथा संयम का आश्रय लो और सदैव यह विचारो कि मैं अन्य हूँ और पुद्गल अन्य है, मैं चेतन हूँ, ज्ञाता-द्रष्टा हूँ और पुद्गल अचेतन है, ज्ञानदर्शनरहित है. मैं आनन्द-धन हूँ और पुद्गल ऐसा नहीं है."

---

१. पियधम्मा दढधम्मा संविग्गाऽवज्जभीरुणो धीरा ।
छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ।
कप्पाकप्पे कुशला समाधिकरणुज्जुदा सुदरहस्सा ।
गीदत्था भयवन्तो अडदालीसं तु णिज्जवया ।
णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा ।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते । —शिवार्य, भगवती आराधना.

२. देखिए, आशाधर, सागारधर्मामृत, ८, ४८-१०७.

"हे क्षपकराज ! जिस सल्लेखना को तुम अब तक धारण नहीं कर पाये थे, उसे धारण करने का सुअवसर तुम्हें आज प्राप्त हुआ है. उस सल्लेखना में कोई दोष मत आने दो. तुम परीषह या वेदना के कष्ट से मत घबराओ. वे तुम्हारे आत्मा का कुछ बिगाड़ नहीं सकते. उन्हें तुम सहनशीलता एवं धीरता से सहन करो और उनके द्वारा कर्मों की असंख्यातगुणी निर्जरा करो."

"हे आराधक ! मिथ्यात्व का वमन करो, सम्यक्त्व का सेवन करो. पंचपरमेष्ठी का स्मरण करो और उनके गुणों में अनुराग करो तथा अपने शुद्ध ज्ञानोपयोग में लीन रहो. अपने महाव्रतों की रक्षा करो. कषायों को जीतो. इन्द्रियों को वश में करो. सदैव आत्मा में ही आत्मा का ध्यान करो. मिथ्यात्व के समान दुःखदायी और सम्यक्त्व के समान सुखदायी तीन लोक में अन्य कोई वस्तु नहीं है. देखो धनदत्त राजा का संघश्री मंत्री पहले सम्यग्दृष्टि था, पीछे उसने सम्यक्त्व की विराधना की और मिथ्यात्व का सेवन किया, जिसके कारण उसकी आँखें फूटी और संसार-चक्र में उसे घूमना पड़ा. राजा श्रेणिक तीव्र मिथ्यादृष्टि था, किन्तु बाद में सम्यग्दृष्टि बन गया, जिसके प्रभाव से अपनी बंधी हुई नरक स्थिति को कम करके उसने तीर्थंकर प्रकृत्ति का बन्ध किया तथा भविष्यत्काल में वह तीर्थंकर होगा."

"हे क्षपकराज ! तुमने आगम में अनेक बार सुना होगा कि पद्मरथ नाम का मिथिला का राजा "वासुपूज्याय नमः" कहता हुआ अनेक विघ्न-बाधाओं से पार हो गया था और भगवान् के समवसरण में पहुँचा था. वहाँ पहुँच कर उसने दीक्षा ले ली तथा भगवान् का शीघ्र गणधर बन गया था. यह अर्हन्तभक्ति का ही इतना बड़ा प्रताप था. सुभग नाम के ग्वाले ने 'नमो अरिहन्ताणं' इतना ही कहा था, जिसके प्रभाव से वह सुदर्शन हुआ और अन्त में मोक्ष को प्राप्त हुआ."

"इसी तरह हे क्षपक ! जिन्होंने परिषहों को एवं उपसर्गों को सहन करके महाव्रतों का पालन किया उन्होंने अभ्युदय और मोक्ष प्राप्त किया. सुकुमाल को देखो, वे जब तप के लिये वन में गये और ध्यान में मग्न थे, तो शृगालिनी ने उन्हें कितनी निर्दयता से खाया, परन्तु सुकुमाल स्वामी जरा भी अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए और घोर उपसर्ग सहकर उत्तम गति को प्राप्त हुए. शिवभूति महामुनि को भी देखो, उनके सिर पर आंधी से उड़ कर घास का गांज आपड़ा था, परन्तु वे आत्म-ध्यान से तनिक भी नहीं डिगे और निश्चल वृत्ति से शरीर त्यागकर निर्वाण को प्राप्त हुए. पांचों पाण्डव जब तपस्या कर रहे थे उस समय कौरवों के भानजे आदि ने पुरातन वैर निकालने के लिये गरम लोहे की सांकलों से बांधा और कीलें ठोंकी, किन्तु वे अडिग रहे और उपसर्ग सह कर उत्तम गति को प्राप्त हुए. युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन मोक्ष गये तथा नकुल और सहदेव सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए. विद्युच्चर ने कितना भारी उपसर्ग सहा और अन्त में सद्गति पाई."

"अतः हे आराधक ! तुम्हें इन महापुरुषों को अपना आदर्श बना कर धीरता-वीरता से सब कष्टों को सहन करते हुए आत्मलीन रहना चाहिए, जिससे तुम्हारी समाधि उत्तम प्रकार हो और अभ्युदय तथा निर्वाण प्राप्त करो. जो जीव एक बार भी अच्छी तरह समाधिमरण करके शरीर त्यागता है वह ७-८ भव से अधिक संसार में नहीं घूमता.[1] अतः हे क्षपक ! तुम्हें अपना यह दुर्लभ समाधिमरण पूर्ण धीरता-वीरता, सावधानी एवं विवेक के साथ करना चाहिए, जिससे तुम्हें संसार में फिर न घूमना पड़े."

इस तरह निर्यापक मुनि क्षपक को समाधिमरण में निश्चल और सावधान बनाये रखते हैं. क्षपक के समाधिमरण रूप महान् यज्ञ की सफलता में इन महान् निर्यापक साधुओं का प्रमुख एवं अद्वितीय सहयोग होने से आगम में उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है:[2]—"वे महानुभाव (निर्यापक मुनि) धन्य हैं, जो सम्पूर्ण आदर और शक्ति के साथ क्षपक को सल्लेखना कराते हैं."

---

१. शिवार्य भगवती आराधना.

२. ते च्चिय महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ।
सव्वादरसत्तीए उवहिदाराधणा सयला ।—शिवार्य, भ० आ० गाथा २०००.

## सल्लेखना के भेद

जैन शास्त्रों में शरीर का त्याग तीन तरह से बताया गया है[1] १. च्युत, २. च्यावित और ३. त्यक्त.

१. च्युतः—स्वतः आयु पूर्ण होने पर शरीर छूटता है वह च्युत कहलाता है.

२. च्यावितः—जो विष-भक्षण, रक्तक्षय, धातुक्षय, शस्त्राघात, संक्लेश, अग्निदाह, जलप्रवेश आदि निमित्त कारणों से शरीर छोड़ा जाता है वह च्यावित कहा गया है.

३. त्यक्तः—जो रोगादि हो जाने और उनकी असाध्यता एवं मरणान्त होने पर विवेक सहित संन्यास रूप परिणामों से शरीर छोड़ा जाता है वह त्यक्त है.

तीन तरह के शरीरत्यागों में त्यक्त-शरीरत्याग सर्वश्रेष्ठ और उत्तम माना गया है, क्योंकि त्यक्त अवस्था में आत्मा पूर्णतया जागृत एवं सावधान रहता है तथा उसे कोई संक्लेश परिणाम नहीं होता.

इस त्यक्त शरीरत्याग को ही समाधिमरण, संन्यासमरण, पण्डितमरण, वीरमरण और सल्लेखनामरण कहा गया है. यह सल्लेखनामरण (त्यक्त शरीरत्याग) तीन प्रकार का प्रतिपादन किया है:[2] १. भक्तप्रत्याख्यान, २. इंगिनीमरण और ३. प्रायोपगमन.

१. भक्तप्रत्याख्यान—जिसमें अन्न-पान का क्रमशः अभ्यास पूर्वक त्याग किया जाता है उसे भक्तप्रत्याख्यान या भक्त-प्रतिज्ञा सल्लेखना कहते हैं. इसका काल—प्रमाण कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त है और अधिक-से-अधिक १२ वर्ष है. मध्यम, अन्तर्मुहूर्त से ऊपर और बारह वर्ष से नीचे का काल है. इसमें आराधक आत्मातिरिक्त समस्त परवस्तुओं से रागद्वेषादि छोड़ता है तथा अपने शरीर की टहल स्वयं भी करता है और दूसरों से भी कराता है.

२. इंगिनीमरण[3]— में क्षपक अपने शरीर की सेवा—परिचर्या स्वयं तो करता है, पर दूसरे से नहीं कराता. स्वयं उठेगा और स्वयं लेटेगा और इस तरह अपनी सम्पूर्ण क्रियाएँ स्वयं करेगा. वह पूर्णतया स्वावलम्बन का आश्रय ले लेता है.
३. प्रायोपगमन[4]—में वह न अपनी सहायता लेता है और न दूसरे की. आत्मा की ओर ही उसका सतत लक्ष्य रहता है और उसी के ध्यान में सदा रत रहता है. इस सल्लेखना को साधक तब ही धारण करता है जब वह अन्तिम अवस्था में पहुँच जाता है तथा जिसका संहनन प्रबल होता है.

इनमें भक्तप्रत्याख्यान दो तरह का है—१. सविचार भक्तप्रत्याख्यान और २. अविचार भक्तप्रत्याख्यान. सविचार भक्तप्रत्याख्यान में आराधक अपने संघ को छोड़कर दूसरे संघ में जाकर सल्लेखना ग्रहण करता है. यह सल्लेखना बहुत काल बाद मरण होने तथा शीघ्र मरण न होने की हालत में ग्रहण की जाती है. इस सल्लेखना का धारी 'अर्ह' आदि अधिकारों के विचार पूर्वक उत्साह सहित इसे धारण करता है. इसी से इसे सविचार भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना. कहते हैं. पर जिस आराधक की आयु अधिक नहीं है और शीघ्र मरण होने वाला है तथा अब दूसरे संघ में जाने का समय नहीं है और न शक्ति है, वह मुनि अविचार भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण धारण करता है. इसके भी तीन भेद हैं. १. निरुद्ध, २. निरुद्धतर और ३. परमनिरुद्ध.

१. निरुद्धः—दूसरे संघ में जाने की पैरों में सामर्थ्य न रहे, शरीर थक जाय अथवा घातक रोग, व्याधि या उपसर्गादि आजायें और अपने संघ में ही रुक जाय तो उस हालत में मुनि इस समाधिमरण को ग्रहण करता है. इसलिए इसे निरुद्ध

---

१. देखिये, नेमिचन्द्राचार्य, गोम्मटसार कर्मकाण्ड ५६, ५७, ५८.
२. देखिये, नेमिचन्द्राचार्य —गो० कर्म० गा० ५६ तथा भग० आरा० गा० २६.
३. देखिये नेमिचन्द्राचार्य —गो० कर्म० गा० ६१.
४. देखिये, नेमिचन्द्राचार्य —गो० कर्म गा० ६१. श्वेताम्बरपरम्परा के ग्रन्थों में इसे 'पादपोपगमन' या 'पादोपगमन' कहते हैं.

अविचार प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं. यह दो प्रकार का है—१. प्रकाश और २. अप्रकाश. लोक में जिनका समाधि-मरण विख्यात हो जाये वह प्रकाश है तथा जिनका विख्यात न हो वह अप्रकाश है.

२. **निरुद्धतर**—सर्प, अग्नि, व्याघ्र, महिष, हाथी, रीछ, चोर, व्यन्तर, मूर्च्छा, दुष्ट पुरुषों आदि के द्वारा मारणान्तिक आपत्ति आने पर तत्काल आयु का अन्त जानकर निकटवर्ती आचार्यादिक के समीप अपनी निन्दा, गर्हा करता हुआ साधु शरीर-त्याग करे तो उसे निरुद्धतर-अविचार-भक्त-प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं.

३. **परमनिरुद्ध**—सर्प, व्याघ्रादि भीषण उपद्रवों के आजाने पर वाणी रुक जाय, वोल न निकल सके, ऐसे समय में मन में ही अरहन्तादि पंच परमेष्ठियों के प्रति अपनी आलोचना करता हुआ साधु शरीर त्यागे उसे परम-निरुद्ध-भक्त प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं.

## समाधिमरण की श्रेष्ठता

ये तीनों (भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन) समाधिमरण उत्तम एवं सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं. आचार्य शिवार्य ने (भगवती आराधना गाथा-२५ से ३० तक में) सत्तरह प्रकार के मरणों का उल्लेख करके उनमें पाँच[1] तरह के मरणों का वर्णन करते हुए तीन मरणों को प्रशंसनीय वतलाया है. वे तीनों मरण ये हैं.[2]

'पंडितपंडितमरण, पंडितमरण, और वालपंडितमरण ये तीन मरण सदा प्रशंसा के योग्य हैं.'

आगे पाँच मरणों के सम्बन्ध में कहा है[3] कि वीतराग केवली भगवान् के निर्वाण-गमन को 'पंडित-पंडितमरण' देशव्रती श्रावक के मरण को 'वालपंडितमरणं' आचारांग शास्त्रानुसार चारित्र के धारक साधु-मुनियों के मरण को 'पंडितमरण'' अविरतसम्यग्दृष्टि के मरण को 'वालमरण' और मिथ्यादृष्टि के मरण को 'वाल-वालमरण कहा है. भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन ये तीन पंडित मरण के भेद हैं. इन्हीं तीन का ऊपर संक्षेप में वर्णन किया गया है.

आचार्य शिवार्य ने इस सल्लेखना के करने, कराने, देखने, अनुमोदन करने, उसमें सहायक होने, आहार-औषध-स्थानादि का दान देने तथा आदरभक्ति प्रकट करने वालों को पुण्यशाली वतलाते हुए वड़ा सुन्दर वर्णन किया है. वे लिखते हैं,[4]

---

१. पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं वालपंडिदं चेव।
बालमरणं चउत्थं पंचमयं वालवालं च।—भग० आराधना गा० २६.

२. पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं वालपंडिदं चेव।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसन्ति।—भग० आराधना गा० २७.

३. पंडिदपंडिदमरणे खीणकसाया मरन्ति केवलिणो।
विरदाविरदा जीवा मरन्ति तदियेण मरणेण।
पाओवगमणमरणं भत्तपण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडिदमरणं साहुस्स जहुत्तचरियस्स।
अविरदसम्मादिट्ठी मरन्ति वालमरणे चउत्थहम्मि।
मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए वालवालम्मि।—भग० आराधना गा० २८, २६, ३०.

४. ते सूरा भयवन्ता आइच्चइऊण संघमज्झम्मि।
आराधणा-पडाया चउप्पयारा धिया जेहिं।
ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो व तेहि सव्वेहिं।
आराधणा भयवदो पडिवण्णा जेहि संपुण्णा।
किंणाम तेहि लोगे महाणुभावेहिं हुज्ज ण य पत्तं।
आराधणा भयवदी सयला आराधिदा जेहिं।
ते चिय महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स।
सव्वादर - सत्तीए उवविहिदाराधणा सयला।

'वे मुनि धन्य हैं जिन्होंने संघ के मध्य में समाधिमरण ग्रहण कर चार प्रकार की आराधनारूपी पताका को फहराया'. 'वे ही भाग्यशाली हैं और ज्ञानी हैं तथा उन्होंने समस्त लाभ पाया है जिन्होंने दुर्लभ भगवती आराधना (सल्लेखना) को प्राप्त कर उसे सम्पन्न किया है'.

'जिस आराधना को संसार में महाप्रभावशाली व्यक्ति भी प्राप्त नहीं कर पाते, उस आराधना को जिन्होंने पूर्णरूप से प्राप्त किया उनकी महिमा का वर्णन कौन कर सकता है ?'

'वे महानुभाव भी धन्य हैं, जो पूर्ण आदर और समस्त शक्ति के साथ क्षपक की आराधना कराते हैं.'

'जो धर्मात्मा पुरुष क्षपक की आराधना में उपदेश, आहार-पान, औषध व स्थानादि के दान द्वारा सहायक होते हैं वे भी समस्त आराधनाओं को निर्विघ्नपूर्ण करके सिद्धपद को प्राप्त होते हैं.'

'वे पुरुष भी पुण्यशाली हैं, कृतार्थ हैं जो पापकर्म रूपी मैल को छुटाने वाले तीर्थ में सम्पूर्ण भक्ति और आदर के साथ स्नान करते हैं. अर्थात् क्षपक के दर्शन-वन्दन-पूजन में प्रवृत्त होते हैं.'

'यदि पर्वत, नदी आदि स्थान तपोधनों से सम्बन्धित होने से तीर्थ कहे जाते हैं और उनकी सभक्ति वन्दना की जाती है तो तपोगुणराशि क्षपक, तीर्थ क्यों नहीं कहा जायेगा[1] अवश्य कहा जायेगा. उसकी वन्दना और दर्शन का भी वही फल प्राप्त होता है जो तीर्थ-वन्दना का होता है.'

'यदि पूर्व ऋषियों की प्रतिमाओं की वन्दना करने वाले के लिए पुण्य होता है तो साक्षात् क्षपक की वन्दना एवं दर्शन करने वाले पुरुष को प्रचुर पुण्य का संचय क्यों नहीं होगा ? अपितु अवश्य होगा.'

'जो तीव्र भक्ति सहित आराधक की सदा सेवा—वैयाकृत्य करता है उस पुरुष की भी आराधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है अर्थात् वह उत्तम गति को प्राप्त होता है.'

## क्या जैनेतर दर्शनों में यह महत्त्वपूर्ण विधान है ?

यह सल्लेखना जैनेतर जनताके लिए अज्ञात विषय है, क्योंकि जैन साहित्यके सिवाय अन्य साहित्यमें उसका कोई वर्णन उपलब्ध नहीं होता. हाँ, ध्यान या समाधि का विस्तृत कथन मिलता है, पर उसका अंत:क्रिया से कोई संबंध नहीं है. उसका संबंध केवल सिद्धियों को प्राप्त करने अथवा आत्म-साक्षात्कार से है. वैदिक साहित्य में सोलह संस्कारों में एक अन्त्येष्टि संस्कार आता है[1] जिसे ऐहिक जीवन के अंतिम अध्याय की समाप्ति कहा गया है[2] और जिसका दूसरा नाम मृत्यु-संस्कार है. यद्यपि इस संस्कार का अन्त:क्रिया से संबंध है किन्तु वह सामान्य गृहस्थों का किया जाता है. सिद्ध—महात्माओं, संन्यासियों या भिक्षुओं का नहीं, जिनका परिवार से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता और न जिन्हें अन्त्येष्टि—क्रिया की आवश्यकता

---

जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स ।
संपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ।
ते वि कदत्था धण्णा य हुन्ति जे पावकम्ममलहरणे ।
ण्हायन्ति खवय-तित्थे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ।
गिरि-णदिआदिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उसिदा ।
तित्थं कधं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवओ ।
पुव्व-रिसीणं पडिमाउ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ।
खवयस्स वन्दओ किह पुण्णं विउलं ण पाविज्ज ।
जो ओलग्गदि आराधयं सदा तिव्व-भत्ति-संजुत्तो ।
संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराधणा सयला ।—शिवार्य, भ० आ० १९९७–२००५.

१.-२. डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार पृ० २९६.

ही रहती है.[1] इनके तो जल-निखात या भू-निखात के उल्लेख मिलते है.[2] यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिंदू धर्म में अन्त्येष्टि की सम्पूर्ण क्रियाओं में मृत-व्यक्ति के विषय-भोग तथा सुख-सुविधाओं के लिये प्रार्थनाएं की जाती हैं. हमें उसके आध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्ष के लिए इच्छा का बहुत कम संकेत मिलता है. जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने के लिये प्रार्थना बहुत कम है[3]. जब कि जैन सल्लेखना में पूर्णतया आध्यात्मिक लाभ तथा मोक्ष की भावना निहित है लौकिक एषणाओं की उसमें कामना नहीं है. एक बात यहाँ ज्ञातव्य है कि निर्णयसिंधुकार ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ के अतिरिक्त आतुर अर्थात् मुमूर्षु (मरणाभिलाषी) और दुःखित अर्थात् चौर व्याघ्रादि से भयभीत व्यक्ति के लिये भी संन्यास का विधान करने वाले कतिपय मतों को दिया है.[4] इनमें बतलाया गया है कि संन्यास लेने वाला आतुर अथवा दुःखित यह संकल्प करता है कि "मैंने जो अज्ञान प्रमाद या आलस्य दोष से बुरा कर्म किया उन सब का मैं त्याग करता हूँ और सब जीवों के लिये अभयदान देता हूँ तथा विहार करते हुए किसी जीव की हिंसा नहीं करूँगा." पर यह सब कथन संन्यासी के मरणान्त समय के विधि-विधान को नहीं बतलाता, केवल संन्यास लेते समय की जाने वाली चर्या का दिग्दर्शन कराता है. स्पष्ट है कि यहाँ संन्यास का वह अर्थ विवक्षित नहीं है जो सल्लेखना का अर्थ है. संन्यास का अर्थ है यहाँ साधु-दीक्षा, किंवा, कर्मत्याग या संन्यास नामक चतुर्थ आश्रम का स्वीकार है और सल्लेखना का अर्थ संन्यास के अन्तर्गत मरण समय में होने वाली क्रिया विशेष[5] (कषाय एवं काय का कृषीकरण करते हुए आत्मा को कुमरण से बचाना तथा आचरित धर्म की रक्षा करना) है. अतः सल्लेखना जैनदर्शन की एक अनुपम देन है, जो पारलौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन को उज्जवल बनाती है. इस क्रिया में रागादि कषाय से युक्त होकर प्रवृत्ति न होने के कारण सल्लेखना धारी को आत्मवध का भी दोष नहीं लगता.

---

१. डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार पृ० ३०३.
२. डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार पृ० ३०३ तथा कमलाकर भट्ट, निर्णयसिंधु पृ० ४४७.
३. डा० राजबली पाण्डेय, हिंदू संस्कार, पृष्ठ ३४६.
४. संन्यसेद् ब्रह्मचर्याद्वा संन्येसच्च गृहादपि ।
 वनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वा थ दुःखितः ।
 उत्पन्ने संकटे घोरे चौरव्याघ्रादि गोचरे ।
 भयभीतस्य संन्यासमंगिरा मनुरब्रवीत् ।
 यत्किंचि द्वाधकं कर्म कृमाज्ञानतो मया ।
 प्रमादालस्यदोषाय तत्तत्संत्यक्त वानहम् ।
 एवं संत्यज्य भूतेभ्य दद्याद भय दक्षिणाम् ।
 पद्भ्यां कराभ्यां विहरन्नाहं वाक्कायमानसैः ।
 करिष्ये प्राणिनां हिंसा प्राणिनः सन्तु निर्भयाः ।—कमलाकरभट्ट, निर्णयसिंधु पृ० ४४५.
५. वैदकि साहित्य में यह क्रिया विशेष भृगुपतन, अग्नि प्रवेश आदि के रूप में स्वीकृत है. (शिशुपाल वध ४.२३ की टीका किंतु जैनसंस्कृत में इसे लोक मूढता कहा है.

श्रीरमेश उपाध्याय

# सत्यं शिवं सुन्दरम्

मानवीय विचारों की एक परम्परागत अपौरुषेय श्रृंखला होती है. अपौरुषेय इस अर्थ में कि परम्परा में आने पर विचार किसी एक व्यक्ति का नहीं रह जाता. उसमें अनेक व्यक्तियों के विचारों का सार निहित रहता है. कभी-कभी इन परम्परागत विचारों को सूत्रों में बांध लिया जाता है. ऐसे सूत्र उन विचारों का प्रतिनिधित्व तो करते ही हैं, नये विचारों की प्रेरणा भी देते रहते हैं.

'सत्यं शिवं सुन्दरम्' भी एक ऐसा ही सूत्र है जिसके पीछे दार्शनिक विचारों की एक लम्बी श्रृंखला है और जिसमें नये-नये विचारों की कड़ियां जुड़ने की अनेक सम्भावनाएं हैं.

सूत्र के प्रथम पद 'सत्य' को पहचानने, पाने और स्वरूप निर्धारण के प्रयत्न प्राचीनकाल से होते रहे हैं. भारतीय दार्शनिकों ने ही नहीं सुकरात, प्लेटो, अरस्तु आदि विश्व के अन्य असंख्य सत्यान्वेषियों ने सत्य की व्याख्याएं की हैं और प्रयोग किये हैं. निकट अतीत में गांधी का उदाहरण सत्यार्थी के रूप में दिया जा सकता है.

कोई शब्द जितना अधिक सार्थक होता है, उतनी ही कठिन उसकी व्याख्या होती है. शब्दों का लचीलापन और उनकी व्यापकता, दो ऐसे आयाम हैं जो व्याख्या का विशाल क्षेत्र प्रदान करते हैं. यही कारण है कि सत्य की एक सीमित परिभाषा देना असम्भव है. यों, कोई परिभाषा वैसे भी स्वयं में पूर्ण नहीं होती—होनी भी नहीं चाहिए क्यों कि ऐसा होने पर चिन्तन की दिशा अवरुद्ध होने लगती है. कहने को कह सकते हैं कि सत्य एक स्थिति है, ऐसी स्थिति जिसके अस्तित्व के विषय में कोई संदेह नहीं किया जा सकता किन्तु विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने पर उसके विभिन्न रूपाकार दृष्टिगोचर हो सकते हैं. यही कारण है कि प्रत्येक युग में सत्य-सम्बन्धी मान्यताएँ बदलती रहती हैं. एक उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट कर दूं.

प्राचीन काल में 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के आधार पर ईश्वर के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु असत्य या माया समझी जाती थी और नितान्त आधुनिक विचारों के लोग ठीक इसके विपरीत बात कहते हुए सुने जाते हैं. कोई व्यक्ति निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि यही अन्तिम सत्य है. सत्य को एक सूक्ष्म अनुभूति के रूप में ही जाना जा सकता है उसको किसी आकार में ढालने पर उसकी सत्यता में संदेह होने लगता है. मैं तो कहूँगा कि यह संदेह ही हमें सत्य की खोज के लिये प्रेरित किया करता है.

साहित्य में सत्य एक स्थायी मूल्य है और अनिवार्य आवश्यकता है. असत्य प्रतीत होने वाली कृतियां भी सत्य पर आधारित होती हैं. भले ही उनकी सत्यता परिवेश के अनुसार उभरकर सामने आ सके. साहित्यकार जिस दृष्टिकोण से चीजों को देखता है और ईमानदारी से उनके प्रभाव को अभिव्यक्ति देता है, वह उसका अपना सत्य है. वह सत्य बहुमत द्वारा मान्य भी हो सकता है और अमान्य भी. बहुमत द्वारा अमान्य साहित्यिक सच्चाइयों को परखते समय

कृतिकार की सत्य के प्रति उसकी निजी पहुँच (Approach) की प्रक्रिया को ध्यान में रखना अत्यंत आवश्यक है. अन्यथा कृति और और कृतिकार के प्रति अन्याय हो जाता है.

परन्तु साहित्यिक कृति का सच होना ही उसकी पूर्णता नहीं है. केवल यथार्थ पर दृष्टि रखने वाला कृतिकार या विचारक सत्य का सही सर्जक नहीं हो सकता. कारण, कोरा सच मनुष्य को कोई दिशा दे सकता है न आनन्द. यही कारण है कि जहां सत्य है वहां शिव और सुन्दर का होना भी अनिवार्य है. 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के तीनों शब्द अन्योन्याश्रित एवं एक सहज संगीत में वंधे हैं. जहां सत्य है, वहां शिव और सौन्दर्य का होना अनिवार्य है. शिव अर्थात् कल्याणकर होने के लिये सत्य और सुन्दर होना अपेक्षित ही है और सुन्दर तो कुछ हो ही नहीं सकता जो सत्य और शिव न हो. इन तीनों शब्दों के क्रमागत रूप का भी एक निश्चित उद्देश्य है. यह क्रम तीनों की क्रमागत वशिष्टता एवं गुरुता को प्रदर्शित करता है. तीनों की श्रेष्ठता में भी सत्य श्रेष्ठतम, शिव श्रेष्ठतर एवं सुन्दर श्रेष्ठ है परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि तीनों में किसी की महत्ता कम है. तीनों की क्रमागत गुरुता स्वीकार न भी करें, किन्तु पारस्परिक सापेक्षता से तो इंकार किया ही नहीं जा सकता.

मानवता के आध्यात्मिक, भौतिक एवं काल्पनिक जगत्-रूपों में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का क्रमिक रूप देखा जाय तव भी अच्छे परिणामों पर पहुंचा जा सकता है. सत्य तो आध्यात्मिक है ही क्योंकि दर्शन के समस्त प्रश्न सत्यासत्य विवेक की जिज्ञासा लिये हुए होते हैं. 'शिव' के अन्तर्गत संसार के लिये जो कुछ हितकर हैं, उपादेय है, वह सव आ जाता है. हितकर और उपादेय चाहे वस्तु हो या कार्य तथा विचार. मानवता के कल्याण के लिये जो हितकर एवं उपादेय है, उसके निर्माण, संवर्द्धन एवं संरक्षण के समस्त प्रयत्न 'शिव' से ही प्रेरित होते हैं. और 'सुन्दरम्' मानव-कल्पना के आनन्द-दायक स्वरूप का संकेत है. किसी वस्तु विशेष का अपना सौन्दर्य असौन्दर्य कुछ भी नहीं है. वस्तु को सुन्दर-असुन्दर वनाने वाला हमारा मन है, हमारी कल्पना है. अपने मानसिक सौंदर्य के कारण ही हम फूलों को हँसता देख सकते हैं, घटाओं को आँसू वहाते हुए महसूस कर सकते हैं. जिनके काले रंग और मोटे होठों को देखकर हम नाक-भौंह सिकोड़ने लगते हैं उनमें भी अफ्रीका-निवासी परम-सौन्दर्य की कल्पना करते हैं. अतः 'सुन्दरम्' हुआ मनुष्य के मानसिक जगत् का प्रतीक है.

भौतिक जगत् में हमें सभ्यताओं के विकास और ह्रास मिलते हैं. अपनी भौतिकता में मनुष्य अध्यात्म और कल्पना दोनों से आक्रांत रहता है. प्रगति के लिये संकेत मिलते हैं कल्पना से और प्रगति की दिशा निर्धारित करने के लिये अध्यात्म का अंकुश काम आता है. फिर भी जव संस्कृतियां गलत मोड़ ले लेती हैं और दर्शन एवं कल्पना दोनों विकृत होने लगते हैं, तव 'शिवं' की उपादेयता को महत्त्व देने वाली प्रवृत्ति दोनों में या दोनों में से एक में क्रांति ले आती है. उस क्रांति द्वारा 'शिवं' को सत्य और सुन्दर वनाने की प्रेरणा स्वतः ही प्राप्त हो जाती है. जव मनुष्य भौतिकता को ही सब कुछ मान लेता है और अध्यात्म एवं कल्पना से पीछा छुड़ा लेना चाहता है तो वह अवनति की ओर जाने लगता है. अतः उसे कहीं न कहीं आध्यात्मिक दर्शन की ओर झुकना ही पड़ता है. 'आत्मज्ञं हार्ययेद् भूतिकामः' में भी यही भावना परिलक्षित होती है.

आदर्शवाद और भौतिकवाद को देखते समय भौतिकवाद हमें अधिक आकर्षित करता है. साहित्यिक रचनाओं में भी हम देखते हैं कि आदर्शवादी विचार हमें उतना प्रभावित नहीं करते जितना भौतिक जगत् के नग्न यथार्थ को चित्रित करने वाले विचार करते हैं. वैसे साहित्यिक क्षेत्र में नितान्त यथार्थ अथवा कोरे आदर्श को प्रस्तुत करने वाली रचनाओं को खोज पाना असम्भव ही है क्योंकि विल्कुल यथार्थ लगने वाला विचार भी कहीं वहुत गहरेपन में आदर्श से प्रभावित होता है और आदर्श की तो विवशता है कि उसे यथार्थ के पांवों पर खड़ा होना पड़ता है.

विश्व की राजनीतिक एवं सामाजिक विचारधाराओं पर दृष्टिपात करने पर लगता है कि 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को लेकर न चलने वाली धाराएं असमय ही उपेक्षा के मरुस्थल में खो गयीं. जवतक उनके प्रवर्तक या कुछ दृढ़ अनुयायी रहे तव तक वे अपने विचारों को सत्य मानकर सुदृढ़ आस्था के स्तम्भों पर उनका भार ढोते रहे किन्तु सत्य, शिव और सुन्दर

के सामंजस्य से उद्भूत विचारों के एक ही धक्के से उनकी अर्द्ध सत्य मान्यताओं के प्रासाद भहराकर गिर पड़े.

सामंजस्य ! हां, सत्य शिव सुन्दर का सामंजस्य अनिवार्य है. इसके अभाव में संसार में स्थित कोई भी अस्तित्व अपूर्ण है. वस्तु, कर्म और विचार सभी में तीनों के सामंजस्य से श्रेष्ठता आती है.

**सुन्दरम् क्या है ?**

झील के नीले जल में तट के वृक्षों की परछाइयां, परस्पर टकरा कर टूटती हुई लहरों में चमकती चांदनी, घाट पर पड़े हुए पत्थरों में समय का संगीत, दूर नीलाकाश से आता हुआ कोई अज्ञात आह्वान, भयंकर भूडोल में भी लय की अनुभूति, खुली धूप में स्वतन्त्रता और अंधकार में गुलामी का एहसास—यह सब क्या है ?

आपके घर में एक गुलाब का पौधा है. उसके फूल और कलियों को देख-देख कर आप प्रसन्न होते हैं. एकान्त के उदास क्षणों में आपका ध्यान अनायास ही कुम्हलाई पंखुरियों पर जा पड़ता है और आप उस गुलाब के पौधे से आत्मीयता अनुभव करने लगते हैं. कांटा चुभता है तो जीवन के लिये शिक्षा ग्रहण करते हैं लेकिन जब आप अपने गमले में सूखते गुलाब के पौधे को बचाने के लिये सहानुभूति से प्रेरित होकर किसी वनस्पति-शास्त्री (Botanist) के पास जाते हैं तो आपकी सहानुभूति उसकी बातें सुनकर एक शुष्क ज्ञान में परिणत हो जाती है. घर लौट कर आप देखते हैं पौधा मर चुका है. उखाड़ कर फेंकते तनिक भी दु:ख नहीं होता. नया पौधा लगा लेंगे. ऐसा क्यों होता है ?

अनुसंधान का उद्देश्य प्रकृति में मनुष्य का प्रवेश है. पृथ्वी के आर-पार देख सकना, सितारों को छू लेना, पक्षियों और पशुओं की बोलियों को समझ लेना, समय की यति-गति को पहचान लेना, क्षण का अश्रुत संगीत सुन सकना और आकाश-पाताल को अपनी सहानुभूति में समेट कर एक सुन्दर स्नेहमय संसार की रचना, विज्ञान का उद्देश्य है. किन्तु आज विज्ञान उस पथ को भूल गया है. सत्य और शिव का निर्वाह तो वह जैसे तैसे कर लेता है किन्तु सौन्दर्य को अस्पृश्य मान कर छोड़ देता है. यहीं आकर वह भटक जाता है और नीरस कारण-परिणामों को सूचित करने वाली तालिका मात्र बन जाता है. यही कारण है कि सौन्दर्य के अभाव में सहानुभूति-शून्य होकर वह विध्वसंक होने लगता है.

सौन्दर्य तो एक चेतना है जो स्वयं उद्भुत होती है. मनुष्य में, उसके रूप और आकृति में, और उसकी शक्ति के प्रयोगों में हम अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण द्वारा कहीं न कहीं एक ऐसी झलक पा लेते हैं जो हमें अभिभूत कर जाती है. यह चेतना न पुस्तकों से मिलती है न शिक्षकों से. इस चेतना के अभाव में मनुष्य जीवन का आनन्द खो देता है.

आज समाज में व्यक्ति का मूल्यांकन कैसे होता है ? अच्छा पति या अच्छी पत्नी, आज्ञाकारी पुत्र या सुशीला पुत्री, अच्छा नागरिक, धनवान् व्यक्ति या सम्मानित महिला परन्तु यह मूल्यांकन सही नहीं है. यह तो ऊपरी वेश भूषा का मूल्यांकन है, मनुष्य का नहीं. मनुष्य का मूल्यांकन करने के लिये उसका आंतरिक सौन्दर्य देखना पड़ता है, उसकी आत्मा जाना पड़ता है, स्वयं अपने हृदय में सौंदर्य से सहानुभूति की भावना जागृत करनी होती है. सौदर्य से सहानुभूति रखने वाला मन संवेदनशील और भावुक होता है. सौन्दर्य के किसी भी रूप को देखकर उसकी हृत्तंत्री पर स्पन्दकम्पन होते हैं. कम्पन, जड़ता, उल्लास, हर्षातिरेक, अधीरता, संवेदना आदि का उत्स सौन्दर्य ही है.

अतः सत्य और शिव सौन्दर्य के बिना फीके हैं. सौन्दर्य हमें अस्तित्त्व के उद्गम का चिन्तन करने के लिये प्रेरित करता है. प्रकृति के गोपन का उद्घोष सुन्दरम् के द्वारा होता है. सौन्दर्य को पाकर जीवन का असंतोष मिटता है. विश्रांति का अनुभव होता है किन्तु यह सन्तोष और विश्रान्ति, जीवन को निष्क्रिय नहीं बनाते, आगे बढ़ने का उल्लास और प्रेरणा प्रदान करते हैं. प्रेम का उद्भव भी सौन्दर्य से ही होता है.

राल्फ वल्डो एमर्सन ने लिखा हैं :

In the true mythology love is an immortal child and beauty leads him as guide nor can

we express a deeper sense than when we say, Beauty is the pilot of the young Soul.

(सच्ची पौराणिकता में प्रेम एक अमर शिशु है और सौन्दर्य उसका पथ-प्रदर्शक है. जब हम कहते हैं कि सौन्दर्य शिशु आत्मा का चालक है, तो इससे अधिक गहन अर्थ को अभिव्यक्त नहीं कर सकते.)

प्रेम मानव मात्र की सीमाओं से परे सम्पूर्ण विश्व पर छाया हुआ है. एकता एवं सहकार की भावनाएं प्रेम से उत्पन्न होती हैं और प्रेम-पाश फेंकने वाले अदृश्य हाथ सौन्दर्य के होते हैं. हमें भद्दी और कुरूप वस्तुओं से भी स्नेह क्यों हो जाता है क्योंकि हम उस वस्तु की सतही आकृति के नीचे उसके अंतराल में झांकते हैं, जहां सौन्दर्य की विपुल सृष्टि हमारा आवाहन् करती है. सोक्रेटीज या कौटिल्य की कुरूपता उनके आत्म सौन्दर्य को ढंक नहीं सकी. गांधी सत्य के पुजारी और मानवता के हितकारी होकर भी राम की मनोहर मूर्ति के उपासक थे क्योंकि राम सौन्दर्य के प्रतीक भी थे—अपनी सम्पूर्ण मर्यादाओं के साथ. कौटिल्य को युद्ध की वीभत्सता में रण-देवी के तेजस्वी और सुन्दर स्वरूप के दर्शन होते थे क्योंकि उनके अन्तर में सौन्दर्य की व्यापक चेतना थी. जो लोग कौटिव्य को नीरस-राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री मानते हैं वे 'मुद्रा राक्षस' में उनके हृदय की सौन्दर्य प्रियता के दर्शन करके अपनी भूल सुधार सकते हैं.

'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के विस्तृत विवेचन में अनेक ग्रंथ लिखे जा सकते हैं—लिखे भी जा चुके हैं. आवश्यकता है इन्हें अपने जीवन में समन्वित रूप से उतार लेने की. मन, वचन, कर्म से इन्हें अपने आचरण में उतार कर मानवता की सेवा के प्रयत्नों की सुदीर्घ परम्परा में उज्ज्वल कड़ियां जोड़ते चलना मनुष्य का लक्ष्य भी है, और कर्तव्य भी.

श्रीशिखरचन्द्र कोचर
बी०ए०, एल०एल०बी०, आर०एच०जे०एस०, साहित्य शिरोमणि, साहित्याचार्य

# मनुष्य-जाति का सर्वोत्तम आहार : शाकाहार

मनुष्य प्रकृति से ही शाकाहारी-प्राणी है. उसके शरीर की रचना दुग्धपेयी प्राणियों की शरीर-रचना से मिलती जुलती है, राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी ने लिखा है :

'शरीर की रचना को देखने से जान पड़ता है कि कुदरत ने मनुष्य को वनस्पति खाने वाला बनाया है. दूसरे प्राणियों के साथ अपनी तुलना करने से जान पड़ता है कि हमारी रचना फलाहारी प्राणियों से बहुत अधिक मिलती है, अर्थात् बन्दरों से बहुत ज्यादा मिलती है. बन्दर हरे और सूखे फल-फूल खाते हैं. फाड़ खाने वाले शेर, चीते आदि जानवरों के दांत और दाढ़ों की बनावट हमसे और ही प्रकार ही होती है. उनके पंजे के सदृश हमारे पंजे नहीं हैं. साधारण पशु मांसाहारी नहीं हैं, जैसे गाय बैल. हम इनसे कुछ-कुछ मिलते हैं, परन्तु घास आदि खाने के लिये आरे जैसी आंतें उनकी हैं, हमारी नहीं हैं. इन बातों से बहुत से शोधक ऐसा कहते हैं कि मनुष्य मांसाहारी नहीं है. रसायन-शास्त्रियों ने प्रयोग करके बतलाया है कि मनुष्य के निर्वाह के लिये जिन तत्त्वों की आवश्यकता है, वे सब फलों में मिल जाते हैं. केले, नारंगी, खजूर, अंजीर, सेब, अनन्नास, बादाम, अखरोट, मूंगफली, नारियल आदि में तन्दुरुस्ती को कायम रखने वाले सारे तत्त्व हैं. इन शोधकों का मत है कि मनुष्य को रसोई पकाने की कोई आवश्यकता नहीं है. जैसे और प्राणी सूर्य-ताप से पकी हुई वस्तु पर तन्दुरुस्ती कायम रखते हैं वैसे ही हमारे लिये भी होना चाहिए.'

मनुष्य अनादि-काल से शैशवावस्था में मातृ-दुग्ध, और उसके अभाव में गोदुग्ध-द्वारा पोषित होता रहा है. इसी प्रकार मनुष्य-जाति अनादि-काल से ही शाकाहारी चली आ रही है. संसार के प्रायः सभी धर्मों में अहिंसा को प्रधानता दी गई है. जैन-धर्म का तो अहिंसा-सिद्धान्त प्राण ही है. अन्यान्य धर्मों में भी इस सिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया गया है. श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है :

आत्मोपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं सयोगी परमो मतः । —अ० ६, श्लोक० ३२.

अर्थात्, जो सभी जीवों को अपने समान समझता, और उनके सुख एवं दुःख को अपने सुख-दुःख के समान समझता है, वही परम-योगी है. यथा :

समं पश्यन् हि सर्वत्र, समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं, ततोयाति परां गतिम् । —अ० १३ श्लो० २८.

अर्थात्, ज्ञानी पुरुष ईश्वर को सर्वत्र व्यापक जानकर हिंसा नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि किसी प्राणी की हिंसा करना आत्म-हत्या करने के समान है. इस प्रकार से वह सर्वोच्चगति को प्राप्त होता है.

महात्मा बुद्ध ने भी कहा है :

पाणे ने हने न घातयेय, न चानुमन्या हनंत परेसं ।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दंडं, ये थावरा ये च तसंति लोके ।—सुत्तनिपात-धम्मिक सुत्त.

इसका भावार्थ यह है कि त्रस अथवा स्थावर जीवों को मारना या मरवाना नहीं चाहिए, और न ही त्रस या स्थावर जीवों को मारने वाले का अनुमोदन ही करना चाहिए.

तथा :

"अपरिमितैर्ग्यहामते कारणैर्मांसं सर्वभक्ष्यम्. सर्वभूतात्म भूतानुयागन्तुमेनका सर्व जन्तु प्राणिभूतसंभूतंभूनमांसं कथामिव भक्ष्यं ॥" —लंकावतार सूत्र ८०.

अर्थात् सब प्रकार का मांस दयावान् के लिए अगणित कारणों से अभक्ष्य है. जो सर्व प्राणियों को अपने समान जानने वाला है, वह इन सब प्राणियों के वध से उत्पन्न हुए मांस को कैसे भक्ष्य समझेगा.

महात्मा ईसा मसीह ने भी कहा है कि : "देखो मैंने तुम्हें हरएक बीज तथा उपजाऊ वनस्पति दी है, जो पृथ्वी पर पैदा होती है, और हरएक वृक्ष भी दिया है जिस वृक्ष में उपजाऊ बीज के फल लगे हैं, ये सब तुम्हारे लिए भोजन सामग्री हैं... तुम न तो चर्वी और न खून खाओगे ." —लेविटिक्स ३,५,२७.

महात्मा जरथुस्त्र ने भी कहा है कि : "प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक प्राणी का मित्र होना चाहिए.......दुष्ट व्यक्ति जो अनुचित रूप में पशुओं और भेड़ों तथा अन्य चौपायों की घोर हत्या करता है, उसके अवयव नष्ट किये जायेंगे.
—आर्दविरफ १७४-१९२.

पैगम्बर मुहम्मद साहब ने कहा है कि : "हमने स्वर्ग से मेंह बरसाया जिससे बाग पैदा हुए और अनाज की फसल उगी, और खजूरों से लदे हुए लम्बे वृक्ष उत्पन्न हुए, जो मनुष्य के लिये भोजन होंगे. —कुरानसूराकाफ ९,११.

जो दूसरे के प्राणों की रक्षा करता है, वह गोया तमाम मानव-जाति के प्राणों की रक्षा करता है."—कुरान, ५.

सिख धर्म के प्रवर्त्तक, गुरु नानक ने कहा है :

**"मांस मांस सब एक है, मुर्गी हिरनी गाय। आंख देख नर खात है, ते नर नर कहिं जाय ॥"**

महात्मा कबीर ने कहा है :

**"मांस मछलियां खात हैं, सुरा-पान के हेत। ते नर नरकहिं जायंगे, माता-पिता समेत ॥**
**तिलचर मछली खायके, कोटि गऊ दे दान। काशी करवत ले मरे, तो भी नरक निदान ॥"**

शाकाहार का प्रचार एवं प्रसार संसार के सभी देशों एवं समस्त कालों में रहा है. ग्रीस-देश के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वानों पिथागोरस, इम्पीडोक्लिस, प्लेटो, सोक्रेटिज, ओविड, सेनेका, पोर्फिरी, प्लूटार्क आदि ने तथा आरिजेन, टरट्यूलियन, क्रिसोस्टोम तथा अलेक्जेंड्रिया के क्लीमेंट जैसे ईसाई धर्म-गुरुओं ने भी शाकाहार का प्रतिपादन किया है. भारतवर्ष के महान् सम्राट् अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य में स्थान-स्थान पर इस आशय के शिला-लेख उत्कीर्ण करवाये थे, कि कोई व्यक्ति किसी प्राणी की हत्या न करे. महान् मुगल सम्राट् अकबर ने भी आदेश दिया था कि उसके साम्राज्य में विशेष पर्वों के अवसरों पर किसी प्रकार का प्राणी-वध न किया जाय. संसार के प्रसिद्ध विद्वान् स्वीडन बोर्ग, टाल्सटाय, वाल्टेयर, मिल्टन, वेस्ले, आइजक न्यूटन, बूथ, आइजक पिटमैन, बर्नडशा इत्यादि शाकाहारी थे, और उन्होंने अपनी रचनाओं में शाकाहार का पूर्ण रूपेण प्रतिपादन किया है. मैं विस्तारभय से उनके विचारों को इस लेख में उद्धृत करने में असमर्थ हूं. मांसाहार के पक्ष में कुछ लोग यह युक्ति देते हैं कि मांसाहार से शक्ति बढ़ती है परन्तु यह युक्ति निस्सार है, क्योंकि हम देखते हैं कि शाकाहारी हाथी किसी मांसाहारी प्राणी से कम-शक्तिशाली नहीं होता. संसार के अनेक डाक्टरों तथा वैज्ञानिकों ने इस बात पर मतैक्य प्रकट किया है कि फलों तथा शाक-भाजी एवं गो-दुग्ध में मांस की अपेक्षा अधिक पोषक तत्त्व विद्यमान रहते हैं, जिनके सेवन से मनुष्य की शक्ति, स्फूर्ति तथा बुद्धि की अभिवृद्धि होती है, और मांस-सेवन से जो नाना प्रकार की हानियां होती हैं, उनका शाकाहार में सर्वथा अभाव पाया जाता है. शाकाहारी मनुष्य में मांसाहारी मनुष्य की अपेक्षा उदारता सहनशीलता, धैर्य, परिश्रम-शीलता इत्यादि गुणों का अधिक समावेश दृष्टि-गोचर होता है. प्राचीन समय में भारतवर्ष की सर्वांगीण उन्नति का प्रधान कारण भारतीय जनता का अहिंसा-धर्म का पूर्ण रूप से पालन ही था. संसार में शांति एवं समृद्धि का सर्वोत्कृष्ट साधन अहिंसा ही है,और यदि हमें राष्ट्रों, के मध्य प्रेम शान्ति एवं सौहार्द की स्थापना करनी अभीष्ठ है, तो हमें संसार के सभी धर्म-प्रवर्तकों द्वारा समर्थित अहिंसा एवं शाकाहार को अपनाना ही पड़ेगा.

डा० सत्यकाम वर्मा

# वर्णों का विभाजन[1]

आज के भाषा-विषयक अध्ययन की जो महत्त्वपूर्ण देनें मानी जाती हैं, उनमें से वर्णभागों या अल्लाफोन्स की स्वीकृति भी एक है. वर्ण को आधुनिक परिभाषा में 'फोनीम' कहा जाता है. जब कोई ध्वनि वर्ण की पूर्णस्थिति तक न जाकर बीच में ही रह जाती है, उसे 'अल्लाफोन्स' के नाम से स्मरण किया जाता है. आज जिसे वर्तमान भाषा-विज्ञान की अपूर्व देन समझा जाता है. यहाँ हम यह दिखाने का प्रयास करेंगे, कि उसका अध्ययन कितनी गहराई के साथ प्राचीन भारतीय वैयाकरणों ने किया था.

**कुछ अवधेय परिभाषाएं**—इस विषय में सबसे प्रथम सहायक परिभाषा हमें यास्क के निरुक्त में मिलती है. धातुभिन्न किसी 'पदभाग' की केवल वर्णसाम्य के आधार पर उसने कल्पना की है : 'पदेभ्यो पदान्तरार्धान् संचस्कार' (निरुक्त). पदान्तर या पदान्तरार्ध संज्ञा भाषा, वैज्ञानिक महत्त्व की है. इसी समय के प्रातिशाख्यों में एक नई परिभाषा 'अपिनिहिति' के रूप में सामने आई. 'आत्मा' 'इध्य' आदि शब्दों में जहां भी संधि-नियमों के विरुद्ध-कार्य होता दिखाई दिया (और बाद में अपभ्रंश आदि में उनका स्थानान्तरण किसी और वर्ण द्वारा हुआ), वहां ही उन्होंने 'अपिनिहिति' के रूप में एक अस्पष्टोच्चरित ध्वनि की अन्तर्वर्त्तिनी सत्ता को स्वीकार कर लिया. यह पाणिनि के 'वॉयड्' या 'जीटो' से भिन्न स्थिति है. पाणिनि ने ऐसी अपूर्ण स्थिति कुक्, टुक्, ङमुट्, धुट् आदि आगमों की स्वीकार की है, जिनके द्वारा आगत ध्वनियाँ सुनाई न देकर भी अपना प्रभाव छोड़ती दिखाई देती हैं.[2]

परन्तु पाणिनि इस विषय में दो परिभाषाएँ ऐसी देते हैं, जिन पर विचार अत्यावश्यक हो जाता है. ये हैं—ह्रस्वादेश और सवर्ण. 'ह्रस्वादेश' से हमें केवल यही पता चलता है कि वर्ण अपनी स्थिति और मात्रा आदि बदल सकते हैं. किन्तु 'सवर्ण' की परिभाषा हमें कुछ और ही संकेत करती है. आस्य और प्रयत्न की समानता के आधार पर सवर्ण (तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्) सिद्ध करने के बाद, जब वे प्रत्येक व्यंजनवर्ग को सवर्ण (अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः) कहते हैं, तब समस्या यह उठती है कि क्या क्-ख्-ग्-घ्-ङ् आदि में भी कुछ वैसी ही समानता है, जैसी अ-आ-अं आदि में पाई जाती है ? पाणिनि इसका उत्तर 'हाँ' में ही देते हैं. तो, क्या यह समानता केवल मुखगत उच्चारणसाम्य के कारण ही है ? सवर्ण का अर्थ है समान वर्ण. अर्थात् इन तथाकथित सवर्णों में वर्णात्मक या ध्वन्यात्मक साम्य भी मूलतः निहित होता है. तथाकथित वर्ग के पांचों वर्णों में 'क्' की-सी ध्वनि का कुछ अंश अवश्य उपस्थित रहता है. फिर यदि 'कण्ठच' होने के कारण भी उनकी ध्वन्यात्मक समानता स्वीकार की जाए, तब भी उनमें 'ध्वनि-तरंगों' की कुछ अंश तक समानता स्वीकार करनी पड़ेगी, उन सब की ध्वनि-तरंगें एक ही स्थान से जो उठती हैं !

परन्तु, सवर्णों और 'ह्रस्वादेशों' की इस समस्या को अधिक स्पष्ट करने का श्रेय पतंजलि को ही मिलता है. उन्होंने ही हमें सर्वप्रथम 'वर्णैकदेश' और 'उत्तरपदभूयस्' जैसी वैज्ञानिक परिभाषाएँ दीं. ह्रस्वादेश हों, सन्धिनियम हों, सन्ध्यक्षरों

---

१. २६ वें अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यविद्या-सम्मेलन में—लेखक द्वारा पढ़े गए एक लेख के आधार पर.

२. इसकी विशेष चर्चा देखें लेखक के लेख-वर्णभाग में, 'भारतीय साहित्य', जनवरी—१९६१ ई०.

अथवा सम्प्रसारणों की समस्या हो—पतंजलि उन सब की व्याख्या 'वर्णैकदेश' की परिभाषा के द्वारा करते हैं. वर्ण में 'एकदेश' की स्वीकृति आज के 'अल्लाफोन्स' की बात को अधिक स्पष्ट करती है, 'उत्तरपदभूयस्' से भी इतना ही पता चलता है कि गुणस्वरों या वृद्धिस्वरों में स्पष्टतः 'उत्तरपद' और 'पूर्वपद' जैसी स्थिति खोजी जा सकती है.

**भर्तृहरि की चमत्कारी देन**—किन्तु, भर्तृहरि ने अपने महान् ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' में इस समस्या को अत्यधिक वैज्ञानिक आधार पर लिया है. उन्होंने वहाँ जो चमत्कारपूर्ण परिभाषाएँ दी हैं, वे हैं—'वर्णभाग' और 'वर्णान्तर सरूप'. उनकी इन परिभाषाओं को केवल काल्पनिक कहकर टाला नहीं जा सकता. इनके प्रतिरूप ही वे पद-सम्बन्धी समानान्तर परिभाषाएँ भी देते हैं. ये हैं—'पदभाग' और 'पदान्तरसरूप'.

वर्णान्तरसरूपाश्च वर्णभागा अवस्थिताः । पदान्तरसरूपाश्च वर्णभागा अवस्थिताः ॥—वा० २. ११.

'वर्णभाग' की बात को तो वे काफी विस्तार से उठाते हैं. एक स्थान पर वे स्पष्ट कहते हैं :

पदानि वाक्ये तान्येव, वर्णास्ते च पदे यदि । वर्णेषु वर्णभागानां भेदः स्यात् परमाणुवत् ॥—वा० २. २८.
भागानामनुपश्लेषान्नवर्णो न पदं भवेत् । तेषामव्यपदेश्यत्वात्किमन्यदपदिश्यताम् ॥—वा० २. २९.

'वर्ण' बनने के लिये स्पष्ट ही वर्णभागों के उपश्लेष की आवश्यकता है. उनके उपशेलेप के बिना वर्ण की स्थिति ही सम्भव नहीं. इस धारणा का विरोध करने वाले कदाचित् भर्तृहरि के निम्न श्लोक को उद्धृत करेंगे :

'पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च । वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥—वा० १. ७३.

यहां वर्णावयवों की सत्ता का प्रत्यक्ष निषेध-सा दिखाई देता है. परन्तु यही निषेध 'पदो' पर लागू होता है. अर्थात् भर्तृहरि स्पष्ट घोषित करते हैं कि जिस प्रकार की स्थिति वाक्य में पदों की है, उसी प्रकार की स्थिति पदो में वर्णों की, और वर्णों में वर्णभागों या वर्णावयवों की है. वस्तुतः वे उपरोक्त सभी प्रसंगों में अर्थ और वाक्यार्थ की अखण्डता की चर्चा कर रहे हैं उनका कथन यह है कि यदि वाक्य का विभाग पदों में सम्भव है, तो पदों को वर्णों में विभक्त मानना होगा और वर्णों को उन वर्णभागों से बना मानना होगा, जो परमाणुवत् अनन्त और सूक्ष्म हैं. उनका वाक्यार्थ अविभाज्य है. अतः वे पदार्थों की पृथक् सत्ता में विश्वास नहीं रखते. परन्तु, इसका अर्थ यह नहीं कि 'सुप्तिङन्तं पदम्' की पाणनि की परिभाषा व्यर्थ हो जाती है और पदों की सत्ता ही वाक्य में सिद्ध नहीं होती. यदि पदों की स्थिति वाक्य में होने पर भी उसकी एकता और एकार्थता रक्षित रह सकती है, तब वर्णभागों की स्थिति रहने पर भी वर्ण की एकता कायम रह सकती है.[1] और यदि आवश्यकता आ पड़े तो :

वाक्यार्थस्य तदेकोऽपि वर्णः प्रत्यायकः क्वचित् ।—वा० २. ४५.

**दोनों में भेद**—'वर्णान्तरसरूप' और 'वर्णभाग' संज्ञाओं को हमने पृथक् माना है. भर्तृहरि ने भी इनका पृथक् उल्लेख किया. 'वर्णभाग' को वर्तमान 'अल्लाफोन्स' का समकक्ष स्वीकार किया जा सकता है, जब कि 'वर्णान्तरसरूप' की उससे कुछ स्थूल स्थिति है. इसमें कुछ वर्णभाग मिलकर 'सवर्णभाग' की-सी स्थिति में आते हैं. इस 'वर्णान्तरसरूपकता' के आधार पर ही सवर्णों का आविर्भाव सम्भव माना जाता है, जब कि वर्णभाग किसी भी वर्ण की सूक्ष्मतम विभाज्य स्थिति को ही सूचित करता है. यहीं भर्तृहरि यह भी स्पष्ट करते हैं कि इन्हें स्पष्टतः पहचाना नहीं जा सकता—'प्रविवेको न कश्चन'.

**भाषा विज्ञान**—आज के भाषा-विज्ञानी भी इस स्थिति को स्वीकार करने लगे हैं. विविध यन्त्रों के सहारे उन्होंने ध्वनितरंगों और ध्वनिभागों को निश्चित करने का प्रयास किया है, पर इस विषय में कुछ निश्चित विभाजक रेखाएं नहीं खींच सके हैं. 'अल्लाफोन्स' विषयक उनकी देन की चर्चा हो चुकी है. प्रो० जोसुटाव्हाटमाऊ, पीटर साइमन और दूसरे कुछ अमरीकी भाषाविदों ने 'साउण्ड-वेव' अर्थात् 'ध्वनि-तरंगों' को भी पहचानने का प्रयास किया है.
पर अधिक अच्छा हो कि वे इन परिभाषाओं को विचार में रखकर बढ़ें.

---

१. विस्तृत चर्चा के लिये देखें लेखक के शोध-प्रबंध—'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' के पृ० १७, तथा अनुच्छेद २४ (अ) एवं ७१०.

पण्डित श्रीवंशीधर
शास्त्री व्याकरणाचार्य

# जैनदृष्टि से मनुष्यों में उच्च-नीच व्यवस्था का आधार

जैन संस्कृति में समस्त संसारी अर्थात् नारक, तिर्यक्, मनुष्य और देव—इन चारों ही गतियों में विद्यमान सभी जीवों को यथायोग्य उच्च और नीच दो भागों में विभक्त करते हुए यह बतलाया गया है कि जो जीव उच्च होते हैं उनके उच्च-गोत्र कर्म का और जो जीव नीच होते हैं उनके नीचगोत्र कर्म का उदय विद्यमान रहा करता है.

यद्यपि जैन संस्कृति के मानने वालों के लिये यह व्यवस्था विवाद या शंका का विषय नहीं होना चाहिए परन्तु समस्या यह है कि प्रत्येक संसारी जीव में उच्चता अथवा नीचता की व्यवस्था करने वाले साधनों का जब तक हमें परिज्ञान नहीं हो जाता, तब तक यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक जीव तो उच्च है और अमुक जीव नीच है ?

यदि कोई कहे कि एक जीव को उच्च गोत्र कर्म के उदय के आधार पर उच्च और दूसरे जीव को नीच गोत्र कर्म के उदय के आधार पर नीच कहने में क्या आपत्ति है ? तो इस पर हमारा कहना यह है कि अपनी वर्तमान अल्पज्ञता की हालत में हम लोगों के लिये जीवों में यथायोग्य रूप से विद्यमान उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्म के उदय का परिज्ञान न हो सकने के कारण एक जीव को उच्चगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर उच्च और दूसरे जीव को नीच-गोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीच कहना शक्य नहीं है.

माना कि जैन संस्कृति के आगम-ग्रंथों के कथनानुसार नरकगति और तिर्यंगति में रहने वाले संपूर्ण जीवों में केवल नीच गोत्र कर्म का तथा देवगति में रहने वाले सम्पूर्ण जीवों में केवल उच्चगोत्र कर्म का ही सर्वदा उदय विद्यमान रहा करता है. इसलिए यद्यपि संपूर्ण नारकियों और संपूर्ण तिर्यंचों में नीच गोत्र कर्म के उदय के आधार पर केवल नीचता का तथा संपूर्ण देवों में उच्च गोत्र कर्म के उदय के आधार पर केवल उच्चता का व्यवहार करना हम लोगों के लिये अशक्य नहीं है परन्तु उन्हीं जैन आगम ग्रंथों में जब संपूर्ण मनुष्यों में से किन्हीं मनुष्यों के तो उच्च गोत्र कर्म का और किन्हीं मनुष्यों के नीच गोत्र कर्म का उदय होना बतलाया है तो जब तक संपूर्ण मनुष्यों में पृथक्-पृथक् यथायोग्य रूप से विद्यमान उक्त उच्च तथा नीच दोनों ही प्रकार के गोत्र कर्मों के उदय का परिज्ञान नहीं हो जाता तब तक हम यह कैसे कह सकते हैं कि अमुक मनुष्यों में चूंकि उच्चगोत्र-कर्म का उदय विद्यमान है इसलिए उन्हें तो उच्च कहना चाहिए और अमुक मनुष्य में कि नीचगोत्र-कर्म का उदय विद्यमान है इसलिए उसे नीच कहना चाहिए ? इसके अतिरिक्त मनुष्यों में जब गोत्र-परिवर्तन की बात भी उन्हीं आगम-ग्रंथों में स्वीकार की गयी है तो जब तक उनमें (मनुष्यों में) यथा समय रहने वाले उच्चगोत्र-कर्म तथा नीचगोत्र-कर्म के उदय का परिज्ञान हमें नहीं हो जाता, तब तक यह भी एक समस्या है कि एक ही मनुष्य को कब तो हमें उच्चगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर उच्च कहना चाहिए और उसी मनुष्य को कब हमें नीचगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीच कहना चाहिए ? एक बात और है. जैन संस्कृति की

मान्यता के अनुसार सातों नरकों के संपूर्ण नारकियों में परस्पर तथा एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की संपूर्ण तिर्यग्-जातियों और इनकी उपजातियों में रहने वाले संपूर्ण तिर्यंचों में परस्पर उच्चता और नीचता का कुछ न कुछ भेद पाया जाने पर भी यदि सभी नारकी, नरकगति सामान्य की अपेक्षा और सभी तिर्यंच, तिर्यग्गति सामान्य की अपेक्षा नीच गोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीच माने जा सकते हैं तो, और इसी प्रकार भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक नाम की संपूर्ण देव जातियों और इनकी उपजातियों में रहने वाले सम्पूर्ण देवों में परस्पर उच्चता और नीचता का कुछ न कुछ भेद पाया जाने पर भी यदि सभी देव देवगति सामान्य की अपेक्षा, उच्चगोत्र कर्म के उदय के आधार पर उच्च माने जा सकते हैं तो, फिर मनुष्यगति में रहने वाले संपूर्ण मनुष्यों में भी मनुष्य-गति सम्बन्धी विविध प्रकार की समानता रहते हुए अन्य ज्ञात साधनों के अभाव में केवल अज्ञात उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर पृथक्-पृथक् क्रमशः उच्चता और नीचता का व्यवहार कैसे किया जा सकता है ?

ये सब समस्याएँ हैं जिनका जब तक यथोचित समाधान प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक जैन संस्कृति के अनुयायी होने पर भी हम लोगों के मस्तिष्क में मनुष्यों को लेकर उच्चता और नीचता संबन्धी संदेह पैदा होते रहना स्वाभाविक ही है.

षट्खण्डागम के सूत्र १३५ का आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी द्वारा किया गया जो व्याख्यान धवलाशास्त्र की पुस्तक १३ के पृष्ठ ३८८ पर पाया जाता है, उसे देखने से मालूम पड़ता है कि मनुष्यों की उच्चता और नीचता के विषय में आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के समय में भी विवाद था. इतना ही नहीं, आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के उस व्याख्यान से तो यहां तक भी मालूम पड़ता है कि उनके समय के कोई-कोई विचारक विद्वान् मनुष्यगति में माने गये उच्च और नीच उभयगोत्र कर्मों के उदय के सम्बन्ध में निर्णयात्मक समाधान न मिल सकने के कारण उच्च और नीच दोनों भेद-विशिष्ट व समूचे गोत्र-कर्म के अभाव तक को मानने के लिये उद्यत हो रहे थे. आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी का वह व्याख्यान निम्न प्रकार है :

"उच्चैर्गोत्रस्य क्व व्यापारः ? न तावद् राज्यादिलक्षणायां सम्पदि, तस्याः सद्वेद्यतः समुत्पत्तेः. नापि पंचमहाव्रतग्रहण-योग्यता उच्चैर्गोत्रेण क्रियते, देवेष्वभव्येषु च तद्ग्रहणं प्रत्ययोग्येषु उच्चैर्गोत्रस्योदयाभावप्रसंगात्. न सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ व्यापारः स्यात्, तत्र सम्यग्ज्ञानस्य सत्त्वात्. नादेयत्वे, यशसि, सौभाग्ये वा व्यापारः, तेषां नामतः समुत्पत्तेः. नेक्ष्वाकु-कुलाद्युत्पत्तौ, काल्पनिकानां तेषां परमार्थतोऽसत्त्वात्. विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात्. न सम्पन्नेभ्यो जीवोत्पत्तौ तद्व्यापारः, म्लेच्छराजसमुत्पन्नपृथुकस्यापि उच्चैर्गोत्रोदयप्रसंगात्. नाणुव्रतिभ्यः समुत्पत्तौ तद्व्यापारः, देवेष्वौपपादिकेषु उच्चैर्गोत्रोदयस्यासत्वप्रसंगात्. नाभेयस्य नीचगोत्रतापत्तेश्च. ततो निष्फलमुच्चैर्गोत्रम्. तत एव न तस्य कर्मत्वमपि. तदभावे न नीचैर्गोत्रमपि, द्वयोरन्योन्याविनाभावित्वात्. ततो गोत्रकर्माभाव इति."

इस व्याख्यान में प्रथम ही यह प्रश्न उठाया गया है कि जीवों में उच्चगोत्र-कर्म का क्या कार्य होता है ? इसके आगे उच्चगोत्र कर्म के कार्य पर प्रकाश डालने वाली तत्कालीन प्रचलित मान्यताओं का निर्देश करते हुए उनका खण्डन किया गया है और इस तरह उक्त प्रश्न का उचित समाधान न मिल सकने के कारण अंत में निष्कर्ष के रूप में गोत्र-कर्म के अभाव को प्रस्थापित किया गया है. व्याख्यान का हिन्दी विवरण निम्न प्रकार है :

"शंका— जीवों में उच्चगोत्र-कर्म का किस रूप में व्यापार हुआ करता है ? अर्थात् जीवों में उच्चगोत्र-कर्म का कार्य क्या है ?

१. समाधान—जीवों में उच्चगोत्र कर्म का कार्य उनको राज्यादि सम्पत्ति की प्राप्ति होना है.

खण्डन— यह समाधान गलत है क्योंकि जीवों को राज्यादि संपत्ति की प्राप्ति उच्चगोत्र कर्म के उदय से न होकर सातावेदनीय कर्म के उदय से ही हुआ करती है.

२. समाधान—जीवों में पंच महाव्रतों के ग्रहण करने की योग्यता का प्रादुर्भाव होना ही उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है.

खण्डन— यदि जीवों में उच्चगोत्र-कर्म के उदय से पंचमहाव्रतों के ग्रहण करने की योग्यता का प्रादुर्भाव होता है तो ऐसी हालत में देवों में और अभव्य जीवों में उच्चगोत्र-कर्म के उदय का अभाव स्वीकार करना होगा, जबकि उन दोनों प्रकार के जीवों में, जैन संस्कृति की मान्यता के अनुसार, उच्चगोत्र-कर्म के उदय का तो सद्भाव और पंचमहाव्रतों के ग्रहण करने की योग्यता का अभाव दोनों ही एक साथ पाये जाते हैं.

३. समाधान—जीवों में सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति उच्चगोत्र कर्म के उदय से हुआ करती है.

४. खण्डन—यह समाधान भी सही नहीं है क्योंकि जैन संस्कृति की मान्यता के अनुसार जीवों में सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति उच्चगोत्र कर्म का कार्य न होकर ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की सहायता से सापेक्ष सम्यग्दर्शन का ही कार्य है. दूसरी बात यह है कि जीवों में सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति को यदि उच्चगोत्र कर्म का कार्य माना जायगा तो फिर तिर्यंचों और नारकियों में भी उच्चगोत्र कर्म के उदय का सद्भाव मानने के लिये हमें बाध्य होना पड़ेगा जो कि अयुक्त होगा, क्योंकि जैन शास्त्रों की मान्यता के अनुसार जिन तिर्यंचों और जिन नारकियों में सम्यग्ज्ञान का सद्भाव पाया जाता है उनमें उच्चगोत्र कर्म के उदय का अभाव ही रहा करता है.

४. समाधान—जीवों में आदेयता यश और सुभगता का प्रादुर्भाव होना ही उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है.

खण्डन— यह समाधान भी इसीलिए गलत है कि जीवों में आदेयता, यश और सुभगता का प्रादुर्भाव उच्चगोत्र कर्म के उदय का कार्य न होकर क्रमशः आदेय, यशः कीर्त्ति और सुभग संज्ञा वाले नाम कर्मों का ही कार्य है.

५. समाधान—जीवों का इक्ष्वाकु कुल आदि क्षत्रिय कुलों में जन्म लेना उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है.[1]

खण्डन— यह समाधान भी उल्लिखित प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता है क्योंकि इक्ष्वाकु कुल आदि जितने क्षत्रिय कुलों को लोक में मान्यता प्राप्त है वे सब काल्पनिक होने से एक तो अतद्रूप ही हैं. दूसरे यदि इन्हें वस्तुतः सद्रूप ही माना जाय तो भी यह नहीं समझना चाहिए कि उच्चगोत्र-कर्म का उदय केवल इक्ष्वाकु कुल आदि क्षत्रिय कुलों में ही पाया जाता है; कारण कि जैन सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार उक्त क्षत्रिय कुलों के अतिरिक्त वैश्य कुलों और ब्राह्मण कुलों में भी तथा उक्त सभी तरह के कुलों के बन्धन से मुक्त हुए साधुओं में भी उच्चगोत्र कर्म का उदय पाया जाता है.[2]

६. समाधान—सम्पन्न (धनाढच) लोगों से जीवों की उत्पत्ति होना ही उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है.

खण्डन— यह समाधान भी सही नहीं है क्योंकि सम्पन्न (धनाढच) लोगों से जीवों की उत्पत्ति को यदि उच्चगोत्र कर्म का कार्य माना जायगा तो ऐसी हालत में म्लेच्छराज से उत्पन्न हुए बालक में भी हमें उच्चगोत्र कर्म के उदय का सद्भाव स्वीकार करना होगा, कारण कि म्लेच्छराज की संपन्नता तो राजकुलका व्यक्ति होने के नाते निर्विवाद है. परन्तु समस्या यह है कि जैन-सिद्धान्त में म्लेच्छ जाति के सभी लोगों के नियम से नीचगोत्र-कर्म का ही उदय माना गया है.

७. समाधान—अणुव्रतों को धारण करने वाले व्यक्तियों से जीवों की उत्पत्ति होना उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है.

---

१. 'नेक्ष्वाकुकुलाद्युत्पत्तौ' का हिन्दी अर्थ षट्खण्डागम पुस्तक १३ में 'इक्ष्वाकुकुल आदि की उत्पत्ति में इसका व्यापार नहीं होता' किया गया है जो गलत है. इसका सही अर्थ 'इक्ष्वाकु कुल आदि क्षत्रिय कुलों में जीवों की उत्पत्ति होना इसका व्यापार नहीं है' होना चाहिए.

२. यहां पर षट्खण्डागम पुस्तक १३ में 'विड्ब्राह्मण साधुष्वपि' वाक्य का हिन्दी अर्थ 'वैश्य और ब्राह्मण साधुओं में' किया गया है जो गलत है. इसका सही अर्थ 'वैश्यों, ब्राह्मणों और साधुओं में' होना चाहिए.

खण्डन— यह समाधान भी निर्दोष नहीं है क्योंकि अणुव्रतों को धारण करने वाले व्यक्ति से जीव की उत्पत्ति को यदि उच्चगोत्र-कर्म का कार्य माना जायगा तो ऐसी हालत में देवों में पुन: उच्चगोत्र-कर्म के उदय का अभाव प्रसक्त हो जायगा जो कि अयुक्त होगा. देवों में एक ओर तो उच्चगोत्र-कर्म का उदय जैन-धर्म में स्वीकार किया गया है तथा दूसरी ओर देवगति में अणुव्रतों के धारण करने की असंभवता के साथ-साथ मात्र उपपादशय्या पर ही देवों की उत्पत्ति स्वीकार की गई है. जीवों की अणुव्रतियों से उत्पत्ति होना उच्चगोत्र कर्म का कार्य मानने पर दूसरी आपत्ति यह उपस्थित होती है कि इस तरह से तो नाभिराज के पुत्र भगवान् ऋषभदेव को भी नीचगोत्री स्वीकार करना होगा क्योंकि नाभिराज के समय में अणुव्रत आदि धार्मिक प्रवृत्तियों का मार्ग खुला हुआ नहीं होने से जैन-संस्कृति में उन्हें अणुव्रती नहीं माना गया है.

इस प्रकार उच्चगोत्र-कर्म के कार्य पर प्रकाश डालने वाले उल्लिखित सातों समाधानों में से जब कोई भी समाधान निर्दोष नहीं है तो इनके आधार पर उच्चगोत्र-कर्म को सफल नहीं कहा जा सकता है और इस तरह निष्फल हो जाने पर उच्चगोत्र-कर्म को कर्मों के वर्ग में स्थान देना ही अयुक्त हो जाता है जिससे इसका (उच्चगोत्र-कर्म का) अभाव सिद्ध हो जाता है तथा उच्चगोत्र-कर्म के अभाव में फिर नीचगोत्र-कर्म का भी अभाव निश्चित हो जाता है, कारण कि उच्च और नीच दोनों ही गोत्र-कर्म परस्पर एक-दूसरे से सापेक्ष होकर ही अपनी सत्ता कायम रक्खे हुए हैं. इस प्रकार अंतिम निष्कर्ष के रूप में संपूर्ण गोत्र-कर्म का अभाव सिद्ध होता है.

उक्त व्याख्यान पर बारीकी से ध्यान देने पर इतनी बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के समय के विद्वान् एक तो जैन-सिद्धान्त द्वारा मान्य नारकियों और तिर्यंचों में नीचता की व्यवस्था को तथा देवों में उच्चता की व्यवस्था को निर्विवाद ही मानते थे लेकिन दूसरी तरफ मनुष्यों में जैन शास्त्रों द्वारा स्वीकृत उच्चता तथा नीचता संबंधी उभय रूप व्यवस्था को वे शंकास्पद स्वीकार करते थे. नारकियों और तिर्यंचों में नीचता की व्यवस्था को और देवों में उच्चता की व्यवस्था को निर्विवाद मानने का कारण यह जान पड़ता है कि सभी नारकियों और सभी तिर्यंचों में सर्वदा नीचगोत्र-कर्म का तथा सभी देवों में सर्वदा उच्चगोत्र-कर्म का उदय ही जैन आगमों द्वारा प्रतिपादित किया गया है और मनुष्यों में उच्चता तथा नीचता उभय रूप व्यवस्था को शंकास्पद मानने का कारण यह जान पड़ता है कि चूंकि मनुष्यों में नीचगोत्र-कर्म तथा उच्चगोत्र-कर्म का उदय छद्मस्थों (अल्पज्ञों) के लिये अज्ञात ही रहा करता है. अत: उनमें नीचगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीचता का और उच्चगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर उच्चता का व्यवहार करना हम लोगों के लिये शक्य नहीं रह जाता है.

यद्यपि धवलाशास्त्र की पुस्तक १५ के पृष्ठ १५२ पर तिर्यंचों में भी उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का कथन किया गया है इसलिए मनुष्यों की तरह तिर्यंचों में भी उच्चता तथा नीचता की दोनों व्यवस्थायें शंकास्पद हो जाती हैं परन्तु वहीं पर यह बात भी स्पष्ट कर दी गई है कि तिर्यंचों में उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का सद्भाव मानने का आधार केवल उनके (तिर्यंचों के) द्वारा संयमासंयम का परिपालन करना ही है. वह कथन निम्न प्रकार है :

**'तिरिक्खेसु णीचागोदस्य चेव उदीरणा होदि त्ति सव्वत्थ परूविदं, एत्थ पुण उच्चागोदस्स वि उदीरणा परूविदा. तेणं पुण पुव्वावरविरोहो त्ति भणिदे, ण, तिरिक्खेसु संजमासंजमपरिवालयंतेपु उच्चागोत्तुवलंभादो. उच्चागोदे देसजयल-संजमणिबंधणे संते सिच्छाइट्ठीसु तदभावो त्ति णासंकणिज्जं, तत्थवि उच्चागोदजणिदसंजमजोगतावेक्खाए उच्चागोदत्तं पडि विरोहाभावादो'.**

यह व्याख्यान शंका और समाधान के रूप में है. इसमें निर्दिष्ट जो शंका है वह इसलिए उत्पन्न हुई है कि इस प्रकरण में इस व्याख्यान के पूर्व ही तिर्यग्गति में भी उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का प्रतिपादन किया गया है.[1] व्याख्यान का हिन्दी अर्थ निम्न प्रकार है—

---

१. तिरिक्ख गईए '''उच्चागोदस्स जहण्णट्ठिदि उदीरणा संखेज्जगुणा, जट्ठिदि० विसेसाहिया. (धवला पुस्तक १५ पृष्ठ १५२)

शंका— तिर्यंचों में नीचगोत्र-कर्म की उदीरणा होती है यह बात तो आगम में सर्वत्र प्रतिपादित की गई है लेकिन इस प्रकरण में उनके उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का भी प्रतिपादन किया गया है इसलिए आगम में पूर्वापर-विरोध उपस्थित होता है.

समाधान— यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि संयमासंयम का पालन करने वाले तिर्यंचों में ही उच्चगोत्र की उपलब्धि होती है.

शंका— यदि जीवों में देशसंयम और सकलसंयम के आधार पर उच्चगोत्र का सद्भाव माना जाय तो इस तरह मिथ्यादृष्टियों में उच्चगोत्र का अभाव मानना होगा जब कि जैन सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार उनमें उच्चगोत्र का भी सद्भाव पाया जाता है.

समाधान— यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि मिथ्यादृष्टियों में देशसंयम और सकलसंयम की योग्यता का पाया जाना तो सम्भव है ही इसीलिए उनकी उच्चगोत्रता के प्रति आगम का विरोध नहीं रह जाता है.

यद्यपि धवला के उक्त शंका समाधान से तिर्यग्गति में उच्चगोत्र की उदीरणा सम्बन्धी प्रश्न तो समाप्त हो जाता है परन्तु इससे एक तो देशसंयम और सकलसंयम को उच्चगोत्र-कर्म के उदय के सद्भाव में कारण मानने से पंचम गुणस्थान में जैन-दर्शन के कर्म-सिद्धान्त के अनुसार प्रतिपादित नीचगोत्र कर्म के उदय का सद्भाव मानना असंगत होगा और दूसरे मनुष्यगति की तरह तिर्यग्गति में भी देशसंयम धारण करने की योग्यता का परिज्ञान अल्पज्ञों के लिये असम्भव रहने के कारण उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्म के उदय की व्यवस्था करना मनुष्यगति की तरह जटिल ही होगा.

उक्त दोनों ही प्रश्न इतने महत्त्व के हैं कि जब तक इनका समाधान नहीं होता तब तक तिर्यग्गति में भी उच्चगोत्र और नीचगोत्र की व्यवस्था सम्बन्धी समस्या का हल होना असंभव ही प्रतीत होता है. विद्वानों को इन पर अपना दृष्टिकोण प्रगट करना चाहिए. हमारा दृष्टिकोण निम्न प्रकार है :

प्रथम प्रश्न के विषय में हम ऐसा सोचते हैं कि आगम द्वारा तिर्यग्गति में उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का जो प्रतिपादन किया गया है उसे एक अपवाद सिद्धान्त स्वीकार कर, यही मानना चाहिए कि ऐसा कोई तिर्यंच—जो देशसंयम धारण करने की किसी विशेष योग्यता से प्रभावित हो—उसी के उक्त आगम के आधार पर उच्चगोत्र-कर्म का उदय रह सकता है. इस तरह सामान्य रूप से देशसंयम को धारण करने वाला तिर्यंच नीचगोत्री ही हुआ करता है.

दूसरे प्रश्न के विषय में हमारा यह कहना है कि नरकगति, तिर्यग्गति और देवगति के जीवों की जीवनवृत्तियों में समान रूप से प्राकृतिकता को स्थान प्राप्त है, इसलिए तिर्यंचों में उच्चता और नीचताजन्य भेद का सद्भाव रहते हुए भी जीवनवृत्तियों की उस प्राकृतिकता के कारण नारकियों और देवों के समान ही सभी तिर्यंचों में परस्पर जीवन-वृत्तिजन्य ऐसी विषमता का पाया जाना सम्भव नहीं है जिसके आधार पर उनमें यथायोग्य दोनों गोत्रों के उदय की व्यवस्था स्वीकार करने से व्यावहारिक गड़बड़ी पैदा होने की संभावना हो. केवल मानव-जीवन ही ऐसा जीवन है जहां जीवनवृत्ति के लिये अनिवार्य सामाजिक व्यवस्था की स्वीकृति के आधार पर गोत्र कर्म के उच्च तथा नीच रूप उदयभेद का व्यावहारिक उपयोग होता है. तात्पर्य यह है कि नरकगति, तिर्यग्गति और देवगति के जीवों की जीवन-वृत्तियों में प्राकृतिकता को जैसा स्थान प्राप्त है वैसा स्थान मनुष्यों की जीवनवृत्तियों में प्राकृतिकता को प्राप्त नहीं है. यही कारण है कि मनुष्य को सामान्य रूप से कौटम्बिक संगठन, ग्राम्य संगठन, राष्ट्रीय संगठन और यहां तक कि मानव संगठन आदि के रूप में सामाजिक व्यवस्थाओं के अधीन रह कर ही पुरुषार्थ द्वारा अपनी जीवनवृत्ति का संचालन करना पड़ता है. परन्तु यह सब तिर्यंचों के लिये आवश्यक नहीं है.

यद्यपि हम मानते हैं कि भोगभूमिगत मनुष्यों की जीवनवृत्तियों में प्राकृतिकता के ही दर्शन होते हैं और यही कारण है कि उन मनुष्यों में सामाजिक व्यवस्थाओं का सर्वथा अभाव पाया जाता है. अलावा इसके, उनमें केवल उच्चगोत्र

कर्म का ही उदय सर्वदा विद्यमान रहता है. इसलिए उनके जीवन में व्यावहारिक विषमता को स्थान प्राप्त नहीं होता है लेकिन कर्मभूमिगत मनुष्यों की जीवनवृत्तियों में जो अप्राकृतिकता स्वभावतः पायी जाती है उसके कारण उनको अपनी जीवनवृत्ति की सम्पन्नता के लिये उक्त सामाजिक व्यवस्थाओं की अधीनता में पुरुषार्थ का उपयोग करना पड़ता है और ऐसा देखा जाता है कि उनके द्वारा अपनी जीवनवृत्ति के संचालन के लिये अपनाये गये भिन्न-भिन्न प्रकार के पुरुषार्थों में उच्चता और नीचता का वैषम्य स्वभावतः हो जाता है जिसके कारण उनकी जीवन-वृत्तियां भी उच्च और नीच के भेद से दो वर्गों में विभाजित हो जाती हैं. यद्यपि कर्मभूमिगत मनुष्यों में जीवनवृत्तियों की बहुत-सी विविधतायें पायी जाती हैं और जीवनवृत्तयों की इन्हीं विविधताओं के आधार पर ही उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों की तथा इन्हीं वर्णों के अन्तर्गत जीवनवृत्तियों के आधार पर ही यथायोग्य लुहार, चमार आदि विविध जातियों की स्थापना को जैन संस्कृति में स्वीकार किया गया है परन्तु जीवनवृत्तियों के आधार पर स्थापित सभी वर्णों और उनके अन्तर्गत पायी जाने वाली उक्त प्रकार की सभी जातियों को भी जीवन-वृत्तियों में पायी जाने वाली उच्चता और नीचता के अनुसार ही उच्च और नीच दो वर्गों में संग्रहीत कर दिया गया है. इस प्रकार उच्च और नीच दोनों प्रकार की जीवनवृत्तियों को ही क्रमशः उच्चगोत्र कर्म और नीचगोत्र कर्म के उदय का जैन संस्कृति में मापदण्ड स्वीकार किया गया है.

जीवों में उच्चगोत्र कर्म का किस रूप में व्यापार होता है ? अथवा जीवों में उच्चगोत्र कर्म का क्या कार्य होता है ? इस प्रश्न का जो समाधान आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने स्वयं किया है और जिसे इन्होंने स्वयं ही निर्दोष माना है. उसमें मनुष्यों की इसी पुरुषार्थप्रधान जीवनवृत्ति को आधार प्ररूपित किया है. आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी का वह समाधानरूप व्याख्यान निम्न प्रकार है :

'न, जिनवचनस्यासत्यत्वप्रसंगात्. तद्विरोधोऽपि तत्र तत्कारणाभावतोऽवगम्यते. न च केवलज्ञानविषयीकृतेष्वर्थेषु सकलेष्वपि रजोजुषां ज्ञानानि प्रवर्तन्ते येनानुपलम्भाज्जिनवचनस्याप्रमाणत्वमुच्येत. न च निष्फलमुच्चैर्गोत्रम्, दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतसंबन्धानां आर्यप्रत्ययाभिधानव्यवहारनिबन्धनानां पुरुषाणां संतानः उच्चैर्गोत्रम्. तत्रोत्पत्तिहेतुः कर्माप्युच्चैर्गोत्रम्. न चात्र पूर्वोक्तदोषाः संभवन्ति, विरोधात्. तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम्. एवं गोत्रस्य द्वे एव प्रकृती भवतः."

पहले जो समूचे गोत्रकर्म के अभाव की आशंका इस लेख में उद्धृत धवलाशास्त्र की पुस्तक १३ के पृष्ठ २८८ के व्याख्यान में प्रगट कर आये हैं, उसी का समाधान करते हुए आगे वहीं पर ऊपर लिखा व्याख्यान आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने किया है. उसका हिन्दी अर्थ निम्न प्रकार है :

"गोत्रकर्म के अभाव की आशंका करना ठीक नहीं है क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् ने स्वयं ही गोत्रकर्म के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है और यह बात निश्चित है कि जिनेन्द्र भगवान् के वचन कभी असत्य नहीं होते हैं. असत्यता का जिनेन्द्र भगवान् के वचन के साथ विरोध है अर्थात् वचन एक ओर तो जिनेन्द्र भगवान् के हों और दूसरी ओर वे असत्य भी हों—यह बात कभी संभव नहीं है. ऐसा इसलिए मानना पड़ता है कि जिन भगवान् के वचनों को असत्य मानने का कोई कारण ही दृष्टिगोचर नहीं होता है.

जिन भगवान् ने यद्यपि गोत्रकर्म के सद्भाव का प्रतिपादन किया है किन्तु हमें उसकी (गोत्रकर्म की) उपलब्धि नहीं होती है, इसलिए जिन-वचन को असत्य माना जा सकता है, पर ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान के विषय-भूत सम्पूर्ण पदार्थों में हम अल्पज्ञों के ज्ञान की प्रवृत्ति ही नहीं होती.

इस प्रकार उच्चगोत्र-कर्म को निष्फल मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि जो पुरुष स्वयं तो दीक्षा के योग्य साधु आचार वाले हैं ही तथा इस प्रकार के साधु आचार वाले पुरुषों के साथ जिन का सम्बन्ध स्थापित हो चुका है उनमें 'आर्य' इस प्रकार के प्रत्यय और 'आर्य' इस प्रकार के शब्द-व्यवहार की प्रवृत्ति के भी जो योग्य हैं, उन पुरुषों के संतान[1] अर्थात् कुल

---

१. संततिर्गोत्र जननकुलान्यभिजनान्वयौ. वंशोऽन्वायः संतान —अमर कोष ब्रह्म वर्ग.

की जैन संस्कृति में उच्चगोत्र संज्ञा स्वीकार की गयी है[1] तथा ऐसे कुलों में जीव के उत्पन्न होने के कारणभूत कर्म को भी जैन संस्कृति में उच्चगोत्र-कर्म के नाम से पुकारा गया है.

इस समाधान में पूर्व प्रदर्शित दोषों में से कोई भी दोष सम्भव नहीं है क्योंकि इसके साथ उन सभी दोषों का विरोध है. इसी उच्चगोत्र कर्म के ठीक विपरीत ही नीचगोत्र-कर्म है. इस प्रकार गोत्रकर्म की उच्च और नीच ऐसी दो ही प्रकृत्तियाँ हैं.

आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने जीवों में उच्चगोत्र-कर्म का किस रूप में व्यापार होता है, इस प्रश्न का समाधान करने के लिये जो ढंग अपनाया है उसका उद्देश्य उन सभी दोषों का परिहार करना है, जिनका निर्देश ऊपर उद्धृत पूर्व पक्ष के व्याख्यान में आचार्य महाराज ने स्वयं किया है. वे इस समाधान में यही बतलाते हैं कि दीक्षा के योग्य साधु-आचार वाले पुरुषों का कुल ही उच्चगोत्र या उच्चकुल कहलाता है और ऐसे गोत्र या कुल में जीव की उत्पत्ति होना ही उच्च-गोत्रकर्म का कार्य है. इस प्रकार मनुष्य-गति में दीक्षा के योग्य साधु-आचार के आधार पर ही जैन संस्कृति द्वारा उच्च-गोत्र या उच्चकुल की स्थापना की गयी है. इससे निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्यगति में तो जिन कुलों का दीक्षा के योग्य साधुआचार न हो वे कुल नीच-गोत्र या नीच कुल कहे जाने योग्य हैं. 'गोत्र' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ गोत्र शब्द के निम्न-लिखित विग्रह के आधार पर होता है :

"गूयते-शब्द्यते अर्थात् जीवस्य उच्चता वा नीचता वा लोके व्यवह्रियते अनेन इति गोत्रम् !"

इसका अर्थ यह है कि जिसके आधार पर जीवों का उच्चता अथवा नीचता का लोक में व्यवहार किया जाय वह गोत्र कहलाता है. इस प्रकार जैन संस्कृति के अनुसार मनुष्यों की उच्च और नीच जीवनवृत्तियों के आधार पर निश्चिय किये गए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र ये चार वर्ण तथा लुहार, चमार आदि जातियाँ—ये सब गोत्र, कुल आदि नामों से पुकारने योग्य हैं. इन सभी गोत्रों या कुलों में से जिन कुलों में पायी जाने वाली मनुष्यों की जीवनवृत्ति को लोक में उच्च माना जाए वे उच्चगोत्र या उच्च कुल तथा जिन कुलों में पायी जाने वाली मनुष्यों की जीवनवृत्ति को लोक में नीच माना जाए वे नीचगोत्र या नीच कुल कहे जाने योग्य हैं. इस तरह उच्चगोत्र या कुल में जन्म लेने वाले मनुष्यों को उच्च तथा नीच या कुल में जन्म लेने वाले मनुष्यों को नीच कहना चाहिए. आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के उल्लिखित व्याख्यान से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उच्चगोत्र में पैदा होने वाले मनुष्यों के नियम से उच्चगोत्र-कर्म का तथा नीच गोत्र में पैदा होने वाले मनुष्यों के नियम से नीचगोत्र-कर्म का ही उदय विद्यमान रहा करता है अर्थात् विना नीचगोत्र-कर्म के उदय के कोई भी जीव उच्च कुल में और विना नीचगोत्र-कर्म के उदय के कोई भी जीव नीच कुल में उत्पन्न नहीं हो सकता है. तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्यायके 'उच्चैर्नीचैश्च'. (सूत्र १२) सूत्र की टीका करते हुए आचार्य श्रीपूज्यपाद ने भी यही प्रतिपादन किया है कि :

"यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम् । यदुदयाद् गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम् ।"

अर्थात् जिस गोत्र-कर्म के उदय से जीवों का लोकपूजित (उच्च) कुलों में जन्म होता है उस गोत्र कर्म का नाम उच्च-गोत्र कर्म है और जिस गोत्र कर्म के उदय से जीवों का लोकगर्हित (नीच) कुलों में जन्म होता है उस गोत्र कर्म का नाम नीचगोत्र कर्म है.

जैन संस्कृति के आचारशास्त्र (चरणानुयोग) और करणानुयोग से यह सिद्ध होता है कि सभी देव उच्चगोत्री और सभी नारकी और सभी तिर्यंच नीचगोत्री ही होते हैं. परन्तु ऊपर जो उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा करने वाले तिर्यंचों का कथन किया गया है उन्हें इस नियम का अपवाद समझना चहिए. मनुष्यों में भी केवल आर्यखण्ड में बसने वाले कर्मभूमिज

---

१. 'दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां...' आदि वाक्य का जो हिन्दी अर्थ षट्खण्डागम पुस्तक १३ में किया गया है, वह गलत है. हमने जो यहाँ अर्थ किया है उसे सही समझना चाहिए.

मनुष्य ही ऐसे हैं जिनमें उच्चगोत्री तथा नीचगोत्री दोनों प्रकार के वर्गों का सद्भाव पाया जाता है अर्थात् उक्त कर्मभूमिज मनुष्यों में से चातुर्वण्य व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों और इन वर्णों के अन्तर्गत जातियों के सभी मनुष्य उच्चगोत्री ही होते हैं. इनसे अतिरिक्त जितने शूद्र वर्ण और इस वर्ण के अन्तर्गत जातियों के मनुष्य पाये जाते हैं वे सब तथा चातुर्वण्य व्यवस्था से बाह्य जो शक, यवन, पुलिन्दादिक हैं, वे सब नीचगोत्री ही माने गये हैं. आर्यखण्ड में बसने वाले इन कर्मभूमिज मनुष्यों को छोड़ कर शेष जितने भी मनुष्य लोक में बतलाये गये हैं उनमें से भोगभूमि के सभी मनुष्य उच्चगोत्र तथा पांचों म्लेच्छखण्डों में बसने वाले मनुष्य और अन्तर्द्वीपज मनुष्य नीचगोत्री ही हुआ करते हैं. आर्यखण्ड में बसने वाले शक, यवन, पुलिन्दादिक को तथा पांचों म्लेच्छखण्डों में और अन्तर्द्वीपों में बसने वाले मनुष्यों को जैन संस्कृति में म्लेच्छ संज्ञा दी गयी है और यह बतलाया गया है कि ऐसे म्लेच्छों को भी उच्चगोत्री समझना चाहिए जिनका दीक्षा के योग्य साधु आचार वालों के साथ सम्बन्ध स्थापित हो चुका हो और इस तरह जिनमें 'आर्य' ऐसा प्रत्यय तथा 'आर्य' ऐसा शब्द व्यवहार भी होने लगा हो. इससे जैन संस्कृति में मान्य गोत्रपरिवर्तन के सिद्धान्त की पुष्टि होती है. गोत्रपरिवर्तन के सिद्धान्त को पुष्ट करने वाले बहुत से लौकिक उदाहरण आज भी प्राप्त हैं, जैसे—यह इतिहासप्रसिद्ध है कि जो अग्रवाल आदि जातियां पहले किसी समय में क्षत्रिय वर्ण में थीं वे आज पूर्णतः वैश्य वर्ण में समा चुकी हैं. जैन पुराणों में अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का उल्लेख है. वे उल्लेख स्त्रियों के गोत्र-परिवर्तन की सूचना देते हैं. आज भी देखा जाता है कि विवाह के अनन्तर कन्या पितृपक्ष के गोत्र की न रह कर पति-पक्ष के गोत्र की हो जाती है. इस संपूर्ण कथन का अभिप्राय यह है कि यदि परिवर्तित गोत्र उच्च होता है तो नीचगोत्र की बन जाती है और यदि परिवर्तित गोत्र नीच होता है तो उच्चगोत्र में उत्पन्न हुई नारी भी नीचगोत्र की बन जाती है और परिवर्तित गोत्र के अनुसार ही नारी के यथायोग्य नीचगोत्र कर्म का उदय न रह कर उच्चगोत्र कर्म का उदय तथा उच्चगोत्र का उदय समाप्त होकर नीचगोत्र कर्म का उदय आरम्भ हो जाता है. इसी प्रकार मनुष्यों में जीवनवृत्ति का परिवर्तन न होने पर भी गोत्र परिवर्तन हो जाता है जैसा कि अग्रवाल आदि जातियों का उदाहरण ऊपर दिया गया है.

पहले कहा चुका है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने 'उच्चगोत्र कर्म का जीवों में किस रूप में व्यापार होता है' इस प्रश्न का समाधान करने के लिये जो ढंग बनाया है उसका उद्देश्य उन सभी दोषों का परिहार करना है जिनका निर्देश पूर्व पक्ष के व्याख्यान में किया गया है. इससे हमारा अभिप्राय यह है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने उच्चगोत्र का निर्धारण करके उसमें जीवों की उत्पत्ति के कारणभूत कर्म को उच्चगोत्र-कर्म नाम दिया है. उन्होंने बतलाया है कि दीक्षा के योग्य साधु आचार वाले पुरुषों का कुल ही उच्चगोत्र कहलाता है और ऐसे कुल में जीव की उत्पत्ति होना ही उच्च-गोत्र-कर्म का कार्य है. इसमें पूर्वोक्त दोषों का अभाव स्पष्ट है क्योंकि इससे जैन संस्कृति द्वारा देवों में स्वीकृत उच्चगोत्र कर्म के उदय का और नारकियों तथा तिर्यंचों में स्वीकृत नीचगोत्र-कर्म के उदय का व्याघात नहीं होता है. क्योंकि इसमें उच्चगोत्र का जो लक्षण बतलाया गया है वह मात्र मनुष्यगति से ही संबन्ध रखता है और इसका भी कारण यह है कि उच्चगोत्र-कर्म के कार्य का यदि विवाद है तो वह केवल मनुष्यगति में ही संभव है. दूसरी गतियों में याने देव, नरक और तिर्यक् नाम की गतियों में, कहाँ किस गोत्र-कर्म का, किस आधार से उदय पाया जाता है, यह बात निर्विवाद है. इस समाधान से अभव्य मनुष्यों के भी उच्चगोत्र कर्म के उदय का अभाव प्रसक्त नहीं होता है क्योंकि अभव्यों को उच्च माने जाने वाले कुलों में जन्म लेने का प्रतिबन्ध इससे नहीं होता है. म्लेच्छखण्डों में बसने वाले मनुष्यों के नीच-गोत्र-कर्म के उदय की ही सिद्धि इस समाधान से होती है क्योंकि म्लेच्छखण्डों में जैन संस्कृति की मान्यता के अनुसार धर्म-कर्म की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव विद्यमान रहने के कारण दीक्षा के योग्य साधु आचार वाले उच्च कुलों का सद्भाव नहीं पाया जाता है. इसी आधार पर अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज म्लेच्छ के भी केवल नीचगोत्र-कर्म के उदय की ही सिद्धि होती है. आर्यखण्ड के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य संज्ञा वाले कुलों में जन्म लेने वाले मनुष्यों के इस समाधान से केवल उच्चगोत्र-कर्म के उदय की ही सिद्धि होती है क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य संज्ञा वाले सभी कुल दीक्षा योग्य साधु आचार वाले उच्चकुल ही माने गये हैं. साधुवर्ग में उच्च-गोत्र कर्म के उदय का व्याघात भी

इस समाधान से नहीं होता है क्योंकि जहाँ दीक्षायोग्य साधु आचार वाले कुलों तक को उच्चता प्राप्त है वहाँ जब मनुष्य, कुलव्यवस्था से भी ऊपर उठकर अपना जीवन आदर्शमय बना लेता है तो उसमें केवल उच्चगोत्र-कर्म के उदय का रहना ही स्वाभाविक है. शूद्रों में इस समाधान से नीचगोत्र-कर्म के उदय की ही सिद्धि होती है क्योंकि उनके कौलिक आचार को जैन संस्कृति में दीक्षायोग्य साधु आचार नहीं माना गया है. यही कारण है कि पूर्व में उद्धृत धवलाशास्त्र की पुस्तक १३ के पृष्ठ ३८८ के 'विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात्' वाक्य में वैश्यों, ब्राह्मणों और साधुओं के साथ शूद्रों का उल्लेख आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने नहीं किया है. यदि आचार्यश्री को शूद्रों के भी वैश्य, ब्राह्मण और साधु पुरुषों की तरह उच्चगोत्र के उदय का सद्भाव स्वीकार होता तो शूद्र शब्द का भी उल्लेख उक्त वाक्य में करने से वे नहीं चूक सकते थे. उक्त वाक्य में क्षत्रिय शब्द का उल्लेख न करने का कारण यह है कि उक्त वाक्य उन लोगों की मान्यता के खण्डन में प्रयुक्त किया गया है जो लोग उच्चगोत्र कर्म का उदय केवल क्षत्रिय कुलों में मानना चाहते थे.

यदि कोई यहां यह शंका उपस्थित करे कि भोगभूमि के मनुष्यों में भी तो जैन संस्कृति द्वारा केवल उच्चगोत्र-कर्म का ही उदय स्वीकार किया गया है लेकिन उपर्युक्त उच्चगोत्र का लक्षण तो उनमें घटित नहीं होता है, क्योंकि भोगभूमि में साधुमार्ग का अभाव ही पाया जाता है, अत: वहाँ के मनुष्य-कुलों को दीक्षा-योग्य साधु-आचार वाले कुल कैसे माना जा सकता है ? तो इस शंका का समाधान यह है कि भोगभूमि के मनुष्य उच्चगोत्री ही होते हैं, यह बात हम पहले ही बतला आये हैं. जैन-संस्कृति की भी यही मान्यता है. इसलिये वहाँ मनुष्यों की उच्चता और नीचता का विवाद नहीं होने के कारण केवल कर्मभूमि के मनुष्यों को लक्ष्य में रखकर ही उच्चगोत्र का उपर्युक्त लक्षण निर्धारित किया गया है.

इस प्रकार षट्खण्डागम की धवला टीका के आधार पर तथा सर्वार्थसिद्धि आदि महान् ग्रन्थों के आधार पर यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि उच्च गोत्रीमनुष्य के उच्चगोत्र-कर्म का और नीचगोत्री मनुष्यों के नीचगोत्र-कर्म का ही उदय रहा करता है लेकिन जो उच्चगोत्री मनुष्य कदाचित् नीचगोत्री हो जाता है अथवा जो नीचगोत्री मनुष्य कदाचित् उच्चगोत्री हो जाता है, उसके यथायोग्य पूर्वगोत्र कर्म का उदय समाप्त होकर दूसरे गोत्रकर्म का उदय हो जाया करता है.

षट्खण्डागम की धवला टीका के आधार पर दूसरा सिद्धान्त यह स्थिर होता है कि दीक्षा के योग्य साधु आचार वाले जो कुल होते हैं याने जिन कुलों का निर्माण दीक्षा के योग्य साधु-आचार के आधार पर हुआ हो वे कुल ही उच्चकुल या उच्चगोत्र कहलाते हैं. इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कौलिक आचार के आधार पर ही एक मनुष्य उच्चगोत्री और दूसरा मनुष्य नीचगोत्री समझा जाना चाहिए. गोम्मटसार कर्मकाण्ड में तो स्पष्ट रूप से उच्चाचरण के आधार पर एक मनुष्य को उच्चगोत्री और नीचाचरण के आधार पर दूसरे मनुष्य को नीचगोत्री प्रतिपादित किया है. गोम्मटसार कर्मकाण्ड का वह कथन निम्न प्रकार है :

'संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं । १३ ।

जीव का संतानक्रम से अर्थात् कुलपरम्परा से आया हुआ जो आचरण है उसी नाम का गोत्र समझना चाहिए. वह आचरण यदि उच्च हो तो गोत्र को भी उच्च ही समझना चाहिए और यदि वह आचरण नीच हो तो गोत्र को भी नीच ही समझना चाहिए.

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की उल्लिखित गाथा का अभिप्राय यही है कि उच्च और नीच दोनों ही कुलों का निर्माण कुलगत उच्च और नीच आचरण के आधार पर ही हुआ करता है. यह कुलगत आचरण उस उस कुल की निश्चित जीवनवृत्ति के अलावा और क्या हो सकता है ? इसलिये कुलाचरण से तात्पर्य उस उस कुल की निर्धारित जीवनवृत्ति का ही लेना चाहिये. कारण कि धर्माचरण और अधर्माचरण को इसलिए उच्च और नीच गोत्रों का नियामक नहीं माना जा सकता है कि धर्माचरण करता हुआ भी जीव जैन-संस्कृति की मान्यता के अनुसार नीचगोत्री हो सकता है. इस प्रकार

कर्मभूमि के मनुष्यों में ब्राह्मणवृत्ति, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्ति को जैन-संस्कृति की मान्यता के अनुसार उच्चगोत्र की नियामक और शौद्रवृत्ति तथा म्लेच्छवृत्ति को नीचगोत्र की नियामक समझना चाहिए.

एक बात और है कि वृत्तियों के सात्विक, राजस और तामस ये तीन भेद मानकर ब्राह्मणवृत्ति को सात्विक, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्ति को राजस तथा शौद्रवृत्ति और म्लेच्छवृत्ति को तामस कहना भी अयुक्त नहीं है. जिस वृत्ति में उदात्त गुण की प्रधानता हो वह सात्विकवृत्ति, जिस वृत्ति में शौर्यगुण अथवा प्रामाणिक व्यवहार की प्रधानता हो वह राजस-वृत्ति और जिस वृत्ति में हीनभाव अर्थात् दीनता या क्रूरता की प्रधानता हो वह तामसवृत्ति जानना चाहिए. इस प्रकार ब्राह्मण वृत्ति में सात्विकता, क्षात्रवृत्ति में शौर्य, वैश्यवृत्ति में प्रामाणिकता, शौद्रवृत्ति में दीनता और म्लेच्छवृत्ति में क्रूरता का ही प्रधानतया समावेश पाया जाता है. इन तीन प्रकार की वृत्तियों में से सात्विक वृत्ति और राजसवृत्ति दोनों ही उच्चता की तथा तामसवृत्ति नीचता की निशानी समझना चाहिए.

इस लेख में हमने मनुष्यों की उच्चता और नीचता के विषय में जो विचार प्रगट किये हैं उनका आधार यद्यपि आगम है फिर भी यह विषय इतना विवादग्रस्त है कि सहसा समझ में आना कठिन है. अतः विद्वानों से हमारा अनुरोध है कि वे भी इस विषय का चिन्तन करें और अपनी विचारधारा के निष्कर्ष को व्यक्त करें.

यद्यपि इस विषय पर कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से भी विचार किया जाना था परन्तु लेख का कलेवर इतना बढ़ चुका है कि प्रस्तुत लेख में मैंने जो कुछ लिखा है उसमें भी संकोच की नीति से काम लेना पड़ा है. अतः अतिरिक्त विषय कभी प्रसंगानुसार ही लिखने का प्रयत्न करूंगा.
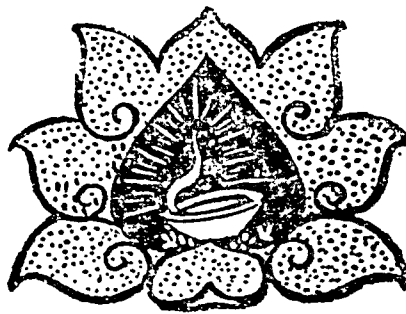
श्रीजयभगवान जैन
एडवोकेट

# वेदोत्तरकाल में ब्रह्मविद्या की पुनर्जागृति

जन्मेजय की मृत्यु के बाद जब उत्तर के नागवंशी क्षत्रियों के आये दिन के हमलों ने कुरुक्षेत्र के कौरवों की राष्ट्रीय सत्ता को छिन्न-भिन्न कर दिया और सप्तसिन्धु देश तथा मध्यदेश में पुनः भारत के नागराज घरानों ने अपनी-अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त किया तो कौरव वंश की संरक्षकता के अभाव में वैदिक संस्कृति को बहुत धक्का पहुँचा. गान्धार से लेकर विदेह तक समस्त उत्तर भारत में पहले के समान पुनः श्रमणसंस्कृति का उभार हो गया. इसी ऐतिहासिक स्थिति की ओर संकेत करते हुए हिन्दू पुराणकारों ने लिखा है कि भारत का प्राचीन धर्म, जो सतयुग से जारी रहता चला आया है, तप और योगसाधना है. त्रेतायुग में सबसे पहले यज्ञों का विधान हुआ, द्वापर में इनका ह्रास होना शुरु हो गया और कलियुग में यज्ञ का नाम भी शेष न रहेगा.[1] मनुस्मृतिकार ने भी लिखा है कि सतयुग का मानवधर्म तप है, त्रेता का ज्ञान है, द्वापर का यज्ञ है, कलियुग का दान है.[2] इस सम्बन्ध में यह बात याद रखने योग्य है कि हिन्दू पुराणरचयिताओं तथा ज्योतिप ग्रन्थकारों की मान्यता के अनुसार कलियुग का आरम्भ महाराज युधिष्ठिर के राज्यारोहण-दिवस से गिना जाता है.[3] इस राज्यारोहण का समय लगभग १५०० ई० पूर्व माना जाता है.[4]

इस तरह जन्मेजय के बाद राष्ट्रीय संरक्षण उठ जाने के कारण और सांस्कृतिक वैमनस्यों से ऊब कर जब वैदिक ऋषियों का ध्यान भारत की आध्यात्मिक संस्कृति की ओर गया, तो वे उसके उच्च आदर्श, गम्भीर विचार, संयमी जीवन और त्याग-तप-साधना से ऐसे आनन्द-विभोर हुए कि उनमें आत्मज्ञान के लिये एक अदम्य जिज्ञासा की लहर जाग उठी.[5] अब उन्हें जीवन और मृत्यु की समस्यायें विकल करने लगीं. अब उनके मानसिक व्योम में प्रश्न उठने लगे—ब्रह्म अर्थात् जीवात्मा क्या वस्तु है ? इसका क्या कारण है ? यह जन्म के समय कहां से आता है ? यह मृत्यु के समय कहां चला जाता है ? कौन इसका आधार है ? कौन इसकी प्रतिष्ठा है ? यह किस के सहारे जीता है ? किस के सहारे बढ़ता है ? कौन इसका अधिष्ठाता है ? कौन इसे सुख दुख रूप वर्ताता है ? कौन इसे मारता और जिलाता है.[6]

अब ऋक्, यजुः, साम, अथर्व वैदिक संहितायें और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष सम्बन्धी षट्क

---

१. महाभारत शान्ति पर्व अ० ३३५.
२. तपः परं कृतयगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते,
   द्वापरे यज्ञमेवाहुः दानमेकं कलौ युगे । मनुस्मृति—१-८६.
३. महाभारत आदि पर्व २. १३ । महाभारत वन पर्व १४९-३८.
   आर्य भटीयम् प्रथम पाद श्लोक ३—(इस ग्रन्थ का रचयिता वृद्ध आर्य भट ईसा की पांचवीं सदी का महान् ज्योतिषज्ञ हैं).
४. श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार—"भारत के इतिहास की रूपरेखा"—जिल्द १ १९९३, पृष्ठ २६१-२६३.
५. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्मसूत्र १. १. १.
६. किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः जीवाम केन च संप्रतिष्ठाः,
   अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ।।—श्वेताश्वतर उप० १. १.

विद्याएँ, जिन्हें वे अमूल्य निधि जानकर परम्परा से पढ़ते और पढ़ाते चले आये थे, उनको अपरा अर्थात् साधारण, लौकिक विद्याएँ भासने लगीं.[1] अब धन और सुवर्ण, गाय और घोड़े, पुत्र और पौत्र, खेत और जमीन, राज्य व अन्य लौकिक सम्पदायें, जिनकी प्राप्ति, रक्षा तथा वृद्धि के लिये वे निरन्तर इन्द्र और अग्नि से प्रार्थनायें किया करते थे, उनकी दृष्टि में सब हेय तुच्छ और सारहीन वस्तुएँ दिखाई देने लगीं. अब उनके लिये आत्मविद्या ही परम विद्या बन गयी. आत्मा ही देखने जानने और मनन करने योग्य परम सत्य हो गया.[2]

अब उन्हें भासने लगा कि जो आत्मा से भिन्न सूर्य, इन्द्र, वायु अग्नि आदि देवों की उपासना करते हैं वे देवों के दास हैं, वे लद्दू पशुओं के समान देवों के भार को उठाने वाले वाहन हैं. परन्तु जो आत्मा की अद्भुत विश्वव्यापी शक्तियों को जानकर आत्मा के उपासक हैं वे सर्वभू (सर्वान्तर्यामी), परिभू (विश्वव्यापी) स्वयम्भू (स्वतन्त्र) बन जाते हैं,[3] वे आत्मज्ञानी ही संसारपूजनीय हैं.[4] यज्ञ याग आदि श्रौत कर्म संसारबन्धन का कारण है और ज्ञान मुक्ति का कारण. कर्म करने से जीव बार-बार जन्म मरण के चक्कर में पड़ता है. परन्तु ज्ञान के प्रभाव से वह संसार-सागर से उभर अक्षय परमात्मपद को पा लेता है. नासमझ आदमी ही इन कर्मों की प्रशंसा करते हैं, इससे उन्हें बार-बार शरीर धारण करना पड़ता है.[5] जो ज्ञान को त्याग कर वेदोक्त यज्ञ यजन कर्म करने वाले हैं, अथवा ऐहिक आकांक्षाओं से प्रेरित दान आदि पुण्य कर्म करने वाले हैं, वे सब पितृयान मार्ग के पथिक हैं, वे धूम, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन पथ से पितृलोक, चन्द्रलोक, स्वर्ग को जाते हैं, पुण्य-अवधि क्षीण होने पर पुनः इसी मर्त्य-लोक में आकर जन्म धारण करते हैं. ज्ञानी जन द्वारा ये कर्म अपनाने योग्य नहीं हैं.[6]

**व्रात्यों के प्रति आदर**—इस जिज्ञासा के फलस्वरूप उनका व्रात्यों और यतियों के प्रति आदर और सहिष्णुता का व्यवहार बढ़ने लगा. ब्राह्मण ऋषियों ने गृहस्थ लोगों के लिये यह नियम कर दिया कि जब कभी व्रात्य (व्रतधारी साधु) अथवा श्रमणजन घूमते-फिरते हुए आहार-पान के लिये उनके घर आवें तो उनके साथ अत्यन्त विनय का व्यवहार किया जावे, यहां तक कि यदि उनके आने के समय गृहपति अग्निहोत्र में व्यस्त हो तो गृहपति को अग्निहोत्र का उपक्रम छोड़ कर उनका आतिथ्य सत्कार करना अधिक फलदायक है.[7]

**ब्रह्मविद्या की खोज**—ज्ञान की इस अदम्य प्यास से व्याकुल हो अनेक प्रसिद्ध ऋषिकुलों के पूर्ण शिक्षा प्राप्त नवयुवक घर-बार छोड़ ब्रह्मविद्या की खोज में निकल गये. वे दूर-दूर की यात्रायें करते हुए, जंगलों की खाक छानते हुए, गान्धार से विदेह तक, पांचाल से यमदेश तक, विभिन्न देशों में विचरते हुए, ब्रह्मविद्या के पुराने जानकार क्षत्रिय घरानों में पहुंचने लगे. वे वहां शिष्य भाव से ठहर कर इन्द्रियसंयम, ब्रह्मचर्य, तप, त्याग और स्वाध्याय का जीवन बिताने लगे.

इनकी इस अपूर्व जिज्ञासा, महान् उद्यम और रहस्यमय संवादों के आख्यान भारतीय वाङ्मय के जिन ग्रंथों में सुरक्षित हैं वे उपनिषत् संज्ञा से प्रसिद्ध हैं. यों तो ये उपनिषत् संख्या में २०८ से भी अधिक हैं परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से ११ मुख्य

---

१. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति. अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते.
—मुण्डक उपनिषद् १ पृ० ५.

२. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । (याज्ञवल्क्य द्वारा दिया हुआ उपदेश) बृहदारण्यक उपनिषद् २, ४, ५.

३. बृहदारण्यक उपनिषत्–१, ४. ६, १०.

४. तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः । —मुण्डक उप० ३-१-१०.

५. मुण्डक उपनिषत् १, २, ७।१, २, १० महाभारत शान्ति पर्व अ० २४१, १. १०.

६. (क) यास्काचार्य प्रणीत निरुक्त, परिशिष्ट २, ८, ६.
(ख) छांदोग्य उपनिषद् निरुक्त ५, १०, ३-७.
(ग) प्रश्न उप० १-६.
(घ) भगवद्गीता १-६, २०, २१.

७. अथर्ववेद—काण्ड १५-सूक्त १ (११), १ (१२), १ (१३).

उपनिषत्—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर अधिक प्रामाणिक हैं. चूंकि इन उपनिषदों में महाभारत काल से लेकर बुद्ध, महावीरकाल तक की वैदिक और श्रमण दो मौलिक संस्कृतियों के सम्मेलन की कथा अंकित है.[1] चूंकि इनमें जिज्ञासु ऋषियों की सरल विचारणा, सत्यपरायणता और तत्कालीन आध्यात्मिक शिक्षा-दीक्षा के जीते-जागते चित्र दिये गए हैं, चूंकि इन में आर्य ऋषियों के तत्त्वज्ञान का अंतिम निष्कर्ष दिया हुआ है जो वेदान्तदर्शन के नाम से प्रसिद्ध है, चूंकि ये आधुनिक हिन्दू दर्शनशास्त्र के मूलाधार हैं, इन्हीं का दोहन करके २०० बी० सी० के लगभग शुंग काल में गीता का विकास हुआ है, इन्हीं का दोहन करके २०० बी० सी० के लगभग बादरायण ऋषि के नाम से ब्रह्मसूत्र की रचना की गई है, इसलिये इनका भारतीय साहित्य में एक अमूल्य स्थान है. बुद्ध और महावीर से पहले की भारतीय संस्कृति की जांच करने के लिये इनका अध्ययन बहुत ही आवश्यक है. उस जमाने की शिक्षापद्धति के अनुसार इन उपनिषदों की कथनशैली आलंकारिक है. तत्त्व-बोध के लिये नित्य अनुभव में आनेवाली प्राकृतिक वस्तुओं को प्रतीक रूप में (Symbols) प्रयुक्त किया गया है. जगह-जगह याज्ञिक परिभाषाओं को भी काम में लाया गया है· आध्यात्मिक आख्यानों को रूपकों की (Parables) शक्ल में पेश किया गया है. इस कारण पिछले आचार्यों को इन्हें अपने-अपने साम्प्रदायिक साँचे में ढालने के लिये इनकी व्याख्या करने में खींचातानी करने की बहुत सुविधा मिल गई है. इस खींचातानी के कारण ही दार्शनिक युग में ब्राह्मण आचार्यों ने कितने ही नये वेदान्त दर्शनों को जन्म दिया है. कुछ भी हो, यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि उस जमाने के ऋषियों की कथनशैली दार्शनिक और वैज्ञानिक ढंग की न थी.

उस समय ब्रह्मज्ञान के प्रसार में पिप्पलाद, नारायण, श्वेतकेतु, भृगु, वामदेव, अंगिरस याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों के अलावा जिन क्षत्रिय राजाओं ने बड़ा भाग लिया है, वे हैं कैकेयदेश के अश्वपति, पांचाल देशके प्रवाहण जैवलि, काशीके अजातशत्रु, विदेह के जनक और दक्षिण देशके वैवस्वत यम आदि. इसके आख्यानों के कुछ नमूने यहां उद्धृत किये जाते हैं.

प्रवाहण जयवलि की कथा[2]—एक बार अरुणि-गौतम ऋषि का पुत्र श्वेतकेतु पांचाल देश के क्षत्रियों की सभा में गया. तब पांचाल के राजा प्रवाहण जयवलि ने उस को कहा—हे कुमार ! क्या तुझे तेरे पिता ने शिक्षा दी है ? यह सुनकर उसने उत्तर दिया—हाँ भगवन् ! उसने मुझे शिक्षा दी है. राजा ने कहा—हे श्वेतकेतु ! जिस प्रकार मर कर प्रजाएँ परलोक को जाती हैं, क्या तू उसे जानता है ? उसने कहा—भगवन् ! मैं नहीं जानता.

राजा ने कहा—जिस प्रकार से प्रजायें पुनः जन्म लेती हैं क्या तू उसे जानता है ? उसने कहा—भगवन् ! मैं नहीं जानता. राजा ने पूछा—क्या तू देवयान और पितृयान के मार्गों की विभिन्नता को जानता है ? उसने कहा—भगवन् ! मैं नहीं जानता. उसके बाद राजा ने फिर पूछा—जिस प्रकार यह लोक और परलोक कभी जीवों से नहीं भरता, क्या तूउसे जानता है ? उससे कहा-भगवन् ! मैं नहीं जानता. राजा ने फिर पूछा—जिस प्रकार गर्भ में पुरुषाकृति बन जाती है, क्या तू उसे जानता है ? उसने कहा—भगवन् ! मैं नहीं जानता.

तदनन्तर राजा ने कहा—जो मनुष्य इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता वह किस भांति अपने को सुशिक्षित कह सकता है ? इस प्रकार प्रवाहण राजा से परास्त हो वह श्वेतकेतु अपने पिता अरुणि के स्थान पर गया और कहने लगा—आपने मुझे बिना शिक्षा दिये हुए ही यह कैसे कह दिया कि मुझे शिक्षा दे दी गई है ?

राजा ने मुझसे पांच प्रश्न पूछे, परन्तु मैं उनमें से एक का भी उत्तर देने में समर्थ न हो सका. तब अरुणि बोला—मैं भी इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता. यदि मैं इनका उत्तर जानता होता तो तुम्हें कैसे न बताता !

---

१. A. Upnishads are the product of the Aryan and Drividian intermixture of Cultures.
—Keith—Religion and Philosophy of the Vedas and Upnishads. Page 447.
B. Dr. Winternitz—History of Indian Literature. Vol. I. P. 226-244.

२. छान्दोग्य उपनिषत् ५-३. बृहदारण्यक उपनिषत् ६।२.

उसके बाद वह अरुणि गौतम उन प्रश्नों का उत्तर जानने के लिये राजा प्रवाहण के पास गया. राजा ने उसे आसन दे पानी मंगवाया और उसका अर्घ्य किया. तत्पश्चात् राजा ने कहा—हे पूज्य गौतम ! मनुष्य योग्य धन का वर मांगो. यह सुनकर गौतम ने कहा—हे राजन् ! मनुष्य धन तेरा ही धन है, मुझे नहीं चाहिए. मुझे तो वह वार्ता बता दे जो तूने मेरे पुत्र से कही थी.

गौतम की यह प्रार्थना सुन राजा सोच में पड़ गया. सोच-विचार करने पर उसने ऋषि से कहा—यदि यही वर चाहिए तो चिरकाल तक व्रत धारण करके मेरे पास रहो. नियत साधना करने पर राजा ने उसे कहा—हे गौतम ! जिस विद्या को तू लेना चाहता हे, उसे मैं अब देने को तैयार हूं, परन्तु यह विद्या पूर्व काल में तुझ से पहले ब्राह्मणों को प्राप्त नहीं होती थी, चूंकि सारे देशों में क्षत्रियों का ही शासन था. क्षत्रिय क्षत्रियों को ही सिखाते थे.[1] यह कहकर राजा ने पांच प्रश्नों का रहस्य गौतम को बताना शुरू कर दिया. पण्डित जयचन्द विद्यालंकार और डा० पार्जीटर के कथनानुसार पांचाल नरेश प्रवाहण जैवलि-जन्मेजय के पौत्र अश्वमेध दत्त अर्थात् पाण्डवपुत्र अर्जुन की पांचवीं पीढ़ी के समकालीन था.[2] इस तरह उक्त वार्ता का समय लगभग १४ सौ ईसवी पूर्व होना चाहिए.

**कैकेय अश्वपति की कथा**[3]—कैकेय देश का राजा अश्वपति परीक्षित और जन्मेजय का समकालीन था. कैकेय देश (आधुनिक शाहपुर जेहलम गुजरात जिला) गान्धार से ठीक पूर्व में सटा हुआ है. कैकेय अश्वपति की कीर्ति उसकी सुन्दर राज्यव्यवस्था और उसके ज्ञान के कारण सब ओर फैली हुई थी.[4]

एक बार का कथन है कि उपमन्यु का पुत्र, प्राचीन शाल, पुलुपि का पुत्र सत्ययज्ञ, मालवी का पुत्र इन्द्रद्युमन, शर्कराक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्वि का पुत्र बुडिल जो बड़ी-बड़ी शालाओं के अध्यक्ष थे और महाज्ञानी थे, आपस में मिल-कर विचारने लगे 'हमारा आत्मा कौन है ? ब्रह्म क्या वस्तु है?' उन्होंने निश्चय किया कि इन प्रश्नों का उत्तर वरुण-वंशीय उद्दालक ऋषि ही दे सकता है, वह ही इस समय आत्मा के ज्ञान को जानता है, चलो उसके पास चलें.

उन आगन्तुकों को देख उद्दालक ऋषि ने विचार किया कि ये सभी ऋषि महाशाला वाले हैं और महाश्रोत्रिय हैं, उन को उत्तर देने के लिये मैं समर्थ नहीं हूँ. उसने कहा कि इस समय कैकेय अश्वपति ही आत्मा का सब प्रकार ज्ञाता है, आओ उसके पास चलें. वहां पहुँचने पर अश्वपति ने उनका सत्कार किया और कहा : 'मेरे देश में न कोई चोर है, न कृपण, न शराबी, न अग्निहोत्र रहित, न कोई अपढ़ है और न व्यभिचारी, व्यभिचारिणी तो होगी ही कहां से ?' आप इस पुण्य देश में ठहरें. मैं यज्ञ करने वाला हूँ. आप उसमें ऋत्विज बनें, मैं आपको बहुत दक्षिणा दूंगा. उन्होंने कहा—हम आपसे दक्षिणा लेने नहीं आये हैं, हम तो आपसे आत्मज्ञान लेने आये हैं. अश्वपति ने उन्हें अगले दिन सवेरे उपदेश देने का वायदा किया. अगले दिन प्रातःकाल वे समिधाएँ हाथों में लिये उसके पास पहुँचे और अश्वपति ने उन्हें आत्मज्ञान दिया.

**अजातशत्रु की कथा**[5]—काशीनरेश अजातशत्रु, विदेह के राजा जनक उग्रसेन तथा कुरुराज जनमेजय के पुत्र शतानीक का समकालीन था. वह अपने समय का एक माना हुआ आत्मज्ञानी था और ज्ञान की चर्चा में अभिरुचि रखने वाले विद्वानों का भक्त था. एक बार आत्मविद्याभिमानी गर्गगोत्रीय दृप्त बालाकि नाम वाला ब्राह्मण ऋषि उशीनर (बहा-वल पुर का प्रदेश) मत्स्य (जयपुर राज्य) कुरु (मेरठ जिला) पांचाल, (रुहेलखण्ड, आगरा का इलाका) काशी, विदेह,

---

१. 'सह कृच्छ्री बभूव. तं ह चिरं वसेत्याज्ञापयांचकार. तं हो वाचयथा मां त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति. तस्मात् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति. —छां० उप० ५-३-७.

२. भारतीय इतिहास की रूपरेखा—जिल्द प्रथम, पृष्ठ २८६.

३. छा० उप० ५-११, १२. महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ७७.

४. भारतीय इतिहास की रूपरेखा. जिल्द प्रथम. पृ० २८६.

५. (अ) बृहदारण्यक उपनिषत् २, १. (आ) कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत् अध्याय ४.

(तिरहुत, विहार) में से घूमता हुआ काशीराज अजातशत्रु के पास आत्मचर्चा के लिये पहुँचा और कहने लगा कि मैं तुझे ब्रह्म की बात बताऊँगा. अजातशत्रु ने कहा कि यदि तुम ब्रह्म की व्याख्या कर पाओगे तो मैं तुम्हें एक हजार गायें दक्षिणा में दूंगा. गार्ग्य ने व्याख्या करनी चाही परन्तु वह सफल न हुआ. उसका आज तक का शिक्षण आधिदैविक परम्परा में हुआ था. अतः स्वभावतः उसकी दृष्टि वाह्यमुखी थी. उसने वाह्य के महिमावान पदार्थों में ब्रह्म का साक्षात्कार करते हुए कहा—'यह जो सूर्यमण्डल में पुरुष है, यह जो चन्द्रमण्डल में पुरुष है, यह जो विद्युन्मण्डल में पुरुष है, यह जो मेघमण्डल में पुरुष है, यह जो आकाशमण्डल में पुरुष है, यह जो वायुमण्डल में पुरुष है, यह जो अग्निमण्डल में पुरुष है, यह जो जनमण्डल में पुरुष है, यह जो दर्पण में पुरुष है, यह जो प्रतिध्वनि में पुरुष है, यह जो छाया में पुरुष है, इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूं. यह जो शरीर है, यह जो प्रज्ञा है, यह जो दाहिने नेत्र में पुरुष है, यह जो वायें नेत्र में पुरुष है, इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूं.' इतना कुछ कहने पर अजातशत्रु ने कहा कि क्या इतना ही तेरा ब्रह्मज्ञान है ? इस पर गार्ग्य ने कहा—'हां इतना ही.' तब अजातशत्रु ने कहा कि तू वृथा ही मुझ से ब्रह्म का संवाद करने आया है, इनमें से कोई भी ब्रह्म नहीं है. ये सब तो उसके कर्म मात्र हैं. इनका जो कर्ता है वह जानने योग्य है. तदनन्तर हाथ में समिधा ले उसके पास जाकर बोला—'मैं तेरे पास शिष्य भाव से आया हूं, तू मुझे आत्मविद्या का उपदेश दे' तब अजातशत्रु ने उसे बताया कि जैसे क्षुरधान में क्षुर, काष्ठ में अग्नि सर्वत्र व्याप्त है, ऐसे ही शरीर में नख से शिखा तक आत्मा व्याप्त है. उस साक्षी आत्मा का ये वाक्, मन, नेत्र, कर्ण पादि सभी इन्द्रियां अनुगत सेवक की तरह अनुसरण करती हैं. जैसे एक धनी पुरुष का उसके आश्रित रहने वाले स्वजन अनुवर्तन करते हैं. सोते समय ये सभी शक्तियां आत्मा में लीन हो जाती हैं और उसके जागने पर अग्नि में से निकलने वाली चिनगारियों के समान ये समस्त शक्तियां निकल कर अपने-अपने काम में लग जाती हैं.

**सनत्कुमार की कथा**[1]—एक समय नारद महात्मा ने सनत्कुमार के पास जाकर कहा—'हे भगवन् ! मुझे ब्रह्मविद्या पढ़ाइये.' सनत्कुमार ने उसको कहा—'पहले जो कुछ तू जानता है, मेरे समीप बैठकर मुझे सुनादे. उसके बाद मैं तुझे बताऊंगा.' नारद ने कहा—'भगवन् ! मैं ऋग्वेद को जानता हूं, यजुर्वेद को, सामवेद को, चौथे अथर्ववेद को, पांचवें इतिहास-पुराण को, वेदों के वेद व्याकरण को, पितृविज्ञान को, गणित शास्त्र को, भाग्यविज्ञान को, निधिज्ञान को, तर्कशास्त्र को, नीतिशास्त्र को, देवविद्या को, भक्तिशास्त्र को, भूतविद्या को, धनुर्विद्या को, ज्योतिष, सर्पविद्या, संगीत, नृत्यविद्या को जानता हूं. हे भगवन् ! इन समस्त विद्याओं से सम्पन्न मैं मन्त्रवित् ही हूं परन्तु आत्मा का ज्ञाता नहीं हूं. मैंने आप जैसे महापुरुषों से सुना है कि जो आत्मवित् होता है वह जन्म-मरण के शोक को तर जाता है, परन्तु भगवन् ! मैं अभी तक शोक में डूबा हुआ हूं. मुझे शोक से पार कर देवें.' सनत्कुमार ने नारद से कहा—'तुमने आजतक जो कुछ अध्ययन किया है वह नाम मात्र ही है. इसके उपरान्त सनत्कुमार ने आत्मविद्या देकर नारद को सन्तुष्ट किया.

**वैवस्वत यम और नचिकेता की गाथा**—कठ उपनिषत् में औद्दालिक आरुणि गौतम के पुत्र नचिकेता ऋषि की एक कथा दी हुई है. एक बार नचिकेता, जो जन्म से ही बड़ा त्यागी और विचारशील था, अपने पिता के संकुचित व्यवहार से रूठ कर भाग गया. वह शान्तिलाभ के लिये वैवस्वत यम के घर पहुंचा, पर उस समय वैवस्वत बाहर गया हुआ था. उसके बाहर जाने के कारण नचिकेता को तीन रात भूखा रहना पड़ा. वापिस आने पर घर में भूखे अतिथि को देखकर यम को बड़ा खेद हुआ. अपने दोष की निवृत्ति यम ने नचिकेता को तीन रात के कष्ट के बदले तीन वर मांगने के लिये कहा. नचिकेता के माँगे हुये पहले दो वर यम ने उसे तुरन्त ही दिये. फिर नचिकेता ने तीसरा वर इस प्रकार मांगा—'यह जो मरने के बाद मनुष्य के विषय में सन्देह है—कोई कहते हैं कि रहता है, कोई कोई कहते हैं कि नहीं रहता, यह आप मुझे समझादें कि असल बात क्या है ? यही मेरा तीसरा वर है.

इस वर को सुनकर यम बोला—'इस विषय में तो पुराने देवजन अर्थात् विप्रजन भी सन्देह करते रहे हैं. इसका जानना

---

१. छांदोग्य उपनिषद्, सातवां प्रपाठक पहला खण्ड.

सुगम नहीं है. यह विषय बहुत सूक्ष्म है. नचिकेता ! तुम कोई दूसरा वर मांग लो, इसे छोड़ दो, मुझे बहुत विवश न करो.'

इस पर नचिकेता ने कहा—'निश्चय से ही यदि देवों ने भी इसमें सन्देह किया है और आप स्वयं भी इसे सुगम नहीं कहते तो आप जैसा इसका वक्ता दूसरा कौन मिल सकता है, इसके समान दूसरा वर भी क्या हो सकता है ?'

यम ने परीक्षार्थ यह जानने के लिये कि नचिकेता आत्मज्ञान का अधिकारी है या नहीं, उसे बहुत से प्रलोभन दिये. हे नचिकेता! तू सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र और पौत्र माँग. बहुत से पशु, हाथी, घोड़े और सोना मांग, भूमि का बहुत बड़ा भाग मांग और जबतक तू जीना चाहे उतनी आयु का वर मांग. तू इस विशाल भूमि का राजा बन जा. जो भी कामनायें तू इस लोक में दुर्लभ समझ रहा है वे सभी जी खोलकर तू मुझ से मांग. रथों और बाजों सहित ये अलभ्य रमणियां तेरी सेवा के लिये देता हूं. इन सभी वस्तुओं को ले ले, परन्तु हे नचिकेता ! मरने के अनन्तर की बात मुझ से न पूछ.'

पर नचिकेता इन प्रलोभनों से तनिक भी भ्रम में न पड़ा. वह बोला—'हे यम ! ये सब उपभोग के सामान दो दिन के हैं, ये सब इन्द्रियों का तेज नष्ट करने वाले हैं. जीवन अल्पकाल तक ही रहने वाला है. इसलिये ये सब नाच-गान, हाथी-घोड़े मुझे नहीं चाहिए, धन से कभी तृप्ति नहीं होती. मुझे तो वही वर चाहिए.' नचिकेता की इस सच्ची लगन को देख यम विवश हो गया. उसने अन्त में जन्म-मरण सम्बन्धी आत्मज्ञान दे नचिकेता के छटपटाये हुए दिल को शान्ति दी.

उपरोक्त कथा में जिस नचिकेता का उल्लेख है वह कठ जाति का ब्राह्मण मालूम होता है. प्राचीन काल में यह जाति पंजाब के उत्तर की ओर रावी नदी से पूर्व वाले देश में, जिसे आजकल मांझा (लाहौर, अमृतसर वाला देश) कहते हैं, रहा करती थी. इसी कारण इस देश का पुराना नाम कठ है.[1] उपर्युक्त कथा के समय यह जाति मध्यदेश अर्थात् आर्यखण्ड में बसी हुई थी.

**यम और यमलोक**—वैवस्वत यम, जिसके पास नचिकेता ज्ञान-प्राप्ति के लिये गया था, उस मगध देशवासी सूर्यवंशी यम शाखा का एक क्षत्रिय राजा मालूम होता है, जिसने मध्यदेश के दक्षिण की ओर एक स्वतन्त्र जनपद कायम कर लिया था. जैन परम्परा के अनुसार इस शाखा का मूल संस्थापक आदि ब्रह्मा वृषभ अपर नाम विवस्वत मनु का पुत्र बाहुबली था. आदि ब्रह्मा ने प्रव्रज्या लेने से पहले भारतभूमि का बंटवारा कर उत्तर भारत का राज्य अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को और दक्षिण का भाग बाहुबली को दे दिया था. बाहुबली ने दक्षिण के अशमक (कर्णाटक) देश के पोदनपुर स्थान पर अपनी राजधानी बसा ली थी.[2] बाहुबली पीछे से राज्य छोड़ त्यागी तपस्वी हो गया था और उसने एक साल पर्यन्त कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े रहकर मन वचन काय तथा समस्त इन्द्रियों के यमन द्वारा ऐसी घोर तपस्या की थी कि उसे देख कर देव, असुर, मनुष्य सभी लोग चकित हो गये थे. उस तपस्या के द्वारा उसने यम व मृत्यु का सदा के लिये अन्त कर दिया था. वह मृत्यु की मृत्यु बन गया था.[3] इसलिये वह लोक में यम नाम से प्रसिद्ध हुआ और पीछे से इस शाखा के राजा यम व जम के ही नाम से पुकारे जाने लगे. इस तरह यह उनकी एक परम्परागत उपाधि बन गई और कर्णाटक देश यमलोक के नामसे प्रसिद्ध हुआ. इसीलिए भारतीय अनुश्रुति में दक्षिण का अधिष्ठाता देवता यम कहा गया है,[4] यम पीछे

---

१. जयचन्द विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की रूपरेखा प्रथम जिल्द पृ० २६०.

२. (क) विन्ध्यगिरि पर्वत का शिलालेख—लगभग शक सं० ११०२ वाला जैन शिलालेख संग्रह प्रथम भाग पृ० १६६-१७५.

(ख) नव सदी का श्रीगुणभद्राचार्य विरचित उत्तरपुराण.

(ग) छठी सदी के पूज्यपाद स्वामी ने अपने निर्वाण भक्ति ग्रन्थ में विन्ध्यगिरि के पोदनपुर नगर का सिद्धतीर्थ के रूप में उल्लेख किया है.

(घ) वि० सं० १२८५ का श्रीमदनकीर्ति यति द्वारा रचित शासनचतुर्विंशिका ।२।

३. अथर्ववेद ८. १०, ४. ६, में यम को मृत्यु का आदि अन्तक कहा गया है और उसे पितरों में सबसे प्रमुख पित्र बताया गया है. उसका स्वधा शब्द पूर्वक श्राद्ध करने को कहा गया है.

४. बृहदारण्यक उपनिषत् ३. ६, २१.

से किसी विशेष व्यक्ति का नाम न रहकर उस शाखा के राजाओं की उपाधि बन गई थी. सूर्यवंशी क्षत्रियों की यह यम शाखा अपनी दान-दक्षिणा, न्यायशीलता और ज्ञानचर्चा के लिये बहुत प्रसिद्ध थी. इसी कारण इस शाखा का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण १३, ४, ३, ६.[1] और ऋग्वेद के दसवें मण्डल के दसवें सूक्त तथा अथर्व १८ काण्ड के पहले सूक्त में भी भी मिलता है. उक्त उल्लेखों से यम लोगों की ज्ञानलिप्सा व सभ्यता का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है. ईरान की धर्म-पुस्तक छन्द-अवस्ता (Zend Avesta) में यम को मित्र कहा गया है तथा यम को प्रथम राजा एवं धर्म और सभ्यता का संस्थापक बतलाया गया है. वहां यह भी उल्लिखित है कि सदाचारी लोग मित्र के साथ अहुरमजद (असुरमहत-वृषभ) का भी दर्शन करते हैं. वैदिक साहित्य के अनुरूप ही छन्द अवस्त में यम के पिता का नाम वियस्वत (विस्वत) दिया हुआ है और यमपुरी को धर्मात्मा लोगों की निवासभूमि बतलाया गया है.

**अध्यात्मविद्या की शिक्षा-दीक्षा पद्धति**—उल्लिखित आख्यानों से यह स्पष्ट है कि भारत में अध्यात्म विद्या के वास्तविक जानकार क्षत्रिय लोग थे. परम्परा से उन्हीं लोगों में अध्यात्म तत्त्वों का मनन होता चला आ रहा था और उन्हीं के महापुरुष घर-बार छोड़ भिक्षु बन जंगलों में रहते हुए तप ध्यान श्रद्धा द्वारा आत्म-साधना किया करते थे.[2] उन्होंने यह विद्या उस समय तक ब्राह्मण लोगों को न दी जब तक उन्हें परीक्षा करके यह विश्वास न हो गया कि वे (ब्राह्मण) लोग शुद्ध बुद्धि नम्रभाव एवं शिष्य वृत्ति से इसे ग्रहण करने के लिये उत्सुक हैं.

अध्यात्मबोध पाने के लिये परिग्रह से विरक्ति और मन वचन काय की शुद्धि की आवश्यकता होती है। इसी साधना के अर्थ पातंजलयोग दर्शन में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूप अष्टांग मार्ग की व्याख्या की गई है.

अध्यात्मविद्या अनधिकारी के हाथों में पड़कर दूषित न हो जाय.[3] इस विचार से अध्यात्मवादी क्षत्रियों का सदा यह नियम रहा है कि यह विद्या श्रद्धालु और शान्तचित शिष्यों के सिवाय किसी और को न दी जाय, चाहे वह सागर से घिरी धनपूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी भी पुरस्कार में देने को तैयार हो.[4] इसी कारण उपनिषदों में अध्यात्मविद्या को रहस्य-विद्या व गुह्यविद्या कहा गया है. स्वयं उपनिषत् (उप+निषत्) शब्द का अर्थ है पूज्य पुरुषों के चरणों में रह कर उनके सान्निध्य से प्राप्त होने वाली विद्या, अर्थात् वह रहस्य विद्या जो गुरु के निकट रह कर साक्षात् उनकी वाणी और जीवन से ग्रहण की जाती है. इस प्रकार विनीत, श्रद्धालु और अन्तेवासी शिष्यों को एकान्त में मौखिक रूप से आध्यात्मिक शिक्षा देने की प्रथा केवल उपनिषत्काल में ही प्रचलित न थी, बल्कि यह प्रथा भारत के शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध आदि अध्यात्मवादी लोगों में आज तक भी प्रचलित है. इसी प्रथा का फल है कि आज से पचास वर्ष पहले

---

१. यमो वैवस्वतो राजेन्याह० शत—ब्रा० १३, ४, ३, ६ अर्थात् विवस्वत के पुत्र यम राजा ने कहा है.

२. तपः श्रद्धे ये ह्यपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा। मुण्डक उप० १, २, ११।

३. बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो, मामयं प्रहरिष्यति—महाभारत, आदिपर्व १—२६७; अर्थात् वेद अल्पश्रुत से डरता है कि कहीं यह मुझे बिगाड़ न दे.

४. (अ) वेदान्ते परमं गुह्यं, पुराकाले प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्राय शिष्याय वा पुनः।
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।। श्वेताश्वतर उप० ६– २२–२३.
(आ) इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्, प्राणाय्याय वान्तेवासिने। नान्यस्मै कस्मैचन, यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यात्, एतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति—छान्दोग्य उप० ३–११–५–६.
(इ) मुण्डक उपनिषद्—३, २, १०। १, २, १३.
(ई) यास्काचार्यकृत निरुक्त २–१.

तक अविनय के भय से जैन विद्वानों को अपना साहित्य दूसरों को दिखाना या उसे मुद्रित कराना तक भी सह्य न था. इसी कारण जैन साहित्य का परिचय बाहर के विद्वानों को आज तक बहुत कम हो पाया है.

प्रश्न हो सकता है कि ये जिज्ञासु ब्राह्मण विद्वान ब्रह्मविद्या सीखने के लिये उन वनवासी त्यागी तपस्वी यतियों के पास क्यों नहीं गये जो साक्षात् धर्ममूर्ति और ब्रह्मविद्या की निधि थे ? उन्हें छोड़ कर वे गृहस्थ क्षत्रिय राजाओं के पास क्यों गये ? इसका उत्तर सम्भवतः यही हो सकता है कि ब्राह्मण जन उस समय ब्रह्मविद्या की खोज में न केवल अध्यात्मधनी क्षत्रिय कुलों में प्रत्युत यतियों के पास भी पहुंच रहे थे, परन्तु जो जिज्ञासु यतियों के सम्पर्क में आये, वे ब्रह्मविद्या के ज्ञानमात्र से सन्तुष्ट न होकर स्वयं यतियों के समान आत्मसाधना में लग गये. उन्होंने ब्रह्मविद्या के तत्त्वों को संकलन करने और साहित्यिक रूप में पेश करने का कोई यत्न नहीं किया. केवल वे विद्वान् ही जो क्षत्रिय-घरानों से ब्रह्मविद्या ग्रहण करने के बाद भी गृहस्थ जीवन बिताते रहे, इन तत्त्वों को आख्यानों के रूप में सुरक्षित रखने का परिश्रम करते रहे. इस कारण उपनिषदों में उनके आख्यान आज भी उपलब्ध हैं.

**लिपिबोध और लिखित साहित्य**—सिन्ध और पंजाब के मोहनजोदड़ो और हड़प्पा आदि पुराने नगरों के खंडहरों से प्राप्त मोहरों के अभिलेखों से यह सिद्ध है कि भारतीय लोग ईसा पूर्व ३००० वर्ष से भी पहले लिपिविद्या और लेखन-कला से भलीभांति परिचित थे, परन्तु जैसा कि अन्य प्रमाणों से सिद्ध है, वे इस लेखनकला का प्रयोग आध्यात्मिक तत्त्वों तथा पौराणिक गाथाओं के संकलन के हेतु न करके केवल मुद्रांकन व लौकिक व्यवसाय के लिये ही करते थे.[1] अध्यात्मविद्या के प्रचार और प्रसार के लिये वे मौखिक शब्दों से ही काम लेते थे और शिष्य-प्रशिष्य परम्परा से ही वह मौखिक ज्ञान अग्रसर होता जाता था.

इसीलिए उस काल में विविध विद्याओं तथा धार्मिक और पौराणिक तथ्यों का बोध श्रुति व श्रुतज्ञान के नाम से प्रसिद्ध था. अथवा गुरु-शिष्य परम्परा से विद्याओं के पदों को बार-बार घोख कर जबानी याद रखा जाता था. इसलिए अभ्यास द्वारा जबानी याद रखी हुई विद्या को आम्नाय कहा जाता था. प्राचीन भारतीय साहित्य में धर्मशिक्षण सम्बन्धी ग्रंथलेखन व पठन का कोई उल्लेख नहीं मिलता—केवल प्रवचन और श्रवण का ही उल्लेख मिलता है. (कठ० उप० २–२–२३) जो श्रोता संतों की संगत में रहकर प्रवचन सुनने में प्रर्याप्त समय बिताते थे, वे दीर्घश्रुत व बहु-श्रुत कहलाते थे. (छांदो० १०–७–३२) दूसरी ईस्वी सदी के प्रसिद्ध जैन ग्रंथ तत्त्वार्थ सूत्र ६–२५ तक में स्वाध्याय के अंगों का वर्णन करते हुए वाचना पृच्छा, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश का वर्णन किया गया है, पठन का नहीं. जैसा कि यूनानी दूत मैगास्थनीज के वृत्तान्तों से विदित है, ईसा से ३०० वर्ष पूर्व मौर्य शासनकाल तक भारतीय लोगों के पास अपने कोई लिखे कानून तक मौजूद न थे.[2] इसी तरह बौद्ध आचार्यों ने यद्यपि अपने आगमसाहित्य को २४० ईसा पूर्व में संकलित कर लिया था परन्तु इस समय के बहुत बाद तक भी वे लिखित साहित्य का सृजन न कर सके. भारत में सबसे पुराने धार्मिक अभिलेख, जो आज तक उपलब्ध हो पाये हैं वे हैं जो अशोक की धर्मलिपि के नाम से प्रसिद्ध हैं. ये सम्राट् अशोक ने[3] अपने शासन काल में तीसरी सदी ईस्वी पूर्व स्तम्भों व शिला-खण्डों पर अंकित कराये थे. लिखित साहित्य के अभाव के कई कारण हो सकते हैं. एक तो योग्य लेखन सामग्री और खासकर कागज का अभाव, दूसरे विद्वानों की महत्त्वाकांक्षा और संकीर्णता कि कहीं दूसरे भी पढ़ लिख कर उन जैसे विद्वान् न बन जायें. तीसरे शिक्षा-दीक्षा की प्राचीन पद्धति. ऊपर वाले कारणों में से तीसरा कारण ही इस अभाव का प्रमुख कारण माना जाता है. शिक्षा-दीक्षा की इस प्राचीन पद्धति के कारण ही भारत के तत्त्ववेत्ता क्षत्रिय विद्वानों ने लिखित रचनायें करने का प्रयास नहीं किया. अध्यात्मविद्या ही क्या, इतिहासविद्या, पुराणविद्या, सर्पविद्या, पिशाचविद्या, असुरविद्या, विश्वविद्या, अंगिरसविद्या, भूतविद्य, पितृविज्ञान, ब्रह्मविद्या, शब्दोच्चारण विद्या, गाथा आदि भारत की अनेक पुरानी विद्याओं का

१. Dr. winternitiz—History of Indian Literature Vol. I, Introduction. pp. 31-40.

२. Ancient India as described by Megsthnees—by Macrindle. 1877, p. 69.

३. कुछ विद्वानों का यह मत है कि ये समस्त अभिलेख अशोक के नहीं बल्कि इनमें कुछ उनके पौत्र सम्राट् सम्प्रति के हैं.

भी, जिनका नाम मात्र प्रसंगवश वैदिक वाङ्मय[1] में मिलता है और जिनका सविस्तार निर्देश जैन वाङ्मय[2] के १४ पूर्वों के कथन में दिया हुआ है, कोई लिखित साहित्य मौजूद नहीं है.

**श्रुति (श्रुति ज्ञान) की परम्परा वैदिक सूक्तों से भी अति प्राचीन है**—वैदिक परम्परा में साधारणतया वेदसंहिताओं, ब्राह्म आरण्यक और उपनिषदों को श्रुति की संज्ञा दी जाती है और तदुपरान्त शेष हिन्दु साहित्य को, जिसमें श्रौत्र सूत्र, ग्रह्य सूत्र, कल्पसूत्र, स्मृतिग्रंथ आदि सम्मिलित हैं, उन सभी को स्मृति की संज्ञा दी जाती है, परन्तु वास्तव में इनमें से कोई भी रचना 'श्रुति' कहलाने की अधिकारी नहीं है. भारत की सभी प्राचीन वैदिक तथा श्रमण अनुश्रुतियों के अनुसार भारतीय जन की सदा ही यह अटूट धारणा रही है कि सभी ज्ञान विज्ञान और कला सम्बन्धी विद्याओं का मूल स्रोत आदि ब्रह्मा, आदिपुरुष, आदि प्रजापति स्वयंभू ब्रह्मा हैं. आदि ब्रह्मा के जिन शिष्यों प्रशिष्यों की प्रणाली द्वारा ये विद्यायें हम तक पहुंची हैं उनके अनुवंशों का उल्लेख तत्-तत् विद्या सम्बन्धी सभी प्राचीन रचनाओं में भिन्न-भिन्न ढंग से किया गया है[3] इन रचनाओं के अतिरिक्त आदि ब्रह्मा की वाणी के द्वारा कथित जीवन-जगत सम्बन्धी अनेक तात्त्विक, धार्मिक, पौराणिक, और ऐतिहासिक तथ्य जो वैदिक आर्यजनों के आगमन के पूर्व यहाँ के दस्युजनों को प्राप्त थे जिन्हें वे स्वयम्भू-कथित होने से श्रद्धेय मान कर कंठस्थ किये हुये थे, कालप्रवाह में बहते-बहते सन्तति-प्रसन्तति क्रम से आये मनीषियों को भी सुनने को मिले हों. वेद सूक्तों के निर्माता ऋषियों ने अपने सूक्तों में गूंथे हुए तथ्यों की प्रामाणिकता-पुष्टि में स्थान-स्थान पर इन श्रुतियों की ओर संकेत करते हुए 'श्रूयते श्रुतम्' आदि शब्दों का प्रयोग किया है.

इन उदाहरणों से पता लगता है कि श्रुतिज्ञान वेदसंहिताओं में संकलित सूत्रों से भी प्राचीन है. ये श्रुतियाँ आप्त-वचन होने के कारण तत्त्वतः प्रमाण मानी जाती रही हैं. और इन श्रुतियों पर आधारित होने के कारण वेद-सूक्तों को भी श्रुति कहा जाने लगा है.

**ब्राह्मणों का श्रेय**—इस अभाव पर से कुछ विद्वानों ने यह मत निर्धारित कर लिया है कि औपनिषदिक काल से पहले भारतीय लोगों को आत्मविद्या का कोई बोध न था. भारत में अध्यात्मविद्या का जन्म उपनिषदों की रचना के साथ-साथ या उससे कुछ पहले से हुआ है. उनका यह मत कितना भ्रमपूर्ण है यह ऊपर वाले विवेचन से भलीभांति सिद्ध है. औपनिषदिक काल आत्मविद्या का जन्मकाल नहीं है. आत्मविद्या तो वैदिक आर्यगण के आने से भी बहुत पहले बल्कि यों कहिए कि सिन्ध घाटी की ३००० वर्ष ईसा पूर्व मोहनजोदड़ोकालीन आध्यात्मिक में संस्कृति से भी पहले यहाँ के व्रात्य यति, श्रमण, जिन, अतिथि, हंस आदि कहलाने वाले योगी जनों के जीवन प्रवृत्त में हो रही थी. औपनिषदिक काल तो उस युग का स्मारक है जब ब्राह्मण विद्वानों की निष्ठा वैदिक त्रिविद्या (ऋक्, यजुः साम) से उठकर आत्मविद्या की

---

१. अथर्व वेद १५-१ (६) ७-१२. गोपथब्राह्मण पर्व १-१०. शतपथ ब्रा० १४-५-४-१०. बृहदारण्यक उप० २. ४, १०. छान्दोग्य ७, १, २. शांखायन श्रौत सूत्र १६२. आश्वलायन श्रौत सूत्र १०, ७. अथर्व वेद ११-७-२४ शतपथ ब्रा० १३-४-३. ३-१४.

२. (अ) षट्खण्डागम-धवला टीका जिल्द १ अमरावती सन् १९३८ पृ० १०७ १२४ (आ) समवायांग सूत्र. (इ) स्थानांग (ई) नन्दीसूत्र
(उ) पाक्षिक सूत्र (ऊ) आठवीं सदी के श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराण १० ११-१४३, (ए) आठवीं सदी के स्वामी जिनसेन कृत महापुराण २-१९८-११३-३४, १३५-१४७.
(ऐ) अंगपण्णत्ति-शुभचन्द्राचार्य कृत (ओ) तत्त्वार्थसारदीपिका-भट्टारक सकलकीर्तिकृत

३. (क) ऋग्वेद १०-९०-९.
(ख) शतपथ ब्राह्मण अन्तर्गत वंश ब्राह्मण १४-९-४, १४, ५, १९-२२.
(ग) बृहदारण्यक उपनिषद् २, ६, ६, ५.
(ङ) छान्दोग्य उपनिषद् ३, ५१, ४, ८, १५, १.
(च) मुण्डक उप० १, १-२; २, १, ६.
(छ) महा शान्ति पर्व ३४९, ५१-५३ भगवद्गीता ४, १-२.
(ज) चरक संहिता-सूत्र स्थान, प्रथम अध्याय.

ओर झुकी और आत्मविद्या क्षत्रियों की सीमा से निकल कर ब्राह्मणों में फैलनी शुरू हुई. इस दिशा में ब्राह्मण ऋषियों का श्रेय इस बात में है कि उन्होंने सबसे पहले भारत के आध्यात्मिक दर्शन और उनके पौराणिक आख्यानों को उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र, भिक्षुसूत्र, योगदर्शन व पुराणों की शकल में संकलित व लिपिबद्ध करने का परिश्रम किया. यदि इन के द्वारा संकलित की हुई अध्यात्मचर्चाएं आज हमारे पास न होती तो बुद्ध और महावीर काल से पहले की आध्यात्मिक संस्कृति का साहित्यिक प्रमाण ढूंढना हमारे लिये असम्भव था. जैन परम्परागत जो लिखित साहित्य आज उपलब्ध है उसका आरम्भ महावीरनिर्वाण के ५०० वर्ष बाद ईसा पूर्व की पहली सदी में उस समय हुआ जब जैन आचार्यों को यह अच्छी तरह विदित हो गया कि अध्यात्मतत्त्व बोध दिनों दिन घटता जा रहा है और यदि इसे लिपिबद्ध न किया गया तो रहा सहा बोध भी लुप्त हो जायगा,[1]

**अध्यात्मविद्या सभी लोगों में रहस्य विद्या बनकर रही है** :—भारत के सभी धर्मशास्त्रों में जगह-जगह अधिकारी और अनधिकारी श्रोताओं के लक्षण देते हुए बतलाया गया है कि अध्यात्मविद्या का बखान उन्हीं को किया जाय जो जितेन्द्रिय और प्रशान्त हों, हंस के समान शुद्ध वृत्ति वाले हों, जो दोषों को टालकर केवल गुणों को ग्रहण करने वाले हों.[2]

अध्यात्मविद्या को इस प्रकार अनधिकारी लोगों से सुरक्षित रखने का विधान केवल भारत के सन्तों तक ही सीमित नहीं रहा है. भारत के अलावा जिन अन्य देशों में आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रसार हुआ है, वहाँ के आध्यात्मिक सन्तों ने भी इस विद्या को अनधिकारी लोगों से बचा रखने का भरसक यत्न किया है। आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व जब पश्चमी एशिया के यहूदी लोगों में प्रभु ईसा ने आध्यात्मिक तत्त्वों की विवेचना शुरू की तो बहुत विवेक और सावधानी से (parablas) रूपकों द्वारा ही की थी.[3] इस लिये कि कहीं वे अपनी नासमझी से इन तत्त्वों को बिगाड़कर कुछ का कुछ अर्थ न लगा बैठें और फिर विरोध पर उतारू हो जायें. इसीलिए प्रभु ईसा ने इस बात को कई स्थलों पर दोहराया है—जो बहुमूल्य और पवित्र तत्त्व हैं उन्हें श्वान और वराहवृत्ति वाले लोगों के सामने न रखा जाय, कहीं वे उन्हें पावों से रौंद कर तुम्हें ही आघात पहुँचाने को उद्यत न हो जाएँ.[4]
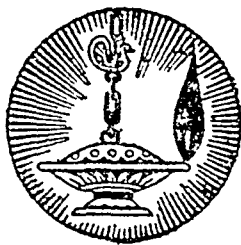
१. पट्खण्डागम भाग १—डा० हीरालाल द्वारा लिखित प्रस्तावना.

२. (अ) महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २४६.
   (आ) पट्खण्डागम, धवला टीका, जिल्द १ गाथा ६२-६३.

३. (A) But without a parable spake he not unto them and when they were alone, he expounded all things to his desciples. Bible—Mark IX 34.
   (B) I will open my mouth in parbles. I will utter things which have been kept secret from the foundations of the world. Bible-Matthew XIII 35

४. (A) It is not meet to take the children's bread and to cast it unto the dogs. Bible. Mark VII. 27
   (B) Give not that which is holy unto the dogs, neither cast your pearls before swine. Lest they trample them under their feet and turn again and rend you. Bible Matthew VII 6.
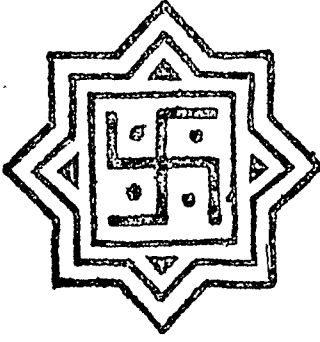
साध्वी श्रीनिर्मलाश्री
रिसर्च स्कॉलर, प्राकृत जैन विद्यापीठ, मुजफ्फरपुर

# जैनमतानुसार अभाव-प्रमेयमीमांसा

प्रत्येक पदार्थ अपने लक्षण से ही ज्ञात होता है. घट की सजातीय और विजातीय पदार्थों से व्यावृत्ति करके ज्ञाता उसका ज्ञान करता है. यदि घट का ज्ञान करते समय सजातीय और विजातीय पदार्थों की व्यावृत्ति न की जाय, तो घट के निश्चित रूप का ज्ञान नहीं हो सकता है. अतः सभी पदार्थ सदसदात्मक हैं. उनमें सद् अंश को भाव या विधि कहा जाता है (विधिः सदंश इति) और असद् अंश को प्रतिषेध अर्थात् अभाव कहा जाता है. जैसे प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार[1] में वादि-देवसूरि ने कहा है—'प्रतिषेधोऽसदंश इति'. यदि पदार्थ को सदसदात्मक न माना जाय किन्तु केवल सद् रूप ही माना जाय तो किसी भी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अभावरूप और व्यावृत्तिरूप होने पर ही स्वरूप-युक्त कही जाती है. इसी तरह वस्तु को सर्वथा अभाव रूप माना जाय तो वस्तु का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होगा. अतएव प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से सत् और पर रूप से असत् होने के कारण भाव और अभाव रूप है. आचार्य श्रीहेमचन्द्र ने भी अपनी प्रमाणमीमांसा[2] में इसी बात का समर्थन किया है :

सर्वमस्ति स्वरूपेण, पर-रूपेण नास्ति च।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः।

प्रत्येक वस्तु स्व-स्वरूप से विद्यमान है और पर-स्वरूप से अविद्यमान है. यदि वस्तु को पररूप से भी भावरूप स्वीकार किया जाय तो एक वस्तु के सद्भाव में संपूर्ण वस्तुओं का सद्भाव मानना चाहिए, और यदि वस्तु को स्वरूप से भी अभावरूप माना जाय तो वस्तु को सर्वथा स्वभाव-रहित मानना चाहिए, जो कि वस्तुस्थिति से विपरीत है. अर्थात् यदि वस्तु को अभावात्मक यानी सर्वथा शून्य ही माना जाय तो वाक्य का भी अभाव होने से—अभावात्मक तत्त्व—की स्वयं प्रतीति कैसे होगी ? तथा दूसरे को कैसे समझाया जायगा ? स्वप्रतिपत्ति का साधन है बोध, तथा पर-प्रतिपत्ति का उपाय है वाक्य. इन दोनों के अभाव में स्वपक्ष का साधन और पर-पक्ष का दूषण कैसे हो सकेगा ? इस तरह विचार करने से लोक का प्रत्येक पदार्थ भावाभावात्मक प्रतीत होता है.

जो वादी वस्तु को पर-रूप से असत् नहीं मानते हैं, उन्हें घट को सर्वात्मक मानना चाहिए, क्योंकि घट जिस तरह स्वरूप से सत् है, यदि उसी तरह पररूप से भी सत् हो तो घट किसी भी रूप से असत् न होने के कारण उस (घट) को सर्वात्मक मानना चाहिए, किन्तु वस्तुस्थिति वैसी नहीं है. अतः पररूप से असत् मानने से ही पदार्थ के निश्चित स्वरूप का ज्ञान हो सकता है. स्व-सत्त्व को ही पर-असत्त्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विधि और प्रतिषेध दो विरोधी धर्म हैं; यदि कहा जाय कि जैनसिद्धान्तानुसार भी एक ही जगह विधि और प्रतिषेध माना जाता है तो यह कथन भी उचित नहीं है; क्योंकि जैन वस्तु के जिस अंश को सत् मानते हैं उसी अंश को असत् नहीं मानते हैं, तथा उसके जिस अंश को असत् मानते हैं, उसी अंश को सत् नहीं मानते हैं. जैन सिद्धान्तानुसार वस्तु न सत् है, न असत्; पर सदसदात्मक

---

१. तृतीय परिच्छेद. सूत्र ५७.
२. पृ० १२.

जात्यन्तर है. वह स्वद्रव्य, क्षेत्र काल और भाव रूप से सत् है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से असत् है. अतः विरोध के लिये कोई स्थान नहीं है.

वस्तुस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये भाव पदार्थ से अत्यन्त भिन्न अन्योन्याभाव नामक स्वतंत्र पदार्थ मानने से ही काम चल सकता है, अतः वस्तु को भावाभावात्मक मानने की आवश्यकता नहीं है—यह शंका भी उचित नहीं, क्योंकि यदि वस्तु को पर-रूप से अभावात्मक नहीं माना जाय, तो पट आदि के अभाव को घट नहीं कह सकने के कारण घट को पटरूप मानना पड़ेगा. जैसे घटाभाव से भिन्न होने के कारण घट को घट कह सकते हैं, वैसे ही पट को भी घटाभाव से भिन्न होने के कारण घट मानना चाहिए.

तात्पर्य यह है कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार अन्योन्याभाव को दो पदार्थों की स्वतंत्र स्थिति में कारण माना जाता है, और यह भेद स्वयं एक स्वतंत्र पदार्थ है. उसके अनुसार जहां घट का अभाव नहीं रहता वहां घट का निश्चय होता है. पर यह मान्यता ठीक नहीं है. न्याय-वैशेषिक के अनुसार पट आदि घट के अभावरूप नहीं हैं, इसलिए पट आदि के घट के अभाव से भिन्न होने पर पटादि में भी घट का ज्ञान होना चाहिए. जैन-सिद्धान्तानुसार घट को घट के अतिरिक्त सभी पदार्थों का अभावरूप-स्वीकार गया है. अतः घट-पटादि के भी अभाव स्वरूप होने से घट में पट का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए स्व-पररूप से सदसदात्मक सब पदार्थों को स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा प्रतिनियत रूप व्यवस्था की अनुपपत्ति होगी. न्यायकुमुदचन्द्र[1] में आचार्य प्रभाचन्द्र ने कहा है—'स्वपररूपाभ्यां सदसदात्मकाः सर्वे भावाः प्रतिपत्तव्या प्रतिनियतरूपव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः' यदि कहा जाय कि प्रतिनियतरूप व्यवस्था की अनुपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि पूर्व-कथित इतरेतराभाव से उसकी व्यवस्था हो जायगी. तो यहां प्रश्न उठता है कि यह इतरेतराभाव स्वतन्त्र है कि भाव का धर्म है ? इतरेतराभाव स्वतंत्र नहीं हो सकता, क्योंकि अपने स्वातंत्र्य के लिये वह दूसरे इतरेतराभाव की अपेक्षा रखेगा और दूसरा तीसरे की, तीसरा चौथे की इत्यादि, और इस प्रकार अनवस्था होने के कारण इतरेतराभाव का स्वतंत्र अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकेगा. तब क्या वह भाव का धर्म है ? इतरेतराभावको भावपदार्थ का धर्म स्वीकार करने पर प्रश्न होगा—किस भाव का धर्म है ? घट का, भूतल का या उभय का ?—यदि इतरेतराभाव को घट रूप भावपदार्थ का धर्म माना जाय तो भी प्रश्न उठता है कि वह घटस्वरूप का निषेधक है या नहीं ? यदि उसे निषेधक माना जाय तो फिर प्रश्न होगा कि घट में ही घटस्वरूप का वह निषेधक है या भूतल में घटस्वरूप का ?

इतरेतराभाव को घट में घटस्वरूप का निषेधक मानना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर घट की सत्ता ही असिद्ध हो जायगी और उस परिस्थिति में वह इतरेतराभाव किस भाव पदार्थ का धर्म होगा ? और "भूतले घटो नास्ति" यह प्रतीति भी कैसे होगी ? क्योंकि घट में ही उस प्रतीति का प्रसंग होगा. यदि आप इतरेतराभाव को भूतल में घटस्वरूप का निषेधक मानेंगे तो यह जैन मत स्वीकार करना होगा, कारण जैन-दर्शन के अनुसार घटाभाव घटधर्म होता हुआ ही भूतल में घटस्वरूप का निषेधक होता है.

यदि इतरेतराभाव को घटस्वरूप का अनिषेधक माना जाय तो भूतल में भी घटस्वरूप का प्रसंग होने से अभाव-कल्पना व्यर्थ हो जायगी. भूतल का धर्म भी उसे नहीं मान सकते क्योंकि 'घटोऽस्ति' इत्याकारक अस्तिता-प्रतीति के विषय-भूत 'अस्तिता' की तरह समान 'घटो नास्ति' इत्याकारक 'नास्तिता'-प्रतीति का विषयभूत नास्तिता-धर्म भी घट का ही धर्म है. यदि नास्तित्व आधार(भूतलका) धर्म होकर भी आधेय (घटादि) के साथ समानाधिकरण हो सकता है तब तो,अस्तित्व को भी आधार का धर्म मान लेने में कोई विरोध नहीं होना चाहिए. और फलस्वरूप अस्तित्व तथा नास्तित्व इन दोनों धर्मो से शून्य होने के कारण घटपटादि द्रव्य खपुष्पवत् असत् हो जायेंगे. इसी प्रकार 'नास्तित्व' आधार तथा आधेय—इन दोनों का धर्म भी नहीं हो सकता है क्योंकि तब तो उपरोक्त युक्ति द्वारा अस्तित्व को भी उभय धर्म मानना पड़ेगा.

---

१. प्रथम भाग, पृ० ३६७.

इस अभाव प्रमेय को लेकर दार्शनिकों में काफी विचारविमर्श हुआ है. प्रभाकर मीमांसक अभाव के संपूर्ण द्वेषी हैं, वे अभाव को नहीं मानते. बौद्ध दार्शनिक भी अभाव को कल्पित पदार्थ मानते हैं. न्याय-वैशेषिक तथा वेदान्ती अभाव को भाव से भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ स्वीकार करते हैं. सांख्य इसे अधिकरण स्वरूप मानते हैं. जैनमतानुसार अभाव वस्तु का अभावांश है.

इस अभाव प्रमेय के भेद को लेकर भी दार्शनिकों में मतभेद विद्यमान है. वैशेषिक संप्रदाय में प्रागभावादि भेद से अभाव को चार प्रकार का माना गया है. नव्य नैयायिक गंगेश प्रभृति आचार्यों ने अभाव के चार प्रकार ही माने हैं. प्राचीन नैयायिक उदयनाचार्य ने भी स्वरचित लक्षणावली में अभाव के चातुर्विध्य का ही प्रतिपादन किया है. वाचस्पति मिश्र ने भी इसी बात का समर्थन किया है. किन्तु जयन्त भट्ट के मतानुसार अभाव द्विविध है—प्रागभाव और ध्वंस. वे अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव को स्वतन्त्र अभाव नहीं मानते किन्तु प्रागभाव को ही उक्त दोनों अभावों के स्थान में मानते हैं. जैन-सिद्धान्तानुसार भी अभाव चार प्रकार का है, जैसे—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव. पदार्थ का पूर्व में अनस्तित्व ही प्रागभाव है, अर्थात् जिसका विनाश होने पर कार्य की उत्पत्ति हो वह पदार्थ उस कार्य-का प्रागभाव है, जैसे घट मृत्पिण्डविनाश के द्वारा उत्पन्न होता है अतः मृत्पिण्ड घट का प्रागभाव है. जैसाकि वादि-देव-सूरि ने अपने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार[1] में कहा है—'यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागभावः' कोई भी कार्य अपनी उत्पत्ति के पहले असत् होता है, वह कारणों से उत्पन्न होता है. कार्य का अपनी उत्पत्ति के पहले न होना ही प्रागभाव कहलाता है. यह अभाव भावान्तर रूप होता है. यह तो ध्रुव सत्य है कि किसी भी द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती. द्रव्य तो अनादि-अनन्त है. उत्पत्ति होती है पर्याय की. द्रव्य अपने द्रव्यरूप से कारण होता है, और पर्यायरूप से कार्य. जो प्रायः उत्पन्न होने जा रहा है वह उत्पत्ति के पूर्व पर्याय रूप में नहीं था. अतः उसका जो अभाव वही प्रागभाव है. यह प्रागभाव पूर्वपर्यायरूप होता है, अर्थात् घट-पर्याय जब तक उत्पन्न नहीं हुआ तब तक वह असत् है और जिस मिट्टी द्रव्य से वह उत्पन्न होने वाला है उस द्रव्य का घट से पहले का पर्याय घट का प्रागभाव कहा जाता है. अर्थात् वही पर्याय नष्ट होकर घटपर्याय बनता है. अतः वह पर्याय घट-प्रागभाव है.

इसी तरह अत्यन्त सूक्ष्म काल की दृष्टि से पूर्वपर्याय ही उत्तरपर्याय का प्रागभाव है और सन्तति की दृष्टि से यह प्रागभाव अनादि भी कहा जाता है. पूर्वपर्याय का प्रागभाव तत्पूर्वपर्याय है, तथा तत्पूर्वपर्याय का प्रागभाव उससे भी पूर्व का पर्याय होगा, इस तरह सन्तति की दृष्टि से यह अनादि होता है. यदि कार्य-पर्याय का प्रागभाव नहीं माना जाता है, तो कार्यपर्याय अनादि हो जायगा और द्रव्य में त्रिकालवर्ती सभी पर्यायों का एक काल में प्रकट सद्भाव मानना होगा, जो कि सर्वथा प्रतीति-विरुद्ध है.

जिसकी उत्पत्ति से कार्य का अवश्य विनाश हो, वह उस कार्यका प्रध्वंसाभाव है. जैसे कपाल-समुदाय की उत्पत्ति होने से नियमतः घटका विनाश होता है, अतः कपालसमुदाय ही घट का प्रध्वंसाभाव है. जैसा कि वादि देवसूरिने कहा है—'यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभावः'.[2] द्रव्य का विनाश नहीं होता किन्तु विनाश होता है पर्याय का. अतः कारण-पर्याय का नाश कार्यपर्यायरूप होता है. कारण नष्ट होकर कार्यरूप बन जाता है. कोई भी विनाश सर्वथा अभावरूप या तुच्छ न होकर उत्तर पर्यायरूप होता है. घट पर्याय नष्टहोकर कपाल-पर्याय बनता है, अतः घट का विनाश कपालरूप ही फलित होता है.

तात्पर्य यह है कि पूर्वपर्याय का नाश उत्तरपर्यायरूप होता है. यदि प्रागभाव को न माना जाय तो कार्यभूत द्रव्य घट-पटादि अनादि हो जायगा, और अनादि पदार्थ का नाश नहीं होता है. अतः घट पटादि की नित्यत्वापत्ति होगी. प्रध्वंसा-भाव को न स्वीकार करने पर कार्यभूत घट-पटादि अनन्त हो जायेंगे. जैसा कि स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा[3] में

१. तृतीय परिच्छेद, सूत्र ५९.

२. प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार, तृतीय परिच्छेद, सूत्र ६१.

३. कारिका १०.

में समवाय है, उसका समवाय कभी भी पुद्गल में नहीं हो सकता, अतः यह अत्यन्ताभाव कहलाता है. यदि अत्यन्ताभाव का लोप कर दिया जाय तो किसी भी द्रव्य का कोई असाधारण स्वरूप नहीं रह जायगा. सब द्रव्य सर्वात्मक हो जायेंगे.

अत्यन्ताभाव के कारण ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं हो पाता. द्रव्य चाहे सजातीय हो या विजातीय, उसका अपना प्रतिनियत अखण्ड स्वरूप होता है. एक द्रव्य दूसरे में कभी भी ऐसा विलीन नहीं होता जिससे कि उसकी सत्ता ही समाप्त हो जाय.

इस लेख में हमने अभाव प्रमेय को लेकर विचार किया. उसके ग्राहक-प्रमाण के सम्बन्ध में विस्तृत विचार यहाँ इष्ट नहीं है. अभावरूप प्रमेय के ग्राहक-प्रमाण के बारे में अनेक प्रकार के मत दार्शनिकों में पाये जाते हैं. मीमांसक कुमारिल के अनुसार अभाव प्रमेय अनुपलब्धिप्रमाण-ग्राह्य है. बौद्ध, अपने कल्पित अभावका ग्यारह प्रकार की अनुपलब्धियों द्वारा अनुमेय मानते हैं. वेदान्तियों के मत में घटाभाव पटाभाव आदि अभावों के साथ इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध संभव नहीं होने से प्रत्यक्ष के द्वारा अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता है, अतः कुमारिल का अनुसरण करते हुए वे अभाव के ग्रहण के लिये अभाव या अनुपलब्धि नामक एक पृथक् मानते हैं. किन्तु नैयायिक अभाव ग्रहण का प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा ही मानते हैं. और सांख्य ने भी उसको प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही माना है. परन्तु उसके उपपादन का मार्ग भिन्न है. जैन मतानुसार अभाव को प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा ग्राह्य माना गया है. जैसा कि वादी देवसूरि ने स्याद्वाद-रत्नाकर में कहा है—'अभाव-प्रमाणं तु प्रत्यक्षादावेवान्तर्भवतीति'. स्थानाभाव के कारण इन मान्यताओं पर ऊहापोह करना प्रस्तुत प्रसंग में सम्भव नहीं है.
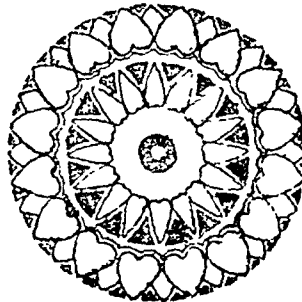
डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री
एम० ए० पी-एच० डी०, शास्त्राचार्य, वेदान्तवारिधि, न्यायतीर्थ

# श्रावकधर्म

जैनधर्म के अनुसार साधना का उद्देश्य किसी वाह्य वस्तु की प्राप्ति करना नहीं, वरन् बाह्य प्रभाव के कारण आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप छिपा हुआ है, उसे प्रकट करना है. जब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तो वही परमात्मा बन जाता है. परमात्मपद की प्राप्ति ही जैन-साधना का लक्ष्य है. इसकी प्राप्ति के लिये जीव अपने विकारों को दूर करता हुआ क्रमशः आगे बढ़ता है.

जैनसंघ में गृहत्यागी और गृहस्थ दोनों वर्गों को स्थान दिया गया है. अतएव स्वाभाविक है कि साधकों के स्तरभेद के कारण उनकी साधना के स्तर में भी भिन्नता हो. यही कारण है कि जैनशास्त्रों में मुनिधर्म और गृहस्थ-धर्म का पृथक्-पृथक् निरूपण किया गया है. प्रस्तुत निबंध में गृहस्थधर्मसाधना पर ही प्रकाश डाला जाएगा.

गृहस्थधर्म को संयमासंयम, देशविरति, देशचारित्र आदि भी कहते हैं. यह सर्वविदित है कि श्रमण-परम्परा में त्याग पर अधिक बल दिया गया है.

यहां विकास का अर्थ आन्तरिक समृद्धि है और यदि बाह्य सुख-सामग्री उसमें बाधक है तो उसे भी हेय बताया गया है. फिर भी जैन-परम्परा ने आध्यात्मिक विकास की मध्यम श्रेणी के रूप में एक ऐसी भूमिका को स्वीकार किया है जहाँ त्याग और भोग का सुन्दर समन्वय है. बौद्धसंघ में केवल भिक्षु ही सम्मिलित किये जाते हैं, गृहस्थों के लिये स्थान नहीं है. किन्तु जैनसंघ में दोनों सम्मिलित हैं. जहाँ तक मुनि की चर्या का प्रश्न है जैन-परम्परा ने उसे अत्यन्त कठोर तथा उच्चस्तर पर रखा है. बौद्ध-भिक्षु अपनी चर्या में रहता हुआ भी अनेक प्रवृत्तियों में भाग ले सकता है किन्तु जैन मुनि ऐसा नहीं कर सकता. परिणामस्वरूप जहाँ तप और त्याग की आध्यात्मिक ज्योति को प्रज्वलित रखना साधु-संस्था का कार्य है, संघ के भरण-पोषण एवं बाह्य सुविधाओं का ध्यान रखना श्रावक-संस्था का कार्य है.

बौद्धधर्म में भी साधना-मार्ग के रूप में श्रावक-यान का निर्देश मिलता है. वहां श्रावक शब्द का अर्थ है, वह साधक जो दूसरों से सुनकर ज्ञान प्राप्त करता है और साधना के पथ पर अग्रसर होता हुआ निर्वाण अवस्था में पहुचता है. उसकी तुलना में वहाँ दो यान और हैं. प्रत्येक बुद्धयान और बोधिसत्वयान. प्रत्येक बुद्ध अपने आप ज्ञान प्राप्त करता है और बोधिसत्व अपने कल्याण के साथ दूसरों के कल्याण में भी प्रवृत्त होता है. इस प्रकार बोधिसत्व और शेष दो में लक्ष्य का भेद है. जैन परम्परा में जो स्थान तीर्थंकर का है बौद्ध-परम्परा में वही बुद्ध का है. श्रावक और प्रत्येक बुद्ध में ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से भेद है. जहाँ तक उनके शील या चरित्र का प्रश्न है कोई भेद नहीं है किन्तु जैन परम्परा में श्रावक और मुनि में मुख्य भेद चरित्र के स्तर का है.

जैन-साहित्य में श्रावक शब्द के दो अर्थ मिलते हैं—पहला, 'श्रि' धातु से बना है, जिसका अर्थ है सुनना. जो शास्त्रों का श्रवण करता है और तदनुसार चलने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है वह श्रावक है. श्रावक शब्द से साधारणतया यही अर्थ ग्रहण किया जाता है. प्रतीत होता है जैन परम्परा में श्रावकों द्वारा स्वयं शास्त्राध्ययन की परिपाटी नहीं

रही. यत्र तत्र साधुओं के अध्ययन और उन्हें पढ़ाने वाले वाचनाचार्य का वर्णन मिलता है. अध्ययन करने वाले साधुओं की योग्यता तथा आवश्यक तपोनुष्ठान का विधान भी किया गया है किन्तु श्रावकों का निर्देश शास्त्राध्ययन के सम्बन्ध में कहीं नहीं मिलता. इस का दूसरा अर्थ 'श्रापाके' धातु के आधार पर किया जाता है. इस धातु से संस्कृत रूप 'श्रापक' बनता है जिसका प्राकृत में 'शावय' हो सकता है किन्तु संस्कृत में 'श्रावक' शब्द के साथ इसकी संगति नहीं बैठती. इन शब्द का आशय है वह व्यक्ति, जो भोजन पकाता है, इसके विपरीत साधु भिक्षा पर निर्वाह करते हैं, पकाते नहीं.

श्रावक के लिये बारह व्रतों का विधान है. उनमें से प्रथम पांच अणुव्रत या शीलव्रत कहे जाते हैं. अणुव्रत का अर्थ है छोटे व्रत. साधु हिंसा आदि का पूर्ण परित्याग करता है अतः उसके व्रत महाव्रत कहे जाते हैं. श्रावक उनका पालन मर्यादित रूप में करता है अतः उसके व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं. शील का अर्थ है आचार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच चरित्र या आचार की आधार शिला है. इसीलिए इनको शील कहा जाता है. बौद्ध साहित्य में भी इनके लिये यही नाम मिलता है. योग दर्शन में इन्हें यम कहा गया है और अष्टांग योग की आधार शिला माना गया है और कहा गया है कि ये ऐसे व्रत हैं जो सार्वभौम हैं—व्यक्ति देश-काल तथा परिस्थिति की मर्यादा से परे हैं अर्थात् धर्माधर्म या कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का निरूपण करते समय अन्य नियमों की जांच अहिंसा आदि के आधार पर करना चाहिए किन्तु इन्हें किसी दूसरे के लिये गौण नहीं बनाया जा सकता. हिंसा प्रत्येक अवस्था में पाप है उसके लिये कोई अपवाद नहीं है. कोई व्यक्ति हो या कैसी ही परिस्थिति हो, हिंसा पाप है, अहिंसा धर्म है. सत्य आदि के लिये भी यही बात है. किन्तु इनका पूर्णतया पालन वहीं हो सकता है जहाँ सब प्रवृत्तियां बन्द हो जाती हैं. हमारी प्रत्येक हलचल में सूक्ष्म या स्थूल हिंसा होती रहती है अतः साधक के लिये विधान है कि उस लक्ष्य पर दृष्टि रखकर यथाशक्ति आगे बढ़ता चला जाय. साधु औरश्र ावक इसी प्रगति की दो कक्षाएं हैं. श्रावक के शेष सात व्रतों को शिक्षा-व्रत कहा गया है वे जीवन में अनुशासन लाते हैं. इनमें से प्रथम तीन बाह्य अनुशासन के लिये हैं और हमारी व्यावसायिक हलचल, दैनन्दिन रहन-सहन एवं शरीर-संचालन पर नियंत्रण करते हैं और शेष चार आंतरिक शुद्धि के लिये हैं. इन दोनों श्रेणियों में विभाजन करने के लिये प्रथम तीन को गुण व्रत और शेष चार को शिक्षा व्रत भी कहा जाता है.

इन बारह व्रतों के अतिरिक्त पूर्व भूमिका के रूप में सम्यक्त्व-व्रत है जहां साधक की दृष्टि अन्तर्मुखी बन जाती है और वह आन्तरिक विकास को अधिक महत्त्व देने लगता है, इसका निरूपण पहले किया जा चुका है. बारह व्रतों का अनुष्ठान करता हुआ श्रावक आध्यात्मिक शक्ति का संचय करता जाता है. उत्साह बढ़ने पर वह घर का भार पुत्र को सौंप कर धर्म-स्थान में पहुंच जाता है और सारा समय तपस्या और आत्म-चिन्तन में बिताने लगता है. उस समय वह ग्यारह प्रतिमायें स्वीकार करता है और उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ अपनी चर्या को मुनि के समान बना लेता है. जब वह यह देखता कि मन में उत्साह होने पर भी शरीर कृश हो गया है और बल क्षीण होता जा रहा है तो नहीं चाहता कि शारीरिक दुर्बलता मन को प्रभावित करे और आत्म-चिन्तन के स्थान पर शारीरिक चिन्तायें होने लगें. इस विचार के साथ वह शरीर का ममत्व छोड़ देता है. आहार का परित्याग करके निरन्तर आत्म-चिन्तन में लीन रहता है. जहाँ वह जीवन की इच्छा का परित्याग कर देता है, वहाँ यह भी नहीं चाहता कि मृत्यु शीघ्र आ जाय. जीवन और मृत्यु, निन्दा और स्तुति, सुख और दुःख सबके प्रति समभाव रखता हुआ समय आने पर शान्तचित्त से स्थूल शरीर को छोड़ देता है. श्रावक की इस दिनचर्या का वर्णन उपासकदशांग के प्रथम आनन्द नामक अध्ययन में है. अब हम संक्षेप में इन व्रतों का निरूपण करेंगे. प्रत्येक व्रत का प्रतिपादन दो भागों में विभक्त है. पहला भाग विधान के रूप में है. जहां साधक अपनी व्यवहार मर्यादा का निश्चय करता है उस मर्यादा को संकुचित करना उसकी अपनी इच्छा एवं उत्साह पर निर्भर है किन्तु मर्यादा से आगे बढ़ने पर व्रत टूट जाता है. दूसरे भाग में उन दोषों का प्रतिपादन किया गया है जिनकी संभावना बनी रहती है और कहा गया है कि श्रावक को उन्हें जानना चाहिए किन्तु आचरण न करना चाहिए. श्रावक के लिये दिनचर्या के रूप में प्रतिक्रमण का विधान है. उसमें वह प्रतिदिन इन व्रतों एवं संभावित दोषों को दोहराता है किसी

प्रकार का दोष ध्यान में आने पर प्रायश्चित्त करता है और भविष्य में उनके निर्दोष पालन की घोषणा करता है. इन सम्भावित दोषों को अतिचार कहा गया है.

जैन शास्त्रों में व्रत के अतिक्रमण की चार कोटियां बताई गई हैं :

१. अतिक्रम-व्रत को उल्लंघन करने का मन में ज्ञात या अज्ञात रूप से विचार आना.
२. व्यतिक्रम-उल्लंघन करने के लिये प्रवृत्ति.
३. अतिचार-व्रत का आंशिक रूप में उल्लंघन.
४, अनाचार-व्रत का पूर्णतया टूट जाना.

अतिचार की सीमा वहीं तक है जब कोई दोष अनजान में लग जाता है, जान-बूझ कर व्रतभंग करने पर अनाचार हो जाता है.

### अहिंसा-व्रत

अहिंसा जैन-परम्परा का मूल है. जैनधर्म और दर्शन का समस्त विकास इसी मूल तत्त्व को लेकर हुआ है. आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर ने घोषणा की है कि जो अरिहन्त भूतकाल में हो चुके हैं, जो वर्तमान में हैं तथा जो भविष्य में होंगे उन सबका एक ही कथन है, एक ही उपदेश, एक ही प्रतिपादन है तथा एक ही उद्घोष है कि विश्व में जितने प्राणि, भूत, जीव या सत्त्व हैं किसी को नहीं मारना चाहिए, किसी को नहीं सताना चाहिए. किसी को कष्ट या पीड़ा नहीं देनी चाहिए. जीवन के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन समता के आधार पर करते हुए उन्होंने कहा—जब तुम किसी को मारना, सताना या पीड़ा देना चाहते हो तो उसके स्थान पर अपने को रखकर सोचो, जिस प्रकार यदि कोई तुम्हें मारे या कष्ट देवे तो अच्छा नहीं लगता. इसी सूत्र में भगवान् ने फिर कहा है—अरे मानव, अपने आपसे युद्ध कर, बाह्य युद्धों से कोई लाभ नहीं.

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अहिंसा के दो रूप उपस्थित किये. एक बाह्य रूप जिसका अर्थ है किसी प्राणी को कष्ट न देना. दूसरा आभ्यन्तर रूप है जिसका अर्थ है किसी के प्रति दुर्भावना न रखना, किसी का बुरा न सोचना.

दशवैकालिक सूत्र में धर्म को उत्कृष्ट मंगल बताया है. इसका अर्थ है जो आदि, मध्य तथा अंत, तीनों अवस्थाओं में मंगल रूप हो वही धर्म है उसके तीन अंग बताए गए हैं—१. अहिंसा, २. संयम, ३. तप. वास्तव में देखा जाय तो संयम और तप अहिंसा के दो पहलू हैं. संयम का सम्बन्ध बाह्य प्रवृत्तियों के साथ है और तप का आन्तरिक मलिनताओं या कुसंस्कारों के साथ. उपर्युक्त अणुव्रतों तथा शिक्षाव्रतों का विभाजन इन्हीं दो रूपों को सामने रखकर किया गया है. संयम और तप की पूर्णता के रूप में ही मुनियों के लिये एक ओर महाव्रत तथा समिति, गुप्ति आदि उनकी सहायक क्रियाओं का विधान है और दूसरी ओर बाह्य तथा आभ्यन्तर अनेक प्रकार की तपस्याओं का विधान है. पांच महाव्रतों में भी वस्तुतः देखा जाय तो सत्य और अस्तेय, बाह्य अहिंसा अर्थात् व्यवहार के साथ सम्बन्ध रखते हैं, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आन्तरिक अहिंसा अर्थात् विचार के साथ सम्बन्ध रखते हैं.

व्यास ने पातञ्जल योग के भाष्य में कहा है ..."अहिंसा भूतानामनभिद्रोहः." द्रोह का अर्थ है ईर्ष्या या द्वेष बुद्धि. इसमें मुख्यतया विचारपक्ष को सामने रक्खा गया है, जैन-दर्शन विचार और व्यवहार दोनों पर बल देता है.

जैन-दर्शन का सर्वस्व स्याद्वाद है. वह विचारों की अहिंसा है. इसका अर्थ है व्यक्ति अपने विचारों को जितना महत्त्व देता है दूसरों के विचारों को भी उतना दे. गलत सिद्ध होने पर अपने विचारों को छोड़ने पर तैयार रहे और वास्तविक सिद्ध होने पर दूसरे के विचारों का स्वागत करे. जैन-दर्शन का कथन है कि व्यक्ति अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार विभिन्न दृष्टिकोणों को उपस्थित करते हैं. वे दृष्टिकोण मिथ्या नहीं होते किन्तु सापेक्ष होते हैं. परिस्थिति तथा समय के अनुसार उनमें से किसी एक का चुनाव किया जाता है. इस चुनाव को द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव इन शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है.

उमास्वाति ने अपने 'तत्त्वार्थसूत्र' में हिंसा की व्याख्या करते हुए कहा है—'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणम् हिंसा !" इस व्याख्या के दो भाग हैं, पहला भाग है—'प्रमत्तयोगात्'. योग का अर्थ है मन, वचन और काया की प्रवृत्ति, प्रमत्त का अर्थ है प्रमाद से युक्त. वे पांच हैं :

१. मद्य—अर्थात् ऐसी वस्तुएं जिनसे मनुष्य की विवेक-शक्ति कुण्ठित हो जाती है.

२. विषय—रूप, रस, गन्ध आदि इन्द्रियों के विषय, जिनके आकर्षण में पड़ कर मनुष्य अपने हिताहित को भूल जाता है.

३. कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ आदि मनोवेग, जो मनुष्य को पागल बना देते हैं.

४. निद्रा—आलस्य या अकर्मण्यता.

५. विकथा—स्त्रियों के सौन्दर्य, देश-विदेश की घटनाएं, भोजन सम्बन्धी स्वाद तथा राजकीय व्यवस्था आदि विषयों को लेकर व्यर्थ की चर्चायें करते रहना. प्रमाद की अवस्था में मन, वचन और शरीर की ऐसी प्रवृत्ति करना जिससे दूसरे के प्राण पर आघात पहुंचे—हिंसा है. इसका अर्थ है यदि हितबुद्धि से प्रेरित होकर कोई कार्य किया जाता है और उससे दूसरे को कष्ट पहुंचता है तो वह हिंसा नहीं है.

उपरोक्त व्याख्या में प्राणशब्द अत्यन्त व्यापक है. जैन-शास्त्रों में प्राण के दस भेद हैं—पांच इन्द्रियां, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास और आयु. इनका व्यपरोपण दो प्रकार से होता है. आघात द्वारा तथा प्रतिबन्ध द्वारा. दूसरे को ऐसी चोट पहुंचाना जिससे दिखना या सुनना बन्द हो जाय, आघात है. दूसरे को देखने या सुनने से रोकना, उसकी स्वतन्त्र वृत्तियों में बाधा डालना प्रतिबन्ध है. दूसरे के स्वतन्त्र चिन्तन, भाषण अथवा यातायात में रुकावट डालना भी प्रतिबन्ध के अन्तर्गत है और वह हिंसा है. दूसरे की खुली हवा को रोकना, उसे दूषित करना, श्वासोच्छ्वास पर प्रतिबन्ध है.

यहाँ यह प्रश्न होता है कि एक नागरिक अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्तियों के कारण दूसरे नागरिक के रहन-सहन एवं सुख-सुविधा में बाधा डालता है, उसके वैयक्तिक जीवन में हस्तक्षेप करता है, चोरी, डकैती तथा अन्य अपराधों द्वारा शान्ति भंग करता है, क्या उस पर नियन्त्रण करना आवश्यक नहीं है ? यहीं साधु और श्रावक की चर्या में अन्तर हो जाता है. साधु किसी पर हिंसात्मक नियंत्रण नहीं करता. वह अपराधी को भी उसके कल्याण की बुद्धि से उपदेश द्वारा समझाता है, उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहता. इसके विपरीत श्रावक को इस बात की छूट रहती है वह अपराधी को दण्ड दे सकता है. नागरिक जीवन में बाधा डालने वाले पर हिंसात्मक नियन्त्रण रख सकता है.

साधु और श्रावक की अहिंसा में एक बात का अन्तर और है—जैन-धर्म के अनुसार पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा वनस्पतियों में भी जीव हैं और उन्हें स्थावर कहा गया है और चलने फिरने वाले जीवों को त्रस कहा गया है. साधु अपने लिये, भोजन बनाना, पकाना, मकान बनाना, आदि कोई प्रवृत्ति नहीं करता, वह भिक्षा पर निर्वाह करता है, इसके विपरीत श्रावक अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिये मर्यादित रूप में प्रवृत्तियां करता है और उनमें पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि स्थावर जीवों की हिंसा होती ही रहती है. उस सूक्ष्म हिंसा का उससे त्याग नहीं होता. वह केवल स्थूल अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करता है. इस प्रकार श्रावक की चर्या में दो छूटें हैं. पहली अपराधी को दण्ड देने की और दूसरी सूक्ष्म हिंसा की. इसी आधार पर श्रावक के व्रतों को सागारी अर्थात् छूट वाले कहा जाता है. इसके विपरीत साधु के व्रतों को अनागार कहा जाता है.

जीवनव्यवहार के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण मिलते हैं. पहला दृष्टिकोण मनुस्मृति में आया है जहां कहा गया है—'जीवो जीवस्य जीवनम्'. एक जीव दूसरे जीव का जीवन है अर्थात् भोजन है. इसमें यह प्रकट किया गया है कि प्राणियों का जीवन परस्पर हिंसा पर टिका हुआ है. आर्थिक क्षेत्र में इसी हिंसा को शोषण कहा जाता है और राज-नीतिक क्षेत्र में अत्याचार. जब उसका व्यवहार चोर, डाकू, आदि करते हैं तो उसे अपराध कहा जाता है. दूसरा

दृष्टिकोण परस्पर सहयोग का है. एक व्यक्ति को भोजन की आवश्यकता है और दूसरे को वस्त्र की. भोजन तैयार करने वाला अपने भोजन का कुछ अंश वस्त्र तैयार करने वाले को दे देता है और उससे वस्त्र प्राप्त करता है. इस प्रकार विनिमय के द्वारा बिना किसी हिंसा के दोनों की आवश्यकता पूर्ण हो जाती है. श्रावक का जीवन परस्पर सहयोग के इसी सिद्धांत पर आधारित है.

## करण और योग

पहले बताया जा चुका है कि मनुष्य की प्रवृत्तियां साधना की अपेक्षा से तीन प्रकार की होती हैं—मानसिक, वाचिक, और कायिक. इन्हें जैन-परम्परा में योग कहा गया है. इसी प्रकार क्रिया की अपेक्षा से भी उसके तीन प्रकार हैं—स्वयं करना, दूसरे से कराना और करने वाले का अनुमोदन करना. इन्हें करण कहा गया है.

## अहिंसा का विध्यात्मक रूप

अहिंसा को जीवन में उतारने के लिये मैत्री-भावना का विधान किया गया है. श्रावक प्रतिदिन घोषणा करता है–मैं सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करें. मेरी सबसे मित्रता है, किसीसे वैर नहीं है. इस घोषणा में श्रावक सर्वप्रथम स्वयं क्षमा प्रदान करता है और कहता है कि मुझसे किसी को डरने की आवश्यकता नहीं है, मैं सबको अभय प्रदान करता हूँ. दूसरे वाक्य द्वारा वह अन्य प्राणियों से क्षमा-याचना करता है और स्वयं निर्भय होना चाहता है. वह ऐसे जीवन की कामना करता है जहाँ वह न शोषक बने और न शोषित, न भयोत्पादक बने और न भयभीत, न त्रासक बने और न त्रस्त, न उत्पीड़क बने न पीड़ित. तीसरे चरण में वह सबसे मित्रता की घोषणा करता है. अर्थात् सबको समता की दृष्टि से देखता है. मित्रता का मूल आधार है प्रतिदान की आशा न रखते हुए दूसरे को अधिक से अधिक प्रदान करने की भावना. एक मित्र को दूसरे मित्र की सुख-सुविधा व आवश्यकता का जितना ध्यान रहता है, उतना अपना नहीं. इसके विपरीत जब अपनी सुख-सुविधा के लिये दूसरे का हक छीनने की भावना आ जाती है, तभी शत्रुता का मिश्रण होने लगता है. मित्रता की घोषणा द्वारा श्रावक अन्य सब प्राणियों का हितैषी एवं रक्षक बनने की प्रतिज्ञा करता है. चौथा चरण है—मेरा किसी से वैर नहीं है. वह कहता है—ईर्ष्या, द्वेष, मनोमालिन्य आदि शत्रुता के जितने कारण हैं, मैं उन सब को धो चुका हूँ और शुद्ध एवं पवित्र हृदय को लेकर विश्व के सामने उपस्थित होता हूं. जो व्यक्ति कम से कम वर्ष में एक बार इस प्रकार घोषणा नहीं करता, उसे अपने आप को जैन कहने का अधिकार नहीं है. यदि प्रत्येक व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र इस घोषणा को अपना लें तो विश्व की अनेक समस्याएं सुलझ जायें.

विभिन्न व्यक्तियों की दृष्टि से मैत्री के चार रूप बताये गये हैं. इन्हीं को बौद्ध धर्म में ब्रह्मविहार के रूप में कहा गया है और योग-दर्शन में चित्त को प्रसन्न एवं निर्मल बनाने के रूप में.

१. **मैत्री**— समस्त प्राणियों के साथ मित्रता तथा उनके सुख की कामना. योग-दर्शन में सुखसम्पन्न व्यक्तियों के प्रति मित्रता का निर्देश किया गया है. जिस प्रकार हमें मित्र के सुख-सम्पत्ति तथा स्वास्थ्य से प्रसन्नता होती है इसी प्रकार सबकी उन्नति पर प्रसन्न होना सर्वमैत्री है. इस भावना द्वारा व्यक्ति ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करता है, अर्थात् दूसरों की उन्नति से उसके मन में दुःख नहीं होता प्रत्युत प्रसन्नता होती है. दूसरी ओर वह संकुचित स्वार्थ से ऊपर उठने लगता है और वैयक्तिक उन्नति के स्थान पर सबकी उन्नति चाहने लगता है.

२. **करुणा**— दुखी को देखकर मन में सहानुभूति तथा संवेदना होना, उसके दुःख को दूर करने के लिये प्रयत्नशील होना. प्रायः यह देखा गया है कि दूसरे को कष्ट या संकट में देख कर सर्वसाधारण उससे घृणा करने लगता है. सहयोगी तथा मित्रजन उससे कतराने लगते हैं. इतना ही नहीं, उसकी विवशताओं से लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं. यह एक प्रकार की हिंसा-वृत्ति है. अहिंसा के साधक को दुखी का दुःख दूर करने तथा उसके कष्ट में हिस्सा बंटाने की भावना रखनी चाहिए.

३. मुदिता—जो व्यक्ति विद्या, त्याग अथवा किसी अन्य गुण के कारण आगे बढ़ा हुआ है उसे देख कर प्रायः हमारे मन में असूया उत्पन्न होती है. अर्थात् हम उसमें दोष निकालने का प्रयत्न करते हैं. यदि वह त्यागी है तो उसे ढोंगी कहने लगते हैं, यदि विद्वान है तो रट्टू. इसी प्रकार समाज-सेवक, नेता, दानी आदि प्रत्येक में कोई न कोई दोष निकालने की चेष्टा की जाती है. यह एक प्रकार की असहिष्णुता है और छिपी हुई हिंसा का बाह्य रूप है. इसे दूर करने के लिए गुणी को देखकर प्रसन्न होने की आदत होनी चाहिए. उसे देखकर झुक जाना और उसके गुणों को अपने में लाना मुदिता है. दोष और गुण प्रत्येक व्यक्ति में रहते हैं, हमारा ध्यान गुणों की ओर जाना चाहिए, दोषों की ओर नहीं.

४. उपेक्षा—जो व्यक्ति हमारे प्रतिकूल चलता है, हमसे शत्रुता करता है, हमें हानि पहुँचाने की चेष्टा करता है, उसके प्रति भी द्वेष न कर के तटस्थ वृत्ति रखना उपेक्षा है.

इन चार भावनाओं से क्रमशः ईर्ष्या, घृणा, असूया और द्वेष पर विजय प्राप्त होती है. ये सब आत्मा के मल हैं और उसे अशान्त बनाये रखते हैं.

## अहिंसा और कायरता

अहिंसा पर प्रायः आक्षेप किया जाता है कि यह कायरता है. शत्रु के सामने आने पर जो व्यक्ति संघर्ष की हिम्मत नहीं रखता, वही अहिंसा को अपनाता है; किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है. कायर वह होता है जो मन में प्रतिकार की भावना होने पर भी प्रत्याक्रमण करने से डरता है. ऐसे व्यक्ति का आक्रमण न करना या शत्रु के सामने झुक जाना अहिंसा नहीं है, वह तो आक्रमण से भी बड़ी हिंसा है. महात्मा गांधी का कथन है कि आक्रमक या क्रूर व्यक्ति विचारों में परिवर्तन होने पर अहिंसक बन सकता है किन्तु कायर के लिये अहिंसक बनना असम्भव है. अहिंसा की पहली शर्त शत्रु के प्रति मित्रता या प्रेम भावना है. छोटा बालक बहुत-सी वस्तुएं तोड़-फोड़ डालता है, माता को उससे परेशानी होती है, किन्तु वह मुस्करा कर टाल देती है. बालक के भोलेपन पर उसका प्रेम और भी बढ़ जाता है. मित्रता या प्रेम की यह पहली शर्त है दूसरे के द्वारा हानि पहुँचाने पर क्रोध न आना प्रत्युत उपस्थित किये गये कष्टों, झंझटों तथा हानियों से संघर्ष करने में अधिकाधिक आनन्द अनुभव करना. अहिंसक शत्रु से डर कर शत्रु को क्षमा नहीं करता किन्तु उसकी भूल को दुर्बलता समझ कर क्षमा करता है.

अहिंसा की इस भूमि पर विरले ही पहुँचते हैं. जो व्यक्ति पूर्णतया अपरिग्रही हैं, अर्थात् जिन्हें धन-सम्पत्ति, मान-अपमान तथा अपने शरीर से भी ममत्व नहीं है, जो समस्त स्वार्थों को त्याग चुके हैं वे ही ऐसा कर सकते हैं. दूसरों के लिये अहिंसा ही दूसरी कोटि है कि निरपराध को दण्ड न दिया जाय किन्तु अपराधी का दमन करने के लिये हिंसा का प्रयोग किया जा सकता है. उसमें भी अपराधी को सुधारने या उसके कल्याण की भावना रहनी चाहिए उसे नष्ट करने की नहीं. द्वेषबुद्धि जितनी कम होगी व्यक्ति उतना ही अहिंसा की ओर अग्रसर कहा जायेगा.

भारतीय इतिहास में अनेक जैन राजा-मंत्री, सेनापति तथा बड़े-बड़े व्यापारी हो चुके हैं. समस्त प्रवृत्तियाँ करते हुए भी वे जैन बने रहे.

## अहिंसा और जीवन-निर्वाह

कुछ समय से यह प्रश्न उठा है कि भारत की जन-संख्या बहुत बढ़ गई है परिणाम स्वरूप खाद्य-सामग्री कम पड़ने लगी है अतः सरकार की ओर से मछलियाँ पालने तथा उन्हें खाने को प्रोत्साहन दिया जा रहा है. ऐसी स्थिति में एक जैन का क्या कर्त्तव्य है ?

खाद्य-सामग्री की कमी को दूर करने के अनेक उपाय हैं. भारत के क्षेत्रफल को देखते हुए कमी नहीं होनी चाहिए. उपज बढ़ाना तथा जन-संख्या की वृद्धि को रोकना आदि अनेक उपाय काम में लाये जा सकते हैं. उस चर्चा में न जा कर हम खाद्य संकट को वास्तविक मान कर चलते हैं.

जैन का अर्थ है वह व्यक्ति, जो जैन-सिद्धांतों में विश्वास रखता है. जो व्यक्ति मांसाहारी वेश्यागमन आदि को नहीं छोड़ता फिर भी जैन-सिद्धांत में अनुराग रखता है, उसे अपने आप को जैन कहने का अधिकार है, श्रावक, साधु तथा वीतराग की श्रेणियाँ उसके ऊपर हैं. मांसाहार बुरा होने पर भी करने या छोड़ने मात्र से कोई जैन या अजैन नहीं बनता. यह बात प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा और उत्साह पर निर्भर है कि वह त्याग के मार्ग पर कितना आगे बढ़ता है. साधु प्राण-संकट आने पर भी दूसरे की हिंसा नहीं करता, उसकी चर्या निरपवाद है, किन्तु श्रावक को आवश्यकतानुसार छूट रहती है. वह अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार ही व्रतों का पालन करता है. यदि वह मांसाहार को बुरा समझता है और प्राण-संकट आने पर भी उस ओर नहीं जाना चाहता तो वह उच्चादर्श है यदि इतनी शक्ति या साहस नहीं है तो हेय समझता हुआ भी वह उसका सेवन करेगा, किन्तु जब तक जैन-सिद्धांतों पर उसका विश्वास अक्षुण्ण है तब तक उसे जैन ही कहा जायेगा.

त्याग का सर्वोत्कृष्ट रूप तीन करण तीन योग से है. अर्थात् जहाँ साधक यह निश्चय करता है कि मैं किसी सावद्य प्रवृत्ति को मन, वचन और काया से न स्वयं करूंगा, न स्वयं कराऊँगा, और न करने वाले का अनुमोदन करूंगा. इस प्रकार का त्याग साधु का ही होता है क्योंकि वह सांसारिक उत्तरदायित्व को छोड़कर एकान्त आत्मचिन्तन में लीन रहने लगता है. परिवार या समाज से किसी प्रकार का लौकिक सम्बन्ध नहीं रखता, श्रावक का त्याग निम्न कोटि का होता है. बहुत से कार्य वह अपने हाथ से नहीं करता किन्तु दूसरे से कराने की छूट रखता है. बहुत से ऐसे हैं जो न करता कराता है किन्तु उनके अनुमोदन का त्याग नहीं करता. त्याग की इन कोटियों को लक्ष्य में रख कर शास्त्र में ४९ भंग किये गये हैं. सबसे स्थूल त्याग है एक करण एक योग अर्थात् अपने हाथ से स्वयं न करना. इसी प्रकार एक करण दो योग, एक करण तीन योग, दो करण एक योग आदि भंग बताये गये हैं. श्रावक प्रायः दो करण तीन योग से त्याग करता है अर्थात् मन वचन और काया से स्वयं नहीं करता तथा दूसरे से नहीं कराता, उसे अनुमोदन करने का परित्याग नहीं होता.

श्रावक अपने प्रथम अणुव्रत में यह निश्चय करता है कि मैं निरपराध त्रस जीवों की हिंसा नहीं करूँगा अर्थात् उन्हें जान-बूझ कर नहीं मारूंगा. इस व्रत के पाँच अतिचार हैं जिनकी तत्कालीन श्रावक के जीवन में सम्भावना बनी रहती थी वे इस प्रकार हैं—

१. बन्ध—पशु तथा नौकर चाकर आदि आश्रितजनों को कष्टदायी बन्धन में रखना. यह बन्धन शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक आदि अनेक प्रकार का हो सकता है.

२. वध—उन्हें बुरी तरह पीटना.

३. छविच्छेद—उनके हाथ, पांव आदि अंगों को काटना.

४. अतिभार—उन पर अधिक बोझ लादना. नौकरों से अधिक काम लेना भी अतिभार है.

५. भक्तपानविच्छेद—उन्हें समय पर भोजन तथा पानी न देना. नौकर को समय पर वेतन न देना जिससे उसे तथा घर वालों को कष्ट पहुँचे.

### सत्य-व्रत

श्रावक का दूसरा व्रत मृषावाद-विरमण अर्थात् असत्यभाषण का परित्याग है.

उमास्वाति ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'असदभिधानमनृतम्' असदभिधान के तीन अर्थ हैं (१) असत् अर्थात् जो बात नहीं है उसका कहना. (२) बात जैसी है उसे वैसी न कह कर दूसरे रूप में कहना, एक ही तथ्य को ऐसे रूप में भी उपस्थित किया जा सकता है जिससे सामने वाले पर अच्छा प्रभाव पड़े. उसी को बिगाड़ कर रखा जा सकता है जिससे सामने वाला नाराज हो जाय. सत्यवादी का कर्तव्य है कि वस्तु को वास्तविक रूप में रखे, उसे बनाने या बिगाड़ने का प्रयत्न न करे. (३) इसका तीसरा अर्थ है असत्-बुराई या दुर्भावना को लेकर किसी से कहना. यह

दुर्भावना दो प्रकार की है (१) स्वार्थसिद्धि-मूलक अर्थात् अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये दूसरे को गलत बात बताना. (२) द्वेपमूलक—दूसरे को हानि पहुँचाने की भावना.

इस व्रत का मुख्य सम्बन्ध भाषण के साथ है; किन्तु दुर्भावना से प्रेरित मानसिक चिन्तन तथा कायिक व्यापार भी इसमें आ जाते हैं.

सत्य की श्रेष्ठता के विषय में उपनिषद् में कहा है—'सत्यमेव जयते नानृतं' अर्थात् सत्य की जीत होती है, झूठ की नहीं. दूसरा वाक्य जैन-शास्त्रों में मिलता है—'सच्चं लोगम्मि सारभूयं'—अर्थात् सत्य ही दुनिया में सारभूत है. इन दोनों में भेद बताते हुए काका कालेलकर ने लिखा है कि प्रथम वाक्य में हिंसा मिली हुई है, जीत में हारने वाले की हिंसा छिपी हुई है. अहिंसक मार्ग तो वह है जहाँ शत्रु और मित्र दोनों की जीत होती है, हार किसी की नहीं होती. दूसरा वाक्य यह बताता है कि सत्य ही विश्व का सार है, उसी पर दुनिया टिकी हुई है. जिस प्रकार गन्ने का मूल्य उसके सार अर्थात् रस पर आश्रित है इसी प्रकार जीवन का मूल्य सत्य पर आधारित है. यहाँ जीत और हार का प्रश्न नहीं है.

उपनिषदों में सत्य को ईश्वर का रूप बताया गया है और उसे लक्ष्य में रख कर अभय अर्थात् अहिंसा का उपदेश दिया गया है. जैन-धर्म आचारप्रधान है अतः अहिंसा को सामने रख कर उस पर सत्य की प्रतिष्ठा करता है. उपनिषदों में विश्व के मूलतत्त्वों की खोज अर्थात् दर्शनशास्त्र की प्रधानता है. अतः वहां सत्य को आधार बनाकर अहिंसा का संदेश दिया गया है. इसी का दूसरा नाम एकता का दर्शन या अभेद का साक्षात्कार है, वहाँ भेदबुद्धि ही हिंसा है.

श्रावक अपने सत्य-व्रत में स्थूल-मृषावाद का त्याग करता है. उन दिनों स्थूल-मृषावाद के जो रूप थे, यहाँ उनकी गणना की गई है :

१. कन्यालीक—वैवाहिक संबन्ध के समय कन्या के विषय में झूठी बातें कहना. उसकी आयु, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि के विषय में दूसरे को धोखा देना. इस असत्य के परिणाम स्वरूप वर तथा कन्यापक्ष में ऐसी कटुता आजाती है कि कन्या का जीवन दूभर हो जाता है.

२. गवालीक—गाय, भैंस आदि पशुओं का लेन-देन करते समय झूठ बोलना. वर्तमान समय को लक्ष्य में रखकर कहा जाय तो क्रय-विक्रय संबन्धी सारा झूठ इसमें आजाता है.

३. भूम्यलीक—भूमि के संबन्ध में झूठ बोलना.

४. स्थापनमृषा—किसी की धरोहर या गिरवी रखी हुई वस्तु के लिये झूठ बोलना.

५. कूटसाक्षी—न्यायालय आदि में झूठी साक्षी देना.

उपरोक्त पाँचों बातें व्यवहारशुद्धि से संबन्ध रखती हैं और स्वस्थ समाज के लिये आवश्यक है. इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं :

१. सहसाभ्याख्यान—विना विचारे किसी पर झूठा आरोप लगाना.

२. रहस्याभ्याख्यान—राग में आकर विनोद के लिये किसी पति-पत्नी अथवा अन्य स्नेहियों को अलग कर देना, किंवा किसी के सामने दूसरे पर दोषारोपण करना.

३. स्वदारमन्त्रभेद—आपस में प्रीति टूट जाय, इस ख्याल से एक-दूसरे की चुगली खाना या किसी की गुप्त बात को प्रकट कर देना.

४. मिथ्योपदेश—सच्चा-झूठा समझा कर किसी को उल्टे रास्ते डालना.

५. कूट लेखक्रिया—मोहर, हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा-पढ़ी करना तथा खोटा सिक्का चलाना आदि.

तत्त्वार्थसूत्र में सहसाभ्याख्यान के स्थान पर न्यासापहार है, इसका अर्थ है किसी की धरोहर रख कर इंकार कर जाना.

## अचौर्य-व्रत

श्रावक का तीसरा व्रत अचौर्य है. वह स्थूल चोरी का त्याग करता है. इसके नीचे लिखे रूप हैं :

दूसरे के घर में सेंध लगाना, ताला तोड़ना या अपनी चाभी लगा कर खोलना, विना पूछे दूसरे की गांठ खोल कर चीज निकालना, यात्रियों को लूटना अथवा डाके मारना.

इस व्रत के पांच अतिचार नीचे लिखे अनुसार हैं :

१. स्तेनाहृत—चोर के द्वारा लाई गई चोरी की वस्तु खरीदना या घर में रखना.

२. तस्करप्रयोग—आदमी रख कर चोरी, डकैती, ठगी आदि कराना.

३. विरुद्धराज्यातिक्रम—भिन्न-भिन्न राज्य वस्तुओं के आयात-निर्यात पर कुछ वन्धन लगा देते हैं अथवा उन पर कर आदि की व्यवस्था कर देते हैं. राज्य के ऐसे नियमों का उल्लंघन करना विरुद्धराज्यातिक्रम है.

४. कूटतुला-कूटमान—नाप तथा तोल में वेईमानी करना.

५. तत्प्रतिरूपक व्यवहार—वस्तु में मिलावट करना या अच्छी वस्तु दिखा कर बुरी वस्तु देना.

सत्य तथा अचौर्य व्रत के अतिचारों का व्यापार तथा व्यवहार में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह वताने की आवश्यकता नहीं.

## स्वदारसन्तोष-व्रत

श्रावक का चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है. इसमें वह परायी स्त्री के साथ सहवास का परित्याग करता है और अपनी स्त्री के साथ उसकी मर्यादा स्थिर करता है. यह व्रत सामाजिक सदाचार का मूल है और वैयक्तिक विकास के लिये भी अत्यावश्यक है. इसके पाँच अतिचार निम्न हैं :

१. इत्वरिक परिग्रहीतागमन—ऐसी स्त्री के साथ सहवास करना जो कुछ समय के लिये ग्रहण की गई हो. भारतीय संस्कृति में विवाह-संवन्ध समस्त जीवन के लिये होता है. ऐसी स्त्री भोग और त्याग दोनों में सहयोग देती है जैसा कि आनन्दादिक श्रावकों की पत्नियों के जीवन से सिद्ध होता है. इसके विपरीत, जो स्त्री कुछ समय के लिये अपनाई जाती है वह भोग के लिये होती है, वह जीवन के उत्थान में सहायक नहीं हो सकती. श्रावक को ऐसी स्त्री से गमन नहीं करना चाहिए.

२. अपरिगृहीतागमन—वैश्या आदि के साथ सहवास.

३. अनंगक्रीड़ा—अप्राकृतिक मैथुन अर्थात् सहवास के प्राकृतिक अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से सहवास करना.

४. परविवाहकरण—दूसरों का परस्पर संवन्ध कराना.

५. कामभोगतीव्राभिलाप—विपय भोग तथा काम-क्रीड़ा में तीव्र आसक्ति.

परविवाहकरण अतिचार होने पर भी श्रावक के लिये उसकी मर्यादा निश्चित है. अपनी सन्तान तथा आश्रित-जनों का विवाह करना उसका उत्तरदायित्व है. इसी प्रकार पशु-धन रखने वाले को गाय, भैंस आदि पशुओं का संवन्ध भी कराना पड़ता है, श्रावक को इसकी छूट है.

## अपरिग्रह परिमाण-व्रत

इसका अर्थ है श्रावक को अपनी धन-सम्पत्ति की मर्यादा निश्चित करनी चाहिए और उससे अधिक सम्पत्ति न रखनी चाहिए. सम्पत्ति हमारे जीवन-निर्वाह का एक साधन है. साधन वहीं तक उपादेय होता है जहां तक वह अपने साध्य की पूर्ति करता है. संपत्ति सुख के स्थान पर दुखों का कारण वन जाती है और आत्म-विकास को रोकती है अतः हेय है. इसी-

लिए साधु सम्पत्ति का सर्वथा त्याग करता है और भिक्षा पर जीवन निर्वाह करता है. साधु वस्त्र—आदि उपकरणों की तरह अपने शरीर के प्रति भी ममत्व नहीं करता. श्रावक भी उसी लक्ष्य को आदर्श मानता है किन्तु लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मर्यादित सम्पत्ति रखता है.

आज मानव भौतिक विकास को अपना लक्ष्य मान रहा है. वह 'स्व' के लिये सम्पत्ति के स्थान पर सम्पत्ति के लिये 'स्व' को मानने लगा है. भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये समस्त आध्यात्मिक गुणों को तिलांजलि दे रहा है. परिणाम-स्वरूप तथाकथित विकास विभीषिका बन गया है. परिग्रह परिमाण व्रत इस बात की ओर संकेत करता है कि जीवन का लक्ष्य बाह्य सम्पत्ति नहीं है.

इस व्रत का महत्त्व एक अन्य दृष्टि से भी है. संसार में सोना, चांदी, भूमि, अन्न, वस्त्रादि सम्पत्ति कितनी भी हो, पर वह अपरिमित नहीं है. यदि एक व्यक्ति उसका अधिक संचय करता है तो दूसरे के साथ संघर्ष होना अनिवार्य है. इसी आधार पर राजाओं और पूंजीपतियों में परस्पर चिरकाल से संघर्ष चले आ रहे हैं, जिनका भयंकर परिणाम साधारण जनता भुगतती आ रही है. वर्तमान युग में राजाओं और व्यापारियों ने अपने-अपने संगठन बना लिये हैं और उन संगठनों में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता चलती रहती है. यह सब अनर्गल लालसा और सम्पत्ति पर किसी प्रकार की मर्यादा न रखने का परिणाम है. इसी असन्तोष की प्रतिक्रिया के रूप में रूस ने राज्य-क्रान्ति की और सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार को समाप्त कर दिया. दूसरी ओर भूपतियों की सत्ता-लालसा और परिणामस्वरूप होने वाले भयंकर युद्धों को रोकने वाले लोकतन्त्री शासन-पद्धति प्रयोग में लाई गई. फिर भी समस्याएं नहीं सुलझी. जब तक व्यक्ति नहीं सुधरता, संगठनों से अपेक्षित लाभ नहीं मिल सकता. क्योंकि संगठन व्यक्तियों के समूह का ही नाम है. परिग्रहपरिमाण व्रत वैयक्तिक जीवन पर स्वेच्छा से अंकुश रखने के लिये कहता है. इसमें नीचे लिखे नौ प्रकार के परिग्रह की मर्यादा का विधान है :

१. क्षेत्र—(खेत) अर्थात् उपजाऊ भूमि की मर्यादा.
२. वस्तु—मकान आदि.
३. हिरण्य—चांदी.
४. सुवर्ण—सोना.
५. द्विपद—दास, दासी.
६. चतुष्पद—गाय, भैंस घोड़े आदि पशुधन.
७. धन—रुपये पैसे सिक्के या नोट आदि.
८. धान्य—अन्न, गेहूँ, चावल आदि खाद्य-सम्पति.
९. कुप्य या गोप्य—तांबा, पीतल आदि अन्य धातुएं.

कहीं कहीं हिरण्य में सुवर्ण के अतिरिक्त शेष सब धातुएं ग्रहण की गई हैं और कुप्य या गोप्य धन का अर्थ किया है हीरे, माणिक्य, मोती रत्न आदि.

इस व्रत के अतिचारों में प्रथम आठ को दो-दो की जोड़ी में इकट्ठा कर दिया गया है और नवें को अलग लिया गया है, इस प्रकार नीचे लिखे पांच अतिचार बताये गये हैं :

१. क्षेत्र-वास्तु परिमाणातिक्रम.
२. हिरण्य-सुवर्ण परिमाणातिक्रम.
३. द्विपद-चतुष्पदपरिमाणातिक्रम.
४. धन-धान्यपरिमाणातिक्रम.
५. कुप्यपरिमाणातिक्रम.

## दिशा-परिमाण-व्रत

पांचवें व्रत में सम्पत्ति की मर्यादा स्थिर की गई. छठे दिशापरिमाण व्रत में प्रवृत्तियों का क्षेत्र सीमित किया जाता है. श्रावक यह निश्चय करता है कि ऊपर नीचे एवं चारों दिशाओं में निश्चित सीमा से आगे बढ़कर मैं कोई स्वार्थमूलक प्रवृत्ति नहीं करूंगा. साधु के लिये क्षेत्र की मर्यादा का विधान नहीं है क्योंकि उसकी कोई प्रवृत्ति हिंसात्मक या स्वार्थमूलक नहीं होती. वह किसी को कष्ट नहीं पहुंचाता प्रत्युत धर्म-प्रचारार्थ ही घूमता है. विहार अर्थात् धर्म-प्रचार के लिये घूमते रहना उसकी साधना का आवश्यक अंग है किन्तु श्रावक की प्रवृत्तियां हिंसात्मक भी होती हैं अतः उनकी मर्यादा स्थिर करना आवश्यक है.

विभिन्न राज्यों में होने वाले संघर्षों को रखकर विचार किया जाय तो इस व्रत का महत्त्व ध्यान में आ जाता है और यह प्रतीत होने लगता है कि वर्तमान युग में भी इस का कितना महत्त्व है. यदि विभिन्न राज्य अपनी-अपनी राजनीतिक एवं आर्थिक सीमाएं निश्चत करलें तो बहुत से संघर्ष रुक जाएं. श्रीजवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रों में परस्पर व्यवहार के लिये पंचशील के रूप में जो आचार-संहिता बनाई थी उसमें इस सिद्धान्त को प्रमुख स्थान दिया है कि कोई राज्य दूसरे राज्य में हस्तक्षेप नहीं करेगा.

इस व्रत के पांच अतिचार निम्नलिखित हैं :

१. ऊर्ध्व दिशा में मर्यादा का अतिक्रमण.

२. अधो दिशा में मर्यादा का अतिक्रमण.

३. तिरछी दिशा अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में मर्यादा का अतिक्रमण.

४. क्षेत्रवृद्धि—अर्थात् असावधानी या भूल में मर्यादा के क्षेत्र को बढ़ा लेना.

५. स्मृति-अन्तर्धान-मर्यादा का स्मरण न रखना.

## उपभोगपरिभोग-परिमाण-व्रत

सातवें व्रत में वैयक्तिक आवश्यकताओं पर नियंत्रण किया गया है. उपभोग का अर्थ है भोजन-पानी आदि वस्तुएं जो अनेक वार काम में लाई जा सकती हैं. उपभोग और परिभोग शब्दों का उपरोक्त अर्थ भगवती शतक ७ उद्देशा २ में तथा हरिभद्रीयावश्यक अध्ययन ६ सूत्र ७ में किया गया है. उपासकदशांग सूत्र की अभयदेव टीका में उपरोक्त अर्थ के साथ विपरीत अर्थ भी दिया गया है अर्थात् एक वार काम में आने वाली वस्तु को परिभोग तथा वार-वार काम में आने वाली वस्तु को उपभोग बताया गया है.

इस व्रत में दो दृष्टियां रखी गई हैं—भोग और कर्म. भोग की दृष्टि को लक्ष्य में रखकर २६ बातें गिनाई गई हैं जिनकी मर्यादा स्थिर करना श्रावक के लिये आवश्यक है, उनमें भोजन, स्नान, विलेपन, दन्तधावन, वस्त्र आदि समस्त वस्तुएं आ गई हैं. इस से ज्ञात होता है कि श्रावक के जीवन में किस प्रकार का अनुशासन था, किस प्रकार वह अपने जीवन को सन्तोषमय और सादा बनाता है. उनमें स्नान तथा दन्त-धावन आदि का स्पष्ट उल्लेख है. अतः जैनियों पर गन्दे रहने का जो आरोप लगाया जाता है वह मिथ्या है, अपने आलस्य या अविवेक के कारण कोई भी गन्दा रह सकता है—वह जैन हो या अजैन, उसके लिये धर्म को दोष देना उचित नहीं है. दूसरी दृष्टि कर्म की अपेक्षा से है. श्रावक को ऐसी आजीविका नहीं करनी चाहिए जिसमें अधिक हिंसा हो, जैसे—कोयले बनाना, जंगल साफ करना, बैल आदि को नाथना या खस्सी करना आदि. उसको ऐसे धन्धे भी नहीं करना चाहिए जिनसे अपराध या दुराचार की वृद्धि हो, जैसे—दुराचारिणी स्त्रियों को नियुक्त करके वैश्यावृत्ति कराना, चोर, डाकुओं को सहायता देना आदि. इसके लिये १५ कर्मादान गिनाए गए हैं. उपरोक्त २६ बातों तथा १५ कर्मादानों को विस्तृत रूप में जानने के लिये उपासकदशांग सूत्र का प्रथम आनन्द-अध्ययन देखना चाहिए.

## अनर्थदण्ड विरमण-व्रत

पाँचवें व्रत में सम्पत्ति की मर्यादा की गई और छठे में सम्पत्ति या स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों की. सातवें में प्रतिदिन व्यवहार में आनेवाली भोग्यसामग्री पर नियंत्रण किया गया. आठवें में वैयक्तिक हलचल या शारीरिक चेष्टाओं पर अनुशासन है. श्रावक के लिये व्यर्थ की बातें करना, शेखी मारना, निष्प्रयोजन प्रवृत्ति करना वर्जित है. इसी प्रकार उसे अपनी घरेलु वस्तुएं व्यवस्थित रखनी चाहिए. ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे लाभ कुछ भी न हो और दूसरे को कष्ट पहुँचे। अनर्थदण्ड अर्थात् निष्प्रयोजन हिंसा के चार रूप बताये गये हैं :

१. अपध्यानाचरित—चिंता या क्रूर विचारों के कारण होने वाली हिंसा.

धन सम्पत्ति का नाश, पुत्र-स्त्री आदि प्रियजन का वियोग आदि कारणों से मनुष्य को चिन्तायें होती रहती हैं किन्तु उनसे लाभ कुछ भी नहीं वरन् अपनी ही आत्मा निर्बल होती है. इसी प्रकार क्रूर या द्वेषपूर्ण विचार रखने से भी कोई लाभ नहीं होता ऐसे विचारों को अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड कहा गया है.

२. प्रमादाचरित—आलस्य या असावधानी के कारण होने वाली हिंसा.

घी, तेल तथा पानी वाली खाद्य वस्तुओं को बिना ढँके रखना तथा अन्य प्रकार की असावधानी इस श्रेणी में आ जाती है. यदि कोई व्यक्ति सड़क पर चलते समय, यात्रा करते समय या अन्य व्यवहार में दूसरे का ध्यान नहीं रखता और ऐसी चेष्टाएं करता है जिससे दूसरे को कष्ट पहुँचे तो यह सब प्रमादाचरित है

३. हिंस्रप्रदान—दूसरे व्यक्ति को शिकार खेलने आदि के लिये शस्त्रास्त्र देना जिससे व्यर्थ ही हिंसा के प्रति निमित्त बनना पड़े. हिंसात्मक कार्यों के लिये आर्थिक या अन्य प्रकार की सभी सहायता इसमें आ जाती हैं.

४. पापकर्मोपदेश—किसी मनुष्य या पशु को मारने, पीटने या तंग करने के लिये दूसरों को उभारना. बहुधा देखा गया है कि बालक बिना किसी द्वेष-बुद्धि के किसी भिखमंगे, या घायल-पशु को तंग करने लगते हैं और पास में खड़े दूसरे मनुष्य तमाशा देखने के लिये उन्हें उकसाते हैं यह सब पापकर्मोपदेश है. इसी प्रकार चोरी, डकैती, वेश्यावृत्ति आदि के लिये दूसरों को प्रेरित करना, व ऐसी सलाह देनी भी इसी के अन्तर्गत है.

इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं :

१. कन्दर्प—कामोत्तेजक चेष्टायें या बातें करना.
२. कौत्कुच्य—भांडों के समान हाथ, पैर पटकाना तथा नाक मुंह आँख आदि से विकृत चेष्टायें करना.
३. मौखर्य—मुखर अर्थात् वाचाल बनना. बढ़-बढ़ कर बातें करना और अपनी शेखी मारना.
४. संयुक्ताधिकरण—हथियारों एवं हिंसक साधनों की आवश्यकता के बिना ही जोड़ कर रखना.
५. उपभोगपरिभोगातिरेक—भोग्य सामग्री को आवश्यकता से अधिक बढ़ाना.

वैभव प्रदर्शन के लिये मकान, कपड़े, फर्निचर आदि का आवश्यकता से अधिक संग्रह करना आदि इस अतिचार के अन्तर्गत हैं. इससे दूसरों में ईर्ष्या वृत्ति उत्पन्न होती है और अपना जीवन उन्हीं की व्यवस्था में उलझ जाता है.

## सामायिक-व्रत

छठे, सातवें और आठवें व्रत में व्यक्ति की बाह्य चेष्टाओं पर नियंत्रण बताया गया. नवें से लेकर बारवें तक चार व्रत आन्तरिक अनुशासन या शुद्धि के लिये हैं. इनका अनुष्ठान साधना के रूप में अल्प समय के लिये किया जाता है.

जिस प्रकार वैदिक परम्परा में संध्या-वंदन तथा मुसलमानों में नमाज दैनिक कृत्य के रूप में विहित हैं, उसी प्रकार जैन-परम्परा में सामायिक और प्रतिक्रमण हैं. सामायिक का अर्थ है जीवन में समता को उतारने का अभ्यास. साधु का सारा जीवन सामायिक रूप होता है अर्थात् उसका प्रत्येक कार्य समता का अनुष्ठान है. श्रावक प्रतिदिन कुछ समय के

लिये उसका अनुष्ठान करता है. समता का अर्थ 'स्व' और 'पर' में समानता. जैनधर्म का कथन है कि जिस प्रकार हम सुख चाहते हैं और दु:ख से घबराते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी चाहता है. हमें दूसरे के साथ व्यवहार करते समय उसके स्थान पर अपने को रखकर सोचना चाहिए, उसके कष्टों को अपना कष्ट, उसके सुख को अपना सुख मानना चाहिए. समता के इस सिद्धान्त पर विश्वास रखने वाला व्यक्ति किसी की हिंसा नहीं करेगा. किसी को कठोर शब्द नहीं कहेगा और न मन में किसी का बुरा सोचेगा. पहले बताया जा चुका है कि व्यवहार में समता का अर्थ है अहिंसा जो जैनशास्त्र का प्राण है. विचारों में समता का अर्थ है स्याद्वाद, जो जैनदर्शन की आधारशिला है.

प्रतिक्रमण का अर्थ है वापिस लौटना. साधक अपने पिछले कृत्यों की ओर लौटता है. उनके भले-बुरे पर विचार करता है, भूलों के लिये पश्चात्ताप करता है और भविष्य में उनसे बचे रहने का निश्चय करता है. श्रावक और साधु दोनों के लिये प्रतिक्रमण का विधान है. इसका दूसरा नाम आवश्यक है अर्थात् यह एक आवश्यक दैनिक कर्त्तव्य है.

श्रावक के व्रतों में सामायिक का नवां स्थान है किन्तु आत्मशुद्धि के लिये विधान किये गए चार व्रतों में इसका पहला स्थान है. इसके पांच अतिचार निम्नलिखित हैं :

१. मनोदुष्प्रणिधान—मन में बुरे विचार आना.
२. वचनदुष्प्रणिधान—वचन का दुरुपयोग, कठोर या असत्य भाषण.
३. कायदुष्प्रणिधान—शरीर की कुप्रवृत्ति.
४- स्मृत्यकरण—सामायिक को भूल जाना अर्थात् समय आने पर न करना.
५. अनवस्थितता—सामायिक को अस्थिर होकर या शीघ्रता में करना निश्चित विधि के अनुसार न करना.

## देशावकाशिक व्रत

इस व्रत में श्रावक यथाशक्ति दिन-रात या अल्प समय के लिये धर्म के लिये साधु के समान चर्या का पालन करता है. सामायिक प्राय: दो घड़ी के लिये की जाती है और सारा समय धार्मिक अनुष्ठान में लगाया जाता है. खाना, पीना, नींद लेना आदि वर्जित हैं किन्तु इस व्रत में भोजन आदि वर्जित नहीं है किन्तु उनमें अहिंसा का पालन आवश्यक है. इस व्रत को देशावकाश कहा जाता है. अर्थात् इसमें साधक निश्चित काल के लिये देश या क्षेत्र की मर्यादा करता है, उसके बाहर किसी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करता.

श्रावक के लिये चौदह नियमों का विधान है अर्थात् उसे प्रतिदिन अपने भोजन, पान तथा अन्य प्रवृत्तियों के विषय में मर्यादा निश्चित करना चाहिए. इससे जीवन में अनुशासन तथा दृढ़ता आती है. वे निम्नलिखित हैं :

१. सचित्त— प्रतिदिन अन्न, फल, पानी आदि के रूप में जिन सचित्त अर्थात् जीवसहित वस्तुओं का सेवन किया जाता है उनकी मर्यादा निश्चित करना. यह मर्यादा संख्या, तोल एवं बार के रूप में की जाती हैं.

२. द्रव्य—खाने, पीने सम्बन्धी वस्तुओं की मर्यादा, उदाहरण के रूप में भोजन के समय अमुक संख्या से अधिक भोजन नहीं ग्रहण करूंगा.

३. विगय—घी, तेल, दूध, दही, गुड़ और पक्वान्न की मर्यादा.
४. पण्णी— उपानहं–(जूते, मोजे, खड़ाऊं आदि पैर में पहनी जाने वाली वस्तुओं) की मर्यादा.
५. ताम्बूल—पान, सुपारी, इलायची, चूर्ण, खटाई आदि की मर्यादा.
६. वस्त्र—प्रतिदिन वस्त्रों के पहनने की मर्यादा.
७. कुसुम—फूल, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थों की मर्यादा.
८. वाहन—सवारी की मर्यादा.
९. शयन—शैय्या एवं स्थान की मर्यादा.

१०. विलेपन—केसर, चन्दन, तेल आदि लेप किये जाने वाले द्रव्यों की मर्यादा.
११. अब्रह्मचर्य—मैथुन सेवन की मर्यादा.
१२. दिशि—ऊपर, नीचे तथा चारों दिशाओं में यातायात तथा अन्य प्रवृत्तियों की मर्यादा.
१३. स्नान—स्नानों की संख्या तथा जल की मर्यादा.
१४. भक्त—चार प्रकार के आहार की मर्यादा.

इस व्रत के निम्नलिखित पांच अतिचार हैं :

१. आनयनप्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मंगाने के लिये किसी को भेजना.
२. प्रेष्यप्रयोग—नौकर, चाकर आदि को भेजना.
३. शब्दानुपात—किसी प्रकार के शाब्दिक संकेत द्वारा बाहर की वस्तु मंगाना.
४. रूपानुपात—हाथ आदि का इशारा करना,
५. पुद्गलप्रक्षेप—कंकर, पत्थर आदि फेंक कर किसी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना.

## पौषधोपवास व्रत

'पौषध' शब्द संस्कृत के उपवपथ शब्द से बना है. इसका अर्थ है धर्माचार्य के समीप या धर्मस्थान में रहना. उपवपथ अर्थात् धर्म स्थान में निवास करते हुए उपवास करना पौषधोपवास व्रत है. यह दिन-रात अर्थात् आठ प्रहरों का होता है और अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व-तिथियों पर किया जाता है.

इस व्रत में नीचे लिखा त्याग किया जाता :

१. भोजन, पानी आदि चारों प्रकार के आहारों का त्याग.
२. अब्रह्मचर्य का त्याग.
३. आभूषणों का त्याग.
४. माला, तेल आदि सुगंधित द्रव्यों का त्याग.
५. समस्त सावद्य अर्थात् दोषपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग.

इसके पांच अतिचार निवास स्थान की देखरेख एवं प्रमार्जन के साथ संबंध रखते हैं.

## अतिथिसंविभाग व्रत

संविभाग का अर्थ है अपनी सम्पत्ति एवं भोग्य वस्तुओं में विभाजन करना अर्थात् दूसरे को देना. अतिथि के लिये किया जाने वाला विभाजन अतिथि संविभाग है. वैदिक परम्परा में भी अतिथिसेवा गृहस्थ के प्रधान कर्त्तव्यों में गिनी गई है किन्तु जैन-परम्परा में अतिथि शब्द का विशिष्ट अर्थ है. यहाँ निर्दोष जीवन व्यतीत करने वाले साधुओं को ही अतिथि माना गया है. उन्हें भोजन, पानी वस्त्र आदि देना अतिथि संविभाग व्रत है. इसके नीचे लिखे पांच अतिचार हैं :

१. सचित्तनिक्षेप—साधु के ग्रहण करने योग्य निर्दोष आहार में कोई सचित्त वस्तु मिला देना जिससे वह ग्रहण न कर सके.
२. सचित्तपिधान—देने योग्य वस्तु को सचित्त वस्तु से ढंकना.
३. कालातिक्रम—भोजन का समय व्यतीत होने पर निमंत्रित करना.
४. परव्यपदेश—न देने की भावना से अपनी वस्तु को परायी बताना.
५. मात्सर्य—मन में ईर्ष्या या दुर्भावना रखकर दान देना.

जैनधर्म में दान के दो रूप हैं—अनुकम्पादान और सुपात्र दान. अनुकम्पा सम्यक्त्व का अंग है. इसका अर्थ है प्रत्येक

दुखी या अभावग्रस्त को देख कर उसके प्रति करुणा या सहानुभूति प्रगट करना और उसके दुख को दूर करने के लिये यथाशक्ति सहायता देना. इससे आत्मा में उदारता, मैत्री आदि सद्गुणों की वृद्धि होती है.

साधु-साध्वी को दिया जाने वाला दान सुपात्र दान कहलाता है.

### ग्यारह प्रतिमायें

लम्बे समय तक व्रतों का पालन करता हुआ श्रावक पूर्ण त्याग की ओर अग्रसर होता है. उत्साह बढ़ने पर एक दिन कुटुम्ब का उत्तरदायित्व सन्तान को सौंप देता है और पौषधशाला में जाकर सारा समय धर्मानुष्ठान में बिताने लगता है. उस समय वह उत्तरोत्तर साधुता की ओर बढ़ता है. कुछ दिनों तक अपने घर से भोजन मंगाता है और फिर उसका भी त्याग करके भिक्षा पर निर्वाह करने लगता है, इन व्रतों को ग्यारह प्रतिमाओं के रूप में प्रगट किया गया है. प्रतिमा शब्द का अर्थ है सादृश्य. जब श्रावक साधु के सदृश होने के लिये प्रयत्नशील होता है तो उसका आचार, प्रतिमा कहा जाता है. इन की विस्तृत चर्चा के लिये उपासकदांश सूत्र का आनंद अध्यन देखना चाहिए.

### संलेखना-व्रत

श्रमण परम्परा जीवन को अपने आप में लक्ष्य नहीं मानती. उसका कथन है कि साधना का लक्ष्य आत्मा का विकास है और जीवन उसका साधन मात्र है. जिस दिन यह प्रतीत होने लगे कि शरीर शिथिल हो गया है, वह धर्म साधना में सहायक होने के स्थान पर विघ्न-बाधाएं उपस्थित करने लगा है तो उस समय यह उचित है कि उसका परित्याग कर दे. इसी परित्याग को अंतिम संलेखना व्रत कहा है. इसमें श्रावक या साधु आहार का परित्याग करके धर्मचिंतन में लीन हो जाता है, न जीवन की आकांक्षा करता है, न मृत्यु की, न यश की, न ऐहिक या पारलौकिक सुखों की. धन, सम्पत्ति, परिवार, शरीर आदि सबसे अनासक्त हो जाता है. इस प्रकार आयुष्य पूरा होने पर शान्ति तथा स्थिरता के साथ देह का परित्याग करता है.

इस व्रत को आत्म-हत्या समझना भूल है. व्यक्ति आत्म-हत्या तब करता है जब किसी कामना को पूरा नहीं कर पाता और वह इतनी बलवती हो जाती है कि उसकी पूर्ति के बिना जीवन बोझ जान पड़ता है और उस बोझ को उतारे बिना शांति असम्भव प्रतीत होती है. आत्म-हत्या का दूसरा कारण उत्कट वेदना या मार्मिक आघात होता है. दोनों परिस्थितियां व्यक्ति की निर्बलता को प्रगट करती है. इसके विपरीत संलेखना त्याग की उत्कटता तथा हृदय की परम दृढ़ता को प्रगट करती है. जहाँ व्यक्ति बिना किसी कामना के शान्तिपूर्वक अपने आप जीवन का उत्सर्ग करता है. आत्म-हत्या निराशा तथा विवशता की पराकाष्ठा है, संलेखना वीरता का वह उदात्त रूप है जहां एक सिपाही हंसते-हंसते प्राणों का उत्सर्ग कर देता है. सिपाही में आवेश रहता है किन्तु संलेखना में वह भी नहीं होता.

इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं :

१. धन, परिवार आदि इस लोक सम्बन्धी किसी वस्तु की आकांक्षा करना.

२. स्वर्ग सुख आदि परलोक से सम्बन्ध रखने वाली किसी बात की आकांक्षा करना.

३. जीवन की आकांक्षा करना.

४. कष्टों से घबरा कर शीघ्र मरने की आकांक्षा करना.

५. अतृप्त कामनाओं की पूर्ति के रूप में काम-भोगों की आकांक्षा करना.

### उपसंहार

संलेखना तक जिन व्रतों का यहाँ प्रतिपादन किया गया है वे एक आदर्श गृहस्थ की चर्या प्रगट करते हैं. उपासक-दशाँग सूत्र के प्रथम अध्ययन में इन सबका विस्तृत वर्णन है.

मुनि श्रीसन्तबालजी
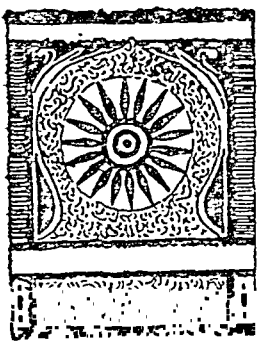
# जनशासन और जिनशासन

'सव्वे जीव करुं शासनरसि, ऐसी भावदया मन उलसी' इस प्रसिद्ध वाक्य का अर्थ स्पष्ट है कि जव सर्वांगीण और सच्चा आत्मज्ञान प्रकट होता है तव प्राणि-मात्र को जिनका रसिक बनाने की भाव-दया अपने आप उत्पन्न हो जाती है. परन्तु जिनशासन की इमारत जनशासन के दृढ़ पाये के विना लम्वे समय टिक नहीं सकती. इसी से उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि चार अंग मिलना दुर्लभ है. उनमें भी मानवता सवसे पहला अंग है. वह मूल गाथा इस प्रकार है :

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो,
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं।

मनुष्यत्व अथवा मानवता अर्थात् जनशासन की आधारशिला है !

### भगवान् ऋषभनाथ

इस अवसर्पिणी काल में, इस क्षेत्र में सर्व प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ ने युगलिक धर्म का निवारण करके इसी कारण सुयोग्य जनशासन का वीजारोपण किया था. उन्होंने स्वयं, जव वे स्वयं क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे तव, जनता को रोजी-रोटी के लिये खेती, पशुपालन, व्यवहार के लिये कलम और सुरक्षा के लिये शस्त्रकला सीखने की प्रेरणा की थी. भारत के इस आदि समाज के नेता ने लोगों को इतना कर्मठ एवं स्वावलम्वी वनाया कि जिससे व्यक्ति स्वातंत्र्य की रक्षा के साथ-साथ सामाजिक जीवन का आनन्द मिला करे और मानव जाति का विकास होता रहे, क्योंकि मानव जाति निर्भय और शान्त हो तो ही संसार के छोटे मोटे सभी जीव निर्भयता और शान्ति अनुभव करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकते हैं.

ऋषभयुग में मानवबुद्धि और मानवहृदय का सुसमन्वय था. भले ही कर्मठता कच्ची थी. तत्पश्चात् विविध युग, आये, कालरात्रियां भी आईं और वीत गईं. इन युगों में हृदय और बुद्धि का समन्वय हुआ, साथ ही कर्मठता का विकास हुआ और अपरंपार वौद्धिक विकास हुआ.

### भगवान् महावीर

भगवान् महावीर का काल एक ओर जहां विषम था, दूसरी ओर चारित्र्य के चमत्कारों का भी था. उस युग में जनशासन के पाये को मजवूत करने के लिये जो भगीरथ पुरुषार्थ हुये उनमें से नीचे लिखी दो तीन घटनाएं उस रहस्य को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होंगीं.

[ १ ]

रत्न-कम्वलों का एक विक्रेता निराश स्वर में गुन-गुनाता हुआ राह पर जा रहा है. वह कहता है—मगध जैसे विशाल राज्य का और राजगृही जैसी राजधानी का राजा श्रेणिक भी यदि मेरा एक रत्न-कम्वल नहीं खरीद सकता तो मेरी कला की कद्र और कहां होगी ? क्या मगध राज्य भी अव अकिंचन हो गया है ?

अटारी में खड़ी हुई भद्रा सेठानी इन उद्गारों को सुन कर व्यापारी को वुला कर समझाती है—'भाई, मगध राज्य

का-कोषागार समाप्त नहीं हो गया है किन्तु प्रजा का धन अन्त:पुर के वैभव में व्यय नहीं किया जा सकता, मगधराज को इससे परहेज है. आपके पास जो कला है उसकी कद्र करने वाले हमारे जैसे मगध के नागरिक मौजूद हैं." इस प्रकार कह कर शालिभद्र की माताजी ने सोलह रत्न-कम्बल बीस लाख जितनी स्वर्ण-मुहर देकर पल भर में खरीद ली और दूसरे सोलह कम्बलों की मांग की. कलाकार, दांतों तले उंगली दबा कर रह गया.

× × ×

राज्य का अक्षय भंडार राजा का नहीं, राजा तो केवल प्रजा का पालक है ! बत्तीस-बत्तीस रत्न-कम्बल क्रय करने वाले धनिकों को धन का अभिमान नहीं ! उन्हें राष्ट्र का अभिमान है. कला की कद्रदानी है.

[ २ ]

जिस शालिभद्र के पास इतना विशाल धनभंडार था, जिसके घर में देवों की समृद्धि ठिली पड़ी थी, उस शालिभद्र के पास श्रेणिक राजा स्वयं पहुंचता है. शालिभद्र की माता भद्रा का हृदय आनन्द-पुलिकित बन जाता है. सत्ता स्वयं जनता के सामने झुकने आती है, माता भद्रा विचार करती है—'राजा कैसा ही क्यों न हो आखिर प्रजा की सुरक्षा करने वाला पालक पिता सरीखा है.' शालिभद्र को उससे मिलने के लिये नीचे बुलाया जाता है. शालिभद्र भेंट तो अवश्य करता है पर उसके मन में क्या विचार उत्पन्न होता है ? 'सत्ता से सत्य महान् है. सत्य साधना की सच्ची सत्ता तो भगवान् महावीर के पास है.' और वह भगवान् महावीर के पास जाकर जैन साधुदीक्षा अंगीकार कर लेता है.

× × ×

मानवधन और देवधन की अपेक्षा साधुधन सर्वोपरि है. विशाल समृद्धि और सत्ता की अपेक्षा वात्सल्य सत्ता महान् है.

[ ३ ]

जिनशासन के एक दृढ़ स्तंभ के सदृश पुणिया श्रमणोपासक के पास न कोई सम्पत्ति है और न कोई सत्ता ही है. परिश्रम करके न्यायसम्पन्न आजीविका प्राप्त करने की परम आत्मिक सम्पत्ति ही उसके पास है. और प्राणिमात्र के साथ 'सव्वभूयप्पभूयस्स' की महान् आत्मिक सम्पत्ति का वह स्वामी है. इसी कारण राजा श्रेणिक एक बार याचक बन कर उसके आंगन में आकर याचना करता है—'पुणियाजी, आप अपनी एक सामायिक मुझे दे सकते हैं ?'

पुणिया कहता है— सामायिक आत्म-दशा है जो आपके पास ही है. प्राणि-मात्र की हृदय गुफा में वह प्रकाशित होती है. वह लेने-देने की वस्तु नहीं है.

श्रेणिक नरपति समझ गया.

× × ×

इन तीन घटनाओं से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि पुणिया जैसे श्रावकों और शालिभद्र जैसे साधुओं से जिनशासन की शोभा है. भद्रामाता प्रजा और राज्य के प्रति अपना कर्तव्य पालती है पर श्रेणिक जैसा नृप समझ जाता है कि राजा की अपेक्षा प्रजा बड़ी है और प्रजा की अपेक्षा सत्य बड़ा है. इस कारण अन्ततः जिनशासन की अनुपम सेवा करके वह तीर्थंकर गोत्र उपार्जित कर लेता है.

× × ×

आज पंचम काल चल रहा है. जिनशासन की इमारत डगमगा चुकी है. क्योंकि जनशासन का पाया हिल गया है. परिणामस्वरूप दुनिया में जैसे राज्यशासन का बोलबाला है, उसी प्रकार भारत में भी बोलबाला होने लगा. तब एक धर्मवीर पुरुष आगे आया. उसका नाम था महात्मा गांधी.

उसने ब्रिटिश शासन की सर्वोच्चता को चुनौती दी. कहा—"स्वच्छंद राज्य के कानून की और सेना की सत्ता महान्

नहीं, प्रजा के नैतिक कानून की और प्रजा की सामुदायिक चारित्र की सत्ता महान् है. आखिर ब्रिटिश शासन समाप्त हुआ. अहिंसा-शक्ति वाली प्रजा की विजय हुई.

गांधीजी गये. एक शून्यता व्याप गई.

सद्भाग्य से इसी अन्तराल में भालनलकांठा प्रयोग इसी अनुसंधान में शुरू हुआ. पुन: यह सूत्र गूंज उठा—'राज्य की अपेक्षा प्रजा महान् है. प्रजा की अपेक्षा नैतिकता महान् है ! और नैतिकता अध्यात्मलक्षी बनी रहे इसके लिये क्रान्तिप्रिय साधु साध्वियों का मार्गदर्शन अनिवार्य है.'

यद्यपि भालनलकांठा प्रदेश का विस्तार स्वल्प है. वहां (१) क्रान्ति-प्रिय साधु प्रेरणा (२) रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं की संस्था का संचालन (३) नैतिक ग्राम संगठन (४) उसका कांग्रेस के साथ (सत्य, अहिंसा के लक्ष्य को सुरक्षित रखते हुये) अनुसंधान के साथ सफलता प्राप्त की जा चुकी है, किन्तु गहराई के साथ यदि व्यापकता पर्याप्त प्रमाण में न आवे तो सम्पूर्ण सफलता की दिशा में आगे बढ़ने के बदले पीछे हटना कहलायगा. इसी हेतु से जैसे पच्चीस वर्ष गुजरात के ग्रामों को दिये गये हैं, उसी प्रकार अन्तिम लगभग ६ वर्ष से बम्बई जैसी महानगरी के साथ और इतर प्रान्तों के साथ गाढ़ा सम्पर्क साधने के लिये मैं और साथी श्रीनेमिमुनि प्रयत्नशील हैं. इसी दृष्टि से नेमिमुनि ने मद्रास में चातुर्मास किया और लगभग आठ प्रान्तों का प्रवास किया. इसीलिए हम दोनों ने दिल्ली में चातुर्मास किया और अब कलकत्ते की ओर प्रयाण करने का निश्चय किया है.

× × ×

अब कांग्रेस का कायापलट हो रहा है. कांग्रेस राज्य की अपेक्षा, कांग्रेस का संस्था-संगठन महान् है. इतनी बात उसने विधिपूर्वक स्वीकार करने की तैयारी की है. किन्तु जब तक कांग्रेस ग्रामों, महिलाजाति और पिछड़ी हुई जातियों के वर्गों की नैतिक संस्थाओं का मार्गदर्शन स्वीकार नहीं करती तब तक सच्ची कायापलट होना अशक्य है.

ऐसी परिस्थिति में यदि क्रान्तिप्रिय-साधु साध्वी अपना आध्यात्मिक बल ऊपरी दृष्टि से नाम मात्र के लिए बनी हुई ग्रामों और शहरों की जनसंस्थाओं को अर्पित करें—गांधीयुग के रचनात्मक कार्यकर्त्ता और उपर्युक्त साधु-साध्वी के श्रद्धालु श्रावक-श्राविकाएं तथा संन्यासी भक्त जन अपना नैतिक बल संस्थारूप बन कर उन्हें प्रदान करें और जहां ऐसी संस्थाएं न हों, वहां उन्हें खड़ी करने में लग जाएं तो कांग्रेस में कायापलट होना सुशक्य है. अगर ऐसा हुआ तो भले ही ऐसे साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका विरल मिलें, परन्तु जनशासन के पाये पर निर्भर जिनशासन की इमारत सुदृढ़ बन जाएगी.

सद्गत पूज्य श्रीहजारीमलजी महाराज के संतपन को जब श्रद्धांजलि के रूप में यह स्मारक-ग्रन्थ अर्पित किया जा रहा है, तब यदि जिनशासन के पाये जनशासन का ठिकाना न हो और सत्ता के सामने जनता, जनसेवक और साधु-सन्त मस्तक झुकाते रह जाएं, तो यह अंजलि कैसे सार्थक बनेगी ? जब छठे आरे के अन्त तक, भले ही छोटा सही, चतुर्विध संघ रहना है, तब पंचम आरे में यह महत्त्वपूर्ण काम क्यों नहीं बन सकता ? अवश्य बनेगा.
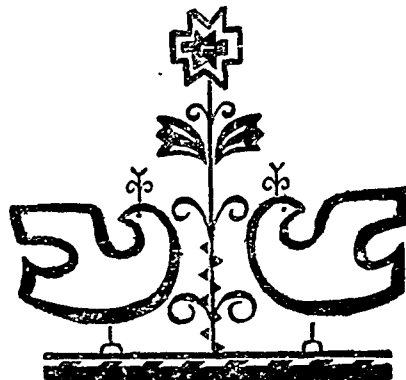
काका कालेलकर

# सत्याग्रह और पशु

प्रश्न—अगर सत्याग्रह आत्म-शक्ति का प्रयोग है तो क्या सिंह आदि हिंस्र जानवरों के खिलाफ सत्याग्रह चल सकता है ?

जवाब—जिस अर्थ में आप सत्याग्रह शब्द का उपयोग करते हैं उस अर्थ में सिंह आदि पशुओं के प्रति सत्याग्रह का उपाय कारगर नहीं हो सकेगा. पशुओं में बुद्धिशक्ति परिमित पायी जाती है. पशुओं में अन्तर्मुख होकर सोचने की शक्ति हमारे देखने में आयी नहीं.

प्रथम आपका हिंस्र शब्द लीजिये. गाय घास खाती है; बंदर फल-पत्ते आदि खाता है, पक्षी धान्य भी खाते हैं और कीड़े आदि जन्तुओं को भी खा जाते हैं, इसी तरह सिंह, बाघ और भेड़िया पशुओं को मार कर खा जाते हैं. उनका यह आहार ही है. पशुओं का दुःख हम देख सकते हैं इसलिए उनको खानेवालों को हम हिंस्र कहते हैं. इसमें भी सिंह बाघ भेड़िया आदि से हमें भय है इसलिए हम उन्हें हिंस्र कहते है. बिल्ली भी तो हिंस्र है. सांप अजगर आदि सरीसृप भी हिंस्र हैं. वे हमें काटते हैं लेकिन फाड़ नहीं खाते, इसलिए उनके बारे में हिंस्र शब्द का प्रयोग देखने में नहीं आता.

हिंस्र शब्द केवल आपका अपनी दृष्टि से प्रेरित Re-action है, प्रतिक्रिया है. जिसमें परिवर्तन लाने के लिये आप सत्याग्रह का प्रयोग करेंगे उसके प्रति द्वेष, तिरस्कार आदि भावना हटाने की आपकी कोशिश होनी चाहिए. पशु में सुधार हो सकता है ऐसी आपकी भावना भी कहाँ तक है !

इस तरह सत्याग्रह का प्रभाव डालने की शक्ति आपके पास नहीं है और सत्याग्रह के असर के नीचे आने का माद्दा ही पशु में नहीं है. इसलिए मैंने तुरन्त स्पष्ट 'नहीं' का जवाब दिया. लेकिन इस बारे में जरा गहराई में उतरना जरूरी है. चन्द ईसाई मिशनरियों से बातचीत हो रही थी. उन्होंने कहा कि जानवरों को आत्मा नहीं होता. उनमें जीव है, प्राण है किन्तु आत्मा नहीं है. मैंने कहा कि इस भेद की चर्चा मैं नहीं करूंगा. आप हमेशा कहते हैं न कि परमात्मा प्रेमस्वरूप-God is Love है. तो जिन प्राणियों में प्रेम कमोबेश प्रकट होता है उनमें ईश्वरी अंश आत्मा है ही. प्राणी अपने बच्चों पर प्यार करते हैं. उनको बचाने के लिये अपना प्राण तक दे देते हैं. तो आप कैसे कह सकते हैं कि उनमें प्रेम का उत्कर्ष नहीं है ? आत्मा नहीं है ? जहाँ आत्मबलिदान का तत्त्व आया वहां आत्मशक्ति है ही. पशु एक दूसरे के बच्चों को बचाने के लिये संगठित प्रयत्न भी करते हैं. हमारी एक भैंस मर गई तो तब से दूसरी भैंस ने उसके बच्चे को अपना दूध देना शुरू किया. उसके पहले उस पराये बछड़े को वह पास भी आने नहीं देती थी ! यह सहानुभूति, करुणा, प्रेम आत्मा का ही आविष्कार है. इसलिए यह कहते मुझे तनिक भी संकोच नहीं है कि योग्य भावुकता जिसमें है वह पशुओं पर भी असर कर सकता है. "अंड्रोक्लीज और सिंह" की कथा तो आप जानते ही हैं. मेरा ही एक छोटा अनुभव आपको कहूं. जब मैं अपने गांव में रहता था तब घर में मेरी एक प्यारी बिल्ली थी. हमारे बीच गहरी दोस्ती थी. उसका वर्णन नहीं करता क्योंकि बिल्ली का प्यार सब जानते ही हैं. एक दिन जंगल के नजदीक अपने बगीचे में मैं गया था. मैंने एक खरगोश का बच्चा पाया. मैंने सोचा—यहां तो कुत्ते आकर उसे फाड़कर खा जाएंगे. मैं उसे उठाकर घर ले आया.

अब आप जानते ही हैं कि बिल्ली, खरगोश को मारकर खाती है. हमारी बिल्ली छटपटाने लगी. फिर बिल्ली ने देखा कि खरगोश भी मेरा प्यारा प्राणी है, मेरे हाथों खाता है. मैं उसके साथ खेलता हूँ. खरगोश ने भी देखा कि बिल्ली मेरी गोद में आकर बैठती है. उसका डर कम हो गया. धीरे-धीरे मेरी हाजरी में दोनों पास आने लगे. साथ बैठकर खाने लगे. दोनों की अच्छी दोस्ती हो गई. इससे इतना तो स्पष्ट है ही कि जानवरों पर भी कुछ न कुछ प्रेम का असर होता ही है. उसी को मैं सत्याग्रह कहूँगा. पशु का स्वभाव, उसके विकास की मर्यादा आदि देख कर अगर कोई प्रेममूर्ति उस पर प्रभाव डालने की कोशिश करेगा तो उसे निराश नहीं होना पड़ेगा.

अगर मनुष्य केवल स्वार्थवश, हजारों बरसों की महनत से जंगली पशुओं को पालतू बना सका तो निःस्वार्थ प्रेम के द्वारा पुरुष प्राणियों का स्वभाव अवश्य बदल-सुधार सकेगा. सांपों के साथ दोस्ती करने वाले एक गोरे आदमी का किस्सा मैंने कहीं पढ़ा था.

मनुष्य अगर अपना स्वभाव सुधारेगा और विश्वप्रेम की ओर बढ़ेगा तो उसका असर प्राणियों पर कमोवेश होगा ही. 'चित्त शुद्धतरी, शत्रु मित्र होती, व्याघ्र ही न खाती, सर्प तया' तुकाराम की यह अभिलाषा व्यर्थ नहीं थी. किन्तु यह सिद्धि एक दो दिन में या पाँच-दस वर्षों में मिलने की नहीं. इसके लिये उत्कट साधना की परम्परा चाहिए.

मेरा सवाल यह है कि सिंह और बाघ के खिलाफ सत्याग्रह करने की बात उठी ही किसलिए ? क्या मेरा जवाब मिलने पर कोई जंगल में जाकर सत्याग्रह का प्रयोग करना चाहता है ! या घर की बिल्ली को कहने वाला है कि चूहे खाना छोड़ दो, नहीं तो मैं तुम्हारे खिलाफ सत्याग्रह करूँगा ? नहीं, ऐसी बात नहीं है. जवाब मिलने पर कि सिंह आदि हिंस्र जानवरों के खिलाफ सत्याग्रह नहीं हो सकता, दूसरा प्रश्न पूछा जाता है कि—फिर जिसका स्वभाव ही सिंह, बाघ या सर्प जैसा है, ऐसे मनुष्य के सामने सत्याग्रह क्या करेगा ?

हम कबूल करते हैं कि चन्द मनुष्यों का स्वभाव हिंस्र पशुओं से भी बदतर होता है तब भी मनुष्य और पशुओं के बीच मूलभूत फर्क है, यह भूलना नहीं चाहिए. मनुष्य सामाजिक प्राणी है. इतना ही नहीं उसने सामाजिक उन्नति भी की है. मनुष्यों में अन्तर्मुख होने की शक्ति है. भाषा के द्वारा मनुष्य काफी गहराई का विचार-विनिमय कर सकता है. और सबसे बड़ी चीज यह है कि मनुष्य के पास धर्म है. पशुओं और मनुष्यों के बीच तुलना करते कवि ने कहा है :

'धर्मो हि तेषामधिको विशेषः.' इस धर्मबुद्धि को जाग्रत करने का काम ही सत्याग्रह करता है.

जब बुद्धि और तर्क के जोश में आकर चन्द लोग कहते हैं कि हम धर्म को नहीं मानते तब वे ऐसे धर्मों का इन्कार करते हैं जिनका विस्तार भिन्न-भिन्न जमानों ने शास्त्रग्रंथों के द्वारा किया है. जैसे हिन्दुधर्म, इस्लाम-धर्म, ईसाई-धर्म, यहुदी-धर्म आदि. हर एक समाज अपने-अपने रस्म-रिवाजों को अपना धर्म मानता है. ऐसे धर्मों के द्वारा हर एक समाज ने उन्नति प्राप्त की है. चन्द रिवाजों के कारण उन्नति रुक भी गई है. धर्म के नाम से मनुष्य ने कई अनाचार भी चलाये हैं. ऐसी हालत में कोई आदमी अधीर हो कर जल्दबाजी से कहे कि हम धर्म में नहीं मानते तो वह समझने लायक बात है. लेकिन जब हम यह कहते हैं कि पशुओं से अधिक चीज जो मनुष्य के पास है वह है धर्म, तब हम व्यापक, सार्वभौम, विश्वजनीन धर्म की बात करते हैं. उसमें प्रेम, करुणा, अहिंसा, दया, क्षमा, तेजस्विता, बलिदान, आत्मौपम्य सेवा, ज्ञानोपासना, संस्कृतिनिष्ठा, वचन-पालन, सत्वसंशुद्धि, अभय आदि सर्व सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक गुण आ जाते हैं. खराब से खराब मनुष्य में भी इन गुणों के उदय की संभावना है वह आज पशुओं में उतनी मात्रा में नहीं. इसलिए पशुओं की मिसाल मनुष्य को लागू नहीं हो सकती है. आखिरकार सब मनुष्य एक दूसरे के सजातीय हैं. एक दूसरे पर असर कर ही सकते हैं.
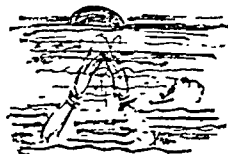
श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल
काशी विश्वविद्यालय

# पुरुष प्रजापति

भगवान् वेदव्यास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वचन है, जो उनके समस्त ज्ञान-विज्ञान का मथा हुआ मक्खन कहा जा सकता है. उन्होंने लिखा है :

'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'.

जो गुह्य तत्त्वज्ञान है, जो अव्यक्त ब्रह्म के समान सर्वोपरि और सर्वव्याप्त अनुभव है, वह मैं तुम से कहता हूं—मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है. सचमुच अनन्त शाखा-प्रशाखाओं के वेद का गुह्य संदेश यही है कि प्रजापति की सृष्टि में मनुष्य प्रजापति के निकटतम है. शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट शब्दों में कहा है :

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्—शत० ४. ३. ४. ३.

पुरुष प्रजापति के निकटतम है. निकटतम का तात्पर्य यही कि वह प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है, प्रजापति का तद्वत् रूप है. प्रजापति और उसके बीचमें ही ऐसा सान्निध्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसा प्रतिरूप अर्थात् असल रूप और अनुकृति में होता है. प्रजापति मूल है, तो पुरुष उसकी ठीक प्रतिकृति है, प्रजापति के रूप में देखना और समझना चाहें तो उसके सारे नक्शे को इस पुरुष में देख और समझ सकते हैं. सत्य तो यह है कि पुरुष प्रजापति के इतना नेदिष्ठ या निकटतम या अंतरंग है कि विचार करने पर यही अनुभव होता है और यही मुंह से निकल पड़ता है कि पुरुष प्रजापति ही है :

पुरुषः प्रजापतिः—शत० ६. २. १. २३.

जो प्रजापति के स्वरूप का ठाट या मानचित्र है, हूबहू वही पुरुष में आया है. इसलिए यदि सूत्र रूप में पुरुष के स्वरूप की परिभाषा बनाना चाहें, तो वैदिक शब्दों में कह सकते हैं :

प्राजापत्यो वै पुरुषः—तैत्ति० २. १. ५. ३.

किन्तु यहाँ एक प्रश्न होता है. पुरुष साढ़े तीन हाथ परिमाण के शरीर में सीमित है, जिसे बाद के कवियों ने :

अहुठ हाथ तन सरवर, हिया कंवल तेहि मांह.

इस रूप में कहा है, अर्थात् साढ़े तीन हाथ का शरीर एक सरोवर के समान है, जो जीवन रूपी जल से भरा हुआ है, और जिसमें हृदयरूपी कमल खिला हुआ है. जिस प्रकार कमल सूर्य के दर्शन से, सहस्ररश्मि सूर्य के आलोक से विकसित होता या खिलता है, उसी प्रकार पुरुष रूपी यह प्रजापति उस विश्वात्मा महाप्रजापति के आलोक से विकसित और अनुप्राणित है. प्रजापति आतप है. तो यह पुरुष उसकी छाया है. जब तक प्रजापति के साथ यह सम्बन्ध दृढ़ है, तभी तक पुरुष का जीवन है. प्रजापति के बल का ग्रंथिबन्धन ही पुरुष या मानव के हृदय की शक्ति है. जो समस्त विश्व में फैला हुआ है, विश्व जिसमें प्रतिष्ठित है और जो विश्व में ओतप्रोत है, उस महाप्रजापति को वैदिक भाषा में संकेत रूप से 'सहस्र' कहा जाता है. वह सहस्रात्मा प्रजापति ही वैदिक परिभाषा में 'वन' भी कहलाता है. उस अनन्तानन्त

'वन' के भीतर एक-एक विश्व एक-एक अश्वत्थ वृक्ष के समान है. इस प्रकार के अनन्त अश्वत्थ उस सहस्रात्मा 'वन' नामक प्रजापति में हैं. उसके केन्द्र की जो धारा सृष्ट्युन्मुख होकर प्रवृत्त होती है, उसी मूलकेन्द्र से केन्द्रपरम्परा विकसित होती हुई पुरुष तक आती है. केन्द्रों के इस वितान में पूर्वकेन्द्र की प्रतिमा या प्रतिविम्ब उत्तर के केन्द्र में आता है. इस प्रकार जो सहस्रात्मा प्रजापति है, वही मूल से तूल में आता हुआ ठीक-ठीक अपने सम्पूर्ण स्वरूप के साथ इस पुरुष में अवतीर्ण होता है और हो रहा है. वैदिक महर्षियों ने ध्यान योग्यतानुगत हो कर उस महान् तत्त्व का साक्षात्कार किया और सृष्टिपरम्परा का विचार करते हुए उन्हें यह साक्षात् अनुभव हुआ कि यह जो पुरुष है, वह इसी सहस्रात्मा प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है—**पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा**—शत० ७. ५. २. १७.

जो सहस्र प्रजापति है, उसी के अनन्त अव्यक्त स्वरूप में किन्हीं अचिन्त्य अप्रतर्क्य वलों के संघर्षण से या ग्रन्थिवन्धन से या स्पन्दन से सृष्टि की प्रक्रिया प्रवृत्त होती है. किसी भी प्रकार की शक्ति या वेग हो, उसके लिये वलग्रन्थि आवश्यक है. विना वलग्रन्थि के अव्यक्त व्यक्तभाव में, अमूर्त्त मूर्त्तरूप में आ ही नहीं सकता. शुद्ध रसरूप प्रजापति में अमित-भाव की प्रधानता है, उसमें जब तक मितभाव का उदय न हो, तब तक सृष्टि की सम्भावना नहीं होती. प्रजापति के केन्द्र से जिस रस का वितान या विस्तार होता है, वह यदि वाहर की ओर ही फैलता जाये तो कोई ग्रन्थि-सृष्टि संभव नहीं. वह इस परिधि की ओर फैल कर जब वल के रूप केन्द्र की ओर लौटता है. तब द्विविरुद्ध भावों की टक्कर से स्थिति और गति या गति और आगतिरूप स्पन्दन का चक्र जन्म लेता है. स्पन्दन का नाम प्रजापति है. स्पन्दन को वैदिक परिभाषा में छन्द कहते हैं. जो छन्द है, वही प्रजापति है. किसी भी प्रकार की फड़कन का नाम छन्द है. सारे विश्व में द्विविरुद्ध भाव से समुत्पन्न जहाँ-जहाँ छन्द या फड़कन है, वही प्रजापति के स्वरूप का तारतम्य दृष्टिगोचर होता है. अतएव एक महान् सत्य सूत्ररूप में इस प्रकार व्यक्त किया गया :

**'प्रजापतिरेव छन्दो भवत्'**—शत० ८. २. ३. १०.

सृष्टि की महती प्रक्रिया में अनेक लोकों में अनेक स्तरों पर प्रजापति के इस छन्द की अभिव्यक्ति हो रही है. उसी छन्दो-वितान में सहस्रात्मा प्रजापति पुरुषरूप में अभिव्यक्त होता है. सूर्य भी उसी केन्द्रपरम्परा का एक विन्दु है. ऐसे पूर्वयुग की कल्पना करें, जव सव कुछ तमोभूत था, अलक्षण था, और अप्रज्ञात था. उस समय रस और वल के तारतम्य से जो शक्ति का संघर्षण होने लगा, संघर्षण उसी के फलस्वरूप ज्योतिष्मान् महान् आदित्यों का जन्म हुआ. वैज्ञानिक भाषा में इसी को यों सोचा और कहा जा सकता है कि आरम्भ में शक्ति के समान वितरण के फलस्वरूप एक शान्त समुद्र भरा हुआ था. शक्ति के उस शान्त सागर में न कोइ तरंग थी, न क्षोभ था. किन्तु न जाने कहाँ से, कैसे, क्यों और कव उसमें तरंगों का स्पन्दन आरम्भ हुआ और उस संघर्ष के फलस्वरूप जो शक्ति समरूप में फैली हुई थी उसमें केन्द्र या विन्दु उत्पन्न होने लगे, जो कि प्रकाश और तेज के पुञ्ज वन गए. इस प्रकार के न जाने कितने सूर्य शक्ति की उस प्राक्का-लीन गर्भित अवस्था में उत्पन्न हुए. वैदिकभाषा में व्यक्त की संज्ञा हिरण्य है, अव्यक्त अवस्था हिरण्यगर्भ अवस्था थी. समभाव से वितरित शक्ति की पूर्वावस्था वही हिरण्यगर्भ अवस्था थी, जिसमें यह व्यक्त हिरण्यभाव समाया हुआ था. आगे का व्यक्तभाव उसी के पूर्व अव्यक्त में लीन था. यदि सदा काल तक शक्ति की वही साम्यावस्था वनी रहती तो किसी प्रकार का व्यक्तभाव उत्पन्न ही न होता. शक्ति के वैषम्य से ही महान् आदित्य जैसे केन्द्र या विन्दु उस शान्तशक्ति समुद्र में उत्पन्न होने लगे. पहली शान्त अवस्था के लिये वेद में संयती शब्द है और दूसरी व्यक्तभावापन्न क्षुब्ध अवस्था के लिये क्रन्दसी शब्द है, संयती शान्त आत्मा है. क्रन्दसी क्षुभित आत्मा है. शक्ति के उस समुद्र में जो क्षुभित केन्द्र उत्पन्न हुए, उन्हीं की संज्ञा सूर्य हुई. हमारे सौर-मण्डल का सूर्य भी उन्हीं में से एक है. प्रत्येक आदित्य या सूर्य सहस्रात्मा प्रजापति की प्रतिमा है और वह भी ऐसी प्रतिमा है जो विश्वरूपी है, जिसमें सव रूपों की समष्टि है, जिसके मूलकेन्द्र से सव रूपों का निर्माण होता है. उसी के लिये कहा है :

**आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम्.** —यजु: १३.४१.

शक्ति के शान्त महासमुद्र में जो आदित्य उत्पन्न हुआ, वह प्रजापति का शिशुरूप था. उसके पोषण के लिये पय या दुग्ध

की आवश्यकता थी. यह कौन-सा पय था, किसने उस आदित्य को पुष्ट किया ? ब्राह्मणों की परिभाषा के अनुसार प्राण ही वह पय या दुग्ध है, जिससे आदित्यरूप उस शिशु का संवर्धन होता है. विराट् प्रकृति में सौरप्राणात्मक स्पन्दन या प्राणनक्रिया के द्वारा ही वह विश्वरूप आदित्य जीवनयुक्त है अर्थात्—स्वस्वरूप में स्थित है. वह अपने से पूर्व की कारण-परम्पराओं का पूर्णतम प्रतिनिधि है. इसीलिए उसे सहस्र की प्रतिमा कहा गया है. हमारा जो दृश्यमान सूर्य है, वह उन्हीं महान् आदित्यों की केन्द्र-परम्परा में एक विशिष्ट केन्द्र है अथवा उनकी तुलना में यह शिशुमात्र है. इसीलिए वैदिक-भाषा में : 'द्रप्सश्चस्कन्द'.

कहा जाता है. अर्थात् शक्ति के उस पारावार-हीन महासमुद्र में जो शक्ति का प्रज्वलित केन्द्र उत्पन्न हुआ, वह इस प्रकार था, जैसे बड़े समुद्र से एक जलविन्दु चू पड़ा हो. वह महासमुद्र जो कि वाष्परूप में था अथवा अव्यक्त था उसी में से यह एक द्रप्स या बिन्दु व्यक्तभाव को प्राप्त हो गया है. यही वैदिक काव्य की भाषा है और विज्ञान की भाषा है. सब प्रकार की सीमाओं से ऊपर, सब प्रकार के गणितीय निर्देशों से परे जो शक्ति तत्त्व है, जहां किसी प्रकार के अंकों का संस्पर्श नहीं होता, जिसके लिये शून्य या पूर्ण ही एकमात्र प्रतीक है, उस अनन्त संज्ञक पूर्ण में से यह प्रत्यक्ष आदित्यरूपी एक विन्दु प्रकट हुआ है और इसकी संज्ञा भी पूर्ण है. वह अदस् है, यह इदम् है. वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है. इस प्रकार की रहस्यमयी भाषा सृष्टि से प्राक्कालीन अचिन्त्य और अव्यक्त तत्त्वों के लिये विज्ञान और वेद दोनों में समानरूप से प्रयुक्त होती है.

प्रकृत में हमारा लक्ष्य इसी पर है कि उस अनंत प्रजापति के छन्द से ही पुरुष का निर्माण हुआ है. उस सहस्रात्मा प्रजापति की साक्षात् प्रतिमा पुरुष या मानव है. रस और बल के तारतम्य से पुरुष, अश्व, गौ, अज, अवि ये पांच मुख्य पशु प्रकृति में प्राणदेवताओं के प्रतिनिधिरूप से चुन लिए गए हैं, यद्यपि समस्त पशुओं की संख्या अनन्तानन्त है. वैदिक परिभाषा के अनुसार जो भूतसृष्टि है, उसी की संज्ञा पशु या प्रजा है. यह भूतसृष्टि तीन प्रकार की है :

१. असंज्ञ—जैसे पाषाण आदि. २. अन्त:संज्ञ—जैसे वृक्ष आदि, ३. ससंज्ञ—जैसे पुरुष,पशु आदि.

इन तीनों में यह प्रातिस्विक भेद क्यों है ? यह पृथक् विचार का विषय है, संक्षेप में असंज्ञ सृष्टि में केवल अर्थमात्रा की अभिव्यक्ति है. अन्त:संज्ञ सृष्टि में अर्थमात्रा और प्राणमात्रा दोनों की अभिव्यक्ति है, और ससंज्ञ प्राणियों में अर्थ या भूतमात्रा, प्राणमात्रा एवं मनोमात्रा—इन तीनों की अभिव्यक्ति होती है. इन्हें ही भूतात्मा, प्राणात्मा और प्रज्ञानात्मा भी कहते हैं. प्रज्ञानात्मक जो सौर प्राण है, उसे ही इन्द्र कहते हैं. मानव या मनुष्य में इस सौर इन्द्रतत्त्व की सबसे अधिक अभिव्यक्ति है. अन्त:संज्ञ वृक्ष वनस्पतियों में वह प्रज्ञानात्मा इन्द्र मूर्छित रहता है. उनमें केवल प्राणात्मा या तैजस आत्मा का विकास होता है. जहाँ तेज या प्राण है, वहीं विकास है. बीज जब पृथ्वी में जल, मिट्टी एवं पृथिवी की उष्णता के सम्पर्क में आता है, तत्क्षण उसमें विकास की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है. अतएव उपनिषदों में कहा गया है कि जो तैजस आत्मा है वह वृक्ष-वनस्पतियों में भी है, किन्तु प्रज्ञानात्मा का विकास केवल मानव में होता है. इस दृष्टि से मानव समस्त विश्व में अपना विशिष्ट स्थान रखता है जिस प्रकार प्रजा-पति वाक्, प्राण, मन की समष्टि है, वैसे ही मानव भी वाक्, प्राण और मन तीनों की समष्टि का नाम है. अर्थ या स्थूल भूतमात्रा को वैदिक परिभाषा में वाक् कहते है. पंचभूतों में आकाश सबसे सूक्ष्म होने के कारण सबका प्रतीक है और वाक् आकाश का गुण है. अतएव वाक् से उपलक्षित स्थूल भूतमात्रा या अर्थमात्रा का ग्रहण किया जाता है. मानव का शरीर यही भाग है. इसके भीतर क्रिया रूप प्राणात्मा का निवास है और उसके भी अभ्यन्तर में मनोमय प्रज्ञानात्मा का निवास है. मन की ही संज्ञा प्रज्ञान है.

इस प्रकार प्रजापति और मानव इन दोनों में रूप-प्रतिरूप या बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का सम्बन्ध है. पुरुष प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है, इसका यह अर्थ भी है कि जिस प्रकार प्रजापति त्रिपुरुष पुरुष है, उसी प्रकार यह मनुष्य भी है. त्रिपुरुषपुरुष का तात्पर्य यह है कि प्रजापति नामक संस्थाका निर्माण अव्यय, अक्षर और क्षर इन तीन तत्त्वों की समष्टि के रूप में होता है. इनमें से अव्यय दोनों का आलम्बन या प्रतिष्ठारूप धरातल है. अक्षर निमित्त है और क्षर उपादान

है. अव्यय प्रजापति से मन, अक्षर से प्राण और क्षर से शरीरभाग का निर्माण होता है. इस प्रकार जो प्रजापति है वही पुरुष है और पुरुष को प्राजापत्य कहना सर्वथा समीचीन है.

वैदिक दृष्टि के अनुसार पुरुष दीन-हीन दासानुदास या शरणागत प्राणी नहीं है. वह है प्रजापति के निकटतम उसकी साक्षात् प्रतिमा. सहस्रात्मा प्रजापति का जो केन्द्र था, उसी की परम्परा में पुरुष-प्रजापति के केन्द्र का भी विकास होता है. जो सहस्र के केन्द्र की महिमा थी, वही पुरुष के केन्द्र की भी है. सहस्रात्मा वनसंज्ञक प्रजापति का केन्द्र प्रत्येक अश्वत्थ-संज्ञक प्रजापति में होता है, और वही विकसित होता हुआ प्रत्येक सूर्य में और प्रत्येक मानव में अभिव्यक्त होता है. इसीलिए कहा जाता है कि जो पुरुष सूर्य में है, वही मानव में है. वैदिक भाषा में केन्द्र को ही हृदय कहते हैं. केन्द्र को ही ऊर्ध्व और नाभि भी कहा जाता है. केन्द्र ऊर्ध्व और उसकी परिधि अवः है. चक्र की नाभि उसका केन्द्र और उसकी नेमि उसका बाह्य या महिमा भाग है. केन्द्र से चारों ओर रश्मियों का वितान होता है. केन्द्र को उक्थ भी कहते हैं, क्योंकि उस केन्द्र से चारों ओर रश्मियाँ उत्पन्न होती और फैलती हैं. इन रश्मियों को उक्थ की सापेक्षता से अर्क कहा जाता है. जिस प्रकार सूर्य से सहस्रों रश्मियां चारों ओर फैलती हैं, और फिर एक-एक से सहस्र-सहस्र होकर बिखर जाती हैं, यहां तक कि तनिक-सा भी स्थान उनसे विरहित या शून्य नहीं रह जाता और उनकी एक चादर—जैसी सारे विश्व में फैल जाती है, वैसे ही पुरुष के केन्द्र या उक्थ से अर्क या रश्मियों का विकास होता है.

## सहस्रधा महिमानः सहस्रम्

अर्थात् केन्द्र भी महिमा सहस्ररूप से व्यक्त होती है. और फिर उसकी रश्मियाँ सहस्र-सहस्र रूप से बंट जाती हैं. जहाँ केन्द्र और परिधि की संस्था है, वहाँ सर्वत्र यही वैज्ञानिक नियम कार्य करता है. इस प्रकार जो पुरुष का आत्म-केन्द्र हृदय है, वह विश्वात्मा सहस्र या प्रजापति का ही अत्यन्त विलक्षण और रहस्यमय प्रतिबिम्ब है. ऐसा यह पुरुष प्रजापति की महिमा से महान् है. साढ़े तीन हाथ के शरीर में परिमित होते हुए भी यह त्रिविक्रम विष्णु के समान विराट् है. गीता में जो कहा है 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' वह इसी तत्त्व की व्याख्या है. वैदिक दृष्टिकोण में संदेह और अनास्था का स्थान ही नहीं है. यहां तो जो पूर्ण पुरुष है, जो समस्त विश्व में भरा हुआ है, वही पुरुष के केन्द्र या हृदय में भी प्रकट हो रहा है. वह पुरुष वामन भी कहा जाता है. विराट् प्राण की अपेक्षा सचमुच वह वामन है. यह जो मानव के केन्द्र या हृदय में वामन-मूर्ति भगवान् है इसे ही व्यान प्राण भी कहा जाता है. जो प्राण और अपान इन दोनों को संचालित करता और जीवन देता है. इस व्यान प्राण की शक्ति बड़ी दुर्धर्ष है. इसके ऊपर सौर जगत् के प्राण और पार्थिव जगत् के अपान इन दोनों का घर्षण या आक्रमण निरन्तर होता रहता है, किन्तु वह वामन-मूर्ति विष्णु विराट् का प्रतीक है. यह किसी तरह पराभूत नहीं होता. यदि यह वामन या मध्यप्राण हमारे केन्द्र में न हो तो सौर और पार्थिव प्राण-अपान का प्रचण्ड धक्का न जाने हमारा किस प्रकार विस्त्रंसन कर डाले. उपनिषद् में कहा है :

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन, इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ.

जिस केन्द्र या मध्यस्थ प्राण में ऊर्ध्वगति प्राण और अधोगति अपान दोनों की ग्रन्थि है, उसकी पारिभाषिक संज्ञा व्यान है. उसी को यहां सांकेतिक भाषा में इतर कहा गया है. प्राण-आन दोनों उसी के आश्रय से संचालित होते हैं. और भी :

'मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते'.

यह केन्द्र या मध्यप्राण या वामन इतना सशक्त और बलिष्ठ है कि सृष्टि के सब देवता इसकी उपासना करते हैं. इसी दृढग्रन्थिबन्धन या बल से इतर सब देवों के बल सन्तुलित होते हैं. यह वामनरूपी मध्यप्राण ही समस्त विश्व में अपनी रश्मियों से फैल कर विराट् या वैष्णवरूप धारण करता है. विष्णुरूप महाप्राण ही हृदयस्थ वामन के रूप में सब प्राणियों के भीतर प्रतिष्ठित है. इसी के लिये कहा जाता है :

'स हि वैष्णवो यद् वामनः'—शत. ५.२.५४.

हृदयस्थ वामनरूपी विष्णु किसी प्रकार अवमानना के योग्य नहीं है. वही अविचाली सहज परिपूर्ण और स्वस्थभाव है. जो मानव इस केन्द्रस्थभाव में स्थिर रहता है, वही निष्ठावान् मानव है. जिसका केन्द्रविचाली है, कभी कुछ कभी कुछ सोचता और आचरण करता है. वही भावुक मानव है. केन्द्र स्थिर हुए विना परिधि या महिमामण्डल शुद्ध वन ही नहीं सकता. आत्मा, वुद्धि मन और शरीर इन चारों विभूतियों में आत्मा और वुद्धि की अनुगत स्थिति का नाम निष्ठा है और मन एवं शरीर की अनुगत स्थिति का नाम भावुकता है. प्राय: निर्वल संकल्प-विकल्प वाले मनुष्य मन और शरीरानुगत रहते हुए अनेक व्यापारों में प्रवृत्त होते हैं. जो वुद्धि मन को अपने वश में कर लेती है, उसी को वैदिक भाषा में मनीषा कहते हैं. जिस अविचाली अटल वुद्धि में पर्वत के समान ध्रुव या अटल निष्ठा होती है, उसे ही धिषणा कहते हैं. वैदिक भाषा में इसी अश्माखण प्राण के कारण इसे "धिषणा पार्वतेयी" कहा जाता है.

वारम्वार यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि भारतीय मानव धर्मभीरु होते हुए भी सर्वथा अभिभूत क्यों हैं ? उसका ज्ञान और कर्म इस प्रकार कुण्ठित क्यों वना हुआ है ? इस प्रश्न का मानवोचित समाधान यही है कि भारतीय मानव अत्यन्त भावुक हो गया है. उसने अपना प्राचीन निष्ठाभाव खो दिया है. वह सारे विश्व के कल्याण के लिये सौम्यभाव से आकुल हो जाता है, किन्तु आत्मकेन्द्र की रक्षा नहीं करता. उसका अन्तःकरण सौम्य होते हुए भी भावुक होने के कारण पिव्दमान या पिलपिला रहता है. वह दृढ़ कर्म और विचारों में सक्षम नहीं वन पाता. उसमें धर्मभीरुता तो होती है, किन्तु आत्मसत्यरूपी धर्मात्मकता नहीं होती. आत्मनिष्ठा पर अध्यारूढ़ होना सच्ची श्रद्धा है. उसका भारतीय मानव में अभाव हो गया है. अतएव उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व का विकास नहीं हो पाता. वह जिस किसी के लिये भी अपनी आत्मा का समर्पण तो करता है, किन्तु निष्ठापूर्वक ग्रहण कुछ भी नहीं करता. मनोगर्भिता वुद्धि से प्रवृत्त होने वाला मानव ही निष्ठावान् मानव है. ऐसे मानव का स्वयं केन्द्र विकसित होता है. केन्द्रविन्दु का नाम ही मनु है. आत्मवीज का नाम ही मनु कहा जाता है. वह मनुतत्त्व जिस मानव में विकसित नहीं है, उसमें श्रद्धा का होना भी व्यर्थ है. श्रद्धा तो मनु की पत्नी है अर्थात् श्रद्धा मनु के लिये अशिति या भोग्य है. जिस समय आत्मकेन्द्र मनु तेजस्वी होता है, उस समय वह अपने ही आप्यायन या संवर्धन के लिये वाहर से श्रद्धारूपी अशिति या भोग्य प्राप्त करता है. मनु श्रद्धा का भोग करके ही पूर्ण वनते हैं. मनु और श्रद्धा की एक साथ परिपूर्ण अभिव्यक्ति ही सत्य का स्वरूप है, अर्थात् सर्वप्रथम मानव का आत्मकेन्द्र उद्वुद्ध होना चाहिए. उसमें सौर प्राण या इन्द्रात्मक ज्योति का पूर्ण प्रकाश आना चाहिए, तभी वह सच्चा मनुपुत्र या मानव वनता है और इस प्रकार आत्मकेन्द्र के उद्वुद्ध होने के वाद आत्म-वीज के विकास के लिये वह सारे विश्व से अपने लिये ग्राह्य अंश स्वीकार करता हुआ वढ़ता है. यही श्रद्धा द्वारा मनु का आप्यायन है. वैदिक भाषा में इसे ही यों भी कहा जाता है—अशीतिभिर्महदुक्थमाप्यायते.

केन्द्र या मनु 'महदुक्थ' है. उस महदुक्थ की तृप्ति या आप्यायन श्रद्धारूपी अशिति से होता है, जो उसे चारों ओर से प्राप्त होती है. इस प्रकार एक ही वात को कई रीति से कहा गया है. महदुक्थ और अशिति, मनु और श्रद्धा इन दोनों की एक साथ अभिव्यक्ति का नाम ही सत्य प्रतिष्ठातत्त्व है.

## सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्

सत्य स्वयंप्रतिष्ठ होता है और सव कुछ सत्य का आधार पाकर प्रतिष्ठित वनता है. सत्य आग्नेय तत्त्व है, और श्रद्धा ऋत या स्नेह्य या आपोमय पारमेष्ठ्य तत्त्व है. सत्यपरायण वुद्धि सौर प्राण या इन्द्रतत्त्व को ग्रहण करती है. सूर्य की संज्ञा ही इन्द्र या रुद्र भी है. वेद की दृष्टि से अग्नि या शिव वड़े हैं, और सोम अग्नि का छोटा सखा सोम है. की आहुति अग्नि में पड़ती है, जिससे अग्नि सौम्य रहता है और अमृतधर्मा वनता है. यही प्रक्रिया मानव में भी निश्चित है. भावुकता सौम्यता का रूप है और निष्ठा आग्नेय प्राणात्मक वुद्धि का धर्म है. श्रद्धा का उद्गम मन में और विश्वास का उद्गम वुद्धि में होता है. विश्वास सौर तत्त्व और श्रद्धा आपोमय है. वुद्धि से भी परे और उससे भी उच्चतर तत्त्व का नाम आत्मा है :

यो वुद्धेः परतस्तु सः !

श्रद्धासमन्वित बुद्धि ही उस आत्मतन्त्र तक पहुँच सकती है.

अलौकिक परिपूर्ण मानव ही मनुष्य जाति का युग-युगों में आदर्श रहा है. गीता में इसी मानव को लक्ष्य करके 'पुरुषोत्तम' कहा है. इसे ही अंग्रेजी में 'सुपरमैन' करते हैं. प्रकृत मानव और महामानव का जो अन्तर है, वही मैन और सुपरमैन का है. वेदव्यास ने जो :

नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्.

इस लोकोत्तर सत्य का उद्घोष किया है, वह उसी महामानव, अति-मानव या लोकत्तरमानव के लिये है, न कि सर्वात्मना दीन-हीन और अशक्त बने हुए निर्बल मानव के लिये, जो परिस्थितियों के थपेड़ों से पराभूत होता हुआ इधर-उधर लक्ष्यहीन कर्म करता रहता है. इस प्रकार का जो बापुरा मनुष्य है वह तो शोक का विषय है. वस्तुतः मानव का उद्देश्य तो अपने उस स्वरूप की प्राप्ति है जिसमें विश्व का वैभव या समृद्धयानन्द और आत्मा का सहज स्वाभाविक उत्कर्ष या शान्त्यानन्द दोनों एक साथ समन्वित हुए हों. जो मानव इस प्रकार की स्थिति इसी जन्म में यहीं रहते हुए प्राप्त करता है, वही सफल श्रेष्ठतम मानव है. महाभारत के समस्त पात्रों में दो प्रकार के चरित स्पष्ट लक्षित होते हैं. एक वे हैं जो स्थिर धृति और दृढ़ निष्ठा से कभी च्युत नहीं होते और सदा दूसरों का उद्बोधन करते हुए देखे जाते हैं. दूसरे वे हैं जो भावुक हैं और बार-बार उद्बोधन प्राप्त करने पर भी जो उसे विस्मृत कर देते हैं और असत् कर्म में प्रवृत्त होते हैं, या निष्ठा से विपरीत केवल भावुकतापूर्ण कर्म करते हैं. पहली कोटि के पात्रों में केवल चार की गिनती हैं—कृष्ण, व्यास, भीष्म और विदुर. उनके अतिरिक्त युधिष्ठिर, अर्जुन आदि धर्मपथ के पथिक भी अपनी भावुकता के कारण विषमभाव को प्राप्त हो जाते हैं और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के ज्ञान से कुछ समय के लिये शून्य या विचलित हो जाते हैं. इनके अतिरिक्त दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि, कर्ण—जैसे मानव तो एकदम असत् निष्ठा के लिये कर्म कर रहे थे. उनका तो अन्त में विनाश निश्चित ही था. महाभारत जैसी लोकोत्तर धर्म-संहिता का लक्ष्य दुर्योधन कर्ण आदि पात्र नहीं हैं, क्योंकि वे अपने दुष्ट आग्रह को किसी भांति त्याग नहीं सकते थे, महाभारत के लिये समस्यारूप में तो युधिष्ठिर और अर्जुन हैं, जो धर्मपथ पर आरूढ़ होते हुए भी और धर्मपरायण निष्ठा रखते हुए भी बार-बार कर्त्तव्यपथ से च्युत होते हैं और विषम निष्ठा को प्राप्त हो जाते हैं और अपने ध्येय को भूल कर कुछ कर कुछ करने के लिये उतारू हो जाते हैं. कहाँ तो एक ओर अन्याय का प्रतिकार करने के लिये अर्जुन का युद्ध के लिये कृष्ण को सारथी बनाकर रणभूमि में जाना, कहाँ दूसरी ओर क्षणभर में ही युद्ध न करने के लिये भारी अवसाद को प्राप्त हो जाना. ऐसे ही युधिष्ठिर भी कई अवसरों पर आत्महत्या के लिये या सब-कुछ छोड़ कर वैराग्य-धारण करने के लिये तैयार हो जाते हैं. जिस व्यक्ति की निष्ठा ठीक है, जिसका आत्मकेन्द्र अविचलित है वह इस प्रकार की धर्मभीरु बातें नहीं कहेगा, जैसी अर्जुन या युधिष्ठिर ने कहीं; जो ऊपर से देखने में तो तर्कसंगत और पण्डिताऊ जान पड़ती हैं, किन्तु जो आत्मनिष्ठ सत्य-धर्म की दृष्टि से नितान्त विरुद्ध हैं.

जिसे महामानव या अतिमानव या पुरुषोत्तम या लोकोत्तर मानव कहा गया है, जो व्यक्ति समाज, राष्ट्र और समस्त मानवजाति की दृष्टि से हमारा आदर्श है, उस श्रेष्ठ मानव का इस विश्व में सच्चा स्वरूप क्या है ? उसका निर्माण कैसे हुआ है ? विराट् विश्व के कौन-कौन से तत्त्व उसके निर्माण में समाविष्ट हुए हैं ? उसका केन्द्र और उसकी महिमा क्या है ? विश्वात्मा षोडशी प्रजापति और केन्द्र प्रजापति का क्या सम्बन्ध है ?

कहने के लिये तो मानव का निर्माण छोटी सी बात है, किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है यह मानव सहस्र प्रजापति की प्रतिमा है. अतएव मानव के स्वरूप का यथार्थज्ञान विश्वस्वरूप की मीमांसा के बिना अथवा सहस्रात्मा प्रजापति के स्वरूपपरिचय के बिना सम्भव नहीं है. सृष्टि के आदि से सृष्टि के अन्त तक विश्व की कोई प्रक्रिया ऐसी नहीं है जिसका प्रतिबिम्ब मानव में न हो. संक्षेप में इसका सूत्र यह है कि जो षोडशी प्रजापति है वही मानव के केन्द्र में बैठा हुआ मनुप्रजापति या आत्मबीज है. षोडशी प्रजापति को ही त्रिपुरुष-पुरुष भी कहते हैं. अव्यय, अक्षर और क्षर ये ही सृष्टि के आधारभूत तीन पुरुष हैं, और चौथा इन तीनों से परे रहने वाला परात्पर पुरुष कहलाता है, जो

सर्वथा अव्यक्त और अमूर्त्त है, किन्तु जिसकी स्वाभाविकी ज्ञान, बल, क्रिया से यह सारा विश्व प्रवृत्त हो रहा है. इस प्रकार त्रिपुरुष समन्वित परात्पर पुरुष ही षोडशी प्रजापति का दूसरा नाम है. इन्हीं तीनों की विशेषताओं को और भी अनेक शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है, क्योंकि विश्व में भी वस्तुत: वे तीन ही नानाभावों को प्राप्त हो रहे हैं. उदाहरण के लिए अव्यय, क्षर का ही विकास मन, प्राण और भूत है. उन्हें ही जैसा पहले कहा गया है—प्रज्ञानात्मक, प्राणात्मा और भूतात्मा कहते हैं. इन्हीं तीनों से क्रमश: भावसृष्टि और विकारसृष्टि का जन्म होता है. इन तीनों में से प्रत्येक की पांच-पांच कलाएं हैं अर्थात् अव्यय की पांच कलाएँ, अक्षर की पांच कलाएं और क्षर की पांच कलाएं और इनसे अतिरिक्त स्वयं परात्पर पुरुष—इस प्रकार षोडशी प्रजापति कहलाता है. कहा है :

पंचधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमदन्यदस्ति, यस्तद् वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ।

क्षर, अक्षर और अव्यय इन तीनों में शुद्ध आत्मा केवल अव्यय है. वह प्रकृति सापेक्षता से ऊपर है. प्रकृति के दो रूप हैं—अव्यक्त और व्यक्त. व्यक्त रूप विश्व या क्षर है. प्रकृति का अव्यक्त रूप अक्षर पुरुष कहा जाता है. उसे ही वराप्रकृति कहते हैं. उसकी तुलना में क्षर सृष्टि अपरा प्रकृति है. जो क्षर सृष्टि है वही भौतिक जगत् है. भूत प्रजाधार पर प्रतिष्ठित रहता है. प्राण के विना भूत की स्थिति हो ही नहीं सकती. प्राचीन और अर्वाचीन दोनों दृष्टियों से यही सत्य सिद्धान्त है. प्रत्येक भूत या पिण्डात्मक अर्थ प्राणरूप शक्ति का ही व्यक्त रूप है. भूत और प्राण इन दोनों से ऊपर इनके भीतर समाविष्ट अव्यय पुरुष है, जो विश्वसाक्षी, असंग और अव्यक्त रूप है. वैदिक परिभाषाओंसे प्राय: परिचय न होने के कारण उनके सान्निध्य में बुद्धि को व्यामोह होने लगता है. किन्तु जिस प्रकार विज्ञान की परिभाषाएं सुनिश्चित और सार्थक हैं, उसी प्रकार वैदिक सृष्टिविज्ञान ने भी अपने अभिधेय अर्थ का प्रकाश करने के लिये सुनिश्चित परिभाषा-शास्त्र का निर्माण किया था. उन पारिभाषिक शब्दों के द्वारा ही मन्त्रों में, ब्राह्मणों में और उपनिषदों में सृष्टि सम्बन्धी नाना तत्त्वों को स्पष्ट किया गया है. दुर्भाग्य से उस परम्परा से हम दूर हटते चले गए और ब्राह्मणग्रन्थों का पठन-पाठन भी केवल यज्ञीय कर्मकाण्डों तक सीमित रह गया. वैसे तो ऋषियों की दृष्टि से उन्होंने ब्राह्मणग्रन्थों में प्राय: इन अर्थों को आद्यन्त भर दिया है, किन्तु वे स्रोतग्रन्थ भी आज दुरूह बने हुए हैं.

प्रजापति को चतुष्पात् कहा गया है. ओंकार सर्वोत्तम गुह्य संकेत है. प्रणव भी चतुष्पात् है और प्रजापति की प्रतिमा मानव भी चतुष्पात् है. विश्व, विश्वकर्त्ता, विश्वसाक्षी, विश्वातीत इन चारों की ही संज्ञा क्षरात्मा, अक्षरात्मा, अव्ययात्मा और परात्पर है और इन्हें ही म, उ, अ एवं अर्धमात्रा युक्त प्रणव के प्रतीक से किया जाता है. 'विश्व क्या है? यहां से प्रश्नसूत्र का वितान करते हुए समष्टि और व्यष्टि रूप में पांच भौतिक विश्व के मूलकारण की जिज्ञासा और उसका समाधान किया गया है. इसके उत्तर में उपनिषदों की प्रसिद्ध अश्वत्थविद्या का निरूपण है जो वैदिक सृष्टिविद्या का ही दूसरा नाम है. इस प्रसंग में कई प्राचीन परिभाषाएं महत्त्वपूर्ण हैं. जैसे महावनर्ण, परात्पर, अश्वत्थरूपी महावृक्ष अव्यय, इसे मायी महेश्वर भी कहते हैं.

इस अश्वत्थविद्या में अव्यय को अमृत, अक्षर को ब्रह्म और क्षर को शुक्र भी कहा गया है. अव्यय अभिष्ठानकारण और भाव सृष्टि का हेतु है, अक्षर निमित्त कारण और गुणसृष्टि का हेतु है, एवं क्षर उपादानकारण तथा विकारसृष्टि का हेतु है.

### मनुतत्त्व

अश्वत्थविद्या के अतिरिक्त दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय मनुतत्त्व की व्याख्या है, जिसके कारण मानव मानव कहलाता है. मनु-तत्त्व को ही अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, प्राण और शाश्वतब्रह्म इन नामों से पुकारा जाता है, जैसा कि मनु के श्लोक में प्रसिद्ध है, (मनु: १२।१२३). अध्यात्मसंस्था के अन्तर्गत चार प्रकार के मनस्तन्त्र हैं—श्वोवसीयस् मन, सत्त्वमन, सर्वेन्द्रियमन और इन्द्रिय मन. ज्ञानशक्तिमय तत्त्व को मन कहते हैं. इन चारों का सम्बन्ध चिदंश से है. उसी के कारण ये प्रज्ञात्मक बनते हैं. इनमें सृष्टि की जो मूलभूत कामना या काम है (कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्) वही सर्वजगत् के मूल में स्थित अतएव पुरुष के मूल में भी सर्वोपरि विराजमान हृदय विश्वात्मा मन या हृदयभाव से युक्त

काममय पुरुष ही श्वोवसीयस् मन है. यही पुरुषमन मौलिक मनुतत्त्व है जो सबका प्रशास्ता और सर्वान्तर्यामी है. इसी की ज्ञानमात्रा उत्तरोत्तर सुपुप्त्यधिष्ठाता सत्त्वमूर्ति महन्मन में, और वहां से इन्द्रियप्रवर्त्तक अशनायारूप सर्वेन्द्रिय मन में, और अन्त में नियतविषयग्राही इन्द्रियों के अनुगामी इन्द्रियमन में अवतीर्ण या अभिव्यक्त होती है. एक-एक इन्द्रिय का रूप रस घ्राण आदि नियत विषय इन्द्रियमन से गृहीत होता है. इसी को 'पंचेन्द्रियाणि मनःपष्ठानि' कहा जाता है. फिर पांचों इन्द्रियों का अनुकूल प्रतिकूल वेदनात्मक जो व्यापार है, वह सब इन्द्रियों में समान होने से सर्वेन्द्रियमन का विषय है. इसे अनिन्द्रिय मन भी कहा जाता है. जब चलते हुए किसी एक इन्द्रियविषय का अनुभव नहीं होता, तब भी सर्वेन्द्रियमन अपना कार्य करता रहता है. भोगप्रसक्ति के बिना भी विषयों का चिन्तन यही मन करता है. सुपुप्तिदशा में अपने इन्द्रियप्राणों के साथ मन जब आनन्द की दशा में शान्त हो जाता है, जब सब इन्द्रिय-व्यापार रुक जाते हैं, वह तीसरा सत्त्वगुणसम्पन्न सत्वैकघन महान् मन कहा जाता है. उस सत्वमन से भी ऊपर चौथा अव्ययमन या सृष्टि का मौलिक चिदंश पुरुषमन है जिसे श्वोवसीयस् मन कहते हैं और जिसका सम्बन्ध परात्पर पुरुष की सृष्टियुम्मुखी कामना से है. वही अणु से अणु और महतो महीयान् है. केन्द्रस्थभाव मन है. वही उक्थ है. जब उसी से अर्क या रश्मियां चारों ओर उत्थित होती हैं तो वही परिधि या महिमा के रूप में मनु कहलाता है. यही मन और मनु का सम्बन्ध है यद्यपि अन्ततोगत्वा दोनों अभिन्न हैं.

स्वयम्भू स्वयं प्रतिष्ठित-सृष्टि का मूल तत्त्व है. वह स्वयं विश्वसर्ग की क्रमधारा से परे रहता हुआ कभी किसी प्रकार अणुभाव में परिणत नहीं होता. उसे वृत्तौजा या वर्त्तुलाकार कहा गया है. किन्तु उससे ही जब सृष्टि की प्रवृत्ति आरम्भ होती है, तब त्रिवृत् भाव का विकास हो जाता है. त्रिवृत्भाव के ही नामान्तर मन, प्राण, वाक् हैं. उनके और भी अनेक पर्याय वैदिक-साहित्य में आते हैं. त्रिवृत् या त्रिक के उत्पन्न होते ही स्वयम्भू का एक केन्द्र तीन केन्द्रों में परिणत हो जाता है. इस त्रिकेन्द्रक सृष्टि का नाम ही अण्डसृष्टि है, जो कि ज्यामिति की परिभाषा में वृत्तायत आकृति वाली अण्डाकृति होती है. यही वैदिक भाषामें त्रिनाभिचक्र है. स्वयम्भू के बाद सृष्टिक्रमधारा में पांच अण्डों का जन्म होता है. उनमें पहला 'अस्त्वण्ड' है, जिसका सम्बन्ध परमेष्ठी या महान् आत्मा से है. स्वयम्भू से गर्भित परमेष्ठी त्रिवृत् भाव के प्रथम जन्म के कारण अण्डाकार बनता है. स्वयम्भू ने सर्व प्रथम कल्पना की कि यह सृष्टि उत्पन्न हो :

तदभ्यसृपत् अस्तु इति.

इसी कारण यह पहला अण्ड अस्त्वण्ड कहलाया. स्वयम्भूब्रह्म को अपने गर्भ में रखने वाला परमेष्ठी का आपोमण्डल अस्त्वण्ड ही ब्रह्माण्ड कहलाता है. इसके बाद सूर्य से दूसरा हिरण्मयाण्ड उत्पन्न होता है. जैसा कहा जा चुका है कि व्यक्तभाव की संज्ञा हिरण्य है अतएव हिरण्मयाण्ड का सम्बन्ध अस्ति या गर्भित अवस्था से नहीं वरन् उस अवस्था से है जब कि गर्भ आगे चल कर जन्म ले लेता है, अथवा अव्यक्त व्यक्तभाव में आ जाता है. पहली स्थिति या अस्त्वण्ड का संबंध अस्तिभाव से है. दूसरी का संबंध जायते या जन्म से है. जन्म के अनतंर तीसरा भाव वर्द्धते अर्थात् वृद्धि से है. इसे ही पोषाण्ड कहते हैं जिसका संबंध भूपिण्ड या पृथ्वी से है. पुष्ट होने के अनंतर परिपाक की अवस्था आती है. जिसे 'विपरिणमते' इस शब्द से कहा जाता है इसे यशोऽण्ड कहते हैं. यह वस्तु का महिमाभाव है और इसका सम्बन्ध महिमा पृथ्वी से है. महिमा ही यश है. इसके अनन्तर प्रत्येक वस्तु क्षीण होने लगती है. वह अपक्षीयते अवस्था चन्द्रमा के विवर्त्त हैं और उसे रेतोऽण्ड कहा गया है. इन पांच ब्रह्माण्डों की समष्टि ही विश्व है और विश्वरूप समर्पक स्वयं भूब्रह्म स्वयं विश्वनिर्माण करने के कारण विश्वकर्मा कहलाता है. महान् विश्व से लेकर यच्च यावत् जितने भूत या उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं उन सबमें अस्ति, जायते, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते—ये पांच भाव विकार अवश्य होते हैं. एक एक बीज में प्रकृति का यही नियम चरितार्थ हो रहा है. स्वयं बीज अस्त्वण्ड है. उनमें से अंकुर का फूटना अर्थात् अव्यक्त विटप का व्यक्तभाव में आना हिरण्यमयाण्ड है. भूपिण्ड से अपनी खूराक लेकर अंकुर का बढ़ना उसका पोषाण्डरूप है. फिर उस अंकुर का अपने सम्पूर्ण महिमाभाव को प्राप्त होकर पूरा वितान करना यह उस बीज का यशोऽण्डरूप है. दिक्चक्रवाल को व्याप्त करके जो महान् वटवृक्ष देखा जाता है, वह अति सूक्ष्म उसी वटबीज की महिमा या यश है. सर्वथा विपरिणाम या परिपाक के बाद प्रत्येक

शरीर में अपने ही जैसा उत्पन्न करने की एक शक्ति आती है, उसी का घनीभूत रूप रेत या बीज है. यही रेतोऽण्ड अवस्था है. इस अवस्था को प्राप्त करते ही प्रत्येक शरीर क्षयोन्मुख होने लगता है. यही अपक्षीयते-स्थिति है. ये पाँचों अण्ड व्यक्तभाव के ही परिणाम हैं. अव्यक्त जब कभी व्यक्तभाव को प्राप्त करेगा उसे पांच भावविकारों की क्रमिक स्थिति प्राप्त करनी होगी. शतपथब्राह्मण की यह अत्यन्त रहस्यमयी विद्या है. यह विषय अत्यन्त गूढ़ और क्लिष्ट है, किन्तु सृष्टिव्यापिनी निर्माणप्रक्रिया को समझने के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है. अर्वाचीन शती का मानव विश्व की पहेली को वैज्ञानिक दृष्टि से समझना चाहता है. आधुनिक वैज्ञानिकों के प्रयत्न विश्वरहस्यमीमांसा को स्पष्ट करने में लगे हुए हैं.

सृष्टि का मौलिक तत्त्व क्या है? क्यों इसकी प्रवृत्ति होती है ? इसके मूल में कौन-सी शक्ति है? उसका स्पन्दन किस कारण से हुआ और किन नियमों से आज वह प्रवृत्त है ? शक्ति की प्राणनक्रिया और स्थूल भौतिक पदार्थों में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? गति और स्थितिसंज्ञक द्विविरुद्ध भावों का जन्म क्यों होता है और उनका स्वरूप क्या है ? इत्यादि एक से एक रोचक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न सृष्टिविद्या के सम्बन्ध में हमारे सामने आ खड़े होते हैं. उनके समाधान का सच्चा प्रयत्न आज के वैज्ञानिक कर रहे है. नित्य नूतन प्रयोगों द्वारा वे विश्व की मूलभूत शक्ति के स्वरूप और रहस्य को जानने में लगे हैं. वैज्ञानिक तत्त्ववेत्ताओं ने इतना अब निश्चय पूर्वक जान पाया है कि स्थूल भौतिक सृष्टि जिसे हम भूतमात्रा, अर्थमात्रा या वैदिक परिभाषा में वाक् कहते हैं, अन्ततोगत्वा शक्ति के स्पन्दन का ही परिणाम है. विश्व के सब पदार्थ मूलभूत शक्ति की रश्मियों के स्पन्दन से घनीभूत या व्यवस्थित हुए हैं. यह शक्ति विश्व की प्राणनक्रिया है. प्रत्येक भूत में यह विद्यमान है. बुद्धिमान् उसे हर एक भूत में देखते और पहचानते हैं—

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः

आज परमाणु के विशकलन ने यह सम्भव कर दिया है कि शक्ति के इस रहस्य की झांकी मानव को प्राप्त हो सकी है. किन्तु भूतमात्रा और प्राणमात्रा के सदृश ही तीसरी प्रज्ञानमात्रा भी है, जो समस्त सृष्टि में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार भूतमात्रा और प्राणमात्रा. लोष्ठ, पाषाण आदि असंज्ञ वृक्ष-वनस्पति आदि अन्त:संज्ञ एवं पशु-मनुष्य आदि ससंज्ञ भूतों में सर्वत्र अव्ययात्मा का श्वोवशीयस्मन अवश्य ही व्याप्त है. सबके जन्म, स्थिति और लय के पीछे मूलभूत त्रिक का नियम एक समान है. अवश्य ही विश्व में वैचित्र्य और विज्ञान की अनेक कोटियां पाई जाती हैं जिनका स्पष्ट अन्तर कीट-पतंग आदि की मानव से तुलना करने पर समझा जा सकता है. प्रजापति का जो अमृत और अनिरुक्त स्वरूप है, उसकी भाषा को समझने की जो स्थिति हो सकती है विज्ञान भी शीघ्रता से उस ओर बढ़ रहा है और विश्वविज्ञान के तत्त्ववेत्ताओं की मौलिक चिन्तनप्रवृत्ति को देखते हुए कहा जा सकता है कि वह समय दूर नहीं है जब देश और काल के अतिरिक्त तीसरी सत्ता को भी मानने से ही विश्वनिर्माण की व्याख्या ठीक प्रकार करना सम्भव होगी. एक समय था जब देश के आयतन पर आधारित ज्यामिति द्वारा भूतों के निर्माण की मीमांसा की जाती थी.

वैज्ञानिकप्रवर आइन्स्टाइन ने इस विचार में महती क्रांति की और देश के साथ काल को भी सृष्टिनिर्माण के मौलिक तत्त्व रूप में सिद्ध किया. गणित और भौतिक विज्ञान की उपपत्ति द्वारा यह तत्त्व सबके लिये मान्य हुआ. देश और काल सृष्टि के निर्माण का अनिवार्य चौखटा है. इसी सांचे में पड़कर भूतसृष्टि ढल रही है. देश और काल को ही नाम और रूप कहा गया है. शतपथ के अनुसार नाम और रूप दोनों बड़े यज्ञ हैं जिनके पारस्परिक विमर्द या संघर्ष से यह सब कुछ हो रहा है. शक्ति की संक्षा ही यज्ञ है, किन्तु नाम और रूप दोनों अभ्व यक्ष कहे गये हैं, जो होकर भी नहीं है (भूत्वा न भवतीति) उसे अभ्व कहते हैं. नामरूपात्मक सारा विश्व वैदिक दृष्टि से अभ्व ही है. वैज्ञानिक की दृष्टि में भी यह सारा विश्व शक्ति के मूल आधार पर तरंगित नामरूप के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जो देश और काल के टकराने से अस्तित्व में आया है, आ रहा है और आता रहेगा. वह जो मूलभूत शक्ति है उसके सम्बन्ध में वैज्ञानिक को भी अभी बहुत कुछ जानना है. विश्वरश्मियां (कास्मिक रेडियेशन कहाँ से आती हैं, उनका स्रोत क्या है ? शक्ति का जो समान वितरण इस समय हो रहा है, उसकी उल्टी प्रक्रिया भी क्या कभी सम्भव है कि जिसके कारण महापूर्व

जैसे ज्वलन्त शक्ति-केन्द्रों का पुन: निर्माण हो सके ? एक बार शक्ति का विलय हो जाने पर इसकी पुन: प्रवृत्ति का क्या कोई हेतु और सम्भावना है ? इत्यादि प्रश्न विज्ञान के संप्रश्न हैं. जिनका संकेत मानव का आह्वान उस ओर निश्चित रूप से कर रहा है, जो विश्व का मूल कारण है और जिसके विषय में सबसे बड़ा रहस्य यह है कि वह इस विश्व से बाहर रहता हुआ भी इसकी रचना करके इसी में समाया हुआ है.

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'.

वैज्ञानिकों के सामने सुमेरु के समान दुधर्ष सृष्टि का संप्रश्न बना हुआ है, जैसा मनीषिप्रवर मॉरिस मेटरलिंक ने कहा है 'सत्य तो यह है कि इतना अनुसन्धान और बौद्धिक मन्थन हो जाने के बाद भी अभी विश्व-मानव उस स्थिति में नहीं पहुँचा पाया है जहाँ एक भी परमाणु, एक भी घटक कोष या एक भी मानस का पूरा रहस्य या उसकी प्रक्रियाओं का पूरा भेद हमें मिल पाया हो. अभी तक चारों ओर रहस्य ही रहस्य भरा हुआ है, किन्तु मानव प्रजापति का नेदिष्ठ रूप है. उसे तत्त्व की प्राप्ति के बिना सन्तोष नहीं हो सकता. शक्ति के स्वरूप और जीवन के स्रोत एवं मन के स्वरूप को जान कर ही मानव के प्रश्न का समाधान हो सकेगा. कहा जाता है कि विश्ववैज्ञानिक आइन्स्टाइन अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में विश्व की गूढ़ पहेली को समझने में अतिव्यस्त थे और उनके दृष्टिपथ में यह सत्य आने लगा था कि देश और काल के अतिरिक्त भी कोई शक्ति है जो सृष्टिप्रक्रिया में अनिवार्य अंग के समान कार्य कर रही है और उसकी सत्ता को भी सम्भवत: गणित की उपपत्तियों द्वारा व्यक्त करना सम्भव होगा. यह भविष्य के प्रश्न हैं जिनके विषय में अधिक ऊहापोह सम्भव नहीं, किन्तु वैदिक विज्ञान की जो सामग्री हमारे सामने है उसका जब बुद्धिगम्य विवेचन हम देखते हैं, तो यह ध्रुव रूप निश्चित हो जाता है कि उस किसी सत् चित् आनन्द तत्त्व ने अपने त्रिवृत् स्वरूप द्वारा इस सर्ग का वितान किया है और वह स्वयं इसमें गूढ़ है, वही अव्यक्त से व्यक्त भाव में आया है, साथ ही समझने वालों को इसका भी आभास स्पष्ट मिलता है कि वैदिक—विज्ञान और अर्वाचीन विज्ञान इन दोनों की शब्दावली और परिभाषाओं में चाहे जितना भेद हो, मूलतत्त्व की व्याख्या में बहुत कुछ सादृश्य है. ऊपर कही हुई पंचाण्ड-विद्या उसका एक छोटा-सा उदाहरण है. जन्म वृद्धि और ह्रास की मौलिक प्रक्रिया जो विज्ञान और दर्शन में समानरूप से मान्य है वही पंचाण्डविद्या का विषय है. जिसे अंग्रेजी में ओवल या आयतवृत्त कहते हैं, वही अण्ड है. एक अविशेष केन्द्र से तीन विशिष्ट केन्द्रों का विकास यही सृष्टि है. त्रिकभाव का नाम ही विश्व है. 'त्रिवृद् वा इदं सर्वम्' यह वेद की परिभाषा विज्ञान को भी मान्य है. इसी त्रिवृत् भाव की संज्ञा मनु, प्राण, वाक् है जिसकी बहुत प्रकार की व्याख्या वैदिकसाहित्य में पाई जाती है. उस व्याख्या के भिन्न-भिन्न स्तर हैं. जैसे इस सृष्टि के विभिन्न क्षेत्र या स्तर हैं. यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि विज्ञान के नियम के समान ही मूलभूत वैदिक नियम भी अत्यन्त सरल हैं. अध्यात्म, अधिदैवत्त और अधिभूत के स्तरों पर उन नियमों को समझने का प्रयत्न ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है. वैदिक विज्ञान का एक कठिन पक्ष भी है, वैदिक विज्ञान एक सूत्र या तन्तु नहीं, पूरा पट है. एक तन्तु को पकड़ते ही पूरे पट को सम्हालने का साहस यदि बुद्धि में न हो तो बुद्धि कातर हो जाती है और दिङ्मूढ़ स्थिति में पड़ जाती है. किस दशा में कहां गति की जाय यह स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता, किन्तु यह ऐसी कठिनाई नहीं है जिसका परिहार न हो सके. यह तो सृष्टि की ही विचित्रता है, उसमें सब कुछ ओतप्रोत है. एक सामान्यातिसामान्य अंकुर समस्त विश्व का प्रतीक बना हुआ है. उसका कृत्स्न ज्ञान कोई प्राप्त करना चाहे तो उसे एक ओर समस्त विज्ञान को और दूसरी ओर दर्शन के ज्ञान को मथना होगा. ज्ञान और विज्ञान को आत्मसात् करके ही अन्तिम तत्त्व का दर्शन किया जा सकता है. ज्ञान शिरोमूला दृष्टि है और विज्ञान पादमूला दृष्टि है. वट में बीज का दर्शन और बीज में वट का दर्शन ये दोनों ही ज्ञानसाधन के प्रकार हैं.

# संस्कृति, समाज, इतिहास और पुरातत्त्व

## तृतीय अध्याय

डॉ० मंगलदेव शास्त्री
पूर्व उपकुलपति संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी.

# भारतीय संस्कृति का वास्तविक दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति के विषय में आजकल जो विचार-विभ्रम फैला हुआ है उसको दूर ने के लिये, इस लेख में हम भारतीय संस्कृति के विषय में कुछ मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए उसके वास्तविक दृष्टिकोण को स्पष्ट करना चाहते हैं.

सबसे पहले हम भारतीय संस्कृति स्वभावतः प्रगतिशील है, इस सिद्धान्त को लेते हैं :

## भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता

प्राचीन जातियों में अपनी प्रथाओं, अपने आचार विचारों और अपनी संस्कृति को अत्यन्त प्राचीन काल से आने वाली अविच्छिन्न परम्परा के रूप में मानने की प्रवृत्ति सर्वत्र देखने में आती है. अनेक धार्मिक या राजनैतिक प्रभाव वाले वंशों की, यहां तक कि धार्मिक मान्यताओं से संबद्ध अनेक नदियों आदि की भी, दैवी या लोकोत्तर उत्पत्ति के मूल में यही प्रवृत्ति काम करती हुई दीख पड़ती है.

भारतवर्ष में भी यह प्रवृत्ति अपने पूर्ण विस्तृत और व्यापक रूप में चिरकाल से चली आ रही है.

इसी के परिणामस्वरूप देश की साधारण जनता में प्रायः ऐसी भावना बद्धमूल हो गयी है कि उसकी धार्मिक और सांस्कृतिक रूढ़ियां सदा से एक ही रूप में चली आयी हैं. दूसरे शब्दों में, साम्प्रदायिक दृष्टि के लोग भारतीय संस्कृति को, प्रगतिशील या परिवर्तनशील न मानकर, सदा से एक ही रूप में रहने वाली स्थितिशील मानने लगे हैं.

'सनातन धर्म' या 'शाश्वत धर्म' जैसे शब्दों के प्रायः दुरुपयोग द्वारा उक्त भावना में और भी दृढ़ता लायी गयी है.

परन्तु विज्ञान-मूलक ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर तत्काल यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि भारतीय संस्कृति की सूत्रात्मा चिरन्तन काल से चली आ रही है, वह अपने बाह्य रूप की दृष्टि से बराबर परिवर्तनशील और प्रगतिशील रही है.

वैदिक तथा पौराणिक उपास्य देवों की पारस्परिक तुलना से हमारी देवता-विषयक मान्यताओं में समय-भेद से होने वाला महान् परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है.

समय-भेद से ब्रह्मा आदि की पूजा की प्रवृत्ति और उसके विलोप से भी यही बात स्पष्टतया सिद्ध होती है.

इसी प्रकार के दो-चार अन्य निदर्शनों को भी यहां देना अनुपयुक्त न होगा.

'यज्ञ' शब्द को लीजिए. वैदिक काल में इसका प्रयोग प्रायेण देवताओं के यजनार्थ किये जाने वाले कर्म-कलाप के लिये ही होता था. पर कालान्तर में अनेक कारणों से वैदिक कर्म-काण्ड के शिथिल हो जाने पर यही शब्द अधिक व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होने लगा. इसी परिवर्तित दृष्टि के कारण भगवद्गीता,[1] में वैदिक यज्ञों के साथ-साथ (जिनको

१. देखिए भगवद्गीता ४।२५-३०, ३२ तथा २।४२-४३.

वह 'द्रव्य-यज्ञ' कहती है,) तपोयज्ञ, योगयज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि का भी उल्लेख करती है. स्वामी दयानन्द के अनुसार तो 'शिल्प-व्यवहार और पदार्थ-जीवन जो कि जगत् के उपकार के लिये किया जाता है उसको (भी) यज्ञ कहते हैं."[१] आचार्य विनोबा भावे का भूदान-यज्ञ तो आज सबकी जिह्वा पर है.

इसी प्रकार 'ऋग्वेद, 'यजुर्वेद' 'आयुर्वेद' 'धनुर्वेद' आदि शब्दों में प्रयुक्त 'वेद' शब्द स्पष्टतया किसी समय सामान्येन विद्या या ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता था. कालान्तर में यह अनेकानेक शाखाओं में विस्तृत मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वैदिक साहित्य के लिये ही प्रयुक्त होने लगा. उन शाखाओं में से अनेकों का तो अब नाममात्र भी शेष नहीं है. यही 'वेद' शब्द अब प्रायेण उपलब्ध वैदिक संहिताओं के लिए ही प्रयुक्त होने लगा है.

इसी प्रकार 'वर्ण' शब्द के भी विभिन्न प्रयोगों में समय भेद से परिवर्तित होने वाली वर्ण-विषयक दृष्टियों का प्रभाव दिखाया जा सकता है.

'यज्ञ' आदि जैसे महत्त्व के शब्दों का समय-भेद से होने वाला भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग स्पष्टतया विचारों में घात-प्रतिघात तथा सामयिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप होने वाली भारतीय संस्कृति की प्रगति की ओर ही संकेत करता है.

आचार-विचार की दृष्टि से भी अनेकानेक स्पष्ट उदाहरणों से भारतीय संस्कृति कभी स्थितिशील न होकर सदा प्रगतिशील या परिवर्तनशील रही है, इस सिद्धान्त की पुष्टि की जा सकती है.

शूद्र, अतिशूद्र कहलाने वाली भारतीय जातियों के प्रति हमारी कठोर दृष्टि और व्यवहार में सामयिक परिस्थितियों और सन्त महात्माओं के आन्दोलनों के कारण शनैःशनैः होने वाला विकासोन्मुख परिवर्तन भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता का एक उज्ज्वल उदाहरण है. 'न शूद्राय मतिं दद्यात्[२] (शूद्र को किसी प्रकार का उपदेश न दे), तथा 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्[३] (शूद्र तो मानो चलता-फिरता श्मशान है. इसलिए उसके समीप में वेदादि नहीं पढ़ना चाहिए, शूद्र के प्रति इस कठोर और अशोभन दृष्टि से चल कर उसको 'हरि+जन' मानने की दृष्टि में स्पष्टतया आकाश-पाताल का अन्तर है.[४]

इसी प्रकार विभिन्न विदेशी जातियों को आत्मसात् (हम इसको 'शुद्धि' नहीं मानते) करने में, विदेशों में भारतीय संस्कृति के संदेश को पहुँचाने में, और वेद, और शास्त्रों की दुरधिगम कोठरियों में बन्द उस सन्देश को जनता की भाषा में, प्रायः जनता के ही सच्चे प्रतिनिधि सन्त-महात्माओं द्वारा, सर्व साधारण के लिए सुलभ किये जाने में, हमें उपर्युक्त प्रगतिशीलता का सिद्धान्त ही काम करता हुआ दीखता है.

भारतीय संस्कृति के इतिहास के लम्बे काल में ऐसे स्थल भी अवश्य आते हैं जब कि उसके रूप में होने वाले परिवर्तन आपाततः विकासोन्मुख प्रगति को नहीं दिखलाते. तो भी वे उसकी स्थिति-शीलता को तो सिद्ध करते ही हैं. साथ ही, जैसे स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से रोगावस्था अरुचिकर होने पर भी हमारे स्वास्थ्य-विरोधी तत्त्वों को उभाड़ कर उनको नाश करके हमारे स्वास्थ्य में सहायक होती है, उसी प्रकार आपाततः अवांछनीय परिवर्तनों को समझना चाहिए. कभी-कभी उन परिवर्तनों के मूल में हमारी जातीय आत्मरक्षा की स्वाभाविक प्रवृत्ति या सामयिक आवश्यकता भी काम करती हुई दीखती है. इसलिए उन परिवर्तनों के कारण भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता के हमारे उपर्युक्त सामान्य सिद्धांत में कोई क्षति नहीं आती.

---

१. स्वामी दयानन्द-कृत 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' से.
२. मनुस्मृति ४.८०.
३. देखिए—'वेदान्तसूत्र—शांकरभाष्य' १.३.३८.
४. इस दृष्टि-भेद के विस्तृत इतिहास में एक प्रकार से भारतीय संस्कृति का सारा इतिहास प्रतिबिम्बित रूप में दिखाया जा सकता है. हम इस पर स्वतन्त्ररूप से फिर कभी विचार करना चाहते हैं.

यह प्रगतिशीलता या परिवर्तनशीलता का सिद्धांत केवल हमारी कल्पना नहीं है हमारे धर्मशास्त्रों ने भी इसको मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है.

धर्मशास्त्रों का कलि-वर्ज्य प्रकरण[1] प्रसिद्ध है. इसमें प्राचीन काल में किसी समय प्रचलित गोमेध, अश्वमेध, नियोग-प्रथा आदि का कलयुग में निषेध किया गया है. विभिन्न परिस्थितियों के कारण भारतीय संस्कृति के स्वरूप में प्रगति या परिवर्तन होते रहे हैं इस बात का, हमारे धर्मशास्त्रों के ही शब्दों में, इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलना कठिन होगा.

इसके अतिरिक्त, प्रत्येक युग में उसकी आवश्यकता के अनुसार 'धर्म' का परिवर्तन होता रहता है, इस सामान्य सिद्धांत का प्रतिपादन भी धर्मशास्त्रों में स्पष्टतः मिलता है. उदाहरणार्थ :

> अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे युगे।
> अन्ये कलियुगे नृणां युगरूपानुसारतः।
> युगेष्वावर्तमानेषु धर्मोऽप्यावर्तते पुनः।
> धर्मेष्वावर्तमानेषु लोकोऽप्यावर्तते पुनः।
> श्रुतिश्च शौचमाचारः प्रतिकालं विभिद्यते।
> नाना धर्माः प्रवर्तन्ते मानवानां युगे-युगे।

अर्थात्, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग में युग के रूप या परिस्थिति के अनुसार 'धर्म' का परिवर्तन होता रहता है. युग-युग में मनुष्यों की श्रुति (धार्मिक मान्यता की पुस्तक या साहित्य), शौच (स्वच्छता का स्वरूप और प्रकार) और आचार (आचार-विचार या व्यवहार) सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार बदलते रहते हैं.

धर्मशास्त्रों की ऐसी स्पष्ट घोषणा के होने पर भी, यह आश्चर्य की बात है कि हमारे प्राचीन धर्मशास्त्री विद्वानों के भी मन में 'भारतीय संस्कृति स्थितिशील है' यह धारणा बैठी हुई है. गांधी-युग से पहले के सांप्रदायिक विद्वानों के शास्त्रार्थ अब भी लोगों को स्मरण होंगे. उनमें यही निरर्थक तथा उपहासास्पद झगड़ा रहता था कि हमारा सिद्धांत सनातन है या तुम्हारा. अब भी यह धारणा हमारे देश में काफी घर किये हुए है. इसी के कारण सांप्रदायिक कटु भावना तथा संकीर्ण विचार-धारा अब भी हमारे देश में सिर उठाने को और हमारे सामाजिक जीवन को विषाक्त करने को सदा तैयार रहती है.

इसलिए भारतीय संस्कृति की सबसे पहली मौलिक आवश्यकता यह है कि उसको हम स्वभावतः प्रगतिशील घोषित करें. उसी दशा में भारतीय संस्कृति अपनी प्राचीन परम्परा, प्राचीन साहित्य और इतिहास का उचित सम्मान तथा गर्व करते हुए अपने अन्तरात्मा की संदेश-रूपी मानव-कल्याण की सच्ची भावना से आगे बढ़ती हुई, वर्तमान प्रबुद्ध भारत के ही लिए नहीं, अपितु संसार भर के लिए उन्नति और शान्ति के मार्ग को दिखाने में सहायक हो सकती है.

यह कार्य 'हमारा आदर्श या लक्ष्य भविष्य में है, पश्चाद्दर्शिता में नहीं' यही मानने से हो सकता है. भारतीय संस्कृति रूपी गंगा की धारा सदा आगे ही बढ़ती जाएगी, पीछे नहीं लौटेगी. प्राचीन युग जैसा भी रहा हो, पुनः उसी रूप में लौट कर नहीं आ सकता, हमारा कल्याण हमारे भविष्य के निर्माण में निहित है, हम उसके निर्माण में अपनी प्राचीन जातीय संपत्ति के साथ-साथ नवीन जगत् में प्राप्य संपत्ति का भी उपयोग करेंगे. यही भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता के सिद्धान्त का रहस्य और हृदय है.

भारतीय संस्कृति का दूसरा सिद्धांत उसका असाम्प्रदायिक होना है. यहाँ हम उसी की व्याख्या करेंगे:

---

१. देखिए—'अथ कलिवर्ज्यानि. बृहन्नारदीये—समुद्रयातुः स्वीकारः कमण्डलुविधारणम्।...देवराच्च सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के च गोर्वधः। मांसदानं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा।...नरमेधाश्वमेधकौ। गोमेधश्च तथा मखः। इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः॥ 'इत्यादि...'
—निर्णयसिन्धु, कलिवर्ज्यप्रकरण.

## भारतीय संस्कृति की असांप्रदायिकता

संस्कृत में प्राचीन काल से एक कहावत चली आ रही है कि :

श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।

अर्थात् श्रुतियों और स्मृतियों में परस्पर विभिन्न मत पाये जाते हैं. यही बात मुनियों के विषय में भी ठीक है.

इसका अभिप्राय यही है कि किसी भी सभ्य समाज में मतभेद और तन्मूलक सम्प्रदायों का भेद या बाहुल्य स्वाभाविक होता है. इसका मूल कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति और रुचि में भेद का होना ही है. कोई व्यक्ति स्वभाव से ही ज्ञान-प्रधान, कोई कर्म-प्रधान और कोई भक्ति या भावना-प्रधान होता है. फिर समय-भेद तथा देश-भेद से भी मनुष्यों की प्रवृत्तियों में भेद देखा जाता है. रेगिस्तान के शुष्क प्रदेश में रहने वालों के और बंगाल जैसे नमी प्रधान प्रदेश में रहने वालों के स्वभावों में अन्तर होना स्वाभाविक ही है.

ऐसे ही कारणों से भारत वर्ष जैसे विशाल और प्राचीन परम्परा वाले देश में अनेकानेक सम्प्रदायों का होना बिल्कुल स्वाभाविक है.

एक सीमा तक यह सम्प्रदाय-भेद स्वाभाविक होने के कारण व्यक्तियों की सत्प्रवृत्तियों के विकास का साधक होता है. यह तभी होता है जब कि उन विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों के सामने कोई ऐसा उच्चतर आदर्श होता है जो उन सबको परस्पर संगठित और सम्मिलित रहने की प्रेरणा दे सकता हो. परन्तु प्राय: ऐसा देखा जाता है कि सांप्रदायिक नेताओं की स्वार्थ बुद्धि और धर्मान्धता या असहिष्णुता के कारण सम्प्रदायों का वातावरण दूषित, संघर्षमय और विषाक्त हो जाता है. उस दशा में सम्प्रदाय-भेद अपने अनुयायियों के तथा देश के लिये भी अत्यन्त हानिकारक आर घातक सिद्ध होता है.

भारतीय संस्कृति की आंतरिक धारा में चिरन्तन से सहिष्णुता की भावना का प्रवाह चला आया है. तो भी, भारतवर्ष में सम्प्रदायों का इतिहास बहुत कुछ उपर्युक्त दोषों से युक्त हो रहा है. आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों के कारण और कुछ अंशों में धर्मान्धता के कारण भी अपने-अपने नेताओं द्वारा सम्प्रदायों का और स्वभावतः शांति-प्रधान, पर भोली-भाली और मूर्ख, जनता का पर्याप्त दुरुपयोग किया गया है.

साम्प्रदायिक वैमनस्य और अत्याचार का उल्लेख करने पर आजकल तत्काल हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य या पिछली शताब्दियों में दक्षिण भारत में ईसाइयों द्वारा हिन्दू जनता पर किये आत्याचार सामने आ जाते हैं. यह सब तो निस्सन्देह ठीक ही हैं. पर साम्प्रदायिक असहिष्णुता और अत्याचार का विशुद्ध भारतीय सम्प्रदायों में अभाव रहा है, यह न समझ लेना चाहिए.

पौराणिक तथा धर्मशास्त्रीय संस्कृत साहित्य में वर्णित उन व्यक्तिगत अथवा सामूहिक अत्याचारों[1] के आख्यानों या विधानों को, जो वास्तव में साम्प्रदायिक असहिष्णुता-मूलक या उसके व्याज में राजनीतिक-मूलक थे, जाने दीजिए. हम उसका उल्लेख यहाँ नहीं करेंगे. यहाँ कुछ अन्य निदर्शनों को देना पर्याप्त होगा.

उदाहरणार्थः

'श्रमण-ब्राह्मणम्' (व्याकरण-महाभाष्य २.४.६) पद के आधार पर श्रमणों (अर्थात जैन-बौद्धों) और ब्राह्मणों में सर्प और नकुल जैसी शत्रुता का उल्लेख किया जा सकता है. ईसवी शतियों के प्रारम्भिक काल के आसपास इस शत्रुता ने भारतवर्ष के राजनीतिक तथा धार्मिक वातावरण में जो हलचल मचा रखी थी, वह इतिहासकार से छिपी नहीं है.

---

१. उदाहरणार्थ, स्कन्द-पुराणान्तर्गत सूतसंहिता में शैव संप्रदाय के विरोधियों के बाधन और शिरश्छेदन का स्पष्टतया विधान किया है, जैसे—शिवयात्रापराणां तु बाधकानां तु बाधनम् । शिवभक्तिरिति प्रोक्ता···।। भस्मसाधन निष्ठानां दूषकस्य···छेदनं शिरसः···।। (सूतसंहिता ४।२६।२६—३२) । रामायण में भगवान् रामचन्द्र द्वारा शम्बूक (शूद्र) का वध प्रसिद्ध है। वेद सुनने मात्र के अपराध के लिए शूद्र के कानों में रांगा पिलाने की चर्चा प्रसिद्ध ही है.

आज की असाम्प्रदायिक भारत सरकार के विरुद्ध सम्प्रदाय-वादियों का आन्दोलन उसके सामने कुछ भी नहीं है.

भगवान् मनु ने अपनी मनुस्मृति में जैन जैसे सम्प्रदायों को नास्तिक ही नहीं कहा है, उनके धर्मग्रंथों को भी 'कुदृष्टि' 'तमोनिष्ठ' (अज्ञानमूलक) और 'निष्फल' कहा है.[1]

हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम् ।

(अर्थात् मदमत्त हाथी से पीछा किये जाने पर भी, जैन-मन्दिर में न जाए) ऐसे वचनों से और दक्षिण भारत में पूर्व-मध्य काल में अनेकानेक जैन-बौद्ध मन्दिरों को बलात् छीन कर पौराणिक मन्दिरों का रूप देने में भी सांप्रदायिक विद्वेष और अत्याचार के ही निदर्शन हमारे सामने आते हैं.

इसके अतिरिक्त, नीचे लिखे उद्धरणों को भी देखिए :

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः ।

(वेदों के बनाने वाले भांड, धूर्त और निशाचर ये तीन थे),

धिग् धिक् कपालं भस्मरुद्राक्षविहीनम् । तं त्यजेदन्त्यं यथा ।

(भस्म और रुद्राक्ष से जिसका कपाल विहीन है उसका अन्त्यज के समान दूर से ही परित्याग कर दे),

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः ।
पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः । —भागवत ४.२.२८.

(अर्थात्, शैवधर्म के अनुयायी वास्तव में पाखण्डी और सच्छास्त्र के विरोधी हैं.)

यथा श्मशानजं काष्ठं सर्वकर्मसु गर्हितम् ।
तथा चक्राङ्कितो विप्रः सर्वकर्मसु गर्हितः ।

(अर्थात् श्मशान के काष्ठ के समान ही चक्रांकित वैष्णव का सब कर्मों से बहिष्कार करना चाहिए. )

इसी प्रकार हमारे अनेक धार्मिक ग्रंथ, शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि संप्रदायों के परस्पर विद्वेष के भावों से भरे पड़े है. इस साम्प्रदायिक विद्वेष भावना ने हमारे दार्शनिक ग्रन्थों पर भी कहां तक अवांछनीय प्रभाव डाला है, इसका अच्छा नमूना हमको 'माध्वमुखभंग' 'माध्वमुखचपेटिक' दुर्जन-करि-पंचानन' जैसे ग्रन्थों के नामों से ही मिल जाता है. इन नामों में विद्वज्जन सुलभ शालीनता का कितना अभाव है, यह कहने की बात नहीं है.

दर्शनशास्त्र का विषय ऐसा है जिसका प्रारम्भ ही वास्तव में साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावना की सीमा की समाप्ति पर होना चाहिए. इसलिए दार्शनिक क्षेत्र में विभिन्न संप्रदायों के लोग संकीर्णता से ऊपर उठ कर, सद्भावना और सौहार्द के स्वच्छ वातावरण में एकत्र सम्मिलित हो सकते हैं.

परन्तु भारतवर्ष में दार्शनिक साहित्य का विकास प्रायेण सांप्रदायिक संघर्ष के वातावरण में ही हुआ था. इसलिए उन-उन सम्प्रदायों से संपृक्त विभिन्न दर्शनों के साहित्य से भी प्रायः सांप्रदायिकता को प्रोत्साहन मिलता रहा है.

न्याय-वैशेषिक दर्शनों का विकास शैव सम्प्रदाय से हुआ है.[2] योग की परम्परा का भी झुकाव शैव सम्प्रदाय की ओर अधिक है. रहे पूर्व–मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध और जैन-दर्शन—इनका तो स्पष्टतया घनिष्ठ सम्बन्ध वैदिक, वैष्णव, बौद्ध और जैन-सम्प्रदायों से ही रहा है. एक सांख्य-दर्शन ऐसा है जिसकी दृष्टि प्रारम्भ से ही विशुद्ध दार्शनिक रही है. पर इसीलिए उसे वेदान्तसूत्र-शांकरभाष्य[3] आदि में अवैदिक कह कर तिरस्कृत किया गया है.

---

१. देखिए—'या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः । सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः'—मनुस्मृति १२.९५.

२. इस विषय में राजशेखरसूरिकृत षड्दर्शन–समुच्चय, तथा हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शन–समुच्चय को भी देखिए.

३. देखिए 'न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्'—वेदान्तसूत्रशांकरभाष्य २.१.१.

सांप्रदायिक भावना की तरह ही जाति-पांति का अनन्त भेद भी भारतीय समाज में वैपम्य का कारण रहा है. अव भी नाना रूपों में हमारे समाज में फैला हुआ इसका विप हमारे अनेक कार्यकर्त्ताओं को 'अन्तःशाक्ता वहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवा' इस उक्ति का लक्ष्य वनाता रहता है.

इस प्रकार चिरकाल से प्रायेण विचार-संकीर्णता और परस्पर संघर्प की भावना से परिपूर्ण संप्रदायवाद, तदभिभूत दार्शनिक साहित्य और जाति-पाँति के भेद-भाव से जर्जरित भारतीय जनता में एक जातीयता के नवीन जीवन का संचार करने के लिये, मानो एक उपास्य देव के रूप में, एकमात्र प्रगतिशील तथा असांप्रदायिक भारतीय संस्कृति के आदर्श का ही आश्रय लिया जा सकता है.

भारतीय संस्कृति असाम्प्रदायिक है, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि भारतीय संस्कृति का सम्प्रदाय-विशेप से कोई विरोध या झगड़ा है. प्रत्युत नैतिकता तथा मानव-हित की भावना की सीमा के अन्दर वह सम्प्रदायों का सम्मान करती है और किसी मुख्य धारा की सहायक नदियों के समान, उनको अपना उपकारक और पूरक मानती है. नैयायिकों की जाति, जैसे व्यक्तियों से पृथक् होते हुए भी उनसे पृथक् नहीं रहती, इसी प्रकार संस्कृति भारतीय संप्रदायों से पृथक् अर्थात् स्वयं असाम्प्रदायिक होते हुए भी उनसे पृथक् नहीं है. इसी कारण, भारतीय संस्कृति के नाते से, सम्प्रदायों का परस्पर सम्वन्ध आदरयुक्त और सौहार्द-पूर्ण होना चाहिए. उनमें होड़ या स्पर्धा भी हो तो वह मानव-हित और भारतीय संस्कृति के महत्त्व को वढ़ाने वाली वातों में होनी चाहिए.

इस प्रकार असाम्प्रदायिक भारतीय संस्कृति की भावना ही सम्प्रदायों में पारस्परिक संघर्प की भावना को नष्ट कर उनको अपने विशुद्ध कर्तव्य-पालन के लिए प्रेरणा दे सकती है. भारतीय संस्कृति का तीसरा सिद्धांत है :

## भारतीय संस्कृति की भारत के समस्त इतिहास में ममत्व-भावना

भारतीय संस्कृति की सतत-प्रवहण-शील धारा की तुलना भगवती गंगा की धारा से की जा सकती है. जैसे गंगा की धारा में मूल किसी अज्ञात स्थान से निकल कर, अनेकानेक दुरविगम तथा दुर्गम ऊँचे-नीचे पर्वतों और प्रदेशों में होती हुई, अनेक विभिन्न धाराओं के जलप्रवाहों को आत्मसात् करती हुई, अन्त में सुन्दर रमणीक समतल प्रदेशों में प्रवेश कर नवीनतर गम्भीरता, विस्तार और प्रवाह के साथ आगे की ओर ही वहती है, ठीक उसी तरह भारतीय संस्कृति की धारा किसी प्रागैतिहासिक अज्ञात युग से प्रारम्भ होकर, अनुकूल तथा प्रतिकूल विभिन्न परिस्थितियों में से गुजरती हुई तथा विभिन्न प्रकार की विचार-धाराओं को आत्मसात् करती हुई शनैः शनैः अपने विशालतर और गम्भीरतर रूप में आगे वढ़ती हुई ही दिखायी देती है. विशिष्ट स्थानों के विशिष्ट माहात्म्य के होने पर भी जैसे गंगा की समस्त धारा में हमारी मान्यता है, इसी प्रकार भारतीय संस्कृति की दृष्टि से उसकी पूरी धारा में, दूसरे शब्दों में, भारत के समस्त इतिहास में हमारी ममत्व की भावना होनी चाहिए. ऐसे किये विना न तो, 'भारतीय संस्कृति' शब्द की ही कोई सार्थकता रहेगी और न देशव्यापी भारतीयत्व की भावना को ही हम जीवित रख सकेंगे.

परन्तु दुर्भाग्य से अव तक हमारी स्थिति प्रायः उक्त सिद्धांत के प्रतिकूल ही रही है.

सांप्रदायिकता, निराशावाद और तज्जनित पश्चाद्दृष्टि की भावना, विभिन्न संकीर्ण स्वार्थों की क्षति और उनके प्राचीन काल के, कुछ कल्पित और कुछ वास्तविक, अभ्युदय की निराशाप्रद स्मृति, इत्यादि अनेक कारणों से हम उक्त आवश्यक सिद्धांत की प्रायः अवहेलना करते रहे हैं, और यह प्रवृत्ति अव तक हममें विद्यमान है.

हमारे धर्मशास्त्रों में युगों के क्रम से धर्म के ह्रास का सिद्धांत, पुराणों में 'नन्दान्तं क्षत्रियकुलम्' (अर्थात् नन्दों के राज्यारूढ़ होने पर वैदिक परम्परा के पोपक जो 'क्षत्रिय' राजा थे उनका अन्त हो गया) यह कथन, अथवा कलियुग के दुष्प्रभाव का वर्णन, ये सव उसी प्रवृत्ति के निदर्शन हैं.

वैदिक परम्परा के उस अन्तिम युग के दिनों में, जव कि जन्मना जातिवाद खूव वढ़ गया था और हमारे यज्ञों ने भी केवल यान्त्रिक द्रव्य-यज्ञों का रूप धारण कर लिया था, साधारण जनता के हित की आवाज उठाने वाले बौद्ध और

जैनधर्मों के अभ्युदय से तथा प्राय: उसी के फल-स्वरूप राजनीतिक प्राधान्य के दूसरों के हाथों में चले जाने से, वैदिक सम्प्रदाय के नेताओं में स्वभावत: उत्पन्न होने वाली निराशा ने ही उपर्युक्त विचारों को जन्म दिया था.

इसी सांप्रदायिक (तथा राजनीतिक) प्रतिक्रिया के कारण हम देखते हैं कि उन शताब्दियों के तथा तदुत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में विश्व को चमत्कृत करने वाले बौद्ध-धर्म सम्बन्धी राजनीतिक तथा धार्मिक अभ्युदय की कुछ भी चर्चा नहीं है. यदि आधुनिक ऐतिहासिक अनुसन्धान इसके उद्धार को अपने हाथ में न लेता, तो भारतवर्ष के गौरव और गर्व के इस स्वर्ण-युग के इतिहास को हम सदा के लिये खो बैठते.

अब भी, इस विद्या और ज्ञान के युग में भी, हममें ऐसे संकीर्ण-दृष्टि वाले सांप्रदायिकों की कमी नहीं है जो समझते हैं कि महाभारत-काल के पश्चात् भारत का जो भी महत्त्व का इतिहास है, वह उनके लिये अरुचिकर न हो तो भी, उनके गर्व और गौरव की वस्तु नहीं है. यहाँ तक कि कालीदास के संसार को मुग्ध करने वाले शाकुन्तल नाटक से, भक्ति-सुधा के प्रवाह-रूप भागवत से, या भारत की कोटिश: जनता की धार्मिक अथवा आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करने वाले सन्तों के साहित्य से भी कोई वास्तविक उल्लास या प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती.

इस प्रकार की एकांगी या पक्षपात की दृष्टि से न तो हम भारतीय संस्कृति के प्रवाह और परम्परा को ही समझ सकते हैं, और न हम उसके साथ न्याय ही कर सकते हैं.

वास्तव में भारतीय संस्कृति के प्रवाह और स्वरूप को समझने के लिये हमें जनता के विकास की दृष्टि से ही उसका अध्ययन करना होगा भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों का महत्त्व भी हमें, किसी सम्प्रदाय या राजवंश की दृष्टि से नहीं, किन्तु जनता की दृष्टि से ही मानना पड़ेगा. इस प्रकार के अध्ययन से ही हमें प्रतीत होगा कि भारतीय संस्कृति की प्रगति में वैदिक-युग के समान ही बौद्ध-युग का या सन्त-युग का भी महत्त्व रहा है.

राजवंशों के इतिहास से ही किसी देश की संस्कृति का इतिहास समाप्त नहीं हो जाता. राजवंश तो किसी नगर के बाह्य प्राकार के ही स्थानीय होते हैं. प्राकार के अन्दर प्रवेश करने पर ही प्रजा या जनता के वास्तविक जीवन का पता लग सकता है.

इसलिए जनता के जीवन के अविच्छिन्न प्रवाह को या लोक-संस्कृति की प्रगति को समझने के लिये किसी देश के समस्त इतिहास से सम्बन्ध और संपर्क स्थापित करना आवश्यक होता है. इसी को हमने ऊपर ममत्व-भावना शब्द से कहा है.

इस ममत्व-भावना के होने पर ही हम अपनी संकीर्ण सांप्रदायिक भावनाओं को पृथक् रख के, भारत के समस्त महान् व्यक्तियों में, चाहे वे किसी सम्प्रदाय के या जाति के कहे जाते हों, ममत्व का, समादर का, श्रद्धा का और गर्व का अनुभव करेंगे. आजकल इन महान् व्यक्तियों को साम्प्रदायिकों ने अपने-अपने सम्प्रदायों की तंग कोठरियों में कैद कर रखा है. हमारा कर्तव्य है कि हम उनको उस कैद से निकाल कर एक खुले असांप्रदायिक वातावरण में लावें, जिससे उनके उपदेशामृत का लाभ समस्त देश को ही क्यों, सारे संसार को हो.

असाम्प्रदायिक भारतीय-संस्कृति की भावना से ही यह हो सकता है. भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में अन्तिम सिद्धांत है :

## भारतीय संस्कृति की अखिल-भारतीय भावना

भारत के समस्त इतिहास के ममत्व-भावना की व्याख्या करते हुए हमने भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक विकास और विस्तार की ओर संकेत किया है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति की अखिल भारतीय भावना का संकेत उसके देशकृत विस्तार की ओर है. ऐतिहासिक विकास और विस्तार के समान ही उसके अखिल दैशिक विस्तार के साथ भी ममत्व-भावना की आवश्यकता है.

इसको हमारे देश के प्राचीन नेताओं ने अच्छी तरह अनुभव किया था. इसीलिए हमारे धार्मिक तीर्थस्थान देश के कोने-कोने में, प्रत्येक प्रान्त में, नियत किये गये थे. कुम्भ जैसे धार्मिक मेले भी देश के विभिन्न प्रान्तों में बारी-बारी से होने

हैं. इसीलिए तत्तत् प्रान्तों में किसी का भी राज्य हो, सब प्रान्तों के वासी धार्मिक यात्राओं में समस्त देश में जाते थे. सांस्कृतिक दृष्टि से वे समस्त भारत को अपना देश समझते थे. भारतीय संस्कृति की अखिल भारतीय भावना ही प्रांतीय संघर्षों को बहुत-कुछ नियन्त्रण में रख सकती है.

परन्तु इस सम्बन्ध में हमारा कर्तव्य केवल प्रान्तीय संघर्षों के प्रतिकार से ही समाप्त नहीं हो जाता. हमारा उत्तरदायित्व इससे बहुत अधिक है. आज के भारतवर्ष की एक बड़ी समस्या उसका सांप्रदायिक संघर्ष तथा पिछड़ी जातियों का प्रश्न है. भारतीय संस्कृति की अखिल भारतीय भावना का अभिप्राय मुख्यतः यह है कि हम उक्त समस्या का वास्तविक समाधान भारतीय संस्कृति की दृष्टि से कर सकें. भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में ऊपर दिखलाये हुए सिद्धांतों को दृष्टि में रख कर बड़े उदार हृदय से साम्प्रदायिक तथा पिछड़ी जातियों की समस्या को हाथ में लेने से ही उसका समाधान हम कर सकेंगे. सम्प्रदायों में परस्पर समादर और सम्मान की भावना स्थापित करने से, ऐसे जातीय तथा ऋतु-सम्बन्धी पर्वों और विभिन्न सम्प्रदायों के मान्य महापुरुषों की जयन्तियों की स्थापना से जिनमें सब प्रेमपूर्वक भाग ले सकें, तथा अधिक-से-अधिक सद्भावना के साथ बौद्धिक, नैतिक, साहित्यिक और कला-सम्बन्धी संपर्क स्थापित करने से ही सांप्रदायिक समस्या का समाधान हो सकता है.
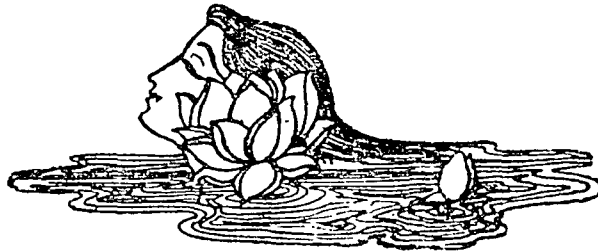
डा० गुलाबचन्द्र चौधरी
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रोफेसर, प्राकृत जैन रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मुजफ्फरपुर
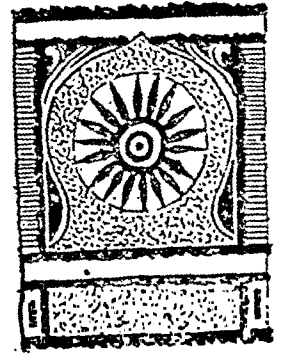
# आर्यों से पहले की भारतीय संस्कृति

जब से सिन्धु घाटी की खुदाई हुई है और पुरातत्त्व विभाग ने एक विशिष्ट सभ्यता की सामग्री उपस्थित की है; तब से हमें आर्यों के आगमन से पूर्व की भारतीय स्थिति जानने की परम जिज्ञासा उत्पन्न हुई है और लगभग चार पीढ़ियों से विद्वद्गण उस सुदूर अतीत को जानने के लिये प्रयत्नशील हैं. भारतीय इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन जब शिशु अवस्था में था, तभी विद्वानों ने इसके विवेचन का कुछ गलत तरीका अपना लिया था. वे इस पृथ्वीतल पर डार्विन के प्राणि-विकासवाद के अनुसार बन्दर से मनुष्य की उत्पत्ति बतला कर भारत में आदि सभ्यता का दर्शन वेदकाल से मानते थे. यह सत्र था कि तब उनके पास इतिहास जानने के साधन ही कम थे तथा विश्व के सर्व प्रथम साहित्य के रूप में वेद ही उनके सामने थे. पर आज भारतवर्ष के वेदकालीन और उसके पश्चात् युग के सांस्कृतिक इतिहास को जानने के लिये प्रचुर लिखित साहित्य ही नहीं बल्कि विशाल पुरातत्त्व सामग्री उपलब्ध है, तथा आर्यों के आगमन के पूर्व की प्राग्वैदिक भारतीय संस्कृति के ज्ञान के लिये भी विद्वानों ने अनेक साधन जुटा लिये हैं.

आज विद्वान् लोग जिन साधनों का आश्रय ले कर उस सुदूर अतीत का चित्र उपस्थित करते हैं वे मुख्यत: तीन हैं : (१) मानववंश विज्ञान (Anthropology), (२) भाषाविज्ञान (Philology), तथा (३) पुरातत्त्व (Archaeology) प्रथम मानववंश विज्ञान द्वारा मनुष्य के शरीर का निर्माण तथा विशेषकर मुख-नासिका के निर्माण का अध्ययन कर विविध मानव शाखाओं की पहचान की गई है. इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला है कि आज ही नहीं बल्कि सुदूर अतीत में भारत की जातियों का निर्माण अनेक मानव शाखाओं के संमिश्रण से हुआ है. यह संमिश्रण वेदकाल से ही नहीं बल्कि सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी प्राचीन काल से है. द्वितीय भाषा विज्ञान ने भाषा के विविध अंगों के विकास के अध्ययन के साथ विविध संस्कृतियों के प्रतिनिधि शब्दों को खोज निकाला है और उन संस्कृतियों के आदान-प्रदान तथा संमिश्रण के इतिहास जानने की भूमिका प्रस्तुत की है. भाषा विज्ञान से तत्कालीन समाज की विचारधारा और सांस्कृतिक स्थिति का भी पता लगता है. तृतीय पुरातत्त्व सामग्री, इतिहास का एक दृढ़ आधार है. जहां अन्य ऐतिहासिक साधन मौन रह जाते हैं या धुंधले दीखते हैं वहां इस पुरातत्त्व की गति है, यह अन्य निर्बल से दीखने वाले प्रमाणों में सबलता प्रदान करता है. इस पुरातत्त्व की प्रेरणा से हम भारतीय संस्कृति के आर्येतर आधारों को खोजने में समर्थ हुए हैं.

भारतीय इतिहास को जब हम विश्व-इतिहास का एक भाग मानकर अध्ययन करते हैं तथा विशेषकर निकट पूर्व (Near East) से संबंधित कर वेदों का अध्ययन करते हैं तो मानव-इतिहास की अनेक समस्याएँ सहज में सुलझ जाती हैं. वेदों में वर्णित घटनाओं का मतलब निकट पूर्व (Near East) की घटनाओं से मालूम होता है. इन घटनाओं से विद्वानों ने सिद्ध किया है कि आर्य लोग भारत में बाहर से आये हैं. उन्हें बाहर से आने पर दो प्रकार के शत्रुओं से सामना करना पड़ा. एक तो व्रात्य कहलाते थे जो कि सभ्य जाति के थे. दूसरे थे दास और दस्यु जो कि आर्येतर जाति के थे. ये नगरों में रहने वाले लोग थे. वेदों में इनके बड़े-बड़े नगरों (पुरों) का उल्लेख है. इनमें से जो व्यापारी थे वे पणि कहलाते थे ; जिनसे आर्यों को अनेक अवसरों पर युद्ध करना पड़ा था. ऋग्वेद में दिवोदास और पुरुकुत्स का इन

पुरों के स्वामियों से युद्ध का वर्णन है. ऋग्वेद (७-१८) में दिवोदास के पौत्र सुदास द्वारा एक शत्रुदल के पराजय का वर्णन है, उसमें निम्नलिखित जातियों तुर्वसु, मत्स्य, भृगु, द्रुह्यु, पक्थ, भलानस्, अलिनस्, शिव, विषाणिन्, वैकर्ण अनु अज, शिग्रु और यक्षु का उल्लेख है. इन जातियों के संबन्ध में विद्वानों को बहुत कम मालूम है. श्री हरित कृष्णदेव ने इनमें से बहुत कुछ जातियों की पहचान मिश्रदेशीय रिकार्डों से की है. उनके कथनानुसार ये बारहवीं शताब्दी ई० पूर्व की मध्य-एशिया की जातियां थीं, तथा कुछ द्रविड़ों की सजातीय और कुछ आर्यों की सजातीय थीं.

वेदरचना की पूर्ववर्ती तिथि यदि इन घटनाओं के आसपास मानी जाय तथा उत्तरवर्ती तिथि अवेस्ता के प्राचीन भागों की रचना सातवीं शता० ई० पूर्व और अखेमेनियन राजाओं के प्राचीन फारसी में लिखे गये अभिलेखों की, जिनसे वैदिक भाषा का बहुत कुछ मिलान होता है—तिथि छठी शता ई० पूर्व मानी जाय तो हम वेदरचना का समय दसवीं ईसा पूर्व कह सकते हैं. इसी समय आर्य लोग समूहों (ग्रामों) में भारत आये थे. मिश्र और चाल्डिया के प्रागैतिहास और इतिहास की घटना की तुलना में आर्यों के आने की घटना कोई बहुत प्राचीन नहीं बैठती. कतिपय विद्वान आर्यों के आगमन की बात ज्योतिष गणना के अनुसार बहुत सुदूर प्राचीन काल में ले जाते हैं पर उस ज्योतिष गणना की व्याख्या वैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर की जाय तो आर्यों के आगमन का समय बहुत बाद बैठता है. इसीलिए वैदिक काल की तिथि के निर्णय के लिये हमारे पास सुरक्षित पक्ष भाषाविज्ञान और पुरातत्त्व ही हैं. कुछ विद्वान् आर्यों का भारत में बाहर से आना नहीं मानते. वे इन्हें यहीं का निवासी मानते हैं पर उनका यह कथन अनुमानाश्रित है. मानववंश विज्ञान और भाषाविज्ञान के अध्ययन से उनका यह मत पुष्ट नहीं होता.

आर्यों के बाहर से आने की घटना कोई कल्पित नहीं है तथा उसका उल्लेख भी वेदों तक ही सीमित नहीं. वह ऐसी घटना है जिसकी ध्वनि बाद के साहित्य में भी मिलती है. संस्कृत पुराणों में असुरों की उन्नत भौतिक सभ्यता का तथा बड़े-बडे प्रासाद और नगर बनाने की कला का उल्लेख है. ब्राह्मण, उपनिषद् और महाभारत आदि परवर्ती साहित्य में असुरों की अनेक जातियों का उल्लेख हैं जैसे कालेयनाग आदि. ये सारे भारत में फैले थे. इनके अनेक स्थानों पर बड़े-बड़े किले थे. युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का मण्डप इसी असुर जाति के मय नामक व्यक्ति ने बनाया था. महाभारत और पुराणों में ब्राह्मण-क्षत्रियों के साथ अनार्य नाग और दासों के विवाह के अनेक उल्लेख मिलते हैं. ये शान्तिप्रिय, उन्नतिशील और व्यापारी थे. अपने इन उपायों से ये भौतिक सभ्यता में बहुत बड़े चढ़े थे.

इन पर भौतिक सभ्यता से पिछड़ी पर युद्धप्रिय एवं उद्यमशील तथा समृद्ध भाषा से सम्पन्न आर्य जाति ने आक्रमण प्रारम्भ किया. उन्हें भौतिक सभ्यता के वैभव सुख में पली सुकुमार अनार्य जाति को जीतना कठिन प्रतीत नहीं हुआ और बड़ी सरलता से उसे उन्होंने वश में कर लिया. आर्यों के भारत में प्रबल दो आक्रमण हुए ऐसा विद्वानों का अनुमान है. आर्य लोग प्रायः झुण्डों (ग्रामों) में आये थे एवं अपने साथ बड़ा पशुधन तथा आशुगामी अश्वों के रथ लाये थे. वे प्रकृतिपूजक थे तथा उन्हें होम और यज्ञ के रूप में पशुवलि, यव, दूध, मक्खन और सोम चढ़ाते थे. वे अपनी पूर्व निवासभूमि—लघु एशिया (Asia minor) और असीरिया बाबुल से कुछ धार्मिक मान्यताएं, कुछ कथा इतिहास (प्रलय कालीन जलप्लावन) आदि भी साथ में लाये थे. उनका जातीय देवता इन्द्र था जो कि बाबुल के देवता मर्दुक से मिलता-जुलता है. अपनी समृद्ध भाषा से अनार्यों को विशेष प्रभावित किया था.

आर्यों ने यहाँ बसकर यहां के निवासियों को ही अपने में परिवर्तित नहीं किया बल्कि स्वयं बहुत हदतक उनमें परिवर्तित हो गए. आर्य संस्कृति के निर्माण में आर्यों की अपेक्षा अनार्यों का बड़ा भाग है. जब अनार्य, आर्यो में सम्मिलित हुए तो उस जाति के समृद्ध कवियों ने आर्यभाषा में अपने भी भाव व्यक्त किये, पद रचनायें कीं. उन्होंने अपने दार्शनिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक कथानक, आख्यान आदि सामग्री को आर्य भाषा में प्रकट करना शुरू किया जैसे कि आज का भारतीय अपने साहित्य को अंग्रेजी में प्रकट करता है. उससे आर्य साहित्य में अनार्य संस्कृति का बहुत बड़ा भाग आ गया. अनार्य साहित्यिकों ने आर्यों की भाषा को सम्भाला, सुधारा. दो प्रबल संस्कृतियों के संघर्ष का परिणाम ही यह होता है.

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का कहना है कि : 'आज की नूतन सामग्री और नवीन उद्धार कार्य बतलाते हैं कि भारतीय सभ्यता के निर्माण में न केवल आर्यों को श्रेय है बल्कि उनसे पहले रहने वाले अनार्यों को भी है. अनार्यों का इस सभ्यता के निर्माण में बहुत बड़ा हिस्सा है. अनार्यों के पास आर्यों से बहुत बढ़ी-चढ़ी भौतिक सभ्यता थी. जब आर्य बेघरबार के लुटेरे थे तब अनार्य बड़े-बड़े नगरोंमें रहते थे. भारतीय धर्म और संस्कृति की अनेक परम्पराएं रीति-रिवाज, प्राचीन पुराण और इतिहास अनार्य भाषाओं से आर्य भाषा में अनूदित किये हैं क्योंकि आर्य भाषा ऐसी थी जो सर्वत्र छा गई थी. तथापि उसकी शुद्धि कायम न रह सकी क्योंकि उसमें अनेक अनार्य शब्द मिल गये हैं.

मानव वंश-विज्ञान के अध्ययन से भारत की भूमि पर प्रथम जिस अनार्य जाति का पता चला है, वह है कृष्णांग (Negrito). बन्दर से विकसित हो उत्पन्न होने वाली किसी जाति का यहां पता नहीं चला. कृष्णांगों की सन्तान आज भी अन्दमान द्वीपों में पाई जाती है. उनकी भाषा का विश्व की किसी भाषा-शाखा से संबंध नहीं. पहले ये अरब-सागर से चीन तक फैले हुए थे. पर अब वे या तो खतम कर दिये गये या दूसरी मानव शाखा के लोगों ने उन्हें अपने में पचा लिया. यत्र-तत्र बिखरे शेष लोगों से उनकी सुदूर अतीत की संस्कृति का अनुमान लगाना संभव नहीं. कहा जाता है कि उनके उत्तराधिकारी बलोचिस्तान में पाये जाते हैं तथा दक्षिण भारत की मुख्य जंगली जातियों में उनका जातीय गुण मिलता है. तिब्बत, बर्मा की नागा जाति के रूप में भी उनका अस्तित्व है. चूंकि यह जाति बहुत प्राचीन युग की है इसलिए बाद की सभ्यता में इसकी क्या देन रही है, यह कहना बड़ा कठिन है. यह जाति अपने पीछे आने-वाली शक्ति-शालिनी मानव शाखाओं से अपनी संस्कृति को बहुत कम बचा सकी. अजन्ता के एक चित्र में कृष्णांग जाति का चिन्ह मिलता है.

कृष्णांग जाति के बाद पूर्व की ओर से आग्नेय (Austric) जाति आई. इनकी भाषा, धर्म और संस्कृति का रूप हिन्द चीन में मिलता है. इस जाति की संतानें और भाषा प्रशान्त महासागर के द्वीप-पुंजों में मिलती हैं. ये असम से भारत भूमि पर आये और यहां आकर कुछ तो कृष्णांग जाति में मिल गये और कुछ भारत के समृद्ध प्रदेशों में अपने से पीछे आनेवाली जातियों द्वारा पचा लिये गये. इस जाति का अवशेषरूप खासी, कोल, मुण्डा, संथाल, मुन्दरी, कुर्कु और शबर आदि जातियां हैं. एक समय था जब कि इस जाति के लोग सारे उत्तर भारत, पंजाब और मध्यभारत तक फैल गये थे तथा दक्षिण भारत में भी घुस गये थे. उत्तर भारत के विशाल नदियों के कछारों में बस जाने में इन्हें बड़ी सुविधा हुई. गंगा शब्द की व्युत्पत्ति आग्नेय भाषा के खांग, कांग आदि नदीवाचक शब्दों से कही जाती है. आर्यों की पद-रचना, ध्वनि और मुहावरों पर इनकी भाषा का बड़ा प्रभाव है. आर्यों ने इनके सम्पर्क में आकर अपनी भाषा के रूप को बदला है. ये भौतिक सभ्यता में बहुत बढ़कर थे. इनकी संस्कृति के अनेक स्तर थे जो मध्यभारत की उच्च विषम भूमियों में रहते थे या जो आर्यों के दबाव के फलस्वरूप भागे थे वे अब भी अविकसित हालत में हैं पर जो उत्तर भारत के मैदानों में रहते थे उनकी संस्कृति का अवशेष परिवर्तित आर्यीकरण के रूप में अब भी विद्यमान है. आर्य-संस्कृति और आग्नेय संस्कृति का आदान-प्रदान विशेषतः भारत के पूर्वीय प्रान्तों में हुआ है. आर्यों ने इनसे चावल की खेती करना सीखा. नारियल, केला, ताम्बूल, सुपाड़ी, हलदी, अदरक, बैंगन, लौकी आदि का उपयोग आग्नेयों की देन है. कोरी अर्थात् बीसी की गणना तथा चन्द्रमा से तिथि की गणना आग्नेय है. वे अपने मृतकों की पाषाण समाधि बनाते थे. उनके यहाँ परलोक की मान्यता थी तथा वे विश्वास करते थे कि आत्मा अनेक पर्यायों (हालतों) में जाती है. उनकी इस विचारधारा से आर्यों को पुनर्जन्म का सिद्धान्त मिला. डा० सुनीतिकुमार चटर्जी लिखते हैं कि आर्यों ने अनार्यों से 'कर्म तथा परलोक सिद्धान्त को, योगसाधना, शिव, देवी के रूप में परमात्मा को मानना, वैदिक होमविधि के मुकाबिले उनकी पूजाविधि अपनाई'.

ईसा के हजारों वर्ष पूर्व, आर्यों के आने से अवश्य बहुत प्राचीन काल में पश्चिम भारत से द्रविड़ लोग आए. यह जाति आजकल दक्षिण भारत के बहुभाग में है पर आधुनिक खोजों से सिद्ध है कि द्रविड़ों का मूल निवासस्थान पूर्वी भूमध्यसागर के प्रदेश हैं. लघु एशिया के एक अभिलेख में वहां की जाति का नाम 'त्रमिल्ली' लिखा है जो तामिल

शब्द का प्राचीन रूप मालूम होता है. द्रविड़ों का पुराना नाम द्रामिल भी है जो तामिल और त्रमिल्ली का मूलरूप है. इन लोगों की सभ्यता नगर-सभ्यता के रूप में विकसित हुई थी. इनकी प्राचीन सभ्यता के अवशेष दजला-फुरात नदियों की घाटी से सिन्धु घाटी तक मिलते हैं. द्रविड लोग व्यापार में समृद्ध थे तथा आदान प्रदान की वस्तुओं का निर्माण करते थे. जौ, गेहूँ और कपास की खेती करते थे, कताई और बुनाई की कला का विकास चरमसीमा पर था. वे हाथी, ऊंट, बैल और भैंस को रखते थे तथा घोड़े पर सवारी करना जानते थे पर वाहन के रूप में घोड़े के रथ की जगह बैलगाड़ी का विशेष प्रयोग करते थे. उपलब्ध मिट्टी के खिलौनों और मूर्तियों से मालूम होता है कि उस समय दुर्गा, शिव और लिंग की पूजा प्रचलित थी, कितनी ही कायोत्सर्ग जैनमूर्तियां भी उस काल की पुरातत्त्व सामग्री से निकली हैं. वे अपने देवता की पूजा, फल-फूल चन्दन आदि से करते थे. वलि नहीं चढ़ाते थे.

जबकि आर्य बहुत बड़ी संख्या में आकर पंजाब में व्यवस्थित हो रहे थे. तब द्रविड़ भारत में छोटे बड़े राज्यों में विभक्त थे. आग्नेयों को पराक्रान्त कर इन्होंने मगध और कामरूप में राज्य जमाये तथा दक्षिण में कलिंग, केरल, चोल, और पाण्ड्य देशों में. द्रविड़ों ने बहुत पहले अपने जहाजी बेड़े का विकास किया था तथा दक्षिण भारत, लंका और हिन्द द्विपपुंजों में उपनिवेश स्थापित किये थे. डा० कर्न का कहना है कि सुमात्रा को सबसे पहले उपनिवेश बनाने वाले द्रविड़ ही थे. सिन्धु घाटी की खुदाई से जिस सभ्यता के अवशेष मिले हैं, उसके विधाता द्रविड़ थे—ऐसा विद्वानों का मत है.

आर्यों से ठीक पहले की जाति होने से वेदों में इनकी विविध जातियों का उल्लेख मिलता है सो कह चुके हैं. इनसे ही सीधे संघर्ष होने की घटनाएँ वेद और पश्चात् कालीन साहित्य में हैं. आर्यों ने वेदों में दस्यु, अनास, मृध्रवाक्, अयज्वन्, अकर्मन, अन्यव्रत आदि घृणा पूर्ण शब्दों से इन्हीं अनार्यों का उल्लेख किया है. आर्यों ने इनसे पृथक् बने रहने के लिए 'वर्णभेद' बनाया.

वैदिक साहित्य सारे भारत के सांस्कृतिक इतिहास का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, क्योंकि वह एक देशीय अर्थात् विशेषकर पंजाब, दिल्ली के आसपास का साहित्य है. वह उस याज्ञिक संस्कृति के उपासकों की कृति है जो दूसरी संस्कृति के उत्कर्ष के प्रति अति असहिष्णु थे. उन्होंने भारत के मध्यभाग और पूर्वभाग में प्रचलित अहिंसक संस्कृति-श्रमणसंस्कृति को धक्का दिया. श्रमण और याज्ञिक संस्कृति के संघर्ष के प्रकीर्णक उल्लेख ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों में मिलते हैं. श्रमण-संस्कृति के सूचक अर्हन्, श्रमण, यतयः, मुनयः वातरसनाः व्रात्य, महाव्रात्य आदि शब्द वैदिक साहित्य में पाये जाते हैं. श्रमणों के प्रतिनिधि ऋषभदेव, अजितनाथ, अरिष्टनेमि का उल्लेख भी वेदों में मिलता है. अथर्ववेद के १५ वें अध्याय में व्रात्यों का विशेष वर्णन आया है. सामवेद और कुछ श्रौतसूत्रों में व्रात्यस्तोमविधि द्वारा उन्हें शुद्ध कर वैदिक परम्परा में सम्मिलित करने का भी वर्णन है. व्रात्य लोगों की संस्कृति व्रतमूलक थी. ये यज्ञमूलक संस्कृति के परम विरोधी थे. मनुस्मृति के दसवें अध्याय में लिच्छवि, नाथ, मल्ल आदि क्षत्रिय जातियों को व्रात्यों में गिनाया है. इन का दर्शन समत्व या श्रम-तपस्या, कायक्लेश आदि कर्म-क्षय करने पर आश्रित था.

मालूम होता है कि इस श्रमण-संस्कृति के उपासकजन आर्यो के आगमन के पूर्व के द्रविड़ जाति या उसके पूर्व जाति वंशधर लोग रहे होंगे, जिनकी पूजा उपासना, दार्शनिक मान्यता, कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म, आत्मा की पर्यायें होना, सभ्यता के अन्य अंग श्रमण-संस्कृति के प्राक्तन रूप ही हैं. यह संस्कृति चारों तरफ भारत में फैली थी. तामिल भाषा के प्राचीन से प्राचीन साहित्य इससे प्रभावित थे. अब तक उस संस्कृति की परिचायक पुरातत्त्वादि सामग्री का ठीक-ठीक अनुसंधान नहीं हुआ है. सिन्धु घाटी की खुदाई से जो कुछ प्रकाश पड़ा है तथा गंगाघाटी की खुदाई से जो प्रकाश पड़ने की संभावना है ये दोनों अवश्य ही आग्नेय, द्रविड़ आदि द्वारा उपास्य श्रमण-संस्कृति पर प्रकाश डालेंगे.

मुनि श्रीकल्याणविजयजी गणि

# जैन श्रमणसंघ की शासनपद्धति

यद्यपि प्रस्तुत लेख में हमें श्रमणसंघ की शासन-पद्धति का ही मुख्यतया वर्णन करना है, तथापि इसके प्रारम्भ में 'जिनशासनपद्धति' का निर्देश करना भी अनिवार्य है, क्योंकि हमारी श्रमण-शासन-पद्धति भी इसी जिन-शासन-पद्धति का विस्तृत रूप है.

जैन सूत्रों में भगवान् महावीर को 'धर्मचक्रवर्ती' कहा है, और वास्तव में वे धर्मचक्रवर्ती ही थे. धार्मिक राज्य की व्यवस्था करने में वे स्वतंत्र और सार्वभौम सत्ताधारी पुरुष थे. लाखों अनुयायियों पर उनका अखण्ड प्रभुत्व था. अनुयायिगण बड़ी लगन के साथ उनके शासनों का अनुपालन करते थे. उनके शासन भी सांप्रदायिक वाड़े में ढकेलने वाले फतवे नहीं, किन्तु सर्वग्राह्य उपदेशात्मक होते थे.

महावीर मनुष्यों के स्वभाव और उनकी परिस्थितियों के पूर्ण ज्ञाता थे, यही कारण है कि उनके उपदेशों में कठिन से कठिन और सुगम से सुगम सभी तरह के नियमों के पालन का आदेश होता था. इनके मत में 'निर्ग्रन्थ साधु और मोक्ष मार्ग में विश्वास मात्र रखने वाला गृहस्थ' दोनों जैन थे. इस विशाल दृष्टि और उदारता का परिणाम यह था कि लाखों मनुष्य अपनी-अपनी श्रद्धा, भक्ति और शक्ति के अनुसार महावीर के धर्ममार्ग में प्रवृत्ति कर रहे थे.

धर्मचक्रवर्ती महावीर के धर्मसाम्राज्य की शासन-पद्धति का इतिहास बहुत बड़ा है. अपने हजारों त्यागी और लाखों गृहस्थ शिष्यों की व्यवस्था के लिये महावीर ने जो नियम बनाये थे, वे आज भी जैन शास्त्रों में संगृहीत हैं.

एक धर्म-व्यवस्थापक अपने अनुयायियों के लिये कैसी सुन्दर व्यवस्था कर सकता है, इस बात को समझने के लिये महावीरप्रणीत 'संघ-व्यवस्थापद्धति' एक मननीय वस्तु है. इस पद्धति का सविस्तार निरूपण करना हमारे इस लेख का विषय नहीं है. यहां पर तो हम इसका दिग्दर्शनमात्र करा के आगे बढ़ेंगे.

**महावीर के श्रमणगण**—भगवान् महावीर के तमाम साधु नौ विभागों में बांटे हुए थे. ये विभाग 'गण' अथवा 'श्रमणगण' इस नाम से पहिचाने जाते थे. इन गणों के अध्यक्ष महावीर के प्रथम दीक्षित इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह शिष्य थे जो 'गणधर' कहलाते थे. साधु-साध्वियों की कुल-व्यवस्था इन गणधरों के सुपुर्द थी.

महावीर ने अपने जिम्मे धार्मिक उपदेश, अन्य तीर्थिक तथा अपने शिष्यों की शंकाओं के समाधान और धार्मिक नियम बताना इत्यादि काम रखे थे. शेष सब कार्य प्रायः गणधरों के हवाले रहते थे.

पूर्वोक्त नौ विभाग व्यवस्था-पद्धति के अनुसार बने हुए थे. गुण की अपेक्षा से महावीर के साधु सात विभागों में भी विभक्त थे, जो १—केवली, २ मनःपर्यवज्ञानी, ३ अवधिज्ञानी, ४ वैक्रियर्द्धिक, ५ चतुर्दश पूर्वी, ६ वादी और ७ सामान्य साधु कहलाते थे.

१. केवली अथवा पूर्णज्ञानी साधुओं की संख्या ७०० की थी और इनका दर्जा सर्वश्रेष्ठ था. ये भगवान् महावीर के मुकाबले के ज्ञानी थे. महावीर ने इनकी पूर्ण स्वतंत्रता को स्वीकार किया था. ये आत्मध्यान करने के उपरान्त धर्मोपदेश भी देते थे.

२. दूसरे दर्जे के साधु 'मन:पर्यवज्ञानी' याने मनोवैज्ञानिक थे. ये चित्तवृत्ति वाले प्राणियों के मानसिक भावों के ज्ञाता होते थे.

३. अवधिज्ञानी—अथवा, मर्यादित ज्ञानी साधु १३०० थे.

४. चतुर्दशपूर्वी सम्पूर्ण अक्षरज्ञान के पारंगत होते थे और शिष्यों को शास्त्राध्ययन कराते थे.

५. वैक्रियर्द्धिक अथवा योगसिद्धि प्राप्त ७०० साधु थे जो प्राय: तपश्चर्या और ध्यान में मग्न रहते थे.

६. वादी अथवा तर्क और दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा करने वाले ४०० साधु थे, जो अन्य तीर्थिकों के साथ चर्चा व शास्त्रार्थ में उतरते और जैनदर्शन के ऊपर होने वाले आक्रमणों का उत्तर देते थे.

७. इस विभाग में शेष तमाम साधु थे, जो विद्याध्ययन, तपस्या, ध्यान और विशिष्ट साधुओं की सेवा-चाकरी करते थे. इस प्रकार महावीर का श्रमणसंघ योग्यता की दृष्टि से और व्यवस्था-पद्धति के अनुसार भिन्न-भिन्न विभागों में विभक्त हो जाने से उनकी व्यवस्था-पद्धति बड़ी सुगम हो गयी थी. यही कारण है कि महावीर के जीवनकाल में १४०० जितना विशाल श्रमणसंघ एकाज्ञाधीन था. ३० वर्ष के अन्दर सिर्फ दो साधु इस विशाल समुदाय में से महावीर के सिद्धान्त-विशेष के सम्बन्ध में विरुद्ध हुए थे जो 'जमाली' और 'तिष्यगुप्त' इन नामों से जैनशास्त्र में प्रसिद्ध हैं. ये दोनों ही महावीर के श्रमण-संघ से बाहर किये गये थे.

भगवान् महावीर करीब ३० वर्ष तक धर्म प्रचार करके ७२ वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त हुए थे. इनके ११ गणधरों में से ९ गणधर इनसे पहले ही मुक्ति-लाभ कर चुके थे. गणधरों में सिर्फ 'इन्द्रभूति गौतम' और 'अग्निवैश्यायन सुधर्मा ये दो ही जीवित थे. इनमें से इन्द्रभूति गौतम को महावीर का निर्वाण हुआ, उसी रात्रि के अंत में केवल ज्ञान हो जाने से वे निवृत्ति परायण हो गये थे. इस कारण महावीर के निर्वाण के बाद सम्पूर्ण श्रमण-संघ के 'प्रमुख' सुधर्मा गणधर बने थे.

यद्यपि महावीर के जीवनकाल में 'जैन शासन' एकच्छत्र राज्य के ढंग पर ही चलता था, पर उनके निर्वाण के बाद वह स्थिति नहीं रही.

महावीर के निर्वाण के अनन्तर जैन श्रमणसंघ की व्यवस्था के लिए एक 'नवीन शासन-पद्धति' स्थापित हुई थी जिसे 'स्थविरसत्ताक' या 'युगप्रधानसत्ताक' शासन-पद्धति कह सकते हैं. प्रस्तुत लेख में हम इसी शासनपद्धति का दिग्दर्शन कराएँगे.

**परिभाषा**—शासन-पद्धति का दिग्दर्शन कराने से पहले हम इसके कतिपय अधिकारियों की और उनके अधिकारों की परिभाषायें समझाएँगे. क्योंकि इस शासन के अधिकारी संघ स्थविर-युगप्रधान, आचार्य, उपाध्याय, गणि, प्रवर्तक, गणावच्छेदक, स्थविर इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं, और इनके अधिकार-पद-संघ, गण, कुल आदि भी सुप्रसिद्ध हैं पर इन सबकी परिभाषा क्या है, यह बहुत कम लोग जानते होंगे और जब तक इनकी परिभाषायें जानी नहीं गई तब तक इन अधिकारियों से बनी हुई शासन-पद्धति को समझना कठिन है.

१. कुल—एक आचार्य का शिष्य-परिवार श्रमणपरिभाषा में 'कुल' इस नाम से निर्दिष्ट होता था. इस प्राचीन कुल को आधुनिक जैन परिभाषा में 'संघाडा'[1] कह सकते हैं.

---

१. 'संघाटक' शब्द का अपभ्रंश 'संघाडा' है, 'संघाटक' का अर्थ जैन सूत्रों की परिभाषानुसार दो (युग्म) होता है परन्तु आधुनिक जैन भाषा में एक आचार्य की शिष्य परम्परा को भी 'संघाडा' कह दिया करते हैं.
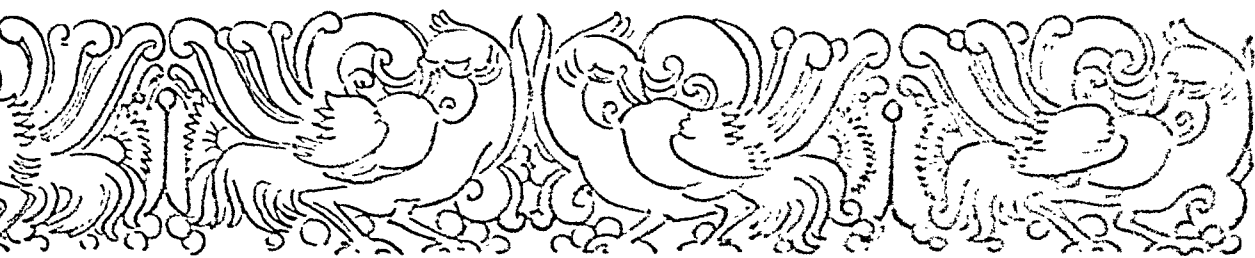
९. आचार्य—गच्छराज्य का सर्वोपरि शासक पुरुप 'आचार्य' कहलाता था. यह गच्छ का राजा माना जाता था, गणस्थविर ही आचार्य अथवा गच्छाचार्य कहलाता था.

आचार्य संघस्थविर की व्यवस्थापिका सभा का सभासद् गिना जाता था. अथवा यों कहिये कि विशाल राष्ट्र में एक देशपति राजा का जैसा दर्जा होता है, वैसा ही दर्जा स्थविर राज्य में गच्छपति आचार्य का माना जाता था. यह सब होते हुए भी इसकी सत्ता कानूनवद्ध थी. हां, कुछ अनियंत्रित सत्ता भी इसे दी जाती थी कि जिसका उपयोग वह विशिष्ट अवसरों व संयोगों में करता था.

संघ और गच्छ के सामने आचार्य की पूरी जवावदारी रहती थी. वह कुछ अपराध करता तो सामान्य साधु से भी अधिक दण्ड पाता था.

वार-वार कानून भंग करना, गच्छ के प्रतिकूल चलना, गच्छ की व्यवस्था करने में अयोग्य सावित होना इत्यादि कारणों से आचार्यों को अपने पद तक का त्याग करना पड़ता था.

१०. उपाध्याय—'उपाध्याय' वर्तमान आचार्य का उत्तराधिकारी माना जाता था. इसको जैन-शास्त्रों में 'युवराज' की उपमा दी गई है. सचमुच ही यह पदाधिकारी युवराज की योग्यता रखता हुआ गच्छ के अनेक कार्यों में आचार्य का हाथ वंटाता था. गच्छवासी विद्यार्थी साधुओं को सूत्र पढ़ाना, यह उपाध्याय का मुख्य कर्तव्य होता था.

११. गणि—'गणि' शव्द का प्रयोग कहीं आचार्य के और कहीं उपाध्याय के अर्थ में किया गया है और कहा गया है कि आचार्य अथवा उपाध्याय की गैरहाजिरी में उन दोनों के कार्य 'गणि' चलाता था. यद्यपि गच्छ—व्यवस्थापिका सभा में इसकी कोई खास वैठक नहीं थी, फिर भी आचार्य और उपाध्याय के कार्यों का यह वड़ा सहायक था. इतना ही नहीं वल्कि उनकी गैरहाजिरी में यही आचार्य अथवा उपाध्याय माना जाता था. इस पदधर को आचार्य उपाध्याय का खानगी मन्त्री कह सकते हैं.

१२. प्रवर्तक—प्रवर्तक-गच्छ के वाह्य और आन्तरिक कार्यों का व्यवस्थापक मन्त्री था. वाल, वृद्ध और वीमार साधुओं की देखभाल रखना, अनजान साधुओं को गच्छ और संघ के सामान्य नियमों से वाकिफ कराना और गच्छ में वस्त्र-पात्र आदि जरूरी साधनों का प्रवन्ध करना आदि कार्य इस अधिकारी के सुपुर्द रहते थे. इस पदधर को गच्छराज्य का मन्त्री कह सकते हैं.

१३. स्थविर—स्थविर पदधर गच्छ का न्यायाधीश था, गच्छ के भीतरी तमाम झगड़ों के फैसले इसी अधिकारी के द्वारा किये जाते थे. गच्छ के सर्वोच्च शासक आचार्य तक को इसके फैसले मंजूर करने पड़ते थे. संघस्थविर की सभा में भी यही स्थविर गच्छाचार्य का प्रतिनिधि वनकर वहुधा जाया करता था.

जो साधु न्यायशील होने के उपरान्त दण्डविधान (छेद) सूत्रों का अच्छा अभ्यासी होता उसी को यह 'स्थविर' पद दिया जाता था.

१४. गणावच्छेदक—गणावच्छेदक का कार्य गण के भिन्न-भिन्न कुलों और शाखाओं के सम्वन्धों को व्यवस्थित रखना गण के साधुओं को भिन्न-भिन्न टुकड़ियों में वांटकर गीतार्थों की देखभाल में विहार कराना, गीतार्थों और उनके आश्रित साधुओं की वदलियां करना इत्यादि कार्य गणावच्छेदक के अधिकार में रहते थे. इस पदस्थ को हम गणराज्य का गृह-मंत्री कह सकते हैं.

व्यवस्था-पद्धति—श्रमण संघ की व्यवस्था-पद्धति कैसी होगी, इसका कुछ आभास तो ऊपर दी हुई परिभाषाओं से ही हो जाता है, फिर भी अधिक स्पष्टता के लिये हम यहां इस व्यवस्था-पद्धति का कुछ विवेचन करेंगे.

जिस प्रकार एक विशाल राष्ट्र में अनेक 'देश' और देशों में अनेक 'प्रान्त' होते हैं उसी प्रकार हमारे जैन-श्रमणसंघ में अनेक गण और गणों में अनेक 'कुल' होते थे.

जैसे प्रान्त के हाकिम देश के हाकिमों के और देश के हाकिम राष्ट्रपति के मातहत होते हैं वैसे ही कुलों के स्थविर गणस्थविरों के और गणों के स्थविर संघस्थविर के मातहत होते थे.

कुल—स्थविरों का कार्यप्रदेश संकुचित होता था इसलिए वे अकेले ही अपने कुल की व्यवस्था कर लेते थे, परन्तु गण-स्थविरों का कार्यप्रदेश बहुत विस्तृत था. उन्हें अपने-अपने गणों की व्यवस्था तो करनी पड़ती ही थी, साथ ही संघ स्थविर की सभा में हाजिर होकर अथवा प्रतिनिधि भेजकर संघ के कार्य में भी भाग लेना पड़ता था. इस वास्ते गण-स्थविर अपने गण की व्यवस्था के लिये एक व्यवस्थापिका सभा स्थापित करते थे जो 'गच्छ' कहलाती थी. इसके निम्न-लिखित पाँच सभासद होते थे :

१. आचार्य—अथवा प्रमुख.
२. उपाध्याय—अथवा उपप्रमुख.
३. प्रवर्तक—अथवा मंत्री.
४. स्थविर-अथवा न्यायाधीश.
५. गणावच्छेदक—अथवा गृहमंत्री.

गण-सभा अथवा गच्छ के इन पांच अधिकारियों के जिम्मे क्या-क्या कार्य होते थे इसका निर्देश परिभाषा प्रकरण में कर दिया गया है.

**गणों का पारस्परिक सम्बन्ध**—सभी गण 'संघ' के 'प्रतिनिधि' होते थे यह बात पहले ही कही जा चुकी है, पर इन गणों का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा होता था, इस बात का अभी तक विचार नहीं किया.

जहां तक हम जानते हैं, महावीर के सभी श्रमणगण आपस में एक दूसरे से सम्बन्धित थे. वन्दन, भोजन, अध्ययन, प्रति-क्रमण, प्रतिलेखनादि सभी प्रकार के नित्य-नैमित्तिक-क्रिया-व्यवहार एक दूसरे के साथ होते थे और यह रीति आठवें संघस्थविर स्थूलभद्र तक बराबर चलती रही. पर आर्य स्थूलभद्र के शिष्य आर्यमहागिरि और आर्यसुहस्ती के बीच भिक्षा-विधि के सम्बन्ध में मतभेद होकर एक बार यह आपसी सम्बन्ध टूट गया था, और तब से अन्य गणों में भी असां-भोगिक रीति का प्रचार हुआ. उस समय के बाद समान आचार विचार और क्रिया सामाचारी वाले गण तो एक दूसरे के साथ भोजनादि सामान्य व्यवहार रखते थे. पर जो गण समाचारी में अपने से भिन्नता रखते उनके साथ दैनिक सामान्य व्यवहार नहीं रखते थे. इस प्रकार का संभोग-भोजनादि व्यवहार जिन के साथ होता, वे गण कुल अथवा साधु एक दूसरे के 'संभोगिक' कहलाते थे ओर शेष 'असांभोगिक.'

सांभोगिक गण एकत्र मिलते तब एक परिवार की तरह सब तरह से एक होकर रहते थे. अपने से बड़ों को सब वन्दन करते थे, एक मंडल में बैठकर भोजन करते थे और साथ ही पठन-पाठन तथा प्रतिक्रमणादि क्रियाएं करते थे. पर असांभोगिक गणों के साथ ऐसा नहीं होता था. असांभोगिक गणों के एकत्र मिलने पर साधु एक दूसरे के गणस्थविर को वन्दन मात्र करते थे और वह भी अपने-अपने आचार्यों को पूछने के बाद. हाँ, अस्वस्थ साधु की सेवा करने के सम्बन्ध में यह' 'असांभोगिता' की बाड़ किसी को रोक नहीं सकती थी. बल्कि बीमार की सेवा के विषय में तो यहाँ तक नियम बने हुए थे कि बीमार साधु अपने गण का हो चाहे दूसरे गण का उसकी बीमारी की खबर मिलते ही वैयावृत्त्य (सेवा) करने वाले साधुओं को उसकी सेवा भक्ति करने को जाना पड़ता था.

**गणों के आन्तर नियम**—गणों के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे होते थे, इसका संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है. अब हमें यह देखना है कि माण्डलिक-राज्यों की भांति एक दूसरे से सम्बन्वित इन गण-राज्यों के आन्तर नियम अथवा संधि विधान किस प्रकार के होते थे.

यों तो गणों के बीच अनेक छोटी-मोटी नियम-मर्यादाएं पाली जाती थीं, पर उन सबका इस लेख में वर्णन करना शक्य नहीं है. यहाँ तो हम उन्हीं स्थूल नियमों का उल्लेख करेंगे जो प्रत्येक गण को बड़ी सावधानी से पालने पड़ते थे. ऐसे नियमों में निम्नलिखित चार नियम मुख्य थे :

१. क्षेत्रस्वामित्व-मर्यादा २. सचित्तादि परिहार ३. गणान्तरोपसम्पदा ४. साधर्म्यवैधर्म्य-निर्वाह.

१—क्षेत्रस्वामित्व का तात्पर्य यह है कि जिस क्षेत्र में जो कुल अथवा गण विचरता, उस क्षेत्र पर उसी कुल अथवा गण का स्वामित्व माना जाता था. उस समय उस क्षेत्र में क्षेत्र-स्वामी की आज्ञा के विना दूसरा 'कुल' अथवा 'गण' नहीं रह सकता था.

इस क्षेत्र-स्वामित्व की काल मर्यादा वर्षा काल में श्रावण से कार्तिक तक चार मास की और शेप काल में एक मास की होती थी. यदि इस काल में मर्यादा के उपरान्त प्रथम का 'कुल' 'गण' उस क्षेत्र में रह जाता तो भी उस क्षेत्र पर से उसका स्वामित्व हट जाता था और इस दशा में वहाँ दूसरा कुल गण आकर रह सकता था. तथा वहां से उत्पन्न होने वाले सचित्त-अचित्त द्रव्य का हकदार वनता था.

अपने-अपने क्षेत्रों से विहार कर श्रमण गण जहाँ जाते, वे क्षेत्र यदि निर्वाह योग्य होते तो वहाँ मास-मास तक ठहरते हुए आगे जाते थे. किसी के क्षेत्र पर अपना हक जमाने के वास्ते अथवा वड़ा क्षेत्र जानकर वहाँ अपना स्वामित्व स्थापित करने के विचार से योग्य क्षेत्रों को उल्लंघन कर आगे जाने का किसी को भी अधिकार नहीं था.

जिस गांव या नगर में जो 'कुल' या 'गण' चातुर्मास्य रहना चाहता, वह पहले वहां के मुखियों को अपना विचार कह देता था और फिर जहां कहीं 'संघसमवसरण' होता वहां भी वह अपना विचार प्रकट कर देता था कि 'हमने अमुक क्षेत्र में चातुर्मास्य करने का विचार किया है' ऐसा करने से दूसरा कोई भी कुल गण या संघाडा वहाँ चातुर्मास्य करने को नहीं जाता था. यदि किसी को खवर न होने से जाता भी तो वहां के गृहस्थ कह देते थे कि 'यहां पर अमुक गण अथवा कुल चातुर्मास्य करने वाला है.'

जिन प्रतिष्ठा यात्रादि निमित्त, अथवा संघ सम्वन्धी कार्य के निमित्त जिस क्षेत्र में 'संघ-समवसरण' होता (संघ एकत्र होता) वह क्षेत्र साधारण माना जाता. जव तक वहां रहता, तव तक उस क्षेत्र पर किसी भी कुल या गण विशेष का स्वामित्व नहीं माना जाता था.

२—सचित्तादि परिहार का अर्थ यह है कि जिस क्षेत्र में सचित्त-दीक्षा लेने वाला मनुष्य और अचित्त-वस्त्र पात्र आदि जो द्रव्य उत्पन्न होते उसका स्वामी क्षेत्र स्वामी होता था. अन्य स्वामि के क्षेत्र में आने वाला कोई भी अन्य साधु वहां उत्पन्न होने वाले सचित्तादि द्रव्यों का अधिकारी नहीं होता था.

जिसके उपदेश से जो मनुष्य सम्यक्त्व (जैन दर्शन) प्राप्त करता, वह यदि तीन वर्ष के भीतर साधु होना चाहता तो अपने प्राथमिकोपदेशक गुरु का ही शिष्य हो सकता था. इसी प्रकार कोई साधु उत्प्रव्रजित हो गृहस्थाश्रम में जाकर फिर तीन वर्ष के अन्दर साधु होना चाहता तो अपने पहले गुरु के पास ही दीक्षा ले सकता था, परन्तु तीन वर्ष के वाद उपर्युक्त दोनों प्रकार के पुरुषों के ऊपर से मूल गुरुओं का अधिकार रद्द हो जाता था, और वह अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जिसके पास दीक्षा ग्रहण कर सकता था.

३—गणान्तरोपसंपदा—का अर्थ है दूसरे गण का स्वीकार. सामान्यतया एक गण का साधु दूसरे गण में जा नहीं सकता था, पर यदि वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र की विशेष आराधना के लिये अथवा तपस्या तथा वैयावृत्त्य करने के निमित्त अन्यगण में जाना चाहता तो पहले अपने गण के आचार्य की आज्ञा प्राप्त करता और फिर अभिप्रेत गण के आचार्य के पास जाकर अपने को गण में लेने के लिए उनसे प्रार्थना करता.

आगन्तुक साधु की प्रार्थना सुनने के वाद गण-स्थविर इस वात की जांच करते कि आगन्तुक श्रमण वास्तव में अपने गुरु की आज्ञा प्राप्त करके आया है या नहीं और जिस कारण से वह अपना आगमन वताता है वह कारण भी वास्तविक है या नहीं ? यदि इन वातों की परीक्षा से गणस्थविर को संतोप मिल जाता तो वे आगन्तुक साधु को उपसंपदा देकर अपने गण में दाखिल कर लेते थे.

पहले के कुल, गणों का सम्बन्ध विच्छेदकरण पूर्वक आगन्तुक साधु इस प्रकार की प्रतिज्ञा करता—'आज से ये कुल-गण मेरे ही कुल गण हैं और इन कुल गण के आचार्य उपाध्याय ही मेरे आचार्य उपाध्याय हैं.'

उपसंपद्यमान साधु की उक्त प्रतिज्ञा को ही 'उपसंपदा' कहते थे. इस उपसंपदा की काल-मर्यादा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से क्रमश: छह मास वारह वर्ष और जीवन पर्यन्त की होती थी.

जघन्य और मध्यम काल की उपसंपदा वाले साधु मियाद पूरी होने पर अपने पहले गुरु के पास चले जाते थे, पर उत्कृष्ट कालीन उपसंपदा वाले श्रमण जीवन पर्यन्त उसी कुल गण में रहते थे.

गणान्तरोपसंपदा लेने के वाद उस साधु को अपने पहले गुरु और गण की सामाचारी का त्याग और नये गण की सामाचारी का पालन करना पड़ता था.

उपसंपदा के विषय में कई अपवाद भी रहते थे. यदि कोई गण विल्कुल शिथिलाचार में फंस जाता और आचार्य उसका उद्धार नहीं करता अथवा आचार्य स्वयं ही शिथिलविहारी हो जाता तो उस गण के जो संयमार्थी साधु होते, वे उस गण और गुरु का सम्वन्ध छोड़कर दूसरे चारित्रधारी गण में चले जाते थे और इस प्रकार शिथिलमार्ग को छोड़कर आने वाले आत्मार्थी साधुओं को उनके मूल गुरु की आज्ञा के वगैर भी उपसंपदा दे दी जाती थी.

४—साधर्म्य वैधर्म्य निर्वाह का मतलव सांभोगिक और असांभोगिक साधुओं की पारस्परिक रीतियों से हैं.

अपने क्षेत्र में सांभोगिक गण के साधुओं के आने पर उनके प्रति तीन दिन तक आतिथ्य व्यवहार किया जाता था, आगन्तुक साधुओं के लिये तीन दिन तक भिक्षा वगैरह क्षेत्री (स्थानिक) साधु लाते थे. यदि आगन्तुक गण वड़ा होता और स्थानिक समुदाय छोटा होता अथवा ऐसा कोई कारण होता कि जिससे सर्व कार्य करना स्थानिक साधुओं के लिये कठिन हो जाता तो आगन्तुक गण में जो युवा और समर्थ साधु होते उनकी भी थोड़ी मदद ली जाती थी, पर वाल और वृद्ध साधुओं से तो तीन दिन तक कुछ भी मेहनत का काम नहीं लिया जाता था.

इसी प्रकार असांभोगिक गण के अपने क्षेत्र में आने पर भिक्षाचर्या में उनके साथ जाना, उनको स्थापना-कुल वगैरह का परिचय देना, आदि आवश्यक व्यवहार का निर्वाह करना पड़ता था.

सांभोगिक गणों में तो एक सामाचारी होने से सामाचारी-भेद सम्वन्धी प्रश्न उपस्थित ही नहीं होते थे, पर असांभोगिक गणों की सामाचारी के सम्वन्ध में कभी-कभी चर्चा चलती भी थी तो उस पर समभाव से विचार किया जाता था और जिस विषय में जिस गण अथवा कुल का जो मन्तव्य होता उसका उसी रूप में निर्देश करके शिष्यों को समझाया जाता कि 'इस विषय में अमुक कुल अथवा गण वाले ऐसा मानते हैं' अथवा 'इस सम्वन्ध में अमुक 'आचार्य का यह मत है.'

व्यवहारछेदन—'व्यवहार' का अर्थ है 'मुकद्दमा' और 'छेदन' का तात्पर्य है फैसला'.

श्रमणगणों में दो प्रकार के व्यवहार होते थे—'प्रायश्चित्तव्यवहार' और 'आभवद्व्यवहार.'

साधु लोग अपने मानसिक, वाचिक और कायिक अपराधों के वदले जो आचार्य द्वारा सजा (दण्ड) पाते थे उसका नाम 'प्रायश्चित्त-व्यवहार' है. इस व्यवहार के महावीर के समय में—१—आलोचना २—प्रतिक्रमण ३—मिश्र ४—विवेक ५—उत्सर्ग ६—तप ७—छेद ८—मूल ९—अनवस्थाप्य और १०—पाराञ्चित ऐसे दस प्रकार थे, जो आर्य भद्रवाहु पर्यन्त चलते रहे. भद्रवाहु के स्वर्गवास के वाद प्रायश्चित्त का ९ वां और १०वां भेद वन्द कर दिया गया और तब से प्राथमिक ८ प्रायश्चित्तों का ही व्यवहार प्रचलित है.

'आभवद्व्यवहार' का अर्थ है 'हकदारी का झगड़ा'. इस व्यवहार के भी अनेक प्रकार होते थे जैसे सचित्त व्यवहार, अचित्त व्यवहार, मिश्र-व्यवहार, क्षेत्र व्यवहार, इत्यादि.

उपर्युक्त दो प्रकारों में से पहला व्यवहार तो वहुधा अपने-अपने स्थविरों के निकट ही चलता था. कुल के साधु अपने-अपने कुल के स्थविर से प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि कर लिया करते थे, पर छेद अथवा मूल जैसे मामलों का फैसला

बहुधा 'गणस्थविर' देते थे. अथवा 'कुलस्थविरों' के इन विपयों में दिए हुए फैसलों की अपील सुनते थे. यदि गणस्थविर को कुलस्थविर के कार्य में पक्षपात अथवा रागद्वेप नजर आता तो तुरन्त वे उसको रद्द कर देते थे. गणस्थविरों के इस व्यवहारविषयक फैसलों की अपील संघस्थविर नहीं सुनता था, कारण कि प्रायश्चित्त-व्यवहार गणों का भीतरी कार्य माना जाता था. संघस्थविर किसी भी गण के किसी भी प्रकार के भीतरी कार्य में तब तक दखल नहीं देता था, जब तक कि वैसा करने के लिए गण की तरफ से उसे अर्ज नहीं की जाती. 'आभवद्व्यवहार' का कानून इससे कुछ भिन्न था. इस व्यवहार के लिये कुल, गण और संघ नामक क्रमशः पहले, दूसरे और तीसरे दर्जे के न्यायालय थे.

एक ही कुल के दो संघाड़ों के बीच यदि हकदारी सम्बन्धी कुछ व्यवहार उपस्थित होता तो कुल स्थविर की तरफ से उसका निपटारा किया जाता था और एक गण की दो शाखा या दो कुलों के बीच कुछ व्यवहार खड़ा होता तो गणस्थविर उसका फैसला देता था.

इसी प्रकार दो गणों के बीच व्यवहार उपस्थित होने पर किसी तीसरे गणस्थविर के द्वारा उसका निर्णय कराया जाता था, पर मध्यस्थ गणस्थविर यदि मध्यस्थता खोकर किसी एक पक्ष की तरफ झुक जाता तो न्यायार्थी 'संघसमवाय' करने के वास्ते 'संघप्रधान' को अर्ज करता और संघप्रधान संघसमवाय सम्बन्धी उद्घोषणा करता. संघसमवाय होने सम्बन्धी उद्घोषणा सुनकर सब संघप्रतिनिधि नियत स्थान और समय पर जाते और संघस्थविर भी वहां जाता और उपस्थित व्यवहार की सुनवाई में लग जाता. पहले वह सभा में बैठकर मध्यस्थ गणस्थविर की कार्यवाही सुनता. वहाँ मध्यस्थ स्थविर पक्षपात से शास्त्र-विरुद्ध भाषण करता तो वहां उसे अन्योक्ति से टोकता. यदि वह स्थविर अपनी भूल को कबूल कर लेता तब तो उसे माफी दी जाती थी, पर यदि वह अपना आग्रह नहीं छोड़ता अथवा वह ऐसा अपराध करता जो क्षमा योग्य नहीं होता तो उसकी दीक्षा काट दी जाती और उपस्थित व्यवहार का फैसला संघस्थविर देता जो सर्व संघ को मंजूर करना पड़ता था. यदि व्यवहारच्छेदन के लिये एकत्र मिले हुए संघसमवाय में किसी कारणवश प्रतिवादी हाजिर नहीं होता तो उसे संघ की तरफ से बुलावा भेजा जाता, पहले और दूसरे बुलावे पर यदि वह आ जाता तब तो ठीक, नहीं तो तीसरी वार गणावच्छेदक उसे बुलाने के लिये जाता.

प्रतिवादी के पास जाने पर यदि गणावच्छेदक समझता कि प्रतिवादी भय का मारा नहीं आता है तो उसे समझाता— 'आर्य' संघ पारिणामिक बुद्धि का धनी है, उसको न किसी का राग है, न द्वेप. झगड़े की असलियत समझने के बाद विवादापन्न वस्तु पर किस का हक है सो संघ अपने निर्णय में बतायेगा.

यदि प्रतिवादी औद्धत्य अथवा शठता के कारण संघसम्मेलन में आने से इन्कार करता तो वह संघ से वाहर कर दिया जाता था, परन्तु प्रतिवादी अगर अपनी भूल अथवा शठता के बदले में पश्चात्ताप प्रकट करता हुआ संघ से माफी मांगता हुआ आजीजी करता तो फिर भी संघ उसको माफ करके संघ में दाखिल कर लेता और तब वह प्रतिवादी संघ से कहता—'संघ सर्व प्राणियों का विश्वासस्थान है. भय-भीतों के लिये संघ ही आश्वासन देने वाला है. संघ माता-पिता तुल्य होने से किसी पर विपमता नहीं करता. संघ की सब के ऊपर समदृष्टि है. संघ सब के लिये अपना पराया जैसी कोई चीज नहीं है. संघ किसी का पक्षपात नहीं करता.'

इस प्रकार संघ के न्याय और ताटस्थ्य पर प्रतिवादी के श्रद्धा प्रकट करने पर संघ उस झगड़े का फैसला देता था. संघ का फैसला आखिरी होता था. उसकी कहीं भी अपील नहीं हो सकती थी.

**उपसंहार**—श्रमणसंघ की शासन-पद्धति का इतिहास बहुत लम्बा है. इसका सम्पूर्ण निरूपण एक लेख में क्या, एक ग्रन्थ में भी किया जाना अशक्य है. फिर भी इसकी मौलिक बातों का दिग्दर्शन हमने इस लेख में करा दिया है. पाठक गण देखेंगे कि हमारे प्राचीन श्रमणसंघ की शासनव्यवस्था का इतिहास कैसा मनोरंजक और अनुकरणीय है.

आशा है, हमारा आधुनिक 'श्रमणसंघ' अपने पूर्वाचार्यों की इस व्यवस्थित शासन-पद्धति का अनुसरण करके अपनी वर्तमान शासनप्रणाली को व्यवस्थित बनायेगा.

साध्वी श्रीउमरावकुंवरजी

# जैन-संस्कृति में समाजवाद

'संस्कृत' शब्द से व्युत्पन्न, 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से निर्मित शब्द 'संस्कृति' का अर्थ है—'संस्कार-परिष्कार' अतः संस्कारों का समुच्चय ही 'संस्कृति' है. 'संस्कृति' इस छोटे से शब्द के अर्थ-कलेवर में किसी जाति अथवा राष्ट्रविशेष की समस्त आध्यात्मिक—आधिभौतिक सिद्धियां एवं तद्जन्य आस्था—विश्वास, साधना-भावना, आराधना-कामना समाहित हैं. प्रकृतिविजय के निमित्त उठे मानव-जाति के जय-केतु के मध्य में अंकित रहने वाला शब्द 'संस्कृति' ही है, जो किसी राष्ट्र की मूल चेतना, धर्म-दर्शन, तत्त्वचिंतन, एवं लौकिक-पारलौकिक एषणाओं को अपनी निजी विशेषताओं-मान्यताओं के साथ उद्घोषित करता है जिससे उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थिर होती है.

चलते लोग सभ्यता और संस्कृति में विशेष अन्तर नहीं करते किंतु दोनों में बड़ा अन्तर है— ठीक वैसा ही जैसा कि 'इकाई' और 'समग्रता' में. यदि सभ्यता संचित जल-राशि है तो संस्कृति उस पर तरंगायित वीचि-विलास की प्रेरक शक्ति. 'लोचन मग रामहिं उर आनी, दीन्हें पलक कपाट सयानी.' इस सिद्ध कवि तुलसी की इस अमृत-वाणी में माता, है सीता व राम की जिस पुण्य-छवि को मन-मन्दिर में प्रतिष्ठित कर पलक-कपाट मूंद लेती है वह 'संस्कृति' एवं 'सभ्यता' है. राम का वह दैहिक रूप जो उसकी मुंदी पलकों के सम्मुख शेष रह जाता है. वस्तुतः 'सभ्यता' मधु-मक्खी का छता है तो संस्कृति उसमें निहित मधु. सभ्यता वृन्ताधारित कंटकमय सदल पुष्प है तो संस्कृति केवल सौरभ-सुवास. सभ्यता-शरीर है, संस्कृति आत्मा. सभ्यता जीने का तरीका-सलीका, आचार-व्यवहार है तो संस्कृति रुहानियत-जिहानियत—'शाश्वत' चिंतन—सच्चिदानन्द समर्पित श्रद्धांजलि. सुसंस्कृत व्यक्ति निश्चित ही सुसभ्य होगा किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि सभ्य व्यक्ति सुसंस्कृत होगा ही.

'सब प्राणी सुख चाहते हैं, दुख से बचना चाहते हैं, जीने की अभिलाषा रखते हैं, कोई कितना ही दुःखी एवं सन्तप्त क्यों न हो, मरना नहीं चाहता. मृत्यु से हर प्राणी डरता है, दुःखी होता है. अतः किसी भी प्राणी को दुःख नहीं देना चाहिए, कष्ट नहीं देना चाहिए, सन्ताप नहीं देना चाहिए, किसी भी प्राणी को गुलाम नहीं बनाना चाहिए और न किसी प्राणी का वध करना चाहिए. 'जैन-संस्कृति अपने सुख के साथ दूसरे की सुख-शान्ति एवं हित के अधिकार को सुरक्षित रखने की बात कहती है. उस का यह वज्रघोष रहा है : 'सुख से रहो और सुख से रहने दो.' वस्तुतः जैन संस्कृति अपने सुख को, अपने हित को, अपने स्वार्थ को और अपनी आकांक्षाओं को विस्तृत बनाने की, उन्हें विश्व-सुख, विश्व-शान्ति एवं विश्व-हित में परिणत करने की संस्कृति है. यदि सही अर्थ में देखा जाए तो जैन-संस्कृति, विश्व संस्कृति या मानव-संस्कृति का ही दूसरा नाम है. क्योंकि, इसमें प्रत्येक मानव का हित एवं विकास निहित है.

विश्व में आज समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदयवाद की विशेष चर्चा है. क्योंकि सामन्तशाही एवं पूंजीवादी उत्पीड़न

एवं शोपण को समाप्त करने के लिये इन का उदय हुआ है. ये सब वाद व्यक्ति के हित की अपेक्षा समाज एवं राष्ट्र के हित को प्रमुखता देते हैं. अमीर-गरीब, छोटे-बड़े, ऊंच-नीच, स्वामी-सेवक आदि के भेदों को तथा देश में चलने वाले शोपण को समूलतः नष्ट करना चाहते हैं. इन का मूल दृष्टिकोण यही है कि देश के सब व्यक्तियों को जीवन-विकास के लिये समान साधन मिलें, सब को सुख-शान्ति से रहने का अवसर मिले, खाने के लिये पर्याप्त भोजन और पहनने के लिये वस्त्र मिलें. देश में न कोई भूखा-नंगा रहे, न कोई अभावग्रस्त हो. किसी प्रकार की उत्पीड़ा न हो, पीड़ाकारी न हो. कोइ पीड़ित न हो. देश में ऐसी स्थिति न रहे कि एक ओर धन के अम्बार लगे हों, सम्पत्ति के पहाड़ खड़े हों और दूसरी ओर अभावों का नंगा नाच हो. एक वर्ग का हित और सुख दूसरे वर्ग का विरोधी न हो. वर्गसंघर्ष का आधार ध्वस्त हो जाय और मानवजाति पारस्परिक सहयोग से प्रगति की ओर प्रयाण करे.

जैन-संस्कृति के लिये यह स्वर नया नहीं है. यदि हम सुदूर इतिहास की सरणियां न भी दोहरायें तो भी जैन-संस्कृति का पच्चीस सौ वर्ष का इतिहास हमारे सामने है. उस का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन-संस्कृति मानव-मानव के बीच भेद की दीवार को कतई नहीं मानती. वह प्रत्येक मानव को, भले ही वह किसी देश, रंग, लिंग, प्रान्त, वर्ग, व जाति का क्यों न हो, मानवता के नाते, समान मानती है.[1] वह जातिपूजा में नहीं, गुणपूजा में विश्वास करती है और गुणों के आधार पर ही उच्चत्व-नीचत्व को स्वीकार करती है ![2]

उसके अनुसार सब को समान आत्म-विकास करने का अधिकार है अतः किसी व्यक्ति का अपमान—तिरस्कार करना, उसे विकास करने का अवसर नहीं देना, उसका ही नहीं, बल्कि अपना एवं समस्त मानव-जाति का तथा परमात्मा का अपमान करना है.

जैन-संस्कृति निःश्रेयस् की प्रेरक है. उसकी परिधि मानव तक ही नहीं, प्राणी मात्र तक विस्तृत है. वह प्राणी-मात्र का उदय-हित और कल्याण चाहती है. उसकी दृष्टि में विश्व के, सभी प्राणी समान हैं. अतः प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि उन्हें स्वतंत्रता-पूर्वक जीने दे, स्वतन्त्रता से अपना विकास करने दे.

**जैन-संस्कृति और साम्यवाद** :—साम्यवाद के सिद्धांत जैन-संस्कृति से बहुत कुछ मिलते हुए हैं. साम्यवाद समाज में चल रहे शोपण, उत्पीड़न एवं वर्ग भेद को समाप्त करके राष्ट्र के सब व्यक्तियों का विकास करना चाहता है. वह मनुष्य-मनुष्य के बीच जातीय भेद की दीवार स्वीकार नहीं करता. आर्थिक वैपम्य को सहन नहीं करता. जैन-संस्कृति भी इस मन्तव्य को स्वीकार करती है. फिर भी जैन-संस्कृति और साम्यवाद में मौलिक सैद्धान्तिक एवं कार्य पद्धति संबन्धी अन्तर है. साम्यवाद भौतिकवाद पर आधारित है. वह आत्मा अर्थात् व्यक्ति की सर्वथा उपेक्षा करता है, एकान्ततः समाज की सत्ता स्वीकार करता है. वह शस्त्र की ताकत को ही सर्वोपरि मानता है अतः तलवार की धार से या बम की विषाक्त मार से समानता लाना चाहता है. वह वर्गभेद को समाप्त करने के लिये पाशविक बल का प्रयोग करने के पक्ष में है. परन्तु जैन-संस्कृति इस का समर्थन नहीं करती. उसका मूल आधार भौतिकवाद नहीं, अध्यात्मवाद है. वह व्यक्ति और समाज के अधिकारों में सामंजस्य स्थापित करती है, आत्मिक शक्ति को सर्वोपरि मानती है. अतः वह स्वेच्छात्याग की उदात्त भावना के द्वारा विभेद की दीवारों को गिराना चाहती है, वह अहिंसा, प्रेम, स्नेह, क्षमा, सहिष्णुता, तप और त्याग द्वारा मानव जीवन में साम्य की सरस, शीतल एवं मधुर सरिता बहाना चाहती है. इस प्रकार जैन-संस्कृति हिंसा में नहीं, प्रेम में विश्वास रखती है. पशुबल में नहीं, आत्मबल में विश्वास रखती है. और प्रेम-स्नेह एवं त्याग के द्वारा स्थापित की गई समानता को स्थायी मानती है.

**जैन-संस्कृति और सर्वोदय** :—आधुनिक युग में सर्वप्रथम गांधीजी द्वारा प्रयुक्त सर्वोदय शब्द भारतवर्ष के लिये नूतन नहीं,

---

१. मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा—आचार्य जिनसेन.

२. सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसइ जाइविसेस कोइ.—उत्तराध्ययन.

चिरपुरातन है. जैन परम्परा के युगप्रवर्तक प्रतिभाशाली आचार्य समन्तभद्र ने अब से लगभग पन्द्रह सौ शताब्दी पूर्व इस शब्द का प्रयोग किया था :

'सर्वोपदामन्तकरं दुरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं त्वदीयम्'. यहां आचार्य ने जिन-तीर्थ को 'सर्वोदयतीर्थ' कह कर उसे ही समस्त विपत्तियों का अन्त करने वाला बतलाया है. किन्तु आधुनिक युग में सर्वप्रथम गांधीजी ने इस शब्द का प्रयोग किया. उन्होंने पाश्चात्य विचारक रस्किन की 'एन टू दिस लास्ट' पुस्तक का 'सर्वोदय' नाम से अनुवाद किया.

सर्वोदय शब्द 'सर्व' और 'उदय' दो शब्दों के संयोग से बना है. इसका अर्थ होता है—सब का उदय. आचार्य समन्तभद्र नें और गांधीजी ने भी इसी अर्थ में इस का प्रयोग किया था और इसका आधार अहिंसा, प्रेम, त्याग एवं सहिष्णुता को माना था.

आज तो सर्वोदयसमाज का भी निर्माण हो गया है. उसका कहना है कि विश्व दो वर्गों में विभक्त है—उच्च वर्ग और निम्न वर्ग, या अमीर और गरीब. आज सुख-साधनों एवं सम्पत्ति के सभी स्रोतों पर प्रथम वर्ग का अधिकार है. इस से उस के जीवन में अहंकार, निर्दयता, शोषण एवं विलासिता आदि मनोविकारों की बाढ़-सी आ गई है. विकारों के ढेर के नीचे उस की आत्मा दब गई है और उस की मानवता को अमानवीय एवं राक्षसी मनोवृत्तियों ने आवृत कर दिया है. अतः वह पतन की ओर फिसलता जा रहा है और द्वितीय वर्ग की दयनीय दशा तो सब के सामने स्पष्ट ही है. इस वैषम्य की स्थिति में सच्ची शान्ति की संस्थापना संभव नहीं है. इसलिए सर्वोदय समाज चाहता है कि धनिक वर्ग का भी उदय हो और निर्धन वर्ग का भी. धन-वैभव के गुरुतर बोझ के नीचे दबी हुई पूंजीपति की अन्तरात्मा में मानवीय भावना का उदय हो, वह विकारों से ऊपर उठ कर दूसरे वर्ग के हित को भी सोचे-समझे और मानवजाति के हित को अखंड मानकर उस के लिये कार्य करे. प्रत्येक मानव विवेक पूर्वक कार्य करे, जिस से सब का हित हो, किसी के स्वार्थ को आघात न लगे. कोई किसी का अनिष्ट करने की भावना न रखे और न ऐसा कदम उठाए जिससे दूसरे व्यक्ति के सुख में बाधा उत्पन्न हो. कदाचित् संघर्ष की स्थिति आजाय तो उसे हिंसात्मक रूप न देकर प्रेम-स्नेह एवं मैत्री भावना को कायम रखते हुए दूर किया जाए.

जैन-संस्कृति भी इस विचार को स्वीकार करती है. दोनों की विचारधारा में बहुत-कुछ समानता होने पर भी कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर है. पाश्चात्य विचारक मानते हैं : The greatest good for greatest number.

इसके अनुसार अधिक लोगों का अधिकतम लाभ ही उनका आदर्श है. सर्वोदय विचारधारा इससे एक डग आगे बढ़ती है और मानती है कि मानव मात्र का उदय हो, मानव मात्र का हित हो, मानव मात्र का उन्नयन हो, मानव मात्र को समान सुख-साधन उपलब्ध हों और सब को समान रूप से विकसित होने का अवसर मिले.

परन्तु जैन-संस्कृति का सिद्धान्त इससे भी अनेक कदम आगे है. जैन विचारक केवल मानव का ही नहीं, प्रत्युत प्राणीमात्र का उदय चाहते हैं. जैन-संस्कृति की यह मान्यता है कि विश्व का प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्र है और सुख की अभिलाषा रखता है. अत: किसी भी प्राणी के सुख में, विकास में बाधा उपस्थित न की जाए.

जैन-संस्कृति की दृष्टि में मनुष्य ही सब कुछ नहीं है. उसके अतिरिक्त अन्य असंख्य प्रकार के जो प्राणी विश्व में हैं, वे भी हमारे ही बृहत् परिवार के सदस्य हैं. उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती. उनके अधिकारों को भी स्वीकार किया जाना चाहिए. इसके बिना सम्पूर्ण न्याय एवं बन्धुता की प्रतिष्ठा संभव नहीं है. जब तक मनुष्य, मनुष्येतर प्राणियों के प्रति बन्धुभाव स्थापित नहीं करेगा और उनका उत्पीड़न करता रहेगा तब तक मनुष्य-मनुष्य के बीच भी उत्पीड़न चालू रहेगा. वस्तुतः भगवान् महावीर का शासन 'सर्वोदय-शासन' है. उन के शासन में किसी एक के उदय का नहीं, प्रत्युत सब के अभ्युदय का, सब के निःश्रेयस् का पूरा खयाल रखा गया है. उसमें नारी-पुरुष, अमीर-गरीब, बालक-वृद्ध, कीड़ी-कुंजर आदि किसी के भी प्रति पक्षपात नहीं है. आत्मविकास की दृष्टि से दुनिया की समस्त आत्माएँ एक समान

हैं और सब अपने आप में स्वतन्त्र एवं अनन्त शक्ति से सम्पन्न हैं. अत: सब के समान अधिकार हैं और सब को प्रगति करने का अवसर मिलना चाहिए.

जैन-संस्कृति में युग-युगान्तर से सर्वोदय का महत्त्व रहा है. सम्पत्ति एवं सुखसाधनों के वितरण के लिये भी जैन विचारकों ने संग्रह बुद्धि की भावना को पाप कहा है.

भगवान् महावीर का यह वज्रघोष रहा है—'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो' जो व्यक्ति अपने साधनों का संविभाग नहीं करता, वह मुक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता. इस का स्पष्ट अर्थ यह है कि जो अपने सुख एवं हित के साथ प्राणी-मात्र के हित और सुख का खयाल रखता है और उन्हें आगे बढ़ने में सहयोग देता है, वही मुक्ति पा सकता है. यत्र-तत्र-सर्वत्र से समेट-समेट कर अपने भंडार भरने वाला तथा समस्त सुख-साधनों पर अपना एकाधिपत्य रखने का इच्छुक मुक्ति नहीं पा सकता. मुक्ति लेने में नहीं, देने में है. जो अपने सुख को प्राणी-मात्र के सुख में परिणत कर देता है और अपने 'अहम्' को सारे विश्व में फैला देता है, वही पूर्ण सुख पा सकता है और उसी को शाश्वत एवं अखण्ड शान्ति का लाभ होता है.

डा० हरीन्द्रभूषण जैन
एम० ए०, पी-एच० डी, साहित्याचार्य

# प्राचीन भारत की जैन शिक्षण-पद्धति

भारत में प्राचीन काल से ही ज्ञान की अतिशय प्रतिष्ठा रही है. व्यक्तित्व के विकास की दिशा में ज्ञान को सदैव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है. मानव-जीवन की सफलता, मनुष्य के ज्ञान की मात्रा पर ही अवलम्बित होती है. शतपथ ब्राह्मण में ज्ञान की प्रतिष्ठा को प्रमाणित करते हुए कहा गया है कि 'स्वाध्याय और प्रवचन से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है, वह स्वतन्त्र वन जाता है, उसे नित्य धन प्राप्त होता है, वह सुख से सोता है, उसका इन्द्रियों पर संयम होता है. उसकी प्रज्ञा वढ़ जाती है और उसे यश मिलता है.'

जैनागमों में भी ज्ञान की महिमा स्वीकार की गई है. उत्तराध्ययन में निम्नलिखित संवाद से ज्ञान के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है. शिष्य ने पूछा : 'हे पूज्य ! ज्ञानसंपन्नता से जीव को क्या लाभ होता है ?' गुरु ने उत्तर दिया : 'हे भद्र ! ज्ञानसम्पन्न जीव समस्त पदार्थों का यथार्थभाव जान सकता है. यथार्थभाव जानने वाले जीव को चतुर्गतिमय इस संसार रूपी अटवी में कभी दुःखी नहीं होना पड़ता. जैसे धागेवाली सूई खोती नहीं है. उसी प्रकार ज्ञानी जीव संसार में पथभ्रष्ट नहीं होता और ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा विनय के योग को प्राप्त होता है तथा स्वपरदर्शन को वरावर जानकर असत्यमार्ग में नहीं फँसता'.

ज्ञान की इस महत्त्वपूर्ण स्थिति के वाद यह आवश्यक था कि ज्ञान सर्वसाधारण को सुलभ हो. इसके लिये भारत में प्राचीन काल से ही शिक्षण-पद्धति पर विशेष ध्यान दिया गया है. वैदिक, वौद्ध और जैन-तीनों संस्कृतियों में शिक्षण की अपनी विशेष परम्पराएँ रही हैं. आजकल के विद्वानों ने भी वैदिक और वौद्ध शिक्षण-पद्धतियों के विषय में पर्याप्त लिखा है.

जैन शिक्षण-पद्धति के विषय में हमें जैन-आगमों में यत्र-तत्र अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं. जैन-शिक्षण-पद्धति से संवंधित इन उल्लेखों को एकत्रित करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि निःसंदेह भारतवर्ष में प्राचीनकाल में एक अत्यन्त सुव्यवस्थित जैन शिक्षण-पद्धति थी.

जैन तथा वौद्ध शिक्षण-पद्धतियों में प्रायः साम्य है. इसका प्रधान कारण यह है कि दोनों धर्मों में ज्ञान का प्रसार करने का श्रेय उन मुनियों अथवा भिक्षुओं को है जो कि गृहस्थ-आश्रम से दूर रहकर अपना समस्त जीवन ज्ञान के दान और आदान में ही व्यतीत किया करते थे, वौद्ध तथा जैनधर्म इन दोनों धर्मों के धार्मिक विचारों की निकटता भी दोनों शिक्षण-पद्धतियों की समानता का एक अन्य कारण हो सकती है.

अव हम तुलनात्मक रीति से प्राचीन भारत की जैनशिक्षण-पद्धति पर विचार करते हैं.

शिक्षा का उद्देश्य—प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य सदाचार की वृद्धि, व्यक्तित्व का विकास, प्राचीन संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक एवं धार्मिक कर्त्तव्यों की शिक्षा देना था.[1]

छात्र जीवन—ब्राह्मण संस्कृति के अनुसार वालक का विद्यार्थी-जीवन, उपनयन-संस्कार से प्रारम्भ होता था. अंगशास्त्र में भी उपनयन (उवणयण) संस्कार का वर्णन है. टीकाकार अभयदेव ने उपनयन का अर्थ 'कलाग्रहण' किया

१. Education in Ancient India, by Altekar पृ० ३२६.

है. 'कला' का अर्थ विद्या है. विद्या ग्रहण के पूर्व जो उत्सव मनाया जाता था उसे 'उपनयन' कहा गया है.[१] उपनयन के बाद माता-पिता अपने पुत्र को कलाचार्य (विद्यागुरु) के साथ भेज देते थे.

प्रायः छात्र अपने आचार्यों के घर पर रहकर विद्याध्ययन किया करते थे. कुछ धनी लोग नगर में भी छात्रों को भोजन तथा निवास देकर उनके अध्ययन में सहायक होते थे.[२] छात्र तथा आचार्यों के सम्बन्ध कभी-कभी वैवाहिक संबंधों के सुन्दर रूप में भी परिणत हो जाते थे.[३]

अवकाश के समय आश्रम बन्द हो जाते थे. अकाल-मेघों के आ जाने पर, गर्जन, बिजली का चमकना, अत्यधिक वर्षा, कोहरा, धूल के तूफान, चन्द्र-सूर्य-ग्रहण आदि के समय प्रायः अवकाश हो जाया करता था. दो सेनाओं अथवा दो नगरों में आपस में युद्ध द्वारा नगर की शान्ति भंग हो जाने पर, मल्लयुद्ध के समय तथा सम्मान्य नेता की मृत्यु हो जाने पर भी अध्ययन बन्द कर दिया जाता था. कभी-कभी बिल्ली द्वारा चूहे का मारा जाना, रास्ते में अण्डे का मिल जाना, जिस जगह आश्रम है उस मुहल्ले में बच्चे का जन्म होना आदि कारणों से भी विद्याध्ययन का कार्य बन्द कर दिया जाता था.[४]

**अध्ययन-काल**—वैदिक युग में ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ १२ वर्ष की अवस्था में होता था. १२ वर्ष की अवस्था से लेकर जब तक वेदों का अध्ययन चलता रहता था तब तक विद्यार्थी पढ़ते रहते थे. बौद्ध संस्कृति में भी कोई गृहस्थ अपने कुटुम्ब का परित्याग करके (किसी भी अवस्था का होने पर भी) बुद्धसंघ और बुद्ध की शरण में जाकर विद्याध्ययन में लग सकता था.

शास्त्र के अनुसार बालक का अध्ययन कुछ अधिक आठ वर्ष से प्रारम्भ होता था और जब तक वह कलाचार्य के निकट सम्पूर्ण ७२ कलाओं का अथवा कुछ कलाओं का अध्ययन नहीं कर लेता था तब तक अध्ययन करता रहता था.[५]

**विद्या के अधिकारी**—वैदिक काल में जिन विद्यार्थियों की अभिरुचि अध्ययन के प्रति होती थी, आचार्य प्रायः उन्हीं को अपनाते थे. जिन विद्यार्थियों की प्रतिभा, ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होती थी उन्हें फाल और हल या ताने-बाने के काम में लगना पड़ता था.[६]

जैनाचार्यों ने विद्यार्थी की योग्यता के लिये उसका आचार्य-कुल में रहना, उत्साही, विद्याप्रेमी, मधुरभाषी तथा शुभकर्मा होना आवश्यक बतलाया है.[७] आज्ञा उल्लंघन करने वाले, गुरुजनों के हृदय से दूर रहने वाले, शत्रु की तरह विरोधी तथा विवेकहीन शिष्य को 'अविनीत' कहा गया है.[८] इसके विपरीत जो शिष्य गुरु की आज्ञा पालन करने वाला है, गुरु के निकट रहता (अन्तेवासी) है, तथा अपने गुरु के इंगित-मनोभाव तथा आकार का जानकार है उसे 'विनीत' कहा गया है.[९]

शिष्य के लिये वाचाल, दुराचारी, क्रोधी, हंसी-मजाक करने वाला, कठोर वचन बोलने वाला, बिना सोचे उत्तर देने वाला, पूछने पर असत्य उत्तर देने वाला, गुरुजनों से वैर करने वाला नहीं होना चाहिए.[१०] उत्तराध्ययन में शिष्य के

---

१. भगवती सूत्र, ११, ११, ४२९ पृ० ९९९—अभयदेव वृत्ति.
२. उत्तराध्ययन टीका, ८, पृ० १२४.
३. वही, १८; पृ० २४३.
४. व्यवहारभाष्य, ७. २८१-३१९.
५. नायाधम्मकहाओ, १, २०. पृ० २१.
६. छान्दोग्य उपनिषद्, ६. १. २.
७. उत्तराध्ययन, ११. १४.
८. वही,
९. वही, १. २.
१०. वही, १. ४, ९, १३, १४, १७.

लिये निम्नप्रकार विधान बताया गया है—"शिष्य को गुरुजनों की पीठ के पास अथवा आगे पीछे नहीं बैठना चाहिए. उसे गुरु के इतने पास भी नहीं बैठना चाहिए कि जिससे अपने पैरों का उनके पैरों से स्पर्श हो. शय्या पर लेटे-लेटे अथवा अपनी जगह पर बैठे-बैठे गुरु को कभी प्रत्युत्तर नहीं देना चाहिए. गुरुजनों के समक्ष पैर पर पैर चढ़ा कर, अथवा घुटने छाती से लगाकर तथा पैर फैलाकर कभी नहीं बैठना चाहिए. यदि आचार्य बुलावे तो शिष्य को कभी भी मौन नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत मुमुक्षु एवं गुरु-कृपेच्छु शिष्य को तत्काल ही उनके पास जाकर उपस्थित होना चाहिए. गुरु के आसन से जो आसन ऊंचा न हो तथा जो शब्द न करता हो, ऐसे स्थिर आसन पर शिष्य को बैठना चाहिए. आचार्य का कर्तव्य है कि ऐसे विनयी शिष्य को सूत्र और उनका भावार्थ उसकी योग्यता के अनुसार समझावे.[1]

उत्तराध्ययन में गुरु तथा शिष्य के परस्पर संबंध पर भी प्रकाश डाला गया है : 'जैसे अच्छा घोड़ा चलाने में सारथि को आनन्द आता है वैसे चतुर साधक के लिये विद्यादान करने में गुरु को आनन्द आता है. और जिस तरह अड़ि-यल टट्टू को चलाते-चलाते सारथि थक जाता है वैसे ही मूर्ख शिष्य को शिक्षण देते-देते गुरु भी हतोत्साहित हो जाता है. पापदृष्टि वाला शिष्य, कल्याणकारी विद्या प्राप्त करते हुए भी गुरु की चपतों तथा भर्त्सनाओं को वध तथा आक्रोश (गाली) मानता है. सुशील शिष्य तो यह समझकर कि गुरु मुझको अपना पुत्र, लघुभ्राता अथवा स्वजन के समान मानकर ऐसा कर रहे हैं. यह गुरु की शिक्षा (दण्ड) को अपने लिये कल्याणकारी मानता है. पापदृष्टि रखने वाला शिष्य उस दशा में अपने को दास मानकर दुःखी होता है. कदाचित् आचार्य क्रुद्ध हो जाएँ तो शिष्य अपने प्रेम से उन्हें प्रसन्न करे, हाथ जोड़कर उनकी विनय करे तथा उनको विश्वास दिलावे कि वह भविष्य में वैसा अपराध कभी नहीं करेगा.[2]

योग्य छात्र वही था जो अपने आचार्य के उपदेशों पर पूर्ण ध्यान दे, प्रश्न करे, अर्थ समझे तथा तदनुसार आचरण करने का भी प्रयत्न करे.[3] योग्य छात्र कभी भी गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते थे, गुरु से असद्व्यवहार नहीं करते थे और झूठ नहीं बोलते थे.

अयोग्य विद्यार्थी भी हुआ करते थे. वे सदैव गुरु से हस्तताड़न अथवा पाद-ताड़न (खंडुया, चपेड़ा) प्राप्त किया करते थे. कभी वेत्रताड़न भी प्राप्त किया करते थे तथा बड़े कठोर शब्दों से संबोधित किए जाते थे. अयोग्य विद्यार्थियों की तुलना दुष्ट बैलों से की गई है. वे गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करते थे. कभी-कभी गुरु ऐसे छात्रों से थक कर उन्हें छोड़ भी देते थे.[4]

छात्रों की तुलना पर्वत, घड़ा, चालनी, छन्ना, राजहंस, भैंस, मेंढा, मच्छर, जोंक, बिल्ली, गाय, ढोल आदि पदार्थों से की गई है जो उनकी योग्यता और अयोग्यता की ओर संकेत करते हैं.[5]

**शूद्रों का विद्याधिकार**—वैदिक काल में आर्येतर जातियों द्वारा, आर्यभाषा और आर्य-संस्कृति में निष्णात होकर वैदिक शिक्षा पर रोक प्रधानतः स्मृतिकाल में लगी. उनके लिए सदा से ही पुराणों के अध्ययन की सुविधा थी. जातक-काल में ऐसे अनेक शूद्र और चाण्डाल हो चुके हैं जो उच्चकोटि के दार्शनिक और विचारक थे.[6] सुत्तनिपात के अनुसार मातंगनामक चाण्डाल तो इतना बड़ा आचार्य हो गया कि उसके यहां अध्ययन करने के लिए अनेक उच्चवर्ण के लोग आया करते थे.

जैन-संस्कृति में, चाण्डालों तक का दार्शनिक शिक्षा पाकर महर्षि बनना सम्भव था. उत्तराध्ययन में हरिकेशबल नामक

---

१. उत्तराध्ययन, १. १८-२३.
२. वही, १. ३७-४१.
३. आवश्यक निर्युक्ति (२२)
४. उत्तराध्ययन. २७, ८, १३, १६.
५. आवश्यक निर्युक्ति, १३६, आवश्यक चूर्णि पृ०१२१-१२५. बृहत्कल्पभाष्य, पृ० ३३४.
६. सतुजातक, ३७७.

चाण्डाल की चर्चा आती है जो स्वयं ऋषि बन गया था और सभी गुणों से अलंकृत हुआ.[1] जैनशास्त्रों में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि वर्ण-व्यवस्था जन्मगत नहीं, कर्मगत है. 'कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है.'[2]

**आचार्य और उनका व्यक्तित्व**—ऋग्वैदिक आचार्य, जिसके दिव्य प्रतीक अग्नि और इन्द्र हैं, तत्कालीन ज्ञान और आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से समाज में सर्वोच्च व्यक्ति थे. आचार्य विद्यार्थी को ज्ञानमय शरीर देता था. वह स्वयं ब्रह्मचारी होता था और अपने ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता के बल पर असंख्य विद्यार्थियों को आकर्षित कर लेता था.[3]

जैन आचार्यों पर महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की छाप रही है. वे अपना जीवन और शक्ति, मानवता को सत्पथ दिखाने के प्रयत्न में ही लगा देते थे.[4] आचार्य के आदर्श व्यक्तित्व की, जैन-संस्कृति में, जो रूपरेखा बनी वह इस प्रकार थी : 'वह सत्य को नहीं छिपाता था और न उसका प्रतिवाद करता था. वह अभिमान नहीं करता था और न वह यश की कामना करता था. वह कभी भी अन्यधर्मों के आचार्यों की निन्दा नहीं करता था. सत्य भी, कठोर होने पर उसके लिये त्याज्य था. वह सदैव सद्विचारों का प्रतिपादन करता था. शिष्य को डांट-डपट कर या अपशब्द कहकर वह काम नहीं लेता था. वह धर्म के रहस्य को पूर्णरूप से जानता था. उसका जीवन तपोमय था. उसकी व्याख्यानशैली शुद्ध थी. वह कुशल विद्वान् और सभी धर्मों का पण्डित होता था.[5]

'रायपसेणिय सूत्र' में तीन प्रकार के आचार्यों का वर्णन है :

१—कलायरिय—कला के अध्यापक.

२—सिप्पायरिय—शिल्प के अध्यापक.

३—धम्मायरिय—धर्म के अध्यापक.

यह विधान था कि प्रथम तो आचार्यों के शरीर पर तेल का मर्दन किया जाय, उन्हें पुष्प भेंट किये जाएं, उन्हें स्नान कराया जाय, उन्हें सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित किया जाय, उन्हें सुस्वादु भोजन कराया तथा उन्हें योग्य पारिश्रमिक और पारितोषिक दिया जाय. मगर धर्माचार्य की बात कुछ और तरह की है. भोजन, पान आदि के द्वारा योग्य सम्मान करके उन्हें विविध प्रकार के उपकरणों से संतुष्ट किया जाता था.[6] वह भी बदला चुकाने के लिये नहीं, केवल भक्तिवश ही.

**अध्ययन और उसके विषय**—वैदिक शिक्षण के आदिकाल से ऋग्वेद का अध्ययन और अध्यापन सर्वप्रथम रहा है. वेद के अतिरिक्त वेदांग, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण तथा ज्योतिष का महत्त्व भारतीय विद्यालयों में सदैव रहा है. 'भगवती सूत्र' में अध्ययन के विषय निम्न प्रकार बतलाए गए हैं :

६ वेद. ६ वेदांग तथा ६ उपांग.

६ वेद इस प्रकार हैं—१ ऋग्वेद, २ यजुर्वेद, ३ सामवेद, ४ अथर्ववेद, ५ इतिहास (पुराण) तथा ६ निघण्टु.

६ वेदांग इस प्रकार हैं—१ संखाण (गणित), २ सिक्खाकप्प (स्वर-शास्त्र), ३ वागरण (व्याकरण), ४ छंद, ५ ५ निरुक्त (शब्दशास्त्र) तथा ६ जोइस (ज्योतिष). ६ उपांगों में प्राय: वेदांगों में वर्णित विषयों का और अधिक विस्तार पूर्वक वर्णन था.[7]

---

१. उत्तराध्ययन १२ १.

२. वही, २५. ३३.

३. अथर्ववेद, ११. ५, १३.

४. आरा १, ६, ५. २-४.

५. सूत्रकृतांग १.१४, १६-२७.

६. स्थानांग ,३. १३५.

७. स्थानांग , ३. ३. १८५. 'जैन परम्परा के अनुसार वेद दो प्रकार के हैं—१ आर्यवेद और २ अनार्यवेद. आर्यवेदों की रचना भरत तथा

उत्तराध्ययन-टीका में निम्न प्रकार १४ विद्यास्थान (अध्ययन के विषय) वताए गए हैं[1]–४ वेद, ६ वेदांग, मीमांसा, नाय (न्याय), पुराण तथा धम्मसत्थ (धर्मशास्त्र).

कुछ ऐसे भी विषय थे जिनका पठन-पाठन की दृष्टि से निम्न स्थान था ऐसे विषय संसारत्यागी साधुजनों के लिये पाप-श्रुत कहे जाते थे. स्थानाङ्ग सूत्र में ऐसे पापश्रुतों का वर्णन है ! उनकी संख्या नौ है[2].

१. उप्पाय (अपशकुन-विज्ञान) २. निमित्त (शकुन-विज्ञान) ३. मन्त (मन्त्र विद्या) ४. आइक्खिय (नीच-इन्द्रजालविद्या) ५. तेगिच्छिय (चिकित्सा-विज्ञान) ६. कला (कला-विज्ञान) ७. आवरण (गृह-निर्माण-विज्ञान) ८. अण्णाण (साहित्य-विज्ञान-काव्य-नाटकादि) ६. मिच्छापवयण (असत्य शास्त्र).

अंग शास्त्र में ७२ कलाओं का वर्णन मिलता है.[3] यद्यपि सभी छात्र इन समस्त कलाओं में निपुणता प्राप्त नहीं करते थे फिर भी अपनी शक्ति के अनुसार इन कलाओं में दक्षता प्राप्त करना प्रत्येक छात्र का उद्देश्य होता था.

ये कलायें १३ भागों में विभक्त हैं :

१. पठनकला—लेह (लेख) और गणित.

२. काव्यकला—पोरेकव्व (कविता निर्माण) अज्जा (आर्या छन्द में कविता या निर्माण), पहेलियां (प्रहेलिका का निर्माण), मागधिया (मागधी भाषा में काव्यनिर्माण), गाथा (गाथाछन्द में काव्य निर्माण) गीइय (गीतों का नर्माण) तथा सिलोय (श्लोकों का निर्माण)

३. मूर्तिनिर्माण काल—रूव (रूप)

४. संगीतविज्ञान—नट्ट (नृत्य), गीय (संगीत), वाइय (वाद्य), सरगम, पुक्खरगय (ढोल वादन) तथा ताल.

५. मृत्तिकाविज्ञान—दगमट्टिय.

६. द्यूतक्रीडा तथा गृह क्रीडा—जुआ (द्यूत) जणवाय (अन्य प्रकारका जुआ).
पासय (पांसों का खेल), अट्ठावय (शतरंज) सुत्तखेड कठपुतली का नाच वत्थ (भोंरे का खेल) तथा नालिकाखेड (अन्य प्रकार के पासों का खेल).

७. स्वास्थ्य, शृङ्गार तथा भोजनविज्ञान—अन्नविहि (भोजन विज्ञान), पाणविहि (पान), वत्थविहि (वस्त्र)' विलेवन (श्रृंगार) सयण (शय्या विज्ञान), हिरण्ण जुति (चांदी के आभूषणों का विज्ञान) सुवण्ण (सोने के आभूषणों का विज्ञान), आभरणविहि (आभूषणों का विज्ञान), चुण्णजुति (श्रृंगारचूर्ण विद्या), तरूणी-पडिकम्म (तरुणियों के शरीर को सुन्दर बनाने की विधि), पत्तच्छेज्ज (पत्रों से सुन्दर आभूषण वनाना) तथा कडच्छेत्ता (भाल का सजाना)

८. चिह्नविज्ञान-लक्षण—इसमें चिह्नों के द्वारा स्त्री, पुरुष, घोड़ा, हाथी, गाय, मुर्गा, दासी, तलवार, रत्न तथा छत्र के भेद को जानना सम्मिलित था.

शकुनि-विज्ञान—इसमें पक्षियों की वोलियों का ज्ञान आवश्यक था.

१०. खगोलविद्या—चार (ग्रहों के चलन) तथा पडिचार (प्रतिचलन) की विद्या.

---

अन्य आचार्यो ने की. इनमें तीर्थंकरों के यशोगान तथा श्रमण एवं उपासकों के कर्त्तव्यों का वर्णन था. बाद में सुलसा, याज्ञवल्क्य आदि ने अनार्यवेदों की रचना की.' आवश्यक चूर्णि, २१५.

१. उत्तराध्ययन टीका, ३ पृ० ५६ अ०

२. स्थाना सूत्र, ६, ६७८.

३. नायान्धमकहाओ, १, २०, पृ० २१,

११. रसायनशास्त्र—इसमें सोना (सुवण्णपाग) चांदी (हिरण्ण) को बनाना तथा नकली धातुओं को असली हालत में परिवर्तित करना (सजीव) तथा असली धातु को नकली धातु बनाना (निज्जीव) सम्मिलित था.

१२. गृह-विज्ञान—इसमें मकान बनाना (वत्थुविज्जा), नगरों तथा जमीन को नापना (नगरारमण खन्धारणम) सम्मिलित थे.

१३. युद्धविज्ञान—इसमें जुद्ध (युद्ध), निजुद्ध (कुश्ती) जुद्धातिजुद्ध (घोरयुद्ध) दिट्ठिजुद्ध (दृष्टि युद्ध), मुट्ठिजुद्ध (मुष्टि युद्ध), बाहुयुद्ध, लयाजुद्ध, मल्ल युद्ध इसत्थ (तीर विज्ञान), चरूप्पवाय (असिविज्ञान), धनुव्वेय (धनुर्विज्ञान), वूह (व्यूहविज्ञान), पडिवूह (प्रतिव्यूह विज्ञान), चक्कवूह (चक्रव्यूह विज्ञान), गरुडवूह (गरुडव्यूह विज्ञान), तथा सगड-वूह (शकटव्यूह विज्ञान) सम्मिलित थे.

**शिक्षण विधि**—वैदिक काल में प्रारम्भ से ही सूत्रों को कण्ठाग्र करने की रीति थी. उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित की अभिव्यक्ति वाणी के साथ ही साथ हाथ की गति से भी की जाती थी. वैदिक मन्त्रों को कंठस्थ करने के लिये तथा उनके पाठ में किसी प्रकार की त्रुटि न होने देने के लिये विविध प्रकार के पाठ होते थे. जैसे-संहिता-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ, घन-पाठ, जटा-पाठ आदि.

जैन-शिक्षण-पद्धति का श्रेय महावीर को है. महावीर ने कहा था कि 'जैसे पक्षी अपने शावकों को चारा देते हैं वैसे ही शिष्यों को नित्य प्रति, दिन और रात शिक्षा देनी चाहिए'.[१] यदि शिष्य संक्षेप में कुछ समझ नहीं पाता था तो आचार्य व्याख्या करके उसे समझाता था. आचार्य, अर्थ का अनर्थ नहीं करते थे. वे अपने आचार्य से प्राप्त विद्या को यथावत् शिष्य को ग्रहण कराने में अपनी सफलता मानते थे. वे व्याख्यान देते समय व्यर्थ की बातें नहीं करते थे.[२]

परवर्ती युग में शास्त्रों के पाठ करने की रीति का प्रचलन हुआ. विद्यार्थी, शास्त्रों का पाठ करते समय शिक्षक से पूछ कर सूत्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेता था और इस प्रकार अपना संदेह दूर करता था. विद्यार्थी बार-बार आवृत्ति करके अपने पाठ को कंठस्थ कर लेता था. फिर वह पढ़े हुए पाठ का मनन और चिन्तन करता था.[३] प्रश्न पूछने से पहले विद्यार्थी आचार्य के समक्ष हाथ जोड़ लेता था.[४]

जैन शिक्षण की वैज्ञानिक शैली के पांच अंग थे—१. वाचना (पढ़ना), २. [illegible]छना (पूछना), ३. अनुप्रेक्षा (पढ़े हुए विषय का मनन करना), ४. आम्नाय (कण्ठस्थ करना और पाठ करना) तथा ५. धर्मोपदेश.[५]

**अनुशासन**—वैदिक युग में आचार्य विद्यार्थी को प्रथम दिन ही आदेश देता था कि 'अपना काम करो, कर्मठता ही शक्ति है, अग्नि में समिधा डालो, अपने मन को अग्नि के समान ओजस्विता से समद्धि करो, सो ओ मत.'[६]

जैन शिक्षण में भिक्षुओं के लिये शारीरिक कष्ट का अतिशय महत्त्व बताया गया है. व्रतभंग के प्रसंग साधु को मरना तक श्रेयस्कर बताया गया है. जैन शिक्षण में शरीर की बाह्य शुद्धि को केवल व्यर्थ ही नहीं अपितु अनर्थ-कार्य बताया गया है. शरीर का संस्कार करने वाले श्रमण 'शरीर बकुश' (चरित्रभ्रष्ट) कहलाते थे.[७]

परवर्ती युग में विद्यार्थियों के लिये आचार्य की आज्ञा पालन करना, डांट पड़ने पर उसे चुपचाप सह लेना, भिक्षा में स्वादिष्ट भोजन न लेना आदि नियम बनाये गये. विद्यार्थी सूर्योदय के पहले जागकर अपनी वस्तुओं का निरीक्षण करते

---

१. आचारांग, १. ६. ३. ३.
२. सूत्रकृतांग, १. १४. २४-२७.
३. उत्तराध्ययन, २६. १८. तथा १. १३.
४. उत्तराध्ययन १. २२.
५. स्थाना, ४६५.
६. शतपथब्राह्मण, ११. ५. ४. ५.
७. स्थाना, ४४५ तथा १५८.

थे. और गुरुजनों का अभिवादन करते थे. दिन के तीसरे पहर में वे भिक्षा मांगते थे. और रात्रि के तीसरे पहर में सोते थे. विद्यार्थी भूल में किये गये अपराधों का प्रायश्चित्त करते थे.[1]

जैन संस्कृति के विद्यार्थी ऊन, रेशम, क्षौम, सन, ताड़पत्र आदि के बने हुए वस्त्रों के लिये गृहस्थ से याचना करते थे. वे चमड़े के वस्त्र या बहुमूल्य रत्न या स्वर्णजटित अलंकृत वस्त्रों को ग्रहण नहीं करते थे. हट्टे-कट्टे विद्यार्थी भिक्षु एक, और भिक्षुणियां चार वस्त्र पहिनती थी.[2]

**समावर्तन**—वैदिक काल में अध्ययन समाप्त हो जाने पर विद्यार्थी आचार्य की अनुमति से घर लौट जाते थे. समावर्तन का अर्थ है 'लौटना'. आश्रम छोड़ते समय आचार्य विद्यार्थी को कुछ ऐसे उपदेश देता था जो उसके भावी जीवन की प्रगति में सहायक होते थे.

जैन-सूत्रों में भी समार्तन संस्कार का वर्णन मिलता है. छात्र जब अध्ययन समाप्त कर घर वापस आता था तब अत्यन्त समारोह के साथ उसे ग्रहण किया जाता था. 'रक्षित' जब पाटलिपुत्र से अध्ययन समाप्त कर घर वापस आया तो उसका राजकीय सम्मान किया गया. सारा नगर पताकाओं और वन्दनवारों से सुसज्जित किया गया. रक्षित को हाथी पर बिठाया गया तथा लोगों ने उसका सत्कार किया. उसकी योग्यता पर प्रसन्न होकर लोगों ने उसे दास, पशु तथा स्वर्ण आदि द्रव्य दिया.[3]

**विद्या के केन्द्र**—वैदिक काल में प्रायः प्रत्येक विद्वान् गृहस्थ का घर विद्यालय होता था,[4] क्योंकि गृहस्थ के पांच यज्ञों में ब्रह्म-यज्ञ की पूर्ति के लिये गृहस्थ को अध्यापन कार्य करना आवश्यक था.[5] जिन वनों, पर्वतों और उपनद प्रदेशों को लोगों ने स्वास्थ्य-संवर्धन के लिये उपयोगी माना वे स्थान आचार्यों ने अपने आश्रम और विद्यालयों के उपयोग के लिये चुने. महाभारत में कण्व, व्यास, भारद्वाज और परशुराम आदि के आश्रमों के वर्णन मिलते हैं.[6] रामायण-कालीन चित्रकूट में वाल्मीकि का आश्रम था.[7]

जैन-संस्कृति की आचार्य परम्परा तीर्थङ्करों से प्रारम्भ होती है. तीर्थङ्कर प्रायः अनगार होते थे. अंतिम तीर्थङ्कर महावीर का दिगम्बर होना प्रसिद्ध है. ऐसे तीर्थङ्करों की शाला का भवनों में होना संभव नहीं था. उनके शिष्यसंघ आचार्यों के साथ ही, देश-देशान्तर में पर्यटन करते थे. महावीर के जो ग्यारह गणधर (शिष्य) थे वे सब आचार्य थे. उनमें इन्द्रभूति, वायुभूति, व्यक्त तथा सुधर्मा के प्रत्येक के ५०० शिष्य थे, मण्डिक तथा मौर्यपुत्र के प्रत्येक के ३५० शिष्य थे और अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य तथा प्रभास के प्रत्येक के ३०० शिष्य थे. ये भ्रमण करते हुए संयोगवश महावीर से मिले तथा उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अपने शिष्यों सहित उनके संघ में सम्मिलित हो गये.[8]

शनैः शनैः जैन मुनियों तथा आचार्यों के लिये गुफा-मन्दिर तथा तीर्थक्षेत्र के मन्दिर आदि बनने लगे. इसके बाद राजधानियों, तीर्थस्थान, आश्रम तथा मन्दिर शिक्षा के केन्द्र बने. राजा तथा जमींदार लोग विद्या के पोषक तथा संरक्षक थे. समृद्ध राज्यों की अनेक राजधानियाँ बड़े-बड़े विद्या के केन्द्रों के रूप में परिणत हुई.

बनारस विद्या का विशाल केन्द्र था. संखपुर का राजकुमार अगडदत्त, वहां विद्याध्ययन के लिये गया था. वह अपने

---

१. उत्तराध्ययन, २६.
२. आचारांग, सूत्र, २. ५. १. १.
३. उत्तराध्ययन टीका, २ पृ० २२ अ०.
४. छान्दोग्य उपनिषद्, ८. १५. १. ४. ९. १. तथा २. २३. १.
५. "अध्यापनं ब्रह्मय १." मनुस्मृतिः, ३. ७०.
६. आदिपर्व, ७०.
७. रामायण, २. ५६. १६.
८. कल्पसूत्र 'लिस्ट आफ स्थविराज' 'श्रमण भगवान् महावीर' पृ० २११-२२०.

आचार्य के आश्रम में रहा और अपना अध्ययन समाप्त कर लौटा. सावत्थी (श्रावस्ती), एक अन्य विद्या का केन्द्र था. पाटलिपुत्र भी विद्या का केन्द्र था. 'रक्खिय' जब अपने नगर दशपुर में अध्ययन न कर सका तो वह उच्च शिक्षा के लिये, पाटलिपुत्र गया. 'प्रतिष्ठान' दक्षिण में विद्या का केन्द्र था. 'वलमी' शिक्षा केन्द्र के रूप में ख्याति की चरम सीमा पर था. यहीं पर जैन आगमों को संगृहीत करने के लिये नागार्जुनसूरि ने जैन-सन्तों की एक सभा बुलाई थी.

साधुओं के निवास स्थान (वसति) तथा उपाश्रयों में भी विद्याध्ययन हुआ करता था. ऐसे स्थानों पर वे ही साधु अध्यापन के अधिकारी थे जिन्होंने उपाध्याय के समीप रहकर प्राचीन शास्त्रों के अध्यापन की शिक्षा प्राप्त की है.[1]

सत्य तथा ज्ञान के परीक्षण के लिये प्रायः वाद-विवाद हुआ करते थे. वाद-विवाद करने के लिये बड़े-बड़े संघ (वाद-पुरिसा) हुआ करते थे जहां जैन तथा अन्य साधु विशेषकर, बौद्ध साधु आकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषयों पर वादविवाद किया करते थे. यदि कोई व्यक्ति तर्क तथा न्याय में कमजोर पाया जाता था तो उसको किसी अन्य विद्या-केन्द्र में जाकर और अधिक अध्ययन के लिये प्रयत्न करना पड़ता था. वहां से अध्ययन समाप्त कर वह लौटता और अपने विरोधी को पराजित कर धर्म का प्रचार करता था.[2]

ऊपर कही गई शिक्षण-पद्धति पर विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारतवर्ष में प्राचीन काल में वैदिक तथा बौद्ध शिक्षण-पद्धति के समान एक सुव्यवस्थित जैन शिक्षण-पद्धति भी थी. आजकल भारत के बड़े-बड़े नगरों में जैनधर्म और जैनदर्शन के अध्यापन के लिये जो प्रतिष्ठान चल रहे हैं उन पर पूर्ण रूप से इस प्राचीन जैन शिक्षण-पद्धती का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है.

१. 'लाइफ इन एन्श्येन्ट इण्डिया' पृ० १७३-१७४.
२. बृहत्कल्पभाष्य, ४. ५४.२५, ५४.२१.

डा० नथमल टाटिया
निदेशक, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा-शोधसंस्थान, मुजफ्फरपुर, विहार.

# 'मोक्षमार्गस्यनेतारम्' के कर्ता पूज्यपाद देवनन्दि

पूज्यपाद देवनन्दिकृत सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्ति के प्रारम्भ में निम्नांकित श्लोक उपलब्ध होता है :

**मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्, ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये.**

इस श्लोक के कर्तृत्व के वारे में कुछ वर्ष पहले ऊहापोह चला था और यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई थी कि इसके कर्ता तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी हैं.[1] पर वस्तुस्थिति अन्यथा प्रतीत होती है. (१) आप्तपरीक्षा में आचार्य विद्यानन्द ने इस श्लोक के कर्ता के लिए सूत्रकार[2] और शास्त्रकार[3] ये दोनों शब्द प्रयुक्त किये हैं अतएव संशय होना स्वाभाविक था. पर इन्हीं विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के प्रारम्भ में की गई परापरगुरु-प्रवाह विषयक आध्यान की चर्चा से तथा आप्तपरीक्षा गत प्रयोगों से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि सूत्रकार शब्द केवल आचार्य उमास्वामी के लिए ही प्रयुक्त नहीं होता था, इसका प्रयोग दूसरे आचार्यो के लिए भी किया जाता था. (२) उसी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के अन्तर्गत तत्त्वार्थसूत्र के प्रथमसूत्र की अनुपपत्ति-उपस्थापन और उसके परिहार की चर्चा से भी यह स्पष्ट फलित होता है कि आचार्य विद्यानन्द के सामने तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक नहीं था. (३) अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षान्तर्गत कुछ विशेष उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि आचार्य विद्यानन्द के मतानुसार इसी श्लोक के विषयभूत आप्त की मीमांसा स्वामी समन्तभद्र ने अपनी आप्तमीमांसा में की है. इन तीनों मुद्दों पर हम क्रमशः विचार करेंगे.

## सूत्रकार-शास्त्रकार

परापरगुरुप्रवाह की चर्चा के प्रसंग में आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के प्रारम्भ (पृ० १) में अपरगुरु की व्याख्या इस प्रकार की है : अपरगुरुर्गणधरादिः सूत्रकारपर्यन्तः. यहां सूत्रकार शब्द से केवल आचार्य उमास्वामी का बोध अभिप्रेत नहीं हो सकता, पर वे तथा उनके पूर्व तथा पश्चाद्वर्ती अन्य आचार्य भी यहां अभिप्रेत हैं. अन्यथा आचार्य उमास्वामी के बाद के आचार्यो को आध्यान का विषय बनाने की परम्परा असंगत प्रमाणित होगी. आचार्य विद्यानन्द स्वयं अपनी अष्टसहस्री के प्रारम्भ में स्वामी समन्तभद्र का जो अभिवन्दन करते हैं वह भी असंगत ठहरेगा. आचार्य वादिदेवसूरि अपने स्याद्वादरत्नाकर ग्रंथ के आदि में आचार्य विद्यानन्द के—एतेनापरगुरुर्गणधरादिः सूत्रकारपर्यन्तो व्याख्यातः[4]—इस वचन की प्रतिध्वनि इस प्रकार करते हैं—एतेनापरगुरुरपि गणधरादिरस्मद्गुरुपर्यन्तो व्याख्यातः[5].

---

१. देखो—अनेकान्त, वर्ष ५, (किरण ६-७, ८-९ तथा १०-११).

२. आप्तपरीक्षा, पृ० १२—किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुः.

३. वही, पृ० २—कस्मात्पुनः परमेष्ठिनः स्तोत्रं शास्त्रादौ शास्त्रकाराः प्राहुः.

४. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० १.

५. स्याद्वादरत्नाकर; पृ० ५.

अतएव उक्त प्रसंग में सूत्रकार शब्द से केवल आचार्य उमास्वामी अभिप्रेत न होकर तत्त्वोपदेशक सभी आचार्य अभिप्रेत हैं—यह निःसन्दिग्ध सिद्ध होता है. तत्त्वप्रतिपादक शास्त्र के प्रारम्भ में अखिल तत्त्वज्ञान के प्रभवस्थान परम गुरु तीर्थंकर तथा तत्त्वार्थनिर्णय में सहायभूत गणधरादि गुरुपरम्परा के प्रति कृतज्ञता निवेदन करना ही आख्यान है. और वही शास्त्रसिद्धि का हेतु है. हां, अपरगुरुप्रवाह के अन्तर्गत सूत्रकारों में आचार्य उमास्वामी का स्थान प्रमुख है, जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी प्रमाणमीमांसा (पृ० १) में कहा है—प्रेक्षस्व वाचकमुख्यविरचितानि सकलशास्त्र-चूडामणि-भूतानि तत्त्वार्थसूत्राणीति. आप्तपरीक्षागत आचार्य विद्यानन्द की यह उक्ति भी इस स्थल पर मननीय है—न हि परम्परया मोक्षमार्गस्य प्रणेता गुरुपर्वक्रमाविच्छेदादधिगततत्त्वार्थशास्त्रार्थोऽप्यस्मदादिभिः साक्षाद्विश्वतत्त्वज्ञतायाः समाश्रयः साध्यते प्रतीतिविरोधात्, किं तर्हि साक्षान्मोक्षमार्गस्य सकलबाधकप्रमाणरहितस्य यः प्रणेता स एव विश्वतत्त्वज्ञताश्रयः तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः प्रतिपाद्यते भगवद्भिः.[1] यहां तत्त्वार्थ शब्द और सूत्रकार शब्द—ये दोनों व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं. अन्यथा प्रभृति शब्द निरर्थक होगा, कारण तत्त्वार्थ नामक ग्रंथ के सूत्रकार के मूलरूप में केवल उमास्वामी ही प्रसिद्ध हैं, अन्य कोई आचार्य नहीं. हां तत्त्वार्थ के वृत्तिकार, वार्तिककार आदि के रूप में अन्य आचार्य भी प्रसिद्ध हैं. अतएव उक्त स्थल में अपने व्यापक अर्थ में ही सूत्रकार शब्द प्रयुक्त हुआ है—यह स्वतः सिद्ध है. तत्त्वार्थ शब्द भी यहां सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, न कि ग्रंथविशेष के अर्थ में. अतएव सन्मतिप्रकरण आदि के कर्ता आचार्य सिद्धसेन दिवाकर आदि का समावेश भी तत्त्वार्थसूत्रकार शब्द में हो जाता है. सन्मतिप्रकरण सन्मतिसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है. आप्तपरीक्षा के निम्नोक्त वाक्यों में भी सूत्रकार शब्द ऐसे ही व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं—गुरुपर्वक्रमात् सूत्रकाराणां परमेष्ठिनः प्रसादात् ... .. श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिरभिधीयते (पृ० ८), परमेष्ठिनः प्रसादात्सूत्रकाराणां श्रेयोमार्गस्य संसिद्धेर्युक्तं शास्त्रादौ-परमेष्ठिगुणस्तोत्रम् (पृ० ९).

प्रस्तुत प्रसंग में सूत्र और शास्त्र के स्वरूपविषयक आचार्य विद्यानन्द का निम्नोक्त उल्लेख विवेचनीय है—वर्णात्मकं हि पदं, पदसमुदायविशेषः सूत्रं, सूत्रसमूहः प्रकरणं, प्रकरणसमितिराह्निकं, आह्निकसंघातोऽध्यायः, अध्यायसमुदायः शास्त्रमिति शास्त्रलक्षणम्.[2] दशाध्यायीरूप सम्पूर्ण शास्त्र के कर्ता होने के कारण आचार्य उमास्वामी शास्त्रकार हैं, और पदसमुदायविशेष रूप सूत्रों के कर्ता होने के कारण वे सूत्रकार भी हैं. इसी तरह दूसरे आचार्यों (उदाहरणार्थ आचार्य हेमचन्द्र, वादिदेवसूरि आदि) को भी पदसमुदायविशेष रूप सूत्रों के कर्ता के रूप में सूत्रकार और सम्पूर्ण ग्रन्थ के कर्ता रूप से शास्त्रकार कहा जा सकता है. इस प्रसंग में सूत्र का निम्नोक्त लक्षण भी ध्यान-योग्य है :

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्,
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।[3]

इन सारी बातों को ध्यान में रख कर ही आचार्य विद्यानन्द 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक के रचयिता को कभी एक अखण्ड अर्थ के वाचक विशिष्ट पदसमुदाय रूप इसी श्लोक के कर्ता के रूप में **सूत्रकार** और कभी सम्पूर्ण तत्त्वार्थशास्त्र के रचयिता रूप से **शास्त्रकार** कहते हैं. मोक्षमार्गस्य नेतारम् श्लोक के रचयिता को **तत्त्वार्थशास्त्रकार** कहने में भी कोई बाधा नहीं, कारण उमास्वामिरचित मूल तत्त्वार्थसूत्र की तरह उस पर स्वरचित वार्तिक तथा अन्य व्याख्यान ग्रन्थ को भी शास्त्र कहना आचार्य विद्यानन्द को इष्ट है. उन्होंने स्पष्ट रूप से निम्नोक्त उद्धरण में यह बात कह भी दी है—तत्त्वार्थविषयत्वाद्धि तत्त्वार्थो ग्रन्थः प्रसिद्धः.........प्रसिद्धे च तत्त्वार्थस्य शास्त्रत्वे तद्वार्तिकस्य शास्त्रत्वं सिद्धमेव

---

१. आप्तपरीक्षा, पृ० २६०-१ (पादटिप्पण सहित). पण्डित श्रीदरबारीलालजी कोठिया सम्पादित पाठ संगत प्रतीत नहीं होता. उनके पाठ में—तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः—यह अंश नहीं है तथा भगवद्भिः के स्थान पर भगवतः है. प्रस्तुत उद्धरण में आये हुए अस्मदादिभिः अंश की संगति के लिये परित्यक्त अंश आवश्यक है. तत्त्वार्थसूत्रकारैः के स्थान पर तत्त्वार्थसूत्रकारादिभिः पाठ भी संभव नहीं,कारण आदि शब्द विवक्षित प्रकर्ष का बाधक होगा. 'भगवद्भिः' पाठ की आवश्यकता भी स्पष्ट है.

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २ । देखो न्यायवार्तिक (न्यायदर्शन, पृ० ४).

३. युक्तिदीपिका, पृ० ३.
वाचस्पति मिश्रकृत न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका (न्यायदर्शन, पृ० ७०), में उद्धृत.

तदर्थत्वात्.........तदनेन तव्याख्यानस्य शास्त्रत्वं निवेदितम्.[1] अतएव प्रस्तुत श्लोक जिस ग्रन्थ के आदि में पाया जाता है वह भी तत्त्वार्थविषयक होने के कारण तत्त्वार्थशास्त्र है. अर्थात् सर्वार्थसिद्धि को तत्त्वार्थशास्त्र तथा उसके रचयिता को तत्वार्थशास्त्रकार कहने में कोई बाधा नहीं.

'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक में सूत्र के सभी लक्षण विद्यमान हैं. तभी तो स्वामी समन्तभद्र जैसे श्रेष्ठ चिन्तक और आचार्य विद्यानन्द जैसे गंभीर तार्किक इस श्लोक से प्रेरणा लेकर क्रमशः आप्तमीमांसा और आप्तपरीक्षा की रचना करते हैं. अतएव इसे **सूत्र** और इसके रचयिता को **सूत्रकार** कहने में कोई असंगति लक्षित नहीं होती, चाहे वे आचार्य उमास्वामी हों या पूज्यपाद देवनन्दि. ईश्वरकृष्ण प्रणीत सांख्यकारिका प्रसिद्ध है. इसकी प्राचीन टीका युक्तिदीपिका में ईश्वरकृष्ण प्रणीत कई कारिकांशों को सूत्रसंज्ञा दी गई है.[2] आचार्य धर्मकीर्तिरचित प्रमाणवार्तिक दिग्नागकृत प्रमाण-समुच्चय की व्याख्या है.[3] पर प्रमाणवार्तिक के टीकाकार कर्णगोमी ने प्रमाणवार्तिक के वाक्य को सूत्र[4] तथा धर्मकीर्ति को सूत्रकार[5] कहा है. इस प्रसंग में आचार्य विद्यानन्द उद्धृत—सूत्रं हि सत्यं सयुक्तिकं चोच्यते हेतुमत्तथ्यमिति सूत्रलक्षणवचनात्[6]—यह वचन भी स्मरणीय है.

आचार्य उमास्वामी से भिन्न अन्य आचार्यों को **तत्त्वार्थसूत्रकार** कहा जा सकता है या नहीं ? हम देख चुके हैं, आचार्य विद्यानन्द को सूत्रकार शब्द से आचार्य उमास्वामी से अतिरिक्त अन्य तत्त्वोपदेशक आचार्य भी अभिप्रेत हैं. अतएव अन्य आचार्यों को भी **तत्त्वार्थसूत्रकार** कहना असंगत नहीं. इस प्रकार आप्तपरीक्षा की—तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः[7]—इस उक्ति की भी संगति बैठ जाती है. पूज्यपाद देवनन्दि रचित सर्वार्थसिद्धि वृत्ति के महत्त्वपूर्ण सूत्रात्मक लक्षणवाक्यों की व्याख्या आचार्य अकलंक ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) में की है. अतएव उसे तत्त्वार्थसूत्र तथा उसके कर्ता को सूत्रकार या तत्त्वार्थसूत्रकार कहने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए.

अब हम आप्तपरीक्षागत और एक उल्लेख पर विचार करेंगे. आप्तपरीक्षा की द्वितीय कारिका के अन्वय के प्रसंग में कहा गया है—श्रेयसो मार्गः श्रेयोमार्गः.........तस्य संसिद्धिः सम्प्राप्तिः सम्यग् ज्ञप्तिर्वा, सा हि परमेष्ठिनः प्रसादाद् भवति मुनिपुंगवानां यस्मात्तस्मात्ते मुनिपुंगवाः सूत्रकारादयः शास्त्रस्यादौ तस्य परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रमाहुरिति सम्बन्धः.[8] इस उद्धरण में सूत्रकारादयः शब्द के अन्तर्गत आदि शब्द से कौन अभिप्रेत है? अर्थात् सूत्रकार शब्द द्वारा वृत्तिकार, वार्तिककार आदि का भी बोध यदि मान लें तब आदि शब्द से किसका ग्रहण इष्ट होगा ? यहाँ आदि शब्द से श्रोता को ले सकते हैं. उपदेष्टा सूत्रकार शास्त्ररचना के पूर्व परापर परमेष्ठी की स्तुति करता है तो शिष्य श्रोता भी उपदेश ग्रहण के पूर्व परापरगुरुप्रवाह की गुणस्तुति अवश्य करता है. अर्थात् प्रस्तुत प्रसंग में श्रोता और व्याख्याता द्वारा परमेष्ठि-गुणस्तोत्र की परम्परा विवक्षित है. आप्तपरीक्षा का निम्नोक्त उद्धरण इस विषय पर प्रकाश डालता है—तस्मान्मोक्ष-मार्गस्य नेतारं कर्मभूभृतां भेत्तारं विश्वतत्त्वानां ज्ञातारं वन्दे इति शास्त्रकारः शास्त्रप्रारम्भे श्रोता तस्य व्याख्याता वा भगवन्तं परमेष्ठिनं परमपरं वा मोक्षमार्गप्रणतृत्वादिभिर्गुणैः संस्तौति, तत्प्रसादाच्छ्रेयोमार्गस्य संसिद्धेः समर्थनात्.[9] यहाँ स्पष्टरूप से कहा गया है, 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' गुणस्तोत्र का कर्ता शास्त्रकार—श्रोता अथवा उसका व्याख्याता—

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २.
२. देखो—युक्तिदीपिका, पृ० २-३.
३. देखो—कर्णगोमिकृत प्रमाणवार्तिकटीका, पृ० ४.
४. वही, पृ० १२.
५. वही, पृ० ८.
६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ६.
७. आप्तपरीक्षा, पृ० २६०, पादटिप्पण २.
८. आप्तपरीक्षा, पृ० ७-८.
९. आप्तपरीक्षा, पृ० १३.

शास्त्रप्रारम्भ में पर-अपर परमेष्ठी की स्तुति मोक्षमार्गप्रणेतृत्त्वादि गुणों द्वारा करता है. उक्त उद्धरणगत श्रोता और व्याख्याता शब्द द्वारा आचार्य विद्यानन्द ने यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रोता तथा व्याख्याता दोनों शास्त्रश्रवण और शास्त्रव्याख्यान के पूर्व परापरपरमेष्ठी का गुणस्मरण करते हैं.

उपरोक्त चर्चा का उद्देश्य केवल इतना ही सिद्ध करना है कि सूत्रकार शब्द का अर्थ नियमेन तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामी तक सीमित नहीं है, पर प्रसंग की संगति के अनुरूप उसका अर्थ करना पड़ेगा. उदाहरणार्थ, आप्तपरीक्षा के निम्नोक्त पाठ में सूत्रकार शब्द आचार्य उमास्वामी के सिवाय और किसी आचार्य का बोधक नहीं माना जा सकता—'स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रेभ्यो भवति इति सूत्रकारमतम्.'[1] 'पर-तत्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः'—इस प्रयोग में सूत्रकार शब्द से केवल आचार्य उमास्वामी का बोध स्वीकार नहीं किया जा सकता.

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है—यदि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक आचार्य उमास्वामिविरचित तत्वार्थसूत्र के आदि में नहीं है तो उस श्लोक का कर्ता कौन है तथा आचार्य उमास्वामी का भगवद्गुणस्तोत्र कहां है ? और आचार्य विद्यानन्द द्वारा अपनी आप्तपरीक्षा में पुनः पुनः आवृत्त सूत्रकारों द्वारा कहे गए गुणस्तोत्रविषयक निम्नोक्त कथनों का अभिप्राय क्या है ? उदाहणार्थ :

(क)— तस्मात्ते मुनिपुंगवाः सूत्रकारादयः शास्त्रस्यादौ तस्य परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रमाहुः.—(पृ० ८).

(ख)—ततः परमेष्ठिनः प्रसादात्सूत्रकाराणां श्रेयोमार्गस्य संसिद्धेर्युक्तं शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रम्. (पृ० ९).

इसका उत्तर यह है कि किसी सूत्रकार-विशेष के गुणस्तोत्र-विशेष की विवक्षा यहां नहीं है. शास्त्र के आदि में भगवद्-गुणसंस्तवन के औचित्य मात्र का निर्देश है. यदि किसी सूत्र के आदि में गुणस्तोत्र उपलब्ध न हो तो समझना होगा कि वह शास्त्र में निबद्ध नहीं किया गया है. आप्तपरीक्षाकार ने भी कहा है—'न च क्वचित्तत् (भगवद्गुणसंस्तवनं) न क्रियत इति वाच्यं, तस्य शास्त्रे निबद्धस्यानिबद्धस्य मानसस्य वा वाचिकस्य वा विस्तरतः संक्षेपतो वा शास्त्रकारैरवश्यं-करणात्.' अर्थात् आचार्य उमास्वामी या अन्य किसी आचार्य विशेष की विवक्षा न रख कर शास्त्र के आदि में गुणस्तोत्र का सामान्य विधान यहां इष्ट है. आप्तपरीक्षा कारिका ३ (मोक्षमार्गस्य नेतारम् श्लोक) के रूप में वह गुणस्तोत्र-विशेष बताया गया है, जिसे ध्यान में रखकर यह सामान्य विधान किया गया है, और वही आप्तपरीक्षा का आधारभूत सूत्र है. इस श्लोक के प्रवक्ता का निर्देश शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुः के द्वारा उत्थानिका में किया गया है. पर श्लोकगत वन्दे पद के कर्ता को निर्देश करते हुए आचार्य विद्यानन्द लिखते हैं :

'तस्मान् मोक्षमार्गस्य नेतारं कर्मभूभृतां भेत्तारं विश्वतत्त्वानां ज्ञातारं वन्दे इति शास्त्रकारः शास्त्रप्रारम्भे श्रोता तस्य व्याख्याता वा भगवन्तं परमेष्ठिनं परमपरं वा मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादिभिर्गुणैः संस्तौति, तत्प्रसादाच्छ्रेयोमार्गस्य संसिद्धेः समर्थनात्' (पृ० १३).

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि वन्दे पद के कर्ता के रूप में आप्तपरीक्षाकार को आचार्य उमास्वामी विवक्षित नहीं हैं, किन्तु तत्वार्थशास्त्र के श्रोता अथवा व्याख्यातारूप शास्त्रकार इष्ट हैं. ये शास्त्रकार और उक्त प्रवक्ता सूत्रकार यदि अभिन्न हैं, तो सूत्रकार शब्द से आचार्य उमास्वामी का विवक्षित होना संभव नहीं.

## तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकगत अनुपपत्ति-उपस्थापन तथा परिहार

उमास्वामिप्रणीत तत्वार्थसूत्र के किसी भी प्राचीन व्याख्याग्रन्थ के आदि में 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक की व्याख्या उपलब्ध नहीं है, न पूज्यपाद देवनन्दि स्वयं इसकी व्याख्या करते हैं न आचार्य अकलंक अपने तत्त्वार्थवार्तिक में इसका उल्लेख करते हैं, न आचार्य विद्यानन्द ही अपने श्लोकवार्तिक में.

---

१. आप्तपरीक्षा, पृ० ६.

अपितु आचार्य विद्यानन्द तत्वार्थसूत्र के प्रथमसूत्र की उपपत्ति सिद्ध करने के प्रसंग में, 'वार्तिकं हि सूत्रानामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानं प्रसिद्धम्'[१]—वार्तिक के इस स्वीकृत लक्षण का अनुसरण करते हैं और अनुपपत्ति उपस्थापन प्रस्तुत करते हुए उसका उत्तर इस प्रकार देते हैं :

ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिसूत्रं तावदनुपपन्नं प्रवक्तृविशेषस्याभावेऽपि प्रतिपाद्यविशेषस्य च कस्यचित्प्रतिपित्सायाम-सत्यामेव प्रवृत्तत्वादित्यनुपपत्तिचोदनायामुत्तरमाह—

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे ।
सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ।
सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः ।
श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिमम् ।

तेनोपपन्नमेवेति तात्पर्यम्.[२]

आचार्य विद्यानन्द के सामने यदि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक उमास्वामिप्रणीत तत्त्वार्थसूत्र के आदि श्लोक के रूप में रहता तो इस स्थल में वे अवश्य उसकी ओर इंगित करते और उसी के आधार पर उत्तर देते. यहाँ यह बात ध्यान-योग्य है कि आचार्य विद्यानन्द के उक्त प्रश्नोत्तर के आधार पूज्यपाद देवनन्दि विरचित सर्वार्थसिद्धि के आदि में उपलब्ध 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक उसी सर्वार्थसिद्धि तथा आचार्य अकलंक प्रणीत तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) के प्रारंभिक वचन हैं, जो क्रमशः निम्न प्रकार हैं :

(क) कश्चिद् भव्यः प्रत्यासन्ननिष्ठः प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सुः निर्ग्रन्थाचार्यवर्यमुपसद्य सविनयं पृच्छति स्म.[३]

(ख) उपयोगस्वभावस्यात्मनः श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रसिद्धौ सत्यां तन्मार्गप्रतिपित्सोत्पद्यते.[४] यह स्पष्टतया उद्धरण एक की तात्पर्य-व्याख्या है.

यदि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक आचार्य उमास्वामिविरचित होता तो इस प्रसंग में आचार्य विद्यानन्द उस बात का निर्देश आवश्य करते. पर उसका मौन भाव सिद्ध करता है, यह श्लोक आचार्य उमास्वामिविरचित नहीं है.

## अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षा के कुछ विशेष उल्लेख एवं आप्तमीमांसा

स्वामी समन्तभद्ररचित आप्तमीमांसा पर आचार्य अकलंक ने अष्टशती रची तथा अष्टशती पर आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्री की रचना की. दो कारिकाओं में मंगलाचरण के समानन्तर आचार्य अकलंक आप्तमीमांसा के प्रथम श्लोक (देवागम-नभोयान) की उत्थानिक में लिखते हैं—देवागमेत्यादि—मंगलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्तगुणातिशयपरीक्षा-मुपक्षिपतैव स्वयं श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनमाक्षिप्तं लक्ष्यते. तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः. शास्त्रन्यायानुसारितया तथै-वोपन्यासात् (पृ० २). इस वाक्य का विश्लेषण करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं, यहाँ ग्रंथ का प्रयोजन और साध्यसाधनसम्बन्ध बताये गये हैं. ग्रंथकारगत श्रद्धागुणज्ञतालक्षण 'प्रयोजन' है, तथा शास्त्रारम्भस्तवविषयाप्तगुणाति-शयपरीक्षा 'साधन' है.

ऐसा कह कर आचार्य विद्यानन्द अपनी अष्टसहस्री के मंगलस्तवान्तर्गत—'शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितम्' —इस पद्यांश को आचार्य अकलंक की उक्ति का अनुवाद-मात्र सिद्ध करते हैं, अर्थात् आचार्य विद्यानन्द के मत में आचार्य अकलंक भी देवागम-शास्त्र(आप्तमीमांसा) को शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्त की मीमांसा करने वाला मानते

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २.
२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ४.
३. सर्वार्थसिद्धि, पृ० १.
४. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० १

थे. अपने इस अभिप्राय का स्पष्टीकरण आचार्य विद्यानन्द इस प्रकार करते हैं—'शास्त्रावतार-रचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रं देवागमाभिधानमिति निर्णयः' (अष्टशती, पृ० ३). अत्र अकलंकोक्त उक्त मंगलपुरस्सर-स्तव तथा स्वोक्त शास्त्रावताररचितस्तुति का समन्वय करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं—'मंगलपुरस्सरस्तवो हि शास्त्रावताररचितस्तुतिरुच्यते. मंगलं पुरस्सरमस्येति मंगलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र रचितः स्तवो मंगलपुरस्सरस्तव इति व्याख्यानात्' (अष्टसहस्री, पृ० ३). शास्त्रावतार के समय मंगलाचरण किया जाता है. अतएव 'मंगलपुरस्सर' शब्द का अर्थ हुआ शास्त्रावतारकाल. शास्त्रावतारकाल में रचित स्तव ही मंगलपुरस्सरस्तव है. अब प्रश्न उठता है, वह कौन शास्त्र है, जिसके अवतारकाल में वह स्तव किया गया है जिसमें आप्त की स्तुति की गई है ? इसका आनुषंगिक उत्तर आचार्य विद्यानन्द के इस वाक्य से मिलता है—'तदेवं निश्श्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया मंगलार्थतया च मुनिभि. संस्तुतेन निरतिशयगुणेन' भगवताप्तेन—(अष्टशती' पृ० ३). अर्थात् वह निश्श्रेयसशास्त्र है जिसके आदि में प्रस्तुत स्तव किया गया है. यह निश्श्रेयस-शास्त्र का अर्थ है मोक्षशास्त्र या तत्त्वार्थशास्त्र. इसी स्तव के बारे में आचार्य विद्यानन्द अपनी अष्टशती का उपसंहार करते हुए लिखते हैं—'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापरा परीक्षेयं विहिता इति स्वाभिप्रेतार्थनिवेदन-माचार्याणामार्यैर्विचार्य प्रतिपत्तव्यम् (अष्टशती, पृ० २९४).

अब हम आप्तपरीक्षगत उन दो पद्यों पर विचार करेंगे जिनमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक में प्रतिपादित आप्त की मीमांसा स्वामी समन्तभद्र द्वारा किये जाने का तथा तत्त्वार्थशास्त्र के आदि में इस स्तव के पाये जाने का उल्लेख है. वे पद्यद्वय इस प्रकार हैं :

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य ।<br>
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैःकृतं यत् ।<br>
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामि-मीमांसितं तद् ।<br>
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ।<br>
इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्र-स्तोत्र-गोचरा ।<br>
प्रणीताप्तपरीक्षेयं विवाद-विनिवृत्तये[1] ।

प्रथम पद्य में श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्र की तुलना प्रकाशमान रत्नों के उद्भवस्थान समुद्र से की गई है. यहाँ श्रीमत् शब्द मननीय है. हम देख आये हैं, तत्त्वार्थशास्त्र एवं तत्त्वार्थसूत्र शब्दों का प्रयोग आचार्य विद्यानन्द ने व्यापक अर्थ में किया है. संभवतः उस व्यापक अर्थ के व्यवच्छेद के लिए यहां श्रीमत् विशेषण का प्रयोग किया गया है, जिससे श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्र शब्द द्वारा आचार्य उमास्वामिविरचित तत्त्वार्थसूत्र का बोध हो सके. यहाँ प्रोत्थान शब्द भी विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है. उत्थान शब्द का अर्थ है. पुस्तक[2] अतएव प्रोत्थान शब्द का अर्थ हुआ प्रकृष्ट उत्थान अर्थात् वृत्ति या व्याख्यान.[3] अतएव प्रोत्थानारम्भकाले' का अर्थ हुआ 'व्याख्यानारम्भकाले'. उक्त पद्यमें 'स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथम्' द्वारा प्रशस्तमोक्षमार्ग को प्रकाशित करने वाले स्तोत्र ('मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक) की तुलना उद्भासित-विस्तीर्ण-सोपानयुक्त तीर्थ से की गई है. पद्यगत सलिलनिधि शब्द तथा श्लिष्ट प्रोत्थान शब्द आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के निम्नोक्त स्तोत्रान्तर्गत महार्णव तथा उत्थान शब्द का संस्मरण कराता है:

---

१. आप्तपरीक्षा, पृ० २६५.

२. देखो, आचार्य हेमचन्द्रविरचित अनेकार्थसंग्रह, तृतीय काण्ड, ३८७-८

······उत्थानं सैन्ये पौरुषे युधि पुस्तके, उद्यमोद्गमहर्षेषु वास्त्वन्तेऽऽगंनचैत्ययोः ।<br>
मलोत्सर्गे·····························देखो—मेदिनी, नान्तवर्ग ४१, विश्वकोश—महेश्वरकृत, ५८-.

३. इस प्रसंग में उत्तराध्ययन सूत्र, २०।१६ का पोत्थ शब्द विचारणीय है. देखो शिष्यहिता व्याख्या तथा सर्पेन्टियर कृत नोंध.

सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसम्पदः ।
तवैव ता पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ।

आप्तपरीक्षा से उद्धृत प्रथम पद्यान्तर्गत 'स्वामि-मीमांसितम्' शब्द स्पष्ट रूप से स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का निर्देश करता है.

द्वितीयपद्यान्तर्गत तत्त्वार्थशास्त्र शब्द अविशिष्ट होने के कारण अपने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है. अतएव इसका अर्थ आचार्य उमास्वामि द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती.

## उपसंहार

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है, आचार्य विद्यानन्द की किसी भी उक्ति से यह सिद्ध नहीं होता कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक के कर्त्ता आचार्य उमास्वामी हैं. अपितु कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य उमास्वामी से भिन्न ही अन्य कोई आचार्य इसके कर्त्ता के रूप में आचार्य विद्यानन्द को इष्ट हैं. ऊहापोह से जो दूसरी महत्त्वपूर्ण बात फलित होती है, वह है स्वामी समन्तभद्र द्वारा 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक को आधार बना कर आप्तमीमांसा ग्रन्थ की रचना करना. आचार्य विद्यानन्द केवल स्वयं इस मत के पोषक नहीं, पर उनके मत में आचार्य अकलंक की भी यही मान्यता थी. इस बात को आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्री के प्रारम्भ में, जैसा कि हम ने ऊपर देखा, स्पष्ट कर दिया है. अतएव सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में उपलब्ध 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्, श्लोक को प्राचीन बाधक प्रमाण के अभाव में पूज्यपाद देवनन्दिकर्तृक ही मानना चाहिए तथा आप्तमीमांसा के आधारभूत स्तोत्रविषयक आचार्य विद्यानन्द की मान्यता को ध्यान में रखकर ही स्वामी समंतभद्र के प्रादुर्भाव कालविषयक विचार प्रस्तुत करना उचित होगा.

४, द्वात्रिंशद्‌द्वात्रिंशिका, प्रथमद्वात्रिंशिका. ३०.

विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री
सम्पादक 'गुरुदेव' मूडबिद्री

# कर्णाटक के जैन शासक

दक्षिण भारत से जैनधर्म का सम्बन्ध सुप्राचीन काल से है. भागवत के कथानुसार भगवन् ऋषभदेव का विहार कर्णाटक के कोंक, वेंक, कुटकादि प्रदेशों में भी हुआ था. कोंक से वर्तमान कोंकण और कुटक से कोडगु का सम्बन्ध है. इस बात को में अन्यत्र[1] सप्रमाण सिद्ध कर चुका हूँ. उधर बौद्धों के प्रामाणिक ग्रंथ महावंशादि से भी दक्षिण में जैनधर्म का अस्तित्व सुदीर्घ काल से सिद्ध होता है. द्वारिका के नाश को पहले ही जानकर, भगवान् नेमिनाथ के पल्लव देश में जाने का उल्लेख, जैनागमों में स्पष्ट अंकित है. यों तो ई० पूर्व चौथी शताब्दी सम्बन्धी श्रुतकेवली भद्रबाहु की दक्षिणयात्रा की घटना को प्रायः सभी इतिहासज्ञ स्वीकार करते हैं. खैर, अब प्रस्तुत विषय पर आएं.

तमिलु प्रान्त में, पांड्यों की राजधानी मधुरा जैनों का केन्द्र रहा. पांड्य नरेश जैन धर्मानुयायी थे. खारवेल के शिलालेख से विदित होता है कि उनके राज्यभिषेक के शुभावसर पर तत्कालीन पांड्य नरेश ने धान्यों से भरे हुए कतिपय जहाजों को भेंट रूप से उन्हें भेजा था. इस पांड्य वंश की एक शाखा दक्षिण कन्नड जिलान्तर्गत बारकूर में भी राज्य करती रही. तमिलु ग्रंथ नालडियार से ज्ञात होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ उत्तर से दक्षिण में जो एक विशाल मुनिसंघ आया था, उस संघ के हजारों विद्वान् मुनि धर्मप्रचारार्थ इसी तमिलु प्रान्त में आकर रह गये थे. आचाय पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी ने लगभग पांचवी शती में मधुरा में एक विशाल जैनसंघ को स्थापित किया था. कतिपय विद्वानों की राय से सुप्रसिद्ध कुरल ग्रंथ के रचयिता, जैनों के प्रातः स्मरणीय आचार्य कुंदकुंद ही है. सर वाल्टर इलियट के मत से दक्षिण में कला-कौशल एवं साहित्य पर जैनों का काफी प्रभाव पड़ा है. कालवेल ने भी लिखा है कि—जैनों की उन्नति का युग ही तमिलु साहित्य का महायुग है. एक जमाने में सारे दक्षिण भारत में जैनधर्म का गहरा प्रभाव था. श्री शेषगिरिराव के अभिप्राय से वर्तमान विशाखपट्टण, कृष्ण, नेल्लूर आदि प्रदेशों में जैनधर्म विशेष रूप से फैला था. फिर भी कर्णाटक के इतिहास में जैनधर्म का जो महत्त्वपूर्ण स्थान सुरक्षित है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है.

कर्णाटक में ई० पू० से ही जैनधर्म मौजूद था. मान्य अन्वेषक विद्वानों की राय से श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ ही कर्णाटक में जैनधर्म का आगमन हुआ. किन्तु कतिपय विद्वानो की यह भी राय है कि भद्रबाहु की यात्रा के पूर्व भी दक्षिण में जैनधर्म अवश्य रहा होगा. अन्यथा श्रुतकेवलीजी को इतने बड़े संघ को इस सुदूर दक्षिण में लिवा लाने का साहस कभी नहीं होता. अपने अनुयायी भक्तों से भरोसे पर ही उन्होंने इस गुरुतर काम को किया होगा. शिलालेखों से पता चलता है कि मौर्य और आंध्र वंश के पश्चात् कर्णाटक में राज्य करने वाले कदंब और पल्लव वंश के शासक भी जैन धर्मावलंबी थे. खासकर बनवासि के प्राचीन कदंब और पल्लवों के बाद तोलव (वर्तमान दक्षिण कन्नड ज़िला) में राज्य करने वाले चालुक्य निःसन्देह जैन धर्मानुयायी थे. चालुक्यों ने अनेक देवालयों को दान दिया है.

---

१. देखो इससे सम्बन्धित लेखक का निबन्ध.

गंग शासक जैन धर्मावलंवी थे. इस वंश के आदिम ऐतिहासिक पुरुष माधव और दडिग दोनों जैनाचार्य सिंहनंदी के शिष्य थे. सिंहनंदी के ही द्वारा गंगवाडि राज्य स्थापित हुआ था. इस वंश के शासकों ने ई० सन् २५० से ९७५ तक राज्य किया था. ई० सन् ४७५ में राज्य करने वाले इस वंश के शासक अविनीत के गुरु, जैन पण्डित विजयकीर्ति थे. यह अविनीत विद्वान् था. दुर्विनीत इसी का पुत्र था. यह दुर्विनीत प्रसिद्ध जैनाचार्य पूज्यवाद का शिष्य रहा. इस वंश के शासकों ने पल्लव, चोल और चालुक्यों को जीत कर कर्णाटक का दीर्घ काल तक वैभव पूर्वक शासन किया. दुर्विनीत के पुत्र मुष्कर के नाम से धारवाड़ जिलांतर्गत लक्ष्मेश्वर में एक सुन्दर जिनमंदिर निर्माण कराया गया था. इसी वंश के प्रतापी राजा मारसिंह ने चेर, चोल और पाण्ड्य राजाओं को पूर्णतः हराया था. यह जैनधर्म का पक्का अनुयायी था. मारसिंह वैभवपूर्वक राज्य शासन कर अंत में राज्य को त्याग कर, जैनाचार्य गुरु अजितसेन के पादमूल में जिनदीक्षा लेकर, धारवाड़ जिलांतर्गत वंकापुर में, ई० सन् ९७५ में, समाधि मरण पूर्वक स्वर्गवासी हुआ था.

श्रवण वेलगोल में विश्वविख्यात वाहुवली की मूर्ति को स्थापित करने वाला वीरमार्तण्ड चावुंडराय इसी मारसिंह का मंत्री एवं सेनानायक था. इसे त्रिभुवनवीर, सत्ययुधिष्ठिर, वीरमार्तण्ड आदि अनेक उपाधियाँ प्राप्त थीं. चावंडराय सिद्धांतचक्रवर्ती नेमिचन्द्रजी का शिष्य था. इसके द्वारा गंगराज्य और जैनधर्म दोनों की आशातीत उन्नति हुई थी. चावुंडराय संस्कृत, कन्नड आदि भाषाओं का वड़ा पण्डित था. खैर, गंगो का अस्तित्व कर्णाटक में सोलवीं शताव्दी तक मौजूद था. इस वंश के अवसान के वाद कर्णाटक में होय्सल शासकों ने जैनधर्म को आश्रय दिया.

होय्सल वंश के मूल पुरुष सल ने जैन-मुनि सुदत्त की सहायता से ही इस वंश को स्थापित किया था. वाद में इस वंश के शासक विनयादित्य ने जैनाचार्य शांतिदेव के आशीर्वाद से गंगवडि का महामण्डलेश्वर हुआ इसने अपने शासनकाल में अनेक जिनमंदिर और सरोवरों को निर्माण कराया था. विनयादित्य का पुत्र युवराज एरेयग वड़ा वीर था. इसने अपने श्रद्धेय गुरु आचार्य गोपनंदी को, श्रमणवेलगोलस्थ चंद्रगिरि के जिनालयों के जीर्णोद्धार के लिये कतिपय ग्रामों को दान में दे दिया था. ये सब वातें श्रवणवेलगोल के शिला लेखों में स्पष्ट अंकित हैं. विनयादित्य के उपरांत वल्लाल शासक नियुक्त हुआ. यह वल्लाल जव एक भयंकर रोग से पीड़ित हुआ, तव श्रवणवेलगोल के तत्कालीन मठाधीश चारुकीर्तिजी ने ही उसे उस रोग से मुक्त किया था. इसके उपलक्ष्य में वल्लाल ने चारुकीर्तिजी को 'वल्लालजीवरक्षक' उपाधि से अलंकृत किया था.

वल्लाल के मामा दण्डनायक मरियण्ण ने सुखचंद्राचार्य के नेतृत्व में वेलेगेरे में एक सुन्दर जिनमन्दिर निर्माणकारा कर वैभव-पूर्वक उसकी प्रतिष्ठा की थी. कहा जाता है कि वल्लाल का उत्तराधिकारी विट्टिदेव रामानुजाचार्य के उपदेश से वैष्णव धर्मानुयायी हो गया था. परन्तु अंत तक उसे जैनधर्म पर वड़ी श्रद्धा रही. इसके लिये एक-दो नहीं, अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं. विट्टिवर्धन की पटरानी शांतला आचार्य श्रीप्रभाचन्द्र कीप्रकी शिष्या रही. इसने श्रवणवेलगोल में 'सवतिगंधवारणवसदि' नामक एक सुन्दर शिलामय जिनालय निर्माण कराकर, उसमें अपने नामानुकूल भगवान् श्री शांतिनाथ की मूर्ति स्थापित की थी. अंत में शांतला ने सल्लेखना-द्वारा अपना शरीर त्याग किया था. होय्सल राज्य में एक-दो नहीं, प्रभावशाली अनेक जैन श्रावक उन्नताधिकार में प्रतिष्ठित थे. गंगराज विट्टिदेव का प्रधानमन्त्री एवं सेना-नायक रहा. यह गंगराज श्रीशुभचन्द्र का शिष्य था. इसने गोविन्दवाडि ग्राम को श्रीगोम्मटेश्वर की सेवा के लिये सादर एवं सहर्ष समर्पित किया था. गंगराज ने चालुक्य नरेश त्रिभुवनमल्ल की प्रवल सेना को वीरता से जीतने के उपलक्ष्य में विट्टिदेव द्वारा वहुमान में प्राप्त परम ग्राम को मातापोचिकव्वे और पत्नी लक्ष्मी के द्वारा निर्मापित जिन-मन्दिर को समर्पित किया था.

गंगराज का वड़ा भाई वम्भ भी होय्सल राज्य का सेनापति था. गंगराज ने अपनी पूज्य माता की स्मृति में, श्रवण-वेलगोल में 'कत्तलेवसदि' के नाम से एक सुन्दर जिनालय निर्माण कराया था. इसकी पत्नी लक्ष्मी के द्वारा भी श्रवणवेलगोल में 'एरडुकट्टेवसदि' के नाम से एक मनोज्ञ जिनमन्दिर निर्माण हुआ था. इस गंगराज के पुत्र वोप्पण के द्वारा भी श्रवण-

वेलगोल में एक जिनमन्दिर बनवाया गया था. यह बोप्पण महाराजा विट्टिदेव का चतुर सेनापति था. बोप्पण की पत्नी सेनानायक मरियण्ण एवं भरत की (ब्योटी) छोटी बहन थी. मरियण्ण और भरत ये दोनों प्रथम नरसिंह (ई० सन् ११४१-११७३) के सेनानायक रहे इन सहोदरों ने सैकडों मन्दिर बनवाये और श्रवणबेलगोल में चन्द्रगिरि पर भरत-बाहुबली की मूर्तियाँ भी स्थापित कीं. गंडविमुक्त सिद्धान्तदेव इन सहोदरों के श्रद्धेय गुरु थे. इस होय्सल सेना में पुरुष ही नहीं, अपने पूज्य पति सेनापति पुनीष के साथ जैन वीरांगना जक्कियव्वा भी सेनानायिका रही. ये दोनों पति-पत्नी श्रीअजितसेनाचार्य के शिष्य थे. उपर्युक्त ये सभी बातें श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में मौजूद हैं.

जैनधर्म का परम श्रद्धालु हुल्ल होय्सल शासक विट्टिदेव, नरसिंह और वीरवल्लाल इन तीनों के शासन काल में कोशाधिकारी था. हुल्ल को शासन-कार्य एवं राज्यघटना के निर्माण में योगंधराय और राजनीति में बृहस्पति से भी प्रवीण बतलाया है. यह महामण्डलाचार्य देवकीर्ति का शिष्य था. इसने श्रवणबेलगोल में शिलामय 'चतुर्विंशतित्तीथंकरवसदि' के नाम से एक सुन्दर जिन मन्दिर बनवाया था. राजा नरसिंह जब यात्रार्थ श्रमणबेलगोल गया, तब इस मन्दिर की पूजा के लिये इसने सवणेरु नामक ग्राम को दान में दे दिया था. हुल्ल की प्रार्थना से इस दान का समर्थन बल्लाल द्वितीय ने भी किया था. इस प्रकार गंगराज, हुल्ल और बोप्पण आदि श्रद्धालु जैन श्रावकों ने होय्सल शासकों से जैन धर्म की बड़ी-बड़ी सेवाएँ कराई हैं. इन लोगों ने स्वयं भी जैनधर्म की अपार सेवा बजाकर, जैन इतिहास में अपना नाम अमर कर दिया है.

अब राष्ट्रकूट राजवंश को लीजिए. इस वंश के शासनकाल में भी कर्णाटक में जैनधर्म विशेष उन्नति पर था. राष्ट्रकूट-वंशी अमोघवर्ष प्रथम (ई० सन् ८१५-७७) जैनधर्मानुयायी था. इसकी राजधानी मलखेड या मान्यखेट थी. इसके राज्य में कर्णाटक ही नहीं, महाराष्ट्र का बहुभाग भी शामिल था. अमोघवर्ष के गुरु आदि पुराण के रचयिता भगवज्जिनसेन थे. इसे नृप तुंग और अतिशयधवल उपाधियाँ थीं. अमोघवर्ष ने वैभवपूर्वक राज्य शासन कर अंत में जिनदीक्षा ली थी. अमोघवर्ष के शासनकाल में जैन वाङ्मय विशेष रूप से प्रवर्धमान हुआ. धवला, जयधवला, शाकटायनव्याकरण की अमोघवृत्ति और गणितसार आदि बहुमूल्य कृतियाँ इसी के शासनकाल में रची गईं. राष्ट्रकूट शासकों में प्रायः सभी शासक जैनधर्म के अनुयायी थे. कृष्ण द्वितीय के गुरु आचार्य गुणभद्र थे. इसी के शासनकाल में जैन वीरांगना जक्किमव्वे नागरखंड में दक्षता से राज्य करती रही. राष्ट्रकूट के अंतिम शासक इन्द्र ने अन्त में श्रवणबेलगोल जाकर ई० सन् ९८४ में समाधिमरण स्वीकार किया था. राष्ट्रकूट शासकों के सामंत, जैन वीर बंकेय, इसका सुयोग्य पुत्रलोकादित्य, नागार्जुन आदि कर्णाटकीय राजनीति की उन्नति एवं संस्कृति के उत्थान में पूर्ण सहयोगी रहें.

चालुक्यवंश जैन धर्मानुयायी नहीं था. फिर भी इस वंश के शासक जैनधर्म से विशेष प्रभावित थे. इस वंश के पुलकेशि द्वितीय के गुरु जैनाचार्य रविकीर्ति थे. इसी प्रकार विनियादित्य के धर्मगुरु जैन विद्वान् निर्विव्यदेव रहे विक्रमादित्य का विवाह तो जैन राजवंश से ही हुआ था. इसकी रानी तथा इंगलिगि प्रांत की शासिका जाकलदेवी के द्वारा वहाँ पर दो सुन्दर जिनमन्दिर निर्माण कराये गये थे. चालुक्य शासकों ने जैन कवियों को भी सहर्ष आश्रय दिया था. कन्नड आदिपुराण का कर्त्ता यशस्वी महाकवि पंप चालुक्य राज-सभा का भूषण था. बद्दिग के द्वारा निर्मापित एक जिनालय के लिये अरिकेसरी ने सोमदेवसूरी को एक गांव दान में दिया था. रामस्वामी अय्यंगार के मत से कलचूरि राजवंश पक्का जैन-धर्मानुयायी था. इस बात को उन्होंने अपनी कृति में पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध किया है.

विजयनगर साम्राज्य के काल में भी जैन वीरों का साहस कुंठित नहीं हुआ था. सेनानायक बैचण्ण, वीर, शांत, दंडनायक चमूप आदि जैन ही थे. इन्हीं वीरों की मदद से हरिहर को सिंहासन मिला. बुक्कराय के शासनकाल में भी दण्डनायक, मुण्डप मल्लप्प और बैचप्प का पुत्र इरुगप्प आदि सम्मान पूर्वक अधिकारारूढ़ रहे. इरुगप्प हरिहर द्वितीय का भी मंत्री था. प्रथम देवराय की पत्नी भीमादेवी जैनधर्मावलंबिनी थी. इसने 'श्रवणबेलगोलस्य मंगायिवसदि' में भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्तिस्थापित की थी. देवराय ने भी विजयनगर में पार्श्वनाथवसदि को निर्माण कराया था. विजयनगर के इन शासकों ने जैनधर्म से प्रवाहित हो, अनेक जिनालयों को दान भी दिया है. इस वंश के प्रतापी सम्राट् बुक्कराय प्रथम

के ई० सन् १३६५ का एक लेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण है. यह लेख श्रवणबेलगोलस्थ 'भंडारिबसदि' में आज भी मौजूद है. इस लेख में लिखा है कि जैनधर्मावलंबियों के द्वारा बुक्कराय से वैष्णवों की ओर से होने वाले अत्याचार की शिकायत की जाने पर बुक्कराय ने जैन और वैष्णव दोनों सम्प्रदायों के प्रभावशाली व्यक्तियों को एकत्रित कर जैन भक्तों का हाथ वैष्णवों के हाथ में रख कर, दोनों में मेल कराया. साथ ही घोषणा की कि जैन और वैष्णव दोनों मत अभिन्न हैं. दोनों एक ही शरीर के अंग हैं.

इसी प्रकार चेंगाल्व, कोंगाल्व, शांतर आदि दक्षिण के कई जैन सामंत शासक भी काफी प्रसिद्ध रहे. खासकर तोलव [दक्षिण कन्नड] के बैररस, बंग, अजिल, मूल, चौट, सेवंत, विण्णाणि, कोन्न आदि कई सामंत शासक, पक्के जैन-धर्मावलंबी हो वैभवपूर्वक यहाँ पर शासन करते रहे. इन सामंतों में से बैररस के द्वारा कारकलस्थ गोम्मट-मूर्ति और निम्मण अजिल के द्वारा वेणूरस्थ गोम्मट-मूर्ति समारोहपूर्वक स्थापित की गई थी. इस प्रकार एक जमाने में कर्णाटक में जैन-धर्म लिये के जैन शासकों का बड़ा बल रहा. वह जमाना जैनधर्म के लिये सुवर्ण-युग ही था.
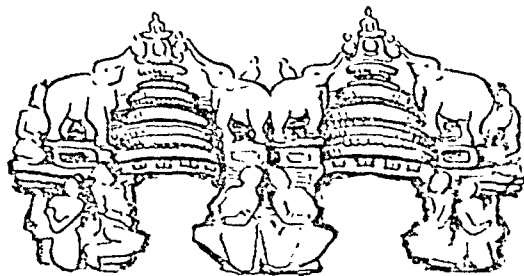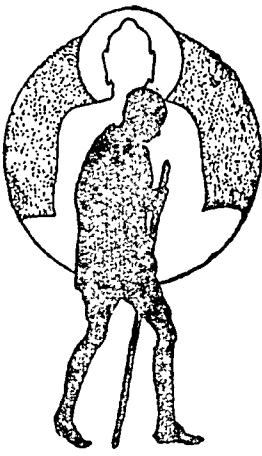
मुनि श्रीनथमलजी

# उपनिषद्, पुराण और महाभारत में श्रमण संस्कृति का स्वर

श्रमण परम्परा आत्म-विद्या की परम्परा है. वह उतनी ही प्राचीन है, जितनी प्राचीन आत्म-विद्या है. भारतीय विद्याओं में आत्म-विद्या का स्थान सर्वोच्च है. जो व्यक्ति आत्मा को नहीं जानता, वह बहुत कुछ जानकर भी ज्ञानी नहीं बन पाता. शौनक ने अंगरा से पूछा—'भगवन् ! वैसा क्या है ? जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाय.'[१]

उपनिषदों में इसका उत्तर है—'आत्मा को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है.' यह श्रमण-संस्कृति का प्रधान स्वर है.

आत्म-विद्या क्षत्रिय परम्परा के अधीन रही है. पुराणों के अनुसार क्षत्रियों के पूर्वज भगवान् ऋषभ हैं.[२] श्रीमद्भागवतकार के अभिमत में भगवान् ऋषभ मोक्षधर्म के प्रवर्तक अवतार हैं.[३] भगवान् ऋषभ के सौ पुत्र थे. उनमें नौ पुत्र वातरशन श्रमण बने. वे आत्म-विद्या विशारद थे.[४] भगवान् ऋषभ ने जिस आत्म-विद्या और मोक्ष-विद्या का प्रवर्तन किया, वह सुदीर्घ काल तक क्षत्रियों के आधीन रही. बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद् में हम देख पाते हैं कि अनेक ब्राह्मण ऋषि क्षत्रिय राजाओं के पास आते हैं और आत्म-विद्या का बोध लेते हैं.[५]

विन्टरनित्ज के मत में दार्शनिक चिन्तन (अथवा जागरण) ब्राह्मण युग के पश्चात् नहीं, पूर्व शुरु हो चुका था. स्वयं ऋग्वेद में ही कुछ ऐसे सूक्त हैं जिनमें देवताओं में और पुरोहितों की अद्भुत शक्ति में जनता के अन्धविश्वास के प्रति-कुछ सन्देह स्पष्ट हो चुके हैं.[६]

---

१. मुण्डकोपनिषद् १।१।३.

२. (क) ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वार्ध अनुषंगपाद, अध्याय १४, श्लोक ६०.
ऋषभं पार्थिव-श्रेष्ठं सर्व-क्षत्रस्य पूर्वजम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्र-शताग्रजः ।
(ख) वायुमहापुराण, पूर्वार्ध, अध्याय ३३, श्लोक ५०.
नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिः ।
ऋषभं पार्थिव-श्रेष्ठं सर्व-क्षत्रस्य पूर्वजम् ।

३. श्रीमद्भागवत ११।२।१६ (गीताप्रेस गोरखपुर, प्रथम संस्करण)
तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया ।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम् ।

४. श्रीमद्भागवत ११।२।२०.
नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः ।
श्रमणा वातरशना आत्म-विद्या विशारदाहः ।

५. छान्दोग्य उपनिषद् ५।३, ५।११ (३ संस्करण), बृहदारण्यक ६।२, २।१ (२ संस्करण).

६. प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड पृष्ठ १८२ (मोतीलाल बनारसीदास).

'भारत के इन प्रथम दार्शनिकों को उस युग के पुरोहितों में खोजना उचित न होगा, क्योंकि पुरोहित तो यज्ञ को एक शास्त्रीय ढांचा देने में दिलोजान से लगे हुए थे. जबकि इन दार्शनिकों का ध्येय वेद के अनेकेश्वरवाद को उन्मूलित करना ही था जो ब्राह्मण यज्ञों के आडम्बर द्वारा ही अपनी रोटी कमाते हैं उन्हीं के घर में ही कोई ऐसा व्यक्ति जन्म ले-ले जो इन्द्र तक की सत्ता में विश्वास न करे, देवताओं के नाम से आहुतियां देना जिसे व्यर्थ नजर आए—बुद्धि नहीं मानती. सो अधिक संभव नहीं प्रतीत होता कि यह दार्शनिक चिन्तन उन्हीं लोगों का क्षेत्र था जिन्हें वेदों में पुरोहितों का शत्रु अर्थात् अरि, कंजूस, ब्राह्मणों को दक्षिणा देने से जी चुराने वाला—कहा गया है.

उपनिषदों में तो, और कभी-कभी ब्राह्मणों में भी, ऐसे कितने ही स्थल आते हैं जहाँ दर्शन अनुचिन्तन के उस युग-प्रवाह में क्षत्रियों की भारतीय संस्कृति को देन स्वतः सिद्ध हो जाती है .[१]

अपने पुत्र श्वेतकेतु से प्रेरित हो आरुणि पंचाल के राजा प्रवाहण के पास गया. तब राजा ने उससे कहा—'मैं तुम्हें जो आत्म-विद्या और परलोक-विद्या दे रहा हूँ, उस पर आज तक क्षत्रियों का प्रशासन रहा है. आज पहली बार वह ब्राह्मणों के पास जा रही है.[२]

## परा और अपरा

माण्डुक्य उपनिषद् में विद्या के दो प्रकार किए गए हैं, परा और अपरा.[3] उसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—यह अपरा है. जिससे अक्षर-परमात्मा का ज्ञान होता है, वह परा है.[४]

महर्षि बृहस्पति ने प्रजापति मनु से कहा—'मैंने ऋक्, साम और यजुर्वेद, अथर्ववेद, नक्षत्र-गति, निरुक्त, व्याकरण, कल्प और शिक्षा का भी अध्ययन किया है तो भी मैं आकाश आदि पांचों महाभूतों के उपादान कारण को न जान सका.'[५] प्रजापति मनु ने कहा—'मुझे इष्ट की प्राप्ति हो और अनिष्ट का निवारण हो, इसी के लिये कर्मों का अनुष्ठान आरम्भ किया गया है. इष्ट और अनिष्ट दोनों ही मुझे प्राप्त न हों, इसके लिये ज्ञानयोग का उपदेश दिया गया है. वेद में जो कर्मों के प्रयोग बताए गए हैं, वे प्रायः सकाम भाव से युक्त हैं. जो इन कामनाओं से मुक्त होता है, वही परमात्मा को पा सकता है. नाना प्रकार के कर्म मार्ग में सुख की इच्छा रखकर प्रवृत्त होने वाला मनुष्य परमात्मा को प्राप्त नहीं होता.[६]

## पिता-पुत्र संवाद

ब्राह्मण पुत्र मेधावी मोक्ष-धर्म के अर्थ में कुशल था. वह लोक-तत्त्व का अच्छा ज्ञाता था. एक दिन उसने अपने स्वाध्याय परायण पिता से कहा :

'पिता ! मनुष्यों की आयु तीव्र गति से बीती जा रही है. यह जानते हुए धीर पुरुष को क्या करना चाहिए ? तात !

---

१. वही पृष्ठ १८३.

२. छान्दोग्य उपनिषद् ५।३।७ पृष्ठ ४७६.
यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच.
(ख) बृहदारण्यक ६।२।८ पृष्ठ १२८७.
यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि.

३. १।१।४.

४. १।१।५.

५. महाभारत शान्तिपर्व २०१।८ (प्रकाशक—गीताप्रेस गोरखपुर).

६. महाभारत शान्तिपर्व २०१। १०-११.

आप मुझे उस यथार्थ उपाय का उपदेश कीजिए, जिसके अनुसार मैं धर्म का आचरण कर सकूं ?'

पिता ने कहा—'बेटा ! द्विज को चाहिए कि वह पहले ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करे फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर के पितरों की सद्गति के लिए पुत्र पैदा करने की इच्छा करे. विधि-पूर्वक त्रिविध अग्नियों की स्थापना करके यज्ञों का अनुष्ठान करे. तत्पश्चात् वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करे. उसके बाद मौनभाव से रहते हुए संन्यासी होने की इच्छा करे.'

पुत्र ने कहा—'पिता ! यह लोक जब इस प्रकार से मृत्यु द्वारा मारा जा रहा है, जरा अवस्था द्वारा चारों ओर से घेर लिया गया है, दिन और रात सफलता पूर्वक आयुक्षय रूप काम कर के बीत रहे हैं, ऐसी दशा में भी आप धीर की भांति कैसी बात कर रहे हैं ?'

पिताने पूछा—'बेटा ! तुम मुझे भयभीत-सा क्यों कर रहे हो ? बताओ तो सही, यह लोक किससे मारा जा रहा है, किसने हमें घेर रखा है और यहां कौन से ऐसे व्यक्ति हैं जो सफलता पूर्वक अपना काम करके व्यतीत हो रहे हैं.

पुत्र ने कहा—'पिता ! देखिए यह सम्पूर्ण जगत् मृत्यु के द्वारा मारा जा रहा है. बुढ़ापे ने इसे चारों ओर से घेर लिया है. और ये दिन-रात ही वे व्यक्ति हैं जो सफलता पूर्वक प्राणियों की आयु का अपहरण स्वरूप अपना काम करके व्यतीत हो रहे हैं, इस बात को आप समझते क्यों नहीं ?'

'ये अमोघ रात्रियां नित्य आती हैं और चली जाती हैं. जब मैं इस बात को जानता हूं कि मृत्यु क्षणभर के लिये भी रुक नहीं सकती और मैं उसके जाल में फंसकर ही विचर रहा हूं तब मैं थोड़ी देर भी प्रतीक्षा कैसे कर सकता हूं ?'

'जब एक-एक रात बीतने के साथ ही आयु बहुत कम होती चली जा रही है तब छिछले जल में रहनेवाली मछली के समान कौन सुख पा सकता है ?'

जिस रात के बीतने पर मनुष्य कोई शुभ कर्म न करे. उस दिन को विद्वान् पुरुष 'व्यर्थ ही गया' समझे. मनुष्य की कामनाएं पूरी भी नहीं होने पाती कि मौत उसके पास आ पहुंचती है.

जैसे घास चरते हुए मेढे के पास अचानक व्याघ्री पहुंच जाती है और उसे दबोचकर चल देती है, उसी प्रकार मनुष्य का मन जब दूसरी ओर लगा होता है, उसी समय सहसा मृत्यु आ जाती है और उसे लेकर चल देती है. इसलिए जो कल्याणकारी कार्य हो, उसे आज ही कर डालिए, क्योंकि जीवन निःसन्देह अनित्य है. धर्माचरण करने से इहलोक में मनुष्य की कीर्ति का विस्तार होता है और परलोक में भी उसे सुख मिलता है.

अतः अब मैं हिंसा से दूर रहकर सत्य की खोज करूंगा, काम और क्रोध को हृदय से निकालकर दुःख और सुख में समान भाव रखुंगा तथा सबके लिये कल्याणकारी बनकर देवताओं के समान मृत्यु के भय से मुक्त हो जाऊंगा.

मैं निवृत्ति परायण होकर शान्तिमय यज्ञ में तत्पर रहूंगा. मन और इन्द्रियों को वस में रखकर ब्रह्म-यज्ञ में लग जाऊंगा ओर मुनि-वृत्ति से रहूंगा. उत्तरायण मार्ग से जाने के लिये मैं जप और स्वाध्याय रूप वाग्यज्ञ, ध्यान रूप मनोयज्ञ और अग्निहोत्र एवं गुरुसुश्रूपादि रूप कर्म-यज्ञ का अनुष्ठान करूंगा.

पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति,
अंतवद्भिरिव प्राज्ञः क्षेत्रयज्ञैः पिशाचवत्.

मेरे जैसा विद्वान् पुरुष नश्वर फल देनेवाले हिंसायुक्त पशुयज्ञ और पिशाचों के समान अपने शरीर के ही रक्त-मांस द्वारा किये जाने वाले तामसयज्ञों का अनुष्ठान कैसे कर सकता है ?

जिसकी वाणी और मन दोनों सदा भली भाँति एकाग्र रहते हैं तथा जो त्याग, तपस्या और सत्य से सम्पन्न होता है, वह निश्चय ही सब कुछ प्राप्त कर सकता है.

संसार में विद्या (ज्ञान) के समान कोई नेत्र नहीं है. सत्य के समान कोई तप नहीं है, राग के समान कोई दुःख नहीं है और त्याग के समान कोई सुख नहीं है.

आत्मन्येवात्मना जात आत्मनिष्ठोऽप्रजाऽपिपा,
आत्मन्येव भविष्यामि न मां तारयति प्रजा.

मैं संतान रहित होने पर भी आत्मा में ही आत्मा द्वारा उत्पन्न हुआ हूं और आत्मा में ही स्थित हूं. आगे भी आत्मा में ही लीन हो जाऊंगा. सन्तान मुझे पार नहीं उतारेगी.

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं, यथैकता समता सत्यताच,
शीलंस्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं, ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः.

परमात्मा के साथ एकता तथा समता, सत्य-भाषण, सदाचार, ब्रह्मनिष्ठा दण्ड का परित्याग (अहिंसा), सरलता तथा सब प्रकार के सकाम कर्मों से उपरति—इनके समान ब्राह्मण के लिये दूसरा कोई धन नहीं है

ब्राह्मण देव पिता ! जब आप एक दिन मर ही जायेंगे तो आपको इस धन से क्या लेना है अथवा भाई-बन्धुओं से आपका क्या काम है तथा स्त्री आदि से आप का कौन,सा प्रयोजन सिद्ध होने वाला है. आप अपने हृदयरूपी गुफा में स्थित हुए परमात्मा को खोजिए. सोचिए तो सही आपके पिता और पितामह कहां चले गए ?[1]

वैदिक विचार-धारा वह है, जो श्लोक में पिता ने पुत्र से कही. मनुस्मृति से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है. वहां लिखा है—'जो ब्राह्मण वेद पढ़े बिना, सन्तान उत्पत्ति किए बिना तथा यज्ञों का अनुष्ठान किए (ऋषि, ऋण, पितृऋण और देव-ऋण से उऋण हुए) बिना संन्यास धारण की इच्छा करता है, वह नीच गति को प्राप्त होता है.[2] इस मान्यता के विपरीत मेधावी ने अपने पिता से कहा वह अवैदिक विचारधारा है. वह श्रमण-विचार धारा का मंतव्य है.[3]

पौराणिक धर्म कृष्ण के व्यक्तित्व को केन्द्र-बिन्दु मानकर विकसित हुआ है. कृष्ण का धर्म वैदिक सिद्धान्तों से भिन्न था.

कृष्ण का व्यक्तित्व उत्पत्ति से अवैदिक था.[4] ऐसे अभिमत को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत करते हुए लक्ष्मण शास्त्री ने लिखा है. 'पौराणिक धर्म की एक विशेषता यह है कि उसके मुकाबले में यज्ञ-संस्था एकदम पिछड़ गई. भागवत-धर्म में वेदविहित यज्ञों को दोषपूर्ण बतलाया गया है, उनकी निन्दा की गई है. इसके आधार पर इतिहास के कई पण्डित यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि पौराणिक-संस्कृति तथा वेदों की संस्कृति में विरोध है और पौराणिक धर्म वास्तव में अवैदिकों के वेदपूर्व काल से चलते आए धर्म की वह नवीन व्यवस्था है जिसे वैदिकों ने बड़े समन्वय पूर्वक तैयार किया है. उपपत्ति को सिन्ध प्रान्त में उत्खनन में पाए गए तीन हजार वर्षों के पूर्ववर्ती सांस्कृतिक अवशेषों से पुष्टि मिलती है. यह अनुमान किया है कि उस उन्नत संस्कृति के लोगों में योग-विद्या तथा लिंगरूप शिव की पूजा तो अवश्य विद्यमान थी, परन्तु उनमें वेदों की याज्ञिक याने यज्ञ पर आधारित संस्कृति नहीं थी. इस अनुमान के लिये पर्याप्त सामग्री इस उत्खनन में पाई गई है. ध्यानस्थ शिव की मूर्ति तथा पूजनीय शिश्न-समान लिंग वहां उपलब्ध हुए हैं.[5]

मार्कण्डेय पुराण में भी पिता और पुत्र का संवाद है. पिता नाम भार्गव है और पुत्र का नाम है सुमति. भार्गव ने सुमति से कहा—'पुत्र ! पहले वेदों को पढ़ो, गुरु सुश्रूषा में संलग्न रहो, भिक्षान्न खाओ, फिर गृहस्थ बनो, यज्ञ करो, सन्तान उत्पन्न करो, वनवासी बनो फिर परिव्राजक—इस क्रम से ब्रह्म की प्राप्ति करो'.[6]

---

१. महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १७५, श्लोक ५-१४, ३६. ३१-३८.

२. मनुस्मृति ६-३७.
अनधीत्य द्विजो वेदान्, अनुत्पाद्य तथा सुतान् ,
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च, मोक्ष मिच्छन् व्रजत्यधः ।

३. उत्तराध्ययन १४.

४. जर्नल आफ ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, भाग १२. भाग नं० ३, पृष्ठ २३२-२३७.

५. वैदिक संस्कृति का विकास पृष्ठ १५४-५५ (साहित्य एकादमी दिल्ली की ओर से हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा० लि० द्वारा प्रकाशित).

६. मार्कण्डेय पुराण, अध्याय १०, श्लोक १०-१३ (श्री वेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई).

पिता की वाणी सुन सुमति कुछ नहीं बोला. पिता ने अपनी बात को बार-बार दोहराया, तब सुमति मुस्कान भरते हुए बोला —'पिता, आपने जो उपदेश दिया, उसका मैं बहुत बार अभ्यास कर चुका हूं, अनेक शास्त्रों और शिल्पों का भी मैंने अभ्यास किया है. मुझे मेरे अनेक पूर्व-जन्मों की स्मृति हो रही है. मुझे ज्ञानबोध उत्पन्न हो गया हैं. मुझे वेदों से कोई प्रयोजन नहीं है. मैंने अनेक माता-पिता किये है."[१]

संसार परिवर्तन के लम्बे वर्णन के बाद सुमति ने कहा—'पिता ! संसार-चक्र में भ्रमण करते-करते मुझे अब मोक्ष प्राप्ति कराने वाला ज्ञान मिल गया है. उसे जान लेने पर यह सारा ऋग्, यजुः और साम संहिता का क्रिया-कलाप मुझे विगुण सा लग रहा है. वह मुझे सम्यक् प्रतिभासित नहीं हो रहा है. बोध उत्पन्न हो गया है. त्र गुरु-विज्ञान से तृप्त और निरीह हो गया हूं. मुखे वेदों से कोई प्रयोजन नहीं. पिता ! मैं किंपाक फल के समान इस अधर्माढ्य-त्रयीधर्म (ऋग् यजुः, साम-धर्म) को छोड़कर परमपद की प्राप्ति के लिये जाऊंगा.[२]

पिता ने पूछा : पुत्र ! यह ज्ञान तुझे कैसे सम्भव हुआ ? सुमति ने कहा—'पिता में पूर्वजन्म में परमात्मलीन ब्राह्मण संन्यासी था. आत्म-विद्या में मुझे परानिष्ठा प्राप्त थी. मैं आचार्य हुआ. अन्त में मरते समय मुझे प्रमाद हो आया. एक वर्ष का होते-होते मुझे पूर्व-जन्म की स्मृति हो आई. मुझे जो जाति स्मरण ज्ञान हुआ है, उसे त्रयी-धर्म का आश्रय लेने वाले नहीं पा सकते.'[३]

### यज्ञ

सोलह ऋत्विक्, यजमान और उसकी पत्नी—ये अठारह यज्ञ के साधन हैं. ये सब निकृष्ट कर्म के आश्रित और विनाशी हैं. जो मूढ़ 'यही श्रेय है' इस प्रकार इनका अभिनन्दन करते हैं, वे बार-बार जरा-मरण को प्राप्त होते रहते हैं.[४]

यज्ञ संख्या की उपयोगिता के प्रति सन्देह की भावना आरण्यक काल में भी उत्पन्न हो गई थी. तत्त्वज्ञानी के लिये आध्यात्मिक यज्ञ का विधान होने लगा था. तैत्तरीय आरण्यक में लिखा है : 'ब्रह्म का साक्षात्कार पाने वाले विद्वान् संन्यासी के लिये यज्ञ का यजमान आत्मा है. अन्तःकरण की श्रद्धा पत्नी है. शरीर समिधा है. हृदय वेदि है. मन्यु-क्रोध पशु है. तप अग्नि है और दम दक्षिणा है.[५]

ये स्वर इतिहास के उस काल में प्रबल हुए थे, जब श्रमण विचार-धारा कर्मकाण्ड को आत्म-विद्या से प्रभावित कर रही थी.

---

१. वही, श्लोक १४-२६

२. मार्कण्डेय पुराण, अध्याय १०, श्लोक २७-२८,३२.
एवं संसारचक्रेस्मिन्भ्रमता तात ! संकटे ।
ज्ञान मेतन्मया प्राप्तं, मोक्ष-सम्प्राप्ति कारकम् ।
विज्ञाते यत्र सर्वोयं, ऋग् यजुः साम संहिता ।
क्रिया कलापो विगुणो, न सम्यक् प्रतिभातिमे ।
तस्माद् यास्याम्यहं तातः. त्यक्तंवेमां दुःखसन्ततिम् ।
त्रयी-धर्म मधर्माढय. किंपाकफलसन्निभम् ।

३. मार्कण्डेय पुराण, अध्याय १०, श्लोक ३४-४२.
ज्ञानदान फलं ह्येतद्, यज्जाति स्मरणं मम ।
नह्येतत् प्राप्यते तात ! त्रयीधर्माश्रितैर्नरैः ।४२।

४. मुण्डकोपनिषद् १।२।७, पृष्ठ ३८.

५. तैत्तरीय आरण्यक प्रपाठक १०, अनुवाक ६४, भाग २ पृष्ठ ७७६.

आचार्य मुनि श्रीजिनविजयजी

# वैशालीनायक चेटक और सिंधुसौवीर का राजा उदायन

[विक्रम संवत् १९७९ में आचार्य श्री जिनविजयजी ने 'पुरातत्त्व' पु० १ अं० ३ में 'वैशालीना गणसत्ताक राज्यनो नायक राजा चेटक' नामक लेख लिखवाना प्रारम्भ किया था. समग्र लेख एक पुस्तक ही वन जाता और तत्कालीन राजनैतिक इतिहास पर जैन-वौद्ध साहित्यिक सामग्री से नया प्रकाश पड़ता किन्तु दुर्भाग्य से वह अधूरा ही रह गया. फिर भी इसमें चेटक और उदायन के सम्बन्ध में नया प्रकाश उपलब्ध होता है और आज ४१ वर्ष के बाद भी वह लेख नवीन मालूम होता है अतएव हम उसका हिन्दी अनुवाद यहाँ दे रहे हैं.—सम्पादक]

जैन-साहित्य में वैशाली के राजा चेटक का नाम कई प्रकारों से प्रसिद्ध है. महावीर के धर्म का महान् उपासक होने मात्र से ही यह प्रसिद्ध नहीं था किन्तु कई अन्य व्यावहारिक प्रसंगों से भी इसकी प्रसिद्धि थी. इसकी प्रसिद्धि के कई कारणों में पहला कारण यह था कि इसका महावीर के वंश के साथ दो प्रकार का संबंध था. एक महावीर की माता त्रिशला इसकी वहन होती थी और दूसरा महावीर के ज्येष्ठ भ्राता नंदिवर्धन की पत्नी, जिसका नाम ज्येष्ठा था, इसकी पुत्री थी. जिस प्रकार महावीर के वंश के साथ इसका कौटुम्बिक संवन्ध था उसी प्रकार तत्कालीन भारत के प्रसिद्ध राजाओं के साथ भी इसका गाढ सम्बन्ध था. सिन्धुसौवीर के राजा उदायन, अवंती के राजा प्रद्योत, कौशाम्बी के राजा शतानीक, चंपा के राजा दधिवाहन, और मगध के राजा विम्बिसार इसके दामाद होते थे. जैन-साहित्य में कुणिक अथवा कोणिक एवं वौद्ध साहित्य में अजातशत्रु के नाम से प्रसिद्ध मगधसम्राट् और जैन, वौद्ध एवं हिन्दु कथासाहित्य का ख्यातनाम पात्र वत्सराज उदयन इसके दौहित्र थे. साथ ही भारत के तत्कालीन गणतंत्रात्मक राज्यों में से एक प्रधान राज्यतंत्र का यह विशिष्ट नायक भी था. जैन-परम्परा के अनुसार आर्यावर्त्त की सवसे वड़ी जनसंहारक लड़ाई इसे लड़नी पड़ी थी, जिसमें इसका प्रतिपक्षी इसी का नाती मगधराज अजातशत्रु था.

जैन-साहित्य में इतनी वड़ी प्रसिद्धि पाने वाले एवं उस समय के भारत में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने वाले, इस राजा के विषय में जैन साहित्य के सिवा अन्यत्र कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता. इसी वजह से आज के ऐतिहासिकों का ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं हुआ है. ब्राह्मण-साहित्य की ओर जव हम दृष्टिपात करते हैं तब उसमें कहीं-कहीं तत्कालीन भारत के मगध, कौसल, कौशांवी और अवंती जैसे राज्यतंत्रात्मक राज्यों का उल्लेख अवश्य मिलता है, किन्तु वैशाली जैसे स्थान का, जिसमें गणतंत्रात्मक पद्धति चलती थी, कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता.

वौद्ध साहित्य में वैशाली और उस पर आधिपत्य रखने वाली 'लिच्छवी' नामक क्षत्रिय जाति का बहुत कुछ वर्णन आता है किन्तु इस स्थान और समाज पर सर्वोपरि अधिकार रखने वाले किसी खास व्यक्ति-विशेष का नाम वौद्ध साहित्य में नहीं आता.

हिन्दुस्तान के ऐतिहासिक युग के उद्गमकाल के रूप में गिने जाने वाले इस युग के इतिहास के अभ्यासियों का ध्यान आकृष्ट करने की दृष्टि से प्रस्तुत लेख में, जैनमतानुसार वैशाली के गणतंत्रात्मक राज्य के राजा माने जाने वाले चेटक और उससे संबंधित राजाओं के विषय में जैन ग्रंथों में प्राप्त सामग्री का सारात्मक अंश यहां प्रस्तुत किया जाता है.

## तीर्थंकर महावीर के वंश के साथ चेटक का सम्बन्ध

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तीर्थंकर श्री महावीर की माता त्रिशला-क्षत्रियाणी चेटक राजा की बहन थी. इसका सबसे प्राचीन प्रमाण जैन आगम आवश्यक-चूर्णि में प्राप्त होता है. इस चूर्णि का रचनाकाल अभी तक अनिर्णीत ही है फिर भी वह विक्रम की आठवीं सदी से अधिक अर्वाचीन नहीं है, यह निश्चित ही है. आवश्यक सूत्र के टीकाकार हरिभद्र का समय विक्रम संवत् ८०० के आस-पास मैंने निश्चित किया है. (देखो जैन साहित्य संशोधक खण्ड १, अंक १, पृष्ठ ५३) आचार्य हरिभद्र ने अपनी संस्कृतटीका में इस चूर्णिसे सैकड़ों उद्धरण लिये हैं, इससे स्वतः प्रमाणित होता है कि चूर्णि का रचनाकाल हरिभद्र से पूर्व का है. इसी चूर्णि में लिखा है कि महावीर की माता त्रिशला चेटक की बहन थी और त्रिशला के बड़े पुत्र 'नन्दिवर्द्धन' की पत्नी—महावीर की भौजाई, चेटक की पुत्री होती थी. पाठ यह है—'भगवतो माया चेडगस्स भगिणी, भो (जा) यी चेडगस्स धूया.' भगवान् महावीर की माता, चेटक की भगिनी,[1] भौजाई चेटक की पुत्री" इस उल्लेख को ध्यान में रखकर बाद के ग्रंथकारों ने भी कहीं-कहीं चेटक को महावीर के मातुल (मामा) होने का उल्लेख किया है. जैन आगमों में सबसे प्राचीन और प्रथम आगम आचारांग में महावीर की कुछ जीवनी प्राप्त होती है—उसमें एक स्थान पर महावीर की माता का एक नाम 'विदेहदिन्ना' भी आता है. जैसा कि—'समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मा वासिट्ठस्स गुत्ता तीसे णं तिन्नि नामधिज्जा एवमाहिज्जति तंजहा—तिसला इ वा विदेहदिन्ना इ वा पियकारिणी इ वा" (आचारांग आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित पृ० ४२२) श्रमण महावीर की माता के, जिसका वाशिष्ठ गोत्र था, इसके तीन नाम थे— एक त्रिशला,[2] दूसरा विदेहदिन्ना और तीसरा प्रियकारिणी. विदेहदिन्ना के व्युत्पत्त्यर्थ से यह जाना जाता है कि इनका जन्म विदेह के राजकुल में हुआ था. माता के इस कुलसूचक नाम से महावीर का भी एक नाम विदेहदिन्न था जिसका उल्लेख आचारांग सूत्र के उपर्युक्त सूत्र के बाद तुरत ही आया है जैसा कि—"समणे भगवं महावीरे नाए नायपुत्ते नायकुलनिव्वत्ते विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले" (पृ० ४२२) ये दोनों अवतरण कल्पसूत्र में भी हैं. वहाँ टीकाकार विदेहदिन्न की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'विदेहदिन्ना त्रिशला तस्या अपत्यं वैदेहदिन्नः.' अब हम देखेंगे कि वैशाली विदेह का ही एक भाग था, अतएव चेटक के वंश को विदेह-राजकुल कहा जाना स्वाभाविक ही है. इस प्रकार महावीर की माता त्रिशला विदेह राजकुल के चेटक की बहन होती थी, यह आवश्यक चूर्णि एवं आचारांग सूत्र के उल्लेख से अधिक स्पष्ट हो जाता है.

त्रिशला के बड़े पुत्र और महावीर के बड़े भाई नंदिवर्द्धन की पत्नी चेटक की पुत्री थी, यह मैं ऊपर कह आया हूं. इसका भी उल्लेख आवश्यकचूर्णि में आता है कि चेटक की किस लड़की ने किस राजा के साथ विवाह किया है. इसके अनुसार चेटक की सात पुत्रियां थीं जिनमें से छह के विवाह हो चुके थे और एक अविवाहित ही रही. इन छहों में ५ वीं पुत्री जेष्ठा का विवाह नन्दिवर्द्धन के साथ हुआ था. यह उल्लेख इस प्रकार है—'जेट्ठा कुंडग्गामे वद्धमाणसामिणो जेट्ठस्स नन्दिवद्धणस्स दिन्ना' जेष्ठा (नाम की कन्या) को कुण्डग्राम में—वर्द्धमान (महावीर का मूल नाम) स्वामी के जेष्ठ (बन्धु) नन्दिवर्द्धन को दी थी. इसका उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र ने अपने महावीरचरित्र में भी किया है :

---

१. देखो—कल्पसूत्र, धर्मसागर गणि कृत किरणावली टीका पृ० १२४ चेटक महाराजस्य भगवन्मातुलस्य.

२. कल्पकिरणावली धर्मसागर कृत पृ० ५६३, कल्पसुबोधिका विनयविजय कृत पृ० १४४.

कुण्डग्रामाधिनाथस्य नन्दिवर्द्धनभूभुजः,
श्रीवीरनाथज्येष्ठस्य, जेष्ठा दत्ता यथारुचिः ![1]

श्री महावीर के बड़े भ्राता का नाम नन्दिवर्धन था. इसका स्पष्ट उल्लेख आचारांग और कल्पसूत्र जैसे मूल सूत्रों में आया है. यथा—'समणस्स भगवओ महावीरस्स जिट्ठे भाया नंदिवद्धणे कासवगुत्तेणं (आचारांग पृ० ४२२, कल्पसूत्र में भी यही पाठ है)

(कुछ देशों और जातियों में मामा की कन्या पर भानजे का प्रथम हक होता है. यह प्रथा बहुत समय पहले की है. आज भी महाराष्ट्र की कुछ जातियों में इस प्रथा का प्रचलन है. आवश्यक सूत्र की टीका में हरिभद्र सूरि ने 'देशकथा' के वर्णन में एक पुरानी गाथा दी है जिसमें कहा गया है कि—देश--देश के रीति रिवाज अलग-अलग हुआ करते हैं. एक देश में जो वस्तु गम्य या स्वीकार्य होती है वही वस्तु दूसरे प्रदेश में अगम्य या अस्वीकार्य हो जाती है. जैसे—अंग और लाट देश में लोग मातुलदुहिता—मामा की लड़की को गम्य मानते हैं किन्तु गोड़ देश में उसे बहन मान कर अगम्य समझते हैं. वह गाथा यह है :

छंदो गम्मागम्मं जह माउलदुहियमंगलाडाणं,
अन्नेसिं सा भगिणी, गोलाईणं अगम्मा उ !

जिस प्रकार महावीर के मामा की पुत्री ने अपनी फूफी के लड़के नन्दिवर्द्धन के साथ विवाह किया था उसी प्रकार खुद महावीर की पुत्री प्रियदर्शना ने भी अपनी सगी फूफी सुदर्शना के लड़के जमालि नामक क्षत्रियकुमार से विवाह किया था. इसका उल्लेख अनेक प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों में है. आवश्यक सूत्र के भाष्य टीका और चूर्णि में भी यही बात मिलती है. जैसा कि—'कुंडलपुरं नगरं तत्थ जमाली सामिस्स भाइणिज्जो—तस्स भज्जा सामिस्स दुहिता' (हरिभद्रकृत आवश्यकसूत्र टीका पृ० ३१२).

## भारत के दूसरे राजाओं के साथ चेटक का कौटुम्बिक संबंध

मैं पहले ही कह आया हूं कि चेटक की कुल सात पुत्रियां थीं जिनमें से एक कुमारिका ही रही और शेष छहों ने अपने समय के ख्यातनाम राजाओं के साथ विवाह किया था, जिसका उल्लेख आवश्यकचूर्णि में इस प्रकार है :

'एतो य वेसालीए नगरीए चेडओ राया हेहयकुलसंभूओ. तस्स देवीणं अण्णमण्णाणं सत्त धूताओ. पभावती, पउमावती, मिगावती, सिवा, जेट्ठा, सुजेष्ठा चेल्लण त्ति. सो चेडओ सावओ परविवाहकरणस्स पच्चक्खातं. धूताओ ण देति कस्स त्ति. ताओ माति मिस्सगाओ रायं आपुच्छित्ता अण्णसिं अच्छितकाणं सरिसगानं देति. पभावती वीतिभए उद्दायणस्स दिण्णा, पउमावती चंपाए दधिवाहणस्स, मिगावती कोसंबीए सताणियस्स, सिवा उज्जेणीए पज्जोतस्स, जेट्ठा कुण्डग्गामे वद्धमाणसामिणो जेट्ठस्स णंदिवद्धणस्स दिण्णा. सुजेट्ठा चेल्लणाय देवकारिओ अच्छंति.[2]

हैहय कुलोत्पन्न वैशाली के राजा चेटक की अलग-अलग रानियों से सात पुत्रियां हुईं—प्रभावती, पद्मावती, मृगावती, शिवा, जेष्ठा सुजेष्ठा तथा चेलना. राजा श्रावक था. उसे परविवाहकरण का प्रत्याख्यान था. इसलिए वह अपनी पुत्रियों का भी विवाह नहीं करता था. तब रानियों ने राजा की अनुमति लेकर अपनी पुत्रियों के सदृश राजाओं के साथ उनका विवाह कर दिया. इनमें प्रभावती का विवाह वीतिभय के राजा उदायन के साथ, मृगावती का कोसांबी के राजा शतानिक के साथ, शिवा का उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के साथ, पद्मावती का चंपा के राजा दधिवाहन के साथ और जेष्ठा का कुण्डग्रामवासी महावीर के जेष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन के साथ हुआ था. सुजेष्ठा और चेलना अभी कुमारी थीं. आचार्य हेमचन्द्र के महावीरचरित्र में भी यही बात है :

---

१. 'त्रिपष्ठिशलाकापुरुषचरित्र' दसवां पर्व, पृ० ७७ (प्रकाशक भावनगर जैनधर्म प्रसारक सभा).
२. आवश्यक चूर्णि, आवश्यक हरिभद्रीय टीका पृ० ६७६–७.

इतश्च वसुधावध्वा मौलिमाणिक्यसन्निभा, वैशालीति श्रीविशाला नगर्यस्ति गरीयसी।
आखंडल इवाखण्डशासनः पृथिवीपतिः, चेटीकृतारिभूपालस्तत्र चेटक इत्यभूत्।
पृथग्राज्ञीभवास्तस्य, बभूवुः सप्त कन्यकाः, सप्तानामपि तद्राज्यांगानां सप्तेव देवताः।
प्रभावती पद्मावती मृगावती शिवापि च, जेष्ठा तथैव सुजेष्ठा चिल्लणा चेति ताः क्रमात्।
चेटकस्तु श्रावकोऽन्यविवाहनियमं वहन्, ददौ कन्या न कस्मैचिदुदासीन इव स्थितः।
तन्मातर उदासीनमपि ह्यापुच्छ्य चेटकम्, वराणामनुरूपाणां प्रददुः पंच कन्यकाः।
प्रभावती वीतभयेश्वरोदायनभूपतेः, पद्मावती तु चंपेश - दधिवाहनभूभुजः।
कोशाम्बीश - शतानीकनृपस्य तु मृगावती, शिवा तूज्जयिनीशस्य प्रद्योतपृथिवीपतेः।
कुण्डग्रामाधिनाथस्य नन्दिवर्द्धनभूभुजः, श्रीवीरनाथज्येष्ठस्य ज्येष्ठा दत्ता यथारुचिः।
सुज्येष्ठा चिल्लणा चापि कुमार्याविव तस्थतुः, रूपश्रियोपमाभूते ते द्वे एव परस्परम्।

अन्तिम दो पुत्रियां, जो कुंवारी थीं, उनमें से एक चिल्लणा का विवाह मगध के सम्राट् श्रेणिक के साथ किस प्रकार हुआ और दूसरी सुजेष्ठा जैन साध्वी कैसे बनी, उस पर आगे विचार किया जायगा. ज्येष्ठा किन्तु वय की दृष्टि से कनिष्ठा का जो विवरण ऊपर दिया गया है इससे अधिक जैनग्रंथों में उसके विषय में जानकारी उपलब्ध नहीं होती.

## प्रभावती

यह चेटक की प्रथम पुत्री है. इसने वीतिभय के राजा उदायन के साथ विवाह किया था. उदायन के जीवन की कुछ झांकियां कई जैन-ग्रंथों में मिलती हैं. उनमें सबसे पुराना उल्लेख जैन सूत्र भगवतीसूत्र शतक १३ वें के छठे उद्देश में इस प्रकार है :

तेणं कालेणं तेणं समएणं सिंधुसोवीरेसु जणवएसु वीतिभये नामं नगरे होत्था. तस्स णं वीतिभयस्स नगरस्स बहिया उत्तर-पुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं मियवणं नामं उज्जाणे होत्था. तत्थ णं वीतिभये नगरे उदायणे नामं राया होत्था...तस्स... रन्नो पभावती नामं देवी होत्था. तस्स णं उदायणस्स रन्नो पुत्ते प्रभावतीदेवीए अत्तए अभीति नामं कुमारे होत्था. ... तस्स णं उदायणस्स रन्नो नियए भायणेज्जे केसी नामं कुमारे होत्था. से णं उदायणे राया सिंधुसोवीरप्पामोक्खाणं सोलसण्हं जणवयाणं वीतिभयप्पामोक्खाणं तिण्हं तेसट्ठीणं नगरागरसयाणं महासेणप्पामोक्खाणं दसण्हं राईणं बद्ध-मउडाणं विदिन्नछत्तचामरवालवीयणाणं अन्नेसिं च बहूणं राइसरतलवर जाव सत्थवाहप्पभिईणं आहेवच्चं जाव कारेमाणे पालेमाणे समणोवासए अभिगयजीवाजीवे जाव विहरइ.

उस काल उस समय सिन्धुसौवीर नाम के जनपद में वीतिभय नाम का नगर था. उस नगर के बाहर उत्तर-पूर्व में मृगवन नाम का एक उद्यान था. उस नगर में उदायन नाम का राजा राज्य करता था. उसकी प्रभावती नाम की रानी थी और अभीति नाम का पुत्र था. उसका केशीकुमार नाम का भानजा था. उस राजा का सिन्धुसौवीर आदि सोलह जनपदों पर, वीतिभय आदि तीन सौ (तिरेसठ) नगरों पर, सैकड़ों खदानों पर, मुकुटबद्ध दस राजाओं पर एवं अनेक रक्षकों, दण्डनायकों, सेठों, सार्थवाहों पर अधिकार था. वह श्रमणोपासक था. जैनशास्त्र प्रतिपादित जीवादि तत्वों का जानकार था. इत्यादि ...

इस सूत्र से यह निश्चित हो जाता है कि प्रभावती का विवाह उदायन से हुआ था. आवश्यकचूर्णि का उपरोक्त कथन भी इसी प्राचीन सूत्रपरम्परा पर आधारित है. उपरोक्त सूत्र में महासेन आदि दस मुकुटबद्ध राजाओं पर उदायन का अधिकार था, यह वाक्य ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व रखता है, महासेन के सिवा अन्य नौ आज्ञांकित राजा कौन थे यह किसी भी जैनग्रंथ में नहीं मिलता. किन्तु महासेन उदायन का आज्ञांकित राजा कैसे बना, इसका कई जैन ग्रंथों में विवरण प्राप्त होता है. यह महासेन और कोई नहीं, इतिहासप्रसिद्ध अवंती का राजा चंडप्रद्योत ही था. इसी का

अपर नाम महासेन है. उदायन ने महासेन पर किन कारणों से चढ़ाई की थी, उसे किस प्रकार पराजित कर दसपुर ले आया था और दसपुर की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, उसका सारा वृत्तान्त आवश्यक चूर्णि में है जिसका सारात्मक अंश यह है :

"एक समय कुछ मुसाफिर समुद्र की यात्रा करते थे. उस समय में जोरों का तूफान आया जिसके कारण जहाज डांवा-डोल हो गया. वह आगे बढ़ता ही नहीं था. इस अवस्था से लोग घबरा गये. लोगों की यह स्थिति देखकर एक देव के दिल में उनके प्रति दया आई. उसने जहाज को तूफान से निकाल कर एक सुरक्षित जगह पहुंचा दिया. देव ने स्वनिर्मित चन्दनकाष्ठ की प्रतिमा, जो काष्ठपेटिका में बन्द थी, उन्हें दी और कहा—यह भगवान् महावीर की काष्ठ प्रतिमा है. यह महाप्रभावशाली है. इसके प्रभाव से आप लोग सही-सलामत समुद्रयात्रा पूरी कर सकेंगे. इतना कह देव चला गया. कुछ दिनों के बाद जहाज सिन्धुसौवीर के किनारे पर पहुँचा. लोगों ने वह मूर्ति वीतिभय के राजा उदायन को भेट में दी. उदायन और उसकी रानी प्रभावती ने अपने ही महल में मन्दिर का निर्माण कर उसमें वह मूर्ति स्थापित की और उसकी प्रतिदिन पूजा-भक्ति करने लगी. राजा पहले तो तापसधर्मी था, धीरे-धीरे उसकी उस मूर्ति की ओर श्रद्धा बढ़ने लगी. एक दिन रानी प्रभावती मूर्ति के सामने नृत्य कर रही थी और उदायन वीणा बजाता था. उस समय राजा नृत्य करती हुई रानी प्रभावती के देह को बिना मस्तक के देखकर अधीर हो उठा और उसके हाथ से वीणा का गज छूट गया. वीणा बजनी बंद हो गई. सहसा वीणा को बन्द देखकर रानी क्रोध में आकर बोली—'क्या मैं खराब नृत्य कर रही थी जो आपने वीणा बजाना ही बंदकर दिया ? उदायन ने रानी के बार बार आग्रह से सत्य बात कह दी. उदायन से यह बात सुन वह सोचने लगी—"अब मेरा आयुष्य अल्प है, अतः मुझे अपना श्रेय करना चाहिए." उसने उदायन से दीक्षा लेने की आज्ञा मांगी. लेकिन रानी के प्रति अधिक अनुराग होने से उसने आज्ञा नहीं दी. किन्तु रानी के उत्कट वैराग्य को देखकर अन्त में एक शर्त के साथ उसे प्रव्रज्या की आज्ञा देदी. वह शर्त यह थी कि 'अगर मेरे पहले ही स्वर्ग चली जाओ तो देव बन कर मुझे प्रतिबोधित करने के लिये अवश्य आना होगा. उसने शर्त मान ली. प्रभावती दीक्षित हो गई. रानी मर कर देव बनी और उसने अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार राजा को सद्बोध दिया और राजा अधिक धर्मनिष्ठ बना.

रानी की मृत्यु के बाद महावीर की मूर्ति की देखभाल और पूजा एक कुब्जा दासी करने लगी. इस प्रतिमा की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी, और लोग दूर-दूर से उसके दर्शन के लिये आते थे.

एक बार गंधर्व देश का कोई श्रावक प्रतिमा के दर्शन के लिये आया. दासी ने उस श्रावक की सेवा खूब की. श्रावक दासी की भक्ति-भाव से एवं सेवा शुश्रूषा से अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उससे संतुष्ट होकर उसे मनोवांछित फल देने वाली बहुत सी गोलियाँ दीं. गोलियों के भक्षण से दासी का कुबड़ापन मिट गया और उसे अपूर्व सौंदर्य मिला. शरीर सोने की कांति की तरह चमकने लगा. सोने जैसा शरीर होने से इसे लोग सुवर्णगुटिका कहने लगे,—सुवर्णगुटिका के दैवी सौंदर्य की बात प्रद्योत के कानों तक पहुंच गई. वह उस पर मुग्ध हो गया.

इधर दासी भी प्रद्योत से प्रेम करती थी. उसने उज्जैनी के राजा प्रद्योत के पास एक दूत भेजा. दूत ने प्रद्योत से जाकर कहा—सुवर्णगुटिका आपसे प्रेम करती है और आपको बुलाती है. राजा प्रद्योत अवसर पाकर एक दिन अपने नलगिरि हाथी पर चढ़कर तुरन्त आया. दोनों एक दूसरे को पाकर बहुत प्रसन्न हुए. प्रद्योत सुवर्णगुटिका को और महावीर की प्रतिमा को लेकर रातोंरात वापिस लौट गया. दासी जाते समय वैसी ही एक दूसरी प्रतिमा तैयार करवाकर उसके स्थान पर रखती गई. प्रातःकाल राजा के सिपाहियों ने देखा कि मार्ग पर नलगिरि हाथी की लीद और मूत्र पड़े हैं जिनकी गंध से नगर के हाथी उन्मत्त हो उठे हैं. थोड़ी दूर चलने पर उन्हें नलगिरि के पदचिह्न दिखाई पड़े. इनसे से मालूम हुआ कि राजा की दासी लापता है और चन्दन की प्रतिमा के स्थान पर कोई दूसरी प्रतिमा रक्खी हुई है.

यह समाचार जब राजा उदायन के पास पहुंचा तो उसे बहुत क्रोध आया. उसने प्रद्योत के पास समाचार भेजा कि दासी की मुझे चिन्ता नहीं, तुम चन्दन की प्रतिमा लौटा दो. परन्तु प्रद्योत प्रतिमा देने को तैयार नहीं हुआ. उदायन अपनी

विशाल सेना के साथ उज्जैनी पर चढ़ाई करने के लिये चल पड़ा. उस समय जेठ महीना चल रहा था. मार्ग में पानी नहीं मिलने से उदायन की सेना को बहुत कष्ट उठाना पड़ा. जब वह पुष्करणा प्रदेश में आया तब कहीं जाकर शांति मिली. वहाँ कुछ समय तक विश्राम करने के बाद पूरी तैयारी के साथ उज्जैनी पर चढ़ाई कर दी. इधर प्रद्योत ने भी अपनी तैयारी कर ली थी. दोनों सेनाओं में घनघोर युद्ध होने लगा. कुछ समय बाद दोनों राजाओं को ख्याल आया कि व्यर्थ ही प्रजा का ध्वंस करने से क्या लाभ ? क्यों न हम दोनों ही परस्पर युद्ध करें ? दोनों ने एक दूसरे को दूत द्वारा संदेश भेजा. दोनों इस बात पर राजी हो गये. साथ ही दोनों ने रथ पर बैठ कर युद्ध करने का निश्चय किया. किन्तु युद्ध के मैदान में प्रद्योत रथ के बजाय अपने प्रसिद्ध नलगिरि हाथी पर बैठ कर लड़ने आया. उदायन चण्ड-प्रद्योत की धूर्तता को पहचान गया. अब दोनों में काफी समय तक युद्ध होता रहा उदायन ने अपने बाणों से हाथी के पैर को बींध दिया जिससे वह घायल होकर जमीन पर गिर पड़ा और प्रद्योत पकड़ा गया. उदायन के सैनिक प्रद्योत को बन्दी बनाकर अपने शिविर में ले आये और 'दासीपति प्रद्योत' शब्दों से उसका मस्तक अंकित कर दिया. उदायन प्रद्योत को कैद करके वीतिभय लौट चला, मार्ग में वर्षा ऋतु प्रारम्भ हो गई. वर्षा का समय व्यतीत करने के लिये उदायन ने एक अच्छे स्थल पर अपनी छावनी डाल दी. सेना को दस विभागों में विभक्त कर उसकी अलग-अलग छावनियाँ बनाई. साथ ही सेना की सुरक्षा के लिये चारों ओर मिट्टी की दीवारें खड़ी कर दीं. उदायन जो भोजन करता था वह प्रद्योत को भी दिया जाता था. पर्यूपण पर्व आया. उन दिन रसोइये ने प्रद्योत से पूछा—महा-राज, आज आप क्या खायेंगे ? प्रद्योत ने समझा कि आज मुझे भोजन में जहर दिया जाने वाला है तभी तो मुझे अकेले खाने का निमंत्रण दिया जा रहा है. उसने रसोईये से कहा—'आज क्यों पूछ रहे हो' उत्तर मिला, 'आज पर्यूपण होने से उदायन राजा को उपवास है. इसलिए आज आपके लिये ही भोजन बनेगा' प्रद्योत ने कहा 'तो आज मेरा भी उपवास है. जब उदायन ने यह सुना तो वह प्रद्योत की धूर्तता पर बहुत हँसा. उसने सोचा, ऐसा पर्यूपण मनाने से क्या लाभ जिसमें हृदय की शुद्धता नहीं ? उदायन ने उसे अपने पास बुलाया और हृदय से उसे क्षमा दान दिया. उसे उसका राज्य पुनः लौटाकर मुक्त कर दिया और उसका मस्तक सुवर्णपट्ट से विभूपित कर उसे आदरपूर्वक विदा कर दिया. वर्षाकाल के बीतने पर वहाँ से उदायन चल पड़ा और अपनी सेना के साथ वापिस अपने नगर लौट आया.

उदायन ने जिस स्थल पर अपनी सेनाओं की दस विभागों में छावनियाँ डाल रक्खी थी, वहाँ पर उन सेनाओं को रसद पहुँचाने के लिये आस पास के व्यापारियों ने भी अपने-अपने पड़ाव डाल रक्खे थे. सेना के चले जाने के बाद वे व्यापारी-गण वहीं स्थायी रूप से बस गये और वह स्थल दसपुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ.[१]

---

१. आवश्यक चूर्णि पृ० २९९-३००

मध्य प्रदेश के 'मंदसौर' शहर को दशपुर कहा जाता है. मंदसौर का नाम पुराने लेखों में 'दशपुर' लिखा जाता था. 'दशपुर' का नाम मंदसौर कैसे पड़ा, इस विषय में डा० फ्लीटने Corpus Inescriptionum indiarum नामक ग्रंथ के तीसरे भाग में इस प्रकार लिखा है :

"इस गांव को इन्दौर तक के और आस पास के ग्रामीण लोग मन्दसौर के बजाय, 'दशोर' ही कहते हैं. लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व लिखी गई अत्रत्य और फारसी भाषा की सनदों में भी 'दशोर का ही प्रयोग किया है. जिस प्रकार बेलगांव जिले के 'उगरगोल' और 'संपगाम' को पंडित लोग क्रमशः 'नखपुर' और 'अहिपुर' लिखते हैं वैसे ही यहाँ के पंडित दशपुर का ही प्रयोग करते हैं. इनका मूल नाम संस्कृत में था या मूल ग्रामीण नामों को पण्डितों ने संस्कृत में बना डाला, यह शंकास्पद ही है. पहले इस स्थल पर पौराणिक राजा 'दशरथ' का नगर था." ऐसा स्थानीय लोग कहते हैं.

अगर यह कथन सत्य है तो इस गांव का नाम 'दशरथोर' होना चाहिए. वस्तुत इसका सही अर्थ यह भी हो सकता है जैसे—इस समय इस नगर में आस पास के खिलचीपुर, जंकुपुरा, रामपुरिया, चन्द्रपुरा, बालागंज आदि बारह तेरह गांवों का समावेश हुआ है, वैसा ही दस गांवों (पुर) का समावेश होने से यह दशपुर के नाम से प्रसिद्ध हो गया हो.

इस प्रकार महासेन प्रद्योत को वीतभय के उदायन का आज्ञांकित माना जाता है.

## उदायन का पिछला जीवन

उदायन के राजकीय जीवन सम्बन्धी उल्लिखित सारी घटनाएँ बाद के जैन-ग्रंथों में मिलती हैं. भगवती जैसे मूल आगम में उदायन के विषय में केवल इतना ही वर्णन मिलता है :

एक बार भगवान् महावीर वीतिभय पधारे. उदायन राजा उनके दर्शन के लिये गया और उनका उपदेश सुनकर उसने प्रव्रज्या लेने का विचार किया. प्रव्रज्या लेने के पूर्व उसके मन में एक विलक्षण विचार आया. उसने सोचा—'प्राय: राज्यप्राप्ति होने पर लोग दुर्व्यसनी हो जाते हैं और दुर्व्यसनी लोग मर कर नरक में जाते हैं. कहीं मेरा पुत्र 'अभीति' राज्य पाकर दुर्व्यसनी न बन जाय और मर कर नरकवासी न हो जाय. यह सोचकर उसने अपने पुत्र अभीतिकुमार को राज्य न देकर अपने भानजे केशीकुमार को राज्य दिया और प्रव्रज्या ग्रहण की. पिता के इस व्यवहार से अभीतिकुमार बहुत क्रुद्ध हुआ और वह अपना सारा सामान लेकर मौसेरे भाई कोणिक के पास 'चंपा' चला गया और वहीं रहने लगा. पिता के साथ उसकी वैरवृत्ति आजीवन रही और वह वहीं मर गया. इस विषयक भगवती सूत्र का पाठ यह है :

'तए णं से उदायणे राया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे उट्ठाए उट्ठेइ २ त्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो जाव नमंसित्ता एवं वयासी—एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! जाव से जहेयं तुब्भे वदहत्ति कट्टु जं नवरं देवानुप्पिया......अहं देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता जाव पव्वयामि......तए णं तस्स उदायणस्स रन्नो अयमेयारूवे अब्भत्थिए जाव समुप्पज्जित्था एवं खलु अभीई कुमारे ममं एगे पुत्ते इट्ठे कंते जाव किमंगं पुण पासणयाए ? तं जति णं अहं अभीइं कुमारं रज्जे ठावित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं मुंडे भवित्ता जाव पव्वयामि तो णं अभीई कुमारे रज्जे य रट्ठे य जाव जणवए माणुस्सएसु य कामभोगेसु मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोव-

---

किन्तु मंदसौर नाम जो इस समय के नक्शों आदि में प्रसिद्ध है, इसकी असलियत को अभी तक कोई समझ नहीं सका. हां डाक्टर भगवानलाल इन्द्र जी ने एक बार मुझसे कहा था कि—'इसका नाम मंद-दसपुर पड़ा होगा.' 'मंद' अर्थात् दुखी बना हुआ. मुसलमानों ने इस शहर की और हिन्दू देवालयों की बड़ी दुर्दशा की थी. इसी वजह से आज भी नागर ब्राह्मण यहाँ का पानी नहीं पीते.

'एक बार मैंने यहाँ के एक पंडित से इस गांव का असली नाम पूछा था. तब उसने बताया था कि इस गांव का मन्न-दशौर' भी नाम था. इस सम्बन्ध में मि० एफ० एस० ग्राउज की सूचना भी काफी महत्त्व रखती है. वे कहते हैं कि—मंदसौर में दो गांवों का समावेश होता है. एक 'मद्' और दूसरा 'दशौर'. मद् जिसे आज 'अफझलपुर' कहते हैं, जो मंदसौर से दक्षिण पूर्व में ग्यारह मील दूरी पर है.

ऐसा कहा जाता है कि—'मद्' गांव के हिन्दुदेवालयों को तोड़ कर उनके पत्थरों से यहाँ का किला बनाया गया था. इसलिए मंदसौर यह नाम पड़ा हो. जो भी हो, सही बात का तो 'दशपुरमहात्म्य' नामक पुस्तक से ही पता लग सकता है. यह पुस्तक मुझे देखने को नहीं मिली. इस लेख के सिवा उषवदात के नासिक के एक प्राचीन लेख की तीसरी पंक्ति में 'दशपुर' ऐसा संस्कृत नाम आया है. (देखो आर्की० सर्वे० वैस्ट इ० पु० ४ पृ० ५१, ९९ पन्ने ५२, नं० ५) तथा मंदसोर के भी एक दूसरे लेखमें भी यही नाम देखने में आता है. इसकी तिथि विक्रम संवत् १३२१ (ई०स० १२६४-६५) गुरुवार भाद्रपद शुक्ला पंचमी है.

यह लेख किले के पूर्व तरफ के प्रवेशद्वार के अन्दर के दरवाजे के बाईं ओर भीत पर चुने हुए एक स्लेट पत्थर पर अंकित है. तथा बृहद् संहिता १४, ११, १६ (देखो कर्ण का अनुवाद जर्न० रॉ० ए० सो० न्यॉ० सं० पु० ५ पृ० ८३) के अवन्ति के साथ इसी नाम का उल्लेख किया है.

वरणे अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टिस्सइ. तं नो खलु मे सेयं अभीइंकुमारं रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए, सेयं खलु मे नियगं भाइणेज्जं केसिकुमारं रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवओ जाव पव्वइत्तए, एवं संपेहेइ......तए णं से केसीकुमारे राया जाए महया जाव विहरति. तए णं से उदायणे राया सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं जाव सव्व दुक्खप्पहीणे.

तए णं तस्स अभीइस्स कुमारस्स अन्नदा कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुम्बजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—एवं खलु अहं उदायणस्स पुत्ते प्रभावती देवीए अत्तए, तए णं से उदायणे राया ममं अवहाय नियगं भाणिज्जं केसिकुमारं रज्जे ठावेत्ता समणस्स जाव पव्वइए. इमेणं एयारूवेणं महया अप्पत्तिएणं मणोमाणसिएणं दुक्खेणं अभिभूए समाणे अंतपुर—परियालसंपरिवुडे सभंडमत्तोवगरणमाए वीतीभयाओ नयराओ पडिनिग्गच्छति—जेणेव चंपा नयरी जेणेव कुणिए राया तेणेव उवागच्छति—कुणियरायं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ. तए णं से अभीयी कुमारे समणोवासए यावि होत्था अभिगय जाव विहरइ———' (भगवती सूत्र पृ० ६१८-२०)

## उदायन की मृत्यु

आवश्यक चूर्णि, टीका आदि ग्रंथों में उदायन की मृत्युविषयक विवरण इस प्रकार है :

उदायन राजा के दीक्षा लेने के बाद रूखे-सूखे आहार से शरीर में व्याधि उत्पन्न हो गई. वैद्यों ने उन्हें दही खाने को कहा. इसके लिये वे व्रज में ही रहने लगे. एक समय वे वीतिभय गये. वहां उनका भानजा केशीकुमार राज्य करता था. यह राज्य इन्होंने उसे दिया था. केशीकुमार को उसके दुष्ट मंत्रियों ने भरमा दिया कि 'यह उदायन भिक्षु-जीवन से ऊबकर अब पुनः राज्य प्राप्त करना चाहता है.' इस पर केशीकुमार ने कहा—अगर ऐसा ही है तो मैं उन्हें राज्य दे दूंगा. इस पर मंत्रियों ने कहा—'मिला हुआ राज्य कहीं इस प्रकार दिया जाता है ?' लम्बे समय तक मंत्रियों ने उसे खूब समझाया और राज्य न देने के लिये राजी किया. केशीकुमार ने मंत्रियों से पूछा—तो अब क्या उपाय करना चाहिए ? मंत्रियों ने कहा—जहर देकर इसे मार डालना चाहिए. इस प्रकार केशीकुमार ने एक गोपालक के जरिये दही में जहर डलवा कर उदायन को खिला दिया. जिससे उदायन की मृत्यु हो गई.

उदायन मुनि की इस प्रकार की मृत्यु से उनके एक मित्र देव को अत्यन्त क्रोध आया और साथ ही केशीकुमार की इस कृतघ्नता पर भी वह अत्यन्त क्रोधित हुआ. उसने धूल बरसा कर सारे नगर को नष्ट कर दिया. इस नगर-प्रलय में केवल एक कुम्भकार बचा जिसने राजाज्ञा की उपेक्षा कर उदायन मुनि को आश्रय दिया था. देव ने इसे उठाकर सिनवल्ली नामक स्थान में रख दिया. बाद में इसी स्थल पर इसी के नाम का एक नगर बसा था. वीतभय पत्तन धूलिप्रक्षेप के कारण छिप गया और आज भी वहां धूलि की बड़ी राशि मौजूद है.[१]

---

१. आवश्यक सूत्र टीका पृ० ५३७–७ देखो, प्राकृतकथासंग्रहगत उदायन की कथा :

आचार्य हेमचन्द्र ने, महावीर के समय की घटित घटनाओं को तत्कालीन ग्रंथों एवं अनुश्रुतियों से संग्रहीत कर महावीर चरित्र में व्यवस्थित किया है. उदायन सम्बन्धी उल्लिखित सभी बातें लिखने के साथ-साथ उन्होंने एक नई घटना का भी उल्लेख किया है. वीतिभय पत्तन का देवकोप से नाश होने के बाद चन्दन की वह मूर्ति वहीं पर धूल के ढेर में दब गई थी. उस मूर्ति का आचार्य हेमचन्द्र के उपदेश से कुमारपाल राजा ने उद्धार किया और पाटन में लाकर उसकी एक भव्य मन्दिर में प्रतिष्ठा की. इसी घटना से यह निश्चित हो जाता है कि वीतिभय का उद्ध्वस्त स्थान आचार्य हेमचन्द्र से अपरिचित नहीं था. इस उद्ध्वस्त स्थान में उन्हें एक मूर्ति मिली थी और उसकी प्रतिष्ठा पाटन में राजा कुमारपाल से करवाई थी. इस घटना पर विश्वास करने से यह ऐतिहासिक तथ्य अवश्य प्रकट होता है. इसी मूर्ति के प्रसंग में आचार्य हेमचन्द्र ने गुजरात की गौरवशाली राजधानी पाटन और कुमारपाल का जो आलंकारिक शब्दों में वर्णन दिया है वह लम्बा होने पर भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा इस दृष्टि से यहां दिया जा रहा है—

उदायन की मृत्यु की यह परम्परा अति प्राचीन है—ऐसा लगता है. क्योंकि आवश्यक सूत्र निर्युक्ति में इस कथा का मूल उपलब्ध होता है. इस सूत्र की नियुक्ति की रचना भद्रबाहु ने की है, ऐसा कहा जाता है, और परम्परा उनका

---

'अभयकुमार भगवान् से प्रश्न करता है—'भगवन् ! आपने कहा था कि यह प्रतिमा पृथ्वी में दब जायगी तो कब प्रकट होगी ?' भगवान् बोले—'हे अभय ! सौराष्ट्र, लाट, और गुर्जर देश की सीमा पर अनहिलपुर नाम का एक नगर बसेगा. वह नगर आर्यभूमि का शिरोमणि, कल्याण का स्थान और आर्हत धर्म का एक छत्र रूप तीर्थ होगा. वहां के चैत्यों की रत्नमयी निर्मल प्रतिमाएं नंदीश्वर आदि स्थानों की प्रतिमाओं की सत्यता को बताने वाली होंगी. प्रकाशमान सुवर्णकलशों की श्रेणियों से जिनके शिखर अलंकृत हैं ऐसे मानों साक्षात् सूर्य ही आकर विश्राम कर रहा हो ऐसा वह नगर सुशोभित होगा. वहां के लोग प्राय: श्रावक होंगे और अतिथिसंविभाग करके ही भोजन करेंगे. दूसरों की संपत्ति में ईर्ष्या रहित, स्वसंपत्ति में सन्तुष्ट और सदा पात्रदान में रत ऐसी वहां की प्रजा होगी. अलकापुरी के यक्षों की तरह वहां के बहुत से श्रावक धनाढ्य होंगे. वे अर्हद्भक्त बन कर सातों क्षेत्रों में धन का व्यय करेंगे. सुषमा काल की तरह वहां के लोग पर-धन और परस्त्री से विमुख होंगे. हे अभयकुमार ! मेरे निर्वाण के बाद सोलह सौ उनसत्तर वर्ष के बीतने पर उस नगर में चौलुक्य वंश में चन्द्र के समान प्रचण्ड पराक्रमी अखण्ड शासन वाला कुमारपाल नाम का धर्मवीर, युद्धवीर, दानवीर राजा होगा. वह महात्मा पिता की तरह प्रजा का पालक होगा और उन्हें समृद्धिशाली बनाएगा. सरल होने पर भी अति चतुर, शान्त होने पर भी आज्ञा देने में इन्द्र के समान, क्षमावान् होने पर भी अधृष्य, ऐसा वह राजा चिरकाल तक इस पृथ्वी पर राज्य करेगा. जैसे उपाध्याय अपने शिष्यों को विद्वान् और शिक्षित बनाता है वैसा ही वह अपनी प्रजा को भी विद्वान् सुशिक्षित और धर्मनिष्ठ बनाएगा. वह शरणार्थियों को शरण देने वाला होगा. परनारियों के लिये वह सहोदर भाई होगा. धर्म को प्राण और धन से भी अधिक मानने वाला होगा. पराक्रमी, धर्मात्मा, दयालु एवं सभी पुरुषगुणों से श्रेष्ठ होगा. उत्तर में तुरुषक—तुर्कस्तान तक, पूर्व में गंगा नदी तक, दक्षिण में विन्ध्यगिरि तक और पश्चिम में समुद्र तक की पृथ्वी पर उसका अधिकार होगा.

एक समय वह वज्र शाखा और चान्द्रकुल में उत्पन्न हेमचन्द्र नाम के आचार्य को देखेगा. उन्हें देखते ही वह इतना प्रसन्न होगा जैसे गरजते मेघ को देख कर मयूर प्रसन्न होते हैं. वह उनके दर्शन के लिये जाने की शीघ्रता करेगा. जब आचार्य चैत्य में बैठकर धर्मोपदेश करते होंगे, उस समय वह अपने मंत्रीमण्डल के साथ उनके दर्शन के लिये आएगा. प्रथम देव को वन्दन कर तत्त्व को नहीं जानता हुआ भी अत्यन्त शुद्ध सरल हृदय से आचार्य को नमस्कार करेगा. प्रीतिपूर्वक आचार्य का उपदेश सुन कर सम्यक्त्वपूर्वक श्रावक के अणुव्रतों को स्वीकार करेगा. तत्त्व का बोध प्राप्त कर वह श्रावक के आचार का पारगामी होगा. राजसभा में बैठा होने पर भी धर्मचर्चा ही करेगा. प्राय: निरन्तर ब्रह्मचर्य रखने वाला वह राजा अन्न, फल, शाक आदि के विषय में भी अनेक नियमों को ग्रहण करेगा. साधारण स्त्रियों का तो उसे त्याग ही रहेगा किन्तु अपनी रानियों तक को वह ब्रह्मचर्य का उपदेश करेगा. जीव अजीव आदि तत्त्वों का जानकार वह राजा दूसरों को भी तत्व समझाएगा—सम्यक्त्वी बनाएगा. अर्हद्धर्मद्वेषी ब्राह्मण भी उसकी आज्ञा से गर्भ-श्रावक बनेंगे. देवपूजा और गुरुवन्दन करके वह राजा भोजन करेगा. अपुत्र मरे हुए का धन वह कभी नहीं लेगा. वस्तुत: विवेक का यही सार है. विवेकी व्यक्ति सदा तृप्त ही रहते हैं. वह स्वयं शिकार नहीं करेगा और उसकी आज्ञा से दूसरे राजागण भी शिकार छोड़ देंगे. उसके राज्य में मृगया तो दूर रही, मक्खी मच्छर को भी कोई मारने की हिम्मत नहीं करेगा. उसके अहिंसात्मक राज्य में जंगल के प्राणी मृग आदि एक दम निर्भीक होकर इधर उधर घूमा करेंगे. उसके राज्य में अमारी घोषणा होगी. जो जन्म से मांसाहारी होंगे वे भी उसकी आज्ञा से दुःस्वप्न की तरह मांस खाना ही भूल जावेंगे. अपने पूर्वजों के रिवाज के अनुसार जिस मद्य का श्रावक भी पूरी तरह से त्याग नहीं कर सके उसका वह अपने समस्त राज्य में निषेध करेगा. यहां तक कि कुम्भकार भी मद्य पात्र बनाना छोड़ देंगे. मद्यपान से जिन लोगों की संपत्ति क्षीण हो गई है, ऐसे लोग भी मद्य-निषेध से उसके राज्य में पुन: समृद्धिमान्

समय महावीर के निर्वाण के बाद की द्वितीय शताब्दी बताती है. ऐतिहासिक दृष्टया निर्युक्ति के कर्त्ता भद्रबाहु का समय इतना प्राचीन नहीं लगता. हां, टीकाकारों की अपेक्षा उनका समय अधिक प्राचीन है. इस कारण टीकाकारों द्वारा लिखित उदायन की इस कथा का प्रचलन बहुत समय पहले था, यह निश्चित है.

मूर्तिविषयक वर्णन जो भी हो किन्तु जैन कथा और सूत्रों के आधार से इतना तो अवश्य माना जा सकता है कि महावीर के समय सिन्धुसौवीर नाम के देश में वीतिभय नामका नगर अवश्य था. और वहाँ उदायन नाम का राजा राज्य करता था. उसकी स्त्री का नाम प्रभावती था, जो वैशाली के राजा चेटक की पुत्री होती थी. अभीति उसका पुत्र था अभीति के पिता ने किसी कारण से उसे राज्य नहीं दिया और इसी वजह से वह चम्पा में कोणिक राजा के आश्रय में जाकर रहा. राजा महासेन के साथ उदायन का युद्ध हुआ होगा और उसमें उदायन विजयी हुआ होगा.[१]

---

होंगे. जिस द्यूत का नल राजा भी त्याग नहीं कर सका उसका वह अपने समस्त राज्य में बहिष्कार करेगा. कुक्कुटयुद्ध, कपोतयुद्ध आदि नृशंस मनोरंजनों को वह अपने समस्त राज्य में बंद करा देगा. निःसीम वैभववाला वह राजा प्रत्येक ग्राम में जिनमन्दिर बनवा कर सारे पृथ्वीमण्डल को जिनमन्दिरों से विभूषित करेगा. समुद्रपर्यन्त प्रत्येक मार्ग और नगर में प्रतिमा की रथयात्रा का महोत्सव कराएगा. द्रव्य के विपुल दान से वह अपने नाम का संवत्सर चलाएगा.

ऐसा वह महान् प्रतापशाली राजा एक दिन गुरुमुख से कपिल मुनि द्वारा प्रतिष्ठित एवं पृथ्वी में दबी हुई उस दिव्य प्रतिमा के विषय में बात सुनेगा. बात सुनते ही विश्वपावनी उस मूर्ति को हस्तगत करने का विचार करेगा. मन के उत्साह और शुभ निमित्त से उसे यह विश्वास हो जायगा कि मैं उस दिव्य प्रतिमा को प्राप्त कर सकूंगा. तब वह गुरु की आज्ञा से योग्य पुरुषों को वीतिभय के उद्ध्वस्त स्थल पर भेजेगा. वे पुरुष वहां जाकर जमीन खोदेंगे. उस समय राजा के सत्व से शासन देव भी वहां उपस्थित रहेंगे. जमीन को थोड़ा खोदने पर वह दिव्य प्रतिमा निकलेगी. उस प्रतिमा के साथ उदायन का आज्ञालेख भी मिलेगा. वे पुरुष बड़ी भक्ति और श्रद्धा से उसका पूजन करेंगे. स्त्रियां रास गाकर बाजे बजाकर भक्ति करेंगी. उस प्रतिमा के सामने सतत नृत्य संगीत होता रहेगा. वे दक्ष पुरुष मूर्ति को रथ पर आसीन करके पाटन की सीमा पर ले आवेंगे. प्रतिमा के आगे की खबर सुन कर वह राजा चतुरंगी सेना और बड़े संघ के साथ उत्सव पूर्वक उसके सामने जायगा. बाद में वह अपने हाथों से प्रतिमा को रथ से निकाल कर हाथी पर आरूढ़ करेगा और बड़े उत्सव के साथ नगरप्रवेश कराएगा. उस प्रतिमा के लिये वह एक विशाल स्फटिक पाषाण का मन्दिर बनवाएगा. वह मन्दिर अष्टपद पर्वत के मन्दिर की तरह अत्यन्त भव्य होगा. उस में बड़े उत्सव के साथ प्रतिमा को प्रतिष्ठित करेगा. इस प्रकार से स्थापित की गई प्रतिमा के प्रभाव से उस राजा की कीर्ति, यश, प्रभाव, संपत्ति खूब बढ़ेगी. गुरुभक्ति से वह राजा भारतवर्ष में तेरे पिता की तरह ही प्रभावशाली होगा.' त्रिषष्ठि० पर्व० दसवां, पृ० २२८-२३१.

१. सुवर्णगुलिका के निमित्त चण्डप्रद्योत के साथ हुए युद्ध की किंवदन्ती में भी प्राचीन प्रमाण है, ऐसा एक सूत्र के सूचन के आधार पर अनुमान होता है. भगवती सूत्र जितने ही प्राचीन सूत्र प्रश्नव्याकरण में जिन स्त्रियों के लिये युद्ध हुए थे उनके नाम दिये हैं, उनमें सुवर्णगुलिका का भी एक नाम आता है. वह पाठ यह है :

'मेहुणमूलं च सुव्वए तत्थ-तत्थ वत्तपुव्वा संगामा जणक्खयकरा-सीयाए, दोवइए कए, रुप्पिणीए पउमावइए, ताराए, कंचणाए रत्तसुभद्दाए, अहिन्नियाए, सुवण्णगुलियाए, किन्नरीए, सुरूवविज्जुमतीए, रोहिणीए अन्नेसुय एवमादिएसु बहवो महिलाकएसु सुव्वंति अइक्कंतासंगामा.'

अर्थ—मैथुन मूलक संग्राम, जो विभिन्न शास्त्रों में सुने जाते हैं. जो युद्ध नरसंहार करने वाले हैं, जैसे सीता और द्रौपदी के लिये, रुक्मिणी, पद्मावती, तारा, कंचना, रक्तसुभद्रा, अहल्या, सुवर्णगुलिका, किन्नरी आदि के लिये युद्ध हुए हैं.

मूल सूत्र में आये हुए उपर्युक्त उदाहरणों की व्याख्या टीकाकार ने संक्षेप में की है. इन स्त्रियों के विषय में दूसरे ग्रंथों

## एक विलक्षण परम्परासाम्य

जिस प्रकार जैन-ग्रंथों में वीतिभय के उदायन और चन्दन काष्ठ की मूर्ति विषयक वृतान्त मिलता है, उसी प्रकार बौद्ध ग्रंथों में भी कोशाम्बी के उदायन और बुद्ध मूर्ति विषयक वृतान्त मिलता है. बौद्ध श्रमण यवनचंक अथवा व्हेनत्संग जब भारत में आया था, उस समय यह कथा बौद्धों में भी बहुत प्रचलित थी, उसने अपने प्रवासवृतान्त में कोशाम्बी का वर्णन करते हुए लिखा है कि—'कोशाम्बी नगर में एक पुराना महल है. उसमें ६०० फीट ऊंचा एवं विहार है: इस विहार में चन्दनकाष्ठ की बुद्धप्रतिमा है. उस बुद्धप्रतिमा पर पाषाण का बना हुआ छत्र है. कहा जाता है कि यह कृति उदायन राजा की है, यह मूर्ति बड़ी प्रभावशालिनी है. इसमें दैवी तेज रहा हुआ है और यह समय-समय पर प्रकाश देती रहती है. इस मूर्ति को इस स्थान से हटाने के लिये राजाओं ने प्रयत्न किये थे और उठाने के लिये कई आदमी लगाये थे लेकिन उसे कोई हिला भी नहीं सका. तब वे लोग उस मूर्ति की प्रतिकृति बनाकर पूजा करने लगे और उसमें मूल मूर्ति की-सी श्रद्धा रखने लगे.'[1]

इसी लेखक ने अपने प्रदेश के पिमा शहर में इसी प्रकार की एक अन्य मूर्ति का भी उल्लेख किया है. वह लिखता है—'यहां—पिमा शहर में भगवान् बुद्ध की खड़ी आकृति में बनी हुई चन्दनकाष्ठ की एक विशालमूर्ति है, यह २० फीट ऊंची है और बड़ी चमत्कारिक है. इसमें से प्रकाश निकलता रहता है, रुग्ण जन अगर सोने के वरख में उसकी पूजा करें तो उनका रोग मिट जाता है. ऐसी यहां के लोगों की धारणा है. जो लोग अन्तःकरण पूर्वक इसकी प्रार्थना करते हैं, उनका मनोवांछित सिद्ध हो जाता है. यहां के लोग कहते हैं कि—जब बुद्ध जीवित थे उस समय कौशाम्बी के राजा उदायन ने इस मूर्ति को बनवाया था. जब भगवान् बुद्ध का निर्वाण हो गया तब यह मूर्ति अपने आप आकाश में उड़कर इस राज्य के उत्तर में आये हुए 'हो-लो लो-किय' नाम के शहर में आकर रही. यहाँ के लोग धनिक और बड़े-वैभव-शाली थे और मिथ्यामत में अनुरक्त थे. उनके मनमें किसी भी धर्म के प्रति मान-सम्मान नहीं था. जिस दिन से यह मूर्ति आई उस दिन से देवी चमत्कार होने लगे, लेकिन लोगों का ध्यान इस मूर्ति की ओर नहीं गया.

उसके बाद एक अर्हत् वहाँ आया और वन्दन कर उस मूर्ति की पूजा करने लगा. उस अर्हत् की विचित्र वेष-भूषा देख कर लोग डर गये और उन्होंने राजा को जाकर सूचना दी. राजा ने आज्ञा दी कि उस पुरुष को धूल और रेती से ढंक दो. लोगों ने राजाज्ञा के अनुसार उस अर्हत् की बड़ी दुर्दशा की और उसे धूल और रेती के ढ़ेर में दबा दिया. उसे अन्न जल भी नहीं दिया. किन्तु एक व्यक्ति को, जो उस मूर्ति की पूजा करता था, लोगों पर बड़ा क्रोध आया, उसने छुप कर उस अर्हत् को भोजन दिया. जाते समय अर्हत् उस व्यक्ति से बोला—'आज से सातवें दिन इस नगर पर रेती और धूल की वर्षा होगी जिससे सारा नगर रेती और धूल में दब जायगा. कोई भी व्यक्ति जीवित नहीं रह सकेगा. अगर तुझे प्राण बचाना हो तो तू यहाँ से भाग जा. यहाँ के लोगों ने मेरी जो दुर्दशा की है उसी के फलस्वरूप यह नगर भी धूलिवर्षा से नष्ट हो जायगा. इतना कह कर अर्हत् अदृश्य हो गया. तब वह आदमी शहर में आकर अपने सगे संबंधियों को कहने लगा कि आज से सातवें दिन यह नगर धूलिवर्षा से नष्ट हो जायगा. इस बात पर लोग उसकी हँसी उड़ाने लगे. दूसरे दिन एक बड़ी आँधी आई और वह नगर की सारी गन्दी धूल उड़ाकर आकाश में ले गई. बदले में कीमती पत्थर आकाश से गिरे. इस घटना से तो लोग उसकी और हँसी उड़ाने लगे.

किन्तु उसे अर्हत् के वचन पर विश्वास था. उसने गुप्त रूप से नगर से बाहर निकलने के लिये रास्ता बनाया और वह जमीन में छुपा रहा. ठीक सातवें दिन धूल की भयंकर वर्षा हुई और सारा नगर धूल में दब गया. वह व्यक्ति सुरंग

में जो भी परिचय मिला है, उसे उन्होंने अपनी टीका में उद्धृत किया है. उनमें सुवर्णगुलिका के लिये उदायन का चण्ड-प्रद्योत के साथ हुए युद्ध की परम्परा अति प्राचीन और सत्य पर आधारित है.

१. ह्वेनत्संग भी अपने साथ इस मूर्ति की प्रतिकृति बनाके ले गया था. देखो Beals Record of Western Countries, Book I, पृ० २३४ और प्रस्तावना पृ० २०.

से नगर के बाहर निकला और उत्तर की ओर चला. चलते-चलते वह पिमा शहर पहुँचा और वहीं रहने लगा. बाद में मूर्ति भी वहाँ से आकाश मार्ग से उड़कर इस शहर में आई. वह व्यक्ति उस मूर्ति की पूजा करने लगा. पुराने ग्रंथों में लिखा है कि जब शाक्यधर्म का अन्त हो जाएगा तब यह मूर्ति नाग लोक में चली जाएगी. आज भी 'हो लो-लो किअ' शहर की जगह बहुत बड़ा मिट्टी का ढेर पड़ा हुआ है.[1]

## यवनचंग और दिव्यावदान

यवनचंग के द्वारा लिखी गई उपर्युक्त घटना का मूल क्या है, यह मैं नहीं जान सका किन्तु 'दिव्यावदान' में कुछ घटनाएँ देखने को मिलीं. यवनचंग और दिव्यावदान इन दोनों की कथा का जैनग्रंथों की उदायन कथा के साथ मिलान करने पर दोनों में जो साम्य मुझे दिखाई दिया वह आश्चर्यजनक है. पाठकों की जानकारी के लिये दिव्यावदान के रुद्रायणावदान नामक प्रकरण में आई हुई वह कथा देता हूँ :

राजा बिम्बिसार के समय, जब भगवान् बुद्ध राजगृह में रहते थे तब दो महानगर प्रसिद्ध थे—एक पाडलिपुत्र और दूसरा रोरुक. रोरुक नगर में रुद्रायण नामक राजा राज्य करता था. उसकी चन्द्रप्रभा नामक की रानी थी. शिखंडी नामका पुत्र था और हिरु, भिरु नामक के दो महामंत्री थे. राजगृह में बिंबिसार राजा था, उसकी वैदेही नामक की रानी और अजातशत्रु नामका पुत्र था. वर्षकार नामक उसका महामंत्री था. उस समय राजगृह के कुछ व्यापारी रोरुक नगर गये और वहाँ के राजा रुद्रायण से मिले. बिम्बिसार से मैत्री बढ़ाने की दृष्टि से राजा रुद्रायण ने व्यापारियों के साथ अपने राज्य के बहुमूल्य रत्न भेजे. उसके जवाब में राजा बिम्बिसार ने भी अपने यहाँ बनने वाले बहुमूल्य वस्त्रों की पेटियाँ भेजीं. एक बार रुद्रायण ने अपने राज्य के कुछ बहुमूल्य रत्न बिम्बिसार को भेजे. बदले में उसने भगवान् बुद्ध का भव्य चित्र तैयार करवा कर रुद्रायण को भेजा. साथ ही रुद्रायण को बौद्ध धर्मी बनाने के लिये महाकात्यायण नामक भिक्षुक व शैला नाम की भिक्षुणी को भेजा. भिक्षु और भिक्षुणी रुद्रायण के महल में रहे और उसे बुद्धधर्म का उपदेश करने लगे. राजा धीरे-धीरे बुद्ध का अनुयायी बन गया.

राजा रुद्रायण वीणा बजाने में बहुत कुशल था और रानी नृत्य करने में. एक दिन रानी नृत्य कर रही थी और राजा वीणा बजा रहे थे. नृत्य करती हुई रानी में मृत्युकाल के कुछ चिह्न राजा को दिखाई पड़े. राजा ऐसे चिह्न देख सहसा घबरा उठा और उसके हाथ से वीणा छूट गई. वीणा के एकाएक बन्द हो जाने से रानी चौंक गई और राजा से बोली स्वामी—क्या मेरा नृत्य खराब था जिससे आपने वीणा बजाना ही बन्द कर दिया ? राजा ने कहा—'ऐसी बात नहीं है, किन्तु तुम्हारी शीघ्र मृत्यु के कुछ चिह्न देख कर मैं घबरा गया और वीणा हाथ से छूट गई. आज से सातवें दिन तेरीमृत्यु होगी.' यह सुन रानी बोली—'अगर ऐसा ही है तो मैं भिक्षुणी बनना चाहती हूँ.' राजा ने इस शर्त पर भिक्षुणी बनने की आज्ञा दी कि—अगर तुम मर कर देव बनो तो मुझे आकर दर्शन देना. रानी ने राजा की यह बात मान ली और वह शैला भिक्षुणी के पास प्रव्रजित हो गई. सातवें दिन वह मरण संज्ञा की भावना करती हुई मरी और चातुर्महाराजिक देवलोक में देवकन्या के रूप में उत्पन्न हुई. वह देवकन्या उसी रात्रि में राजा के शयनयक्ष में प्रकट हुई. रानी को देखकर उसे आलिंगन करने के लिये राजा ने अपने दोनों हाथ आगे बढ़ाये और पास आने का आग्रह किया. तब देवकन्या बोली—'महाराज ! मैं मर कर देवकन्या बनी हूँ. अगर आप मुझ से समागम करना चाहते हैं तो आप भी प्रव्रज्या ग्रहण करें. मृत्यु के बाद जब आप देव बनेंगे तभी मुझ से समागम कर सकेंगे. इतना कह कर वह देवकन्या अदृश्य हो गई. देवकन्या के अदृश्य होने पर राजा विचार में पड़ गया. उसने सारी रात संकल्प-विकल्पों में व्यतीत की. अन्त में उसने प्रव्रज्या लेने का निश्चय किया. प्रातः भगवान् बुद्ध के समीप प्रव्रज्या के लिये राजगृह की ओर चल पड़ा. जाते समय उसने अपने पुत्र शिखण्डी को राज्यगद्दी पर बैठा दिया. दोनों मन्त्रियों को राज्य की सारी व्यवस्था करने

---

१. बिल की उपरोक्त पुस्तक भा० २ पृ० ३२४.

को कहा गया. राजगृह पहुँच कर उसने भगवान् बुद्ध के समीप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और बुद्ध का शिष्य बन गया. इधर शिखण्डी अपने दो दुष्ट मंत्रियों की संगति से अनीति के मार्ग पर चलने लगा और प्रजा को भी सताने लगा. उसने दो पुराने अच्छे मंत्रियों को अलग कर दिया. कुछ व्यापारियों से जब इस वृद्ध भिक्षु को अपने पुत्र के अन्याय का पता लगा तो वह उसे समझाने के लिये रोरुक नगर की ओर चल पड़ा. जब दोनों दुष्ट मंत्रियों को इस बात का पता चला तो उन्होंने उसे मार्ग में ही रोकना अच्छा समझा. उन्होंने शिखण्डी से कहा—'सुना है कि वृद्ध भिक्षु यहाँ आ रहा है.' इस पर शिखण्डी ने कहा—'अब तो वह प्रव्रजित हो गया है, भले आये' इस पर मंत्रियों ने कहा—जिस व्यक्ति ने एक दिन भी राज्यश्री का अनुभव कर लिया हो वह पुनः राज्य पाने का लोभ संवरण नहीं कर सकता. इस पर शिखण्डी ने कहा—अगर वे पुनः राज्य प्राप्त करना चाहते हैं, तो मैं उन्हें अपना राज्य दे दूँगा. मंत्रियों ने उसे कहा—क्या प्राप्त राज्य को इस प्रकार खो देना बुद्धिमत्ता है इस तरह मंत्रियों ने कई तरह से समझा-बुझाकर वृद्ध को राज्य में न आने देने के लिये शिखण्डी को राजी किया. यहाँ तक कि दुष्ट मंत्रियों की बातों में आकर उसने कुछ घातक पुरुषों को भेज कर अपने पिता का शिरच्छेद करवा दिया.

पिता की मृत्यु के बाद वह राजा प्रजा पर खूब अत्याचार करने लगा. एक समय शिखण्डी अपनी मण्डली के साथ नगरपरिक्रमा के लिये निकला. मार्ग में उसे भिक्षु कात्यायन मिला. कात्यायन भिक्षु को देखकर शिखण्डी अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने उस पर एक-एक मुट्ठी धूल डालने की प्रजाजनों को आज्ञा दी. राजाज्ञा से लोगों ने उस भिक्षु पर इतनी अधिक धूल डाली कि वह उसी में दब गया.

पुराने हिरु, भिरु नाम के मंत्रियों को जब इस बात का पता चला तो वे उस भिक्षु के पास आये और उसे मिट्टी से बाहर निकाला. भिक्षु ने मंत्रियों से कहा—'अब इस नगर के विनाश का समय आ गया है. आज से सातवें दिन धूलि-वृष्टि होगी जिससे सारा नगर नष्ट हो जायगा. अगर तुम अपना बचाव करना चाहते हो तो अपने घर से नदी के तट तक एक सुरंग बनवा लेना और नदी के तीर पर एक नाव भी तैयार रखना. जब नगरप्रलय का समय आयगा उस समय तुम नाव पर बैठ कर अन्यत्र चले जाना. नगरप्रलय में प्रथम दिन बड़ी आंधी आएगी. वह आँधी नगर की सारी दुर्गन्धित धूलि को आकाश में उड़ाकर ले जाएगी. दूसरे दिन फूलों की वर्षा होगी. तीसरे दिन वस्त्रों की वर्षा होगी. चौथे दिन चांदी बरसेगी. पाँचवें दिन सोने की वर्षा होगी. छठे दिन रत्न बरसेंगे और सातवें दिन धूल की वृष्टि होगी जिससे सारा नगर भूमिसात् हो जायगा.'

कात्यायन की भविष्यवाणी के अनुसार सातवें दिन एक भयंकर आंधी आई जिससे सारे नगर की धूल उड़ गई. मंत्रियों को भिक्षु की भविष्यवाणी पर विश्वास हो गया. उन्होंने अपने घर से नदी तक सुरंग बना ली. छठे दिन जब रत्नों की वर्षा हुई तो उन्होंने नाव को रत्नों से भर लिया और उसमें बैठकर अन्य देश चले गये. वहां हिरु मंत्री ने हिरुकच्छ और भिरु मंत्री ने भिरुकच्छ नाम का देश बसाया. कात्यायन भिक्षु नगर के नष्ट हो जाने पर लम्बकपाल, स्यमाक वोक्काण आदि देश होता हुआ सिन्धु नदी के किनारे पर आ पहुँचा वहां से मध्यदेश आया और श्रावस्ती नगरी में, जहां भगवान् बुद्ध अपने संघ के साथ रहते थे, आकर उनके संघ में मिल गया.

जहां तक मुझे स्मरण है, यह कथा दक्षिण के हीनयान संप्रदाय के पाली साहित्य में कहीं भी नहीं मिलती. किन्तु उत्तर के महायान संप्रदाय के संस्कृत एवं टिबेटियन साहित्य में उपलब्ध होती है. 'दिव्यावदान' के सिवा क्षेमेन्द्र के 'अवदान-कल्पलता' में भी यह कथा आती है. अस्तु, यहां इतना ही बताना अभिप्रेत है कि चीनी यात्री व्हेनत्सांग [युवन्च्वांग] द्वारा वर्णित 'हो-लो लो-किअ' नगर के नाश की और दिव्यावदान के 'रोरुक' नगर के नाश की कथा में कोई अंतर दृष्टिगोचर नहीं होता. इससे यह मालूम होता है कि इन दोनों कथाओं का मूल स्रोत एक ही है. इतना ही नहीं, 'दिव्यावदान' के 'रोरुक' नगर का ही चीनी उच्चारण 'हो-लो-लो-किअ' हो ऐसा लगता है. थोमसवाटर्स इस नाम की व्युत्पत्ति O-Lao-Lo-Ka (Rallaka?) इस प्रकार करते हैं. 'बिल' महाशय Ho-Lo-Lo-Kia ऐसा करते हैं. 'दिव'

महाशय इसी नामका दूसरा उच्चारण इस प्रकार देते हैं Ragha or Ragham, or Perhaps ourgha और 'वाटर्स' महाशय उसका संस्कृत उच्चारण 'रल्लक' देते हैं. किन्तु दोनों उच्चारणों की अपेक्षा दिव्यावदान का रोरुक उच्चारण ही भाषाशास्त्र की दृष्टि से अधिक संगत लगता है. अतः ये दोनों नगर एक ही थे ऐसा उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है. किन्तु यहाँ पर भौगोलिक प्रश्न उपस्थित होता है. दीघनिकाये नामक पाली आगम के 'महागोविन्द-सुत्तन्त' में और 'जातकट्ठकथा' में रोरुक नगर को 'सौवीर' देश की राजधानी बताया है. प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान्—ह्रीस-डेविड्स ने हिन्दुस्तान के नक्शे में सौवीर देश का स्थान कच्छ की खाड़ी के पास में बताया है, जब कि हुएनसाँग हो-लो-लो-किअ नगर को खोतान प्रदेश [मध्यप्रदेश] में बताते हैं. प्रादेशिक दृष्टि से दोनों के स्थल अलग-अलग होने से इन दोनों नगरों को एक मानने में यह सबसे बड़ी बाधा उपस्थित होती है. दीघनिकाय में जिस सौविर देश का उल्लेख आया है उसका अभी तक स्थान निश्चित नहीं हो पाया है. वैदिक पुराणों एवं जैनग्रंथों में सौवीर देश का नाम आता है. जैन ग्रंथों में प्रायः 'सिन्धु-सौवीर' ऐसा जुड़ा हुआ नाम आता है. यह सौवीर बुद्ध का ही सौवीर है तो यह सिन्धु नदी के आस-पास बसा हुआ होना चाहिए. किन्तु जैन और बौद्धों का सौवीर एक ही है ऐसा मालूम नहीं होता. क्योंकि जैन सिन्धु सौवीर की राजधानी वीतिभय अथवा वीतभय मानते हैं, जबकि बौद्ध ग्रंथों में सौवीर की राज-धानी रोरुक नगर बतलाई गई है. बौद्ध ग्रंथों में भी अलग-अलग वाचनाओं में इस शब्द के विषय में कई पाठान्तर हैं. जैसे—जातकट्ठकथा में 'रोरुवनगर' अथवा 'रोरुवम नगर' ऐसे दो पाठ आते हैं. 'दीघनिकाय' की सिंहली वाचना में 'रोरुक' और बरमी वाचना में 'रोरुण' पाट आता है. इतना ही नहीं, देश के नामों में भी पाठान्तर है. जैसे दीघनिकाय में 'सौवीर' के स्थान पर 'सोचिर' पाठ आता है और जातकट्ठकथा में 'शिविरठे' पाठ है. लिपिकों के प्रमाद और अज्ञान से ऐसे अशुद्ध पाठों का लिखा जाना असंभव नहीं है. ऐसे पाठभेदों से ऐतिहासिक तथ्य निकालने में कितनी बड़ी कठिनाई आती है यह तो पुरातत्त्वज्ञ ही जानते हैं. टीबेटियन साधनों से तो 'रोरुक' नगर पालिसाहित्य प्रसिद्ध कोलिय क्षत्रियों का 'राम ग्राम' हो ऐसा 'राकहील' का अनुमान है.[1] इससे यह पता लगता है कि सौवीर और रोरुक नगर का स्थान अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है. अगर निश्चित हुआ मान भी लें तो भी दिव्यावदान का 'रोरुक' और दीघ-निकाय का 'रोरुक' दोनों अलग हैं, ऐसा मानने में कोई बाधा भी नहीं है. साथ ही दिव्यावदान वाला रोरुक हिन्दुस्तान के बाहर था ऐसे कई प्रमाण मिलते हैं. रोरुक नगर का जब नाश हुआ था तब कात्यायन भिक्षु मध्यदेश में आने के लिये निकला मार्ग में लम्बाक, स्यामाक, और वाक्कणादि देशों को पार करता हुआ सिन्धु नदी के किनारे पर आया. वहां से नदी को पार कर अनेक स्थलों पर घूमता-घामता श्रावस्ती आ पहुँचा था. पूर्वग्रंथों में लम्बाक-स्यामाक और वोक्कणादि प्रदेश हिन्दुस्तान के बाहर अनार्य प्रदेश माने जाते थे. इनका सिन्धु नदी के उस पार होना भी उन प्रदेशों के अनार्य होने का सबल प्रमाण है. दिव्यावदान की वार्ता के आधार पर से हम यह देखते हैं कि रोरुक नगर में रत्नों की पैदाइश अधिक होती थी और वस्त्रों की कम.[2] इसके विपरीत भारत में ऐसा कोई प्रदेश दृष्टिगोचर नहीं होता जहाँ केवल रत्न ही रत्न पैदा होते हों, वस्त्र नहीं. किन्तु मध्य एशिया में ऐसे भी प्रदेश थे जहां वस्त्र नहीं पैदा होते थे.[1] इन कारणों से प्रमाणित होता है कि रोरुक नगर हिन्दुस्तान के बाहर था और वह हुएनसाँग का वर्णित 'हो-ला-लो-किअ' का ही दूसरा नाम था.

## बौद्ध और जैन कथा में समानता

हुएनसाँग और दिव्यावदान की कथा का साम्य हम ऊपर देख आये हैं. किन्तु बौद्ध और जैन कथा में जो साम्य मिलता है वह और भी आश्चर्यजनक है. हुएनसाँग और दिव्यावदान वर्णित कथा में तो केवल रोरुक नगर के नाश का ही साम्य मिलता है किन्तु दिव्यावदान की कथा के साथ जैन कथा का कई बातों में साम्य दृष्टिगोचर होता है. जिसकी चर्चा अब हम करेंगे.

---

१. देखो—Rockhills life of Buddha. P. 145.

२. 'देवो रत्नाधिपतिः. स राजा वस्त्राधिपतिः. तस्य रत्नानि दुर्लभानि'—दिव्यावदान, पृ० ५४५.

रोरुक नगर के नाश और जैन कथा में वर्णित वीतिभय के नाश के वर्णन में हुएनसांग, अवदान और जैन ग्रंथ समान हैं. तीनों ने नगरनाश का कारण धूलि-वर्षा ही बताया है. जैन कथा में 'उदायन' और दिव्यावदान में 'उद्रायण' अथवा 'रुद्रायन' की मृत्यु का कारण उसका उत्तराधिकारी माना गया है. जैन ग्रंथकार इसकी मृत्यु विषप्रयोग से और बौद्ध कथाकार शस्त्रप्रयोग से दुष्ट अमात्यों द्वारा होना लिखते हैं. जैन कथाकार उद्रायण का उत्तराधिकारी उसके भानजे केशीकुमार को मानते हैं जबकि बौद्ध कथाकार उसके पुत्र शिखण्डी को उसका उत्तराधिकारी मानते हैं.

साथ ही शिखण्डी और उसके मंत्रियों का आपस में जो रुद्रायण विषयक वार्तालाप हुआ है और हेमचन्द्राचार्य की इसी कथा में केशीकुमार और उनके मंत्रियों के बीच उदायन विषयक हुए वार्तालाप में जो भावसाम्य दृष्टिगोचर होता है, उसे समझने के लिये दोनों ग्रंथों के कुछ उद्धरण दिये जाते हैं—

देव, श्रूयते वृद्धराजा आगच्छतीति. स कथयति—प्रव्रजितोऽसौ. किमर्थ तस्यागमनप्रयोजनमिति ? तौ कथयतः देव, येनैक-दिवसमपि राज्यं कारितम्, स विना राज्येनाभिरंस्यत इति कुत एतत् ? पुनरप्यसौ राज्यं कारयितुकाम इति. शिखण्डी कथयति—यद्यसौ राजा भविष्यति, अहं स एव कुमारः, कोऽनुविरोध इति ? तौ कथयतः—देव, अप्रतिरूपमेतत्. कथं नाम कुमारामात्यपौरजनपदैरञ्जलि—सहस्रैर्नमस्यमानेन राज्यं कारयित्वा पुनरपि कुमारवासेन वस्तव्यम् ? वरं देशपरित्यागो न तु कुमारवासेन वासम्——स ताभ्यां विप्रलब्धः कथयति—किमत्र युक्तम् ? कथं प्रतिपत्तव्यमिति ? तौ कथयतः—देव, प्रघातयितव्योऽसौ. यदि न प्रघात्यते, नियतं दुष्टामात्यैर्विग्राहितो देवं प्रघातयतीति. स कथयति, कथं पितरं प्रघातयामीति ? तौ कथयतः—न देवेन श्रुतम् ?

पिता वा यदि वा भ्राता, पुत्रो वा स्वांगनिःसृतः, प्रत्यनीकेषु वर्तेत कर्तव्या भूमिवर्धना (१).
(दिव्यावदान पृ० ४७८)

इन्हीं भावों को आचार्य हेमचन्द्र ने निम्न शब्दों में प्रकट किया है :

ज्ञात्वोदायनमायातं केश्यमात्यैर्भणिष्यते, निर्विण्णस्तपसामेष नियतं तव मातुलः।
श्रद्ध राज्यं ह्यैन्द्रपदं तत्त्वक्त्वानुशयं दधत्, नूनं राज्यार्थमेवागाद्विस्वसीमां स्म सर्वथा।
केशी वक्ष्यत्यसौ राज्यं गृह्णात्वद्यापि कोऽस्म्यहम्, गोपालस्य हि कः कोपो धनं गृह्णाति चेद्धनी।
वक्ष्यन्ति मंत्रिणः पुण्यैस्तव राज्यमुपस्थितम्, प्रदत्तं न हि केनापि राजधर्मोऽपि नेदृशः।
पितुर्भ्रातुर्मातुलाद्वा सुहृदो वापरादपि, प्रसह्याप्याहरे प्राज्यं तद्दत्तं को हि मुञ्चति।
तैरेवमुदितोऽत्यर्थं त्यक्त्वा भक्तिमुदायने, केशी प्रदयति किं कार्यं दापयिष्यन्ति ते विषम्।

महावीरचरित्र पृ० १५८.

बौद्ध ग्रंथों में रुद्रायण की रानी का नाम चन्द्रप्रभा लिखा है जब कि जैनों ग्रंथों में प्रभावती नाम आता है. दोनों में भी 'प्रभा' शब्द का प्रयोग हुआ है जो अधिक ध्यान देने योग्य है. इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि राजा का वीणा बजाना, रानी का नृत्य, नृत्य करती हुई रानी में मृत्यु के चिह्न दिखाई देना, रानी की प्रव्रज्या, प्रव्रज्या की आज्ञा देने में मृत्यु के बाद वापिस आने की शर्त राजा के द्वारा रखना, रानी की प्रव्रज्या और उसकी मृत्यु के बाद पुनः राजा को उपदेश देने के लिये आना आदि घटनाओं का जो दोनों ग्रंथों में साम्य मिलता है, वह अधिक आश्चर्यजनक है. दिव्यावदान और हेमचन्द्र के महावीर चरित्र में इस विषय का जो वर्णन आया है, वह पाठसाम्य की दृष्टि से पाठकों के सामने रखता हूँ.

रुद्रायणो राजा वीणायां कृतावी, चन्द्रप्रभा देवी नृत्ये. यावदपरेण समयेन रुद्रायणो राजा वीणां वादयति, चन्द्रप्रभा देवी नृत्यति. तेन तस्या नृत्यन्त्या विनाशलक्षणं दृष्टम्. स नाभिनन्द्यानुस्मृत्य निरीक्ष्य संलक्षयति-सप्ताहस्यात्ययात्कालं करिष्यति. तस्य हस्ताद्वीणा स्रस्ता, भूमौ निपतिता. चन्द्रप्रभा देवी कथयति—देव मा, मया दुर्नृत्यम् ? देवि, न त्वया दुर्नृत्यम्. अपि तु मया तव नृत्यन्त्या विनाशलक्षणं दृष्टम्. सप्तमे दिवसे तव कालक्रिया भविष्यति. चन्द्रप्रभा देवी पाद-योर्निपत्य कथयति-देव यद्येवम्, कृतोपस्थानाहं देवस्य यदि देवो अनुजानीयात्, अहं प्रव्रजेयमिति. स कथयति चन्द्रप्रभे !

समयतोऽनुजानामि. यदि तावत्प्रव्रज्य सर्वक्लेशप्रहाणादर्हत्वं साक्षात्करोषि, एषा एव दुःखान्तः. अथ सावशेषसंयोजना कालं कृत्वा देवेषूपपद्यसे, देवभूतया ते ममोपदर्शयितव्यमिति. सा कथयति—देव, एवं भवत्विति. (दिव्यावदान, पृ० ४७०)

यही वर्णन आचार्य हेमचन्द्र के महावीरचरित्र में इस प्रकार है :

तामन्यदार्चामर्चित्वा प्रमोदेन प्रभावती, पत्या समेता संगीतमविगीतं प्रचक्रमे ।
तानौघानुगतश्रव्यं व्यक्तव्यंजनधातुकम्, व्यक्तस्वरं व्यक्तरागं राजा वीणामवादयत् ।
व्यक्तगांहारकरणं सर्वांगाभिनयोज्ज्वलम्, ननर्त देव्यपि प्रीता लास्यं ताण्डवपूर्वकम् ।
राजान्यदा प्रभावत्या न ददर्श शिरः क्षणात्, नृत्यन्तं तत्कबन्धं तु ददर्शाजिकबन्धवत् ।
अरिष्टदर्शनेन द्राक् क्षुभितस्य महीपतेः, तदोपसर्पन्निद्रस्येवागलत् कंबिका करात् ।
अकाण्डताण्डवच्छेदकुपिता राज्ञ्यथावदत्, तालच्युतास्मि किमहं वादनाद्विरतोऽसि यत् ।
इत्थं पुनः पुनः पृष्टः कम्बिकापातकारणम्, तत्तथाख्यन्महीपालो बलीयान् स्त्रीग्रहः खलु ।
राज्ञ्यूचे दुर्निमित्तेनामुनाल्पायुरहं प्रिय, आजन्मार्हद्धर्मसेवत्या मृत्युरप्यस्तु नास्ति भी ।
प्रत्युतानन्दहेतुर्मे दुर्निमित्तस्य दर्शनम्, तज्ज्ञापनाय भवति यत्सर्वविरतौ मम ।
अनिमित्तद्व्याख्यातात्पायुषः समयोचिते, प्रव्रज्याग्रहणे मेऽद्य प्रत्यूहं नाथ मा कृथाः ।
एवमुक्तः सनिर्बन्धमभ्य-धाद्वसुधाधवः, अनुतिष्ठ महादेवि यत्तुभ्यमभिरोचते ।
देवत्वमाप्तया देवि बोधनीयस्त्वयान्वहम्, स्वर्गसौख्यान्तरायेऽपि सोढव्यो मत्कृते क्षणम् ।

उपरोक्त अवतरणों से जैन और बौद्ध लेखों में कितनी बड़ी अभिन्नता है यह स्पष्ट मालूम होता है. मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि दिव्यावदान के उद्रायण नाम के बदले में जैन नाम उदायन या जैन नाम उदायन के बदले में बौद्धनाम उद्रायण लिपि या पाठभेद के कारण ही है. क्योंकि बौद्धों और जैनों के ग्रन्थों में इस नाम के कई पाठभेद मिलते हैं. दिव्यावदान में रुदायण ही सर्वत्र प्रयुक्त हुआ है लेकिन कई प्रतियों में 'रुद्रायण' के स्थान में 'उद्रायण' का भी प्रयोग हुआ है. इसी प्रति में एक जगह तो 'उद्रायण' ही पाठ आया है—

मुक्तो ग्रन्थैश्च योगैश्च शल्यैर्नीवरणैस्तथा, अद्याप्युद्रायणो भिक्षू राजधर्मैर्न मुच्यते ।—दिव्यावदान पृ० ४८०.

क्षेमेन्द्र के अवदानकल्पलता में सर्वत्र उद्रायण का ही प्रयोग हुआ है. उदाहरणार्थ :

बभूव समये तस्मिन् रौरुकाख्ये पुरे नृपः, श्रीमानुद्रायणो नाम यशश्चन्द्रमहोदधिः ।
कदाचिद्दिव्यरत्नांकं कवचं कांचनोज्ज्वलम्, प्राहिणोद् बिम्बिसाराय सारमुद्रायणो नृपः ।
बिम्बिसारस्य हस्तांकलेखामुद्रायणो नृपः, उद्रायणस्य नृपतेरार्य्यः कात्यायनोऽथ सः ।

—अवदानकल्पलता पृ० २५६

इन अवतरणों से यह स्पष्ट मालूम होता है कि बौद्धग्रन्थों में असली नाम रुद्रायण नहीं किन्तु 'उद्रायण' ही था. यह नाम जैन ग्रन्थकारों का भी सम्मत है. भगवतीसूत्र और आवश्यक चूर्णि में 'उद्दायण' भी पाठ आता है. जिसका संस्कृत रूप 'उद्रायण' होता है. जैन संस्कृत टीकाकारों ने इसी शब्द को 'उादयण' के रूप में संस्कृत किया है.

जैन और बौद्ध कथा में कितना बड़ा साम्य है, यह हम ऊपर देख आये हैं. इस विलक्षण साम्य का मूल खोज निकालना कठिन कार्य है. इस कथा को किसने किससे उधार लिया है ? या उस समय उदायन विषयक स्वतंत्र आख्यान को जैन व बौद्धों ने अपने साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है ? जिसका निर्णय करना हमारी शक्ति के बाहर है.
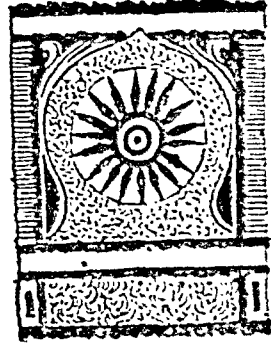
साध्वी श्रीकुसुमवतीजी सिद्धान्ताचार्या

# भारतीय संस्कृति में संत का महत्त्व

भारतीय संस्कृति में सन्त का स्थान प्रमुख है. वही भारतीय संस्कृति का निर्माता है. चिरकाल से सन्तों का जो अविच्छिन्न प्रवाह चला आ रहा है, संस्कृति उसी की घोर तपश्चर्या का सरस सुफल है. सन्तजनों ने जगत् के लुभावने वैभव से विमुख होकर और अरण्यवास करके जो अमृत पाया, उसे जगत् में वितीर्ण कर दिया. उसी से संस्कृति की संस्थापना हुई, वृद्धि हुई. समय-समय पर उस संस्कृति में भी युगानुरूप संस्कार होते गए, किन्तु उसमें भी सन्तों की साधना का ही प्रमुख हाथ रहा. यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में ऐसी प्रचुर विशेताएँ हैं जो विश्व के अन्य देशों में दृष्टिगोचर नहीं होती. सन्त का जीवन आत्मलक्षी होने पर भी जन-जन के कल्याणार्थ होता है. उनका ज्ञान प्रसुप्त मानवजगत् को जागृत बनाने के लिये ही. वे दीपक के समान स्वयं भी प्रकाशमान हैं, और दूसरों को भी प्रकाश देते रहते हैं.

संत के जीवन का लक्ष्य यद्यपि आत्मोत्थान होता है किन्तु उसके आत्मोत्थान की प्रक्रिया इस प्रकार की होती है कि उससे दूसरों का कल्याण अनायास ही होता रहता है. परोपकार एवं परोद्धार उसकी आत्म-साधना का ही एक अंग होता है.

सन्त के जीवन का क्षण-क्षण, शरीर का कण-कण और मन का अणु-अणु परहितार्थ ही होता है.

सरवर तरुवर सन्त जन, चौथा वर्षे मेह ,<br>
परोपकार के कारणे गुता धारी देह !

समुद्र अपने पास अथाह जलराशि संचय करके रखता है वह अपने लिये नहीं, किन्तु जगत् में व्याप्त संताप को दूर करने और भूतल को शान्त करने के लिये ही. वृक्ष मधुर-मधुर फलों एवं फूलों से लदे रहते हैं, सो अपने लिये नहीं किन्तु दूसरों की क्षुधा को शान्त करने के लिये, दूसरों को सौन्दर्य और सुवास देने के लिये ही. इसी तरह सन्तजन भी अपने जीवन को परहित के लिये ही धारण करते हैं.

जिस प्रकार अगरवत्ती दूसरों को सुगन्ध प्रदान करने के लिये अपने आपको समर्पित कर देती है, अपने सम्पूर्ण शरीर को अग्निदेव की भेंट करके भी अन्य को खुशबू लुटाती रहती है; सन्त का जीवन भी ठीक इसी प्रकार का होता है. वे अपने दुःखों एवं कष्टों की परवाह न करते हुए पर-हितार्थ ही अपना सर्वस्व लुटा देते हैं.

सन्त का हृदय मक्खन के समान कोमल होता है. तुलसीदासजी ने कहा है :

संत हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पर कहिय न जाना ,<br>
निज दुख द्रवहि सदा नवनीता, पर दुख द्रवहिं सन्त पुनीता !

सन्त का हृदय मक्खन के समान कोमल है, यह कहना ठीक है, किन्तु स्वदुःखकातर, बेचारा मक्खन परदुःखकातर सन्त के हृदय का मुकाबला नहीं कर सकता. अतएव मक्खन की उपमा सन्त के जीवन में संगत नहीं हो सकती.

सन्त के प्राणों पर कैसा भी विषम संकट क्यों न आ पड़े, सहस्रों पीड़ाएं क्यों न उपस्थित हों, अपमान और तिरस्कार

का गरल क्यों न पान करना पड़े, वह किसी से भी अपने पर दया करने की प्रार्थना न करेगा, ज्यों-ज्यों दुःख अपमान, तिरस्कार और घृणा की लपटें उसे झुलसाने के लिये अग्रसर होंगी, त्यों त्यों उसका जीवन वज्र के समान होता जायेगा. क्या मजाल कि उसका मन पिघल जाए, सत्त्व विचलित हो जाए. वास्तव में सन्त स्वयं के लिए हिमालय की चट्टान के समान अडिग होता है. किन्तु दूसरों के प्रति व्यवहार करने में कुसुम के समान कोमल हो जाता है :

'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'

सन्त का कोमल हृदय दूसरों के दुःख के भार को वहन करने में सर्वथा असमर्थ होता है.

## सन्तों के प्रभाव के कतिपय उदाहरण

मानव के हृदय में रोग के जन्तु भर जाते हैं, तो उसे डाक्टर के पास जाकर इंजेक्शन लेना पड़ता है. सन्त भी एक डाक्टर हैं अतः मानव के विकार एवं पाप के जन्तुओं को दूर करने के लिये उनके पास जाना चाहिए, उनके सम्पर्क से विपाक्त मानसिक वातावरण का नाश हो जाता है.

१. समर्थ गुरु रामदास और शिवाजी :

रामदास सचमुच समर्थ रामदास ही थे. बचपन में उसका विवाह हो रहा था, और वे लग्नमण्डप में बैठे हुए थे, तब उन्होंने जैसे ही 'सावधान' शब्द सुना, वे सावधान हो गये और ऐसे सावधान हुए कि १२ वर्ष तक उनका पता नहीं लगा. फिर वे संन्यासी हो गये, और घर-घर भिक्षा मांगने लगे.

स्वामी रामदास एक पहुँचे हुए सन्त थे. उनका प्रभाव चारों ओर बिजली के समान फैल गया. उस प्रभाव से महाराज शिवाजी भी प्रभावित हुए. शिवाजी ने उन्हें अपना गुरु माना. जब अपने गुरु को भिक्षा मांगते हुए देखा तो सोचा—'मेरे गुरु और भिक्षा माँगे, क्या मैं अकेला ही उनकी आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं कर सकता हूँ ?' उन्होंने तत्काल पत्र लिखा, ओर अपने नौकर को देते हुए कहा—'जब स्वामीजी आवें तो उनकी झोली में यह चिट्ठी डाल देना. यथा-समय भिक्षार्थ रामदास आये तो नौकर ने वह पत्र उनकी झोली में डाल दिया. उसमें लिखा था—'महाराज, मैं अपना सारा राज्य आपको सौंपता हूँ. आप भिक्षावृत्ति त्याग दें.'

सन्त रामदास ने उसे पढ़ा और चुपचाप वहाँ से चल दिये. दूसरे दिन वे शिवाजी के पास आये और बोले—'बेटा, तुमने अपना सारा राज्य मुझे दे दिया है. बोलो, अब तुम क्या करोगे ?'

शिवाजी ने कहा—'गुरुदेव, जो आपकी आज्ञा हो. सेवा में सदा तैयार हूँ !'

रामदास ने कहा—'यह मेरी झोली उठाओ और मेरे साथ भीख मांगने चलो.'

शिवाजी बड़े विस्मित हुए पर वचनबद्ध थे. उन्होंने झोली उठा ली और रामदास के साथ भिक्षा माँगने चल पड़े. गुरु ने उन्हें सारे गाँव में अटन कराया और अन्त में नदी के किनारे आकर सबके साथ भोजन कराया. भोजनानन्तर गुरु ने शिवाजी से कहा—'बेटा, तुमने सारा राज्य मुझे दे दिया है, लेकिन अब मैं यह राज्य तुम्हें वापस सौंपता हूँ. तुम राज-काज मेरा समझकर करना और यह मेरा भगवाँ वस्त्र भी साथ रखना, जिससे तुम्हें इस राज्य के प्रति अनुरक्ति न हो.' महाराष्ट्र में आज भी उस भगवे झण्डे का महत्त्व कायम है. शिवाजी ने गुरु के कथनानुसार ही राज्य चलाया, और उसके मालिक नहीं, ट्रस्टी बनकर काम किया. रामदास का शिवाजी पर ऐसा प्रभाव पड़ा.

२. श्रेणिक और अनाथी मुनि :

मगधसम्राट् पर अनाथी मुनि का प्रभाव कैसा और किस प्रकार पड़ा, इसका वर्णन भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन-सूत्र के बीसवें अध्ययन में किया है. राजा श्रेणिक मण्डिकुक्ष नामक उद्यान में क्रीड़ार्थ गया. वहाँ एक वृक्ष के नीचे ध्यानमुद्रा में स्थित अनाथी मुनि को देखा.

उनको देखकर ही राजा प्रभावित हो जाता है और कहता है—'अहो इन महात्मा की कमनीय कान्ति, अतुल रूप सम्पत्ति, क्षमा, सौम्यभाव तथा निर्लोभता आदि गुण धन्य हैं! इनकी निस्संगवृत्ति प्रशंसनीय है.'

मुनि ने ध्यान खोल कर राजा श्रेणिक को अनाथ-सनाथ का रहस्य समझाया. विशदरूप में अपना जीवन कह कर उपदेश दिया. राजा श्रेणिक अनाथी मुनि का उपदेश सुनकर इतना प्रभावित हुआ कि वह बौद्धधर्म को छोड़ कर जैन धर्मावलम्बी बन गया.

### ३. अंगुलीमाल और महात्मा बुद्ध :

'क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका, भवति भवार्णवतरणे नौका'

सज्जन पुरुषों की एक क्षण की भी संगति महान् फलदायिनी होती है, वह संसार रूप समुद्र से पार लगा देती है. महात्मा बुद्ध की संगति का प्रभाव अंगुलीमाल पर ऐसा पड़ा कि वह घोर हिंसक भी अहिंसक बन गया.

श्रावस्ती के जंगल में एक लुटेरा रहता था. वह मनुष्यों को लूट कर उनकी अंगुलियाँ काट लेता था और उनकी माला बना कर पहनता था. अतः वह 'अंगुलीमाल' के नाम से प्रख्यात हो गया था. श्रावस्ती की सारी प्रजा उससे हैरान थी. राजा भी उसको अपने वश में नहीं कर सकता था. यह बात सुनकर महात्मा बुद्ध उस जंगल की ओर गये. अंगुलीमाल ने दूर से बुद्ध को आते हुए देखा तो सोचा—'इस जंगल में कोई भी अकेला आने की हिम्मत नहीं करता. यह मानव कैसे अकेला आ रहा है ? क्या इसे अपनी जान प्यारी नहीं है ?' वह बुद्ध के सामने आया और खड़ा होकर बोला—'ठहरो, आगे मत बढ़ो' तब चलते-चलते ही महात्मा ने कहा—'मैं तो खड़ा हूँ, लेकिन तुम खड़े रहो.' यह सुनकर वह लुटेरा असमंजस में पड़ गया और सोचने लगा—'यह कैसा मानव है, जो स्वयं चल रहा है फिर भी अपने को खड़ा कह रहा है. और मैं खड़ा हूँ फिर भी मुझे कहता है—'खड़े रहो.'

बुद्ध ने उस दस्यु को उपदेश देते हुए कहा—'भाई, मैं तो प्रेम और मैत्री में स्थिर हूँ, लेकिन तू अभी अस्थिर है. अतः स्थिर हो जा.' महात्मा बुद्ध की वाणी का उस लुटेरे पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह उसी क्षण तथागत का शिष्य बन गया.

### ४. हेमचन्द्राचार्य और कुमारपाल :

परमशैव कुमारपाल पर हेमचन्द्राचार्य का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह परमार्हत बन गया.

एक दिन हेमचन्द्राचार्य गोचरी (भिक्षा) लेकर आये ही थे कि कुमारपाल आचार्य के दर्शनार्थ आ पहुँचे. राजा ने अपने गुरु आचार्य के पात्र में मक्की की घाट (दलिया) देखी. कुमारपाल ने कहा—'स्वामिन् ! आप मेरे गुरु होकर यह मक्की की घाट लाते हैं ? क्या आपको सुन्दर पौष्टिक आहार नहीं मिलता ?'

आचार्य ने कहा—'इस संसार में बहुत ऐसे गरीब मानव हैं जिनको उदरपूर्ति करने को घाट भी प्राप्त नहीं होती है. उनकी अपेक्षा तो मैं बहुत ही सुखी हूँ.'

आचार्य के शरीर पर जीर्ण-शीर्ण वस्त्र देखकर कुमारपाल ने कहा—'आप मेरे जैसे राजा के गुरु होकर फटे हुए और मोटे वस्त्र क्यों धारण करते हैं ?' आचार्य ने उत्तर दिया—'राजन् ! मुझे ऐसे वस्त्र तो मिलते हैं किन्तु बहुत से गरीब लोगों को तो लज्जानिवारणार्थ फटे वस्त्र भी उपलब्ध नहीं होते हैं. कलिकालसर्वज्ञ आचार्य से कुमारपाल बहुत ही प्रभावित हुए.

### ५. हीरविजय सूरीश्वर और सम्राट् अकबर :

अकबर पर सूरीश्वर का ऐसा प्रबल प्रभाव पड़ा कि आचार्य ने अकबर के जीवन में अहिंसा की ज्योति जगा दी. हीरविजय सूरि अकबर के राजदरबार में जाकर उपदेश देते थे. उससे प्रभावित होकर अकबर ने अपने राज्य में 'अमारी' की घोषणा करवा दी. सच्चे संत का प्रभाव विश्व पर ऐसा पड़ता है.

## संत की विशेषता

संत पुरुष के जीवन में कितनी ही आपत्तियाँ क्यों न आ पड़े, उसके चित में तनिक भी विकृति नहीं आती है. सत्य यह है कि दुःख काल में संतपुरुष का जीवन और अधिक निखरता है. शंख को अग्नि में डाल दिया जाय तो भी वह अपनी शुभ्रता नहीं त्यागता.

संत पुरुष मारणान्तिक संकट के अवसर पर भी घबराते नहीं हैं किन्तु उनके जीवन से तप-संयम का सौरभ निरंतर महकता रहता है.

कुठार चन्दन के वृक्ष को काटता है, उसका समूल नाश करता है; फिर भी चन्दन तो कुठार के मुख को भी सुवासित करता है. काटने वाले को भी सुगन्ध ही प्रदान करता है. ऐसे ही साधु जन का चाहे कोई अपकार करे या उपकार, दोनों पर उस की दया-दृष्टि समान रहती है.

साधु के लक्षण—साधु पुरुष वह है जो, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन में धारण करके अपनी इंद्रियों को निगृहीत कर लेते हैं. सन्त पुरुष इन्द्रियों के दास नहीं होते, किन्तु 'गोस्वामी' होते हैं. वे सदा भिक्षा-जीवी होते हैं और रसनेंद्रियविजयी. सहज रूप से जो भी निर्दोष रूखा-सुखा उपलब्ध हो जाय, उसे ही अपने समभाव के साँचे में ढालकर अमृत बना लेते हैं. रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना बहुत ही दुष्कर है, किन्तु सच्चे संत के लिये कोई भी कार्य दुष्कर नहीं होता.

क्रोध की आंधी सन्त पुरुष के मन-मानस में किंचित् भी क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकती. मान रूप सर्प उस पर आक्रमण नहीं कर सकता. उनका अन्तःकरण निश्छल एवं सरल होता है. लोभ रूप अजगर उन्हें ग्रसित नहीं कर सकता है. उनके जीवन में कषायों का प्राबल्य नहीं होता है. वे जानते हैं कि कषायों का प्रशमन ही सन्तजीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है. भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमावान्, वैराग्यवान्, मनःसमाधारणीय, वचःसमाधारणीय, कायःसमाधारणीय, ज्ञान-संपन्नता, दर्शनसम्पन्नता, चारित्रसम्पन्नता, वेदनाध्यास, मारणान्तिकसमाध्यास आदि इन सताईस गुणों से जो युक्त हों, वे ही साधु पुरुष माने जाते हैं. वे षट्निकाय जीवों की रक्षा करते हैं, आठों मदों के त्यागी होते हैं, नववाड़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, दस प्रकार के यतिधर्म, बारह प्रकार की तपस्या के और सत्रह प्रकार के संयम के पालन-कर्त्ता होते हैं. उनके जीवन में चाहे कितने ही परिषह उपस्थित हों, कभी घबराते नहीं हैं, बल्कि सहर्ष परिषह सहन करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि कष्टों के साथ संघर्ष करना ही आत्मिक शक्ति की वृद्धि का रहस्य है.

संत की कष्टसहिष्णुता—संत अपने प्राण बचाने के लिये, दूसरों को कष्ट की भट्टी में नहीं भोंकते. वे समय आने पर अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी दूसरों की रक्षा ही करते हैं. कहा है :

> 'विपद्यपि गताः संतः पाप कर्म न कुर्वते,
> हंसः कुक्कुटवत्कीटं नात्ति किं क्षुधितोऽपि हि.'

हंस चाहे कितने ही दिन भूखा रह जाय, कुक्कट के समान कीट भक्षण नहीं करता. ऐसे ही संतजन के जीवन में कितने ही घोर संकट क्यों न समुपस्थित हो जायं फिर भी पाप कर्म में उनकी प्रवृत्ति नहीं होती है.

मेतार्य मुनि भिक्षार्थ नगर में घूम रहे थे. बीच से एक स्वर्णकार का घर आता है, और मुनि उसके वहां भी भिक्षार्थ पधारते हैं. उस समय स्वर्णकार सोने के यव बना रहा था. उनको वहीं पर छोड़कर मुनि को आहारदान देने के लिये वह रसोई घर में जाता है. अचानक आकर एक कुक्कुट उन स्वर्ण-यवों को चुग जाता है. स्वर्णकार मुनि को भिक्षा देकर बाहर आता है तो स्वर्णयव नहीं दिखाई देते. स्वर्णकार को मुनि पर ही आशंका होती है. वह मुनि से पूछता है किन्तु मुनि एकदम मौन रहते हैं. मुनि को ज्ञात था कि स्वर्णयवों को कुक्कुट चुग गया है, किन्तु उसे प्रकट कर देने से कुक्कुट को प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा. स्वर्णकार इस मौन का अर्थ समझता है कि स्वर्णयवों को चुराने वाला यही

मुनि है. आग बबूला होकर उसने मुनि के शरीर पर सिर से लगाकर पैर पर्यन्त गीला चमड़ा गाढ़ बन्धनों से बांध दिया. ज्यों-ज्यों चमड़ा सूखता है, त्यों-त्यों मुनि के शरीर की नसों के जाल टूटने लगे. ऐसे समय में भी मुनि ने नहीं प्रकट किया कि कुक्कुट ने यव खाये हैं. अपने प्राणों की आहुति देकर भी उन्होंने उसकी जान बचाई.

वहाँ काष्ठभारी डालने वाला आता है. ज्यों ही वह काष्ठ की भारी को भूमि पर डालता है, जोर का शब्द होता है और उसके भय से कुक्कुट वीट करता है. उसमें वे स्वर्णयव निकल आते हैं. उन स्वर्णयवों को देखकर स्वर्णकार को अपनी अविचारित करनी पर महान् पश्चात्ताप होता है. वह सोचता है—'हाय, निर्दोष मुनि की हत्या का पाप मैंने कर डाला.' उसे इतना पश्चात्ताप होता है कि वह घर-बार छोड़कर उसी समय मुनि बन जाता है.

संत पुरुष के जीवन में इस प्रकार की कष्टसहिष्णुता और दयालुता होती है.

**संत का आंतरिक जीवन**—भ० महावीर का कथन है कि आंतरिक जीवन की पवित्रता के बिना कोई भी बाह्य आचार, कोई भी क्रियाकाण्ड या गम्भीर विद्वत्ता व्यर्थ है. संख्या के बिना हजारों बिन्दुओं का कोई मूल्य नहीं है, धन राशि के बिना तिजोरी का कोई महत्त्व नहीं है, उसी प्रकार अन्तःशुद्धि के बिना आध्यात्मिक दृष्टि से बाह्याचार का कोई मूल्य नहीं है. जो क्रियाकाण्ड केवल काय से किया जाता है, और अन्तरतर से नहीं किया जाता है, उससे आत्मा पवित्र नहीं बनती. आत्मा को निर्मल और पवित्र बनाने के लिये आत्मस्पर्शी आचार की अनिवार्य आवश्यकता है.

सभी सन्त समान तो नहीं होते किन्तु विश्व में अनेकों ही ऐसी विरल विभूतियाँ भी आपको दिखाई देंगी, जो अंतः-शुद्धि पूर्वक बाह्य क्रियायें करती हैं. ऐसे व्यक्ति अभिनन्दनीय हैं. वे निःसन्देह परम कल्याण के भागी होते हैं.

संत के जीवन में प्रथम निश्चय भाव आता है और फिर व्यवहार भाव. निश्चय का अभिप्राय है, अपने मन में किसी आदर्श अथवा लक्ष्य को स्थापित करना. जब मनुष्य, जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर लेता है तो वह सोचने लगता है कि वह कौन से मार्ग पर आगे बढ़े, कौनसी प्रेरणा लेकर चले तो लक्ष्य को प्राप्त करले ? ऐसा मानव ही बुराइयों से लड़ेगा और अच्छाइयों को ग्रहण करेगा. इस प्रकार निश्चय भाव पहिले और व्यवहार भाव बाद में आता है.

संतों का अंतर्मानस सदा जागृत रहता है. वह आंतरिक जीवन में कभी सोता नहीं है. भले ही वे ऊपर-ऊपर से सोये हुए दिखाई दें किन्तु उनका अन्तार्जीवन निरन्तर जागरूक बना रहता है. भगवान् महावीर ने फरमाया है:—"सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरंति" —आचारांग.

संत के जीवन में ज्ञान रूप ज्योति निरन्तर जगमगाती रहती है. उनके जीवन से विश्व में तप-संयम रूप सौरभ निरन्तर महकती रहती है. उनके जीवन में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र का अक्षय कोष भरा रहता है. इस प्रकार सन्त का आन्तरिक जीवन तप, जप की ज्योति से जाज्वल्यमान होता हुआ विशुद्धि की ओर बढ़ता चला जाता है.
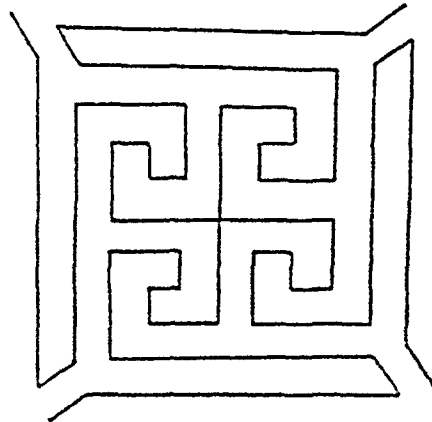
श्रीकलावती जैन

# जैनागम और नारी

आगमसाहित्य में नारी का महत्त्व—समाजरचना में नारी और पुरुष दोनों का समान महत्त्व रहा है. समाज का अर्थ है स्त्री और पुरुष. उसका अर्थ न केवल पुरुष है और न केवल स्त्री. समाज के विकास में दोनों का पृथक् अस्तित्व, कोई मूल्य नहीं रखता. दोनों विश्वरथ के दो चक्र हैं. उसमें न कोई छोटा न कोई बड़ा. दोनों की समानता ही रथ की गति-प्रगति है. दोनों ही समाज या विश्व-व्यवस्था के सहज-स्वाभाविक, अनिवार्य एवं अभिन्न अंग हैं, दोनों एक-दूसरे के परिपूरक हैं, सहायक हैं, सहयोगी हैं. समाज, राष्ट्र एवं विश्व के विकास में, विश्व-इतिहास को नई गति देने में पुरुष के साथ स्त्री का भी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है. इतिहास के पन्नों को पलट कर देखें, आपको स्वर्णाक्षरों में अंकित मिलेगा कि नारी ने हर युग में विश्व को, मानव जाति को नई ज्योति, नई प्रेरणा एवं नई चेतना दी है. इतिहास नारी के उज्ज्वल आदर्श एवं तप-त्याग-निष्ठ जीवन का साक्षी है.

श्रमण-संस्कृति में नारी का महत्त्व—श्रमण-संस्कृति समता और साम्यभाव की संस्कृति है. वह आत्मविश्वास एवं गुण-विकास को महत्व देती है. श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायकों ने आत्म-साधना के क्षेत्र में जाति-भेद, वर्ग-भेद, और रंग-भेद आदि को कभी स्वीकार नहीं किया. श्रमण भगवान् महावीर का यह वज्र आघोष रहा है कि साधना करने का, आत्म-विकास करने का, मुक्ति प्राप्त करने का सबको समान रूप से अधिकार है. आत्मस्वरूप की दृष्टि से विश्व की समस्त आत्माएँ एक-सी हैं. जो अनन्त गुण युक्त आत्म-ज्योति पुरुष में है, वैसी ही आत्म-ज्योति नारी में है. अतः साधना के क्षेत्र में नर-नारी के भेद का कोई मूल्य नहीं है. मूल्य है राग-द्वेष पर, काम-क्रोध पर, कषायों की आग पर विजय पाने का. जो व्यक्ति-भले ही स्त्री हो या पुरुष, राग द्वेष क्षय कर देता है, वही महान् है, विश्व-वंद्य है.

उस युग में जब कि वैदिकपरम्परा का जोर था और उसमें स्त्री एवं शूद्र को धर्म-साधना करने का, वेद पढ़ने एवं सुनने का कोई अधिकार नहीं था, श्रमण भगवान् महावीर ने नारी को अपने संघ में पुरुष के समान स्थान एवं समान अधिकार दिया और निर्भयता पूर्वक यह घोषित किया कि नारी भी साधना के द्वारा अपने जीवन का विकास कर सकती है. आत्मा के परमलक्ष्य मुक्ति को प्राप्त कर सकती है. अनन्त शान्ति का साक्षात्कार कर सकती है. उस युग में भगवान् महावीर की यह एक महान् क्रान्ति थी, जिसके लिये उन्हें हजारों-हजार गालियाँ दी गईं, उनका प्रबल विरोध भी किया गया. परन्तु वह सत्य एवं अहिंसा का अधिदेवता इससे डरा नहीं, विकंपित नहीं हुआ. वह अविचल भाव से सत्य का नाद गुंजाता रहा और विना किसी भेद-भाव के सबको सत्य का, साधना का पथ दिखाता रहा. उसकी चरणसेवा में पुरुष आया तो उसे भी साधना का पथ दिखाया और जब नारी उसकी सेवा में पहुँची तो उसे

भी साधना की उसी ज्योति का दर्शन कराया. उसकी साधना का द्वार सब के लिये खुला था. उसने स्त्री का भी स्वागत किया और पुरुष का भी.

तथागत बुद्ध भी भगवान् महावीर के समकालीन महापुरुष थे. जाति-भेद की दीवार को तोड़ने एवं हिंसक यज्ञों का विरोध करने में भगवान् बुद्ध ने साहस का परिचय दिया. उनके मन में भी नारी के प्रति सम्मान और आदर के भाव थे. उस युग की गणिकाओं के जीवन को बदलने के लिये उन्होंने भी महत्वपूर्ण काम किया. परन्तु उनके जीवन में यह एक महान् कमजोरी थी कि वे नारी को अपने भिक्षुसंघ में स्थान नहीं दे सके. जब कभी उनके प्रमुख शिष्य आनन्द ने उनके सामने नारी को श्रमणदीक्षा देने का प्रश्न रखा, तब उन्होंने उसे टालने में ही अपना हित समझा और वे अन्त तक उसे टालते ही रहे. अन्त में आनन्द एक बहिन को—जो भगवान् बुद्ध की परम शिष्या एवं अनन्य भक्ता थी—ले आया और भगवान् बुद्ध से निवेदन किया कि यह बहिन आपके श्रमण-संघ में प्रविष्ट होने के लिये सब तरह योग्य है और आपके उपदेश को जीवन में साकार रूप देने के लिये सर्वथा उपयुक्त है, ऐसा मैंने देख लिया है. अतः इसे आप श्रमण-साधना का, भिक्षुणी बनने का उपदेश दें. भगवान् बुद्ध इसके लिये तैयार नहीं थे. परन्तु वे आनन्द के आग्रह को टाल न सके. उन्होंने आनन्द से इतना ही कहा : 'हे आनन्द ! मैं यह कार्य केवल तुम्हारे प्रेम एवं आग्रह को रखने के लिये कर रहा हूँ और तुम्हारे स्नेह के कारण ही यह खतरा उठा रहा हूँ. मैं इसे भिक्षुणी बना रहा हूँ.' उन्होंने आनन्द के आग्रह को रखने के लिये भिक्षुणी-संघ की स्थापना की. परन्तु उनके साथ यह स्पष्ट कर दिया कि—'हे आनन्द ! मेरा यह शासन एक हजार वर्ष चलता, वह अब पांच-सौ वर्ष ही चलेगा.'

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तथागत बुद्ध के मन में भय या डर था. उन्हें व्यावहारिक भूमिका छू गई थी. परन्तु भगवान् महावीर व्यावहारिक भूमिका से ऊपर उठ चुके थे. उनके मन में, उनके जीवन के किसी भी कोने में भय एवं डर को कोई स्थान नहीं था. इसलिए साधना के क्षेत्र में उन्होंने स्त्री और पुरुष में तत्त्वतः कोई भेद नहीं रखा. चतुर्विध-संघ में श्रमणियों-साध्वियों को श्रमण-साधु के बराबर स्थान दिया और श्राविकाओं को श्रावक के समान. उन्होंने साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका चारों को तीर्थ कहा और चारों को मोक्ष-मार्ग का पथिक बताया.

**आगमसाहित्य में नारी का स्थान**—भगवान् महावीर की अभेद विचारधारा का ही यह प्रतिफल है कि उनके श्रमणसंघ में श्रमणों की अपेक्षा श्रमणियों की संख्या अधिक रही है और उपासक वर्ग में भी श्रमणोपासकों से श्रमणोपासिकाएँ संख्या में द्विगुणाधिक थी. श्रमण १४००० थे, तो श्रमणियाँ ३६००० थीं, और आज भी साधुओं से साध्वियों की और श्रावकों से श्राविकाओं की संख्या अधिक है. यह संख्या इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि भगवान् महावीर के शासन में नारी का जीवन विकसित एवं प्रगतिशील रहा है.

आगम-साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अगाम-साहित्य में नारी के ज्योतिर्मय जीवन की गौरवगाथा स्वर्णाक्षरों में अंकित है. भगवतीसूत्र में कौशाम्बी के शतानीक राजा की बहिन जयन्ती के चिन्तनशील उर्वर मस्तिष्क एवं तर्कशक्ति का परिचय मिलता है. वह निर्भय एवं निर्द्वन्द्व भाव से भगवान् महावीर से प्रश्न पूछती है, और भगवान् महावीर उसके तर्कों का समाधान करते हैं. इस विचार-चर्चा में उसकी सूक्ष्म तर्कशक्ति का परिचय मिलता है और इससे यह परिज्ञात होता है कि इसके पीछे उसका विशाल अध्ययन, गहन चिन्तन एवं सतत स्वाध्याय साधना का बल था.

दशवैकालिक-सूत्र में राजमती और रथनेमि का संवाद मिलता है. राजमती जब भगवान् नेमिनाथ के दर्शनार्थ गिरनार पर्वत पर जा रही थी, तब मार्ग में वर्षा से भीगे हुए वस्त्रों को सुखाने के लिये वह एक गुफा में प्रविष्ट हुई. वहां भगवान् नेमि-नाथ के लघु भ्राता रहनेमि ध्यान साधना में संलग्न थे राजमती के सौन्दर्य को देखकर उनका मन विचलित हो उठा और वह साधना एवं संयम के बांध को तोड़ कर भागने लगा. रहनेमि ने राजमती के सामने भोग भोगने का प्रस्ताव रखा. उस समय संयमनिष्ठा राजमती ने पथ-भ्रष्ट एवं वासना की ओर जाते हुए रहनेमि को साधना-पथ पर लगाने का प्रयत्न

किया और इसमें वह पूर्णतया सफल हुई. आगम में उपलब्ध संवाद से उसकी निर्भयता, उसके संयम उसके ज्ञान और उसकी समझाने की अद्भुत शक्ति का बोध होता है.

बाहुबली के अभिमान को चूर-चूर करने वाली भगवान् ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ—ब्राह्मी और सुन्दरी ही थीं, जो उनकी बहिनें थीं. उन साध्वियों द्वारा जगाई गई चेतना, और दिया गया उपदेश एक राजस्थानी कवि के शब्दों में आज भी जन-जन की जिह्वा पर बसा हुआ है और अभिमान एवं अहंभाव के नशे से मदोन्मत्त बने मानव को निरहंकारी बनने की प्रेरणा देता है.

'वीरा म्हारा गज थकी उतरो,<br>
गज चढ़यां केवल न होसी रे!'

उत्तराध्ययन-सूत्र के चौदहवें अध्ययन में भृगु पुरोहित का वर्णन आता है. भृगु पुरोहित अपने दो पुत्रों के वैराग्य से प्रभावित होकर अपनी पत्नी के साथ दीक्षा लेने को तैयार हुआ, तो राजा ने उसके धन वैभव को अपने भंडार में लाकर जमा करने की आज्ञा दी. जब राजा की पत्नी महारानी कमलावती को इसका संकेत मिला तो उसने राजदरबार में उपस्थित होकर राजा को उपदेश दिया, उसकी धन-लिप्सा को दूर किया, मोहनिद्रा को भंग किया, और उसे प्रतिबोध देकर अपने साधनापथ का पथिक बनाया.

अन्तकृत्दशांग सूत्र में मगध के सम्राट् श्रेणिक की महाकाली, सुकाली आदि दस महारानियों का वर्णन है, जिन्होंने श्रमण भगवान् महावीर के उपदेश से प्रतिबोध पाकर साधना-पथ स्वीकार किया. जो महारानी राजप्रासादों में, रहकर विभिन्न प्रकार के रत्नों के हार एवं आभूषणों से अपने शरीर को विभूषित करती थीं, वे जब साधना के पथ पर गतिशील हुई तो कनकावली, रत्नावली आदि तपश्चर्या के हारों को धारण करके अपनी आत्म-ज्योति को चमकाने लगीं.

इस तरह आगम-साहित्य के अनेक पृष्ठों पर नारी के तप, त्याग एवं संयमनिष्ठा आदर्श तथा ज्योतिर्मय जीवन की कहानी स्वर्णाक्षरों में अंकित है. इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रमण-संस्कृति में, आगमसाहित्य में नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है. नारी का यह महत्त्व उसके तप-त्याग, सहिष्णुता, दया-करुणा, वात्सल्य आदि गुणों के कारण रहा है. भगवान् महावीर ने ही नहीं, वर्तमान युग में महात्मा गांधी ने भी नारी की महत्ता को स्वीकार किया है. बापू ने अंग्रेजी के 'हरिजन' पत्र में नारी की परिभाषा देते हुए उसे अहिंसा की साकार मूर्ति कहा है.—Woman is incarnation of Ahimsa.

जैनाचार्यों ने भी नारी की गौरवगाथा गाई है. आचार्य जिनसेन के साहित्य में नारी के आदर्श जीवन का उज्ज्वल चित्रण है. एक जगह आचार्य ने लिखा है :

"गुणवती नारी संसार में सर्व श्रेष्ठ पद को प्राप्त करती है. उसका नाम अग्रिम पंक्ति में सबसे ऊपर अंकित रहता है."

अस्तु, नारी का समाज के विकास में युग-युगान्तर से सहयोग रहा है. उसकी तेजस्विता, सहिष्णुता, श्रद्धा-निष्ठा एवं तप-साधना सदा अद्भुत रही है. देश, समाज एवं धर्म की रक्षा के लिये वह अपना सर्वस्व न्योछावर करने में कभी पीछे नहीं रही. अतः नारी को नगण्य समझना और उसके महत्त्व को अस्वीकार करना, सत्य को झुठलाना है. नारी श्रद्धा-संयम, समता-ममता एवं सहिष्णुता की सजीव मूर्ति है, गृहदेवी है और प्रतिपल विश्ववाटिका को अपने वात्सल्य-पीयूष से सिंचित करती रहती है. उसकी स्नेह-धारा युग-युगान्तर से प्रवहमान रही है और-आज भी सतत गति से प्रवहमान है. वह क्या है और उसका क्या कर्तव्य है, इस सम्बन्ध में महाकवि जयशंकरप्रसाद का यह पद्य ही पर्याप्त है :

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग-पग पल में,<br>
पीयूष स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में!'
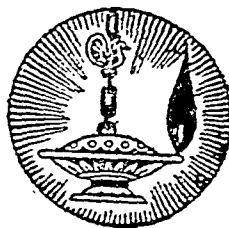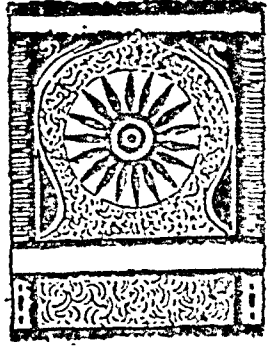
श्रीनथमल दूगड़ तथा श्रीगजसिंह राठौड़

# श्री एल०पी० जैन और उनकी संकेतलिपि

गहुआं वर्ण, ठिंगना कद, विचारशील मेधावी मस्तक, ब्रह्मचर्य के तेज से देदीप्यमान चौड़ा ललाट, छोटे पर तेजस्वी हल्के नीले नेत्रों वाले, सात भाषाओं के शॉर्टहैण्ड के प्रसिद्ध आविष्कारक श्री एल० पी० जैन का पूरा नाम 'श्रीलादूराम पूनमचन्द खिवेसरा' था, जो व्यावर में 'मास्टर साहब' के नाम से ज्यादा प्रसिद्ध थे.

धर्म में अविचल श्रद्धा रखने वाली यह त्यागमूर्ति व्यावर में अपने जीवन के अन्तिम चालीस वर्षों से शिक्षा के क्षेत्र में एक लगन से लगी रही एवं अपनी निष्काम सेवा तथा त्याग के बल पर सैकड़ों विद्यार्थियों के हृदयों में पथ-प्रदर्शक आदरणीय गुरु के रूप में पूज्य बन गई.

प्रातः चार बजे वे उठ जाते थे. एक घंटा ध्यान एवं स्वाध्याय में लगाते. ठीक पाँच बजे प्रार्थना और उसके बाद मील डेढ़ मील टहलने एवं अन्य शारीरिक कार्य से निवृत्ति के पश्चात् मुनिदर्शन का उनका निश्चित कार्यक्रम जीवन भर निर्द्वन्द्व गति से चलता रहा.

सन् १९३९ तक उनका अधिकांश समय धार्मिक शिक्षा एवं व्यवस्था में बीता, पर इसके बाद अधिकांश समय शास्त्र-पठन, स्वाध्याय एवं आत्मचिन्तन-मनन में, एवं थोड़ा जैन संकेतलिपि के विकास एवं प्रचार में लगता था.
वे 'धर्म-शिक्षा,' 'धर्म-शास्त्र' एवं 'संकेतलिपि' इन तीन विषयों पर विस्तार से विचारविनियम करना पसन्द करते थे. अन्य किसी प्रश्न का वे उत्तर देना पसन्द नहीं करते थे. शास्त्रस्वाध्याय की ओर उनकी गहरी रुचि थी. कई शास्त्र इन्होंने कण्ठस्थ कर लिये थे.

उनका जन्म बैंगलोर में हुआ और शिक्षाप्राप्ति के पश्चात् वे पैत्रिक व्यवसाय में लग गए. मगर परिस्थितियों ने उन्हें शीघ्र ही व्यवसाय-विमुख बना दिया. व्यावर में सन्तसमागम बराबर बना रहते देखकर और शास्त्र-अध्ययन और स्वाध्याय के लिये उपयुक्त स्थान समझ कर सन् १९२१ के प्रारम्भ में बैंगलोर से अपना समस्त कारोबार समेट कर वे व्यावर आ गये. बैंगलोर में रहते समय ही उनकी इच्छा जैन श्रमणदीक्षा लेने की हो गई थी. पर विधि का विधान कुछ और ही था.

व्यावर नगर और आसपास के स्थानों में धार्मिक शिक्षण की कमी उन्होंने देखी, साथ ही लोगों की जिज्ञासा भी देखी. इससे उनको कुछ स्फूर्ति मिली. आये थे केवल अपना हित करने, पर करने लगे दूसरों के भी ज्ञानलाभ की बात. धुन के पक्के थे ही. तुरन्त अपना मार्ग निश्चित किया और एक 'जैन-पाठशाला' की स्थापना कर दी. प्रौढ़ लोगों को धार्मिक शिक्षण देने के निमित्त एक रात्रिपाठशाला भी चलाने लगे. फिर तो एक छात्रालय भी स्थापित हो गया और शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था हो गई.

शनैः-शनैः धार्मिक ज्ञान के लिये और प्रमुख रूप से उच्च धार्मिक ज्ञान के लिये संस्कृत भाषा का ज्ञान जरूरी समझा गया और इस हेतु जो छः माह का पाठ्यक्रम रखा गया था, उसे बदला गया और आठ वर्ष का किया गया. इसके संचालन के लिये एक अलग संस्था का भी 'श्री जैन-वीराश्रम' के नाम से निर्माण किया गया. इस में संस्कृत प्राकृत एवं अर्द्धमागधी भाषा के ग्रन्थों के तथा दर्शन आदि विषयों के अध्यापन का प्रबन्ध किया गया.

उनकी अनेक देनों में सबसे महत्त्वपूर्ण देन 'जैन संकेतलिपि' के रूप में अमर रहेगी. इस संकेतलिपि के आविष्कार की भूमिका अपने चरित्रनायक के ही शब्दों में हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं :

'कई वर्षों से मेरे हृदय में यह तरंग उठ रही थी कि सर्व देशवासियों का एक ही भाषा में बोलना तो असम्भव है किन्तु सम्भव है कि लेखनप्रणाली में कुछ सफलता मिल जाय. इससे प्रेरित होकर मैंने सोचा कि एक ऐसी लिपि का आविष्कार किया जाय कि जिसके संकेत इतने सरल और थोड़े हों, जिनको किसी भी भाषा में किसी भी देश का रहनेवाला विद्वान् समझ सके और मात्र तीन या चार महीने के थोड़े से परिश्रम से सीख सके.

इस लिपि के संकेत इतने व्यापक हों कि किसी भी देश की किसी भी भाषा का शब्द इसमें सरलता से अंकित किया जा सके. लिखने में भी यह इतनी संक्षिप्त हो कि जिसको वक्ता की भाषा का थोड़ा बहुत भी ज्ञान हो वह वक्ता के मुंह से निकले हुए शब्दों को शीघ्रता से इस लिपि में नोट कर सके. किन्तु मेरे हृदय में इस लिपि के लिये इतनी प्रबल उत्तेजना नहीं थी कि शीघ्र ही व्यवस्थित कर दी जाय.

'इसे शीघ्र व्यवस्थित न करने में मुख्य आपत्ति यह थी कि इसका प्रत्येक संकेत, चाहे कितने ही संकेतों में मिल जाने पर भी, अपनी ही शक्ल का द्योतक बना रहे. यानि दो संकेतों के मिल जाने पर भी तीसरे संकेत का सन्देह न हो जाय. क्योंकि मेरी इच्छा थी कि प्रत्येक शब्द व वाक्य को अंकित करने में जहाँ तक हो कलम कम उठाई जाय.

'इन संकेतों के मिलान की आपत्ति ने ही मुझे विशेष झंझट में डाल दिया. विलम्ब होने का मुख्य कारण यही था. इन्हीं आपत्तियों पर विचार करते हुए जब कि श्रीमान् जैनाचार्य पूज्यवर मुनि श्रीजवाहिरलालजी महाराज के अपूर्व और विलक्षण प्रभावोत्पादक भाषणों को मैंने सुना, तो मेरी यह इच्छा हो जाना स्वाभाविक ही थी कि ऐसा यत्न शीघ्र किया जाय जिससे हर एक मनुष्य उनके भावों का जिस समय भी चाहे मनन कर सके.

'जब कि देश के प्रसिद्ध नेता पं० मदनमोहनजी मालवीय आदि विद्वानों ने भी उनके भाषणों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है और यह भी सुनने में आया है कि इन्हीं पूज्य श्री की रचित 'धर्मव्याख्या' नामक पुस्तक की संसारप्रसिद्ध महात्मा गांधीजी ने भी प्रशंसा की है और उसका अनुवाद अंग्रेजी में होने की भी आवश्यकता बतलाई है तो फिर भला यदि मेरे हृदय में उनके अमूल्य उपदेशों को संग्रह करने के भाव जागृत हुए तो इसमें विशेषता ही क्या है ? इसी उद्देश्य से प्रेरित हो, मैं इस उपरोक्त 'संकेतलिपि' की ओर विशेष लक्ष्यपूर्वक परिश्रम करने लगा. हर्ष का विषय है कि मैं उपरोक्त सर्व आपत्तियों को निवारण करता हुआ, गुरुकृपा से इस लिपि-आविष्कार के कार्य में सफल हुआ. इस सफलता के उत्साह ने ही मुझे इस संकेतलिपि (शार्टहैण्ड) में सर्वप्रथम पुस्तक लिखने के लिये प्रेरित किया है.

'मनुष्य जब कुछ बोलता है तो वह वैज्ञानिक रूप शब्द यानि आवाज करता है. उन्हीं शब्दों के भिन्न-भिन्न संकेत होते हैं. उन्हीं संकेतों से अनेक शब्द व वाक्य बनते हैं. वे संकेत बहुत अधिक नहीं हैं अर्थात् थोड़े से हैं. और यदि मनुष्य उन संकेतों को पहिचान ले तो फिर किसी भी भाषा में कोई क्यों नहीं बोला हो, उन शब्दों को लिपिबद्ध कर सकता है.

'मैंने इस पुस्तक में शब्दों की ध्वनि को संकेतबद्ध करने का प्रयत्न किया है और मैं समझता हूँ कि एक खास सीमा तक इसमें सफल भी हो सका हूँ. पाठकों को उपरोक्त बातों से ज्ञात हो जायगा कि यह लिपि ध्वनि को लिपिबद्ध करने का साधन है. और इसीलिए इसके द्वारा किसी भी भाषा की ध्वनि लिखी जा सकेगी. लेकिन सिर्फ ध्वनि को लिखने से ही हमारा उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता. यों तो सब भाषाओं की वर्णमालाएँ ही ध्वनियों को लिखने का साधन हैं परन्तु आवश्यकता है शार्टहैण्ड में एक विशेषता की, कि वक्ता के बोले हुए शब्दों को शीघ्रता से अंकित कर उसके मुंह से दूसरा शब्द निकलने के पहले उसको ग्रहण करने के लिये समय पर तैयार हो जाने की. इसके लिये बहुत थोड़े समय में मनुष्य को बहुत-सा कार्य करना पड़ता है. इसलिए चिह्नों के सरल होने की अति आवश्यकता है ताकि शीघ्रता पूर्वक लिखे जा सकें. इस लिपि के बद्ध करने में सरलता और शीघ्रता पूर्वक लिखे जाने वाले संकेतों की तरफ पूर्णतया लक्ष्य रखा गया है. आश्चर्य नहीं कि इस संकेतलिपि में शीघ्रता से नोट लेने वाले विद्वान् थोड़े ही समय में सैंकडों की संख्या में पैदा हो जाएँ.

'इस लिपि में शुद्धतापूर्वक लिखा हुआ लेख इसी लिपि का जानने वाला दूसरा विद्वान् भी भली भाँति पढ़ सकेगा. दूसरे शार्टहैण्डों के संकेतों में प्राय: मोटाई और बारीकपन जरा कम ज्यादा हो जाने से मतलब कुछ का कुछ निकल आता है और वे संकेत इतने अधिक और कठिन होते हैं कि उनका पूर्णतया हर समय याद रखना दुष्कर हो जाता है और यदि चार छ: महीने शार्टहैण्ड लिखने का अभ्यास न किया जाय तो उसे फिर कठिन प्रयास करना पड़ता है. तब ही वह अपना कार्य उचित रूप से करने में सफल हो सकता है. इसके अतिरिक्त उन संकेतों के मोटे और पतलेपन के हेतु खास तौर का कीमती फ़ाउन्टेन पैन रखने की आवश्यकता होती है. परन्तु मैंने चिह्नों को सरल और थोड़े बनाने का पूर्णतया यत्न किया है. ताकि इस लिपि का जानने वाला दूसरा व्यक्ति भी इस लिपि के लेखक के लेख का अनुवाद कर सके और यदि कुछ समय तक कारणवश अभ्यास छूट भी जाय तो उन संकेतों को सिर्फ एक ही सप्ताह में फिर से तैयार कर सके. इसके लिखने में सिर्फ बढ़िया नोकदार पैंसिल ही काफी है.

'उपरोक्त बातों के पढ़ने से पाठकों को यह भी भलीभांति विदित हो ही गया होगा कि इस लिपि को जानने के लिये न तो विशेष पाण्डित्य की ही आवश्यकता है, और न अधिक समय की ही. इस लिपि के संकेतों पर एक साधारण पढ़ा-लिखा यानि एक चौथी कक्षा उत्तीर्ण चतुर विद्यार्थी पूर्ण परिश्रम से सिर्फ ३ महीने के प्रयास ही से इस लिपि के संकेत पर अपना आधिपत्य प्राप्त कर सकता है और गति बढ़ाने पर किसी भी हिन्दी वक्ता के शब्दों को शीघ्रतापूर्वक लिपि-बद्ध करने में समर्थ हो सकता है. हमें आशा है कि यह लिपि कचहरी, आफिस वक्ताओं के नोट, अध्यापकों के नोट और समाचारपत्रों के संवाददाताओं को, जहाँ भी शीघ्रता की आवश्यकता होगी, उन सबके लिये समय की बचत और सुचारु रूप से कार्य साधन करने में अति लाभदायक सिद्ध होगी.

'अन्त में मैं उन महात्मा जैनाचार्य पूज्यवर मुनि श्रीजवाहरलालजी महाराज का परम कृतज्ञ हूँ कि जिनके मधुर और विद्वात्तापूर्ण भाषण ही इसके आविष्कार के प्रधान कारण थे और उनके भाषणों को लिपिबद्ध करने की आनन्दमय आशा ही सर्व कठिनाईयों को दूर करने में मेरा आशामय प्रदीप था जो कि मुझे सफलता तक पहुँचा सका.'

आज उनका यह प्रयास सफलता के शिखर पर पहुंच गया है. सैंकड़ो की संख्या में इस जैन संकेतलिपि से निष्णात लेखक देश भर में फैले हुए हैं. इस संकेत लिपि के लेखक मुख्यतया राजस्थान, मध्यप्रदेश, एवं महाराष्ट्र, की विधानसभाओं में प्रमुख रूप से सरकारी रिपोर्टरों के पद पर कार्य कर रहे हैं. वैसे देश भर के सरकारी एवं गैरसरकारी कार्यालयों में इनके जानकारों की भरमार है. यह जैन संकेतलिपि इस देश में प्रचलित समस्त संकेतलिपियों में अधिक सरल और शीघ्रग्राह्य गिनी जाती है. यही कारण है कि हर वर्ष सैंकड़ों की संख्या में इस देश के नवयुवक इस लिपि का अध्ययन करके भावी जीवन का निर्माण कर रहे हैं.

सन् १९३१ में इन्होंने जैन संकेतलिपि का निर्माण किया और जैन जगत् में ही नहीं, देश में ये अपनी एक अमर यादगार छोड़ गये. आज उनकी यह संकेतलिपि हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, बंगला, मराठी आदि देश की समस्त भाषाओं में प्रचलित है. समस्त भाषाओं में इसका साहित्य छपा हुआ है. आपने अपने जीवनकाल में ही इस आविष्कार को सफल होते देख लिया, यह प्रसन्नता की बात है. उस महान् कर्मवीर गृहस्थसंत के प्रति हम श्रद्धा से नतमस्तक हैं. वास्तव में उनका समग्र जीवन आदर्श और अत्यन्त स्पृहणीय रहा. न केवल जैन समाज ही प्रत्युत समग्र देश चिरकाल तक उनका आभारी रहेगा.

श्री श्रीरंजन सूरिदेव
विहार राष्ट्रभापा परिपद्, पटना

# दक्षिण भारत में जैनधर्म

[ प्रस्तुत निवंध में लेखक ने आ० भद्रवाहु के सम्बंध में मागधीय दुष्काल के कारण दक्षिण गमन का जो उल्लेख किया वह दि० जैन मान्यतानुसार है. जबकि श्वे० परंपरा का अभिमन्तव्य है कि आचार्य श्री द्वादशवर्षीय दुष्कालनिवारणार्थ दक्षिण की ओर प्रस्थान कर नेपाल में आध्यात्मिक साधना करने में तल्लीन रहे.—सम्पादक]

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा जैनधर्म का प्रचार दक्षिण-भारत में हुआ, ऐसा पौराणिक जैन इतिहास के अध्ययन से पता चलता है. जैनशाखा के प्रमुख दो भेद सर्वविदित हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर. तमिल के 'रत्नाकरशतक'[1] आदि प्राचीन काव्यों से स्पष्ट है कि उनके रचना-काल में, दक्षिण-भारत में, दिगम्बर जैनधर्म ही प्रचलित था. अर्वाचीन जैन आम्नाय का यह मत है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु श्रुतकेवली भद्रवाहु के साथ ही जैनधर्म का प्रवेश दक्षिण-भारत में हुआ. परन्तु, जैनों की पारम्पर्य मान्यता यह है कि उत्तर-भारत के जैनसंघ की तरह दक्षिण-भारतीय जैनसंघ भी प्राचीनतम है. यही कारण था कि उत्तर में सुप्रसिद्ध द्वादशवर्षव्यापी घोर अकाल पड़ने पर धर्मरक्षा के खयाल से भद्रवाहु स्वामी अपने संघ के साथ दक्षिण-भारत गये थे. उनका ही संघ ज्ञात रूप में दक्षिण का पहला दिगम्बर जैनसंघ था, ऐसा कहा जाता है.

कुछ भारतीयेतर विद्वान् डॉ० हार्नले आदि का कथन है कि अकाल पड़ने पर शाखाभेदरहित जैनसंघ के प्रधान स्थविर भद्रवाहु अपने जिस संघ के साथ मगध से कर्णाटक गये, उसका रूप दिगम्बर ही रह गया और मगध के अवशिष्ट जैन सदस्य, जिसके प्रधान स्थविर स्थूलभद्र थे, श्वेताम्बर कहलाये, श्वेताम्बर श्वेत परिधान के प्रेमी थे और दिगम्बरों के लिये दिशाएँ ही वसन थीं. मगध में पुन: शान्ति की स्थापना के वाद जैनसंघ जव कर्णाटक से मगध लौटा, तव उसने मगध के जैनसंघ से संवंधविच्छेद कर अपना अलग सिद्धान्त चलाया.[2]

अस्तु:, दक्षिण का यह दिगम्बर जैनसंघ द्राविड़ों के वीच वहु आदृत था. कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि द्राविड़ लोग प्राय: नागजाति के वंशज थे. जिस समय नागराजाओं का शासन दक्षिण-भारत में था, उस समय नाग लोगों के वहुत से रीति-रिवाज और संस्कार द्राविडों में भी प्रचलित हो गये थे. नागपूजा उनमें वहुत प्रचलित थी. जैनतीर्थंकरों में दो सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ की मूर्त्तियाँ नाग-मूर्त्तियों के सदृश थीं. जैनों की सहज सरल पूजा-प्रणाली को भी द्राविड़ों ने आसानी से अपना लिया.

इतना तो स्पष्ट है कि दक्षिण-भारत में दिगम्बर जैनधर्म की जनसमुदाय में विशेष मान्यता थी; परन्तु दिगम्बर-सिद्धान्त की वहुलता के वावजूद दक्षिण-भारत में श्वेताम्बरों की भी पहुँच हुई थी. श्वेताम्वरीय शास्त्रों से प्रकट है कि कालकाचार्य[3] पैठन के राजा के गुरु थे. फलत:, स्पष्ट है कि श्वेताम्बर जैन आन्ध्र-देश तक पहुँचे थे. इसके वाद ईसवी-पूर्व दूसरी शती में श्वेताम्बरों के गुरु पादलिप्ताचार्य मलखेड़ तक गये थे, परन्तु उन्होंने अपने धर्म के प्रचार में कहाँ-

---

१. 'रत्नाकरशतक' तथा उसके कर्त्ता कवि रत्नाकर के सम्वन्ध में देखिए मेरा लेख ; मासिक 'संतवाणी' (पटना), वर्ष ३, अंक ७, सित० १९५८ ई०.

२. इस संवंध में विशेष विवरण के लिए देखिए मेरा लेख; 'उपासक दशासूत्र : एक अध्ययन' त्रैमा० 'साहित्य' (पटना), वर्ष १, अंक ३.

३. कालकाचार्य के संवंध में विशेष विवृति के लिए श्रीमेरुतुंगाचार्यकृत 'प्रवन्धचिन्तामणि'.

तक सफलता प्राप्त की, ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता. तत्स्थानीय पाँचवीं शती के एक ताम्रलेख में पहले-पहल श्वेताम्बर जैनसंघ का उल्लेख भी प्राप्त होता है.

श्रीभद्रबाहु श्रुतकेवली के बहुप्रसिद्ध संघ के उपरान्त शास्त्रों में दक्षिण-भारत के उस दिगम्बर जैनसंघ का पता चलता है, जो श्रीधरसेनाचार्यजी के समय में महिमानगरी में सम्मिलित हुआ था. यह नगरी वर्त्तमान सतारा जिले का 'महिमानगढ़' प्रतीत होता है.

जैनसंघ के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर वर्द्धमान और गणधर गौतमस्वामी के उपरान्त कुन्दकुन्दाचार्य को स्मरण करने की परिपाटी प्रचलित है. शिलालेखों में इनका नाम कोण्डकुन्द लिखा मिलता है. इस शब्द का मूल उद्‌गम द्राविड़-भाषा से है, उसीका श्रुतिमधुर संस्कृत रूप कुन्दकुन्द प्रथित हुआ है. कहा जाता है कि इनका यथार्थ नाम पद्‌मनन्दि था, परन्तु ये कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृध्रपिच्छ नामों से भी प्रसिद्ध थे. ये कुण्डकुन्द नामक स्थान के अधिवासी थे, इसीलिए ये कोण्डकुन्दाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए थे. इन्होंने अनेक ग्रन्थों की प्राकृत में तथा तमिल में भी रचना की और जैनधर्म के जागरण का विजय-शंख ध्वनित किया.

तमिल के अपूर्व नीतिग्रन्थ 'कुरल' के विषय में भी कहा जाता है कि यह श्रीकुन्दकुन्दाचार्य की रचना है. तमिलवासी इस ग्रन्थ को अपना वेद मानते हैं. कुरल में कुल ८० परिच्छेद हैं. पूरा ग्रन्थ उपदेशों और नीतिवाक्यों के साथ ही तीर्थंकरों की गुणगाथाओं और गौरव-गरिमा से परिपूरित है.

कुन्दकुन्दाचार्य के बाद दक्षिणा जैनसंघ में भगवान् उमास्वामी या उमास्वाति (ई० प्रथम शती) के अस्तित्व का पता चलता है. कुन्दकुन्दाचार्य की तरह उनकी भी मान्यता श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों में है. दिगम्बर जैनसाहित्य के अनुसार उमास्वाति कुन्दकुन्दाचार्य के वंशज थे एवं उनका दूसरा नाम गृध्रपिच्छाचार्य था. श्वेताम्बरीय प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्वार्थाधिगमसूत्र' के भाष्य में उमास्वाति के विषय में जो प्रशस्ति मिलती है, उससे विदित होता है कि इनका जन्म 'न्यग्रोधिका' नामक स्थान में हुआ था. इनके पिता स्वाति और माता वात्सी थीं. इनका गोत्र कौभीषणि था. इनके दीक्षागुरु श्रमण घोषनन्दि और विद्यागुरु वाचकाचार्य मूल थे. इन्होंने कुसुमपुर (पटना) नामक स्थान में अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ तत्वार्थाधिगमसूत्र रचा था. दोनों ही—श्वेताम्बर-दिगम्बर—सम्प्रदायों में ये 'वाचक' की पदवी से अभिहित थे. श्वेताम्बरों की मान्यता के अनुसार इन्होंने पांच सौ ग्रन्थ रचे थे. ये संभवतः पहली शती के प्रसिद्ध दार्शनिक जैनविद्वान् थे.

उमास्वाति के पश्चात् श्रीसमन्तभद्रस्वामी का नाम जैनधर्म के अग्रदूत के रूप में लिया जाता है. इन्होंने दक्षिण-भारत के कदम्ब-वंश को सुशोभित किया था. इनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के क्षत्रिय राजा थे. स्वामी समन्तभद्र का बाल्यकाल जैनधर्म के केन्द्रस्थान—उरगपुर में व्यतीत हुआ था. इन्होंने अपने-आपको धर्मार्थ अर्पण कर दिया था.

श्रीसमन्तभद्रस्वामी जैनसिद्धान्त के मर्मज्ञ होने के अलावा तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार, काव्य, कोश आदि ग्रन्थों में पूर्णतः निष्णात थे. ये विविध देश-पर्यटक भी थे. निम्नलिखित श्लोक से पता चलता है कि ये देश-पर्यटन के सिलसिले में धर्मप्रचारार्थ एवं शास्त्रार्थ के हेतु पाटलिपुत्र [पटना][1] पधारे थे. श्लोक इस प्रकार है :

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुटक्क[2] विषये कांचीपुरीवैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सङ्कटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते ! शार्दूलविक्रीडितम् ।

---

१. श्री टी० जी० महाजन के मतानुसार यह पाटलिपुत्र मगध का सुप्रसिद्ध पाटलनगर (पटना) न होकर दक्षिण भारत का कोई पुर हो सकता है जैसा कि वर्णी अभिनन्दन ग्रंथ पृ० ३१९-३२२ से विदित होता है. —सम्पादक.

२. टक्क (पंजाब)

इस प्रकार, शास्त्रार्थ की विजय-दुन्दुभी निनादित करते हुए स्वामी समन्तभद्र ने करहाटक (सतारा) नगर पहुँचकर वहाँ के राजा को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा था.

स्वामी समन्तभद्र के रचे ग्रन्थों में—आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र, रत्नकरण्डक उपासकाध्ययन, प्राकृत-व्याकरण, गन्धहस्तिमहाभाष्य आदि प्रमुख हैं. कहना न होगा कि इन वरेण्य आचार्यो ने दक्षिण-भारत में जैनधर्म का अमर प्रचार किया और जन-जन को, जैनधर्म के माध्यम से, जनधर्म का परिचय देकर उनके जीवन को सफल किया. इसमें कोई संदेह नहीं कि जैनशास्त्रानुसार उत्तर-भारत की भाँति दक्षिण-भारत के देशों में भी सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव द्वारा ही सभ्यता और संस्कृति का प्रचार हुआ. जब ऋषभदेव समूचे देश की धर्म-व्यवस्था करने लगे, तब इन्द्र ने सारे देश को निम्नलिखित ५२ प्रदेशों में विभक्त किया.

सुकोसल, अवन्ती, पुण्ड्र, उण्ड्र, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, वंग, सुह्न, समद्रक, कश्मीर, उशीनर आनर्त्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजांगल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र, कर्णाट, कोसल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्त, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, काम्बोज, आरट्ठ, वाह्लीक, तुरुष्क, शक और केकय.—(आदिपुराण, पर्व १६)

उक्त प्रदेशों में अश्मक, रम्यक, करहाट, महाराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आन्ध्र. कर्णाट, चोल, केरल आदि देश दक्षिण-भारत में मिलते हैं. इससे स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव द्वारा इन देशों का अस्तित्व-निर्धारण और संस्कृति-परिमार्जन हुआ था. कहना न होगा कि दक्षिण-भारत में जैनधर्म का ऐतिहासिक आरम्भ कर्मभूमि के आदिकाल से ही हुआ, जो काल की दृष्टि से पौराणिक तथा ऐतिहासिक इन दो रूपों में लिपिबद्ध किया गया.

कुछ विद्वानों की कल्पना है कि भगवान् ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र सम्राट् बाहुबली ही दक्षिण-भारत के सर्वाग्रणी धर्म-प्रवर्तक थे. वह भी इस अनुमान पर कि बाहुबली के शासन-क्षेत्र अश्मक, रम्यक तथा पोदनपुर दक्षिण-भारत में ही अवस्थित थे. हालाँकि, पोदनपुर के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है. पोदनपुर किसी के मत में तक्षशिला है, और किसी के मत में दक्षिणपथ-स्थित प्रदेश विशेष.

आधुनिक सुधी शोधकों के मतानुसार दक्षिण-भारत में जैनधर्म का प्रवेश अत्यन्त प्राचीनकालीन नहीं, वरन् मौर्यकालीन है. उनका कहना है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु ने जब उत्तर भारत में भीषण अकाल की सम्भावना देखी, तब वे संघ-सहित दक्षिण भारत चले गये और उन्होंने ही वहाँ की जनता को जैनधर्म से परिचित कराया. ऐतिहासिक दृष्टि से प्राच्य और पाश्चात्य इतिहासविदों का इस विषय में ऐकमत्य है, होना भी चाहिए; क्योंकि परम्परा के आधार पर धर्म का मूल्यांकन निर्भ्रम नहीं हो सकता.

परम्परावादी जैनों के विचार से यह बहुप्रचलित है कि दक्षिण-भारत में, खासकर वहाँ के प्राचीन तमिल (आन्ध्र)—राज्य में वैदिक और बौद्धधर्म के अतिरिक्त जैनधर्म भी प्राचीनकाल से प्रचलित था. सन् १३८ ई० में वहाँ अलेक्जेण्ड्रिया के 'पेण्टेनस' नाम का एक ईसाई पादरी आया था. उसने लिखा है कि वहाँ उसने श्रमण (जैन साधु), ब्राह्मण और बौद्ध गुरुओं को देखा था, जिनको भारतवासी बड़ी श्रद्धा से पूजते थे; क्योंकि उक्त गुरुओं का जीवन बड़ा ही पवित्र था.

तमिल के 'संगम' ग्रन्थों—'मणिमेखलै', 'शीलप्पधिकारम्' आदि—से पता चलता है कि जैन साधुओं का प्राचीन नाम 'श्रमण' था, किन्तु कालक्रम से बौद्धों ने भी इस शब्द को अपना लिया. किन्तु, दक्षिण-भारत के साहित्य-ग्रन्थों और शिलालेखों में सर्वत्र 'श्रमण' शब्द का प्रयोग जैनों के लिए ही हुआ है. इससे यह भी अप्रच्छन्न है कि श्रमणोपासकों की संख्या वहाँ प्राचीन काल में अत्यधिक थी.

डॉ० राजकुमार जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य,
अध्यक्ष, संस्कृतविभाग आगरा कालेज, आगरा

# वृषभदेव तथा शिव-संबंधी प्राच्य मान्यताएँ

वृषभदेव तथा शिव दोनों ही अति प्राचीन काल से भारत के महान् आराध्य देव हैं. वैदिक काल से लेकर मध्य युग तक प्राच्य वाङ्मय में दोनों का देव देवताओं के विविध रूपों में अंकन हुआ है, वह अध्ययन का बड़ा मनोरंजक विषय है. प्रस्तुत लेख में उन्हीं मान्यताओं की विस्तारपूर्वक चर्चा की जा रही है.

उपलब्ध भारतीय प्राच्य साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव की जो मान्यता एवं पूज्यता जैन परम्परा में है, हिन्दू परम्परा में भी वह उसी कोटि की है. जिस प्रकार जैन परम्परा में उन्हें मान्य एवं संस्तुत किया गया है, हिन्दू शास्त्र एवं पुराण भी उन्हें भगवान् के अवतार के रूप में मान्य करते हैं.

श्रीमद्भागवत[1] में भगवान् वृषभदेव का बड़ा ही सुन्दर चरित अंकित किया गया है. इसमें भगवान् की स्वयंभू मनु, प्रियव्रत, आग्नीध्र, नाभि तथा वृषभ—इन पांचों पीढ़ियों की वंशपरम्परा का वर्णन करते हुए लिखा है कि आग्नीध्र के पुत्र नाभिराजा के कोई पुत्र नहीं था. अतः उन्होंने पुत्र की कामना से मरुदेवी के साथ यज्ञ किया. भगवान् ने दर्शन दिये. ऋत्विजों ने उनका संस्तवन किया और निवेदन किया कि राजर्षि नाभि का यह यज्ञ भगवान् के समान पुत्रलाभ की इच्छा से सम्पन्न हो रहा है. भगवान् ने उत्तर दिया—'मेरे समान तो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं. तथापि ब्रह्मवाक्य मिथ्या नहीं होना चाहिए. अतः मैं स्वयं ही अपनी अंशकला से आग्नीध्रनन्दन नाभि के यहां अवतार लूंगा.' इसी वरदान के फलस्वरूप भगवान् ने ऋषभ के रूप में जन्म लिया.

इसी पुराण में आगे लिखा है—यज्ञ में ऋषियों द्वारा प्रसन्न किये जाने पर विष्णुदत्त परीक्षित स्वयं श्री भगवान् 'विष्णु' महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके अन्तःपुर की महारानी मरुदेवी के गर्भ में आये. उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया.'[2]

भगवान् ऋषभदेव के ईश्वरावतार होने की मान्यता प्राचीनकाल में इतनी बद्धमूल हुई कि शिव महापुराण में भी उन्हें शिव के अट्ठाईस योगावतारों में गिनाया गया[3] प्राचीनता की दृष्टि से भी यह अवतार रामकृष्ण के अवतारों से भी पूर्ववर्ती मान्य किया गया है. इस अवतार का जो हेतु श्रीमद्भागवत में दिखलाया गया है वह श्रमण धर्म की परम्परा को असंदिग्ध रूप से भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से संयुक्त करा देता है. ऋषभावतार का हेतु वात-रशना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करना बतलाया है. श्रीमद्भागवत में ऋषभावतार का एक अन्य उद्देश्य भी

---

१. श्रीमद्भागवत ५, २-६.

२. 'बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः 'प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानां ऋषीणाम् ऊर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार.'—श्रीमद्भागवत पञ्चम स्कन्ध.

३. शिव पुराण. ७, २, ६.

इस प्रकार बतलाया गया है :

'अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थम् ।'

अर्थात् भगवान् का यह अवतार रजोगुणी जन को कैवल्य की शिक्षा देने के लिये हुआ था. किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी संभव है कि यह अवतार रज से उपप्लुत अर्थात् रजोधारण 'मल धारण करना' वृत्ति द्वारा कैवल्य की शिक्षा के लिये हुआ था. जैन साधुओं के आचार में अस्नान, अदन्तधावन तथा मलपरीषह आदि के द्वारा रजोधारण वृत्ति को संयम का एक आवश्यक अंग माना गया है. बुद्ध के समय में भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान थे. तथागत ने श्रमणों की आचारप्रणाली में व्यवस्था लाते हुए एक बार कहा था[1]—

'नाहं भिक्खवे संघाटिकस्स संघाटिधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि, अचेलकस्स अचेलकमत्तेन रजोजल्लिकस्स रजोजल्लिकमत्तेन जटिलकस्स जटाधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि.'

अर्थात्—हे भिक्षुओ, मैं संघाटिक के संघाटी धारण मात्र से श्रामण्य नहीं कहता, अचेलक के अचेलकत्व मात्र से, रजोजल्लिक के रजोजल्लिक मात्र से और जटिलक के जटा धारणमात्र से भी श्रामण्य नहीं कहता.

भारत के प्राचीनतम साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि उक्त वातरशना तथा रजोजल्लिक साधुओं की परम्परा बहुत प्राचीन परम्परा है. ऋग्वेद में उल्लेख है[2] :

'मुनयो वातरशना पिशंगा वसते मला,
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ।
उन्मादिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्,
शरीरे दस्माकं सू यं मर्तासो अभिपश्यथ ।'

अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं. जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, तब वे अपने तप की महिमा से देदीप्यमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त होजाते हैं.

वातरशना मुनि प्रकट करते हैं—समस्त लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् 'परमानन्दसम्पन्न' वायु भाव 'अशरीरी ध्यानवृत्ति' को प्राप्त होते हैं. तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीरमात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नहीं.

वातरशना मुनियों के वर्णन के प्रारम्भ में ऋग्वेद में ही 'केशी' की निम्नांकित स्तुति की गई है, जो इस तथ्य की अभिव्यंजिका है कि 'केशी' वातरशना मुनियों के प्रधान थे. केशी की वह स्तुति निम्न प्रकार है :[3]

'केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी,
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ।'

केशी अग्नि, जल, स्वर्ग तथा पृथ्वी को धारण करता है. केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है और केशी ही प्रकाशमान 'ज्ञान' ज्योति कहलाता है, अर्थात् केवल ज्ञानी कहलाता है.

ऋग्वेद के इन केशी तथा वातरशना मुनियों की साधनाओं की श्रीमद्भागवत में उल्लिखित वातरशना श्रमणऋषि और उनके अधिनायक ऋषभ तथा उनकी साधनाओं की पारस्परिक तुलना भारतीय आध्यात्मिक साधना और उसके प्रवर्त्तक के निगूढ प्राक् ऐतिहासिक अध्याय को बड़ी सुन्दरता के साथ प्रकाश में लाती है.

---

१. मज्झिमनिकाय, ४०.
२. ऋग्वेद, १०, १३६, २-३.
३. ऋग्वेद, १०, १३६, १.

ऊपर के उल्लेखों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनि और श्रीमद्भागवत के "वातरशना श्रमण-ऋषि" एक ही परम्परा अथवा सम्प्रदाय के वाचक हैं. सामान्यतः केशी का अर्थ केशधारी होता है, परन्तु सायणाचार्य ने 'केश स्थानीय रश्मियों को धारण करने वाला' किया है और उससे सूर्य का अर्थ निकाला है, परन्तु प्रस्तुत सूक्त में जिन वातरशना साधुओं की साधनाओं का उल्लेख है, उनसे इस अर्थ की कोई संगति नहीं बैठती. केशी स्पष्टतः वातरशना मुनियों के अधिनायक ही हो सकते हैं, जिनकी साधना में मलधारण, मौनवृत्ति और उन्मादभाव (परमानन्द दशा) का विशेष उल्लेख है. सूक्त में आगे उन्हें ही :

"मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः.'

देवदेवों के मुनि, उपकारी तथा हितकारी सखा बतलाया गया है. वातरशना शब्द में और मलरूपी वसन धारण करने में उनकी नाग्न्य वृत्ति का भी संकेत है.

श्रीमद्भागवत में ऋषभ का वर्णन करते हुए लिखा है :

"उर्वरित शरीरमात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेशः आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज. जडान्ध-मूक-बधिर-पिशाचोन्मादकवत् अवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौन-व्रतः तूष्णीं बभूव. .........परा-गवलम्बमान-कुटिल-जटिल-कपिश केशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत."

अर्थात् ऋषभ भगवान् के शरीर मात्र का परिग्रह शेष रह गया था. वे उन्मत्त के समान दिगम्बर वेशधारी, बिखरे हुए केशों सहित आहवनीय अग्नि को अपने में धारण करके ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए. वे जड़, मूक, अन्ध, बधिर, पिशाचोन्माद युक्त जैसे अवधूत वेष में लोगों के बुलाने पर भी मौनवृत्ति धारण किये हुए शान्त रहते थे, ......... सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशों के भारसहित अवधूत और मलिन शरीर के साथ वे ऐसे दिखलाई देते थे, जैसे उन्हें कोई भूत लगा हो.

ऋग्वेद के तथोक्त, केशीसूक्त तथा श्रीमद्भागवत में वर्णित श्री ऋषभदेव के चरित्र के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि वैदिक केशी सूक्त को ही श्रीमद्भागवत में पल्लवित भाष्यरूप में प्रस्तुत कर दिया गया है. दोनों में ही वातरशना अथवा गगन-परिधानवृत्ति, केश-धारण, कपिशवर्ण, मलधारण, मौन और उन्मादभाव समान रूप से वर्णित हैं.

भगवान् ऋषभदेव के कुटिल केशों का अंकन जैन मूर्तिकला की एक प्राचीनतम परम्परा है जो आज तक बराबर अक्षुण्ण-रूप से चली आरही है. यथार्थतः समस्त तीर्थंकरों में केवल ऋषभदेव की ही मूर्तियों के सिर पर कुटिल केशों का रूप दिखलाया जाता है और वही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है. ऋषभनाथ के केसरियानाथ नामान्तर में भी यही रहस्य निहित मालूम देता है.[1] केसर, केश और जटा-तीनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं. जिस प्रकार सिंह अपने केशों के कारण केसरी कहलाता है, उसी प्रकार केशी और केसरियानाथ या ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते हैं. केसरियानाथ पर जो केशर चढ़ाने की विशेष मान्यता प्रचलित है वह नामसाम्य के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है. इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि एवं श्रीमद्भागवत के ऋषभ तथा वातरशना श्रमण-ऋषि एवं केसरियानाथ और ऋषभ तीर्थंकर तथा उनका निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं.

ऋग्वेद की निम्नांकित ऋचा से केशी और वृषभ अथवा ऋषभ के एकत्व का ही समर्थन होता है :[2]

'ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्, अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतःसहानस, ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्।

---

१. राजस्थान के उदयपुर जिले का एक तीर्थ 'केशरिया तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध है, जो दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं वैष्णव आदि [illegible] को समान रूप से मान्य एवं पूजनीय है तथा जिसमें भ० ऋषभदेव की एक [illegible] प्रतिष्ठित है.

२. ऋग्वेद, १०, १०२, ६.

जिस सूक्त में यह ऋचा आई है, उसकी प्रस्तावना में निरुक्त के जो 'मुद्गलस्य हृता गावः' आदि श्लोक उद्धृत किये गये हैं, उनके अनुसार मुद्गल ऋषि की गायों को चोर ले गये थे. उन्हें लौटाने के लिये ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचनमात्र से वे गौएँ आगे को न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ीं.

प्रस्तुत ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने पहले तो वृषभ तथा केशी का वाच्यार्थ पृथक् बतलाया है, किन्तु फिर उन्होंने प्रकारान्तर से कहा है :

"अथवा अस्य सारथिः सहायभूतः केशी प्रकृष्टकेशो वृषभोऽवावचीत् भ्रशमशब्दयत्" इत्यादि.

सायण के इस अर्थ को तथा निरुक्त के उक्त कथाप्रसंग को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत गाथा का निम्न अर्थ प्रतीत होता है :[१]

"मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ, जो शत्रुओं का विनाश करने के लिये नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौएँ (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं, वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं."

तात्पर्य यह कि ऋषि की जो इन्द्रियाँ पराङ्मुखी थीं, वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गईं.

**वृषभदेव और वैदिक अग्निदेव**—अग्निदेव की स्तुति में वैदिक सूत्रों में जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, उनके अध्ययन से स्पष्ट है कि यह अग्निदेव भौतिक अग्नि न होकर आदि प्रजापति वृषभदेव ही हैं—जातवेदस् [जन्मतःज्ञान-सम्पन्न], रत्नधरक्त [दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप रत्नों को धारण करनेवाला] विश्ववेदस् [विश्वतत्त्वों का ज्ञाता] मोक्ष नेता, ऋत्विज् [धर्मस्थापक], होता, हय, यज्ञ, सत्य यशवल इत्यादि.[२†] वैदिक व्याख्याकारों ने भी लौकिक भ्रान्तियों का निग्रह करने के लिये स्थल-स्थल पर इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि अग्निदेव वही है जिसकी उपासना मरुद्गण रुद्र संज्ञा से करते हैं.‡ रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान, कुमार—रुद्र के ये नौ नाम अग्निदेव के ही विशेषण हैं.[३] अग्निदेव ही सूर्य है.[४] परमविष्णु ही देवों [आर्यगण] की अग्नि है.[५] इस मत की सर्वाधिक पुष्टि अथर्ववेद के ऋषभसूक्त से होती है, जिसमें ऋषभ भगवान् की अनेक विशेषणों द्वारा स्तुति करते हुए उन्हें जात-वेदस् [अग्नि] विशेषण से भी विशिष्ट किया गया है.[६]

उपर्युक्त विशेषणों तथा समस्त प्राचीन श्रुतियों के आधार पर स्तुत्य अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए ब्राह्मण ऋषियों ने यह व्यक्त किया है कि उपास्य देवों के अग्र में उत्पन्न होने के कारण वह अग्रि अथवा अग्नि संज्ञा से प्रसिद्ध हुए.[७]

इन लेखों के प्रकाश में केवल यह तथ्य ही स्पष्ट नहीं होता कि वृषभदेव का ही अपर नाम अग्निदेव रहा, अपितु यह भी सिद्ध है कि उपास्य देव के अर्थ में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द संस्कृत का न होकर अग्रि का लोकव्यवहृत प्राकृत अथवा

---

१. देखो डा० हीरालाल जैन का "आदि तीर्थंकर की प्राचीनता तथा उनके धर्म की विशेषता" शीर्षक लेख (अहिंसावाणी। वर्ष ७, अंक १-२, १९५७)।

†२. ऋग्वेद, ११, ११२, अथर्व० ९, ४, ३ ऋग्वेद, १, १८९, १.

‡ 'यो वै रुद्रःसोऽशिनः'—शतपथब्राह्मण ५, २, ४, १३.

३. (अ) 'तान्येतानि अष्टौ रुद्रः शर्वः पशुपतिः उग्रः अशनिः भवः महादेवः ईशानः अग्निरूपाणि कुमारो नवम्' वही. ६, १, ३, १८.
(आ) 'एतानि वै तेषामग्नीनां नामानि यद्भुवपतिः भुवनपतिर्भूतानां पतिः' वही, १, ३, ३, १९..

४. अग्निर्वीर्यः. वही, २, ५, १, ४.

५. 'अग्निर्वै देवानाम् भवोको विष्णुपरम्' कौतस्य ब्राह्मण, ७, १.

६. अथर्व, ९, ४, ३,.

७. (अ) सयदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिरग्रिहं वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षय—शतपथ ब्राह्मण, ६, १, १, ११.
(आ) 'यद्वा एनमेतदग्रे देवानां अजनयत् तस्मादग्निराग्रर्तवै नामैतद्यदग्निरिति.'—वही २, २, ४, २.

अपभ्रंश रूप है जो आर्यगण के भारत-आगमन से पूर्व ही आदिब्रह्मा वृषभ के लिये प्रयुक्त होता आ रहा था. यही कारण है कि ब्राह्मण ऋषियों को वृषभ की अग्नि संज्ञा 'अग्रि' अर्थमूलक करने के लिये तत्सम्बन्धी श्रुतियों को आधार बनाकर उसकी व्युत्पत्ति 'अग्र' शब्द से करनी पड़ी. अन्यथा संस्कृत भाषा की दृष्टि से अग्रि एवं अग्नि शब्द में अत्यन्त पार्थक्य है.

## आर्यजन के अग्निदेव और वृषभदेव की एकता

वैदिक अनुश्रुतियों से सिद्ध होता है कि अग्नि संज्ञा से वृषभ की उपासना करने वाले अधिकांश वे क्षत्रियजन थे, जो पञ्चजन के नाम से प्रसिद्ध थे.[1] इनमें यदु, तुर्वसा, पुरु, द्रुह्यु, अनु नाम की क्षत्रिय जातियां सम्मिलित थीं. ये लोग ऋग्वैदिक काल में कुरुक्षेत्र, पंचाल, मत्स्यदेश और सुराष्ट्र देश में बसे थे. जब आर्यगण सप्त सिन्धु देश में से होते हुए कुरुभूमि में आबाद हुए और यहां पंचजन क्षत्रियों की धार्मिक संस्कृति के सम्पर्क में आये तो उससे प्रभावित होकर इन्होंने भी उनके आराध्य देव वृषभ को 'अग्नि' संज्ञा से अपना आराध्य देव बना लिया. यह ऐतिहासिक तथा कश्यपगोत्री मरीचिपुत्र ऋषि ने अग्निदेव की स्तुति करते हुए ऋग्वेद १–६ में 'देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्' शब्दों द्वारा स्वयं व्यक्त किया है.

इस सूक्त के नौ मन्त्र हैं. इनमें से पहले सात मन्त्रों के अन्त में ऋषिवर ने उक्त शब्दों को पुनः पुनः दोहराया है. इसका अर्थ है कि—देवा (अपने को देव संज्ञा से अभिवादन करने वाले आर्यगण ने) द्रविणो दा (धनैश्वर्य प्रदान करने वाले) अग्नि (अग्नि प्रजापति को) धारयन् (अपना आराधना-देव धारण कर लिया).

प्रस्तुत सूक्त ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है. इसमें प्रथम तो भगवान् वृषभ की स्तुति में गाये जाने वाले ऋक्, यजु, साम एवं अथर्व संहिताओं में संकलित स्तोत्रों से भी प्राचीन उन निविद अथवा निगद स्तोत्रों का उल्लेख है, जिनसे ध्वनित होता है कि भगवान् वृषभ आर्यगण के आने से पूर्व ही भारत के आराध्य देव थे. इनके अतिरिक्त इस सूक्त में भगवान् वृषभ द्वारा मनुओं की सन्तानीय प्रजा को अनेक विद्याओं से समृद्ध करने, अपने पुत्र भरत को राज्य-भार सौंपने तथा अपने अन्य पुत्र वृषभसेन को, जो जैन मान्यता के अनुसार भगवान् के ज्येष्ठ गणधर अथवा मानसपुत्र थे, ब्रह्मविद्या देने का भी उल्लेख है. इस सूक्त के निम्नांकित प्रथम चार मंत्रों से उल्लिखित तथ्यों की स्पष्टतः संपुष्टि होती है :

'अपश्चमित्रं (जो संसार का मित्र है.) धिषणा च साधन (जो ध्यान द्वारा साध्य है), प्रत्नथा (जो पुरातन है), सहसा जायमानः (जो स्वयंभू है) सद्यःकाव्यानि वडधन्त विश्वा (जो निरन्तर विभिन्न काव्य स्तोत्रों को धारण करता रहता है, अर्थात् जिसकी सभी जन स्तुति करते रहते हैं), देवो अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् (देवों ने उस द्रव्य-दाता अग्नि को धारण कर लिया.)[2]

पूर्वया निविदा काव्यतासोः (जो प्राचीन निविदों द्वारा स्तुति किया जाता है), यमाः प्रजा अजनयन् मनूनाम् (जिसने मनुओं की सन्तानीय प्रजा की व्यवस्था की) विवस्वता चक्षुषा द्याम् पञ्च (जो अपने ज्ञान द्वारा द्यु और पृथ्वी को व्याप्त किये हुए हैं), देवों ने उस द्रव्यदाता को धारण कर लिया.)[3]

---

(इ) खारवेल के शिलालेख (ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी) में भी ऋषभ जिन का उल्लेख अग्र जिन के रूप में हुआ है [illegible] अगजिनस).

(ई) 'प्रजापतिःदेवतानःसृज्यमान अग्निमेव देवानां प्रथममसृजत्.'
तैत्तिरीय ब्राह्मण, २१, ६, ४.

(उ) 'अग्निर्वै सर्वाद्यम् ।'—ताण्ड्य ब्राह्मण, ५, ६३.

१. 'जना यदग्निमजयन्त पञ्च.'—ऋग्वेद. १०, ४५, ६.

२. ऋग्वेद, १. ६, १.

३. वही, १, ६, २.

तमीडेत महासाधं (तुम उसकी स्तुति करो जो सर्वप्रथम मोक्ष का साधक है), अर्हतं (सर्वपूज्य है), आरीविशः उञ्जः भृज्जसानम् (जिसने स्वयं शरण में आनेवाली प्रजा को वल से समृद्ध करके), पुत्रं भरतं संप्रदानुं (अपने पुत्र भरत को सौंप दिया), देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि (अग्नि देवता को) धारयन् (धारण कर लिया.)[1]

स मातरिश्वा (वह वायु के समान निर्लेप और स्वतन्त्र है), पुरुवार पुष्टि (अभीष्ट वस्तुओं का पुष्टिकारक साधन है), उसने स्वर्वितं (ज्ञान सम्पन्न हो कर), तनयाय (पुत्र के लिये) गातं (विद्या), विदद (देदी), वह विशांगोपा (प्रजाओं का संरक्षक है), पवितारोदस्योः (अभ्युदय तथा निःश्रेयस का उत्पादक है), देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि (अग्रनेता को) ग्रहण कर लिया.[2]

निर्वाण की पुण्य वेला में जब आदि प्रजापति वृषभ ने विनश्वर शरीर का त्याग करके सिद्ध लोक को प्रस्थान किया तो उनके परम प्रशान्त रूप को आत्मसात् करने वाली अन्त्येष्टि अग्नि ही तत्कालीन जन के लिये उनके वीतराग रूप की एकमात्र संस्मारक वन कर रह गई. जनता अव अग्नि दर्शन से ही अपने आराध्य के दर्शन पाने लगी. उस समय मूर्तिकला का विकास नहीं हुआ था, अतः यह सप्तजिह्वा अग्नि ही उस महामानव का प्रतीक वन गई. उपलब्ध प्राचीन अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि भगवान् के प्रति जन-जन के हृदयों में स्वभावतः उद्दीप्त होने वाले भक्तिभाव को संतुष्ट एवं संतृप्त करने के लिये उनके ज्येष्ठ गणधर (मानस पुत्र) ने इस भौतिक अग्नि द्वारा आदि ब्रह्मा वृषभ के उपासनार्थ इज्या, पूजा एवं अर्चना का मार्ग निकाला था. वह याज्ञिक प्रक्रिया के प्रथम विधायक थे.[3] उन्होंने ही लोकमंगल के लिये अभीष्टसिद्धि, अनिष्टपरिहार एवं रोग-निवृत्तिकर आदि अनेक उपयोगी मन्त्र-तन्त्र विद्याओं का सर्वप्रथम प्रकाश किया था. वह वैदिक परम्परा में ज्येष्ठ अथर्वन और जैन परम्परा में ज्येष्ठ गणधर के नाम से प्रसिद्ध हैं. जैन परम्परा के अनुसार यह भगवान् वृषभदेव के पुत्र वृषभसेन थे. भगवान् ने इन्हें ही समस्त विद्याओं में प्रधान ब्रह्मविद्या देकर लोक में अपना उत्तराधिकारी वनाया था.[4]

इनके द्वारा तथा अन्य अथर्वनों (गणधरों) द्वारा प्रतिपादित अनेक तान्त्रिक विधानों तथा वृषभ के हिरण्यगर्भ, जातवेदस् जन्य, उग्र तपस्या, सर्वज्ञता देशना, सिद्धलोकप्राप्ति सम्वन्धी अनेक रहस्यपूर्ण वार्ताओं तथा यति व्रात्य श्रमणों की आध्यात्मिक चर्चा का संकलन चौथे वेद में हुआ है. अतः इसकी प्रसिद्धि अथर्ववेद के नाम से हुई.

अथर्वन द्वारा प्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार अग्नि में हव्य द्रव्य की आहुति देकर सर्वप्रथम वृषभ की पूजा उनके ज्येष्ठ पुत्र तथा भारत के आदि चक्रवर्ती भरत महाराज, जो मनु के नाम से भी प्रसिद्ध थे, ने की थी. इसके पश्चात् उनका अनुकरण करते हुए समस्त प्रजाजन भगवान् वृषभदेव के प्रतीक रूप में अग्नि की पूजा में प्रवृत्त हुए.[5]

उक्त प्रक्रिया के अनुसार यह पूजा प्रातः, मध्याह्न और सायं तीनों काल होती थी. अथर्ववेद अनड्वान सूक्त में इस पूजा का फल वतलाते हुए कहा है कि जो इस प्रकार प्रतिदिन तीनों समय भगवान् वृषभ की पूजा करते हैं वे उन्हीं

---

१. ऋग्वेद १, ६, ३.
२. वही, १, ६, ४.
३. (अ) सत्यव्रत सामश्रमी निरुक्तालोचन वि० सं० १९५३ पृ० सं० १५५.
 (आ) A. C. Das—Rigvedic Culture pp. 113—115.
 (इ) Dr. Winternitz—History of India Leterature Vol. I, 1927. P. 120.
 (ई) 'अग्निर्जातो अथर्वना.'—ऋग्वेद १०, २१, ५.
४. (अ) ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
 स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥—मुण्डकोपनिषद् १, १.
 (आ) 'स्वर्विततनयाय गातं विदद.' ऋग्वेद १, ९६, ४.
५. (अ) 'मनुर्हवा अग्रे यज्ञेनेजं तदनुकृत्येमा प्रजा यजन्ते.'—शतपथ ब्राह्मण, १५, १, ७.
 (आ) जिनसेनकृत आदिपुराण, पर्व ४७,३२२, ३५१.

के समान अविनाशी अमरपद के अधिकारी हो जाते हैं.[1]

प्राचीन अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि अथर्वन द्वारा बतलाई गई याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार अज (जौ),[2] अक्षत (चावल), तथा घृत—इनका प्रयोग आहुति के लिये किया जाता था और पूजा के समय भगवान् वृषभ का सान्निध्य बनाये रखने के लिए 'वषट्' शब्द का और उनके अर्थ आहुति देते समय उन द्वारा घोषित स्वात्म-महिमा को ध्यान में रखने के लिये 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग आवश्यक था. क्योंकि 'वषट्' उच्चारण द्वारा भौतिक अग्नि की स्थापना करते हुए उपासक जन वास्तव में वृषभ भगवान् की ही स्थापना करते हैं. और 'स्वाहा' शब्द द्वारा भौतिक अग्नि में आहुति देते हुए भी अपनी आत्म-महिमा को ही जागृत करते हैं. वषट् शब्द का उच्चारण किये विना अग्नि की उपासना भौतिक अग्नि की ही उपासना है.

जैन पूजाग्रंथों तथा उनके दैनिक पूजा-विधानों में वौषट् (इति आह्वाननम्) ठः ठः (इति स्थापनम्), और वषट् [इति सन्निधीकरणम्]—इन तीन शब्दों द्वारा भगवान् का आह्वान, स्थापन तथा सन्निधीकरण किया जाता है. उक्त बीजमंत्रों के कोष्ठकों में दिये गये अर्थ जैन परम्परा में अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे हैं, जो भगवत्पूजा के लक्ष्य के सम्बन्ध में भी भक्तजन को एक नवीन दृष्टि का दान करते हैं,

इस प्रकार अग्नि द्वारा पूजा-विधि की परम्परा उतनी ही प्राचीन निश्चित होती है जितना भगवान् वृषभ देव का काल.

## वृषभ के विविधरूप और इतिवृत्त

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव अपने पूर्व जन्म में सर्वार्थसिद्धि विमान में एक महान् ऋद्धिधारी देव थे. आयु के अंत में उन्होंने वहां से चय कर अयोध्यानरेश नाभिराय की रानी मरुदेवी के गर्भ में अवतरण किया. इनके गर्भ में आने के छह माह पूर्व से ही नाभिराय का भवन कुबेर के द्वारा हिरण्य की वृष्टि से भरपूर कर दिया गया. अतः जन्म लेने के पश्चात् यह हिरण्यगर्भ के नाम से प्रसिद्ध हुए. गर्भावतार के समय भगवान् की माता ने स्वप्न में एक सुन्दर वैल को अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा था, अतः इनका नाम वृषभ रक्खा गया. जन्म से ही यह मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानों से विशिष्ट थे, अतः इनकी जातवेदस् नाम से प्रसिद्धि हुई. विना किसी गुरु की शिक्षा के ही अनेक विद्याओं के ज्ञाता थे, इन्होंने जन्म-मृत्यु से अभिव्याप्त संसार में स्वयं सत्, ऋत, धर्म एवं मोक्षमार्ग का साक्षात्कार किया था, अतः वह स्वयंभू तथा सुकृत नामों से प्रसिद्ध हुए. भोगयुग की समाप्ति पर इन्होंने ही प्रजा को कृषि, पशुपालन तथा विविध शिल्प-उद्योगों की शिक्षा प्रदान की थी, अतः यह विधाता, विश्वकर्मा एवं प्रजापति नामों से विख्यात हुए. ये ही अपनी अन्तःप्रेरणा से संसार—शरीर तथा भोगों से निर्विण्ण हुए तथा संयम एवं स्वाधीनता-पथ के पथिक वनकर प्रव्रजित हुए, अतः वशी, यति एवं व्रात्य नामों से प्रसिद्ध हुए.

इन्होंने अपनी उग्र तपस्या, श्रमसहिष्णुता और समवर्तना द्वारा अपने समस्त दोषों को भस्मसात् किया. अतः यह रुद्र, श्रमण आदि संज्ञाओं से विख्यात हुए. इन्होंने अज्ञानतमस् का विनाश करके अपने अन्तस् में सम्पूर्ण ज्ञान-सूर्य को उदित किया, भव्य जीवों को धार्मिक प्रतिवोध दिया और अन्त में देह त्याग कर सिद्ध लोक में अक्षय पद की प्राप्ति की.

जैन परम्परा में जो वृत्त गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण के नाम से प्रसिद्ध हैं और जिन्हें लोक-कल्याणी होने से कल्याणक की संज्ञा दी गई है. वैदिक परम्परा में वही [१] हिरण्यगर्भ, [२] जातवेदस्, अग्नि, विश्वकर्मा, प्रजापति, [३] रुद्र, पुरुष, व्रात्य, [४] सूर्य, आदित्य, अर्क, रवि, विवस्वत, ज्येष्ठ, ब्रह्मा, वाचस्पति, ब्राह्मणस्पति, [illegible]. [५] निगूढपरमपद, परमेष्ठीपद, साध्यपद आदि संज्ञाओं से प्रसिद्ध हैं.

---

१. अथर्ववेद ४, ११, १२.

२. "अजैर्यष्टव्ये."—जिनसेनकृत हरिवंशपुराण, २७, ३८, १६४.

मध्य एशिया, लघु एशिया, उत्तर पूर्वीय अफरीका के सुमेर, बैबीलोनिया, सीरिया, यूनान, अरब, ईरान, मिश्र, यूथोपिया आदि संसार के समस्त प्राचीन देशों में जहाँ भी पणि अथवा फणि और पुरु लोगों के विस्तार के साथ भारत से भगवान् वृषभ की श्रुतियां, सूक्तियां और आख्यान पहुँचे हैं.[१] वहां भगवान् असुर [असुर], ओसोरिस [असुरशि] अहुरमज्द [असुरमहत्], ईस्टर [ईश्तर], जहोव [यह्व महान्] गौड [गौर गौड] अल्ला [ईड्य स्तुत्य], I A M [अहमस्मि], सूर्यस् [सूर्य] रवि, मिथ [मित्र] वरुण आदि अनेक लोक-प्रसिद्ध नामों और विशेषणों द्वारा आराध्य देव ग्रहण कर लिये गये. यही कारण है कि इन देशों के प्राचीन आराध्यदेव सम्बन्धी जो रहस्यपूर्ण आख्यान परम्परागत सुरक्षित हैं, उनमें उपर्युक्त चार वृत्त "1. In Carnation 2. Suffering and Crucification 3. Ressurrection और 4. Ascent to Heaven के नाम से प्रसिद्ध हैं. इस प्रकार उन सूक्तों और मन्त्रों के अतिरिक्त जिनमें स्पष्टतः ऋषभ वृषभ, गौर तथा अनड्वान का उल्लेख है, ऋक्, यजु, साम तीनों ही संहिताओं के प्रायः समस्त छन्द, जिनमें उपर्युक्त संज्ञाओं और विशेषणों से स्तुति की गई है, भगवान् वृषभ की ओर ही संकेत करते हैं.

अथर्ववेद के इस तथ्य को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार आपः (जल), वातः (वायु) और औषधि (वनस्पति)—तीनों एक ही भवन (पृथ्वी) के आश्रित हैं, उसी प्रकार ऋक्, यजु, साम—तीनों प्रकार के छन्दों की कविजन 'पुरस्यं दर्शतं विश्व चक्षणन् [बहुरूप दिखलाई देने वाले एक विश्ववेदस् सहस्राक्ष, सर्वज्ञ को लक्ष्य रखकर ही, वियेतिरे [व्याख्या करते हैं].[२]

ऋग्वेद के निम्नांकित दो मंत्रों में हम भगवान् वृषभदेव के तथोक्त रूपों एवं वृत्तों का वैसा ही इतिहास-क्रमानुसारी वर्णन देख सकते हैं, जैसा कि जैन परम्परा विधान करती है. वे मन्त्र निम्न प्रकार हैं :[३]

"दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः ।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिंधान एवं जाते स्वाधीः ॥"

अर्थात् अग्नि प्रजापति पहले देवलोक में प्रकट हुए. द्वितीय वार हमारे बीच जन्मतः ज्ञान-सम्पन्न होकर प्रकट हुए. तीसरा इनका वह स्वाधीन एवं आत्मवान् रूप है, जब इन्होंने भव-सागर में रहते हुए निर्मल वृत्ति से समस्त कर्मेन्धन को जला दिया. तथा—

"विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा ।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगंथ ॥"[४]

अर्थात् हे अग्रनेता, हम तेरे इन तीन प्रकार के तीन रूपों को जानते हैं. इनके अतिरिक्त तेरे पूर्व के बहुत प्रकार से धारण किये हुए रूपों को भी हम जानते हैं. इनके अतिरिक्त तेरा जो निगूढ़ परमधाम है, उसको भी हम जानते हैं. और उच्च मार्ग को भी हम जानते हैं जिससे तू हमें प्राप्त होता है.

उक्त श्रुति से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में भगवान् वृषभ के पूर्व जातक लोक में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे.

## वैदिक रुद्र के विकसित रूप

शतपथ ब्राह्मण[५] में रुद्र के जो–रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान, कुमार—ये नौ नाम हैं, वे अग्नि

---

१. Dr. H. R. Hall : The ancient History of far Ecst 104, 77, 158, 203, 367, 402.
२. अथर्ववेद. १८, १, १.
३. ऋग्वेद, १०, ४५, १.
४. वही, १०, ४५, २.
५. तान्येतानि अष्टौ रुद्रःशर्वःपशुपति उग्रः अशनिः भवः ।
महान्देवः ईशानः अग्निरूपाणि कुमारो नवम् ॥ —शतपथ ब्राह्मण ६, १, ३, १८.

देव के ही विशेषण उल्लिखित किये गये हैं और 'वृषभदेव तथा वैदिक अग्निदेव' में उपस्थित किये गये विवरण से स्पष्ट है कि भगवान् वृषभदेव को ही वैदिक काल में अग्निदेव के नाम से अभिहित किया जाता था. फलतः रुद्र, महादेव, अग्निदेव, पशुपति आदि वृषभदेव के ही नामान्तर हैं.

वैदिक परम्परा में वैदिक रुद्र को ही पौराणिक तथा आधुनिक शिव का विकसित रूप माना जाता है, जब कि जैन परम्परा में भगवान् ऋषभदेव को ही शिव, उनके मोक्ष-मार्ग को शिवमार्ग तथा मोक्ष को शिवगति कहा गया है. यहाँ रुद्र के उन समस्त क्रम-विकसित रूपों का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है.

ऋग्देव में रुद्र मध्यम श्रेणी के देवता हैं. उनकी स्तुति में तीन पूर्ण सूक्त कहे गये हैं[1] इसके अतिरिक्त एक अन्य सूक्त में पहले मन्त्र छह रुद्र की स्तुति में हैं और अन्तिम तीन सोम की स्तुति में.[2] एक अन्य सूक्त में रुद्र और सोम का साथ स्तवन किया गया है.[3] अन्य देवताओं की स्तुति में भी जो सूक्त कहे गये हैं, उनमें भी प्रायः रुद्र का उल्लेख मिलता है, इन सूक्तों में रुद्र के जिस स्वरूप की वर्णना हुई है, उसके अनेक चित्र हैं और उनके विभिन्न प्रतीकों के सम्बन्ध में विद्वानों की विभिन्न मान्यताएँ हैं. रुद्र का शाब्दिक अर्थ, मरुतों के साथ उनका संगमन, उनका वभ्रु वर्ण और सामान्यतः उनका क्रूर स्वरूप इन सब को दृष्टि में रखते हुए कुछ विद्वानों की धारणा है कि रुद्र झंझावात के प्रतीक हैं. जर्मन विद्वान् वेबर ने रुद्र के नामपर बल देते हुए अनुमानित किया है कि रुद्र झंझावात के 'रव' का प्रतीक है.[4] डाक्टर मेकडौनल ने रुद्र और अग्नि के साम्य पर दृष्टि रखते हुए कहा कि रुद्र विशुद्ध झंझावात का नहीं, अपितु विनाशकारी विद्युत के रूप में झंझावात के विध्वंसक स्वरूप का प्रतीक है.[5] श्री भाण्डारकर ने भी रुद्र को प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों का ही प्रतीक माना है.[6] अंग्रेज विद्वान् म्यूर की भी यही मान्यता है.[7] विलसन ने ऋग्वेद की भूमिका में रुद्र को अग्नि अथवा इन्द्र का ही प्रतीक माना है.[8] प्रो० कीथ ने रुद्र को झंझावात के विनाशकारी रूप का ही प्रतीक माना है, उसके हितकर रूप का नहीं.[9] इसके अतिरिक्त रुद्र के घातक वाणों का स्मरण करते हुए कुछ विद्वानों ने उन्हें मृत्यु का देवता भी माना है और इसके समर्थन में उन्होंने ऋग्वेद का वह सूक्त प्रस्तुत किया है, जिसमें रुद्र का केशियों के साथ उल्लेख किया गया है.

रुद्र की एक उपाधि 'कपर्दिन्' है,[10] जिसका अर्थ है, जटाजूटधारी और एक अन्य उपाधि है 'कल्पलीकिन्',[11] जिसका अर्थ है, दहकनेवाला. दोनों की सार्थकता रुद्र के केशी तथा अग्निदेव रूप में हो जाती है.

अपने सौम्य रूपों में रुद्र को 'महाभिषक्' बतलाया गया है, जिसकी औषधियां ठंडी और व्याधिनाशक होती हैं. रुद्र सूक्त में रुद्र का सर्वज्ञ वृषभ रूप से उल्लेख किया गया है और कहा गया है.[12] 'हे विशुद्ध दीप्तिमान सर्वज्ञ वृषभ, हमारे ऊपर ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हों.''

---

१. ऋग्वेद : १, ११४; २, ३३; ७, ४६.
२. ऋग्देव १, ४३.
३. वही : ६, ७४.
४. वेबर : इण्डीश स्टूडीन, २, १९—२२.
५. मेकडौनल : वेदिक मायीथोलोजी, पृष्ठ सं० ७८.
६. भाण्डारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म.
७. म्यूर : ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स.
८. विल्सन : ऋग्वेद, भूमिका
९. कीथ : रिलिजन एण्ड माइथोलोजी आफ दी ऋग्वेद, पृष्ठ सं० १४७.
१०. ऋग्वेद : १, ११४, १ और ५.
११. वही : १, ११४; ५.
१२. एव बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि. ऋग्वेद : २, ३३, १५.

इसी सूक्त के अन्य मन्त्र में कहा है[1]—'हे मरुतो, तुम्हारी जो निर्मल औषधि है, उस औषधि को हमारे पिता मनु (स्वयं ऋषभनाथ) ने चुना था, वही सुखकर और भयविनाशक औषधि हम चाहते हैं.'

विशुद्ध आत्म-तत्वज्ञान ही यह औषधि है, जिसे प्राप्त कर रुद्रभक्त संसारजयी और सुखी होने की कामना करता है. प्रस्तुत सूक्त के तृतीय मंत्र में उसकी जीवन-साधना देखिए. वह प्रार्थना करता है[2]:

'हे वज्रसंहनन रुद्र, तुम उत्पन्न हुए समस्त पदार्थों में सर्वाधिक सुशोभित हो, सर्वश्रेष्ठ हो और समस्त बलशालियों में सर्वोत्तम बलशाली हो. तुम मुझे पापों से मुक्त करो और ऐसी कृपा करो, जिससे मैं क्लेशों तथा आक्रमणों से युद्ध करता हुआ विजयी रहूँ.'

एक सूक्त में रुद्र का सोम के साथ आह्वान किया गया है[3] और अन्यत्र सोम को वृषभ की उपाधि दी गई है.[4] रुद्र को अनेक बार अग्नि कहा गया है[5] और एक स्थल पर उन्हें "मेधापति' की उपाधि से भी विभूषित किया गया है.[6] एक स्थान पर "द्विवर्हा" के रूप में भी उल्लेख किया गया है, जिसका सायण ने अर्थ किया है—"अर्थात् जो पृथ्वी तथा आकाश में परिवृद्ध हैं.[7]

ऋग्वेद के उत्तर भाग के एक सूक्त में कहा गया है कि रुद्र ने केशी के साथ विषपान किया. इसी सूक्त के प्रथम मंत्र में कहा गया है कि केशी इस विष (जीवनस्रोत-जल) को उसी प्रकार धारण करता है, जिस प्रकार पृथ्वी और आकाश को[8]. यद्यपि सायण ने केशी का अर्थ सूर्य किया है, परन्तु केशी का शाब्दिक अर्थ जटाधारी होता है और इस सूक्त के तीसरे तथा बाद के मन्त्रों में केशी की तुलना उन मुनियों से की गई है जो अपनी प्राणोपासना द्वारा वायु की गति को रोक लेते हैं और मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् (परमानन्द सहित) वायुभाव (अशरीरी वृत्ति) को प्राप्त होते हैं और सांसारिक मर्त्यजनों को जिनका केवल पार्थिव शरीर ही दिखलाई देता है.[9]

अथर्ववेद में भी रुद्र का व्याधि-विनाश के लिये आह्वान किया गया है.[10] कुछ मन्त्रों में रुद्र को 'सहस्राक्ष' भी कहा गया है.[11] इसी वेद के पन्द्रहवें मण्डल में रुद्र का व्रात्य के साथ उल्लेख किया गया है और सूक्त के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि 'व्रात्य महादेव बन गया, व्रात्य ईशान बन गया है.[12] तथा यह भी लिखा है कि "व्रात्य ने अपने पर्यटन में प्रजापति को शिक्षा और प्रेरणा दी.[13]

सायण ने व्रात्य की व्याख्या करते हुए लिखा है :

---

१. या वो भेषजः मरुतः शुचीनि या शन्तमा वृषणों या मयोभु.
   यानि मनुर्वृणीता पिता नस्ताशंच योश्च रुद्रस्य वश्मि.—वही २, ३३, १३.
२. श्रेष्ठो जातस्य रुद्र : श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो.
   पर्षिणः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीति रपसो युयोधि.—वही २, ३३, ३.
३. ऋग्वेद : ६. ७४.
४. वही : ६, ७,३.
५. वही : २, १, ६; ३, २, ५.
६. वही : १, ४३, ४.
७. वही : १, ११४, ६.
८. ऋग्वेद : १, १७२, १; १, ६४, ८ तथा ६, ५, ३३, ५; ५, ६१, ४ आदि.
९. ऋग्वेदः १०, १३६, २–३.
१०. अथर्ववेद : ६, ४४, ३, ६, ५७, १, १६, १०, ६.
११. वही : ११, २, ७.
१२. वही : १५, १, ४, ५.
१३. व्रात्य आसी दीपमान एव स प्रजापतिं समैरयत. —अथर्ववेद १५, १.

कंचिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसंमान्यं कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम् अर्थात् वहाँ उस व्रात्य से मन्तव्य है, जो विद्वानों में उत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील और विश्वपूज्य है और जिनसे कर्मकाण्डी ब्राह्मण विद्वेष करते हैं.

इस प्रकार व्रतधारी एवं संयमी होने के कारण ही इन्हें व्रात्य नहीं कहा जाता था, अपितु शतपथ ब्राह्मण के एक उल्लेख से प्रतीत होता है कि वृत्र (अर्थात् ज्ञान द्वारा सब ओर से घेर कर रहनेवाला सर्वज्ञ) को अपना इष्टदेव मानने के कारण भी यह जन व्रात्य के नाम से अभिहित किये जाते थे.[1]

जर्मन विद्वान डाक्टर हौएर का मत है[2] कि यह व्रात्यों के योग और ध्यान का अभ्यास था जिसने आर्यों को आकर्षित किया, और वैदिक विचारधारा तथा धर्म पर अपना गहरा प्रभाव डाला है. दूसरी ओर श्री एन० एन० घोष अपनी नवीन खोज के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचे हैं[3] कि प्राचीन वैदिक काल में व्रात्य जाति पूर्वी भारत में एक महान् राजनीतिक शक्ति थी. उस समय वैदिक आर्य एक नये देश में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये लड़ रहे थे और उनको सैन्यबल की अत्यधिक आवश्यकता थी. अतः उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से व्रात्यों को अपने दल में मिला लिया. व्रात्यों को भी संभवतः आर्यों के नैतिक और आध्यात्मिक गुणों ने आकृष्ट किया और वे आर्य जाति के अन्तर्गत होने के लिये तैयार हो गये और फिर इस प्रकार आर्यों से मिल जाने पर उनकी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया. व्रात्य का निरन्तर पूर्व दिशा के साथ सम्बद्ध किया जाना, उसके अनुचरों में 'पुंश्चली' और "मागध" का उल्लेख होना (ये दोनों ही पूर्व देशवासी तथा आर्येतर जाति के हैं), आर्यों से पहले भी भारतवर्ष में अतिविकसित और समृद्ध सभ्यताएँ होने के प्रमाणस्वरूप अधिकाधिक सामग्री का मिलना आदि तथ्य श्री एन० एन० घोष के निर्णय की ही पुष्टि करते हैं.

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से तथा लघु एशियाई पुरातत्त्व एवं मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा नगरों की खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर यह बात सुनिश्चित हो चुकी है कि वैदिक आर्यगण लघु एशिया तथा मध्य एशिया के देशों से होते हुए त्रेता युग के आदि में लगभग ३००० ई० पूर्व में इलावत और उत्तर पश्चिम के द्वार से पंजाब में आये थे. उस समय पहले से ही द्राविड़ लोग गान्धार से विदेह तक तथा पांचाल से दक्षिण के मय देश तक अनेक जातियों में विभक्त होकर विभिन्न जनपदों में निवास कर रहे थे. इनकी सभ्यता पूर्ण विकसित एवं समुन्नत थी एवं शिल्पकला इनके मुख्य व्यवसाय थे. ये जहाजों द्वारा लघु एशिया तथा उत्तरपूर्वीय अफ्रीका के दूरवर्ती देशों के साथ व्यापार करते थे.

ये द्राविड़ लोग सर्प-चिह्न का टोटका अधिक प्रयोग में लाने के कारण नाग, अहि, सर्प, आदि नामों से विख्यात थे. श्याम वर्ण होने के कारण 'कृष्ण' कहलाते थे. अपनी अप्रतिम प्रतिभाशीलता तथा उच्च आचार-विचार के कारण ये अपने को दास व दस्यु (कान्तिमान) नामों से पुकारते थे. व्रतधारी एवं वृत्र का उपासक होने से व्रात्य तथा समस्त विद्याओं के जानकार होने से द्राविड़ नाम से प्रसिद्ध थे. संस्कृत का विद्याधर शब्द 'द्रविड़' शब्द का ही रूपान्तर है. ये अपने इष्टदेव को अर्हन्, परमेष्ठी, जिन, शिव एवं ईश्वर के नामों से अभिहित करते थे. जीवनशुद्धि के लिये ये अहिंसा संयम एवं तपोमार्ग के अनुगामी थे. इनके साधु दिगम्बर होते थे और बड़े-बड़े बाल रखते थे. अन्य लोग तपस्या एवं श्रम के साथ साधना करके मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेते थे.[4]

यजुर्वेद में एक स्थल पर रुद्र का 'किवि'[5] (ध्वंसक या हानिकर) के रूप में उल्लेख किया गया है और अन्यत्र 'घोरशिव'

---

१. वृत्रो एवा इदं सर्वं वृत्वा शिश्यो यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवीय यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद वृत्रो नाम. "शतपथ ब्राह्मण १,१, ३, ४.

२. हौएर: दर व्रात्य (vratya)

३. एन०एन० घोष : इण्डो आर्यन लिटरेचर एण्ड कल्चर (orgin) १९३४ ई०

४. "ये नातरन्भूतकृनोतिमृत्युं यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण."—अथर्ववेद: ४. ३५.

५. यजुर्वेद: (वाजसनेयी संहिता) १०, २०.

शब्द[1] का प्रयोग किया गया है, भाष्यकार महीधर ने जिसका अर्थ—'उच्छृंखल आचरण' किया है. इसके अतिरिक्त उनके धनुष तथा तरकस को 'शिव' कहा गया है.[2] उनसे प्रार्थना की गई है कि वह अपने भक्तों को मित्र के पथ पर ले चलें, न कि भयंकर समझे जाने वाले अपने पथ पर.[3] भिषक् रूप में उनका स्मरण किया है और मनुष्य तथा पशुओं के लिये स्वास्थ्यप्रद भेषज देने के लिये भी उनसे प्रार्थना की गई है.[4] यहाँ रुद्र का 'पशुपति' रूप में भी उल्लेख मिलता है.[5]

यजुर्वेद के 'त्र्यम्बक होम'[6] सूक्त में रुद्र के साथ एक स्त्री देवता 'अम्बिका' का भी उल्लेख किया गया है, जो रुद्र की बहिन बतलाई गई है. इन्हें 'कृत्तिवासाः' कहा गया है और मृत्यु से मुक्ति तथा अमृतत्व की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की गई है. उनके विशेष वाहन मूषक का भी उल्लेख किया गया है तथा उन्हें यज्ञभाग देने के पश्चात् 'मूजवत' पर्वत से पार चले जाने का भी अनुरोध किया गया उपलब्ध होता है. मूषक जैसे धरती के नीचे रहनेवाले जन्तु से उनका सम्बन्ध इस बात का द्योतक हो सकता है कि इस देवता को पर्वत-कन्दराओं में रहनेवाला माना जाता था तथा "मूजवत" पर्वत से परे चले जाने का अनुरोध इस बात का व्यंजक हो सकता है कि इस देवता का वास भारतीय पर्वतों में माना जाता था. "कृत्तिवासा" उपाधि से प्रतीत होता है कि उसका अपना चर्म ही उसका वस्त्र था—अर्थात् वह दिगम्बर था.

"शतरुद्रिय स्तोत्र"[7] में रुद्र की स्तुति में ६६ मंत्र हैं, जो रुद्र के यजुर्वेदकालीन रूप के स्पष्ट परिचायक हैं. रुद्र को यहां पहली बार 'शिव'. शिवतर' तथा 'शंकर' आदि रूपों में उल्लिखित किया गया है. 'गिरिशंत' 'गिरित्र' 'गिरिशा' 'गिरिचर' गिरिशय'—इन नवीन उपाधियों से भी उन्हें विभूषित किया गया है. 'क्षेत्रपति' तथा 'वणिक्' भी निर्दिष्ट किये गये हैं. प्रस्तुत स्तोत्र के बीस से बाईस संख्या तक के मन्त्रों में रुद्र के लिये कतिपय विचित्र उपाधियों का प्रयोग किया गया है. अब तक रुद्र के माहात्म्य का गान करनेवाला स्तोता उन्हें इन उपाधियों से विभूषित करता है—स्तेनानां पति (चोरों का अधिराज), वंचक, स्तायूनां पति [ठगों का सरदार), तस्कराणां पति, मुष्णतां पति, विकृन्तानां पति (गलकटों का सरदार) कुलुंचानां पति, आदि. इसके अतिरिक्त इनमें 'सभा' 'सभापति,' 'गण' 'गणपति' आदि के रुद्र के उपासकों के उल्लेख के साथ 'व्रात,' 'व्रातपति', तक्षक, रथकार, कुलाल, कर्मकार, निषाद, आदि का भी निर्देश किया गया है.

ब्राह्मण ग्रंथों के समय तक रुद्र का पद निश्चित रूप से अन्य देवताओं से ऊँचा हो गया था और वह 'महादेव' कहा जाने लगा था.[8] जैमनीय ब्राह्मण में कहा गया है[9] कि देवताओं ने प्राणीमात्र के कर्मों का अवलोकन करने और धर्म के विरुद्ध आचरण करनेवाले का विनाश करने के उद्देश्य से रुद्र की सृष्टि की. रुद्र का यह नैतिक उत्कर्ष ही था, जिसके कारण उनका पद ऊँचा हुआ और जिनके कारण अन्त में रुद्र को परम परमेश्वर माना गया.

श्वेताश्वतर उपनिषद् से स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय से रुद्र के पद में कितना उत्कर्ष हो चुका था. इसमें उन्हें

---

१. वही : (वाजसनेयी संहिता) ३६, ६, तथा महीधर का भाष्य-दुर्ष्टं स्खलनोच्छलनादि व्रतम्.
२. वही : (तैत्तिरीय संहिता) ४, ५, १.
३. वही : (तैत्तिरीय संहिता) १, २, ४.
४. वही : (तैत्तिरीय संहित) १, ८, ६.
५. वही : (वाजसनेयी संहिता) ६, ३, ६, ३, ६, ८. (तैत्तिरीय) १, ८, ६.
६. यजुर्वेद : (तैत्तिरीय संहिता) १, ८, ६ (वाजसनेयी) ३, ५७, ६३.
७. वही : (तैत्तिरीय संहिता) ४, ५, १.
८. कौशीतकी : २१, ३.
९. जैमिनीय : ३, २६१, ६३.

सामान्यतः ईश, महेश्वर, शिव और ईशान कहा गया है.[1] वह मोक्षाभिलाषी योगियों के ध्यान के विषय हैं और उनको एक स्रष्टा, ब्रह्म और परमात्मा माना गया है.[2] इस काल में वह केवल जन सामान्य के ही देवता नहीं थे. अपितु आर्यों के सबसे प्रगतिशील वर्गों के आराध्य देव भी बन चुके थे. इस रूप में उनका सम्बन्ध, दार्शनिक विचारधारा और योगाभ्यास के साथ हो गया था, जिसको उपनिषद् के ऋषियों ने आध्यात्मिक उन्नति का एक मात्र साधन माना था. अपर वैदिक काल में योगी, चिन्तक और शिक्षक के रूप में जो शिव की कल्पना की गई है, वह भी इसी सम्बन्ध के कारण थी. श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्र को ईश, शिव और पुरुष कहा गया है. लिखा है कि प्रकृति, पुरुष अथवा परब्रह्म की शक्ति है, जिसके द्वारा वह विविध रूप विश्व की सृष्टि करता है.[3] पुरुष स्वयं स्रष्टा नहीं, अपितु एक बार प्रकृति को क्रियाशील बनाकर वह अलग हो जाता है और केवल प्रेक्षक के रूप में काम करता है.[4] इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक रुद्र उन लोगों के आराध्य देव बन गये थे जो सांख्य विचार-धारा का विकास कर रहे थे. प्रश्नोपनिषद् में रुद्र को परिरक्षिता कहा गया है और प्रजापति से उसका तादात्म्य प्रकट किया गया है.[5] मैत्रायणी उपनिषद् में रुद्र की 'शम्भु' [अर्थात् शान्तिदाता] उपाधि का पहली बार उल्लेख हुआ.[6]

श्रौत-सूत्रों में रुद्र की उपासना का वही स्वरूप उपलब्ध होता है जैसा ब्राह्मण ग्रंथों में. यहाँ रुद्र का रूप केवल एक देवता का है और उनके रुद्र, भव, शर्व आदि अनेक नामों का उल्लेख है.[7] महादेव, पशुपति, भूतपति आदि उपाधियों से भी विभूषित किया गया है.[8] रुद्र से मनुष्यों और पशुओं की रक्षा के लिये प्रार्थना की गई है.[9] उन्हें रोगनाशक औषधियों का दाता[10] और व्याधिनिवारक[11] कहा गया है. गृह्य सूत्रों में रुद्र की समस्त वैदिक उपाधियों का उल्लेख मिलता है,[12] यद्यपि इनके 'शिव' और शंकर ये नवीन नाम अधिक प्रचलित होते जा रहे हैं.[13] यहाँ उन्हें श्मशानों, पुण्यतीर्थों एवं चौराहों जैसे स्थलों में एकान्त विहारी के रूप में चित्रित किया गया है.[14]

सिन्धु घाटी के निवासियों का वैदिक आर्यों के साथ संमिश्रण हो जाने पर रुद्र ने सिन्धु घाटी के पुरुष देवता को आत्मसात् कर लिया. इसके फलस्वरूप सिन्धु घाटी की स्त्री देवता का रुद्र की पूर्वसहचरी अम्बिका के साथ तादात्म्य हो गया और उसे रुद्रपत्नी माना जाने लगा. इस प्रकार भारतवर्ष में देवी की उपासना आई और शक्तिमत का सूत्रपात हुआ. इसके अतिरिक्त जननेन्द्रिय सम्बन्धी प्रतीकों की उपासना, जो सिन्धुघाटी के देवताओं की उपासना का एक अंग थी, का भी रुद्र की उपासना में समावेश हो गया. इसके अतिरिक्त 'लिंग' रुद्र का एक विशिष्ट प्रतीक माना जाने लगा और इसी कारण उसकी उपासना भी प्रारम्भ हो गई. परन्तु धीरे-धीरे लोग यह भूल गये कि प्रारम्भ में यह एक जननेन्द्रिय सम्बन्धी प्रतीक था. इस प्रकार भारत में लिंगोपासना का प्रादुर्भाव हुआ, जो शैव-

---

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३-११-४-१०-४, ११, ५, १६.
२. वही : ३, २-४, ३, ७, ४, १०-२४.
३. श्वेताश्वतर उपनिषद् ४, १.
४. वही: ४, ५.
५. प्रश्नोपनिषद् २, ६.
६. मैत्रायणी उपनिषद् १५, ८.
७. शांखायन श्रौतसूत्र : ४, १६, १.
८. वही : ४, २०, १४.
९. वही : ४, २०, १.आश्वलायनः ३, ११, १.
१०. लाण्यन श्रौतसूत्रः ५, ३, २.
११. शांखायन श्रौतसूत्रः ३, ४, ८.
१२. आश्वलायन गृह्यसूत्रः ४, १०.
१३. वहीः २, १, २.
१४. मानवगृह्यसूत्र २, १३, ६, १४.

धर्म का एक अंग बन गई. दूसरी ओर उपनिषदों से प्रतीत होता है कि रुद्र की उपासना का प्रचार नवीन धार्मिक तथा दार्शनिक विचारधारा के प्रवर्त्तकों में हो रहा था, और ये लोग रुद्र को परब्रह्म मानते थे. सूत्रयुग में रुद्र को 'विनायक' की उपाधि दी गई और यही अपर वैदिक काल में गणेश नाम से प्रसिद्ध हुआ. रुद्र तथा विनायक प्रारम्भ में एक ही देवता के दो रूप थे, परन्तु कालक्रम से यह स्मृति लुप्त हो गयी और गणेश को रुद्र का पुत्र माना जाने लगा.

उपनिषत्कालीन भक्तिवाद ने देश के धार्मिक आचार-विचार में युगान्तर उपस्थित कर दिया. कर्मकाण्ड का स्थान स्तुति, प्रार्थना तथा पूजा ने ले लिया और मन्दिरों के निर्माण के साथ मानवाकार तथा लिंगाकार में रुद्र-मूर्तियों की प्रतिष्ठा तथा पूजा आरम्भ हो गई तथा रुद्र का नाम भी अब शिव के रूप में लोकप्रचलित हो गया.

पाणिनि के समय में शिव के विकसित स्वरूप के प्रमाण वे सूत्र हैं, जिन्हें 'माहेश्वर'[1] बतलाया गया है. वैसे पाणिनि की अष्टाध्यायी में रुद्र, भव और शर्व शब्दों का भी उल्लेख मिलता है.[2]

रामायण में रुद्र के अत्यधिक विकसित स्वरूप के दर्शन होते हैं. यहाँ उन्हें मुख्यतः 'शिव' कहा जाता है. महादेव, महेश्वर, शंकर तथा त्र्यम्बक नामों का अधिक उल्लेख मिलता है. यहाँ उन्हें देवताओं में सर्वश्रेष्ठ देव-देव कहा गया है.[3] और अमरलोक में भी उनकी उपासना विहित दिखलाई गई है.[4] एक अन्य स्थल पर उन्हें अमर, अक्षर और अव्यय भी माना गया है.[5] एक स्थान पर उन्हें हिमालय में योगाभ्यास करते हुए दिखलाया गया है.[6] रामायण में शिव के साथ देवी की उपासना भी भक्त जन करते हैं. इन दोनों को लेकर जिस उपासनापद्धति का जन्म हुआ, वेदोत्तर काल में वही शैवधर्म का सर्वाधिक प्रचलित रूप बना. रामायण में शिव की 'हर'[7] तथा 'वृषभध्वज'[8] इन दो नवीन उपाधियों का भी उल्लेख मिलता है.

महाभारत में शिव को परब्रह्म, असीम, अचिन्त्य, विश्वस्रष्टा, महाभूतों का एक मात्र उद्गम, नित्य और अव्यक्त आदि कहा गया है. एक स्थल पर उन्हें सांख्य के नाम से अभिहित किया गया है और अन्यत्र योगियों के परम पुरुष नाम से.[9] वह स्वयं महायोगी हैं और आत्मा के योग तथा समस्त तपस्याओं के ज्ञाता हैं. एक स्थल पर लिखा है कि शिव को तप और भक्ति द्वारा ही पाया जा सकता है.[10] अनेक स्थलों पर विष्णु के लिये प्रयुक्त की गई योगेश्वर[11] की उपाधि इस तथ्य की द्योतक है कि विष्णु की उपासना में भी योगाभ्यास का समावेश हो गया था, और कोई भी मत इसके वर्धमान महत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सकता था.

महाभारत में शिव के एक अन्य नवीन रूप के दर्शन होते हैं और वह है उनका 'कापालिक' स्वरूप. यह स्वरूप मृत्युदेवता वैदिक रुद्र का विकसित रूप मालूम देता है. यहाँ उनकी आकृति भक्तिवाद के आराध्यदेव शिव की सौम्य

---

१. माहेश्वर सूत्र इस प्रकार हैं—अ इ उ ण्, ऋ लृ क्, ए ओ ङ्, ऐ औ च्, ह य व र ट्, ल ण्, ञ म ङ ण न म्, झ भ ञ्, घ ढ ध ष्, ज ब ग ड द श्, ख फ छ ठ थ च ट त व्, क प य्, श ष स र्, हल्.
२. अष्टाध्यायी : १, ४६, ३, ५३, ४, १००.
३. रामायण, बालकाण्डः ४५, २२–२६, ६६. ११–१२, ६, १, १६, २७.
४. वही, १३, २१.
५. वही, ४. २६.
६. वही, ३६, २६.
७. रामायण, बालकाण्डः ४३, ६. उत्तरकाण्डः ४, ३२, १६, २७, ८७, ११.
८. वही, युद्धकाण्डः ११७, ३ उत्तरकाण्डः १६, ३५, ८७, १२.
९. महाभारत द्रोणः ७४, ५६, ६१. १६६, २६.
१०. वहीः अनुशासनः ९८, ८, २२.
११. अनुशासन वहीः ९८, ७४ आदि.

आकृति के सर्वथा विपरीत एवं भयावह है. वह हाथ में कपाल लिये हैं[1] और लोकवर्जित श्मशान प्रदेश उनका प्रिय आवास है, जहां वह राक्षसों, वेतालों, पिशाचों और इसी प्रकार के अन्य जीवों के साथ विहार करते हैं.[2] उनके गण को 'नक्तंचर' तथा 'पिशिताशन' कहा गया है.[3] एक स्थल पर स्वयं शिव को मांस भक्षण करते हुए तथा रक्त एवं मज्जा का पान करते हुए उल्लिखित किया गया है.[4]

अश्वघोष के बुद्धचरित में शिव का 'वृषध्वज' तथा 'भव' के रूप में उल्लेख हुआ है,[5] भारतीय नाट्यशास्त्र में शिव को 'परमेश्वर' कहा गया है.[6] उनकी 'त्रिनेत्र' 'वृषांक' तथा 'नटराज' उपाधियों की चर्चा है.[7] वह नृत्यकला के महान् आचार्य हैं और उन्होंने ही नाट्यकला को 'ताण्डव' दिया. वह इस समय तक महान् योगाचार्य के रूप में ख्यात हो चुके थे तथा इसमें कहा गया है कि उन्होंने ही 'भरत-पुत्रों' को सिद्धि सिखाई.[8] अन्त में शिव के त्रिपुर-ध्वंस का भी उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि ब्रह्मा के आदेश से भरत ने 'त्रिपुरदाह' नामक एक 'डिम' (रूपक का एक प्रकार) भी रचा था और भगवान् शिव के समक्ष उसका अभिनय हुआ था.[9]

पुराणों में शिव का पद बड़ा ही महत्त्वपूर्ण हो गया है. यहाँ वह दार्शनिकों के ब्रह्म हैं, आत्मा हैं, असीम हैं और शाश्वत हैं.[10] वह एक आदि पुरुष हैं. परम सत्य हैं तथा उपनिषदों एवं वेदान्त में उनकी ही महिमा का गान किया गया है.[11] बुद्धिमान् और मोक्षाभिलाषी इन्हीं का ध्यान करते हैं.[12] वह सर्वज्ञ हैं, विश्वव्यापी हैं, चराचर के स्वामी हैं तथा समस्त प्राणियों में आत्मरूप से वसते हैं.[13] वह एक स्वयंभू हैं तथा विश्व का सृजन, पालन एवं संहार करने के कारण तीन रूप धारण करते हैं.[14] उन्हें 'महायोगी',[15] तथा योगविद्या का प्रमुख आचार्य माना जाता है.[16] सौर[17] तथा वायु पुराण[18] में शिव की एक विशेष योगिक उपासना विधि का नाम माहेश्वर योग है. इन्हें इस रूप में 'यती',[19] 'आत्म-संयमी' 'ब्रह्मचारी'[20] तथा 'ऊर्ध्वरेताः'[21] भी कहा गया है. शिवपुराण में शिव का आदि तीर्थंकर वृषभदेव के रूप में अवतार

---

१. वनपर्व वही: १८८, ५० आदि.
२. वही वनपर्व: ८३, ३.
३. द्रोण पर्व: ५०, ४६.
४. वही, अनुशासन पर्व, १५१, ७.
५. बुद्धचरित: १०, ३, १, ६३.
६. नाट्यशास्त्र: १, १.
७. वही: १, ४५, २४, ५, १०.
८. वही: १, ६०, ६५.
९. वही: ४, ५, १०.
१०. लिंग पुराण, भाग २, २१, ४६, वायुपुराण: ५५, ३, गरुड़पुराण: १६, ६,७.
११. सौरपुराण: २६, ३१, मत्स्यपुराण: १२३, १६६.
१२. वही: २, ८३, मत्स्यपुराण: ११०, १००.
१३. वायु पुराण: ३०, २८३, ८४.
१४. वही: ६६, १०८, लिंग पुराण भाग १, ११.
१५. वही: २४, १५६ इत्यादि.
१६. ब्रह्मवैवर्तपुराण: भाग १, ३, २०, ६, ४.
१७. सौर पुराण: अध्याय १२.
१८. वायु पुराण अध्याय १०.
१९. मत्स्यपुराण: ४७, १३८, वायुपुराण: १७, १६६.
२०. वही, ४७, १३८, २६, वायुपुराण: २४, १६२.
२१. मत्स्यपुराण: १३६, ५, सौरपुराण: ७, १७, ३८, १, ३८, १४.

लेने का उल्लेख है.[1] प्रभासपुराण में भी ऐसा ही उल्लेख उपलब्ध होता है.[2]

विमलसूरि के 'पउमचरिउ' के मंगलाचरण के प्रसंग में एक 'जिनेन्द्र रुद्राष्टक' का उल्लेख हुआ है. यद्यपि इसे अष्टक कहा गया है, परन्तु पद्य सात ही हैं. इसमें जिनेन्द्र भगवान् का रुद्र के रूप में स्तवन किया गया है. बताया गया है कि जिनेन्द्र रुद्र पाप रूपी अन्धकासुर के विनाशक हैं, काम, लोभ एवं मोहरूपी त्रिपुर के दाहक हैं, उनका शरीर तप रूपी भस्म से विभूषित है, संयमरूपी वृषभ पर वह आरूढ़ हैं, संसाररूपी करी (हाथी) को विदीर्ण करने वाले हैं, निर्मल बुद्धिरूपी चन्द्ररेखा से अलंकृत हैं, शुद्धभावरूपी कपाल से सम्पन्न हैं, व्रतरूपी स्थिर पर्वत (कैलाश) पर निवास करने वाले हैं, गुण-गण रूपी मानव-मुण्डों के मालाधारी हैं, दश धर्मरूपी खट्वांग से युक्त हैं. तपःकीर्ति रूपी गौरी से मण्डित हैं. सात भय रूपी उद्दाम डमरू को बजानेवाले हैं, अर्थात् वह सर्वथा भीतिरहित हैं, मनोगुप्ति रूपी सर्प-परिकर से वेष्टित हैं, निरन्तर सत्यवाणी रूपी विकट जटा-कलाप से मंडित हैं तथा हुंकारमात्र से भय का विनाश करने वाले हैं.[3]

आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला टीका में अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में उल्लेख किया है और कहा है कि अर्हन्त परमेष्ठी वे हैं जिन्होंने मोह रूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विशाल अज्ञान रूपी पारावार से उत्तीर्ण हो चुके हैं, जिन्होंने विघ्नों के समूह को नष्ट कर दिया है, जो सम्पूर्ण बाधाओं से निर्मुक्त हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने कामदेव के प्रभाव को दलित कर दिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात् मोह, राग द्वेष को अच्छी तरह से भस्म कर दिया है, जो दिगम्बर मुनिव्रती अथवा मुनियों के पति अर्थात् ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूपी त्रिशूल को धारण करके मोह रूपी अंधकासुर के कवन्धवृन्द का हरण कर लिया है तथा जिन्होंने सम्पूर्ण आत्मरूप को प्राप्त कर लिया है और दुर्नय का अन्त कर दिया है.[4]

पउमचरिउ में उल्लिखित 'रुद्राष्टक' इस तथ्य का द्योतक है कि इस रचना के समय तक वैदिककालीन रुद्र ने कापालिक एवं पौराणिक युग के लोकप्रचलित स्वरूप को अंगीकार कर लिया था, जिसका जैन परम्परानुरूपी समन्वय उक्त 'अष्टक' के रचयिता ने अपनी रचना में करके अपनी परम्परागत रुद्रभक्ति का परिचय दिया. वीरसेन स्वामी द्वारा अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में किया गया चित्रण भी इसी तथ्य की ओर इंगित करता है.

स्वयं महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपने महापुराण में एक स्थल पर भगवान् वृषभदेव के लिये रुद्र की ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूपी त्रिमूर्ति से सम्बन्धित अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है. भगवान् का यह एक संस्तवन है, जिसे उनके केवल ज्ञान

---

१. इत्थं प्रभाव ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे । सतां गतिर्दीनवन्धुर्नवमः कथितवस्तव ।
ऋषभस्य चरित्रं हि परमं पावनं महत् । स्वर्ग्ययशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः । —शिवपुराण ४, ४७-४८.

२. कैलाशे विमलरम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः । चकार स्वावतार च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः । —प्रभासपुराण, ४९.

३. 'पापान्धकनिर्णाशं मकरध्वज-लोभ-मोहपुरदहनम्, तपोभस्म भूपितांगं जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ।१।
संयमवृषभारूढं तप-उग्रमहत तीक्ष्णशूलधरम्, संसारकरिविदारं जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ।२।
विमलमतिचन्द्ररेख विरचितसिलशुद्धभावकपालम्, व्रताचलशैलनिलय जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ।३।
गुणगणनरशिरमालं दशाध्वजोद्भूतविदितखड्वाङ्गम्, तपः कीर्तिगौरिरचितं जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ।४।
सप्तभयडाम डमरूकवाद्यं अनवरतप्रकटसंदोहम्, मनोवद्धसर्पपरिकरं जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ।५।
अनवरतसत्यवाचा विकटजटामुकुट कृतशोभम्, हुंकारभयविनाशं जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ।६।
ईशान शयनरचितं जिनेन्द्ररुद्राष्टकं ललितं मे भावं च, यः पठति भावशुद्धस्तस्य भवेज्जगति संसिद्धिः ।७।'

४. 'णिद्धद्धमोहतरुणो विरिथण्णणाण–सायरुत्तिण्णा, णिहय-णिय-विग्घ-वग्गा वहुवाहविणिग्गया अयला ।
दलिय-मयण-धायावा तिकालविसएहि तीहि णयणेहिं, दिट्ठसयलट्ठसारा सुरद्धतिउण मुणिव्वइणो ।
तिरयणतिसूलधारिय मोहंधासुर-कवंध-विन्दहरा, सिद्धसयलप्परूवा अरहन्ता दुण्णयकयंता ।
—धवला टीका—१ पृ० सं० ४५-४६.

होने के पश्चात् सौधर्म तथा ईशान इन्द्र ने प्रस्तुत किया है. स्तवन में भगवान् की जय मनाते हुए कहा गया है[1] कि वह दुर्मथ कामदेव का मन्थन करनेवाले हैं, दोष-रोष रूपी मांस के लिये अग्नि के समान हैं, सम्पूर्ण विशुद्ध केवलज्ञान के आवास हैं, और मिथ्यामार्ग से सन्मार्ग प्राप्ति के विचारक हैं. वह[2] कंकाल, त्रिशूल, मनुष्य-कपाल, विषधर तथा स्त्री से रहित हैं, शान्त हैं, शिव है, अहिंसक हैं, राजन्यवर्ग उनके चरणों की पूजा करता है, परोपकारी हैं, भीति दूर करनेवाले हैं, परन्तु अपने अन्तरंग रिपुवर्ग के लिये भयंकर हैं, वामाविमुक्त [स्त्री रहित] हैं, परन्तु स्वयं संसार के लिये वाम [प्रतिकूल] हैं, त्रिपुरहारी [जन्म जरा मृत्यु] अथवा मिथ्यादर्शन, ज्ञान चारित्र रूपी त्रिपुर के विनाशक हैं, हर हैं, धैर्यशाली हैं, निर्मल स्वयं बुद्ध रूप से सम्पन्न हैं, स्वयंभू हैं, सर्वज्ञ हैं, सुख तथा शान्तिकारी शंकर हैं, चन्द्रधर हैं, सूर्य हैं, रुद्र हैं, उग्र तपस्वियों में अग्रगामी हैं, संसार के स्वामी हैं, तथा उसे उपशान्त करने वाले हैं, महादेव हैं, महान् गुणगणों से यशस्वी हैं, महाकाल हैं, प्रलयकाल के लिये उग्रकाल हैं, गणेश [गणधरों के स्वामी] हैं, गणपतियों [वृषभसेन आदि गणधरों] के जनक हैं, ब्रह्म है, ब्रह्मचारी हैं, वेदांगवादी [सिद्धान्तवादी] हैं, कमलयोनि हैं, पृथ्वी का उद्धार करने वाले आदिवराह हैं, सुवर्णवृष्टि के साथ गर्भ में अवतीर्ण हुए हैं, दुर्नय के निवारक हैं, हिरण्यगर्भ हैं, [युगसृष्टा हैं] परमानन्तचतुष्टय [अनन्त-दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख तथा अनन्तवीर्य] से सुशोभित हैं, अज्ञानान्धकारहारी हैं, दिवसनाथ हैं, यज्ञपुरुष हैं, पशुयज्ञ के विनाशक हैं, ऋषि-सम्मत अहिंसाधर्म के प्रकाशक हैं,[3] माधव (अन्तरंगबहिरंग लक्ष्मी के स्वामी) हैं, त्रिभुवन के माधवेश हैं, मद्यरूपी मधु को दूषित करने वाले मधुसूदन हैं, लोकदृष्टा परमात्मा हैं, गोवर्द्धन (ज्ञानवर्धक) हैं, केशव हैं और परमहंस हैं. इन्द्र कहते हैं—भगवान् को संसार में केशव कहा जाता है जो रागी हो [यः केशेषु रागवान् स 'केशवः'[4] जो केशों में अनुरागी हो उसे केशव कहते हैं], परन्तु तुम तो वीतरागी हो, अतः तुम्हारे अन्दर वह केशवत्व कैसे आ सकता है? 'केशव'[4] के अन्य प्रश्नमूलक शाब्दिक तात्पर्य को लेकर इन्द्र कहते हैं—भगवन्, वास्तव में वे ही जड़ हैं जो तुम्हारा उपहास करते हैं और ऐसे जन का नरक-वास ही निश्चित है. भगवन्, तुम काश्यप हो, जड़-आचार से विहीन हो, एकाग्रचिन्तानिरोधपूर्वक ध्यानी हो, आकाश, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, यजमान, पृथ्वी, पवन, सलिल—इन आठ शरीरों से युक्त महेश्वर हो, परमौदारिक शरीर से युक्त हो. कलिकाल के समस्त पाप-पंक से मुक्त[6] हो, सिद्ध हो, बुद्ध हो, शुद्धोदनि हो, सुगत हो, कुमार्गनाशक

---

१. जय दुम्महवम्महणिम्महण दोस-रोस-पसु-पास-सिहि, जय सयलविमलकेवलणिलय हरण-करण-उद्धरणविहि।

२. जय कंकालसूलणरकंदलविसहरविलयविरहिया, जय भगवंत संत सिव सविर णिवंनियचरण परहिया।
जय सुकइ कहियणीसेसणाम भीभंधण णियरिउवग्गभीम, वामाविमुक्क संसारवाम जय तिउरहारि हरधीरधाम।
जय पयडियधुससयंभुभाव जयजय सयंभू परिगणिय भाव, जय संकर संकर विहियसंति जय ससहर कुवलयदिण्णकंति।
जय रुद्द रउद्दतवग्गगामि जय जय भवसामि भवोवसामि, महएव महागुणगणजसाल महकाल पलयकालुग्गकाल।
जय जय गणेस गणवइजणेर जय बंभपसाहिय बंभचेर, वेयंगवाइ जय कमलजोणि आइ वराह उद्धरियखोणि।
सहिरण्णविट्ठि पविवण्णगब्भ जय दुण्णयणिहण हिरण्णगब्भ, जय परमाणंत चउक्कसोह भावंधयारहर [illegible]।
जय जण्णपुरिस पसुजण्णणासि रिसिसंस अहिंसाधम्मभासि॥

३. 'जय माहव तिहुवणमाहवेस महुसूयण दूसियमहुविसेस जय लोयणिओय परमहंस गोवद्धण केसव परमहंस।
जगि सो केसउ जो रायवंत तुहुं णीरायहु, कहिं केसवत्तु.—'महापुराण' १०, ५.

४. देखिये, महापुराण १०, ५ की टिप्पणी.

५. के सव ते सव जे पइ हसंति जड पावपिंड रउरवि वसंति, जय कासव का स्सवविहि तुमम्मि [illegible]।
जय गयण हुयासणचंद रवि जीवय महि मारुय सलिल. अट्ठंगमहेसर जय [illegible]॥—'[illegible]' १०, ५.
तुलना कीजिये :
या सृष्टि स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः 'सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः, प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः'।
—अभिज्ञानशाकुन्तल १, १ [illegible]

६. जय जय सिद्ध बुद्ध सुद्धोयणि सुगय कुमग्गणासणा, [illegible]।—'महापुराण' १०, ६.

हो, वैकुण्ठवासी विष्णु हो, दामोदर हो तथा परवादियों की वासना को नष्ट करने वाले हो.

महाकवि पुष्पदन्त के उल्लिखित संस्तवन के अध्ययन से प्रतीत होता है कि भगवान् वृषभदेव के रूप में ही शिव के त्रिमूर्तिरूप तथा बुद्ध रूप को भी समन्वित कर लिया गया है. यद्यपि समन्वय क्रिया पुष्पदन्त द्वारा जैनदृष्टि को सम्मुख रख कर की गई है, परन्तु प्रतीत होता है कि तत्कालीन लोकप्रचलित शिव के एकेश्वरत्व ने भी अंशत: उनके मस्तिष्क पर अवश्य प्रभाव डाला है. पुष्पदंत का युग जैनधर्म के उत्कर्ष तथा धार्मिक सहिष्णुता का युग था. खजुराहो[1] के १००० ईस्वी के शिलालेख नम्बर पाँच में शिव का 'एकेश्वर' रूप में तथा 'विष्णु' 'बुद्ध' और 'जिन' का उन्हीं के अवतारों के रूप में उल्लेख किया जाना इसी तथ्य को पुष्ट करता है. यद्यपि इससे पूर्व पौराणिक काल में धार्मिक संघर्ष ने उग्ररूप धारण किया और चार्वाक, कौल तथा कापालिकों के साथ बौद्ध और जैनों को भी विधर्मी माना गया.[2]

## वृषभ तथा शिव-ऐक्य के अन्य साक्ष्य :

कतिपय अन्य लोकमान्य साक्ष्य भी वृषभ तथा शिव—दोनों के ऐक्य के समर्थक हैं जो निम्न प्रकार हैं :

## शिव रात्रि तथा कैलाश :

वैदिक मान्यता के अनुसार शिव कैलाशवासी हैं और उनसे सम्बन्धित शिवरात्रि पर्व का वहाँ बड़ा महत्त्व है.

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने सर्वज्ञ होने के पश्चात् आर्यावर्त्त के समस्त देशों में विहार किया, भव्य जीवों को धार्मिक देशना दी और आयु के अन्त में अष्टापद (कैलाश पर्वत) पहुँचे. वहाँ पहुँच कर योगनिरोध किया और शेष कर्मों का क्षय करके माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन अक्षय शिवगति (मोक्ष) प्राप्त की.[3]

भगवान् ऋषभदेव ने अष्टापद (कैलाश) से जिस दिन शिव-गति प्राप्त की उस दिन समस्त साधु-संघ ने दिन को उपवास तथा रात्रि को जागरण करके शिव-गति प्राप्त भगवान् की आराधना की, जिसके फलस्वरूप यह तिथि-रात्रि 'शिवरात्रि' के नाम से प्रसिद्ध हुई.

उत्तरप्रान्तीय जैनेतर वर्ग में प्रस्तुत शिवरात्रि पर्व फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को माना जाता है. उत्तर तथा दक्षिण देशीय पंचागों में मौलिक भेद ही इसका मूल कारण है. उत्तरप्रान्त में मास का आरंभ कृष्ण-पक्ष से माना जाता है और दक्षिण में शुक्ल-पक्ष से. प्राचीन मान्यता भी यही है. जैनेतर साहित्य में चतुर्दशी के दिन ही शिवरात्रि का उल्लेख मिलता है. ईशान[4] संहिता में लिखा है :

> माघे कृष्णचतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि ।
> शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः ।
> तत्कालव्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिव्रते तिथिः ।

प्रस्तुत उद्धरण में जहाँ इस तथ्य का संकेत है कि माघकृष्णा चतुर्दशी को ही शिवरात्रि मान्य किया जाना चाहिए, वहाँ उसकी मान्यतामूलक ऐतिहासिक कारण का भी निर्देश है कि उक्त तिथि की महानिशा में कोटि सूर्य प्रभोपम भगवान्

---

१. एपिग्राफिका इण्डिका : भाग १, पृष्ठ सं० १४८.

२. सौरपुराण : ३८, ५४.

३. 'मावस्स किण्हि चोद्दसि पुव्वण्हे णियय जम्मणक्खत्ते.

(क) अट्ठावयम्मि उसहो अजुदेण समं गओज्जोमि ।'—तिलोयपण्णत्ती ।

(ख) ....................घणतुहिणकणाउलि माहमासि ।

सूरुग्गमिकसणचउद्दसीहि णिव्वुइ तित्थंकरि पुरिससीहि ।—महापुराण : ३७, ३.

४. ईशान संहिता.

आदिदेव [वृषभनाथ] शिवगति प्राप्त हो जाने से 'शिव' इस लिंग [चिह्न] से प्रकट हुए—अर्थात् जो शिव पद प्राप्त होने से पहले 'आदिदेव' कहे जाते थे, वे अब शिवपद प्राप्त हो जाने से 'शिव' कहलाने लगे.

उत्तर तथा दक्षिण प्रान्त की यह विभिन्नता केवल कृष्ण-पक्ष में ही रहती है, पर शुक्ल-पक्ष के सम्बन्ध में दोनों ही एक मत हैं. जब उत्तर भारत में फाल्गुन कृष्णपक्ष चालू होगा तब दक्षिण भारत का वह माघकृष्ण पक्ष कहा जायगा. जैन-पुराणों के प्रणेता प्रायः दक्षिण भारतीय जैनाचार्य रहे हैं, अतः उनके द्वारा उल्लिखित माघकृष्णा चतुर्दशी उत्तर-भारतीय जन की फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी ही हो जाती है. कालमाधवीय नागर खण्ड में प्रस्तुत मासवैषम्य का निम्न प्रकार समन्वय किया गया है[1] :

'माघ मासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च ।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तिता ।'

अर्थात् दक्षिणात्य जन के माघ मास के शेष अथवा अन्तिम पक्ष की और उत्तरप्रान्तीय जन के फाल्गुन के प्रथम मास की कृष्णा चतुर्दशी 'शिवरात्रि' कही गई है.

## गंगावतरण

उत्तरवैदिक मान्यता के अनुसार जब गंगा आकाश से अवतीर्ण हुई तो दीर्घ काल तक शिवजी के जटा-जूट में भ्रमण करती रही और उसके पश्चात् वह भूतल पर अवतरित हुई. यह एक रूपक है, जिसका वास्तविक रहस्य यह है कि जब शिव अर्थात् भगवान् ऋषभ देव को असर्वज्ञदशा में जिस स्वसंवित्तिरुपी ज्ञान-गंगा की प्राप्ति हुई उसकी धारा दीर्घकाल तक उनके मस्तिष्क में प्रवाहित होती रही और उनके सर्वज्ञ होने के पश्चात् वही धारा उनकी दिव्य वाणी के मार्ग से प्रकट होकर संसार के उद्धार के लिये बाहर आई तथा इस प्रकार समस्त आर्यावर्त को पवित्र एवं आप्लावित कर दिया.

गंगावतरण जैन परंपरानुसार एक अन्य घटना का भी स्मारक है. वह यह है कि जैन भौगोलिक मान्यता में गंगानदी हिमवान् पर्वत के पद्मनामक सरोवर से निकलती है. वहाँ से निकल कर वह कुछ दूर तक तो ऊपर ही पूर्वदिशा की ओर बहती है, फिर दक्षिण की ओर मुड़ कर जहाँ भूतल पर अवतीर्ण होती है, वहाँ पर नीचे गंगाकूट में एक विस्तृत चबूतरे पर आदि जिनेन्द्र वृषभनाथ की जटाजूट वाली अनेक वज्रमयी प्रतिमाएँ अवस्थित हैं, जिन पर हिमवान् पर्वत के ऊपर से गंगा की धारा गिरती है. विक्रम की चतुर्थ शताब्दी के महान् जैन आचार्य यतिवृषभ ने त्रिलोकप्रज्ञप्ति में[2] प्रस्तुत गंगावतरण का इस प्रकार वर्णन किया है :

'आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जड-मउड-सेहरिल्लाओ ।
पडिमोवरिम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि ।'

अर्थात् गंगाकूट के ऊपर जटारूप मुकुट से शोभित आदि जिनेन्द्र (वृषभनाथ भगवान्) की प्रतिमाएं हैं. प्रतीत होता है कि उन प्रतिमाओं का अभिषेक करने की अभिलाषा से ही गंगा उनके ऊपर गिरती है.

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी प्रस्तुत गंगावतरण की घटना का निम्न प्रकार चित्रण किया है[3] :

सिरिगिहसीसट्ठियंबुजकण्णियसिंहासणं जडामउलं ।
जिणमभिसित्तुमणा वा ओदिण्णा मत्थए गंगा ।'

अर्थात् श्री देवी के गृह के शीर्ष पर स्थित कमल की कर्णिका के ऊपर सिंहासन पर विराजमान जो जटारूप मुकुट

---

१. कालमाधवीय नागर खण्ड.
२. त्रिलोकप्रज्ञप्ति : ४, २३०.
३. त्रिलोक सार : ५९०, गाथा संख्या.

वाली जिनमूर्ति है, उसका अभिषेक करने के लिये ही मानों गंगा उस मूर्ति के मस्तक पर हिमवान् पर्वत से अवतीर्ण हुई है.

## त्रिशूल

वैदिक परंपरा में शिव को त्रिशूलधारी बतलाया गया है तथा त्रिशूलांकित शिवमूर्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं. जैनपरंपरा में भी अर्हन्त की मूर्तियों को रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सयग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र) के प्रतीकात्मक त्रिशूलांकित त्रिशूल से सम्पन्न दिखलाया गया है. आचार्य वीरसेन ने एक गाथा त्रिशूलांकित अर्हन्तों को नमस्कार किया है.[1] सिन्धु उपत्यका से प्राप्त मुद्राओं पर भी कुछ ऐसे योगियों की मूर्तियाँ अंकित हैं जो दिगम्बर हैं, जिनके शिर पर त्रिशूल हैं और कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानावस्थित हैं. कुछ मूर्तियाँ वृषभचिह्न से अंकित हैं. मूर्तियों के ये दोनों रूप महान् योगी वृषभदेव से संबंधित हैं. इस के अतिरिक्त खंडगिरि की जैन गुफाओं (ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी) में तथा मथुरा के कुशानकालीन जैन आयागपट्ट आदि में भी त्रिशूलचिह्न का उल्लेख मिलता है.[2] डा० रोठ ने इस त्रिशूल चिह्न तथा मोहनजोदड़ो की मुद्राओं पर अंकित त्रिशूल में आत्यन्तिक सादृश्य दिखलाया है.

## ब्राह्मीलिपि तथा माहेश्वर सूत्र

जैसी कि जैन मान्यता है तथा पहले हमने महापुराण की पाँचवीं सन्धि में देखा कि भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्र भरत आदि को सम्पूर्ण कलाओं में पारंगत किया और अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपिविद्या (अक्षर विद्या) तथा सुन्दरी को अंकविद्या सिखलाई. भारत की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी लिपि है. जैनपरम्परा में तथा उपनिषद् में भी भगवान् ऋषभदेव को आदि ब्रह्मा कहा गया है,[3] अतः ब्रह्मा से आई हुई लिपि ब्राह्मी कहलाई जा सकती है[4] तथा ब्रह्मी से सम्बन्धित लिपि का नाम भी ब्राह्मी हो सकता है.

दूसरी ओर पाणिनि ने अइउण् आदि सूत्रों (सूत्रबद्ध वर्णमाला) को 'माहेश्वर' बतलाया है,[5] जिसका अर्थ है महेश्वर से आये हुए. वैदिक परंपरा में जहाँ शिव को महेश्वर कहा गया है,[6] वहाँ जैनपरम्परा में भगवान् ऋषभदेव ही महेश्वर अथवा ब्रह्मा (प्रजापति) हैं. इस प्रकार वृषभदेव द्वारा ब्राह्मी पुत्री को सिखाई गई ब्राह्मीलिपि की अक्षरविद्या तथा माहेश्वर सूत्रबद्ध वर्णमाला दोनों में जहाँ स्वरूपतः ऐक्य है, वहाँ यह ऐक्य ही दोनों के प्रवर्तक संबंधी ऐक्य को इंगित करता है.

## वृषभ [बैल] का योग

वैदिक परम्परा में शिव का वाहन वृषभ (बैल) बतलाया गया है. जैनमान्यतानुसार भगवान् वृषभदेव का चिह्न बैल है. गर्भ में अवतरित होने के समय इनकी माता मरुदेवी ने स्वप्न में एक वरिष्ठ वृषभ को अपने मुख-कमल में प्रवेश करते हुए देखा था, अतः इनका नाम वृषभ रक्खा गया. सिन्धु घाटी में प्राप्त वृषभांकित मूर्तियुक्त मुद्राएँ तथा वैदिक

---

१. तिरयण-तिसूलधारिय........'धवलाटीका, १, ४५-४६.

२. (a) Kurtshe, list of ancient monuments protected under Act VII of 1904 (Arch. Survey of India New imperial series vol 4) Trisula in Anant gumpha P. 273 and in Trisula Gumpha P. 280.

(b) Smith Jain stupa and other Antiquities of Mathura Ayegapata tablets pls. IX,X and XI.

३. ब्रह्मा देवानां प्रथम संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।...मुण्डकोपनिषद् : १, १.

४. ब्रह्मण : आगता (ब्रह्मा से आई हुई) इस अर्थ में व्याकरणशास्त्र द्वारा ब्रह्मी शब्द की निष्पति होती है.

५. इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि. —सिद्धांतकौमुदी, पृ० सं० २.

६. अथर्ववेद: १६, ४२, ४; १६, ४३ सूक्त, यजुर्वेद ४०, ४६ ऋग्वेद ४, ५८.

युक्तियाँ भी वृषभांकित वृषभदेव के अस्तित्व की समर्थक हैं. इस प्रकार वृषभ का योग भी शिव तथा वृषभदेव के ऐक्य को संपुष्ट करता है,

भगवान् वृषभदेव तथा शिव दोनों का जटाजूटयुक्त[1] तथा कपर्दी रूपचित्रण भी इनके ऐक्य का समर्थक है. भगवान् वृषभदेव के दीक्षा लेने के पश्चात् तथा आहार लेने के पूर्व एक वर्ष के साधक जीवन में उनके केश बहुत बढ़ गये,[2] फलतः उनके इस तपस्वी जीवन की स्मृति में ही जटाजूटयुक्त मूर्तियों का निर्माण प्रचलित हुआ.

१. वसीतुवपस्स सुर्णोसरहं कुटिला अंनिवदेसे.—महापुराणु ३७. १७ [illegible]

२. संस्कारविरहात् केशा 'जटीभूतास्तदा विभो'. नूनं तेऽपि तमःक्लेशमनुसोढुं तथा स्थिताः । मुनेर्मूर्ध्नि जटा दूरं प्रसस्रुः पवनोद्धताः, ध्यानाग्निनेव तप्तस्य जीवस्वर्णस्य कालिकाः । —[illegible]

डॉ० देवीलाल पालीवाल
एम० ए०, पी-एच० डी०

# राजस्थान के प्राचीन इतिहास की शोध

राजस्थान का प्रथम क्रमवद्ध इतिहास सन् १८२९ में अंग्रेजी भाषा में इंग्लैण्ड में प्रकाशित हुआ था. ग्रन्थ का नाम था 'एनल्ज एन्ड एन्टिक्विटीज़ आफ राजस्थान' और लेखक थे कर्नल जेम्स टाड. उस विश्वविख्यात ग्रन्थ का महत्त्व केवल इतना ही नहीं है कि उसमें वर्धन साम्राज्य के पतन के वाद से लेकर दिल्ली सल्तनत की स्थापना तक के राजपूत काल के प्रमुख राजवंशों का क्रमवद्ध इतिहास प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है, वल्कि उसका महत्त्व इस वात में भी है कि उसने पश्चिम के सभ्य देशों को व्यापक रूप से भारतीय ज्ञान एवं सभ्यता की उच्चता के सम्बन्ध में एक झलक दी और पूर्वीय ज्ञान के सम्बन्ध में शोध करने तथा पश्चिमी एवं पूर्वीय ज्ञान के बीच समन्वय की एक नवीन धारा प्रवाहित की.

राजस्थान का इतिहास लिखते समय कर्नल टाड की मन: स्थिति एक ऐसे गोताखोर की तरह थी, जिसे समुद्र में गोता लगाते हुए एक अमूल्य रत्न प्राप्त हो गया हो और जो उस रत्न को विश्व के सन्मुख प्रदर्शित करने का हर्ष अनुभव कर रहा हो. ग्रन्थ की भूमिका के प्रारम्भ में टाड ने लिखा था "यूरोप में इस वात पर अत्यन्त निराशा प्रकट की गई है कि भारतवर्ष में गम्भीर ऐतिहासिक चिन्तन का अभाव है... ......सामान्य तौर पर लोग इस वात को स्वत: सिद्ध मानते हैं कि भारतवर्ष का कोई राष्ट्रीय इतिहास नहीं है. फ्रांस के एक प्रसिद्ध प्राच्य विद्या-विशारद ने उपर्युक्त धारणा के विरुद्ध यह सवाल उठाया है कि यदि भारतवर्ष का कोई राष्ट्रीय इतिहास नहीं था तो अबुलफज़ल को प्राचीन हिन्दू इतिहास की रूपरेखा तैयार करने के लिए सामग्री कहाँ से प्राप्त हुई ? वास्तव में काश्मीर की इतिहास सम्वन्धी पुस्तक 'राजतरंगिणी' का अनुवाद कर विलसन महोदय ने इस भ्रम को मिटाने में काफी योग दिया है. इससे यह प्रमाणित हो गया है कि नियमित इतिहास लिखने की परिपाटी का भारतवर्ष में अभाव नहीं था. ..........तथा ऐसी सामग्री आज से कहीं अधिक मात्रा में उपलब्ध थी ....... ...यद्यपि फ्रांस और जर्मनी के विद्वानों के साथ-साथ कोलब्रुक विलकिन्स, विलसन एवं हमारे देश के अन्य विद्वानों ने भारतवर्ष के गुप्त विद्याभंडार के कुछ विषयों को यूरोपवासियों के सन्मुख प्रकट किया है, किन्तु अव भी इतना ही कहा जा सकता है कि हम अभी केवल भारतीय ज्ञान की ड्योढ़ी तक पहुँचे हैं.'

कर्नल टाड ने ग्रन्थ की भूमिका में मध्ययुग के दौरान में हुए भारतीय साहित्य एवं कला के विनाश के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा : 'भारतवर्ष के विभिन्न भागों में अव भी ऐसे वड़े-वड़े पुस्तकालय विद्यमान हैं जो इस्लाम धर्म के प्रवर्तकों द्वारा विनष्ट होने से वच गये हैं, उदाहरण के लिए जैसलमेर और पट्टन के प्राचीन साहित्य के संग्रह..........इस प्रकार के कई अन्य छोटे-छोटे संग्रहालय मध्य एवं पश्चिमी भारत के प्रदेशों में विद्यमान हैं जिनमें से कुछ तो राजाओं की व्यक्तिगत सम्पत्ति हैं और कुछ जैनसम्प्रदाय के अधिकार में हैं.'

कर्नल टाड का ग्रंथ, प्रकाश-स्तम्भ वन गया और उसकी रोशनी में पश्चिमी देशों के पुरातत्त्ववेत्ता एवं भारतीय विद्वान्

भारतीय इतिहास की खोज करने लगे. समय समय पर कतिपय जर्मन, अंग्रेज, इटालियन पुरातत्त्ववेत्ता एवं विद्वान् भारत-वर्ष आये और उन्होंने राजस्थान के विभिन्न स्थानों में भ्रमण किया और उस बहुमूल्य सामग्री का संग्रह किया, जिसे सामान्यतः भारतीय महत्त्वहीन मानते थे. शोध के इन प्रयत्नों से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात जो प्रकाश में आई, वह यह कि प्राचीन साहित्य सामग्री को संग्रहीत करने तथा समकालीन साहित्य की रचना करने की दृष्टि से जैन-सम्प्रदाय ने लम्बे काल तक इस प्रदेश की भारी सेवा की. राजस्थान एवं राजस्थान के बाहर मध्ययुग के दौरान में जो भी पुस्तकालय बनाये गये एवं रक्षित किये गये, उनका सर्वाधिक श्रेय जैन विद्वानों को है.

अंग्रेजों द्वारा प्रारम्भ में प्रायः राजस्थान को शौर्य, सभ्यता एवं ज्ञान की दृष्टि से एक महत्त्वहीन प्रदेश माना जाता रहा. मराठों की शक्ति के अभ्युदय ने राजपूतों की शक्ति को क्षीण एवं तहस-नहस कर दिया था, इसलिए राजपूतों की शक्ति, शौर्य एवं प्रभाव के महत्त्व को समझ नहीं पाये थे. उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तरी भारत के अपने विजय-प्रयाण के दौरान में जब वे राजपूतों के सम्पर्क में आये तो उनका एक नवीन प्रकार की शक्ति से सम्पर्क हुआ. टाड ने सहसा कहा : 'राजस्थान में कोई छोटा राज्य भी ऐसा नहीं है, जिसमें थर्मोपोली जैसी रणभूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले जहाँ लियोनिडास जैसा वीर पुरुष उत्पन्न न हुआ हो.' विदेशी अंग्रेज जाति के लिये यह बात एक बड़ा रहस्योद्घाटन थी. राजस्थान के प्राचीन इतिहास की उत्कट वीरता, त्याग और बलिदान की बातों को सुनकर वे चकाचौंध-से हो गये और आगे वे राजपूत जाति को अपना मित्र एवं हमदर्द बनाये रखने की आकांक्षा रखने लगे.

पाँचवीं शताब्दी से लेकर १२ वीं शताब्दी का काल राजस्थान के इतिहास का बहुत महत्त्वपूर्ण युग रहा. इसी काल में बाह्य जातियाँ हूण, गूजर आदि बलूचिस्तान और सिन्ध के मार्ग से उत्तरी और पश्चिमी भारत में आयीं. ऐसा माना जाता है कि उनमें से गूजर, सर्वप्रथम, जब कि वे दक्षिणी पंजाब से खदेड़े गये, राजस्थान में आये. यहाँ आने पर इन लोगों ने कई भागों में बँटकर दक्षिणी राजस्थान के मारवाड़ प्रदेश के नागौर व भिन्नमाल तथा मेवाड़, अजमेर आदि में अपने राज्यों की स्थापना की. गूजरों के बाद प्रतिहार, चालुक्य, चौहान, परमार, कछवाहा आदि इसी प्रकार अस्तित्व में आये. इन जातियों ने इस प्रदेश में आबाद होने के बाद धीरे-धीरे अपने क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की कलाओं एवं साहित्य आदि का विकास किया, इस प्रदेश का प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह प्रदेश प्राचीन काल में न राजस्थान कहलाता था, न रायथान, न रजवाड़ा और न राजपूताना. ८ वीं से १० वीं शताब्दी में तो राजस्थान का समूचा या यों कहा जाय इसका अधिकांश भाग गूर्जरत्रा कहलाता था, जैसा कि चीनी यात्री ह्वानसांग के वर्णन से प्रतीत होता है. वास्तव में राजस्थान अथवा गुजरात नाम से पुकारे जाने वाले भू-क्षेत्र बाद में बने, इसके पूर्व के गूर्जरत्रा प्रदेश में राजस्थान का दक्षिणी भाग, मेवाड़, मारवाड़, वर्तमान मालवा तथा गुजरात क्षेत्र सम्मिलित थे.

यद्यपि राजपूताना अथवा राजस्थान का नाम प्राचीन नहीं है और वह नाम भारत में मुसलमानों के प्रवेश के बाद में ही धीरे-धीरे प्रचलित हुआ, पर यह स्पष्ट है इस प्रदेश में तब कई ऐसी जातियाँ बसी हुई थीं जो बाद में राजपूत कह-लाईं, जिनमें प्रतिहार, गुहिलोत, चापोत्कट तथा चाहमाण प्रमुख थीं. गूर्जरत्रा काल में इस क्षेत्र में साहित्य एवं कला का जो विकास हुआ उसका भारी ऐतिहासिक महत्त्व है. गूर्जर प्रतिहारों द्वारा मूर्तिकला एवं चित्रकला को प्रचुर मात्रा में प्रोत्साहन दिया गया था. मेवाड़ के जगत, डूंगरपुर के अमझारा तथा गुजरात की [illegible] और हर्षनाथ सीकर व मारवाड़ के कई क्षेत्रों से प्राप्त मूर्तियाँ गुप्त, पूर्व मध्यकाल तथा [illegible] की सुन्दर [illegible] परिचायिका हैं. इस युग में ताड़पत्र पर चित्रमय ग्रंथों की रचना की गई, जिनको [illegible] चित्रित लकड़ी की 'पटलियाँ' लगाई जाती थीं. इस प्रकार का वि० सं० १२१६ का [illegible] सूत्र जो ताड़पत्र पर 'जैन ग्रंथ भण्डार जैसलमेर' की निधि है, भारतवर्ष के पश्चिमी भाग का प्राचीन [illegible] इसी ग्रंथभंडार की वि० सं० १२६६ की लिखी सचित्र कालकाचार्य कथा एक दूसरा [illegible] वि० सं० १२९५ का प्रवचनसारोद्धार वृत्ति भी तत्कालीन चित्रकला का एक अमूल्य [illegible]

चित्रित अतिप्राचीन ताड़पत्र के ग्रंथ राजस्थान की भूमि से बाहर निकल कर ठेठ अमरीका पहुँचे हैं. इनमें से ताड़पत्र पर चित्रित 'सप्तग पडिकमण सुत्त चुन्नी' नामक ग्रन्थ बोस्टन के संग्रहालय की भारतीय कला दीर्घिका में प्रदर्शित है और मेदपाट (मेवाड़) के आघाट या वर्तमान आहाड़ में चित्रित है. यह १२६० ई० का गुहिल तेजसिंह के शासनकाल में कमलचन्द्र द्वारा लिखा गया था. इसी प्रकार की अन्य कृतियों रास तथा कुमार स्वामी के संयुक्त संग्रह के ग्रंथों में १४४७ ई० के कल्पसूत्र व कालकाचार्य कथानक नामक ग्रंथ भी शामिल हैं. सन् १४२२-२३ ई० में रचित महाराणा मोकल के काल का 'सुपासनाह चरित्रम्' नामक ग्रंथ मेवाड़ में मिला है.

इस भाँति शौर्य, शक्ति और साहस के साथ राजस्थानी विद्या, ज्ञान, साहित्य, चित्रकला, स्थापत्य एवं मूर्तिकला आदि का भी अपना गौरवशाली पक्ष रहा है. यही कारण है कि इस प्रदेश में ऐतिहासिक स्मारकों के समान प्राचीन पुस्तकालयों एवं कला-संग्रहों की संख्या भी बहुत है, जिनमें से कोई तो इतने बड़े रहे हैं, जिनकी टक्कर के भारत में अन्यत्र बहुत कम देखे गये हैं. लगभग आठ सौ वर्षों तक जैन-सम्प्रदाय का प्रभाव इस प्रदेश पर रहने के कारण प्राचीन एवं मध्ययुगीन राजस्थानी साहित्य एवं कला पर उसकी छाप स्पष्ट रूप से प्रकट होती है. उस काल में जैन विद्वानों द्वारा साहित्यिक, कलात्मक एवं अन्य विषयों सम्बन्धी कई रचनायें तैयार की गईं. इससे भी बड़ी सेवा जैन-सम्प्रदाय ने मध्ययुगीन वर्बरता एवं विध्वंस से प्राचीन साहित्य की रक्षा करने की है. राजस्थान के विभिन्न इलाकों में जैन विद्वानों द्वारा गुप्त पुस्तकालयों का निर्माण किया गया. मरुभूमि में स्थित जैसलमेर का जैन-ग्रन्थ भंडार इस प्रकार के पुस्तकालयों में सबसे बड़ा रहा है. इन पुस्तकालयों में राजस्थान एवं भारत के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले हस्तलिखित ग्रन्थ तो हैं ही, परन्तु साहित्यकाल का कोई अंग नहीं हैं, जिस पर मूल्यवान् ग्रन्थ प्राप्त नहीं हो. राजस्थान में प्राप्त विभिन्न पुस्तकसंग्रहों की एक विशेष बात यह है कि मुगल काल में राजस्थानी शासकों का देश के दूरस्थ प्रदेशों से सम्पर्क रहने के कारण, इन संग्रहों में देश की विभिन्न भाषाओं के हस्तलिखित ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं. उदाहरण के लिए जयपुर में यदि बंगाली भाषा के ग्रन्थ मिलेंगे तो बीकानेर में कन्नड़ के और उदयपुर में गुजराती भाषा के ग्रन्थ उपलब्ध हो जायेंगे.

राजस्थान के विभिन्न पुस्तकालयों में प्राप्त होने वाली ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण निधि के अलावा इस प्रदेश में कुछ ऐसी और साहित्यिक सामग्री रही है, जो इतिहास पर थोड़ी-बहुत दृष्टि डालने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थी, जिसके महत्त्व को सर्वप्रथम कर्नल टाड ने प्रकट किया. उसमें भाटों और चारणों की वंशावलियाँ ख्यातें और रहानियाँ मुख्य हैं. प्राचीन पुस्तकों के नष्ट एवं लुप्त हो जाने के कारण भाटों आदि ने मध्यकाल में ऐसी कई राजस्थानी भाषा में पद्यमय ख्यातें, वातें, डिंगलगीत आदि लिखे, जिनमें उन्होंने इस देश पर राज्य करने वाले तत्कालीन राजवंशों के पिछले नाम, जो उन्हें मिल सके, दर्ज किये और पुराने नामों में से जिन-जिन प्रसिद्ध राजाओं के नाम सुनने में आते थे, वे लिखे. उन्होंने अपनी पुस्तकों को पुरानी बतलाने के लिये कल्पित नामों एवं असत्य संवतों का उपयोग भी किया. उनकी ये पद्यमय एवं वीररसपूर्ण रचनाएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक आकर अत्यधिक अतिशयोक्तिपूर्ण हो जाती थीं. कुछ इसी प्रकार के पद्यमय वंश-इतिहास-ग्रन्थों की रचनाएँ की गई हैं जो विभिन्न शोधकों द्वारा पिछले वर्षों में प्रकाश में लाई गईं. ऐसी रचनाओं में पृथ्वीराज रासो, वीसलदेवरासो, हमीरायण, हमीररासो. रतनरासो, विजयविलास, सूर्यप्रकाश, जगतविलास, राजप्रकाश, मुहणोत, नैणसीजी री ख्यात, शिखरवंशोत्पत्ति, परमालरासो, केसरीसिंहसमर, सुजानचरित, छत्रप्रकाश, हमीरहठ, हिम्मतबहादुर ग्रंथावली, सांभरयुद्ध, जाजवयुद्ध, बुद्धिविलास, गुलालचरित, भावदेव सूरिरास, लावारासा, रतनरासा, जसवंत उद्योग, कायमरासो, अल्लाखाँ की पैठी, परमारवंश दर्पण, राज रसनाम्रत, छंदराउ जैतसी, वचनिका, राठोड़ रतन सिंहजी की महेसदासोतरी, महाराणा यशप्रकाश, राजविलास, उदयपुर री ख्यात, अचलदास खीची री वात, ख्यातवात संग्रह, जगविलास, भीमविलास, राणारासो, सज्जन प्रकाश, संगतरासो आदि प्रमुख हैं.

उपर्युक्त सूचित एवं प्रकाशित रचनाओं के अतिरिक्त भी दिनानुदिन इस क्षेत्र में नव्य शोध एवं ऐतिहासिक

कृतियाँ उपलब्ध होती ही रहती हैं. स्फुट पद्यात्मक वीररसमूलक अनेक चरित्रात्मक कृतियाँ ऐसी हैं जिनके रचयिता अज्ञात हैं. इसी प्रकार की कतिपय पुस्तकों के सम्बन्ध में, जो टाड ने जैसलमेर से ले जाकर रायल एशियाटिक सोसायटी को दी थीं और जिनमें ५ से ८ शताब्दी पूर्व की कुछ जैन पांडुलिपियाँ सम्मिलित थीं; उन्होंने बताया था कि—'इन पुस्तकों में लिख गई कई बातों से, जिनका अभी तक निरीक्षण नहीं हुआ है, प्राचीन भारत के इतिहास पर नया प्रकाश पड़ेगा.' राजस्थान में मध्यकाल में सांगा, प्रताप एवं दुर्गादास जैसे शूरवीर योद्धा उत्पन्न हुए तो कुम्भा जैसे वीर किन्तु साहित्य एवं कला प्रेमी शासक भी हुए, जिन्होंने अपने काल के साहित्य, शिल्प, स्थापत्य, संगीत एवं चित्रकला को प्रोत्साहित ही नहीं किया अपितु उनपर अपनी छाप भी छोड़ी. निस्संदेह समय की ही विध्वंस आंधी ने उस काल की अधिकांश मूल्यवान् सामग्री नष्ट कर दी, फिर भी उनमें से इतिहास के उपयोग की दृष्टि से यथेष्ट अवशेष बच गये हैं. यही बात विभिन्न स्थानों पर प्राप्त शिलालेखों एवं मन्दिरों आदि में प्राप्त ताम्रपत्रों आदि के सम्बन्ध में कही जा सकती है. कर्नल टाड ने राजस्थानियों के समक्ष इस प्रकार की वस्तुओं का ऐतिहासिक महत्त्व प्रकट किया.

बाद में अंग्रेजी काल में राजस्थान के राजाओं में प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने वाली इस प्रकार की पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री का संग्रह करने और अपने-अपने वंश का क्रमबद्ध इतिहास तैयार कराने की प्रवृत्ति पैदा हुई. इस दृष्टि से उन्होंने पुरातत्त्व संग्रहालयों एवं पुस्तकालयों का निर्माण किया. कविराजा श्यामलदास द्वारा रचित 'वीरविनोद, एवं महाकवि सूरजमल कृत 'वंशभास्कर' नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ उसी प्रवृत्ति के प्रतीक हैं.

किन्तु राजस्थान के राजपूत शासकों के लिये पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री का संग्रह करने एवं ऐतिहासिक शोध करने की प्रवृत्ति नई नहीं थी. मुस्लिम काल एवं मराठा काल के निरन्तर विध्वंस कार्य ने राजपूत राज्यों पर जो दुष्प्रभाव डाला उसका सर्वाधिक शिकार ज्ञान और शोध की प्रवृत्ति हुई. काल ने ज्ञान के साधनों और ज्ञान की प्रवृत्ति दोनों पर दुष्प्रभाव डाला था. इतिहास-प्रेम की दृष्टि से इस प्रदेश के मध्यकाल के शासकों में महाराणा कुम्भा का नाम सर्वोपरि आता है. महाराणा कुम्भा मेवाड़ के यशस्वी, विद्वान् एवं विद्याप्रेमी शासक थे. उन्हें सभी प्रकार की कलाओं एवं विद्याओं के प्रति अगाध रुचि थी. कुम्भा के समय उनके पूर्वजों की शुद्ध नामावली तथा उनका चरित्र उपलब्ध नहीं था, जिससे महाराणा ने अपने राज्य में मिलने वाले अनेक प्राचीन शिलालेखों का संग्रह करवाया और उनके आधार पर अपनी वंशावली ठीक की और यथासाध्य उनका वृत्तान्त भी एकत्र किया. उन्होंने एकलिंग माहात्म्य का 'राजवर्णन' नामक अध्याय अनेक प्राचीन शिलालेखों के आधार पर स्वयं संग्रह किया. उन्हीं के समय की बड़ी प्रशस्ति की तीसरी शिला के आरम्भ में जनश्रुति के आधार पर उनके पूर्वजों का वर्णन है, जिसके बाद 'राजवर्णन' प्राचीन प्रशस्तियों के आधार पर लिखा गया. शिलावाले 'राजवर्णन' का अधिकांश भाग नष्ट हो गया है, किन्तु उसकी पूर्ति महाराणा के 'एकलिंग माहात्म्य' के 'राजवर्णन' अध्याय से हो जाती है। इस भांति महाराणा कुम्भा को राजपूताने का सर्वप्रथम प्राचीन शोधक माना जाना चाहिए.

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, राजपूताना के प्राचीन इतिहास की शोध एवं रचना की दृष्टि से आधुनिक काल में प्रथम क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित प्रयत्न अंग्रेज अधिकारी कर्नल टाड द्वारा किया गया. वे १७ वर्ष की आयु में सन् १७९९ में भारत आये थे. पदोन्नति होने के कारण वे कुछ ही अर्से में मराठा सरदार दौलतराव सिन्धिया के दरबार के ब्रिटिश राजदूत और रेजिडेन्ट मि० ग्रीम मर्सर के साथ रहने वाली सरकारी सेना की टुकड़ी के अध्यक्ष नियत हुए. उस समय सिन्धिया का मुकाम मेवाड़ में था. इसी काल से टाड का कार्य शुरू होता है. प्रारम्भ में उन्होंने मुख्यतः पिंडारियों के दमन में सहायता करने की दृष्टि से अंग्रेजी सरकार के लिये पैमाइश करके राजपूताने का भौगोलिक नक्शा तैयार किया. राजपूताने का सर्वप्रथम नक्शा बनाने का श्रेय भी टाड को ही मिला. सन् १८१८ में पश्चिमी राजपूताने के राज्यों के साथ ब्रिटिश सरकार की सन्धि होने के साथ कर्नल टाड उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूंदी, सिरोही और जैसलमेर राज्यों के पोलिटिकल एजंट नियुक्त हुए. १८२२ में वे स्वदेश लौट गये.

टाड को वीर जातियों के इतिहास से बड़ा प्रेम था। उन्होंने राजपूतों के इतिहास की सामग्री का संग्रह करना प्रारम्भ

किया और उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूंदी तथा सिरोही राज्यों में भ्रमण कर वहाँ के अनेक शिलालेख, दानपत्र, सिक्कों आदि का बड़ा संग्रह कर लिया. जहाँ वे न जा सके वहाँ से इतिहास-सम्बन्धित सामग्री प्राप्त की. उनके साथ रहनेवाले एक ब्रिटिश अफसर कप्तान वाघ ने, जो चित्रकला में बड़े निपुण थे, प्राचीन मंदिरों, मूर्तियों आदि के चित्र उनके लिये तैयार किये. राजस्थान के इतिहास के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की सामग्री की प्राप्ति एवं संग्रह में टाड को सर्वाधिक मार्गदर्शन एवं प्रेरणा यति ज्ञानचन्द्र से मिली, जो निरन्तर उनके साथ रहे. यति ज्ञानचन्द्र को टाड अपना गुरु मानते थे और यति उन्हें पृथ्वीराज रासो आदि भाषाकाव्यों का अर्थ सुनाते एवं शिलालेख आदि पढ़ते थे. कर्नल टाड राजपूताने से संस्कृत और राजस्थानी भाषा के अनेक ग्रँथ, ख्यातें २० हजार प्राचीन सिक्के, कई शिलालेख तथा अन्य सामग्री अपने साथ विलायत ले गये. लंदन पहुँचने के बाद सन् १८२९ में जैसी कि आम कहावत हो गई है, उन्होंने 'राजपूताने का कीर्ति स्तम्भ' रूप ग्रंथ 'एनल्स एण्ड एंटिक्विटीज आफ राजथान' प्रकाशित किया, जिसने यूरोप भर में भारतीय सभ्यता की प्राचीनता एवं उच्चता, राजपूतों की वीरता शौर्य एवं उदारता आदि गुणों के सम्बन्ध में शोहरत फैला दी. उनका दूसरा ग्रंथ 'ट्रैवल्स इन वेस्टर्न इण्डिया' उनकी मृत्यु के बाद सन् १८३९ में प्रकाशित हुआ.

जिस काल में टाड ने राजपूताने की इतिहास सम्बन्धी रूप-रेखा तैयार की, उस काल में अंग्रेज पिंडारियों के विनाश एवं मराठों की पराजय में संलग्न थे, जिसमें उनको प्राचीन एवं वीर राजपूत जाति के पूर्ण सहयोग की आवश्यकता थी. इसके अलावा अंग्रेज इस बात के लिये भी सचेष्ट थे कि दिल्ली के मुगल-तख्त पर बैठे मराठों के कठपुतली नामधारी मुगल शाहंशाह की बादशाहत का परम्परागत राजनैतिक प्रभाव भारत से उठ जाये, उसके लिए भी मुस्लिम विजेताओं के खिलाफ निरन्तर संघर्ष में लगे रहे. राजपूतों का नैतिक समर्थन जरूरी था. ब्रिटिश साम्राज्य की इस उद्देश्य एवं प्रयोजन की पूर्ति के प्रयत्न की एक स्पष्ट झलक हमें टाड के ग्रन्थ में मिलती है. यह कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि ब्रिटिश साम्राज्य की 'फूट डालो एवं शासन करो' की नीति का रंग भी ग्रन्थ पर चढ़ गया है, जो राजपूतों एवं मराठों, राजपूतों एवं मुगलों आदि के बीच बताये गये सम्बन्धों से प्रकट होता है. किन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि टाड एक साम्राज्यवादी शक्ति का सेवक था, जिसके साथ उसकी जिम्मेदारियाँ और कर्त्तव्य जुड़े हुए थे. इसके अलावा उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन में उठ रहे साम्राज्यवादी भावनाओं के ज्वार का वह भी स्वाभाविक शिकार था. फिर भी वह उन कतिपय अंग्रेज अफसरों में था, जो भारतीयों को हेठी निगाह से नहीं देखते थे. उसकी मनोवृत्ति एवं धारणाओं पर सर्वाधिक प्रभाव राजपूतों के सम्पर्क में आने पर पड़ा और उदयपुर का सिसोदिया राजवंश तो उसके लिए विश्व-इतिहास के महानतम एवं आदर्श राजवंशों में से एक हो गया. निस्संदेह ही जिस काल में, थोड़े समय में और सीमित सामग्री के आधार पर, मुख्यत: ख्यातों के आधार पर, टाड ने ग्रन्थरचना की, अनेक प्रकार की त्रुटियाँ रहना स्वाभाविक था. उन्होंने किम्वदन्तियों एवं अविश्वसनीय जनश्रुतियों का भी अत्यधिक मात्रा में समावेश किया है. फिर भी उनके ग्रंथ की एक और महत्त्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक विशेषता यह है कि उन्होंने ग्रंथ में अंग्रेजों द्वारा राजपूतों के साथ की गई सन्धियों के विपरीत आचरण करने एवं राजपूत राज्यों के आन्तरिक मामलों में मनमानी दखलंदाजी के खिलाफ भी आवाज उठाई और इसके द्वारा होनेवाले राजपूत राज्यों के स्वतंत्रता-हरण के दुष्परिणाम की ओर भी स्पष्ट संकेत किया. सम्भवत: उनकी इसी मनोवृत्ति के कारण उन्हें १८२२ में यकायक भारत छोड़कर जाना पड़ा था.

टाड के ग्रंथ 'राजस्थान के इतिहास' का भारतीय जन-मानस पर व्यापक प्रभाव पड़ा. यह सही है कि इस ग्रंथ की कुछ बातों का ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपने हितों के लिये दुरुपयोग किया, किन्तु यह भी सही है कि इस ग्रंथ ने देश के कई भागों में मुख्यतः सुदूर बंगाल जैसे प्रान्त में नवजीवन का संचार किया और परोक्ष रूप से राष्ट्रीय जागृति में बड़ा योगदान दिया. इस ग्रंथ ने विश्व के सन्मुख भारतीय सभ्यता की महानता प्रकट की और मुख्यत: राजस्थान की स्थिति, तथा राजपूतों के शौर्य का यहाँ के साहित्य, कला एवं लोकजीवन के गौरवपूर्ण स्वरूप का दिग्दर्शन कराया.

टाड ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की भूमिका में लिखा था, 'मैंने इन की (भारत के इतिहास पर प्रकाश डालने वाली सामग्री की) जानकारी यूरोपीय विद्वानों को कराई है, परन्तु मुझे आशा है कि इससे अन्य लोगों को इस दिशा में और आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलेगी.' टाड की आशा निष्फल नहीं गई. १८७४ में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डा० बूल्हर प्राचीन ग्रन्थों की तलाश में भारत आये और जैसलमेर भी गये. उनके साथ जर्मनी के एक अन्य बड़े विद्वान् हरमन याकोबी भी थे, जिन्होंने राजस्थान की प्राचीन देशभाषा अपभ्रंश के साहित्य का सर्वप्रथम वैज्ञानिक संशोधन एवं प्रकाशन प्रारम्भ किया था. वे कदाचित् यहाँ एक सप्ताह से अधिक नहीं रह सके. उन्होंने लिखा है, 'मरुधर प्रदेश के इस विकट भाग के इस विकट स्थान में, जहाँ खराब पानी और नहारू के रोग कीप्रचुरता है, अल्पकाल के लिये भी ठहरना कम कष्टदायक नहीं है.' अतएव वे स्पष्ट ही इस विशाल भण्डार में बहुत कम काम कर सके. फिर भी डा० बूल्हर के इस प्रारम्भिक कार्य का यह महत्व है कि उन्होंने राजस्थान के साहित्यसंग्रह को सबसे पहले संसार के सन्मुख उपस्थित किया.

जैसलमेर भण्डार को पूरी तरह प्रकाश में लाने का श्रेय श्री श्रीधर रामकृष्ण भण्डारकर को है जो बम्बई सरकार की ओर से १९०५ में राजस्थान के प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक-संग्रहों का निरीक्षण करने भेजे गये थे. जैसलमेर पहुँचने पर श्रीभाण्डारकर को ज्ञात हुआ कि यहाँ एक नहीं दस पुस्तक-संग्रह हैं. आपने इनका विवरण प्रस्तुत किया और हर एक संग्रह की महत्वपूर्ण पुस्तक का भी उल्लेख किया. कुछ पुस्तकों का सारांश भी आपने अपनी विवरणी में दिया. वहाँ पुस्तकों की अवस्था बड़ी शोचनीय थी, श्रीभण्डारकर ने लिखा है कि 'इधर-उधर बिखरे ताड़पत्रों के ढेर और फटे हुए कागज-पत्रों के ढेर को देखकर यही कहा जा सकता है कि समय और असावधानता दोनों ने ही वहाँ विनाश का कार्य आरम्भ कर रखा है. श्री बूल्हर को वहाँ की संवत् ११६० की पुस्तक प्राचीनतम मिली थी, किन्तु श्री भंडारकर को उससे भी प्राचीन ग्रन्थ सं० ९२४ का मिला. उन्होंने कुछ पुस्तकों की नकल भी कराई. श्रीभण्डारकर के बाद बड़ौदा सरकार की ओर से १९१५ में एक सुयोग्य विद्वान् श्री चिमनलाल दलाल ने जैसलमेर आकर वहाँ के मुख्य भण्डार के प्रायः सभी ताड़पत्रीय ग्रन्थों की सूची बनाई जो बाद में 'गायकवाड़ ओरियण्ट सिरीज' में प्रकाशित की गई.

जैसलमेर संग्रह का नियमित एवं विशेषरूप से व्यवस्थित निरीक्षण करने का श्रेय आचार्य श्री जिनविजयजी मुनि को प्राप्त है. यहाँ आप १९४२ में १०-१२ सुयोग्य लेखकों के साथ लगभग पाँच महीनों तक रहे. मुनि श्री जिन-विजय जी की गिनती आज राजस्थान के अग्रगण्य पुरातत्ववेत्ताओं एवं इतिहासज्ञों में है, और आपके निरीक्षण में राजस्थान के प्राचीन ग्रन्थों की शोध एवं सम्पादन कार्य किया जा रहा है. आपको जैसलमेर जाने की प्रेरणा जर्मनी में जर्मन विद्वान् डा० हर्मन याकोबी से हुई प्रत्यक्ष मुलाकात से प्राप्त हुई थी. पाँच महीनों में श्रीमुनिजी ने अथक परिश्रम करके लगभग २०० ग्रन्थों की सम्पूर्ण प्रतिलिपियाँ कराईं, जिनमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्राचीन देश्यभाषा में ग्रथित न्याय, व्याकरण, आगम, कथा, चरित्र, ज्योतिष, वैद्यक, छन्द, अलंकार, काव्य, कोष आदि विविध विषयों की रचनायें अन्तर्भूत हैं. इनके पचासों फोटोप्लेट भी उतरवाये गये हैं. मुनिजी ने वहाँ लोंकागच्छीय उपाश्रय के ज्ञान भण्टार का प्रथम बार निरीक्षण किया. तब से मुनिजी ग्रन्थों के सम्पादन एवं प्रकाशन का कार्य राजस्थान पुरातत्व मंदिर एवं विद्याभवन बम्बई से कराते रहे हैं और कई मूल्यवान् एवं अप्राप्त ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं. प्रख्यात जैन विद्वान् मुनि श्रीपुण्यविजयजी ने भी जैसलमेर के ग्रन्थागारों को व्यवस्थित करने में दीर्घकाल पर्यन्त घोर परिश्रम किया है। आपने ग्रन्थों की व्यवस्थित सूचियाँ तैयार कीं, जीर्णशीर्ण प्रतियों के चित्र उतरवाये और भविष्य की सुरक्षा का सुन्दर आयोजन किया।

जैसलमेर के अलावा उदयपुर, बीकानेर, जोधपुर, बूंदी, किशनगढ़, नागौर, अलवर, हनुमानगढ़, राजगढ़ आदि विभिन्न स्थानों के राजकीय संग्रह भी ऐतिहासिक एवं साहित्य तथा प्राचीन ज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहे हैं. श्रीधर भण्डारकर ने इनमें से अधिकांश संग्रहालयों का निरीक्षण किया था. श्रीधर के छोटे भाई श्री देवदत्त ने बाद में राजस्थानी प्राचीन साहित्य की खोज के लिये उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, कोटा, किशनगढ़, सिरोही आदि राज्यों के दौरे किये. आपने अपने शोधकार्य का विवरण सरकारी पुस्तकों में प्रकाशित कराया. श्रीधर की सूची से कई पुस्तकें

तथा श्री देवदत्त की बताई गई कई मूर्त्तियाँ आज यथास्थान नहीं मिलतीं, पता नहीं कौन कहाँ ले गया. भारत के प्रख्यात इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार एवं मराठा इतिहासकार डा० जी० एस० सर देसाई ने जयपुर संग्रह के संबंध में मत व्यक्त करते हुये कहा था—'यदि संग्रह के कागजातों की परीक्षा की जाय तो ऐसी मूल्यवान् जानकारी मिलने की संभावना है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती. प्रसन्नता की बात है कि राज्यसरकार ने राज्य का एक और पुरातत्व का विभाग अलग से खोला है जो प्रारम्भ में राजस्थान के प्रमुख इतिहासकार डाक्टर मथुरालाल शर्मा के निर्देशन में विकसित हुआ और श्री नाथूराम खडगावत के संचालन में निरन्तर प्रगति कर रहा है. और यह आशा की जा सकती है कि विभिन्न राज्यों के पुराने संग्रहालयों के व्यवस्थित होने पर वह न केवल राजस्थान बल्कि सम्पूर्ण भारतवर्ष के इतिहास के सम्बन्ध में कई नई बातें प्रकट करेगा और इतिहास के रिक्त स्थानों की पूर्ति करने में सहायक होगा.

राजस्थान के प्राचीन साहित्य की खोज करने तथा उसको विश्व के सन्मुख उपस्थित करने की दृष्टि से एक अन्य विदेशी विद्वान् ने भी भारी सेवा की है. उस विद्वान् ने सेवा ही नहीं की बल्कि उसने अपनी युवावस्था में ही इस कार्य के हेतु अपने जीवन का बलिदान भी कर दिया. वह विद्वान् थे इटली के डा० एल० पी० तैसीतोरी. वे अपने देश में रहते हुये राजस्थान के और उसके साहित्य के प्रेमी हो गये थे. कहा जाता है कि उन्होंने राजस्थान में आकर अपना जीवन बिताना अपनी साध बना ली थी. वे सन् १९१४ में भारत आये और बंगाल एशियाटिक सोसाइटी में बार्डिक एण्ड हिस्टोरिकल सर्वे आफ राजपूताना सुपरिन्टेन्डेन्ट के पद पर नियुक्त हुये. उसी वर्ष आपने राजस्थान में कार्य शुरू किया और १९१८ में ३१ वर्ष की आयु में बीकानेर में आपका देहावसान हो गया. इस काल में आप द्वारा किये गये शोध कार्य का विवरण एशियाटिक सोसाइटी ने प्रकाशित किया है. जोधपुर और बीकानेर के डिंगल ग्रन्थों की आपके द्वारा तैयार की गई सूचियाँ भी सोसाइटी ने तीन भागों में प्रकाशित की हैं. राजस्थानी इतिहास एवं साहित्य के बारे में बाद के पुस्तकलेखकों ने इस सारी सामग्री का तथा शिला लेखों, मुद्राओं, मूर्तियों आदि अन्य सामग्री का जो संकलन आपने बीकानेर में किया था, उसका पूरी तरह उपयोग किया है. डा० तैसीतोरी का जीवन वृत्तान्त (अप्रेल, १९५० के अंक में) छाप कर "राजस्थान भारती" ने सराहनीय कार्य किया है, क्योंकि डा० तैसीतोरी की राजस्थानी साहित्य के प्रति सेवाओं के बावजूद वे बहुत कम प्रकाश में लाये गये थे.

डा० तैसीतोरी में एक महान् मानवीय गुण था. वे पश्चिमी होते हुए भी भारत के प्रति महान् आदरभाव रखते थे, जो उस काल में एक बड़े नैतिक साहस की बात थी. उन्होंने स्वयं एक पत्र में लिखा था, "मैं भारत में इसीलिए आया हूँ क्योंकि मुझे भारत के लोगों व उनकी भाषा और साहित्य से प्रेम है....मैं कोई अंग्रेज नहीं हूँ जो उन सब चीजों को हेठी निगाहों से देखते हैं जो इंग्लैंड की या कम से कम यूरोप की नहीं है. मेरे मन में भारतवासियों के प्रति उच्चतम आदर और सराहना के भाव हैं. "कर्नल टाड और तैसीतोरी में एक और बड़ी समानता थी. दोनों को दो जैन विद्वानों से सहायता मिली थी और दोनों इनको अपना गुरु मानते थे. टाड के सहायक, मार्गदर्शक एवं गुरु थे जैन यति ज्ञानचन्द और तैसीतोरी के थे आचार्य विजयधर्म सूरि. यह स्पष्ट है कि जैन सम्प्रदाय ने जो सेवा राजस्थानी साहित्य की रचना एवं सुरक्षा की की है उतनी ही उन्होंने बाद के काल में उसको व्यवस्थित ढंग से विश्व के सन्मुख प्रस्तुत कराने में भी की है. यह भी संयोग और आश्चर्य की बात नहीं है कि आज भी प्राचीन साहित्य एवं इतिहास के संपादन, आदि की दृष्टि से सर्वाधिक सेवाएँ मुनि जिनविजय, मुनि कान्तिसागर आदि जैन विद्वान् कर रहे हैं.

राजपूताना के साहित्य एवं इतिहास के सम्बन्ध में किये गये उपर्युक्त शोध-कार्य के अलावा, कुछ अन्य अंग्रेज अधिकारियों ने भी इस कार्य में अपना योगदान दिया, जिनमें अलेग्जेंडर किलोक फर्ब्स, अलेग्ज़ेंडर कनिंगहम, कार्लाइल एवं गैरिक आदि मुख्य हैं. गुजरात के इतिहास 'रासमाला' नामक ग्रन्थ के रचयिता श्री फार्ब्स ने आबू के कई शिलालेखों की नकलें कीं और देलवाड़े के दोनों जैन मन्दिरों की कारीगरी का वृत्तान्त लिखा. भारत सरकार के आर्कियालाजिकल डिपार्टमेंट के तत्कालीन अध्यक्ष श्री कनिंगहम ने राजपूताना के कई स्थानों का दौरा कर वहाँ के शिलालेखों एवं शिल्प

आदि पर प्रकाश डाला. अशोक के काल का वैराट (जयपुर राज्य) का लेख, महाराणा कुम्भा के चतुरस्र बड़े सिक्कों एवं राजपूताने के कई पुराने सिक्कों को प्रकाश में लाने का श्रेय आपको है. श्री कार्लाइल ने भी इस प्रदेश के कई शिलालेखों एवं सिक्कों का पता लगाया, मुख्यतः शिवि जनपद की मध्यमिका (नगरी मेवाड़) के सिक्के और मेवाड़ के प्रथम राजा गुहिल के सिक्के सबसे पहिले उन्हीं को मिले थे. श्री गैरिक ने भी इस प्रदेश का विस्तृत दौरा किया. वे मुख्यतः चित्तौड़ के कीर्तिस्तम्भ की बची हुई दो शिलाओं तथा रावल समरसिंह के समय के वि० सं० १३३० के चित्तौड़ के शिलालेख का चित्र सर्वप्रथम प्रसिद्धि में लाये.

जर्मनी के डा० बूल्हर और इटली के डा० तैसीतोरी के अलावा उसी काल में कुछ अन्य विदेशी विद्वानों ने भी इस प्रदेश के ऐतिहासिक शोधकार्य में अपना योगदान दिया. 'पतंजलि के महाभाष्य' का सम्पादन करने वाले जर्मन विद्वान् डा० कीलहार्न (१८४०-१९०८) अंग्रेज विद्वान् पीटर पिटर्सन (१८४७-१८९९) डा० वेब जिन्होंने १८९३ में "दी करेन्सीज़ आफ दी हिन्दू स्टेट्स आफ राजपूताना" नामक पुस्तक लिखी, डा० फ्लीट (१८४७-१९१७) एवं सेसिल बेंडाल नामक विद्वानों ने भी राजपूताना के इतिहास की कई बातों को प्रकाश में लाने का कार्य किया।

अन्य भारतीय शोधकर्त्ताओं में श्वेताम्बर समुदाय के जैनाचार्य श्री विजयधर्म सूरि (१८६८-१९२२) का नाम उल्लेखनीय है, जो संस्कृत और प्राकृत के प्रकांड पंडित, दर्शनशास्त्री तथा जैन इतिहास के शोधक विद्वान् थे. अपनी चतुर्मास यात्राओं के दौरान में वे स्थान-स्थान पर प्राप्त शिलालेखों का संग्रह किया करते थे. 'देवकुल पाटक' नामक पुस्तिका में उन्होंने उदयपुर के देलवाड़ा नामक स्थान तथा प्राचीन नागदा नामक स्थान से प्राप्त हुए जैन लेखों का संग्रह प्रकाशित किया, इसके अतिरिक्त उनके संग्रह किये हुए लगभग ५०० शिलालेखों का एक अलग ग्रन्थ "प्राचीन लेख संग्रह भाग १" के नाम से मुनिराज श्रीविद्याविजयजी ने १९२९ में प्रकाशित कराया था.

एक अन्य विद्वान् एवं शोधक श्री मुंशी देवीप्रसाद (१८४८-१९२३) ने भी राजपूताने के ऐतिहासिक शोध के कार्य में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया. जोधपुर राज्य की सेवा में काम करते हुए उन्होंने मुगलकाल के अनेक फारसी ग्रंथों का हिन्दी में रूपान्तर किया और उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, बीकानेर आदि के कई राजाओं के चरित्र भी हिन्दी और उर्दू में प्रकाशित कराये. मुंशीजी ने स्थान-स्थान पर जाकर शिलालेखों की छापें तैयार कराई तथा प्रतिहार राजा बाउक और कक्कुक के शिलालेख और दधिमति माता के मन्दिर के गुप्त संवत् २८९ (ई० सन् ६०८) के तथा जालौर आदि के शिलालेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित किया. इसी काल में कलकत्ते के इंडियन म्युजियम के पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष श्री राखालदास बनर्जी (१८८२-१९३०) ने, वेस्टर्न सर्कल से राजपूताने का सम्बन्ध होने से अजमेर, उदयपुर, बीकानेर, भरतपुर आदि राज्यों का दौरा कर अनेक स्थानों तथा वहाँ के शिलालेखों आदि का विवरण लिखा, जो राजपूताने के इतिहास के लिये उपयोगी सिद्ध हुआ. इसी भाँति बंगाल एशियाटिक सोसायटी की ओर से डिंगल भाषा के ग्रन्थों का अनुसंधान करने वाले महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री (१८५६-१९३४) ने अपनी रिपोर्ट में डिंगल साहित्य के अलावा राजस्थान की क्षत्रिय, चारण एवं मोतीसर जातियों तथा शेखावाटी के इतिहास पर अच्छा प्रकाश डाला है.

कर्नल टाड के बाद राजपूताने के इतिहास की क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रचना की दृष्टि से जिस दूसरे व्यक्ति ने कार्य अपने हाथों में लिया वह एक भारतीय एवं राजस्थानी था, दधवाड़िया गोत्र के चारण कविराजा श्यामलदास उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह के विश्वासपात्र व्यक्ति थे. महाराणा शम्भूसिंह ने अपनी मृत्यु के पूर्व मेवाड़ के इतिहास पर एक ग्रन्थ रचना कराने का इरादा जाहिर किया था और योजना भी बनवाई थी, जिसको उनके विद्याप्रेमी उत्तराधिकारी महाराणा सज्जनसिंह ने पूरा किया. उन्होंने इस कार्य के लिये एक लाख रुपया स्वीकृत कर राज्य के बृहद् इतिहास के प्रकाशन का उत्तरदायित्व कविराजा श्यामलदास को दिया. इस महान् कार्य को सम्पन्न करने के लिये उदयपुर में अंग्रेजी, फारसी और संस्कृत जानने वाले विद्वानों को आमन्त्रित किया गया. राज्य एवं राज्य के बाहर के अनेक शिलालेखों की छापें तैयार कर मँगाई गई तथा भाटों एवं चारणों आदि से बहुमूल्य सामग्री एकत्रित की गई. यह बृहद्ग्रन्थ २७०० पृष्ठों का है और चार भागों में प्रकाशित किया गया और उसका नाम "वीरविनोद" रखा गया.

इस ग्रन्थ की एक विशेपता यह है कि उसमें कर्नल टाड की कई वातों को स्पष्ट एवं संशोधित किया गया है और टाड ग्रन्थ की समाप्ति के काल से आगे महाराणा सज्जनसिंह के शासनकाल अर्थात् १८८४ तक का मेवाड़ का इतिहास दिया गया है. दूसरी विशेपता यह है कि इसमें अनेक शिलालेखों, दानपत्रों, सिक्कों, राजकीय पत्र-व्यवहार, वादशाही फरमान आदि का वहुत अच्छा संग्रह हुआ है. तीसरी विशेपता यह है कि इसमें मेवाड़ के विस्तृत इतिहास के साथ-साथ राजपूताना तथा वाहर के अन्य राज्यों का, जिनका किसी न किसी रूप में मेवाड़ के साथ सम्वन्ध रहा, संक्षिप्त इतिहास भी लिखा गया है. ग्रन्थ की समाप्ति महाराणा फतहसिंह के काल में हुई, जिन्होंने ग्रन्थ का प्रचलन उचित न मान कर, छप जाने के वाद भी प्रकाश में नहीं आने दिया. इसका परिणाम यह हुआ कि विद्वान् इस महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी ग्रन्थ का लाभ वहुत काल वाद में उठा सके.

इसी काल में एक अन्य काव्यमय ऐतिहासिक ग्रंथ 'वंशभास्कर' की रचना की गई. इसके लेखक वूंदी के कविराजा सूरजमल जो राजस्थानी साहित्य के पूर्व आधुनिक काल के सबसे वड़े कवि माने गये हैं. ये स्वभावसिद्ध कवि एवं षट् भापाज्ञानी थे और न्याय, व्याकरण आदि अनेक विपयों में पारंगत थे. 'वंशभास्कर' डिंगल भापा में रचा गया काव्य ग्रंथ है. जिसमें लगभग सवा लाख पद हैं. 'वीरविनोद' की भाँति यह ग्रंथ भी वूंदी नरेश की सहायता से तैयार किया गया था. किन्तु बाद में कवि ने अपनी स्वतन्त्र प्रकृति के कारण जव वूंदी-नरेश रावराजा रामसिंह के गुण-दोपों का वर्णन प्रारम्भ किया तो रावराजा सहमत नहीं हुए. इस पर कवि ने ग्रन्थ को अपूर्ण छोड़ दिया. चारण कवि का लिखा हुआ होने पर भी 'वंशभास्कर' पर्याप्तरूप से प्रामाणिक माना जाता है.

बीसवीं शताव्दी के प्रारम्भिक काल में राजपूताने के इतिहास की शोध, मनन एवं रचना की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण प्रयास डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने किया. ओझाजी अपने काल के उत्कट विद्वान् एवं इतिहास के अद्वितीय ज्ञाता हुए हैं. विद्याध्ययन करने के वाद उनका सम्पूर्ण जीवन इतिहास की खोज में वीता. प्रारम्भ में उदयपुर में रहकर आपने 'वीरविनोद' जैसे महान् ग्रन्थ की रचना को पूर्ण करने में कविराजा श्यामलदास को अपनी सेवाएँ दीं. वे सन् १९०८ में राजपूताना म्यूजियम अजमेर के क्यूरेटर वनाये गये, जहाँ लगभग ३० वर्पो तक काम करते रहे. श्री ओझा ने अथक खोज के आधार पर राजपूत वंशों की वंशावलियों में जो शृंखलाएँ टूटती थीं, अथवा त्रुटियां थीं, उन सवको पूरा एवं ठीक किया. आपने कई हस्तलिखित ग्रन्थ, प्राचीन सिक्के, शिलालेख एवं ताम्रपत्र आदि एकत्र किये, जिनके आधार पर वाद में आपने राजपूताना के राज्यों का नवीन इतिहास तैयार किया. इस नवीन इतिहास में आपने कर्नल टाड द्वारा की गई भूलों को सुधारा, अतिशयोक्तिपूर्ण किम्वदंतियों एवं गाथाओं को ठीक किया और इस प्रदेश के इतिहास को नवीन ढंग से वैज्ञानिक आधार पर तैयार किया. ओझाजी का राजपूताने का इतिहास अत्यधिक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया और उसको इस प्रदेश के इतिहास लेखन की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण घटना माना गया. ओझाजी से लगभग १०० वर्ष पूर्व कर्नल टाड ने राजपूताने के इतिहास के सम्वन्ध में जो ग्रन्थ तैयार किया उसको 'राजपूताने के इतिहास का कीर्तिस्तम्भ' पुकारा गया था. श्री ओझा के नवीन इतिहास को 'राजपूताने के इतिहास का दूसरा भव्य 'कीर्तिस्तम्भ' कहा गया.

ओझाजी ने टाड कृत राजस्थान का सम्पादन कार्य भी प्रारम्भ किया था, किन्तु वह कार्य अपूर्ण रहा. सन् १८९४ में आपने 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' नामक अपूर्व ग्रन्थ की रचना की जिसके कारण आपको अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई. उस समय तक संसार की किसी भी भाषा में ऐसा अनूठा ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ था. १९१८ में इस ग्रंथ पर आपको 'मंगला प्रसाद पारितोषिक' भेंट किया गया. १९०७ में आपने सोलंकियों का इतिहास लिखा, जिस पर नागरी प्रचारिणी सभा ने आपको एक पदक देकर सम्मानित किया. १९२८ में आपने मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पर प्रयाग की हिन्दुस्तानी अकादमी में तीन व्याख्यान दिये जो पुस्तकाकार प्रकाशित किये गये. आपके ७० वें जन्मदिवस पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से आपको अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया जो 'भारतीय अनुशीलन' के नाम से प्रकाशित हुआ.

भारत के राष्ट्रीयता आन्दोलन के विकास ने भारतीयों को अपने देश के इतिहास की शोध एवं रचना की दृष्टि से भारी प्रेरणा प्रदान की. राजस्थान के इतिहास के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है. स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के वर्षों और बाद में राजस्थान के विभिन्न राज्यों के अलग-अलग एवं उनके अलग-अलग कालों पर कई शोधपूर्ण ग्रन्थों की रचना की गई है. हरविलास शारदा कृत महाराणा कुम्भा एवं महाराणा सांगा ग्रन्थ, डा० मथुरालाल शर्मा कृत कोटा राज्य का इतिहास, डा० रघुवीरसिंह कृत पूर्व आधुनिक राजस्थान, रतलाम का प्रथम राज्य, मालवा में युगान्तर अमर ग्रन्थ, पृथ्वीसिंह मेहता कृत 'हमारा राजस्थान', महामहोपाध्याय श्रीविश्वेश्वरनाथ रेउ कृत मारवाड़ का इतिहास, श्रीहनूमान शर्मा कृत 'जयपुर राज्य का इतिहास', श्री जगदीशसिंह गहलोत कृत 'मारवाड़राज्य का इतिहास', राजपूताने का इतिहास भाग २, श्रीरामनारायण दुग्गड़ कृत राजस्थान रत्नाकर, राणासांगा, पृथ्वीराज चरित्र, पंडित रामकरण आसोपा द्वारा रचित एवं सम्पादित विभिन्न ग्रन्थ आदि प्रमुख हैं. इसके अतिरिक्त पिछले कुछ वर्षों में मुगल काल, मराठा काल एवं आधुनिक काल से सम्बन्धित राजस्थान के इतिहास के कतिपय शोध प्रबन्ध विभिन्न विद्वानों द्वारा तैयार किये गये हैं, जो विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत हैं.

एक लम्बे अर्से से राजस्थान में राजस्थान के प्राचीन इतिहास की शोध की दृष्टि से कई संग्रहालय अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी कार्य कर रहे हैं. भूतपूर्व रियासतों में नरेशों द्वारा स्थापित पुरातत्त्व संग्रहालयों एवं पुस्तकालयों ने इस दिशा में भारी प्रयास किया और आज भी उनमें से अधिकांश उपयोगी कार्य कर रहे हैं. जिनमें विक्टोरिया म्यूजियम एवं सरस्वती भंडार उदयपुर, शार्दूल रिसर्च इंस्टीट्यूट बीकानेर, अलबर्ट म्यूजियम जयपुर, अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर, अलवर म्यूजियम, जोधपुर म्यूजियम आदि प्रमुख हैं. इन सभी संग्रहालयों में शिलालेखों, सिक्कों, ताम्रपत्रों, शस्त्रास्त्रों एवं हस्तलिखित पुस्तकों आदि का संग्रह है. राजस्थान का आर्केयोलोजिकल विभाग राज्य के विभिन्न भागों में सर्वे एवं खुदाई का कार्य कर रहा है और प्राचीन ऐतिहासिक खोज में निरन्तर संलग्न है. इस समय राजस्थान में मुख्यतः आहड़, बीकानेर, भरतपुर, वैराट् आदि कतिपय स्थानों पर खुदाई आदि के काम हो रहे हैं, जिनसे प्रागैतिहासिक काल तथा बाद के काल की महत्त्वपूर्ण सामग्रियाँ उपलब्ध हुई हैं.

इन संस्थाओं ने पिछले अर्से में कई बहुमूल्य हस्तलिखित पुस्तकों का संग्रह एवं प्रकाशन कार्य किया है. इनमें से कतिपय संस्थाओं द्वारा शोधपत्रिकाएँ भी प्रकाशित की जाती हैं, जैसे कि राजस्थान विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित 'शोध पत्रिका' शार्दूल रिसर्च इन्स्टीट्यूट द्वारा प्रकाशित 'राजस्थान भारती', राजस्थानी शोध संस्थान की 'परम्परा', पिलानी का प्रकाशन 'मरु भारती' बिसाऊ की 'वरदा' ये पत्रिकाएँ राजस्थान में हो रहे इतिहास के शोध कार्य का सही दिग्दर्शन कराती हैं और प्रेरणा देती हैं.

इस समय राजस्थान में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, शोध एवं प्रकाशन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य मुनि जिनविजय के मार्गदर्शन में जोधपुर स्थित एवं राज्य सरकार द्वारा संचालित राजस्थान प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान जोधपुर कर रहा है. एक तरह से यह प्रतिष्ठान मुनि जिनविजय की ही कृति है और उनके संकल्प एवं संयोजन के कारण आज उसने एक बृहद् रूप धारण कर लिया है पिछले काल में उसने विभिन्न विषयों के कई हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रकाशन एवं सम्पादन का कार्य किया है. मुनि जिनविजय संस्कृत और प्राकृत के बड़े विद्वान् हैं. जैन साधनों से उपलब्ध होने वाले प्राचीन इतिहास से उन्हें सदैव से बड़ा अनुराग रहा है. आपने प्राचीन जैन लेखों की दो पुस्तकें प्रकाशित कीं, जिनमें से एक में सुप्रसिद्ध जैन राजा खारवेल का लेख है. दूसरी बृहत्काय पुस्तक में गुजरात, काठियावाड़, राजपूताना आदि से मिलने वाले ५५७ लेखों का संग्रह है. इसके अतिरिक्त आपने शताधिक इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थों का संपादन किया है. दर्जनों ऐतिहासिक निबन्धों द्वारा पुरातात्त्विक जगत् की अनुकरणीय सेवा की.

राजस्थान का इतिहास जितना लम्बा रहा है, ऐतिहासिक सामग्री भी उतनी ही विपुल रही है. राजस्थान के प्राचीन इतिहास के शोध, मनन एवं सम्पादन का कार्य जितना विशाल है, उतना ही परिश्रमपूर्ण एवं कठिन भी है. आज भी इन

क्षेत्र के कई विद्वान् इस जटिल एवं श्रमसाध्य कार्य के सम्पादन में जुटे हुए हैं जिनमें डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० दशरथ शर्मा, डा० सत्यप्रकाश, मुनि श्री कान्तिसागर जी, डा० रघुवीर सिंह, डा० एच० डी० सांकलिया, डा० मथुरालाल शर्मा, डा० गोपीनाथ शर्मा, श्रीगोपालनारायण वहुरा, डा० रामचरण राय, श्री देशराज जधीना, श्री अगरचन्द नाहटा, डा० मोतीलाल मेनारिया, श्री विद्याधर शास्त्री, श्री महावीर सिंह गहलोत, श्री कन्हैयालाल सहल, श्री रत्नचन्द अग्रवाल, श्री परमेश्वर सिंह सोलंकी, डा० उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, श्रीविजयशंकर श्रीवास्तव, डा० पृथ्वीसिंह मेहता, श्रीनारायण सिंह भाटी जैसे विद्वान् एवं परिश्रमी शोधक राजस्थान के इतिहास की शोध के पुनीत कार्य में संलग्न हैं.

श्रीसूर्यनारायण व्यास
पद्मविभूषण, ज्योतिषाचार्य, डी० लिट्०
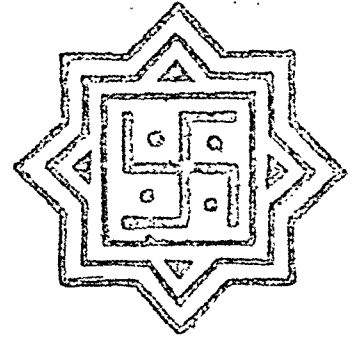
# कालिदास और विक्रम पर एक विचार

अनेक विद्वानों की मान्यता के अनुरूप भास का काल चाणक्य और चन्द्रगुप्त का था. नाट्य-कला के मार्गदर्शक होने के कारण भास की कीर्ति उस समय पर्याप्त रही होगी. विदिशा के शुंगों के शासन के समय से ही कवियों की वाणी और नाट्य-कला में पर्याप्त विकास तथा भाषा में संस्कार हो गया था. भासकाल की अपेक्षा पर्याप्त विकास विदित होता है. संस्कृत को तब लोकभाषा का सम्मान सुलभ हो गया था. पाणिनि के प्रयोग उतने प्रचलित नहीं हो पाये थे. नाट्यकला सुविकसित, नियमबद्ध नहीं हो पाई थी. अभी तक भास के पूर्ववासियों के नाटक प्रकाश में नहीं आये हैं. परन्तु भास के नाटक विविध भेदों में प्रकाश का विषय बन चुके थे. इससे यह विदित हो सकता है कि इस कला में वह काल कितना प्रगतिशील था.

मेकडॉनल्ड, कीथ प्रभृति पंडितों की यह मान्यता कि भरत में ग्रीस की नाट्य-कला का अनुसरण हुआ है क्योंकि ई० स० पूर्व तीसरी शती में भारत का ग्रीस से व्यवहार होता था. सेल्यूकस ने अपनी लड़की चन्द्रगुप्त को दी थी. टॉलमी का भी आवागमन बना रहता था. तथा एक दूसरे के राजदूतों का व्यवहार जारी था. आलक्जेण्डर के शासन से भृगु-कच्छ द्वारा-नर्मदा-पथ से स्थलमार्ग द्वारा उज्जैन से सम्बन्ध बना हुआ था. विदिशा में स्वयं वहाँ का राजदूत हेलियोडोरस रहता था. यही नहीं, उसने भागवत-धर्म भी स्वीकार कर लिया था, यह विदिशा का गरुड-स्तम्भ साक्षी दे रहा है. ग्रीक इतिहास से प्रकट है कि ब्राह्मण लोग ग्रीस के साहित्य में अनुराग भी रखते थे. किन्तु भारत का नाट्य ग्रंथ अधिक पुरातन है, भास के नाटकों में विशेष रूप से उनका अनुकरण प्रतीत होता है. सम्भव है भास की उन्नति और कीर्ति ने कालिदास को स्पर्धा के लिये बाध्य किया हो और इसी के वश हो कालिदास ने अपने नाटकों में कला का पूर्ण परिपाक बतलाया हो. संभवत: कालिदास ने भास का इसी कारण नामोल्लेख कर नाट्यजगत् में अभिनव प्रवेश मालविकाग्निमित्र के रूप में किया हो. अनेक अंशों में राजा, नायिका, उपनायिका, विदूषक चेटी आदि की जो समता भास और कालिदास में मिलती है और उनका विकास जितनी सुन्दरता से कालिदास-कृति में मिलता है, उतना भास में नहीं. वैसे भी भास—कालिदास के काल में समता को लक्ष्य में रखते हुए १००-१२५ वर्ष का ही अन्तर लक्षित होता है. उसने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ भास की कला को विकसित कर तथा अग्निमित्र जैसे अल्प प्रसिद्ध युवराज का आश्रय लेकर किया होगा और कीर्तिशाली बन गया होगा. दिङ्नाग, प्रव्रज्या, भिक्षुणी आदि का उल्लेख बुद्धप्रभाव को प्रकट करता है. शुंग-काल तक यह प्रभाव मध्य भारत में रहा है. वासवदत्ता के अपहरण के समय प्रच्छन्नवेष में निर्ग्रन्थ भिक्षुओं का प्रवेश होने लग गया था, अन्यथा, विक्रम की समुन्नति से कालिदास की कला उल्लेखरहित नहीं रहती. अस्तु, यहाँ हमारा अभिप्राय तर्कों और उदाहरणों से विस्तार करना नहीं है. कालिदास की तरह ही विक्रम भी विद्वज्जनों की विचार-विश्लेषण की परिधि में परिभ्रमण कर रहा है. विक्रमादित्य के विषय में भी दो विचारधाराएँ हैं. प्रथम धारा विक्रम को ई० सन् पूर्व ५७ वर्ष में स्वीकार करती है, और दूसरी द्वितीय चन्द्रगुप्त को ही एकाधिकार प्रदान करती है. यह आज से नहीं शताब्दियों पूर्व से है. पिछले विद्वानों को इस द्वैत का पूर्ण ज्ञान रहा है, किन्तु जो लोग स्मिथ को मील का पत्थर मानकर अपनी प्रज्ञा के प्रयास की परिधि केन्द्रित कर देते हैं उनके ज्ञान की परप्रेरितावस्था पर खेद प्रकट करना भी निरर्थक है. ये द्वितीय चन्द्रगुप्त को छोड़कर अपने ज्ञान की दौड़ को आगे का श्रम ही स्वीकार नहीं करते.

आज से बहुत पूर्व ११ वीं शती में सोमदेव ने कथासरित्सागर की रचना की है. उस समय सोमदेव को दो विक्रम होने का पूर्ण ज्ञान था. यह ग्रंथ द्वितीय विक्रम के पश्चात् ही बना है. उस समय यदि प्रथम विक्रम की ख्याति न होती तो वह एक ही का उल्लेख कर सकता था. उसे काल्पनिक—भ्रमविस्तार की आवश्यकता क्यों होती ? इस कथाग्रंथ के रचना-काल में सोमदेव यह स्पष्ट जानता है कि उज्जैन का विश्रुत नरेश विक्रम है, और पाटलिपुत्र का अन्य विक्रम भी है. उक्त कथाग्रंथ के १८ वें लम्बक, प्रथम तरंग में स्पष्ट है—

(क) उज्जयिन्यां सुतः शूरो, महेन्द्रादित्यभूपतेः ।
(ख) आक्रमिष्यति सद्वीपां पृथिवीं, विक्रमेण यः ।
म्लेच्छसंघान् हनिष्यति ।
(ग) भविष्यत एवैष विक्रमादित्यसंज्ञकः ।

इस तरह विभिन्न स्थानों पर उज्जैन के विक्रम का उत्कृष्ट वर्णन किया है. आगे इसी लम्बक के तृतीय तरंग में विक्रम की विजययात्रा से वापिस उज्जैन पहुँच जाने पर उनके सेनानी विक्रमशक्ति ने उन अनेक राजाओं का, जो स्वागतार्थ उपस्थित थे, वर्णन किया है. यह वर्णन तत्कालीन स्थिति जानने में सहायक हो सकता है:

"गौडः शक्ति कुमारोऽयम्, कर्णाटोऽयं जयध्वजः ।
लाटो विजयवर्माऽयम् काश्मीरोऽयं सुनन्दनः ।
गोपालः सिन्धुराजोऽयम्, भिल्लो विन्ध्यबलोप्ययम् ।
निर्मूकः पारसीकोऽयम्, नृपः प्रणमति प्रभो ।"

इन विविध देशीय नरेशों के प्रणाम-परिचय के पश्चात्—

सम्राट् सम्मानयामास सामन्तान्सैनिकानपि ।

सम्राट् विक्रम ने सामन्तों और सैनिकों का सम्मान किया है. इस प्रकार १८ वाँ लम्बक अवंतीपति के वर्णन से भरा हुआ है. और उक्त ग्रंथ में चौथी तरंग, एवं सप्तम लम्बक में स्वतंत्र रूप से लिखा है कि—'विक्रमादित्य इप्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके' यानी पाटलिपुत्र में राजा विक्रम था. यहां 'सम्राट्' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है. तथा—'अस्ति पाटलिपुत्राख्यो भुवोऽलकंरणंपुरम्, तत्र विक्रमतुंगाख्यो राजा' आदि.

इस प्रकार विक्रम के दो होने की जानकारी ११वीं शती के सोमदेव को अवश्य थी, क्षेमेन्द्र, और गुणाढ्य भी यह जानते थे. ये ग्रंथकार चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद हैं. यदि एक मात्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रम होता तो इन्हें उज्जैन के और पाटिलपुत्र के दो विक्रमों की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं रहती. ये आज से सैकड़ों साल पहिले उत्पन्न ग्रंथकार हैं. स्मिथ की भ्रान्ति इन्हें स्पर्श नहीं कर सकती है. और इनके उल्लेख को महज कथा कहकर टाला नहीं जा सकता. ऐसी स्थिति में स्मिथ, हार्नेल, कीथ आदि आधुनिकों की भ्रान्त धारणाओं का कोई मूल्य नहीं रहता. विक्रमादित्य को केवल विदेशी विद्वानों की कसौटी पर नहीं लगाया जा सकता, उसके तथ्यान्वेषण के लिये प्राचीन साहित्य का अनुशीलन आवश्यक है.

संस्कृति के कथाग्रंथों, काव्यवर्णनों की तरह ही जैन-साहित्य के अनेक ग्रंथों में, जिनकी संख्या ५० से अधिक है, स्वतंत्र उज्जयिनीपति विक्रम की विभिन्न चर्चाएँ आई हैं. कालक-कथा आदि को केवल कथा-ग्रंथ कहकर हम उपेक्षित नहीं कर सकते. इन सभी पर तथ्यान्वेषक दृष्टि से विचार किया जाना जरूरी है. ये अपना महत्त्व रखते हैं तथा इतिहास और तथ्य पर आधारित हैं.
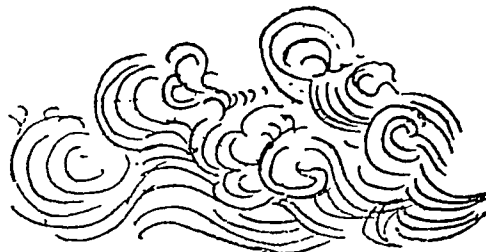
मुनि श्रीनगराजजी
अणुव्रतपरामर्शक

# महावीर और बुद्ध—जन्म व प्रव्रज्यायें

भगवान् महावीर की मौलिक जीवन-गाथा आचाराङ्ग सूत्र और कल्प-सूत्र, इन दो आगमों में मिलती है. टीका, चूर्णि, निर्युक्ति और काव्य ग्रंथों में वह पल्लवित होती रही है. भगवान् बुद्ध का प्रारम्भिक जीवन-वृत्त मुख्यत: "जातकनिदानकथा" में मिलता है. वैसे तो समग्र आगम व त्रिपिटक ही दोनों की जीवन-गाथा के पूरक हैं, पर 'जीवनचरित की शैली में उनकी यत्किञ्चित् जीवन-गाथा उक्त स्थलों में ही उपलब्ध है. दोनों युग-पुरुषों के जन्म व दीक्षा के वर्णन परस्पर समान भी हैं और असमान भी. वे समानताएँ जैन और बौद्ध संस्कृतियों के व्यवधान को समझने में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं. इसके अतिरिक्त उन वर्णनों से तत्कालीन लोक-धारणाओं, सामाजिक-प्रथाओं और धार्मिक परम्पराओं पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है. यहाँ आचारांग एवं कल्पसूत्र तथा जातकनिदानकथा के आधार से ही दोनों धर्मनायकों का जन्म से प्रव्रज्या तक का एक गवेषणात्मक अवलोकन प्रस्तुत किया जा रहा है.

महावीर और बुद्ध—दोनों ही अपने प्राग्भव के अन्तिम भाग में अपने अग्रिम जन्म को सोच लेते हैं. दोनों के सोचने में जो अन्तर है, वह यह कि—महावीर सोचते हैं 'मेरा जन्म कहाँ होने वाला है' और बुद्ध सोचते हैं—मुझे कहाँ जन्म लेना चाहिये.'

महावीर का जम्बूद्वीप एक लाख योजन का है और बुद्ध का जम्बूद्वीप दस हजार योजन का.

महावीर जम्बू-द्वीप के दक्षिण भारत में उत्तर-क्षत्रियकुंडपुर में जन्म लेते हैं, बुद्ध जम्बू-द्वीप के 'मध्य देश' में कपिलवस्तु नगर में जन्म लेते हैं. दोनों ही भूभाग बहुत निकट के हैं. केवल अभिधाएँ भिन्न-भिन्न हैं. महावीर ब्राह्मणकुल में देवानन्दा के गर्भ में जन्मते हैं. इन्द्र सोचता है—अरिहन्त क्षत्रिय कुल को छोड़ ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र इन कुलों से न कभी उत्पन्न हुये, न होंगे. श्रेयस्कर है मुझे देवानन्दा का गर्भ हरण कर, भगवान् को त्रिशला क्षत्रियाणी के उदर में स्थापित करना. इन्द्र की आज्ञा से हरिणगमेषी देव वैसा कर देते हैं. बुद्ध स्वयं सोचते हैं—बुद्ध, ब्राह्मण और क्षत्रिय कुल में ही जन्म लेते हैं, वैश्य और शूद्र कुल में नहीं. अत: मुझे क्षत्रिय कुल में ही जन्म लेना है.

यहाँ इन्द्र ने केवल क्षत्रिय कुल में ही तीर्थंकर का उत्पन्न होना माना है और बुद्ध ने क्षत्रिय और ब्राह्मण इन दो कुलों में बुद्ध का उत्पन्न होना माना है.

गर्भाधान के समय महावीर की माता सिंह, गज, वृषभ आदि चौदह स्वप्न देखती हैं, बुद्ध की माता केवल एक स्वप्न देखती हैं—हाथी का.

स्वप्नपाठक प्रात: महावीर के लिये चक्रवर्ती या जिन होने का और बुद्ध के लिये चक्रवर्ती या बुद्ध होने का फलादेश करते हैं.

जन्मप्रसंग पर देवों का संसर्ग दोनों ही युगपुरुषों के बताया गया है. आचारांग और कल्पसूत्र का वर्णन अधिक विस्तृत और अधिक अतिशयप्रधान है अपेक्षाकृत जातक-अर्थकथा के. शुद्धोदन सद्यःजात शिशु बुद्ध को 'काल-देवल' तपस्वी के चरणों में रखना चाहता है पर इसके पूर्व बुद्ध के चरण तपस्वी की जटाओं में लग जाते हैं इसलिये कि बुद्ध जन्म से ही किसी को प्रणाम नहीं किया करते. महावीर की जीवनचर्या में ऐसी कोई घटना नहीं घटती है पर नियम तीर्थंकरों का भी यही है कि वे किसी पुरुषविशेष को प्रणाम नहीं करते.

महावीर के अंकधाय, मज्जनधाय आदि पाँच धाएँ और बुद्ध का निर्दोष धाएँ लालन-पालन करती हैं.

जातक-अर्थ-कथा ने प्रसंगोपात्त बीजारोपण-समारोह का प्रेरक चित्रण किया है. वृक्षारोपण समारोह (वनमहोत्सव) अभी-अभी भारतवर्ष में चला है. प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति या अन्य बड़े लोग एक बार पानी सींचकर वृक्षारोपण करते हैं. उस चित्रण के अनुसार बीज-रोपण समारोह में एक सहस्र हलवाहकों के साथ राजा, मंत्री आदि अपने हाथों से हल जोतते हैं.

महावीर भोगसमर्थ होकर और बुद्ध १६ वर्ष के होकर दाम्पत्य-जीवन प्रारम्भ करते हैं. जातकअर्थकथायें, शीत, ग्रीष्म, वर्षा इन तीनों ऋतुओं के पृथक्-पृथक् तीन प्रासाद बतलाती हैं. आचारांग व कल्पसूत्र पृथक् पृथक् ऋतुओं के पृथक्-पृथक् प्रासाद कहकर वैभवशीलता व्यक्त करते हैं. अन्यान्य प्रकरणों से भी पता चलता है कि श्रीमन्त लोग पृथक्-पृथक् ऋतुओं के लिये पृथक्-पृथक् भवन बनाते हैं और ऋतु के अनुसार उनमें निवास करते हैं.

बुद्ध के मनोरंजन के लिये ४४ सहस्र नर्तिकाओं की नियुक्ति का वर्णन है.

शाला आदि में जाकर शिल्प व्याकरण आदि का अध्ययन न महावीर करते हैं और न बुद्ध. महावीर एक दिन के लिये शाला में जाते हैं और इन्द्र के व्याकरण सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देकर अपनी ज्ञानगरिमा का परिचय देते हैं. बुद्ध एक दिन शिल्पविशारदों के बीच अपनी शिल्प-दक्षता का परिचय देते हैं.

प्रतिबोध के समय पर महावीर को लोकान्तिक देव आकर प्रतिबुद्ध करते हैं, बुद्ध को देव आकर वृद्ध, रोगी व मृत के पूर्व शकुनों से प्रतिबुद्ध करते हैं.

दीक्षा से पूर्व महावीर वर्षीदान करते हैं, बुद्ध के लिये ऐसा उल्लेख नहीं है.

नगर-प्रतोली के बाहर होते ही 'मार' बुद्ध से कहता है—"आज से सातवें दिन तुम्हारे लिये 'चक्ररत्न' उत्पन्न होगा, अतः घर छोड़कर मत निकलो." चक्रवर्ती होने वालों के लिये 'चक्ररत्न' की परिकल्पना जैन परम्परा में भी मान्य है.

महावीर का दीक्षा-समारोह इन्द्र आदि देव व सिद्धार्थ आदि मनुष्य आयोजित प्रकार से मनाते हैं. वे भगवान् को अलंकृत करते हैं, शिविकारूढ करते हैं, जुलूस निकालते हैं, यावत् दीक्षा-ग्रहण-विधि सम्पन्न कराते हैं. जिस रात को बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण होता है, उसी दिन इन्द्र के आदेश से बुद्ध के स्नानोत्तर काल में देव आते हैं और अन्य उपस्थितों से अदृष्ट रहकर ही बुद्ध की वेश-सज्जा करते हैं.

दोनों प्रकरणों को एक साथ देखने से लगता है कि आगमों की दीक्षा-शैली का अनुसरण 'जातक-अर्थ-कथा' में हुआ है. बुद्ध के घटनात्मक दीक्षा-प्रकरण में देव-संसर्ग को यथाशक्य ही जोड़ा जा सकता था, पर यह कमी भी बौद्ध कथाकार ने तब पूरी की जब बुद्ध रात्रि के नीरव वातावरण में अपने अश्व को बढ़ाये ही चले जा रहे थे. वहाँ साठ-साठ हजार देवता चारों ओर हाथों में मशाल लिये चलते हैं.

महावीर ने दीक्षा-ग्रहण के समय पञ्चमुष्टिक लोच किया, बुद्ध ने अपना केश-जूट तलवार से काटा. महावीर के केशों को इन्द्र ने ग्रहण कर क्षीर-समुद्र में विसर्जित किया. बुद्ध ने अपने कटे केश-जूट को आकाश में फेंका. योजन भर ऊँचाई पर वह अधर में टिका, इन्द्र ने उसे वहाँ से रत्नमय करण्ड में ग्रहण कर त्रायस्त्रिंश लोक में चूड़ामणि-चैत्य का स्वरूप दिया. दीक्षित होने के पश्चात् मुख व मस्तक के केश न महावीर के बढ़ते हैं, न बुद्ध के. दोनों ही परम्पराओं ने इसे अतिशय माना है.

जिस अश्व पर बुद्ध सवार होकर घर से निकलते हैं, उसका नाम कन्थक था, वह गर्दन से लेकर पूंछ तक अट्ठारह हाथ लम्बा था.

एक सहस्र कोटि हाथियों जितना वल बुद्ध में वतलाया गया है. जैन परम्पराओं के अनुसार चालीस लाख अष्टापद का वल एक चक्रवर्ती में होता है और तीर्थंकर तो अनन्त वली होते हैं. महावीर ने जन्मजात दशा में ही मेरु को अंगूठे मात्र से ही प्रकंपित कर इन्द्रादि देवों को संदेहमुक्त किया. बुद्ध के जीवन-चरित में ऐसी कोई घटना नहीं मिलती, पर योग-वल से यदा-कदा वे नाना चामत्कारिक स्थितियाँ सम्पन्न करते हैं.

महावीर और बुद्ध के जन्म और प्रव्रज्या प्रकरणों का यह एक अवलोकन मात्र है. इतने मात्र से उनके पूर्ण अध्ययन की अपेक्षा पूरी नहीं हो जाती. कहना चाहिए, वे प्रकरण शोध-सामग्री के अनूठे भंडार हैं. गवेपक अपनी जिज्ञासा के अनुकूल वहुत कुछ पा सकता है.
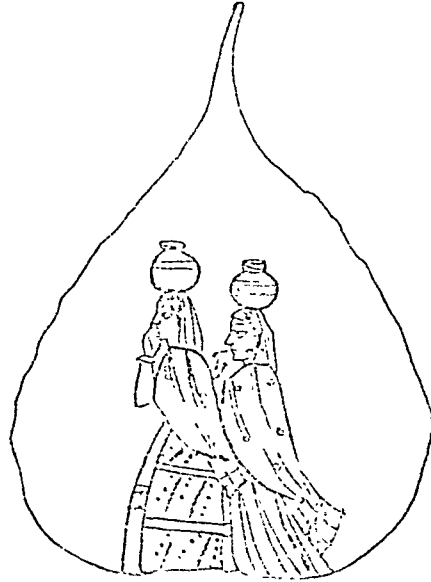
वद्रीप्रसाद पंचोली
एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) साहित्यरत्न

# महावीर द्वारा प्रचारित आध्यात्मिक गणराज्य और उसकी परम्परा

स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व पर आधारित गणतंत्र को आधुनिक संसार ने सबसे अधिक विकसित तथा जनकल्याणकारी व्यवस्था घोपित किया है. इस प्रकार की व्यवस्था का परीक्षण प्राचीन भारत में हो चुका है. वर्द्धमान महावीर और भगवान् बुद्ध के समय भारत में अनेक गणराज्य थे. जिनके विषय में जैन और वौद्ध साहित्य से पर्याप्त सूचना मिलती है. अवदानशतक में गणाधीन व राजाधीनराज्यों का उल्लेख मिलता है.[1] ग्राचारांगसूत्र में भी राजारहित गणशासित राज्यों का उल्लेख मिलता है.[2] इसी काल की अन्य रचना पाणिनीय अष्टाध्यायी भी गणशासन के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचना देती है. महाभारत में गणराज्यों को नष्ट करने वाले पारस्परिक फूट आदि दोपों का बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है.[3] सारे भारतीय साहित्य में प्राप्त इसी तरह के उल्लेखों का अध्ययन करने से गणराज्यों की एक सुदृढ़ व विकसित परम्परा का पता चलता है जिसको महावीर स्वामी व महात्मा बुद्ध की महत्त्वपूर्ण देन है.

आर्यजाति के प्राचीनतम वैदिक ग्रन्थों से गणजीवन के विकास के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है. ऋग्वेद में गण,[4] गणपति[5] आदि ही नहीं, जनराज्ञ[6] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है. सांमनस्य सूक्त[7] में स्वतंत्र सहजीवन के विकास की ग्रोर संकेत किया गया है जिसे विश्वव्यवस्था का आधार बनाया जा सकता है. स्वराज्य सूक्त से[8] प्रजातांत्रिक व्यवस्था के विषय में व्यापक जानकारी प्राप्त की जा सकती है. इस सूक्त के ऋषि राहुगण गोतम हैं. ऋषिवाची शब्द सदैव ही वैदिकमंत्रों के अर्थज्ञान की कुंजी होता है. राहुगण गोतम नाम भी इसी तरह इस सूक्त के अर्थ पर प्रकाश डालता है. रह (त्याग करना) धातु से 'रहु' शब्द निष्पन्न है जिसका अर्थ है त्यागी, दानी. आत्मत्यागियों में श्रेष्ठ गिने जाने वाले व्यक्तियों का गण या समूह (राहुगण) ही स्वराज्य का निर्माण कर सकता है. यही नहीं, स्वराज्य के निर्माता गौतम-वेदज्ञों में श्रेष्ठ भी होते हैं.

यजुर्वेद में न केवल राष्ट्र के जागरूक व आदर्श नागरिक बनने की भावना[9] के ही दर्शन होते हैं, वरन् प्रजातंत्र को शत्रुनाशक भी कहा गया है—

---

१. केचिद्देशा गणाधीनाः केचिद्राजाधीनाः —अवदानशतक २।१०३.
२. आचारांग सूत्र १।३।१६०.
३. महाभारत-शान्ति पर्व- राजधर्मप्रकरण.
४. ऋग्वेद १।८७।४, ३।३५।६, ५।६१।१३, ७।५८।१, २.२३।१ आदि.
५. ऋग्वेद २।२३।१, १०।११२।६.
६. ऋग्वेद १।५३।६.
७. ऋग्वेद १०।६१.
८. ऋग्वेद १।८०.
९. वयं राष्ट्रे जागृयामः पुरोहिताः—यजुर्वेद ६।२३.
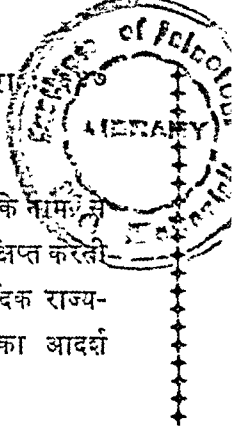
स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडसि अभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडसि अमित्रहा.[1]

अथर्ववेद में शासक के वरण व अभिषेक समय की मर्यादाओं का उल्लेख मिलता है. ब्रह्मगवी[2] व ब्रह्मजाया[3] के नाम से राज्य की आध्यात्मिक शक्तियों का उल्लेख भी किया गया है, जिन्हें प्रजा की सामूहिक भावनायें राज्य में निक्षिप्त करती हैं. पृथिवीसूक्त में सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म, यज्ञ और बृहत् राष्ट्र के आधारभूत तत्त्व कहा गया है.[4] वैदिक राज्य-व्यवस्था का वर्णन करना यहाँ अभीष्ट नहीं है, केवल इतना स्वीकार किया जा सकता है कि गणव्यवस्था का आदर्श भी भारतीयों को वेदों से मिला है.

ऋग्वेद में दो प्रकार के गणों का वर्णन मिलता है. जिनमें एक है ऋभुओं का गण और दूसरा मरुतों का गण. प्रथम सारस्वतगण (Educational Republics) है और दूसरा सैनिक गण. मरुत् देवताओं में वैश्यवर्ण के कहे गये हैं अत : इनका गण सैनिक गण होते हुए भी कृषि व गोपालन की समृद्धि पर निर्भर कहा जा सकता है. ये दोनों प्रकार के देवगण भारतीय गणराज्यों के प्रेरणास्रोत कहे जा सकते हैं.

ऋभुगण सुन्धवा के पुत्र[5] ऋभु, विभु और वाज का है. इनका विस्तृत विवेचन स्वतंत्र निबन्ध का विषय है. इस विषय में ज्ञातव्य संक्षेप में इस प्रकार हैं—'ऋभु पहले मनुष्य थे बाद को ऋत का आश्रय लेकर उन्होंने देवत्व प्राप्त किया.[6] ऋत की साधना ऋभुगण का आदर्श है.[7] देवत्व सदा से मनुष्यों का लक्ष्य रहा है. ऋभुओं ने ऋतसाधना द्वारा देवत्व प्राप्त किया था. ऋत की साधना के लिये त्रैत-भावना आवश्यक है. साधक, सिद्ध व साध्य का त्रैत प्राचीन ग्रंथों में अनेक प्रकार से उल्लिखित है. ऋभुत्रयी में वाज है साधक, विभु सिद्ध और ऋभुत्व साध्य. शिक्षणव्यवस्था में वाज का सम्बन्ध विद्यार्थी से है. विद्यार्जन वाजपेय (वाज को पेय बनाना या पीना) यज्ञ तथा विद्याप्राप्त स्नातक को वाजपेयी कहा जाता है. विभु गुरु है और ऋभुत्व प्राप्त करने वाला ऋभु कहा जाता है. विद्यार्जन की प्रक्रिया को नेम (अधूरे ज्ञान वाला) का भार्गव (तेजस्वी, ज्ञानसम्पन्न) हो जाना भी कहा जा सकता है. इस विषय में नेमभार्गवऋषिदृष्ट ऋग्वेद का सूक्त[8] विचारणीय है. सामूहिक दृष्टि से वाज, विभु और ऋभु का एक गण बनता है. ऋभुगण द्वारा सर्वदुघा गौ का निर्माण,[9] एक चमस के चार चमस कर देना[10] आदि बातों को यहाँ अप्रासंगिक समझ कर छोड़ दिया जाता है.

ऋभुवों के गण के आदर्श पर ऋत की साधना के केन्द्र शिक्षा-आश्रमों का विकास हुआ था जिन्हें सारस्वतगणराज्य[11] कहा जा सकता है. सिकन्दर के समय कठों का गण वार्ताकृषि-उपजीवी संघ था. युद्धकाल में सिकन्दर का सामना करने के लिये यह आयुधजीवीसंघ बन गया था। इसका प्रारम्भ सारस्वत गण के रूप में हुआ था जिसमें यजुर्वेद की काठकसंहिता का प्रवचन होता था. काठकसंहिता व कठोपनिषद् इस गण की चिन्तनपरम्परा के अवशेष हैं. नैमिषारण्य के ऋषिगण की स्मृति धार्मिक कथाओं में बनी हुई है. बादरायण व्यास के विशाल पुराण-साहित्य को सुरक्षित बनाये रखने का श्रेय इसी गण को हैं, जिसके ८८हजार ऋषि आरण्यकजीवन बिताते हुए साहित्य व धर्म की चर्चा में समय बिताया करते थे. प्राप्य प्राचीन

---

१. यजुर्वेद ५।२४.
२. अथर्ववेद ५।१८.
३. अथर्ववेद ५।१७.
४. अथर्ववेद १२।१।१.
५. ऋग्वेद ४।३५।१.
६. ऋग्वेद ३।६०।३, ३।६०।१, ४।३५।८, ४।३३।३, ४।३५।३, १।११०।४.
७. ऋतेन भान्ति इति ऋभवः—यास्क, निरुक्त ११।२।३, ऋग्वेद ४।३४।२.
८. ऋग्वेद ८।१००
९. ऋग्वेद ४।३३।८, ४।३४।९, ४।३६।४.
१०. ऋग्वेद ४।३५।२,५, ४।३६।४.
११. सारस्वत गणराज्यों के लिये द्रष्टव्य लेखक का 'प्राचीन भारत के सारस्वत गणतंत्र' नामक निबन्ध 'विपथगा वर्ष ७ अंक ११.

भारतीय साहित्य का रक्षण भी ऐसे ही गणों में हुआ है. दक्षिण में 'संघमु' परम्परा द्वारा तमिल साहित्य की अभिवृद्धि हुई है. ये भी सारस्वतगण ही कहे जा सकते हैं. राज्य के आवश्यक अंग प्रभुसत्ता, संभूयभावना (Civic Sense) और तंत्र (व्यवस्था) के दर्शन इन शैक्षणिक संस्थाओं में होते हैं. इसीलिए इन्हें गणराज्य कहना उपयुक्त है.

तक्षशिला, नालन्दा आदि प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र भी गणतांत्रिक आदर्श पर संघटित हुए थे. भारत के पश्चिमी द्वार की अर्गला खोल कर आक्रान्ता सिकन्दर का स्वागत करने वाला आम्भीक तक्षशिला के विद्रोही आचार्य चाणक्य या चन्द्रगुप्तादि छात्रों को, जो प्रत्यक्ष रूप में गान्धारनरेश की नीति का विरोध कर रहे थे, पकड़ नहीं सकता था. दुष्यन्त वैखानसों से यह सूचना मिलने पर—'आश्रममृगोऽयं राजन् ! न हन्तव्यो न हन्तव्यः', आखेट से उपरत होकर आश्रम की प्रभुसत्ता के सम्मान में रथ से उतर गया था. राज्यों में राजा स्वयं विद्वत्सभाओं की योजना करते थे जिन्हें प्रभुसत्ता के अभाव के कारण स्वायत्तसंस्था ही कहा जा सकता है, गणराज्य नहीं.

ऋग्वेद में मरुतों के देवगण का विस्तार से उल्लेख मिलता है. मरुतों की संख्या ४९ है. यजुर्वेद में इनके नाम भी मिलते हैं[१] ये सब एक ही पिता रुद्र के पुत्र हैं[२] गाएँ इनकी प्रभूत समृद्धि की द्योतक हैं. अतः इनको 'पृश्निमातरः'[३] या गोमातरः[४] विशेषण भी दिये गए हैं. ये सब भाई हैं, न इनमें कोई ज्येष्ठ है न कनिष्ठ.[५] ये सब समान विचार वाले हैं[६] और एक ही तरह से इनका पोषण हुआ है.[७] इनकी पैतृकपरम्परा [योनि] व नीड भी समान हैं.[८] वे उत्तम पत्नियों वाले (भद्र-जानयः)[९] हैं, प्रतिभाशाली हैं स्वयंदीप्त हैं, रथों पर चलते हैं[१०] अपरिमित शक्ति से सम्पन्न हैं[११] और बच्चों की तरह क्रीडालु[१२] हैं, मरुतों का एक अन्य विशेषण सिन्धुमातरः[१३] है.

मरुतों का कार्य वही है जो देवराज इन्द्र, अग्रणी अग्नि या सम्राट् वरुण का है. मरुतों के कार्य इन्द्रिय [इन्द्र के][१४] व इन्द्र के कार्य मरुतों के [मरुत्वती][१५] कहे गए हैं. मरुत् दिव्यगायक हैं[१६] अपने गान द्वारा ही वे पर्वतों का भेदन करते हैं[१७] और इन्द्र की शत्रुविजय की सामर्थ्य बढ़ा देते हैं.[१८] पुराणों से पता चलता है कि इन्द्र और मरुत् एक दूसरे के विरोधी भी रहे हैं. ऋग्वेद के एक मंत्र से[१९] इस वैमनस्य की सूचना मिलती है. तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार मरुतों

१. यजुर्वेद १७।८०-८५.
२. ऋग्वेद ८। २०।२, ५।५७।१, ५।५२।१६, ५।६०।५.
३. ऋग्वेद ५।५७। २, ३।५९।६, १।८५।२, १।२३।१०, ८९।७, ८।७।३, ९।३४।५.
४. ऋग्वेद १।८५।३,
५. ऋग्वेद ५।५९।६, ५।६०।५.
६. ऋग्वेद ८।२०।१.
७. ऋग्वेद ७।५८।१.
८. ऋग्वेद १।१६५।१, ७।५६।१.
९. ऋग्वेद ५।६१।४.
१०. ऋग्वेद १।८८।१, ५।५७।१,
११. ऋग्वेद ५।५८।२, १।१६७।९.
१२. ऋग्वेद १।१६६।२, ७।५६।१६.
१३. ऋग्वेद १०।७८।६.
१४. ऋग्वेद १।८५।२.
१५. ऋग्वेद १।८०।४.
१६. ऋग्वेद ५।६०।८, ७।३५।९, ५।५७।५.
१७. ऋग्वेद १। ८५।१०.
१८. ऋग्वेद ५।३०।६, १।८५।२, ५।२९।२, १।२६५।११, १।१००।१०.
१९. ऋग्वेद १।१७०।२.

ने इन्द्र का साथ छोड़ दिया था,[1] परन्तु इन्द्र को ऋग्वेद में प्रधान माना गया है.[2] वह सम्माननीय है और मरुद्गण उसके पुत्र के समान हैं.[3]

मरुतों के देवगण के संक्षिप्त वर्णन से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

(१) समान कुल-परम्परा, पैतृक संबंध आदि के द्वारा गण में एकता बनी रह सकती है.

(२) सबको एक सूत्र में बांधने वाली वस्तु धन-समृद्धि है. द्रव्यादि का समान वितरण, पशुधन के प्रति पूज्यभाव एकता के अन्य कारण हैं.

(३) मातृभूमि का प्रेम एकता को जन्म देता है. मरुत एक ही सिन्धु-सिंचित भूमि की सन्तान (सिन्धुमातरः[4]) कहे गए हैं.

(४) गणप्रमुखों तथा गणसदस्यों में कोई बड़ा-छोटा नहीं होता, उनमें विचार वैभिन्य नहीं होता, सबको सन्तति के विकास के समान साधन उपलब्ध होते हैं.

(५) गणसदस्यों की पत्नियाँ उत्तम व सहकर्मिणी होती हैं. क्रीड़ा, उत्सव आदि की सम्यक् व्यवस्था भी एकता का कारण है.

(६) राजा के होते हुए भी गणों की सत्ता रह सकती है. वे अपनी शक्ति व एकता के स्वर से राजा की सामर्थ्य को शतगुणित कर दिया करते हैं. महामात्य चाणक्य ने संघलाभ को राजा के लिये सर्वोत्तम लाभ माना है.[5]

(७) गणों से सम्राट् का वैमनस्य भी हो सकता है, परन्तु गण राजा के पुत्र के समान हैं. राजा को उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए.

भारत में गणों का विकास इन्हीं मान्यताओं को लेकर हुआ था. महाभारतयुद्ध के पहले तक भारत में गणराज्य व राजतंत्र साथ-साथ पनप रहे थे. उग्रसेन के राज्य में अन्धक व वृष्णि गणराज्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते थे. भारत में धर्म को सर्वोपरि माना गया है जिसके प्रति राजा व गण दोनों ही उत्तरदायी हैं. इस प्रकार यहाँ न राजा ही निरंकुश थे और न गणतंत्र ही. राजा धर्म और प्रजा के प्रति इस सीमा तक उत्तरदायी था कि उसे सबसे अधिक पराधीन व्यक्ति कहा जा सकता है. इसी तरह गणतंत्र इतने स्वतंत्र थे कि वह स्वतंत्रता ही बन्धन बन कर उन्हें संयत बना दिया करती थी.

महाभारत युद्ध के बाद भारत में जिस युग का प्रारंभ हुआ, उसमें संघशक्ति की प्रधानता (संघे शक्तिः कलौ युगे) स्वीकार की गई है. सच तो यह है कि भारत का कलियुग का ५ हजार वर्षों का इतिहास संघशक्ति के उत्थान, पतन व पुनरुत्थान का इतिहास कहा जा सकता है. प्रबल व समर्थ राज्यों के विकास के बाद गणजीवन की ओर अभिरुचि का एक कारण महाभारत के भीषण युद्ध में भारत के प्रतिष्ठित राजपरिवारों का नष्ट हो जाना भी है. इसके पहले भी राजतंत्र के साथ पनपने वाले गणतंत्रों के पास राज्य के पारिभाषिक सभी अधिकार थे, परन्तु महाभारत के बाद ये गणसंस्थाएँ राज्य के स्थानापन्न होकर विकसित हुईं और उनकी सुव्यवस्था व सामर्थ्य का प्रमाण इस बात से मिलता है कि महाभारतपूर्व भारत पर आक्रमण करने वाले कालयवन के बाद सिकन्दर के समय तक भारत पर आक्रमण करने का दुस्साहस कोई विदेशी आक्रान्ता न कर सका.

---

१. तैत्तिरीयब्राह्मण २।७।११।१.
२. ऋग्वेद १।२३।८.
३. ऋग्वेद १।१००।५.
४. ऋग्वेद १०।७८।६.
५. कौटिलीय अर्थशास्त्र ११।१।१.

जैन और बौद्ध साहित्य में पूर्व के कुछ गणराज्यों के विषय में विस्तृत सूचना मिलती है. शेष सारे भारत में फैले हुए गणराज्यों और उनके कार्यों के प्रति भारतीय साहित्य मौन है. केवल कहीं-कहीं उनके नाम मात्र मिल जाते हैं. महाभाष्य में एक स्थान पर क्षुद्रकों की महत्त्वपूर्ण विजय की ओर[१] महर्षि पतंजलि ने संकेत किया है. संभवतः यह विजय क्षुद्रकमालवों की संयुक्त सेना ने सिकन्दर पर प्राप्त की हो जिसका उल्लेख कुछ इतिहासकारों ने[२] किया है.

आरट्ट (वाहीक), क्षुद्रक, मालव, वाटधान, आभीर, अपरीती (अफरीदी), चर्मखण्डिक (समरकन्द), कठ, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, ब्राह्मण-राज्य, मद्र. तुषार, दर्द, पक्थ, हारहूण, शक, केकय, दशमानिक (दशनामी), काम्बोज, दशेरक, उलूत, तोमर, हंसमार्ग, शिवि, वसाति, उरसा, अम्बष्ठ, यौधेय, मल्ल, शाक्य, लिच्छिवि आदि उत्तरी भारत के प्राचीन गणराज्यों के नाम हैं. वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के समय इनमें से कई गणराज्य बड़े ही प्रबल थे, परन्तु सामान्यतया यह काल गणराज्यों के ह्रास का था. जनपदों में राजतन्त्र शक्तिमान् हो रहे थे. मगध के राज्य से आतंकित होकर उसके सीमावर्ती कई गणराज्यों ने मिल कर वज्जिसंघ की स्थापना की थी जिसकी राजधानी वैशाली थी. इस संघ की प्रबलता का प्रमाण यह है कि तत्कालीन राजा संघ के विभिन्न गणों में विवाह करके उनकी मित्रता के आकांक्षी थे. वत्सराज उदयन वैदेहिपुत्र कहा गया है. बिम्बसार की रानी वासवी भी विदेहकुमारी थी. शाक्य शुद्धोदन की माया और महामाया नामक स्त्रियाँ लिच्छिवि थीं. कोशलराज प्रसेनजित की पत्नी शाक्य कन्या थी.

महात्मा बुद्ध ने लिच्छिवियों के चरित्रबल, पारस्परिक-सम्मानभाव, भ्रातृत्व, शालीनता, शक्तिमत्ता, धर्मपरिपालन, निर्विलासिता, निरलसता आदि गुणों की प्रभूत प्रशंसा की है. परन्तु सारे गण ऐसे नहीं थे, उनमें गणसदस्यों में मिथ्याभिमान, जातीयगुरुता की भावना, विलासिता, आलस्य, चरित्रहीनता आदि दुर्गुण समाविष्ट हो रहे थे. यही कारण था कि एक एक करके समस्त गणराज्य समाप्त हो रहे थे.

महात्मा बुद्ध व महावीर स्वामी ने जिन नैतिक आन्दोलनों का समारम्भ किया, वे मानवमात्र के लिये थे. अतएव उनके लिये गणजीवन ही उत्तम माना जा सकता था. इन दोनों ही महापुरुषों ने एक ओर तो गणों के दुर्गुणों की निन्दा की है और दूसरी ओर अपने संघों की स्थापना करके आध्यात्मिक गणराज्य-परम्परा की नींव डाली है. आध्यात्मिक-गणराज्य-परम्परा के प्रवर्तक के रूप में बुद्ध व महावीर का योगदान मौलिक व युगान्तरकारी रहा है.

वर्द्धमान महावीर कश्यप गोत्रीय ज्ञातृक क्षत्रिय कुल के थे.[३] उन्हें 'सर्वोच्चजिन महावीर ज्ञातृपुत्र'[४] कहा गया है. ज्ञातृक वज्जिसंघ के अष्टकुलों (अट्ठकुल) में प्रमुख गिने जाते थे. इनकी माता लिच्छिवि वंश की थी. महावीर को संघपरम्परा का ज्ञान अपने परिवार में ही हो गया होगा. अतः कठोर तपस्या के बाद अर्हत्त्व प्राप्त करके उन्होंने अपने अनुयायियों को 'संघ' के रूप से प्रबोधित किया. अतएव उनको बुद्ध के समय में ही संघी, गणी, गणाचार्य आदि नामों से अभिहित किया जाता था.[५] कदाचित् प्रारम्भ में ऐसे धर्मसंघों का विरोध हुआ हो, धम्मपद से इस प्रकार की सूचना मिलती है.

अर्हतां शासनं यस्तु आर्याणां धर्मजीविनाम्,<br>
प्रतिक्रोशति दुर्मेधाः दृष्टिं निश्चित्य पापिकाम् ।[६]

वैदिक समाज की नींव श्रम-यज्ञ पर आधारित है, जिसका रूप आश्रम-व्यवस्था के रूप में प्रतिष्ठित हुआ. श्रम को

---

१. एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम्. अष्टाध्यायी सूत्र ५।३।५२ पर पातंजलमहाभाष्य.

२. डा० राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दूसभ्यता पृ० २८४-८५.

३. प्राचीन पुस्तक माला २२।२६६.

४. सूत्रकृतांग सूत्र १।१। १।२७.

५. डा० राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दू सभ्यता २३२,

६. धम्मपद १२.८.

देवत्व, अमरत्व तथा इन्द्रपद का साधक माना गया है.[1] जिसके बिना देवता भी सहायता नहीं करते.[2] उसकी गणना ऋत, सत्य तथा तप जैसी आध्यात्मिक विभूतियों और राज्य, धर्म और कर्म जैसी पार्थिव शक्तियों के साथ की गई है.[3] आश्रमव्यवस्था का ह्रास होने पर श्रम को जीवन में पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये श्रमणवाद का उदय हुआ.

व्यावहारिक जीवन में श्रम मानवतावाद के विकास में सहायक होता है. व्यावहारिक जीवन की इस श्रम-साधना को जैन ग्रन्थों में तप का मार्ग[4] कहा गया है. यही श्रमसाधना सूक्ष्म शरीर में जागृत होकर मोक्ष साधिका बनती है.

भगवान् महावीर ने अपने संघ के चार वर्ग नियत किये थे—मुनि, आर्यिकागण, श्रावक तथा श्राविकाएँ, इनमें अन्तिम दो में जैन शासन के अनुयायी ऐसे गृहस्थ स्त्री-पुरुष गिने जाते हैं जो केवल व्यावहारिक जीवन में श्रम की प्रतिष्ठा के अनुरागी हों. प्रथम दो, वे हैं जो वीतरागजीवन ग्रहण करके श्रम के व्यावहारिक रूप की प्रतिष्ठा 'शम' में करें. महावीर की तरह बुद्ध का ध्येय भी 'श्रम' की प्रतिष्ठा 'शम' में करना ही रहा है.

शमयिता हि पापानां श्रमण इति कथ्यते.[5]

श्रम को शम से भिन्न मान कर जीवन-यापन करने वाले लोगों को महावीर ने 'मिथ्यादृष्टि अनार्यश्रमण'[6] कहा है.

श्रम के प्रति बुद्ध और महावीर का यह दृष्टिकोण तत्कालीन परिस्थितियों में नितान्त दूरदर्शितापूर्ण था. उस समय भारतवर्ष में गणव्यवस्था का पतन हो रहा था और भारत के पड़ोस में फारस में विशाल साम्राज्य जन्म ले रहा था. किसी भी क्षण साम्राज्यवादी दृष्टि सम्पूर्ण भारत को आत्मसात् कर सकती थी. केन्द्रीय शक्ति के अभाव में पारस्परिक फूट, विलासिता और आलस्य से जर्जरित गण अपनी रक्षा में समर्थ नहीं हो सकते थे. अतः समाज के कल्याण को अपनी दायाद्य मानने वाले ब्राह्मण बिखरी हुई शक्तियों को राजतन्त्र द्वारा केन्द्रित करने का प्रयत्न करने लगे और दूसरी ओर श्रमण (श्रमजीवी) श्रम को ही तन्त्र (व्यवस्था) का आधार मान कर गणभक्ति छोड़ न सके.

ब्राह्मण 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' का उद्घोष करते हुए स्वयं स्वतन्त्र रहकर केवल 'विश्' (साधारण प्रजा) के लिये राजा की व्यवस्था देते थे. अतः नितान्त स्वतन्त्रता के अभिलाषी लोगों को इसमें ब्राह्मणों को स्वार्थसिद्धि दिखाई दी और इस प्रकार दोनों विचारधाराओं के अनुयायियों के बीच भी खाई बढ़ती गई. यह श्रमण-ब्राह्मणों का शाश्वत विरोध विदेशी[7] आक्रान्ताओं को निमंत्रित कर सकता था. सचमुच ही एक बार फारसी साम्राज्य की सीमा सिन्धु तक आ पहुँची थी.

बुद्ध और महावीर दोनों ने ही इस विरोध को दूर करने का प्रयत्न किया. उन्होंने श्रमणत्व और ब्राह्मणत्व को अभिन्न माना है. महावीर ने कहा है :

'जो ऐसे दान्त, मोक्षयोग्य और कायाव्युत्सृष्ट (ममतात्यागी) हैं, उन्हें ब्राह्मण कह सकते हैं, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ भी कह सकते है.[8]

इस प्रकार इन दोनों ही युगदर्शी महापुरुषों ने सामाजिक क्षेत्र में श्रम के प्रति जिस नवीन दृष्टिकोण को उपस्थित किया वह राष्ट्ररक्षा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण था.

---

१. ऋग्वेद ३।६०।२, १।११०।३, ३।६०।३, १।११०।४.
२. ऋग्वेद ४।३४।४.
३. अथर्ववेद ११।६।१७, ८।६।६.
४. उत्तराध्ययनसूत्र—अध्याय १३.
५. धम्मपद २०।१०.
६. सूत्रकृतांगसूत्र १।११।३६.
७. येषां विरोधः शाश्वतिकः इत्यस्यावकाशः श्रमण ब्राह्मणम्. पातंजल महाभाष्य २।४।६.
८. सूत्रकृतांगसूत्र १।११।३६.

वैदिक प्रतीक-यज्ञ इस समय निरर्थक क्रियाकलाप मात्र रह गए थे. उनकी सामाजिक उपयोगिता नगण्यप्राय थी. जिस प्रकार के यज्ञ की जीवनप्रतिष्ठा वांछित थी वह महावीर के शब्दों में इस प्रकार है :

'तप आग है, जीव ज्योतिस्थान (वेदी) है, योग स्रुवा है, शरीर सूखा गोबर है (कारिसंग), कर्म ईंधन है, संयम की प्रवृत्ति शान्तिपाठ है. ऐसा होम मैं करता हूँ. ऋषियों के लिये यही होम प्रशस्त है.[1]

इस नवीन जीवन-दर्शन और नवीन सामाजिक दृष्टिकोण को लेकर महावीर ने अपने अनुयायियों को संगठित किया. श्रम, चाहे वह किसी भी प्रकार का हो, समान महत्त्व रखता है इसलिए उसके आधार पर समाज में प्रचलित ऊँच-नीच की भावना को उन्होंने त्याज्य ठहराया. उन्होंने कहा—"ण वि देहो वन्दिज्जइ, ण वि य कुलो ण वि य जाइ-संजुत्तो[2]—अर्थात् देह वन्दनीय नहीं होता, कुल और जाति भी वन्दनीय नहीं होते."

पारस्परिक साम्य पर आधारित महावीर का संघ गणपरम्परा पर आधारित था. बौद्ध पिटकों में बौद्धसंघ की सभा व उसकी कार्यप्रणाली का स्वरूप देखा जा सकता है. ठीक उसी तरह ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारणा द्वारा सम्मति-ग्रहण, छन्दग्रहण आदि का निर्वाह जैनसंघ की सभाओं में भी होता था. बौद्धसंघ में स्थविर व स्थविराएँ ही भाग ले सकते थे, परन्तु जैन संघ में मुनि व आर्यिकाओं के अतिरिक्त सद्गृहस्थदम्पती भी भाग ले सकते थे. अत: इसे अधिक उदार-भावना पर संगठित कहा जा सकता है. बौद्धसंघ के भारत से लुप्त हो जाने पर भी जैनसंघ के बने रहने का कारण उसका सार्वजनिक ग्राह्य रूप ही है.

इस संघ की स्थापना में भगवान् महावीर के दो उद्देश्य थे. पहला-समकालीन गणतंत्रों के समक्ष श्रम की प्रतिष्ठा पर आधारित आध्यात्मिक गणराज्य का स्वरूप उपस्थित करना, तथा दूसरा श्रमण-ब्राह्मण-भेद को दूर कर, श्रम का पर्यव-सान 'शम' में करने की प्रेरणा देकर मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रसार करना.

संघ को जैन लोगों ने गुणों का क्रीड़ासदन,[3] परास्फूर्तिप्रदान करने वाला[4] तथा पापहारी[5] कहा है. इससे प्रकट है कि जैनसमाज में भी संघभावना का महत्त्व बौद्धसमाज से कम नहीं था. प्राचीन भारत के गणतंत्रों का विकास क्षेत्रीय सुविधाओं पर आधारित था, परन्तु महावीर स्वामी द्वारा प्रचारित आध्यात्मिक गणराज्य में सम्पूर्ण भारत को ही नहीं, मानव मात्र को संगठित करने की संभावना विद्यमान थी. अत: अपने समय में यह युगान्तरकारी प्रयत्न था.

समकालीन गणराज्यों ने महावीर की आध्यात्मिक गणराज्य सम्बन्धी विचारधारा को अपना लिया. लिच्छिवियों का तो यह राजपोषित धर्म[6] बन गया. लिच्छिवियों में सबसे अधिक प्रभावशाली चेटक महावीर के मामा थे. चेटक की पुत्री चेल्लना बिम्बसार को, प्रभावती सिन्धु सौवीर के राजा उदायण को,[7] पद्मावती चम्पा के राजा दधिवाहन को, मृगावती कौशाम्बी के शतानीक को, शिवा अवन्ती के राजा चण्डप्रद्योत को ब्याही गई थीं. इन सम्बन्धों से जैन-धर्म का व्यापक प्रचार हुआ. महावीर के व्यापक प्रभाव की सूचना इस बात से मिलती है कि उनके निर्वाण के समय काशी और कौशल के १८ गणराज्यों, ९ मल्लकों और ९ लिच्छिवियों ने मिलकर प्रकाशोत्सव किया था.[8] महावीर को मल्लराजा शस्तिपाल के प्रासाद में निर्वाण प्राप्त हुआ. इससे मल्लों पर भी उनका प्रभाव लक्षित होता है.

---

१. तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोग सन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं। उत्तराध्ययन सूत्र १२।४३.

२. दर्शनपाहुड़ २७.

३. सोमप्रभाचार्य विरचित सूक्तिमुक्तावली, श्लोकसंख्या २३.

४. उपर्युक्त श्लोक २२.

५. उपर्युक्त श्लोक २३.

६. हिन्दूसभ्यता डा० राधाकुमुद मुकर्जी-हिन्दी अनुवाद पृ० २२८.

७. भगवती सूत्र ४६.

८. डा० राधाकुमुद मुकर्जी—हिन्दूसभ्यता पृ० २२९.

महावीर ने अपने जीवनकाल में ही जैन-शासन को अधिक लोक प्रिय बनाने के लिए अपने प्रमुख ११ शिष्यों को गणधर नियुक्त किया. ये जैन-शासन के सर्वोच्च व्याख्याता थे. इन्होंने ९ गणों को जैनशासन का उपदेश दिया.

इन ११ गणधरों तथा महावीर स्वामी की वाणी का संकलन सिद्धान्त कहलाता है. महावीर के निर्वाण के उपरान्त जैनसंघ के प्रमुख सुधर्मा बने. इनके बाद जम्बू स्वामी गणप्रमुख बने. ३ गणप्रमुख और हुए. लगभग १५० वर्षों के सुदीर्घ काल में जैन संघ में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई. अन्तिम नन्दराजा के समय जैनसंघ के दो प्रमुख सम्भूतिविजय और भद्रबाहु हुए. इन दोनों ने जैन सिद्धान्तों का संकलन किया.

जैनसंघ की प्रारम्भिक सफलता का कारण समकालीन गणराज्यों में पनपने वाली गणभावना तो थी ही, साथ ही जैन आचार्यों का उदार व उदात्त व्यक्तित्व भी था. नैतिकता पर आश्रित गणव्यवस्था अधिक से अधिकतर रुचिकर होती गई थी. कालान्तर में जैनसंघ का कार्यक्षेत्र तो बढ़ता गया परन्तु सेवाभावी, उदात्तव्यक्तित्व वाले आचार्यों की संख्या कम होती गई. संघभेद के कारण विभिन्न सम्प्रदायों में स्पर्द्धा बढ़ती गई और प्रचारकार्य कम हो गया. गणराज्य समाप्त हो गए. मौर्य व गुप्त शासकों के युग में राजतन्त्र की सफलता देख कर गणों पर से लोकविश्वास उठता गया. जैनसंघ के लोगों में उद्देश्य गौण हो गया. जिस मानवतावादी दृष्टिकोण को लेकर आध्यात्मिकगण की स्थापना महावीर ने की थी, उसी दृष्टिकोण से परिवर्तित रूप में विकसित होने वाले ब्राह्मणधर्म से सहयोग करने को जैनसंघ तैयार न था. यद्यपि हेमचन्द्र जैसे उदार विचारक अर्हत्, शिव, बुद्ध, ब्रह्म व विष्णु में अभेद दर्शन करते थे.[1] जिनप्रभसूरि जैसे विद्वान् 'गायत्रीरहस्य' जैसे भाष्य लिखते थे, आदिजिन की पूजा के लिए वैदिकमंत्र[2] ग्रहण किये जा रहे थे. सरस्वती की श्रुतदेवी के नाम से उपासना की जा रही थी, परन्तु पारस्परिक स्पर्द्धा कटुता में बदलती जा रही थी. पहले श्रावक के रूप में कोई भी जैनमन्दिर में जा सकता था, परन्तु अब ब्राह्मण-धर्मावलम्बी 'न गच्छेत् जैनमन्दिरम्' का नारा बुलन्द करने लगे. इन सब बातों को जैनसंघ की अवनति के कारणों के रूप में उपस्थित किया जा सकता है.

आधुनिक काल में भी जैनसंघ विभाजित है. अब जैन विद्वान् अपने आपको अहिन्दू कहने में गर्व अनुभव करते हैं. पिछली जनगणना में जैनों को हिन्दुओं से पृथक् लिखा गया है. महावीर के तपोमार्ग तथा आर्यमार्ग[3] को किन्हीं अनार्यपरम्पराओं का अवशेष सिद्ध किया जा रहा है. महावीर आर्यदर्शन से दूर रहने वाले अनार्यों[4] की निन्दा करते थे, श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ में कोई भेद नहीं मानते थे.[5] उन्होंने अपने मार्ग को सत्पुरुष आर्यों द्वारा पूर्व व्याख्यात कहा है.[6] किन्तु विद्वान् पारस्परिक कटुता को जन्म देने वाली भेदकारी नीति से कब परिचित होंगे कहा नहीं जा सकता.

महावीर द्वारा प्रचारित परम्परा को 'पनपी और अवगति को प्राप्त हुई' इतना ही महत्त्व नहीं है. उससे विगत दो सहस्राब्दियों के भारत के सबसे बड़े लोकनायक आचार्य शंकर ने प्रेरणा लेकर, सारे भारत की एक इकाई के रूप में कल्पना करके आध्यात्मिक गणराज्य की भावना को और आगे बढ़ाया. उन्होंने भारत के चारों कोनों में चार मठों की स्थापना करके धार्मिक दृष्टि से भारत का संगठन किया. थोथे मतों को उखाड़ फेंका. आचार्य शंकर के इन प्रयत्नों का ही फल था कि एक सहस्राब्द के विदेशी शासन में भी भारत ने सांस्कृतिक दृष्टि से किसी न किसी रूप में अपने गौरव को सुरक्षित बनाए रक्खा. दीवारों में चुन जाने वाले, शिखा के पहले शिर कटा देने वाले वीरों को स्फूर्ति प्रदान करने का श्रेय शंकराचार्य की धार्मिक गणपरम्परा को है, और इसीलिए इसका श्रेय अप्रत्यक्ष रूप से महावीर स्वामी को भी प्राप्त है. स्वतन्त्र भारतीय गणराज्य को भी महावीर की आध्यात्मिक गणपरम्परा से प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी.

---

१. यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो, बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः, सोऽयं वो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

२. ओं चत्वारः शृंगा त्रयोऽस्यपादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तास्त्रिधा बद्धो वृषभो रौति महादेवो मर्त्यं आविवेश स्वाहा—Jain Konography में पृ० ६६ पर प्रतिष्ठासारसंग्रह से उद्धृत.

३. सत्रकृतांगसूत्र १।३।४. ४. उपर्युक्त २।५।१८. ५. उपर्युक्त १।१६।१. ६. उपर्युक्त २।५।१२.

प्रो० राजाराम जैन
एम० ए०, एफ० एन० जी० एस०, शास्त्राचार्य, साहित्यरत्न

# रइधू-साहित्य की प्रशस्तियों में ऐतिहासिक व सांस्कृतिक सामग्री

भारतीय वाङ्मय के उन्नयन में जिन वरेण्य साधकों ने अनवरत श्रम एवं अथक साधना करके अपना उल्लेख्य योगदान किया है, उनमें महाकवि रइधू[1] अपना प्रमुख स्थान रखते हैं. उन्होंने अपने जीवनकाल के सीमित समय में २३ से भी अधिक विशाल अपभ्रंश ग्रंथों की रचना करके साहित्य-जगत् को आश्चर्यचकित किया है. रचनाओं का विषय-वैविध्य संस्कृत-प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी आदि भाषाओं पर असाधारण पाण्डित्य, इतिहास एवं संस्कृति का तलस्पर्शी ज्ञान, समाज एवं राष्ट्र को साहित्य, संगीत एवं कला के प्रति जागरूक कराने की क्षमता जैसी उक्त कवि में दिखाई पड़ती है वैसी अन्यत्र शायद ही कहीं मिलेगी.

कवि की कवित्वशक्ति उसके वर्ण्य-विषय में तो स्पष्ट दिखती ही है किन्तु समाज एवं राजन्यवर्ग के लोगों को भी उसने साहित्य एवं कलाप्रेमी बना दिया था, यह कवि रइधू की अद्वितीय देन है. ऐसी लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि लक्ष्मी एवं सरस्वती का सदा से वैरभाव चला आया है. कई जगह यह उक्ति सत्य भी सिद्ध हुई लेकिन कवि ने उनका जैसा समन्वय किया-कराया, वही उसकी विशिष्ट एवं अद्भुत मौलिकता है, उदाहरणार्थ कवि की प्रशस्तियों में से २-३ अत्यन्त मार्मिक प्रसंग उपस्थित किये जाते हैं, जिनसे कवि-प्रतिभा का चमत्कार स्पष्ट देखने को मिल जाता है.

महाकवि रइधू की साधना-भूमि गोपाचल (ग्वालियर) में संघवी कमलसिंह नामक एक नगरसेठ रहते थे जो अत्यन्त उदारवृत्ति से जीवन-यापन करते थे. वे महाकवि के मित्र एवं परमभक्त भी थे. राज्यपदाधिकारी होने से वे राज्य के कार्यों में ही व्यस्त रहते थे. एक दिन वे उससे घबराकर महाकवि से भेंट करते हैं तथा निवेदन करते हैं:

सयणासण तंवेरम तुरंग, धयछत्तचमर भामिणि रहंग ।
कंचणधणकणवरदविणकोस, जाणइ जंपाइ जणिय तोस ।
तह पुण णयरायरदेसगाम, बंधव णंदण णयणाहिराम ।
सारयरुअणुपुणुवच्छुभाउ, जं जं दीसइ णाणा सहाउ ।
तं तं जि एछु पाविघइ सच्छु, लब्भइ ण कव्व-माणिक्कु भव्वु ।
एच्छु जि बहु बुह णिवसहिउ किट्ठ, णउ सुकउ कोवि दीसइ मणिट्ठ ।
भो णिसुणि वियक्खण कहमि तुज्झु, रक्खमि ण किंपि णिय चित्त गुज्झु । —सम्मत्त० १।७।१-७.

तुहु पुणु कव्वरयण रयणायरु, बालमित्तु अम्हहं णेहाउरु।
तुहु महु सच्चउ पुण्ण सहायउ, महु मणिच्छ पूरण अणुरायउ। —सम्मत्त० १।१४।८-६.

---

१. महाकवि रइधू के जीवनवृत्त एवं साहित्य-परिचय के लिए 'आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ' में प्रकाशित मेरा निवन्ध देखिए—पृष्ठ १०१-११५.

अर्थात् "हे कविवर, शयनासन, हाथी, घोड़े, ध्वजा, छत्र, चमर, सुन्दर रानियाँ, रथ, सेना, सोना, धन-धान्य, भवन, सम्पत्ति, कोष, नगर, देश, ग्राम, बन्धु-बान्धव, सुन्दर सन्तान, पुत्र, भाई आदि सभी मुझे उपलब्ध हैं. सौभाग्य से किसी भी प्रकार की भौतिक सामग्री की मुझे कमी नहीं है किन्तु इतना सब होने पर भी मुझे एक चीज का अभाव सदैव खटकता रहता है और वह यह कि मेरे पास काव्यरूपी एक भी सुन्दर मणि नहीं है. इसके बिना मेरा सारा ऐश्वर्य फीका-फीका लगता है. हे काव्यरूपी रत्नों के रत्नाकर, तुम तो मेरे स्नेही बालमित्र हो, तुम्हीं हमारे सच्चे पुण्य-सहायक हो. मेरे मन की इच्छा पूर्ण करनेवाले हो. इस नगर में बहुत से विद्वज्जन रहते हैं, किन्तु मुझे आप जैसा कोई भी अन्य सुकवि नहीं दिखता. अतः हे कविश्रेष्ठ, मैं अपने हृदय की गाँठ खोलकर सच-सच अपने हृदय की बात आपसे कहता हूँ कि आप एक काव्य की रचना करके मुझ पर अपनी महती कृपा कीजिये.

महाकवि रइधू ने कमलसिंह संघवी की उक्त अत्यन्त विनम्र प्रार्थना स्वीकृत कर उत्तर में कहा:

सुसहाउ भव्व तुहु दिंति णिरु, तुहु पुणु कमलायरु होहि थिरु ।
लइकरि चिंतियउ पइं, भालहिं पुणहु णियय मइ ।
मा चिंत करहिं सुपसण्ण मणा, भवि भवि लब्भहिं धण कणरयणा ।
दुल्लहु जिणधम्मु जि होइ परा, तं तुहु आयरहिं जि विणय परा ।—सम्मत्त० १, ८, १३-१६

अर्थात् 'हे भाई कमलसिंह, तुम अपनी बुद्धि को स्थिर करो. तुमने जो विचार प्रकट किये हैं वे तुम्हारे ही अनुरूप हैं. अब चिंता करने की आवश्यकता नहीं, प्रसन्नचित्त बनो (मैं इच्छानुसार तुम्हें काव्यरचना कर दूंगा) जन्म-जन्मान्तर में इसी प्रकार स्वर्ण धन-धान्य एवं रत्नों से युक्त बने रहो तथा दुर्लभता से प्राप्त इस धर्म एवं मानव-जीवन में हितकारी उच्च कार्यों को सदा करते रहो !'

जब कवि की इस प्रकार की स्वीकारोक्ति सुनी तो कमलसिंह आनन्दविभोर हो उठे. उन्होंने अपने जीवन को सफल मान लिया तथा तुरन्त ही वे यह समाचार राजा डूंगरसिंह को देने के लिये राज-दरबार में पहुँचते हैं तथा शिष्टाचार प्रदर्शन के बाद निवेदन करते हैं:

"हे राजन्, मैंने कुछ धर्मकार्य करने का विचार किया है, किन्तु उसे कर नहीं पा रहा हूं, अतः प्रतिदिन मैं यही सोचता रहता हूँ कि अब वह आपकी कृपापूर्ण सहायता एवं आदेश से सम्पूर्ण करूँगा. आपका यश एवं कीर्ति अखण्ड एवं अनन्त है. मैं तो इस पृथ्वी पर एक दरिद्र एवं असमर्थ हूँ, इस मनुष्य-पर्याय में मैं क्या कर सकता[1] हूँ !" कमलसिंह का यह निवेदन सुनकर युवराज कीर्तिसिंह[2] अत्यन्त पुलकित हो उठे. राजा डूंगरसिंह ने भी अत्यन्त प्रसन्नता के साथ कहा :

वियसित्ति जंपिउ डूंगरराएं, कमलसीह वणिवर संवाएं ।
पुण्णु कज्जु जं तुव मणि रुच्चइं, तं विरयहि साहु समुच्चइं ।
जे पुणु अण्ण केवि सुसहायण, करहु करहु ते धम्म महायण ।
किंपि संक मा किज्जहु चित्तहें, संतुट्ठउह धम्मणिमित्तहि ।
जहि सोरट्ठि वीसल णिवरज्जहिं, धम्मु पवट्ठिउ चिरु णिरवज्जहिं ।
वच्छ तेयपालक्खवणिंदहिं, पवर तिच्छ णिम्मिय गयदंतहिं ।
जिह पेरोजसाहि सुपसायं, जोइणिपुरि णिवसंत अमायं ।
सारग साहु णाम विक्खायं, पविहिय जत्त धम्म अणुराएं ।
तिह तुहुँ विरयहि पुच्छु गुणायरु, लइ लइ पउरु दव्वु धम्मायरु ।
न सु जेत्तडउ विरिअछइं, सो सयलु जिवेक्कउ कयणि छइं ।

---

१. दे० सम्मत्त० १।११।१-५.

२. राजा डूंगरसिंह का पुत्र, कई स्थानों पर इसका नाम 'करनसिंह' भी उपलब्ध होता है.

अणइ हउ असेसु पूरेसमि, जं जं मग्गहु तं तं देसमि।
पुणु पुणु एम तेण तहिं भणिउं, पुणु तंबोलु देवि सम्माणिउ।
पुणु सुरिताण सीह णियभिच्चहु, सामिय धम्म चिंति मणिच्चहु।
तहु आएसु णिवेण पुणु दिण्णउ, कज्जहिं धम्म सहाउ अछिण्णउ।
कमलसीहु जं तुम्हं भासइं, तं तहु पविहिज्जहि सुसमासइं।
मणिवि पसाउ तेण पडिवण्णउ, अज्जु सामि किंकरु हउ धण्णउ।—सम्मत्त० १।११६-२०.

अर्थात् 'हे सज्जनोत्तम, जो भी पुण्यकार्य तुम्हें रुचिकर लगे उसे अवश्य ही पूरा करो। हे महाजन, यदि धर्म-सहायक और भी कोई कार्य हों तो उन्हें भी पूरा करो. अपने मन में किसी भी प्रकार की शंका मत करो. धर्म के निमित्त आप संतुष्ट रहें. जिस प्रकार राजा वीसलदेव के राज्य में सौराष्ट्र (सोरट्ठि) में धर्म-साधना निर्विघ्न रूप से प्रतिष्ठित थी, वस्तुपाल-तेजपाल नामक व्यापारियों ने हाथीदाँतों (?) से प्रवर तीर्थराज का निर्माण कराया था. जिस प्रकार पेरोजसाहि(फीरोजशाह) की महान् कृपा से योगिनीपुर (दिल्ली) में निवास करते हुए सारंग ने अत्यन्त अनुराग पूर्वक धर्मयात्रा करके ख्याति प्राप्त की थी. उसी प्रकार हे गुणाकर, धर्मकार्यों के लिये मुझसे, पर्याप्त द्रव्य ले लो. जो कार्य करना है उसे निश्चय ही पूरा कर लो. यदि द्रव्य में कुछ कमी आ जाय तो मैं उसे पूर्ण कर दूंगा. जो जो माँगोगे वही-वही (मुँह माँगा) दूँगा. राजा ने बार-बार आश्वासन देते हुए कमलसिंह को पान का बीड़ा देकर सम्मानित किया. राजा का आश्वासन एवं सम्मान प्राप्त कर कमलसिंह अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा राजा से इतना ही कह सके कि हे स्वामिन् आज आपका यह दास धन्य हो गया.'

महाकवि ने कमलसिंह की बात स्वीकार तो करली किन्तु फिरभी उसके मन में शंका होती है कि सम्भवतः दुर्जन उसके कार्यों में विघ्न बाधा उपस्थित करें, तब ? उस स्थिति में कमलसिंह का उत्साह प्रेरणा एवं साहस-भरा आश्वासन देखिये. वे कहते हैं :

संवाहिवेण तातहु पउत्तु, भोकइ पहाण णिसुणहि णिरुत्तु।
दुज्जण सज्जण ससहाव होंति, अवगुण गुणाइ ते सइं जिलिंति।
जिह उण्ह सीय रवि सीस हणम्मि, णिय पयइ ण मेल्लहि पुणु कहम्मि।
चंदहु उज्जोयं तसइंसाणु, ताकिं सो छंडइ णियय ठाणु।
जइ पुणु विडलूवहु दुक्खहेउ, ता रवि सुएवि किं णियय तेउ।
जइ तक्करु साहुहु णउ सहेइ, ता किं सोजग्गंतउ रहेइ।
जूवासएण किं कोविवच्छु, छंडइ भणु तणु इच्छु जिपसच्छु।—सम्मत्त० १।१६।१-७

अर्थात् हे कविश्रेष्ठ, सुनिये, दुर्जन-सज्जन तो अपने-अपने स्वभाव से होते हैं। वे अवगुणों एवं सद्गुणों के बल पर ही जीवित रहते हैं. रवि एवं शशि एक ही आकाश में अपनी उष्णता एवं शीतलता का क्या परित्याग कर देते हैं ? धूलि के कणों से आच्छादित हो जाने पर भी क्या चन्द्रमा अपने प्रकाश को देना छोड़ देता है. राहु के द्वारा ग्रस्त हो जाने पर भी क्या सूर्य अपनी तेजस्विता छोड़ देता है. यदि चोर साहूकार की उपस्थिति न चाहे तो क्या वह संसार में रहना ही छोड़ दे. यदि जुआरी व्यक्ति किसी वस्तु को दाँव पर लगा दे तो क्या उससे वह वस्तु अप्रशस्त हो जाती है. तथा इससे दूसरा कोई अन्य सज्जन व्यक्ति उसकी चाह करना भी छोड़ दे. अतः हे कविवर, आप निश्चिन्त मन होकर अपनी काव्य रचना करें.

महाकवि के एक दूसरे सहयोगी भक्त थे हरिसिंह साहू. उनकी तीव्र इच्छा थी कि उनका नाम चन्द्रविमान में लिखा जाय. अतः उन्होंने कवि से सविनय निवेदन किया कि :

महु साणुराव तहु मित्त जेण, विण्णत्ति मज्झु अवहारि तेज।
महु णामु लिहहि चंदहो विमाणु, छय वयणु सुद्ध णिय चित्ति ठाणु।—वलभद्र० १।४।११-१२

अर्थात् 'हे मित्र, मुझ पर अनुरागी बनकर मेरी विनती सुन लीजिये एवं मेरे द्वारा इच्छित बलभद्र पुराण नामक रचना लिखकर मेरा नाम चन्द्रविमान में अंकित करा दीजिये.'

हरिसिंह की उक्त प्रार्थना सुनकर कवि ने कई कारणों से अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए तथा रामचरित की विशालता का अनुभव करते हुए उत्तर दिया :

घडएण भरइ को उवहि तोउ, को फणि सिरमणि पयडइ विणोउ।
पंचाणण मुहि को खिवइ हत्थु, विणु सुत्तें महि को रयइवत्थु।
विणु बुद्धिएतहं कव्वहं पसारु, विरएप्पिणु गच्छमि केम पारु। —बलभद्र० १।४।१–४

अर्थात् 'हे भाई, रामचरित (अपर नाम बलभद्र-चरित) का लिखना सरल कार्य नहीं, उसके लिखने के लिये महान् साधना, क्षमता एवं शक्ति की आवश्यकता है. आप ही बताइये भला घड़े में समस्त समुद्रजल को कौन भर सकता है ? साँप के सिर से मणि को कौन ले सकता है ? प्रज्वालित पञ्चाग्नि में कौन अपना हाथ डाल सकता है ? बिना धागे से रत्नों की माला को कौन गूँथ सकता है ? बिना बुद्धि के इस विशाल काव्य की रचना करने में मैं कैसे पार पा सकूँगा ?

उक्त प्रकार से उत्तर देकर कवि ने साहू की बात को सम्भवतः टाल देना चाहा, किन्तु साहू साहब बड़े ही चतुर थे. उन्होंने ऐसे अवसर पर वणिक्बुद्धि से कार्य किया. उन्होंने कवि को अपनी पूर्व मैत्री का स्मरण दिलाते हुए कहा कि :—

'कविवर, आप तो निर्दोष काव्य-रचना में धुरन्धर हैं. शास्त्रार्थ आदि में निपुण हैं. आपके श्रीमुख में तो सरस्वती का वास है. आप काव्य-प्रणयन में पूर्ण समर्थ हैं. अतः इस (रामचरित) ग्रन्थ की रचना अवश्य ही करने की कृपा कीजिये.'[1]

बस, कवि की सहृदय भावुकता को उकसाने के लिए इतना कथन मात्र पर्याप्त था. अन्ततः वह 'रामचरित' लिखने के लिये तैयार हो जाता है.

अपनी विद्वत्ता एवं सत्कवित्व के कारण कवि का समाज में बहुत ही उच्च स्थान था. सदाचरण, कार्यनिष्ठा, परदुःख-कातरता, एवं परोपकारवृत्ति के कारण महाकवि रइधू ने क्या राजा और क्या रंक, सभी के हृदयों पर एकच्छत्र शासन किया था. यही कारण है कि यदि कवि क्वचित् कदाचित् किसी को कोई आदेश देता था तो उसे लोग अपने गौरव की बात मानते थे. तथा उसे पूर्ण करने में लोग अपना अहोभाग्य मानते थे. एक समय की घटना है कि महाकवि को 'पासणाह चरिउ' की रचना करने की इच्छा जागृत हुई तथा उसके लिए उन्हें आर्थिक सहयोग की आवश्यकता पड़ी. तब उन्होंने साहू कुल शिरोमणि श्रीखेमसिंह को आदेश दिया कि 'तुम इस ग्रन्थ' (पासणाह चरिउ) 'रचना का भार वहन करो.'[2] साहू खेमसिंह ने जब यह सुना तो वे गद्गद् हो उठे. उनके शरीर में रोमांच हो आया तथा इस प्रकार के कवि के आदेश से उन्होंने अपने को गौरवान्वित समझकर उनका आभार माना.[3] उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक कवि से कहा :

णियगेहि उवण्णउ कप्परुक्खु, तहु फलु को णउ वंछइ ससुक्खु।
पुण्णेण पत्तु जइ कामधेणु, को णिस्सायइ पुणु विणयरेणु।
तह पइ पुणु महु किउ सइं पसाउ, महु जम्मु सयलु भो अज्जजाउ।
तुहुं धण्णु जासु एरिसउ चित्तु, कइयण गुणु दुल्लहु जेण पत्तु। —पासणाह० १।८।१–४

१. देखिये, बलभद्र० १।५।५–६.
२. देखिये, पासणाह० १।७।१२.
३. देखिये, पासणाह० १।७।१३–१४.

अर्थात् "हे कविवर, अपने ही घर में उत्पन्न हुए कल्पवृक्ष के सुखद फल को कौन नहीं खाना चाहेगा ? पुण्य से प्राप्त हुई कामधेनु को कौन शीघ्र ही नहीं दुहना चाहेगा ? आपने काव्य-रचना की स्वतः ही स्वीकृति देकर मुझ पर जो महती कृपा की है उससे मेरा समस्त जीवन ही सफल हो गया है. आप धन्य हैं जिन्हें कविजनों को दुर्लभ ऐसा सुन्दर एवं सरस हृदय प्राप्त हुआ है."

इतना ही नहीं, जब 'पासणाह चरिउ' की परिसमाप्ति हुई तथा कवि ने साहू खेमसिंह को उक्त रचना समर्पित की तो साहू साहब ने उसे अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति के साथ ग्रहण किया तथा अत्यन्त हर्ष विभोर होकर उन्होंने कवि को द्वीप द्वीपान्तरों से मँगवाये हुए वस्त्राभूषणादि उपहार स्वरूप भेंट किये जिससे कवि को भी बड़ी ही आत्म सन्तुष्टि हुई.[1]

महाकवि रइधू के त्याग, तपस्या एवं साहित्य-साधना से उनके समकालीन ग्वालियर नरेश डूँगरसिंह एवं उनके पुत्र राजा कीर्तिसिंह भी बहुत ही अधिक प्रभावित थे. डूंगरसिंह ने तो कवि को राजमहल में बैठकर ही साहित्य-साधना करने का निवेदन किया था. जिसे कवि ने स्वयं ही इस प्रकार व्यक्त किया है :

गोवग्गिरि दुग्गमि णिवसंतउ बहुसुहेण तहिं ।
पणमंतउ गुरुपाय पायडंतु जिणसुत्तु महिं । —सम्मइ० १।३।६–१०

रइधू-साहित्य का पारायण करने से विदित होता है कि वे आदिनाथ प्रभु के परम भक्त थे, किन्तु उनके मन में आदिनाथ प्रभु के प्रति जिस प्रकार की कल्पना थी, तदनुरूप कोई भी प्रतिबिम्ब उनके आसपास न था. तब उनके मन में यह इच्छा जागृत हुई कि ग्वालियर-दुर्ग में ही उसकी एक विशाल मूर्त्ति का निर्माण हो. यह बात राजा डूंगरसिंह तथा वहाँ के अन्य लोगों के कानों में पहुँची ही थी कि वह कार्य ही प्रारम्भ हो गया. फिर वह मूर्त्ति मामूली नहीं बनी. महाराज डूंगरसिंह ने दूर-दूर से चतुर कलाकारों को बुलाकर ५७ फीट ऊँची ऐसी भव्य आदिनाथ की प्रतिमा का निर्माण करा दिया जो दक्षिण भारत के गोम्मटेश्वर का स्मरण कराती है. उक्त मूर्त्ति के बाद ही मूर्त्तिकला का कार्य समाप्त नहीं हो गया. तत्पश्चात् ही योजना का पुनर्विस्तार हुआ तथा राजा डूँगरसिंह के जीवनपर्यन्त तथा उनके बाद उनके पुत्र राजा कीर्त्तिसिंह के राज्य-काल तक कुल लगातार तैंतीस वर्षों तक (वि० सं० १४६७-१५३० तक) यह कार्य चलता रहा जिसमें अगणित जैन-मूर्त्तियों का निर्माण हुआ. कवि ने लिखा है :

अगणिय अणपडिम को लक्खइ, सुरगुरु ताह गणण जइ अक्खइ । —सम्मत्त० १।१३।५

उक्त प्रतिमाओं में से आदिनाथ की मूर्त्ति की प्रतिष्ठा स्वयं कवि रइधू ने ही की थी. इसी से यह भी विदित होता है कि वे प्रतिष्ठाचार्य भी थे. मूर्त्ति लेख निम्न प्रकार है—

'संवत् १४६७ वर्षे वैशाख........७ शुक्ले पुनर्वसुनक्षत्रे श्री गोपाचल दुर्गे महाराजाधिराज राजा श्री डुंग (रसिंह) राज्य संवर्त्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे भ० गुणकीर्त्ति देवाः तत्पट्टे भ० यशः कीर्त्तिदेवाः प्रतिष्ठाचार्य पण्डित रइधू तेषां आम्नाये अग्रोतवंशे गोयल गोत्रे साधु[2]

राजा डूंगरसिंह एवं कीर्त्तिसिंह के राज्यकाल में निर्मित उक्त मूर्त्तियों ने इतिहास एवं कला के क्षेत्र में जैसा अद्भुत कार्य किया, वह अनूठा है. मध्यभारत का १४-१५ वीं सदी का जीता-जागता इतिहास इन मूर्त्तियों की आकृतियों से स्पष्ट झाँकता प्रतीत होता है. तत्कालीन मालव-जनपद की राजनैतिक आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की स्वर्णमयी रेखाएँ इन मूर्तिलेखों में विद्यमान हैं. अपनी विशिष्ट कला के कारण सदियों से इन मूर्त्तियों ने देशी-विदेशी सभी कलाकारों एवं पर्यटकों को आकर्षित किया है. सम्राट बाबर, फादर माण्ट्सेराट, जनरल-कनिंघम, जेम्स फर्ग्युसन, क्रेमरेश, एवं श्री एम० बी० गर्दे, डा० रायचौधरी, राजेन्द्रलाल मित्रा, हरिहरनिवास द्विवेदी प्रभृति

---

१. देखिये, पासणाह० १।१०।१–८.

२. देखिये—भट्टारक सम्प्रदाय लेखाङ्क ५६० पृष्ठ संख्या २१८.

दर्शकों एवं इतिहास-मर्मज्ञों ने मुक्तकण्ठ से उक्त-मूर्तिकला की प्रशंसा की है. डा० रायचौधरी ने लिखा है :[१]

"He (Dungarsen) was a great patron of the Jaina faith and held the Jainas in high esteem. During his eventful reign the work of carving Jaina images on the rock of the fort of Gwalior was taken in hand; it was brought to completion during the reign of his successor Raja Karan Singh.[२] All around the base of the fort the magnificent statues of the Jaina Pontiff of antiquity gaze from their tall niches like mighty guardians of the great fort and its surrounding landscape. Babar was much annoyed by these Rock-sculptures as to issue orders for their destruction in 1557. A. D.

मुगलसम्राट् बाबर ने अपने 'बाबरनामा' में इन्हीं मूर्तियों के विषय में लिखा था जिसका जनरल कनिंघम ने अंग्रेजी अनुवाद[३] इस प्रकार किया है :

They have hewn the solid rock of this Adiva and sculptured out of it idols of larger and smaller size. On the south part of it is a large size which may be about 40ft in height. These figures are perfectly naked, without even a rag to cover the parts of generation. Adiva is far from being a mean place, on the contrary, it is extremely pleasent. The greatest fault consists in the idol figures all about it. "I directed these idols to be destroyed."

इसी प्रकार भारत सरकार के रेलवे विभाग ने ग्वालियर सम्बन्धी अपनी एक पुस्तिका[४] में "Rock-Giants" के नाम से उक्त मूर्तियों का परिचय निम्न प्रकार दिया है :

Round the base of Gwalior Fort are several enormous figures of the Jaina Tirthamkaras or pontiffs which Vie in dignity with the colossal effigies of that greatest of all self advertisers Remses II who plastered Egypt with records of himself and his achievements. These Jaina statues were excavated from 1440-1473 A. D.

इस प्रकार कविकुल दिवाकर रइधू की प्रेरणा से ग्वालियर के "दो नरेशों के राज्य में जैन-साहित्य, संस्कृति एवं कला को प्रश्रय मिला और उनके द्वारा मूर्तिकला का जो विकास हुआ उसकी ये भावमयी प्रतिमाएँ प्रतीक हैं. ३३ वर्षों के थोड़े समय में ही कुरूप एवं बेडौल चट्टानें महानता, शान्ति एवं तपस्या की भाव-व्यंजना से मुखरित हो उठीं. अब उक्त प्रमाणों से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि महाकवि रइधू ने सचमुच ही अपने महान् व्यक्तित्व एवं कृतित्व से मालव जनपद में एक नवीन सांस्कृतिक चेतना जागृत की तथा लक्ष्मी एवं सरस्वती के चिरवैर को दूरकर उनमें एक चमत्कार-पूर्ण समन्वय स्थापित किया. अतः समन्वयवादी कवि के रूप में रइधू भारतीय साहित्य में सदा ही स्मरणीय रहेंगे.

रइधू-साहित्य में उपलब्ध प्रशस्तियों में अन्य जो विविध सूचनाएँ मिलती हैं वे भी कई दृष्टियों से अत्यन्त मूल्यवान् हैं. सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का सुन्दर वर्णन, समकालीन राजाओं का परिचय, नगर-वर्णन आदि अपने विशेष ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं.

---

१. देखिये—The Romance of the Fort of Gwalior 1931 Page 19-20.

२. समग्र रइधू-साहित्य में "कीर्तिसिंह" यही नाम मिलता है.

३. See Murry's Northen India Page 381-382.

४. See "Gwalior" (Published by the ministry of Railways) Govt. of India Delhi.

सामाजिक-दृष्टि से कवि ने तत्कालीन कई तथ्यों के साथ ही व्यक्तियों की प्रवृत्तियों पर सुन्दर प्रकाश डाला है. रइधू द्वारा वर्णित व्यक्ति नैतिक-वातावरण में पला-पुसा मिलता है. वह निरालस्य, उद्योगी, धार्मिक, दानशील, परदुःखकातर, स्वाध्याय जिज्ञासु एवं साहित्य-रसिक, गुणीजनों के प्रति श्रद्धालु तथा दीर्घायुष्य था. निरामिष, सात्त्विक भोजियों का दीर्घायुष्य होना स्वाभाविक भी था. कवि के समय में मनुष्य के सौ वर्षों तक जीवित रहने की धारणा एक साधारण-सी बात थी. रइधू का एक भक्त संसार से निर्विण्ण होकर कवि से कहता है कि "मनुष्य की आयु सौ वर्ष मात्र की है, उसमें से आधा जीवन तो सोने-सोने में निकल जाता है."[१] भारत सरकार के इम्पीरियल गजैटियर के अनुसार भी मध्यभारत के जैनियों की आयु अपेक्षाकृत लम्बी देखी गई है :

The age statistics show that the Jainas, who are the richest and best mourished community are the longest, while the Animists and Hindus show the gratest fecundity.[२]

तत्कालीन समाज की जिनवाणी-भक्ति एवं साहित्य-रसिकता के परिणामस्वरूप ही महाकवि रइधू तथा अन्य कवियों का अमूल्य विशाल साहित्य लिखा जा सका था. उन लोगों के निःस्वार्थ एवं निश्छल आश्रय में रहकर कविगण मां-भारती की अमूल्य सेवाएं करते रहे. कवियों ने भी अपने परमभक्त एवं श्रद्धालु आश्रयदाताओं की भक्ति से प्रभावित होकर उनका स्वयं का तथा उनकी ६-६; ७-७ पीढ़ियों तक की वंशावलियाँ एवं पारिवारिक इतिहास आदि को अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियों के माध्यम से लिखकर उनके प्रति कृतज्ञता का परिचय देकर एक ओर जहाँ अपनी अमर-कृतियों के साथ उन्हें अमर बना दिया, वहीं दूसरी ओर भावी परम्पराओं के लिये एक अमूल्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास भी तैयार कर दिया. इस प्रकार अग्रवाल, जैसवाल, खण्डेलवाल, पद्मावति-पुरवाल आदि जातियों से सम्बन्ध रखने वाले बहुमूल्य तथ्य इस साहित्य में उपलब्ध हैं.

मालव-जनपद की महिला-समाज से तो कवि इतना अधिक प्रभावित था कि उनके गुणों के वर्णन में कवि की लेखनी अबाधगति से दौड़ती थी. कवि लिखता है कि "वहाँ की नारियाँ दृढ़शीलव्रत से युक्त थीं. विविध प्रकार के दानों से पात्रों का संरक्षण करती थीं. ऐसा प्रतीत होता है मानों वहाँ नारी के रूप में साक्षात् लक्ष्मी ने ही अवतार ले लिया है. वहाँ असुन्दर तो कोई दीखता ही न था. प्रातःकाल क्रियाओं से निवृत्त होकर सुन्दर-सुन्दर मोती जड़े वस्त्राभूषणादि धारणकर पूजा के निमित्त प्रमुदितमन से नारियाँ मन्दिरों की ओर जाती थीं तथा देव एवं गुरु के चरणों में माथा झुकाती थीं. सम्यग्दर्शन के पालन में प्रवीण थीं. पर पुरुषों को अपने भाई के समान मानती थीं. मैं वहाँ के स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में अधिक क्या कहूँ जहाँ कि बच्चा-बच्चा भी सप्तव्यसनों का त्यागी था."[३] इस प्रकार महाकवि रइधू की नारी परमशीलवती, पतिभक्ता, धार्मिक, गृहकार्यकुशल, उदारचित्त, परदुःखकातर, दानशीला, परिवार-पोषक एवं आलस्यविहीन है. उसे अपने बच्चों के सुसंस्कारों का सदा ध्यान रहता है. उसकी देख-रेख में बच्चों का स्वभाव ऐसा हो जाता है कि वे सप्तव्यसनों तथा अन्य अनैतिक-प्रवृत्तियों से सदा दूर रहकर परम आस्थावान बन जाते हैं. इसे ही माँ का सच्चा मातृत्व कहा जा सकता है. रइधू ने नारी में माँ के दर्शन करके ही उसे ऐसा चित्रित किया है. इसलिए जहाँ उसे नारी-सौन्दर्य के वर्णन करने का अवसर मिला है, वहाँ बस "गइ हंसजीव" (हंस की गति के समान चलने वाली); "ललिय गिरा" (सुन्दर मधुर वाणी बोलने वाली) जैसे विशेषण तक ही उन्होंने अपने को सीमित रखा है. महाकवि केशव, देव, मतिराम या बिहारी अथवा अन्य शृंगार-रस के रसिक धुरन्धर कवियों के समान वासना को उभाड़ने में वे बहुत ही पीछे पड़ गये हैं. उनकी इस सीमा को चाहे उनका दोष माना जाय अथवा गुण, यह बहुत कुछ निष्पक्ष समालोचकों के हाथों में ही है, किन्तु वस्तुस्थिति यही है.

---

१. देखिये सम्मत्त० १.८.१.

२. See Imperial Gazetteer Vol. IX Page 353.

३. देखिये—सम्मत्त० १-६-१०-१६

दाम्पत्य-जीवन की सार्थकता तभी मानी जाती थी, जब कि सुयोग्य संतति की प्राप्ति हो. उसके अभाव में उत्तराधिकार की एक विकट समस्या उठ खड़ी होती थी. उसके अभाव में कौन तो चल-अचल सम्पत्ति का संरक्षण करेगा, गृहस्थ-धर्म-नीति का प्रवर्तन कौन करेगा ? आश्रितों के आँसू पोंछकर उनका लालन-पोषण कौन करेगा ?"[1] विशेषतया माँ का आधार तो पति की मृत्यु के बाद पुत्र ही है उसीको अपनी आशाओं का केन्द्र मानकर वह घर में वास करती है.[2]

आर्थिक स्थिति की दृष्टि से कवि ने प्रशंगवश बहुत-सी बातों की चर्चा की है. वस्तुतः अर्थ-व्यवस्था किसी भी समाज या राष्ट्र की रीढ़ होती है. उसकी पृष्ठभूमि में विभिन्न परम्पराएँ निर्मित होती हैं. जन-जीवन का विकास तथा रीतिरिवाज भी उसी के आलोक में प्रकाशित होते हैं. मालवा का रइधू कालीन समय कई दृष्टियों से समृद्ध था. समाज, संस्कृति एवं साहित्य का जो अभूतपूर्व विकास वहाँ हुआ, उसका प्रमुख कारण वहाँ की शान्तिपूर्ण एवं स्थिर राजनीति एवं अर्थव्यवस्था ही थी. कवि के सम्मुख आर्थिक सम्पन्नता का चित्रण करने के लिये इतनी सामग्री थी कि उसे वह अपने साहित्यरूपी विशाल क्षेत्र में दोनों हाथों से उछाल-उछालकर बिखेरता चला है. सामान्य-जन को उसका चुन सकना कठिन है. कवि के अनुसार मालव जनपद सभी प्रकार के धन-धान्य से परिपूर्ण था.[3] ऐसी कोई भी वस्तु न थी जिसका कि वहाँ अभाव हो.[4] वहाँ का व्यापारी वर्ग न्यायपूर्वक सम्पत्ति का अर्जन करता था फिर भी उसका उपयोग भोगैश्वर्य में नहीं करता था. लोग सदैव ही इस प्रकार सोचा करते थे कि 'ऐसी सम्पत्ति के अर्जन एवं संचय से क्या लाभ जिससे दीन-दुखी एवं आवश्यकता वाले लोगों की आवश्यकताएँ ही पूर्ण न हों.'[5] 'पासणाहचरिउ" की रचना-समाप्ति के बाद कवि ने जब उसे अपने आश्रयदाता खेमसिंह साहू को समर्पित किया तो उन्होंने कवि को द्वीप-द्वीपान्तरों से लाये गये विविध वस्त्राभूषणादि भेंट-स्वरूप प्रदान किये थे.[6] इससे प्रतीत होता है कि साहू खेमसिंह तथा अन्य लोगों का व्यापार विदेशों में भी चलता था तथा उच्चकोटि के कपड़े तथा सोना-चाँदी हीरा-मोतियों आदि सामग्रियों का प्रर्याप्त मात्रा में आयात-निर्यात किया जाता था.

नगर-वर्णन की दृष्टि से महाकवि रइधू ने अपनी प्रशस्तियों में ग्वालियर का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है. उसके समय में वहाँ का वैभव अपने यौवन पर था. वहाँ के कलापूर्ण भवन एवं जिन मन्दिर, जन-कोलाहल से परिपूर्ण सुन्दर सड़कें, सोने-चाँदी एवं हीरे मोतियों से भरे हुए बाजार, स्थान-स्थान पर निर्मित दान शालाएँ, चटशालाएँ आदि किसी के भी मन को मोह सकती थीं. समृद्ध व्यापारी-वर्ग धर्म एवं साहित्य की सेवा में सदैव आग्रगामी रहता था. ग्वालियर में विद्वानों, कवियों का निवास-स्थान था. समाज में उन्हें खूब प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्राप्त होता था. नगरवधुएँ जब प्रभाती गीत एवं पूजन-भजन के सुन्दर पद्य मधुर स्वर लहरी से गाती हुई निकलतीं तो नगर में शान्ति का साम्राज्य छा जाता था. इसे देखकर कवि स्वयं ही आत्मविभोर हो उठता था. सर्व गुण-सम्पन्न होने के कारण कवि को ग्वालियर के लिये 'पण्डित' की उपाधि देनी पड़ी. वह कहता है कि—'पृथ्वी मण्डल में प्रधान, देवेन्द्रों के मन में भी आश्चर्य उत्पन्न कर देने वाला, विशाल तोरणों एवं शिखरों से युक्त यह गोपाचल नगर ऐसा लगता है मानों पण्डित श्रेष्ठ गोपाचल हो.'[7] आगे चलकर कवि ने ग्वालियर-नगर का बड़ा ही सुन्दर एवं विशद वर्णन किया है.[8] ग्वालियर को

---

१. देखिये—सुकौशल चरित ३-१८-११.
२. देखिये—असुकौसल० ४।७।६.
३. देखिये—मेहेसर० १।४।८.
४. देखिये—मेहेसर० १।४।६.
५. देखिये—पउमचरिउ. १।३।१०.
६. देखिये—पासणाह० ७।१०।५-६.
७. देखिये—पासणाह० १।२।१५-१६.
८. देखिये—पासणाह० १।३।१-१४.

पण्डित श्रेष्ठ की संज्ञा देकर भी कवि को जब पूर्ण सन्तोष न हुआ तब उसने पुनः उसे श्रेष्ठतमनगरों का गुरु भी उसे मान लिया.[१]

कवि के उक्त नगर-वैभव के वर्णन की शैली एवं परम्परा नगर के ऐतिहासिक तथ्य को व्यक्त करने की दृष्टि से तो अपना विशेष महत्त्व रखती ही है लेकिन इससे भी ज्यादा महत्त्व इस बात में है कि वह परवर्त्ती साहित्यकारों के लिये एक प्रेरणा का जनक बन गया. जो सिद्धहस्त कवि थे, वे उससे अनुप्राणित हुए तथा जो नवशिक्षित अथवा नव दीक्षित थे. उसका उन्होंने शब्दशः अनुकरण किया. महाकवि रइधू के लगभग ४०-५० वर्ष बाद ही एक माणिक्कराज (वि० सं० १५७६) नाम के कवि हुए हैं, जिन्होंने अपभ्रंश में 'अमरसेन चरिउ' नामक काव्य लिखा था. उसके प्रशस्ति-खण्ड में उन्होंने भी नगर-वर्णन किया है. उक्त कवि ने ४-६ शब्द बदल कर महाकवि रइधू का ग्वालियर नगर-वर्णन पूरा का पूरा आत्मसात कर लिया.[२]

इसी प्रकार 'पण्डित श्रेष्ठ' गोपाचल की चरणरज लेकर अपने को पवित्र मानने वाली सुवर्णरेखा नदी का चमत्कार भी देखिये कवि ने इस प्रकार वर्णित किया है :

> सोवण्णरेह णं उवहिं जाय णं, तोमरणिव पुण्णेण आय।
> ताइत्रि सोहिउ गोवायलक्खु, णं भज्ज समाण उं णाहु दक्खु। —पासणाह० १।३।१५-१६
> सोवण्णरेख णइ जहिं सहए, सज्जण वयणु व सा जलु वहए। —मेहेसर १।४।४

आजकल वही महाभागा सुवर्णरेखा नदी सूखकर मानों काँटा बन गई है. आज वही एक नदी के नाम पर बैलगाड़ी के रास्ते मात्र के रूप में बची है.[3]

To the eastside the denseness the houses is interested by the broad bed of the Suvernrekha or golden streak rivulet, which being generally dry, form some of the principal thorough-fares of the city (of Lashkar) and is almost the only one passable by Carts."

एक ओर ग्वालियर नगर जहाँ अर्थ एवं कला के वैभव का धनी था, दूसरी ओर वह प्रकृति का प्राङ्गण भी बना हुआ था. वहाँ के नदी, नद, वन, उपवन, विशाल सरोवर, हरे-भरे मैदान, सरोवरों में कूजने वाले कलहंस वापिकाओं में जल-क्रीड़ा करने वाले नर-नारी सभी के मनों को मोह लेते थे.[४] एक जगह तो कवि ने बड़ी ही सुन्दर कल्पना की है. उसके अनुसार नगर के 'भवन-भवन नहीं, राजा डूंगरसिंह की सन्तति परम्परा ही[५] थी.' कवि का भाव देखिये कितना गूढ़ है, एक तीर से दो लक्ष्यों की सिद्धि उसने की है. भवनों की कलात्मक भव्यता का दिग्दर्शन एवं दूसरी ओर राजा राजा के यश का स्थिरीकरण.

महाकवि रइधू ने अपनी प्रशस्तियों में अपने समकालीन दो राजाओं का उल्लेख किया है तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह एवं उनके पुत्र राजा कीर्ति सिंह. ग्वालियर-राज्य के निर्माताओं में इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है. डूंगरसिंह जैसा वीर-पराक्रमी, धैर्यशाली, प्रजावत्सल, धार्मिक, उदार, निष्पक्ष, प्रगतिशील, साहित्य-रसिक एवं कलाप्रेमी राजा दूसरा नहीं हुआ. वह राज्य के सुख एवं समृद्धि का जनक था. वहाँ के रइधू कालीन जैन-साहित्य एवं कला के विकास का सारा श्रेय उसीको है. महाकवि रइधू के वर्णन के अनुसार डूंगरसिंह का समय 'सुवर्णकाल' ही था यह स्थिति उसे परम्परा से प्राप्त हुई हो ऐसी बात नहीं. उसने काँटों से भरा-पूरा ताज अपने सिर पर रखा था. मुगलों एवं उनके पूर्व के शत्रु

---

१. देखिये—पासणाह० १।३।१७-१८.
२. देखिये—डा० कस्तूरचन्द्र जी कासलीवाल द्वारा सम्पादित "प्रशस्ति-संग्रह (जयपुर १९५०) पृष्ठ ८०-८१.
३. See Murrys Northern India Vol. I pages 381-382.
४. देखिये—सम्मत्त० १।३।१-५.
५. देखिये—मेहेसर० १।४।५.

राजाओं ने अपने आक्रमणों से ग्वालियर को जर्जर कर दिया था. उसके समय में चतुर्दिक अनिश्चित परिस्थितियों का वातावरण था. ऐसी स्थिति में राजा डूंगर सिंह को राजगद्दी मिली थी. अनेकों रात्रियाँ घोड़े की पीठ पर ही काटने के बाद उस नरव्याघ्र ने अपने कुशल पराक्रम से शत्रुओं का बल नष्ट कर ग्वालियर के प्रजा-जीवन के इतिहास का एक नवीन अध्याय प्रारम्भ किया था. रइधू-साहित्य में इसके प्रचुर मात्रा में उल्लेख मिलते हैं. एक स्थान पर कवि ने लिखा है.

तहिं तोमर कुलसिरि रायहंसु, गुण गण रयणाहस लद्धसंसु ।
अण्णाय णाय सासण पवीणु, पंचंग मंत सत्यहं पवीणु ।
अरिराय उरत्थलि दिण्ण दाहु, समरंगणि पत्तउ विजयलाहु ।
खग्गग्गि डहिय जें मिच्छवंसु, जस ऊरिय ऊरिय जे दिसंतु ।
णिव पट्टालंकिय विउल भालु, अतुलिय बल खलकुल पलयकालु ।
सिरि णिवगणेस णंदणु पयंडु, णं गोरक्खण विहिणउवसंडु ।
सत्तंग रज्ज भर दिण्ण खंडु, सम्माणदाण तोसिय सबंधु ।
करवाल पट्टि विप्फुरिय जीहु, पव्वंत णिवइ गयदलण सीहु ।[1]

राजा डूंगर सिंह का दरबार सभी के लिये समान रूप से खुला रहता था. प्रजा का कोई भी धनी या गरीब व्यक्ति उनके सम्मुख जाकर अपने दुःख-सुख की बातें सुना सकता था. पिछले एक स्थल पर संघपति कमल सिंह के साथ घटित एक घटना का उल्लेख किया ही जा चुका है. उससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि वह केवल तलवार का धनी एवं लड़ाकू मात्र ही न था अपितु प्रजा के सुख-दुःख का सच्चा सहभागी, सात्त्विक एवं साहित्य प्रेमी भी था. इससे भी बढ़ कर जो एक नवीन बात ज्ञात होती है वह यह कि—वह इतिहासवेत्ता भी था. कल्पना कीजिये ५०० वर्ष पहले के युग की जब कि यातायात के आज जैसे सुविधाजनक एवं शीघ्रगामी साधनों की उस समय कल्पना भी न थी फिर भी डूंगर सिंह ने सैकड़ों मील दूर स्थित सोरठ, आबू तथा दिल्ली आदि के इतिहास की जानकारी प्राप्त की थी तथा उन-उन राज्यों के आदर्शों से प्रेरणाएँ लेता रहा. यह कह सकना तो कठिन है कि महाकवि रइधू उनके गुरु थे किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि वह रइधू का सम्मान करता था तथा उन्हें दुर्ग में रहने के लिये सर्वसुख-सम्पन्न निवास स्थान दिया था जैसा कि पूर्व में लिखा ही जा चुका है. उनकी सत्संगति में रहकर ही राजा ने आत्मिक एवं बौद्धिक विकास के साथ ही यदि इतिहास की जानकारी भी प्राप्त की हो तो यह असम्भव नहीं. कवि डूंगर सिंह से स्वयं ही अत्यन्त प्रभावित था. उनकी नीतिमत्ता, कलाप्रेम पराक्रम एवं एकच्छत्र राज्य की स्थापना का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है.[2]

णीइ तरंगिणी णावइ सायरु, सयल कलालउ णवि दोसायरु ।
वे पक्खुज्जलु णियपय पालउ, म्लिच्छ णरिंद वंस खय कालउ ।
एयच्छत्तु रज्जु रज्जु जिजो भुंजइ, सुणियण विंदह दाणें रंजइ ।

डूंगर सिंह की पट्टरानी का नाम था चंदादे.[3] उससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम था कीर्तिसिंह. बल, पराक्रम एवं धार्मिक-कार्यों में वह अपने पिता से कम न था. कवि ने उसके सम्बन्ध में लिखा है :

तहु णंदणु णिरुवमु गुण णिहाणु, तेयग्गलु णं पंचक्खु भाणु ।
णं णवउ णसंकरु पुहमि जाउ, जं जय सिरीए पयडियउ भाउ ।
सिरि कित्तिसिंघु णामें गरिट्ठु, णं चंदु कलायरु जय मणिट्ठु ।[4]

---

१. देखिये—पासणाह० १।४।१-१२.
२. देखिये—मेहेसर० १।५।१-३.
३. देखिये—पासणाह० १।५।१.
४. देखिये—मेहेसर० १।५।३-५.

तोमर कुल कमल वियास मित्त, दुव्वार वैरि संगर अतित्तु।
डूंगर णिव रज्ज धरा समत्थु, वंदीयण समप्पिय भूरिअत्थु।
चउराय विज्ज पालण अतंदु, णिम्मल जसवल्ली भुवण कंदु।
कलि चक्कवट्टी पायड णिहाणु, सिरि कित्तिसिंधु महवइ पहाणु।[1]

श्री डा० हेमचन्द्रराय का इस विषय में कथन द्रष्टव्य है :[2]

Karan Singh[3] was a Vigorous rular as his father Raja Dungarsingh. He extended the boundaries of his Kingdom by fresh conquest and maintained cordial relations with the King of Delhi. In 1465 A. D. he was attacked by Hussain, the Sharqui King of Jaunpur, but a treaty of mutual friendship was soon concluded between them. When Bahlol Lodi, the energetic Afghan King of Delhi took the offensive against Hussain in 1478. Karan Singh rendered valuable assistance to the later. The arms of Bahlol Lodi-how ever, triumphed and he annexed the Jaunpur kingdom. He was deeply incensed against Karan Singh for having aided Hussain. After the conquest of Jaunpur Bahlol attacked tha chief of Dhaulpur, who purchased his safety by offering a Cash Nazar (नजर या नजराना). Bahlol now bore down on Gwalior with an army of two lacs, well mounted and well armed Karan Singh could not muster a force of even one half the number of the invadors and was therefore obliged to follow the example of Dhaulpur to escape molestation. However he shook off the yoke as soon as Bahlol was known to be busy elsewhere. In 1479 A. D. Karan Singh passed away and was succeeded by Kalyan Singh who ruled for a period of 7 years.

भट्टारकों की परम्परा में रइधू ने अपनी रचनाओं की प्रशस्तियों में विजयसेन गुणकीर्ति (वि० सं० १४६८-७३) यशःकीर्ति (वि० सं० १४८६-९७), क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति (वि० सं० १४९९) कुमारसेन (१५०६-३०) कमलकीर्ति (वि० सं० १५०६-१०) तथा उनके शिष्य शुभचन्द्र (वि० सं० १५०६-३०) का उल्लेख किया है. इनमें से भट्टारक यशःकीर्ति एवं भट्टारक शुभचन्द्र को कवि ने गुरुरूप में स्मरण किया है. भ० शुभचन्द्र का परिचय देने के लिये कवि ने एक बड़ी ही ऐतिहासिक घटना का उल्लेख किया है, वह यह कि उनके गुरु भ० कमलकीर्ति ने कनकाद्रि (सोनागिर म० प्र०) पर एक भट्टारकीय गद्दी की स्थापना की थी जिसका पट्टधर भ० शुभचन्द्र[4] को ही बनाया गया था. कवि की इस सूचना से यह स्पष्ट है कि सोनागिर उस समय विद्या का बड़ा भारी केन्द्र बन गया था. भ० यशःकीर्ति के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है कि 'उन्होंने मुझे आशीर्वाद के साथ गुरुमंत्र दिया जिसकी कृपा से मैं कवि बन गया.'[5]

पूर्ववर्ती साहित्य एवं साहित्यकारों में कवि ने देवनन्दि एवं उनका जैनेन्द्र व्याकरण जिनसेन एवं उनका महापुराण रविसेण एवं उनकी रामायण, पविशेन (वज्रसेन ?) एवं उनका षड्दर्शन, सुरसेन (देवसेन ?) एवं उनका मेघेश्वर चरित, दिनकरसेन एवं उनके अनंग चरित का उल्लेख करते हुए महाकवि स्वयम्भू, चउमुह एवं पुष्पदन्त का अत्यन्त सम्मान पूर्वक स्मरण किया है. कवि के उक्त उल्लेखों से दो बातों की सूचना स्पष्ट मिलती है. प्रथम तो यह

---

१. देखिये—सम्यक्त्व कौमुदी-अन्त्य प्रशस्ति.
२. देखिये—The Romance of the fort of Gwalior Page 19-20.
३. कीर्ति सिंह का ही दूसरा नाम करन सिंह है.
४. देखिये, हरिवंस० १।२।१२-१३.
५. देखिये, मेहेसर० १।३।८.

कि कवि ने अपनी रचना के लेखन काल में उक्त साहित्य एवं साहित्यकारों को अपने सम्मुख एक आदर्श के रूप में रखा है तथा दूसरा यह कि कवि ने अपनी रचनाओं में जो कुछ भी लिखा है वह सब उसने परम्परा के अनुसार ही लिखा है आगम विरुद्ध नहीं.

इस प्रकार उक्त सूचनाओं से यह स्पष्ट ही विदित हो जाता है कि १४-१५ वीं सदी (वि० सं० १४५०-१५३६) के इस महाकवि ने साहित्य-जगत् में कैसा अद्भुत कार्य किया है. साहित्य के साथ इतिहास का समन्वय कर उसने साहित्य समाज एवं राष्ट्र की बहुमुखी अमूल्य सेवा की है. मध्य भारत के सम्बन्ध में उनकी सूचनाएँ अत्यन्त नवीन एवं मौलिक हैं. इनके आधार पर वहाँ का एक सांगोपाँग, विशद एवं प्रामाणिक राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा मूर्ति, एवं स्थापत्यकला का सुन्दर इतिहास तैयार हो सकता है. विस्तार के भय से प्रस्तुत निबन्ध अत्यन्त संक्षेप में लिखना पड़ा है. इसीलिए इसमें पूर्ण सामग्री भी उपस्थित नहीं की जा सकी है. यद्यपि कुछ विशेष दिक्कतों के कारण रइधू के सभी ज्ञात हस्तलिखित ग्रन्थों में से कुछ ग्रंथ भी मुझे उपलब्ध नहीं हो सके, किन्तु जो मिल गये उन्हीं के आधार पर उक्त लेख एक बानगी के रूप में सहृदय पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया गया है. कवि की सभी रचनाएँ अप्रकाशित हैं तथा दुर्भाग्य से उनकी सभी प्रतिलिपियाँ एक ही स्थान पर संग्रहीत नहीं हैं, देश के विविध शास्त्र-भण्डारों में इक्के-दुक्के यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं. वहाँ से आसानी से उपलब्ध कर उनका पूर्ण उपयोग किया जा सके ऐसी सुविधाएँ भी शोधकों के लिए अभी सम्भव नहीं हो सकीं. उक्त कवि के साहित्य पर अभी किसी का विशेष ध्यान भी नहीं गया है अतः प्रायः सभी प्रकार के साधनों के अभावों में भी यहां जो लिखा गया, यह एक साहसी प्रयास ही है. आशा है साहित्य जगत् इससे एक अप्रकाशित महाकवि का मूल्यांकन शीघ्र ही करेगा.

रत्नचन्द्र अग्रवाल
अध्यक्ष, पुरातत्त्व व संग्रहालय विभाग, उदयपुर

# धौलपुर का चाहमान 'चण्डमहासेन' का
# संवत् ८९८ का शिलालेख

वर्लिन से प्रकाशित ZDMG (अंक ४०, पृ० ३८ तथा आगे) नामक जर्मन-पत्रिका में डॉ हुल्श ने Eine Inschriptedes Chauhan chandamahasena von Dholpur शीर्षक लेख प्रकाशित किया था. जिसके अंतर्गत वे भरतपुर के समीपवर्ती क्षेत्र 'धौलपुर' से प्राप्त संवत् ८९८ (८४२ ईसवी) का शिलालेख प्रकाश में लाए थे. प्रस्तुत शिलालेख की २६ पंक्तियां 'संस्कृत' भाषा में उत्कीर्ण हैं. इसमें चौहान कुलोत्पन्न ईसुक के पुत्र महिषराम का उल्लेख कर महिषराम के पुत्र चण्डमहासेन की पर्याप्त स्तुति की है और उसके द्वारा चण्डस्वामी देवभवन की प्रतिष्ठा का समय भी प्रस्तुत किया है ।

प्रथम दो श्लोकों में सूर्य-स्तुति की गई है, तदुपरान्त ईसुक (श्लोक ३), उसके पुत्र महिषराम (श्लोक ४-५) का उल्लेख है. महिषराम की स्त्री 'कण्हुल्ला' ने चण्डमहासेन को जन्म दिया था और कालान्तर में अपने पति के साथ सती हो गई थी (भर्तृसमेता प्रविश्याग्नौ दिवंगता-श्लोक ६) चण्डमहासेन उदारहृदय का व्यक्ति था और उसके राज्यकाल में प्रजा प्रसन्न एवं सुखी थी, उसका राज्य न्यायपूर्ण था. वह सम्भवतः सूर्योपासक था क्योंकि शिलालेख के प्रारम्भ में ही सूर्य वन्दना की गई है और उसने 'धवलपुरी' (धौलपुर, पंक्ति १८-२०) में 'चण्डस्वामि' का भवन वनवाया था. इसकी प्रतिष्ठा संवत् ८९८ के वैशाख मास की शुक्लपक्षीय द्वितीया, दिन रविवार को सम्पन्न हुई [पंक्ति २१-२२] अर्थात् १६ अप्रैल ८४२ ई० को.

प्रस्तुत लेख की १६ वीं पंक्ति में 'चम्वल' नदी के किनारे वसे [चर्मण्वती] म्लेच्छों के स्वामी को चण्डमहासेन के अधीन वताकर यह लिखा है कि 'अनिर्ज्जित आदि समीपवर्ती ग्रामाधीश [पल्लीपतयः, पंक्ति १७] नीचा सिर किए धौलपुर [धवलपुरी] नगर में घूमते थे.' खेद है कि अनिर्ज्जित आदि के विषय में कोई अधिक जानकारी नहीं है. अपरं च म्लेच्छ आदि की पहचान भी कठिन प्रतीत होती है. इस सम्वन्ध में डा० एच० सी० रे [डाइनैस्टिक हिस्ट्री आफ नर्दर्न इण्डिया, कलकत्ता, भाग २, १९३६, पृ० १०५८] का यह सुझाव है कि 'म्लेच्छ' शव्द प्रारम्भिक अरवाक्रामकों [Early Arabs] का सूचक है. इसके विपरीत डा० दशरथ शर्मा [अर्ली चौहान डाइनैस्टीज, दिल्ली, पृ० १८] का विचार है कि 'म्लेच्छों' से क्षेत्र के भील-जनसमुदाय की पहचान होनी चाहिए क्योंकि 'शब्दार्थचिंतामणि, [भाग ३, पृ० ४४१] में इनकी गणना म्लेच्छों में की गई है—मल्लभिल्लकिराताश्च सर्वेपि म्लेच्छजातयः. डा० शर्मा के अनुसार ये आज भी चम्वल के दोनों किनारों पर वसे हैं. सम्भव है कि इस क्षेत्र के उपद्रवी लोग इन म्लेच्छों के ही वंशज हों.

प्रस्तुत लेख धौलपुर क्षेत्र के पूर्व मध्ययुगीन इतिहास के लिये अधिक उपयोगी है और उपर्युक्त जर्मन पत्रिका राजस्थान के किसी भी पुस्तकालय में प्राप्य नहीं है. अतः राजस्थान के प्राचीन इतिहास के प्रेमियों एवं विद्यार्थियों के अध्ययन हेतु ZDMG के सौजन्य से उसकी प्रतिलिपि[1] निम्नरूपेण प्रस्तुत की जा रही है :

पंक्ति १. ओं ओं नमः [।।] श्रीमां त्रैलोक्यदीपः प्रणतजममाना वांछितस्योह दाता. नित्यं लोके पदार्थ प्रकटनपटवो भानवो यस्य दीप्त ।। साध्यन्ते सत्व [··········]

---

१. उक्त प्रतिलिपि मेरे मित्र डा० प्रभात, प्राध्यापक हिन्दी विभाग, वम्बई ने स्थानीय विश्वविद्यालय में सुरक्षित पत्रिका से नकल करके भेजी थी. जिसके लिये मैं उनका अति आभारी हूं.

पंक्ति २. प्रतपति भुवने मोक्षधर्मार्थसाराः [।] भास्वान् पद्मालयादः सकलभूमितो मंगल वः प्रकुर्यात् ।। [१] विप्राः समुनयो देवाः संध्यायां यमुपासते । स श्री—

३. चण्डमहासेनं भास्करो व्याद्वारप्रदः ।। [२] आसीदनेकगुणवृन्दनिवासभूमिः सौम्यकृपालुरनघो विजितारिवर्गः । मानी शुचिः प्रणयी पूरितचिन्ति

४. ताशः श्री ईसुक कृतयुगानुकार स्वभावः [३] तस्यामुद्दानमानानघरणविजयोपर्ज्जिताशेषकीर्तिः [।] विद्वन्मार्ग-प्रवृत्तो निजकुलतिलकः क्षीण—

५. निश्शेषशत्रुः [।] धीमान् धीरो धरायां प्रथितबहुगुणप्रीणिताशेषदेवः [।] पुत्रो रामानुकारी जगति महिपरामः स्वभावैर्व्विशालैः ।। [४] तस्यासीद्विम—

६. ला प्रिया सुरुचिरा तन्मी मनोहारिणी [।] दौर्ग्गत्योरुतमोगता जनानुता सौम्यालंकारशुभा । सा श्रीका निजवंश-शम्भुशिरश्चूडामणिरवं गता

७. कण्हुल्ला नवचन्द्रमूर्तिसदृशी लावण्यकान्त्यावृता ।। [५] सा श्रीचण्डमहासेनं पुत्रं पुत्रार्थसाधकं । प्रसूय भर्तृ-समेता प्रविश्याग्नौ दिवं गता ।। [६] यस्त्यागास्थिर—

८. तादिभिर्गुणणतोरंकाधिवासकृताः [।] यं विद्वेषिगण प्रणम्य लभते पूर्वातिरिक्तां द्युतिं । स श्रीचण्डमहीपति-श्चिरमसौ न्यायेन रक्षन् क्षितिं [अ] व्याज्जी—

९. वति जनः पैशुन्यशून्यं सुखं ।। [७] श्यामशक्तियुतो विशालनयनो विश्रामभूमि सतां [।] सव्यः संगतवृद्धिदः सुचरितैः ख्यातिगतः सद्गुणः । [प्र]—

१०. ध्वस्तारिगणः प्रतापनिकशः मार्ग्गसतां संस्थितः । सादृश्यं हरिणा परं स ह गतः श्रीचण नामा नृपः [८] आदौ तनुर्व्वितत्तर खलु मध्यदेशे [।] येनानवर्त्तनगु—

११. णः स्खलितोपि यायी [।] श्री चाहवाख्य वरभूपति चारुवंशो गंगाम्बुवाहसदृशो ननु माणतान्त ।। [९] प्रसाधन-विधौ येन विद्विपः करपो [तर्कैः] संको [चि] तास्व—

१२. कान्तानामलका इव लीलया ।। [१०] अनवरतलक्षहेमज [धूमाकुल] गगनमध्यपरिवर्त्तिमूह्यति परं स्वमार्गो भास्कर रथसारथी[१] यस्य ।। [११] राहू परो–

१३. धपर्व्वणि गोदशशतं विप्रप्रदानेन ।। लक्ष्मी प्रवर्द्धतेऽलं विधिना भुक्तं इति परितुष्टा ।। [१२] संकान्तावयनदी विप्रेभ्यो यद्ददाति तुष्टमनाः ।

१४. विस्मितहृदयो विधिरपि तेनास्ते किं पुनर्लोक ।। [१३] व्यत्पद्यन्ते यस्य प्रतिदिनमाभिनवरसा नवान्याधिकाः । [अ] नोधविदां सम्य [क् प्रे] —क्षणके

१५. नित्ययुक्तानां ।। [१४] अभियुक्ततर द्विजवेदाध्ययन श्रवणभूरिभयभीतं । मूर्खहृदयवत्पापं मढौकतो यस्य गृह-भूमौ ।। [१५] अन [व] र [त] वर तु [रंगनवा]—

१६. हनलीला रसाहतोरुगिरि । उर्ध्वं गच्छन् जनयति[ .........] शंकां रथ यस्य ।। [१६] चर्मगवर्तानटद्दर-संस्थित-म्लेच्छाधिपाः प्रवर शूराः ईप्सितरणाः

१७. प्रनता सेवां कुर्व्वन्ति यस्यानु ।। [१७] यस्य प्रतापरिद्धाः पल्लीपतयो व्यनिर्ज्जित प्रसुप्ताः [।] गुम्भारम्भान्मा इव भ्रमन्ति नगरे विनमितांगा [१८]

---

१. अर्थात् 'अरुण' सारथी. चण्डमहासेन सूर्योपासक था. इस शिलालेख में उसके लिए केवल 'चण्ड' शब्द का भी उपयोग किया गया है. प्रथम पंक्ति में त्रैलेक्यदीप तो सूर्य का परिचायक है.

पंक्ति १८. श्री चण्डमहासेन प्रचण्डरिपुदर्प्पसातनः स इह । धवलपुरीतो[1] व्रजति (च)आहेटक कौतुकत्वेन ।। (१९) अ [ट] वी दृष्टा चेयं खणीया रम्य–

१९. वृक्षगुणयोगात् । विषमतरदुर्ग्गगहना प्रतिदिनमभिगच्छता तेन ।। (२०) सादूलसिंघशूकरवृकहरिणशिवाकुला भीमा । आ—

२०. सन्न-स्थित-सलिला योग्या देवालय—सदा ।। (२१) शाभतर कृत पुण्योदय समार्ज्जिताऽशेषद्रव्यनिचयेन. चण्डस्वामि निवेश [श्च][2]

२१. ण्डेन कृत प्रचण्डेन ।। (२२) वसुनवाष्टौवर्पा (:) गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य[3] वैशाखस्य सितायां रविवार-युतद्वितीयायां ।। (२३) चन्द्रे रो—

२२. हिणीसंयुक्ते लग्ने सिंघस्य शोभने योगे[4] सकलकृतमंगलस्य ह्यभूत्प्रतिष्ठास्य भवनस्य ।। (२४) गम्भीरं विपुलं शुभासयमलं.

२३. सत्तापहृत्सेवितं [।] जंतूनां मनसः प्रसादजननं सेव्यं शुभं निर्म्मलं ।। कोवेर्यां दिशि संस्थितं च सुमहत् श्रेष्ठं तटाकं ततः चि–

२४. तस्येह सतां विभाति सदृशं तेनैवे तत्तानितं ।। (२५) यत्कीर्त्या जगति प्रकाशितमलं तत्रोरु शुभ्र यं सः [।] नानापक्षिगणा रवैः श्रुति–

२५. सुखैश्चण्डस्य तद्गीयते. पूर्व्वेणापि शिला च यैः सुघटितैर्बद्धा विशाला दृढ़ाः [।] वाणी तस्य विभाति पुण्य-निचयस्यां श्रोनिधिः

२६. साश्वतः ।। (२६) आम्राली निम्वपंक्तिर्वरवाकुलयुता चम्पका शिग्रुसज्जाः [।] सज्जाती मल्लिकानां सतत कुसुमिता पंक्तयः चट्पदस्य [।][5]

खेद है कि उपर्युक्त शिलालेख की आधुनिक स्थिति का कुछ भी पता नहीं है. वास्तव में समूचे धौलपुर व भरतपुर क्षेत्र में प्रर्याप्त शोध-खोज-कार्य होना चाहिए. तब ही उस क्षेत्र के प्रारंभिक पुरातत्त्व एवं इतिहास का समुचित मूल्यांकन हो सकता है. राजस्थान का यह प्रदेश अति महत्त्वपूर्ण है और इसके पुरातत्त्वीय स्थलों की खोज नितान्तावश्यक है.

१. अर्थात् 'धौलपुर. इस नगरी का वृत्त आगे दिया गया है.

२. अर्थात् चण्डमहासेन का इष्टदेव 'चण्डस्वामी' का सूर्य मंदिर.

३. अर्थात् विक्रम संवत्.

४. काल एवं ठीक समय की गणना यहाँ समाप्त होती है. २१ वी पंक्ति में संवत् तो अंकों के स्थान पर अक्षरों में अंकित है (अर्थात् विक्रम संवत् ८९८-८४२ ई०). सिंह के स्थान पर सिंघ शब्द का प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण है.

५. प्रतिलिपि में यत्र तत्र कुछ अशुद्धियाँ प्रतीत होती हैं. इन्हें ठीक करना आवश्यक है.

पं० भगवानदास जैन, शास्त्री

# प्राचीन वास्तुशिल्प

'वास्तुशिल्प' प्राचीन भारतीय संस्कृति का एक प्रधान अंग है. इस विषय के अनेक ग्रंथ विद्यमान होने पर भी उनका अध्ययन न होने से अधिक प्रचार नहीं हो सका है. प्राचीन देवालयों, राजप्रासादों, दुर्गों, नगरों, गांवों, कुवों, बावड़ियों और सरोवर आदि की मनोहर सुन्दर आकृति देखकर के अपना मन प्रफुल्लित हो जाता है. यही प्राचीन वास्तुशिल्प है. जैनागमों में भी चक्रवर्तियों और देवों के भवनों का विस्तृत व सुंदर वर्णन है. इनकों वनाने वाले को 'स्थपति' अथवा 'सूत्रधार' कहा जाता है, जो आधुनिक देवालय और मकान आदि के वनाने वाले, लकड़ी के काम करने वाले वढ़ई और मिट्टी के वर्तन आदि वनाने वाले कुम्हार आदि के रूप में विद्यमान हैं. जैनागमों में चक्रवर्ती के चौदह महारत्नों में एक वार्धिकीरत्न भी होता है. यह सूत्रधार है जो चक्रवर्ती की इच्छानुसार उनके मनपसंद की इमारत शीघ्र ही तैयार कर देता है. इसको 'विश्वकर्मा' भी कहा गया है. प्रचलित में तो देवों के भवन आदि वनाने वालों को विश्वकर्मा कहते हैं. ऐसे इमारती काम करनेवाले शिल्पियों की विश्वकर्मा के नामकी दक्षिण देश में एक जाति भी विद्यमान है, इसलिए वास्तुशिल्प के काम करनेवाले को विश्वकर्मा के नाम से संवोधन किया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है.

प्राणियों के निवासस्थान को वास्तु कहा गया है. उसकी उत्पत्ति के विषय में वास्तुशिल्प के प्राचीन 'अपराजित पृच्छा' नामक बृहत् ग्रंथ में लिखा है कि—अंधकासुर का विनाश करने के लिये महादेवजी को युद्ध करना पड़ा. इसके परिश्रम से महादेवजी के कपाल से पसीने का एक बिंदु भूमि के ऊपर अग्निकुंड में गिरा. इससे एक महाकाय भूत उत्पन्न हुआ. उसे देवों ने औंधा पटक दिया और उसके ऊपर पैंतालीस देव चढ़ वैठे और रहने लगे. इन देवों का महाकाय भूत के ऊपर निवास होने से उसको वास्तुपुरुष माना गया. इसलिए गृहादि के आरंभ में और समाप्ति में इन देवों का पूजन प्रचलित हुआ जो वास्तुपूजन के नाम से प्रसिद्ध है.

वास्तुशिल्प जानने के लिये अपराजितपृच्छा, समरांगणसूत्रधार, प्रासादमंडन, शिल्परत्नम्, मयमतम् और परिमाणमंजरी आदि अनेक ग्रंथ मुद्रित हुए हैं. जैन वास्तुशिल्प के 'वत्थुसारपयरण' और 'जिनसंहिता' आदि मुख्य ग्रंथ हैं. वत्थुसार-पयरण में प्रथम गृहप्रकरण, दूसरा मूर्तिप्रकरण और तीसरा देवालयप्रकरण है. जिनसंहिता में देवालय और मूर्तिनिर्माण का वर्णन है. इसमें प्रासाद की चौदह जातियों में से द्राविड़ जाति के प्रासाद का वर्णन है. यह दाक्षिणात्य पद्धति का होने से सर्वदेशीय नहीं बन सका. आचार्य श्री वसुनंदी कृत प्रतिष्ठासार में जो देवालय-निर्माण का वर्णन है, वह नागर जाति का होने से सर्वदेशीय है.

महल, मकान और देवालय-निर्माण के समय प्रथम भूमिपरीक्षण किया जाता है. वत्थुसारपयरण में लिखा है :

'दिणतिग-वीअप्पसवा चउरंसाऽवम्मिणी अफुट्टा अ।
असल्ला भू सुहया पुव्वेसाणुत्तरंबुवहा।
वम्मइणी वाहिकरी ऊसरभूमीइ हवइ रोरकरी।
अइफुट्टा मिच्चुकरी दुक्खकरी तह य ससल्ला।'

जिस भूमि में बीज बोने से तीन दिन में अंकुर निकल जाय ऐसी समचौरस, दीमक रहित, विना फटी हुई और शल्य रहित, तथा पूर्व, ईशान और उत्तर दिशा की तरफ नीची भूमि मकानादि बनाने के लिये प्रशस्त है. दीमक वाली भूमि व्याधिकारक है. ऊसर भूमि उपद्रवकारक है. अधिक फटी हुई भूमि मृत्युकारक और शल्यवाली भूमि दुःख कारक है. किसी भी प्राणी की हड्डी, बाल आदि भूमि में रह जाना शल्य माना है. उसकी शुद्धि के लिये कम से कम तीन फुट भूमि गहरी खोदनी चाहिये. शास्त्र में लिखा है—'मनुष्य की हड्डी का शल्य रह जाय तो मकान मालिक की मृत्यु हो. गधे की हड्डी का शल्य रह जाय तो राजदंड भोगना पड़े. कुत्ते का शल्य रह जाय तो वालक जीवे नहीं. वालक का शल्य रह जाय तो उस मकान में मालिक का निवास नहीं हो. गौ का शल्य रह जाय तो धन का विनाश हो, इत्यादि अनेक दोष शास्त्र में लिखे हैं. इसकी शुद्धि के लिये समरांगणसूत्रधार वास्तुग्रंथ में लिखा है :

'जलान्तं प्रस्तरान्तं वा पुरुषान्तमथापि वा ।
क्षेत्रं संशोध्य चोद्धृत्य शल्यं सदनगारभेत् ।'

पानी आ जाय अथवा पाषाण आ जाय वहाँ तक अथवा एक पुरुष प्रमाण भूमि को खोद करके कोई शल्य होवे तो निकाल देना चाहिए तत्पश्चात् उस भूमि के ऊपर गृह बनाना चाहिए.

पीछे जैसे लड़के-लड़कियों के विवाह में राशि, गण, नाड़ी आदि का मिलान किया जाता है वैसे भूमि का क्षेत्रफल, आय, व्यय, राशि, गण, नाड़ी आदि गृहस्वामी के साथ मिलाये जाते हैं. उसी के अनुसार अच्छे शुभ मुहूर्त में चंद्रमा आदि का वल देख करके मकान तैयार किया जाता है. धन, मीन, मिथुन और कन्या इन सूर्य की राशियों में कभी भी गृह का आरंभ नहीं किया जाता.

गृहभूमि की लंबाई और चौड़ाई का गुणाकार करने से जो गुणनफल हो उसको क्षेत्रफल कहा जाता है. उसको आठ से भाग देने पर जो शेष बचे वह गृह का 'आय' होता है. क्षेत्रफल को फिर आठ से गुणा करके उसमें सत्ताईस से भाग देने पर जो शेष बचे वह गृह का 'नक्षत्र' होता है. जो नक्षत्र की संख्या आवे उसको आठ से भाग देने से जो शेष बचे वह 'व्यय' माना जाता है. आय के अंक से व्यय कर अंक कम हो तो वह घर लक्ष्मीप्रद माना है.

शाला, अलिंद (तिवारा), दीवार, स्तंभ, मंडप, जाली और गवाक्ष आदि के भेदों से अनेक प्रकार के गृह बनाये जाते हैं. शास्त्र में गृहों के सोलह हजार तीन सौ चौरासी भेद वतलाये हैं.

गृह के चारों दिशाओं के द्वारों के नाम अलग-अलग है—पूर्व दिशा के द्वार का नाम विजयद्वार, दक्षिणदिशा के द्वार का नाम यमद्वार, पश्चिम दिशा के द्वार का नाम मकरद्वार और उत्तर दिशा के द्वार का नाम कुवेर द्वार है. इनमें से अपनी इच्छानुसार बना सकते हैं.

गृह का स्थान-विभाग भी वतलाया गया है—गृह का जिस दिशा में [illegible] पूर्व दिशा मान करके विभाग वनाते हैं—द्वारवाली पूर्वदिशा में ज्ञानशाला, अग्निकोने में भोजन बनाने का [illegible] दक्षिण दिशा में शयन-गृह, नैर्ऋत्यकोने में निहार (शौच) स्थान, पश्चिम दिशा में भोजन करने का स्थान, वायु कोने में आयुध रखने का स्थान, उत्तर में धन रखने का स्थान और ईशान कोने में धर्मस्थान रखा जाता है.

गृह के प्रथम मंजिल तक की ऊँचाई पाँच से सात हाथ[1] तक रखना लिखा है. गृह का विस्तार जितने हाथ का होवे, उस संख्यातुल्य अंगुल में साठ अंगुल मिलाने से जितनी संख्या आए उतने अंगुल परिमित द्वार की ऊँचाई रखें और ऊँचाई से आधी चौड़ाई रखें. चौड़ाई कुछ वढ़ाना चाहे तो ऊँचाई का सोलहवाँ भाग चौड़ाई में मिला सकते हैं. गृह के सब द्वार, गवाक्ष और जाली आदि का मथाला बराबर रखा जाता है.

---

१. प्राचीन समय में अंगुल और हाथ से नापने की प्रणाली थी, अंग्रेजी राज्य होने के बाद इंच फुट और गज आदि से नापने की प्रणाली हुई. इसलिये आधुनिक गृह बनाने वाले शिल्पी अंगुल को एक इंच और हाथ को दो फुट मान करके कार्य करते हैं.

गृह में प्रवेश करने के चार प्रकार वतलाये हैं :

१. गृह का द्वार और प्रथम प्रवेश द्वार, ये दोनों एक ही दिशा में वरावर सामने हों तो उसको 'उत्संग' नाम का प्रवेश माना है. यह सौभाग्यकारक, प्रजावृद्धिकारक और धनधान्य का वृद्धिकारक है.

२. प्रवेश द्वार से प्रविष्ट होने के वाद वाँयी ओर हो करके मुख्य गृह में प्रवेश हो तो वह 'हीन वाहु' नाम का प्रवेश माना है. यह स्वल्प धन वाला, स्वल्प मित्र वाला और रोगकारक माना है.

३. प्रवेश द्वार से प्रविष्ट होने के वाद दाहिनी ओर होकर के मुख्य गृह में प्रवेश होना 'पूर्ण वाहु' प्रवेश माना है. यह धन-धान्य की और पुत्रपौत्र का वृद्धि कारक है.

४. प्रथम गृह के पीछे की दीवार को देख करके पीछे प्रवेश होवे यह 'प्रत्यक्षाय' नाम का प्रवेश माना है, यह सर्वथा निंदनीय है.

गृह की ऊँचाई चारों दिशाओं में वरावर रखना चाहिए. यदि आगे के भाग में गृह ऊँचा हो और तीनों दिशाओं में नीचा हो तो वह गृह धन का हानिकारक होता है. दाहिनी ओर ऊँचा हो तो धन समृद्धि वढ़ाने वाला माना है. पीछे के भागमें ऊँचा हो तो समृद्धि वढ़ाने वाला है और वाँयी ओर ऊँचा हो तो वह गृह शून्य रहता है.
गृह में मुख्य सात प्रकार के वेध वतलाये हैं—जैसे :

'तलवेह' कोणवेहं तालुयवेहं कवालवेहं च ।
तह थंभ तुलावेहं दुवारवेहं च सतमयं ।'

तलवेध, कोणवेध, तालुवेध, कपालवेध, स्तंभवेध, तुलावेध और द्वारवेध-ये सात प्रकार के वेध हैं.

१. गृह की भूमि सम विपम ऊँची नीची हो, द्वार के सामने घानी, अरहट, कोल्हू आदि हो और दूसरे के मकान का पानी का परनाला अथवा रास्ता हो तो यह तलवेध माना जाता है.

२. मकान के चारों कोने समानान्तर न हों आगे पीछे हों तो वह कोणवेध है.

३. मकान के एक ही खंड में ऊपर की छत की पट्टियाँ ऊँची नीची हों तो यह तालुवेध माना है.

४. द्वार के ओतरंग के मध्य भाग में पाट आवे तो उसको कपालवेध कहते हैं.

५. गृह के मध्य भाग में एक स्तंभ हो अयवा अग्नि और पानी का स्थान हो तो यह हृदयशल्य अयवा स्तंभ वेध कहा जाता है.

६. मकान के नीचे के और ऊपर के मंजिल के पटिया न्यूनाधिक हों तो यह तुलावेध माना है.

७. मकान के दरवाजे के सामने कोई वृक्ष, कुआँ, स्तंभ, कोना और कील आदि हो तो यह द्वारवेध कहा जाता है. पन्रतु मकान की ऊँचाई से दुगुनी भूमि छोड़ करके उपर्युक्त कोई वेध हो तो दोप नहीं माना जाता.

इन वेधों का फल वास्तुशास्त्र वत्थुसारपयरण में इस प्रकार लिखा है—

'तलवेहि कुट्ठरोगा हवंति उच्चेय कोणवेहम्मि ।
तालुयवेहेण भयं कुलक्खयं थंभवेहेण ।
कापालु तुलावेहे धणनासो हवइ रोरभावो अ ।
इअ वेहफलं नाउं सुद्धं गेहं करेअव्वं ।'

तलवेध से कुष्ठरोग, कोण वेध से उच्चाटन, तालुवेध से भय, स्तंभ के वेध से कुलक्षय, कपाल और तुलावेध से धन का विनाश और दरिद्र भाव होता है.

यह भी वतलाया गया है—दूसरे के मकान में जाने के लिये अपने मकान में से रास्ता हो तो विनाशकारक है. वृक्ष का वेध हो तो संतात की वृद्धि न हो. कीचड़ का वेध हो तो शोक हुआ करता है. परनाले का वेध हो धन का विनाश

होता है. कुआँ का वेध हो तो अपस्मार रोग हो. शिव, सूर्य आदि किसी देव का वेध हो तो गृहस्वामी का विनाश होता है. स्तंभ का वेध हो तो स्त्री को कष्टदायक रहे. ब्रह्मा के सामने द्वार हो तो कुल का विनाश हो. गृह के समीप कांटेवाले वृक्ष हों तो शत्रु का भय रहता है. दूधवाले वृक्ष हों तो लक्ष्मी का विनाश होता है और फलवाले वृक्ष होने से संतान वृद्धि नहीं होती. यह बृहत्संहिता ग्रंथ में कहा है.

मकान में बिजोरा, केला, दाडिम, नींबू, अमरूद, इमली, बब्बूल बेर, और पीलेफूल वाले वृक्ष इत्यादि वृक्ष नहीं बोने चाहिए. क्योंकि ये वृक्ष कुल के लिए हानिकारक माने जाते हैं.

मकान में योगिनियों के नाट्यारम्भ, महाभारत, रामायण, राजाओं के युद्ध, ऋषियों और देवों के चरित्र संबंधी चित्र नहीं बनाना चाहिए. परन्तु फलवाले वृक्षों, पुष्पों की लताओं, सरस्वती देवी, नवनिधान युक्त लक्ष्मीदेवी, कलश, स्वस्तिकादि मांगलिक चिह्न और अच्छे स्वप्नों की पंक्ति आदि के चित्र बनाना चाहिए.

उपर्युक्त जो वेध आदि संबन्धी दोष बतलाते हैं वे दोनों के बीच में दीवार अथवा रास्ते का अन्तर होने पर दोष नहीं रहते.

जिस मकान का द्वार बन्द करने के बाद अपने आप खुल जाय अथवा खोलने के बाद अपने आप बंद हो जाय तो वह अशुभ माना गया है.

यहाँ वास्तुशिल्प कला के आधार पर गृह सम्बन्धी कुछ गुण दोष बतलाये हैं. यह भारतीय प्राचीन संस्कृति है. आधुनिक समय में शिल्पियों को इसका अभ्यास नहीं होने से नवीन पद्धति से मकान बनाने लगे हैं. उनमें दोषों की संभावना होने से वे उन्नतिकारक नहीं हो सकते, यह प्राचीन शिल्पविधान का अभिमत है.
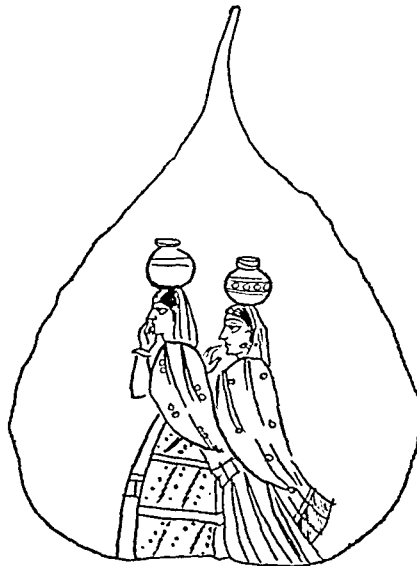
श्रीअनूपचन्द
न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, जयपुर

# १८वीं शताब्दी की क्रान्तिकारी साहित्यकार : महापंडित टोडरमलजी

महापंडित टोडरमलजी राजस्थान के क्रांतिकारी साहित्यसेवी थे. ये १८ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् एवं उच्चकोटि के गद्यसाहित्यकार थे. अपनी अपूर्व एवं असाधारण प्रतिभा के कारण उन्हें 'महापंडित' के नाम से पुकारा जाता है. प्राकृत एवं संस्कृत भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था, इसलिए जो कुछ लिखते उसे मानो यंत्रवत् लिखते. वे केवल २८ वर्ष तक ही जीये किन्तु इतने से अल्प काल में ही उन्होंने इतना अधिक साहित्य रच डाला कि जिसे देखकर बड़े-बड़े विद्वानों को दाँतोंतले अंगुली दबानी पड़ती है. इनके समय में समाज में कोई प्रभावशाली नेता नहीं था. भट्टारकों का भी समाज पर कोई खास प्रभाव नहीं था. वे विद्वत्ता से शून्य होकर शिथिलाचार के पोषक बन गये थे. समाज को एक नयी दिशा की आवश्यकता थी. वह ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहती थी किंतु प्राकृत एवं संस्कृत में होने के कारण वे उनकी स्वाध्यायशक्ति के बाहर हो गये थे. समाज में अन्य कोई जबरदस्त एवं प्रतिभाशाली विद्वान् नहीं था जो उसे नयी दिशा की ओर मोड़ सके. यही नहीं, विद्वान् होने की परंपरा को भी बन्द किया जाने लगा था. स्त्री-शिक्षा तो नाम मात्र की भी नहीं रही थी. मंदिरों का उपयोग स्वाध्याय भक्ति एवं पूजा पाठ करने के साथ-साथ जीमने एवं ताश, चौपड़ आदि खेलने में भी होने लगा था.

जन्म :—ऐसे संक्रामक काल में पंडित टोडरमलजी का जन्म वि० सं० १७९७ में जयपुर के प्रसिद्ध ढोलाका वंश में हुआ. ये जाति के खंडेलवाल एवं गोत्र से गोदीका (भांवसा या बडजात्या) थे. पंडित जी के पिता का नाम जोगीदास एवं माता का नाम रंभाबाई था. पंडितजी के शब्दों में ही अपने माता-पिता का नामोल्लेख देखिये—

'रंभापति स्तुत-गुन-जनक जाको जोगीदास
सो ही मेरो प्राण है धारे प्रकट प्रकास ॥'

इनके पिता चाकसू के रहने वाले थे और जयपुर नगर की स्थापना के साथ ही यहाँ आकर रहने लगे थे.

शिक्षाः—प्रारंभ से ही बालक टोडरमल की शिक्षा एवं बौद्धिक विकास का पूरा ध्यान रखा गया. उनके अध्ययन के लिये समुचित प्रबंध किया गया किन्तु इन की विलक्षण बुद्धि एवं अद्भुत् स्मरण शक्ति के कारण अपने शिक्षक से भी अधिक जान लेते और पढ़ाये हुए पाठ से भी अधिक उन्हें सुना देते. १० वर्ष की अवस्था में ही ये बड़े-बड़े सिद्धांतग्रन्थ समझने लगे. कहा जाता है, उन्हें पढ़ाने को काशी से जो विद्वान् आये थे उनसे केवल छह माह में सारा जैनेन्द्रव्याकरण पढ़ डाला. अपनी अलौकिक प्रतिभा एवं विलक्षण बुद्धि के कारण उन्हें एक बार पढ़ने से सब कुछ याद हो जाता था. ये एक-एक शब्द के अनेक अर्थ निकालते और अपने शिक्षक को सुनाया करते. टोडरमलजी के मुख्य गुरु बंशीधरजी थे. वे जयपुर के दि० तेरहपंथियों के बड़े मंदिर में शास्त्र पढ़ा करते थे. कहा जाता है कि एक बार उनसे शास्त्रार्थ करने एक बाहर का विद्वान् आया. उस समय बंशीधर जी मंदिर में शास्त्र पढ़ रहे थे और अन्य श्रोताओं के साथ टोडरमलजी

भी शास्त्रश्रवण कर रहे थे. आया हुआ विद्वान् टोडरमलजी के पास बैठा और धीरे से उनसे वक्ता का नाम पूछा. वंशीधर नाम बताने पर उसने वक्ता से कहा कि उनका बिना वंशी के वंशीधर नाम कैसा ? यह सुन कर वक्ता द्वारा उत्तर दिये जाने के पूर्व ही टोडरमलजी ने उत्तर देने की आज्ञा माँगी और वंशीधर शब्द के १७ अर्थ कर डाले और कहने लगे कि बोलिये आप किस वंशीधर को पूछते हैं ? टोडरमलजी द्वारा दिये गये प्रत्युत्तर को सुनकर वह विद्वान् हक्का-बक्का रह गया और अपने पोथी पन्ने लेकर चलता बना. वह कहने लगा—जहाँ श्रोता ही ऐसे हैं वहाँ वक्ता कैसा होगा ?

**प्राचीन ग्रन्थों का स्वाध्याय :**—पंडितजी ने न्याय, व्याकरण, गणित आदि उपयोगी विषयों को प्रारंभ में पढ़ा था. ज्यों ही इनमें उनका प्रवेश होने लगा त्यों ही उन्होंने समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार, पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय, आत्मानुशासन आदि सिद्धांतग्रंथों एवं उनकी टीकाओं का अनुशीलन किया. श्रावक तथा मुनियों के आचारग्रंथों का गंभीर अध्ययन कर उनके रहस्य को समझा.

**गार्हस्थ्य जीवन :**—आपने गृहस्थी में रहते हुए जितना कार्य किया, संभव है उतना अन्य कोई घर छोड़कर संन्यासी बनने पर भी नहीं कर सका होगा. आपने १७ वर्ष की उम्र में गृहस्थी का भार संभाला और उसी वर्ष विवाह हुआ. १८ वें और २१ वें वर्ष में आपके क्रमशः हरिचन्द्र और गुमानीराम पुत्र हुए. हरिचन्द्र के कोई उल्लेखनीय कार्यों का विवरण नहीं मिलता. दूसरा पुत्र गुमानीराम प्रभावशाली विद्वान् एवं कर्मठ पुरुष था. पिता की तरह शिथिलाचार के विरुद्ध जीवनभर लड़कर उसने गुमानपंथ (शुद्धाम्नाय) स्थापित किया जो उन के नाम पर अब तक प्रचलित है और इसका मुख्य स्थान बधीचन्द जी का मंदिर है, जहाँ स्वयं पं० टोडरमलजी ग्रंथरचना किया करते थे और जहाँ आज भी स्वयं पंडितजी के हाथ से लिखे गये मोक्षमार्गप्रकाश एवं आत्मानुशासन की दर्शनीय पाण्डुलिपियाँ हैं. पंडितजी घर में ही जल से भिन्न कमलवत् रहते हुए अनासक्त या निर्लिप्त रहे और एकाग्रता तथा पूर्ण निष्ठा के साथ अपना कार्य करते रहते.

कहा जाता है कि माता रंभादेवी ने पुत्र को ग्रंथरचना में तल्लीन देख शाक में नमक डालना बंद कर दिया और पुत्र को कुछ पता भी नहीं लगा. छह महीने बाद गोम्मटसार की टीका पूर्ण हो जाने पर पुत्र ने एक दिन कहा—'माता, क्या शाक में आज नमक नहीं डाला ?' माता ने बतलाया कि आज ही क्या, छह महीने से नहीं डाल रही हूँ. वास्तव में कार्य में तल्लीन होने पर ऐसा ही होता है. इससे पंडितजी की अलौकिक प्रतिभा, कार्यशीलता एवं तल्लीनता का पता चलता है.

**साहित्य-निर्माण :**—महापंडित टोडरमलजी ने साहित्य की जो अपरिमित सेवा की थी वह उनके जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी. वे केवल २८ वर्ष तक ही जीवित रहे, लेकिन इतने अल्प समय में ही उन्होंने जो साहित्य लिखा वह वयोवृद्ध साहित्यसेवियों को भी स्वयमेव नतमस्तक करने वाला है. टोडरमलजी प्रतिभाशाली साहित्यकार थे. इसलिए जो भी उनके सम्पर्क में आया वह स्वयं भी साहित्यकार बन गया. उनकी विवेचनाशक्ति अपूर्व थी. किसी भी वस्तु या तत्त्व की विवेचना करते समय उनकी गहराई तक पहुँचते और अपने विवेचन से पाठकों को स्तंभित कर देते. १४ वर्ष की अवस्था में मुलतान के अध्यात्मप्रेमियों के नाम एक रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखी वह इनकी विद्वत्ता की प्रथम परिचायक थी. इसी चिट्ठी को पढ़कर भाई रायमल्ल अत्यधिक प्रभावित हुए और उनसे प्राकृतभाषा में निबद्ध गोम्मटसार आदि महान् सैद्धांतिक ग्रंथों की हिन्दी टीका करने का आग्रह किया और उन्हीं की प्रेरणा से गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार आदि ग्रंथों की ३८००० श्लोक प्रमाण टीका का कार्य तीन ही वर्ष में समाप्त कर दिया. ऐसी महान् साहित्यसेवा केवल उन जैसे प्रतिभासम्पन्न विद्वान् से ही संभव हो सकती थी. वैसे उनका तीन वर्ष में स्वाध्याय करना भी साधारण पाठक की शक्ति से बाहर है. इसके पश्चात् उन्होंने आत्मानुशासन, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय एवं मोक्षमार्गप्रकाशक जैसी महत्त्वपूर्ण कृतियों की रचना प्रारंभ की लेकिन इनमें से अंतिम दो रचनाओं को पूरा भी नहीं कर पाये थे कि कालकवलित हो गये. देश का एवं समाज का यह घोर दुर्भाग्य था. यदि वे साधारण आयु (५०-

६० वर्ष) भी पा जाते तो न जाने कितने महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना और कर जाते और उस समय जैन साहित्य का इतिहास एक दूसरी ही कलम से लिखा जाता. मोक्षमार्गप्रकाशक उनकी स्वतंत्र रचना है. यह एक सिद्धांतग्रंथ है. इसमें मोक्ष की प्राप्ति का यथार्थ उपाय वतलाया गया है. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की अधूरी हिन्दी टीका को इनकी मृत्यु के पश्चात् तत्कालीन प्रसिद्ध साहित्यकार पं० दौलतराम कासलीवाल ने पूर्ण किया. मूल ग्रंथ आचार्य अमृतचन्द्र का है जो संस्कृतभाषा में निवद्ध है और जिसमें चारित्रविषयक अहिंसादि पाँच व्रत, सप्त शील एवं सल्लेखना आदि का सुन्दर वर्णन किया गया है. ग्रंथ में हिंसा अहिंसा का सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन हुआ है. प्रारंभ में आत्मा ही को पुरुष मान कर उस के द्वारा शुद्ध चैतन्य की प्राप्ति को ही कार्यसिद्धि वतलाया है. इसी तरह गोम्मटसार भी उच्चस्तर का सैद्धांतिक ग्रंथ है जो जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड इन दो खण्डों में विभक्त है. लब्धिसार में आत्मशुद्धि रूप दश लब्धियों को प्राप्त करने एवं क्षपणासार में कर्मों के क्षय करने की विधि को समझाया गया है. त्रिलोकसार में जैन मान्यतानुसार तीन लोकों का विस्तृत वर्णन है.

उक्त सभी ग्रंथ यद्यपि सैद्धांतिक एवं गंभीर अध्ययन की अपेक्षा रखने वाले हैं लेकिन टोडरमलजी ने उन्हें अत्यधिक सरल एवं सुवोध भाषा में समझाया है. उनकी भाषा राजस्थानी ढूंढारी (गद्य) है जिस पर थोड़ा व्रज भाषा का भी प्रभाव है. इनकी भाषा में मधुरता एवं आकर्षण है. उस समय इन ग्रंथों की समाज में इतनी आवश्यकता थी कि जैसे ही टोडरमलजी ग्रंथ लिखते उसकी पचासों प्रतियाँ होकर हाथों-हाथ राजस्थान के ही नहीं किंतु देहली, उत्तरप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाव आदि प्रांतों में पहुँच जाती और जन साधारण उनका वड़े उत्साह से स्वाध्याय करते. राजस्थान के वहुत से भण्डारों में आज भी उनके ग्रंथों की हस्तलिखित कितनी ही प्रतियाँ मिलती हैं. इनके ग्रंथों की भाषा के तीन उदाहरण देखिये :—जिनके पढ़ने से ग्रंथ की शैली और भाषा दोनों का अच्छी तरह परिचय मिल सकता है :

"जैसे कोउ सांचे मोतिनि के गहने विषै झूंठे मोती मिलावे परन्तु झलक मिले नाही ताते परीक्षा करि पारखी ठिगावे भी नाहीं. कोई भोला होय सोही मोती नाम करि ठिगावे है वहुरि ताकी परंपरा भी चले नाहीं, शीघ्र ही कोउ झूंठे मोतिनिका निषेध करे है. तैसे कोउ सत्यार्थ पदनि के समूह रूप जैन शास्त्रनि विषै असत्यार्थ पद मिलावें परन्तु जिनशास्त्र के पदनि विषै तो कषाय मिटावने का वा लौकिक कार्य घटावने का प्रयोजन है और उस पापी ने जे असत्यार्थ पद मिलाए हैं तिनि विषै कषाय पोषने का वा लौकिक कार्य साधने का प्रयोजन है ऐसे प्रयोजन मिलता नाही तातैं परीक्षा करि ज्ञानी ठिगावते भी नाही कोई मूरख होय सोहि जैन शास्त्र नामकरि ठिगावे."

—मो० प्र० पृष्ठ ५८.

"भाई वन्धु तो उनका नाम है जो अपना किछू हित करै. सो तू जिनि को भाई वंधु मानै है सो इन ने किछू हित किया होय सो वताय जातें तेरा मानना सांच होइ. वहुरि हम कों तो केवल इनिका इतना ही हित करना भासै है जो वैरी का वैरी होय ताको अपना हितू कहिये है सो तेरा वैरी शरीर था सो तेरे मुंए पीछे मिलि करि इन ने शरीर को दग्ध किया. तेरे वैर का वदला लिया. ऐसे इहां युवित करि कुटुम्वते हित होता न जानि राग न करना ऐसी शिक्षा दई है.'

—आत्मानुशासन श्लोक २३.

जो जीव अर्हतादिकनि करि उपदेश्या हुआ ऐसा जो प्रवचन कहिये आप्त आगम पदार्थ ये, तीन ताहि श्रद्दधाति कहिये श्रद्धै है, रोचै है. वहुरि तिनि आप्तादिकनि विषै असद्भाव कहिये अतत्व अन्यथा रूप ताकों भी अपने विशेष ज्ञान का अभाव करि केवल गुरु ही का नियोगतैं जो इस गुरु नै कह्या सोइ अर्हत की आज्ञा है. ऐसी प्रतीतितैं श्रद्धान करैं है तो भी सम्यग्दृष्टि ही है.जातैं तिस की आज्ञा का उल्लंघन नाहीं करै है। भावार्थ-जो अपने विशेष ज्ञान न होइ .वहुरि जैन गुरु मंदगति ते आप्तादिक का स्वरूप अन्यथा है, अर यहू अर्हत की ऐसी ही आज्ञा है ऐसे मानी जो असत्य श्रद्धान करै तो भी सम्यग्दृष्टि का अभाव न होई जातैं इसने तो अर्हत की आज्ञा जानि प्रतीति करी है."—गोम्मटसार गाथा २५.

शास्त्र-सभा :—आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी १८ वीं शताव्दी के एक क्रांतिकारी साहित्यसेवी थे. जैसा कि पहले कहा

जा चुका है, उनके समय में समाज नेतृत्वहीन था एवं भट्टारकों का भी कोई खास प्रभुत्व नहीं था. धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में शिथिलाचार घर कर गया था. यह सब कुछ पंडितजी की सहनशक्ति के बाहर था. असाधारण विद्वत्ता के कारण आपका नाम छोटीसी अवस्था में ही सर्वत्र फैल गया था. आप जयपुर के १३ पंथियों के बड़े मंदिर में शास्त्र प्रवचन करते थे एवं स्थानीय सैकड़ों श्रावक शास्त्रश्रवण करने आते थे. आपकी विद्वत्ता एवं विवेचन शक्ति की धाक इतनी फैल गई थी कि बाहर के लोग भी तत्वचर्चा सीखने यहाँ आते थे. बसवा निवासी पंडित देवीदास गोधा भी कुछ दिनों के लिए आपके सान्निध्य में रहे थे. भाई रायमल्ल की चिट्ठी से ज्ञात होता है कि इन प्रवचनों का लाभ उठाकर सैकड़ों भाई उस समय गोम्मटसारादि सिद्धांत ग्रंथों की गूढ़ चर्चाएँ समझने लगे थे. कुछ बाइयाँ भी पढ़ने एवं तत्त्वचर्चा करने लगी थीं. पंडितजी के प्रवचनों से लोग धर्म का असली स्वरूप समझने लगे थे.पंडितजी को अज्ञानी भाइयों की धर्मविरुद्ध क्रियाएँ देखकर दुःख हुआ और उनके हृदय में एक ठेस लगी. उन्होंने पाखण्ड के विरुद्ध आवाज उठाई. वे निर्भीक लेखक एवं वक्ता थे. स्वयं परम्परागत आम्नाय[1] का मोह छोड़ा और सत्य को परखा. अपने द्वारा रचित मोक्षमार्ग-प्रकाश में सूक्ष्म और स्पष्टरूप से जैनों के पाखण्ड की आलोचना की. भट्टारकों एवं मुनियों के शिथिलाचार का खुलकर विरोध किया. संभव है इन्हीं कारणों से समाज के काफी लोग उनसे नाराज थे. धार्मिक जगत में उनकी धाक बैठ गयी थी. उनके वचन आचार्यों की तरह प्रामाणिक माने जाने लगे. भूधर मिश्र की चर्चासमाधान की सं० १८१५ की प्रति पर, जो बड़ा मंदिर तेरह पंथियों के भंडार में है, लिखा है कि इस ग्रंथ को जयपुर में पं० टोडरमलजी ने पढ़ा है. इसके २०-३० प्रश्नों का उत्तर तो आम्नाय के अनुसार है शेष उत्तर आम्नाय से मिलता नहीं है. टोडरमलजी भूधरमलजी से विशेष योग्यता वाले हैं, उन्होंने ६०,००० श्लोक प्रमाण ग्रंथों की टीका लिखी है इसलिए उनके वचन प्रमाण हैं, उन्हीं के अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए. उनके समय में संवत् १८२१ में जयपुर में एक 'इन्द्रध्वज' पूजा समारोह भी मनाया गया था जिसकी विस्तृत जानकारी भाई रायमल्ल की चिट्ठी में देखें. उससे ज्ञात होगा कि पंडितजी की असाधारण विद्वत्ता का कितना मूल्य था. राज्य में भी उनकी मान्यता थी.

**मृत्यु:**—यह सब कुछ होने पर भी उनकी मृत्यु एक असाधारण एवं अद्वितीय रोमांचकारी घटना थी. संवत् १८२३-२४ में शैवों ने जयपुर में षड्यंत्र रचा. उसमें सभी जैनों को तो कष्ट हुआ ही, किन्तु टोडरमलजी की मृत्यु की दुःखद घटना भी हुई. संवत् १८१८ में श्यामनारायण तिवारी राज-गुरु बना. उसने जैनों पर बड़े उपद्रव किये तथा सैकड़ों मंदिर नष्ट किये. यह उपद्रव डेढ़ वर्ष तक रहा. इसके बाद फिर मिति मगसर बदी २ संवत् १८२४ को राज्य की ओर से जैन मंदिरों को यथावत् रहने देने का हुक्म[2] जारी हुआ. पुनः धर्म की प्रभावना हुई. विरोधियों के हृदय में द्वेष की ज्वाला पुनः भड़की. इसी बीच शास्त्र श्रवण के लिये टोडरमलजी के पास कुछ अजैन भाई भी आने लगे थे. इस प्रभाव को खत्म करने के लिये कार्तिक सुदी ५ सं० १८२४ को शैवों ने एक शिवपिंड उखाड़ दिया और उसके लिये जैनों को बदनाम किया. इस पर राजकीय कोप बढ़ा और राजाज्ञा से जैनों के कुछ मुखिया कैद कर लिये गये. उस घटना का वर्णन सांगाकों के मंदिर के एक गुटके में निम्न प्रकार है—"मिती काती सुदी ५ न महादेव की पिंडि सहैर मांहि कछु अमारगी उपाडि नाखि तिहि परि राजा दोष करि सुरावग धर्म्यां परि दंड नाख्यौ" लोगों के बहकाने से तत्कालीन जयपुर नरेश (माधव सिंह जी प्रथम) षड्यंत्र को नहीं समझ सके और पंडितजी को प्राणदंड की सजा दी. कहा जाता है कि पंडित जी को हाथी के पैर से कुचलवा कर उनके शव को रोडी में गड़वा दिया. इस प्रकार २८-२९ वर्ष की अवस्था में ही महान् साहित्यसेवी पं० टोडरमलजी सदा के लिये संसार से चल बसे. इनकी आकस्मिक मृत्यु से पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय एवं मोक्षमार्गप्रकाशक अधूरे ही रह गये.

पंडितजी केवल अध्यात्म ग्रंथों के ही रसिक नहीं थे किन्तु छंद, अलंकार, व्याकरण, गणित,सिद्धांत दर्शन आदि के भी पूरे जानकार थे. आपकी भाषा में सरलता, सरसता एवं मधुरता है और पद-पद में 'सत्यं शिवं सुन्दरं' के दर्शन होते हैं बोल चाल की भाषा में पाठकों से तत्त्वचर्चा करते हुए आगे बढ़ना आपका विशेष गुण था.

---

१. वीरवाणी वर्ष १ अंक-१९-२१ पृष्ठ २८४.

२. पंडित जी मूलतः बीस पन्थी थे किन्तु बाद में वे सुधारक (तेरह पन्थी) शुद्धाम्नाय के बन गये.
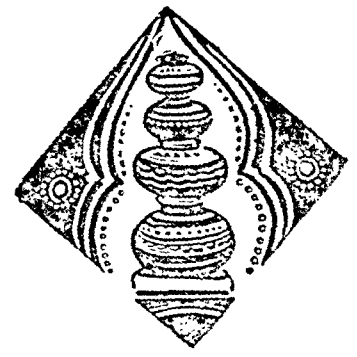
जैनाचार्य श्रीविजयेन्द्र सूरीश्वरजी
विद्याभूषण, विद्यावल्लभ, इतिहास तत्त्व-महोदधि

# तुम्बवन और आर्य वज्र

जैन-ग्रन्थों में आर्य वज्र का नाम बड़े महत्त्वपूर्ण शब्दों में लिया गया है. 'श्रीदुसमा-काल समणसंघ थयें' में दिये प्रथमोदययुगप्रधान यंत्र में वे सुधर्मास्वामी के १८वें युगप्रधान पट्टधर बताये गये हैं और लिखा है कि उन्होंने ८ वर्ष गृहवास किया, ४४ वर्ष व्रतपर्याय पाला, ३६ वर्ष युगप्रधान रहे और इस प्रकार ८८ वर्ष ७ मास ७ दिन की सर्वायु बितायी.[1] भगवान् महावीर से ५४८ वर्ष पश्चात् उनका निधन हुआ.[2]

जैन ग्रंथों में सर्वत्र आर्य वज्र का जन्मस्थान तुम्बवन बताया गया है. उनमें से कुछ का प्रमाण हम यहाँ दे रहे हैं :

१. तुंबवणसंनिवेसाओ निग्गयं पिउसगासमल्लीणं, छम्मासियं छसु जयं माऊय समन्नियं वंदे ।७६५।
—आवश्यकनिर्युक्ति (दीपिका, भाग १, पत्र १३६-२).

२. तुम्बवणसण्णिवेसे धणगिरिणाम गाहावती —आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र ३९०.

३. अवंती जणवए तुम्बवणसन्निवेसे धणगिरी नाम इब्भपुत्तो
—आवश्यक हारिभद्रीय टीका, प्रथम भाग, पत्र २८९-१.

४. अवंतीजणवए तुम्बवणसन्निवेसे धणगिरी नाम इब्भपुत्तो—आवश्यक मलयगिरि टीका, द्वितीय भाग पत्र ३८७-१.

५. तुम्बवनाख्यसंनिवेशान्निर्गतं —आवश्यक निर्युक्तिदीपिका, भाग १, पत्र १३९-२.

६. तुंबवणसन्निवेसे अवंतीविसयंमि धणगिरि नाम इब्भसुओ आसि नियंगचंगिमाविजियसुरस्वो ।।११०।।
—उवएस माला सटीक, पत्र २०७.

७. अस्त्यवन्तीति देशः क्ष्मासरसीसरसीरुहम् ।
यद्गुणग्रामरङ्गेण बद्धसख्ये रमागिरौ ।२७।
तत्र तुंबवनो नाम निवेशः क्लेशवर्जितः
..........................................।२८। —प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ३.

८. अस्यैव जम्बूद्वीपस्य भरतेऽवन्तिनीवृत्ति, आस्ते तुम्बवनमिति सन्निवेशनमद्भुतम् ।
—ऋषिमंडलप्रकरण, पत्र १९२-१.

९. अवन्तिरिति देशोऽस्ति स्वर्गदेशीय-ऋद्धिभिः ।२।
तत्र तुम्बवनमिति विद्यते सन्निवेशनम्,
..........................................३ —परिशिष्ट पर्व, सर्ग १२, द्वितीय संस्करण पृष्ठ २३०

१०. थेरे अज्जवइरे त्ति तुम्बवनग्राम —कल्पसूत्र किरणावली, पत्र १३०-१.

११. तुम्बवन ग्रामे सुनन्दाभिधानां भार्यां साधानां मुक्त्वा धनगिरिणा दीक्षा गृहीता ।
—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पत्र ५११.

---

१. पट्टावलीसमुच्चय प्रथम भाग पृष्ठ २३.

२. श्रीवीरादष्टचत्वारिंशदधिक पंचशत ५४८ वर्षांते. —श्रीपट्टावलीसारोद्धारः पट्टावलीसमुच्चय पृष्ठ १५०.

वज्रस्वामी के पिता धनगिरि इस तुम्बवन के रहनेवाले थे. उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि यह तुम्बवन अवन्ति देश में था.

हम अवन्ति के सम्बन्ध में और तुम्बवन की स्थिति के सम्बन्ध में बाद में विचार करेंगे. पहले यह देख लें कि इसका विवरण अन्य साहित्यों में मिलता है या नहीं.

## बौद्ध-ग्रन्थों में तुम्बवन

तुम्बवन और उसकी स्थिति के सम्बन्ध में बौद्ध-ग्रन्थों में आये एक यात्राविवरण से अच्छा प्रकाश पड़ता है. सुत्तनिपात में बावरी के शिष्यों का यात्राक्रम इस प्रकार वर्णित है :

> बावरिं अभिवादेत्वा कत्वा च नं पदक्खिणं, जटाजिनधरा सब्बे पक्कामुं उत्तरामुखा ।३५।
> अलकस्स पतिट्ठानं पुरिमं माहिस्सतिं तदा, उज्जेनिं चापि गोनद्धं वेदिसं वनसव्हयं ।३६।
> कोसंबिं चापि साकेतं सावत्थिं च पुरुत्तमं, सेतव्यं कपिलवत्थुं कुसिनारं च मंदिरं[1] ।३७।
> पावं च भोगनगरं वेसालिं मागधं पुरं, पासाणकं चेतियं च रमणीयं मनोरमं ।३८।
>
> —सुत्तनिपात, पारायण वग्ग, वत्थुगाथा (भिक्खु उत्तम प्रकाशित, पृ १०८)

बावरी के शिष्य अल्लक से प्रतिष्ठान, माहिष्मती, उज्जैनी, गोनद्ध, विदिशा, वनसव्हय,[2] कोसंबी, साकेत, सावत्थी, श्वेतव्या, कपिलवस्तु, कुशीनारा, पावा, भोगनगर, वैशाली होकर मगधपुर (राजगृह) गये.

इसमें वनसव्हय पर टीका करते हुए ५-वीं शताब्दी में हुए थेरा बुद्धघोष[3] ने इसे तुम्बवन अथवा वनसावत्थी लिखा है.[4] वनसव्हय का शाब्दिक अर्थ हुआ—'जिसे लोग वन कहते थे'. इसकी टीका बुद्धघोष ने तुम्बव की. 'व' का एक अर्थ 'सम्बोधन'[5] भी है. अर्थात् जो 'तुम्ब' नाम से सम्बोधित होता था. इसका दूसरा नाम बुद्धघोष ने वनसावत्थी लिखा है. इससे स्पष्ट हो गया कि तुम्बवन अवन्तिराज्य में विदिशा वर्तमान भेलसा के बाद कोसंबी के रास्ते में था.

## वैदिक ग्रंथों में तुम्बवन

वराहमिहिर की बृहत्संहिता में भी तुम्बवन[6] का उल्लेख आया है.

---

१. राहुल सांकृत्यायन ने कुशीनारा और मंदिर को पृथक् माना है. पर 'मंदिर का अर्थ नगर होता है. यह कुशीनारा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है. इसके लिए हम यहां कुछ प्रमाण दे रहे हैं :
   (अ) मन्दिरो मकरावासे मंदिरे नगरे गृहे. —हेमचन्द्राचार्य कृत अनेकार्थ संग्रह, तृतीय कांड श्लोक ६२४, पृ० ९७.
   (आ) अगारे नगरे पुरं । १८३ । मंदिरं च'.
   अमरकोष, तृतीय कांड, पृष्ठ २३५ (खेमराज श्रीकृष्णदास).
   (इ) नगरं मंदिरं दुर्ग, —भोजकृत समरांगण सूत्राधार भाग १, पृष्ठ ८६.
   (ई) मंदिर-घर, देवालय, नगर, शिविर संक्षिप्त-बृहत् हिं० को० पृ० ९९२.

२. राहुल सांकृत्यायन, आनंदकौसल्यायन और जगदीश काश्यप-सम्पादित सुत्तनिपात के नागरी संस्करण में शब्द है 'वनसव्हयं'. ऐसा ही पाठ हार्वर्ड ओरियंटल सीरीज, वाल्यूम ३७ में लार्ड चाल्मर्स-प्रकाशित सुत्तनिपात (पृ०२३८) में भी है. पाली इंगलिश डिक्शनरी में भी सव्हय शब्द है. उसका अर्थ दिया है. 'काल्ड' नेम्ड,' (पृष्ठ १५९) पर राहुल जी ने बुद्धचर्या (पृष्ठ ३५२) पर 'साव्हय' शब्द दिया है. यह पाठ कहीं भी देखने को नहीं मिला.

३. द लाइफ ऐंड वर्क आव बुद्धघोष, ला लिखित, पृष्ठ ९.

४. बारहुत बेणीमाधव बरुआ-लिखित, भाग १, पृष्ठ २८.

५. आप्टेज संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी. —भाग ३, पृष्ठ १३७७; संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ, पृष्ठ ७२९.

६. बृहत्संहिता, पंडितभूषण वी० सुब्रह्मण्य शास्त्री-सम्पादित; अ० १४, श्लोक १५, पृष्ठ १६२. 'बृहत्संहिता अर्थात् वाराहीसंहिता दुर्गाप्रसाद द्वारा सम्पादित और अनुवादित, पृष्ठ ९९.

## शिलालेखों में तुम्बवन

(१) सांची के शिलालेखों में सात स्थलों पर तुम्बवन का उल्लेख आया है :

(अ) तुबवना गहपतिनो पतिठियस भातु ज (।) याय धनय दानम्[१]
तुम्बवन के गृहपति पतिठिय(प्रतिष्ठित) के भाई की पत्नी धन्या का दान

(आ) तुबवना गहपतिनो पतिठिय (सु ि) न साय वेसमनदताए दानम्[२]
तुम्बवन के गृहपति की पुत्रवधू वैश्रमणदत्ता का दान

(इ) तुबवना गहपतिनो पतिठियस दानम्[३]
तुम्बवन के गृहपति प्रतिष्ठित का दान

(ई) तुबवना गहपतिनो पतिठियस दानम्[४]
तुम्बवन के गृहपति प्रतिष्ठित का दान

(उ) तुबवना गहपतिनो पतिठियस दानम्[५]
तुम्बवन के गृहपति प्रतिष्ठित का दान

(ऊ) नं दूत (र स) तो व (वनिकस्स)[६]
तुम्ब (वन) के निवासी नंदुत्तर (नन्दोत्तर) का (दान)

(ए) वी र ए भि खु निया तोववनिकाय दानम्[७]
तुम्बवन की साध्वी वीरा का दान

(२) तुम्बवन का उल्लेख तुमेन में मिले एक शिलालेख में भी है. इस शिलालेख में कुमारगुप्त के शासन-काल में एक मंदिर के बनवाये जाने का उल्लेख है.[८] उस शिला लेख में आता है :

समानवृत्ता कृति (भाव धीराः) (कृता) लयास्तुम्बवने व (भू) वुः ।
अकारयंस्ते गिरि (श्रि) ङ्ग तुङ्गं, शशि (प्रभं) देवनि (वासहर्म्यम्) ।[९]

## स्थान-निर्णय

जैन-ग्रंथों में स्पष्ट उल्लेख है कि यह तुम्बवन अवंति जनपद में था. अवन्ति के सम्बन्ध में हेमचन्द्राचार्य ने अभिधान-चिन्तामणि में लिखा है :

'मालवा स्युरवन्तयः'[१०]

---

१. द मानुमेंट्स आव सांची(सर चार्ल्स मार्शल तथा अल्फ्रेड फाउचर लिखित, विथ टेक्स्ट्स आव इंस्क्रिप्शन एडिटेड बाई एन०जी० मजूमदार एम्० ए०, आलेख-संख्या १६, पृष्ठ ३०१.
२. वही, आलेख-संख्या १७ अ, पृष्ठ ३०१.
३. वही, आलेख-संख्या १८, पृष्ठ ३०१.
४. वही, आलेख-संख्या २०, पृष्ठ ३०१.
५. वही, आलेख-संख्या २१, पृष्ठ ३०२.
६. वही, आलेख-संख्या ७६४, पृष्ठ ३७८.
७. वही, आलेख-संख्या ३४६, पृष्ठ ३३५.
८. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृष्ठ ७३.
९. सिलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, खंड १, दिनेश सरकार-सम्पादित १९४२, पृष्ठ ४९७.
१०. अभिधानचिंतामणि भूमिकांड, श्लोक २२, पृष्ठ ३८१.

ऐसा ही उल्लेख (मालवा स्युरवन्तयः)[१] अमरकोष में भी है. वैजयन्ती कोष में आता है :

दशार्णास्स्युर्वेदिपरा मालवास्स्युरवन्तयः[२]

इस मालव का उल्लेख जैन-आगमों में भी मिलता है. भगवती सूत्र में जहाँ १६ जनपद गिनाये गये हैं, उनमें एक 'मालवगाण' का भी उल्लेख है.[३] पर जैन-ग्रंथों में जहाँ २५।।, आर्य देशों का उल्लेख है, उनमें दशार्ण भी एक गिना जाता है.[४] वहाँ मालव की गणना अनार्य देशों में की गई है.[५] भगवान् महावीर दशार्ण तो गये पर मालव वे कभी नहीं गये.

और, बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध ने आर्य देश की सीमा इस प्रकार बतायी है :

"भिक्षुओ ! अवन्ति दक्षिणापथ में बहुत कम भिक्षु हैं, भिक्षुओ ! सभी प्रत्यन्त जनपदों में विनयधर को लेकर पाँच भिक्षुओं के गण से उपसम्पदा (करने) की अनुज्ञा देता हूँ. यहाँ यह प्रत्यन्त जनपद है—पूर्व में कजंगल नामक निगम है, उसके बाद शाल (के जंगल) हैं. उसके परे 'इधर से बीच' में प्रत्यन्त जनपद है. पूर्व-दक्षिण दिशा में सलिलवती नामक नदी है. उससे परे इधर से बीच में प्रत्यन्त जनपद है. दक्षिण दिशा में सेतकणिक नामक निगम है. पश्चिम दिशा में थूण नामक ब्राह्मण गाम०. उत्तर दिशा में उसीरध्वज नामक पर्वत. उससे परे प्रत्यन्त जनपद है."[६]

बुद्ध द्वारा निर्धारित इस सीमा में मालव नहीं पड़ता. और बुद्ध वहाँ गये भी नहीं. वहाँ के राजा पज्जोत ने बुद्ध को आमंत्रित करने के लिए कात्यायन को भेजा. कात्यायन बुद्ध का उपदेश सुनकर साधु हो गया. बाद में जब बुद्ध को उसने राजा की ओर से आमंत्रित किया तो बुद्ध ने कहा कि तुम्हीं वहाँ जाकर मेरा प्रतिनिधित्व करो.[७] इस प्रसंग में लिखा है—" शास्ता ने उनकी बात सुन...बुद्ध (केवल) एक कारण से न जाने योग्य स्थान में नहीं जाते, इसलिए स्थविर को कहा—"भिक्षु तू ही जा...!"[८]

और अवन्ति के उल्लेख से तो भारतीय साहित्य भरा पड़ा है.

## वैदिक साहित्य में अवन्ति

१. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में जहाँ सीता को खोजने के लिए दूतों के भेजे जाने का उल्लेख है, वहाँ आता है—

---

१. अमरकोष, द्वितीय कांड, भूमि वर्ग, श्लोक ६, पृष्ठ २७८.

—खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई

२. वैजयन्ती कोष, भूमिकांड. देशाध्याय, श्लोक ३७, पृष्ठ ३८.

३. तंजहा—१ अंगाणं, २ वंगाणं, ४ मगहाणं, ४ मलयाणं, ५ मालवगाणं, ६ अच्छाणं, ७ वच्छाणं, ८ कोच्छाणं, ९ पाढाणं, १७ लाढाणं, ११ वज्जाणं, १२ मोलीणं, १३ कासीणं १४ कोसलाणं, १५ अवाहाणं. १६ संभुत्तराणं.

—भगवती सूत्र, शतक १५, सूत्र ५५४, पृष्ठ २७.

४. बृहत्कल्पसूत्र सटीक विभाग ३, पृष्ठ ९१३ प्रज्ञापना सूत्र मलयगिरि की टीका सहित पत्र,५५-२ सूत्रकृतांग सटीक. प्रथम भाग, पत्र १२२ प्रवचनसारोद्धम् सटीक, भाग, २ पत्र ४४-३।१-२.

५. (अ) सग जवण सवर बब्बर काय मुरूंडोड्ड गोण पक्कणया । अरवाग होण रोमय पारस खस खासिया चेव ।७३।

दुंविलय लउस बोक्कस भिल्लंध पुलिंद कुंच भमररुआ । कोवाय चीण चंचुय मालव दमिला कुलग्घा या ।७४।

केक्कय किराय हयमुहं खरमुह गयतुरय मिंढयमुहा य । हयकन्ना गयकन्ना अन्नेऽवि अणारिया बहवे ।७५।

पावा य चंडकम्मा अणारिया निग्घिणा निरणुतावी । धम्मोत्ति अक्खराइं सुमिणेऽवि न नज्जए जाणं ।

—प्रवचन सारोद्धार, उत्तरार्द्ध, पत्र ४४५-२, ४४६-१.

(आ) प्रश्नव्याकरण सटीक पत्र १४-१ पण्णवणा (बाबूवाला) पत्र ५९-१

६. बुद्धचर्या, पृष्ठ ३७१ (१९५२ ई०).

७. डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स, भाग १, पृष्ठ १९३.

८. बुद्धचर्या पृष्ठ ४५.

आवंतीमवंतींश्च सर्वमेवानुपश्यत[1]

२. महाभारत में इस प्रदेश के दो राजाओं-विंद और अनुविंद-का उल्लेख आया है. इनका सहदेव के साथ समर हुआ है. ये कौरवों के पक्ष में महाभारत में लड़े थे.[2] द्रोणपर्व में आया है कि अर्जुन ने इनको परास्त किया.[3]

और उसके सम्बन्ध में टी० आर० कृष्णाचार्य-सम्पादित महाभारत के उपोद्घात के साथ प्रकाशित वर्णानुक्रमणिका में लिखा है :

सेकापरसे कयोर्नर्मदायाश्च दक्षिणतो विद्यमानो मालवदेशान्तर्गतो देशः।

—वर्णानुक्रमणिका, (महाभारत), पृष्ठ १६.

३. इनके अतिरिक्त कितने ही अन्य पुराणों में अवन्ती नगर का उल्लेख है:

(अ) अवन्ती नगरे रम्ये दीक्षितां ऋषिसत्तमः, सत्कुलीनः सदाचारः शुभकर्मपरायणः।

—शिवपुराण, ज्ञान सं० २५ अ०

(आ) अवन्त्यां तु महाकालं शिवं मध्यमकेश्वरे। —शिवपुराण सनत्कुमार सं० ३१ अ०

(इ) अवन्तीनगरी रम्या मुक्तिदा सर्वदेहिनाम्, शिप्रा चैव महापुण्या वर्तते लोकपावनी।

—शिवपुराण, ज्ञान सं० ४६ अ०

(ई) अवन्ती नगरी रम्या तत्रादश्यत वै पुनः —शिवपुराण, ज्ञान सं० ४६ अ०

(उ) स्कंदपुराण में तो एक पूरा अवन्ती खंड है. उसमें आया है :

अवन्तिकायां विहितावतारं ·····।
अवन्ति पुण्यनगरी प्रतिकल्पोद्भवा शुभा।
अस्ति चोज्जयिनी नाम पुरी पुण्यफलप्रदा।
यत्र देवो महाकालः सर्वदेवगुणैः स्तुतः।

(ऊ) गरुड़-पुराण में इसकी गणना ७ तीर्थस्थानों में की गई है :

अयोध्या मथुरा माया काशी कान्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैताः मोक्षदायिकाः।

(ए) आज्ञा चक्रं स्मृता काशी या बाला श्रुतिमूर्धनि।
स्वधिष्ठानं स्मृता कान्ची मणिपूरमवन्तिका।
नाभि देशे महा कालस्तन्नाम्ना तत्र वै हरः। —वाराह पुराण.

(ऊ) श्रीमद्भागवत में सन्दीपनि के आश्रम के प्रसंग में आया है :

अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः, काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनः।

—श्रीमद्भागवत, द्वितीय भाग, दशम स्कंध, अ० ४५, श्लोक ३१, पृष्ठ ४०३ (गोरखपुर)

---

१. श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, किष्किंधा कांड,

२. विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महतावृतौ।
जिगाय समरे वीरावाश्विनेयः प्रतापवान्॥ —महाभारत, सभापर्व, अध्याय ३२, श्लोक ११, पृष्ठ ५०.
महीपालो, महावीर्यैर्दक्षिणापथवासिभिः।
आवन्त्यौ च महीपालौ महाबल-सुसंवृतौ ।२५. —महाभारत, उद्योग पर्व, अध्याय १९, श्लोक २५, पृष्ठ २५.

३. विन्दानुविन्दावावन्त्यौ विराटं दशभिः शिरैः।
आजघ्नतुः सुसंक्रुद्धौ तव पुत्रहितैषिणौ॥ —महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय ९३, श्लोक ४, पृष्ठ १४०.

४. पुराणों से भी प्राचीन साहित्य में अवन्ति का उल्लेख है:—

(अ) अवन्तीस्थावन्तीरस्वावन्तु —तैत्तरीय ब्राह्मण ३, ९, ६, १,

(आ) देवीं वाचमजनयन्त यद्वाग्वदन्ति.......
वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गंधर्वा पशवोः मनुष्यः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता, सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी।
वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य, वेद्रानां माताऽमृतस्य नाभिः।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागात्, अवन्ती देवी सुहवा मे अस्तु। —तैत्तरीय ब्राह्मण २, ८, ८.

(इ) अवन्तयोंऽगमगधाः सुराष्ट्राः दक्षिणापथा, उपावृत्सिन्धुसौवीरा एते संकीर्णयोनयः
—बौद्धायन धर्मसूत्र १, १, २, १८ काशी संस्कृत सीरीज, (१९३४) पृष्ठ १०

(ई) स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च —पाणिनि, अष्टाध्यायी, ४, १, १७६.

इस प्रकार के अनेक उल्लेख अवन्ति के मिलते हैं.

## बौद्ध-ग्रन्थों में अवन्ति

बौद्ध-साहित्य में भी अवन्ति के अनेक उल्लेख हैं :

१. बौद्ध-साहित्य में १६ महाजनपदों के नाम मिलते हैं. उनमें एक जनपद अवन्ति भी बतायी गयी है और उसकी राजधानी का नाम उज्जैन बताया गया है[1]. परन्तु, अन्य स्थल पर एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि कुछ कालतक महिस्सति (महिष्मती) अवन्ति की राजधानी थी.[2]

महावग्ग में इसे दक्षिणापथ में बताया गया है[3] बुद्ध के समय में यहाँ पज्जोत नाम का राजा राज्य करता था.[4] इनके अतिरिक्त कुछ अन्य प्रसंगों में भी अवन्ति के उल्लेख आये हैं.

## जैन-ग्रंथों में अवन्ति का स्थाननिर्णय

अवन्ति थी कहाँ, इसका स्पष्टीकरण करते हुए जैन-ग्रंथों में आता है :

१. उज्जयिनी नगरी प्रतिबद्धे जनपदविशेषे[5]

२. अत्थि अवन्ति विसए उज्जेणी पुरवरी जयपसिद्धा।
कुलभूसणो य सिट्ठी तब्भज्जा भूसणा नामा। —सुपासनाहचरियं, पृष्ठ ३९६.

३. (अ) अवती णाम जणवओ।
तत्थ य अमरावइ सरिसलीलाविलंबिया उज्जेणी नाम नयरी। —वसुदेव हिंडी पृष्ठ ३९.

---

१. अंगुत्तर निकाय खण्ड १. पृष्ठ २१३, खंड ४ पृष्ठ २५२, २५६, २६०.

२. दन्तपुरं कलिङ्गानं, अस्सकानञ्च पोतने।
माहिस्मति अवन्तीनं, सोवीरानञ्च रोरुके।
मिथिला च विदेहानं, चम्पा अंगेसु यापिता
वाराणसी च कासीनं, एते गोविन्द यापिता॥ —दीघनिकाय (२) महावग्ग, सं० १९५८) पृष्ठ १७५.
—दीघनिकाय राहुल का अनुवाद पृष्ठ १७१

३. अवन्ति दक्खिणापथे—महावग्ग, पृष्ठ २१४ (नालंदा).

४. विनयपिटक, महावग्ग (मूल) पृष्ठ २९२ (नालंदा).
जैन-ग्रन्थों में उसका नाम चंडपज्जोय (चण्डप्रद्योत) आता है.

५. राजेन्द्राभिधान खण्ड१, पृष्ठ ७८७ देखिए 'आवश्यक मलयगिरि' (द्वि०)

(आ) अत्थि अवन्ति नाम जणवओ। तत्थ उज्जेणी नाम नयरी रिद्धित्थिमियसमिद्धा।

—वसुदेव हिंडी पृष्ठ, ४९.

४. चण्डप्रद्योतनाम्नि नरसिंहे अवन्ति जनपदाधिपत्यमनुभवति नव कुत्रिकापण उज्जयिन्यामासीरन्.

—बृहत्कल्पसूत्र सटीक भाग ४, पृष्ठ ११४५.

ऐसा ही उल्लेख दिगम्बर ग्रन्थों में भी आया है:—

... ... .... .... ... ... ....

अवन्तिविषयः सारो विद्यते जनसंकुलः।१।

जिनायतन सापूर सौधापणविराजितः।

तत्रास्ति कृतिसंवामा श्रीमदुज्जयिनी पुरी।२।

—हरिषेणाचार्य कृत बृहत्कथाकोष, पृष्ठ ३.

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि अवन्ति देश की राजधानी उज्जयिनी थी और उसे राष्ट्र के नाम पर अवन्ति भी कहते थे.[1] और उस अवन्ति देश में ही, जो दक्षिणापथ में था, तुम्बवन था, जिसका उल्लेख जैन, बौद्ध और हिन्दू सभी ग्रन्थों में मिलता है.

इसकी स्थिति अब पुरातत्त्व से निश्चित हो गई है. प्राचीन काल के तुम्बवन का अर्वाचीन नाम तुमेन है. यह स्थान गुना जिले में है. बीना-कोटा लाइन पर स्थित टकनेरी (जिसे पछार भी कहते हैं. इसका वर्तमान नाम अशोक नगर है.) से ६ मील दूर दक्षिण पूर्व में तुमेन स्थित है. यह अशोक नगर बीना से ४६ मील और गुना से २८ मील दूर है. इस तुमेन में एक शिलालेख मिला है, जिसमें तुम्बवन का उल्लेख है. उसका जिक्र हम ऊपर कर आये हैं. वहां एक और शिलालेख मिला है, जिसमें एक सती के दाह का और छत्री बनाये जाने का उल्लेख है.[2]

### आर्य वज्र

इसी तुम्बवन में आर्यवज्र का जन्म हुआ था. इनका चरित्र परिशिष्ट पर्व (सर्ग १२, पृष्ठ २७०-३५० द्वितीय संस्करण) उपदेशमाला सटीक (२०७-२१४), प्रभावक चरित्र (३-८), ऋषिमंडल प्रकरण (१९२-२-१९९-१), कल्पसूत्र-सुबोधिका टीका आदि ग्रंथों में मिलता है.

उनके पिता का नाम धनगिरि था. उनके लिए इब्भपुत्र[3] लिखा है. इब्भ शब्द का अर्थ हेमचन्द्र ने देशीनाममाला[4] में लिखा है.

इब्भो वणिए.

इब्भ और वणिया दोनों समानार्थक हैं. उनका गोत्र 'गौतम'[5] लिखा है. धनगिरि धर्मपरायण व्यक्ति थे. जब उनके विवाह की बात उठती तो वे कन्या वालों से कह आते कि मैं तो साधु होने वाला हूं. पर, धनपाल नामक एक श्रेष्ठी ने अपनी पुत्री सुनन्दा का विवाह धनगिरि से कर दिया. अपनी पत्नी को गर्भवती छोड़कर धनगिरि ने सिंहगिरि से दीक्षा ले ली. कालान्तर में जब बच्चे का जन्म हुआ तो अपने पिता के दीक्षा लेने की बात सुनकर बालक को जातिस्मरण ज्ञान हुआ.

---

१. उज्जयिनी स्याद् विशालावन्ती पुष्पकरण्डिनी. —अभिधानचिंतामणि, भूमिकांड श्लोक, ४२, पृष्ठ ३६०.

२. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृष्ठ ७१.

३. उपदेशमाला सटीक, गाथा ११०, पत्र २०७, ऋषिमंडल प्रकरण, गाथा ३२, पत्र १९२-१. परिशिष्ट पर्व, द्वादश सर्ग, श्लोक ४, पृष्ठ २७०.

४. देशीनाममाला प्रथम वर्ग श्लोक ७९, पृष्ठ २८ (कलकत्ता विश्व०) अभिधानचिंतामणि में लिखा है—'इभ्य आढ्यो धनीश्वरः' (मर्त्यकांड, श्लोक २१, पृष्ठ १४७). ऐसा ही उल्लेख पाइअ-लच्छीनाममाला में है—'अड्ढा इब्भा धणिणो' (पृष्ठ १२)

५. अज्जवइरे गोयम सगुत्ते कल्प सू० सुबो० टी० पत्र ४९३.

माता का मोह कम करने के लिये बालक दिन-रात रोया करता. एक दिन धनगिरि और समित भिक्षा के लिये जा रहे थे. उस समय शुभ लक्षण देखकर उनके गुरु ने आदेश दिया कि जो भी भिक्षा में मिले ले लेना. ये दोनों साधु भिक्षा के लिये चले तो सुनन्दा ने (जो अपने बच्चे से ऊब गयी थी) बच्चे को धनगिरि को दे दिया. उस समय बच्चे की उम्र ६ मास की थी. धनगिरि ने बच्चे को झोली में डाल लिया और लाकर गुरु को सौंप दिया. अति भारी होने के कारण गुरु ने बच्चे का नाम वज्र रख दिया[1] और पालन-पोषण के लिये किसी गृहस्थ को दे दिया. श्राविकाओं और साध्वियों के सम्पर्क में रहने से बचपन में ही बच्चे को ग्यारह अंग कंठ हो गये.

बच्चा जब तीन वर्ष का हुआ तो उसकी माता ने राजसभा में विवाद किया. माता ने बच्चे को बड़े प्रलोभन दिखाए पर बालक उधर आकृष्ट नहीं हुआ और धनगिरि के निकट आ कर उनका रजोहरण उठा लिया.

जब वज्र ८ वर्ष के थे तो गुरु ने उन्हें दीक्षा दे दी. उसी कम उम्र में ही देवताओं ने उन्हें वैक्रिय लब्धि और आकाशगामिनी विद्या दे दी. वज्र स्वामी ने उज्जयिनी में भद्रगुप्त से दस पूर्व की शिक्षा ग्रहण की.

कालान्तर में आर्य वज्र पाटलिपुत्र गये. वहाँ रुक्मिणी नामक एक श्रेष्ठि-कन्या ने आर्य वज्र से विवाह करना चाहा पर आर्यवज्र ने उसे दीक्षा दे दी. पाटलिपुत्र से आर्यवज्र पुरिका नगरी गये. वहाँ के बौद्ध राजा ने जिन मन्दिरों में पुष्पों का निषेध कर दिया था. अतः पर्युषणा में श्रावकों की विनती पर आकाशगामिनी विद्या द्वारा माहेश्वरीपुरी (वाराणसी) जाकर एक माली से पुष्प एकत्र करने को कहा और स्वयं हिमवत पर जाकर श्री देवी प्रदत्त हुताशनवन[2] से पुष्पों के विमान द्वारा पुरिका आये और जिन-शासन की प्रभावना की तथा बौद्ध राजा को भी जैन बनाया.

एक दिन आर्य वज्र ने कफ के उपशमन के उद्देश्य से कान पर रखी सोंठ प्रतिक्रमण के समय भूमि पर गिर गयी. इस प्रमाद से अपनी मृत्यु निकट आयी जानकर आर्य वज्र ने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा—"अब बारह वर्ष का दुष्काल पड़ेगा. जिस दिन मूल्य वाला भोजन तुम्हें भिक्षा में मिले उससे अगले दि[illegible] का [illegible] सुभिक्ष हो जायेगा.' यह कह कर उन्होंने शिष्यों को अन्यत्र विहार करा दिया और स्वयं रथावर्त पर्वत [illegible]र अनशन करके देवलोक चले गये. यह रथावर्त विदिशा के निकट था. इसी का नाम गजाग्रपद गिरि और इन्द्रपद भी है.[3] इसे राजेन्द्रसूरि ने अपने कल्पसूत्रप्रबोधिनी में स्पष्ट कर दिया है.[4] इससे स्पष्ट है कि रथावर्त विदिशा के ही निकट था. 'निशीथचूर्णि में भी ऐसा ही लिखा है.[5]

'जैन-परम्परा नो इतिहास' के लेखक[6] ने अपनी कल्पना भिडा कर इसे मैसूर राज्य में लिख डाला और वहाँ

---

१. (अ) वज्रादप्यधिकं भारं शिशोरालोक्य सूरयः ।
जगत्प्रसिद्धां श्रीवज्र इत्याख्यां ददुरुन्मुदः ॥ —ऋषिमंडल प्रकरण, श्लोक ३४, पृष्ठ १९३-१.

(आ) सो वि य भूमिपत्तो जा जाओ तत्थ सूरिणा भणियं ।
अव्वो किं वइरमिमं जं भारिय भावमुव्वहइ । ४४ —उपदेशमाला सटीक, पत्र २०८.

(इ) तद्भारभंगुरकरो गुरुरूचे सविस्मयः ।
अहो पुंरूपभृद्वज्रमिदं धर्तुं शक्यते ॥५२॥ —परिशिष्ट पर्व, सर्ग १२, पृष्ठ २७४.

२. माहेश्वर्यां नगर्यां स्वनामख्याते.

३. इन्द्रपदो नाम गजाग्रपदगिरिः—'बृहत्कल्पसूत्र सभाष्य, विभाग ४, पृष्ठ १२९८-१२९९, गाथा ४८४१.

४. असौ गिरिः प्रायो दक्षिण मालवदेशीयां विदिशां (भिलसा) समया किलासीत्. आचारांगनिर्युक्तौ 'रहावत्तनगं' इत्युल्लेखात् आचारांग निर्युक्ति रचयिता श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामीति मन्यते; तर्हि वज्रस्वामिनः स्वर्गगमनात्प्रागपि स गिरिरथावर्त्तनामासीदिति सगंच्छेत'.
—कल्पसूत्र प्रबोधिनी पृष्ठ २८२.

५. निशीथचूर्णि-पृष्ठ १०.

६. पृष्ठ ३३७.

की बड़ी मूर्ति को वज्र स्वामी की मूर्त्ति बना दी. इन शास्त्रीय उल्लेखों के रहते, रथावर्त को दक्षिण में बताना और बाहुबलीकी मूर्ति को वज्रस्वामी की मूर्ति बताना दोनों ही बातें पूर्णतः भ्रामक हैं. दक्षिण वाली उस मूर्ति के लिये आचार्य जिनप्रभसूरि ने विविधतीर्थकल्प में लिखा है.

दक्षिणापथे गोमट देव श्री बाहुबलि :[1]

इसी रथावर्त के निकट वासुदेव-जरासंध में युद्ध हुआ था और इसका उल्लेख महाभारत में भी मिलता है.[2]

इस वर्णन में केवल नीचे लिखे नगर आर्य वज्र के जीवन से सम्बद्ध बताये गये हैं :

तुम्बवन, उज्जयिनी, पाटलिपुत्र, पुरिका, हिमवत. हुताशनवन, रथावर्त.

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि उक्त विहार-क्रम में कहीं भी सिद्धाचल का वर्णन नहीं मिलता.

## आर्य शब्द का प्रयोग

पहिले के युगप्रधान आचार्यों के नामों के पूर्व आर्य शब्द का प्रयोग देखा जाता है. यह परम्परा आर्य वज्रसेन तक रही जिनका स्वर्गगमन वीरात् ६२० में[3] हुआ.

१. विविध तीर्थकल्प पृष्ठ ८५.
२. आवश्यक चूर्णि, पूर्व भाग, पत्र २३५.
३. जैन गुर्जर-कविओ, भाग २, पृष्ठ ७०७.
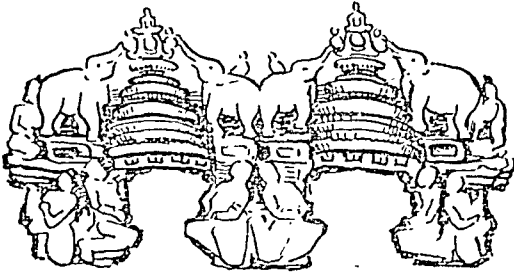
रत्नचन्द्र अग्रवाल
अध्यक्ष, पुरातत्त्व संग्रहालय-विभाग, उदयपुर

# देबारी के राजराजेश्वर मंदिर की अप्रकाशित प्रशस्ति

मेवाड़नरेश महाराणा राजसिंह द्वितीय ने केवल सात वर्ष (संवत् १८१२ से १८१७) राज्य किया था उनके राज्य-काल का संवत् १८१२ का लेख उदयपुर के सांध्यगिरि मठ के पास शिवालय में लगा है और दूसरा लेख संवत् १८१७ का है जो उदयपुर के जगदीश मंदिर के पास एक सुरभि-स्तम्भ पर खुदा है (रिसर्चर-राजस्थान पुरातत्त्व विभाग की पत्रिका, वर्ष-१,अंक १, पृ० २६-३२). इसके बाद राजसिंह द्वितीय का ही भाई अरिसिंह द्वितीय शासक बना. उसके राज्यकाल में राजसिंह द्वितीय की माता बख्तकुँवरी (जो झाला वंश की थी) ने अपने पुत्र राजसिंह की मृत्यु हो जाने के कारण उसके सुकृत हेतु उदयपुर नगर से ८ मील दूर देबारी (उदयपुर घाटी का प्रवेश) के द्वार के सामने ही राजराजेश्वर मंदिर, वापी तथा पास की धर्मशाला का निर्माण कराया था. उसकी प्रतिष्ठा श्रावणादि वि० सं० १८१९ (चैत्रादि १८२०) शक संवत् १६८५ वैशाख सुदी ८ गुरुवार (जीव) को होकर प्रशस्ति रची गई थी. ६८ श्लोकों की यह बृहत् प्रशस्ति शिला पर अद्यावधि उत्कीर्ण न हो सकी. उसकी एक प्रति की प्रतिलिपि मुझे स्वर्गीय पं० गो० ला० व्यास जी के सौजन्य से प्राप्त हुई है. यह राजसिंह की माता की कृतियों, उसके मातृपक्ष के वंश वृक्ष और तत्कालीन इतिहास के लिये परम उपयोगी है. माननीय ओझा जी ने इसकी एक प्रतिलिपि श्री विष्णुराम भट्ट मेवाड़ा के संग्रह में देख कर उसका सारांश भी उदयपुर राज्य के इतिहास' (भाग २, पृ० ६६३) में प्रकाशित किया था. प्रस्तुत निबन्ध में श्री व्यास[1] जी द्वारा प्राप्त प्र तिलिपि को तनिक विवेचनादि सहित विद्वद्वर्ग के अध्ययनार्थ सर्व-प्रथम प्रकाशित किया जावेगा.

इस बृहत् प्रशस्ति के कुल ६८ श्लोक हैं तथा भाषा संस्कृत है. प्रारंभ में 'गणपति' वन्दना के उपरान्त प्रशस्तिकार 'सोमेश्वर' का उल्लेख है जिसने राजसिंह द्वितीय की माता के आदेशानुसार शिवालय व वापी की यह प्रशस्ति रची थी (श्लोक १). राजसिंहराज्याभिषेक काव्य की रचना भी भट्ट रूप जी के सुपुत्र इसी सोमेश्वर ने की थी (ओझा, उपर्युक्त पृ० ६४४ पाद टिप्पण २). तदनन्तर मेवाड़ के उदयपुर नगर के संस्थापक (श्लोक ७) महाराणा उदयसिंह प्रथम से लेकर राजसिंह द्वितीय तक का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है. आठवें श्लोक में उदयपुर को शक्रपुरी कहा है. राणा प्रताप ने यवनों (मुसलमानों) को मारा था (श्लोक ११), वीर अमरसिंह प्रथम ने राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति की थी (श्लोक १२), उसका पुत्र कर्णसिंह था (श्लोक १३). उसके पुत्र जगतसिंह ने विष्णुमंदिर अर्थात् जगदीशमंदिर, षोडश महादान सम्पन्न कर मान्धातातीर्थ पर यश प्राप्त किया (श्लोक १४-१५). उसका पुत्र राजसिंह प्रथम था (श्लोक १६) जिसने समुद्र के समान बन्ध (अर्थात् राजसमुद्र बांध बंधाया. उसके पुत्र जयसिंह प्रथम ने भी तथैव बांध बंधाया (अर्थात् जयसमुद्र, श्लोक १७) उसके पुत्र अमरसिंह द्वितीय ने उदयपुर के राजप्रासादों में वृद्धि की

१. झालावाड़ संग्रहालय के संस्थापक व अध्यक्ष.

(श्लोक १८-१९) और उसके पुत्र संग्रामसिंह द्वितीय की ख्याति तो धर्मावतार के रूप में ही थी—उसने सोने के तीन तुलादान सम्पन्न किए थे (श्लोक २२, ओझा, उपर्युक्त, पृ० ६२१) और औरंगजेब के समय खण्डितांश जगदीश-मंदिर का जीर्णोद्धार कराया (श्लोक २३). यहाँ संग्रामसिंह द्वितीय की पर्याप्त प्रशंसा की गई है (श्लोक २० से २३). उसका पुत्र वीर जगत्सिंह द्वितीय (श्लोक २४-२७) था जिसने जगन्निवास नामक राजमहल का निर्माण कराया था (श्लोक २७, ओझा—पृ० ६३९). जिसकी प्रतिष्ठा संवत् १८०२ में हुई थी. उसका पुत्र प्रतापसिंह द्वितीय था (श्लोक २८-३१) जो अति प्रतापशाली था. यह केवल अतिशयोक्ति नहीं है. उसका एक मात्र पुत्र था राजसिंह द्वितीय (श्लोक ३२) जिसकी माता की यह प्रस्तुत प्रशस्ति है.

श्लोक ३२ के उपरान्त राजराजेश्वर मंदिर को बनाने वाली राजमाता बखतकुँवरी (झाला कर्ण की पुत्री व प्रतापसिंह द्वितीय की राणी) के पिता के वंश का परिचय निम्नांकित है :—पश्चिम समुद्र तट पर (काठियावाड़ में) झालावाड़ देश में रणछोड़पुरी नाम की नगरी है (श्लोक ३३-३४), वहाँ का राजा झाला मानसिंह हुआ (श्लोक ३५) जिसके पीछे क्रमशः चन्द्रसिंह, अभयराज, विजयराज, सहसमल्ल, गोपालसिंह और कर्ण हुए (श्लोक ३५ से ४२). कर्ण की पुत्री बखतकुँवरी थी (श्लोक ४३) जो मेवाड़ नरेश महाराणा प्रतापसिंह की पत्नी थी (श्लोक ४४). उसके पुत्र का नाम था राजसिंह द्वितीय (४५ तथा आगे).

माननीय ओझा जी (उपर्युक्त, पृ० ६६३) के अनुसार 'ऊपर लिखे राजाओं में मानसिंह तो ध्रांगधरा का स्वामी था. उसके दूसरे पुत्र चन्द्रसिंह के चौथे पुत्र अभयसिंह (अक्षयराज) को वख्तर की जागीर मिली थी. उसके पुत्र विजयराज ने रणछोड़ जी के भक्त होने के कारण अपनी राजधानी लख्तर का नाम रणछोड़पुरी रखा—कालीदास देवशंकर पंड्या, गुजरात, राजस्थान, पृ० ४७१-७२'.

महाराणा राजसिंह द्वितीय ने राज्याभिषेक के समय स्वर्णतुलादान किया था (श्लोक ४७) वह उदारचित्त नरेश था. वह प्रतापसिंह का पुत्र यशस्वी था (श्लोक ५१) और उसकी (राजसिंह की) पटरानी थी गुलाबकुमारी (श्लोक ५२), राजसिंह की छोटी रानी[1] थी फतेहकुमारी (श्लोक ५३). गुलाब कुमारी का रतलाम से सम्बन्ध था (श्लोक ५५). राजसिंह की माता तो हरि-भजन में व्यस्त रहती थी (श्लोक ५६), वह झाला वंश की पुत्री बखतकुँवरी थी (श्लोक ५७), राजमाता ने राजसिंह के पुण्यहेतु नगर के प्रवेश द्वार (अर्थात् देवारी द्वार के समक्ष) राजराजेश्वर का मंदिर-वापी आदि का निर्माण कराया था (श्लोक ५९-६०). राजराजेश्वर शंकर की पूजाहेतु ही वापी को बनवाया था. (श्लोक ६१).

६२ वें श्लोक में संवत्-मास-दिन-तिथि आदि अंकों व अक्षरों दोनों में अंकित हैं, यथा—विक्रम संवत् १८१९ शक संवत् १६८५ माधव (वैशाख) मास की शुक्ल (अमलतर) पक्ष की ८ वीं तिथि पुष्यनक्षत्र मिथुन लग्न दिन बृहस्पतिवार आदि. इस तिथि को मंदिर की प्रतिष्ठा विधिवत् सम्पन्न हुई थी. उस समय प्रतिष्ठा का श्रेय द्विजवर 'नन्दराम' को प्राप्त था. 'राजसिंहराज्याभिषेक[2]—काव्य' में भी इस व्यक्ति का नाम अंकित है. प्रतिष्ठा के समय राजमाता ने ब्राह्मणों को गौ, सोना, हाथी, घोड़े, रथ, जेवर, आदि बहुत सी चीजें दान में दी थीं (श्लोक ६५). आगे ६६-६७ श्लोकों में भी उसके दान का उल्लेख है. ऐसा करने से तथा वापी-शिवालय निर्माण व विधिवत् प्रतिष्ठा द्वारा राजमाता ने चिरस्थायी पुण्य प्राप्त किया (श्लोक ६८, अन्तिम पंक्ति).

स्वर्गीय श्री व्यास के सौजन्य से प्राप्त इस प्रशस्ति का निम्न स्वरूप तथैव प्रस्तुत किया जा सकता है यद्यपि इसमें कहीं-२ अशुद्धियाँ रह गई हैं :

---

१. द्रष्टव्य ओझा, उपर्युक्त, पृ० ६४७. राजसिंहराज्याभिषेक काव्य में भी राजसिंह द्वितीय द्वारा सम्पन्न स्वर्णतुला का [illegible]. ओझा-उपर्युक्त, पृ० ६४४, पादटिप्पण.

२. ओझा, उपर्युक्त, पृ० ६४५.

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

विघ्नेश्वरं सगिरीशं गिरिजा समेतं, सोमेश्वरो द्विजवरो विबुधांश्च नत्वा ।
श्री राजसिंह जननीकृत शम्भूसद्म वापी प्रशस्ति रचना क्रममातनोति ॥ १

विष्णोर्नाभिसरोरुहान्त, रुदितो वेधाविधायासिलं विश्वं स्थावरजङ्गमात्मकमसौ तद्रक्षणायासृजत् ।
क्षत्रं दुष्टनिवर्हणाय च सतां संरक्षणाय स्वयं यत्तेजोबल संयुतं भगवतो नैसर्गिकं जृम्भते ॥ २

तस्यान्ववायाविह सम्प्रसूतौ मन्वन्तरे सूर्यनिशाकराभ्याम् ।
वंशस्तयोरं शुभतो विशेषा—द्गुणैर्गिरीयाति हसं प्रदिष्टः ॥ ३

यत्रान्वये रघु-भागीरथ यौवनाश्च मान्धातृ-पार्थिववराः शतशोप्यभूवन् ।
सत्यव्रतः सकल गौर गुणाभिरामो रामो विभूपयति वंशमशेपमेकः ॥ ४

अग्रेऽभवन् राजपदाभिधानाः पश्चादभवनदिति प्रसूताः ।
ततः परं रावलशब्दवाच्याः राणाः बभूवुस्तदनन्तरं ते ॥ ५

राणास्ते सुचरिताः मेदपाटदेशे राज्यं तद्वुभुजरिहैकलिङ्गदत्तम् ।
तेषां को विहितपराक्रमानशेपान् दानादीन्दवि भुवि वर्णितुं समर्थः ॥ ६

तत्र पूर्वमभवद्विशुद्धधीः कीर्त्तिमानुदयसिंह भूपतिः ।
येन भूमिवलयैकभूपणम् भूभृतोदयपुरं विनिर्मितं ॥ ७

सोयं पुरी शक्रपुरीव नार्यः समानरूपा सुरसुन्दरीभिः ।
गुहा विमानावलि तुल्यरूपा नरासुरा भाति नृपः सुरेशः ॥ ८

सुरनरपुर गर्व सर्व तायाम् प्रभवति यत्सुरराजसेवितांघ्रिः ।
निवसति भगवानिहैकलिङ्गो जनपद भूपतिः लोक रक्षणाय ॥ ९

प्रतापसिंहोस्य सुतोऽथ जज्ञे वीरो महीमण्डलमंडनं यः ।
यस्य प्रतापाऽनल दीप्तितप्ताः अस्त्रै स्वदेहान् रिपवः शिपुयुः ॥ १०

अप्येकवीरो यवनानशेपान् जिग्ये जघानारिवलं समग्रम् ।
विदारयन् वैरिगजं व्रजं यो मुक्ताफलस्पर्धि यशोवितेन ॥ ११

तस्मादभूदमरसिंहनरेश्वरोसौ वीरो वली सकलशस्त्रभृतां वरिष्ठः ।
क्षोणीभुजा विशदकीर्त्तियुजा सदैव रेमे रमे वहरिणा भुवि राज्यलक्ष्मीः ॥ १२

कर्णसिंह इति तस्य भूपते—रात्मजः समभवदाधिपः ।
अंगराज इव योऽपरोर्थिनां चिन्तितार्थमखिलं व्यपूरयत् ॥ १३

ततो जगत्सिंह धराधिपोऽभवद् भाग्याभिपोऽस्त्रै जगतीतलेऽस्मिन् ।
राजांगणादग्वतराव विष्णोः[१] प्रासादमभ्रानिह......तान् ॥ १४

ससर्ज यः पोडशदानपंक्तीः मान्धातृतीर्थेऽवनिभृतकरीन्द्रः ।
तस्थौ स्वयं नर्मदा नीर......[२] ......पूज...प्रणवं महेशम् ॥ १५

---

१. जगनाथ, जगदीश मंदिर का निर्माता जगत्सिंह प्रथम ही था.

२. १४-१५ श्लोक अशुद्धिपूर्ण हैं.

राजराजास्य सुतो रसायां वीरो विडौजा इव राजसिंहः ।
ताटकतुल्यो धरणीगृहिण्याः सरः समुद्रोपम भाव वन्धः[1] ।। १६

जयसिंह भरेश्वरस्ततोऽभून्नयनदकरः शशीव लोके ।
स्वपितेव समुद्र तुल्य रूपं प्रवरं सोऽपि सरोवरं ववन्ध ।। १७

तस्मादभूदमरसिंह नराधिराजो मूर्धन्यरापपदशेपधराधिपानाम् ।
दूरीचकार विदुषां द्रविणौघदाने भाग्येपु दुर्गतिलिपिं विविनापि सृसृम् ।। १८

अमरपतिः समानरूपशीलो मरललना परिगीति शुद्धकीर्तिः
अमरनरपतिश्चकार सौधा नमर विलाससमाख्यान् प्रसिद्धान् ।। १६

तदंगजन्मा भुवनैकवीरो भूमंडलं भूपयति स्म राणा ।
संग्रामसिंह श्रुतशास्त्रधर्मा, धर्मावतारः प्रथित पृथिव्याम् ।। २०

अशेषशस्त्रास्त्रविधौ समर्प्यो धनुर्धरो धैर्यधरोप्यरिण्याम् ।
विलाङ्घितानैव कदापि भूपैः सक्तस्त्र दत्तापि चिरं पदाज्ञा ।। २१

हेम्नस्तुलानां ततयस्य कर्ता संग्रामसिंहो वसुधैकभर्ता ।
वभूव सर्वार्तिहरः प्रजानां, त्रिनेत्रसेवारसिकोऽन्वहं यः ।। २२

निरन्तरं त्र्यम्वकपादपद्म, पूजा फला वास समस्तकामः ।
देवालयस्योद्धरणाग्र वुद्धिं, चक्रे जगन्नसुरेश्वरस्य ।। २३

ततो जगत्कीर्तितसच्चरित्रो, वीरो जगतसिंह नरेश्वरो भूता ।
यशः....नयां धाम महानुभावो, महीपतीनां प्रवरो मनस्वी ।। २४

यश्चन्द्र...स्मरऽभौकनिष्ठस्तत्पूजया प्राप्तसमस्तकामः ।
वुभोज भूमि विविधौ विलासैः, वोढ़ी नवोढ़ामिव राज्यमानम् ।। २५

वलैरसंख्यैर्भुवनानि अकम्पयत् सस्नौ स्वयं पुष्करतीर्थराजे ।
दानान्यनेकानि च सुवृत्तानि, चकार भूपः परमप्रभावः ।। २६

अन्तस्तडागं जगदीश राणो, जगन्निवास प्रतिमप्रभावः ।
जगन्निवासास्पद तुल्यरूपं, जगन्निवासभुवनं ससर्ज ।। २७

तस्माद् वभूव—वीर्य प्रतापसिंहः, पृथिवीपतिर्यः ।
पौरानशेपान् द्रविणौघहारीन् कारागारं संजग्नहे समर्थः ।। २८

यस्मिन् महीं शासति मेदिनीशे, चोराय गेया श्रुतिरेवमासीत् ।
सिंहात् कुरंग इव यद् भयार्त्ता, भंजुर्दिगन्तान् भुवि तस्कराद्या ।। २६

नासेहिरे यस्य परं प्रतापं, प्रतापसिंहस्य सपत्नादयाः ।
गतीष्म—ध्येऽह्नि यस्योष्ण रश्मि स तापयामास वलादरातीन् ।। ३०

येनाराति-वधूविलोचनजलै स्सिञ्चिता मेदिनी, यन्नामन्नि स्मृत इव नीरिपुगणानिन्द्रात् भेर्जुनिगि ।
यस्योद्दाम मही ध्रुवुर्क शभुजस्तम्भैर्धराधारिता वीरोऽसौ नृपतिर्वभूव वसुधा चक्रे प्रतापाभिधः ।। ३१

---

१. अर्थात् 'राजसमुद्र' का दन्धा. जयसिंह प्रथम ने कालान्तर में 'जयसमुद्र' का निर्माण कराया था.
२. अर्थात् 'जगन्नाथ-जगदीश'.

तस्यात्मज सकलगौरगुणैरुदारः श्रीराजसिंह नृपतिः सवितेव जातः ।
यस्मिन्नुदारचरिते नृपतौ प्रजानो हृन्नेत्रवक्रकमलानि विकासमापुः ।। ३२

अस्ति पश्चिम तोयराशि तटभूदेशेषु देशः शिवो[1] झालावाड़ इति प्रथमधिगतः सर्वार्थसम्पत्प्रदः ।
चातुर्वर्ण्यमयी प्रजानवरतं धर्मं चरन्तीमुदा वेदोक्ते विधिपूर्वके निवसतं यस्मिन् सदातिभया ।। ३३

रणछोड़ पुरीति नामधेया विषये तत्र विभाति शोभना ।
सुरराजपुरी...............नरनारीभिरलं सुसेविता ।। ३४

शक्रो यः प्रतिपत्तपक्षदलने प्रौढ़-प्रतापानलः ज्योति—प्तादिगन्तरा समभवत् तत्राथ पृथ्वीपतिः ।
शूरः सत्पुरुषः प्रियोशुभक्तांश—शरण्यसुधी कन्दर्पोपम दर्शनो-मृगदृशां श्रीमान्सिंहाभिधः ।। ३५

शूरः सुरूपः सुभगोऽभिमानी नेता नराणामरिवर्गजेता ।
बभूव तस्याथ सुतो विनीतो राजा रसज्ञो भुवि रायसिंहः ।। ३६

धी विक्रमैः पीडितशत्रुमर्मा सुरक्षित क्षत्रियधर्मवर्मा ।
सुपूर्णराकेश्वर तुल्यधामा तस्यात्मजोभूदथ चन्द्रसिंहः ।। ३७

सकलशास्त्रविचारविशारदः सकलशस्त्रभृतामपि पूजितः ।
सकलदानकरोऽस्य सुतोवना—बभयराज इति—धितां भवत् ।। ३८

अमरराज सम द्युति उज्वल द्विरदराज कराभवृहद् भुजः ।
मनुजराज समाजसमाजितो विजयराज नृपोऽस्य सुतोऽभवत् ।। ३९

राजा सहस्वात्त समानकीर्त्तिः सहस्र बाहूरिव तुल्यतेजः ।
सहस्रमल्लाधिक वीर्यसारः सहस्रमल्लोस्य सुतो बभूव ।। ४०

राजा प्रजापालन लब्धवर्णाः भूपः स कालो भर लोकपालः ।
कन्या स्फुरद भव्य विश्मल-लो गोपालसिंहोऽस्य सुतो बभूव ।। ४१

आसीत् तनयो नृपः क्षितिभुजा मान्यं मनस्वीरणं कर्मः कर्मः गतः सतां सुखकरां यः कर्ण एवापरः ।
भूविख्यात यशावरोव सुमती करमेयर्त सोपमः कान्त कामदेव प्रतापदहन ज्वालावलीर्दाद्धषतम् ।। ४२

नृप विनय विवेक ज्ञान भक्ति प्रवीणः प्रवहदमृतधारा निर्मलांगप्रचारा ।
प्रथम पुरुष पुण्यैःपार्वतीवाद्रिभर्तुः बखतकुंवरी भामनी कन्यकास्या विरासीत् ।। ४३

तां भीष्मकस्येव सुतां कुमारी कृष्णोऽमरैः सेवितपादोपमः ।
भूभूमिपालार्चितपादपीठः प्रतापसिंहो विधिनोपेते ।। ४४

तस्मादजायत् राजसिंहो नरेशः सम्यक् वेशः पूजितः श्रीमहेशः ।
विश्वत्कीर्त्तिर्दानदूरीकृतार्थो विद्यास्फूर्ति मन्मथस्येव मूर्ति ।। ४५

गुणौघरत्नसागरः भजादृशां सुधाकरः प्रतापपुंजभास्करो वसुंधरा धुरंधरः ।
विलासिनी मनस्मरः स्मरारि पूजनैरपरः यथा सराजसिंहजित् सुरेश्वरो नरेश्वरो ।। ४६

पदाभिषेकोत्सवे एव तेन हेम्नस्तुलादानमुदार बुद्धिः ।
यद्धु—र्द्वैशध कलामुपैति न कस्यचिद् भूमिभुजोपि वृद्धिः ।। ४७

---

१. ३३ वें श्लोक से राजसिंह द्वितीय की माता के पक्ष का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है अर्थात् प्रशस्ति के पूर्वार्ध में मेवाड़ नरेशों का तथा उत्तरार्ध में झालावंशजों, उनके वंश की पुत्री बख्तकुमारी (राजसिंह की माता) आदि का.

शश्वत सुधांशुरिव नेत्रयुगाभिरामः कामो य मौक्तिकेसु सर्वजनः पार्थव्याम् ।
आश्चर्य मग्नहृदयः स्वयमत्र चित्र विन्यस्त मूर्तिरिव यस्य ददर्श मूर्तिम् ।। ४८

शौर्यौदार्य-विवेक-धैर्य-गुरुता गाम्भीर्य विद्यादिभिः । प्रौढैर्भूरिगुणोलंकृत तन्स्ताराधिराजच्छविः ।
स्वच्छान्तः करणः स्वधर्मनिरतः सत्यप्रतिज्ञोसतां । शास्ता सत्पुरुप प्रियोवति पति श्रीराजसिंहोऽभवत् । ४९

गायन्ति यस्य चरितानि मनोहराणि नार्यो नराश्च मुदितः क्षितिमण्डलोऽस्मिन् ।
स्मृत्वा सुचार्थ मनसो अश्रुपरीत नेत्रा रोमाञ्च चिह्नित समग्र शरीरभागा ।। ५०

एवं गुणो भूपित यो वभूव प्रतापसिंहात्मज राजसिंहः ।
दिवि क्षितौ दिक्षु रसातलोपि गायन्ति गौराणि यशांसि यस्य ।। ५१

मधुमथनमिवे न्दिरानुरूपं तमनुससार नरेश राजसिंहम् ।
प्रणय परवशा स्वपट्टराज्ञी सपदि गुलावकुमारिका रसज्ञा ।। ५२

पतिव्रता प्राणसमापि यस्य प्रियंवदा शंतिपरारसज्ञा ।
चन्द्रप्रभेवाऽनुससाह तन्वी फतेहकुमारी[1] नृप राजसिंहम् ।। ५३

अजनृपतिमिवेन्दुमत्य वाप्राव्यतिलकं भुवि राजसिंहदेवम् ।
परिणयन् विधौ स्ववंश जाता सपदि गुलाव कुमारिकापरापि ।। ५४

रतलामपुरी[2] वपूर्नवोढा रतिरागेण च रुक्मणी कृष्णम् ।
समवा घर राजराजसिंह दमयन्तीव नलं नराधिराजम् ।। ५५

श्री हरेश्चरण पंकजार्चन, ध्यान कीर्तन विधूत कल्मषा ।
सत्कथा श्रवण केलमानसा, राजसिंह जननी विराजते ।। ५६

ईज हरि गुरु पूजा सक्त चित्ता नितान्तं गुणगण परिपूर्ण पुण्यशीला या श्रीः ।
जगति विदित झाला शुद्ध वंश प्रसूता, वखतकुंवरि नाम्नी राजसिंहस्य माता ।। ५७

हिमशिखर नितम्वः प्रस्नवज्जह्नुकन्या जलविमलविशुद्धाचार-पुण्यैरुदारा ।
सकलभुवन विश्व व्याप्त सत्कीर्तिपूरा वख्त कुंवरि नाम्नी राजते राजमाता ।। ५८

सा राजसिंह जननी नगरप्रवेश द्वारे सुशीतमधुरामल पुण्य नीराम् ।
वापीं चकार पथिपान्थजनाभिरामा श्री राजसिंहनृपतेर्वहु पुण्यहेतोः ।। ५९

प्रासादमप्यत्र जनाभिरामम् शिवस्य विश्रन्ति निमित्त शालम् ।
श्रीराजसिंहस्य नृपस्य माता चक्रे स्वसूनो र्वहुपुण्यहेतोः ।। ६०

श्री राजराजेश्वरपूजनार्थम् चकार पुण्यामिह पुष्पवाटीम् ।
यदीय पुण्यैश्च फलैः सुपूजितो मनीषितं यच्छति पूजकेभ्यः ।। ६१

संवन्नन्दधराष्ट भूपरिमिते (१८१९) व्दे वाणनागर्तुभूत ।
(१६८५) शाके मासे च माधवेऽ[3] मलतरेपक्षेऽष्टमी जीवयो ।[4]

---

१. सम्भवतः इसी की ओर ओझा जी ने (उपर्युक्त, भाग २, पृ० ६४७) संकेत किया है-

२ रतलाम, मध्यप्रदेश.

३. अर्थात् 'वैशाख' मास.

४. जीव बृहस्पतिवार.

पुण्यनक्षत्रे मिथुनाख्यलग्नसमये पूर्वेथ यामेऽकरोत ।
वप्पा शंकर मंदिरस्य जननी राज्ञ: प्रतिष्ठां विधिम् ।। ६२

कुंडं मण्डपवितान तोरणैः दीपिते द्विजवरास्तु मण्डपे ।
वेदपाठमथ होममाशु ते मन्त्रपूत हविषा समासृजत् ।। ६३

तत्रान्वितो द्विजवरो नृपतेः पुरोधाः श्री नन्दराम जिदसौ विधिवच्चकार ।
वापी प्रतिश्रय शिवालय सम्प्रतिष्ठाम् श्री राजसिहनृपते र्बहुपुण्यहेतोः ।। ६४

गोभूहिरण्य गजवाजिरथांशुकानि शैय्या सुवर्णमणिमण्डितभूषणानि ।
तस्मिन् महोत्सवविधौ प्रददौ दयालुः श्री राजसिंह नृपते र्जननी द्विजेभ्यः ।। ६५

यज्ञोपवीतानि ददौ द्विजाति—बालेभ्य एषा सुतरां दयालुः ।
श्री राजसिंहस्य नृपस्य माता कन्या विवाहान् शतशश्चकार ।।६६

नित्यदापि खलु पर्व पर्वसु राजसिंह जननी मुहुर्मुहुः ।
धेनुधान्य मणिकाञ्चनान्ययो विप्रभोजनमनेकशोप्यदात् ।। ६७

इत्थं तत्र चतुर्मुखं सगिरिजं संस्थाप्य नाम्ना शिवम्,
प्रासादे हिमशैलश्रृंगसदृशे श्रीराजराजेश्वरम् ।
वापीं पुण्यजलां विधाय विधिवत् कृत्वा प्रतिष्ठा विधिः,
लेभे पुण्यमनंतकं जननी श्री राजसिंहप्रभोः ।। ६८

उपर्युक्त बृहत्प्रशस्ति में कतिपय शुद्धियां करके इसके विशद विवेचन की परम आवश्यकता है. आशा है तत्कालीन इतिहास के विद्वान् इस कार्य को पूरा कर शीघ्र ही अधिक प्रकाश डालने का कष्ट करेंगे. प्रस्तुत निबन्ध में तो उक्त प्रशस्ति का सारांश ही प्रस्तुत किया गया है. प्रस्तुत प्रशस्ति में तत्कालीन मेवाड़नरेश अरिसिंह द्वितीय के नाम की अविद्यमानता खटकती ही है.
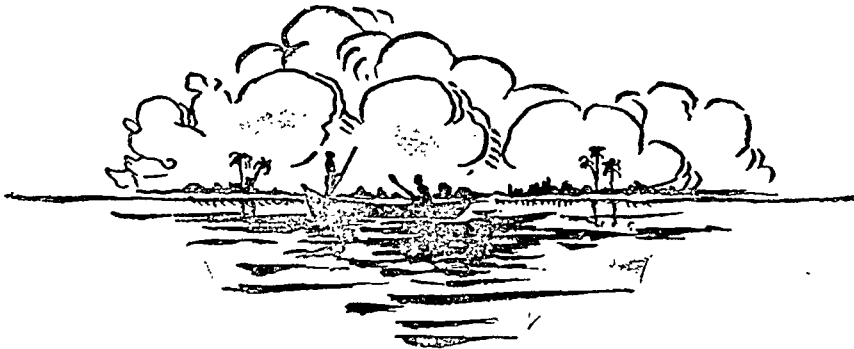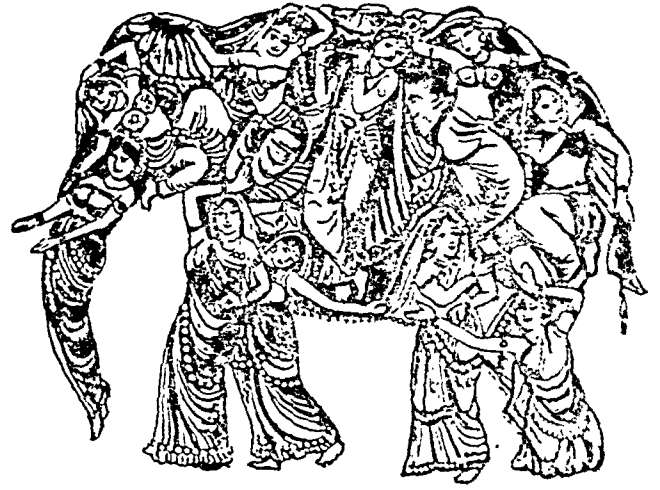
प्रो० परमानन्द चोयल

# राजस्थानी चित्रकला

कला मानव हृदय की मूर्तिमान अभिव्यक्ति है. वाह्य जगत् से विम्बित कला सृष्टि को ही जो महत्व देते हैं, अन्तर्मुखी कला का रसास्वादन वे नहीं कर पाते. यही कारण है कि यथार्थ चश्मे से देखनेवाले लोग भारतीय कला का आनन्द नहीं ले सकते. जवसे डाक्टर, आनन्द कुमार स्वामी ने भारतीय कला के पक्ष में लेखनी उठाई, देश-विदेश के कला मर्मज्ञ भारतीय कला को आदर की दृष्टि से देखने लगे हैं. अजनता, एलोरा, पाल गुजराती, वाघ, साइगिरिया सित्तनवासल, तुर्किस्तान, वामिया, कश्मीरी, मुगल, राजस्थानी व पहाड़ी चित्रकला का अध्ययन आज विद्वानों के लिये रुचि का विषय हो गया है.

युगयुगीन भारतीय कला परम्परा में (इस २००० वर्ष की भारतीय कला में) राजस्थानी चित्रकला का अपना विशिष्ट स्थान है. १७ वीं शती के वौद्ध इतिहासकार तारानाथ ने लिखा है कि ७ वीं शती में राजस्थान, कला का मुख्य केन्द्र था. जहाँ से भारत में एक विशेष कला-धारा वही. श्रंगधर इसका प्रमुख चित्रकार था. खेद है कि इस वर्णन के अतिरिक्त उससे पूर्व की राजस्थानी चित्रकला के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है.

राजस्थान में चित्रों के तीन प्रकार दिखाई देते हैं. भित्ति-चित्र, इकहरे पृष्ठ पर बने पुस्तक चित्र व वसली पर अंकित छिन्न चित्र. भित्ति-चित्रण की प्रथा अजन्ता युग से चली आई है, परन्तु अजन्ता की भूमि तैयार करने की विधि एवं राजस्थानी विधान में काफी अन्तर है. शुद्ध फ्रेस्को प्रोसेज (भित्ति पर चित्र बनाने की विशेष विधि) राजस्थानी भित्ति-चित्रों में ही पाया जाता है. इस दृष्टिकोण से इटली के डेम्प प्रोसेज (गीली भूमि पर चित्र बनाने की प्रक्रिया) के समीप रक्खा जा सकता है. सबसे प्राचीन राजस्थानी भित्ति-चित्र जयपुर के समीप वैराट् नामक स्थान में पाये गये हैं. राष्ट्रीय ललित कला अकादमी के आग्रह से श्रीकृपालसिंह शेखावत ने कुछ वर्ष पूर्व इनकी कॉपी (अनुकृति) कर इन छिपे खजाने को संसार के सम्मुख लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया. इन चित्रों के विषय वीर रस से ओतप्रोत हैं—इनका वर्ण-विधान समतल व स्थूल रंग के इने गिने मंदभूत, रेखाएं घुमावदार एवं गतिपूर्ण हैं. १७ वीं शती से १९ वीं शती तक के राजस्थानी भित्ति-चित्रों से आज भी सैकड़ों प्राचीन इमारतें, हवेलियाँ व महल भरे पड़े हैं. कोटा की झाला की हवेली में बने राग-रंग व शिकार के चित्र कल्पना व रचना चातुर्य के अनुपम नमूने हैं. लोक कथाएं, दरबारी ठाठ वाट, शिकार के दृश्य, एकांकी छवि घोड़े पर हुक्कामों के साथ, हुक्के की नली गुड़गुड़ाते जागीरदार, ठाकुर या राजा की औजपूर्ण आकृति, जनानखानों की रंगरेलियाँ, नायक नायिकाओं की प्रेम भरी लीलाएं, कामसूत्र व रति रहस्य इत्यादि राजस्थानी भित्ति चित्रों के मुख्य विषय रहे हैं. चूनामिट्टी गिर जाने से ऐसी चित्रित दीवारें अब दरकी जा रही हैं इस तरह राजस्थानी चित्रकला का एक बड़ा अंग शनैः शनैः लुप्त होता जा रहा है.

सबसे पुराने पुस्तक-चित्र भोजपत्र व ताल पत्रों पर बने मिलते हैं. १२ वीं शती में कागज निर्माण के बाद जैन सचित्र पुस्तकों की रचना आरम्भ हुई जिसका मुख्य केन्द्र गुजरात था. सांस्कृतिक एवं राजनैतिक दृष्टि से गुजरात व दक्षिणी

राजस्थान अधिक घुले-मिले हैं, अतएव इनकी चित्ररचना में शैली की एकता रही हो तो कोई आश्चर्य नहीं. मेवाड़ के १३वीं व १५वीं शती के दो जैन-ग्रंथ मिले हैं, हो सकता है और भी कहीं इस प्रकार के ग्रंथ रहे हों.

जैसलमेर[1] के जैन पुस्तक भण्डार का होना भी यह सिद्ध करता है कि शायद जैन हस्तलिखित पुस्तकें यहाँ पहले से ही मिलती रही होगी. इन पुस्तकों की जिल्द लकड़ी की तख्तियों से बंधी है. इनमें प्रयुक्त शैली विशेष की परम्परा लगभग १६ वीं शती के अन्त तक चलती रही. इनके दृष्टिकोण, व संयोजन व विधान में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता है. बादलों के आलेखन, पेड़-पौधों की बनावट व एक आध अन्य उपकरण के चित्रण में हल्का-सा परशियन प्रभाव (अलंकृत शैली का) झलक उठा है. यह प्रभाव इतना गौण है कि इसके निजत्व में कोई आघात नहीं पहुँचता. राबर्ट स्केल्टन ने १५वीं शती के नियामत नामा की खोज की है जिसकी एक प्रति इस समय लंदन की इंडिया आफिस लाइब्रेरी में है. शायद, 'मांडू' मांडवगढ़, (मालवा) के सुल्तान गयासुद्दीन खिजली के लिए यह पुस्तक बनाई गई हो. इसमें तथा बनारस कला भवन वाली शाहनामे की प्रति में परशियन कला का बहुत अधिक प्रभाव है. हो सकता है इनका अथवा ऐसी ही परशियन शैली से प्रेरित अन्य पुस्तकचित्रों का तथाकथित जैन, गुजराती अथवा राजस्थानी शैली पर क्षीण-सा प्रभाव पड़ा हो. १५६५ से १५८० शती तक मुगलशैली के सम्पन्न होने के बाद से ही राजस्थानी शैली में भी परिवर्तन होने लगा है. इसके पूर्व की राजस्थानी चित्र कला को शैली के दृष्टिकोण से जैन अथवा गुजराती चित्रकला से प्रथक् देखना उचित नहीं होगा. नाटकीय व अलंकृत संयोजनशैली की ग्रामीणता व ठेठपन, चटकीले रंगों का समतल प्रयोग व आलेखन की तत्परता इस कला के आकर्षक अंग हैं. सवाचश्म चेहरे, लम्बी नुकीली नाक, चेहरे की सीमांत रेखा को पार करती दूसरी आंख, छोटी आम की गुठली-सी ठुड्डी, फटे फटे कान तक खिंचे, लम्बे नैन, स्त्रियों का उभरा वक्ष, क्षीण कटि, चोली, लंहगा, दुपट्टा, पुरुषों के चकदार (तीन कानों वाले) जामें, अटपटी पगड़ियाँ, दुपट्टे व पटके इत्यादि के आलेखन ने इस शैली में एक अनोखापन ला दिया है. इसमें परम्परागत कला का अपभ्रंश रूप झलकने पर भी ग्रामीणता का आकर्षण व निर्दोषिता दिखाई देती है. गीत गोविंद, दुर्गासप्तशती, कथाकाव्य रतिरहस्य इत्यादि इनके विषय रहे हैं. राजस्थानी शैली का यह रूप धीरे-धीरे संवर्धित हो १६ वीं शती के अंत तक अपनत्व पाने लगा. १५९१ शती के उत्तराध्ययन सूत्र की प्रति में, जो इस समय बड़ौदा म्यूजियम में है, इस शैली का परिवर्तित रूप स्पष्ट लक्षित होता है. यहाँ सवाचश्म चेहरे के स्थान पर एक चश्म चेहरे दीखने लगते हैं—सीमांत रेखा को पार करती दूसरी आंख लुप्त हो गई, अलंकरण व नाटकीय संयोजन शिथिल पड़ गया, प्रकृतिचित्रण अधिक वास्तविक होने लगा, मुद्राओं की जकड़न ढीली हो गई, रंगों में बहुलता आ गई, संयोजन में विरलता के स्थान पर घनत्व छाने लगा, एक-सी कोणदार व वेगमयी रेखाएं गोलाकार हो भावानुगामी बन, जगह-जगह लोच खाती कहीं पीन तो कहीं स्थूल होने लगीं. शैली के इस नवनिर्माण को राजस्थानी चित्रकला का उद्भव मानना चाहिए. राजस्थानी चित्रकला के निर्माण में मुगलकला का कितना हाथ रहा है, यह विवाद का विषय हो सकता है, पर यह निश्चय है इसका यह रूप होने के पूर्व ही १५६५ से १५८० तक मुगलकला समुन्नत हो चुकी थी, फिर अकबर की सुलह पूर्ण नीति ने भी राजस्थान के अधिकांश भाग को सांस्कृतिक दृष्टि से एक कर दिया था. ऐसी हालत में राजस्थानी कला पर मुगलकला का प्रभाव न पड़ा हो यह समझ में नहीं आता.

मेवाड़ इस नवीन शैली का प्रमुख केन्द्र था. ११ वीं शती के अन्त तक इसका मौलिक रूप बन चुका था. १७ वीं शती

---

१. श्रद्धेय मुनि श्रीपुण्यविजय जी ने जेसलमेर के ज्ञान भंडारों से जैन कला के अनुपम नमूने खोजकर राजस्थानी व अजंता-एलोरा कला के बीच की कड़ी जोड़ दी है. लकड़ी की करीब चौदह सचित्र पटलियाँ आपने ढूंढ निकाली जिनमें कमल की बेल वाली पटली अत्यन्त विलक्षण है. इसका आलेखन श्री साराभाई नवाब की भरत व बाहुबली वाली पटली की दोहरी बेल का सा है—अलंकरण तो और भी अनोखा. इन बेलों में एक में जिराफ और दूसरे में गेंडे का अंकन किया गया है जो भारतीय कला में शायद पहले पहल यहां हुआ हो. एक चित्र में मकर के मुख से निकलती कमल बेल बनाई गई है. ऐसी बेल सांची, अमरावती व मथुरा के अर्ध चित्रों की विशेषता है. अतएव जेसलमेर कला की प्राचीनता पर व परम्परागत कला के सान्निध्य पर ये चित्र गहरा प्रकाश डालते हैं.

के विशद राजनैतिक वतावारण में भी मेवाड़ की चित्रकला उन्नतोन्मुख रही है. श्री गोपीकृष्ण कनोड़िया (कलकत्ता) के पास १६०५ शती का मेवाड़ कलम का वना रागमाला सेट है जो शायद चामुण्ड में चित्रित किया गया था. इसकी रेखाओं के कोणों व रंगों की चटकदार वर्णिका में जैन अथवा गुजराती शैली का क्षीण-सा प्रभाव झलकता है. १६०५ में मेवाड शैली में ग्रामीणता व स्थूलता दिखाई देती है. धीरे-धीरे-धीरे इसमें सुथरापन व परिपक्वता आने लगी पर साथ ही मुगल प्रभाव भी दीखने लगा. १७वीं शती के मध्य तक इस प्रभाव को मेवाड़ कलम ने आत्मसात कर अपने निजस्व को उभार लिया. उस समय स्वामी वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित वैष्णव धर्म की भक्तिधारा समस्त उत्तरी भारत, गुजरात व राजस्थान को प्लावित कर रही थी. अतः मेवाड़ में भी भागवत् पुराण की कई सचित्र प्रतियां वनीं, साहवदी की वनाई १६४२ ईसवी की भागवत् पुराण की प्रति इस समय उदयपुर के सरस्वती भंडार में सुरक्षित है, इसकी एक प्रति सरस्वती भंडार कोटा में भी है. भागवत् के कई सचित्र पन्ने राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में हैं. १६५१ में चित्तौड़ में वनी रामायण की उक्त प्रति सरस्वती भंडार, उदयपुर में हैं व मनोहर द्वारा चित्रित एक प्रति 'प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम वम्बई' में है. राष्ट्रीय संग्रहालय की जेम पेलेस रागमाला व वीकानेर संग्रहालयकी रसिकप्रिया (१७वीं शति का मध्य) के चित्र मेवाड़ कलम के श्रेष्ठतम नमूने हैं. गीतगोविन्द पर भी चित्र वनाए गये. कंवर संग्राम सिंह, नवलगढ़ के पास गीतगोविंद के कई छिन्न चित्र प्राप्य हैं. लगभग १५६०-५१ के वने सूरसागर के कई चित्र भी गोपीकृष्ण कनोड़िया के संग्रह में हैं.

मेवाड़ी चित्रों के रंग शुद्ध व अत्यन्त चटकीले हैं. पृष्ठभूमि में रंगों का समतल प्रयोग किया गया है. स्त्रियां ठिंगनी पर सुंदर व आकर्षक वनाई गई हैं. प्रकृतिचित्रण में अलंकारण आ गया है. कहीं-कहीं वाद के चित्रों में मुगल प्रभाव के कारण हलका-सा यथार्थ का पुट भी दिखाई देने लगता है. पहाड़ियों व चट्टानों के आलेखन में यह प्रभाव साफ पहचाना जा सकता है. घुमावदार रेखाओं की आवृत्ति से नदी के वहाव को दर्शाने का प्रयत्न किया है, दृश्या का प्रयोग रूढ़िमात्र रह गया है. विरोधी रंगों के वीच घटनामूलक पात्रों को इस तरह की रंग-विरंगी वेषभूषा में चित्रित किया गया है कि आँखें अतिरिक्त उभार को देखकर टिकी-सी रह जाती हैं. पशु-पक्षी का चित्रण अक्सर जैन अथवा गुजराती शैली-सा हुआ है—घोड़ों व हाथी के चित्रण में मुगल शैली की यथार्थता के दर्शन होते हैं. रात का चित्रण स्याह पृष्ठभूमि पर चांद तारे वनाकर किया गया है. पुरुष वेषभूषा में घेरदार जामें पटका (कमरवंद) जहांगीर अथवा शाहजहांनुमा पगड़ियां व स्त्रियों में लहंगा, चोली, झीनी ओढ़नी इत्यादि वनाए गए हैं.

मेवाड़ कलम के विषय नायक नायिका भेद, रागमाला, भागवत, पुराण व रामायण इत्यादि रहे हैं. राधाकृष्ण को लेकर शृंगारिक चित्रों की रचना की गई पर उनके आवरण में तत्कालीन समाज का सच्चा अक्स प्रतिविम्बित हो पाया है.

१७वीं शती का अंत होते-होते मेवाड़ शैली का यह उज्ज्वल काल समाप्त हो गया. चित्रों की वाढ़ आ गई, परन्तु शैली में ढीलापन वढ़ने लगा. इस शैली का प्रचार इतना फैला कि छोटे-छोटे ठिकानेदार भी चित्रों के रसिक होगए. व्यक्तिचित्र दरवार शिकार व सवारियों के दृश्य जनानखाने व रंगरेलियों के दृश्य अव मेवाड़ कलम के विषय होने लगे. भक्त रत्नावली, पृथ्वीराज रासो, दुर्गामाहात्म्य व पंचतंत्र इत्यादि पर इस काल में सैकड़ों चित्र वने जिनमें कलात्मकता शनैः शनैः लुप्त होने लगी.

मेवाड़ के वाद कला-क्षेत्र में वूंदी का स्थान आता है। भारत कला भवन की दीपक राग व म्यूनिसिपल म्यूजियम, इलाहावाद की भैरव रागिनी इस कलम की सवसे प्राचीन प्राप्त रचनाएं हैं. इनमें मेवाड़ की-सी ग्रामीणता व अल्हड़पन के साथ-साथ मुगली सुथरापन व कमनीयता भी दिखाई देती है. इनके रंग प्रभावोत्पादक तेज व चमकीले हैं. पेड़ पौधों व पशु-पक्षी के चित्रण में इतना सीधा व सच्चा निरीक्षण इन्हीं चित्रों में पहले-पहल मिलता है. चौड़ी आंखें, मोटी गढ़ेदार ठुड्डी, पतली नुकीली नाक, भारी चेहरा इत्यादि १७वीं शती के मेवाड़ चित्रों की याद दिला जाते हैं.

शैली-विलक्षणता देखकर मालूम होता है कि भैरवी रागिनी का चित्रण-काल १६२५ ईसवी के लगभग रहा होगा. मेवाड़

शैली से ही बूंदी कला की उत्पत्ति मानी जानी चाहिए, हालांकि मुगलशैली की नजाकत का भी इसमें कम प्रभाव नहीं पड़ा. पुरुषों की वेषभूषा में चमकदार (कोनेनुमा) जामें व अटपटी पगड़ियों के पहनावे से इनकी प्राचीनता आंकी जा सकती है. नेशनल म्यूजियम दिल्ली में बूंदी कलम के कई प्राचीन रेखा-चित्र प्राप्त हैं, जिनमें चेहरे के कोण मिटने लगे हैं. रचनाचातुर्य, कलम की कारीगरी, शैली की प्रौढ़ता, रंगोंका माधुर्य व आलेखन की सच्चाई देखकर भान होता है कि ये चित्र १६३० से १६६० के लगभग बने होंगे. कर्ल खंडेलवाल द्वारा प्रकाशित बूंदी कलम के चित्र काफी प्राचीन हैं.

इस तरह के चित्रों का समय १६६० से १६९० ईसवी तक था. स्त्री चेहरों की बनावट में इन बूंदी के आरम्भिक चित्रों में मेवाड़ शैली का अत्यधिक प्रभाव झलकता है, फिर भी गठन में यह काफी पुष्ट हैं. इनमें दृश्य चित्रण भी अधिक यथार्थ बन पड़ा है. यहां बूंदी की अपनी आकृतियों का निर्माण होते हम सर्व प्रथम देखते हैं. अब चेहरे छोटे व गोल हो गये हैं. गालों की गोलाई दिखाने के लिये आँख के नीचे व नाक के पास छाया का प्रयोग किया जाने लगा जो मेवाड़ कलम के चित्रों में कहीं नहीं दिखाई देता. मेवाड़ चित्रों में चेहरे चपटे बनते थे. जिन चेहरों में मेवाड़ी प्रभाव दिखाई देता है वे भी अत्यन्त कमनीय बनाए गये हैं. चेहरे का रंग लाल व किंचित् भूरापन लिये हुए हैं. रंग चटकीले होने पर मंदभूत व गम्भीर होने लगे हैं. पानी बल खाती रेखाओं की आवृत्ति द्वारा चित्रित किया गया है. पृष्ठभूमिका की हरीतिमा को लाल-पीले फूलों से आच्छादित दिखाया गया है. इमारतों का चित्रण भी बड़ी दक्षता से उसमें जड़ी हुई एक-एक ईंट बनाकर किया गया है.

१८वीं शती के मध्य के बने बूंदी शैली के चित्र अत्यन्त मधुर व श्रेष्ठ हैं. श्री कनौड़िया के संग्रह में इस शती के बने राग रागनियों के ३६ चित्रों को देखकर इनके सौंदर्य का भान किया जा सकता है. १८वीं शती के अन्त में यह सुथरापन व निरूपण का माधुर्य क्षीण होने लगा. लाल रंग की जगह चमकदार पीला रंग अब चेहरों में भरा जाने लगा. गोलाई के लिए अत्यधिक परदाज का प्रयोग कुछ-कुछ कर्कशता पैदा करने लगा. पानी दर्शाने वाली सफेद रेखाएँ भी घनी व मोटी होने लगी. मुँह के समीप छाया दिखाकर पृष्ठभूमि से आकृति को उभारने का बेतुका प्रयत्न किया जाने लगा. पेड़ पौधों को घने फूल पत्तों व लताओं से आच्छादित किया जाने लगा. नारियों के वस्त्रों में जगह-जगह सोने की 'तवक' की छिड़कन ने चकाचौंध पैदा कर कौतूहल बढ़ा दिया, परन्तु भावाभिव्यक्ति जाती रही और ऐसा लगा कि शैली में यह मुगलिया शान शौकत की मिलावट धीरे-धीरे इसे अवनतोन्मुख करने लगी. रंगों की गहराई में भी परिवर्तन हो गया. शांति व कोमल रंगों का प्रयोग होने लगा—मीनाकारी व नक्काशी बढ़ गई. पेड़ अधिक स्वाभाविक बनने लगे परन्तु अब फूल पत्तों व लताओं का रंग-बिरंगा परिधान लुप्त होने लगा. पेड़ व पत्तों में छाया व प्रकाश अधिक दर्शाया जाने लगा. पानी के लिये चांदी का रंग प्रयुक्त होने लगा. जगह-जगह मॉड़लिंग में[गढ़न] मुगल प्रभाव झलकने लगा. रात्रि के चित्रण में यह प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया. १८वीं शती के अन्त के चित्रों में रंगों की कर्कशता व अलंकरण की बहुतायत ने चित्रोपम सौंदर्य खो दिया. कहीं-कहीं चित्र अपूर्ण ही छोड़ दिये गये गये हैं. इनमें नारियों के चेहरे भारी व बेडौल बनाए गए हैं. आँखें घुमावदार व लम्बी, ठुड्डी भारी और ललाट चन्दन से पुता हुआ. शायद बूंदी का दक्षिण से भी राजनैतिक व सांस्कृतिक संबंध रहा होगा. इसी कारण दक्षिणी शैली का भी प्रभाव बूंदी कलम में दिखाई देता है. बूंदी के चित्रों में १८वीं शती में रंग चपटे, प्राणहीन व बदरंग हो गये और धीरे-धीरे शैली का स्वाभाविक सौंदर्य जाता रहा.

राजस्थानी चित्रकला में किशनगढ़ कलम की देन बेजोड़ है. राजा मानसिंह [१६५८-१७०६] के समय से ही किशनगढ़ में श्रेष्ठ कलाकार पाए जाते हैं. मानसिंह की युवावस्था की एक ओजपूर्ण तस्वीर नेशनल म्यूजियम दिल्ली में है. जिस में वह घोड़े पर सवार हैं व भैंसे का शिकार कर रहे हैं. यह चित्र १६९४ शती का है. इसमें औरंगजेब कालीन मुगल कला का प्रभाव झलकता है. मानवाकृति में सुफियानापन किशनगढ़ कलम में यहीं से शुरू हो गया था. १८वीं शती के राजा शेपमल के शबीह चित्र में यह और भी गहरा हो गया. राजा के इर्द-गिर्द तहजीब व कायदे कानून से खड़े हाकिम हुक्काम, पृष्ठभूमि में दृष्टिक्रमानुसार अंकित झील व किला, प्रकृति का स्वाभाविक चित्रण इन सबमें औरंगजेब व फर्रुखसियर काल की कला का काफी प्रभाव दिखाई देता है. भवानीदास इस समय का प्रसिद्ध चित्रकार था. राजा

शेषमल का सुंदर चित्र इसी कलाकार की रचना है.

सावंतसिंह [कवि नागरीदास] ने काव्यरचना १७२३ शती से ही आरम्भ कर दी थी. उसकी राधासौंदर्य की पराकाष्ठा थी. उसका रूप अलौकिक था फिर भी अत्यन्त लौकिक. किशनगढ़ कलम के चितेरों के लिये यह रूप आदर्श बन गया और इसी समय से यहां की कला में एक क्रान्ति-सी उत्पन्न हो गई. १७३५ से १७५७ शती तक किशनगढ़ कला का स्वर्णयुग था जब कि निहालचन्द व उससे प्रभावित कलाकार कवि नागरीदास के काव्य को साकार कर रहे थे. राजसिंह की कलाभिरुचि अन्य राजाओं जैसी ही थी—शबीह लगवाना, दरबार सवारी अथवा शिकार के दृश्य बनवाना इत्यादि. इसमें भी सन्देह नहीं कि राधाकृष्ण की लीलाओं के चित्र राजस्थान में उस समय तक बनने लगे थे, किन्तु जो भावात्मकता, कल्पना की सूक्ष्मता, लाक्षणिकता, मादकता, मनोवैज्ञानिक निरीक्षण, दृष्टि का पैनापन, व मानवरूप की पराकाष्ठा सांवतसिंह के समय में आई उसने सारे राजस्थान की कला में ही जागृति की लहर दौड़ा दी. उससे १८वीं शती में वह चित्र बने जो विश्व कला की निधि बन गए. कवि नागरीदास की राधा, निहालचन्द द्वारा चित्रित बणी-ठणी संसार प्रसिद्ध [चित्रकार लिनार्डो डीविंची] मोना लिसो के समक्ष आदरपूर्वक रखी जा सकती है.

१७वीं शती में चित्रकला के कई केन्द्र हो गये. मेवाड़, बूंदी. अजमेर बीकानेर इत्यादि अनेक स्थानों में श्रेष्ठ चित्र बनने लगे. आमेर व जोधपुर में भी इस समय चित्रों का इतिहास मिलता है परन्तु वह बहुत ही उथला है. यहां के चित्र काफी आरम्भिक इस समय दीख पड़ते हैं. १७वीं शती के अन्त में बीकानेर में मुगल शैली से अत्यन्त प्रभावित एक स्थानीय शैली पनपती रही. इस पर दक्षिणी शैली का भी प्रभाव पड़ा. यहां की लम्बी आकृतियों व विशेष प्रकार के पेड़ पौधों व फूल पत्ती इत्यादि के चित्रण से यह बात स्पष्ट हो जाती है.

१८वीं शती में चित्रों की बाढ़-सी आ गई. एक-एक राज्य यहां तक कि छोटे से छोटे ठिकाने में भी चित्र शालाएँ खुलने देगी. हजारों की संख्या में चित्र बनने लगे. जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर इत्यादि इसके मुख्य केन्द्र बन गए. जयपुर के रासमंडल के चित्र जो पोथीखाने में संग्रहित हैं, अत्यन्त गतिपूर्ण हैं. उष्ण रंगों व ओज की अब चित्रों में कमी दीखने लगी. ढेरों चित्र बने जिनमें से अच्छे चित्र उंगलियों पर गिने जा सकते हैं. १९वीं शती में चित्रों की बाढ़ उन्माद सी बढ़ गई. १८५० शती के बाद के चित्रों में कलात्मकता के स्थान पर केवल कारीगरी दिखाई देने लगी व धीरे-धीरे इसमें भी शिथिलता आने लगी. उनकी कीमत अब बाजार के मोल तोल सी ही रह गई.

१९वीं शती के उत्तरार्ध व २०वीं शती के आरम्भ में प्राचीन चित्रों की अनुकृति करने वाले घटिया किस्म के यूरोपीय चित्रों व फोटोग्राफी से प्रेरित चितेरे यत्र तत्र बाजारों में बैठे दिखाई देने लगे. तभी बंगाल में श्री अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने कला का पुनर्निर्माण कर समस्त भारत में जागृति की एक नई लहर दौड़ा दी. राजस्थान ने भी उसमें अपना योगदान दिया. श्री शैलेन्द्रनाथ डे की प्रेरणा से श्री रामगोपाल विजयवर्गीय ने राजस्थान की मृतप्राय कला में फिर से चेतना पैदा की. इस समय राजस्थान में चित्रकला के तीन रूप प्रचलित हैं. एक वह जिसके प्रवर्तक परम्परागत कला के पुनर्निर्माण में संलग्न हैं. रामगोपाल विजयवर्गीय, गोवर्धन जोशी, रामनिवास वर्मा, देवकीनन्दन शर्मा आदि इस शैली के उल्लेखनीय कलाकार हैं. दूसरे यथार्थ शैली में परीक्षण करने वाले कलाकार हैं. श्रीभूरसिंह शेखावत व श्री भवानीचरण गुई इस श्रेणी के स्मरणीय कलाकार हैं. कला का तीसरा रूप वह है जिसमें आधुनिक कला की विभिन्न प्रवृत्तियों पर प्रयोगात्मक चित्र बनाने वाले कलाकार आते हैं. इन पंक्तियों का लेखक, श्री आर. बी. सखालकर, रणजीत सिंह व ज्योतिर्मान स्वरूप इत्यादि इसके गिने माने कलाकार हैं.

पुनर्जागरण का अभी राजस्थान में शैशवकाल ही है. १८वीं व १९वीं शती की राजस्थानी कला ने विश्वकला में जो स्थान पाया उस पर आसीन होने के लिये राजस्थान को अभी कल की प्रतीक्षा है.
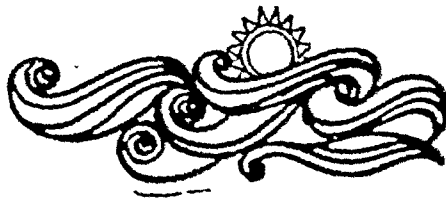
श्रीपरमानन्द जैन, शास्त्री

# मध्यभारत का जैन पुरातत्त्व

श्रमण संस्कृति का प्रतीक जैनधर्म प्रागैतिहासिक काल से चला आरहा है, वह बौद्ध धर्म से अत्यन्त प्राचीन और स्वतंत्र धर्म है. वेदों और भागवत आदि हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में उपलब्ध जैन धर्म सम्बन्धी विवरणों के सम्यक् परिशीलन से विद्वानों ने उक्त कथन का समर्थन किया है. प्राचीन काल में भारत में दो संस्कृतियों के अस्तित्व का पता चलता है, श्रमणसंस्कृति और वैदिक संस्कृति. मोहनजोदारो में समुपलब्ध ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियों की प्राप्ति से जैनधर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है. वैदिक युग में व्रात्यों और श्रमणों की परम्परा का प्रतिनिधित्व जैनधर्म ने ही किया था. इस युग में जैन धर्म के आदिप्रवर्तक आदि ब्रह्मा आदिनाथ थे, जो नाभिपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं जिनकी स्तुति वेदों में की गई है. इन्हीं आदिनाथ के पुत्र भरत चक्रवर्ती थे जिनके नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है. जैनधर्म के दर्शन, साहित्य, कला, संस्कृति और पुरातत्व आदि का भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है.

इतिहास में पुरातत्त्व का कितना महत्त्व है, यह पुरातत्त्वज्ञ भलीभांति जानते हैं. भारतीय इतिहास में मध्य प्रदेश का जैन पुरातत्त्व भी कम महत्त्व का नहीं है. वहाँ पर अवस्थित जैन स्थापत्य, कलात्मक अलंकरण, मन्दिर, मूर्तियाँ, शिलालेख, ताम्रपत्र और प्रशस्तियों आदि में जैनियों की महत्त्वपूर्ण सामग्री का अंकन मिलता है. यद्यपि भारत में हिन्दुओं, बौद्धों और जैनों के पुरातत्त्व की प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है और ये सभी अलंकरण अपनी-अपनी धार्मिकता के लिये प्रसिद्ध हैं. परन्तु उन सब में कुछ ऐसे कलात्मक अलंकरण भी उपलब्ध होते हैं, जो अपने-अपने धर्म की खास मौलिकता को लिये हुए हैं. जैनों और बौद्धों में स्तूप और अयागपट भी मिलते हैं. अनेक जैन स्तूप गल्ती से बौद्ध बतला दिये गये हैं. अयागपट भी अपनी खास विशेषता को लिये हुए मिलते हैं. जैसे कंकालीटीला मथुरा से मिले हैं. ये सभी अलंकरण भारतीय पुरातत्त्व की अमूल्य देन हैं.

मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि वहाँ अधिक प्राचीन स्थापत्य तो नहीं मिलते, परन्तु कलचूरी और चंदेलकालीन सौन्दर्याभिव्यंजक अलंकरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं. उससे पूर्व की सामग्री विरल रूप में पाई जाती है, उस काल की सामग्री प्रायः विनष्ट हो चुकी है, और कुछ भूमिसात् हो गई है. बौद्धों के सांची स्तूप और तद्गत सामग्री पुरानी है. विदिशा की उदयगिरि गुफा में जैनियों के तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा सछत्र अवस्थित थी, परन्तु वहां अब केवल फण ही अवशिष्ट है. मूर्ति का कोई पता नहीं चलता कि कहां गई, परन्तु प्राचीन सामग्री के संकेत अवश्य मिलते हैं जिनसे जाना जाता है कि वहां मौर्य और गुप्त काल के अवशेष मिलने चाहिए. कितनी ही पुरातन सामग्री भूगर्भ में दबी पड़ी है और कुछ खण्डहरों में परिणत हुई सिसकियां ले रही है. किन्तु हमारा ध्यान अभी तक उसके समुद्धरण की ओर नहीं गया.

जबलपुर के हनुमानताल के दिगम्बर जैन मन्दिर में स्थित एक कलात्मक मूर्ति शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और मूल्यवान् है. वैसी मूर्तियाँ महाकौशल में बहुत ही कम उपलब्ध होंगी. उसमें कला की सूक्ष्म भावना, उदात्त एवं

गंभीर विचार और बारीक छैनी का आभास उसके प्रत्येक अंग से परिलक्षित होता है. इसी तरह देवगढ़ का विष्णु-मन्दिर भी गुप्तकालीन कला का सुन्दर प्रतीक है और भी अनेक कलात्मक अलंकरणों का यत्र तत्र संकेत मिलता है, जो तत्कालीन कला की मौलिक देन है. इस तरह उक्त तीनों ही सम्प्रदायों की पुरातात्त्विक सामग्री का अस्तित्त्व जरूर रहा है, परन्तु वर्तमान में वह विरल ही है.

## मध्यप्रदेश के पुरातात्त्विक स्थान और उनका संक्षिप्त परिचय

मध्यप्रदेश के खजुराहा, महोबा, देवगढ़, अहार, मदनपुर, बाणपुर, जतारा, रायपुर, जबलपुर, सतना, नवागढ़, ग्वालियर, भिलसा, भोजपुर, मऊ, धारा, बडवानी और उज्जैन आदि पुरातत्त्व की सामग्री के केन्द्रस्थान हैं. इन स्थानों की कलात्मक वस्तुएँ चन्देल और कलचूरी कला का निदर्शन करा रही हैं. यद्यपि मध्यप्रदेश में जैन शास्त्रभंडारों के संकलन की विरलता रही है. ५-७ स्थान ही ऐसे मिलते हैं जहाँ अच्छे शास्त्रभंडार पाए जाते हैं. यद्यपि प्रत्येक मन्दिर में थोड़े बहुत ग्रन्थ अवश्य पाये जाते हैं पर अच्छा संकलन नहीं मिलता. इसका कारण यह है कि वहां भट्टारकीय परम्परा का प्रभाव अधिक नहीं हो पाया है. जहाँ-जहाँ भट्टारकीय गद्दियां और उनके विहार की सुविधा रही है वहां वहाँ अच्छा संग्रह पाया जाता है. प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का जैसा संकलन राजस्थान, गुजरात, दक्षिण भारत तथा पंजाब के कुछ स्थानों में पाया जाता है वैसा मध्य प्रदेश में नहीं मिलता. मध्य प्रदेश के जिन कतिपय स्थानों के नामों का उल्लेख किया गया है उन में से कुछ स्थानों का यहाँ संक्षिप्त परिचय देना ही इस लेख का विषय है. यद्यपि मालव प्रान्त भी किसी समय जैन धर्म का केन्द्रस्थल रहा है, और वहां अनेक साधु-सन्तों और विद्वानों का जमघट रहा है; खासकर विक्रम की १० वीं शताब्दी से १३ वीं शताब्दी तक वहां दि० जैन साधुओं आदि का अध्ययन, अध्यापन तथा विहार होता रहा है, और वहाँ अनेक ग्रन्थों की रचना की गई है. साथ ही अनेक प्राचीन उत्तुंग मंदिर और मूर्तियों का निर्माण भी हुआ है, परन्तु राज्यविप्लवादि और साम्प्रदायिक व्यामोह आदि से उनका संरक्षण नहीं हो सका है. अत: कितनी ही महत्त्व की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सामग्री विलुप्त हो गई है. जो अवशिष्ट बच पाई है उसका संरक्षण भी दूभर हो गया है. और बाद में उन स्थानों में वैसा मजबूत संगठन नहीं बन सका है, जिससे जैन संस्कृति और उसकी महत्वपूर्ण सामग्री का संकलन और संरक्षण किया जा सकता.

खजुराहा—यह चन्देलकालीन उत्कृष्ट शिल्पकला का प्रतीक है. यहां खजूर का वृक्ष होने के कारण 'खर्जुरपुर' नाम पाया जाता है. खजुराहा जाने के दो मार्ग हैं. एक मार्ग-झाँसी-मानिकपुर रेलवे लाइन पर हरपालपुर या महोबा से छतरपुर जाना पड़ता हैं. और दूसरा मार्ग-झाँसी से बीना सागर होते हुए मोटर द्वारा छतरपुर जाया जाता है और छतरपुर से सतना जाने वाली सड़क पर से बीस मील दूर बमीठा में एक पुलिस थाना है, वहां से राजनगर को जो दश मील मार्ग जाता है उसके ७ वें मील पर खजुराहा अवस्थित है. मोटर हरपालपुर से तीस मील छतरपुर और वहाँ से खजुराहा होती हुई राजनगर जाती है.

यहाँ भारत की उत्कृष्ट सांस्कृतिक स्थापत्य और वास्तुकला के क्षेत्र में चन्देल समय की देदीप्यमान कला अपना स्थिर प्रभाव अंकित किये हुए है. चन्देल राजाओं की भारत को यह असाधारण देन है. इन राजाओं के समय में हिन्दू संस्कृति को भी फलने-फूलने का पर्याप्त अवसर मिला है. उस काल में सांस्कृतिक कला और साहित्य के विकास को प्रश्रय मिला जान पड़ता है. यही कारण है कि उस काल के कला-प्रतीकों का यदि संकलन किया जाय, जो यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है, उससे न केवल प्राचीन कला की रक्षा होगी बल्कि उस काल की कला के महत्त्व पर भी प्रकाश पड़ेगा और प्राचीन कला के प्रति जनता का अभिनव आकर्षण भी होगा, क्योंकि कला कलाकार के जीवन का सजीव चित्रण है. उसकी आत्म-साधना कठोर छैनी और तत्त्वस्वरूप के निखारने का दायित्व ही उसकी कर्तव्यनिष्ठा एवं एकाग्रता का प्रतीक है. भावों की अभिव्यंजना ही कलाकार के जीवन का मौलिक रूप है, उससे ही जीवन में स्फूर्ति और आत्मिक शक्ति की जागृति होती है. उच्चतम कला के विकास से तत्कालीन इतिहास के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलती है.

बुन्देलखण्ड में चन्देल और कलचूरी आदि राजाओं के शासनकाल में जैनधर्म का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त रहा है, और उस समय अनेक कलापूर्ण मूर्तियां तथा सैकड़ों मन्दिरों का निर्माण भी हुआ है. खजुराहो की कला तो इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती ही है. यद्यपि खजुराहो में कितनी ही खण्डित मूर्तियां पाई जाती हैं, जो साम्प्रदायिक विद्वेष का परिणाम जान पड़ती हैं.

यहाँ मन्दिरों के तीन विभाग हैं. पश्चिमी समूह शिव-विष्णु-मन्दिरों का है. इनमें महादेव का मन्दिर ही सबसे प्रधान है और उत्तरीय समूह में भी विष्णु के छोटे बड़े मन्दिर हैं. दक्षिण-पूर्वीय भाग जैन मन्दिरों के समूह से अलंकृत है. यहां महादेवजी की एक विशाल मूर्त्ति ८ फुट ऊंची और तीन फुट से अधिक मोटी होगी. वराह अवतार भी अतीव सुन्दर है. उसकी ऊँचाई सम्भवतः ३ हाथ होगी. वंगेश्वर मंदिर भी सुन्दर और उन्नत है, काली का मन्दिर भी रमणीय है, पर मूर्त्ति में माँ की ममता का अभाव दृष्टिगत होता है, उसे भयंकरता से आच्छादित जो कर दिया है, जिससे उसमें जगदम्बा की कल्पना का वह मातृत्व रूप नहीं रहा. और न दया क्षमा ही को कोई स्थान प्राप्त है, जो मानव-जीवन के खास अंग हैं. वहाँ के हिन्दूमन्दिर पर जो निरावरण देवियों के चित्र उत्कीर्ण देखे जाते हैं उनसे ज्ञात होता है कि उस समय विलासप्रियता का अत्यधिक प्रवाह वह रहा था. इसी से शिल्पियों की कला में भी उसे यथेष्ट प्रश्रय मिला है. खजुराहो की नन्दी मूर्ति दक्षिण के मन्दिरों में अंकित नन्दी मूर्तियों से बहुत कुछ साम्य रखती है. यद्यपि दक्षिण की मूर्त्तियां आकार-प्रकार में कहीं उससे बड़ी हैं.

वर्तमान में यहां तीन ही हिन्दू मन्दिर और तीन ही जैन मन्दिर हैं. उनमें सबसे प्रथम मंदिर घंटाई का है. यह मन्दिर खजुराहा ग्राम की ओर दक्षिण पूर्व की ओर अवस्थित है, इसके स्तम्भों में घण्टियों की वेल वनी हुई है. इसी से इसे घण्टाई का मन्दिर कहा जाता है. इस मन्दिर की शोभा अपूर्व है.

दूसरा मन्दिर आदिनाथ का है. यह मन्दिर घण्टाई मन्दिर के हाते में दक्षिण उतर-पूर्व की ओर अवस्थित है. यह मंदिर भी रमणीय और दर्शनीय है. इस मन्दिर में पहले जो मूल नायक की मूर्ति स्थापित थी वह कहाँ गई, यह कुछ ज्ञात नहीं होता. तीसरा मन्दिर पार्श्वनाथ का है. यह मन्दिर सब मन्दिरों से विशाल है. इसमें पहले आदिनाथ की मूर्त्ति स्थापित थी, उसके गायब हो जाने पर इसमें पार्श्वनाथ की मूर्त्ति स्थापित की गई है. इस मन्दिर की दीवालों के अलंकरणों में वैदिक देवताओं की मूर्तियां भी उत्कीर्ण हैं. यह मन्दिर अत्यन्त दर्शनीय है और संभवतः दशवीं शताव्दी का वना हुआ है. इसके पास ही शांतिनाथ का मन्दिर है. इन सब मन्दिरों के शिखर नागर शैली के वने हुए हैं. और भी जहां तहां बुंदेलखण्ड में मंदिरों के शिखर नागर शैली के वने हुए मिलते हैं. ये मंदिर अपनी स्थापत्यकला, नूतनता और विचित्रता के कारण आकर्पक हैं. यहां की मूर्तिकला, अलंकरण और अतुल रूपराशि मानव-कल्पना को आश्चर्य में डाल देती है. इन अलंकरणों एवं स्थापत्य कला के नमूनों में मंदिरों का बाह्य और अन्तर्भाव-विभूषित है. जहां कल्पना में सजीवता, भावना में विचित्रता तथा विचारों का चित्रण, इन तीनों का एकत्र संचित समूह ही मूर्तिकला के आदर्शों का नमूना है, जिननाथ मन्दिर के बाह्य द्वार पर संवत् १०११ का शिलालेख अंकित है, जिससे ज्ञात होता है कि यह मंदिर चन्देल राजा धंग के राज्यकाल से पूर्व वना है. उस समय मुनि वासवचन्द के समय में पाहलवंश के एक व्यक्ति पाहिल ने, जो धंगराजा के द्वारा मान्य था, उसने मंदिर को एक बाग भेंट किया था जिसमें अनेक वाटिकाएँ वनी हुई थीं.[१]

शान्तिनाथ का मन्दिर—इस मन्दिर में एक विशाल मूर्त्ति जैनियों के १६वें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ की है, जो १४ फुट ऊँची है. यह मूर्त्ति शान्ति का प्रतीक है, इसकी कला देखते ही वनती है. मूर्ति सांगोपांग अपने दिव्य प्रशान्त रूप में स्थित है. और ऐसी ज्ञात होती है कि शिल्पी ने अभी बनाकर तैयार की हो. मूर्ति कितनी चित्ताकर्षक है यह लेखनी से परे की वात है. शिल्पी की वारीक छैनी से मूर्ति का निखरा हुआ वह कलात्मक रूप दर्शक को आश्चर्य में डाल देता

१. ओं (iix) संवत् १०११ समये ॥ निजकुल धवलोयं दि—

है और वह उसे अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ उसे देखने की बार बार उत्कण्ठा उत्पन्न कर रहा है. मूर्त्ति के अगल बगल में अनेक सुन्दर मूर्तियां विराजित हैं जिनकी संख्या अनुमानतः २५ से कम नहीं जान पड़ती. यहां सहस्त्रों मूर्त्तियां खण्डित हैं. सहस्रकूट चैत्यालय का निर्माण बहुत बारीकी के साथ किया गया है. इस मंदिर के दरवाजे पर एक चौंतीसा यंत्र है, जिसमें सब तरफ से अंकोंको जोड़ने पर उनका योग चौंतीस होता है. यह यंत्र बड़ा उपयोगी है. जब कोई बालक बीमार होता है तब उस यन्त्र को उसके गले में बांध दिया जाता है ऐसी प्रसिद्धि है. भगवान् शान्तिनाथ की इस मूर्ति के नीचे निम्न लेख अंकित है, जिससे स्पष्ट है कि यह मूर्ति विक्रम की ११ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण की है:
सं १०८५ श्रीमान् आचार्यपुत्र श्रीठाकुर देवधर सुत श्री शिविश्रीचन्द्रेयदेवाः श्री शान्तिनाथस्य प्रतिमा कारितेति."

खजुराहे की खंडित मूर्तियों में से कुछ लेख निम्न प्रकार हैं :

१—सं० ११४२ श्री आदिनाथाय प्रतिष्ठाकारक श्रेष्ठी बीवनशाह भार्या सेठानी पद्मावती.

चौथे नं० की वेदी में कृष्ण पाषाण की हथेली और नासिका से खण्डित जैनियों के बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ की एक मूर्ति है. उसके लेख से मालूम होता है कि यह मूर्ति विक्रम की १३ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रतिष्ठित हुई है. लेख में मूलसंघ देशीगण के पंडित नागनन्दी के शिष्य पं० भानुकीर्ति और आर्यिका मेरुश्री द्वारा प्रतिष्ठित कराये जाने का उल्लेख किया गया है. वह लेख इस प्रकार है : 'सं० १२१५ माघ सुदी ५ रवौ देशीयगणे पंडित नाह [ग] नन्दी तच्छिष्यः पंडित श्री भानुकीर्ति आर्यिका मेरुश्री प्रतिनन्दंतु'.

इस तरह खजुराहा स्थापत्यकला की दृष्टि से अत्यन्त दर्शनीय है.

महोबा—इसका प्राचीन नाम काकपुर,पाटनपुर और महोत्सव या महोत्सवपुर था. इस राज्यका संस्थापक चंदेलवंशी राजा चन्द्रवर्मा था जो सन् ८०० में हुआ है. इस राज्य के दो राजाओं का नाम खूब प्रसिद्ध रहा है. उनका नाम कीर्तिवर्मा और मदनवर्मा था. ईस्वी सन् ९०० के लगभग राजधानी खजुराहा से महोबा में स्थापित हो गई थी. कनिंघम ने अपनी रिपोर्ट में इसका नाम 'जंजाहूति' दिया है. चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने भी अपने यात्राविवरण में, 'जैनाभुक्ति' का उल्लेख किया है. यहां की झीलें प्रसिद्ध हैं. यहां नगर में हिन्दू और मुसलमानों के स्मारक भी मिलते हैं. जैन संस्कृति की प्रतीक जैन मूर्तियां भी यत्र-तत्र छितरी हुई मिलती हैं. कुछ समय पहले खुदाई करने पर यहां बहुत-सी जैन मूर्तियां मिली थीं, जो संभवतः सं० १२०० के लगभग थीं. उनमें से एक ललितपुर क्षेत्रपाल में और शेष बांदा में विराजमान हैं.

यहां एक २० फुट ऊंचा टीला है. वहां से अनेक खण्डित जैन मूर्तियां मिली हैं. महोबा के आस-पास के ग्रामों और नगरों में भी अनेक ध्वस्त जैनमंदिर और मूर्तियां उपलब्ध होती हैं. उन खण्डित मूर्तियों के आसनों पर जो छोटे-छोटे लेख मिले हैं, उनमें से कुछ लेखों का सार निम्न प्रकार है :

१—'संवत् ११६९ राजा जयवर्मा. २—सं० १२०३. ३—श्री मदनवर्मा देवराज्ये सं० १२११ आषाढ़ सु० ३ शनौ देव श्रीनेमिनाथ, रूपकार लक्ष्मण. ४—सुमतिनाथ सं० १२१३ माघ सु० द्र० गुरौ. ५—सं० १२२० जेठ सुदी ८ रवौ

---

२. व्यमूर्तिस्व (शी) ल स (श) म दमगुणयुक्त सर्व
३. सत्वानुकंपो (ix) स्वजनिततोषो धांगराजेन
४. मान्यः प्रणमति जिननाथोयं भव्य (व्य) पाहिल (ल्ल).
५. नामा. (ii) १।। पाहिलवाटिका १ चन्द्रवाटिका.
६. लघुचन्द्रवाटिका ३ सं० (शं) करवाटिका ४ पंचाइ
७. तलुवाटिका ५ आम्रवाटिका ६ ध (धं) गवाड़ी ७ (iix).
८. पाहिलवंसे (शे) तुक्षये क्षीणे पापरवेशो यः कोपि.
९. तिष्ठति (ix) तस्य दासस्य दासोयं ममदत्तिस्तु पाल—
१०. येत् ।। महाराज गुरु स्त्री (श्री) वासवचन्द्र (iiix)
वेष (शा) प (ख) सुदि ७ सोमदिने.

साधुदेव गण तस्य पुत्र रत्नपाल प्रणमति नित्यं. ६—......तत्पुत्राः साधुश्री रत्नपाल तस्य भार्या साधा पुत्र कीर्तिपाल, अजयपाल, वस्तुपाल तथा त्रिभुवनपाल अजितनाथाय प्रणमति नित्यं.[1] एक लेख में जो 'सं० १२२४ आषाढ़ सुदी २ रवौ' के दिन परमर्द्धि देव के राज्यकाल का है, उसमें चंदेलवंश के राजाओं के नाम दिये हुए हैं. श्रावकों के नाम ऊपर दिये गये हैं. इन सब उल्लेखों से महोबा जैन संस्कृति का कभी केन्द्र रहा था. इसका आभास सहज ही हो जाता है.

## देवगढ़ का इतिहास

देवगढ़—दिल्ली से बम्बई जाने वाली रेलवे लाइन पर जाखलौन स्टेशन से ९ मील की दूरी पर है. इस नाम का एक छोटा-सा ऊजड़ ग्राम भी है. इस ग्राम में आबादी बहुत थोड़ी सी है. यह वेत्रवती (बेतवा) नदी के मुहाने पर नीची जगह बसा हुआ है. वहां से ३०० फुट की ऊँचाई पर करनाली दुर्ग है. जिसके पश्चिम की ओर बेतवा नदी कलकल निनाद करती हुई बह रही है. पर्वत की ऊँचाई साधारण और सीधी है. पहाड़ पर जाने के लिये पश्चिम की ओर एक मार्ग बना हुआ है, प्राचीन सरोवर को पार करने के बाद पाषाणनिर्मित एक चौड़ी सड़क मिलती है, जिसके दोनों ओर खदिर (खैर) और साल के सघन छायादार वृक्ष मिलते हैं. इसके बाद एक भग्न तोरण द्वार मिलता है, जिसे कुंजद्वार भी कहते हैं. यह पर्वत की परिधि को वेढ़े हुए कोट का द्वार है. यह द्वार प्रवेशद्वार भी कहा जाता है. इसके बाद दो जीर्ण कोटद्वार और भी मिलते हैं. ये दोनों कोट जैनमन्दिरों को घेरे हुए हैं. इनके अन्दर देवालय होने से इसे देवगढ़ कहा जाने लगा है, क्योंकि यह देवों का गढ़ था. परन्तु यह इसका प्राचीन नाम नहीं है. इसका प्राचीन नाम 'लुच्छगिरि' या 'लच्छगिरि' था, जैसा कि शान्तिनाथ मन्दिर के सामने वाले हाल के एक स्तम्भ पर शक संवत् ७८४ (वि० सं० ९१९) में उत्कीर्ण हुए गुर्जर प्रतिहार वत्सराज आम के प्रपौत्र और नागभट्ट द्वितीय या नागावलोक के पौत्र महाराजाधिराज परमेश्वर राजा भोजदेव के शिलालेख से स्पष्ट है. उस समय यह स्थान भोजदेव के शासन में था. इस लेख में बतलाया है कि शान्तिनाथमन्दिर के समीप श्री कमलदेव नाम के आचार्य के शिष्य श्रीदेव ने इस स्तम्भ को बनवाया था. यह वि० सं० ९१९ आश्विन सुद १४ बृहस्पतिवार के दिन भाद्रपद नक्षत्र के योग में बनाया गया था.[2]

विक्रम की १२वीं शताब्दी के मध्य में इसका नाम कीर्तिगिरि रक्खा गया था. पर्वत के दक्षिण की ओर दो सीढ़ियाँ हैं. जिनको राजघाटी और नाहर घाटी के नाम से पुकारा जाता है. वर्षा का सब पानी इन्हीं में चला जाता है. ये घाटियाँ चट्टान से खोदी गयी हैं. जिन पर खुदाई की कारीगरी पायी जाती है. राजघाटी के किनारे आठ पंक्तियों का छोटा सा सं० ११५४ का एक लेख उत्कीर्ण है.[3] जिसे चंदेलवंशी राजा कीर्तिवर्मा के प्रधान अमात्य वत्सराज ने खुदवाया था.

---

(१) देखो, कनिंघम सर्वेरिपोर्ट जिल्द २१ पृ० ७३, ७४.

(२) १. (ओं) परम भट्टारक) महाराजाधिराज परमेश्वर श्री भो—
 २. ज देव पट्टी वर्द्धमान—कल्याणविजय राज्ये ।
 ३. तत्प्रदत्त—पञ्च महाशब्द—महासामन्त श्री विष्णु ।
 ४. र—म परिभुज्य या (के) लुअच्छगिरे श्री शान्तमत (न)
 ५. (स) निधे श्री कमल देवाचार्य शिष्येण श्रीदेवेन कारा
 ६. पितं इदं स्तम्भं ।। संवत् ९१९ अस्व (श्व) युज० शुक्ल
 ७. पक्ष चतुर्दश्यां वृहस्पिति दिनेन उत्तर भाद्र प
 ८. द नक्षत्रे इदं स्तम्भं समाप्त मिति ।।०।।

(३) चांदेल्लवंशकुमुदेन्दुविशालकीर्तिः, ख्यातो बभूव नृप संघनतांघ्रिपद्मः ।
विद्याधरो नरपतिः कमलानिवासो, जातस्ततो विजयपालनृपो नृपेन्द्रः ।।
तस्माद्धर्मपरश्रीमान् कीर्तिवर्मनृपोऽभवत् । यस्य कीर्तिसुधाशुभ्रे त्रैलोक्यं सौधतामगात् ।।
अगदं नूतनं विष्णुमाविर्भूतमवाप्य यम् । नृपाब्धि तस्समाकृष्टा श्रीरस्थैर्यप्रमार्जयत् ।।

यह बड़ा विद्वान् और पराक्रमी था. इसने अपने शत्रुओं से इस प्रदेश-मण्डल को जीता था और इस दुर्ग का नाम 'कीर्तिगिरि' रक्खा था. कीर्तिवर्मा चन्देलवंश का प्रतापी शासक था और शत्रुकुल को दलित करने वाला वीर योद्धा था, जैसा कि प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के निम्न पद्य से प्रकट है:

नीता क्षयं क्षितिभुजो नृपतेर्विपक्षा, रक्षावती क्षितिरभूत्प्र थितैरमात्यैः ।
साम्राज्यमस्य विहितं क्षितिपालमौलि-मालार्चितं भुवि पयोनिधिमेखलायाम् ॥२॥

दूसरी नाहरघाटी के किनारे भी एक छोटा ७ पंक्तियों का अभिलेख अंकित है. यहां एक गुफा है, जिसे सिद्धगुफा भी कहा जाता है. यह भी पहाड़ में खुदी हुई है. जिसका मार्ग पहाड़ पर से सीढ़ियों द्वारा नीचे जाता है. इसके तीन द्वार हैं, दो खंभों पर छत भी अवस्थित है. इस गुफा के अन्दर भी गुप्त समय का छोटा-सा लेख अंकित है, जो संवत् ६०९ सन् ५५२ का बतलाया जाता है. इसमें सूर्यवंशी स्वामी भट्ट का उल्लेख है. यह लेख गुप्तकालीन है. एक दूसरा भी लेख है जिसमें लिखा है कि राजा वीर ने संवत् १३४२ में तुण को जीता था.

इस सब कथन पर से जाना जाता है कि इसका देवगढ़ नाम विक्रम की १२वीं शताब्दी के अन्त में या १३वीं के प्रारम्भ में किसी समय हुआ है. यह स्थल अनेक राजाओं के राज्यकाल में अवस्थित रहा है. इस प्रान्त में पहले सहरियों का राज्य था, पश्चात् गौड़ राजाओं ने अधिकार कर लिया था. स्कन्दगुप्त आदि इस वंश के कई राजाओं के शिलालेख अब तक देवगढ़ में पाये जाते हैं. इनके बाद कन्नौज के भोजवंशी राजाओं ने इस प्रान्त को अपने अधिकार में किया था. इसके पश्चात् चंदेल वंशी राजाओं का इस पर स्वामित्व रहा. सन् १२९४ ई० में यह विशालनगर था. उस समय यह बहुत सुन्दर और सूर्य के प्रकाश के समान देदीप्यमान था. इसी वंश ने दतिया के किले का निर्माण कराया था. ललितपुर के आसपास इस वंश के अनेक लेख उपलब्ध होते हैं, इस वंश की राजधानी महोबा थी. इनके समय जैन-धर्म को पल्लवित होने का अच्छा अवसर मिला था. इस वंश के शासन-समय की अनेक कलाकृतियां, मन्दिर और जैन मूर्तियां महोबा, अहार, टीकमगढ़, मदनपुर, नावई और जखौरा आदि स्थानों पर पाई जाती हैं.

महाराजा सिन्धिया की ओर से कर्नल वैयटिस्टि फिलोज ने सन् १६२१ में देवगढ़ पर चढ़ाई की थी. उसने तीन दिन बराबर लड़कर उस पर अधिकार कर लिया. चंदेरी के बदले में महाराज सिन्धिया ने देवगढ़ हिन्द-सरकार को दे दिया था. हो सकता है कि किले की दीवार चंदेलवंशी राजाओं ने बनवाई हो, परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता. उसकी मोटाई १५ फुट की है जो बिना सीमेंट के केवल पाषाण से बनी हुई है. नदी की ओर की हदबंदी की दीवाल बनी होगी, तो वह गिर गई होगी, या फिर वह बनवाई ही नहीं गई. परन्तु ऊँचाई कहीं भी २० फुट से अधिक नहीं है. उत्तरी पश्चिमी कोने से एक दीवार २१ फुट मोटी है, जो ६०० फुट तक पहाड़ी के किनारे चली गई है. संभवतः यह दीवार दूसरे किले की हो, जो अब विनष्ट हो चुका है.

देवगढ़ का यह स्थान कितना सुरम्य और चित्ताकर्षक है, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं. बेत्रवती नदी के किनारे-किनारे दाहिनी तरफ मैदान अत्यन्त ढालू हो गया है. पहाड़ की विकट घाटी में उक्त सरिता सहसा पश्चिम की ओर मुड़ जाती है. वहां की प्राकृतिक सुषमा और कलात्मक सौंदर्य दोनों ही अपनी अनुपम छटा प्रदर्शित करते हैं. यहां दर्शकों को वैभव की असारता के स्पष्ट दर्शन होते हैं. जो स्पष्ट सूचित कर रहे हैं कि—हे पामर नर ! तू वैभव के अहंकार में इतना क्यों इठला रहा है ? एक समय था जब हम भी गर्व में इठला रहे थे. उस समय हमें भारी प्रति-

---

राजोडुमध्यगतचन्द्रनिभस्य यस्य, नूनं युधिष्ठिर-शिव-रामचन्द्रः ।
एते प्रसन्नगुणरत्ननिधौ निविष्टा, यत्तद् गुणप्रकररत्नमये शरीरे ॥
तदीयामात्यमन्त्री दो रमणीपुरविनिर्गतः । वत्सराजेति विख्यात श्रीमान्महीधरात्मजः ॥
ख्यातो बभूव किल मन्त्रपदैकमात्रे, वाचस्पतिस्तदिह मन्त्रगुणैरुदारान् ॥
योऽयं समस्तमपि मण्डलमाशु शत्रोराच्छिद्य कीर्तिगिरिदुर्गमिदं व्यधत्ते ॥ संवत् ११५४ चैत्र वदि २ बुधे, [illegible]

वर्तनों का कोई आभास नहीं था, किन्तु दुर्दैव के कारण हमारी यह अवनत अवस्था हुई है. अतः तू अब भी समझ और सावधान हो.

विन्ध्य पर्वतमालाकी सघन वनाच्छादित सुरम्य उपस्थली में यह पुण्यक्षेत्र जीवनदायिनी सलिला वेत्रवती से सटी हुई डेढ़-दो मील लम्बी पहाड़ी के ऊपर एक चौकोर लम्बे मैदान के भाग में फैला हुआ पग पग पर अनुपम सांस्कृतिक जीवन-कला की विभूतियों के मनमोहक दृश्य उपस्थित करता है. जिसमें तल्लीन होकर एक बार दर्शक-हर्ष विषाद, सुख-दुःख, मोह-मत्सर काम आदि के संस्कार रूपी बन्धनों से मुक्त होकर प्रकृति की गोद में विलीन-सा हो जाता है और अपने सारे अहंकारमय ऐहिक अस्तित्व को भूल कर अपने आप को न्यूनतम से न्यूनतम रजकण से भी तुच्छ पाता है. प्रशान्त मूर्तियां, वेदिका, स्तम्भ, तोरण, दीवारें और अन्य कलात्मक अलंकरण, जो यशस्वी शिल्पियों द्वारा चमत्कारपूर्ण सामग्री निर्मित की गई है वह अपनी मूक प्रेरणा द्वारा भिन्न-भिन्न विचार-मुद्राओं में आध्यात्मिक जीवन की झांकी का सन्देश प्रस्तुत करती है. कहीं चामत्कारिक मूर्ति-निर्माणकला के छिटकते हुए सौंदर्य से देदीप्यमान प्रतीकों, तीर्थंकर पार्श्वनाथ की विशालकाय मूर्तियों और अगणित अर्हन्तों की विचारप्रेरक मुद्राओं वाले प्रतिविम्ब उस वनस्थली की स्तब्ध शांति के मूक स्वर में आनन्दविभोर दिखाई देते हैं और कहीं चक्रेश्वरी, पद्मावती, ज्वालामालिनी, सरस्वती आदि जिनशासनरक्षिका देवियों की मुद्राएं, अद्भुत भावप्रेरक अनेक देवियों के अलंकृत अवयव अपनी भाव-भंगियों से मानो सुषमा ही उड़ेल रहे हैं.

**गुप्तकालीन मंदिर**—किले के दक्षिण-पश्चिमी कोने पर वराह का प्राचीन मन्दिर खंडितावस्था में मौजूद है. उसके निर्माण के सम्बन्ध में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता. नीचे के मैदान में गुप्तकालीन विष्णुमन्दिर बना हुआ है, यह पूर्ण रूप से सुरक्षित है, भारतीय कलाविद् इसके कारण ही देवगढ़ से परिचित हैं. यह मन्दिर गुप्त काल के बाद किसी समय बना है. कहा जाता है कि गुप्तकाल में मदिरों के शिखर नहीं बनाये जाते थे, परन्तु इसमें शिखर होने के शिह्न मौजूद हैं. मालूम होता है कि इसका शिखर खंडित हो गया है. यह मंदिर जिन पाषाणखण्डों से बना है, वे अत्यन्त कलापूर्ण और सुन्दर हैं.[१] इस मंदिर की कला के सम्बन्ध में प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् स्मिथ साहब कहते हैं कि—देवगढ़ में गुप्तकाल का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और आकर्षक स्थापत्य है वह देवगढ़ का पत्थर का बना हुआ एक छोटा सा मंदिर है. यह ईशा छठी अथवा पांचवीं शताब्दी का बना है. इस मंदिर की दीवारों पर जो प्रस्तरफलक लगे हैं उनमें भारतीय मूर्तिकला के कुछ बहुत ही बढ़िया नमूने अंकित हैं.[२]

इस मंदिर की खुदाई के समय जो मूर्तियां मिलीं, उनमें से एक में पंचवटी का वह दृश्य अंकित है जहां लक्ष्मण ने रावण की बहन सूर्पनखा की नाक काटी थी. अन्य एक पाषाण में राम और सुग्रीव के परस्पर मिलन का अपूर्व दृश्य अंकित है. एक अन्य पत्थर में राम लक्ष्मण का शबरी के आश्रम में जाने का दृश्य दिखाया गया है. इसी तरह के अन्य दृश्य भी रहे होंगे. रामायण की कथा के यह दृश्य अन्यत्र मेरे अवलोकन में नहीं आये. यहीं पर नारायण की मूर्ति है. और एक पत्थर में गजेन्द्रमोक्ष का दृश्य भी उत्कीर्ण है. दक्षिण की ओर दीवार में शेषशायी विष्णु की मूर्ति है, जो बड़े आकार के लाल पत्थर में खोदी गई है. इससे यह मंदिर भी अपना विशेष महत्त्व रखता है.

**जैन मन्दिर और मूर्तिकला**:— देवगढ़ में इस समय ३१ जैन मन्दिर हैं जिनकी स्थापत्यकला मध्यभारत की अपूर्व देन है. इनमें से नं० ४ के मन्दिर में तीर्थंकर की माता सोती हुई स्वप्नावस्था में विचार-मग्न मुद्रा में दिखलाई गई है. नं०

---

१. देखो, भारतीय पुरातत्व की रिपोर्ट दयाराम साहनी.

२. The most important and interesting stone temple of Gupta age is one of moderate dimensions at Deogarh, which may be assigned to the first half of sixth or perhaps to the fifth Century. The panels of the walls contain some of the finest specimens of Indian sculpture.

५ का मंदिर सहस्रकूट चैत्यालय है जिसकी कलापूर्ण मूर्तियाँ अपूर्व दृश्य दिखलाती हैं. इस मन्दिर के चारों ओर १००८ प्रतिमाएं खुदी हैं. बाहर सं० ११२० का लेख भी उत्कीर्णित है, जो सम्भवतः इस मन्दिर के निर्माणकाल का ही द्योतक है. नं० ११ के मन्दिर में दो शिलाओं पर चौबीस तीर्थंकरों की बारह-बारह प्रतिमाएं अंकित हैं. ये सभी मूर्तियां प्रशान्त मुद्रा को लिये हुए हैं.

इन सब मन्दिरों में सबसे विशाल मन्दिर नं १२ है, जो शांतिनाथ मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है. जिसके चारों ओर अनेक कलाकृतियां और चित्र अंकित हैं. इसमें शान्तिनाथ भगवान की १२ फुट उत्तुंग प्रतिमा विराजमान है, जो दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करती है. और चारों कोनों पर अम्बिका देवी की चार मूर्तियां हैं, जो मूर्तिकला के गुणों से समन्वित हैं. इस मन्दिर की बाहरी दीवाल पर जो २४ यक्ष यक्षिणियों की सुन्दर कलाकृतियां बनी हुई हैं, इनकी आकृतियों से भव्यता टपकती है. साथ ही १८ लिपियों वाला लेख भी बरामदे में उत्कीर्णित है. इन सब कारणों से यह मन्दिर अपनी सानी नहीं रखता.

देवगढ़ के जैन मन्दिरों का निर्माण, उत्तर भारत में विकसित आर्यनागर शैली में हुआ है. यह दक्षिण की द्रविड़ शैली से अत्यन्त भिन्न है. नागर शैली का विकास गुप्तकाल में हुआ है. देवगढ़ में तो उक्त शैली का विकास पाया ही जाता है किन्तु खजुराहो आदि के जैन मन्दिरों में भी इसी कला का विकास देखा जाता है. यह कला पूर्णरूप से भारतीय है और प्राग्मुस्लिमकालीन है. इतना ही, नहीं, किन्तु समस्त मध्य प्रान्त की कला इसी नागर शैली से ओत-प्रोत है. इस कला को गुप्त, गुर्जर प्रतिहार और चंदेलवंशी राजाओं के राज्य काल में पल्लवित और विकसित होने का अवसर मिला है.

देवगढ़ की मूर्तियों में दो प्रकार की कला देखी जाती है. प्रथम प्रकार की कला में कलाकृतियां अपने परिकरों में अंकित देखी जाती हैं, जैसे चमरधारी यक्ष यक्षणियां. सम्पूर्ण प्रस्तराकार कृति में नीचे तीर्थंकर का विस्तृत आसन और दोनों पार्श्वों में यक्षादि अभिषेक-कलश लिए हुए दिखलाये गये हैं. किन्तु दूसरे प्रकार की कला मुख्य मूर्ति पर ही अंकित है, उसमें अन्य अलंकरण और कलाकृतियाँ गौण हो गई हैं. मालूम होता है इस युग में साम्प्रदायिक विद्वेष नहीं था, और न धर्मान्धता ही थी, इसीसे इस युग में भारतीय कला का विकास जैनों, वैष्णवों और शैवों में निर्विरोध हुआ है. प्रस्तुत देवगढ़ जैन और हिंदू संस्कृति का सन्धिस्थल रहा है. तीर्थंकरमूर्तियां, सरस्वती की मूर्ति, पंच परमेष्ठियों की मूर्तियाँ, कलापूर्ण मानस्तम्भ, अनेक शिलालेख, और पौराणिक दृश्य अंकित हैं. साथ ही वराह का मंदिर, गुफा में शिव-लिंग, सूर्य भगवान् की मुद्रा, गणेश मूर्ति, भारत के पौराणिक दृश्य, गजेन्द्रमोक्ष आदि कलात्मक सामग्री देवगढ़ की महत्ता की द्योतक है.

भारतीय पुरातत्त्वविभाग को देवगढ़ से २०० शिलालेख मिले हैं जो जैन मन्दिरों, मूर्तियों और गुफाओं आदि में अंकित हैं. इन में साठ शिलालेख ऐसे हैं जिनमें समय का उल्लेख दिया हुआ है. ये शिलालेख सं० ६०९ से १८७६ तक के उपलब्ध हैं. इनमें सं० ६०९ सन् ५५२ का लेख नाहरघाटी से प्राप्त हुआ था, इसमें सूर्यवंशी स्वामी भट्ट का उल्लेख हैं. सं० ९१९ का शिलालेख जैन संस्कृति की दृष्टि से प्राचीन है. इस लेख में भोज देव के समय पंच महाशब्द प्राप्त महासामन्त विष्णुराम के शासन में इस लुअच्छगिरि के शान्तिनाथ मंदिर के निकट गोष्ठिक वजुआ द्वारा निर्मित मानस्तंभ आचार्य कमलदेव के शिष्य आचार्य श्रीदेव द्वारा वि० सं० ९१९ आश्विन १४ बृहस्पतिवार के दिन उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में प्रतिष्ठित किया गया था. इसी तरह अन्य छोटे छोटे लेख भी जैन संस्कृति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं. इस तरह देवगढ़ मध्यप्रदेश की अपूर्व देन है.

अहार क्षेत्र:— बुंदेलखण्ड में खजुराहो की तरह अहार क्षेत्र भी एक ऐतिहासिक स्थान है. देवगढ़ की तरह यहां प्राचीन मूर्तियां और लेख पाये जाते हैं. उपलब्ध मूर्तियों के शिलालेखों से ज्ञात पड़ता है कि विक्रम की ११ वीं से १३ वीं शताब्दी तक के लेखों में अहार की प्राचीन बस्ती का नाम 'मदनेशसागरपुर' था.[1] और उसके शासक श्री मदनवर्मा

---

१. सं० १२०८ और १२३७ के लेखों में मदनेशसागरपुर का नामांकन हुआ है; देखो. [illegible] वर्ष १ कि० १० पृष्ठ ३८४-८.

थे, जो चंदेलवंश के यशस्वी नक्षत्र थे. इस नगर के पास जो विशाल सरोवर बना हुआ है वह वर्तमान 'मदनसागर' नाम से प्रसिद्ध है. इसके किनारे अनेक प्रतिष्ठा-महोत्सव सम्पन्न हुए हैं. मदनवर्मा का शासन विक्रम की ११ वीं शताब्दी में विद्यमान था. उसके बाद ही किसी समय इसका नाम 'अहार' प्रसिद्ध हुआ होगा.

यहां के उपलब्ध मूर्तिलेखों में खंडेलवाल, जैसवाल, मेडवाल, लमेचू, पौरपाट (परवार) गृहपति, गोलापूर्व, गोलाराड, अवधपुरिया और गर्गराट् आदि अनेक उपजातियों के उल्लेख मिलते हैं, जो उनकी धार्मिक रुचि के द्योतक हैं. उनसे यह भी स्पष्ट जाना जाता है कि उस काल में यह खूब सम्पन्न रहा होगा. क्योंकि वहाँ विविध उपजातियों के जैन जन रहते थे और गृहस्थोचित षट्कर्मों का पालन करते थे. ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि यह स्थान ७०० वर्षों तक जैन संस्कृति के आचार-विचारों से परिपूर्ण रहा है, क्योंकि यहाँ वि० सं० ११२३ और ११९९ से लेकर वि० सं० १९६८ तक की प्राचीन मूर्तियाँ और लेख उपलब्ध होते हैं. ये सब लेख ऐतिहासिक तथ्यों से परिपूर्ण हैं और अतीत के गौरव की अपूर्व झांकी प्रस्तुत करते हैं. यदि वहाँ खुदाई कराई जाय तो संभवतः और भी पुरातन जैन संस्कृति के अवशेष प्राप्त हो सकते हैं. इन लेखों में सबसे अधिक लेख जैसवालों और गोलापूर्वों के पाये जाते हैं. उनसे उन जातियोंके धर्म-प्रेम की झलक मिलती है.

संवत् १२१३ के एक लेख में भट्टारक माणिक्यदेव तथा गुण्यदेव का नाम उत्कीर्ण है. और सं० १२१६ के लेख में श्रीसागरसेन सैद्धांतिक, आर्यिका जयश्री और चेली रतनश्री का उल्लेख है. सं० १२१६ के एक दूसरे लेख में कुटकान्वयी पंडित लक्ष्मणदेव शिष्य आर्य देव आर्यिका लक्ष्मश्री चेली चारित्रश्री और भ्राता लिम्बदेव का नाम अंकित है. सं० १२१६ के एक तीसरे लेख में कुटकान्वय पंडित मंगलदेव, और उनके शिष्य भ० पद्मदेव का नामांकन है. सं० १५४८ के लेख में भट्टारक 'जिनचन्द' और शाह जीवराज पापडीवाल का नामोल्लेख है. १५०२ के एक लेख में भ० गुणकीर्ति के पट्टधर मलयकीर्ति के द्वारा प्रतिष्ठा कराने का भी उल्लेख पाया जाता है.[1] इसी तरह अन्य अनेक लेखों में जो विद्वानों भट्टारकों या श्रावक श्राविकाओं के नाम का अंकन मिलता है, वह इतिहास की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण है.

अहार क्षेत्र में भगवान् शांतिनाथ की प्रतिष्ठा कराने वाला गृहपति वंश जैनधर्म का अनुयायी था. जैनधर्म की परम्परा उसके वंश में पहले से चली आ रही थी, क्योंकि इस वंश के देवपाल ने वाणपुर के सहस्रकूट चैत्यालय का निर्माण कराया था. ऐसा शांतिनाथ की मूर्ति के सं० १२३७ के लेख के प्रथम पद्य से प्रकट है.[2] वाणपुर का उक्त जिनालय कब बना यह निश्चित नहीं है किन्तु सं० १२३७ के लेख में जो उल्लेख है उससे पहले बना है. लेख में प्रयुक्त देवपाल, रत्नपाल, रल्हण गल्हण जाहड और उदयचन्द का नाम आता है. गल्हण ने शान्तिनाथ का चैत्यालय बनवाया था और दूसरा चैत्यालय मदनसागरपुर में निर्माण कराया था और इनके पुत्र जाहड और उदयचन्द्र ने इस मूर्ति का निर्माण कराया है. इससे इस कुटुम्ब की धार्मिक परिणति का कितना ही अभास मिल जाता है और यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस कुटुम्ब में मंदिर-निर्माण आदि का कार्य परम्परागत था.

प्रस्तुत मदनसागरपुर का नाम आहार क्यों और कैसे पड़ा, यह विचारणीय है. अहार के उक्त मूर्ति लेखों में पाणा साह का कोई उल्लेख नहीं है. फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि मन्दिरादि का निर्माण उनके द्वारा हुआ है. और मुनि को आहार देने से इसका नाम 'अहार' हुआ है.

इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाणों का अन्वेषण करना जरूरी है जिससे तथ्य प्रकाश में आ सकें. इस तरह मदनेश सागरपुर और अहार जैन संस्कृति के केन्द्र रहे हैं. वानपुर आहार क्षेत्र से ३-४ मील की दूरी पर अवस्थित है. यह भी एक प्राचीन स्थान है. जतारा ग्राम भी १२-१३वीं सदी के गौरवसे उद्दीपित है, वहाँ भी जैनधर्म की विशेष प्रतिष्ठा रही है.

---

१. देखो अनेकान्त वर्ष ९ किरण १० तथा वर्ष १० किरण १, २, ३, आदि में प्रकाशित अहार के लेख.

२. गृहपतिवंशसरोरुह-सहस्ररश्मिः सहस्रकूट यः ।
वाणपुरे व्याधितासीत श्रीमानिह देवपाल इति ।।

ग्वालियर के किले का इतिहास—जैन साहित्य में वर्तमान ग्वालियर का उल्लेख गोपायलु, गोपाद्रि, गोपगिरि, गोपाचल और गोपालगढ़ आदि नामों से किया गया है. ग्वालियर की इस प्रसिद्धि का कारण जहाँ उसका पुरातन दुर्ग (किला) है. वहाँ भारतीय (हिन्दू, बौद्ध और जैनियों के) पुरातत्त्व की प्राचीन एवं विपुल सामग्री की उपलब्धि भी है. भारतीय इतिहास में ग्वालियर का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है. वहां पर प्राचीन अवशेषों की कमी नहीं है. उसके प्रसिद्ध बुर्जों और किलों में इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है. ग्वालियर का यह किला पहाड़ की एक चट्टान पर स्थित है. यह पहाड़ डेढ़ मील लम्बा और ३०० गज चौड़ा है. इसके ऊपर बलुआ पत्थर की चट्टानें हैं, उनकी नुकीली चोटियाँ निकली हुई हैं, जिनसे किले की प्राकृतिक दीवार बन गई है. कहा जाता है कि इसे सूरजसेन नाम के राजा ने बनवाया था. वहाँ 'ग्वालिय' नाम का एक साधु रहता था, जिसने राजा सूरजसेन के कुष्ट रोग को दूर किया था. अतः उसकी स्मृति में ही ग्वालियर नाम प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है. पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्वालियर के इस किले का अस्तित्व विक्रम की छठी शताब्दी में था, क्योंकि ग्वालियर की पहाड़ी पर स्थित 'मात्रचेता' द्वारा निर्मापित सूर्यमन्दिर के शिलालेख में उक्त दुर्ग का उल्लेख पाया जाता है. दूसरे, किले में स्थित चतुर्भुज मन्दिर के वि० सं० ९३२-३३ के दो शिलावाक्यों में भी उक्त दुर्ग का उल्लेख पाया जाता है. हाँ, शिलालेखों से इस बात का पता जरूर चलता है कि उत्तर भारत के प्रतिहार राजा मिहिर भोज ने जीत कर इसे अपने राज्य कन्नौज में शामिल कर लिया था और उसे विक्रम की ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कच्छपघट या कछवाहा वंश के वज्रदामन् नाम के राजा ने, जिसका राज्य शासन १००७ से १०३७ तक रहा है और जो जैनधर्म का श्रद्धालु था, उसने सं० १०३४ में एक जैन मूर्ति की प्रतिष्ठा भी करवाई थी. उस मूर्ति की पीठ पर जो लेख[1] अंकित है उससे उसकी जैनधर्म में आस्था होना प्रमाणित है. इस वंश के अन्य राजाओं ने जैन धर्मके संरक्षण, प्रचार एवं प्रसार करने में क्या कुछ सहयोग दिया, यह बात अवश्य विचारणीय है और अन्वेषणीय है. कन्नौज के प्रतिहार वंशी राजा से ग्वालियर को जीत कर उस पर अपना अधिकार कर लिया था. इस वंश के मंगलराज, कीर्तिराज, भुवनपाल, देवपाल, पद्मपाल, सूर्यपाल, महीपाल, भुवनपाल और मधुसूदनादि अन्य राजाओं ने ग्वालियर पर लगभग दो-सौ वर्ष तक अपना शासन किया है, किन्तु बाद में पुनः प्रतिहार वंश की द्वितीय शाखा के राजाओं का उस पर अधिकार हो गया था. परन्तु वि० संवत् १२४९ में दिल्ली के शासक अल्तमस ने ग्वालियर पर घेरा डाल कर दुर्ग का विनाश किया. उस समय राजपूतों ने अपने शौर्य का परिचय दिया परन्तु मुट्ठी भर राजपूत उस विशाल सेना से कब तक लोहा लेते ? आखिर राजपूतों ने अपनी आन की रक्षा के हित युद्ध में मर जाना ही श्रेष्ठ समझा, और राजपूतनियों ने 'जौहर' द्वारा अपने सतीत्व का परिचय दिया. वे अग्नि की विशाल ज्वाला में भस्म हो गईं और राजपूत अपनी वीरता का परिचय देते हुए वीरगति को प्राप्त हुए. किले पर अल्तमस का अधिकार हो गया.

सन् १३९८ (वि० सं०१४५५) में तैमूरलंग ने भारत पर जब आक्रमण किया, तब अवसर पाकर तोमरवंशी वीरसिंह नाम के एक सरदार ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया और वह उक्त वंश के आधीन सन् १५३६ (वि० संवत् १५९३) तक रहा.

इस क्षत्रिय वंश के अनेक राजाओं ने (सन् १३९८ से १५३६ तक) ग्वालियर पर शासन किया है. उनके नाम वीरसिंह उद्धरणदेव, विक्रमदेव (वीरमदेव), गणपतिदेव, डूंगरसिंह, कीर्तिसिंह, कल्याणमल मानसिंह, विक्रमशाह, रामशाह, शालिवाहन और इनके दो पुत्र (श्यामसाह और मित्रसेन[2]) हैं. लगभग दो सौ वर्ष के इस राज्यकाल में जैनधर्म को फलने, फूलनेका अच्छा अवसर मिला है. इन सभी राजाओंकी सहानुभूति जैनधर्म, जैनसाधुओं और जैनाचार पर रही है

---

१. संवत् १०३४ श्री वज्रदाम महाराजाधिराज वइशाख वदि पाचमि. देखो, जनरल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल पृ० ४१०-४११.

२. यह मित्रसेन शाह जलालुद्दीन के समकालीन थे. इनका वि० सं० १६८८ का एक शिलालेख बंगाल एशियाटिक सोसायटी के जरनल भा० ८ पृ० ६९५ में रोहतास दुर्ग के कोथैटिय फाटक के ऊपर की परिधा पर तोमर मित्रसेन का शिलालेख [illegible] के पुत्र शिवदेव ने संकलित किया था.

राजा डूंगरसिंह और कीर्तिसिंह की आस्था जैनधर्म पर पूर्ण रूप से रही है. तत्कालीन विद्वान् भट्टारकों का प्रभाव इन पर अंकित रहा है. यद्यपि तोमर वंश के पूर्व भी कछवाह और प्रतिहार वंश के राजाओं के राज्यकाल में भी ग्वालियर और पार्श्ववर्ती इलाकों में जैन धर्म का सूर्य चमक रहा था. परन्तु तोमर वंश के समय धर्म की विशेष अभिवृद्धि हुई. राजा विक्रमसिंह या वीरमदेव के समय जैसवाल वंशी सेठ कुशराज उनके मंत्री थे, जो जैन धर्म के अनुयायी और श्रावक के व्रतों का अनुष्ठान करते थे. इनकी प्रेरणा और भट्टारक गुणकीर्ति के आदेश से पद्मनाभ कायस्थ ने, जो जैन धर्म पर श्रद्धा रखता था, यशोधरचरित की रचना की थी.[1]

ग्वालियर और उसके आस-पास के जैन पुरातत्त्व और विद्वान् भट्टारकों तथा कवियों की ग्रन्थरचनाओं का अवलोकन करने से स्पष्ट पता चलता है कि वहां जैनधर्म उक्त समय में खूब पल्लवित रहा. ग्वालियर उस समय उसका केन्द्र-स्थल बना हुआ था. वहाँ ३६ जातियों का निवास था पर परस्पर में विरोध नहीं था. जैन जनता अपनी धार्मिक परिणति, उदारता, कर्तव्यपरायणता, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति और दानधर्मादि कार्यों में सोत्साह भाग लेती थी. उसी का प्रभाव था कि जैन धर्म और उसकी अनुयायी जनता पर सबका वात्सल्य बना हुआ था. उस समय अनेक जैन राजकीय उच्चपदों पर सेवाकार्य करते थे. जो राज्य के संरक्षण पर सदा दृष्टि रखते थे. वर्तमान में भी जैनियों की वहाँ अच्छी संख्या है.

खास कर राजा डूंगरसिंह और कीर्तिसिंह के शासनकाल में (वि० सं० १४८१ से सं० १५३६ तक) ३३ वर्ष पर्यन्त किले में जैन मूर्तियों की खुदाई का कार्य चला है. पिता और पुत्र दोनों ने ही बड़ी आस्था से उसमें सहयोग दिया था. अनेक प्रतिष्ठोत्सव सम्पन्न किये थे. दोनों के राज्यकाल में प्रतिष्ठित मूर्तियां ग्वालियर में अत्यधिक पाई जाती हैं, जिनमें सं० १४९७ से १५२५ तक के लेख भी अंकित मिलते हैं. ग्रन्थ रचना भी उस समय अधिक हुई है. देवभक्ति के साथ श्रुतिभक्ति का पर्याप्त प्रचार रहा है. वहाँ के एक सेठ पद्मसिंह ने जहाँ अनेक जिनालयों, मूर्तियों का निर्माण एवं प्रतिष्ठोत्सव सम्पन्न कराया था, वह जिनभक्ति से प्रेरित होकर एक लक्ष ग्रन्थ लिखवाकर तत्कालीन जैन साधुओं और जैन मन्दिरों के शास्त्रभण्डारों को प्रदान किये थे. ऐसा आदिपुराण की सं० १५२१ की एक लिपिप्रशस्ति से जाना जाता है. इन सब कार्यों से उस समय की धार्मिक जनता के आचार-विचारों का और सामाजिक प्रवृत्तियों का सहज ही परिज्ञान हो जाता है. उस समय के कवि रइधू ने अपने पार्श्वपुराण की आद्यन्त प्रशस्ति में उस समय के जैनियों की सामाजिक और धार्मिक परिणति का सुन्दर चित्रण किया है.

सन् १५३६ के बाद दुर्ग पर इब्राहीम लोदी का अधिकार हो गया. मुसलमानों ने अपने शासनकाल में उक्त किले को कैदखाना ही बना कर रक्खा. पश्चात् दुर्ग पर मुगलों का अधिकार हो गया. जब बाबर उस दुर्ग को देखने के लिये गया, तब उसने उरवाही द्वार के दोनों ओर चट्टानों पर उत्कीर्ण की हुई उन नग्न दिगम्बर जैन मूर्तियों के विनाश करने की आज्ञा दे दी.[2] यह उसका कार्य कितना नृशंस एवं घृणापूर्ण था, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं.

सन् १८११ में दुर्ग पर मराठों का अधिकार हो गया, तब से उन्हीं का शासन रहा और अब स्वतंत्र भारत में मध्यप्रदेश का शासन चल रहा है.

**जैन मन्दिर और मूर्तियाँ :**—किले में कई जगह जैन मूर्तियाँ खुदी हुई हैं. किला कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है. इस किले में से शहर के लिये एक सड़क जाती है. इस सड़क के किनारे दोनों ओर विशाल चट्टानों पर उत्कीर्ण हुई कुछ जैन मूर्तियां अंकित हैं. ये सब मूर्तियाँ पाषाणों की कर्कश चट्टानों को खोद कर बनाई गई हैं. किले में हाथी दरवाजा और सास-बहू के मन्दिरों के मध्य में एक जैन मन्दिर है जिसे मुगलशासनकाल में एक मस्जिद के रूप में बदल दिया गया था. खुदाई करने पर नीचे एक कमरा मिला है जिसमें कई नग्न जैन मूर्तियाँ हैं और एक लेख भी सन् ११०८

---

१. देखो, 'यशोधरचरित और पद्मनाभ कायस्थ' नामक लेख-अनेकान्त वर्ष १०.

२. देखो, बाबर का आत्मचरित.

(वि० सं० ११६५) का है. ये मूर्तियाँ कायोत्सर्ग तथा पद्मासन दोनों प्रकार की हैं. उत्तर की वेदी में सात फण सहित भगवान् श्रीपार्श्वनाथ की सुन्दर पद्मासन मूर्ति है. दक्षिण की भींत पर भी पांच वेदियाँ हैं जिनमें से दो के स्थान रिक्त हैं. जान पड़ता है कि उनकी मूर्तियाँ विनष्ट कर दी गई हैं. उत्तर की वेदी में दो नग्न कायोत्सर्ग मूर्तियाँ अभी भी मौजूद हैं. और मध्य में ६ फुट ८ इंच लम्बा आसन एक जैन मूर्ति का है. दक्षिणी वेदी पर भी दो पद्मासन नग्न मूर्तियाँ विराजमान हैं.

दुर्ग की उर्वाही द्वार की मूर्तियों में भगवान् आदिनाथ की मूर्ति सबसे विशाल है. उसके पैरों की लम्बाई नौ फुट है और इस तरह पैरों से तीन चार गुणी ऊंची है. मूर्ति की कुल ऊंचाई ५७ फीट से कम नहीं है. श्वेताम्बरीय विद्वान् मुनि शीलविजय और सौभाग्यविजय ने अपनी-अपनी तीर्थमाला में इस मूर्ति का प्रमाण बावन गज बतलाया है.[1] जो किसी तरह भी सम्भव नहीं है. और बाबर ने अपने आत्मचरित में इस मूर्ति को करीब ४० फीट ऊंचा बतलाया है, वह भी ठीक नहीं है. कुछ खण्डित मूर्तियों की बाद में सरकार की ओर से मरम्मत करा दी गई है, फिर भी उनमें की अधिकांश मूर्तियां अखण्डित मौजूद हैं.

**बाबा बावड़ी और जैन मूर्तियाँ** :—ग्वालियर से लश्कर जाते समय बीच में एक मील के फासले पर 'बाबा बावड़ी' के नाम से प्रसिद्ध एक स्थान है. सड़क से करीब ड़ेढ फर्लांग चलने और कुछ ऊंचाई चढ़ने पर किले के नीचे पहाड़ की विशाल चट्टानों को काट कर बहुत सी पद्मासन तथा कायोत्सर्ग मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई हैं. ये मूर्तियाँ स्थापत्य कला की दृष्टि से अनमोल हैं. इतनी बड़ी पद्मासन मूर्तियाँ मेरे देखने में अन्यत्र नहीं आई. बावड़ी के बगल में दाहिनी ओर एक विशाल खड्गासन मूर्ति है. उसके नीचे एक विशाल शिलालेख भी लगा हुआ है, जिससे मालूम होता है कि इस मूर्ति की प्रतिष्ठा वि० संवत् १५२५ में तोमर वंशीय राजा डूंगरसिंह के पुत्र कीर्तिसिंह के राज्यकाल में हुई है.

खेद है कि इन सभी मूर्तियों के मुख प्रायः खंडित हैं. यह मुस्लिमयुग के धार्मिक विद्वेष का परिणाम जान पड़ता है. इन मूर्तियों की केवल मुखाकृति को ही नहीं बिगाड़ा गया किन्तु किसी किसी मूर्ति के हाथ-पैर भी खण्डित कर दिये गये हैं. इतना ही नहीं किन्तु विद्वेषियों ने कितनी ही मूर्तियों को गारा-मिट्टी से भी चिनवा दिया था और सामने की विशाल मूर्ति को गारा मिट्टी से छाप कर उसे एक कब्र का रूप भी दे दिया था. परन्तु सितम्बर सन् १८४७ के दंगे के समय उनसे उक्त स्थान की प्राप्ति हुई है.

**संग्रहालय** :—ग्वालियर के किले में एक अच्छा संग्रहालय है जिसमें हिन्दू, जैन और बौद्धों के प्राचीन अवशेषों, मूर्तियों, शिलालेखों और सिक्कों आदि का संग्रह किया गया है. इसमें जैनियों की गुप्तकालीन खड्गासन मूर्ति भी रक्खी हुई है, जो कलात्मक है और दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करती है. इसी में सं० १३१८ का भीमपुर का महत्त्वपूर्ण शिलालेख भी है.

## ग्वालियर के आसपास उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री

**दूब कुण्ड के शिलालेख** :—दूब कुण्ड का दूसरा नाम 'चडोभ' है. यह स्थान किसी समय जैन संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान था. यहाँ कच्छपघट (कछवाहा) वंश के शासकों के समय में भी जैन मंदिर मौजूद थे, और नूतन मन्दिरों का भी निर्माण हुआ था, साथ ही शिलालेख में उल्लिखित लाड-बागड गण के देवसेन, कुलभूषण, दुर्लभसेन, अम्बरसेन और शांतिषेण इन पांच दिगम्बर जैनाचार्यों का समुल्लेख पाया जाता है जो उक्त प्रशस्ति के लेखक एवं शान्तिषेण के शिष्य विजयकीर्ति के पूर्ववर्ती हैं. यदि इन पांचों आचार्यों का समय १२५ वर्ष मान लिया जाय, जो अधिक नहीं है, तो इसे ११४५ में से घटाने पर देवसेन का समय १०२० के लगभग आ जाता है. ये देवसेन अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान थे, और लाड-बागडगण के उन्नत रोहणाद्रि थे, विशुद्ध रत्नत्रय के धारक थे और समस्त आचार्य इनकी आज्ञा को सम-

---

१. बावन गज प्रतिमा दीसती, गढ ग्वालेरि सदा सोभती ॥३॥ —शीलविजय तीर्थमाला पृ० १११
गढ ग्वालेर बावन गज प्रतिमा वंदू ऋषभ रंगरोली जी ॥ —सौभाग्यविजय तीर्थमाला पृ० ९८.

मस्तक हो हृदय में धारण करते थे.[1] उक्त दूवकुण्ड में एक जैन स्तूप पर सं० ११५२ का एक और शिलालेख अंकित है जिसमें सं० ११५२ की वैशाख सुदी ५ को काष्ठासंघ के महान् आचार्य देवसेन की पादुका-युगल उत्कीर्ण है.[2] यह शिलालेख तीन पंक्तियों में विभक्त है. इसी स्तूप के नीचे एक भग्न मूर्ति उत्कीर्ण है जिस पर 'श्रीदेव' लिखा है, जो अधूरा नाम मालूम होता है. पूरा नाम श्री देवसेन रहा होगा. ग्वालियर में भट्टारकों की प्राचीन गद्दी रही है और उसमें देवसेन विमलसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति, यशःकीर्ति, मलयकीर्ति और गुणभद्रादि अनेक भट्टारक हुए हैं. इनमें देवसेन, यशः कीर्ति, गुणभद्र ने अपभ्रंश भाषा में अनेक ग्रंथों की रचना की है.

दूवकुण्ड का यह शिलालेख[3] बड़े महत्त्व का है. कच्छपघट (कछवाहा) वंश के राजा विजयपाल के पुत्र विक्रमसिंह के राज्य में यह लेख लिखा गया है. यह विजयपाल वही हैं जिनका वर्णन बयाना के वि० सं० ११०० के शिलालेख में किया गया है. बयाना दूव कुण्ड से ८० मील उत्तर में है. इस लेख में जैन व्यापारी रिषि और दाहड़ की वंशावली दी है. जायसवंश में सूर्य के समान प्रसिद्ध धनिक सेठ जासूक था, जो सम्यग्दृष्टि था, जिनेन्द्रपूजक था, चार प्रकार के पात्रों को श्रद्धापूर्वक दान देता था. उसका पुत्र जयदेव था, वह भी जिनेन्द्रभक्त और निर्मल चरित्र का धारक था. उसकी यशोमती नामक पत्नी से ऋषि और दाहड दो पुत्र हुए थे. ये दोनों ही धनोपार्जन में कुशल थे. इनमें ज्येष्ठ पुत्र ऋषि को राजा विक्रम ने श्रेष्ठी पद प्रदान किया था. और दाहड ने उच्च शिखर वाला यह सुन्दर मन्दिर बनवाया था. जिस में कूकेक, सूर्यट, देवधर और महीचन्द आदि विवेकी चतुर श्रावकों ने सहयोग दिया था. और राजा विक्रमसिंह ने जिनमंदिर के संरक्षण पूजन और जीर्णोद्धार के लिये दान दिया था.[4] यह लेख जैसवाल जाति के लिये महत्त्वपूर्ण है.

ग्वालियर स्टेट के ऐसे बहुत से स्थान हैं जिनमें जैनियों और बौद्धों तथा हिन्दुओं की पुरातन सामग्री पाई जाती है. भेलसा (विदिशा) वेसनगर, उदयगिरि, बडोह, बरो (बडनगर) मंदसौर, नरवर, ग्यारसपुर सुहानियाँ, गूडर, भीमपुर, पद्मावती, जोरा, चंदेरी, मुरार आदि अनेक स्थान हैं. इनमें से यहाँ उदयगिरि, नरवर और सुहानियां के सम्बन्ध में संक्षिप्त प्रकाश डाला जायगा.

उदयगिरि :—भेलसा जिले में उदयगिरि नामका एक प्राचीन स्थान है. भेलसा से ४ मील दूर पहाड़ी में कटे हुए मंदिर हैं. पहाड़ी पौन मील के करीब लम्बी और ३०० फुट की ऊंचाई को लिये हुए है. यहां गुफाएँ हैं, जिनमें प्रथम और २० वें नम्बर की गुफा जैनियों की है. २० वीं गुफा जैनियों के तेवीसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ की है. उसमें सन् ४२५-४२६ का गुप्तकालीन एक अभिलेख है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है :

"सिद्धों को नमस्कार. श्रीसंयुक्त गुणसमुद्र गुप्तान्वय के सम्राट् कुमारगुप्त के वर्द्धमानराज्य शासन के १०६ वें वर्ष और कार्तिक महीने की कृष्ण पंचमी के दिन गुहाद्वार में विस्तृत सर्पफण से युक्त शत्रुओं को जीतने वाले जिनश्रेष्ठ पार्श्वनाथ जिन की मूर्ति शम-दमवान शंकर ने बनवाई. जो आचार्य भद्रान्वय के भूषण और आर्य कुलोत्पन्न आचार्य गोशर्म मुनि के शिष्य तथा दूसरों द्वारा अजेय रिपुघ्न मानी अश्वपति भट संधिल और पद्मावती के पुत्र शंकर इस नाम से लोक में विश्रुत तथा शास्त्रोक्त यतिमार्ग में स्थित था और वह उत्तर कुरुवों के सदृश उत्तर प्रान्त के श्रेष्ठ देश में उत्पन्न हुआ था, उसके इस पावन कार्य में जो पुण्य हुआ हो वह सब कर्मरूपी शत्रु-समूह के क्षय के लिये हो." वह मूल लेख इस प्रकार है :

१. नमः सिद्धेभ्यः (॥) श्रीसंयुतानां गुणतोयधीनां गुप्तान्वयानां नृपसत्तमानाम्

---

१. आसीद्विशुद्धतरबोधचरित्रदृष्टि : निःशेषसूरिनतमस्तकधारिताज्ञः ।
श्रीलाटवागड गणोन्नतरोहणाद्रि-माणिक्यभूतचरितो गुरुदेवसेनः ॥

२. सं० ११५२ वैशाखसुदि पञ्चम्यां श्री काष्ठा संघ महाचार्यवर्य श्री देवसेन पादुकायुगलम् .

३. See Archaeological Survey of India, V. L. 2, P. 102.

४. एपिग्राफिका इंदिका जिल्द २ पृष्ठ २३२-४०.
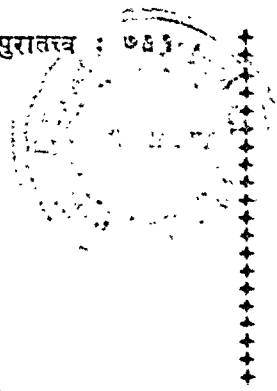
२. राज्ये कुलस्याधि विवर्द्धमाने षड्भियुतैवर्षशतेथ मासे (।।) सुकार्तिके वहुल दिनेय पंचमे
३. गुहामुखे स्फटविकटोत्कटामिमां, जितद्विषो जिनवर पार्श्वसंज्ञिकां, जिनाकृतिं शम-दमवान
४. चीकरत् (।।) आचार्यभद्रान्वयभूषणस्य शिष्यो ह्यसावार्य्यकुलोद्गतस्य आचार्य गोश
५. र्म्म मुनेस्सुतास्तु पद्मवतावश्वपते र्भटस्य (।।) परैरजेयस्य रिपुघ्न मानिनस्स संघिल
६. स्येतिरयभिविश्रुतो भुवि स्वसंज्ञया शंकरनामशब्दितो विधानयुक्तं यतिमार्गमस्थितः (।।)
७. स उत्तराणां सदृशे कुरूणां उदग्दिशा देशवरे प्रसूतः
८. क्षयाय कर्म्मारिगणस्य धीमान् यदत्र पुण्यं तदपाससर्ज्ज (।।) —फ्लीट, गुप्त अभिलेख पृ० २५८.

इस लेख में उल्लिखित आचार्य भद्र और उनके अन्वय में प्रसिद्ध मुनि गोशर्म, कहां के निवासी थे और उनकी गुरु-परम्परा क्या है ? यह कुछ मालूम नहीं हो सका.

**नरवर** :—एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान है. नरवर को 'नलगिरि और नलपुर' भी कहा जाता था.[1] इसका इतिवृत्त ग्वालियर दुर्ग के साथ सम्बन्धित रहा है. विक्रम की १० वीं शताब्दी के अन्त में दोनों दुर्ग कछवाहा राजपूतों के अधिकार में चले गए थे. विक्रम ११८६ में उस पर प्रतिहारों का अधिकार हो गया था. लगभग एक शताब्दी शासन करने के बाद सन् १२३२ में अल्तमश ने ग्वालियर को जीत लिया, तब प्रतिहारों ने नरवर के दुर्ग में शरण ली. विक्रम की १३ वीं शताब्दी के अन्त में दुर्ग को चाहडदेव ने प्रतिहारों से जीत लिया, जो नरवर के राजपूत कहलाते थे. भीमपुर के वि० सं० १३१८ के अभिलेख में इस वंश के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ की हैं. और उसका यज्वपाल नाम सार्थक बतलाया है. तथा कचेरी के सं० १३३९ के शिलालेख में जयपाल से उद्भूत होने से इस वंश को 'जज्जपेल' लिखा है.

नरवर और उसके आस-पास के उपलब्ध शिलालेखों और सिक्कों से ज्ञात होता है कि चाहड देव के वंश में चार राजा हुए हैं. चाहडदेव, नरवर्म देव, आसल्लदेव, गोपालदेव और गणपतिदेव. चाहडदेव ने नलगिरि और अन्य बड़े पुर शत्रुओं से जीत लिये थे. नरवर में इसके जो सिक्के मिले हैं उनमें सं० १३०३ से १३११ तक की तिथि मिलती है. चाहड के नाम का एक लेख सं० १३०० का उदयेश्वर मन्दिर की पूर्वी महराव पर मिलता है, उसमें उसके दान का उल्लेख है. नरवर्म देव भी बड़ा प्रतापी और राजनीतिज्ञ राजा था, जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है :

'तस्मादनेकविधविक्रमलब्धकीर्तिः पुण्यश्रुतिः समभवन्नरवर्मदेवः.'

वि० सं० १३३८ के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि नरवर्म देव ने धार (धारा नगरी) के राजा से चौथ वसूल की थी. यद्यपि इस वंश की परमारों से अनेक छेड़छाड़ होती रहती थी, किन्तु उनमें नरवर्मदेव ने सफलता प्राप्त की थी. नरवर्म देव के बाद इसका पुत्र आसल्लदेव गद्दी पर बैठा. इसके राज्यसमय के दो शिलालेख वि०सं० १३१८ और १३२७ के मिलते हैं. आसल्लदेव के समय उसके सामन्त जैत्रसिंह ने भीमपुर में एक जिनमंदिर का निर्माण कराया था. इस मंदिर की प्रतिष्ठा संवत् १३१८ में नागदेव द्वारा सम्पन्न हुई थी. इसके समय में भी जैन धर्म को पनपने में अच्छा सहयोग मिला था. जैत्रसिंह जैनधर्म का संपालक और श्रावक के व्रतों का अनुष्ठाता था. आसल्लदेवका पुत्र गोपालदेव था. इसके राज्य का प्रारम्भ सं० १३३६ के बाद माना जाता है. इसका चंदेल वंशी राजा वीरवर्मन के साथ युद्ध हुआ था, जिसमें इसके अनेक वीर योद्धा मारे गये थे.

गणपति देव के राज्य का उल्लेख सं० १३५० में मिलता है. यह सं० १३४८ के बाद ही किसी समय राज्याधिकारी

---

१. अस्य प्रतापकनकैरमलैर्यशोभि—र्मुक्ताफलैरखिलभूषणविभ्रमाया ।
पादोनलक्षविषयक्षितिपद्मलाक्ष्या, भास्ते पुरं नलपुरं तिलकायमानम् ।। —भीमपुर शिलालेख १९.
नलगिरि 'का उल्लेख कचेरी वाले अभिलेख में मिलता है. यथा —
'तत्राभवन्नृपतिरप्रतरप्रतापः श्रीचाहडस्त्रिभुवनप्रथमानकीर्तिः ।
दोर्दण्डचंडिमभरेण पुरः परेभ्यो येनाहृता नलगिरिप्रमुखा गरिष्ठाः ।।' —कचेरी, शिलालेख सं० १३३९.

हुआ होगा. सं० १३५५ के अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसने चन्देरी के दुर्ग पर विजय प्राप्त की थी, क्योंकि सं० १३५६-५७ के सतीस्तंभों में इसके राज्य का उल्लेख है. जान पड़ता है कि मुसलमानों की विजयवाहिनी से चाहडदेव का वंश समाप्त हो गया.

जैनत्व की दृष्टि से नरवर के किले में अनेक जैन मूर्तियाँ खंडित-अखंडित अवस्था में प्राप्त हैं. किले में इस समय ४ मूर्तियाँ अखंडित हैं जिनपर १२१३ से १३४८ तक के लेख पाये जाते हैं.

१. 'सं० १२१३ असाढ़ सुदि ६. २. सं० १३१६ ज्येष्ठ वदी ५ सोमे. ३. सं० १३४० वैशाख वदी ७ सोमे. ४. सं० १३४८ वैशाखसुदी १५ शनौ'.

ये सब मूर्तियाँ सफेद संगमर्मर पाषाण की हैं. खंडित मूर्तियों की संख्या अधिक पाई जाती है. नगर में भी अच्छा मन्दिर है और जैनियों की वस्ती भी है. नगर के आस-पास के ग्रामों आदि में भी जैन अवशेष पाये जाते हैं. जिससे वहां जैनियों के अतीत गौरव का पता चलता है.

नरवर से ३ मील की दूरी 'भीमपुर' नामका एक ग्राम है. जहाँ जज्जयेल वंशी राजा आसल्लदेव के एक जैन सामन्त जैत्रसिंह रहते थे. उन्होंने जिनभक्ति से प्रेरित होकर वहाँ एक विशाल जैन मन्दिर बनवाया था. और उस पर २३ पंक्त्यात्मक करीब ६०-७० श्लोकों के परिमाण को लिये हुए विशाल शिलालेख लगवाया था, जो अब ग्वालियर पुरातत्त्व विभाग के संग्रहालय में मौजूद है. इस लेख में उक्त वंश के राजाओं का उल्लेख है, जैत्रसिंह की धार्मिक परिणति का भी वर्णन है, और नागदेव द्वारा उसकी प्रतिष्ठा के सम्पन्न होने का उल्लेख है. सं० १३१८ का यह शिलालेख अभी तक पूरा प्रकाशित नहीं हुआ. यह लेख जैनियों के लिये महत्त्वपूर्ण है. पर ऐसे कार्यों में जैन समाज का योगदान नगण्य है.

सुहानियां—यह स्थान भी पुरातन काल में जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है और वह ग्वालियर से उत्तर की ओर २० मील, तथा कटवर से १४ मील उत्तर-पूर्व में अहसन नदी के उत्तरीय तट पर स्थित है. कहा जाता है कि यह नगर पहले खूब समृद्ध था और बारह कोश जितने विस्तृत मैदान में आवाद था. इसके चार फाटक थे,जिनके चिह्न आज भी उपलब्ध होते हैं. सुना जाता है कि इस नगर को राजा सूरसेन के पूर्वजों ने बसाया था. कनिंघम साहब को यहाँ वि० सं० १०१३, १०३४ और १४६७ के मूर्तिलेख प्राप्त हुए थे.

इस लेख में मध्यभारत के कुछ स्थानों के जैन पुरातत्त्व का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है. उज्जैनी, धारा नगरी और इनके मध्यवर्ती भूभाग अर्थात् समूचे मालव प्रदेश का जो जैन संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है, परिचय देने में एक बड़ा ग्रन्थ बन जायगा.
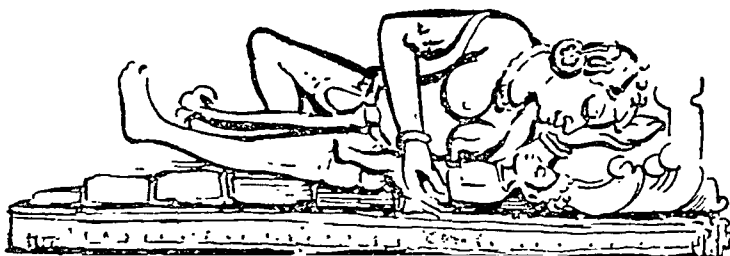
# भाषा और साहित्य

## चतुर्थ अध्याय

मुनि श्रीपुण्यविजयजी महाराज

# जैन आगमधर और प्राकृत वाङ्मय

[प्रस्तुत निबन्ध के रचयिता मुनि श्रीपुण्यविजयजी महाराज जैनागमसाहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व के साथ ही संस्कृत, प्राकृत भाषाओं के तलस्पर्शी विद्वान् हैं, यह महत्त्वपूर्ण जानकारी देने वाला निबन्ध सन् १९६१ में श्रीनगर (कश्मीर) में हुई अखिल भारतीय प्राच्यविद्यापरिषद् के प्राकृत और जैनधर्म विभाग के अध्यक्ष पद से प्रस्तुत किया गया आपका अभिभाषण है जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ था. मुनिश्री द्वारा किये गये कतिपय संशोधनों और परिवर्धनों के साथ यह यहां प्रकाशित किया जा रहा है.—सम्पादक]

## जैन आगमधर स्थविर और आचार्य

जैनागमों में वर्त्तमान में उपलभ्यमान द्वादश अंगों की सूत्ररचना कालक्रम से भगवान् गणधर ने की. वीर-निर्वाण के बाद प्रारम्भिक शताब्दियों में इन आगमों का पठन-पाठन पुस्तकों के आधार पर नहीं, अपितु गुरुमुख से होता था. ब्राह्मणों के समान पढ़ने-पढ़ाने वालों के बीच पिता-पुत्र के सम्बन्ध की सम्भावना तो थी ही नहीं. वैराग्य से दीक्षित होने वाले व्यक्ति अधिकांशतया ऐसी अवस्था में होते थे, जिन्हें स्वाध्याय की अपेक्षा बाह्य तपस्या में अधिक रस मिलता था. अतएव गुरु-शिष्यों का अध्ययन-अध्यापनमूलक सम्बन्ध उत्तरोत्तर विरल होना स्वाभाविक था, जैन आचार की मर्यादा भी ऐसी थी कि पुस्तकों का परिग्रह भी नहीं रखा जा सकता था. ऐसी दशा में जैनश्रुत का उत्तरोत्तर विच्छेद होना आश्चर्य की बात नहीं थी. उसकी जो रक्षा हुई वही आश्चर्य की बात है. इस आश्चर्यजनक घटना में जिन श्रुतधर आचार्यों का विशेष योगदान रहा है, जिन्होंने न केवल मूल सूत्रपाठों को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया अपितु उन सूत्रों की अर्थवाचना भी दी, जिन्होंने निर्युक्ति आदि विविध प्रकार की व्याख्याएं भी कीं, एवं आनेवाली संतति के लिए श्रुतनिधिरूप महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति विरासत रूप से दे गये, उन अनेक श्रुतधरों का परिचय देने का प्रयत्न करूंगा. इन श्रुतधरों में से कुछ तो ऐसे हैं जिनका नाम भी हमारे समक्ष नहीं आया है. यद्यपि यह प्रयत्नमात्र है—पूर्ण सफलता मिलना कठिन है, तथापि मैं आपको कुछ नई जानकारी करा सका तो अपना प्रयत्न अंशतः सफल मानूंगा.

(१) सुधर्मस्वामी (वीर नि० ८ में दिवंगतः)—आचार आदि जो अंग उपलब्ध हैं वे सुधर्मस्वामी की वाचनानुगत माने जाते हैं. तात्पर्य यह है कि इन्द्रभूति आदि गणधरों की शिष्यपरम्परा अन्ततोगत्वा सुधर्मस्वामी के शिष्यों के साथ मिल गई है. उसका मूल सुधर्मस्वामी की वाचना में माना गया है. भगवती जैसे आगमों में यद्यपि भगवान् महावीर और इन्द्रभूति गौतम के बीच हुए संवाद आते हैं किन्तु उन संवादों की वाचना सुधर्मा ने अपने शिष्यों को दी जो परम्परा से आज उपलब्ध है—ऐसा मानना चाहिए, क्योंकि आगमों के टीकाकारों ने एक स्वर से यही अभिप्राय व्यक्त किया है कि तत्तत् आगम की वाचना सुधर्मा ने जम्बू को दी.

यद्यपि सुधर्मा की अंगों की वाचना का अविच्छिन्न रूप आज तक सुरक्षित नहीं रहा है फिर भी जो भी सुरक्षित है उसका सम्बन्ध सुधर्मा से जोड़ा जाता है, यह निर्विवाद है. गणधरों के वर्णनप्रसंग में सुधर्मा की जो प्रशंसा आती है उसे स्वयं सुधर्मा तो कर नहीं सकते, यह स्पष्ट है. अतएव तत्तत् सूत्रों के प्रारम्भिक भाग की रचना में आगमों के विद्यमान रूप के संकलनकर्ता का हाथ रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं.

(२) शय्यंभव (वीर नि० ८३ में दिवंगत :)—अपने पुत्र मनक के लिए दशवैकालिक की रचना कर इन्होंने जैन श्रमणों के आचार का आचारांग के बाद एक नया सीमास्तम्भ डाला है, इसकी रचना के बाद इतना महत्त्व बढ़ा कि जैन श्रमणों को प्रारम्भ में जो आचारांगसूत्र पढ़ाया जाता था उसके स्थान पर यही पढ़ाया जाने लगा (व्यवहारभाष्य० उ० ३, गा० १७६) इतना ही नहीं, पहले जहाँ आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन के बाद श्रमण उपस्थापना का अधिकारी होता था वहाँ अब दशवैकालिक के चौथे षड्जीवनिकाय नामक अध्ययन के बाद उपस्थापना के योग्य समझा गया (वही गा०. १७४). पहले जहाँ आचारांग के द्वितीय अध्ययन के पंचम उद्देशगत आमगंध सूत्र के अध्ययन के बाद श्रमण पिण्डकल्पी होता था वहाँ अब दशवैकालिक के पंचम पिण्डैषणा नामक अध्ययन की वाचना के बाद श्रमण पिण्डकल्पी होने लगा (वही, गा० १७५).

दशवैकालिकसूत्र दिगम्बरों (सर्वार्थसिद्धि १-२०) एवं यापनीयों को भी बहुत समय तक समान रूप से मान्य रहा है, यह भी इसकी विशेषता है.

(३) प्रादेशिक आचार्य—जिनके नाम का तो पता नहीं किन्तु जो विभिन्न देशों में आगमों की प्रवर्त्तमान व्याख्याओं के प्रवर्तक रहे उनका परिचय तत्तद्देश-प्रदेश से सम्बद्ध रूप से मिलता है. अतएव मैंने उन्हें "प्रादेशिक आचार्य" की संज्ञा दी है.

सूत्रकृतांग की चूर्णिमें (पत्र. ६०) 'पूर्वदिग्निवासिनामाचार्याणामर्थः. प्रतीच्या-ऽपरदिग्निवासिनस्त्वेवं कथयन्ति' इस प्रकार पौरस्त्य पाश्चात्य एवं दाक्षिणात्य आचार्यों का उल्लेख पाया जाता है.

व्यवहारसूत्र की चूर्णि में "एके आचार्या लाटा एवं ब्रुवतेण्हा—णविवज्जं वरगोवच्छं कीरति. अपरे आचार्या दाक्षिणात्या ब्रुवते—युगलं णियंसाविज्जति" इस प्रकार दाक्षिणात्य और लाटदेश में विचरने वाले आचार्यों का उल्लेख मिलता है. कल्पचूर्णि एवं निशीथचूर्णि में (भाग २ पत्र० १३४) भी लाटाचार्य का उल्लेख प्राप्त होता है. यहाँ लाटदेश भगवान् महावीर के विहार में वर्णित लाढदेश नहीं, किन्तु गुजरात में महानदी और दमण के बीच के प्रदेश को समझना चाहिए, जिसके प्रमुख नगर भृगुकच्छ (भरुच) और दर्भावती (डभोई) आदि थे. भारतीय विद्याभवन के आचार्य पद्मश्री मुनि-जिनविजयजी सम्पादित पुस्तकप्रशस्ति संग्रह पृष्ठ १०७ प्रशस्तिक्रमांक ६९ आदि में "श्री वोसरि लाटदेशमण्डले मही-दमुनयोरन्तराले समस्तव्यापारान् परिपन्थयति" इत्यादि उल्लेख भी पाये जाते हैं. जिनागमविषमपदपर्याय में पंचकल्प के विषमपदपर्याय में "लाडपरिवाडीए लाडवाचनायामित्यर्थः" ऐसा उल्लेख है. इसी प्रकार इसी ग्रन्थ में निशीथसूत्र के विषमपदपर्याय में "लाडाचार्याभिप्रायात्. माथुराचार्याभिप्रायेण परओ राईए चिन्ताऽस्माकम्" इस तरह माथुराचार्य का भी उल्लेख पाया जाता है.

इसी तरह षट्खण्डागम की धवला टीका में उत्तरप्रतिपत्ति व दक्षिणप्रतिपत्ति रूप से जो दो प्रकार की प्रतिपत्तियों का उल्लेख है वह भी मूलतः तत्तत्प्रदेश के आचार्यों को विशेष रूप से मान्य होने वाली परम्परा का ही निर्देश है (षट्-खण्डागम भा० १ भूमिका-पृ० ५७ तथा भा० ३ भूमिका पृ० १५). धवलाकार ने इनका जो अर्थ किया है वह इस प्रकार है; "एसा दक्खिणपडिवत्ती । दक्खिणं उज्जुवं आयरियपरम्परागदमिदि एयट्ठो ।।.... ..........एसा उत्तरपडि-वत्ती. उत्तरमणुज्जुवं आयरियपरम्पराए णागदमिदि एयट्ठो ।।"—षट्खण्डागमः धवला, भा० ५, पृ० ३२. इससे प्रतीत होता है कि धवलाकार के समक्ष दक्षिणप्रतिपत्ति की मान्यता परम्परागत थी जब कि उत्तरप्रतिपत्ति परम्परागत नहीं थी.

(४) पांच सौ आदेशों के स्थापक—स्थविर आर्य भद्रबाहुस्वामी ने आवश्यकनिर्युक्ति की १०२३ वीं गाथा में "पंच-सयादेसवयणं व" इस गाथांश से पांच सौ आदेशों का निर्देश किया है. आवश्यकचूर्णिकार श्री जिनदासमहत्तर तथा वृत्तिकार श्री हरिभद्रसूरि ने "पांच सौ आदेश" के विषय में लिखा है; "अरिहप्पवयणे पंच आदेससताणि. ण वि अंगे ण वि उवंगे पाढो अत्थि एवं—मरुदेवा अणादि-वणस्सइकाइया अणंतरं उव्वट्टित्ता सिद्धत्ति १। तहा सयंभूरमण-मच्छाण पउमपत्ताण य सव्वसंठाणाणि वलयसंठाणं मोत्तुं २ । करड-उक्करडा य कुणालाए एते जधा तधा भणामि-करड-

उक्करडाण निद्धमणमूले वसही, देवयागुकंपणं, रुट्ठेसु पन्नरसदिवसवरिसणं कुणालाणगरिविणासो, ततो ततियवरिसे साराए णगरे दोण्ह वि कालकरणं, अहेसत्तमपुढविकालणरगगमणं, कुणालाणगरिविणासकालाओ तेरसमे वरिसे महावीरस्स केवलनाणुप्पत्ती ३. एयं अबद्धं." (आवश्यकचूर्णि भा० १ पृष्ठ ६०१; हरिभद्रवृत्ति पत्र. ४६५) अर्थात् जिन हकीकतों का उल्लेख किसी अंग या उपांग आदि में नहीं मिलता है किन्तु जो स्थविर आचार्यों के मुखोपमुख चली आई हैं उनका संग्रह "पांच सौ आदेश" कहलाता है. इन पांच सौ आदेशों का कोई संग्रह आज उपलब्ध नहीं है किन्तु आवश्यकचूर्णि, वृत्ति आदि इधर-उधर विप्रकीर्णरूप में कुछ-कुछ आदेशों का उल्लेख पाया जाता है (पत्र ४६५ तथा बृहत्कल्पसूत्र-वृत्ति भा० १ पत्र. ४४ टि०६).

(५) सैद्धान्तिक, कार्मग्रन्थिकादि—जैन आगमों की परम्परा को मानने वाले आचार्य सैद्धान्तिक कहलाते हैं. कर्मवाद के शास्त्रों के पारम्पर्य को माननेवाले आचार्य कार्मग्रन्थिक कहे जाते हैं. तर्कशास्त्र की पद्धति से आगमिक पदार्थों का निरूपण करने वाले स्थविर तार्किक माने गये हैं. जैन आगम आदि शास्त्रों में स्थान-स्थान पर इनका उल्लेख किया गया है.

भिन्न-भिन्न कुल, गण आदि की परम्पराओं में जो-जो व्याख्याभेद एवं सामाचारीभेद अर्थात् आचारभेद थे उनका तत्तत् कुल, गण आदि के नाम से "नाइलकुलिच्चयाणं आयाराओ आढवेत्ता जाव दसातो ताव णत्थि आयंबिलं, णिव्वीतिएणं पढंति" (व्यवहारचूर्णि) इस प्रकार देखा जाता है.

(६) भद्रबाहुस्वामी—(वीर नि० १७० में दिवंगत:)—अन्तिम श्रुतकेवली के रूप में प्रसिद्ध ये आचार्य अपनी अन्तिम अवस्था में जब ध्यान करने के लिए नेपालदेश में गये थे तब वीर संवत् १६० में श्रुत को व्यवस्थित करने का सर्व-प्रथम प्रयत्न पाटलीपुत्र में हुआ था, ऐसी परम्परा है. ग्यारह अंगों के ज्ञाता तो संघ में विद्यमान थे किन्तु बारहवें अंग का ज्ञाता पाटलीपुत्र में कोई न था. अतएव संघ की आज्ञा शिरोधार्य कर आचार्य भद्रबाहु ने कुछ श्रमणों को बारहवें अंग की वाचना देना स्वीकार किया, किन्तु सीखने वाले श्रमण श्रीस्थूलभद्र के कुतूहल के कारण बारहवां अंग समग्रभाव से सुरक्षित न रह सका. उसके चौदह पूर्वों में से केवल दस पूर्वों की ही परम्परा स्थूलभद्र के शिष्यों को मिली. इस प्रकार आचार्य भद्रबाहु के बाद कोई श्रुतकेवली नहीं हुआ किन्तु दस पूर्वों की परम्परा चली अर्थात् बारह अंगों में से चार पूर्व जितना अंश विच्छिन्न हुआ. यहीं से उत्तरोत्तर विच्छेदन की परम्परा बढ़ी. अन्ततोगत्वा बारहवां अंग ही लुप्त हो गया, एवं अंगों में केवल ग्यारह अंग ही सुरक्षित रहे. ग्यारह अंगों में से भी जो प्रश्नव्याकरणसूत्र अभी उप-लब्ध है वह किसी नई ही वाचना का फल है क्योंकि समवायांग, नन्दी आदि आगमों में इसका जो परिचय मिलता है उससे यह भिन्न ही रूप में उपलब्ध है.

आचार्य भद्रबाहु ने दशा, कल्प और व्यवहार इन तीन ग्रन्थों की रचना की, यह सर्वसम्मत है किन्तु इन्होंने निशीथ की भी रचना की ऐसा उल्लेख केवल पंचकल्प-चूर्णिकारने ही किया है. फिर भी आज निशीथसूत्रकी खंभात के श्रीशांति-नाथ ज्ञान-भण्डार की वि० सं० १४३० में लिखी हुई प्रति में तथा वैसी अन्य प्रतियों में इसके प्रणेता का नाम विसा-खगणि महत्तर बताया गया है. वह उल्लेख इस प्रकार है :

दंसण-चरित्तजुत्तो गुत्तो गोत्तीसु सज्जणहिएसी ।
णामेण विसाहगणी महतरओ णाणमंजूसा ॥१॥

कित्ती-कंतिपिणद्धो जसपत्तपडहो (?) तिसागरणिरुद्धो ।
पुणरुत्तं भमति महिं ससिव्व गगणंगणं तस्स ॥२॥

तस्स लिहियं निसीहं धम्मधुराधरणपवरपुज्जस्स ।
आरोगधारणिज्जं सिस्स-पसिस्सोवभोज्जं च ॥३॥

दिगम्बर परम्परा में धवला के अनुसार १४ अंगबाह्य अर्थाधिकार हैं. इनमें कल्प और व्यवहार को मूल माना गया है

तथा निशीथ को अलग स्थान दिया गया है. इससे यह तो स्पष्ट होता है कि कल्प, व्यवहार और निशीथ की अंगवाह्य अर्थाधिकार की परम्परा चली आती थी.

भद्रवाहुकृत कल्प-व्यवहार जिस रूप में आज श्वेताम्वरपरम्परा में मान्य हैं उसी रूप में दिगम्बर परम्परा में उल्लिखित अंगवाह्य कल्पादि मान्य थे या उससे भिन्न-यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, किन्तु उनका जो विषय वताया गया है वही विषय उपलब्ध भद्रवाहुकृत कल्पादि में विद्यमान है. दोनों परम्पराओं के मत से स्थविरकृत रचानाएं अंगवाह्य मानी जाती रही हैं. भद्रवाहु तक श्वेताम्वर दिगम्वर का मतभेद स्पष्ट नहीं था. इन तथ्यों के आधार पर संभावना की जा सकती है कि कल्प-व्यवहार के जिन अर्थाधिकारों का उल्लेख धवला में है उन अर्थाधिकारों का सूत्रात्मक व्यवस्थित संकलन सर्वप्रथम आचार्य भद्रवाहु ने किया और वह संघ को मान्य हुआ. इस दृष्टि से धवला में उल्लिखित कल्प-व्यवहार और निशीथ तथा उपलब्ध कल्प-व्यवहार और निशीथ में भेद मानने का कोई कारण नहीं है. फिर भी दोनों की एकता का निश्चयपूर्वक विधान करना कठिन है.

आचार्य भद्रवाहु की जो विशेषता है वह यह है कि इन्होंने अपने उक्त ग्रंथों में उत्सर्ग और अपवादों की व्यवस्था की है. इतना ही नहीं किन्तु व्यवहारसूत्र में तो अपराधों के दण्ड की भी व्यवस्था की गई है. ऐसी दण्डव्यवस्था एवं आचार्य आदि पदवी की योग्यता आदि के निर्णय सर्वप्रथम इन्हीं के ग्रंथों में मिलते हैं. संघ ने ग्रंथों को प्रमाणभूत माना यह आचार्य भद्रवाहु की महत्ता का सूचक है. श्रमणों के आचार के विषय में दशवैकालिक के वाद दशा-कल्प आदि ग्रंथ दूसरा सीमास्तम्भ है. साथ ही एक वार अपवाद की शुरूआत होने पर अन्य भाष्यकारों व चूर्णिकारों ने भी उत्तरोत्तर अपवादों में वृद्धि की. संभव है कि इसी अपवाद-मार्ग को लेकर संघ में मतभेद की जड़ दृढ होती गई और आगे चल कर श्वेताम्वर-दिगम्वर का सम्प्रदाय-भेद भी दृढ हुआ.

वृहत्कल्प-भाष्य भा० ६ की प्रस्तावना में मैंने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि उपलब्ध निर्युक्तियों के कर्त्ता श्रुतकेवली भद्रवाहु नहीं है किन्तु ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के भ्राता द्वितीय भद्रवाहु हैं जो विक्रम की छठी शताव्दी में हुए हैं. अपने इस कथन का स्पष्टीकरण करना यहाँ उचित है. जव मैं यह कहता हूं कि उपलब्ध निर्युक्तियाँ द्वितीय भद्रवाहु की हैं, श्रुतकेवली भद्रवाहु की नहीं तव इसका तात्पर्य यह नहीं कि श्रुतकेवली भद्रवाहु ने निर्युक्तियों की रचना की ही नहीं. मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि जिस अन्तिम संकलन के रूप में आज हमारे समक्ष निर्युतियाँ उपलब्ध हैं वे श्रुतकेवली भद्रवाहु की नहीं है. इसका अर्थ यह नहीं कि द्वितीय भद्रवाहु के पूर्व कोई निर्युक्तियाँ थीं ही नहीं. निर्युक्ति के रूप में आगमव्याख्या की पद्धति वहुत पुरानी है. इसका पता हमें अनुयोगद्वार से लगता है. वहां स्पष्ट कहा गया कि अनुगम दो प्रकार का होता है : सुत्ताणुगम और निज्जुत्तिअणुगम. इतना ही नहीं किन्तु निर्युक्तिरूप से प्रसिद्ध गाथाएं भी अनुयोगद्वार में दी गई हैं. पाक्षिकसूत्र में भी "सनिज्जुत्तिए" ऐसा पाठ मिलता है. द्वितीय भद्रवाहु के पहले भी गोविन्द वाचक की निर्युक्ति का उल्लेख निशीथभाष्य व चूर्णि में मिलता है. इतना ही नहीं किन्तु वैदिकवाङ्मय में भी निरुक्त अति प्राचीन है. अतएव यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जैनागम की व्याख्या का निर्युक्ति नामक प्रकार प्राचीन है. यह संभव नहीं कि विक्रम की छठी शताव्दी तक आगमों की कोई व्याख्या निर्युक्ति के रूप में हुई ही न हो. दिगम्वरमान्य मूलाचार में भी आवश्यक-निर्युक्तिगत कई गाथाएं हैं. इससे भी पता चलता है कि श्वेताम्वर-दिगम्वर सम्प्रदाय का स्पष्ट भेद होने के पूर्व भी निर्युक्ति की परम्परा थी. ऐसी स्थिति में श्रुतकेवली भद्रवाहु ने निर्युक्तियों की रचना की है—इस परम्परा को निर्मूल मानने का कोई कारण नहीं है. अतः यही मानना उचित है कि श्रुतकेवली भद्रवाहु ने भी निर्युक्तियों की रचना की थी और वाद में गोविन्द वाचक जैसे अन्य आचार्यों ने भी. उसी प्रकार क्रमशः वढ़ते-वढ़ते निर्युक्तियों का जो अन्तिम रूप हुआ वह द्वितीय भद्रवाहु का है. अर्थात् द्वितीय भद्रवाहु ने अपने समय तक की उपलब्ध निर्युक्ति-गाथाओं का अपनी निर्युक्तियों में संग्रह किया हो, साथ ही अपनी ओर से भी कुछ नई गाथाएं बना कर जोड़ दीं. यही रूप आज हमारे सामने निर्युक्ति के नाम से उपलब्ध है. इस तरह क्रमशः निर्युक्ति-गाथाएं वढ़ती गई. इसका एक प्रवल प्रमाण यह है कि दशवैकालिक की दोनों चूर्णियों

में प्रथम अध्ययन की केवल ५७ निर्युक्ति गाथाएं हैं जब कि हरिभद्र की वृत्ति में १५७ हैं. इससे यह भी सिद्ध होता है कि द्वितीय भद्रबाहु ने निर्युक्तियों का अन्तिम संग्रह किया. उसके बाद भी उसमें वृद्धि होती रही है. इस स्पष्टीकरण के प्रकाश में यदि हम श्रुतकेवली भद्रबाहु को भी निर्युक्तिकार मानें तो अनुचित न होगा.

(७) श्यामाचार्य : (वीर नि० ३७६ में दिवंगत:)—इन्होंने प्रज्ञापना उपांगसूत्र की रचना की है. प्रज्ञापनासूत्र के "वायगवरवंसाओ तेवीसइमेण धीरपुरिसेण" इस प्रारंभिक उल्लेख के अनुसार ये वाचकवंश के २३ वें पुरुष थे.

(८,९,१०) आर्य सुहस्ति (वी. नि. २९१) आर्यसमुद्र : (वी. नि. ४७०) और आर्य मंगु (वी. नि. ४७०)—इन तीन स्थविरों की कोई खास कृति हमारे सामने नहीं है, किन्तु जैन आगमों में, खासकर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि में नाम-स्थापना आदि निक्षेप द्वारा पदार्थमात्र का जो समग्रभाव से प्रज्ञापन किया जाता है इसमें जो द्रव्य-निक्षेप आता है इस विषय में इन तीन स्थविरों की मान्यता का उल्लेख कल्पचूर्णि में किया गया है :—

"किंच आदेसा जहा—अज्जमंगू तिविहं संखं इच्छति, एगभवियं बद्धाउयं अभिमुहनाम-गोत्तं च. अज्जसमुद्दा दुविहं, बद्धाउयं अभिमुहनाम-गोत्तं च. अज्जसुहत्थी एगं अभिमुहणाम-गोयं इच्छति" ये तीन महापुरुष जैन आगमों के श्रेष्ठ ज्ञाता एवं माननीय स्थविर थे.

(११) पादलिप्ताचार्य : (वीर नि. ४६७ के आसपास)—इन आचार्य ने तरंगवई नामक प्राकृत-देशी भाषामयी अति रसपूर्ण आख्यायिका की रचना की है. यह आख्यायिका आज प्राप्त नहीं है किन्तु हारिजगच्छीय आचार्य यश (?) रचित प्राकृत गाथाबद्ध इसका संक्षेप प्राप्त है. डा० अर्न्स्ट लॉयमान ने इस संक्षेप में समाविष्ट कथांश को पढ़कर इसका जर्मन में अनुवाद किया है. यही इस आख्यायिका की मधुरता की प्रतीति है. दाक्षिण्यक उद्योतनसूरि, महाकवि धनपाल आदि ने इस रचना की मार्मिक स्तुति की है. इन्हीं आचार्य ने ज्योतिष्करंडकशास्त्र की प्राकृत टिप्पनकल्प छोटी सी वृत्ति लिखी है. इसका उल्लेख आचार्य मलयगिरि ने अपनी सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्ति में (पत्र ७२ व १००) और ज्योतिष्करंडक-वृत्ति में (पत्र ५२, १२१,२३७) किया है. यद्यपि आचार्य मलयगिरि ने ज्योतिष्करंडक-वृत्ति को पादलिप्ताचार्यनिर्मित बतलाया है किन्तु आज जैसलमेर और खंभात में पंद्रहवीं शती में लिखी गई मूल और वृत्ति सहित मूल की जो हस्तप्रतियाँ प्राप्त हैं उन्हें देखते हुए आचार्य मलयगिरि के कथन को कहाँ तक माना जाय, यह मैं तज्ज्ञ विद्वानों पर छोड़ देता हूँ. उपर्युक्त मूलग्रन्थ एवं मूलग्रन्थसहित वृत्ति के अंत में जो उल्लेख हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं :—

कालण्णाणसमासो पुव्वायरिएहिं वण्णिओ एसो ।
दिणकरपण्णत्तीतो सिस्सजणहिओ सुहोपायो ॥
पुव्वायरियकयाणं करणाणं जोतिसम्मि समयम्मि ।
पालित्तकेण इणमो रइया गाहाहिं परिवाडी ॥ —ज्योतिष्करण्डक प्रान्त भाग.

कालण्णाणसमासो पुव्वायरिएहिं नीणिओ एसो ।
दिणकरपण्णत्तीतो सिस्सजणहिओ पिओ ......॥
पुव्वायरियकयाय नीतिसमसमएणं ।
पालित्तएण इणमो रइया गाहाहिं परिवाडी ॥

॥ णमो अरहंताण ॥

कालण्णाणस्सिणमो वित्ती णामेण चंद [....] त्ति ।
सिवनंदिवायगेहिं तु रोयिगा जिणदेवगणिहेतुं (?) ॥ ॥ ग्रं० १५८८ ॥
—ज्योतिष्करंडकवृत्ति प्रान्त भाग.

इन दोनों उल्लेखों से तो ऐसा प्रतीत होता है कि—मूल ज्योतिष्करंडकप्रकीर्णक के प्रणेता पादलिप्ताचार्य हैं और उनकी वृत्ति, जिसका नाम 'चन्द्र' है, शिवनन्दी वाचक की रचना है. आचार्य मलयगिरि ने जो सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्ति एवं ज्योतिष्करंडक-

वृत्ति में इस वृत्ति के प्रणेता पादलिप्त को कहा है. संभव है, आचार्य मलयगिरि के पास कोई अलग कुल की प्रतियाँ आई हों जिनमें मूलसूत्र और वृत्ति का आदि-अन्तिम भाग छूट गया हो. जैसलमेर के ताडपत्रीय संग्रह की ज्योतिष्करण्डक मूलसूत्र की प्रति में इसका आदि और अन्त का भाग नहीं है. आचार्य मलयगिरि को ऐसे ही कुल की कोई खंडित प्रति मिली होगी जिस से अनुसन्धान कर के उन्होंने अपनी वृत्ति की रचना की होगी. इन आचार्य ने 'शत्रुंजयकल्प' की भी रचना की है. नागार्जुनयोगी इनका उपासक था. इसने इन्हीं आचार्य के नाम से शत्रुंजयमहातीर्थ की तलहटी में पादलिप्तनगर [पालीताणा] वसाया था, ऐसी अनुश्रुति जैनग्रन्थों में पाई जाती है.

(११) आर्यरक्षित (वीर नि० ५८४ में दिवंगत:)—स्थविर आर्य वज्रस्वामी इनके विद्यागुरु थे. ये जैन आगमों के अनुयोग का पृथक्त्व-भेद करनेवाले, नयों द्वारा होने वाली व्याख्या के आग्रह को शिथिल करनेवाले और अनुयोगद्वारसूत्र के प्रणेता थे. प्राचीन व्याख्यान-पद्धति को इन्होंने अनुयोगद्वारसूत्र की रचना द्वारा शास्त्रबद्ध कर दिया है. ये श्री दुर्वलिका पुष्यमित्र, विन्ध्य आदि के दीक्षागुरु एवं शिक्षागुरु थे.

यहाँ पर प्रसंगवश अनुयोग का पृथक्त्व क्या है, इसका निर्देश करना उचित होगा.

## अनुयोगका पृथक्त्व

कहा जाता है कि प्राचीन युग में जैन गीतार्थ स्थविर जैन आगमों के प्रत्येक छोटे-बड़े सूत्रों की वाचना शिष्यों को चार अनुयोगों के मिश्रण से दिया करते थे. उनका इस वाचना या व्याख्या का क्या ढंग था, यह कहना कठिन है फिर भी अनुमान होता है कि उस व्याख्या में—(१)चरणकरणानुयोग—जीवन के विशुद्ध आचार, (२) धर्मकथानुयोग—विशुद्ध आचार का पालन करनेवालों की जीवन-कथा,(३) गणितानुयोग—विशुद्ध आचार का पालन करनेवालों के अनेक भूगोल-खगोल के स्थान और (४) द्रव्यानुयोग—विशुद्ध जीवन जीने वालों की तात्त्विक जीवन-चिन्ता क्या व किस प्रकार की हो, इसका निरूपण रहता होगा और वे प्रत्येकसूत्र की नया, प्रमाण व भंगजाल से व्याख्या कर उसके हार्दको कई प्रकार से विस्तृत कर बताते होंगे. समय के प्रभाव से बुद्धिबल व स्मरणशक्ति की हानि होनेपर क्रमशः इस प्रकारके व्याख्यान में न्यूनता आती ही गई जिसका साक्षात्कार स्थविर आर्य कालक द्वारा अपने प्रशिष्य सागरचन्द्र को दिये गये धूलिपुंज के उदाहरणसे हो जाता है. जैसे धूलिपुंज को एक जगह रखा जाय, फिर उसको उठाकर दूसरी जगह रखा जाय, इस प्रकार उसी धूलिपुंज को उठा-उठाकर दूसरी-दूसरी जगह पर रखा जाय. ऐसा करने पर शुरू का बड़ा धूलिपुंज अन्त में चुटकी में भी न आवे, ऐसा हो जाता है. इसी प्रकार जैन आगमोंका अनुयोग अर्थात् व्याख्यान कम होते-होते परम्परासे बहुत संक्षिप्त रह गया. ऐसी दशामें बुद्धिबल एवं स्मरणशक्ति की हानि के कारण जब चतुरनुयोग का व्याख्यान दुर्घट प्रतीत हुआ तब स्थविर आर्यरक्षितने चतुरनुयोगके व्याख्यानके आग्रहको शिथिल कर दिया. इतना ही नहीं, उन्होंने प्रत्येक सूत्र की जो नयों के आधार से तार्किक विचारणा आवश्यक समझी जाती थी उसे भी वैकल्पिक कर दिया. श्रीआर्यरक्षित के शिष्य प्रशिष्यों का समुदाय संख्यामें वडा था. उनमें जो विद्वान् शिष्य थे उन सबमें दुर्वलिका पुष्यमित्र अधिक बुद्धिमान् एवं स्मृतिशाली थे. वे कारणवशात् कुछ दिन तक स्वाध्याय न करनेके कारण ११ अंग, पूर्वशास्त्र आदिको और उनकी नयगर्भित चतुरनुयोगात्मक व्याख्या को विस्मृत करने लगे. इस निमित्त को पाकर स्थविर आर्यरक्षित ने सोचा कि ऐसा बुद्धिस्मृतिसम्पन्न भी यदि इस अनुयोगको भूल जाता है तो दूसरेकी तो बात ही क्या ? ऐसा सोचकर उन्होंने चतुरनुयोग के स्थान पर सूत्रों की व्याख्या में उनके मूल विषय को ध्यान में रखकर किसी एक अनुयोग को ही प्राधान्य दिया और नयों द्वारा व्याख्या करना भी आवश्यक नहीं समझा. वक्ता व श्रोता की अनुकूलता के अनुसार ही नयों द्वारा व्याख्या की जाय, ऐसी पद्धति का प्रचलन किया. तदनुसार विद्यमान आगमों के सूत्रों को उन्होंने चार अनुयोगों में विभक्त कर दिया जिससे तत्-तत् सूत्र की व्याख्या केवल एक ही अनुयोग का आश्रय लेकर हो. जैसे आचार, दशवैकालिक आदि सूत्रों की व्याख्या में केवल चरणकरणानुयोग का ही आश्रय लिया जाय, शेष का नहीं. इसी प्रकार सूत्रों को कालिक-उत्कालिक विभाग में भी बांट दिया.

(१३) कालिकाचार्य : (वीर नि० ६०५ के आसपास)—पंचकल्पमहाभाष्य के उल्लेखानुसार ये आचार्य शालिवाहन के समकालीन थे. इन्होंने जैनपरम्परागत कथाओं के संग्रहरूप प्रथमानुयोग नामक कथासंग्रह का पुनरुद्धार किया था. इसके अतिरिक्त गंडिकानुयोग और ज्योतिषशास्त्रविषयक लोकानुयोग नामक शास्त्रों का भी निर्माण किया था. जैन आगमग्रंथों की संग्रहणियों की रचना इन्हीं की है. जैन आगमों के प्रत्येक छोटे-छोटे विभाग में जिन-जिन विषयों का समावेश होता था उनका बीजरूप संग्रह इन संग्रहणी-गाथाओं में किया गया है. एक प्रकार से इसे जैन आगमों का विषयानुक्रम ही समझना चाहिए. आज यह संग्रह व्यवस्थितरूप में देखने में नहीं आता है, तथापि संभव है कि भगवती, प्रज्ञापना, आवश्यक आदि सूत्रों की टीकाओं में टीकाकार आचार्यों ने प्रत्येक शतक, अध्ययन, प्रतिपत्ति, पद आदि के प्रारम्भ में जो संग्रहणी-गाथाएँ दी हैं वे यही संग्रहणी-गाथाएँ हों.

(१४) गुणधर (वीर नि० ६१४-६८३ के बीच)—दिगम्बर आम्नाय में आगमरूप से मान्य कसायपाहुड के कर्ता गुणधर आचार्य हैं. उनके समय का निश्चय यथार्थरूप में करना कठिन है. पं० हीरालालजी का अनुमान है कि ये आचार्य धरसेन से भी पहले हुए हैं,

(१५) आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त व भूतबलि—(वीर नि० ६१४-६८३ के बीच ?) दिगम्बर आम्नाय में षट्खंडागम के नाम से जो सिद्धान्तग्रन्थ मान्य हैं उसका श्रेय इन तीनों आचार्यों को है. जिस प्रकार भद्रबाहु ने चौदहपूर्व का ज्ञान स्थूलभद्र को दिया उसी प्रकार आचार्य धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि को श्रुत का लोप न हो, इस दृष्टि से सिद्धान्त पढ़ाया जिसके आधार पर दोनों ने षट्खण्डागम की रचना की. इनका समय वीरनिर्वाण ६१४ व ६८३ के बीच है, ऐसी संभावना की गई है.

(१६, १७) आर्य मंक्षु और नागहस्थि—कषायपाहुड की परम्परा को सुरक्षित रखने का विशेष कार्य इन आचार्यों ने किया और इन्हीं के पास अध्ययन करके आचार्य यतिवृषभ ने कसायपाहुड की चूर्णि की रचना की थी. इन आचार्यों को नंदीसूत्र की पट्टावली में भी स्थान मिला है.

नंदीसूत्रकार ने आर्य मंगु और नागहस्ति का वर्णन इस प्रकार किया है :

> भणगं करगं झरगं पभावगं णाण-दंसण-गुणाणं ।
> वंदामि अज्जमंगुं सुयसागरपारगं धीरं ॥२८॥
> णाणम्मि दंसणम्मि य तव-विणए णिच्चकालमुज्जुत्तं ।
> अज्जाणंदिलखमणं सिरसा वंदे पसण्णमणं ॥२९॥
> वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जणागहत्थीणं ।
> वागरण-करण-भंगिय-कम्मप्पयडीपहाणाणं ॥३०॥

नंदीसूत्र के आर्य मंगु ही आर्य मंक्षु हैं, ऐसा निर्णय किया गया है. इससे विद्वानों का ध्यान इस ओर जाना आवश्यक है कि आज भले ही कुछ ग्रंथों को हम केवल श्वेताम्बरों के ही माने और कुछ को केवल दिगम्बरों के किन्तु वस्तुतः एक-काल ऐसा था जब शास्त्रकार और शास्त्र का ऐसा साम्प्रदायिक विभाजन नहीं हुआ था.

आर्य मंक्षु के विषय में एक खास बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि उनके कुछ विशेष मन्तव्यों के विषय में जयधवला-कार का कहना है कि ये परम्परा के अनुकूल नहीं (षट्खंडागम भा० ३ भूमिका पृष्ठ १५).

(१८) आचार्य शिवशर्म : (वीर नि० ८२५ से पूर्व)—जैनदर्म की अनेक विशेषताओं में एक विशेषता है उसके कर्म-सिद्धान्त की. जिस प्रकार षट्खण्डागम और कसायपाहुड विशेषतः कर्मसिद्धान्त के ही निरूपक हैं उसी प्रकार शिवशर्म की कम्मपयडी और शतक कर्मसिद्धान्त के ही निरूपक प्राचीन ग्रंथ हैं. इनका समय भाष्य-चूर्णिकार के पहले का अवश्य है.

(१९, २०) स्कन्दिलाचार्य व नागार्जुनाचार्य (वीर नि० ८२७ से ८४०)—ये स्थविर क्रमशः माथुरी या स्कान्दिली और

वालभी या नागार्जुनी वाचना के प्रवर्तक थे. दोनों ही समकालीन स्थविर आचार्य थे. इनके युग में भयंकर दुर्भिक्ष उपस्थित होने के कारण जैन श्रमणों को इधर-उधर विप्रकीर्ण छोटे-छोटे समूहों में रहना पड़ा. श्रुतधर स्थविरों की विप्रकृष्टता एवं भिक्षा की दुर्लभता के कारण जैनश्रमणों का अध्ययन-स्वाध्यायादि भी कम हो गया. अनेक श्रुतधर स्थविरों का इस दुर्भिक्ष में देहावसान हो जाने के कारण जैनआगमों का बहुत अंश नष्ट-भ्रष्ट, छिन्न-भिन्न एवं अस्त-व्यस्त हो गया. दुर्भिक्ष के अन्त में ये दोनों स्थविर, जो कि मुख्य रूप से श्रुतधर थे, बच रहे थे किन्तु एक-दूसरे से बहुत दूर थे. आर्य स्कन्दिल मथुरा के आस-पास थे और आर्य नागार्जुन सौराष्ट्र में. दुर्भिक्ष के अन्त में इन दोनों स्थविरों ने वी० सं० ८२७ से ८४० के बीच किसी वर्ष में क्रमशः मथुरा व वलभी में संघसमवाय एकत्र करके जैनआगमों को जिस रूप में याद था उस रूप में ग्रन्थरूप से लिख लिया. दोनों स्थविर वृद्ध होने के कारण परस्पर मिल न सके. इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों के शिष्य-प्रशिष्यादि अपनी-अपनी परम्परा के आगमों को अपनाते रहे और उनका अध्ययन करते रहे. यह स्थिति लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक रही. इस समय तक कोई ऐसा प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति नहीं हुआ जो आगमों के इस पाठभेद का समन्वय कर पाता. इसी कारण आगमों का व्यवस्थित लेखन आदि भी नहीं हो सका. जो कुछ भी हो आज जो जैनागम विद्यमान हैं वे इन दोनों स्थविरों की देन हैं.

**(२१) स्थविर आर्य गोविंद (वीर नि० ८४० से पूर्व)**—ये पहले बौद्ध आचार्य थे और बाद में इन्होंने जैनधर्म स्वीकार किया था. इन्होंने गोविन्दनिर्युक्ति की रचना की थी जिसमें पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि की सजीवता का निरूपण किया गया है. यह निर्युक्ति किस आगम को लक्ष्य करके रची गई, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता. फिर भी अनुमान होता है कि यह आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा अथवा दशवैकालिकसूत्र के चतुर्थ अध्ययन छज्जीवणिया को लक्ष्य करके रची गई होगी. आज इस निर्युक्ति का कहीं पर भी पता नहीं मिलता है. आचार्य गोविंद के नाम का उल्लेख दशवैकालिकसूत्र के चतुर्थ अध्ययन की वृत्ति में आचार्य हरिभद्र ने भाष्यगाथा के नाम से जो गाथाएं उद्धृत कर व्याख्या की है उसमें "गोविंदवायगो विय जह परपक्खं नियत्तेइ" (पत्र० ५३,१ गा० ८२) इस प्रकार उल्लेख आता है. आचार्य हरिभद्र 'गोविंदवायग' इस प्राकृत नाम का संस्कृत में परिवर्तन 'गोपेन्द्र वाचक' नाम से करते हैं. आचार्य श्री हरिभद्र सूरि ने अपने योगबिन्दु ग्रन्थ में गोपेन्द्र के नाम से जो अवतरण दिये हैं, वे संभव है कि इन्हीं गोपेन्द्र वाचक के हों. जैनआगमों के भाष्य में इन गोविन्द स्थविर का उल्लेख 'ज्ञानस्तेन' के रूप में किया गया है. इसका कारण यह है कि ये पहले जैनाचार्यों की युक्ति-प्रयुक्तियों को जानकर उनका खण्डन करने की दृष्टि से ही दीक्षित हुए थे, किन्तु बाद में उनके हृदय को जैनाचार्यों की युक्ति-प्रयुक्तियों ने जीत लिया जिससे वे फिर से दीक्षित हुए और महान् अनुयोगधर हुए. नंदीसूत्र की प्रारंभिक स्थविरावली में इनका परिचय गाथा के द्वारा इस प्रकार दिया है :—

> गोविंदाणं पि णमो अणुओगे विउल धारणिदाणं ।
> निच्चं खंति-दयाणं परूवणादुल्लभिदाणं ॥

**(२२,२३) देवर्धिगणि व गन्धर्व वादिवेताल शांतिसूरि (वीर नि० ९९३)**—देवर्धिगणि क्षमाश्रमण माथुरी वाचनानुयायी प्रतिभासम्पन्न समर्थ आचार्य थे. इन्हीं की अध्यक्षता में वलभी में माथुरी एवं नागार्जुनी वाचनाओं के वाचनाभेदों का समन्वय करके जैनआगम व्यवस्थित किये गये और लिखे भी गये. गन्धर्व वादिवेताल शान्तिसूरि वालभी वाचनानुयायी मान्य स्थविर थे. इनके विषय में —

> वालब्भसंघकज्जे उज्जमियं जुगपहाणतुल्लेहिं ।
> गंधव्ववाइवेयालसंतिसूरीहिं वलहीए ॥

इस प्रकार का प्राचीन उल्लेख भी पाया जाता है. इस गाथा में 'वलभी में वालभ्यसंघ के कार्य के लिए गन्धर्व वादिवेताल शान्तिसूरि ने प्रयत्न किया था' ऐसा जो उल्लेख है वह वालभ्यसंघ कार्य वालभी-वाचना को लक्ष्य करके ही अधिक संभवित है. अन्यथा 'वालभ्यसंघकज्जे' ऐसा उल्लेख न होकर 'संघकज्जे' इतना ही उल्लेख काफी होता. इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि श्रीदेवर्धिगणि क्षमाश्रमण को माथुरी-वालभी वाचनाओं को व्यवस्थापित करने में इनका प्रमुख

साहाय्य रहा होगा. दिगंबराचार्य देवसेनकृत दर्शनसारनामक ग्रन्थ में श्वेताम्बरों की उत्पत्ति के वर्णनप्रसंग में—

छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडसंघो हु वलहीए ।।५२।।
एक्क पुण संतिणामो संपत्तो वलहिणामणयरीए ।
वहुसीससंपउत्तो विसए सोरट्ठए रम्मे ।।५६।।

इस प्रकार का उल्लेख है. यद्यपि इस उल्लेख में दिया हुआ संवत् मिलता नहीं है तथापि उपर्युक्त 'वालब्भसंघकज्जे' गाथा में निर्दिष्ट वालभ्यसंघकार्य, शांतिसूरि, वलभि आदि उल्लेख के साथ तुलना करने के लिये दर्शनसार का यह उल्लेख जरूर उपयुक्त है.

देवर्धिगणि जो स्वयं माथुरसंघ के युगप्रधान थे, उनकी अध्यक्षता में वलभीनगर में एकत्रित संघसमवाय में दोनों वाचनाओं के श्रुतधर स्थविरादि विद्यमान थे. इस संघसमवाय में सर्वसम्मति से माथुरी वाचना को प्रमुख स्थान दिया गया होगा. इसका कारण यह हो सकता है कि माथुरी-वाचना के जैनआगमों की व्यवस्थितता एवं परिमाणाधिकता थी. इसमें ज्योतिष्करंडक जैसे ग्रन्थों को भी स्थान दिया गया जो केवल वालभी-वाचना में ही थे. इतना ही नहीं अपितु माथुरी-वाचना से भिन्न एवं अतिरिक्त जो सूत्रपाठ एवं व्याख्यान्तर थे उन सबका उल्लेख नागार्जुनाचार्य के नाम से तत्तत् स्थान पर किया भी गया. आचारांग आदि की चूर्णिओं में ऐसे उल्लेख पाये जाते हैं. समझ में नहीं आता कि जिस समय जैनआगमों को पुस्तकारूढ किया गया होगा उस समय इन वाचनान्तरों का संग्रह किस ढंग से किया होगा ?. जैनआगम की कोई ऐसी हस्तप्रति मौजूद नहीं है जिसमें इन वाचनाभेदों का संग्रह या उल्लेख हो. आज हमारे सामने इस वाचनाभेद को जानने का साधन प्राचीन चूर्णिग्रन्थों के अलावा अन्य एक भी ग्रन्थ नहीं है. चूर्णियां भी सब आगमों की नहीं किन्तु केवल आवश्यक, नन्दी, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, भगवती, जीवाभिगम, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, निशीथ, कल्प, पंचकल्प, व्यवहार एवं दशाश्रुतस्कन्ध की ही मिलती हैं.

ऊपर जिन आगमों की चूर्णियों के नाम दिये गये हैं उनमें से नागार्जुनीय-वाचनभेद का उल्लेख केवल आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन व दशवैकालिक की चूर्णियों में ही मिलता है. अन्य आगमों में नागार्जुनीय वाचना की अपेक्षा न्यूनाधिक्य या व्याख्याभेद क्या था, इसका आज कोई पता नहीं लगता. वहुत संभव है, ये वाचनाभेद चूर्णि-वृत्ति आदि व्याख्याओं के निर्माण के वाद में सिर्फ पाठभेद के रूप में परिणत हो गये हों. यही कारण है कि चूर्णिकार और वृत्तिकारों की व्याख्या में पाठों का कभी-कभी वहुत अन्तर दिखाई देता है.

(१) दशवैकालिकसूत्र को अनामकर्तृक मुद्रितचूर्णि के पृष्ठ. २०४ में "नागज्जुणिया तु एवं पढंति—एवं तु गुणप्पेही अगुणाऽणविवज्जए" इस प्रकार एक ही नागार्जुनीय वाचना का उल्लेख पाया गया है. यह उल्लेख पाठभेदमूलक नहीं अपितु व्याख्याभेदमूलक है. माथुरी वाचना वाले "अगुणाण विवज्जए—अगुणानां विवर्जक:" ऐसी सीधी व्याख्या करते हैं, जबकि नागार्जुनीय वाचना वाले "अगुणाऽणविवज्जए—अगुणरिणं अकुव्वंतो" अर्थात् 'अगुणरूप ऋण नहीं करते' ऐसी व्याख्या करते हैं. इस चूर्णि में नागार्जुनीय नाम का यह एक ही उल्लेख देखने में आया है. इसी दशवैकालिकसूत्र की स्थविर अगस्त्यसिंहकृत एवं अन्य प्राचीन चूर्णि पाई गई है जो अभी प्राकृत-टेक्स्ट-सोसाइटी की ओर से छप रही है. इसमें (पृ० १३६) इस स्थान पर उपर्युक्त वाचनाभेद का उल्लेख किया है किन्तु नागार्जुनीय नाम का उल्लेख नहीं है. इससे भी यही प्रतीत होता है कि नागार्जुनीय पाठभेदादि केवल पाठान्तर व मतान्तर के रूप में ही रह गये हैं. प्राचीन वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र भी अपनी वृत्ति में कहीं पर भी नागार्जुनीय वाचना का नामोल्लेख करते नहीं हैं.

(२) आचारांगसूत्र की चूर्णि में नागार्जुनीयवाचनाभेद का उल्लेख पंद्रह जगह पाया जाता है—

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| १. | भदन्त नागार्जुनीयास्तु पढंति | पृ० | ६२ | वृत्तिपत्र | ११८ |
| २. | णागज्जुणिया पढंति | ,, | ६४ | | |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| ३. | भदंतणागज्जुणिया तु पढंति | पृ० | ११३ | | | |
| ४. | भदंतणागज्जुणिया | ,, | १२० | वृत्तिपत्र | १६६ | पृ० २ |
| ५. | भदंतणागज्जुणिया पढंति | ,, | १३६ | ,, | १८३ | पृ० २ |
| ६. | एत्थ सक्खी भदन्तनागार्जुना: | ,, | १५७ | ,, | १९८ | पृ० २ |
| ७. | नागार्जुनीयास्तु | ,, | १६१ | ,, | २०१ | पृ० १ |
| ८. | णागज्जुणीया | ,, | २०७ | ,, | २३९ | पृ० १ |
| ९. | भदन्त णागज्जुणा तु | ,, | २१९ | ,, | २४५ | पृ० १ |
| १०. | णागज्जुणिया उ | ,, | २१९ | | | |
| ११. | णागज्जुणा | ,, | २३२ | वृत्तिपत्र | २५३ | पृ० २ |
| १२. | णागज्जुणा तु | ,, | २३७ | ,, | २५६ | पृ० १ |
| १३. | णागज्जुणा | ,, | २८७ | | | |
| १४. | णागज्जुणा तु पढंति | ,, | ३०२ | वृत्तिपत्र | ३०३ | पृ० १ |
| १५. | भदन्तनागार्जुनीया तु | ,, | ३१३ | | | |

यहां पर आचारांगचूर्णि और शीलांकाचार्य रचित वृत्ति के जो पृष्ठ-पत्रांक आदि दिये गये हैं वे आगमोद्धारक पूज्य आचार्य श्री सागरानन्दसूरि सम्पादित आवृत्ति के हैं.

उपर्युक्त पंद्रह उल्लेखों में से पांच उल्लेख शीलांकीय वृत्ति में नहीं हैं. बाकी के दस उल्लेख शीलांकाचार्य ने दिये हैं. वे सभी उल्लेख आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूर्णि-वृत्ति में ही हैं. द्वितीय श्रुतस्कन्ध की चूर्णि-वृत्ति में नागार्जुनीय-वाचना का कोई उल्लेख नहीं है.

यहां आचारांग-चूर्णि में से नागार्जुनीयवाचना के जो पंद्रह उल्लेख उद्धृत किये गये हैं उनमें सात जगह अति पूज्यतासूचक 'भदन्त' विशेषण का प्रयोग किया गया है जो अन्य किसी चूर्णि-वृत्ति आदि में नहीं है. इससे अनुमान होता है कि इस चूर्णि के प्रणेता, जिनके नाम का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता, कम-से-कम नागार्जुनीय परंपरा के प्रति आदर रखने वाले थे.

(३) सूत्रकृतांग की चूर्णि में नागार्जुनीय वाचना के जो उल्लेख मिलते हैं उन सभी स्थानों पर 'नागार्जुनीयास्तु' ऐसा लिखकर ही नागार्जुनीय वाचनाभेद का उल्लेख किया गया है जो प्रथम श्रुतस्कन्ध में चार जगह व दूसरे श्रुतस्कन्ध में नौ जगह पाया गया है. आचार्य शीलांक ने अपनी वृत्ति में 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' लिखकर नागार्जुनीय-वाचना का उल्लेख चार जगह किया है. संभव है पिछले जमाने में नागार्जुनीय वाचनाभेद का कोई खास महत्त्व रहा न होगा.

प्रसंगवशात् एक बात की सूचना करना हम यहां उचित समझते हैं कि सूत्रकृतांगचूर्णिकार 'अणुत्तरणाणी-अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाणदंसणधरो, एतेण एकत्वं णाण-दंसणाणं ख्यापितं भवति' [श्रुत १ अध्य० २. उ० २ गा० २२] इस उल्लेख से एकोपयोगवादी आचार्य सिद्धसेन के अनुयायी मालूम होते हैं.

(४) उत्तराध्ययनसूत्र की चूर्णि में चूर्णिकार आचार्य ने पाँच स्थानों पर नागार्जुनीय वाचनाभेद का उल्लेख किया है. पाइय-टीकाकार वादिवेताल शान्तिसूरिजी ने भी इन पाँच स्थानों पर नागार्जुनीय वाचनाभेद का उल्लेख किया है. किन्तु सिर्फ एक स्थान पर नागार्जुनीय का नाम न लेकर 'पठ्यते च' ऐसा लिखकर नागार्जुनीय वाचनाभेद का उल्लेख किया है. [पत्र २६४-१].

कुछ विद्वान् स्थविर आर्य देवर्धिगणि के आगम-व्यवस्थापन व आगम-लेखन को वालभी वाचनारूप से बतलाते हैं किंतु ऊपर वालभी वाचना के विषय में जो कुछ कहा गया है उससे उनका यह कथन भ्रान्त सिद्ध होता है. वास्तव में वालभी वाचना वही है जो माथुरीवाचना के ही समय में स्थविर आर्य नागार्जुन ने वलभीनगर में संघसमवाय एकत्र कर जैन आगमों का संकलन किया था.

स्थविर आर्य देवर्द्धिगणि ने वलभी में संघसमवाय को एकत्रित कर जैन आगमों को व्यवस्थित किया व लिखवाया. उस समय लेखन की प्रारम्भिक प्रवृत्ति किस रूप में हुई इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता. सामान्यतया मुखोमुख कहा जाता है कि वलभी में हजारों की संख्या में ग्रंथ लिखे गये थे, किन्तु हमारे सामने शीलांकाचार्य, नवांगवृत्तिकार अभयदेवसूरि आदि व्याख्याकार आचार्यों के जो विषादपूर्ण उल्लेख विद्यमान हैं उनसे तो यह माना नहीं जा सकता कि इतने प्रमाण में ग्रंथलेखन हुआ होगा.

श्रीशीलांकाचार्य ने सूत्रकृतांग की अपनी वृत्ति में इस प्रकार लिखा है :

इह च प्रायः सूत्रादर्शेषु नानाविधानि सूत्राणि दृश्यन्ते, न च टीकासंवादी एकोऽप्यादर्शः समुपलब्धः, अत एकमादर्शमङ्गीकृत्यास्माभिर्विवरणं क्रियत इति, एतदवगम्य सूत्रविसंवाददर्शनाच्चित्तव्यामोहो न विधेय इति.'

[मुद्रित पत्र ३३६-१]

अर्थात् चूर्णिसंमत मूलसूत्र के साथ तुलना की जाय ऐसी एक भी मूलसूत्र की हस्तप्रति आचार्य शीलांक को नहीं मिली थी.

श्री अभयदेवाचार्य ने भी स्थानांग, समवायांग व प्रश्नव्याकरण—इन तीनों अंग आगमों की वृत्ति के प्रारम्भ एवं अन्त में इसी आशय का उल्लेख किया है जो क्रमशः इस प्रकार है :

१. वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धितः ।
सूत्राणामतिगांभीर्याद् मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥२॥

२. यस्य ग्रंथवरस्य वाक्यजलधेर्लक्षं सहस्राणि च,
चत्वारिंशदहो ! चतुर्भिरधिका मानं पदानामभूत् ।
तस्योच्चैश्चुलुकाकृति विदधतः कालादिदोषात् तथा,
दुर्लेखात् खिलतां गतस्य कुधियः कुर्वन्तु किं मादृशाः ? ॥२॥

३. अज्ञा वयं शास्त्रमिदं गंभीरं, प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि ।
सूत्रं व्यवस्थाप्यमतो विमृश्य, व्याख्यानकल्पादित एव नैव ॥२॥

ऊपर उदाहरण के रूप में श्री शीलांकाचार्य व श्री अभयदेवाचार्य के जो उल्लेख दिये हैं उनसे प्रतीत होता है कि वलभी में स्थविर आर्य देवर्द्धिगणि, गंधर्ववादिवेताल शान्तिसूरि आदि के प्रयत्न से जो जैन आगमों का संकलन एवं व्यवस्थापन हुआ और उन्हें पुस्तकारूढ़ किया गया, यह कार्य जैन स्थविर श्रमणों की जैनआगमादि को ग्रंथारूढ़ करने की [illegible] के कारण बहुत संक्षिप्त रूप में ही हुआ होगा तथा निकट भविष्य में हुए वलभी के भंग के साथ ही यह व्यवस्थित किया हुआ आगमों का लिखित छोटा-सा ग्रंथ-संग्रह नष्ट हो गया होगा. परिणाम यह हुआ कि आखिर जो स्थविर आर्य स्कन्दिल एवं स्थविर आर्य नागार्जुन के समय की हस्तप्रतियां होंगी, उन्हीं की शरण व्याख्याकारों को लेनी पड़ी होगी. यही कारण है कि प्राचीन चूर्णियां एवं व्याख्या-ग्रंथों में सैकड़ों पाठभेद उल्लिखित पाये जाते हैं जिनका उदाहरण के रूप में मैं यहां संक्षेप में उल्लेख करता हूँ.

आचारांगसूत्र की चूर्णि में चूर्णिकार ने नागार्जुनीय वाचना के उल्लेख के अलावा 'पढिज्जइ य' ऐसा लिख कर [illegible] स्थानों पर पाठभेद का उल्लेख किया है. आचार्य श्रीशीलांक ने भी अपनी वृत्ति में उपलब्ध हस्तप्रतियों के अनुसार कितने ही सूत्रपाठभेद दिये हैं.

इसी प्रकार सूत्रकृतांगचूर्णि में भी नागार्जुनीय वाचनाभेद के अलावा 'पठ्यते च, पठ्यते चान्यथा [illegible], अन्यथा, अथवा इह तु, मूलपाठस्तु, पाठविशेषस्तु, अन्यथा पाठस्तु, अपरपाठः, पाठान्तरम्' आदि वाक्यों का उल्लेख कर दिया है. प्रथम-श्रुतस्कन्ध की चूर्णि में ही लगभग सवा सौ जगह जिन्हें वास्तविक पाठभेद माने ऐसे उल्लेखों की [illegible], पूर्वार्ध के पूर्वार्ध व चरण के चरण पाये जाते हैं. द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पाठभेद भी इसमें शामिल [illegible].

आचार्य शीलांक ने भी बहुत से पाठभेद दिये हैं, फिर भी चूर्णिकार की अपेक्षा ये बहुत कम हैं, यहां पर एक बात खास ध्यान देने योग्य है कि खुद आचार्य शीलांक ने स्वीकार किया है कि 'हमें चूर्णिकारस्वीकृत आदर्श मिला ही नहीं.' यही कारण है कि उनकी टीका में चूर्णि की अपेक्षा मूल सूत्रपाठ एवं व्याख्या में बहुत अन्तर पड़ गया है. इसके साथ मेरा यह भी कथन है कि आज हमारे सामने जो प्राचीन सूत्रप्रतियां विद्यमान हैं उनके पाठभेदों का संग्रह किया जाय तो सीमातीत पाठभेद मिलेंगे. इनमें अगर भाषाप्रयोग के पाठभेदों को शामिल किया जाय तो मैं समझता हूं कि पाठभेदों का संग्रह करने वाले का दम निकल जाय. फिर भी यह कार्य कम महत्त्व का नहीं है. प्राकृत टेक्स्टसोसायटी की ओर से जो आगमों का सम्पादन किया जा रहा है उसमें इस प्रकार की महत्त्वपूर्ण सब बातोंको समाविष्ट करने का यथासंभव पूरा ध्यान रखा जाता है.

दशवैकालिकसूत्र पर स्थविर अगस्त्यसिंहकृत चूर्णि, अज्ञातनामकर्तृक दूसरी चूर्णि और आचार्य हरिभद्रकृत शिष्यहिता-वृत्ति—ये तीन व्याख्याग्रंथ मौलिक व्याख्यारूप हैं. इनके अलावा जो अन्य वृत्तियां विद्यमान हैं उन सबका मूलस्रोत आचार्य हरिभद्र की बृहद्वृत्ति ही है. आचार्य हरिभद्र ने अपनी वृत्ति में "तत्रापि" 'कत्यहं, कदाऽहं, कथमहं' इत्याद्यदृश्यपाठान्तर-परित्यागेन दृश्यं व्याख्यायते" (पत्र ८५-१) ऐसा कह कर पाठभेदों की झंझट से छुटकारा ही पा लिया. अनामकर्तृक चूर्णि जिसका उल्लेख आचार्य हरिभद्र अपनी वृत्ति में वृद्ध-विवरण के नाम से करते हैं, उसमें कहीं-कहीं पाठभेदों का उल्लेख होने पर भी उनका कोई खास संग्रह नहीं है. किन्तु स्थविर अगस्त्यसिंहविरचित चूर्णि में सूत्रपाठों का न्यूनाधिक्य, पाठभेद, व्याख्याभेद आदि का संग्रह काफी मात्रा में किया गया है. मूलसूत्र की भाषा का स्वरूप भी वृद्ध-विवरण एवं आचार्य हरिभद्र की वृत्ति की अपेक्षा बहुत ही भिन्न है. वृद्धविवरण व आचार्य हरिभद्र की वृत्ति में मूल सूत्र की भाषा का स्वरूप आज की प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियों में जैसा पाया जाता है, करीब-करीब उससे मिलता-जुलता ही है.

यहाँ पर प्राचीन चूर्णियों एवं उनमें प्राप्त होनेवाले पाठभेदादि का उल्लेख कर आपका जो समय लिया है उसका कारण यह है कि वलभी नगर में स्थविर आर्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण प्रमुख जैनसंघ ने जो जैनआगमों का व्यवस्थापन किया था और इन्हें ग्रंथारूढ किया था वह यदि विस्तृत रूप में होता तो वालभी ग्रंथलेखन के निकट भविष्य में होनेवाले चूर्णिकार, आचार्य हरिभद्र, आचार्य शीलांक, श्री अभयदेवसूरि आदि को विकृतातिविकृत आदर्श न मिलते. जैसे आज हमें चार सौ, पाँच सौ, यावत् हजार वर्ष पुरानी शुद्धप्रायः हस्तप्रतियां मिल जाती हैं उसी प्रकार चूर्णिकार आदि को भी वलभीव्यवस्थापित शुद्ध एवं प्रामाणिक पाठ वाले आदर्श अवश्य ही मिलते, किन्तु वैसा नहीं हुआ. इसके लिये उन्होंने विषाद ही प्रकट किया है. अतः मुझे यही लगता है कि देवर्धिगणि क्षमाश्रमण का ग्रंथलेखन बहुत संक्षिप्तरूप में हुआ होगा, जो वलभी के भंग के साथ ही नष्ट हो गया.

(२४) भद्दियायरिय—सूत्रकृतांगचूर्णि, पत्र ४०५ के "अत्र दूपगणिक्षमाश्रमणशिष्य-भद्दियाचार्या ब्रुवते" इस उल्लेख के अनुसार भद्दियाचार्य स्थविर दूपगणि के शिष्य थे. इनके नाम का उल्लेख एवं मत का संग्रह अगस्त्यसिंहविरचित दशवै-कालिकचूर्णि पत्र ३ और अनामकर्तृक दशवैकालिकचूर्णि पत्र ४ में भी पाया जाता है.

(२५) दत्तिलायरिय—इनके नाम का निर्देश एवं मत का संग्रह उपर्युक्त दोनों दशवैकालिकचूर्णियों के क्रमशः ३ व ४ पत्र में है.

अज्ञातकर्तृक दशवैकालिकचूर्णि में भद्दियायरिय एवं दत्तिलायरिय—इन दोनों स्थविरों के नामों का उल्लेख व इनके मत का संग्रह सामान्यतया किया गया है, जब कि अगस्त्यसिंहविरचित चूर्णि में "इह कयरेण एक्केण अहिकारो? सव्वण्णु-भासिए का एक्कीयमयवियारणा ? तहा वि वक्खाणभेदपदरिसणत्थं कित्तिनिमित्तं गुरूणं भण्णति—भद्दियायरिओवएसेणं भिन्नरूवा एक्का दससद्देण संगिहीया भवंति त्ति संगहेक्ककेण अहिकारो, दत्तिलायरिओवएसेण सुयनाणं खओवसमिए भावे वट्टति त्ति भावेक्ककेण अहिगारो" इस प्रकार है. इस तरह इन दोनों स्थविरों के नाम का उल्लेख 'कित्तिनिमित्तं

गुरूणं' इस वाक्य से वड़े आदर के साथ किया गया है. सम्भव है, चूर्णिकार का इन स्थविरों के साथ अनुयोगविषयक कोई खास घनिष्ठ सम्बन्ध होगा.

(२६) गंधहस्ती—आचार्य शीलांक के आचारांगसूत्र की वृत्ति के प्रारम्भ में "शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिवहुगहनं च गन्धहस्तिकृतम्" इस उल्लेख से गन्धहस्ति आचार्य को आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा का विवरणकार बताया है. हिमवंतस्थविरावलि में आचार्य गन्धहस्ति के विषय में इस प्रकार का निर्देश है—

"तेषामार्यसिंहानां स्थविराणां मधुमित्रा-ऽऽर्यस्कन्दिलाचार्यनामानौ द्वौ शिष्यावभूताम्. आर्यमधुमित्राणां शिष्या आर्यगन्धहस्तिनोऽतीवविद्वांसः प्रभावकाश्चाभवन्. तैश्च पूर्वस्थविरोत्तंसोमास्वातिवाचकविरचिततत्त्वार्थोपरि अशीतिसहस्रश्लोकप्रमाणं महाभाष्यं रचितम्. एकादशाङ्गोपरि चार्यस्कन्दिलस्थविराणामुपरोधतस्तैर्विवरणानि रचितानि. यदुक्तं तद्रचिताऽऽचाराङ्गविवरणान्ते—

थेरस्स महुमित्तस्स सेहेहिं तिपुव्वनाणजुत्तेहिं ।
मुणिगणविवंदिएहिं ववगयरागाइदोसेहिं ।।
बंभद्दीवियसाहामउडेहिं गन्धहत्थिविवुहेहिं ।
विवरणमेयं रइयं दोसयवासेसु विक्कमओ ।।"

हिमवंतस्थविरावलि के इस अंश में आचार्य गन्धहस्ति को तत्त्वार्थगन्धहस्तिमहाभाष्य के प्रणेता एवं ग्यारह जैन अंग आगमों के विवरणकार वतलाया है जबकि आचार्य शीलांक ने इन्हें केवल आचाराङ्ग के प्रथम अध्ययन के रचयिता ही कहा है. दूसरी वात यह है कि—इनकी ग्यारह अंग की वृत्तियों के उद्धरण या नामोल्लेख भाष्य-चूर्णि-वृत्तियों में कहीं भी दिखाई नहीं देते. ऐसी स्थिति में पट्टावलि के इस उल्लेख को कहां तक माना जाय, यह एक प्रश्न है. यहाँ पर गन्धहस्ती, यह विशेषनाम है, विशेषण नहीं. शीलांकाचार्यनिर्दिष्ट गन्धहस्ती हिमवंतस्थविरावलिनिर्दिष्ट गन्धहस्ती ही हैं या अन्य, इसका निर्णय करना कठिन है. स्थविरावली में जो आचारांगविवरण की अंतिम प्रशस्ति का उद्धरण दिया गया है वह कहाँ तक ठीक है, यह कहना भी जरा कठिन है. इस विशेष नाम के साथ रहे हुए गौरव को देखकर ही वाद में इस नाम का उपयोग विशेषण के रूप में होने लगा. तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति के प्रणेता सिद्धसेनाचार्य 'गन्धहस्ती' कहे जाते थे. ये हिमवंतस्थविरावलि द्वारा निर्दिष्ट गन्धहस्ती से अन्य ही हैं. क्योंकि इनका समय विक्रम आठवीं के वाद का है, जवकि स्थविरावलिनिर्दिष्ट गन्धहस्ती का समय विक्रम २०० है. श्रीयशोविजयजी उपाध्याय ने अपनी गुरुतत्त्वविनिश्चय की स्वोपज्ञवृत्ति में सन्मतितर्क के प्रणेता सिद्धसेनाचार्य को भी 'गन्धहस्ती' लिखा है.

(२७-२८) मित्तवायग-खमासमण व साधुरक्षितगणि क्षमाश्रमण—इन दोनों स्थविरों की मान्यता एवं नाम का उल्लेख व्यवहारभाष्य गा० ४६२ की चूर्णि में चूर्णिकार ने किया है.

(२९) धम्मगणि खमासमण—इन क्षमाश्रमण के मंतव्य का उल्लेख कल्पविशेषचूर्णि में "अहवा धम्मगणिखमासमणा देसेणं सव्वेसु वि पदेसु इमा सोही—थेराईसुं अहवा० गाहाद्वयम्" इस प्रकार है.

(३०) अगस्त्यसिंह (भाष्यकारों के पूर्व—ये स्थविर आर्य वज्र की शाखा में हुए हैं. इन्होंने दशवैकालिकसूत्र पर चूर्णि की रचना की है. यह चूर्णि दशवैकालिकसूत्र के विविध पाठ भेद एवं भाषा की दृष्टि से वहुत महत्त्व की है. इस चूर्णि में भाष्यकार की गाथाओं का उल्लेख न होने से इसकी रचना भाष्यकारों के पूर्व की प्रतीत होती है. इसमें कई उल्लेख ऐसे भी हैं जो चालू साम्प्रदायिक प्रणाली से भिन्न प्रकार के हैं. आचार्य श्री हरिभद्र ने अपनी वृत्ति में कहीं भी इस चूर्णि का उल्लेख नहीं किया है, इसका कारण यही प्रतीत होता है. विद्वानों की भी ज्ञातियां होती हैं. इसमें कल्किविषयक जो मान्यता चलती है और जिसका विस्तृत वर्णन तित्थोगालियपइण्णय में पाया भी जाता है, इस विषय में "अणागतमट्ठं ण णिद्धारेज्ज-जधा कक्की अमुको वा एवं गुणो राया भविस्सइ "ऐसा लिखकर कल्किविषयक मान्यता को आदर नहीं दिया है. इस चूर्णि में "भणितं च वररुचिणा—'अंवं फलाणं मम दालिमं पियं' [पृ० १७३] इस प्रकार वररुचि के कोई प्राकृत ग्रंथ का उद्धरण मिल सकता है. वररुचि का यह प्राकृत उद्धरण प्राकृतव्याकरणप्रणेता वररुचि

के समयनिर्णय के लिए उपयुक्त होने की सम्भावना है. इस चूर्णि की प्रति जैसलमेर के जिनभद्रीय ज्ञानभण्डार में सुरक्षित है. इसका प्रकाशन प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी की ओर से मेरे द्वारा सम्पादित हो कर शीघ्र ही प्रकाशित होगा.

**(३१) संघदासगणि क्षमाश्रमण (वि० ५वीं शताब्दी)**—ये आचार्य वसुदेवहिंडी—प्रथम खण्ड के प्रणेता संघदासगणि वाचक से भिन्न हैं एवं इनके बाद के भी हैं. इन्होंने कल्पलघुभाष्य और पंचकल्पमहाभाष्य की रचना की है. वे महाभाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के पूर्ववर्ती हैं.

**(३२) जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (वि० की ६ठी शती)**—ये सैद्धान्तिक आचार्य थे. इनकी महाभाष्यकार एवं भाष्यकार के रूप में प्रसिद्धि है. दार्शनिक-गम्भीरचिन्तनपरिपूर्ण विशेषावश्यक महाभाष्य की रचना ने इन्हें बहुत प्रसिद्ध किया है. केवलज्ञान और केवलदर्शन विषयक युगपदुपयोगद्वयवाद एवं अभेदवाद को माननेवाले तार्किक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और मल्लवादी के मत का इन्होंने उपर्युक्त भाष्य एवं विशेषणवती ग्रन्थ में निरसन किया है. जीतकल्पसूत्र, बृहत्संग्रहणी, बृहत्क्षेत्रसमास, अनुयोगद्वारचूर्णिगत अंगुलपदचूर्णि और विशेषावश्यक-स्वोपज्ञवृत्ति-षष्ठगणधरवाद व्याख्यान-पर्यन्त—इनके इतने ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं.

**(३३) कोट्टार्यवादिगणी क्षमाश्रमण (वि० ५४० के बाद)**—इन आचार्य ने जिनभद्रगणि की स्वोपज्ञ वृत्ति की अपूर्ण रचना को पूर्ण किया है. इन्होंने अनुसन्धित अपनी इस वृत्ति में यह सूचित किया है "निर्माप्य षष्ठगणधर-व्याख्यानं किल दिवंगता पूज्याः" अर्थात् छठे गणधरवाद का व्याख्यान करके पूज्य जिनभद्रगणी स्वर्गवासी हुए. आगे की वृत्ति का अनुसन्धान इन्होंने किया है. इस रचना के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई रचना नहीं मिली है. यह स्वोपज्ञ-वृत्ति ला० द० विद्यामन्दिर, अहमदाबाद की ओर से प्रकाशित होगी.

**(३४) सिद्धसेनगणि क्षमाश्रमण (वि० छठी शती)**—इनकी आज कोई स्वतन्त्र रचना प्राप्त नहीं है. इनके रचे हुए कुछ सन्दर्भ, जो निर्युक्ति, भाष्य आदि के व्याख्यानरूप गाथासन्दर्भ हैं, निशीथचूर्णि व आवश्यकचूर्णि में मिलते हैं. निशीथ-चूर्णि में इनका नाम एवं गाथाएँ छः जगह उल्लिखित हैं, जिनके भद्रबाहुकृत निर्युक्तिगाथाओं तथा पुरातनगाथाओं के व्याख्यानरूप होने का निर्देश है. आवश्यकचूर्णि में (विभाग २, पत्र २३३) इनके नाम के साथ दो व्याख्यान-गाथाएँ दी गई हैं. पंचकल्पचूर्णि में भी "उक्तं च सिद्धसेनक्षमाश्रमणगुरुभिः" ऐसा लिख कर इनकी एक गाथा का उद्धरण किया है. इन उल्लेखों से पता चलता है कि इनकी आगमिक व्याख्यानगर्भित कोई कृति या कृतियाँ अवश्य होनी चाहिए जो आज उपलब्ध नहीं हैं.

**(३५) सिद्धसेनगणि (वि० सं० छठी शती)**—इनकी एक ही कृति प्राप्त हुई है जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकृत जीत-कल्प पर रचित चूर्णि. उपर्युक्त सिद्धसेनगणी क्षमाश्रमण से ये सिद्धसेन गणि भिन्न है.

**(३६) जिनदासगणी महत्तर (वि० ७वीं शताब्दी)**—निशीथचूर्णि के प्रारम्भिक उल्लेखानुसार इनके विद्यागुरु प्रद्युम्न-गणी क्षमाश्रमण थे. आज जो चूर्णियां उपलब्ध हैं इनमें से नन्दी, अनुयोगद्वार और निशीथ की चूर्णियां इन्हीं की रचनाएं हैं.

**(३७) गोपालिक महत्तर शिष्य (वि० ७वीं शताब्दी)**—उत्तराध्ययनचूर्णि के रचयिता आचार्य ने अपने नाम का निर्देश न कर 'गोपालिकमहत्तरशिष्य' इतना ही उल्लेख किया है. इनकी अन्य कोई रचना उपलब्ध नहीं है.

**(३८) जिनभट या जिनभद्र (वि. ८वीं शताब्दी)**—ये हरिभद्र के विद्यागुरु थे. आवश्यक वृत्ति के अन्त में आचार्य हरिभद्र ने इनका नामोल्लेख किया है. एतद्विषयक पुष्पिका इस प्रकार है "कृतिः सिताम्बराचार्य जिनभट निगदानु-सारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोरल्पमतेराचार्यहरिभद्रस्य." इस उल्लेख में 'जिनभटनिगदानुसारिणः' वाक्य विद्यागुरुत्व का सूचक है. प्रत्यन्तरों में 'जिनभट' के बजाय 'जिनभद्र' नाम भी मिलता है. "गुरुवस्तु व्याचक्षते" ऐसा लिखकर कई जगह हरिभद्रसूरि ने अपनी कृतियों में इनके मन्तव्य का निर्देश किया है.

**(३९) हरिभद्रसूरि (वि० ८ वीं शताब्दी)**—इनका उपनाम 'भवविरह' भी है. अपनी कृतियों में इन्होंने 'भवविरह'

पद का कई जगह प्रयोग किया है. कहीं-कहीं इनकी कृतियों में केवल 'विरह' पद का प्रयोग होने के कारण इन्हें विरहाङ्क भी कहते हैं. ये अपने को अनेक ग्रन्थों की अन्तिम पुष्पिका में 'धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनु' के रूप में भी लिखते हैं. ये जैन आगमों के पारंगत आचार्य थे एवं दर्शनशास्त्रों के प्रखर ज्ञाता थे. इन्होंने १४४४ ग्रन्थों की रचना की ऐसा प्रघोष चला आता है. इन्होंने अपनी कृतियों में अपनी जिन-जिन रचनाओं के नाम निर्दिष्ट किये हैं उनमें से भी बहुत से ग्रन्थ आज अप्राप्य हैं. फिर भी प्राचीन ज्ञानभंडारों को टटोलने से इनकी नई रचनाएँ प्राप्त होती हैं. कुछ वर्ष पहले ही खंभात के प्राचीन ताडपत्रीय भंडार में से इनका रचा हुआ योगशतक नामक ग्रन्थ प्राप्त हुआ था. अभी हाल ही में कच्छ-मांडवी के खरतरगच्छीय प्राचीन ज्ञानभंडार में से इसी ग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका की वि० सं० ११६४ में लिखी हुई ताडपत्रीय प्रति भी प्राप्त हुई है.

इसी प्रकार आज अपने पास जो लाखों की तादाद में हस्तप्रतियां विद्यमान हैं जिनकी व्यवस्थित सूचियां अभी तक नहीं बनी हैं, उन्हें टटोला जाय तो बहुत संभव है कि अपनी कल्पना में भी न हों ऐसी प्राचीन-प्राचीनतम अनेक कृतियां प्राप्त हों. आचार्य हरिभद्र ने तत्त्वविचार और आचार के निरूपण में समन्वयशैली को विशिष्टरूप से आदर दिया है, अतः इनकी रचनाओं में प्रचुर गांभीर्य आया है. इनके विषय में विद्वानों ने अनेक दृष्टियों से काफी लिखा है, तथापि प्रसंगवश यहां कुछ कहना अनुचित न होगा. इन्होंने आवश्यक, नन्दी, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक, प्रज्ञापना, जीवाभिगम और पिण्डनिर्युक्ति—इन जैन आगमों पर अप्रतिम एवं मौलिक वृत्तियों का निर्माण किया है. आवश्यकसूत्र पर तो इन्होंने दो वृत्तियाँ लिखी थीं. इनमें से शिष्यहिता नामक २२००० श्लोक परिमित लघुवृत्ति ही प्राप्त है. किन्तु दुर्भाग्य है कि दार्शनिक चिन्तनों के महासागर जैसी बृहद्वृत्ति अनुपलब्ध है. इस वृत्ति का इन्होंने अपनी शिष्यहिता-लघुवृत्ति के प्रारंभ में "यद्यपि मया तथान्यैः कृताऽस्य विवृतिस्तथापि संक्षेपात्" इस प्रकार निर्देश किया है. इसी बृहद्वृत्ति को लक्ष्य करके इन्होंने नन्दीसूत्र की वृत्ति में भी "साङ्केतिकशब्दार्थसम्बन्धवादिमतमप्यावश्यके विचारयिष्यामः" इस प्रकार का उल्लेख किया है. इस उल्लेख से पता लगता है कि इस बृहद्वृत्ति में इन्होंने कितने दार्शनिक वादों की गहरी समीक्षा की होगी. इस बृहद्वृत्ति का प्रमाण मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने अपने आवश्यकहारिभद्री वृत्ति के टिप्पन में (पत्र २-१) "यद्यपि मया वृत्तिः कृता इत्येवंवादिनि वृत्तिकारे चतुरशीतिसहस्रप्रमाणाऽनेनैवावश्यकवृत्तिरपरा कृताऽऽसीदिति प्रवादः" इस उल्लेख द्वारा ८४००० श्लोक बतलाया है.

आचार्य हरिभद्र अनेक विषयों के महान् ज्ञाता थे. इनकी ग्रन्थरचनाओं का प्रवाह देखने से अनुमान होता है कि ये पूर्वावस्था में सांख्यमतानुयायी रहे होंगे. इन्होंने उस युग के भारतीय दर्शनशास्त्रों का गहराई से अध्ययन करने में कोई कमी नहीं रखी थी. यही कारण है कि इन्होंने अतिगंभीरतापूर्वक समस्त दार्शनिक तत्त्वों का जैनदर्शन के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया है. इन्होंने धर्मसंग्रहणी, पंचवस्तुक, उपदेशपद, विंशतिविंशिका, पंचाशक, योगशतक, श्रावकधर्मविधितंत्र, दिनशुद्धि आदि शास्त्रों का तथा समराइच्चकहा, धूर्ताख्यान आदि कथाओं का प्राकृत भाषा में निर्माण कर प्राकृतभाषा को समृद्ध किया है. इन ग्रन्थों में दार्शनिक, शास्त्रीय, ज्योतिष, योग, चरित्र आदि अनेक विषयों का संग्रह है. इस प्रकार प्राकृतभाषा को इनकी बड़ी देन है. इसी प्रकार संस्कृत में भी इन्होंने अनेकान्तवाद, अनेकान्तजयपताका, न्यायप्रवेश, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय, अष्टकप्रकरण, षोडशकप्रकरण, धर्मबिन्दु, योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, लोकतत्त्वनिर्णय आदि ग्रन्थ बनाये हैं. इस प्रकार संस्कृतभाषा को भी इनकी बड़ी देन है.

(४०) कोट्याचार्य—(वि० ६ वीं शताब्दी) इन्होंने विशेषावश्यकमहाभाष्य पर टीका की है. इसके अलावा इनकी अन्य कोई रचना नहीं मिली है.

(४१) वीराचार्ययुगल—(१ वि० ६-१० शताब्दी और २ वि० १३ श०) आचार्य हरिभद्र उपर्युक्त पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति को पूर्ण किये बिना ही दिवंगत हो गये थे. इसकी पूर्ति वीराचार्य ने की थी. वीराचार्य दो हुए हैं. एक आचार्य हरिभद्र की अपूर्ण वृत्ति को पूर्ण करनेवाले और दूसरे पिण्डनिर्युक्ति की स्वतन्त्र वृत्ति बनाने वाले. इन दूसरे वीराचार्य ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में इस प्रकार लिखा है :

"पञ्चाशकादिशास्त्रव्यूहप्रविधायका विवृतिमस्याः ।
आरेभिरे विधातुं पूर्वं हरिभद्रसूरिवराः ॥७॥
ते स्थापनाख्यदोषं यावद् विवृत्ति विधाय दिवमगमन् ।
तदुपरितनी तु कैश्चिद् वीराचार्यैः समाप्येषा ॥८॥
तत्रामीभिरमुष्याः सुगमा गाथा इमा इति विभाव्य ।
काश्चिन्न व्याख्याताः, या विवृतास्ता अपि स्तोकम् ॥९॥
ताः सम्प्रति मन्दधियां दुर्बोधा इति मया समस्तानाम् ।
तासां व्यक्तव्याख्याहेतोः क्रियते प्रयासोऽयम् ॥१०॥

(४२) **शीलांकाचार्य** (वि० १० श०)—इन्होंने आचारांग व सूत्रकृतांग की टीका की है. इन दो टीकाओं में दार्शनिक पदार्थों की अनेक प्रकार से विचारणा की गई है. आचारांग प्रथम श्रुतस्कंधटीका की समाप्ति वि० सं० ९०७ में हुई है और द्वितीय श्रुतस्कन्धटीका की समाप्ति वि० सं० ९१९ या ९३३ में हुई है. चउप्पन्न महापुरिसचरिय के प्रणेता शीलांक से ये शीलांक भिन्न हैं.

(४३) **वादिवेताल शान्तिसूरि** (वि० ११ वीं शताब्दी)—उत्तराध्ययनसूत्र की पाइयटीका के प्रणेता यही आचार्य हैं. ये विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हुए हैं. गोपालिकमहत्तरशिष्यप्रणीत चूर्णि के बाद अनेक दार्शनिक वादों से पूर्ण समर्थ टीका यही है. इसके बाद जो अनेक टीकाएँ लिखी गई उन सब का मूल स्रोत यही टीका है. इसमें प्राकृत अंश की अधिकता है अतः इसका नाम 'पाइय टीका' प्रचलित हो गया है. आचार्य हरिभद्रविरचित और आचार्य मलयगिरि-विरचित आवश्यकसूत्र की टीकाएँ, द्रोणाचार्य की ओघनिर्युक्तिवृत्ति व नेमिचन्द्रसूरि की उत्तराध्ययनसूत्र की सुखबोधा टीका प्राकृतप्रधान ही है.

(४४) **द्रोणाचार्य** (वि० १२ श०)—ये जैन आगमों के अतिरिक्त स्व-परदर्शनशास्त्रों के भी ज्ञाता आचार्य थे. इन्होंने अभयदेवाचार्यविरचित जैन अंग आगमों की टीकाओं के अतिरिक्त अन्य टीकाग्रन्थों का भी संशोधन आदि किया है. इनकी अपनी एक ही कृति है और वह है ओघनिर्युक्तिवृत्ति.

(४५) **अभयदेवसूरि** (वि० १२ वीं श०)—इन्होंने स्थानांग आदि नौ अंगसूत्रों पर वृत्तियां बनाई हैं अतः ये 'नवाङ्ग-वृत्तिकार' के नाम से पहचाने जाते हैं. इन अंग आगमों में जगह-जगह वर्णक-संदर्भों का निर्देश किया गया है अतः सर्व-प्रथम इन्होंने औपपातिक उपांगसूत्र की वृत्ति बनाई जिससे बार-बार आनेवाले निर्दिष्ट वर्णकस्थानों में एकवाक्यता बनी रहे. आचार्य अभयदेवसूरि की इन वृत्तियों का संशोधन व परिवर्धन उपर्युक्त चैत्यवासी श्रीद्रोणाचार्य ने किया है, जो उस युग के एक महान् आगमधर आचार्य थे. आचार्य अभयदेवसूरि ने अपनी इन वृत्तियों में काफी दत्तचित्त हो कर अपने युग में प्राप्त अनेकानेक प्राचीन-प्राचीनतम सूत्रप्रतियों को एकत्र कर अंगसूत्रों के पाठों को व्यवस्थित करने का महान् कार्य किया है, अतः इनकी वृत्तियों में पाठभेद एवं वाचनान्तर आदि का काफी संग्रह हुआ है. इस कार्य में इनके अनेक विद्वान् शिष्य-प्रशिष्यों ने इन्हें सहायता दी है, इस प्रकार का उल्लेख इन्होंने अपनी ग्रन्थप्रशस्तियों में किया है.

(४६) **मलधारी हेमचन्द्रसूरि** (वि० १२ श०)—ये आचार्य जैन आगमों के समर्थ ज्ञाता थे. इन्होंने जिनभद्रगणि क्षमा-श्रमणविरचित विशेषावश्यकमहाभाष्य पर २८००० श्लोकपरिमित विस्तृत विवरण की रचना वि० सं० ११७५ में की. अनुयोगद्वारसूत्र पर इन्होंने विस्तृत व्याख्या रची है. आवश्यकसूत्र की हारिभद्रीवृत्ति पर विस्तृत टिप्पन भी इन्होंने लिखा है. ये रचनाएं इनके प्रखर पाण्डित्य की सूचक हैं. इन विवरणों के अतिरिक्त इन्होंने प्राचीन शतककर्मग्रन्थवृत्ति, जीवसमासप्रकरणवृत्ति, पुष्पमालाप्रकरण स्वोपज्ञवृत्तियुक्त, भवभावनाप्रकरण स्वोपज्ञवृत्तियुक्त आदि ग्रन्थ भी बनाये हैं. विशेषावश्यकमहाभाष्य की टीका के अन्त में आपने अपनी ग्रन्थरचनाओं का क्रम इस प्रकार दिया है—

"ततो मया तस्य परमपुरुषस्योपदेशं श्रुत्वा विरचय्य झटिति निवेशितमावश्यकटिप्पनकाभिधानं सद्भावनामञ्जूषायां

नूतनफलकम्. ततोऽपरमपि शतकविवरणनामकम्, अन्यदप्यनुयोगद्वारवृत्तिसंज्ञितम्, ततोऽपरमप्युपदेशमालासूत्रा-भिधानम्, अपरं तु तद्वृत्तिनामकम्, अन्यच्च जीवसमासविवरणनामधेयम्, अन्यत्तु भवभावनासूत्रसंज्ञितम् अपरं तु तद्विवरणनाम-कम्, अन्यच्च झटिति विरचय्य तस्याः सद्भावनामञ्जूपाया अङ्गभूतं निवेशितं नन्दिटिप्पनकनामधेयं नूतनं फलकं. एतैश्च नूतनफलकैर्निवेशितैर्वज्रमयीव सञ्जातासौ मञ्जूषा तेषां पापानामगम्या. ततस्तैरतीवच्छलघातितया सञ्चूर्णयितुमारब्धं तद्द्वार-कपाटसम्पुटम्. ततो मया ससम्भ्रमेण निपुणं तत्प्रतिविधानोपायं चिन्तयित्वा विरचयितुमारब्धं तद्द्वारपिधान-हेतोर्विशेषावश्यकविवरणाभिधानं वज्रमयमिव नूतनकपाटसम्पुटम्. ततश्चाभयकुमारगणि-धनदेवगणि-जिनभद्रगणि-लक्ष्मणगणि-विबुधचन्द्रादिमुनिवृन्द-श्रीमहानन्द -श्रीमहत्तरा-वीरमतीगणिन्यादिसाहाय्याद् 'रे रे ! निश्चितमिदानीं हता वयं यद्येतन्निष्पद्यते, ततो धावत धावत गृह्णीत गृह्णीत लगत लगत' इत्यादि पूत्कुर्वतां सर्वात्मशक्त्या प्रहरतां हाहारवं कुर्वतां च मोहादिचरटानां चिरात् कथं कथमपि विरचय्य तद्द्वारे निवेशितमेतदिति." [पत्र १३५६]

इस उल्लेख में आपने नन्दिटिप्पनक रचना का उल्लेख किया है जो आज प्राप्त नहीं है. साथ में यह भी एक बात है कि—इन्हीं के शिष्य श्री श्रीचन्द्रसूरि ने प्राकृत मुनिसुव्रतस्वामिचरित्र के अन्त में श्री हेमचन्द्र सूरि का जीवनचरित्र दिया है जिसमें इनकी ग्रन्थरचनाओं का भी उल्लेख किया है किन्तु उसमें नन्दीसूत्रटिप्पनक के नाम का निर्देश नहीं है, यह आश्चर्य की बात है. मुनिसुव्रतस्वामिचरित्र का उल्लेख इस प्रकार है.

जे तेण सयं रइया गंथा ते संपइ कहेमि ।।४१।।
सुत्तमुवएसमाला-भवभावणपगरणाणि काऊणं ।
गंथसहस्सा चउदस तेरस वित्ती कया जेण ।।४२।।
अणुओगद्दाराणं जीवसमासस्स तह य सयगस्स ।
जेणं छ सत्त चउरो गंथसहस्सा कया वित्ती ।।४२।।
मूलावस्सयवित्तीए उवरि रइयं च टिप्पणं जेण ।
पंच सहस्सपमाणं विसमट्ठाणाववोधयरं ।।४४।।
जेण विसेसावस्सयसुत्तस्सुवरिं सवित्थरा वित्ती ।
रइया परिप्फुडत्था अडवीस सहस्सपरिमाणा ।।४५।।
वक्खाणगुणपसिद्धि सोऊणं जस्स गुज्जरनरिंदो ।
जयसिंहदेवनामो कयगुणिजणमणचमक्कारो ।।४६।।

इस उल्लेख में श्रीहेमचन्द्र सूरि रचित सब ग्रन्थों के नाम और उनका ग्रन्थप्रमाण भी उल्लिखित है. सिर्फ इसमें नन्दी-सूत्रटिप्पनक का नाम शामिल नहीं है. संभावना की जाती है कि इस चरित की प्रारम्भिक नकल करने के समय प्राचीन काल से ही ४४ गाथा के बाद की एक गाथा छूट गई है. अस्तु, कुछ भी हो, श्रीहेमचन्द्रसूरि महाराज ने आप ही अपनी विशेषावश्यकवृत्ति के अन्त में "अन्यच्च झटिति विरचय्य तस्याः सद्भावनामञ्जूपाया अङ्गभूतं निवेशितं नन्दि-टिप्पनकनामधेयं फलकम्" ऐसा उल्लेख किया है, इससे यह बात तो निर्विवाद है कि—आपने नन्दिटिप्पनक की रचना अवश्य की थी, जो आज प्राप्त नहीं है. आज जो नन्दिटिप्पनक प्राप्त है वह शीलभद्रसूरि एवं धनेश्वरसूरि इन दो गुरु के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि का रचित है जो प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी की ओर से छप कर प्रकशित होगा.

(४७) आचार्य मलयगिरि (वि० १२-१३ श०)—इनके गुरु, गच्छ आदि के नाम का कोई पता नहीं लगता. ये गूर्जरेश्वर चौलुक्यराज जयसिंहदेव के माननीय और महाराजा कुमारपालदेव के धर्मगुरु श्रीहेमचन्द्राचार्य के विद्या-आराधना के सहचारी थे. आचार्य हेमचन्द्र के साथ इनका सम्बन्ध अति गहरे पूज्य भाव का था. इसलिए इन्होंने अपनी आवश्यक-वृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र की द्वात्रिंशिका का उद्धरण देते हुए "आह च स्तुतिषु गुरवः' इस प्रकार उनके लिए अत्यादर-गर्भित शब्दप्रयोग किया है. इन्होंने नन्दीसूत्र, भगवती-द्वितीयशतक, राजप्रश्नीय, प्रज्ञापना, जीवाभिगम, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, व्यवहारसूत्र, बृहत्कल्प, आवश्यक, पिण्डनिर्युक्ति एवं ज्योतिष्करण्डक-इन जैन-आगमों पर सपादलक्ष श्लोक-

प्रमाण वृत्तियों की रचना की है. इनकी इन वृत्तियों और धर्मसंग्रहणी, कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि की वृत्तिओं के अवगाहन से पता लगता है कि ये केवल जैन आगमों के ही धुरंधर ज्ञाता एवं पारंगत विद्वान् न थे अपितु गणितशास्त्र, दर्शनशास्त्र एवं कर्मसिद्धान्त में भी पारंगत थे. इन्होंने मलयगिरिशब्दानुशासन नामक व्याकरण की भी रचना की थी. अपने वृत्तिग्रंथों में ये इसी व्याकरण के सूत्रों का उल्लेख करते हैं. इनके जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका ओघनिर्युक्तिटीका, विशेषावश्यकवृत्ति, तत्त्वार्थसूत्रटीका, धर्मसारप्रकरणटीका, देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरणटीका आदि कई ग्रन्थ आज प्राप्त नहीं हैं. इनकी कोई मौलिक कृति उपलब्ध नहीं है. देखा जाता है कि ये व्याख्याकार ही रहे हैं. व्याख्याकारों में इनका स्थान सर्वोत्कृष्ट है.

**(४८) श्रीचन्द्रसूरि (वि० १२-१३ श०)**—श्री श्रीचन्द्रसूरि दो हुए हैं. एक मलधारी श्रीहेमचन्द्रसूरि के शिष्य, जिन्होंने संग्रहणीप्रकरण, मुनिसुव्रतस्वाभिचरित्र प्राकृत, लघुप्रवचनसारोद्धार आदि की रचना की है. दूसरे चन्द्रकुलीन श्रीशीलभद्रसूरि और धनेश्वरसूरि गुरुयुगल के शिष्य, जिन्होंने न्यायप्रवेशपञ्जिका, जयदेव छन्दःशास्त्रवृत्ति-टिप्पनक, निशीथचूर्णिटिप्पनक, नन्दिसूत्रहारिभद्री वृत्तिटिप्पनक, जीतकल्पचूर्णिटिप्पनक, पंचोपांगसूत्रवृत्ति, श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति, पिंड विशुद्धिवृत्ति आदि की रचना की है. यहाँ पर ये दूसरे श्रीचन्द्रसूरि ही अभिप्रेत हैं. इनका आचार्यावस्था के पूर्व में पार्श्वदेवगणि नाम था—ऐसा आपने ही न्यायप्रवेशपञ्जिका की अन्तिम पुष्पिका में सूचित किया है.

**(४९) आचार्य क्षेमकीर्ति (वि० १३३२)**—ये तपागच्छ के मान्य गीतार्थ आचार्य थे. आचार्य मलयगिरिप्रारब्ध बृहत्कल्पवृत्ति की पूर्ति इन्होंने बड़ी योग्यता के साथ की है. आचार्य मलयगिरि ने जो वृत्ति केवल पीठिका की गाथा ६०६ पर्यन्त ही लिखी थी उसकी पूर्ति लगभग सौ वर्ष के बाद में इन्होंने वि० सं० १३३२ में की. इस वृत्ति के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई कृति प्राप्त नहीं हुई है.

**बृहद्भाष्यकारादि [वि० ८ वीं श०]**—यहां पर अनेकानेक प्राचीन स्थविरों का जो महान् आगमधर थे तथा जिनके पास प्राचीन गुरुपरम्पराओं की विरासत थी, संक्षेप में परिचय दिया गया. ऐसे भी अनेक गीतार्थ स्थविर हैं जिनके नाम का कोई पता नहीं है. कल्पबृहद्भाष्यकार आदि एवं कल्पविशेषचूर्णिकार आदि इसी प्रकार के स्थविर हैं जिनकी विद्वत्ता की परिचायक कृतियां आज हमारे सामने विद्यमान हैं.

**अवचूर्णिकारादि [वि० १२ श० से १८ श०]**—ऊपर जैन आगमों के 'धुरंधर स्थविरों का परिचय दिया गया है. इनके बाद एक छोटा किन्तु महत्त्व का कार्य करने वाले जो प्रकीर्णककार, अवचूर्णिकार आदि आचार्य हुए हैं वे भी चिरस्मरणीय हैं. यहा संक्षेप में इनके नामादि का उल्लेख कर देता हूँ—

१. पार्श्वसाधु [वि० सं० ९५६], २. वीरभद्रगणी [वि० सं० १०७८ में आराधनापताका, बृहच्चतुःशरण आदि के प्रणेता], ३. नमिसाधु [सं० ११२३], ४. नेमिचन्द्रसूरि [सं० ११२९], ५. मुनिचन्द्रसूरि [वि० १२वीं शताब्दी; ललित विस्तरापञ्जिका, उपदेशपदटीका, देवेन्द्रनरकेन्द्र प्रकरणवृत्ति, अनेकसंख्यप्रकरण, कुलक आदि के प्रणेता], यशोदेवसूरि [सं० ११८०], ७ वि० जयसिंहसूरि [सं० ११८३, श्रावकप्रतिक्रमणचूर्णि के प्रणेता], ८. तिलकाचार्य [सं० १२९६], ९. सुमतिसाधु [वि० १३वीं श०], १०. पृथ्वीचन्द्रसूरि [वि० १३वीं श०], ११. जिनप्रभसूरि [सं० १३६४], १२. भुवनतुंगसूरि [वि० १४ वीं श०], १३. ज्ञानसागरसूरि [सं० १४४०], १४. गुणरत्नसूरि [वि० १५वीं श०], १५. रत्नशेखरसूरि [सं० १४९६], १६. कमलसंयमोपाध्याय [सं० १५४४], १७. विनयहंसगणी [सं० १५७२], १८. जिनहंससूरि [सं० १५८२], १९. हर्षकुल [सं० १५८३], २०. ब्रह्मर्षि [वि० १६वीं श०], २१. विजयविमलगणी-वानर्षि [सं० १६३४], २२. समयसुन्दरोपाध्याय [वि० १७ वीं श०] २३. धर्मसागरोपाध्याय [सं० १६३९], २४. पुण्यसागरोपाध्याय [सं० १६४५], २५. शान्तिचन्द्रोपाध्याय [सं० १६५०], २६. भावविजयगणि [वि० १७ वीं श०] २७. ज्ञानविमलसूरि [वि० १७वीं श०], २८. लक्ष्मीवल्लभगणि [वि० १७वीं श०], २९-३०. सुमतिकल्लोलगणि व हर्षनन्दनगणि [सं० १७०५, स्थानांग सूत्रवृत्तिगतगाथावृत्ति के रचयिता], ३१. नगर्षि [वि० १८ वीं श०] इत्यादि. इन विद्वान् आचार्यों ने जैन आगमों पर छोटी-बड़ी महत्त्व की वृत्ति, लघुवृत्ति, पंजिका, अवचूरि, अवचूर्णि, दीपिका, दीपक

टिप्पन, विषमपदपर्याय आदि भिन्न भिन्न नामों वाली व्याख्याएं लिखी हैं जो मूलसूत्रों का अर्थ समझने में बड़ी सहायक है. ये व्याख्याएं प्राचीन वृत्तियों के अंशों का शब्दशः संग्रह रूप होने पर भी कभी-कभी इन व्याख्याओं में पारिभाषिक संकेतों को समझाने के लिए प्रचलित देशी भाषा का भी उपयोग किया गया है. कहीं-कहीं प्राचीन वृत्तियों में 'सुगम' 'स्पष्ट' 'पाठसिद्ध' आदि लिखकर छोड़ दिये गये स्थानों की व्याख्या भी इनमें पाई जाती है. इस दृष्टि से इन व्याख्याकारों के भी हम बहुत कृतज्ञ हैं.

## प्राकृत वाङ्मय

भारतीय प्राकृत वाङ्मय अनेक विषयों में विभक्त है. सामान्यतः इनका विभाग इस प्रकार किया जा सकता है :

जैन आगम, जैन प्रकरण, जैन चरित-कथा, स्तुति-स्तोत्रादि, व्याकरण, कोष, छंदःशास्त्र, अलंकार, काव्य, नाटक, सुभाषित आदि. यहां पर इन सबका संक्षेप में परिचय दिया जायगा.

**जैन आगम**—जिस प्रकार वैदिक और बौद्ध साहित्य मुख्य और अवान्तर अनेक विभागों में विभक्त है उसी प्रकार जैन आगम भी अनेक विभागों में विभक्त है. प्राचीन काल में आगमों के अंग आगम और अंगबाह्य आगम या कालिक आगम और उत्कालिक आगम इस तरह विभाग किये जाते थे. अंग आगम वे हैं जिनका श्रमण भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर-पट्टशिष्यों ने निर्माण किया है. अंगबाह्य आगम वे हैं जिनकी रचना श्रमण भगवान् महावीर के अन्य गीतार्थ स्थविरों, शिष्यों-प्रशिष्यों एवं उनके परम्परागत स्थविरों की थी. स्थविरों ने इन्हीं आगमों के कालिक और उत्कालिक ऐसे दो विभाग किये हैं. निश्चित किये गये समय में पढ़े जाने वाले आगम कालिक हैं और किसी भी समय में पढ़े जाने वाले आगम उत्कालिक हैं. आज सैंकड़ों वर्षों से इनके मुख्य विभाग अंग, उपांग, छेद, मूल आगम, शेष आगम एवं प्रकीर्णक के रूप में रूढ़ हैं. प्राचीन युग में इन आगमों की संख्या नंदीसूत्र और पाक्षिकसूत्र के अनुसार चौरासी थी परन्तु आज पैंतालीस है. नंदीसूत्र में एवं पाक्षिकसूत्र में जिन आगमों के नाम दिये हैं उनमें से आज बहुत-से आगम अप्राप्य हैं जब कि आज माने जाने वाले आगमों की संख्या में नये नाम भी दाखिल हो गये हैं जो बहुत पीछे के अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण के भी हैं. आज माने जानेवाले पैंतालीस आगमों में से बयालीस आगमों के नाम नंदीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में पाये जाते हैं किन्तु आज आगमों का जो क्रम प्रचलित है वह ग्यारह अंगों को छोड़कर शेष आगमों का नंदीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में नहीं पाया जाता. नंदीसूत्रकार ने अंग आगम को छोड़कर शेष सभी आगमों को प्रकीर्णकों में समाविष्ट किया है. आगम के अंग, उपांग, छेद, प्रकीर्णक आदि विभागों में से अंगों के बारह होने का समर्थन स्वयं अंग ग्रंथ भी करते हैं. उपांग आज बारह माने जाते हैं किन्तु स्वयं निरयावलिका नामक उपांग में उपांग के पांच वर्ग होने का उल्लेख है. छेद शब्द निर्युक्तियों में निशीथादि के लिए प्रयुक्त है. प्रकीर्णक शब्द भी नंदीसूत्र जितना तो पुराना है ही किन्तु उसमें अंगेतर सभी आगमों को प्रकीर्णक कहा गया है.

अंग आगमों को छोड़कर दूसरे आगमों का निर्माण अलग-अलग समय में हुआ है. पण्णवणा सूत्र श्यामार्यप्रणीत है. दशा, कल्प एवं व्यवहार सूत्र के प्रणेता चतुर्दश पूर्वधर स्थविर आर्य भद्रबाहु हैं. निशीथसूत्र के प्रणेता आर्य भद्रबाहु या विशाखगणि महत्तर हैं. अनुयोगद्वारसूत्र के निर्माता स्थविर आर्यरक्षित हैं. नंदीसूत्र के कर्ता श्री देववाचक हैं. प्रकीर्णकों में गिने जाने वाले चउसरण, आउर पच्चक्खाण, भत्तपरिण्णा और आराधनापताका के रचयिता वीरभद्रगणि हैं. ये आराधनापताका की [प्रशस्ति के 'विक्कमनिवकालाओ अट्ठुत्तरिमे समासहस्सम्मि' और 'अट्ठत्तरिमे समासहस्सम्मि' पाठभेद के अनुसार विक्रम संवत् १००८ या १०७८ में हुए हैं. बृहट्टिप्पणिकाकार ने आराधनापताका का रचनाकाल 'आराधनापताका १०७८ वर्षे वीरभद्राचार्यकृता' अर्थात् सं० १०७८ कहा है. 'आराधनापताका' में ग्रंथकार ने 'आराहणाविहिं पुण भत्तपरिण्णाइ वण्णिमो पुव्विं' (गाथा ५१) अर्थात् 'आराधनाविधि का वर्णन हमने पहले भक्त-परिज्ञा में कर दिया है' ऐसा लिखा है. इस निर्देश से यह ग्रंथ इन्हीं का रचा हुआ सिद्ध होता है. आज के चउसरण एवं आउरपच्चक्खाणके रचना-क्रम को देखने से ये प्रकीर्णक भी इन्हीं के रचे हुए प्रतीत होते हैं. वीरभद्र की यह आराधना

पताका यापनीय 'आचार्यप्रणीत आराधना भगवती' का अनुकरण करके रची गई है. नंदीसूत्र में 'आउरपच्चक्खाण' का जो नाम आता है वह आज के 'आउरपच्चक्खाण से अलग है. सामान्यतः वीरभद्राचार्य को भगवान् महावीर का शिष्य मानते हैं परन्तु उपरोक्त प्रमाण को पढ़ने के बाद यह मान्यता भ्रान्त सिद्ध होती है. इस प्रकार दूसरे आगम भी अलग-अलग समय में रचे हुए हैं. हो सकता है कि रायपसेणीय सूत्र भगवान् महावीर के समय ही में रचा गया हो.

नंदी—पाक्षिक सूत्रों के अनुसार आगमों के चौरासी नामों व आज के प्रचलित आगमों के नामों से विद्वान् परिचित हैं ही अतः उनका उल्लेख न करके मैं मुद्दे की बात कह देता हूं कि—आज अंगसूत्रों में जो प्रश्नव्याकरणसूत्र है वह मौलिक नहीं किन्तु तत्स्थानापन्न कोई नया ही सूत्र है. इस बात का पता नंदीसूत्र व समवायांग के आगम-परिचय से लगता है. आचार्य श्री मुनिचंद्रसूरि ने देवेन्द्र-नरकेन्द्र प्रकरण की अपनी वृत्ति में राजप्रश्नीय सूत्र का नाम 'राजप्रसेनजित्' लिखा है जो नंदी-पाक्षिक सूत्र में दिये हुए 'रायप्पसेणइयं' इस प्राकृत नाम से संगति बैठाने के लिए है. वैसे राजप्रश्नीय में प्रदेशिराजा का चरित्र है. इस आगम को पढ़ते हुए पेतवत्थु नामक बौद्धग्रंथ का स्मरण हो आता हैं.

प्रकीर्णक—सामान्यतया प्रकीर्णक दस माने जाते हैं किन्तु इनकी कोई निश्चित नामावली न होने के कारण ये नाम कई प्रकार से गिनाये जाते हैं. इन सब प्रकारों में से संग्रह किया जाय तो कुल बाईस नाम प्राप्त होते हैं जो इस प्रकार हैं—

१. चउसरण, २. आउरपच्चक्खाण, ३. भत्तपरिण्णा, ४. संथारय, ५. तंदुलवेयालिय, ६. चंदावेज्झय. ७. देविंदत्थय, ८. गणिविज्जा, ९. महापच्चक्खाण, १०. वीरत्थय, ११. इसिभासियाइं, १२. अजीवकप्प, १३. गच्छायार, १४. मरण-समाधि, १५. तित्थोगालि, १६. आराहणपडागा, १७. दीवसागरपण्णत्ति, १८. जोइसकरंडय, १९. अंगविज्जा, २०. सिद्धपाहुड, २१. सारावली, २२. जीवविभत्ति. इन प्रकीर्णकों के नामों में से नंदी-पाक्षिकसूत्र में उत्कालिक सूत्र-विभाग में देविंदत्थय, तंदुलवेयालिय, चंदावेज्झय, गणिविज्जा, मरणविभत्ति-मरणसमाहि, आउरपच्चक्खाण, महापच्चखाण ये सात नाम और कालिक विभाग में इसिभासियाइं, दीवसागरपण्णत्ति ये दो नाम इस प्रकार ९ नाम पाये जाते हैं. फिर भी चउसरण, आज का आउरपच्चक्खाण, भत्तपरिण्णा, संथारय और आराहणपडागा—इन प्रकीर्णकों को छोड़कर दूसरे प्रकीर्णक बहुत प्राचीन हैं, जिनका उल्लेख चूर्णिकारों ने अपनी चूर्णियों में किया है. तंदुलवेयालिय का उल्लेख अगस्त्यचूर्णि (पत्र ३) में है.

जैसे कर्मप्रकृति शास्त्र का कम्पपगडीसंगहणी नाम कहा जाता है, इसी प्रकार दीवसागरपण्णत्ति का दीवसागरपण्णत्ति-संग्रहणी यह नाम संभावित है.

श्वेतांबर मूर्तिपूजक वर्ग तित्थोगालिपइण्णय को प्रकीर्णकों की गिनती में शामिल करता है, किन्तु इस प्रकीर्णक में ऐसी बहुत-सी बातें हैं जो श्वेताम्बरों को स्वप्न में भी मान्य नहीं हैं और अनुभव से देखा जाय तो उसमें आगमों के नष्ट होने का जो क्रम दिया है वह संगत भी नहीं है.

अंगविज्जापइण्णय एक फलादेश का ९००० श्लोक परिमित महत्त्व का ग्रंथ है. इसमें ग्रह-नक्षत्रादि या रेखादि लक्षणों के आधार पर फलादेश का विचार नहीं किया गया है, किन्तु मानव की अनेकविध चेष्टाओं एवं क्रियाओं के आधार पर फलादेश दिया गया है. एक तरह माना जाय तो मानसशास्त्र एवं अंगशास्त्र को लक्ष्य में रखकर इस ग्रंथ की रचना की गई है. भारतीय वाङ्मय में इस विषय का ऐसा एवं इतना महाकाय ग्रंथ दूसरा कोई भी उपलब्ध नहीं हुआ है.

## आगमों की व्याख्या

ऊपर जिन जैन मूल आगमसूत्रों का संक्षेप में परिचय दिया गया है उनके ऊपर प्राकृत भाषा में अनेक प्रकार की व्याख्याएँ लिखी गई हैं. इनके नाम क्रमशः—निर्युक्ति, संग्रहणी, भाष्य, महाभाष्य; ये गाथाबद्ध-पद्यबद्ध व्याख्याग्रंथ हैं. और चूर्णि, विशेष चूर्णि एवं प्राचीन वृत्तियाँ गद्यबद्ध व्याख्याग्रंथ हैं.

निर्युक्तियाँ—स्थविर आर्य भद्रबाहु स्वामी ने दस आगमों पर निर्युक्तियाँ रची हैं, जिनके नाम इन्होंने आवश्यक-निर्युक्ति में इस प्रकार लिखे हैं—

आवस्सयस्स १ दसकालियस्स २ तह उत्तरज्झ ३ मायारे ४ ।
सूयगडे णिज्जुत्तिं ५ वोच्छामि तहा दसाणं च ६ ॥
कप्पस्स य णिज्जुत्तिं, ववहारस्सेव परमनिउणस्स ८ ।
सूरियपण्णत्तीए ९ वोच्छं इसिभासियाणं च १० ॥

इन गाथाओं में सूचित किया है तदनुसार इन्होंने दस आगमों की निर्युक्तियाँ रची थीं. आगमों की अस्तव्यस्त दशा, अनुयोग की पृथक्ता आदि कारणों से इन निर्युक्तियों का मूल स्वरूप कायम न रहकर आज इनमें काफी परिवर्तन और हानि-वृद्धि हो चुके हैं. इन परिवर्तित एवं परिवर्द्धित निर्युक्तिओं का मौलिक परिमाण क्या था ? यह समझना आज कठिन है. खास करके जिन पर भाष्य-महाभाष्य रचे गये उनका मिश्रण तो ऐसा हो गया है कि—स्वयं आचार्य श्री मलयगिरि को बृहत्कल्प की वृत्ति (पत्र १) में यह कहना पड़ा कि—'सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिर्भाष्यं चैको ग्रंथो जातः' और उन्होंने अपनी वृत्ति में निर्युक्ति-भाष्य को कहीं भी पृथक् करने का प्रयत्न नहीं किया है.

सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषितसूत्र की निर्युक्तियाँ उपलब्ध नहीं हैं. उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, दशा इन आगमों की निर्युक्तियों का परिमाण स्पष्टरूप से मालूम हो जाता है आवश्यक, दशकालिक आदि की निर्युक्तियों का परिमाण भाष्यगाथाओं का मिश्रण हो जाने से निश्चित करना कठिन जरूर है, तथापि परिश्रम करने से इसका निश्चय हो सकता है किन्तु कल्प व व्यवहारसूत्र की निर्युक्तियों का परिमाण किसी भी प्रकार निश्चित नहीं किया जा सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि—चूर्णि-विशेष-चूर्णिकारों ने कहीं-कहीं 'पुरातनगाथा, निर्युक्तिगाथा' इत्यादि लिखा है, जिससे निर्युक्तिगाथाओं का कुछ ख्याल आ सकता है तो भी संपूर्णतया निर्युक्तिगाथाओं का विवेक या पृथक्करण करना मुश्किल ही है.

ऊपर जिन निर्युक्तिओं का उल्लेख किया है इनके अतिरिक्त ओघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति और संसक्तनिर्युक्ति ये तीन निर्युक्तियाँ और मिलती हैं. इनमें से ओघनिर्युक्ति आवश्यकनिर्युक्ति में से और पिंडनिर्युक्ति दशवैकालिक निर्युक्ति में से अलग किये गये अंश हैं. संसक्तनिर्युक्ति बहुत बाद की एवं विसंगत रचना है.

स्थविर आर्य भद्रबाहुविरचित निर्युक्तियों के अलावा भाष्य और चूर्णियों में गोविंदनिज्जुत्ति का भी उल्लेख आता है, जो स्थविर आर्य गोविंद की रची हुई थी. आज इस निर्युक्ति का पता नहीं है. यह नष्ट हो गई या किसी निर्युक्ति में समाविष्ट हो गई ? यह कहा नहीं जा सकता. निशीथचूर्णि में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है—"तेण एगिंदिय-जीवसाहणं गोविन्दनिज्जुत्ती कया" इनके अलावा और किसी निर्युक्तिकार का निर्देश नहीं मिलता है. निर्युक्तियों की रचना मूलसूत्रों के अंशों के व्याख्यान रूप होती है.

संग्रहणियां—संग्रहणियों की रचना पंचकल्प महाभाष्य के उल्लेखानुसार स्थविर आर्य कालक की है. पाक्षिकसूत्र में भी "ससुत्ते सअत्थे सगंथे सनिज्जुत्तिए ससंगहणिए" इस सूत्रांश में संग्रहणी का उल्लेख है. इससे भी प्रतीत होता है कि संग्रहणियों की रचना काफी प्राचीन है. आज स्पष्टरूप से पता नहीं चलता है कि—स्थविर आर्य कालक ने कौन से आगमों की संग्रहणियों की रचना की थी ? और उनका परिमाण क्या था ? तो भी अनुमान होता है कि—भगवती-सूत्र, जीवाभिगमोपांग, प्रज्ञापनासूत्र, श्रमणप्रतिक्रमणसूत्र आदि में जो संग्रणियाँ पाई जाती हैं वे ही ये हों. इससे अधिक कहना कठिन है.

भाष्य-महाभाष्य—जैन सूत्रों के भाष्य-महाभाष्यकार के रूप में दो क्षमाश्रमणों के नाम पाये जाते हैं—१ संघदास गणि क्षमाश्रमण और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण. जैन आगमों के महाकाय भाष्य-महाभाष्य निम्नोक्त आठ प्राप्य हैं—१ विशेषावश्यक महाभाष्य २ कल्पलघुभाष्य ३ कल्पबृहद्भाष्य ४ पंचकल्प ४ व्यवहार भाष्य ६ निशीथभाष्य ७ जीतकल्पभाष्य

८ ओघनिर्युक्ति महाभाष्य. कल्पलघुभाष्य एवं पंचकल्पमहाभाष्य के प्रणेता संघदासगणि क्षमाश्रमण हैं व विशेषावश्यक महाभाष्य के प्रणेता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं. दूसरे भाष्य-महाभाष्यों के कर्त्ता कौन हैं, इसका पता अभी तक नहीं लगा है. संघदासगणि जिनभद्रगणि से पूर्ववर्ती हैं. श्रीजिनभद्रगणि महाभाष्यकार के नाम से लब्धप्रतिष्ठ हैं. जिन आगमों पर निर्युक्तियों की रचना है उनके भाष्य, मूल सूत्र व निर्युक्ति को लक्ष्य में रखकर रचे गये हैं. जिनकी निर्युक्तियाँ नहीं हैं उनके भाष्य सूत्र को ही लक्षित करके रचे गये हैं. उदाहरण रूप में जीतकल्पसूत्र और उसका भाष्य समझना चाहिए. महाभाष्य के दो प्रकार हैं—पहला प्रकार विशेषावश्यक महाभाष्य, ओघनिर्युक्ति महाभाष्य आदि हैं, जिनके लघुभाष्य नहीं हैं. वे सीधे निर्युक्ति के ऊपर ही स्वतंत्र महाभाष्य हैं. दूसरा प्रकार लघुभाष्य को लक्षित करके रचे हुए महाभाष्य हैं. इसका उदाहरण कल्पबृहद्भाष्य को समझना चाहिए. यह महाभाष्य अपूर्ण ही मिलता है. निशीथ और व्यवहार के भी महाभाष्य थे, ऐसा प्रघोष चला आता है, किन्तु आज वे प्राप्त नहीं हैं. निशीथमहाभाष्य के अस्तित्व का उल्लेख बृहट्टिप्पनिकाकार—प्राचीन ग्रंथसूचीकार ने अपनी सूची में भी किया है.

ऊपर जिन महाकाय भाष्य—महाभाष्य का परिचय दिया गया है उनके अलावा आवश्यक, ओघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति, दशवैकालिक सूत्र आदि के ऊपर भी लघुभाष्य प्राप्त होते हैं, किन्तु इनका मिश्रण निर्युक्तियों के साथ ऐसा हो गया है कि कई जगह निर्युक्ति-भाष्यगाथा कौन-सी एवं कितनी हैं ? इसका निर्णय करना कठिन हो जाता है. इनमें से भी जब मैंने आवश्यकसूत्र की चूर्णि और हारिभद्री वृत्ति को देखा तब तो मैं असमंजस में पड़ गया. चूर्णिकार कहीं भी 'भाष्यगाथा' नाम का उल्लेख नहीं करते हैं, जबकि आचार्य हरिभद्र स्थान-स्थान पर 'भाष्य और मूलभाष्य' के नाम से अवतरण देते हैं. आचार्य श्री हरिभद्र जिन गाथाओं को मूलभाष्य की गाथाएँ फरमाते हैं उनमें से बहुत-सी गाथाओं का उल्लेख उनपर चूर्णि-चूर्णिकार ने की ही नहीं है. यद्यपि उनमें से कई गाथाओं की चूर्णि पाई जाती है. फिर भी चूर्णिकार ने कहीं भी उन गाथाओं का 'मूल भाष्य' के रूप में उल्लेख नहीं किया है. प्रतीत होता है कि—आचार्य श्री हरिभद्र ने दशवैकालिकनिर्युक्ति की तरह इस वृत्ति में काफी गाथाओं का संग्रह कर लिया है.

चूर्णि—विशेष चूर्णि—आचारांग, सूत्रकृतांग, भगवती सूत्र, जीवाभिगम, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, प्रज्ञापनासूत्र, दशा, कल्प, व्यवहार, निशीथ, पंचकल्प, जीतकल्प, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, पिंडनिर्युक्ति, नन्दीसूत्र, अनुयोगद्वार-अंगुलपदचूर्णि, श्रावकप्रतिक्रमण ईर्यापथिकी आदि सूत्र—इन आगमों की चूर्णियाँ अभी प्राप्त हैं. निशीथसूत्र की आज विशेष चूर्णि ही प्राप्त है. कल्प की चूर्णि-विशेषचूर्णि दोनों ही प्राप्त हैं. दशवैकालिकसूत्र की दो चूर्णियाँ प्राप्त हैं. एक स्थविर अगस्त्यसिंह की और दूसरी अज्ञातकर्तृक है. आचार्य श्री हरिभद्र ने इस चूर्णि का 'वृद्धविवरण' नाम दिया है. अनुयोगद्वार सूत्र में जो अंगुलपद है उस पर आचार्य श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने चूर्णि रची है. चूर्णिकार श्री जिनदास गणि महत्तर और आचार्य श्री हरिभद्र ने अपनी अनुयोगद्वारसूत्र की चूर्णि-वृत्ति में श्री जिनभद्र के नाम से इसी चूर्णि को अक्षरशः ले लिया है. ईर्यापथिकी सूत्रादि की चूर्णि के प्रणेता यशोदेवसूरि हैं, इसका रचनाकाल सं० ११७४ से ११८० का है. श्रावक प्रतिक्रमण चूर्णि श्री विजयसिंह सूरि की रचना है, जो वि० सं ११८२ की है.

ज्योतिष्करंडक प्रकीर्णक पर शिवनंदी वाचक विरचित 'प्राकृत वृत्ति' पाई जाती है, जो चूर्णि में शामिल हो सकती है. आम तौर से देखा जाय तो पिछले जमाने में प्राकृतवृत्तियों को 'चूर्णि' नाम दिया गया है. फिर भी ऐसे प्रकरण अपने सामने मौजूद हैं, जिनसे पता चलता है कि प्राचीन काल में प्राकृत व्याख्याओं को 'वृत्ति' नाम भी दिया जाता था. दशवैकालिकसूत्र के दोनों चूर्णिकारों ने अपनी चूर्णियों में प्राचीन दशवैकालिकव्याख्या का 'वृत्ति' के नाम से जगह जगह उल्लेख किया है.

ऊपर जिन चूर्णियों का उल्लेख किया गया है, उनमें से प्रायः बहुत-सी चूर्णियाँ महाकाय हैं। इन सब चूर्णियों के प्रणेताओं के नाम प्राप्त नहीं होते हैं, फिर भी स्थविर अगस्त्यसिंह शिवनंदि वाचक, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, जिनदास महत्तर, गोपालिकमहत्तरशिष्य—इन चूर्णिकार आचार्यों के नाम मिलते हैं.

चूर्णि-निर्युक्तिओं की रचना पिछले जमाने में बंद हो गई, किन्तु संग्रहणी, भाष्य-महाभाष्य, चूर्णि की रचना का प्रचार बाद में भी चालू रहा है. संस्कृतवृत्तियों की रचना के बाद यद्यपि आगमों पर ऐसा कोई प्रयत्न नहीं हुआ है तो भी आगमों के विषयों को लेकर तथा छोटे-मोटे प्रकरणों पर भाष्य-महाभाष्य-चूर्णि लिखने का प्रयत्न चालू ही रहा है, यह आगे प्रकरणों के प्रसंग में मालूम होगा.

यहाँ पर जैन आगम और प्राकृत व्याख्याग्रन्थों का परिचय दिया गया है ये बहुत प्राचीन एवं प्राकृत भाषा के सर्वोत्कृष्ट अधिकारियों के रचे हुए हैं. प्राकृतादि भाषाओं की दृष्टि से ये बहुत ही महत्त्व के हैं.

## प्रकरण

प्रकरण किसी खास विषय को ध्यान में रखकर रचे गये हैं. मेरी दृष्टि से प्रकरणों को तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है—तार्किक, आगमिक और औपदेशिक.

तार्किक प्रकरण—आचार्य श्रीसिद्धसेन का सन्मतितर्क, आचार्य श्रीहरिभद्र का धर्मसंग्रहणी प्रकरण, उपाध्याय श्री यशोविजयकृत श्रीपूज्यलेख, तत्त्वविवेक, धर्मपरीक्षा आदि का इस कोटि के प्रकरणों में समावेश होता है. यद्यपि ऐसे तार्किक प्रकरण बहुत कम हैं, फिर भी इन प्रकरणों का प्राकृत भाषा के अतिरिक्त तत्त्वज्ञान की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व है.

आगमिक प्रकरण—आगमिक प्रकरणों का अर्थ जैन आगमों में जो द्रव्यानुयोग व गणितानुयोग के साथ संबन्ध रखने वाले विविध विषय हैं उनमें से किसी एक को पसंद करके उसका विस्तृतरूप में निरूपण करनेवाले या संग्रह करनेवाले ग्रंथ प्रकरण हैं. ऐसे प्रकरणों के रचनेवाले शिवशर्म, जिनभद्र क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि, चन्द्रर्षि महत्तर, गर्गर्षि, मुनिचंद्रसूरि, सिद्धसेनसूरि, जिनवल्लभ गणि, अभयदेवसूरि, श्रीचन्द्रसूरि, चक्रेश्वरसूरि, देवेन्द्रसूरि सोमतिलकसूरि, रत्नशेखरसूरि, विजयविमलगणि आदि अनेक आचार्य हुए हैं. इनमें से आचार्य शिवशर्म, चन्द्रर्षि महत्तर, गर्गर्षि, जिनवल्लभगणि, देवेन्द्रसूरि आदि कर्मवादविषयक कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह, प्राचीन कर्मग्रंथ और नव्यकर्मग्रंथ शास्त्रों के प्रणेता हैं. इनमें भी शिवशर्मप्रणीत कर्मप्रकृति और चन्द्रर्षि प्रणीत पंचसंग्रह, व इनकी चूर्णि-वृत्तियाँ महाकाय ग्रंथ हैं. ये दो शास्त्र आगमकोटि के महामान्य ग्रंथ माने जाते हैं. इनके अलावा आचार्य जिनभद्र के संग्रहणी-क्षेत्रसमास-विशेषणवती, हरिभद्रसूरिके पंचाशक-विंशतिविंशिका पंचवस्तुक-उपदेशपद-श्रावकधर्मविधितंत्र-योगशतक-संबोधप्रकरण आदि, मुनिचन्द्रसूरि के अंगुलसप्तति, वनस्पतिसप्तति, आवश्यकसप्तति तथा संख्या बंध कुलक आदि, सिद्धसेनसूरि का १६०६गाथा परिमित प्रवचनसारोद्धारप्रकरण, अभयदेव सूरि के पंच निर्ग्रन्थी संग्रहणी, प्रज्ञापना तृतीय पदसंग्रहणी, सप्ततिकाभाष्य, षट्स्थानक भाष्य, नवतत्त्व भाष्य, आराधनाप्रकरण. श्रीचन्द्रसूरि का संग्रहणीप्रकरण, चक्रेश्वरसूरि के ११२३ गाथा परिमित शतकमहाभाष्य, सिद्धांतसारोद्धार, पदार्थस्थापना, सूक्ष्मार्थसप्तति, चरणकरणसप्तति, सभापंचक स्वरूप प्रकरण आदि, देवेन्द्रसूरि के देववंदनादि भाष्यत्रय, नव्यकर्मग्रंथपंचक, सिद्धदंडिका, सिद्धपंचाशिका आदि, सोमतिलकसूरि का नव्य बृहत्क्षेत्रसमासप्रकरण, रत्नशेखरसूरि के क्षेत्रसमास, गुरुगुण षट्त्रिंशिका आदि प्रकरण हैं। यहाँ मुख्य मुख्य प्रकरणकार आचार्यों के नाम और उनके प्रकरणों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है। अन्यथा प्रकरणकार आचार्य और इनके रचे हुए प्रकरणों की संख्या बहुत बड़ी है. इनमें कितनेक प्रकरणों पर भाष्य, महाभाष्य और चूर्णियाँ भी रची गई हैं.

औपदेशिक प्रकरण— औपदेशिक प्रकरण वे हैं, जिनमें मानवजीवन की शुद्धि के लिए अनेकविध मार्ग दिखलाये गये हैं. ऐसे प्रकरण भी अनेक रचे गये हैं. आचार्य धर्मदास की उपदेशमाला, प्रद्युम्नाचार्य का मूलशुद्धिप्रकरण, श्री शान्तिसूरि का धर्मरत्नप्रकरण, देवेन्द्रसूरिका श्राद्धविधिप्रकरण, मलधारी हेमचन्द्रसूरि का भवभावना और पुष्पमाला प्रकरण, चन्द्रप्रभमहत्तर का दर्शनशुद्धिप्रकरण, वर्द्धमानसूरि का धर्मोपदेशमालाप्रकरण, यशोदेवसूरि का नवपदप्रकरण, आसड के उपदेशकंदली, विवेकमंजरी प्रकरण, धर्मघोषसूरि का ऋषिमंडल प्रकरण आदि बहुत से औपदेशिक छोटे-छोटे प्रकरण हैं, जिनपर महाकाय टीकायें भी रची गई हैं, जिनमें प्राकृत-संस्कृत-अपभ्रंश भाषा में अनेक कथाओं का संग्रह किया गया है. एक रीति से माना जाय तो ये टीकाएं कथा-कोशरूप ही हैं.

## धर्मकथा साहित्य

जैनाचार्यों ने प्राकृत कथासाहित्य के विपय में भी अपनी लेखनी का उपयोग काफी किया है. जैनाचार्यों ने काव्यमय कथाएं लिखने का प्रयत्न विक्रम संवत् प्रारम्भ के पूर्व ही शुरू किया है. आचार्य पादलिप्त की तरंगवती, मलयवती, मगधसेना संघदासगणि वाचक विरचित वसुदेवहिंडी, धूर्ताख्यान आदि कथाओं का उल्लेख विक्रम की पांचवीं छट्ठी सदी में रचे गए भाष्यों में आता है. धूर्ताख्यान तो निशीथचूर्णिकार ने अपनी चूर्णि में [गा० २९६ पत्र १०२-१०५] भाष्य गाथाओं के अनुसार संक्षेप में दिया भी है और आख्यान के अन्त में उन्होंने "सेसं धुत्तक्खाणगाणुसारेण णेयमिति" ऐसा उल्लेख भी किया है. इससे पता चलता है कि—प्राचीनकाल में 'धूर्ताख्यान' नामक व्यंसक कथाग्रन्थ था, जिसका आधार लेकर आचार्य श्रीहरिभद्र ने प्राकृत धूर्ताख्यान की रचना की है. प्राचीन भाष्य आदि में जिन कथा-ग्रन्थों का उल्लेख पाया जाता है उनमें से आज सिर्फ एक श्रीसंघदासगणि का वसुदेवहिंडी ग्रन्थ ही प्राप्त है, जो भी खण्डित है. दाक्षिण्याङ्क आचार्य श्रीउद्योतनसूरि ने अपनी कुवलयमाला कथा की [र० सं० शाके ७००] प्रस्तावना में पादलिप्त, शालवाहन, षट्पर्णक, गुणाढ्य विमलाङ्क, देवगुप्त, रविषेण, भवविरह हरिभद्र आदि के नामों के साथ उनकी जिन रचनाओं का निर्देश किया है उनमें से कुछ रचनाएं प्राप्त हैं, किन्तु पादलिप्त की तरंगवती, षट्पर्णक के सुभाषित आदि रचनाएं, गुणाढ्य की पिशाच भाषामयी बृहत्कथा, विमलाङ्क का हरिवंश, देवगुप्त का त्रिपुरुषचरित्र आदि कृतियाँ आज प्राप्त नहीं हैं. संघदास की वसुदेवहिंडी, धर्मसेन महत्तर का शौरसेनी भाषामय वसुदेव हिंडी द्वितीय खण्ड, विमलाङ्क का पउमचरिय, हरिभद्रसूरि की समराइच्चकहा, शीलाङ्क विमलमति का चउप्पन्न महापुरिसचरिय, भद्रेश्वर की कहावली आदि प्राचीन कथाएं आज प्राप्त हैं. ये सब रचनाएं विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी में हुई हैं. इनके बाद में अर्थात् विक्रम की बारहवीं शताब्दी में चौबीस तीर्थंकरों के चरित्र आदि अनेक चरितों की रचना हुई है, जो अनुमानतः दो-तीन शताब्दियों में हुई है. वर्धमानसूरि—आदिनाथचरित्र और मणोरमा कहा, सोमप्रभाचार्य-सुमतिनाथ चरित और कुमारपालप्रतिबोध, गुणचंद्रसूरि अपरनाम देवभद्रसूरि-पार्श्वनाथचरित, महावीरचरिय और कहारयणकोस, लक्ष्मणगणि—सुपासनाहचरिय, बृहद्गच्छीय हरिभद्रसूरि—चन्द्रप्रभचरित्र और नेमिनाहचरिउ अपभ्रंश, देवसूरि—पद्मप्रभचरित, अजितदेवसूरि-श्रेयांसचरित, देवचन्द्रसूरि—शान्तिनाथचरित्र और मूलशुद्धिप्रकरणटीका, नेमिचन्द्रसूरि—अनन्तनाथचरित्र और महावीरचरित्र, श्रीचन्द्रसूरि—मुनिसुव्रतस्वामिचरित और कुंथुनाथचरित्र, पद्मप्रभसूरि-मुनिसुव्रतचरित्र, मलधारी हेमचन्द्रसूरि—अरिष्टनेमिचरित्र (भवभावनावृत्त्यन्तर्गत), रत्नप्रभसूरि-अरिष्टनेमिचरित, यशोदेवसूरि—चन्द्रप्रभचरित, चन्द्रप्रभोपाध्याय-वासुपूज्य-चरित्र, चन्द्रप्रभसूरि-विजयचन्द्रकेवलिचरित्र, शान्तिसूरि-पृथ्वीचन्द्रचरित्र, विजयसिंहसूरि—भुवनसुन्दरी कहा, धनेश्वर-सुरसुन्दरीकहा आदि प्राकृत कथा-चरितग्रन्थ प्रायः महाकाय ग्रन्थ हैं और विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में ही रचे गये हैं. इनके अतिरिक्त दूसरी भी दश श्रावक चरित, वर्द्धमानदेशना, शालिभद्रादि चरित, ऋषिदत्ताचरित, जिनदत्ताख्यान, कलावईचरिय, दवदंतीकहा, सुसढकहा, मणीवईचरिय, सणंकुमारचरिय, तरंगवती संक्षेप, सीयाचरिय, सिरिवालकहा, कुम्मापुत्तचरिय, मौन एकादशीकहा, जम्बूसामीचरिय, कालिकाचार्यकथा, सिद्धसेनाचार्यादि प्रबंध आदि अनेक छोटी-मोटी प्राकृत रचनाएं प्राप्त होती हैं. ये स्वतन्त्र साधुचरित स्त्री-पुरुष के कथाचरित होने पर भी इनमें प्रसंग-प्रसंग पर अवान्तर कथाएं काफी प्रमाण में आती हैं. इन महाकाय कथा-चरितों की तरह संक्षिप्त कथाचरित के संग्रहरूप महाकाय कथाकोशों की रचना भी बहुत हुई है. वे रचनाएं भद्रेश्वरसूरि की कहावली, जिनेश्वरसूरि का कथाकोश, नेमिचन्द्र-आम्रदेवसूरि का आख्यानकमणिकोश, धर्मघोष का ऋषिमण्डलप्रकरण, भरतेश्वर-बाहुबलि स्वाध्याय आदि हैं.

अपभ्रंश में श्वेताम्बर जैन संप्रदाय में महाकवि धनपाल का सत्यपुरमहावीरस्तोत्र, धाहिल का पउमसिरिचरिउ, जिनप्रभसूरि का वइरसामिचरिउ आदि छोटी-छोटी रचनाएं बहुत पाई जाती हैं, किन्तु बड़ी रचनाएं श्री सिद्धसेनसूरि अपरनाम साधारण कविकृत विलासवई कहा [ग्रं०३६२० रचना सं० ११२३] और हरिभद्रसूरि का नेमिनाहचरिउ [ग्रंथाग्र ८०३२ रचना सं० १२१६] ये दो ही देखने में आती हैं. आचार्य श्री हेमचन्द्र ने सिद्धहेमचन्द्र व्याकरण-अष्ट-

माध्यम में प्राकृतादि भाषाओं के साथ अपभ्रंश भाषाओं को शामिल किया है फिर भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अपभ्रंश भाषा का प्रयोग विशेष नहीं हुआ है.

सामान्यतया श्वेताम्बर आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में सुभाषित और प्रसंगागत कथाओं के लिए इस भाषा का उपयोग किया है. मूलशुद्धिप्रकरणवृत्ति, भवभावनाप्रकरणवृत्ति, आख्यानकमणिकोशवृत्ति, उपदेशमाला दोघट्टिवृत्ति, कुमारपालप्रतिबोध आदि में अपभ्रंश कथाएं आती हैं, जो दो सौ—चार सौ श्लोक से अधिक परिमाण वाली नहीं होती है.

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में इससे विपरीत बात है. दिगम्बर आचार्यों ने धर्मकथाओं के लिए प्राकृत-मागध के स्थान में अपभ्रंश भाषा का ही विशेषरूप से उपयोग किया है. दिगम्बरसम्प्रदाय में शास्त्रीय ग्रन्थों के लिए प्राचीन आचार्यों ने शौरसेनीभाषा का बहुत उपयोग किया है. उन्होंने अतिमहाकाय माने जाएँ ऐसे धवल, जयधवल, महाबवल शास्त्रों की रचना की है. समयसार, पंचास्तिकाय आदि सैंकड़ों शास्त्र भी शौरसेनी में लिखे गये हैं.

## जैनस्तुति स्तोत्रादि

जैनाचार्यों ने स्तुति-स्तोत्रादि साहित्य काफी लिखा है. फिर भी प्रमाण की दृष्टि से देखा जाय तो प्राकृत भाषा में वह बहुत ही कम है. आचार्य पादलिप्त, आचार्य अभयदेव, देवभद्रसूरि, जिनेश्वरसूरि, जिनवल्लभ आदि का समग्र स्तुति-स्तोत्रादि साहित्य एकत्र किया जाय तो मेरा अनुमान है कि वह दो-चार हजार श्लोकोंसे अधिक नहीं होगा. इन स्तोत्रों में यमक, समसंस्कृत प्राकृत, षड्भाषामय स्तोत्रों का समावेश कर लेना चाहिए.

## व्याकरण व कोश

प्राकृतादि भाषाओं के व्याकरणों एवं देशी आदि कोशों का विस्तृत परिचय प्राकृत भाषा के पारंगत डॉ० पिशल ने अपने 'कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ दी प्राकृत लेंग्वेजेज' ग्रन्थ में पर्याप्त मात्रा में दिया है अतः मैं विशेष कुछ नहीं कहता हूं. इस युग में महत्त्वपूर्ण चार प्राकृत शब्दकोश जैन विद्वानों ने तैयार किये हैं.

१. त्रिस्तुतिक आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि का अभिधानराजेन्द्र
२. पंडित हरगोविंददास का पाइयसद्दमहण्णवो
३. स्थानकवासी मुनिश्री रत्नचन्द्रजी का पांच भागों में प्रकाशित अर्धमागधी कोश
४. श्री सागरानन्दसूरि का अल्पपरिचित सैद्धान्तिक शब्दकोश

## काव्य और सुभाषित

प्राकृत भाषा में रचित प्रवरसेन के सेतुबंध महाकाव्य, वाक्पतिराज के गउडवहो, हेमचन्द्र के प्राकृत द्व्याश्रय महाकाव्य आदि से आप परिचित हैं ही. सेतुबंध महाकाव्य का उल्लेख निशीथ सूत्र की चूर्णि में भी पाया जाता है. महाकवि धनपाल ने (वि० ११वीं शती) अपनी तिलकमंजरी आख्यायिका में सेतुबंध महाकाव्य व वाक्पतिराज के गउडवहो की स्तुति—

> जितं प्रवरसेनेन रामेणेव महात्मना, तरत्युपरि यत् कीर्तिसेतुर्वाङ्मयवारिधेः ।
> दृष्ट्वा वाक्पतिराजस्य शक्ति गौडवधोद्धुराम्, बुद्धिः साध्वसरुद्धेव वाचं न प्रतिपद्यते ॥३१॥

इन शब्दों में की है. इसी कवि ने अपनी इस आख्यायिका में—

> प्राकृतेषु प्रबन्धेषु रसनिःष्यन्दिभिः पदैः ।
> राजन्ते जीवदेवस्य वाचः पल्लविता इव ॥२४॥

इस प्रकार आचार्य जीवदेव की प्राकृत कृति का उल्लेख किया है जो आज उपलब्ध नहीं है.

आचार्य दाक्षिण्यांक श्रीउद्योतनकी कुवलयमालाकहा प्राकृत महाकाव्य की सर्वोत्कृष्ट रसपूर्ण रचना है.

हाल कवि की गाथासप्तशती, वज्जालग्ग आदि को सभी जानते हैं. इसी प्रकार लक्ष्मण कवि का गाथाकोश भी उपलब्ध है. समयसुन्दर का गाथाकोश भी मुद्रित हो चुका है. वृहट्टिप्पनिकाकार ने "सुधाकलशाख्यः सुभाषितकोशः पं० रामचन्द्र कृतः" इस प्रकार श्रीहेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र के सुभाषितकोश का नामोल्लेख किया है जो आज अलभ्य है.

ऊपर जिन कथा-चरितादि ग्रंथों के नाम दिये हैं उन सबमें सुभाषितों की भरमार है. यदि इन सबका विभागशः संग्रह और संकलन किया जाय तो प्राकृत भाषा का अलंकार स्वरूप एक बड़ा भारी सुभाषित भण्डार तैयार हो सकता है.

## अलंकारशास्त्र

जैसलमेर के श्री जिनभद्रीय ताडपत्र ज्ञानभडार में प्राकृत भाषा में रचित अलंकारदर्पण नामक एक अलंकार ग्रंथ है जिसके प्रारंभ में ग्रंथकार ने :—

सुंदरपयविण्णासं विमलालंकाररेहिअसरीरं ।
सुइदेविअं च कव्वं च पणविअं पवरवण्णड्ढं ।।३।।

इस आर्या में 'श्रुतदेवता' को प्रणाम किया है. इससे प्रतीत होता है कि—यह किसी जैनाचार्य की कृति है. इसका प्रमाण १३४ आर्या हैं तथा यह हस्तप्रति विक्रम की तेरहवीं शताब्दी पूर्वार्ध में लिखी प्रतीत होती है.

## नाटक व नाट्य शास्त्र

राजा आदि उच्च वर्ग के व्यक्तियों को छोड़ कर नाटकों में शेष सभी पात्र प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करते हैं. यदि हिसाब लगाया जाय तो पता लगेगा कि— सब मिलाकर नाटकों में संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत अधिक नहीं तो कम भी प्रयुक्त नहीं हुई है. अतएव प्राकृत भाषा के साहित्य की चर्चा में नाटकों को भुलाया नहीं जा सकता. स्वतंत्ररूप से लिखे गये नाटकों से तो आप परिचित हैं ही, किंतु कथाग्रंथों के अन्तर्गत जो नाटक आये हैं उन्हीं की विशेष चर्चा यहाँ अभीष्ट है. प्रसंगवशात् यह भी कह दूं कि—आवश्यकचूर्णि में प्राचीन जैन नाटकों के होने का उल्लेख है. शीलांक के चउप्पन्न-महापुरिसचरियं में (वि० १० वीं शती) विबुधानंद नामक एकांकी नाटक है. देवेन्द्रसूरि ने चन्द्रप्रभचरित में वज्रायुध नाटक लिखा है. आचार्य भद्रेश्वर ने कहावली में व देवेन्द्रसूरि ने कहारयणकोस में नाटकाभास नाटक दिये हैं. ये सब कथाचरितान्तर्गत नाटक हैं.

स्वतंत्र नाटकों की रचना भी जैनाचार्यो ने काफी मात्रा में की है. आचार्य देवचंद्र के चंद्रलेखाविजयप्रकरण, विलास-वती नाटिका और मानमुद्राभंजन ये तीन नाटक हैं. मानमुद्राभंजन अभी अप्राप्य है. यशश्चन्द्र का मुद्रित कुमुदचंद्र और राजीमती नाटिका, यशःपालका मोहराजपराजय, जयसिंह सूरि का, हम्मीरमदमर्दन, रामभद्र का प्रबुद्धरौहिणेय, मेघप्रभ का धर्माभ्युदय व बालचंद्र का करुणावज्रायुध नाटक प्राप्त हैं. रामचंद्रसूरि के कौमुदीमित्राणंद नलविलास, निर्भयभीमव्यायोग, मल्लिकामकरंद, रघुविलास व सत्य हरिश्चन्द्र नाटक उपलब्ध हैं; राघवाभ्युदय, यादवाभ्युदय, यदुविलास आदि अनुपलब्ध हैं. इन्होंने नाटकों के अलावा नाट्यविषयक स्वोपज्ञटीकायुक्त नाट्यदर्पण की भी रचना की है. इसके प्रणेता रामचंद्र व गुणचंद्र दो हैं. इन दोनों ने मिलकर स्वोपज्ञटीकायुक्त द्रव्यालंकार की भी रचना की है. नाट्यदर्पण के अतिरिक्त रामचंद्र का नाट्यशास्त्रविषयक 'प्रबंधशत' नामक अन्य ग्रंथ भी था जो अनुपलब्ध है. यद्यपि बहुत से विद्वान् 'प्रबंधशत' का अर्थ 'चिकीर्षित सौ ग्रंथ' ऐसा करते हैं किन्तु प्राचीन ग्रंथसूची में "रामचंद्रकृतं प्रबन्धशतं द्वादशरूपकनाटकादिस्वरूपज्ञापकम्" ऐसा उल्लेख मिलता है. इससे ज्ञात होता है कि 'प्रबंधशत' नामकी इनकी कोई नाट्यविषयक रचना थी.

इनके अतिरिक्त ज्योतिष, रत्नपरीक्षा शास्त्र, अंगलक्षण, आयुर्वेद आदि विषयक प्राकृत ग्रंथ मिलते हैं. आयुर्वेदविषयक एक प्राकृत ग्रंथ मेरे संग्रह में है जिसका नाम 'योगनिधान' है. पं० अमृतलाल के संग्रह में प्राकृतभाषा में रचित काम-शास्त्र का 'मयणमउड' नामक ग्रंथ भी है.

यहाँ पर मैंने आगम और उनकी व्याख्या से प्रारंभ कर विविध विषयों के महत्त्वपूर्ण प्राकृत वाङ्मय का अतिसंक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया है. इससे आपको पता लगेगा कि—प्राकृत भाषा में कितना विस्तृत एवं विपुल साहित्य है और विद्वानों ने इस भाषा को समृद्ध करने के लिए क्या क्या नहीं लिखा ? अपने-अपने विषय की दृष्टि से तो इस समग्र साहित्य का मूल्य है ही, किन्तु इस वाङ्मय में जो सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक विपुल सामग्री भरी पड़ी है, उसका पता सटीक बृहत्कल्पसूत्र, निशीथचूर्णि, अंगविज्जा, चउपन्न महापुरिसचरियं आदि के परिशिष्टों को देखने से लग सकता है. प्राकृत भाषा और उसके सर्वांगीण कोश की सामग्री इस वाङ्मय में से ही पर्याप्तमात्रा में प्राप्त हो सकती है. पूर्वोक्त प्राकृत कोशों में नहीं आये हुए हजारों शब्द इस वाङ्मय से प्राप्त हो सकते हैं. इसी तरह आचार्य हेमचंद्र की 'देसी नाममाला' में असंग्रहीत सैकड़ों देशी शब्द इस वाङ्मय में दिखाई देते हैं. इसके लिए विद्वानों को इसी वर्ष प्रकाशित डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा संपादित प्राकृत कुवलयमाला एवं पं० अमृतलाल भोजक द्वारा संपादित 'चउपन्नमहापुरिसचरियं' की प्रस्तावना एवं शब्दकोशों का परिशिष्ट देखना चाहिए. मेरा मत है कि—भविष्य में प्राकृत भाषा के सर्वांगीण कोश के निर्माताओं को यह समग्र वाङ्मय देखना होगा. यही नहीं अपितु संस्कृत भाषा के कोश के निर्माताओं को भी यह वाङ्मय देखना व शब्दों का संग्रह करना अति आवश्यक है. इसका कारण यह है कि—प्राकृत व संस्कृत भाषा को अपनाने वाले विद्वानों का चिरकाल से अति नैकट्य रहा है. इतना ही नहीं अपितु जो प्राकृत वाङ्मय के निर्माता रहे हैं वे ही संस्कृत वाङ्मय के निर्माता भी रहे हैं. अतः दोनों कोशकारों को एक-दूसरा साहित्य देखना आवश्यक है. अन्यथा दोनों कोश अपूर्ण ही होंगे.

इस आगमादि साहित्य से विद्वानों को आन्तरिक व बाह्य अथवा व्यावहारिक व पारमार्थिक जीवन के साथ संबंध रखने वाले अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है. यद्यपि भारतीय आर्य ऋषि, मुनि एवं विद्वानों का मुख्य आकर्षण हमेशा धार्मिक साहित्य की ओर ही रहा है तथापि इनकी कुशलता यही है कि—इन्होंने लोकमानस को कभी भी नहीं ठुकराया. इसीलिए इन्होंने प्रत्येक विषय को लेकर साहित्य का निर्माण किया है. साहित्य का कोई अंग इन्होंने छोड़ा नहीं है. इतना ही नहीं अपितु अपनी धर्मकथाओं में भी समय-समय पर साहित्य के विविध अंगों को याद किया है. यही कारण है कि—अपनी प्राचीन धर्मकथाओं में धार्मिक सामग्री के अतिरिक्त लोकव्यवहार को स्पर्श करने वाले अनेक विषय प्राप्त होते हैं. उदाहरण के तौर पर कथा-साहित्य में राजनीति, रत्नपरीक्षा, अंगलक्षण, स्वप्नशास्त्र, मृत्युज्ञान आदि अनेक विषय आते हैं. पुत्र-पुत्रियों को पठन, विवाह, अधिकारप्रदान, परदेशगमन आदि अनेक प्रसंगों पर शिक्षा, राजकुमारों को युद्धगमन, राज्यपदारोहण आदि प्रसंगों पर हितशिक्षा, पुत्र-पुत्रियों के जन्मोत्सव, झुलाने, विवाह आदि करने का वर्णन, ऋतुवर्णन, वनविहार, अनंगलेख, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, अलंकारशास्त्र, साहित्यचर्चा आदि विविध प्रसंग; साहूकारों का वाणिज्य-व्यापार, उनकी पद्धति, उनके नियम, भूमि व समुद्र में वाणिज्य के लिए जाना, भूमि व समुद्र के वाहन, व जहाज के प्रकार, तद्विषयक विविध सामग्री, जीवन के सद्गुण-दुर्गुण, नीति-अनीति, सदाचार-दुराचार आदि का वर्णन-इत्यादि सैकड़ों विषयों का इस साहित्य में वर्णन है. ये सभी सांस्कृतिक साधन हैं.

वसुदेव हिंडी प्रथम खंड (पत्र १४५) में चारुदत्त के चरित में चारुदत्त की स्थल संबंधी व सामुद्रिक व्यापारिक यात्रा का अतिरसिक वर्णन है जिसमें देश-विदेशों का परिभ्रमण; सूत्रकृतांग की मार्गव्ययन-निर्युक्ति में (गा० १०२) वर्णित शंकुपथ, अजपथ, लतामार्ग आदि का निर्देश किया गया है. इसमें यात्रा के साधनों का भी निर्देश है. परलोकसिद्धि, प्रकृति-विचार, वनस्पति में जीवत्व की सिद्धि, मांसभक्षण के दोष आदि अनेक दार्शनिक धार्मिक विषय भी पाये जाते हैं. इसी वसुदेवहिंडी के साथ जुड़ी हुई धम्मिल्लहिंडी में "अत्थसत्थे य भणियं—'विसेसेण मायाए सत्थेण य हंतव्वो अप्पणो विवड्ढमाणो सत्तु' त्ति" (पृ० ४५) ऐसा उल्लेख आता है जो बहुत महत्त्व का है. इससे सूचित होता है कि—प्राचीन युग में अपने यहाँ प्राकृत भाषा में रचित अर्थशास्त्र था. श्रीद्रोणाचार्य ने ओघनिर्युक्ति में "चाणक्कए वि भणियं—'जइ काइयं न वोसिरइ तो अदोसो' त्ति" (पत्र १५२-२) ऐसा उल्लेख किया है. यह भी प्राकृत अर्थशास्त्र होने की साक्षी देता है, जो आज प्राप्त नहीं है. इसी ग्रंथ में पाकशास्त्र का उल्लेख भी है जिसका नाम पोरागमसत्थ दिया है.

आज के युग में प्रसिद्ध प्रिन्स ऑफ वेल्स, क्विन मेरी, ट्युटानिया आदि जहाजों के समान युद्ध,विनोद, भोग आदि सब प्रकार की सामग्री से संपन्न राजभोग्य एवं धनाढ्यों के योग्य समृद्ध जहाजों का वर्णन प्राकृत श्रीपालचरित आदि में मिलता है. रत्नप्रभसूरिविरचित नेमिनाथचरित में अलंकारशास्त्र की विस्तृत चर्चा आती है. प्रहेलिकाएं, प्रश्नोत्तर, चित्रकाव्य आदि का वर्णन तो अनेक कथाग्रंथों में पाया जाता है. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र की अर्थदीपिका वृत्ति में (पृ० १२७) मंत्रीपुत्रीकथानक में किसी वादी ने मंत्रीपुत्री को ५६ प्रश्नों का उत्तर प्राकृत भाषा में चार अक्षरों में देने का वादा किया है. मंत्रीपुत्री ने भी 'परवाया' इन चार अक्षरों में उत्तर दिया है. ऐसी क्लिष्टातिक्लिष्ट पहेलियाँ भी इन कथाग्रंथों में पाई जाती हैं.

संक्षेप में कहना यही है कि—प्राकृत के इस वाङ्मय में विपुल ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सामग्री मिल सकती है. यदि इसका पृथक्करण किया जाय तो बहुत महत्त्व की सामग्री एकत्र हो सकती है.

## प्राकृतादि भाषाएं

जहाँ आज तक पाश्चात्य और एतद्देशीय विद्वानों ने प्राकृत भाषा के विषय में पर्याप्त विचार किया हो, विशेषतः प्राकृतादि भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् डॉ० पिशल महाशय ने वर्षों तक इन भाषाओं का अध्ययन करके और चारों दिशाओं के तत्तद्विषयक सैकड़ों ग्रन्थों का अवलोकन, अध्ययन, परिशीलन, चिन्तन आदि करके प्राकृत आदि भाषाओं का महाकाय व्याकरण तैयार किया हो वहाँ इस विषय में कुछ भी कहना एक दुस्साहस ही है. मैं कोई प्राकृतादि भाषाओं का पारप्राप्त विद्वान् नहीं हूँ, फिर भी प्राकृत आदि भाषा एवं साहित्य के अभ्यासी विद्यार्थी की हैसियत से मुझे जो तथ्य प्रतीत हुए हैं उनको मैं आपके सामने रखता हूँ.

प्राकृत आदि भाषाओं के विद्वानों ने १ प्राचीन व्याकरण २ प्राचीन ग्रन्थों में आने वाले प्राकृत भाषा के संक्षिप्त लक्षण और ३ प्राचीन ग्रन्थों में आने वाले प्राकृत भाषाओं के प्रयोगों को ध्यान में रख कर प्राकृतादि भाषाओं के विषय में जो विचार और निर्णय किया है वह पर्याप्त नहीं है. इसके कारण ये हैं—

१. व्याकरणकारों का उद्देश्य भाषा को नियमबद्ध करने का होता है, अतः वे अपने युग के प्रचलित सर्वमान्य तत्तद् भाषाप्रयोगों एवं तत्संवादी प्राचीन मान्य ग्रन्थों के प्रयोगों की अपनी दृष्टि से तुलना करके व्याकरण का निर्माण करते हैं. खास कर उनकी दृष्टि अपने युग की ओर ही रहती है. आज के व्याकरणों को देख कर हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं. अतः इन व्याकरणों से प्राचीन युग की भाषा का पूर्ण पता लगाना असंभव है.

२. प्राचीन व्याख्याग्रन्थ आदि में अर्धमागधी आदि के जो एक-दो पंक्तियों में लक्षण पाये जाते हैं उनसे भी प्राकृत भाषाओं के वास्तविक स्वरूप का पता लगाना पर्याप्त नहीं है. डॉ० पिशल ने अर्धमागधी और मागधी के विषय में जैन व्याख्याकारों के अनेक उल्लेखों को दे कर प्रमाणपुरस्सर विस्तृत चर्चा की है. उसमें मैं इतनी पूर्ति करता हूँ कि—स्वर-व्यञ्जनों के परिवर्तन और विभक्तिप्रयोग आदि के अतिरिक्त तत्कालीन भिन्न-भिन्न प्रान्तीय (जहाँ भगवान् महावीर और उनके निर्ग्रन्थों ने विहार, धर्मोपदेश आदि किया था) शब्दों का स्वीकार या मिश्रण भी अर्धमागधी का लक्षण होने की सम्भावना है. जैन निर्ग्रन्थों को विहार-पादभ्रमण, भिक्षा, धर्मोपदेश, तत्तत्प्रान्तीय शिष्य-प्रशिष्यों के अध्ययन-अध्यापन आदि के निमित्त तत्तद्देशीय जनता के संपर्क में रहना पड़ता है. अतः इनकी भाषा में सहज ही भिन्न-भिन्न प्रान्तीय भाषाओं के स्वर-व्यञ्जनपरिवर्तन, विभक्ति-कारक आदि के प्रयोगों के साथ प्रान्तीय शब्दप्रयोग भी आ जाते हैं. भाषा का इस प्रकार का प्रभाव प्राचीन युग की तरह आज के जैन निर्ग्रन्थों की भाषा में भी देखा जाता है. जैन आगमों के निर्युक्ति-भाष्य-चूर्णि आदि में अनेक स्थानों पर एकार्थक शब्द दिये जाते हैं और वहाँ कहा भी जाता है कि—"भिन्न-भिन्न देशों में रहने वाले शिष्यों को मतिभ्रम न हो इसलिए एकार्थक शब्द दिये हैं". इस उल्लेख से भी यही प्रतीत होता है कि—अर्धमागधी का स्वर-व्यञ्जनादि परिवर्तन आदि के अतिरिक्त 'तत्तत्प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का संग्रह' यह भी एक प्रमुख लक्षण है.

३. वास्तव में प्राकृत भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थ ही इन भाषाओं के पृथक्करण के लिये अकाट्य साधन हैं और सचमुच ही उपर्युक्त दो साधनों की अपेक्षा यह साधन ही अतिउपयुक्त साधन है. इसका उपयोग डॉ० पिशल आदि विद्वानों ने अतिसावधानी से किया भी है, तथापि मैं मानता हूँ कि वह अपर्याप्त है. क्योंकि डॉ० पिशल आदि ने जिस विशाल साहित्य का उपयोग किया है वह प्रायः अर्वाचीन प्रतियों के आधार पर तैयार किया गया साहित्य था जिसमें भाषा के मौलिक स्वरूप आदि का काफी परिवर्तन हो गया है. इसी साहित्य की प्राचीन प्रतियों को देखते हैं तब भाषा और प्रयोगों का महान् वैलक्षण्य नजर आता है. खुद डॉ० पिशल महाशय ने भी इस विषय का उल्लेख किया है. दूसरी बात यह है कि—डॉ० पिशल आदि विद्वानों ने ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर जिनमें प्राकृत भाषाप्रवाहों के मौलिक अंश होने की अधिक संभावना है और जो प्राकृत भाषाओं के स्वरूपनिर्णय के लिये अनिवार्य साधन की भूमिकारूप हैं ऐसे प्राचीनतम जैन आगमों का जो प्राचीन प्राकृतव्याख्या साहित्य है उसका उपयोग बिलकुल किया ही नहीं है. ऐसा अति प्राचीन श्वेतांबरीय प्राकृत व्याख्यासाहित्य जैन आगमों की निर्युक्ति-भाष्य-महाभाष्य-चूर्णियां हैं और इतर साहित्य में कुवलयमालाकहा, वसुदेवहिंडी, चउप्पन्नमहापुरिसचरियं आदि हैं. तथा दिगंबरीय साहित्य में धवल, जयधवल, महाधवल, तिलोयपण्णत्ती आदि महाशास्त्र हैं. यद्यपि दिगंबर आचार्यों के ग्रन्थ ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर श्वेतांबर जैन आगमादि ग्रन्थों की अपेक्षा कुछ अर्वाचीन भी हैं तथापि प्राकृत भाषाओं के निर्णय में सहायक जरूर हैं. मुझे तो प्रतीत होता है कि—प्राकृत भाषाओं के विद्वानों को प्राकृत भाषाओं को व्यवस्थित करने के लिये डॉ० पिशल के प्राकृतव्याकरण की भूमिका के आधार पर पुनः प्रयत्न करना होगा.

यहाँ पर जिस निर्युक्ति-भाष्य-चूर्णि-कथाग्रन्थ आदि श्वेतांबर-दिगंबर साहित्य का निर्देश किया है वह अतिविस्तृत प्रमाण में है और इसके प्रणेता स्थविर केवल धर्मतत्त्वों के ही ज्ञाता थे ऐसा नहीं किन्तु वे प्राकृत भाषाओं के भी उत्कृष्ट ज्ञाता थे. प्राचीन प्राकृत भाषाओं की इनके पास मौलिक विरासत भी थी.

जैन आगमों की मौलिक भाषा अर्धमागधी कही जाती है. उसके स्वरूप का पता लगाना आज शक्य नहीं है. इतना ही नहीं किन्तु वल्लभी में आगमों का जो अन्तिम व्यवस्थापन हुआ उस समय भाषा का स्वरूप क्या था, इसका पता लगाना भी आज कठिन है. इसका कारण यह है कि—आज हमारे सामने उस समय की या उसके निकट के समय की जैन आगमों की एक भी प्राचीन हस्तप्रति विद्यमान नहीं है. इस दशा में भी आज हमारे सामने आचाराङ्ग, सूत्रकृतांग, दशवैकालिक आदि आगमों की चूर्णियां और कुछ जैन आगमों के भाष्य-महाभाष्य ऐसे रह गये हैं जिनके आधार पर वलभीपुस्तकालेखन के युग की भाषा और उसके पहले के युग की भाषा के स्वरूप के निकट पहुँच सकते हैं. क्योंकि इन चूर्णियों में मूलसूत्रपाठ को चूर्णिकारों ने व्याख्या करने के लिये प्रायः अक्षरशः प्रतीकरूप से उद्धृत किया है, जो भाषा के विचार और निर्णय के लिये बहुत उपयोगी है. कुछ भाष्य महाभाष्य और चूर्णियाँ ऐसी भी आज विद्यमान हैं जो अपने प्राचीन रूप को धारण किये हुए हैं. वे भी भाषा के विचार और निर्णय के लिये उपयुक्त हैं. इसके अतिरिक्त प्राचीन चूर्णि आदि व्याख्याग्रन्थों में उद्धरणरूप से उद्धृत जैन आगम और सन्मति, विशेषणवती, संग्रहणी आदि प्रकरणों के पाठ भी भाषा के विचार के लिये साधन हो सकते हैं.

आचार्य श्री हेमचन्द्र ने प्राचीन प्राकृतव्याकरण एवं प्राचीन प्राकृत वाङ्मय का अवलोकन करके और देशी धातुप्रयोगों का धात्वादेशों में संग्रह करके जो अतिविस्तृत सर्वोत्कृष्ट प्राकृत भाषाओं के व्याकरण की रचना की है वह अपने युग के प्राकृत भाषा के व्याकरण और साहित्यिक भाषाप्रवाह को लक्ष्य में रखकर ही की है. यद्यपि उसमें कहीं-कहीं जैन आगमादि साहित्य को लक्ष्य में रखकर कुछ प्रयोगों आदि की चर्चा की है तथापि वह बहुत ही अल्प प्रमाण में है. इस बात का निर्देश मैंने साराभाई नवाब-अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित कल्पसूत्र की प्रस्तावना में [पृ० १४-१५] किया भी है. आचार्य श्रीहेमचन्द्र ने जैन आगम आदि की भाषा और प्रयोगों के विषय में विशेष कुछ नहीं किया है तो भी उन्होंने अपने व्याकरण में जैन आगमों के भाष्य आदि में आनेवाले कुछ व्यापक प्रयोगों का और युष्मद्-अस्मद् आदि शब्दों एवं धातुओं के रूपों का संग्रह जरूर कर लिया है. डॉ० पिशल ने कई रूप नहीं मिलने का अपने व्याकरण में निर्देश किया

है उनमें से वहुत से रूप और प्रयोग जैन आगमों की भाष्य-चूर्णियों में नजर आते हैं. इस दृष्टि से प्राकृत भाषाओं के विद्वानों को ये ग्रन्थ देखना अत्यावश्यक है. इन ग्रन्थों में कई प्रकार के स्वर-व्यञ्जन के विकार वाले प्रयोग, नये-नये शब्द एवं धातु, नये-नये शब्द-धातुओं के रूप, आज के व्याकरणों से सिद्ध न होनेवाले आर्ष प्रयोग और नये-नये देशी-शब्द पाये जाते हैं जिनका उल्लेख पिशल के व्याकरण में नहीं हुआ है. व्याकरण, देशीनाममाला आदि शास्त्र रचने वालों की अमुक निश्चित मर्यादा होती है, इस पर से उनके जमाने में अमुक शब्द, धातुप्रयोग आदि नहीं थे या उनके खयाल में अमुक नहीं आया था, यह कहना या मान लेना संगत नहीं. डॉ० पिशल ने 'खंभ' शब्द का निष्पादन वेद में आनेवाले 'स्कंभ' शब्द से किया है. इस विषय में पिशल के व्याकरण के हिंदी अनुवाद के आमुख में श्रीयुक्त जोषी जी ने 'प्राकृत वैयाकरणों को इस वात का पता नहीं लगा' इत्यादि लिखा है, यह उनका पिशल के व्याकरण का हिंदी अनुवाद करने के आनन्द का भावावेश मात्र है. हमेशा युग-युग में साहित्यनिर्माण का अलग-अलग प्रकार का तरीका होता है. उसके अनुसार ही साहित्य की रचना होती है. आज का युग ऐतिहासिक परीक्षण को आधारभूत मानता है, प्राचीन युग साम्प्रदायिकता को आधारभूत मानकर चलता था. आज के युग के साधन व्यापक एवं सुलभ हैं; प्राचीन युग में ऐसा नहीं था. इन वातों को ध्यान में रखा जाय तो वह युग और उस युग के साहित्य के निर्माता लेश भी उपालम्भ या आक्षेप के पात्र नहीं हैं. अगर देखा जाय तो साधनों की दुर्लभता के युग में प्राचीन महर्षि और विद्वानों ने कुछ कम कार्य नहीं किया है. पिशल के व्याकरण के हिंदी अनुवादक श्रीयुक्त जोषीजी को पाश्चात्य और एतद्देशीय विद्वानों की विपुल विचारसामग्री में से प्राकृत भाषाओं के सम्बन्ध में ज्ञातव्य कोई लेखादि नजर में नहीं आया, सिर्फ उनकी नजर में विदुषी श्रीमती डोल्ची नित्ति के ग्रन्थ का आचार्य श्री हेमचन्द्र एवं डॉ० पिशल के व्याकरण की अतिकटु टीका जितना अंश ही नजर में आया है जिसका सारा का सारा हिन्दी अनुवाद आमुख में उन्होंने भर दिया है जो पिशल के व्याकरण के साथ असंगत है. एक ओर जोषीजी स्वयं डॉ० पिशल को प्राकृतादि भाषाओं के महर्षि आदि विशेषण देते हैं और दूसरी ओर डोल्ची नित्ति के लेख का अनुवाद देते हैं जो प्राकृत भाषा के विद्वानों को समग्रभाव से मान्य नहीं है, यह विलकुल असंगत है. एक दृष्टि से ऐसा कहा जा सकता है कि—श्रीयुक्त जोशीजी ने ऐसा निकृष्ट कोटि का आमुख, जिसमें आप प्राकृत भाषाओं के विषय में ज्ञातव्य एक भी वात लिख नहीं पाये हैं,—लिख कर अपने पाण्डित्यपूर्ण अनुवाद को एवं इस प्रकाशन को दूषित किया है.

डॉ० पिशल का 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' जिसका हिन्दी अनुवाद डॉ० हेमचन्द्र जोषी डी० लिट् ने किया है और जो 'विहार राष्ट्र भाषा परिषद्' की ओर से प्रकाशित हुआ है, उसमें अनुवादक और प्रकाशकों ने वहुत अशुद्ध छपने के लिये खेद व्यक्त किया है और विस्तृत शुद्धिपत्र देने का अनुग्रह भी किया है तो भी परिषद् के मान्य कुशल नियामकों से मेरा अनुरोध है कि ६८ पन्नों का शुद्धिपत्र देने पर भी प्राकृत प्रयोग और पाठों में अव भी काफी अशुद्धियाँ विद्यमान हैं, खास कर जैन आगमों के प्रयोगों और पाठों की तो अनर्गल अशुद्धियाँ रही हैं. इनका किसी जैन आगमज्ञ और प्राकृत भाषाभिज्ञ विद्वान से परिमार्जन विना कराये इसका दूसरा संस्करण न निकाला जाय. शब्दों की सूची को कुछ विस्तृत रूप दिया जाय एवं ग्रन्थ और ग्रन्थकारों के नामों के परिशिष्ट भी साथ में दिये जायँ.

अन्त में अपना वक्तव्य समाप्त करते हुए आप विद्वानों से अभ्यर्थना करता हूँ कि—मेरे वक्तव्य में अपूर्णता रही हो उसके लिये क्षमा करें. साथ ही मेरे वक्तव्य को आप लोगों ने शान्तिपूर्वक सुना है इसके लिये आपको धन्यवाद. साथ ही मैं चाहता हूं कि हमारी इस विद्यापरिषद् द्वारा समान भावपूर्वक संशोधन का जो प्रयत्न हो रहा है उससे विशुद्ध आर्यधर्म, शास्त्र, साहित्य एवं समस्त भारतीय प्रजा की विशद दृष्टि के साथ तात्त्विक अभिवृद्धि-समृद्धि हो.
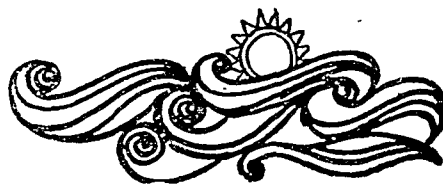
श्रीगोपालनारायण बहुरा

# जैनवाङ्मय के योरपीय संशोधक

योरपनिवासी विद्वानों द्वारा जैन-साहित्य में संशोधन होते प्रायः डेढ सौ वर्षों से भी अधिक समय हो चुका है. बुशनैन (Buchnan) ने मैसूर, कन्नड और मलाबार होते हुए मद्रास में अपने दौरे का वृत्तान्त १८०७ ई० में प्रकाशित कराया था, जिसमें उसने जगह-जगह जैनों का उल्लेख किया है. उसने १८११-१२ ई० में पटना और गया जिलों का भी सर्वेक्षण किया और उसके बारे में भी अपने संस्मरण लिखता रहा. व्ही० एच० जैक्सन द्वारा सम्पादित १९२५ ई० में पटना से प्रकाशित उक्त वृत्तान्त में लिखा है कि उसने महावीर के निर्वाणस्थल[1] की भी यात्रा की थी. इसी प्रकार १८०७ ई० में ही "एशियाटिक रिसर्चेज" के नवें अंक में "जैन वृत्तान्त" (Account of the Jains) के शीर्षक से तीन विवरण प्रकाशित हुए थे, जिनमें उक्त बुशनैन के अतिरिक्त लेफ्टिनण्ट कर्नल मैकेन्जी द्वारा अपनी १७९७ ई० की दैनन्दिनी के आधार पर संगृहीत वृत्तान्त थे. बुशनैन के लेख किसी जैन विद्वान् की टिप्पणियों पर भी आधारित थे और बहुत कुछ कल्पनाधारित एवं अशुद्ध भी थे. जैसे, उसने लिखा है कि बुंदेली, मेवाड़, मारवाड़, कुण्डेर, लाहौर, बीकानेर, जोधपुर आदि स्थानों के बहुत से राजपूत जैन थे. जयपुर के राजा सवाई प्रतापसिंह, सवाई जयसिंह का पुत्र था और उससे पूर्व के सभी राजा जैन थे. वास्तव में, न सवाई प्रतापसिंह सवाई जयसिंह का पुत्र था, न जयपुर का कोई राजा जैन धर्मावलम्बी हुआ. यह अवश्य है कि कितने ही राजाओं ने जैनों को प्रश्रय दिया था. इसके बाद ही कोलब्रूक (१७६५-१८३७ ई० सन्) के विविध लेखों में संगृहीत "जैनमत पर विचार-विमर्श"—परक निबन्ध प्रकट हुए.[2] ये निबन्ध केवल विवरणात्मक न होकर पूर्वोक्त संशोधनों एवं स्वयं कोलब्रूक की संशोधनात्मक आलोचना पर आधारित थे.

परन्तु, यह नहीं मान लेना चाहिए कि वैदेशिकों द्वारा उपरिलिखित उल्लेख ही सर्वप्रथम उल्लेख हैं. ईसा की पाँचवीं शताब्दी में हेसिचिओस (Hesychios) नामक ग्रीक कोशकार ने "जेनोई" (Genoi) शब्द का प्रयोग नग्न-दार्शनिकों के अर्थ में किया है. बाद के विद्वानों ने इस "जेनोई" शब्द को जैनों से सम्बद्ध माना है.

कर्नल मैकेन्जी के संग्रह का विलसन द्वारा संकलित सविवरण सूची-पत्र सर्व-प्रथम १८२८ ई० में प्रकाशित हुआ था, उसमें श्रावकों अथवा जैनों पर डेलामेन (Delamain) और बुशनैन के निबन्धों का सन्दर्भ अवश्य है तथा बाद में

---

१. पोयपुरी (Pauyapury) के पास पोकोरपुर (Pokorpur) में महावीर का मंदिर है. मरण के अनन्तर उनके कुछ अवशेष वहीं पर रहे. बाद में वहाँ पर मंदिर का निर्माण कराया गया.

२. Journal of Francis Buchnan, Ed. V. H. Jackson, 1925, PP. 102-103.
Observations on the Sect of Jainas. Royal Asiatic Society of Great Britain & Ireland, Vol. I.

कलिन व कोलब्रुक द्वारा जैन-मंदिरों के शिलालेखों पर भी अध्ययनात्मक विवरण प्रकाशित हुए हैं, परन्तु सबसे पहली पुस्तक जिसके टाइटल पर "जैन" शब्द अंकित हुआ है वह फ्रेंकलिन लिखित "जैन और बौद्धवादों का संशोधन" (Researches on the Tenets of the Jeynes & Boodhists) है जो १८२७ ई० में सामने आई. विलसन ने अपने सविवरण सूची-पत्र में बहुत-सी जैन-पाण्डुलिपियों का विवरण दिया है, जिनमें से कुछ उसकी निजी थीं और कुछ कलकत्ता संस्कृत कालेज की थीं. १८२८ ई० में प्रकाशित मैकेन्जी संग्रह के कैटलाग में उसने उन ४४ हस्तलिखित ग्रन्थों का भी विवरण दिया है, जो लन्दन में ईस्ट इण्डिया कम्पनी में पहुँच चुके थे.

कोलब्रुक ने आचार्य हेमचन्द्र कृत 'अभिधानचिन्तामणि' और 'कल्पसूत्रादि' विषयक निबन्ध तो लिखे परन्तु इनके सुसम्पादित संस्करण उस समय न निकल सके और बाद में भी बीस वर्ष तक कोई मूलपाठ का-संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ. अन्त में, सैंटपीटर्सवर्ग से 'अभिधानचिन्तामणि' का भूतलिंग (Bohtlingk) और रीउ (Rieu) कृत जर्मन अनुवाद १८४७ ई० में प्रकाशित हुआ तथा कल्पसूत्र एवं नवतत्त्व प्रकरण का अंग्रेजी अनुवाद स्टीवेंसन द्वारा १८४८ ई० में प्रकाश में आया. प्राकृत आगम का अंग्रेजी में अनुवाद करने वाला स्टीवेन्सन ही प्रथम विद्वान् था. बाद में वेबर (Weber) (१८२५-१९०१ ई० सन्) ने धनेश्वर सूरि कृत 'शत्रुञ्जय-माहात्म्य' का सम्पादन करके विस्तृत भूमिका सहित लिपज़िग (Leipzig) से सन् १८५८ ई० में प्रकाशित कराया. इस विद्वान् का जैन-शास्त्रों के अध्ययन के परिणामस्वरूप यह प्रथम प्रयास था...परन्तु आगे चलकर 'भगवतीसूत्र' पर जो कार्य वेबर ने किया वह चिर-स्मरणीय रहेगा. यह ग्रन्थ बर्लिन की विसेन्चाफेन (Wissenchaften) अकादमी से १८६६-६७ ई० में निकला था. अब तो यह प्रायः अप्राप्य हो गया है परन्तु जैन साहित्य के भाषा शास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में एक युग-प्रवर्तक ग्रन्थ समझा जाता है. वेबर की 'जैनों का धार्मिक साहित्य' (Sacred Literature of the Jainas) का अंग्रेजी अनुवाद स्मिथ ने प्रकाशित किया था. विण्डिश (Windisch) ने अपने इण्डो-आर्यन रिसर्च के विश्वकोश (Encyclopedia of Indo-Aryan Research) में इसका सविस्तर विवरण दिया है. तदुपरान्त वेबर ने बर्लिन की रायल लाइब्रेरी में उपलब्ध जैन पाण्डुलिपियों का अध्ययन करके जिन मूलभूत सिद्धान्तों की स्थापना की है[1] वे जैन साहित्य और इतिहास के विवेचन में कभी भुलाए नहीं जा सकते. उक्त पुस्तकालय में बाद में १९४४ ई० तक जो जैन ग्रन्थ खरीदे गए उनका सूचीपत्र वाल्टर शुब्रिङ्ग् (Walther Schubring) ने तैयार किया है, जो लिपज़िग से प्रकाशित हुआ है. इसमें ११२७ ग्रन्थों का विवरण है.

बर्लिन में जो हस्तलिखित जैन ग्रन्थ पहुँचे हैं और जिनका विवरण वेबर ने अपने कैटलाग में किया है उनका मुख्य माध्यम ब्यूह्लर को मानना चाहिए. उस विद्वान् को बम्बई के शिक्षा-विभाग ने कुछ अन्य विद्वानों के साथ तत्तत् क्षेत्रों में दौरा करके निजी संग्रहों का विवरण तैयार करने तथा उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थों को खरीदने के लिये तैनात किया था. ऐसे ग्रन्थों के विषय में भण्डारकर, ब्यूह्लर (१८३७-९८ ई०), कीलहार्न, पीटर्सन और अन्य विद्वानों की रिपोर्ट समय-समय पर प्रकाशित हुई हैं तथा निरीक्षित-परीक्षित ग्रन्थों के विवरण एवं उनके विषय में आवश्यक जानकारी भी उन रिपोर्टों में दी गई है. इस प्रकार खरीदे हुए ग्रन्थ 'डेकन कालेज, पूना' में एकत्र किए गए थे, जो अब भाण्डारकर शोध संस्थान में सुरक्षित हैं. ब्यूह्लर ने सरकारी शिक्षा-विभाग से यह अनुमति प्राप्त कर ली थी कि जिन ग्रन्थों की एकाधिक प्रतियाँ मिलें उनको वह विदेशी पुस्तकालयों के लिए भी खरीद सकेगा. और, यही कारण है कि बर्लिन तक अनेक महत्त्वपूर्ण जैन-ग्रन्थ पहुँच सके तथा वहाँ के अध्यवसायी विद्वानों द्वारा सुसम्पादित होकर उनके बहु-प्रशंसित अद्वितीय संस्करण निकले, जो उनके भाषाशास्त्रीय अध्ययन के प्रति संसार के अग्रणी विद्वानों को आकर्षित करने में समर्थ हुए. यह भी मान लेने में संकोच नहीं करना चाहिए कि इस प्रकार के अध्ययनार्थ एतद्देशीय विद्वानों को मार्गदर्शन करने का श्रेय भी इन्हीं पाश्चात्य विद्वानों को है.

---

१. Indische Studien Vol. XVI. & XVII, 1888-92.

व्यूह्लर और वेबर ने अपनी रिपोर्टों, निवन्धों और स्वतंत्र लेखों के द्वारा अनुवर्त्ती शोधविद्वानों को भी प्रोत्साहित किया. जैकोवी सम्पादित 'कल्पसूत्र' के समीक्षात्मक संस्करण में, जो सन् १८६७ ई० में प्रकाशित हुआ, व्यूह्लर का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है. इसी प्रकार लिउमैन (Leumann १८५६-१६३१ ई० सन्) के 'औपपातिक सूत्र' (१८८३) पर वेबर की स्पष्ट छाप है. ये दोनों ही कृतियाँ प्राचीन भाषाशास्त्र की सर्वोत्तम निधियाँ हैं. जैकोवी (१८६०-१६३७ ई०) ने कल्पसूत्र की जो भूमिका लिखी है वह तो प्रायः अव तक हुए इस दिशा के अनुसंधानों की पृष्ठभूमि ही बन गई हैं. उसने जैन और वौद्धमतों की प्राचीनता के विषय में सभी सन्देहों को निरस्त कर दिया है और यह निर्णय स्थापित किया है कि जैनमत वौद्धमत से बहुत पुराना है. गौतम बुद्ध के समय से बहुत पहले ही जैन-मत का प्रादुर्भाव हो चुका था. वर्द्धमान महावीर जैनमत के आदि प्रवर्तक नहीं थे. वे तो पार्श्वनाथ के उपदेशों के परिष्कारक मात्र थे. उसने यह भी बताया है कि पार्श्वनाथ महावीर से दो सौ पचास वर्ष पूर्व हो चुके थे और महावीर का निर्वाणकाल ४७७ ई० पू० था. टोपरा के शिलालेख से विदित होता है कि अशोक महान् जैनों से 'निगण्ठ' नाम से परिचित था.

योरप में जैन संशोधन की प्रगति को देखते हुए पिशेल (Pischel) ने आशा व्यक्त की थी कि जैनशास्त्रों के मूलपाठों के सम्पादन एवं प्रकाशन के निमित्त एक जैन-ग्रन्थ पाठ-प्रकाशन समिति की स्थापना हो सकेगी, परन्तु उनका यह स्वप्न पूरा न हो सका. इतना अवश्य हुआ कि भारत के जैन-समाज में चेतना आ गई और आगमोदय समिति आदि अनेक संस्थाओं ने इस दिशा में कदम आगे बढ़ाया. अनेक जैन ग्रन्थों का सटिप्पण, सावचूरि एवं निर्युक्ति सहित प्रकाशन हुआ. इससे एक लाभ यह हुआ कि पहले जो मूल ग्रन्थ योरपीय विद्वानों के हाथ लगे थे वे बड़ी अस्तव्यस्त दशा में थे और वे उनके पाठ को ठीक-ठीक समझ नहीं पाते थे. विविध प्रतिलिपिकर्त्ताओं ने लम्बी प्रशस्तियाँ अथवा प्रचलित पाठ का संक्षिप्त रूप देकर उन्हें और भी दुर्गम्य बना दिया था. ऐसी प्रतियों में दिये हुए संकेतों को समझना जैन-विद्वानों की सहायता के बिना संभव नहीं था. व्यूह्लर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि बहुत-सा जैन साहित्य तलघरों में प्रच्छन्न अवस्था में पड़ा है जिसके विषय में स्वयं जैनों को अथवा उन भण्डारों के संरक्षकों तक को ठीक-ठीक पता नहीं है. जैसलमेर के बड़े भण्डार को देखने जब वह गये तो वहाँ ग्रन्थों की संख्या के विषय में कुछ का कुछ बता दिया गया. अस्तु—भारतीय जैन विद्वानों के आगे आने से योरपीय संशोधकों का भी मार्ग बहुत कुछ सरल हो गया और वे इसमें अधिकाधिक रस लेने लगे. इसके फलस्वरूप लिउमैन (Leumann) ने जैन-सिद्धान्तों का अध्ययन करके आवश्यक सूत्रों पर कार्य किया और जैन-कथाओं के विषय में भी अपने अभिमत प्रकट किए. हर्टेल (Hertel) ने कथाओं को लेकर, विशेषतः गुजरात में प्राप्त साहित्य के आधार पर, बहुत अध्ययन किया. उसने इन कथानकों के आधार पर भारतीयेतर साहित्य में भी समानान्तर आधार-कथाओं का अन्वेषण किया.[१] हर्टेल का कहना है कि जैन-कथाओं में संस्कृत भाषा का जो रूप प्रयुक्त हुआ है वह साधारण बोलचाल की भाषा थी, जिसमें प्राकृत अथवा प्रांतीय बोलियों के बहुत से शब्द स्वतः सम्मिलित हो गये हैं. यदि आज की भाषा में कहें तो उन पर आंचलिक छाप लगी हुई है, जो शास्त्रीय व्याकरण-सम्मत भाषा से भिन्न है. वैसे भी, प्राकृत शब्दों, संस्कारित प्राकृत लोकभाषादि के शब्दों, विविध व्याकरणों से लिए हुए शब्दों और अज्ञातमूलक शब्दों का संभार[२] जैन-संस्कृत की विशिष्टता मानी जाती है.

साहित्यिक और ऐतिहासिक अनुसंधान में ग्रन्थ-सूचियाँ बहुत काम की होती हैं. यदि इनको अनुसंधान-भित्ति की आधार-शिलाएँ भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी. इस दिशा में क्लाट (Klatt) ने पहल की थी. उसने जैन-ग्रंथकारों और ग्रंथों की इतनी बड़ी अनुक्रमणिका तैयार की थी कि वह प्रायः ११००-१२०० पृष्ठों में मुद्रित होती. परन्तु दैवदुर्विपाक से वह विद्वान् किसी गम्भीररोग के चक्कर में पड़ गया और कार्य पूरा होने से पूर्व ही चल बसा. वेबर और लिउमैन

---

१. Hisfory of Indian Literature by Winternitz, Pt. II

२. Bloomfield.

ने उस संकलन में से कोई ५५ पृष्ठ नमूने के रूप में छपाए हैं.[1] इसके वाद जैन-ग्रन्थों के सूचीकारों में ग्युरिनाट (Guerinot) का नाम आता है, जिसने अपना "जैन ग्रन्थ-सूची पर निवन्ध" १९०६ ई० में प्रकाशित कराया. इसी प्रकार जैन शिलालेखों पर भी अपना निवन्ध दो वर्ष बाद प्रकट किया. तदनन्तर ल्युडर्स (Luders) ने भी अपने ब्राह्मी-लेखों की सूची में जैन-पट्टावलि और परम्परा पर सम्यक् प्रकाश डाला है.[2]

जब जैन-साहित्य-संशोधन का प्रसंग आता है तो इस बात को भुलाया नहीं जा सकता कि जैन साहित्य के प्रति सर्वप्रथम आकृष्ट करने का श्रेय जार्ज व्यूह्लर को है. उसने बम्बई प्रेसीडेन्सी की सेवा में रहते हुए भारतीय, विशेषत: जैन साहित्य के उद्धार की दिशा में १७ वर्षों तक बहुत बड़ा काम किया है. इसके परिणाम-स्वरूप बहुत से ग्रन्थसंग्रहों के विवरण, अज्ञात ग्रन्थों के मूलपाठ, चूर्णिकायें आदि और अवचूरियाँ प्रकाश में आईं और बहुत से विदेशी विद्वानों ने उन पर काम करके समीक्षात्मक निवन्ध लिखे और लिख रहे हैं. श्रीमती एस०स्टीवेन्सन नाम की महिला गुजरातमें ईसाई धर्म की प्रचारिका होकर आई थी. उन्होंने "The Heart of Jainism" नामक निवन्ध १९१५ में प्रकट किया और उसमें दिगम्बर शाखा की पूर्ण समीक्षा की. इससे पूर्व भी श्रीमती स्टीवेन्सन ने "आधुनिक जैन धर्म" पर अपनी टिप्पणी १९१० ई० में आक्सफॉर्ड से प्रकाशित कराई थी. ग्यूरिनॉट ने "जैनों के धर्म" नामक पुस्तक १९२६ में लिखी और उसमें प्रस्तुत तथ्यों पर विद्वज्जगत् में खूब चर्चा रही. इससे एक वर्ष पूर्व ग्लेसनॅप (Glasenapp) लिखित "Der Janismus, Eine Indische Erlosungureligion नामक पुस्तक सन् १९२५ ई० में प्रकाश में आ चुकी थी, जिसमें जैन और अन्य भारतीय धर्मों का तुलनात्मक समीक्षण किया गया है. इसी लेखक ने एक और पुस्तक लिखी है जिसमें जैन-साहित्य की प्रतिनिधि कृतियों पर मन्तव्य प्रकट किए गए हैं.[3]

बहुत समय तक तो भारतीय जैनों को इस बात का पूरा-पूरा पता ही नहीं चला अथवा बहुत कम पता चला कि उनके साहित्य पर विदेशों में कितना और क्या अनुसंधान हो रहा है. अथवा, अधिक से अधिक उन्हें केवल अंग्रेजी में लिखित पुस्तकों और निवन्धों का ही किसी अंश तक परिचय प्राप्त हो सका. जर्मन और अन्य पाश्चात्य भाषाओं में जो काम हुआ वह तो उनकी पहुँच के बाहर ही रहा. परिणाम यह हुआ कि पाश्चात्यों द्वारा किए हुए श्रम का विवरण प्राय: वहीं तक सीमित रहा. उदाहरणार्थ, जैकावी द्वारा किए गए काम का केवल वही अंश हमारी जानकारी में आया जो अंग्रेजी में था और बहुत कुछ अपरिचित ही रहा. परन्तु, जो कुछ सामग्री भारत में अवगत हो सकी वही जैकोवी साहव को १९१४ ई० में "जैनदर्शनदिवाकर" की पदवी प्राप्त कराने में पर्याप्त सिद्ध हुई. प्राकृत साहित्य पर वैज्ञानिक ढंग से शोध करने वालों में प्रो० जैकावी का नाम सबसे आगे रहेगा.

इसी प्रकार वर्त्तमान में जैन संशोधन के ख्यातनामा विद्वान् वाल्थर शुब्रिङ् ने भी "डाक्ट्रिन् आफ दी जैन्स" नामक पुस्तक लिखकर इस परम्परा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है.

इस लेख द्वारा यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि भारतीय-संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए इन विदेशी विद्वानों ने सबसे प्रथम कदम उठाए और आगे आने वाले संशोधकों के लिए आधारभूमि तैयार की. यद्यपि इनके सभी कथन पूरी तरह से प्रमाणित नहीं हैं, फिर भी, शोध की जिस प्रणाली का सूत्रपात इन लोगों द्वारा हुआ है वह वैज्ञानिक और सुदृढ़ माना जा सकता है.

---

१. Indian Antiquary. P.23, 169

२. एपिग्राफिया एण्डिका भा० १०—परि०

३. Essai de Bibliographie Jaina, Paris, 1906.

श्रीअगरचन्द नाहटा

# रामचरित सम्बन्धी राजस्थानी जैन साहित्य

जैनागमों के अनुसार मर्यादापुरुपोत्तम राम आठवें वलदेव और लक्ष्मण आठवें वासुदेव हैं. रावण को प्रतिवासुदेव माना गया है. इन सब की त्रेसठ शलाका महापुरुषों में गणना होती है. समवायांग सूत्रादि में राम का नाम 'पउम' मिलता है. अतः रामचरित सम्वधी प्राचीन ग्रन्थों का नाम 'पउमचरिय' पद्मचरित व पद्मपुराण पाया जाता है. विमलसूरि रचित 'पउमचरियं' नामक प्राकृत चरितकाव्य सब से पहला ग्रंथ है जिसमें जैनदृष्टिकोण से राम-कथा का निरूपण किया गया है. प्राकृत में मौलिक चरितकाव्यों का प्रारम्भ इसी ग्रंथ से होता है. प्रस्तुत ग्रंथ में उल्लेखानुसार इस ग्रंथ की रचना वीर निर्वाण संवत् ५३० में हुई थी. अपभ्रंश भापा के चरितकाव्य का प्रारम्भ भी रामकथा से ही होता है. कवि स्वयंभू का 'पउमचरिय' अपभ्रंश का सर्वप्रथम विशिष्ट महाकाव्य है. स्वयंभू का समय आठवीं शताव्दी माना जाता है. उपर्युक्त दोनों प्राकृत व अपभ्रंश के रामकाव्य हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुके हैं. प्राकृत पउमचरियं के आधार से आचार्य रविपेण ने संस्कृत पद्मचरित नामक (वि०सं० १२०३) काव्य वनाया. वह भी प्रकाशित हो चुका है. अन्य भी कई रामचरित सम्बन्धी जैन ग्रंथ छपे हैं. अज्ञातकर्तृक 'सीताचरित' नामक प्राकृत काव्य अभी अप्रकाशित है 'चउपन्न महापुरुपचरियं' 'त्रिपष्ठिशलाकापुरुपचरित' और 'महापुराण' में भी रामकथा गुंफित है. ये सभी छप चुके हैं. रामकथा के प्रधानतया दो रूपान्तर[1] जैन साहित्य में प्राप्त होते हैं. 'वसुदेवहिन्डी' नामक पांचवीं शताव्दी के कथाग्रंथ में भी रामकथा संक्षेप में प्राप्त होती है. इस प्रकार रामचरित सम्वन्धी जैन साहित्य प्रचुर परिणाम में प्राप्त है.

प्रस्तुत लेख में राजस्थानी व हिन्दी की रामचरित सम्वन्धी जैन रचनाओं का ही संक्षिप्त विवरण प्रकाशित किया जा रहा है.

राजस्थानी भापा में रामचरित सम्वन्धी रचनाओं का प्रारम्भ १६ वीं शताव्दी से होने लगता है और २० वीं के लगभग ४०० वर्ष तक उसकी परंपरा निरंतर चलती रही है. उपलव्ध राजस्थानी भापा के रामचरित गद्य और पद्य दोनों में प्राप्त हैं. इसी प्रकार जैन और जैनेतर भेद से भी इन्हें दो विभागों में वांटा जा सकता है. इनमें जैन रचनाओं की प्राचीनता व प्रधानता विशेप रूप से उल्लेखनीय है अतः प्रस्तुत लेख में राजस्थानी की रामकथा सम्वन्धी रचनाओं का ही विवरण दिया जाता है.

रामचरित सम्वन्धी राजस्थानी जैन रचनाओं में से कुछ तो सीता के चरित को प्रधानता देती हैं, कुछ रामचरित को.

---

१. देखो नाथूराम प्रेमी लि० पउमचरियं लेख.

कुछ पूर्ण रूप से विस्तार से चरित उपस्थित करती हैं तो कुछ प्रसंग विशेष को संक्षिप्त रूप में. प्राप्त सभी रचनाओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) दि० ब्रह्म जिनदास रचित रामचरित काव्य ही राजस्थानी का सबसे पहिला रामकाव्य है. इस रामायण की रचना सं० १५०८ में हुई है. इसकी हस्तलिखित प्रति डूंगरपुर के दि० जैन मंदिर के शास्त्रभण्डार में है. देखिए—राष्ट्रभारती के दिस० ६३ में प्रकाशित मेरा लेख.

(२) रामसीतारास (भास १२) जिनदास गुणकीर्ति, नैनवा दि० शास्त्रभण्डारस्थ गुटका प्राप्त हुआ है. देखो राष्ट्रभारती फरवरी ६४ में प्रकाशित मेरा लेख.

(३) इसके बाद के राजस्थानी रामकाव्य में 'जैन गुर्जर कविओ' भाग १ के पृष्ठ १६०६ में उपदेश गच्छीय उपाध्याय विनयसमुद्र रचित पद्मचरित का उल्लेख पाया जाता है. यह रामकाव्य सं० १६०४ के फाल्गुन में बीकानेर में रचा गया एवं पद्मचरित्र के आधार से बनाया गया है. विनयसमुद्र के पद्मचरित की प्रति गौडीजी भण्डार उदयपुर में भी है. कवि के सम्बन्ध में राजस्थानभारती में मेरा लेख द्रष्टव्य है.

(४) पिंगलशिरोमणि-सुप्रसिद्ध कवि कुशललाभ ने जैसलमेर के महाराजकुमार हरराज के नाम से यह मारवाडी भाषा का सर्वप्रथम छन्दग्रंथ बनाया है. इसमें उदाहरण रूप में रामकथा वर्णित है. राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर से यह ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है.

(५) सीताचउपई—यह ३२७ पद्यों की छोटी-सी रचना है. इसमें सीता के चरित्र की प्रधानता है. खरतरगच्छ के जिनप्रभ सूरि शाखा के सागरतिलक के शिष्य समयध्वज ने इसकी रचना संवत् १६११ में की. श्रीमाल भरदुला गोत्रीय गूजर वंशीय गढ़मूल के पुत्र भीषण और दरगहमल के लिये इसकी रचना हुई है. इसकी संवत् १७०२ में लिखित १६ पत्र की प्रति हंसविजय लाइब्रेरी, वड़ौदा में है.

(६) सीताप्रबंध—यह ३४६ पद्यों में है. १६२८ में रणथंभोर के शाह चोखा के कहने से यह रचा गया. 'जैनगुर्जर कविओ' भाग ३ पृष्ठ ७३३ में इसका विवरण मिलता है. इसकी प्रति नाहर जी के संग्रह (कलकत्ते) में भी है.

(७) सीताचरित—यह सात सर्गों का काव्य पूर्णिमागच्छीय हेमरतनरचित है. महावीर जैन विद्यालय तथा अनन्तनाथ भंडार बम्बई एवं वड़ौदा में इसकी प्रतियाँ हैं. पद्मचरित्र के आधार से इसकी रचना हुई है. रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया, पर हेमरत्न सूरि के अन्य ग्रंथ संवत् १६३६-४५ में (मारवाड़ में) रचित मिलते है. अतः सीताचरित की रचना इसी के आसपास होनी चाहिए.

रामसीतारास—तपागच्छीय कुशलवर्द्धन के शिष्य नगर्षि ने इसकी रचना १६४६ में की. हालाभाई भंडार, पाटण में इसकी प्रति है. 'जैन गुर्जर कविओ' भाग १ पृष्ठ २९० में इसकी केवल एक ही पंक्ति उद्धृत होने से ग्रंथ की पद्यसंख्यादि परिमाण का पता नहीं चल सका.

(९) लवकुशरास—पीपलच्छ के राजसागर रचित इस रास में राम के पुत्र लव-कुश का चरित्र वर्णित है. पद्यसंख्या ५०५ (ग्रंथाग्र ९००) है. संवत् १६७२ के जेठ सुदि बुधवार को थिरपुर में इसकी रचना हुई है. उपर्युक्त हालाभाई, पाटण भंडार में इसकी १२ पत्रों की प्रति है.

(१०) लवकुश छप्पय गा० ७० भ० महीचन्द्र(डूंगरपुर दि० भ०)

(११) सीताविरह लेख—इसमें ६१ पद्यों में सीता के विरह का वर्णन (पत्रप्रेषण के रूप में) किया गया है. संवत् १६७१ की द्वितीय आषाढ़ पूर्णिमा को कवि अमरचन्द ने इसकी रचना की. जैन गुर्जर कविओ, भाग १, पृष्ठ ५०८ में इसका विवरण मिलता है.

(१२) सीताराम चौपई—महाकवि समयसुन्दर की यह विशिष्ट कृति है. रचनाकाल व स्थान का निर्देश नहीं है. पर इसके प्रारम्भ में कवि ने अपनी अन्य रचनाओं का उल्लेख करते हुए नलदमयंती रास का उल्लेख किया है. जो कि संवत् १६७३ में मेडते में श्री राजमल के पुत्र अमीपाल खेतसी, नेतसी तेजसी, और राजसी के आग्रह से रचा गया है. अतः सीताराम चउपई संवत् १६७३ के बाद ही (इन्हीं राजसी आदि के आग्रह से रचित होने के कारण से) रची गई है. इसके छठे खंड की तीसरी ढाल में कवि ने अपने जन्मस्थान साचोर में उस ढाल को बनाने का उल्लेख किया है. कविवर का रचित साचोर का महावीर स्तवन संवत् १६७७ के माघ में रचा गया है. संभव है, कि उसी के आस पास यह ढाल भी रची गई है. सीताराम चउपई की संवत् १६८३ में लिखित प्रति ही मिलती है. अतः इसका रचनाकाल संवत् १६७३ से १६८३ के बीच का निश्चित है.

प्रस्तुत चउपई नवखंड का महाकाव्य है. नवों रसों का पोषण इसमें किया जाने का उल्लेख कवि ने स्वयं किया है. प्रसिद्ध लोकगीतों की देशियों (चाल) में इस ग्रंथ की ढालें बनाई गई हैं, उनका निर्देश करते हुए कवि ने कौनसा लोकगीत कहाँ कहाँ प्रसिद्ध है, इसका उल्लेख भी किया है. जैसे—

(१) नोखारा गीत—मारुवाड़ि ढूढ़ाड़ि, मांहे प्रसिद्ध छे.

(२) सूमरा गीत—जोधपुर, मेड़ता, नागौर, नगरे प्रसिद्ध छे.

(३) तिल्लीरा गीत—मेडतादिक देशे प्रसिद्ध छे.

(४) इसी प्रकार "जैसलमेर के जादवा' आदि गीतों की चाल में भी ढाल बनाई गई है.

प्रस्तुत ग्रंथ अब हमारे द्वारा संपादित रूप में प्रकाशित होने को है. अतः विशेष परिचय ग्रंथ को स्वयं पढ़कर प्राप्त करें.

(१३) रामयशोरसायन—विजयगच्छ के मुनि केशराज ने संवत् १८८३ के आश्विन त्रयोदशी को अन्तरपुर में इसकी रचना की. ग्रंथ चार खण्डों में विभक्त है. ढालें ६२ हैं. इसका स्थानकवासी और तेरहपंथी सम्प्रदाय में बहुत प्रचार रहा है. उन्होंने अपनी मान्यता के अनुसार इसके पाठ में रद्दोबदल भी किया है. स्थानकवासी समाज की ओर से इसके २-३ संस्करण छप चुके हैं. पर मूल पाठ 'आनन्द काव्य महोदधि' के द्वितीय भाग में ठीक से छपा है. इसका परिमाण समयसुन्दर के सीताराम चौपाई के करीब का है. इसकी दो हस्तलिखित प्रतियां हमारे संग्रह में हैं.

(१४) रामचन्द्र चरित्र—लोंकागच्छीय त्रिविक्रम कवि ने संवत् १६९९ सावण सुदी ५ को हिसार पिरोजा डंग में इसकी रचना की. त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र के आधार से नवखण्डों एवं १३५ ढालों में यह रचा गया है. इसकी १३० पत्रों की प्रति प्राप्त है, जिस के प्रारम्भ के २५ पत्र न मिलने से तीन ढालें प्राप्त नहीं हुई हैं. इस शताब्दी के प्राप्त ग्रंथों में यह सब से बड़ा राजस्थानी रामकाव्य है.

### १८ वीं शताब्दी

(१५) रामायण—खरतरगच्छीय चारित्रधर्म और विद्याकुशल ने संवत् १७२१ के विजयादशमी को सवालखदेस के लवणसर में इसकी रचना की. प्राप्त जैन राजस्थानी रचनाओं में इसकी यह निराली विशेषता है कि कवि ने जैन होने पर भी इसकी रचना जैन रामचरित ग्रंथों के अनुसार न करके, वाल्मीकि रामायण आदि के अनुसार की है—

> वाल्मीक वाशिष्टरिसि, कथा कही सुभ जेह।
> तिण अनुसारे रामजस, कहिये घणे सनेह ॥

सुप्रसिद्ध वाल्मीकि—रामायण के अनुसार इसमें बालकाण्ड, उत्तरकाण्ड आदि सात काण्ड हैं. रचना ढालबद्ध है. ग्रंथ का परिमाण चार हजार श्लोक से भी अधिक का है. सिरोही से प्राप्त इसकी एक प्रति हमारे संग्रह में है.

(१६) सीता आलोयणा—लोंकागच्छीय कुशल कवि ने ६३ पद्यों में सीता के वनवास समय में की गई आत्मविचारणा

का इसमें गुंफन किया है. कवि की अन्य रचनाएं सं० १७४६-८६ की प्राप्त होने से इसका रचनाकाल, १८ वीं शताब्दी निश्चित है.

(१७) सीताहरण चौढालिया—इसमें तपागच्छीय दौलतकीर्ति ने ४६ पद्यों एवं ४ ढालों में सीताहरण के प्रसंग का वर्णन किया है. रचना बीकानेर में संवत् १७८४ में बनाई गई है. इसकी दो पत्रों की प्रति हमारे संग्रह में है.

(१८) रामचन्द्र आख्यान—इसमें धर्मविजय ने ५५ छप्पय (कवित्तों) में रामकथा संक्षेप में वर्णन की है. इसकी पांच पत्रों की प्रति (१९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ की लि०) मोतीचन्द्र जी खजांची के संग्रह में है. अतः रचना १८ वीं शताब्दी की होनी संभव है.

ब्र० जिनदास, गुणकीर्ति महीचन्द्र के रामचरित को छोड़ कर उपर्युक्त सभी रचनाएं श्वेताम्बर विद्वानों की हैं. अन्य दिगम्बर रचनाओं में संवत् १७१३ में रचित—

(१९) सीताचरित हिन्दी में है जो कवि रायचन्द द्वारा रचित है. उसकी १४४ पत्रों की प्रति आमेर भंडार में है. गोविंद पुस्तकालय, बीकानेर में भी इसकी एक प्रति है.

(२०) सीताहरण—दि० जयसागर ने संवत् १७३२ में गंधार नगर में इसकी रचना की. भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी है. उसकी ११३ पत्रों की प्रति उपर्युक्त आमेर भंडार में है.

## १९ वीं शताब्दी

(२१) ढालमंजरी-रामरास—तपागच्छीय सुज्ञानसागर कवि ने संवत् १८२२ मगसिर सुदी १२ रविवार को इसकी उदयपुर में रचना की. भाषा में हिन्दी का प्रभाव भी है. चरित्र काफी विस्तार से वर्णित है. ग्रंथ ९ खण्डों में विभक्त है. इसकी प्रति लींबडी के ज्ञान भंडार में १८१ पत्रों की है. संभवतः राजस्थानी जैन रामचरित्र ग्रंथों में यह सब से बड़ा है. ग्रंथकार बड़े वैरागी एवं संयमी थे. इनकी चौवीसी आदि रचनाएं भी प्राप्त हैं.

(२२) सीता चउपई—तपागच्छीय चेतनविजय ने संवत् १८५१ के वैसाख सुदि १३ को बंगाल के अजीमगंज में इसकी रचना की. इनको अन्य रचनाओं की भाषा हिन्दी प्रधान है. प्रस्तुत चौपाई की १८ पत्रों की प्रति बीकानेर के उ० जयचन्दजी के भंडार व कलकत्ते के श्रीपूर्णचन्द नाहर के संग्रह में है. परिमाण मध्यम है.

(२३) रामचरित—स्था० ऋषि चौथमल ने इस विस्तृत ग्रंथ की रचना की. श्री मोतीचन्दजी खजांची के संग्रह में इसकी दो प्रतियां पत्र ९५ व ८४ की हैं. जिनमें से एक में, अन्त के कुछ पत्र नहीं हैं और दूसरी में अन्त का पत्र होने पर भी चिपक जाने से पाठ नष्ट हो गया है. इसका रचनाकाल सं० १८६२ जोधपुर है. इनकी अन्य रचनाऋषिदत्ता चौपाई सं० १८६४ देवगढ़ (मेवाड़) में रचित है. प्रारम्भिक कुछ पद्यों को पढ़ने पर ज्ञात हुआ कि समयसुन्दर की सीताराम चौपाई के कुछ पद्य तो इसमें ज्यों के त्यों अपना लिये गये हैं.

(२४) रामरासो—लछमण सीता बनवास चौपाई—ऋषि शिवलाल ने संवत् १८८२ के माघ वदि १ को बीकानेर की नाहटों की बगीची में इसकी रचना की. इसमें कथा संक्षिप्त है. १२ पत्रों की प्रति स्व० यति मुकन जी के संग्रह में देखी है.

## २० वीं शताब्दी

(२५) रामसीताढालीया—तपागच्छीय ऋषभविजय ने संवत् १९०३ मिगसिर वदि २ बुधवार को सात ढालों में संक्षिप्त चरित्र वर्णन किया है. भाषा गुजराती प्रधान है.

(२६) बीसवीं के उत्तरार्द्ध में अमोलक ऋषि ने सीताचरित्र बनाया है वह मैंने देखा नहीं है पर उसकी भाषा भी हिन्दी प्रधान होगी.

वीसवीं शती में (२७) शुक्ल जैन रामायण स्था० मुनि—शुक्लचन्द जी.

(२८) सरल जैन रामायण—कस्तूरचन्द्रजी.

(२९) आदर्श जैन रामायण—चौथमल जी ने निर्माण की है.

फुटकर 'सती सीतागीत' आदि तो कई मिलते हैं. गद्य में कई बालाववोध ग्रंथों में 'सीताचरित्र' संक्षेप में मिलता है. उसका यहां उल्लेख नहीं किया जा रहा है. केवल एक मौलिक सीताचरित की अपूर्ण प्राचीन प्रति हमारे संग्रह में है. उसी का कुछ विवरण दिया जा रहा है—

(३०) सीताचरित्र भाषा—इसकी १८ पत्रों की अपूर्ण प्रति हमारे संग्रह में है जो १६ वीं या १७ वीं के आरम्भ की लिखित है अतः इसकी रचना १६ वीं शताब्दी की होनी सम्भव है. इसी तरह का एक अन्य संक्षिप्त सीताचरित्र (गद्य) मुनि जिनविजय जी संग्रह (भारतीय विद्याभवन, बम्बई) में है.

इस प्रकार रामकथा सम्बन्धी यथाज्ञात राजस्थानी—गुजराती व हिन्दी रचनाओं का संक्षिप्त विवरण दिया गया है. खोज करने पर और भी मिलने संभव हैं.
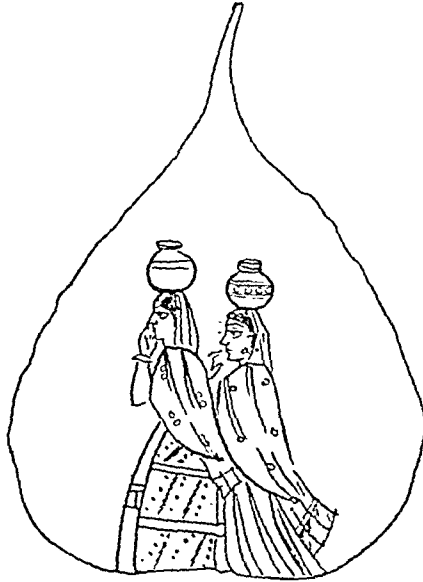
श्रीमहावीर कोटिया

# जैन कृष्ण-साहित्य

श्रीकृष्ण भारत राष्ट्र की अन्यतम विभूति हैं. उनका चरित-वर्णन व्यापक रूप से लोकरुचि का विषय रहा है. राष्ट्र की सभी धार्मिक विचारधाराओं व उनसे प्रभावित साहित्य में उनका (अपनी-अपनी मान्यतानुसार) वर्णन उपलब्ध है. वैष्णव-साहित्य में उनका स्वयं भगवान् का रूप (कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्—भा० पुराण १।३।२२) प्रमुख है; पर इसके आवरण में महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में उनके वीरश्रेष्ठ स्वरूप की ही पूजा हुई है. जैनों के निकट वे शलाका-पुरुष वासुदेव हैं; जो कि महान् वीर व श्रेष्ठ अर्ध चक्रवर्ती शासक होता है. बौद्ध जातक-कथाओं[1] में भी उनका एक वीर, शक्तिशाली व विजेता राजपुरुष के रूप में वर्णन हुआ है. स्पष्ट है कि उक्त धार्मिक विचारधाराओं में चाहे श्रीकृष्ण सम्बन्धी मान्यता की दृष्टि से वाह्य विभिन्नता रही हो, पर मूलतः सभी में उनके वीरश्रेष्ठ स्वरूप का यशो-गान प्रमुख है.

बताया जा चुका है कि जैन परम्परा में श्रीकृष्ण की पुरुषशलाका वासुदेव के रूप में मान्यता है. शलाका पुरुष से तात्पर्य है श्रेष्ठ (महापुरुष) ! शलाका पुरुष त्रेपठ कहे गये हैं; तीर्थंकर २४, चक्रवर्ती १२, वलदेव ६, वासुदेव ६ तथा प्रति-वासुदेव ६. जैन पुराण ग्रन्थों व चरित-काव्यों में इन महापुरुषों का ही जीवन-चरित्र वर्णित हुआ है. श्रीकृष्ण नवमें (या अन्तिम) वासुदेव थे.[2]

वासुदेव श्रीकृष्ण एक शक्तिशाली वीर व अर्ध चक्रवर्ती शासक थे. वैताढ्य गिरि (विन्ध्याचल) से लेकर सागर पर्यन्त सम्पूर्ण दक्षिण भारत के वे एक मात्र अधिपति बताये गये हैं.[3] उत्तर भारत की राजनीति में भी उनका विशिष्ट स्थान था. अपने शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी जरासन्ध व उसके सहायक कौरवों के पराभव के बाद हस्तिनापुर के राज्यसिंहासन पर पाण्डवों को प्रतिष्ठित कर उन्होंने उत्तर भारत में भी अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया. उत्तर-भारत की अन्य बहुत सी राज-नगरियों के अत्याचारी शासकों का दमन कर, उन्होंने उनके उत्तराधिकारियों को उनके स्थान पर प्रति-ष्ठित कर अपने प्रभाव व लोकप्रियता में वृद्धि की. इस तरह जैन-साहित्य के अध्ययन से हमें पता चलता है कि श्रीकृष्ण भारत के ऐसे महापुरुष थे, जिन्होंने देश में बिखरी हुई राजनीतिक शक्तियों को एकत्रित किया और उसमें सफलता भी प्राप्त की.

जैन-कृष्ण-साहित्य के अध्ययन से भारतीय इतिहास के कई लुप्त तथ्य भी हमारे सामने उद्घाटित होते हैं. इनमें से एक

---

१. देखिये 'घतजातक'

२. नवमो वासुदेवोऽयमिति देवा जगुस्तदा—हरिवंशपुराण ५५-६०.

३. वारवईए नयरीए अद्धभरहस्स य समत्तस्स य आहेवच्चं जाव विहरइ—अन्तगडदशासूत्र १.५

तथ्य है, उस समय के धार्मिक नेता अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के साथ श्रीकृष्ण के पारिवारिक सम्बन्धों की जानकारी. अरिष्टनेमि जैन-परम्परा के २२वें तीर्थंकर के रूप में प्रतिष्ठित हैं. महावीर स्वामी के अतिरिक्त जैन-परम्परा के अन्य २३ पूर्व तीर्थंकरों को अब तक अधिकांश लोग कपोल-कल्पना कहते रहे हैं, और बहुत से अब भी कहते हैं. पर यह भ्रम विद्यालयों में पढ़ाये जाने वाले वर्तमान इतिहास का फैलाया हुआ है. जहाँ तक अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता का प्रश्न है; भारत के महान् प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद (अ० ६ मन्त्र २५) यजुर्वेद तथा महाभारत आदि में उनका उल्लेख उपलब्ध है.

जैन-परम्परा से हमें ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण व अरिष्टनेमि चचेरे भाई थे.[1] अरिष्ट नेमि के साथ इस सम्बन्ध के कारण जैन-साहित्य में श्रीकृष्ण का एक विशिष्ट व्यक्तित्व रहा है. एक श्रेष्ठ राज-नेता व अति पराक्रमी वीर पुरुष होने के साथ ही श्रीकृष्ण की धर्म के प्रति अभिरुचि भी प्रबल बताई गई है. नेमिनाथ की अहिंसा-भावना का प्रभाव उनके जीवन में स्पष्ट देखा जा सकता है. उन्होंने वैदिक-काल के हिंसापूरित यज्ञ का विरोध किया, तथा उस यज्ञ को उत्तम बताया जिसमें जीवहिंसा नहीं होती. उन्होंने यज्ञ की अपेक्षा कर्म को महान् बताया. जैन-आगम ग्रन्थों में[2] श्रीकृष्ण से सम्बन्धित ऐसे बहुत से प्रसंग आये हैं, जब कि अरिष्टनेमि के द्वारिका आगमन पर श्रीकृष्ण सब राज्य-कार्यों को छोड़ सकुटुम्ब उनके दर्शन व उपदेश श्रवण को जाया करते थे. वे दीक्षा-समारोह में भी भाग लेते रहते थे. स्वयं उनके कुल के बहुत से सदस्यों ने, जिनमें उनकी अनेक रानियाँ व पुत्र आदि भी थे, अर्हत अरिष्टनेमि से दीक्षा ग्रहण की. श्रीकृष्ण के बहुमुखी व्यक्तित्व के इस पहलू ने उन्हें, जैन-साहित्य में अत्यधिक प्रमुख बना दिया है. अरिष्टनेमि विषयक जितना भी जैन-साहित्य उपलब्ध है, उस सबमें श्रीकृष्ण का चरित-वर्णन अति महत्त्वपूर्ण रहा है; बहुतसी कृतियों में तो वे अरिष्टनेमि से भी अधिक प्रमुख बन गये हैं. इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से भी उनके जीवन-चरित के विभिन्न प्रसंगों का सविस्तार वर्णन हुआ है तथा पाण्डव-गण, गजसुकुमाल व प्रद्युम्नकुमार आदि से सम्बन्धित कृतियों में भी उनका वर्णन अति प्रमुख रहा है. इससे जैन-साहित्यकारों के श्रीकृष्ण-चरित के प्रति आकर्षण का पता लगता है. विभिन्न भारतीय प्राचीन व अर्वाचीन भाषाओं—यथा प्राकृत,संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तामिल, तेलुगु तथा गुजराती आदि में सैकड़ों की मात्रा में कृष्ण-सम्बन्धी कृतियाँ उपलब्ध हैं. प्रस्तुत लेख में प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी भाषा में उपलब्ध जैन-कृष्ण-साहित्य का अति संक्षिप्त-सा परिचय दिया गया है. आशा है यह परिचय जहाँ पाठक को कृष्ण-साहित्य सम्बन्धी नवीन जानकारी देगा, वहीं उसे जैन-साहित्य की विशालता का अनुमान कराने में भी सहायक सिद्ध होगा.

प्राकृत-जैन-कृष्ण-साहित्य—जैनधर्म के मूल ग्रंथ आगम कहे गये हैं. इनका प्ररूपण स्वयं भगवान् महावीर ने किया था, परन्तु संकलन भगवान् के गणधरों [शिष्यों] ने किया. प्राकृत-जैन-कृष्ण साहित्य की दृष्टि से प्रथम स्थान आगम-ग्रंथों का ही है. आगमों का उपलब्ध संकलन ई० सन् की ६ठी शताब्दी का है. आगम ग्रंथों की संख्या ४६ है—अंग १२, उपांग १२, छेदसूत्र ६, मूलसूत्र ४, प्रकीर्णक १०, चूलिका सूत्र २. कृष्णसाहित्य की दृष्टि से निम्न आगमग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं.

[१] स्थानांग—इस सूत्र के आठवें अध्ययन में श्रीकृष्ण की आठ पटरानियों [पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवती, सत्यभामा, और रुक्मिणी] का वर्णन हुआ है.

[२] समवायांग—इस सूत्र में ५४ उत्तम पुरुषों के वर्णन-प्रकरण में श्रीकृष्ण का वर्णन हुआ है. श्रीकृष्ण वासुदेव थे. वासुदेव का प्रतिद्वन्दी प्रतिवासुदेव होता है जो कि दुष्ट, आततायी तथा प्रजा को त्रास देने वाला होता है. वासुदेव का पवित्र कर्तव्य उसका हनन कर पृथ्वी को भार-मुक्त करना है. श्रीकृष्ण ने अपने प्रतिद्वन्दी प्रतिवासुदेव जरासन्ध का वध किया था.

---

१. उत्तराध्ययन २२.२

२. अन्तगडदसा ३. २३, ५. २, ६. ८. (ज्ञातृधर्मकथा) १. ५ निरयावलिका ५.१२.

[३] ज्ञातृधर्मकथा—इस अंगग्रंथ के पहले स्कन्ध के पाँचवें तथा सोलहवें अध्ययन में श्रीकृष्ण का वर्णन हुआ है. पाँचवें अध्ययन में अर्हत् अरिष्टनेमि का रैवतक पर्वत पर आगमन, कृष्ण का दलबल सहित उनके दर्शन व उपदेशश्रवण को जाना तथा थावच्चापुत्र की प्रव्रज्या का वर्णन है. सोलहवें अध्ययन में पाण्डवों का वर्णन है. पाण्डवों की मां कुन्ती श्रीकृष्ण की बुआ थी.

[४] अन्तकृद्दशा—इसमें अन्तकृत् केवलियों की कथाएँ हैं. आठ वर्ग (अध्ययनों के समूह) हैं. इस ग्रंथ में कृष्णकथा के विभिन्न अंगों का स्थान-स्थान पर वर्णन हुआ है. प्रथम वर्ग के पहले अध्ययन में श्रीकृष्ण का द्वारिका के राजा के रूप में उल्लेख हुआ है. तीसरे वर्ग के आठवें अध्ययन में कृष्ण के सहोदर गजसुकुमाल का प्रसिद्ध जैन आख्यान है. पांचवें वर्ग के प्रथम अध्ययन में द्वारिकाविनाश व श्रीकृष्ण की मृत्यु का वर्णन है.

[५] प्रश्नव्याकरण—उपलब्ध प्रश्नव्याकरण सूत्र के दो खण्ड हैं. पहले में पाँच आस्रवद्वारों का और दूसरे में पाँच संवरद्वारों का वर्णन है. प्रथम खण्ड के चौथे द्वार में श्रीकृष्ण के युद्ध करने और रुक्मिणी तथा पद्मावती को पाने का उल्लेख है.

[६] निरयावलिका—इसके पाँचवें उपांग वृष्णिदशा के १२ अध्ययन हैं, जिनमें प्रथम अध्ययन में द्वारवती नगरी के राजा कृष्ण वासुदेव का वर्णन है. अरिष्टनेमि विहार करते हुये रैवतक पर्वत पर पधारे. कृष्ण वासुदेव हाथी पर सवार हो दल-बल सहित उनके दर्शन व उपदेशश्रवण को गये.

[७] उत्तराध्ययन—कहा जाता है, इसमें भगवान् महावीर के अन्तिम चातुर्मास के समय दिये गये उपदेशों का संग्रह है. इसमें ३६ अध्ययन हैं. २२ वें अध्ययन में जैन-कृष्ण-कथा के एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग का उल्लेख है. यह प्रसंग है श्रीकृष्ण द्वारा अरिष्टनेमि के विवाह का प्रबन्ध करना, भोज के लिये इकट्ठे किये गए पशुओं की करुण पुकार सुन अरिष्टनेमि को वैराग्य हो जाना तथा रैवतक पर्वत पर जाकर उनका तपस्या करना. इस अध्ययन से श्रीकृष्ण का जन्म सोरियपुर में होना प्रतीत होता है.

आगमेतर प्राकृत कृष्णसाहित्य—आगमेतर साहित्य में (आगम-व्याख्या साहित्य के अतिरिक्त) कृष्ण-कथा का वर्णन करने वाला प्रथम ग्रंथ 'हरिवंसचरियं' कहा जाता है. इसके रचयिता विमलसूरि थे, जिन्होंने चरित-साहित्य के प्रसिद्ध ग्रंथ 'पउमचरिय' की रचना की है. परन्तु उक्त ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है. विमलसूरि का समय वि० की प्रथम शताब्दी निश्चित किया जाता है.[1]

[१] वसुदेवहिण्डी—यह एक विशाल ग्रंथ है. इसके पूर्वार्द्धभाग के रचयिता संघदास गणि तथा उत्तर भाग के रचयिता धर्मदास गणि कहे गये हैं. संघदास गणि का समय ई० सन् की लगभग पाँचवीं शताब्दी कहा गया है.[2] ग्रंथ का मुख्य विषय श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण (हिंडन) का वर्णन करना है. ग्रंथ के दूसरे भाग पीठिया (पीठिका) में श्रीकृष्ण की अग्रमहिषियों का परिचय, रुक्मिणी से प्रद्युम्नकुमार का जन्म, उसका अपहरण, पूर्वभव, माता-पिता से पुनः मिलना, जाम्बवती से शंबुकुमार का जन्म आदि का वर्णन मिलता है. हरिवंश कुल की उत्पत्ति तथा कंस के पूर्वभवों का वर्णन भी मिलता है. कौरव-पाण्डवों का उल्लेख भी मिलता है. इस ग्रन्थ के पूर्वभाग में ११ हजार श्लोक तथा उत्तरभाग में १७ हजार श्लोक हैं.[3]

[२] चउप्पन महापुरिसचरियं—यह शीलाचार्य (शीलांकसूरि) की रचना है. इस ग्रंथ में जैनधर्म के मान्य ५४ शलाका

---

१. जैन साहित्य और इतिहास—श्री नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ ८७.

२. प्राकृत सा० का इतिहास—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, पृ० ३८१

३. सोमदेवविरचित कथासरित्सागर की भूमिका —डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १३.

पुरुषों का वर्णन हुआ है. ६ प्रतिवासुदेवों को अलग न गिनकर वासुदेवों के साथ ही गिन लिया गया है. इस रचना का समय ई० सन् ८६८ बताया जाता है.[1]

[३] भव-भावना—इसके कर्त्ता मलधारि हेमचन्द्र सूरि कहे गये हैं. इन्होंने वि० सं० ११७० (सन् ११२३) में उक्त ग्रन्थ की रचना की.[2]

कृति में १२ भावनाओं का वर्णन है. कुल ५३१ गाथाएँ हैं. हरिवंश कुल का विस्तार से वर्णन हुआ है. कंस का वृत्तान्त, वसुदेवचरित, देवकी से वसुदेव जी का विवाह, कृष्ण-जन्म, कंसवध, नेमिनाथ-चरित आदि का सुन्दर वर्णन हुआ है. यह प्रकाशित रचना है.

इन्हीं कवि की एक अन्य कृति 'उपदेशमालाप्रकरण' है. इसमें जैन-तत्त्वोपदेश से सम्बन्धित कितनी ही धार्मिक व लौकिक कथाएँ दी हुई हैं. तपद्वार में वसुदेव-चरित का वर्णन हुआ है. यह भी प्रकाशित रचना है.

[४] कुमारपाल-पडिबोह—इस कृति के रचयिता सोमप्रभ सूरि, आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे. इसकी रचना वि० सं० १२४१ में हुई. इस कृति में उन शिक्षाओं का संग्रह है जो समय-समय पर आचार्य ने गुजरात के चालुक्यवंशी राजा कुमारपाल को दीं. दृष्टान्त रूप में ५४ कथाएँ भी दी गई हैं. इस क्रम में मद्यपान के दुर्गुण बताते हुये द्वारिकादहन की कथा तथा तप का महत्त्व बतलाते हुये रुक्मिणी की कथा आई है.

[५] कण्हचरियं—प्रस्तुत कृति में जैन-पुराणों में वर्णित कृष्ण-कथा को ही प्रस्तुत किया गया है. रचयिता तपागच्छीय देवेन्द्र सूरि हैं, जिन्हें जगच्चन्द्रसूरि का शिष्य बताया गया है. देवेन्द्रसूरि का स्वर्गवास सन् १२७० में हुआ.[3] कृति के मुख्य विषय इस प्रकार हैं—वसुदेवचरित, कंस की जन्मकथा, कृष्ण-बलदेव के पूर्वभव, कृष्ण-जन्म, नेमिनाथ जी के पूर्व भव व उनका जन्म, कंसवध, द्वारिका नगरी का निर्माण, कृष्ण की अग्रमहिषियों का वर्णन, प्रद्युम्न-जन्म, पाण्डवों का वर्णन, जरासन्ध से श्रीकृष्ण का युद्ध, श्रीकृष्ण की विजय, नेमिनाथ-राजुल का कथानक, द्रौपदीहरण व श्रीकृष्ण का उसे वापिस लौटा लाना, गजसुकुमारचरित, थावच्चापुत्र का वृत्तान्त, यादवों की दीक्षा, द्वारिका-दहन, बलराम व कृष्ण का द्वारिका से प्रस्थान, श्रीकृष्ण की मृत्यु, बलदेव जी का विलाप व दीक्षा, पाण्डवों की दीक्षा व नेमिनाथ का निर्वाण आदि.

प्राकृत की उक्त कृतियों के अतिरिक्त आगमों के व्याख्या-साहित्य तथा कथा-संग्रहों में, यथा-कथाकोषप्रकरण, कथारत्न-कोष, आख्यानमणिकोष आदि में भी कृष्ण-कथा के विभिन्न प्रसंग यत्र-तत्र वर्णित हुए हैं.

**संस्कृत का जैन-कृष्ण-साहित्य :**—जैनों का संस्कृत साहित्य विक्रम की प्रथम शताब्दी से ही उपलब्ध है. चरितसाहित्य की दृष्टि से संस्कृतभाषा का प्रथम ग्रन्थ रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराण है. इसकी रचना सन् ६७६ में हुई.[4] इसमें राम की कथा वर्णित है. कृष्ण-कथा की दृष्टि से प्रथम कृति हरिवंशपुराण है.

(१) हरिवंशपुराण :—जैन-साहित्य में इस ग्रन्थ का एक विशिष्ट स्थान रहा है. यह एक विशाल ग्रन्थ है. ६६ सर्गों में विभक्त १२ हजार श्लोक परिमित है. ग्रन्थ का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय तीर्थंकर नेमिनाथ का वंश हरिवंश है. ग्रन्थ के १८ वें सर्ग से लेकर ६३ वें सर्ग तक यादव कुल तथा श्रीकृष्ण का चरित वर्णन किया गया है.

ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रम की नवमी शताब्दी का मध्य भाग है. यह ग्रन्थ शक संवत् ७०५ (वि० संवत् ८४०) में

---

१. प्राकृत और उसका साहित्य—डा० हरदेव बाहरी.

२. प्राकृत सा० का इतिहास—डा० जगदीशचन्द्र जैन पृ० ५०५.

३. वही पृ० ५६१.

४. जिनसेनकृत हरिवंशपुराण की भूमिका—नाथूराम प्रेमी पृ० ३.

पूर्ण हुआ.[1] इसके रचयिता पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेन थे.[2]

(२) **महापुराण:**—यह भी जैन-कृष्ण-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है. इसके दो भाग हैं—प्रथम आदिपुराण, द्वितीय उत्तर पुराण. यह सम्पूर्ण ग्रन्थ ७६ पर्वों में समाप्त हुआ है. इसकी श्लोकसंख्या २० हजार प्रमाण है. इसके प्रथम ४२ पर्व (सर्ग) व ४३ वें पर्व के ३ पद्य आचार्य जिनसेन के लिखे हुए हैं. ये जिनसेन हरिवंशपुराण के कर्ता से भिन्न हैं. ये पंचस्तूपान्वय सम्प्रदाय के थे.[3] शेष ग्रन्थ आचार्य के प्रकाण्ड पण्डित व सिद्धहस्त कवि शिष्य गुणभद्र ने पूरा किया. उत्तरपुराण के ७१, ७२, व ७३ वें पर्व में कृष्ण-कथा का वर्णन हुआ है. उत्तरपुराण की समाप्ति शक संवत् ७७५ (वि० संवत् ९१०) के लगभग बताई जाती हैं.[4]

(३) **द्विसन्धान या राघव-पाण्डवीय महाकाव्य :**—कवि धनंजय द्वारा लिखित यह एक अद्‌भुत महाकाव्य है. इसके प्रत्येक पद्य से दो अर्थ प्रकट होते हैं, जिनसे एक अर्थ में राम-कथा तथा द्वितीय में कृष्ण-कथा का सृजन होता है. इसके १८ सर्ग हैं. श्रीनाथूरामजी प्रेमी इस कवि का समय वि० की आठवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक मानते हैं.[5]

(४) **प्रद्युम्नचरित :**—लाट-वर्गट संघ के आचार्य महासेन इस ग्रन्थ के रचयिता हैं. इसकी रचना का समय वि० सं० १०३१ से १०६६ के मध्य बताया जाता है.[6] यह एक खण्डकाव्य है. इसके नायक श्रीकृष्ण के प्रबल पराक्रमी पुत्र प्रद्युम्नकुमार हैं, जिन्हें जैनपरम्परा में २१वां कामदेव माना गया है. इसकी कथा का आधार जिनसेनकृत हरिवंश पुराण है. यह प्रकाशित रचना है.[7]

(५) **त्रिशष्ठिशलाका-पुरुष चरित्र :**—प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता 'कलिकालसर्वज्ञ' विरुद से विभूपित आचार्य हेमचन्द्र हैं. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने आचार्य हेमचन्द्र के लिए 'मध्यकालीन साहित्यसंस्कृति के चमकते हुये हीरे' का विशेषण प्रयुक्त किया है.[8] इनका समय वि० संवत् ११४५-१२२९ निश्चित है. इनकी प्रस्तुत कृति में जैन-परम्परा में मान्य ६३ शलाका-पुरुषों का चरित-वर्णन हुआ है.

(६) **महापुराण :**—इसके रचयिता मल्लिषेण सूरि हैं. ये विविध विषयों के पंडित तथा उच्चश्रेणी के कवि थे. महापुराण में कुल दो हजार श्लोक हैं और इन्हीं में त्रैषठ-शलाका पुरुषों की कथा संक्षेप में वर्णित हुई है. यह वि० संवत् ११०४ की रचना है:

(७) **भट्टारक सकलकीर्ति व उसके ग्रन्थ :**—१५ वीं शताब्दी में भट्टारक सकलकीर्ति संस्कृत के अच्छे विद्वान् और कवि हुए. जयपुर के विभिन्न ग्रन्थभण्डारों में इनके लिखे कई ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध हैं. कृष्णसाहित्य की दृष्टि से इनके दो ग्रन्थ 'उत्तरपुराण' व 'प्रद्युम्नचरित' उल्लेखनीय हैं. ये मूलसंघान्वयी थे.

(८) **भट्टारक शुभचन्द्रकृत पाण्डवपुराण :**—मूलसंघ के ही भट्टारक शुभचन्द्र अद्‌भुत विचारक, विख्यात विद्वान् तथा प्रबल तार्किक थे. इनके पाण्डवपुराण ग्रन्थ की प्रशस्ति में इनके द्वारा रचित २५ ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है.

---

१. शाकेष्वब्दशतेपु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां.
   यातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्ण नृपजे श्री वल्लभं दक्षिणाम् ।।
२. विशेप विवरण के लिये देखिये नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास पृ० ११४.
३. देखिये महापुराण (भारतीय ज्ञान पीठ, काशी से प्रकाशित) का प्रास्ताविक, डा० हीरालाल व ए० एन० उपाध्ये तथा जैन साहित्य और इतिहास—प्रेमी पृ० १२७.
४. जैन सा० और इतिहास—प्रेमी पृ० १४०.
५. वही पृ० १११ (द्वितीय संस्करण).
६. वही पृ० ४१२.
७. ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से प्रकाशित.
८. प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० २१९.

कृष्ण-साहित्य की दृष्टि से इनका पाण्डवपुराण बहुत ही उल्लेखनीय ग्रन्थ है. इसी ग्रन्थ से प्रभावित होकर हिन्दी में बुलाकीदास ने पाण्डवपुराण की रचना की. यह ग्रन्थ वि० संवत् १६०८ में समाप्त हुआ.[1]

(६) **हस्तिमल्ल व उनके नाटक** :—दिगम्बर सम्प्रदाय के साहित्यकारों में इनका अति महत्त्वपूर्ण स्थान है. उपलब्ध जैन संस्कृत साहित्य में ये ही ऐसे लेखक हैं, जिनके लिखे नाटक उपलब्ध हैं. ये वत्सगोत्री ब्राह्मण थे तथा समन्तभद्र-कृत देवागमस्तोत्र से प्रभावित होकर जैन हो गये थे. हस्तिमल्ल इनका असली नाम नहीं था पर एक मस्त हाथी को वश में करने के उपलक्ष्य में इन्हें पाण्डय राजा ने यह नाम दिया था. कृष्णसाहित्य की दृष्टि से इनकी 'विक्रान्तकौरव' तथा 'सुभद्रा' (अर्जुनराज) ये दो कृतियां उल्लेखनीय हैं. इनका ई० सन् १२४० (वि० संवत् १३४७) में होना निश्चित किया जाता है.[2]

(१०) **अन्य रचनाएँ** :—संस्कृत-जैन कृष्णसाहित्य १७ वीं शताब्दी तक का उपलब्ध है. कुछ उपलब्ध कृतियों के नाम इस प्रकार हैं :

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| [अ] | पाण्डवचरित | .... | देवप्रभसूरि | रचना संवत् | १२५७ |
| [आ] | पाण्डवपुराण | .... | भट्टारक श्रीभूषण | " | १६५७ |
| [इ] | हरिवंशपुराण | ... | " " | " | १६७५ |
| [ई] | प्रद्युम्नचरित | ... | सोमकीर्ति | " | १५३० |
| [उ] | प्रद्युम्नचरित | .... | रविसागर | " | १६४५ |
| [ऊ] | " " | .... | रतनचन्द | " | १६७१ |
| [ए] | " " | ... | मल्लिभूषण | | १७ वीं शताब्दी |
| [ऐ] | नेमिनिर्वाण काव्य | .... | महाकवि वाग्भट | रचना संवत् | ११७६ के लगभग |
| [ओ] | नेमिनाथपुराण | ... | ब्रह्म नेमिदत्त | " | १५७५ |
| [औ] | नेमिनाथचरित्र | ... | गुणविजय [गद्य ग्रन्थ] | " | १६६८ |
| [अं] | हरिवंशपुराण | .... | भट्टा० यशकीर्ति | " | १६७१ |

**अपभ्रंश का जैन-कृष्ण-साहित्य** :—अपभ्रंश-साहित्य की रचना में जैनों का सर्वाधिक योग रहा है. उपलब्ध अपभ्रंश-साहित्य का करीब ८० प्रतिशत भाग जैनाचार्यों द्वारा लिखा गया है. यद्यपि अपभ्रंश का उल्लेख ई० पू० दूसरी शताब्दी में [पातञ्जल महाभाष्य में] मिलता है,[3] परन्तु इसका साहित्य आठवीं शताब्दी से ही उपलब्ध होता है. उपलब्ध साहित्य के प्रथम कवि स्वयंभू हैं और कृष्ण साहित्य की दृष्टि से भी वही प्रथम कवि हैं.

(१) **महाकवि स्वयंभू और उनका रिट्ठणेमिचरिउ**[4] :—स्वयंभू वि० की आठवीं शताब्दी के कवि हैं. ये एक सिद्धहस्त कवि थे. इनकी कविता अत्यन्त प्रौढ़, पुष्ट व प्रांजल है.

कृष्ण-साहित्य की दृष्टि से रिट्ठणेमिचरिउ एक उल्लेखनीय कृति है. यह महाकाव्य है. इसमें ११२ संधियां तथा १९३७ कडवक हैं. यह चार काण्डों में विभाजित है—यादव, कुरु, युद्ध और उत्तर. कृष्णजन्म, बाल-लीला, कृष्ण के विभिन्न विवाह, प्रद्युम्न, साम्ब आदि की कथा, नेमिजन्म आदि यादवकाण्ड में वर्णित हुए हैं.

(२) **तिलट्ठि महापुरिस गुणालंकार** :—यह अपभ्रंश के सर्वश्रेष्ठ कवि पुष्पदन्त की रचना है. पुष्पदन्त के काव्य के विषय में प्रेमी जी का यह कथन उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा—उनकी रचनाओं में जो ओज, जो प्रवाह, जो रस और

---

१. देखिये—वाचस्पति गैरोला-संस्कृत सा० का इतिहास पृ० ३६१-३२ तथा प्रेमी-जैन सा० और इतिहास पृ० ३८३-८४.

२. विशेष विवरण के लिये देखिये—जैन सा० और इतिहास पृ० ३६४-३७०.

३. अपभ्रंश साहित्य—डा० हरिवंश कोछड़ पृ० १.

४. विशेष विवरण के लिये देखिये—वही पृ० ६७-७२ तथा नाथूराम प्रेमी-जैन सा० और इतिहास—पृ० १९८, १९९.

जो सौन्दर्य है, वह अन्यत्र दुर्लभ है. भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है. उनके शब्दों का भण्डार विशाल है और शब्दालंकार व अर्थालंकार दोनों से उनकी कविता समृद्ध है" :[१]

प्रस्तुत रचना एक महाकाव्य है. इसमें १०२ सन्धियाँ हैं. इसमें जैन-परम्परा में मान्य त्रेपठ शलाका पुरुषों का चरित-वर्णन हुआ है. ८१ से ९२ तक की सन्धियों में हरिवंशपुराण की प्रसिद्ध जैन-कथा को पद्यबद्ध किया गया है. इसकी रचना ९५९-९६५ ई० में हुई :[२]

(३) हरिवंशपुराण :—जयपुर के बड़े तेरापंथियों के मन्दिर में उपलब्ध कवि धवल कृत प्रस्तुत कृति कृष्ण-काव्य की दृष्टि से उल्लेखनीय है. इसका कथानक जैन-परम्परागत है और मुख्यतः जिनसेन (प्रथम) कृत हरिवंशपुराण (संस्कृत) पर आधारित है. इस ग्रन्थ में १२२ सन्धियाँ हैं. यह १० वीं शताब्दी की रचना है.

(४) सकलविधिनिधान काव्य :—आमेर (राजस्थान) शास्त्रभण्डार में इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है. ग्रन्थ का प्रमुख विषय विधिविधानों एवं आराधनाओं का उल्लेख व विवेचन है. धार्मिक भावनाओं को व्यक्त करने के लिये प्राचीन कथाओं और उपाख्यानों का आश्रय लिया गया है. ग्रन्थ में ५८ सन्धियाँ हैं. ३६ वीं सन्धि में महाभारत युद्ध का उल्लेख है. इसके रचयिता नयनंदी हैं. कृति का रचनाकाल ११०० के लगभग अनुमान किया गया है :[३]

(५) पज्जुण्णचरिउ :—प्रस्तुत कृति १५ सन्धियों की खण्डकाव्य कोटि की रचना है. इसमें श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का चरित वर्णन हुआ है. इसके रचयिता कवि सिंह (१३ वीं शता० वि० प्रारंभ) थे. कुछ लोगों का अनुमान है कि मूलग्रन्थ सिद्ध नामके किसी कवि की रचना है, क्योंकि ग्रन्थ की प्रथम आठ सन्धियों में कवि का नाम सिद्ध मिलता है, बाद में सिंह. संभव है सिंह कवि ने मूलग्रन्थ का उद्धार किया हो :[४]

(६) णेमिणाहचरिउ :—णेमिणाहचरिउ एक खण्डकाव्य है. इसमें ४ सन्धियां व ८३ कड़वक हैं. ग्रन्थ का मुख्य विषय श्रीकृष्ण के चचेरे भाई तथा जैन-परम्परा के २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित है. इस ग्रन्थ के रचयिता लखमदेव (लक्ष्मणदेव) हैं. ग्रन्थ की रचना १५ वीं शताब्दी के उत्तरकाल में हुई, क्योंकि वि० सं० १५१० की लिखी एक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है. कवि ने स्वयं रचनाकाल का कोई निर्देश नहीं किया है.

(७) महाकवि यशकीर्ति व उनके ग्रन्थ :—यशकीर्ति १५ वीं शताब्दी के उत्तरकाल के कवि हैं. कृष्ण-साहित्य की दृष्टि से उनके दो ग्रन्थ 'पाण्डवपुराण' व 'हरिवंशपुराण' उल्लेखनीय हैं. इनमें पाण्डवपुराण को कवि ने कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार वि० संवत् १४९७ में समाप्त किया. हरिवंशपुराण की समाप्ति भाद्रपद शुक्ला एकादशी गुरुवार वि० संवत् १५०० में हुई. पाण्डवपुराण में ३४ सन्धियाँ तथा हरिवंशपुराण में १३ सन्धियां व २६७ कडवक हैं. काव्य-दृष्टि से हरिवंशपुराण अच्छी रचना है :[५]

(८) श्रुतकीर्ति का हरिवंशपुराण :—कवि श्रुतकीर्तिकृत हरिवंशपुराण की हस्तलिखित प्रतिलिपि जयपुर (आमेर) के शास्त्रभण्डार में उपलब्ध है. यह कवि १६ वीं शताब्दी के मध्य में हुए थे. इनके दो ग्रन्थ अभी प्रकाश में आए हैं. (१) हरिवंशपुराण (२) परमेष्ठिप्रकाश. हरिवंश में ४४ सन्धियाँ हैं· डॉ० कोछड़ ने इसे महाकाव्यों में गिना है.[६]

कृष्ण-चरित का वर्णन करने वाले अपभ्रंश के उक्त काव्य ही अभी तक प्रकाश में आये हैं. अपभ्रंश साहित्य की खोज के साथ और भी कुछ ग्रंथ प्रकाश में आवें, ऐसी पूरी संभावना है.

---

१. नाथूराम प्रेमा—जैन सा० और इतिहास पृ० ५२५.
२. विस्तृत विवरण के लिये देखिये—डा० कोछड़—अपभ्रंश साहित्य पृ० ७२-८५.
३. अपभ्रंश साहित्य—डा० हरिवंश कोछड पृ० १७५.
४. पं० परमानन्द जैन का लेख—अनेकान्त ८।१०।११। पृ० ३९१.
५. अपभ्रंश साहित्य—डा० हरिवंश कोछड़ पृ० ११८-१२२.
६. वही पृ० १२९-२८

**हिन्दी-जैन-कृष्ण साहित्य :**—हिन्दी भाषा में जैन-साहित्यकारों द्वारा रचित बहुत साहित्य उपलब्ध है और दिन-प्रतिदिन जैसे-जैसे जैन-भण्डारों की खोजबीन की जा रही है, नया-नया साहित्य प्रकाश में आता जा रहा है. पिछले कुछ ही वर्षों में हिन्दी का जैन-साहित्य (विद्वानों के अथक परिश्रम के फलस्वरूप) बहुत बड़े परिमाण में प्रकाश में आया है. जहाँ तक हिन्दी के आदिकालिक साहित्य का प्रश्न है, इन खोजों के फलस्वरूप बहुत ही मजेदार परिणाम सामने आये हैं. प्रायः शुक्ल जी आदि हिन्दी के विद्वानों ने आदिकालिक हिन्दी साहित्य में जिन कृतियों की गिनती की थी,[1] आधुनिक खोजों के आधार पर उनमें से कुछ को छोड़कर सभी कृतियां संदिग्ध सिद्ध हो गई हैं तथा बहुत काल बाद की रचना बताई जाने लगी हैं. उनके स्थान पर बहुत सी नवीन कृतियाँ आदिकालिक साहित्य में प्रतिष्ठित हो रही हैं. उनमें अधिकांश कृतियां जैन रचनाकारों की हैं.

जहां तक हिन्दी के जैन-कृष्ण-साहित्य का प्रश्न है, यह विपुल मात्रा में उपलब्ध है. इस साहित्य की एक बड़ी विशेषता यह है कि यह अधिकांश में प्रबन्धकाव्य की कोटि का है, जब कि जैनेतर हिन्दी-कृष्ण-साहित्य मुख्यतः मुक्तक है. पुनः हिन्दी-जैन-कृष्ण-साहित्य में कृष्ण के व्यक्तित्व का बड़ा भव्य चित्रण हुआ है. जैनेतर हिन्दी साहित्य के कृष्ण जहाँ गोपीजनवल्लभ, राधाधर-सुधापान-शालि-बनमाली और 'होरी खेलन वाले लला' हैं, वहाँ हिन्दी जैन-कृष्ण-साहित्य के श्रीकृष्ण महान् पराक्रमी व शक्तिशाली राजा हैं. वे वासुदेव हैं और अधम तथा आततायी पुरुषों के भार से पृथ्वी को मुक्त करने वाले हैं. वे गोपियों के साथ यमुनातट पर रासलीला करते नहीं घूमते, वे तो निर्विकार पुरुष हैं. त्रैसठ-शलाका पुरुषों में उनका अन्यतम स्थान है.

पिछले २-३ वर्षों से हिन्दी जैन कृष्ण-साहित्य की खोज के दौरान कोई आधा सैकड़ा हस्तलिखित पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं. इनमें कुछ तो काव्य की दृष्टि से अति सुंदर हैं तथा भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है. विशेषतया आदिकाल की कालावधि में रचित पुस्तकों का तो अपना ही महत्त्व है.

हिन्दी-जैन-कृष्ण साहित्य पर स्वतंत्र रूप से बहुत कुछ लिखा जा सकता है. इस छोटे से लेख में उसके विषय में कुछ थोड़ा-सा उल्लेख भर दिया जा रहा है. इस दृष्टि से कि पाठक को 'जैन-कृष्ण-साहित्य' का एक ही स्थान पर परिचय मिल सके. प्रस्तुत लेख का कलेवर भी काफी बढ़ गया है, इसलिए हिन्दी-जैन-कृष्ण-साहित्य की विभिन्न कृतियों का विशेष रूप से उल्लेख न करते हुए सूची मात्र दे देना पर्याप्त होगा. ग्रंथ के नाम के साथ लेखक का नाम, रचना संवत् तथा उपलब्धि का स्थान भी दिया जा रहा है.

| क्रम सं० | रचना का नाम | रचयिता | समय | उपलब्धि का स्थान |
|---|---|---|---|---|
| १. | नेमिनाथरास | सुमतिगणि | वि०सं० १२७० | हस्तलिखित प्रति जैसलमेर दुर्ग स्थित भण्डार में उपलब्ध |
| २. | गयसुकुमालरास | देल्हण | १३१५-२५ | हस्तलिखित प्रति जैसलमेर दुर्ग स्थित बड़े भण्डार में उपलब्ध |
| ३. | पंचपाण्डवचरितरास | शालिभद्रसूरि | १४१० | गुर्जर रासावली गा०ओ० सीरीज बड़ौदा, पृ०१-३४ तथा 'आदि काल के अज्ञात हिन्दी रास काव्य' पृ० १२६-५८ पर उपलब्ध. |
| ४. | प्रद्युम्नचरित | सधारु | १४११ | जैन शोध संस्थान, जयपुर से प्रकाशित, |
| ५. | बलभद्ररास | यशोधर | वि० सं० १५८५ | दि० जैन मन्दिर बड़ा, उदयपुर |
| ६. | नेमिजिनेश्वररासो | ब्रह्मरायमल्ल | १६१५ | दि० जैन मन्दिर पटौदी |
| ७. | प्रद्युम्नरासो | ,, | १६२८ | दि० जैन मन्दिर लूणकरणजी पांड्या, जयपुर |

---

१. (१) खुमाणरासो (२) बीसलदेवरासो (३) पृथ्वीराजरासो (४) जयचंद्र प्रकाश (५) जयमयंकजस चन्द्रिका (६) परमालरासो (७) रणमल छन्द (८) खुसरो की पहेलियाँ (९) विद्यापति की पदावली.

| क्रम सं० | रचना का नाम | रचयिता | समय | उपलब्धि का स्थान |
|---|---|---|---|---|
| ८. | प्रद्युम्न चौपई | कमलकेशर | १६२६ | — |
| ९. | नेमिनाथ रासो | रूपचन्द | १६४३ के आस पास | |
| १०. | शाम्ब प्रद्युम्नरास | समयसुन्दर गणि | १६५९ | प्रतिलिपि आमेर शास्त्र भण्डार |
| ११. | हरिवंशपुराण | (हि०गद्य) | १६७१ | " — |
| १२. | हरिवंशपुराण (पद्य) | शालिवाहन | १६९५ | दि० जैन मन्दिर पल्लिवालों का धूलियागंज आगरा। |
| १३. | नेमिश्वर को रास | भाऊ कवि | १६९६ | दि० जैन मन्दिर नया बैराठियां का जयपुर |
| १४. | नेमिनाथरास | रत्नकीर्ति | १६९६ | " |
| १५. | शाम्वप्रद्युम्नरास | ज्ञानसागर | १७ वीं शताव्दी | |
| १६. | प्रद्युम्न प्रवन्ध | देवेन्द्रकीर्ति | १७२२ | आमेर भण्डार, जयपुर |
| १७. | रूक्मणि कृष्णजी को रास | निपरदास | १७३९ (प्र०लि०) | दि० जैन मन्दिर गोधों का, जयपुर |
| १८. | पाण्डवपुराण | वुलाकीदास | १७५४ वि० सं० | आमेर शास्त्र भण्डार |
| १९. | पाण्डव चरित्र | लाभवर्द्धन | १७६८ | दि० जैन मन्दिर संघीजी, जयपुर |
| २०. | नेमीश्वररास | नेमिचन्द्र | १७६९ | आमेर शास्त्र भण्डार |
| २१. | हरिवंशपुराण | खुशालचन्द काला | १७८० | शास्त्रभण्डार लूणकरजी पांड्या मन्दिर, जयपुर |
| २२. | उत्तरपुराण | " | १७९९ | सौगाणियों का दि० जैन मन्दिर करौली, |
| २३. | नेमिनाथचरित्र | अजयराज पाटनी | १७९३ | दि० जैन मन्दिर ठोलियों का, जयपुर |
| २४, | नेमिजी का चरित्र | आनन्द | १८०४ | दि० जैन मन्दिर, जोवनेर |
| २५. | प्रद्युम्नरास | मायाराम | १८१८ | — |
| २६. | हरिवंशपुराण(हि०गद्य) | दौलतराम | १८२९ | प्रकाशित |
| २७. | प्रद्युम्नचरित्र | वूलचन्द | १८४३ | सेठ के कूंचा का दि० जैन मन्दिर, दिल्ली |
| २८. | शाम्वप्रद्युम्नरास | हर्पविजय | १८४५ | — |
| २९. | नेमिचन्द्रिका | मनरंगलाल | १८५७ | दि० जैन मन्दिर वड़ा तेरापन्थी, जयपुर |
| ३०. | देवकी की ढाल | लूणकरण कासलीवाल | १८८५ (लिपि संवत्) | दि० जैन मन्दिर डवलाना |

उल्लिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त २०वीं शताव्दी के हिन्दी गद्य में अनुवादित वहुत से ग्रंथ उपलव्ध हैं. कुछ नाम इस प्रकार हैं.

(३१) नेमिपुराण भापा—भागचन्द (३२) नेमिपुराणभापा—वखतावरमल (३) प्रद्युम्नचरित भापा—ज्वालाप्रसाद, वखतावरसिंह (३४) पाण्डवपुराण—पन्नालाल चौधरी (३५) राघवपाण्डवीय टीका—चरित्रवर्द्धन (३६) नेमिपुराण भापा—उदयलाल (३७) नेमिनाथ चरित्र—काशीराम (३८) पाण्डवपुराण टीका—घनश्यामदास न्यायतीर्थ (३९) प्रद्युम्नचरित्र—शीतलप्रसाद (४०) प्रद्युम्नकुमार (पद्यमय)—अमोलकऋपिजी महाराज (गद्यसंस्करण-शोभाचन्द्र भारिल्लकृत) (४१) उत्तरपुराणवचनिका—पन्नालाल दूनी वाले (४२) प्रद्युम्नचरित—वख्तावरमल-रतनलाल (४३) प्रद्युम्नचरित वचनिका—मन्नालाल वैनाड़ा.

जैन-कवियों के कृष्ण सम्वन्धी पद भी वहुत वड़ी संख्या में उपलव्ध हैं. इन कवियों में वनारसीदास, द्यानतराय, भैया भगवतीदास, वुधजन, भूधरदास, पं० महाचन्द्र प्रभृति कवियों के सुन्दर पद मिलते हैं.
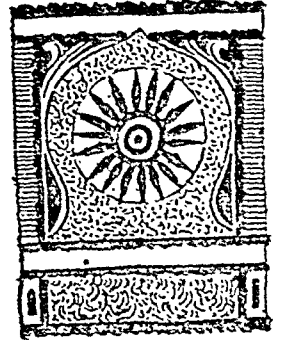
डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०

# राजस्थानी जैन संतों की साहित्य-साधना

भारतीय इतिहास में राजस्थान का महत्त्वपूर्ण स्थान है. एक ओर यहाँ की भूमि का कण-कण वीरता एवं शौर्य के लिये प्रसिद्ध रहा है तो दूसरी ओर भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के गौरवस्थल भी यहाँ पर्याप्त संख्या में मिलते हैं. यदि राजस्थान के वीर योद्धाओं ने जन्मभूमि की रक्षार्थ हँसते-हँसते प्राणों को न्योछावर किया तो यहाँ होने वाले साधु-संतों, आचार्यों एवं विद्वानों ने साहित्य की महती सेवा की और अपनी रचनाओं एवं कृतियों द्वारा जनता में देशभक्ति, कर्तव्यनिष्ठा एवं नैतिकता का प्रचार किया. यहाँ के रणथम्भौर कुम्भलगढ़, चित्तौड़, भरतपुर, माँडोर जैसे दुर्ग यदि वीरता देशभक्ति एवं त्याग के प्रतीक हैं तो जैसलमेर, नागौर, बीकानेर. अजमेर, जयपुर, आमेर, डूंगरपुर, सागवाड़ा, टोडारायसिंह आदि कितने ही ग्राम एवं नगर राजस्थानी ग्रंथकारों, साहित्योपासकों एवं सन्तों के पवित्र स्थल हैं. इन्होंने. अनेक संकटों एवं झंझावातों के मध्य भी साहित्य की अमूल्य धरोहर को सुरक्षित रखा. वास्तव में राजस्थान की भूमि पावन एवं महान् है तथा उसका प्रत्येक कण वन्दनीय है.

राजस्थान की इस पावन भूमि पर अनेकों विद्वान् संत हुए जिन्होंने अपनी कृतियों द्वारा भारतीय साहित्य के भण्डार को इतना अधिक भरा कि वह कभी खाली नहीं हो सकता. यहाँ सन्तों की परम्परा चलती ही रही, कभी उसमें व्यवधान नहीं आया. सगुण एवं निर्गुण दोनों ही भक्ति की धाराओं के संत यहाँ होते रहे और उन्होंने अपने आध्यात्मिक प्रवचनों, गीति-काव्यों एवं मुक्तक छन्दों द्वारा जन-जागरण को उठाये रखा. इस दृष्टि से मीरा, दादूदयाल, सुन्दरदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं. इधर जैन सन्तों का तो राजस्थान सैकड़ों वर्षों तक केन्द्र रहा है. डूंगरपुर, सागवाड़ा, नागौर, आमेर, अजमेर, बीकानेर, जैसलमेर, चित्तौड़ आदि इन सन्तों के मुख्य स्थान थे, जहाँ से वे राजस्थान में ही नहीं किन्तु भारत के अन्य प्रदेशों में भी विहार करके अपने ज्ञान एवं आत्मसाधना से जन-साधारण का जीवन ऊँचा उठाने का प्रयास करते. ये सन्त विविध भाषाओं के ज्ञाता होते थे तथा भाषा-विशेष से कभी मोह नहीं रखते थे. जिस किसी भाषा में जनता द्वारा कृतियों की मांग की जाती उसी भाषा में वे अपनी लेखनी चलाते तथा उसे अपनी आत्मानुभूति से परिप्लावित कर देते. कभी वे रास एवं कथा-कहानी के रूप में तथा कभी फागु, वेलि, शतक एवं बारहखड़ी के रूप में पाठकों को अध्यात्म-रस पान कराया करते. संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी एवं गुजराती आदि सभी भाषाएँ इनकी अपनी भाषा रहीं. प्रान्तवाद के झगड़े में वे कभी नहीं पड़े, क्योंकि इन सन्तों की साहित्य-रचना का उद्देश्य सदैव ही आत्म उन्नति एवं जनकल्याण रहा. लेखक का अपना विश्वास है कि वेद, स्मृति, उपनिषद् पुराण, रामायण एवं महाभारत-काल के ऋषियों एवं सन्तों के पश्चात् भारतीय साहित्य की जितनी सेवा एवं उसकी सुरक्षा जैन सन्तों ने की है उतनी अधिक सेवा किसी सम्प्रदाय अथवा धर्म के साधुवर्ग द्वारा नहीं हो सकी है. राजस्थान के इन सन्तों ने स्वयं तो विविध भाषाओं में सैकड़ों हजारों कृतियों का सर्जन किया ही किन्तु अपने पूर्ववर्ती आचार्यों, साधुओं, कवियों एवं लेखकों की रचनाओं को भी बड़े प्रेम श्रद्धा एवं उत्साह से संग्रह किया. एक-एक ग्रंथ की अनेकानेक प्रतियाँ लिखवा कर विभिन्न ग्रंथ-भण्डारों में विराजमान की और जनता को उन्हें पढ़ने एवं स्वाध्याय के लिये प्रोत्साहित किया. राजस्थान के आज सैकड़ों हस्तलिखित ग्रंथभण्डार उनकी साहित्य-सेवा के ज्वलंत उदाहरण हैं. जैन सन्त साहित्य-संग्रह की दृष्टि से कभी जातिवाद एवं सम्प्रदाय के चक्कर में नहीं पड़े किन्तु जहां से भी अच्छा एवं

कल्याणकारी साहित्य उपलब्ध हुआ वहीं से उसका संग्रह करके शास्त्र-भण्डारों में संग्रहीत किया गया. साहित्य-संग्रह की दृष्टि से इन्होंने स्थान-स्थान पर ग्रंथभण्डार स्थापित किये. इन्हीं सन्तों की साहित्यिक सेवा के परिणामस्वरूप राजस्थान के जैन ग्रंथभण्डारों में १।।-२ लाख हस्तलिखित ग्रंथ अब भी उपलब्ध होते हैं. ग्रंथसंग्रह के अतिरिक्त इन्होंने जैनेतर विद्वानों द्वारा लिखित काव्यों एवं अन्य ग्रंथों पर टीकाएँ लिखीं और उनके पठन-पाठन में सहायता पहुँचाई.

राजस्थान के जैनग्रंथ-भण्डारों में अकेले जैसलमेर के जैन ग्रंथ-संग्रहालय ही ऐसे संग्रहालय हैं जिनकी तुलना भारत के किसी भी प्राचीन एवं बड़े से बड़े ग्रंथ-संग्रहालय से की जा सकती है. उनमें अधिकांश ताड़पत्र पर लिखी हुई प्रतियां हैं और वे सभी राष्ट्र की अमूल्य संपत्ति हैं. ताड़पत्र पर लिखी हुई इतनी प्राचीन प्रतियां अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं है. श्री जिनचन्द्र सूरि ने संवत् १४९७ में बृहद् ज्ञानभण्डार की स्थापना करके साहित्य की सैकड़ों अमूल्य निधियों को नष्ट होने से बचाया. जैसलमेर के इन भण्डारों को देखकर कर्नल टाड, डा० बूह्लर, डा० जैकोबी जैसे पाश्चात्य विद्वान् एवं भाण्डारकर, दलाल, जैसे भारतीय विद्वान् आश्चर्यचकित रह गये. द्रोणाचार्यकृत ओघनिर्युक्ति वृत्ति की इस भण्डार में सबसे प्राचीन प्रति है जिसकी संवत् १११७ में पाहिल ने प्रतिलिपि की थी.[1] जैनागमों एवं ग्रंथों की प्रतियों के अतिरिक्त दण्डि कवि के काव्यादर्श की संवत् ११६१ की, मम्मट के काव्य-प्रकाश की संवत् १२१५ की, रुद्रट कवि के काव्यालंकार पर नमि साधु की टीका सहित संवत् १२०६, एवं कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित की १४वीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण प्रतियाँ संग्रहीत की हुई हैं. विमल सूरि कृत प्राकृत के महाकाव्य पउमचरिय की संवत् १२०४ की जो प्रति है वह संभवत: अब तक उपलब्ध प्रतियों में प्राचीनतम प्रति है. इसी तरह उद्योतन सूरिकृत कुवलयमाला की प्रति भी अत्यधिक प्राचीन है जो संवत् १२६१ की लिखी हुई है. कालिदास, माघ, भारवि, हर्ष, हलायुध, भट्टी आदि महाकवियों द्वारा रचित काव्यों की प्राचीनतम प्रतियाँ एवं उनकी टीकाएँ यहाँ के भण्डारों के अतिरिक्त आमेर, अजमेर, नागौर, बीकानेर के भण्डारों में भी संग्रहीत हैं. न्यायशास्त्र के ग्रन्थों में सांख्यतत्त्वकौमुदी, पातंजलयोगदर्शन, न्यायबिन्दु, न्यायकंदली, खंडन-खंडखाद्य, गोतमीय न्यायसूत्रवृत्ति आदि की कितनी ही प्राचीन एवं सुन्दर प्रतियां जैन संतों द्वारा प्रतिलिपि की हुई इन भण्डारों में संग्रहीत हैं. नाटक साहित्य में मुद्राराक्षस, वेणीसंहार, अनर्घराघव एवं प्रबोधचन्द्रोदय के नाम उल्लेखनीय हैं. जैनसंतों ने केवल संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य के संग्रह में ही रुचि नहीं ली किन्तु हिंदी एवं राजस्थानी रचनाओं के संग्रह में भी उतना ही प्रशंसनीय परिश्रम किया. कबीरदास एवं उनके पंथ के कवियों द्वारा लिखा हुआ अधिकांश साहित्य आज आमेर शास्त्रभण्डार में मिलेगा. इसी तरह पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो की महत्त्वपूर्ण प्रतियां बीकानेर एवं कोटा के शास्त्र-भण्डारों में संग्रहीत हैं. कृष्ण-रुक्मणिवेलि, रसिकप्रिया एवं बिहारीसतसई की तो गद्यपद्य टीका सहित कितनी ही प्रतियाँ इन भण्डारों में खोज करने पर प्राप्त हुई हैं.

राजस्थान के ये जैन संत साहित्य के सच्चे साधक थे. आत्मचिंतन एवं आध्यात्मिक चर्चा के अतिरिक्त इन्हें जो भी समय मिलता, वे उसका पूरा सदुपयोग साहित्यरचना में करते थे. वे स्वयं ग्रंथ लिखते, दूसरों से लिखवाते एवं भक्तों को लिखवाने का उपदेश देते. अपनी रचनाओं के अन्त में इस तरह के कार्य की अत्यधिक प्रशंसा करते. इसके दो उदाहरण देखिये—

१. जो पढइ पढावइ एक चित्तु, सइ लिहइ लिहावइ जो णिरुत्तु।
आयरणइं मरणइं जो पसत्थु, परिभावइ अहिणिसु एउ सत्थु॥
जिप्पइ ण कसायहि इंदिएहिं, तो लियइ ण सो पासंडिएहि।
तहो दुक्किय कम्मु असेसु जाइ, सो लहइ मोक्ख सुक्खभावइ॥—श्रीचन्द्रकृत रत्नकरण्ड

२. मनोहार प्रबन्ध ए गुंथ्यो करि विवेक।
प्रद्युमन गुण सूत्रिकरी, सब वन कुसुम अनेक ।।१०।।

---

१. संवत् ११९७ मंगल महाश्री ।।६।। पाहिलेन लिखितम् मंगल महाश्री.

भवीयण गुणि कंठि करो, एह अपूरव हार ।
धरि मंगल लच्मी घणी, पुण्य तणो नहिं पार ॥११॥
भणि भणाति सांभलि, लिखि लिखावइ एह ।
देवेन्द्रकीर्ति गच्छपती कहि, स्वर्ग मुक्ति लहि तेह ।

—भ० देवेन्द्रकीर्ति कृत प्रद्युम्नप्रबन्ध

इसी तरह कवि सधारु ने तो ग्रंथ के पढ़ने पढ़ाने लिखने और लिखवाने का जो फल बतलाया है वह और भी आकर्षक है :

ऐहु चरितु जो वांचइ कोइ, सो नर स्वर्ग देवता होइ ।
हलुवइ धर्म्म खपइ सो देव, मुकति वरंगणि मागइ एम्व ॥६६७॥
जो फुणि सुणइ मनह धरि भाउ, असुभ कर्म ते दूरि हि जाइ ।
जोर वखाणइ माणुसु कवणु, तहि कहु तूसइ देव परदवणु ॥
अरु लिखि जो लिखियावइ साधु, सो सुर होइ महागुण राधु ।
जोर पढावइ गुण किउ विलउ, सो नर पावइ कंचण भलउ ॥६६८॥
यहु चरितु पुंन भंडारू, जो वरु पढइ सु नर मह सारु ।
तहि परदमणु तुही फल, देइ, संपति पुत्रु अवरु जसु होई ॥७००॥

ग्रंथों की प्रतिलिपि करने में बड़ा परिश्रम करना पड़ता था. शुद्ध प्रतिलिपि करना, सुन्दर एवं सुवाच्य अक्षर लिखना एवं दिन भर कमर झुकाये ग्रंथलेखन का कार्य प्रत्येक के लिये संभव नहीं था. उसे तो सन्त एवं संयमी विद्वान् ही सम्पन्न कर सकते थे. इसलिये वे ग्रन्थ के अन्त में कभी-कभी उसकी सुरक्षा के लिये निम्न शब्दों में पाठकों का ध्यान आकर्षित किया करते थे.

भग्नपृष्टि कटिर्ग्रीवा, वक्रदृष्टिरधो मुखम् ।
कष्टेन लिखितं शास्त्रं, यत्नेन परिपालयेत् ॥

इन संतों के सुरक्षा के विशेष नियमों के कारण राजस्थान में ग्रंथों का एक विशाल संग्रह मिलता है. कितने ही ग्रंथ-संग्रहालय तो अब भी ऐसे हैं जिनकी किसी भी विद्वान् द्वारा छानबीन नहीं की गई है. लेखक को राजस्थान के ग्रंथ-भण्डारों पर शोध-निबन्ध लिखने के अवसर पर राजस्थान के १०० भी से अधिक भण्डारों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है.

यदि मुस्लिमयुग में धर्मान्ध शासकों द्वारा इन शास्त्रभण्डारों का विनाश नहीं किया जाता एवं हमारी ही लापरवाही से सैकड़ों हजारों ग्रंथ चूहों, दीमक एवं शीलन से नष्ट नहीं होते तो पता नहीं आज कितनी अधिक संख्या में इन भण्डारों में ग्रंथ उपलब्ध होते ! फिर भी जो कुछ अवशिष्ट हैं उनका ही यदि विविध दृष्टियों से अध्ययन कर लिया जावे, उनकी सम्यक् रीति से ग्रंथसूचियां प्रकाशित कर दी जावें तथा प्रत्येक अध्ययनशील व्यक्ति के लिये वे सुलभ हो सकें तो हमारे आचार्यों, साधुओं एवं कवियों द्वारा की हुई साहित्य-साधना का वास्तविक उपयोग हो सकता है. जैसलमेर, नागौर, बीकानेर,चुरू, आमेर, जयपुर, अजमेर, भरतपुर, कामा आदि स्थानों के संग्रहीत ग्रंथभण्डारों को आधुनिक पद्धति से व्यवस्था होनी चाहिए. उन्हें रिसर्च-केद्र बना दिया जाना चाहिये जिससे प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी एवं राजस्थानीय भाषा पर रिसर्च करने वाले विद्यार्थियों द्वारा उनका सही रूप से उपयोग किया जा सके. क्योंकि उक्त सभी भाषाओं में लिखित अधिकांश साहित्य राजस्थान के इन भण्डारों में उपलब्ध होता है. यदि ताडपत्र पर लिखी हुई प्राचीनतम प्रतियाँ जैसलमेर के ग्रंथ भण्डारों में संग्रहीत हैं तो कागज पर लिखी हुई संवत् १३१९ की सबसे प्राचीन प्रति जयपुर के शास्त्रभण्डार में संग्रहीत हैं. अभी कुछ वर्ष पूर्व जयपुर के एक भण्डार में हिन्दी की एक अत्यधिक प्राचीन कृति जिनदत्तचौपई (रचना काल सं० १३५४) उपलब्ध हुई है जो हिन्दी भाषा की एक अनुपम कृति है.

प्रसन्नता की बात है कि इधर १०-१५ वर्षों से भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में जैन साहित्य पर भी रिसर्च किया जाना प्रारम्भ हुआ है. विद्यार्थियों का उधर और भी अधिक झुकाव हो सकता है यदि हम इन भण्डारों को शोधकेन्द्र (Research Centres) के रूप में परिवर्तित कर दें और उनको अपने शोधप्रबन्ध लिखने में पूरी सुविधाएं प्रदान करें.
अब यहां राजस्थान के कुछ प्रमुख सन्तों की भाषानुसार साहित्यिक सेवाओं पर प्रकाश डाला जा रहा है :

## प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य

जम्बूद्वीपपण्णत्ति के रचयिता आचार्य पद्मनंदि राजस्थानी सन्त थे. इसमें २३८९ प्राकृत गाथाएँ हैं जिनमें जम्बूद्वीप का वर्णन किया गया है. प्रज्ञप्ति की रचना बारां [कोटा] नगर में हुई थी. उन दिनों मेवाड़ पर राजा शक्ति या सक्ति का शासन था और बारां मेवाड़ के अधीन था. ग्रंथकार ने अपने आपको वीरनंदि का प्रशिष्य एवं बलनंदि का शिष्य लिखा है. हरिभद्र सूरि राजस्थान के दूसरे सन्त थे जो प्राकृत एवं संस्कृत भाषा के जबर्दस्त विद्वान् थे. इनका सम्बन्ध चित्तौड़ से था. आगमग्रंथों पर उनका पूर्ण अधिकार था. इन्होंने अनुयोगद्वार सूत्र, आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, नन्दीसूत्र, प्रज्ञापना सूत्र आदि आगम-ग्रंथों पर संस्कृत में विस्तृत टीकाएँ लिखीं और उनके स्वाध्याय में वृद्धि की. न्यायशास्त्र के ये प्रकाण्ड विद्वान् थे. इन्होंने अनेकान्त-जयपताका, अनेकान्तवादप्रवेश जैसे दार्शनिक ग्रंथों की रचना की. समराइच्चकहा प्राकृतभाषा की इनकी सुन्दर कथाकृति है जो गद्य-पद्य दोनों में ही लिखी हुई है. इसमें ९ प्रकरण हैं जिनमें परस्पर विरोधी दो पुरुषों के साथ-साथ चलने वाले ९ जन्मान्तरों का वर्णन किया गया है. इसका प्राकृतिक वर्णन एवं भावचित्रण दोनों ही सुन्दर हैं. धूर्ताख्यान भी इनकी अच्छी रचना है. हरिभद्र सूरि के योगबिन्दु एवं योग-दृष्टिसमुच्चय भी दर्शनशास्त्र की अच्छी रचनाएँ मानी जाती हैं.

महेश्वर सूरि भी राजस्थानी सन्त थे. इनकी प्राकृत भाषा की ज्ञानपञ्चमीकहा तथा अपभ्रंश की 'संयममंजरीकहा' प्रसिद्ध रचनाएं हैं. जैन दृष्टिकोण से लिखी गई, दोनों ही कृतियों में कितनी ही सुन्दर कथाएँ हैं. ज्ञानपंचमीकहा में जयसेन, नंद, भद्रा, वीर, कमल गुणानुराग, विमल, धरण, देवी और भविष्यदत्त की कथाएं हैं. कथाएं सुन्दर, रोचक एवं धाराप्रवाह में वर्णित हैं तथा एक बार प्रारम्भ करने के पश्चात् उसे छोड़ने को मन नहीं चाहता.

अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि हरिषेण भी चित्तौड़ के निवासी थे. इनके पिता का नाम गोवर्द्धन था. धक्कड़ उनकी जाति थी तथा श्री उजपुर से उनका निकास हुआ था. इन्होंने अपनी कृति 'धम्मपरिक्खा' संवत् १०४४ में अचलपुर में समाप्त की थी. धम्मपरिक्खा अपभ्रंश की सुन्दर कृति है जिसकी ११ संधियों में १०० कथाओं का वर्णन किया गया है. यह कथा-कृति जैन समाज में बहुत प्रिय रही. राजस्थान में इसका विशेष प्रचार था. इसलिए यहाँ के कितने ही ग्रंथभण्डारों में इस कृति की पाण्डुलिपियां मिलती हैं.

धम्मपरिक्खा के अतिरिक्त राजस्थान के ग्रंथ-संग्रहालयों में अपभ्रंश भाषा की १०० से भी अधिक रचनाएँ मिलती हैं. स्वयम्भू, पुष्पदन्त, वीर, नयनन्दि, सिंह, लक्ष्मण [लाखू] रइधू आदि कवियों की रचनाएं राजस्थान में विशेष रूप से प्रिय रही हैं. यहाँ के भट्टारकों एवं यतियों ने अपभ्रंश कृतियों की प्रतिलिपियाँ करवा कर भण्डारों में स्थापित करने में विशेष रुचि ली और यह परम्परा १५ वीं शताब्दी से १७ वीं शताब्दी तक अधिक रही. अपभ्रंश की इन कृतियों के लिये जयपुर, आमेर एवं नागौर के भण्डार विशेषतः उल्लेखनीय हैं. अपभ्रंश साहित्य का अधिकांश भाग इन्हीं भण्डारों में संग्रहीत है.[1]

## संस्कृत साहित्य

राजस्थान के अधिकांश संत संस्कृत के भी विद्वान् थे. संस्कृत साहित्य से उन्हें विशेष रुचि थी और इस भाषा में उन्होंने श्रावकों के लिये पुराण, काव्य, चरित्र, कथा, स्तोत्र एवं पूजा साहित्य का भी सृजन किया था. १७ वीं शताब्दी

१. अपभ्रंश ग्रन्थों के परिचय के लिये देखिये लेखक द्वारा संपादित 'प्रशस्तिसंग्रह'.

तक संस्कृत रचनाओं को पढ़ने की जनसाधारण में विशेष रुचि रही, इसीलिए प्राकृत एवं अपभ्रंश ग्रंथों पर भी संस्कृत में टीकाएँ एवं टिप्पण लिखे जाते रहे. किसी विषय पर यदि नवीन रचनाओं का लिखा जाना संभव नहीं हुआ तो प्राचीन साहित्य की प्रतिलिपियाँ करवा कर भण्डारों में रखी गयी. राजस्थान के सिद्धर्षि संभवतः प्रथम जैन संत थे जिन्होंने उपदेशमाला पर संस्कृतटीका लिखी और 'उपमितिभवप्रपंच कथा' को संवत् ९६२ में समाप्त किया. चन्द्रकेवलिचरित इनकी एक और रचना है जिसे इन्होंने संवत् ९७४ में पूर्ण किया था. १२ वीं शताब्दी में होने वाले आचार्य हेमचन्द्र से भी राजस्थानी जनता कम उपकृत नहीं है. इनके द्वारा लिखे हुये साहित्य का इस प्रदेश में विशेष प्रचार रहा. यही कारण है उनके द्वारा निबद्ध साहित्य दोनों ही सम्प्रदायों के शास्त्रभण्डारों में समान रूप से पाया जाता है. हेमचन्द्राचार्य संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे और उन्होंने जो कुछ इस भाषा में लिखा वह प्रत्येक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है. १५ वीं शताब्दी में राजस्थान में भट्टारक सकलकीर्ति का उदय विशेष रूप से उल्लेखनीय है. सकलकीर्ति संस्कृत के प्रकांड विद्वान् थे. ये पहिले मुनि थे और बाद में इन्होंने अपने आपको भट्टारक घोषित किया था तथा संवत् १४९२ में गलियाकोट में एक भट्टारक गादी की स्थापना की. इन्होंने २८ से भी अधिक संस्कृत रचनायें लिखी जो राजस्थान के विभिन्न ग्रंथभण्डारों में उपलब्ध होती हैं. सकलकीर्ति के पश्चात् उनकी परम्परा में होने वाले भट्टारक भुवनकीर्ति, ब्रह्म जिनदास, भट्टारक ज्ञानभूषण, विजयकीर्ति शुभचन्द, सकलभूषण, सुमतिकीर्ति, वादिभूषण आदि अनेक शिष्य संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् थे. इन सन्तों ने संस्कृत भाषा के कितने ही ग्रंथ लिखे, श्रावकों से आग्रह करके ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ करवाई और शास्त्र-भण्डारों में विराजमान कीं. ब्रह्म जिनदास की १२ से अधिक रचनाएँ मिलती हैं जिनमें रामचरित [पद्मपुराण], हरिवंशपुराण एवं जम्बूस्वामीचरित के नाम उल्लेखनीय हैं.

भट्टारक ज्ञानभूषण की अकेली तत्त्वज्ञानतरंगिणी [सं० १५६०] उनकी संस्कृत की विद्वत्ता को बतलाने के लिये पर्याप्त है. शुभचन्द्र तो अपने समय के प्रसिद्ध भट्टारक थे. इनकी संस्कृत रचनाएँ प्रारम्भ से ही लोकप्रिय रही हैं. इनकी २४ संस्कृत रचनाएँ तो उपलब्ध हो चुकी हैं. ये षट्भाषाकविचक्रवर्ती कहलाते थे. तथा त्रिविध-विद्याधर [शब्दागम, युक्त्यागम तथा परमागम के ज्ञाता] थे. इनकी प्रसिद्ध कृतियों में चन्द्रप्रभचरित्र, करकुण्डचरित्र, कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, जीवन्धरचरित, पांडवपुराण, श्रेणिकचरित्र, चारित्रशुद्धिविधान आदि के नाम उल्लेखनीय हैं. आचार्य सोमकीर्ति १५ वीं शताब्दी के उद्भट विद्वान् थे. ये काष्ठासंघ में होनेवाले ८७ वें भट्टारक थे तथा भीमसेन के शिष्य थे. इन्होंने संस्कृत भाषा में सप्तव्यसनकथा, प्रद्युम्नचरित्र, एवं यशोधरचरित्र रचनाएँ कीं. तीनों ही लोकप्रिय रचनाएँ हैं और शास्त्रभण्डारों में मिलती हैं. हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् ब्र० रायमल्ल ने भक्तामरस्तोत्र की वृत्ति लिखकर अपनी संस्कृत-विद्वत्ता का परिचय दिया. ब्र० कामराज ने सकलकीर्ति के आदिपुराण को देखकर सं० १५६० में जयपुराण की रचना की. सेनगण के प्रसिद्ध भट्टारक सोमसेन ने वैराट नगर में शक संवत् १६५६ में पद्मपुराण की रचना की. आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रंथ योगचिन्तामणि के संग्रहकर्त्ता थे नागपुरीय तपोगच्छ के संत हर्षकीर्ति सूरि. इस ग्रंथ का दूसरा नाम वैद्यकसारसंग्रह भी है. इस ग्रंथ की प्रतियाँ राजस्थान के बहुत से भण्डारों में उपलब्ध होती हैं.

१५ वीं शताब्दी में जिनदत्तसूरि ने जैसलमेर में बृहद् ज्ञानभण्डार की स्थापना की. ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे. इनके शिष्य कमलसंयमोपाध्याय ने संवत् १५४४ में उत्तराध्ययन पर संस्कृत टीका लिखी. इनके अतिरिक्त जैसलमेर में और भी कितने ही सन्त हुये जो संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे. इधर आमेर, जयपुर, श्रीमहावीरजी, अजमेर एवं नागौर भी भट्टारकों के केन्द्र रहे. ये अधिकांश भट्टारक संस्कृत के विद्वान् होते थे· इनके द्वारा लिखवाये बहुत से ग्रंथ राजस्थान के कितने ही भण्डारों में उपलब्ध होते हैं.

## हिन्दी व राजस्थानी साहित्य

राजस्थान में हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा में काव्यरचना बहुत पहिले से प्रारम्भ हो गई थी. जनसाधारण की इस भाषा की ओर रुचि देखकर जैन सन्तों ने हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा को अपना लिया और इनमें छोटी रचनाएँ

लिखी जाने लगी. यद्यपि १७-१८ वीं शताब्दी तक अपभ्रंश में कृतियां लिखी जाती रहीं एवं संस्कृतग्रंथों के पठन-पाठन में जनता की उतनी ही रुचि बनी रही जितनी पहिले थी, किन्तु १३-१४ वीं शताब्दी से ही जनसाधारण की रुचि हिन्दी रचनाओं की ओर बढ़ती गयी और उसमें नये-नये ग्रंथ लिखे जाते रहे और उन्हें शास्त्र-भण्डारों में विराजमान किया जाता रहा. राजस्थान में हिन्दी का प्रथम सन्त कवि कौन था, यह तो अभी खोज का विषय है और इसमें विद्वानों के विभिन्न मत हो सकते हैं, लेकिन इतना अवश्य है कि यहाँ १३ वीं शताब्दी से अपभ्रंश रचनाओं के साथ-साथ हिन्दी रचनायें भी लिखी जाने लगीं. राजस्थान में जैन सन्तों ने हिन्दी को उस समय अपनाया था जब इस भाषा में लिखना विद्वत्ता से परे माना जाता था तथा इसे संस्कृत के विद्वान् देशी भाषा कह कर सम्बोधित किया करते थे. किन्तु जैन सन्तों ने उनकी कुछ भी परवाह नहीं की और जनसाधारण की इच्छा एवं अनुरोध को ध्यान में रख कर हिन्दी साहित्य का सर्जन करते रहे. पहिले यह कार्य छोटी-छोटी रचनाओं से प्रारम्भ किया गया फिर रास, चरित, वेलि, फागु, पुराण एवं काव्य लिखे जाने लगे. १४ वीं शताब्दी में लिखा हुआ जिनदत्त चौपई हिन्दी का सुन्दर काव्य है जो कुछ ही समय पहिले जयपुर के एक जैन भण्डार में उपलब्ध हुआ है. पद स्तवन एवं स्तोत्र भी खूब लिखे जाने लगे. फिर व्याकरण, छंद, अलंकार, वैद्यक, गणित, ज्योतिष, नीति, ऐतिहासिक औपदेशिक, संवाद आदि विषयों को भी नहीं छोड़ा गया और इनमें अच्छा साहित्य लिखा गया. हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा का यह सारा साहित्य राजस्थान के शास्त्रभण्डारों में संग्रहीत है. हिन्दी एवं राजस्थानी में लिखा हुआ इन सन्तों का साहित्य अभी अज्ञात अवस्था में पड़ा हुआ है और उस पर बहुत कम प्रकाश डाला जा सका है. राजस्थान में सैकड़ों जैन संत हुये हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य की महती सेवा की है. लेकिन हम प्रमादवश उनकी अमूल्य सेवाओं को भुला बैठे हैं. अब साहित्य को शास्त्र-भण्डारों में अथवा आलमारियों में बंद करके रखने का समय नहीं है किन्तु उसे बिना किसी डर अथवा हिचकिचाहट के विद्वानों एवं पाठकों के सामने रखने का है.

भरतेश्वर बाहुबलि रास संभवतः प्रथम राजस्थानी कृति है जो जैन सन्त शालिभद्र सूरि द्वारा १३ वीं शताब्दी में लिखी गयी. इसमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत एवं बाहुबली के जीवन का संक्षिप्त चित्रण है. भरत एवं बाहुबली के युद्ध का रोचक वर्णन है. इसके पश्चात् विजयसेन सूरि का रेवंतगिरिरास (सं० १२८८) सुमतिगणि का नेमिनाथ रास (सं० १२७०) विनयप्रभ का गौतमरास (सं० १४१२) आदि कितने ही रास लिखे गये.

१५ वीं शताब्दी से तो हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य में रचनाओं की एक बाढ़-सी आगयी. भट्टारक सकलकीर्ति ने संस्कृत में रचनाएं निबद्ध करने के साथ-साथ कुछ रचनाएं राजस्थानी भाषा में भी लिखी, जिससे उस समय की साहित्यिक रुचि का पता लगता है. सकलकीर्ति की राजस्थानी रचनाओं में आराधना-प्रतिबोधसार, मुक्तावलिगीत, णमोकारगीत, सारसिखामणिरास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं. सकलकीर्ति के एक शिष्य ब्रह्म जिनदास ने ६० से भी अधिक रचनाएँ लिखकर हिन्दी साहित्य में एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया. इन रचनाओं में कितनी ही रचनायें तो तुलसीदास की रामायण से भी अधिक बड़ी हैं. इनकी राम-सीता के जीवन पर भी एक से अधिक रचनाएं हैं. ब्रह्म जिनदास की अबतक ३३ रासा ग्रंथ २ पुराण, ७ गीत एवं स्तवन, ६ पूजाएं एवं ७ स्फुट रचनाएं उपलब्ध हो चुकी हैं. इन रचनाओं में रामसीतारास, श्रीपालरास, यशोधररास, भविष्यदत्त रास, परमहंसरास, हरिवंशपुराण, आदिनाथ पुराण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं. भट्टारक सकलकीर्ति की शिष्य-परम्परा में होने वाले सभी भट्टारकों ने हिन्दी भाषा में रचनाएँ लिखने में पर्याप्त रुचि ली.

खरतर गच्छ के आचार्य जिनराजसूरि के शिष्य महोपाध्याय जयसागर १५-१६ वीं शताब्दी के विद्वान् थे. इन्होंने राजस्थानी भाषा में ३२ से भी अधिक रचनायें लिखीं जिनमें विनती, स्तवन एवं स्तोत्र आदि हैं. ऋषिवर्द्धन सूरि की नलदमयन्तीरास [सं० १५१२] प्रमुख रचना है. मतिसागर १६ वीं शताब्दी के विद्वान् थे. राजस्थानी भाषा में इनकी कितनी ही रचनाएं उपलब्ध हैं जिनमें धन्नारास [सं० १५१४] नेमिनाथ वसंत, मयणरेहारास, इलापुत्र चरित्र, नेमिनाथ-गीत आदि के नाम उल्लेखनीय हैं.

ब्रह्म बूचराज १६ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि थे. मयण-जुज्झ इनकी प्रथम रचना थी जो इन्होंने संवत् १५८४ में समाप्त की थी. इनके अन्य ग्रंथों में सन्तोष-तिलक जयमाल, चेतन पुद्गलधमाल आदि उल्लेखनीय रचनाएं हैं. ये दोनों ही रूपक रचनाएं हैं जो नाटक साहित्य के अन्तर्गत आती हैं: सन्त विद्याभूषण रामसेन परम्परा के यति थे. इन्होंने सोजत नगर में भविष्यदत्त रास को संवत् १६०० में समाप्त किया था. धर्मसमुद्र गणि खतरगच्छीय विवेकसिंह के शिष्य थे जिन्होंने 'सुमित्र कुमाररास' को जालौर में संवत् १५६७ में तथा 'प्रभाकर गुणाकर चौपई' को संवत् १५७३ में मेवाड़ प्रदेश में समाप्त किया है. शकुंतला रास इनकी बहुत छोटी रचना है जो संभवतः इस तरह की प्रथम रचना है. पार्श्वचंद्र सूरि अपने समय के प्रभावशाली सन्त कवि थे. इन्होंने ५० से अधिक रचनाएं राजस्थानी भाषा को समर्पित करके साहित्यसेवा का सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया. इनका जन्म संवत् १५३८ में तथा स्वर्गवास संवत् १६१२ में हुआ था. राजस्थान के अन्य सन्त कवियों में विनयसमुद्र, कुशललाभ, हरिकलश, कनकसोम, हेमरत्नसूरि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं. कुशललाभ खरतरगच्छ के सन्त थे. इनके द्वारा लिखी हुई 'माधवानल चौपई' [सं० १६१६] एवं 'ढोला-मारवणरी चौपई' राजस्थानी भाषा की अत्यधिक प्रसिद्ध रचनाएं हैं जो लोककथानकों पर आधारित हैं. इसी तरह हरिकलश भी इसी खरतरगच्छ के साधु थे जो अपने समय के प्रसिद्ध विद्वानों में से थे. इनका अधिकतर विहार जोधपुर एवं बीकानेर प्रदेश में हुआ और अपने जीवन में २७-२८ रचनाएं लिखीं. सभी रचनाएं राजस्थानी भाषा की हैं.

१७ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रह्मरायमल्ल एक अच्छे संत हुये जिनकी हनुमत चौपई, भविष्यदत्तकथा, प्रद्युम्नरास, सुदर्शनरास आदि अत्यधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय रचनाएं हैं. इन्होंने स्थान-स्थान पर घूम कर काव्यरचना की और जनसाधारण का इस ओर ध्यान आकृष्ट किया. इन्होंने गढ़हरसौर, गढ़ रणथम्भौर एवं सांगानेर आदि स्थानों का अपनी रचनाओं में अच्छा वर्णन किया है. आनन्दघन आध्यात्मिक सन्त थे. इनकी आनन्दघन बहोत्तरी एवं आनन्दघन चौवीसी उच्चस्तर की रचनाएँ हैं. विद्वानों के मतानुसार इनका जन्म संवत् १६६० एवं मृत्यु संवत् १७३० में हुई थी. ब्रह्म कपूरचंद ने संवत् १६६७ में पार्श्वनाथरासो को समाप्त किया था. इनके कितने ही पद भी मिलते हैं. इनका जन्म आनन्दपुर में हुआ था. हर्षकीर्ति भी १७ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध राजस्थानी कवि थे. 'चतुर्गति वेलि' इनकी प्रसिद्ध रचना है जिसे इन्होंने संवत् १६८३ में समाप्त किया था. इनकी अन्य रचनाओं में षट्लेश्याकवित्त, पंचमगति वेलि, कर्महिंडोलना, सीमंधर की जकड़ी, नेमिनाथ राजमती गीत, मोरडा आदि उल्लेखनीय हैं. इनके कितने ही पद भी मिलते हैं जो भक्ति एवं वैराग्य रस से ओतप्रोत हैं.

समयसुन्दर राजस्थानी भाषा के अच्छे विद्वान् थे. श्री हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के शब्दों में कवि का ज्ञानपरिसर बहुत ही विस्तृत है. वह किसी भी वर्ण्य विषय को बिना आयास के सहज ही सम्भाल लेता है. इन्होंने संस्कृत में २५ तथा हिन्दी राजस्थानी भाषा में २३ ग्रंथ लिखे. इन्होंने सात छत्तीसियों की भी रचना की. कवि बहुमुखी प्रतिभा एवं असाधारण योग्यता वाले विद्वान् थे. इन्होंने सिन्ध, पंजाब, उत्तरप्रदेश. राजस्थान, सौराष्ट्र, गुजरात आदि प्रान्तों में विहार किया और उनमें विहार करते हुये विभिन्न ग्रंथों की रचना भी की. राजस्थान में इन्होंने सबसे अधिक भ्रमण किया और अपने समय में एक साहित्यिक वातावरण-सा बनाने में सफल हुये. ये संगीत के भी अच्छे जानकार थे और अपनी रचनाओं को कभी-कभी गाकर भी सुनाया करते थे.

राजस्थान का बागड प्रदेश गुजरात प्रान्त से लगा हुआ है. इसलिए गुजरात में होनेवाले बहुत से भट्टारक एवं सन्त राजस्थान प्रदेश को भी पवित्र करते अपने चरण-कमलों से. यहाँ साहित्य रचना करते एवं अपने भक्तों को उनका रसास्वादन कराते. इन सन्तों में भ० रत्नकीर्ति, भ० कुमुदचन्द्र, भ० अभयचंद्र, भ० अभयनंदी, भ० शुभचन्द्र, ब्रह्म जयसागर, मुनि कल्याणकीर्ति, श्रीपाल, गणेश आदि संस्कृत हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा के अच्छे विद्वान् थे. इनकी कितनी ही रचनाएँ रिखबदेव, डूंगरपुर, सागवाडा एवं उदयपुर के शास्त्रभण्डारों में उपलब्ध हुई हैं. रत्नकीर्ति के नेमिनाथ फाग, नेमिनाथ बारहमासा एवं कितने ही पद उल्लेखनीय हैं. उनके पदों में मिठास एवं भक्ति का रसास्वादन

करने को मिलता है. नेमिराजुल के विवाह से सम्बन्धित प्रसंग ही इनकी रचनाओं का एवं पदों का मुख्य विषय है. एक पद देखिये :

राग-देशाख

सखि को मिलावो नेमि नरिंदा ॥
ता विन तन मन यौवन रजत है, चारु चंदन अरु चन्दा ॥ सखि० ॥
कानन भुवन मेरे जीया लागत, दुसह मदन को फंदा ।
तात मात अरु सजनी रजनी वे अति दुख को कन्दा ॥ सखि० ॥
तुम तो संकर सुख के दाता, करम काट किये मंदा ।
रतनकीरति प्रभु परम दयालु सेवत अमर नरिंदा ॥ सखि० ॥

कुमुदचन्द्र की साहित्य-साधना अपने गुरु रत्नकीर्ति से भी आगे बढ़ चुकी थी. ये बारडोली के जैन सन्त के नाम से प्रसिद्ध थे. इनकी अब तक कितनी ही रचनायें प्राप्त हो चुकी हैं. इनकी बड़ी रचनाओं में आदिनाथ विवाहलो, नेमीश्वर हमची एवं भरतबाहुबलि छन्द हैं. शेष रचनायें पद, गीत एवं विनतिओं के रूप में हैं. इनके पद सजीव हैं. उनमें कवि की अन्तरात्मा के दर्शन होने लगते हैं. शब्दों का चयन एवं अर्थ की सरलता उनमें स्पष्ट नजर आती है. एक पद देखिये :

मैं तो नरभव वादि गमायो,
न कियो जप तप व्रत विधि सुन्दर, काम भलो न कमायो ॥ मैं तो० ॥१॥
विकट लोभ तें कपट कूट करी, निपट विषै लपटायो ॥
विटल कुटिल शठ संगति बैठो, साधु निकट विघटायो ॥ मैं तो० ॥२॥
कृपण भयो कछु दान न दीनो, दिन दिन दाम मिलायो ॥
जब जोवन जंजाल पड्यो तब परत्रिया तनु चित लायो ॥ मैं तो० ॥३॥
अंत समय कोउ संग न आवत झूठहिं पाप लगायो ॥
कुमुदचन्द्र कहे चूक परी मोही प्रभु पद जस नहीं गायो ॥ मैं तो० ॥४॥

इन भट्टारकों के शिष्य-प्रशिष्य भी साहित्य के परमसाधक थे और उनकी कितनी ही रचनायें उपलब्ध होती हैं. वास्तव में वह युग संतसाहित्य का युग था.

इधर आमेर, अजमेर एवं नागौर में भी भट्टारकों की गादियाँ थीं और वहाँ के भट्टारक अपने-अपने क्षेत्रों में साहित्य एवं संस्कृति की जागृति के लिये विहार किया करते थे. दिल्ली के भट्टारकपट्ट से आमेर का सीधा सम्बन्ध था और वहीं से नागौर एवं ग्वालियर में भट्टारकों के स्वतन्त्र पट्ट स्थापित हुये थे. भ० सुरेन्द्रकीर्ति [सं० १७२२] भ० जगत्कीर्ति [सं० १७३३] एवं भ० देवेन्द्रकीर्ति [सं० १७७०] का पट्टाभिषेक आमेर में ही हुआ था. ये सब जैन सन्त थे और साहित्य के सच्चे उपासक थे. आमेर शास्त्रभण्डार, नागौर एवं अजमेर के भट्टारकीय शास्त्रभण्डार इन्हीं भट्टारकों की साहित्य-सेवा का सच्चा स्वरूप हैं.

संवत् १८०० से आगे इन सन्तों में विद्वत्ता की कमी आने लगी. वे नवीन रचना करने के स्थान पर प्राचीन रचनाओं की प्रतियों को पुनः लिखवा कर भण्डारों में संग्रहीत करने में ही अधिक व्यस्त रहे. यह भी उनकी साहित्योपासना की एक सही दिशा थी जिसके कारण बहुत से ग्रंथों की प्रतियाँ हमें आज इन भण्डारों में सुरक्षित रूप में मिलती हैं.

इस प्रकार राजस्थान के इन जैन सन्तों ने भारतीय साहित्य की जो अपूर्व एवं महती सेवा की वह इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में लिखने योग्य है. उनकी इस सेवा की जितनी अधिक प्रशंसा की जाएगी कम ही रहेगी.

डा० हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी
एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक भारतीय विद्याभवन, वम्वई

# तीन अर्धमागधी शब्दों की कथा

जैनधर्म और दर्शन के मूल-स्रोत होने के कारण तो जैन आगम-ग्रंथ अमूल्य हैं ही. इसके अतिरिक्त केवल ऐतिहासिक दृष्टि से भी आगमगत सामग्री का अनेक विध महत्त्व सर्व-विदित है. भारतीय आर्यभाषाओं के क्रम-विकास के अध्ययन के लिए आगमिक भाषा एक रत्न-भण्डार सी है. इस दृष्टि से अर्धमागधी को लेकर वहुत-से विद्वानों ने विवरणात्मक, तुलनात्मक और ऐसिहासिक अनुसन्धान किया है. मगर वहुत कुछ कार्य अव भी अनुसंधायकों की प्रतीक्षा कर रहा है. विशेष करके अनेक आगमिक शब्दों के सूक्ष्म अर्थ-लेश के विषय में और उनके अर्वाचीन हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं के शब्दों से संवन्ध के विषय में गवेषणा के लिए विस्तृत अवकाश है. इस विषय का महत्त्व जितना अर्वाचीन भाषाओं के इतिहास की दृष्टि से है उतना ही अर्धमागधी को रसिक और परिचित वनाने की दृष्टि से भी है. यहाँ पर तीन अर्धमागधी शब्दों की इस तौर पर चर्चा करने का इरादा है. ये शब्द हैं—पिट्ठुंडी—'आटे की लोई, उत्तुप्पिय—'चुपडा हुआ, 'चिकना' और पयण—'कडाही.

## १ पिट्ठुंडी

'नायाधम्मकहा अङ्ग के तीसरे अध्ययन 'अण्डक' में मोरनी के अंडों के वर्णन में अंडों को पुष्ट, निष्पन्न, व्रणरहित, अक्षत और 'पिट्ठुंडीपंडुर' कहा गया है. इस विशेषण में 'पिट्ठुंडी' का अर्थ अभयदेवसूरि ने इस प्रकार किया है—'पिष्टस्य-शालिलोट्टस्य-उंडी पिण्डी'. फलस्वरूप उक्त विशेषण का अर्थ होगा 'चावल के आटे के पिण्ड जैसा श्वेत'.

'पिट्ठुंडी' शब्द पिट्ठ+उंडी से वना है. 'पिट्ठ'=सं०'पिष्ट'. 'पिष्ट' का मूल अर्थ है 'पीसा हुआ,' वाद में उसका अर्थ हुआ 'चूर्ण' और फिर 'अन्न का चूर्ण'. मराठी 'पीठ' (आटा), हिन्दी 'पीठी', गुजराती 'पीठी' आदि का सम्वन्ध इस 'पिष्ट'—'पिट्ठ' के साथ है. 'नाज के चूर्ण' इस अर्थ वाले 'आटा' 'लोट' (गुजराती) और 'पीठ' इन तीनों शब्दों का मूल अर्थ केवल 'चूर्ण' था. इनके प्राकृत रूप थे–'अट्ट', 'लोट्ट' और 'पिट्ठ'.

शेष 'उंडी' का अर्थ है 'पिण्डिका' या 'छोटा पिण्ड'. जैसे यहाँ पर 'पिट्ठुंड' में 'उंड' का प्रयोग 'पिट्ठ' के साथ हुआ है वैसे ओघनिर्युक्तिभाष्य में 'उंड' का विस्तारित रूप 'उंडग' 'मंस' के साथ (मंसउंडग) और विपाकश्रुत में 'हियय' (हृदय) के साथ 'हिययउंडय' हुआ है. पिण्डनिर्युक्ति में 'मंसुंडग' रूप मिलता है. इसके अतिरिक्त नायाधम्मकहा के पंद्रहवें अध्ययन में 'भिच्छुंड' शब्द 'भिखारी' अर्थ में प्रयुक्त है. इस में 'भिक्षा+उंड' ऐसे अवयव हैं और इनसे 'भिक्षा-पिण्ड पर निर्वाह करने वाला' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है. 'भिच्छुंड' के स्थान पर 'भिक्खुंड' और 'भिक्खोंड' भी मिलते हैं. संस्कृत में 'उण्डुक' (शरीर का एक अवयव) और 'उण्डेरक' (पिष्टपिण्ड) के प्रयोग मिलते हैं.

अर्वाचीन भाषाओं में मराठी 'उंडा' (—लोई) और उंडी (—भात का पिण्ड), गुजराती 'ऊंडल' (–'गुल्म-रोग') तथा सिंहली 'उण्डिय' (—गेंद) में एवं हिन्दी 'मसूड़ा' (—सं० मांसोण्डक, प्रा० मंसुंडय) में 'उंड' शब्द सुरक्षित है. टर्नर के अनुसार "'उंड' मूल में द्राविड़ी शब्द है. तमिल में 'उण्टै' मलयालम् में 'उण्डा', और कन्नड़ में 'उण्डे' ये शब्द 'गेंद' या 'गोल पिण्ड' के अर्थ में प्रचलित हैं. इन सब से 'पिट्ठुंडी' का (चावल के) 'आटे की लोई' यह अर्थ समर्थित होता है.

## २ उत्तुप्पिय

प्रश्नव्याकरणसूत्र में तीसरे अधर्मद्वार में चौरिका के फलवर्णन में वधस्थान की ओर जाते समय चोरों की भयभीत दशा चित्रित करते कहा गया है:

मरण-भउप्पराण-सेद-आयत-रोहुत्तुप्पिय-किलिन्न-गत्ता ।

'जिन के गात्र मरण-भय से उत्पन्न स्वेद के सहजात स्नेह से लिप्त और भीगे हुए हैं.'

यहाँ पर 'उत्तुप्पिय' शब्द 'स्नेह-लिप्त' 'चिकना' इस अर्थ में आया है. विपाकश्रुत में भी इसका प्रयोग हुआ है. ज्ञातधर्म-कथा में, कल्पसूत्र में, गाथासप्तशती में 'चुपड़ा हुआ' 'लिप्त' इस अर्थ में, ओघनिर्युक्ति-भाष्य में 'स्निग्ध' इस अर्थ में तथा 'सेतुबन्ध' आदि में 'घी' इस अर्थ में 'तुप्प' शब्द प्रयुक्त है. हेमचन्द्राचार्य ने देशीनाममाला में 'तुप्प' के 'म्रक्षित' 'स्निग्ध' और 'कुतुप' अर्थ दिए हैं. अभिधानराजेन्द्रकोष में 'तुप्पग्ग' (जिसका अग्रभाग म्रक्षित है) और 'तुप्पोट्ठ' (जिसका ओष्ठ म्रक्षित है) दिए हैं. अपभ्रंश साहित्य में 'तुप्प' के कई प्रयोग मिलते हैं.

'तुप्प' से नाम धातु 'उत्तुप्प' बना और इसके कर्मणि भूतकृदंत 'उत्तुप्पिय' का अर्थ है 'स्निग्ध पदार्थ से लिप्त'. ऐसे 'उद्' लगाकर क्रियापद बनाने की प्रक्रिया प्राकृत 'उद्धूलिय' (—उद्धूलित, धूलिलिप्त) उद्धूविय (उद्धूपित) इत्यादि में है. 'तुप्प' से इसी अर्थ में 'तुप्पलिय' (घृतलिप्त, चिकना) बना है, और 'गाथासप्तशती' में इसका प्रयोग है. 'तुप्प' से सिद्ध मराठी 'तूप' शब्द 'घी' अर्थ में अभी प्रचलित है. कन्नड़ में भी इसी अर्थ में 'तुप्प' शब्द व्यवहृत होता है. मूल म्रक्षण वाचक 'तुप्प' चोप्पड' और 'मक्खण' (सं० म्रक्षण) शब्द बाद में 'घी' 'तेल' 'मक्खन' जैसे स्निग्ध पदार्थों के वाचक बन गए हैं.

## ३ पयण

'नायाधम्मकहा' के 'शैलक' अध्ययन में अशुचि वस्त्र की शुद्धि-क्रिया के वर्णन में कहा गया है कि ... .......के बाद वस्त्र को 'पयणं अरुहेई'.

वृत्तिकार ने अर्थ किया है 'पाकस्थाने चुल्ल्यादौ वाऽऽरोपयति'. यह तो भावार्थ हुआ. क्योंकि वस्त्र को पाकस्थान में अथवा चूल्हे पर चढ़ाने से 'पचन' का सामान्य अर्थ समझा जाता है. चढ़ाने की क्रिया पर बल देने से लगता है कि यहाँ 'पयण' या पचन शब्द प्रक्रिया के अर्थ में नहीं, पर साधन के अर्थ में लेना उचित है. 'पचन' 'पकाने का पात्र'. चूल्हे पर कडाही में गरम पानी में मलिन वस्त्र को उबालने से उसकी स्वच्छता सिद्ध होती है. सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति में तथा जीवा-जीवाभिगमसूत्र में 'पयण' या 'पयणग' का 'पचन-पात्र' के अर्थ में प्रयोग है ही. अर्वाचीन भाषाओं में गुजराती 'पेणी' (कड़ाही), 'पेणो' (कडाहा) एवं नैपाली 'पैनी' (—मद्य निथारने का बरतन) मूलतः प्राकृत के 'पयण' सं० 'पचन' से निष्पन्न हुए हैं. अर्वाचीन प्रयोग के आधार पर किसी ने संस्कृत में भी' 'पचनिका' शब्द बना दिया है.

इस तरह आगम-ग्रंथों के अनेक शब्दों के इतिहास की शृंखला प्रवर्तमान भाषाओं पर्यन्त अविच्छिन्न रूप में चली आई जान पड़ती है.

श्रीअम्बालाल प्रेमचन्द शाह

# जैनशास्त्र और मंत्रविद्या

प्रत्येक व्यक्ति को ऐश्वर्य प्राप्त करने का आकर्षण बना रहता है. उसे प्राप्त करने के लिए वह विविध बौद्धिक और शारीरिक परिश्रम करता रहता है. विद्या, मन्त्र और योग की सिद्धियों के चमत्कार ऐसे ही प्रयत्न हैं.

विद्या और मन्त्र में थोड़ा फर्क है. 'विद्या' कुछ तांत्रिक प्रयोग और होम करने से सिद्ध होती है और उसकी अधिष्ठात्री स्त्री देवता होती है, जबकि 'मंत्र' सिर्फ पाठ करने से सिद्ध होता है और उसका अधिष्ठाता पुरुष देवता रहता है. अथवा गुप्त संभाषण को 'मंत्र' कहते हैं. 'योग' अर्थात् किसी जादूई प्रयोग द्वारा आकर्षण, मारण, उच्चाटन, रोगशांति वगैरह या पैरों में लेप लगाकर ऊँचे उड़ने की, पानी की सतह पर चलने की चामत्कारिक शक्ति आदि की प्राप्ति.

जैनों में मंत्रविद्या का प्रचलन कब से हुआ, यह कहना मुश्किल है. जैनों के आगम-साहित्य में चामत्कारिक प्रयोगों के विषय में अनेक निर्देश मिलते हैं. ऐसा माना जाता है कि चौदह पूर्वों में जो दसवाँ 'विद्यानुवाद' पूर्व था, उसमें अनेक मंत्र प्रयोगों का वर्णन था, परन्तु वह पूर्व आज उपलब्ध नहीं है. उसमें से कितनेक मंत्र और उनके प्रयोग परम्परा से चले आये, वे पिछले ग्रंथों में संग्रहीत देखने में आते हैं. 'मणि-मन्त्रौषधानामचिन्त्यः प्रभावः' यह उक्ति भी जैनाचार्यों ने प्रामाणिक ठहराई है.

आज जो आगमग्रंथ मिलते हैं उनमें से 'बृहत्कल्पसूत्र' में कोऊअ, भूइ, पासिण, पसिणापसिण, निमित्त जैसे जादूई विद्या के उल्लेख मिलते हैं.

'भगवतीसूत्र' से जाना जाता है कि, गोशाल महानिमित्त के आठ अंगों— १ भौम, १ उत्पात, ३ स्वप्न, ४ आंतरिक्ष, ५ अंग, ६ स्वर, ७ लक्षण और ८ व्यञ्जन में पारंगत था. वह लोगों के लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मरण वगैरह की भविष्यवाणी कर सकता था.

'स्थानांगसूत्र' और 'समवायांगसूत्र' में इस महानिमित्तशास्त्र को पापश्रुत के अन्तर्गत बताया है, तो भी अनेक विद्याओं के निर्देश आगम के भाष्य, चूर्णि और टीका आदि साहित्य में मिलते हैं. लब्धि और लब्धिधारियों के उल्लेख भी पर्याप्त प्रमाण में प्राप्त होते हैं. जिसका नाम जानने में नहीं आया ऐसे एक जैनाचार्य 'अंगविज्जा' नामक विशालकाय (९००० श्लोकप्रमाण) ग्रन्थ की रचना करें, तब इस विद्या और शास्त्र का महत्त्व स्वयं सिद्ध हो जाता है. एक पट्टावली के उल्लेख से ज्ञात होता है कि राजगच्छीय अभयसिंहसूरि नामक जैनाचार्य दुःसाध्य 'अंगविद्या' शास्त्र को अर्थ सहित जानते थे.

लब्धिधारी या मांत्रिकों में से कितनेक जैनाचार्यों के नाम सुप्रसिद्ध हैं. ऐसी सिद्धियों के कारण उन्होंने प्राभाविक आचार्यों के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की है. याद रहे कि, जैनों में जो आठ प्रकार के प्राभाविक कहे गये हैं उनमें निमित्त-वादी भी एक है. आर्य सुरक्षित, सुप्रतिवुद्ध, सिद्ध रोहण, रेवतीमित्र, श्रीगुप्त, कालिकाचार्य, आर्य खपुटाचार्य, पादलिप्त-सूरि, सिद्धसेन दिवाकर वगैरह प्राचीन आचार्यों के नाम मंत्रवादी के रूप में मुख्य रूप से गिनाये जा सकते हैं.

प्राचीन आचार्यों में अज्ञातकर्तृक 'अंगविज्जा' और 'जयपाहुड' इन निमित्त और चूडामणिनिमित्त शास्त्र के ग्रंथों के सिवाय किसी ने मंत्रशास्त्र की रचना की हो, ऐसा जानने में नहीं आता. नवीं और दसवीं शताब्दी के बाद हुए कितनेक श्वेताम्बर आचार्यों में बप्पभट्टिसूरि, हेमचन्द्रसूरि, भद्रगुप्तसूरि, जिनदत्तसूरि, सागरचन्द्रसूरि, जिनप्रभसूरि, सिंहतिलकसूरि वगैरह आचार्यों के रचे हुए कितनेक मंत्रमय स्तोत्र, कल्प और छोटी रचनायें मिलती हैं. जब कि दिगम्बर जैनाचार्य

मल्लिषेणसूरि ने 'विद्यानुवाद' और 'भैरव पद्मावतीकल्प' जैसे बड़े ग्रंथ और आयशास्त्र का 'आयसद्भाव' और 'जगत्-सुन्दरी प्रयोगमाला' जैसे तांत्रिक ग्रंथों की रचना की है यह उल्लेखनीय है. कहा जाता है कि उनमें निर्दिष्ट मंत्र और विद्या 'विद्याप्रवाद' पूर्व में विद्यमान थीं.

जैनाचार्यों के रचे हुए कथा आदि अनेक ग्रन्थों में मन्त्रवादियों के प्रचुर वर्णन प्राप्त होते हैं. 'कुवलयमाला' में जो एक सिद्ध पुरुष का उल्लेख मिलता है उसे अंजन, मंत्र, तंत्र, यक्षिणी, योगिनी आदि देवियाँ सिद्ध थीं. 'आख्यानकमणिकोश' में भैरवानन्द का वर्णन, 'पार्श्वनाथचरित' में भैरव का वर्णन, 'महावीरचरित' में घोरशिव का वर्णन, 'कथारत्नकोश' में जोगानन्द और बल वगैरह के वर्णन मिलते हैं, वे वैसी ही मंत्रविद्या के साधक पुरुष थे.

'बृहत्कल्पसूत्र' विधान करता है कि—

"विज्जा-मंत-निमित्ते हेउसत्थट्ठदंसणट्ठाए ।।"

अर्थात्—दर्शनप्रभावना की दृष्टि से विद्या, मन्त्र, निमित्त और हेतुशास्त्र के अध्ययन के लिये कोई भी साधु दूसरे आचार्य या उपाध्याय को गुरु बना सकता है.

'निशीथसूत्र-चूर्णि' में तो आज्ञा दी है कि—

विज्जगं उभयं सेवे त्ति—उभयं नाम पासत्था गिहत्था, ते विज्जा-मंत-जोगादिणिमित्तं सेवे ।" (१-७०)

अर्थात्—विद्या-मंत्र और योग के अध्ययनार्थ पासत्था साधु एवं गृहस्थों की भी सेवा करनी चाहिए.

स्पष्ट है कि, जैनशासन की रक्षा के लिये मंत्र, तंत्र, निमित्त जानना जरूरी था परन्तु उसका दुरुपयोग करने का निषेध था.

आ० भद्रबाहुस्वामी को आर्य स्थूलिभद्र को पूर्वो का ज्ञान देते हुए उनके द्वारा किये गये विद्या के दुरुपयोग के कारण दंडस्वरूप दूसरी विद्याएँ नहीं देने का निर्णय लेना पड़ा था. यह तथ्य सूचन करता है कि, विद्या को निरर्थक प्रकाश में रखने में खूब सावधानी रखी जाती थी और शिष्यों की योग्यता देख कर ये विद्याएँ केवल दर्शनप्रभावना की दृष्टि से ही दी जाती थीं.

जैनधर्म ने मन्त्रयान अपनाया तो भी उसने अपनी सैद्धान्तिक दृष्टि रखी ही है, यह भूलना नहीं चाहिए. यह पतनशील परिणामों से बिलकुल अछूता रह सका है यह उसकी विशेषता है. जैनपरम्परा की दृष्टि से ऐसी कितनीक विशेषताएँ इस प्रकार मालूम पड़ती हैं :

१. मिथ्यात्वी देवों से अधिष्ठित मन्त्रों की साधना नहीं करना.
२. मन्त्र का उपयोग केवल दर्शनप्रभावना के लिए ही करना. उसके सिवाय ऐहिक लाभों के लिये नहीं करना.
३. तांत्रिकपद्धति को स्वीकार नहीं करना.
४. शास्त्रों में जो ध्यानयोग अपनाया गया है उस पद्धति से पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत, इन भावनाओं की मर्यादा में रह कर मन्त्रयोग की साधना करना.

दूसरी दृष्टि से देखें तो मन्त्रविद्या एक गहन विद्या है. उसकी साधना के लिये अनेक बातों पर ध्यान देना पड़ता है. सर्वप्रथम मन्त्रसाधक की योग्यता कैसी होनी चाहिये, उसके विषय में मन्त्रशास्त्र खूब कठोर नियम बताता है.

साधक में पूरा शारीरिक और मानसिक सामर्थ्य होना चाहिये. मन में प्रविष्ट खराब विचारों को रोकने की और पवित्र भावना में रमण करने की शक्ति होनी चाहिये. प्राणायाम के रोचक, पूरक और कुंभक योग द्वारा मन को उन-उन स्थलों में रोकने का अभ्यास होना जरूरी है. मन्त्रसाधना करते हुये अनेक प्रकार के उपद्रव उपस्थित हों तो उसके सामने जूझने का सामर्थ्य होना चाहिये. ऐसी योग्यता प्राप्त न की हो तो वह पागल-सा बन जाता है या मरण के शरण होता है.

इसके सिवाय इंद्रियों पर कावू प्राप्त करने की शक्ति—ब्रह्मचर्य, मिताहार, मौन, श्रद्धा, दया, दाक्षिण्य आदि गुणों की आवश्यकता पर भार दिया गया है.

इसके पीछे मंत्रसाधक को साधनासमय में नीचे वताई हुई प्रक्रिया में से पार होना चाहिये.

१ योग, २ उपदेश, ३ देवता, ४ सकलीकरण, ५ उपचार, ६ जप, ७ होम—उसमें जप करनेवाले को १ दिशा, २ काल, ३ मुद्रा, ४ आसन, ५ पल्लव, ६ मंडल, ७ शान्ति आदि कर्मों के प्रकार जानकर जप और होम करना चाहिए.

१. योग—मंत्र के आदि अक्षर के साथ नक्षत्र, तारा, और राशि की अनुकूलता ज्योतिःशास्त्र के साथ मिलान करे. यदि किसी प्रकार का विरोध न हो तो ही मंत्र सिद्ध होता है.

इसी प्रकार साध्य आदि भेद को भी चकासने-परखने की आवश्यकता है. साध्य और साधक का यदि मेल न वने तो मंत्र आदि का आरावन करने, कराने में अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं और अंत में परिणाम अनिष्टकारक वनता है.

साध्य आदि भेद चकासने की अनेक रीतियाँ देखने में आती हैं. उनमें से १ भद्रगुप्ताचार्य ने अनुभव सिद्ध मन्त्रद्वात्रिंशिका में जो रीति वतायी है वह इस प्रकार है—

'अ इ उ ए ओ' इन पांच स्वरों से आरम्भ कर 'ङ ढ ण' वर्णों को छोड़कर पाँच सरीखी पंक्तियों में सर्व मातृकाक्षर लिखें. पीछे साध्य नाम से गिनते हुए साधक का नाम जिस स्थान में आवे उस स्थान का फल देने वाला मंत्र है ऐसा समझना. ये पाँच नाम इस प्रकार हैं—

१ साध्य, २ सिद्धि, ३ सुसिद्ध, ४ शत्रुरूप और ५ मृत्युदायी. इन पाँच प्रकारों में से आद्य तीन भेद क्रम से श्रेष्ठ, मध्य और स्वल्प फल देने वाले होने से शिष्य की योग्यता के अनुसार दे सकते हैं, परन्तु अंतिम दो भेद शत्रुरूप और मृत्युदायी होने से किसी को भी देने योग्य नहीं हैं.

उपर्युक्त प्रकारों का 'मातृकाचक्र' इस प्रकार है—

मातृका चक्र

| १ | २ | ३ | ४ | ५ |
|---|---|---|---|---|
| अ | इ | उ | ए | ओ |
| आ | ई | ऊ | ऐ | औ |
| क | ख | ग | घ | ङ |
| च | छ | ज | झ | ञ |
| ट | ठ | त | थ | द |
| ध | न | प | फ | व |
| भ | म | य | र | ल |
| व | श | ष | स | ह |

२ उपदेश—मंत्र पढ़ लेने के वाद मात्र जाप करना नहीं चाहिए परन्तु मंत्र और विधि गुरु के पास से जानकर ही, गुरु के मुख से मंत्र पाठ लेकर साधना करनी चाहिए.

३ देवता—चौवीस तीर्थकरों में से किसी भी तीर्थंकर का जाप किया जाय तो उनके सेवक यक्ष और यक्षिणी सेवक बन कर साधक की मनोवांछित सिद्धि में सहायक होते हैं.

२४ यक्ष—

"जक्खा गोमुह महजक्ख तिमुह जक्खेस तुंबरु कुसुमो।
मायंगो विजयाजिय बंभो मणुओ सुरकुमारो अ।
छम्मुह पयाल किन्नर गरुलो गंधव्व तह य जक्खिंदो।
कुवेर वरुणो भिउडी गोमेहो पासमायंगा॥"

अर्थात्—१ गोमुख, २ महायक्ष, ३ त्रिमुख, ४ यक्षेश, ५ तुंबरु, ६ कुसुम, ७ मातंग, ८ विजय, ९ अजित, १० ब्रह्म, ११ मनुज, १२ सुरकुमार, १३ षण्मुख, १४ पाताल, १५ किन्नर, १६ गरुल, १७ गन्धर्व, १८ यक्षेन्द्र, १९ कुवेर, २० वरुण, २१ भृकुटि, २२ गोमेध, २३ पार्श्व, और २४ मातंग.

२४ यक्षिणी—

"देवीओ चक्केसरि अजियादुरियारि कालि महकाली।
अच्चुआ संता जाला सुतारयासोअ सिरिवच्छा॥
चण्डा विजयंकुसी पन्नत्ती निव्वाणी अच्छुआ धरणी।
वइरुट्टछुत्त गंधारी अंब पउमावई सिद्धा॥"

अर्थात्—१ चक्रेश्वरी, २ अजिता, ३ दुरितारि, ४ काली, ५ महाकाली, ६ अच्युता, ७ शांता, ८ ज्वाला, ९ सुतारका, १० अशोका, ११ श्रीवत्सा, १२ चण्डा, १३ विजया, १४ अंकुशा, १५ प्रज्ञप्ति, १६ निर्वाणी, १७ अच्छुप्ता, १८ धरणी, वैराट्या, २० अच्छुप्ता २१ गन्धारी, २२ अंबा, २३ पद्मावती, और २४ सिद्धा.

१६ विद्यादेवी—

"रक्खंतु मम रोहिणि-पन्नत्ती वज्जसिंखला य सया।
वज्जंकुसि चक्केसरि नरदत्ता कालि महकाली॥
"गोरी तह गन्धारी महजाला माणवी अ वइरुट्टा।
अच्छुत्ता माणसिआ महमाणसिआ उ देवीओ॥"

१ रोहिणी, २ प्रज्ञप्ति, ३ वज्रश्रृंखला, ४ वज्रांकुशी, ५ चक्रेश्वरी, ६ नरदत्ता, ७ काली, ८ महाकाली, ९ गौरी, १० गांधारी, ११ महाज्वाला, १२ मानवी, १३ वैरोट्या, १४ अच्छुप्ता, १५ मानसी और १६ महामानसी.

इन रोहिणी वगैरह विद्याओं के प्रभाव से विद्याधर ऐसे मनुष्य देव समान सुख प्राप्त करते हैं. विद्यादेवियों का ध्यान खूब भक्ति से करना चाहिये.

४ सकलीकरण—

ध्यान करने के पहिले सकलीकरण अर्थात् आत्मरक्षा करनी चाहिए. सकलीकरण से विद्या की साधना में निर्विघ्न कार्य-सिद्धि होती है.

प्रथम दिग्बंध करना चाहिए. फिर जल से अमृत-मंत्र बोलकर शरीर पर छिटकना चाहिए. फिर मंत्रस्नान करके शुद्ध धुले वस्त्र पहनकर एकान्त और निरुपद्रवी स्थान में (ब्रह्मचर्य आदि श्रावक के पांच व्रतों का पालन करते हुए) भूमि शुद्ध करके आसन पूर्वक बैठना चाहिए.

१. ओँ णमो अरहंताणं ह्राँ शीर्षं रक्ष रक्ष स्वाहा।
२. ओँ णमो सिद्धाणं ह्रीं वदनं रक्ष रक्ष स्वाहा।
३. ओँ णमो आयरियाणं ह्रूँ हृदयं रक्ष रक्ष स्वाहा।

४. ओं णमो उवज्झायाणं ह्रौं नाभिं रक्ष रक्ष स्वाहा ।
५. ओं णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रः पादौ रक्ष रक्ष स्वाहा ।

इस प्रकार अंगन्यास करके पंचांग रक्षा करनी चाहिये अथवा 'क्षिप ओं स्वाहा' इन बीजाक्षरों से मस्तक, मुख, हृदय, नाभि और पाँव अंगों में सुलटे-उलटे क्रम से न्यास करने से पंचांग रक्षा होती है.

५. उपचार—सकली क्रिया करने के बाद पंचोपचार पूजा के यन्त्र के अधिष्ठाता देव की पूजा नीचे बताई हुई विधि से करनी चाहिए. वे पांच उपचार ये हैं—१ आह्वान, २ स्थापन, ३ संनिधीकरण, ४ पूजन, ५ विसर्जन मुद्रापूर्वक करना चाहिए. उनके मंत्र इस प्रकार हैं—

१. ओं ह्रीं नमोऽस्तु[1] ·····एहि एहि संवौषट् । (आह्वान)
२. ओं ह्रीं नमोऽस्तु ......तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः । (स्थापन)
३. ओं ह्रीं नमोऽस्तु····· मम संनिहिता भव भव वषट् । (संनिधीकरण)
४. ओं ह्रीं नमोऽस्तु ······ गन्धादीन् गृहाण गृहाण नमः । (अष्ट द्रव्यों से पूजन)
५. ओं ह्रीं नमोऽस्तु······स्वस्थानं गच्छ जः जः (विसर्जन)

आह्वान पूरक प्राणायाम से; स्थापन, संनिधीकरण और पूजन ये तीन कुंभक प्राणायाम से और विसर्जन रेचक प्राणायाम से करना चाहिये.

अंत में इस प्रकार बोलना चाहिये—

आह्वानं नैव जानामि न च जानामि पूजनम् ।
विसर्जनं न जानामि प्रसीद परमेश्वर ! ।।
"आज्ञाहीनं क्रियाहीनं मन्त्रहीनं च यत् कृतम् ।
क्षमस्व देव ! तत् सर्वं प्रसीद परमेश्वर ! ।।"

६. जप—सामान्य रीति से मंत्र के जाप की संख्या १०८ अथवा १००८ मानी गई है. जप के भी तीन प्रकार हैं—(१) मानस जप, (२) उपांशुजप और (३) वाचिकजप. सब मन्त्र मानस जप—मन में जिह्वा से धीरे से शुद्ध बोलना चाहिये.

जाप से मंत्र अपनी शक्ति प्राप्त करता है और मन्त्र-चैतन्य स्फुरित होता है, और होम व पूजा आदि से मन्त्र का स्वामी तृप्त होता है.

७. होम—एक तो स्वयं अग्नि और उसमें यदि पवन की सहायता मिले तो वह क्या नहीं कर सकता. इस प्रकार मन्त्र-जाप के पश्चात् होम करने से यथेष्ट फल प्राप्त हो सकता है.

जाप के समय मंत्र के अन्त में कर्मानुसार पल्लवों का उपयोग होता है, क्योंकि मंत्रों का निवास ही पल्लव में होता है. जाप के समय मंत्र के अन्त में 'नमः' पल्लव और होम के समय 'स्वाहा' पल्लव लगाना चाहिए.

मूल मंत्र की जापसंख्या से दशवें भाग का जाप होम के समय में करना चाहिए अर्थात् एक हजार जाप को होम के साथ करें तब १०० संख्या का जाप करना चाहिए. सामान्य जाप पूरा होते ही होम करना चाहिए.

होमविधि—होमकुंड तीन प्रकार के होते है—१. चतुष्कोण, २. त्रिकोण, ३. गोल.

१. चतुष्कोण—शांति, पौष्टिक, स्तंभन आदि कर्म में.
२. त्रिकोण—मारण, आकर्षण कर्म में.

---

१. इस रिक्त जगह में जिन देवता की आराधना करनी हो उन देवता का नाम बोलना चाहिये. जैसे पद्मावती की आराधना करनी हो तो "भगवति पद्मावति देवि !"

३. गोल—विद्वेषण और उच्चाटन कर्म में.

इन तीन प्रकार के कुंडों की गहराई और चौड़ाई एक हाथ प्रमाण होनी चाहिए. उनमें तीन पालियाँ बांधी जाती हैं. उनमें से पहली पाली का विस्तार और ऊंचाई पांच अंगुल, दूसरी की चार अंगुल और तीसरी की तीन अंगुल रखनी चाहिए.

होम करने वाले को सकलीकरण से अपने मन को शुद्ध कर, नयी धोती और चद्दर पहन कर पद्मासन से बैठना चाहिए. होम में मुख्यतः पलाश की लकड़ी होनी चाहिए. यदि पलाश न मिले तो दूधवाले वृक्ष अर्थात् पीपल आदि वृक्षों की लकड़ी (कीड़ा और जीव-जन्तु रहित) होम के लिये लानी चाहिये.

उसके साथ श्वेत चन्दन, लाल चन्दन, शमी वृक्ष की लकड़ी भी होम के लिए लानी चाहिए.

पत्ते पीपल और पलाश के होने चाहिए.

होम में १ सेर दूध, १ सेर घी, और अष्टांग धूप आदि मिलाकर दो सेर वजन की होम सामग्री होनी चाहिए.

लकड़ी भी उस-उस कृत्यकारित्व के अनुसार ही अमुक नाप की रखनी चाहिए. जैसे—वध, विद्वेषण, उच्चाटन में आठ अंगुल लंबी; पौष्टिक कर्म में नव अंगुल लंबी; शांति, आकर्षण, वशीकरण, स्तंभन में बारह अंगुल लंबी लानी चाहिए.

शांति, पुष्टि आदि शुभ कार्यों में उत्तम द्रव्यसामग्री से प्रसन्नचित्त से होम करना चाहिए और मारण उच्चाटन आदि अशुभ कार्यों में अशुभ द्रव्यों से आक्रोशपूर्वक होम करना चाहिए.

जल, चंदन आदि अष्ट द्रव्यों से महामंत्र का जाप करते हुए अग्नि की पूजा करे. पीछे दूध, घी, गुड और साथ में एक लकड़ी को अपने हाथों से होमकुंड में रखे और पीछे अग्नि स्थापन करके सबसे पहले आहुति देते हुए श्लोक बोले.

पीछे लकड़ी को आहुति के द्रव्यों के साथ मिलाकर जाप्य मंत्र का उच्चारण करते हुए आहुति दे.

इस प्रकार होम की विधि शास्त्रों में बतायी गई है ।

पांच कलशों की स्थापना करके होमविधि करनी चाहिए, जिससे संपूर्ण मंत्र विधि से मंत्र भली प्रकार साध्य हो सके.

अब मंत्र की जपसाधना में दिशा, काल, मुद्रा, पल्लव आदि प्रकार और मंत्र के कृत्यकारित्व के प्रकार संक्षेप में इस प्रकार हैं—[१] शांति, [२] पौष्टिक, [३] वशीकरण, [४] आकर्षण, [५] स्तंभन, [६] मारण, [७] विद्वेषण और उच्चाटन.

१. **शांति कर्म**—पश्चिम दिशा, अर्धरात्रि का समय, ज्ञानमुद्रा, पद्मासन, 'नमः' पल्लव, श्वेत वस्त्र, श्वेत पुष्प, पूरकयोग, स्फटिक मणि की माला, दाहिना हस्त, मध्यमा अंगुली और जलमंडल से करे.

२. **पौष्टिक कर्म**—नैर्ऋत दिशा, प्रातःकाल, ज्ञानमुद्रा, स्वस्तिक आसन, 'स्वधा' पल्लव, श्वेत वस्त्र, श्वेत पुष्प, पूरक, योग, मोतियों की माला, मध्यमा अंगुली, दाहिना हस्त और जलमंडल से करे.

३. **वशीकरण**—उत्तरदिशा, प्रातःकाल, कमलमुद्रा, पद्मासन, 'वषट्' पल्लव, लालवस्त्र, लाल पुष्प, पूरक योग, प्रवालमणि की माला, बांया हस्त, अनामिका अंगुली और अग्निमंडल से करे.

४. **आकर्षण**—दक्षिण दिशा, प्रातःकाल, अंकुशमुद्रा, दंडासन, 'वौषट्' पल्लव, रक्तवस्त्र, रक्तपुष्प, पूरकयोग, प्रवाल की माला, कनिष्ठिका अंगुली, बांया हस्त, बांया वायु और अग्निमण्डल से करें.

५. **स्तम्भन कर्म**—पूर्वदिशा, प्रातःकाल, शंखमुद्रा, वज्रासन 'ठः ठः' पल्लव, पीतवस्त्र, पीतपुष्प, कुंभक योग, स्वर्ण की माला, कनिष्ठिका अंगुली, दाहिना हाथ, दक्षिणवायु और पृथ्वीमंडल से करे.

६. **मारण कर्म**—ईशानदिशा, संध्याकाल, वज्रमुद्रा, भद्रासन, 'घे घे' पल्लव, काला वस्त्र, काले पुष्प, रेचक योग, पुत्र-जीव मणि की माला, तर्जनी अंगुली, दाहिना हाथ, और वायुमंडल से करें.

७ विद्वेषण कर्म—आग्नेयदिशा, मध्याह्नकाल, प्रवालमुद्रा, कुक्कुटासन 'हुं' पल्लव, धूम्रवस्त्र, धूम्रपुष्प, रेचकयोग, पुत्रजीव मणि की माला, तर्जनी अंगुली, दाहिना हाथ और वायु मंडल से करें.

८. उच्चाटन कर्म—वायव्यदिशा, तीसरा प्रहर, प्रवाल मुद्रा, कुक्कुटासन, 'फट्' पल्लव, धूम्रवस्त्र, धूम्रपुष्प, रेचक योग, काले मणिओं की माला, तर्जनी अंगुली, दाहिना हाथ और वायु मंडल से करे.

मंडल—चार प्रकार के यंत्र-मंडल इस प्रकार हैं—

१. पृथ्वीमण्डल—पीला, चतुष्कोण, पृथ्वीबीज 'ल' 'क्षि' चार कोनों में लिखें और बीच में मंत्र स्थापन करें.

२. जलमंडल—श्वेत, कलश समान गोल, जलबीज 'व' 'प' चार कोने में लिखें, और बीच में मंत्र स्थापन करना चाहिए.

३. अग्निमण्डल—लाल, त्रिकोण, उसके तीन कोनों में बाहर की ओर स्वस्तिक की आलेखना करें और अन्दर की ओर 'र' 'ओं' बीज लिखें. बीज में मंत्र स्थापन करें.

४. वायुमण्डल—काला, गोलाकार बनावें, वायुबीज 'य' 'स्वा' भीतर की ओर लिखें और बीच में मंत्र स्थापन करें.

प्रत्येक मंत्र के अन्त में 'नमः' पल्लव लगाने से मारण आदि उग्र स्वभावी मंत्र भी शांत स्वभाव वाले बन जाते हैं और 'फट्' पल्लव लगाने से क्रूर स्वभाव वाले बन जाते हैं.

दीपन आदि प्रकार—दीपन से शांति कर्म, पल्लव से वशीकरण, रोधन से बंधन, ग्रथन से आकर्षण, और विदर्भण से स्तंभन कार्य किये जाते हैं. ये छः प्रकार प्रत्येक मंत्र में प्रयुक्त हो सकते हैं. उनके सोदाहरण लक्षण नीचे लिखे अनुसार हैं—

१. मन्त्र के प्रारम्भ में नाम स्थापन करना वह दीपन
   उदाहरण—देवदत्त ह्रीँ.

२. मंत्र के अन्त में नाम निर्देश करना वह पल्लव.
   उदा०—ह्रीँ देवदत्त.

३. मध्य में नाम बताना वह संपुट.
   उदा०—ह्रीँ देवदत्त ह्रीँ.

४. आदि और मध्य में उल्लेख करना वह रोध.
   उदा०—दे ह्रीँ व ह्रीँ द ह्रीँ त्त ह्रीँ.

५. एक मंत्राक्षर, दूसरा नामाक्षर, तीसरा मंत्राक्षर—इस प्रकार संकलन करना ग्रथन.
   उदा०—ह्रीँ दे ह्रीँ व ह्रीँ द ह्रीँ त्त ह्रीँ.

६. मंत्र के दो-दों अक्षरों के बीच में एकेक नामाक्षर उसके क्रम से रखना विदर्भण.
   उदा०—ह्रीँ त्त ह्रीँ द ह्रीँ व ह्रीँ दे ह्रीँ.

यहां हमने ह्रीँ बीजाक्षर मंत्र द्वारा उदाहरण दिये हैं परन्तु दूसरे बीजाक्षरों से भी दीपन आदि प्रकार उसी प्रकार समझ लेना चाहिए.

इन सब हकीकतों से साधक को मंत्र की साधना में हताश नहीं होना चाहिए. बीज, भूमि, पवन, वातावरण आदि शुद्ध हों तो उसका फल भी शुद्ध ही मिलता है. मंत्र और उसकी साधना की शुद्धि के लिए इतनी कसौटी आवश्यक है. सावधानी और भावनाशुद्धि हो तो यह विधि सरल बन जाती है और सिद्धि प्राप्त करने में कठिनाई नहीं पड़ती.

श्रीबहादुरचन्द छावड़ा

# काहल शब्द के अर्थ पर विचार

जैन और बौद्ध साहित्य के संस्कृत ग्रंथों में ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं जिनके अर्थ के विषय में प्रायः प्रकाशित कोशों द्वारा उतना प्रकाश नहीं पड़ता जितना कि प्रचलित देशी भाषाओं से पड़ता है. ऐसे शब्दों में एक 'काहल' शब्द भी है. "प्रबन्धचिन्तामणि" सम्बद्ध पुरातन प्रबन्धसंग्रह में एक प्रसंग में इस शब्द का यूं प्रयोग मिलता है—'मन्त्रिणा शङ्खस्य कथापितम् यत्त्वं बलवानसि, क्षत्रियोऽसि, अहं वणिग्मात्रम्. तत आवयोर्द्वन्द्वयुद्धमस्तु. सोऽत्यर्थं बलवान् हृष्टः सन् काहले मन्त्रिणा सह प्रहर २ अयाचत'—इत्यादि. डा० साण्डेसरा तथा श्री० ठाकर इसका उल्लेख करते हुए काहल शब्द का अर्थ करते हैं—मृदु, डरपोक, ठग (Tender, timid, cunning[1]). साथ ही यह सुझाव देते हैं कि उक्त प्रसंग में अर्थ की दृष्टि से काहले के स्थान पर काहलेन पाठ होना चाहिए.

हमारे विचार में यहां काहले पाठ ठीक ही प्रतीत होता है और इसका अर्थ होना चाहिए 'जल्दी में' 'अधीरता में' अथवा 'उतावलेपन में'. ध्यान रहे कि पंजाबी भाषा में यह शब्द आज भी प्रचलित है और बार-बार प्रयुक्त होता है. एक मुहावरा है—काह्ल अग्गे टोए ते कम्म किथों होए अर्थात् जल्दीपने के आगे गड्ढे ही गड्ढे होते हैं तो काम क्योंकर संपन्न हो.

वास्तव में काहल शब्द संज्ञापद भी है और विशेषण भी. काहलस्य भावः काहलम्. पंजाबी में इसीको काह्ल कहते हैं. विशेषण में पंजाबी में काह्ला (पुंलिङ्ग) और काह्ली (स्त्रीलिङ्ग) शब्द 'अधीर' 'उतावला' (ली) 'जल्दबाज' आदि अर्थों में अतिप्रसिद्ध है.

पाइअसद्दमहण्णवो नामक जैन प्राकृत कोश में भी काहल शब्द पठित है और वहाँ इसके अर्थों में 'अधीर' अर्थ भी दिया हुआ है. साण्डेसरा और ठाकर महोदय इस कोश का उल्लेख करते अवश्य हैं, परन्तु वहाँ दिए काहल शब्द के 'अधीर' अथवा 'अधीरत्व' अर्थ को नहीं अपनाते.

इधर चीवरवस्तु नामक बौद्ध ग्रंथ में भी काहल शब्द का सारगर्भित प्रयोग मिलता है. वैशाली में राजा बिम्बिसार और गणिका आम्रपाली के वार्तालाप में राजा कहता है 'किं निष्पलाये' ? तो गणिका उत्तर में कहती है—देव मा काहलो भव.'[2] यहाँ भी चीवरवस्तु के सम्पादक डा० नलिनाक्षदत्त ने काहल शब्द का अर्थ निराश अथवा 'हताश' (Dejected) किया है, वह संगत नहीं प्रतीत होता. हमारे विचार में उक्त प्रसंग में भी काहल का अर्थ 'उतावला' अथवा 'अधीर' पंजाबी काह्ला ही युक्तियुक्त लगता है. राजा कहता है—तो दौड़ जाऊँ क्या ? गणिका उत्तर देती है—महाराजा, अधीर मत हो ओ ! अर्थात् जल्दी क्या है, उतावले क्यों होते हो, इत्यादि.

अन्त में हम विद्वानों का ध्यान पंजाबी की ओर विशेष रूप से आकर्षित करना चाहते हैं, इसलिए कि ऐसे विवादास्पद शब्दों के अर्थनिर्णय में जैसे हिंदी, गुजराती, मराठी आदि प्रचलित देशी भाषाएँ सहायक होती हैं वैसे ही पंजाबी भी अत्यन्त उपकारक सिद्ध हो सकती है.

---

१. *Lexicographical Studies in jaina Sanskrit*' by B. J. Sandesara and J. P. Thaker, oriental Institute, Baroda, १९६२, पृ० १२०.
२. *Gilgit Manuscripts Vol III*, part 2, edited by Dr. Nalinakshadutt, Srinagar, kashmir १९४२, पृ० २०.

श्रीपुरुषोत्तमलाल मेनारिया
एम० ए०, साहित्यरत्न

# राजस्थानी साहित्य में जैन साहित्यकारों का स्थान

मध्यकालीन भारतीय इतिहास में राजस्थान को परम गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है. राजस्थानी वीर-वीरांगनाओं ने अपने धर्म और मान-मर्यादा की रक्षाहेतु असीम त्याग और वलिदान किए हैं. गौरवपूर्ण मृत्यु प्राप्त करना राजस्थानी जीवन का सदियों तक प्रधान उद्देश्य बना रहा और राजस्थानी वीर-वीरांगनाओं ने सांसारिक सुख-विलासों को तुच्छ समझते हुए मरण को महान् त्यौहार के रूप में अंगीकृत किया. मरणत्यौहार के विषय में कहा गया है—

> टह टह धुरे त्रमागला हुवै सिंधव ललकार।
> चित्त कूंकभ चैलां चहे, आज मरण त्युंहार ॥

अर्थात्—नक्कारे बज रहे हैं, सिंधुराग युक्त ललकार हो रही है और चित्त हाथियों से सामना करना चाहता है क्योंकि आज मरण-त्यौहार है.

> आज घरे सासू कहे, हरख अचाणक काय।
> बहू बलेवा हूलसै, पूत मरेवा जाय ॥

अर्थात्—आज घर पर सास कहती है कि उसको अचानक हर्ष क्यों हो रहा है? इसलिए कि उसकी पुत्र-वधू सती होने के लिए उमंगित हो रही है और पुत्र युद्धभूमि में मरने जा रहा है !

> सुत मरियो हित देस रे, हरख्यो बंधु समाज।
> मां नहं हरखी जनम दे, जतरी हरखी आज ॥

अर्थात्—पुत्र देश-हित मारा गया तो बन्धुसमाज प्रसन्न हुआ. मां पुत्र को जन्म देकर जितनी प्रसन्न नहीं हुई थी उतनी उसके मरने पर हुई है.

इस प्रकार राजस्थान भारत देश की वीर-भूमि के रूप में विख्यात हो गया है, जिसके विषय में सुप्रसिद्ध इतिहासकार जेम्स टाड ने लिखा है—"राजस्थान में एक भी छोटी रियासत ऐसी नहीं है जिसमें थर्मोपोली जैसी युद्ध-भूमि न हो और कदाचित् ही कोई ऐसा नगर हो जिसने लियोनिडास जैसा योद्धा नहीं उत्पन्न किया हो.[1]

राजस्थान को वीर-भूमि बनाने का प्रधान श्रेय जहां राजस्थान के रणबांकुरे वीरों को है, वहां उसे वीरभूमि के रूप में जगत्विख्यात करने का श्रेय साहित्य एवं साहित्यकारों को है. राजस्थान के साहित्यकार लेखनी के साथ ही तलवार के भी धनी रहते हुए स्वयं युद्ध-भूमि में वीरों के साथ मरने-मारने के लिए तत्पर रहे हैं. ऐसे वीर-रसावतार कवियों की परम प्रभावशाली वाणी से प्रेरित होते हुए राजस्थान के अगणित वीरों और वीरांगनाओं ने अपने प्राण सहर्ष ही

---

१. दी एनल्स एण्ड एन्टिक्विटीज आफ राजस्थान, क्रुक्स संस्करण, लंदन, भूमिका, भाग १, १६२० ई०.

उत्सर्ग कर दिए. इसलिए जेम्स टाड के उक्त कथन के अंतिम भाग को इस प्रकार संशोधित करना सर्वथा उपयुक्त होगा—

"और कदाचित् ही कोई ऐसा नगर हो जिसनें लियोनिडास जैसा योद्धा तथा होमर जैसा कवि नहीं उत्पन्न किया हो."

"राजस्थानी साहित्य' से अनेक तात्पर्य हो सकते हैं. यथा—१ राजस्थानी भाषा में रचित साहित्य, २. राजस्थान में रचित संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, व्रज, खड़ीबोली, उर्दू और फारसी भाषाओं का साहित्य, ३. राजस्थानियों का साहित्य, फिर चाहे वह किसी भी भाषा में रचित हो, ४. राजस्थान से सम्बन्धित साहित्य, चाहे वह किसी भी विषय अथवा भाषा में रचित हो. 'राजस्थानी साहित्य' से अभिप्राय उक्त परिभाषाओं में से प्रथम परिभाषा अर्थात् "राजस्थानी भाषा में रचित साहित्य" मानना ही उपयुक्त होगा.

## राजस्थानी साहित्य का वर्गीकरण :

राजस्थानी साहित्य का वर्गीकरण श्री नरोत्तमदास जी स्वामी और रामनिवास जी हारीत ने निम्नलिखित दो भागों में किया है :—

१. डिंगल साहित्य.

२. साधारण बोलचाल की राजस्थानी का साहित्य.[1]

श्री नरोत्तमदास जी स्वामी ने शैलियों की दृष्टि से राजस्थानी साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया है—

१. जैन-शैली २. चारणी-शैली ३. लौकिक-शैली.[2]

डॉ० हीरालाल माहेश्वरी ने राजस्थानी की साहित्य शैलियाँ चार मानी हैं—

१. जैन-शैली, २. चारण-शैली, ३. संत-शैली, और ४. लौकिक-शैली.[3]

श्री सीतारामजी लालस ने राजस्थानी साहित्य को निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किया हैं—

१. जैन-साहित्य, २. चारण-साहित्य, ३. भक्ति-साहित्य, और ४. लोक-साहित्य.[4]

राजस्थानी साहित्य के उक्त सभी वर्गीकरण अपूर्ण हैं क्योंकि इनमें राजस्थानी साहित्य के कतिपय प्रमुख रूपों का समावेश नहीं हो पाता. राजस्थानी साहित्य का वर्गीकरण निम्नलिखित सात भागों में करना सर्वथा समीचीन होगा—

१. जैन-साहित्य,
२. डिंगल-साहित्य,
३. पिंगल-साहित्य,
४. पौराणिक एवं भक्ति-साहित्य,
५. संत-साहित्य,
६. लोक-साहित्य, और
७. आधुनिक-साहित्य.

हमारे देश में कालक्रमानुसार क्रमशः वैदिक (छान्दस), संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश नामक प्राचीन भाषाओं का प्रभुत्व रहा. राजस्थानी भारतीय आर्य-भाषा परिवार की एक आधुनिक भाषा मानी गई है. राजस्थानी भाषा का

---

१. राजस्थान रा दूहा भाग १,नवयुग साहित्य मन्दिर पो० वा० नं० ७८ दिल्ली प्रथम संस्करण १९३५ ई०,प्रस्तावना पृ० ४२.

२. राजस्थानी साहित्य एक परिचय, नवयुग ग्रन्थ कुटीर, बीकानेर. आधुनिक पुस्तक भवन, ३०।३१ कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता, ७.

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ५. —राजस्थानी शोध-संस्थान, चोपासनी, जोधपुर,

४, राजस्थानी शब्दकोष, प्रस्तावना, पृ० ८४.

उद्भव राजस्थान में प्रचलित नागर-अपभ्रंश से हुआ है.[1]

राजस्थानी भाषा के उद्भव-काल के विषय में विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने राजस्थानी और अन्य भारतीय आधुनिक भाषाओं का उद्भव-काल वि० सं० ८१७ निर्धारित किया है.[2]

राजस्थानी भाषा-साहित्य का आरम्भ-काल वि० सं० १०४५ भी लिखा गया है.[3]

श्री नरोत्तमदास जी स्वामी ने राजस्थानी भाषा का उद्भव वि० सं० ११५० लिखा है.[4]

राजस्थानी भाषा-साहित्य की प्राचीनतम रचना के रूप में 'पूषी' अथवा 'पुष्य कवि' द्वारा वि० सं० ७०० में रचित अलंकार-ग्रन्थ का उल्लेख मात्र प्राप्त होता है.[5]

यह कृति अद्यावधि अप्राप्य है अतएव इसके विषय में निश्चितरूपेण मत नहीं व्यक्त किया जा सकता. इसी प्रकार चित्तौड़—नरेश खुमाण द्वितीय [वि० सं० ८७०-९००] कृत 'खुमाण-रासो' का उल्लेख भी प्राप्त होता है किन्तु यह ग्रंथ भी प्राप्य नहीं है.[6] १८वीं सदी में दौलतविजय अपर नाम दलपतविजय रचित खुमाण-रासो और उक्त खुमाण रासो को एक ही कृति मान लेने के कारण विद्वानों में एक विवाद अवश्य उठ खड़ा हुआ है.[7] इस प्रकार राजस्थानी भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उक्त ग्रंथों को प्रमाण स्वरूप नहीं प्रस्तुत किया जा सकता.

उद्योतन सूरि द्वारा वि० सं० ८३५ में लिखे गये 'कुवलयमाला' कथाग्रन्थ से राजस्थानी भाषा के मरुदेशीय रूप का उल्लेख नाम सहित इस प्रकार प्राप्त होता है—

> वंके जडे य जड्डे बहु भोइ कढि(ढि)ण, पीण सू (थू) णंगे।
> अप्पा तुप्पा भणिरे अह पेच्छइ मारुए तन्तो ॥[8]

उक्त प्रमाण से प्रकट है कि राजस्थानी भाषा का उद्भव वि० सं० ८३५ में हो चुका था और उसके मरुदेशीय रूप की प्रतिष्ठा भी हो चुकी थी. इसलिए उद्योतन सूरि ने देश की तत्कालीन अठारह उल्लेखनीय प्रमुख भाषाओं में मरुदेशीय भाषा की गणना की. इस प्रकार राजस्थानी भाषा-साहित्य का उद्भवकाल नवमी शताब्दी विक्रमीय मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए.

नवीं शताब्दी से आधुनिक काल तक राजस्थानी भाषा-साहित्य का निर्माण निरन्तर होता रहा है जिससे इस साहित्य की सम्पन्नता स्वतः प्रकट होती है. राजस्थान में ब्राह्मण-पण्डितों, राजपूतों, चारणों, मोतीसरों, ब्रह्म भट्टों, ढाढ़ियों, जैनसाधु और साध्वियों, यतियों, निर्गुणी संतों आदि साहित्यानुरागियों द्वारा प्रचुर परिमाण में राजस्थानी भाषा-साहित्य का निर्माण, संरक्षण, संवर्द्धन, अनुवाद, टीका आदि कार्य सुचारु रूप में सम्पन्न हुआ. राजस्थानी भाषा-साहित्य

---

१. राजस्थानी भाषा की उत्पत्ति और विकास के विषय में विशेष विवरण लेखक की एक पुस्तक "राजस्थानी भाषा की रूपरेखा" प्रकाशक— हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस में पृ० ७।२३ पर द्रष्टव्य है.

२. हिन्दी काव्यधारा, किताब महल, प्रयाग, प्रस्तावना पृ० १२.

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग पृ० १०३.

४. राजस्थानी भाषा और साहित्य, नवयुग ग्रन्थ कुटीर बीकानेर, पृ० २२.

५. (क) डा० रामकुमार वर्मा, 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', रामनारायणलाल इलाहाबाद, १९५८ पृ० ४९.
(ख) प्रो० उदयसिंह भटनागर, हिन्दी साहित्य भाग २, भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग, १९५९ पृ० ६२०.

६. शिवसिंह सरोज, सातवां संस्करण, १९२६ पृ० ९.

७. (क) रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', सातवां संस्करण, सं० २००८ पृ० ३३.
(ख) डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९३८ पृ० १४८.

८. (क) कुवलयमाला कथा, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पद्मश्री मुनि जिनविजयजी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई.
(ख) अपभ्रंश काव्यत्रयी, सं० लालचन्द भगवानदास गांधी, गायकवाड़-ओरियन्टल सीरीज, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ोदा पृ० ९१-९३.

प्राचीनता, विषयों की विविधता, रचना-शैलियों की अनेकरूपता, पद्य के साथ ही गद्य की प्रचुरता और उत्कृष्टता की दृष्टि से विशेष महत्त्व का माना गया है. यथा—

"भक्ति साहित्य हमें प्रत्येक प्रांत में मिलता है. सभी स्थानों में कवियों ने अपने ढंग से राधा और कृष्ण के गीतों का गान किया है किंतु राजस्थान ने अपने रक्त से जिस साहित्य का निर्माण किया है, वह अद्वितीय है. और उसका कारण भी है—राजस्थानी कवियों ने जीवन की कठोर वास्तविकताओं का स्वयं सामना करते हुए युद्ध के नक्कारे की ध्वनि के साथ स्वभावतः अयत्नज काव्य-गान किया. उन्होंने अपने सामने साक्षात् शिव के ताण्डव की तरह प्रकृति का नृत्य देखा था. क्या आज कोई अपनी कल्पना द्वारा उस कोटि के काव्य की रचना कर सकता है ! राजस्थानीय भाषा के प्रत्येक दोहे में जो वीरत्व की भावना और उमंग है वह राजस्थान की मौलिक निधि है और समस्त भारतवर्ष के गौरव का विषय है.[1]

—विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर

"राजस्थानी वीरों की भाषा है. राजस्थानी-साहित्य वीर-साहित्य है, संसार के साहित्य में उसका निराला स्थान है. वर्तमान काल के भारतीय नवयुवकों के लिए तो उसका अध्ययन अनिवार्य होना चाहिए. इस प्राण भरे साहित्य और उसकी भाषा के उद्धार का कार्य अत्यन्त आवश्यक है. मैं उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ जब हिन्दू विश्वविद्यालय में राजस्थानी का सर्वांगपूर्ण विभाग स्थापित हो जाएगा, जिसमें राजस्थानी भाषा और साहित्य की खोज तथा अध्ययन का पूर्ण प्रबन्ध होगा.[2]

—महामना मदनमोहन मालवीय

'साहित्य की दृष्टि से भी चारणी कृतियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं. उनका अपना साहित्यिक मूल्य है और कुल मिल कर वे ऐसी साहित्यिक निधियाँ हैं जो अधिक प्रकाश में आने पर आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में अवश्य ही अत्यन्त महत्त्व का स्थान प्राप्त करेंगी.'

---श्री आशुतोष मुकर्जी[3]

## डिंगल साहित्य

राजस्थानी साहित्य के अन्तर्गत डिंगल एक विशेष शैली है. डिंगल को प्राधान्य देते हुए अनेक विद्वानों ने डिंगल को राजस्थानी काव्य का पर्याय मान लिया है. कतिपय विद्वानों ने डिंगल को राजस्थानी का साहित्यिक रूप कहा है. उक्त दोनों ही मत निराधार हैं. राजस्थानी साहित्य के अन्तर्गत जैन-साहित्य, पौराणिक साहित्य, मौखिक रूप से उपलब्ध होने वाला लोक-साहित्य, पिंगल साहित्य और आधुनिक शैली में लिखे हुए साहित्य का भी समावेश होता है किन्तु इस समस्त साहित्य को डिंगल नहीं कहा जा सकता. इसी प्रकार इन सभी रचनाओं को डिंगल नहीं मानते हुए असाहित्यिक भी नहीं कहा जा सकता. डिंगल इस प्रकार राजस्थानी साहित्य की एक प्रधान शैली ही है जिसको राजस्थान के समस्त भागों में अपनाया गया है. डिंगल का मूल आधार पश्चिमी राजस्थानी अर्थात् मारवाड़ी है और डिंगल में लिखने वाले मुख्यतः चारण हैं. डिंगल ने राजस्थान और राजस्थानी भाषा को एकरूपता प्रदान की है. डिंगल साहित्य में अनेक प्रबन्धकाव्यों के साथ ही पर्याप्त मात्रा में मुक्तकगीत, दूहा, झूलणा, कुण्डलिया, नीसाणी और छप्पय आदि प्राप्त होते हैं. डिंगल गीत गाए नहीं जाते वरन् वैदिक ऋचाओं की भाँति प्रभावशाली शैली में उच्चरित किये जाते हैं. डिंगल गीतों के प्रकार १२० तक प्रकाश में आ चुके हैं.

डिंगल कवि कलम चलाने के साथ ही तलवार के भी धनी होते थे. युद्धक्षेत्र में स्वयं लड़ते हुए अपनी वीर रसपूर्ण वाणी से योद्धाओं को कर्तव्यपथ में अग्रसर रहने हेतु प्रोत्साहित करते थे. ओजगुण सम्पन्नता, रस—परिपाक, ऐतिहासिकता तथा प्रभावशालिता की दृष्टि से डिंगल काव्यों का हमारे साहित्य में विशेष स्थान है. वीरता के साथ ही भक्ति

---

१. (क) माडर्न रिव्यू, कलकत्ता, सितम्बर १९३८, जिल्द ६४, पृ० ७१०.
   (ख) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी भाग ४५, अंक ३, कार्तिक सं० १९९७ पृ० २२८-३०

२. ठाकुर रामसिंह जी का अध्यक्षीय अभिभाषण, अखिल भारतीय राजस्थानी साहित्य सम्मेलन, दिनाजपुर सं० २००१ पृ० ११-१२.

३. वही.

और शृंगार भी डिंगल कवियों के प्रिय विषय रहे हैं. वीरता शृंगार और भक्ति की त्रिवेणी में स्नान कर मध्यकालीन राजस्थानी शूरवीर अनुपम वीरता और त्याग-भावना का परिचय दे सके हैं. डिंगल काव्यों से हमें स्वाधीनता, स्वाभिमान और आत्मरक्षा का अमर संदेश प्राप्त होता है.

डिंगल साहित्य की उत्कृष्टता सभी विद्वानों ने स्वीकार की है, किन्तु डिंगल[1] शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रकट किए गए मतों में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है. इनमें से प्रायः सभी मत अनुमानाश्रित हैं.

डिंगल रचनाओं में शिवदास चारण (१४७० वि० १४१४ ई०) कृत 'अचलदास खीची री वचनिका' दुरसा जी आढ़ा (१५९२-१७१२ वि०. १५३६-१६५६ ई०) की 'विरुद्ध छिहत्तरी' और मुक्तक गीत, ईसरदास जी बारहठ (१५९५ वि० १६७६ वि० सं०) कृत 'हाला झाला रा कुंडलिया' और हरिरस, महाराज पृथ्वीराज राठौड़ (वि० सं० १६०६-१६५७, १५५० से १६०१ ई०) कृत 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' 'सांयां जी झूला (१६३२ से १७०३ वि० सं०) कृत 'रुकमिणीहरण' व 'नागदमण' कविया करणीदान जी (रचना काल संवत् १८०० लगभग) कृत 'सूरजप्रकाश' कविराजा बांकीदास (सं० १८२८ से १८९०) कृत अनेक लघुकाव्य, महाकवि सूरजमल मिश्रण (१८७२ से १९२० वि० सं०) कृत 'वीरसतसई, केसरीसिंह बारहठ (१९२९ से १९९८ वि० सं०) कृत स्फुट पद्य और नाथूदान महियारिया (वर्तमान) कृत 'वीर सतसई' विशेष उल्लेखनीय हैं.

## पिंगल-साहित्य

पिंगल का अर्थ छन्दशास्त्र होता है. राजस्थानी पिंगल साहित्य से तात्पर्य अनेक विद्वानों ने व्रजभाषा लिया है किन्तु पिंगल का अर्थ व्रजभाषा किसी भी कोष में उपलब्ध नहीं होता. राजस्थानी पिंगल साहित्य से तात्पर्य मुख्यत: शौरसेनी प्रभावित राजस्थानी काव्यों के उन रूपों से है जिनकी रचनाएं परम्परागत छन्दों में हुई हैं. शौरसेनी अथवा व्रजभाषा का प्रभाव अनेक राजस्थानी काव्यों पर न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध होता है. राजस्थानी पिंगल-रचनाओं में महाकवि चन्द कृत 'पृथ्वीराज रासो [इसकी प्राचीनतम प्रति सं० १६६४ में लिखित उपलब्ध हुई है और राजस्थान प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के ग्रंथागार में सुरक्षित है], नरहरिदास बारहठ [वि० सं० १६४८ से १७३३] कृत अवतारचरित्र, महाराजा बहादुरसिंह, किशनगढ़ [शा० का० १७४९-१७८२ वि० सं०] कृत मुक्तक छन्द, गणेशपुरी [ज० सं०१८८३] कृत 'वीर विनोद' [महाभारतगत प्रसंग पर आधारित], महाराजा प्रतापसिंह, जयपुर [वि० १८२१-१८६०] महाराणा जवानसिंह उदयपुर [वि० १८५७-१८९५] राजकुमारी सुन्दरकुंवरी, किशनगढ़ [वि० सं० १७९१-१८५३] की रचनाएं और स्वरूपदास कृत 'पाण्डव यशेन्दु चन्द्रिका [२०वीं सदी] महत्त्वपूर्ण हैं.

## पौराणिक एवं भक्ति साहित्य

राजस्थानी भाषा में पुराण-ग्रन्थों पर आधारित साहित्य भी विशाल परिमाण में लिखा गया है. इस प्रकार का साहित्य पद्य के साथ ही गद्य में भी प्राप्त होता है इसलिए विशेष महत्त्वपूर्ण है. राजस्थानी पौराणिक साहित्य में राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा आदि के साथ ही, हरिश्चन्द्र, उषा, अनिरुद्ध के चरित्रों का विस्तृत निरूपण हुआ है. साथ ही ब्रह्माण्ड-पुराण, पद्मपुराण, श्रीमद्भागवत और सूर्यपुराण के टीका युक्त राजस्थानी अनुवाद भी मिलते हैं. पौराणिक साहित्य में सोढ़ी नाथी [अमरकोट] कृत बालचरित्र [सं० १७३१] और कंसलीला [सं० १७३१] सम्मन बाई कविया [अलवर] कृत कृष्ण-बाल लीला, भीमकवि कृत हरि लीला [र० का० सं०१५४३] तथा श्रीमद्भागवत, हरिवंश पुराण और विष्णु-पुराण सम्बन्धी रचनाएं उल्लेखनीय हैं.

---

१. डा० हीरालाल माहेश्वरी, राजस्थानी भाषा और साहित्य, आधुनिक पुस्तक भवन ३०-३१. कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता ७, पृ० ६-१७

## संत-साहित्य

राजस्थान प्राचीनकाल से ही अनेक सन्त-सम्प्रदायों का केन्द्र रहा है. राजस्थानी वीरों के आश्रय में अनेक सन्त-सम्प्रदायों को प्रोत्साहन मिला. राजस्थान में दादू, रामस्नेही, निरंजनी, विष्णोई आदि सन्त-सम्प्रदायों का जन्म भी हुआ. दादू, रज्जब, रामचरणदास, सुन्दरदास, जसनाथ जैसे अनेक सन्तों की वाणी का राजस्थान में ही नहीं वाहर भी प्रसार है. राजस्थानी संत-साहित्य में धार्मिक उदारता का प्रतिपादन हुआ है. इसमें आत्मा और परमात्मा की एकता, वताते हुए सभी वर्गों और जातियों के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया गया है.[1]

## लोक-साहित्य

जनता से मौखिक परम्परानुसार प्राप्त होने वाला साहित्य लोकसाहित्य कहा जाता है. विद्वानों ने इस साहित्य को ग्राम-साहित्य और लोकवार्ता साहित्य भी कहा है. राजस्थान का प्राकृतिक वातावरण अनेक विविधताओं से पूर्ण है. तदनुसार राजस्थान का लोक-साहित्य भी विविध रूपों में उपलब्ध होता है. राजस्थान में प्राचीनकाल से ही मौखिक साहित्य को लिपिवद्ध करने की परिपाटी रही है इसलिए हस्तलिखित ग्रंथों में भी अनेक लोककथाएं, लोकगीत, कहावतें, पहेलियाँ और लौकिक काव्यादि लिखित रूप में प्राप्त हो जाते हैं. राजस्थानी भाषा में लोक साहित्य के अन्तर्गत हजारों की संख्या में लोकगीत, लोककथाएं, कहावतें, मुहावरे, पहेलियाँ, पवाड़े और ख्याल (लोक-नाटक) प्रचलित हैं. धार्मिक सिद्धांतों के प्रचार के लिए अनेक जैन साहित्यकारों ने भी लोक साहित्य की विभिन्न शैलियों में अपनी रचानाएं लिखी हैं जिनमें उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है. राजस्थानी लोक साहित्य मौखिक होने से लुप्त होता जा रहा है इसलिए इसको तुरन्त ही वैज्ञानिक विधियों से लिपिवद्ध करना आवश्यक है. राजस्थानी भाषा में 'पावू जी रा पवाड़ा,' 'वगड़ावत' और 'निहालदे' नामक महाकाव्य अभी तक मौखिक रूप में प्रचलित हैं. आकार-प्रकार की दृष्टि से इनका महत्त्व महाभारत से कम नहीं माना जा सकता.

## आधुनिक-साहित्य

भारत में ब्रिटिश-शासन की स्थापना के पश्चात् नवीनता का सूत्रपात हुआ है. इसी समय राजस्थानी साहित्य में भी नवीन विचारों और नवीन विधाओं का समावेश होने लगा. राजस्थान में राजाओं और अंग्रेजों के दोहरे शासनकाल में प्रेस एवं प्रकाशन कार्यों पर कड़े प्रतिवन्ध लगाए गए जिनके परिणाम स्वरूप आधुनिक राजस्थानी साहित्य का प्रकाशन यथेच्छ मात्रा में नहीं हो सका. तथापि शिवचन्दजी भरतिया, रामकरणजी आसोपा, गुलावचन्दजी नागोरी, डा० गौरीशंकर जी हीराचन्द ओझा, पुरोहित हरिनारायणजी प्रभृति अनेक समर्थ साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं से राजस्थानी साहित्य को समृद्धिशाली वनाया. आधुनिक काल में मुनि जिनविजयजी, अगरचन्दजी नाहटा, नरोत्तमदासजी स्वामी, डा० मोतीलाल, कन्हैयालालजी सहल, मनोहरजी शर्मा, सीतारामजी लालस, डा० तेस्सीतोरी, डा० जार्ज गियर्सन, डा० एलन, डा० सुनीतिकुमार जी, चाटुर्या प्रभृति विद्वानों ने राजस्थानी भाषा साहित्य का विशेष अध्ययन किया और रानी लक्ष्मी कुमारीजी चूंडावत जैसे अनेक गद्यलेखक राजस्थानी साहित्य को समृद्ध करने में संलग्न हैं. राजस्थानी कवियों में नारायण सिंह भाटी और कन्हैयालाल सेठिया की विविध विषयक रचनाएं, चन्द्रसिंह और नानूराम की प्रकृति सम्वन्धी रचनाएँ, मेघराज मुकुल और गजानन वर्मा के गीत, रेवतदान चारण की ओजस्वी रचनाएं और विमलेश और वुद्धिप्रकाश की हास्यरसात्मक रचनाएं विशेष उल्लेखनीय हैं. वर्तमान में सैकड़ों ही कवि और लेखक राजस्थानी भाषा को सम्पन्न करने में सचेष्ट हैं और इनकी रचनाओं का जनता में विशेष प्रचार-प्रसार है.

---

१. राजस्थानी सन्त-साहित्य के विषय में विस्तृत विवरण, लेखक के अन्य निवन्ध (श्री कनोई अभिनन्दन ग्रन्थ ४० ए०, हनुमान रोड़ नई दिल्ली में प्रस्तुत किया गया है.

## जैन साहित्यकार

आधुनिक भारतीय भाषा के साहित्य में प्राचीनतम रचनाएं जैन साहित्यकारों द्वारा रचित ही उपलब्ध होती हैं. जैन साहित्य का महत्त्व प्राचीनता के साथ ही गद्य की प्रचुरता, काव्यों की विविधरूपता और जीवन को उच्च उद्देश्य की ओर अग्रसर करने की क्षमता के कारण है. जैन साहित्यकार सामान्य सांसारिक जीव नहीं हैं वरन् वे जीवन के विस्तृत अनुभवों से युक्त और साधना के उच्च धरातल पर पहुँचे हुए ज्ञानी-महात्मा हैं. अतएव जैन-साहित्य शुद्ध साहित्यिक तत्त्वों से युक्त होता हुआ भी उपदेश-तत्त्वों से पूर्ण है. जैन-साहित्य में शुद्ध साहित्यिक तत्त्वों के साथ ही उसकी उपयोगिता के तत्त्व भी उपलब्ध होते हैं.

अनेक इतिहासकारों ने धार्मिक तत्त्व होने से जैन-साहित्य का समावेश अपने इतिहास-ग्रंथों में नहीं किया है. वास्तव में धार्मिक तत्त्वों से हीन साहित्य को साहित्य भी नहीं कहा जा सकता. सूर और तुलसी जैसे अनेक साहित्यकारों का साहित्य पूर्णरूपेण धार्मिक है जिसका समावेश इन ग्रंथों में किया गया है. इन इतिहासकारों ने, प्राचीनकाल में अन्य रचनाएं उपलब्ध नहीं हुई तब अवश्य ही काल-स्थापना के लिए जैन-रचनाओं का उल्लेख किया है.

जैन साहित्यकारों ने वास्तव में केवल धार्मिक विषयों पर ही नहीं लिखा, वरन् वैद्यक, कोष, नगर-वर्णन, काव्य-शास्त्र, इतिहास, भूगोल, वास्तु-विद्या आदि अनेक विषयों पर अधिकारपूर्वक यथातथ्य निरूपण करते हुए लिखा है.

जैन-साहित्यकारों ने अनेक साहित्यिक विधाओं की सृष्टि की. पद्य के अन्तर्गत प्रबन्ध, रास, रासो, भास, चउपई, फाग, बारहमासा, चउमासा, दूहा, गीत, धवल, गजल, संवाद, मात्रिका, स्तवन, सज्झाय, और मंगल आदि विविध रूप जैन साहित्यकारों द्वारा विकसित हुए. इसी प्रकार गद्य के अन्तर्गत वार्ता, कथा, टीका, टब्बा और बालावबोध आदि के रूप लिखे गये.

जैन-साहित्यकारों ने प्राचीन साहित्य की रक्षा में भी अपूर्व योग दिया है. जैन-भण्डारों में जैन और अजैन दोनों ही प्रकार के प्राचीन ग्रंथ सुरक्षित रहे हैं. जैन साहित्यकार प्राचीन ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ आज तक करते रहते हैं और इस प्रकार प्राचीन जीर्ण प्रतियों का पुनरुद्धार होता है. प्राचीन ग्रंथ-सुरक्षा की दृष्टि से जैसलमेर ग्रंथ भण्डार का उदाहरण हमारे लिये आदर्श बना हुआ है.

राजस्थानी जैन साहित्यकारों में वज्रसेन सूरि का 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर' राजस्थानी भाषा की प्राचीनतम रचना मानी जाती है. इस रचना में कवि ने ४६ पद्यों में भरतेश्वर और बाहुबली का युद्धवर्णन किया है. इस काव्य में शांत रस का भी समावेश है.

राजस्थानी साहित्य के वीर-गाथाकाल के प्रधान कवि शालिभद्र सूरि हुए, जिन्होंने वि० सं० १२४१ में 'भरतेश्वर बाहुबली रास' काव्य लिख कर रास परम्परा के अंतर्गत वीर-रसात्मक काव्यों का श्रीगणेश किया. मुहम्मदगोरी की पृथ्वीराज चौहान के विरुद्ध तराइन युद्ध ( वि० सं० १२४०, ई० ११७३) की विजय से जनता में प्रबल प्रतिशोध की भावना उत्पन्न हुई और वीररस का संचार हुआ. फलस्वरूप शालिभद्रसूरि जैसे कवि भी अपने आपको सम-सामयिक वीर-भावना से वंचित न कर सके.

सम-सामयिक वीर-भावना के परिणाम स्वरूप जैन-साहित्य में भरतेश्वर और बाहुबलिविषयक काव्य-निर्माण की सुदीर्घ परम्परा प्रचलित हुई. भरत और बाहुबली के मध्य हुए युद्ध के दृश्य अर्बुदाचल के सुप्रसिद्ध जैन-मंदिर विमल-वसही में सुन्दरतापूर्वक उत्कीर्ण किये हैं.[1] यह रास वीररसपूर्ण होते हुए भी निर्वेदान्त है. इसमें उत्साह, दर्प और स्वाभिमान-पूर्ण उक्तियों की काव्यात्मक पंक्तियाँ विशेष पठनीय हैं. अनेक स्थल नाटकीय संलापों से अलंकृत हैं, यथा

१. भरतेश्वर—बाहुबलि रास, सं० लालचन्द भगवानदास गांधी, प्राच्य विद्या मंदिर. बड़ौदा, प्रस्तावना पृ० ५६-५८.

मतिसागर भरतेश्वर-संवाद, दूत-बाहुबलिसंवाद आदि---दूत-बाहुबलिसंवाद का एक उदाहरण निम्न है :

दूत पभणइ, दूत पभणइ बाहुबलि राउ
भरहेसर चक्क धरु कहि न कवणि दूहवण कीजह,
वेगि सुवेगि वोलिह संभलि बाहुबलि ।
विण बंधव सवि संपइ ऊणी, जिम विण लवण रसोई अलूणी ।
तुम वंसणि उत्कंठित राउ, नितु नितु बाट जोह भाउ ॥

बाहुबली दूत को वीरतापूर्वक उत्तर देते हैं:

राउ जंपइ, राउ जंपइ सुणिन सुणि दूत ।
जं विहि लिहीउं भाल भलि तंजि, लोह इह लोह पामइ ।
अरि रि देव न दानव महिमंडलि मंडलैव मानव
काइ न लंघइ लहिया लहि, लाभहि अधिक न ओभा दहि ।

इस रास में सेना-वर्णन, दिग्विजय-वर्णन, हाथी घोड़ों और सैनिकों के अनेक वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण हैं किन्तु भाषा में सर्वत्र प्रवाह और अनुप्रासों की छटा वर्तमान है. वीर-रसात्मक काव्यों में सेना-यात्रा के प्रसंग अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं. भरतेश्वर बाहुबलि रास में सेनायात्रा का वर्णन इस प्रकार है—

ठवणि
ग्रहि डग्गमि पूरव दिसिहिं, पहिलउं चालिय चक्क ।
धूजिय धरयल थरहरए, चलिय कुलाचल-चक्क ॥१८॥
पूठि पियाणुं तउ दियए, भुयवलि मरह नरिंदु तु ।
पिडि पंचायण परदल हैं, हलिचलि अवर सुरिंदु ॥१९॥
वज्जिय समहरि संचरिय, सेनापति सामंत,
मिलिय महाधर मंडलिय, गाढ़िय गुण गज्जंत ॥२०॥

कवि साधारु ने संवत् १४११ वि० (१३५४ ई०) में 'प्रद्युम्नचरित्र' लिखा. इस काव्य में कृष्ण और रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्नकुमार का चरित्र ७०० पद्यों में वर्णित है.

कवि छीहल का रचनाकाल सं० १५७४ [१५१७ ई०] है जिन्होंने 'पंचसहेली रा दूहा' लिखा. कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है :

चउरासी अगलइ सइ, जु पन्द्रह संवच्छर ।
सुकल पक्ष अष्टमी, मास कातिक गुरु वासर ॥
हृदय ऊपनी बुद्धि, नाम श्री गुरु को लीन्हउ ।
नाल्हिग वसिनाथू सुतनु, अगरवाल कुल प्रगट रवि ॥
बावनी सुधा रचि विस्तरी, कवि कंकण छीहल कवि ॥५३॥

१. आत्मप्रतिवोध जयमाल २. उदरगीत ३. पंथीगीत और ४. छीहल बावनी या बावनी छीहल कवि की प्रसिद्ध रचनायें हैं.

विनयसमुद्र बीकानेर के उपकेशगच्छीय वाचक हरसमुद्र के शिष्य थे, जिनका समय सं० १५८३ से १६१४ तक है. इनकी रचनायें इस प्रकार हैं :

---

१. हिन्दी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन पृ० ४००.

१. विक्रम पंचदंड चोपाई २. अम्बड चौपाई (१५९९) ३. आराम शोभा चौपाई (१५८३) ४. मृगावती चौपाई (१६०२) ५. चित्रसेन पद्मावती रास (१६०४) ६. पद्म चरित्र (१६०४) ७. शील रास (१६०४) ८. रोहिणेय रास (१६०५) ९. सिंहासन बत्तीसी चौपाई, (१६११), १०. नल दमयंती रास (१६१४), ११. संग्राम सूरि चौपाई, १२. चंदनवाला रास, १३. नमि राजर्षि संधि (१६३२) १४. साधु वंदना (१६३६), १५. ब्रह्मचरि, १६. श्रीमंधर स्वामी स्तवन, १७. शत्रुंजय गिरि मंडण श्री आदिश्वर स्तवन, १८. स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तवन, १९. पार्श्वनाथ स्तवन, २०. इलापुत्र रास.

इनकी एक रचना का उदाहरण इस प्रकार है :

ताहरइ दरसण दुरित पुलाई, नव निधि सवि मंदिर थाई, जाई रोग सवि दूरो।
समरण संकट सगला नासइ, वाघ संग पुण नावइ पासइ, आपइ आणंद पूरो।
वामेय वसुहानंद दायक, तेज तिहुयण नायको।
धरणेन्द्र सेवत चरण अनुदिन, सयल वंछिय दायको।
थंभणाधीश जिणेश प्रभु तूं, पास जिणवर सामिया।
वीनती विनइ पयोध जंपइ, सयल पूरवि कामिया।

सोलहवीं सदी के जैन कवियों में खरतरगच्छीय कुशललाभ का स्थान महत्त्वपूर्ण है. इनका जन्म सं० १५८० के लगभग माना जाता है. इन्होंने 'माधवानल चोपाई' 'ढोलामारवणीरी चौपाई' और 'पिंगल शिरोमणि,' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचनाएँ कीं. इनकी अन्य स्फुट रचनाएँ भी उपलव्ध होती हैं.

हीरकलश, खरतरगच्छीय सागरचन्द्र सूरि-शाखा के कवि हो गये हैं जिनका जन्म सं० १५९५ माना जाता है. हीर-कलश ज्योतिष के विशेष ज्ञाता थे. इनका रचित साहित्य २८ रचनाओं में उपलव्ध हो चुका है. इनके मोती-कपासिया संवाद का उदाहरण इस प्रकार है :

मोती : देव पूजउ गुरु त गति जिहां, मंगल काजि विवाह।
आदर दीजइ अम्हां तणी, सवि ज करइ उछाह॥

कपासिया : संभलि तवइ कपासीउ, मोती म हूय गमार।
गरव न कीजइ बापड़ा, भला भली संसार॥

मोती : कहि मोती सुण कांकडा, मइ तइ केहो साथ ?
हुं साव्हुं कंचण सरिस, तइ खल कूकस वाथ।
मइ सुर नरवर भेटिया, कीधां जीहां सिंगार।
तइ भेटीया गोधण वलद, जिहां कीधा आहार॥

कपासिया : उत्तर दीयइ कपासीयउ, अन्न आहार जोइ।
गायां गोरस नीपजइ, वलदे करसण होइ।
गोधण जदि वाटउ न हुइ, तदि वरतइ कंतार।
धान वडइ तव वेचीयइ, सोवन मोती हार॥

हेमरत्न सूरि का समय अनुमानतः सं० १६१६ से १६७३ है. इनकी सं० १६४५ में रचित 'गोरा बादल पदमिनी चऊपई' विशेष प्रसिद्ध है. इस रचना में अलाउद्दीन के चित्तौड़—आक्रमण और गोरा बादल की वीरता का वर्णन है. इस कृति में कवि ने विभिन्न रसों का समावेश किया है :

"वीरा रस सिणगार रस, हासा रस हित हेज।
साम-धरम रस सांभलउ, जिम होवइ तन तेज॥"

इनकी रचना का उदाहरण इस प्रकार है :

> पांन पदारथ सुवड़ नर, अणतोलीया विकाई। जिम जिम पर भुइ संचरइ, मोलि मुहंगा थाइ।
> हंसा नइं सरवर वणां, कुसुम केती भवरांह। सापुरिसां नइं सज्जन वणा, दूरि विदेस गयांह।

सत्रहवीं सदी के जैन साहित्यकारों में समयसुन्दर (सं० १६२० से १७०२) का स्थान महत्त्वपूर्ण है. इनकी रचनायें अनेक हैं जिनका प्रकाशन समयसुन्दर कृत 'कुसुमांजलि' में श्री अगरचन्द जी नाहटा द्वारा संपादित रूप में हो चुका है. इनके गीतों के विषय में प्रसिद्ध है :

"समयसुन्दर रा गीतड़ा, कुंभे राणे रा भींतड़ा।"

अर्थात् जिस प्रकार महाराणा कुंभा द्वारा बनवाया हुआ चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ, कुंभश्याम का मन्दिर और कुँभलगढ़ प्रसिद्ध है उसी प्रकार समयसुन्दर के गीत प्रसिद्ध हैं.

कवि उदयराज जोधपुर नरेश उदयसिंह जी के समकालीन थे. इनका ( ज० सं० १६३१-१६७४ ई०) माना जाता है. इनकी रचनाओं में 'भजनछत्तीसी' और 'गुणबावनी' महत्त्वपूर्ण है.

जिनहर्ष का अपर नाम जसराज था. इनकी रचनाओं में जसराज बावनी (सं० १७३८ वि० में रचित) और नन्द बहोत्तरी (सं० १७१४ में रचित) प्रसिद्ध हैं.

१८ वीं शताब्दी में आनन्दघन नामक कवि ने 'चौबीसी' नामक रचना में तीर्थंकरों के स्तवन लिखे. इनका देहान्त मारवाड़ में सं० १७३० वि० में हुआ. इनका आध्यात्मिक चिंतन उच्चकोटि का था :

> राम कहो रहमान कहो, कोउ कान कहो महादेव री।
> पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री॥
> भाजन-भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
> तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड सरूप री॥
> निज पद रमे राम सो कहिए, रहिम करे रहेमान री।
> करसे करम कान से कहिए, महादेव निर्वाण री॥
> परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चीन्हें सो ब्रह्म री।
> इस विध साधो आप आनंदघन, चेतनमय निःकर्म री॥

उत्तमचन्द और उदयचन्द भंडारी जोधपुर के महाराजा मानसिंह के मंत्री थे. इनका रचनाकाल सं० १८३३ से १८८६ तक है. दोनों ही भंडारी बन्धुओं ने अनेक रचनाएँ कीं जिनसे इनके काव्यशास्त्रीय और आध्यात्मिक ज्ञान का परिचय मिलता है.

जैन साहित्यकारों की संख्या सैकड़ों ही नहीं हजारों तक पहुंचती है. प्रत्येक काल में साहित्यकारों की रचनाएँ विकसित अवस्था में और विविध रूपों में प्राप्त होती हैं. जैन साहित्य मुख्यतः राजस्थान और गुजरात में रचा गया क्योंकि प्राचीनकाल में जैन धर्म का प्रचार भी मुख्यतः इन्हीं प्रदेशों में हुआ. जैन साहित्यकारों ने सदा ही लोक-भाषा, राजस्थानी और गुजराती में अपनी रचनाएँ लिखीं जिससे इनका प्रचार समस्त जनता में सुदूर देहातों तक में हुआ. संस्कृत और हिन्दी में रचित जैन साहित्य भी उपलब्ध होता है किंतु अत्यल्प मात्रा में ही. राजस्थानी भाषा में रचित जैन साहित्य राजस्थान ही नहीं देशविदेश के अनेक ग्रंथ-भंडारों में मिलता है. राजस्थान के अनेक स्थानों में जैन साहित्य सम्बन्धी हजारों ही हस्तलिखित ग्रन्थ बिखरे हुए धूल-धूसरित और जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़े हुए हैं. इन ग्रन्थों के विधिवत् संरक्षण, सूचीकरण, संपादन और प्रकाशन की अब अनिवार्य आवश्यकता है. इस प्रकार के कार्यों के पूर्णरूपेण सम्पादित होने पर ज्ञात होगा कि जैन साहित्यकारों का राजस्थानी साहित्य के निर्माण एवं विकास में महत्त्वपूर्ण योग रहा है.

पं० बेचरदास जीवराज दोशी

# प्राचीन दिगम्बरीय ग्रन्थों में श्वेताम्बरीय आगमों के अवतरण

जैनधर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर भेदों को बहुत-बहुत गंभीर विचार करने के बाद भी मैं समझ नहीं सकता, फिर भी हमारा समाज इन भेदों को मान कर चल रहा है, इसी दृष्टि से यहाँ इन भेदों का उल्लेख किया गया है.

जैन आगमों में तो स्पष्ट कहा गया है कि—'जो वि दुवत्थ-तिवत्थो बहुवत्थ अचेलगो व संथरइ, न हु ते हीलंति परं संघे वि अ ते जिणाणाए.'
—आचारांग द्वि श्रु० सूत्र २८६

तात्पर्य यह है कि कोई मुनि द्विवस्त्री हो अर्थात् केवल दो वस्त्र रखता हो, कोई तीन वस्त्र धारण करता हो, कोई बहुवस्त्री हो अथवा कोई अचेलक (चेल-वस्त्र से रहित) हो, और अपनी संयमसाधना कर रहा हो तो वे सब प्रकार के मुनि एक दूसरे की अवहेलना नहीं करते, क्योंकि वे सब जिन भगवान् की आज्ञा के अनुसार चल रहे हैं.
और भी कहा गया है—

जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारेंति परिहरंति य ॥ —दशवैकालिक अ० ६ गाथा १६

वस्त्र पात्र कंबल और पादप्रोंछनक-रजोहरण-को संयम की साधना के लिये ही मुनि ग्रहण करते हैं और संयम की साधना के लिये त्याग भी देते हैं. इसका अभिप्राय यह है कि वस्त्रादि उपकरणों की अपेक्षा संयम की साधना के लिये ही है.

उत्तराध्ययन सूत्र में जो कहा गया, उसका तात्पर्य यह है कि श्री पार्श्वनाथ के शिष्य वस्त्र रखते थे और महावीर के शिष्य अचेलक भी रहते थे. जब दोनों तीर्थकरों का एक ही लक्ष्य था तो इस भेद का क्या कारण है?[1]
श्री पार्श्वनाथ की परम्परा के तत्कालीन आचार्य केशी के इस प्रश्न का उत्तर भ० महावीर की परम्परा के प्रधान आचार्य गौतम ने इस प्रकार दिया है—

'निर्ग्रंथों को लोग अमुक प्रकार से पहचानें और संयम-साधना की यात्रा चलती रहे, इसी हेतु से लिंग का—बाह्य वेशपरिधानादिक का प्रयोजन है और इसी उद्देश्य को लेकर वेशपरिधान विषयक नाना प्रकार की विकल्पना की गई है. हम निर्ग्रन्थ मुनि जनों की प्रमुख प्रतिज्ञा तो जीते जी निर्वाण-साधना के सम्बन्ध में है और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की

---

१. अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो ।
देसियो वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ।।
एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ? ।
—उत्तराध्ययन, अ० २३, गाथा २९-३०

पूर्ण शुद्धि का हम इसी देह में अनुभव करें, यही हमारा मुख्य ध्येय है.[1]

इन उल्लेखों को लक्ष्य में रखकर कोई भी बुद्धिमान् तटस्थ विचारक मात्र वेशादि बाह्य भेद के ही कारण एक ही आम्नाय में भेद की कल्पना कैसे कर सकता है ?

प्राचीन दिगम्बरीय ग्रंथों में वर्त्तमान अंगादि आगमों के अवतरण प्रमाण रूप उद्धृत किये हुए मिलते हैं. इस तथ्य को बतलाने के लिए यहाँ कतिपय स्थलों की चर्चा की जाती है.

सर्वजैनसम्मत महर्षि उमास्वाति या उमास्वामी द्वारा प्रणीत तत्त्वार्थसूत्र के विवेचन के लिये दोनों परम्पराओं में कई वृत्तियां विद्यमान हैं. उनमें श्री भट्ट अकलंकदेवकृत राजवार्तिक भी एक विशाल ग्रंथ है. उसके चतुर्थ अध्याय के छब्बीसवें सूत्र 'विजयादिषु द्विचरमाः' के वार्तिक में व्याख्याप्रज्ञप्ति अर्थात् भगवती सूत्र की साक्षी दी गई है. वार्त्तिक में लिखा है—'एवं हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु उक्तम्.' ऐसा कह कर वहाँ व्याख्याप्रज्ञप्ति के आलापकों का प्रमाण दिया गया है और वहाँ यह भी कहा गया है कि 'गौतमप्रश्ने भगवता उक्तम्' अर्थात् गौतम के प्रश्न करने पर उत्तर के रूप में भगवान् ने ऐसा कहा है.

जिस व्याख्याप्रज्ञप्ति में गौतम ने प्रश्न किये हैं और भगवान् ने उनके उत्तर दिये हैं, ऐसी व्याख्याप्रज्ञप्ति-भगवती-सूत्र की यहां साक्षी दी गई है. किन्तु ऐसी कोई व्याख्याप्रज्ञप्ति दिगम्बर आम्नाय में तो उपलब्ध नहीं है. श्वेताम्बर आम्नाय में पंचम अंग के रूप में व्याख्याप्रज्ञप्ति अभी विद्यमान है और उसमें गौतम ने प्रश्न किये हैं और भगवान् ने उनके उत्तर दिए हैं. अतएव यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्री अकलंक देव ने जिस व्याख्याप्रज्ञप्ति का हवाला दिया है, वह यही व्याख्याप्रज्ञप्ति है जो श्वेताम्बर आम्नाय में प्रसिद्ध है. श्री भट्ट अकलंकदेव जी ने इस व्याख्याप्रज्ञप्ति को 'आर्ष' विशेषण भी दिया है. इससे ज्ञात होता है कि यही व्याख्याप्रज्ञप्ति श्री अकलंकदेव के सामने थी, जिसे उन्होंने उक्त सूत्र के वार्तिक में साक्ष्य रूप से स्वीकृत किया. अकलंक देव ने जिस दंडक का हवाला दिया है वह प्रस्तुत व्याख्याप्रज्ञप्ति के २४ वें शतक के २२ वें उद्देशक के १६-१७ वें सूत्र में प्रश्नोत्तर रूप से विद्यमान भी है.

भगवती आराधना नामक ग्रंथ दिगम्बर आम्नाय में विशेष प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित है. उसकी 'विजयोदया' नाम की वृत्ति में आचारांग सूत्र, सूत्रकृतांगसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र और निशीथ (निषेध) के अवतरण पाये जाते हैं. वे अवतरण क्रमानुसार इस प्रकार हैं—

'पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टम्' (मूलाराधना, विजयोदया वृत्ति पृ० ६११) अर्थात् पूर्वागमों में वस्त्र और पात्र का ग्रहण करना बताया गया है. जैसे कि—आचारस्यापि द्वितीयाध्यायो लोकविचयो नाम, तस्य पञ्चमे उद्देशे एवमुक्तम्—'पडिलेहणं पादपुंछणं उग्गहं कडासणं अण्णदरं उवधिं पावेज्ज.' —मूलाराधना विजयोदया वृत्ति पृ० ६११).

बात यह है कि विजयोदयावृत्तिकार पूर्वपक्ष करते हुए कहते हैं कि पूर्व आगमों—प्राचीन आगमों में वस्त्र और पात्र आदि को ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है, ऐसा कहकर वे क्रमशः इस विषय के आगमों के अवतरण दे रहे हैं. वे कहते हैं कि आचारांग सूत्र के लोकविचय नाम के द्वितीय अध्ययन के पांचवें उद्देशक में कहा गया है कि—'पात्र, पादप्रोंछनक, वसति, कडासन—बैठने का आसन, ऐसी किसी अन्यतर उपधि को प्राप्त करे.'

वर्तमान में उपलब्ध आचारांग सूत्र के लोकविचय नामक द्वितीय अध्ययन के पांचवें उद्देशक में जो पाठ इस संबंध में है, वह इस प्रकार है—'वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं च उग्गहं च कडासणं.' (आचारांग द्वि० श्रु० अध्ययन २ उद्देशक ५)

---

१. पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं ।
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओयणं ॥
अह भवे पइन्ना उ, मोक्खसब्भूयसाहणा ।
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं चेव निच्छए ।

प्रस्तुत पाठ कुछ खंडित-सा है, फिर भी विजयोदया के पाठ से बहुत कुछ समानता रखता है.

विजयोदयावृत्तिकार आचारांग के और भी उद्धरण देते हैं, जैसे—आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कंध में वत्थेसणा (वस्त्रैषणा) प्रकरण आता है. उसका निर्देश करते हुए विजयोदयावृत्तिकार लिखते हैं—'तथा वत्थेसणाए वुत्तं' इत्यादि. (पृ० ६११) इसी प्रकार 'पाएसणाए कथितं' कह कर पात्रैषणा प्रकरण के पाठ का भी निर्देश करते हैं.

आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंधगत 'भावना' अध्ययन का भी 'भावनायां चोक्तम्' कहकर उल्लेख करते हैं.

फिर 'तथा चोक्तम् आचारांगे' कह कर 'सुदं मे आउसंतो भगवदा एवमक्खादं' इत्यादि का निर्देश करते हुए विजयोदयाकार आचारांग के अवतरण को दिखाते हैं.

उसके बाद "कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणम् इत्यस्य प्रसाधकम् आचारे विद्यते" ऐसा निर्देश करके अह पुण एवं जाणेज्ज उवातिकं ते हेमंते (हंसु) पडिवण्णे से अथ पडिज्जुण्णमुवधिं पडिट्ठवेज्जा' इति.

यह पाठ कुछ अशुद्ध-सा है. ठीक पाठ आचारांग के आठवें विमोह अध्ययन के चौथे उद्देशक में इस प्रकार है—'अह पुण एवं जाणेज्जा उवाइक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठवेज्जा.'

इस प्रकार विजयोदयावृत्तिकार ने पृ० ६१० से ६१६ तक के मुद्रित पन्नों में कई जगह आचारांग का निर्देश करके कई अवतरण दिये हैं. इसका अर्थ यह है कि वे आचारांग को प्रमाणरूप प्रतिष्ठित मानते थे. इसी से पूर्वपक्ष करके भी इसके अवतरण उन्होंने दिए हैं. इसी प्रकार उक्त पन्नों में सूत्रकृतांग सूत्र के पुंडरीक अध्ययन (द्वि० श्रुत०) तथा उत्तराध्ययन और दशवैकालिक के आचारप्रणिधि-अध्ययन का नाम लेकर अवतरण दिए हैं. इस टीका में निषेध (निशीथ) तथा कल्प और आवश्यक सूत्र के भी बहुत-से अवतरण विद्यमान हैं.

धवला टीका में (षट्खंडागम तीसरा भाग पृ० ३५) 'लोगो वादपदिट्ठिदो त्ति वियाहपण्णत्तिवयणादो' कह कर वियाहपण्णत्ति का प्रामाण्य स्वीकृत किया है. 'लोक वातप्रतिष्ठित है.' ऐसा वियाहपण्णत्ति का वचन है. वर्तमान में प्राप्त वियाहपण्णत्ति में लोक वातप्रतिष्ठित कहा है. यह वर्णन प्रथम शतक के छठे उद्देशक में २२४ वें प्रश्नोत्तर में है.

इसके अतिरिक्त धवलाटीका में (षट्खंडागम प्र० भा० पृ० ५४) 'जस्संतियं' इत्यादि पद्य का अवतरण किया है. वह पद्य दशवैकालिक सूत्र के नववें अध्ययन की बारहवीं गाथा है. इसी प्रकार विजयोदयावृत्ति में षड् आवश्यक का विचार, दशकल्पविचार, उपधानविचार आदि अनेक चर्चाएँ सचेलक परम्परा के आगमों के अनुसार मिलती हैं. किन्तु सचेलक परम्परा के साथ सम्बन्ध छूट जाने से कहीं-कहीं व्याख्या में अव्यवस्था हो गई है.

अचेलक परम्परानुसारी लघुप्रतिक्रमण की लिखित प्रेसकापी मेरे पास है, जो मेरे मित्र श्री नाथूरामजी प्रेमी ने मुझे करीब तीस-चालीस वर्ष पहले दी थी. उसमें 'करेमि भंते ! सूत्र, लोगस्स सूत्र, तस्सुत्तरी सूत्र, अन्नत्थ ऊससिएणं सूत्र, इरियावही सूत्र आदि कई सूत्र बराबर सचेलक परम्परा के सूत्रों के समान हैं. प्रतिक्रमण की यह पद्धति अभी सचेलक परम्परा में प्रचलित है, यही अचेलक परम्परा में भी प्रचलित रही होगी इस लघु प्रतिक्रमण के पाठों से इस अनुमान का समर्थन होता है.

अचेलक परम्परा के शास्त्रप्रेमियों ने 'प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की है. उसमें दिया हुआ श्रमणसूत्र का पाठ सचेलक परम्परा के श्रमणसूत्र के पाठ से अत्यधिक साम्य रखता है. उसकी वृत्ति के कर्ता श्रीप्रभाचन्द्र नामक कोई प्राचीन मनीषी हैं. इस पुस्तक में प्रतिक्रमण का मूल पाठ नहीं दिया है. वह दिया गया होता तथा सचेलक परम्परा से तुलना करके प्रकाशित किया गया होता तो अधिक उत्तम होता.

अधिक अवतरण देकर लेख को लम्बा बनाने की आवश्यकता नहीं है. इस लघुकाय लेख से भी यह तथ्य पूर्णरूप से समर्थित होता है कि आगमों का न विच्छेद हुआ है, न लोप. समग्र जैन संघ आगमों को आर्ष तथा प्रमाणरूप स्वीकार करता था, चाहे वह अचेलकसंघ हो या सचेलकसंघ ! इस तथ्य का दिग्दर्शन कराने का ही यहाँ किंचित् प्रयास किया गया है.
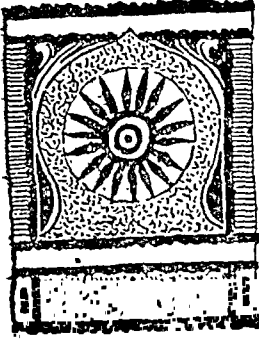
श्रीनेमिचन्द्र शास्त्री
पी-एच०, डी० जैन कालेज, आरा

# संस्कृत-कोषसाहित्य को आचार्य हेम की अपूर्व देन

संस्कृत-कोशसाहित्य की परम्परा :—संस्कृत भाषा में कोष-ग्रन्थ लिखने की परम्परा वैदिक युग से चली आ रही है. निघण्टव :—निघण्टुओं की महत्त्वपूर्ण शब्दावली यास्क के निरुक्त के साथ उपलब्ध है. विलुप्त कोष-ग्रन्थों में भागुरिकृत कोश का नाम सर्वप्रथम आता है.[1] अमरकोष की टीका में भागुरि के प्राचीन उद्धरण उपलब्ध होते हैं. भानुजि दीक्षित ने अपनी अमरकोशटीका में आचार्य आपिशल का एक वचन ऊद्धृत किया है.[2] जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने भी कोई कोषग्रन्थ लिखा है. उणादिसूत्र के वृत्तिकाल उज्ज्वयलदत्त द्वारा उद्धृत एक वचन से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है. आपिशल वैयाकरण थे, इनका स्थिति काल पाणिनि से पूर्व है.

केशव ने नानार्थार्णव संक्षेप में शाकटायन के कोशविषयक वचन ऊद्धृत किये हैं, जिनसे इनके कोशकार होने की संभावना है.[3] अभिधान चिन्तामणि आदि कोशग्रन्थों की विभिन्न टीकाओं में व्याडिकृत किसी विलुप्त कोश के उद्धरण मिलते हैं.[4] कीथ ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में नाममाला के कर्त्ता कात्यायन, शब्दार्णव के रचयिता वाचस्पति और संसारावर्त के लेखक विक्रमादित्य का उल्लेख किया है.[5]

उपलब्ध कोशग्रन्थों में सबसे प्राचीन और ख्यातिप्राप्त अमरसिंह का अमरकोश है. डॉ० हार्नले ने इसका रचनाकाल ६२५-६४० ई० के बीच माना है. यह समानार्थ शब्दों का संग्रह है और विषय की दृष्टि से इसका विन्यास तीन काण्डों में किया गया है. इसकी अनेक टीकाओं में ग्यारहवीं शताब्दी में लिखी गयी क्षीरस्वामी की टीका बहुत प्रसिद्ध है. इसके परिशिष्ट के रूप में संकलित पुरुषोत्तमदेव का त्रिकाण्डशेष है, जिसमें उन्होंने विरल शब्दों का संकलन किया है. कवि और वैयाकरण के रूप में ख्यातिप्राप्त हलायुध ने अभिधानरत्नमाला नामक कोशग्रन्थ ई० सन् ९५० के लगभग लिखा है. इसमें पर्यायवाची समानार्थक शब्दों का संकलन है. दाक्षिणात्य आचार्य यादव ने वैज्ञानिक पद्धति पर वैजयन्ती कोश लिखा है. नवीं शती के विद्वान् धनञ्जय ने नाममाला, अनेकार्थनाममाला और अनेकार्थनिघण्टु ये तीन कोशग्रन्थ लिखे हैं, ये तीनों कोश छात्रोपयोगी, सरल और सुन्दर शैली में लिखे गये हैं.

कोश साहित्य की समृद्धि की दृष्टि से बारहवीं शताब्दी महत्त्वपूर्ण है. इस शती में केशवस्वामी ने नानार्थार्णवसंक्षेप एवं शब्दकल्पद्रुम, महेश्वर ने विश्वप्रकाश, अभयपाल ने नानार्थरत्नमाला और भैरव कवि ने अनेकार्थकोष की रचना की है. इसी शताब्दी के महाविद्वान् आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह एवं निघण्टुशेष की रचना की है.

---

१. सर्वानन्दविरचित टीकासर्वस्व भाग १ पृ० १९३.
२. अमरटीका १।१।६६ पृ० ६८.
३. अभिधानचिन्तामणि—चौखम्बा संस्करण प्रस्तावना पृ० ६.
४. अभिधानचिन्तामणि १।५, ३४।२२ और २५.
५. कीथ-संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ४८६.

चौदहवीं शताब्दी में मेदिनिकर ने अनेकार्थशब्दकोश, हरिहर के मन्त्री इरुपद दण्डाधिनाथ ने नानार्थरत्नमाला और श्रीधरसेन ने विश्वलोचन कोश लिखा है. सत्रहवीं शती में केशव दैवज्ञ ने कल्पद्रुम और अप्पय दीक्षित ने नामसंग्रहमाला एवं वेदांगराय ने पारसीप्रकाश कोश की रचना की है. इनके अतिरिक्त महिप का अनेकार्थतिलक, श्रीमल्लभट्ट का आख्यातचन्द्रिका, महादेव वेदान्ती का अनादिकोश, सौरभी का एकार्थनाममाला—द्वयक्षरनाममाला कोश, राघव कवि का कोशावतंस, भोज का नाममाला कोश, शाहजी का शब्दरत्नसमुच्चय, कर्णपूर का संस्कृत-पारसीकप्रकाश एवं शिवदत्त का विश्वकोश उपयोगी संस्कृत कोशग्रंथ हैं.

**आचार्य हेम का महत्त्व और उनकी ऐतिहासिक सामग्री**—हेमचन्द्र के संस्कृतकोशग्रंथ साहित्य की अमूल्य निधि हैं. इनके ग्रन्थों में भाषा, विज्ञान, इतिहास, संस्कृति एवं साहित्य सम्बन्धी महत्वपूर्ण सामग्री संकलित है. अभिधानचिन्तामणि की स्वोपज्ञवृत्ति में इन्होंने अपने पूर्वकर्मी ५६ ग्रंथकारों और ३१ ग्रंथों का उल्लेख किया है. यथा :

अमर [५५-१७ तथा २१][1], अमरादि [२७६-२१,२६६-१४], अलंकारकृत् [११२-१३], आगमविद् [७०-१४], उत्पल [७४-१४] कात्य [५६-१०,६२-८] कामन्दकि [५५०१४], कालिदास [४१३-२,[४४०-१६], कौटिल्य [७०-४,२६६-२], कौशिक [१६६- १३,१७०-२८] क्षीरस्वामी [३५०-६,४६१-१७[, गौड [३६-२६,५३-३], चाणक्य [३६४-५] चान्द्र [५२८-२५]दन्तिल[१२१-१२२,५६३-३], दुर्ग[५७-२८, १७४-२७],द्रमिल[१५१-७, २०६-२७], धनपाल[१-५,७६-२१], धन्वन्तरि [१६६-२८,२५६-७], नन्दी [५२-५३], नारद [३५७-१८, नैसक्त[१६४-१८, १८६-६], पदार्थविद्[२०८-२२], पालकाप्य [४६५-२७], पौराणिक [३७३-६] प्राच्य [२८-२६], बुद्धिसागर २४५-२५], बौद्ध [१०१-१७] भट्टतौत [२४-१७], भट्टि [५६३-२३], भरत [११७-६] भागुरि [६६-१४], भाष्कार [६६-२३], भोज [१५७-१७], मनु [६३-११], माघ [६२-१७], मुनि [१७१-१८] याज्ञवल्क्य [३३६-२] याज्ञिक [१०३-६]' लौकिक [३७८-२३], वाग्भट [१६७-१], वाचस्पति [१-६], वासुकि [१-५], विश्वदत्त [४६-८], वैजयन्तीकार [१३१-२३], वैद्य [१६६-२८], व्याडि [१-५] शाब्दिक [४३-७], शाश्वत [६४-७], श्रीहर्ष [११८-७], श्रुतिज्ञ [३३२-२७], सभ्य [१३४-१], स्मार्त [२०६-२१०], हलायुध [१४४-१५] एवं हृद्य [४५३-२७].

इन ग्रंथकारों के अतिरिक्त अमरकोश [८-५], अमरटीका ४५-१३]. [अमरमाला [४४०-३२], अमरशेष [१५३-२०], अर्थशास्त्र [२६७-२५] धातुपारायण [१-११], भारत [३३८-१३], महाभारत [८१-२३], वामनपुराण [४६-२६], विष्णु-पुराण [६६-१६], शाकटायन [२-१], एवं स्मृति [३५-२७] आदि ३१ ग्रंथों का भी उल्लेख किया है.

जहां शब्दों के अर्थ में मतभेद उपस्थित होता है, वहाँ आचार्य हेम अन्य ग्रंथ तथा ग्रंथकारों के वचन उद्धृत कर उस मतभेद का स्पष्टीकरण करते हैं. फलतः प्रसंगवश अनेक ग्रंथ और ग्रंथकारों के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी की सामग्री वर्तमान है. विलुप्त कोशकार भागुरी और व्याडि के सम्बन्ध में अभिधान-चिन्तामणि से ही तथ्यों की जानकारी प्राप्त होती है.

**नवीन शब्दों का संकलन**—अभिधानचिन्तामणि में इस प्रकार के शब्द प्रचुर परिमाण में आये हैं, जो अन्य कोशग्रंथों में नहीं मिलते. अमरकोश में सुन्दर के पर्यायवाची—सुन्दरम्, रुचिरम्, चारुः, सुषमम्, साधुः, शोभनम्, कान्तम्, मनोरमम्, रुच्यम्, मनोज्ञम्, मंजुः और मंजुलम् ये बारह शब्द आये हैं. हेम ने इसी सुन्दरम् के पर्यायवाची चारुः, हारि रुचिरम्, मनोहरम्. वल्गु., कान्तम् अभिरामम्, बन्धुरम्, वामम्, रुच्यम्, सुषमम्, शोभनम्, मंजुलम्, मंजुः, मनो-रमम्, साधुः, रम्यम्, मनोरमम्, पेशलम्, हृद्यम्, काम्यम्, कमनीयम्, सौम्यम्, मधुरम् और प्रियम् ये २६ शब्द बतलाये हैं. इतना ही नहीं हेम ने अपनी वृत्ति में 'लडह' देशी शब्द को भी सौंदर्यवाची ग्रहण किया है. अमरकोश के साथ तुलना करते हुए कुछ शब्दों के पर्यायों का निर्देश किया जाता है.

---

१. अभिधानचिन्तामणि के भावनगर संस्करण के पृष्ठ और पंक्ति निर्दिष्ट हैं.

| नाम | अमरकोश की पर्यायसंख्या | अभिधानचिन्तामणि की पर्यायसंख्या |
|---|---|---|
| सूर्य | ३७ | ७२ |
| किरण | ११ | ३६ |
| चन्द्र | २० | ३२ |
| शिव | ४८ | ७७ |
| गौरी | १७ | ३२ |
| ब्रह्मा | २० | ४० |
| विष्णु | ३६ | ७५ |
| अग्नि | ३४ | ५१ |

पर्यायवाची शब्दों की सांख्याधिक्य के अतिरिक्त ऐसे नवीन शब्द भी समाविष्ट हैं, जो संस्कृति और साहित्य के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण हैं. इस कोश में जिसके वर्ण या पद लुप्त हों—जिसका पूरा-पूरा उच्चारण नहीं किया गया हो उस वचन का नाम 'ग्रस्तम्' और थूकसहित वचन का नाम 'अम्बूकृतम्' आया है. शुभवाणी-कल्याणप्रद वचन का नाम 'कल्या', हर्ष-क्रीड़ा से युक्त वचन के नाम 'चर्चरी' और 'चर्मरी' एवं निन्दापूर्वक उपालम्भयुक्त वचन का नाम 'परिभाषण' आया है. जले हुए भात के लिए भिस्सटा [३-६०] और दग्धिका नाम आये हैं. गेहूं के आटे के लिए समिता [३-६६] और जौ के आटे के लिए चिक्कस [३-६६] नाम आए हैं. नाक की विभिन्न बनावट वाले व्यक्तियों के विभिन्न नामों का उल्लेख भी इस बात का सूचक है कि आचार्य हेम को मानवशास्त्र की कितनी अधिक जानकारी थी. इन्होंने चिपटी नाकवाले को नतनासिक, अवनाट, अवटीट और अवभ्रट, नुकीली नाकवाले को खरणास, छोटी नाकवाले को नःक्षुद्र और क्षुद्रनासिक, खुर के समान बड़ी नाकवाले को खुरणस एवं ऊंची नाकवाले को उन्नस और उग्रनासिक कहा है.[1] नृतत्त्वविज्ञान का अध्ययन करनेवाले शरीर के अन्य अंगोपांगों के साथ नाक एवं केशरचना को विशेष महत्त्व देते हैं. यों तो मानवसमूहों के प्रजातीय वर्गीकरण के लिए शरीर के विभिन्न अंगों की नापजोख, रक्तसमूह-विश्लेषण, मांसपेशियों का गठन, त्वचा, आंख और केश के रंग एवं केश-रचना का उपयोग करते हैं, पर नाक और आंख की बनावट प्रमुख स्थान रखती है. हेम ने इस दृष्टि से मंगोलॉयड, काकेसायड, अफ्रीकी नीग्रॉयड, मेलानेशियन और पालीनेशियन प्रजातियों के मानवों का चित्र उपस्थित कर दिया है. अंगोपांगों के विभिन्न नामों के विवेचन से यह सहज में अवगत किया जा सकता है कि हेम को नृतत्त्वज्ञान की गहरी जानकारी थी.

पति-पुत्र से हीन स्त्री के लिए निर्वीरा [३-१६४], जिस स्त्री को दाढ़ी या मूंछ के बाल हों, उसको नरमालिनी [३-१६५], बड़ी शाली के लिए कुली [३-२१८] और छोटी शाली के लिए हाली, यन्त्रणी और केलिकुंचिका [३-२१६] नाम आये हैं. छोटी शाली के इन नामों को देखने से अवगत होता है कि उस समय में छोटी शाली के साथ हँसी-मजाक करने की प्रथा थी. साथ ही पत्नी की मृत्यु के पश्चात् छोटी शाली से विवाह भी किया जाता था. इसी कारण इसे केलिकुंचिका कहा गया है.

दाहिनी और बायीं आँखों के लिए पृथक्-पृथक् शब्द इसी कोश में आये हैं. दाहिनी आंख का नाम मानवीय और बायीं आंख का नाम सौम्य [३-२४०] कहा गया है. इसी प्रकार जीभ के मैल को कुलुकम् और दांत के मैल को पिप्पिका [३-२६६] कहा गया है. मृगचर्म के पंखे का नाम धवित्रम्, कपड़े के पंखे का नाम आलावर्तम् एवं ताड़ के पंखे का नाम व्यजनम् [३-३५१-५२] आया है. नाव के बीचवाले डण्डों का नाम पोलिंदा, ऊपरवाले भाग का नाम मंग एवं नाव के भीतर जमे हुए पानी को बाहर फेंकनेवाले चमड़े के पात्र का नाम सेकपात्र या सेचन [३-५४२] बताया है. ये शब्द अपने भीतर साँस्कृतिक इतिहास भी समेटे हुए हैं. छप्पर छाने के लिए लगायी गई लकड़ी का नाम गोपानसी [४-७५], जिस

१. अभिधानचिन्तामणि ३।११५.

में बांधकर मथानी घुमायी जाती है, उस खम्भे का नाम विष्क्रम्भ [४-८९], सिक्का आदि रूप में परिणत सोना-चांदी, तांबा आदि सब धातुओं का नाम रूप्यम्, मिश्रित सोना-चांदी का नाम घनगोलक [४-११२-११३], कूंआ के ऊपर रस्सी बांधने के लिए काष्ठ आदि की बनी हुई चरखी का नाम तंत्रिका [४-१५७], घर के पास वाले बगीचे का नाम निष्कुट, गांव या नगर के बाहरवाले बगीचे का नाम पौरक [४-१७८], क्रीड़ा के लिए बनाये गए बगीचे का नाम आक्रीड या उद्यान [४-१७८], राजाओं के अन्तःपुर के योग्य घिरे हुए बगीचे का नाम प्रमदवन [४-१७९], धनिकों के बगीचे का नाम पुष्पवाटी या वृक्षवाटी [४-१७९] एवं छोटे बगीचे का नाम क्षुद्राराम या प्रसीदिका [४-०१७९] आया है.

**प्रसाधनसामग्री सूचक शब्दावलि**—अभिधानचिन्तामणि का जहाँ अनेक दृष्टियों से महत्त्व है, वहां प्राचीन भारत में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न प्रकार की प्रसाधनसामग्री की दृष्टि से भी. इस कोश में शरीर को संस्कृत करने को परिकर्म (३।२९९), उबटन लगाने को उत्सादन (३।२९९), कस्तूरी-कुंकम का लेप लगाने को अंगराग; चन्दन, अगर, कस्तूरी और कुंकुम के मिश्रण को चतुःसमम्; कर्पूर अगर; कंकोल, कस्तूरी और चन्दनद्रव को मिश्रित कर बनाये गये लेपविशेष को यक्षकर्दम एवं शरीरसंस्कारार्थ लगाये जानेवाले लेप का नाम वर्ति या गात्रानुलेपनी कहा गया है. मस्तक पर धारण की जाने वाली फूल की माला का नाम माल्यम्, बालों के बीच में स्थापित फूल की माला का नाम गर्भ चोटी में लटकनेवाली फूलों की माला का नाम प्रभ्रष्टकम्, सामने लटकती हुई पुष्पमाला का नाम ललामकम्, छाती पर तिर्छी लटकती हुई पुष्पमाला का नाम वैकक्षम्, कण्ठ से छाती पर सीधे लटकती हुई फूलों की माला का नाम प्रालम्बम्, शिर पर लपेटी हुई माला का नाम आपीड, कान पर लटकती हुई माला का नाम अवतंस एवं स्त्रियों के जूडे में लगी हुई माला का नाम बालपाश्या आया है.[1]

इसी प्रकार, कान, कण्ठ, गर्दन, हाथ, पैर, कमर आदि विभिन्न अंगों में धारण किये जाने वाले आभूषणों के अनेक नाम आये हैं.[2] इन नामों से अवगत होता है कि शरीर को सजाने की प्रथा किस-किस रूप में प्रचलित थी. प्रसाधनसामग्री में विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषणों साथ नाना प्रकार के सुगन्धित पदार्थ भी परिगणित थे. रेशमी, सूती और ऊनी वस्त्रों के उपयोग करने के विभिन्न तरीके ज्ञात थे. वस्त्र त्वक्-तीसी, सन आदि की छाल, फल-कपास, क्रिमि-रेशम के कीड़े आदि एवं रोम—भेड़ों की ऊन या ऊंटों की ऊन से तैयार किये जाते थे.[3] मृग-हरिण के रोम से भी वस्त्र तैयार किये जाते थे. इस प्रकार के वस्त्रों को रांकवम्[4] कहा है. साड़ी के नीचे स्त्रियां साया—पेटीकोट भी पहनती थीं, आचार्य हेम ने इस कोश में धनिक और उत्तमकुल की महिलाओं के द्वारा साड़ी के नीचे धारण किये जाने वाले पेटीकोट के चण्डातकम् और चलनक ये दो नाम लिखे हैं.[5] सामान्य परिवार की स्त्रियां जिस पेटीकोट को पहनती थीं, उसका नाम चलनी कहा है.[6] ब्लाउज भी अनेक प्रकार के उपयोग में लाये जाते थे तथा इनके सीने के भी अनेक तरीके प्रचलित थे. उनके चोल, कञ्चुलिका, कूर्पासक, अंगिका एवं कञ्चुक[7] नाम वस्त्रों की विविधता के साथ सीने के प्रकारों पर भी प्रकाश डालते हैं. पलंगपोश का रिवाज भी समाज में था, सूती पलंगपोश, जो कि गद्दे के ऊपर बिछाया जाता था, निचोल कहलाता (३।३४०) था. साधारणतः बिछाने के काम में आनेवाली चादर प्रच्छदपट (३।३४०) कही जाती थी. निचुल (३।३४०) उस पलंगपोश का नाम है जो धनिक और सम्पन्न व्यक्तियों के यहाँ उपयोग में लाया जाता था. यह रेशमी होता था. इसके ऊपर कारीगरी भी की जाती थी, साधारण और मध्यमकोटि के व्यक्ति जिस चादर का उपयोग करते थे, उसे उत्तरच्छद (३।३४०) कहा है.

---

१. देखें—काण्ड ३ श्लोक ३१४-३२१.
२. देखें—काण्ड ३ श्लोक ३२०-३२१.
३. त्वक्फलक्रिमिरोमभ्यः संभवाच्चतुर्विधम्—३।३३२.
४. अभिधान चिन्तामणि ३।३३३.
५. वही ३।३३८.
६. वही ३।३३८. ७. वही ३।३३८.

पाजामा, अंगरखा या बुर्का का नाम आप्रपदीन (३।३४२) आया है. इससे स्पष्ट है कि प्रसाधनसामग्री में पजामा भी आ चुका था. जालीदार कपड़े भी काम में लाये जाते थे, इन्हें शाणी और गोणी (३।३४३) कहा है. पैरों को मोजा या पैतावा पहनकर सजाया जाता था. अतः मौजा का नाम अनुपदीना (३।५७९) आया है. पुष्पों से भी शरीर का प्रसाधन किया जाता था, इस प्रसाधन के भी अनेक नाम आये हैं. गुलदस्ते भी उपयोग में लाये जाते थे. हेम के गुच्छों के नामों में आया हुआ गुलुञ्छ (४।१९२) शब्द गुलदस्ते का ही वाचक है.

**भाषाविज्ञानसम्बन्धी सामग्री**—भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह कोश बड़ा मूल्यवान् है. आचार्य हेम ने इसमें जिन शब्दों का संकलन किया है, उन पर प्राकृत, अपभ्रंश एवं अन्य देशी भाषाओं के शब्दों का पूर्णतः प्रभाव लक्षित होता है. उसके अनेक शब्द तो आधुनिक भारतीय भाषाओं में दिखलायी पड़ते हैं. कुछ ऐसे शब्द हैं, जो भाषाविज्ञान के समीकरण, विषमीकरण आदि सिद्धान्तों से प्रभावित हैं. यहाँ उदाहरणार्थ कुछ शब्द उद्धृत किये जाते हैं—

[१] पोलिका [३।६२]—गुजराती में पोणी, व्रजभाषा में पोनी, और भोजपुरी में पिउनी तथा हिन्दी में पिउनी.

[२] मोदको लड्डुकश्च [शेष ३।६४]—हिन्दी में लड्डू, गुजराती में लाडु, और राजस्थानी में लाडू.

[३] चोटी [३।३३९]—हिन्दी में चोटी, गुजराती में चोणी, राजस्थानी में चोड़ी या चुणिका और भोजपुरी में चुटिया.

[४] समौ कन्दुकगेन्दुकौ [३।३५३]—हिन्दी में गेंद, व्रजभाषा में गिन्द या गिंद, और भोजपुरी में गिद या गेंद.

[५] हेरिको गूढपुरुषः [३।३९७]—व्रजभाषा में हेर या हेरना-देखना, गुजराती में हेर.

[६] तरवारि [३।४४६]—व्रजभाषा में तरवार, राजस्थानी और पूर्वी बोलियों में तलवार तथा गुजराती में तरवार.

[७] जंगलो निर्जलः [४।१९]—व्रजभाषा, हिन्दी और सभी देशी बोलियों में जंगल.

[८] सुरुंगा तु सन्धिला स्याद् गूढमार्गो भुवोऽन्तरे [४।५१]—व्रजभाषा, हिन्दी, गुजराती और सभी पूर्वी बोलियों में सुरंग.

[९] निश्रेणी त्वधिरोहिणी [४।७९]—व्रजभाषा में नसेनी, गुजराती में नीसरणी, भोजपुरी में सीढ़ी, मगही में निसेनी तथा पाली में भी निसेनी रूप आया है.

[१०] चालनी तितउ [४।८४] व्रजभाषा, राजस्थानी और गुजराती में चालनी, हिन्दी में चलनी या छननी.

[११] पेटा स्यान्मञ्जूषा [४।८१]—राजस्थानी में पेटी गुजराती में पेटी या पेटो और व्रजभाषा में पिटारी, पेटी.

[१२] परिवारः परिग्रहः [३।३७९]—हिन्दी में परिवार, पूर्वी बोलियों में परिवार और राजस्थानी में पडिवार या परिवाड.

**व्युत्पत्तिमूलक विशेषताएँ**—[१] मंक्यते मण्ड्यते वपुरनेन मुकुरः, आत्मा दृश्यतेऽनेनात्मदर्शः, आदृश्यते रूपमस्मिन्नादर्शः, दृप्यन्त्येऽनेन सुवेषा इति दर्पणः [३।३४८]—जिसके द्वारा शरीर को सुशोभित किया जाय अर्थात् जिसमें अपनी प्रतिकृति का अवलोकन कर मण्डन—प्रसाधन किया जाय उसे मुकुर, जिसमें अपना स्वरूप देखा जाय उसे आत्मदर्श, पूर्ण रूप से अच्छी तरह जिसमें अपना रूप देखा जाय उसे आदर्श और जिसमें अपनी प्रतिकृति देखकर अपने वेप को सुसज्जित किया जाय तथा आकर्षक बनाया जाय उसे दर्पण कहते हैं. दर्पण में अपनी वेप-भूषा देखकर गौरवजन्य आनन्दानुभूति होती है, यह दर्पण शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्ट है. मुकुर, आत्मदर्श, आदर्श और दर्पण ये चारों दर्पण के पर्यायवाची शब्द हैं, किन्तु व्युत्पत्ति की दृष्टि से इन शब्दों के अर्थ में मौलिक अन्तर है.

(२) नक्षति गच्छति व्योमनीति नक्षत्रं, न क्षदति प्रभामिति नक्षत्रम्. तरतीति तारका, तरन्त्यनया ताराः द्योतते ज्योतिः; भाति भं, भा विद्यतेऽस्येति वाः इर्यर्ति खमिति उडुः, गृह्यते इति ग्रहः, धृष्णोति प्रगल्भते निशीति धिष्ण्यम्. ऋजंते गच्छति ऋक्षं, ऋक्षणोति तम इति वा (२।२१)

नक्षत्र के नौ नामों का निरूपण करते हुए उनकी व्युत्पत्तियाँ देकर अर्थ सम्बन्धी सूक्ष्मताओं पर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है. जो आकाश में गमन करे अथवा जिनकी प्रभा—कांति का संवरण कभी न हो वह नक्षत्र है. जो आकाश में तैरता है, वह तारका नक्षत्र है. जिसके द्वारा आकाश का अतिक्रमण किया जाता है वह तारा है. जिसमें प्रकाश विद्यमान है वह ज्योति, जिसमें कांति हो अथवा जो चमकता या टिमटिमाता हो वह भ है. आकाश में उड़ने के कारण उडु, ग्रहण होने के कारण ग्रह, रात्रि में प्रकाशित होने के कारण धिष्ण्य और सीधा गमन करने के कारण ऋक्ष अथवा अन्धकार का ध्वंस करने से ऋक्ष कहा जाता है. नक्षत्र के नामों की व्युत्पत्तियाँ अमरकोष की टीकाओं में भी आयी हैं, किंतु आचार्य हेम ने ऋक्ष, नक्षत्र और भ की व्युत्पत्ति में अपना एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है.

(३) वेवेष्टि व्याप्नोति विश्वं विष्णुः, हरति पापं हरिः, हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशो वशिता हृषीकेशः, प्रशस्ताः केशाः सन्त्यस्य केशवः, इन्द्रमुपगतोऽनुजत्वाद् उपेन्द्रः, विष्वक् सर्वव्यापिनी विषूची वा सेनाऽस्य विष्वक्सेनः, नरा आपो भूतानि वा तान्ययते नारायणः, नरस्य अपत्यं नारायणः, अधः कृत्वाऽक्षाणीन्द्रियाणि जातोऽधोक्षजः अधोऽक्षाणां जितेन्द्रियाणां जायते प्रत्यक्षीभवति वा, अक्षजं ज्ञानमधोऽस्येति वा, गां भुवं विन्दति गोविन्दः, मुञ्चति पापिनो मुकुन्दः, माया लक्ष्म्या धवो भर्ता माधवः मधोरपत्यं वा; विश्वं बिभर्ति विश्वंभरः, जयति दैत्यान् जिनः, त्रयो विशिष्टाः क्रमाः सृष्टिस्थितिप्रलयलक्षणाः शक्तयोऽस्य त्रिविक्रमः, त्रिषु लोकेषु विक्रमः पादविन्यासोऽस्येति वा, जहाति मुञ्चति पादांगुष्ठाद् गंगामिति जह्नुः, वनमालाऽस्त्यस्य वनमाली, पुण्डरीके इव अक्षिणी अस्य पुण्डरीकाक्षः (२।१३२)

आचार्य हेम ने विष्णु के ७५ नाम बतलाये हैं और स्वोपज्ञवृत्ति में सभी नामों की व्युत्पत्तियां अंकित की गई हैं. उपर्युक्त सन्दर्भ में कुछ ही नामों की व्युत्पत्तियां दी जा रही हैं. इन व्युत्पत्तियों के अनुसार जो संसार को व्याप्त करता है, वह विष्णु है. पाप को नष्ट करने के कारण हरि, इन्द्रियों का विजयी होने के कारण हृषीकेश, प्रशस्त केशवाला होने से केशव, इन्द्र का अनुज होने से उपेन्द्र, विश्व-व्यापिनी सेना रखने के कारण विष्वक्सेन, जल में रहने से नारायण, नर का पुत्र होने से नारायण, इंद्रियज्ञान को तिरस्कृत कर अतींद्रिय, ज्ञान का धारी होने से अधोक्षज, पृथ्वी की रक्षा करने के कारण गोविंद, पाप को छुड़ाने से मुकुन्द, लक्ष्मी का पति होने से माधव, विश्व-संसार का भरण करनेवाला होने से विश्वंभर, दैत्यों को जीतने के कारण जिन, सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप तीनों शक्तियों से युक्त होने से त्रिविक्रम अथवा तीनों लोकों में पादन्यास करने से त्रिविक्रम, पैर के अंगूठे से गंगा नदी को प्रवाहित करने के कारण जह्नुः, वनमाला गले में रहने से वनमाली और पुण्डरीक के समान नेत्र होने से पुण्डरीकाक्ष विष्णु को कहा जाता है. विष्णु के नामों की इन व्युत्पत्तियों में इतिहास और संस्कृति की दृष्टि से अनेक नयी बातों का समावेश हुआ है.

(४) शिक्ष्यते वर्णविवेकोऽनया शिक्षा. कर्मणां सिद्धरूपः प्रयोगः कल्प्यतेऽवगम्यतेऽनेन कल्पः. व्याक्रियन्तेऽन्वाख्यायन्ते शब्दा अनेन व्याकरणम्. छाद्यतेऽनेन प्रस्ताराद् भूरितिच्छन्दः. ज्योतिषां ग्रहाणां गतिज्ञानहेतुर्ग्रन्थो ज्योतिः ज्योतिषम्. वर्णागमादिभिर्निर्वचनं निरुक्तिः निरुक्तम् (२।१६४).

षडंग की व्युत्पत्तियां प्रस्तुत करते हुए आचार्य हेम ने षडंग का स्वरूप कितने स्पष्ट और विस्तृत रूप में उपस्थित किया है, यह सहज में जाना जा सकता है. जिसके द्वारा वर्णविवेक—वर्णोच्चारण, वर्णो का स्थान, प्रयत्न आदि अवगत हो, उसे शिक्षा कहते हैं. कर्मों का सिद्धस्वरूप जिनके द्वारा ज्ञात किया जाय वे कल्प हैं. इससे स्पष्ट है कि कल्पसूत्रों की आधार-शिला कर्मकाण्ड है तथा हिन्दूधर्म के समस्त कर्म, संस्कार, निखिल अनुष्ठान और समस्त संस्कृति एवं अशेष क्रियाकांड को समझने के लिए एकमात्र आधार ये कल्पग्रंथ ही हैं. प्रकृति और प्रत्यय के विभाग द्वारा शब्दों की व्याख्या करने को व्याकरण कहते हैं. धातु और प्रत्यय के संश्लेषण एवं विश्लेषण द्वारा भाषा के आन्तरिक गठन के विचार को भी इस व्युत्पत्ति में समेट लिया गया है. शब्दों की व्युत्पत्ति एवं उनकी प्राणवन्त प्रक्रिया के रहस्य का उद्घाटन भी उक्त व्युत्पत्ति में शामिल है. जिसके प्रस्तार से पृथ्वी को आच्छादित किया जा सके, उसे छन्द कहते हैं. इस व्युत्पत्ति में पिंगलाचार्य की समस्त भूमण्डल को व्याप्त करनेवाली कथा भी आ गई है. जिस ग्रंथ से ग्रहों की गति और स्थिति

का ज्ञान प्राप्त किया जाय, उसे ज्योतिप कहते हैं. वर्णागम वर्णलोप वर्णविकार आदि के द्वारा जिसका निर्वचन उपस्थित किया जाय उसे निरुक्ति कहते हैं.

५. प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य पश्चादीक्षणं अन्वीक्षा सा प्रयोजनमस्यामान्वीक्षिकी. पुरापि न नवं पुराणम् (२।१६५-१६६). टीकयति गमयत्यर्थान् टीका सुषमाणां विषमाणां च निरन्तरं व्याख्या यस्यां स तथा. पञ्च्यन्ते व्यक्तीक्रियन्ते पदार्था अनया पञ्चिका, पृषोदरादित्वाद् जत्वे पञ्जिका अर्थात् विषमाण्येव पदानि भनक्ति पदभञ्जिका (२।१७०). निबध्यते विशेषोऽस्मिन् निबन्धः (२।१७१). प्रहेलयति अभिप्रायं सूचयति प्रहेलिका (२।१७३).

प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा अवगत कर लेने के पश्चात् तर्क आदि के द्वारा विपय को जानना अन्वीक्षा है और यह अन्वीक्षा जिसका प्रयोजन है उसे आन्वीक्षिकी विद्या कहा जाता है. पुराण सदा ही पुरातन रहते हैं, जिनका विपय प्राचीन समय में भी नया न रहे, उसे पुराण कहते हैं. किसी ग्रंथ के साधारण या असाधारण प्रत्येक शब्द की निरन्तर व्याख्या को टीका कहते हैं. विपमपदों को स्पष्ट करने वाली व्याख्या का नाम पञ्जिका है. जिसमें विशेप विपय को निबद्ध किया जाय, उसे निबन्ध कहते हैं. जिस पद्य का अर्थ पूर्वापर विरुद्ध प्रतीत होता हो, परन्तु विशेप अनुसन्धान करने से अविरुद्ध अर्थ निकले, उसे प्रहेलिका या पहेली कहते हैं.

६. बध्नाति स्नेहं बन्धुः (३।२२४). विगृह्यते रोगादिभिरिति विग्रहः (२।२२७) ऊर्ध्वं मिलति धम्मिल्लः (३।२३४). केशानां वेषे रचनायां कूयते कवरी (२।२३४). पलति याति श्वेतत्वं पाकात् पलितं (३।२३५). भाल्यते परिभाष्यते शुभाशुभमत्र भालम् (३।२३७.)

स्नेह के कारण जो बन्धन उत्पन्न करे उसे बन्धु कहते हैं. बन्धु शब्द का व्युत्पत्तिमूलक यही अर्थ है कि जो स्नेहबन्ध का कारण है, वही बन्धु है. जो स्नेह उत्पन्न नहीं करता है, वह बन्धु नहीं कहा जा सकता. रोग आदि के द्वारा जो विकृत किया जाता है, वह विग्रह अर्थात् शरीर कहलाता है. शरीर को रोग आदि नित्य जीर्ण करते रहते हैं.

७. धम्मिल्ल उस केशरचना का नाम है, जो जटाजूट की तरह ऊपर की ओर मिलती है अर्थात् बालों को ऊपर की ओर एकत्र कर बांधना धम्मिल्ल है. यह केशरचना अत्यन्त सावधानी पूर्वक की जाती है. केशों को सजाकर वेणी के रूप में बांधना कवरी है. कवरी और धम्मिल्ल ये दोनों ही प्रकार केशरचना के हैं. महिलाएँ इन दोनों प्रकार की केश-रचनाएँ करती थीं.

८. पककर श्वेत हुए बालों को पलित केश कहा गया है. जिस प्रकार धान की फसल पककर समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार समय के प्रभाव से केश भी श्वेत हो जाते हैं.

९. भाल-मस्तक-ललाट उसे कहते हैं, जिसके अध्ययन से शुभाशुभ को कहा जा सके. हाथ, पैर और ललाट के अध्ययन से शुभाशुभ के फलप्रतिपादन की प्रणाली प्राचीन काल से भारत में प्रचलित है. अतः भाल-ललाट की व्युत्पत्ति आचार्य ने यह की है—यों तो 'ललतेऽत्रालंकारो ललाटम्' अर्थात् जहाँ अलंकार सुशोभित हो, उसे ललाट कहते हैं.

१०. ओष्ठ की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है—"उष्यते तीक्ष्णाहारेण ओष्ठः" अर्थात्-तीक्ष्ण आहार से जो अवगत हो और उसकी अनुभूति जिसे निरन्तर होती रहे, उसे ओष्ठ कहते हैं.

११. भाष्यते भाषा २।११५—भाषण या कथन को भाषा कहते हैं. सुष्ठु आ समन्तात् अधीयते स्वाध्यायः २।१६३—अच्छी तरह अध्ययन करने को स्वाध्याय कहते हैं.

१२. अवति विघ्नाद् ओम् अव्ययम् २।१६४—विघ्नों से रक्षा करने वाला 'ओम्' होता है. यह ओम् अव्यय है.

१३. न श्रियं लाति—अश्लीलम्—न श्रीरस्यास्तीति वा २।१८०—जिसके आचरण से कल्याण उत्पन्न न हो, उसे अश्लील कहते हैं.

१४. नियतं ग्लान्तीन्द्रियाणि अस्यां निद्रा २।२२७—जिसमें निश्चित रूप से इन्द्रियों को श्रान्ति—विश्राम मिले, वह निद्रा है.

१५. पण्डते जानाति इति पण्डितः, पण्डा बुद्धिः संजाता अस्येति ३।५—जो हिताहित को जानता है अथवा जिसमें विवेक-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, वह पण्डित है.

१६. छ्यति छिनत्ति मूर्खदुष्टचित्तानि इति छेकः। विशेषेण मूर्खचित्तं दहति इति. १७. विदग्धः ३।७—
जो मूर्ख की मूर्खता को दूर करता है, वह छेक है और जो विशेषरूप से मूर्खता को जलाता है, नष्ट करता है, वह विदग्ध है.

१८. वाति गच्छति नरं वामा यद्वा विपरीतलक्षणया शृंगारिखेदनाद्वा ३।१६८—जो नर-पुरुष को प्राप्त हो अथवा विपरीत लक्षणा के द्वारा जो शृंगार द्वारा खेद को प्राप्त करे अर्थात् जो काम-संभोगादि में प्रवीण हो, उसे वामा कहते हैं.

१९. विगतो धवो भर्ता अस्याः विधवा ३।१९४—जिसके पति का स्वर्गवास हो गया है अथवा जिसके सुख-काम-भोग के दिन व्यतीत हो गये हों, वह विधवा है.

२०. दधते बलिष्ठतां दधि ३।७०—जो बल उत्पन्न करता है अथवा जिस के सेवन से बल प्राप्त होता है, वह दधि है.

२१. वेव्यते वेष्ट्यते तृणपर्णादिभिरस्युटजः ४।६०—तिनके और पत्तों से जिसे छाया जाय, वह उटज है.

२२. वेश्याऽऽचार्यः पीठमर्दः—वेश्याऽऽचार्यो वेश्यानां नृत्तोध्यायः २।२४४—वेश्या को नृत्त सिखलाने वाला पीठमर्द है. नृत्त उस नाच को कहते हैं, जिसमें नर्तक न गाता है और न बजाता है, केवल मुद्रा-भाव-भंगिमाओं के द्वारा नृत्य प्रस्तुत करता है.

अनेक पर्यायवाची शब्दों के बनाने का विधान :—आचार्य हेम ने भी धनञ्जय के समान शब्दयोग से अनेक पर्यायवाची शब्दों के बनाने का विधान किया है, किन्तु इस विधान में उन्हीं शब्दों को ग्रहण किया है, जो कविसम्प्रदाय द्वारा प्रचलित और प्रयुक्त हैं. जैसे पतिवाचक शब्दों में कान्ता, प्रियतमा, वधू, प्रणयिनी एवं निभा शब्दों को या इनके समान अन्य शब्दों को जोड़ देने से पत्नी के नाम और कलत्रवाचक शब्दों में वर, रमण, प्रणयी एवं प्रिय शब्दों को या इनके समान अन्य शब्दों को जोड़ देने से पतिवाचक शब्द बन जाते हैं. गौरी के पर्यायवाची बनाने के लिए शिव शब्द में उक्त शब्द जोड़ने पर शिवकान्ता, शिवप्रियतमा, शिववधू एवं शिवप्रणयिनी आदि शब्द बनते हैं. निभा का समानार्थक परिग्रह भी है, किन्तु जिस प्रकार शिवकान्ता शब्द ग्रहण किया जाता है, उस प्रकार शिवपरिग्रह नहीं. यतः कविसम्प्रदाय में यह शब्द ग्रहण नहीं किया गया है.

कलत्रवाची गौरी शब्द में वर, रमण, प्रभृति शब्द जोड़ने से गौरीवर, गौरीरमण, गौरीश आदि शिववाचक शब्द बनते हैं. जिस प्रकार गौरीवर शब्द शिव का वाचक है, उसी प्रकार गंगावर शब्द नहीं. यद्यपि कान्तावाची गंगा शब्द में वर शब्द जोड़ कर पतिवाची शब्द बन सकता है, तो भी कविसम्प्रदाय में इस शब्द की प्रसिद्धि न होने से यह शिव के अर्थ में ग्राह्य नहीं है. आचार्य हेम ने अपनी स्वोपज्ञवृत्ति में इन समस्त विशेषताओं को बतलाया है. अतः स्पष्ट है कि "कविरूढ्यासेयोदाहरणावलि" सिद्धान्तवाक्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है. इसके कई सुन्दर निष्कर्ष निकलते हैं. कविसम्प्रदाय को परिगणित करने से अनेक दोषों से रक्षा हो गयी है. अतएव शिव के पर्याय कपाली के समानार्थक कपालपाल, कपालधन, कपालभुक्, कपालनेता एवं कपालपति जैसे अप्रयुक्त और अमान्य शब्दों के ग्रहण से भी रक्षा हो जाती है. यद्यपि व्याकरण द्वारा शब्दों की सिद्धि सर्वथा संभव है, पर कवियों की मान्यता के विपरीत होने से उक्त शब्दों को कपाली के स्थान पर ग्रहण नहीं किया जा सकता है.

**जैन संस्कृति और अभिधानचिन्तामणि** :—अभिधानचिन्तामणि और धनञ्जनाममाला ऐसे कोप हैं जिनमें संस्कृति के तत्व वर्तमान हैं. अभिधानचिन्तामणि में उत्सर्पण और अवसर्पण काल के साथ तीर्थंकरों के वंश, माता-पिता के नाम, शासनदेवता, उपासक के नाम एवं वर्ण बतलाये गये हैं. कामदेव के पर्यायवाची, द्वादश चक्रवर्तियों के पर्यायवाची, नौ नारायण और नौ प्रतिनारायणों के पर्यायवाची शब्द संकलित हैं. श्रेणिक और कुमारपाल के पर्यायवाची शब्द भी आये हैं. चालुक्य, राजर्षि, परमार्हत, मृतस्य भोक्ता, धर्मात्मा मारिवारक व्यसनवारक और कुमारपाल ये आठ नाम कुमारपाल के हैं. पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के भेद-प्रभेद एवं उनके पर्याय संकलित हैं. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों के भेदों और पर्यायों का संकलन जैनागमानुसार किया है. रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा धूमप्रभा, तमःप्रभा, और महातमःप्रभा इन सात नरकों में होने वाली वेदना, एवं इन नरकों के विलों का वर्णन जैन सिद्धान्तानुसार किया गया है. घनोदधिवातवलय, घनवातवलय एवं तनुवातवलय का विवेचन भी इस कोप के नरककाण्ड में विद्यमान है.

प्रथम देवाधिदेव काण्ड में तीर्थंकरों के विभिन्न अतिशय, आचार्य, उपाध्याय और मुनि के नामों के विवेचन के अनन्तर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा एवं समाधि का विवेचन किया है. योग के उक्त अष्टांगों की परिभाषाएँ जैनागमानुसार अंकित की गयी हैं.

देवकाण्ड में भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देवों के भेद-प्रभेद और उनके पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं. भवनवासी देवों के अन्त में जुड़े हुए कुमार शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—"**कुमारवदेते कान्तदर्शनाः सुकुमाराः मृदुमधुरललितगतयः शृंगाराभिजातरूपविक्रियाः कुमारवच्चोद्धतवेषभाषाभरणप्रहरणावरणयानवाहनाः कुमारवच्चोल्वणरागाः क्रीडनपराश्चेत्यतः कुमार इत्युच्यन्ते**". अर्थात्—ये देव कुमार के समान देखने में सुन्दर, मृदु, मधुर एवं ललित गतिवाले, शृंगार-सुन्दर रूप एवं विकार वाले और कुमार के समान ही उद्धत वेप, भापा, भूपण, शस्त्र, आभरण, यान तथा वाहन वाले एवं क्रीडापरायण होते हैं. अतएव ये कुमार कहे जाते हैं. देवों के निवास का वर्णन करते हुए कहा है—

"भवनपतयोऽशीतिसहस्राधिकयोजनलक्षपिंडायां रत्नप्रभायामूर्ध्वमधश्च योजनसहस्रैकैकमपहाय जन्माऽऽसादयंति. व्यन्तरास्तस्या एवोपरि यत्परित्यक्तं योजनसहस्रं तस्याध ऊर्ध्वञ्च योजनशतमेकैकमपहाय मध्येऽष्टसु योजनशतेपु जन्म प्रतिलभन्ते. ज्योतिष्कास्तु समतलाद् भूभागात् सप्त शतानि नवत्यधिकानि योजनानामारुह्य दशोत्तरयोजनशत-पिण्डे नभोदेशे लोकान्तात् किंचिन्न्यूने जन्म गृह्णन्ति. वैमानिका रज्जुमध्यर्द्धामधिरुह्याऽतः सौधर्मादिपु कल्पेपु सर्वार्थसिद्ध-विमानपर्यवसानेपूत्पद्यन्ते".

प्रथम भवनवासी देव एक लाख अस्सी हजार योजन परिमित रत्नप्रभा में एक-एक हजार योजन छोड़कर जन्म ग्रहण करते हैं. व्यन्तरदेव उस रत्नप्रभा के ऊपर छोड़े गये एक हजार योजन के ऊपर तथा नीचे एक-एक सौ योजन छोड़कर बीचवाले आठसौ योजन में जन्म ग्रहण करते हैं. ज्योतिष्क देव समतल भूभाग से सात सौ नव्वे योजन पिण्डवाले तथा लोकान्त से कुछ कम आकाश प्रदेश में जन्म ग्रहण करते हैं और वैमानिक देव डेढ़ रज्जु चढ़कर सर्वार्थसिद्धि विमान के अन्त तक सौधर्मादि कल्पों में जन्म ग्रहण करते हैं. अपने-अपने नियत स्थानों में उत्पन्न भवनवासी आदि देव लवण समुद्र, मन्दिर, पर्वत, वर्षधर एवं जंगलों में निवास तो करते हैं पर उनकी उत्पत्ति पूर्वोक्त नियत स्थानों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में नहीं होती है. अतएव निकाय शब्द का निवासार्थ या सहार्थ में प्रयोग किया गया है.

आचार्य हेम ने जैन आचार-व्यवहार की शब्दावलि को प्रमुखता दी है. अणुव्रत, महाव्रत, दशधर्म, ध्यान एवं समिति गुप्ति आदि का भी विवेचन किया है. इन्होंने पानी छानने के छनने के दो नाम लिखे हैं—नक्तक और कर्पट. स्वोपज्ञ-वृत्ति में नह्यते शिरसि नक्तकः "कीचक" (उणा ३३) इत्यके निपात्यते नक्तं भव इति वा, द्रवद्रव्यं येन पूयते तत्र रूढोऽयं तत्तुल्येऽपि वस्त्रे प्रतीतो वर्तते. कल्पते कर्पटः पुंक्लीवलिंगः "दिव्यवि" (उणा १४२) इत्यटः. अतएव स्पष्ट है कि आचार्य हेम ने जैन संस्कृति की शब्दावलि को बड़े सुन्दर और सुव्यवस्थित ढंग से इस कोष में अंकित किया है.

उपसंहार :—आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि कोष द्वारा संस्कृत कोषसाहित्य को अपूर्व रत्न प्रदान किया है. इस कोष का संस्कृति, साहित्य, भाषाविज्ञान एवं नवीन शब्दराशि की दृष्टि से अद्वितीय स्थान है. संस्कृत के अन्य कोषों में न तो इतने अधिक शब्द ही मिलते हैं और न सांस्कृतिक शब्दावलि की इतनी स्पष्ट व्याख्याएँ ही की गयी हैं. यह कोष अपार शब्दराशि का प्रयोग करने की दिशा की ओर संकेत करता है. हेम ने अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा इस कोश को इतना सम्पन्न और समृद्ध बनाया है, जिससे अकेले इस कोष को अपने पास रख लेने से शब्द-विषयक सांगोपांग जानकारी प्राप्त की जा सकती है. अन्वेषक प्रतिभाओं को इस कोष में इतनी सामग्री उपलब्ध होगी, जिससे दो-तीन शोध-प्रबन्धों का निर्माण विभिन्न दृष्टियों से सहज में किया जा सकता है. वास्तव में आचार्य हेम की, संस्कृत कोषसाहित्य को यह अपूर्व देन है. आचार्य का गहन तत्त्वस्पर्शी पाण्डित्य एवं बहुज्ञता इस कोष के द्वारा सहज में जानी जा सकती है. धन्य हैं आचार्य हेम और धन्य हैं उनकी कोषविषयक अपूर्व विद्वत्ता !

प्रो० देवेन्द्रकुमार जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०, शास्त्री, रायपुर

# अपभ्रंश जैन-साहित्य

अपभ्रंश भाषा और साहित्य दोनों का अत्यन्त महत्त्व है. भाषा-विकास की दृष्टि से अपभ्रंश मध्य भारतीय आर्य-भाषाओं की अंतिम अवस्था का नाम है. प्राकृत की अपेक्षा यह भाषा मधुर है. राजशेखर ने संस्कृत-बन्ध को कठोर कहा है और प्राकृत को सुकुमार, लेकिन विद्यापति देशवचन को 'सवजन-मिट्ठा' कहते हैं. अपभ्रंश देशी भाषा के अधिक निकट है.[1] महाकवि स्वयम्भू ने इसे ग्रामीण भाषा कहा है.[2] साधारणतः यह कहा जा सकता है कि मध्यभारतीय आर्य-भाषाओं की मध्य भूमिका तथा नव्य भारतीय आर्यभाषाओं की आदिम भूमिका के मध्य का रूप अपभ्रंश है. मुख्य रूप से यह पश्चिमी भाषा है. राजशेखर ने भी इसका संकेत किया है. उसने लिखा है कि उत्तर के कवि संस्कृतप्रेमी हैं. मरुभूमि (मारवाड़) राजपूताना और—पंजाब के कवि अपभ्रंश में अधिक रुचि रखते हैं, अवन्ति, दशपुर और पारयात्र के कवि भूतभाषा-प्रेमी होते हैं. किन्तु मध्यदेश के कवि सभी भाषाओं में रुचि रखते हैं. यही नहीं, उसने इस बात पर भी बल दिया है कि संस्कृत, प्राकृत कवियों के बाद ही राजदरबार में अपभ्रंश कवियों को पश्चिम दिशा में स्थान दिया जाय[3]. भाषागत साम्य के आधार पर पंजाबी, सिंधी और जूनी राजस्थानी के सम्बन्ध में यह कथन ठीक माना जा सकता है.

प्राकृत में जैन और बौद्ध साहित्य ही प्रमुख है. अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य जैन साहित्य है. सन्देश-रासक तथा सिद्ध-साहित्य (बौद्ध चर्यापद, गीति और दोहा) को छोड़कर लगभग समूचा वाङ्मय जैन शाहित्य है. अपभ्रंश साहित्य हिंदी साहित्य से न्यून नहीं है. हिन्दीसाहित्य के आदि काल की अनेक रचनायें अपभ्रंश की गिनाई जाती हैं. केवल इतना ही नहीं, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इसे 'पुरानी हिन्दी' नाम देते हैं. गुजराती इसे 'जूनी गुजराती' और राजस्थानी 'पुरानी राजस्थानी' कहकर पुकारते हैं. इससे भी अपभ्रंश की सामान्य आधार-भूमिका का पता लगता है. हिंदी के भक्ति और रीति काल के साहित्य से अपभ्रंश साहित्य अधिक विस्तृत है. साहित्यिक दृष्टि से भी इसका विशेष स्थान है. हिंदी साहित्य की अनेक प्रवृत्तियां अपभ्रंश-युग की देन हैं. छंदों की विविधता, रचना-शैली, परम्परागत काव्यात्मक वर्णन, साहित्यिक रूढ़ियों का निर्वाह, लौकिक और शास्त्रीय शैलियों का समन्वय, वस्तु विधान, प्रकृति-चित्रण, रसात्मकता, भक्ति और शृंगार का पुट आदि प्रवृत्तियां अपभ्रंश-साहित्य से ही परम्परागत रूप में हिंदी साहित्य को प्राप्त हुई हैं.[4] उपलब्ध अपभ्रंश जैन साहित्य में प्रवन्धकाव्यों की संख्या अधिक नहीं है. फिर भी हिंदी प्रवंधकाव्यों से अपभ्रंश प्रवन्धकाव्य

---

१. स्वयम्भू—पउमचरिउ प्रथम भाग, १, २.

२. स्वयम्भू—पउमचरिउ प्रथम भाग, १, ३.

३. देखिए, काव्यमीमांसा दशम अध्याय.

४. देखिये 'मेरा लेख सन्देशरासक और हिन्दी काव्यधारा' सप्तसिन्धु अप्रैल ६० का अंक.

साहित्यिक रचना-विधान में उत्कृष्ट और परिमाण में अधिक हैं. अपभ्रंश के प्रकाशित जैन प्रबन्धकाव्य इस प्रकार हैं—पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ, महापुराण, णायकुमारचरिउ, जसहर चरिउ,भविसयत्तकहा, करकंडुचरिउ, णेमिणाहचरिउ, पउमसिरीचरिउ, सनत्कुमार-चरित और सुदंसणचरिउ आदि. कुछ अप्रकाशित प्रबन्धकाव्यों के नाम ये हैं—हरिवंश-पुराणु, पांडुपुराणु, पद्मपुराणु, सुकोशल चरिउ, मेघेश्वरचरिउ आदि. इनमें से पुराणकाव्य और चरितकाव्य शुद्ध धार्मिक काव्य ग्रंथ हैं और णायकुमार-चरिउ, करकंडुचरिउ, और पउमसिरीचरिउ मुख्यतः रोमांटिक काव्य हैं. इनके अतिरिक्त मुक्तक काव्यों में रास, चर्चरी, कुलक, फागु, दोहा और गीति रचनायें हैं. उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य में गद्य और दृश्य-काव्य नहीं के बराबर हैं. लोकगीत अवश्य उस समय प्रचलित थे, जिनका आधार लोकप्रसिद्ध कथा होती थी. महाराष्ट्र में इसका प्रचलन अधिक व्यापक था. खंडकाव्य के नाम पर केवल 'संदेशरासक' प्राप्त हो सका है. परन्तु अभी अपभ्रंश का विपुल साहित्य प्रकाशन की प्रतीक्षा में है. महाकवि स्वयम्भू तथा पुष्पदन्त के उल्लेखों से यही पता चलता है कि अपभ्रंश साहित्य सातवीं सदी से प्राचीन है. लगभग एक हजार वर्षों तक यह साहित्य भारत-भूमि पर पल्लवित-पुष्पित होता रहा. भाषा ही नहीं, साहित्य में भी यह प्राकृत साहित्य से मेल खाता है. अभी तक समूचे प्राकृत साहित्य का आलोडन नहीं हो सका. इसका कारण संस्कृत को अधिक बढ़ावा देना है. किंतु संस्कृत में प्रभाव रूप से कई बातें प्राकृत और अपभ्रंश की मिलती हैं. संस्कृत के कई छन्द प्राकृतछंद हैं और अंत्यानुप्रास की प्रवृत्ति अपभ्रंश साहित्य की देन है. वस्तु-विवरण पद्धति भी दोनों में समान है. हिंदी में बारहमासा की प्रवृत्ति, छंद-विधान, अंत्यानुप्रास, अलंकार-योजना, प्रबन्ध-शिल्प, पद्धति-चित्रण आदि विधायें अपभ्रंश की देन हैं, न कि संस्कृत की.

प्रो० हर्टर ने जैन कथासाहित्य के निम्न लिखित रूप निर्धारित किये हैं.

१. धार्मिक आलोचना में कहानियां
२. धार्मिक आख्यान
३. चरित-काव्य
४. पौराणिक कहानियां [राम, कृष्ण आदि]
५. प्रबंध कहानियां [साधु, साध्वियों का जीवन-चरित]
६. कथा-काव्य

वस्तुतः चरित-काव्य और कथा-काव्य में मौलिक भेद नहीं है. चरित-काव्य और पौराणिक काव्य में अवश्य थोड़ा भेद है. अपभ्रंश चरितकाव्यों के अन्तर्गत पउमचरिउ, णायकुमारचरिउ, पउमसिरीचरिउ, जसहरचरिउ करकंडुचरिउ, रिट्ठणेमि चरिउ और भविसयत्तकहा आदि की गणना की जाती है. चरितकाव्यों की परम्परा अत्यधिक प्राचीन ज्ञात होती है. आगे चलकर इसी परम्परा में रामचरितमानस, रामचंद्रिका, पद्मावत प्रबन्धकाव्य रचे गये. संस्कृत में अवश्य पुराण-काव्यों की सर्वाधिक प्राचीनता का पता लगता है. सम्भव है कि चरित काव्य की धारा के मूल रूपों का विकास पुराणों से हुआ हो. पुराणकाव्यों में अलौकिकता और विस्तार के साथ ही अवान्तर आख्यानों का बाहुल्य प्राप्त होता है. इसके विपरीत चरित काव्यों में लौकिकता, मुख्य कथाप्रेरक घटनायें और वस्तुसंयोजना संक्षिप्त होती है. पुराण काव्यों की भांति इनमें पौराणिक रूढ़ियों और धार्मिक तत्त्वों का उल्लेख भी कम होता है. रोमांटिक चरितकाव्यों में तो यह तत्त्व बहुत ही कम पाया जाता है. किसी-किसी काव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक व्यक्ति से भी सम्बन्ध रखती है. 'जायसी का पद्मावत' इसी प्रकार का काव्य माना जा सकता है.

**पउमचरिउ**—अपभ्रंश के आद्य महाकवि स्वयम्भू का यह प्रसिद्ध काव्य है. जैसा कि नाम से स्पष्ट है यह एक चरित-काव्य है. इसमें पांच काण्ड और ९० संधियां हैं. प्रत्येक संधि में १२ से लेकर १४ तक कडवक हैं. इस रचना का समय आठवीं सदी का मध्य भाग माना जाता है. इसकी भाषा मधुर, प्रवाहपूर्ण और ललित है. भाषा पर कवि का जैसा अधिकार है, अन्यत्र विरल है. इस ग्रंथ में रामायण की कथा वर्णित है. प्राकृत में इनके पूर्व विमलसूरि 'पउमचरिउ' काव्य लिख चुके थे. संस्कृत में जिनसेन आचार्य ने भी 'आदिपुराण' की रचना कुछ समय पूर्व ही की थी. इन्हीं दो

आधार मानकर यह चरितकाव्य रचा गया. इसके वर्णन, संवाद, दौत्यकर्म, प्रेमोद्रेक, युद्धवर्णन, प्रकृति-चित्रण, रस-संयोजना, अलंकार-योजना आदि में उत्कृष्ट काव्य के तत्त्व विद्यमान हैं. चौदहवीं संधि में चित्रित जलक्रीड़ा और वसन्त वर्णन काव्य की अनूठी सम्पत्ति है. संधि के अंत में लिखा भी है—जल-क्रीड़ा में स्वयम्भू को, गोग्रह-कथा में चतुर्मुख को और मत्स्य-वेधन में 'भद्र' को आज भी कवि लोग नहीं पा सकते. महाकवि स्वयम्भू के पुत्र त्रिभुवन का यह कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है. समूचा वर्णन पढ़ कर चित्त खिल जाता है. कहा जाता है कि 'पउमचरिउ' की नव्वे संधियों में से अंतिम आठ त्रिभुवन की रचना की हैं. परन्तु पुलिन्दभट्ट की भांति उनकी रचना से काव्य-ग्रंथ में कोई भेद नहीं लक्षित होता.

रिट्ठणेमिचरिउ—यह भी स्वयम्भू की रचना है. इसमें ११२ संधियाँ है. इस ग्रंथ का प्रमाण १८००० श्लोक कहा जाता है. इसमें बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि या नेमिनाथ का चरित तथा जैन-परम्परानुसार कृष्ण और पाण्डवों की कथा वर्णित है. प्रसिद्ध है कि इस काव्य की निन्यानवे संधि के बाद का अंश स्वयम्भू के पुत्र त्रिभुवन की रचना है. इसी विषय को लेकर गोविन्द, भद्र और चतुर्मुख के अपभ्रंश महाकाव्य प्रणयन का उल्लेख मिलता है. इन सभी रचनाओं का संबंध हरिवंशपुराण से है. जैन शास्त्रों में पद्मपुराण और 'हरिवंशपुराण' अत्यन्त ख्यातवृत्त हैं, जिनमें क्रमशः रामायण और महाभारत की मिलती-जुलती कथा प्राप्त होती है. हरिवंशपुराण का विषय लेकर लिखी जाने वाली रचनाओं में यशःकीर्ति का ३४ संधियों का पौराणिक काव्य पाण्डुपुराण का उल्लेख मिलता है. इसका रचना-काल १५२३ ई० कहा गया है.[1] हरिवंशपुराण के आधार पर रची गई रचनायें अधिक हैं. धवल कवि का 'हरिवंशपुराण' ११२ सन्धियों का काव्य है, जिसका रचना-काल ग्यारहवीं सदी के पूर्व माना जाता है. रइधू (सिंहसेन) का 'णेमिणाह चरिउ' १६ वीं शताब्दी के लगभग की रचना है. इसी प्रकार श्रुतकीर्ति का 'हरिवंश पुराण' १५५१ ई० का कहा गया है. लक्ष्मणदेव का 'णेमिणाह चरिउ' (संवत् १५१० से पूर्व) चार संधियों का है.[2] हरिभद्र के 'णेमिणाह चरिउ' का भी उल्लेख प्राप्त होता है. इसी प्रकार अमरकीर्तिगणि के 'णेमिणाह चरिउ' का पता लगा है. यशःकीर्ति के हरिवंशपुराण का पता लगता है जो १५ वीं सदी की रचना है. इस परंपरा में अभी अन्य रचनाओं का पता लगाना शेष है. क्योंकि भारतीय परम्परा में रामायण और महाभारत की कथायें अत्यन्त लोकप्रिय तथा विविध रूपों में वर्णित हैं.

'पद्मपुराण' को आधार बनाकर लिखी जाने वाली रचनाओं में केवल रइधू के 'पद्मपुराण' का उल्लेख मिलता है.

णायकुमारचरिउ—अपभ्रंश के दूसरे महाकवि पुष्पदन्त हैं. उनका णायकुमारचरिउ एक रोमांटिक कथाकाव्य है. इसमें नागकुमार के जीवनचरित्र का वर्णन है. इसमें वर्णित घटनायें अतिरंजित और प्रेमोद्रेकपूर्ण हैं. कथा का प्रारम्भ स्वाभाविक विधि से हुआ है. भाषा सरल तथा प्रवाहपूर्ण है. पढ़ते ही रस-धारा बहने लगती है. रोमांटिक कथाकाव्य का यह उत्कृष्ट निदर्शन है. इसकी रचना संवत् १०२५ के लगभग कही जाती है.

जसहरचरिउ—यह रचना भी पुष्पदन्त की है. इसे धार्मिक कथाकाव्य कहा जा सकता है. वस्तु-संयोजना में कसावट है. कथानक का विकास नाटकीय ढंग से होता है- समूचा कथानक धार्मिक, दार्शनिक उद्देश्यों से भरपूर है. आध्यात्मिक संकेत मिलने पर भी—रोमांटिक प्रवृत्ति जागरूक है. शैली उत्तम पुरुष में होने के कारण रचना में आत्मीय भाव अधिक है. प्रायः प्रबंधकाव्य की सभी साहित्यिक रूढ़ियाँ इस कथाकाव्य में दृष्टिगोचर होती हैं. कवि ने अपनी रचना को धर्मकथानिबन्ध कहा है. कुल मिलाकर यह कथाकाव्य सुन्दर है.

महापुराण—महाकवि पुष्पदन्त की यह तीसरी तथा सर्वोत्कृष्ट रचना है. इस बृहत्काय ग्रंथ में ६३ महापुरुषों के जीवन-चरित्र का वर्णन है. इसका रचनाकाल सं० १०१६—१०२२ है. इस महापुराण में १०२ सन्धियाँ हैं. इसका प्रमाण

---

१. देखिए—'भारती' पत्रिका अक्टूबर २७, १९५७ में डा० हरिवल्लभ भायाणी का लेख 'स्वयम्भूदेव', पृ० ६२.

२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, अंक ३-४, सं० २००२, डा० हीरालाल जैन का लेख 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य' पृ० ११९.

६३००० श्लोक कहा जाता है. इसकी कुछ सन्धियों में २९ कडवक हैं. जैन शास्त्रों में त्रेसठ शलाकापुरुषों का जीवन-चरित्र लिखने की एक परम्परा ही है. शीलाचार्य का महापुरुषचरित प्राकृत भाषा में निबद्ध है. इस महापुराण का आधार आचार्य जिनसेन (सं० ७८३ के लगभग) कृत आदिपुराण है. इसी परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र विरचित त्रिषष्ठिशलाकापुरुष-चरित्र प्राप्त होता है.

साहित्यिक दृष्टि से महापुराण का अत्यन्त महत्त्व है. इसमें स्थान-स्थान पर कवित्वपूर्ण वर्णन, मधुर संवाद और गीतों की सुकोमल लड़ियां व्याप्त दिखाई देती हैं. महाकवि ने इन गीतों को 'धवलगीत' की संज्ञा दी है. अपभ्रंश साहित्य में इस कोटि का अन्य कोई ग्रंथ नहीं है. भाषा पूर्ण साहित्यिक है. स्वयम्भू की भाषा से पुष्पदन्त की भाषा अधिक परिमार्जित, सुष्ठु और प्रौढ़ है. भाषा-साहित्य की दृष्टि से भी यह अधिक मूल्यवान् है. इसके वर्णन इतने सुन्दर हैं कि पढ़ते ही मुग्ध हो आते हैं. उपमाओं की तो कवि ऐसी झड़ी लगा देता है कि एक से एक अधिक सुन्दर और सटीक प्रतीत होती है, भाषा की स्वाभाविकता और—निसर्गसिद्ध वर्णन अनुपमेय हैं. कहीं-कहीं उच्च कोटि के साहित्यिक गीत भी दृष्टिगत होते हैं. वर्णन अत्यन्त सुन्दर, सजीव और सटीक है.

**भविसयत्तकहा**—प्रसिद्ध कवि धनपाल की यह एक मात्र रचना है. इसका समय दसवीं शताब्दी कहा जाता है. इसके दूसरे नाम भविसयतकहा या सुयपंचमीकहा (श्रुतपंचमीकथा) हैं. इसमें कार्तिक शुक्ला पंचमी (ज्ञानपंचमी) के फल-वर्णन स्वरूप भविष्यदत्त की कथा का वर्णन है.

आधुनिक युग में संस्कृत प्राकृत व्याकरण के अध्ययन, मनन तथा अनुसंधान के समय डा० पिशेल को (१८८६ के लगभग) पता लगा कि अपभ्रंश भाषा का भी कोई व्याकरण है. उन्होंने अपभ्रंश के व्याकरण का अध्ययन कर 'सिद्ध-हेमशब्दानुशासन' का भी सम्पादन किया. परन्तु साहित्य का पता लगाने पर भी जब उन्हें कुछ प्राप्त नहीं हुआ तब अपभ्रंश के सम्बन्ध में उनकी यह मान्यता बन गई कि इस भाषा का सम्बन्ध लोक-जीवन से नहीं रहा, यह रूढ़ साहित्यिक भाषा मात्र थी. परन्तु १९१४ ई० मार्च में जर्मन विद्वान् प्रो० हरमन जेकोबी (Jacobi of Bonn Germany) ने भारत-यात्रा की और भ्रमणकाल में अहमदाबाद में किसी वैश्य के पास उक्त रचना प्राप्त कर हर्ष से पुलकित हो उठे. स्वदेश लौटकर उन्होंने बड़े मनोयोग पूर्वक उसका संपादन किया और अपभ्रंश भाषा की महत्ता प्रदर्शित की. इसका महत्त्व है कि यह अपभ्रंश का प्रथम प्रकाशित बृहत्काय ग्रंथ है. इसमें बाईस सन्धियां हैं. डॉ० जेकोबी ने हरिभद्र के नेमिनाथचरित से भविसयतकहा की भाषा की तुलना की है. धनपाल की भाषा में देशीपन और लचक है. कवि ने इस कथा को 'बिहि खंडहिं बावीसहिं सन्धिहि' (पृ० १४८) कहकर दो भागों में विभक्त कही है. परन्तु डा० हर्मन जेकोबी इसे तीन भागों में मानते हैं, जो उचित ही है.

अपभ्रंश कथा-काव्यों में भविसयत्तकहा का विशिष्ट स्थान है. इसमें वर्णित भविष्यदत्त की कहानी करुण और यथार्थ है. घटनाओं और पात्रों का चित्रण सहृदयता के साथ किया गया है. घटनाओं में कार्य-कारण की संयोजना पूरी तरह से मिलती है. अवान्तर कथा में भी संतुलन है. अवान्तर कथा मुख्यकथा को गतिशील बनाने में सहायक है. इसके साथ ही घटनायें स्वाभाविक और प्रेमानुभूति से अतिरंजित हैं. स्थान-स्थान पर उनका सूक्ष्म विश्लेषण प्राप्त होता है. समूचे रूप में कथा स्वाभाविक और संवेदनीय है. अनुभूतियों की गहनता पूरी रचना में व्याप्त है. वह मार्मिक भी है. इसीलिए रसात्मकता से ओतप्रोत और स्पृहणीय है.

**पउमसिरीचरिउ**:—दिव्यदृष्टि कवि धाहिल की यह चार संधियों की अकेली रचना उपलब्ध है. इस चरितकाव्य का रचनाकाल ११ वीं सदी का मध्यभाग कहा जा सकता है. इसमें पद्मश्री का जीवन-चरित वर्णित है. इसकी कथावस्तु का आधार पारिवारिक घटनाएँ हैं. दो अलौकिक घटनाओं और अवान्तर कथाओं से इसकी वस्तु-योजना बनी है. फिर भी कथावस्तु स्वाभाविक है. इस पर सामाजिक स्थिति की पूरी छाप है. जीवन की व्यावहारिकता मानों इस काव्य में सजीव हो उठी है. रचना का उद्देश्य कथा के माध्यम से धर्म की ओर प्रेरित करना है.

**करकंडुचरिउ**:—मुनि कनकामर की यह प्रसिद्ध रचना है. मुख्य रूप से यह रोमांटिक चरितकाव्य है. इसमें इस

संधियों में राजा करकंडु की कथा है. यह जैन साहित्य की प्रसिद्ध कथा कही जाती है. इसमें धर्म और प्रेम साथ ही दृष्टिगोचर होता है. युद्ध का वर्णन भी है, पर वह नाम मात्र का है. वर्णन की अपेक्षा कथाओं की योजना स्वाभाविक है. इस काव्य में इतिवृत्तात्मकता के साथ संग्रहात्मकता भी है. परन्तु इतिवृत्तात्मकता का निर्वाह पूर्णरूप से नहीं हो पाया. श्रोता-वक्ता शैली को छोड़कर पौराणिक काव्य की शेष रूढियों का पालन हुआ है. आगे चलकर मूलकथा की गति में अवरोध दिखाई देता है. इसके संवाद अवश्य उत्तम हैं. इस पर कुछ नाटकीय प्रभाव भी लक्षित होता है.

**जम्बूस्वामीचरिउ :**—वीर कवि की यह कृति वि० सं० १०७६ की कही जाती है. इस चरितकाव्य में अंतिम केवली जम्बू स्वामी के चरित का वर्णन है. इसका उल्लेख डॉ० हरिवंश कोछड़ ने अपने प्रबन्ध 'अपभ्रंश साहित्य' में किया है. ऐसे अन्य भी अप्रकाशित चरित-काव्य हैं.

**सुदंसणचरिउ:**—यह नयनन्दी कविकृत चरितकाव्य है. इसका रचनाकाल वि० सं० ११०० कहा गया है. इसमें सुदर्शन के चरित के माध्यम से पंचनमस्कार मंत्र का माहात्म्य वर्णित है.

**पासचरिउ :**—यह पद्मकीर्ति की सफल कृति है. इसका उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है. इसमें तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जीवनचरित कहा गया है. काव्यका रचना-काल वि० संवत् ११३४ बताया जाता है. बारहवीं शताब्दी के अनेक चरित-काव्यों का उल्लेख मिलता है. उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—देवसेनगणि का सुलोयणाचरिउ. इसमें भरत चक्रवर्ती के प्रधान सेनापति जयकुमार की धर्मपत्नी का जीवन-चरित वर्णित है. श्रीधर के पासणाहचरिउ, सुकुमाल चरिउ और भविसयतचरिउ का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनमें क्रमशः पार्श्वनाथ चरित, सुकुमाल का पूर्व जन्म और श्रुतपंचमी का माहात्म्य वर्णित है.

तेरहवीं सदी के चरितकाव्यों में सिंह कवि का पज्जुण्णचरिउ है जिसमें प्रद्युम्न का जीवन-चरित चित्रित है. हरिभद्र का सनत्कुमारचरित और रइधू के सुकौशलचरित, मेधेश्वरचरित, श्रीपालचरित, सन्मतिनाथचरित हैं और हरिदेव का मयणपराजयचरिउ चरितकाव्यों में गिने जाते हैं. इस काल में रचित काव्यों की एक लम्बी परंपरा ही दिखाई देती है. आगे चलकर पंद्रहवीं सदी में धनपाल के बाहुबलिचरित और लखनदेव के णेमिणाहचरिउ का उल्लेख मिलता है.

इस प्रकार अपभ्रंश जैन साहित्य में चरितकाव्यों की विशिष्ट परंपरा है. पुराणकाव्यों की संख्या भी कम नहीं है. स्थूल रूप से दोनों में स्वरूप और लक्ष्य की दृष्टि का ही भेद है, मुक्तक काव्य में भी यही बात है. मुक्तक रचनाकारों में जोइन्दु (योगीन्द्र) का स्थान श्रेष्ठ माना जाता है. इसकी चार रचनायें हैं—परमात्मप्रकाश, योगसार, दोहाप्राभृत और श्रावक-धर्म-दोहा. कवि का समय दसवीं शताब्दी माना गया है. इसके अतिरिक्त जिनदत्त सूरि की चर्चरी, कालस्वरूप कुलक, और उपदेशरसायन प्रसिद्ध रचनायें हैं. इनका समय बारहवीं सदी कहा जाता है. शालिभद्रसूरि का 'भारत बाहुबली रास' तेरहवीं सदी के रासक ग्रंथों में सबसे बड़ी रचना कही गई है. इसमें भरत-बाहुबली के युद्ध का विस्तृत वर्णन है. रचना अनेक बंधों में लिखी गई है. परवर्ती रासग्रंथों में इसी तरह के 'समरारास' 'कच्छुलीरास' पेथडरास आदि रचनायें लिखी गई. फागु ग्रंथ भी रचे गये. श्री जिनपद्म सूरिका 'सिरि थूलिभद्द फागु' प्रसिद्ध रचना है. इसके वर्णन अत्यन्त मनोहर हैं. शब्द-विन्यास बहुत ही उत्तम है. दोहों में आचार्य हेमचन्द्र के 'सिद्ध हेमशब्दानुशासन' में शृंगार, वीर, नीति, अन्योक्ति तथा अन्य प्रकीर्णक दोहे भी उपलब्ध होते हैं. छंदों के परिचय के लिए स्वयम्भू का 'स्वयम्भूछंद' प्रसिद्ध रचना है.

संक्षेप में—अपभ्रंश जैन साहित्य विपुल और विशद है. इसमें महाकाव्य, पुराण, चरितकाव्य, कथाकाव्य, गीत, उपदेश, शृंगार सभी कुछ प्राप्त होता है. गद्य अवश्य नहीं के बराबर है. ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय साहित्य और भाषा के मूल्यांकन के लिए यह साहित्य पूरक है. इस साहित्य के बिना समूचा ऐतिहासिक मूल्यांकन अपूर्ण ही रहेगा. इस साहित्य में भारतीय जीवन का पूरा चित्र अपनी स्वाभाविक दशा में प्रतिबिम्बित हुआ है. इसलिए इसका महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है. आशा है कि भविष्य में अन्य शोध-कार्यों से इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त हो सकेगी.

मुनि श्रीकन्हैयालालजी 'कमल' न्यायतीर्थ

# आगम-साहित्य का पर्यालोचन

### आगमसाहित्य का महत्त्व

आगमसाहित्य भारतीय साहित्य का प्राण तो है ही, आध्यात्मिक जीवन की जन्मभूमि एवं आर्य संस्कृति का मूल्यवान् कोश भी है.

विश्व के समस्त पंथ, मत या सम्प्रदायों के अपने-अपने आगम हैं. इनमें जैनागम साहित्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है. जर्मनी के डा० हर्मन जेकोवी, डा० शुब्रिंग' आदि अनेक प्रसिद्ध विदेशी विद्वानों ने जैनागमों का अध्ययन करके विश्व को यह बता दिया कि अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह एवं सर्वधर्मसमन्वय के चिंतन-मनन से परिपूर्ण एवं आध्यात्मिक जीवन से आलोकित आगम यदि विश्व में हैं तो केवल जैनागम हैं.

**आगमशब्द की व्याख्या**—आ-उपसर्ग और गम् धातु से आगम शब्द की रचना हुई है. आ-उपसर्ग का अर्थ 'समन्तात्' अर्थात् पूर्ण है, गम्-धातु का अर्थ गति—प्राप्ति है.

**आगम शब्द की व्युत्पत्ति**—जिससे वस्तुतत्त्व [पदार्थरहस्य] का पूर्ण ज्ञान हो वह आगम है[1] जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो वह आगम है.[2] जिससे पदार्थों का मर्यादित ज्ञान हो वह आगम है.[3] आप्तवचन से उत्पन्न अर्थ [पदार्थ] ज्ञान आगम कहा जाता है. उपचार से आप्त वचन भी आगम माना जाता है.

### अंग आगम वीतरागवाणी है

जैनागमों [अंगों] में वीतराग भगवान् की वाणी है. वीतरागता का अर्थ है रागरहित आत्मदशा. जहां द्वेष वहां राग है जहां राग नहीं वहां द्वेष भी नहीं. क्योंकि राग और द्वेष अविनाभावी हैं. किंतु इनकी व्याप्ति अग्नि और धूम की तरह की व्याप्ति है. अतः जहां राग है वहां द्वेष होता ही है. जहां राग हो वहां द्वेष कभी नहीं भी होता है, इसलिए सर्वत्र 'वीतराग' शब्द का ही प्रयोग हुआ है. वीतद्वेष शब्द का नहीं.

सराग दशा रागद्वेष से युक्त आत्मदशा है, मायापूर्वक मृषा भाषण इस दशा में ही होता है, इसलिए सरागदशा का कथन सर्वथा प्रामाणिक नहीं होता. जैनागमों की प्रामाणिकता का मूलाधार यही है. यद्यपि अंग आगमों का अधिकांश भाग नष्ट हो गया है और जो है उसमें कतिपय अंश पूर्ति रूप हैं, परिवर्धित हैं, फिर भी उसमें वीतरागवाणी सुरक्षित है. जो पूर्ति रूप है, परिवर्धित हैं वह भी वीतराग वाणी से विपरीत नहीं है.

---

१. आ-समन्ताद् गम्यते वस्तुतत्त्वमनेनेत्यागमः.
२. आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्ध्यन्तेऽर्थाः अनेनेत्यागमः.
३. आ-अभिविधिना सकलश्रुतविषयव्याप्तिरूपेण, मर्यादया वा यथावस्थितप्ररूपणारूपया गम्यन्ते—परिच्छिद्यन्ते अर्थाः येन स आगमः
४. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः उपचारादाप्त वचनं च.

## आगमों की भाषा

जैनागमों की भाषा अर्धमागधी के सम्बन्ध में दो विकल्प प्रसिद्ध हैं—

**अर्ध मागध्याः**—अर्थात् जिसका अर्धांश मागधी का हो वह अर्धमागधी कहलाती है, जिस भाषा में आधे शब्द मगध के और आधे शब्द अठारह देशी भाषाओं के मिश्रित हों.

**अर्ध मगधस्य**—अर्थात्—मगध के आधे प्रदेश की भाषा. वर्तमान में उपलब्ध सभी आगमों की भाषा अर्धमागधी है, यह श्रमणपरम्परा की परम्परागत धारणा है, किंतु आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से आगमों की भाषा के सम्बन्ध में अन्वेषण आवश्यक है.

**भाषा की दृष्टि से अन्वेषणीय आगमांशः**—[१] आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध और सभी शेष आगमों की भाषा. [२] प्रश्नव्याकरण और ज्ञाताधर्म कथा. [३] रायपसेणिय का सूर्याभवर्णन. [४] जीवाभिगम का विजयदेववर्णन [५] उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग का पद्यविभाग. [६] आचारांग द्वितीय श्रुतस्कंध और छेदसूत्रों की भाषा.

## आगमों की अर्धमागधी भाषा ही आर्यभाषा है

प्रज्ञापना के अनुसार जो अर्धमागधी भाषा बोलता है वह भाषा-आर्य है अर्थात् केवल भाषा की दृष्टि से आर्य है. म्लेच्छ होते हुए भी जो अर्धमागधी बोलता है वह भाषा-आर्य है. जिस प्रकार एक भारतीय अंग्रेजी खूब अच्छी तरह बोल लेता है वह जन्मजात भारतीय होते हुए भी भाषा—अंग्रेज है. और जो अंग्रेज हिन्दी अच्छी तरह बोल लेता है वह जन्मजात अंग्रेज होते हुये भी भाषा-भारतीय है. प्रज्ञापना के कथन का यह अभिप्राय हो जाता है कि आर्यों की भाषा अर्धमागधी भाषा ही है.

आर्यदेश साढ़े पच्चीस हैं. उनमें आर्य अधिक हैं. वे यदि अर्धमागधीभाषा बोलें अथवा [वर्तमान-अंग्रेजी भाषा की तरह] अर्धदेशों में अर्धमागधी भाषा का सर्वत्र व्यापक प्रचार व प्रसार रहा हो और वही राजभाषा रही हो तो प्रज्ञापना के इस कथन की संगति हो सकती है.

## क्या सभी तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में ही देशना देते थे ?

भगवान् महावीर मगध के जिस प्रदेश में पैदा हुये और बड़े हुये उस प्रदेश की भाषा[1] [अर्धमागधी] में भगवान् ने उपदेश दिया किंतु शेष तीर्थंकर भारत के विभिन्न भागों के थे, वे सब ही अपने प्रान्त की भाषा में उपदेश न करके केवल अर्धमागधी भाषा में ही प्रवचन करते थे; यह मानना कहाँ तक तर्कसंगत है, यह विचारणीय है.

भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर तक [४२ हजार वर्ष कम कोड़ाकोड़ी सागरोपम] की इस लम्बी अवधि में मगधी भाषा में कोई परिवर्तन हुआ या नहीं ? जब कि भगवान् महावीर के निर्वाण के काल के पश्चात् केवल २४०० वर्ष की अवधि में मगध की भाषा में कितना मौलिक परिवर्तन हो गया है ?

## आगमों के प्रति अगाध श्रद्धा

आगमसाहित्य ऐसा साहित्य है जिस पर मानव की अटल एवं अविचल श्रद्धा चिर काल से रही है, और रहेगी. मानव

---

१. सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सइए जोयणणीहारिणा सरेणं, अद्धमागहाए भासाए धम्मं परिकहेइ. तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अगिलाए धम्ममाइक्खइ, साऽवि य णं अद्धमागहा भासा, तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ. —औपपातिक,

सभी भाषाओं में परिणत होने वाली सरस्वती के द्वारा एक योजन तक पहुंचने वाले स्वर से, अर्ध मागधी भाषा में धर्म को पूर्ण रूप से कहा, उन सभी आर्य-अनार्यों को अग्लानि से (तीर्थंकर नामकर्म के उदय से अनायास-विना थकावट के) धर्म कहा. वह अर्धमागधी भाषा भी उन सभी आर्यों-अनार्यों की अपनी अपनी स्वभाषा में परिवर्तित हो जाती थी.

की इस श्रद्धा का केन्द्रबिंदु है आगमों की प्रामाणिकता. अतएव जैन और जैनेतर दार्शनिकों ने आगम को सर्वोपरि प्रमाण माना है.

**विभिन्न परम्पराओं में आगम**—वैदिक परम्परा वेदों को आगम मानती है. वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है, ज्ञान स्वयं प्रकाशमान है, ज्ञान की सत्ता अखण्ड है, अतएव ज्ञान का निर्माण किसी पुरुषविशेष के द्वारा नहीं हो सकता. ईश्वर भी ज्ञान का कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो स्वयं ज्ञानस्वरूप है. अभिप्राय यह है कि ज्ञान साधन है, साध्य नहीं अपितु स्वयं सिद्ध है. इसलिए वेद अपौरुपेय हैं. जैन दार्शनिकों ने वेदों की अपौरुषेयता और नित्यता का निषेध किया है वह उसके शाब्दिक रूप को लेकर ही समझना चाहिए. शब्दरचना कोई अनादि नहीं हो सकती है.

जैन आगमों के समान वेदों के कुछ प्रमुख विषयविभाग हैं, जिन्हें जैन भाषा में अनुयोग-विभाग कहा जा सकता है, यथा—ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड, यजुर्वेद कर्मकाण्ड, सामवेद—उपासनाकाण्ड और अथर्ववेद-विज्ञानकाण्ड है.

'अंगानि चतुरो वेदा' चारों वेद अंग हैं. इनके उपांग शतपथ ब्राह्मण आदि ब्राह्मण ग्रंथ हैं. जैनागमों के समान वैदिक परम्परा में भी अंगोपांग माने गये हैं. भगवती शतक २ उद्देशक १ में स्कंदक परिव्राजक के वर्णन में लिखा है कि 'चउण्हं वेदाणं संगोवंगाणं,' स्कंदक परिव्राजक सांगोपांग चारों वेदों का ज्ञाता था. अंग उपांग में साहित्य को विभाजित करने की पद्धति इतनी पुरानी है कि उसका इतिहास प्रस्तुत नहीं किया जा सकता.

श्रुतपुरुष की तरह वेदपुरुष की कल्पना भी अति प्राचीन है. यथा—

छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुः, निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं च वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्सांगमधीत्यैव, ब्रह्मलोके महीयते। —पाणिनीय शिक्षा

बौद्ध परम्परा त्रिपिटकों को आगम मानती है. पिटक पेटी को कहते हैं. तीन पिटक अर्थात् तीन पेटियां. विनयपिटक [आचारशास्त्र], सुत्तपिटक [बुद्ध के उपदेश] और अभिधम्मपिटक [तत्त्वज्ञान]. पिटक साहित्य विशाल साहित्य है. बिहार राज्य के पालीप्रकाशनमण्डल ने देवनागरी लिपि में तीनों पिटकों का ४० जिल्दों में प्रकाशन किया है.

अंतिम बुद्ध गौतम बुद्ध ने और उनके पूर्ववर्ती अनेक बुद्धों ने जो कहा है उसी का इन पिटकों में संकलन है.

कपिलवस्तु नाम का नगर बुद्ध की जन्मभूमि है. उस युग में वहां की जनभाषा पाली रही होगी. उस भाषा में बुद्ध ने उपदेश दिया और त्रिपिटिकों की रचना भी उसी भाषा में हुई है.

जैनपरम्परा के आगम द्वादशांग गणिपिटक [आचार्य की ज्ञानमंजूषा] हैं. यह गणिपिटक ध्रुव, नित्य एवं शाश्वत है. इसकी नित्यता शब्दों की अपेक्षा से नहीं अपितु अर्थ [भाव] की अपेक्षा से है और वह भी महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से है. जो नित्य होता है वह अपौरुषेय है. शाश्वत सत्य कभी पौरुषेय नहीं होता है. पुनः तीर्थंकर होते हैं और उस तिरोहित तथ्य को व्यक्त करते हैं. यह क्रम अनादि काल से चल रहा है एवं अनन्तकाल तक चलता रहेगा.

## आगमों की अधिकतम संख्या

भगवान् ऋषभदेव के समय में अंगोपांगादि के अतिरिक्त चौरासी हजार प्रकीर्णक थे. भगवान् अजितनाथ से भगवान् पार्श्वनाथ पर्यन्त प्रत्येक तीर्थंकर के समय में संख्येय हजार प्रकीर्णक थे. भगवान् महावीर के समय में १४ हजार प्रकीर्णक थे.

श्री देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के समय में आगमों की अधिकतर संख्या ८४ रह गई थी, वर्तमान में केवल ४५ आगम उपलब्ध हैं, शेष सभी आगम विलुप्त हो गये हैं. नन्दीसूत्र में ८४ आगमों के नाम इस प्रकार है :

**द्वादशांगों के नाम**

१. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. भगवतीसूत्र,[1] ६. ज्ञाताधर्मकथा, ७. उपासकदशा ८. अंतकृत्‌दशा, ९. अणुत्तरोपपातिक दशा, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाक श्रुत, १२. दृष्टिवाद[2] (विलुप्त है).

**द्वादश उपांगों के नाम**

[१] औपपातिक, [२] राजप्रश्नीय, [३] जीवाभिगम, [४] प्रज्ञापना, [५] सूर्य प्रज्ञप्ति, [६] चन्द्र प्रज्ञप्ति, [७] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, [८] (निरयावलिका) कल्पिका, [९] कल्पावतंसिका, [१०] पुष्पिका, [११] पुष्प चूलिका, [१२] वृष्णि दशा.

**पाँच मूल सूत्रों के नाम**

[१] दशवैकालिक, [२] उत्तराध्ययन, [३] नन्दीसूत्र,[3] [४] अनुयोग द्वार सूत्र, [५] आवश्यक सूत्र.

**छह छेद सूत्रों के नाम**

[१] बृहत्कल्प, [२] व्यवहार, [३] दशाश्रुत स्कंध, [४] निशीथ, [५] महानिशीथ,[4] [६] पंचकल्प.

**प्रकीर्णकों के नाम**

[१] चतुःशरण, [२] आतुर प्रत्याख्यान, [३] भक्त परिज्ञा, [४] संस्तारक, [५] तंदुल वैचारिक, [६] चंद्रवैध्यक [७] देवेन्द्रस्तव, [८] गणिविद्या, [९] महा प्रत्याख्यान, [१०] वीरस्तव, [११] अजीवकल्प, [१२] गच्छाचार [१३] मरणसमाधि, [१४] सिद्ध प्राभृत, [१५[ तीर्थोद्‌गार, [१६] आराधनापताका, [१७] द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, [१८] ज्योतिष करंडक, [१९] अंगविद्या, [२०] तिथि प्रकीर्णक, [२१] पिंड निर्युक्ति, [२२] सारावली, [२३] पर्यन्ताराधना, [२४] जीवविभक्ति, [२५] कवच, [२६] योनि प्राभृत, [२७] अंगचूलिका, [२८] वंग चूलिका, [२९[ वृद्धचतुःशरण, [३०] जम्बूपयन्ना.

**निर्युक्तियों के नाम**

१ आवश्यक, २ दशवैकालिक, ३ उत्तराध्ययन, ४ आचारांग, ५ सूत्रकृतांग, ६ बृहत्कल्प, ७ व्यवहार, ८ दशाश्रुतस्कंध, ९ कल्पसूत्र, १० पिण्ड, ११ ओघ १२ संसक्त.[5]

**शेष सूत्रों के नाम**

१ कल्पसूत्र, २ यति-जीत कल्प, ३ श्राद्ध-जीत कल्प' ४ पाक्षिक सूत्र, ५ खामणा सूत्र, ६ वंदित्तु सूत्र, ७ ऋषिभाषित सूत्र.

**वर्गीकरण**—नन्दीसूत्र में ८४ आगमों का वर्गीकरण इस प्रकार है :

कालिक ३७, उत्कालिक २९, अंग १२, दशा ५, आवश्यक १.

वर्तमान में उपलब्ध ४५ आगमों के नाम :

---

१. समवायांग-नन्दी सूत्रमें भगवती सूत्र का 'वियाह' नाम दिया है. वियाह का संस्कृत 'व्याख्या' होता है. अनेक आगमों में 'जहा पएणत्तीए' से भगवती सूत्र का 'पन्नत्ति' यह संक्षिप्त नाम सूचित किया है. भगवती सूत्र का वास्तविक नाम 'वियाहपएणत्ति' है. टीकाकार इसका संस्कृत नाम 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' देते हैं. 'भगवती सूत्र' यह नाम केवल महत्ता (पूज्यता) सूचक है, वास्तविक नहीं; किन्तु जनसाधारण में यही नाम अधिक प्रसिद्ध है.

२. वर्तमान में दृष्टिवाद के विलुप्त होने पर उसके स्थान में विशेषावश्यक भाष्य का नाम मिलाकर ८४ संख्या की पूर्ति कर ली गई है.

३. नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार सूत्र को चूलिका सूत्र भी कहते हैं.

४. छठा छेद सूत्र 'पंचकल्प' इस समय विलुप्त है.

५. सूर्यप्रज्ञप्ति-निर्युक्ति और ऋषिभाषित निर्युक्ति वर्तमान में उपलब्ध नहीं है.

अंग ११, उपांग १२, मूल ४, छेद सूत्र ६, प्रकीर्णक १०, चूलिका सूत्र २.

दिगम्बर परम्परा के आचार्य वर्तमान में उक्त ८४ आगमों को विलुप्त मानते हैं. श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य उपलब्ध ४५ आगमों के अतिरिक्त शेष आगमों को विलुप्त मानते हैं.

स्थानकवासी और तेरहपंथी परम्परा के आचार्य केवल ३२ आगमों को ही प्रामाणिक मानते हैं. इनका माना हुआ क्रम इस प्रकार है :

११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल सूत्र, ४ छेदसूत्र. १ आवश्यक=योग ३२.

## द्वादशांगों के पद

सूत्र के जितने अंश से अर्थ का बोध होता है उतना अंश एक पद होता है.[1] यहां द्वादशांगों के पदों की संख्या समवायांग और नन्दी सूत्र के अनुसार उद्धृत की गई है.

| शास्त्र का नाम | पदपरिमाण |
|---|---|
| १. आचारांग[2] | १८ हजार |
| २. सूत्रकृतांग[3] | ३६ हजार |
| ३. स्थानांग | ७२ हजार |
| ४. समवायांग | १ लाख ४४ हजार |
| ५. भगवतीसूत्र[4] | २ लाख ८८ हजार |
| ६. ज्ञाताधर्मकथा[5] | ५ लाख ७६ हजार |
| ७. उपासकदशा[6] | ११ लाख ५२ हजार |
| ८. अन्तकृद्दशा | २३ लाख ४४ हजार |
| ९. अनुत्तरोपपातिक | ४६ लाख ८ हजार |
| १०. प्रश्नव्याकरण | ९२ लाख १६ हजार |
| ११. विपाकश्रुत[7] | १ करोड़ ८४ लाख ३२ हजार |
| १२. दृष्टिवाद[8] | —— |

१. यत्राऽर्थोपलब्धिस्तत्पदम्—नन्दी० टीका

२. समवायांग और नन्दी सूत्र के अनुसार आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों के १८ हजार पद हैं. किन्तु आचारांग निर्युक्ति में केवल ९ अध्ययनों के ही १८ हजार पद माने हैं. पिंडैषणा, सप्तसप्ततिका भावना एवं निर्युक्ति, इन चार चूलिकाओं के पद मिलाने से पदों की संख्या बहु (अधिक) होती है. और निशीथ चूलिका के पद मिलाने से बहुतर (अत्यधिक) संख्या होती है.

३. पूर्व अंगों से उत्तर उत्तर अंगों में दुगुने पद होते हैं—'पदपरिमाणं च पूर्वस्मात् अंगात् उत्तरस्मिन् उत्तरस्मिन् अंगे द्विगुणमवसेयम्—नन्दी टीका. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति में भी ऐसा ही उल्लेख है.

४. समवायांग के अनुसार भगवती सूत्र के केवल १८ हजार पद ही हैं. भगवती सूत्र में भी इतने ही पद लिखे हैं. यथा—गा० चुलसीय सयसहस्सा, पयाण पवरवरणाणदंसीहिं, भावाभावमणंता पन्नता एत्थमंगंमि. संभव है नंदी सूत्र में विस्तृत वाचना के पदों की संख्या का उल्लेख हुआ होगा.

५. ज्ञाता धर्मकथा के ५ लाख ७६ हजार पद हैं, किन्तु समवायांग और नन्दी सूत्र में संख्येय हजार पदों का ही उल्लेख है.

६. उपासकदशा के पदों का परिमाण देखते हुए ऐसा अनुमान होता है कि इतना बड़ा उपासकदशा सूत्र भ० महावीर के पश्चात् नहीं रहा होगा, क्योंकि नन्दी और समवायांग के अनुसार भ० महावीर के दस प्रमुख श्रावकों का वर्णन तो विद्यमान उपासकदशा में है, फिर कौन से अन्य श्रावकों का वर्णन इसमें था—जिनके वर्णन में इतने पदों का यह विशाल आगम भ० महावीर के काल में था ?

७. विपाकश्रुत के १ करोड़ ८४ लाख ३२ हजार पद हैं किन्तु समवायांग और नन्दी सूत्र में संख्येय लाख पदों का ही उल्लेख है.

८. दृष्टिवाद (१४ पूर्वो) के करोड़ों पद हैं किन्तु समवायांग और नन्दी सूत्र में संख्येय हजार पदों का ही उल्लेख है. यथा—संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं—सम—नन्दी० मूल.

| चौदह पूर्वों के नाम | पदपरिमाण |
|---|---|
| १. उत्पाद पूर्व | १ करोड़ |
| २. अग्रणीय ,, | ९६ लाख |
| ३. वीर्य ,, | ७० लाख |
| ४. अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व | ६० लाख |
| ५. ज्ञानप्रवाद पूर्व | ९९ लाख ९९ हजार ९९९ |
| ६. सत्यप्रवाद " | १ करोड़ ६ |
| ७. आत्मप्रवाद " | २६ करोड़ |
| ८. कर्मप्रवाद " | १ करोड़ ८० हजार |
| ९. प्रत्याख्यानप्रवाद पूर्व | ८४ लाख |
| १०. विद्यानुप्रवाद " | १ करोड़ १० लाख |
| ११. अवंध्य " | २६ करोड़ |
| १२. प्राणायु " | १ करोड़ ५६ लाख |
| १३. क्रियाविशाल " | ९ करोड़ |
| १४. लोकबिन्दुसार " | १२½ करोड़ |

शेप आगमों (उपांग, छेद, मूल, और प्रकीर्णकों) के पदों की संख्या का उल्लेख किसी आगम में नहीं मिलता.

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के पद[1] ३०५००० थे. चन्द्रप्रज्ञप्ति के पद ५५०००० थे. सूर्यप्रज्ञप्ति के पद ३५०००० थे.

नंदीसूत्र की चूर्णि में द्वादशांग श्रुत को पुरुष रूप में चित्रित किया है. जिस प्रकार पुरुष के हाथ पैर आदि प्रमुख अंग होते हैं, उसी प्रकार पुरुष के रूप में श्रुत के अंगों की कल्पना पूर्वाचार्यों ने प्रस्तुत की है—

आचारांग और सूत्रकृतांग श्रुत-पुरुष के दो पैर<br>
स्थानांग और समवायांग पिंडलियाँ<br>
भगवती सूत्र और ज्ञाताधर्मकथा दो जँघायें हैं<br>
उपासकदशा पृष्ठ भाग<br>
अंतकृद्दशा दशा अग्रभाग (उदर आदि)<br>
अनुत्तरोपपातिक और प्रश्नव्याकरण दो हाथ<br>
विपाकश्रुत ग्रीवा और<br>
दृष्टिवाद मस्तक है (देखिए चित्र)

द्वादश उपांगों की रचना के पश्चात् श्रुत-पुरुष के प्रत्येक अंग के साथ एक-एक उपांगकी कल्पना भी प्रचलित
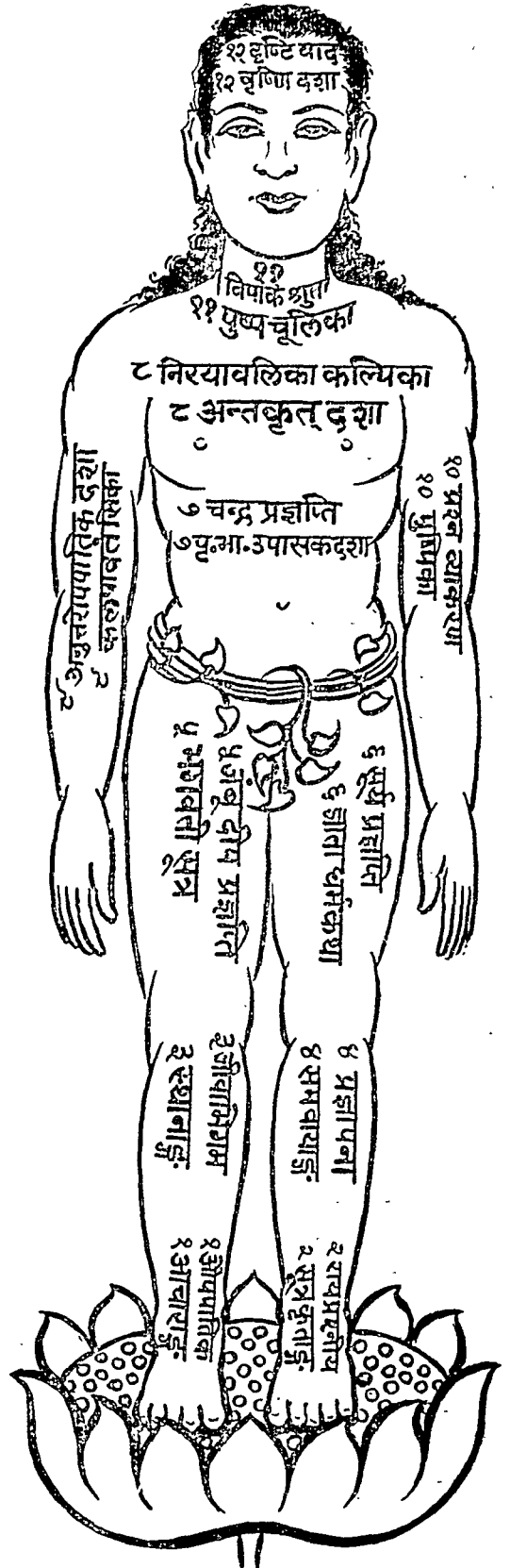
1. केवल इन तीन उपाङ्गों के पदों का उल्लेख स्व० आचार्य श्रीअमोलक ऋषिजी महाराज ने जैन तत्त्व प्रकाश (संस्करण ८वें में) में किया है किन्तु चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति के पदों में इतना अन्तर क्यों है ?

होगई. यहाँ पहले अंग का और उसके सामने उसके उपांग का उल्लेख किया जाता है—

| अंग | उपांग |
| --- | --- |
| १ आचारांग | औपपातिक सूत्र |
| २ सूत्रकृतांग | राजप्रश्नीय |
| ३ स्थानांग | जीवाभिगम |
| ४ समवयांग | प्रज्ञापना |
| ५ भगवती सूत्र | जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति |
| ६ ज्ञाताधर्मकथा | सूर्यप्रज्ञप्ति |
| ७ उपासकदशा | चन्द्र प्रज्ञति |
| ८ अंतकृद्दशा | निरयावलिका कल्पिका |
| ९ अनुत्तरोपपातिकदशा | कल्पावतंसिका |
| १० प्रश्न व्याकरण | पुष्पिका |
| ११ विपाकश्रुत | पुष्पचूलिका |
| १२ दृष्टिवाद | वृष्णिदशा |

श्रुत-पुरुष की कल्पना एक अति सुन्दर कल्पना है. प्राचीन भण्डारों में श्रुतपुरुष के हस्तलिखित कल्पनाचित्र अनेक उपलब्ध होते हैं. मानव-शरीर के अंग-उपांगों की संख्या के सम्बन्ध में आचार्यों के अनेक मत हैं, किन्तु यहाँ श्रुतपुरुष के बारह अंग और बारह उपांग ही माने गये हैं :

स्थानांग और समवायांग आगम पुरुष की दो जांघें (पिण्डलियां) हैं. जीवाभिगम और प्रज्ञापना ये दोनों इनके उपांग हैं. किन्तु जाँघों के उपांग पुरुष की आकृति में कौन से हैं ? इसी प्रकार उरू, उदर, पृष्ठ और ग्रीवा के उपांग कौन से हैं ? क्योंकि शरीर-शास्त्र में पैरों की अंगुलियाँ पैरों के उपांग हैं. इसी प्रकार हाथों के उपांग हाथों की अंगुलियाँ, मस्तक के उपांग आँख, कान, नाक, और मुंह हैं. यदि इनके अतिरिक्त और भी उपांग होते हैं तो उनका निर्देश करके आगम पुरुष के उपांगों के साथ तुलना की जानी चाहिए.

अंगों में कहे हुए अर्थों का स्पष्ट बोध कराने वाले उपांग सूत्र[२] हैं. प्राचीन आचार्यों के इस मन्तव्य से कतिपय अंगों के उपांगों की संगति किस प्रकार हो सकती है ? यथा—ज्ञाताधर्मकथा का उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति और उपासकदशा का उपांग चन्द्रप्रज्ञप्ति माना गया है. इनमें क्या संगति है ?

"निरयावलियाओ" का शब्दार्थ है—नरकगामी जीवों की आवली अर्थात्—श्रेणी. इस अर्थ के अनुसार एक "कप्पिया" नामक उपांग है. निरयावलियाओ में मानना उचित है. श्रेणिक राजा के काल सुकाल आदि दश राजकुमारों का वर्णन इस उपांग में है. ये दश राजकुमार युद्ध में मरकर नरक में गये थे.

कप्पिया नाम की अर्थसंगति इस इकार है—

कल्प अर्थात् आचार-सावद्याचार और निरवद्याचार, ये आचार के प्रमुख दो भेद हैं, इस उपांग में सावद्याचार के फल का कथन है इसलिए कप्पिया नाम सार्थक है. किन्तु इस प्रकार की गई अर्थसंगति को आधुनिक विद्वान् केवल कष्ट-कल्पना ही मानते हैं. वे कहते हैं-कल्प-अर्थात् देव विमान और कल्पों में उत्पन्न होने वालों का वर्णन जिसमें है वह उपांग कल्पिका है. सम्भव है वह उपांग विलुप्त हो गया है.

---

१. भगवती सूत्र का उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति और ज्ञाताधर्मकथा का उपांग जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति है. —[illegible]

२. "अंगार्थस्पष्टबोधविधायकानि उपांगानि" औप० टीका.

## एकादशाङ्गों का उद्देशन काल[1]

| क्रमांक | अंगसूत्रों के नाम | उद्देशन काल | क्रमांक | अंगसूत्रों के नाम | उद्देशन काल |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | आचारांग | ८५ " | ७ | उपासक दशा | १० " |
| २ | सूत्रकृताङ्ग | ३३ " | ८ | अन्तकृद्दशा | १० " |
| ३ | स्थानांग | २१ " | ९ | अनुत्तरोपपातिकदशा | १० " |
| ४ | समवायांग[2] | १ " | १० | प्रश्नव्याकरण[5] | ४५ " |
| ५ | भगवती[3] | ६५ " | ११ | विपाकश्रुत | २० " |
| ६ | ज्ञाताधर्मकथा[4] | २९ " | | | ३२९ दिन. |

उपांग, छेदसूत्र, मूलसूत्र आदि आगमों के उद्देशनकालों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है अत: इसका अध्ययन वाचनाचार्य के समीप न करके स्वत: करें तो कोई हानि नहीं है, ऐसी मान्यता परम्परा से प्रचलित है.

### बहुश्रुत होने के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम

कितने वर्ष के दीक्षापर्याय वाला श्रमण किस आगम के अध्ययन का अधिकारी होता है, इसकी एक नियत मर्यादा बतलाई गई है. वह इस प्रकार है—

तीन वर्ष के दीक्षापर्याय वाला आचार प्रकल्प (निशीथ सूत्र) के अध्ययन का अधिकारी माना गया है. इसी प्रकार चार वर्ष के दीक्षापर्याय वाला सूत्रकृतांग के, पाँच वर्ष वाला दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प एवं व्यवहार के, आठ वर्ष वाला स्थानांग और समवायांग के, दस वर्ष वाला भगवती के, ग्यारह वर्षवाला, क्षुल्लिकाविमान आदि पांच आगमों के, बारहवाला अरुणोपपात आदि पांच आगमों के, तेरह वर्ष वाला उत्थान श्रुतादि चार आगमों के, चौदहवर्ष वाला आशिविषभावना के, पन्द्रह वर्षवाला दृष्टिविषभावना, सोलह वर्ष वाला चारणभावना, सत्तरह वर्ष वाला महास्वप्न भावना के, अठारह वर्ष वाला तेजोनिसर्ग के, उन्नीस वर्ष वाला दृष्टिवाद के और बीस वर्ष के दीक्षापर्याय वाला सभी आगमों के अध्ययन के योग्य होता है.[6]

—व्यवहार, उद्देश्यक १०

### उपाध्याय और आचार्य पद की योग्यता प्राप्त करने के लिए आगमों का निर्धारित पाठ्यक्रम

तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण यदि पवित्र आचरण वाला, शुद्ध संयमी, अनुशासन में कुशल, क्षमावान, बहुश्रुत

---

१. समवायांग और नंदीसूत्र के अनुसार यहाँ ग्यारह अंगों के उद्देशन काल लिखे हैं. समवायांग में ज्ञाताधर्मकथा के उद्देशन काल २९ लिखे हैं और नंदीसूत्र में १९ उद्देशन काल हैं.

२. समवायांग का एक उद्देशन काल ही क्यों है, यह विचारणीय है. उपासकदशा आदि कई आगम समवायांग की अपेक्षा लघुकाय हैं किन्तु उनके उद्देशन काल १० से कम नहीं.

३. समवयांग और नन्दीसूत्र में भगवती सूत्र के उद्देशनकाल नहीं लिखे—किन्तु भगवतीसूत्र की प्रशस्ति में उद्देशनकालों की एक सूची है उसके अनुसार उद्देशनकाल लिखे हैं.

४. प्रारम्भ के ६ अंगों के अन्त में उद्देशनकालों का उल्लेख नहीं है और अंतिम ५ अंगों के अन्त में उद्देशनकालों का उल्लेख है.

५. प्रश्नव्याकरण के ४५ उद्देशनकाल समवयांग और नंदीसूत्र में लिखे गये हैं. किन्तु यह विलुप्त हो गया है. वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरण के अंत में १० उद्देशन काल लिखे हैं.

६. बीस वर्ष के इस लम्बे पाठ्यक्रम में आचारांग ज्ञाताधर्मकथा उपासकदशा अंतकृद्दशा अनुत्तरोपपातिकदशा प्रश्नव्याकरण विपाकश्रुत तथा सर्व उपांग एवं मूलसूत्रों के अध्ययन का उल्लेख नहीं है, किन्तु आचारांग निर्युक्ति गाथा १० में नवदीक्षित के लिए सर्वप्रथम आचारांग के अध्ययन करने का उल्लेख है तथा दशवैकालिक उत्तराध्ययन नंदि आदि आगमों का अध्ययन भी नवदीक्षितों को कराने की परिपाटी अद्यावधि प्रचलित है. इन विभिन्न मान्यताओं का मूल क्या है ? यह अन्वेषणीय है.

हो और कम से कम आचार प्रकल्प (निशीथ) का मर्मज्ञ हो तो वह उपाध्याय पद के योग्य होता है.[1]

पांच वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण यदि उक्त आध्यात्मिक योग्यता वाला हो और कम से कम दशाश्रुतस्कन्ध, वृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र का ज्ञाता हो तो वह आचार्य और उपाध्याय पद के योग्य होता है.

आठ वर्ष के दीक्षा पर्यायवाला श्रमण यदि उक्त आध्यात्मिक योग्यता वाला हो और कम से कम[2] स्थानांग समवायांग का ज्ञाता हो तो वह आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक स्थविर गणि और गणावच्छेदक पद के योग्य होता है.

### निर्धारित पाठ्यक्रम का अध्ययन करने योग्य[3] वय

सामान्यतया जिस श्रमण-श्रमणी के बगल में बाल पैदा होने लगते हैं, वह (श्रमण, श्रमणी) आगमों के अध्ययन योग्य वय वाला माना गया है.

### अनुयोगों के अनुसार आगमों का वर्गीकरण

अनुयोगों के अनुसार आगमों का चार विभागों में विभाजन किया गया है. यथा—१. चरणकरणानुयोग, २. धर्मकथानुयोग ३. द्रव्यानुयोग, एवं ४. गणितानुयोग. यह विभाजन इस प्रकार है—

**चरणकरणानुयोग**—दशवैकालिक, वृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, आवश्यक, प्रश्नव्याकरण, चउसरणपयन्ना, आतुर-प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान भक्तपरिज्ञा, संस्तारक, गच्छाचार, मरणसमाधि, चन्द्रावेध्यक, पर्यताराधना, पिंड विशोधि.

**धर्मकथानुयोग**—ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, विपाकश्रुत, निरयावलिका [कप्पिया] कप्पवडंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिका, वह्निदशा, ऋषिभाषित, जम्बूस्वामी अध्ययन, सारावली.

**द्रव्यानुयोग**—प्रज्ञापना, नंदीसूत्र.

**गणितानुयोग**—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, गणिविद्या, योनि प्राभृत, तिथि प्रकीर्णक.[4]

**आगम के दो भेद**—मूलत: आगमों के दो विभाग हैं : १. अंग प्रविष्ट[5] और २. अंगवाह्य.[6] जिन आगमों में गणधरों ने तीर्थंकर भगवान् के उपदेश को ग्रथित किया है, उन आगमों को अंगप्रविष्ट कहते हैं. आचारांग आदि बारह अंग अंगप्रविष्ट हैं. द्वादशांगी के अतिरिक्त आगम अंग वाह्य हैं.

**अङ्गबाह्य के दो भेद**—आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त. आवश्यक के ६ भेद हैं—१. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वंदना, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग, ६. प्रत्याख्यान.

---

१. कोई भी श्रमण उक्त आध्यात्मिक योग्यता के विना चाहे वह कितने ही आगमों का ज्ञाता हो—उपाध्याय आदि पदों का अधिकारी नहीं हो सकता—व्यव० उद्दे० ३.

२. उक्त योग्यता से अल्प योग्यता वाला उपाध्याय आचार्य आदि पदों के अयोग्य होता है.

३. उक्त योग्य वय वाले पात्र को निर्धारित पाठ्यक्रम का अध्ययन न कराना भी एक प्रकार का अपराध है. निशी० उद्दे० १९.

४. शेष सभी आगमों में अनुयोगों का मिश्रण है किसी में दो किसी में तीन और किसी में चारों अनुयोगों का मिश्रण है.

५. अंग प्रविष्ट—नंदीसूत्र 'अंग प्रविष्ट' आगमों की सूची है. उसमें बारह अंगों के नाम हैं किन्तु 'प्रविष्ट' शब्द कुछ विशिष्ट अर्थ रखता है. कुछ विद्वानों का यह अभिमत है कि स्थानांग में जिस प्रश्नव्याकरण का उल्लेख है वह विलुप्त हो गया है और उसके स्थान पर वर्तमान प्रश्न व्याकरण जो है वह अंग प्रविष्ट है. इसी प्रकार विपाक, अन्तकृद्दशा, आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध और समवायांग का १०० वें समवाय के पीछे का भाग अंग प्रविष्ट है.

६. उपांग, मूल और सूत्रों के सम्बन्ध में प्रायः ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि—अमुक पूर्व में से अमुक आचार्य ने इस आगम को उद्धृत किया है. चौदह पूर्व दृष्टिवाद के विभाग हैं और दृष्टिवाद बारहवां अंग है किन्तु दृष्टिवाद में से उद्धृत आगमों को अंग प्रविष्ट न मानकर अंग वाह्य मानना विचारणीय अवश्य है.

आवश्यक व्यतिरिक्त के २ भेद हैं—कालिक[1] और उत्कालिक. इनकी सूची इस प्रकार है—

**उत्कालिक सूत्र**—१ दशवैकालिक, २ कल्पिकाकल्पिक, ३. चुल्ल (लघु) ३ कल्पसूत्र, ४ महाकल्प सूत्र, ५ औपपातिक, ६ राजप्रश्नीय, ७ जीवाभिगम, ८ प्रज्ञापना, ९ महाप्रज्ञापना, १० प्रमादाप्रमादम्, ११ नंदीसूत्र, १२ अनुयोगद्वार, १३ देवेन्द्रस्तव, १४ तंदुल वैचारिक, १५ चन्द्रावेध्यक, १६ सूर्य प्रज्ञप्ति,[2] १७ पौरुषी मंडल, १८ मंडल प्रवेश, १९ विद्याचरणविनिश्चय, २० गणिविद्या, २१ ध्यानविभक्ति, २२ मरणविभक्ति, २३ आत्मविशोधि, २४ वीतराग श्रुत २५ संलेखना श्रुत, २६ विहारकल्प, २७ चरणविधि, २८ आतुरप्रत्याख्यान, २९ महाप्रत्याख्यान, इत्यादि.

**कालिक सूत्र**—१ उत्तराध्ययन,[3] २ दशा [दशाश्रुतस्कन्ध], ३ कल्प [बृहत् कल्प], ४ व्यवहार, ५ निशीथ, ६ महानिशीथ, ७ ऋषिभाषित, ८ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ९ द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, १० चन्द्र प्रज्ञप्ति, ११ क्षुद्रिकाविमान प्रविभक्ति, १२ महल्लिका प्रविभक्ति, १३ अंग चूलिका, १४ वर्ग चूलिका, १५ विवाह चूलिका, १६ अरुणोपपात, १७ वरुणोपपात, १८ गरुड़ोपपात, १९ धरणोपपात, २० वैश्रमणोपपात २१ वैलंधरोपपात, २२ देवेन्द्रोपपात, २३ उत्थानश्रुत, २४ समुत्थानश्रुत, २५ नागपरिज्ञावर्णिका, २६ निरयावलिका, २७ कल्पिका, २८ कल्पावतंसिका, २९ पुष्पिका, ३० पुष्प-चूलिका, ३१ वृष्णिदशा, ३२ आशिविष भावना, ३३ दृष्टिविष भावना, ३४ स्वप्न भावना, ३५ महास्वप्न भावना, ३६ तेजोग्नि निसर्ग.

**आगम के दो भेद**—लौकिक और लोकोत्तर

अनुयोगद्वार में केवल आचारांगादि द्वादशांगों को ही लोकोत्तर आगम माना है. इसी प्रकार लोकोत्तर श्रुत भी आचा-रांग आदि द्वादशांग ही माने गये हैं.

**आगम के दो भेद**—गमिक और अगमिक, गमिक[4]—दृष्टिवाद, अगमिक[5]—कालिकसूत्र

**आगम के तीन भेद**—(१) सूत्रागम (२) अर्थागम (३) तदुभयागम.

सूत्रागम—मूलरूप आगम को सूत्रागम कहते हैं.

अर्थागम—सूत्र-शास्त्र के अर्थरूप आगम को अर्थागम कहते हैं.

तदुभयागम—सूत्र और अर्थ दोनों रूप आगम को तदुभयागम कहते हैं. —अनुयोगद्वारसूत्र १४३

**आगम के और तीन भेद हैं**—(१) आत्मागम (२) अनन्तरागम (३) परम्परागम.

आत्मागम—गुरु के उपदेश विना स्वयमेव आगमज्ञान होना आत्मागम है. जैसे—तीर्थंकरों के लिए अर्थागम आत्मागम रूप है और गणधरों के लिए सूत्रागम आत्मागमरूप है.

---

१. (क) कालिक और उत्कालिक वर्गीकरण का रहस्य क्या है, यह अब तक दृष्टि पथ में नहीं आया.
(ख) यहां उत्कालिक सूत्र २९ के नाम लिखे हैं किन्तु अन्त में 'इत्यादि' का कथन होने से अन्य नाम का होना भी सम्भव है.
(ग) कालिक सूत्रों के अन्त में 'इत्यादि' का उल्लेख नहीं है अतः अन्य सूत्रों का परिगणन करना उचित नहीं माना जा सकता है.

२. सूर्य प्रज्ञप्ति को उत्कालिक और चन्द्र प्रज्ञप्ति को कालिक मानने का क्या कारण है जबकि दोनों उपांग हैं और दोनों के मूल पाठों में पूर्ण साम्य है ?

३. उत्तराध्ययन यदि भ० महावीर की अन्तिम अपुट्ठ वागरणा है तो उसे अंगबाह्य कैसे कहा जा सकता है, यह विचारणीय है. क्योंकि सर्वज्ञ कथित और गणधरग्रथित आगम अंगप्रविष्ट माना जाता है.

४. नंदीसूत्र में निर्दिष्ट इस वर्गीकरण से एक आशंका पैदा होती है—कि उत्कालिक सूत्र गमिक हैं या अगमिक ? क्योंकि केवल कालिक सूत्र अगमिक हैं. नंदी सूत्र में कालिक और उत्कालिक ये दो भेद केवल अंग बाह्य सूत्रों के हैं—अतः अंगप्रविष्ट अर्थात्—ग्यारह अंग कालिक हैं या उत्कालिक, यह ज्ञात नहीं होता. ग्यारह अंग गमिक हैं या अगमिक ? यह भी निर्णय नहीं होता. परम्परा से ग्यारह अंगों को अगमिक और कालिक मानते हैं किन्तु इसके लिए आगम प्रमाण का अन्वेषण आवश्यक है.

५. अनुयोगद्वार में कालिक श्रुत को और दृष्टिवाद को भिन्न-भिन्न कहा है अतः दृष्टिवाद कालिक है या उत्कालिक ? यह भी विचारणीय है, क्योंकि नंदी सूत्र में कालिक एवं उत्कालिक की सूची में द्वादशांगों का निर्देश नहीं है.

## आगमों का वर्गीकरण

आगम
अंगप्रविष्ट
१ आचार
२ सूत्रकृत
३ स्थान
४ समवाय
५ भगवती
६ ज्ञातृधर्म-कथा
७ उपासकदशा
८ अन्तकृद् दशा
९ अनुत्तरोपपातिक दशा
१० प्रश्नव्याकरण
११ विपाक
१२ दृष्टिवाद
अनंगप्रविष्ट
आवश्यक
१ सामायिक
२ चतुर्विंशतिस्तव
३ वन्दना
४ प्रतिक्रमण
५ कायोत्सर्ग
६ प्रत्याख्यान
आवश्यकअतिरिक्त
कालिक
१ उत्तराध्ययन
२ दशाश्रुतस्कन्ध
३ कल्प
४ व्यवहार
५ निशीथ
६ महानिशीथ
७ ऋषिभासित
८ जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति
९ दीपसागर प्रज्ञप्ति
१० चन्द्र प्रज्ञप्ति
११ क्षुल्लिकाविमान-प्रविभक्ति
१२ महल्लिकाविमान-प्रविभक्ति
१३ अंग चूलिका
१४ वग्ग चूलिका
१५ विवाह चूलिका
१६ अरुणोपपात
१७ गरुलोपपात
१८ धरणोववात
१९ वेसमणोपपात
२० वैलंधरोपपात
२१ देविन्द्रोपपात
२२ उत्थान श्रुत
२३ समुत्थान श्रुत
२४ नागपरियापनिका
२५ कल्पिका
२६ कल्पावतंसिका
२७ पुष्पिका
२८ पुप्प चूलिका
२९ वृष्णिदशा
३० आशीविषभावना
३१ दृष्टिविष भावना
३२ चारण भावना
३३ महास्वप्न भावना
३४ तेजोऽग्निनिसर्ग
उत्कालिक
१ दशवैकालिक
२ कल्पिकाकल्पिक
३ चुल्ल कल्पश्रुत
४ महाकल्पश्रुत
५ औपपातिक
६ राजप्रश्नीय
७ जीवाभिगम
८ प्रज्ञापना
९ महाप्रज्ञापना
१० प्रमादाप्रमाद
११ नन्दी
१२ अनुयोगद्वार
१३ देवेन्द्रस्तव
१४ तंदुलवैचारिक
१५ चन्द्रावेध्यक
१६ सूर्यप्रज्ञप्ति
१७ पौरुषीमंडल
१८ प्रवेशमंडल
१९ विद्याचरणविनिश्चय
२० गणिविद्या
२१ ध्यानविभक्ति
२२ मरणविभक्ति
२३ आत्मविशोधि
२४ वीतरागश्रुत
२५ संलेखनाश्रुत
२६ विहारकल्प
२७ चरणविधि
२८ आतुरप्रत्याख्यान
२९ महाप्रत्याख्यान

अनन्तरागम—सर्वज्ञ से प्राप्त होने वाला आगमज्ञान अनन्तरागम है. गणधरों के लिए अर्थागम अनन्तरागम रूप है. तथा जम्बूस्वामी आदि गणधरों के शिष्यों के लिए सूत्रागम अनन्तरागम रूप है.

परम्परागम—साक्षात् सर्वज्ञ से प्राप्त न होकर जो आगमज्ञान उनके शिष्य प्रशिष्यादि की परम्परा से आता है वह परम्परागम है. जैसे जम्बूस्वामी आदि गणधर-शिष्यों के लिए अर्थागम परम्परागम रूप है. तथा इनके पश्चात् के सभी के लिए सूत्र एवं अर्थ दोनों प्रकार के आगम परम्परागम हैं. —अनुयोगद्वार प्रमाणाधिकारसूत्र १४४

**सामायिक आदि ग्यारह अंग :**

अंग और उपांगसूत्रों के अनेक कथानकों में "सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ" ऐसा पाठ मिलता है किन्तु ग्यारह अंगों में प्रथम अंग का नाम आचारांग है और उक्त पाठ में ग्यारह अंगों में आदि अंग का नाम (प्रथम अंग) सामायिक अंग है ऐसा प्रतीत होता है.

आचारांगनिर्युक्ति में आचाराङ्ग के अनेक नाम लिखे हैं. उनमें "सामायिक" नाम नहीं है. यदि अन्यत्र कहीं "सामायिक" नाम आचाराङ्ग का उपलब्ध हो तो यह पाठ संगत हो सकता है.

यदि उक्तपाठ में "सामायिक" आवश्यक के प्रथम अध्ययन का नाम अभीष्ट है तो यह एक विचारणीय प्रश्न बन जाता है क्योंकि आवश्यक (आगम) अंगबाह्य है—और सामायिक आवश्यक का प्रथम अध्ययन ग्यारह अंगों में का आदि अंग कैसे माना जा सकता है.

कल्प विधान के अनुसार भ० महावीर के शासन में श्रमणों के लिए "आवश्यक" अनिवार्य मान लिया गया था. फलस्वरूप आवश्यक कण्ठस्थ हुए विना उपस्थापना नहीं हो सकती है ऐसा नियम बन गया था. इसलिए सर्वप्रथम सामायिक आदि आवश्यकों का अध्ययन ग्यारह अङ्गों के अध्ययन से पहले करने का विधान बना था. सम्भव है उक्त पाठ के सम्बन्ध में यही मान्यता रही हो. ऐसी स्थिति में "सामाइयमाइयाइं एक्कारसअंगाइं अहिज्जइ" का यही अर्थ समझना चाहिए कि कोई साधक सामायिक अर्थात् आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययन से प्रारम्भ करके ग्यारह अङ्गों का अध्ययन करता है.

भ० नेमिनाथ के अनुयायी मुनि "थावच्चापुत्र" के वर्णन में तथा अन्य कतिपय वर्णनों में भी ऐसा ही पाठ देखा जाता है, ऐसी स्थिति में उक्त सम्भावना कहाँ तक उचित है ? आगमविशारदों के सामने यह प्रश्न अन्वेषणीय है.

## आगमों की पांच वाचनाएँ

**प्रथमा वाचना :**—आचार्य भद्रबाहु की अध्यक्षता में पाटलीपुत्र में हुई, इस समय समस्त श्रमणों ने मिलकर एकादश अङ्गों को व्यवस्थित किया. दृष्टिवाद इस समय विलुप्त हो चुका था.

**द्वितीया वाचना :**—आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में हुई. एकत्रित श्रमणों की स्मृति में जितना श्रुत साहित्य था वह व्यवस्थित किया गया.

**तृतीया वाचना :**—आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में वलभी में हुई. एकत्रित श्रमणों ने आगमों के मूलपाठों के साथ-साथ आगमों के व्याख्यासाहित्य की संकलना भी की. श्री कल्याणविजयजी महाराज का यह मत है, किन्तु कुछ विद्वानों का यह मत है कि आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में "आगम" वाचना तो हुई किन्तु किस जगह हुई ? इसलिये कोई ठोस प्रमाण अब तक नहीं मिला. फिर भी आगमों की टीका में यत्र-तत्र 'नागार्जुनीयास्त्वेवं पठन्ति" ऐसा उल्लेख मिलता है अतः आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में वाचना अवश्य हुई" यह निश्चित है.

**चतुर्थी वाचना :**—देवर्धि गणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में वलभी में हुई. सम्मिलित श्रमणों की स्मृति में जितना श्रुत-साहित्य था सारा लिपिबद्ध किया गया.

**पञ्चमी वाचना :**—आगमों को लिपिबद्ध करने में सबसे बड़ी कठिनाई आगमों के गमिक (समान) पाठों की थी

इसलिये समस्त आगमों की संक्षिप्त वाचना का एक संस्करण तय्यार किया गया. इस वाचना में—यत्र तत्र "जहा उववाइए" "जहा पन्नत्तीए" "जहा पन्नवणाए"—आदि लगा कर अनेक गमिक पाठ संक्षिप्त किये गये हैं. अतः इस वाचना को संक्षिप्त वाचना माना जाता है, कई विद्वानों की मान्यता है कि देवर्धि गणि क्षमाश्रमण ही इस वाचना के आयोजक थे.

उस समय प्रत्येक श्रमण को यह लगन लगी थी कि आगमों की प्रतियाँ अल्प भार वाली बनें जिससे विहार में हर एक श्रमण आगमों की कुछ प्रतियाँ साथ में रख सकें. इसलिये वे समान पाठों को बिन्दियां लगा कर लिखते थे. यह भी एक संक्षिप्त वाचना के लिये उपक्रम था, किन्तु इसका परिणाम श्रमणों के लिये अच्छा नहीं हुआ. नवदीक्षित श्रमण बिन्दी वाले पाठों की प्रतियों पर स्वाध्याय नहीं कर सके क्योंकि किस अक्षर से कितना पाठ बोलना यह अभ्यास के विना असंभव था.

यदि आगमों के आधुनिक विद्वान् विस्तृत और संक्षिप्त वाचनाओं के संस्करण तय्यार करें तो यह बहुत बड़ी श्रुत-सेवा होगी.

उपलब्ध आगमों में संक्षिप्त और विस्तृत वाचना के पाठ सम्मिलित हैं अतः एक भी आगम ऐसा नहीं है जिसे विस्तृत या संक्षिप्त वाचना का स्वतंत्र आगम कहा जा सके.

### अब एक और वाचना की आवश्यकता है

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् ९८० वर्षों में ३-४ वाचनायें हुई किन्तु देवर्धि क्षमाश्रमण के पश्चात् इन १५०० वर्षों में संघ की ओर से सम्मिलित वाचना एक भी नहीं हुई. इस लम्बी अवधि में जैनसंघ—श्वेताम्बर, दिगम्बर, यतिवर्ग, लोंकागच्छ, स्थानकवासी, तेरापंथी आदि अनेक भागों में विभक्त हो गया.

दश वर्ष पश्चात् भ० महावीर को निर्वाण हुये २५०० वर्ष पूरे हो जायंगे अर्थात् सार्ध द्विसहस्राब्दी की स्मृति में श्वेताम्बर जैनों की समस्त शाखा-प्रशाखाओं की ओर से एक सम्मिलित आगमवाचना अवश्य होनी चाहिए और इसके लिये अभी से संयुक्त प्रयत्न होना चाहिए.

### आगमों के विलुप्त होने का इतिहास

| | |
|---|---|
| वीर निर्वाण संवत् | १७० में अन्तिम चार पूर्वों का विच्छेद हुआ. |
| ,, | १००० में पूर्व ज्ञान का सर्वथा विच्छेद हुआ. |
| ,, | १२५० में भगवती सूत्र का ह्रास हुआ. |
| ,, | १३०० में समवायांग का ह्रास हुआ. |
| ,, | १३५० में स्थानाङ्ग का ,, |
| ,, | १४०० में बृहत्कल्प और व्यवहार का ह्रास हुआ. |
| ,, | १५०० में दशाकल्प सूत्र का ,, |
| ,, | १९०० में सूत्रकृताङ्ग का ,, |

पश्चात् आचारांग आदि का ह्रास क्रम से होता गया —तीर्थोद्गालिक प्रकीर्णक

वीरात् ९८० वर्ष पश्चात् देवर्धिक्षमाश्रमण की अध्यक्षता में सभी आगम लिख लिये गये थे, यह एक ऐतिहासिक सत्य है. किन्तु नंदी सूत्र में आगमों के जितने पद लिखे हैं क्या वे सब लिखे गये थे ? यदि सब लिखे गये थे तो नंदी सूत्र में प्रत्येक अंग के जितने अध्ययन, उद्देशक, शतक, प्रतिपत्ति, वर्ग आदि लिखे हैं उतने ही उस समय थे या इनसे अधिक थे ?

अधिक थे तो लिखे क्यों नहीं गये ?

उतने ही थे तो---उनके इतने ही पद हों यह कभी संभव नहीं कहा जा सकता.

नंदी सूत्र में आगमों के जितने पद लिखे हैं उतने पद नहीं लिखे गये. यदि यह पक्ष मान लिया जाय तो यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है.

देवर्धि क्षमाश्रमण के समय कितने पद थे ? और जितने पद थे उतने पदों का उल्लेख क्यों नहीं किया गया ? उस समय जितने पद थे यदि उनका उल्लेख किया जाता तो इस समय तक कितने पद कम हुए यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता.

देवर्धि क्षमाश्रमण के समय में दृष्टिवाद विलुप्त हो गया था और शेप आगमों के भी कतिपय अंश विलुप्त हो गये थे, इसलिये यह स्पष्ट है कि—नंदी में प्रत्येक अंग के जितने पद माने हैं उतने पद तो देवर्धि क्षमाश्रमण के समय में नहीं थे.

## आगमों के कतिपय मूल पाठों की मतैक्यता में कुछ बाधायें

आगमों की जितनी वाचनाएँ हुई उन सब में प्रमुख वाचनाचार्यों के सामने पाठभेदों और पाठान्तरों की विकट समस्या समुपस्थित हुई थी, विचारविमर्श के पश्चात् भी सम्मिलित सभी श्रुतधर अन्तिम वाचना के अन्त तक एक मत नहीं हो सके.

फलस्वरूप सर्वज्ञ-प्रणीत आगमों के मूल पाठों में भी कुछ ऐसे पाठों का अस्तित्व रहा, जिनके कारण प्रवल मत-भेद पैदा हो गये और भ० महावीर का संघ अनेक गच्छ-सम्प्रदायों में विघटित हो गया.

परम योगीराज श्री आनन्दघन ने अनंत जिनस्तुति में संघ की वास्तविक स्थिति का नग्न चित्र इन शब्दों में उपस्थित किया है.

> गच्छना भेद वहु नयन निहालतां, तत्त्व नी वात करतां न लाजे,
> उदरभरणादि निज काज करता थकां, मोह नड़िया कलिकाल छाजे,

देवर्धि क्षमाश्रमण के समय में अंग आगमों के जितने अध्ययन उद्देशे शतक आदि थे उतने ही वर्तमान में हैं. केवल प्रश्न-व्याकरण में आमूल-चूल परिवर्तन हुआ है. भगवती और अंतगड के अध्ययन आदि में अवश्य कमी आई है, शेप आगम तो ज्यों के त्यों हैं. निष्कर्ष यह है कि लिपिवद्ध होने के पश्चात् आगम साहित्य का ह्रास इतना नहीं हुआ जितना देवर्धि क्षमाश्रमण के पूर्व हुआ. यह सिद्ध करने के लिये यहाँ कतिपय ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत हैं.

१. भद्रवाहु के युग में उत्तर भारत में भयंकर दुष्काल पड़ा. दुर्भिक्ष के कारण जैन संघ इधर-उधर विखर गया. यह दुष्काल भ० महावीर के निर्वाण के पश्चात् दूसरी शताब्दी में हुआ था, आचार्य स्थूलिभद्र की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में श्रमण-संघ सम्मिलित हुआ. इसमें ग्यारह अंगों का संकलन किया गया.

२. पाटलीपुत्र परिपद् के अनन्तर देश में दो वार वारह वर्षों के दुष्काल पड़े. इनमें साधु संस्था और साहित्य का संग्रह छिन्न-भिन्न हो गया.

३. विक्रम के ५०० वर्ष वाद भारत में एक भयंकर दुष्काल पड़ा उसमें फिर जैन धर्म का साहित्य इधर-उधर अस्त-व्यस्त हो गया. पाटलीपुत्र और माथुरी वाचना के वाद वल्लभी वाचना का यही समय था, इस दुष्काल में अनेक श्रुतधर काल-धर्म को प्राप्त हो गये थे, शेष वचे हुए साधुओं को वीर संवत् ९८० में संघ के आग्रह से देवर्धि क्षमा-श्रमण ने निमंत्रित किया और वल्लभी में उनके मुख से—अवशेप रहे हुए खण्डित अथवा अखण्डित आगम-पाठों को संकलित किया.

व्याख्या भेद—भ० महावीर के संघ में कुछ ऐसे प्रमुख आचार्य भी हुए जिन्होंने अपनी मान्यतानुसार कतिपय मूल पाठों की व्याख्याएँ की. इससे पाक्षिक एवं सांवत्सरिक पर्व सम्बन्धी मतभेद जैन संघ में इतने दृढ—वद्धमूल हो गये हैं

जिनका उन्मूलन अनेक मुनि-सम्मेलनों के संगठित प्रयत्नों के पश्चत् भी नहीं हुआ.

**तीर्थंकर का वचनातिशय और कतिपय सन्देहजनक शब्द**—तीर्थकरों का एक अतिशय[1] ऐसा है कि जिसके प्रभाव से देव, दानव, मानव और पशु सभी अपनी अपनी भाषा में जिनवाणी को परिणत कर लेते हैं. जिनवाणी से श्रोताओं की शंकाओं का उन्मूलन हो जाता है, किन्तु उपलब्ध अंगादि आगमों में मांस, मत्स्य, अस्थिक, कपोत, मार्जार और जिन-पडिमा, चैत्य, सिद्धालय आदि शब्दों के प्रयोग सन्देहजनक हैं. यद्यपि टीकाकारों ने इन भ्रान्तिमूलक शब्दों का समाधान किया है फिर भी इन शब्दों के सम्बन्ध में यदा-कदा विवाद खड़े हो ही जाते हैं.

प्रश्न यह है कि सर्वज्ञकथित एवं गणधर ग्रथित आगमों में इन शब्दों के प्रयोग क्यों हुए ? क्योंकि सूत्र[2] सदा असंदिग्ध होते हैं.

**आगमों का लेखनकाल**—स्थानकवासी समाज में आगमों का लेखनकाल विक्रम की १६ वीं शताब्दी है. स्वाध्याय के लिए और ज्ञानभण्डारों के लिए आगमों की प्रतिलिपियां कराने वालों ने व्यवसायी लेखकों को मूल, टीका, टब्बा आदि की जैसी प्रतियाँ दी वैसी ही प्रतिलिपियों का सर्वत्र प्रचार हुआ.

इतिहास से यह निश्चित है कि १४ वीं शताब्दी तक आगमों की जितनी प्रतिलिपियां हुई वे सब चैत्यवासियों की देख-रेख में हुईं और आगमों के व्याख्या-ग्रन्थ भी इसी परम्परा के लिखे हुये थे. आरम्भ में स्थानकवासी परम्परा को आगमों की जितनी प्रतियां मिलीं वे सब चैत्यवासी विचारधारा से अनुप्राणित थीं.

**लोंकाशाह लिखित आगमों की प्रतियां**—लोंकाशाह लेखक थे और शास्त्रज्ञ भी थे. वे प्रतिमा पूजा के विरोधी थे किन्तु उनके लिखे हुए आगमों की या उनकी मान्यता की व्याख्या करने वाले आगमों की प्रतियां किसी भी संग्रहालय में आज तक उपलब्ध नहीं हुई हैं. अतः वादविवाद के प्रसंगों में स्थानकवासी मान्यता समर्थक प्राचीन प्रतियों का अभाव अखरता है.

स्थानकवासी परम्परा के दीक्षा आदि पावन प्रसंगों पर लेखकों से जो आगमों की प्रतियां ली जाती हैं वे सब प्रायः श्वेताम्बर मूर्तिपूजक मान्यता की व्याख्या वाली होती हैं. वास्तव में स्थानकवासी मान्यता की व्याख्या वाली प्रतियों के प्रचार व प्रसार के लिये संगठित प्रयत्न हुआ ही नहीं.

**आगमों की दरियापुरी प्रतियां**—गुजरात की दरियापुरी प्रतियाँ प्रायः सभी ज्ञानभण्डारों में मिलती हैं किन्तु उनमें भी विवादास्पद स्थानों की स्थानकवासी मान्यता की व्याख्या नहीं मिलती, इसलिये आगामी मुनि-सम्मेलनों में इस संबंध में विचार-विनिमय होना आवश्यक है.

**जैनागमों का मुद्रणकाल**—स्थानकवासी समाज में सर्वप्रथम आगमबत्तीसी (हिंदी अनुवाद सहित) का मुद्रण दानवीर सेठ ज्वालाप्रसाद जी ने करवाया.

सम्पूर्ण बत्तीसी का हिंदी अनुवाद स्व० पूज्य श्री अमोलख ऋषि जी म० ने किया.

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज में दानवीर सेठ धनपतराय जी ने सर्वप्रथम जैनागमों का मुद्रण करवाया.

आचार्य सागरानन्द सूरि ने आगमोदय समिति द्वारा अधिक से अधिक आगमों की टीकाओं का प्रकाशन करवाया.

पुप्फ भिक्खु द्वारा सम्पादित सुत्तागमे का प्रकाशन हुआ है किन्तु मांस-परक और जिनप्रतिमा सम्बन्धी कई पाठों को निकाल देने से इस प्रकाशन की प्रामाणिकता नहीं रही है.

---

१. तेईसवां अतिशय    २. प्रश्नव्याकरण द्वितीय संवर द्वार, अनुयोगद्वार, व्याख्याप्रज्ञप्ति देखें.

एक-एक दो-दो आगमों के प्रकाशन तो कई जगह से हुए हैं. किंतु इनका व्यापक क्षेत्र नहीं बन सका क्योंकि साम्प्रदायिक दृष्टिकोण सर्वत्र प्रगति का बाधक बनता रहता है.

**भावी प्रकाशन**—इस युग में आगमबत्तीसी के एक ऐसे संस्करण की आवश्यकता है जो सर्वश्रेष्ठ मुद्रण-कला से मुद्रित हो और पाकेट साइज में एक जिल्द में चार अनुयोगों में वर्गीकृत एवं पुनरुक्ति रहित हो.

**तमेव सच्चं णिस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं**—वही असंदिग्ध सत्य है जो जिन भगवान् ने कहा है. जैनागमों का यह संक्षिप्त पर्यालोचन जिस रूप में मैं चाहता था उस रूप में प्रस्तुत नहीं कर सका. इसमें एक प्रमुख कारण था—पर्याप्त साहित्य सामग्री का अभाव.

श्रद्धेय क्षमाश्रमण श्री हजारीमलजी महाराज सा० के श्री-चरणों में रहने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है. उनकी आदर्श आगम-भक्ति की अमिट छाप मेरे हृदय पर अंकित है. उनके श्रीमुख से "तमेव सच्चं णिस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं" यह वाक्य सदा सर्वदा प्रस्फुटित होता रहता था. वे मुझ से अनेक बार आगमों का स्वाध्याय सुनते, यथाप्रसंग चिन्तन मनन का प्रसाद देते और जरा-जर्जरित देह से भी नियमित स्वाध्याय करते थे. उनके पुनीत पाद-पद्मों की स्मृति में मेरा यह अल्प अर्घ्य सभक्ति समर्पित है.

श्रमणोत्तम श्री हजारीमल जी महाराज की स्मृति में प्रकाशित यह "स्मृतिग्रंथ" शुद्ध सात्विक ज्ञानयज्ञ है. स्तुतिग्रंथ के संपादकों की यह महान् श्रुतसेवा और दानदाताओं की ज्ञान-भक्ति युग-युग तक अमर रहेगी. साथ ही स्वाध्याय-शील पाठकों की ज्ञान आराधना सदा सर्वदा सफल होती रहेगी.
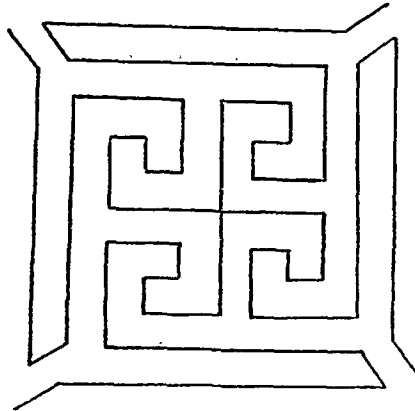
मुनि श्रीकान्तिसागर

## अजमेर समीपवर्त्ती क्षेत्र के

# कतिपय उपेक्षित हिन्दी साहित्यकार

भारतीय इतिहास के निर्माण में अजयमेरु-अजयगढ़-अजमेर की अपनी विशिष्ट देन रही है. इस भूखंड का अतीत अत्यन्त गौरवमय रहा है. मध्यकाल आते-आते तो यह दिल्ली आगरा के साथ ही सम्पूर्ण भारतीय राजनीति और संस्कृति का प्रेरक केन्द्र हो गया. धार्मिक दृष्टि से अजमेर का महत्त्व अक्षुण्ण है. राजा अजयपाल, आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी और सूफ़ी संत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती से संबद्ध धर्ममूलक कथाएं आज भी जनमानस में अनुप्राणित हैं. दरगाह ख्वाजा साहब और पुष्करजी मुसलमान और हिन्दुओं के पुण्य तीर्थस्थल स्थानीय धार्मिक विभूति के रूप में मान्य हैं. राजपूत संस्कृति और आर्यधर्म का गढ़ समझा जानेवाला यह भूखंड संस्कृत एवम् हिन्दी साहित्यकारों की कर्मभूमि रहा है. हिन्दी रासो साहित्य का आदि ग्रंथ पृथ्वीराज रासो की प्रणयनभूमि एवम् अन्तिम आर्यसम्राट् चौहानकुलतिलक पृथ्वीराज की क्रीड़ास्थली के रूप में अजमेर हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में सर्वज्ञात रहा है. किसी समय परम सारस्वतोपासकों का यहां अच्छा संगम था, देश के दिग्गज विद्वान् शास्त्रार्थार्थि यहाँ आया करते थे. सं० १२३६ का खरतरगच्छीय श्री जिनपतिसूरि और पद्मप्रभ का सफल शास्त्रार्थ इतिहासविश्रुत है.

प्राचीन जैन-संस्कृति की दृष्टि से सूचित भूखण्ड विशिष्ट महत्त्व रखता है. प्रश्नवाहनकुलीय आचार्यों की परम्परा हर्षपुर से संबद्ध रही है जो बाद में चंद्रगच्छ या राजगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई. प्रद्युम्नसूरि इस शाखा के ऐसे आचार्य हुए जिनने सपादलक्ष और त्रिभुवनगिरि के नरेशों को अपनी चारित्रिक और औपदेशिक शक्ति से प्रभावित कर जैन धर्मानुयायी बनाया. इनकी परम्परा ने भारतीय तत्त्वज्ञान की गुत्थियें सुलझाने वाले दार्शनिक साहित्य की सृष्टि की जिसके प्रतीकस्वरूप 'वादमहार्णव' को उपस्थित किया जा सकता है. यह हर्षपुर अजमेर मण्डल में ही अवस्थित है. कहा जाता है इसे राजा अल्लट की रानी ने बसाया था. कहने का तात्पर्य है कि अजमेर जब नहीं बसा था इसके पूर्व से ही जैन संस्कृति का संबंध इस भूमि से रहता आया है. आगे चलकर यह संबंध और भी घनिष्ठतर होता गया और मध्यकाल के बाद तो अजमेर जैन श्रद्धालुओं का केन्द्र ही बन गया. यद्यपि आज इस नगर की विशेष ख्याति जैन समाज में आचार्य श्रीजिनदत्तसूरिजी के निर्वाणस्थल के कारण ही है, पर यदि इसका समुचित वैज्ञानिक दृष्टि से पुनर्मूल्यांकन किया जाय तो अनेक सांस्कृतिक नव्य तथ्य उपलब्ध किये जा सकते हैं. यद्यपि अजमेर पर स्व० हरविलास शारदा ने आंग्ल भाषा में एक कृति प्रस्तुत की है, पर आज नव्य शोध द्वारा जो नूतन सूचनाएं प्राप्त हैं, उनके आधार पर परिमार्जन अपेक्षित है. व्यापक दृष्टिकोण से इस नगर और तत्सन्निकटवर्त्ती भूभागों का तथ्यपूर्ण वर्णन अद्यतन शैली में वांछनीय है. सीमित अन्वेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि ज्ञात से भी अज्ञात महान् है. यह तो मैं केवल साहित्यिक अपेक्षा से ही कह रहा हूं, पुरातात्त्विक दृष्टि से तो इस का और भी महत्त्व हो सकता है.

अजमेर के समीप जयपुर मार्ग पर किशनगढ़ अवस्थित है. वह लगभग तीन शताब्दियों से भारतीय संस्कृति, साहित्य और चित्रकला का अनुपम केन्द्र रहा है. आगामी पंक्तियों से स्पष्ट होगा कि वहां के नरेशों ने इसके विकास के लिये

कितना श्रम किया था. आश्रित कवि और चित्रकारों को प्रोत्साहित कर जो मूल्यवान् सांस्कृतिक ज्योति प्रज्वलित की उसके प्रकाश से आज भी हम प्रकाशित हो रहे हैं. इस नगर की ख्याति हिन्दी साहित्य में केवल संतप्रवर नागरीदासजी-सांवतसिंह के कारण ही रही है, पर अन्वेषण से सिद्ध हो गया है कि वहां की साहित्यिक परम्परा इससे भी प्राचीन और अधिक प्रेरक रही है. नागरीदासजी के पूर्वजों ने जो साहित्यिक साधना की-करवाई उसका समुचित मूल्यांकन आजतक हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहासकारों ने नहीं किया है, वह सर्वथा निर्दोप नहीं है जैसा कि 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां'' के छत्रकुँवरवाले प्रसंग से प्रमाणित है. नागरीदास का साहित्य 'नागर समुच्चय' में प्रकाशित है, पर शोध करने पर इनकी स्फुट रचना अन्य भी उपलब्ध है. किशनगढ़ के ही एक मुस्लिम विद्वान् श्री फ़ैयाज़अली सा० ने नागरीदास पर विशद अनुसंधान कर शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया है (यद्यपि यह रचना इन पंक्तियों के लेखक की दृष्टि में नहीं आई.)

जैन इतिहास के साधनों से पता चलता है कि किशनगढ़ का जैन दृष्टि से भी कम महत्त्व नहीं है. जब से वह नगर बसा तभी से जैनों का इससे निकट का संबंध रहा है. राजकीय उच्चपदों पर जैन आरूढ़ रहे हैं. इससे भी महत्त्व की बात यह है कि किशनगढ़ का राजकीय सरस्वतीभण्डार जैन साहित्य की दृष्टि से बहुत ही समृद्ध है. उपाध्याय मेघविजयजी, आचार्य श्री जिनरंगसूरिजी आदि उद्भट मुनिपुंगवों ने वहां निवास कर न केवल साहित्य-साधना ही की, अपितु अपने उच्च विचारों से स्थानीय जन-मानस को भी अनुप्राणित किया, राजकीय परिवार को भी उपकृत किया, यद्यपि वहां का राजपरिवार परम वैष्णव रहा है तथापि वह पर-मतसहिष्णु था. जब आचार्यों को विज्ञप्तिपत्र प्रेषित किये जाते थे उनमें राज-परिवार के मुख्य सदस्य के भी हस्ताक्षर अनिवार्य थे.

लोंकागच्छीय प्रवृत्तियों का भी किशनगढ़ केन्द्र रहा है. कई आचार्यों के स्वर्गवास, आचार्य पद और चातुर्मास हुए हैं जिनका उल्लेख लेखक के 'लोंकाशाह परम्परा और उसका अज्ञात साहित्य' नामक निबंध में अन्यत्र किया जा चुका है. आज भी लोंकागच्छ के उपाश्रय-स्थानक में अवशिष्ट ज्ञान भंडार है. किसी युग में यहां उनके तीन ज्ञानभंडार थे, पर असावधानी से उनका अभिधानात्मक अस्तित्व ही शेष रह गया. जिसे जो कृति-प्रति पसन्द आई, वही उठाकर चलता बना, तिजोरियों की चाभी संभालनेवालों की दृष्टि में ज्ञानमूलक सामग्री का महत्त्व ही क्या हो सकता है ?

अद्यावधि हिन्दी साहित्य के जितने भी इतिहास लिखे गये हैं वे तब तक पूर्ण नहीं कहे जा सकते—हो सकते जब तक हिन्दी क्षेत्र से संबद्ध सभी अंचलों का वैज्ञानिक दृष्टि से साहित्यिक सर्वेक्षण न कर लिया जाय. आज हमारे सम्मुख हिन्दी और ग्रंथकारों के विषय में जो भ्रान्तियां हैं इसका कारण भी इसी आंचलिक सर्वेक्षण का अभाव ही है. परिणामस्वरूप कई महत्त्वपूर्ण रचनाएं और रचनाकार आजतक हमारे हिन्दी साहित्य के इतिहास के निर्माताओं की दृष्टि में नहीं आ सके हैं. परम पूज्य उपाध्याय श्री सुखसागरजी महाराज सा० और साहित्यप्रेमी मुनिवर श्री मंगलसागरजी महाराज साहब की छत्रछाया में जयपुर से अजमेर आते हुए आंचलिक साहित्यिक सर्वेक्षण का उथला-सा प्रयास किया तो मुझे कतिपय ऐसे विशिष्ट ग्रंथ और ग्रंथकार मिल गये जो हिन्दी भाषा और साहित्य की दृष्टि से बड़े महत्त्व के प्रमाणित हुए. आज तक किसी भी हिन्दी शोधार्थी की निगाह नहीं गई. सूचित अंचल के जो दो-चार ग्रंथकार—जैसे राजसिंह, व्रजदासी, नागरीदास आदि—सामने आये उनकी रचनाएं भी उपेक्षित रह गई और इस प्रकार वे सही मूल्यांकन से वंचित रह गये. यहां उन ज्ञात रचनाकारों के अज्ञात ग्रंथों का तथा सर्वथा अज्ञात रचनाकारों के अज्ञात ग्रंथों का विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है. ज्ञात कृतिकारों में आचार्य श्री जिनरंगसूरिजी, महाराजा राजसिंह, व्रजदासी—बांकावती, विजयकीर्त्ति का समावेश होता है और अज्ञात रचनाकार हैं महाराजा रूपसिंह. महाराजा मानसिंह, महाराजा विडदसिंह, महाराजा कल्याणसिंह, महाराजा पृथ्वीसिंह तत्पुत्र जवानसिंह, महाराजा यज्ञनारायणसिंह, कविवर नानिग, पंचायण, जसराज भाट और प्रेम या परमसुख.

जो विज्ञप्ति-पत्र किशनगढ़ से प्रेषित किये जाते रहे हैं उनका समावेश स्वतंत्र कृतिकारों में नहीं किया है, केवल उल्लेख मात्र कर दिया है. यहां प्रसंगतः सूचित कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि अजमेर समीपवर्त्ती रूपनगर, मसौदा

भिणाय में भी कई ग्रंथ लिखे गये मिले हैं जिनका उल्लेख निबंध-विस्तारभय से यहां नहीं कर सका हूं, विशिष्ट नवोपलब्ध साहित्य और साहित्कारों का संक्षेप में परिचय इस प्रकार है :

**आचार्य श्री जिनरंगसूरिजी**—यह खरतरगच्छ के प्रभावशाली आचार्य थे. इनका जन्म राजलदेसर में हुआ, पर साहित्यिक दृष्टि से किशनगढ़ और अजमेर से घनिष्ठ सम्पर्क रहा है, वल्कि कहना चाहिए किशनगढ़ तो इनकी धार्मिक और सांस्कृतिक साधना का केन्द्र ही था। वर्षो वे वहाँ रहे और अपनी चारित्रिक-सौरभ से जन-मानस को प्रभावित करते रहे. आज भी किशनगढ़ में इनका उपाश्रय विद्यमान है जिसमें हस्तलिखित प्रतियों का अच्छा संग्रह है, इसकी तालिका वाफणा परिवार में है. वर्षो से ज्ञान-भंडार न तो खुला है और न कभी किसी ने—यहाँ तक कि संरक्षक ने भी—देखने का कष्ट किया है. नहीं कहा जा सकता है कि वह आज ग्रंथों की दृष्टि से समृद्ध भी है या नहीं ?

इन आचार्य के समय में किसी वात को लेकर आपसी वैमनस्य फैल गया था जिसका संतोषकारक समाधान अजमेर में हुआ और वहीं पर इनको भट्टारक पद से अभिहित किया गया. इसमें खरतरगच्छीय मुनि रत्नसोम का प्रमुख हाथ रहा. यद्यपि समझौता अधिक समय तक स्थायी नहीं रह सका. कहा जाता है कि अजमेर के तात्कालिक शासन ने इन्हें एक आज्ञापत्र प्रदान किया था कि इनकी मान्यता ७ प्रान्तों में वनी रहे.

यह अच्छे कवि और प्रभावसम्पन्न वाग्मी थे. इनकी 'रंग बहुत्तरी' प्रवोध वावनी (रचनाकाल सं० १७३१ मृगशीर्ष शुक्ल २ गुरुवार) नवतत्त्व वालाववोध एवम् स्तुतिपरक रचनायें उपलब्ध हैं. दो रचनाओं का सम्बन्ध किशनगढ़ से रहा है. सौभाग्य पंचमी चौपाई का प्रणयन सं० १७३८ में किशनगढ़ में किया गया था जिसका विवरण 'जैनगुर्जर कविओ' में दिया गया है. यहां पर इनकी एक अज्ञात और अन्यत्र अनुल्लिखित कृति का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है जिसका परिगुम्फन सं० १७३७ माह शुक्ला ५ गुरुवार को किशनगढ़ में हुआ था. इस की मूलप्रति मेरे निजी संग्रह में सुरक्षित है.

**धर्मदत्त चुतःपदी**

आदिभाग—

श्रीजिनाय नमः

श्री आदीसर आदि जिन आदि सकल अवतार।<br>
विघन हरण वांछित करण प्रणमुं प्रभु पद सार ॥१॥

अन्त भाग—

श्रीखरतरगच्छ श्रीजिनदत्तजी युगप्रधांन पद धार।<br>
पंचनदी साधी वाधा घणी कीरति करि विस्तार ॥<br>
श्री जिनकुसलसूरीसर मन धरउ विरुद धरइं छइं जेह।<br>
अटवी पांणी पावइ आविनइ अतिशय देषिउ एह ॥<br>
पट्टानुक्रम तेहनइ देहनइ श्रीजिनचंदसूरिंद।<br>
पातिशाह अकवर प्रतिवोधीयो महिमावंत मुणिंद ॥<br>
तसु पाटइ वाटइ सुरतरु समउ श्रीजिनसिंहसूरीस।<br>
मनवंछित फलदायक वायके सेवीजइ निसदीस ॥<br>
पाट प्रभाकर साकर सारसी मीठी जेहनी वाणि।<br>
श्रीजिनराजसूरीसर जांणीयइ पंडित चतुर सुजांण।<br>
तसु सीसई जिनरंगइ रंगसुं कीधउ चरित मति सार।<br>
सुंणतां भणतां पहुइज्यो सदा श्रीसंघनइ जयकार ॥

कीरति तेहनी विजय हुवइ घणउं सहजइ ह्वै सौभाग ।
साधु तणां गुण गावइ जे सदां मनमई आणी राग ।।
संवत सतरइं सइंतीसैं समइ माह पांचमी गुरुवार ।
सुकुलपक्ष श्रीकीशनगढ़ रच्यउ चरित भलउ सुपकार ।।
इति श्री दानाधिकारे श्रीधर्म्मदत्त चतुःपदी समाप्ता ।।

संवत १७३८ वर्षे श्रावणमासे कृष्णपक्षे दशम्यां तिथौ उपाध्याय श्रीप्रीतिविजय गणि तत्शिष्य पंडितप्रवर प्रीतिसुंदरमुनि सहितेन प्रीतिलाभेनालेखि, श्रीकृष्णगढ़ मध्ये, लेखक पाठकयोरिति ।।

(अन्य हस्ताक्षरों से)

श्रीबृहत्खरतरगच्छाधिपति भट्टारक श्रीजिनराजसूरिराजपट्टोदयाचल सहस्रकिरणावतार भट्टारक जिनरंगसूरि विरचिता श्री धवलचन्द्र भूपाल श्रेष्ठि धर्मदत्ताचुतःपदी संपूर्णा जाता सा वाच्यमाना ज्ञानफलदा भवतु। श्रेयः सदा भूयात् ।। —पत्र सं० ४६.

## किशनगढ़-राज-परिवार की हिन्दी साहित्य सेवा

महाराजा किशनसिंहजी ने सं० १६६६ में किशनगढ़ बसाया था. प्रारम्भ से ही राज-परिवार का संबंध वल्लभकुल से रहा है. कहा जाता है कि वल्लभाचार्य का मूल चित्र आज भी किशनगढ़ के दुर्गस्थित मंदिर में श्रद्धा-केन्द्र बना हुआ है. संगीत, साहित्य और कला के उन्नयन में राज-परिवार का उल्लेखनीय सहयोग रहा है. कृष्णभक्ति का प्राबल्य होने से यहां एक समय उच्चकोटि के कवियों और विद्वानों का खासा जमघट था. नरेश स्वयं केवल साहित्य और कला के पारखी ही नहीं, अपितु कवि, विद्वान् और चित्रकार[१] भी थे. हिन्दी भाषा के माध्यम से यहाँ के राज-परिवार ने कृष्ण-भक्तिपरक साहित्य प्रचुर परिमाण में रचा-रचवाया, जिसका समुचित मूल्यांकन आजतक नहीं हो पाया है. सच कहा जाय तो जिस नरेश या महारानी का साहित्य बाहर गया उससे तो तात्कालिक विद्वन्मंडली प्रभावित हुई, पर जिनकी कृतियां राज-परिवार तक ही सीमित रहीं उनका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता. अद्यतन प्रकाशित हिन्दी राजस्थानी भाषा और साहित्य के इतिहासों में जहाँ प्रसंगवश किशनगढ़ राज-परिवार की सांस्कृतिक सेवाओं का उल्लेख किया गया है वहां केवल राजसिंह, ब्रजदासी, नागरीदास—सांवतसिंह, बनीठनी, सुंदरकुंवरी और छत्रकुंवरी को ही याद किया गया है. अन्य कवि-नरेशों का नाम तक नहीं है. मुझे अपनी गवेषणा के आधार पर कहना चाहिए कि जिन नरेशों की रचनाओं का उल्लेख सूचित कृतियों में किया गया है वह भी त्रुटिपूर्ण है. कारण कि इनकी अन्य रचनायें उपलब्ध हैं जिनका साहित्यिक दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व है. अज्ञात रचनाकारों के संबंध में किंचित् भी न लिखे जाने का कारण यही जान पड़ता है कि ये अन्धकार में रहीं. नहीं कहा जा सकता कि ज्ञात से भी अभी और कितनी अज्ञात सामग्री दबी पड़ी होगी !

यहाँ पर किशनगढ़ीय राज-परिवार के उन व्यक्तियों की रचनाओं का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है जो ज्ञात साहित्यिक होते हुए भी जिनकी कृतियां अज्ञात हैं. अज्ञात कवि-नरेशों की रचनाओं पर विचार अपेक्षित है. ज्ञात रचनाकारों में महाराजा राजसिंह, ब्रजदासी आदि हैं और अज्ञात कवियों में रूपसिंहजी, मानसिंहजी, बिड़दसिंहजी, कल्याणसिंहजी, पृथ्वीसिंहजी, जवानसिंहजी, मदनसिंहजी और यज्ञनारायणसिंहजी प्रमुख हैं. किशनगढ़ के आश्रित कवियों में अभी तक हम केवल वृंद से ही परिचित रहे हैं, पर अन्वेषण करने पर विदित हुआ कि वहाँ और भी कवि रहा करते थे. जिसमें नानिग भी एक थे. यदि तत्रस्थित राज्याश्रित कवियों पर विशद अनुशीलन किया जाय तो सरलता-से एक स्वतंत्र ग्रंथ ही बन सकता है.

महाराजा रूपसिंहजी—(राज्यकाल सं० १७००-१५)

इन पंक्तियों के लेखक के संग्रह में 'किशनगढ़ राज्य के महाराजाओं के बनाये हुए पद संग्रह' की एक पाण्डुलिपि

---

१. बहुत कम विज्ञ जानते हैं कि नागरीदासजी-सांवतसिंह जी भक्त होने के साथ कुशल चित्रकार भी थे.

सुरक्षित है. इसमें कृष्णसिंहजी से लगाकर यज्ञनारायणसिंहजी तक के महाराजाओं के पदों का सुंदर संकलन है. महाराजा रूपसिंहजी के पूर्ववर्त्तीय नरेशों के नाम के आगे स्थान रिक्त है. इससे ज्ञात होता है कि इनकी रचनाएं संग्रहीत नहीं हो सकीं हैं, पर वे कवि अवश्य रहे होंगे. कम से कम अपने इष्टदेव की स्तुति तो रची ही होगी ! इस संकलन में महाराजा रूपसिहजी के कृष्णभक्तिपरक ५ पद सुरक्षित हैं. आगे छूटे हुए स्थान से कल्पना करनी पड़ती है कि और भी पद रहे होंगे जिन्हें संग्रहकार न लिख सका था. सूचित नरेश के पद भले ही साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्व न रखते हों, पर रचना की शृंखला की एक कड़ी तो हैं ही. एक पद उद्धृत किया जा रहा है—

मैं कैसे आऊं दामिनि मोहि डरावत
जब-जब गवन करौं दिशि प्रीतम चमकत चक्र चलावत
वे चातुर आतुर अति सजनी रजनी यों विरमावत
गावत गवन पवन चलि चंचल अंचल रहत न पावत
सुनि पिय वचन चतुर चल आये भामिनि सों मन भावत
रूपसिंह प्रभु नगधर नागर मिलि मलार सुर गावत

**महाराजा मानसिंह जी** [राज्य काल—१७१५-१७६३]—ये स्वाभिमानी वीरपुंगव और पूर्वजों के प्रति पूर्ण आस्थावान् थे. भगवद्भक्ति के साथ परम व्यवहारकुशल और विद्वज्जनों के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते थे. इन्हीं की प्रेरणा से कविवर वृंद ने सं० १७६२ में "व च नि का" की रचना की थी. इनकी स्वतन्त्र रचना उपलब्ध नहीं है, पर १०० से अधिक स्फुट पद और ख्याल इन पंक्तियों के लेखक के संग्रह में सुरक्षित हैं. कृष्णभक्तिमूलक गेय पद-साहित्य से पता चलता है, इन्हें साहित्य से गम्भीर अनुराग था, काव्यगत सौंदर्य इस बात का परिचायक है. लाक्षणिक ग्रंथों के अतिरिक्त अपने सम्प्रदाय के सूक्ष्म सिद्धांतों से भी अभिज्ञ थे. कहीं-कहीं पदों में सिद्धांतों की चर्चा है. यह कहना व्यर्थ है कि ये परम संगीतज्ञ भी थे. राजस्थानी और व्रज भाषाओं पर इनका समान अधिकार था. राजस्थान में प्रचलित लोकगीतों की देशियों का पदों में आकस्मिक रूप से अच्छा सा संग्रह हो गया है.

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि इन्हें पूर्वगौरव का बड़ा ख्याल रहता था. पदसंग्रह में भक्तिमूलक पदों का धार्मिक और आध्यात्मिक मूल्य तो है ही, पर सबसे बड़ा आवश्यक अंश है.—वल्लभाचार्य और उनके परवर्त्ती आचार्यों की ऐतिहासिक स्तुतियां. इनका किस घराने से सम्बन्ध था, वल्लभाचार्य की भारत में कहां-कहां कौन-सी शाखाएं हैं और उनकी पट्टपरम्परा क्या रही है आदि बातों का विस्तार इतिहास के साधन की ओर संकेत करता है.

यहां प्रसंगवश सूचित कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि महाराजा मानसिंह के समय में किशनगढ की सांस्कृतिक चेतना प्रबुद्ध व्यक्तियों को आकृष्ट किये हुए थी, बड़े-बड़े जैन विद्वान् उन दिनों यहां पर साहित्यिक रचनाएं किया करते थे. उपध्याय मेघविजय जी का तो यह सारस्वत साधना-स्थान ही था. राजसिंह जी तक वह रहे. मानसिंहजी से उनका वैयक्तिक सम्बन्ध था जैसा कि तत्रस्थ राजकीय चित्र से विदित होता है.

**महाराजा राजसिंह**—[राज्य काल १७६३-१८०५] ये महाराजा मानसिंह के पुत्र और सुप्रसिद्ध राजर्षि सावंतसिंहजी—नागरीदास जी के पिता थे. अभी तक इनकी तीन—बाहुविलास, राजप्रकाश और रसपायनायक रचनाओं का पता लगा है, साहित्यक इतिहासों में इन्हीं का उल्लेख मिलता है. खोज करने पर इनकी और भी कृतियां उपलब्ध हुई हैं.

राजसिंह का जन्म सं०-१७३० पौष सुदि १२ को हुआ था. इनके समय में किसनगढ़ सभी दृष्टियों से उन्नत और आकर्षण का केन्द्र था. दूर-दूर तक ख्याति थी. इनके कविताकाल पर प्रकाश नहीं पड़ सका है. जिन इतिहासलेखकों ने इनकी कृतियों का संकेत दिया है वे भी इन पर मौन ही हैं. पर यह सच है कि इन्हें कविता से गहरी अभिरुचि थी. इनकी कृतियों का रचना काल भी ज्ञात नहीं है, एक कृति में, जिसका उल्लेख आगे की पंक्तियों में किया गया है, रचनाकाल सं० १७८८ है, पर वह तो इनकी प्रौढावस्था का परिचायक है. मुझे सं० १७६० का एक हस्तलिखित गुटका

मिला है जिसके लेखक हैं कविवर वृंद के सुपुत्र कवीश्वर वल्लभ. ढाका में इसकी प्रतिलिपि की गई थी. सूचित गुटके में महाराजा राजसिंह की कुमारावस्था में प्रणीत दोहे लिखे हैं जिसके उपरि भाग में इन शब्दों का उल्लेख है "अथ दूहा महाराजि कंवर श्री राजसिंह जी रा कहीया छै." प्रतिलिपिकाल से इतना तो स्पष्ट ही है कि सं० १७६० से पूर्व ही इनने कविता लिखना प्रारम्भ कर दिया था. इनकी रचनाओं के एक बड़े चोपड़े में कुछ कवित्त 'माजि साहिवां रा कहीया छै" माँजी सा० से तात्पर्य इनकी माता से ही होना चाहिए. इनकी रचनाओं का विवरण इस प्रकार है.

दूहे

श्रीगणेशाय नमः

अथ दूहा महाराजीकंवार श्रीराजसिंघजी रा कहीया छै—
काम सुभट वादर कहै विरहंनि के उर दाह।
संनाह वारि लैं सिंधु तैं भए सेत तैं स्याह ।।१।।
वूंद वांद घनयंद कौ चपला कर तरवार।
गाज अरावा साथि लैं विरहंनिकूं सजि मार ।।२।।
जगनूं चमकत जामगी धूंवांधार सौ रात।
गाज अरावा छुटि सघन, मार-मार के जात ।।३।।
रति मनोंज तुम मैं कहूं पर्यौ न अंतर ओट।
दु:खदाई जानै कहा मेरे जियकी चोट ।।४।।

× × ×

२ व्रज विलास या रसपायनायक ?—रसपायनायक इनकी अन्यत्र उल्लिखित कृति है, मेरे संग्रह में इसकी जो प्रति है उसमें प्रारम्भ में तो रसपायनायक नाम आता है पर अन्त भाग में और मध्यवर्ती भाग में कई स्थानों पर इसका नाम 'व्रजविलास' आया है. अत: जब तक रसपायनायक की अन्य प्रति सम्मुख न हो तब तक निश्चित नहीं कहा जा सकता है कि दोनों कृति एक ही है या भिन्न ? आलोचित कृति तीन भागों में विभक्त है, प्रथम भाग में आवश्यक मंगलाचरण, कवि-वचन और विवेक-अविवेक के वाद कवि ने रुक्मिणीहरण कथा का विस्तार किया है. इसे इतिहास की संज्ञा से अभिहित किया गया है. दूसरे भाग में नायक और नाइका का वर्णन प्रस्तुत है. तीसरे भाग में अन्य प्रासंगिक विषयों का स्फुट वर्णन है. ग्रंथ में कवि ने अपनी बात के समर्थन के लिए वृंद के पुत्र वल्लभ रचित "वल्लभ विलास" के पद्य उद्धृत किये हैं. वल्लभ राजसिंह के समय में अपनी जवानी पर थे. उन दिनों वह ढाका से लौट आये थे. कवि ने इस रचना में इतिहास शब्द को इतना रूढ़ बना दिया है कि सामान्य वर्णन को भी इतिहास की संज्ञा दी गई है. इस कृति का रचनाकाल इन शब्दों में लिखकर बाद में काट दिया है.

सतरासै अरु ठ्यासियै सुदी दसमी ससिवार।
चैतमास पुरहुतपुर ग्रंथ लयौ अवतार ।।

इस कृति का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है.

श्रीगणेशाय नमः

दोहा

श्रीगोपाल सहाय हैं महा छैलपति राज।
गुर गनपति सरस्वति सुनौं, देहु विद्या वर आज ।।१।।
जातौं हौं चाहत कह्यौ नायक भेद अनूप।
ग्रंथ रीति वरनी कविन यह नायक रस भूप ।।२।।

श्रोता सुनहु सुजांन तुम, नायक कहत जताय ।
वीर धीर बिन छैल ता नायकता नहीं पाय ।।३।।

अन्त भाग—

चरन कमल नगधरन के रहो सदा मो सीस ।
राजसिंघ करि वीनती मागत है ब्रज ईस ।।
ब्रजविलास रन रंग कौ दीजै द्रग हिय ध्यांन ।
जुगल सरूप अनूप छवि सुन्दर परम सुजांन ।।
सरस रीति गिरिवर पुहमी, तरवर सघन तमाल ।
षट्रितु छाकै प्रेम रस रसमय जुगल रसाल ।।
गुन वरनन गोपाल कै रसमय वीर सिंगार ।
चित चंचल निहचल करहु समुझौ यह सुपकार ।।

**स्फुट भक्तिभूलक पद**—राजसिंह कवित्व-प्रतिभा से मण्डित राजवी थे, एक ओर इनकी जहाँ स्वतन्त्र कृतियां मिलती हैं, तो दूसरी ओर कृष्णभक्तिमूलक स्फुट पद भी पाये जाते हैं. ३१ पद तो एक ही गुटके में प्रतिलिपित हैं. जन्माष्टमी विजयादशमी, फूलडौल, होली, नृसिंह चतुर्दशी, दीपावली, राधाष्टमी, राम नवमी और गोवर्द्धन आदि प्रसंगों को लक्षित कर इन पदों की रचना की गई है. इनकी प्रतिभा को देखते हुए पता चलता है कि और पद होने चाहिएं. उपलब्ध पद-संग्रह से एक पद उद्धृत किया जा रहा है.

चन्द तैं इत गोकुल चन्दहि प्रगटत होड़ परी
उतहि चकोरी इतकों गौरी तन मन लखि विसरी
उतकों भोगी इत ऋषि योगी महा मोद मन मानैं
उत दै अमृत इत पंचामृत लखो प्रगट नहि छानैं
उत दुजराज इतै ब्रजराजा दोऊ सुर राज सुहाई
पाप कर्म वे धर्म कर्म ये निगम पुरानन गाई
गोपी ग्वाल तहाँ सब बालक दूध दही विस्तारे
राजसिंह प्रभु ब्रजकी जीवन भक्ति जगत निस्तारे

जिस गुटके में महाराजा राजसिंह की कृतियां प्रतिलिपित हैं उसमें सं० १७८७ की लिखी "राजा पंचक कथा' भी आलेखित है. पर उसमें कर्त्ता का नाम नहीं है. केवल हांशिये पर "महाराजि राजसिंह कृत कथा" उल्लेख है. जबतक इनकी दूसरी नामवाली प्रति नहीं मिल जाती तबतक इसे राजसिंह कृत मानना युक्ति संगत नहीं. इस कृति में पांच प्रकार के—धर्मपाल, सिद्ध सुभट, धनसंचय, नारी कवच और अधम राजाओं की प्रकृति का वर्णन है, कथाओं का विस्तार औपदेशिक शैली का परिचायक है. राजाओं को प्रजा का पालन किस प्रकार करना चाहिए और किन-किन परिस्थितियों में राजा को क्या-क्या कदम उठाने चाहिये आदि बातों का विस्तार है. भक्ति का पुट इतना लगा है जैसे कोई भक्ति—मूलक रचना ही हो. विद्वानों से अनुरोध है कि इसकी और प्रति कहीं उपलब्ध हो तो प्रकाश डालें[1]

---

१. इसका विवरण इस प्रकार है—

आदि भाग—

दोहा

श्रीगुरु गनपति सारदा सदा सहाय गुपाल ।
दास भावसौं हरि भजै तिनके प्रभु प्रतिपाल ।।१।।

**स्फुट कवित्त**—इसमें संदेह नहीं कि महाराजा राजसिंह नैसर्गिक कवि थे. बाल्यकाल से ही कविता में प्रवृत्ति रही है. अतः अनुमान था कि एक ओर जहां इनकी स्वतन्त्र रचनाएँ मिलतीं है वहां दूसरी ओर इनका स्फुट कवितादि का साहित्य भी मिलना चाहिए, क्योंकि कवि हृदय और उर्वर मस्तिष्क सामान्य निमित्त पाकर भी फूट पड़ता है.

वृंद के वंशज और अपने युग के किशनगढ के प्रतिभासम्पन्न कवि खुशराम या मगनीराम द्वारा सं० १८७८ में प्रतिलिपित उन्हीं के पूर्वज एवम् राजसिंह के समकालीन कवि वल्लभ रचित "वल्लभविलास" की प्रति सुरक्षित है. इसके अंतिम भाग में ३० कवित्त आलेखित हैं जिनके शीर्ष स्थान पर "श्री महाराजाधिराज श्री राजसिंघ जी रा कह्या कवित्त" यह पंक्ति लिखी है. पर कवित्त में कहीं भी न तो इनका नाम है और न ही इनकी छाप है. उदाहरण स्वरूप एक कवित्त उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता है—

करो जिन सोर वह ठाढो चित चोर एरी पेम फेम जोर जोर डरो दिन चोर मैं।
फिर चहुं ओर यहही पोर गहो करा जोर पायो आज भोर पर्यो सषीन की जोर मैं ।।
मान कह्यो मोर यह नन्द को किशोर जब भुजन सौं जोर रापो घर मार मैं।
दैहूं फोर को तुम्हैं कहत निहोर सपी कोरक मरोर याकी देपो नैंन कोरमें ।।१।।

इसी गुटके में आगे २१ कवित्त और हैं जिनके आगे टिप्पणी है "श्रीमाजी साहिबां रा कह्या दोहा" संभवतः ये पद्य ब्रजदासी के हों ?

**ब्रजदासी—बांकावती**—महाराजा राजसिंह की धर्मपत्नी और कछवाहा सरदार बांकावत आनन्दसिंह की पुत्री थीं. इनका जन्म लगभग सं० १७६० में हुआ था. बांकावत की पुत्री होने के कारण इन्हें बांकावतीजी भी कहते हैं. यों तो इनने अपने आपको स्वरचनाओं में ब्रजदासी के नाम से अभिहित किया है, पर कतिपय पद्यों में 'बांकी' छाप भी पाई जाती है. जैसा कि आगामी पंक्तियों से फलित होगा. इनका पाणिग्रहण संस्कार वृन्दावन में महाराजा राजसिंह के साथ सं० १७७८ में हुआ था जैसा कि वह स्वयं स्वकृति 'सालव जुद्ध' में इन शब्दों में स्वीकार करती है :

वृन्दावन के मांहि जहां चैंनघाट की ठौर।
पांनिग्रहन तिंहि ठां भयौ बांधि रीति सौं मौर ।।१६२।।
मुष्य कृपा गुरु जांनियें बहुरचौं पुरी प्रभाव।
पांनिग्रहन सुभ ठौर भी सु भौं सवैं सुभाय ।।१६३।।

सालव जुद्ध, स्व-संग्रहस्थ प्रति से उद्धृत

---

हरिजन हरिकौं भजत है रसनां नांम महेस।
श्रवन कथा सतसंग मैं निज तन नम्र विसेस ।।२।।

अन्त भाग—

कुल मारग जो वेद गति चलिये सोई चाल।
झूठि-झूठि तजि जगत की तवै कृपाल गुपाल ।।११७।।
पंच नृपनकी यह कथा सूछिम कही बनाय।
श्रीनगधर उर धारिये सो है सीस सहाय ।।११८।।
।। इति श्री पंचम राजा अधम संपूर्ण।

संवत १८८७ मागसर सुदि ३ चन्द्रवासरे लिपिकृतं स्वेताम्बर नानिग ।। शुभं भवतु ।। श्री ।।
प्रतिलिपिकार नानिग स्वयं कवि और सुलेखक थे. इनके द्वारा प्रतिलिपित साहित्य किशनगढ के राजकीय सरस्वती भण्डार में विद्यमान है.

व्रजदासी किशनगढ़ की पारम्परिक सांस्कृतिक ज्योति की एक किरण थीं. उन्हें साहित्यिक अध्ययन में उल्लेखनीय अभिरुचि थी. किशनगढ़ के राजकीय सरस्वती भंडार में शताधिक हस्तलिखित प्रतियां हैं जिनकी पुष्पिकाओं में सूचित किया गया है कि ये सब इन्हीं के लिये लिखी गई हैं. यद्यपि ऐसी कृतियों में अधिकांशत: धार्मिक हैं, पर नाइका भेद, चिकित्सा, लक्षण ग्रंथ, पिंगल आदि विषयों का भी इनमें अन्तर्भाव हो जाता है. भागवत और उज्वलनीलमणि, रामायण और भक्तमाला जैसी कृतियों को सुन्दर चित्रों से सुसज्जित करवाया गया है जो उनकी कलात्मक अभिरुचि का प्रमाण है. किशनगढ़ी शैली के चित्रों का, राजस्थानी चित्रों में अपना स्वतन्त्र स्थान है, वल्कि स्पष्ट कहा जाय तो सर्वाधिक आकर्षणशक्ति इसी शैली के चित्रों में हैं. वल्लभाचार्य और उनकी परम्परा के लगभग सभी आचार्यों, भक्तों और तदनुयायी संतों के प्रामाणिक और नयनाभिराम चित्रों का जैसा संग्रह किशनगढ़ में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही है. जो चित्र व्रजदासी के लिए विशेष रूप से कलाकारों ने तैयार किये थे उन पर चित्र-काल और भावसूचक टिप्पणी विद्यमान है.

व्रजदासी की साहित्यिक साधना के परिणाम स्वरूप अभी तक केवल भागवतानुवाद की ही चर्चा रही है. मिश्रबंधु विनोद, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (ले० डा० सावित्री सिन्हा) और अन्य तथाकथित इतिहासों में इनकी यही रचना स्थान पाती रही है. हिन्दी कवियित्रियों में यही प्रथम अनुवादिका है जिसने भागवत का अनुवाद गेय परम्परानुसार न कर प्रवन्धात्मक शैली को अपनाया है. डा० सावित्री सिन्हा ने अपने शोधग्रंथ में व्रजदासी और भागवतानुवाद पर संक्षेप में, पर सार गर्भित प्रकाश डाला है. मथुरावासी पं० जवाहरलालजी चतुर्वेदी ने भी "सम्मेलन पत्रिका" के वर्ष ४६, सं० १, पृष्ठ ७५-८१ में व्रजदासी भागवत पर विचार व्यक्त किये हैं. पर चतुर्वेदीजी ने इस लहजे में भागवतानुवाद का उल्लेख किया है जैसे सर्वप्रथम ही यह कृति प्रकाश में आ रही है, पर वात ऐसी नहीं है. इत: पूर्व कई स्थानों में उल्लिखित हो चुकी है. सम्मेलनपत्रिका में भागवत के अनुवादकों की जो सूची दी है उसमें नागरीदास का नाम नहीं है, जब कि होना चाहिए था. अस्तु.

**नव्य कृतियाँ**—यहां व्रजदासी की अज्ञात कृतियों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है. इन पंक्तियों के लेखक को अपनी साहित्यिक-शोधयात्रा में सालव जुद्ध, आशीष संग्रह एवम् स्फुट कवित्त उपलब्ध हुए हैं. सालव जुद्ध में पौराणिक प्रसंग को लेकर इनने अपनी काव्यप्रतिभा का प्रदर्शन किया है. रचना भक्तिरस से ओतप्रोत है. इससे पता चलता है कि वह न केवल सफल अनुवादिका ही थीं अपितु स्वतन्त्र ग्रंथकर्त्री भी थीं. सूचित कृति का विवरण इस प्रकार है—

श्रीगणेशायनमः, श्रीराधेकृष्ण जयति, श्रीगुरुभ्यो नमः

अथ सालवजुद्ध लिष्यते

गुरु दयाल कीजै कृपा निज आश्रम मो जांनि ।
भई इच्छा जस कहन की जो हरि जसकी षांनि ।।१।।
हरि गुन कौ कहिकैं सकैं कौंन कहन सामर्थ ।
सैस महेस सुरेस हू अजहूं लहत न अर्थ ।।२।।
पंग चहत परवत चढ्यौ सूर दिव्य द्रग पाय ।
चुहा सिंधु चाहत तिर्‌यौ हूं जु चहत गुन गाय ।।३।।
जिहकौ जस चाहत कियौ सौ अव हौहू सहाय ।
गुरु मुष तैं आज्ञा लहैं तव हौं करौं उपाय ।।४।।
गवरी नंद आनन्द जुत सिव सुत सिद्धि गनेस ।
जय जय सुरगन नमत हूं जय जय सवैं रिषेस ।।५।।
श्रीव्रषभांनकुमारी तुम नंदलाल तुम प्रांन ।
यह इच्छा पूरन करो मो मति मंद हि जांन ।।६।।

गुन अनन्त गोपाल के कोऊ न पावत पार।
मैं मति अपनी समझ कछु कहूं संभारि विचार ॥७॥

छप्पय

भए सिरी हरिव्यास अवतार प्रगट जग।
लाल लाडिली प्रेम रंग रस हिय मैं जगमग ॥
सेवत कुंवर गुपाल लाल महा रूप रसाला।
निस दिन कान्ह सुजांन हिये वास्यौ प्रतिपाला ॥
दुर गाहि ताहि दिच्छा दई किते पार करि करि दये।
व्रजदास दासी तुम सरन है श्रीहरिव्यास जय जय जए ॥८॥
परसराम गुरु महासकल गोपाल लडायौ।
श्रीसर्वेसुर नांम रहै हिय नित प्रति छायौ ॥
रांम-रौंम की जात भूलि सुधि प्रेम रंग मैं।
झलकत जुगलकिशोर माधुरी अंग अंग मैं ॥
निहचै प्रतीति रस रीति सों लपि सरवेसुर रस रसमें।
व्रषभांन लली व्रज लाडली अरु गुपाल हिय में वसै ॥९॥

दोहा

तिनकै पाट प्रसिद्ध महिं जोति जगत हरिवंस।
रंग रंगे गोपाल के सुरगन करत प्रसंस ॥१०॥
श्रीनारायनदेव जग प्रगट रसिक सिर मौर।
लाल लाडिली रंग विन हिय मैं ध्यान न और ॥११॥
महा मदंध जग के नृपति तिनके अंकुस रिषिराज।
करे साध परवोध करि यह जग जगी अवाज ॥१२॥
काम क्रोध को दंड है तजी लोभ की टेव।
जय जय जग में सव भई जयत नरांइनदेव ॥१३॥

छप्पै

तिनके रिप रिषराज सिरी वृंदावन प्रगटे।
ज्यौं तिनुंका धनसार तुही करि मनसुं लपटै ॥
तन मन प्राण गुपाल नैंन धन रूप रसालं।
वंध्यौ रहत नित नित चरन हरि प्रीत हि जालं ॥
सुभ ज्ञांन ध्यांन पूजन जुगति भगति भाव मन वच कियौ।
तिन वैर तीन कलिजुग मांहि सरवेसुर परचा दियौ ॥१४॥
वेद स्मृति जे अंग वहुरि सासत्र सव गनियै।
गनीयैं सवै पुरान सवैं क्रम जुत नित भनियैं ॥
संध्या सुमरन मंत्र तंत्र जो कछु चलि आवै।
लाल लडैती रंग सुजस हित सौं हिय छावैं ॥
जग जीव जिते उद्धार कौं श्रीवृंदावन अवतरे।
वांके कृपाल गोपाल हरि प्रगट जगत अपने करे ॥१५॥

अन्तः—

दोहा

यह प्रसंग ऐसौ कह्यौ मैं मो मति उपमांन।
कृष्ण सुजस कौं कहि सकै ऐसौ कौंन सुजान ॥१६९॥
तामैं मो मति मंद है अरु अति चित्त अजांन।१७०॥
यह विचार कीनों सु मैं गुरु कृपा उर आँन ॥
कृपासिंधु तुम जुगल हो कीजै मो हिय वास।
व्रजदासी विनती करत यह धरि हिय में आस ॥१७१॥
निगमबोद यमुना तटे उत्तर दिसि के ठांहि।
यह पोथी कीनी लिखी इन्द्रप्रस्थ के मांहि ॥१७२॥
संवत सतरा सै समैं वरस तियास्यौं मान।
मंगसर वदि एकादशी मास चैत सुभ जांन ॥१७३॥
॥ इति श्री सालवजुद्ध सम्पूर्ण ॥

इसकी रचना सं० १७८३ में दिल्ली में निगमबोध घाट पर हुई. इस प्रतिलिपि का काल सं० १७८७ है.

### आशीष संग्रह :

यह नाम मैंने दिया है. वस्तुतः इसका नाम क्या रहा होगा ? नहीं कहा जा सकता, कारण कि कृति अपूर्ण ही उपलब्ध हुई है. इसमें विवाह के प्रसंग पर भिन्न-भिन्न जातियों द्वारा दी जानेवाली आशीर्वादमूलक वचनावलियों का संग्रह है, इसीलिए यह नाम रख लिया गया है. खण्डित प्रति में मालनी, चित्रकार, चितेरी, गंधी, गंधिनी, नायण, दरजण, तंबोलण, ढाढी, ढाढण, ग्वालन, भांडण, रंगरेजन, कुंभारी, मनिहारन और मेहतरानी की आशीषों का संकलन है. कतिपय पद्यों में व्रजदासी का नाम भी आया है—

व्रजदासि प्रांन किय वारनैं,

× × ×

कहु जु व्रजदासियं वसो जु ध्यांन वासियं, —मालण की आशीस,

× × ×

भई वारनैं कुंवरि पद वार-वार व्रजदासी, —चतेरा की देवा की आशीष,

× × ×

दासी निज सुन्दर मन, —ढांढण के देवा की आशीष,
व्रजदासी पावै यहै जुगल भगति की चाही —ढाढी के पढवा की वंशावली,

पाठकों की जानकारी के लिए एक आशीष उद्धृत करना समुचित होगा—

अथ चतेरे की देवाकी आशीष

छंद भुजंगी

नृपं भांनकैं आज उछव अपारं भई हैं कुंवारं लटैंनी उदारं।
लजैं मेघ ऐसे जवे हैं निसानं तिहु लोक आनन्द छायो अमानं ॥
वधाई वधाई वरसांन छाई लली होत सोभा रचि वंन पाई।
दए दांन ऐसे महाराज भानं भए हैं कंगालं नृपालं समानं ॥

पढै चारणं भाट वाहं उभारं लहै नेग नेगी विना वार पारं।
सुनी वात येहं जवै नंदरायं सवै गोकलं हर्ष वाढ्यौ अथाहं ।।
रणंवास जुक्तं वरसांन आए भयौ चित्त चाह्यौ वजे है वधाए।
जुथं-जुत्थ गोपी नृपं द्वार आवै करं भेट लीनैं महा सोभ पावै ।।
चलैं धाय धायं सुरंजी लगावैं चितं मोद छाई हसैं औ हसावैं।
मिले नंद भानं भए हैं षसालं मिल्यो मेल चाह्यौ रंगीनं रसालं ।।
वरसांन मांनौ दुधं मेह वर्षे धन्यं कीर्त्तिकुं पेतिहु लोक हर्षे।
दधि दूध कौ दोंम च्यों भांन ठामं, रमैंकं जमकैं करें पेल पामं ।।
वड़े भाग नेगी यह द्यौस पायौ लली द्वै कुलंको कलसं चढायौ।
भई स्यांम तैं है लली की सगाई सुनौं सासरे पीहरं सोभ पाई ।।
अवै ह्वै विवाहं लली लाल केरो वृपभांनि हों सुक्रतं जन्म केरो।

दोहा

अव वह दिन कव होय जव महारंग की भीर।
वैठे दंपति सेज पै देषि रचौं तसवीर ।।

**स्फुट कविता**—सं० १७८७ के गुटके में "वांकी" छाप के कतिपय कवित्त प्रतिलिपित हैं.

ये सब वांकांवती के ही जान पड़ते हैं. इनकी संख्या ६ है. आगे स्थान छुटा हुआ है. संभव है प्रतिलिपि करते समय छूट गये हों, एक कवित्त उद्धृत किया जा रहा है—

नैंन पिया के लगै तित ही उतही अवलै मन आप ढरौंगी।
काजर टीकी करौं तिहंकी सषि सौतिन सौं कछु लाजि डरौंगी ।।
'वांकी' रही सव ही जगसौं लपि प्रीतम कौं नित चित्त ठरौंगी।
वाहि रची सुरुची हम हूं हौतौ प्यारे की प्यारी सौं प्यार करौंगी।

**सुंदरकुंवरी वाई**—ये उपर्युक्त वांकावती की पुत्री थीं] इनका जन्म सं १७९१ कार्तिक शुक्ला ९ को हुआ था. यह भी अपने माता पिता के समान कवित्व-प्रतिभा से मंडित थीं. तात्कालिक राजकीय वैषम्य के कारण २१ वर्ष तक अविवाहित रहीं. सं० १८१२ में इनका विवाह रूपनगर के खीचीवंशीय राजकुमार वलवंतसिह के साथ सम्पन्न हुआ. पर दुर्भाग्य ने इनका साथ नहीं छोड़ा. पितृगृह तो क्लेश का स्थान था ही पर अव तो स्वसुर-गृह भी अशान्ति का केन्द्र वन गया, कारण कि इनके (पति ?) सिंधिया सरदारों द्वारा वन्दी वना लिए थे. वाद में मुक्त करवा दिये गये थे. इनकी प्राप्त समस्त रचनाओं का विवरणात्मक परिचय डा० सावित्री सिन्हा ने अपने 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ' नामक शोध प्रवंध में दिया है. वहाँ ग्रन्थ-रचना काल विषयक कतिपय भ्रान्तियां हो गई हैं जिनका परिमार्जन प्रसंगवश कर देना आवश्यक जान पड़ता है. इसकें पहिले मैं सूचित कर दूं कि सन् १९५४ में जब ग्वालियर में था तव वहाँ के साहित्यानुरागी श्री भालेरावजी के संग्रह में एक वड़ा चौपड़ा देखने में आया था जिसमें सुन्दरकुंवरि वाई के समस्त ग्रंथ प्रतिलिपित थे. मैंने उनका विवरण ले लिया, उसी के आधार पर यहाँ संशोधन प्रस्तुत किया जा रहा है.

उपर्युक्त शोध-प्रवन्ध में भावनाप्रकाश का रचनाकाल सं० १८४५ माना गया है जो ठीक नहीं जान पड़ता, ग्वालियर वाली प्रति में प्रणयन समय सं १८४९ वताया गया है—

संवत यह नव दंनसैं गुणंचास उपरंत।
साकै सत्रहसैरु पुनि चउदह लहौ गनंत ।।

माघ मासकें सुकल पष तिथ पंचमि बुधवार।
संपूरन यह ग्रंथ किय सुन्दरकुंवरि विचार ।।८३।।

सार संग्रह का रचनाकाल भी सूचित शोध प्रवन्ध में सं० १८४५ बताया गया है जब कि स्व० भालेरावजी की प्रति सं० १८४७ सूचित किया है—

संवत सुभ षट त्रगुन सै सैंतालीस उपरंत।

प्रेम संपुट का निर्माण-काल भी डा० सावित्री सिन्हा ने सं० १८४८ माना है जब कि वस्तुतः इसका सृजन समय सं० १८४५ है.

संवत अठारह सै जु है पैंतालीसा जानूं।
साकै सत्रहसै रु दस सिद्धारथ सुप्रमान ।।५४।।
महा मास वैसाष सुद पूर्नवासि तिथ जास।
वार मंगलिय भौममो पूरन ग्रंथ प्रकास ।।५५।।

छत्रकुंवरि बाई—ये सुप्रसिद्ध संतप्रवर श्री नागरीदासकी पौत्री और सरदारसिंहजी की पुत्री थीं. किशनगढ़ राजपरिवार की कृष्णकीर्त्तिगायिका कन्याओं में इनका स्थान भी प्रमुख है. प्रेमविनोद इनकी सुन्दर काव्य-कृति है. डा० सावित्री सिन्हा ने इन पर भी आलोचनात्मक प्रकाश डाला है, परन्तु प्रमादवश संवतों में ऐसी भ्रान्तियाँ घर कर गई हैं जिनका संशोधन आवश्यक है, वर्ना भ्रामक परम्परा आगे फैल सकती है. बात यह है कि उक्त शोध प्रवन्ध पृ० १९८ पर इनका परिचय देते हुए सूचित किया है—

'छत्रकुंवरि बाई नागरीदासजी के पुत्र सरदारसिंह की पुत्री थीं. इनका विवाह सं० १७३१ में कांठडे के गोपालसिंह जी खीची से हुआ था. विवाह में इनकी आयु लगभग सोलह वर्ष की तो अवश्य रही ही होगी, अतः इनका जन्म सं० १७१५ के लगभग माना जा सकता है ·······' —मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ० १९८

उपर्युक्त पंक्तियों में जो संवत् प्रयुक्त हुए हैं, सर्वथा असत्य हैं. कारण इनका जन्म सं० १७१५ में कैसे माना जा सकता है. उन दिनों तो महाराजा राजसिंह का भी जन्म नहीं हुआ था जो नागरीदासजी के पिता थे. राजसिंह के सं० १८०५ में स्वर्गवासी हो जाने पर तो राजपरिवार में सत्ता के लिए महान् संघर्ष छिड़ गया था, सरदारसिंह का राज्यत्वकाल सं० १८१२ से सं० १८२३ तक का रहा है. १७२५ और १७३१ में राजसिंह के पूर्ववर्त्ती महाराजा मानसिंह का का शासन था. संवतों की यह भूल विदुषी लेखिका से न जाने कैसे हो गई है. सच बात तो यह जान पड़ती है कि १८ के स्थान पर सर्वत्र १७ अंक लिख दिया है. थोड़ी सी असावधानी से कितनी बड़ी भ्रान्ति फैल जाती है. इसी भूल के परिणाम स्वरूप ही शोध-प्रवन्ध में छत्रकुंवरि रचित 'प्रेम विनोद' का रचना समय भी १७४५ दे दिया है जब कि होना चाहिए था सं० १८४५, जैसा कि कवयित्री स्वयं स्वीकार करती है—

संवत है नव दून सै पैंतालीस वढंत।
साकै सत्रह सै रु दस सिद्धारथ सु कहंत ।।
मास असाढ सुकुल पष तीज बृहस्पतवार।
संपूरन यह वारता कीनी मन अनुसार ।।

इन पंक्तियों के ऊपर का भाग शोधप्रवन्ध में उद्धृत किया गया है, यदि लेखिका स्वल्प ध्यान देतीं तो यह असम्पूर्ण बातें लिखने का अवसर न आता.

यहाँ पर एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक जान पड़ता है कि यों तो किशनगढ़ का राज-परिवार वल्लभकुलीन रहा है पर महारानियों द्वारा रचित कृतियों में सर्वत्र मंगलाचरण में निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यों के नाम आते रहे हैं.

इससे विदित होता है कि पुरुष वर्ग वल्लभकुलीन था और नारी समुदाय सलेमाबाद स्थित निम्बार्क गद्दी का उपासक था, वैष्णव शाखा में यह परम्परा रही है कि पुरुष और नारियों का गुरु-घराना एक नहीं हो सकता.

**महाराजा बिड़दसिंहजी**—(राज्य काल सं० १८३८-१८४५) इनके स्फुट पद्यों के अतिरिक्त गीतगोविंद की गद्य-पद्यात्मक टीका पाई जाती है. ३०० पत्रों की विशद् हिन्दी टीका के देखने से पता चलता है कि शायद ही कोई इतनी विशद वृत्ति हो. इनके निर्माण में महाराजा ने तत्काल में वहाँ निवास करनेवाले बिहार प्रदेश के सुप्रसिद्ध विज्ञ और विवेचनकार श्री हरिचरणदास से प्रर्याप्त सहायता ली है. एक रघुनाथ भट्ट का नाम भी आता है जो संभवतः 'गोविंद लीलामृत' के प्रणेता हों ?.

विड़दसिंह के समय में भी विद्वान् और कवि समादृत होते थे. एक और वृन्द के वंशजों का सांस्कृतिक दृष्टि से किशनगढ़ में प्रभुत्व था तो दूसरी ओर बाहिर के विद्वान् भी आकर वहां निवास करने में अपने को गौरवान्वित समझते थे. चाहे राजनैतिक उत्पात कितने ही आये हों पर साहित्यिक सरिता के प्रवाह में शैथिल्य नहीं आया. खेद की बात इतनी ही है कि वहाँ के अन्य कविओं पर अन्वेषण नहीं हो पाया है. यदि वहाँ का राजकीय सरस्वती भण्डार विशिष्ट दृष्टि से टटोला जाय तो संभव है वहाँ की सांस्कृतिक चेतना के दर्शन हो सकेंगे.

**कल्याणसिंहजी**—(राज्य काल सं० १८५४-६५) महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वरनाथ जी रेऊ रचित 'मारवाड़ के इतिहास' में प्रदत्त इनके काल में और मुन्शी देवीप्रसादजी कृत में 'राज रसनामृत' में सूचित समय में वैपम्य है, पर उस पर विचार का यह स्थान नहीं. कल्याणसिंहजी के स्फुट पद मिले हैं. एक उद्धृत किया जा रहा है—

राग बसंत, ताल धमार

रति पति दे दुख करि रतिपति सौं

तू तो मेरी प्यारी और प्यारे हू की प्यारी उठि चलि गजगति सौ
दूती के वचन सुनि-सुनि मुसक्यानी भूपन वसन सौंधौं लियो वहो भांति सौं
कल्याण के प्रभु गिरधरन धरक धाय लई अति उर सौं

**महाराजा पृथ्वीसिंहजी**—(राज्यकाल सं० १८६७-१९३६) ये फतहगढ़ की शाखा से गोद आये थे. इनका केवल एक ही पद प्राप्त है जिसमें वल्लभाचार्य की परम्परा का उल्लेख है. महाराजा का विशद् वर्णन प्राप्त नहीं है, पर अन्यान्य ऐतिहासिक सम सामयिक साधनों से सिद्ध है कि उस समय राज-परिवार में ज्ञान की चेतना उन्नति के शिखर पर थी. महाराज कुमारों को भी साहित्यिक शिक्षा दिलवाने का विशिष्ट प्रबंध था, तभी तो वह आगे चलकर स्वतंत्र ग्रंथकार प्रमाणित हुए. महाराजा पृथ्वीसिंह का एक पद इस प्रकार है :

**वंशावली**

श्रीमहाप्रभु वल्लभ प्रगट तिन सुत विठलनाथ ।
जिनके गिरधरजी प्रगट उनके गोपीनाथ ।
श्रीप्रभुजी जिनके भये विठ्ठलनाथ प्रमान ।
उन सुत वल्लभजी भये फिर श्री विठ्ठलनाथ ।
करि करुणा या करन महीं मोकूं कियौ सनाथ ।
जिनके सुत रणछोडजी हैं कुंवरन सिरमौर ।
इनको वंश वधो वहुत यह आशिप करूं कर जोर ।

**जवानसिंहजी**—यह उपर्युक्त महाराजा पृथ्वीसिंहजी के द्वितीय पुत्र थे. इनका कविताकाल सं० १९४५-४६ लगभग है. ये परम कृष्ण भक्त राजवी थे. इनकी तीन रचनाएं—'रस तरंग' 'नखशिख-शिखनख' और 'जल्वये शहनशाह इश्क'—

मौलिक और एक संग्रहात्मक—'धमार संग्रह' इन पंक्तियों के लेखक के संग्रह में सुरक्षित है. रचनाओं में कवि ने अपनी छाप 'नगधर' या 'नगधरदास' रखी है.[1]

कविवर जवांनसिंहजी का अध्ययन अत्यन्त विशाल और तलस्पर्शी था. जयलाल या जयकवि इनके मित्र और साहित्यिक सहयोगी थे. यह स्वाभाविक ही है जब दो सहृदय कवि एकत्र होकर सारस्वतोपासना करने लगें तो उत्तम फल प्राप्त होते ही हैं. सचमुच उन दिनों किशनगढ़ का साहित्यिक वातावरण कितना परिष्कृत और प्रेरणादायक रहा होगा ?

**रसतरंग**—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस में कृष्णभक्तिमूलक रस की आध्यात्मिक तरंगों का बाहुल्य है. कवि हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का सुंदर और सहज परिपाक सूचित रचना में हुआ है. कवि ने आत्म निवेदन में जिन भावों की सफल सृष्टि की है, वह अनुपम आनन्द का अनुभव कराती है, ऐसा प्रतीत होता है मानो अनन्त मानवों का स्वर एक कण्ठ से ध्वनित हो रहा हो. शान्त, भक्ति और वात्सल्य रसों की धारा पूरे वेग से प्रवाहित हो रही है. भक्तिरस है या नहीं ? इसकी विवेचना यहां अप्रस्तुत है, पर इतना कहना पड़ेगा कि कृष्णभक्ति के मधुरोपासक कवियों ने इसे रस के रूप में प्रतिष्ठित अवश्य किया है. कोई भी भाव—चाहे स्थायी हो या व्यभिचारी—प्ररूढ़ अथवा प्रवृद्ध होने पर रस की कोटि में आ जाता है. भगवान् के गुणों का सततचिन्तन, श्रवण एवम् मनन करते रहने से आत्मा स्वाभाविक रूप से अन्तर्मुखी आनन्द का अनुभव करता है और इसका चारित्र के साथ संबंध प्रवृद्ध होने पर तो तदाकार भी हो जाता है. आलोच्य कृतिकार चाहे संत या भक्त कोटि में न आते हों, पर उनकी अभिव्यक्ति भक्त की पूर्वपीठिका के सर्वथा अनुकूल है. प्रेमभक्ति का प्रवाह रसतरंग की अपनी निजी विशेषता है. ग्रंथ के अंतःपरीक्षण से विदित होता है कि कवि ने केवल अपने सहज स्फुरित भावों को ही लिपिबद्ध नहीं किया, अपितु एतद्विषयक आवश्यक अध्ययन के अनन्तर शास्त्रीय परम्परा को ध्यान में रखते हुए भावभूमि का सृजन किया है. तभी तो वह इष्टदेव के प्रति पूर्ण समर्पण कर सका है.

प्रस्तुत रसतरंग को अध्ययन की सुविधा के लिये तीन भागों में विभाजित करना होगा. प्रथम भाग में बधाइयां. जिनका संबंध कृष्णचरित से है, द्वितीय भाग में वे बधाइयां आती हैं जो वल्लभाचार्य और उनके वंशजों से सम्बद्ध हैं. इसमें वल्लभाचार्य स्वयं, विठ्ठलनाथजी, (कोटावाले) गोपीनाथजी दीक्षित, तीसरे गिरधरलालजी आदि आचार्यों का समावेश होता है. तीसरे भाग में कवि ने दीपावली, चीरहरण, होली आदि प्रसंगों को लेकर भगवान् कृष्ण की जीवन-

---

१. इस की स्पष्टता कवि ने अन्यत्र कई स्थानों पर की ही है, पर इनकी रचना 'जल्वये शाहनशाह इश्क' की टीका में छन्द के संबंध कविवर जयलाल ने भी इस पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—

कवि मनभाव वर्णन

नगधर लखि चित अटकि कैं पर्‌यो गिर्‌यो मधि फन्द ।
ज्यों बालक लड बावरो चहत खिलौंना चन्द ।।३६।।

टीका

नगधर इति—यामें कवि मन भाव वर्नन हैं, 'नग' जो गिरराज जिनके धारण करनेवाले जो प्रभू तिनकों लखि [illegible] पड गयौ, अर्थात् मेरो चित्त हैं सो पभून मैं आसक्त हुयो सो प्रभू जगदीश अचिन्त्यानंद [illegible] प्रभू कहां, तहां पर दृष्टांत जैसें जो बालक चंद्रमा कौ खिलौना करके मागैं, यह कहैं जू यह खिलौंनां मांकौं लाय दो, [illegible]. कहां तो बालक अरू कहां वह चन्द्रमा ऐसैं जांनों अरु यहां 'नगधर' पद हैं सो कवि को काव्य रचना [illegible]. दृष्टांत अलंकार है.

भाषा भूषन

जहां बिंब प्रतिबिंब सौं दुहूं वाक्य दृष्टान्त ।

इति, यहां उपमेय वाक्य कवि मन फंद में पडनों प्रतिबिंब अरु उपमा वाक्य बालक को चन्द्रमा [illegible]

[illegible]
[illegible]

घटनाओं पर प्रकाश डाला है. पट् ऋतुओं के साथ भगवान् की तुलना करके कविने जो प्राकृतिक शोभा का वर्णन प्रस्तुत किया है वह तो कवि-हृदय की चरम परिणति है. कवि विचारों में उदार प्रतीत होता है, वह परम कृष्णोपासक होते हुए भी उसने बड़ी ही श्रद्धा से मर्यादा पुरुषोत्तम राम की भी एक बधाई लिखी है. कहीं-कहीं स्वमतपोषणार्थ महाराजा नागरीदास, स्वामी हरिदास आदि संत प्रवरों के पद उद्धृत किये हैं. भाषाभूषण और किशनगढ़ प्रवासी कवि हरिचरण-दास कृत सभाप्रकाश का उपयोग किया है. पूरा ग्रंथ राग-रागनियों में ही नहीं है, कवित्त, सवैया, दोहा आदि भी प्रयुक्त हुए हैं. इन रचनाओं में जहां कहीं काठिन्य है उन स्थानों की कवि ने टीका भी साथ ही साथ समाविष्ट कर कृति का गौरव द्विगुणित कर दिया है.

जैसा कि ऊपर सूचित किया जा चुका है कि जवानसिंह-नगधर का अध्ययन बहुमुखी था, विषय प्रतिपादन में वह दक्ष हैं तो अनेकार्थ साहित्य के प्रति भी उदासीन नहीं. एक उदाहरण दिया जाना उपयुक्त जान पड़ता है—

हरित कदंब भूमि हरियारी हरी[1] अमावस हरचो[2] समाज।
हरी सवारी[3] साज चल्यो है हरी[4] गाज सबहि न मन राज ॥
हरि तनया[5] प्रफुलित[6] हरि गुंजत[7] हरि सोभा सुख धाम।
हरित लतनि में[8] हरित हिंडौरा हरि संग[9] झूलत हरिमुख[10] वाम ॥
हरि[11] कुंज गहर[12] हरियारी हरि[13] सोभा बरनी नहीं जात।
हरे रतन[14] तन बसन हरे रंग हरीय पहुपमाला[15] सरसात ॥
हरी[16] हरी[17] पर सोभित अद्भुत, हरि[18] बरसत हरि लायौ।
हरी[19] राग गावत मुरली में मधुरैं मन[20] हरि[21] भायौ ॥
हरिबरनी[22] हरिगमिनी[23] री तूं हरिलोचनि[24] मदमाती।
हरिकटि[25] लचकत संग झूलन में हरिवैंनी[26] उछराती ॥
हरखि-हरखि[27] गावत मधुरैं सुर भई हरी रंग राती ॥
'नगधर'[28] हरि हरख[29] हरियारैं हरी हरी[30] सबहिन मन भाती ॥

कवि ने रसतरंग में जहां एक ओर ब्रज भाषा का उपयोग किया है वहां दूसरी ओर अपनी मातृभाषा ढुँढाडी को विस्मृत नहीं किया है.

रचनाकाल कवि ने नहीं दिया है, पर प्रतिलिपि काल और कवि की अन्य कृतियों से सिद्ध है कि सं० १९४५ के लगभग रसतरंग रचा गया है.

**जल्वये शहनशाहे इश्क**—३६ पद्यात्मक यह लघुतम रचना साहित्यिक सौंदर्य का भव्य प्रतीक है. कवि ने इसमें आत्मस्थ सौंदर्य को साकार कर अपनी काव्यकला का उल्लेखनीय परिचय दिया है. सम्पूर्ण रचना प्रतीकात्मक है. भगवान् कृष्ण को शहनशाह मानकर उसकी सृष्टि का एक राज्य के रूप में वर्णन किया है. शहनशाह, रानी, मंत्री, नगर, दुर्ग, सिंहासन, न्यायालय और उसके अध्यक्ष, जल्लाद, छत्र, चंवर, धनुष-बाण, ध्वजा नौबत, मुसद्दी, कोतवाल, सेना, विषयक उपकरण, शस्त्रास्त्र कोश, खेमां, नौबत आदि का विशद् परिचय देते हुए भाट का स्थान नागरीदास के

---

यहां जो टिप्पण दिये गये हैं वे सब कवि के ही हैं—

१. हरियारी अमावस, २. प्रसन्न सर्पा गनादिक, ३. काम की सवारी, ४. इन्द्र की गाज.

५. जमुनाजी, ६. प्रफुल्ल, ७. गुंजैं हैं भ्रमर, ८. हरिवल्लरी, ९. श्रीकृष्ण, १०. चंद्रवदनी, ११. सघन कुंज हैं, १२. गहवर हैं, १३. वन, १४. पन्ना, १५. कमल पुष्प की माला, १६. इंद्र धनुष, १७. आकाश पर, १८. जल बरसैं हैं, १९. पवन चल्यौ हैं, २०. मन कौं २१. हरिकें, २२. कनकवरनी, २३. गजगमनी, २४. मृगनैंनी, २५. सिंहसी, कटि, २६. सर्पसो वैंनी, २७. प्रसन्न भई, २८. राजा, नगधर कवि कौ नाम, हरी राजा, २९. हरि की प्रीत, ३०. हरी-हरी यह पूर्वोक्त जमक शब्द की उक्ति सर्व के मन भावती हुई है।

के लिये सुरक्षित रख लिया जान पड़ता है. राजस्थान में भाट का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है. भगवान् के भाट नागरीदासजी—सांवतसिंह हैं जिसने उनका यश चतुर्दिक् फैलाया. कवि के ही शब्दों में पढ़िए—

भाट वर्णन

भाट नागरीदास नृप इशक शानशा हेत।
सब जग मय जाहिर किया इश्कचिमन रस केत ॥२२॥

भाट इति—यामैं भाट कौ वर्णन हैं. इश्क जो शहनशाह राजाधिराज हैं ताके हेत कहियैं, तिह के कारण नागरीदास नृप जो कृष्णगण के महाराज सांवतसिंहजी द्वितीय हरि संबंध नाम नागरीदासजी सो भाट है, सो यह महाराज बड़े महानुभाव परम भगवत् भक्त सो इनकी महिमा तो लघु पुस्तक में लघु बुद्धि सौं कहां तक वर्नन करैं, अरू आपके कवित्व-छंदादि तो वहुत हैं परन्तु तिन में दोय प्राचीन छप्पय लिखते हैं—

सुत कौं दैं युवराज आप वृंदावन आये।
रूपनगर पतिभक्त वृन्द वहु लाड लडाये॥
सूर धीर गंभीर रसिक रिझवार अमानी।
संत चरनामृत नेम उदधि लौं गावत वानी॥
नागरीदास जग विदित सो कृपाठार नागर ढरिस।
सांवंतसिंह नृप कलि विषैं सत त्रैता विधि आचरिय[1] ॥१॥

पुनः—

रंग महल की टहल करत निज करन सुघर वर।
जुगल रूप अवलोक मुदित आनंद हियैं भर॥
ललितादिक जिहि समैं रहत हाजर सुखरासी।
तहाँ नागरीदास जुगल की करत खवासी॥
श्रीलाड लडैंती करि कृपा परिकर अपनौं जाँन किय।
शक्रादि ईशहूकौं अगम सो वृंदावन वास दिय॥२॥

पद

कृष्ण कृपा गुन जात न गायो
मनहु न परस करि सकैं सो सुख इन ही दृगनि दिखायो।
गृह व्यौहार भुरट २ को भारो शिर पर तैं उतरायो॥
नागरिया कौं श्रीवृंदावन भक्त तख्त वैठायो॥

ऐसे महाराज नागरीदासजी इश्क महाराज को सुयश वहुत वनर्न कियो हैं. सोई उत्तरार्द्ध में कहै हैं. सब जगमय कहियैं सर्व संसार मैं "इश्कचिमन" नाम ग्रंथ "रस केत" कहियैं रस की ध्वजा जैसो जाहिर किया कहियैं प्रगट कियो है. इश्क महाराज को सुयश वर्णन कियो या तैं भाट कहैं. "भा" नाम सोभा ताके अर्थ "अट" कहियैं फिरैं ताकौ नाम भाट है. अरु भाट सौं जाति की उत्तमता अरु उत्पत्ति की शुद्धता जगत मैं जानी जाय हैं, तैसें "इश्कचिमन" सौं इश्क की उत्तमता, अरु इश्क को शुद्ध स्वरूप जान्यौं जाय हैं तातैं भाट कहैं............

१. कहा जाता है कि नागरीदास का जो स्मारक वृंदावन में बना है उस पर यह पद्य अंकित है.

२. राजस्थान के रेतीले प्रदेश में "भूरट" नामक कांटेवाला खाद्य पदार्थ होता है.

प्रस्तुत कृति कवि ने सं० १९४५ चैत्र में तैयार की और उसी वर्ष वृंद के वंशज कविवर जयलाल ने विस्तृत टीका—"इश्क प्रकाशिका" रची. यहां इतना स्पष्टीकरण कर देना चाहिए कि कतिपय पद्यों की—जैसे अन्न संबंधी—टीका स्वयं जवानसिंहजी ने की है. एक पद्य की उद्धृत टीका से ही इसकी उपादेयता समझ में आ सकती है. टीका में स्वमत-पोषणार्थ—गीतगोविंद, भानुदत्त रचित रसतरंगिणी, वात्स्यायन सूत्र की जयमंगला टीका, बिहारी सतसई, नागरीदास का समस्त साहित्य, हरिचरणदास का सभाप्रकाश, उज्ज्वल नीलमणि, गोवर्द्धन कृत सप्तशती, सूरसागर, परमानन्द-सागर, भागवत, रसप्रवोध, विद्वन्मंडन, अमरकोश, ८४ वैंस्णवन की वार्ता, भाषाभूषण, सुबोधिनी और मनुस्मृति आदि अनेक प्रामाणिक ग्रंथों से उद्धरण देकर कृति के सौंदर्य को निखार दिया है. ऐसी मूल्यवान् रचना का प्रकाशन नितान्त वांछनीय है.

इसका विवरण इस प्रकार है :

सोरठा

व्रज जन जीवन प्रांन हैं इलाहि महवूब नित ।
कृष्ण करैं जिंहि ध्यांन है अधीन जिनके सदा ।।१।।
हरि राधा हित रीत मैं विप्रयोग रस सार ।
तहां प्रीत सोइ प्रेम हैं सोइ इश्क निर्धार ।।२।।

अन्त भाग :—

पैंतालीस-उगनीस सैं प्रथम चैत्र कजवार ।
ऋतु वसंत पून्यौं सु तिथि, कीनौं ग्रंथ उचार ।।३७।।
इति श्रीमहाराज जवानसिंहजी कृत
जलवय शहनशाह इश्क संपूर्ण ।।

नखशिख-शिखनख—हिन्दी साहित्य में कई कवियों ने नखशिख का भव्य वर्णन प्रस्तुत किया है. जवानसिंह ने भी इस विषय के ग्रंथों में अभिवृद्धि की है. १०४ पद्यों की कृति में भगवान् कृष्ण और उनके समीप रहनेवाले उपकरणों का विशद वर्णन भावपूर्ण भाषा में किया गया है. इस रचना का महत्त्वपूर्ण अंश है—हरिभक्त नाम माला—इस में वैष्णव सम्प्रदाय के सभी कृष्णभक्तों का नामोल्लेख है. अन्वेषकों की सुविधा के लिए नामावली प्रस्तुत की जा रही है :

सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, कुंभनदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गदाधर, हरिदास, हरिवंश, बिहारिनदास, श्रीभट्ट, माधौदास, वृंदावनदास, गोपालदास, रामराय, रामदास, जनहरि, घनश्याम, राघौदास, किशोरी-दास, विष्णुदास, रघुनाथदास, विठ्ठल, सूरकिशोर, हरिवल्लभ, हृषिकेश, मानचन्द, सूरदास, मदनमोहन, तुलसीदास, कल्यानदास, कृष्णजीवन लच्छीराम, तानसेन, गोविन्ददास, विठ्ठलदास, जनकृष्ण, ठाकुरदास, जन तिलोक, चन्द्रसषी, शिरोमणि, चतुरविहारी, वाल, हरनारायन, स्वामीदास, सगुणदास, व्रजपति, जगनाथ कविराय, दामोदरदास, गरीब-दास, धीरजप्रभु, व्यास, अग्रस्वामी, हरिजस्वन, मुकुंद प्रभु, चरनदास, राजाराज, वल्लभदास, सुंदरघन, रघुवीर, लघु गोपाल, वल्लभरसिक, आसकरन, ताजखाँन, धौंधी, रूपसिंह, (किशनगढ नरेश) व्रजदासी, (किशनगढ नरेश राजसिंह की रानी) सांवतसिंह-नागरीदास, आनन्दघन, जंगतराय, सुघरराय, जगजोउ, मुरारि, घासीराम, पेंम रसिक, जुगलदास, कवि किशोर, अभिलाषी, हित अनूप, विजयसषी, वरसांनिया नागरीदास, दयासषी, नरहरिदास, रसिक सषी, आदि.

नखशिख का विवरण इस प्रकार है :

नृत्यगोपालो जयति

अथ नखशिख-शिखनख महाराजा श्री जवांनसिंहजी कृत लिष्यते .

दोहा

जय-जय मोहन मुरलिका अधर सुधाकर दांन।
नखशिख कौं वनर्न करौं धरिकैं तेरो ध्यांन॥

अन्त भाग :—

ग्रंथ प्रशस्ति वर्णनम्

नगधर कवि वरनन कियो नखशिख-शिखनख लाग।
प्रति भूपन वरनन कियो मानहुं उपमा वाग॥१०३॥
छियालीस उगनीस सै संवत आश्विन मास।
तिथि पून्यौं वनर्न कियो यह शृंगार सुरास॥१०४॥

इति श्रीमन्महाराजाधिराज श्रीपृथ्वीसिंहजी तद्द्वितीय पुत्र महाराजा श्रीजवानसिंहजी कृत नखशिख-शिखनख वर्णन संपूर्णम्.

संवत १९४६ का पोस मासे शुभे शुक्लपक्षे तिथौ ६ भृगुवासरे लिखितं ब्राह्मण मथुरादासेन कृष्णगढ मध्ये श्रीरस्तु.

**धमार संग्रह**—प्रस्तुत कृति का संकलन जवानसिंह ने किया है. इस में निम्न कवियों की १०० धमारें संकलित हैं :

"कृष्णजीवन, गोकुलचन्द, चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी, माधौदास, जगन्नाथ कविराज, सुमति, गदाधर भट्ट, जनकृष्ण, आसकरन, शिरोमणि परमानन्द, सूरदास, जनतिलोक, गोपालदास, छीतस्वामी, विठ्ठल, मुरारिदास, जन रसिकदास, कृष्णदास, राघौदास,. जिस प्रकार जैनाचार्यों की पद्यमय पट्टावलियां पाई जाती हैं ठीक उसी प्रकार इनमें से कतिपय धमारों में वल्लभ कुल की पट्टावली दी गई है. इन में से कतिपय तो वल्लभ कुल के क्रमिक इतिहास पर प्रकाश डालती हैं."

**यज्ञनारायणसिंह जी**—[राज्य काल सं० १९८३-९५]—ये किशनगढ की सांस्कृतिक परम्परा के अंतिम महाराजा थे. इनके बाद राजवंश में कवित्व प्रतिभा का अन्त सा हो गया. ये स्वयं बड़े अच्छे कवि और प्रतिभावान् व्यक्ति थे. इनने कई स्फुट पद, रसिया और सवैया आदि लिखे हैं. इनकी कृतियों में केवल भक्तिपक्ष प्रधान नहीं है, साथ ही सैद्धांतिक भावभूमि भी बहुत ही पुष्ट रही है. वल्लभ वंशावली इनकी सुन्दर और ज्ञातव्यपूर्ण कविता है. सुना गया इनके समय में उत्सवादि खूब हुआ करते थे, बाहर से भी कलाप्रेमियों को अपने यहां आमन्त्रित कर उनका समुचित आदर करते थे. संगीत और साहित्य में इनकी विशेष अभिरुचि रहा करती थी.

इनके दो रसिया इस प्रकार हैं :

डफ काहे को बजावै छैला घर नेरो
जब हौं मिलौंगी रसिया मोंहि लरेगी कलह करेगी बहुतेरो।
सास ननद सुन लख पावेगी छैला भरम धरेगी॥
यज्ञ पुरुष प्रभु तिहारी मिलन में बहुत परेगो उरझेरो॥

नेरो मोहि राख पलंगवारे
आव जो पोढो मैं पांव पलोटों विधना ढोरूं रतना रे।
अपने हाथन तुमहि जिमाऊं बीच झपट ले नन्दवारे॥
यज्ञ पुरुष वल्लभ यही सुख दे और लगत फीके सारे।

**नानिग**—इनका परिचय प्राप्त नहीं है. केवल अनुमान लगाया जा सकता है कि ये किशनगढ के आश्रित या निवासी रहे होंगे. क्योंकि इनने सं० १७८७ में किशनगढ नरेश राजसिंह कृत [?] "राजा पंचानक कथा" की प्रतिलिपि की थी

और उनकी कृति का सम्बन्ध भी अंशतः किशनगढ से जान पड़ता है. नाम के आगे श्वेताम्बर शब्द का प्रयोग भी इन्हें इसी भूखण्ड का प्रमाणित करता है. आगामी पंक्तियों में देखेंगे कि परवर्ती कवि पंचायण ने भी इस शब्द का उपयोग आत्माभिधान के आगे किया है. पर वह जैन धर्मावलंबी प्रतीत नहीं होते जैसा कि ग्रंथों की प्रशस्तियों से सिद्ध है.

कवि नानिग की अज्ञात रचना है 'मजलिस शिक्षा'. सभा-समितियों का व्यावहारिक ज्ञान इस में संचित है. किस प्रकार की सभा में कैसे लोगों का प्रवेश होना चाहिए और जैसी मंजलिस हो वैसा अपने को वनाने का प्रयत्न करने की ओर कवि का संकेत है. सभाओं के नियमों से अनभिज्ञ एक मोहणोत परिवार का सदस्य देवीदास [जो सम्भवतः किशनगढ का ही निवासी हो] कवि के साथ ढाका की एक महफ़िल में सम्मिलित हुआ और बेअदवी से लातों का शिकार हो गया. इस प्रसंग पर कवि ने अपने वंगाल के अनुभवों का रोचक वर्णन किया है. वंगाल की सामाजिक स्थिति का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है वताया गया हैं वंगाल देश के ढाका नाम के नगर में एक सुन्दर उपवन हैं जिसके मध्य में विशाल सरोवर है, आलीशान मकान वने हुए हैं जिन पर चित्रों का काम राजस्थान के भवनों की चित्रकला का स्मरण कराते हैं.

मजलिस शिक्षा के अन्तः परीक्षण से पता चलता है कि संभवतः कवि का वृंद से या उनके पुत्र से अवश्य ही सम्वन्ध रहा होगा, असंभव नहीं उन्हीं के साथ ढाका गया हो, कारण कि वृंदने अपनी सतसई वहाँ ही सं० १७६० में समाप्त की. उन दिनों इनका पुत्र वल्लभ भी ढाका में ही था जैसा कि मेरे संग्रहस्थ एक उन्हीं के हाथ से प्रतिलिपित गुटके से प्रमाणित है. मोहोणोत परिवारीय व्यक्ति की चर्चा नानिग ने की है, किशनगढ में उन दिनों यह परिवार उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित था जैसा कि सं० १७८६ के जैन विज्ञप्ति पत्र से सिद्ध है. किशनगढ के राजकीय सरस्वती ज्ञान भण्डार में इनके हाथ से लिखे ग्रंथों की संख्या पर्याप्त है.

इनकी रचना का विवरण इस प्रकार है :

गणेशाय नमः

अथ मजलस सिछा लिष्यते

दोहा

जै जै श्रीव्रजराज जै जै जै नन्दकुमार।
जै जै श्रीराधारवन जै जै मदन मुरार ।।१।।
जै जै श्रीगनपति सदा जै जै सरस्वति वांनि।
जै जै श्रीगुरुदेव मम जै जै कवि जग आंनि ।।२।।
सभा सिछा की वारता, हौं कछु कहत जताय।
बुरौ न मांनहि सुघर नर, समझत भलैं वताय ।।३।।
कवि नानिग ऐसे कहैं श्रोता सुनहु सुजान।
बुरौ जु मांनौं वात सौं वे मूरष अज्ञांन ।।४।।

अन्तः भाग—

संवत सतरासै निवै भादव मास पुनीत।
तिथि चवदसि ससिवार कौं, रच्यौं ग्रंथ जुत नीत ।।१६८।।

इति श्रीमजलस सिछा कवि नानिग कृत संपूर्ण ।। शुभं भवतु ।। सं० १७६० में कवि ने कृति समाप्त की.

पंचायण—ये अजमेर के निवासी जान पड़ते हैं. इनकी अज्ञात कृति मिली है "मुहूर्त्त कोश" इस लघुतम रचना में सामान्य मुहूर्त्तों का परिचय दिया गया है. कृति हिन्दी कविता में निवद्ध है.

प्राचीन कई ऐसी रचनाएं मिल जाती हैं उनका सम्वन्ध तो अपने-अपने विषय से रहता है, पर कभी-कभी उनकी अन्त्य प्रशस्तियों में ऐतिहासिक संकेत वड़े काम के मिल जाते हैं. मुहूर्त्त कोश यद्यपि ज्यौतिप से संवद्ध है, पर इसमें अन्त

भाग में कवि ने अजमेर के निकटवर्ती स्थानों का अच्छा परिचय दे दिया है. वहाँ की प्राकृतिक नुपमा और प्रेक्षणीय स्थानों के अतिरिक्त तत्रस्थ पुरातन जल व्यवस्था पर भी संकेत किया है. तारागढ के ऊपर जो पानी पहुंचाने की व्यवस्था थी, उसका कवितावद्धसजीव और सांगोपांग वर्णन इस रचना को छोड़ अन्य कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ. अतः प्रशस्ति का भाग पूरा उद्धृत कर दिया है.

कृति का पूरा विवरण इस प्रकार है :

**मुहूर्त्त कोश**

आदि भाग—

श्रीगणेशाय नमः

दोहा

विघन विडारन सुपकरन सेवित सकल जिनेस।
रिध सिध वर दे रिधु गवरीय नन्द गणेस ॥१॥
गुरु सारद नारद समर सिध सनकादि सहाय।
सह गण पंडित पय प्रणव मो द्यो उकत उपाय ॥२॥
छंद भंग दीरघ लघु न धरो मो पर रोस।
कवि इणसुं लघुता करै करिहूं महूरत कोस ॥३॥
लगन वार ग्रह सात है रिप हैं अठावीस।
तिनके नाम जू फेरवुं तो हू म करी रोस ॥४॥

अन्त—

अथ ग्रन्थ ओपमा कथन सवइया

गिरहू मैं मेर जैसें ग्रहां पजयर जैसें नागन मैं सै जैसें दनन मैं क्रीता हैं।
देवन में इन्द्र जैसें नापित मैं चन्द्र जैसें जतियन मैं हनुं जैसें सतीनमैं सीता हैं ॥
रूप मैं राम जैसें करतामें ब्रह्म जैसें ध्याननमैं ईस जैसे ज्ञाननमें गीता है।
तीरथमैं गंग जैसै सासत्तमैं जैसैं— — — — — — — —त वदीता है ॥६४॥
वाल बुद्धि पिंगल जू लाड रिष तामें रिपनाम हूँ तें देख डरा धरो है।
वसंन जू वर्ण च्यार पवन अठार दूनें में जतना कोय आंकों पोरस में भरा है ॥
रावत सवाई आंन प्रतपें अपंड भांन सूरन सुभट थाट धनी जिनवरो है ॥
कोट गढ नांहि पाई वेरी सब त्रास जाई ऐसों जू नगर यारो अंदर अरो है ॥
चली नगर अजमेर हू तें पतिपें मिलन चली नाल पाल पूत लेकें चली गृह नूनी है।
पोह द्रह नीर वलें चालत जू वेग चलें रूप न उवेरे मून मारे घर धूनी है ॥
सागी फुनि सूकरी जू दोहू सोक आय दिली रोस जव धर्‌यो ताम भई नेल दूनी है।
नदी के जू एक पार सिवको सुथान सोहै वैठे जडधार नंभू देवन पनान जू।
वडे वन वाडी वाग धुनि होत जा ल्यावत अनेक लोक फूलन की माला जू ॥
आठों गिन आठों यांम सेवित सकल तांम देवन को देव गृह प्रणमें भूपाल जू।
गोरी पुनि गंग सीस चांद पर चढ्‌यो ईस मेटत अनंद अंग टलहैं जंजाल जू ॥६७॥
नगर सौं पच्छिम नौं वनको सघन पांन मारन अठार वृच्छ वनी राजधानी है।
वनकैं जू मध्य ठौर पल नाल ताल भरे झील नर नारी जू जिहा दिसत पांनी है।

तिनकें जू तीर परें सोहत सुभग घोरें चढ़तां जू नांहि सोरे टूंक असमांनी है।
धूरको पहार एहमांनों गिरमें रनसों ताहिकै जू सीस पर पीमज भवांनी हैं ।।१६८।।
अचल सोभ दर्पे अंवर जू सत रपें आगम के भेद अपें जे कीरत सरजू जू।
साप जस कीरत जू वावन ही वीर साधे आंनत मिठाई वेग टालें दुप दूर जू ।।
कीरत करमचन्द पण्डित जू गोवर्द्धन सीस भए राज मांनो साधु गुंन पूर जू।
दोनूं सीस दोय पंच जू अनोपचन्द राम ही गोपाल भ्रात वाधें नित नूर जू ।।१६६।।
ब्रह्मा के वंशमांहि वडे रिप भारद्वाज ताहू के प्रवर तीन माघन की साप है।
पढे हैं जजुरवेद तिनके जू गोत पुनि राघव से भट भए वेद मुप आंप है ।।
तास सुत नरवद जू सिवकी जू बांचहू तें रहें जाय काशीमें पढें गुन लाप है ।।
गोविंद सुत चलो जू जोसी जगरूप सुत हरदत्त हीर वीर जोतप को आंप है ।।२००।।
गन वांन ससि नाग ससि संवत १८१५ श्रावन जू सेत पप वीज सनीवार है।
मघा वरीयांन जोग वालव करन मांहि सूरज उदै काल घर ही अठार है ।।
पत्र पल उपर जू ताहि ससें लगन अली कुर्कट संक्रान्त गत रुद्र पुंनि वार है।
पूरन प्रमांन कीयौ पंडित जू देप दीयौ मौरत कौ कौस एक मौरत अपार है ।।२०१।।

दोहा

सेतांवर पंचाइणे जोए सगलै जोस ।
वीरचंद रै वासतै कीयौ मीरत कोस ।। २०२ ।।

—इति श्री भाषा मोहरत कोस कवि पंचायण कृत समाप्त.

विजयकीर्त्ति—इस नाम के दिगम्बर जैन-परम्परा में अनेक विद्वान् हुए हैं. उदाहरणार्थ एक तो 'सरस्वती कल्प' के प्रणेता मलयकीर्त्ति के गुरु. इनका अनुमित समय १४ वीं शताब्दी में है.[१] 'शृंगारार्णव चन्द्रिका' के रचयिता विजय वर्णी के गुरु जिनका समय संदिग्ध है. तीसरे राजस्थान के ही सुप्रसिद्ध कवि कामराज द्वारा 'जयकुमार आख्यान' में स्मृत. इस प्रकार और भी विद्वानों का पता 'जैन सिद्धान्त भवन, आरा (विहार) से प्रकाशित 'प्रशस्ति संग्रह' से चलता है. परन्तु यहाँ जिन विजयकीर्त्ति का उल्लेख किया जा रहा है. वह सूचित सभी विद्वानों से भिन्न हैं. इनका संवन्ध स्वर्णगिरि[२] की भट्टारक परम्परा से रहा है. भट्टारक मुनीन्द्रभूषण के ये ब्रजलाल नामक शिष्य थे. स्वर्णगिरि का संबन्ध ग्वालियर की गद्दी से रहा है. दीक्षित होने पर ब्रजलाल विजयकीर्त्ति नाम से अभिहित किये गये. इनके वैयक्तिक जीवनपट को आलोकित करनेवाले प्रमाणभूत साधन अनुपलब्ध हैं. कवि ने भी अपनी रचनाओं में स्व-परिचय के प्रति उपेक्षा भाव ही रखा है. इनके शिष्य दयाचन्द[३] और गोकल मुनि ने अपने गुरु की प्रशंसा में एक-एक गीत लिखा है जिससे केवल

---

१. प्रशस्ति संग्रह, संपा० भुजवलीजी शास्त्री, प्रकाशक जैन सिद्धान्त भवन, आरा.

२. स्वर्णगिरि विषयक स्पष्टता अपेक्षित है कारण कि राजस्थान में जालोर का नाम भी स्वर्णगिरि रहा है, पर सूचित स्थान मध्यप्रदेश में अवस्थित है. सोनागिरि के नाम से प्रसिद्ध है. यह सिद्धक्षेत्र है. नंग अनंगकुमारों का निर्वाण स्थान यही है. प्राचीन दिगम्बर जैन साहित्य में इस क्षेत्र की महिमा गाई गई है, विजयकीर्ति के शिष्य पं० भागीरथ मिश्र ने इस तीर्थ की प्राकृतिक छवि और उसके धार्मिक महत्त्व को प्रकाशित करनेवाली 'सोनागिरि पच्चीसी' का सं० १८ में प्रणयन किया था. एक समय यह बुंदेलखंड का सर्वजनमान्य तीर्थ था. महाराजा छत्रशाल का भी यह श्रद्धाकेन्द्र रहा है.

३. गीत इस प्रकार है—

अथ जखडी लिष्यते

श्रीजी सारद मात मनावरयां कांई लागुं गणधर पाय सहेलो माहारी हो ।
गुण गाउं श्री गुरु तणां विजयकीर्त्ति रिखराय सहेली माहारी हो ।
आजि मेंह सद्गुरु वांदस्यां ।।१।।

इतना ही पता चलता है कि ये मूलतः ग्वालियर मंडलान्तर्गत स्योपुर[४] के निवासी छावड़ा गोत्रीय सा० हेमराज के पुत्र थे. इनकी माता का नाम वेणी बाई था. गीतकार के कथनानुसार इनने विधिवत् लोचकर मुनि दीक्षा अंगीकार की थी. पांडे दयाचन्द ने प्रस्तुत स्तुति सं० १८२४ में रची। इस समय में विजयकीर्त्ति का यशःसूर्य मध्याह्न में था. अब तक इनने कई कृतियों का सृजन कर लिया था. २०० से अधिक स्फुट पद लिख चुके थे. कई शिष्यों के गुरुत्व के सौभाग्य से मण्डित हो गये थे.

इनके एक शिष्य देवेन्द्रभूषण भी थे जिनके बनाये स्तवन मिलते हैं. कहीं-कहीं गुरुजी का भी स्वल्प उल्लेख कवि ने कर दिया है. दो सूचन महत्त्व के मालूम दिये. एक तो यह कि विजयकीर्त्तिजी ने सं० १८२१ में बडवाई के निकट बावन-गजाजी की और मुक्तागिरि की यात्रा की थी, उस समय देवेन्द्रभूषण इनके साथ थे. दोनों तीर्थों के तात्कालिक वर्णन उस समय की स्थिति का सुन्दर चित्रण समुपस्थित करते हैं.

इनके इतने विद्वान् शिष्यों के रहते हुए भी किसी ने सही जानकारी नहीं दी कि ये भट्टारक और बाद में मुनि कब बने ? और अजमेर की गद्दी पर कब आरूढ़ हुए ? इन पंक्तियों के लेखक के संग्रह में वृत्तरत्नाकर की एक हस्तलिखित प्रति है जो सं० १८१६ में विजयकीर्त्ति के शिष्य सदाराम द्वारा किशनगढ़ के समीप रूपनगर में प्रतिलिपित है. इसकी लेखनपुष्पिका से इतना तो तय है कि सं० १८१६ से पूर्व ग्वालियर से अजमेर पधार गये थे. और इनका धार्मिक शासन अजमेर प्रदेश में भली प्रकार जम चुका था.

विजयकीर्त्ति अजमेर और नागौर से संबद्ध थे. ये परम सारस्वतोपासक रहे जान पड़ता है. परिणामस्वरूप जहां कहीं भी ये स्वयं या उनका शिष्य परिवार पहुंचता वहां ज्ञान भंडार की स्थापना अवश्य ही हो जाती थी. कारण कि शिष्य वर्ग भी सुलेखक और परिश्रमी था. अजमेर का जो दिगम्बर जैन भण्डार है, असंभव नहीं वह विजयकीर्ति की सारस्वतो-पासना का परिणाम हो, कारण कि अधिकतर प्रतियों का लेखन दयाराम, भागीरथ, सदाराम और गोकल मुनि द्वारा हुआ है जो सभी विजयकीर्ति के ही शिष्य थे. प्रशस्तियों में विजयकीर्ति का भी उल्लेख प्रमुख ज्ञानागारों के संस्थापकों के रूप में किया है. रूपनगर, भिणाय, मसूदा और चित्तौड़ में ज्ञान-भण्डार स्थापित किये थे.

अद्यावधि विजयकीर्त्ति प्रणीत इन कृतियों का पता लगा है—

---

श्रीजी स्योपुर शोभतो साह हेमराज सुत सार । सहे०
लोच करायो जुगत सुं श्रीजी छावड़ा वंश वषांण सहे० ॥२॥
श्रीजी मंडल विध पूजा रची रहा हेमराज सुत सार । सहे०
कर पहरावणी गुरु तणी फुनि देय भली जमणार सहे० ॥३॥
कर न्हवण भगवंती को कांई माल लई तिण बार सहे० ।
सां साहि मूलसंघ शोभतो कांई पूज्यां जिनअवतार सहे० ॥४॥
श्रीजी लाहण दीन्हीं भावसुं बाई वेणि कर अधिकार सहे० ।
छावडा कुल में ऊपनां कांई काला परवर नारी सहे० ॥५॥
श्रीजी संवत अठारासै चौवीसमें कांई जेष्ठ वदि आठैं सार । सहे०
पंडित दयाचन्द इम वीनवैं कांई संघ सदा जयकार ॥ सहे० ॥६॥ निज संग्रहस्थ गुटके से उद्धृत.

४. स्योपुर एक समय जैन संस्कृति का और विशेषकर दिगम्बर-परम्परा का सुप्रसिद्ध केन्द्र था. वहां के निवासी [illegible] जैनों ने [illegible] साहित्य के निर्माण में उल्लेखनीय योग दिया है. यद्यपि वहां की साहित्यिक एवम् सांस्कृतिक प्रगति का [illegible] नहीं हो पाया है, पर जो भी वहां की रचनाएं प्राप्त हुई हैं उनसे हिन्दी जैन साहित्य पर नूतन प्रकाश पड़ा है. [illegible] का साहित्य अधिकतर यहीं पर ही लिखा गया है. स्योपुर के गोलापूरव रामनंद के पुत्र [illegible] ने सं० [illegible] में [illegible]-स्तोत्र का पद्यात्मक हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया था और इसका निर्माण सं० १६६५ में [illegible] था. [illegible] में [illegible] कृति यही एक मात्र मानी जाती है. इस कृति का जितना धार्मिक दृष्टि से महत्त्व है उससे भी कहीं [illegible] की दृष्टि से अनुपमेय है.

१. श्रेणिकचरित्र (रचनाकाल सं० १८२७)
२. कर्णामृतपुराण „ „ १८२६)
३. चंपकश्रेष्ठि व्रतोद्यापन
४. सरस्वती कल्प
५. नेमिचन्द जीवन

मेरी साहित्य-शोध-यात्रा में निम्न कृतियां उपलब्ध हुई हैं जो अद्यावधि अज्ञात थीं.

**भरत बाहुबली संवाद**—वस्तुत: यह विजयकीर्त्ति की मौलिक रचना नहीं हैं. सं० १७०४ भादों सुदि १३ भुसावर (राजस्थान) में विश्वभूषण मुनि द्वारा रचित "भरत बाहुबली रासो"[1]का सुसंस्कृत रूप है जैसा कि वह स्वयं ही इन शब्दों में स्वीकार करते हैं—

ए संवाद सुधारि लिख्यौ है श्रीमुनिराई ।
विजयकीर्त्ति भट्टारक नागौर सवाई ।।
गढ़ अजमेर सुपाट थाट रचना इह कीनी ।
श्रीविश्वभूषण उगति जुगति थिरता करि लहि ।।
भणे भणावे भवि सुणै श्रीआदीश्वर भांण ।
भरथ अवर बाहुबली ही कडखौ सुणत कल्याण ।।४४।।

**गजसुकमाल चरित्र**—यह विजयकीर्त्तिजी की दूसरी मौलिक रचना है. इसमें गजसुकमाल मुनि का आदर्श चरित्र वर्णित है. भले ही यह एक व्यक्ति का चरित्र हो, पर मानवता को कवि ने साक्षात् खड़ा कर दिया है. आत्मौपम्य की प्रशस्त ओर औदार्य भावनाओं का जो चित्रण एक सर्वजनकल्याणकामी संत के माध्यम से समुपस्थित किया गया है, वह आज भी अनुकरणीय—अभिनन्दनीय है. आध्यात्मिक साधना में अनुरक्त साधक को कितनी यातनाओं का सामना करना पड़ता है ? पर अन्तर्मुखी जीवन ध्यतीत करनेवालों पर बाह्य उत्पीडन का क्या प्रभाव पड़ सकता है ? जीवन में अहिंसा और सत्य की पूर्ण प्रतिष्ठा होने पर संसार की भौतिक शक्ति ऐसी नहीं जो स्व मार्ग से विचलित करा सके. गजसुकमाल महामुनि इसकी प्रतिमूर्त्ति थे. अहिंसा—उनके जीवन में साकार थी. तभी तो मस्तक पर आग रखे जाने पर भी मुनिवर ने उफ तक न किया, ऐसी थी उनकी आत्मलक्षी तपश्चर्या. कविवर विजयकीर्त्तिजी ने आध्यात्मिक और भौतिक द्वन्द्वों का सामयिक परिस्थितियों के प्रकाश में जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह एक शब्दशिल्पी की स्मृति दिलाता है. कृति का विवरण इस प्रकार है—

---

१. विश्वभूषण मुनि प्रणीत अज्ञात रास का अंतिम भाग इस प्रकार है—

सहर भुसावर मधि राजु जाफरषां सोहे । सोहि काम सौ प्रीति राइ रांनां मन मोहे ।।
ता मंत्री भगवानदास सबके सुपदाई । न्याइ नीति वर नृपन जैणसासन अधिकाई ।।
बसैं महाजन लोग जी दान मान सनमान । एक एक ते आगले रापै सबकौ मांन ।।३७।।
मूलसंग कुल प्रगट गच्छ सारद मैं राजै । जगतभूषण मुनिराज वाद विद्यापति छाजै ।।
ता पट कही सुजांन विश्वभूषन मुनिराई । तिन यह रच्यौ प्रबन्ध भवि सुनियो मनु लाई ।।
सत्रैहसैं रु चिडोत्तरा भाद्रौ सुदि सुभवार । सुकल पच्छ तेरसि भली गायौ मंगलवार ।।

—निज संग्रहस्थ हस्तलिखित गुटके से उद्धत ।

विश्वभूषणजी अपने समय के विद्वान् ग्रंथकार थे. इनका विशेष परिचय मैंने अपने "राजस्थान का अज्ञात साहित्य वैभव" नामक ग्रंथ में दिया है.

नथ गजसुकमाल चरित्र लिप्यते

करसन राज पद भोगवै कानुडा देपि देवकी मात रे गिरधारीलाल,
मो सम पापिण को नही कानुडा वालक नहि नहि मात रे गिर० ॥

अन्त :—

धन-धन नरनारि जिके कानुडा गुण गावय मुनिराय रे।
विजयकीर्त्ति इम उच्चरै भणतां नवनिद्धि थाय रे ॥गिर०॥

उपर्युक्त कृति में कवि ने रचना समय सूचित नहीं किया है, पर इसका प्रतिलिपि काल सं० १८२३ है अतः इतः पूर्व की रचना असंदिग्ध है.

**स्फुट पद**—दिगम्बर जैन परम्परा में रात्रि के स्वाध्याय के अनन्तर एक पद गाया जाना आवश्यक है. यदि कोई परम स्वाध्यायशील विद्वान् हों तो उनसे अपेक्षा रखी जाती है कि वह नित्य नव्य पद वनाकर स्वाध्याय सभा को अलंकृत [illegible] विजयकीर्त्ति की पदसंख्या को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वह नित्य नवीन पद वनाकर श्रद्धालुओं के [illegible] की पुष्टि में मंगलमय योग देते रहे होंगे. कारण कि इनका पद साहित्य लगभग ५०० तक व्यापक है. भक्ति, नीति, संयम, सदाचार, तीर्थवंदना, गुरुभक्ति आदि अनेक विषयों का इसमें समावेश कर अपनी साधना में औरों को भी सह-भागी वनाया है. आश्चर्य इस वात का है कि इतना विराट् जिनका पद साहित्य हो और वह जैनों की दृष्टि से अभी तक ओझल कैसे रहे ? सिद्धान्त और भक्ति के मूल स्वरूपों का सफल प्रतिनिधित्व करनेवाला इनका पदसाहित्य प्रकाश में आना चाहिए.

यहां पर मैं एक वात विशेष रूप से कहना चाहता हूं. वह यह कि जैसे कविवर, विद्वान्, ग्रंथकार और संयमशील वृत्ति के प्रतीक थे वैसे ही भारतीय संगीत के भी परम अनुरागी थे. उनका शायद ही कोई पद ऐसा होगा जो शास्त्रीय राग-रागिनियों में निबद्ध न होगा. पदों का संग्रह इनके शिष्य पांडे दयाचंद ने सं० १८२३ में जिस गुटके में किया है[1] वह विजयकीर्त्ति का निजी गुटका जान पड़ता है. इसमें रागमाला एवम् संगीत के प्रसिद्ध २४ तालों का विशद चार्ट भी प्रतिलिपित है जो कविवर के संगीत विषयक अनुराग का परिचायक है. कवि ने स्वयं भी एक रागमाला का प्रणयन किया है. उदाहरणों में जिनचरित का समावेश किया गया है. कवि के सांस्कृतिक और आदर्श व्यक्तित्व का आभास इन पदों से मिल जाता है. यदि शोध की जाय तो इनके पद और भी मिल सकते हैं. यदि कहा जाय कि दिगम्बर जैन परम्परा में यही एक ऐसे साहित्यसाधक और रुचिशील व्यक्ति अजमेर में हुए हैं जिनका स्थान वाद में रिक्त ही रहा तो कोई अत्युक्ति न होगी.

**जसराज भाट**—१८-१९वीं शताब्दी में अजमेर की अपेक्षा किशनगढ़ अधिक समृद्ध था. वहां जैनों का प्रावल्य था. सभी सम्प्रदाय आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से सम्पन्न थे. यहां के लूणिया परिवार ने पालीताना-सिद्ध क्षेत्र का विमान संघ निकाला था. जिसमें उपाध्याय क्षमाकल्याण के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय के मुनि भी सम्मलित थे. [illegible] शा संघपति थे. जसराज भाट ने संघ का विस्तृत वर्णन अपनी नीसांनी में किया है. इसका रचनासमय ज्ञात नहीं है पर संघ यात्रा कर वापस किशनगढ़ सं० १८६६ में आ गया था. प्रति का लिपिकाल सं० १८६६ और १८७८ का मध्य काल है.

जसराज भाट के वैयक्तिक जीवन से सम्बद्ध उल्लेख उपलब्ध नहीं हुए. विद्वत्परिचयार्थ नीसानी का विवरण दिया जा रहा है—

---

१. इस गुटके में हर्षकीर्ति सूरि रचित योग चिन्तामणि सटीक (टीकाकार मुनि नरसिंह) भी [illegible] है. [illegible] शिष्यों पर समाज के स्वास्थ्य और शिक्षा का दायित्व रहता था. अतः आयुर्वेद का ज्ञान इनके लिए [illegible] था.

## राजाराम तिलोकसा लूणिया संघ वर्णन

आदि भाग—

प्रथम पत्र विलुप्त है—

चढ़त प्रणांमि संघमैं आये पिमाकल्याण।
मुख मंगल अमृत वचन गीतारथ गुणवंत ।।
सूत्रसिद्धांत जांणै सकल, भाष्या ज्युं भगवंत।
वाचक तपत विराजिया, श्रावक था सो आया।
वाणी अमृत स्रवनी जलधर वरसाया ।।

चाल गज़लनी

प्ररूप्यो धर्म श्रीजिन भांण दिवसै होत है व्याख्यान।
भरम हर खरतरा भरपूर कीन्हैं कर्म आठुं दूर ।।
सागरचन्द विध मैं सार भव्यकूं करत है उपगार।
ज्ञानी वहोत है गम्भीर निरमल जैम गंगा नीर।।
पायचन्दगच्छ रो परमाण राखै जेम राजा राण।
चरच्या कारण में लखधीर जैसे वोलिया महावीर ।।

अन्त—

आयां घरो अति नीको तपै ओसवंश में टीको।
फिरं किशनगढ़ आया के गुणीयण वहोत गुण गया ।।
छासठ वरस चइत्तर मास आणंद भयौ पूगी आस।
आयै संघपति घर आय जपता जिनेश्वर को जाप ।।
धरमी धरम का धोरी कै जैसे गुण तणीयोरी के।
जैपूर कपूरचन्द आया कै परमानंद सुख पाया के ।।
सिंघवी आदि दै सव संघ आयां घरां उछरंग।
सीधां सवी वंछति काज जपै एम कवि जसराज ।।

कलश

सकल काज भए सिद्ध रिद्ध वृद्धि घर आया।
राजाराम तिलोकसी संघपति पद पाया ।।
पर्चे द्रव्य सिद्धपेत्र लाहो जगत में लिद्धो।
जगडु भांम तेजपाल जेंम दांन सुपात्रे दिद्धो ।।
नण वपतमल सरूप तणां केतां दांन पूरव कीयौ।
तीर्थंकर पचीसमो रखु नाम अवि अविचल रह्यौ ।।

इति श्री रामराज तिलोक सा लूंणिया रा संघरी नीसांणी कृत भाट जसराज की काजीस ।।

संवत १८७८ मगसीर वदि ११ लपतुं जसराज अजमेर मध्ये ।।

निज संग्रहस्थ गुटके से उद्धृत

## प्रेम-प्रेमसुख-परमसुखराय

एक ही व्यक्ति के विभिन्न नाम हैं जैसा कि कृति के अन्त: परीक्षण से विदित है. परमसुखराय तो रचना के प्रारम्भ में, कृति के अंतिम भाग में प्रैमसुख और मध्य में प्रैम[1] नाम से कवि ने नामाभिव्यक्ति की है.

ये सटोरा[2] निवासी कायस्थ-माथुर-धगरोटिया किसुनचन्द के पुत्र थे. कायस्थ होने के नाते इन्हें अरबी और फारसी भाषा का पारम्परिक ज्ञान था, विशिष्ट साहित्यिक रुचि के कारण सूचित भाषाओं के गम्भीर ग्रंथों का भी पारायण किया करते थे . राज-कर्म में प्रवीण होने के कारण अजमेर में रहकर कम्पनी सरकार में वकालत का पेशा करते थे. कवि ने आत्मवृत्त देते हुए यह स्वीकार किया है कि बड़े-अड़े अंग्रेज इनके बौद्धिक-कौशल का लोहा मानते थे. तात्कालिक वरिष्ठ मुकदमों में इनकी उपयोगिता समझी जाती थी. अजमेर में रीयांवाले सेठ[3] के किसी गुमाश्ते ने प्रपंच रचकर सेठ पर २ लाख रुपयों का दावा दायर किया जिसमें ग्रंथकार ने वकालत कर यशोपार्जन किया था.

हातमचरित्र की आदिम कुछ पक्तियों में कवि ने अंग्रेज सरकार की—कंपनी—राज की बहुत प्रशंसा की है और अजमेर में उन दिनों लौकिक त्यौहारों पर निकलनेवाली शोभायात्राओं को भी खूब सराहा है. अजमेर की मस्जिदें, मंदिर, समीपस्थ-पुष्करराज तीर्थ, सरोवर और कूपादि का भव्य-वर्णन प्रस्तुत कर तात्कालिक अजमेर की सामाजिक, धार्मिक एवम् राजनैतिक परिस्थितियों का चित्रण किया है.

सूचित "हातमचरित्र" और भागवत—"दशमस्कंध" अनुवाद परमसुखराय की दो अज्ञात रचनाएं हैं जिनका परिचय सर्व प्रथम इस प्रवंध में कराया जा रहा है. कवि ने हातमचरित्र में सूचित किया है कि उनके किसी मित्र ने आग्रह

---

१. वूटी विटपादिघनें फल-फूल लगें सबके मन भाए ।
वर्षति मेघ सुगर्ज्ज प्रसंन चराचर जीवन के हित आए ।।
पांन अनेक सुवस्तु भरें धरनी दधि रत्न सुमुक्ति सुहाए !
प्रेंम कहें सत्पुरुषनि कों धन इसो हुवै सब ही सुष पाए ।।

२. इस नगर की अवस्थिति का ठीक-ठीक पता नहीं चला है, पर १६-१८ वीं शती के हस्तलिखित ग्रन्थों की पुष्पिकाओं में 'सटोरा' का नाम अवश्य आता है. स्थानकवासी सम्प्रदाय के मुनियों की अधिकतर रचनाओं का सम्बन्ध इस नगर से रहा है. सम्भावना तो यही की जा सकती है उदयपुर और कोटा मंडल में ही इसका अस्तित्व हो.

३. अच्छा होता यदि कवि ने सेठ का नाम भी अंकित किया होता, रीयांवाले सेठ का सम्बन्ध स्थानकवासी परम्परा से रहा है. मुन्शी देवी-प्रसादजी ने अपने 'संवत् १९६८ के दौरे' में रीयांवाले सेठों का उल्लेख इस प्रकार किया है. 'पीपाड से एक कोस पर ग्वालों का एक बड़ा गाँव रीयां नामक है. इसको सेठां की रीयां भी बोलते हैं क्योंकि यहां के सेठ पहले बहुत धनवान् थे. कहते हैं कि एक बार महाराजा मानसिंह जी से किसी अंग्रेज ने पूछा था कि मारवाड़ में कितने घर हैं तो महाराज ने कहा था कि ढाई घर हैं. एक घर तो रीयां के सेठों का है, दूसरा सवलाडे के दीवाना का है और आधे घर में सारा मारवाड़.

ये सेठ मोहणोत जाति के ओसवाल थे. इनमें पहले रेखाजी बड़ा सेठ था, उसके पीछे जीवनदास हुआ, उसके पास लाखों ही रुपये सैंकड़ों हजारों सिक्के थे. महाराजा विजयसिंहजी ने उसको नगरसेठ का खिताब और एक महीने तक किसी आदमी को कैद पर रखने का अधिकार भी दिया था. जीवनदास के बेटे हरजीमल हुए, हरजीमल के रामदास, रामदास के हमीरमल और हमीरमल के बेटे सेठ चाँदमल अजमेर में हैं.

जीवनदास के दूसरे बेटे गोरधनदास के सोभागमल, सोभागमल के बेटे धनरूपमल कुचामण में थे. जिनकी गोद में अब सेठ [illegible] का बेटा है.

सेठ जीवनदास की छत्री गांव के बाहर पूरब की तरफ पीपाड के रास्ते पर बहुत अच्छी बनी है। यह १६ खम्भों की है. शिखर के नीचे चारों तरफ एक लेख खुदा है जिस का सारांश यह है—

सेठ जीवनदास मोहणोत के ऊपर छत्री सुत गोरधनदास हरजीमल करावे नींव संवत १८४१ फागुन सुदि १ को दिराई. [illegible] सुदि १५ सं० १८४४ गुरुवार को चढ़ाया. नागरी प्रचारिणी पत्रिका सं० [illegible], पृ० [illegible].

इनके यहां पर एक प्रतापजी नामक कवि के रहने का उल्लेख भी किया गया है.

किया कि कोई कृति की रचना करो जिससे आपका यश स्थायी हो जाय. इतने में हातिमताई की पुस्तक कवि के हाथ लग गई और "हातमचरित्र" नाम से अनुवाद प्रस्तुत कर डाला. कृष्णचरित्र-भागवत के दशमस्कंध के अनुवाद के लिये कोई ऐसी वात नहीं कही, संभव है यह कवि की स्वान्त:सुखाय प्रवृत्ति का परिणाम हो.

हातमचरित्र के आदि भाग के आठवें पद्य में परमसुख राय ने वीकानेर के ओसवाल कुलावतंस मेहता मूलचंदजी के पुत्र हिन्दूमल का न केवल उल्लेख ही किया है, अपितु उनके प्रति हार्दिक सद्भाव भी व्यक्त किया है. इनके पूर्वज राजकीय कार्य में परम निपुण थे. हिन्दूमलजी स्वयं कुशल प्रशासक और प्रतिभाशाली वकील थे. सं० १८८४ में वीकानेर राज्य की ओर से वकील के रूप में दिल्ली में रहा करते थे. इनकी बुद्धिमत्ता से न केवल वीकानेर नरेश ही प्रभावित थे, अपितु आंग्ल शासक भी अपने प्रिय और विश्वस्त व्यक्तियों में इन्हें मानते थे.

अव प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हातमचरित्र और दशमस्कंध के अनुवाद का काल क्या हो सकता है ? कवि पर भी थोड़ा आश्चर्य होता है कि जव उसने ग्रंथानुवाद की पीठिका में ५० से अधिक छंद लिखे हैं, वर्णन भी विस्तार से किया है तो रचनाकाल पर मौन कैसे धारण कर लिया ? पर प्रति में प्रतिलिपिकाल विद्यमान है जिससे रचना समयपरक किंचित् अनुमान को अवकाश है. इसका प्रतिलिपिकाल सं० १८९३ है.

कवि की हिन्दूमल से कव और कहाँ भेंट हुई यह तथ्य तिमिरावृत है. दोनों समानवर्मा व्यवसायी थे अत: अनुमित है कि अजमेर में ही परिचय हुआ हो और यह घटना सं० १८९३ से पूर्व में घटित हुई है. अन्यान्य ऐतिहासिक साधनों से प्रमाणित है कि उदयपुर के महाराणा ने वीकानेर नरेश रत्नसिंहजी (राज्य काल सं० १८८५-१९०८) से विशिष्ट कार्यवश हिन्दूमलजी को वि० सं० १८९६ में मांगा था, पर परमसुखराय का परिचय इतः पूर्व घनिष्ठ हो चुका था जैसा कि हातमचरित्र से स्पष्ट है. हिन्दूमल द्वारा नांवासर में एकलक्ष मुद्रा व्यय कर मंदिर और दुर्ग निर्माण करवाने का उल्लेख हातमचरित्र में ही मिलता है.

कृष्णचरित्र और हातमचरित्र का रचनाकाल सं० १८९३ से पूर्व का है. आगामी पंक्तियों में दोनों कृतियों का विवरण दिया जा रहा है :

## हातमचरित्र

दोहा

श्रीगणपति सिधि करन हें विघ्न हरन सुपदाय ।
तिनके चरन निवाइ सिर कहत **परमसुषराय** ।।१।।
पुन पद सरसिज सारदा वंदौं प्रीत समेत ।
कहौं रुचिर पद हित सरस पर उपकारिनि केत ।।२।।

सवैया

लोचन लोलसुज्योत करहि रसना रस स्वाद रचय सवइ ।
पुन ज्ञांन दोयें हरि रूप लपें पद-पंकज वंद अनंदमइ ।।
श्रव जीव तवे चुन आदि कियौ कुचि-क्षीर भरे जव पेट भई ।
असिस म्यर्थनाथको नांम लियें मुद मंगल होत जिन्हें नितई ।।

चौपाई

मालम यह मुलक सकल सुपरासी, नयर **सटोरा** के हम वासी ।
कायथ माथुर जात हमारी **भगरोटीया** अल्ल अति प्यारी ।।

किसुनचंद पितु धर्म-धुरंधर सदावर्त्त हरि-भजन दयाकर।
अति सुसील बुधिवंत घनेरा हीराचंद भ्रात वड मेरा ॥
अमिल रत्न जिमि अर गुनसागर जगत विदित जस कीति उजागर।
महमदसाहि नवाव सु लपकर कंपू सात सवारा बहादर ॥
पोतदार तो कते भए मारवार ढुंढारहि गएं।
अरु मेवाड़हु देस विसेसा जानत सकल सेठ भा ऐसा ॥
अति हुसयार सुवुद्ध प्रवीनां स्यामलाल सुत भगवती दीन्हीं।
बीकानेर सुराज सुहायो हिन्दूमल वकील मन भायो ॥
करे नौकरी तिनकी मनसे रपैं न और वासता किनमैं।
मन वच कर्म काज कर सोई स्वांमि धर्म ऐसा नहि कोई ॥
नांवासेर मंदिर करवायो एकलाप में किला वणावो।
दुजा गढ टोंक सु तामें सवालाप लग रूपा सुवामें ॥
सांभर मैं तीरथ दै दांनी तहाँ मंदर द्विजराज भवांनी।
सत्य सिंधु मन कपट न ताके देई न सकै..............॥

दोहा

सुपद भ्रात मंझले सरस मानकचन्द सुनाम।
घरको कारज ते करे सव सिधि रसप तमांम ॥

चौपाई

में पढ हिन्दी और फारसी सेर कवित मिली आरसी।
सव कामिन मैं सजी त्यारी ज्वाव स्वाल में अति हुस्यारी ॥
वडनांमी असि सेठ रीयांके वस अजमेर सुवास ह्यांके।
राज कंपनी सव सुपदारी अजा-सिंघ जल पिय इक ठाई ॥
दोईलापका दावा तिन पूर कीयौ गुमास्ता जाल वणांकर।
ता कारण हमकों वुलवाये भयो निसाफ सेठ सुप पाये ॥
लापनिकेर मुकदमा कीनां रहें अदालति में जस लीनां।
साहिव लोग रहें नित राजी जे इन्साफ मार्ग सुप साजी ॥
हातम की किताव हम पाई लिपी फारसी वात सुहाई।
करों हिन्दवी यों मन आवा चरित नीर जिमि होइ तलावा ॥

अन्त भाग

पर हित आपन दुप सहै करे और को काज।
ताको सापीं ग्रंथ यही कहा वनौं तिहि राज ॥
वरनहुं कहा तिहि राजकों सापी सु सव यह ग्रंथ हैं।
जो सुनहीं पर हित नां करै पापांन ऊर मतिमंद हैं ॥
कह प्रैंम जगमैं सार दोईक नांम हरि ऊपगार हैं।
इक व जीभ सैं इक सक्तिसों जानैं न मुसकल भार हैं ॥

सोरठा

लेवे तो लेहु रांम नाम सोदा सरस। देत वने तो देहु दान मांन उपिगार ॥

इति श्रीहातमचरित्र प्रैंमसुपकृते सप्तम सवाल. मिति भाद्रवमासे शुक्लपक्षे दोज सोमवासरे संवत १८६३ सम्पूर्ण।

भागवत-दशमस्कंध-कृष्णचरित्र

आदि

छंद

गणपति जु सिद्धिकर रिद्धि सुप नवनिध्य मंगलदायकं ।
जिहिके सुमिर ह्वै काज सुभ असि देव हेत्र सव लायकं ।।
पद कंज वंद अनंद मनकहूं कृष्णचरित्र मनोहरं ।
भवसिंधू तारन करन पावन देत सों सदगति परं ।।

दोहा

सरस्वति चरननि नाइ सिर मांगों बुद्ध रसु सुद्ध ।
कहौं चरित श्रीकृष्ण के नवरस सरस प्रसिद्ध ।।

सवैया

पर्वत नील सकल कर कज्जल सिंधुनिकी दावात बनावे ।
देव विरक्षनि डारनि लेपिनि भूमि सुपत्र विशालउ जावे ।।
सारद तास लिपे हिनिसिवासर तो पि न ताको पार न आवे ।
नेति कहे ते वेद पुरांन सु वस्नचरित्र **परमसुप** पावे ।।

अन्त भाग

. दोहा

देपी महिमा प्रथम जो सुमिर सु वार-वार ।
उठ द्रग पोले देष तव, श्रीमुकुंद करतार ।।

सोरठा

पुन-पुन माथ नवाइ हाथ जोड़ गदगद गिरा ।
प्रेम मगन मन भाइ लागै अस्तुति किरन कौ ।।

इति श्री भागवतेमहापुराने दशमस्कंवे परमहंस संहितायां वत्सांहरणौ नाम त्रयोदसौध्याय.

## उपसंहार

जैसा कि इस निवंध के प्रारम्भिक अंश में कहा जा चुका है कि विज्ञप्ति और आदेश पत्रों को स्वतन्त्र रचना के रूप में स्थान नहीं दिया है. किशनगढ़ मसूदा और रूपनगर जैन-संस्कृति के केन्द्र रहे हैं. जो भी विद्वान् मुनिराज के सूचित स्थानों में चातुर्मास होते थे वे अपने पूज्य गुरुवर्यो को अपनी ओरसे या श्रीसंघ की ओरसे विस्तृत आमंत्रण-पत्र भिजवाते थे. ये पत्र भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि हैं. आज तो पत्र भी साहित्य की व्याख्या में समाविष्ट हैं, पर उन दिनों के पत्र तो साहित्य, संस्कृति और कला के अन्यतम प्रतीक समझे जाते थे. तात्कालिक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक बातों का प्रामाणिक उल्लेख ऐसे पत्रों में मिलता है. कतिपय पत्र तो महाकाव्य की संज्ञा से अभिहित किये जा सकते हैं. अजमेर समीपवर्त्ती क्षेत्र से संवद्ध ऐसे दो पत्रों का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है. प्रथम पत्र महोपाध्याय श्री मेघविजयजी का है जिनके जीवन का बहुमूल्य भाग किशनगढ़ में ही व्यतीत हुआ था. इनने कुमार-संभव की पूर्त्ति स्वरूप एक पाण्डित्यपूर्ण विज्ञप्ति पत्र संस्कृत भाषा में अपने आचार्य के पास सं० १७५६ में भेजा था,

इसकी एकमात्र प्रति मेरे संग्रह में सुरक्षित है. इसका आजतक कहीं उल्लेख नहीं हुआ है. पत्र स्वलिखित है, इससे इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है.

दूसरा पत्र है कल्याणमंदिर समस्यापूर्ति स्वरूप. यह भी विज्ञप्ति पत्र है जो मसूदा से सं० १७७८ में आचार्य श्री क्षमाभद्रसूरि की सेवा में अजवसागर, ईश्वरसागर, अनूपसागर, तथा गोकल, गोदा और वपता की ओर से भेजा गया है. उपर्युक्त मुनिवर अधिकतर सथाणा और मसूदा में रहे हैं. इनकी लिखी और रची कृतियां उपलब्ध हैं. सथाणा से भी अजवसागर ने सं० १७७७ में एक संस्कृत भाषा में रचित वार्षिक पत्र प्रेषित किया था, जो मेरे संग्रह में है.

रूपनगर के बीसों आदेश पत्र तथा उदयपुर के यतियों पर समय-समय पर वहां के रहनेवाले यतियों द्वारा लिखित पत्रों की संख्या कम नहीं है. ये पत्र उस समय की परिस्थिति के अच्छे निदर्शन तो हैं ही, साथ ही भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी उपादेय है.

उपर्युक्त पंक्तियों में यथाशक्य जो कुछ भी अज्ञात साहित्यकार और उनकी रचनाओं पर प्रकाश डाला गया है, मेरा विश्वास है कि हिन्दी भाषा की व्यापकता को देखते हुए यदि शोध की जाय तो और भी प्रचुर और नव्य साहित्यिक सामग्री मिलने की पूर्ण संभावना है. विज्ञों से निवेदन है कि वे स्वक्षेत्र के उपेक्षित साहित्यिकों पर अनुसंधान कर नूतन आलोक से सारस्वतों की उज्ज्वल कीर्त्ति को प्रशस्त बनावें.

## निबंध में उल्लिखित कवि और उनकी रचनाएं

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | जिनरंगसूरिजी | धर्मदत्त चतुःपदी | रचनाकाल सं० १७३७, किशनगढ़ |
| २ | मेघविजयजी गणि | मेघीयपद्धति | |
| ३ | मानसिंहजी | स्फुट-पद | राज्यकाल सं० १७००-१७६३ |
| ४ | राजसिंहजी | ब्रजविलास | रचनाकाल सं० १७८८ |
| | | राजा पंचक कथा | रचनाकाल सं० १७८७ के पूर्व |
| | | स्फुट-पद, स्फुट कवित्त | |
| ५ | ब्रजदासी-बांकावती | सालवजुद्ध, आशीष संग्रह | रचनाकाल सं० १७८३ |
| | | स्फुट कवित्तादि | |
| ६ | विड़दसिंहजी | गीतिगोविंद टीका | राज्यकाल सं० १८३८-१८४५ |
| ७ | कल्याणसिंहजी | स्फुट-पद | राज्यकाल १८५४-९८ |
| ८ | पृथ्वीसिंहजी | ,, | ,, १८९७-१९३६ |
| ९ | जवानसिंहजी | रसतरंग | |
| | | जल्वये शहनशाह इश्क | रचनाकाल सं० १९४५ |
| | | नखशिख-शिखनख | ,, सं० १९४६ |
| | | धमार शतक (संकलन) | |
| १० | यज्ञनारायणसिंहजी | स्फुट पद, रसिया | राज्यकाल सं० १९८३-९५ |
| ११ | नागिग | मजलिस शिक्षा | रचनाकाल सं० १७६० |
| १२ | पंचायण | मुहूर्त्त कोश | रचनाकाल सं० १८१५, अजमेर |
| १५ | विजयकीर्त्तिजी | भरत बाहुबली संवाद | रचनाकाल सं० १८८३ के पूर्व अजमेर |
| | | गज सुकमाल चरित्र | |
| १४ | जसराज भाट | राजाराम तिलोकसी संघ नीसानी | रचनाकाल सं० १८७८ के पूर्व |

निबंध में प्रयुक्त सभी हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतियां लेखक के निजी संग्रह की हैं.

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री
विद्यावाचस्पति व्याख्यान केसरीसमाजरत्न न्यायकाव्यतीर्थ

# कर्नाटक साहित्य की प्राचीन परम्परा

कर्नाटक प्रान्त के प्राचीन विद्वानों ने जैनसंस्कृति व साहित्य की रक्षा के लिए अपना विशिष्ट योगदान दिया है. आज भी जैन पुरातत्त्व, साहित्य, स्थापत्यकला आदि के दर्शन जो इस प्रांत में होते हैं उनसे विश्व का समस्त भाग आश्चर्य-चकित होता है.

भगवान् वाहुवली की विशालकाय मूर्ति, वेलूर काल के मन्दिर, मुडविद्री की दर्शनीय नवरत्ननिर्मित अनर्घ्य रत्न-प्रतिमाएँ, आदि आज भी इस प्रांत के वैशिष्ट्य को व्यक्त करते हैं. जैन साहित्य के सृजन और संरक्षण का श्रेय भी इस प्रान्त को अधिकतर मिलना चाहिये, क्योंकि षट्-खण्डागम सदृश आगम-ग्रंथ की सुरक्षा केवल इस प्रांत के श्रद्धालु वन्धुओं की कृपा से ही हो सकी, यह एक स्वतन्त्र विषय है. इस लेख का विषय केवल कर्नाटकसाहित्य की परम्परा का अवलोकन करना है.

## कर्नाटक-साहित्य की परम्परा

वैसे तो कर्नाटक-साहित्य की परम्परा का सम्वन्ध वहुत प्राचीन काल से जोड़ा जाता है. भगवान् आदिनाथ प्रभु की कन्या ब्राह्मी ने कन्नड लिपि का निर्माण किया, इस प्रकार का एक कथन परम्परा से, इतिहासातीत काल से सुनने में आता है, परन्तु आज हमें ऐतिहासिक दृष्टि से इस साहित्य की परम्परा कितनी प्राचीन है, इसका विचार करना है.

अनेक ग्रंथों के अवलोकन से यह अवगत होता है कि प्राचीन आचार्ययुग में कर्नाटक ग्रंथकर्त्ताओं का भी अस्तित्व था. कर्नाटक-साहित्य-निर्मिति का सर्वप्रथम श्रेय जैन ग्रंथकारों को ही मिलना चाहिए. इस विषय में आज के साहित्य-जगत् में कोई मतभेद नहीं है. केवल प्राचीनता के लिए ही नहीं, विषय व प्रतिपादन महत्त्व के लिए भी आज कर्नाटक में जैन साहित्य को ही प्रथम स्थान दिया जा सकता है. इसलिए आज अनेक विश्वविद्यालयों के पठन-क्रम में जैन-साहित्यग्रंथ ही नियुक्त हुए हैं. जैनेतर निष्पक्ष विद्वानों ने जैन साहित्य की मुक्तकण्ठ से अनेक वार प्रशंसा की है. इस दृष्टि से कर्नाटक जैन साहित्य की परम्परा वहुत प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है, यह निर्विवाद सिद्ध होता है.

प्राचीनकाल में इस साहित्य के निर्माता जैन कवियों को राजाश्रय मिला था अतः गंग, पल्लव, राष्ट्रकूट आदि राजवंशों के राज्यकाल में इन कवियों को विशेष प्रोत्साहन मिला. इन कवियों से उन राजाओं को अपने राज्यशकट को निर्वाध रूप से चलाने के लिए वल मिला, यह विविध घटनाओं से सिद्ध होता है.

राष्ट्रकूट शासक नृपतुंग नौवीं शताब्दी में हुआ है, उसने कविराजमार्ग की रचना की है. उसके उल्लेखों से अनुमान किया जा सकता है कि उससे पहले भी कर्नाटक साहित्य की रचना हुई है. उससे पहले पुराने कन्नड जिसको 'हवे कन्नड' के नाम से कहा जाता है, उसमें ग्रंथों की रचना होती थी. कविराजमार्ग में नृपतुंग ने कुछ हवे कन्नड काव्यों के प्रकार का निर्देश किया है. इसके अलावा कुछ प्राचीन कवियों का उल्लेख भी ग्रंथकार ने किया है.

श्रीविजय, कविपरमेश्वर, पंडितचन्द्र, लोकपाल आदि कवियों का स्मरण किया है.

महाकवि पम्प ने भी समन्तभद्र, कविपरमेष्ठी, पूज्यपाद आदि कवियों का उल्लेख किया है.

समन्तभद्र और पूज्यपाद का समय बहुत प्राचीन है. इन आचार्यों की जन्मभूमि और कर्मभूमि कर्नाटक की रही है, इसीलिए अनुमान किया जा सकता है कि इन आचार्यों ने भी कोई कर्नाटक भाषा में अपनी रचना की हो, परन्तु अभी कोई उपलब्ध नहीं है. पूज्यपाद के कई ग्रंथों पर कर्नाटकटीका उपलब्ध होती है, समन्तभद्र के ग्रंथों पर भी पुराने कन्नड में टीका लिखी गई है. इसलिए यह सहज अनुमान हो सकता है कि इनके काल में भी कर्नाटक साहित्य की सृष्टि हुई हो.

नृपतुंग के द्वारा उल्लिखित श्रीविजय ने भी कोई कर्नाटकग्रंथ की रचना की होगी, यह भी स्पष्ट है, जिसका उल्लेख अनेक स्थलों में उत्तर ग्रन्थकार करते हैं.

इन कवियों के साथ कवीश्वर या कविपरमेष्ठी का जो उल्लेख आता है वह भी प्राचीन कवि मालूम होता है. यह भी निर्विवाद है कि महापुराणकार भगवज्जिनसेन और गुणभद्र से भी पहिले इसकी रचना अस्तित्व में होगी, और महत्त्वपूर्ण स्थान को लेकर, क्योंकि भगवज्जिनसेन ने भी अपने आदिपुराण में इसका उल्लेख आदर के साथ किया है—

स: पूज्य: कविभिर्लोके कवीनां परमेश्वर:
वागर्थ-संग्रहं कृत्स्नं पुराणं य: समग्रहीत्।[१]

इसी प्रकार उत्तरपुराण में आचार्य गुणभद्र ने कवि परमेश्वर का उल्लेख किया है.

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि त्रिषष्ठिशलाका पुरुषों के पुराण का कथन करने वाला ग्रंथ आचार्य जिनसेन और गुणभद्र से भी पहले अवश्य कवि परमेष्ठी के द्वारा रचित रहा होगा, वह कर्नाटक भाषा में था. वह भले ही संक्षिप्त हो, परन्तु भगवज्जिनसेनाचार्य ने उसका विस्तार किया.

इन सब बातों को लिखने का हमारा अभिप्राय यह है कि कर्नाटक साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन है. जिनसेन गुणभद्रादिक से कई शती पहिले से ही कर्नाटक ग्रंथों की रचना होती रही, इस बात के उल्लेख उत्तर कालवर्ती ग्रंथों में पाये जाते हैं. तत्पूर्व के अनेक शिलालेख भी पाये जाते हैं. यत्र-तत्र ग्रन्थों में उन प्राचीन ग्रंथों के उद्धरण भी मिलते हैं. फिर भी दुर्दैव है कि समग्र साहित्य उपलब्ध नहीं होता है. इस सम्बन्ध में यहाँ पर हम दिग्दर्शन मात्र करा देते हैं. विशेष परिचय से स्वतन्त्र ग्रंथ बन जायगा. जैन कवियों ने कर्नाटक भाषा में गद्यकाव्य और पद्यकाव्य की रचना की है, आदिकवि पम्प ने चम्पू काव्य से ही अपनी कला का श्रीगणेश किया है.

### पंप महाकवि

महाकवि ने क्रि० श० ९४१ में आदिपुराण और पम्पचरित की रचना की है, उनकी ये रचनायें चम्पू में हैं. चम्पूकाव्य का यही जनक प्रतीत होता है. इसकी रचना को कर्नाटक साहित्य में विशेष महत्त्व का स्थान है.

पम्प मूलत: वैदिक था, अर्थात् इसके पूर्वज वैदिक थे, परन्तु इसके पिता श्री अभिराम ने जैन धर्म की महत्ता से प्रभावित होकर उसे अंगीकार किया. इसलिए पम्प के जीवन में जैन धर्म का ही संस्कार विशेषत: दृष्टिगोचर होता है.

सबसे पहले महाकवि ने आदिपुराण की रचना की है, आदिपुराण की रचना प्राय: भगवज्जिनसेन के द्वारा विरचित आदिपुराण के कथा वस्तु को सामने रखकर पम्प ने की है. परन्तु शैली उसकी स्वतन्त्र है. जैसे संस्कृत महापुराण में आचार्य ने केवल कथासाहित्य का ही निर्माण नहीं किया साथ में धर्माचरण और तत्त्वबोध की दृष्टि भी रखी, इसी प्रकार पम्प ने अपने ग्रन्थ में साहित्य और धर्मबोध, दोनों उद्देश्यों को साधा है. आदिपुराण में भी भगवान् आदिप्रभु का चरित्र बहुत सरस ढंग से चित्रित किया गया है, भोग और योग का सुन्दर सामंजस्य करते हुए कवि ने ग्रंथ में

---

१. आदिपुराण पर्व १ श्लो० ६०.

सर्वत्र भोग-विरति का उपदेश दिया है. इसकी दूसरी रचना पम्पचरित है. इसका विषय भारत है. अपने कालीन राजा आदिकेसरी को अर्जुन के स्थान पर रखकर कवि ने स्थान-स्थान पर उसकी प्रशंसा की है. अर्जुन के साथ अपने राजा की तुलना करने की धुन में कहीं-कहीं कथावस्तु में भी किंचित् अन्तर कवि को करना पड़ा है, तथापि काव्य के महत्त्व में कोई न्यूनता नहीं है. यह कर्नाटक साहित्य में आद्य कवि माना जाता है. जैन जैनेतर सर्वक्षेत्रों में पम्प के साहित्य के प्रति परमादर का स्थान है, उत्तर ग्रंथकारों ने पम्प को बहुत आदर के साथ स्मरण किया है. आगे जाकर एक कवि ने अपने को अभिनव पम्प के नाम से उल्लेख किया है, इससे भी आदि पम्प की महत्ता व्यक्त होती है.

## कवि पोन्न

पम्प के वाद पोन्न नाम का कवि हुआ. इसका समय ई० ९५० करीव माना जाता है. इसने भी पम्प के समान ही एक धार्मिक और लौकिक तथा दूसरा धार्मिक, इस प्रकार दो काव्यों की रचना की है ,इसकी रचना में मुख्यत: शान्तिनाथ-पुराण का उल्लेख किया जा सकता है. दूसरा लौकिक ग्रंथ भुवनैकरामाभ्युदय उपलव्ध नहीं है. इसके अलावा 'जिनाक्षरमाला' नामक स्तोत्र ग्रंथ की भी इसने रचना की है. इस कवि का भी कर्नाटकसाहित्यक्षेत्र में उच्च स्थान है. इसे कविचक्रवर्ती उभयभाषा-कविचक्रवर्ती आदि उपाधियां थीं. उत्तर कवियों ने इसका भी सादर स्मरण किया है.

## कवि रन्न

पोन्न के वाद रन्न महाकवि का उल्लेख करना चाहिए. वह करीव क्रि० श० ९९३ में हुआ, यह जैन वैश्य था. सामान्य कासार कुल में उत्पन्न होने पर भी संस्कृत और कन्नड़ में उद्दाम पांडित्य को प्राप्त किया था. अनेक सुन्दर ग्रंथों की रचना कर कर्नाटक साहित्य-जगत् का इसने महदुपकार किया है. इसकी रचनाओं में से कुछ उपलव्ध हैं. अजितनाथ तीर्थंकर पुराण, आदि उपलव्ध हैं, अज्य उल्लिखित परशुरामचरित चक्रेश्वरचरित अनुपलव्ध हैं. यह भी कर्नाटक साहित्य में उच्च स्थान में गणनीय कवि है.

पम्प, रन्न और पोन्न ये कन्नड़ कवि रत्नत्रय कहलाते हैं इसीसे इनकी महत्ता का अनुमान किया जा सकता है.

## कवि चामुण्डराय

इसी समय के कवि चामुंडराय ने जो क्रि०श० ९६१ से ९८४ तक गंगवाडी के राजा मारसिंह, राजमल्ल का सेनापति था, चामुंडरायपुराण की रचना की है. यह चतुर्विंशति तीर्थंकरों के चरित्र को वर्णन करनेवाला गद्य-ग्रंथ है. इस प्रकार शिवकोटी ने वड्डाराध ने नामक गद्यग्रंथ की रचना की है.

## कुछ अन्य कविगण

इसके वाद करीव ग्यारहवें शतमान में धर्मामृत के रचयिता कवि नमसेन और लीलावती प्रवन्ध के रचयिता नेमिचन्द्र, कधिगर काव्य के रचयिता अंडम्म का उल्लेख किया जा सकता है. इन्होंने धर्मोपदेश देने के निमित्त से विविध प्रमेयों को चुनकर ग्रन्थ निरूपण किया है. कथा-साहित्य के साथ अहिंसादि धर्मों का परिपोषण इन ग्रंथों से होता है. इसी युग में कुछ अन्य कवि भी हुए हैं, जिन्होंने चतुर्विंशति तीर्थंकरों के पुराणग्रंथों की रचना की है. उनमें उल्लेखनीय कवियों का दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है, कविकर्णपार्य ने (१-१४०) नेमिनाथ पुराण, अगतदेवने (११८९) चन्द्रप्रभ-पुराण, कवि आचण्ण (११९५) ने वर्धमान पसणढा, कवि गुणवर्म (१२३५) ने पुष्पदंत पुराण, कवि कमलभव ने (१२३५) शान्तीश्वरपुराण, कविमहावल ने (१२५४) नेमिनाथ पसणढा, मधुर कवि ने (१३८५) धर्म नामपुराण की रचना की है. इन सबकी रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं.

## कवि चक्रवर्ती जन्न

क्रि० श० ११७० से १२३५ के वीच में जन्न महा कवि ने अपनी रचना से कर्नाटक साहित्यजगत् का उपकार किया

है. इसने यशोधरचरित्र को लिख कर अपने रचनाकौशल को व्यक्त किया है. इसका प्रमेय यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य का है. कर्नाटकसाहित्य में जन्न की रचना के लिए भी वही स्थान प्राप्त है जो संस्कृत साहित्य में यशस्तिलक चम्पू को है. यह कविचक्रवर्ती उपाधि से विभूषित हुआ है.

प्राय: इसी समय हस्तिमल्ल हुआ, वह उभय भाषा कविचक्रवर्ती था, उसने गद्य में आदिपुराण की रचना की है. यह करीब १२९० में हुआ. इसके कुछ संस्कृत ग्रंथ हैं.

### अभिनव पम्प नागचन्द्र

१२ वें शतमान में नागचन्द्र नामक एक विद्वान् कवि हुआ है जिसने रामायण की रचना की है. जैन परम्परा के उपदेशानुसार निर्मित पउमचरिउ रविषेणकृति पद्मपुराण आदि के अनुसार ही इसने रामायण की रचना की है. इसकी रचना भी सुन्दर हुई है. इसने अपने को अभिनव पम्प के नाम से उल्लेख किया है. इसने विजयपुर में एक मल्लिनाथ के जिनालय का निर्माण कराया, उस की स्मृति में मल्लिनाथपुराण की रचना की है.

इसके बाद १४ वें शतक में भास्कर कवि ने जीवंधरचरित का निर्माण किया और कवि बोम्मरस ने सनत्कुमारचरित्र और जीवंधरचरित्र की रचना की है.

१६ वें शतक के प्रारम्भ में मंगरस कवि ने सम्यक्त्वकौमुदी, जयनृपकाव्य, नेमिजिनेशसंगति, श्रीपालचरित्र, प्रभंजनचरित और सूपशास्त्र आदि ग्रंथों की रचना की है. इसी प्रकार साववकवि ने भारत और कविदोड्ड ने चन्द्रप्रभचरित्र को इसी समय के लगभग निर्माण किया है .

### महाकवि रत्नाकर वर्णी

इसके बाद महाकवि रत्नाकर वर्णी का उल्लेख बहुत आदर के साथ साहित्य जगत् में किया जा सकता है. इसने भरतेश्वरवैभव नामक बहुत बड़े आध्यात्मिक सरस ग्रंथ की रचना की है. इसमें करीब १० हजार सांगत्य श्लोक हैं। कवि का वर्णनाचातुर्य, पदलालित्य, भोग-योग का प्रभावक वर्णन उल्लेखनीय है. इस ग्रंथ को कवि ने भोगविजय, दिग्विजय, योगविजय, मोक्षविजय और अर्ककीर्तिविजय के नाम से पंच कल्याण के रूप में विभक्त किया है. उसका समय क्रि० श० १५५७ का माना जाता है. इस महाकाव्य में कवि ने आदिप्रभु के पुत्र भरतेश्वर को अपना कथानायक चुनकर उसकी दिनचर्या का वृत्त अत्यन्त आकर्षक ढंग से वर्णन किया है. इस काव्य में जैसे अध्यात्म का पराकाष्ठा का वर्णन है. यह महाकाव्य आध्यात्मिक सरस कथा है. लेखक के द्वारा उसका समग्र हिन्दी अनुवाद हो चुका है और उसकी कई आवृत्तियां प्रकाशित हो चुकी हैं. गुजराती, मराठी और अंग्रेजी में भी यह प्रकाशित होने जा रहा है. इसी से इस ग्रंथ की महत्ता समझ में आ सकती है. इस महाकाव्य को भारतीय साहित्य अकादमीने भी प्रकाशित करने का विचार किया है. उसने इस ग्रंथ के अलावा रत्नाकरशतक, अपरजिनशतक और त्रिलोकशतक नामक शतकत्रय ग्रंथ की भी रचना करके आध्यात्मिक जगत् का उपकार किया है.

इसके बाद सांगत्य छंद में अनेक कवियोंने ग्रंथरचना की है—बाहुबलि कवि ने (१५६०) नागकुमार चरित्र, पायण्णव्रति ने (१६०६) सम्यक्त्वकौमुदी, पंचबाल ने (१६१४) भुजबलचरित्र की रचना की. इसी प्रकार चन्द्रम कवि ने (१६४६) कार्कल के गोम्मटेशचरित्र, धरणीपंडित ने (१६५०) बिज्जणराम चरित्र, नेमि पंडित ने (१६५०) सुविचारचरित्र, चिदानंद ने (१६८०) मुनिवंशाभ्युदय, पद्मनाभ ने (१६८०) जिनदत्तरायचरित्र, पायण कवि ने (१७५०) रामचन्द्रचरित्र, अनंत कवि ने (१७८०) श्रवणबेलगोल के गोम्मटेश चरित्र, धरणी पंडित ने वरांगचरित्र, चन्दपार्य ने जिनभारत, चन्द्रसागर वर्णी ने (१८१०) रामायण की रचना की है. इसी के लगभग नाग पंडित ने भव्यजन-चिन्तामणि, और देवचन्द्र ने राजावलीकथा नामक ऐतिहासिक ग्रंथ की रचना की है. पम्प के युग को हम चम्पूयुग कह सकते हैं और रत्नाकर वर्णी के युग को हम सांगत्य का युग कह सकते हैं. दो युगपुरुष हैं.

## विभिन्न विषय में कर्नाटक साहित्य

नृपतुंग के द्वारा विरचित 'कविराजमार्ग' लक्षणग्रंथों में कवियों के लिए राजमार्ग है, इसी प्रकार नागवर्म का छंदोदधि नामक छंदग्रंथ, दूसरे नागवर्मका कर्नाटक भाषा-भूषण (व्याकरण) काव्यावलोकन (अलंकार) वस्तुकोष (कोष) भट्टाकलंक का शब्दानुशासन (व्याकरण) केशीराज का (१२६०) मलिदर्पण (?) और साल्व के द्वारा विरचित रस-रत्नाकर (रसविषयक) देवोत्तमका नानार्थरत्नाकर (कोष) शृंगार कवि का कर्नाटकसंजीवन (कोष) आदि ग्रंथ कर्नाटक कवियों की विविध विभाग की सेवाओं को व्यक्त करते हैं.

इसी प्रकार वैद्यक, ज्योतिष और सामुद्रिकादि शास्त्रों की रचना कर्नाटक के कवियों ने की है. उनमें बहुत से ग्रंथ अनुपलब्ध हैं, कुछ उपलब्ध हैं. कल्याणकारक (वैद्यक) (सोमनाथ) हस्त्यायुर्वेद (शिवमारदेव) बालग्रहचिकित्सा (देवेन्द्र-मुनि) मदनतिलक (चन्दराज) स्मरतंत्र (जन्न) आदि ग्रंथ भी उल्लेखनीय हैं. इसके अलावा ध्यानसारसमुच्चय आदि ग्रंथों की भी रचना हुई है.

इसी प्रकार ज्योतिषसंबंधी रचनाओं में श्रीधराचार्य का जातकतिलक (१०४९) चाउण्डराय का लोकोपकारक (सामुद्रिक) जयबन्धुनन्दन का सूपशास्त्र, राजादित्यका गणितशास्त्र, अर्हद्दास के द्वारा विरचित शकुनशास्त्र आदि ग्रंथ भी उल्लेखनीय हैं.

स्पष्ट है कि कर्नाटक प्रांतीय कवियों ने बहुत प्राचीन काल से ही साहित्य के विविध अंगों की सेवा कर महान् लोकोपकार किया है. बहुत से साहित्य नष्ट-भ्रष्ट हुए, अवशेष साहित्य भी विपुल प्रमाण में आज उपलब्ध हैं. कर्नाटक प्रांत में जैन साहित्य और जैन साहित्यकारों के नाम हरएक सम्प्रदाय वाले बहुत गौरव के साथ स्मरण करेंगे. ऐसी स्थिति का निर्माण इस परम्परा ने किया है. जैन समाज के लिए यह अभिमान की चीज है. परन्तु यदि हम इस पावन परम्परा की सुरक्षा करने में समर्थ हुए तो ही हमारे लिए भूषण है. अन्यथा केवल बपौती का नाम लेकर जीनेवाली पुरुषार्थहीन सन्तति का ही स्थान हमारा है.
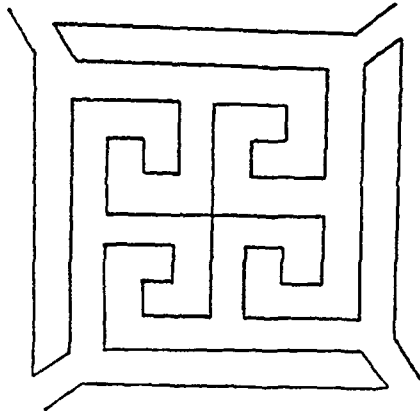
श्रीसुशीलकुमार दिवाकर
एम० ए०, वी० काम०, एल-एल० वी०

# काव्य में अध्यात्म

जबकि पश्चिमी सभ्यता ने अपनी उन्नति की नींव और कलश पर जड़-वादिता का संस्कार डाला है, तब भारत ने भौतिकता की दृष्टि से पीछे होते हुए भी अध्यात्म की निरन्तर साधना की है. इस आध्यात्मिकता में ही जीवन की महानता और अमूल्यत्व निहित है. भारत-मन्दिर में आध्यात्मिकता का चित्ताकर्षक गीत निरन्तर गाया जा रहा है. यह भारतीय अध्यात्म का ही प्रभाव है कि हमने पाश्चात्य विद्वानों के लिए पूर्ण-रूपेण अज्ञात आत्मा के अनंत गुणों का पता पाया है. आत्मा जो अदृश्य और केवल अनुभवगम्य है, भारतीय महर्षियों द्वारा देखी गई और पहचानी गई. जब पाश्चात्य दार्शनिक कार्लाइल सदृश विद्वान् यह कहकर सन्तुष्ट हो गये कि 'मैं क्या हूं' इसकी चिंता छोड़कर 'मुझे क्या करना है' पर ही विचार करना चाहिये, तब भारतीय महात्माओं और सर्वज्ञों ने आत्मा का पता लगाया. उनके इस आत्मदर्शन में उनका त्याग, ज्ञान, निःस्पृहता, ध्यान, तप, वैराग्य, अपरिग्रह, अहिंसा आदि पारस्परिक पर्यायवाची, सद्-गुणों का अवस्थित रहना अत्यन्त महत्त्व का है.

उन महावीर, बुद्ध, प्रभृति महान् व्यक्तियों के समतादायक शुभ मार्ग को संस्कृत, पाली और प्राकृत के आचार्यों ने जनता तक पहुंचाने का सफल प्रयत्न किया. भारतीय विद्वानों ने अपने विशुद्ध जीवन के आधार पर सफल लेखनी द्वारा लोक-प्रिय भाषा में जनरंजन और जनहित के लिए असंख्य काव्यों की रचना की. न केवल रचना की. वरन् उन गीतों को गाकर जन-जन की हृत्तन्त्री पर स्पष्ट प्रभाव अंकित कर पवित्रता की ओर उन्मुख कर दिया. भारतीय जीवन में 'सन्तोष धन' की आवाज उन्हीं विद्वानों ने बुलन्द की. महाराष्ट्र के कवियों ने तानाजी मालसुरे की सेना में वीर-काव्य गाकर जिस प्रकार ओज ओर जोश भरा, भूषण के रस से प्रभावित छत्रसाल और शिवाजी ने जिस प्रकार उत्साह पाया, उससे कितना ही अधिक तत्कालीन एवं चिरस्थायी प्रभाव कवियों का भारतीय जीवन की दार्शनिकता पर पड़ा. लोक-भाषा हिन्दी के कवियों ने भी इस ओर कम प्रयत्न नहीं किये. तुलसी ने जगमोह त्याग, काव्यकला की उपासना कर अध्यात्म की ओर ही अपनी प्रतिभा-शकट को मोड़ा. यह बात तो कथानक के अनुसार ही हो गई कि राम का चरित्र-गान करने के लिए, उन्हें 'मानस' में यदाकदा शृंगार का भी आश्रय, 'तिरछे करि नयन दे सैन तिन्हें समुझाय चली, मुसकाय चली' आदि के रूप में लेना पड़ा. कविवर बनारसीदास के बारे में उनके 'अर्धकथानक' काव्य से पता लगता है कि वे पहले शृंगारी कवि थे, परन्तु बाद में वे चेते और जब उन्हें यह आभास हुआ कि शृंगार-काव्य से न केवल अपना अहित कर रहे हैं वरन् आगे आने वाली अगण्य पीढ़ियों को स्खलित मार्ग दिखा रहे हैं, तो उन्होंने अपना समस्त शृंगार-काव्य गोमती नदी में डुबाकर सन्तोष की सांस ली. देखिये—

> एक दिवस मित्रन्ह के साथ, नौकृत पोथी लीना हाथ,
> नीद गोमती के बिच आइ, पुल के ऊपरि बैठे जाइ ।

वांचे सब पोथी के बोल, तब मन में यह उठी कलोल,
एक झूठ जो बोले कोई, नरक जाइ दुख देख सोइ।
मैं तो कल्पित वचन अनेक, कहे झूठ सब साँच न एक,
कैसे बने हमारी बात, भई बुद्धि यह आकसमात।
यह कहि देखन लाग्यो नदी, पोथी डार दइ ज्यों रदी,
तिस दिन सो वानारसी, करै धर्म की चाह।
तजी आसिकी फासिखी, पकरी कुल की राह ।।

वैसे ही रत्नावली के सांसारिक शृंगार में उलझा और मदमाता तुलसी व्यावहारिक अध्यात्म में पड़ गया. श्रीकृष्ण के शृंगार में भी उन्होंने अध्यात्म-रहस्य खोजा. सूफी मत के मुसलमान हिन्दी कवियों के बारे में तो यह बड़ी विचित्रता रही है कि प्रगाढ़ शृंगार का वर्णन करते हुए भी वे आध्यात्म खोज रहे हैं. मलिक मोहम्मद जायसी रचित 'पद्मावत' इसका ज्वलंत उदाहरण है. उसमें पद्मावती रानी-स्त्री नायिका में उन्होंने 'इष्टदेवता' की स्थापना की है. अलाउद्दीन आदि 'इष्टदेवता' से दूर करने का प्रयत्न करते हैं. परन्तु 'गोरावादल' सद्गुणों की सहायता से आत्मदेव भीमसिंह इष्ट-प्राप्ति में समर्थ होते हैं. जायसी का 'माहिका हंसेसि कोहरिहि' उनकी अटूट ईश्वर-भक्ति का परम परिचायक है. अपनी स्वाभाविक शैली से गंभीर रहस्यों का उद्घाटन करते हुए उन्होंने सांसारिक प्रेम का दिग्दर्शन कराया है.

एक कवि ने केवल शृंगार पर लिख अपनी कलम पर कलंक लगाने वाले कवियों को 'कुकवि' कह उनकी खूब निंदा की है. 'कला के लिए कला' का इससे बढ़कर समर्थ विरोध और किस भाषाप्रणाली का हो सकता है ? यथा—

राग उदय जग अंध भयो, सहजे सब लोकन लाज गंवाई।
सीख विना नर सीख रहे, वनिता-सुख-सेवन की चतुराई।
तापर और रचे रस काव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई ।।
अन्ध असूझन की अंखिया महं, मेलत हैं रज राम दुहाई।
कंचन कुम्भन की उपमा कहि, देत उरोजन को कवि वारे।
ऊपर श्याम विलोकत कै मणि, नीलम की ढकनीं ढक छारै।
यों सत वैंन कहैं न कुपण्डित, ये युग आमिष पिण्ड उघारे।
साबुन डार दई मुंह छार, भए इस हेत किन्धौं कुछ कारे।

इसी प्रसंग में इस कवि श्रेष्ठ ने कविनिर्माता विधाता पर कटुतम कटाक्ष किया है. वे लिखते हैं :

हे विधि ! भूल भई तुमते, समझे न कहां कस्तूरी बनाई।
दीन कुरंगन के तन में, तिन दंत धरे करुणा नहीं आई।
क्यों न करी तिन जीभन जे रस-काव्य करें पर को दुखदाई।
साधु अनुग्रह दुर्जन दंड दोऊ सधते; विसरी चतुराई।

ध्वनित रूप से सभी हिन्दी कवियों ने 'अध्यात्म' पुरस्सर सद्भावना से प्रेरित हो अपनी काव्यकला का परिचय दिया है. सतसई में किशोरियों के केश, कटि, वेणी, भौंह, नयन, नासिका, अधर, कपोल, वस्त्राभूषण आदि का वर्णन करने वाला महाशृंगारी विहारी भी इसे न भूला और (शायद अपनी पूर्वकृत गल्ती को विचार कर ही) उन्होंने सतसई के अंतिम भाग में 'गम्भीर घाव करने वाले' आध्यात्मिक छंदों का निर्माण किया, यथा—

को छूटचो इहि जाल परि कत कुरंग अकुलात।
ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहति, त्यों-त्यों उरझत जात।

वुधि अनुमान प्रमाण स्रुति, किये नीठि ठहराय।
सुलभ गति परब्रह्म की, अलख लखी नहिं जाय।

विहारी ने निम्न पद्यांश में तो सांसारिक जीवों को परमात्मा की ओर सम्मुख करने में कितनी सफलतापूर्वक कलम की कला दिखाई है.

भजन कह्यो तासों भज्यो, भज्यो न एको वार।
दूर भजन जाते कह्यो, सो तू भज्यो गंवार।

इस प्रकार के गम्भीर पद्यों के आधार पर ही तो विहारी बड़े घमण्ड से यह लिख पाये थे कि—

सत सैया के दोहरा, अरु नाविक के तीर,
देखत में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर।

इस प्रसंग पर राष्ट्रकवि कवीर को कौन भूल सकता है ? उनके निम्न लिखित छन्द कामी और प्रगाढ़ संसारी के भी अंतर-चक्षु खोल देते हैं—

कस्तूरी कुण्डल वसै मृग ढूँढे वन मांहि,
ऐसे घट घट राम हैं दुनियां देखे नांहि।

पाखंडियों आदि को कवीर की फटकार चेतावनी देती है—

मुंड मुंडाये हरि मिले, सव कोई लेय मुंडाय, वार-वार के मूंडते भेड़ न वैकुंठ जाय।
नाम भजौ तो अव भजौ वहुरि भजौगे कव, हरिहर हरिहर रुंखड़े ईंधन हो गये सव।
कहा चुनावै मेड़िया लांवी, भीति उसारि, घर तो साढ़े तीन हथ, घनात पौने चारि।
साधु भया तो क्या भया वोले नहीं विचार, हतै पराई आतमा वांधि जीभ तरवार॥

जहाँ हम शास्त्रों की वातों पर एकदम अविश्वास कर लेते हैं, वहां राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की तीर्थंकर महावीर के शरीर में दुग्ध सदृश रक्त पर श्रद्धासूचक काव्य देखिए—

यह तनु तो है रक्तमांसमय, उसमें भरा हुआ है दुग्ध।
वाल्यभाव से ही, जिन, यह जन, आ जाता है हुआ विमुग्ध॥

उनकी 'भारतभारती' में भारतीय आध्यात्मिक पतन और पाश्चात्य भौतिक आगमन पर जो हार्दिक दुःख किया है वह एक महान् सन्देश भारतीयों को दे रहा है. जयशंकरप्रसाद ने तो भारतीय-परम्परा में धर्म का कितना सुन्दर चित्रण किया है—

धर्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती वलि, करदी वन्द।
हमीं ने दिया शांति सन्देश, सुखी होते देकर आनन्द।
यवन को दिया दया का दान, चीन को मिली धर्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण भूमिको रत्न, शील की सिंहल को भी सृष्टि।

इस प्रकार भारत ने अपने अध्यात्म-संदेश को देश-देशान्तर में प्रसारित करने का सक्रिय प्रयत्न किया था. हिन्दू-मुस्लिम अनैक्य के दिनों में भी राष्ट्रकवि मैथिलीशरण ने क्या ही तर्कपूर्ण शब्दों में 'गुरुकुल' में स्नेह समर्थन का प्रयत्न किया है :

हिन्दू हो या मुसलमान, नीच रहेगा फिर भी नीच।
मनुष्यता सवके भीतर है मान्य मही मण्डल के वीच।

मानवता की पावन कल्पना को काव्य में उतारकर कवि ने वड़ा उपकार किया. दौलतराम कवि भी अपने [illegible]

को ही अध्यात्मयोग के भीतर गर्भित करने लगे. अहिंसा प्रतिपादन में उनका निम्न पद्यांश महत्त्व रखता है :

पटकाय जीव न हनन ते, सब विधि दरब हिंसी टरी।"

क्योंकि बनारसी के शब्दों में छोटे बड़े जीव सब एक हैं, यथा :

ज्ञान नयन तें देखिए दीन हीन नहिं कोई।

अतः दौलतराम आगे बढ़ते हैं. वे संसार के चक्र में भौतिकता अर्थात् मिथ्याभाव में उलझे हुए प्राणी को संतोष, सुख अर्थात् निराकुलता का वास्तविक मार्ग इन शब्दों में दिखा रहे हैं—

आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव मांहि न ताते शिव मग लाग्यो चहिये॥

इस शिव-मग में ही शाश्वत कल्याण होगा. न कि पश्चिमी भौतिकता-प्रचुर मिथ्यापूर्ण, असंतोषदायक जड़ता में. भला कोयला, लोहा और सीमेन्ट आदि जड़ चीजें चैतन्यपुंज आत्मा को क्या दे सकती हैं ? हां, जड़ता अवश्य दे सकेंगी. इसीलिए तो अनन्त निधिधारी मानवात्मा आज जड़वादी अथवा जड़ बनता जा रहा है. उसकी बुद्धि पर परदा पड़ गया है. वह जगन्मिथ्यात्व में भूलकर अपनी अमूल्य मानव पर्याय को यों ही जड़ वस्तुओं की साधना में नष्ट कर रहा है. अतः दौलतराम जी अपनी "अनुप्रेक्षाचिंतन" में उसे जताते हुए लिखते हैं :

"यौवन गृह गोधन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी।
इन्द्रीय भोग छिन-थाई, सुरधनु चपला चपलाई।
सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि काल दलेते।
मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावै कोई॥
चहुं गति दुख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करे हैं।
सब विधि संसार असारा, तामे सुख नाहिं लगारा।
शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगे जिय एकहिं तेते।
सुत दारा होय न सीरी सब स्वारथ के हैं भीरी।
जल-पय ज्यों जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहिं भेला।
ये तो प्रकट जुदे धन धामा क्यों हो इक मिल सुत-रामा।
पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादि तैं मैली।
नव द्वार वहै घिनकारी असि देह करें किम यारी।

इस प्रकार मिथ्यात्व और आत्यन्तिक जागतिकता से हमें सचेत कर हिन्दी के सुकवियों ने भारतीय जीवन में संतोष आदि सद्गुणों का अविच्छिन्न साम्राज्य फैलाया है.

डा० ज्योतिप्रसाद जैन
एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, लखनऊ

# जैन कथासाहित्य
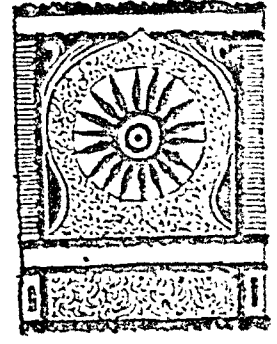
विश्व के सम्पूर्ण साहित्य को लें, अथवा किसी भी देश, जाति या भाषा के साहित्य को लें, उनका बहुभाग एवं सर्वाधिक जनप्रिय अंश किसी न किसी रूप में रचित उसका कथात्मक साहित्य ही पाया जाता है. मात्र लौकिक साहित्य के क्षेत्र में ही यह स्थिति नहीं है वरन् तथाकथित धार्मिक साहित्य के सम्बन्ध में भी यही बात पाई जाती है. साहित्य के साथ जैन विशेषण की उपस्थिति यह सूचित करती है कि यहाँ जैन नाम से प्रसिद्ध धार्मिक-परम्परा विशेष का साहित्य अभिप्रेत है. यह परम्परा चिरकाल से उस अत्यन्त प्राचीन एवं विशुद्ध भारतीय सांस्कृतिक धारा का प्रतिनिधित्व करती आई है जो 'श्रमण' नाम से प्रसिद्ध रही है. इस निवृत्तिप्रधान परम्परा में आत्मस्वातन्त्र्य एवं श्रमपूर्वक आत्मशोधन पर अत्यधिक बल दिया गया है और अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण उसने तथाकथित हिन्दु धर्म की जननी भोग एवं प्रवृत्तिप्रधान ब्राह्मण वैदिक संस्कृति से अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रक्खा. क्योंकि इस जैन श्रमणपरम्परा का मूल उद्देश्य वैयक्तिक जीवन का नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नयन था. उसकी दृष्टि केवल सामूहिक लोकजीवन अथवा किसी वर्ग या समाज विशेष तक ही सीमित नहीं रही वरन् उसने प्रत्येक जीवात्मा को व्यक्तिशः स्पर्श करने का प्रयत्न किया. यही कारण है कि इस परम्परा द्वारा प्रेरित, सृजित, प्रचारित एवं संरक्षित साहित्य भारतवर्ष की प्रायः समस्त प्राचीन एवं मध्यकालीन भाषाओं में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है. प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड, तामिल, राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओं के विकास एवं उनके साहित्यिक भंडार की अभिवृद्धि में जैन साहित्यकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान है.

विपुल जैन साहित्य केवल तात्त्विक, दार्शनिक या धार्मिक क्रियाकाण्ड से ही सम्बन्धित नहीं है, वरन् भारतीय ज्ञान-विज्ञान की प्रायः प्रत्येक शाखा पर रचित अधिकारपूर्ण रचनाएं उसमें समाविष्ट हैं. तत्त्वज्ञान, अध्यात्म, लोकरचना, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, मन्त्रशास्त्र सामुद्रिक, शिल्पशास्त्र, न्याय, तर्क, छन्द, व्याकरण, काव्यशास्त्र, अलंकार, कोष, आयुर्वेद, पदार्थविज्ञान, पशुपक्षिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, इतिहास, राजनीति आदि प्रायः प्रत्येक तत्कालप्रचलित विषय पर जैन विद्वानों की समर्थ लेखनी चली और उन्होंने भारती के भंडार को भरा.

किन्तु जैनसाहित्य का लोकदृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, रोचक एवं जनप्रिय अंश उसका कथा-साहित्य है. जैन-कथासाहित्य अत्यन्त विशाल, व्यापक, विभिन्न भाषामय एवं विविध है. लोककथाएँ, दन्तकथाएं, नैतिक आख्यायिकाएं, प्रेमाख्यान, साहसिक कहानियाँ, पशु पक्षियों की कहानियाँ, अमानवी-देवी देवताओं सम्बन्धी कहानियाँ, उपन्यास नाटक, काव्य, चम्पू, दूहा, ढाल, रासे, व्यङ्ग, रूपक, प्रतीकात्मक आख्यान, इत्यादि समय-समय एवं प्रदेश-प्रदेश अथवा भाषा-भाषा में प्रचलित विविध शैलियों एवं रूपों में जैन कथासाहित्य उपलब्ध है. स्वतन्त्र कथाएं भी हैं और अनेक कथाओं की परस्पर सम्बद्ध शृंखलाएं भी हैं. कुछ छोटी-छोटी कहानियाँ हैं तो कुछ पर्याप्त बड़ी.

जैन कथाओं की यह विशेषता है कि वे विशुद्ध भारतीय हैं और अनेक बार शुद्ध देशज हैं. उनके अतिरिक्त पर्याप्त संख्या में वे पूर्णतया मौलिक हैं. कभी-कभी महाभारत आदि जैनेतर ग्रन्थों से भी कथानक ग्रहण किये गये हैं. (यथा नल-दमयन्ती की कथा) मौखिक द्वार से प्रचलित लोककथाओं को भी अनेक बार आधार बनाया गया है किन्तु

उन्हें अपने (जैन) रूप में ढाल कर ही प्रस्तुत किया गया है. जैनकथाकार वहुत कुछ स्वतंत्र एवं उन्मुक्त होता है. बौद्ध-कथाकार की भाँति उसपर कोई प्रतिवंध नहीं होता. प्रायः प्रत्येक वौद्धकथा किसी न किसी वोधिसत्त्व को केन्द्रविन्दु मानकर चलती है. किन्तु कोई भी कथानक हो, कोई और कैसे भी पात्र हों अथवा कैसा भी घटनाक्रम या स्थितिचित्रण हो, जैन कथाकार मजे से अपनी कहानी एक रोचक एवं वस्तुपरक ढंग से कहता चलता है, केवल कहानी के अन्त में प्रसंगवश कुछ दार्शनिकता का प्रदर्शन, अथवा पुण्य के सुफल और पाप के कुफल की ओर संकेत कर दिया जाता है अथवा कोई नैतिक निष्कर्ष निकाल लिया जाता है या यह सूचित कर दिया जाता है कि प्रस्तुत कथा अमुक धार्मिक मान्यता या सिद्धान्त का एक दृष्टान्त है.

अपनी इस उन्मुक्त स्वतन्त्रता के कारण जीवन की प्रायः प्रत्येक भौतिक, मानसिक, वौद्धिक या भावनात्मक परिस्थिति को जैनकथाकार अपनी कथा में आत्मसात कर लेता है और फलस्वरूप अनेक जैनकथाएं जनजीवन के प्रायः प्रत्येक अंग को स्पर्श कर लेती हैं. अतः आवालवृद्ध, स्त्रीपुरुष, जनसाधारण के स्वस्थ मनोरंजन का साधन वन जाती हैं और लोकप्रिय हो जाती हैं. मनोरंजन के मिस किसी तात्त्विक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक या नैतिक तथ्य की छाप श्रोता के मस्तिष्क पर डालने के अपने उद्देश्य में उसके वहुधा सफल हो जाने की संभावना रहती है.

टाने, हर्टल, व्हूलर, ल्यूमेन तेस्सितोरि, जैकोवी आदि अनेक यूरोपीय प्राच्यविदों ने जैन कथासाहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ की हैं. पूर्वमध्यकाल में ही अनेक जैनकथाएँ भारत के पश्चिमी तट से अरव पहुँचीं, वहाँ से ईरान और ईरान से यूरोप पहुँची. अनेक जैनकथाओं को तिव्वत, हिन्दएशिया, रूस, यूनान, सिसली और इटली के तथा यहूदियों के साहित्य में चीन्ह लिया गया एवं खोज निकाला गया है. जैनकथासाहित्य के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह साहित्य अखिल भारतीय संस्कृति से घनिष्टतया सम्वन्धित है और इसी कारण विभिन्न कालों एवं प्रदेशों के जनजीवन का जैसा प्रतिविम्व इन जैन कथाओं में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है.

पुराणों, पौराणिक चरित्रों, खंडकाव्यों, महाकाव्यों, नाटकों आदि को न गिनें तो भी सैकड़ों स्वतन्त्र कथाएँ हैं और सैकड़ों ही छोटी-वड़ी कथाओं के संग्रह हैं. केवल विक्रमविषयक ६० कथाएँ मिलती हैं और केवल मैना-सुन्दरी एवं श्रीपाल के कथानक को लेकर ५० से अधिक पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं.

अनेक कथासंग्रहों में १०० से २०० तक कथाएँ संग्रहीत हैं, किसी किसी में ३६० हैं जिससे कि वक्ता प्रतिदिन एक के हिसाव से पूरे वर्षभर श्रोताओं का नित्य नवीन कथा से मनोरंजन करता रहे.

जैन कथा साहित्य के प्रधान मूलस्रोत पइन्नाओ को तथा शिवार्य की 'भगवती-आराधना' को माना जाता है. गुणाढ्य की प्रसिद्ध वृहत्कथा का आधार काणाभूति द्वारा भूतभाषा में रचित जिस ग्रन्थ को माना जाता है वह जैन विद्वान् काणाभिक्षु का ही प्राकृत कथाग्रन्थ रहा प्रतीत होता है. श्वे० आगमसूत्र एवं दिग० पौराणिक साहित्य भी अनेक जैन कथाओं के उद्गम स्रोत रहे हैं.

प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण जैनकथा ग्रन्थों में हरिषेण का वृहत्कथाकोष, प्रभाचन्द्र, श्रीचन्द्र, नेमिदत्त, आदि के आराधना-कथाकोष, जिनेश्वर सूरि एवं भद्रेश्वरसूरि की कथावलियाँ, रामचन्द्र का पुण्यास्रवकथाकोष इत्यादि उल्लेखनीय हैं. स्वतन्त्र कथाओं में तरंगवती कहा, समराइच्चकहा, धूर्ताख्यान, कुवलयमाला, उपमितिभवप्रपंचकथा, धर्मपरीक्षा, सम्यक्त्वकौमुदी, तिलकमंजरी, धर्मामृत, शुकसप्तति, रत्नचूड की कथा आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं.
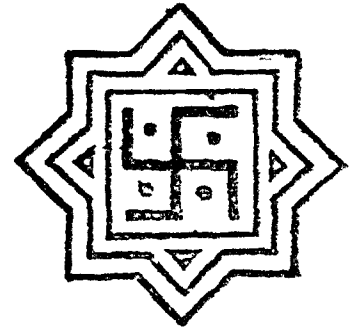
पं० कुन्दनलाल जैन
आयुर्वेदाचार्य

# आयुर्वेद का उद्देश्य : संयमसाधना

जैन तीर्थंकरों की वाणी—उपदेश—विषयों के विभागों के अनुसार मोटे-मोटे १२ विभागों में विभक्त की गई है, जिन्हें जैन आगम की परिभाषा में 'द्वादशांग' कहते हैं. इन १२ अंगों में बारहवाँ अंग 'दृष्टिवाद' है. दृष्टिवाद के पांच भेद इस भांति हैं—१ पूर्वगत २ सूत्र ३ प्रथमानुयोग ४ परिकर्म ५ चूलिका. पूर्व १४ हैं. उनमें से १२ वें पूर्व का नाम 'प्राणावाय' पूर्व है. इस पूर्व में लोगों के आभ्यन्तर-मानसिक एवं आध्यात्मिक-स्वास्थ्य एवं बाह्य शारीरिक स्वास्थ्य की यथावत् स्थिति रखने के उपायभूत यम नियम आहार विहार एवं उपयोगी रस रसायनादि का विशद विवेचन है. तथा जनपदध्वंसि, मौसमी, दैविक, भौतिक आधिभौतिक व्याधियों की चिकित्सा तथा उसके नियंत्रण के उपायादि का विस्तृत विचार किया गया है.[1]

यह प्राणावाय पूर्व ही आयुर्वेद का मूल शास्त्र है. यही आयुर्वेद का मूल वेद है. इसी के आधार पर हमारे लोकोपकारी प्रातःस्मरणीय आचार्यों ने अथक श्रमद्वारा अनेकों आयुर्वेदीय ग्रंथों की रचना की है जो हमारे सरस्वतीभण्डारों की शोभा वर्तमान काल में बढ़ा रहे हैं. बहुत थोड़े ग्रंथरत्न ही प्रकाश में आये हैं. उन समस्त ग्रंथरत्नों को संकलित, परिष्कृत कर आधुनिक समय के योग्य टिप्पण आदि से युक्त कर प्रकाशित करने की महती आवश्यकता है.

जैन आगम जीव-आत्मा के इह लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण एवं अभ्युदय के मार्ग को बतलाता है. जैन शास्त्रों में जीव की तथा इस विश्व की सत्ता स्वयंसिद्ध अनादिनिधन बतलाई है. इनका उत्पादक रक्षक एवं संहारक किसी व्यक्ति—ईश्वर—आदि को नहीं माना है. संसार की परिवर्तित होने वाली अवस्थाएँ द्रव्यों के स्वयं के स्व-परनिमित्तक परिवर्तन का परिणाम हैं. प्रत्येक द्रव्य[2] की सत्ता पृथक्-पृथक् है. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के स्वभाव में किसी प्रकार का परिवर्तन करने में समर्थ नहीं. प्रत्येक द्रव्य में एक स्वाभाविक परिणमन की शक्ति रहती है. जीव और पुद्गल की उस स्वाभाविक शक्ति के स्वाभाविक और वैभाविक परिणमनरूप दो विभाग हैं. और इन दोनों के कारण दोनों द्रव्यों में स्वभावपरिणमन एवं विभावपरिणमन होता रहता है. इस परिणमन में उपादान एवं निमित्त नाम के दो कारण-हेतु बतलाये गये हैं. पदार्थ में स्वयं तत्-तत्कार्य रूप होने की योग्यता का नाम उपादान है. अन्य द्रव्य की उस कार्य की पैदाइश के समय उपस्थिति का नाम निमित्त है. वह सबल एवं उदासीन रूप दो प्रकार का होता है. अतः जब कोई द्रव्य परिणमन को प्राप्त होता है तब उसकी स्वतः की परिणमन कराने वाली (स्वतः में निहित) शक्ति के अनुसार ही परिणमन होगा—उसी को उपादान शक्ति कहते हैं. शक्ति बाह्य सबल निमित्त को पाकर नियत परिणमन—कार्य का उत्पादन—करा देती है.

इसी बाह्य निमित्त की सबलता एवं उपयोगिता को हृदयंगम कर आचार्य ने लोकहित की भावना से प्रेरित होकर "आयुर्वेद" की रचना में अपना योगदान दिया. यह लोक—संसार—जीव का निवासस्थान है. इसमें ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक

---

१. कायचिकित्साद्यष्टाङ्गं आयुर्वेदः भूतिकर्मजांगुलिप्रक्रमः
प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायम् । —तत्त्वार्थराजवार्तिक अ० १ सू० २०.

२. जैनागम में १ जीव २ पुद्गल ३ धर्म ४ अधर्म ५ आकाश ६ काल नाम के ६ द्रव्य माने हैं.

और अधोलोक इन तीन भागों में विभक्त किया है. लोक में जीव नाना योनियों एवं गतियों में निरंतर जन्म-मरण के द्वारा पैदा होते एवं मरते रहते हैं. शुभ कार्यों द्वारा उपार्जित महान् पुण्य का भोग करने के लिए यह जीव देवगति में जाता है. वहाँ रोग शोक जरा रहित होकर यथेष्ट इन्द्रियजनित भोगोपभोगों को भोगता है. निकृष्टतम अशुभ कार्यों द्वारा संचित पाप के द्वारा नरकों में भूमिजन्य, असुरजन्य और परस्परजन्य दैहिक एवं मानसिक अनेक प्रकार के दुखों को करोड़ों वर्षों तक भोगता है. कुछ मंद कपाय एवं पाप की अल्पता से पशु-गति के दुखों को भोगता है. पुण्य पाप के मिश्रित उदय में मनुष्य-गति के सुख-दुखों का अनुभव करता है.

इनमें देव और नारक अनपवर्त्तनीय आयु वाले होते हैं. इनकी मृत्यु असमय में बीमारी, विप, शस्त्र, रक्तक्षय आदि बाह्य कारणों से नहीं होती. आयु पूर्ण होने पर ही ये मरते हैं. जब बीमारी और बुढ़ापा देवों में है ही नहीं तब उनके वास्ते चिकित्साशास्त्र की आवश्यकता ही क्या है? नारकियों को इतना तीव्र पाप का उदय होता है कि उन्हें किन्हीं बाह्य वस्तुओं से सुखशांति पहुँचाना संभव ही नहीं. भयंकर प्रवाह वाली नदी पर, जिसके वेग को बड़ी से बड़ी शक्ति-वाले यंत्रों से भी न रोका जा सके, बाँध बाँधना श्रम और शक्ति का दुरुपयोग है, इसी प्रकार नारकियों के लिए भी चिकित्साशास्त्र अनुपयोगी है.

मनुष्य और तिर्यंचों में भी भोगभूमि में रहने वाले असंख्यात वर्ष की आयुवाले विप कंटक शस्त्रघात जरा रोग आदि उपद्रवों से रहित होते हैं. उनको न बुढ़ापा आता है, न बीमारी होती है. वहां का जीवन इतना सरल, सादा और सात्विक होता है कि वहां परस्पर रागद्वेप ईर्ष्यादि दुर्भाव नहीं होते. इससे कलह या परस्पर शस्त्राघात का उनमें प्रसंग नहीं होता. इसलिये उनकी भी अकालमृत्यु नहीं होती. कर्मभूमियों में भी विशेप पुण्यशाली चरमोत्तमदेहधारी महापुरुषों में रोगादि नहीं होते. इन सब को चिकित्सा की जरूरत नहीं. शेप बचे हम सरीखे मनुष्यों को इसकी जरूरत है. हमारे लिए इस आयुर्विज्ञान शास्त्र-आयुर्वेद के ज्ञान—का परम महत्त्व है.

बहुत प्राचीन काल से कइयों की यह धारणा चली आरही है कि किसी की अकालमृत्यु होती ही नहीं है. समय प्राप्त होने पर बीमारी, विप, शस्त्राघात, वृक्ष से गिरना, रेल, मोटर या हवाई दुर्घटना आदि का मात्र निमित्त मिल जाने से होने वाली मृत्यु को अकालमृत्यु कहना गलत है. किन्तु जैनदर्शन के समर्थ और गंभीर विद्वान् भगवान् भट्टाकलंक ने अपने महान् दार्शनिक ग्रंथ तत्त्वार्थराजवार्तिक में इस भ्रान्त धारणा का निरसन करते हुए कहा है—जैसे तीव्र हवा के झोंके से दीपक को बचाने के लिए लालटेन का उपयोग न किया जाय या हाथ वगैरह का आवरण न किया जाय तो वह बुझ जाता है. यदि आवरण हो तो बच जाता है, बुझता नहीं है. इसी प्रकार तीव्र सन्निपातादि से ग्रस्त मनुष्य की यदि उपेक्षा की जाय, उचित निदानपूर्वक चिकित्सा न की जाय तो वह मर सकता है. इसके विपरीत यदि आयु शेप है तो उचित चिकित्सा उसे बचा लेगी. इसी मूलभूत विचार से प्राणावाय पूर्व की रचना की गई है. उनका मूलवार्तिक इस भांति है—'आयुर्वेद प्रणयनान्यथानुपपत्तेः' यदि रक्तक्षयादि से अकाल मौत न मानी जाय तो उससे बचाने के लिए भगवान् तीर्थंकर आयुर्वेद—प्राणावाय पूर्व—की रचना नहीं करते. रचना उन्होंने की है, इसी से सिद्ध है कि अकाल-मृत्यु से भी प्राणी का मरण होता है और ऐसे मरण को उचित उपाय द्वारा टाला जा सकता है.

जब अकालमृत्यु, बीमारियों की यंत्रणा, अकालवार्धक्य आदि मनुष्य के जीवन में सुख स्वास्थ्य के दुश्मन मौजूद हैं तब उनसे बच कर रहने के उपाय बताना आवश्यक है. और इसी आवश्यकता की पूर्ति आयुर्वेद करता है.

संसार में धर्म अर्थ काम मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ हैं—प्रत्येक मनुष्य के जीवन के लक्ष्य हैं. इनमें मोक्ष और काम पुरुषार्थ साध्य हैं और धर्म तथा अर्थ पुरुषार्थ उनके साधन हैं. इन पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए शरीर की नीरोगता परम आवश्यक है. कहा है—'धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमुत्तमम्.

आयुर्वेद-अवतार की प्रस्तावना करते हुए दिगम्बराचार्य उग्रादित्य ने अपने "कल्याणकारक" नामक ग्रंथ में इसी तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया है—"देवाधिदेव भगवान् आदिनाथ के पास, कैलाशपर्वत पर पहुँच कर भरत चक्रेश्वर

ने निम्नलिखित प्रार्थना की—"हे प्रभो, पहले दूसरे और तीसरे काल में इस भरत क्षेत्र में भोगभूमि थी. लोग परस्पर एक दूसरे को अत्यन्त स्नेह से देखते थे, उनमें ईर्ष्या द्वेष नहीं था. अपने पुण्य के फल से प्राप्त समस्त इष्ट भोगों को भोग कर नियत समय पर आयु पूर्ण कर स्वर्ग में देवगति के सुख भोगने को जाते थे. भोगभूमि समाप्त होकर कर्मभूमि आई. इसमें भी पुण्यात्मा चरमशरीरी उत्तम देहवाले भगवान् तीर्थंकर दीर्घ आयु के धारक होते हैं. परन्तु अधिकतर लोग विष शस्त्रादि से घात योग्य शरीर वाले होते हैं. उनको वात पित्त कफ की हीनाधिकता से महान् बीमारियां उत्पन्न होती हैं. उन्हें ठण्ड, गरमी वर्षा ऋतु की प्रतिकूलता दुखी करती है. वे लोग अपथ्य आहार-विहार का सेवन करते हैं. इसलिए हे नाथ! हमें इन दुखों से छूटने का उपाय बतलावें".

तब देवाधिदेव परमदेव आदिप्रभु ने कहा—"हे भरतेश्वर ! स्वस्थ के स्वास्थ्य का रक्षण करने और अस्वस्थ के अस्वास्थ्य को मिटाने का उपाय इस प्रकार है—उचित काल में हित, मित आहार-विहार का सेवन करता हुआ तथा क्रोध काम लोभ मोह मान आदि शांति के शत्रुओं से निरंतर बचता हुआ जो व्यक्ति अपना जीवन व्यतीत करता है तथा समय-समय पर सतत स्वास्थ्य की रक्षा के लिए रसायन द्रव्यों को शरीर की शुद्धिपूर्वक उचित समय में सेवन करता है, वह कभी बीमारियों या असामयिक वार्धक्य आदि के वशीभूत नहीं होता. यह स्वस्थ का स्वास्थ्यरक्षण है.

यदि कर्मयोग से, भूल आदि निमित्त के वश रोग आ ही जाएँ तो निदानज्ञ विद्वान् से वात पित्त कफादिक में, जिनकी हीनाधिकता से रोग उत्पन्न हुआ हो, उसको समझ कर हीन को बढ़ाने वाले शुद्ध द्रव्यों के सेवन द्वारा उचित परिमाण में बढ़ाना बृंहण कहलाता है. तथा यदि दोष बढ़े हुए हों तो उन्हें कम करने वाले द्रव्यों को उचित मात्रा में सेवन कर बढ़े हुए दोषों को कम करना कर्षण चिकित्सा कहलाती है. इस प्रकार उभयप्रकारी चिकित्सा द्वारा स्वास्थ्य प्राप्त करना चाहिए. तभी शरीर संयमसाधना के उपयुक्त होगा और संयम की आराधना द्वारा अंतिम पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि होगी."

आदिनाथ प्रभु की यही दिव्यध्वनि आयुर्वेदप्रणयन का मूल बनी और इसी आधार पर पूज्यपाद, समंतभद्र, अकलंक आदि प्राचीन जैनाचार्यों ने आयुर्वेद संबंधी अनेक रस-ग्रंथ लिखे. रस और उसमें भी खासकर गल्वी रसायन आयुर्वेद को जैनाचार्यों की महान् देन है. श्री हर्षगणि आदि द्वारा लिखित "योगचिन्तामणि" सरीखा महान् ग्रन्थ तो सस्ते आशुरोगापहारी सुलभ योगों का भण्डार है और आज के युग की अर्थहीन मध्यवित्त जनता के लिए चिन्तामणिरत्न का काम देता है.

इस प्रकार जैनागम के महान् आचार्यों ने आयुर्वेद की सेवा विशुद्ध लोककल्याण की भावना के साथ स्वस्थ शरीर द्वारा संयमपालन की दृष्टि से की है.
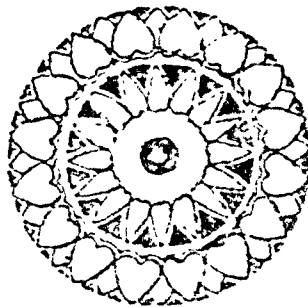
श्रीभँवरलाल नाहटा

# एक जैनेतर संत कृत जम्बूचरित्र

भारत में अनेक धर्म-सम्प्रदाय हैं और विचारभेद के कारण ऐसा होना अनिवार्य भी है. पर इसका एक दुष्परिणाम हुआ कि हमारी दृष्टि बहुत ही संकुचित हो गई. एक दूसरे की अच्छी बातें ग्रहण करना तो दूर की बात पर सांप्रदायिक विद्वेष-भावना के कारण दूसरे संप्रदायों के दोष ढूढना और उन्हें प्रचारित करना ही अपने संप्रदाय के महत्त्व बढाने का आवश्यक अंग मान लिया गया है. पुराणों आदि में जैन धर्म सम्बन्धी जो विवरण मिलते हैं उनसे यह भलीभांति स्पष्ट है कि जैनधर्म हजारों वर्षों से भारत में प्रचारित होने पर भी और उसके प्रचारक व अनुयायी अनेक विशिष्ट व्यक्ति हुए उन तीर्थकरों, आचार्यों.व जैनधर्म के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख तक पुराणादि ग्रंथों में नहीं किया गया. इतना ही नहीं, महत्त्व के सिद्धान्तों को भी गलत रूप में बतलाया गया.

मध्यकाल में अनेक संत और भक्त सम्प्रदायों का उद्भव हुआ और उन्होंने भक्ति वैराग्य और अध्यात्म का प्रचार करने के साथ-साथ समाज के अनेक दोषों का निराकरण करने का भी कदम उठाया. कबीर आदि ऐसे ही संत थे जिनका प्रभाव परवर्त्ती अनेक धर्म-संप्रदायों पर दिखाई पड़ता है. वैसे वे काफी उदार रहे हैं और जैनधर्म के कई अहिंसादि-सिद्धान्तों को अच्छे रूप में अपनाया भी, पर वे भी सांप्रदायिक दृष्टि से ऊपर नहीं उठ सके अतः जैनधर्म के सम्बन्ध में उनके विचार जो भी थोड़े बहुत व्यक्त हुए वे कटाक्ष व हीन भाव के सूचक हैं. रज्जब आदि कई संत कवियों ने जैन जंजाल आदि रचनाएं की हैं, उनसे यह स्पष्ट है.

राजस्थान में निरंजनी, दादूपंथी, रामस्नेही, आदि संत संप्रदायों का गत तीन चार सौ वर्षों में अच्छा प्रभाव रहा है और जैनधर्म का भी इसी समय वहां काफी प्रभाव था. दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय अच्छे रूप में प्रचारित रहे. कई जैनों का उन संत-संप्रदायों के संतों आदि से परिचय व सम्बन्ध भी रहा है. फिर भी जैसा पारस्परिक सद्भाव रहना चाहिए था, नहीं रहा. इसका प्रमुख कारण सांप्रदायिक मनोवृत्ति ही है. जैनकथाएं कई बहुत प्रसिद्ध रहीं हैं और उन्होंने जैनेतर संतों को भी आकर्षित किया है. इनमें से एक कथा जम्बू स्वामी की है. शील की महिमा प्रचारित करने के लिए उस कथा को दादूपंथी संत "तुरसी" ने 'जम्बूसर प्रसंग' के नाम से हिन्दी में पद्यबद्ध किया है. प्रस्तुत काव्य की कई हस्तलिखित प्रतियां मेरे अवलोकन में आईं, उनमें से एक प्रति की प्रतिलिपि तो जयपुर के उदारमना संत मंगलदास जी ने अपने हाथ से करके मुझे कुछ वर्ष पूर्व भेजी थी. उसके बाद दो और प्रतियां भी जम्बूसर प्रसंग की मिलीं. उन तीनों प्रतियों के आधार से संपादित करके यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है.

अंतिम केवली जम्बू स्वामी की कथा जैन समाज में बहुत प्रसिद्ध है. उनके संबंध में संस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी, गुजराती में अनेकों गद्य-पद्यमय रचनाएं प्राप्त हैं. जहाँ तक मेरी जानकारी है, उनके चरित्र के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन और उपकथाओं के साथ वर्णन वसुदेव हिण्डी के प्रारम्भ में मिलता है, जो पांचवीं शताब्दी की रचना है. तदनन्तर आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने परिशिष्ट पर्व में जम्बू चरित्र विस्तार से लिखा है और उसके बाद तो लगभग २०-२५ रचनाएं दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनों संप्रदायों में लिखी गईं जिनमें से कुछ प्रकाशित भी हो चुकी हैं. महापुरुष जम्बू

भगवान् महावीर के पंचम गणधर सुधर्मा स्वामी के शिष्य थे, राजगृह नगर के श्रेष्ठी ऋषभदत्त की पत्नी धारिणी की कुक्षि से उनका जन्म हुआ. १६ वर्ष तक घर में रहे, फिर सुधर्मा स्वामी की देशना सुन कर वैराग्यवासित हुए और दीक्षा लेने का विचार किया. एक समृद्धिशाली सेठ के घर में जन्म लेने से, दीक्षा से पहले ही अन्य धनी सेठों की ८ कन्याओं से उनका वैवाहिक सम्बन्ध निश्चित हो चुका था. माता आदि कुटुम्बियों ने विचार किया कि किसी प्रकार उनका विवाह कर दिया जाय तो वे सांसारिक विषयों में मग्न हो जायेंगे. पर जम्बूकुमार का वैराग्य दृढ था, इसलिए उन्होंने कुटुम्बी जनों के अनुरोध से उन आठों कन्याओं से विवाह तो कर लिया पर विवाह से पूर्व उन्होंने उन कन्याओं के पिताओं को स्पष्ट सूचित कर दिया कि मैं दीक्षित होने वाला हूं. विवाह की प्रथम रात्रि में ही उन्होंने अपनी आठों स्त्रियों को प्रतिबोध देकर सहयोगी बना लिया और साथ ही विवाह में जो ९९ करोड़ का धन आया था उसे चुराने के लिए ५०० चोरों के साथ आए हुए प्रभव चोर को भी उनके उपदेश ने प्रभावित किया. इस तरह माता, पिता, स्त्रियों, सास-ससुरों व प्रभवादि ५०० चोरों के साथ उन्होंने सुधर्मा स्वामी से दीक्षा ग्रहण की. वही राजपुत्र प्रभव आगे चल कर उनका प्रधान पट्टशिष्य बना. २० वर्ष तक जम्बू स्वामी छद्मस्थ अवस्था में रहे. तदनन्तर केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और ४४ वर्षों तक केवली अवस्था में विचरे. भगवान् महावीर के निर्वाण के ६४ वर्ष बाद ८० वर्ष की आयु में वे मोक्ष सिधारे. इनके बाद इस भरतक्षेत्र से पंचम काल में कोई मोक्ष नहीं गया. इससे वे अन्तिम केवली कहलाये. वास्तव में वर्तमान जैन आगमों के निर्माण में जम्बू स्वामी का प्रधान हाथ रहा है. भगवान् महावीर ने तीर्थंकर के रूप में ३० वर्ष तक जो भी उपदेश दिया उसे १२ अंगसूत्रों में ग्रथित करने का काम गणधरों ने किया. महावीर निर्वाण के दिन ही गौतम स्वामी को केवल ज्ञान हो गया. यद्यपि वे इसके बाद १२ वर्ष तक और रहे पर संघ के संचालन का भार सुधर्मास्वामी ने ही संभाला और उन्होंने ही जम्बू स्वामी को संबोधित करते हुए वर्त्तमान आगमों की रचना की. फलतः इन आगमों के प्रारम्भ में सुधर्मा स्वामी के मुख से यह कहलाया गया है कि हे जम्बू ! इस आगम की वाणी भगवान् महावीर से जिस रूप में सुनी, तुमें कहता हूँ ! जम्बू स्वामी का निर्वाण मथुरा में हुआ और उनके ५०० से अधिक स्तूप सम्राट् अकबर के समय तक मथुरा में विद्यमान थे. उनके जीर्णोद्धार का वर्णन दिगम्बर विद्वान् कवि राजमल्ल ने अपने संस्कृत जम्बूचरित्र में किया है.

प्रस्तुत संत कवि तुलसी रचित जम्बूसर प्रसंग में जैनधर्म, सुधर्मा स्वामी, उनसे दीक्षा लेने आदि का उल्लेख नहीं किया है. प्रारम्भिक विवाह के अनन्तर स्त्रियों से वार्त्तालाप और चोर का आगमन, सबको प्रतिबोध तथा ब्रह्मचर्य में जम्बू स्वामी के दृढ रहने का वर्णन ही कवि ने किया है. कई दृष्टान्तों का तो नाम निर्देश मात्र किया है पर अठारह नातों वाला सम्बन्ध कुछ विस्तार से दिया है, जो वसुदेव हिण्डी में हीं सबसे पहले मिलता है. संत कवि तुलसी ने किसी मौखिक कथा को सुन कर ही अपने ढंग से इस कथा की रचना की है. जम्बू के नाम की जगह कवि ने जम्बूसर नाम का प्रयोग किया है. हमें संत कवियों की अन्य रचनाओं में भी जैन सम्बन्धी खोज करनी चाहिए.

### जम्बूसर प्रसंग वर्णन

दूहा

शील व्रत की का कहू, महिमा कही न जाइ ।
ज्यूं गजराज के संग तें, अनल न परही आइ ॥१॥
ब्रह्मा विष्णु महेश लौं, करै शील की सेव ।
शील पूज्य तिहुं लोक में, कोई लहै शील का भेव ॥२॥
भेव लहै सो यह[1] लहै, जंबूसर ज्यूं जानि ।
सिष ताको प्रसंग अब, कहूं स निहचै मानि ॥३॥

---

१. यूं गहै.

### चौपाई

शील व्रत सब ही को टीको । शील बिना सब लागै फीको ।
'तुरसी' जो मुख सुन्दर होइ । नासा बिना न सोभै सोइ ।।४।।†

नासा विना न शोभ हो, सुन्दर नर को मुख ।
'तुरसी' शील धर्म विन, सव ही धर्म निरुख ।।५।।

### दूहा

एकादशी जू आदि दे, यावतेपु व्रत सार ।
'तुरसी' ता सब हीन में, शील सुव्रत अधिकार ।।६।।†
'तुरसी' शील सुधर्म की, महिमा वर्ण न जाई ।
ताहि जप तप यज्ञ व्रत, रहे सकल सिर नाइ ।।७।।†

### कथा प्रसंग : कवित्त

एक साह[२] धनवंत, तास के पुत्र वी जोइ ।
'जम्बूसर' तस[३] नाम, शीलधर जनमत होइ ।।
पिता कियो हठ बहुत[४], परणिवो आरे कीन्हों[५] ।
परण तजूं करि नारि, आप उत्तर यूं दीन्हो[६] ।।
इक[७] वणिया के धीह आठ, तिन्है सुनि मतो विचारै ।
करै पिता सुं अरज, पुरुप, 'जम्बूसर' म्हारै ।।८।।†
मानुं कलजुग भयो, सुणत, यह लागी खारी ।
कन्या कही धर्म वात, तात तब जानि विचारी ।
दिया ताहि नालेर, परणिवा चलि कर आयो ।
'जम्बूसर' ताहि परण, हाथ ताकौ छिटकायो ।।
वणिये दियो द्रव्य वहुत, तास[९] कूं धरे न आरे ।
विपै डंड यूं जान, आप निज ज्ञान विचारे ।।९।।
चले वहाँ तें आप, आइ वैठे निज भवना ।
तव त्रिया मतौ विचार, कियो ताके ढिग गवना ।।
जम्वूसर वैठे जहां, सुमरै त्रिभुवन तात ।
आठों ही कर जोर करि, पूछन लागी वात ।।१०।।
जम्बूसर व्रत सील धर, भजै राम निज एक ।
त्रीया तोलै तास मन, भापै प्रसंग विवेक[१०] ।।११
सो प्रसंग अब कहत हूं, प्रथम त्रिया उवाच ।
यामै संसौ नांहि कछु, परगट जानों साच ।।१२।।

प्रथम त्रियावचन—

त्रिया करत यह वीनती, कांम अप्रवल जान ।
आगे जाती होइगी, मारू ढोर समान ।।१३।।

---

२. महा ३. तिस. ४. वहौत. ५. कानौ. ६. दीनौ. ७. एक. ८. धी. ९. ताहि. १०. अनेक.
† चिह्नांकित पद्य दूसरी प्रति में नहीं हैं.

मारूढोर—

सोरठा

थलियां गोहूं वाई,[11] मूरख खोयो[12] अकल विन।
कियौ वाजरी ख्वार, 'मारूडोर' यूं जानिये ॥१४॥

जंवूसर वचन सोरठा—

ताजितखानें[13] भूलि, दुखी रह्यो दिन तीन लग
छूटा पीछे भूलि, वहुरि[14] न कवहु जाइ है ॥१५॥

त्रियावचन सोरठा—

न्हाइ नदी की सोइ, मरकट तें माणस हुवौ।
वहुरयो[15] मरकट, होइ, कियो ज लालच देव पद ॥१६॥

जंवूसर के वचन—

कोई सहारा नाइ, जग समदर में डूवता।
रह्यो गृहे उरझाइ, खोवर[16] कागज करककौ ॥१७॥

त्रियावचन—

भज्यौ न पूरण राम, गृह कौ सुख सो भी तज्यो।
जा कौ ठौरन राम, वुगली ज्यों लटकता रह्यो ॥१८॥

जंवूसर वचन—

इन्द्रचां का सुख नास, या संगि नासत राम पद।
रेलो चाटत ग्रास, खोयो मूरिख पाहुणें ॥१९॥

त्रियावचन—

नरपति सुत इक जान, चल्यौ ज चन्दन पानकुं।
आगें हुई ज हान, डेरी खोयो गांठ को ॥२०॥

जम्वूसरवचन—

जगत सुख लोह आहि, तहि गहै अज्ञान नर।
मूरख वोझ जनाहि, तजी कुदाली कनक की ॥२१॥
दीन्हो परसन सार,[17] सव कै मन आनन्द भयो।
कीन्हो गाढ विचार, 'जंवूसर' सुं पुनि कहै ॥२२॥

त्रियावचन—

दूहा

जंवूसर सूं जोरि कर, त्रीया करत प्रणाम।
पुत्र भए सव त्यागिए, सुजस वढै रहै नाम ॥२३॥

जंवूसर वचन—

नामहेत सव जग पचै, तामें नहीं विचार।
भक्ति छाड भ्रम सू लग्या, वूडा कालीधार ॥२४॥

---

११. वाड़. १२. वोयो. १३. तारतखाने. १४. तहां. १५. दोखो तु. १६. सो नहिं. १७. [illegible]

नांव-नांव विन ना रहै, सुणौ सकल तुम जोइ।
एक प्रसंग अद्भुत अति, कहू समझाउं तोइ ॥२५॥

१८ नाता प्रसंग—

वहन व्याहमाता धरी, माता जायौ जाम।
तीनों तज वन कूं गया (तव) रह्यो कोंण को नाम ॥२६॥
अष्टादश,[१८] नाता भया, ए तीनों का हेतु।
सो प्रसंग अव कहत हूं, सुणजो होइ सचेत ॥२७॥

चौपई

एक नगर में वेश्या ताकै, सुत कन्या संगि जनमें जाकै।
ताको तुरत ही नांव कढायो, सुलतां कुमेर नांव सो पायौ ॥२८॥
खोटैं नखतर जन्मे भाई, ताहि नदी में दिये वहाई।
कोई नगर तल निकसे जाई, एक महाजन लीए कढाई ॥२९॥

वाकै पुत्र न होता एका, यो हरि दीनैं लियौ विवेका।
लड़को ले संग जरौ वाह्यौ, लड़की सहित दरवाजै आयो ॥३०॥
देखि पींजरो ओर ही वणीये, लड़की काढ लई हैं जनिये।
दोउ वडे भये दोऊ स्याना, ताको व्याह भयौ परमानां ॥३१॥

साहूकार कोडीधज दोऊ, जोड़ो सोवे मिल न कोऊ।
याके लेख लिख्यौ है भाई, ल्यो नालेर रु करो सगाई ॥३२॥
ढोल नगारा मंगल गाजै, हीरा मोती तन पर साजै।
वणियै जान वणाई भारी, आप ऊतरी वाग में सारी ॥३३॥

अरध रात समूहरत होई, करता की गति लखै न कोई।
साहूकार मिले हैं सारा, भवन मांहि तव किया उतारा ॥३४॥

चंवरयाँ माहि वैठा जवही, सुलतां, देखी मुद्रिका तवही।
तामें अंक लिखे कहे हेरि, वहन'र भाई सुलतां कुमेर ॥३५॥
सुलतां अंक विचार जु देखा, ताको पाछे कियो विवेका।
भाई वहन विहाये आन, सुलतां तज्यो हथलेवो जान ॥३६॥

ह्वै भयभीत कीयौ गृहत्याग, वन वन विचरै ले वैराग।
पूरव पाप कौन में कियो, वीर वहन घर वासों दीयौ ॥३७॥
संत विवेकी वूझत[१९] डोलै, सुनि सुनि वचन सवन का तोलै।
पीछे कुवेर भी कीधो गवना, हेरत आयो वेश्या के भवना ॥३८॥

सो वेश्या ताकी महतारी, वाकै रह्यौ कर घर की नारी।
वाकै पेट को इक सुत भयो, सुलतां सुं सावां यूं कह्यौ ॥३९॥
सुलतां चली वहाँ से जवही, वेसां के घर आई तवही।
जव वेश्या सुं वचन उचारै, अष्टादश नाता विस्तारै ॥४०॥

---

१८. कठां जरो बुहापो.  १९. पूछत.

### अठारै नातां कौ व्यौरो

सुलतां वाच—कवित

नगर नाइका[1] आदि, दूसरी माता मेरी।[2]
तुम सुत की मैं नारि, प्रगट तूं सासू[3] मेरी॥
मम खांवंद घर नारि, सौक[4] तू सदा हमारी।
तुम्हैं तात की सूता, तोहि दादी[5] में धारी।
मम भाई की जोय, लगै तूं भावज[6] मेरे।
एते लछ तुझ मांहि, कन्या ऐसी विध टेरे॥
षट नाता षट विध भए, मानूं धर्म दियौ खोइ।
ज्ञान भगति वैराग त्यों, जब भ्रम सावतौ होइ॥४१॥

दूहा

सुलतां के यह वचन सुनि, पूछन लागौ कुमेर।
कहौ तें कहियौ कहा, सो अब भाखौ फेर॥४२॥

सुलतां वाच—कवित्त

वेश्या द्वारे वास, कहुं तोहि भड़वौ[1] भाई[2]।
वाप[3] कहूँ मैं तोहि, तुम्हें घर मेरी माई॥
खांवंद[4] प्रगट मोर, पलै मैं बंधी तेरै।
सासू कौ भरतार, सदा सुसरौ[5] है मेरै॥
मम दादी कौ खसम, तास विध दादौ[6] कहीए।
ए साचौ अपराध, तज्यां विन सुख नहिं लहियै॥
भगति विना भागै नहीं, ये षट पाप अघोर।
अरक विना क्यूं नास ह्वै, रजनी तम कौ जोर॥४३॥

सोरठा

इह सुण वचन कुमेर, वज्र मारयो सो ह्वै गयो।
सुलतां भाषै फेर, नानड़ीया कूं लाडवै॥४४॥

कवित्त

शिशु भाइ[1] समभाई, वीर[2] मम माता जायौ।
फुनि भाई कौ वीज, भतीजौ[3] तासूं गायौ।
जानि सौक कौ पूत, सोई सावृत[4] विचारौ।
मम खांवंद को वीर, सही देवर[5] है म्हारै।
दादी सुत काकौ[6] कहूँ, कैसी विधि तोहि लाडीए।
ऐसो ज्ञान विचार कै, संग तुम्हारो छाडीए॥४५॥

सोरठा

गणिका अरु कुमेर, कहै हम कैसें निसतरैं।
सुलतां कहैं यूं टेर, त्याग करौ रामै भजौ॥४६॥

दोहा

जंबूसर वुधिवान अति, दीयौ भारज्या ज्ञान।
तिरीया मन आनंद वढ्यौ, गयो सकल अज्ञान॥४७॥

त्रियावाच—

सोरठा

जंबूसर वड़भाग, धनि तेरे माता पिता।
जन्मत ही जग त्याग, छाड लग्यो पर ब्रह्म सुं ॥४८॥
द्रव्य लैण कुं चोर, वांधी पोटज परीति करि।
ज्ञान भयौ तिहि ठौर, जंबूसर को ज्ञान सुणि ॥१९॥
अष्ट नारि इह ज्ञान, सुणत ही सांसो सब गयौ।
चोर भयो गलतान, शीलवान का शब्द सुनि ॥५०॥
सुणत त्रास ज्यूं नरक की, मन में उपजी एह।
शील न कबहू त्यागिए, भावे जावो देह ॥५१॥

दोहा

भाग विना पावै नहीं, सील पदारथ सोइ।
जो त्यागे या सीलकुं, तो नरक प्रापति होइ ॥५२॥

कुण्डलिया

जो कोई त्यागै सील कुं, सो पावै नरक अघोर।
अपकीरति होइ जगत में, भक्ति मांहि नहि ठौर।
भगत मांहि नहि ठौर, और कहा कहीए भाई।
लहै विपति भरपूर, नूर मुख चढै न कोई।
देवा सदा फिरि तासकुं, जम मारै करि जोर॥
जो कोई त्यागै सीलकुं सो पावै नरक अघोर॥५३॥

॥ इति जंबूसर की प्रसंग संपूर्ण ॥

डॉ० के० ऋषभचन्द्र
एम० ए०, पी-एच० डी०

# पउमचरियं के रचनाकाल-सम्बन्धी कतिपय अप्रकाशित तथ्य

जैन-साहित्य में ही नहीं अपितु सारे प्राकृत-वाङ्मय में सम्पूर्ण रामकथा सम्बन्धी काव्यात्मक कृति होने का प्रथम श्रेय पउमचरियं को प्राप्त है, जो महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है—जैन परम्परा में आठवें बलदेव दाशरथी राम का अधिकतर प्रचलित नाम पउम (पद्म) है, अतः उनके चरित को 'पउमचरियं' की संज्ञा दी गई है। उत्तरोत्तर काल के जैन-साहित्य में विविध भाषाओं में राम सम्बन्धी जो रचनाएँ उपलब्ध हैं वे अधिकतर पउमचरियं पर ही आधारित हैं. पउमचरियं के इस महत्त्व को देखते हुए उसके रचना-काल पर कुछ विचार-विमर्श करना उपादेय ही होगा. इस ग्रंथ के रचयिता विमलसूरि नाइलवंशीय विजय के शिष्य और आचार्य राहु के प्रशिष्य थे. उन्होंने पउमचरियं की प्रशस्ति में बतलाया है कि इस ग्रंथ की रचना महावीर-निर्वाण के ५३०[1] (या ५२०)[2] वर्ष पश्चात् की गई थी. ग्रंथ के अध्ययन से यह तिथि बिलकुल असंगत ठहरती है. कितने ही विद्वानों ने इसके रचनाकाल के विषय में अपने-अपने मन्तव्य प्रकट किये हैं. कुछ लोग प्रशस्ति में अंकित समय को ही उचित मानते हैं परन्तु अधिकतर विद्वान् इसको तृतीय या चतुर्थ शताब्दी से लेकर सातवीं आठवीं शताब्दी तक की रचना ठहराते हैं. इन विद्वानों ने जिन-जिन प्रमाणों के आधार पर पउमचरियं का कालनिर्णय किया है उनको यहाँ पर दुहराने की आवश्यकता नहीं.[3] हम पउमचरियं में ही उपलब्ध कुछ नवीन सामग्री पर विचार कर उसी के आधार पर पूर्वस्थापित विविध मन्तव्यों का ऊहापोह करते हुए इस ग्रंथ का काल-निर्णय करने का प्रयत्न करेंगे.

सर्वप्रथम पउमचरियं में वर्णित उन जनजातियों, राज्यों, व राजनैतिक घटनाओं पर विचार करेंगे जिनका भारतीय इतिहास से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है. राम ने जब वानरदल के साथ रावण पर आक्रमण किया तब केलीगिलों और श्रीपर्वतियों ने राम की सेना में सम्मिलित होकर उनकी सहायता की थी. (पउम०५५-१७). रविषेण ने अपने पद्मपुराण [५५-२९] में इन केलीगिलों को कैलीकिल बताया है. इन लोगों को ऐतिहासिक किलकिलों से मिलाया जा सकता है.[4] उनके राज्य की समाप्ति के तुरन्त बाद वाकाटक विन्ध्यशक्ति ने [२२३ ई०] उनके स्थान पर दक्षिण में अपना राज्य स्थापित किया था.[5] विमलसूरि श्रीपर्वत का बार-बार उल्लेख करते हैं. श्रीपर्वतीयों ने राम की सहायता

१. पउमचरियं ११८. १०३.          २. उपमितिभवप्रपंचकथा में डा० जेकोबी की प्रस्तावना पृ० १०.

३. विण्टरनित्ज—ए हिस्टरि ऑव इण्डियन लिटरेचर, भा० २, पृ० ४७७ पा० टि० ३. हरदेव बाहरी—प्राकृत और उनका इतिहास, पृ० ६०. डा० जेकोबी—उपमितिभवप्रपंच कथा, प्रस्तावना, पृ० १० और परिशिष्टपर्व, प्रस्तावना पृ० १९.
डा० कीथ—ए हिस्टरि आव संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३५. पउमचरियं (१९६२) की प्रस्तावना में डा० वी० एम० कुलकर्णी का लेख—दी डेट आव विमलसूरि.
जैन युग, पुस्तक १, अंक ५, पोष १९८२, पृ० १८० पर श्री के० एच० ध्रुव का लेख.

४. वी० वी० कृष्णराव—ए हिस्टरि आंव दी अर्ली डाइनेस्टीज ऑव आन्ध्रदेश, पृ० ३९.

५. डा० अल्टेकर—दी वाकाटक-गुप्ता एज (१९५४), पृ० ८९.

तो की ही थीं. साथ-साथ यह भी वतलाया गया है कि हनुमान श्रीपुर के राजा बनाये गये थे जो श्रीपर्वत की उपत्यका में बसा हुआ था. हनुमान का अपर नाम श्रीशैल भी है [पउम० १८, ४९, ५५, १६, ८५, २६]. इस प्रकार वार-वार श्रीपर्वत का उल्लेख हमें पुराणों के उन श्रीपर्वतीय ग्रान्ध्रों की याद दिलाता है जो इतिहास में दक्षिण आन्ध्रदेश के इक्ष्वाकु राजवंश के नाम से प्रसिद्ध हैं. इस वंश के राजाओं का काल तृतीय ई० शताब्दी माना गया है.[1] लवण और अंकुश अपनी दिग्विजय में अनेक राज्यों को अपने अधीन करते हैं. उन राज्यों में आनन्द लोगों और अनके राज्य का भी उल्लेख है [पउम० ९८, ६६]. भारतीय इतिहास स्पष्ट वतलाता है कि आनन्द राजवंश का उद्भव ईसा की चतुर्थ शताब्दी में हुआ था और उनके राज्य का क्षेत्र गुण्टूर प्रदेश था. वृहत्फलायन आनन्दों के पूर्ववर्ती शासक थे.[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि विमलसूरि चौथी शताब्दी तक के राजवंशों व राज्यों से परिचित थे. पउमचरियं में तीन ऐसी राजनैतिक घटनाएँ हैं जिनका भारतीय इतिहास से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है. ये संघर्ष विम्व-प्रतिविम्व रूप में पूर्ण साहश्य तो नहीं रखते फिर भी उस काल की राजनैतिक हलचल की झलक पउमचरियं की घटनाओं में दृष्टिगोचर होती है. पउमचरियं के अनुसार नर्मदा के दक्षिण में विन्ध्याटवी के क्षेत्र पर कागोनन्द जाति का अधिकार था. उस जाति के नेता रुद्रभूति ने कूववद्दपुर के शासक वालिखिल्य का अपहरण कर उसको वन्दी बना लिया. वह उसके राज्य से धमकी पूर्वक द्रव्य उपार्जित करता था. वालिखिल्य के मंत्री ने उज्जैनी के राजा सिंहोदर से सहायता मांगी परन्तु, उसने वालिखिल्य को मुक्त करवाने में अपनी असमर्थता प्रकट की. राम-लक्ष्मण कूववद्दपुर आये तब उन्होंने अपनी सहायता का वचन दिया. वे वहाँ से आगे वढ़े. विन्ध्याटवी में पहुँच कर उन्होंने रुद्रभूति को परास्त किया और वालिखिल्य को उसके पंजे से छुड़वाया.[3] इस सम्बन्ध में द्वितीयार्ध शताब्दी के भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध उज्जैनी के महक्षत्रप रुद्रसिंह प्रथम, आभीर सेनानायक रुद्रभूति तथा एक अन्य आभीरनेता ईश्वरदत्त से मेल विठाया जा सकता है. रुद्रभूति ने आभीरों की तरफ से जीवदामन को गद्दी से हटाने और रुद्रसिंह को महाक्षत्रप बनाने में भरपूर सहायता की थी. ईश्वरदत्त ने कुछ समय पश्चात् नासिक में अपना अलग राज्य स्थापित किया और रुद्रसिंह को हटाकर स्वयं ही उज्जैनी का महाक्षत्रप वन बैठा. परन्तु दो ही वर्ष के बाद रुद्रसिंह ने अपना पूर्व-अधिकार वापिस प्राप्त कर लिया.[4] इन दोनों वृत्तान्तों में रुद्रभूति समान है. पउमचरियं में सिंहोदर का नाम है व इतिहास में रुद्रसिंह का. यह अन्तर सिर्फ प्रथम दो वर्णों के हेर-फेर का है. सिंहोदर ने रुद्रभूति के विरोध में कदम उठाने में आनाकानी की थी. कारण स्पष्ट है कि रुद्रभूति ने ही रुद्रसिंह को महाक्षत्रप वनाया था. ईश्वरदत्त के नासिक के आभीर राज्य का कागोनन्द जाति के अधीनस्थ नर्मदा से दक्षिण की ओर के क्षेत्र के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है.

दूसरी घटना इस प्रकार है. दशपुर [मण्डसौर] का राजा वज्रकर्ण उज्जैन के राजा सिंहोदर के अधीन था. चूंकि वह स्वतन्त्र वनना चाहता था, इसलिए उज्जैनी के साथ एक भृत्य की तरह व्यवहार करने में आपत्ति करता था. इस पर सिंहोदर ने वज्रकर्ण पर आक्रमण किया और उसको वन्दी बना लिया. राम और लक्ष्मण को दशपुर पहुँचने पर वज्रकर्ण की दयनीय दशा का पता लगा. उन्होंने सिंहोदर को ललकारा और वज्रकर्ण को उससे मुक्त कराया. साथ ही सिंहोदर का कुछ राज्य भी वज्रकर्ण को दिलवा दिया. यह घटना दशपुर की स्वाधीनता की ओर संकेत करती है.[5] दशपुर की ऐतिहासिक जानकारी इस प्रकार प्राप्त होती है. नासिक के नहपान के शिलालेखों में दशपुर का एक तीर्थ की तरह उल्लेख है, उसका कोई खास राजनैतिक महत्त्व नहीं है. गुप्तकाल में ही दशपुर राजनैतिक धरातल पर आता है. जयवर्मा, सिंहवर्मा, और विश्ववर्मा वहाँ के उत्तरोत्तर स्वाधीन राजा थे. तत्पश्चात् विश्ववर्मा के पुत्र राजा वन्धुवर्मा ने कुमारगुप्त प्रथम [४१४-४५४ ई०] का

---

१. वही पृ० ५९-६०.
२. कृष्णराव—वही पृ० २१५, २३३, ३३६.
३. पउमचरियं, ३४. २५-४६.
४. डा० अल्टेकर—वही, पृ० ५४.
५. पउमचरियं, अ०. ३३.

आधिपत्य स्वीकार कर लिया था. कुमारगुप्त के अन्तिम काल में गुप्त-राज्य की नींव डांवाडोल हुई थी.[1] डा० राय चौधरी का अभिप्राय है कि इसी कुमारगुप्त का उपनाम व्याघ्रपराक्रम था.[2] पउमचरियं के सिंहोदर और व्याघ्रपराक्रम में काफी समानता है. कुछ भी हो, पउमचरियं में वर्णित घटना तथा ऐतिहासिक परिस्थिति से इतना तो सुस्पष्ट है कि दशपुर ईसा की चौथी और पांचवीं शताब्दियों में ही राजनैतिक हलचल का विषय बनता है.

पउमचरियं के अनुसार नंद्यावर्तपुर के महाराजा अतिवीर्य ने अयोध्या के राजा भरत को अपने अधीन करना चाहा. भरत ने यह आधिपत्य स्वीकार नहीं किया तब अतिवीर्य ने अनेक अन्य राज्यों से भरत के खिलाफ युद्ध करने के लिए सहायता मांगी और विजयपुर के शासक को भी अपना एक दूत भेजा. उस समय राम लक्ष्मण वहाँ पर ठहरे हुए थे. यह समाचार पाते ही उन्होंने अतिवीर्य की ओर कूच किया और छद्मरूप से उसको वन्दी बना लिया तथा उलटा भरत का आधिपत्य स्वीकार करने के लिए उसको विवश किया.[3] इस नंद्यावर्त का संबंध प्रभावती गुप्ता के पूना के ताम्रपत्र में आए हुए नंदीवर्धन से बिठाया जा सकता है. आजकल यह स्थान रामटेक के पास में स्थित नगर्धन या नंदर्धन के नाम से परिचित है.[4] नंदीवर्धन वाकाटकों की राजधानी रही है. प्रवरसेन द्वितीय के पुत्र नरेन्द्रसेन के राज्य पर पांचवीं शती के मध्य में नल राजा भवदत्त वर्मा ने आक्रमण करके उसके राज्य को हथिया लिया था.[5] इससे सिर्फ इतना ही स्पष्ट है कि यह क्षेत्र पांचवीं शती के मध्य में राजनैतिक हलचल और संघर्ष का शिकार बना हुआ था.

अब हम पउमचरियं में आयी हुयी अन्य सामग्री का आलोचनात्मक पर्यवेक्षण करेंगे. इक्ष्वाकु राजाओं की वंशावली में आदित्ययश से राम का स्थान बासठवां है.[6] संख्यात्मक दृष्टि से यह स्थान ब्राह्मण पुराणों के विवरण के अधिक नजदीक है. वाल्मीकि रामायण में जो वंशावली आती है उसमें राजा इक्ष्वाकु से राम का स्थान पैंतीसवां है (वा० रा० १. ७० और २. ११०) जबकि पुराणों के अनुसार राम का स्थान अट्ठावनवां है. (भागवत पुराण ९. १-१०) विमलसूरि अपने पउमचरियं को पुराण की भी संज्ञा देते हैं (पउम १. ३२.), तथा प्रशस्ति में स्पष्ट वर्णन है कि इस पुराण में चारों पुरुषार्थो-काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष का वर्णन समाविष्ट है. ब्राह्मण पुराणों की परिभाषा का ऐतिहासिक अध्ययन करने से मालूम होता है कि जैसे-जैसे पुराणों का विकास होता गया वैसे-वैसे उनके आवश्यक अंग भी बढ़ते गये. ये चारों पुरुषार्थ परवर्ती काल में ही पुराणों के आवश्यक विषय गिनाये गये हैं.[7] कल्याणविजयजी का मन्तव्य है कि जैन परंपरा में भी ये विषय विक्रम की पांचवीं शती के पूर्व प्रचलित नहीं हुए थे.[8]

पउमचरियं में केवल एक बार श्वेताम्बर मुनि का उल्लेख है. इक्ष्वाकु राजा सोदास के सम्बन्ध में कहा गया है कि अयोध्या से निष्कासित होने पर वे दक्षिण देश की तरफ गये और वहां पर उन्होंने एक श्वेताम्बर मुनि के पास श्रावक-व्रत ग्रहण किये (पेच्छइ परिब्भमन्तो दाहिणदेसे सियंवरं पणओ-पउम० २२.७८). जैन परंपरा की दोनों मान्यताओं के अनुसार उनका संघभेद ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ था. फिर भी श्वेताम्बर संघ का स्पष्ट उल्लेख हमें राजा विजय मृगेशवर्मा के देवगिरि के एक शिलालेख में 'श्वेतपटमहाश्रमण संघ' के रूप में मिलता है. यह शिलालेख पांचवीं शताब्दी का है. पउमचरियं में संलेखना को श्रावकों के बारह व्रतों में स्थान दिया गया है तथा उसे चतुर्थ शिक्षापद के रूप में गिनाया

---

१. डा० अल्टेकर—वही, पृ० १५९, १६०, १६६, १६७.
२. पॉलिटिकल हिस्टरि आव एंशियंट इण्डिया (चतुर्थ संस्करण), पृ० ४८०.
३. पउमचरियं, अ० १७
४. वी० सी० ला०...हिस्टोरिकल जोग्राफी आव एशिया इण्डिया, पृ० ३२३ और डी० सी० सरकार—सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स् भा० १ पृ० ४०७.
५. डा० अल्टेकर—वही, पृ० १०५, १०७.
६. पउमचरियं, अ० ५, २१ और २२.
७. मत्स्यपुराण ५. ३. ६६ और ए० डी० पुसलकर=स्टडीज इन एपिक्स एण्ड पुराणाज् आव इण्डिया, प्रस्तावना. पृ० ४६.
८. कल्याणविजयजी—श्रमण भगवान् महावीर पृ० ३०४.

गया है (पउम १४. ११५, ६३. ४६) वैसे संलेखना को वारह व्रतों में सम्मिलित नहीं किया जाता है. यह परम्परा किस समय से प्रचलित हुई यह विचारणीय है. आचार्य कुन्दकुन्द ने, जिनका समय पांचवीं शती[1] के लगभग का है, अपने चारित्रपाहुड (२५) में संलेखना को वारह व्रतों में स्थान दिया है और इसी क्रम से गिनाया है. पउमचरियं में "रात्रिभोजनत्याग" को श्रावकों का छठा अणुव्रत वतलाया है. ऐसा केवल एक ही वार उल्लेख है (पउम ६, १२०) ऐसी परम्परा कहाँ, किस समय चली और किसने चलायी, यह भी अध्ययन का विषय है. आगे चलकर चामुण्डराय ने अपने चारित्रसार और वीरनंदि ने अपने आचारसार में इसे श्रावकों का छठा अणुव्रत गिनाया है. इतना सुस्पष्ट है कि यह व्रत पूज्यपाद के समय में प्रचलित था. वे अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' में इसका जिक्र करते हैं. पउमचरियं में करीव वीस प्रकार की भिन्न-भिन्न तपस्याओं का उल्लेख आता है. आगम-साहित्य व मूलाचार में इनमें से वहुतों का उल्लेख नहीं मिलता. डा० देव का अभिप्राय है कि तपश्चर्याओं की वहुलता वाद में विकसित हुई है.[2] पउमचरियं के रचयिता ने अपने आपको 'सूरि' की पदवी से विभूषित किया है. 'सूरि' कहलाने की परम्परा प्राचीन नहीं है. कल्पसूत्र स्थविरावली, नन्दीसूत्र पट्टावली और मथुरा के शिलालेखों में किसी भी आचार्य का 'सूरि' के रूप में उल्लेख नहीं है. डा० देव का मत है कि आचार्य के स्थान पर सूरि शब्द का प्रयोग मध्यकाल से ही अधिकांश रूप में नजर आता है.[3]

पउमचरियं में जिनमन्दिर वनवाने व प्रतिष्ठा करवाने का काफी आग्रह है. कई स्थानों पर इस सम्वन्ध में उपदेश दिये गये हैं. (पउम-८-१६७, ४० ६, ८९. ५१) तीर्थंकरों की मूर्तियों की पूजा में अष्टद्रव्य का प्रचलन हो चुका था. भरत को उपदेश देते हुए एक मुनि वतलाते हैं कि पुष्प, धूप, चन्दन, सुगन्धितद्रव्य, दीप, दर्पण, अभिषेक, नैवेद्य इत्यादि से भगवान् की पूजा करने पर अत्यन्त पुण्य का उपार्जन होता है और अच्छी गति प्राप्त होती है (पउम०-३२ ७२-८१). भगवान् के अभिषेक करने की वहुत महिमा वतायी गयी है और अभिषेक के कई उदाहरण इस ग्रंथ में उपलब्ध हैं. कल्याणविजयजी का मन्तव्य है कि पूर्वकाल में जल का उपयोग आचमन के रूप में था, स्नान के रूप में नहीं. अभिषेक, विलेपन इत्यादि वाद की परम्पराएँ हैं. पउमचरियं के अनुसार वैसे तो मुनि लोग वन, उपवन, उद्यान, उपत्यका, गुफा और चैत्यों में ठहरते थे परन्तु जिन-मन्दिरों में ठहरने की प्रथा भी चल पड़ी थी (पउम० ८९. १४, १८ २०) ! इस प्रकार चैत्यवास की झलक पउमचरियं में मिलती है. कल्याणविजयजी का अभिप्राय है कि जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, साधुओं का जिन-चैत्यों में ठहरना इत्यादि विषय विक्रम की पाँचवीं शती से प्रचलित हुए जान पड़ते हैं.[4]

पउमचरियं महाराष्ट्री प्राकृत भाषा में निवद्ध है और वह काफी विकसित रूप में है. साथ ही साथ उस पर उस समय की वोलचाल की भाषा का प्रभाव भी है. इस वोलचाल की भाषा की जो विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उनसे विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि वे ही आगे चलकर अपभ्रंश की मूल प्रकृतियाँ वन गयीं. इस क्षेत्र में निम्नलिखित विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं :

अव्ययों के साथ-साथ नामवाची रूपों तथा क्रियापदों में लघु और दीर्घ स्वरों का वैकल्पिक प्रयोग व श्रुति के वीसों उदाहरण. क्रिया के पूर्वकालिक रूपों में 'एवि' प्रत्यय का तीन वार प्रयोग. कम से कम दस वार 'किह' और 'कवण' 'कथ' और 'किं' के स्थान पर प्रयोग. नाम के प्रथमा व उससे भी अधिक द्वितीया एक वचन विभक्ति के लोप के यत्र-तत्र फैले हुए उदाहरण. स्त्रीवाची 'आकारान्त शब्दों में पच्चीस प्रतिशत और इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों में पचास प्रतिशत के औसत से द्वितीया एक वचन विभक्ति का लोप. अनुस्वार सहित अंतिम लघु स्वर के स्थान पर दीर्घ स्वर आने के कुछ उदाहरण. उसभ व नाम शब्द के तृतीया विभक्ति के दो उदाहरण 'उसभे' व 'नामे' और उपमा व उत्प्रेक्षा अलंकार में सूचक शब्द 'णज्जइ' का प्रयोग.

---

१. डा० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० ८३, ९५, ९६. कल्याणविजयजी—वही, पृ० ३४६.

२. डा० एस० वी० देव—हिस्टरि आव जैन मोनासिज्म, पृ० १८७, ५६३.

३. वही पृ० २३२, २३७, ५६४.

४. श्रमण भगवान् महावीर, पृ० ३०४, ३०५.

पउमचरियं की भाषा जिस लोकभाषा से प्रभावित हुई है. उसको देखते हुए इसका रचना-समय ईसा की प्रथम शताब्दियों में नहीं रखा जा सकता. इस ग्रंथ में प्रयुक्त गाथा छन्द भी इतने उत्कृष्ट रूप में है कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म लक्षणों की कसौटी पर कसा जा सकता है. इन सभी उपरोक्त तत्त्वों के आधार पर पउमचरियं का रचनाकाल ईशा की प्रथम शताब्दी उचित नहीं ठहरता जैसा कि प्रशस्ति में कहा गया है. अनेक प्रमाण यह साबित करते हैं कि इस ग्रन्थ पर विक्रम की पांचवीं शताब्दी के आस-पास के वातावरण का प्रभाव है.

पउमचरियं की परवर्ती सीमा निश्चित करने के लिए अब हम उद्योतनसूरि और रविषेण का सहारा लेंगे. उद्योतनसूरि अपने ग्रंथ कुवलयमाला[१] में, जिसका रचना काल ७७८ ईस्वी सन् है, विमलसूरि के पउमचरियं का उल्लेख करते हैं. इससे एक तो यह प्रमाणित होता है कि पउपचरियं आठवीं शती के पूर्व की रचना है, दूसरा यह कि यदि यह रचना बहुत पुरानी होती तो अन्य स्थान पर किसी पुराने ग्रंथ में इसका उल्लेख अवश्य होना चाहिए था. उद्योतनसूरि ने रविषेण को भी स्मरण किया है. पद्मचरितम् रविषेण का संस्कृत ग्रंथ है. पउमचरियं और पद्मचरितम् की तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक ग्रंथ किसी दूसरे का रूपान्तर मात्र है. पं० नाथूराम प्रेमी ने यह सिद्ध किया है कि रविषेण ने अपना पद्मचरितम् पउमचरियं के आधार पर ही रचा.[२] इसी मान्यता को दृढ़ करने वाले कतिपय नये प्रमाण प्रस्तुत करने योग्य हैं. पउमचरियं में हनुमान् के जन्मसंबन्धी नक्षत्रों और लग्न का जो विवरण है वह ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से गलत है जबकि रविषेण के पद्मचरितम् में वही वर्णन त्रुटिहीन है. यदि विमलसूरि के ग्रंथ का आधार पद्मचरितम् होता तो उसमें त्रुटि आने की कोई गुंजायश नहीं थी. मालूम होता है कि रविषेण ने यह त्रुटि सुधार ली है. ऐसा ही एक और उदाहरण है. पउमचरियं में भरत और भुवनालंकार हस्ती के पूर्व भवों का वर्णन आता है (पउम० ८२-१७-१२१). आधे कथानक तक तो हस्ती को अपने पूर्वभवों में मायावी बताया गया है जो कि तिर्यंच योनि में भव प्राप्त करने के लिए उचित भी है, परन्तु बीच में त्रुटि रह जाने के कारण बाद में हस्ती के अन्य पूर्वभवों का सम्बन्ध भरत के पूर्वभवों से जुड़ गया है. पद्म-चरितम् में ऐसा नहीं है. उसमें हस्ती के ही सभी पूर्व भवों में मायावीपन है. भरत के पूर्वभवों में नहीं. स्पष्ट है कि रविषेण ने पउमचरियं की इस असंगति को अपने पद्मचरितम् में सुलझा दिया है (पद्म०८५ २८-१७३). एक अन्य कथानक में राजा का नाम पद्मचरितम् (पर्व ५) के अनुसार विद्युद्दंष्ट्र है और प्रथम पर्व में विषय की जो सूची है उसमें भी यही नाम है. पउमचरियं में वही नाम सब जगह विज्जुदाढ है, परन्तु पद्मचरितम् में कथानक के उत्तर भाग में उसी को विद्युद्दृढ़ कहा गया है (पद्म० ५, ३०, पउम० ५-२०-४१).

स्पष्ट है कि यह नाम प्राकृत विज्जुदाढ का गलत रूपान्तर है जो कि रविषेण ने पूर्वापर का ध्यान रखे बिना पउमचरियं के नाम के आधार पर अपनाया है, अन्यथा एक व्यक्ति के दो भिन्न नाम कैसे ? पउमचरियं में एक कथा आती है जिसमें दो काश्तकार भाइयों का वर्णन है और उनको 'सहोयरा करिसया' कहा गया है (पउम० ३९,६८). रविषेण ने शायद नहीं समझने के कारण या भ्रान्त पाठ होने के कारण उन दो भाइयों के नाम 'सुरप' और 'कर्षक' कर दिये हैं (पद्म० ३९, १३७). कुछ व्यक्तियों के नामों का अध्ययन करने से पता चलता है कि रविषेण ने अपनी कृति में छन्दों के वर्गों का नियमन करने के लिए पउमचरियं में आये हुये नामों के लिए पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है, क्योंकि पद्मचरितम् के नामों को यदि विमलसूरि वैसे के वैसे रखते तो भी उनके मात्रा छन्द में कोई त्रुटि नहीं आती थी, परन्तु रविषेण के साथ यह स्थिति नहीं थी (उदाहरणार्थ-पउम-अरिदमणो जलन-जडी, रिउमहणो-अवकतेओ-पद्मः-अरिध्वंसो वह्निजटी, अरिमर्दनः, वह्नितेजाः) इसके दोनों ग्रंथों में पांचवां अध्याय ध्यान देने योग्य है.

रविषेणाचार्य कट्टर दिगम्बर थे यह सुविदित है. दिगम्बर परम्परा में दाशरथी राम यानि आठवें बलदेव राम के नाम से ही परिचित हैं, नवें बलदेव यानि कृष्ण के भाई का नाम पद्म पाया जाता है. यदि पद्मचरितम् मौलिक रचना

---

१. पृ० ३, पंक्ति २७, कुवलयमाला—डा० ए० एन० उपाध्ये.

२. जैन साहित्य और इतिहास (१९५६), पृ० ९०.

होती तो रविषेण, सांप्रदायिक भावना को देखते हुए, अपने ग्रन्थ का नाम रामचरितम् ही रखते न कि पद्मचरितम्. जहाँ-जहाँ पर भी त्रेसठ शलाकापुरुषों के संदर्भ आये हैं वहाँ-वहाँ पर बलदेवों के व्यक्तिगत नामों के उल्लेख छोड़ दिये गये हैं, क्योंकि यदि उनके नाम अपनी परम्परा के अनुसार गिनाते तो वह मान्यता उनके ग्रन्थ के नामकरण से विपरीत ही ठहरती. इन सब मुद्दों के आधार पर कहने की आवश्यकता नहीं कि पद्मचरितम् पउमचरियं का संस्कृत रूपान्तर मात्र है. पद्मचरितम् का रचनाकाल ईस्वी सन् ६७७ है, अतः पउमचरियं इससे पूर्व की रचना होनी चाहिए.

पउमचरियं के अन्तःपरीक्षण तथा अन्य बाह्य आधारों पर से इतना सुनिश्चित हो जाता है कि यह रचना पांचवीं शती के पूर्व की नहीं और सातवीं शती के बाद की नहीं. अब प्रश्न यह उठता है कि प्रशस्ति में दिये गये महावीर निर्वाण के ५३० वें वर्ष से क्या अर्थ निकालना चाहिए ? मालूम होता है कि यह महावीर-निर्वाण का संवत् नहीं होकर और कोई दूसरा संवत् होना चाहिए. इस दृष्टि से शकसंवत् और कृत या विक्रमसंवत् विचारणीय है. शक संवत् के अनुसार पउमचरियं का रचनाकाल ६६५ ईस्वी होगा जो रविषेण के पद्मचरितम् से बारह वर्ष पूर्व ठहरता है. इस संवत् को मानने में एक प्रबल आपत्ति आती है. आचार्य रविषेण के ग्रन्थ को पढ़ने से मालूम होता है कि वह एक सांप्रदायिक ग्रन्थ बन गया है. उसमें अनेक स्थानों पर दिगम्बरत्व का प्रदर्शन है. दीक्षा को भी दैगम्बरी दीक्षा कहा गया है.

पउमचरियं में इस विषय संबंधी उदारता है. किसी संप्रदायविशेष की ओर आग्रह नहीं है. सिर्फ एक ही स्थान पर श्वेताम्बर साधु का उल्लेख आ जाने से सांप्रदायिकता नहीं आ जाती. महत्त्व की बात तो यह है कि वे किसी संप्रदाय का पक्ष लेते हैं या नहीं. ग्रन्थ में वर्णित अनेक तत्त्वों का पृथक्करण आज भी प्रचलित परम्पराओं की दृष्टि से किया जाय तो श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सभी संप्रदायों का उस ग्रन्थ में समावेश हो जाता है. इसीलिए कुछ विद्वान् विमलसूरि को अपने-अपने संप्रदाय का सिद्ध करने के लिए तत्-तत् तत्त्वों का सहारा लेते हैं. वास्तव में बात यह है कि विमलसूरि के ऊपर सांप्रदायिकता का कोई प्रभाव नहीं है. उन्होंने जो कुछ सुना, देखा, पढ़ा और परम्परा से प्राप्त किया उसी का वर्णन किया है. यहां तक कि कुछ वस्तुएँ तो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के प्रतिकूल जाती हैं और कुछ उनके अपने पूर्व कथन के भी विपरीत पड़ती हैं. कल्याणविजयजी का अभिप्राय है कि सांप्रदायिक पृथक्करण की प्रथा और एक दूसरे को श्वेताम्बर दिगम्बर कहने की परम्परा विक्रम की सातवीं शताब्दी से प्रचलित हुयी है.[1] इस कट्टरता का पउमचरियं में अभाव है जबकि पद्मचरितम् इस भेदपरक परम्परा का महत्त्व-पूर्ण उदाहरण है और ध्यान देने योग्य है कि इस भेदपरक परम्परा को दृढ़ बनने में काफी समय गुजरा होगा, सिर्फ दस या पन्द्रह वर्ष में इतनी उग्रता नहीं बढ़ी होगी. दोनों संप्रदायों को यह मान्य है कि उनका विभाजन विक्रम की दूसरी शताब्दी में हो गया था, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उस विभाजन के तत्काल बाद ऐसी उग्रता आगयी होगी. इस कट्टरता का बीजारोपण एक तरफ कुन्दकुन्दाचार्य के समय से हुआ जान पड़ता है और इसके दृढ़ होने के प्रमाण दूसरी तरफ जिनभद्र के विशेषावश्यकभाष्य में प्राप्त होते हैं. इसलिए इन दोनों व्यक्तियों के बाद की तो यह रचना हो ही नहीं सकती. यदि ऐसा होता तो उस समय की परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पउमचरियं में उपस्थित रहता. कुन्दकुन्दाचार्य के बहुत पहले की यह रचना नहीं भी हो तो उनके आसपास या कुछ ही समय पूर्व या पश्चात् की होनी चाहिए.

दूसरी दलील यह है कि क्या सिर्फ बारह वर्ष पश्चात् ही रविषेणाचार्य एक उदारचरित कथा को दिगम्बर रूप देने की हिम्मत कर सकते थे ? क्या किसी भी क्षेत्र से आलोचना या विरोध होने का उनको भय नहीं था और विशेषतः उस अवस्था में जब कि उन्होंने विमलसूरि का प्रत्यक्षतः स्मरण भी नहीं किया था. संभव यह प्रतीत होता है कि पउमचरियं समान रूप से दोनों पक्षों को पर्याप्त समय तक मान्य रहा होगा और समय व्यतीत होते-होते जैसे-जैसे सांप्रदायिक कट्टरता बढ़ती गयी तब रविषेणाचार्य ने अपने सम्प्रदाय में रामचरित विषयक ग्रन्थ की आवश्यकता महसूस

१. श्रमण भगवान् महावीर पृ० ३०५.

की होगी और उन्होंने पद्मचरितम् की रचना से उस अभाव को पूरा किया. प्रश्न यह भी हो सकता है कि श्वेताम्बरों ने भी अपना पृथक् सांप्रदायिक ग्रंथ क्यों नहीं रचा ? इसका उत्तर स्वयं श्वेताम्बरीय परम्परा में विद्यमान है. आगम साहित्य के जो भी पुराने ग्रंथ थे उन सबको श्वेताम्बरों ने अपनाये रखा, चाहे भले ही उनमें श्वेताम्बरीय कट्टरता के विरोध की भी बातें हों, परन्तु भेदभाव और कट्टरता बढ़ने पर दिगम्बरों ने उन ग्रन्थों को अप्रामाणिक घोषित करके अपने लिए पूर्व भित्ति पर नये ही साहित्य की रचना की. इस दृष्टि से श्वेताम्बरों को यह अभाव खटक ही नहीं सकता था और उनको अलग कृति रचने की आवश्यकता भी नहीं पड़ी होगी. इस तरह से ५३० शक संवत् विवादास्पद हो जाता है और उसको मानने में आपत्तियां आकर खड़ी हो जाती हैं. तब फिर यही मान्य हो सकता है कि ये ५३० वर्ष कृत संवत् के यानि विक्रम संवत् के होने चाहिए.

उचित यही जान पड़ता है कि या तो किसी लिपिक ने इच्छापूर्वक या किसी भूल के कारण इसे विक्रम संवत् में परिवर्तित कर दिया है. ऐसी भूल का परम्परागत एक उदाहरण भी उपलब्ध है. प्रबन्धकोष में वल्लभी के पतन का समय महावीर निर्वाण ८४५ दिया गया है जबकि विविधतीर्थकल्प में विक्रम संवत् ८४५ बतलाया गया है.[१] वास्तव में इसे विक्रम संवत् मानना ही ठीक है. विक्रम संवत् के अनुसार पउमचरियं का रचना काल ५३०-५७-४७३ ईस्वी सन् आता है जो सभी दृष्टियों से उचित ठहरता है और यही पउमचरियं की रचना का प्रामाणिक समय माना जाना चाहिए.

२. हरिप्रसाद शास्त्री, मैत्रक कालीन गुजरात, भाग १, पृ० १५७.

प्रो० श्रीचन्द्र जैन
एम० ए०, एल-एल० बी०
अध्यक्ष हिन्दी विभाग, गर्व० कालेज, खरगोन

# जैन कथा-साहित्य : एक परिचय

भारतीय लोक-कथाओं में जैन कथाओं का विशिष्ट स्थान है. उनकी संख्या भी पर्याप्त है और उनके विषय-विवेचन में भी विशिष्ट मौलिकता है. संसार के समस्त अनुभवों को अपने आँचल में छिपाए हुए उन कथाओं ने विरक्ति और सदाचार को विशेषतः प्रतिफलित किया है.

यथार्थवाद के धरातल पर निर्मित इनकी रूप-रेखाओं में आदर्शवाद का ही रंग गहरा है. इन्होंने एक बार नहीं हजार बार बताया है कि मानव का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है और इसमें सफल होने के लिए उसे संसार से विरक्त होना पड़ेगा. यद्यपि पुण्य सुखकर है और पाप की तुलना में इसकी उपलब्धि श्रेयस्कर है फिर भी पुण्य की कामना का परित्याग एक विशेष परिस्थिति में आत्म-शुद्धि के लिए आवश्यक है.

इस परम पुनीत उद्देश्य का स्मरण इन कथाओं के माध्यम से पाठकों को बारम्बार कराया गया है.

इन कथाओं से स्पष्ट है कि समस्त प्राणियों की चिन्ता करने वाले जैन-धर्म के सिद्धांतों में 'सर्वभूतहिताय' की भावना सदैव स्पंदित रही है. वर्ग-भेद अथवा जाति-भेद की कल्पना के लिए यहाँ स्थान है ही नहीं. पशु-पक्षी, देव-दानव, राजा रंक और श्वपच को भी समान रूप से धर्मोपदेश सुनाकर जैनमुनियों ने अपनी उदारता का परिचय दिया है. जैन-आचार्यों ने जैन-धर्म के सिद्धांतों को समझाने के लिए जिन कथाओं का सहारा लिया है, वे कोरी काल्पनिक नहीं है वरन उनकी कथावस्तु में वास्तविकता है तथा आदर्शवाद की परिपुष्टि में उनका अवसान हुआ है.

कर्मसिद्धांत के निरूपण से इन कथाओं में पाप-पुण्य की विशद व्याख्या भी हुई है. प्रत्येक जीव को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है. इस अटल सिद्धांत की परिधि के बाहर न देवता जा सकते हैं और न नरपति. ऋषि-मुनियों को भी अपने कृत्यों के शुभाशुभ परिणामों का अनुभव करना पड़ता है. जिस प्रकार एक पुण्यवान् मानव पावन कार्य करके स्वर्ग के सुखों को भोगता है उसी प्रकार एक वन-पशु भी सामान्य व्रतों के पालन से देव बन जाता है. इसी प्रकार नरपालक अपने पापों के वशीभूत होकर नरकगामी हो जाता है.

जैन-धर्म पुनर्जन्म के सिद्धांत में पूर्ण आस्थावान् है. इसीलिए कर्मवाद की अभिव्यक्ति अधिक प्रभावशालिनी बन जाती है. किसी कारण विशेष से यदि कोई जीव अपने वर्त्तमान जीवन में अपने कर्मों का फल नहीं भोग पाता तो उसे दूसरे जन्म में अवश्य ही भोगना पड़ता है.

जैन लोक-कथा-साहित्य पर लिखते हुए श्रीमती मोहनी शर्मा ने कहा है कि—"जैन कथा-साहित्य मात्रा में बहुत ही विशाल है. उसमें रोमांस, वृत्तान्त, जीवजन्तु लोक, परम्परा प्रचलित मनोरंजक, वर्णनात्मक, आदि सभी प्रकार की कथाएँ, प्रचुर मात्रा में मिलती हैं. जनसाधारण में अपने सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए जैन-साधु कथाओं को सबसे

सुलभ व प्रभावशाली साधन मानते थे और उन्होंने इसी दृष्टि से उपरोक्त सभी भाषाओं में, गद्य-पद्य दोनों में ही कहानी कला को चरम विकास की सीमा तक पहुंचाया. उनकी कथाएँ दैनिक जीवन की सरल से सरल भाषा में होती थीं. कोई-कोई कथाएँ तो केवल एक ही साधारण कथा हुआ करती थी पर अधिकांशत: कथाओं में बहुत सी गौण कथाएँ इस ढंग से मिली रहती थीं कि कथा का क्रम नहीं टूटने पाता था और काफी लम्बे समय तक वही कथा चलती रहती थी (जैसे पंचतंत्र).

'उनका कथा कहने का ढंग अन्यों की अपेक्षा कुछ विशेषता युक्त है. कथा के प्रारंभ में जैन साधु कोई प्रसिद्ध धर्मवाक्य या पद्यांश कहते हैं और फिर बाद में कथा कहना शुरू करते हैं. कथा की लम्बाई या छोटाई पर वे जरा भी ध्यान नहीं देते. उनकी कथाएँ बहुत ही रोमांटिक घटनाओं (अधिकांश घटनाएँ एक दूसरे से गुथी रहती हैं) से युक्त रहती हैं. कहानी के अन्त में वे पाठकों का परिचय एक केवली-त्रिकालदर्शी जैन-साधु से कराते हैं. जो कथा से सम्बद्ध नगर में आता है और कथा के पात्रों को सन्मार्ग पर आने का उपदेश देता है. केवली का उपदेश सुनकर कथा के पात्र पूछते हैं कि संसार में प्राणियों को दु:ख क्यों सहने पड़ते हैं, दुखों से छुटकारा पाने का उपाय क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में केवली जैनधर्म के प्रमुख तत्त्व कर्म का वर्णन करने लग जाता है—प्राणी के पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप में ही उसे सुख या दु:ख की प्राप्ति होती है. अपने इस कथन का सम्बन्ध वह कहानी के पात्रों के जीवन में घटित घटनाओं से स्पष्ट करता है.

भारतीय कथाकला की विशेषताओं के रूप में हम जैन कथावृत्तान्तों को ले सकते हैं. भारतीय जनता के प्रत्येक वर्ग के आचार-विचारों एवं व्यवहारों के विषय में उनसे यथार्थ एवं सविस्तार परिचय मिलता है. जैन-कथा-वृत्तान्त विशाल भारतीय साहित्य के एक प्रमुख अंग के रूप में अपना महत्त्व प्रदर्शित करते हैं. वे केवल भारतीय लोककथाओं के क्षेत्र में ही नहीं, वरन् भारतीय सभ्यता व संस्कृति के इतिहास के क्षेत्र में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं.

जैनों के कथा कहने के ढंग में बौद्धों के ढंग से कई बातों में काफी अन्तर है. जैनों की कथा की मूल वस्तु भूत को वर्त्तमान से सम्बद्ध रखती है. वे अपने सिद्धांतों का सीधा उपदेश नहीं देते, उनके कथानकों से ही अप्रत्यक्ष रूप से उनका उपदेश प्रकट होता है. एक सब से बड़ा अन्तर जो है, वह यह कि उनकी कथाओं में 'बोधिसत्व' के समान भविष्य के 'जिनके रूप में कोई पात्र नहीं आता." (ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन-ग्रंथ (पृष्ठ ४२८-४३०).

डा० सत्येन्द्र, एम० ए०, पी-एच० डी० ने भी जैन लोक-कथाओं पर विचार प्रकट किए हैं. वे लिखते है—'जैन साहित्य में तो बौद्ध-साहित्य से भी अधिक कहानियों का भण्डार मिलता है. ये कहानियाँ कुछ तो धर्म के सिद्धांत-ग्रंथों में आयी हैं. ये बहुधा तीर्थकरों तथा उनके श्रमण अनुयायियों तथा शलाकापुरुषों की जीवन-झांकियों के रूप में जहाँ-तहाँ मिल जाती हैं. कहीं-कहीं इन ग्रंथों में किसी कथा का संकेत-मात्र मिलता है. आचारांग और कल्पसूत्र में महावीर के जीवन पर प्रकाश पड़ता है. नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में भी इनमें वृत्त मिल जाते हैं. 'नायाधम्मकहाओ' में अनेकों दृष्टांत स्वरूप रूपक कहानियाँ (पैरेबल) भी हैं.[1]

## जैन कथाओं का वर्गीकरण

जैन कथाओं का विभाजन करना सुगम नहीं है, फिर भी पात्रों, एवं वर्ण्य विषयों आदि के आधार पर इन्हें विभाजित किया जा सकता है. पात्रों पर आधारित विभाजन इस प्रकार हो सकता है :

१. महाराजा और महारानी सम्बन्धी कथाएँ.
२. महाराजकुमार और महाराजकुमारी सम्बन्धी कथाएँ.
३. उच्चवर्णीय मानव सम्बन्धी कथाएँ.

---

१. ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ४१६

४. पशु-पक्षी सम्बन्धी कथाएं.
५. देव-दानव सम्बन्धी कथाएं.
६. जैन-साधु सम्बन्धी कथाएँ.
७. नीच कुलोत्पन्न मानव सम्बन्धी कथाएँ, आदि आदि.

विषयानुसार कथाओं का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है—

१. व्रत सम्बन्धी, २. त्याग सम्बन्धी, ३. दान सम्बन्धी, ४. सप्तव्यसन सम्बन्धी, ५. बारह भावना सम्बन्धी, ६. रत्नत्रय सम्बन्धी, ७. दश धर्म सम्बन्धी, ८. तीर्थयात्रा सम्बन्धी, ९. मंत्र संबंधी, १०. स्तोत्र सम्बन्धी, ११. रोग संबंधी, १२. परीक्षा विषयक, १३. त्यौहार सम्बन्धी, १४. चमत्कार सम्बन्धी, १५. शास्त्रार्थ सम्बन्धी, १६. भाग्य सम्बन्धी, १७. उपसर्ग सम्बन्धी, १८. स्वप्न सम्बन्धी, १९. यात्रा सम्बन्धी, २०. नीति विषयक, २१. तीन मूढता विषयक, २२. परीषह संबंधी, कथाएँ आदि आदि.

किन्तु यह वर्गीकरण पूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हजारों कथाओं के विषय परस्पर बहुत भिन्न हैं.

## जैन कथाओं का प्रारम्भ एवं अन्त

जैन कथाओं का प्रारम्भ कथाकार प्रायः मंगलाचरण के साथ किया करते हैं, जिसमें जिनेन्द्रदेव अथवा सरस्वती की वन्दना करके कथा-नाम का संकेत भी दिया जाता है.[1] कथा के प्रारम्भिक भाग में प्रमुख पात्र अथवा पात्रों के निवास-स्थान का उल्लेख नियमित रूप से होता है. साथ ही साथ[2] पुण्यवान शासक [राजा एवं रानी] के नाम का भी सम्मान सहित उल्लेख कर दिया जाता है. कुछ शब्दों में उसकी शासन-व्यवस्था की भी प्रशंसा कर दी जाती है. कथा की समाप्ति होते होते प्रमुख पात्र पर विशेष आदर्शवाद [विरक्ति, भक्ति, तपस्या, आदि] का प्रभाव प्रकट हो जाता है और वह अपने कुत्सित मार्ग [यदि वह विलासी अथवा पापी होता था] को छोड़कर मोक्षमार्ग का पथिक बन जाता है. इस प्रकार कथा का अन्त उपदेशात्मक पंक्तियों के साथ हुआ करता है.

## जैन कथाओं की व्यापकता

जैन कथाओं का विस्तार बहुत दूर तक हुआ है. कुछ कथाएँ तो ऐसी सुनने को मिली हैं जिनका उल्लेख पाश्चात्य देशों की कथाओं में भी हुआ है.

सुप्रसिद्ध युरोपीय विद्वान् श्री सी० एच० टाने ने अपने 'ग्रंथ' ट्रेजरी आफ स्टोरिज की भूमिका में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जैनों के 'कथाकोष' में संग्रहीत कथाओं व योरोपीय कथाओं में अत्यन्त निकट साम्य है.

---

१. (क) श्रीवीरं जिनमानम्य वस्तुतत्त्वप्रकाशकम्.
वक्ष्ये कथामयं ग्रन्थं पुण्याश्रवाभिधानकम्.
(ख) नमो शारदा सार बुध करैं हरैं अघ लेप.
'निशभोजन भुंजन' कथा, लिखूं सुगम संक्षेप.
(ग) तीनों योग सम्हार कर, वन्दों वीर जिनेश,
'रक्षा बन्धन' की कथा, भाषा करूं विशेष.
(घ) पंच परम गुरु वन्दिके, 'जम्बुकुमार' पुराण.
करूं पद्य रचना, भक्ति भाव कर आन.

२. (क) जम्बूद्वीप में, पूर्व विदेह के अन्तर्गत आर्य खण्ड नामक स्थान में अवन्ती देश है, जिसमें सुसीमा नाम की एक नगरी है. उस नगर का शासनकर्त्ता, वरदत्त नामक एक चक्रवर्ती सम्राट् था.
(ख) महाराज श्रेणिक सरदार, धर्मधुरंधर परम उदार.
न्याय नीति बरतें तिहुं काल, निर्भय प्रजा रहे खुशहाल. —जंबू स्वामी चरित्र, पृ० ९.

उनके विचार से यह अधिक संभव है कि जिन योरोपीय कथाओं में यह साम्य मिलता है उनमें से अधिकांश भारतीय कथा साहित्य [विशेषतः जैन कथा साहित्य] के आश्रित हों. प्रोफेसर मैक्समूलर वेन्फे तथा राइस डेविड्स ने अपने ग्रंथों में इस बात के काफी प्रमाण दिये हैं कि भारतीय बौद्ध कथाएँ लोक कंठों के माध्यम के परसिया से यूरोप गईं.

प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि जैन कहानियां इतने दूर-दूर के प्रदेशों में कैसे पहुँचीं, जब कि जैनधर्म का विस्तार भारत तक ही सीमित है ? इसके उत्तर में हम यही कहेंगे [और यह सच है] कि ये कहानियां जैनों द्वारा नहीं, बल्कि बौद्धों द्वारा सुदूर प्रदेशों में ले जाई गई हैं. क्योंकि जैन और बौद्ध, दोनों ने ही ज्ञानोन्नति एवं प्रचार के उद्देश्य से पूर्वीय भारत की लोक-कथाओं का समुचित उपयोग किया है.[१]

अनेक जैन कथाएँ ऐसी हैं जो कुछ अन्तर [परिवर्धन एवं परिवर्तन] के साथ वेदों और पुराणों में भी प्राप्त होती हैं. आचार्यों ने अपने अपने मतों की पुष्टि अथवा समर्थन के लिए यदि कथाओं में कुछ परिवर्तन कर दिया हो तो आश्चर्य की बात नहीं है. एक साधारण कथा जब धर्मविशेष की परिधि में पहुँच जाती है तब वह उस धर्म की भावना से प्रभावित होकर ही बाहर निकलती है. भगवान् राम तथा कृष्ण विषयक जैन कथाएँ भी उपलब्ध हैं, लेकिन उनमें और वैदिक कथाओं में असाधारण अन्तर आ गया है. ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन हो जाता है कि ये कथाएँ जैन साहित्य से अन्य धर्म में पहुँची हैं अथवा जैन कथाकारों ने इन्हें अन्यत्र से उपलब्ध किया है.

विदेशों की लोक-कथाओं के अनुशीलन से ज्ञात होगा कि अनेकों जैन-कथाओं ने सागरों को पार करके वहां की मान्यताओं की वेश-भूषा से अपने को अलंकृत कर लिया है, लेकिन उनका मूलभूत स्वरूप प्रकट हो कर ही रहता है.

## कथाओं में तात्कालिक समाज का चित्रण

यद्यपि इन कथाओं का लक्ष्य सामाजिक अथवा राजनीतिक वातावरण को अंकित करना नहीं है, फिर भी इनमें ऐसे अनेक विवरण सम्मिलित हैं जिनके माध्यम से पाठक तत्कालीन सामाजिक स्थिति का सहज ही अध्ययन कर लेता है. मानव की स्वाभाविक वृत्तियों का न कभी नाश हुआ है और न होगा.

वह सौन्दर्य-प्रेमी होता है और इसीलिए मनमोहक सुन्दरता की ओर स्वतः आकर्षित हो जाता है. अनेक कथाओं में प्रदर्शित किया गया है कि अमुक राजा या धनिक या सम्पन्न व्यक्ति अमुक किसी सुन्दर स्त्री पर मोहित हो गया और उसकी प्राप्ति के लिए अनेक उपाय भी करने लगा, लेकिन देवी-देवताओं ने सती की पुकार सुनी और वह नराधम अपने कुकर्म के लिए दण्डित किया गया.[२] उस समय यातायात के साधन सीमित थे और व्यापारी बैलों, घोड़ों ऊँटों तथा जहाजों के द्वारा ही अपने व्यवसाय को समुन्नत बनाते थे. लेकिन संरक्षण का पूर्ण प्रबन्ध न होने से वनों, पहाड़ों तथा निर्जन स्थानों में वे धनिक व्यापारी अक्सर चोरों और डाकुओं द्वारा लूट लिए जाते थे. अपराधों की वृद्धि को रोकने के लिए तत्कालीन शासक बड़ा कठोर दण्ड देते थे. चोरी के लिए प्राचीन काल में शूली की सजा दी जाती थी.

कन्याएँ विविध कलाओं का अध्ययन करके अपनी इच्छानुसार अपने जीवन- साथी का चुनाव करने में स्वतन्त्र थी. वे कठिन परीक्षाओं में सफल युवकों को ही अपना पति बनाना चाहती थीं [देखिए जयकुमार-सुलोचना आदि की कथा]. समृद्धि और विलासिता के झूलों में झूलते हुए भी मानवों का मानस एक साधारण घटना से प्रभावित हो जाता था और वे संसार का परित्याग करके आत्मोद्धार में संलग्न हो जाते थे. जलधर को अनन्त आकाश में विलीन होते देखकर अथवा एक श्वेत केश के दर्शन मात्र से इन्सान का मन विरक्त हो जाया करता था. बहुपत्नी-प्रथा का प्रचलन उस पुरा-

---

१. जैन लोक-कथा-साहित्य—श्रीमती मोहिनी शर्मा.

२. श्रीपाल को सागर विषै जब सेठ गिराया,
उसकी रमा से रमने को आया वो बेह्या.
उस वक्त के संकट में सती तुमको जो ध्याया,
दुखदंद फन्द मेटके आनन्द बढ़ाया. —संकटमोचन विनती.

तन काल की विशेपता कही जाय तो अनुचित न होगा. नरपति तथा धनिक वर्ग अनेक पत्नियों का पति बन कर अपनी कामवासना की पूर्ति करता था. हरिण्यवर्मा ने एक हजार कुमारियों को अपनी पत्नियों के रूप में रखा था. [देखिए-जयकुमार-सुलोचना की कथा]. तत्कालीन नरेश अपनी प्रजा का पूर्ण रूपेण संरक्षण करते थे और निष्पक्ष न्याय के कारण बड़े लोक-प्रिय थे. सामाजिक जीवन सुखी और समृद्ध था तथा सांसारिक सुखों का भोग मानव-समाज सुरुचि से करता रहता था. समय आने पर मुक्तकरों से दान भी देता था. परोपकार-निरतता उस काल की विशेप देन थी. सुन्दर वेश-भूपा एवं सुगंधित पदार्थों का बाहुल्य धन संपन्न का प्रतीक था.

विविध लोकविश्वासों के साथ-साथ स्वप्नों के प्रति मानवों की प्राचीन काल में विशेप आस्था थी. वे इन स्वप्नों के द्वारा शुभाशुभ का परिज्ञान कर लिया करते थे. [देखिए नन्दिमित्र की कथा-राजा चन्द्रगुप्त के १६ स्वप्न]. पुरातन कथा-साहित्य के अध्ययन से प्रकट होता है कि जीवन सहरी के चुनाव में जातिगत बन्धन नगण्य थे. युवक अपनी इच्छानुसार युवती को चुन लेता था. देखिए अर्द्धदग्ध महापुरुषों और बकरे की कथा-वसन्तिलका और चारुदत्त की प्रणय-कथा] इन कथाओं के अनुशीलन से भी ज्ञात होता है कि जैनधर्म के पालनार्थ किसी जातिविशेप की परिधि चिह्न नहीं थी. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के अतिरिक्त शूद्र और अन्त्यज भी जैन धर्म की आराधना से वंचित नहीं किये जाते थे. [देखिए भील-भीलिनी की कथा एवं माली की लड़कियों की कथा] पशु भी जैन धर्म के श्रद्धान से परमसुख को प्राप्त हो सकते हैं [देखिए सुग्रीव बैल की कथा एवं बन्दर की कथा][१]

इस प्रकार ये कथाएँ प्राचनी जैन संस्कृति का एक सुहावना बहुरंगी चित्र उपस्थित करती है.
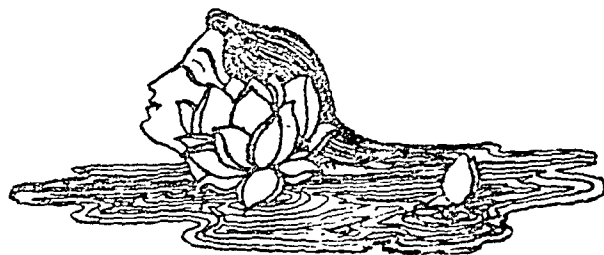
श्रीशान्तिलाल भारद्वाज 'राकेश'

# मेवाड़ में रचित जैन साहित्य

## धर्म-दर्शन और साहित्य

लोक-कल्याण और साहित्य—लोक-कल्याण जहां साहित्य की सार्थकता का एक विशिष्ट मानदण्ड है वहां जैन-साहित्य महती प्रतिष्ठा का अधिकारी है. जैन-धर्म दया, सत्य, अहिंसा और त्याग जैसी धर्म की शाश्वत मान्यताओं का जितना प्रतिष्ठापक रहा है, लोकजीवन में स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था का भी वह उतना ही महान् मार्गदर्शक रहा. जैन सन्तों ने, जो सामाजिक जीवन में घुलकर भी असंपृक्त रहे, एक ओर धर्म को तथा दूसरी ओर साहित्य को जो अपनी देन दी है, भारतीय चेतना को, इतिहास को, उसका ऋणी रहना पड़ेगा.

धर्म और काव्य—धर्म, दर्शन, काव्य या साहित्य, समाज, तर्क और मनोविज्ञान—देखा जाय तो मानव की विचार-चेतना के यह विभिन्न पृष्ठ एक दूसरे से इतने असम्बद्ध नहीं हैं जितने दिखाई देते हैं. धर्म का जिस क्षण जन्म है—काव्य का जन्म भी उसी क्षण है. धर्म का अर्थ जब चोचलेबाजी बन गया तब कथित धार्मिकता ने भी काव्य को विकृत किया लेकिन निष्कर्ष फिर भी यह नहीं निकल सकता कि धर्म और काव्य में कोई सामञ्जस्य नहीं.

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'काव्य पर धार्मिक प्रभाव' के सम्बन्ध में इन भयंकर परिणामों की चेतावनी दी थी कि धर्म को काव्य से बहिष्कृत करने का अर्थ हिन्दी के लिए तुलसी और सूर जैसे कवियों के उत्तराधिकार से वंचित रह जाना होगा. और यह सत्य भी है कि हमारा काव्य और हमारा धर्म दोनों का प्रवाह हमें एक ही उद्‌गम से प्रकट दिखाई देता है.

एक—धर्म की व्यवस्था होती है. दूसरा—धार्मिक प्रभाव का काव्य होता है. इनमें भेद होता है; अन्यथा भेद होना चाहिये. काव्य के क्षेत्र में धर्म को भी मर्यादित होना पड़ता है क्योंकि काव्य के लिए रसज्ञता का निर्वाह प्रतिक्षण आवश्यक है. हाँ—जहाँ धर्म काव्य को अपना आवरण ही मानकर चले वहाँ थोथी उपदेशात्मकता काव्य-धर्म-श्रोता या पाठक—सभी के लिए भारी पड़ती है. काव्यसृजन भी सफल तभी होता है जब वह स्रष्टा का धर्म बन जाय.

समर्थ परम्परा—जैन-साहित्य एक लम्बी और समर्थ परम्परा का इतिहास संभालते हुए भी साहित्यालोचकों के एक विशिष्ट वर्ग की उपेक्षा का पात्र रहा है. इसके कई कारण समझ में आते हैं.

उपेक्षा के कारण—एक तो जैन सन्तों का, भाषा की रूढ़ मर्यादाओं में बंधे रहकर, जनभाषा के परिवर्तित स्वरूपों को अंगीकार करते चले जाना. वैष्णव धर्म की परम्परा में संस्कृत-ग्रंथ और जैन-धर्म की परम्परा में प्राकृत और अपभ्रंश—फिर वह युग भी धर्माधीशों के शास्त्रार्थ का—इसलिए सम्भव यह लगता है कि राज्याश्रय भोगने वाले पण्डित चाहे चौरासी आसनों की ही कसरत में लगे रहे हों, लेकिन उन्होंने इतर भाषाओं में रचित जैन साहित्य को प्रतिष्ठा नहीं दी होगी. दूसरा कारण यह भी कि धीरे-धीरे जैनधर्म भी अपने संकोच-धर्म का पालन करने लगा था.

स्थिति ऐसी भी आई कि जैन मंदिर-साहित्य-जैनाचार्य और श्रावक, वस इसी दुनिया में यह धार्मिक आन्दोलन चलता रहा और धीरे-धीरे जन-जीवन से हटकर जैन-साहित्य एक दिन अनुसन्धान की वस्तु वन गया.

**चेतना का साहित्य**—किस धर्म के संतों की परम्परा साहित्य-सृजन से इतनी वंधी रही है ? परलोक होता हो चाहे न होता हो, इहलोक के कल्याण के लिए भी वे निरन्तर साहित्य का अमृत पिलाते रहे और विप के आकर्पण में न फंसने की सदैव चेतावनी देते रहे.

भापा के माध्यम का यह प्रगतिशील दृष्टिकोण धार्मिक सिद्धान्तों की प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से भी सार्थक रहा, उसने युग यथार्थ के इतिहास के साथ भी न्याय किया और सिद्धान्तरूप में उसने स्वयं अपने भीतर विकास की भी प्रवल सम्भावना छोड़ी. इसीलिए आज का एक दिन ऐसा भी आया जहां जैन साहित्य अपना सर्वस्व स्थापित कर चुका है.

**जायसी और स्वयंभू**—आज हिन्दी साहित्य की परम्परा का इतिहास खोजने जाते हैं तो प्राकृत अपभ्रंश के युगों में जैन साहित्य का गौरव ही हमारा हाथ थांमता है और तव यह प्रश्न उठता है कि सूफी जायसी जव हमारे लिए पठनीय हो सकता है तो जैन स्वयंभू हमारे लिए पठनीय क्यों नहीं हो सकता ?

धार्मिक प्रतिस्पर्धा की जड़ें दिनोंदिन सूखती जा रही हैं और जैन-साहित्य के विशद अनुसंधान की प्रवृत्ति आज तो एक आन्दोलन का रूप ले चुकी है.

**अध्यात्मलक्षी दर्शन**—भारतीय दर्शन अध्यात्मलक्षी है. इसमें पश्चिम के दर्शन की भाँति बुद्धि को प्रधानता नहीं दी गई है. यहाँ आत्मतत्त्व की शुद्धि प्रधान है, और भारतीय दर्शन का यही मूल संस्कार भारतीय धर्म और समाज की व्यवस्थाओं को प्रतिक्षण प्रभावित करता रहा है.

श्रद्धा-ज्ञान और क्रिया को जैनशास्त्रों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के नाम से जाना गया है लेकिन साधना के सोपान अगर पूरे नहीं तो लगभग समान हैं. आस्था-विवेक और सक्रियता—इन्हें अपना लेने से जीवन का प्रशस्त पथ खुलता है और जैन साहित्य भी सिद्धि के इन विविध सूत्रों को जोड़ पाने का सदैव प्रयत्न करता रहा है.

जैन दर्शन कहता है कि आत्मा और सच्चिदानन्द सत्य है. इसमें अशुद्धि, विकार, दु:खरूपता, अज्ञान और मोह के कारण होती है. जैनदर्शन एक ओर विवेकशक्ति को विकसित करने की वात कहता है तो दूसरी ओर वह रागद्वेप के संस्कारों को नष्ट करने को कहता है. वहाँ अविवेक और मोह ही संसार हैं या उसके कारण हैं.[1]

जैन-साहित्य लोकजीवन को उन्नत और चारित्रशील वनाने वाली नैतिक-शिक्षा का वाङ्मय है. कहने को वह एक विशिष्ट धर्म है लेकिन किसी भी धर्म या देश के लोग उसका पालन कर सकते हैं. अर्थात् उसकी कई मूल मान्यताएँ ऐसी हैं जो सभी के लिए आवश्यक हैं और रहेंगी.

जैन-साहित्य विशाल है. प्राकृत-संस्कृत और देशभापा-साहित्य के नामकरण की तिथि से लेकर आज तक की गत सभी शताब्दियों में प्रतिष्ठित और लोकमान्य भापाओं में साहित्य-रचना का श्रेय जैन साहित्यकारों को है. तमिल, तेलगू, कन्नड़, हिन्दी, मराठी, गुजराती, वंगला और राजस्थानी—विभिन्न भारतीय भापाओं में जैन साहित्य रचा गया है.

जैन-साहित्य के विकास-पथ में अनेक संत साहित्यकारों और आचार्यों का योग मिला है.

'पउमचरिउ' के रचयिता श्री विमलसूरि, 'हरिवंश-पुराण' के आचार्य जिनसेन, 'पाण्डवचरित' के देवप्रभसूरि, 'त्रिशष्ठि-शलाका पुरुप चरित' के जैनाचार्य हेमचन्द्र, 'जम्बूस्वामिचरित' के महाकवि वीर, 'रंभामंजरी' के नयचन्द्र, 'भविस्सयत्त कहा' के धनपाल, अपभ्रंश के वाल्मीकि महाकवि स्वयंभू, 'धूर्ताख्यान' के श्री हरिभद्रसूरि, 'वृहत्कथाकोप' के श्री हरिपेण जैसे अनेक दिग्गज रचनाकारों की सृष्टि का यह विशाल वाङ्मय अपने सुदृढ़ अस्तित्व को स्वत: प्रमाणित कर रहा है.

---

१. जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन श्रीदलसुख, मालवणिया.

**सिद्धसेन दिवाकर तथा अन्य**—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर जैन परम्परा में तर्क-विद्या के प्रणेता और जैन परम्परा के प्रथम संस्कृत कवि के रूप में सम्मानित हैं. नयचन्द्र के सम्बन्ध में स्वयंभू ने कहा है कि उसके काव्य में अमरचन्द्र का लालित्य और श्रीहर्ष की वक्रिमा—दोनों गुण हैं. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने संस्कृत के भाष्यकारों में श्री प्रभाकर गुप्त को महती प्रतिष्ठा दी है और दर्शन-व्याकरण और काव्य के आचार्य हेमचन्द्र का 'त्रिशष्ठिशलाकापुरुष चरित्र' विश्व-साहित्य का बेजोड़ काव्य माना गया है.[1]

हरिभद्रसूरि के प्राकृत ग्रंथ 'धूर्ताख्यान' के सम्बन्ध में यह मान्यता प्रकट की गई है कि यह ग्रन्थ समुच्चय भारतीय साहित्य में अपने ढंग की मौलिक ग्रंथपद्धति का एक उत्तम उदाहरण है.[2]

**अपभ्रंश का गौरव**—हिन्दी की जननी अपभ्रंश भाषा के साहित्य में तो सर्वत्र जैन सन्तों का ही साहित्य मिलता है. स्वयंभू, धनपाल, जोइन्दु, मुनि कनकामर शालिभद्र, विजयचन्द्रसूरि, हरिभद्र सूरि, जिनदत्त सूरि, वर्द्धमान सूरि, शालिभद्र सूरि, देवसूरि, विनयचन्द्रसूरि, उद्योतनसूरि, सोमप्रभसूरि, जिनप्रभसूरि और रत्नप्रभसूरि' जैसे अनेक रचनाकारों ने अपभ्रंश भाषा को श्रेष्ठ साहित्य दिया है. जैन रचित अपभ्रंश साहित्य के विभिन्न स्वरूपों में हमें हिन्दी और उसकी सहायक भाषाओं तथा अन्य कई भारतीय भाषाओं के जन्म और विकास की कहानी मिलती है. हिन्दी आज अपभ्रंश की जितनी ऋणी है—जैन साहित्यकारों की भी उतनी ही ऋणी है.

साहित्य की लगभग सभी समकालीन विधाओं में जैन-साहित्य की रचना हुई हैं. वहाँ यशश्चन्द्र, वारिचन्द्र, मेघप्रभाचार्य रामचन्द्र, देवविजय, यशपाल, विजयपाल और हस्तिमल जैसे नाटककार; पादलिप्त, हरिभद्र, उद्योतनसूरि, जिनेश्वर, देवभद्र, राजशेखर और हेमहंस जैसे कथाकार; चन्द्रप्रभसूरि, हेमतुंग, राजशेखर और जिनप्रभसूरि जैसे निबन्धकार एवं इतिहासकार; ओडयदेव जैसे गद्यकाव्यकार; सोमदेव, हरिश्चन्द्र, अर्हद्दास जैसे चम्पूकार और वीर नन्दि, वादिराज, धनञ्जय, वाग्भट्ट, अभयदेव, और मुनिचन्द्र जैसे महाकाव्यकार बड़ी संख्या में एक साथ मिलते हैं जिन्होंने स्तर और परिमाण—दोनों दृष्टियों से सफल रचनाकारों में अपना स्थान बनाया है.

जैन-साहित्य के आकर्षण अनेक हैं लेकिन प्रस्तुत निबन्ध की मर्यादा में उनकी विस्तृत चर्चा न अपेक्षित है और न समीचीन ही, इसलिए उचित यही होगा कि 'मेवाड़ में रचित जैन साहित्य' का यथा उपलब्ध विवरण प्रस्तुत किया जाय.

## जैनाचार्य और मेवाड़

जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर पहले आचार्य थे जिन्होंने चित्तौड़ में प्रवेश किया.[3] जैन-ग्रन्थों के अनुसार वे यशस्वी भारत-सम्राट् विक्रमादित्य के प्रतिबोधक, प्रगाढ़ पण्डित और महान् दार्शनिक थे.

**आचार्य हरिभद्र और चैत्यवासी परम्परा**—आठवीं या नवीं शताब्दी के विद्वान आचार्य हरिभद्रसूरि का राजस्थान से, विशेषकर चित्तौड़ से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है. जैन संतों में यह एक ऐसे आचार्य थे जिन्होंने धर्म को मार्ग भटक जाने से बचाया. जैन सन्तों में उन दिनों चैत्यवासियों का बड़ा प्रभाव था. वे चैत्यों या मठों में रहते थे और धीरे-धीरे अनेक आसक्तियों से बंध गये थे. मठों में रहना, देवद्रव्य का उपयोग, रंग-बिरंगे वस्त्र, स्त्रियों के आगे गाना, दो तीन बार भोजन, ताम्बूल व लवंग का सेवन तथा ज्यौनारों में शिष्ट आहार—उनमें मठाधीशों की विकृतियाँ पनपने लगी थी, वे मुहूर्त निकालते थे. निमित्त बतलाते थे, श्रृंगार करते थे, इत्र लगाते थे, क्रय-विक्रय करते थे और चेले बनाने के लिये बच्चों तक को खरीदते थे.[4]

---

१. जैन साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी.
२. कथाकोप प्रकरण की भूमिका—मुनि जिनविजय (सिन्धी जैन ग्रन्थमाला—ग्रन्थांक ११)
३. जैन साहित्य और चित्तौड़—अगरचन्द नाहटा.
४. जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी.

आचार्य हरिभद्र ने इन्हें भ्रष्ट और सत्यपथ का विरोधी घोषित किया और जैनधर्म को नई दिशा देने के इस आन्दोलन को लम्बे समय तक चलाया.

प्रभाचन्द्रसूरि रचित 'प्रभावक चरित्र' के अनुसार वे मेवाड़ के तत्कालीन शासक चितारि के पुरोहित थे. वे जैनागमों में सबसे पहले संस्कृत टीकाकार और जैनेतर ग्रंथों के भी सर्वप्रथम टीकाकार माने गये हैं.

ब्राह्मण कुल में उत्पन्न श्री हरिभद्र सूरि ने चित्तौड़ में ही जन्म लिया और चित्तौड़ ही इनका प्रधान कार्यक्षेत्र रहा. प्राप्त जानकारी के अनुसार इन्होंने १४४४ ग्रंथ बनाये जिनमें से लगभग ८० ग्रंथ प्राप्त हैं.

हरिभद्र का साहित्य—आचार्य हरिभद्र रचित ग्रंथों का परिचय इस प्रकार है—

१. शास्त्रवार्त्तासमुच्चय
२. योगदृष्टिसमुच्चय
३. षड्दर्शन समुच्चय
४. योगशतक
५. योगबिन्दु
६. धर्मबिन्दु
७. अनेकान्तजयपताका
८. अनेकान्तवादप्रकाश
९. वेदबाह्यता निराकरण
१०. संबोधप्रकरण
११. संबोधसप्ततिका
१२. उपदेशपद प्रकरण
१३. विंशतिका प्रकरण
१४. आवश्यक सूत्र बृहद्वृत्ति
१५. अनुयोगद्वार सूत्रवृत्ति
१६. दिग्नागकृत न्यायप्रवेश सूत्र वृत्ति
१७. नन्दीसूत्र लघुवृत्ति
१८. दशवैकालिकवृत्ति
१९. प्रज्ञापना सूत्र प्रदेश व्याख्या
२०. जम्बूद्वीप संग्रहिणी
२१. पंचवस्तुप्रकरण टीका
२२. पंचसूत्र प्रकरण टीका
२३. श्रावकधर्म विधि पंचाशक
२४. दीक्षाविधि पंचाशक
२५. ज्ञानपंचक विवरण
२६. लग्नकुण्डलिका
२७. लोकतत्त्वनिर्णय
२८. अष्टक प्रकरण
२९. दर्शन सप्ततिका
३०. श्रावकप्रज्ञप्ति
३१. ज्ञान चित्रिका
३२. धर्मसंग्रहणी
३३. षोडषक
३४. ललितविस्तरा
३५. कथाकोष
३६. समराइच्च कहा
६७. यशोधर चरित्र
३८. वीरांगद कथा
३९. धूर्ताख्यान
४०. मुनिपतिचरित्र आदि.

हरिभद्रसूरि विरचित ग्रंथों की संख्या प्रतिक्रमण अर्थदीपिका के आधार पर १४४४, "चतुर्दशशत प्रकरण प्रोत्तुंग प्रासाद-सूत्रणैकसूत्रधारैः" इत्यादि पाठ के अनुसार १४०० तथा राजशेखर सूरिकृत चतुर्विंशति प्रबन्ध के आधार पर १४४० मानी जाती है. मुनि जिनविजयजी के कथनानुसार उनके उपलब्ध ग्रंथ २८ हैं जिनमें से २० ग्रंथ छप चुके हैं.

सत्य के अन्वेषी—हरिभद्रसूरि के साहित्य में उनकी उदार धर्मभावना का परिचय मिलता है. वे व्यवस्था या मान्यता के परम्परागत सत्य को पहले अपने विवेक की कसौटी पर कसते थे. जो चला आ रहा है वही सत्य है, यह मान्यता आचार्य हरिभद्र की नहीं थी.

'पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

'मुझे भगवान् महावीर के प्रति कोई पक्षपात नहीं एवं कपिल आदि महर्षियों के प्रति कोई द्वेष भी नहीं, परन्तु जिनका

वचन युक्तियुक्त होता है वही ग्रहण करने योग्य है.'[१]

आचार्य हरिभद्र की इन प्रगतिशील मान्यताओं ने जैनधर्म के आन्दोलन का बड़ा हित किया और यह सिद्ध है कि उन स्वयं ने विपुल साहित्य की रचना की.

उनका स्वर्गवास वि० सं० ५८५ में लिखा पाया गया है लेकिन मुनि जिनविजय जी ने उनका समय वि० सं० ५५७ से ८२७ का माना है और डा० हर्मन याकोवी ने भी इसी मत का समर्थन किया है.

'समराइच्च कहा' हरिभद्र की अमर कृति है. 'धूर्ताख्यान' को भारतीय साहित्य में अपने ढंग की मौलिक ग्रंथ पद्धति का एक उत्तम उदाहरण माना गया है.

जिनवल्लभसूरि—बारहवीं शताब्दी में आचार्य जिनवल्लभसूरि ने चित्तौड़ में कई वर्ष रहकर विधिमार्ग का प्रचार किया. उनके विधिमार्ग ने चैत्यवासियों को बड़ी शक्तिशाली चुनौती दी. वे छन्द, काव्य, दर्शन और ज्योतिष के विद्वान थे. कवि, साहित्यकार और ग्रन्थकार के रूप में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा है. चित्तौड़ ही जिनवल्लभसूरि के प्रभाव का उद्गम और केन्द्रस्थान बना.

**संघपट्टक और धर्मशिक्षा**—इन दो रचनाओं को श्री जिनवल्लभसूरि ने स्वप्रतिष्ठित महावीर स्वामी के मंदिर (चित्तौड़) में सं० ११६४ में शिलालेखों में अंकित करवाया.

जिनवल्लभसूरि सं० ११६९ में आचार्य पद को प्राप्त हुये.

**चित्तौड़ का गौरव**—इतिहास और पुरातत्त्व की दृष्टि से चित्तौड़ तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्र (माध्यमिका) का बड़ा महत्त्व है. पातञ्जलि-कालीन भारत (डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री) में जिस माध्यमिका नगरी का उल्लेख मिलता है वह चित्तौड़ के समीप थी. ई० पू० द्वितीय शताब्दी में मिनाण्डर ने साकेत और माध्यमिका पर आक्रमण किया था. डा० भण्डारकर के मतानुसार पुष्यमित्र ने साकेत और माध्यमिका की विजय के बाद ही पहला अश्वमेध यज्ञ किया. चन्द्रभाषा और सिन्ध के मध्यवर्ती देश का नाम शैव देश था जिसकी राजधानी शिवपुर या शिविपुर थी. शिवियों में कुछ लोग अपना प्रदेश छोड़कर उत्तर पंजाब और राजपूताना में चले आये. एक दूसरी शाखा राजपूताना में चित्तौड़ के पास जा बसी. यहां इनकी राजधानी चेतपुर थी, यह स्थान चित्तौड़ से ११ मील उत्तर में है और यही पातंजलि की माध्यमिका है.

माध्यमिका—माध्यमिका को नगरी नाम से भी जाना जाता है. यह नगरी वही है जिसका उल्लेख 'अरुणदयवनोमाध्यमिकाम्' इत्यादि के रूप में पातञ्जलि के महाभाष्य में मिलता है. यह शिवि जनपद की राजधानी थी. इसी माध्यमिका के नाम पर जैन श्वेताम्बर संप्रदाय के एक मुनि-संघ की पुरातनकाल में एक शाखा प्रसिद्ध हुई जिसका उल्लेख कल्पसूत्र की स्थविरावली में 'मज्झिमा साहा (माध्यमिका शाखा) के रूप में मिलता है. इसी स्थान पर ऐतिहासिक महत्त्व के अनेक प्राचीन सिक्के मिले हैं. किंवदंतियों के अनुसार इस नगरी के भग्नावशेषों की ईंटें महाभारत कालीन बताई जाती हैं.

यह नगरी आज से २००० वर्ष से भी पूर्व के बौद्ध व जैनधर्म के प्रादुर्भाव का इतिहास अपने साथ जोड़े हुये है. शैव, शाक्त और वैष्णव के अतिरिक्त यह स्थान जैनियों और बौद्धों के धर्मप्रचार का भी प्रमुख केन्द्र रहा है.
चित्तौड़ जैनाचार्यों के आचार्यत्व का दीक्षास्थल भी रहा है.

## जिनदत्तसूरि

आचार्य जिनवल्लभसूरि के उपरांत उन्हीं के पट्टधर श्री जिनदत्तसूरि का नाम प्रमुख रूप से आता है. इनका कार्यक्षेत्र

---

१. हरिभद्रसूरि—ईश्वरलाल जैन (जैन सत्यप्रकाश).

मेवाड़, मारवाड़, वागड़, सिन्ध, दिल्ली और गुजरात रहा. जिनदत्तसूरि व्याकरण, कोप, छन्द, काव्य, अलंकार, नाटक ज्योतिप, वैद्यक और दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित और एक समर्थ साहित्यकार थे.

प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के इस विद्वान लेखक ने अनेक ग्रन्थों की रचना की.

'गणधर सार्धशतक' उनका एक विख्यात ग्रन्थ है जिसमें प्रसिद्ध गणधरों की प्रशस्तियाँ हैं. इस ग्रन्थ में १५० प्राकृत गाथाएँ है.

श्री जिनदत्तसूरि की निम्न रचनाओं का उल्लेख मिलता है—

१. गणधर सार्धशतक (प्राकृत)
२. संदेह दोहावली
३. चैत्यवंदन कुलकम्
४. सुगुरुपारतंत्र्यस्तव (प्राकृत)
५. उपदेश रसायनम् [अपभ्रंश]
६. चर्चरी [अपभ्रंश]
७. कालस्वरूप कुलकम् [अपभ्रंश]
८. सर्वाधिष्ठायि स्तोत्रयं (प्राकृत)
९. विघ्नविनाशिस्तोत्र (प्राकृत)
१०. विंशिका (संस्कृत)
११. उपदेशकुलकम्
१२. अवस्था कुलकम्
१३. श्रुतस्तव
१४. अध्यात्मगीतानि
१५. उत्सूत्र पदोद्घाटन.[१]

कथित धर्मगुरुओं के विरुद्ध आन्दोलन करके उन्होंने नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा पर वल दिया. वे विख्यात साहित्यसमालोचक मम्मट के समकालीन थे. मम्मट काव्य में रस को प्रधानता देते हैं और जिनदत्तसूरि की रचनाओं में भी भावपक्ष प्रधान है. उनका सृजन स्तुतिपरक भी रहा और औपदेशिक भी.

**सोमसुन्दरसूरि**—तपागच्छ के प्रभावक और विद्वान आचार्य सोमसुन्दरसूरि का सम्बन्ध मेवाड़ के देलवाड़ा नामक स्थान से रहा है. सन् १४५० से इन्हें उपाध्याय पद प्राप्त हुआ और उन्होंने तत्काल ही देवकुलपाटक (देलवाड़ा) में प्रवेश किया. तब राणा लाखा के मंत्री रामदेव और चूण्डा ने प्रवेशोत्सव करवाया.

आचार्य सोमसुन्दर ने देलवाड़ा में ही 'संतीकरं स्तोत्र' की रचना की जिसका पाठ आज भी जैन समाज में प्रतिदिन किया जाता है. इनके समय में देलवाड़ा में प्रचुर साहित्यसृजन और प्रतिलेखन हुआ.

चित्रकूट (चित्तौड़) और देलवाड़ा के साथ-साथ मेवाड़ के आघाट [आयड़], करहेड़ा [करेड़ा], नागदह [नागदा], केशरिया जी, कुंभलगढ़, मांडलगढ़, बिजौलिया, जावर, उदयपुर, कांकरौली आदि अनेक क्षेत्रों में भी विपुल जैन साहित्य की रचना हुई है.

## मेवाड़ का सृजन

**१. शलाका सत्तरी**—जैन आचार्य हेमतिलकसूरि रचित अपभ्रंश भाषा की इस रचना में सत्तर महापुरुषों के जीवनचरीत्र हैं. हेमतिलकसूरि को आचार्य पद सं० १३८२ में प्राप्त हुआ.

**२. मातृकाक्षर चैत्य परिपाटी**—फाल्गुन सु० ६ सं० १४७७ में आचार्य हेमहंस ने इस कृति की रचना की. इसमें अकारादि क्रम से जैन तीर्थों की नामावली प्रस्तुत की गई है. उक्त कृति की एक प्रति मुनि कान्तिसागर जी के संग्रह में देखने को मिली है जिसका लिपिकार भी लेखक स्वयं है.

**३. गुरुगुणषट्त्रिंशिका**—श्री रत्नशेखरसूरि ने सं० १४८५ में जैन गुरुओं पर यह अपभ्रंश का स्तुति काव्य लिखा. मुनि कान्तिसागर जी के संग्रह में जो प्रति मिली उसके लिपिकार भी श्री रत्नशेखरसूरि ही हैं.

---

१. गणधर सार्धशतक और उनकी बृहद् वृत्ति—मुनि कांतिसागर.

४. चित्रकूट प्रशस्ति—जिनसुन्दरसूरि के शिष्य श्री चारित्ररत्न गणि ने चित्तौड़ के महावीर-मंदिर की यह प्रशस्ति सं० १४९५ में लिखी. उक्त प्रशस्ति की सं० १५०८ की प्रतिलिपित प्रति भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पटना में उपलब्ध हैं.

५. ऐतिहासिक गुरु आवलियां—जैन मुनि हेमसार ने इसमें आचार्यों का चरित्र चित्रण किया है. हेमसार सं० १४९६ में देलवाड़ा में थे. उक्त कवि की निम्न रचनाओं का भी उल्लेख मिलता है :

[अ] ज्ञान पंचमी चौपाई

[ब] गुरु आवली

उल्लिखित पुस्तक की भी एक ही प्रति मुनि कांतिसागर जी के संग्रह में देखने को मिली है.

६. वस्तुपाल चरित काव्य ७. रत्नशेखर कथा—उपरोक्त दोनों कृतियों की रचना आचार्य जयचन्द्रसूरि के शिष्य जिनहर्षगणि ने सं० १४९७ में चित्तौड़ में की.

८. ज्ञान प्रदीप—चित्तौड़ में सं० १४९७ में विशालराज नामक मुनि ने इस ग्रन्थ की रचना सम्पन्न की.

९. चित्रकूट-चैत्य-परिपाटी—विख्यात जैन गद्यकार श्री पाशुचन्द्रसूरि रचित 'चित्रकूट-चैत्य-परिपाटी' में जैनमंदिरों का सुन्दर वर्णन मिलता है.

पाशुचन्द्रसूरि का जन्म सं० १५३७, आचार्यपद सं० १५६५ और स्वर्गारोहण सं० १६१२ का रहा है इसलिये १६ वीं और १७ वीं शताब्दी के संधिकाल की मानी जानी चाहिए.

१०. विक्रम-खापर चरित्र चौपई—सं० १५६३ में राजशील नामक कवि ने चित्तौड़ में उक्त कृति की रचना की. यह एक लोककथाकाव्य है. विक्रमादित्य और खापरिया चोर के प्रसिद्ध लोककथानक पर उक्त काव्य आधारित है.

११. गोराबादल पद्मिनी चौपाई—प्रमुख जैनाचार्य श्री हेमरत्नसूरि ने बड़ी सादड़ी में सं० १६४५ में उक्त कृति की रचना की. हेमरत्नसूरि का समय सं० १६१६ से सं० १६७३ तक का माना गया है.[1] यह पूर्णियागच्छ के वाचक पद्मराज के शिष्य थे.

कृति में जायसी के पद्मावत से मिलती-जुलती कथा है जिसमें इतिहास और कल्पना का सम्मिश्रण है. प्रधान रस वीर है लेकिन गौण रुप में शृंगार भी समाविष्ट है.

स्वामीधर्म की बड़ाई और पद्मिनी का शीलवर्णन उक्त काव्य की विशेषताएँ हैं.

कवि के अनुसार यह 'लिखमी वर्णन' नामक केवल पहला ही खण्ड है तथापि कथा की दृष्टि से यह अपने आप में पूर्ण काव्य प्रतीत होता है.[2]

---

१. राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा० हीरालाल महेश्वरी (पृ० २६६).

२. पद्मिनी की यह कथा काव्यरूप में सर्वप्रथम जायसी के पद्मावत में सं० १५४० में आई. इससे पूर्व भी लोककथा के रूप में यह कथा अत्यधिक प्रचलित रही है.

जायसी के बाद फरिश्ता की 'तवारीख' में जायसी के कथानक से ही मिलती-जुलती कथा मिलती है. नाहटा जी के संग्रह में भी 'गोराबादलकवित्त' नाम की कृति पाये जाने का उल्लेख मिलता है. वि० सं० १६४५ में हेमरत्नसूरि की उपरोक्त रचना मिलती है जो कथा की उसी परम्परा से सम्बद्ध है.

इसके उपरांत भी, सं० १७६० में भागविजय नाम के एक जैन कवि ने इसी कथा का परिवर्धन किया. सं० १६८० में जटमल नाहर की 'गोराबादल चौपई' मिलती है. सं० १७०५-६ में लब्धोदय का 'पद्मिनी चरित' मिलता है जिसका उल्लेख इसी लेख में आगे किया गया है.

आचार्य हेमरत्नसूरि की निम्न रचनाओं का भी उल्लेख मिलता है.[1]

१. महीपाल चौपाई
२. अमरकुमार चौपाई
३. सीता चौपाई
४. लीलावती

**१२. श्री पूज्य रत्नसिंह रास**—देवगढ़ के पास स्थित ताल नामक स्थान में गूजी कवि ने इस कृति की रचना की. ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १६४८ है.

यह ४४ पदों की एक लघु कृति है जिसमें रत्नसिंह के व्यक्तित्व का चित्रण किया गया है. आचार्य रत्नसिंह लोंकागच्छ के एक प्रमुख आचार्य हुये हैं.

**१३. अञ्जना रास**—जावरपुर[2] [जावर माइन्स] में उक्त रास की रचना सं० १६५२ में कवि नरेन्द्रकीर्ति ने की. यह एक पौराणिक काव्य है जिसमें रामकथा के प्रमुख पात्र हनुमान की माता अञ्जना की कथा है.

**१४. शुकन चौपाई**—इसका रचनाकाल सं० १६६० वताया गया है. श्री जयविजय इसके रचनाकार हैं. गिरिपुर [डूंगरपुर] में राजा सहस्रमल के राज्यकाल में 'शुकन चौपाई' की रचना हुई. राजा सहस्रमल का राज्यकाल सं० १६३३ से १६६३ तक माना गया है.[3]

इसी लेखक ने सं० १६६८ में संग्रहणीमूल नामक भौगोलिक ग्रन्थ की प्रतिलिपि की.

**१५. वच्छराज हंसराज रास**—कोटड़ा में कवि मानचन्द ने सं० १६७५ में इस कृति की रचना की. वच्छराज और हंसराज नामक दोनों भाई इस कृति की कथा के प्रमुख पात्र हैं. यह मानचन्द या मानमुनि जैनाचार्य जिनराजसूरि के शिष्य थे.

**१६. शिवजी आचार्य रास**—श्री धर्मसिंह ने सं० १६९७ में उदयपुर में इस रास की रचना की. यह एक ऐतिहासिक कृति है. मूर्तिपूजा में विश्वास न रखने वाला भी एक पक्ष जैन समाज में है जिनके शिवजी नामक आचार्य हुये हैं. मुनि धर्मसिंह ने इन्हीं शिवजी आचार्य का वर्णन उक्त रास में किया है. 'शिवजी आचार्य रास' का लोंकागच्छ के ऐतिहासिक काव्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान है.

**१७. जयकुमार आख्यान**—सत्रहवीं शताब्दी में भट्टारक परम्परा[4] के नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य कामराज ने 'जयकुमार आख्यान' की रचना की. संस्कृत का यह ग्रन्थ डूंगरपुर में रचा गया. कामराज की एक और रचना 'त्रिशष्ठि शलाका पुरुपचरित' का भी उल्लेख मिलता है.

**१८. सहस्रफणा पार्श्व जिन स्तवन**—सं० १७०१ में शाहपुरा में कवि विनयशील ने इस स्तवन की रचना की. यह ४५ पदों का लघु स्तुतिकाव्य है.

---

१. राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा० हीरालाल महेश्वरी.

२. आज के प्रमुख खनिजकेन्द्र जावर को गत कई वर्षों पूर्व से काफी प्रसिद्धि प्राप्त है. महाराणा लाखा के समय से ही यहाँ शीशा निकाला जाता रहा है. जावर में जैन पुरातत्त्व की विपुल सामग्री पाई जाती है. कई प्राचीन शिलालेखों और प्रतिमालेखों में जावर का उल्लेख मिलता है.

३. डूंगरपुर राज्य का इतिहास—रायवहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा.

४. दिगम्बर संप्रदाय में मुनिपद के वाद भट्टारकों की प्रमुखता थी. भट्टारकों की दो शाखाएं मुख्य हैं (१) उत्तर भारतीय (२) पश्चिम भारतीय.

पश्चिम भारतीय शाखा के पुरस्कर्त्ता भट्टारक सकलकीर्ति हुये हैं. इस परम्परा ने वागड़ और गुजरात के सीमावर्ती प्रदेश में गद्दियाँ स्थापित कीं और भट्टारकों के प्रोत्साहन में विपुल साहित्य की रचना हुई.

१९. संयोग वत्तीसी—सुप्रसिद्ध जैनकवि मानमुनि ने उदयपुर में 'संयोग वत्तीसी' की रचना की. इस एक ही कृति को निम्न चार नामों से जाना जाता है ;

१. मानमंजरी
२. संयोग द्वात्रिंशिका
३. संयोग वत्तीसी
४. मान वत्तीसी

यह मानकवि वही मानसिंह हैं जो 'बिहारी सतसई' के टीकाकार और राजविलास के रचयिता हैं.

मानकवि नाम के एकाधिक कवि राजस्थान में हुये हैं इसलिये कुछ विद्वान सतसई के टीकाकार और राजविलास के रचयिता को एक नहीं मानते. मानकवि को अलंकारशास्त्र का अच्छा ज्ञान था.

संयोग वत्तीसी नायिका-भेद का एक श्रेष्ठ काव्य है. मानमुनि विजयगच्छ के संत थे और विजयगच्छ का उदयपुर में वड़ा प्रभाव रहा है.

२०. अञ्जनासुन्दरिका रास—रास के रचनाकार का नाम भुवनकीर्ति है. दिगम्बर और श्वेताम्बर समाज में भुवनकीर्ति नाम के भी एकाधिक कवि मिलते हैं परन्तु 'अञ्जनासुन्दरिका रास' के रचयिता भुवनकीर्ति खरतरगच्छीय जिनरंग सूरि के आज्ञानुवर्ती थे. बीकानेर के मुख्यमंत्री कर्मचन्द्र के वंशज श्री भागचन्द्र के लिये उदयपुर में इस ग्रन्थ की रचना की गई. ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १७०६ है. उन दिनों उदयपुर में महाराणा जगतसिंह का शासन था.

उक्त रास में रामकथा के प्रमुख पात्र श्री हनुमान की माता अञ्जना की कथा है, जिस चरित्र को जैन पौराणिक मान्यताओं के अनुरूप ढाला गया है.

२१. पद्मिनी चरित्र—सं० १७०७ में कवि लब्धोदय ने उदयपुर में इस कृति की रचना की. लब्धोदय की कवित्व शक्ति को जैनसाहित्य में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है. वे लगभग ४०-५० वर्षों तक साहित्यसृजन में लगे रहे. वे ६ उल्लेखनीय रासों के रचयिता माने गये हैं. उनका विहार मेवाड़ में अधिक हुआ. पद्मिनी चरित्र की रचना सं० १७०६ में शुरु हुई और चैत्रीपूनम सं० १७०७ को उसकी रचना समाप्त हुई.

उदयपुर, गोगूंदा और धूलेवा ही लब्धोदय की साहित्य-रचना के प्रमुख केन्द्र रहे हैं.

२२. धन्ना का रास—कविखेता ने वैराठ (वदनोर के पास) सं० १७३२ में उक्त रास की रचना की. रास में विहार के राजगृहनगर के सुप्रसिद्ध श्रेष्ठ धन्ना के चरित्र तथा उसकी समृद्धि का वर्णन है. समृद्ध और सम्पन्न व्यक्ति के लिये आज भी धन्ना सेठ की जो उपमा दी जाती है वह यही धन्ना श्रेष्ठी हैं.

वैराठ वैसे जयपुर में है लेकिन उक्त रास में ही एक उल्लेख वैराठ नगर की स्थिति को स्पष्ट कर देता है :

"मेदपाट में जाणिये रे वांको गढ़ वैराठ।"

अर्थात् यह वैराठ मेदपाट (मेवाड़) का ही है.

२३. आंतरे का स्तवन—कवि तेजसिंह ने १७३५ में नांदेस्मां (जिला उदयपुर) में उक्त स्तवन की रचना की. मुनि तेजसिंह लोंकागच्छ के १८ वीं सदी के प्रमुख आचार्य थे. कवि ने कोठारी ठाकुरसी के लिये उक्त स्तवन की रचना की. इनकी अन्य रचनायें भी उपलब्ध हैं जिनमें 'गुरुगुणमालाभास' एक ऐतिहासिक कृति है.

२४. भीमजी चौपाई—प्रस्तुत कृति में भीमजी का ऐतिहासिक वर्णन दिया गया है लेकिन प्रति सम्पूर्ण न होने से भीमजी के सम्बन्ध में अधिकृत रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता. भीमजी नाम का कोई आसपुर का शासक अवश्य हुआ है. सं० १७४२ में पुंजपुर (डूंगरपुर) में यह कृति रची गई. कृति में उल्लेख मिलता है कि इसका रचनाकार मुनि कीर्तिसागर सूरि का कोई शिष्य था.

पुंजपुर डूंगरपुर के शासक श्री पुँजराज (सं० १६६४-१७१३) द्वारा बसाया गया.

२५. अनाथी संधि—प्रसिद्ध जैनतीर्थ ऋषदेव से ८ मील दूर कल्याणपुर नामक स्थान पर कवि क्रम ने सं० १७४५ में उक्त कृति की रचना की. यह मुनि हेम लोकागच्छ के मुनि खेतसी के शिष्य थे. 'अनाथी-संधि में अनाथी नाम के एक जैन मुनि पर लिखा गया चरितकाव्य है.

कल्याणपुर मेवाड़ के इतिहास का एक प्रमुख स्थान है जहाँ पुरातत्त्व की विपुल सामग्री मिलती है.

२६. इशुकार सिद्ध चौपाई—इसका रचनाकार भी वही कवि हेम है जिसने अनाथि संधि की रचना की. सं० १७४७ में यह कृति उदयपुर में रची गई. यह एक चरितकाव्य है और 'उत्तराध्ययन सूत्र' के आधार पर रचा गया है.

२७. कक्का बत्तीसी—अक्षर बत्तीसी—यह वस्तुतः एक ही कृति के दो नाम हैं जिसकी रचना कवि महेश ने सं १७५० में उदयपुर में की. किसी-किसी प्रति में इसके रचयिता का नाम मुनि हिम्मत भी बताया गया है. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों के १८ वें त्रिवार्षिक विवरण में भी इसका रचनाकार उदय नामक कवि दिया गया है जो संभवतः अन्वेषक की लिपिविषयक भूल ही है. यह एक उपदेशात्मक काव्य है.

२८. वैरसिंह कुमार चौपाई—देवगढ़ में मोहन विमल कवि ने सं० १७५८ में इसकी रचना की. देवगढ़ के तत्कालीन शासक कुंवर पृथ्वीसिंह के लिये यह पौराणिक काव्य रचा गया.

२९. चन्दन मलयागिरि चौपई—संवत् १७७६ में लास नामक गाँव में केसर कवि ने यह कृति रची. यह एक लोक-काव्य है. इस लोककाव्य की प्रथम कृति भद्रसेन (सत्रहवीं सदी) की है—ऐसा उल्लेख भी मिलता है. यह एक प्रचलित लोकाख्यान है जिसकी सचित्र कृतियाँ भी मिलती हैं.

३०. ऋषिदत्ता चौपाई—देवगढ़ में कवि चौथमल ने सं० १८६४ में 'ऋषिदत्ता चौपाई' की रचना की. यह एक पौराणिक काव्य है जो उपदेशमाला के आधार पर रचा गया है.

३१. स्थानकवासी तेरापंथी मूर्तिपूजकों की चर्चा—नाथद्वारा में कविराज दीपविजय ने सं० १८७४ में इस कृति की रचना की. इनकी और रचनायें भी मिलती हैं जिनमें सोहमकुल पट्टावलि रास मुख्य है.

३२. केसरियाजी का रास—इस नाम की और भी स्तवनमूलक रचनायें मिलती हैं. केसरिया जी में सं० १८७७ में श्री तेजविजय ने इस रास की रचना की. सीहविजय भी सं १८८७ में केसरिया जी आये और धूलेवा (ऋषभदेव) में उन्होंने भी 'केसरिया जी का रास' की रचना की.

३३. ढालमंजरी और रामरास—यह एक पौराणिक काव्य है. धनेश्वरसूरि, हेमचन्द्रसूरि आदि आचार्यो द्वारा रचित प्राचीन कृतियों के आधार पर इस रास की रचना की गई. सुज्ञानसागर ने उदयपुर में सं० १८८२ में इस कृति की रचना की.

सत्रहवीं शताव्दी में विजयगच्छीय मुनि केसराज ने भी 'राम यशोरसायन' नामक कृति में रामकथा का विस्तार किया है.

## नगरवर्णनात्मक काव्य

भारत के प्राचीन साहित्य में नगर-वर्णनात्मक सैकड़ों उल्लेख मिलते हैं. कथा-साहित्य में भी नगर-रचना-विषयक प्रकरण मिलते हैं. भव्य नगर वर्णन काव्य की महाकाव्योचित गरिमा की भी कसौटी माना गया है.

नगरों के विभिन्न स्थानों पर सर्वांगपूर्ण प्रकाश डालने वाले स्वतंत्र ग्रन्थों में जैनाचार्य श्री जिनप्रभसूरि रचित विविध-तीर्थकल्प का स्थान सर्वोच्च है.[1]

१. नगर वर्णात्मक हिन्दी पद्य संग्रह-सं० मुनि कान्तिसागर.

सत्रहवीं शताब्दी में पुनः जैनों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ. हिन्दी साहित्य में यह नगर-वर्णन जैन कवियों की मौलिक देन है.

मेवाड़ में निम्न नगरवर्णनात्मक काव्य लिखे गये—

३४. उदयपुर की गजल—कवि खेतल ने सं० १७५७ में 'उदयपुर की गजल' नाम से उदयपुर नाम का पद्यबद्ध वर्णन किया. ७८ छन्दों की इस गजल में उदयपुर के जलाशयों, महलों, बाजारों, उद्यानों आदि का इतिवृत्तात्मक सुन्दर वर्णन मिलता है.

३५. चित्तौड़ की गजल—इसके रचयिता भी कवि खेतल ही हैं. वि० सं० १७४६ में चित्तौड़ की गजल की रचना की गई. इसमें चित्तौड़ के किले, जैनमंदिरों, प्रतिमाओं, महलों, आदि के भव्य वर्णन मिलते हैं. यह ५९ छन्दों की कृति है.

इन गजलों में प्रयुक्त प्रमुख छन्द को 'गजल चाल' नाम दिया गया है और संभवतः इसीलिए इनका नामकरण गजल किया गया है.

३६. उदयपुर को छन्द—तपागच्छीय जैनाचार्य जससागर के शिष्य श्री जसवंतसागर ने सं० १७७५-९० के आसपास इस काव्य की रचना की[१] सं० १७७५ में, महाराणा राजसिंह के समय उदयपुर में रहकर जसवंतसागर ने कई ग्रन्थों की रचना की. आपका अधिकतर निवास उदयपुर में ही रहा जान पड़ता है.

'उदयपुर को छन्द' कृति में उदयपुर के किले, नगर, मंदिरों आदि की विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की गई. उदयपुर के अन्य वर्णनों पर भी इस छन्द की छाप है.

१८ वीं से २० वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक उदयपुर पर ६ वर्णनात्मक प्रशस्तियाँ प्राप्त हो चुकी हैं.

३७. मेदपाठ देशाधिप प्रशस्ति वर्णन—कवि हेम रचित यह प्रशस्ति मेवाड़ की तात्कालिक स्थिति का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती है.

यह लगभग १५ मुद्रित पृष्ठों का काव्य है[२].

हेम नाम के एक और भी चारणकवि हुये हैं. यह चारण हेम महाराज गजसिंह के समय में जोधपुर में हुये.

मात्र इतना ही नहीं, मेवाड़ में विपुल जैन साहित्य की रचना हुई है लेकिन वह सभी अभी प्रकाश में नहीं आ पाई है.
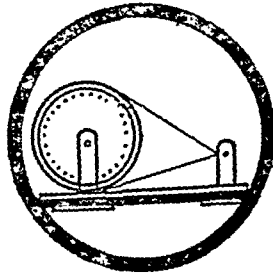
१. जसवंत सागर कृत उदयरपु वर्णन—मुनि कान्तिसागर (मधुमती वर्ष ३-अंक ३)
२. बुद्धिप्रकाश (अप्रेल में जून १९४२).

डा० गोवर्धन शर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष हिन्दी विभाग, गुजरात कालेज, अहमदावाद

# अपभ्रंश का विकास

मध्यभारतीय आर्यभाषा के विकास के अन्तिम सोपान को अपभ्रंश के नाम से अभिहित किया जाता है. अपभ्रंश मध्य-भारतीय आर्य भाषाओं और आधुनिक आर्य भाषाओं यथा—हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि के बीच की कड़ी है. प्रत्येक आधुनिक आर्य भाषा को अपभ्रंश की स्थिति पार करनी पड़ी है.[1] दूसरे शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं—यथा गुजराती, मराठी, हिन्दी, बंगाली, पंजाबी, सिन्धी, असमी, उड़िया आदि की जननी अपभ्रंश ही है.[2] किन्तु अपभ्रंश शब्द का किसी भाषाविशेष के अर्थ में सदा प्रयोग नहीं होता रहा. हमें ईसा की दूसरी शती पूर्व से इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया हुआ मिलता है. हम आगे चल कर इस शब्द के इतिहास पर संक्षेप में विचार करेंगे. क्योंकि इस से हम को अपभ्रंश भाषा के उद्गम और विकास का सम्यक् वैज्ञानिक अध्ययन करने में पर्याप्त सहायता मिलेगी.

### अपभ्रंश शब्द का प्रयोग

'अपभ्रंश' शब्द का साधारण अर्थ होता है—भ्रष्ट, च्युत, स्खलित, विकृत अथवा अशुद्ध. भाषा के सामान्य मानदंड से जो शब्द-रूप च्युत हों, वे अपभ्रंश हैं[3]. ऐसी धारणा से विकसित, एक विशेष भाषा की संज्ञा रूप में इस शब्द का व्यवहार अपने में बहुत-सी संभावनाएं छिपाये है. अत: इसी दृष्टिकोण से हम अपभ्रंश शब्द के प्रयोग की विगत श्रृंखलाओं को टटोलने की कोशिश कर रहे हैं.

अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख हमें पतंजलि (ईस्वी पूर्व दूसरी शती) से कुछ शताब्दी पूर्व मिलता है[4]. 'वाक्यपदीयम्' के रचयिता भर्तृहरि ने महाभाष्यकार के पूर्ववर्ती संग्रहकार व्याडि नामक आचार्य के मत का उल्लेख करते हुये अपभ्रंश शब्द का निर्देश किया है. यथा—

शब्दसंस्कारहीना यो गौरिति प्रयुयुक्षिते ।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम् ।

---

१. डा० उदयनारायण तिवारी-हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—पृ० १२० ।

२. मुनि जिनविजय-पउमसिरिचरिउ, किंचित् प्रास्ताविक पृ० १
भारतवर्षनी आर्यवर्गनी देश्यभाषाओना विकासक्रमनो जेमने थोडो पण परिचय छे, तेओ जाणे छे के अपभ्रंश नामे ओलखाती जूनी भाषा, आपणा महान् राष्ट्रमांनी वर्तमान गुजराती, मराठी, हिन्दी, पंजाबी. सिन्धी, बंगाली, असमी, उड़िया विगेरे भारतनां पश्चिम, उत्तर अने पूर्व भागोमां बोलातीं प्रसिद्ध देशभाषाओनी सगी जननी छे.

३. नामवरसिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २.

४. डा० हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ० १.

वार्तिक—शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकारो नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतंत्रः कश्चिद्विद्यते. सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः प्रसिद्धेस्तु रूढितामापाद्यमाना स्वातन्त्र्यमेव केचिदपभ्रंशा लभन्ते. तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्त्या प्रमादिभिर्वा गाव्याद-यस्तत्प्रकृतयोपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते.[१]

महाभाष्यकार पतंजलि द्वारा भी 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किया गया है. उनके अनुसार अपभ्रंश केवल संस्कृत के विकृत शब्द हैं. किसी एक शब्द के अनेक भ्रष्ट रूप हो सकते हैं, यथा—संस्कृत शब्द गौः के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि विविध रूपान्तर.[२] ये सभी रूपान्तर शिष्टसम्मत संस्कृत भाषा से विकृत या भ्रष्ट हैं, अतः ऐसे अपाणिनीय असाधु शब्दों के लिये अपभ्रंश संज्ञा का उपयोग किया गया.

यह विचारणीय है कि महाभाष्यकार की दृष्टि में अपभ्रंश केवल उन शब्दों को दी जानेवाली संज्ञा है, जो संस्कृत शब्दों के साधु रूपों में विकृत या भ्रष्ट स्वरूप हैं और जिन शब्दों का उन्होंने अपभ्रंश के उदाहरण में उपयोग किया है. बाद के प्राकृत वैयाकरणों ने उन्हीं को प्राकृत के अन्तर्गत गिना है, यह चिन्त्य है.[३]

ईसा की दूसरी अथवा तीसरी शती के लगभग भरत ने नाट्यशास्त्र में संस्कृत, और देशी भाषा के भेद को स्पष्ट किया है. साथ ही उन्होंने प्राकृत के स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है.

एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् । विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः । समानशब्दविभ्रष्टं देशीगतमथापि च ॥

—नाट्यशास्त्र १७-२-३

अर्थात् प्राकृत तीन प्रकार की होती है—(१) जिसमें संस्कृत के समान शब्दों का ही प्रयोग हो. (२) संस्कृत के विभ्रष्ट शब्दों का ही प्रयोग हो. (३) जिसमें देश्य भाषा के शब्दों का प्रयोग हो. दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाट्यरचना में तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है—तत्सम. तद्भव, अथवा विभ्रष्ट और देश्य. यहाँ ऐसा लगता है कि पतंजलि की अपभ्रंश और भरत की विभ्रष्ट शायद एक ही हो.
आगे चलकर भरत ने तत्कालीन सात भाषाओं का निर्देश किया है—

मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी ।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः ॥ —नाट्यशास्त्र १७-४८

मागधी, अवन्ति, प्राच्य, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दक्षिणी, ये सात भाषायें हैं और अनेक विभाषायें हैं. यथा—

शवराभीरचांडाल सचर द्रमिलान्ध्रजाः ।
(शवराभीर चांडाल द्रविडोद्राः)
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः ॥ —नाट्यशास्त्र १७-५०

शवरों, आभीरों. चाण्डालों, चरों, द्रविड़ों, ओड्रों और हीन जाति के वनचरों की बोलियाँ. भरत के इस उल्लेख में अपभ्रंश का स्पष्ट नाम नहीं आया है, क्योंकि उसने केवल भाषाओं का उल्लेख किया है. इससे यह जान पड़ता है कि भरत के समय तक किसी भी भाषा को अपभ्रंश की संज्ञा नहीं दी गई थी अर्थात् अभी तक अपभ्रंश का विकास उस कोटि तक

---

१. भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्—प्रथमकांड कारिका १४८ लाहौर संस्करण ।

२. Ed. kielhorn, Vol. I, Page 2.
एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः. तद्यथा—गौरित्यस्य गावी, गोणी. गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ।

३. (अ) चंड—प्राकृतलक्षणम्—२—१६ 'गोर्णाविः'
(आ) हेमचन्द्राचार्यः प्राकृतव्याकरण—८—२—१७४.
"गोणादय गौः, गोणी, गावी, गावः गावीओ"

नहीं हो पाया था कि उसे भापा कह कर पुकारा जा सके. विभापाओं के उस समय कोई अलग नाम नहीं थे, वे वोलनेवाली जातियों अथवा समुदाय के नाम से ही पुकारी जाती थी. जैसे—

अंगारकार-व्याधानां काष्ठयन्त्रोपजीविनाम् ।
योज्या शवरभापा तु किंचिद्विानोकसी तथा ।
गवाश्वाजाविकौष्ट्रादियोपस्थाननिवासिनाम् ।
आभीरोक्तिः शावरी वा द्राविडी द्रविडादिपु । —नाट्यशास्त्र १७-५४.५५

अर्थात् शवर और धनौसी जंगली भापाका प्रयोग अंगारकारों-कोयला वनाने वालों, शिकारियों और काष्ठयंत्रों द्वारा जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्तियों द्वारा तथा आभीरोक्ति और शावरी का उपयोग गौ,अश्व, ऊँट आदि पशुपालक और घोपनिवासी ग्वालों के गाँव में रहने वाले जनों द्वारा ..........किया जाता है.

इससे यह ज्ञात होता है कि आभीरादि पशुपालक जातियों की भापा आभीरोक्ति नाम से जानी जाती रही है. जैसा कि हम अन्यत्र देखेंगे, यही आभीरोक्ति इतनी विकासमान हो गई कि इसने अपना स्थान प्राकृतादि अन्य साहित्यिक भापाओं के समकक्ष जमा लिया.

संभवतया भरत के समय भापा के रूप में अपभ्रंश को कोई महत्त्व प्राप्त नहीं था, किन्तु जान पड़ता है कि आगे चलकर इसी आभीरोक्ति को ही अपभ्रंश की संज्ञा प्राप्त हो गई. भरत ने नाटककार के लिये विभिन्न प्रदेश के निवासी पात्रां द्वारा किस प्रकार की वोली प्रयुक्त की जाय, इस विपय में खुलासा निर्देश दिये हैं. उन्होंने लिखा है कि गंगा और सागर के मध्य की भापा एकार—वहुला है. हिमालय, सिन्धु और सौवीर के तटीय प्रदेश की भापा उकारवहुला है, विंध्याचल और सागर के मध्य की भापा नकारवहुला है, सौराष्ट्र अवन्ति और वेत्रवती के उत्तरीय प्रदेश की भापा चकारवहुला है और चर्मवती के उस पार तथा अर्वुद के तटीय प्रदेश की भापा टकारवहुला है.[1] भरत ने इस प्रकार की उकारवहुला भापा के उदाहरण भी दिये हैं. यथा—'मोरल्लउ नच्चन्तउ' इत्यादि. दण्डी के इस कथन से कि काव्य में आभीरादि की भापा अपभ्रंश कही जाती है, यह अनुमान लग जाता है कि भरत की उकारवहुला आभीरोक्ति अपभ्रंश रही होगी. भरत ने जो उदाहरण इस उकार-वहुलां-आभीरोक्ति के दिये हैं, उनमें 'णेह' 'णिच्च' 'जोण्हउ' आदि शब्द हैं भी ठेठ अपभ्रंश के. परन्तु भरत के इन उदाहरणों में प्राकृत-प्रभाव इतना अधिक है कि इनको विशुद्ध अपभ्रंश का उदाहरण नहीं माना जा सकता.[2] हां अपभ्रंश को जन्म देनेवाली प्रवृत्तियों के वीज यहां अवश्य देखे जा सकते हैं.[3]

लगभग छठी शताव्दी में पहलेपहल हमें अपभ्रंश का एक भापाविशेप के रूप में उल्लेख मिलता है. वलभी सौराष्ट्र के राजा धरसेन द्वितीय के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसका पिता गुहसेन 'संस्कृत-प्राकृतापभ्रंश भापात्रयप्रतिवद्ध-प्रवंध-रचना-निपुणान्तःकरणः' था.[4] जिस गुहसेन का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसके शिलालेख ५५९ ई० से ५६९

---

१. भरतः नाट्यशास्त्र—
गंगासागरमध्ये तु ये देशाः संप्रकीर्तिताः, एकारवहुलां तेपु भापां तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ।५८।
विंध्यसागरमध्ये तु ये देशाः श्रुतमागताः, नकारवहुलां तेपु भापां तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ।५९।
सुराष्ट्रावन्तिदेशेपु वेत्रवत्युत्तरेपु च, ये देशास्तेपु कुर्वीत चकारवहुलामिह ।६०।
हिमवत्सिंधुसौवीरान्ये च देशाः समाश्रिताः, उकारवहुलां तज्ज्ञस्तेपु भापां प्रयोजयेत् ।६१।
चर्मण्वतीनदीपारे ये चार्वुदसमाश्रिताः, तकारवहुलां नित्यं तेपु भापां प्रयोजयेत् ।६२।

२. केशवलाल ह० ध्रुवः पद्यरचना नी ऐतिहासिक आलोचना, पृ० २८३-२८६.

३. उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भापा का उद्गम और विकास, पृ० १२१.

४. Indian Antiquery Vol. 10. Oct 1881, Page 284.

ई० के प्राप्त हुये है.[1] बूलर प्रस्तुत शिलालेख को कुछ वर्ष बाद का मानते हैं.[2] फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ईसा की छठी शताब्दी में अपभ्रंश भाषा में काव्यरचना होने लग गई थी, यद्यपि प्रमाणस्वरूप उस युग की कोई रचना अभी तक हमें प्राप्त नहीं हो सकी है.

इसी शती के अन्तिम चरण में एक और प्रमाण मिलता है. आचार्य भामह ने अपभ्रंश को काव्योपयोगी भाषा और काव्य का एक विशेष रूप माना है. यथा—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा ।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥ —काव्यालंकार, १-१६-२८.

भामह का यह उल्लेख हमें केवल यही सूचित करता है कि अपभ्रंश भी तत्कालीन एक काव्य-भाषा थी. इस भाषा का प्रयोग कौन करते थे, यह कहां बोली जाती थी, आदि प्रश्नों का उत्तर हमें भामह से नहीं मिलता.

चंड ने अपने प्रसिद्ध व्याकरण 'प्राकृतलक्षणम्' में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग 'न लोपोऽपभ्रंशेऽधोरेफस्य' सूत्र में, विशेष-भाषावाचक रूढ़ संज्ञा के रूप में किया है.[3]

दंडी ने अपये ग्रंथ 'काव्यदर्श' में काव्य की भाषा के चार भेद बताये हैं—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्रित.

तदेतद् वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्यश्चतुर्विधम् ॥ —काव्यादर्श १-३२.

आगे चलकर वह अपभ्रंश का व्याकरण—सम्मत रूढ़ और भाषा के रूप में होनेवाले प्रयोगों पर प्रकाश डालता हुआ कहता है :

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः ।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥ —काव्यादर्श १-३५.

अर्थात् भाषाशास्त्र या व्याकरण में अपभ्रंश का अर्थ है संस्कृत के विकृत रूप. काव्य में आभीरादि बोलियां अपभ्रंश कहलाती हैं. संस्कृत से इतर भाषाओं को अपभ्रंश कहकर दंडी ने पतंजलि का समर्थन किया है और साथ ही उसने अपभ्रंश और आभीरों के संबंध का भी उल्लेख किया है. इससे जान पड़ता है कि दंडी के समय में अपभ्रंश साहित्यिक भाषा बन चली थी और इसका प्रयोग आभीरों के अतिरिक्त (आभीरादि) अन्य लोग भी करने लग गये थे. इस प्रकार भरत के समय में आभीरी नाम से प्रसिद्ध आभीरोक्ति दंडी के समय में अपभ्रंश में परिणत होकर बोलचाल तथा साहित्य की भाषा बन गई थी.

'कुवलयमाला कथा' के रचयिता जैन लेखक उद्योतनसूरि ने [वि० की नवीं शती] अपभ्रंश का प्रयोग एक भाषा विशेष के अर्थ में किया है. वे अपभ्रंश काव्य के बड़े प्रशंसक हैं, वे उसे प्रांजल, प्रवाहमय और मनोहर मानते हैं.[4]

रुद्रट अपने काव्यालंकार में काव्य को गद्य और पद्य में विभाजित करने के पश्चात् भाषा के आधार पर उसका छह भागों में विभाजन करता है. संस्कृत, प्राकृत, मागधी, सौरसैनी, पिशाचभाषा और अंतिम अपभ्रंश, जो स्थान—भेदों से अनेक स्वरूप ग्रहण कर लेती है.

भाषाभेदनिमित्तः षोढा भेदोऽस्य संभवति। —काव्यालंकार २-११

---

१. Bombay gazette. Vol. 1 Part 1, Page 90.
२. Indian Antiquery. Vol. 10, Oct 1881, Page 277.
३. चंड : प्राकृतलक्षणम्—पृ० २४, सूत्र ३७.
४. ला० भा० गांधी : अपभ्रंश काव्यत्रयी-भूमिका पृ० ९७ से उद्धृत—
ता किं अवहंसं होहिइ ? हूं. तं पि णो जेण तं सक्कयपाइय-उभय-सुद्धासुद्धपयसमतरंगरंगतवग्गिरं णव-पाउस-जलयपवाह-पूर-पव्वालिय-गिरि-णइसरिसं समविसमं पणयकुवियपियपणइणीसमुल्लावसरिसं मणोहरं.

प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शौरसैनी च ।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ।। —काव्यालंकार २-१२

इस प्रकार रुद्रट ने अन्य साहित्यिक प्राकृतों के समान ही अपभ्रंश को महत्वपूर्ण स्थान दिया है, और देशभेद के आधार पर विविधता की स्थापना की है.

पुष्पदन्त ने अपने महापुराण में बताया है कि तत्कालीन राजकुमारियों को संस्कृत और प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश का भी ज्ञान कराया जाता था.[१] इस का अर्थ यह हुआ कि लगभग दसवीं शताब्दी में 'अपभ्रंश' भरत की 'विभ्रष्ट शब्दावली' से विकसित होकर शिष्टसमुदाय की भाषा बन चली थी.

राजशेखर ने अपने ग्रंथ 'काव्यमीमांसा' में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति ही अपभ्रंश का उल्लेख एक काव्यभाषा के रूप में अनेक बार किया है. काव्य-पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है[२] : शब्दार्थौं ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्.

अर्थात् शब्द और अर्थ तेरे शरीर हैं. संस्कृत भाषा मुख है. प्राकृत भाषाएं तेरी भुजाएं हैं. अपभ्रंश भाषा जंघा हैं. पिशाच भाषा चरण है और मिश्र भाषाएं वक्षःस्थल हैं.

इसी प्रकार राजशेखर ने काव्यविशेषताओं के अनुसार दरबार में कवियों के बैठने के स्थान भी निश्चित किये हैं—उत्तर में संस्कृत-कवि, पूर्व में प्राकृत कवि, पश्चिम में अपभ्रंश कवि व दक्षिण में पैशाच कवि आसन ग्रहण करें.[३]

आगे चलकर राजशेखर ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के क्षेत्र का निर्देश करते हुए सकल मरुभूः, टक्क और भादानक को अपभ्रंश या अपभ्रंश-मिश्रित भाषा का प्रयोग करनेवाला क्षेत्र कहा है.[४] एक दूसरे स्थान पर उन्होंने त्रवण और सुराष्ट्र को अपभ्रंश भाषा-भाषी कहा है.[५]

नमि साधु ने रुद्रट के काव्यलंकार पर टीका करते हुये अपनी वृत्ति में लिखा है[६]

तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यावभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति. कुतो देशविशेषात्. तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्"

ये अपभ्रंश को एक प्रकार से प्राकृत ही मानते हैं. अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट तीन प्रकार की अपभ्रंश—उपनागर, आभीर, और ग्राम्या का निर्देश करते हुये स्वीकार करते हैं कि 'अपभ्रंश के इससे भी अधिक भेद हैं. अपभ्रंश को जानने का सर्वोत्तम साधन लोक ही है.' इससे जान पड़ता है कि इस समय तक अपभ्रंश लोकभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी. भोजराज ने अपने 'सरस्वतीकंठाभरण' में इसे गुर्जर प्रदेश की प्रिय भाषा के रूप में ग्रहीत किया है[७]

---

१. पुष्पदंत : महापुराण—५-१८-६
सक्कउ पायउ पुणु अवहंसउ वित्तउ उप्पाइउ सपसंसउ.

२. राजशेखर : काव्यमीमांसा—वि० रा० भाषा० प्रकाशन, पृ० १४.

३. राजशेखर : काव्यमीमांसा—पृ० १३१-३३.
तस्य चोत्तरतः संस्कृताः कवयो निवेशेरन्. पूर्वेण प्राकृताः
कवयः ।—पश्चिमेनापभ्रंशशिनः कवयः—दक्षिणतो भूतभाषायवः ।

४. राजशेखरः काव्यमीमांसा पृ० १२४.
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च.

५. राजशेखरः काव्यमीमांसा पृ० ८३.
सुराष्ट्रत्रवणद्या ये पठन्त्यर्पितसोष्ठयम्. अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि.

६. नमिसाधुः काव्यालंकारवृत्ति—२१२.

७. भोजराजः सरस्वतीकंठाभरण—२-१३.
अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः

वाग्भट ने भी दंडी के अनुकरण में समस्त वाङ्मय को चार भागों में बांटा है. दंडी ने काव्य-भाषा के चार भेद माने हैं, यथा-संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्रित. वाग्भट का विभाजन इससे थोड़ा भिन्न है. वह मिश्र भाषा के स्थान पर भूतभाषा का उल्लेख करता है—अन्य भाषायें वे ही हैं-संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश.

संस्कृतं प्राकृतं तस्य अपभ्रंशो भूतभाषितम् ।
इति भाषाश्चतस्रोपि यान्ति काव्यस्य कायताम् ॥ —वाग्भटालंकार २-१.

आगे चल कर उसने भी अपभ्रंश को देश्य भाषा के रूप में स्वीकार किया है—

अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम् । —वाग्भटालंकार २-३

इसी प्रकार अन्य विद्वानों यथा मम्मट, पृथ्वीधर, मार्कण्डेय, रससर्वकार, विष्णुधर्मोत्तरकर्त्ता, हेमचन्द्र, नारायण, अमरचंद, लक्ष्मीधर, नाट्यदर्पणकार, पिशेल, ग्रियर्सन, सुनीतिकुमार चटर्जी और मुनि जिनविजय आदि ने अपभ्रंश पर मौलिक और परंपरागत विचार व्यक्त किये हैं. आगे चलकर उन पर यथावसर विचार किया जायेगा.

अपभ्रंशविषयक इन भिन्न-भिन्न निर्देशों से निम्न परिणाम निकलते हैं—

(१) आरंभ में अपभ्रंश का प्रयोग शिष्टेतर अथवा अपाणिनीय शब्द रूपों के लिये होता था.

(२) भरत ने इसी अर्थ में 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया है.

(३) भरत के समय में अपभ्रंश का विकास इतना नहीं हुआ था कि वह भाषा कहला सकती. किन्तु उस समय में अपभ्रंश बीज रूप से वर्तमान थी और इसका प्रयोग एक बोली मात्र के रूप में शवर, आभीर आदि अशिक्षित वनवासी ही किया करते थे.

(४) छठी शताब्दी में अपभ्रंश शब्द साहित्यिक भाषा का द्योतक बन गया था और तत्कालीन आलंकारिकों और वैयाकरणों द्वारा मान्यता पा चुका था. अपभ्रंश में पर्याप्त साहित्य-सृजन होने लग गया था जो भामह और दंडी जैसे आचार्यों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर चुका था. इतना होने पर भी अभी तक अपभ्रंश का आभीरादि से निकट संबंध माना जाता था.

(५) नवीं शताब्दी में अपभ्रंश को अपेक्षाकृत अधिक सम्मान से देखा जाने लगा था. अब वह केवल शवर, आभीरादि की बोली नहीं थी अपितु जनसामान्य की भाषा बन चली थी और उसका व्यवहार प्रायः समूचे उत्तर भारत में सौराष्ट्र से लेकर सुदूर पूर्व में मगध तक होने लगा था. स्थान-भेद से इसमें कुछ अन्तर होना स्वाभाविक ही था किन्तु काव्योपयोग में आभीरी का ही प्रयोग होता था.

(६) ग्याहरवीं शताब्दी के मध्य तक आलंकारिकों, वैयाकरणों और साहित्यिकों ने मान लिया था कि इस साहित्यिक भाषा के स्थान-भेद से अनेक प्रकार हैं. अपभ्रंश का प्रयोग व्यापक रूप से होने लगा था और उसमें विपुल साहित्य रचना होने लगी थी. सिद्धों के 'दोहाकोश' व जैनों के 'चरिउ' अपभ्रंश के ही दो भिन्न प्रकारों में रचे गये. इस प्रकार अपभ्रंश सौराष्ट्र से मगध तक फैल चली थी.

## अपभ्रंश भाषा का विकास

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, मध्यकालीन-भारतीय आर्य भाषाओं की उत्तरकालीन अवस्था को अपभ्रंश का नाम दिया गया है. अपभ्रंश का प्रचार और प्रसार कब से हुआ, इस संबंध में निश्चित तौर पर कुछ भी कहना कठिन है. ढोला-मारू रा दूहा के संपादकों के अनुसार[1] अपभ्रंश का काल विक्रम की दूसरी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक माना जा सकता है[1] श्यामसुन्दरदास मानते हैं कि अपभ्रंश के बीज ईसा की दूसरी शताब्दी में प्रचलित प्राकृत में अवश्य

१. ठाकुर-पारीक-स्वामी : ढोला मारू रा दूहा-भूमिका पृ० ११०

विद्यमान थे[१] और बारहवीं शताब्दी का मध्य भाग अपभ्रंश के अस्त और आधुनिक भाषाओं के उदय का काल यथाकथंचित् माना जा सकता है.[२]

देवेन्द्रकुमार के अनुसार अपभ्रंश का प्रथम परिचय तीसरी सदी ईस्वी से मिलने लगता है. किन्तु वह साहित्यारूढ छठी सदी में हो सकी. बारहवीं सदी तक उसका समृद्धि-युग रहा.[3] महाकवि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के चतुर्थ अंक में अपभ्रंश के दोहे मिलते हैं. इनकी प्रामाणिकता के विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं, एस० पी० पंडित,[४] ज्यूल ब्लाक[५] तथा हर्मन याकोबी[६] आदि विद्वान् इन्हें प्रक्षिप्त मानते हैं, परन्तु आ० ने० उपाध्ये एवं डा० तगारे[७] इनको प्रामाणिक मानते हैं. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इनके प्रक्षिप्त होने पर भी अपभ्रंश का काल ४०० ई० से १००० ई० तक मानते हैं[८] इस विवाद से बचते हुये डा० धीरेन्द्र वर्मा,[९] डा० उदयनारायण तिवारी,[१०] डा० हजारीप्रसाद आदि[११] विद्वान् इसका प्रारंभ पांचवीं अथवा छठी शती से मानते हैं. गुलेरी प्रारंभ के चक्कर में न पड़ विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता मानते हैं.[१२] राहुलजी छठी शती को ही प्राकृत और अपभ्रंश की सीमारेखा मानने के पक्ष में हैं.[१३]

इन विभिन्न धारणाओं के आधार पर निम्न निष्कर्ष अनुमानित किये जा सकते हैं—अपभ्रंश का आरम्भ अवश्य ईसा की चौथी शती में हो गया होगा, पांचवीं शती में उसका प्रयोग एक काव्य-भाषा के रूप में होना प्रारम्भ हो चुका होगा और छठी शती में तो इसे समाज में आदर मिलने लगा होगा. वलभी के शासक धरसेन का शिलालेख इस सम्बन्ध में उचित प्रमाण प्रस्तुत करता है. छठी शती से ग्यारहवीं शती तक इस भाषा में पुष्कल परिमाण में साहित्य का सृजन होता रहा.[१४] काव्यरचना की यह धारा बारहवीं शती तक चलती रही और तेरहवीं शती में देशभाषाओं में परिणत हो गई.[१५]

इसका अर्थ कदापि नहीं कि तेरहवीं शती के बाद अपभ्रंश में कुछ भी रचनायें नहीं हुई. वास्तविकता तो यह है कि काफी समय तक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का रचनाप्रयास साथ-साथ चलता रहा. संभवतः यही कारण होगा कि रुद्रट ने संस्कृत और प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश को भी साहित्यिक भाषा स्वीकार किया है.[१६] भाषा-शास्त्रियों ने मध्यभारतीय आर्य-भाषाकाल की मध्यकालीन अवस्था की साहित्यिक प्राकृतों का समय पांच सौ ई० तक और उसके उत्तरकालीन अवस्था की अपभ्रंश का समय पांच सौ ई० से एक हजार ई० तक तक माना है.[१७] किन्तु

---

१. श्यामसुन्दरदास : हिन्दी भाषा, पृ० १४.
२. श्यामसुन्दरदास : हिन्दी भाषा, पृ० १६.
३. देवेन्द्रकुमार : अपभ्रंशप्रकाश—पृ० ७.
४. उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १२२ से.
५. डा० गुणेःभविसयत कहा—भूमिका—पृ० ३७ से उद्धृत.
६. डा० याकोबीः भविसयतकहा—भूमिका, पृ० ५८.
७. डा० तगारेः हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश.
८. डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याः भारतीय आर्य भाषा और हिंदी, पृ० १७८.
९. डा० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० ४८.
१०. उदयनारायण तिवारी : हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १२२.
११. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ९२.
१२. चंद्रधर शर्मा गुलेरी : पुरानी हिन्दी, पृ० ८.
१३. राहुल सांकृत्यायन : दोहाकोश—भूमिका, पृ० ९.
१४. नेमिचन्द्र जैन : हिन्दी जैन साहित्यपरिशीलन, भाग १ पृ० २७.
१५. टेसीटरी : पुरानी राजस्थानी, पृ० ८.
१६. रुद्रट : काव्यालंकार, पृ० २-१२.
१७. डा० हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य, पृ० १६.

प्राकृत का साहित्य पांच सौ ईस्वी के बाद भी लिखा मिलता है. वाक्पतिराज के 'गउडवहो' का समय सातवीं, आठवीं सदी माना जाता है. कौतूहल कृत 'लीलावईकहा' भी निःसंदेह उत्तरकालीन रचना है. प्राकृत व्याकरण के अध्ययन के फलस्वरूप दक्षिण भारत के अठारहवीं शती के एक कवि रामपाणिवाय ने 'कंसवहो' व 'उसाणिरुद्ध' नामक दो ग्रंथों का भागवत पुराण के आधार पर प्राकृत में प्रणयन किया अर्थात् प्रथम ईस्वी शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक सामान्यतः और अठारहवीं शती के आरम्भ तक विरलतः प्राकृत साहित्य लिखा जाता रहा.[1] इसी प्रकार संस्कृत भाषा में अद्यावधि काव्य-सृजन होता ही है. अपभ्रंश के संबंध में भी प्राकृत की बात दोहराई जा सकती है. डा० उपाध्ये ने योगीन्दु के परमप्पयासु और योगसार का समय छठी शताब्दी के लगभग माना है. तब से लेकर तेरहवीं शती तक विशेष रूप से और सत्रहवीं शती तक अपवाद रूप से अपभ्रंश में काव्यरचना होती रही है. भगवतीदास का मृगांकलेखाचरित या चन्द्रलेखा विक्रम संवत् १७०० में लिखा गया है.[2]

जिस प्रकार संस्कृत और प्राकृत में रचनायें कुछ काल तक समानान्तर रूप से लिखी जाती रहीं, उसी प्रकार अपभ्रंश का भी प्राकृत के साथ प्रचार रहा. उसी प्रकार अपभ्रंश का आधुनिक आर्य भाषाओं के पूर्व रूपों के साथ भी प्रचलन रहा. अपभ्रंश यद्यपि १२ वीं शती से बोलचाल की भाषा नहीं थी, केवल साहित्य की भाषा थी, फिर भी वह पन्द्रहवीं शती तक स्वतंत्र रूप से अथवा नव्यतर प्रादेशिक भाषाओं में घुलमिलकर प्रयोग में आती रही है. इस तथ्य का समर्थन हमें सिद्ध-साहित्य से मिलता है.

सिद्धों की रचनाओं के दो रूप उपलब्ध हैं—[१] दोहाकोष. [२] चर्यापद. डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने दोहाकोषों और चर्यापदों में ही दो प्रकार की उपभाषाओं की ओर संकेत किया है, चर्यापदों की भाषा पूर्वी है, जिसे वे पुरानी बंगाली कहते हैं. क्यों कि उसमें बहुत से क्रियारूप, शब्दरूप तथा ऐसे मुहावरे हैं जिनकी परम्परा पुरानी बंगाली में चली आई है. दोहाकोषों में एक ही भाषा है पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रंश.[3] 'डाकार्णव' के सम्पादक डा० नगेन्द्रनारायण चौधरी डाकार्णव की भाषा को शौरसेनी अपभ्रंश पर आधारित मानते हैं. किन्तु कहीं-कहीं पर उसमें पूर्वी बंगाल के शब्दरूपों, उच्चारणों तथा मुहावरों का प्रभाव मानते है[4] इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए डा० धर्मवीर की मान्यता है—दोहा लिखते समय सिद्धों ने पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश प्रयोग किया. क्योंकि वह भाषा दोहों में मंज चुकी थी, किन्तु जब उन्होंने गेय पद लिखे तो स्थानीय बोली को आधार बनाया. किन्तु चूंकि वह बोली अभी काव्य में मंजी नहीं थी अतः स्थान-स्थान पर उन्होंने अभिव्यक्ति और काव्यपरिष्कार के लिये शौरसेनी का सहारा लिया.[5]

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में उकारबहुला भाषा का प्रयोग हिमवत्, सिन्धुसौवीर और उनके आश्रित देशों के लोगों के लिये करने का आदेश दिया है.[6] इससे ज्ञात होता है कि अपभ्रंश की विशेषतायें भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में प्रगट होने लग गई थी. इस प्रकार उकार-बहुला अपभ्रंश की प्रवृत्ति पर हाल में शंकायें उठाई गई हैं. डा० परशुराम ल० वैद्य ने विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि अपभ्रंश के अतिरिक्त प्राकृत 'धम्मद' 'ललितविस्तर' और 'सद्धर्मपुण्डरीक' जैसे बौद्ध ग्रंथों में भी उकार की प्रवृत्ति पाई जाती है. अतः उकार-बहुला भाषा का अर्थ केवल अपभ्रंश ही लगाना ठीक नहीं होगा. नामवरसिंह ने विस्तारपूर्वक बताया है कि प्राकृत धम्मपद की रचना पेशावर के

---

१. डा० हरदेव बाहरी : प्राकृत और उसका साहित्य—पृ० १४२.

२. डा० हरिवंश कोछड़. अपभ्रंश साहित्य—पृ० १७

३. चटर्जी : ओरिजिन एंड डेवलपमेंट आफ बेंगाली लंग्वेज, पृ० ११४.

४. डा० नागेन्द्रनारायण चौधरी—डाकार्णव पृ० १६.

५. डा० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य पृ० २८६.

६. भरतः नाट्यशास्त्र १७-६२
हिमवत्सिन्धु सौवीरान् ये जनाः समुपाश्रिताः ।
उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ।।

आसपास खेतान के निकट गोशृंग अथवा गोशीर्ष विहार में प्राप्त हुई थी.[1] यह भरत के निर्देशानुसार उकार-बहुला भाषा का क्षेत्र था. और इसलिए धम्मपद की प्राकृत पर स्थानीय प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था. इसी प्रकार ललितविस्तर में क्षेपकों की भरमार है. इसका रूप लगभग चौथी शती में स्थिर हुआ था. चूंकि चौथी शती में अपभ्रंश का उद्भव हो चुका था. इसलिये ललितविस्तर में इस उकार-बहुला भाषा का प्रभाव दीख पड़ता है. राजशेखर ने अपने ग्रंथ 'काव्यमीमांसा' में अपभ्रंश का विस्तारक्षेत्र सकल मरुभूमि, टक्क और भादानक बताया है.[2] इससे प्रतीत होता है कि राजशेखर के समय तक अपभ्रंश का प्रसार राजस्थान, पंजाब, सौराष्ट्र, गुजरात तथा समस्त पश्चिमोत्तर भारत में हो गया था. शनैः शनैः इसका प्रसार बढ़ता गया और नवीं शती में इसका प्रसार हिमालय की तराई से गोदावरी और सिन्ध से ब्रह्मपुत्र तक था.[3] अपभ्रंश कविता पर विचार करते हुए राहुल जी ने लिखा है—'जहां सरहपा और शबरपा बिहार—बंगाल के निवासी थे, वहां अब्दुर्रहमान का जन्म मुल्तान में हुआ था. स्वयंभू और कनकामर शायद अवधी और बुन्देलीयुक्तप्रान्त के थे, तो हेमचन्द्र और सोमप्रभ गुजरात के और रसिक तथा आश्रयदाता होने के कारण मान्यखेट [मालखेड-दक्षिण हैदराबाद] का भी इस साहित्य के सृजन में हाथ रहा है. इस प्रकार हिमालय से गोदावरी और सिन्ध से ब्रह्मपुत्र तक ने इस साहित्य के निर्माण में हाथ बंटाया है.[4] इससे जान पड़ता है कि अपभ्रंश के नाम से पहचानी जाती एक साहित्यिक भाषा होनी चाहिये जो इस विस्तृत भूभाग में कविता के लिये प्रयुक्त की जाती रही है और जिससे कालान्तर में विभिन्न अर्वाचीन आर्य-भाषाओं का विकास हुआ. लेकिन वह बिल्कुल संभव नहीं है कि एक ही प्राकृतोत्तर अपभ्रंश से आधुनिक विभिन्न आर्यभाषाएं विकसित हुई हों. उदाहरणार्थ मागधीप्राकृत से जो अपभ्रंश भाषा विकसित हुई, वही आधुनिक बंगला, उड़िया, आसामी, मागधी, मैथिली और भोजपुरी के रूप में बदल गई हो, यह संभव नहीं जान पड़ता है. इन सब की पूर्ववर्ती अपभ्रंश भाषायें निश्चय ही अलग-अलग रूपों में रही होंगी.[5] इसी मत को ग्रियर्सन[6], पिशेल,[7] हर्नले[8] पंडित कामताप्रसाद गुरु[9] डा० धीरेन्द्र वर्मा प्रभृति[10] पण्डित मानते हैं.

आजकल प्रत्येक प्राकृत के अपभ्रंश रूप की कल्पना की जाने लगी है, किन्तु व्याकरण के प्राचीन ग्रंथों में इस प्रकार का विभाजन नहीं दिखाई देता. रुद्रट ने अवश्य अपने काव्यालंकार में देश-भेद के अनेक भेदों का निर्देश किया है.[11] अपभ्रंश में अनेकता की स्थापना बहुत से उत्तरकालीन वैयाकरणों द्वारा भी की गई है. नमि साधु,[12] रामचन्द्र, गुणचंद्र[13] पुरुषोत्तम[14] रामतर्कवागीश,[15] क्रमदीश्वर,[16] शारदातनय,[17] आदि ने अपभ्रंश में अपने-अपने ढंग से अनेकता की स्थापना

---

१. नामवरसिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग पृ० १८.
२. राजशेखर : काव्यमीमांसा पृ०, १२४.
३. नेमिचन्द्र जैन : हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, पृ० २०.
४. राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी काव्यधारा भूमिका पृ० ५-६.
५. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य पृ० ६.
६. एंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, भाग ३२ पृ० २५१ पर निबंध.
७. पिशेल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ० ५८ हिन्दी अनुवाद.
८. हर्नले : ए कम्पेरेटिव ग्रामर आफ गौडियन लेंग्वेजेज़—भूमिका—पृ० ११-१२.
९. पं० कामताप्रसाद : हिन्दी व्याकरण—पृ० १७.
१०. डा० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास : भूमिका—पृ० ४६-५०.
११. रुद्रट : काव्यालंकार—२-१२—'षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः'.
१२. नमि साधुः काव्यालंकार वृत्ति—२-१२.
१३. रामचन्द्र गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण—२०६.
१४. पुरुषोत्तमः प्राकृतानुशासन—प्राकृतविमर्श पृ० ७० पर उल्लेख.
१५. रामतर्कवागीशः प्राकृतकल्पतरु—प्राकृतविमर्श पृ० ८ पर उल्लेख.
१६. क्रमदीश्वर : संक्षिप्त सार—आठवां परिच्छेद.
१७. शारदातनय : भावप्रकाशन—पृ० ३१०.

की है, किन्तु सभी का उल्लेख अपूर्ण और अपर्याप्त है. शेषकृष्ण की प्राकृतचन्द्रिका में अपभ्रंश के सत्ताईस भेद स्थापित[१] करने की चेष्टा की गई. मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' में प्राकृतचंद्रिका से जो लक्षण और उदाहरण उद्धृत किये हैं, वे इतने अपर्याप्त और अस्पष्ट हैं कि स्वयं मार्कण्डेय ने इनको सूक्ष्म कहकर नगण्य बताया है और इनका पृथक्-पृथक् लक्षण-निर्देश न कर उन सभी को नागर, व्राचड और उपनागर इन तीन प्रधान भेदों में ही अन्तर्भुक्त माना है.[२] कुवलयमाला में अठारह देशी बोलियों के नाम गिनाये हैं. राहुलजी इनकी गणना अपभ्रंश के प्रकारों में करते हैं.[३]

अपभ्रंश का जो भी साहित्य मिलता है, वह बहुत कम भाषागत भेदों को लिए है. यह समस्त साहित्य एक ही परिनिष्ठित भाषा का है; यद्यपि उसमें स्थानीय प्रभाव अल्प मात्रा में मिल सकता है. ग्यारहवीं शती में नमि साधु ने अपभ्रंश के तीन भेद-उपनागर, आभीर और ग्राम्य गिनाये हैं. पुरुषोत्तम ने बारहवीं शती में अपभ्रंश के नागरक, व्राचड, और उपनागरक भेद माने हैं. तेरहवीं शती में शारदातनय ने नागरक, उपनागरक और ग्राम्य ये तीन प्रकार माने. सत्रहवीं शती में मार्कण्डेय ने नागर उपनागर और व्राचड ये तीन भेद माने, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं. व्राचड अपेक्षाकृत अपरिष्कृत मानी गई है. परिष्कृत अपभ्रंश को नागर पुकारा गया है. जब यह प्राकृत से मिश्रित होती तो उसे उपनागर कहा जाता था.[४] यह विभाजन देशगत न होकर संस्कार की दृष्टि से किया गया है, अतः आधुनिक आर्य-भाषाओं की उत्पत्ति और विकास को समझने के लिये उपयुक्त नहीं है. इसी समस्या के निराकरण के लिये प्राकृतों के अनुरूप ही विभिन्न अपभ्रंशों की कल्पना की गई है. देशगत भेदों को संस्कार के आधार पर किये गये भेदों में अन्तर्भुक्त मानना अनुचित है. क्योंकि जिन भाषाओं के उत्पत्तिस्थान भिन्न-भिन्न प्रदेश हैं और जिनकी प्रकृति भी भिन्न-भिन्न प्रदेश की प्राकृत भाषायें हैं तब वे अपभ्रंश भाषाएँ भी भिन्न-भिन्न ही हो सकती हैं और उन सब का समावेश एक दूसरी में नहीं किया जा सकता.[५] वास्तव में बात यह है कि अपभ्रंश के देशगत कई प्रकार थे किन्तु चूंकि वे साहित्य में गृहीत नहीं होते थे, अतः परवर्ती और उत्तरकालीन वैयाकरण उनके नमूने न पा सके होंगे. उपयुक्त उदाहरणों के अभाव में इसके अतिरिक्त ओर हो भी क्या सकता था ? डा० धीरेन्द्र वर्मा भी इसी धारणा को प्रकट करते दिखाई देते हैं.[६] अवश्य ही बोलचाल की अनेक जनपदीय भाषाओं का प्रचलन रहा होगा किन्तु साहित्य में अपभ्रंश का एक परिनिष्ठित रूप ही प्रयुक्त होता होगा.

इसी धारणा की पुष्टि हमें 'रविकर' के कथन में मिलती है. रविकर ने अपभ्रंश के दो रूप दिये हैं.—एक का विकास साहित्यिक प्राकृत के आधार पर हुआ परन्तु विभक्ति, समास, शब्द—विन्यास आदि की दृष्टि से वह भिन्न है और दूसरा देशी भाषा का रूप है.[७] यह देशी स्वरूप साहित्य में अधिक व्यवहृत नहीं होने के कारण आज अज्ञेय है किंतु अपभ्रंश का एक स्वरूप जो साहित्यिक भाषा के रूप में मान्य था, उपलब्ध है. अपभ्रंश के किन रूपों का प्रयोग साहित्य में होता था, इसके विषय में कुछ मतभेद अवश्य हैं किंतु—पश्चिमी वर्ग के वैयाकरणों ने साहित्य में प्रयुक्त अपभ्रंश का आधार शौरसेनी ही माना है[८] और यह अनुमान किया जा सकता है कि शौरसेनी अपभ्रंश ही काव्य की भाषा के रूप

---

१. प्राकृतचन्द्रिका के भेद इस प्रकार हैं :
व्राचडो लाटवैदर्भावुपनागरनागरौ, बार्बरावन्त्यपांचालटाक्कमालवकैकयाः ।
गोडोट्हैपपाश्चात्यपाण्ड्यकौन्तलसंहलाः, कालिंग्यप्राच्यकार्णटकांच्यद्राविडगौर्जराः ।
अभीरो मध्यदेशीयः सूक्ष्मभेद व्यवस्थिताः, सप्तविंशत्यपभ्रंशा वैतालादिप्रभेदतः ।

२. मार्ककण्डेयः प्राकृत सर्वस्व—पृ० ३ तथा १२२.

३ राहुल सांकृत्यायनः हिन्दी काव्यधारा—भूमिका पृ० ७.

४. कीथः हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—पृ० ३५.

५. हरगोविंददास सेठ : पाइयसद्दमहण्णवो—भूमिका पृ० ४५.

६. डा० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास—भूमिका—पृ० ५०.

७. डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल : प्राकृतविमर्श—पृ० १७.

८, रामसिंह तोमर : प्राकृत व अपभ्रंश साहित्य का इतिहास और हिन्दी पर उनका प्रभाव; पृ० ६२-७२.

में प्रतिष्ठित थी ? डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का भी यही मत है कि पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रंश ही समूचे आर्य—भारत, गुजरात व पश्चिमी पंजाब से बंगाल तक प्रचलित 'लिंग्वा फ्रैंका' 'बन गई थी, जो मधुर और काव्योपयुक्त भाषा मानी जाती थी.[1] फिर भी उस समय आधुनिक आर्यभाषाओं का स्वरूप गठित हो रहा था. कुछ समय तक तो पुरानी शौरसेनी अपभ्रंश ही काव्य की भाषा के रूप में प्रयुक्त होती रही और विभिन्न प्रदेशों की बोलियाँ कभी-कभी उस प्रदेश में रचे जाने वाले साहित्य को प्रभावित करती रहीं. बाद में वे बोलियां भी स्वतन्त्र काव्य-भाषा के रूप में प्रयुक्त होने लगीं.[2] बाद में अक्सर ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि एक ही कवि नई काव्य-भाषा में भी रचना करता है और पुरानी अपभ्रंश में भी अपना काव्य-चमत्कार दिखाने का प्रयत्न करता है; जैसे विद्यापति.[3] इस प्रकार की दोनों भाषाओं यथा अपभ्रंश और देशी का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि उस काल में ये दोनों भाषा-रूप प्रचलित थे और शिक्षितों द्वारा समझे जाते थे.[4]

भारतीय आर्यभाषा के विकास की जिस अवस्था को आज हम अपभ्रंश के नाम से पुकारते हैं उसके लिये सदा अपभ्रंश संज्ञा का व्यवहार नहीं हुआ है. प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में उसका उल्लेख अपभ्रंश और अपभ्रष्ट के रूप में किया गया है. अधिकांश संस्कृत विद्वानों ने अपभ्रंश शब्द का ही प्रयोग किया है, अपभ्रष्ट शब्द का उल्लेख बहुत कम मिलता है. 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' जैसे दो एक ग्रन्थों ने ही अपभ्रष्ट संज्ञा का व्यवहार किया है. किन्तु अपभ्रंश-ग्रंथों में अवब्भंस, अवहंस अवहत्थ, अवहट्टु, अवहठ, अवहट आदि नाम भी मिलते हैं. परवर्ती कवियों द्वारा इन शब्दों का प्रयोग, अधिकतर किया गया है. अवहट्ट का अद्यावधि ज्ञात सबसे पहला प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर—१३२५ ईस्वी में मिलता है.[5] जहाँ राजसभा में भाट द्वारा षड् भाषाओं की गणना की जाती है. विद्यापति ने कीर्तिलता की अपनी भाषा की प्रशंसा करते हुये उसे 'अवहट्ट' कह कर पुकारा है.[6] प्राकृत 'पैंगलम्' के टीकाकार वंशीधर की राय में 'प्राकृत पैंगलम्' की भाषा अवहट्ट ही है.[7] सन्देशरासक के रचयिता अब्दुर्रहमान ने अपने काव्य की भाषा को अवहट्ट कहा है.[8] कुवलयमालाकहा के रचयिता उद्योतनसूरि ने अवहंस शब्द का प्रयोग कियाहै.[9] इसी शब्द का प्रयोग कहीं अवब्भंस के रूप में भी हुआ है.[10] पुष्पदन्त संस्कृत और प्राकृत के साथ अवहंस की गणना करते हैं.[11] स्वयंभू देव अपनी

---

१. चटर्जी : आरिजिन एंड डेवलमेंट आफ़ बंगाली लैंग्वेज—पृ० १६१.
२. वही पृ० ११३-१४
३. डा० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य—पृ० २८८.
४. डा० भण्डारकर : रिपोर्ट आन दी सर्च फार एम० एस० एस०, १८८७-९४, पृ० ७१.
५. ज्योतिरीश्वर ठाकुरः वर्णरत्नाकर—५५ सं०, पृ० ४४.
   पुनु कइसन भाट, संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ट, पेशाची, शौरसेनी, मागधी, छहु भाषा तत्त्वज्ञ.
६. विद्यापति : कीर्तिलता—प्रथम पल्लव.
   सक्कय वाणी बुहअन भावइ. पाउंअ रसको मम्म न पायइ ।।२०।।
   देसिल वचना सबजनमिट्ठा, तं तैसन जम्पओ अवहट्टा ।।२१।।
७. वंशीधरः प्राकृत पैंगलम्, टीका पृ० ३.
   पढमं भासतरंडो णाओ सो पिंगलो जयउ. गाथा १.
   टीका—प्रथमो भाषातरंडः प्रथम आद्यः भाषा अवहट्ट भाषा.
   यया भाषया अयं ग्रन्थो रचितः स अवहट्ट भाषा.
८. अब्दुर्रहमानः संदेशरासक—प्रथम प्रक्रम, छं० ६.
   अवहट्टय सक्कय पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए लक्खणछन्दाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहि.
९. एस० बी० गांधीः अपभ्रंशकाव्यत्रयी—पृ० ९७-९८ पर उद्धृत.
१०. अल्फ्रेड मास्टरः बी० एस० ओ० जे० एस० भाग १३-२.
   किं चि अवभंसकआ दा.
११. पुष्पदन्त—महापुराण-संधि-५ कडवक १८—सक्कय पायउ पुणु अवहंसउ.

रामायण में इसे अवहत्थ कह कर पुकारते हैं.[1]

अपभ्रंश को दी जाने वाली विभिन्न संज्ञाओं पर विचार करते हुए नामवरसिंह कहते हैं कि 'अवहत्थ' 'अवहट्ठ' 'अवहंस' 'अवहट' आदि रूप अपभ्रंश अथवा अपभ्रष्ट के तद्भव रूप हैं. प्राकृत के अपभ्रंश के ग्रंथों में जहाँ संस्कृत के लिए 'सक्कय' और प्राकृत के 'पाइय' आदि रूप व्यवहृत हैं, वहां अपभ्रंश का 'अवब्भंस' और 'अवहंस' हो जाना स्वाभाविक है.[2] उनकी दृष्टि में 'अपभ्रंश', अपभ्रष्ट, अवहंस, अवब्भंस अवहट्ट, अवहट आदि सभी शब्द समानार्थी हैं.[3] किन्तु शिवप्रसाद सिंह इसे नहीं मानते. उनके अनुसार हम इन शब्दों के प्रयोगों के कालचक्र पर विचार करें तो एक महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आता है.

*संस्कृत के आलंकारिकों ने अपभ्रंश भाषा के लिए सर्वत्र अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया. या यह कि उनके द्वारा रखा गया* यह नाम ही इस भाषा के लिए रूढ़ हो गया है. किन्तु प्राकृत के कवियों ने इसे अवहंस कहा. अपभ्रंश के कवियों-पुष्पदन्त आदि ने भी इसे अवहंस ही कहा. अवहट्ट कहा अब्दुर्रहमान ने, 'प्राकृत पैंगलम्' के टीकाकार वंशीधर ने, विद्यापति और ज्योतिरीश्वर ने. इस आधार पर विचार करने से लगता है कि 'अवहट्ट' शब्द का प्रयोग केवल परवर्त्ती अपभ्रंश कवियों ने किया. क्या इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि परवर्त्ती अपभ्रंश के इन लेखकों ने इस शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर किया. अपभ्रंश या अवहंस या बहुप्रचलित 'देसी' शब्द का प्रयोग भी कर सकते थे, परन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया. इससे सहज अनुमान किया जा सकता है कि अवहट्ट शब्द पीछे का है और इसका उपयोग परवर्ती अपभ्रंश के कवियों ने पूर्ववर्ती अपभ्रंश की तुलना में थोड़ी परिवर्तित भाषा के लिए किया. वंशीधर ने तो अपनी टीका :संस्कृत: में सर्वत्र अवहट्ट ही लिखा, जब कि संस्कृत में अपभ्रंश या अपभ्रष्ट का प्रयोग ही प्रायः होता था.[4] अर्थात् इस शब्द के मूल में परिनिष्ठित अपभ्रंश के और भी अधिक विकसित होने की भावना थी. इन तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि अपभ्रंश के बाद की स्थिति अवहट्ट है.[5] अपभ्रंश के व्याकरणिक आधार पर प्रान्तीय शब्दों और रूपों के मेल से जो भाषा विकसित हुई वह अवहट्ट थी. इसका काल तेरहवीं सदी से पन्द्रहवीं सदी तक माना जाता है.[6] डा० चाटुर्ज्या विद्यापति की अवहट्ट पर विचार करते हुए इसी मान्यता को स्वीकार करते हैं.[7] दिवेतिया इसे कनिष्ठ अपभ्रंश मानते हैं और इसे बारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक की विकृत भाषा स्वीकार करते हैं.[8]

हम पहले बता चुके हैं कि परिनिष्ठित भाषा के रूप में शौरसेनी अपभ्रंश का समस्त उत्तर-भारत में प्रचार था, किन्तु स्थानीय बोलियाँ भी समानान्तर रूप से विकसित हो रही थीं. स्थानीय जनपदीय बोलियों का विकास कालान्तर में आधुनिक आर्य—भाषाओं में हुआ किन्तु परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश अपना स्वरूप दरबारी कवियों के सहयोग से टिकाने का यत्न करने लगी. भाट-चारणादि कवियों द्वारा व्यवहृत अपभ्रंश भाषा में भी शनैः-शनैः परिवर्तन लाना जरूरी हो गया, ताकि उसे दरबारी तथा सामन्तगण समझ सकें. इस प्रकार साहित्यिक अपभ्रंश का यह विकृत स्वरूप अवहट्ट नाम से पहिचाना जाने लगा.[9] डा० चाटुर्ज्या के अनुसार विद्यापति की अवहट्ट भी औपचारिक दरबारी कविता की भाषा तक ही सीमित है.[10] इन सब तथ्यों के आधार पर निम्न बातें स्पष्ट हो जाती हैं—

---

१. स्वयंभू—पउमचरिउ; रामायण १-४;
'हिन्दी काव्यधारा' से उद्धृत—'अवहत्थे वि खलु यणु णिरवसेसु'.

२. नामवरसिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० १. ३. वहीं, पृ० २.

४. शिवप्रसाद सिंहः कीर्तिलता और अवहट्टभाषा—पृ० ६.

५. देवेन्द्रकुमार : अपभ्रंशप्रकाश पृ० ७.

६. वही पृ० २१.

७. चटर्जीः आरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बेंगाली लेंग्वेज, पृ० ११४.

८. देवेतियाः गुजराती लेंग्वेज एण्ड लिटरेचर भाग १—पृ० ४०

९. म० नि० मोदीः अपभ्रंश पाठावली—पृ० २०.

१०. चटर्जीः आरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बेंगाली—भूमिका पृ० ११४.

१. अवहट्ट वस्तुतः अपभ्रंश ही है.
२. अवहट्ट नाम से अपभ्रंश की विकसित अवस्था अथवा परवर्ती कनिष्ठ अपभ्रंश का बोध होता है, जो अपभ्रंश के साहित्यिक आधार पर विकसित हुई.
३. इसके विकास में दरवारी कविता की परम्परा का बड़ा भारी हाथ रहा है.
४. अवहट्ट में स्थानीय प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक हैं.

इसलिए प्रस्तुत प्रबंध में अपभ्रंश को व्यापक अर्थ में ग्रहीत किया गया है, जिसमें अवहट्ट भी आ जाती है.
विद्यापति के पूर्वांकित उद्धरण 'देसिल वअना सब जन मिठ्ठा' को लेकर कुछ विद्वानों ने अपभ्रंश को देसी या देशी माना है. इस दिशा में विभिन्न विद्वानों ने काफी काम किया है. पिशेल ने अपने प्राकृत भाषाओं के व्याकरण में 'देसी' पर विचार किया है.[1] ग्रियर्सन ने अपने एक विस्तृत निवन्ध 'आन दी माडर्न इण्डो-आर्यन वर्नाक्यूलर्स' में भी इस सम्बन्ध में प्रकाश डाला है.[2] डा० उपाध्ये ने शिप्ले'ज एंसाइक्लोपीडिया आफ लिटरेचर में प्रकाशित अपने निवन्ध 'प्राकृत लिटरेचर' में इस प्रश्न को उठाया है और डा० तगारे ने तो अपनी पुस्तक 'हिस्टोरिकल ग्रेमर आफ अपभ्रंश' में 'देशी और अपभ्रंश' शीर्षक से अलग विस्तृत अध्याय लिख डाला है. विद्यापति की उक्त पंक्तियों के आधार पर डा० बाबूराम सक्सेना देशी और अवहट्ट को एक ही मानते हैं.[3] डा० हीरालाल जैन स्वयंभू, पुष्पदन्त, पद्मदेव, लक्ष्मण आदि अपभ्रंश के कवियों के लम्बे उद्धरण देकर सिद्ध करते हैं कि इनकी भाषा देशी थी.[4] किन्तु प्रसिद्ध भाषा-विद् जूलब्लाक अपभ्रंश अर्थात् देशी—इस धारणा को सही नहीं मानते.[5] अतः देशी शब्द के प्रयोग का विकास-क्रम जानना ही ऐसी दशा में एक मात्र मार्ग हो सकता है, जिससे हम सचाई तक पहुँच सकें.

देशी शब्द का प्रयोग भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में भी किया है, किन्तु वहाँ भाषा देशी नहीं है, शब्द देशी हैं. उनकी राय में जो शब्द संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों से भिन्न हो, उन्हें देशी मानना चाहिए. भरत के देशी शब्द की यह परिभाषा प्रायः बहुत पीछे तक आलंकारिकों और वैयाकरणों द्वारा मान्य रही है. बारहवीं शती के प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित 'देशी' नाममाला ऐसे ही शब्दों को लेकर चली है जिनकी व्युत्पत्ति प्रकृति प्रत्यय के आधार पर सिद्ध न हो सके. उन्होंने उन शब्दों को देशी माना है जो 'लक्षण' से सिद्ध नहीं होते हैं.[6] देशी शब्द के बारे में वैयाकरणों और आलंकारिकों की ऊपर कथित व्युत्पत्ति-प्रणाली को ही लक्ष्य करके पिशेल ने कहा था कि ये वैयाकरण प्राकृत और संस्कृत के प्रत्येक ऐसे शब्द को देशी कह सकते हैं, जिसकी व्युत्पत्ति संस्कृत से न निकाली जा सके.[7] इस प्रकार हमें ज्ञात होता है, कि 'देशी' का प्रयोग शब्द के लिए हुआ है और भरत, रुद्रट, हेमचंद्राचार्य व पिशेल आदि वैयाकरण मानकर चलते हैं कि प्रत्यय-प्रकृति-विचार के घेरे के बाहर के शब्द देशी हैं.

भाषा अथवा बोली के लिए भी 'देशी' विशेषण अथवा संज्ञा का उपयोग किया जाता रहा है. 'तरंगवई कहा' के प्रणेता पादलिप्त ने अपनी प्राकृत भाषा को 'देसी वयण'[8] कहा है. उद्योतन सूरि ने अपनी रचना 'कुवलयमाला' में महाराष्ट्री

---

१. पिशल: प्राकृत भाषाओं का व्याकरण-हिन्दी अनुवाद—पृ० १४-१५.
२. ग्रियर्सन: इंडियन एंटिक्वेरी—१९३१-३३
३. बाबूराम सक्सेना: कीर्तिलता—भूमिका—पृ० ७.
४. ड० हीरालाल जैन: पाहुड दोहा—भूमिका भाग
५. वही—पृ० ३३ पर उद्धृत.
As regards the identification of Deshi=Apbhransha, I feel doubts.
६. हेमचन्द्राचार्य: देशी नाममाला —जो लक्खणे सिद्धा ण पसिद्ध सक्कयाहिहाणेसु । ण य गउण लक्खणा सति संभवा ते इह णिबद्ध.
७. पिशल: प्राकृत भाषाओं का व्याकरण—हिन्दी अनुवाद पृ० १४-१५
८. पादलिप्त—तरंगवती कथा.
पालित्तएण रइया वित्थरओ तस्स देसी वयणेहि,
नाभेण तरंगवई कहा विचित्ता-विचित्ता विउलायं. —याकोबी द्वारा सनत्कुमार चरित—भूमिका पृ० १७ पर उद्धृत.

प्राकृत को देशी नाम दिया है और उसका प्राकृत-संभवत: शौरसेनी से भेद स्थापित किया है.[1] कोउहल ने 'लीलावई कहा' में महाराष्ट्री प्राकृत को ही देशी भाषा कहा है.[2] इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि भाषा में रूप में देशी शब्द का यहां प्राकृत के लिए प्रयोग हुआ है, किन्तु परवर्ती कवियों ने अपभ्रंश को भी देशी कह कर पुकारा है. स्वयंभू ने अपनी रामायण—पउमचरिउ—को ग्रामीण भाषा में रचित बताया है.[3] अपभ्रंश के दूसरे एक महान् कवि पुष्पदन्त ने भी 'महापुराण' में अपनी काव्यभाषा को देसी के नाम से पुकारा है.[4] एक सहस्र ईसवीं में कवि पद्मदेव ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पासणाहचरिउ' की भाषा को 'देसी सद्दत्थगाढ' से युक्त बताया.[5] इन सब उल्लेखों से जान पड़ता है कि परवर्ती काल में अपभ्रंश देशी भाषा कहलाने लगी थी.

जब अपभ्रंश साहित्यिक सिंहासन पर आरूढ होकर रूढ़िगग्रस्त हो गई तो उसकी तुलना में अवहट्ट को भी देसी कहा जाने लगा.

इसी प्रकार जनपदीय बोलियाँ भी देसी नाम से पुकारी जाने लगी. विद्यापति का,[6] उल्लेख हमारे कथन का समर्थन करता है. महाराष्ट्र के संत कवि ज्ञानेश्वर ने भी[7] देसी शब्द का प्रयोग पुरानी मराठी के लिए किया है.[8] इन निर्देशों से जान पड़ता है कि देसी शब्द का प्रयोग प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ट और जनपदीय बोलियों के लिए समय समय पर होता रहा है. वस्तुत: देशी विशेषण एक सापेक्षित शब्द है. प्राकृत से भी पहले पाली के लिए इस संज्ञा का प्रयोग किया जाता था. भगवान् बुद्ध ने अपना उपदेश देश भाषा में ही किया था और उसी भाषा में उन्हें सुरक्षित रखने का आदेश भी दिया था[9]. तात्पर्य यह है कि प्रत्येक युग में सहित्यारूढ़ भाषा के समानान्तर कोई न कोई देशी भाषा रही है—जो जनता के सामान्य समुदाय द्वारा प्रयुक्त होती रही है. उसे ही सदा देशी कहा जाता रहा है, अत: देशी का अर्थ केवल अपभ्रंश मानना अनुचित है.

डाक्टर कीथ ने अपने ग्रंथ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में पहले खंड में भाषाओं का विवेचन किया है. उन्होंने रुद्रट और दंडी का आश्रय लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अपभ्रंश किसी रूप में कभी देशभाषा नहीं थी. वह आभीर, गुर्जर आदि विदेशी आक्रमणकारियों की भाषा थी और उन्हीं के साथ-साथ उसका प्रसार व उसकी प्रतिष्ठा हुई. अत: उसे मध्यकालीन प्राकृतों और आधुनिक आर्यभाषाओं की बिचली कड़ी मानना ठीक नहीं हैं,[10] यहाँ हम डाक्टर कीथ की मान्यता पर विचार करेंगे. उनकी यह धारणा कि अपभ्रंश मध्यकालीन प्राकृतों और आधुनिक आर्यभाषाओं के बीच की कड़ी नहीं है, आज कोई नहीं मानता. भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह मान्यता गलत है. रुद्रट का उल्लेख

---

१. कोउहल—लीलावई कहा—सं० आ० ने० उपाध्ये द्वारा भूमिका में उद्धृत—
पायय भासारइया मरहट्ठय देसीवयणणिवद्धा.
२. कोउहल—लीलावई कहा, गाथा १-३०
भणियं च पिययमाए रइयं मरहट्ट देसीभासाए.
३. (क) स्वयंभू—रामायण, हिन्दी काव्यधारा, पृ० २६ से उद्धृत.
छुडु होसि सुहासियवयणइं. गामेल्लभास परिहरणाइं.
(ख) वही 'देसी भासा उभयतडुज्जल'.
४. पुष्पदन्त—महापुराण, १-८-१० 'ण विणयामि देसी'.
५. पद्मदेव: पासणाहचरिउ—वायरणु,देखि सद्दत्थगाढ, छंदालंकार विसाल पौढ.
६. देसिल वयना सवजन मिट्ठा.
७. ज्ञानेश्वर: ज्ञानेश्वरी-अध्याय १८.
अम्हो प्राकृते देशीकारे वन्धे गीता.
८. डा० कोलते: विक्रम स्मृति ग्रन्थ, पृ० ४७९.
९. नामवरसिंह: हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—पृ० ८.
१०. कीथ: हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३३.

'षष्ठस्तु भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः' और मार्कण्डेयका सत्ताईस प्रकार के विभाजन का आधार हमें अपभ्रंश को देशभाषा मानने को बाध्य करता है.[१] उनकी यह मान्यता कि अपभ्रंश आभीर, गुर्जर आदि विदेशी आक्रामकों की भाषा थी, पूरा ठीक नहीं लगता. हाँ, अपभ्रंश के विकास, विस्तार और प्रतिष्ठा में अवश्य इस समुदाय का हाथ रहा है, उससे इन्कार नहीं किया जा सकता.

आरम्भ में अपभ्रंश को आभीरों की भाषा माना जाता था. "आभीरोक्ति' या 'आभीरादिगिरः' का यही अभिप्राय है कि अपभ्रंश वह भाषा है जिसका काव्य में उस समय आभीरादि निम्नवर्ग के लोग प्रयोग करते थे. इसका यह अभिप्राय नहीं कि अपभ्रंश आभीर लोगों की निजी भाषा थी. या आभीरादि जन इस भाषा को अपने साथ कहीं से लाये. वास्तव में आभीर या उनके साथी जहां-जहाँ गये, उन्होंने वहीं की स्थानीय प्राकृत को अपनाया और उसमें निज स्वभावानुकूल स्वर या उच्चारण सम्बन्धी परिवर्तन कर दिये. आभीर-स्वभाव के कारण इसी परिवर्तित एवं विकृत अथवा[२] विकसित भाषा को ही अपभ्रंश का नाम दिया गया है. इस प्रकार हमने देखा कि अपभ्रंश के साथ आभीरों का संबन्ध जुड़ा हुआ है, अतः अपभ्रंश के विकास और प्रसार को समझने के लिए इस जाति के इतिहास पर दृष्टिपात करना बहुत सहायक होगा.

आभीर जाति का उल्लेख सबसे पहले महाभारत में मिलता है. नकुल के प्रतीची-विजय-प्रसंग में आभीरों को सिन्धु के किनारे रहने वाला कहा गया है.[३] शल्य-पर्व में बलदेव की तीर्थ-यात्रा के संदर्भ में आता है कि राजा ने उस स्थान में प्रवेश किया, जहाँ शूद्र आभीरों के कारण सरस्वती नष्ट हो गई.[४] जब अर्जुन यादवियों को लेकर द्वारका से वापिस लौटते हैं, तो दस्यु, लोभी और पापकर्मी आभीर हमला करके महिलाओं को छीन ले जाते हैं. अर्जुन के साहसपूर्ण जीवन में यही एक ऐसा प्रसंग है जब कि उसके विश्वविजयी गांडीव की कुछ भी न चल सकी.[५] अन्यत्र उनको द्रोण के सुपर्णव्यूह में योद्धाओं की पंक्ति में रखा गया है.[६] इन्हें शूद्र माना गया है.

पाणिनि के समय में भी इन्हें 'महाशूद्र' कह कर पुकारा गया है.[७] मनुस्मृति में आभीरों को ब्राह्मण पिता और अम्बस्थ माताओं से उत्पन्न माना है.[८] इसी से जयचन्द विद्यालंकार इन्हें मारवाड़ व राजपूताने का मूल निवासी गिनते है.[९] किंतु अधिकांश विद्वान् इन्हें भारत में बाहर से आने वाले वर्ग में सम्मिलित करते हैं. आचार्य केशवप्रसाद ने आभीरों के दो दलों की कल्पना की है. पहली बार जो आभीर आये, वे आर्यों की वर्णाश्रम व्यवस्था के भीतर ग्रहीत होकर 'शूद्राभीर' कहलाने लगे.[१०] दूसरा दल बाद में आया, वह उद्धत और लुटेरा था. इसलिये यह भारतीय संस्कृति में अन्तर्भुक्त नहीं हुआ. आगे यवन आक्रमण काल में वे सब इस्लाम धर्म में दीक्षित हो गये.[११] इन्हीं आभीरों की बोली स्थानीय भाषा का सम्बन्ध

---

१. श्यामसुन्दरदासः हिन्दी भाषा, पृ० १८.
२. हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० २४-२६
३. महाभारत—पर्व २, अध्याय ३२, श्लोक १०.
४. महाभारत—पर्व ६, अध्याय ३७, प्रथम श्लोक.
५. वही पर्व १६, अध्याय ७, श्लोक ४४-४७.
६. वही—पर्व ७, अध्याय २०, श्लोक ६.
७. वासुदेव शरण अग्रवालः इण्डिया एज़ नोवन टू पाणिनि—पृ० ८०
It may be noted that katyayana knows of a special caste (jāti) called 'Mahsāudra', with its female 'Mahāsudri. The kasika explains the term to mean the 'Abhirās', regarded as higher śudras.
८. मनुस्मृति, अध्याय १०, श्लोक १५.
९. देवेन्द्रकुमारः अपभ्रंशप्रकाश—पृष्ठ १७.
१०. डा० गुणेः भविस्सयत्त कहा—भूमिका पृ० ५३.
११. देवेन्द्रकुमार : अपभ्रंशप्रकाश—पृ० १७.

पाकर अपभ्रंश के रूप में विकसित हुई, ऐसा माना जा सकता है. इन तथ्यों पर गम्भीरता से विचार करने पर एक प्रश्न उठता है, कि असाधु शब्दों के लिये प्रयुक्त किया जानेवाला 'अपभ्रंश' विशेषण संस्कृत वैयाकरणों—उच्चवंशी पंडितों द्वारा आभीरी को 'महाशूद्रों' की भाषा मानकर—तिरस्कार व घृणा से 'अपभ्रष्ट' अथवा 'अपभ्रंश' संज्ञा के रूप में कहीं थोप तो नहीं दिया गया है, जो कि फिर प्रचलित हो गया. जैसे हिन्दी की स्वच्छंदवादी—रोमांटिक कविता के लिये दिया गया 'छायावाद' नाम.

कुछ विदेशी इतिहासकारों ने, और उनके आधार पर अनेक भारतीय विद्वानों ने वैदिक और बौद्धधर्म अथवा ब्राह्मण-क्षत्रिय के संघर्ष की पृष्ठ-भूमि पर इन आभीर, गुर्जर, हूण आदि नवीन आनेवाली दुर्दान्त और साहसी जातियों को क्षत्रियों के रूप में सम्मान प्राप्त करने का उल्लेख किया है.[१] ब्राह्मण वर्ग ने अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिये हूण, आभीर गुर्जर, आदि नवागन्तुकों को अपनी छाया में ले लिया था. उनको क्षत्रिय स्वीकार कर लिया और इस अर्थ कुछ यज्ञानुष्ठानों के विधान किये. माउंट आबू के अग्निकुलीय क्षत्रियों का अविर्भाव इसी नये विधान का परिणाम था.[२] कारण, कुछ भी रहे हों इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस जाति का प्रसार समस्त उत्तरापथ और मध्यभारत में हो गया और इनके साथ ही अपभ्रंश भाषा को फैलने व विकास पाने का अवसर मिला.

ईसा की दूसरी शताब्दी में आभीरों का प्रसार काठियावाड़ तक था ऐसा अनुमान रुद्रदमन के एक अभिलेख से लगाया जा सकता है. काठियावाड़ में 'सुन्द' नामक स्थान पर रुद्रदमन का एक अभिलेख मिला है, जिसमें उसके एक आभीर सेनापति 'रुद्रभूति' के दान का उल्लेख है. विद्वान् उस अभिलेख को १८१ ई० का मानते हैं.[३] एन्थोवेन ने ईसा की तीसरी शताब्दी के अन्त में काठियावाड़ में आभीरों के आधिपत्य की ओर संकेत करते हुये नासिक अभिलेख (३०० ई०) में निर्देशित आभीर राजा ईश्वरसेन की ओर ध्यान आकर्षित किया है.[४] समुद्रगुप्त के प्रयाग—स्तंभ लेख में (३६० ई०) आभीरों का आधिपत्य गुप्तसाम्राज्य की सीमा पर मालवा, गुजरात, राजस्थान आदि में बताया गया है.[५] पुराणों के अनुसार आंध्रभृत्यों के बाद दकन आभीर जाति के ही हाथ आया और छठी शती के बाद हाथ से निकल गया. उस समय ताप्ती से लेकर देवगढ़ तक का प्रदेश इन्हीं के नाम पर विख्यात था. आठवीं शती में जब काठी जाति ने सौराष्ट्र में प्रवेश किया तब भी वहाँ आभीरों का अधिकार था.[६] पन्द्रहवीं शती में खानदेश तक ये लोग फैले हुये थे. आसा अहीर द्वारा आसीर-गढ़ के किले की स्थापना का उल्लेख फरिश्ते ने किया है.[७] कुछ लोग मध्यदेश के मिर्जापुर जिले के आहिरौरा स्थान का सम्बन्ध आभीरों से मानते हैं.[८]

दण्डी के 'आभीरादिगिर:' में 'आदि' के द्वारा किन जातियों की ओर संकेत है ? यह प्रश्न है. भोज ने सरस्वतीकंठाभरण में लिखा है कि गुर्जर अपनी अपभ्रंश से ही तुष्ट होते हैं. इस आधार पर आभीरों के साथ गुर्जरों का संबंध जोड़ा जाता है. यद्यपि गुर्जरों की बोली गौर्जरी का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में पाया जाता है फिर भी उनके द्वारा अपभ्रंश को संरक्षण और मान्यता मिली, इसे निश्चित तौर पर कहा जा सकता है. भण्डारकर और जैक्सन की खोजों से पता चलता है कि छठी शताब्दी ईसवी में गुर्जरों ने गुजरात और भडोंच को जीता. उनकी मुख्य शाखा की राजधानी भीनमाल थी और

---

१. डा० भगवतशरण उपाध्याय : भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण—पृ० १०६.

२. वही पृ० ३२६.

३. डा० भन्डारकर : इंडियन एंटिक्वेरी—१६११ पृ० १६.

४. एंथोवेन: ट्राइब्ज एण्ड कास्ट्स आफ बोम्बे—भाग-१ पृ० २१.

५. विंसेंट स्मिथ: अरली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० २८६.

६. एंथोवेन: ट्राइब्ज एंड कास्ट्स आफ बोम्बे—भाग १ पृ० २४.

७. वही—पृ० २४..

८. हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृ० २४.

दसवीं शताब्दी के मध्य तक उन्हें चालुक्यों के कारण भीनमाल छोड़ने को बाध्य होना पड़ा. परिणाम स्वरूप ९५८ ई० में १८,००० गुर्जरों ने सामूहिक रूप से एक साथ भीनामाल छोड़कर देशान्तर किया.[1] इन गुर्जरों के अतिरिक्त अन्य पशु पालक एवं यायावर जातियों के द्वारा भी अपभ्रंश को प्रसार-सुविधायें मिली होंगी. कुछ भी हो, अपभ्रंश अपनी प्रारंभिक अवस्था में चाहे इनकी बोली रही हो, पर बाद में वह धीरे-धीरे सारे भारत की भाषा हो उठी. यह भाषा मूलतः जनता की बन चली थी और विदेशी नहीं थी
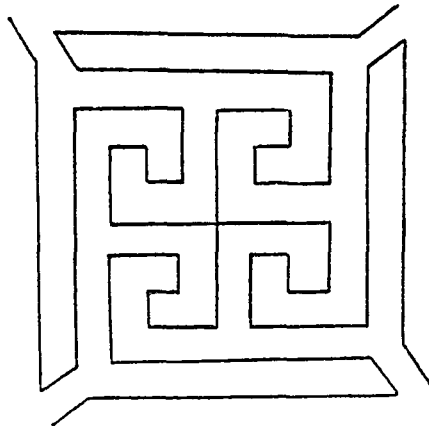
१. (क) भण्डारकरः श्रान गुर्जरः J. B. B. R. A. S. Vol. 21, Page 412
(ख) जेक्सनः बोम्बे गजेटियर भाग—१, पृ० ४६५-६६, दिवेटिया : गुजराती लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर में पृ० ३५ पर उद्धृत.

मुनि श्रीहजारीमल स्मृति-ग्रंथ

अंग्रेजी
विभाग

पंचम अध्याय

**Prof. N. G. Suru**
*Ruparel College, Bombay.*

# JAINISM : A GREAT RELIGION

*Introductory :*

Among the systems of Philosophy and Religion evolved in the land of the Aryans, Jainism occupies a high rank on account of its interesting religious and philosophic teaching, its high moral code, its varied literature, sacred and secular, written in the Ardha-māgadhī dialect, and its great prophets like Pārśva and Mahāvīra, who by their noble ascetic life and preaching of the Jain Principles have ennobled and elavated this Religion so as to be on par with Brahmanism, Christianity or Buddhism. It is a religion that fully satisfies the vital spiritual cravings of more than fifteen lakhs of the Indian population, and has thus a living interest for us.

*Jainism—its origin and later development :*

Jainism is a Religion of Jina i.e. the Victor or the Conqueror, of the greatest enemies of man, viz., Passions. Lord Mahāvīra, by his life of severe restraint and penance controlled and conquered the passions within, destroyed the Kārmic matter, obtained Perfect knowledge and Salvation and thus was able to preach to the masses this Path of Religion, which, after him, received the name of Jainism, formerly called the Religion of the Nigganṭhas or 'the Bondless ones'. Its chief principle is the Principle of Ahimsā, common to the religion of Lord Buddha, and it certainly made its appeal to the masses who had come to develop a feeling of abhorrence and non-belief in the elaborate Brahmanical system of sacrifice which later on permitted and indulged in nauseating excesses of slaughter, not only of animals, but of human beings too. A wide-spread reaction thus set in among the people, who with their losing faith in the existing religion of sacrifice hailed with enthusiasm this new form of Thought and accorded their full support to it, by gathering round its preachers. In this way, were laid the foundations of this new Religion which won its universal appeal by reason of its inculcation of the Principles of Non-violence, Truthfulness, Purity of conduct and Asceticism, as also by its freedom from the barriers of caste in their social and religious life.

Every religion has behind it a great personality who dominates and sways the opinions and beliefs of his contemporary public. But for Jaimini, the Mīmāṁsā school of thought would not have spread. Kapila founded the system of the Sāmkhya philosophy, while Gautama and Kaṇāda were responsible for the Nyāya and the Vaiśeṣika systems. The Upaniṣadic thought centres round the famous philosopher Yājnyavalkya, and without Bādarāyaṇa, Gauḍapada and Sankarācārya, the Advaita philosophy would never have dominated the philosophic thought of India with such a great driving force as it did in the first millenium after the Christian era. And as Mahommedanism is identified with Mahomed, Christianity with Jesus Christ, or Buddhism with Lord Buddha, similarly do we find Jainism inseparably associated with the personal life or Lord Mahāvīra and his predecessor Pārśvanatha. Born in the Kṣatriya royal

family, both Mahāvīra and Pārśva were imbued with a philosophic outlook on life and therefore in the very early stages of their life, they took to renunciation; and leaving behind the princely life of pleasures took to the forest to practise hard authorities, at the end of which they got Kevalajnāna or Perfect knowledge. In the light of this Kevalajnāna they formulated the form of new Religion with its basic principle of Ahimsā, which they began to preach, themselves living up to the ordeals of the ascetic life demanded by its doctrines and thus serving as perfect examples of what they taught. Like Buddha, the Magadha country was the centre of their religious propaganda; and Mahāvīra wandered from place to place enlightening the people by his sermons delivered in their own language viz. Ardha-māgadhī. Severe privations of hunger and thirst, heat and cold, he suffered. At times, he was beaten and belaboured by the angry and misguided masses who did not tolerate an attack on their religion. He was reviled and ridiculed, spat upon and kicked, but he never raised even his little finger in resistence. A perfect incarnation of Non-violence and Passive Resistence indeed ! In his sermons he taught how highly valuable was this human life which should be utilised in securing Emancipation instead of indulging in the transitory baneful pleasures of the sense. "Leave off this worldly life, become a monk and observe the Religion of the Five Vows; (1) Do not kill or injure any living Being, (2) Never depart from Truth in your speech and action. (3) Do not take anything which is not given to you. (4) Observe a strictly pure life of celibacy and (5) Have no possessions except the religious requisites like the broom or the almsbowl. Practise severe penance, curb the Kaṣāyas or Passions, and destroy the Karmic matter which has thickly accumulated in the Soul and has thus prevented Right Knowledge. Then you will be free from this Saṁsāra or the migratory life and will enjoy perfect bliss and knowledge in the land of the Liberated !"

This was the message of Lord Mahāvīra with which he approached the masses in the halo of his spiritual glory, and converted them to his new Faith. He reorganised and established the new order of monks on a sounder basis to which the laity was added later on, and thus it became a chaturvidha Saṁgha or Fourfold Order, in which figured the monks and nuns on the one hand, and the Laymen and the Laywomen on the other. Jainism, is, however, essentially a religion for monks, as it promises Emancipation only after the renunciation of life. A householder can reach only the first few stages of the spiritual development, after which he must cut off all worldly ties to become a monk and to secure further development of the Soul leading up to Mokṣa. The continuity of this Order has been maintained through an endless succession of disciple-monks to this present day and it must be said to the credit of Jainism that it has been able to present to the world even today, a very well-disciplined and pure Order of Sādhus who live the Religion in its austere rigour of all the details that characterise the daily life of a monk. The Jain Order came to be divided later on into two prominent sects, viz. the Svetāmbaras and Digambaras, with a third one of the Sthānakavāsis. In spite of these schisms, however, this religion has maintained its compactness and solidarity, and having been able to possess a wealthy community among its adherents, it can hold up its head among the progressive religions of the world.

*The Jain Philosophy :*

The philosophy of Jainism may be briefly told as follows :—

The world is uncreated and exists from the beginning-less Time. It consists of Jīva and Ajīva

and Jīva is all that is animate, and includes along with other living beings, the Earth-bodies, Water-bodies, Fire-bodies, Air-bodies, as also the plants and trees. The substance of Ajīva is Matter, which in itself is indestructible, although it takes over different modifications which have their production and destruction. It is reducible to the state of fine atoms, called the Parmanus or Anus, which combine and develop into the diverse products that we see in the Universe. By the Law of Karma, the souls or Jīvas get an embodiment to experience the results of their actions, and are thus born into any one of their fourfold Gatis or existence. The ideal of the Jīva is to secure Mokṣa, which can be obtained only through human life, by the destruction of the Karmic matter which serves as an Āvaraṇa or hindrance to knowledge. Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct, the three Gems of Jainism, are the essential requirements for Mokṣa. Liberation consists of Freedom from the cycle of Birth and Death and is characterised by Perfect Knowledge and Perfect Bliss, which the Jīva enjoys in the Land of the Liberated.

This, in a nutshell, is the Philosophy of Jainism, preserved to us in their sacred Literature called the Āgamas. These books are in the ancient Ardha-māgadhī dialect, which is of great interest to a student of Linguistics, as it marks a definite stage in the development of the earlier Vedic language to its Modern Languages like Gujrati, Hindi and Marathi. A study of this dialect is carried on in the Universities of India, but it suffers from a great handicap for want of good critical editions of the Jain texts,—a work that should be taken up by Jain Scholars with the financial assistance of the Jain Community. Only then will Jainism be presented to the people at large in its true aspects. This Religion, as we have seen, has a long tradition and is preserved to us in all its glory in the form of its literature, in the form of the best specimens of architecture, and lastly in the form of its considerable number of followers professing this creed. A comparative study of all religions of the world will not, therefore, be complete unless Jainism is given its due share in it.
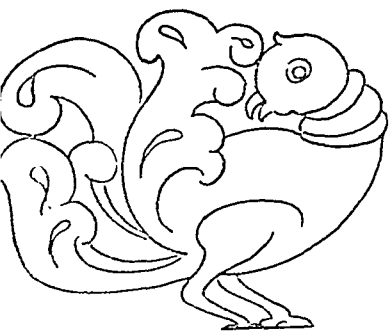
**Prof. G. R. Jain**
*Head of the Deptt. of Applied Physics,*
*Madhav Engineering College, Gwalior, India.*

# MESSAGE TO HUMANITY

Jainism is one of the three most important religions which originated in India, the other two being the Vedic religion, more popularly known as Hinduism and the Budhism. Although there are historical evidences to show that Jainism was prevalent in the third millenium B.C. during the days of Indus Valley Civilisation but Lord Mahavir, born in 599 B.C., was the pioneer of this religion in modern times.

Lord Mahavir was born in the province of Bihar in a royal House belonging to a warrior clan at a time when there was a universal desire in the people for the birth of a reformer and a religious leader. The bulk of the population of Northern India was greatly dissatisfied with the existing social and religious structure. The society was divided into four strata,—one, the Priesthood, called the Brahmins; the warrior class, called the Kshatriyas; the agriculturists and the traders and the fourth for whom it was regarded as their sacred duty to serve the three upper classes. The Church had become all supreme. The right of equality and fraternity was denied even to their patrons and associates. In the Code of Manu—the first Law—Giver of Mankind—we read in Chapter II verse 135 that a ten year old Brahmin boy should be respected as a father even by a century old Kshatriya. In Chapter I, verses 99-101 of the same work we read as follows :—

> "A Brahmin is born the master of the world, the lord of all beings. Whatever exists on earth belongs to a Brahmin; by his supreme birth he deserves everything. Whatever a Brahmin enjoys or gives, is his; the rest of the people enjoy only through the mercy of a Brahmin."

Thus we see that the Charter of Human Rights had been completely shattered to pieces and the people were anxious to throw off the yoke of aristocratic priesthood. Not only that, people were gradually losing faith in the efficacy of the steriotyped and cumbrous ceremonials and animal sacrifices and were looking forward for their Saviour who would gently lead them on to the way of final liberation. The policy of Caste superiority and racial discrimination was even worse in those days than in Nazi Germany or in the South Africa today. Lord Mahavir was the first to proclaim boldly that all Humanity is One; there are no such distinctions between man and man as between a cow and a horse in the animal Kingdom. Even the most servile class has the right of equality with a Brahmin and must be given the same facilities of reading, writing and worshipping the God. It must be remembered that Brahmins had denied the right of studying religious text not only to the low caste, called the Sudras, but also to the women. Lord Mahavir said : Even Sudras and women could study scriptures, become religious saints and attain the status of divinity.

Another important teaching of Lord Mahavir was the Doctrine of Ahimsa,—non-injury and non-violance not only to the mankind but all living beings. It is the doctrine of "Live and let live." He raised a strong voice against the Holy Vedas, because all over the country thousands of animals were being ruthlessly killed in the so-called religious sacrifices in the name of the Vedas. The doctrine of Ahimsa was revived by Mahatama Gandhi in the same form in recent years and successfully applied in the field of politics. The doctrine of Panch Sheel of Pandit Nehru is the doctrine of Ahimsa which will bring about world peace if all the Nations of the world practise it with a clean heart. An observer of this principle is enjoined to speak very cautiously lest any work of his may injure the feelings of others; he is forbidden even to *think* evil of others; he must shun all such actions which are likely to cause bodily injury to others; he is not to kill or eat flesh; 'Do unto others as you would be done by' is his motto; he must do, as best as he can, to make those happy who are in pain. But he will not tolerate any injustice done to him or to his country even at the cost of raising up arms against the oppressor.

*The Theory of Automatic Judgement :*

'As you think, so you become' and 'As you sow, so you reap' are aphorisms to which all schools of thought subscribe and the general belief is that an accurate record of all our actions is maintained in the annals of the Almighty or His agent; the judgement is pronounced on a particular day and we are doomed accordingly.

According to Einstein's Cylinder theory of the Universe our three dimensional space is a curved space and a closed space enclosing a four—dimensional continuum. One startling conclusion of this theory is that both space and time would vanish into nothing if there be no matter. We cannot conceive of space and time without matter. It is matter in which originate space and time and our universe of perception. Under the circumstances it is difficult to think of a time when there was no matter. In other words the universe is eternal. Thinking along similar lines the Jain teachers came to the conclusion that this universe was not created by anybody at any special period of time. Neither the Almighty, whom we regard as All-blissful, takes upon Himself the onerous duty of disbursing justice to the beings of this Globe. He has evolved an automatic system of delivering judgement. If we put this theory of automatic judgement in the language of modern science, it amounts to staying, that as every action of ours is preceded by a thought and every thought is preceded by a material vibration in the brain, the activities of the mind and the matter constitute a super-radio with the quintillion of living cells sending out their individual waves to be tuned in by the receiving Set in the brain. (It has been possible in recent years to make a record of the brain waves, called the encephalogram and the principle of tuning is this : if we want to tune in a particular waves from outside we must produce a wave of the same kind in our receiving set by turning the tuning know). According to Jain theory, the infiux of the tuned waves constitutes an influx of foreign matter which produces a subtle coat around the soul. We know today that energy is matter and matter is energy. This coat of fine matter, the composition of which depends upon the nature of our actions, is responsible for dragging the soul from one physical body to another and it keeps the soul bound to the confines of the universe owing to the gravitational forces of matter on matter on all sides. When this coat of subtle matter is shed off the soul by following the Path of Liberation, the latter, being the lightest substance, rises to the top of the Universe like a balloon filled with hydrogen and rests there as Pure Effulgence Divine. It cannot travel any further because

there is no medium of motion, viz., luminiferous aether, beyond. Thus we see that Lord Mahavir gave a unique Scientific explanation of the transmigration of the soul without invoking the aid of any super-natural agency. The details of the theory are too many to be outlined here.

Another special feature of the Jain Philosophy is its theory of *Anekantvad.* This theory tries to establish uniformity amongst the diversity of thoughts on a particular problem. It inculcates a spirit of tolerance towards other religions of the world, so that they may sink their differences which are *but* apparent, for it is said by the ancients, 'The Path is one for all, the ways that lead thereto must vary with the pilgrim. The theory of Anekāntvād aims to co-ordinate, unify, harmonize and synthesise the individual view-points into a practicable whole; in other words, the discordant notes are blended so as to make a perfect harmony. It has been compared to the Einstein's theory of Relatively, but is much simpler and less elaborate. Relativity is mainly the theory of the physicist whereas the other has a philosophical bearing. Still the contributions of both to the ultimate outlook on life and its problems are almost the same. According to Anekānt, the existence is a huge complexity; neither can human mind properly understand it nor can the human language adequately express it. As such the absolute statements are out of court and *all statements are true from a certain point of view only.* According to Relativity all our terms of expression like east and west, right and left, up and down, are relative; they are not the same for all the observers and under all conditions; they are not absolute but merely relative to something. Relativity is, therefore, the theory of the Statement of general physical laws in forms common to all observers. The theory of Anekānt attempts in a similar way to reconcile the various conflicting schools of philosophy, not by inducing them to abandon their favourite stand-points but by proving to them that the stand-point of all others are alike tenable and represent different aspects of truth.

*The Cosmological Theory of the Jains :*

According to this theory the universe comprises of six substances. (1) the Soul, (2) the matter and energy, (3) Space, (4) Time, (5) Non-material luminiferous aether, which is the medium of motion for soul, matter and energy and (6) the field through which the gravitational and electromagnetic forces operate and maintain the cosmic unity. It is the field which keeps the electrons and protons bound down to the atom, the atom to the molecule, the molecules to a crystal and so on. It is worthy to note that the Jain School of thought was the first to recognise that atoms were composed of positive and negative electricity, that the atoms were hollow and can give rise to extremely heavy matter called 'nuclear matter' under certain conditions and the principle of equivalence between mass and energy was clearly enunciated centuries before Einstein who gave it a mathemetical form.

Now before I conclude this note I must tell you something about the type of daily life that a layman is enjoined to lead. The six essential duties are :—

1. The worship of God by offering prayers.
2. Service to the Teacher, the Guru and listening to his sermons.
3. Study of Holy books.
4. Observations of vows for control mind.

5. Contemplation and meditation in a lonely place morning and evening daily. and
6. Charity which implies giving away of food and medicine to the needy; the giving of knowledge to the uneducated and defending the cause of the weak. This habit of giving in charity gradually leads to complete renunciation of all wealth and worldly belongings which is so essential for the attainment of perfect bliss. For it is said that 'it is easier for a camel to pass through the needle's eye than for a rich man to tread the path of bliss'. In fact the teachings of Jainism on this point are based on what we call today the Socialistic pattern of Society.

I pray to God : O, Lord. Make myself such that I may always have unlimited love for all beings, pleasure in the company of learned men, unstrinted sympathy for those in pain and tolerance towards those perversly inclined.

Jai Mahavir, Jai Hind.

Dr. Nathmal Tatia
*Director, Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa, Vaishali, Muzaffarpur.*

# A SURVEY OF JAINA RELIGION AND PHILOSOPHY

So far as tradition preserved in the Jaina Āgamas is concerned, Jainism is to be traced to prehistoric times for its origin. To be precise, Jainism as a religious movement and philosophical attitude is undatable. In this respect, it is on a par with Vedic religion. It has been shown with overwhelming weight of evidence by Shrīmat Anirvāṇaji in his *Vedamīmāmsā*, recently published, that there were free thinkers contemporaneously with the Riṣis of the Samhitās, who did not profess allegiance to the religion of sacrifice. Whatever that may be, Jainism, Buddhism and other protestant creeds took distinctive shape and structure several centuries before the Christian era, and this does not admit of dispute. Vardhamāna Mahāvīra was the elder contemporary of Gautama Buddha. Pārśvanātha, the immediately precedent Tīrthaṅkara, is admitted on all hands to have been a historical figure. Mahāvīra's family was attached to the creed of Pārśvanātha. There are evidences in the Jaina Āgama that Mahāvīra succeeded in winning over the followers of Pārśvanātha to his reformed church. Mahāvīra consolidated the monastic order as well as the lay community on strictly regulated code of religious observances. This explains the survival of the Jaina religion, though Buddhism disappeared from the land of its birth after theMuslim conquest in the 13th century. This is in a nutshell the historical background of Jaina religion and philosophy.

The division of the Jaina church into Svetāmbara and Digambara schools is believed to have taken place at the time of Bhadrabāhu who was a contemporary of Chandragupta Maurya. The points of agreement between the schools are overwhelming and those of difference are rather matters of detailed observance. There are some credal divergences such as the problem whether a woman is capable of achieving final emancipation *(mokṣa)*, and such other minor issues which may be slurred over by dispassionate students of Jainism as bagatelle. In philosophy and ethics, there is enormous unanimity. The following are the cardinal doctrines of Jainism.

1. *Soul and God :*

The Jaina believes in the immortality of the individual soul which does not owe its origin to a Personal Creator or combination of natural forces. Jainism is frankly dualistic in so far as it distinguishes spirit from matter. Both of them have parallel existence. The soul is bound in meshes of matter and its freedom from matter constitutes final emancipation liberty. The soul

is consciousness compact, intuition, bliss and power, each infinite in its range. The limitation of knowledge, power and happiness is adventitious and accidental, and not historical events. In this, Jainism and Vedic religion are perfectly in unison. Its difference from Buddhism is fundamental. The Buddhist does not believe in unitary soul. But the Jainas are emphatic on the real unitary character of the self. Perfection is innate to the self which will manifest itself in its true character in the state of emancipation and the self will then realize its infinite knowledge, intuition, bliss and power. In one word, the self will become God. Godhood is the birthright of every self.

2. *Ethics :*

The Jaina is a believer in the five *mahāvratas*—non-injury *(ahimsā)*, truth *(satya)*, non-appropriation of what belongs to others *(asteya)*, continence *(brahmacharya)* and non-possession and non-acquisition of surplus material goods, *(aparigraha)*. These ethical disciplines can be practised in excelsis by those who follow the life of homeless wanderers. For the householder also these disciplines are compulsory, but can be practised with moderation and limits due to the exigencies of human life and conditions. But this is only a concession which can be transcended only in the life of complete renunciation. In the code of ethics, the agreement between the Jainas and Brahmanical schools is almost perfect. The difference lies in emphasis on practical application and observance.

The philosophy of *ahimsā* is liable to be misunderstood. *Ahimsā* must proceed from perfectly disciplined mind. All moral weaknesses, *pramāda*, are manifested in the animal impulses of anger, pride, deceit and greed, and unless these mental and moral weaknesses are completely overcome, mere practice of external code such as vegetarian diet and the like will not lead to the spiritual development. In one word, a man aspiring for perfection must be spiritually free from animal passions and in external conduct must follow the path of non-resistance to evil. All discomforts, inconveniences and lack of creature comforts must be endured without resistance and with infinite forbearance. This is of course the ideal which can be lived and fulfilled only by saints. But the householder also has no immunity from the moral obligation. Purity of conduct must be the exponent of perfectly pure mind.

Truthfulness is also a necessary concomitant of non-injury. Lying and deceit are resorted to by those who want to avoid the unpleasant consequences. The tyrant must be disarmed not by recourse to physical violence, but by infinite forbearance. Not a word of abuse should escape the lips of the saint. Pride and greed are the signs of moral weakness. They are the concomitants of the fear of loss, or the desire to be feared by the less fortunate creatures. This weakness must be transcended by the realization of the truth that infinite greatness in knowledge, power and self-possession are the natural heritage of the individual soul, and until this consummation is reached, one has every reason to feel humble and ashamed of the limitations. No pride of possession is legitimate and rational, because material power and wealth have their inevitable limitations. Only one who has risen above greed can be really great and noble. This is in sum and substance the ethical philosophy of the Jaina.

The concept of *ahimsā* is not negative. One has no right to take the life of another creature for his self-gratification. Life cannot be restored to the victim, and it is nothing short of brutish barbarism to indulge in self-pleasure at the expense of other creatures who have the

same charter of rights to live and work out their ultimate destiny. The tyrant is the worst coward, though he poses to be the boldest man. The true hero is he who has mastered the animal in him. The last Tīrthaṅkara was called Mahāvīra, the great hero, because he conquered the weaknesses of the flesh.

3. *Religion :*

In religion, the Jaina lays emphasis upon self-exertion. One must not depend upon the grace of another for his self-upliftment. Of course, the teachers of humanity, the prophets, seers and the path-finders are entitled to the respect and loyalty of all right-thinking persons. This is the reason why Mahāvīra is worshipped as God. These perfected saints show their mercy only by imparting spiritual strength to the weaker souls who are victims of their own past deeds. The very contemplation and meditation of perfect teachers of humanity vouchsafes grace and spiritual strength. Grace cannot be acquired by sinners unless they turn away from the evil course of life.

It is nothing but a travesty to think that the Jainis are atheists. Worship of a Personal God is not encouraged in Jaina religion, because this has the tendency to encourage sloth and a spirit of helpless dependence. However much one may speak of the infinite grace and mercy of God, one cannot have the benefit of this grace unless one helps himself and prepares himself for the appropriation of the spiritual light. The Jaina believes that every man is a potential God and one who does not believe in the Godhood of man is an atheist.

4. *Philosophy :*

In the field of philosophy which, in one word, is the urge to realize the ultimate destiny of the soul, the Jaina thought is based upon a correct appraisal of truth and reality. So far as the world of experience is concerned, the doctrine of non-absolutism *(anekānta)* expresses the philosophical outlook of the Jaina thinker. The Jaina is not a dogmatist and seeks to shun extremism in thought and action. Fanaticism is the virulent expression of extremism. One believes in one's doctrine, and in the truth and infallibility of one's mode of worship attached to one's particular faith. But truth is multiform and has many facets. One therefore should not condemn another for his view, but try to appreciate the intellectual and moral foundation of the belief. If he is wrong, he must be enlightened not by physical force or tyranny of wealth and knowledge, but by sympathy and demonstration of the truth in one's own life. The seven-fold predication *(saptabhaṅgī-naya)* expounds the metaphysical position of the Jaina. The Jaina is a believer in infinite number of *jīvas* and is not willing to dismiss the plurality as false appearance. Reality is infinite in its variety and this has to be accommodated in one's philosophical evaluation. The Jaina therefore is not a monist. He is not a subjectivist idealist who believes in the reality of his own thoughts and ideas alone. He is not a nihilist. He believes in all these onesided estimates only as facets of one infinite reality. They must be integrated into one whole. His difference with the Buddhist nihilist and the subjectivist is on the score of onesided, partial and imperfect evaluation. A thing is true in its own place and own character, but is untrue and false in another. This falsity *qua* another is compatible with its truth in its own sphere and nature. The Jaina does not condemn these thinkers as incorrigible and unregenerate souls destined to be condemned without any chance of redemption. The Jaina only seeks to draw the notice of the opponents to the other side of the coin. One must

not put the telescope on the blind eye, but try to develop the correct vision which is within the reach of all, and can be acquired only if one chooses. *Anekāntavāda* in metaphysics and ethics and so also in epistemology is thus an exponent of the broad liberalism of the Jaina thinker who however is never tired of preaching the infinitude of the modes and grades of the ultimate reality.

The Jaina does not believe in vicarious emancipation. Every man must realize his ultimate freedom and unless he is earnest in the quest of truth, he cannot help himself out of the rut. Mahāvīra is merciful because he has shown us the way to truth, and not because he chooses to take the sins of erring souls on his head as their saviour. He gives the saving knowledge which must be acquired and appropriated by every individual as his own. Mercy is not exploited for giving an unlimited charter of a sinful career to the sluggards. Every man has the power *(vīrya)* to achieve his perfection, and for this he has to depend on his own self. He must be grateful to the great prophets who have shown the path to be followed for working off his load of accumulated sins. The Jainas have produced a wonderful philosophy and a still more wonderful code of ethics and it is incumbent upon all seekers of truth to cultivate a deep acquaintance with this heritage left to humanity.

Shri Ramchandra Jain

# THE PRE-ARYAN SHRAMANIC SPIRITUALISM

1. *Aryan Migrations :*

The Āryans of History began their historic migrations Circa 2500 B.C. from their original habitat in the South of the Circumpolar region and to the North of the Caspian and Aral Seas covering the northern parts of the mountaneous Eurasian Steppes and the southern part of the thick Siberian forests extending upto the eastern sea-coast. This region was known to the post-Āryan ancients as Uttarakuru. They reached West Asia circa 2000 B.C., Greece circa 1500 B.C. and Bhārata circa 1200 B.C. The Āryan hegemony in this region was firmly established by circa 1000 B.C. and in Egypt by Circa 500 B.C. It has generally been held by the oriental scholars that the culture and civilization the Āryans annihilated, was definitely far superior; both materially and spiritually, than their own.

2. *Spiritual Experiences :*

We find a remarkable homegenous culture and civilization, broadly speaking, throughout the vast region stretching from Egypt to Bhārata, stronger at certain points and weaker at others, with necessary variations conditioned by geography and geology, with no other culture opposed to it in any other part of the world till the rise, growth and hegemony of Āryanism. Such a significant and deep homogeneity could not be wrought and maintained by mere secular forces. There was something deeper, more serene, fundamentally permanent that governed these forces and gave life, cheerfulness and vivaciousness to the material activities of the people. That underlying force of values, principles and standards forged their social ideology that determined the nature of their basic way.

Human society, through its long experiences, developed an understanding that in the motley of these ever-changing events, there is something permanent without which the changes would be unmeaningful. There is grief, suffering and woe which none cherishes; then why bring grief, suffering and woe to a fellow humanbeing, nay, to any being on earth enjoying life. The discovery of the identity of something permanent in the plurality of living beings became the foundation stone of the human society. The permanent substance came to be called Ātmā or Soul. The discovery of soul was the result of the dialectical historical efforts of the mankind. Human efforts conditioned the nature of society. The efforts of individual members of the society reduced the woe and suffering of his fellow beings to the minimum. The ideal indivi-

dual efforts began to be directed to the end which would cause the least suffering to the other living beings. The second discovery of the Efficiacy of Effort became the driving force of the Soul. These two discoveries combined, led to the third discovery of the Transmigration of Soul. If Soul was a permanent substance; it has the capacity to attain its fullest purity. This led to the Fourth Discovery of Siddhi or final attainment. These four discoveries together constitute the fundamental basis of the Ideology of Spiritualism.

3. *Definition of Shramaṇa :*

Ātmic or Inner Effort is the life qua non of the Ideology of the Spirit or Soul. The right inner effort leads to Siddhi or Nirvāṇa. Word Shramaṇa stands for the right inner effort. Shrama means exercise of the spirit and austerity which are the qualities of the Soul or Spirit. The suffix word "N" stands for knowledge. Knowledge signifies rightness, Shrama, thus, means "The Spiritual Way" and Sramaṇa, as a follower of this way, is the individual or society pursuing activities in a righteous, spiritual way. Soul is inherently free and self-existent and always effortive. Shrama or inner effort, thus, allows no fear or compulsion. The society founded on the "right inner effort" is a Shramaṇic society. The word Shramaṇa later came to denote an ascetic, a Muni or a Yati following the Jaina or Buddhist way. The follower of Shramaṇa came to be called Shramaṇopasaka. But that was not the original meaning of the word Shramaṇa. Shramaṇa in its origin, signifies "one who makes effort or exertion with a right inner prospective". The word originally applied to all the stages of life; householder's or ascetic, Shrāvakas or Munis. The Shramaṇic society is one that is founded upon free, fearless and right individual and social effortiveness. The pre-Āryan people of the region extending from Egypt to Bhārata had developed the homogenous spiritual way based on right inner effortiveness; hence we may call them the Shramaṇic people and their region, the Shramaṇic region. The people followed the Shramaṇic way.

4. *Egyptian Shramaṇism :*

The Egyptians believed in Soul, its transmigration to future life and its final attainment. When an Egyptian died, he 'went to his ka'. This was his material body after death. The actual personality of the individual in life consisted of visible body and invisible intelligence. The Visible and the Invisible was depicted in one symbol—the human-headed bird with human arms. This signified the fact that the material or physical existence of the individual is best typified in the animal while his spiritual existence is his innate intelligence. This bird-man is called 'ba'. 'Ba' has commonly been translated as Soul. This symbolism of bird-man is of great far-reaching significance. Egyptians held the animal sacred. The immigrant Asiatic people engrafted a more elevated form of belief. They believed that animals had certain attributes of divinity. They had 'Souls' just like men. This symbolism definitely establishes the unity and oneness of spirit in animal and man. It is quite certain that the Egyptians believed in body and intelligence; Matter and Spirit.[1]

These spiritual beliefs of the Egyptians are contained in the book "The Manifestation of Light" miscalled "Book of the Dead". The essential parts of this book originated in the most ancient times. This book claims to be a revelation from Thoth. The oldest monumental evidence of the existence of Thoth is available in the oldest existing Egyptian temple belonging to the reign of Chefren (Shafra), the builder of the second pyramid. He belonged to the Fourth

Dynasty and lived circa 2800 B.C. Thoth is the same as Tet. Tet was son of Menes (Narmer of Petrie and Breasted) who flourished Circa 3350 B.C. This Thoth was later regarded as essentially the God of learning; he was the master of the words of God i.e. the heiroglyphs; he was the scribe and messanger of the Gods; he was the measurer of time and the Mathematician. Hesepti or Hesep is mentioned in several copies of the Book as the author of the two of its most important chapters. Thoth or Tet and Hesepti or Hesep, the plebians, certainly do belong to the First Dynasty and lived also during the times of Menes. The first peaceful colonisers of Egypt under the leadership of Menes, as elsewhere shown, came from Bhārata. Hence it may safely be alluded that the Bhāratīyan immigrants brought the truths contained in the Book with them in the middle of the fourth millenium. B.C.[2]

The most ancient original chapters of the Book contained the fundamental conceptions of the continuance of Soul after death. The thought of the future life occupied a very large space in the Egyptian thought. It was felt so real and so substantial that no subsequent thought about future life could match it. This process of birth and re-birth re-iterated until a mystic cycle of years became complete, when finally the good and the blessed attained the crowning joy of union with God. God, a later interpolation, in this context, is a pure spirit, perfect in every respect-all-wise, almighty, supremely good. God is not abstract and 'he doth not manifest his forms'. He was neither the 'God' of the Christians nor the 'Personal Brahma' of the Brahmāryans. He was the purest spirit of the individual, good and blessed, attained due to continuous spiritual efforts after the numerous mystic cycle of years. Then he became 'Single among the Gods' and 'Lord of the Gods', 'God' meaningless purer spirit than the purest but higher than the average individual. The earliest Egyptians attempted to attain this true and full perfection of his being. The purest Soul was the self-existent deity.[3] Thus we find that the final aim of the Egyptian was the attainment of full, perfect, purest and everlasting personality till the later part of third millenium B.C.

The full and final purest attainment was achieved by the self-propelled individual effort. What were the guiding principles of this individual effort ? The ideal life of an ancient Egyptian is best given in 125th Chapter of the Book. This chapter 'Hall of Truth' is very significant. Temples, Priests and Gods were a later growth. The individual at his death appears before Osiris in the 'Hall of Truth'. The earliest monumental evidence of Osiris (Asura) occurs along with that of Thoth as alluded to earlier. Osiris also came to Egypt with the earliest immigrants under the leadership of Menes. Animals were sacred to Osiris. The original reading of the word Osiris is 'Us-yri'[4] in the sense of the 'Occupier of the Highest Seat'. The word 'Us-yri' very intimately resembles the word 'Asura' of Bhārata. The word 'Asura' signified a pre-Āryan Bhāratīya institution. The Irānāryans borrowed this epithet for their leaders Agni, Indra, Varuṇa and others[5] in the beginning but after the separation, the Brahmāryans later abondoned its use for the illustrious, powerful, shining and great leaders of their Dāsa and Dasyu adversaries. The Brahmāryans were accustomed to the arbitrary kind of word—analysis. They created the word 'Sura' in an unjustified manner by isolating the initial 'a' from 'Asura'.[6] They, then, applied the word 'Sura' for their Gaṇapatis and word 'Asura' for the Rājās of their adversaries. The Asuras were self-sacrificing people. The legend of Osiris is centred round the self-sacrifice of Osiris himself and his regeneration. Osiris was regarded as the highest spiritual personage in Egypt and Pharaoh was his sub-

ordinate. When the spiritual culture of Egypt began to decline, the later Pharaohs began to call themselves the son of Osiris or living Osiris.[7] Osiris was the highest spiritual saint of Egypt and after his death, another such personage occupied his seat. The cult of Osiris was the most important cult in Egypt because it belonged to all the classes from the highest to the lowest.

5. *Egyptian Shramaṇic Tenets :*

Osiris, by practice and precept, taught the people of Egypt certain basic truths. When the individual at his death went before Osiris, he claimed a better future life because he had lived according to the way taught by him. That basic way contains fundamental truths which I classify as follows :[8]—

### I. Tenets of Non-Violence

1. I have not slain.
2. I have not given orders to slay.
3. I have not ill-treated animals.
4. I have not driven cattle from their pastures.
5. I have not hunted the birds.
6. I have not caught fish in the marshes.
7. I did not take away food.
8. I have not made any one weep.
9. I have not done violence to the poor.
10. I have not made anyone sick.
11. I have not made anyone suffer.
12. I did not stir up strife.
13. My voice was not very loud.
14. I was not an eaves-dropper.
15. I have not held up the water in the season.
16. I have not dammed running water.
17. I have not put out a fire that should have stayed a light.

### II. Tenets of Truth

18. I did not speak lies.
19. I did not make falsehood in the place of truth.
20. I was not deaf to truthful words.
21. I did not multiply words in speaking.
22. My mouth did not wag.
23. I did the truth (or righteousness) in the land of Egypt.

### III. Tenets of Non-Stealing

24. I did not steal.
25. I did not steal temple endowment and property.
26. I have not stolen the cattle of Gods.
27. I did not diminish food in the temple.

28. I have not harmed the food of the Gods.
29. I have not falsified the measure of the grain.
30. I have not added weight to the scales.
31. I have not taken the milk from the mouth of Children.

### IV. Tenets of Continance

32. I did not commit adultery with women.
33. I did not commit sex-pollution.

### V. Tenets of Non-Possessiveness

34. I did not rob.
35. I did not rob one crying for his possessions.
36. My fortune was not great but by my (own) property.
37. I was not avaricious.
38. My heart devoured not (coveted not).

### Ancillary Tenets

39. I did not stir up fear.
40. I did not wax hot (in temper).
41. I did not revile.
42. I was not puffed up.
43. I did not blaspheme the God.
44. I did not do any abomination of God.
45. I have satisfied the God with that which he desires.
46. I have bread to the hungry, water to the thirsty, clothing to the naked and a ferry to him who was without a boat.
47. I make divine offerings for the Gods.
48. I am one of pure mouth and pure hands.

### Right Knowledge

49. I have not known what is not.

### Right Conduct

50. I live on righteousness (samyaktva), I feed on the righteousness of my heart.

### Final Aim

51. I am blameless.

These injunctions are self-speaking. Their human values are obvious. Life is sacred as Soul resides in all living beings. The recognition of Soul in animal kingdom is significant. It is for this reason that animals were sacred to Osiris. The religious calendar of the Egyptians contained a number of fasts, some of which lasted from seven to forty-two days. Throughout the whole duration of every such period, the priests (or anybody undergoing such fasts) were required to abstain entirely from animal food, from herbs and vegetables and from wine. Their diet on these occasions can have been little more than bread and water.[9] Some of the tenets of non-violence are very subtle and go very deep. Non-eating of vegetables, abstinance from violence to water and fire indicate that the Egyptians considered Vegetable Kingdom, Water-bodies and Fire-bodies to possess life. Greed, expropriation and exploitation are denounced.

They believed in freedom from fear, balance of tempers, futility of blasphemy and reviling of others, harms of flattery and ill-speaking, help of fellow citizens and purity of speech and conduct. He acquired right knowledge and was sincerely effortive to practically implement it in life. He made supreme efforts to achieve his final attainment.

6. *Sumerian Shramaṇism :*

The Sumerians believed in Soul and its life after death. Purer Souls went to the Island of the blest after death. The Island of the blest may be compared to heaven. The darker Souls went to the Nether Worlds, a dark; gloomy and damp place meant merely to trouble the living.[10] The Sumerians believed in the plurality of Souls. They had firm belief in the immortality of the Souls.[11] Immortality was the permanent and ever-happy existence of the Soul.

The Sumerians are described as pessimistic people unlike the optimistic Egyptians. I do not think the Sumerians to be a pessimistic people. In spite of the lamentation rituals and penitential hymns, they believed in the immortality of Soul through self-suffering. The righteous man bore sufferings with joy. Whatever suffering may come and however unjust it may seem; the righteous man confesses his sins and awaits his liberation from suffering. When liberation is achieved, the suffering is turned into joy. The suffering of the Sumerian originated from his convictions in self-control, conscious effacement, fellow-feeling and in the living belief in immortality. The Sumerians did not enjoy life because they did not want to usurp to themselves alone the material benefits; thus depriving their fellow beings of them. They believed that self-suffering would make their Souls purer accompanied with the firm assurance that the fruits of their suffering would ripen in a better future life. They extended the quality of their suffering to this extent that they accepted voluntary death in the assurance of a life to come.[12] The famous excavator of Ur. Sir Leonard Woolley had dug many graves, which he calls Royal Cemetery, wherein many dead bodies are found in straight and happy postures. Some bodies of women are wearing ornaments of gold, lapis lazule, silver and other precious metals. No single grave has any figure of a God. The graves contain many dead bodies indicating voluntary group deaths. So many people could not be forced to accept death on the expiry of a single person; royal or otherwise, to accompany him in the future life. Woolley also concedes that all this paraphernalia indicates that the dead persons had belief in future life.[13] Compulsory death at the order of some one else does not bring a happy future life. It is only voluntary suffering that assures a better future life. This phenomenon goes very deep and nearer to the Jain belief in Saṁlekhanā Saṁthārā (Voluntary Spiritual Death).

Gilgamesh was the fifth ruler of the first post-diluvian dynasty of Uruk. He was ordained to enjoy kingship but not the permanent immortality which he cherished most. He took to journey through the forest along with his friend Enkidu whom he lost in the middle of the journey. Gilgamesh repented his friend's death very much and set out in the search for ever-lasting life. He reached the shores, with the help of a ferry man, of the land of Dilmun. He went to Utnapishtim who alone possessed the ever-lasting life. Utnapishtim imparted Gilgamesh these immortal words of wisdom, "There is no permanence. All men are to die. Despise worldly Gods. Save your Soul alive. Abhore sins and transgressions". This was the mystery, the secret revealed by Utnapishtim to Gilgamesh.[14] The land of Dilmun, to which

Gilgamesh went, was a country pure, clean, bright, where even utters no cries, the lion kills not, the wolf snatches not the lamb, unknown is the kid-devouring wild dog, unknown is the grain-devouring, (unknown) is the widow, without the sick-eyed, the sick-headed, without old man and woman, having no wailing priests and singers. The city of Dilmun was situated on the mouth of the rivers and possessed furrowed fields and farms. Dilmun was situated to the East where the sun rises. Uruk was at a distance of forty-five days journey to the West by sea from Dilmun. There one day was equal to one month. Grain was cultivated abundantly there. The orchards of Dilmun were full of cucumbers, apples, grapes and various other plants.[15] Sumerologist Dr. Kramer identifies Dilmun with the land of Indus Valley civilization.[16] Bhārta was the land of non-violence, peace, abundance and immortality referred to in these Sumerian accounts in the beginning of the third millenium B.C. Ancient Sumer looked to Bhārta for spiritual guidance.

7. *Sumerian Shramaṇic Tenets :*

A pure and clean life was attained by an individual soul through his or her personal efforts. He had to follow an ethical code of conduct. He had to adhere to strict moral standards. Misfortunes came as rerults of moral transgressions—such as lying, stealing, defrauding, maliciousness, adultery, coveting the possessions of others, unworthy ambitions, injurious teachings and other misdemeanours.[17] The Sumerian spiritual tenets are, like the Egyptian, not available at one place. They have been collected from various places and have been re-arranged in order here.[18].

### I. Tenets of Non-Violence

1. Shedding of blood is sin.
2. Bringing of estrangement between father and son, son and father, mother and daughter, daughter and mother, mother-in-law and daughter-in-law, daughter-in-law and mother-in-law, brother and brother, friend and friend, companion and companion is a sin.
3. Keeping a person bound as a captive and a prisoner is a sin.
4. The avoidance of light to a prisoner and torture to him is a sin.
5. The neglect of father and mother and insult of elder sister is a sin.
6. Causing separation of a united family is a sin.
7. Over stepping the just bounds is a sin.
8. The following of the path of evil is a sin.
9. Be helpful, be kind to the servant.
10. Not releasing a freed man out of the family is a sin.
11. Setting himself up against a superior is a sin.
12. Tyranny, cruelty and oppression are sins.
13. Protect the maid of the house.

### II. Tenets of Truth

1. Speaking 'no' for 'yes' and 'yes' for 'no' is a sin.
2. Frank mouth with a false heart is a sin.
3. The teaching of impure and instructing of improper is a sin.
4. Drawing a false boundary, not drawing the right boundary is a sin.

5. Slander is a sin.
6. Speaking of evil is a sin.
7. Boasting and speaking in anger is a sin.
8. Speaking of low and unkind words is a sin.
9. Seeking of right and avoiding of wrong is a human virtue.
10. Speaking of 'yes' with mouth and 'no' with heart is a sin.

### III. Tenets of Non-Stealing

1. Using of false weights is a sin.
2. The removing of limit, mark or boundary is a sin.
3. To possess the neighbour's house is a sin.
4. Stealing of a neighbour's garment is a sin.
5. Taking of wrong sumand not taking the correct amount is a sin.
6. Cheating and defrauding are sins.

### IV. Tenet of Continence

1. Polygamy is a sin.

### V. Tenets of Non-Possessiveness

1. Giving too little and refusing a larger amount is a sin.
2. Not giving the promised is a sin.

The spiritual tenets followed by the ancient Sumerians clearly reveal their basic spiritual character. The Sumerians achieved Immortality through personal efforts; not by the grace of God or Brahma. They moulded their earthly institutions in consonance with their basic beliefs.

8. *Bhāratīya Shramaṇism :*

Bhārata is the birth place of the ideology of Spiritualism. We do not possess extent literature of the Pre-Āryan Bhārata. *The Harappa script, even if rightly deciphered, may only help a* little.

The present Bhāratīya spiritual thought may be divided into three currents; the Brāhmaṇic, the Buddhist and the Jainist. The later two thoughts are well-known as Shramaṇa ideologies distinguished *from the Brāhmaṇa ideology. The Jain and Buddhistic tenets are essentially* similar. Both believe in the spiritual tenets of Non-violence, Truthfulness, Non-stealing and Perfect Continance. Buddha replaces non-possessiveness or non-attachment by Liberality. The other spiritual tenets of both are strikingly similar.[19]. The Jain thought is pre-Buddhistic. Twenty-third Tīrthaṁkara Pārsva preceded Buddha. Pārsva is now accepted as a historical personage.[20] Buddha fully accepted the Chuajjāma of Pārsva. Buddha developed his religion on the foundation of the Chaujjāma of Pārsva.[21] The Chaujjāma of Pārsva was developed into Pancha-Mahavrata of Mahāvīra. Of these two Shramaṇic thoughts; we may safely rely upon Jaina Sūtras to represent the pre-Buddhistic spiritual thought.

Upaniṣadas represent the Brāhmaṇical spiritual thought. As shown elsewhere, the Brāhmaṇas did not accept spiritualism truthfully. They borrowed spiritual thoughts from their pre-Āryan adversaries, now friends, in a perverted manner. They never honestly accepted the Doctrine of Non-Violence. The word Ahiṁsa occurs only once in the Pre-Mahāvīra Upaniṣad, the

Chhāndogya Upaniṣad. Non-Violence and Truthful-Speech, here, are enumerated amongst the gifts of the priests. Chhāndogya recommends only the truthful speech, not the truth in entirety. The gift of non-violence is done away with by another reference in the same Upaniṣad where violence is permitted at holy places.[22] The pre-Upaniṣadic Vedic thought is purely materialistic. Hence we cannot look to Upaniṣads for comparing the Bhāratīya spiritual thoughts with those of Egypt and Sumer.

When the Brahmāryans penetrated the frontiers of Western Bhārata, we find asecetics and Yogīs surviving from pre-Vedic and pre-Āryan times. They are called 'Munis' in Vedic literature and Shramaṇas in the age of Buddha and Mahāvīra. Muni was to the Rigvedic culture an alian figure. Asceticism is directly opposed to the entire Weltanschauung of the Rigveda-Saṁhita. The Shramaṇa sects held towards the world an attitude of ascetic pessimism, disbelieved in a personal cause or creator of the universe, accepted plurality of souls and an ultimate distinction between Soul and Matter, regarded the world of common sense as real as due to one or more real factors at least partly independant of the soul, and consequently regarded as indispensable for salvation some form of strenuous practical discipline aiming at affecting a real alteration in the situation of Things. The Shramaṇic culture was ascetic, atheistic, pluralistic and 'realistic' in content. This comes out clearest from a consideration of the earliest faith of the Jainas—one of the oldest living surviving sects of the Munis. The pre-Upaniṣadic materialistic (Pravṛtti-Dharmic) Vedic thought later evolved psuedo-spiritual thought (Nivṛtti-Dharmic) mainly through the influences of the Muni Shramaṇa culture, in pre-Buddhistic times, within its fold.[23]

The Āchārāṅga is the most ancient extant Jaina Sūtra going probably to fourth century B.C. The pre-Āryan spiritual ideology of the Muni-Shramaṇa culture of Bhārata, in its pristine glory, has been preserved in this Sūtra. Mahāvīra's followers moulded in the past and mould in the present their conducts according to the precepts ordained in this Sūtra. We learn from Uttarādhyāyana Sūtra that Pārṣva and his follower saints followed the same code of conduct which was later followed by Mahāvīra and his follower saints. The Āchāra of both the Tirhaṁrkaas was of the same quality. The integrity of the precepts enjoined upon saints in the Āchārāṅga Sūtra, thus goes back to the Ninth Century B.C. Vṛṣabha has been unanimously accepted as the First Tīrthaṁkara. Rigveda knows Vṛṣabha who differentiated between Spirit and Matter.[24] Āchārāṅga differentiates between Spirit and Matter. Āchārāṅga, therefore, is entitled to more weight and authority from the scholars than it has hitherto been given.

The pre-Brahmāryan Bhārtīyan, firstly, believed in Soul.[25] They divided the world in six substances : Dharma (Motion-Medium), Adharma (Rest-Medium), Space, Time, Matter and Souls. The characteristic of soul is knowledge, faith, conduct, austerities, energy and realisation. The characteristic of Matter is sound, darkness, lustre, light, shade, sunshine, colour, taste, smell and touch. Dharma, Adharma and Space are each one substance only; but time, matter and soul are an infinite number of substances.[26] In the final analysis; the first four substances are included in the category of Matter. The world, thus, remains constituted of Soul and Matter or Spirit and Matter. Secondly, they believed in the doctrine of the transmigration of soul. A soul that does not comprehend and renounce the causes of sin takes manifold births.[27] All living beings owe their present form of existence to their own Karma (Resultant-Effortiveness). Imperfect men whirl in the cycle of births, old age and death.[28]

The Bhāratīyan divided the Saṁsāra (World), where the souls whirled, in Lower Regions, Central (Earthly) Regions and Upper Regions. The Egyptians divided the world into Hades, Earth and Heaven and the Sumerians in to Nether World, Earth and Heaven or the Land of the Blest. Thirdly, Bhāratīyans believed in the doctrine of Final Attainment. The awakened persons having Right-View (Samyaktva)[29] shall, one day or the other, have Final Attainment. Salvation and Liberation are imperfect words which do not carry the full significance of the concept of Siddhi. The nature of the State of Siddhi is inexpressible in words. The path of births is quitted.[30] Soul completely detaches itself from Matter. It is the state of spiritual perfection and consummation of knowledge. Siddhi is known to the Egyptians as Blamelessness and to the Sumerians as Immortality; though the contexts make them only a diluted Siddhi. The Bhāratīyans, fourthly, believed in the doctrine of Karma (Resultant-Effortiveness). The soul is inherently free. It is free to do good or evil. Matter is bondage and bondage is Saṁsāra (World). The freedom of soul rules out any interference by one soul in the freedom of the other soul. All the living beings are like one's own self.[31]. No exterior force bestows upon man, Siddhi. A man has to earn it by his own incessant and persistant right personal efforts. The Right Knowledge in Truth and Existence is the first requisite. The second requisite is Right Faith. The third requisite is Right Conduct. The path of Right Conduct, with Right Faith in the final aim and the path leading to it, armed with Right Knowledge leads to Final Attainment. The Right Effort, thus, is of supreme importance in life.

9. *Bhāratīya Shramaṇic Tenets :*

Āchārāṅga Sūtras is the embodiment of the doctrines of Right Effort. Āchāra means Right Effort. The causes of sins and transgressions have to be removed by following the spiritual way. This ideal right way is prescribed for a Muni (Saint). He follows these spiritual tenets in totallity. A householder follows these spiritual tenets only partially. There is only the difference of degree, not of the content. The path is one and the same for both. Bhāratīya Spiritual Tenets are thus prescribed in Āchārāṅga Sūtra.

### I. Tenets of Non-Violence[33]

1. Do not injure earth-bodies.
2. Do not injure water-bodies.
3. Do not injure fire bodies.
4. Do not injure plants.
5. Do not injure animals.
6. Do not injure wind-bodies.
7. The learned kills not, nor causes other to kill, nor consents to the killing of others.
8. Walk carefully to avoid injury to others.
9. Purify mind to control blamable actions.
10. Speak carefully not to hurt others.
11. Lay down carefully to avoid injury to others.

### II. Tenets of Truth[34]

1. *Nirgrantha practises Truth constantly.*
2. Nirgrantha accepts Truth in totality.

3. Speak with deliberation to avoid falsehood.
4. Be not angry. Anger brings falsehood.
5. Be not greedy.
6. Fear not.
7. Renounce mirth.

### III. Tenets of Non-Stealing[35]

1. Taking the life of others is thievery.
2. A Nirgrantha does not accept anything without being given.
3. A Nirgrantha begs after deliberation for a limited ground.
4. A Nirgrantha consumes his food and drink with permission.
5. A Nirgrantha should take ground only for a limited period.
6. The grant should be constantly renewed.

### IV. Tenets of Continance[36]

1. A Nirgrantha renounces all sexual pleasures.
2. There should be no discussion of topics relating to women.
3. The lovely forms of women should not be contemplated.
4. Former sexual pleasures and amusements should not be recalled.
5. Eating and drinking too much, eating of highly-seasoned dishes and drinking of liquors is forbidden to a Nirgrantha.
6. A bed affected by women, animals or eunuchs should not be occupied.

### V. Tenets of Non-Possessiveness[37]

1. The Nirgrantha renounces all possessions, all attachments.
2. There should be no attachment to pleasant and unpleasant sounds.
3. There should be no attachment to agreeable and disagreeable forms.
4. There should be no attachment to agreeable and disagreeable smells.
5. There should be no attachment to agreeable and disagreeable tastes.
6. There should be no attachment to agreeable and disagreeable touches.
7. A Nirgrantha should not accept food more in quantity then required.

These five tenets or Pancha-Mahāvratas are ordained for a Nirgrantha, a Muni, a Saint. He shall follow the precepts of non-violence, truth, non-stealing, continance and non-attachment in totality without any exception in any condition at any time or place whatsoever. But every member of the society cannot become a Saint. Ordinary householders cannot completely follow this path. They may tread a part of it but the path is the same. A householder follows these tenets in diluted forms. We have seen many more tenets being followed by the Egyptians and the Sumerians. Non-cruelty to cattle, birds and fish; bringing not tear and suffering to others; falsification of avarice and covetousnes; reviling, puffing and blaspheming; and many more such other tenets, followed by Egyptians and the Sumerians, are only lower forms of one or the other of the above five Supreme Tenets or Great Vows. The spiritual precepts were practised in totality without exception in Bhārata. The ordinary citizens followed Smaller Vows or Aṇuvratas[38] just like the Egyptians and the Sumerians.
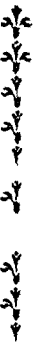
9. *Pre-Hellenic Ægean Shramaṇic :*

The archaeological excavation in Greece, Crete and other Ægean islands have unearthed the Pre-Āryan Minoan culture in the Ægean but the Minoan script has not so far been satisfactorily deciphered and we gather the contents of the pre-Hellenic picture of Greek culture and civilization mainly through the material relics brought to light by the grace of archaeologists. A bronze statue of 'Reshef' belonging to the 12th century B.C. discovered at Alasia near Enkoni in Cyprus has been discovered. The statue has two significant horns. This Reshef of Western Asia has been identified with Riṣabha of Bhārata who was the common inherited God of the Pheonicians, Amrorites and the Arameans. He was a deified personage of history belonging to a hoary past beyond any historical date but he was a very popular God in Egypt, Western Asia and the Mediterranean Circa 3000 B.C.[39] Reshef or Riṣabha was the spiritual leader of the pre-Āryan neolithic Cretans. He may safely by identified with the pre-Āryan Bhāratīya Riṣabha of the most ancient Hoary past, the founder of the Bhāratīya Shramaṇic Way. The Greekāryans firmly rooted their final supremacy in Greece and the Ægean Circa 1000 B.C. The spiritual Riṣabha traditions still lingered on even after this event. After the establishment of the Greekāryan authority, the synthetic forces acted and reacted upon each other and the foreign Āryan rulers borrowed much from the defeated erstwhile masters of the lands. Thereafter a great Greek, Dionysus, son of Zeus and Persephone, developed a religion which was savage and repulsive in original form. He was the God of primitive tribal Greek agriculturists following the ways of Gaṇapati Indra in tribal drinking of wine. Dionysus was a great success in Greece; but under the new set of circumstances, that could not continue for long and another great Greek, Orpheus of Crete, influenced by the spiritual way of life gave the Greek religion an ascetic content. Orpheus believed in soul and its transmigration. The Orphics believed that Man is partly of earth and partly of heaven, meaning thereby that Man is the union of Spirit and Matter. They believed that by a pure life, the heavenly part is increased and earthly part decreased. The soul in the next world acheived salvation. The Orphics abstained from animal food. It is certain that Orphic doctrines contain much that seems to have its first source in Egypt and it was cheifly through Crete that Egypt influenced Greece. Orpheus was torn to picence[40] for reforms in the Olympian religion. Orphism was the Greek spiritual revivalism as Buddhism was the Bhāratīya spiritual revivalism.

The belief of Orphism in Soul, Effortivism, Transmigration and final Attainment are not only peculiarly Egyptian but significantly enough, strikingly similar to the Bhāratīyan beliefs, and also with the Sumerian beliefs. If these beliefs went to Crete via Egypt; they must have gone during the period of old Republic in the beginning of the third millenium B.C.

11. *Pre-Aztec American Shramaṇism :*

The earliest immigrants, in point of time, to America were the Quatzalcoatl people who reached there Circa 2000 B.C. Quatzalcoatls mean "feathered serpants" or "bird-serpants". They came from the East and departed eastward. Quatzalcoatl was the leader of these first immigrants, the earliest inhabitants of the land.

What was the ethnic stock that they belonged to ? Votan was, like Quatzalcoatl, the first historian of his people, and wrote a book on the origin of the race, in which be declares himself

a snake, a descendant of Imos, of the line of Chan, of the race of Chivim. 'Chan' signifies snake. Chivim refers to Tripoli, and that is same as Hivim or Givim, the Pheonician word for snake, which again refers to Hivites, the descendants of Heth, son of Canean. Votan expression means "I am a Hiviti from Tripoli", Votan peoples were the Sea-faring people and expert international traders.[41]

Mackenzie rejects the theory that Semities or Celts or Norsemen or any other people first discovered America. Scholars, Mackenzie including, hold the view that the Pheoninicans were the first immigrants to America. The question remained debatable for pretty long time whether Pheonicians reached America via Atlantic Ocean or via Pacific Ocean. The latest view is that the Pheonician navigators reached America through Poloynesia via Pacific Ocean. Phoenicians were the original Paṇis[42] of Bhārata who belonged to the Ahi or Nāga race of Bhārata.[43] The inseparable association of the Quatzalcoatl people with snakes clearly identifies them with the Paṇis of the Ahi race of pre-Āryan Bhārata.

The Quatzalcoatl people believed in peace, penance, chaste life and ordered progress. They introduced agriculture, industry, and art of Government. They were opposed to war and human sacrifice. Their leader Quatzalcoatl lived a chaste life, practised penance. He abstained from intoxicating drinks and was a celibate. He hated war and violence and instead of offering up in sacrifice animals or human beings, he offered bread, roses, other flowers, perfumes and incense. The culture-hero Quatzalcoatl is represented in art sitting in a meditative mood in Padmāsana posture with eyes closed having two hooded horns.[44] The horn emblem was taken to America by the Paṇis who took the same to Sumer, Egypt and Crete. They were the group of people who first arrived on the continent, later to be known as America, driven by that mighty current that set out from India towards the East.[45] The figure of the representative Paṇi depicts a robust trader, standing erect, with folded hands having Rajasthani features and whose head is adorned with a Marwari Pugaree (Head-dress).[46] May be, Paṇis of Rajasthan, having their seat of power at Arbuda (Modern Mount Abu) sailed off to America from some Indus port.

12. *Epilogue :*

We thus, find that the basic spiritual way of the people inhabiting the region extending from East to West in the Southern hemisphere was founded upon the basic doctrines of non-violence, truth, non-stealing, continance and non possessiveness. This basic way increased the ever-progressive free spirit of the person. The man is inherently free and fullest freedom is his final goal. The free man completely depended upon his free personal efforts, unaffected by any external agency, to attain his goal. His liberation or salvation did lie with him alone and nowhere else. The central driving force of the ancient Bhāratīyans, Sumerians, Egyptians and the rest was Right Personal Effort. Their society may be called Effortive Society; their culture, Effortive Culture and their civilization, Effortive Civilization. Theirs' was the Effortive Way. We may, therefore, rightly call the pre-Āryan society of the region, the Shramaṇic (Effortive) Society and its way, the Shramaṇic (Effortive) Way. Their way of life, in essence, was founded upon the ideology of Shramaṇic spiritualism.

The Shramaṇic Way of the pre-Āryan ancients of this vast region of the Southern Hemisphere also reflected itself in the economic, social, political and administrative institutions of the

people but that is a different subject of vast magnitude. It has been properly dealt with in my unpublished book "The Most Ancient Āryan Society".

## REFERENCES

1. *J.H. Breasted :* Development of Religion and Thought in Ancient Egypt; 1959; Pages 52, 55, 56, 418.
2. (a) *G. Rawlinson :* History of Ancient Egypt; 1881; Vol. I, Page 136, Vol. II, Pages 38, 31, 28.
   (b) *M.A. Murray :* The Splendour that was Egypt; 1959; Pages 330, 161.
3. *G. Rawlinson :* Op. Cit; Vol. II, Page 39, 40, Vol. I, Pages 314, 314 Note No. 3, 319.
4. *M.A. Murry :* Op. Cit; Page 165.
5. *Rigveda :* 1.6.2.14; 1.21.12.4; 1.23.10.1; 2.3.5.10; 5.2.1.1; 5.2.13.1; 5.4.7.11; 5.6.11.6; 7.2.13.3; 7.4.1.24; 8.5.12.1; 9.4.6.1.
6. *J. Prayluski and Others :* The Pre-Aryan and Pre-Dravidian in India; 1925; Page 132, Note I.
7. *M.A. Murray :* Op. Cit; Pages 165-167.
8. *James B. Pritchard :* Ancient Near Eastern Texts; Relating to the Old Testament; 1955; Pages 34, 36. The re-organisation of the Tenets is mire.
9. *G. Rawlinson :* Op. Cit. Page 439.
10. *Morris Jastrow :* Aspect of Religious Beliefs and Practice in Babylonia and Assyria; 1911; Pages 149, 351, 353, 355.
11. *H.F. Talbot :* Babylonian and Assryrian Literature; Pages 117, 198.
12. *S. Moscati :* The Face of the Ancient Orient; 1960; Pages 31, 45.
13. *L. Woolley :* Excavations at Ur; 1955; Pages 55, 58 and Chapter III, "The Royal Cemetery".
14. *N.K. Sanders :* The Epic of Gilgamesh; 1960; Pages 15, 104, 109.
15. *James B. Pritchard :* Op. Cit; Pages 38, 40; Enki and Ninhursag; A Paradise Myth.
16. *Dr. Kramer :* Hindustan Times Dated 15-1-1962; Page 3.
17. *M. Jastrow :* Op. Cit; Page 377.
18. *M. Jastrow :* Op. Cit; Pages 307-309, 389-390.
19. *H. Jacobi :* Jaina Sūtras; (S.B.E. Series) Vol. XXII; Pages 22-24.
20. *H. Jacobi :* Jaina Sūtras; (S.B.E. Series) Vol. VI; Page 21.
21. *Dharmanand Kaushambi :* Parsvanātha Kā Chāturayāma Dharma (Hindi); 1957; Pages 30-31.
22. *Chhāndogya Upanishad :* 3.17.4; 8.15.1.
23. *G.C. Pande :* Studies in the Origins of Buddhism; 1957; Pages 257-261.
24. *Rigveda :* 7.6.12.6.
25. *Achārāṅga Sūtra :* 1.1.1.5.
26. *Uttarādhyayana Sūtra :* 28.6.12.
27. *Achārāṅga Sūtra :* 1.1.1.6.
28. *Sūtrakṛtāṅga Sūtra :* 1.2.2.2; 1.2.3.18.
29. *Achārāṅga Sūtra :* 1.4.4. 3-4.
30. *Achārāṅga Sūtra :* 1.5.6.4; Book II Lecture 16.
31. *Achārāṅga Sūtra :* 1.3.3.1.

32. *Uttarādhyayana Sūtra :* 28.2.28.30.
33. *Achārāṅga Sūtra :* 1.1.2.6; 1.1.3.7; 1.1.1.7; 1.1.5.7; 1.1.6.6; 1.1.7.5; 1.3.2.4; 2.15.1.1-5.
34. *Achārāṅga Sūtra :* 1.3.2.1; 1.3.3.3; 2.15.2.1-5.
35. *Achārāṅga Sūtra :* 1.1.3.7; 2.15.3. 1-5.
36. *Achārāṅga Sūtra :* 1.5.4.4; 2.15. 41-5.
37. *Achārāṅga Sūtra :* 1.2.5.3; 2.15.5. 1-5.
38. *R.C. Jain :* Ancient Egypt and Aṇuvrata (Hindi); Achārya Shri Tulsi Abhinandana Grantha; 1962; Pages 103-112. The Egyptian and Bhāratīyan Spiritual Tenets have been comparatively studied in this paper.
39. *R.C. Harshe :* The Historic Importance of the Bronze Statue of Reshef Discovered in Cypress; Bulletin of Deccan College Research Institute; Vol. XIV, Pages 230-236. The Figure of Reshef has also been given in the beginning.
40. *Bertrand Russell :* History of Western Philosophy; 1954; Pages 32-35.
41. *D.A. Machenzie :* Myths of Pre-Columbian America; Pages 265-266.
42. (a) *A.C. Dass :* Rigvedic India; 1927; Page 192 ff.
    (b) *A.C. Dass :* Rigvedic Culture; 1925; Page 88.
43. *Rigveda :* 1.7.2.11; 5.3.2.6-7; 7.1.6.3.
44. *D.A. Mackenzie :* Op. Cit; Pages 257-258; Figure 3 on Plate Facing; Page 256.
45. *History of Mexico :* (Mexican Government Publication); Page 3; Quoted on Page 16 of Chamanlal's 'Hindu America', 1956.
46. *D.A. Machenzie :* Op. Cit; Figure Faces; Page 28.

Dr. Bool Chand

# AHIMSA, THE BASIC SOCIAL ETHIC

All thoughtful people in the world today are thinking more and more in terms of Ahimsa (Non-violence) as the only real solvent of world conflicts. Occasionally they do so without actually employing the term 'Ahimsa'. The great English philosopher Bertrand Russell has, for instance, in his book entitled 'New Hopes for a Changing World' spoken about the perplexities which torment mankind at present and tried to build up courage by pointing out that the rebuilding of 'all the impulses that are creative and expansive' would save men from moral perplexity and from remorse and the condemantion of others. This is the new ethic which Russell offers to the world as a remedy of its difficulties ; and it is nothing other than Ahimsa as preached by the leaders of religion in the East from quite immemorial times.

This new ethic, says Bertrand Russell in his book, 'depends upon harmony with other men'. With its help 'it will be easy to live in a way that brings happiness equally to ourselves and to others'. If man, says Russell could feel in the way indicated by this new ethic, not only his personal problems but also all the problems of world politics, even the most abstruse and difficult, will melt away. Suddenly, as when the mist dissolves from a mountain top, will the landscape be visible and the way be clear.

Bertrand Russell has acquired great reputation as a clear-headed philosopher. His reasoning is at once penetrating and satisfying. It is therefore a matter for some surprise that he should have failed to clearly mention that the new ethic described by him is only Ahimsa, which had been preached in India by the great savants Mahavira and the Buddha. These religious teachers had made Ahimsa the basic idea of their thouhgt structure.

That the acceptance of this ethic by the people will help man to solve his many conflicts, Bertrand Russell is quite clear and even rather dogmatic about. In his book he has made anelaborate argument that it is in the nature of man to be in conflict with something and that there are three kinds of conflict in particular which pursue mankind, (1) the conflict of man and nature, (2) the conflict of man and man. and (3) the conflict of man and himself, and in a statement which is full of learning and historical details he has reasoned out his optimistic conclusion that in our society which would be recreated consequent upon the acceptance of this new ethic not only shall we secure 'the happy man' but we shall also be in sight of 'the happy world'. The happy man, according to Russell, would be a man without fear, and the happy world would be the world in which the three conflicts spoken of above have been effectually conquered, the conflict of man and nature by the establishment of an international authority controlling the production and distribution of food and raw materials and also tackling the population problem by the enforcement of a universal system of family planning, the conflict of man and man by

the concentration of all really serious weapons of war in the hands of the international authority so created, and the conflict of man with himself by organising a world-wide system of public education which would provide for the protection of the individual against at once the hostility of the herd and his own fears.

Not only does Beftrand Russell give no name to this new ethic, he even feels that it can scarcely be called an ethic at all, as it primarily depends upon harmony between man and man. To this basic social ethic, of which the characteristic feature is harmony between man and man, the name that was given by the teachers of religion in the East was Ahimsa.

It is important to know that when some representatives of the major religions of the world met in Delhi in 1957 in a World conference of Religions and when they felt that it was high time for religions to give up their mutual bickerings and to strive to create an atmosphere of mutual respect and harmony in the world, they could not think of a better way of doing it other than by establishing an institute of research in the potentiality of Ahimsa. Their reasoned faith was that as knowledge is power, the mere bringing out the power of Ahimsa by an objective study of humanities and the great spiritual movements of the world through succeeding ages would act as an impelling force to foster love and brotherhood among men, races and the nations.

Ahimsa is in reality the basic social ethic. It takes its birth in sociality in human nature, and it builds its whole edifice on that principle. It emphasises all those qualities which would inexorably lead to the fortification of the social life of mankind by the ending of all conflicts based upon differences of race, religion or creeds. These conflicts, so say the psychologists, are born of human narrowness, selfishness, greed, suspicion, hatred and self-assertiveness. Ahimsa therefore aims at the eradication of all these proclivities of men. It forswears prejudice, ignorance and short-sightedness. Only by the preaching and practice of Ahimsa has the sway of civilisation shown itself in the history of human social evolution. Of all the forces which have functioned in human history as solvents of conflict, Ahimsa has naturally been by far the strongest and the most powerful. Ahimsa alone has stood for integration and emotional understanding as distinguished from the superimposition of one specific belief or habit of life upon another.

Conflicts of one kind or another have tormented the world only when the force of Ahimsa as a dominant factor in total human affairs has been allowed to grow weak. Bertrand Russell in his book has pointed his accusing finger to the fact that man's gregariousness is a limited instinct and that beyond a certain degree it is a product rather of self-interest than of instinct. His argument runs as follows : Ants and bees instinctively serve the purposes of their group, they have no need for morals and decalogues and apparently never feel any impulse to sin. Gregarious mammals are not so completely dominated by the herd instinct as ants and bees are, but have less tendency to individualism than human beings have. In human beings there is a constant conflict between the individual and the herd instinct, a conflict which as a rule is subjective and waged in the mind of the individual but occasionally it breaks out into open disagreement. Russell further says that the forms taken by this disagreement depend upon the size and character of the herd.

That naturally leads Bertrand Russell to the tracing of the evolution of social grouping from the family to the tribe and thence to the national group. There, however, he stops, we think

quite improperly and unjustifiably. Even his view of the psychological make up of man is not quite adequate, as he has related it to the prevailing social system today. Human evolution has no doubt followed the line of social grouping from the family to the tribe and thence to the national group, but it does not end with the national group. Trends are already noticeable, especially in America and Africa, towards the extension of the social ethos to a continental level. The United Nations represents an international ethos which, even if it is not very strong today, is clearly indicative of the further line of development in the evolution of social grouping. In consequence of man's space flights and inter-planentary travels, the horizons of the social units existing in the world at present would be further widened.

Quite apart from any inadequacies in Bertrand Russell's argument as developed in this book, however, it is clearly evident that a world view of Ahimsa is fast developing. Thinking people on all the continents are devoting their attention to this basic social ethos, and masses of people are anxiously waiting for its propagation. In India, consequent upon the decision of the World Conference of Religions held in 1957, a research institute on Ahimsa, designated Ahimsa Shodh-Peeth, has been set up in Delhi; and the world is looking forward to a proper and successful flowering of its work. It is a happy augury that this Institute has taken steps to seek the co-operation of thinkers and workers of all countries by enlisting them as Corresponding Members of the Ahimsa Shodh-Peeth. Research on this basic social ethic may therefore be expected to be conducted with international co-operation from the very beginning.
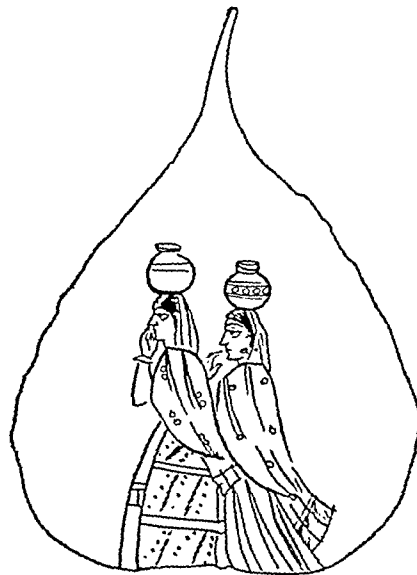
K. B. Jindal
*M.A., LL.B., I.R.S. Calcutta.*

# THE DOCTRINES OF JAINISM

The doctrines of Jainism can broadly be divided into three categories : Metaphysics, Philosophy and Ethics, which are being concisely dealt with in this chapter.

## A

## METAPHYSICS

*The Nine Cardinal Principles (Navatattwas) :*

The principal aim of Jainism is the attainment of the freedom of the soul by its perfect evolution. But it is not possible to achieve the evolution of the soul unless one knows what the soul is, what its intrinsic attributes are, how it has been compelled to bear the agonies of existence in its wheeling from birth to birth, and by what means it can be freed from this wheeling. And in order to know all this, one has also to acquire knowledge of the constituent elements of this world, their mutual relations, the why and the how of the soul's bondage, and the means of its release. All this knowledge is classified as nine Tattwas or cardinal principles in Jainism. They are : (1) Jiva or conscious Soul, (2) Ajiva or inconscient Matter, (3) Āsrava or the influx of Karma, (4) Bandha or bondage, (5) Punya or virtue, (6) Pāpa or sin, (7) Samvara or arrest of the influx of Karma, (8) Nirjarā or exhaustion of Karma, and (9) Moksha or liberation. The two principles of Jiva and Ajiva comprise all the objects of the world. The other seven principles explain how the Jiva or conscious soul is bound by Ajiva or inconscient Matter, what is the nature of the bonds, and by what means they can be got rid of.

*The Conscious Soul (Jiva) :*

The first principle is Jiva. The essential attribute of the Jiva is consciousness; in other words, that which possesses consciousness is Jiva. Infinite Knowledge, vision, power, bliss etc. are also the attributes of Jiva. Each Jiva has an independent existence, and the number of the Jivas is infinite. The Jivas are of two kinds : Samsāri or mundane and Mukta or liberated. Those that have attained to Nirvāna by exhausting all Karmas are called Mukta (free) or Siddha (perfect). They are also called liberated souls. They are endowed with infinite knowledge, infinite vision, infinite power and infinite bliss; and they never come back to this mortal world. The supreme and ultimate goal of every terrestial being is to attain liberation. The Jiva is also termed Jivāstikāya.

*The Mundane Souls (Samsāri Jivas)*

Samsāri Jivas are those that have been passing through birth and death and have not yet attained liberation. They are born as Devas (Gods), Mānavas (men), Nārakas (beings of hell) and Tiryakas (birds, beasts, insects, vegetation etc.); and when the sands of their lives run out,

they die and are born again. So long as they do not attain salvation, they have to bear the agonies of birth, decay and death. The Samsāri or mundane Jivas have been divided into five categories according to the number of the senses they possess, such as Edendriyas, Dwindriyas, Trindriyas, Chaturindriyas and Panchendriyas.

*Sthavara Jiva :*

Creatures that have only one sense, the sense of touch, and no other, are called Edendriyas. They are also called Sthāvaras, because they are devoid of the power of locomotion. The Sthāvara Jivas are again divided into five classes : Prithwikāyas i.e. clay, stone, metal etc.; Apkāyas i.e. water, dew, snow etc.; Agnikāyas i.e. fire, burning coal etc.; Vāyukāyas i.e. air, storm, whirlwind etc.; and Vanaspatikāyas i.e. trees, creepers, herbs etc. Earth, stones etc., all kinds of water, all kinds of fire, all kinds of air, and all kinds of trees etc. in their natural states, are Jivas embodied in earth, water, fire, air and vegetation.

*Trasa Jiva :*

The other four kinds of Jivas from Dwindriyas to Panchendriyas are called Trasa, because they are endowed with the power of locomotion.

The Dwindriya Jivas, such as worms, leeches etc., have two senses : the sense of touch and the sense of taste. The Trindriya Jivas, such as ants, lice etc., have the sense of smell along with the above-mentioned two senses. Chaturindriya Jivas, such as bees, drones etc. have the sense of sight along with the above-mentioned three. Panchendriya Jivas, such as men, beasts, birds, Gods and the beings of hell, have the sense of hearing in addition to the other four. According to the Jaina scriptures there are seven hells. Those who commit gross sins enter into hell after their death and have to undergo unimaginable sufferings. There are many kinds of Gods living in different heavens or Swargas. Some of them possess more strength, happiness, influence and lustre than the others; particularly the Gods of the Anuttar Vimāna excel all others in these attributes. The Gods live so long that they are usually considered as immortal, though in point of fact, no Gods are really immortal. The Jivas comprising the first four categories have no mind, so they are called Amanaska. Gods, beings of hell, men, beasts, birds etc. possess the mind, and are, therefore, called Samanaska Jivas, though their mental development is not of the same order.

*Matter (Ajiva) :*

The second cardinal principle is Ajiva or Matter. The Ajiva possesses characteristics which are contrary to those of the Jivas, that is to say, it is devoid of consciousness. Ajiva is of five kinds : (1) Dharmāstikāya, (2) Adharmāstikāya, (3) Akāshāstikāya, (4) Pudgalāstikāya, and (5) Kāla or Time. All these five substances are eternal.

Dharmāstikāya is a substance which contributes to the movements of the Jivas and Pudgalas (Matter). But for it, neither the Jivas nor the material objects could have been mobile. That is why it is known as the indispensable aid to motion or mobility. It is formless, inconscient and pervasive of the entire Loka or Universe.

Adharmāstikāya is a substance which helps the Jivas and Matter to stop their motion, if they are so inclined. That is why it is known as an aid to stability or stoppage of motion. It is also formless, inconscient and pervasive of the whole Loka. Akāshāstikāya furnishes subsisting

space to Jivas, Pudgalas (Matter) and all things. It pervades all Loka and Aloka, and is formless and inconscient.

All objects, big and small, made of atoms, are called Pudgalāstikāya. The smallest, indivisible particle of Matter is called an atom. The whole material world is made up of atoms and objects composed of atoms. The material objects are infinite in number. Form, taste, smell, touch, sound, are the characteristics of the material substance. Though the atoms are not apprehended by our senses, yet they too have form, taste, smell and touch.

The word Astikāya used in connection with Jivāstikāya, Dharmāstikāya, Adharmāstikāya, Akāshāstikāya and Pudgalāstikāya, has a special significance. The word Asti means that which always exists; and Kāya means a substance having many Pradeshas i.e. spatial points. A Pradesha is the minutest, indivisible section of a thing. A combination or aggregate of such indivisible sections forms Kāya. Astikāya means a substance which always exists and have many indivisible pradeshas or sections. Because the Jivas, Dharma, Adharma, Akāsha and Pudgalas are made of the combinations of the smallest indivisible pradeshas, and are permanent substances, so each of them is called an Astikāya.

Kāla or Time is an imaginary thing—it has no real existence. It is deduced from the movements of the sun, moon, stars etc. The smallest indivisible fraction of the present time is called Samaya. In Jaina metaphysics the word Samaya has this special connotation. The past is dead and gone, the future does not yet exist, that is why it is the present time alone that is called Samaya. Kāla is limited to only one Samaya, that is to say, it has only one pradesha (fraction) and not a combination or Pradeshas, and is not, therefore, included in the Astikāyas. The imaginary combinations of such infinitesimal Samayas are variously classified as Avalikā, moment, day, night, fortnight, month, year etc. According to another view, it is held that Kāla or Time too has a real existence, it is not something imaginary. It has the size of an atom, and is called Kālānu. Because each Kālānu exists separately in a distinct pradesha or fraction of space (Akāsha), it is not called Astikāya. It is instrumental in the metamorphoses of Jiva and Pudgala (Matter). It too is formless and inconscient.

So far I have described the Jiva and the Ajiva, the two essential principles which constitute the whole universe. What follows will give an idea of how the Jiva gets enmeshed in Karma and wanders in the worlds, and how it can be liberated. It will thus be an exposition of the remaining seven principles.

*Asrava (The Influx of Karma) :*

The third principle is Asrava. The causes which lead to the influx of good and evil Karma for the bondage of the soul are called Asrava. To put it briefly, Asrava is an attraction in the Jiva towards sense-objects. Mithyāttwa (perverted belief or ignorance), Avirati (want of self-restraint), Pramāda (inadvertance), Kashāyas (passions like anger, vanity, deceitfulness and avarice), and Yoga (activities of mind, speech and body)—these are the five causes of the influx of good and evil Karmas, and so they are known as Asrava. Himsā or violence, Asatya or untruth, Chaurya or stealing, Maithuna or sex indulgence and Parigraha or attachment to sense-objects etc. also cause the bondage of the soul by Karma and, therefore, they too are Asrava.

*Vandha (Bondage) :*

The fourth principle is Vandha. It is the envelopment of the soul by the Skandhas or aggregates composed of innumerable particles of certain categories of Karma. There is a particular type of particles which, being attracted by the ignorance of the Jiva, the action of its mind, speech and body, and its reactions of attraction and repulsion, attach themselves to the soul and shroud it. These particles are called particles of Karma Varganā. In its essential nature the soul being pure, transparent, conscious and incorporeal, logically it cannot be bound by corporeal and unconscious particles; but from times immemorial it has undergone this bondage by forms kārmic matter. It is a bondage mysterious and timeless. This kārmic envelope is called in Jaina parlance Kārmana-sharira. In some Indian philosophies it is called Linga-sharira. The Jiva is encased in the Kārmana-sharira from times immemorial, and, in consequence, subject to the impulses and reactions, caused by Karma. Attracted by these impulses and reactions, new kārmic atoms of Matter are constantly following in and attaching themselves to the kārmic envelope of the Jiva, and it is as a result of this instreaming and accumulating Karma that the Jiva has to whirl on the wheel of Samsāra and pass through the alternating experiences of pleasure and pain.

Kārmic Matter attaching itself to the soul assumes four forms : (1) Prakriti-vandha (2) Sthiti-vandha, (3) Anubhāva-vandha, and (4) Pradesha-vandha. When kārmic Matter attaches itself to the soul, its development is determined by the then action of the Jiva's mind, speech and body, that is to say, by the goodness or badness, intensity or dullness of that action; and it assumes a nature having the capacity to cover up certain specific attributes of the soul. This form of bondage is called Prakriti-vandha. It develops infinite variants in itself according to the differing energies of the mind, speech and body of the Jiva. But roughly they can be subsumed under eight heads : (1) Jnānāvarniya, (2) Darshanāvarniya, (3) Vedaniya, (4) Mohaniya, (5) Āyu, (6) Nāma, (7) Gotra, and (8) Antarāya.

Jnānāvarniya Karma covers up the soul's power of knowledge. Darshanāvarniya clouds its power of perception. Vedaniya Karma overcasts its intrinsic, infinite and unhorizoned bliss and makes the Jiva feel the evanescent pleasures and pains of the world. That which generates delusion in the Jiva in regard to its own true nature and makes it identify itself with or be attached to a not-self, is called Mohaniya Karma. The Karma which engulfs the soul's eternal poise in its unconditioned self-being and compels the Jiva to assume a body for a fixed period of time in each successive birth, is called Āyu Karma. That which eclipses the soul's formlessness and constrains it to put on forms, and under whose influence the Jiva comes to have perfect or deformed limbs, fame or obloquy, and various other representations of itself, is called Nāma Karma. That which covers up the soul's superiority to the worldly distinctions of high and low, and forces it to be born in superior or inferior strata of human society, is called Gotra Karma. And that which envelops the soul's inherent force and obstructs the Jiva's free enjoyment of the riches of the world or its generosity in charity, is called Antarāya Karma. There are many subdivisions of these eight principal categories of Prakriti Vandha, but it would be beyond our present scope to dwell upon them.

The Kārmic matter which adheres to the soul for a long or short space of time according to

the intensity or dullness of the Jıva's passions like Rāga (attraction) or Dwesha (repulsion) etc., is called Sthiti-vandha.

What fruits, good or bad, acute or dull, the kārmic matter will produce is determined at the time of the Vandha by the varying degrees of the reactions of the passions (Rāga, Dwesha etc.) of the Jiva. The vandha that is pregnant with the power of producing such fruits is called Anubhāva-vandha or Rasa-vandha.

The number of the kārmic particles that are drawn towards the Jiva for attaching themselves to it is determined by the nature of the Jiva's mind, speech and body, that is to say, if the action is on a large scale or intense, the number of the kārmic particles is large, if it is on a small scale or lacking in intensity, the number is small. This particular kind of vandha of a varying magnitude is called Pradesha-vandha.

*Punya (Virtue) :*

The fifth principle is Punya or virtue. The Kārmic-vandha which is brought about by the good or righteous action of the Jiva's mind, speech and body, and is pregnant with the potentiality of bearing happy fruits, is called Punya. Auspicious Karma attaches itself to the Jiva as a result of the letter's works of charity, such as the gift of food, drinking water, accommodation, bedding, clothes etc. to the monks, its pious resolutions, and homage to the Tirthankaras, the religious gurus etc. As fruits of one's righteous Karma, one comes to possess physical and mental happiness, health and beauty of the body, property, fame etc.

*Papa (Sin) :*

The sixth principle is sin, which is the very contrary of Punya or virtue. Sin is the bondage of Karma which is brought about by the evil actions and reactions of the mind, speech and body of the Jiva, and contains in itself the power to produce evil or unhappy results. Violence, telling of lies, stealing, sexual incontinence, attachment to the objects of enjoyment, anger, self-conceit, deceitfulness, avarice etc. are the evil propensities which entail the Jıva's bondage to the Karma of sin; and the painful consequence of this kārmic bondage is suffering from various physical ailments, deformed or ugly body, birth in the animal life, as beast, bird, insect etc., birth in hell, or poverty and privation. The soul, shrouded in sinful Karma, cannot progress in self-evolution, but gets more and more entangled in kārmic matter and drifts like a waif in the endless flux of Time. These two principles of virtue and sin are, in a sense, two different aspects of the Vandha principle; so, some exponents of Jaina philosophy include them in the Vandha principle, thus reckoning the principles as seven, and not nine.

*Samvara (Arrest of the Influx of Karma)*

The seventh principle is Samvara. The methods by which the Asrava or influx of Karma is arrested are called Samvara. It is a principle contrary to Asrava. It is achieved by an undeviating practice of the discipline of mind, speech and body, religious meditation, suppression of desire, forgivenness, tenderness, purity of thought, truthfulness, austerities, renunciation, detachment, chastity, abstention from evil action and avarice; and by thinking that the world is impermanent and the body full of filth, and that one has to suffer alone the sweet-bitter fruits of one's own Karma.

*Nirjarā (Elimination of Karma) :*

The eighth principle is Nirjarā. It means the sloughing off or elimination of the coating of Karma from the soul. It has been said above that the Karma which has once attached itself to the soul becomes active when it is time for it to bear fruit, and is subsequently exhausted; but if one fails to throw it out just before it starts bearing fruit, it becomes difficult to attain liberation, for, new Karma flows in by the actions and re-actions of the old Karma while it begins bearing fruit. Therefore, it is necessary for those who aspire for liberation to exhaust all Karma by the prescribed means of meditation, contemplation etc. This process of exhaustion or elimination of Karma is called Nirjarā. Nirjarā is effected by regorous austerities, which are of two kinds : external and internal. Fasting, abstemiousness, suppression of desire, renunciation of the Rasa or pleasure of the palate, physical mortification and sitting, tucked up, in a solitary place—these are the six kinds of external austerities. Penance, humility, nursing the sick and ailing monks, study of the scriptures, giving up of all attachment to the body, and contemplation—these are the six kinds of internal austerities.

*Moksha or Liberation :*

The ninth or final principle is Moksha or liberation. The soul's recovery of its own eternal self by the complete exhaustion or elimination of all Karma is Moksha or Mukti. When the soul breaks out of the kārmic envelope, it realises its innate attributes of infinite knowledge, infinite perception, infinite power, infinite bliss, and infinite light, and ascending to the crest of the "Loka", remains there immersed in the termless beatitude of its unconditioned existence—it never returns again into the wheel of material existence made up of birth, decay and death. Ascent is the natural movement of the soul. Stripped of the covering of Karma, the pure soul wings straight upwards and settles upon the highest region of the Loka, that is to say upon the farthest frontiers of Dharmāstikāya and Adharmāstikāya. This state of the soul is the liberated or perfected state—this is Nirvāna. As a lamp lit in a house irradiates the whole house with its light, and if other lamps are lit, their lights too mingle with each other and remain there, so the liberated souls, which are each an effulgence, mingle with each other and remain on the crest of the Loka for ever. For them there is no return to the agony of mortal existence.

What is Karma; how it adheres to the soul; how, developing and fructifying, it determines the movements—the coming and staying and passing—of the Jiva, and its happiness and suffering etc.; and how the soul becomes free by Nirjarā or the shuffling off of all Karma—these things have been minutely analysed and exhaustively described in the sacred books of Jainism. What is given here is just a brief outline, and nothing more.

*Triratna or the Three Gems :*

I have dwelt in brief upon the nine essential principles including the last principle of liberation. Now I propose to give an idea as to how liberation is attained. A simultaneous practice of Samyak Darshana or right faith, Samyak Jnāna or right knowledge, and Samyak Chāritra or right character and conduct leads to liberation. These are three gems of Jainism

*Samyak Darshana or Right Faith :*

Samyak Darshana is also called Samyaktwa. It is a faith in the nine essential principles

(Nava-Tattwa) and an attitude of unbiased approach to the real nature of things. It can also be called Veveka-drishti or discriminating perception. Deluded by ignorance, the Jiva ordinarily takes falsehood for truth and truth for falsehood. The faith-directed attitude of consciousness that can perceive truth as truth and falsehood as falsehood is Samyak Darshana or Samyaktwa. The spiritual life of the Jiva begins only when Samyaktwa emerges out of the darkness of its ignorance. The Jiva, then, develops an aspiration to know the Truth in its essential principles, to renounce what is unwholesome and impure, and to accept all that is high and noble and conducive to its spiritual progress. This is the state of Samyak Darshana.

*Samyak Jnāna or Right Knowledge :*

There is some form of knowledge in every Jiva, but so long as Samyak Darshana has not evolved in it, that knowledge can only be a wrong or false knowledge, which is only a form of ignorance. It is only after the emergence of the Samyak Darshana that knowledge can become true knowledge; for, in the absence of Samyak Darshana, the Jiva lacks the power of knowing the real nature of things, and hence what knowledge it has already acquired cannot be called true knowledge. It is only after Samyak Darshana has evolved that the knowledge of the Jiva can be called Samyak Jnāna or right knowledge.

Knowledge is of five kinds : Mati-jnāna, Shruta-jnāna, Avadhi-jnāna, Manahparyāya-jnāna and Kevala-jnāna. The knowledge which is acquired by means of the sense organs and the power of the mind is called Mati-jnāna. That which is acquired by the study of words and their meanings is called Shruta-jnāna. Like Mati-jnāna, Shruta-jnāna is also acquired by means of the senses and the mental powers; and the Shruta-jnāna of a thing cannot be had unless there has already been Mati-jnāna of it. But the scope and nature of Shruta-jnāna is wider and more distinct than those of Mati-jnāna, for Shruta-jnāna comprehends a study of words and their meanings. The knowledge which is acquired by study of books and scriptures and by listening to men of wisdom, is also called Shruta-jnāna. The knowledge by which one can know all embodied objects within certain limits of Space, and without the help of the mind and the senses, is called Avadhi-jnāna. It is a kind of spiritual knowledge. When this knowledge develops, one can see, even with one's eyes closed, all things which are not formless, within certain boundaries of Space. The knowledge by which, even without the help of the mind and the senses, one can know the psychological movements of the creatures within certain fixed limits, is called Manah-paryāya-jnāna. This too is a kind of spiritual knowledge. The knowledge by which, without any aid whatever of the mind and the senses, one can know all things contained in the Loka and the Aloka, all things past, present and future, possessing form and without form, and in all their attributes and categories, is called Kevala-jnāna. This is spiritual knowledge par excellence. When the four kinds of Karma—Jnānavaraniya, Darshanāvaraniya, Mohaniya and Antarāya—are completely exhausted, the intrinsic knowledge of the soul, the Kevala-jnāna, reveals itself. This state of knowledge of the soul is called the Jivan-mukta state. Once this state is realised, the Jiva is sure to attain Mukti or Nirvāna (liberation) when the remaining span of its life comes to an end. The Tirthankaras were, in this sense, Jivanmuktas, and endowed with Kevala-jnāna—all-knowing and all-seeing.

*Samyak Charitra (Right Character and Conduct) :*

Self-discipline, renunciation, repression of the senses and unblemished conduct are called

Chāritra. The self-discipline, renunciation etc., practised after the development of Samyak Chāritra. The five major Vratas practised by the monks, the tenfold religious observance of the Yatis, the seventeen forms of self-discipline, the twelve Vratas enjoined upon the lay disciples—all these are included in Samyak Chāritra. Chāritra is of two kinds : one is based upon a total and absolute, and the other on a partial renunciation. As I have said before, a total and unreserved renunciation is precognised for the monks, and a partial renunciation for the householders.

The seventeen constituents of Samyak Chāritra are : renunciation of each of the five kinds of Āsrava-violence, untruth, stealing, sexual indulgence and craving for the possession of things; detachment from each of the five sense-objects—sounds, touch, form, taste and smell; quelling of each of the four principal passions—anger, self-conceit, deceitfulness and avarice; and the threefold discipline of subduing the evil propensities of mind, speech and body. A perfect and synthetic practice of Samyak Darshana, Samyak Jnāna and Samyak Chāritra inevitably leads to liberation. These are the three priceless gems of Jainism.

Samyak Darshana, Samyak Jnāna and Samyak Chāritra are inter-related, and depend upon each other for their perfection; that is to say, if the faith (Darshana) is not purified, there is no possibility of the development of pure knowledge; and if the faith and knowledge have not become pure, conduct cannot be pure and flawless. Any one or even any two of these three gems cannot lead to liberation. Even perfectly pure faith and knowledge, unaccompanied by pure conduct, fail to lead to liberation. It is, therefore, by a simultaneous perfection of right faith, right knowledge and right conduct that one can attain to liberation, and not otherwise. It is extremely difficult to realise anything like perfection in conduct and character on account of the perpetual seduction of the sense-objects; that is why, the religious books of the Jainas lay so much stress on the purity of conduct. Unless one practices to perfection the five major vows (Mahāvratas)—non-violence, truthfulness, non-stealing, chastity and non-possession—one can never attain to a perfect purity of character and conduct. The Jaina ideal of monkhood is an unimpeachable perfection in living, that is to say, in character and conduct; and it is non-violence that is the bed-rock of perfect conduct.

*Creation—Eternal and Infinite :*

Jainism regards the world as beginningless and eternal. It cannot conceive of a time when the world first sprang out of a Supreme Being, and when it will return to it. According to it, everything in the world is undergoing constant change, but nothing ever perishes and disappears out of existence. All objects in the world are created and destroyed as a result of the modifications of the two cardinal principles of Jiva and Ajiva (conscious soul and unconscious matter), but the essential substance remains as it si—it never vanishes out of existence.

*The Birth and Wanderings of the Jiva :*

All embodied beings are compounded of the conscious soul and unconscious matter, and so long as a total separation does not take place between the two, the beings have to wander in the worlds. The principal theme of Jainism is to propound the means by which this rupture can be effected, and the conscious soul can be liberated from the thraldom of Matter. Ahimsā (non-violence), Samyama (self-control) and Tapasyā (austerities) are the means by which every human being can advance towards his spiritual freedom.

*The Supreme Fulfilment of Man :*

As, in Jainism, there is no conception of a Supreme Being, Creator of the universe, there is no room in it for any theory of Avatārahood or God-appointed prophethood. The great men who have attained spiritual freedom were nothing but men like us. They had developed their souls by a steady practice of self-discipline through many lives; and any man, if he has the will, can do like-wise. Human birth is the only condition of perfect spiritual development; even the gods are incapable of this perfection.

## B

## PHILOSOPHY

The Jaina Philosophy is commonly known as Syādvāda. Syādvāda or Anekāntavada views things from many angles and reveals their true nature by embracing their different aspects and attributes. Syāt in the word Syādvāda means "may be", or it may be taken to mean "somehow" or "relatively to". The real sense of the compound word, Syādvāda or Anekāntavada can, therefore, be said to be objective realism—viewing things under their diverse aspects by a multiple or many-sided vision. Every real object or Dravya is subject to the triple operation of birth, persistence and dissolution. This triple operation goes on at all times in an uninterrupted simultaneity in every object. The part of a thing which is stable or persistent is its very substance, and the part which is mobile and changing is its modification. A thing in the form of a substance, is permanent, but as a modification of that substance, it is impermanent. Substance and its modifications are neither completely different nor completely indentical, which implies that every object possesses many attributes. Syādvāda is nothing but admitting all these contrary aspects and āttributes objects from different points of view, By the absolute or categoric predication of a particular attribute one cannot arrive at the truth of a thing, for all existent things are complex and composite in their qualities, Syādvāda or Anekāntavāda is that method of dialectic which reveals all the aspects of a thing by admitting from diverse standpoints its conflicting or self-contradictory attributes.

By means of Syādvāda one can acquire the knowledge of the true nature of every object viewed in different perspectives. The same man may be variously known as a father, a son, an uncle, a nephew etc. In relation to his son, he is a father, but in relation to his own father, he is a son; in relation to his nephew he is an uncle, but in relation to his uncle, he is a nephew. He is immortal in relation to his soul, mortal relation to his body. An earthen pot is at once permanent and transitory. The object called pot is transitory, but the substance of which it is made is eternal, for the particles composing clay or earth will always endure in some form or other—they can never perish. A gold necklace is transitory, but the metallic substance called gold is permanent, for the necklace can be broken and moulded into another form, and yet its substance called gold will abide unaltered in its essence. Thus all objects of the world come into existance and perish, but in their essential substance they remain unchanged; they are, therefore, at once permanent and impermanent. The essential substance is stable and permanent, but its modifications are impermanent—they are subject to constant mutation.

An absolute or exclusive predication of a particular quality; or aspect of a thing cannot bring out the truth of its composite nature. A certain person is only a father and not a son—such an exclusive predication cannot be true, for besides fatherhood the person possesses other attri-

butes also, such as sonhood etc. If a blind man, touching only a leg of an elephant, tries to prove that the elephant has the form of a pillar, he cannot be right. Therefore, it can be safely asserted that the real nature of a thing can be revealed only by Anekāntavāda or many-sided and comprehensive predication, and not by Ekāntavāda or an exclusive and unilateral predication.

The septuple formulation of Syādvāda is called Saptabhangi. Each form is headed by the word, "syāt". If an attribute of an object has to be predicated, it must be done in such a way as not to nullify the possibility of affirming a contrary attribute. If the imperishability of a thing is to be predicated, it must be formulated in such a way that it does not do away with the possibility of predicating the contrary attribute or perishability or transcience. It is for this reason that the word "syāt" (somehow or may be) has to be used in the predication of every object. For example, "may be the pot is imperishable"—this undogmatic predication leaves room for a contrary predication of the perishability of the pot.

The septuple formulation is follows :—

(1) syāt asti (may be it is)
(2) syāt nāsti (may be it is not)
(3) syāt asti nāsti (may be it is and is not
(4) syāt avaktavya (may be it is unpredictable)
(5) syāt asti avaktavya (may be it is and is unpredictable)
(6) syāt nasti avaktavya (may be it is not and is unpredictable)
(7) syāt asti nāsti avaktavya (may be it is, is not, and is unpredictable)

This is called Saptabhangi.

## C

## ETHICS

*The Sadhūs and their Mahavratas :*

It has been already mentioned that, while preaching Jainism, the Tirthankaras founded a fourfold community of monks (Sādhus). nuns (Sādhwis), lay brothers (Shrāvakas) and lay sisters (Shrāvikas). In thls fourfold community the Sādhus or monks are the highest in rank. Those who renounce the world and lead the life of contemplative mendicancy are called Sādhus, and such females are Sādhwis. The Sādhus and Sādhwis or monks and nuns observe fully, in thought, word and deed, and all through their lives, the five major vows or Mahāvratas : non-violence (Ahimsā), truthfulness (Satya), non-stealing (Achaurya), chastity (Brahmacharya), and freedom from all craving for worldly possessions (Aparigraha).

The Sādhus maintain an attitude of compassion and equality towards all creatures. Himsā or violence means killing a creature, torturing it, or forcing it to do something etc. To desist from doing violence is Ahimsa or non-violence·

The Sadhus themselves do not commit any violence by thought, word or deed, nor do make others commit it, nor do they approve of any violence committed by others, This is the first Mahāvrata or great vow. This is called Ahimsa or Prānātipāta Viramana-vrata.

The Second major vow is a total abstention from falsehood. It is called truthfulness or Mrishāvāda Viramant-vrata. The Sādhus always speak the truth. They have to refrain from

speaking the truth which is likely to lead to some kind of Himsā or violence, in such a case they had better hold their peace. If a man is subject to anger, greed, fear or the habit of poking fun or cracking jokes, there is every chance of his having to tell a lie; that is why it is enjoined upon the Sādhus to renounce anger, greed etc. They do not indulge in falsehood or hypocrisy either in thought, word or deed; nor do they make others indulge in it, nor approve of others' indulging in it.

The third major vow is non-stealing. It is also called Adattādāna Viramana Vrata. The Sādhus do not commit any form of stealing. They do not take anything not given them by its owner. They do not make others take such a thing, nor do they approve of others' taking it. While taking alms, they are particular about the quantity they accept, so that it may not be more than what is just required. Acceptance of more than the required amount renders them guilty of stealing.

The fourth major vow is Brahmacharyya or chastity. It is called Maithuna Viramana Vrata. The Sādhus give up all forms of sexual enjoyment in thought, word and deed. They do not themselves indulge in sexual pleasures, do not make others indulge in them nor do they approve of others indulging in them. They strictly eschew all thought of the sexual pleasures they may have had as householders. They do not sit or lie down on a seat or bed used by a woman. They do not eat palatable food or any food that is likely to excite carnal desires. These are some of the severe rules the Sādhus or monks follow in their practice of the fourth great vow.

The fifth major vow is non-possession or Aparigraha. It is called Parigraha Viramana Vrata. The Sādhus renounce all possessions, such as all kinds of wealth, grains, land and other immovable properties, house etc. They do not themselves possess these things, do not ask others to possess them, nor do they approve of others possessing them. They practise the fifth great vow by giving up all attachment in thought, word and deed to all objects of sound, sight, smell, taste and touch.

The Jaina Sādhus practise also ten virtues or Yatis, which are called Yati-Dharma or the virtues of a self-controlled Sādhu : forgiveness, (Kshamā), humility (Mārdava), candour (Ārjava), non-covetousness (Nirlobhatā), poverty (Akinchanatā), truthfulness (Satya), self-restraint (Samyama), austerities (Tapasyā), inner and outer purity (Shaucha), and chastity (Brahmacharya).

They have to subdue the wild impulses of their minds, speech, and bodies. They have to be always alert and vigilant in the observance of three Guptis or rules of self-discipline. The first is Manogupti, which means inhibition or elimination of evil and impure thoughts, and the initiation of a train of good thoughts. The second, Vachanagupti, means a restraint over one's speech, or, if necessary, the observance of total silence. The third, Kāyagupti, is a regulation of all the movements of one's body. Again, the Sādhus have to observe five Samities : Iryyā Samity, Bhāshā Samity, Eshanā Samity, Ādāna Nikshepa Samity, and Utsarga Samity. They have to walk with care, so that they may not tread upon any creature—this is Iryyā Samity. To be restrained in speech and speak only what is true and beneficial, is Bhāshā Samity. To procure with care and caution only the food which is pure, harmless and necessary for the maintenance of the body, is Eshnā Samity. To take and keep things with care is Ādāna

Nikshepa Samity. And to be careful in the disposal of excrements, urine, cough, rags etc. so that they may not fall upon or injure any sentient being, is Utsarga Samity.

They observe equality towards all, friends, foes etc. They do not take any food after nightfall, do not use any kind of conveyance, live by begging, do not accept money, and do not collect and hoard anything for themselves. These are some of the hard rules of self-control they strive to practise.

To inhibit the train of evil thoughts and engage the mind in good thoughts the Sādhus have to practise twelve kinds of meditation :

1. Life, youth, wealth and property, everything is impermanent; therefore, one should not be attached to them-this thought-current is called Anityabhāvanā or meditation on the impermanence of all worldly things.
2. As none can save a deer from the jaws of a lion, so none can save a man from the clutches of disease and calamity. This kind of thought is called Asharana Bhāvanā or meditation on the forlorn helplessness of man.
3. In this world there is none who is really my kindred, friend or enemy. In the unnumbered succession of my lives, I may have had various relations with every creature. This is the strange, peculiar nature of the world. This kind of thought is called Samsāra Bhāvanā or meditation on the transitoriness of human relations.
4. Alone was I born and alone must I die. It is I alone and none else who have to suffer the consequences of my deeds. This kind of reflection is called Ekattwa Bhāvanā or meditation on the solitariness of individual existence.
5. The body and the soul are distinct and separate from each other. The body is unconscious and the soul conscious. This is Anitya Bhāvanā or meditation on the separateness of the soul from the body.
6. The body is made up of impure substances such as blood, flesh etc. and full of faeces, urine etc. One should never be attached to such a body. This is Ashuchi Bhāvanā or meditation on the intrinsic impurity of the body.
7. Attached to the senses, if I remain engrossed in the enjoyment of worldly objects, it will entail my bondage to Karma and produce harmful consequences. This is Āshrava Bhāvanā or meditation on the influx of Karma into the soul.
8. To resort to good thoughts in order to rid oneself of evil propensities is Samvara Bhāvanā or meditation on the cessation of the influx of Karma.
9. To reflect upon the various evil consequences of Karma and think of exhausting all accumulated Karma by contemplation and austerities is called Nirjarā Bhāvanā or meditation on the elimination of all Karma.
10. To reflect upon the real nature of the universe and its fleeting appearances is called Loka Bhāvanā or meditation on the impermanence of the world.
11. In this phenomenal world attainment of right faith and an immaculate character is a rare achievement. This kind of thought is called Bodhidurlabha Bhāvanā or meditation on the difficult nature of the knowledge and perfection to be attained.

12. Religion is the only refuge in this world of the triple agony of birth, decrepitude and death. This is Dharma Bhāvanā or meditation on the sustaining and saving power of religion.

By these meditations the monks have to turn their minds from evil thoughts. The nuns or Sadhwis also observe the same strict vows and rules of conduct as the monks. It is these monks and nuns who practise self-control and have given up all desires and earthly possessions that deserve to be ranked as Gurus or spiritual teachers.

*Lay Brothers (Shrāvakas) and Lay Sisters (Shrāvikās)*

Male householders following Jainism are called Shrāvakas and female householders Shrāvikās. They do not adopt the life of a recluse by renouncing the world, but live in it, earning their livelihood by honest means and performing the householders' religious duties. They are expected to possess seriousness, a limpid serenity of nature, modesty, straightforwardness, kindness, impartiality, an admiring openness to the good qualities of others, humility, gratitude, benevolence etc. There are the twelve Vratas or vows prescribed for them :

1. Sthula Prānātipāta Viramana Vrata, which means not to kill, injure or give trouble deliberately to any innocent Trasa creature.
2. Sthula Mrishāvāda Viramana Vrata means not to speak such lies as may cause harm to others. This vow also demands that one must abstain from the gross forms of lying like denying a pledge or a trust, bearing false witness in a law court, representing somebody's property as one's own or as belonging to a third person, hiding other's defects and drawbacks, sing false praises of a bride or a bridegroom etc.
3. Sthula Adattādāna Viramana Vrata is abstention from stealing. The theft of somebody's things or the evasion of due taxes, or such stealing as entails censure at the hands of one's society or punishment by the ruling power, must be eschewed.
4. Sthula Maithuna Viramana Vrata interdicts all kinds of sexual intercourse except with one's duly married wife; and it imposes strict bounds within which enjoyment even with one's wife has to be kept.
5. Parigrahaparimāna Vrata is to impose certain limits upon the possession of wealth, grains, animals and other forms of property, and restrict one's enjoyment of them within those limits. It forbids all infringement of the limits.
6. Dik-parimāna Vrata is to keep within certain fixed limits one's journeys in different directions for trade and other purposes.
7. Bhogopabhoga Parimāna Vrata is to restrict within certain bounds the enjoyment of the necessary material objects of daily use, such as food, clothes, house etc. The objects that can be enjoyed once only are called Bhogya, such as food; and those that are of constant or frequent use are called Upabhogya, such as clothes, house, furniture etc.
8. Anarthadanda Viramana Vrata—The sins that are committed thoughtlessly, without any reference to one's personal need or the benefit of one's family, are called Anarthadanada. Abstention from such sins is called Anarthadanda Viramana Vrata. It is undertaken as a safeguard against doing many unnecessary wrong things, such as giving of arms, poison etc. to others; instigating birds and beasts to fight among themselves, counselling others

to do vicious acts, engaging in evil thoughts or immoral activities etc.

9. Sāmājika Vrata—By this vow the layman undertakes to sit quietly for 48 minutes at one place and give up all sinfull activities and calmly meditate on the soul or chant hymns, quelling all evil propensities of one's mind, speech and body, and observing equality towards friends, foes and all creatures.

10. Deshāvakāshika Vrata—This vow requires one to restrict further the scope allowed by the previous Dikparimāna Vrata, and the restriction varies according to the daily needs of one's life.

11. Paushadha Vratra—According to this vrata the Shrāvaka has to live the life somewhat like that of an ascetic for a whole day or for a whole day and night or for whole night only by fasting, givining up all worldly pre-occupations and engaging in religious contemplation. Because this vrata promotes and nourishes one's religious life, it is called Paushdha or nourishing.

12. Atithi Samvibhāga Vrata—It means giving food, clothes etc. to Sādhus and Sādhwis.

Of these twelve Vratas, the first five are called Anuvratas or minor vows, because they are less difficult and rigorous than the Mahāvratas or major vows of the monks; the next three (from the sixth to the eighth) are called Gunavratas, as they forster the growth of the qualities engendered by the first five Anuvratas; and the last four vratas (from the ninth to the twelfth) are called Shikshā-vratas, as they constitute the preliminary training for the adoption of the ascetic life of the monks. The houeholders have to lead the religious life and advance towards perfection by the practice of these twelve vratas.

*Ahimsa (Non-Violence)*

Ahimsā or non-violence can be said to be the fulcrum of the whole institution of Jaina monkhood. But as it is not possible to practise non-violence perfectly without a simultaneous practice of truthfulness, non stealing, chastity and non-possession, the above mentioned five major Vratas have been enjoined upon the monks. Again, without a discipline of the mind and the senses, non-violence cannot be practised fully, and without austerities, discipline is out of the question. It is for this reason that non-violence, self-discipline and austerities taken together, have been called Dharma in the Jaina scriptures. The Sādhus (monks) have to be vigilant at every moment and in every movement of their lives, so that they may not be guilty of any violence whatsoever, may not injure or kill even a very minute sentient being. It is impossible to desist from this kind of violence except by a perfect practice of the five major vows. The monks endure with calm courage and equanimity all cruel persecution or oppression, and even deadly suffering—they do not cherish the slight feeling of hatred or anger against their persecutors. Instances like the one in which a Jaina sādhu endured inhuman torture and laid down his life for saving the life of a little bird, are not rare.

I have dwelt above on the vratas or religious vows of the Shrāvakas or Jaina householders. The rules regulating their lives have been so framed as to enable them to lead an honest and pious existence by a gradual control of their cravings and desires. They have been so framed that in earning their livelihood and saving their wealth and property and even when called upon to bear arms for the protection of their person, their families and their country from the oppressive hands of their enemies, the Shrāvakas may be able to observe self-restraint, and may not

cause harm to themselves, their societies, their country, and the larger interests of human society by their wild and unrestrained behaviour, but rather advance, step by step, towards the ideal of monkhood, renouncing all craving for possession by the practice of a progressive self-discipline. If we carefully study the rules and vows which a householder is expected to observe, we shall easily see that a ceiling has been imposed upon the possession of wealth, property and objects of enjoyment, and that there is no possibility of an unceasing and excessive accumulation of wealth etc. at any single place; for, when earnings exceed the fixed ceiling, instead of amassing the surplus, one is obliged to spend it away; and such expenditure by householders, who have been observing religious vows and practising self-discipline, cannot but flow in the direction of social welfare. Besides, a ceiling, imposed upon accumulation, curbs the avaricious desire to earn money by unrighteous means. Thus, if desire is controlled, there is no further possibility of an enormous accumulation of wealth at a single place, creating serious inequalities and causing upheavals in society. If a similar rule, which is so beneficial to an individual, is applied to a collectivity or a nation, it may put an end to all kinds of world-wide misery, murder and destruction.
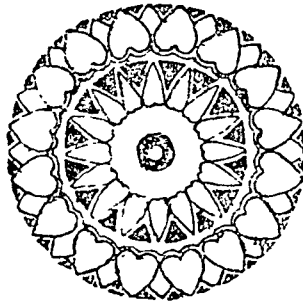
Dr. Kamal Chand Sagani
*M.A. B.Sc., Ph.D.*
*Lecturer in Philosophy R.R. College, Alwar (Rajasthan)*
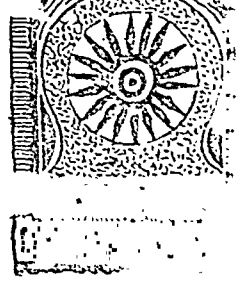
# THE CONCEPTS OF PARISAHA AND TAPA IN JAINISM

The householder and the saint are the two wheels on which the cart of Jaina ethical discipline moves on quite smoothly. It is to the credit of Jaina Ācāryas that they have always kept in mind these two orders while prescribing any discipline to be observed. They never confounded the obligations of the one with the other. In consequence, Jainism could develop the Ācāra of the householder with as much clarity and precison as it developed the Ācāra of the Muni. We shall, first, dwell upon the basic distinctions of these two disciplines before dealing with the concepts of Parișaha and Tapa in Jainism, inasmuch as the exposition of the distinctions will make us clear why the conquest of Parișaha and practice of Tapa have direct reference to the life of the saint or the Muni.

First, the upshot of the householder's discipline is to alleviate Hiṁsā to a partial extent; but the aim of the ascetic discipline is to adhere and conform to the standard of negating Hiṁsā to the last degree. In other words, the partial character of the householder's vows is disrupted by the potent life of the Muni, hence the Muni observes complete vows (Mahāvratas) in contrast to the householder's observance of partial vows (Aṇuvratas). Secondly, the life of complete renunciation adopted by the saint makes possible the extirpation of inauspicious Bhāvas, which remains unrealised in the householder's life of partial renunciation. The consequence of this is that vice totally vanishes from the life of the Muni. In a different way, the inauspicious Āsrava which occurs on account of the presence of the intense passions is stopped, and the Muni for the first time experiences complete cessation (Saṁvara) of inauspicious Karman. Thirdly, the life of asceticism aptly illustrates the existence and operation of Shubha Yoga, Shubha Dhyāna, and Shubha Leśyā, which, in the life of the householder, are never found unmixed with their contraries. We may mention in passing that the life of asceticism is not to recoil from the world of action, but from the world of Hiṁsā, which fact lies in consonance with the general tenor of the Jaina religion. As a matter of fact, action as such is not abandoned, but the supramundane character of action displaces its mundane form which inevitably entails Hiṁsā. Even the high discipline of asceticism associated with auspicious Bhāvas along with Samyagdarśana prevents the complete realisation of Ahiṁsā on account of the presence of spiritual enemies in the form of mild passions. The ascetic life, no doubt, affords full ground for its realisation, but its perfect realisation is possible only in the plenitude of mystical experience.

Thus the saint's life is an example of dedication of his integral energies to the cessation and shedding of Karmas. In consequence, he regards the subjugation of Parișahas (afflictions) and practice of Tapas (austerities) as falling within the compass of his obligations. The saint
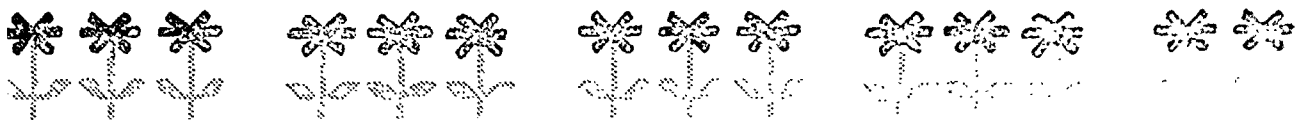
allows no compromise with anything entangling him in the mire of Saṁsāra. His career is indicative of his complete detachment from mundane life and living. Anything incompatible with, and discordant to, his second birth in a holy world, anything which drags him down to breathe in the suffocating air of the profane world must needs be subdued, strangled and overthrown. If the Pariṣahas are not met with the adequate attitude and disposition of mind, they would tend to mar the saintly life; on the contrary, if they are encountered with the inner conviction of truth, and invaded with the non-violent army of fortitude, meditation, and devotion, they would confer jubilation, and yield the joy of victory. And if the austerities are spiritedly practised they would bring about the inner rejection of desire, which would let the aspirant experience unalloyed happiness far beyond the joys of this world or of any heaven. The overcoming of the Pariṣahas results in stopping the influx of Karmas,[1] whereas the observance of austerities serves two-fold purpose of holding up, in the first instance, the inflow of fresh Karmas and wiping off, on the other, the accumulated filth of Karmas.[2] We first Proceed to the question of getting over the Pariṣahas.

*Parishas : Their Enumeration and Exposition :*

Those afflictions that are to be endured for the purpose of not swerving from the path of stopping and dissociating Karmas are termed as Pariṣahas.[3] The Uttarādhyayana tells us that "a monk must learn and know, bear and conquer, in order not to be vanquished by them (Pariṣahas) when he lives the life of a wandering mendicant".[4] The Pariṣahas are of twenty-two kinds[5], namely, (1) hunger (Kṣudhā), (2) thirst (Tṛṣā), (3) cold (Shīta), (4) heat (Uṣṇa), (5) insect-bite (Daṅśa-maśaka), (6) nudity (Nagnatā), (7) ennui (Arati), (8) woman (Strī), (9) walking (Caryā), (10) sitting (Niṣadyā), (11) sleeping-place (Shayyā), (12) abuse (Ākrośa), (13) attack (Vadha), (14) begging (Yācanā), (15) non-obtainment (Alābha), (16) disease (Roga), (17) pricking of grass (Tṛṇasparśa), (18) dirt (Mala), (19) respect (Satkāra-Purasakāra), (20) conceit of knowledge (Prajñā), (21) lack of knowledge (Ajñāna) and (22) slack belief (Adarśana). We now discuss the attitude of the saint towards these Pariṣahas.[6] This will also make clear the meaning implied in them. (1-2) The saint accepts faultless food and water. It is just possible that he may not get faultless food and water. Then he, (a) who does not get perturbed by the distress caused by hunger and thirst, (b) who is not inclined to receive food and water in improper country and in improper times, (c) who does not bear even an iota of blemish in the observance of six essentials, (d) who remains occupied with self-study and meditation, (e) who prefers non-obtainment of food and water to their obtainment, is deemed to have swam over the affliction originating from hunger and thirst. Not to dwell upon pangs of hunger and pains of thirst amounts to the surmounting of hunger and thirst Pariṣahas. (3-4) It is evident that the saint has renounced resorting to external protections against cold and heat, and he remains undecided regarding his habitation like a bird; and if, by his sojourn in the forests or at the peak of mountains, he is troubled by cold breeze, or by frozen ice, or by blasting hot wind, even then if he does not apply his mind to eschew them, but remains steadfast in his spiritual pursuit, he is called the conqueror of cold and heat Pariṣahas. (5) In spite of the embarrasments caused by insects (flies, mosquitoes, scorpians, snakes, bugbears and the like) the saint who does not entertain the idea of their removal, but who keeps in mind the fixed determination of spiritual advancement, is said to have got over insect-bite Pariṣaha. (6) The saint who is stark-naked like a newly born child, whose heart has transcended the lustful

thoughts, and who observes unchallangeable chastity conquers nudity Parişaha.[7] Or "my clothes being torn, I shall go naked or I shall get a new suit; such thoughts should not be entertained by a monk. At one time he will have no clothes at another he will have some; knowing this to be a salutary rule a wise monk should not complain about it".[8] (7) The saint who subjugates the feeling of ennui, which may be caused by the control of senses, by certain ills and maladies, by the behaviour of vicious persons, and by other formidable difficulties of ascetic life, is understood to subdue ennui Parişaha. (8) If the saint is not seduced by the beautiful forms, the smile, charming talks, amorous glances and laughter of women, he is called the conqueror of woman Parişaha. (9) In leaving one place for another according to the prescribed rules of ascetic discipline, if the saint bears hardships owing to sharp pointed pebbles and thorns lying on the path, he is said to have got over walking Parişaha. (10) The saint who sits down in a burial-ground, or in a deserted house or in a cave, and there who is not frightened even by a roar of lion, and who is accustomed to difficult postures, is believed to have over-come sitting Parişaha. (11) After getting tired from constant self-study and meditation, the saint resorts to sleep at a place which may be rough. If his mind, inspite of this, is unruffled and is occupied with auspicious Bhavas, he is said to have conquered sleeping-place Parişaha. (12) The saint who keeps an attitude of indifference towards reviles and remonstrations, and remains mentally undisturbed by them, overcomes abuse Parişaha. (13) If the saint does not lose his serene disposition even if his body is being butchered, he is believed to have overcome attack Parişaha. (14) The saint who does not meanly ask for food, place of stay, medicine etc., even if his Prāņas part with him, has conquered begging Parişaha. (15) The subjugation of non-obtainment Parişaha signifies the presence of mental placidity and composure when the saint does not obtain his food from the householder. (16) In spite of being invaded by a number of diseases, the saint who conquers disease Parişaha endures them with fortitude without the neglect of his daily duties. (17) The saint who remains undisturbed even if his body gets trouble by the pointed pieces of pebbles, thorns etc. whose mind is always engaged in non-injuring living beings in walking, sleeping and sitting, is affirmed to have conquered pricking of grass Parişaha. (18) If the accumulation of dirt and dust over the body does not cause the slightest mental disturbance to the saint who is engaged in cleansing the soul from the mire of Karmic impurities by the pure water of right knowledge and conduct, he has got over dirt Parişaha. (19) If the saint is not disturbed or attracted by the disrespectful or respectful attitude of the persons around him, he has overcome respect Parişaha. (20) By not allowing himself to be puffed up with pride of knowledge, the saint attains the designation of the conqueror of the conceit of knowledge Parişaha. (21) The conquest of lack of knowledge Parişaha points out that the saint does not sucumb to despondency, even if he fails to acquire knowledge or inner illumination inspite of his severe austerities. [22) If the saint is not shaken in faith in the doctrine of truth even if years of austerities prove to be of no avail in benefiting him with certain saintly acquisitions, he has overcome slack-belief Parişaha.

*Distinction between Parisahas and Austerities :*

After dealing with the kinds and characteristic nature of Parisahas and the attitude of the saint towards them, we now proceed to the exposition of the nature of austerities and their distinction with the Parişahas. The difference between Parişahas and austerities consists in the fact that the former occur against the will of the saint, who endures them or rather turns them to

good account by contemplating them to be the means for spiritual conquest, while the latter are in concordance with the will of the saint to have the spiritual triumph. Secondly, most of the Parisahas may be the creations of vicious man, cruel nature and jealous gods, viewed from the common man's point of view, but austerities are the enunciations and resolutions of the aspirant's soul. Again, if Parisahas have enduring value, austerities have pursuing value, Thirdly, Parisahas which are obstacles to spiritual life, represent themselves as the passing phase in the career of the aspirant, where as the austerities form the indispensable part and parcel of the discipline which is enjoined in order to escape from this distressed and sorrowful worldy life. Lastly, we māy say that the performance of austerities subscribes to the endurance of Parisahas with equanimity and unruffled state of mind.

*Nature and Kind of Tapa (Austrity) :*

Austerity (Tapa) implies the renunciaton and rejection of desire, as the real enemy of the soul. The Satkhaṇḍāgamā pronounces that the extirpation of desire in order to actualize the triple jewels of right belief, right knowledge and right conduct is affirmed to be Tapa.[9] Thus, in the Jaina view of Tapa, the idea of expelling all desires, the whole root of evil and suffering in favour of attaining to the freedom of the soul, tranquillity and equality of mind, is not only prominent but paramount. It is at the basis as well as at the summit of Jaina preachings. Despite the supremacy of this inward reference, Jainas do not ignore the outer physical austerities. In keeping with this trend of exposition, Tapas are announced to be of two kinds,[10] namely, the external and the internal. The former is so called because of the preponderance of the physical and perceptible abandonment, while the latter is so called on account of the inner curbing of mind.[11] Besides, the designation 'external' which is applied to a section of Tapas may be justified on the ground that they are capable of being pursued even by those who are not spiritually converted.[12] We shall first dwell upon the austerities in their external forms.

*External austerities :*

The external austerities are enumerated as six in kind, namely, (1) Anaśana, (2) Avamāudarya, (3) Vṛttipatisaṅkhyāna, (4) Rasaparityāga, (5) Viviktasavyyāśāna, and (6) Kāyakleśa.[13] The uttarādhyayana[14] enumerates the six forms of external austerities thus : Anaśana, Unodarī, Bhikṣācarī Rasaparityāga, Kāyakleśa, Saṅlīnatā ; *i.e.* instead of Bhikṣāearī and Saṅlīnatā there Vṛttiparisaṅkhyāna and Viviktasayyāaśan respectively. However, these do not differ in meaning. (1) Anaśana implies fasting or abstinence from food either for a limited period of time, or till the separation of the soul from the body.[15] It is performed for purpose of practising self-control, exterminating attachment, annihilating Karmas, performing meditation and acquiring scriptural knowledge, and not for the purpose of any mundane achievement whatsoever.[16] It may be noted here that Anasana has been recognized as the simultaneous renunciation of food and the attachment to it. Mere maceration of the body is not fasting.[17] (2) Avamaudarya means not to take full meals ; *i.e.* out of the normal quantity of thirty-two morsel[18] for man, and twenty-eight for woman, the reduction of even one morsel will come within the range of this Tapa.[19] The observance of this austerity has been calculated to offer control over the senses and sleep, to assist in the practising of Dharmas successfully, to help in the performance of the six essentials, the self study, and the like.[20] (3) Vṛttiparisaṅkhyāna[21] means the pre-determination of the saint regarding the number of houses to be visited, the particular manner

of taken food, the specific type of food, the giver of specific qualification, when he sets out to beg for food.[22] In other words, the saint adheres to his predecided things ; if the things conform literally to his predecision he would accept the food ; otherwise he would go without it for that day. This is to uproot the desire for food.[23] (4) Rasaparityāga indicates the abstinence from the one or more of the following six articles of food, namely, milk, curd, ghee, oil, sugar, salt ; and from one or more of the following kinds of tastes, namely pacrid, bitter, astringent, sour and sweet.[24] This is performed for the emasculation of the senses, subduing sleep, and the unobstructed pursuance of self-study.[25] (5) Viviktasayyāśana[26] implies the choice of secluded place which is not frequented by women, eunuchs, she-animals, depraved householders etc. and which may serve the real purpose of meditation, self-study and chastity. and is not the cause of attachment and aversion.[27] (6) Kāyakleśa mean the putting of the body to certain discomforts by employing certain uneasy and stern postures and by practising certain other bodily austerities of severe nature, for instance of *remaining in the sun in the* summer, and the like.[28] The object of Kāyakleśa is to endure bodily discomfort, to alleviate attachment *to pleasurs.*[29]

We have so far explained the nature of external austerities, and have seen that the performance of these austerities does not merely aim at the physical renunciation, but also at the overthrow of the thraldom of the body and senses. In other words, the external asceticism is capable of being justified only when it contributes towards the inner advancement of man; otherwise in the absence of which it amounts to labour which is wholly lost. The Mūlācāra says that the external austerity should not engender mental disquietude, abate the zeal for the performance of disciplinary practices of ethical and spiritual nature, but it should enhance spiritual convictions.[30] This exposition brings to light the inward tendency of outward asceticism, or physical renunciation, and decries the mere flagellation of the body. The enunciation of Samantabhadra that the external austerity serves for the pursuance of spiritual austerity also clearly shows the emphasis laid by Jainism on the internal aspect of Tapa.[31] After vindicating the claims of the outward ascetic discipline in the ethical set up of Jaina preaching, we set out to discuss the nature of internal austerities.

*Internal austerities*

The internal austerities are also enumerated as six in kind, namely, Prāyascitta (2) Vinaya, (3) Vaiyāvṛtta (4) Svādhyāya, (5) Vyutsarga and (6) Dhyāna.[32] (1) The process by virtue of which a saint may seek freedom from the committed transgressions may be termed as Prāyascitta.[33] According to Kārtikeya, that is the real Prāyscitta wherein the commission of some fault is not repeated even if the body may be cut to hundred pieces.[34] It is of ten kinds : (a) Ālccanā, (b) Pratikramaṇa, (c) Ubhaya, (d) Viveka, (e) Vyutsarga (f) Tapa, (g) Cheda, (h) Mūla, (i) Parihāra, (j) Sradhāna.[35] The Tattvārthasūtra[36] enumerates only nine kinds, eliminating Sradhāna, and probably substituting the name Upasthāpana for Mūla. To dwell upon them in succession : (a) Ālocanā implies the expression and confession of transgression before the Guru after avoiding ten kinds of defects.[37*] (b) Pratikramaṇa is self-condemnation for the transgression.[38] (c) To perform both Ālccanā and Pratikramaṇa for certain major faults like bad dreams etc. is Ubhaya.[39] (d) To renounce a thing which has been wrongly used is Viveka, or when the Guru prescribes the renunciation of a certain place, time and object, that is also Viveka.[40] (e) To engage oneself in Kayotsagra is called Vyutsarga.[41] (f) To engage oneself in external

austerities or fasts is called Tapa.[42] (g) When the Guru cuts short the life of sainthood, it is called Cheda.[43] (h) To re-establish one in saintly life is Mūla.[44] (i) To expell a saint from the order of monks is called Parihāra.[45] (j) To redevelop belief in the true order is Sradhāna.[46]

(2) Vinaya implies either the control of senses and the eradication of passions, or the holding of humbleness for the triple-jewelled personalities.[47] All scriptural study in the absence of Vinaya gose to the wall. The outcome of the former should be the latter which in turn entails progress and prosperity.[48] The outward and mundane consequences of Vinaya are wide recognition, friendship, respect, grace of Guru, obedience to the command of Jina, and destruction of ill-will, while the inward and suprermundane fruits of Vinaya are easiness in Self-restraint and penances, the acquisition of knowledge, purification of self, the emergence of the feeling of gratitude, simplicity and commendation of other man's qualities, the destruction of conceitedness, and lastly the attainment of emancipation.[49] Fivefold classification of Vinaya-(a) Darśana, (b) Jñāna, (c) Cāritra, (d) Tapa and (e) Upacāra has been recognised.[50] The Tattvārthasūtra speaks of the first four and probably includes Tapa Vinaya into Cāritra Vinaya.[51] In the Jaina writings we also find a mention of the five type of Ācār-Darśenācāra, Jñānācāra, Cāritrācāra, Tapācāra, and Viryācāra. The first four seem to be the quite same as the first four Vinayas. Really speaking, Vinaya is a disposition, while Ācāra is an activity. The two are related as the inward and the outward, only theoretically distinguishable. (a) The disposition of observance of the eigth constituents of Samyagdarsana, of the devotion to the adorable five souls has been designated as Darśana Vinaya.[52] It is also regarded as belief in Dravyas and Paryāyas.[53] (b) He who reflects, preaches and utilises knowledge for higher progress is regarded as having Jñāna Vinaya.[54] (c) To control the senses and passions, to observe Gupti and Samiti are included in Cāritra Vinaya.[55] (d) To be elated in presence of saints performing excellent penances, and not to depreciate others are called Tapa Vinaya.[56] (a) Upacāra Vinaya is worldly modesty. It is the expression of modesty through body, mind and speech. To stand up out of respect for the saint, to bow down, to offer him a seat, to give him send off by following him a little distance—all these are included in bodily modesty.[57] To speak beneficial, balanced, sweet, respectful, purposeful words is vocal modesty.[58] The controlling of mind from vices and the pursuing of virtues are regarded as mental modesty.[59] The expression of Upacāra Vinaya should not only be limited to Guru, but householders, nuns and other monks are also required to be shown this sort of Vinaya.[60]

(3) The rendering of service to saints by means of medicine, preaching etc. when they are overwhelmed by disease, Pariṣahas and perversities is called Vaiyāvṛttya.[61] This austerity is performed for uprooting the feeling of abhorrence of dirt, disease etc., for spiritual realisation, and for revealing affection for the spiritual path.[62]

(4) Scriptural study or Svadhyaya, in the first place, comprises the fact of faultlessly making intelligible either the words or meaning or both to the person curious to learn without the expectance of any return;[63] secondly, the asking of questions with a view to clear away doubts or to confirm ones conviction regarding words and meanings, or both;[64] thirdly, the constant dwelling upon the assimilated meaning to the extent that the mind may dive deep and submerge itself into the meaning so as to attain the same form like a hot iron ball;[65] fourthly, the fact of memorising the scriptures and their repeated revision with unerring pronunciation,[66] fifthly, the moral preachings illustrated with the life of great men without the desire to earn

worldly benefits and prestige, but with the desire to eradicate the unworthy path, to remove doubts, and to illumine the essential aspects of life.[67]

According to the Jaina, that is right knowledge which can enlighten the essence of life, foster self-control, direct the mind from the "abyss of sensuality to the plane of the spirit",[68] instill the spirit of detachment, inspire the pursuance of noble path, and develop fraternal feelings with all beings,[69] Scriptural study may very well be equated with type of knowledge. Besides, it confers upon the aspirant the benediction that senses are restrained, three Guptis are observed, mental concentration is obtained, and humbleness pours in.[70] The man with the knowledge of Sutras saves himself from being led astray, just as the needle with thread is not lost.[71] Kuṇḍakuṇḍa emphasizes the importance of scriptural study by pronouncing that it serves to exhaust the heap of delusion.[72] Pūjyapāda points out that the purpose of Svādhyāya is to enrich intellect, to refine moral and spiritual efforts, to infuse detachment and fear from the mundane miseries, to effect an advancement in the practice of austerities, and to purify defects that may occur when one pursues the divine path.[73] In addition to these objectives fulfilled by Svādhyāya, Akalanka recognises that it also serves to perpetuate the religion preached by the omniscient Tīrthaṅkara, to uproot one's own doubts and those of the co-religionists, and lastly, to defend the basic doctrines against the onslaughts of antagonistic philosophers.[74] For those who are fickle-minded, intellectually unsteady, nothing is so potent to terminate such a state of mind as the pursuance of Svādhyāya or the scriptural study, just as darkness can only be nullified by the light of the sun.[75] It brings about mental integration and concentration, inasmuch as the aspirant overcomes the hindrances by ascertaining the nature of things through the study of the scriptures.[76] Without the acquisition of scriptural knowledge, there always abides a danger of being led astray from the virtuous path, just as the tree full of flowers and leaves cannot escape its deadening fate for want of the root.[77] Thus, the significance of Svādhyāya is so great that of the twelve kinds of austerities already discussed, Svādhyāya is unsurpassable.[78] If scriptural study offers an incentive to the householder to lead the life of a saint by consecrating himself completely to meditation and devotion, it serves as a temporary help for the sojourn of the saint when he experiences meditational fatigue. It imparts meditational inspiration and intellectual fund and satisfaction. It is at once a "tonic to the brain and sauce to the heart.[79] It bestows upon us philosophical satisfaction about the truths of mystical religion and creates an insatiable desire to have an actual experience of these truths. "It brings home to the mystic's mind the sense of weakness, finitude and helplessness and awakens the Sadhaka to the need of making more efforts, of cultivating the moral virtues and of enhancing his meditations and devotions."[80]

(5) Vyutasarga signifies the relinquishment of external and internal Parigraha.[81] The former comprises living and non-living Parigraha, and the latter, the fourteen kinds of passions.[82]

*General nature and types of Dhyāna.*

Having discussed the nature of five kinds of internal Tapas, we now proceed to dwell upon the nature of Dhyānas. It well not be amiss to point out that all the disciplinary practices form an essential background for the performance of Dhāyana. Just as the storage of water which is meant for irrigating the corn-field, may also be utilised for drinking and other purposes, so the disciplinary practices like Gupti, Samiti etc. which are meant for the cessation of the inflow of the fresh Karman may also be esteemed as forming the background for Dhyāna.[83]

In other words, all the disciplinary observances find their culmination in Dhyāna. Thus Dhyāna is the indispensable, intergral constituent of right conduct, and consequently, it is directly related to the actualisation of the divine potentialities. It is the clear, and single road by which the aspirant can move straight to the supreme good. To define Dhyāna, it represents the concentration of mind on a particular object, which concentration is possible only for an Antarmuhūrta (time below forty-eight minutes) to the maximum and that too in case of such souls as are possessing the bodies of the best order.[84] The stability of thoughts on one object is recognised as Dhyāna and the passing of mind from one object to another is deemed as either Bhāvanā, or Anuprekṣā, or cintā.[85] Now, the object of concentration may be profane and holy in character.[86] The mind may concentrate either on the debasing and degrading object, or on the object which is uplifting and elevating. The former which causes the inflow of inauspicious Karman is designated as inauspicious concentration (Apraśasta), while the latter which is associated with the potency of Karmic annulment is called auspicious concentration (Praśasta).[87] To be brief, Dhyāna is capable of endowing us with resplendent jewel, or with the pieces of glass. When both things can be had which of these will a man of discrimination choose ?[88] Śubhacandra distinguishes three categories of Dhyāna, good, evil, and pure in coformity with the three types of purposes, viz; auspicious, inauspicious and transcendental, which may be owned by a self.[89] At another place he categories Dhyāna as Praśasta and Apraśasta.[90] These two modes of classification are not incompatible, but evince difference of perspectives; the former represents the psychical or psychological view, the latter, the practical or ethical view. In a different way, the Praśasta type of Dhyāna may be considered to include good and pure types of Dhyāna within it; and this will again give us the two types of Dhyāna, namely, Praśasta and Apraśasta. The former category is divided into two types, namely, Dharma-Dhyāna and Śukla-Dhyāna, and the latter, also into two types, namely, Ārata-Dhyāna and Raudra-Dhyāna.[91] The Praśasta category of Dhyāna has been deemed to be potent enough to make the aspirant realise the emancipated status.[92] On the contrary, the Apraśasta one forces the mundane being to experience worldly sufferings.[93] Thus those who yearn for liberation should abjure Ārta and Raudra Dhyānas and embrace Dharma and Śukla ones.[94] In dealing with Dhyāna as Tapa, we are completely concerned with the Praśasta types of Dhyāna, since they are singularly relevant to the auspicious and transcendental living. But we propose, in the first instance, to discuss the nature of Apraśasta types of Dhyāna, since its exposition would help us to understand clearly the sharp distinction between the two categories of Dhyāna. To speak in a different way, if Praśasta Dhyāna is the positive aspect of Tapa, Apraśasta one reprents the negative one.

*Apraśasta Dhyāna*

(a) *Arta-Dhyāna* The word 'Ārta' implies anguish and affliction; and the dwelling of the mind on the thoughts resulting from such a distressed state of mind is to be regarded as Ārta-Dhyāna.[95] In this world of storm and stress, though there are illimitable things which may occasion pain and suffering to the empirical soul, yet all of them cannot be expressed by the limited human understanding. The four kinds of Ārta-Dhyāna[96] have been recognised. The first concerns itself with the fact of one's being constantly occupied with the anxiety of overthrowing the associated undesirable objects of varied nature.[97] In a different way, when the discomposure of mind results on account of the baneful association of disagreeable objects which are

either heard or perceived or which occur in mind owing to previous impressions, we have the first type of Ārta-Dhyāna, namely, Aniṣṭa-saṁyogaja.[98] The parting with of agreeable objects may also occasion discomposure of mind. To be overwhelmed by anxiety for restoring the loss is called the second type of Ārta-dhyāna, namely, Iṣṭa-viyogaja.[99] The constant occupation of mind to remove the distressing state of mind resulting from the diseased condition of the body is called the third type of Ārta-dhyāna, namely, Vedanā-Janita.[100] To yearn for agreeable pleasures and to contrive to defeat and slander the enemy constitute what is called as the fourth type of Ārta-dhyāna, namely, Nidāna-Janita.[101] In other words, to make up one's mind for and to constantly dwell upon the acquisition of the objects of sensual pleasures is termed as the fourth type of Ārta-dhyāna, namely, Nidāna-Janita.[102] It may be noted here that the Ārta-dhyāna in general is natural to the empirical souls on account of the evil dispositions existing from an infinite past.[103] It discovers itself owing to the presence of inauspicious leśyās like Kṛṣṇa, Nīla, and Kāpota in the texture of the worldly self, and brings about subhuman birth where innumerable pain-provoking things inevitably arise.[104] The Ārta-dhyāna with its four-fold classification may occur in the perverted, as also in the spiritually converted, and partially disciplined personalities. Even the saint associated with Pramāda gets sometimes influenced by the above types except the fourth.[105] It will not be amiss to point out that just as the householder cannot escape the Hiṁsā of one-sensed Jīvas, even so he cannot avoid Ārta-dhyāna. No doubt, he can reduce it to an irreducible extent, but cannot remove it altogether unlike the saint of a high order.

(b) *Raudra-dyāna*

We now proceed to explain the Raudra-dhyāna which has also been enumerated as of four kinds. To take delight in killing living beings, to be felicitous in hearing, seeing and reviving the oppression caused to sentient beings, to seek ill of others, to be envious of other man's prosperity and merits, to collect the implements of Hiṁsā, to show kindness to cruel persons, to be revengeful, to wish defeat and victory in war-all these come within the purview of the first kind of Raudra-dhyāna, namely, Hiṁsānandi Raudra-dhyāna.[106] The individual whose mind is permeated by falsehood, who designs to entangle the world in troubles by dint of propagating vicious doctrines, and writing unhealthy literature for the sake of his own pleasure, who amasses wealth by taking recourse to deceit and trickery, who contrives to show faults fraudulently in faultless persons in order that the king may punish them, who takes pride and pleasure in cheating the simple and ignorant persons through the fraudulent language, may be considered to be indulging in the second type of Raudra-dhyāna, namely, Mṛṣānandi Raudra-dhyāna.[107] Dexterity in theft, zeal in the act of thieving, and the education for theft should be regarded as the third type of Raudra-dhyāna, namely, Cauryānandi Raudra-dhyāna.[108] The endeavour a man does to guard paraphernalia and pleasures of the senses is called the fourth type of Raudra-dhyāna, namely. Viṣāyanandi Raudra-dhyāna.[109] It deserves our notice that the undisciplined and partially disciplined persons are the subjects of Raudra-dhyāna.[110] Though the partially disciplined persons are the victims of this Dhyāna on account of their observing partial conduct, i.e. partial Ahiṁsā, partial truth, partial non-stealing, partial non-acquisition and partial chastity, yet Raudra-dhyāna of such an unmitigable character along with Samyagdarśana is incapable of leadidg one to experience miseries of hellish beings.[111] The life of the saint is exclusive of this Dhyāna, since in its presence conduct

degenerates.[112] This Dhyāna, also occurs in the self without any education and is the result of the intensest passion, or the Kṛṣṇa, Nīla and Kāpota Leśyās.[113]

*Pre-requisites of Praśasta Dhyāna*

Next in order comes the Praśasta type of Dhyāna which may be called Dhyāna proper. This type of Dhyāna is contributive to Mokṣa or final release. Before we directly embark upon the study of the types of Praśasta Dhyāna, it is of primary and radical importance to delineate their pre-requisites which will enforce banishment of all the inimical elements robbing the soul of the legitimate disposition and proper conduct for spiritual advancement. In consequence the self will gain strength to dive deep into the ordinarily unfathomable depths of the mysterious self. Indubiously, in the intital stages the purity of empirical and psychical background is the indispensable condition of Dhyāna. The necessary pre-requistes, of Dhyāna, in general, may be enumerated by saying that the subject must have the ardent desire for final liberation, be non-attached to worldly objects, possess unruffled and tranquil mind, be self-controlled, stable, sense-controlled, patient and enduring.[114] Besides, one should steer clear of (1) the worldly, (3) the philosophico-ethical, and (3) the mental distractions, and look towards the suitability of (4) time, (5) place, and (6) posture, and (7) towards the attainment of mental equilibrium, before one aspires for Dhyāna conducive to liberation. We now deal with them in succession. (1) The life of the householder is fraught with numberless disturbances which impede the development of his meditational disposition. Subhacandra holds and antagonistic attitude towards the successful performance of Dhyāna in the life of the householder. He expresses his view in very emphatic words that we may hope the occurrence of the flower of the sky, and horn of the donkey at some time and place, but the adornment of the householder's life with the Dhyāna is never possible.[115] All this must not imply that the householder is outright incapable of performing Dhyāna, but it should mean that he cannot perform Dhyāna of the best order which is possible only in the life of the saint. (2) If the aspirant, despite his saintly garb suffers from the philosophical and ethical delusions he will like wise lose the opportunity of performing Dhyāna. In other words, right belief and right conduct cannot be dispensed with, if Dhyāna is to be performed. (3) The control of mind which in turn leads to the control of passions and senses is also the essential condition of Dhyāna. Mental distraction like mental perversion hinders meditational progress, and to achieve liberation without mental purity is to drink water from there where it is not, i.e. from the river of mirage.[116] That is Dhyāna, that is supreme knowledge, that is the object of Dhyāna by virtue of which the mind after transcending ignorance submerges in the self's own nature.[117] A man who talks of Dhyāna without the conquset of mind is ignorant of the nature of Dhyāna.[118] On the reflective plane, the recognition of the potential divinity of the empirical self and the consciousness of the difference between the empirical self and the transcendental self will unequivocally function as the mental pre-requisite condition of Dhyāna.[119] The practice of the fourfold virtues of Maitrī (friendship with all creatures), Pramoda (appreciation of the merits of others), Karuṇā (compassion and sympathy) and Mādhyastha (indifference to the unruly) has also been prescribed as the mental pre-requisite conditions of Dhyāna. These quadruple virtues, when practised in an earnest spirit, cause to disapper the slumber of perversion, and to set in eternal tranquillity.[120] (4-5) The selection of proper place, posture and time is no less importance for the performance of Dhyāna. The aspirant should avoid those

places which are inhabited by the vicious, hypocrites, and the acutely perverted persons, and by gamblers, drunkards, harlots etc. and should also avoid those place which may be otherwise disturbing.[121] He should choose those places which are associated with the names of holdy Tīrthaṅkaras and saints.[122] A bank of a river, a summit of a mountain, an Island, and a cave and other places of seclusion and inspiration, should be chosen for practising spiritual concentration.[123] As regards the posture for Dhyāna, for the people of this age who are generally deficient in energy, Paryaṅka or Padma and Kayotsarga postures are especially recommended.[124] For him, every porture, every place and every time is fit for meditation, whose mind is immaculate, stable, enduring, controlled and detached.[125] A place may be secluded or crowded, the saint may be properly or improperly seated, the stability of saints' mind is the proper time for meditation.[126] Śubhacandra very beautifully protrays the mental and the physical picture of a saint preparing for meditation. The mind of the saint should be purified by the waves of the ocean of discriminatory enlightenment, be destitute of passions, be like an unfathomable occean, be undeviating like a mountain, and should be without all sorts of doubts and delusions. Besides, the posture of the saint should be such as to arouse suspicion in the mind of a wise man regarding his being a stone-status or apainted figure.[127] The Yogi who attains sturdiness and steadfastness in posture does not get perturbed by being confronted with the extremes of cold and heat and by being harassed by furious animals.[128] (7) The saint who has controlled his mind and purged it of perversion and passions may be said to have attained initial mental enquipoise by virtue of which he is not seduced by the sentient and non-sentient, the pleasant and unpleasant objects.[129] The consequence of this is that his desires vanish, ignorance disappears, and his mind is calmed. And above all he can sweep away the filth of Karman within a twinkle of an eye.[130] The great Ācārya Subhacandra is so much overwhelmed by the importance of this sort of mental poise that he pronounces this as the Dhyāna of the best order.[131] Thus mental enqanimity precedes Dhyāna.

*Process of Dhyāna*

After dealing with the pre-requisites of Dhyāna, we now propose to discuss the process of Dhyāna. For the control of the mind, and for the successful performance of Dhyāna the process of breath-control (Praṇāyāma) may be necessary, but it being painful engenders Ārta-dhyāna which consequently deflects the saint from his desired path.[132] Besides, the process of breath-control develops diverse supernormal powers which serve as hinderances to the healthiest developments of the spirit.[133] Hence the better method is to withdraw the senses from the sensual objects and the mind from the senses, and to concentrate the mind on the forehead (Lalāta).[134] This proces is called Pratyāhāra. The ten places in the body have been enumerated for mental concentration, namely the two eyes, the two ears, the foremost point of the nose, the forehead, the mouth, the navel, the head, the heart, the palate, the place between the two eye-brows.[135] The Yogī should contemplate his original underived potency of the self, and compare his present state with the non-manifested nature of the self. He should regard ignorance and Sensual indulgence as the causes of the fall. Then, he should be determined to end the obstructions to the manifestation of the transcendental self by dint of the sword of meditation. He should express his resolution by affirming that he is neither a hellish being, nor an animal, nor a man, and nor a celestial being, but a transcendental being devoid of these mundane transformations which result from the Karmic association.[136] And again, being

possessed of infinite power, knowlede, intuition and bliss, he must not go away from his original nature.[137] Having determined in this manner, the patient, enduring, steadfast, and crystal pure Yogī should meditate upon the material and non-material objects as possessing the triple nature of origination, destruction and continuance, as also upon the omniscient embodied and disembodied souls.[138] Having meditated upon the six kinds of Dravyas in their true nature, the Yogī should either acquire the spirit of non-attachment or enrapture his mind in the occean of compassion[139] Afterwards he should begin to meditate upon the nature of Paramātman who is associated with the number of original and unique characteristics.[140] The Yogī gets engrossed with these characteristics, and endeavours, to enlighten his own self with spiritual illumination. He gets immersed in the nature of Paramātman to such an extent that the consciousness of the distinctions of subject, object, and the process vanishes.[141] This is the state of equality (Samarasībhāva) and indentification (Ekīkaraṇa) where the self submerges in the transcendental self, and becomes non-different from it.[142] This sort of meditation is called Savīrya-dhyāna.[143]

There is another way of speaking about the process of Dhyāna. Of the three states of self, namely, external, internal and transcendental, the Yogī should renounce the external self, and meditate upon the transcendental self by means of the internal self.[144] In other words, after abandoning the spirit of false selfhood and after attaining spiritual conversion, the Yogī should ascend higher through the ladder of the latter with the legs of meditation. The ignorant is occupied with the renunciation and possession of external objects, while the wise is occupied with the renunciation and possession of internal ones; but the superwise transcends the thoughts of the external and internal.[145] Hence, in order to attain this last state, the Yogī after isolating the self from speech and body should fix his mind on his own self, and perform other actions by means of speech and body without mental inclination.[146] The constant meditation upon the fact, 'I am that', 'I am that' results in the steadfastness of Ātmanic experience.[147]

The author of the Jñānārnava, in addition, elaborately expounds the process of Dhyāna by classifying Dhyāna into (1) Piṇḍastha, (2) Padastha, (3) Rupastha and (4) Rupātīta.[148] Though the credit of their lucid exposition devolves upon Śubhacandra, yet the credit of suggestion and enumeration in the history of Jaina literature goes to Yogīndu who is believed to have lived in the 6th century A.D. much earlier then Śubhacandra.[149] We shall now dwell upon this fourfold classification. (1) Piṇḍastha-dhyāna comprises the five forms of contemplation[150] (Dhāraṇās) which are explained in the following way. (a) The Yogī should imagine a motionless, noiseless and ice-white ocean in Madhyaloka. In the centre of the ocean he should imagine a finely—constructed, resplendent and enchanting lotus of thousand petals as extensive a Jambūdvīpa. The centre of the lotus should then be imagined as having a pericarp which emanates yellowish radiance in all the ten directions. In the pericarp the Yogī should imagine a raised throne resembling the resplendence of the moon. And therein he should imagine himself seated in a serence frame of mind. He should then firmly believe that his self is potent enough to sweep away all the filth of passions and to demolish all the Karmas. This type of contemplation is called Pārthīvī-dhāraṇā.[151] (b) Afterwards the Yogī is required to imagine a beautiful, well-shaped lotus of sixteen petals in the region of his own naval. He should then imagine that each petal is inscribed with one of the sixteen vowels, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, and that the pericarp of this lotus is inscribed with a holy

syllable, ह्रैं. Afterwards he should imagine that the smoke is slowly coming out of the upper stroke of the holy syllable ह्रैं, and that after some-time the smoke turns itself into a flame of fire which burns the lotus of eight petals situated in the region of the heart. After this lotus, which represents the eight kinds of Karmas, has been reduced to ashes, the Yogī should imagine a fire sorrounding the body. After the body is reduced to ashes, the fire, in the absence of anything to burn, is automatically extinguished. This type of contemplation is called Āgneyī-dhāraṇā.[152] (c) The Yogī should then imagine the powerful winds which are capable of blowing away the ashes of the body. After the ashes are imagined to be blown away, he should imagine the steadiness and calmness of the wind. This type of contemplation is called Śvasanā dhāraṇā.[153] (d) The Yogī should then imagine heavily clouded sky along with lightening, thundering and rain bow. Such imagination should culminate in the constant downpour of big and bright rain drops like pearls. These rain drops are required to be imagined as serving the holy function of washing away the remnants of the ashes of the body. This type of contemplation is called Vāruṇī-dhāraṇā.[154] (e) Afterwards the Yogī should meditate his own soul as great as an omniscient, as bereft of seven constituent elements of the body, as possessed of radiance which is as immaculate as the full-orbed moon. He should, then, contemplate his soul as associated with supernormal features, as seated on the throne, as adored and worshipped by Devas, Devils and the men. After this he should meditate his soul as free from all kinds of Karmas, as possessed of all the divine attributes and qualities. This is called Tattvarūpavatī-dhāraṇā.[155] With this finishes the practising of the Pindastha-dhyāna which leads to the blissful life enduring and everlasting.[156]

(2-4) The Padastha-dhyāna means contemplation by means of certain Matric syllables, such as 'Om', 'Arahanta' etc.[157] Śubhacandra draws attention of the number of such syllables which need not be dealt with here. The Rupastha-dhyāna consists in meditating on the divine qualities and the extraordinary powers of the Arahantas.[158] The Yogī by virtue of meditating on the divine qualities imagines his own self as the transcendental self and believes that "I am that omniscient soul and not anything else.[159] "The Rupātīta-dhyāna implies the meditation on the attributes of Sidhātman. In other words, the Rupātīta-dhyāna is that wherein the Yogī meditates upon the self as blissful consciousness, pure, and formless.[160]

We have thus dwelt upon the various processes of Dhyāna. These different processes which may be brought under Prasasta-dhyāna are capable of leading us to the supreme state of transcendental existence. All this was a digression from the traditional enumeration which recognises four kinds of Dharma-dhyāna and four kinds of Śukla-dhyāna. We shall now deal with these kinds of Dhyāna.

*Dharma-dhyāna*

The word 'Dharma' implies the veriable nature of things, the ten kinds of Dharma, the triple jewels and the protection of living beings.[161] The four types of Dharma-dhyāna have been recognised, namely, (1) Ajña-vicaya, (2) Apāya-vicaya, (3) Vipāka-Vicaya, and Lastly (4) Saṅsthāna-vicaya.[162] (1) When the aspirant finds no one to preach, lacks subtle wit, is obstructed by the rise of Karmas, is encountered with the subtleness of objects and experiences the deficiency of evidence and illustration in upholding and vindicating any doctrine, he adheres to the exposition of the Arahanta after believing that the Arahanta does not misrepresent things. The aspirant may thus be said to have performed Ajñā-vicaya Dharma-dhyāna.[163]

Or he who has understood the nature of objects and who therefore makes use of Naya and Pramāṇa for justfying certain doctrines may be believed to have performed Ajña-vicaya Dharma-dhyāna.[164] We may here say that the purpose of this Dhyāna is to maintain intellectual clarity regarding the metaphysical nature of objects propounded by the Arahanta. (2) To ponder over the adeuqate ways and means of emancipating the souls from the wordly suffering caused by the perverted belief, knowledge and conduct,[165] and to meditate on the means of ascending the ladder of spiritual welfare,[166] are designated as Apāya-vicaya Dharma-dhyāna. Besides, the aspirant should give himself to serious contemplation : 'who am I ?' Why there are inflow and bondage of Karmas ? How Karmas can be overthrown? What is liberation ? and what is the manifested nature of soul on being liberated ?[167] If Ajñā-vicaya establishes oneself in truth, Apāya-vicaya lays stress on the means of realising the essential nature of truth. (3) Vipāka-vicaya Dharma-dhyāna implies the reflection on the effects which Karmas produce on the diverse empirical souls.[168] (4) The reflection on the nature and form of this universe constitutes what is called as Saṁsthāna-vicaya Dharma-dhyāna.[169] This kind of Dhyāna impresses upon the mind the vastness of the universe and the diversity of its constituents. By this Dhyāna the aspirant realises his own position in the universe. These four types of Dhyāna serve twofold purpose namely, that of suspicious reflection and self-meditation; i.e. they supply the material for the intellect and offer inspiration to the self for meditation. Though they do not seem to suggest any process of meditation, their subject-matter is such as to evoke active interest for nothing but self-realisation through self-meditation. Thus Dharma-dhyāna is meditation as well as reflection, the latter may pass into the former and the former may lapse into the latter. In other words, the four kinds of Dhyāna are reflective when intellectual thinking is witnessed, and they are meditative when the mind attains stability in respect of them. The best kind of Dharma-dhyāna is to meditate upon the self by fixing one's mind in it after renouncing all other thoughts.[170]

*Śukla-dhyāna*

Dharma-dhyāna which has so far been expounded prepares a suitable ground and atmosphere for ascending the loftiest spiritual heights. It claims to have swept away every iota of inauspicious dispositions from the mind of the aspirant. The Yogī has achieved self-mastery to the full, and has developed a unique taste for the accomplishment of that something which is unique. The Yogī, having brushed aside the unsteadiness of his mind now resorts to Śukla Dhyāna (Pure Dhyāna) which is so called because of its origination after the destruction or subsidence of the filth of passions.[171] Not all Yogīs are capable of performing this type of Dhyāna. Only those who are possessing bodies of the best order can have all the four types of Śukla-dhyāna.[172] Of the four types[173] of Śukla-dhyāna, namely, Pṛthaktva-vitarka-vicāra, Ekatva-vitarka-avicāra, Sūksmakriyāpratipātin, and Vyuparatakriyānivartin, the first two occur up to the twelfth Gunasthana with the help of conceptual thinking based on scriptural knowledge, and the last two crown the omniscient where conceptual activity of the mind abates to the last.[174] To dwell upon these types, the first type (Pṛthaktva-vitarka-vicāra) is associated with Pṛthaktva, Vitarka and Vicāra, i.e. with manyness, scriptural knowledge, and transition from one aspect of entity to another, for example, substance to modifications and vice versa, from one verbal symbol to another, and from one kind of Yoga (activity) to another.[175] In the second type (Ekatva-vitarka-avicāra) Vicāra is absent, consequently oneness displaces manyness. The mind

shortens its field of concentration to the effect that the Yogī meditates upon one substance, an atom, or a modification of substance with the assistance of only one kind of Yoga.[176] Hence the second type of Dhyāna is associated with Vitarka and Ekatva, i.e. with scriptural knowledge and oneness. With the performance of this second type of Dhyāna the Yogī reduces to ashes the four types of obscuring (Ghātin) Karmas. In consequence, the Yogī experiences infinite intuition, knowledge, bliss, and energy.[177] Thus the state of Jīvanmukti is attained. The omniscient occupies himself with the third type of Śukla-dhyāna (Sūkṣamakriyāpratipātin) when an Antarmuhūrta remains in final emanciparion.[178] After establishing himself in gross bodily activity, he makes the activities of mind and speech subtle.[179] Then after renouncing the bodily activity, he fixes himself in the activities of mind and speech, and makes the gross bodily activity subtle.[180] Afterwards mental and vocal activities are stopped[181] and only subtle activity of body is left. In the last type of Śukla-dhyāna (Vyuparatakriyānivartin) even the subtle activity of body is stopped. The soul now becomes devoid of mental, vocal and physical vibrations, and immediately after the time taken to pronounce five syllables it attains disembodied liberation.[182]

## LIST OF ABBREVIATIONS AND WORKS

Amita. Śrāva ... Amitagati-Śrāvakācāra (Anantakīrti Digambara Jaina, Granthamālā, Bombay).

Anagā. Dharmā ... Anagāradharmāmṛta of Āśādhara (Khusālacanda Gāndhi, Solapur)

Bhaga. Ārā ... Bhagavati-Arādhanā (Sakhārāma Nemacanda Digambara Jaina Granthamālā, Solapur)

Iṣṭopa ... Iṣṭopadeśa of Pūjyapāda (Rāyacandra Jaina Sastramālā, Bombay)

Jnānā ... Jnānārṇava of Śubhācandra (Rāyacandra Jaina Śāstramālā, Bombay)

Kārti ... Kārtikeyānuprekṣā (Rāyacandrā Jaina Śāstramālā, Bombay)

Mūlā ... Mūlācāra of Vaṭṭakera (Aanantakirti Digambara Jaina Granthamālā, Bombay)

Prava ... Parvacanasāra of Kundakunda (Rāyacandra Jaina Śāstramālā, Bombay)

Rājavā ... Rājavārtika of Aklanka (Bhāratiya Jnāna Pitha, Kāsī)

Saṭ Vol VIII & XIII ... Saṭkhaṇḍāgama of Puṣpadanta and Bhūtabati (Jaina Sahitya Uddharaka fund Karyālaya, Amraot)

Sarvārtha ... Sarvārthāsiddhi of Pūjyapāda (Bhāratiya Jnāna Pitha, Kāsī)

Svayāmabhū ... Svayamabhustotra of Samantabhadra (Viraseva Mandira, Sarasāvā)

T. Sū ... Tattvārthasūtra of Umāsvati under the title Sarvārthasiddhi (Bhartiya Jnānā Pitha, Kāsī)

Uttarā ... Uttarādhyayana (Sacred Books of the east Vol. XLV).

... Yoga of the saints by Dr. V. H. Date (Popular Book Depot, Bombay-7)

... Yogasāra of yogīndu (Rāyacandra Jaina Sastramālā, Bombay, along with Paramatmapreksina)

... History of Jaina Monachism by S. B. Deo. (Deeran College, Poona)

## REFERENCES


1. T. Sū. IX. 2.
2. T. Sū. IX. 3.
3. T. Sū. IX. 8.
4. Uttarā. 2.
5. T. Sū. IX. 9; Uttarā. 2.
6. Sarvārtha. IX. 9, Uttarā. 2.
7. Sarvārtha. IX. 9.
8. Uttarā 2/12,13.
9. Saṭ. Vol. XIII-P. 55; Anagā. Dharmā VII-2.
10. Sarvārtha. P. 439 Saṭ. Vol. XIII. P. 54; Anagā. Dharma. VII-6, Uttarā. 30/7
11. Sarvārtha. P. 439
12. Saṭ. Vol. XIII-P. 59; Anagā. Dharmā. VII-6.
13. T. Sū. IX. 19; Bhaga. Ārā. 208; Mūlā. 346.
14. Uttarā. 30/8.
15. Mūlā. 347; Uttarā. 30/9; Bhaga. Ārā.209.
16. Sarvārtha. P. 438.
17. Saṭ. Vol. VIII-P. 55.
18. Morsel consists of 1000 rice grains. (Anaga Dharma. VII-22) Saṭ. Vol. XIII-P. 56.
19. Mūlā. 350; Bhaga. Ārā. 211, 212; Anagā. Dharma. VII-22; Uttarā. 30/15; Saṭ. Vol. XIII-P. 56.
20. Mūla. 351: Anaga. Dharma. VII-22.
21. The Uttarādhyayana calls it Bhikṣācarī. "It consisted of imposing certain restrictions upon one-self regarding the mode of begging or the nature of the donor, or the quality of food or the way in which food was offered. (history of Jaina Monachism P. 188).
22. Mūla. 355; Karti. 443; Anaga. Dharma, VII-26; Bhaga. Ārā. 218 to 221; Saṭ. Vol. XIII-P. 57.
23. Sarvārthi. P. 438.
24. Mūlā. 352; Uttarā 30/26; Bhaga. Ārā. 215; Saṭ. Vol. XIII-P. 57.
25. Sarvārtha. P. 438.
26. The Uttarādhyayana calls it Saṁlīnatā. "It implies the choice of lonely place of stay devoid of women, enunuchs and animals. (Uttarā. 30/28).
27. Sarvārtha. P. 438, Kārti. 445, 447; Ācārasāra. VI. 15, 16; Mūlā, 357; Bhaga. Ārā. 228; Saṭ. Vol. XIII-P. 58.
28. Mūlā. 356; Sarvārtha. IX-19; Uttarā. 30/27; Ācārasāra. VI-19, Kārti. 448; Saṭ. Vol. XIII-P. 58; Bhaga Ārā. 222 to 227.
29. Sarvārtha. IX-19.
30. Mūlā. 358; Bhaga. Ārā. 236.
31. Svayambhū. 83.
32. T. Sū. IX-20; Mūlā. 360; Uttarā 30/30, Ācārasāra. VI. 21.
33. Sarvārtha. IX.20; Mūlā. 361; Saṭ. Vol. XIII-P. 69.
34. Kārti; 452.
35. Mūlā. 362; Saṭ. Vol. XIII-P. 60. Ācārasāra. VI-23, 24.
36. T. Sū. IX-22.
37. Sarvārtha. IX-22; Rājavā. IX-22/2.


* (1) To express faults by providing the Guru with certain necessary things, and serving him in various ways in order to arouse sympathy in his mind so that he might give him less Prāyascitta, is known as Akampita Doṣa.[1]

(2) To reveal transgressions after expressing one'a diseased condition and inferring Guru's attitude for less punishment is Anumānita Doṣa.[2]

(3-4-5) To manifest only open faults, great faults and minor ones is respectively called Drasta and Bādara and Sūkṣma Doṣa.[3]

(6) To ask the Guru regarding the Prāyascitta of certain faults and then to express his own ones is called Channa Doṣa.[4]

---

1. Bhaga. Ārā. 563. 2. Ibid. 570 to 573. 3. Ibid. 574, 577, 582. 4. Ibid. 586.

(7-8) To express faults indistinctly amidst loud voice and to doubt and ask others regarding the authenticity of Prāyascitta given by the Guru is respectively called Sabdakulita[1] and Bhaujana Pṛccha Doṣa.[2]

(9-10) To express one's faults before the other person who is devoid of knowledge and conduct and to except Prāyascitta from a saint who is likewise a defaulter is respectively called Avyakta,[3] and Tatsevi Doṣa.[4] The monk expresses his transgression to the Guru in a secluded place, whereas the nun expresses in presence of three persons.[5]

38. Anagā. Dharmā. VII-47; Ācārasāra. VI. 41; Saṭ. Vol. XIII-P. 60.
39. Anagā. Dharma. VII-48; Ācārasāra. VI. 42; Sarvārthā. IX-22; Saṭ Vol. XIII-P. 60.
40. Anagā. Dharma. VII. 49, 50, Ācārasāra. VI. 43, 44; Saṭ. Vol. XIII-P. 60.
41. Sarvārtha. IX. 22.
42. Sarvārtha. IX. 22; Ācārasāra. VI. 46; Anagā. Dharmā. VII. 52; Saṭ, Vol. XIII. P. 61.
43. Sarvārtha. IX. 22; Ācārasāra. VI. 57; Anagā. Dharma. VII. 54; Saṭ. Vol. XIII-P. 61.
44. Anagā. Dharmā. VII, 55; Ācārasāra. VI. 48; Saṭ. Vol. XIII-P. 62.
45. Sarvārtha. IX. 22.
46. Anagā. Dharma. VII. 57; Ācārasāra. VI. 65; Saṭ. Vol. XIII-P. 63.
47. Saṭ. Vol. XIII-P. 63; Ācārasāra. VI. 69; Anagā. Dharmā. VII. 60. Uttarā 30/32.
48. Mūlā. 385; Bhaga. Ārā. 128; Anagā. Dharmā. VIII. 62.
49. Mūlā. 386 to 388; Bhaga. Ārā. 129 to 131.
50. Mūlā. 364; Bhaga. Ārā. 112; Ācārasāra. VI. 70; Anagā. Dharmā. VII. 64.
51. T. Sū. IX. 23.
52. Mūlā. 365; Bhaga. Ārā. 114.
53. Mūlā. 366, 585.
54. Mūlā. 368; Sarvārtha. IX. 23.
55. Mūlā. 369; Bhaga. Ārā. 115.
56. Mūlā. 371; Bhaga. Ārā. 117.
57. Mūlā. 373 to 375, 382; Bhaga. Ārā. 119 to 122.
58. Mūlā. 377, 378, 383; Bhaga. Ārā. 123, 124.
59. Mūlā. 379, 383; Bhaga. Ārā. 125.
60. Mūlā. 384; Bhaga. Ārā. 127.
61. Mūlā. 391, 392; Sarvārtha. IX. 24.
62. Sarvārtha. IX. 24.
63. Sarvārtha. IX. 25; Rājavā. IX. 25.
64. Ibid.
65. Ibid.
66. Ibid.
67. Ibid.
68. Yoga of the saint. P. 66.
69. Mūlā. 267, 268.
70. Mūlā. 410, 969.
71. Ibid. 971.
72. Prava. 1-86.
73. Sarvārtha. IX. 25.
74. Rājavā IX. 25.
75. Amita. Śrāva. XIII-83.
76. Prava-III. 32.
77. Amita. Śrāva. XIII. 88.
78. Mūlā. 409, 970.
79. Yoga of the Saints P. 64.
80. Ibid. 65.
81. Mūlā. 406; Sarvārtha. IX. 26.
82. Mūlā. 407.
83. Rājavā. IX-27/26.
84. Rājavā. IX-27/10 to 15.
85. Saṭ. Vol. XIII-P. 64.

---

1. Ibid. 591. 2. Ibid. 596. 3. Ibid. 599. 4. Ibid. 603.
5. Rājavā. 9/22. Anagāradharmāmṛta, Ācārasāra and Rājavārtika express these faults in a similar way.

86. Kārti. 468.
87. Sarvārtha. IX-28.
88. Iṣṭopa. 20.
89. Jnānā. III. 27, 28.
90. Ibid. XXV. 17.
91. Kārti. 469; T. Sū. IX-28.
92. T. Sū. IX-29.
93. Sarvārtha. IX-29.
94. Tattvānuśāsana. 34, 220.
95. Sarvārtha. IX. 28.
96. Jnānā. XXV. 37. T. Sū, IX. 30 to 33.
97. T. Sū. IX. 30; Kārti. 471; Jnānā. XXV-28.
98. Jnānā. XXV. 27; Kārti. 471.
99, T. Sū. IX. 31; Jnānā. XXV. 31; Kārti. 472.
100. T. Sū. IX. 32; Jnānā. XXV. 32.
101. Jnānā. XXV-36.
102. Sarvāratha. IX-33.
103. Jnānā. XXV-41.
104. Jnānā. XXV-40, 42; Rājavā IX-33.
105. Jnānā. XXV-39, T. Sū. IX-34.
106. Jnānā. XXV-4, 9, 10, 11, 13, 15; Kārti. 473.
107. Jnānā. XXVI-16, 17, 18, 20, 22; Kārti. 473.
108. Jnānā. XXVI-24; Kārti. 474.
109. Jnānā. XXVI-29; Kārti. 474.
110. T. Sū. IX-36.
111. Sarvārtha. IX-36.
112. Ibid.
113. Kārti. 469, Jnānā. XXVI-43; Rājavā. IX-35/4.
114. Jnānā. IV-6. XXVII-3.
115. Jnānā. IV-17.
116. Jnānā. XXII-19.
117. Jnānā. XXII-20.
118. Jnānā. XXII-24.
119. Jnānā. XXVII-4.
120. Jnāna. XXVII-18.
121. Jnānā. XXVII-23 to 33.
122. Jnānā. XXVIII-1.
123. Jnānā. XXVIII-2 to 7.
124. Jnānā. XXVIII-12.
125. Jnānā. XXVIII-21.
126. Jnānā. XXVIII-22.
127. Jnānā. XXVIII-38 to 40.
128. Jnānā. XXVIII-32.
129. Jnānā. XXIV-2.
130. Jnānā. XXIV-11, 12.
131. Jnānā. XXIV-13.
132. Jnānā. XXX-9.
133. Jnānā. XXX-6. 134. Jnānā. XXX-3.
135. Jnānā. XXX-13.
136. Jnānā. XXXI-12.
137. Jnānā. XXXI-13, 14.
138. Jnānā. XXXI-17.
139. Jnānā. XXXI-18, 19
140. Jnānā. XXXI-20 to 24
141. Jnānā. XXXI-37.
142. Jnānā. XXXI-38.
143. Jnānā. XXXI-42. 144. Jnānā. XXXII-10.
145. Jnānā. XXXII-60. 146. Jnānā. XXXII-61.
147. Jnānā. XXXII-42. 148. Jnānā. XXXVII-1.
149. Yogasāra. 98. 150. Jnānā. XXXVII-2.
151. Jnānā. XXXVII-4 to 9.
152. Jnānā. XXXVII. 10 to 19.
153. Jnānā. XXXVII. 20 to 23.
154. Jnānā. XXXVII. 24 to 27.
155. Jnānā. XXXVII. 28 to 30.
156. Jnānā. XXXVII-31.
157. Jnānā. XXXVIII-1.
158. Jnānā. XXXVIX- 1 to 8.
159. Jnānā. XXXIX-42, 43.
160. Jnānā. XL-16.
161. Kārti. 476. 162. T. Sū. IX-36.
163. Sarvārtha. IX-36. 164. Sarvārtha. IX-36.
165. Sarvārtha. IX-36. 166. Mūlā. 400.
167. Mūlā. 11.
168. Sarvārtha. IX-36; Mūlā. 401.
169. Sarvārtha. IX-36. 170. Kārti. 480.
171. Jnānā. XLII-3, 6. 172. Jnānā. XLII-5.
173. T. Sū. IX-39. 174. Jnānā. XLII-7, 8.
175. Jnānā. XLII-13, 15 to 17.
176· Jnānā. XLII-27.
177. Jnānā. XLII-29. 178. Jnānā. XLII-41.
179. Ibid. 48. 180. Idld.49.
181. Ibid. 50. 182. Ibid. 58, 59.

T.G. Kalghatgi
*M.A., Ph.D. Reader in Philosophy, Karnatak University, Dharwar.*

# NATURE OF DIVINITY IN JAINA PHILOSOPHY

I. *Introduction :*

Religion, as a way of life and not merely as an institution, has been natural to man. It is man's reaction to the totality of things as he apprehends it. It implies an interpretation of nature and the meaning of the universe. It seeks to go beyond the veil of visible things and finds an inexhaustible fund of spiritual power to help him in life's struggle. And the 'presence' of God gave strength for man in his struggle in life. The ways of God to man and man to God have been rich and varied. It may be, as Prof. Leuba pointed out, that fear was the first of the emotions to become organised in human life, and out of this fear God was born. Perhaps love and gratitude are just as natural, as much integral parts of the constitution of man, as fear; and Gods were friendly beings. It is still possible that men have looked at Gods with a living sense of kinship and not with the vague fear of the unknown powers.[1] We do not know. But one thing is certain that in higher religions fear is sublimated by love into an adoring reverence.[2] From the fear of the Lord in *The Old Testament* to the worship of God 'with Godly fear and awe' is not a far cry.

In the Vedic period, we find a movement of thought from polytheism to monotheism and then to monism. The poetic souls contemplated the beauties of nature and the Indo-Iranian Gods, like Deus, Varuṇa, Uśas and Mitra were products of this age. Other Gods like Indra were created to meet the needs of the social and political adjustments. Many Gods were created; many Gods were worshipped. Then a weariness towards the many Gods began to be felt as they did dot know to what God they should offer oblations.[3] Then a theistic conception of God as a creator of the universe was developed out of this struggle for the search for a divine being. In ancient Greece, Xenophanes was against the polytheism of his time. Socrates had to drink hemelock as he was charged of denying the national Gods. He distinguished between many Gods and the one God who is the creator of the universe.

II. *The Jaina arguments against God :*

But the Jainas were against Gods in general and even the God as creator. They presented several arguments against the theistic conception of God. They deny the existence of a

Creator God and refute the theistic arguments of the Naiyayikas. The Naiyayika argument that the world is of the nature of an effect created by an intelligent agent who is God (Īśvara) cannot be accepted because :

1. I is difficult to understand the nature of the world as an effect as :

   (a) if effect is to mean that which is made of parts (Sāvayava) then even space is to be regarded as effect;

   (b) if it means coherence of a cause of a thing which was previously non-existent, in that case one cannot speak of the world as effect as atoms are eternal.

   (c) if it means that which is liable to change, then God would also be liable to change and he would need a creator to create him and another and so on ad infinitum. This leads to infinite regress.[4]

2. Even supposing that the world as a whole is an effect and needs a cause, the cause need not be an intelligent one as God because :

   (a) if he is intelligent as the human being is, then he would be full of imperfections, as human intelligence is not perfect;

   (b) if his intelligence is not of the type of human intelligence but similar to it, then it would not guarantee inference of the existence of God on similarity, as we cannot infer the existence of fire on the ground of seeing steam which is similar to smoke;

   (c) we are led to vicious circle of argument if we can say that the world is such that we have a sense that some one made it, as we have to infer the sense from the fact of being created by God.

3. If an agent had created the world, he must have a body. For, we have never seen an intelligent agent without a body. If a God is to produce intelligence and will, this is also not possible without an embodied intelligence.[5]

4. Even supposing a non-embodied being were to create the world by his intelligence, will and activity, there must be some motivation :

   (a) if the motive is just a personal whim, then there would be no natural law or order in the world;

   (b) if it is according to the moral actions of men, then he is goverened by moral order and is not independent;

   (c) if it through mercy, there should have been a perfect world full of happiness;

   (b) if men are to suffer by the effects of past actions (adṛsta) then the 'adṛsta' would take the place of God.

   But, if God were to create the world without any motive but only for sport it would be a 'motiveless malignity'.[6]

5. God's omnipresence and omniscience cannot also be accepted, because :

   (a) if he is everywhere, he absorbs into himself everything into his own self, leaving nothing to exist outside him;

   (b) his omniscience would make him experience hell, as he would know everything and his knowledge would be direct experience.[7]

6. It is not possible to accept the Naiyyayika contention that without the supposition of God, the variety of the world would be inexplicable, because we can very well posit other alternatives like (i) the existence of the natural order and (ii) a society of Gods to explain the universe.

But if a society of Gods were to quarrel and fall out as it is sometimes contended, then the nature of Gods would be quite so unreliable, if not vicious, that we cannot expect elementary co-operation that we find in ants and bees.

The best way, therefore, is to dispense with God altogether.[8]

We find similar objections against the acceptance of a theistic God, in Buddhism also. The Buddha was opposed to the conception of Īśvara as a creator of the universe.[9] If world were to be thus created, there should be no change nor destruction, nor sorrow nor calamity.

If Īśvara were to act with a purpose, he would not be perfect and that would limit his perfection. But if he were to act without a purpose his actions would be meaningless like a child's play.

There is nothing superior to the law of karma. The sufferings of the world are intelligible only on the basis of the law of karma. Though the Buddha admits the existence of the Gods like Indra and Varuṇa, they are also involved in the wheel of Saṁsāra.[10]

We have, so far, seen that the Jainas, so also the Buddhists, were against the theistic conception of God. God as a creator is not necessary to explain the universe. We have not to seek God there in the world outside, nor is God to be found in the 'dark lonely corner of a temple with doors all shut'. He is there within us. He is there with the tiller tilling the ground and the 'pathmaker breaking stones', in the sense that each individual soul is to be considered as God, as he is essentially divine in nature. Each soul when it is perfect is God.

III. *The Jaina Conception of Soul :*

The Jainas sought the divine in man and established the essential divinity of man. This conception has been developed in specific directions in Jaina philosophy.

The existence of the soul is persupposition in the Jaina philosophy. Proofs are not necessary. If there are any proofs we can say that all the pramāṇas can establish the existence of the soul. It is described from the phenomenal and the noumenal points of view. From the phenomenal point of view, it possesses prāṇas; is the lord (prabhu), doer (kartā), enjoyer (bhoktā), limited to his body (dehamātra), still incorporeal and is ordinarily found with karma.[11] From the noumenal point of view, soul is described in its sure form. It is pure and perfect. It is pure consciousness. It is unbound, untouched and no other than itself. We may also say that from this point of view it is characterised by upayoga which is a hormic force. The joys and sorrows that the soul experiences are due to the fruits of karma which it accumulates due to the incessent activity that it is having. This entanglement is beginningless, but it has an end. The deliverance of the soul from the wheel of saṁsara is possible by voluntary means. By the moral and spiritual efforts involving saṁvara and nirjarā, karma accumulated in the soul is removed. When all karma is removed, the soul becomes pure and perfect, free from the wheel of saṁsāra. Being free, with its upward motion it attains liberation or mokṣa. Pure and perfect souls live in eternal bliss in the Siddhaśila in the 'alokākāśa'.

They are the perfect beings. There is nothing other which is as perfect. There is no other God. The freed souls are divine in nature, as they are perfect and omniscient.

For the Jaina it is not necessary to surrender to any higher being nor to ask for any divine favour for the individual to reach the highest goal of perfection. There is no place for divine grace, nor is one to depend on the capricious whims of a superior deity for the sake of attaining the highest ideal. There is emphasis on individual efforts in the moral and spiritual struggle for self-realization. One has to go through the fourteen stages of spiritual struggle before one reaches the final goal in the ayoga kevali stage. These stages are the guṇasthānas.

IV. However, the struggle for perfection is long and ardous. Few reached perfection; and perhaps, as tradition would say, none would become perfect in this age. Among those who have reached omniscience and perfection are the tīrthankaras, the prophets, who have been the beacon lights of Jaina religion and culture. They have preached the truth and have helped men to cross the ocean of this worldly existence. They led men, like kindly light, to the path of spiritual progress.

Therefore, they need to be worshipped. The Jainas worship the tīrthankaras not because they are Gods, nor because they are powerful in any other way, but because they are human, and yet divine, as every one is divine in his essential nature. The worship of the tīrthankaras is to remind us that they are to be kept as odeals before us in our journey to self-realization. No favours are to be sought by means of worship; nor are they compentent to bestow favours on the devotees. The main motive of worship of the tīrthankaras, therefore, is to emulate the example of the perfect beings, if possible, atleast to remind us that the way to perfection lies in the way they have shown us. Even this worship of tīrthankaras arose out of the exigencies of social and religious existence and survival and possibly as a psychological necessity. We find a few temples of Gandhiji today, perhaps, there would be many more. The Buddha has been deified.

Apart from the worship of tīrthankaras, we find a pantheon of Gods who are worshipped and from whom favours are sought. The cult of the 'yakṣiṇi' worship and of other attendant Gods may be cited as examples. This type of worship is often attended by the occult practices and the tantric and mantric ceremonialism. Dr. P.B. Desai shows that in Tamilnad Yakṣiṇi was allotted an independent status and raised to a superior position which was almost equal to that of the Jaina. In some instances, the worship of Yakṣiṇi appears to have superseded even that of Jina.[12] Padmāvati, Yakṣiṇi of Pārśvanāth, has been elevated to the status of a superior deity with all the ceremonial worship in Pombuccapura in Mysore area. These forms of worship must have arisen out of the contact with other competing faiths and with the purpose of popularising the Jaina faith in the context of the social and religious competition. The cult of Jwālāmālini with its tantric accompanishments may be mentioned as another example of this motivation. The promulgator of this cult was, perhaps, Helācārya of Ponnur. According to the prevailing belief at that time, mastery over spells and mantravidyā was considered as a qualification for superiority. The Jaina ācāryas claimed to be master mantravādins.[13] Jainism had to compete with the other Hindu creeds. Yakṣi form of worship must have been introduced in order to attract the common men towards Jainism, by appealing to the popular forms of worship.
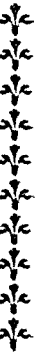
However, such forms of worship are foreign to the Jaina religion. They do not form an organic and constituent features of the Jaina worship. The course of religion had to encounter many conflicting tendencies. Some of the tendencies have been absorbed and assimilated in the struggle for existence and survival. We may, here, refer to the inconceivable changes the Buddhist forms of worship have undergone in the various countries of the world, like the tantric forms of worship in Tibetan Lamaism.

We have still some Gods in Jaina cosmogony. They are the 'devas' the Gods living in heavens like the 'bhavanavāsi', 'vyantaravāsi', 'jyotiśvāsi', and 'kalpavāsi'. But they are not really Gods in the sense of superior divine beings. They are just more fortunate beings than men because of their accumulated good karma. They enjoy better empirical existence than men. But we, humans, can pride ourselves in that the 'Gods' in these worlds cannot reach mokṣa unless they are reborn as human beings.[14] They are not objects of worship.

V. Struggle for perfection is a necessary factor in life. Sorrow and imperfection are a flavour to the sauce. They are necessary for onward journey in the spiritual struggle. The efforts of self-realization will have meaning only when this world becomes a vale of soul making and the life a real fight in which something is eternally gained.[15] Life is to be considered as a struggle towards perfection, and not merely an amusing pantomime of infallible marrionettes. We should realise that 'man is not complete, he is yet to be'. In what he is, he is small. He is hungering for something which is more than what he can get. In this struggle for perfection man need not depend on God or any superior being for favours, for he 'rolls as impotently as you or I'. Man has to depend on his own self-effort. The Jaina attitude is melioristic. Tagore writes, "In the midst of our home and our work, the prayer rises 'Lead me across'. For here rolls the sea, and even here lies the other shore waiting to be reached."[16]

## REFERENCES


1. Smith (U.R.) : *Religion of the Semites*, pp. 55.
2. D. Miall Edwards : *The Philosophy of Religion*, pp. 61.
3. 'Kasmai devāya haviṣam vidyema'.
4. Guṇaratna : *Tarka-rahasya-dīpikā*.
5. *Syādvādamanjari* of Mallisena with Hemacandra's *Anyayoga-Vyavaccheda-Dvatrimvisika* Edt : Dhruva A. B. Introduction.
6. Ibid. 6.
7. Guṇaratna : *Tarka-rahasya-dīpikā*.
8. Guṇaratna : *Saḍdarsana-samuccaya*, pp. 114.
9. Aśvaghoṣa's *Buddhacarita* gives a detailed description of the topic. Dialogues of Buddha. Also refer to *Syādvada Mañjari* for similar view.
10. Ibid.
11. *Pancāstikāyasāra*, pp. 27 and *Samayasāra* pp. 124.
12. Desai (P. B.) : *Jainism in South India*, (1957), pp. 72.
13. Ibid. pp. 74.
14. *Tiloya Paṇṇati* gives a detailed description of the three worlds.
15. William James : *The will to believe* (1889), pp. 61.
16. Tagore (R) : *Sadhana* : The Realization of the Infinite.

Miss Ruth M. Weil
*University of Wisconsin, U.S.A.*

# THE NON-VIOLENCE OF MAHATMA GANDHI & GITA

The life of Mahatma Gandhi (1870-1948), the great architect of the contemporary social and political India, the saint, philosopher, politician and religious reformer, truly can be viewed as an expression of India's cultural heritage. Unlike many contemporary western philosophers, who are sidetracked by the concept of "historical relativism", Gandhi sought the eternal truths, a search which seems to have occupied Indian seers and philosophers throughout recorded history. Gandhi said : "I do not claim to have originated any new principle or doctrine. I have simply tried in my own way to apply the eternal truths to our daily life and problems".[1]

Of all the written sources which attempt to reflect these truths, Gandhi held the Bible, the Koran and the Bhagavadgita in highest esteem. Although he recited quotations from all three of these at his evening prayers, he was probably most deeply influenced by the Gita. There is no doubt that Gandhi interpreted the teachings of the Gita in his own way, trying to prove that its philosophy of life supported his creed of non-violence. But that the Gita served as his guide at hundreds of moments of doubt and difficulty is evidenced by such words as :

> "I am a devotee of the Gita and a firm believer in the inexorable law of karma. Even the least little tripping or stumbling is not without its cause and I have wondered why one who has tried to follow the Gita in thought, word and deed should have any ailment.. The fact that any event or incident should disturb my mental equilibrium, in spite of my serious efforts, means not that the Gita ideal is defective but that my devotion to it is defective. The Gita ideal is true for all time..."[2]

It is evident that Gandhi made earnest efforts to follow the ideal of a sthitaprajna, as expressed in the Bhagavadgita. He was undisturbed in the midst of disturbed conditions, maintaining his balance of mind when others had lost it. When India was torn with communal riots and the hatred between Hindu and Muslim was causing the merciless massacre of hundreds of thousands of innocent people, Gandhi preached love and brotherhood, and underwent a fast unto death until peace was restored in the capital of India. Even when his assasin appeared at his evening prayers, Gandhi maintained the calm and composure of a sthitaprajna. Instead of attempting to escape or to retaliate, he folded his hands, uttered the name of God three times and smilingly embraced death.

The Gita says of the sthitaprajna :

> "He whose mind is untroubled in the midst of sorrows and is free from eager desire amid pleasure, he from whom passion, fear and rage have passed away—he is called a sage of settled intelligence." (2 : 56)

"This is the divine state, O Partha; having attained thereto, one is not again bewildered; fixed in that state at the hour of death one can attain to the bliss of God." (2 : 72)

Gandhi had an unshakable belief in God, a belief he held throughout his life. If we analyze his utterances about his theistic ideas, we reach the conclusion that his notion of, and faith in, God was partly borrowed from the Bhagavadgita, though his ethics based on this kind of metaphysics was his own interpretation. While defining God, Gandhi wrote :

"To me God is Truth and Love; God is ethics and morality; God is fearlessness. God is the source of Light and Life and yet He is above and beyond all these. God is conscience. He is even the atheism of the atheist. For in His boundless love God permits the atheist to live. He is the searcher of hearts. He transcends speech and reason...He is a personal God to those who need His personal presence. He is embodied to those who need His touch. He is the purest essence. He simply is to those who have faith. He is all things to all men. He is in us and yet above and beyond us".[3]

In the Gita Truth and fearlessness are inseparable—the very purpose of the Gita was to shatter Arjuna's illusions about the nature of reality and thus enable him to act righteously, without doubt or fear. God in the Gita is clearly the source of life (3:10; 10:20) and yet transcends life as we know it—the realm of Prakriti, in which multiplicity and tension among the gunas prevail. Of God 'the searcher of hearts' and 'the source of Light', Krishna, speaking as the Cosmic Person, says : "I, O Arjuna, am the self seated in the hearts of all creatures.. of the lights (I am) the radiant sun; of the stars I am the moon". (10:20-21)

As the disagreement among scholars testifies, the God of the Gita can be all things to all men. The Gita ultimately accords no essential difference, or superiority in status, between the indescribable, eternal, unitive Brahman, and the Lord who takes a human form to guide all that exists in the realm of differentiation. From a purely scholastic point of view, the concept of a personal God is incompatible with the second sophisticated metaphysics. Similarly, the scholar cannot reconcile the role alloted to the ritualistic and liturgical Vedas (though indeed it is a small role), or the presence of three "separate" paths to God in the Gita. But the iconoclastic spirit is foreign to Hinduism, for the sage knows that if the God search is sincere, no expression of this search is without some value and no guideposts without some function. In addition, the reality of the Divine does not lend itself to direct verbal communication. For these reasons Krishna says : "Let no one who knows the whole unsettle the minds of the ignorant who know only a part." (3:29)[4]

Though the metaphysics of the Gita is not pure Monism, it certainly holds the unchanging, unitive Self to be the source of all existence. It is noteworthy that Gandhi made an attempt to define God in his own way by adhering to a more pluralistic view of reality, saying : "I talk of God as I believe Him to be, creative as well as non-creative. This is the result of my acceptance of the doctrine of the manyness of reality...He is one and yet many."[5] Of the immanence of God he would say :

"There is an indefinable mysterious Power that pervades everything. I feel it, though I do not see it. It is this unseen Power which makes itself felt and yet defies all proof, because it is so unlike all that I perceive through my senses. It transcends the senses... I dimly perceive that while everything around me is ever changing, ever dying, there is

underlying all that change a living power that is changeless, that holds all together, that creates, dissolves and recreates. That informing power or spirit is God".[6]

But Gandhi was never willing to define the whole in terms of its parts. The transcendence of God was just as clear as His immanence to Gandhi, as we shall see when wed iscuss the relation of Gandhi's ethics to the Bhagavadgita.

The final point to note regarding the relationship between the Gita and Gandhi's theistic views is that he accepted the theory of *avatara*, or the periodic self-incarnation of God, as expressed in the Gita (15:7), and used the Gita's words, "Whenever there is a decline of righteousness and a rise of unrighteousness...I create myself incarnate" (4:7), to support his optimistic view about the vindication of truth.[7]

In the ultimate analysis of Gandhi's theistic views, we find an optimism born of intuition and firm conviction, an optimism which prompted him to say of the 'informing power or spirit' which is God :

"I see it is purely benevolent. For I can see that in the midst of death life persists, in the midst of untruth truth persists, in the midst of darkness light persists. Hence I gather that God is Life, Truth, Light. He is Love. He is the Supreme Good"[8]

Gandhi's philosophy of life rested greatly upon the Bhagavadgita, which he interpreted allegorically :

"The Gita is not a historical discourse. A physical illustration is often needed to drive home a spiritual truth. It is the description not of war between cousins but between the two natures in us—the Good and the Evil. I regard Duryodhana and his party as the baser impulses in man, and Arjuna and his party as the higher impulses. The field of battle is our own body. An eternal bettle is going on between the two camps, and the Poet-seer vivdly describes it. Krishna is the Dweller within, every whispering to a pure heart."[9]

Being a fighter for the independence of his country and in the midst of the social and political life of India, Gandhi was bound to be influenced by the efficacy of the Karma Yoga, which enjoins every individual to act without desire for the fruit of the action performed. But Gandhi wisely added : "The renunciation of fruit in no way means indifference to the result. In regard to every action one must know the result that is expected to follow, and the means thereto, and the capacity for it. He, who being thus equipped is without desire for the result and yet wholly engrossed in the due fulfillment of the task before him is said to have renounced the fruits of his action.'.[10]

It sounds self contradictory to say that a man may be without desire for the result, and may yet be wholly engrossed in the due fulfillment of the task before him. Gandhi tries to explain it only theoretically, although he said that his own life was a practical experiment with truth. He was intensely concerned with the justification of the means to the end, and thus speaks of the 'renunciation of fruit' in this manner :

"He who is ever brooding over result often loses nerve in the performance of his duty. He becomes impatient and gives vent to anger and begins to do unworthy things; he jumps from action to action never remaining faithful to any. He who broods over results is like a man given to objects of senses; he is ever distracted, he says good bye to all

scruples, everything is right in his estimation and he therefore resorts to means fair and foul to attain his end."[11]

Gandhi was convinced that this path of unselfish, dedicated action commanded by the Gita teaches us to follow truth and *ahimsa* (non-violence). His entire ethic of non-violence, as the force of love, on which he based his political philosophy of *satyagraha*, or the protest of truth, was based on his understanding of the Gita, as well as on his optimistic view of the nature of God and the world. He freely admits that the Gita was not written to establish *ahimsa* but implies that the omission of the emphasis on *ahimsa* was due to the fact that *ahimsa* was "an accepted and primary duty even before the Gita age."[12] In Gandhi's words :

"The message of the Gita is to be found in the second chapter of the Gita where Krishna speaks of the balanced state of mind, of mental equipoise. In 19 verses at the close of the 2nd chapter of the Gita, Krishna explains how this state can be achieved. It can be achieved, he tells us, after killing all your passions. It is not possible to kill your brother after having killed all your passions. I should like to see that man dealing death—who has no passions, who is indifferent to pleasure and pain, who is undisturbed by the storms that trouble mortal man."[13]

Though often convincing and eloquent, Gandhi's defence of *ahimsa* in the Gita, nevertheless, met formidable criticism and opposition. Thus he qualified his defence of *ahimsa* in the Gita in this manner :

"When the Gita was written, although people believed in *ahimsa*, wars were not only not taboo, but nobody observed the contradiction between them and *ahimsa*...Let it be granted, that according to the letter of the Gita it is possible to say that warfare is consistent with renunciation of fruit. But after forty year's unremitting endeavour fully to enforce the teaching of the Gita in my own life, I have, in all humility, felt that perfect renunciation is impossible without perfect observance of *ahimsa* in every shape and form."

When Gandhi defends his ethics of non-voilence, the emphatic difference in his mind between the transcendent, omnipotent God, or even the *avatar*, the human Divinity, and the mortal man, becomes clearer. Speaking of Krishna, he says : "My Krishna is the Lord of the Universe, the creator, preserver and destroyer of us all. *He* may destroy, because *He* creates."[14] Of the *avatar*, Gandhi comments : "According to the verse [ 4:8 of the Gita ] it is God the All-knowing who descends to the earth to punish the wicked. I may be pardoned if I refuse to regard every revolutionary as an all-knowing God or an *avatara*."[15] Commenting on the verse in the Gita which says: "He who is free from all sense of ' I ', whose motive is untainted, slays not nor is bound, even though he slays all these worlds," Gandhi emphatically states : "If we believe in Krishna to be God, we must impute to Him omniscience and omnipotence. Such an one can surely destroy. But we are puny mortals ever erring and ever revising our views and opinions. We may not without coming to grief, ape Krishna, the inspirer of the Gita."[16] And again he says ; "Truth excludes the use of violence, because man is not capable of knowing the Absolute Truth and therefore not competent to punish. God alone is competent."[17]

Wherever it is possible, Gandhi draws upon the Gita in support of his ethic. While speaking

of the law of karma, or its equivalent—this verse, for example : "In whatever way men resort to Me, even so do I render to them." (4:11)—he said :

> "If it be true that God metes out the same measure to us that we mete out to others, it follows that, it we would escape condign punishment, we may not return anger for anger but gentleness against anger."[18]

The *varnashrama dharma,* as found in the Gita, was an integral part of Gandhi's socio-individual ethic. Though his insistence on the necessary role of varna was misinterpreted and misused by the social reactionary, it is true that his understanding of *varna* is the weakest spot of his whole philosophy.

Gandhi's life and words[19] are proof that he believed implicity that all men were born equal. His acceptance of the classical fourfold division of *varna* was based on a functional division for service and, in his eyes, unrelated to status. The basis of *varna* in the Gita, *gunas* and works, Gandhi interprets not solely as the character and ability *with* which one is born, but makes one's varna synonymous with the varna *into* which one is born : "The law of varna is nothing, if not by birth."[20] Thus Gandhi interpreted varna as "the following on the part of us all of the hereditary and traditional calling of our forefathers, in so far as the traditional calling is not inconsistent with fundamental ethics, and this only for the purpose of earning one's livelihood."[21]

Gandhi explained the importance of *varna* on the grounds that the humble acceptance of one's father's profession easily ensured one's livelihood, and by thus minimizing the energies used to create material wealth *varna* maximized one's energies for "spiritual pursuits".[22] Though admitting that qualities attached to *varna* can be acquired, he said : "We need not, ought not, to seek new avenues for gaining wealth. We should be satisfied with those we have inherited from our forefathers so long as they are pure."[23]

Gandhi's interpretation of *varna*, in my humble opinion, does not correspond to that of the Gita, but rather reflects an unseemly obeisance to the bequest of the past. *Varna* in the Gita is not a tribal, but an occupational division, and one's *varna* does not necessarily correspond to the *varna* into which one is born.[21]

Gandhi's emphasis on self-denial and the minimization of one's material needs was undoubtedly partially generated by his mission to minimize the suffering of the people. The role Gandhi chose to play was a difficult one; the distinction between religious and political motives is not always clear.

Any other criticisms of Gandhi's understanding of the Gita must center around his allegorical interpretation of the Gita. In my opinion the peculiar setting of the Gita defies mere allegorical interpretation. Unlike the Upanishads which are dialogues between a forest dweller and an aspirant, the Bhagavadgita's message is occasioned by a moral, spiritual, intellectual, emotional and conative crisis in the life of a warrior, a man of action. The setting and resolution of the problem emphasizes the intersection of the timeless with time, and marks a distinct shift from Upanishadic speculative philosophy to practical religion. If the Kauravas are not solely the lower impulses in man, and the battlefield not merely man's body, then we must conclude that the Gita accepts warfare, if the battle is a necessary one and demanded by a

clear violation of the laws of justice,[25] and that the duty of a soldier is to be considered divine, even though that duty involves killing.

Gandhi's arguments in support of his ethic, based on his understanding of the Gita, are very convincing. His life is a testament to the sincerity of this understanding of the Gita. The Gita's message is still a moot question, and the ethics of the Gita has been understood differently by different commentators. The diversity of interpretation is possible because the philosophy of the Gita is not a system, but rather there is "a wide, undulating, encircling movement of ideas which is the manifestation of a vast synthetic mind and a rich synthetic experience."[26]

Though Gandhi's understanding of the Gita is simply another interpretation, it can be considered a legitimate one. There is no doubt that it is an appealing one.

## BIBLIOGRAPHY

"Bhagavadgita," *A Source Book in Indian Philosophy*, edited by Radhakrishnan, Sarvepalli, and Moore, Charles A., Princeton University Press, New Jersey, 1957.

Bhave, Vinoba, *Talks on the Gita*, Macmillan Company, New York, 1960.

Desai, Mahadev, *The Gita According to Gandhi*, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1946.

Fischer, Louis, *Gandhi, His, Life and Message for the World*, New York American Library (Signet Key Book), 1954.

Gandhi, Mohandas Karamchand, *Hiudu Dharma*, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1950.

Jones, Marc Edmund, *Gandhi Lives*, David McKay Company, Philadelphia, 1948.

Radhakrishnan, Sarvepalli, *The Hindu View of Life*, Macmillan Company, New York, 1962.

Sarma, D. S., *The Gandhi Sutras : The Basic Teachings of Mahatma Gandhi*, Devin-Adair Company, New York, 1949.

## REFERENCES

1. M. K. Gandhi, *Hindu Dharma*, p. 3.
2. *Ibid.*, p. 171.
3. "Young India," 5-3-'25, quoted in M. K. Gandhi, *Hindu Dharma*, p. 61.
4. Radhakrishnan says so beautifully : "Those who have seen the radiant vision of the Divine protest against the exaggerated importance attached to outward forms. They speak a language which unites all worshippers as surely as the dogmas of the doctors divide. The true seer is gifted with a universality of outlook, and a certain sensitiveness to the impulses and emotions which dominate the rich and varied human nature. He whose consciousness is anchored in God cannot deny any expression of life as utterly erroneous. He is convinced of the inexhaustibility of the nature of God and the infinite number of its possible manifestations." *The Hindu View of Life*, p. 27.
5. M. K. Gandhi, *Hindu Dharma*, p. 63.
6. *Ibid.*, p. 64.

7. Cf. the Commentary by Gandhi on this verse, in *The Gita According to Gandhi*, by Mahadev Desai, p. 196.
8. M. K. Gandhi, *Hindu Dharma*, p. 65.
9. Mahadev Desai, *The Gita According to Gandhi*, p. 136.
10. *Ibid.*, p. 131.
11. Mahadev Desai, *The Gita According to Gandhi*, p. 132.
12. *Ibid.*, p. 132.
13. M. K. Gandhi, *Hindu Dharma*, p. 179.
14. Mahadev Desai, *The Gita According to Gandhi*, p. 196.
15. *Ibid.*, p. 197.
16. *Ibid.*, p. 369.
17. *Ibid.*, p. 369.
18. *Ibid.*, p. 198.
19. Cf. M. K. Gandhi, *Hindu Dharma*, p. 360.
20. M. K. Gandhi, *Hindu Dharma*, p. 370.
21. *Ibid.*, p. 362.
22. *Ibid.*, p. 368.
23. *Ibid.*, p. 369. At this same site, the following conversation is recorded :

    Q. Do you not find a man exhibiting qualities opposed to his family character ?

    A. That is a difficult question. We do not know all our antecedents. But you and I do not need to go deeper into this question for understanding the law of varna as I have endeavoured to explain to you. If my father is a trader and I exhibit the qualities of a soldier, I may without reward serve my country as a soldier but must be content to earn my bread by trading.
24. Due to lack of space the conclusion I have reached after examining this question is stated without elaboration. However, this conclusion has been reached after an honest consideration of *varna* in the Gita, and could be substantiated if time permitted.
25. The historical circumstances, explained in the *Mahabharata*, leading to the battle clearly meet these qualifications.
26. Sri Aurobindo, *Essays on the Gita*, (first series), p. 9.

Dr. J. C. Sikdar
*M.A., Ph.D., Research Officer, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad.*

# SOME ASPECTS OF JAIN PSYCHOLOGY AS REVEALED IN THE BHAGAVATI SUTRA

Psychology is one of the necessary aspects of Philosophy, as it is the scientific study of soul—the central theme of knowledge. It is the whole scheme of experience which helps one understand the problem of being and matter. It throws light upon the nature of life, the truth of which is pursued by the modern Psychologists. The problem is very subtle to be explained, for there is a self-distinct bodily structure which is the basis of Psychology as revealed in the incidental evidences furnished by the Bhagavatī Sūtra.

In the evolution of life and the Universe as reflected in this canonical work there are found two traditions, viz. atom tradition (Paramāṇu) and self-tradition (ātmā), i.e. materialistic and spiritualistic. Matter and soul are eternal substances[1] and they exist mutually bound together in the Universe.

"Athi ṇaṁ bhaṁte jīvā ya poggalā ya annamannabaddhā annamannapuṭṭhā...annamannaghaḍattāe...ciṭṭhai".[2]

It is explained that Upayoga (consciousness or application) is the attribute of the soul which is the most fundamental characteristic of it. "Guṇao uvayogaguṇe."[3] "Uvayoge lakkhaṇe ṇaṁ jīve".[4] There are stated to be two kinds of Upayoga (consciousness), viz. Sākāropayoga (determinate consciousness) and anākāropayoga (indeterminate consciousness). "Sāgārovaoge ya aṇāgāroaoge".[5] Sākāropayoga (determinate consciousness) is Jñāna (knowledge) and anākaropayoga (indeterminate consciousness) is Darśana (self-awareness). "Sāgāre senāṇe bhavai aṇāgare se daṁsaṇe bhavai".[6]

Darsāna is self—awareness, while Jñāna is the comprehension of external objects of the nature of the universal-cum-particulars, as the application of the psychic process comes in the forms Darśana and Jnāna. It is revealed in the light of life and nature that the soul exhibits itself the state of being (i.e. manifests itself) by its own self.

"Jīve āyabhāveṇaṁ uvadaṁseti".[7]

The same view on the principle of Upayoga (consciousness) is explained in the Dhavalā Tīkā[8] thus that the consciousness of the soul is called 'Cit' which is revealed in the forms of bahirmukha-cit (external consciousness) and antarmukha-cit (internal consciousness), i.e. knowledge and self-awareness.

It is the principle of psycho-physical activities that all reactions of the soul are conditioned by the body, as it is the dual form, i.e. psycho-physical structure, according to the theory as

embodied in the Bhagavatī Sūtra which takes into consideration the noumenal and phenomenal aspects of beings, viz. prāṇas (eternal force or beings), indriyas (sense-organs), bala (strength), vīrya (energy, i.e.) mind—thought—force, speech (vāk) and body (kāya—vocal and bodily activities), āyus (span of life) and ānaprāṇa (breathing or life-expanding).

According to the principles as laid down in this canonical work there are two aspects of the psycho-physical activity, viz. natural (visrasā) or pure and applied (prayoga). The latter is the delusion—deviation from its normal position, when all activities are not in pure form, i.e. it is delusive transformation. Thus there are two kinds of transformation of the psychic process, viz. Rāga (attachment or feeling of attachment) and Devṣa (dislike or aversion).

"Siddhimajjhe nihaṇāhi ya rāgadosamalle taveṇa."[9]

These are the two fundamental tendencies in Jain Psychology as revealed in the Bhagavatī Sūtra.

The soul wants to maintain "I"; whatever is conducive to its preservation (or identity) is liked by it and what is not helpful to it is disliked by it. Rāga and Dveṣa are divided into four Kaṣāyas (decoction), i.e. passions, viz. krodha (anger), māna (pride), māyā (deceitfulness) and lobha (greed).[10]

These four Kaṣāyas have been discussed in the Kaṣāya Pāhuḍaṁ (Pejjadosavihatti) from the points of view of different kinds of Nayas (logic). It is explained that Pejja and Dosa are called Kaṣāyas because the characteristics of these two are to destroy the state of soul (Jīvabhāva), i.e. cāritradharma. "Pejjadosa (sa) be vi—jīvabhāvavinasanalakkhanattedo Kaṣāya ṇāma."[11] Rāga (attachment) originates from Pejja and Dveṣa from dosa.[12]

According to the Naigama and Saṁgraha Nayas krodha (anger) and māna (pride) are dosa, and māyā (deceitfulness) and lobha (greed) are pejja.

"Negamasaṁgahanam koho doso, māno doso, māyā pejja, loho pejja".[13]

Krodha (anger) and māna (pride) are dosa because they are accompanied by pain, and a man loses his conscience when he is under their control as a result of which evil consequences follow. Māyā is pejja because its support is the dear object of living, after the attainment of which pleasure arises in one's mind. Thus lobha (greed) also is pejja, because it is the cause of satisfaction and pleasure after the attainment of his dear objects.[14]

From the points of view of Vavahāra Naya krodha (anger), māna (pride), and māyā (deceitfulness) are dosa and lobha (greed) is pejja (dear).

"Vavahāraṇayassa koho doso, māno doso, māyā doso, loha pejjaṁ".[15]

Here it is explained that there lie the causes of disbelief and the public censure in the act of deceitfulness done by one. The act which becomes censured cannot be dear to one, because pain is always born out of the public censure. Lobha (greed) is pejja (dear), because life can happily be passed with enjoyable things saved by lobha (greed), i.e. out of greediness.

According to the Rju Sūtra Naya Krodha is dosa, māna is no-dosa and no-pejja and lobha is pejja.

"Ujusudassa koho doso, māno no-doso, no-pejjam, māyā no-doso no-pejjam, loho pejjam".[16]

It is further explained that māna (pride) and māyā (deceitfulness) are no-doso, because these two kasāyas are not the causes of bodily pain, etc., but they originate directly from krodha (anger) born out of māna (pride) and from lobha (greed) arising from māyā (deceitfulness) respectively. Similarly māna (pride) and māyā (deceitfulness) are also no-pejja, because pleasure is not found to be caused by them.

From the point of view of Sabda Naya Krodha (anger), māna (pride), māyā (deceitfulness) and lobha (greed) are dosa; the first three are no-pejja, but lobha (greed) is somewhat pejja.

"Saddassa koho doso, māno doso, māyā doso, loho doso/Koho māno māyā no-pejja, loho siya pejjam"[17].

The four kaśāyas—krodha (anger), māna (pride) māyā (deceitfulness) and lobha (greed) are dosa, because they are the causes of the influx of eight karmas, viz. jñānāvaraṇīya (knowledge—obscuring karma) upto antarāya karma (energy hindering karma) and those of dosa in this world and the next.

"Koho-māna-māyā-loha cattāri vi doso;

aṭṭhakammasavattado, ihaparaloya-visesadosa karaṇattado."[18]

One destroys love by krodha (anger), kills modesty by māna (pride), loses faith by Śāṭhya (deceitfulness) and lobha destroys all his qualities.

"Krodhāt prītivināśaṁ mānādvinayopa-ghātamāpnoti.
Śāṭhyāt pratyayahānim sarvaguṇa—vināśako lobhah".[19]

The first three kaṣāyas—krodha (anger), māna (pride), and māyā (deceitfulness) are no—pejja, because one does not get satisfaction and great pleasure from them.[20]

Lobha (greed) is somewhat pejja, because the attainment of heaven and liberation is found as a result of lobha (temptation or greed) regarding the achievement of the three jems, viz. Samyagdarśana (right attitude of mind), Samyag—Jñāna (right knowledge) and śamyag—cāritra (right conduct).

"Loho siya pejja, tirayaṇasahanavisaya lohado saggapavaggaṇamuppattidaṁsaṇado."[21]

The psychological development is quantitative, if one goes inward, there is the natural psychology; if he goes outward, he reaches the natural manifestation, i.e. instinct. This instinct needs stimulus from the outside world (i.e. psycho-physical), as it is revealed in the psycho-physical phenomena according to the conditions of the soul (leśyās).

Soul is studied and classified from eight points of view, viz. substance (dravya), passion (kaṣāya), activity (yoga), consciousness (upayoga), knowledge (jñāna), self-awareness (darśana), conduct (cāritra) and enesgy (vīrya). Accordingly there are stated to be eight kinds of soul, viz. dravyātmā (soul existing in matter), kaṣāyātmā (soul having passion), yogātmā (soul endowed with activity), upayogātmā (soul endowed with consciousness), jñānātmā (soul endowed with knowledge), darśanātmā (soul endowed with self-awareness), cāritrātmā (soul in conduct) and vīryātmā (soul endowed with energy),[22] as they are the different forms of manifestation of the soul. There exists psychologically a mutual relation, among these eight kinds of soul, for they are inter-related as the different aspects of one substance, namely, the soul. For example, he who has dravyātmā has in some respect kaṣāyātmā and he does not have it in other respect. But he who is endowed with kaṣāyātmā, has invariably dravyātmā.[23]

The study of these outlines of psychology reveals that the soul endowed with its inherent attribute—consciousness (upayoga) is the central theme of Jaina Psychology as embodied in the Bhagavatī Sūtra.

*Physical Basis of Mental Life*

Psychology of a being, particularly human being, originates with the birth of a child in the mother's womb in the process of transformation of its psycho-physical matters. Thus it is explained in this canonical work that a being may be born in its mother's womb with five sense-organs (saiṁdie) and mind (aniṁdie) at the same time, because with regard to the configuration and constituting matters of the physical sense-organs (dravyendriyāṇi) a psychic—sensed being (aninidriya—a being having a physical mind) is born, while with regard to the faculty of cognition, i.e. psychical mind (bhāvendriya), a sensed--being (saindriya), i.e. a being possessed of physical sense organs, is born. A dualism between mind and body is revealed here.

> "Siya saiṁdie vakkamai, siya aniṁdie vakkamai...davvaiṁdiyāiṁ paḍucca aniṁdie vakkamai bhāviṁdiyāiṁ paḍucca saiṁdie vakkamai."[24]

While being born in the womb, (gabbhaṁ vakkamamāṇe) a jīva (soul) is corporeal from the point of view of fiery (taijasa) and karmic bodies; it is incorporeal from that of the gross physical—, transformation—, and translocation—bodies, while from that of fiery (luminous) and karmic bodies, a bodied being is born.

> "Orāliya-veuvviya-āhārayāiṁ paḍucca asarīri vā
> Teyakamma o pa o sasao vakka o".[25]

It is further explained that when the mother sleeps, wakes up and becomes happy or unhappy, the child, born in her womb, also does and feels the same things.

> "Jīve...gabbhagae samāṇe...māue suyamāṇie suvai jāgaramāṇie jāgarai suhiyāe suhie bhavai duhiyāe duhie bhavai."[26]

According to the Bhagavatī Sūtra there are stated to be five kinds of bodies, viz. gross-physical body (audārika-śarīra), transformation-body (vaikriyika-śarīra), transformation-body (āhāraka-śarīra), fiery-body (taijasa-śarīra), and karmic body (karmana-śarīra), five sense—organs, viz. ear, nose, eye, tongue and skin, and three kinds of activity, viz. mental, vocal and bodily activities.[27]

This canonical work[28] throws some light upon the outer and inner structures of the five sense organs and sensation created by the outside stimulus received through them.

Thus it is explained that the shape of the ear is like that of a kalaṁba-puṣpa (kadambo-flower), those of the eye, nose, tongue and skin are like those masura caṁda (lentil), atimuttaga caṁda (a kind of shrub), khurupa (khurpa—the weeding and mulcling agricultural implement) and nāna (the skin of nāna—a kind of bulbous plant) respectively.

All these five sense—organs are individually an innumerableth part of on anglula by thickness (bahalla), while the ear is an innumerableth part by width (pohatta); thus upto that of the eye and nose; the tongue is one aṅgula (finger) by width (pohatta); and the skin is equal to the extent of the body. These five sense-organs, are endowed with infinite points (anantapradeśikas) and innumerable extensions (asaṁkhyeya pradeśāvagāḍha). The least of all these is the eye.

The description of the shapes and structures of these five sense-organs as given here agrees with that of their actual anatomical shapes and structures, studied and exhibited by the modern medical science, e.g. the ear is constituted of three parts, external ear (or auricle), the middle ear or tympanum and the internal ear or labyrinth. The middle ear with its drum covered with fine vibrating hairs, resembles the kadamba flower.

*Sensation and Modes of Sense organs :*

Sensation in the human brain is caused by the stimulus of the five sense-objects (indriya viṣaya),[29] received from outside, when the sense-organs come into contact with them. This process involves the factors of discrimination, assimilation, association and localization of the sense-objects and leads to preceptual knowledge. Thus it is explained that the ear hears the touched and entered sounds into it, the eye sees the touched and entered objects (i.e. the images of objects reflected on the retina of the eye); the nose smells the touched and entered smells; the tongue tastes the touched and entered objects; and the skin experiences the touches of the touched and entered objects.

"Puṭṭhāiṁ saddāiṁ suṇeti......paviṭṭhāiṁ saddāiṁ suṇeti......tahā paviṭṭhāṇīvi."[30]

The power of the ear to hear a sound is in the minimum an innumerableth part of an aṅgula (finger) and in the maximum it can hear sound from a distance of twelve yojanas; that of the eye is in the minimum an immunerableth part of an aṅgula and in the mixίmum it can see an object lying at a distance of seven thousand yojanas; that of the nose is in the minimum an innumerableth part of an aṅgula and in the maximum it can smell matter from a distance of nine yojanas. Thus the accounts of the minimum and maximum powers of the tongue and the skin should be known.

The principles of the theory of sensation as embodied herein agree with those of the modern psychology to a great extent. For example, it is explained therein that the sensation of sound is created in the brain, when sound waves, being converged by the outer ear, strike upon, the outer membrance of the ear-drum and make it vibrate and the vibrations are transmitted to the auditory nerve through the chain of bones, the inner membrance and the—contents of the labyrinth. Next, the disturbance of vibration is carried by the auditory nerve to the brain, causing finally the sensation of sounds.

*Sense-Perception :*

It is explained in the Bhagavatī Sūtra that when senses are applied to the sense—objects, the following psychological facts are involved in this process of perceptual knowledge (abhinibodhika jñāna)[31] or sense-perception, viz. avagraha (perceptual judgement of generality of object), i.e. there is something (objectivity), īhā (desire to know or speculation), avāya (determination) and dhāraṇā (retention or memorv).[32]

According to the modern psychology sensations caused by the stimulus of the five sense-objects lead to perceptual knowledge or sense-perception which is the result of the process of interpreting a sensation by differentiating it form the unlike sensation and absorbing it into the like by recalling to mind other connecting sensations and finally objectifying and localizing the whole aggregate of real and revived sensations backed by a belief in the real existence of the object.

*Memory and Imagination*

Memory and imagination involve the process of īhā (speculation or mental desire to know), apoha (exclusion), maggaṇa and gaveṣaṇā (searching and fathoming) by thought, transformation of thought, conditions of soul and annihilation-cum-subsidence of knowledge—obscuring karma.[33]

In the process of memory the images of the past sensible experiences accompanied by a belief are revived and recognized by an individual, i.e. having familiarity of characteristics of images, as it is evidenced in the case of Devānandā,[34] the Brāhmaṇī that she recognized in Lord Mahāvīra her former son.

*Thought (Cintā or mental activity)*

The process of mental activity (manayoga) is thought which is inter-connected with memory and imagination of the past events, objects, etc. and the imagination of the present and future acivities of life, as the mind acts and reacts to new objects of thought at every moment. Mind is matter (manadravya) and it is associated with the spiritual beings.[35] Its activities are the passing phases of matter. Mind, when operating is mind (mane manijjamāṇe maṇe) and it breaks forth, while operating (monijjamṇe maṇe bhijjati),[36] Mind is studied and classified into four kinds according to the relative objects of activity, viz. satya (true), mithyā (false), satayamṛṣā (true-cum-false), asatya-mṛṣā (untrue-cum-false), i.e. mind is related to true object, false object, true-cum-false object and untrue-cum-false object. Thus mind is the organ of apprehension of all sense-objects and knowledge (sarvārtha-grahaṇaṁ manah).[37] while thought which implies comprehension is abstract representative mental activity involving snalysis in the form of obstraction and synthesis in that of comparison and expressing itself through speech or language.

*Dream*

The Bhagavatī Sūtra throws a welcome light upon the principles of dream by explaining five kinds of dream-visions, viz. yathātathya, pratāna, cintāsvapna, tadviparīta and avyaktadarśana.

"Ahātacce payāne ciṁtāsuvine tavvivarīe avvatta-daṁsaṇe".[38]

The first one is the dream-vision in accordance with truth or reality; the second one is ramified dream-vision (i.e. diffused) the third one is the dream-vision according to the thought in the waking state; the fourth one is the dream-vision opposite to realities, i.e. actualities; and the fifth one is the indistinct inexpressible dream-vision.

It is further explained that sleeping-cum-waking man experiences a dream-vision, but a sleeping or waking man does not behold it. The self-controlled, not-self-controlled and the self-controlled-cum not-self-controlled men also experience dream-vision in that state of sleeping-cum-waking. There are seventy-two kinds of dream of which thirty are great dream, while fourty-two are ordinary ones.[39]

These broad principles of dream as embodied in the Bhagavatī Sūtra touch upon all the combined theories on dream propounded by Dr. Freud, Jung, Adler and other scholars. According to Dr. Freud[40] dream is the fulfilment of the repressed desire which does not peaceably leave the organism but sinks to a level of unconscious state in which it is still active and apt to appear in the disguised and symbolic ways. Abnormal worry, queer idea hunting a nervous

person, 'hysterical' paralysis, or blindness, etc., sometimes are the effects of this disguise. In the case of a normal man a dream is the main venue of repressed desires which do not present themselves even in dreams in their true shape and colour but come up in the garb of an innocent appearing symbolism. So all dreams whether adult or child are the fulfilments of repressed desires.[41]

Adler[42] holds the view that a dream is not the revival and reappearance of the suppressed will of the distant past but a rehearsal for some impending action of an individual man to perform, and it reveals his characteristic mode of dealing with his new problems. Jung[42] thinks that a dream is associated with the present difficulties of an individual and shows his unconscious attitude of mind towards the proplem of his life.

According to the theory of dream as explained in the Bhagavatī Sūtra, the yathātathya and Cintā-svapnas (dreams) agree with those of the theories propounded by Adler and Jung, as they are the results of the process of the thoughts to deal with the future and present problems of life. The pratāna, tadviparīta and avyaktadaśana svapna (dreams) touch upon the theory of Dr. Freud, as they are associated with some desires repressed by thought and they appear in some garbs of symbolism.

From this analysis it may be defined that "dream whether awake or asleep is a free, passive, incoherent and constructive inagination often due to recent experience. But it is an imagination confound with perception".[44]

*Belief or Attitude of Mind (Dṛṣṭi)*[45]

Attitude of mind or belief is the central theme of the process of thought, for the whole intellectual operation is based on it and reasoning. Epistemology and metaphysies and the doctrine of religion rotate round the attitude of mind on the view of which stands the whole philosophical approach to the problem of life and nature.
Attitude (dṛṣṭi) is characherized by truth (samyktva) or falsehood (mithyātva in regard to the objects of thought. Thus it is endowed with the union of the intellectual, emotional and conational elements and is interrelated with knowledge (Diṭṭhidaṁsana-nāṇamana-saṇṇā).

*Vedanā (feeling in genaral)*[46]

Vedanā (feeling) is relatively subjective and passive state of consiousness manifesting itself into the form of pleasure, or pain, or pleasure-cum-pain (Sāta or asāta or sātāsāta vendanā),[47] happiness, or suffering, or happiness-cum-suffering (sukha, or duhkha, or sukha-duhkha). Happiness, unhappiness and happiness-cum-unhappiness are eternal.[48]

*Sense-feeling*

As a result of sensation accompanied by simple fealing of pleasure or pain there takes the sense-feeling which is congnitive and affective. In can be divided into two kinds, viz. organic feeling and special sense-feeling.

This canonical work mentions ten kinds of feeling (vedanā); viz. cold, warm, hunger, thirst, itching (kaṇḍu), servility (parajjhaṁ) fever (jvara), burning sensation (dāha), fear (bhaya) and sorrow (sogam).[49] The feeling of hunger, thirst, burning sensation (dāha), fever, itching, fear

and sorrow come under the category of the organic feeling, as they are connected with the discordant working of internal organs, while the feeling of cold and warmth belong to the special sense-feeling, for they are related to touch.

Besides these, thered are state to be other sense-feelings of hearing, smell, taste and touch,[50] because even the jīva (Soul or being), born in the mother's womb, transforms five colours, five tastes, two smells and eight touches.[51]

*Desire and Gratification of Desire (Kāmabhoga)*[52]

The Bhagavatī Sūtra throws a welcome light upon the psycho-physical aspects of desire (Kāmā) and gratification of desire (bhoga). Kāmās, (desires) and bhogas (gratification of desire) are explained on the principal of the psycho-physical phenomena thus that they are corporeal (rūpī) and endowed with both consciousness, and unconciousness because they are of the beings (sacittāvi kāma acittāvi kāmā, acittāvi bhoga).[53]

They are stated to be two kinds of kāmā (desire), viz. sound (śabda) and object of beauty (rūpa), while bhoga (gratification of desire) is of three kinds viz. smell, taste and touch (gandha, rasa and sparśa) as they involve the mental and physical enjoyments respectively.

*Emotion*

An emotion is a complex feeling of mental agitation, usually tinged with pleasure or pain, that is aroused by ideas or perceptions and attended with its characteristic bodily expression, and also reinforced by the organic sensations arising from it. "It is the experience of behaving in a certain way"[54]

As already explained in the beginning there are two transformations of the psychic process, viz. Rāga (feeling of attachment and Dosa (Dveṣa dislike or aversion). Rāga and Dveṣe are divided into four Kaṣāyas,[55] i.e. passions, viz. krodha (anger) māna (pride), māyā (deceitfulness) and lobha (greed). This analysis shows the emergence of emotions in the form of passions and quasi-passions, appearing in different degrees due to the rise of karma.

Passion is correlated to colour which is associated with feeling, because there is the material colour of the karmic matter of the body, e.g. the karma-pudgalas (karmic matters) of these four kinds of passions are endowed with five colours, five tastes, two smells and four touches.

> "Aha bhaṁte khoe..............Goyamā. Paṁcavaṇṇe paṁcarase dugaṁdhe cauphāse paṇṇatte...........māṇe...........māyā...........lobhe...........jaheva kohe".[56]
> "Pejje does...........jaheva kohe taheva cauphāse."[57]

*Four Passions*

### Krodha (Anger)

Krodha is the self-expression aggravating the mind; the first repulsive reation of it is resistance and resentment to any attempt from outside to flout it.

*Māna*

Māna is the consciousness of self-respect to measure the self to maintain dignity, and to show itself distinct from others, i.e. self-maintenance.

*Māyā*

Māyā is the expression of the inner self, self-display, self-expression, and self-exhibition, and

it attracts something to have. The self wants to express its nature and magnitude, but it is obstructed, so it takes the course of deceitfulness.

*Lobha*

Lobha tries to appropriate everything.

The divisions of these four kinds of passions into different stages according to their degrees of intensity throw light upon their respective characteristics with the psycho-physical phenomena. Thus it is explained that there are stated to be different types of krodha (anger), manifesting themeselves into the following forms, viz. anger, krodh), morbidness or irritation or wrath (kopa), fury (roṣa), hatred (dveṣa), unforgiveness (akṣamā), flaming up with the fire of anger (saṁjvalana), quarrel (kalaha), violence bearing the appearance of Rudra of wroth (caṇḍikā), fighting with sticks (bhāṇḍana), dispute (or contest) vivāda or revilling each other with abusive words. Māna is of twelve kinds, viz. pride (māna), hilarity (mada), haughtiness (or conceit) (darpa) arrogance (thambhe ananmratā), pretension (garva), superiority complex (atyutkarṣa), reviling others (paraparivāda), boasting (utkarṣa), self-conceit or infamy (apakarṣa), self-ego (unnāma) due to abhimana and unbending property or attitude of mind (dunnāma) due to abhimana. Māyā (deceitfnlness) manifests itself into the following forms, viz. deceitfulness (māyā), fraud (upadhi), dishonesty (nikṛtih), cunningness or artfulness (valayaṁ), imperviousness (hard to be understood) (gahana), basest work for deceiving others (nūma) hypocrisy (kalkaṁ), ugly form of deceitfulness (kurupa), crookedness (jimha), guilt (kilviṣa) act of showing regard for deceiving others (ādaranatā), secrecy (gūḍhanatā), cheating or deception (vañcanatā), refutation of the said word with simplicity (pratikuñcanatā), and mixing up of inferior thing (sātiyoga).

There stated to be the following kinds of lobha (greed), manifesting themselves into the forms of greed (lobha), desire (icchā), infatution (mūrchā), longing (kāmkṣā), attachment to the acquired wealth (gṛddhi), thirst for wealth (tṛṣṇā), firm contemplation on wealth (bhijjhābhidhyā), unsteady (or unfirm) contemplation on wealth (abhijjhā-abhidhyā), hope (āsāsanayā), begging for wealth to other (prārthanatā), soliciticg again and again (talappanatā), hope for obtaining sweet sound and object of beauty (śabda rūpa prāptisambhāvanā, i.e. psychical gratification of desire), hope for obtaining smell, taste and touch (bhogāśā) (gandhādiprāpti sambhāvanā, i.e. physical gratification of desire), hope for living (or life) (jīvitāśā), hope for attaining death (maranāśā), and attachment to own property or joy in it after its attainment (nandirāga).

*Leaśyā (condition of soul)*[58]

As already pointed out in the beginning the psychological phenomena mainfest themselves in to six conditions of soul in different degrees, viz. kṛṣṇa (black), nīla (blue), kāpota (grey), teja (red), padma (lotus) and śukla (white). They are the names to represent the conditions of the soul as if six persons want to enjoy the fruits of a tree (i.e. nature of feeling). The black are those who are cruel-hearted and kill living beings by voilating the vow of non-injury (ahiṁsā), the first of the five great vows of religion. The blue are those who are engrossed in their passion or sex-intinct or greed and transgreess the fourth and fifth vows, i.e continence and non-possession. The grey are those who are deceitful and stealing other' things, violating the third vow of non-stealing (adinnadāna). The red (teja) are those who try to control themselves to observe the religion, i.e. the lay worshippers. The lotus (or yellow) ones are firm in controlling them,

i.e. the professional mendicants, while the white (śukla) are those who have attained absolute self-control, Jinakelpa like Lord Mahavira himself.[59]

The division of mankind into six classes on the basis of possession of these six leśyās (conditions of soul) is found in both the Bhagavatī Sūtra and the Uttarādhyayana Sūtra.[60] The system of spiritual colour of Jainism as revealed in the Bhagavatī Sūtra is the division of the psychic development of man and his virtue.[61]

The six kinds of leśyās have been studied from different aspects, such as, colour, smell, taste touch, transformation, etc. e.g. kṛṣṇa leṣyā is stated to be of cloud colour, of bitter taste like that Nimba,[62] etc.

*Instinct (Saṁjñā)*

Instinct is the natural manifestation of a being which is caused by the stimulus received from the outside world of sensation according to conditions of soul. It involves an interlinked chain of actions directed to some definite and remote end conducive to self-preservation, etc.

According to the Bhagavatī Sūtra[63] there are stated to be ten kinds of instinct (saṁjñā), viz. āhārasaṁjñā) (instinct of eating), bhayasamjñā (fear instincl), maithuna (sex-instinct), parigraha-saṁjña (possessing-instinct or appropriating instinct), krodha-samjñā (instinct of anger), māna-snmjñā (pride-instinct) māya-samjñā (instinct of deceitfulness), lodha-samjñā (instinct of greed), (self-loka-samjñā (consciousness of knowledge of particular objects) and ogha-samjñā awareness of general objects), i.e. the lobha-samjñā arises from the social behaviourism and the ogha-samjñā emerges from the stream (ogha-pravāha) of innate disposition (past saṁskāra).

"Loka samjñā tu jñānopayoga-ogha samjñā darśanopayoga".[65]

Here Darśana) (self-awareness) is the precondition to knowledge, as it is the awareness of the mind ready with all attention to a positive object revealing the general condition of the self.

It appears from the study of these ten instincts that there were formerly four kinds of instinct[66] and six more were added to the list of the original four with the subsequent development of Psychology. These ten instincts are closely related to emotions, as it is evidenced in the case of fear, anger, pride, deceitfulness, and greed.

This classification of instinct into ten categories agrees with that of the modern psychology as advocated by the scholar like Mc. Dougall[67] who has defined "an instinct as an innate disposition which determines the organism to perceive (or to pay attention to) any object of certain class and to experince in its presence a certain emotional excitement and an impulse to action which find expression in a specific mode of behaviour in relation to that object".[68] Thus he has made the analysis of instinct into three division—receptive, emotional and executive, i.e. thinking, feeling and willing respectively.

According to his theory there are fourteen kinds of instinct including laughter which belongs to human beings. viz. (1) Parental or protective Instinct (as that of a mother ape), (2) Instinict of combat (the mother will fight in defence of her young), (3) Instinct of curiosity, (4) Food-seeking Instinct, (5) Instinct of Repulsion or (disgust), (6) Instinct of escape from danger), (7) Gregarian Instinct, (8) Instinct of self-assertion, (9) Instinct of submission, (10) Mating

instinct, (11) Acquisitive Instinct, (12) Constructive Instinct, (13) Instinct of Appeal and (14) Instinct of laughter.

The first four instincts of the Bhagavatī Sūtra, viz. āhāra (food), bhaya (fear), maithuna (sexual inter-course) and parigraha (possession), and lobha (greed) are the same as the food-seeking instinct, the escaping instinct, the mating instinct and the acquistitive instinct respectively, while krodha samjñā (anger) and māna-samjñā (pride)and maya-saṁjña (deceitfulness) correspond to the instinct of combat and the instinct of repulsion, the instinct of self-assertion, the instinct of submission and the protective instinct respectively.

The remaining instincts defined by Mc. Dougall come under the category of Loka-samjñā and Ogha-samjñā.

The scheme of instinct as laid down in the Bhagavatī Sūtra appears to be more sound than that of Mc. Dougall, because some instincts, such as, instinct of repulsion, parental instinct, instinct of submission and instinct of appeal are not found among all beings (or animals).

*Conation*

The process of thought and feeling leads to will or action owing to the presence of Karma-matter in the corporate body. They manifest themselves into the form of mental, vocal and physical activities of various kinds. Thus the activity of soul is three-fold consisting of thoughts, words and deeds produced by the process of the mind, the organ of speech and body respectively. So there are stated to be three kinds of activities (yogas) of soul, viz. mana-yoga (mental activity), vāk-yoga (vocal activity), physical activity[69] (kāyayoga), for all reactions of the soul are conditioned by the psycho-physical structure.

Three kinds of activities have been divided into fifteen groups[70] according to the nature of realities, viz. satya-manayoga (mental activitv relating to true thing), (2) mṛṣāman-yoga (mental activity relating to false or, (untrue or unreal thing), (3) satya-mṛśāmana-yoga (mental activity-relating to partly real (true) and partly untrue (unreal) thing, (4) asatya-mṛśā-māna-yoga (mental activity relating to untrue (unreal-cum-false thing i.e. neiher true nor untrue thing) which is outside the sphere of true and untrue, (5) satya-vāk-yoga (vocal activity relating to true i.e. real object), (6) mrśā-vāk-yoga (vocal activity relating to worng or false or unreal or untrue object), (7) satya-mṛśā-vāk-yoga (vocal activity relating to true (real) and false (wrong object), (8) asatya-mṛśā-vāk-yoga (vocal activity relating to untrue and false (wrong) object, (9) audārila-śarīra-kāya-yoga (activity of gross-physical body, (10) audārika-miśra śarīra-kāya-yoga (activity of the physical body mixed with the activity of the kārmaṇa-body, (11) vaikriya-śarira-kāya-yoga (activity of the transformation-body), (12) vaikriya-miśra-kāya-yoga (activity of transformation-body mixed with that of the kāmaṇa-body or that of the audārika-body) (13) āhāraka-śarira-kāya-yoga (activity of the translocation-body, (14) āhāraka-miśra-śarira-kāya-yoga (activity of the translocations body mixed with that of the physical body), and (15) kārmaṇa-śarira-kāya-yoga (activity of kārmaṇa-body).

The study of these principles of the psycho-physical activities brings to light the noumenal and phenomenal aspects of beings, which form the basis of Jaina Phychology as revealed in the Bhagavatī Sūtra.

## REFERENCES


1. Bhagavatī Sūtra, 2-10-118; 14-4-510; 18-10-647.
2. Ibid., 1-6-55.
3. Ibid., 2-10-118.
4. Ibid., 2-10-120.
5. Ibid., 16-7-583.
6. Ibid., 18-8-642.
7. Bhagavatī Sūtra, 2-10-120.
8. Dhavalā Tīkā, p. 145, Ist Khanda.
9. Bhagavatī Sūtra, 9-33-985.
10. Ibid., 18-4-625; see Kasāya Pāhuḍaṁ, Bhāga—1. (Pejjadoso vihatti), Guṇadharācārya, edited by Pandit Phulchandra Siddhanta Shastri, p. 257 (No. 207), p. 258 (No. 208), pp. 364-5, 366-7-8-9 for the detailed treatment of Rāga-pejja and Dosa (dveṣa).
11. Kasāya Pāhuḍaṁ (Pejjadoso vihatti), No. 207, p. 257.
12. Ibid., No. 208, p. 258.
13. Ibid., p. 365.
14. Kasāya Pāhuḍaṁ (Pejjadoso vihatti), p. 366.
15. Ibid., p. 367.
16. Ibid., p. 368.
17. Kasāya Pāhuḍaṁ, (Pejjadoso vihatti), p. 369.
18. Ibid., No. 341.
19. Ibid., 146.
20. Ibid., 342.
21. Kasāya Pāhuḍaṁ (Pejjadosa vihatti), No. 342, p. 369.
22. Bhagavatī Sūtra, 12-10-467.
23. Bhagavatī Sūtra, 12-10-467.
24. Ibid., 1-7-61.
25. Bhagavatī Sūtra, 1-7-61.
26. Ibid., 1-7-62.
27. Ibid., 16-1-566.
28. Ibid., 2-4-99; see Prajñāpanā Sūtra. 191, Pañcadaśa Indriyapada, Prathama Uddeśaka.
29. Bhagavatī Sūtra, 3-9-170; Jīvābhigama Sūtra, Joyisiya Uddeśaka.
30. Bhagavatī Sūtra, 2-4-99; Prajñāpanā Sūtra (Pañcadaśa Indriyapada), 194.
31. Bhagavatī Sūtra, 2-4-99; Prajñāpanā Sūtra, 195.
32. Bhagavatī Sūtra, 8-2-318.
33. Ibid., 11-11-432.
34. Ibid., 9-32-382.
35. Bhagavatī Sūtra, 13-7-494.
36. Ibid., 13-7-494.
37. Pramāṇamīmāmsā, 1-2-24.
38. Bhagavatī Sūtra, 16-6-578-81.
39. Bhagavatī Sūtra, 16-6-578-91.
40. The Interpretation of Dreams, Dr. Freud.

41. Ibid., see pp. 344, 388; Psy. by Robert S. Woodworth, p. 567.
42. Vide Psychology by Robert S. Woodworth, p. 568.
43. Ibid.,
44. Psychology, Suresh Chandra Datta, p. 165.
45. Bhagavatī Sūtra, 1-9-73.
46. Bhagavatī Sūtra, 5-5-202; 6-10-255; 14-4-511.
47. Ibid., 7-6-286.
48. Ibid., 14-4-511.
49. Ibid., 7-8-296.
50. Bhagavatī Sūtra, 12-5-450.
51. Ibid., 12-5-452.
52. Bhagavatī Sūtra, 7-7-290.
53. Psychology, S. C. Dutta, p. 239.
54. Psychology, Robert S. Woodworth, p. 429.
55. Bhagavatī Sūtra, 18-4-625.
56. Bhagavati Sūtra, 12-5-449.
57. Ibid.
58. Bhagavatī Sūtra, 1-2-22; 12-5-450.
59. See Jaina Sūtra, II—II (199-200).
60. Uttarādhyayana Sūtra, XXXIV.
61. E. R. E. I., 262, (Encyclopaedia of Religion and Ethics).
62. Bhagavatī Sutra, 1-7-22; 12-5-450, see Prajñāpanā Leśyāpada.
63. Bhagavatī Sutra, 7-8-296.
64. Ibid., 7-8-296.
65. Bhagavati Sutra, (Comm.), 7-8-296.
66. Ibid., 12-5-450.
67. Outline of Psychology, Mc. Dougall, p. 110.
68. Ibid., p. 110.
69. Bhagavatī Sutra, 17-1-593.
70. Ibid., 25-1-719.

**H. Bhattacharyya**
*M.A., B.L., Ph.D.,*
*Kailas Basu Lane, Ram Krishnapura, Howrah*


# THE VRATA'S OTHER THAN AHIMSA–AS PROPOUNDED IN JAINISM

Ahimsā or non-violence is the fundamental Vrata, according to the Jainas.

The next Vrata which is essential to a moral life is the vow of truthfulness or Satya. Its opposite i.e., speaking falsely is the Anṛta, which is defined as telling something which is not factual. It should be noted that the Pramatta-yoga or wicked intention, which lies at the root of violence and which gives it the character of violence, forms the basis of Anṛta or lying also. Nothing is a falsehood unless it is a deliberate lie and nothing is true, if an improper motive prompts its utterance. It is accordingly said that even if a statement is true but made with the deliberate intention of hurting the hearer's feeling, the statement is deprived of its character of truth. On the contrary, a false statement made for the purpose of doing some good to the hearer, cannot be condemned as a downright lie.

The character of a phenomena is determined with reference to its nature (Dravya), time (Kāla), place (Kṣītra) and modality (Bhāva). A particular cup, for instance, exists only as a thing made of (say) silver, during (say) winter, at a particular place (say) Calcutta and as (say) a round article; and you cannot think of it as constituted of 'an absolute substance', persisting through all 'eternity', existing simultaneously at 'all places' and possessed of 'a universal shape'. A true statement presents a thing or phenomenon, as it is in respect of its own 'nature', 'time', 'place', and 'modality'. So, when a thing actually exists with reference to its own particular nature, modification, time and location and one says that it does not exist,—this is one form of lying; to say that a thing exists, whereas as a matter of fact it does not exist, is the second manner of lying; to speak about a thing as something which is really different from it, is the third kind of falsehood; the fourth form of lying includes the three following manners of stating a fact, viz.,—(1) The Garthita or the condemnable. A true statement may be so made with scornful laughter as to give pain to the hearer; it may be clothed in harsh and angry words; its tone may be incivil and its words, unconnected witn each other; it may be so delievered as to give rise to mistaken ideas in the hearer; the words used may be ambiguous or meaningless or they may suggest something which contradicts the eternal verieties as disclosed by the competent masters. All such statements, though embodying true facts, are nevertheless Garhita or condemned. (2) The Sāvadya or faulty. Statements, e.g. about cutting the limbs of an animal, about piercing it, about beating it, about tilling lands, about trading (especially, trafficking in living animals), about stealing etc. etc.,—all bad to or are connected with injury to animals. Such statements may not contain any falsehoods, they may even be connected with truths but are nevertheless faulty and as such, are to be avoided. (3) The Apriya or pain-giving. Words which create unpleasant feelings, envy and grief and exhaust one's patience, which give rise to fear, feelings of enmity, sorrow and quarrelsome-ness, are akin to falsehood, even though they may contain a truth in them. In connection with the

three forms of the fourth mode of lying, it is, however, to be noted that although harsh and cruel statements are here generally condemned, a teacher or a well-disposed man, when using unpleasant expressions to one whom he wants to reform, is not to be considered as a liar. It is the Pramatta-yoga or the evil passions which make one's expressions false,—so that a teacher or a well-intending person, speaking harshly just to mind the manners of the person talked to and having the good of the person in his heart, cannot be accused of telling a lie in any of its forms.

The Jaina teachers fully recognise the fact that a house-holder or an ordinary man of the world has to support himself, earn his livelihood any how and cannot do without collecting some articles to meet his necessities and that consequently, it is impossible for him to avoid lying absolutely. Accordingly they lay down that a man should try to limit his false statements as much as possible. The form of lying which has been described above as the Sāvadya may be unavoidable for him; but there is no reason why he should not give up the other kinds of false-speaking and why, in the case of the Sāvadya, he should go beyond what is barely necessary for his living.

As in the case of the Ahimsā, the Jaina teachers prescribe five Bhāvanā's or meditations for stabilising and strengthening the vow of Satya. These consist in the Pratyākhyāna or giving up of Krodha or anger, Lobha or avarice, Bhīrutā or cowardice, Hāsya or frivolity and in the Anuvicī-bhāṣaṇa or talking in accordance with the scriptural injunctions. The negative aspects of the vow of truthfulness are the avoidance of its transgressions in the forms of Mithyopadeśa or teaching false doctrines; the Rahovoākhyāna or giving publicity to secret actions of persons; the Kūta-līkha-kriyā or forgery; the Nyāsāpahāra or breach of trust by taking advantage of one's forgetfulness;—[This is illustrated as follows : A deposits Rs. 500/- with B. Subsequently, A forgetting the amount of his deposit asks for the return of Rs. 400/- only, B takes advantage of A's forgetfulness and gives him the amount, demanded; thereby B misappropriates Rs. 100/-]; the Sākāra-mantra-Chīda, or the divulgence of what one supposes to be a fact, from his observation of the manners of some persons who hold consultations in private.

Astīya or non-stealing is the third great Vrata or vow laid down in the Jaina religious books. Stealing has been defined as "appropriating what was not given". All appropriations, however, are not theft; misappropriations which are deliberate or wilful i.e., actuated by the Pramatta-yoga are cares of theft. A question may be raised whether a righteous man inviting the Karma-pudgala within him, can be accused of theft. The Jaina moralists answer the question in the negative. In the first place, a Muni introducing in himself the Karma is not actuated by any Pramatta-yoga or intention to have it. Secondly, it is pointed out that Karma is a subtle form of matter which belongs to no body, so that its inflow in a Muni does not mean any appropriation of 'a thing which is not given'; in legal phraseology, the inflow of Karma does not involve any 'wrongful gain' or 'wrongful loss' to any body. Another point that is raised is whether such acts of a person as taking water from another man's well amount to stealing on his part, in as much as the water was not given to him by the owner of the well. The Jainas affairm that all appropriations of things which have not been expressly given are essentially cases of thefts and in the case under consideration i.e., in the case of water being taken without the express permission of the owner of the well, the taking of water is technically, a case of stealing. They, however, point out that such technical stealing is unavoidable by

ordinary people of the world and recommend that all misappropriations which are not unavoidable in this way, should be given up.

The five Bhāvanā's or meditations, rather acts,—which fix or stabilise one's practice of non-stealing are :—Śūnyāgāra or living in a solitary place; Vimocitāvās or living in a place, deserted by all people; Paroparodhākaraṇa or living in a place where one is not likely to be obstructed by others nor where one is likely to obstruct others; Bhaikṣya-śuddhi or looking to the purity of what is given to one as alms; and Saddharmāvisamvāda or not entering into disputations with one's brothers in faith, in respect of one another's belongings.

The vow of non-stealing is transgressed, even when one instead of himself stealing, abets it (Cītana-prayoga); or receives stolen property (Tādāhṛtādāna); or sells things at iniquitous prices i.e., practises black-marketing (Viruddha-rājyāti Krama); or uses false weights and measures (Hīnādhika-mānonmāna); or adulterates things (Prati-rūpaka-vyavahāra).

The Vrata of Brahma or sex-abstinence is opposed to Abrahma, which consists in the act of Maithuna or sexual contact. The Pramatta-yoga or deliberate inclination i.e., sex-hunger is the primal source of all sex-activities. It is needless to point out that sex-urge arouses the intensest of feelings in a person and as such, it is responsible for his bad and undesirable states, both here and hereafter. Complete sex-purity is possible only in homeless saints and sages; a house-holder cannot act upto that ideal of sex-abstinence and he feels the need of a companion for the satisfaction of his sex-hunger; this explains the validity of the custom of marriage in human society. The Jaina moralists maintain that sex-indulgence is always bad from a moral point of view; even a person who has his sex-satisfaction exclusively through his wife cannot be looked upon as high-placed in the scale of moral progress. Such a person is called the Kuśīla-Tyāgī. Although such a person stands lower in moral rank than the Muni, he is certainly better than a person wallowing in uncontrolled sex-endulgences. At any rate the Jaina moralists recognise that living without a wife may be impracticable in most cases of ordinary run but they emphatically urge that there is no reason why one should go after a woman who is not his legally married wife.

As regards the Aticāra's or indirect transgressions of the vow of Brahma-caryā, they are indicated as,—the Para-vivāha-karaṇa or causing marriage between persons who belong to mutually prohibited families; the Itvabikā-parigrahītāgamana or co-habitation with a married woman of immoral disposition; the Itvabikā-aparīgrahitāgamana or co-habitation with an unmarried woman of immoral disposition; the Anangi-krīḍā or unnatural intercourse; the KāmaT-ībrābhinivīvīśa or surrender to strong sexual urge.

The following five Bhāvanā's, on the other hand stabilise one's vow against sexual unchastity viz.,—the Tyāga or refraining from hearing all talks which excite passions for women (the Stṛī-rāga-Kattā-Śravaṇa); from looking at the attractive limbs of a woman,—the Tanmanoharānga-nirīkṣaṇa; from drinking liquids which excite sexual urge,—(the Vṛṣyīeta-rasa); and from making one's own body clean and attractive, (the Sva-śarīra-saṁskāra).

The last but not the least of the Vrata's is the Aparigraha or non-attachment to worldly affairs. It is opposed to Parigraha which consists in Mūrcchā or taking interest in the living or the non-living objects of the world, through Pramatta-yoga or passionate inclination. It is clear that if there is in any one's mind, even a trace of having or the apprehension of the sort 'this
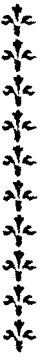
is mine', he has Parigraha or attachment, even though he may live in a forest, naked and destitute of all gross things. On the other hand, if one's mind is devoid of all feelings of 'mine-ness', he has Aparigraha, even though he is surrounded by and lives in the midst of a number of possessions, moveable and immoveable.

The absolute non-attachment to worldly things is obviously impossible for a house-holder and the Jaina thinkers recommend accordingly that the range of worldliness should be progressively shortened. The five Bhāvanā's strengthening the practice of the vow of non-attachment consist in withdrawing one's liking to the pleasant objects of the five senses and his dislike for the unpleasant objects of these five senses. The Aparigraha-vrata is transgressed even when a person confining his possessions within a certain number, changes their proportions without actually changing their number. Thus suppose, a person takes the vow to be content with four pieces of cloth and four utensils; his vow would be transgressed if he takes to the possession of three pieces of cloth and five utensils. The transgressions of the vow of non-attachment in this manner of interchanging are likely to be committed in respect of the following five pairs of possession viz.,—lands and houses; silver and gold; cattle and corn; male servants and female servants; and things for putting on and utensils.

The above with Ahimsā are the five Vrata's or cardinal virtues for practice, according to the Jainas. Besides these primary vows, the Jaina moralists speak of Śīla's, which are sub-vows, supplementing the practice of the Vrata's. The Śīla's are seven in number, divided into two broad classes of the Guṇa-vrata's and the Śikṣā-vrata's. The former enhance the value of the Vrata's and are three in number. There are four forms of the Śikṣā-vrata's. The Śikṣa-vrata's are so called, because they make the practice of the vows, perfectly disciplined.

The first of the three Guṇa-vrata's is the Dig-vrata. It consists in one's taking a vow to limit his activities throughout his life within fixed bounds in all the ten directions. This sub-vow of the Dig-vrata may be transgressed in five different ways viz.,—(1) When negligently or deliberately one rises higher than his limit in the upward direction (hīrdha-vyatikrama); (2) When in the same manner he goes lower than his downward limit (Adhah-vyatikrama); (3) When in the same manner, he crosses his limits in the eight other directions (Tiryak-vyatikrama; (4) When in a fit of passion or negligence, he increases his limit in one direction, even though decreasing it in another direction (Kṣītra-vṛddhi); (5) When he forgets the limits, even though he does not cross them (Smṛtyantarādhāna).

The Diśa-vrata is the second mode of the Guṇa-vrata and consists in one's taking a vow to still more limit his activities, already limited by the Dig-vrata vow, for a period of time. The Diśa-vrata is violated,—1. if the vower sends for something from beyond the limited limit (Ānayana); 2. if he sends a person beyond the limited limit (Prīṣya-prayoga); 3. if he sends his voice (e.g. by telephone) beyond the limited limit (Śabdānupata); 4. if he communicates with persons beyond the limited limit by making signs to them (Rūpānupāta); 5. if he throws material things beyond the limited limit (Pudgala-kṣīpa).

The third mode of the Guṇa-vrata is the Anartha-daṇda-vrata which means a vow not to commit any aimless sin. There are five forms of the Anartha-daṇda-vrata which consist in avoiding respectively the Apadhyāna or thinking ill of others, the Papāpadiśa or preaching sinful matter to others, the Pramāda-cāritra or thoughtless mischievous acts, such as breaking the

branches of trees aimlessly, the Himsūdāna or distribution of offensive weapons among people, and the Duhśruti or reading or hearing the reading of the bad books. The Anartha-daṇda-vrata is transgressed even when the vower makes fun of or with other (Kandarpa); when he throws mischievous and practical jokes at others (Kaut-kucca); when he becomes garrulous (Mankharya); when he overdues a thing (Asamīkṣyādhikaraṇa); when he keeps himself supplied with enjoyable things which are more than what are necessary for him (Upabhoga-paribhogānarthakya).

The disciplinary or the Śikṣa-vrata's have, as said before, four forms. The first is the Sāmāyika which consists in self-contemplation at stated times e.g. sunrise, noon or sun-set everyday for a stated period every time. The Sāmāyika is transgressed by misdirection of mind (Mano-duspraṇidhānam), by misdirection of body (Kāya-duspraṇidhānam), by misdirection of speech (Vāk-duspraṇidhānam), by decreasing the interest in the Sāmāyika (Anādara), by forgetting the formalities connected with the Sāmāyika (Smṛtyanupasthānam).

The Poṣadhopavāsa is the second Śikṣa-vrata and means a vow to fast on four days in a month viz. on the two eighth and the two fourteenth days in the two lunar fortnights in every month, by abstaining from food and drink and by making religious study etc. in those days of fasting. The vow of fasting is violated by excerating in a place without inspecting and sweeping it before hand (Apratyavīkṣitāpramārjitotsara), by taking up a thing from or laying it down in a place, without first inspecting and sweeping it (Apratyavīkṣitāpramārjitadāna), by arranging for sitting in a place within first inspecting and sweeping it (Apratyavīkṣitāpramārjita—Samstaropakramana), by giving up interest in fasting (Anādara) and by forgetting the prescribed formalities for fasting (Smṛtyanupasthānam).

The Bhogopabhoga-parimāna is a vow, limiting one's enjoyment of both exhaustible (Upabhoga) and un-exhaustible (bhoga) things. It is the third of the disciplinary sub-vows and is transgressed when the vower takes to eating living things even such as green vegetables (Sacittāhāra); when he uses for his own purpose, a thing which is connected with a living thing e.g. when he uses a green leaf as a plate (Sacitta-Sambandhāhāratā); when he consumes a mixture of living and non-living things e.g. hot and cold water together (Sacitta-Sammiśrāhāra); when he eats exciting or particularly invigorating food (Abhiṣavāhāra); or, when takes an ill-cooked food (Duhpakvāhāra).

The fourth sub-vow under the Śikṣa-vrata is the Atithi-samvibhāga, which means taking a vow to take one's meals only after giving a part of them to deserving guest,—preferable, a man living the austere moral life of an ascetic, having right faith and right conduct; or, failing him, a house-holder having right conduct only; or, failing him, a person with right faith but without any observance of the vows. These are called the Supātra's or worthy donees. Not so good a donee would be one whose outward conduct is good but who is devoid of right faith, he is a Kupātra. A person, however, whose conduct is not good but who is not possessed of right faith is an Apātra or unworthy donee. The Jaina's lay down principles which determine the nature of the things to be given; (e.g. the things given should be helpful to study etc.); the manners in which they are to be given (e.g. by welcoming the guest etc. etc.); and the attitude, both of the giver and of the taker, at the time when the gifts are made (e.g. in all humility etc.). The Jaina's, however, assert that the matter of Karuṇā-dāna or charities, no distinction is to be made as regards the persons who are to receive the gifts; so that food

medicine, knowledge and removal of fears should be freely extended to all needy persons, Jaina or non-Jaina, human or sub-human. This vow of 'giving to guests' is violated if one places food on a living thing e.g. on a green leaf (Sacittanikṣipa); if one covers food with a living thing (Sacitapidhāna); if one delegates his duties as a host, to another (Para-vyapadiśa); if his charitable conduct is vitiated by disrespectfulness or by envious competition with another donor (Mātsarya); or, if his charity is not made at the proper time (Kālātikrama).

This finishes our survey of the Vrata's or the vows essential to moral progress. The five Vrata's are vows of non-violence, sexual purity, non-attachment, non-stealing and truthfulness. The The homeless saints practise the vows in their perfection; the practice of those vows by the house-holders must necessarily be imperfect; and hence, the Vrata's as performed by the house-holders have been called the Aṇu-vrata's,—the difference between the Vrata's and the Aṇu-vrata's being not one of kind but one of degree in successful observance. The seven Śīla's including the three Guṇa-vrata's and the four Śikṣā-vrata's supplement the observance of the Aṇu-vrata's and are generally meant for the house-holders. The observance of the Śīla's paves the way of the house-holder for the five cardinal virtues and makes his conduct well-controlled. The Jaina's further maintain that the well ordered life which is the effect of the Śīla-practice should be crowned with a well-ordered death. Such a death is called the Sallīkhanā by them and consists in a perfectly unattached and dispassionate attitude towards the world, during last moments of life. This Sallīkhanā or contemplative death is marked by total abstinence from food, drink, medicine and all things worldly and unperturbed fixation of the dying man upon his self. It is recommended for practice, not merely to a man observing the Śīla's (Na Śrāvakasyaiva dig-viratyādi-Śīlavatah) but also to one who has brought himself under self-control (Samyatasyāpi). The Sallīkhanā is not a form of suicide. It is recommended only where the body is completely disabled by extreme old age or by endurable diseases or when it is rendered hopelessly helpless by the distruction or enfeeblement of the senses and such other causes and the man becomes conscious of the impending unavoidable death and of the necessity of concentrating himself upon his pure self. Akalanka nicely illustrates the practice of Sallīkhanā by pointing out firstly how the traders in valuable articles never want the distruction of their store-house; that when causes arise to distroy the house, they try to remove these causes to the best of their ability and resources; that when they find that those distructive causes are irremovable, they do no longer care the house and concentrate their efforts upon the preservation of the valuable articles of the store-house; that it is in the same manner that a good man never wants to put an end to his body; that he tries to save his body when disease and other ailments threaten to distroy it; but that when all attempts to save the body prove to be finally unavailing, he dissociates himself from it and establishes himself exclusively upon his essential self. This is Sallīkhanā or peaceful contemplative death, which is essentially different from any form of suicide. It is clear that the calm and faultless character of the Sallīkhanā is distroyed and its practice becomes condemnable, if there is in the dying man Jīvitāśamsā or a desire to live; Maraṇāśmsā or a desire to hasten death; Mitrānurāga or attachment for his friends; Sukhānubandha or a lingering fond remembrance of the occasions of fast enjoyments, or, Nidāna or an expectant desire for enjoyments in the next world.
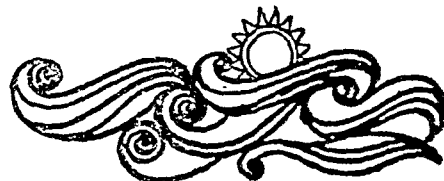
Prof. N. V. Vaidya
*Ferguson College, Poona*

# SHRAMADANA OR VOLUNTARY MANUAL LABOUR–THE OLD WAY

The Jain canonical as well as Non-canonical literature is a veritable mine of didactic tones, parables and illustrations. They reflect mostly the life of the common man and are narrated with a simplicity and facility which would appeal even to the Pundits and men of letters.

It is proposed top oint out here only a minor incident narrated in the Antagadadagsao(अंतगडदसाओ)* the eighth Anga of the Jain canon (III Varga : Page 56. section 59ff).

"......Now as Krsna Vasudeva was going out of the city of Dwarawati he saw a man, worn out, his body shattered by age,......and weary, and who was picking up one brick at a time from among a huge pile of bricks, and was carrying it into the house. Then Krsna Vasudeva, out of compassion for the old man got down from the back of the excellent elephant he was riding took a brick from that huge pile of bricks, and carried it inside the house. Now, when Krsna took one brick, hundreds of other people did the same and that huge pile of bricks was shifted inside the house in no time".

Krsna Vasudeva thus gave a helping hand to that old man purely out of compassion and as a matter of duty. In the good old days people were taught that doing one's duty was a must for every body, like the Nityakarma (नित्यकर्म). If you do it there is no special merit but if you fail to do it, there is sin. We find a strange spectacle to-day. If some one has done his duty there are grand ceremonies held in his honour. There is a lot of fan-fare and publicity when a very important person or a minister is attending or rather presiding over a Shramdāna (श्रमदान) or similar function. But the manner in which Krsna a royal prince of the ancient past-has helped a poor old labourer is very touching and it leaves an indelible impression on the minds of the readers. It is untrumpeted, genuine and spontaneous Shramdāna (श्रमदान) giving help and succor where it is really needed.

One can multiply similar other situations and incidents. The so called courtesy weeks, Vana Mahotsava, children's Day and lots of other functions and ceremonies which seem to have been invented merely to satisfy the vanity and the insatiable craving for publicity of those in power or the upper strata of society does not impress the public. genuine Shramdan is always done spontaneously, is always untrumpeted and unadvertised and is done to give help and succor to the needy and its effect is ever lasting.

---

* Edited by prof. N.V. Vaidya, Ferguson College, Poona-4 with Introduction, Notes, English Translation and Appendics 1937.

# परिशिष्ट

# लेखक-परिचय

श्री अगरचन्द नाहटा—जन्मस्थान—बीकानेर (राजस्थान)। नाहटा जी ने जितने विपुल साहित्य का सर्जन किया है, उतना कोई विरले ही कर पाते हैं। अढ़ाई सौ पत्र-पत्रिकाओं में दो सहस्र से अधिक निबंध लिख चुके हैं। राजस्थानी एवं जैनसाहित्य के गिने-चुने साहित्य-सेवियों में अन्यतम हैं। दर्जनों ग्रन्थों का सम्पादन कर चुके हैं। अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री अभयराज नाहटा के नाम पर अभय जैन ग्रंथालय की संस्थापना की है, जिसमें बीस हजार दुर्लभ महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित और इतने ही मुद्रित ग्रंथों का संग्रह है।

जैनसंघ की ओर से 'साहित्य एवं इतिहासरत्न' की उपाधि दिया जाना आप की योग्यता के अनुरूप ही है। आप भारत की पचासों साहित्यिक संस्थाओं के अध्यक्ष, डाइरेक्टर, ट्रस्टी या सदस्य हैं। व्यवसाय के हाथ महान् साहित्यसेवा का आदर्श कोई नाहटा जी से सीखे।

श्री अनूपचन्द न्यायतीर्थ—आप जयपुर-निवासी हैं। जैनसाहित्य, पुरातत्त्व और कविता की ओर विशिष्ट रुचि। गीताञ्जलि के बहुसंख्यक गीतों के अनुवादक। आपकी अनेक अनूदित रचनाएँ प्रकाशित हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० चैनसुखदासजी के प्रमुख शिष्य हैं।

पं० अम्बालालजी—जन्मस्थान दहेगाम (अहमदाबाद)। इस समय आप अहमदाबाद के ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर में कार्य कर रहे हैं। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं तथा व्याकरण, साहित्य, इतिहास-पुरातत्त्व और मंत्रसाहित्य में आपकी गहरी दिलचस्पी है। दिग्विजय-महाकाव्य, कालकाचार्यकथासंग्रह, सूरिमंत्रकल्पसन्दोह, मंत्रराजरहस्य, अनुभूतसिद्धद्वात्रिंशिका आदि-आदि ग्रंथों का सम्पादन किया है। अभी-अभी आपका Catalouge of Sanskrit and Prakrit MSS, part I नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ है।
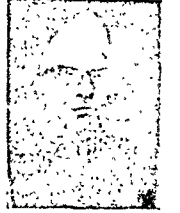
डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित—जन्मस्थान मेरठ (उ० प्र०)। सन् १९४८ से आप अध्यापन कार्य कर रहे हैं। वर्त्तमान में राजस्थान विश्वविद्यालय में रीडर हैं। आपका रससिद्धान्त उत्तरप्रदेश की सरकार द्वारा पुरस्कृत हुआ है। सौन्दर्यतत्त्व, वेलि क्रिसन रुक्मणी री, तुलसीदास—वस्तु और शिल्प आदि अनेक गंभीर रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। मराठी, गुजराती, बंगला और उर्दू भाषाओं के भी ज्ञाता हैं। शोध-छात्रों के सुयोग्य निर्देशक हैं।
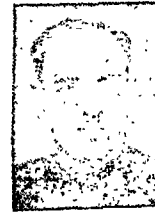
श्री आलमशाह खान—जन्मस्थान उदयपुर (राज०) अ-हिन्दीभाषा-भाषी परिवार में जन्म लेकर भी आप हिन्दी में एम० ए० करके हिन्दी साहित्य की अभिनन्दनीय सेवा कर रहे हैं। आपकी अनेक रचनायें प्रान्तीय और भारतीय स्तर पर पुरस्कृत एवं सम्मानित हुई हैं। 'राजस्थानी वचनिकायें' नामक आपका ग्रंथ राजस्थान साहित्य अकादमी से प्रकाशित हुआ है। आप कहानी-पुरस्कार विजेता हैं।

डा० ईश्वरचन्द्र शर्मा—डॉ० शर्मा दर्शनशास्त्र के तलस्पर्शी विद्वान् हैं, जिन्होंने अमेरिका जैसे विदेशों में भी अपनी योग्यता की छाप डाली है। इस समय आप उदयपुर वि० वि० में अध्यापक हैं।

श्री एन० वी० वैद्य—वैद्य महोदय संस्कृत और अर्द्धमागधी भाषा के विश्रुत विद्वान् हैं। सन् १९६२ से पूना के प्रसिद्ध फर्ग्युसन कॉलेज में अर्द्धमागधी विभाग के प्रधान और सांगली के विलिंगडन कॉलेज के प्रिंसिपल रह चुके हैं। अनवरत साहित्यसेवा में निरत हैं। अंतगडदसाओ और अणुत्तरोववाइयदसाओ, अगडदत्त-बम्भदत्त, पउमचरियं, नलकहा—वरुणकहा, नायाधम्मकहाओ, उसाणिरुद्दं, रायपसेणियसुत्तं आदि अर्धमागधी और प्राकृत के आगम-ग्रंथों का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन आपने किया है. विस्तृत प्रस्तावनाएँ और नोट्स लिखे हैं.

डा० के० ऋषभचन्द्र जैन—जन्मस्थान पालडी (सिरोही-राजस्थान) आप उदीयमान विद्वान् हैं। नागपुर वि० वि० से पाली एवं प्राकृत साहित्य में एम० ए० किया। वैशाली प्राकृत-जैनशास्त्र संस्थान मुजफ्फरपुर से पी-एच० डी० की उपाधि ग्रहण की। इस समय ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर में 'रिसर्च आफिसर' पद पर कार्य कर रहे हैं।

डा० कन्हैयालाल सहल—जन्मस्थान नवलगढ़ (राजस्थान)। हिन्दी और संस्कृत में प्रथम श्रेणी में एम० ए० किया। 'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' नामक शोधप्रबन्ध पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। इस समय डी० लिट्० के हेतु शोधप्रबन्ध लिख रहे हैं। अनेक छात्र आपके निर्देशन में पी-एच० डी० कर चुके हैं। 'मरुभारती' (त्रैमासिक) के प्रधान सम्पादक। राजस्थान साहित्य अकादमी के गवर्निंग बोर्ड के, केन्द्रीय हिन्दी पाठ्यपुस्तक समिति नई दिल्ली के तथा भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग आदि के सदस्य। राजस्थान के विशिष्ट अग्रगण्य विद्वानों में अन्यतम, आपकी लगभग तीस रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

श्री कन्हैयालाल लोढा—जन्मस्थान धनोप (भीलवाड़ा-राजस्थान)। साधारण स्वास्थ्य और सादे रहन-सहन में वैचारिक वैभव, विशाल अनुभव और प्रतिभा आप में विद्यमान है। आप की मेधाशक्ति बड़ी तीव्र है। अनेक विषयों का तुलनात्मक अध्ययन रेखागणित में प्रयोज्यमान निगमनप्रणाली से अध्यात्म जैसे निगूढ़ सिद्धान्त का सहज वर्णन कर देना आप की विशिष्ट प्रतिभा का परिचायक है।

श्री कमला जैन 'जीजी'—आप पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल की ज्येष्ठ पुत्री हैं। गद्य और पद्य दोनों पर आपका अच्छा अधिकार है। आपके द्वारा सम्पादित 'नारीजीवन' पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। अनेक कवितासंग्रहों में आपकी कविताएँ प्रकाशित हुई हैं। वर्त्तमान में राणावास (राज०) के महावीर जैन वालिका-विद्यालय की प्रधानाध्यापिका हैं।

श्री कलावती जैन—बहिन कलावती जम्मू की निवासिनी, अतीव विनम्र, धर्मप्रिय और उत्साहमूर्त्ति महिला हैं। महासती श्री उमरावकुंवरजी की काश्मीरयात्रा के समय आपने उनकी सराहनीय सेवा की। जम्मू में बालिकाओं के धर्मशिक्षण की सूत्रधार हैं। स्वयं स्वाध्यायशीला हैं।

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल—डा० कासलीवाल संस्कृत, हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा के माने हुये विद्वान् हैं। आपने राजस्थान के ७०-८० जैन ग्रंथ भण्डारों का शोधन करके उनकी विस्तृत सूचियां तैयार की हैं। 'राजस्थान के जैन ग्रंथभण्डार' पर ही आपने अंग्रेजी में शोधप्रबन्ध लिखा है जिस पर राजस्थान विश्वविद्यालय ने सन् १९६१ में पी-एच० डी० की उपाधि से सम्मानित किया। आप की इस खोज के फलस्वरूप अपभ्रंश-हिन्दी-राजस्थानी की सैकड़ों अज्ञात रचनायें प्रकाश में आ गयी हैं। अब तक निम्न पुस्तकें प्रकाशिक हो चुकी हैं—

१. राजस्थान के जैन शास्त्रभण्डारों की ग्रंथसूची भाग प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ भाग। २. प्रशस्तिसंग्रह। ३. प्रद्युम्नचरित। ४. बनारसीविलास।

८० से भी अधिक खोज पूर्ण लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं.

मुनि श्री कान्तिसागरजी—मुनिजी इतिहास और पुरातत्त्व के दिग्गज विद्वान्, भारतविख्यात लेखक और अन्वेषक हैं। 'खंडहरों का वैभव' आदि अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं आपकी प्रकाशित हैं। पत्रिकाओं में भी आपके शोधपूर्ण निबंध जब-तब प्रकाशित होते रहते हैं।

श्री के० बी० जिन्दल—आप जैनधर्म-मर्मज्ञ स्वर्गीय पण्डित अजित-प्रसाद जी के कनिष्ठ पुत्र हैं. आप का जन्म लखनऊ में हुआ. १९३८ में आपने लखनऊ विश्वविद्यालय से एम० ए०, एल-एल० बी० की उपाधि प्राप्त की. एम० ए० में सर्वप्रथम उत्तीर्ण होने के नाते विश्वविद्यालय से आपको स्वर्ण-पदक प्राप्त हुआ. आज कल आप कलकत्ते में आयकर-अधिकारी के पद पर नियुक्त हैं.

साहित्य, सिद्धान्त, कानून—तीनों विषयों का आपने अच्छा अध्ययन किया है. प्रायः इन सभी विषयों पर आप की रचनायें प्रकाशित हो चुकी हैं. आप की मुख्य कृतियाँ है—

A History of Hindi Literature, The Prefaces, Lordships, Income-tax, Past and Present.

श्री गजसिंह—श्री गि० अ० जैन पाठशाला व्यावर से व्याकरण-न्यायतीर्थ परीक्षायें उत्तीर्ण करने केसाथ वहीं आपने 'जैन संकेतलिपि' का शिक्षण प्राप्त किया. वर्तमान में राजस्थान विधानसभा में रिपोर्टर है. संकेत-लिपि-लेखन में अत्यन्त सिद्धहस्त हैं.

श्रीगुलाबचन्द्र चौधरी—आप उदीयमान साहित्यकार हैं। आपकी अनेक गंभीर शोधपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। भविष्य में आपसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।

**श्री गोपीलाल अमर**—जन्मस्थान पड़वार (सागर-म० प्र०) अमरजी प्राचीन हृदय और नवीन मस्तिष्क के संगम तथा दर्शन और विज्ञान के समन्वय स्थल हैं. सागर में रह कर आपने शास्त्री, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न और एम० ए० परीक्षायें उत्तीर्ण की हैं. संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी के लेखक हैं. दर्शनशास्त्र में विशेष रुचि रखते हैं. प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयरत्नालंकार और अष्टसहस्री का सम्पादन कर चुके और कर रहे हैं. अनेक अ० भारतीय स्तर की संस्थाओं के पदाधिकारी हैं.
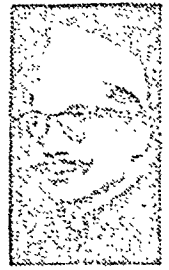
**श्री गोवर्धन शर्मा**—जन्मस्थान कंटालिया (मारवाड़). इस समय आप गुजरात कॉलेज अहमदाबाद में हिन्दीविभाग के अध्यक्ष हैं. सन् १९४२ से ही आप हिन्दी में विभिन्न विषयों पर लिख रहे हैं. कहानी, कविता, एकांकी शिक्षा, शोधपरक निबंध, सभी में समान दिलचस्पी है, एम० ए० (हिन्दी) में प्रथम स्थान और स्वर्णपदक प्राप्त किया. 'प्राकृत और अपभ्रंश का डिंगल-साहित्य पर प्रभाव' विषय पर राजस्थान वि० वि० से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की. आप की अनेक रचनायें प्रकाशित हो चुकी हैं.

**पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ**—जन्मस्थान भादवा (जयपुर). बचपन में ही लकवे की बीमारी से पैर अपंग हो गए. स्याद्वादमहाविद्यालय काशी में रह कर दर्शन और साहित्य की उच्च शिक्षा प्राप्त की. वर्षों से जैन कालेज जयपुर के अध्यक्ष पद पर आसीन हैं. कुशल लेखक, सफल समालोचक, निर्भीक वक्ता और पारंगत विद्वान् हैं. जैन बन्धु और जैनदर्शन पत्रों के सम्पादक रहे. 'वीरवाणी' के सम्पादक हैं. भावनाविवेक, अर्हत्प्रवचन, जैनदर्शनसार और सर्वार्थसिद्धिसार आप की प्रकाशित रचनायें हैं. प्राचीन शोध में आप की गहरी रुचि है. संस्कृतसाहित्य के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं.

**डा० जगदीशचन्द्र जैन**—जन्मस्थान बसेड़ा (मुजफ्फरनगर) दर्शन-शास्त्र में एम० ए० और समाजशास्त्र में पी-एच० डी० किया. सन् १९४२ के स्वातन्त्र्य संग्राम में कारावास का अनुभव लिया. पैकिंग विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक रहे. वैशाली विद्यापीठ में प्राकृत के प्राध्यापक रहे. वर्त्तमान में फिल्म सैंसर की बम्बई ऐडवाइज़री पेनल के सदस्य हैं. लगभग ४० पुस्तकों के लेखक. आपका 'प्राकृतसाहित्य का इतिहास' ग्रंथ उत्तरप्रदेश शासन की ओर से पुरस्कृत हुआ है.
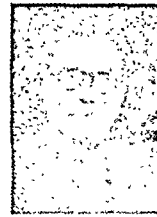
**श्री जयभगवान वकील**—आपका ज्ञान सर्वतोमुखी था। साम्प्रदायिकता के समीप नहीं फटकते थे। समन्वयात्मक दृष्टि रहती थी। रूढ़िवादी नहीं थे किन्तु रूढ़िवादियों का विरोध भी नहीं करते थे। नगर में तथा भारतीय दि० जैन समाज में बड़ी प्रतिष्ठा थी। सफल साहित्यकार और अन्वेषक थे। खेद है आप अचानक ही हमारे बीच से उठ गए।
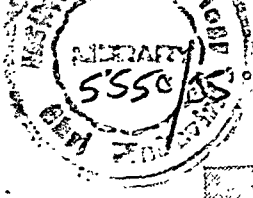
आचार्य श्री जिनविजयजी—जन्मस्थान-रूपाहेली (मेवाड़)। सामान्य वातावरण में से भी अध्यवसायी और प्रतिभाशाली पुरुष किस प्रकार अभ्युदय का मार्ग निकाल लेते हैं, इसका उदाहरण आपका जीवन है। मुनि जी ने जैन एवं राजस्थानी साहित्य की अनुपम सेवा की है। इतिहास-पुरातत्त्व के महान् विद्वान् हैं। सिंघी जैन ग्रंथमाला के संपादक हैं। राजस्थान प्राच्य-विद्याप्रतिष्ठान जोधपुर आपके ही अध्यवसाय का फल है।

डा० जे०सी० सिकदर—सिकदर महाशय का जन्म पूर्ववंग में हुआ. आपने पुरातन इतिहास और संस्कृति विषय में एम०ए० कलकत्ता वि०वि० से किया. तत्पश्चात् शान्ति-निकेतन में शोधछात्र रहे. डा० हीरालाल जैन की देखरेख में भगवतीसूत्र के संबन्ध में शोधकार्य किया है. आजकल आप जबलपुर वि०वि० में सीनियर रिसर्च फैलो है.
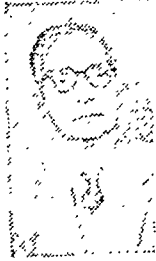
डा० ज्योतिप्रसाद जैन—जन्मस्थान—मेरठ (उ० प्र०) निवासस्थान लखनऊ. वर्तमान में उत्तर प्रदेश राज्य के डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स के उपसम्पादक पद पर नियुक्त. जैन सिद्धान्त-भास्कर एवं जैन एन्टीक्वरी तथा जैन सन्देश-शोधाङ्क के अवैतनिक सम्पादक, वायस आफ़ अहिंसा के भी सम्पादक मण्डल में सम्मिलित.

Jaina Sources after History of Ancient India,
Jainism the oldest living Religion.

भारतीय इतिहास-एक दृष्टि, प्रकाशित जैनसाहित्य, हस्तिनापुर, आदि पुस्तकों के प्रणेता।

लगभग तीस वर्ष से जैन इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य एवं संस्कृति पर शोध खोज एवं अन्वेषण कार्य चालू है. कई सौ लेख निवन्धादि अवतक विभिन्न जैनाजैन पत्र-पत्रिकाओं में हिन्दी एवं अंग्रेजी में प्रकाशित हो चुके हैं.

श्रीज्ञान भारिल्ल—जन्मस्थान—खैराना (सागर-म०प्र०). राजस्थान के प्रथम श्रेणी के कवि, प्रतिभाशाली लेखक और उपन्यासकार हैं. आपकी कविताओं के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें से 'आकाशकुसुम' अजमेर सरकार द्वारा प्रथम पुरस्कृत हुआ है, 'प्यासे स्वर्णहिरण' उपन्यास भी आपकी ही रचना है. कुछ समय से आपका झुकाव प्राचीन जैन कथाओं को आधुनिक शैली में प्रस्तुत करने की ओर हुआ है. अब तक 'तरंगवती' और 'भटकते-भटकते' (कुवलयमाला का रूपान्तर) प्रकाश में आए हैं. जैन साहित्य ऐसे क्षमताशाली सुलेखकों की प्रतीक्षा कर रहा है.

**श्री दरवारीलाल कोठिया**—शास्त्राचार्य, न्यायाचार्य, न्यायतीर्थ, सिद्धांत-शास्त्री हैं. आप्तपरीक्षा, स्याद्वादसिद्धि, न्यायदीपिका प्रमाणप्रमेयकलिका आदि अनेक जैनदार्शनिक ग्रंथों का सम्पादन तथा अनुवाद किया है. आपकी प्रस्तावनाएँ शोधपूर्ण तथा महत्त्व की हैं. आप समाज के यशस्वी लेखक, सम्पादक, वक्ता और अध्यापक हैं. काशी हिन्दू विश्व विद्यालय में जैनदर्शन के प्राध्यापक हैं. जैनदर्शन एवं जैनन्याय के इने-गिने विद्वानों में से एक हैं.
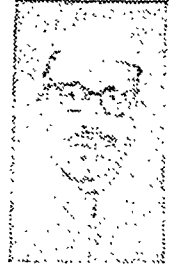
**श्री दलसुख मालवणिया**—जन्मस्थान-सायला (सौराष्ट्र) मालवणिया जी जैन समाज के चोटी के विद्वानों में प्रमुख हैं। दर्शन, इतिहास आदि विविध विषयों में आपकी अवाध गति है। हिन्दू वि० वि० बनारस में जैनदर्शन के अध्यापक रहे। वर्त्तमान में लाल भाई दलपत भाई भारतीय संस्कृति विद्या-मंदिर के निदेशक हैं। आपकी साहित्यसाधना से विद्वज्जगत् सुपरिचित है।

**श्री देवीलाल पालीवाल**—जन्मस्थान—कांकरोली (उदयपुर-राजस्थान) एम० ए० (इतिहास) और पी०एच०डी० राजस्थान विश्वविद्यालय से किया. पी०एच०डी० का विषय था "उदयपुर और अँग्रेज-१८५७-१९१९". इस समय टाडकृत राजस्थान का नवीन अनुवाद एवं सम्पादन कार्य कर रहे हैं. प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है. बाल्य-काल से राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेना प्रारम्भ किया. १९४६ तक मेवाड़ प्रजामंडल की जनरल कौंसिल के सदस्य रहे. १९५०-५२ तक राजस्थान विद्यार्थी फेडरेशन के और १९४९ से १९५२ तक उदयपुर कम्युनिस्ट पार्टी के मंत्री रहे हैं.

**डा० देवेन्द्रकुमार जैन**—चिरगांव (झांसी) के निवासी हैं. उच्चकोटि के लेखक, सम्पादक, समालोचक और अध्यापक हैं. सरस्वती, नागरी प्र० पत्रिका, सम्मेलनपत्रिका आदि प्रथम श्रेणी की पत्रिकाओं में आपके शोधपूर्ण निवन्ध प्रकाशित होते रहते हैं. विश्वप्रकाश, प्राकृतछन्दकोश, शब्दभेदप्रकाश, भविष्यदत्तकथा, आदि का संम्पादन और राष्ट्रभाषा में अनुवाद कर चुके हैं. संस्कृत-साहित्य संवन्धी वहुसंख्यक उपाधियों से विभूषित सुयोग्य विद्वान् हैं.
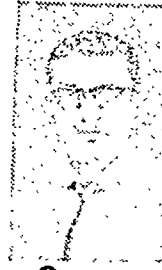
**डा० नरेन्द्रकुमार भानावत**—जन्मस्थान—कानोड (राज०). श्रीभानावत उदीयमान विशिष्ट मेधावी विद्वान् हैं. मेट्रिक से लेकर एम०ए० तक की सभी परीक्षाओं में आपने प्रथम श्रेणी प्राप्त की. साहित्यरत्न भी प्रथम श्रेणी में ही हुए. वेलिसाहित्य-राजस्थानी पर पी-एच०डी० की उपाधि ग्रहण की. 'कविता, कहानी, एकांकी, निवन्ध, गद्यकाव्य आदि लिखने में सिद्धहस्त हैं. अनेक अ०, भारतीय निवन्धप्रतियोगिताओं में स्वर्णपदक पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं. आपकी अनेक ग्रंथ-रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित हैं, यह हिन्दीसाहित्य का दुर्भाग्य ही समझा जा सकता है. वर्तमान में आप राजस्थान वि०वि० में हिन्दी विभाग में अध्यापक पद पर आसीन हैं.
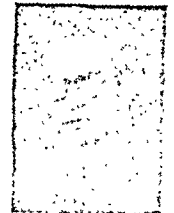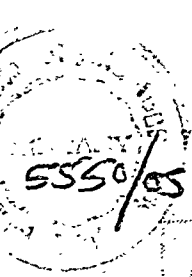
**श्रीपरमानन्द चोयल**—हिन्दीसाहित्य में एम०ए० परीक्षा उत्तीर्ण की; किन्तु चित्रकला की ओर आपका विशेष आकर्षण रहा. जयपुर हाई स्कूल, सर जे०जे० स्कूल ऑफ आर्टस तथा लन्दन युनिवर्सिटी से विशेष डिप्लोमा प्राप्त किये, चित्रकला में राजस्थान अकादमी से पुरस्कार प्राप्त किये. टैगोर चित्र प्रतियोगिता में भी आप पुरस्कृत हुए. आप राजस्थान के वरिष्ठ चित्रकलाकार हैं।

**श्री पारसमल प्रसून**—प्रसून लघुकथाएं लिखने में अत्यन्त कुशल हैं. हिन्दी में एम०ए० और साहित्यरत्न हैं। धार्मिक स्वाध्याय और शिक्षण में विशेष रुचिसम्पन्न हैं. स्वाध्यायसंघ जयपुर के सदस्य होने के नाते पर्युषण पर्व के प्रसंग पर यत्र-तत्र प्रवचन करने जाया करते हैं। 'जिनवाणी' (जयपुर) के सहसम्पादक हैं।
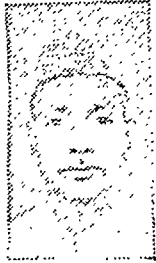
**श्री परमानन्द शास्त्री**—शास्त्रीजी ने गणेश जैन विद्यालय सागर में अध्ययन करके साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया. आप साहित्यिक एवं ऐतिहासिक अनुसंधान में विशेष अभिरुचि रखते हैं. लगभग १५० निबन्ध लिख चुके हैं. समाधितन्त्र, इष्टोपदेश आदि ग्रंथों का अनुवाद किया है. 'अनेकांत' के सम्पादक हैं और हिन्दी जैन कवियों का इतिहास तैयार कर रहे हैं.

**मुनि श्रीपुण्यविजयजी**—मुनि श्री की कठोर साहित्यसाधना से विद्वद् वर्ग भलीभांति परिचित है। दर्शन, इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृत-प्राकृत आ[illegible] भाषाओं के तलस्पर्शी पण्डित हैं। जैसलमेर-शास्त्रभंडार के आप उद्धारक हैं निरन्तर साहित्यसेवा में निमग्न रहने वाले और वृद्धावस्था में भी चैन न ले वाले इस तपस्वी की जितनी सराहना की जाय, थोड़ी ही रहेगी।

**श्रीपुरुषोत्तमलाल मेनारिया**—जन्मस्थान उदयपुर (राज०) हिन्दी में एम० ए० और साहित्यरत्न करने के पश्चात् आप गहरी लगन के साथ साहित्य विशेषतः राजस्थानी साहित्य की सेवा में निरत हैं. राजस्थान विद्यापीठ-शोधसंस्थान के संचालक, शोधपत्रिका के संस्थापक-सम्पादक, राजस्थान विद्यापीठ कालेज के प्रिंसिपल आदि पदों पर सफलतापूर्वक कार्य कर चुके हैं. इस समय राजस्थान सरकार के राजस्थान प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान जोधपुर में प्रवर शोधसहायक हैं. राजस्थान की रसधारा, राजस्थानी भाषा की रूपरेखा और मान्यता का प्रश्न, राजस्थान की लोककथायें, राजस्थानी वार्ता, राजस्थानी लोकगीत, राजस्थानी लोककथायें आदि-आदि अनेक रचनायें प्रकाशित हो चुकी हैं. राजस्थानी साहित्यजगत् में आप की सेवायें प्रशस्य हैं.

पं० के० भुजबली शास्त्री—श्री भुजवलीजी कन्नड़ भाषाभाषी हैं. जन्म दक्षिण भारत के कर्णाटक प्रान्त में हुआ परन्तु कर्मक्षेत्र विहार रहा है. आप संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, कन्नड़ एवं अंग्रेजी भाषाओं के विज्ञ हैं. पूर्वोक्त सभी भाषाओं में शताधिक शोधपूर्ण निवन्ध लिखे हैं. आपने संस्कृत के सुप्रसिद्ध मुनिसुव्रतमहाकाव्य, भुजबलीचरितम्, चित्रसेन-पद्मावतीचरितम् एवं भव्यानन्द जैसी पाण्डुलिपियों का संशोधन, संपादन और हिन्दी अनुवाद किया है.

कन्नड़ प्रान्तीय ताड़पत्रीय ग्रंथसूचि एवं प्रशस्तिसंग्रह आप की अनुसन्धानपूर्ण शोध-कृतियाँ हैं. आदर्श जैन महिलेयरू, आदर्श जैन वीररू, आदर्श साहितिशन्नु, जैन वाङ्मय, जैनर दैनिक षट्कर्म, जैनदर्शन, निबन्धसंग्रह, महावीरवाणी, समवसरण, आदि कन्नड़ भाषा सम्बन्धी आप की कई रचनायें प्रकाशित हुई हैं. आप की सृजनशील, मौलिक प्रतिभा द्वारा हिन्दी में 'जैन प्राकृत वाङ्मय' जैसे शोधपूर्ण गम्भीर निवन्ध भी प्रस्तुत किये गये हैं.

शरणसाहित्य [कन्नड़ मासिक], वीरवाणी [कन्नड़ मासिक], विवेकाभ्युदय [कन्नड़ मासिक], जैनसिद्धान्त-भास्कर [हिन्दी त्रैमासिक] तथा जैन एन्टिक्वेरी [अंग्रेजी त्रैमासिक] इन पत्रों के सम्पादकमण्डल में रहकर, इनका सम्पादनकार्य भी सुचारु रूप से किया है. इस समय भी 'गुरुदेव' [कन्नड़ मासिक] का सम्पादन कर रहे हैं.

आप की 'जैन वाङ्मय' नामक रचना को मैसूर सरकार ने बहुमानित किया है. आप के 'वीर वंकेय' नामक प्रवन्ध को मैसूर सरकार ने एवं 'मूडविद्री' नामक निवन्ध को केरल सरकार ने अपने पाठ्य-ग्रंथों में स्थान दिया है. दक्षिण भारत के जैन आचार्य, जैन राजकुमार और जैन राजवंशों का इतिहास आप के द्वारा प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया गया है.

श्रीभुवनेश्वरनाथ 'माधव'—विहार में आप का जन्म हुआ, हिन्दू वि० वि० काशी से अंग्रेजी तथा हिन्दी में एम० ए० किया और विहार वि० वि० से पी-एच० डी०. सन्त साहित्य, मीरा की प्रेमसाधना, धूपदीप, पूजा के फूल, हँसता जीवन, मेरे जनम-मरण के साथी, रामभक्ति में मधुर उपासना, श्रीअरविन्दचरितामृत आदि रचनायें प्रकाशित हो चुकी हैं. भविष्य, चाँद, सनातनधर्म, कल्याण एवं कल्याणकल्पतरु के सम्पादक रह चुके हैं. इस समय विहार राष्ट्रभाषापरिषद् (विहार सरकार) के निदेशक हैं.

श्रीभँवरलाल नाहटा—जन्मस्थान वीकानेर [राज०] व्यवसायी परिवार में जन्म लेकर भी आप राजस्थानी और जैनसाहित्य की प्रशंसनीय सेवा कर रहे हैं. सती मृगावती, राजगृह, युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि आदि आप के द्वारा लिखित अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं. ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह, ठक्कुर फेरू ग्रंथावली, हमीरायण, कृति कुसुमांजलि, रासपंचक आदि आपके सम्पादन हैं. आप सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी श्रीअगरचन्द नाहटा के भ्रातृज एवं सहयोगी हैं.
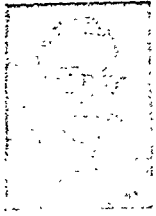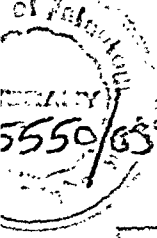
श्री रंजन सूरिदेव— देवजी साहित्याचार्य, पुराणाचार्य, व्याकरणतीर्थ जैनदर्शनशास्त्री, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार और बी० ए० उपाधियों से विभूषित हैं। बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन पटना के संचालक और साहित्य-मंत्री हैं। बिहार राष्ट्रभाषापरिषद् की त्रैमासिक 'परिषद् पत्रिका के सम्पादक तथा 'साहित्य' के स० सम्पादक हैं। आपकी बहुतसी रचनाएं प्रकाश में आ चुकी हैं।

श्री बद्रीप्रसाद पंचोली—जन्मस्थान-खानपुर (झालावाड़-राज०) हिन्दी और संस्कृत में एम० ए० तथा साहित्यरत्न। वर्त्तमान में किसनगढ़ के शासकीय कालेज में प्रोफेसर हैं। 'स्वदेश' (कोटा) सम्पादक रह चुके हैं। शोधप्रधान निबंधों की ओर विशेष रुचि है, यों कविता, नाटक आदि भी लिखते हैं।

श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री—श्रीवर्धमान शास्त्री के पिताश्री का नाम पार्श्वनाथ शास्त्री है. जैन-समाज के अग्रगण्य विद्वान हैं. उच्च कोटि के लेखक और वक्ता हैं. जैन बोधक एवं जैनदर्शन नामक हिन्दी मासिकों के तथा कर्णाटक भाषा के 'विश्ववन्धु' के सम्पादक हैं. धार्मिक परीक्षा-बोर्ड, आचार्य कुन्थुसागर ग्रंथमाला तथा आचार्य जम्बूसागर ग्रंथमाला के अवैतनिक मंत्री और अनेक संस्थाओं के ट्रस्टी हैं. अहिन्दी भाषा-भाषी होकर भी आप हिन्दी भाषा तथा समाज की बहुमूल्य सेवा कर रहे हैं.

श्री विजयेन्द्र सूरिजी—सूरिजी पुरानी पीढ़ी के इतिहास एवं पुरातत्त्व आदि अनेक विषयों और भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित हैं। भगवान् महावीर के जीवन पर आपने जो लिखा है, उसी से आपके पाण्डित्य का पता चल सकता है। आपकी अनेकानेक विद्वत्तापूर्ण कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं। सूरिजी इस समय अत्यन्त वृद्ध, नेत्रहीन और अस्वस्थ अवस्था में अंधेरी (बम्बई) में हैं।

श्री शांतिलाल भारद्वाज 'राकेश'—जन्मस्थान—जलवाड़ा (कोटा) राकेशजी राजस्थान के साहित्यकारों में अग्रगण्य हैं। आपके अनेक ग्रंथ प्रकाशित और पुरस्कृत हो चुके हैं। वर्तमान में राजस्थान साहित्य अकादमी के कार्य-निदेशक हैं।

**श्री शिखरचन्द्र कोचर**—जन्मस्थान बीकानेर (राज०). बीकानेर हाई कोर्ट में कुछ काल तक वकालत करने के पश्चात् आप राजस्थान शासन के न्यायविभाग में विभिन्न पदों पर कार्य कर चुके हैं. इस समय सीकर में सिविल और ऐडिशनल सेशन्स जज हैं. अनेक सामाजिक संस्थाओं के अवैतनिक मंत्री आदि पदों पर कार्य किया है. आपकी गद्य-पद्य-रचनाएं अनेक पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं.
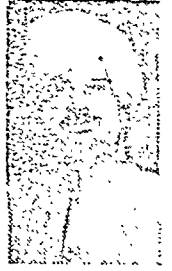
**श्री श्रीचन्द्र जैन**—जन्मस्थान अमरा (झांसी). एम. ए., एल. एल.बी परीक्षाएँ उत्तीर्ण करने के पश्चात् समथर राज्य में जिलाधीश के रूप में कार्य किया, मगर आन्तरिक रुचि आपको शिक्षा-साहित्य के क्षेत्र में खींच लाई. इस समय आप गवर्नमेंट कालेज खरगौन में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं. अनेक निबंध-रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं. जिसमें से कई भारत सरकार, उत्तरप्रदेश सरकार और विन्ध्यशासन द्वारा पुरस्कृत हुई हैं.
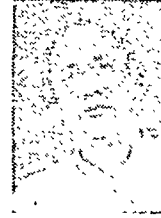
**श्री सत्यकाम वर्मा**—डाक्टर वर्मा, कांगड़ी गुरुकुल के स्नातक हैं. हिन्दी और संस्कृत में एम. ए. की तथा 'भर्तृहरि के वाक्यपदी? का भाषा तात्त्विक अध्ययन' विषय पर पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की. इटली के रोम विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक रहे. वहाँ की सबसे बड़ी प्राच्य विद्यासंस्था में सम्पादन-कार्य किया. आप हिन्दी में अनेक आलोचनात्मक ग्रंथों एवं निबंधों के लेखक हैं.

**श्री सुन्दरलाल जैन**—जन्मस्थान खैराना (सागर म० प्र०). आप वैद्य भूषण, वैद्यरत्न, आयुर्वेदालंकार आदि अनेक उपाधियों से विभूषित कुशल चिकित्सक हैं. इटारसी की तिलक फार्मेसी के संस्थापक हैं. अनेक जैन संस्थाओं के मंत्री, उपाध्यक्ष और अध्यक्ष हैं. अनेक स्वर्णपदक प्राप्त कर चुके हैं. आयुर्वेदिक पत्रों में आपकी रचनाएँ समय-समय पर प्रकाशित होती रहती हैं. आप प्रगतिशील विचारों के संदेशवाहक हैं. श्री महेन्द्र राजा आपके ही सुपुत्र हैं.

**श्री सौभाग्यमल जैन**—जन्मस्थान शुजालपुर (मध्यप्रदेश). जैन-समाज और म० प्र० के राजनीतिक क्षेत्रों में बहुविख्यात, उच्च आदर्शों पर जीवन की प्रतिष्ठा करने वाले भावनाशील विद्वान् हैं. सन् १९३० से राजनीति में सक्रिय हैं. अनेक राजनीतिक संस्थाओं में अनेक उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित रहे हैं. मध्यभारत-विधान सभा के उपाध्यक्ष, अध्यक्ष, वित्तमंत्री और राजस्वमंत्री रह चुके हैं.

सहस्र पांखुरी कमल